श्रीहरि

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(द्वितीय खण्ड)

[वनपर्व और विराटपर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)



गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(द्वितीय खण्ड)

[वनपर्व और विराटपर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)



अनुवादक—

साहित्याचार्य पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

प्रकाशक— गोविन्द भवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

सम्वत् २०१२ से २०३२ तक	२८,०००
सम्वत् २०४४ चौथा संस्करण	१०.०००
कुल	३८,०००

(मूल्य चालीस रुपये)

पता—गीताप्रेस, पो॰ गीताप्रेस, (गोरखपुर)

मुद्रक- फ्लेक्सोप्रिण्ट, गोरखपुर

श्रीहरिः

वनपर्व

(कैरातपर्व)

(इन्द्रलोकाभिगमनपर्व)

(नलोपाख्यानपर्व)

(तीर्थयात्रापर्व)

(जटासुरवधपर्व)

(यक्षयुद्धपर्व)

(निवातकवचयुद्धपर्व)

(आजगरपर्व)

(मार्कण्डेयसमास्यापर्व)

(द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व)

(जयद्रथविमोक्षणपर्व)

(रामोपाख्यानपर्व)

(पतिव्रतामाहात्म्यपर्व)

(कुण्डलाहरणपर्व)

(आरणेयपर्व)

विराटपर्व

(पाण्डवप्रवेशपर्व)

(समयपालनपर्व)

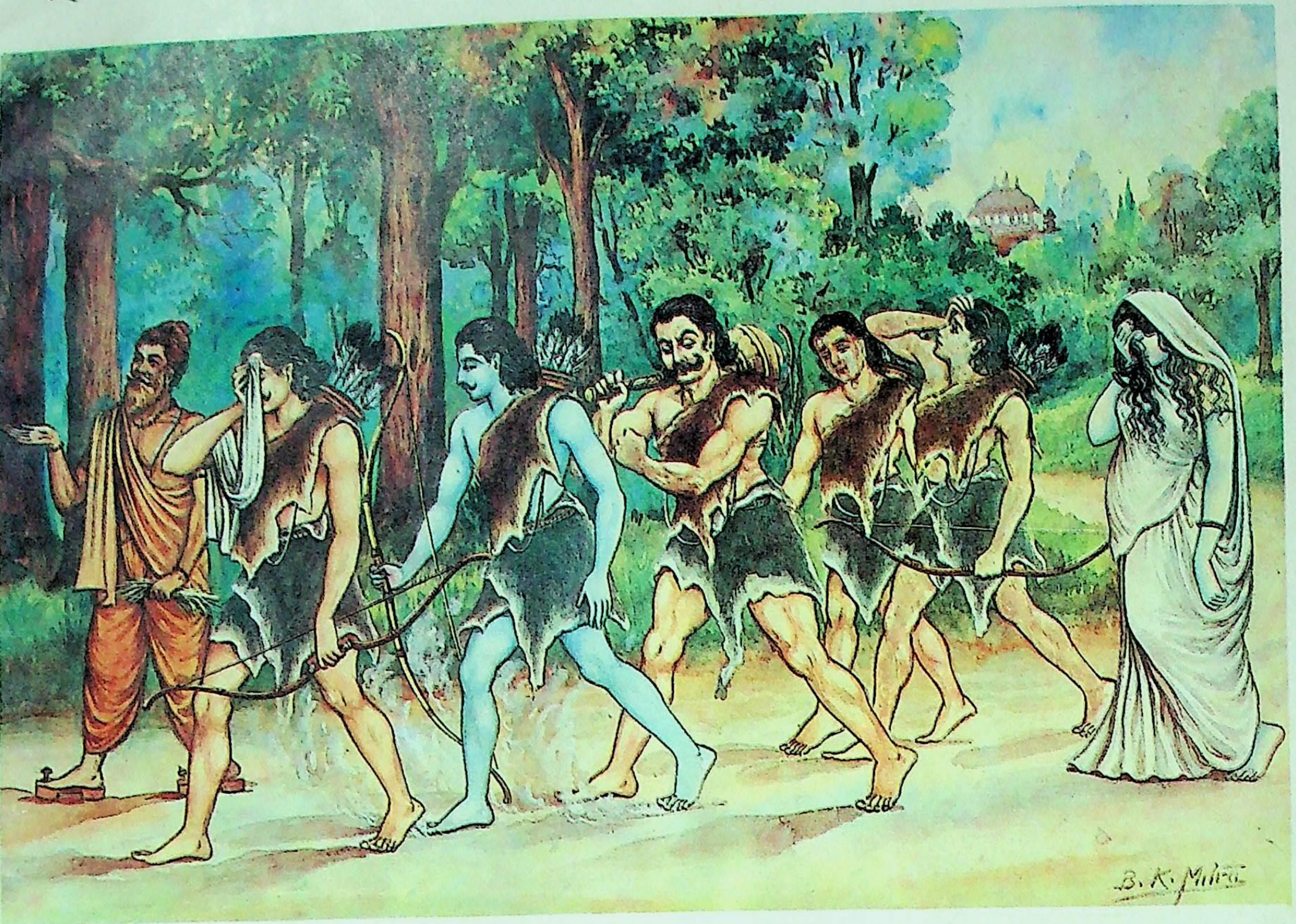
(कीचकवधपर्व)

(गोहरणपर्व)

* श्रीहरि *

चित्रसूची (रंगीन)

चित्र-सूची (सादा)



पाण्डवोंका वनगमन

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

वनपर्व

(अरण्यपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

पाण्डवोंका वनगमन, पुरवासियोंद्वारा उनका अनुगमन और युधिष्ठिरके अनुरोध करनेपर उनमेंसे बहुतोंका लौटना तथा पाण्डवोंका प्रमाणकोटितीर्थमें रात्रिवास

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

'अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्यसखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

जनमेजय उवाच

एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः ।
धार्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निकृत्या द्विजसत्तम ॥ १ ॥
श्राविताः परुषा वाचः सृजद्भिर्वैरमुत्तमम् ।
किमकुर्वत कौरव्या मम पूर्वपितामहाः ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—विप्रवर ! मन्त्रियोंसहित धृतराष्ट्रके दुरात्मा पुत्रोंने जब इस प्रकार कपटपूर्वक कुन्तीकुमारोंको जूएमें हराकर कुपित कर दिया और घोर वैरकी नींव डालते हुए उन्हें अत्यन्त कठोर बातें सुनायीं, तब मेरे पूर्वपितामह युधिष्ठिर आदि कुरुवंशियोंने क्या किया ? ॥ १-२ ॥

कथं चैश्वर्यविभ्रष्टाः सहसा दुःखमेयुषः ।
वने विजह्रिरे पार्थाः शक्रप्रतिमतेजसः ॥ ३ ॥

तथा जो सहसा ऐश्वर्यसे वञ्चित हो जानेके कारण महान् दुःखमें पड़ गये थे, उन इन्द्रके तुल्य तेजस्वी पाण्डवोंने वनमें किस प्रकार विचरण किया ? ॥ ३ ॥

के वै तानन्ववर्तन्त प्राप्तान् व्यसनमुत्तमम् ।
किमाचाराः किमाहाराः क्व च वासो महात्मनाम् ॥ ४ ॥

उस भारी संकटमें पड़े हुए पाण्डवोंके साथ वनमें कौन-कौन गये थे ? वनमें वे किस आचार-व्यवहारसे रहते थे ? क्या खाते थे ? और उन महात्माओंका निवासस्थान कहाँ था ? ॥ ४ ॥

कथं च द्वादश समा वने तेषां महामुने ।
व्यतीयुर्ब्राह्मणश्रेष्ठ शूराणामरिघातिनाम् ॥ ५ ॥

महामुने ! ब्राह्मणश्रेष्ठ ! शत्रुओंका संहार करनेवाले उन शूरवीर महारथियोंके बारह वर्ष वनमें किस प्रकार बीते ? ॥

कथं च राजपुत्री सा प्रवरा सर्वयोषिताम् ।
पतिव्रता महाभागा सततं सत्यवादिनी ॥ ६ ॥
वनवासमदुःखार्हा दारुणं प्रत्यपद्यत ।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं विस्तरेण तपोधन ॥ ७ ॥

तपोधन ! संसारकी समस्त सुन्दरियोंमें श्रेष्ठ, पतिव्रता एवं सदा सत्य बोलनेवाली वह महाभागा राजकुमारी द्रौपदी, जो दुःख भोगनेके योग्य कदापि नहीं थी, वनवासके भयंकर कष्टको कैसे सह सकी ? यह सब मुझे विस्तारपूर्वक बतलाइये ॥ ६-७ ॥

श्रोतुमिच्छामि चरितं भूरिद्रविणतेजसाम् ।
कथ्यमानं त्वया विप्र परं कौतूहलं हि मे ॥ ८ ॥

ब्रह्मन् ! मैं आपके द्वारा कहे जाते हुए महान् पराक्रम और तेजसे सम्पन्न पाण्डवोंके चरित्रको सुनना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे मनमें अत्यन्त कौतूहल हो रहा है ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

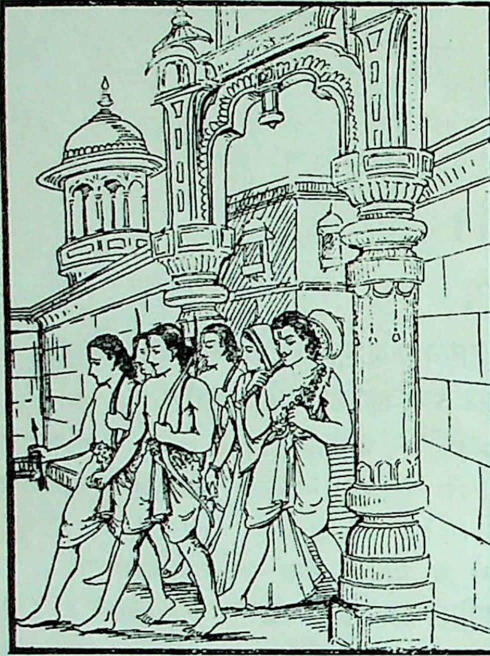
एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः ।
धार्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निर्ययुर्गजसाह्वयात् ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! इस प्रकार मन्त्रियोंसहित दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंद्वारा जूएमें पराजित करके

क्रुद्ध किये हुए कुन्तीकुमार हस्तिनापुरसे बाहर निकले ॥ ९॥

वर्धमानपुरद्वारादभिनिष्क्रम्य पाण्डवाः ।
उदङ्मुखाः शस्त्रभृतः प्रययुः सह कृष्णया ॥ १० ॥

वर्धमानपुरकी दिशामें स्थित नगरद्वारसे निकलकर



शस्त्रधारी पाण्डवोंने द्रौपदीके साथ उत्तराभिमुख होकर यात्रा आरम्भ की ॥ १० ॥

इन्द्रसेनादयश्चैव भृत्याः परि चतुर्दश ।
रथैरनुययुः शीघ्रैः स्त्रिय आदाय सर्वशः ॥ ११ ॥

इन्द्रसेन आदि चौदहसे अधिक सेवक सारी स्त्रियोंको शीघ्रगामी रथोंपर बिठाकर उनके पीछे-पीछे चले ॥ ११ ॥

गतानेतान् विदित्वा तु पौराः शोकाभिपीडिताः ।
गर्हयन्तोऽसकृद् भीष्मविदुरद्रोणगौतमान् ॥ १२ ॥
ऊचुर्विगतसंत्रासाः समागम्य परस्परम् ।

पाण्डव वनकी ओर गये हैं, यह जानकर हस्तिनापुरके निवासी शोकसे पीडित हो बिना किसी भयके भीष्म, विदुर, द्रोण और कृपाचार्यकी बारंबार निन्दा करते हुए एक-दूसरेसे मिलकर इस प्रकार कहने लगे ॥ १२½ ॥

पौरा ऊचुः

नेदमस्ति कुलं सर्वं न वयं न च नो गृहाः ॥ १३ ॥
यत्र दुर्योधनः पापः सौबलेनाभिपालितः ।
कर्णदुःशासनाभ्यां च राज्यमेतच्चिकीर्षति ॥ १४ ॥

पुरवासी बोले—अहो ! हमारा यह समस्त कुल, हम तथा हमारे घर-द्वार अब सुरक्षित नहीं हैं; क्योंकि यहाँ पापात्मा दुर्योधन सुबलपुत्र शकुनिसे पालित हो कर्ण और दुःशासनकी सम्मतिसे इस राज्यका शासन करना चाहता है ॥

न तत् कुलं न चाचारो न धर्मोऽर्थः कुतः सुखम् ।
यत्र पापसहायोऽयं पापो राज्यं चिकीर्षति ॥ १५ ॥

जहाँ पापियोंकी ही सहायतासे यह पापाचारी राज्य करना चाहता है, वहाँ हमलोगोंके कुल, आचार, धर्म और अर्थ भी नहीं रह सकते, फिर सुख तो रह ही कैसे सकता है ? ॥ १५ ॥

दुर्योधनो गुरुद्वेषी त्यक्ताचारसुहृज्जनः ।
अर्थलुब्धोऽभिमानी च नीचः प्रकृतिनिर्घृणः ॥ १६ ॥

दुर्योधन गुरुजनोंसे द्वेष रखनेवाला है। उसने सदाचार और पाण्डवों-जैसे सुहृदोंको त्याग दिया है। वह अर्थलोलुप, अभिमानी, नीच और स्वभावतः ही निष्ठुर है ॥ १६ ॥

नेयमस्ति मही कृत्स्ना यत्र दुर्योधनो नृपः ।
साधु गच्छामहे सर्वे यत्र गच्छन्ति पाण्डवाः ॥ १७ ॥

जहाँ दुर्योधन राजा है, वहाँकी यह सारी पृथ्वी नहींके बराबर है, अतः यही ठीक होगा कि हम सब लोग वहीं चलें, जहाँ पाण्डव जा रहे हैं ॥ १७ ॥

सानुक्रोशा महात्मानो विजितेन्द्रियशत्रवः ।
ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च धर्माचारपरायणाः ॥ १८ ॥

पाण्डवगण दयालु, महात्मा, जितेन्द्रिय, शत्रुविजयी, लज्जाशील, यशस्वी, धर्मात्मा तथा सदाचारपरायण हैं ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वानुजग्मुस्ते पाण्डवांस्तान् समेत्य च ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे कौन्तेयान् माद्रिनन्दनान् ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर वे पुरवासी पाण्डवोंके पास गये और उन कुन्तीकुमारों तथा माद्रीपुत्रोंसे मिलकर वे सबके-सब हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले—॥

क गमिष्यथ भद्रं वस्त्यक्त्वास्मान् दुःखभागिनः ।
वयमप्यनुयास्यामो यत्र यूयं गमिष्यथ ॥ २० ॥

'पाण्डवो ! आपलोगोंका कल्याण हो। हम आपके वियोगसे बहुत दुखी हैं। आपलोग हमें छोड़कर कहाँ जा रहे हैं ? आप जहाँ जायँगे, वहीं हम भी आपके साथ चलेंगे ॥ २० ॥

अधर्मेण जिताञ्छ्रुत्वा युष्मांस्त्यक्तघृणैः परैः ।
उद्विग्नाः स्मो भृशं सर्वे नास्मान् हातुमिहार्हथ ॥ २१ ॥
भक्तानुरक्तान् सुहृदः सदा प्रियहिते रतान् ।
कुराजाधिष्ठिते राज्ये न विनश्येम सर्वशः ॥ २२ ॥

'निर्दयी शत्रुओंने आपको अधर्मपूर्वक जूएमें हराया है, यह सुनकर हम सब लोग अत्यन्त उद्विग्न हो उठे हैं । आपलोग हमारा त्याग न करें; क्योंकि हम आपके सेवक हैं, प्रेमी हैं, सुहृद् हैं और सदा आपके

प्रिय एवं हितमें संलग्न रहनेवाले हैं। आपके बिना इस दुष्ट राजाके राज्यमें रहकर हम नष्ट होना नहीं चाहते ॥ २१-२२ ॥

श्रूयतां चाभिधास्यामो गुणदोषान् नरर्षभाः ।
शुभाशुभाधिवासेन संसर्गः कुरुते यथा ॥ २३ ॥

'नरश्रेष्ठ पाण्डवो ! शुभ और अशुभ आश्रयमें रहनेपर वहाँका संसर्ग मनुष्यमें जैसे गुण-दोषोंकी सृष्टि करता है, उनका हम वर्णन करते हैं, सुनिये ॥ २३ ॥

वस्त्रमापस्तिलान् भूमिं गन्धो वासयते यथा ।
पुष्पाणामधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः ॥ २४ ॥

'जैसे फूलोंके संसर्गमें रहनेपर उनकी सुगन्ध वस्त्र, जल, तिल और भूमिको भी सुवासित कर देती है, उसी प्रकार संसर्गजनित गुण भी अपना प्रभाव डालते हैं ॥२४॥

मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः ।
अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः ॥ २५ ॥

'मूढ मनुष्योंसे मिलना-जुलना मोहजालकी उत्पत्तिका कारण होता है। इसी प्रकार साधु-महात्माओंका सङ्ग प्रतिदिन धर्मकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ २५ ॥

तस्मात् प्राज्ञैश्च वृद्धैश्च सुस्वभावैस्तपस्विभिः ।
सद्भिश्च सह संसर्गः कार्यः शमपरायणैः ॥ २६ ॥

'इसलिये विद्वानों, वृद्ध पुरुषों तथा उत्तम स्वभाववाले शान्तिपरायण तपस्वी सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये ॥ २६ ॥

येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च ।
ते सेव्यास्तैः समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी॥२७॥
निरारम्भा ह्यपि वयं पुण्यशीलेषु साधुषु ।
पुण्यमेवाप्नुयामेह पापं पापोपसेवनात् ॥ २८ ॥

'जिन पुरुषोंके विद्या, जाति और कर्म—ये तीनों उज्ज्वल हों, उनका सेवन करना चाहिये; क्योंकि उन महापुरुषोंके साथ बैठना शास्त्रोंके स्वाध्यायसे भी बढ़कर है। हमलोग अग्निहोत्र आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करते, तो भी पुण्यात्मा साधुपुरुषोंके समुदायमें रहनेसे हमें पुण्यकी ही प्राप्ति होगी। इसी प्रकार पापीजनोंके सेवनसे हम पापके ही भागी होंगे।२७-२८।

असतां दर्शनात् स्पर्शात् संजल्पाच्च सहासनात् ।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः॥२९॥

'दुष्ट मनुष्योंके दर्शन, स्पर्श, उनके साथ वार्तालाप अथवा उठने-बैठनेसे धार्मिक आचारोंकी हानि होती है। इसलिये वैसे मनुष्योंको कभी सिद्धि नहीं प्राप्त होती ॥ २९ ॥

बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात् ।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः ॥ ३० ॥

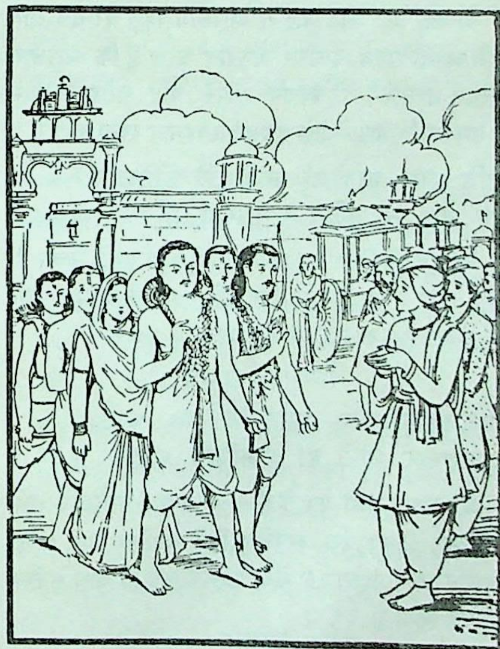
'नीच पुरुषोंका साथ करनेसे मनुष्योंकी बुद्धि नष्ट होती है। मध्यम श्रेणीके मनुष्योंका साथ करनेसे मध्यम होती है और उत्तम पुरुषोंका सङ्ग करनेसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होती है ॥ ३० ॥

अनीचैर्नाप्यविषयैर्नाधर्मिष्ठैर्विशेषतः ।
ये गुणाः कीर्तिता लोके धर्मकामार्थसम्भवाः ।
लोकाचारेषु सम्भूता वेदोक्ताः शिष्टसम्मताः ॥ ३१ ॥

'उत्तम, प्रसिद्ध एवं विशेषतः धर्मिष्ठ मनुष्योंने लोकमें धर्म, अर्थ और कामकी उत्पत्तिके हेतुभूत जो वेदोक्त गुण (साधन) बताये हैं, वे ही लोकाचारमें प्रकट होते हैं—लोगोंद्वारा काममें लाये जाते हैं और शिष्ट पुरुष उन्हींका आदर करते हैं ॥३१॥

ते युष्मासु समस्ताश्च व्यस्ताश्चैवेह सद्गुणाः ।
इच्छामो गुणवन्मध्ये वस्तुं श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः ॥ ३२ ॥

'वे सभी सद्गुण पृथक्-पृथक् और एक साथ आपलोगोंमें विद्यमान हैं, अतः हमलोग कल्याणकी इच्छासे आप-जैसे गुणवान् पुरुषोंके बीचमें रहना चाहते हैं' ॥ ३२ ॥



युधिष्ठिर उवाच

धन्या वयं यदस्माकं स्नेहकारुण्ययन्त्रिताः ।
असतोऽपि गुणानाहुर्ब्राह्मणप्रमुखाः प्रजाः ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—हमलोग धन्य हैं; क्योंकि ब्राह्मण आदि प्रजावर्गके लोग हमारे प्रति स्नेह और करुणाके पाशमें बँधकर जो गुण हमारे अंदर नहीं हैं, उन गुणोंको भी हममें बतलाते हैं ॥ ३३ ॥

तदहं भ्रातृसहितः सर्वान् विज्ञापयामि वः ।
नान्यथा तद्धि कर्तव्यमस्मत्स्नेहानुकम्पया ॥ ३४ ॥

भाइयोंसहित मैं आप सब लोगोंसे कुछ निवेदन करता हूँ । आपलोग हमपर स्नेह और कृपा करके उसके पालनसे मुख न मोड़ें ॥ ३४ ॥

भीष्मः पितामहो राजा विदुरो जननी च मे ।
सुहृज्जनश्च प्रायो मे नगरे नागसाह्वये ॥ ३५ ॥

(आपलोगोंको मालूम होना चाहिये कि) हमारे पितामह भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, विदुरजी, मेरी माता तथा प्रायः अन्य सगे-सम्बन्धी भी हस्तिनापुरमें ही हैं ॥ ३५ ॥

ते त्वस्मद्धितकामार्थं पालनीयाः प्रयत्नतः ।
युष्माभिः सहिताः सर्वे शोकसंतापविह्वलाः ॥ ३६ ॥

वे सब लोग आपलोगोंके साथ ही शोक और संतापसे व्याकुल हैं, अतः आपलोग हमारे हितकी इच्छा रखकर उन सबका यत्नपूर्वक पालन करें ॥ ३६ ॥

निवर्ततागता दूरं समागमनशापिताः ।
स्वजने न्यासभूते मे कार्या स्नेहान्विता मतिः ॥ ३७ ॥

अच्छा, अब लौट जाइये, आपलोग बहुत दूर चले आये हैं । मैं अपनी शपथ दिलाकर अनुरोध करता हूँ कि आपलोग मेरे साथ न चलें । मेरे स्वजन आपके पास धरोहरके रूपमें हैं । उनके प्रति आपलोगोंके हृदयमें स्नेहभाव रहना चाहिये ॥

एतद्धि मम कार्याणां परमं हृदि संस्थितम् ।
कृता तेन तु तुष्टिर्मे सत्कारश्च भविष्यति ॥ ३८ ॥

मेरे हृदयमें स्थित सब कार्योंमें यही कार्य सबसे उत्तम है, आपके द्वारा इसके किये जानेपर मुझे महान् संतोष प्राप्त होगा और इसीसे मेरा सत्कार भी हो जायगा ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथानुमन्त्रितास्तेन धर्मराजेन ताः प्रजाः ।
चक्रुरार्तस्वरं घोरं हा राजन्निति संहताः ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराजके द्वारा इस प्रकार विनयपूर्वक अनुरोध किये जानेपर उन समस्त प्रजाओंने 'हा ! महाराज !' ऐसा कहकर एक ही साथ भयंकर आर्तनाद किया ॥ ३९ ॥

गुणान् पार्थस्य संस्मृत्य दुःखार्ताः परमातुराः ।
अकामाः संन्यवर्तन्त समागम्याथ पाण्डवान् ॥ ४० ॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके गुणोंका स्मरण करके प्रजावर्गके लोग दुःखसे पीड़ित और अत्यन्त आतुर हो गये । उनकी पाण्डवोंके साथ जानेकी इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी । वे केवल उनसे मिलकर लौट आये ॥ ४० ॥

निवृत्तेषु तु पौरेषु रथानास्थाय पाण्डवाः ।
आजग्मुर्जाह्नवीतीरे प्रमाणाख्यं महावटम् ॥ ४१ ॥

पुरवासियोंके लौट जानेपर पाण्डवगण रथोंपर बैठकर गङ्गाजीके किनारे प्रमाणकोटि नामक महान् वटके समीप आये ॥ ४१ ॥

ते तं दिवसशेषेण वटं गत्वा तु पाण्डवाः ।
ऊषुस्तां रजनीं वीराः संस्पृश्य सलिलं शुचि ॥ ४२ ॥

संध्या होते-होते उस वटके निकट पहुँचकर शूरवीर पाण्डवोंने पवित्र जलका स्पर्श (आचमन और संध्यावन्दन आदि) करके वह रात वहीं व्यतीत की ॥ ४२ ॥

उदकेनैव तां रात्रिमूषुस्ते दुःखकर्षिताः ।
अनुजग्मुश्च तत्रैतान् स्नेहात् केचिद् द्विजातयः॥ ४३ ॥

दुःखसे पीड़ित हुए वे पाँचों पाण्डुकुमार उस रातमें केवल जल पीकर ही रह गये । कुछ ब्राह्मणलोग भी इन पाण्डवोंके साथ स्नेहवश वहाँतक चले आये थे ॥ ४३ ॥

साग्नयोऽनग्नयश्चैव सशिष्यगणबान्धवाः ।
स तैः परिवृतो राजा शुशुभे ब्रह्मवादिभिः ॥ ४४ ॥

उनमेंसे कुछ साग्नि (अग्निहोत्री) थे और कुछ निरग्नि । उन्होंने अपने शिष्यों तथा भाई-बन्धुओंको भी साथ ले लिया था । वेदोंका स्वाध्याय करनेवाले उन ब्राह्मणोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ४४ ॥

तेषां प्रादुष्कृताग्नीनां मुहूर्ते रम्यदारुणे ।
ब्रह्मघोषपुरस्कारः संजल्पः समजायत ॥ ४५ ॥

संध्याकालकी नैसर्गिक शोभासे रमणीय तथा राक्षस-पिशाचादिके संचरणका समय होनेसे अत्यन्त भयंकर प्रतीत होनेवाले उस मुहूर्तमें अग्नि प्रज्वलित करके वेद-मन्त्रोंके घोषपूर्वक अग्निहोत्र करनेके बाद उन ब्राह्मणोंमें परस्पर संवाद होने लगा ॥ ४५ ॥

राजानं तु कुरुश्रेष्ठं ते हंसमधुरस्वराः ।
आश्वासयन्तो विप्राग्र्याः क्षपां सर्वां व्यनोदयन् ॥४६॥

हंसके समान मधुर स्वरमें बोलनेवाले उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने कुरुकुलरत्न राजा युधिष्ठिरको आश्वासन देते हुए सारी रात उनका मनोरञ्जन किया ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि पौरप्रत्यागमने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें पुरवासियोंके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

धनके दोष, अतिथिसत्कारकी महत्ता तथा कल्याणके उपायोंके विषयमें धर्मराज युधिष्ठिरसे ब्राह्मणों तथा शौनकजीकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

प्रभातायां तु शर्वर्यां तेषामक्लिष्टकर्मणाम्।
वनं यियासतां विप्रास्तस्थुर्भिक्षाभुजोऽग्रतः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब रात बीती और प्रभातका उदय हुआ तथा अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले पाण्डव वनकी ओर जानेके लिये उद्यत हुए, उस समय भिक्षान्नभोजी ब्राह्मण साथ चलनेके लिये उनके सामने खड़े हो गये॥ १॥

तानुवाच ततो राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
वयं हि हृतसर्वस्वा हृतराज्या हृतश्रियः॥ २॥
फलमूलाशनाहारा वनं गच्छाम दुःखिताः।
वनं च दोषबहुलं बहुव्यालसरीसृपम्॥ ३॥

तब कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने उनसे कहा—'ब्राह्मणो! हमारा राज्य, लक्ष्मी और सर्वस्व जूएमें हरण कर लिया गया है। हम फल, मूल तथा अन्नके आहारपर रहनेका निश्चय करके दुखी होकर वनमें जा रहे हैं। वनमें बहुत-से दोष हैं। वहाँ सर्प-बिच्छू आदि असंख्य भयंकर जन्तु हैं॥ २-३॥

परिक्लेशश्च वो मन्ये ध्रुवं तत्र भविष्यति।
ब्राह्मणानां परिक्लेशो दैवतान्यपि सादयेत्।
किं पुनर्मामितो विप्रा निवर्तध्वं यथेष्टतः॥ ४॥

'मैं समझता हूँ, वहाँ आपलोगोंको अवश्य ही महान् कष्टका सामना करना पड़ेगा। ब्राह्मणोंको दिया हुआ क्लेश तो देवताओंका भी विनाश कर सकता है, फिर मेरी तो बात ही क्या है! अतः ब्राह्मणो! आपलोग यहाँसे अपने अभीष्ट स्थानको लौट जायँ'॥ ४॥

ब्राह्मणा ऊचुः

गतिर्या भवतां राजंस्तां वयं गन्तुमुद्यताः।
नार्हस्यस्मान् परित्यक्तुं भक्तान् सद्धर्मदर्शिनः॥ ५॥

ब्राह्मणोंने कहा—राजन्! आपकी जो गति होगी, उसे भुगतनेके लिये हम भी उद्यत हैं। हम आपके भक्त तथा उत्तम धर्मपर दृष्टि रखनेवाले हैं। इसलिये आपको हमारा परित्याग नहीं करना चाहिये॥ ५॥

अनुकम्पां हि भक्तेषु देवता ह्यपि कुर्वते।
विशेषतो ब्राह्मणेषु सदाचारावलम्बिषु॥ ६॥

देवता भी अपने भक्तोंपर विशेषतः सदाचारपरायण ब्राह्मणोंपर अनुग्रह ही किया करते हैं॥ ६॥

युधिष्ठिर उवाच

ममापि परमा भक्तिर्ब्राह्मणेषु सदा द्विजाः।
सहायविपरिभ्रंशस्त्वयं सादयतीव माम्॥ ७॥
आहरेयुरिमे येऽपि फलमूलमधूनि च।
त इमे शोकजैर्दुःखैर्भ्रातरो मे विमोहिताः॥ ८॥

युधिष्ठिर बोले—विप्रगण! मेरे मनमें भी ब्राह्मणोंके प्रति उत्तम भक्ति है, किंतु यह सब प्रकारके सहायक साधनोंका अभाव ही मुझे दुःखमग्न-सा किये देता है। जो फल-मूल एवं शहद आदि आहार जुटाकर ला सकते थे, वे ही ये मेरे भाई शोकजनित दुःखसे मोहित हो रहे हैं॥ ७-८॥

द्रौपद्या विप्रकर्षेण राज्यापहरणेन च।
दुःखार्दितानिमान् क्लेशैर्नाहं योक्तुमिहोत्सहे॥ ९॥

द्रौपदीके अपमान तथा राज्यके अपहरणके कारण ये दुःखसे पीडित हो रहे हैं, अतः मैं इन्हें (आहार जुटानेका आदेश देकर) अधिक क्लेशमें नहीं डालना चाहता॥ ९॥

ब्राह्मणा ऊचुः

अस्मत्पोषणजा चिन्ता मा भूत् ते हृदि पार्थिव।
स्वयमाहृत्य चान्नानि त्वानुयास्यामहे वयम्॥ १०॥

ब्राह्मण बोले—पृथ्वीनाथ! आपके हृदयमें हमारे पालन-पोषणकी चिन्ता नहीं होनी चाहिये। हम स्वयं ही अपने लिये अन्न आदिकी व्यवस्था करके आपके साथ चलेंगे॥ १०॥

अनुध्यानेन जप्येन विधास्यामः शिवं तव।
कथाभिश्चाभिरम्याभिः सह रंस्यामहे वयम्॥ ११॥

हम आपके अभीष्टचिन्तन और जपके द्वारा आपका कल्याण करेंगे तथा आपको सुन्दर-सुन्दर कथाएँ सुनाकर आपके साथ ही प्रसन्नतापूर्वक वनमें विचरेंगे॥ ११॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतन्न संदेहो रमेऽहं सततं द्विजैः।
न्यूनभावात् तु पश्यामि प्रत्यादेशमिवात्मनः॥ १२॥

युधिष्ठिरने कहा—महात्माओ! आपका कहना ठीक है। इसमें संदेह नहीं कि मैं सदा ब्राह्मणोंके साथ रहनेमें ही प्रसन्नताका अनुभव करता हूँ, किंतु इस समय धन आदिसे हीन होनेके कारण मैं देख रहा हूँ कि मेरेलिये यह अपकीर्ति-सी बात है॥ १२॥

कथं द्रक्ष्यामि वः सर्वान् स्वयमाहृतभोजनान् ।
मद्भक्त्या क्लिश्यतोऽनर्हान् धिक् पापान् धृतराष्ट्रजान् ॥

आप सब लोग स्वयं ही आहार जुटाकर भोजन करें, यह मैं कैसे देख सकूँगा ? आपलोग कष्ट भोगनेके योग्य नहीं हैं, तो भी मेरे प्रति स्नेह होनेके कारण इतना क्लेश उठा रहे हैं। धृतराष्ट्रके पापी पुत्रोंको धिक्कार है ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा स नृपः शोचन् निषसाद महीतले ।
तमध्यात्मरतो विद्वाञ्छौनको नाम वै द्विजः ॥ १४ ॥
योगे सांख्ये च कुशलो राजानमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इतना कहकर धर्मराज युधिष्ठिर शोकमग्न हो चुपचाप पृथ्वीपर बैठ गये। उस समय अध्यात्मविषयमें रत अर्थात् परमात्मचिन्तनमें तत्पर विद्वान् ब्राह्मण शौनकने, जो कर्मयोग और सांख्ययोग–दोनों ही निष्ठाओंके विचारमें प्रवीण थे, राजासे इस प्रकार कहा–॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ १६ ॥

'शोकके सहस्रों और भयके सैकड़ों स्थान हैं। वे मूढ़ मनुष्यपर प्रतिदिन अपना प्रभाव डालते हैं; परंतु ज्ञानी पुरुषपर वे प्रभाव नहीं डाल सकते ॥ १६ ॥

न हि ज्ञानविरुद्धेषु बहुदोषेषु कर्मसु ।
श्रेयोघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ १७ ॥

'अनेक दोषोंसे युक्त, ज्ञानविरुद्ध एवं कल्याणनाशक कर्मोंमें आप-जैसे ज्ञानवान् पुरुष नहीं फँसते हैं ॥ १७ ॥

अष्टाङ्गां बुद्धिमाहुर्यां सर्वाश्रेयोऽभिघातिनीम् ।
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तां राजन् सा त्वय्यवस्थिता ॥१८॥

राजन् ! योगके आठ अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिसे सम्पन्न, समस्त अमङ्गलोंका नाश करनेवाली तथा श्रुतियों और स्मृतियोंके स्वाध्यायसे भलीभाँति दृढ़ की हुई जो उत्तम बुद्धि कही गयी है, वह आपमें स्थित है ॥ १८ ॥

अर्थकृच्छ्रेषु दुर्गेषु व्यापत्सु स्वजनस्य च ।
शारीरमानसैर्दुःखैर्न सीदन्ति भवद्विधाः ॥ १९ ॥

'अर्थसंकट, दुस्तर दुःख तथा स्वजनोंपर आयी हुई विपत्तियोंमें आप-जैसे ज्ञानी शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे पीडित नहीं होते ॥ १९ ॥

श्रूयतां चाभिधास्यामि जनकेन यथा पुरा ।
आत्मव्यवस्थानकरा गीताः श्लोका महात्मना ॥ २० ॥

'पूर्वकालमें महात्मा राजा जनकने अन्तःकरणको स्थिर करनेवाले कुछ श्लोकोंका गान किया था। मैं उन श्लोकोंका वर्णन करता हूँ, आप सुनिये— ॥ २० ॥

मनोदेहसमुत्थाभ्यां दुःखाभ्यामर्दितं जगत् ।
तयोर्व्याससमासाभ्यां शमोपायमिमं शृणु ॥ २१ ॥

'सारा जगत् मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे पीडित है। उन दोनों प्रकारके दुःखोंकी शान्तिका यह उपाय संक्षेप और विस्तारसे सुनिये ॥ २१ ॥

व्याधेरनिष्टसंस्पर्शाच्छ्रमादिष्टविवर्जनात् ।
दुःखं चतुर्भिः शारीरं कारणैः सम्प्रवर्तते ॥ २२ ॥

'रोग, अप्रिय घटनाओंकी प्राप्ति, अधिक परिश्रम तथा प्रिय वस्तुओंका वियोग—इन चार कारणोंसे शारीरिक दुःख प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

तदा तत्प्रतिकाराच्च सततं चाविचिन्तनात् ।
आधिव्याधिप्रशमनं क्रियायोगद्वयेन तु ॥ २३ ॥

'समयपर इन चारों कारणोंका प्रतीकार करना एवं कभी भी उसका चिन्तन न करना—ये दो क्रियायोग (दुःख-निवारक उपाय) हैं। इन्हींसे आधि-व्याधिकी शान्ति होती है ॥

मतिमन्तो ह्यतो वैद्याः शमं प्रागेव कुर्वते ।
मानसस्य प्रियाख्यानैः सम्भोगोपनयैर्नृणाम् ॥ २४ ॥

'अतः बुद्धिमान् तथा विद्वान् पुरुष प्रिय वचन बोलकर तथा हितकर भोगोंकी प्राप्ति कराकर पहले मनुष्योंके मानसिक दुःखोंका ही निवारण किया करते हैं ॥ २४ ॥

मानसेन हि दुःखेन शरीरमुपतप्यते ।
अयःपिण्डेन तप्तेन कुम्भसंस्थमिवोदकम् ॥ २५ ॥

'क्योंकि मनमें दुःख होनेपर शरीर भी संतप्त होने लगता है; ठीक वैसे ही, जैसे तपाया हुआ लोहेका गोला डाल देनेपर घड़ेमें रक्खा हुआ शीतल जल भी गरम हो जाता है ॥

मानसं शमयेत् तस्माज्ज्ञानेनाग्निमिवाम्बुना ।
प्रशान्ते मानसे ह्यस्य शारीरमुपशाम्यति ॥ २६ ॥

'इसलिये जलसे अग्निको शान्त करनेकी भाँति ज्ञानके द्वारा मानसिक दुःखको शान्त करना चाहिये। मनका दुःख मिट जानेपर मनुष्यके शरीरका दुःख भी दूर हो जाता है ॥

मनसो दुःखमूलं तु स्नेह इत्युपलभ्यते ।
स्नेहात् तु सज्जते जन्तुर्दुःखयोगमुपैति च ॥ २७ ॥

'मनके दुःखका मूल कारण क्या है ? इसका पता लगानेपर 'स्नेह' (संसारमें आसक्ति) की ही उपलब्धि होती है। इसी स्नेहके कारण ही जीव कहीं आसक्त होता और दुःख पाता है ॥ २७ ॥

स्नेहमूलानि दुःखानि स्नेहजानि भयानि च ।
शोकहर्षौ तथाऽऽयासः सर्वं स्नेहात् प्रवर्तते ॥ २८ ॥
स्नेहाद् भावोऽनुरागश्च प्रजज्ञे विषये तथा ।
अश्रेयस्कावुभावेतौ पूर्वस्तत्र गुरुः स्मृतः ॥ २९ ॥

'दुःखका मूल कारण है आसक्ति। आसक्तिसे ही भय होता है। शोक, हर्ष तथा क्लेश—इन सबकी प्राप्ति भी आसक्तिके कारण ही होती है। आसक्तिसे ही विषयोंमें भाव और अनुराग होते हैं। ये दोनों ही अमङ्गलकारी हैं। इनमें भी पहला अर्थात् विषयोंके प्रति भाव महान् अनर्थकारक माना गया है॥ २८-२९॥

कोटराग्निर्यथाशेषं समूलं पादपं दहेत्।
धर्मार्थौ तु तथाल्पोऽपि रागदोषो विनाशयेत्॥ ३०॥

'जैसे खोखलेमें लगी हुई आग सम्पूर्ण वृक्षको जड़-मूल-सहित जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार विषयोंके प्रति थोड़ी-सी भी आसक्ति धर्म और अर्थ दोनोंका नाश कर देती है॥ ३०॥

विप्रयोगे न तु त्यागी दोषदर्शी समागमे।
विरागं भजते जन्तुर्निर्वैरो निरवग्रहः॥ ३१॥

'विषयोंके प्राप्त न होनेपर जो उनका त्याग करता है, वह त्यागी नहीं है; अपितु जो विषयोंके प्राप्त होनेपर भी उनमें दोष देखकर उनका परित्याग करता है, वस्तुतः वही त्यागी है—वही वैराग्यको प्राप्त होता है। उसके मनमें किसीके प्रति द्वेषभाव न होनेके कारण वह निर्वैर तथा बन्धन-मुक्त होता है॥ ३१॥

तस्मात् स्नेहं न लिप्सेत मित्रेभ्यो धनसंचयात्।
स्वशरीरसमुत्थं च ज्ञानेन विनिवर्तयेत्॥ ३२॥

'इसलिये मित्रों तथा धनराशिको पाकर इनके प्रति स्नेह (आसक्ति) न करे। अपने शरीरसे उत्पन्न हुई आसक्तिको ज्ञानसे निवृत्त करे॥ ३२॥

ज्ञानान्वितेषु युक्तेषु शास्त्रज्ञेषु कृतात्मसु।
न तेषु सज्जते स्नेहः पद्मपत्रेष्विवोदकम्॥ ३३॥

'जो ज्ञानी, योगयुक्त, शास्त्रज्ञ तथा मनको वशमें रखनेवाले हैं, उनपर आसक्तिका प्रभाव उसी प्रकार नहीं पड़ता, जैसे कमलके पत्तेपर जल नहीं ठहरता॥ ३३॥

रागाभिभूतः पुरुषः कामेन परिकृष्यते।
इच्छा संजायते तस्य ततस्तृष्णा विवर्धते॥ ३४॥
तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता।
अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी॥ ३५॥

'रागके वशीभूत हुए पुरुषको काम अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। फिर उसके मनमें कामभोगकी इच्छा जाग उठती है। तत्पश्चात् तृष्णा बढ़ने लगती है। तृष्णा सबसे बढ़कर पापिष्ठ (पापमें प्रवृत्त करनेवाली) तथा नित्य उद्वेग करनेवाली बतायी गयी है। उसके द्वारा प्रायः अधर्म ही होता है। वह अत्यन्त भयंकर पापबन्धनमें डालनेवाली है॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥ ३६॥

'खोटी बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये जिसे त्यागना अत्यन्त कठिन है, जो शरीरके जरासे जीर्ण हो जानेपर भी स्वयं जीर्ण नहीं होती तथा जिसे प्राणनाशक रोग बताया गया है, उस तृष्णाको जो त्याग देता है, उसीको सुख मिलता है॥ ३६॥

अनाद्यन्ता तु सा तृष्णा अन्तर्देहगता नृणाम्।
विनाशयति भूतानि अयोनिज इवानलः॥ ३७॥

'यह तृष्णा यद्यपि मनुष्योंके शरीरके भीतर ही रहती है, तो भी इसका कहीं आदि-अन्त नहीं है। लोहेके पिण्डकी आगके समान यह तृष्णा प्राणियोंका विनाश कर देती है॥

यथैधः स्वसमुत्थेन वह्निना नाशमृच्छति।
तथाकृतात्मा लोभेन सहजेन विनश्यति॥ ३८॥

'जैसे काष्ठ अपनेसे ही उत्पन्न हुई आगसे जलकर भस्म हो जाता है, उसी प्रकार जिसका मन वशमें नहीं है, वह मनुष्य अपने शरीरके साथ उत्पन्न हुए लोभके द्वारा स्वयं नष्ट हो जाता है॥ ३८॥

राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव॥ ३९॥

'धनवान् मनुष्योंको राजा, जल, अग्नि, चोर तथा स्वजनोंसे भी सदा उसी प्रकार भय बना रहता है, जैसे सब प्राणियोंको मृत्युसे॥ ३९॥

यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि।
भक्ष्यते सलिले मत्स्यैस्तथा सर्वत्र वित्तवान्॥ ४०॥

'जैसे मांसके टुकड़ेको आकाशमें पक्षी, पृथ्वीपर हिंस्र जन्तु तथा जलमें मछलियाँ खा जाती हैं, उसी प्रकार धनवान् पुरुषको सब लोग सर्वत्र नोचते रहते हैं॥ ४०॥

अर्थ एव हि केषांचिदनर्थं भजते नृणाम्।
अर्थश्रेयसि चासक्तो न श्रेयो विन्दते नरः॥ ४१॥

'कितने ही मनुष्योंके लिये अर्थ ही अनर्थका कारण बन जाता है; क्योंकि अर्थद्वारा सिद्ध होनेवाले श्रेय (सांसारिक भोग) में आसक्त मनुष्य वास्तविक कल्याणको नहीं प्राप्त होता॥ ४१॥

तस्मादर्थागमाः सर्वे मनोमोहविवर्धनाः।
कार्पण्यं दर्पमानौ च भयमुद्वेग एव च॥ ४२॥
अर्थजानि विदुः प्राज्ञा दुःखान्येतानि देहिनाम्।
अर्थस्योत्पादने चैव पालने च तथा क्षये॥ ४३॥
सहन्ति च महद् दुःखं घ्नन्ति चैवार्थकारणात्।
अर्था दुःखं परित्यक्तुं पालिताश्चैव शत्रवः॥ ४४॥

'इसलिये धन-प्राप्तिके सभी उपाय मनमें मोह बढ़ानेवाले हैं। कृपणता, घमण्ड, अभिमान, भय और उद्वेग इन्हें विद्वानोंने देहधारियोंके लिये धनजनित दुःख माना है। धनके

उपार्जन, संरक्षण तथा व्ययमें मनुष्य महान् दुःख सहन करते हैं और धनके ही कारण एक दूसरेको मार डालते हैं। धनको त्यागनेमें भी महान् दुःख होता है और यदि उसकी रक्षा की जाय तो वह शत्रुका-सा काम करता है* ॥४२–४४॥

दुःखेन चाधिगम्यन्ते तस्मान्नाशं न चिन्तयेत्।
असंतोषपरा मूढाः संतोषं यान्ति पण्डिताः ॥ ४५ ॥

'धनकी प्राप्ति भी दुःखसे ही होती है। इसलिये उसका चिन्तन न करे; क्योंकि धनकी चिन्ता करना अपना नाश करना है। मूर्ख मनुष्य सदा असंतुष्ट रहते हैं और विद्वान् पुरुष संतुष्ट ॥ ४५ ॥

अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम्।
तस्मात् संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः ॥ ४६ ॥

'धनकी प्यास कभी बुझती नहीं है; अतः संतोष ही परम सुख है। इसीलिये ज्ञानीजन संतोषको ही सबसे उत्तम समझते हैं ॥ ४६ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं रत्नसंचयः।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः ॥ ४७ ॥

'यौवन, रूप, जीवन, रत्नोंका संग्रह, ऐश्वर्य तथा प्रियजनोंका एकत्र निवास—ये सभी अनित्य हैं; अतः विद्वान् पुरुष उनकी अभिलाषा न करे ॥ ४७ ॥

त्यजेत संचयांस्तस्मात्तज्जान् क्लेशान् सहेत च।
न हि संचयवान् कश्चिद् दृश्यते निरुपद्रवः।
अतश्च धार्मिकैः पुंभिरनीहार्थः प्रशस्यते ॥ ४८ ॥

'इसलिये धन-संग्रहका त्याग करे और उसके त्यागसे जो क्लेश हो, उसे धैर्यपूर्वक सह ले। जिनके पास धनका संग्रह है, ऐसा कोई भी मनुष्य उपद्रवरहित नहीं देखा जाता है। अतः धर्मात्मा पुरुष उसी धनकी प्रशंसा करते हैं, जो दैवेच्छासे न्यायपूर्वक स्वतः प्राप्त हो गया हो ॥ ४८ ॥

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पंकस्य श्रेयो न स्पर्शनं नृणाम् ॥ ४९ ॥

'जो धर्म करनेके लिये धनोपार्जनकी इच्छा करता है, उसका धनकी इच्छा न करना ही अच्छा है। कीचड़ लगाकर धोनेकी अपेक्षा मनुष्योंके लिये उसका स्पर्श न करना ही श्रेष्ठ है ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिरैवं सर्वेषु न स्पृहां कर्तुमर्हसि।
धर्मेण यदि ते कार्यं विमुक्तेच्छो भवार्थतः ॥ ५० ॥

'युधिष्ठिर! इस प्रकार आपके लिये किसी भी वस्तुकी अभिलाषा करनी उचित नहीं है। यदि आपको धर्मसे ही प्रयोजन हो तो धनकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर दें' ॥५०॥

युधिष्ठिर उवाच

नार्थोपभोगलिप्सार्थमियमर्थेप्सुता मम।
भरणार्थं तु विप्राणां ब्रह्मन् काङ्क्षे न लोभतः ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—ब्रह्मन्! मैं जो धन चाहता हूँ, वह इसलिये नहीं कि मुझे धनसम्बन्धी भोग भोगनेकी इच्छा है; मैं तो ब्राह्मणोंके भरण-पोषणके लिये ही धनकी इच्छा रखता हूँ, लोभवश नहीं ॥ ५१ ॥

कथं ह्यस्मद्विधो ब्रह्मन् वर्तमानो गृहाश्रमे।
भरणं पालनं चापि न कुर्यादनुयायिनाम् ॥ ५२ ॥

विप्रवर! गृहस्थ-आश्रममें रहनेवाला मेरे-जैसा पुरुष अपने अनुयायियोंका भरण-पोषण भी न करे, यह कैसे उचित हो सकता है? ॥ ५२ ॥

संविभागो हि भूतानां सर्वेषामेव दृश्यते।
तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ॥ ५३ ॥

गृहस्थके भोजनमें देवता, पितर, मनुष्य एवं समस्त प्राणियोंका हिस्सा देखा जाता है। गृहस्थका यह धर्म है कि वह अपने हाथसे भोजन न बनानेवाले संन्यासी आदिको अवश्य पका-पकाया अन्न दे ॥ ५३ ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ५४ ॥

आसनके लिये तृण (कुश), बैठनेके लिये स्थान, जल और चौथी मधुर वाणी, सत्पुरुषोंके घरमें इन चार वस्तुओंका अभाव कभी नहीं होता ॥ ५४ ॥

देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम्।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ॥ ५५ ॥

रोग आदिसे पीड़ित मनुष्यको सोनेके लिये शय्या, थके-माँदे हुएको बैठनेके लिये आसन, प्यासेको पानी और भूखेको भोजन तो देना ही चाहिये ॥ ५५ ॥

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्यात् सुभाषिताम्।
उत्थाय चासनं दद्यादेष धर्मः सनातनः।
प्रत्युत्थायाभिगमनं कुर्यान्न्यायेन चार्चनम् ॥ ५६ ॥

जो अपने घरपर आ जाय, उसे प्रेमभरी दृष्टिसे देखे, मनसे उसके प्रति उत्तम भाव रखे, उससे मीठे वचन बोले और उठकर उसके लिये आसन दे। यह गृहस्थका सनातन धर्म है। अतिथिको आते देख उठकर उसकी अगवानी और यथोचित रीतिसे उसका आदर-सत्कार करे ॥ ५६ ॥

अग्निहोत्रमनड्वांश्च ज्ञातयोऽतिथिबान्धवाः।
पुत्रा दाराश्च भृत्याश्च निर्दहेयुरपूजिताः ॥ ५७ ॥

* धनके लोभसे मनुष्य रक्षककी हत्या कर डालते हैं।

यदि गृहस्थ मनुष्य अग्निहोत्र, साँड, जाति-भाई, अतिथि-अभ्यागत, बन्धु-बान्धव, स्त्री-पुत्र तथा भृत्य-जनोंका आदर-सत्कार न करे, तो वे अपनी क्रोधाग्निसे उसे जला सकते हैं ॥ ५७ ॥

आत्मार्थं पाचयेन्नान्नं न वृथा घातयेत् पशून् ।
न च तत् स्वयमश्नीयाद् विधिवद् यन्न निर्वपेत् ॥ ५८ ॥

केवल अपने लिये अन्न न पकावे (देवता-पितरों एवं अतिथियोंके उद्देश्यसे ही भोजन बनानेका विधान है), निकम्मे पशुओंकी भी हिंसा न करे और जिस वस्तुको विधिपूर्वक देवता आदिके लिये अर्पित न करे, उसे स्वयं भी न खाय ॥ ५८ ॥

श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद् भुवि ।
वैश्वदेवं हि नामैतत् सायं प्रातश्च दीयते ॥ ५९ ॥

कुत्तों, चाण्डालों और कौवोंके लिये पृथ्वीपर अन्न डाल दे । यह वैश्वदेव नामक महान् यज्ञ है, जिसका अनुष्ठान प्रातःकाल और सायंकालमें भी किया जाता है ॥ ५९ ॥

विघसाशी भवेत् तस्मान्नित्यं चामृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥ ६० ॥

अतः गृहस्थ मनुष्य प्रतिदिन विघस एवं अमृत भोजन करे । घरके सब लोगोंके भोजन कर लेनेपर जो अन्न शेष रह जाय उसे 'विघस' कहते हैं तथा बलिवैश्वदेवसे बचे हुए अन्नका नाम 'अमृत' है ॥ ६० ॥

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम् ।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥ ६१ ॥

अतिथिको नेत्र दे (उसे प्रेमभरी दृष्टिसे देखे), मन दे (मनसे हित-चिन्तन करे) तथा मधुर वाणी प्रदान करे (सत्य, प्रिय, हितकी बात कहे) । जब वह जाने लगे, तब कुछ दूरतक उसके पीछे-पीछे जाय और जबतक वह घरपर रहे, तबतक उसके पास बैठे (उसकी सेवामें लगा रहे) । यह पाँच प्रकारकी दक्षिणाओंसे युक्त अतिथि-यज्ञ है ॥ ६१ ॥

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत् ॥ ६२ ॥

जो गृहस्थ अपरिचित थके-माँदे पथिकको प्रसन्नतापूर्वक भोजन देता है, उसे महान् पुण्यफलकी प्राप्ति होती है ॥६२॥

एवं यो वर्तते वृत्तिं वर्तमानो गृहाश्रमे ।
तस्य धर्मं परं प्राहुः कथं वा विप्र मन्यसे ॥ ६३ ॥

ब्रह्मन् ! जो गृहस्थ इस वृत्तिसे रहता है, उसके लिये उत्तम धर्मकी प्राप्ति बतायी गयी है, अथवा इस विषयमें आपकी क्या सम्मति है ? ॥ ६३ ॥

शौनक उवाच

अहो बत महत् कष्टं विपरीतमिदं जगत् ।
येनापत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यति ॥ ६४ ॥

शौनकजीने कहा—अहो ! बहुत दुःखकी बात है, इस जगत्में विपरीत बातें दिखायी देती हैं । साधु पुरुष जिस कर्मसे लज्जित होते हैं, दुष्ट मनुष्योंको उसीसे प्रसन्नता प्राप्त होती है ॥ ६४ ॥

शिश्नोदरकृतेऽप्राज्ञः करोति विघसं बहु ।
मोहरागवशाक्रान्त इन्द्रियार्थवशानुगः ॥ ६५ ॥

अज्ञानी मनुष्य अपनी जननेन्द्रिय तथा उदरकी तृप्तिके लिये मोह एवं रागके वशीभूत हो विषयोंका अनुसरण करता हुआ नाना प्रकारकी विषय-सामग्रीको यज्ञावशेष मानकर उसका संग्रह करता है ॥ ६५ ॥

ह्रियते बुध्यमानोऽपि नरो हारिभिरिन्द्रियैः ।
विमूढसंज्ञो दुष्टाश्वैरुद्भ्रान्तैरिव सारथिः ॥ ६६ ॥

समझदार मनुष्य भी मनको हर लेनेवाली इन्द्रियोंद्वारा विषयोंकी ओर खींच लिया जाता है । उस समय उसकी विचारशक्ति मोहित हो जाती है । जैसे दुष्ट घोड़े वशमें न होनेपर सारथिको कुमार्गमें घसीट ले जाते हैं, यही दशा उस अजितेन्द्रिय पुरुषकी भी होती है ॥ ६६ ॥

षडिन्द्रियाणि विषयं समागच्छन्ति वै यदा ।
तदा प्रादुर्भवत्येषां पूर्वसंकल्पजं मनः ॥ ६७ ॥

जब मन और पाँचों इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं, उस समय प्राणियोंके पूर्वसंकल्पके अनुसार उसीकी वासनासे वासित मन विचलित हो उठता है ॥ ६७ ॥

मनो यस्येन्द्रियस्येह विषयान् याति सेवितुम् ।
तस्यौत्सुक्यं सम्भवति प्रवृत्तिश्चोपजायते ॥ ६८ ॥

मन जिस इन्द्रियके विषयोंका सेवन करने जाता है, उसीमें उस विषयके प्रति उत्सुकता भर जाती है और वह इन्द्रिय उस विषयके उपभोगमें प्रवृत्त हो जाती है ॥ ६८ ॥

ततः संकल्पबीजेन कामेन विषयेषुभिः ।
विद्धः पतति लोभाग्नौ ज्योतिर्लोभात् पतङ्गवत् ॥ ६९ ॥

तदनन्तर संकल्प ही जिसका बीज है, उस कामके द्वारा विषयरूपी बाणोंसे बिंधकर मनुष्य ज्योतिके लोभसे पतंगकी भाँति लोभकी आगमें गिर पड़ता है ॥ ६९ ॥

ततो विहारैराहारैर्मोहितश्च यथेप्सया ।
महामोहे सुखे मग्नो नात्मानमवबुध्यते ॥ ७० ॥

इसके बाद इच्छानुसार आहार-विहारसे मोहित हो महामोहमय सुखमें निमग्न रहकर वह मनुष्य अपने आत्माके ज्ञानसे वञ्चित हो जाता है ॥ ७० ॥

एवं पततिं संसारे तासु तास्विह योनिषु ।
अविद्याकर्मतृष्णाभिर्भ्राम्यमाणोऽथ चक्रवत् ॥ ७१ ॥

इस प्रकार अविद्या, कर्म और तृष्णाद्वारा चक्रकी भाँति भ्रमण करता हुआ मनुष्य संसारकी विभिन्न योनियोंमें गिरता है ॥

ब्रह्मादिषु तृणान्तेषु भूतेषु परिवर्तते ।
जले भुवि तथाऽऽकाशे जायमानः पुनः पुनः ॥ ७२ ॥

फिर तो ब्रह्माजीसे लेकर तृणपर्यन्त सभी प्राणियोंमें तथा जल, भूमि और आकाशमें वह मनुष्य बारम्बार जन्म लेकर चक्कर लगाता रहता है ॥ ७२ ॥

अबुधानां गतिस्त्वेषा बुधानामपि मे शृणु ।
ये धर्मे श्रेयसि रता विमोक्षरतयो जनाः ॥ ७३ ॥

यह अविवेकी पुरुषोंकी गति बतायी गयी है । अब आप मुझसे विवेकी पुरुषोंकी गतिका वर्णन सुनें । जो धर्म एवं कल्याणमार्गमें तत्पर हैं और मोक्षके विषयमें जिनका निरन्तर अनुराग है, वे विवेकी हैं ॥ ७३ ॥

तदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ।
तस्माद् धर्मानिमान् सर्वान् नाभिमानात् समाचरेत् ७४

वेदकी यह आज्ञा है कि कर्म करो और कर्म छोड़ो; अतः आगे बताये जानेवाले इन सभी धर्मोंका अहंकारशून्य होकर अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ७४ ॥

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ ७५ ॥

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, मन और इन्द्रियोंका संयम तथा लोभका परित्याग—ये धर्मके आठ मार्ग हैं ॥ ७५ ॥

अत्र पूर्वश्चतुर्वर्गः पितृयाणपथे स्थितः ।
कर्तव्यमिति यत् कार्यं नाभिमानात् समाचरेत् ॥ ७६ ॥

इनमें पहले बताये हुए चार धर्म पितृयानके मार्गमें स्थित हैं अर्थात् इन चारोंका सकामभावसे अनुष्ठान करनेपर ये पितृयानमार्गसे ले जाते हैं । अग्निहोत्र और संध्योपासनादि जो अवश्य करनेयोग्य कर्म हैं, उन्हें कर्तव्य-बुद्धिसे ही अभिमान छोड़कर करे ॥ ७६ ॥

उत्तरो देवयानस्तु सद्भिराचरितः सदा ।
अष्टाङ्गेनैव मार्गेण विशुद्धात्मा समाचरेत् ॥ ७७ ॥

अन्तिम चार धर्मोंको देवयानमार्गका स्वरूप बताया गया है । साधु पुरुष सदा उसी मार्गका आश्रय लेते हैं । आगे बताये जानेवाले आठ अङ्गोंसे युक्त मार्गद्वारा अपने अन्तःकरणको शुद्ध करके कर्तव्य कर्मोंका कर्तृत्वके अभिमानसे रहित होकर पालन करे ॥ ७७ ॥

सम्यक्संकल्पसंबन्धात् सम्यक् चेन्द्रियनिग्रहात्।
सम्यग्व्रतविशेषाच्च सम्यक च गुरुसेवनात् ॥ ७८ ॥
सम्यगाहारयोगाच्च सम्यक् चाध्ययनागमात् ।
सम्यक्कर्मोपसंन्यासात् सम्यक्चित्तनिरोधनात्॥ ७९ ॥

पूर्णतया संकल्पोंको एक ध्येयमें लगा देनेसे, इन्द्रियोंको भली प्रकार वशमें कर लेनेसे, अहिंसादि व्रतोंका अच्छी प्रकार पालन करनेसे, भली प्रकार गुरुकी सेवा करनेसे, यथायोग्य योगसाधनोपयोगी आहार करनेसे, वेदादिका भली प्रकार अध्ययन करनेसे, कर्मोंको भली-भाँति भगवत्समर्पण करनेसे और चित्तका भली प्रकार निरोध करनेसे मनुष्य परम कल्याणको प्राप्त होता है ॥ ७८-७९ ॥

एवं कर्माणि कुर्वन्ति संसारविजिगीषवः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता ऐश्वर्यं देवता गताः ॥ ८० ॥

संसारको जीतनेकी इच्छावाले बुद्धिमान् पुरुष इसी प्रकार राग-द्वेषसे मुक्त होकर कर्म करते हैं । इन्हीं नियमोंके पालनसे देवतालोग ऐश्वर्यको प्राप्त हुए हैं ॥ ८० ॥

रुद्राः साध्यास्तथाऽऽदित्या वसवोऽथ तथाश्विनौ ।
योगैश्वर्येण संयुक्ता धारयन्ति प्रजा इमाः ॥ ८१ ॥

रुद्र, साध्य, आदित्य, वसु तथा दोनों अश्विनीकुमार योगजनित ऐश्वर्यसे युक्त होकर इन प्रजाजनोंका धारण-पोषण करते हैं ॥ ८१ ॥

तथा त्वमपि कौन्तेय शममास्थाय पुष्कलम् ।
तपसा सिद्धिमन्विच्छ योगसिद्धिं च भारत ॥ ८२ ॥

कुन्तीनन्दन ! इसी प्रकार आप भी मन और इन्द्रियोंको भलीभाँति वशमें करके तपस्याद्वारा सिद्धि तथा योगजनित ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी चेष्टा कीजिये ॥ ८२ ॥

पितृमातृमयी सिद्धिः प्राप्ता कर्ममयी च ते ।
तपसा सिद्धिमन्विच्छ द्विजानां भरणाय वै ॥ ८३ ॥

यज्ञ, युद्धादि कर्मोंसे प्राप्त होनेवाली सिद्धि पितृ-मातृमयी (परलोक और इहलोकमें भी लाभ पहुँचानेवाली) है, जो आपको प्राप्त हो चुकी है । अब तपस्याद्वारा वह योगसिद्धि प्राप्त करनेका प्रयत्न कीजिये, जिससे ब्राह्मणोंका भरण-पोषण हो सके ॥ ८३ ॥

सिद्धा हि यद् यदिच्छन्ति कुर्वते तदनुग्रहात् ।
तस्मात्तपः समास्थाय कुरुष्वात्ममनोरथम् ॥ ८४ ॥

सिद्ध पुरुष जो-जो वस्तु चाहते हैं, उसे अपने तपके प्रभावसे प्राप्त कर लेते हैं । अतः आप तपस्याका आश्रय लेकर अपने मनोरथकी पूर्ति कीजिये ॥ ८४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि पाण्डवानां प्रव्रजने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें पाण्डवोंका प्रव्रजन (वन-गमन) विषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा अन्नके लिये भगवान् सूर्यकी उपासना और उनसे अक्षयपात्रकी प्राप्ति

वैशम्पायन उवाच

शौनकेनैवमुक्तस्तु कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पुरोहितमुपागम्य भ्रातृमध्येऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शौनकके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अपने पुरोहितके पास आकर भाइयोंके बीचमें इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

प्रस्थितं मानुयान्तीमे ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
न चास्मि पोषणे शक्तो बहुदुःखसमन्वितः ॥ २ ॥

'विप्रवर ! ये वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मण मेरे साथ वनमें चल रहे हैं। परंतु मैं इनका पालन-पोषण करनेमें असमर्थ हूँ, यह सोचकर मुझे बड़ा दुःख हो रहा है ॥ २ ॥

परित्यक्तुं न शक्तोऽस्मि दानशक्तिश्च नास्ति मे ।
कथमत्र मया कार्यं तद् ब्रूहि भगवन् मम ॥ ३ ॥

'भगवन् ! मैं इन सबका त्याग नहीं कर सकता; परंतु इस समय मुझमें इन्हें अन्न देनेकी शक्ति नहीं है। ऐसी अवस्थामें मुझे क्या करना चाहिये ? यह कृपा करके बताइये' ॥

वैशम्पायन उवाच

मुहूर्तमिव स ध्यात्वा धर्मेणान्विष्य तां गतिम् ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं धौम्यो धर्मभृतां वरः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धौम्य मुनिने युधिष्ठिरका प्रश्न सुनकर दो घड़ीतक ध्यान-सा लगाया और धर्मपूर्वक उस उपायका अन्वेषण करनेके पश्चात् उनसे इस प्रकार कहा ॥ ४ ॥

धौम्य उवाच

पुरा सृष्टानि भूतानि पीड्यन्ते क्षुधया भृशम् ।
ततोऽनुकम्पया तेषां सविता स्वपिता यथा ॥ ५ ॥
गत्वोत्तरायणं तेजो रसानुद्धृत्य रश्मिभिः ।
दक्षिणायनमावृत्तो महीं निविशते रविः ॥ ६ ॥

धौम्य बोले—राजन् ! सृष्टिके प्रारम्भकालमें जब सभी प्राणी भूखसे अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे, तब भगवान् सूर्यने पिताकी भाँति उन सबपर दया करके उत्तरायणमें जाकर अपनी किरणोंसे पृथ्वीका रस (जल) खींचा और दक्षिणायनमें लौटकर पृथ्वीको उस रससे आविष्ट किया ॥५-६॥

क्षेत्रभूते ततस्तस्मिन्नोषधीरोषधीपतिः ।
दिवस्तेजः समुद्धृत्य जनयामास वारिणा ॥ ७ ॥

इस प्रकार जब सारे भूमण्डलमें क्षेत्र तैयार हो गया, तब ओषधियोंके स्वामी चन्द्रमाने अन्तरिक्षमें मेघोंके रूपमें परिणत हुए सूर्यके तेजको प्रकट करके उसके द्वारा बरसाये हुए जलसे अन्न आदि ओषधियोंको उत्पन्न किया ॥ ७ ॥

निषिक्तश्चन्द्रतेजोभिः स्वयोनौ निर्गते रविः ।
ओषध्यः षड्रसा मेध्यास्तदन्नं प्राणिनां भुवि ॥ ८ ॥

चन्द्रमाकी किरणोंसे अभिषिक्त हुआ सूर्य जब अपनी प्रकृतिमें स्थित हो जाता है, तब छः प्रकारके रसोंसे युक्त पवित्र ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। वही पृथ्वीमें प्राणियोंके लिये अन्न होता है ॥ ८ ॥

एवं भानुमयं ह्यन्नं भूतानां प्राणधारणम् ।
पितैष सर्वभूतानां तस्मात् तं शरणं व्रज ॥ ९ ॥

इस प्रकार सभी जीवोंके प्राणोंकी रक्षा करनेवाला अन्न सूर्यरूप ही है। अतः भगवान् सूर्य ही समस्त प्राणियोंके पिता हैं, इसलिये तुम उन्हींकी शरणमें जाओ ॥ ९ ॥

राजानो हि महात्मानो योनिकर्मविशोधिताः ।
उद्धरन्ति प्रजाः सर्वास्तप आस्थाय पुष्कलम् ॥ १० ॥

जो जन्म और कर्म दोनों ही दृष्टियोंसे परम उज्ज्वल हैं, ऐसे महात्मा राजा भारी तपस्याका आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्रजाजनोंका संकटसे उद्धार करते हैं ॥ १० ॥

भीमेन कार्तवीर्येण वैन्येन नहुषेण च ।
तपोयोगसमाधिस्थैरुद्धृता ह्यापदः प्रजाः ॥ ११ ॥

भीम, कार्तवीर्य अर्जुन, वेनपुत्र पृथु तथा नहुष आदि नरेशोंने तपस्या, योग और समाधिमें स्थित होकर भारी आपत्तियोंसे प्रजाको उबारा है ॥ ११ ॥

तथा त्वमपि धर्मात्मन् कर्मणा च विशोधितः ।
तप आस्थाय धर्मेण द्विजातीन् भर भारत ॥ १२ ॥

धर्मात्मा भारत ! इसी प्रकार तुम भी सत्कर्मसे शुद्ध होकर तपस्याका आश्रय ले धर्मानुसार द्विजातियोंका भरण-पोषण करो ॥ १२ ॥

जनमेजय उवाच

कथं कुरूणामृषभः स तु राजा युधिष्ठिरः ।
विप्रार्थमाराधितवान् सूर्यमद्भुतदर्शनम् ॥ १३ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! पुरुषश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंके भरण-पोषणके लिये, जिनका दर्शन अत्यन्त अद्भुत है, उन भगवान् सूर्यकी आराधना किस प्रकार की ? ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणुष्वावहितो राजञ्शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
क्षणं च कुरु राजेन्द्र सम्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा--राजेन्द्र ! मैं सब बातें बता रहा हूँ । तुम सावधान, पवित्र और एकाग्रचित्त होकर सुनो और धैर्य रक्खो ॥ १४ ॥

धौम्येन तु यथा पूर्वं पार्थाय सुमहात्मने ।
नामाष्टशतमाख्यातं तच्छृणुष्व महामते ॥ १५ ॥

महामते ! धौम्यने जिस प्रकार महात्मा युधिष्ठिरको पहले भगवान् सूर्यके एक सौ आठ नाम बताये थे, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ १५ ॥

धौम्य उवाच

सूर्योऽर्यमा भगस्त्वष्टा पूषार्कः सविता रविः ।
गभस्तिमानजः कालो मृत्युर्धाता प्रभाकरः ॥ १६ ॥
पृथिव्यापश्च तेजश्च खं वायुश्च परायणम् ।
सोमो बृहस्पतिः शुक्रो बुधोऽङ्गारक एव च ॥ १७ ॥
इन्द्रो विवस्वान् दीप्तांशुः शुचिः शौरिः शनैश्चरः ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च स्कन्दो वै वरुणो यमः ॥ १८ ॥
वैद्युतो जाठरश्चाग्निरैन्धनस्तेजसां पतिः ।
धर्मध्वजो वेदकर्ता वेदाङ्गो वेदवाहनः ॥ १९ ॥
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिः सर्वमलाश्रयः ।
कला काष्ठा मुहूर्ताश्च क्षपा यामस्तथा क्षणः ॥ २० ॥
संवत्सरकरोऽश्वत्थः कालचक्रो विभावसुः ।
पुरुषः शाश्वतो योगी व्यक्ताव्यक्तः सनातनः ॥ २१ ॥
कालाध्यक्षः प्रजाध्यक्षो विश्वकर्मा तमोनुदः ।
वरुणः सागरोंऽशुश्च जीमूतो जीवनोऽरिहा ॥ २२ ॥
भूताश्रयो भूतपतिः सर्वलोकनमस्कृतः ।
स्रष्टा संवर्तको वह्निः सर्वस्यादिरलोलुपः ॥ २३ ॥
अनन्तः कपिलो भानुः कामदः सर्वतोमुखः ।
जयो विशालो वरदः सर्वधातुनिषेचिता ॥ २४ ॥
मनःसुपर्णो भूतादिः शीघ्रगः प्राणधारकः ।
धन्वन्तरिर्धूमकेतुरादिदेवोऽदितेः सुतः ॥ २५ ॥
द्वादशात्मारविन्दाक्षः पिता माता पितामहः ।
स्वर्गद्वारं प्रजाद्वारं मोक्षद्वारं त्रिविष्टपम् ॥ २६ ॥
देहकर्ता प्रशान्तात्मा विश्वात्मा विश्वतोमुखः ।
चराचरात्मा सूक्ष्मात्मा मैत्रेयः करुणान्वितः ॥ २७ ॥
एतद् वै कीर्तनीयस्य सूर्यस्यामिततेजसः ।
नामाष्टशतकं चेदं प्रोक्तमेतत् स्वयंभुवा ॥ २८ ॥

धौम्य बोले--१ सूर्य, २ अर्यमा, ३ भग, ४ त्वष्टा, ५ पूषा, ६ अर्क, ७ सविता, ८ रवि, ९ गभस्तिमान्, १० अज, ११ काल, १२ मृत्यु, १३ धाता, १४ प्रभाकर, १५ पृथिवी, १६ आप, १७ तेज, १८ ख (आकाश), १९ वायु, २० परायण, २१ सोम, २२ बृहस्पति, २३ शुक्र, २४ बुध, २५ अङ्गारक (मङ्गल), २६ इन्द्र, २७ विवस्वान्, २८ दीप्तांशु, २९ शुचि, ३० शौरि, ३१ शनैश्चर, ३२ ब्रह्मा, ३३ विष्णु, ३४ रुद्र, ३५ स्कन्द, ३६ वरुण, ३७ यम, ३८ वैद्युताग्नि, ३९ जाठराग्नि, ४० ऐन्धनाग्नि, ४१ तेजःपति, ४२ धर्मध्वज, ४३ वेदकर्ता, ४४ वेदाङ्ग, ४५ वेदवाहन, ४६ कृत, ४७ त्रेता, ४८ द्वापर, ४९ सर्वमलाश्रय कलि, ५० कला-काष्ठा-मुहूर्तरूप समय, ५१ क्षपा (रात्रि), ५२ याम, ५३ क्षण, ५४ संवत्सरकर, ५५ अश्वत्थ, ५६ कालचक्रप्रवर्तक विभावसु, ५७ शाश्वत पुरुष, ५८ योगी, ५९ व्यक्ताव्यक्त, ६० सनातन, ६१ कालाध्यक्ष, ६२ प्रजाध्यक्ष, ६३ विश्वकर्मा, ६४ तमोनुद, ६५ वरुण, ६६ सागर, ६७ अंशु, ६८ जीमूत, ६९ जीवन, ७० अरिहा, ७१ भूताश्रय, ७२ भूतपति, ७३ सर्वलोकनमस्कृत, ७४ स्रष्टा, ७५ संवर्तक, ७६ वह्नि, ७७ सर्वादि, ७८ अलोलुप, ७९ अनन्त, ८० कपिल, ८१ भानु, ८२ कामद, ८३ सर्वतोमुख, ८४ जय, ८५ विशाल, ८६ वरद, ८७ सर्वधातु-निषेचिता, ८८ मनःसुपर्ण, ८९ भूतादि, ९० शीघ्रग, ९१ प्राणधारक, ९२ धन्वन्तरि, ९३ धूमकेतु, ९४ आदिदेव, ९५ अदितिसुत, ९६ द्वादशात्मा, ९७ अरविन्दाक्ष, ९८ पिता-माता-पितामह, ९९ स्वर्गद्वार-प्रजाद्वार, १०० मोक्षद्वार-त्रिविष्टप, १०१ देहकर्ता, १०२ प्रशान्तात्मा, १०३ विश्वात्मा, १०४ विश्वतोमुख, १०५ चराचरात्मा, १०६ सूक्ष्मात्मा, १०७ मैत्रेय तथा १०८ करुणान्वित--ये अमिततेजस्वी भगवान् सूर्यके कीर्तन करनेयोग्य एक सौ आठ नाम हैं, जिनका उपदेश साक्षात् ब्रह्माजीने किया है ॥ १६--२८ ॥

सुरगणपितृयक्षसेवितं
ह्यसुरनिशाचरसिद्धवन्दितम् ।
वरकनकहुताशनप्रभं
प्रणिपतितोऽस्मि हिताय भास्करम् ॥ २९ ॥

(इन नामोंका उच्चारण करके भगवान् सूर्यको इस प्रकार नमस्कार करना चाहिये ।) समस्त देवता, पितर और यक्ष जिनकी सेवा करते हैं, असुर, राक्षस तथा सिद्ध जिनकी वन्दना करते हैं तथा जो उत्तम सुवर्ण और अग्निके समान कान्तिमान् हैं, उन भगवान् भास्करको मैं अपने हितके लिये प्रणाम करता हूँ ॥ २९ ॥

सूर्योदये यः सुसमाहितः पठेत्
स पुत्रदारान् धनरत्नसंचयान् ।
लभेत जातिस्मरतां नरः सदा
धृतिं च मेधां च स विन्दते पुमान् ॥ ३० ॥

जो मनुष्य सूर्योदयके समय भलीभाँति एकाग्रचित्त हो इन नामोंका पाठ करता है, वह स्त्री, पुत्र, धन, रत्नराशि, पूर्वजन्मकी स्मृति, धैर्य तथा उत्तम बुद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

इमं स्तवं देववरस्य यो नरः
प्रकीर्तयेच्छुचिसुमनाः समाहितः।
विमुच्यते शोकदवाग्निसागरा-
ल्लभेत कामान् मनसा यथेप्सितान् ॥ ३१॥

जो मानव स्नान आदि करके पवित्र, शुद्धचित्त एवं एकाग्र हो देवेश्वर भगवान् सूर्यके इस नामात्मक स्तोत्रका कीर्तन करता है, वह शोकरूपी दावानलसे युक्त दुस्तर संसारसागरसे मुक्त हो मनचाही वस्तुओंको प्राप्त कर लेता है ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु धौम्येन तत्कालसदृशं वचः।
विप्रत्यागसमाधिस्थः संयतात्मा दृढव्रतः ॥ ३२ ॥
धर्मराजो विशुद्धात्मा तप आतिष्ठदुत्तमम्।
पुष्पोपहारैर्बलिभिरर्चयित्वा दिवाकरम् ॥ ३३ ॥
सोऽवगाह्य जलं राजा देवस्याभिमुखोऽभवत्।
योगमास्थाय धर्मात्मा वायुभक्षो जितेन्द्रियः ॥ ३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पुरोहित धौम्यके प्रकार समयोचित बात कहनेपर ब्राह्मणोंको देनेके लिये अन्नकी प्राप्तिके उद्देश्यसे नियममें स्थित हो मनको वशमें रखकर दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हुए शुद्धचेता धर्मराज युधिष्ठिरने उत्तम तपस्याका अनुष्ठान आरम्भ किया। राजा युधिष्ठिरने गङ्गाजीके जलमें स्नान करके पुष्प और नैवेद्य आदि उपहारोंद्वारा भगवान् दिवाकरकी पूजा की और उनके सम्मुख मुँह करके खड़े हो गये। धर्मात्मा पाण्डुकुमार चित्तको एकाग्र करके इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए केवल वायु पीकर रहने लगे ॥ ३२—३४ ॥

गाङ्गेयं वार्युपस्पृश्य प्राणायामेन तस्थिवान्।
शुचिः प्रयतवाग् भूत्वा स्तोत्रमारब्धवांस्ततः ॥ ३५॥

गङ्गाजलका आचमन करके पवित्र हो वाणीको वशमें रखकर तथा प्राणायामपूर्वक स्थित रहकर उन्होंने पूर्वोक्त अष्टोत्तरशतनामात्मक स्तोत्रका जप किया ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम्।
त्वं योनिः सर्वभूतानां त्वमाचारः क्रियावताम् ॥ ३६॥

युधिष्ठिर बोले—सूर्यदेव! आप सम्पूर्ण जगत्के नेत्र तथा समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं। आप ही सब जीवोंके उत्पत्ति-स्थान और कर्मानुष्ठानमें लगे हुए पुरुषोंके सदाचार हैं ॥३६॥

त्वं गतिः सर्वसांख्यानां योगिनां त्वं परायणम्।
अनावृतार्गलद्वारं त्वं गतिस्त्वं मुमुक्षताम् ॥ ३७ ॥

सम्पूर्ण सांख्ययोगियोंके प्राप्तव्य स्थान आप ही हैं। आप ही सब कर्मयोगियोंके आश्रय हैं। आप ही मोक्षके उन्मुक्त द्वार हैं और आप ही मुमुक्षुओंकी गति हैं ॥ ३७ ॥

त्वया संधार्यते लोकस्त्वया लोकः प्रकाश्यते।
त्वया पवित्रीक्रियते निर्व्याजं पाल्यते त्वया ॥ ३८॥

आप ही सम्पूर्ण जगत्को धारण करते हैं। आपसे ही यह प्रकाशित होता है। आप ही इसे पवित्र करते हैं और आपके ही द्वारा निःस्वार्थभावसे उसका पालन किया जाता है ॥३८॥

त्वामुपस्थाय काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः।
स्वशाखाविहितैर्मन्त्रैरर्चन्त्यृषिगणार्चितम् ॥ ३९ ॥

सूर्यदेव! आप ऋषिगणोंद्वारा पूजित हैं। वेदके तत्त्वज्ञ ब्राह्मणलोग अपनी-अपनी वेदशाखाओंमें वर्णित मन्त्रोंद्वारा उचित समयपर उपस्थान करके आपका पूजन किया करते हैं ॥

तव दिव्यं रथं यान्तमनुयान्ति वरार्थिनः।
सिद्धचारणगन्धर्वा यक्षगुह्यकपन्नगाः ॥ ४० ॥

सिद्ध, चारण, गन्धर्व, यक्ष, गुह्यक और नाग आपसे वर पानेकी अभिलाषासे आपके गतिशील दिव्य रथके पीछे-पीछे चलते हैं ॥ ४० ॥

त्रयस्त्रिंशच्च वै देवास्तथा वैमानिका गणाः।
सोपेन्द्राः समहेन्द्राश्च त्वामिष्ट्वा सिद्धिमागताः ॥ ४१ ॥

तैंतीस[1] देवता एवं विमानचारी सिद्धगण भी उपेन्द्र तथा महेन्द्र-सहित आपकी आराधना करके सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥ ४१ ॥

उपयान्त्यर्चयित्वा तु त्वां वै प्राप्तमनोरथाः।
दिव्यमन्दारमालाभिस्तूर्णं विद्याधरोत्तमाः ॥ ४२ ॥
गुह्याः पितृगणाः सप्त ये दिव्या ये च मानुषाः।
ते पूजयित्वा त्वामेव गच्छन्त्याशु प्रधानताम् ॥ ४३ ॥
वसवो मरुतो रुद्रा ये च साध्या मरीचिपाः।
वालखिल्यादयः सिद्धाः श्रेष्ठत्वं प्राणिनां गताः ॥ ४४ ॥

श्रेष्ठ विद्याधरगण दिव्य मन्दार-कुसुमोंकी मालाओंसे आपकी पूजा करके सफलमनोरथ हो तुरंत आपके समीप पहुँच जाते हैं। गुह्यक, सात[2] प्रकारके पितृगण तथा दिव्य मानव (सनकादि) आपकी ही पूजा करके श्रेष्ठ पदको प्राप्त करते हैं। वसुगण, मरुद्गण, रुद्र, साध्य तथा आपकी किरणोंका पान करनेवाले वालखिल्य आदि सिद्ध महर्षि आपकी ही आराधनासे सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ हुए हैं ॥४२-४४॥

सब्रह्मकेषु लोकेषु सप्तस्वप्यखिलेषु च।
न तद्भूतमहं मन्ये यदर्कादतिरिच्यते ॥ ४५ ॥
सन्ति चान्यानि सत्त्वानि वीर्यवन्ति महान्ति च।
न तु तेषां तथा दीप्तिः प्रभावो वा यथा तव ॥ ४६ ॥

---

१. बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ वसु, इन्द्र और प्रजापति—ये तैंतीस देवता हैं।

२. सभापर्वके ११ वें अध्याय श्लोक ४६, ४७ में सात पितरोंके नाम इस प्रकार बताये हैं—वैराज, अग्निष्वात्त, सोमपा, [illegible]

ज्योतींषि त्वयि सर्वाणि त्वं सर्वज्योतिषां पतिः।
त्वयि सत्यं च सत्त्वं च सर्वे भावाश्च सात्त्विकाः ॥ ४७ ॥
त्वत्तेजसा कृतं चक्रं सुनाभं विश्वकर्मणा।
देवारीणां मदो येन नाशितः शार्ङ्गधन्वना ॥ ४८ ॥

ब्रह्मलोकसहित ऊपरके सातों लोकोंमें तथा अन्य सब लोकोंमें भी ऐसा कोई प्राणी नहीं दीखता, जो आप भगवान् सूर्यसे बढ़कर हो । भगवन् ! जगत्में और भी बहुत-से महान् शक्तिशाली प्राणी हैं; परंतु उनकी कान्ति और प्रभाव आपके समान नहीं हैं । सम्पूर्ण ज्योतिर्मय पदार्थ आपके ही अन्तर्गत हैं । आप ही समस्त ज्योतियोंके स्वामी हैं । सत्य, सत्त्व तथा समस्त सात्त्विक भाव आपमें ही प्रतिष्ठित हैं । 'शार्ङ्ग' नामक धनुष धारण करनेवाले भगवान् विष्णुने जिसके द्वारा दैत्योंका घमंड चूर्ण किया है, उस सुदर्शन चक्रको विश्वकर्माने आपके ही तेजसे बनाया है ॥ ४५–४८ ॥

त्वमादायांशुभिस्तेजो निदाघे सर्वदेहिनाम्।
सर्वौषधिरसानां च पुनर्वर्षासु मुञ्चसि ॥ ४९ ॥

आप ग्रीष्म-ऋतुमें अपनी किरणोंसे समस्त देहधारियोंके तेज और सम्पूर्ण ओषधियोंके रसका सार खींचकर पुनः वर्षाकालमें उसे बरसा देते हैं ॥ ४९ ॥

तपन्त्यन्ये दहन्त्यन्ये गर्जन्त्यन्ये तथा घनाः।
विद्योतन्ते प्रवर्षन्ति तव प्रावृषि रश्मयः ॥ ५० ॥

वर्षा-ऋतुमें आपकी कुछ किरणें तपती हैं, कुछ जलाती हैं, कुछ मेघ बनकर गरजती, बिजली बनकर चमकती तथा वर्षा भी करती हैं ॥ ५० ॥

न तथा सुखयत्यग्निर्न प्रावारा न कम्बलाः।
शीतवातार्दितं लोकं यथा तव मरीचयः ॥ ५१ ॥

शीतकालकी वायुसे पीड़ित जगत्को अग्नि, कम्बल और वस्त्र भी उतना सुख नहीं देते, जितना आपकी किरणें देती हैं ॥ ५१ ॥

त्रयोदशद्वीपवतीं गोभिर्भासयसे महीम्।
त्रयाणामपि लोकानां हितायैकः प्रवर्तसे ॥ ५२ ॥

आप अपनी किरणोंद्वारा तेरह द्वीपोंसे युक्त सम्पूर्ण पृथ्वीको प्रकाशित करते हैं और अकेले ही तीनों लोकोंके हितके लिये तत्पर रहते हैं ॥ ५२ ॥

तव यद्युदयो न स्यादन्धं जगदिदं भवेत्।
न च धर्मार्थकामेषु प्रवर्तेरन् मनीषिणः ॥ ५३ ॥

यदि आपका उदय न हो तो यह सारा जगत् अंधा हो जाय और मनीषी पुरुष धर्म, अर्थ एवं कामसम्बन्धी कर्मोंमें प्रवृत्त ही न हों ॥ ५३ ॥

आधानपशुबन्धेष्टिमन्त्रयज्ञतपःक्रियाः।
त्वत्प्रसादादवाप्यन्ते ब्रह्मक्षत्रविशां गणैः ॥ ५४ ॥

गर्भाधान या अग्निकी स्थापना, पशुओंको बाँधना, इष्टि (पूजा), मन्त्र, यज्ञानुष्ठान और तप आदि समस्त क्रियाएँ आपकी ही कृपासे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यगणों द्वारा सम्पन्न की जाती हैं ॥ ५४ ॥

यदहर्ब्रह्मणः प्रोक्तं सहस्रयुगसम्मितम्।
तस्य त्वमादिरन्तश्च कालज्ञैः परिकीर्तितः ॥ ५५ ॥

ब्रह्माजीका जो एक सहस्र युगोंका दिन बताया गया है, कालमानके जाननेवाले विद्वानोंने उसका आदि और अन्त आपको ही बताया है ॥ ५५ ॥

मनूनां मनुपुत्राणां जगतोऽमानवस्य च[1]
मन्वन्तराणां सर्वेषामीश्वराणां त्वमीश्वरः ॥ ५६ ॥

मनु और मनुपुत्रोंके, जगत्के, (ब्रह्मलोककी प्राप्ति करानेवाले) अमानव पुरुषके, समस्त मन्वन्तरोंके तथा ईश्वरोंके भी ईश्वर आप ही हैं ॥ ५६ ॥

संहारकाले सम्प्राप्ते तव क्रोधविनिःसृतः।
संवर्तकाग्निस्त्रैलोक्यं भस्मीकृत्यावतिष्ठते ॥ ५७ ॥

प्रलयकाल आनेपर आपके ही क्रोधसे प्रकट हुई संवर्तक नामक अग्नि तीनों लोकोंको भस्म करके फिर आपमें ही स्थित हो जाती है ॥ ५७ ॥

त्वद्दीधितिसमुत्पन्ना नानावर्णा महाघनाः।
सैरावताः साशनयः कुर्वन्त्याभूतसम्प्लवम् ॥ ५८ ॥

आपकी ही किरणोंसे उत्पन्न हुए रंग-बिरंगे ऐरावत आदि महामेघ और बिजलियाँ सम्पूर्ण भूतोंका संहार करती हैं ॥ ५८ ॥

कृत्वा द्वादशधाऽऽत्मानं द्वादशादित्यतां गतः।
संहृत्यैकार्णवं सर्वं त्वं शोषयसि रश्मिभिः ॥ ५९ ॥

फिर आप ही अपनेको बारह स्वरूपोंमें विभक्त करके बारह सूर्योंके रूपमें उदित हो अपनी किरणोंद्वारा त्रिलोकीका संहार करते हुए एकार्णवके समस्त जलको सोख लेते हैं ॥

त्वामिन्द्रमाहुस्त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं प्रजापतिः।
त्वमग्निस्त्वं मनः सूक्ष्मं प्रभुस्त्वं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ६० ॥

आपको ही इन्द्र कहते हैं। आप ही रुद्र, आप ही विष्णु और आप ही प्रजापति हैं । अग्नि, सूक्ष्म मन, प्रभु तथा सनातन ब्रह्म भी आप ही हैं ॥ ६० ॥

त्वं हंसः सविता भानुरंशुमाली वृषाकपिः।
विवस्वान् मिहिरः पूषा मित्रो धर्मस्तथैव च ॥ ६१ ॥

[1] १. जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर—ये सात प्रधान द्वीप माने गये हैं । इनके सिवा, कई उपद्वीप हैं । उनको लेकर यहाँ १३ द्वीप बताये गये हैं ।

सहस्ररश्मिरादित्यस्तपनस्त्वं गवाम्पतिः ।
मार्तण्डोऽर्को रविः सूर्यः शरण्यो दिनकृत् तथा ॥ ६२ ॥
दिवाकरः सप्तसप्तिर्धामकेशी विरोचनः ।
आशुगामी तमोघ्नश्च हरिताश्वश्च कीर्त्यसे ॥ ६३ ॥

आप ही हंस (शुद्धस्वरूप), सविता (जगत्‌की उत्पत्ति करनेवाले), भानु (प्रकाशमान), अंशुमाली (किरण-समूहसे सुशोभित), वृषाकपि (धर्मरक्षक), विवस्वान् (सर्वव्यापी), मिहिर (जलकी वृष्टि करनेवाले), पूषा (पोषक), मित्र (सबके सुहृद्), धर्म (धारण करनेवाले), सहस्ररश्मि (हजारों किरणोंवाले), आदित्य (अदितिपुत्र), तपन (तापकारी), गवाम्पति (किरणोंके स्वामी), मार्तण्ड, अर्क (अर्चनीय), रवि, सूर्य (उत्पादक), शरण्य (शरणागतकी रक्षा करनेवाले), दिनकृत् (दिनके कर्ता), दिवाकर (दिनको प्रकट करनेवाले), सप्तसप्ति (सात घोड़ोंवाले), धामकेशी (ज्योतिर्मय किरणोंवाले), विरोचन (देदीप्यमान), आशुगामी (शीघ्रगामी), तमोघ्न (अन्धकार-नाशक) तथा हरिताश्व (हरे रंगके घोड़ोंवाले) कहे जाते हैं ॥ ६१—६३ ॥

सप्तम्यामथवा षष्ठ्यां भक्त्या पूजां करोति यः ।
अनिर्विण्णोऽनहंकारी तं लक्ष्मीर्भजते नरम् ॥ ६४ ॥

जो सप्तमी अथवा षष्ठीको खेद और अहंकारसे रहित हो भक्तिभावसे आपकी पूजा करता है, उस मनुष्यको लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ६४ ॥

न तेषामापदः सन्ति नाधयो व्याधयस्तथा ।
ये तवानन्यमनसः कुर्वन्त्यर्चनवन्दनम् ॥ ६५ ॥

भगवन् ! जो अनन्य चित्तसे आपकी अर्चना और वन्दना करते हैं, उनपर कभी आपत्ति नहीं आती । वे मानसिक चिन्ताओं तथा रोगोंसे भी ग्रस्त नहीं होते ॥ ६५ ॥

सर्वरोगैर्विरहिताः सर्वपापविवर्जिताः ।
त्वद्भावभक्ताः सुखिनो भवन्ति चिरजीविनः ॥ ६६ ॥

जो प्रेमपूर्वक आपके प्रति भक्ति रखते हैं, वे समस्त रोगों तथा सम्पूर्ण पापोंसे रहित हो चिरंजीवी एवं सुखी होते हैं ॥ ६६ ॥

त्वं ममापन्नकामस्य सर्वातिथ्यं चिकीर्षतः ।
अन्नमन्नपते दातुमभितः श्रद्धयार्हसि ॥ ६७ ॥

अन्नपते ! मैं श्रद्धापूर्वक सबका आतिथ्य करनेकी इच्छासे अन्न-प्राप्त करना चाहता हूँ । आप मुझे अन्न देनेकी कृपा करें ॥ ६७ ॥

ये च तेऽनुचराः सर्वे पादोपान्तं समाश्रिताः ।
माठरारुणदण्डाद्यास्तांस्तान् वन्देऽशनिक्षुभान् ॥ ६८ ॥

आपके चरणोंके निकट रहनेवाले जो माठर, अरुण तथा दण्ड आदि अनुचर (गण) हैं, वे विद्युत्‌के प्रवर्तक हैं । मैं उन सबकी वन्दना करता हूँ ॥ ६८ ॥

क्षुभया सहिता मैत्री याश्चान्या भूतमातरः ।
ताश्च सर्वा नमस्यामि पान्तु मां शरणागतम् ॥ ६९ ॥

क्षुभाके साथ जो मैत्रीदेवी तथा गौरी-पद्मा आदि अन्य भूतमाताएँ हैं, उन सबको मैं नमस्कार करता हूँ । वे सभी मुझ शरणागतकी रक्षा करें ॥ ६९ ॥

वैशम्पायन उवाच

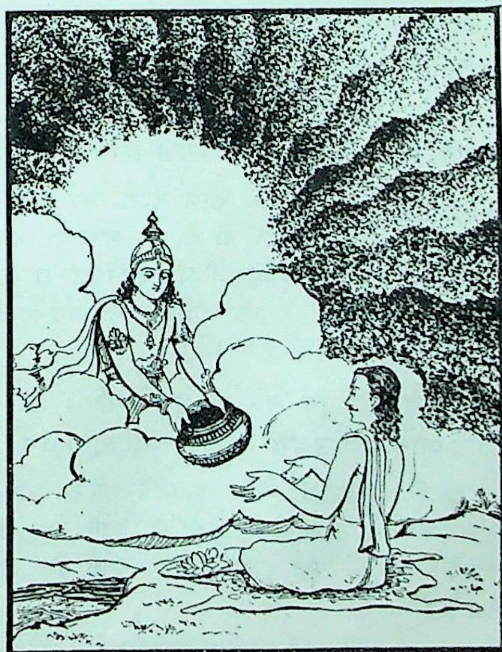
एवं स्तुतो महाराज भास्करो लोकभावनः ।
ततो दिवाकरः प्रीतो दर्शयामास पाण्डवम् ।
दीप्यमानः स्ववपुषा ज्वलन्निव हुताशनः ॥ ७० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! जब युधिष्ठिरने लोकभावन भगवान् भास्करका इस प्रकार स्तवन किया, तब दिवाकरने प्रसन्न होकर उन पाण्डुकुमारको दर्शन दिया । उस समय उनके श्रीअङ्ग प्रज्वलित अग्निके समान उद्भासित हो रहे थे ॥ ७० ॥

विवस्वानुवाच

यत् तेऽभिलषितं किंचित् तत् त्वं सर्वमवाप्स्यसि ।
अहमन्नं प्रदास्यामि सप्त पञ्च च ते समाः ॥ ७१ ॥

भगवान् सूर्य बोले—धर्मराज ! तुम जो कुछ चाहते हो, वह सब तुम्हें प्राप्त होगा । मैं बारह वर्षोंतक तुम्हें अन्न प्रदान करूँगा ॥ ७१ ॥



गृहीष्व पिठरं ताम्रं मया दत्तं नराधिप ।
यावद् वर्त्स्यति पाञ्चाली पात्रेणानेन सुव्रत ॥ ७२ ॥

फलमूलामिषं शाकं संस्कृतं यन्महानसे ।
चतुर्विधं तदन्नाद्यमक्षय्यं ते भविष्यति ॥ ७२ ॥

राजन् ! यह मेरी दी हुई ताँबेकी बटलोई लो । सुव्रत ! तुम्हारे रसोईघरमें इस पात्रद्वारा फल, मूल, भोजन करनेके योग्य अन्य पदार्थ तथा साग आदि जो चार प्रकारकी भोजन-सामग्री तैयार होगी, वह तबतक अक्षय बनी रहेगी, जबतक द्रौपदी स्वयं भोजन न करके परोसती रहेगी ॥ ७२-७३ ॥

इतश्चतुर्दशे वर्षे भूयो राज्यमवाप्स्यसि ।

आजसे चौदहवें वर्षमें तुम अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लोगे ॥ ७३½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ७४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इतना कहकर भगवान् सूर्य वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ७४ ॥

इमं स्तवं प्रयतमनाः समाधिना
पठेदिहान्योऽपि वरं समर्थयन् ।
तत् तस्य दद्याच्च रविर्मनीषितं
तदाप्नुयाद् यद्यपि तत् सुदुर्लभम् ॥ ७५ ॥

जो कोई अन्य पुरुष भी मनको संयममें रखकर चित्तवृत्तियोंको एकाग्र करके इस स्तोत्रका पाठ करेगा, वह यदि कोई अत्यन्त दुर्लभ वर भी माँगे, तो भगवान् सूर्य उसकी उस मनोवाञ्छित वस्तुको दे सकते हैं ॥ ७५ ॥

यश्चेदं धारयेन्नित्यं शृणुयाद् वाप्यभीक्ष्णशः ।
पुत्रार्थी लभते पुत्रं धनार्थी लभते धनम् ।
विद्यार्थी लभते विद्यां पुरुषोऽप्यथवा स्त्रियः ॥ ७६ ॥

जो प्रतिदिन इस स्तोत्रको धारण करता अथवा बार-बार सुनता है, वह यदि पुत्रार्थी हो तो पुत्र पाता है, धन चाहता हो तो धन पाता है, विद्याकी अभिलाषा रखता हो तो उसे विद्या प्राप्त होती है और पत्नीकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको पत्नी सुलभ होती है ॥ ७६ ॥

उभे संध्ये पठेन्नित्यं नारी वा पुरुषो यदि ।
आपदं प्राप्य मुच्येत बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥ ७७ ॥

स्त्री हो या पुरुष यदि दोनों संध्याओंके समय इस स्तोत्र-का पाठ करता है, तो आपत्तिमें पड़कर भी उससे मुक्त हो जाता है । बन्धनमें पड़ा हुआ मनुष्य बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ७७ ॥

एतद् ब्रह्मा ददौ पूर्वं शक्राय सुमहात्मने ।
शक्राच्च नारदः प्राप्तो धौम्यस्तु तदनन्तरम् ।
धौम्याद् युधिष्ठिरः प्राप्य सर्वान् कामानवाप्तवान् ॥ ७८ ॥

यह स्तुति सबसे पहले ब्रह्माजीने महात्मा इन्द्रको दी, इन्द्रसे नारदजीने और नारदजीसे धौम्यने इसे प्राप्त किया । धौम्यसे इसका उपदेश पाकर राजा युधिष्ठिरने अपनी सब कामनाएँ प्राप्त कर लीं ॥ ७८ ॥

संग्रामे च जयेन्नित्यं विपुलं चाप्नुयाद् वसु ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः सूर्यलोकं स गच्छति ॥ ७९ ॥

जो इसका अनुष्ठान करता है, वह सदा संग्राममें विजयी होता है, बहुत धन पाता है, सब पापोंसे मुक्त होता और अन्तमें सूर्यलोकको जाता है ॥ ७९ ॥

वैशम्पायन उवाच

लब्ध्वा वरं तु कौन्तेयो जलादुत्तीर्य धर्मवित् ।
जग्राह पादौ धौम्यस्य भ्रातॄंश्च परिषस्वजे ॥ ८० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पूर्वोक्त वर पाकर धर्मके ज्ञाता कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर गङ्गाजीके जलसे बाहर निकले । उन्होंने धौम्यजीके दोनों चरण पकड़े और भाइयोंको हृदयसे लगा लिया ॥ ८० ॥

द्रौपद्या सह संगम्य वन्द्यमानस्तया प्रभुः ।
महानसे तदानीं तु साधयामास पाण्डवः ॥ ८१ ॥

द्रौपदीने उन्हें प्रणाम किया और वे उससे प्रेमपूर्वक मिले । फिर उसी समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने चूल्हेपर बटलोई रखकर रसोई तैयार करायी ॥ ८१ ॥

संस्कृतं प्रसवं याति स्वल्पमन्नं चतुर्विधम् ।
अक्षय्यं वर्धते चान्नं तेन भोजयते द्विजान् ॥ ८२ ॥

उसमें तैयार की हुई चार प्रकारकी थोड़ी-सी भी रसोई उस पात्रके प्रभावसे बढ़ जाती और अक्षय हो जाती थी । उसीसे वे ब्राह्मणोंको भोजन कराने लगे ॥ ८२ ॥

भुक्तवत्सु च विप्रेषु भोजयित्वानुजानपि ।
शेषं विघससंज्ञं तु पश्चाद् भुङ्क्ते युधिष्ठिरः ॥ ८३ ॥

ब्राह्मणोंके भोजन कर लेनेपर अपने छोटे भाइयोंको भी भोजन करानेके पश्चात् 'विघस' संज्ञक अवशिष्ट अन्नको युधिष्ठिर सबसे पीछे खाते थे ॥ ८३ ॥

युधिष्ठिरं भोजयित्वा शेषमश्नाति पार्षती ।
द्रौपद्यां भुज्यमानायां तदन्नं क्षयमेति च ।
एवं दिवाकरात् प्राप्य दिवाकरसमप्रभः ॥ ८४ ॥
कामान् मनोऽभिलषितान् ब्राह्मणेभ्योऽददात् प्रभुः ।
पुरोहितपुरोगाश्च तिथिनक्षत्रपर्वसु ।
यज्ञियार्थाः प्रवर्तन्ते विधिमन्त्रप्रमाणतः ॥ ८५ ॥

युधिष्ठिरको भोजन कराकर द्रौपदी शेष अन्न स्वयं खाती थी । द्रौपदीके भोजन कर लेनेपर उस पात्रका अन्न समाप्त हो जाता था । इस प्रकार सूर्यसे मनोवाञ्छित वरोंको



भगवान् सूर्यका युधिष्ठिरको अक्षयपात्र देना

पाकर उन्हींके समान तेजस्वी प्रभावशाली राजा युधिष्ठिर ब्राह्मणोंको नियमपूर्वक अन्नदान करने लगे। पुरोहितोंको आगे करके उत्तम तिथि, नक्षत्र एवं पर्वोपर विधि और मन्त्रके प्रमाणके अनुसार उनके यज्ञसम्बन्धी कार्य होने लगे ॥ ८४-८५ ॥

ततः कृतस्वस्त्ययना धौम्येन सह पाण्डवाः।
द्विजसङ्घैः परिवृताः प्रययुः काम्यकं वनम् ॥ ८६ ॥

तदनन्तर स्वस्तिवाचन कराकर ब्राह्मणसमुदायसे घिरे हुए पाण्डव धौम्यजीके साथ-काम्यकवनको चले गये ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि काम्यकवनप्रवेशे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें काम्यकवनप्रवेशविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥



चतुर्थोऽध्यायः

विदुरजीका धृतराष्ट्रको हितकी सलाह देना और धृतराष्ट्रका रुष्ट होकर महलमें चला जाना

वैशम्पायन उवाच

वनं प्रविष्टेष्वथ पाण्डवेषु
प्रज्ञाचक्षुस्तप्यमानोऽम्बिकेयः।
धर्मात्मानं विदुरमगाधबुद्धिं
सुखासीनो वाक्यमुवाच राजा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब पाण्डव वनमें चले गये, तब प्रज्ञाचक्षु अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र मन-ही-मन संतप्त हो उठे। उन्होंने अगाधबुद्धि धर्मात्मा विदुरको बुलाकर स्वयं सुखद आसनपर बैठे हुए उनसे इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

प्रज्ञा च ते भार्गवस्येव शुद्धा
धर्मं च त्वं परमं वेत्थ सूक्ष्मम्।
समश्च त्वं सम्मतः कौरवाणां
पथ्यं चैषां मम चैव ब्रवीहि ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर! तुम्हारी बुद्धि शुक्राचार्यके समान शुद्ध है। तुम सूक्ष्म-से-सूक्ष्म श्रेष्ठ धर्मको जानते हो। तुम्हारी सबके प्रति समान दृष्टि है और कौरव तथा पाण्डव सभी तुम्हारा सम्मान करते हैं। अतः मेरे तथा इन पाण्डवोंके लिये जो हितकर कार्य हो, वह मुझे बताओ ॥ २ ॥

एवंगते विदुर यदद्य कार्यं
पौराश्च मे कथमस्मान् भजेरन्।
ते चाप्यस्मान् नोद्धरेयुः समूलां-
स्त्वं ब्रूयाः साधु कार्याणि वेत्सि ॥ ३ ॥

विदुर! ऐसी दशामें अब हमारा जो कर्तव्य हो वह बताओ। ये पुरवासी कैसे हमलोगोंसे प्रेम करेंगे। तुम ऐसा कोई उपाय बताओ, जिससे वे पाण्डव हमलोगोंको जड़-मूलसहित उखाड़ न फेंकें। तुम अच्छे कार्योंको जानते हो। अतः हमें ठीक-ठीक कर्तव्यका निर्देश करो ॥ ३ ॥

विदुर उवाच

त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलो नरेन्द्र
राज्यं चेदं धर्ममूलं वदन्ति।
धर्मे राजन् वर्तमानः स्वशक्त्या
पुत्रान् सर्वान् पाहि पाण्डोः सुतांश्च ॥ ४ ॥

विदुरजीने कहा—नरेन्द्र! धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंकी प्राप्तिका मूल कारण धर्म ही है। धर्मात्मा पुरुष इस राज्यकी जड़ भी धर्मको ही बतलाते हैं, अतः महाराज! आप धर्मके मार्गपर स्थिर रहकर यथाशक्ति अपने तथा पाण्डुके सब पुत्रोंका पालन कीजिये ॥ ४ ॥

स वै धर्मो विप्रलब्धः सभायां
पापात्मभिः सौबलेयप्रधानैः।
आहूय कुन्तीसुतमक्षवत्यां
पराजैषीत् सत्यसंधं सुतस्ते ॥ ५ ॥

शकुनि आदि पापात्माओंने द्यूतसभामें उस धर्मके साथ विश्वासघात किया; क्योंकि आपके पुत्रने सत्यप्रतिज्ञ कुन्ती-नन्दन युधिष्ठिरको बुलाकर उन्हें कपटपूर्वक पराजित किया है ॥ ५ ॥

एतस्य ते दुष्प्रणीतस्य राज-
ञ्छेषस्याहं परिपश्याम्युपायम्।
यथा पुत्रस्तव कौरव्य पापा-
न्मुक्तो लोके प्रतितिष्ठेत साधु ॥ ६ ॥

कुरुराज! दुरात्माओंद्वारा पाण्डवोंके प्रति किये हुए इस दुर्व्यवहारकी शान्तिका उपाय मैं जानता हूँ, जिससे आपका पुत्र दुर्योधन पापसे मुक्त हो लोकमें भलीभाँति प्रतिष्ठा प्राप्त करे ॥ ६ ॥

तद् वै सर्वं पाण्डुपुत्रा लभन्तां
यत् तद् राजन्नभिसृष्टं त्वयाऽऽसीत्।
एष धर्मः परमो यत् स्वकेन
राजा तुष्येत् न परस्वेषु गृध्येत् ॥ ७ ॥

आपने पाण्डवोंको जो राज्य दिया था, वह सब उन्हें मिल जाना चाहिये। राजाके लिये यह सबसे बड़ा धर्म है कि वह अपने धनसे संतुष्ट रहे। दूसरेके धनपर लोभभरी दृष्टि न डाले ॥७॥

यशो न नश्येज्ज्ञातिभेदश्च न स्याद्
धर्मो न स्यान्नैव चैवं कृते त्वाम्।
एतत् कार्यं तव सर्वप्रधानं
तेषां तुष्टिः शकुनेश्चावमानः ॥ ८ ॥

ऐसा कर लेनेपर आपके यशका नाश नहीं होगा, भाइयोंमें फूट नहीं होगी और आपको धर्मकी भी प्राप्ति होगी। आपके लिये सबसे प्रमुख कार्य यह है कि पाण्डवोंको संतुष्ट करें और शकुनिका तिरस्कार करें ॥ ८ ॥

एवं शेषं यदि पुत्रेषु ते स्या-
देतद् राजंस्त्वरमाणः कुरुष्व।
तथैतदेवं न करोषि राजन्
ध्रुवं कुरूणां भविता विनाशः ॥ ९ ॥

राजन्! ऐसा करनेपर भी यदि आपके पुत्रोंका भाग्य शेष होगा तो उनका राज्य उनके पास रह जायगा; अतः आप शीघ्र ही यह काम कर डालिये। महाराज! यदि आप ऐसा न करेंगे तो कौरवकुलका निश्चय ही नाश हो जायगा ॥

न हि क्रुद्धो भीमसेनोऽर्जुनो वा
शेषं कुर्याच्छात्रवाणामनीके।
येषां योद्धा सव्यसाची कृतास्त्रो
धनुर्येषां गाण्डिवं लोकसारम् ॥ १० ॥
येषां भीमो बाहुशाली च योद्धा
तेषां लोके किं नु न प्राप्यमस्ति।
उक्तं पूर्वं जातमात्रे सुते ते
मया यत् ते हितमासीत् तदानीम् ॥ ११ ॥

क्रोधमें भरे हुए भीमसेन अथवा अर्जुन अपने शत्रुओंकी सेनामें किसीको जीवित नहीं छोड़ेंगे। अस्त्रविद्यामें निपुण सव्यसाची अर्जुन जिनके योद्धा हैं, सम्पूर्ण लोकोंका सारभूत गाण्डीव जिनका धनुष है तथा अपने बाहुबलसे सुशोभित होनेवाले भीमसेन जिनकी ओरसे युद्ध करनेवाले हैं, उन पाण्डवोंके लिये संसारमें ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो प्राप्त न हो सके। आपके पुत्र दुर्योधनके जन्म लेते ही मुझे उस समय जो हितकी बात जान पड़ी, वह मैंने पहले ही बता दी थी ॥ १०-११ ॥

पुत्रं त्यजेममहितं कुलस्य
हितं परं न च तत् त्वं चकर्थ।
इदं च राजन् हितमुक्तं न चेत् त्व-
मेवं कर्ता परितप्तासि पश्चात् ॥ १२ ॥

मैंने साफ कह दिया था कि आपका यह पुत्र समस्त कुलका अहित करनेवाला है, अतः इसको त्याग दीजिये; परंतु आपने मेरी उत्तम और सात्त्विक सलाहके अनुसार कार्य नहीं किया। राजन्! इस समय भी मैंने जो यह आपके हितकी बात बतायी है यदि उसे आप नहीं करेंगे तो आपको बहुत पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ १२ ॥

यद्येतदेवमनुमन्ता सुतस्ते
सम्प्रीयमाणः पाण्डवैरेकराज्यम्।
तापो न ते भविता प्रीतियोगा-
न्न चेन्निगृह्णीष्व सुतं सुखाय ॥ १३ ॥

यदि आपका पुत्र दुर्योधन प्रसन्नतापूर्वक पाण्डवोंके साथ एक राज्य बनानेकी बात मान ले तो आपको पश्चात्ताप नहीं होगा, प्रसन्नता ही प्राप्त होगी। यदि दुर्योधन आपकी बात न माने तो समस्त कुलको सुख पहुँचानेके लिये आप अपने उस पुत्रपर नियन्त्रण कीजिये ॥ १३ ॥

दुर्योधनं त्वहितं वै निगृह्य
पाण्डोः पुत्रं कुरुष्वाधिपत्ये।
अजातशत्रुर्हि विमुक्तरागो
धर्मेणेमां पृथिवीं शास्तु राजन् ॥ १४ ॥

इस प्रकार अहितकारक दुर्योधनको काबूमें करके आप पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको राज्यपर अभिषिक्त कर दीजिये; क्योंकि वे अजातशत्रु हैं। उनका किसीसे राग या द्वेष नहीं है। राजन्! वे ही इस पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन करेंगे ॥ १४ ॥

ततो राजन् पार्थिवाः सर्व एव
वैश्या इवास्मानुपतिष्ठन्तु सद्यः।
दुर्योधनः शकुनिः सूतपुत्रः
प्रीत्या राजन् पाण्डुपुत्रान् भजन्तु ॥ १५ ॥

महाराज! यदि ऐसा हुआ तो भूमण्डलके समस्त राजा वैश्योंकी भाँति उपहार ले हम कौरवोंकी सेवामें शीघ्र उपस्थित होंगे। राजराजेश्वर! दुर्योधन, शकुनि तथा सूतपुत्र कर्ण प्रेमपूर्वक पाण्डवोंको अपनावें ॥ १५ ॥

दुःशासनो याचतु भीमसेनं
सभामध्ये द्रुपदस्यात्मजां च।
युधिष्ठिरं त्वं परिसान्त्वयस्व
राज्ये चैनं स्थापयस्वाभिपूज्य ॥ १६ ॥

दुःशासन भरी सभामें भीमसेन तथा द्रौपदीसे क्षमा माँगे और आप युधिष्ठिरको भलीभाँति सान्त्वना दे सम्मानपूर्वक इस राज्यपर बिठा दीजिये ॥ १६ ॥

त्वया पृष्टः किमहमन्यद् वदेय-
मेतत् कृत्वा कृतकृत्योऽसि राजन् ॥ १७ ॥

कुरुराज! आपने हितकी [illegible] पूछी है तो मैं इसके

सिवा और क्या बताऊँ । यह सब कर लेनेपर आप कृत-कृत्य हो जायँगे ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एतद् वाक्यं विदुर यत् ते सभाया-
मिह प्रोक्तं पाण्डवान् प्राप्य मां च ।
हितं तेषामहितं मामकाना-
मेतत् सर्वं मम नावैति चेतः ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! तुमने यहाँ सभामें पाण्डवोंके तथा मेरे विषयमें जो बात कही है, वह पाण्डवोंके लिये तो हितकर है, पर मेरे पुत्रोंके लिये अहितकारक है, अतः यह सब मेरा मन स्वीकार नहीं करता है ॥ १८ ॥

इदं त्विदानीं गत एव निश्चितं
तेषामर्थे पाण्डवानां यदात्थ ।
तेनाद्य मन्ये नासि हितो ममेति
कथं हि पुत्रं पाण्डवार्थे त्यजेयम् ॥ १९ ॥

इस समय तुम जो कुछ कह रहे हो इससे यह भलीभाँति निश्चय होता है कि तुम पाण्डवोंके हितके लिये ही यहाँ आये थे । तुम्हारे आजके ही व्यवहारसे मैं समझ गया कि तुम मेरे हितैषी नहीं हो । मैं पाण्डवोंके लिये अपने पुत्रोंको कैसे त्याग दूँ ॥ १९ ॥

असंशयं तेऽपि ममैव पुत्रा
दुर्योधनस्तु मम देहात् प्रसूतः ।
स्वं वै देहं परहेतोस्त्यजेति
को नु ब्रूयात् समतामन्ववेक्ष्य ॥ २० ॥

इसमें संदेह नहीं कि पाण्डव भी मेरे पुत्र हैं, पर दुर्योधन साक्षात् मेरे शरीरसे उत्पन्न हुआ है । समताकी ओर दृष्टि रखते हुए भी कौन किसको ऐसी बातें कहेगा कि तुम दूसरेके हितके लिये अपने शरीरका त्याग कर दो ॥ २० ॥

स मां जिह्मं विदुर सर्वं ब्रवीषि
मानं च तेऽहमधिकं धारयामि ।
यथेच्छकं गच्छ वा तिष्ठ वा त्वं
सुसान्त्व्यमानाप्यसती स्त्री जहाति ॥ २१ ॥

विदुर ! मैं तुम्हारा अधिक सम्मान करता हूँ; किंतु तुम मुझे सब कुटिलतापूर्ण सलाह दे रहे हो । अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, चले जाओ या रहो । तुमसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है । कुलटा स्त्रीको कितनी ही सान्त्वना दी जाय, वह स्वामीको त्याग ही देती है ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा धृतराष्ट्रोऽन्वपद्य-
दन्तर्वेश्म सहसोत्थाय राजन् ।
नेदमस्तीत्यथ विदुरो भाषमाणः
सम्प्राद्रवद् यत्र पार्था बभूवुः ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्र सहसा उठकर महलके भीतर चले गये । तब विदुरने यह कहकर कि अब इस कुलका नाश अवश्यम्भावी है, जहाँ पाण्डव थे, वहाँ चले गये ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि विदुरवाक्यप्रत्याख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें विदुरवाक्यप्रत्याख्यानविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥



पञ्चमोऽध्यायः

पाण्डवोंका काम्यकवनमें प्रवेश और विदुरजीका वहाँ जाकर उनसे मिलना और बातचीत करना

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवास्तु वने वासमुद्दिश्य भरतर्षभाः ।
प्रययुर्जाह्नवीकूलात् कुरुक्षेत्रं सहानुगाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भरतवंशशिरोमणि पाण्डव वनवासके लिये गङ्गाजीके तटसे अपने साथियोंसहित कुरुक्षेत्रमें गये ॥ १ ॥

सरस्वतीदृषद्वत्यौ यमुनां च निषेव्य ते ।
ययुर्वनेनैव वनं सततं पश्चिमां दिशम् ॥ २ ॥

उन्होंने क्रमशः सरस्वती, दृषद्वती और यमुना नदीका सेवन करते हुए एक वनसे दूसरे वनमें प्रवेश किया । इस प्रकार वे निरन्तर पश्चिम दिशाकी ओर बढ़ते गये ॥ २ ॥

ततः सरस्वतीकूले समेषु मरुधन्वसु ।
काम्यकं नाम ददृशुर्वनं मुनिजनप्रियम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर सरस्वती-तट तथा मरुभूमि एवं वन्य प्रदेशोंकी यात्रा करते हुए उन्होंने काम्यकवनका दर्शन किया, जो ऋषि-मुनियोंके समुदायको बहुत ही प्रिय था ॥ ३ ॥

तत्र ते न्यवसन् वीरा वने बहुमृगद्विजे ।
अन्वास्यमाना मुनिभिः सान्त्व्यमानाश्च भारत ॥ ४ ॥

भारत ! उस वनमें बहुत-से पशु-पक्षी निवास करते थे । वहाँ मुनियोंने उन्हें बिठाया और बहुत सान्त्वना दी । फिर वे वीर पाण्डव वहीं रहने लगे ॥ ४ ॥

विदुरस्त्वथ पाण्डूनां सदा दर्शनलालसः ।
जगामैकरथेनैव काम्यकं वनमृद्धिमत् ॥ ५ ॥

इधर विदुरजी सदा पाण्डवोंको देखनेके लिये उत्सुक रहा करते थे। वे एकमात्र रथके द्वारा काम्यकवनमें गये, जो वनोचित सम्पत्तियोंसे भरा-पूरा था ॥ ५ ॥

ततो गत्वा विदुरः काम्यकं त-
च्छीघ्रैरश्वैर्वाहिना स्यन्दनेन।
ददर्शासीनं धर्मात्मानं विविक्ते
सार्धं द्रौपद्या भ्रातृभिर्ब्राह्मणैश्च ॥ ६ ॥

शीघ्रगामी अश्वोंद्वारा खींचे जानेवाले रथसे काम्यक वनमें पहुँचकर विदुरजीने देखा धर्मात्मा युधिष्ठिर एकान्त प्रदेशमें द्रौपदी, भाइयों तथा ब्राह्मणोंके साथ बैठे हैं ॥ ६ ॥

ततोऽपश्यद् विदुरं तूर्णमारा-
दभ्यायान्तं सत्यसंधः स राजा।
अथाब्रवीद् भ्रातरं भीमसेनं
किं नु क्षत्ता वक्ष्यति नः समेत्य ॥ ७ ॥

सत्यप्रतिज्ञ राजा युधिष्ठिरने जब बड़ी उतावलीके साथ विदुरजीको अपने निकट आते देखा, तब भाई भीमसेनसे कहा—'ये विदुरजी हमारे पास आकर न जाने क्या कहेंगे ॥ ७ ॥

कच्चिन्नायं वचनात् सौबलस्य
समाह्वाता देवनायोपयातः।
कच्चित् क्षुद्रः शकुनिर्नायुधानि
जेष्यत्यस्मान् पुनरेवाक्षवत्याम् ॥ ८ ॥

'ये शकुनिके कहनेसे हमें फिर जूआ खेलनेके लिये बुलाने तो नहीं आ रहे हैं। कहीं नीच शकुनि हमें फिर द्यूत-सभामें बुलाकर हमारे आयुधोंको तो जीत नहीं लेगा ॥ ८ ॥

समाहूतः केनचिदाद्रवेति
नाहं शक्तो भीमसेनापयातुम्।
गाण्डीवे च संशयिते कथं नु
राज्यप्राप्तिः संशयिता भवेन्नः ॥ ९ ॥

'भीमसेन! आओ, कहकर यदि कोई मुझे (युद्ध या द्यूतके लिये) बुलावे, तो मैं पीछे नहीं हट सकता। ऐसी दशामें यदि हम गाण्डीव धनुष किसी तरह जूएमें हार गये, तो हमारी राज्य-प्राप्ति संशयमें पड़ जायगी' ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत उत्थाय विदुरं पाण्डवेयाः
प्रत्यगृह्णन् नृपते सर्व एव।
तैः सत्कृतः स च तानाजमीढो
यथोचितं पाण्डुपुत्रान् समेयात् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर सब पाण्डवोंने उठकर विदुरजीकी अगवानी की। उनके द्वारा किया हुआ यथोचित स्वागत-सत्कार ग्रहण करके अजमीढवंशी विदुर पाण्डवोंसे मिले ॥ १० ॥



समाश्वस्तं विदुरं ते नरर्षभा-
स्ततोऽपृच्छन्नागमनाय हेतुम्।
स चापि तेभ्यो विस्तरतः शशंस
यथावृत्तो धृतराष्ट्रोऽम्बिकेयः ॥ ११ ॥

विदुरजीके आदर-सत्कार पानेपर नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने उनसे वनमें आनेका कारण पूछा। उनके पूछनेपर विदुरने भी अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने जैसा बर्ताव किया था, वह सब विस्तारपूर्वक कह सुनाया ॥ ११ ॥

विदुर उवाच

अवोचन्मां धृतराष्ट्रोऽनुगुप्त-
मजातशत्रो परिगृह्याभिपूज्य।
एवं गते समतामभ्युपेत्य
पथ्यं तेषां मम चैव ब्रवीहि ॥ १२ ॥

विदुरजी बोले—अजातशत्रो! राजा धृतराष्ट्रने मुझे अपना रक्षक समझकर बुलाया और मेरा आदर करके कहा—'विदुर! आजकी परिस्थितिमें समभाव रखकर तुम ऐसा कोई उपाय बताओ, जो मेरे और पाण्डवोंके लिये हितकर हो' ॥ १२ ॥

मयाप्युक्तं यत् क्षेमं कौरवाणां
हितं पथ्यं धृतराष्ट्रस्य चैव ॥
तद् वै तस्मै न रुचामभ्युपैति
ततश्चाहं क्षेममन्यन्न मन्ये ॥ १३ ॥

तब मैंने भी ऐसी बातें बतायीं, जो सर्वथा उचित तथा कौरववंश एवं धृतराष्ट्रके लिये भी हितकर और लाभदायक थीं। वह बात उनको नहीं रुची और मैं उसके सिवा दूसरी कोई बात उचित नहीं समझता था ॥ १३ ॥

परं श्रेयः पाण्डवेया मयोक्तं
न मे तच्च श्रुतवानाम्बिकेयः ।
यथाऽऽतुरस्येव हि पथ्यमन्नं
न रोचते स्मास्य तदुच्यमानम् ॥ १४ ॥

पाण्डवो ! मैंने दोनों पक्षके लिये परम कल्याणकी बात बतायी थी, परंतु अम्बिकानन्दन महाराज धृतराष्ट्रने मेरी वह बात नहीं सुनी । जैसे रोगीको हितकर भोजन अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार राजा धृतराष्ट्रको मेरी कही हुई हितकर बात भी पसंद नहीं आती ॥ १४ ॥

न श्रेयसे नीयतेऽजातशत्रो
स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा ।
ध्रुवं न रोचेद् भरतर्षभस्य
पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥ १५ ॥

अजातशत्रो ! जैसे श्रोत्रियके घरकी दुष्टा स्त्री श्रेयके मार्गपर नहीं लायी जा सकती, उसी प्रकार राजा धृतराष्ट्रको कल्याणके मार्गपर लाना असम्भव है । जैसे कुमारी कन्याको साठ वर्षका बूढ़ा पति अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्रको मेरी कही हुई बात निश्चय ही नहीं रुचती ॥ १५ ॥

ध्रुवं विनाशो नृप कौरवाणां
न वै श्रेयो धृतराष्ट्रः परैति ।
यथा च पर्णे पुष्करस्यावसिक्तं
जलं न तिष्ठेत् पथ्यमुक्तं तथास्मिन् ॥ १६ ॥

राजन् ! राजा धृतराष्ट्र कल्याणकारी उपाय नहीं ग्रहण करते हैं, अतः यह निश्चय जान पड़ता है कि कौरवकुलका विनाश अवश्यम्भावी है । जैसे कमलके पत्तेपर डाला हुआ जल नहीं ठहर सकता, उसी प्रकार कही हुई हितकर बात राजा धृतराष्ट्रके मनमें स्थान नहीं पाती है ॥ १६ ॥

ततः क्रुद्धो धृतराष्ट्रोऽब्रवीन्मां
यस्मिन् श्रद्धा भारत तत्र याहि ।
नाहं भूयः कामये त्वां सहायं
महीमिमां पालयितुं पुरं वा ॥ १७ ॥

उस समय राजा धृतराष्ट्रने कुपित होकर मुझसे कहा—'भारत ! जिसपर तुम्हारी श्रद्धा हो, वहीं चले जाओ । अब मैं इस राज्य अथवा नगरका पालन करनेके लिये तुम्हारी सहायता नहीं चाहता' ॥ १७ ॥

सोऽहं त्यक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा
प्रशासितुं त्वामुपयातो नरेन्द्र ।
तद् वै सर्वं यन्मयोक्तं सभायां
तच्च धार्यतां यत् प्रवक्ष्यामि भूयः ॥ १८ ॥

नरेन्द्र ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रने मुझे त्याग दिया है; अतः मैं तुम्हें उपदेश देनेके लिये आया हूँ । मैंने सभामें जो कुछ कहा था और पुनः इस समय जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब तुम धारण करो ॥ १८ ॥

क्लेशैस्तीव्रैर्युज्यमानः सपत्नैः
क्षमां कुर्वन् कालमुपासते यः ।
संवर्धयन् स्तोकमिवाग्निमात्मवान्
स वै भुङ्क्ते पृथिवीमेक एव ॥ १९ ॥

जो शत्रुओंद्वारा दुःसह कष्ट दिये जानेपर भी क्षमा करते हुए अनुकूल अवसरकी प्रतीक्षा करता है तथा जिस प्रकार थोड़ी-सी आगको भी लोग घास-फूसके द्वारा प्रज्वलित करके बढ़ा लेते हैं, वैसे ही जो मनको वशमें रखकर अपनी शक्ति और सहायकोंको बढ़ाता है, वह अकेला ही सारी पृथ्वीका उपभोग करता है ॥ १९ ॥

यस्याविभक्तं वसु राजन् सहायै-
स्तस्य दुःखेऽप्यंशभाजः सहायाः ।
सहायानामेष संग्रहणेऽभ्युपायः
सहायाप्तौ पृथिवीप्राप्तिमाहुः ॥ २० ॥

राजन् ! जिसका धन सहायकोंके लिये बँटा नहीं है अर्थात् जिसके धनको सहायक भी अपना ही समझकर भोगते हैं, उसके दुःखमें भी वे सब लोग हिस्सा बँटाते हैं । सहायकोंके संग्रहका यही उपाय है । सहायकोंकी प्राप्ति हो जानेपर पृथ्वीकी ही प्राप्ति हो गयी, ऐसा कहा जाता है ॥ २० ॥

सत्यं श्रेष्ठं पाण्डव विप्रलापं
तुल्यं चान्नं सह भोज्यं सहायैः ।
आत्मा चैषामग्रतो न स्म पूज्य
एवंवृत्तिर्वर्धते भूमिपालः ॥ २१ ॥

पाण्डुनन्दन ! व्यर्थकी बकवादसे रहित सत्य बोलना ही श्रेष्ठ है । अपने सहायक भाई-बन्धुओंके साथ बैठकर समान अन्नका भोजन करना चाहिये । उन सबके आगे अपनी मान-बड़ाई तथा पूजाकी बातें नहीं करनी चाहिये । ऐसा बर्ताव करनेवाला भूपाल सदा उन्नतिशील होता है ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवं करिष्यामि यथा ब्रवीषि
परां बुद्धिमुपगम्याप्रमत्तः ।
यच्चाप्यन्यद्देशकालोपपन्नं
तद् वै वाच्यं तत् करिष्यामि कृत्स्नम् ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर बोले--विदुरजी ! मैं उत्तम बुद्धिका आश्रय ले सतत सावधान रहकर आप जैसा कहते हैं वैसा ही करूँगा। और भी देश-कालके अनुसार आप जो कर्तव्य उचित समझें, वह बतावें। मैं उसका पूर्णरूपसे पालन करूँगा ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि विदुरनिर्वासे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें विदुरनिर्वासनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका संजयको भेजकर विदुरको वनसे बुलवाना और उनसे क्षमा-प्रार्थना

वैशम्पायन उवाच

गते तु विदुरे राजन्नाश्रमं पाण्डवान् प्रति।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः पर्यतप्यत भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--राजन् ! जब विदुरजी पाण्डवोंके आश्रमपर चले गये, तब महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रको बड़ा पश्चात्ताप हुआ ॥ १ ॥

विदुरस्य प्रभावं च संधिविग्रहकारितम्।
विवृद्धिं च परां मत्वा पाण्डवानां भविष्यति ॥ २ ॥

उन्होंने सोचा, विदुर संधि और विग्रह आदिकी नीतिको अच्छी तरह जानते हैं, जिसके कारण उनका बहुत बड़ा प्रभाव है। वे पाण्डवोंके पक्षमें हो गये तो भविष्यमें उनका महान् अभ्युदय होगा ॥ २ ॥

स सभाद्वारमागम्य विदुरस्मारमोहितः।
समक्षं पार्थिवेन्द्राणां पपाताविष्टचेतनः ॥ ३ ॥

विदुरका स्मरण करके वे मोहित-से हो गये और सभाभवनके द्वारपर आकर सब राजाओंके देखते-देखते अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३ ॥

स तु लब्ध्वा पुनः संज्ञां समुत्थाय महीतलात्।
समीपोपस्थितं राजा संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४॥

फिर होशमें आनेपर वे पृथ्वीसे उठ खड़े हुए और समीप आये हुए संजयसे इस प्रकार बोले--॥ ४ ॥

भ्राता मम सुहृच्चैव साक्षाद् धर्म इवापरः।
तस्य स्मृत्याद्य सुभृशं हृदयं दीर्यतीव मे ॥ ५॥

'संजय ! विदुर मेरे भाई और सुहृद् हैं। वे साक्षात् दूसरे धर्मके समान हैं। उनकी याद आनेसे आज मेरा हृदय अत्यन्त विदीर्ण-सा होने लगा है ॥ ५ ॥

तमानयस्व धर्मज्ञं मम भ्रातरमाशु वै।
इति ब्रुवन् स नृपतिः कृपणं पर्यदेवयत् ॥ ६ ॥

'तुम मेरे धर्मज्ञ भ्राता विदुरको शीघ्र यहाँ बुला लाओ।' ऐसा कहते हुए राजा धृतराष्ट्र दीनभावसे फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ६ ॥

पश्चात्तापाभिसंतप्तो विदुरस्मारमोहितः।
भ्रातृस्नेहादिदं राजा संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

महाराज धृतराष्ट्र विदुरकी याद आनेसे मोहित हो पश्चात्तापसे खिन्न हो उठे और भ्रातृस्नेहवश संजयसे पुनः इस प्रकार बोले--॥ ७ ॥

गच्छ संजय जानीहि भ्रातरं विदुरं मम।
यदि जीवति रोषेण मया पापेन निर्धुतः ॥ ८ ॥

'संजय ! जाओ, मेरे भाई विदुरका पता लगाओ। मुझ पापीने क्रोधवश उन्हें निकाल दिया। वे जीवित तो हैं न ? ॥

न हि तेन मम भ्रात्रा सुसूक्ष्ममपि किंचन।
व्यलीकं कृतपूर्वं वै प्राज्ञेनामितबुद्धिना ॥ ९ ॥

'अपरिमित बुद्धिवाले मेरे उन विद्वान् भाईने पहले कभी कोई छोटा-सा भी अपराध नहीं किया है ॥ ९ ॥

स व्यलीकं परं प्राप्तो मत्तः परमबुद्धिमान्।
त्यक्ष्यामि जीवितं प्राज्ञ तं गच्छानय संजय ॥ १० ॥

'बुद्धिमान् संजय ! मुझसे परम मेधावी विदुरका बड़ा अपराध हुआ। तुम जाकर उन्हें ले आओ, नहीं तो मैं प्राण त्याग दूँगा'॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राज्ञस्तमनुमान्य च।
संजयो बाढमित्युक्त्वा प्राद्रवत् काम्यकं प्रति ॥ ११ ॥
सोऽचिरेण समासाद्य तद् वनं यत्र पाण्डवाः।
रौरवाजिनसंवीतं ददर्शाथ युधिष्ठिरम् ॥ १२ ॥
विदुरेण सहासीनं ब्राह्मणैश्च सहस्रशः।
भ्रातृभिश्चाभिसंगुप्तं देवैरिव पुरंदरम् ॥ १३ ॥

राजाका यह वचन सुनकर संजयने उनका आदर करते हुए 'बहुत अच्छा' कहकर काम्यकवनको प्रस्थान किया। जहाँ पाण्डव रहते थे, उस वनमें शीघ्र ही पहुँचकर संजयने देखा, राजा युधिष्ठिर मृगचर्म धारण करके विदुरजी तथा सहस्रों ब्राह्मणोंके साथ बैठे हुए हैं और देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति अपने भाइयोंसे सुरक्षित हैं ॥ ११-१३ ॥

युधिष्ठिरमुपागम्य पूजयामास संजयः।
भीमार्जुनयमांश्चापि तद्युक्तं प्रतिपेदिरे ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरके पास पहुँचकर संजयने उनका सम्मान किया।

फिर भीम, अर्जुन और नकुल-सहदेवने संजयका यथोचित सत्कार किया ॥ १४ ॥

राज्ञा पृष्टः स कुशलं सुखासीनश्च संजयः ।
शशंसागमने हेतुमिदं चैवाब्रवीद् वचः ॥ १५ ॥

राजा युधिष्ठिरके कुशल-प्रश्न करनेके पश्चात् जब संजय सुखपूर्वक बैठ गया, तब अपने आनेका कारण बताते हुए उसने इस प्रकार कहा ॥ १५ ॥

संजय उवाच

राजा स्मरति ते क्षत्तर्धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
तं पश्य गत्वा त्वं क्षिप्रं संजीवय च पार्थिवम् ॥ १६ ॥

संजयने कहा—विदुरजी ! अम्बिकानन्दन महाराज धृतराष्ट्र आपको स्मरण करते हैं । आप जल्दी चलकर उनसे मिलिये और उन्हें जीवनदान दीजिये ॥ १६ ॥

सोऽनुमान्य नरश्रेष्ठान् पाण्डवान् कुरुनन्दनान् ।
नियोगाद् राजसिंहस्य गन्तुमर्हसि सत्तम ॥ १७ ॥

साधुशिरोमणे ! आप कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले इन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंसे आदरपूर्वक विदा लेकर महाराजके आदेशसे शीघ्र उनके पास चलें ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु विदुरो धीमान् स्वजनवल्लभः ।
युधिष्ठिरस्यानुमते पुनरायाद् गजाह्वयम् ॥ १८ ॥
तमब्रवीन्महातेजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
दिष्ट्या प्राप्तोऽसि धर्मज्ञ दिष्ट्या स्मरसि मेऽनघ ॥ १९ ॥

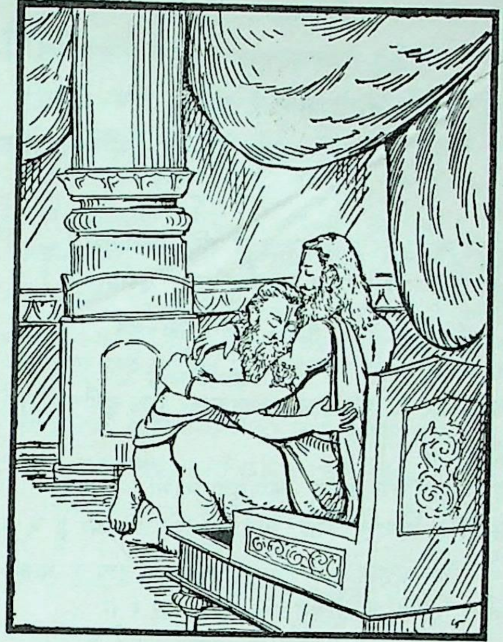
वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! स्वजनोंके परम प्रिय बुद्धिमान् विदुरजीसे जब संजयने इस प्रकार कहा, तब वे युधिष्ठिरकी अनुमति लेकर फिर हस्तिनापुरमें आये । वहाँ महातेजस्वी अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रने उनसे कहा—'धर्मज्ञ विदुर ! तुम आ गये, यह मेरे बड़े सौभाग्यकी बात है । अनघ ! यह भी मेरे सौभाग्यकी बात है कि तुम मुझे भूले नहीं ॥

अद्य रात्रौ दिवा चाहं त्वत्कृते भरतर्षभ ।
प्रजागरे प्रपश्यामि विचित्रं देहमात्मनः ॥ २० ॥

'भरतकुलभूषण ! मैं आज दिन-रात तुम्हारे लिये जागते रहनेके कारण अपने शरीरकी विचित्र दशा देख रहा हूँ' ॥

सोऽङ्कमानीय विदुरं मूर्धन्याघ्राय चैव ह ।
क्षम्यतामिति चोवाच यदुक्तोऽसि मयानघ ॥ २१ ॥

ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्रने विदुरको अपने हृदयसे लगा लिया और उनका मस्तक सूँघते हुए कहा—'निष्पाप



विदुर ! मैंने तुमसे जो अप्रिय बात कह दी है, उसके लिये मुझे क्षमा करो' ॥ २१ ॥

विदुर उवाच

क्षान्तमेव मया राजन् गुरुर्मे परमो भवान् ।
एषोऽहमागतः शीघ्रं त्वद्दर्शनपरायणः ॥ २२ ॥
भवन्ति हि नरव्याघ्र पुरुषा धर्मचेतसः ।
दीनाभिपातिनो राजन् नात्र कार्या विचारणा ॥ २३ ॥

विदुरने कहा—राजन् ! मैंने तो सब क्षमा कर ही दिया है । आप मेरे परम गुरु हैं । मैं शीघ्रतापूर्वक आपके दर्शनके लिये आया हूँ । नरश्रेष्ठ ! धर्मात्मा पुरुष दीन जनोंकी ओर अधिक झुकते हैं । आपको इसके लिये मनमें विचार नहीं करना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

पाण्डोः सुता यादृशा मे तादृशास्तव भारत ।
दीना इतीव मे बुद्धिरभिपन्नाद्य तान् प्रति ॥ २४ ॥

भारत ! मेरे लिये जैसे पाण्डुके पुत्र हैं, वैसे ही आपके भी । परंतु पाण्डव इन दिनों दीन दशामें हैं, अतः इनके प्रति मेरे हृदयका झुकाव हो गया ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

अन्योन्यमनुनीयैवं भ्रातरौ द्वौ महाद्युती ।
विदुरो धृतराष्ट्रश्च लेभाते परमां मुदम् ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे दोनों महातेजस्वी भाई विदुर और धृतराष्ट्र एक-दूसरेसे अनुनय-विनय करके अत्यन्त प्रसन्न हो गये ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि विदुरप्रत्यागमने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें विदुरप्रत्यागमनविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि और कर्णकी सलाह, पाण्डवोंका वध करनेके लिये उनका वनमें जानेकी तैयारी तथा व्यासजीका आकर उनको रोकना

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा च विदुरं प्राप्तं राज्ञा च परिसान्त्वितम्।
धृतराष्ट्रात्मजो राजा पर्यतप्यत दुर्मतिः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुर आ गये और राजा धृतराष्ट्रने उन्हें सान्त्वना देकर रख लिया, यह सुनकर दुष्ट बुद्धिवाला धृतराष्ट्रकुमार राजा दुर्योधन संतप्त हो उठा॥ १॥

स सौबलेयमानाय्य कर्णदुःशासनौ तथा।
अब्रवीद् वचनं राजा प्रविश्याबुद्धिजं तमः॥ २॥

उसने शकुनि, कर्ण और दुःशासनको बुलाकर अज्ञान-जनित मोहमें मग्न हो इस प्रकार कहा—॥ २॥

एष प्रत्यागतो मन्त्रो धृतराष्ट्रस्य धीमतः।
विदुरः पाण्डुपुत्राणां सुहृद् विद्वान् हिते रतः॥ ३॥

'बुद्धिमान् पिताजीका यह मन्त्री विदुर फिर लौट आया। विदुर विद्वान् होनेके साथ ही पाण्डवोंका सुहृद् और उन्हींके हितसाधनमें संलग्न रहनेवाला है॥ ३॥

यावदस्य पुनर्बुद्धिं विदुरो नापकर्षति।
पाण्डवानयने तावन्मन्त्रयध्वं हितं मम॥ ४॥

'यह पिताजीके विचारको पुनः पाण्डवोंके लौटा लानेकी ओर जबतक नहीं खींचता, तभीतक मेरे हितसाधनके विषयमें तुमलोग कोई उत्तम सलाह दो॥ ४॥

अथ पश्याम्यहं पार्थान् प्राप्तानिह कथंचन।
पुनः शोषं गमिष्यामि निरम्बुर्निरवग्रहः॥ ५॥

'यदि मैं किसी प्रकार पाण्डवोंको यहाँ आया देख लूँगा, तो जलका भी परित्याग करके स्वेच्छासे अपने शरीरको सुखा डालूँगा॥ ५॥

विषमुद्बन्धनं चैव शस्त्रमग्निप्रवेशनम्।
करिष्ये न हि तानृद्धान् पुनर्द्रष्टुमिहोत्सहे॥ ६॥

'मैं जहर खा लूँगा, फाँसी लगा लूँगा, अपने आपको ही शस्त्रसे मार दूँगा अथवा जलती आगमें प्रवेश कर जाऊँगा; परंतु पाण्डवोंको फिर बढ़ते या फलते-फूलते नहीं देख सकूँगा'॥ ६॥

शकुनिरुवाच

किं बालिशमतिं राजन्नास्थितोऽसि विशाम्पते।
गतास्ते समयं कृत्वा नैतदेवं भविष्यति॥ ७॥

शकुनि बोला—राजन् ! तुम भी क्या नादान बच्चोंके-से विचार रखते हो ? पाण्डव प्रतिज्ञा करके वनमें गये हैं। वे उस प्रतिज्ञाको तोड़कर लौट आवें, ऐसा कभी नहीं होगा॥

सत्यवाक्यस्थिताः सर्वे पाण्डवा भरतर्षभ।
पितुस्ते वचनं तात न ग्रहीष्यन्ति कर्हिचित्॥ ८॥

भरतवंशशिरोमणे ! सब पाण्डव सत्य वचनका पालन करनेमें संलग्न हैं। तात ! वे तुम्हारे पिताकी बात कभी स्वीकार नहीं करेंगे॥ ८॥

अथवा ते ग्रहीष्यन्ति पुनरेष्यन्ति वा पुरम्।
निरस्य समयं सर्वे पणोऽस्माकं भविष्यति॥ ९॥

अथवा यदि वे तुम्हारे पिताकी बात मान लेंगे और प्रतिज्ञा तोड़कर इस नगरमें आ जायँगे, तो हमारा व्यवहार इस प्रकार होगा॥ ९॥

सर्वे भवामो मध्यस्था राज्ञश्छन्दानुवर्तिनः।
छिद्रं बहु प्रपश्यन्तः पाण्डवानां सुसंवृताः॥ १०॥

हम सब लोग राजाकी आज्ञाका पालन करते हुए मध्यस्थ हो जायँगे और छिपे-छिपे पाण्डवोंके बहुत-से छिद्र देखते रहेंगे॥ १०॥

दुःशासन उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि मातुल।
नित्यं हि मे कथयतस्तव बुद्धिर्विरोचते॥ ११॥

दुःशासनने कहा—महाबुद्धिमान् मामाजी ! आप जैसा कहते हैं, वही मुझे भी ठीक जान पड़ता है। आपके मुखसे जो विचार प्रकट होता है, वह मुझे सदा अच्छा लगता है॥

कर्ण उवाच

काममीक्षामहे सर्वे दुर्योधन तवेप्सितम्।
ऐकमत्यं हि नो राजन् सर्वेषामेव लक्ष्यते॥ १२॥

कर्ण बोला—दुर्योधन ! हम सब लोग तुम्हारी अभिलषित कामनाकी पूर्तिके लिये सचेष्ट हैं। राजन् ! इस विषयमें हम सभीका एक मत दिखायी देता है॥ १२॥

नागमिष्यन्ति ते धीरा अकृत्वा कालसंविदम्।
आगमिष्यन्ति चेन्मोहात् पुनर्द्यूतेन ताञ्जय॥ १३॥

धीरबुद्धि पाण्डव निश्चित समयकी अवधिको पूर्ण किये बिना यहाँ नहीं आयँगे और यदि वे मोहवश आ भी जायँ, तो तुम पुनः जूएके द्वारा उन्हें जीत लेना॥ १३॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा।
नातिहृष्टमनाः क्षिप्रमभवत् स पराङ्मुखः॥ १४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कर्णके ऐसा कहनेपर उस समय राजा दुर्योधनको अधिक प्रसन्नता नहीं हुई । उसने तुरंत ही अपना मुँह फेर लिया ॥ १४ ॥

उपलभ्य ततः कर्णो विवृत्य नयने शुभे ।
रोषाद् दुःशासनं चैव सौबलं च तमेव च ॥ १५ ॥
उवाच परमक्रुद्ध उद्यम्यात्मानमात्मना ।
अथो मम मतं यत् तु तन्निबोधत भूमिपाः॥ १६ ॥

तब उसके आशयको समझकर कर्णने रोषसे अपनी सुन्दर आँखें फाड़कर दुःशासन, शकुनि और दुर्योधनकी ओर देखते हुए स्वयं ही उत्साहमें भरकर अत्यन्त क्रोधपूर्वक कहा—'भूमिपालो ! इस विषयमें मेरा जो मत है, उसे सुन लो ।१५-१६।

प्रियं सर्वे करिष्यामो राज्ञः किङ्करपाणयः ।
न चास्य शक्नुमः स्थातुं प्रिये सर्वे ह्यतन्द्रिताः ॥१७ ॥

'हम सब लोग राजा दुर्योधनके किंकर और भुजाएँ हैं; अतः हम सब मिलकर इनका प्रिय कार्य करेंगे; परंतु हम आलस्य छोड़कर इनके प्रियसाधनमें लग नहीं पाते॥१७॥

वयं तु शस्त्राण्यादाय रथानास्थाय दंशिताः ।
गच्छामः सहिता हन्तुं पाण्डवान् वनगोचरान् ॥ १८ ॥

'मेरी राय यह है कि हम कवच पहनकर अपने-अपने रथपर आरूढ़ हो अस्त्र-शस्त्र लेकर वनवासी पाण्डवोंको मारनेके लिये एक साथ उनपर धावा करें ॥ १८ ॥

तेषु सर्वेषु शान्तेषु गतेष्वविदितां गतिम् ।
निर्विवादा भविष्यन्ति धार्तराष्ट्रास्तथा वयम् ॥ १९ ॥

'जब वे सभी मरकर शान्त हो जायँ और अज्ञात गतिको अर्थात् परलोकको पहुँच जायँ, तब धृतराष्ट्रके पुत्र तथा हम सब लोग सारे झगड़ोंसे दूर हो जायँगे ॥ १९ ॥

यावदेव परिद्यूना यावच्छोकपरायणाः ।
यावन्मित्रविहीनाश्च तावच्छक्या मतं मम ॥ २० ॥

'वे जबतक क्लेशमें पड़े हैं, जबतक शोकमें डूबे हुए हैं और जबतक मित्रों एवं सहायकोंसे वञ्चित हैं, तभीतक युद्धमें जीते जा सकते हैं, मेरा तो यही मत है' ॥ २० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा पूजयन्तः पुनः पुनः ।
बाढमित्येव ते सर्वे प्रत्यूचुः सूतजं तदा ॥ २१ ॥

कर्णकी यह बात सुनकर सबने बार-बार उसकी सराहना की और कर्णकी बातके उत्तरमें सबके मुखसे यही निकला—'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' ॥ २१ ॥

एवमुक्त्वा सुसंरब्धा रथैः सर्वे पृथक्पृथक् ।
निर्ययुः पाण्डवान् हन्तुं सहिताः कृतनिश्चयाः ॥ २२ ॥

इस प्रकार आपसमें बातचीत करके रोष और जोशमें भरे हुए वे सब पृथक्-पृथक् रथोंपर बैठकर पाण्डवोंके वधका निश्चय करके एक साथ नगरसे बाहर निकले ॥ २२ ॥

तान् प्रस्थितान् परिज्ञाय कृष्णद्वैपायनः प्रभुः ।
आजगाम विशुद्धात्मा दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ॥ २३ ॥

उन्हें वनकी ओर प्रस्थान करते जान शक्तिशाली महर्षि शुद्धात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास दिव्य दृष्टिसे सब कुछ देखकर सहसा वहाँ आये ॥ २३ ॥

प्रतिषिध्याथ तान् सर्वान् भगवाँल्लोकपूजितः ।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनमुवाचाभ्येत्य सत्वरम् ॥ २४ ॥

उन लोकपूजित भगवान् व्यासने उन सबको रोका और सिंहासनपर बैठे हुए प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्रके पास शीघ्र आकर कहा ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि व्यासागमने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें व्यासजीके आगमनसे सम्बन्ध रखनेवाला सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥



अष्टमोऽध्यायः

व्यासजीका धृतराष्ट्रसे दुर्योधनके अन्यायको रोकनेके लिये अनुरोध

व्यास उवाच

धृतराष्ट्र महाप्राज्ञ निबोध वचनं मम ।
वक्ष्यामि त्वां कौरवाणां सर्वेषां हितमुत्तमम् ॥ १ ॥

व्यासजीने कहा—महाप्राज्ञ धृतराष्ट्र ! तुम मेरी बात सुनो, मैं तुम्हें समस्त कौरवोंके हितकी उत्तम बात बताता हूँ ॥

न मे प्रियं महाबाहो यद् गताः पाण्डवा वनम् ।
निकृत्या निकृताश्चैव दुर्योधनपुरोगमैः ॥ २ ॥

महाबाहो ! पाण्डवलोग जो वनमें भेजे गये हैं, यह मुझे अच्छा नहीं लगा है । दुर्योधन आदिने उन्हें छलपूर्वक जूएमें हराया है ॥ २ ॥

ते स्मरन्तः परिक्लेशान् वर्षे पूर्णे त्रयोदशे ।
विमोक्ष्यन्ति विषं क्रुद्धाः कौरवेयेषु भारत ॥ ३ ॥

भारत ! वे तेरहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर अपनेको दिये हुए क्लेश याद करके कुपित हो कौरवोंपर विष उगलेंगे अर्थात् विषके समान घातक अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करेंगे ॥ ३ ॥

तदयं किं नु पापात्मा तव पुत्रः सुमन्दधीः ।
पाण्डवान् नित्यसंक्रुद्धो राज्यहेतोर्जिघांसति ॥ ४ ॥

ऐसा जानते हुए भी तुम्हारा यह पापात्मा एवं मूर्ख पुत्र क्यों सदा रोषमें भरा रहकर राज्यके लिये पाण्डवोंका वध करना चाहता है ? ॥ ४ ॥

वार्यतां साध्वयं मूढः शमं गच्छतु ते सुतः।
वनस्थांस्तानयं हन्तुमिच्छन् प्राणान् विमोक्ष्यति॥ ५॥

तुम इस मूढ़को रोको। तुम्हारा यह पुत्र शान्त हो जाय। यदि इसने वनवासी पाण्डवोंको मार डालनेकी इच्छा की, तो यह स्वयं ही अपने प्राणोंको खो बैठेगा ॥ ५ ॥

यथा हि विदुरः प्राज्ञो यथा भीष्मो यथा वयम्।
यथा कृपश्च द्रोणश्च तथा साधुर्भवानपि॥ ६॥

जैसे ज्ञानी विदुर, भीष्म, मैं, कृपाचार्य तथा द्रोणाचार्य हैं, वैसे ही साधुस्वभाव तुम भी हो ॥ ६ ॥

विग्रहो हि महाप्राज्ञ स्वजनेन विगर्हितः।
अधर्म्यमयशस्यं च मा राजन् प्रतिपद्यताम्॥ ७॥

महाप्राज्ञ! स्वजनोंके साथ कलह अत्यन्त निन्दित माना गया है। वह अधर्म एवं अयश बढ़ानेवाला है; अतः राजन्! तुम स्वजनोंके साथ कलहमें न पड़ो ॥ ७ ॥

समीक्षा यादृशी ह्यस्य पाण्डवान् प्रति भारत।
उपेक्ष्यमाणा सा राजन् महान्तमनयं स्पृशेत्॥ ८॥

भारत! पाण्डवोंके प्रति इस दुर्योधनका जैसा विचार है, यदि उसकी उपेक्षा की गयी—उसका शमन न किया गया, तो उसका वह विचार महान् अत्याचारकी सृष्टि कर सकता है ॥

अथवायं सुमन्दात्मा वनं गच्छतु ते सुतः।
पाण्डवैः सहितो राजन्नेक एवासहायवान्॥ ९॥

अथवा तुम्हारा यह मन्दबुद्धि पुत्र अकेला ही दूसरे किसी सहायकको लिये बिना पाण्डवोंके साथ वनमें जाय ॥ ९ ॥

ततः संसर्गजः स्नेहः पुत्रस्य तव पाण्डवैः।
यदि स्यात् कृतकार्योऽद्य भवेस्त्वं मनुजेश्वर॥ १०॥

मनुजेश्वर! वहाँ पाण्डवोंके संसर्गमें रहनेसे तुम्हारे पुत्रके प्रति उनके हृदयमें स्नेह हो जाय, तो तुम आज ही कृतार्थ हो जाओगे ॥ १० ॥

अथवा जायमानस्य यच्छीलमनुजायते।
श्रूयते तन्महाराज नामृतस्यापसर्पति॥ ११॥
कथं वा मन्यते भीष्मो द्रोणोऽथ विदुरोऽपि वा।
भवान् वात्र क्षमं कार्यं पुरा वोऽर्थोऽभिवर्धते॥ १२॥

किंतु महाराज! जन्मके समय किसी वस्तुका जैसा स्वभाव बन जाता है, वह दूर नहीं होता। भले ही वह वस्तु अमृत ही क्यों न हो? यह बात मेरे सुननेमें आयी है। अथवा इस विषयमें भीष्म, द्रोण, विदुर या तुम्हारी क्या सम्मति है? यहाँ जो उचित हो, वह कार्य पहले करना चाहिये, उसीसे तुम्हारे प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है ॥ ११-१२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि व्यासवाक्ये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें व्यासवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

व्यासजीके द्वारा सुरभि और इन्द्रके उपाख्यानका वर्णन तथा उनका पाण्डवोंके प्रति दया दिखलाना

धृतराष्ट्र उवाच

भगवन् नाहमप्येतद् रोचये द्यूतसम्भवम्।
मन्ये तद्विधिनाऽऽकृष्य कारितोऽस्मीति वै मुने॥ १॥

धृतराष्ट्रने कहा—भगवन्! यह जूएका खेल मुझे भी पसंद नहीं था। मुने! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि विधाताने मुझे बलपूर्वक खींचकर इस कार्यमें लगा दिया ॥ १ ॥

नैतद् रोचयते भीष्मो न द्रोणो विदुरो न च।
गान्धारी नेच्छति द्यूतं तत्र मोहात् प्रवर्तितम्॥ २॥

भीष्म, द्रोण और विदुरको भी यह द्यूतका आयोजन अच्छा नहीं लगता था। गान्धारी भी नहीं चाहती थी कि जूआ खेला जाय; परंतु मैंने मोहवश सबको जूएमें लगा दिया ॥ २ ॥

परित्यक्तुं न शक्नोमि दुर्योधनमचेतनम्।
पुत्रस्नेहेन भगवञ्जानन्नपि प्रियव्रत॥ ३॥

भगवन्! प्रियव्रत! मैं यह जानता हूँ कि दुर्योधन अविवेकी है, तो भी पुत्रस्नेहके कारण मैं उसका त्याग नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

व्यास उवाच

वैचित्रवीर्य नृपते सत्यमाह यथा भवान्।
दृढं विद्मः परं पुत्रं परं पुत्रान्न विद्यते॥ ४॥

व्यासजी बोले—राजन् विचित्रवीर्यनन्दन! तुम ठीक कहते हो, हम अच्छी तरह जानते हैं कि पुत्र परम प्रिय वस्तु है। पुत्रसे बढ़कर संसारमें और कुछ नहीं है ॥ ४ ॥

इन्द्रोऽप्यश्रुनिपातेन सुरभ्या प्रतिबोधितः।
अन्यैः समृद्धैरप्यर्थैर्न सुतान्मन्यते परम्॥ ५॥

सुरभिने पुत्रके लिये आँसू बहाकर इन्द्रको भी यह बात समझायी थी, जिससे वे अन्य समृद्धिशाली पदार्थोंसे सम्पन्न होनेपर भी पुत्रसे बढ़कर दूसरी किसी वस्तुको नहीं मानते हैं ॥ ५ ॥

अत्र ते कीर्तयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम्।
सुरभ्याश्चैव संवादमिन्द्रस्य च विशाम्पते॥ ६॥

जनेश्वर ! इस विषयमें मैं तुम्हें एक परम उत्तम इतिहास सुनाता हूँ; जो सुरभि तथा इन्द्रके संवादके रूपमें है ॥ ६ ॥

त्रिविष्टपगता राजन् सुरभी प्रारुदत् किल ।
गवां माता पुरा तात तामिन्द्रोऽन्वकृपायत ॥ ७ ॥

राजन् ! पहलेकी बात है, गोमाता सुरभि स्वर्गलोकमें जाकर फूट-फूटकर रोने लगी । तात ! उस समय इन्द्रको उसपर बड़ी दया आयी ॥ ७ ॥

इन्द्र उवाच

किमिदं रोदिषि शुभे कच्चित् क्षेमं दिवौकसाम् ।
मानुषेष्वथ वा गोषु नैतदल्पं भविष्यति ॥ ८ ॥

इन्द्रने पूछा—शुभे ! तुम क्यों इस तरह रो रही हो ? देवलोकवासियोंकी कुशल तो है न ? मनुष्यों तथा गौओंमें तो सब लोग कुशलसे हैं न ? तुम्हारा यह रोदन किसी अल्प कारणसे नहीं हो सकता ? ॥ ८ ॥

सुरभिरुवाच

विनिपातो न वः कश्चिद् दृश्यते त्रिदशाधिप ।
अहं तु पुत्रं शोचामि तेन रोदिमि कौशिक ॥ ९ ॥

सुरभिने कहा—देवेश्वर ! आपलोगोंकी अवनति नहीं दिखायी देती । इन्द्र ! मुझे तो अपने पुत्रके लिये शोक हो रहा है, इसीसे रोती हूँ ॥ ९ ॥

पश्यैनं कर्षकं क्षुद्रं दुर्बलं मम पुत्रकम् ।
प्रतोदेनाभिनिघ्नन्तं लाङ्गलेन च पीडितम् ॥ १० ॥

देखो, इस नीच किसानको जो मेरे दुर्बल बेटेको बार-बार कोड़ेसे पीट रहा है और वह हलसे जुतकर अत्यन्त पीड़ित हो रहा है ॥ १० ॥

निषीदमानं सोत्कण्ठं वध्यमानं सुराधिप ।
कृपाविष्टास्मि देवेन्द्र मनश्चोद्विजते मम ।
एकस्तत्र बलोपेतो धुरमुद्वहतेऽधिकाम् ॥ ११ ॥
अपरोऽप्यबलप्राणः कृशो धमनिसंततः ।
कृच्छ्रादुद्वहते भारं तं वै शोचामि वासव ॥ १२ ॥
वध्यमानः प्रतोदेन तुद्यमानः पुनः पुनः ।
नैव शक्नोति तं भारमुद्वोढुं पश्य वासव ॥ १३ ॥

सुरेश्वर ! वह तो विश्रामके लिये उत्सुक होकर बैठ रहा है और वह किसान उसे डंडे मारता है । देवेन्द्र ! यह देखकर मुझे अपने बच्चेके प्रति बड़ी दया हो आयी है और मेरा मन उद्विग्न हो उठा है । वहाँ दो बैलोंमेंसे एक तो बलवान् है, जो भारयुक्त जुएको खींच सकता है; परंतु दूसरा निर्बल है, प्राणशून्य-सा जान पड़ता है । वह इतना दुबला-पतला हो गया है कि उसके सारे शरीरमें फैली हुई नाड़ियाँ दीख रही हैं। वह बड़े कष्टसे उस भारयुक्त जूएको खींच पाता है । वासव ! मुझे उसीके लिये शोक हो रहा है । इन्द्र ! देखो-देखो, चाबुकसे मार-मारकर उसे बार-बार पीड़ा दी जा रही है, तो भी उस जुएके भारको वहन करनेमें वह असमर्थ हो रहा है ।११-१३।

ततोऽहं तस्य शोकार्ता विरौमि भृशदुःखिता ।
अश्रूण्यावर्तयन्ती च नेत्राभ्यां करुणायती ॥ १४ ॥

यही देखकर मैं शोकसे पीड़ित हो अत्यन्त दुखी हो गयी हूँ और करुणामग्न हो दोनों नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई रो रही हूँ ॥ १४ ॥

शक्र उवाच

तव पुत्रसहस्रेषु पीड्यमानेषु शोभने ।
किं कृपायितवत्यत्र पुत्र एकत्र हन्यति ॥ १५ ॥

इन्द्रने कहा—कल्याणी ! तुम्हारे तो सहस्रों पुत्र इसी प्रकार पीड़ित हो रहे हैं, फिर तुमने एक ही पुत्रके मार खानेपर यहाँ इतनी करुणा क्यों दिखायी ? ॥ १५ ॥

सुरभिरुवाच

यदि पुत्रसहस्राणि सर्वत्र समतैव मे ।
दीनस्य तु सतः शक्र पुत्रस्याभ्यधिका कृपा ॥ १६ ॥

सुरभि बोली—देवेन्द्र ! यदि मेरे सहस्रों पुत्र हैं, तो मैं उन सबके प्रति समान भाव ही रखती हूँ; परंतु दीन-दुखी पुत्रके प्रति अधिक दया उमड़ आती है ॥ १६ ॥

व्यास उवाच

तदिन्द्रः सुरभीवाक्यं निशम्य भृशविस्मितः ।
जीवितेनापि कौरव्य मेनेऽभ्यधिकमात्मजम् ॥ १७ ॥

व्यासजी कहते हैं—कुरुराज ! सुरभिकी यह बात सुनकर इन्द्र बड़े विस्मित हो गये । तबसे वे पुत्रको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानने लगे ॥ १७ ॥

प्रववर्ष च तत्रैव सहसा तोयमुल्बणम् ।
कर्षकस्याचरन् विघ्नं भगवान् पाकशासनः ॥ १८ ॥

उस समय वहाँ पाकशासन भगवान् इन्द्रने किसानके कार्यमें विघ्न डालते हुए सहसा भयंकर वर्षा की ॥ १८ ॥

तद् यथा सुरभिः प्राह समवेतास्तु ते तथा ।
सुतेषु राजन् सर्वेषु हीनेष्वभ्यधिका कृपा ॥ १९ ॥

इस प्रसङ्गमें सुरभिने जैसा कहा है, वह ठीक है, कौरव और पाण्डव सभी मिलकर तुम्हारे ही पुत्र हैं। परंतु राजन् ! सब पुत्रोंमें जो हीन हों, दयनीय दशामें पड़े हों, उन्हींपर अधिक कृपा होनी चाहिये ॥ १९ ॥

यादृशो मे सुतः पाण्डुस्तादृशो मेऽसि पुत्रक ।
विदुरश्च महाप्राज्ञः स्नेहादेतद् ब्रवीम्यहम् ॥ २० ॥

वत्स ! जैसे पाण्डु मेरे पुत्र हैं, वैसे ही तुम भी हो, उसी प्रकार महाज्ञानी विदुर भी हैं । मैंने स्नेहवश ही तुमसे ये बातें कही हैं ॥ २० ॥

चिराय तव पुत्राणां शतमेकश्च भारत ।
पाण्डोः पञ्चैव लक्ष्यन्ते तेऽपि मन्दाः सुदुःखिताः॥ २१॥

भारत ! दीर्घकालसे तुम्हारे एक सौ एक पुत्र हैं; किंतु पाण्डुके पाँच ही पुत्र देखे जाते हैं। वे भी भोले-भाले, छल-कपटसे रहित हैं और अत्यन्त दुःख उठा रहे हैं ॥ २१ ॥

कथं जीवेयुरत्यन्तं कथं वर्धेयुरित्यपि ।
इति दीनेषु पार्थेषु मनो मे परितप्यते ॥ २२ ॥

'वे कैसे जीवित रहेंगे और कैसे वृद्धिको प्राप्त होंगे ?' इस प्रकार कुन्तीके उन दीन पुत्रोंके प्रति सोचते हुए मेरे मनमें बड़ा संताप होता है ॥ २२ ॥

यदि पार्थिव कौरव्याञ्जीवमानानिहेच्छसि ।
दुर्योधनस्तव सुतः शमं गच्छतु पाण्डवैः ॥ २३ ॥

राजन् ! यदि तुम चाहते हो कि समस्त कौरव यहाँ जीवित रहें, तो तुम्हारा पुत्र दुर्योधन पाण्डवोंसे मेल करके शान्तिपूर्वक रहे ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि सुरभ्युपाख्याने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें सुरभि-उपाख्यानविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

व्यासजीका जाना, मैत्रेयजीका धृतराष्ट्र और दुर्योधनसे पाण्डवोंके प्रति सद्भावका अनुरोध तथा दुर्योधनके अशिष्ट व्यवहारसे रुष्ट होकर उसे शाप देना

धृतराष्ट्र उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि नो मुने ।
अहं चैव विजानामि सर्वे चेमे नराधिपाः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—महाप्राज्ञ मुने ! आप जैसा कहते हैं, यही ठीक है। मैं भी इसे ही ठीक मानता हूँ तथा ये सब राजालोग भी इसीका अनुमोदन करते हैं ॥ १ ॥

भवांश्च मन्यते साधु यत् कुरूणां महोदयम् ।
तदेव विदुरोऽप्याह भीष्मो द्रोणश्च मां मुने ॥ २ ॥

मुने ! आप भी वही उत्तम मानते हैं, जो कुरुवंशके महान् अभ्युदयका कारण है। मुने ! यही बात विदुर, भीष्म और द्रोणाचार्यने भी मुझे कही है ॥ २ ॥

यदि त्वहमनुग्राह्यः कौरव्येषु दया यदि ।
अन्वशाधि दुरात्मानं पुत्रं दुर्योधनं मम ॥ ३ ॥

यदि आपका मुझपर अनुग्रह है और यदि कौरवकुलपर आपकी दया है तो आप मेरे दुरात्मा पुत्र दुर्योधनको स्वयं ही शिक्षा दीजिये ॥ ३ ॥

व्यास उवाच

अयमायाति वै राजन् मैत्रेयो भगवानृषिः ।
अन्विष्य पाण्डवान् भ्रातृनिहैत्यस्मद्दिदृक्षया ॥ ४ ॥

व्यासजीने कहा—राजन् ! ये महर्षि भगवान् मैत्रेय आ रहे हैं। पाँचों पाण्डवबन्धुओंसे मिलकर अब ये हमलोगोंसे मिलनेके लिये यहाँ आते हैं ॥ ४ ॥

एष दुर्योधनं पुत्रं तव राजन् महानृषिः ।
अनुशास्ता यथान्यायं शमायास्य कुलस्य च ॥ ५ ॥

महाराज ! ये महर्षि ही इस कुलकी शान्तिके लिये तुम्हारे पुत्र दुर्योधनको यथायोग्य शिक्षा देंगे ॥ ५ ॥

ब्रूयाद् यदेष कौरव्य तत् कार्यमविशङ्कया ।
अक्रियायां तु कार्यस्य पुत्रं ते शप्स्यते रुषा ॥ ६ ॥

कुरुनन्दन ! मैत्रेय जो कुछ कहें, उसे निःशङ्क होकर करना चाहिये। यदि उनके बताये हुए कार्यकी अवहेलना की गयी तो वे कुपित होकर तुम्हारे पुत्रको शाप दे देंगे ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययौ व्यासो मैत्रेयः प्रत्यदृश्यत ।
पूजया प्रतिजग्राह सपुत्रस्तं नराधिपः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर व्यासजी चले गये और मैत्रेयजी आते हुए दिखायी दिये। राजा धृतराष्ट्रने पुत्रसहित उनकी अगवानी की और स्वागत-सत्कारके साथ उन्हें अपनाया ॥ ७ ॥

अर्घ्याद्याभिः क्रियाभिर्वै विश्रान्तं मुनिसत्तमम् ।
प्रश्रयेणाब्रवीद् राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ ८ ॥

पाद्य, अर्घ्य आदि उपचारोंद्वारा पूजित हो जब मुनिश्रेष्ठ मैत्रेय विश्राम कर चुके, तब अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने नम्रतापूर्वक पूछा—॥ ८ ॥

सुखेनागमनं कच्चिद् भगवन् कुरुजाङ्गलान् ।
कच्चित् कुशलिनो वीरा भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ॥ ९ ॥

'भगवन् ! इस कुरुदेशमें आपका आगमन सुखपूर्वक तो हुआ है न ? वीर भ्राता पाँचों पाण्डव तो कुशलसे हैं न ?॥

समये स्थातुमिच्छन्ति कच्चिच्च भरतर्षभाः ।
कच्चित् कुरूणां सौभ्रात्रमव्युच्छिन्नं भविष्यति ॥ १० ॥

'क्या वे भरतश्रेष्ठ पाण्डव अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहना चाहते हैं ? क्या कौरवोंमें उत्तम भ्रातृभाव अखण्ड बना रहेगा ?' ॥ १० ॥

मैत्रेय उवाच

तीर्थयात्रामनुक्रामन् प्राप्तोऽस्मि कुरुजाङ्गलान् ।
यदृच्छया धर्मराजं दृष्टवान् काम्यके वने ॥ ११ ॥

मैत्रेयजीने कहा—राजन् ! मैं तीर्थयात्राके प्रसङ्गसे घूमता हुआ अकस्मात् कुरुजाङ्गल देशमें चला आया हूँ। काम्यकवनमें धर्मराज युधिष्ठिरसे भी मेरी भेंट हुई थी॥११॥

तं जटाजिनसंवीतं तपोवननिवासिनम् ।
समाजग्मुर्महात्मानं द्रष्टुं मुनिगणाः प्रभो ॥ १२ ॥

प्रभो ! जटा और मृगचर्म धारण करके तपोवनमें निवास करनेवाले उन महात्मा धर्मराजको देखनेके लिये वहाँ बहुत-से मुनि पधारे थे ॥ १२ ॥

तत्राश्रौषं महाराज पुत्राणां तव विभ्रमम् ।
अनयं द्यूतरूपेण महाभयमुपस्थितम् ॥ १३ ॥

महाराज ! वहीं मैंने सुना कि तुम्हारे पुत्रोंकी बुद्धि भ्रान्त हो गयी है। वे द्यूतरूपी अनीतिमें प्रवृत्त हो गये और इस प्रकार जूएके रूपमें उनके ऊपर बड़ा भारी भय उपस्थित हो गया है ॥ १३ ॥

ततोऽहं त्वामनुप्राप्तः कौरवाणामवेक्षया ।
सदा ह्यभ्यधिकः स्नेहः प्रीतिश्च त्वयि मे प्रभो ॥ १४ ॥

यह सुनकर मैं कौरवोंकी दशा देखनेके लिये तुम्हारे पास आया हूँ। राजन् ! तुम्हारे ऊपर सदासे ही मेरा स्नेह और प्रेम अधिक रहा है ॥ १४ ॥

नैतदौपयिकं राजंस्त्वयि भीष्मे च जीवति ।
यदन्योन्येन ते पुत्रा विरुध्यन्ते कथंचन ॥ १५ ॥

महाराज ! तुम्हारे और भीष्मके जीते-जी यह उचित नहीं जान पड़ता कि तुम्हारे पुत्र किसी प्रकार आपसमें विरोध करें ॥ १५ ॥

मेढीभूतः स्वयं राजन् निग्रहे प्रग्रहे भवान् ।
किमर्थमनयं घोरमुत्पद्यन्तमुपेक्षसे ॥ १६ ॥

महाराज ! तुम स्वयं इन सबको बाँधकर नियन्त्रणमें रखनेके लिये खम्भेके समान हो; फिर पैदा होते हुए इस घोर अन्यायकी क्यों उपेक्षा कर रहे हो ॥ १६ ॥

दस्यूनामिव यद् वृत्तं सभायां कुरुनन्दन ।
तेन न भ्राजसे राजंस्तापसानां समागमे ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! तुम्हारी सभामें डाकुओंकी भाँति जो बर्ताव किया गया है, उसके कारण तुम तपस्वी मुनियोंके समुदायमें शोभा नहीं पा रहे हो ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यावृत्य राजानं दुर्योधनममर्षणम् ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा मैत्रेयो भगवानृषिः ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महर्षि भगवान् मैत्रेय अमर्षशील राजा दुर्योधनकी ओर मुड़कर उससे मधुर वाणीमें इस प्रकार बोले ॥ १८ ॥

मैत्रेय उवाच

दुर्योधन महाबाहो निबोध वदतां वर ।
वचनं मे महाभाग ब्रुवतो यद्धितं तव ॥ १९ ॥

मैत्रेयजीने कहा—महाबाहु दुर्योधन ! तुम वक्ताओंमें श्रेष्ठ हो; मेरी एक बात सुनो। महाभाग ! मैं तुम्हारे हितकी बात बता रहा हूँ ॥ १९ ॥

मा द्रुहः पाण्डवान् राजन् कुरुष्व प्रियमात्मनः ।
पाण्डवानां कुरूणां च लोकस्य च नरर्षभ ॥ २० ॥

राजन् ! तुम पाण्डवोंसे द्रोह न करो। नरश्रेष्ठ ! अपना, पाण्डवोंका, कुरुकुलका तथा सम्पूर्ण जगत्का प्रिय साधन करो ॥

ते हि सर्वे नरव्याघ्राः शूरा विक्रान्तयोधिनः ।
सर्वे नागायुतप्राणा वज्रसंहनना दृढाः ॥ २१ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ सब पाण्डव शूरवीर, पराक्रमी और युद्ध-कुशल हैं। उन सबमें दस हजार हाथियोंका बल है। उनका शरीर वज्रके समान दृढ़ है ॥ २१ ॥

सत्यव्रतधराः सर्वे सर्वे पुरुषमानिनः ।
हन्तारो देवशत्रूणां रक्षसां कामरूपिणाम् ॥ २२ ॥
हिडिम्बबकमुख्यानां किर्मीरस्य च रक्षसः ।

वे सब-के-सब सत्यव्रतधारी और अपने पौरुषपर अभिमान रखनेवाले हैं। इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले देवद्रोही हिडिम्ब आदि राक्षसोंका तथा राक्षसजातीय किर्मीरका वध भी उन्होंने ही किया है ॥ २२½ ॥

इतः प्रद्रवतां रात्रौ यः स तेषां महात्मनाम् ॥ २३ ॥
आवृत्य मार्गं रौद्रात्मा तस्थौ गिरिरिवाचलः ।
तं भीमः समरश्लाघी बलेन बलिनां वरः ॥ २४ ॥
जघान पशुमारेण व्याघ्रः क्षुद्रमृगं यथा ।
पश्य दिग्विजये राजन् यथा भीमेन पातितः ॥ २५ ॥
जरासंधो महेष्वासो नागायुतबलो युधि ।
सम्बन्धी वासुदेवश्च श्यालाः सर्वे च पार्षताः ॥ २६ ॥

यहाँसे रातमें जब वे महात्मा पाण्डव चले जा रहे थे, उस समय उनका मार्ग रोककर भयंकर और पर्वतके समान विशालकाय किर्मीर उनके सामने खड़ा हो गया। युद्धकी श्लाघा रखनेवाले बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने उस राक्षसको बलपूर्वक पकड़कर पशुकी तरह वैसे ही मार डाला, जैसे व्याघ्र छोटे मृगको मार डालता है। राजन् ! देखो, दिग्विजयके समय भीमसेनने उस महान् धनुर्धर राजा जरासंध-को भी युद्धमें मार गिराया, जिसमें दस हजार हाथियों-का बल था। (यह भी स्मरण रखना चाहिये कि) वसुदेव-

नन्दन भगवान् श्रीकृष्ण उनके सम्बन्धी हैं तथा द्रुपदके सभी पुत्र उनके साले हैं ॥ २३-२६ ॥

कस्तान् युधि समासीत जरामरणवान् नरः ।
तस्य ते शम एवास्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ ॥ २७ ॥

जरा और मृत्युके वशमें रहनेवाला कौन मनुष्य युद्धमें उन पाण्डवोंका सामना कर सकता है । भरतकुलभूषण ! ऐसे महापराक्रमी पाण्डवोंके साथ तुम्हें शान्तिपूर्वक मिलकर ही रहना चाहिये ॥ २७ ॥

कुरु मे वचनं राजन् मा मन्युवशमन्वगाः ।

राजन् ! तुम मेरी बात मानो; क्रोधके वशमें न होओ ॥ २७½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं तु ब्रुवतस्तस्य मैत्रेयस्य विशाम्पते ॥ २८ ॥
ऊरुं गजकराकारं करेणाभिजघान सः ।
दुर्योधनः स्मितं कृत्वा चरणेनोल्लिखन् महीम् ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! मैत्रेयजी जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय दुर्योधनने मुसकराकर हाथीके सूँड़के समान अपनी जाँघको हाथसे ठोंका और पैरसे पृथ्वीको कुरेदने लगा ॥ २८-२९ ॥

न किंचिदुक्त्वा दुर्मेधास्तस्थौ किंचिदवाङ्मुखः ।
तमशुश्रूषमाणं तु विलिखन्तं वसुंधराम् ॥ ३० ॥
दृष्ट्वा दुर्योधनं राजन् मैत्रेयं कोप आविशत् ।
स कोपवशमापन्नो मैत्रेयो मुनिसत्तमः ॥ ३१ ॥

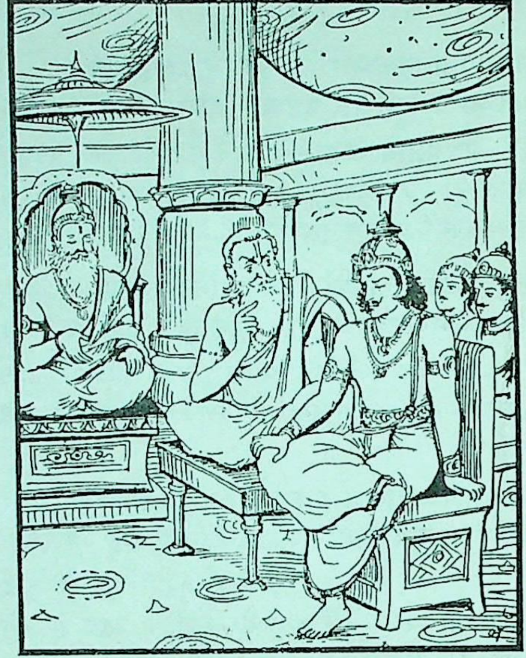
उस दुर्बुद्धिने मैत्रेयजीको कुछ भी उत्तर न दिया । वह अपने मुँहको कुछ नीचा किये चुपचाप खड़ा रहा । राजन् ! मैत्रेयजीने देखा, दुर्योधन सुनना नहीं चाहता, वह पैरोंसे धरतीको कुरेद रहा है । यह देख उनके मनमें क्रोध जाग उठा । फिर तो वे मुनिश्रेष्ठ मैत्रेय कोपके वशीभूत हो गये ॥ ३०-३१ ॥

विधिना सम्प्रणुदितः शापायास्य मनो दधे ।
ततः स वार्युपस्पृश्य कोपसंरक्तलोचनः ।
मैत्रेयो धार्तराष्ट्रं तमशपद् दुष्टचेतसम् ॥ ३२ ॥

विधातासे प्रेरित होकर उन्होंने दुर्योधनको शाप देनेका विचार किया । तदनन्तर मैत्रेयने क्रोधसे लाल आँखें करके जलका आचमन किया और उस दुष्ट चित्तवाले धृतराष्ट्रपुत्रको इस प्रकार शाप दिया— ॥ ३२ ॥

यस्मात् त्वं मामनादृत्य नेमां वाचं चिकीर्षसि ।
तस्मादस्याभिमानस्य सद्यः फलमवाप्नुहि ॥ ३३ ॥

'दुर्योधन ! तू मेरा अनादर करके मेरी बात मानना [illegible]



नहीं चाहता; अतः तू इस अभिमानका तुरंत फल पा ले ॥ ३३ ॥

त्वदभिद्रोहसंयुक्तं युद्धमुत्पत्स्यते महत् ।
तत्र भीमो गदाघातैस्तवोरुं भेत्स्यते बली ॥ ३४ ॥

'तेरे द्रोहके कारण बड़ा भारी युद्ध छिड़ेगा, उसमें बलवान् भीमसेन अपनी गदाकी चोटसे तेरी जाँघ तोड़ डालेंगे' ॥ ३४ ॥

इत्येवमुक्ते वचने धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
प्रसादयामास मुनिं नैतदेवं भवेदिति ॥ ३५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर महाराज धृतराष्ट्रने मुनिको प्रसन्न किया और कहा—'भगवन् ! ऐसा न हो' ॥ ३५ ॥

मैत्रेय उवाच

शमं यास्यति चेत् पुत्रस्तव राजन् यदा तदा ।
शापो न भविता तात विपरीते भविष्यति ॥ ३६ ॥

मैत्रेयजीने कहा—राजन् ! जब तुम्हारा पुत्र शान्ति धारण करेगा (पाण्डवोंसे वैर-विरोध न करके मेल-मिलाप कर लेगा), तब यह शाप इसपर लागू न होगा । तात ! यदि इसने विपरीत बर्ताव किया, तो यह शाप इसे अवश्य भोगना पड़ेगा ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

विलक्षयंस्तु राजेन्द्रो दुर्योधनपिता तदा ।
मैत्रेयं प्राह किर्मीरः कथं भीमेन पातितः ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब दुर्योधनके [illegible] विशेष परिचय

पानेके लिये मैत्रेयजीसे पूछा—'मुने ! भीमने किर्मीरको कैसे मारा ?' ॥ ३७ ॥

मैत्रेय उवाच

नाहं वक्ष्यामि ते भूयो न ते शुश्रूषते सुतः ।
एष ते विदुरः सर्वमाख्यास्यति गते मयि ॥ ३८ ॥

मैत्रेयजीने कहा—राजन् ! तुम्हारा पुत्र मेरी बात सुनना नहीं चाहता, अतः मैं तुमसे इस समय फिर कुछ नहीं कहूँगा । ये विदुरजी मेरे चले जानेपर वह सारा प्रसंग तुम्हें बतायेंगे ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा मैत्रेयः प्रातिष्ठत यथाऽऽगतम् ।
किर्मीरवधसंविग्नो बहिर्दुर्योधनो ययौ ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर मैत्रेयजी जैसे आये थे, वैसे ही चले गये । किर्मीरवधका समाचार सुनकर उद्विग्न हो दुर्योधन भी बाहर निकल गया ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि मैत्रेयशापे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें मैत्रेयशापविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

(किर्मीरवधपर्व)

एकादशोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा किर्मीरके वधकी कथा

धृतराष्ट्र उवाच

किर्मीरस्य वधं क्षत्तः श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ।
रक्षसा भीमसेनस्य कथमासीत् समागमः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—विदुर ! मैं किर्मीरवधका वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ, कहो । उस राक्षसके साथ भीमसेनकी मुठभेड़ कैसे हुई ? ॥ १ ॥

विदुर उवाच

शृणु भीमस्य कर्मेदमतिमानुषकर्मणः ।
श्रुतपूर्वं मया तेषां कथान्तेषु पुनः पुनः ॥ २ ॥

विदुरजीने कहा—राजन् ! मानवशक्तिसे अतीत कर्म करनेवाले भीमसेनके इस भयानक कर्मको आप सुनिये, जिसे मैंने उन पाण्डवोंके कथाप्रसङ्गमें (ब्राह्मणोंसे) बार-बार सुना है ॥ २ ॥

इतः प्रयाता राजेन्द्र पाण्डवा द्यूतनिर्जिताः ।
जग्मुस्त्रिभिरहोरात्रैः काम्यकं नाम तद् वनम् ॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! पाण्डव जूएमें पराजित होकर जब यहाँसे गये, तब तीन दिन और तीन रातमें काम्यकवनमें जा पहुँचे ॥ ३ ॥

रात्रौ निशीथे त्वाभीले गतेऽर्धसमये नृप ।
प्रचारे पुरुषादानां रक्षसां घोरकर्मणाम् ॥ ४ ॥
तद् वनं तापसा नित्यं गोपाश्च वनचारिणः ।
दूरात् परिहरन्ति स्म पुरुषादभयात् किल ॥ ५ ॥

आधी रातके भयंकर समयमें, जब कि भयानक कर्म करनेवाले नरभक्षी राक्षस विचरते रहते हैं, तपस्वी मुनि और वनचारी गोपगण भी उस राक्षसके भयसे उस वनको दूरसे ही त्याग देते थे ॥ ४-५ ॥

तेषां प्रविशतां तत्र मार्गमावृत्य भारत ।
दीप्ताक्षं भीषणं रक्षः सोल्मुकं प्रत्यपद्यत ॥ ६ ॥

भारत ! उस वनमें प्रवेश करते ही वह राक्षस उनका मार्ग रोककर खड़ा हो गया । उसकी आँखें चमक रही थीं । वह भयानक राक्षस मशाल लिये आया था ॥ ६ ॥

बाहू महान्तौ कृत्वा तु तथाऽऽस्यं च भयानकम् ।
स्थितमावृत्य पन्थानं येन यान्ति कुरूद्वहाः ॥ ७ ॥

अपनी दोनों भुजाओंको बहुत बड़ी करके मुँहको भयानक रूपसे फैलाकर वह उसी मार्गको घेरकर खड़ा हो गया, जिससे वे कुरुवंशशिरोमणि पाण्डव यात्रा कर रहे थे ॥ ७ ॥

स्पष्टाष्टदंष्ट्रं ताम्राक्षं प्रदीप्तोर्ध्वशिरोरुहम् ।
सार्करश्मितडिच्चक्रं सबलाकमिवाम्बुदम् ॥ ८ ॥

उसकी आठ दाढ़ें स्पष्ट दिखायी देती थीं, आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं एवं सिरके बाल ऊपरकी ओर उठे हुए और प्रज्वलित-से जान पड़ते थे । उसे देखकर ऐसा मालूम होता था, मानो सूर्यकी किरणों, विद्युन्मण्डल और बकपङ्क्तियोंके साथ मेघ शोभा पा रहा हो ॥ ८ ॥

सृजन्तं राक्षसीं मायां महानादनिनादितम् ।
मुञ्चन्तं विपुलान् नादान् सतोयमिव तोयदम् ॥ ९ ॥

वह भयंकर गर्जनाके साथ राक्षसी मायाकी सृष्टि कर रहा था । सजल जलधरके समान जोर-जोरसे सिंहनाद करता था ॥ ९ ॥

तस्य नादेन संत्रस्ताः पक्षिणः सर्वतोदिशम् ।
विमुक्तनादाः सम्पेतुः स्थलजा जलजैः सह ॥ १० ॥

उसकी गर्जनासे भयभीत हुए स्थलचर पक्षी जलचर पक्षियोंके साथ चींचीं करते हुए सब दिशाओंमें भाग चले ॥

सम्प्रद्रुतमृगद्वीपिमहिषर्क्षसमाकुलम् ।
तद् वनं तस्य नादेन सम्प्रस्थितमिवाभवत् ॥ ११ ॥

भागते हुए मृग, भेड़िये, भैंसे तथा रीछोंसे भरा हुआ वह वन उस राक्षसकी गर्जनासे ऐसा हो गया, मानो वह वन ही भाग रहा हो ॥ ११ ॥

तस्योरुवाताभिहतास्ताम्रपल्लवबाहवः ।
विदूरजाताश्च लताः समाश्लिष्यन्ति पादपान् ॥ १२ ॥

उसकी जाँघोंकी हवाके वेगसे आहत हो ताम्रवर्णके पल्लवरूपी बाँहोंद्वारा सुशोभित दूरकी लताएँ भी मानो वृक्षोंसे लिपटी जाती थीं ॥ १२ ॥

तस्मिन् क्षणेऽथ प्रववौ मारुतो भृशदारुणः ।
रजसा संवृतं तेन नष्टज्योतिरभून्नभः ॥ १३ ॥

इसी समय बड़ी प्रचण्ड वायु चलने लगी । उसकी उड़ायी हुई धूलसे आच्छादित हो आकाशके तारे भी अस्त हो गये-से जान पड़ते थे ॥ १३ ॥

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणामविज्ञातो महारिपुः ।
पञ्चानामिन्द्रियाणां तु शोकावेश इवातुलः ॥ १४ ॥

जैसे पाँचों इन्द्रियोंको अकस्मात् अतुलित शोकावेश प्राप्त हो जाय, उसी प्रकार पाँचों पाण्डवोंका वह तुलनारहित महान् शत्रु सहसा उनके पास आ पहुँचा; पर पाण्डवोंको उस राक्षसका पता नहीं था ॥ १४ ॥

स दृष्ट्वा पाण्डवान् दूरात् कृष्णाजिनसमावृतान् ।
आवृणोत् तद्वनद्वारं मैनाक इव पर्वतः ॥ १५ ॥

उसने दूरसे ही पाण्डवोंको कृष्ण मृगचर्म धारण किये आते देख मैनाक पर्वतकी भाँति उस वनके प्रवेश-द्वारको घेर लिया ॥ १५ ॥

तं समासाद्य वित्रस्ता कृष्णा कमललोचना ।
अदृष्टपूर्वं संत्रासान्न्यमीलयत लोचने ॥ १६ ॥

उस अदृष्टपूर्व राक्षसके निकट पहुँचकर कमललोचना कृष्णाने भयभीत हो अपने दोनों नेत्र बंद कर लिये ॥ १६ ॥

दुःशासनकरोत्सृष्टविप्रकीर्णशिरोरुहा ।
पञ्चपर्वतमध्यस्था नदीवाकुलतां गता ॥ १७ ॥

दुःशासनके हाथोंसे खुले हुए उसके केश सब ओर बिखरे हुए थे । वह पाँच पर्वतोंके बीचमें पड़ी हुई नदीकी भाँति व्याकुल हो उठी ॥ १७ ॥

मोमुह्यमानां तां तत्र जगृहुः पञ्च पाण्डवाः ।
इन्द्रियाणि प्रसक्तानि विषयेषु यथा रतिम् ॥ १८ ॥

उसे मूर्छित होती हुई देख पाँचों पाण्डवोंने सहारा देकर उसी तरह थाम लिया, जैसे विषयोंमें आसक्त हुई इन्द्रियाँ तत्सम्बन्धी अनुरक्तिको धारण किये रहती हैं ॥ १८ ॥

अथ तां राक्षसीं मायामुत्थितां घोरदर्शनाम् ।
रक्षोघ्नैर्विविधैर्मन्त्रैर्धौम्यः सम्यक्प्रयोजितैः ॥ १९ ॥
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां नाशयामास वीर्यवान् ।
स नष्टमायोऽतिबलः क्रोधविस्फारितेक्षणः ॥ २० ॥
काममूर्तिधरः क्रूरः कालकल्पो व्यदृश्यत ।
तमुवाच ततो राजा दीर्घप्रज्ञो युधिष्ठिरः ॥ २१ ॥

तदनन्तर वहाँ प्रकट हुई अत्यन्त भयानक राक्षसी मायाको देख शक्तिशाली धौम्य मुनिने अच्छी तरह प्रयोगमें लाये हुए राक्षसविनाशक विविध मन्त्रोंद्वारा पाण्डवोंके देखते-देखते उस मायाका नाश कर दिया । माया नष्ट होते ही वह अत्यन्त बलवान् एवं इच्छानुसार रूप धारण करने-वाला क्रूर राक्षस क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर देखता हुआ कालके समान दिखायी देने लगा । उस समय परम बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने उससे पूछा—॥ १९–२१ ॥

को भवान् कस्य वा किं ते क्रियतां कार्यमुच्यताम् ।
प्रत्युवाचाथ तद् रक्षो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ २२ ॥

'तुम कौन हो, किसके पुत्र हो अथवा तुम्हारा कौन-सा कार्य सम्पादन किया जाय ? यह सब बताओ ।' तब उस राक्षसने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—॥ २२ ॥

अहं बकस्य वै भ्राता किर्मीर इति विश्रुतः ।
वनेऽस्मिन् काम्यके शून्ये निवसामि गतज्वरः ॥ २३ ॥

'मैं बकका भाई हूँ, मेरा नाम किर्मीर है, इस निर्जन काम्यकवनमें निवास करता हूँ । यहाँ मुझे किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं है ॥ २३ ॥

युधि निर्जित्य पुरुषानाहारं नित्यमाचरन् ।
के यूयमभिसम्प्राप्ता भक्ष्यभूता ममान्तिकम् ।
युधि निर्जित्य वः सर्वान् भक्षयिष्ये गतज्वरः ॥ २४ ॥

'यहाँ आये हुए मनुष्योंको युद्धमें जीतकर सदा उन्हींको खाया करता हूँ । तुमलोग कौन हो ? जो स्वयं ही मेरा आहार बननेके लिये मेरे निकट आ गये ? मैं तुम सबको युद्धमें परास्त करके निश्चिन्त हो अपना आहार बनाऊँगा' ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य दुरात्मनः ।
आचचक्षे ततः सर्वं गोत्रनामादि भारत ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! उस दुरात्माकी बात सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने उसे गोत्र एवं नाम आदि सब बातोंका परिचय दिया ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पाण्डवो धर्मराजोऽहं यदि ते श्रोत्रमागतः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैर्भीमसेनार्जुनादिभिः ॥ २६ ॥

हृतराज्यो वने वासं वस्तुं कृतमतिस्ततः ।
वनमभ्यागतो घोरमिदं तव परिग्रहम् ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर बोले—मैं पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हूँ । सम्भव है, मेरा नाम तुम्हारे कानोंमें भी पड़ा हो । इस समय मेरा राज्य शत्रुओंने जूएमें हरण कर लिया है । अतः मैं भीमसेन, अर्जुन आदि सब भाइयोंके साथ वनमें रहनेका निश्चय करके तुम्हारे निवासस्थान इस घोर काम्यकवनमें आया हूँ ॥ २६-२७ ॥

विदुर उवाच

किर्मीरस्त्वब्रवीदेनं दिष्ट्या देवैरिदं मम ।
उपपादितमद्येह चिरकालान्मनोगतम् ॥ २८ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन् ! तब किर्मीरने युधिष्ठिरसे कहा—'आज सौभाग्यवश देवताओंने यहाँ मेरे बहुत दिनोंके मनोरथकी पूर्ति कर दी ॥ २८ ॥

भीमसेनवधार्थं हि नित्यमभ्युद्यतायुधः ।
चरामि पृथिवीं कृत्स्नां नैनं चासादयाम्यहम् ॥ २९ ॥

'मैं प्रतिदिन हथियार उठाये भीमसेनका वध करनेके लिये सारी पृथ्वीपर विचरता था; किंतु यह मुझे मिल नहीं रहा था ॥ २९ ॥

सोऽयमासादितो दिष्ट्या भ्रातृहा काङ्क्षितश्चिरम् ।
अनेन हि मम भ्राता बको विनिहतः प्रियः ॥ ३० ॥
वैत्रकीयवने राजन् ब्राह्मणच्छद्मरूपिणा ।
विद्याबलमुपाश्रित्य न ह्यस्त्यस्यौरसं बलम् ॥ ३१ ॥

'आज सौभाग्यवश यह स्वयं मेरे यहाँ आ पहुँचा । भीम मेरे भाईका हत्यारा है, मैं बहुत दिनोंसे इसकी खोजमें था । राजन् ! इसने (एकचक्रा नगरीके पास) वैत्रकीयवनमें ब्राह्मणका कपटवेष धारण करके वेदोक्त मन्त्ररूप विद्याबलका आश्रय ले मेरे प्यारे भाई बकासुरका वध किया था; वह इसका अपना बल नहीं था ॥ ३०-३१ ॥

हिडिम्बश्च सखा मह्यं दयितो वनगोचरः ।
हतो दुरात्मनानेन स्वसा चास्य हृता पुरा ॥ ३२ ॥

'इसी प्रकार वनमें रहनेवाले मेरे प्रिय मित्र हिडिम्बको भी इस दुरात्माने मार डाला और उसकी बहिनका अपहरण कर लिया । ये सब बहुत पहलेकी बातें हैं ॥ ३२ ॥

सोऽयमभ्यागतो मूढो ममेदं गहनं वनम् ।
प्रचारसमयेऽस्माकमर्धरात्रे स्थिते स मे ॥ ३३ ॥

'वही यह मूढ़ भीमसेन हमलोगोंके घूमने-फिरनेकी बेलामें आधीरातके समय मेरे इस गहन वनमें आ गया है ॥ ३३ ॥

अद्यास्य यातयिष्यामि तद् वैरं चिरसम्भृतम् ।
तर्पयिष्यामि च बकं रुधिरेणास्य भूरिणा ॥ ३४ ॥

'आज इससे मैं उस पुराने वैरका बदला लूँगा और इसके प्रचुर रक्तसे बकासुरका तर्पण करूँगा ॥ ३४ ॥

अद्याहमनृणो भूत्वा भ्रातुः सख्युस्तथैव च ।
शान्तिं लब्धास्मि परमां हत्वा राक्षसकण्टकम् ॥ ३५ ॥

'आज मैं राक्षसोंके लिये कण्टकरूप इस भीमसेनको मारकर अपने भाई तथा मित्रके ऋणसे उऋण हो परम शान्ति प्राप्त करूँगा ॥ ३५ ॥

यदि तेन पुरा मुक्तो भीमसेनो बकेन वै ।
अद्यैनं भक्षयिष्यामि पश्यतस्ते युधिष्ठिर ॥ ३६ ॥

'युधिष्ठिर ! यदि पहले बकासुरने भीमसेनको छोड़ दिया, तो आज मैं तुम्हारे देखते-देखते इसे खा जाऊँगा ॥ ३६ ॥

एनं हि विपुलप्राणमद्य हत्वा वृकोदरम् ।
सम्भक्ष्य जरयिष्यामि यथागस्त्यो महासुरम् ॥ ३७ ॥

'जैसे महर्षि अगस्त्यने वातापिनामक महान् राक्षसको खाकर पचा लिया, उसी प्रकार मैं भी इस महाबली भीमको मारकर खा-जाऊँगा और पचा लूँगा' ॥ ३७ ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा सत्यसंधो युधिष्ठिरः ।
नैतदस्तीति सक्रोधो भर्त्सयामास राक्षसम् ॥ ३८ ॥

उसके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा एवं सत्यप्रतिज्ञ युधिष्ठिरने कुपित हो उस राक्षसको फटकारते हुए कहा—'ऐसा कभी नहीं हो सकता' ॥ ३८ ॥

ततो भीमो महाबाहुरारुज्य तरसा द्रुमम् ।
दशव्याममथोद्विद्धं निष्पत्रमकरोत् तदा ॥ ३९ ॥

तदनन्तर महाबाहु भीमसेनने बड़े वेगसे हिलाकर एक दस व्याम * लम्बे वृक्षको उखाड़ लिया और उसके पत्ते झाड़ दिये ॥ ३९ ॥

चकार सज्यं गाण्डीवं वज्रनिष्पेषगौरवम् ।
निमेषान्तरमात्रेण तथैव विजयोऽर्जुनः ॥ ४० ॥

इधर विजयी अर्जुनने भी पलक मारते-मारते अपने उस गाण्डीव धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी, जिसे वज्रको भी पीस डालनेका गौरव प्राप्त था ॥ ४० ॥

निवार्य भीमो जिष्णुं तं तद् रक्षो मेघनिःस्वनम् ।
अभिद्रुत्याब्रवीद् वाक्यं तिष्ठ तिष्ठेति भारत ॥ ४१ ॥

भारत ! भीमसेनने अर्जुनको रोक दिया और मेघके समान गर्जना करनेवाले उस राक्षसपर आक्रमण करते हुए कहा—'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ४१ ॥

इत्युक्त्वैनमतिक्रुद्धः कक्ष्यामुत्पीड्य पाण्डवः ।
निष्पिष्य पाणिना पाणिं संदष्टौष्ठपुटो बली ॥ ४२ ॥

*दोनों भुजाओंको दोनों ओर फैलानेपर एक हाथकी अँगुलियोंके सिरेसे दूसरे हाथकी अँगुलियोंके सिरेतक जितनी दूरी होती है, उसे 'व्याम' कहते हैं । यही पुरुषप्रमाण है । इसकी लम्बाई लगभग ३½ हाथकी होती है ।

तमभ्यधावद् वेगेन भीमो वृक्षायुधस्तदा ।
यमदण्डप्रतीकाशं ततस्तं तस्य मूर्धनि ॥ ४३ ॥
पातयामास वेगेन कुलिशं मघवानिव ।
असम्भ्रान्तं तु तद् रक्षः समरे प्रत्यदृश्यत ॥ ४४ ॥

ऐसा कहकर अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए बलवान् पाण्डुनन्दन भीमने वस्त्रसे अच्छी तरह अपनी कमर कस ली और हाथसे हाथ रगड़कर दाँतोंसे ओंठ चबाते हुए वृक्षको ही आयुध बनाकर बड़े वेगसे उसकी तरफ दौड़े और जैसे इन्द्र वज्रका प्रहार करते हैं, उसी प्रकार यमदण्डके समान उस भयंकर वृक्षको राक्षसके मस्तकपर उन्होंने बड़े जोरसे दे मारा। तो भी वह निशाचर युद्धमें अविचलभावसे खड़ा दिखायी दिया ॥ ४२-४४ ॥

चिक्षेप चोल्मुकं दीप्तमशनिं ज्वलितामिव ।
तदुदस्तमलातं तु भीमः प्रहरतां वरः ॥ ४५ ॥
पदा सव्येन चिक्षेप तद् रक्षः पुनराव्रजत् ।
किर्मीरश्चापि सहसा वृक्षमुत्पाट्य पाण्डवम् ॥ ४६ ॥
दण्डपाणिरिव क्रुद्धः समरे प्रत्यधावत ।
तद् वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम् ॥ ४७ ॥
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोर्यथा स्त्रीकाङ्क्षिणोः पुरा ।

तत्पश्चात् उसने भी प्रज्वलित वज्रके समान जलता हुआ काठ भीमके ऊपर फेंका, परंतु योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीमने उस जलते काठको अपने बाँये पैरसे मारकर इस तरह फेंका कि वह पुनः उस राक्षसपर ही जा गिरा। फिर तो किर्मीरने भी सहसा एक वृक्ष उखाड़ लिया और क्रोधमें भरे हुए दण्डपाणि यमराजकी भाँति उस युद्धमें पाण्डुकुमार भीमपर आक्रमण किया। जैसे पूर्वकालमें स्त्रीकी अभिलाषा रखनेवाले वाली और सुग्रीव दोनों भाइयोंमें भारी युद्ध हुआ था, उसी प्रकार उन दोनोंका वह वृक्ष-युद्ध वनके वृक्षोंका विनाशक था ॥ ४५-४७½ ॥

शीर्षयोः पतिता वृक्षा बिभिदुर्नैकधा तयोः ॥ ४८ ॥
यथैवोत्पलपत्राणि मत्तयोर्द्विपयोस्तथा ।

जैसे दो मतवाले गजराजोंके मस्तकपर पड़े हुए कमल-पत्र क्षणभरमें छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाते हैं, वैसे ही उन दोनोंके मस्तकपर पड़े हुए वृक्षोंके अनेक टुकड़े हो जाते थे ॥ ४८½ ॥

मुञ्जवज्जर्जरीभूता बहवस्तत्र पादपाः ॥ ४९ ॥
चीराणीव व्युदस्तानि रेजुस्तत्र महावने ।
तद् वृक्षयुद्धमभवन्मुहूर्तं भरतर्षभ ।
राक्षसानां च मुख्यस्य नराणामुत्तमस्य च ॥ ५० ॥

वहाँ उस महान् वनमें बहुत-से वृक्ष मूँजकी भाँति जर्जर हो गये थे। वे फटे चीथड़ोंकी तरह इधर-उधर फैले हुए सुशोभित होते थे। भरतश्रेष्ठ! राक्षसराज किर्मीर और मनुष्योंमें श्रेष्ठ भीमसेनका वह वृक्ष युद्ध दो घड़ीतक चलता रहा ॥ ४९-५० ॥

ततः शिलां समुत्क्षिप्य भीमस्य युधि तिष्ठतः ।
प्राहिणोद् [illegible] ॥ ५१ ॥

तदनन्तर राक्षसने कुपित हो एक पत्थरकी चट्टान लेकर युद्धमें खड़े हुए भीमसेनपर चलायी। भीम उसके प्रहारसे जडवत् हो गये ॥ ५१ ॥

तं शिलाताडनजडं पर्यधावत राक्षसः ।
बाहुविक्षिप्तकिरणः स्वर्भानुरिव भास्करम् ॥ ५२ ॥

वे शिलाके आघातसे जडवत् हो रहे थे। उस अवस्थामें वह राक्षस भीमसेनकी ओर उसी तरह दौड़ा जैसे राहु अपनी भुजाओंसे सूर्यकी किरणोंका निवारण करते हुए उनपर आक्रमण करता है ॥ ५२ ॥

तावन्योन्यं समाश्लिष्य प्रकर्षन्तौ परस्परम् ।
उभावपि चकाशेते प्रवृद्धौ वृषभाविव ॥ ५३ ॥

वे दोनों वीर परस्पर भिड़ गये और दोनों दोनोंको खींचने लगे। दो हृष्ट-पुष्ट साँड़ोंकी भाँति परस्पर भिड़े हुए उन दोनों योद्धाओंकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ५३ ॥

तयोरासीत् सुतुमुलः सम्प्रहारः सुदारुणः ।
नखदंष्ट्रायुधवतोर्व्याघ्रयोरिव दृप्तयोः ॥ ५४ ॥

नख और दाढ़ोंसे ही आयुधका काम लेनेवाले दो उन्मत्त व्याघ्रोंकी भाँति उन दोनोंमें अत्यन्त भयंकर एवं घमासान युद्ध छिड़ा हुआ था ॥ ५४ ॥

दुर्योधननिकाराच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः ।
कृष्णानयनदृष्टश्च व्यवर्धत वृकोदरः ॥ ५५ ॥

दुर्योधनके द्वारा प्राप्त हुए तिरस्कारसे तथा अपने बाहुबलसे भीमसेनका शौर्य एवं अभिमान जाग उठा था। इधर द्रौपदी भी प्रेमपूर्ण दृष्टिसे उनकी ओर देख रही थी; अतः वे उस युद्धमें उत्तरोत्तर उत्साहित हो रहे थे ॥ ५५ ॥

अभिपद्य च बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णादमर्षितः ।
मातङ्गमिव मातङ्गः प्रभिन्नकरटामुखम् ॥ ५६ ॥

उन्होंने अमर्षमें भरकर सहसा आक्रमण करके दोनों भुजाओंसे उस राक्षसको उसी तरह पकड़ लिया, जैसे मतवाला गजराज गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले दूसरे हाथीसे भिड़ जाता है ॥ ५६ ॥

स चाप्येनं ततो रक्षः प्रतिजग्राह वीर्यवान् ।
तमाक्षिपद् भीमसेनो बलेन बलिनां वरः ॥ ५७ ॥

उस बलवान् राक्षसने भी भीमसेनको दोनों भुजाओंसे पकड़ लिया; तब बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने उसे बलपूर्वक दूर फेंक दिया ॥ ५७ ॥

तयोर्भुजविनिष्पेषादुभयोर्बलिनोस्तदा ।
शब्दः समभवद् घोरो वेणुस्फोटसमो युधि ॥ ५८ ॥
अथैनमाक्षिप्य बलाद् गृह्य मध्ये वृकोदरः ।
धूनयामास वेगेन वायुश्चण्ड इव द्रुमम् ॥ ५९ ॥

युद्धमें उन दोनों बलवानोंकी भुजाओंकी रगड़से बाँसके [illegible] । जैसे प्रचण्ड

वायु अपने वेगसे वृक्षको झकझोर देती है, उसी प्रकार भीमसेनने बलपूर्वक उछलकर उसकी कमर पकड़ ली और उस राक्षसको बड़े वेगसे घुमाना आरम्भ किया ॥ ५८-५९ ॥

स भीमेन परामृष्टो दुर्बलो बलिना रणे ।
व्यस्पन्दत यथाप्राणं विचकर्ष च पाण्डवम् ॥ ६० ॥

बलवान् भीमकी पकड़में आकर वह दुर्बल राक्षस अपनी शक्तिके अनुसार उनसे छूटनेकी चेष्टा करने लगा। उसने भी पाण्डुनन्दन भीमसेनको इधर-उधर खींचा ॥ ६० ॥

तत एनं परिश्रान्तमुपलक्ष्य वृकोदरः ।
योक्त्रयामास बाहुभ्यां पशुं रशनया यथा ॥ ६१ ॥

तदनन्तर उसे थका हुआ देख भीमसेनने अपनी दोनों भुजाओंसे उसे उसी तरह कस लिया, जैसे पशुको डोरीसे बाँध देते हैं ॥ ६१ ॥

विनदन्तं महानादं भिन्नभेरीस्वनं बली ।
भ्रामयामास सुचिरं विस्फुरन्तमचेतसम् ॥ ६२ ॥

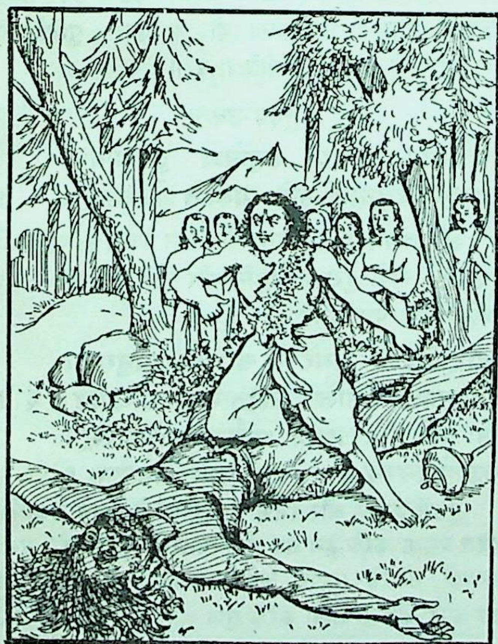
राक्षस किर्मीर फूटे हुए नगारेकी-सी आवाजमें बड़े जोर-जोरसे चीत्कार करने और छटपटाने लगा। बलवान् भीम उसे देरतक घुमाते रहे, इससे वह मूर्छित हो गया ॥ ६२ ॥

तं विषीदन्तमाज्ञाय राक्षसं पाण्डुनन्दनः ।
प्रगृह्य तरसा दोर्भ्यां पशुमारममारयत् ॥ ६३ ॥

उस राक्षसको विषादमें डूबा हुआ जान पाण्डुनन्दन भीमने दोनों भुजाओंसे वेगपूर्वक दबाते हुए पशुकी तरह उसे मारना आरम्भ किया ॥ ६३ ॥

आक्रम्य च कटीदेशे जानुना राक्षसाधमम् ।
पीडयामास पाणिभ्यां कण्ठं तस्य वृकोदरः ॥ ६४ ॥

भीमने उस राक्षसके कटिप्रदेशको अपने घुटनेसे दबाकर दोनों हाथोंसे उसका गला मरोड़ दिया ॥ ६४ ॥



अथ जर्जरसर्वाङ्गं व्यावृत्तनयनोल्बणम् ।
भूतले भ्रामयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ६५ ॥

किर्मीरका सारा अङ्ग जर्जर हो गया और उसकी आँखें घूमने लगीं, इससे वह और भी भयंकर प्रतीत होता था। भीमने उसी अवस्थामें उसे पृथ्वीपर घुमाया और यह बात कही-- ॥ ६५ ॥

हिडिम्बबकयोः पाप न त्वमश्रुप्रमार्जनम् ।
करिष्यसि गतश्चापि यमस्य सदनं प्रति ॥ ६६ ॥

'ओ पापी ! अब तू यमलोकमें जाकर भी हिडिम्ब और बकासुरके आँसू न पोंछ सकेगा' ॥ ६६ ॥

इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीर-
स्तं राक्षसं क्रोधपरीतचेताः ।
विस्रस्तवस्त्राभरणं स्फुरन्त-
मुद्भ्रान्तचित्तं व्यसुमुत्ससर्ज ॥ ६७ ॥

ऐसा कहकर क्रोधसे भरे हृदयवाले नरवीर भीमने उस राक्षसको, जिसके वस्त्र और आभूषण खिसककर इधर-उधर गिर गये थे और चित्त भ्रान्त हो रहा था, प्राण निकल जानेपर छोड़ दिया ॥ ६७ ॥

तस्मिन् हते तोयदतुल्यरूपे
कृष्णां पुरस्कृत्य नरेन्द्रपुत्राः ।
भीमं प्रशस्याथ गुणैरनेकै-
र्हृष्टास्ततो द्वैतवनाय जग्मुः ॥ ६८ ॥

उस राक्षसका रूप-रंग मेघके समान काला था। उसके मारे जानेपर राजकुमार पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए और भीमसेनके अनेक गुणोंकी प्रशंसा करते हुए द्रौपदीको आगे करके वहाँसे द्वैतवनकी ओर चल दिये ॥ ६८ ॥

विदुर उवाच

एवं विनिहतः संख्ये किर्मीरो मनुजाधिप ।
भीमेन वचनात् तस्य धर्मराजस्य कौरव ॥ ६९ ॥

विदुरजी कहते हैं--नरेश्वर ! इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे भीमसेनने किर्मीरको युद्धमें मार गिराया ॥

ततो निष्कण्टकं कृत्वा वनं तदपराजितः ।
द्रौपद्या सह धर्मज्ञो वसतिं तामुवास ह ॥ ७० ॥

तदनन्तर विजयी एवं धर्मज्ञ पाण्डुकुमार उस वनको निष्कण्टक (राक्षसरहित) बनाकर द्रौपदीके साथ वहाँ रहने लगे ॥ ७० ॥

समाश्वास्य च ते सर्वे द्रौपदीं भरतर्षभाः ।
प्रहृष्टमनसः प्रीत्या प्रशशंसुर्वृकोदरम् ॥ ७१ ॥

भरतकुलके भूषणरूप उन सभी वीरोंने द्रौपदीको आश्वासन देकर प्रसन्नचित्त हो प्रेमपूर्वक भीमसेनकी सराहना की ॥ ७१ ॥

भीमबाहुबलोत्पिष्टे विनष्टे राक्षसे ततः ।
विविशुस्ते वनं वीराः क्षेमं निहतकण्टकम् ॥ ७२ ॥

भीमसेनके बाहुबलसे पिसकर जब वह राक्षस नष्ट हो गया, तब उस अकण्टक एवं कल्याणमय वनमें उन सभी वीरोंने प्रवेश किया ॥ ७२ ॥

स मया गच्छता मार्गे विनिकीर्णो भयावहः ।
वने महति दुष्टात्मा दृष्टो भीमबलाद्धतः ॥ ७३ ॥

मैंने महान् वनमें जाते और आते समय रास्तेमें मरकर गिरे हुए उस भयानक एवं दुष्टात्मा राक्षसके शवको अपनी आँखों देखा था, जो भीमसेनके बलसे मारा गया था ॥७३॥

तत्राश्रौषमहं चैतत् कर्म भीमस्य भारत ।
ब्राह्मणानां कथयतां ये तत्रासन् समागताः ॥ ७४ ॥

भारत ! मैंने वनमें उन ब्राह्मणोंके मुखसे, जो वहाँ आये हुए थे, भीमसेनके इस महान् कर्मका वर्णन सुना ॥ ७४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विनिहतं संख्ये किर्मीरं रक्षसां वरम् ।
श्रुत्वा ध्यानपरो राजा निशश्वासार्तवत् तदा ॥ ७५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार राक्षसप्रवर किर्मीरका युद्धमें मारा जाना सुनकर राजा धृतराष्ट्र किसी भारी चिन्तामें डूब गये और शोकातुर मनुष्यकी भाँति लम्बी साँस खींचने लगे ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि किर्मीरवधपर्वणि विदुरवाक्ये एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत किर्मीरवधपर्वमें विदुरवाक्यसम्बन्धी ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

(अर्जुनाभिगमनपर्व)

द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन और द्रौपदीके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति, द्रौपदीका भगवान् श्रीकृष्णसे अपने प्रति किये गये अपमान और दुःखका वर्णन और भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन एवं धृष्टद्युम्नका उसे आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

भोजाः प्रव्रजिताञ्छ्रुत्वा वृष्णयश्चान्धकैः सह ।
पाण्डवान् दुःखसंतप्तान् समाजग्मुर्महावने ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके वीरोंने सुना कि पाण्डव अत्यन्त दुःखसे संतप्त हो राजधानीसे निकलकर चले गये, तब वे उनसे मिलनेके लिये महान् वनमें गये ॥ १ ॥

पाञ्चालस्य च दायादो धृष्टकेतुश्च चेदिपः ।
केकयाश्च महावीर्या भ्रातरो लोकविश्रुताः ॥ २ ॥
वने द्रष्टुं ययुः पार्थान् क्रोधामर्षसमन्विताः ।
गर्हयन्तो धार्तराष्ट्रान् किं कुर्म इति चाब्रुवन् ॥ ३ ॥

पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न, चेदिराज धृष्टकेतु तथा महापराक्रमी लोकविख्यात केकयराजकुमार सभी भाई क्रोध और अमर्षमें भरकर धृतराष्ट्रपुत्रोंकी निन्दा करते हुए कुन्तीकुमारोंसे मिलनेके लिये वनमें गये और आपसमें इस प्रकार कहने लगे, 'हमें क्या करना चाहिये' ॥ २–३ ॥

वासुदेवं पुरस्कृत्य सर्वे ते क्षत्रियर्षभाः ।
परिवार्योपविविशुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥
अभिवाद्य कुरुश्रेष्ठं विषण्णः केशवोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णको आगे करके वे सभी क्षत्रियशिरोमणि धर्मराज युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेरकर बैठे । उस समय भगवान् श्रीकृष्ण विषादग्रस्त हो कुरुप्रवर युधिष्ठिरको नमस्कार करके इस प्रकार बोले ॥ ४ ॥

वासुदेव उवाच

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ५ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजाओ ! जान पड़ता है, यह पृथ्वी दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि और चौथे दुःशासन—इन सबके रक्तका पान करेगी ॥ ५ ॥

एतान् निहत्य समरे ये च तस्य पदानुगाः ।
तांश्च सर्वान् विनिर्जित्य सहितान् सनराधिपान् ॥ ६ ॥
ततः सर्वेऽभिषिञ्चामो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
निकृत्योपचरन् वध्य एष धर्मः सनातनः ॥ ७ ॥

युद्धमें इनको और इनके सब सेवकोंको अन्य राजाओं-सहित परास्त करके हम सब लोग धर्मराज युधिष्ठिरको पुनः चक्रवर्ती नरेशके पदपर अभिषिक्त करें । जो दूसरेके साथ छल-कपट अथवा धोखा करके सुख भोग रहा हो, उसे मार डालना चाहिये, यह सनातन धर्म है ॥ ६-७ ॥

वैशम्पायन उवाच

पार्थानामभिषङ्गेण तथा क्रुद्धं जनार्दनम्।
अर्जुनः शमयामास दिधक्षन्तमिव प्रजाः ॥ ८ ॥
संक्रुद्धं केशवं दृष्ट्वा पूर्वदेहेषु फाल्गुनः।
कीर्तयामास कर्माणि सत्यकीर्तेर्महात्मनः ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीपुत्रोंके अपमानसे भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे कुपित हो उठे, मानो वे समस्त प्रजाको जलाकर भस्म कर देंगे। उन्हें इस प्रकार क्रोध करते देख अर्जुनने उन्हें शान्त किया और उन सत्यकीर्ति महात्माद्वारा पूर्व शरीरोंमें किये हुए कर्मोंका कीर्तन आरम्भ किया ॥ ८-९ ॥

पुरुषस्याप्रमेयस्य सत्यस्यामिततेजसः।
प्रजापतिपतेर्विष्णोर्लोकनाथस्य धीमतः ॥ १० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्यामी, अप्रमेय, सत्यस्वरूप, अमिततेजस्वी, प्रजापतियोंके भी पति, सम्पूर्ण लोकोंके रक्षक तथा परम बुद्धिमान् श्रीविष्णु ही हैं (अर्जुनने उनकी इस प्रकार स्तुति की) ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच

दश वर्षसहस्राणि यत्रसायंगृहो मुनिः।
व्यचरस्त्वं पुरा कृष्ण पर्वते गन्धमादने ॥ ११ ॥

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण ! पूर्वकालमें गन्धमादन पर्वतपर आपने यत्रसायंगृह[1] मुनिके रूपमें दस हजार वर्षोंतक विचरण किया है अर्थात् नारायणऋषिके रूपमें निवास किया है ॥ ११ ॥

दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च।
पुष्करेष्ववसः कृष्ण त्वमपो भक्षयन् पुरा ॥ १२ ॥

सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! पूर्वकालमें कभी इस धरा-धाममें अवतीर्ण हो आपने ग्यारह हजार वर्षोंतक केवल जल पीकर रहते हुए पुष्करतीर्थमें निवास किया है ॥ १२ ॥

ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्यां मधुसूदन।
अतिष्ठ एकपादेन वायुभक्षः शतं समाः ॥ १३ ॥

मधुसूदन ! आप विशालापुरीके बदरिकाश्रममें दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये केवल वायुका आहार करते हुए सौ वर्षोंतक एक पैरसे खड़े रहे हैं ॥ १३ ॥

अवकृष्टोत्तरासङ्गः कृशो धमनिसंततः।
आसीः कृष्ण सरस्वत्यां सत्रे द्वादशवार्षिके ॥ १४ ॥

कृष्ण ! आप सरस्वती नदीके तटपर उत्तरीय वस्त्रतकका त्याग करके द्वादशवार्षिक यज्ञ करते समयतक शरीरसे अत्यन्त दुर्बल हो गये थे । आपके सारे शरीरमें फैली हुई नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखायी देती थीं ॥ १४ ॥

प्रभासमप्यथासाद्य तीर्थं पुण्यजनोचितम्।
तथा कृष्ण महातेजा दिव्यं वर्षसहस्रकम् ॥ १५ ॥
अतिष्ठस्त्वमथैकेन पादेन नियमस्थितः।
लोकप्रवृत्तिहेतुस्त्वमिति व्यासो ममाब्रवीत् ॥ १६ ॥

गोविन्द ! आप पुण्यात्मा पुरुषोंके निवासयोग्य प्रभास-तीर्थमें जाकर लोगोंको तपमें प्रवृत्त करनेके लिये शौच-संतोषादि नियमोंमें स्थित हो महातेजस्वी स्वरूपसे एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक एक ही पैरसे खड़े रहे । ये सब बातें मुझसे श्रीव्यासजीने बतायी हैं ॥ १५-१६ ॥

क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामादिरन्तश्च केशव।
निधानं तपसां कृष्ण यज्ञस्त्वं च सनातनः ॥ १७ ॥

केशव ! आप क्षेत्रज्ञ (सबके आत्मा), सम्पूर्ण भूतोंके आदि और अन्त, तपस्याके अधिष्ठान, यज्ञ और सनातन पुरुष हैं ॥ १७ ॥

निहत्य नरकं भौममाहृत्य मणिकुण्डले।
प्रथमोत्पतितं कृष्ण मेध्यमश्वमवासृजः ॥ १८ ॥

आप भूमिपुत्र नरकासुरको मारकर अदितिके दोनों मणिमय कुण्डलोंको ले आये थे एवं आपने ही सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होनेवाले यज्ञके उपयुक्त घोड़ेकी रचना की थी ॥ १८ ॥

कृत्वा तत् कर्म लोकानामृषभः सर्वलोकजित्।
अवधीस्त्वं रणे सर्वान् समेतान् दैत्यदानवान् ॥ १९ ॥

सम्पूर्ण लोकोंपर विजय पानेवाले आप लोकेश्वर प्रभुने वह कर्म करके सामना करनेके लिये आये हुए समस्त दैत्यों और दानवोंका युद्धस्थलमें वध किया ॥ १९ ॥

ततः सर्वेश्वरत्वं च सम्प्रदाय शचीपतेः।
मानुषेषु महाबाहो प्रादुर्भूतोऽसि केशव ॥ २० ॥

महाबाहु केशव ! तदनन्तर शचीपतिको सर्वेश्वरपद प्रदान करके आप इस समय मनुष्योंमें प्रकट हुए हैं ॥ २० ॥

स त्वं नारायणो भूत्वा हरिरासीः परंतप।
ब्रह्मा सोमश्च सूर्यश्च धर्मो धाता यमोऽनलः ॥ २१ ॥
वायुर्वैश्रवणो रुद्रः कालः खं पृथिवी दिशः।
अजश्चराचरगुरुः स्रष्टा त्वं पुरुषोत्तम ॥ २२ ॥

परंतप ! पुरुषोत्तम ! आप ही पहले नारायण होकर फिर हरिरूपमें प्रकट हुए । ब्रह्मा, सोम, सूर्य, धर्म, धाता, यम, अनल, वायु, कुबेर, रुद्र, काल, आकाश, पृथ्वी, दिशाएँ, चराचरगुरु तथा सृष्टिकर्ता एवं अजन्मा आप ही हैं ॥

परायणं देवमूर्धा क्रतुभिर्मधुसूदन।
अयजो भूरितेजा वै कृष्ण चैत्ररथे वने ॥ २३ ॥

मधुसूदन श्रीकृष्ण ! आपने चैत्ररथवनमें अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान किया है । आप सबके उत्तम आश्रय, देवशिरोमणि और महातेजस्वी हैं ॥ २३ ॥

---

[1] यत्रसायंगृह मुनि वे होते हैं, जो जहाँ सायंकाल हो जाता है, वहीं घरकी तरह रातभर निवास करते हैं ।

शतं शतसहस्राणि सुवर्णस्य जनार्दन।
एकैकस्मिंस्तदा यज्ञे परिपूर्णानि भागशः ॥ २४ ॥

जनार्दन ! उस समय आपने प्रत्येक यज्ञमें पृथक्-पृथक् एक-एक करोड़ स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणाके रूपमें दीं ॥ २४ ॥

अदितेरपि पुत्रत्वमेत्य यादवनन्दन।
त्वं विष्णुरिति विख्यात इन्द्रादवरजो विभुः ॥ २५ ॥

यदुनन्दन ! आप अदितिके पुत्र हो, इन्द्रके छोटे भाई होकर सर्वव्यापी विष्णुके नामसे विख्यात हैं ॥ २५ ॥

शिशुर्भूत्वा दिवं खं च पृथिवीं च परंतप।
त्रिभिर्विक्रमणैः कृष्ण क्रान्तवानसि तेजसा ॥ २६ ॥

परंतप श्रीकृष्ण ! आपने वामनावतारके समय छोटे-से बालक होकर भी अपने तेजसे तीन डगोंद्वारा द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूलोक—तीनोंको नाप लिया ॥ २६ ॥

सम्प्राप्य दिवमाकाशमादित्यस्यन्दने स्थितः।
अत्यरोचश्च भूतात्मन् भास्करं स्वेन तेजसा ॥ २७ ॥

भूतात्मन् ! आपने सूर्यके रथपर स्थित हो द्युलोक और आकाशमें व्याप्त होकर अपने तेजसे भगवान् भास्करको भी अत्यन्त प्रकाशित किया है ॥ २७ ॥

प्रादुर्भावसहस्रेषु तेषु तेषु त्वया विभो।
अधर्मरुचयः कृष्ण निहताः शतशोऽसुराः ॥ २८ ॥

विभो ! आपने सहस्रों अवतार धारण किये हैं और उन अवतारोंमें सैकड़ों असुरोंका, जो अधर्ममें रुचि रखनेवाले थे, वध किया है ॥ २८ ॥

सादिता मौरवाः पाशा निसुन्दनरकौ हतौ।
कृतः क्षेमः पुनः पन्थाः पुरं प्राग्ज्योतिषं प्रति ॥ २९ ॥

आपने मुर दैत्यके लोहमय पाश काट दिये, निसुन्द और नरकासुरको मार डाला और पुनः प्राग्ज्योतिषपुरका मार्ग सकुशल यात्रा करने योग्य बना दिया ॥ २९ ॥

जारूथ्यामाहुतिः क्राथः शिशुपालो जनैः सह।
जरासंधश्च शैब्यश्च शतधन्वा च निर्जितः ॥ ३० ॥

भगवन् ! आपने जारूथी नगरीमें आहुति, क्राथ, साथियोंसहित शिशुपाल, जरासंध, शैब्य और शतधन्वाको परास्त किया ॥ ३० ॥

तथा पर्जन्यघोषेण रथेनादित्यवर्चसा।
अवाप्सीर्महिषीं भोज्यां रणे निर्जित्य रुक्मिणम् ॥३१॥

इसी प्रकार मेघके समान घर्घर शब्द करनेवाले सूर्य-तुल्य तेजस्वी रथके द्वारा कुण्डिनपुरमें जाकर आपने रुक्मीको युद्धमें जीता और भोजवंशकी कन्या रुक्मिणीको अपनी पटरानीके रूपमें प्राप्त किया ॥ ३१ ॥

इन्द्रद्युम्नो हतः कोपाद् यवनश्च कसेरुमान्।
हतः सौभपतिः शाल्वस्त्वया सौभं च पातितम् ॥३२॥

प्रभो ! आपने क्रोधसे इन्द्रद्युम्नको मारा और यवनजातीय कसेरुमान् एवं सौभपति शाल्वको भी यमलोक पहुँचा दिया। साथ ही शाल्वके सौभ विमानको भी छिन्न-भिन्न करके धरतीपर गिरा दिया ॥ ३२ ॥

एवमेते युधि हता भूयश्चान्याञ्छृणुष्व ह।
इरावत्यां हतो भोजः कार्तवीर्यसमो युधि ॥ ३३ ॥

इस प्रकार इन पूर्वोक्त राजाओंको आपने युद्धमें मारा है। अब आपके द्वारा मारे हुए औरोंके भी नाम सुनिये। इरावतीके तटपर आपने कार्तवीर्य अर्जुनके सदृश पराक्रमी भोजको युद्धमें मार गिराया ॥ ३३ ॥

गोपतिस्तालकेतुश्च त्वया विनिहतावुभौ।
तां च भोगवतीं पुण्यामृषिकान्तां जनार्दन ॥ ३४ ॥
द्वारकामात्मसात् कृत्वा समुद्रं गमयिष्यसि।

गोपति और तालकेतु—ये दोनों भी आपके ही हाथसे मारे गये। जनार्दन ! भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न तथा ऋषि-मुनियोंकी प्रिय अपने अधीन की हुई पुण्यमयी द्वारका नगरीको आप अन्तमें समुद्रमें विलीन कर देंगे ॥ ३४½ ॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं नानृतं मधुसूदन।
त्वयि तिष्ठति दाशार्ह न नृशंस्यं कुतोऽनृजु ॥ ३५ ॥
आसीनं चैत्यमध्ये त्वां दीप्यमानं स्वतेजसा।
आगम्य ऋषयः सर्वेऽयाचन्ताभयमच्युत ॥ ३६ ॥

मधुसूदन ! वास्तवमें आपमें न तो क्रोध है, न मात्सर्य है, न असत्य है, न निर्दयता ही है। दाशार्ह ! फिर आपमें कठोरता तो हो ही कैसे सकती है? अच्युत ! महलके मध्यभागमें बैठे और अपने तेजसे उद्भासित हुए आपके पास आकर सम्पूर्ण ऋषियोंने अभयकी याचना की ॥ ३५-३६ ॥

युगान्ते सर्वभूतानि संक्षिप्य मधुसूदन।
आत्मन्येवात्मसात् कृत्वा जगदासीः परंतप ॥ ३७ ॥

परंतप मधुसूदन ! प्रलयकालमें समस्त भूतोंका संहार करके इस जगत्‌को स्वयं ही अपने भीतर रखकर आप अकेले ही रहते हैं ॥ ३७ ॥

युगादौ तव वार्ष्णेय नाभिपद्मादजायत।
ब्रह्मा चराचरगुरुर्यस्येदं सकलं जगत् ॥ ३८ ॥

वार्ष्णेय ! सृष्टिके प्रारम्भकालमें आपके नाभिकमलसे चराचरगुरु ब्रह्मा उत्पन्न हुए, जिनका रचा हुआ यह सम्पूर्ण जगत् है ॥ ३८ ॥

तं हन्तुमुद्यतौ घोरौ दानवौ मधुकैटभौ।
तयोर्व्यतिक्रमं दृष्ट्वा क्रुद्धस्य भवतो हरेः ॥ ३९ ॥

ललाटाज्जातवाञ्छम्भुः शूलपाणिस्त्रिलोचनः ।
इत्थं तावपि देवेशौ त्वच्छरीरसमुद्भवौ ॥ ४० ॥

जब ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, उस समय दो भयंकर दानव मधु और कैटभ उनके प्राण लेनेको उद्यत हो गये। उनका यह अत्याचार देखकर क्रोधमें भरे हुए आप श्रीहरिके ललाटसे भगवान् शंकरका प्रादुर्भाव हुआ, जिनके हाथोंमें त्रिशूल शोभा पा रहा था। उनके तीन नेत्र थे। इस प्रकार वे दोनों देव ब्रह्मा और शिव आपके ही शरीरसे उत्पन्न हुए हैं॥

त्वन्नियोगकरावेताविति मे नारदोऽब्रवीत् ।
तथा नारायण पुरा क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ ४१ ॥
इष्टवांस्त्वं महासत्रं कृष्ण चैत्ररथे वने ।
नैवं परे नापरे वा करिष्यन्ति कृतानि वा ॥ ४२ ॥
यानि कर्माणि देव त्वं बाल एव महाबलः ।
कृतवान् पुण्डरीकाक्ष बलदेवसहायवान् ।
कैलासभवने चापि ब्राह्मणैर्न्यवसः सह ॥ ४३ ॥

वे दोनों आपकी ही आज्ञाका पालन करनेवाले हैं, यह बात मुझे नारदजीने बतलायी थी। नारायण श्रीकृष्ण! इसी प्रकार पूर्वकालमें चैत्ररथवनके भीतर आपने प्रचुर दक्षिणाओंसे सम्पन्न अनेक यज्ञों तथा महासत्रका अनुष्ठान किया था। भगवान् पुण्डरीकाक्ष! आप महान् बलवान् हैं। बलदेवजी आपके नित्य सहायक हैं। आपने बचपनमें ही जो-जो महान् कर्म किये हैं, उन्हें पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती पुरुषोंने न तो किया है और न करेंगे। आप ब्राह्मणोंके साथ कुछ कालतक कैलास पर्वतपर भी रहे हैं॥ ४१–४३॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महात्मानमात्मा कृष्णस्य पाण्डवः ।
तूष्णीमासीत् ततः पार्थमित्युवाच जनार्दनः ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! श्रीकृष्णके आत्मस्वरूप पाण्डुनन्दन अर्जुन उन महात्मासे ऐसा कहकर चुप हो गये। तब भगवान् जनार्दनने कुन्तीकुमारसे इस प्रकार कहा—॥ ४४॥

ममैव त्वं तवैवाहं ये मदीयास्तवैव ते ।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु ॥ ४५ ॥

'पार्थ! तुम मेरे ही हो, मैं तुम्हारा ही हूँ। जो मेरे हैं, वे तुम्हारे ही हैं। जो तुमसे द्वेष रखता है, वह मुझसे भी रखता है। जो तुम्हारे अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है॥

नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम् ।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥ ४६ ॥

'दुर्द्धर्ष वीर! तुम नर हो और मैं नारायण श्रीहरि हूँ। इस समय हम दोनों नर-नारायण ऋषि ही इस लोकमें आये हैं॥ ४६॥

अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च ।
नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ ॥ ४७ ॥

'कुन्तीकुमार! तुम मुझसे अभिन्न हो और मैं तुमसे पृथक् नहीं हूँ। भरतश्रेष्ठ! हम दोनोंका भेद जाना नहीं जा सकता'॥ ४७॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु वचने केशवेन महात्मना ।
तस्मिन् वीरसमावाये संरब्धेष्वथ राजसु ॥ ४८ ॥
धृष्टद्युम्नमुखैर्वीरैर्भ्रातृभिः परिवारिता ।
पाञ्चाली पुण्डरीकाक्षमासीनं भ्रातृभिः सह ।
अभिगम्याब्रवीत् क्रुद्धा शरण्यं शरणैषिणी ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! रोषावेशसे भरे हुए राजाओंकी मण्डलीमें उस वीरसमुदायके मध्य महात्मा केशवके ऐसा कहनेपर धृष्टद्युम्न आदि भाइयोंसे घिरी और कुपित हुई पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी भाइयोंके साथ बैठे हुए शरणागतवत्सल श्रीकृष्णके पास जा उनकी शरणकी इच्छा रखती हुई उनसे बोली॥ ४८-४९॥

द्रौपद्युवाच

पूर्वे प्रजाभिसर्गे त्वामाहुरेकं प्रजापतिम् ।
स्रष्टारं सर्वलोकानामसितो देवलोऽब्रवीत् ॥ ५० ॥

द्रौपदीने कहा—प्रभो! ऋषिलोग प्रजासृष्टिके प्रारम्भकालमें एकमात्र आपको ही सम्पूर्ण जगत्का स्रष्टा एवं प्रजापति कहते हैं। महर्षि असित-देवलका यही मत है॥ ५०॥

विष्णुस्त्वमसि दुर्धर्ष त्वं यज्ञो मधुसूदन ।
यष्टा त्वमसि यष्टव्यो जामदग्न्यो यथाब्रवीत् ॥ ५१ ॥

दुर्द्धर्ष मधुसूदन! आप ही विष्णु हैं, आप ही यज्ञ हैं, आप ही यजमान हैं और आप ही यजन करने योग्य श्रीहरि हैं, जैसा कि जमदग्निनन्दन परशुरामका कथन है॥ ५१॥

ऋषयस्त्वां क्षमामाहुः सत्यं च पुरुषोत्तम ।
सत्याद् यज्ञोऽसि सम्भूतः कश्यपस्त्वां यथाब्रवीत् ५२

पुरुषोत्तम! कश्यपजीका कहना है कि महर्षिगण आपको क्षमा और सत्यका स्वरूप कहते हैं। सत्यसे प्रकट हुए यज्ञ भी आप ही हैं॥ ५२॥

साध्यानामपि देवानां शिवानामीश्वरेश्वर ।
भूतभावन भूतेश यथा त्वां नारदोऽब्रवीत् ॥ ५३ ॥

भूतभावन भूतेश्वर! आप साध्य देवताओं तथा कल्याणकारी रुद्रोंके अधीश्वर हैं। नारदजीने आपके विषयमें यही विचार प्रकट किया है॥ ५३॥

ब्रह्मशंकरशक्राद्यैर्देववृन्दैः पुनः पुनः ।
क्रीडसे त्वं नरव्याघ्र बालः क्रीडनकैरिव ॥ ५४ ॥

नरश्रेष्ठ ! जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता है, उसी प्रकार आप ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्र आदि देवताओंसे बारम्बार क्रीड़ा करते रहते हैं ॥ ५४ ॥

द्यौश्च ते शिरसा व्याप्ता पद्भ्यां च पृथिवी प्रभो ।
जठरं त इमे लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ५५ ॥

प्रभो ! स्वर्गलोक आपके मस्तकसे और पृथ्वी आपके चरणोंसे व्याप्त है । ये सब लोक आपके उदरस्वरूप हैं । आप सनातन पुरुष हैं ॥ ५५ ॥

विद्यातपोऽभितप्तानां तपसा भावितात्मनाम् ।
आत्मदर्शनतृप्तानामृषीणामसि सत्तमः ॥ ५६ ॥

विद्या और तपस्यासे सम्पन्न तथा तपके द्वारा शोधित अन्तःकरणवाले आत्मज्ञानसे तृप्त महर्षियोंमें आप ही परम श्रेष्ठ हैं ॥ ५६ ॥

राजर्षीणां पुण्यकृतामाहवेष्वनिवर्तिनाम् ।
सर्वधर्मोपपन्नानां त्वं गतिः पुरुषर्षभ ।
त्वं प्रभुस्त्वं विभुश्च त्वं भूतात्मा त्वं विचेष्टसे ॥ ५७ ॥

पुरुषोत्तम ! युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले, सब धर्मोंसे सम्पन्न पुण्यात्मा राजर्षियोंके आप ही आश्रय हैं । आप ही प्रभु (सबके स्वामी), आप ही विभु (सर्वव्यापी) और आप ही सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा हैं । आप ही विविध प्राणियोंके रूपमें नाना प्रकारकी चेष्टाएँ कर रहे हैं ॥ ५७ ॥

लोकपालाश्च लोकाश्च नक्षत्राणि दिशो दश ।
नभश्चन्द्रश्च सूर्यश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ५८ ॥

लोक, लोकपाल, नक्षत्र, दसों दिशाएँ, आकाश, चन्द्रमा और सूर्य सब आपमें प्रतिष्ठित हैं ॥ ५८ ॥

मर्त्यता चैव भूतानाममरत्वं दिवौकसाम् ।
त्वयि सर्वं महाबाहो लोककार्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ५९ ॥

महाबाहो ! भूलोकके प्राणियोंकी मृत्युपरवशता, देवताओंकी अमरता तथा सम्पूर्ण जगत्‌का कार्य सब कुछ आपमें ही प्रतिष्ठित है ॥ ५९ ॥

सा तेऽहं दुःखमाख्यास्ये प्रणयान्मधुसूदन ।
ईशस्त्वं सर्वभूतानां ये दिव्या ये च मानुषाः ॥ ६० ॥

मधुसूदन ! मैं आपके प्रति प्रेम होनेके कारण आपसे अपना दुःख निवेदन करूँगी; क्योंकि दिव्य और मानव जगत्‌में जितने भी प्राणी हैं, उन सबके ईश्वर आप ही हैं ॥

कथं नु भार्या पार्थानां तव कृष्ण सखी विभो ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी सभां कृष्येत मादृशी ॥ ६१ ॥

भगवन् कृष्ण ! मेरे-जैसी स्त्री जो कुन्तीपुत्रोंकी पत्नी, आपकी सखी और धृष्टद्युम्न-जैसे वीरकी बहिन हो, क्या किसी तरह सभामें (केश पकड़कर) घसीटकर लायी जा सकती है ? ॥ ६१ ॥

स्त्रीधर्मिणी वेपमाना शोणितेन समुक्षिता ।
एकवस्त्रा विकृष्टास्मि दुःखिता कुरुसंसदि ॥ ६२ ॥

मैं रजस्वला थी, मेरे कपड़ोंपर रक्तके छींटे लगे थे, शरीरपर एक ही वस्त्र था और लज्जा एवं भयसे मैं थरथर काँप रही थी । उस दशामें मुझ दुःखिनी अबलाको कौरवोंकी सभामें घसीटकर लाया गया था ॥ ६२ ॥

राज्ञां मध्ये सभायां तु रजसातिपरिप्लुता ।
दृष्ट्वा च मां धार्तराष्ट्राः प्राहसन् पापचेतसः ॥ ६३ ॥

भरी सभामें राजाओंकी मण्डलीके बीच अत्यन्त रजस्राव होनेके कारण मैं रक्तसे भींगी जा रही थी । उस अवस्थामें मुझे देखकर धृतराष्ट्रके पापात्मा पुत्रोंने जोर-जोरसे हँसकर मेरी हँसी उड़ायी ॥ ६३ ॥

दासीभावेन मां भोक्तुमीषुस्ते मधुसूदन ।
जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पञ्चालेषु च वृष्णिषु ॥ ६४ ॥

मधुसूदन ! पाण्डवों, पाञ्चालों और वृष्णिवंशी वीरोंके जीते-जी धृतराष्ट्रके पुत्रोंने दासीभावसे मेरा उपभोग करनेकी इच्छा प्रकट की ॥ ६४ ॥

नन्वहं कृष्ण भीष्मस्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः ।
स्नुषा भवामि धर्मेण साहं दासीकृता बलात् ॥ ६५ ॥

श्रीकृष्ण ! मैं धर्मतः भीष्म और धृतराष्ट्र दोनोंकी पुत्र-वधू हूँ, तो भी उनके सामने ही बलपूर्वक दासी बनायी गयी ॥

गर्हये पाण्डवांस्त्वेव युधि श्रेष्ठान् महाबलान् ।
यत्क्लिश्यमानां प्रेक्षन्ते धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ॥ ६६ ॥

मैं तो संग्राममें श्रेष्ठ इन महाबली पाण्डवोंकी ही निन्दा करती हूँ; जो अपनी यशस्विनी धर्मपत्नीको शत्रुओंद्वारा सतायी जाती हुई देख रहे थे ॥ ६६ ॥

धिग् बलं भीमसेनस्य धिक् पार्थस्य च गाण्डिवम् ।
यौ मां विप्रकृतां क्षुद्रैर्मर्षयेतां जनार्दन ॥ ६७ ॥

जनार्दन ! भीमसेनके बलको धिक्कार है, अर्जुनके गाण्डीव धनुषको भी धिक्कार है, जो उन नराधमोंद्वारा मुझे अपमानित होती देखकर भी सहन करते रहे ॥ ६७ ॥

शाश्वतोऽयं धर्मपथः सद्भिराचरितः सदा ।
यद् भार्यां परिरक्षन्ति भर्तारोऽल्पबला अपि ॥ ६८ ॥

सत्पुरुषोंद्वारा सदा आचरणमें लाया हुआ यह धर्मका सनातन मार्ग है कि निर्बल पति भी अपनी पत्नीकी रक्षा करते हैं ॥ ६८ ॥

भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ।
प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ॥ ६९ ॥

पत्नीकी रक्षा करनेसे अपनी संतान सुरक्षित होती है और संतानकी रक्षा होनेपर अपने आत्माकी रक्षा होती है ॥

आत्मा हि जायते तस्यां तस्माज्जाया भवत्युत ।
भर्ता च भार्यया रक्ष्यः कथं जायान्ममोदरे ॥ ७० ॥

अपना आत्मा ही स्त्रीके गर्भसे जन्म लेता है; इसीलिये वह जाया कहलाती है । पत्नीको भी अपने पतिकी रक्षा इसीलिये करनी चाहिये कि यह किसी प्रकार मेरे उदरसे जन्म ग्रहण करे ॥ ७० ॥

नन्विमे शरणं प्राप्तं न त्यजन्ति कदाचन ।
ते मां शरणमापन्नां नान्वपद्यन्त पाण्डवाः ॥ ७१ ॥

ये अपनी शरणमें आनेपर कभी किसीका भी त्याग नहीं करते; किंतु इन्हीं पाण्डवोंने मुझ शरणागत अबलापर तनिक भी दया नहीं की ॥ ७१ ॥

पञ्चभिः पतिभिर्जाताः कुमारा मे महौजसः ।
एतेषामप्यवेक्षार्थं त्रातव्यास्मि जनार्दन ॥ ७२ ॥

जनार्दन ! इन पाँच पतियोंसे उत्पन्न हुए मेरे महाबली पाँच पुत्र हैं । उनकी देखभालके लिये भी मेरी रक्षा आवश्यक थी ॥ ७२ ॥

प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात् सुतसोमो वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिश्च शतानीकस्तु नाकुलिः ॥ ७३ ॥
कनिष्ठाच्छ्रुतकर्मा च सर्वे सत्यपराक्रमाः ।
प्रद्युम्नो यादृशः कृष्ण तादृशास्ते महारथाः ॥ ७४ ॥

युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसेनसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, नकुलसे शतानीक और छोटे पाण्डव सहदेवसे श्रुतकर्माका जन्म हुआ है । ये सभी कुमार सच्चे पराक्रमी हैं । श्रीकृष्ण ! आपका पुत्र प्रद्युम्न जैसा शूरवीर है, वैसे ही वे मेरे महारथी पुत्र भी हैं ॥ ७३-७४ ॥

नन्विमे धनुषि श्रेष्ठा अजेया युधि शात्रवैः ।
किमर्थं धार्तराष्ट्राणां सहन्ते दुर्बलीयसाम् ॥ ७५ ॥

ये धनुर्विद्यामें श्रेष्ठ तथा शत्रुओंद्वारा युद्धमें अजेय हैं तो भी दुर्बल धृतराष्ट्र-पुत्रोंका अत्याचार कैसे सहन करते हैं ! ॥ ७५ ॥

अधर्मेण हृतं राज्यं सर्वे दासाः कृतास्तथा ।
सभायां परिकृष्टाहमेकवस्त्रा रजस्वला ॥ ७६ ॥

अधर्मसे सारा राज्य हरण कर लिया गया, सब पाण्डव दास बना दिये गये और मैं एकवस्त्रधारिणी रजस्वला होनेपर भी सभामें घसीटकर लायी गयी ॥ ७६ ॥

नाधिज्यमपि यच्छक्यं कर्तुमन्येन गाण्डिवम् ।
अन्यत्रार्जुनभीमाभ्यां त्वया वा मधुसूदन ॥ ७७ ॥

मधुसूदन ! अर्जुनके पास जो गाण्डीव धनुष है, उसपर अर्जुन, भीम अथवा आपके सिवा दूसरा कोई प्रत्यञ्चा भी नहीं चढ़ा सकता (तो भी ये मेरी रक्षा न कर सके) ॥

धिग् बलं भीमसेनस्य धिक् पार्थस्य च पौरुषम् ।
यत्र दुर्योधनः कृष्ण मुहूर्तमपि जीवति ॥ ७८ ॥

कृष्ण ! भीमसेनके बलको धिक्कार है, अर्जुनके पुरुषार्थको भी धिक्कार है, जिसके होते हुए दुर्योधन इतना बड़ा अत्याचार करके दो घड़ी भी जीवित रह रहा है ॥ ७८ ॥

य एतानाक्षिपद् राष्ट्रात् सह मात्राविहिंसकान् ।
अधीयानान् पुरा बालान् व्रतस्थान् मधुसूदन ॥ ७९ ॥

मधुसूदन ! पहले बाल्यावस्थामें, जब कि पाण्डव ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए अध्ययनमें लगे थे, किसीकी हिंसा नहीं करते थे, जिस दुष्टने इन्हें इनकी माताके साथ राज्यसे बाहर निकाल दिया था ॥ ७९ ॥

भोजने भीमसेनस्य पापः प्राक्षेपयद् विषम् ।
कालकूटं नवं तीक्ष्णं सम्भूतं लोमहर्षणम् ॥ ८० ॥

जिस पापीने भीमसेनके भोजनमें नूतन, तीक्ष्ण, परिमाणमें अधिक एवं रोमाञ्चकारी कालकूट नामक विष डलवा दिया था ॥ ८० ॥

तज्जीर्णमविकारेण सहान्नेन जनार्दन ।
सशेषत्वान्महाबाहो भीमस्य पुरुषोत्तम ॥ ८१ ॥

महाबाहु नरश्रेष्ठ जनार्दन ! भीमसेनकी आयु शेष थी, इसीलिये वह घातक विष अन्नके साथ ही पच गया और उसने कोई विकार नहीं उत्पन्न किया (इस प्रकार उस दुर्योधनके अत्याचारोंको कहाँतक गिनाया जाय) ॥ ८१ ॥

प्रमाणकोट्यां विश्वस्तं तथा सुप्तं वृकोदरम् ।
बद्ध्वैनं कृष्ण गङ्गायां प्रक्षिप्य पुरमाव्रजत् ॥ ८२ ॥

श्रीकृष्ण ! प्रमाणकोटि तीर्थमें, जब भीमसेन विश्वस्त होकर सो रहे थे, उस समय दुर्योधनने इन्हें बाँधकर गङ्गामें फेंक दिया और स्वयं चुपचाप राजधानीमें लौट आया ॥ ८२ ॥

यदा विबुद्धः कौन्तेयस्तदा संच्छिद्य बन्धनम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ॥ ८३ ॥

जब इनकी आँख खुली तो ये महाबली महाबाहु भीमसेन सारे बन्धनोंको तोड़कर जलसे ऊपर उठे ॥ ८३ ॥

आशीविषैः कृष्णसर्पैर्भीमसेनमदंशयत् ।
सर्वेष्वेवाङ्गदेशेषु न ममार च शत्रुहा ॥ ८४ ॥

इनके सारे अङ्गोंमें विषैले काले सर्पोंसे डँसवाया; परंतु शत्रुहन्ता भीमसेन मर न सके ॥ ८४ ॥

प्रतिबुद्धस्तु कौन्तेयः सर्वान् सर्पानपोथयत् ।
सारथिं चास्य दयितमपहस्तेन जघ्निवान् ॥ ८५ ॥

जागनेपर कुन्तीनन्दन भीमने सब सर्पोंको उठा-उठाकर पटक दिया । दुर्योधनने भीमसेनके प्रिय सारथिको भी उलटे हाथसे मार डाला ॥ ८५ ॥

पुनः सुप्तानुपाधाक्षीद् बालकान् वारणावते।
शयानानार्यया सार्धं को नु तत् कर्तुमर्हति ॥ ८६ ॥

इतना ही नहीं, वारणावतमें आर्या कुन्तीके साथमें ये बालक पाण्डव सो रहे थे, उस समय उसने घरमें आग लगवा दी। ऐसा दुष्कर्म दूसरा कौन कर सकता है ? ॥ ८६ ॥

यत्रार्या रुदती भीता पाण्डवानिदमब्रवीत्।
महद् व्यसनमापन्ना शिखिना परिवारिता ॥ ८७ ॥

उस समय वहाँ आर्या कुन्ती भयभीत हो रोती हुई पाण्डवोंसे इस प्रकार बोलीं—'मैं बड़े भारी संकटमें पड़ी, आगसे घिर गयी ॥ ८७ ॥

हा हतास्मि कुतो न्वद्य भवेच्छान्तिरिहानलात्।
अनाथा विनशिष्यामि बालकैः पुत्रकैः सह ॥ ८८ ॥

'हाय ! हाय ! मैं मारी गयी, अब इस आगसे कैसे शान्ति प्राप्त होगी ? मैं अनाथकी तरह अपने बालक पुत्रोंके साथ नष्ट हो जाऊँगी' ॥ ८८ ॥

तत्र भीमो महाबाहुर्वायुवेगपराक्रमः।
आर्यामाश्वासयामास भ्रातॄंश्चापि वृकोदरः ॥ ८९ ॥
वैनतेयो यथा पक्षी गरुत्मान् पततां वरः।
तथैवाभिपतिष्यामि भयं वो नेह विद्यते ॥ ९० ॥

उस समय वहाँ वायुके समान वेग और पराक्रमवाले महाबाहु भीमसेनने आर्या कुन्ती तथा भाइयोंको आश्वासन देते हुए कहा—'पक्षियोंमें श्रेष्ठ विनतानन्दन गरुड जैसे उड़ा करते हैं, उसी प्रकार मैं भी तुम सबको लेकर यहाँसे चल दूँगा। अतः तुम्हें यहाँ तनिक भी भय नहीं है' ॥ ८९-९० ॥

आर्यामङ्केन वामेन राजानं दक्षिणेन च।
अंसयोश्च यमौ कृत्वा पृष्ठे बीभत्सुमेव च ॥ ९१ ॥
सहसोत्पत्य वेगेन सर्वानादाय वीर्यवान्।
भ्रातॄनार्यां च बलवान् मोक्षयामास पावकात् ॥ ९२ ॥

ऐसा कहकर पराक्रमी एवं बलवान् भीमने आर्या कुन्तीको बायें अङ्कमें, धर्मराजको दाहिने अङ्कमें, नकुल और सहदेवको दोनों कंधोंपर तथा अर्जुनको पीठपर चढ़ा लिया और सबको लिये-दिये सहसा वेगसे उछलकर इन्होंने उस भयंकर अग्निसे भाइयों तथा माताकी रक्षा की * ॥ ९१-९२ ॥

ते रात्रौ प्रस्थिताः सर्वे सह मात्रा यशस्विनः।
अभ्यगच्छन्महारण्ये हिडिम्बवनमन्तिकात् ॥ ९३ ॥

फिर वे सब यशस्वी पाण्डव माताके साथ रातमें ही वहाँसे चल दिये और हिडिम्ब-वनके पास एक भारी वनमें जा पहुँचे ॥

श्रान्ताः प्रसुप्तास्तत्रेमे मात्रा सह सुदुःखिताः।
सुप्तांश्चैनानभ्यगच्छद्धिडिम्बा नाम राक्षसी ॥ ९४ ॥

वहाँ मातासहित ये दुखी पाण्डव थककर सो गये। सो जानेपर इनके निकट हिडिम्बा नामक राक्षसी आयी ॥ ९४ ॥

सा दृष्ट्वा पाण्डवांस्तत्र सुप्तान् मात्रा सह क्षितौ।
हृच्छयेनाभिभूतात्मा भीमसेनमकामयत् ॥ ९५ ॥

मातासहित पाण्डवोंको वहाँ धरतीपर सोते देख कामसे पीड़ित हो उस राक्षसीने भीमसेनकी कामना की ॥ ९५ ॥

भीमस्य पादौ कृत्वा तु स्व उत्सङ्गे ततोऽबला।
पर्यमर्दत संहृष्टा कल्याणी मृदुपाणिना ॥ ९६ ॥

भीमके पैरोंको अपनी गोदमें लेकर वह कल्याणमयी अबला अपने कोमल हाथोंसे प्रसन्नतापूर्वक दबाने लगी ॥ ९६ ॥

तामबुध्यदमेयात्मा बलवान् सत्यविक्रमः।
पर्यपृच्छत तां भीमः किमिहेच्छस्यनिन्दिते ॥ ९७ ॥

उसका स्पर्श पाकर बलवान् सत्यपराक्रमी तथा अमेयात्मा भीमसेन जाग उठे। जागनेपर उन्होंने पूछा—'सुन्दरी ! तुम यहाँ क्या चाहती हो ?' ॥ ९७ ॥

एवमुक्ता तु भीमेन राक्षसी कामरूपिणी।
भीमसेनं महात्मानमाह चैवमनिन्दिता ॥ ९८ ॥

इस प्रकार पूछनेपर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली उस अनिन्द्य सुन्दरी राक्षसकन्याने महात्मा भीमसे कहा—॥ ९८ ॥

पलायध्वमितः क्षिप्रं मम भ्रातैष वीर्यवान्।
आगमिष्यति वो हन्तुं तस्माद् गच्छत मा चिरम् ॥ ९९ ॥

'आपलोग यहाँसे जल्दी भाग जायँ, मेरा यह बलवान् भाई हिडिम्ब आपको मारनेके लिये आयेगा; अतः आपलोग जल्दी चले जाइये, देर न कीजिये' ॥ ९९ ॥

अथ भीमोऽभ्युवाचेनां साभिमानमिदं वचः।
नोद्विजेयमहं तस्मान्निहनिष्येऽहमागतम् ॥ १०० ॥

यह सुनकर भीमने अभिमानपूर्वक कहा—'मैं उस राक्षससे नहीं डरता। यदि यहाँ आयगा, तो मैं ही उसे मार डालूँगा' ॥ १०० ॥

तयोः श्रुत्वा तु संजल्पमागच्छद् राक्षसाधमः।
भीमरूपो महानादान् विसृजन् भीमदर्शनः ॥ १०१ ॥

उन दोनोंकी बातचीत सुनकर वह भीम रूपधारी भयंकर एवं नीच राक्षस बड़े जोरसे गर्जना करता हुआ वहाँ आ पहुँचा ॥ १०१ ॥

---

* आदिपर्वके १४७वें अध्यायके लाक्षागृहदाहप्रसङ्गमें बतलाया है कि 'भीमसेनने माताको तो कंधेपर चढ़ा लिया और नकुल-सहदेवको गोदमें उठा लिया तथा शेष दोनों भाइयोंको दोनों हाथोंसे पकड़कर उन्हें सहारा देते हुए चलने लगे।' इस कथनसे द्रौपदीके वचन भिन्न हैं; क्योंकि द्रौपदीका उस समय विवाह नहीं हुआ था, अतः द्रौपदी इस बातको ठीक-ठीक नहीं जानती थी, इसीसे वह लोगोंके मुखसे सुनी-सुनायी बात अनुमानसे कह रही है; [illegible]

राक्षस उवाच

केन सार्धं कथयसि आनयैनं ममान्तिकम्।
हिडिम्बे भक्षयिष्यामो न चिरं कर्तुमर्हसि ॥१०२॥

राक्षस बोला—हिडिम्बे ! तू किससे बात कर रही है ? लाओ इसे मेरे पास। हमलोग खायँगे। अब तुम्हें देर नहीं करनी चाहिये ॥ १०२ ॥

सा कृपासंगृहीतेन हृदयेन मनस्विनी।
नैनमैच्छत् तदाख्यातुमनुक्रोशादनिन्दिता ॥१०३॥

मनस्विनी एवं अनिन्दिता हिडिम्बाने स्नेहयुक्त हृदयके कारण दयावश यह क्रूरतापूर्ण संदेश भीमसेनसे कहना उचित न समझा ॥ १०३ ॥

स नादान् विनदन् घोरान् राक्षसः पुरुषादकः।
अभ्यद्रवत वेगेन भीमसेनं तदा किल ॥१०४॥

इतनेहीमें वह नरभक्षी राक्षस घोर गर्जना करता हुआ बड़े वेगसे भीमसेनकी ओर दौड़ा ॥ १०४ ॥

तमभिद्रुत्य संक्रुद्धो वेगेन महता बली।
अगृह्णात् पाणिना पाणिं भीमसेनस्य राक्षसः ॥१०५॥
इन्द्राशनिसमस्पर्शं वज्रसंहननं दृढम्।
संहत्य भीमसेनाय व्याक्षिपत् सहसा करम् ॥१०६॥

क्रोधमें भरे हुए उस बलवान् राक्षसने बड़े वेगसे निकट जाकर अपने हाथसे भीमसेनका हाथ पकड़ लिया। भीमसेनके हाथका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान था। उनका शरीर भी वैसा ही सुदृढ़ था। राक्षसने भीमसेनसे भिड़कर उनके हाथको सहसा झटक दिया ॥

गृहीतं पाणिना पाणिं भीमसेनस्य रक्षसा।
नामृष्यत महाबाहुस्तत्राक्रुध्यद् वृकोदरः ॥१०७॥

राक्षसने भीमसेनके हाथको अपने हाथसे पकड़ लिया; यह बात महाबाहु भीमसेन नहीं सह सके। वे वहीं कुपित हो गये ॥ १०७ ॥

तदाऽऽसीत् तुमुलं युद्धं भीमसेनहिडिम्बयोः।
सर्वास्त्रविदुषोर्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥१०८॥

उस समय सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता भीमसेन और हिडिम्बमें इन्द्र और वृत्रासुरके समान भयानक एवं घमासान युद्ध होने लगा ॥ १०८ ॥

विक्रीड्य सुचिरं भीमो राक्षसेन सहानघ।
निजघान महावीर्यस्तं तदा निर्बलं बली ॥१०९॥

निष्पाप श्रीकृष्ण ! महापराक्रमी और बलवान् भीमसेनने उस राक्षसके साथ बहुत देरतक खिलवाड़ करके उसके निर्बल हो जानेपर उसे मार डाला ॥ १०९ ॥

हत्वा हिडिम्बं भीमोऽथ प्रस्थितो भ्रातृभिः सह।
हिडिम्बामग्रतः कृत्वा यस्यां जातो घटोत्कचः ॥११०॥

इस प्रकार हिडिम्बको मारकर हिडिम्बाको आगे किये भीमसेन अपने भाइयोंके साथ आगे बढ़े। उसी हिडिम्बासे घटोत्कचका जन्म हुआ ११० ॥

ततः सम्प्राद्रवन् सर्वे सह मात्रा परंतपाः।
एकचक्रामभिमुखाः संवृता ब्राह्मणव्रजैः ॥१११॥

तदनन्तर सब परंतप पाण्डव अपनी माताके साथ आगे बढ़े। ब्राह्मणोंसे घिरे हुए ये लोग एकचक्रा नगरीकी ओर चल दिये ॥ १११ ॥

प्रस्थाने व्यास एषां च मन्त्री प्रियहिते रतः।
ततोऽगच्छन्नेकचक्रां पाण्डवाः संशितव्रताः ॥११२॥

उस यात्रामें इनके प्रिय एवं हितमें लगे हुए व्यासजी ही इनके परामर्शदाता हुए। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पाण्डव उन्हींकी सम्मतिसे एकचक्रा पुरीमें गये ॥ ११२ ॥

तत्राप्यासादयामासुर्बकं नाम महाबलम्।
पुरुषादं प्रतिभयं हिडिम्बेनैव सम्मितम् ॥११३॥

वहाँ जानेपर भी इन्हें नरभक्षी राक्षस महाबली बकासुर मिला। वह भी हिडिम्बके ही समान भयंकर था ॥ ११३ ॥

तं चापि विनिहत्योग्रं भीमः प्रहरतां वरः।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैर्द्रुपदस्य पुरं ययौ ॥११४॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीम उस भयंकर राक्षसको मारकर अपने सब भाइयोंके साथ मेरे पिता द्रुपदकी राजधानीमें गये ॥

लब्धाहमपि तत्रैव वसता सव्यसाचिना।
यथा त्वया जिता कृष्ण रुक्मिणी भीष्मकात्मजा ॥११५॥

श्रीकृष्ण ! जैसे आपने भीष्मकनन्दिनी रुक्मिणीको जीता था, उसी प्रकार मेरे पिताकी राजधानीमें रहते समय सव्यसाची अर्जुनने मुझे जीता ॥ ११५ ॥

एवं सुयुद्धे पार्थेन जिताहं मधुसूदन।
स्वयंवरे महत् कर्म कृत्वा न सुकरं परैः ॥११६॥

मधुसूदन ! स्वयंवरमें, जो महान् कर्म दूसरोंके लिये दुष्कर था, वह करके भारी युद्धमें भी अर्जुनने मुझे जीत लिया था ॥

एवं क्लेशैः सुबहुभिः क्लिश्यमाना सुदुःखिता।
निवसाम्यार्यया हीना कृष्ण धौम्यपुरःसरा ॥११७॥

परंतु आज मैं इन सबके होते हुए भी अनेक प्रकारके क्लेश भोगती और अत्यन्त दुःखमें डूबी रहकर अपनी सास कुन्तीसे अलग हो धौम्यजीको आगे रखकर वनमें निवास करती हूँ ॥ ११७ ॥

त इमे सिंहविक्रान्ता वीर्येणाभ्यधिकाः परैः।
विहीनैः परिक्लिश्यन्तीं समुपेक्षन्त मां कथम् ॥११८॥

ये सिंहके समान पराक्रमी पाण्डव बल-वीर्यमें शत्रुओंसे बढ़े-चढ़े हैं, इनसे सर्वथा हीन कौरव मुझे भरी सभामें कष्ट दे रहे थे, तो भी इन्होंने क्यों मेरी उपेक्षा की ? ॥ ११८ ॥

एतादृशानि दुःखानि सहन्ती दुर्बलीयसाम् ।
दीर्घकालं प्रदीप्तास्मि पापानां पापकर्मणाम् ॥११९॥

पापकर्मोंमें लगे हुए अत्यन्त दुर्बल पापी शत्रुओंके दिये हुए ऐसे-ऐसे दुःख मैं सह रही हूँ और दीर्घ-कालसे चिन्ताकी आगमें जल रही हूँ ॥ ११९ ॥

कुले महति जातास्मि दिव्येन विधिना किल ।
पाण्डवानां प्रिया भार्या स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः॥१२०॥

यह प्रसिद्ध है कि मैं दिव्य विधिसे एक महान् कुलमें उत्पन्न हुई हूँ। पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी और महाराज पाण्डुकी पुत्रवधू हूँ ॥ १२० ॥

कचग्रहमनुप्राप्ता सास्मि कृष्ण वरा सती ।
पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां प्रेक्षतां मधुसूदन ॥१२१॥

मधुसूदन श्रीकृष्ण ! मैं श्रेष्ठ और सती-साध्वी होती हुई भी इन पाँचों पाण्डवोंके देखते-देखते केश पकड़कर घसीटी गयी ॥ १२१ ॥

इत्युक्त्वा प्रारुदत् कृष्णा मुखं प्रच्छाद्य पाणिना ।
पद्मकोशप्रकाशेन मृदुना मृदुभाषिणी ॥१२२॥

ऐसा कहकर मृदुभाषिणी द्रौपदी कमलकोशके समान कान्तिमान् एवं कोमल हाथसे अपना मुँह ढककर फूट-फूटकर रोने लगी ॥ १२२ ॥

स्तनावपतितौ पीनौ सुजातौ शुभलक्षणौ ।
अभ्यवर्षत पाञ्चाली दुःखजैरश्रुबिन्दुभिः ॥१२३॥

पाञ्चालराजकुमारी कृष्णा अपने कठोर, उभरे हुए, शुभलक्षण तथा सुन्दर स्तनोंपर दुःखजनित अश्रुबिन्दुओंकी वर्षा करने लगी ॥ १२३ ॥

चक्षुषी परिमार्जन्ती निःश्वसन्ती पुनः पुनः ।
बाष्पपूर्णेन कण्ठेन क्रुद्धा वचनमब्रवीत् ॥१२४॥

कुपित हुई द्रौपदी बार-बार सिसकती और आँसू पोंछती हुई आँसूभरे कण्ठसे बोली--॥ १२४ ॥

नैव मे पतयः सन्ति न पुत्रा न च बान्धवाः ।
न भ्रातरो न च पिता नैव त्वं मधुसूदन ॥१२५॥

'मधुसूदन ! मेरे लिये न पति हैं, न पुत्र हैं, न बान्धव हैं, न भाई हैं, न पिता हैं और न आप ही हैं ॥ १२५ ॥

ये मां विप्रकृतां क्षुद्रैरुपेक्षध्वं विशोकवत् ।
न च मे शाम्यते दुःखं कर्णो यत् प्राहसत् तदा ॥१२६॥

'क्योंकि आप सब लोग, नीच मनुष्योंद्वारा जो मेरा अपमान हुआ है, [illegible] लिये आपके हृदयमें तनिक भी दुःख नहीं है। उस समय कर्णने जो मेरी हँसी उड़ायी थी, उससे उत्पन्न हुआ दुःख मेरे हृदयसे दूर नहीं होता है ॥ १२६ ॥

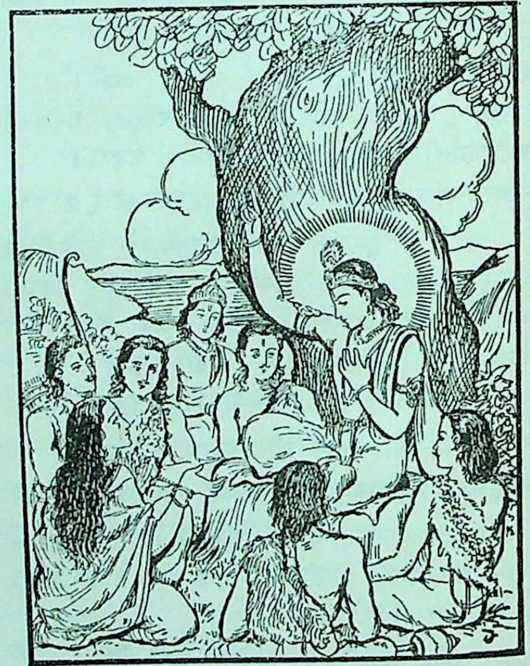
चतुर्भिः कारणैः कृष्ण त्वया रक्ष्यास्मि नित्यशः।
सम्बन्धाद् गौरवात् सख्यात् प्रभुत्वेनैव केशव॥१२७॥

'श्रीकृष्ण ! चार कारणोंसे आपको सदा मेरी रक्षा करनी चाहिये। एक तो आप मेरे सम्बन्धी हैं, दूसरे अग्निकुण्डमें उत्पन्न होनेके कारण मैं गौरवशालिनी हूँ, तीसरे आपकी सच्ची सखी हूँ और चौथे आप मेरी रक्षा करनेमें समर्थ हैं' ॥१२७॥

वैशम्पायन उवाच

अथ तामब्रवीत् कृष्णस्तस्मिन् वीरसमागमे ।

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने वीरोंके उस समुदायमें द्रौपदीसे इस प्रकार कहा ॥ १२७½ ॥



वासुदेव उवाच

रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धासि भाविनि।
बीभत्सुशरसंछन्नाञ्छोणितौघपरिप्लुतान् ॥१२८॥
निहतान् वल्लभान् वीक्ष्य शयानान् वसुधातले ।
यत् समर्थं पाण्डवानां तत् करिष्यामि मा शुचः॥१२९॥

श्रीकृष्ण बोले—भाविनि ! तुम जिनपर क्रुद्ध हुई हो, उनकी स्त्रियाँ भी अपने प्राणप्यारे पतियोंको अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न और खूनसे लथपथ हो मरकर धरतीपर पड़ा देख इसी प्रकार रोयेंगी। पाण्डवोंके हितके लिये जो कुछ भी [illegible] ॥ १२८-१२९ ॥

सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ।
पतेद् द्यौर्हिमवाञ्छीर्येत् पृथिवी शकलीभवेत् ॥१३०॥
शुष्येत् तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत् ।
तच्छ्रुत्वा द्रौपदी वाक्यं प्रतिवाक्यमथाच्युतात्॥१३१॥
साचीकृतमवेक्षत् सा पाञ्चाली मध्यमं पतिम् ।
आबभाषे महाराज द्रौपदीमर्जुनस्तदा ॥१३२॥

मैं सत्य प्रतिज्ञापूर्वक कह रहा हूँ कि तुम राजरानी बनोगी । कृष्णे ! आसमान फट पड़े, हिमालय पर्वत विदीर्ण हो जाय, पृथ्वीके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ और समुद्र सूख जाय, किंतु मेरी यह बात झूठी नहीं हो सकती । द्रौपदीने अपनी बातोंके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे ऐसी बातें सुनकर तिरछी चितवनसे अपने मँझले पति अर्जुनकी ओर देखा । महाराज ! तब अर्जुनने द्रौपदीसे कहा—॥ १३०-१३२ ॥

मा रोदीः शुभताम्राक्षि यदाह मधुसूदनः ।
तथा तद् भविता देवि नान्यथा वरवर्णिनि ॥१३३॥

'लालिमायुक्त सुन्दर नेत्रोंवाली देवि ! वरवर्णिनि ! रोओ मत । भगवान् मधुसूदन जो कुछ कह रहे हैं, वह अवश्य होकर रहेगा; टल नहीं सकता' ॥ १३३ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच

अहं द्रोणं हनिष्यामि शिखण्डी तु पितामहम् ।
दुर्योधनं भीमसेनः कर्णं हन्ता धनंजयः ॥१३४॥
रामकृष्णौ व्यपाश्रित्य अजेयाः स्म रणे स्वसः ।
अपि वृत्रहणा युद्धे किं पुनर्धृतराष्ट्रजे ॥१३५॥

धृष्टद्युम्नने कहा—बहिन ! मैं द्रोणको मार डालूँगा, शिखण्डी भीष्मका वध करेंगे, भीमसेन दुर्योधनको मार गिरायेंगे और अर्जुन कर्णको यमलोक भेज देंगे । भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामका आश्रय पाकर हमलोग युद्धमें शत्रुओंके लिये अजेय हैं । इन्द्र भी हमें रणमें परास्त नहीं कर सकते । फिर धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १३४-१३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तेऽभिमुखा वीरा वासुदेवमुपास्थिताः ।
तेषां मध्ये महाबाहुः केशवो वाक्यमब्रवीत् ॥१३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृष्टद्युम्नके ऐसा कहनेपर वहाँ बैठे हुए वीर भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखने लगे । उनके बीचमें बैठे हुए महाबाहु केशवने उनसे ऐसा कहा ॥ १३६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपद्याश्वासने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदी-आश्वासनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥



त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका जूएके दोष बताते हुए पाण्डवोंपर आयी हुई विपत्तिमें अपनी अनुपस्थितिको कारण मानना

वासुदेव उवाच

नैतत् कृच्छ्रमनुप्राप्तो भवान् स्याद् वसुधाधिप ।
यद्यहं द्वारकायां स्यां राजन् संनिहितः पुरा ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—राजन् ! यदि मैं पहले द्वारकामें या उसके निकट होता तो आप इस भारी संकटमें नहीं पड़ते ॥ १ ॥

आगच्छेयमहं द्यूतमनाहूतोऽपि कौरवैः ।
आम्बिकेयेन दुर्धर्ष राज्ञा दुर्योधनेन च ।
वारयेयमहं द्यूतं बहून् दोषान् प्रदर्शयन् ॥ २ ॥

दुर्जय वीर ! अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्र, राजा दुर्योधन तथा अन्य कौरवोंके बिना बुलाये भी मैं उस द्यूतसभामें आता और जूएके अनेक दोष दिखाकर उसे रोकनेकी चेष्टा करता ॥

भीष्मद्रोणौ समानाय्य कृपं बाह्लीकमेव च ।
वैचित्रवीर्यं राजानमलं द्यूतेन कौरव ॥ ३ ॥
पुत्राणां तव राजेन्द्र त्वन्निमित्तमिति प्रभो ।
तत्राचक्षमहं दोषान् यैर्भवान् व्यतिरोपितः ॥ ४ ॥

प्रभो ! मैं आपके लिये भीष्म, द्रोण, कृप, बाह्लीक तथा राजा धृतराष्ट्रको बुलाकर कहता—'कुरुवंशके महाराज ! आपके पुत्रोंको जूआ नहीं खेलना चाहिये ।' राजन् ! मैं द्यूतसभामें जूएके उन दोषोंको स्पष्टरूपसे बताता, जिनके कारण आपको अपने राज्यसे वञ्चित होना पड़ा है ॥ ३-४ ॥

वीरसेनसुतो यैस्तु राज्यात् प्रभ्रंशितः पुरा।
अतर्कितविनाशश्च देवनेन विशाम्पते ॥ ५ ॥

तथा जिन दोषोंने पूर्वकालमें वीरसेनपुत्र महाराज नलको राजसिंहासनसे च्युत किया। नरेश्वर! जूआ खेलनेसे सहसा ऐसा सर्वनाश उपस्थित हो जाता है, जो कल्पनामें भी नहीं आ सकता ॥ ५ ॥

सातत्यं च प्रसङ्गस्य वर्णयेयं यथातथम् ॥ ६ ॥

इसके सिवा उससे सदा जूआ खेलनेकी आदत बन जाती है। यह सब बातें मैं ठीक-ठीक बता रहा हूँ ॥ ६ ॥

स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतत् कामसमुत्थितम्।
दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तं यैर्नरो भ्रश्यते श्रियः ॥ ७ ॥
तत्र सर्वत्र वक्तव्यं मन्यन्ते शास्त्रकोविदाः।
विशेषतश्च वक्तव्यं द्यूते पश्यन्ति तद्विदः ॥ ८ ॥

स्त्रियोंके प्रति आसक्ति, जूआ खेलना, शिकार खेलनेका शौक और मद्यपान—ये चार प्रकारके भोग कामनाजनित दुःख बताये गये हैं, जिनके कारण मनुष्य अपने धन-ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है। शास्त्रोंके निपुण विद्वान् सभी परिस्थितियोंमें इन चारोंको निन्दनीय मानते हैं; परंतु द्यूतक्रीडाको तो जूएके दोष जाननेवाले लोग विशेषरूपसे निन्दनीय समझते हैं ॥

एकाहाद् द्रव्यनाशोऽत्र ध्रुवं व्यसनमेव च।
अभुक्तनाशश्चार्थानां वाक्पारुष्यं च केवलम् ॥ ९ ॥
एतच्चान्यच्च कौरव्य प्रसङ्गिकटुकोदयम्।
द्यूते ब्रूयां महाबाहो समासाद्याम्बिकासुतम् ॥ १० ॥

जूएसे एक ही दिनमें सारे धनका नाश हो जाता है। साथ ही जूआ खेलनेसे उसके प्रति आसक्ति होनी निश्चित है। समस्त भोग-पदार्थोंका बिना भोगे ही नाश हो जाता है और बदलेमें केवल कटुवचन सुननेको मिलते हैं। कुरुनन्दन! ये तथा और भी बहुत-से दोष हैं, जो जूएके प्रसंगसे कटु परिणाम उत्पन्न करनेवाले हैं। महाबाहो! मैं धृतराष्ट्रसे मिलकर जूएके ये सभी दोष बतलाता ॥ १० ॥

एवमुक्तो यदि मया गृह्णीयाद् वचनं मम।
अनामयं स्याद् धर्मश्च कुरूणां कुरुवर्धन ॥ ११ ॥

कुरुवर्धन! मेरे इस प्रकार समझाने-बुझानेपर यदि वे मेरी बात मान लेते, तो कौरवोंमें शान्ति बनी रहती और धर्मका भी पालन होता ॥ ११ ॥

न चेत् स मम राजेन्द्र गृह्णीयान्मधुरं वचः।
पथ्यं च भरतश्रेष्ठ निगृह्णीयां बलेन तम् ॥ १२ ॥

राजेन्द्र! भरतश्रेष्ठ! यदि वे मेरे मधुर एवं हितकर वचनको सुनकर उसे न मानते, तो मैं उन्हें बलपूर्वक रोक देता ॥ १२ ॥

अथैनमपनीतेन सुहृदो नाम दुर्हृदः।
सभासदोऽनुवर्तेरंस्तांश्च हन्यां दुरोदरान् ॥ १३ ॥

यदि वहाँ सुहृद्नामधारी शत्रु अन्यायका आश्रय ले इस धृतराष्ट्रका साथ देते, तो मैं उन सभासद जुआरियोंको मार डालता ॥ १३ ॥

असांनिध्यं तु कौरव्य ममानर्तेष्वभूत् तदा।
येनेदं व्यसनं प्राप्ता भवन्तो द्यूतकारितम् ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ! मैं उन दिनों आनर्तदेशमें ही नहीं था, इसीलिये आपलोगोंपर यह द्यूतजनित संकट आ गया ॥ १४ ॥

सोऽहमेत्य कुरुश्रेष्ठ द्वारकां पाण्डुनन्दन।
अश्रौषं त्वां व्यसनिनं युयुधानाद् यथातथम् ॥ १५ ॥

कुरुप्रवर पाण्डुनन्दन! जब मैं द्वारकामें आया, तब सात्यकिसे आपके संकटमें पड़नेका यथावत् समाचार सुना ॥ १५ ॥

श्रुत्वैव चाहं राजेन्द्र परमोद्विग्नमानसः।
तूर्णमभ्यागतोऽस्मि त्वां द्रष्टुकामो विशाम्पते ॥ १६ ॥

राजेन्द्र! वह सुनते ही मेरा मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा और प्रजेश्वर! मैं तुरंत ही आपसे मिलनेके लिये चला आया ॥ १६ ॥

अहो कृच्छ्रमनुप्राप्ताः सर्वे स्थ भरतर्षभ।
सोऽहं त्वां व्यसने मग्नं पश्यामि सह सोदरैः ॥ १७ ॥

भरतकुलभूषण! अहो! आप सब लोग बड़ी कठिनाईमें पड़ गये हैं। मैं तो आपको सब भाइयोंसहित विपत्तिके समुद्रमें डूबा हुआ देख रहा हूँ ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि वासुदेववाक्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें वासुदेववाक्यविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

द्यूतके समय न पहुँचनेमें श्रीकृष्णके द्वारा शाल्वके साथ युद्ध करने और सौभ विमानसहित उसे नष्ट करनेका संक्षिप्त वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

असांनिध्यं कथं कृष्ण तवासीद् वृष्णिनन्दन।
क्व चासीद् विप्रवासस्ते किं चाकार्षीः प्रवासतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—... आनन्दित करनेवाले

श्रीकृष्ण ! जब यहाँ द्यूतक्रीडाका आयोजन हो रहा था, उस समय तुम द्वारकामें क्यों अनुपस्थित रहे ? उन दिनों तुम्हारा निवास कहाँ था और उस प्रवासके द्वारा तुमने कौन-सा कार्य सिद्ध किया ? ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

शाल्वस्य नगरं सौभं गतोऽहं भरतर्षभ ।
निहन्तुं कौरवश्रेष्ठ तत्र मे शृणु कारणम् ॥ २ ॥
महातेजा महाबाहुर्यः स राजा महायशाः ।
दमघोषात्मजो वीरः शिशुपालो मया हतः ॥ ३ ॥
यज्ञे ते भरतश्रेष्ठ राजसूयेऽर्हणां प्रति ।
स रोषवशमापन्नो नामृष्यत दुरात्मवान् ॥ ४ ॥
श्रुत्वा तं निहतं शाल्वस्तीव्ररोषसमन्वितः ।
उपायाद् द्वारकां शून्यामिहस्थे मयि भारत ॥ ५ ॥

श्रीकृष्णने कहा—भरतवंशशिरोमणे ! कुरुकुलभूषण ! मैं उन दिनों शाल्वके सौभ नामक नगराकार विमानको नष्ट करनेके लिये गया हुआ था । इसका क्या कारण था, वह बतलाता हूँ, सुनिये । भरतश्रेष्ठ ! आपके राजसूययज्ञमें अग्रपूजाके प्रश्नको लेकर जो क्रोधके वशीभूत हो इस कार्यको नहीं सह सका था और इसीलिये जिस दुरात्मा महातेजस्वी महाबाहु एवं महायशस्वी दमघोषनन्दन वीर राजा शिशुपालको मैंने मार डाला था; उसकी मृत्युका समाचार सुनकर शाल्व प्रचण्ड रोषसे भर गया । भारत ! मैं तो यहाँ हस्तिनापुरमें था और वह हमलोगोंसे सूनी द्वारकापुरीमें जा पहुँचा ॥ २–५ ॥

स तत्र योधितो राजन् कुमारैर्वृष्णिपुङ्गवैः ।
आगतः कामगं सौभमारुह्यैव नृशंसवत् ॥ ६ ॥

राजन् ! वहाँ वृष्णिवंशके श्रेष्ठ कुमारोंने उसके साथ युद्ध किया । वह इच्छानुसार चलनेवाले सौभनामक विमानपर बैठकर आया और क्रूर मनुष्यकी भाँति यादवोंकी हत्या करने लगा ॥

ततो वृष्णिप्रवीरांस्तान् बालान् हत्वा बहूंस्तदा ।
पुरोद्यानानि सर्वाणि भेदयामास दुर्मतिः ॥ ७ ॥

उस खोटी बुद्धिवाले शाल्वने वृष्णिवंशके बहुतेरे बालकोंका वध करके नगरके सब बगीचोंको उजाड़ डाला ॥

उक्तवांश्च महाबाहो क्वासौ वृष्णिकुलाधमः ।
वासुदेवः स मन्दात्मा वसुदेवसुतो गतः ॥ ८ ॥

महाबाहो ! उसने यादवोंसे पूछा—'वह वृष्णिकुलका कलङ्क मन्दात्मा वसुदेवपुत्र वासुदेव कहाँ है ? ॥ ८ ॥

तस्य युद्धार्थिनो दर्पं युद्धे नाशयितास्म्यहम् ।
आनर्ताः सत्यमाख्यात तत्र गन्तास्मि यत्र सः ॥ ९ ॥
तं हत्वा विनिवर्तिष्ये कंसकेशिनिषूदनम् ।
अहत्वा न निवर्तिष्ये सत्येनायुधमालभे ॥ १० ॥

'उसे युद्धकी बड़ी इच्छा रहती है, आज उसके घमंडको मैं चूर कर दूँगा । आनर्तनिवासियो ! सच-सच बतला दो । वह कहाँ है ? जहाँ होगा, वहीं जाऊँगा और कंस तथा केशीका संहार करनेवाले उस कृष्णको मारकर ही लौटूँगा । मैं अपने अस्त्र-शस्त्रोंको छूकर सत्यकी सौगन्ध खाता हूँ कि अब कृष्णको मारे बिना नहीं लौटूँगा' ॥ ९-१० ॥

क्वासौ क्वासाविति पुनस्तत्र तत्र प्रधावति ।
मया किल रणे योद्धुं काङ्क्षमाणः स सौभराट् ॥ ११ ॥

सौभविमानका स्वामी शाल्व संग्रामभूमिमें मेरे साथ युद्धकी इच्छा रखकर चारों ओर दौड़ता और सबसे यही पूछता था कि 'वह कहाँ है, कहाँ है ?' ॥ ११ ॥

अद्य तं पापकर्माणं क्षुद्रं विश्वासघातिनम् ।
शिशुपालवधामर्षाद् गमयिष्ये यमक्षयम् ॥ १२ ॥
मम पापस्वभावेन भ्राता येन निपातितः ।
शिशुपालो महीपालस्तं वधिष्ये महीपते ॥ १३ ॥

राजन् ! साथ ही वह यह भी कहता था कि 'आज उस नीच पापाचारी और विश्वासघाती कृष्णको शिशुपालवधके अमर्षके कारण मैं यमलोक भेज दूँगा । उस पापीने मेरे भाई राजा शिशुपालको मार गिराया है, अतः मैं भी उसका वध करूँगा ॥

भ्राता बालश्च राजा च न च संग्राममूर्धनि ।
प्रमत्तश्च हतो वीरस्तं हनिष्ये जनार्दनम् ॥ १४ ॥

'मेरा भाई शिशुपाल अभी छोटी अवस्थाका था, दूसरे वह राजा था, तीसरे युद्धके मुहानेपर खड़ा नहीं था, चौथे असावधान था, ऐसी दशामें उस वीरकी जिसने हत्या की है, उस जनार्दनको मैं अवश्य मारूँगा' ॥ १४ ॥

एवमादि महाराज विलप्य दिवमास्थितः ।
कामगेन स सौभेन क्षिप्त्वा मां कुरुनन्दन ॥ १५ ॥

कुरुनन्दन ! महाराज ! इस प्रकार शिशुपालके लिये विलाप करके मुझपर आक्षेप करता हुआ वह इच्छानुसार चलनेवाले सौभ विमानद्वारा आकाशमें ठहरा हुआ था ॥ १५ ॥

तमश्रौषमहं गत्वा यथावृत्तः स दुर्मतिः ।
मयि कौरव्य दुष्टात्मा मार्तिकावतको नृपः ॥ १६ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! यहाँसे द्वारका जानेपर मैंने, मार्तिकावतक देशके निवासी दुष्टात्मा एवं दुर्बुद्धि राजा शाल्वने मेरे प्रति जो दुष्टतापूर्ण बर्ताव किया था (आक्षेपपूर्ण बातें कही थीं), वह सब कुछ सुना ॥ १६ ॥

ततोऽहमपि कौरव्य रोषव्याकुलमानसः।
निश्चित्य मनसा राजन् वधायास्य मनो दधे ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! तब मेरा मन भी रोषसे व्याकुल हो उठा। राजन् ! फिर मन-ही-मन कुछ निश्चय करके मैंने शाल्वके वधका विचार किया ॥ १७ ॥

आनर्तेषु विमर्दं च क्षेपं चात्मनि कौरव।
प्रवृद्धमवलेपं च तस्य दुष्कृतकर्मणः ॥ १८ ॥
ततः सौभवधायाहं प्रतस्थे पृथिवीपते।
स मया सागरावर्ते दृष्ट आसीत् परीप्सता ॥ १९ ॥

कुरुप्रवर ! पृथ्वीपते ! उसने आनर्त देशमें जो महान् संहार मचा रखा था, वह मुझपर जो आक्षेप करता था तथा उस पापाचारीका घमंड जो बहुत बढ़ गया था, वह सब सोचकर मैं सौभनगरका नाश करनेके लिये प्रस्थित हुआ। मैंने सब ओर उसकी खोज की तो वह मुझे समुद्रके एक द्वीपमें दिखायी दिया ॥ १८-१९ ॥

ततः प्रध्माप्य जलजं पाञ्चजन्यमहं नृप।
आहूय शाल्वं समरे युद्धाय समवस्थितः ॥ २० ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर मैंने पाञ्चजन्य शङ्ख बजाकर शाल्वको समरभूमिमें बुलाया और स्वयं भी युद्धके लिये उपस्थित हुआ ॥

तन्मुहूर्तमभूद् युद्धं तत्र मे दानवैः सह।
वशीभूताश्च मे सर्वे भूतले च निपातिताः ॥ २१ ॥

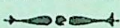
वहाँ सौभ-निवासी दानवोंके साथ दो घड़ीतक मेरा युद्ध हुआ और मैंने सबको वशमें करके पृथ्वीपर मार गिराया ॥

एतत् कार्यं महाबाहो येनाहं नागमं तदा।
श्रुत्वैव हास्तिनपुरं द्यूतं चाविनयोत्थितम्।
द्रुतमागतवान् युष्मान् द्रष्टुकामः सुदुःखितान् ॥ २२ ॥

महाबाहो ! यही कार्य उपस्थित हो गया था, जिससे मैं उस समय न आ सका। लौटनेपर ज्यों ही सुना कि हस्तिनापुरमें दुर्योधनकी उद्दण्डताके कारण जूआ खेला गया (और पाण्डव उसमें सब कुछ हारकर वनको चले गये); तब अत्यन्त दुःखमें पड़े हुए आपलोगोंको देखनेके लिये मैं तुरंत यहाँ चला आया ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४॥



पञ्चदशोऽध्यायः

सौभ-नाशकी विस्तृत कथाके प्रसङ्गमें द्वारकामें युद्धसम्बन्धी रक्षात्मक तैयारियोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

वासुदेव महाबाहो विस्तरेण महामते।
सौभस्य वधमाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाबाहो ! वसुदेवनन्दन ! महामते ! तुम सौभ-विमानके नष्ट होनेका समाचार विस्तारपूर्वक कहो। मैं तुम्हारे मुखसे इस प्रसङ्गको सुनते-सुनते तृप्त नहीं हो रहा हूँ ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

हतं श्रुत्वा महाबाहो मया श्रौतश्रवं नृप।
उपायाद् भरतश्रेष्ठ शाल्वो द्वारवतीं पुरीम् ॥ २ ॥

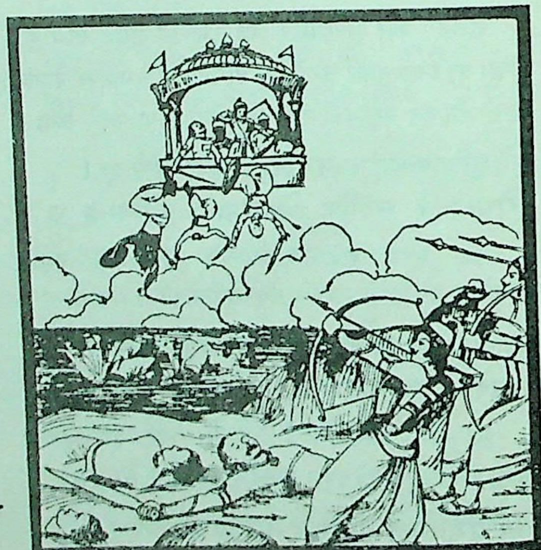
भगवान् श्रीकृष्ण बोले—महाबाहो ! नरेश्वर ! भरतश्रेष्ठ ! श्रुतश्रवा*के पुत्र शिशुपालके मारे जानेका समाचार सुनकर शाल्वने द्वारकापुरीपर चढ़ाई की ॥ २ ॥

अरुन्धत्तां सुदुष्टात्मा सर्वतः पाण्डुनन्दन।
शाल्वो वैहायसं चापि तत् पुरं व्यूह्य विष्ठितः ॥ ३ ॥

पाण्डुनन्दन ! उस दुष्टात्मा शाल्वने सेनाद्वारा द्वारकापुरीको सब ओरसे घेर लिया था। वह स्वयं आकाशचारी विमान सौभपर व्यूहरचनापूर्वक विराजमान हो रहा था ॥३॥

तत्रस्थोऽथ महीपालो योधयामास तां पुरीम्।
अभिसारेण सर्वेण तत्र युद्धमवर्तत ॥ ४ ॥

उसीपर रहकर राजा शाल्व द्वारकापुरीके लोगोंसे युद्ध



* श्रुतश्रवा शिशुपालकी माताका नाम है। यह वसुदेवजीकी बहिन थी।

करता था। वहाँ भारी युद्ध छिड़ा हुआ था और उसमें सभी दिशाओंसे अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहार हो रहे थे ॥ ४ ॥

पुरी समन्ताद् विहिता सपताका सतोरणा।
सचक्रा सहुडा चैव सयन्त्रखनका तथा ॥ ५ ॥

द्वारकापुरीमें सब ओर पताकाएँ फहरा रही थीं। ऊँचे-ऊँचे गोपुर वहाँ चारों दिशाओंमें सुशोभित थे। जगह-जगह सैनिकोंके समुदाय युद्धके लिये प्रस्तुत थे। सैनिकोंके आत्म-रक्षापूर्वक युद्धकी सुविधाके लिये स्थान-स्थानपर बुर्ज बने हुए थे। युद्धोपयोगी यन्त्र वहाँ बैठाये गये थे तथा सुरङ्गद्वारा नये-नये मार्ग निकालनेके काममें भी बहुत-से लोग जुटे हुए थे॥

सोपशल्यप्रतोलीका साट्टाट्टालकगोपुरा।
सचक्रग्रहणी चैव सोल्कालातावपोथिका ॥ ६ ॥

सड़कोंपर लोहेके विषाक्त काँटे अदृश्यरूपसे बिछाये गये थे। अट्टालिकाओं और गोपुरोंमें पर्याप्त अन्नका संग्रह किया गया था। शत्रुपक्षके प्रहारोंको रोकनेके लिये जगह-जगह मोर्चेबन्दी की गयी थी। शत्रुओंके चलाये हुए जलते गोले और अलात (प्रज्वलित लौहमय अस्त्र) को भी विफल करके नीचे गिरा देनेवाली शक्तियाँ सुसज्जित थीं ॥ ६ ॥

सोष्ट्रिका भरतश्रेष्ठ सभेरीपणवानका।
सतोमराङ्कुशा राजन् सशतघ्नीकलाङ्गला ॥ ७ ॥
सभुशुण्ड्यश्मगुडका सायुधा सपरश्वधा।
लोहचर्मवती चापि साग्निः सगुडश्रृङ्गिका ॥ ८ ॥

अस्त्रोंसे भरे हुए मिट्टी और चमड़ेके असंख्य पात्र रखे गये थे। भरतश्रेष्ठ! ढोल, नगारे और मृदंग आदि जुझाऊ बाजे भी बज रहे थे। राजन्! तोमर, अंकुश, शतघ्नी, लाङ्गल, भुशुण्डी, पत्थरके गोले, अन्यान्य अस्त्र-शस्त्र, फरसे, बहुत-सी सुदृढ़ ढालें और गोला-बारूदसे भरी हुई तोपें यथास्थान तैयार रखी गयी थीं ॥ ७-८ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना सुयुक्ता भरतर्षभ।
रथैरनेकैर्विविधैर्गदसाम्बोद्धवादिभिः ॥ ९ ॥
पुरुषैः कुरुशार्दूल समर्थैः प्रतिवारणे।
अतिख्यातकुलैर्वीरैर्दृष्टवीर्यैश्च संयुगे ॥ १० ॥
मध्यमेन च गुल्मेन रक्षिभिः सा सुरक्षिता।
उत्क्षिप्तगुल्मैश्च तथा हयैश्च सपताकिभिः ॥ ११ ॥
आघोषितं च नगरे न पातव्या सुरेति वै।
प्रमादं परिरक्षद्भिरुग्रसेनोद्धवादिभिः ॥ १२ ॥

भरतकुलभूषण! शास्त्रोक्त विधिसे द्वारकापुरीको रक्षाके सभी उत्तम उपायोंसे सम्पन्न किया गया था। कुरुश्रेष्ठ! शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ गद, साम्ब और उद्धव आदि अनेक वीर पुरुष नाना प्रकारके बहुसंख्यक रथोंद्वारा पुरीकी रक्षामें दत्तचित थे। जो अत्यन्त विख्यात कुलोंमें उत्पन्न थे तथा युद्धके अवसरोंपर जिनके बल-वीर्यका परिचय मिल चुका था, ऐसे वीर रक्षक मध्यम गुल्म (नगरके मध्यवर्ती दुर्ग) में स्थित हो पुरीकी पूर्णतः रक्षा कर रहे थे। सबको प्रमादसे बचानेवाले उग्रसेन और उद्धव आदिने शत्रुओंके गुल्मोंको नष्ट करनेकी शक्ति रखनेवाले घुड़सवारोंके हाथमें झंडे देकर समूचे नगरमें यह घोषणा करा दी थी कि किसीको भी मद्यपान नहीं करना चाहिये ॥ ९—१२ ॥

प्रमत्तेष्वभिघातं हि कुर्याच्छाल्वो नराधिपः।
इति कृत्वाप्रमत्तास्ते सर्वे वृष्ण्यन्धकाः स्थिताः ॥१३॥

क्योंकि मदिरासे उन्मत्त हुए लोगोंपर राजा शाल्व घातक प्रहार कर सकता है। यह सोचकर वृष्णि और अन्धकवंशके सभी योद्धा पूरी सावधानीके साथ युद्धमें डटे हुए थे ॥ १३ ॥

आनर्ताश्च तथा सर्वे नटा नर्तकगायनाः।
बहिर्निर्वासिताः क्षिप्रं रक्षद्भिर्वित्तसंचयम् ॥ १४ ॥

धनसंग्रहकी रक्षा करनेवाले यादवोंने आनर्तदेशीय नटों, नर्तकों तथा गायकोंको शीघ्र ही नगरसे बाहर कर दिया था ॥ १४ ॥

संक्रमा भेदिताः सर्वे नावश्च प्रतिषेधिताः।
परिखाश्चापि कौरव्य कालैः सुनिचिताः कृताः ॥ १५ ॥

कुरुनन्दन! द्वारकापुरीमें आनेके लिये जो पुल मार्गमें पड़ते थे, वे सब तोड़ दिये गये। नौकाएँ रोक दी गयी थीं और खाइयोंमें काँटे बिछा दिये गये थे ॥ १५ ॥

उदपानाः कुरुश्रेष्ठ तथैवाप्यम्बरीषकाः।
समन्तात् क्रोशमात्रं च कारिता विषमा च भूः ॥ १६ ॥

कुरुश्रेष्ठ! द्वारकापुरीके चारों ओर एक कोसतकके चारों ओरके कुएँ इस प्रकार जलशून्य कर दिये गये थे मानो भाड़ हों और उतनी दूरकी भूमि भी लौहकण्टक आदिसे व्याप्त कर दी गयी थी ॥ १६ ॥

प्रकृत्या विषमं दुर्गं प्रकृत्या च सुरक्षितम्।
प्रकृत्या चायुधोपेतं विशेषेण तदानघ ॥ १७ ॥

निष्पाप नरेश! द्वारका एक तो स्वभावसे ही दुर्गम्य, सुरक्षित और अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न है, तथापि उस समय इसकी विशेष व्यवस्था कर दी गयी थी ॥ १७ ॥

सुरक्षितं सुगुप्तं च सर्वायुधसमन्वितम् ।
तत् पुरं भरतश्रेष्ठ यथेन्द्रभवनं तथा ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! द्वारकानगर इन्द्रभवनकी भाँति ही सुरक्षित, सुगुप्त और सम्पूर्ण आयुधोंसे भरा-पूरा है ॥ १८ ॥

न चामुद्रोऽभिनिर्याति न चामुद्रः प्रवेश्यते ।
वृष्ण्यन्धकपुरे राजंस्तदा सौभसमागमे ॥ १९ ॥

राजन् ! सौभनिवासियोंके साथ युद्ध होते समय वृष्णि और अन्धकवंशी वीरोंके उस नगरमें कोई भी राजमुद्रा (पास) के बिना न तो बाहर निकाल सकता था और न बाहरसे नगरके भीतर ही आ सकता था ॥ १९ ॥

अनुरथ्यासु सर्वासु चत्वरेषु च कौरव ।
बलं बभूव राजेन्द्र प्रभूतगजवाजिमत् ॥ २० ॥

कुरुनन्दन राजेन्द्र ! वहाँ प्रत्येक सड़क और चौराहेपर बहुत-से हाथीसवार और घुड़सवारोंसे युक्त विशाल सेना उपस्थित रहती थी ॥ २० ॥

दत्तवेतनभक्तं च दत्तायुधपरिच्छदम् ।
कृतोपधानं च तदा बलमासीन्महाभुज ॥ २१ ॥

महाबाहो ! उस समय सेनाके प्रत्येक सैनिकको पूरा-पूरा वेतन और भत्ता चुका दिया गया था । सबको नये-नये हथियार और पोशाकें दी गयी थीं और उन्हें विशेष पुरस्कार आदि देकर उनका प्रेम और विश्वास प्राप्त कर लिया गया था ॥ २१ ॥

न कुप्यवेतनी कश्चिन्न चातिक्रान्तवेतनी ।
नानुग्रहभृतः कश्चिन्न चादृष्टपराक्रमः ॥ २२ ॥

कोई भी सैनिक ऐसा नहीं था, जिसे सोने-चाँदीके सिवा ताँबा आदि वेतनके रूपमें दिया जाता हो अथवा जिसे समय-पर न वेतन प्राप्त हुआ हो । किसी भी सैनिकको दयावश सेनामें भर्ती नहीं किया गया था तथा कोई भी ऐसा न था, जिसका पराक्रम बहुत दिनोंसे देखा न गया हो ॥ २२ ॥

एवं सुविहिता राजन् द्वारका भूरिदक्षिणा ।
आहुकेन सुगुप्ता च राज्ञा राजीवलोचन ॥ २३ ॥

कमलनयन राजन् ! जिसमें बहुत-से दक्ष मनुष्य निवास करते थे, उस द्वारकानगरीकी रक्षाके लिये इस प्रकारकी व्यवस्था की गयी थी । वह राजा उग्रसेनके द्वारा भलीभाँति सुरक्षित थी ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

शाल्वकी विशाल सेनाके आक्रमणका यादवसेनाद्वारा प्रतिरोध, साम्बद्वारा क्षेमवृद्धिकी पराजय, वेगवान्का वध तथा चारुदेष्णद्वारा विविन्ध्य दैत्यका वध एवं प्रद्युम्नद्वारा सेनाको आश्वासन

वासुदेव उवाच

तां तूपयातो राजेन्द्र शाल्वः सौभपतिस्तदा ।
प्रभूतनरनागेन बलेनोपविवेश ह ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजेन्द्र ! सौभ विमानका स्वामी राजा शाल्व अपनी बहुत बड़ी सेनाके साथ, जिसमें हाथीसवारों तथा पैदलोंकी संख्या अधिक थी, द्वारका-पुरीपर चढ़ आया और उसके निकट आकर ठहरा ॥ १ ॥

समे निविष्टा सा सेना प्रभूतसलिलाशये ।
चतुरङ्गबलोपेता शाल्वराजाभिपालिता ॥ २ ॥

जहाँ अधिक जलसे भरा हुआ जलाशय था, वहीं समतल भूमिमें उसकी सेनाने पड़ाव डाला । उसमें हाथीसवार, घुड़-सवार, [illegible] शाल्व उसका संरक्षक था ॥ २ ॥

वर्जयित्वा श्मशानानि देवताऽऽयतनानि च ।
वल्मीकांश्चैत्यवृक्षांश्च तन्निविष्टमभूद् बलम् ॥ ३ ॥

श्मशानभूमि, देवमन्दिर, बाँबी और चैत्यवृक्षको छोड़कर सभी स्थानोंमें उसकी सेना फैलकर ठहरी हुई थी ॥ ३ ॥

अनीकानां विभागेन पन्थानः संवृताऽभवन् ।
प्रवणाय च नैवासञ्छाल्वस्य शिविरे नृप ॥ ४ ॥

सेनाओंके विभागपूर्वक पड़ाव डालनेसे सारे रास्ते घिर गये थे । राजन् ! शाल्वके शिविरमें प्रवेश करनेका कोई मार्ग नहीं रह गया था ॥ ४ ॥

सर्वायुधसमोपेतं सर्वशस्त्रविशारदम् ।
[illegible] संकुलम् ॥ ५ ॥

तुष्टपुष्टबलोपेतं वीरलक्षणलक्षितम् ।
विचित्रध्वजसन्नाहं विचित्ररथकार्मुकम् ॥ ६ ॥
संनिवेश्य च कौरव्य द्वारकायां नरर्षभ ।
अभिसारयामास तदा वेगेन पतगेन्द्रवत् ॥ ७ ॥

नरश्रेष्ठ ! राजा शाल्वकी वह सेना सब प्रकारके आयुधोंसे सम्पन्न, सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके संचालनमें निपुण, रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई तथा पैदल सिपाहियों और ध्वजा-पताकाओंसे व्याप्त थी। उसका प्रत्येक सैनिक हृष्ट-पुष्ट एवं बलवान् था। सबमें वीरोचित लक्षण दिखायी देते थे। उस सेनाके सिपाही विचित्र ध्वजा तथा कवच धारण करते थे। उनके रथ और धनुष भी विचित्र थे। कुरुनन्दन ! द्वारकाके समीप उस सेनाको ठहराकर राजा शाल्वने उसे वेगपूर्वक द्वारकाकी ओर बढ़ाया; मानो पक्षिराज गरुड़ अपने लक्ष्यकी ओर उड़े जा रहे हों ॥ ५–७ ॥

तदापतन्तं संदृश्य बलं शाल्वपतेस्तदा ।
निर्याय योधयामासुः कुमारा वृष्णिनन्दनाः ॥ ८ ॥

शाल्वराजकी उस सेनाको आती देख उस समय वृष्णि-कुलको आनन्दित करनेवाले कुमार नगरसे बाहर निकलकर युद्ध करने लगे ॥ ८ ॥

असहन्तोऽभियानं तच्छाल्वराजस्य कौरव ।
चारुदेष्णश्च साम्बश्च प्रद्युम्नश्च महारथः ॥ ९ ॥
ते रथैर्दंशिताः सर्वे विचित्राभरणध्वजाः ।
संसक्ताः शाल्वराजस्य बहुभिर्योधपुङ्गवैः ॥ १० ॥

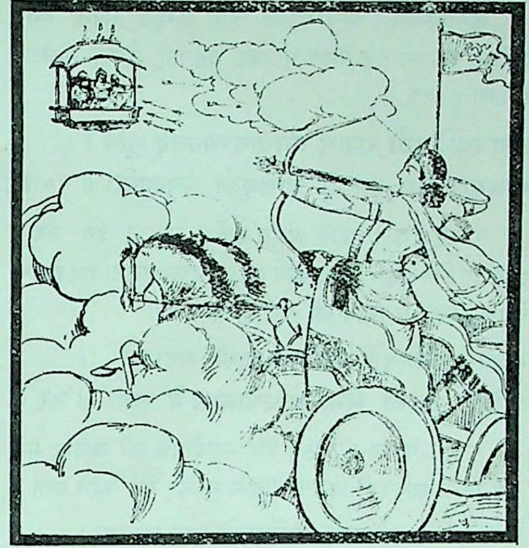
कुरुनन्दन ! शाल्वराजके उस आक्रमणको वे सहन न कर सके। चारुदेष्ण, साम्ब और महारथी प्रद्युम्न—ये सब कवच, विचित्र आभूषण तथा ध्वजा धारण करके रथोंपर बैठकर शाल्वराजके अनेक श्रेष्ठ योद्धाओंके साथ भिड़ गये ॥ ९-१० ॥

गृहीत्वा कार्मुकं साम्बः शाल्वस्य सचिवं रणे ।
योधयामास संहृष्टः क्षेमवृद्धिं चमूपतिम् ॥ ११ ॥

हर्षमें भरे हुए साम्बने धनुष धारण करके शाल्वके मन्त्री तथा सेनापति क्षेमवृद्धिके साथ युद्ध किया ॥ ११ ॥

तस्य बाणमयं वर्षं जाम्बवत्याः सुतो महत् ।
मुमोच भरतश्रेष्ठ यथा वर्षं सहस्रदृक् ॥ १२ ॥
तद् बाणवर्षं तुमुलं विषेहे स चमूपतिः ।
क्षेमवृद्धिर्महाराज हिमवानिव निश्चलः ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जाम्बवतीकुमारने उसके ऊपर भारी बाणवर्षा की, मानो इन्द्र जलकी वर्षा कर रहे हों। महाराज ! सेनापति क्षेमवृद्धिने साम्बकी उस भयंकर बाणवर्षाको हिमालयकी



भाँति अविचल रहकर सहन किया ॥ १२-१३ ॥

ततः साम्बाय राजेन्द्र क्षेमवृद्धिरपि स्वयम् ।
मुमोच मायाविहितं शरजालं महत्तरम् ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर क्षेमवृद्धिने स्वयं भी साम्बके ऊपर मायानिर्मित बाणोंकी भारी वर्षा प्रारम्भ की ॥ १४ ॥

ततो मायामयं जालं माययैव विदीर्य सः ।
साम्बः शरसहस्रेण रथमस्याभ्यवर्षत ॥ १५ ॥

साम्बने उस मायामय बाणजालको मायासे ही छिन्न-भिन्न करके क्षेमवृद्धिके रथपर सहस्रों बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ १५ ॥

ततः स विद्धः साम्बेन क्षेमवृद्धिश्चमूपतिः ।
अपायाज्जवनैरश्वैः साम्बबाणप्रपीडितः ॥ १६ ॥

साम्बने सेनापति क्षेमवृद्धिको अपने बाणोंसे घायल कर दिया। वह साम्बकी बाणवर्षासे पीड़ित हो शीघ्रगामी अश्वोंकी सहायतासे (लड़ाईका मैदान छोड़कर) भाग गया ॥ १६ ॥

तस्मिन् विप्रद्रुते क्रूरे शाल्वस्याथ चमूपतौ ।
वेगवान् नाम दैतेयः सुतं मेऽभ्यद्रवद् बली ॥ १७ ॥

शाल्वके क्रूर सेनापति क्षेमवृद्धिके भाग जानेपर वेगवान् नामक बलवान् दैत्यने मेरे पुत्रपर आक्रमण किया ॥ १७ ॥

अभिपन्नस्तु राजेन्द्र साम्बो वृष्णिकुलोद्वहः ।
वेगं वेगवतो राजंस्तस्थौ वीरो विधारयन् ॥ १८ ॥

राजेन्द्र ! वृष्णिवंशका भार वहन करनेवाला वीर साम्ब वेगवान्‌के वेगको सहन करते हुए धैर्यपूर्वक उसका सामना करने लगा ॥ १८ ॥

स वेगवति कौन्तेय साम्बो वेगवतीं गदाम् ।
चिक्षेप तरसा वीरो व्याविद्ध्य सत्यविक्रमः ॥ १९ ॥

कुन्तीनन्दन ! सत्यपराक्रमी वीर साम्बने अपनी वेगशालिनी गदाको बड़े वेगसे घुमाकर वेगवान् दैत्यके सिरपर दे मारा ॥ १९ ॥

तया त्वभिहतो राजन् वेगवान्न्यपतद् भुवि ।
वातरुग्ण इव क्षुण्णो जीर्णमूलो वनस्पतिः ॥ २० ॥

राजन् ! उस गदासे आहत होकर वेगवान् इस प्रकार पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो जीर्ण हुई जड़वाला पुराना वृक्ष हवाके वेगसे टूटकर धराशायी हो गया हो ॥ २० ॥

तस्मिन् विनिहते वीरे गदानुन्ने महासुरे ।
प्रविश्य महतीं सेनां योधयामास मे सुतः ॥ २१ ॥

गदासे घायल हुए उस वीर महादैत्यके मारे जानेपर मेरा पुत्र साम्ब शाल्वकी विशाल सेनामें घुसकर युद्ध करने लगा ॥

चारुदेष्णेन संसक्तो विविन्ध्यो नाम दानवः ।
महारथः समाज्ञातो महाराज महाधनुः ॥ २२ ॥

महाराज ! चारुदेष्णके साथ महारथी एवं महान् धनुर्धर विविन्ध्य नामक दानव शाल्वकी आज्ञासे युद्ध कर रहा था ॥

ततः सुतुमुलं युद्धं चारुदेष्णविविन्ध्ययोः ।
वृत्रवासवयो राजन् यथा पूर्वं तथाभवत् ॥ २३ ॥

राजन् ! तदनन्तर चारुदेष्ण और विविन्ध्यमें वैसा ही भयंकर युद्ध होने लगा, जैसा पहले इन्द्र और वृत्रासुरमें हुआ था ॥ २३ ॥

अन्योन्यस्याभिसंक्रुद्धावन्योन्यं जघ्नतुः शरैः ।
विनदन्तौ महारावान् सिंहाविव महाबलौ ॥ २४ ॥

वे दोनों एक-दूसरेपर कुपित हो बाणोंसे परस्पर आघात कर रहे थे और महाबली सिंहोंकी भाँति जोर-जोरसे गर्जना करते थे ॥ २४ ॥

रौक्मिणेयस्ततो बाणमग्न्यर्कोपमवर्चसम् ।
अभिमन्त्र्य महास्त्रेण संदधे शत्रुनाशनम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर रुक्मिणीनन्दन चारुदेष्णने अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी शत्रुनाशक बाणको महान् (दिव्य) अस्त्रसे अभिमन्त्रित करके अपने धनुषपर संधान किया ॥ २५ ॥

स विविन्ध्याय सक्रोधः समाहूय महारथः ।
चिक्षेप मे सुतो राजन् स गतासुरथापतत् ॥ २६ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् मेरे उस महारथी पुत्रने क्रोधमें भरकर विविन्ध्यपर वह बाण चलाया। उसके लगते ही विविन्ध्य प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २६ ॥

विविन्ध्यं निहतं दृष्ट्वा तां च विक्षोभितां चमूम् ।
कामगेन स सौभेन शाल्वः पुनरुपागमत् ॥ २७ ॥

विविन्ध्यको मारा गया और सेनाको तहस-नहस हुई देख शाल्व इच्छानुसार चलनेवाले सौभ विमानद्वारा फिर वहाँ आया ॥ २७ ॥

ततो व्याकुलितं सर्वं द्वारकावासि तद् बलम् ।
दृष्ट्वा शाल्वं महाबाहो सौभस्थं नृपते तदा ॥ २८ ॥

महाबाहु नरेश्वर ! उस समय सौभ विमानपर बैठे हुए शाल्वको देखकर द्वारकाकी सारी सेना भयसे व्याकुल हो उठी ॥ २८ ॥

ततो निर्याय कौरव्य अवस्थाप्य च तद् बलम् ।
आनर्तानां महाराज प्रद्युम्नो वाक्यमब्रवीत् ॥ २९ ॥

महाराज कुरुनन्दन ! तब प्रद्युम्नने निकलकर आनर्तवासियोंकी उस सेनाको धीरज बँधाया और इस प्रकार कहा—॥ २९ ॥

सर्वे भवन्तस्तिष्ठन्तु सर्वे पश्यन्तु मां युधि ।
निवारयन्तं संग्रामे बलात् सौभं सराजकम् ॥ ३० ॥

'यादवो ! आप सब लोग (चुपचाप) खड़े रहें और मेरे पराक्रमको देखें; मैं किस प्रकार युद्धमें राजा शाल्वके सहित सौभ विमानकी गतिको रोक देता हूँ ॥ ३० ॥

अहं सौभपतेः सेनामायसैर्भुजगैरिव ।
धनुर्भुजविनिर्मुक्तैर्नाशयाम्यद्य यादवाः ॥ ३१ ॥

'यदुवंशियो ! मैं अपने धनुर्दण्डसे छूटे हुए लोहेके सर्पतुल्य बाणोंद्वारा सौभपति शाल्वकी सेनाको अभी नष्ट किये देता हूँ ॥

आश्वसध्वं न भीः कार्या सौभराडद्य नश्यति ।
मयाभिपन्नो दुष्टात्मा ससौभो विनशिष्यति ॥ ३२ ॥

'आप धैर्य धारण करें, भयभीत न हों, सौभराज अभी नष्ट हो रहा है। दुष्टात्मा शाल्व मेरा सामना होते ही सौभ विमानसहित नष्ट हो जायगा' ॥ ३२ ॥

एवं ब्रुवति संहृष्टे प्रद्युम्ने पाण्डुनन्दन ।
विष्ठितं तद् बलं वीर युयुधे च यथासुखम् ॥ ३३ ॥

वीर पाण्डुनन्दन ! हर्षमें भरे हुए प्रद्युम्नके ऐसा कहनेपर वह सारी सेना स्थिर हो पूर्ववत् प्रसन्नता और उत्साहके साथ युद्ध करने लगी ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥



श्रीकृष्णके द्वारा द्रौपदीको आश्वासन

सप्तदशोऽध्यायः

प्रद्युम्न और शाल्वका घोर युद्ध

वासुदेव उवाच

एवमुक्त्वा रौक्मिणेयो यादवान् भरतर्षभ ।
दंशितैर्हरिभिर्युक्तं रथमास्थाय काञ्चनम् ॥ १ ॥
उच्छ्रित्य मकरं केतुं व्यात्ताननमिवान्तकम् ।
उत्पतद्भिरिवाकाशं तैर्हयैरन्वयात् परान् ॥ २ ॥
विक्षिपन् नादयंश्चापि धनुः श्रेष्ठं महाबलः ।
तूणखड्गधरः शूरो बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! यादवोंसे ऐसा कहकर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न एक सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हुए, जिसमें बख्तर पहनाये हुए घोड़े जुते थे। उन्होंने अपनी मकरचिह्नित ध्वजाको ऊँचा किया, जो मुँह बाये हुए कालके समान प्रतीत होती थी। उनके रथके घोड़े ऐसे चलते थे, मानो आकाशमें उड़े जा रहे हों। ऐसे अश्वोंसे जुते हुए रथके द्वारा महाबली प्रद्युम्नने शत्रुओंपर आक्रमण किया। वे अपने श्रेष्ठ धनुषको बारंबार खींचकर उसकी टंकार फैलाते हुए आगे बढ़े। उन्होंने पीठपर तरकस और कमरमें तलवार बाँध ली थी। उनमें शौर्य भरा था और उन्होंने गोहके चमड़ेके बने हुए दस्ताने पहन रक्खे थे ॥ १—३ ॥

स विद्युच्छुरितं चापं विहरन् वै तलात् तलम् ।
मोहयामास दैतेयान् सर्वान् सौभनिवासिनः ॥ ४ ॥

वे अपने धनुषको एक हाथसे दूसरे हाथमें ले लिया करते थे। उस समय वह धनुष बिजलीके समान चमक रहा था। उन्होंने उस धनुषके द्वारा सौभ विमानमें रहनेवाले समस्त दैत्योंको मूर्च्छित कर दिया ॥ ४ ॥

तस्य विक्षिपतश्चापं संदधानस्य चासकृत् ।
नान्तरं ददृशे कश्चिन्निघ्नतः शात्रवान् रणे ॥ ५ ॥

वे बारंबार धनुषको खींचते, उसपर बाण रखते और उसके द्वारा शत्रुसैनिकोंको युद्धमें मार डालते थे। उनकी उक्त क्रियाओंमें किसीको थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ ५ ॥

मुखस्य वर्णो न विकल्पतेऽस्य
चेलुश्च गात्राणि न चापि तस्य ।
सिंहोन्नतं चाप्यभिगर्जतोऽस्य
शुश्राव लोकोऽद्भुतवीर्यमग्र्यम् ॥ ६ ॥

उनके मुखका रंग तनिक भी नहीं बदलता था। उनके अङ्ग भी विचलित नहीं होते थे। सब ओर गर्जना करते हुए प्रद्युम्नका उत्तम एवं अद्भुत बल-पराक्रमका सूचक सिंहनाद सब लोगोंको सुनायी देता था ॥ ६ ॥

जलेचरः काञ्चनयष्टिसंस्थो
व्यात्ताननः सर्वतिमिप्रमाथी ।
वित्रासयन् राजति वाहमुख्ये
शाल्वस्य सेनाप्रमुखे ध्वजाग्र्यः ॥ ७ ॥

शाल्वकी सेनाके ठीक सामने प्रद्युम्नके श्रेष्ठ रथपर उनकी उत्तम ध्वजा फहराती हुई शोभा पा रही थी। उस ध्वजाके सुवर्णमय दण्डके ऊपर सब तिमि नामक जलजन्तुओंका प्रमथन करनेवाले मुँह बाये एक मगरमच्छका चिह्न था। वह शत्रुसैनिकोंको अत्यन्त भयभीत कर रहा था ॥ ७ ॥

ततस्तूर्णं विनिष्पत्य प्रद्युम्नः शत्रुकर्षणः ।
शाल्वमेवाभिदुद्राव विधित्सुः कलहं नृप ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर शत्रुहन्ता प्रद्युम्न तुरंत आगे बढ़कर राजा शाल्वके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे उसीकी ओर दौड़े ॥ ८ ॥

अभियानं तु वीरेण प्रद्युम्नेन महारणे ।
नामर्षयत संक्रुद्धः शाल्वः कुरुकुलोद्वह ॥ ९ ॥

कुरुकुलतिलक ! उस महासंग्राममें वीर प्रद्युम्नके द्वारा किया हुआ वह आक्रमण क्रुद्ध हुआ राजा शाल्व न सह सका ॥ ९ ॥

स रोषमदमत्तो वै कामगादवरुह्य च ।
प्रद्युम्नं योधयामास शाल्वः परपुरंजयः ॥ १० ॥

शत्रुकी राजधानीपर विजय पानेवाले शाल्वने रोष एवं बलके मदसे उन्मत्त हो इच्छानुसार चलनेवाले विमानसे उतरकर प्रद्युम्नसे युद्ध आरम्भ किया ॥ १० ॥

तयोः सुतुमुलं युद्धं शाल्ववृष्णिप्रवीरयोः ।
समेता ददृशुर्लोका बलिवासवयोरिव ॥ ११ ॥

शाल्व तथा वृष्णिवंशी वीर प्रद्युम्नमें बलि और इन्द्रके समान घोर युद्ध होने लगा। उस समय सब लोग एकत्र होकर उन दोनोंका युद्ध देखने लगे ॥ ११ ॥

तस्य मायामयो वीर रथो हेमपरिष्कृतः ।
सपताकः सध्वजश्च सानुकर्षः स तूणवान् ॥ १२ ॥

वीर ! शाल्वके पास सुवर्णभूषित मायामय रथ था। वह रथ ध्वजा, पताका, अनुकर्ष (हरसा)* और तरकससे युक्त था ॥ १२ ॥

स तं रथवरं श्रीमान् समारुह्य किल प्रभो ।
मुमोच बाणान् कौरव्य प्रद्युम्नाय महाबलः ॥ १३ ॥

---

* रथके नीचे पहियेके ऊपर लगा रहनेवाला काष्ठ।

प्रभो कुरुनन्दन ! श्रीमान् महाबली शाल्वने उस श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो प्रद्युम्नपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ १३ ॥

ततो बाणमयं वर्षं व्यसृजत् तरसा रणे ।
प्रद्युम्नो भुजवेगेन शाल्वं सम्मोहयन्निव ॥ १४ ॥

तब प्रद्युम्न भी युद्धभूमिमें अपनी भुजाओंके वेगसे शाल्वको मोहित करते हुए-से उसके ऊपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी बौछार करने लगे ॥ १४ ॥

स तैरभिहतः संख्ये नामर्षयत सौभराट् ।
शरान् दीप्ताग्निसंकाशान् मुमोच तनये मम ॥ १५ ॥

सौभ विमानका स्वामी राजा शाल्व युद्धमें प्रद्युम्नके बाणोंसे घायल होनेपर यह सहन नहीं कर सका—अमर्षमें भर गया और मेरे पुत्रपर प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी बाण छोड़ने लगा ॥ १५ ॥

तमापतन्तं बाणौघं स चिच्छेद महाबलः ।
ततश्चान्यांश्छरान् दीप्तान् प्रचिक्षेप सुते मम ॥ १६ ॥

महाबली प्रद्युम्नने उन बाणोंको आते ही काट गिराया। तत्पश्चात् शाल्वने मेरे पुत्रपर और भी बहुत-से प्रज्वलित बाण छोड़े ॥ १६ ॥

स शाल्वबाणै राजेन्द्र विद्धो रुक्मिणिनन्दनः ।
मुमोच बाणं त्वरितो मर्मभेदिनमाहवे ॥ १७ ॥

राजेन्द्र ! शाल्वके बाणोंसे घायल होकर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नने तुरंत ही उस युद्धभूमिमें शाल्वपर एक ऐसा बाण चलाया, जो मर्मस्थलको विदीर्ण कर देनेवाला था ॥ १७ ॥

तस्य वर्म विभिद्याशु स बाणो मत्सुतेरितः ।
बिभ्याध हृदयं पत्री स मुमोह पपात च ॥ १८ ॥

मेरे पुत्रके चलाये हुए उस बाणने शाल्वके कवचको छेदकर उसके हृदयको बींध डाला। इससे वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा ॥ १८ ॥

तस्मिन् निपतिते वीरे शाल्वराजे विचेतसि ।
सम्प्राद्रवन् दानवेन्द्रा दारयन्तो वसुंधराम् ॥ १९ ॥

वीर शाल्वराजके अचेत होकर गिर जानेपर उसकी सेना-के समस्त दानवराज पृथ्वीको विदीर्ण करके पातालमें पलायन कर गये ॥ १९ ॥

हाहाकृतमभूत् सैन्यं शाल्वस्य पृथिवीपते ।
नष्टसंज्ञे निपतिते तदा सौभपतौ नृपे ॥ २० ॥

पृथ्वीपते ! उस समय सौभ विमानका स्वामी राजा शाल्व जब संज्ञाशून्य होकर धराशायी हो गया, तब उसकी समस्त सेनामें हाहाकार मच गया ॥ २० ॥

तत उत्थाय कौरव्य प्रतिलभ्य च चेतनाम् ।
मुमोच बाणान् सहसा प्रद्युम्नाय महाबलः ॥ २१ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् जब चेत हुआ, तब महाबली शाल्व सहसा उठकर प्रद्युम्नपर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ २१ ॥

तैः स विद्धो महाबाहुः प्रद्युम्नः समरे स्थितः ।
जत्रुदेशे भृशं वीरो व्यवासीदद् रथे तदा ॥ २२ ॥

शाल्वके उन बाणोंद्वारा कण्ठके मूलभागमें गहरा आघात लगनेसे अत्यन्त घायल होकर समरमें स्थित महाबाहु वीर प्रद्युम्न उस समय रथपर मूर्च्छित हो गये ॥ २२ ॥

तं स विद्ध्वा महाराज शाल्वो रुक्मिणिनन्दनम् ।
ननाद सिंहनादं वै नादेनापूरयन् महीम् ॥ २३ ॥

महाराज ! रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नको घायल करके शाल्व बड़े जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगा। उसकी आवाजसे वहाँकी सारी पृथ्वी गूँज उठी ॥ २३ ॥

ततो मोहं समापन्ने तनये मम भारत ।
मुमोच बाणांस्त्वरितः पुनरन्यान् दुरासदान् ॥ २४ ॥

भारत ! मेरे पुत्रके मूर्च्छित हो जानेपर भी शाल्वने उनपर और भी बहुत-से दुर्द्धर्ष बाण शीघ्रतापूर्वक छोड़े ॥ २४ ॥

स तैरभिहतो बाणैर्बहुभिस्तेन मोहितः ।
निश्चेष्टः कौरवश्रेष्ठ प्रद्युम्नोऽभूद् रणाजिरे ॥ २५ ॥

कौरवश्रेष्ठ ! इस प्रकार बहुत-से बाणोंसे आहत होनेके कारण प्रद्युम्न उस रणाङ्गणमें मूर्च्छित एवं निश्चेष्ट हो गये ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

मूर्च्छावस्थामें सारथिके द्वारा रणभूमिसे बाहर लाये जानेपर प्रद्युम्नका अनुताप और इसके लिये सारथिको उपालम्भ देना

वासुदेव उवाच

शाल्वबाणार्दिते तस्मिन् प्रद्युम्ने बलिनां वरे ।
वृष्णयो भग्नसंकल्पा विव्यथुः पृतनागताः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं— बलवानोंमें श्रेष्ठ

प्रद्युम्न जब शाल्वके बाणोंसे पीडित हो (मूर्च्छित हो) गये, तब सेनामें आये हुए वृष्णिवंशी वीरोंका उत्साह भङ्ग हो गया। उन सबको बड़ा दुःख हुआ ॥ १ ॥

हाहाकृतमभूत् सर्वं वृष्ण्यन्धकबलं ततः ।
प्रद्युम्ने मोहिते राजन् परे च मुदिता भृशम् ॥ २ ॥

राजन्! प्रद्युम्नके मोहित होनेपर वृष्णि और अन्धक-वंशकी सारी सेनामें हाहाकार मच गया और शत्रुलोग अत्यन्त प्रसन्नतासे खिल उठे ॥ २ ॥

तं तथा मोहितं दृष्ट्वा सारथिर्जवनैर्हयैः ।
रणादपाहरत् तूर्णं शिक्षितो दारुकिस्तदा ॥ ३ ॥

दारुकका पुत्र प्रद्युम्नका सुशिक्षित सारथि था। वह प्रद्युम्नको इस प्रकार मूर्च्छित देख वेगशाली अश्वोंद्वारा उन्हें तुरंत रणभूमिसे बाहर ले गया ॥ ३ ॥

नातिदूरापयाते तु रथे रथवरप्रणुत् ।
धनुर्गृहीत्वा यन्तारं लब्धसंज्ञोऽब्रवीदिदम् ॥ ४ ॥

अभी वह रथ अधिक दूर नहीं जाने पाया था, तभी बड़े-बड़े रथियोंको परास्त करनेवाले प्रद्युम्न सचेत हो गये और हाथमें धनुष लेकर सारथिसे इस प्रकार बोले—॥ ४ ॥

सौते किं ते व्यवसितं कस्माद् यासि पराङ्मुखः।
नैष वृष्णिप्रवीराणामाहवे धर्म उच्यते ॥ ५ ॥

'सूतपुत्र! आज तूने क्या सोचा है? क्यों युद्धसे मुँह मोड़कर भागा जा रहा है? युद्धसे पलायन करना वृष्णिवंशी वीरोंका धर्म नहीं है ॥ ५ ॥

कच्चित् सौते न ते मोहः शाल्वं दृष्ट्वा महाहवे ।
विषादो वा रणं दृष्ट्वा ब्रूहि मे त्वं यथातथम् ॥ ६ ॥

'सूतनन्दन! इस महासंग्राममें राजा शाल्वको देखकर तुझे मोह तो नहीं हो गया है? अथवा युद्ध देखकर तुझे विषाद तो नहीं होता है? मुझसे ठीक-ठीक बता (तेरे इस प्रकार भागनेका क्या कारण है?)' ॥ ६ ॥

सौतिरुवाच

जानार्दने न मे मोहो नापि मां भयमाविशत् ।
अतिभारं तु ते मन्ये शाल्वं केशवनन्दन ॥ ७ ॥

सूतपुत्रने कहा—जनार्दनकुमार! न मुझे मोह हुआ है और न मेरे मनमें भय ही समाया है। केशवनन्दन! मुझे ऐसा मालूम होता है कि यह राजा शाल्व आपके लिये अत्यन्त भार-सा हो रहा है ॥ ७ ॥

सोऽपयामि शनैर्वीर बलवानेष पापकृत् ।
मोहितश्च रणे शूरो रक्ष्यः सारथिना रथी ॥ ८ ॥

वीरवर! मैं धीरे-धीरे रणभूमिसे दूर इसलिये जा रहा हूँ कि यह पापी शाल्व बड़ा बलवान् है। सारथिका यह धर्म है कि यदि शूरवीर रथी संग्राममें मूर्च्छित हो जाय तो वह किसी प्रकार उसके प्राणोंकी रक्षा करे ॥ ८ ॥

आयुष्मंस्त्वं मया नित्यं रक्षितव्यस्त्वयाप्यहम्।
रक्षितव्यो रथी नित्यमिति कृत्वापयाम्यहम् ॥ ९ ॥

आयुष्मन्! मुझे आपकी और आपको मेरी सदा रक्षा करनी चाहिये। रथी सारथिके द्वारा सदा रक्षणीय है, इस कर्तव्यका विचार करके ही मैं रणभूमिसे लौट रहा हूँ ॥ ९ ॥

एकश्चासि महाबाहो बहवश्चापि दानवाः ।
न समं रौक्मिणेयाहं रणे मत्वापयामि वै ॥ १० ॥

महाबाहो! आप अकेले हैं और इन दानवोंकी संख्या बहुत है। रुक्मिणीनन्दन! इस युद्धमें इतने विपक्षियोंका सामना करना अकेले आपके लिये कठिन है; यह सोचकर ही मैं युद्धसे हट रहा हूँ ॥ १० ॥

एवं ब्रुवति सूते तु तदा मकरकेतुमान् ।
उवाच सूतं कौरव्य निवर्तय रथं पुनः ॥ ११ ॥
दारुकात्मज मैवं त्वं पुनः कार्षीः कथंचन ।
व्यपयानं रणात् सौते जीवतो मम कर्हिचित् ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन! सूतके ऐसा कहनेपर मकरध्वज प्रद्युम्नने उससे कहा—'दारुककुमार! तू रथको पुनः युद्धभूमिकी ओर लौटा ले चल। सूतपुत्र! आजसे फिर कभी किसी प्रकार भी मेरे जीते-जी रथको रणभूमिसे न लौटाना ॥ ११-१२ ॥

न स वृष्णिकुले जातो यो वै त्यजति संगरम् ।
यो वा निपतितं हन्ति तवास्मीति च वादिनम् ॥ १३ ॥

'वृष्णिवंशमें ऐसा कोई (वीर पुरुष) नहीं पैदा हुआ है, जो युद्ध छोड़कर भाग जाय अथवा गिरे हुएको तथा 'मैं आपका हूँ' यह कहनेवालेको मारे ॥ १३ ॥

तथा स्त्रियं च यो हन्ति बालं वृद्धं तथैव च ।
विरथं विप्रकीर्णं च भग्नशस्त्रायुधं तथा ॥ १४ ॥

'इसी प्रकार स्त्री, बालक, वृद्ध, रथहीन, अपने पक्षसे बिछुड़े हुए तथा जिसके अस्त्र-शस्त्र नष्ट हो गये हों, ऐसे लोगोंपर जो हथियार उठाता हो, ऐसा मनुष्य भी वृष्णिकुलमें नहीं उत्पन्न हुआ है ॥ १४ ॥

त्वं च सूतकुले जातो विनीतः सूतकर्मणि ।
धर्मज्ञश्चासि वृष्णीनामाहवेष्वपि दारुके ॥ १५ ॥

'दारुककुमार! तू सूतकुलमें उत्पन्न होनेके साथ ही सूतकर्मकी अच्छी तरह शिक्षा पा चुका है। वृष्णिवंशी वीरोंका युद्धमें क्या धर्म है, यह भी भली-भाँति जानता है ॥

स जानंश्चरितं कृत्स्नं वृष्णीनां पृतनामुखे ।
अपयानं पुनः सौते मैवं कार्षीः कथंचन ॥ १६ ॥

'सूतनन्दन! युद्धके मुहानेपर डटे हुए वृष्णिकुलके

वीरोंका सम्पूर्ण चरित्र तुझसे अज्ञात नहीं है; अतः तू फिर कभी किसी तरह भी युद्धसे न लौटना ॥ १६ ॥

अपयातं हतं पृष्ठे भ्रान्तं रणपलायितम्।
गदाग्रजो दुराधर्षः किं मां वक्ष्यति माधवः ॥ १७ ॥

'युद्धसे लौटने या भ्रान्तचित्त होकर भागनेपर जब मेरी पीठमें शत्रुके बाणोंका आघात लगा हो, उस समय किसीसे परास्त न होनेवाले मेरे पिता गदाग्रज भगवान् माधव मुझसे क्या कहेंगे ?॥ १७ ॥

केशवस्याग्रजो वापि नीलवासा मदोत्कटः।
किं वक्ष्यति महाबाहुर्बलदेवः समागतः ॥ १८ ॥

'अथवा पिताजीके बड़े भाई नीलाम्बरधारी मदोत्कट महाबाहु बलरामजी जब यहाँ पधारेंगे, तब वे मुझसे क्या कहेंगे ?॥ १८ ॥

किं वक्ष्यति शिनेर्नप्ता नरसिंहो महाधनुः।
अपयातं रणात् सूत साम्बश्च समितिंजयः ॥ १९ ॥

'सूत ! युद्धसे भागनेपर मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी महाधनुर्धर सात्यकि तथा समरविजयी साम्ब मुझसे क्या कहेंगे ?॥ १९ ॥

चारुदेष्णश्च दुर्धर्षस्तथैव गदसारणौ।
अक्रूरश्च महाबाहुः किं मां वक्ष्यति सारथे ॥ २० ॥

'सारथे ! दुर्धर्ष वीर चारुदेष्ण, गद, सारण और महाबाहु अक्रूर मुझसे क्या कहेंगे ? ॥ २० ॥

शूरं सम्भावितं शान्तं नित्यं पुरुषमानिनम्।
स्त्रियश्च वृष्णिवीराणां किं मां वक्ष्यन्ति संहताः ॥ २१॥

'मैं शूरवीर, सम्भावित (सम्मानित), शान्तस्वभाव तथा सदा अपनेको वीर पुरुष माननेवाला समझा जाता हूँ। (युद्धसे भागनेपर) मुझे देखकर झुंडकी झुंड एकत्र हुई वृष्णिवीरोंकी स्त्रियाँ मुझे क्या कहेंगी ? ॥ २१ ॥

प्रद्युम्नोऽयमुपायाति भीतस्त्यक्त्वा महाहवम्।
धिगेनमिति वक्ष्यन्ति न तु वक्ष्यन्ति साध्विति ॥ २२॥

'सब लोग यही कहेंगे—'यह प्रद्युम्न भयभीत हो महान् संग्राम छोड़कर भागा आ रहा है; इसे धिक्कार है।' उस अवस्थामें किसीके मुखसे मेरे लिये अच्छे शब्द नहीं निकलेंगे॥

धिग्वाचा परिहासोऽपि मम वा मद्विधस्य वा।
मृत्युनाभ्यधिकः सौते स त्वं मा व्यपयाः पुनः ॥२३ ॥

'सूतकुमार ! मेरे अथवा मेरे-जैसे किसी भी पुरुषके लिये धिक्कारयुक्त वाणीद्वारा कोई परिहास भी कर दे, तो वह मृत्युसे भी अधिक कष्ट देनेवाला है; अतः तू फिर कभी युद्ध छोड़कर न भागना ॥ २३ ॥

भारं हि मयि संन्यस्य यातो मधुनिहा हरिः।
यज्ञं भरतसिंहस्य न हि शक्योऽद्य मर्षितुम् ॥२४॥

'मेरे पिता मधुसूदन भगवान् श्रीहरि यहाँकी रक्षाका सारा भार मुझपर रखकर भरतवंशशिरोमणि धर्मराज युधिष्ठिरके यज्ञमें गये हैं। (आज मुझसे जो अपराध हो गया है,) इसे वे कभी क्षमा नहीं कर सकेंगे ॥ २४ ॥

कृतवर्मा मया वीरो निर्यास्यन्नेव वारितः।
शाल्वं निवारयिष्येऽहं तिष्ठ त्वमिति सूतज ॥ २५॥

'सूतपुत्र ! वीर कृतवर्मा शाल्वका सामना करनेके लिये पुरीसे बाहर आ रहे थे; किंतु मैंने उन्हें रोक दिया और कहा—'आप यहीं रहिये। मैं शाल्वको परास्त करूँगा' ॥२५॥

स च सम्भावयन् मां वै निवृत्तो हृदिकात्मजः।
तं समेत्य रणं त्यक्त्वा किं वक्ष्यामि महारथम् ॥ २६ ॥

'कृतवर्मा मुझे इस कार्यके लिये समर्थ जानकर युद्धसे निवृत्त हो गये। आज युद्ध छोड़कर जब मैं उन महारथी वीरसे मिलूँगा, तब उन्हें क्या जवाब दूँगा ? ॥ २६ ॥

उपयान्तं दुराधर्षं शङ्खचक्रगदाधरम्।
पुरुषं पुण्डरीकाक्षं किं वक्ष्यामि महाभुजम् ॥ २७॥

'शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले कमलनयन महाबाहु एवं अजेय वीर भगवान् पुरुषोत्तम जब यहाँ मेरे निकट पदार्पण करेंगे, उस समय मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा ?

सात्यकिं बलदेवं च ये चान्येऽन्धकवृष्णयः।
मया स्पर्धन्ति सततं किं नु वक्ष्यामि तानहम् ॥ २८॥

'सात्यकिसे, बलरामजीसे तथा अन्धक और वृष्णिवंशके अन्य वीरोंसे, जो सदा मुझसे स्पर्धा रखते हैं, मैं क्या कहूँगा ? ॥ २८ ॥

त्यक्त्वा रणमिमं सौते पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः।
त्वयापनीतो विवशो न जीवेयं कथंचन ॥ २९ ॥

'सूतपुत्र ! तेरे द्वारा रणसे दूर लाया हुआ मैं इस युद्धको छोड़कर और पीठपर बाणोंकी चोट खाकर विवशतापूर्ण जीवन किसी प्रकार भी नहीं धारण करूँगा ॥ २९ ॥

स निवर्त रथेनाशु पुनर्दारुकनन्दन।
न चैतदेवं कर्तव्यमथापत्सु कथंचन ॥ ३० ॥

'दारुकनन्दन ! अतः तू शीघ्र ही रथके द्वारा पुनः संग्रामभूमिकी ओर लौट। आजसे मुझपर आपत्ति आनेपर भी तू किसी तरह ऐसा बर्ताव न करना ॥ ३० ॥

न जीवितमहं सौते बहु मन्ये कथंचन।
अपयातो रणाद् भीतः पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः ॥ ३१ ॥

'सूतपुत्र ! पीठपर बाणोंकी चोट खाकर भयभीत हो युद्धसे भागनेवालेके जीवनको मैं किसी प्रकार भी अधिक आदर नहीं देता ॥ ३१ ॥

कदापि सूतपुत्र त्वं जानीषे मां भयार्दितम्।

अपयातं रणं हित्वा यथा कापुरुषं तथा ॥ ३२ ॥

'सूतपुत्र ! क्या तू मुझे कायरोंकी तरह भयसे पीडित और युद्ध छोड़कर भागा हुआ समझता है ? ॥ ३२ ॥

न युक्तं भवता त्यक्तुं संग्रामं दारुकात्मज ।
मयि युद्धार्थिनि भृशं स त्वं याहि यतो रणम् ॥ ३३ ॥

'दारुककुमार ! तुझे संग्रामभूमिका परित्याग करना कदापि उचित नहीं था । विशेषतः उस अवस्थामें, जब कि मैं युद्धकी अभिलाषा रखता था । अतः जहाँ युद्ध हो रहा है, वहाँ चल' ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

प्रद्युम्नके द्वारा शाल्वकी पराजय

वासुदेव उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेय सूतपुत्रस्ततोऽब्रवीत् ।
प्रद्युम्नं बलिनां श्रेष्ठं मधुरं श्लक्ष्णमञ्जसा ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—कुन्तीनन्दन ! प्रद्युम्नके ऐसा कहनेपर सूतपुत्रने शीघ्र ही बलवानोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्नसे थोड़े शब्दोंमें मधुरतापूर्वक कहा— ॥ १ ॥

न मे भयं रौक्मिणेय संग्रामे यच्छतो हयान् ।
युद्धज्ञोऽस्मि च वृष्णीनां नात्र किंचिदतोऽन्यथा ॥ २ ॥

'रुक्मिणीनन्दन ! संग्रामभूमिमें घोड़ोंकी बागडोर सँभालते हुए मुझे तनिक भी भय नहीं होता । मैं वृष्णि-वंशियोंके युद्धधर्मको भी जानता हूँ । आपने जो कुछ कहा है, उसमें कुछ भी अन्यथा नहीं है ॥ २ ॥

आयुष्मन्नुपदेशस्तु सारथ्ये वर्ततां स्मृतः ।
सर्वार्थेषु रथी रक्ष्यस्त्वं चापि भृशपीडितः ॥ ३ ॥

'आयुष्मन् ! मैंने तो सारथ्यमें तत्पर रहनेवाले लोगोंके इस उपदेशका स्मरण किया था कि सभी दशाओंमें रथीकी रक्षा करनी चाहिये । उस समय आप भी अधिक पीड़ित थे ॥ ३ ॥

त्वं हि शाल्वप्रयुक्तेन शरेणाभिहतो भृशम् ।
कश्मलाभिहतो वीर ततोऽहमपयातवान् ॥ ४ ॥

'वीर ! शाल्वके चलाये हुए बाणोंसे अधिक घायल होनेके कारण आपको मूर्च्छा आ गयी थी, इसीलिये मैं आपको लेकर रणभूमिसे हटा था ॥ ४ ॥

स त्वं सात्वतमुख्याद्य लब्धसंज्ञो यदृच्छया ।
पश्य मे हयसंयाने शिक्षां केशवनन्दन ॥ ५ ॥

'सात्वतवीरोंमें प्रधान केशवनन्दन ! अब दैवेच्छासे आप सचेत हो गये हैं; अतः घोड़े हाँकनेकी कलामें मुझे कैसी उत्तम शिक्षा मिली है, उसे देखिये ॥ ५ ॥

दारुकेणाहमुत्पन्नो यथावच्चैव शिक्षितः ।
वीतभीः प्रविशाम्येतां शाल्वस्य प्रथितां चमूम् ॥ ६ ॥

'मैं दारुकका पुत्र हूँ और उन्होंने ही मुझे सारथ्यकर्मकी यथावत् शिक्षा दी है । देखिये ! अब मैं निर्भय होकर राजा शाल्वकी इस विख्यात सेनामें प्रवेश करता हूँ' ॥ ६ ॥

वासुदेव उवाच

एवमुक्त्वा ततो वीर हयान् संचोद्य संगरे ।
रश्मिभिस्तु समुद्यम्य जवेनाभ्यपतत् तदा ॥ ७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—वीरवर ! ऐसा कहकर उस सूतपुत्रने घोड़ोंकी बागडोर हाथमें लेकर उन्हें युद्धभूमिकी ओर हाँका और शीघ्रतापूर्वक वहाँ जा पहुँचा ॥ ७ ॥

मण्डलानि विचित्राणि यमकानीतराणि च ।
सव्यानि च विचित्राणि दक्षिणानि च सर्वशः ॥ ८ ॥

उसने समान-असमान और वाम-दक्षिण आदि सब प्रकारकी विचित्र मण्डलाकार गतिसे रथका संचालन किया ॥

प्रतोदेनाहता राजन् रश्मिभिश्च समुद्यताः ।
उत्पतन्त इवाकाशे व्यचरंस्ते हयोत्तमाः ॥ ९ ॥

राजन् ! वे श्रेष्ठ घोड़े चाबुककी मार खाकर बागडोर हिलानेसे तीव्र गतिसे दौड़ने लगे, मानो आकाशमें उड़ रहे हों ॥ ९ ॥

ते हस्तलाघवोपेतं विज्ञाय नृप दारुकिम् ।
दह्यमाना इव तदा नास्पृशंश्चरणैर्महीम् ॥ १० ॥

महाराज ! दारुकपुत्रके हस्तलाघवको समझकर वे घोड़े प्रज्वलित अग्निकी भाँति दमकते हुए इस प्रकार जा रहे थे, मानो अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श भी न कर रहे हों ॥ १० ॥

सोऽपसव्यां चमूं तस्य शाल्वस्य भरतर्षभ ।
चकार नातियत्नेन तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ११ ॥

भरतकुलभूषण ! दारुकके पुत्रने अनायास ही शाल्वकी उस सेनाको अपसव्य (दाहिने) कर दिया । यह एक अद्भुत बात हुई ॥ ११ ॥

अमृष्यमाणोऽपसव्यं प्रद्युम्नेन च सौभराट् ।
यन्तारमस्य सहसा त्रिभिर्बाणैः समार्दयत् ॥ १२ ॥

सौभराज शाल्व प्रद्युम्नके द्वारा अपनी सेनाका अपसव्य किया जाना न सह सका। उसने सहसा तीन बाण चलाकर प्रद्युम्नके सारथिको घायल कर दिया ॥ १२ ॥

दारुकस्य सुतस्तत्र बाणवेगमचिन्तयन्।
भूय एव महाबाहो प्रययावपसव्यतः ॥ १३ ॥
ततो बाणान् बहुविधान् पुनरेव स सौभराट्।
मुमोच तनये वीर मम रुक्मिणिनन्दने ॥ १४ ॥
तानप्राप्ताञ्छितैर्बाणैश्चिच्छेद परवीरहा।
रौक्मिणेयः स्मितं कृत्वा दर्शयन् हस्तलाघवम् ॥ १५ ॥
छिन्नान् दृष्ट्वा तु तान् बाणान् प्रद्युम्नेन च सौभराट्।
आसुरीं दारुणीं मायामास्थाय व्यसृजच्छरान् ॥ १६ ॥

महाबाहो! परंतु दारुककुमारने वहाँ बाणोंके वेगपूर्वक प्रहारकी कोई चिन्ता न करते हुए शाल्वकी सेनाको अपसव्य (दाहिने) करते हुए ही रथको आगे बढ़ाया। वीरवर! तब सौभराज शाल्वने पुनः मेरे पुत्र रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नपर अनेक प्रकारके बाण चलाये। शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए शाल्वके बाणोंको अपने पास आनेसे पहले ही तीक्ष्ण बाणोंसे मुसकराकर काट देते थे। प्रद्युम्नके द्वारा अपने बाणोंको छिन्न-भिन्न होते देख सौभराजने भयंकर आसुरी मायाका सहारा लेकर बहुत-से बाण बरसाये ॥ १३–१६ ॥

प्रयुज्यमानमाज्ञाय दैतेयास्त्रं महाबलम्।
ब्रह्मास्त्रेणान्तराच्छित्त्वा मुमोचान्यान् पतत्रिणः ॥

प्रद्युम्नने शाल्वको अति शक्तिशाली दैत्यास्त्रका प्रयोग करता जानकर ब्रह्मास्त्रके द्वारा उसे बीचमें ही काट डाला और अन्य बहुत-से बाण बरसाये ॥ १७ ॥

ते तदस्त्रं विधूयाशु विव्यधू रुधिराशनाः।
शिरस्युरसि वक्त्रे च स मुमोह पपात च ॥ १८ ॥

वे सभी बाण शत्रुओंका रक्त पीनेवाले थे। उन बाणोंने शाल्वके अस्त्रोंका नाश करके उसके मस्तक, छाती और मुखको बींध डाला; जिससे वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा ॥ १८ ॥

तस्मिन् निपतिते क्षुद्रे शाल्वे बाणप्रपीडिते।
रौक्मिणेयो परं बाणं संदधे शत्रुनाशनम् ॥ १९ ॥

क्षुद्र स्वभाववाले राजा शाल्वके बाणविद्ध होकर गिर जानेपर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नने अपने धनुषपर एक उत्तम बाणका संधान किया, जो शत्रुका नाश कर देनेवाला था ॥ १९ ॥

तमर्चितं सर्वदशार्हपूगै-
राशीविषाग्निज्वलनप्रकाशम्।
दृष्ट्वा शरं ज्यामभिनीयमानं
बभूव हाहाकृतमन्तरिक्षम् ॥ २० ॥

वह बाण समस्त यादवसमुदायके द्वारा सम्मानित, विषैले सर्पके समान विषाक्त तथा प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशमान था। उस बाणको प्रत्यञ्चापर रखा जाता हुआ देख अन्तरिक्ष-लोकमें हाहाकार मच गया ॥ २० ॥

ततो देवगणाः सर्वे सेन्द्राः सहधनेश्वराः।
नारदं प्रेषयामासुः श्वसनं च मनोजवम् ॥ २१ ॥

तब इन्द्र और कुबेरसहित सम्पूर्ण देवताओंने देवर्षि नारद तथा मनके समान वेगवाले वायुदेवको भेजा ॥

तौ रौक्मिणेयमागम्य वचोऽब्रूतां दिवौकसाम्।
नैष वध्यस्त्वया वीर शाल्वराजः कथंचन ॥ २२ ॥

उन दोनोंने रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नके पास आकर देवताओंका यह संदेश सुनाया—'वीरवर! यह राजा शाल्व युद्धमें कदापि तुम्हारा वध्य नहीं है ॥ २२ ॥

संहरस्व पुनर्बाणमवध्योऽयं त्वया रणे।
एतस्य च शरस्याजौ नावध्योऽस्ति पुमान् क्वचित् ॥ २३ ॥

'तुम अपने इस बाणको फिरसे लौटा लो; क्योंकि यह शाल्व तुम्हारे द्वारा अवध्य है। तुम्हारे इस बाणका प्रयोग होनेपर युद्धमें कोई भी पुरुष बिना मरे नहीं रह सकता ॥

मृत्युरस्य महाबाहो रणे देवकिनन्दनः।
कृष्णः संकल्पितो धात्रा तन्मिथ्या न भवेदिति ॥ २४ ॥

'महाबाहो! विधाताने युद्धमें देवकीनन्दन भगवान श्रीकृष्णके हाथसे ही इसकी मृत्यु निश्चित की है। उनका वह संकल्प मिथ्या नहीं होना चाहिये' ॥ २४ ॥

ततः परमसंहृष्टः प्रद्युम्नः शरमुत्तमम्।
संजहार धनुःश्रेष्ठात् तूणे चैव न्यवेशयत् ॥ २५ ॥

यह सुनकर प्रद्युम्न बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने श्रेष्ठ धनुषसे उस उत्तम बाणको उतार लिया और पुनः तरकसमें रख दिया ॥ २५ ॥

तत उत्थाय राजेन्द्र शाल्वः परमदुर्मनाः।
व्यपायात् सबलस्तूर्णं प्रद्युम्नशरपीडितः ॥ २६ ॥

राजेन्द्र! तदनन्तर शाल्व उठकर अत्यन्त दुःखित-चित्त हो प्रद्युम्नके बाणोंसे पीड़ित होनेके कारण अपनी सेनाके साथ तुरंत भाग गया ॥ २६ ॥

स द्वारकां परित्यज्य क्रूरो वृष्णिभिरार्दितः।
सौभमास्थाय राजेन्द्र दिवमाचक्रमे तदा ॥ २७ ॥

महाराज! उस समय वृष्णिवंशियोंसे पीड़ित हो क्रूर स्वभाववाला शाल्व द्वारकाको छोड़कर अपने सौभ नामक विमानका आश्रय ले आकाशमें जा पहुँचा ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और शाल्वका भीषण युद्ध

वासुदेव उवाच

आनर्तनगरं मुक्तं ततोऽहमगमं तदा ।
महाक्रतौ राजसूये निवृत्ते नृपते तव ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन् ! आपका राजसूय महायज्ञ समाप्त होनेपर मैं शाल्वसे विमुक्त आनर्तनगर (द्वारका) में गया ॥ १ ॥

अपश्यं द्वारकां चाहं महाराज हतत्विषम् ।
निःस्वाध्यायवषट्कारां निर्भूषणवरस्त्रियम् ॥ २ ॥

महाराज ! मैंने वहाँ पहुँचकर देखा, द्वारका श्रीहीन हो रही है। वहाँ न तो स्वाध्याय होता है, न वषट्कार। वह पुरी आभूषणोंसे रहित सुन्दरी नारीकी भाँति उदास लग रही थी॥

अनभिज्ञेयरूपाणि द्वारकोपवनानि च ।
दृष्ट्वा शङ्कोपपन्नोऽहमपृच्छं हृदिकात्मजम् ॥ ३ ॥

द्वारकाके वन-उपवन तो ऐसे हो रहे थे, मानो पहचाने ही न जाते हों। यह सब देखकर मेरे मनमें बड़ी शंका हुई और मैंने कृतवर्मासे पूछा—॥ ३ ॥

अस्वस्थनरनारीकमिदं वृष्णिकुलं भृशम् ।
किमिदं नरशार्दूल श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ४ ॥

'नरश्रेष्ठ ! इस वृष्णिवंशके प्रायः सभी स्त्री-पुरुष अस्वस्थ दिखायी देते हैं, इसका क्या कारण है ? यह मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ' ॥ ४ ॥

एवमुक्तः स तु मया विस्तरेणेदमब्रवीत् ।
रोधं मोक्षं च शाल्वेन हार्दिक्यो राजसत्तम ॥ ५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! मेरे इस प्रकार पूछनेपर कृतवर्माने शाल्वके द्वारकापुरीपर घेरा डालने और फिर छोड़कर भाग जाने-का सब समाचार विस्तारपूर्वक कह सुनाया ॥ ५ ॥

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ श्रुत्वा सर्वमशेषतः ।
विनाशे शाल्वराजस्य तदैवाकरवं मतिम् ॥ ६ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! यह सब वृत्तान्त पूर्णरूपसे सुनकर मैंने शाल्वराजके विनाशका पूर्ण निश्चय कर लिया ॥६॥

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ समाश्वास्य पुरे जनम् ।
राजानमाहुकं चैव तथैवानकदुन्दुभिम् ॥ ७ ॥
सर्वान् वृष्णिप्रवीरांश्च हर्षयन्नब्रुवं तदा ।
अप्रमादः सदा कार्यो नगरे यादवर्षभाः ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर मैं नगरनिवासियोंको आश्वासन देकर राजा उग्रसेन, पिता वसुदेव तथा सम्पूर्ण वृष्णिवंशियोंका हर्ष बढ़ाते हुए बोला—'यदुकुलके श्रेष्ठ पुरुषो ! आपलोग नगरकी रक्षाके लिये सदा सावधान रहें ॥ ७-८ ॥

शाल्वराजविनाशाय प्रयातं मां निबोधत ।
नाहत्वा तं निवर्तिष्ये पुरीं द्वारवतीं प्रति ॥ ९ ॥

'मैं शाल्वराजका नाश करनेके लिये यहाँसे प्रस्थान करता हूँ । आप यह निश्चय जानें; मैं शाल्वका वध किये बिना द्वारकापुरीको नहीं लौटूँगा ॥ ९ ॥

सशाल्वं सौभनगरं हत्वा द्रष्टास्मि वः पुनः ।
त्रिः समाहन्यतामेषा दुन्दुभिः शत्रुभीषणा ॥ १० ॥

'शाल्वसहित सौभनगरका नाश कर लेनेपर ही मैं पुनः आपलोगोंका दर्शन करूँगा। अब शत्रुओंको भयभीत करनेवाले इस नगाड़ेको तीन बार बजाइये' ॥ १० ॥

ते मयाऽऽश्वासिता वीरा यथावद् भरतर्षभ ।
सर्वे मामब्रुवन् हृष्टाः प्रयाहि जहि शात्रवान् ॥ ११ ॥

भरतकुलभूषण ! मेरे इस प्रकार आश्वासन देनेपर सभी यदुवंशी वीरोंने प्रसन्न होकर मुझसे कहा—'जाइये और शत्रुओंका विनाश कीजिये' ॥ ११ ॥

तैः प्रहृष्टात्मभिर्वीरैराशीर्भिरभिनन्दितः ।
वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठान् प्रणम्य शिरसा भवम् ॥ १२ ॥
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेनानादयन् दिशः ।
प्रध्माप्य शङ्खप्रवरं पाञ्चजन्यमहं नृप ॥ १३ ॥
प्रयातोऽस्मि नरव्याघ्र बलेन महता वृतः ।
क्लृप्तेन चतुरङ्गेण यत्तेन जितकाशिना ॥ १४ ॥

प्रसन्न चित्तवाले उन वीरोंके द्वारा आशीर्वादसे अभिनन्दित होकर मैंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया और मस्तक झुकाकर भगवान् शिवको प्रणाम किया । नरश्रेष्ठ ! तदनन्तर शैब्य और सुग्रीव नामक घोड़ोंसे जुते हुए अपने रथके द्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए श्रेष्ठ शङ्ख पाञ्चजन्यको बजाकर मैंने विशाल सेनाके साथ रणके लिये प्रस्थान किया । मेरी उस व्यूहरचनासे युक्त और नियन्त्रित सेनामें हाथी, घोड़े, रथी और पैदल—चारों ही अङ्ग मौजूद थे । उस समय वह सेना विजयसे सुशोभित हो रही थी ॥ १२–१४ ॥

समतीत्य बहून् देशान् गिरींश्च बहुपादपान् ।
सरांसि सरितश्चैव मार्तिकावतमासदम् ॥ १५ ॥

तब मैं बहुत-से देशों और असंख्य वृक्षोंसे हरे-भरे पर्वतों, सरोवरों और सरिताओंको लाँघता हुआ मार्तिकावतमें जा पहुँचा ॥ १५ ॥

तत्राश्रौषं नरव्याघ्र शाल्वं सागरमन्तिकात् ।
प्रयान्तं सौभमास्थाय तमहं पृष्ठतोऽन्वयाम् ॥ १६ ॥

नरव्याघ्र ! वहाँ मैंने सुना कि शाल्व सौभ विमानपर बैठकर समुद्रके निकट जा रहा है । तब मैं उसीके पीछे लग गया ॥ १६ ॥

ततः सागरमासाद्य कुक्षौ तस्य महोर्मिणः ।
समुद्रनाभ्यां शाल्वोऽभूत् सौभमास्थाय शत्रुहन् ॥ १७ ॥

शत्रुनाशन ! फिर समुद्रके निकट पहुँचकर उत्ताल तरङ्गोंवाले महासागरकी कुक्षिके अन्तर्गत उसके नाभिदेश (एक द्वीप) में जाकर राजा शाल्व सौभ विमानपर ठहरा हुआ था ॥ १७ ॥

स समालोक्य दूरान्मां स्मयन्निव युधिष्ठिर ।
आह्वयामास दुष्टात्मा युद्धायैव मुहुर्मुहुः ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर ! वह दुष्टात्मा दूरसे ही मुझे देखकर मुसकराता हुआ-सा बारंबार युद्धके लिये ललकारने लगा ॥ १८ ॥

तस्य शार्ङ्गविनिर्मुक्तैर्बहुभिर्मर्मभेदिभिः ।
पुरं नासाद्यत शरैस्ततो मां रोष आविशत् ॥ १९ ॥

मेरे शार्ङ्ग धनुषसे छूटे हुए बहुत-से मर्मभेदी बाण शाल्वके विमानतक नहीं पहुँच सके । इससे मैं रोषमें भर गया ॥

स चापि पापप्रकृतिर्दैतेयापसदो नृप ।
मय्यवर्षत दुर्धर्षः शरधाराः सहस्रशः ॥ २० ॥

राजन् ! नीच दैत्य दुर्द्धर्ष राजा शाल्व स्वभावसे ही पापाचारी था । उसने मेरे ऊपर सहस्रों बाणधाराएँ बरसायीं ॥ २० ॥

सैनिकान् मम सूतं च हयांश्च समवाकिरत् ।
अचिन्तयन्तस्तु शरान् वयं युध्याम भारत ॥ २१ ॥

मेरे सारथि, घोड़ों तथा सैनिकोंपर उसने भी बाणोंकी झड़ी लगा दी । भारत ! उसके बाणोंकी बौछारको कुछ न समझकर मैं युद्धमें ही लगा रहा ॥ २१ ॥

ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ।
चिक्षिपुः समरे वीरा मयि शाल्वपदानुगाः ॥ २२ ॥

तदनन्तर शाल्वके अनुगामी वीरोंने युद्धमें मेरे ऊपर झुकी हुई गाँठवाले लाखों बाण बरसाये ॥ २२ ॥

ते हयांश्च रथं चैव तदा दारुकमेव च ।
छादयामासुरसुरास्तैर्बाणैर्मर्मभेदिभिः ॥ २३ ॥

उस समय उन असुरोंने अपने मर्मवेधी बाणोंद्वारा मेरे घोड़ोंको, रथको और दारुकको भी ढक दिया ॥ २३ ॥

न हया न रथो वीर न यन्ता मम दारुकः ।
अदृश्यन्त शरैश्छन्नास्तथाहं सैनिकाश्च मे ॥ २४ ॥

वीरवर ! उस समय मेरे घोड़े, रथ, मेरा सारथि दारुक, मैं तथा मेरे सारे सैनिक—सभी बाणोंसे आच्छादित होकर अदृश्य हो गये ॥ २४ ॥

ततोऽहमपि कौन्तेय शराणामयुतान् बहून् ।
आमन्त्रितानां धनुषा दिव्येन विधिनाक्षिपम् ॥ २५ ॥

कुन्तीनन्दन ! तब मैंने भी अपने धनुषद्वारा दिव्य विधिसे अभिमन्त्रित किये हुए कई हजार बाण बरसाये ॥ २५ ॥

न तत्र विषयस्त्वासीन्मम सैन्यस्य भारत ।
खे विषक्तं हि तत् सौभं क्रोशमात्र इवाभवत् ॥ २६ ॥

भारत ! शाल्वका सौभ विमान आकाशमें इस प्रकार प्रवेश कर गया था कि मेरे सैनिकोंकी दृष्टिमें आता ही नहीं था, मानो एक कोस दूर चला गया हो ॥ २६ ॥

ततस्ते प्रेक्षकाः सर्वे रङ्गवाट इव स्थिताः ।
हर्षयामासुरुच्चैर्मां सिंहनादतलस्वनैः ॥ २७ ॥

तब वे सैनिक रंगशालामें बैठे हुए दर्शकोंकी भाँति केवल मेरे युद्धका दृश्य देखते हुए जोर-जोरसे सिंहनाद और करतलध्वनि करके मेरा हर्ष बढ़ाने लगे ॥ २७ ॥

मत्कराग्रविनिर्मुक्ता दानवानां शरास्तथा ।
अङ्गेषु रुचिरापाङ्गा विविशुः शलभा इव ॥ २८ ॥

तब मेरे हाथोंसे छूटे हुए मनोहर पंखवाले बाण दानवोंके अङ्गोंमें शलभोंकी भाँति घुसने लगे ॥ २८ ॥

ततो हलहलाशब्दः सौभमध्ये व्यवर्धत ।
वध्यतां विशिखैस्तीक्ष्णैः पततां च महार्णवे ॥ २९ ॥

इससे सौभ विमानमें मेरे तीखे बाणोंसे मरकर महासागरमें गिरनेवाले दानवोंका कोलाहल बढ़ने लगा ॥ २९ ॥

ते निकृत्तभुजस्कन्धाः कबन्धाकृतिदर्शनाः ।
नदन्तो भैरवान् नादान् निपतन्ति स्म दानवाः ॥ ३० ॥

कंधे और भुजाओंके कट जानेसे कबन्धकी आकृतिमें दिखायी देनेवाले वे दानव भयंकर नाद करते हुए समुद्रमें गिरने लगे ॥ ३० ॥

पतितास्तेऽपि भक्ष्यन्ते समुद्राम्भोनिवासिभिः ।
ततो गोक्षीरकुन्देन्दुमृणालरजतप्रभम् ॥ ३१ ॥
जलजं पाञ्चजन्यं वै प्राणेनाहमपूरयम् ।
तान् दृष्ट्वा पतितांस्तत्र शाल्वः सौभपतिस्ततः ॥ ३२ ॥
मायायुद्धेन महता योधयामास मां युधि ।
ततो गदा हलाः प्रासाः शूलशक्तिपरश्वधाः ॥ ३३ ॥
असयः शक्तिकुलिशपाशर्ष्टिकनपाः शराः ।
पट्टिशाश्च भुशुण्ड्यश्च प्रपतन्त्यनिशं मयि ॥ ३४ ॥

जो गिरते थे, उन्हें समुद्रमें रहनेवाले जीव-जन्तु निगल जाते थे । तत्पश्चात् मैंने गोदुग्ध, कुन्दपुष्प, चन्द्रमा, मृणाल तथा चाँदीकी-सी कान्तिवाले पाञ्चजन्य नामक शङ्खको बड़े जोरसे फूँका । उन दानवोंको समुद्रमें गिरते देख सौभराज शाल्व महान् मायायुद्धके द्वारा मेरा सामना करने

लगा। फिर तो मेरे ऊपर गदा, हल, प्रास, शूल, शक्ति, फरसे, खड्ग, शक्ति, वज्र, पाश, ऋष्टि, कनप, बाण, पट्टिश और भुशुण्डी आदि शस्त्रास्त्रोंकी निरन्तर वर्षा होने लगी ॥ ३१-३४ ॥

तामहं माययैवाशु प्रतिगृह्य व्यनाशयम् ।
तस्यां हतायां मायायां गिरिशृङ्गैरयोधयत् ॥ ३५ ॥

शाल्वकी उस मायाको मैंने मायाद्वारा ही नियन्त्रित करके नष्ट कर दिया। उस मायाका नाश होनेपर वह पर्वतके शिखरोंद्वारा युद्ध करने लगा ॥ ३५ ॥

ततोऽभवत् तम इव प्रकाश इव चाभवत् ।
दुर्दिनं सुदिनं चैव शीतमुष्णं च भारत ॥ ३६ ॥
अङ्गारपांशुवर्षं च शस्त्रवर्षं च भारत ।
एवं मायां प्रकुर्वाणो योधयामास मां रिपुः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर कभी अन्धकार-सा हो जाता, कभी प्रकाश-सा हो जाता, कभी मेघोंसे आकाश घिर जाता और कभी बादलोंके छिन्न-भिन्न होनेसे सुन्दर दिन प्रकट हो जाता था। कभी सर्दी और कभी गर्मी पड़ने लगती थी। अङ्गार और धूलिकी वर्षाके साथ-साथ शस्त्रोंकी भी वृष्टि होने लगती। इस प्रकार शत्रुने मेरे साथ मायाका प्रयोग करते हुए युद्ध आरम्भ किया ॥ ३६-३७ ॥

विज्ञाय तदहं सर्वं माययैव व्यनाशयम् ।
यथाकालं तु युद्धेन व्यधमं सर्वतः शरैः ॥ ३८ ॥

वह सब जानकर मैंने मायाद्वारा ही उसकी मायाका नाश कर दिया। यथासमय युद्ध करते हुए मैंने बाणोंद्वारा शाल्वकी सेनाको सब ओरसे संतप्त कर दिया ॥ ३८ ॥

ततो व्योम महाराज शतसूर्यमिवाभवत् ।
शतचन्द्रं च कौन्तेय सहस्रायुततारकम् ॥ ३९ ॥

कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर! इसके बाद आकाश सौ सूर्योंसे उद्भासित-सा दिखायी देने लगा। उसमें सैकड़ों चन्द्रमा और करोड़ों तारे दिखायी देने लगे ॥ ३९ ॥

ततो नाज्ञायत तदा दिवारात्रं तथा दिशः ।
ततोऽहं मोहमापन्नः प्रज्ञास्त्रं समयोजयम् ॥ ४० ॥

उस समय यह नहीं जान पड़ता था कि यह दिन है या रात्रि! दिशाओंका भी ज्ञान नहीं होता था; इससे मोहित होकर मैंने प्रज्ञास्त्रका संधान किया ॥ ४० ॥

ततस्तदस्त्रं कौन्तेय धूतं तूलमिवानिलैः ।
तथा तदभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
लब्धालोकस्तु राजेन्द्र पुनः शत्रुमयोधयम् ॥ ४१ ॥

कुन्तीकुमार! तब उस अस्त्रने उस सारी मायाको उसी प्रकार उड़ा दिया, जैसे हवा रूईको उड़ा देती है। इसके बाद शाल्वके साथ हमलोगोंका अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा। राजेन्द्र! सब ओर प्रकाश हो जानेपर मैंने पुनः शत्रुसे युद्ध प्रारम्भ कर दिया ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका शाल्वकी मायासे मोहित होकर पुनः सजग होना

वासुदेव उवाच

एवं स पुरुषव्याघ्र शाल्वराजो महारिपुः ।
युध्यमानो मया संख्ये वियदभ्यगमत् पुनः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—पुरुषसिंह! इस प्रकार मेरे साथ युद्ध करनेवाला महाशत्रु शाल्वराज पुनः आकाशमें चला गया ॥ १ ॥

ततः शतघ्नीश्च महागदाश्च
दीप्तांश्च शूलान् मुसलानसींश्च ।
चिक्षेप रोषान्मयि मन्दबुद्धिः
शाल्वो महाराज जयाभिकाङ्क्षी ॥ २ ॥

महाराज! वहाँसे विजयकी इच्छा रखनेवाले मन्दबुद्धि शाल्वने क्रोधमें भरकर मेरे ऊपर शतघ्नियाँ, बड़ी-बड़ी गदाएँ, प्रज्वलित शूल, मुसल और खड्ग फेंके ॥ २ ॥

तानाशुगैरापततोऽहमाशु
निवार्य हन्तुं खगमान् ख एव ।
द्विधा त्रिधा चाच्छिदमाशुमुक्तै-
स्ततोऽन्तरिक्षे निनदो बभूव ॥ ३ ॥

उनके आते ही मैंने तुरंत शीघ्रगामी बाणोंद्वारा उन्हें रोककर उन गगनचारी शत्रुओंको आकाशमें ही मार डालनेका निश्चय किया और शीघ्र छोड़े हुए बाणोंद्वारा उन सबके दो-दो तीन-तीन टुकड़े कर डाले। इससे अन्तरिक्षमें बड़ा भारी आर्त्तनाद हुआ ॥ ३ ॥

ततः शतसहस्रेण शराणां नतपर्वणाम् ।
दारुकं वाजिनश्चैव रथं च समवाकिरत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर शाल्वने झुकी हुई गाँठोंवाले लाखों बाणोंका प्रहार करके मेरे सारथि दारुक, घोड़ों तथा रथको आच्छादित कर दिया ॥ ४ ॥

ततो मामब्रवीद् वीर दारुको विह्वलन्निव ।
स्थातव्यमिति तिष्ठामि शाल्वबाणप्रपीडितः ।
अवस्थातुं न शक्नोमि अङ्गं मे व्यवसीदति ॥ ५ ॥

वीरवर ! तब दारुक व्याकुल-सा होकर मुझसे बोला—'प्रभो ! युद्धमें डटे रहना चाहिये' इस कर्तव्यका स्मरण करके ही मैं यहाँ ठहरा हुआ हूँ; किंतु शाल्वके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण मुझमें खड़े रहनेकी भी शक्ति नहीं रह गयी है। मेरा अङ्ग शिथिल होता जा रहा है' ॥ ५ ॥

इति तस्य निशम्याहं सारथेः करुणं वचः ।
अवेक्षमाणो यन्तारमपश्यं शरपीडितम् ॥ ६ ॥

सारथिका यह करुण वचन सुनकर मैंने उसकी ओर देखा। उसे बाणोंद्वारा बड़ी पीड़ा हो रही थी ॥ ६ ॥

न तस्योरसि नो मूर्ध्नि न काये न भुजद्वये।
अन्तरं पाण्डवश्रेष्ठ पश्याम्यनिचितं शरैः ॥ ७ ॥
स तु बाणवरोत्पीडाद् विस्रवत्यसृगुल्बणम्।
अभिवृष्टे यथा मेघे गिरिर्गैरिकधातुमान् ॥ ८ ॥

पाण्डवश्रेष्ठ ! उसकी छातीमें, मस्तकपर, शरीरके अन्य अवयवोंमें तथा दोनों भुजाओंमें थोड़ा-सा भी ऐसा स्थान नहीं दिखायी देता था, जिसमें बाण न चुभे हुए हों। जैसे मेघके वर्षा करनेपर गेरू आदि धातुओंसे युक्त पर्वत लाल पानीकी धारा बहाने लगता है, वैसे ही वह बाणोंसे छिदे हुए अपने अङ्गोंसे भयंकर रक्तकी धारा बहा रहा था ॥ ७ ॥

अभीषुहस्तं तं दृष्ट्वा सीदन्तं सारथिं रणे ।
अस्तम्भयं महाबाहो शाल्वबाणप्रपीडितम् ॥ ९ ॥

महाबाहो ! उस युद्धमें हाथमें बागडोर लिये सारथिको शाल्वके बाणोंसे पीड़ित होकर कष्ट पाते देख मैंने उसे ढाढस बँधाया ॥ ९ ॥

अथ मां पुरुषः कश्चिद् द्वारकानिलयोऽब्रवीत्।
त्वरितो रथमभ्येत्य सौहृदादिव भारत ॥ १० ॥
आहुकस्य वचो वीर तस्यैव परिचारकः ।
विषण्णः सन्नकण्ठेन तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ११ ॥

भरतवंशी वीरवर ! इतनेमें ही कोई द्वारकावासी पुरुष आकर तुरंत मेरे रथपर चढ़ गया और सौहार्द दिखाता हुआ-सा बोला। वह राजा उग्रसेनका सेवक था और दुखी होकर उसने गद्गदकण्ठसे उनका जो संदेश सुनाया, उसे बताता हूँ, सुनिये ॥ १०-११ ॥

द्वारकाधिपतिर्वीर आह त्वामाहुको वचः ।
केशवेहि विजानीष्व यत् त्वां पितृसखोऽब्रवीत् ॥ १२ ॥

(दूत बोला—) 'वीर ! द्वारकानरेश उग्रसेनने आपको यह एक संदेश दिया है । केशव ! वे आपके पिताके सखा हैं; उन्होंने आपसे कहा है कि यहाँ आ जाओ और जान लो ॥ १२ ॥

उपयायाद्य शाल्वेन द्वारकां वृष्णिनन्दन ।
विषक्ते त्वयि दुर्धर्ष हतः शूरसुतो बलात् ॥ १३ ॥

'दुर्द्धर्ष वृष्णिनन्दन ! आपके युद्धमें आसक्त होनेपर शाल्वने अभी द्वारकापुरीमें आकर शूरनन्दन वसुदेवजीको बलपूर्वक मार डाला है ॥ १३ ॥

तदलं साधु युद्धेन निवर्तस्व जनार्दन ।
द्वारकामेव रक्षस्व कार्यमेतन्महत् तव ॥ १४ ॥

'जनार्दन ! अब युद्ध करके क्या लेना है ? लौट आओ। द्वारकाकी ही रक्षा करो। तुम्हारे लिये यही सबसे महान् कार्य है' ॥ १४ ॥

इत्यहं तस्य वचनं श्रुत्वा परमदुर्मनाः ।
निश्चयं नाधिगच्छामि कर्तव्यस्येतरस्य च ॥ १५ ॥

दूतका यह वचन सुनकर मेरा मन उदास हो गया। मैं कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमें कोई निश्चय नहीं कर पाता था ॥ १५ ॥

सात्यकिं बलदेवं च प्रद्युम्नं च महारथम् ।
जगर्हे मनसा वीर तच्छ्रुत्वा महदप्रियम् ॥ १६ ॥

वीर युधिष्ठिर ! वह महान् अप्रिय वृत्तान्त सुनकर मैं मन-ही-मन सात्यकि, बलरामजी तथा महारथी प्रद्युम्नकी निन्दा करने लगा ॥ १६ ॥

अहं हि द्वारकायाश्च पितुश्च कुरुनन्दन ।
तेषु रक्षां समाधाय प्रयातः सौभपातने ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! मैं द्वारका तथा पिताजीकी रक्षाका भार उन्हीं लोगोंपर रखकर सौभविमानका नाश करनेके लिये चला था ॥ १७ ॥

बलदेवो महाबाहुः कच्चिज्जीवति शत्रुहा ।
सात्यकी रौक्मिणेयश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान् ॥ १८ ॥
साम्बप्रभृतयश्चैवेत्यहमासं सुदुर्मनाः ।
एतेषु हि नरव्याघ्र जीवत्सु न कथंचन ॥ १९ ॥
शक्यः शूरसुतो हन्तुमपि वज्रभृता स्वयम् ।
हतः शूरसुतो व्यक्तं व्यक्तं चैते परासवः ॥ २० ॥
बलदेवमुखाः सर्वे इति मे निश्चिता मतिः ।
सोऽहं सर्वविनाशं तं चिन्तयानो मुहुर्मुहुः ।
अविह्वलो महाराज पुनः शाल्वमयोधयम् ॥ २१ ॥

क्या शत्रुहन्ता महाबली बलरामजी जीवित हैं ? क्या सात्यकि, रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न, महाबली चारुदेष्ण तथा साम्ब आदि जीवन धारण करते हैं ? इन बातोंका विचार करते-करते मेरा मन बहुत उदास हो गया। नरश्रेष्ठ ! इन

वीरोंके जीते-जी साक्षात् इन्द्र भी मेरे पिता वसुदेवजीको किसी प्रकार मार नहीं सकते थे। अवश्य ही शूरनन्दन वसुदेवजी मारे गये और यह भी स्पष्ट है कि बलरामजी आदि सभी प्रमुख वीर प्राणत्याग कर चुके हैं--यह मेरा निश्चित विचार हो गया। महाराज! इस प्रकार सबके विनाशका बारंबार चिन्तन करके भी मैं व्याकुल न होकर राजा शाल्वसे पुनः युद्ध करने लगा॥ १८-२१॥

ततोऽपश्यं महाराज प्रपतन्तमहं तदा।
सौभाच्छूरसुतं वीर ततो मां मोह आविशत्॥ २२॥

वीर महाराज! इसी समय मैंने देखा, सौभ-विमानसे मेरे पिता वसुदेवजी नीचे गिर रहे हैं। इससे शाल्वकी मायासे मुझे मूर्च्छा-सी आ गयी॥ २२॥

तस्य रूपं प्रपततः पितुर्मम नराधिप।
ययातेः क्षीणपुण्यस्य स्वर्गादिव महीतलम्॥ २३॥

नरेश्वर! उस विमानसे गिरते हुए मेरे पिताका स्वरूप ऐसा जान पड़ता था, मानो पुण्यक्षय होनेपर स्वर्गसे पृथ्वीतलपर गिरनेवाले राजा ययातिका शरीर हो॥ २३॥

विशीर्णमलिनोष्णीषः प्रकीर्णाम्बरमूर्धजः।
प्रपतन् दृश्यते ह स्म क्षीणपुण्य इव ग्रहः॥ २४॥

उनकी मलिन पगड़ी बिखर गयी थी, शरीरके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये थे और बाल बिखर गये थे। वे गिरते समय पुण्यहीन ग्रहकी भाँति दिखायी देते थे॥ २४॥

ततः शार्ङ्गं धनुःश्रेष्ठं करात् प्रपतितं मम।
मोहापन्नश्च कौन्तेय रथोपस्थ उपाविशम्॥ २५॥

कुन्तीनन्दन! उनकी यह अवस्था देख धनुषोंमें श्रेष्ठ शार्ङ्ग मेरे हाथसे छूटकर गिर गया और मैं शाल्वकी मायासे मोहित-सा होकर रथके पिछले भागमें चुपचाप बैठ गया॥ २५॥

ततो हाहाकृतं सर्वं सैन्यं मे गतचेतनम्।
मां दृष्ट्वा रथनीडस्थं गतासुमिव भारत॥ २६॥

भारत! फिर तो मुझे रथके पिछले भागमें प्राणरहितके समान पड़ा देख मेरी सारी सेना हाहाकार कर उठी। सबकी चेतना लुप्त-सी हो गयी॥ २६॥

प्रसार्य बाहू पततः प्रसार्य चरणावपि।
रूपं पितुर्मे विबभौ शकुनेः पततो यथा॥ २७॥

हाथों और पैरोंको फैलाकर गिरते हुए मेरे पिताका शरीर मरकर गिरनेवाले पक्षीके समान जान पड़ता था॥ २७॥

तं पतन्तं महाबाहो शूलपट्टिशपाणयः।
अभिघ्नन्तो भृशं वीर मम चेतो ह्यकम्पयन्॥ २८॥

वीरवर महाबाहो! गिरते समय शत्रु-सैनिक हाथोंमें शूल और पट्टिश लिये उनके ऊपर बारंबार प्रहार कर रहे थे। उनके इस क्रूर कृत्यने मेरे हृदयको कम्पित-सा कर दिया॥

ततो मुहूर्तात् प्रतिलभ्य संज्ञा-
महं तदा वीर महाविमर्दे।
न तत्र सौभं न रिपुं च शाल्वं
पश्यामि वृद्धं पितरं न चापि॥ २९॥

वीरवर! तदनन्तर दो घड़ीके बाद जब मैं सचेत होकर देखता हूँ, तब उस महासमरमें न तो सौभ विमानका पता है, न मेरा शत्रु शाल्व ही दिखायी देता है और न मेरे बूढ़े पिता ही दृष्टिगोचर होते हैं॥ २९॥

ततो ममासीन्मनसि मायेयमिति निश्चितम्।
प्रबुद्धोऽस्मि ततो भूयः शतशोऽवाकिरं शरान्॥ ३०॥

तब मेरे मनमें यह निश्चय हो गया कि यह वास्तवमें माया ही थी। तब मैंने सजग होकर सैकड़ों बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की॥ ३०॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

शाल्ववधोपाख्यानकी समाप्ति और युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर श्रीकृष्ण, धृष्टद्युम्न तथा अन्य सब राजाओंका अपने-अपने नगरको प्रस्थान

वासुदेव उवाच

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ प्रगृह्य रुचिरं धनुः।
शरैरपातयं सौभाच्छिरांसि विबुधद्विषाम्॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं--भरतश्रेष्ठ! तब मैं अपना सुन्दर धनुष उठाकर बाणोंद्वारा सौभ विमानसे देवद्रोही दानवोंके मस्तक काट-काटकर गिराने लगा॥ १॥

शरांश्चाशीविषाकारानूर्ध्वगांस्तिग्मतेजसः।
प्रैषयं शाल्वराजाय शार्ङ्गमुक्तान् सुवाससः॥ २॥

तत्पश्चात् शार्ङ्ग धनुषसे छूटे हुए विषैले सर्पोंके समान प्रतीत होनेवाले, सुन्दर पङ्खोंसे सुशोभित, प्रचण्ड तेजस्वी तथा अनेक ऊर्ध्वगामी बाण मैंने राजा शाल्वपर चलाये॥ २॥

ततो नादृश्यत तदा सौभं कुरुकुलोद्वह।

अन्तर्हितं मायया भूत् ततोऽहं विस्मितोऽभवम् ॥ ३ ॥

कुरुकुलशिरोमणे ! परंतु उस समय सौभ विमान मायासे अदृश्य हो गया, अतः किसी प्रकार दिखायी नहीं देता था। इससे मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ३ ॥

अथ दानवसङ्घास्ते विकृताननमूर्धजाः।
उदक्रोशन् महाराज विष्ठिते मयि भारत ॥ ४ ॥

भरतवंशी महाराज ! तदनन्तर जब मैं निर्भय और अचलभावसे स्थित हुआ तथा उनपर शस्त्रप्रहार करने लगा, तब विकृत मुख और केशवाले सौभनिवासी दानवगण जोर-जोरसे चिल्लाने लगे ॥ ४ ॥

ततोऽस्त्रं शब्दसाहं वै त्वरमाणो महारणे।
अयोजयं तद्वधाय ततः शब्द उपारमत् ॥ ५ ॥

तब मैंने उनके वधके लिये उस महान् संग्राममें बड़ी उतावलीके साथ शब्दवेधी बाणका संधान किया। यह देख उनका कोलाहल शान्त हो गया ॥ ५ ॥

हतास्ते दानवाः सर्वे यैः स शब्द उदीरितः।
शरैरादित्यसंकाशैर्ज्वलितैः शब्दसाधनैः ॥ ६ ॥

जिन दानवोंने पहले कोलाहल किया था, वे सब सूर्यके समान तेजस्वी शब्दवेधी बाणोंद्वारा मारे गये ॥ ६ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे पुनरेवान्यतोऽभवत्।
शब्दोऽपरो महाराज तत्रापि प्राहरं शरैः ॥ ७ ॥

महाराज ! वह कोलाहल शान्त होनेपर फिर दूसरी ओर उनका शब्द सुनायी दिया। तब मैंने उधर भी बाणोंका प्रहार किया ॥ ७ ॥

एवं दश दिशः सर्वास्तिर्यगूर्ध्वं च भारत।
नादयामासुरसुरास्ते चापि निहता मया ॥ ८ ॥

भारत ! इस तरह वे असुर इधर-उधर ऊपर-नीचे दसों दिशाओंमें कोलाहल करते और मेरे हाथसे मारे जाते थे ॥ ८ ॥

ततः प्राग्ज्योतिषं गत्वा पुनरेव व्यदृश्यत।
सौभं कामगमं वीर मोहयन्मम चक्षुषी ॥ ९ ॥

तदनन्तर इच्छानुसार चलनेवाला सौभ विमान प्राग्ज्योतिषपुरके निकट जाकर मेरे नेत्रोंको भ्रममें डालता हुआ फिर दिखायी दिया ॥ ९ ॥

ततो लोकान्तकरणो दानवो दारुणाकृतिः।
शिलावर्षेण महता सहसा मां समावृणोत् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् लोकान्तकारी भयंकर आकृतिवाले दानवने आकर सहसा पत्थरोंकी भारी वर्षाके द्वारा मुझे आवृत कर दिया ॥ १० ॥

सोऽहं पर्वतवर्षेण वध्यमानः पुनः पुनः।
वल्मीक इव राजेन्द्र पर्वतोपचितोऽभवम् ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! शिलाखण्डोंकी उस निरन्तर वृष्टिसे बार-बार आहत होकर मैं पर्वतोंसे आच्छादित बाँबी-सा प्रतीत होने लगा ॥ ११ ॥

ततोऽहं पर्वतचितः सहयः सहसारथिः।
अप्रख्यातिमियां राजन् सर्वतः पर्वतैश्चितः ॥ १२ ॥

राजन् ! मेरे चारों ओर शिलाखण्ड जमा हो गये थे। मैं घोड़ों और सारथिसहित प्रस्तरखण्डोंसे चुना-सा गया था, जिससे दिखायी नहीं देता था ॥ १२ ॥

ततो वृष्णिप्रवीरा ये ममासन् सैनिकास्तदा।
ते भयार्ता दिशः सर्वे सहसा विप्रदुद्रुवुः ॥ १३ ॥

यह देख वृष्णिकुलके श्रेष्ठ वीर जो मेरे सैनिक थे, भयसे आर्त हो सहसा चारों दिशाओंमें भाग चले ॥ १३ ॥

ततो हाहाकृतमभूत् सर्वं किल विशाम्पते।
द्यौश्च भूमिश्च खं चैवादृश्यमाने तथा मयि ॥ १४ ॥

प्रजानाथ ! मेरे अदृश्य हो जानेपर भूलोक, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोक—सभी स्थानोंमें हाहाकार मच गया ॥ १४ ॥

ततो विषण्णमनसो मम राजन् सुहृज्जनाः।
रुरुदुश्चुक्रुशुश्चैव दुःखशोकसमन्विताः ॥ १५ ॥

राजन् ! उस समय मेरे सभी सुहृद् खिन्नचित्त हो दुःख-शोकमें डूबकर रोने-चिल्लाने लगे ॥ १५ ॥

द्विषतां च प्रहर्षोऽभूदार्तिश्चाद्विषतामपि।
एवं विजितवान् वीर पश्चादश्रौषमच्युत ॥ १६ ॥

शत्रुओंमें उल्लास छा गया और मित्रोंमें शोक। अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले वीर युधिष्ठिर ! इस प्रकार राजा शाल्व एक बार मुझपर विजयी हो चुका था। यह बात मैंने सचेत होनेपर पीछे सारथिके मुँहसे सुनी थी ॥ १६ ॥

ततोऽहमिन्द्रदयितं सर्वपाषाणभेदनम्।
वज्रमुद्यम्य तान् सर्वान् पर्वतान् समशातयम् ॥ १७ ॥

तब मैंने सब प्रकारके प्रस्तरोंको विदीर्ण करनेवाले इन्द्रके प्रिय आयुध वज्रका प्रहार करके उन समस्त शिलाखण्डोंको चूर-चूर कर दिया ॥ १७ ॥

ततः पर्वतभारार्ता मन्दप्राणविचेष्टिताः।
हया मम महाराज वेपमाना इवाभवन् ॥ १८ ॥

महाराज ! उस समय पर्वतखण्डोंके भारसे पीड़ित हुए मेरे घोड़े कम्पित-से हो रहे थे। उनकी बलसाध्य चेष्टाएँ बहुत कम हो गयी थीं ॥ १८ ॥

मेघजालमिवाकाशे विदार्याभ्युदितं रविम्।
दृष्ट्वा मां बान्धवाः सर्वे हर्षमाहारयन् पुनः ॥ १९ ॥

जैसे आकाशमें बादलोंके समुदायको छिन्न-भिन्न करके सूर्य उदित होता है, उसी प्रकार शिलाखण्डोंको हटाकर

मुझे प्रकट हुआ देख मेरे सभी बन्धु-बान्धव पुनः हर्षसे खिल उठे ॥ १९ ॥

ततः पर्वतभारार्त्तान् मन्दप्राणविचेष्टितान् ।
हयान् संदृश्य मां सूतः प्राह तात्कालिकं वचः ॥ २०॥

तब प्रस्तरखण्डोंके भारसे पीड़ित तथा धीरे-धीरे प्राण-साध्य चेष्टा करनेवाले घोड़ोंको देखकर सारथिने मुझसे यह समयोचित बात कही–॥ २० ॥

साधु सम्पश्य वार्ष्णेय शाल्वं सौभपतिं स्थितम् ।
अलं कृष्णावमन्यैनं साधु यत्नं समाचर ॥ २१॥

'वार्ष्णेय ! वह देखिये, सौभराज शाल्व वहाँ खड़ा है । श्रीकृष्ण ! इसकी उपेक्षा करनेसे कोई लाभ नहीं । इसके वधका कोई उचित उपाय कीजिये ॥ २१ ॥

मार्दवं सखितां चैव शाल्वादद्य व्यपाहर ।
जहि शाल्वं महाबाहो मैनं जीवय केशव ॥ २२॥

'महाबाहु केशव ! अब शाल्वकी ओरसे कोमलता और मित्रभाव हटा लीजिये । इसे मार डालिये, जीवित न रहने दीजिये ॥ २२ ॥

सर्वैः पराक्रमैर्वीर वध्यः शत्रुरमित्रहन् ।
न शत्रुरवमन्तव्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा ॥ २३ ॥

'शत्रुहन्ता वीरवर ! आपको सारा पराक्रम लगाकर इस शत्रुका वध कर डालना चाहिये । कोई कितना ही बलवान् क्यों न हो, उसे अपने दुर्बल शत्रुकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये ॥ २३ ॥

योऽपि स्यात् पीठगः कश्चित् किं पुनः समरे स्थितः ।
स त्वं पुरुषशार्दूल सर्वयत्नैरिमं प्रभो ॥ २४ ॥
जहि वृष्णिकुलश्रेष्ठ मा त्वां कालोऽत्यगात् पुनः ।
नैष मार्दवसाध्यो वै मतो नापि सखा तव ॥ २५ ॥
येन त्वं योधितो वीर द्वारका चावमर्दिता ।
एवमादि तु कौन्तेय श्रुत्वाहं सारथेर्वचः ॥ २६ ॥
तत्त्वमेतदिति ज्ञात्वा युद्धे मतिमधारयम् ।
वधाय शाल्वराजस्य सौभस्य च निपातने ॥ २७ ॥

'कोई शत्रु अपने घरमें आसनपर बैठा हो (युद्ध न करना चाहता हो), तो भी उसे नष्ट करनेमें नहीं चूकना चाहिये; फिर जो संग्राममें युद्ध करनेके लिये खड़ा हो, उसकी तो बात ही क्या है ? अतः पुरुषसिंह ! प्रभो ! आप सभी उपायोंसे इस शत्रुको मार डालिये । वृष्णिवंशावतंस ! इस कार्यमें आपको पुनः विलम्ब नहीं करना चाहिये । यह मृदुतापूर्ण उपायसे वशमें आनेवाला नहीं । वास्तवमें यह आपका मित्र भी नहीं है; क्योंकि वीर ! इसने आपके साथ युद्ध किया और द्वारकापुरीको तहस-नहस कर दिया, अतः इसको शीघ्र मार डालना चाहिये ।' कुन्तीनन्दन ! सारथिके मुखसे इस तरहकी बातें सुनकर मैंने सोचा, यह ठीक ही तो कहता है । यह विचारकर मैंने शाल्वराजका वध करने और सौभ विमानको मार गिरानेके लिये युद्धमें मन लगा दिया ॥ २४–२७ ॥

दारुकं चाब्रुवं वीर मुहूर्तं स्थीयतामिति ।
ततोऽप्रतिहतं दिव्यमभेद्यमतिवीर्यवत् ॥ २८ ॥
आग्नेयमस्त्रं दयितं सर्वसाहं महाप्रभम् ।
योजयं तत्र धनुषा दानवान्तकरं रणे ॥ २९ ॥

वीर ! तत्पश्चात् मैंने दारुकसे कहा—'सारथे ! दो घड़ी और ठहरो (फिर तुम्हारी इच्छा पूरी हो जायगी) ।' तदनन्तर मैंने कहीं भी कुण्ठित न होनेवाले, दिव्य, अभेद्य, अत्यन्त शक्तिशाली, सब कुछ सहन करनेमें समर्थ, प्रिय तथा परम कान्तिमान् आग्नेयास्त्रका अपने धनुषपर संधान किया । वह अस्त्र युद्धमें दानवोंका अन्त करनेवाला था ॥

यक्षाणां राक्षसानां च दानवानां च संयुगे ।
राज्ञां च प्रतिलोमानां भस्मान्तकरणं महत् ॥ ३० ॥

इतना ही नहीं, वह यक्षों, राक्षसों, दानवों तथा विपक्षी राजाओंको भी भस्म कर डालनेवाला और महान् था ॥ ३० ॥

क्षुरान्तममलं चक्रं कालान्तकयमोपमम् ।
अनुमन्त्र्याहमतुलं द्विषतां विनिबर्हणम् ॥ ३१ ॥
जहि सौभं स्ववीर्येण ये चात्र रिपवो मम ।
इत्युक्त्वा भुजवीर्येण तस्मै प्राहिणवं रुषा ॥ ३२ ॥

वह आग्नेयास्त्र (सुदर्शन) चक्रके रूपमें था । उसके परिधिभागमें सब ओर तीखे छुरे लगे हुए थे । वह उज्ज्वल अस्त्र काल, यम और अन्तकके समान भयंकर था । उस शत्रु-नाशक अनुपम अस्त्रको अभिमन्त्रित करके मैंने कहा—'तुम अपनी शक्तिसे सौभ विमान और उसपर रहनेवाले मेरे शत्रुओंको मार डालो ।' ऐसा कहकर अपने बाहुबलसे रोषपूर्वक मैंने वह अस्त्र सौभ विमानकी ओर चलाया ॥

रूपं सुदर्शनस्यासीदाकाशे पततस्तदा ।
द्वितीयस्येव सूर्यस्य युगान्ते प्रपतिष्यतः ॥ ३३ ॥

आकाशमें जाते ही उस सुदर्शन चक्रका स्वरूप प्रलयकालमें उगनेवाले द्वितीय सूर्यके समान प्रकाशित हो उठा ॥ ३३ ॥

तत् समासाद्य नगरं सौभं व्यपगतत्विषम् ।
मध्येन पाटयामास क्रकचो दार्विवोच्छ्रितम् ॥ ३४ ॥

उस दिव्यास्त्रने सौभनगरमें पहुँचकर उसे श्रीहीन कर दिया और जैसे आरा ऊँचे काठको चीर डालता है, उसी प्रकार सौभ विमानको बीचसे काट डाला ॥ ३४ ॥

द्विधा कृतं ततः सौभं सुदर्शनबलाद्धतम् ।
महेश्वरशरोद्धूतं पपात त्रिपुरं यथा ॥ ३५ ॥

सुदर्शन चक्रकी शक्तिसे कटकर दो टुकड़ोंमें बँटा हुआ सौभ विमान महादेवजीके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुए त्रिपुरकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३५ ॥

तस्मिन् निपतिते सौभे चक्रमागात् करं मम ।
पुनश्चादाय वेगेन शाल्वायेत्यहमब्रुवम् ॥ ३६ ॥

सौभ विमानके गिरनेपर चक्र फिर मेरे हाथमें आ गया । मैंने फिर उसे लेकर वेगपूर्वक चलाया और कहा—'अबकी बार शाल्वको मारनेके लिये तुम्हें छोड़ रहा हूँ' ॥ ३६ ॥

ततः शाल्वं गदां गुर्वीमाविध्यन्तं महाहवे ।
द्विधा चकार सहसा प्रजज्वाल च तेजसा ॥ ३७ ॥

तब उस चक्रने महासमरमें बड़ी भारी गदा घुमानेवाले शाल्वके सहसा दो टुकड़े कर दिये और वह तेजसे



प्रज्वलित हो उठा ॥ ३७ ॥

तस्मिन् विनिहते वीरे दानवास्त्रस्तचेतसः ।
हाहाभूता दिशो जग्मुरर्दिता मम सायकैः ॥ ३८ ॥

वीर शाल्वके मारे जानेपर दानवोंके मनमें भय समा गया । वे मेरे बाणोंसे पीड़ित हो हाहाकार करते हुए सब दिशाओंमें भाग गये ॥ ३८ ॥

ततोऽहं समवस्थाप्य रथं सौभसमीपतः ।
शङ्खं प्रध्माप्य हर्षेण सुहृदः पर्यहर्षयम् ॥ ३९ ॥

तब मैंने सौभ विमानके समीप अपने रथको खड़ा करके प्रसन्नतापूर्वक शङ्ख बजाकर सभी सुहृदोंको हर्षमें निमग्न कर दिया ॥ ३९ ॥

तन्मेरुशिखराकारं विध्वस्ताट्टालगोपुरम् ।
दह्यमानमभिप्रेक्ष्य स्त्रियस्ताः सम्प्रदुद्रुवुः ॥ ४० ॥

मेरुपर्वतके शिखरके समान आकृतिवाले सौभनगरकी अट्टालिका और गोपुर सभी नष्ट हो गये । उसे जलते देख उसपर रहनेवाली स्त्रियाँ इधर-उधर भाग गयीं ॥ ४० ॥

एवं निहत्य समरे सौभं शाल्वं निपात्य च ।
आनर्तान् पुनरागम्य सुहृदां प्रीतिमावहम् ॥ ४१ ॥

धर्मराज ! इस प्रकार युद्धमें सौभ विमान तथा राजा शाल्वको नष्ट करके मैं पुनः आनर्तनगर (द्वारका) में लौट आया और सुहृदोंका हर्ष बढ़ाया ॥ ४१ ॥

तदेतत् कारणं राजन् यदहं नागसाह्वयम् ।
नागमं परवीरघ्न न हि जीवेत् सुयोधनः ॥ ४२ ॥
मय्यागतेऽथवा वीर द्यूतं न भविता तथा ।
अद्याहं किं करिष्यामि भिन्नसेतुरिवोदकम् ॥ ४३ ॥

राजन् ! यही कारण है, जिससे मैं उन दिनों हस्तिनापुरमें न आ सका । शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले धर्मराज ! मेरे आनेपर या तो जूआ नहीं होता या दुर्योधन जीवित नहीं रह पाता । जैसे बाँध टूट जानेपर पानीको कोई नहीं रोक सकता, उसी प्रकार आज जब कि सब कुछ बिगड़ चुका है, तब मैं क्या कर सकूँगा ॥ ४२-४३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाबाहुः कौरवं पुरुषोत्तमः ।
आमन्त्र्य प्रययौ श्रीमान् पाण्डवान् मधुसूदनः ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाबाहु श्रीमान् मधुसूदन कुरुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर द्वारकाकी ओर चले ॥ ४४ ॥

अभिवाद्य महाबाहुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
राज्ञा मूर्धन्युपाघ्रातो भीमेन च महाभुजः ॥ ४५ ॥

महाबाहु श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरको प्रणाम किया । राजा युधिष्ठिर तथा भीमने बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले श्रीकृष्णका सिर सूँघा ॥ ४५ ॥

परिष्वक्तश्चार्जुनेन यमाभ्यां चाभिवादितः ।
सम्मानितश्च धौम्येन द्रौपद्या चार्चितोऽश्रुभिः ॥ ४६ ॥

अर्जुनने उनको हृदयसे लगाया और नकुल-सहदेवने उनके चरणोंमें प्रणाम किया । पुरोहित धौम्यजीने उनका सम्मान किया तथा द्रौपदीने अपने आँसुओंसे उनकी अर्चना की ॥ ४६ ॥

सुभद्रामभिमन्युं च रथमारोप्य काञ्चनम् ।
आरुरोह रथं कृष्णः पाण्डवैरभिपूजितः ॥ ४७ ॥

पाण्डवोंसे सम्मानित श्रीकृष्ण सुभद्रा और अभिमन्युको अपने सुवर्णमय रथपर बैठाकर स्वयं भी उसपर आरूढ़ हुए ॥ ४७ ॥

शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेनादित्यवर्चसा ।
द्वारकां प्रययौ कृष्णः समाश्वास्य युधिष्ठिरम् ॥ ४८ ॥

उस रथमें शैब्य और सुग्रीव नामक घोड़े जुते हुए थे और वह सूर्यके समान तेजस्वी प्रतीत होता था। युधिष्ठिरको आश्वासन देकर श्रीकृष्ण उसी रथके द्वारा द्वारकापुरीकी ओर चल दिये ॥ ४८ ॥

ततः प्रयाते दाशार्हे धृष्टद्युम्नोऽपि पार्षतः ।
द्रौपदेयानुपादाय प्रययौ स्वपुरं तदा ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्णके चले जानेपर द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नने भी द्रौपदी-कुमारोंको साथ ले अपनी राजधानीको प्रस्थान किया ॥ ४९ ॥

धृष्टकेतुः स्वसारं च समादायाथ चेदिराट् ।
जगाम पाण्डवान् दृष्ट्वा रम्यां शुक्तिमतीं पुरीम् ॥ ५० ॥

चेदिराज धृष्टकेतु भी अपनी बहिन करेणुमतीको, जो नकुलकी भार्या थी, साथ ले पाण्डवोंसे मिल-जुलकर अपनी सुरम्य राजधानी शुक्तिमतीपुरीको चले गये ॥ ५० ॥

केकयाश्चाप्यनुज्ञाताः कौन्तेयेनामितौजसा ।
आमन्त्र्य पाण्डवान् सर्वान् प्रययुस्तेऽपि भारत ॥५१॥

भारत! केकयराजकुमार भी अमित तेजस्वी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा पा समस्त पाण्डवोंसे विदा लेकर अपने नगरको चले गये ॥ ५१ ॥

ब्राह्मणाश्च विशश्चैव तथा विषयवासिनः ।
विसृज्यमानाः सुभृशं न त्यजन्ति स्म पाण्डवान् ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिरके राज्यमें रहनेवाले ब्राह्मण तथा वैश्य बारंबार विदा करनेपर भी पाण्डवोंको छोड़कर जाना नहीं चाहते थे ॥ ५२ ॥

समवायः स राजेन्द्र सुमहाद्भुतदर्शनः ।
आसीन्महात्मनां तेषां काम्यके भरतर्षभ ॥ ५३ ॥

भरतवंशभूषण महाराज जनमेजय! उस समय काम्यक-वनमें उन महात्माओंका बड़ा अद्भुत सम्मेलन जुटा था ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिरस्तु विप्रांस्ताननुमान्य महामनाः ।
शशास पुरुषान् काले रथान् योजयतेति वै ॥ ५४ ॥

तदनन्तर महामना युधिष्ठिरने सब ब्राह्मणोंकी अनुमतिसे अपने सेवकोंको समयपर आज्ञा दी—'रथोंको जोतकर तैयार करो' ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

पाण्डवोंका द्वैतवनमें जानेके लिये उद्यत होना और प्रजावर्गकी व्याकुलता

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् दशार्हाधिपतौ प्रयाते
युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च ।
यमौ च कृष्णा च पुरोहितश्च
रथान् महार्हान् परमाश्वयुक्तान् ॥ १ ॥
आस्थाय वीराः सहिता वनाय
प्रतस्थिरे भूतपतिप्रकाशाः ।
हिरण्यनिष्कान् वसनानि गाश्च
प्रदाय शिक्षाक्षरमन्त्रविद्भ्यः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यादवकुलके अधिपति भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी और पुरोहित धौम्य उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए बहुमूल्य रथोंपर बैठे। फिर भूतनाथ भगवान् शङ्करके समान सुशोभित होनेवाले वे सभी वीर एक साथ दूसरे वनमें जानेके लिये उद्यत हुए। वेद-वेदाङ्ग और मन्त्रके जाननेवाले ब्राह्मणोंको सोनेकी मुद्राएँ, वस्त्र तथा गौएँ प्रदान करके उन्होंने यात्रा प्रारम्भ की ॥ १-२ ॥

प्रेष्याः पुरो विंशतिरात्तशस्त्रा
धनूंषि शस्त्राणि शरांश्च दीप्तान् ।
मौर्वीश्च यन्त्राणि च सायकांश्च
सर्वे समादाय जघन्यमीयुः ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके साथ बीस सेवक अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो धनुष, तेजस्वी बाण, शस्त्र, डोरी, यन्त्र और अनेक प्रकारके सायक लेकर पहले ही पश्चिम दिशामें स्थित द्वारकापुरीकी ओर चले गये थे ॥ ३ ॥

ततस्तु वासांसि च राजपुत्र्या
धात्र्यश्च दास्यश्च विभूषणं च ।
तदिन्द्रसेनस्त्वरितः प्रगृह्य
जघन्यमेवोपययौ रथेन ॥ ४ ॥

तदनन्तर सारथि इन्द्रसेन राजकुमारी सुभद्राके वस्त्र, आभूषण, धायों तथा दासियोंको लेकर तुरंत ही रथके द्वारा द्वारकापुरीको चल दिया ॥ ४ ॥

ततः कुरुश्रेष्ठमुपेत्य पौराः
प्रदक्षिणं चक्रुरदीनसत्त्वाः ।
तं ब्राह्मणाश्चाभ्यवदन् प्रसन्ना
मुख्याश्च सर्वे कुरुजाङ्गलानाम् ॥ ५ ॥

इसके बाद उदार हृदयवाले पुरवासियोंने कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरके पास जा उनकी परिक्रमा की। कुरुजाङ्गलदेशके

ब्राह्मणों तथा सभी प्रमुख लोगोंने उनसे प्रसन्नतापूर्वक बातचीत की ॥ ५ ॥

स चापि तानभ्यवदत् प्रसन्नः
सहैव तैर्भ्रातृभिर्धर्मराजः ।
तस्थौ च तत्राधिपतिर्महात्मा
दृष्ट्वा जनौघं कुरुजाङ्गलानाम् ॥ ६ ॥

अपने भाइयोंसहित धर्मराज युधिष्ठिरने भी प्रसन्न होकर उन सबसे वार्तालाप किया । कुरुजाङ्गलदेशके उस जन-समुदायको देखकर महात्मा राजा युधिष्ठिर थोड़ी देरके लिये वहाँ ठहर गये ॥ ६ ॥

पितेव पुत्रेषु स तेषु भावं
चक्रे कुरूणामृषभो महात्मा ।
ते चापि तस्मिन् भरतप्रबर्हे
तदा बभूवुः पितरीव पुत्राः ॥ ७ ॥

जैसे पिताका अपने पुत्रोंपर वात्सल्यभाव होता है, उसी प्रकार कुरुश्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिरने उन सबके प्रति अपने आन्तरिक स्नेहका परिचय दिया । वे भी उन भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिरके प्रति वैसे ही अनुरक्त थे, जैसे पुत्र अपने पितापर ॥ ७ ॥

ततस्तमासाद्य महाजनौघाः
कुरुप्रवीरं परिवार्य तस्थुः ।
हा नाथ हा धर्म इति ब्रुवाणा
भीताश्च सर्वेऽश्रुमुखाश्च राजन् ॥ ८ ॥
वरः कुरूणामधिपः प्रजानां
पितेव पुत्रानपहाय चास्मान् ।
पौरानिमाञ्जानपदांश्च सर्वान्
हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ ९ ॥

उस महान् जनसमुदाय (प्रजा) के लोग कुरुकुलके प्रमुख वीर युधिष्ठिरके पास जा उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये । राजन् ! उस समय उन सबके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी और वे वियोगके भयसे भीत हो हा नाथ ! हा धर्म ! इस प्रकार पुकारते हुए कह रहे थे—'कुरुवंशके श्रेष्ठ अधिपति, प्रजाजनोंपर पिताका-सा स्नेह रखनेवाले धर्मराज युधिष्ठिर हम सब पुत्रों, पुरवासियों तथा समस्त देशवासियोंको छोड़कर अब कहाँ चले जा रहे हैं ? ॥ ८-९ ॥

धिग् धार्तराष्ट्रं सुनृशंसबुद्धिं
धिक् सौबलं पापमतिं च कर्णम् ।
अनर्थमिच्छन्ति नरेन्द्र पापा
ये धर्मनित्यस्य सततस्तवैवम् ॥ १० ॥

क्रूरबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको धिक्कार है । सुबलपुत्र शकुनि तथा पापपूर्ण विचार रखनेवाले कर्णको भी धिक्कार है, जो पापी सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले आपका इस प्रकार अनर्थ करना चाहते हैं ॥ १० ॥

स्वयं निवेश्याप्रतिमं महात्मा
पुरं महादेवपुरप्रकाशम् ।
शतक्रतुप्रस्थममेयकर्मा
हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ ११ ॥

'जिन महात्माने स्वयं ही पुरुषार्थ करके महादेवजीके नगर कैलासकी-सी सुषमावाले अनुपम इन्द्रप्रस्थ नामक नगरको बसाया था, वे अचिन्त्यकर्मा धर्मराज युधिष्ठिर अपनी उस पुरीको छोड़कर अब कहाँ जा रहे हैं ? ॥ ११ ॥

चकार यामप्रतिमां महात्मा
सभां मयो देवसभाप्रकाशाम् ।
तां देवगुप्तामिव देवमायां
हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ १२ ॥

'महामना मयदानवने देवताओंकी सभाके समान सुशोभित होनेवाली जिस अनुपम सभाका निर्माण किया था, देवताओंद्वारा रक्षित देवमायाके समान उस सभाका परित्याग करके धर्मराज युधिष्ठिर कहाँ चले जा रहे हैं ?' ॥ १२ ॥

तान् धर्मकामार्थविदुत्तमौजा
बीभत्सुरुच्चैः सहितानुवाच ।
आदास्यते वासमिमं निरुष्य
वनेषु राजा द्विषतां यशांसि ॥ १३ ॥

धर्म, अर्थ और कामके ज्ञाता उत्तम पराक्रमी अर्जुनने उन सब प्रजाजनोंको सम्बोधित करके उच्चस्वरसे कहा—'राजा युधिष्ठिर इस वनवासकी अवधि पूर्ण करके शत्रुओंका यश छीन लेंगे ॥ १३ ॥

द्विजातिमुख्याः सहिताः पृथक् च
भवद्भिरासाद्य तपस्विनश्च ।
प्रसाद्य धर्मार्थविदश्च वाच्या
यथार्थसिद्धिः परमा भवेन्नः ॥ १४ ॥

'आपलोग एक साथ या अलग-अलग श्रेष्ठ ब्राह्मणों, तपस्वियों तथा धर्म-अर्थके ज्ञाता महापुरुषोंको प्रसन्न करके उन सबसे यह प्रार्थना करें, जिससे हमलोगोंके अभीष्ट मनोरथकी उत्तम सिद्धि हो' ॥ १४ ॥

इत्येवमुक्ते वचनेऽर्जुनेन
ते ब्राह्मणाः सर्ववर्णाश्च राजन् ।
मुदाभ्यनन्दन् सहिताश्च चक्रुः
प्रदक्षिणं धर्मभृतां वरिष्ठम् ॥ १५ ॥

राजन् ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर ब्राह्मणों तथा अन्य सब वर्णके लोगोंने एक साथ प्रसन्नतापूर्वक उनकी बातका

अभिनन्दन किया तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरकी परिक्रमा की ॥ १५ ॥

आमन्त्र्य पार्थं च वृकोदरं च
धनंजयं याज्ञसेनीं यमौ च।
प्रतस्थिरे राष्ट्रमपेतहर्षा
युधिष्ठिरेणानुमता यथास्वम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर सब लोग कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, द्रौपदी तथा नकुल-सहदेवसे विदा ले एवं युधिष्ठिरकी अनुमति प्राप्त करके उदास होकर अपने राष्ट्रको प्रस्थित हुए ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्वैतवनप्रवेशविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

पाण्डवोंका द्वैत वनमें जाना

वैशम्पायन उवाच

ततस्तेषु प्रयातेषु कौन्तेयः सत्यसंगरः।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भ्रातॄन् सर्वान् युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर प्रजाजनोंके चले जानेपर सत्यप्रतिज्ञ एवं धर्मात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंसे कहा—॥ १ ॥

द्वादशेमानि वर्षाणि वस्तव्यं निर्जने वने।
समीक्षध्वं महारण्ये देशं बहुमृगद्विजम् ॥ २ ॥

'हमलोगोंको इन आगामी बारह वर्षोंतक निर्जन वनमें निवास करना है, अतः इस महान् वनमें कोई ऐसा स्थान ढूँढ़ो, जहाँ बहुत-से पशु-पक्षी निवास करते हों ॥ २ ॥

बहुपुष्पफलं रम्यं शिवं पुण्यजनावृतम्।
यत्रेमाः शरदः सर्वाः सुखं प्रतिवसेमहि ॥ ३ ॥

'जहाँ फल-फूलोंकी अधिकता हो, जो देखनेमें रमणीय एवं कल्याणकारी हो तथा जहाँ बहुत-से पुण्यात्मा पुरुष रहते हों। वह स्थान इस योग्य होना चाहिये, जहाँ हम सब लोग इन बारह वर्षोंतक सुखपूर्वक रह सकें' ॥ ३ ॥

एवमुक्ते प्रत्युवाच धर्मराजं धनंजयः।
गुरुवन्मानवगुरुं मानयित्वा मनस्विनम् ॥ ४ ॥

धर्मराजके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उन मनस्वी मानवगुरु युधिष्ठिरका गुरुतुल्य सम्मान करके उनसे इस प्रकार कहा ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच

भवानेव महर्षीणां वृद्धानां पर्युपासिता।
अज्ञातं मानुषे लोके भवतो नास्ति किंचन ॥ ५ ॥

अर्जुन बोले—आर्य ! आप स्वयं ही बड़े-बड़े ऋषियों तथा वृद्ध पुरुषोंका सङ्ग करनेवाले हैं। इस मनुष्यलोकमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो ॥ ५ ॥

त्वया ह्युपासिता नित्यं ब्राह्मणा भरतर्षभ।
द्वैपायनप्रभृतयो नारदश्च महातपाः ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपने सदा द्वैपायन आदि बहुत-से ब्राह्मणों तथा महातपस्वी नारदजीकी उपासना की है ॥ ६ ॥

यः सर्वलोकद्वाराणि नित्यं संचरते वशी।
देवलोकाद् ब्रह्मलोकं गन्धर्वाप्सरसामपि ॥ ७ ॥

जो मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर सदा सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते रहते हैं। देवलोकसे लेकर ब्रह्मलोक तथा गन्धर्वों और अप्सराओंके लोकोंमें भी उनकी पहुँच है ॥

अनुभावांश्च जानासि ब्राह्मणानां न संशयः।
प्रभावांश्चैव वेत्थ त्वं सर्वेषामेव पार्थिव ॥ ८ ॥

राजन् ! आप सभी ब्राह्मणोंके अनुभाव और प्रभावको जानते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

त्वमेव राजञ्जानासि श्रेयःकारणमेव च।
यत्रेच्छसि महाराज निवासं तत्र कुर्महे ॥ ९ ॥

राजन् ! आप ही श्रेय (मोक्ष) के कारणका ज्ञान रखते हैं। महाराज ! आपकी जहाँ इच्छा हो वहीं हम-लोग निवास करेंगे ॥ ९ ॥

इदं द्वैतवनं नाम सरः पुण्यजलोचितम्।
बहुपुष्पफलं रम्यं नानाद्विजनिषेवितम् ॥ १० ॥

यह जो पवित्र जलसे भरा हुआ सरोवर है, इसका नाम द्वैतवन है। यहाँ फल और फूलोंकी बहुलता है। देखनेमें यह स्थान रमणीय तथा अनेक ब्राह्मणोंसे सेवित है ॥

अत्रेमा द्वादश समा विहरेमेति रोचये।
यदि तेऽनुमतं राजन् किमन्यन्मन्यते भवान् ॥ ११ ॥

मेरी इच्छा है कि वहीं हमलोग इन बारह वर्षोंतक निवास करें। राजन् ! यदि आपकी अनुमति हो तो द्वैतवनके समीप रहा जाय ! अथवा आप दूसरे किस स्थानको उत्तम मानते हैं ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ममाप्येतन्मतं पार्थ त्वया यत् समुदाहृतम्।
गच्छामः पुण्यविख्यातं महद् द्वैतवनं सरः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पार्थ ! तुमने जैसा बताया है, वही मेरा भी मत है । हमलोग पवित्र जलके कारण प्रसिद्ध द्वैतवन नामक विशाल सरोवरके समीप चलें ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते प्रययुः सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः ।
ब्राह्मणैर्बहुभिः सार्धं पुण्यं द्वैतवनं सरः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वे सभी धर्मात्मा पाण्डव बहुत-से ब्राह्मणोंके साथ पवित्र द्वैतवन नामक सरोवरको चले गये ॥ १३ ॥

ब्राह्मणाः साग्निहोत्राश्च तथैव च निरग्नयः ।
स्वाध्यायिनो भिक्षवश्च तथैव वनवासिनः ॥ १४ ॥
बहवो ब्राह्मणास्तत्र परिवव्रुर्युधिष्ठिरम् ।
तपःसिद्धा महात्मानः शतशः संशितव्रताः ॥ १५ ॥

वहाँ बहुत-से अग्निहोत्री ब्राह्मणों, निरग्निकों, स्वाध्याय परायण ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थियों, संन्यासियों, सैकड़ों कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपःसिद्ध महात्माओं तथा अन्य अनेक ब्राह्मणोंने महाराज युधिष्ठिरको घेर लिया ॥ १४-१५ ॥

ते यात्वा पाण्डवास्तत्र ब्राह्मणैर्बहुभिः सह ।
पुण्यं द्वैतवनं रम्यं विविशुर्भरतर्षभाः ॥ १६ ॥

वहाँ पहुँचकर भरतश्रेष्ठ पाण्डवोंने बहुत-से ब्राह्मणोंके साथ पवित्र एवं रमणीय द्वैतवनमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥

तमालतालाम्रमधूकनीप-
कदम्बसर्जार्जुनकर्णिकारैः ।
तपात्यये पुष्पधरैरुपेतं
महावनं राष्ट्रपतिर्ददर्श ॥ १७ ॥

राष्ट्रपति युधिष्ठिरने देखा, वह महान् वन तमाल, ताल, आम, महुआ, नीप, कदम्ब, साल, अर्जुन और कनेर आदि वृक्षोंसे, जो ग्रीष्म ऋतु बीतनेपर फूल धारण करते हैं, सम्पन्न है ॥ १७ ॥

महाद्रुमाणां शिखरेषु तस्थु-
र्मनोरमां वाचमुदीरयन्तः ।
मयूरदात्यूहचकोरसङ्घा-
स्तस्मिन् वने बर्हिणकोकिलाश्च ॥ १८ ॥

उस वनमें बड़े-बड़े वृक्षोंकी ऊँची शाखाओंपर मयूर, चातक, चकोर, बर्हिण तथा कोकिल आदि पक्षी मनको भानेवाली मीठी बोली बोलते हुए बैठे थे ॥ १८ ॥

करेणुयूथैः सह यूथपानां
मदोत्कटानामचलप्रभाणाम् ।
महान्ति यूथानि महाद्विपानां
तस्मिन् वने राष्ट्रपतिर्ददर्श ॥ १९ ॥

राष्ट्रपति युधिष्ठिरको उस वनमें पर्वतोंके समान प्रतीत होनेवाले मदोन्मत्त गजराजोंके, जो एक-एक यूथके अधिपति थे, हथिनियोंके साथ विचरनेवाले कितने ही भारी-भारी झुंड दिखायी दिये ॥ १९ ॥

मनोरमां भोगवतीमुपेत्य
पूतात्मनां चीरजटाधराणाम् ।
तस्मिन् वने धर्मभृतां निवासे
ददर्श सिद्धर्षिगणाननेकान् ॥ २० ॥

मनोरम भोगवती (सरस्वती) नदीमें स्नान करके जिनके अन्तःकरण पवित्र हो गये हैं, जो वल्कल और जटा धारण करते हैं, ऐसे धर्मात्माओंके निवासभूत उस वनमें राजाने सिद्ध-महर्षियोंके अनेक समुदाय देखे ॥ २० ॥

ततः स यानादवरुह्य राजा
सभ्रातृकः सजनः काननं तत् ।
विवेश धर्मात्मवतां वरिष्ठ-
स्त्रिविष्टपं शक्र इवामितौजाः ॥ २१ ॥

तदनन्तर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ एवं अमित तेजस्वी राजा युधिष्ठिरने अपने सेवकों और भाइयोंसहित रथसे उतरकर स्वर्गमें इन्द्रके समान उस वनमें प्रवेश किया ॥ २१ ॥

तं सत्यसंधं सहसाभिपेतु-
र्दिदृक्षवश्चारणसिद्धसङ्घाः ।
वनौकसश्चापि नरेन्द्रसिंहं
मनस्विनं तं परिवार्य तस्थुः ॥ २२ ॥

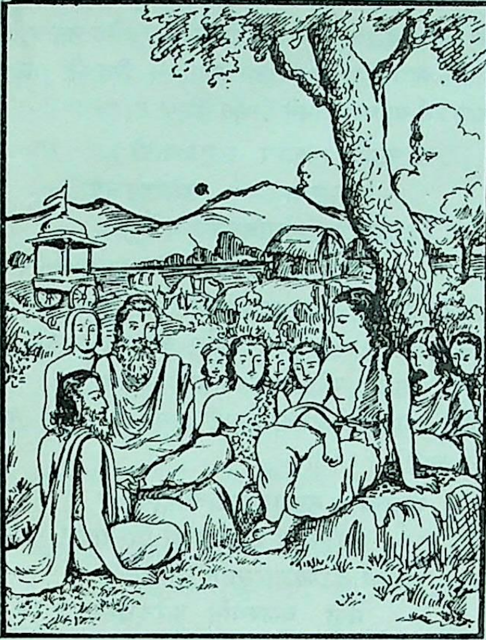
उस समय उन सत्यप्रतिज्ञ मनस्वी राजसिंह युधिष्ठिरको देखनेकी इच्छासे सहसा बहुत-से चारण, सिद्ध एवं वनवासी महर्षि आये और उन्हें घेरकर खड़े हो गये ॥ २२ ॥

स तत्र सिद्धानभिवाद्य सर्वान्
प्रत्यर्चितो राजवद् देववच्च ।
विवेश सर्वैः सहितो द्विजाग्र्यैः
कृताञ्जलिर्धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ २३ ॥

वहाँ आये हुए समस्त सिद्धोंको प्रणाम करके धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर उनके द्वारा भी राजा तथा देवताके समान पूजित हुए एवं दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने उन समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ वनके भीतर पदार्पण किया ॥ २३ ॥

स पुण्यशीलः पितृवन्महात्मा
तपस्विभिर्धर्मपरैरुपेत्य ।
प्रत्यर्चितः पुष्पधरस्य मूले
महाद्रुमस्योपविवेश राजा ॥ २४ ॥

उस वनमें रहनेवाले धर्मपरायण तपस्वियोंने उन पुण्यशील महात्मा राजाके पास जाकर उनका पिताकी भाँति सम्मान किया । तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिर फूलोंसे लदे हुए [illegible] बैठे ॥ २४ ॥



भीमश्च कृष्णा च धनंजयश्च
यमौ च ते चानुचरा नरेन्द्रम्।
विमुच्य वाहानवशाश्च सर्वे
तत्रोपतस्थुर्भरतप्रबर्हाः ॥ २५ ॥

तदनन्तर पराधीन-दशामें पड़े हुए भीम, द्रौपदी, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा सेवकगण सवारी छोड़कर उतर गये। वे सभी भरतश्रेष्ठ वीर महाराज युधिष्ठिरके समीप जा बैठे ॥ २५ ॥

लतावतानावनतः स पाण्डवै-
र्महाद्रुमः पञ्चभिरेव धन्विभिः।
बभौ निवासोपगतैर्महात्मभि-
र्महागिरिर्वारणयूथपैरिव ॥ २६ ॥

जैसे महान् पर्वत यूथपति गजराजोंसे सुशोभित होता है, उसी प्रकार लतासमूहसे झुका हुआ वह महान् वृक्ष वहाँ निवासके लिये आये हुए पाँच धनुर्धर महात्मा पाण्डवोंद्वारा शोभा पाने लगा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्वैतवनप्रवेशविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

महर्षि मार्कण्डेयका पाण्डवोंको धर्मका आदेश देकर उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

तत् काननं प्राप्य नरेन्द्रपुत्राः
सुखोचिता वासमुपेत्य कृच्छ्रम्।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमाः शिवेषु
सरस्वतीशालवनेषु तेषु ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सुख भोगनेके योग्य राजकुमार पाण्डव इन्द्रके समान तेजस्वी थे। वे वनवास-के संकटमें पड़कर द्वैतवनमें प्रवेश करके वहाँ सरस्वती-तटवर्ती सुखद शालवनोंमें विहार करने लगे ॥ १ ॥

यतींश्च राजा स मुनींश्च सर्वा-
स्तस्मिन् वने मूलफलैरुदग्रैः।
द्विजातिमुख्यानृषभः कुरूणां
संतर्पयामास महानुभावः ॥ २ ॥

इष्टीश्च पित्र्याणि तथा क्रियाश्च
महावने वसतां पाण्डवानाम्।
पुरोहितस्तत्र समृद्धतेजा-
श्चकार धौम्यः पितृवन्नृपाणाम् ॥ ३ ॥

कुरुश्रेष्ठ महानुभाव राजा युधिष्ठिरने उस वनमें रहनेवाले सम्पूर्ण यतियों, मुनियों और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उत्तम फल-मूलोंके द्वारा तृप्त किया। अत्यन्त तेजस्वी पुरोहित धौम्य पिताकी भाँति उस महावनमें रहनेवाले राजकुमार पाण्डवोंके यज्ञ-याग, पितृ-श्राद्ध तथा अन्य सत्कर्म करते-कराते रहते थे २-३

अपेत्य राष्ट्राद् वसतां तु तेषा-
मृषिः पुराणोऽतिथिराजगाम।
तमाश्रमं तीव्रसमृद्धतेजा
मार्कण्डेयः श्रीमतां पाण्डवानाम् ॥ ४ ॥

राज्यसे दूर होकर वनमें निवास करनेवाले श्रीमान् पाण्डवोंके उस आश्रमपर उद्दीप्त तेजस्वी पुरातन महर्षि मार्कण्डेयजी अतिथिके रूपमें आये ॥ ४ ॥

तमागतं ज्वलितहुताशनप्रभं
महामनाः कुरुवृषभो युधिष्ठिरः।
अपूजयत् सुरऋषिमानवार्चितं
महामुनिं ह्यनुपमसत्त्ववीर्यवान् ॥ ५ ॥

उनकी अङ्ग-कान्ति प्रज्वलित अग्निके समान उद्भासित हो रही थी। देवताओं, ऋषियों तथा मनुष्योंद्वारा पूजित महामुनि मार्कण्डेयको आया देख अनुपम धैर्य और पराक्रमसे

सम्पन्न महामनस्वी कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने उनकी यथावत् पूजा की ॥ ५ ॥

स सर्वविद् द्रौपदीं वीक्ष्य कृष्णां
युधिष्ठिरं भीमसेनार्जुनौ च।
संस्मृत्य रामं मनसा महात्मा
तपस्विमध्येऽस्मयतामितौजाः ॥ ६ ॥

अमित तेजस्वी तथा सर्वज्ञ महात्मा मार्कण्डेयजी द्रुपद-कुमारी कृष्णा, युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन (और नकुल-सहदेव) को देखकर मन-ही-मन श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करके तपस्वियोंके बीचमें मुसकराने लगे ॥ ६ ॥

तं धर्मराजो विमना इवाब्रवीत्
सर्वे ह्रिया सन्ति तपस्विनोऽमी।
भवानिदं किं स्मयतीव हृष्ट-
स्तपस्विनां पश्यतां मामुदीक्ष्य॥ ७ ॥

तब धर्मराज युधिष्ठिरने उदासीन-से होकर पूछा—'मुने ! ये सब तपस्वी तो मेरी अवस्था देखकर कुछ संकुचित-से हो रहे हैं, परंतु क्या कारण है कि आप इन सब महात्माओंके सामने मेरी ओर देखकर प्रसन्नतापूर्वक यों मुसकराते-से दिखायी देते हैं ?' ॥ ७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

न तात हृष्यामि न च स्मयामि
प्रहर्षजो मां भजते न दर्पः।
तवापदं त्वद्य समीक्ष्य रामं
सत्यव्रतं दाशरथिं स्मरामि॥ ८ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—तात ! न तो मैं हर्षित होता हूँ और न मुसकराता ही हूँ। हर्षजनित अभिमान कभी मेरा स्पर्श नहीं कर सकता। आज तुम्हारी यह विपत्ति देखकर मुझे सत्यप्रतिज्ञ दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण हो आया ॥ ८ ॥

स चापि राजा सह लक्ष्मणेन
वने निवासं पितुरेव शासनात्।
धन्वी चरन् पार्थ मयैव दृष्टो
गिरेः पुरा ऋष्यमूकस्य सानौ ॥ ९ ॥

कुन्तीनन्दन ! प्राचीनकालकी बात है राजा रामचन्द्रजी भी अपने पिताकी आज्ञासे ही केवल धनुष हाथमें लिये लक्ष्मणके साथ वनमें निवास एवं भ्रमण करते थे। उस समय ऋष्यमूकपर्वतके शिखरपर मैंने ही उनका भी दर्शन किया था॥

सहस्रनेत्रप्रतिमो महात्मा
यमस्य नेता नमुचेश्च हन्ता।
पितुर्निदेशादनघः स्वधर्मं
वासं वने दाशरथिश्चकार॥ १० ॥

दशरथनन्दन श्रीराम सर्वथा निष्पाप थे। इन्द्र उनके दूसरे स्वरूप थे। वे यमराजके भी नियन्ता और नमुचि-जैसे दानवोंके नाशक थे, तो भी उन महात्माने पिताकी आज्ञासे अपना धर्म समझकर वनमें निवास किया ॥ १० ॥

स चापि शक्रस्य समप्रभावो
महानुभावः समरेष्वजेयः।
विहाय भोगानचरद् वनेषु
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ ११ ॥

जो इन्द्रके समान प्रभावशाली थे, जिनका अनुभव महान् था तथा जो युद्धमें सर्वदा अजेय थे, उन्होंने भी सम्पूर्ण भोगोंका परित्याग करके वनमें निवास किया था। इसलिये अपनेको बलका स्वामी समझकर अधर्म नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

भूपाश्च नाभागभगीरथादयो
महीमिमां सागरान्तां विजित्य।
सत्येन तेऽप्यजयंस्तात लोकान्
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १२ ॥

नाभाग और भगीरथ आदि राजाओंने भी समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको जीतकर सत्यके द्वारा उत्तम लोकोंपर विजय पायी। इसलिये तात ! अपनेको बलका स्वामी मानकर अधर्मका आचरण नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

अलर्कमाहुर्नरवर्य सन्तं
सत्यव्रतं काशिकरूषराजम्।
विहाय राज्यानि वसूनि चैव
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १३ ॥

नरश्रेष्ठ ! काशी और करूषदेशके राजा अलर्कको सत्य-प्रतिज्ञ संत बताया गया है। उन्होंने राज्य और धन त्यागकर धर्मका आश्रय लिया है। अतः अपनेको अधिक शक्तिशाली समझकर अधर्मका आचरण नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

धात्रा विधिर्यो विहितः पुराणै-
स्तं पूजयन्तो नरवय सन्तः।
सप्तर्षयः पार्थ दिवि प्रभान्ति
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १४ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार ! विधाताने पुरातन वेद-वाक्योंद्वारा जो अग्निहोत्र आदि कर्मोंका विधान किया है, उसका समादर करनेके कारण ही साधु सप्तर्षिगण देवलोकमें प्रकाशित हो रहे हैं। अतः अपनेको शक्तिशाली मानकर कभी अधर्मका आचरण नहीं करना चाहिये ॥ १४ ॥

महाबलान् पर्वतकूटमात्रान्
विषाणिनः पश्य गजान् नरेन्द्र।
स्थितान् निदेशे नरवर्य धातु-
र्नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर! पर्वतशिखरके समान ऊँचे और बड़े-बड़े दाँतोंवाले इन महाबली गजराजोंकी ओर तो देखो। ये भी विधाताके आदेशका पालन करनेमें लगे हैं। इसलिये मैं शक्तिका स्वामी हूँ ऐसा समझकर कभी अधर्माचरण न करे ॥ १५ ॥

सर्वाणि भूतानि नरेन्द्र पश्य
तथा यथावद् विहितं विधात्रा ।
स्वयोनितः कर्म सदा चरन्ति
नेशो बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १६ ॥

नरेन्द्र! देखो, ये समस्त प्राणी विधाताके विधानके अनुसार अपनी योनिके अनुरूप सदा कार्य करते रहते हैं, अतः अपनेको बलका स्वामी समझकर अधर्म न करे ॥१६॥

सत्येन धर्मेण यथार्हवृत्त्या
ह्रिया तथा सर्वभूतान्यतीत्य ।
यशश्च तेजश्च तवापि दीप्तं
विभावसोर्भास्करस्येव पार्थ ॥ १७ ॥

कुन्तीनन्दन! तुम अपने सत्य, धर्म, यथायोग्य बर्ताव तथा लज्जा आदि सद्गुणोंके कारण समस्त प्राणियोंसे ऊँचे उठे हुए हो। तुम्हारा यश और तेज अग्नि तथा सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा है ॥ १७ ॥

यथाप्रतिज्ञं च महानुभाव
कृच्छ्रं वने वासमिमं निरुष्य ।
ततः श्रियं तेजसा तेन दीप्ता-
मादास्यसे पार्थिव कौरवेभ्यः ॥ १८ ॥

महानुभाव नरेश! तुम अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार इस कष्टसाध्य वनवासकी अवधि पूरी करके कौरवोंके हाथसे अपनी तेजस्विनी राजलक्ष्मीको प्राप्त कर लोगे ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमेवमुक्त्वा वचनं महर्षि-
स्तपस्विमध्ये सहितं सुहृद्भिः ।
आमन्त्र्य धौम्यं सहितांश्च पार्था-
स्ततः प्रतस्थे दिशमुत्तरां सः ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तपस्वी महात्माओंके बीचमें अपने सुहृदोंके साथ बैठे हुए धर्मराज युधिष्ठिरसे पूर्वोक्त बातें कहकर महर्षि मार्कण्डेय धौम्य एवं समस्त पाण्डवोंसे विदा ले उत्तर दिशाकी ओर चल दिये ॥१९॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्वैतवनप्रवेशविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२५॥

षड्विंशोऽध्यायः

दल्भपुत्र बकका युधिष्ठिरको ब्राह्मणोंका महत्त्व बतलाना

वैशम्पायन उवाच

वसत्सु वै द्वैतवने पाण्डवेषु महात्मसु ।
अनुकीर्णं महारण्यं ब्राह्मणैः समपद्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! द्वैतवनमें जब महात्मा पाण्डव निवास करने लगे, उस समय वह विशाल वन ब्राह्मणोंसे भर गया ॥ १ ॥

ईर्यमाणेन सततं ब्रह्मघोषेण सर्वशः ।
ब्रह्मलोकसमं पुण्यमासीद् द्वैतवनं सरः ॥ २ ॥

सरोवरसहित द्वैतवन सदा और सब ओर उच्चारित होनेवाले वेदमन्त्रोंके घोषसे ब्रह्मलोकके समान जान पड़ता था ॥

यजुषामृचां साम्नां च गद्यानां चैव सर्वशः ।
आसीदुच्चार्यमाणानां निःस्वनो हृदयङ्गमः ॥ ३ ॥

यजुर्वेद, ऋग्वेद और सामवेद तथा गद्य-भागके उच्चारणसे जो ध्वनि होती थी, वह हृदयको प्रिय जान पड़ती थी ॥ ३ ॥

ज्याघोषश्चैव पार्थानां ब्रह्मघोषश्च धीमताम् ।
संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं भूय एव व्यरोचत ॥ ४ ॥

कुन्तीपुत्रोंके धनुषकी प्रत्यञ्चाका टंकार-शब्द और बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके वेदमन्त्रोंका घोष दोनों मिलकर ऐसे प्रतीत होते थे, मानो ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्वका सुन्दर संयोग हो रहा था ॥ ४ ॥

अथाब्रवीद् बको दाल्भ्यो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
संध्यां कौन्तेयमासीनमृषिभिः परिवारितम् ॥ ५ ॥

एक दिन कुन्तीकुमार धर्मराज युधिष्ठिर ऋषियोंसे घिरे हुए संध्योपासना कर रहे थे। उस समय दल्भके पुत्र बक नामक महर्षिने उनसे कहा—॥ ५ ॥

पश्य द्वैतवने पार्थ ब्राह्मणानां तपस्विनाम् ।
होमवेलां कुरुश्रेष्ठ सम्प्रज्वलितपावकाम् ॥ ६ ॥

'कुरुश्रेष्ठ कुन्तीकुमार! देखो, द्वैतवनमें तपस्वी ब्राह्मणोंकी होमवेलाका कैसा सुन्दर दृश्य है। सब ओर वेदियोंपर अग्नि प्रज्वलित हो रही है ॥ ६ ॥

चरन्ति धर्मं पुण्येऽस्मिंस्त्वया गुप्ता धृतव्रताः ।
भृगवोऽङ्गिरसश्चैव वासिष्ठाः काश्यपैः सह ॥ ७ ॥

आगस्त्याश्च महाभागा आत्रेयाश्चोत्तमव्रताः ।
सर्वस्य जगतः श्रेष्ठा ब्राह्मणाः संगतास्त्वया ॥ ८ ॥

'आपके द्वारा सुरक्षित हो व्रत धारण करनेवाले ब्राह्मण इस पुण्य वनमें धर्मका अनुष्ठान कर रहे हैं। भार्गव, आङ्गिरस, वासिष्ठ, काश्यप, महान् सौभाग्यशाली अगस्त्य वंशी तथा श्रेष्ठ व्रतका पालन करनेवाले आत्रेय आदि सम्पूर्ण जगत्के श्रेष्ठ ब्राह्मण यहाँ आकर तुमसे मिले हैं॥७-८॥

इदं तु वचनं पार्थ शृणुष्व गदतो मम ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेय यत् त्वा वक्ष्यामि कौरव॥ ९ ॥

'कुन्तीनन्दन ! कुरुश्रेष्ठ ! भाइयोंसहित तुमसे मैं जो एक बात कह रहा हूँ, इसे ध्यान देकर सुनो ॥ ९ ॥

ब्रह्म क्षत्रेण संसृष्टं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह ।
उदीर्णे दहतः शत्रून् वनानीवाग्निमारुतौ ॥ १० ॥

'जब ब्राह्मण क्षत्रियसे और क्षत्रिय ब्राह्मणसे मिल जाय तो दोनों प्रचण्ड शक्तिशाली होकर उसी प्रकार अपने शत्रुओंको भस्म कर देते हैं, जैसे अग्नि और वायु मिलकर सारे वनको जला देते हैं ॥ १० ॥

नाब्राह्मणस्तात चिरं बुभूषे-
दिच्छन्निमं लोकममुं च जेतुम् ।
विनीतधर्मार्थमपेतमोहं
लब्ध्वा द्विजं नुदति नृपः सपत्नान् ॥ ११॥

'तात ! इहलोक और परलोकपर विजय पानेकी इच्छा रखनेवाला राजा किसी ब्राह्मणको साथ लिये बिना अधिक कालतक न रहे । जिसे धर्म और अर्थकी शिक्षा मिली हो तथा जिसका मोह दूर हो गया हो, ऐसे ब्राह्मणको पाकर राजा अपने शत्रुओंका नाश कर देता है ॥ ११ ॥

चरन् नैःश्रेयसं धर्मं प्रजापालनकारितम् ।
नाध्यगच्छद् बलिर्लोके तीर्थमन्यत्र वै द्विजात् ॥ १२ ॥

'राजा बलिको प्रजापालनजनित कल्याणकारी धर्मका आचरण करनेके लिये ब्राह्मणका आश्रय लेनेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं जान पड़ा था ॥ १२ ॥

अनूनमासीदसुरस्य कामै-
र्वैरोचनेः श्रीरपि चाक्षयाऽऽसीत् ।
लब्ध्वा महीं ब्राह्मणसम्प्रयोगात्
तेष्वाचरन् दुष्टमथो व्यनश्यत् ॥ १३ ॥

'ब्राह्मणके सहयोगसे पृथ्वीका राज्य पाकर विरोचन-पुत्र बलि नामक असुरका जीवन सम्पूर्ण आवश्यक कामोपभोगकी सामग्रीसे सम्पन्न हो गया और अक्षय राज्यलक्ष्मी भी प्राप्त हो गयी । परंतु वह उन ब्राह्मणोंके साथ दुर्व्यवहार करनेपर नष्ट हो गया—उसका राज्यलक्ष्मीसे वियोग हो गया * ॥ १३ ॥

नाब्राह्मणं भूमिरियं सभूति-
र्वर्णं द्वितीयं भजते चिराय ।
समुद्रनेमिर्नमते तु तस्मै
यं ब्राह्मणः शास्ति नयैर्विनीतम् ॥ १४ ॥

'जिसे ब्राह्मणका सहयोग नहीं प्राप्त है, ऐसे क्षत्रियके पास यह ऐश्वर्यपूर्ण भूमि दीर्घ कालतक नहीं रहती । जिस नीतिज्ञ राजाको श्रेष्ठ ब्राह्मणका उपदेश प्राप्त है, उसके सामने समुद्रपर्यन्त पृथिवी नतमस्तक होती है ॥ १४ ॥

कुञ्जरस्येव संग्रामे परिगृह्याङ्कुशग्रहम् ।
ब्राह्मणैर्विप्रहीणस्य क्षत्रस्य क्षीयते बलम् ॥ १५ ॥

'जैसे संग्राममें हाथीसे महावतको अलग कर देनेपर उसकी सारी शक्ति व्यर्थ हो जाती है, उसी प्रकार ब्राह्मण-रहित क्षत्रियका सारा बल क्षीण हो जाता है ॥ १५ ॥

ब्राह्मण्यनुपमा दृष्टिः क्षात्रमप्रतिमं बलम् ।
तौ यदा चरतः सार्धं तदा लोकः प्रसीदति ॥ १६ ॥

'ब्राह्मणोंके पास अनुपम दृष्टि (विचारशक्ति) होती है और क्षत्रियके पास अनुपम बल होता है । ये दोनों जब साथ-साथ कार्य करते हैं, तब सारा जगत् सुखी होता है ॥ १६ ॥

यथा हि सुमहानग्निः कक्षं दहति सानिलः ।
तथा दहति राजन्यो ब्राह्मणेन समं रिपुम् ॥ १७ ॥

'जैसे प्रचण्ड अग्नि वायुका सहारा पाकर सूखे जंगलको जला डालती है, उसी प्रकार ब्राह्मणकी सहायतासे राजा अपने शत्रुको भस्म कर देता है ॥ १७ ॥

ब्राह्मणेष्वेव मेधावी बुद्धिपर्येषणं चरेत् ।
अलब्धस्य च लाभाय लब्धस्य परिवृद्धये ॥ १८ ॥

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी वृद्धिके लिये ब्राह्मणोंसे बुद्धि ग्रहण करे ॥ १८ ॥

अलब्धलाभाय च लब्धवृद्धये
यथार्हतीर्थप्रतिपादनाय ।
यशस्विनं वेदविदं विपश्चितं
बहुश्रुतं ब्राह्मणमेव वासय ॥ १९ ॥

'राजन् ! अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी वृद्धिके लिये यथायोग्य उपाय बतानेके निमित्त तुम अपने यहाँ यशस्वी, बहुश्रुत एवं वेदज्ञ विद्वान् ब्राह्मणको बसाओ ॥ १९ ॥

ब्राह्मणेषूत्तमा वृत्तिस्तव नित्यं युधिष्ठिर ।
तेन ते सर्वलोकेषु दीप्यते प्रथितं यशः ॥ २० ॥

'युधिष्ठिर ! ब्राह्मणोंके प्रति तुम्हारे हृदयमें सदा उत्तम भाव है, इसीलिये सब लोकोंमें तुम्हारा यश विख्यात एवं प्रकाशित है ॥ २० ॥

* बलिका ब्राह्मणोंके साथ दुर्व्यवहार करनेपर उसका राज्यलक्ष्मीसे वियोग होनेका प्रसङ्ग शान्तिपर्वके २२५ वें अध्यायमें आता है ।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे बकं दाल्भ्यमपूजयन् ।
युधिष्ठिरे स्तूयमाने भूयः सुमनसोऽभवन् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर युधिष्ठिरकी बड़ाई करनेपर उन सब ब्राह्मणोंने बकका आदर-सत्कार किया और उन सब ब्राह्मणोंका चित्त प्रसन्न हो गया ॥ २१ ॥

द्वैपायनो नारदश्च जामदग्न्यः पृथुश्रवाः ।
इन्द्रद्युम्नो भालुकिश्च कृतचेताः सहस्रपात् ॥ २२ ॥
कर्णश्रवाश्च मुञ्जश्च लवणाश्वश्च काश्यपः ।
हारीतः स्थूणकर्णश्च अग्निवेश्योऽथ शौनकः ॥ २३ ॥
कृतवाक् च सुवाक् चैव बृहदश्वो विभावसुः ।
ऊर्ध्वरेता वृषामित्रः सुहोत्रो होत्रवाहनः ॥ २४ ॥
एते चान्ये च बहवो ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।
अजातशत्रुमानर्चुः पुरंदरमिवर्षयः ॥ २५ ॥

द्वैपायन व्यास, नारद, परशुराम, पृथुश्रवा, इन्द्रद्युम्न, भालुकि, कृतचेता, सहस्रपात्, कर्णश्रवा, मुञ्ज, लवणाश्व, काश्यप, हारीत, स्थूणकर्ण, अग्निवेश्य, शौनक, कृतवाक्, सुवाक्, बृहदश्व, विभावसु, ऊर्ध्वरेता, वृषामित्र, सुहोत्र, तथा होत्रवाहन—ये सब ब्रह्मर्षि तथा राजर्षिगण और दूसरे कठोर व्रतका पालन करनेवाले बहुत-से ब्राह्मण अजातशत्रु युधिष्ठिरका उसी प्रकार आदर करते थे, जैसे महर्षि लोग देवराज इन्द्रका ॥ २२–२५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वमें अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्वैतवनप्रवेशविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

द्रौपदीका युधिष्ठिरसे उनके शत्रुविषयक क्रोधको उभाड़नेके लिये संतापपूर्ण वचन

वैशम्पायन उवाच

ततो वनगताः पार्थाः सायाह्ने सह कृष्णया ।
उपविष्टाः कथाश्चक्रुर्दुःखशोकपरायणाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वनमें गये हुए पाण्डव एक दिन सायंकालमें द्रौपदीके साथ बैठकर दुःख और शोकमें मग्न हो कुछ बातचीत करने लगे ॥ १ ॥

प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता ।
अथ कृष्णा धर्मराजमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

पतिव्रता द्रौपदी पाण्डवोंकी प्रिया, दर्शनीया और विदुषी थी । उसने धर्मराजसे इस प्रकार कहा ॥ २ ॥

द्रौपद्युवाच

न नूनं तस्य पापस्य दुःखमस्मासु किंचन ।
विद्यते धार्तराष्ट्रस्य नृशंसस्य दुरात्मनः ॥ ३ ॥

द्रौपदी बोली—राजन् ! मैं समझती हूँ, उस क्रूर स्वभाववाले दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्र पापी दुर्योधनके मनमें हमलोगोंके लिये तनिक भी दुःख नहीं हुआ होगा ॥ ३ ॥

यस्त्वां राजन् मया सार्धमजिनैः प्रतिवासितम् ।
वनं प्रस्थाप्य दुष्टात्मा नान्वतप्यत दुर्मतिः ॥ ४ ॥

महाराज ! उस नीच बुद्धिवाले दुष्टात्माने आपको भी मृगछाला पहनाकर मेरे साथ वनमें भेज दिया; किंतु इसके लिये उसे थोड़ा भी पश्चात्ताप नहीं हुआ ॥ ४ ॥

आयसं हृदयं नूनं तस्य दुष्कृतकर्मणः ।
यस्त्वां धर्मपरं श्रेष्ठं रूक्षाण्यश्रावयत् तदा ॥ ५ ॥

अवश्य ही उस कुकर्मीका हृदय लोहेका बना है, क्योंकि उसने आप-जैसे धर्मपरायण श्रेष्ठ पुरुषको भी उस समय कटु वचन सुनाये थे ॥ ५ ॥

सुखोचितमदुःखार्हं दुरात्मा ससुहृद्गणः ।
ईदृशं दुःखमानीय मोदते पापपूरुषः ॥ ६ ॥

आप सुख भोगनेके योग्य हैं । दुःखके योग्य कदापि नहीं हैं, तो भी आपको ऐसे दुःखमें डालकर वह पापाचारी दुरात्मा अपने मित्रोंके साथ आनन्दित हो रहा है ॥ ६ ॥

चतुर्णामेव पापानामस्रं न पतितं तदा ।
त्वयि भारत निष्क्रान्ते वनायाजिनवाससि ॥ ७ ॥

भारत ! जब आप वल्कल-वस्त्र धारण करके वनमें जानेके लिये निकले, उस समय केवल चार ही पापात्माओंके नेत्रोंसे आँसू नहीं गिरा था ॥ ७ ॥

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुर्भ्रातुस्तस्य चोग्रस्य राजन् दुःशासनस्य च ॥ ८ ॥

दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि तथा उग्र स्वभाववाले दुष्ट भ्राता दुःशासन—इन्हींकी आँखोंमें आँसू नहीं थे ॥ ८ ॥

इतरेषां तु सर्वेषां कुरूणां कुरुसत्तम ।
दुःखेनाभिपरीतानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ ९ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! अन्य सभी कुरुवंशी दुःखमें डूबे हुए थे और उनके नेत्रोंसे अश्रुवर्षा हो रही थी ॥ ९ ॥

इदं च शयनं दृष्ट्वा यच्चासीत् ते पुरातनम् ।
शोचामि त्वां महाराज दुःखानर्हं सुखोचितम् ॥ १० ॥

महाराज ! आज आपकी यह शय्या देखकर मुझे पहलेकी राजोचित शय्याका स्मरण हो आता है और मैं आपके लिये शोकमें मग्न हो जाती हूँ; क्योंकि आप दुःखके अयोग्य और सुखके ही योग्य हैं ॥ १० ॥

दान्तं यच्च सभामध्य आसनं रत्नभूषितम् ।
दृष्ट्वा कुशबृषीं चेमां शोको मां प्रदहत्ययम् ॥ ११ ॥

सभाभवनमें जो रत्नजटित हाथीदाँतका सिंहासन है, उसका स्मरण करके जब मैं इस कुशकी चटाईको देखती हूँ, तब शोक मुझे दग्ध किये देता है ॥ ११ ॥

यदपश्यं सभायां त्वां राजभिः परिवारितम् ।
तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ १२ ॥

राजन् ! मैं इन्द्रप्रस्थकी सभामें आपको राजाओंसे घिरा हुआ देख चुकी हूँ, अतः आज वैसी अवस्थामें आपको न देखकर मेरे हृदयको क्या शान्ति मिल सकती है ? ॥ १२ ॥

या त्वाहं चन्दनादिग्धमपश्यं सूर्यवर्चसम् ।
सा त्वां पङ्कमलादिग्धं दृष्ट्वा मुह्यामि भारत ॥ १३ ॥

भारत ! जो पहले आपको चन्दनचर्चित एवं सूर्यके समान तेजस्वी देखती रही हूँ, वही मैं आपको कीचड़ एवं मैलसे मलिन देखकर मोहके कारण दुःखित हो रही हूँ ॥ १३ ॥

या त्वाहं कौशिकैर्वस्त्रैः शुभ्रैराच्छादितं पुरा ।
दृष्टवत्यस्मि राजेन्द्र सा त्वां पश्यामि चीरिणम् ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! जो मैं पहले आपको उज्ज्वल रेशमी वस्त्रोंसे आच्छादित देख चुकी हूँ, वही आज वल्कल-वस्त्र पहिने देखती हूँ ॥ १४ ॥

यच्च तद्रुक्मपात्रीभिर्ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ।
ह्रियते ते गृहादन्नं संस्कृतं सार्वकामिकम् ॥ १५ ॥

एक दिन वह था कि आपके घरसे सहस्रों ब्राह्मणोंके लिये सोनेकी थालियोंमें सब प्रकारकी रुचिके अनुकूल तैयार किया हुआ सुन्दर भोजन परोसा जाता था ॥ १५ ॥

यतीनामगृहाणां ते तथैव गृहमेधिनाम् ।
दीयते भोजनं राजन्नतीवगुणवत् प्रभो ॥ १६ ॥

शक्तिशाली महाराज ! उन दिनों प्रतिदिन यतियों, ब्रह्मचारियों और गृहस्थ ब्राह्मणोंको भी अत्यन्त गुणकारी भोजन अर्पित किया जाता था ॥ १६ ॥

सत्कृतानि सहस्राणि सर्वकामैः पुरा गृहे ।
सर्वकामैः सुविहितैर्यदपूजयथा द्विजान् ॥ १७ ॥

पहले आपके राजभवनमें सहस्रों (सुवर्णमय) पात्र थे, जो सम्पूर्ण इच्छानुकूल भोज्य पदार्थोंसे भरे-पूरे रहते थे और उनके द्वारा आप समस्त अभीष्ट मनोरथोंकी पूर्ति करते हुए प्रतिदिन ब्राह्मणोंका सत्कार करते थे ॥ १७ ॥

तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे ।
यत् ते भ्रातॄन् महाराज युवानो मृष्टकुण्डलाः ॥ १८ ॥
अभोजयन्त मिष्टान्नैः सूदाः परमसंस्कृतैः ।
सर्वांस्तानद्य पश्यामि वने वन्येन जीविनः ॥ १९ ॥

राजन् ! आज वह सब न देखनेके कारण मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी ? महाराज ! आपके जिन भाइयोंको कानोंमें सुन्दर कुण्डल पहने हुए तरुण रसोइये अच्छे प्रकारसे बनाये हुए स्वादिष्ठ अन्न परोसकर भोजन कराया करते थे, उन सबको आज वनमें जंगली फल-मूलसे जीवन-निर्वाह करते देख रही हूँ ॥ १८-१९ ॥

अदुःखार्हान् मनुष्येन्द्र नोपशाम्यति मे मनः ।
भीमसेनमिमं चापि दुःखितं वनवासिनम् ॥ २० ॥
ध्यायतः किं न मन्युस्ते प्राप्ते काले विवर्धते ।
भीमसेनं हि कर्माणि स्वयं कुर्वाणमच्युतम् ॥ २१ ॥
सुखार्हं दुःखितं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

नरेन्द्र ! आपके भाई दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं; आज इन्हें दुःखमें देखकर मेरा चित्त किसी प्रकार शान्त नहीं हो पाता है । महाराज ! वनमें रहकर दुःख भोगते हुए इन अपने भाई भीमसेनका स्मरण करके समय आनेपर क्या शत्रुओंके प्रति आपका क्रोध नहीं बढ़ेगा ? मैं पूछती हूँ— युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले और सुख भोगनेके योग्य भीमसेनको स्वयं अपने हाथोंसे सब काम करते और दुःख उठाते देखकर शत्रुओंपर आपका क्रोध क्यों नहीं भड़क उठता ? ॥ २०-२१½ ॥

सत्कृतं विविधैर्यानैर्वस्त्रैरुच्चावचैस्तथा ॥ २२ ॥
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

विविध सवारियाँ और नाना प्रकारके वस्त्रोंसे जिनका सत्कार होता था, उन्हीं भीमसेनको वनमें कष्ट उठाते देख शत्रुओंके प्रति आपका क्रोध प्रज्वलित क्यों नहीं होता ? ॥ २२½ ॥

अयं कुरून् रणे सर्वान् हन्तुमुत्सहते प्रभुः ॥ २३ ॥
त्वत्प्रतिज्ञां प्रतीक्षंस्तु सहतेऽयं वृकोदरः ।

ये शक्तिशाली भीमसेन युद्धमें समस्त कौरवोंको नष्ट कर देनेका उत्साह रखते हैं, परंतु आपकी प्रतिज्ञा-पूर्तिकी प्रतीक्षा करनेके करण अबतक शत्रुओंके अपराधको सहन करते हैं ॥ २३½ ॥

योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ॥ २४ ॥
शरावमर्दे शीघ्रत्वात् कालान्तकयमोपमः ।
यस्य शस्त्रप्रतापेन प्रणताः सर्वपार्थिवाः ॥ २५ ॥
यज्ञे तव महाराज ब्राह्मणानुपतस्थिरे ।

तमिमं पुरुषव्याघ्रं पूजितं देवदानवैः ॥ २६ ॥
ध्यायन्तमर्जुनं दृष्ट्वा कस्माद् राजन् न कुप्यसि।

राजन्! आपके जो भाई अर्जुन दो ही भुजाओंसे युक्त होनेपर भी सहस्र भुजाओंसे विभूषित कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी हैं, बाण चलानेमें अत्यन्त फुर्ती रखनेके कारण जो शत्रुओंके लिये काल, अन्तक और यमके समान भयंकर हैं; महाराज! जिनके शस्त्रोंके प्रतापसे समस्त भूपाल नतमस्तक हो आपके यज्ञमें ब्राह्मणोंकी सेवाके लिये उपस्थित हुए थे, उन्हीं इन देव-दानवपूजित पुरुषसिंह अर्जुनको चिन्तामग्न देखकर आप शत्रुओंपर क्रोध क्यों नहीं करते? ॥ २४–२६½ ॥

दृष्ट्वा वनगतं पार्थमदुःखार्हं सुखोचितम् ॥ २७ ॥
न च ते वर्धते मन्युस्तेन मुह्यामि भारत ।

भारत! दुःखके अयोग्य और सुख भोगनेके योग्य अर्जुनको वनमें दुःख भोगते देखकर भी जो शत्रुओंके प्रति आपका क्रोध नहीं उमड़ता, इससे मैं मोहित हो रही हूँ॥ २७½॥

यो देवांश्च मनुष्यांश्च सर्पांश्चैकरथोऽजयत् ॥ २८ ॥
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

जिन्होंने एकमात्र रथकी सहायतासे देवताओं, मनुष्यों और नागोंपर विजय पायी है, उन्हीं अर्जुनको वनवासका दुःख भोगते देख आपका क्रोध क्यों नहीं बढ़ता? ॥ २८½ ॥

यो यानैरद्भुताकारैर्हयैर्नागैश्च संवृतः ॥ २९ ॥
प्रसह्य वित्तान्यादत्त पार्थिवेभ्यः परंतप ।
क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्चबाणशतानि यः ॥ ३० ॥
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

परंतप! जिन्होंने पराजित नरेशोंके दिये हुए अद्भुत आकारवाले रथों, घोड़ों और हाथियोंसे घिरे हुए कितने ही राजाओंसे बलपूर्वक धन लिये थे, जो एक ही वेगसे पाँच सौ बाणोंका प्रहार करते हैं, उन्हीं अर्जुनको वनवासका कष्ट भोगते देख शत्रुओंपर आपका क्रोध क्यों नहीं बढ़ता? ॥ २९–३०½ ॥

श्यामं बृहन्तं तरुणं चर्मिणामुत्तमं रणे ॥ ३१ ॥
नकुलं ते वने दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

जो युद्धमें ढाल और तलवारसे लड़नेवाले वीरोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनकी कद ऊँची है तथा जो श्यामवर्णके तरुण हैं, उन्हीं नकुलको आज वनमें कष्ट उठाते देखकर आपको क्रोध क्यों नहीं होता? ॥ ३१½ ॥

दर्शनीयं च शूरं च माद्रीपुत्रं युधिष्ठिर ॥ ३२ ॥
सहदेवं वने दृष्ट्वा कस्मात् क्षमसि पार्थिव ।

महाराज युधिष्ठिर! माद्रीके परम सुन्दर पुत्र शूरवीर सहदेवको वनवासका दुःख भोगते देखकर आप शत्रुओंको क्षमा कैसे कर रहे हैं? ॥ ३२½ ॥

नकुलं सहदेवं च दृष्ट्वा ते दुःखितावुभौ ॥ ३३ ॥
अदुःखार्हौ मनुष्येन्द्र कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

नरेन्द्र! नकुल और सहदेव दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं। इन दोनोंको आज दुखी देखकर आपका क्रोध क्यों नहीं बढ़ रहा है? ॥ ३३½ ॥

द्रुपदस्य कुले जातां स्नुषां पाण्डोर्महात्मनः ॥ ३४ ॥
धृष्टद्युम्नस्य भगिनीं वीरपत्नीमनुव्रताम् ।
मां वै वनगतां दृष्ट्वा कस्मात् क्षमसि पार्थिव ॥ ३५ ॥

मैं द्रुपदके कुलमें उत्पन्न हुई महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू, वीर धृष्टद्युम्नकी बहिन तथा वीरशिरोमणि पाण्डवोंकी पतिव्रता पत्नी हूँ। महाराज! मुझे इस प्रकार वनमें कष्ट उठाती देखकर भी आप शत्रुओंके प्रति क्षमाभाव कैसे धारण करते हैं? ॥ ३४-३५ ॥

नूनं च तव वै नास्ति मन्युर्भरतसत्तम ।
यत् ते भ्रातॄंश्च मां चैव दृष्ट्वा न व्यथते मनः ॥ ३६ ॥

भरतश्रेष्ठ! निश्चय ही आपके हृदयमें क्रोध नहीं है, क्योंकि मुझे और अपने भाइयोंको भी कष्टमें पड़ा देख आपके मनमें व्यथा नहीं होती है! ॥ ३६ ॥

न निर्मन्युः क्षत्रियोऽस्ति लोके निर्वचनं स्मृतम्।
तदद्य त्वयि पश्यामि क्षत्रिये विपरीतवत् ॥ ३७ ॥

संसारमें कोई भी क्षत्रिय क्रोधरहित नहीं होता, क्षत्रिय शब्दकी व्युत्पत्ति ही ऐसी है, जिससे उसका सक्रोध होना सूचित होता है। * परंतु आज आप-जैसे क्षत्रियमें मुझे यह क्रोधका अभाव क्षत्रियत्वके विपरीत-सा दिखायी देता है॥ ३७॥

यो न दर्शयते तेजः क्षत्रियः काल आगते ।
सर्वभूतानि तं पार्थ सदा परिभवन्त्युत ॥ ३८ ॥

कुन्तीनन्दन! जो क्षत्रिय समय आनेपर अपने प्रभावको नहीं दिखाता, उसका सब प्राणी सदा तिरस्कार करते हैं ३८

तत् त्वया न क्षमा कार्या शत्रून् प्रति कथंचन ।
तेजसैव हि ते शक्या निहन्तुं नात्र संशयः ॥ ३९ ॥

महाराज! आपको शत्रुओंके प्रति किसी प्रकार भी क्षमाभाव नहीं धारण करना चाहिये। तेजसे ही उन सबका वध किया जा सकता है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है॥ ३९॥

तथैव यः क्षमाकाले क्षत्रियो नोपशाम्यति ।
अप्रियः सर्वभूतानां सोऽमुत्रेह च नश्यति ॥ ४० ॥

इसी प्रकार जो क्षत्रिय क्षमा करनेके योग्य समय आनेपर शान्त नहीं होता, वह सब प्राणियोंके लिये अप्रिय हो जाता है और इह लोक तथा परलोकमें भी उसका विनाश ही होता है ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीपरितापवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदीके अनुतापपूर्णवचनविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२७॥

* क्षरते इति क्षत्रम्—जो दुष्टोंका क्षरण—नाश करता है, वह क्षत्रिय है ।

अष्टाविंशोऽध्यायः

द्रौपदीद्वारा प्रह्लाद-बलि-संवादका वर्णन—तेज और क्षमाके अवसर

द्रौपद्युवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं बलेर्वैरोचनस्य च ॥ १ ॥

द्रौपदी कहती है—महाराज ! इस विषयमें प्रह्लाद तथा विरोचनपुत्र बलिके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

असुरेन्द्रं महाप्राज्ञं धर्माणामागतागमम् ।
बलिः पप्रच्छ दैत्येन्द्रं प्रह्लादं पितरं पितुः ॥ २ ॥

असुरोंके स्वामी परम बुद्धिमान् दैत्यराज प्रह्लाद सभी धर्मोंके रहस्यको जाननेवाले थे । एक समय बलिने उन अपने पितामह प्रह्लादजीसे पूछा ॥ २ ॥

बलिरुवाच

क्षमा स्विच्छ्रेयसी तात उताहो तेज इत्युत ।
एतन्मे संशयं तात यथावद् ब्रूहि पृच्छते ॥ ३ ॥

बलिने पूछा—तात ! क्षमा और तेजमेंसे क्षमा श्रेष्ठ है अथवा तेज ? यह मेरा संशय है । मैं इसका समाधान पूछता हूँ । आप इस प्रश्नका यथार्थ निर्णय कीजिये ॥ ३ ॥

श्रेयो यदत्र धर्मज्ञ ब्रूहि मे तदसंशयम् ।
करिष्यामि हि तत् सर्वं यथावदनुशासनम् ॥ ४ ॥

धर्मज्ञ ! इनमें जो श्रेष्ठ है, वह मुझे अवश्य बताइये, मैं आपके सब आदेशोंका यथावत् पालन करूँगा ॥ ४ ॥

तस्मै प्रोवाच तत् सर्वमेवं पृष्टः पितामहः ।
सर्वनिश्चयवित् प्राज्ञः संशयं परिपृच्छते ॥ ५ ॥

बलिके इस प्रकार पूछनेपर समस्त सिद्धान्तोंके ज्ञाता विद्वान् पितामह प्रह्लादने संदेह निवारण करनेके लिये पूछनेवाले पौत्रके प्रति इस प्रकार कहा ॥ ५ ॥

प्रह्लाद उवाच

न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा ।
इति तात विजानीहि द्वयमेतदसंशयम् ॥ ६ ॥

प्रह्लाद बोले—तात ! न तो तेज ही सदा श्रेष्ठ है और न क्षमा ही । इन दोनोंके विषयमें मेरा ऐसा ही निश्चय जानो, इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

यो नित्यं क्षमते तात बहून् दोषान् स विन्दति ।
भृत्याः परिभवन्त्येनमुदासीनास्तथारयः ॥ ७ ॥
सर्वभूतानि चाप्यस्य न नमन्ति कदाचन ।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपि वर्जिता ॥ ८ ॥

वत्स ! जो सदा क्षमा ही करता है, उसे अनेक दोष प्राप्त होते हैं । उसके भृत्य, शत्रु तथा उदासीन व्यक्ति सभी उसका तिरस्कार करते हैं । कोई भी प्राणी कभी उसके सामने विनयपूर्ण बर्ताव नहीं करते, अतः तात ! सदा क्षमा करना विद्वानोंके लिये भी वर्जित है ॥ ७-८ ॥

अवज्ञाय हि तं भृत्या भजन्ते बहुदोषताम् ।
आदातुं चास्य वित्तानि प्रार्थयन्तेऽल्पचेतसः ॥ ९ ॥

सेवकगण उसकी अवहेलना करके बहुत-से अपराध करते रहते हैं । इतना ही नहीं, वे मूर्ख भृत्यगण उसके धनको भी हड़प लेनेका हौसला रखते हैं ॥ ९ ॥

यानं वस्त्राण्यलंकाराञ्छयनान्यासनानि च ।
भोजनान्यथ पानानि सर्वोपकरणानि च ॥ १० ॥
आददीरन्नधिकृता यथाकाममचेतसः ।
प्रदिष्टानि च देयानि न दद्युर्भर्तृशासनात् ॥ ११ ॥

विभिन्न कार्योंमें नियुक्त किये हुए मूर्ख सेवक अपने इच्छानुसार क्षमाशील स्वामीके रथ, वस्त्र, अलङ्कार, शय्या, आसन, भोजन, पान तथा समस्त सामग्रियोंका उपयोग करते रहते हैं तथा स्वामीकी आज्ञा होनेपर भी किसीको देनेयोग्य वस्तुएँ नहीं देते हैं ॥ १०-११ ॥

न चैनं भर्तृपूजाभिः पूजयन्ति कथंचन ।
अवज्ञानं हि लोकेऽस्मिन् मरणादपि गर्हितम् ॥ १२ ॥

स्वामीका जितना आदर होना चाहिये, उतना आदर वे किसी प्रकार भी नहीं करते । इस संसारमें सेवकोंद्वारा अपमान तो मृत्युसे भी अधिक निन्दित है ॥ १२ ॥

क्षमिणं तादृशं तात ब्रुवन्ति कटुकान्यपि ।
प्रेष्याः पुत्राश्च भृत्याश्च तथोदासीनवृत्तयः ॥ १३ ॥

तात ! उपर्युक्त क्षमाशीलको अपने सेवक, पुत्र, भृत्य तथा उदासीनवृत्तिके लोग कटुवचन भी सुनाया करते हैं ॥ १३ ॥

अथास्य दारानिच्छन्ति परिभूय क्षमावतः ।
दाराश्चास्य प्रवर्तन्ते यथाकाममचेतसः ॥ १४ ॥

इतना ही नहीं, वे क्षमाशील स्वामीकी अवहेलना करके उसकी स्त्रियोंको भी हस्तगत करना चाहते हैं और वैसे पुरुषकी मूर्ख स्त्रियाँ भी स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त हो जाती हैं ॥

तथा च नित्यमुदिता यदि नाल्पमपीश्वरात् ।
दण्डमर्हन्ति दुष्यन्ति दुष्टाश्चाप्यपकुर्वते ॥ १५ ॥

यदि उन्हें अपने स्वामीसे तनिक भी दण्ड नहीं मिलता तो वे सदा मौज उड़ाती हैं और आचारसे दूषित हो जाती

हैं । दुष्टा होनेपर वे अपने स्वामीका अपकार भी कर बैठती हैं ॥ १५ ॥

एते चान्ये च बहवो नित्यं दोषाः क्षमावताम् ।
अथ वैरोचने दोषानिमान् विद्ध्यक्षमावताम् ॥ १६ ॥

सदा क्षमा करनेवाले पुरुषोंको ये तथा और भी बहुत-से दोष प्राप्त होते हैं । विरोचनकुमार ! अब क्षमा न करनेवालोंके दोषोंको सुनो ॥ १६ ॥

अस्थाने यदि वा स्थाने सततं रजसाऽऽवृतः ।
क्रुद्धो दण्डान् प्रणयति विविधान् स्वेन तेजसा ॥ १७ ॥

क्रोधी मनुष्य रजोगुणसे आवृत होकर योग्य या अयोग्य अवसरका विचार किये बिना ही अपने उत्तेजित स्वभावसे लोगोंको नाना प्रकारके दण्ड देता रहता है ॥ १७ ॥

मित्रैः सह विरोधं च प्राप्नुते तेजसाऽऽवृतः ।
आप्नोति द्वेष्यतां चैव लोकात् स्वजनतस्तथा ॥ १८ ॥

तेज (उत्तेजना) से व्याप्त मनुष्य मित्रोंसे विरोध पैदा कर लेता है तथा साधारण लोगों और स्वजनोंका द्वेषपात्र बन जाता है ॥ १८ ॥

सोऽवमानादर्थहानिमुपालम्भमनादरम् ।
संतापद्वेषमोहांश्च शत्रूंश्च लभते नरः ॥ १९ ॥

वह मनुष्य दूसरोंका अपमान करनेके कारण सदा धन-की हानि उठाता है । उपालम्भ सुनता और अनादर पाता है । इतना ही नहीं, वह संताप, द्वेष, मोह तथा नये-नये शत्रु पैदा कर लेता है ॥ १९ ॥

क्रोधाद् दण्डान्मनुष्येषु विविधान् पुरुषोऽनयात् ।
भ्रश्यते शीघ्रमैश्वर्यात् प्राणेभ्यः स्वजनादपि ॥ २० ॥

मनुष्य क्रोधवश अन्यायपूर्वक दूसरे लोगोंपर नाना प्रकारके दण्डका प्रयोग करके अपने ऐश्वर्य, प्राण और स्वजनोंसे भी हाथ धो बैठता है ॥ २० ॥

योपकर्तॄंश्च हर्तॄंश्च तेजसैवोपगच्छति ।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद् वेश्मगतादिव ॥ २१ ॥

जो उपकारी मनुष्यों और चोरोंके साथ भी उत्तेजनायुक्त बर्ताव ही करता है, उससे सब लोग उसी प्रकार उद्विग्न होते हैं, जैसे घरमें रहनेवाले सर्पसे ॥ २१ ॥

यस्मादुद्विजते लोकः कथं तस्य भवो भवेत् ।
अन्तरं तस्य दृष्ट्वैव लोको विकुरुते ध्रुवम् ॥ २२ ॥

जिससे सब लोग उद्विग्न होते हैं, उसे ऐश्वर्यकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? उसका थोड़ा-सा भी छिद्र देखकर लोग निश्चय ही उसकी बुराई करने लगते हैं ॥ २२ ॥

तस्मान्नात्युत्सृजेत् तेजो न च नित्यं मृदुर्भवेत् ।
काले काले तु सम्प्राप्ते मृदुस्तीक्ष्णोऽपि वा भवेत् ॥ २३ ॥

इसलिये न तो सदा उत्तेजनाका ही प्रयोग करे और न सर्वदा कोमल ही बना रहे । समय-समयपर आवश्यकताके अनुसार कभी कोमल और कभी तेजस्वभाववाला बन जाय ॥

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ।
स वै सुखमवाप्नोति लोकेऽमुष्मिन्निहैव च ॥ २४ ॥

जो मौका देखकर कोमल होता है और उपयुक्त अवसर आनेपर भयंकर भी बन जाता है, वही इहलोक और परलोकमें सुख पाता है ॥ २४ ॥

क्षमाकालांस्तु वक्ष्यामि शृणु मे विस्तरेण तान् ।
ये ते नित्यमसंत्याज्या यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥ २५ ॥

अब मैं तुम्हें क्षमाके योग्य अवसर बताता हूँ, उन्हें विस्तारपूर्वक सुनो, जैसा कि मनीषी पुरुष कहते हैं, उन अवसरोंका तुम्हें कभी त्याग नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

पूर्वोपकारी यस्ते स्यादपराधे गरीयसि ।
उपकारेण तत् तस्य क्षन्तव्यमपराधिनः ॥ २६ ॥

जिसने पहले कभी तुम्हारा उपकार किया हो, उससे यदि कोई भारी अपराध हो जाय, तो भी पहलेके उपकारका स्मरण करके उस अपराधीके अपराधको तुम्हें क्षमा कर देना चाहिये ॥ २६ ॥

अबुद्धिमाश्रितानां तु क्षन्तव्यमपराधिनाम् ।
न हि सर्वत्र पाण्डित्यं सुलभं पुरुषेण वै ॥ २७ ॥

जिन्होंने अनजानमें अपराध कर डाला हो, उनका वह अपराध क्षमाके ही योग्य है; क्योंकि किसी भी पुरुषके लिये सर्वत्र विद्वत्ता (बुद्धिमानी) ही सुलभ हो, यह सम्भव नहीं है ॥

अथ चेद् बुद्धिजं कृत्वा ब्रूयुस्ते तदबुद्धिजम् ।
पापान् स्वल्पेऽपि तान् हन्यादपराधे तथानृजून् ॥ २८ ॥

परंतु जो जान-बूझकर किये हुए अपराधको भी उसे कर लेनेके बाद अनजानमें किया हुआ बताते हों, उन उद्दण्ड पापियोंको थोड़े-से अपराधके लिये भी अवश्य दण्ड देना चाहिये ॥ २८ ॥

सर्वस्यैकोऽपराधस्ते क्षन्तव्यः प्राणिनो भवेत् ।
द्वितीये सति वध्यस्तु स्वल्पेऽप्यपकृते भवेत् ॥ २९ ॥

सभी प्राणियोंका एक अपराध तो तुम्हें क्षमा ही कर देना चाहिये । यदि उससे फिर दुबारा अपराध बन जाय तो थोड़े-से अपराधके लिये भी उसे दण्ड देना आवश्यक है ॥

अजानता भवेत् कश्चिदपराधः कृतो यदि ।
क्षन्तव्यमेव तस्याहुः सुपरीक्ष्य परीक्षया ॥ ३० ॥

अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करनेपर यदि यह सिद्ध हो जाय कि अमुक अपराध अनजानमें ही हो गया है, तो उसे क्षमाके ही योग्य बताया गया है ॥ ३० ॥

मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम् ।
नासाध्यं मृदुना किंचित् तस्मात् तीव्रतरं मृदु॥ ३१ ॥

मनुष्य कोमलभाव (सामनीति) के द्वारा उग्र स्वभाव तथा शान्त स्वभावके शत्रुका भी नाश कर देता है; मृदुतासे कुछ भी असाध्य नहीं है । अतः मृदुतापूर्ण नीतिको तीव्रतर (उत्तम) समझे ॥ ३१ ॥

देशकालौ तु सम्प्रेक्ष्य बलाबलमथात्मनः ।
नादेशकाले किंचित् स्याद् देशकालौ प्रतीक्षताम्।
तथा लोकभयाच्चैव क्षन्तव्यमपराधिनः ॥ ३२ ॥

देश, काल तथा अपने बलाबलका विचार करके ही मृदुता (सामनीति) का प्रयोग करना चाहिये । अयोग्य देश अथवा अनुपयुक्त कालमें उसके प्रयोगसे कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता; अतः उपयुक्त देश-कालकी प्रतीक्षा करनी चाहिये । कहीं लोकके भयसे भी अपराधीको क्षमादान देनेकी आवश्यकता होती है ॥ ३२ ॥

एत एवंविधाः कालाः क्षमायाः परिकीर्तिताः ।
अतोऽन्यथानुवर्तत्सु तेजसः काल उच्यते ॥ ३३ ॥

इस प्रकार ये क्षमाके अवसर बताये गये हैं । इनके विपरीत बर्ताव करनेवालोंको राहपर लानेके लिये तेज (उत्तेजनापूर्ण बर्ताव)का अवसर कहा गया है ॥ ३३ ॥

तदहं तेजसः कालं तव मन्ये नराधिप ।
धार्तराष्ट्रेषु लुब्धेषु सततं चापकारिषु ॥ ३४ ॥

(द्रौपदी कहती है—) नरेश्वर ! धृतराष्ट्रके पुत्र लोभी तथा सदा आपका अपकार करनेवाले हैं; अतः उनके प्रति आपके तेजके प्रयोगका यह अवसर आया है, ऐसा मेरा मत है ॥ ३४ ॥

न हि कश्चित् क्षमाकालो विद्यतेऽद्य कुरून् प्रति ।
तेजसश्चागते काले तेज उत्स्रष्टुमर्हसि ॥ ३५ ॥

कौरवोंके प्रति अब क्षमाका कोई अवसर नहीं है । अब तेज प्रकट करनेका अवसर प्राप्त है; अतः उनपर आपको अपने तेजका ही प्रयोग करना चाहिये ॥ ३५ ॥

मृदुर्भवत्यवज्ञातस्तीक्ष्णादुद्विजते जनः ।
काले प्राप्ते द्वयं चैतद् यो वेद स महीपतिः ॥ ३६ ॥

कोमलतापूर्ण बर्ताव करनेवालेकी सब लोग अवहेलना करते हैं और तीक्ष्ण स्वभाववाले पुरुषसे सबको उद्वेग प्राप्त होता है । जो उचित अवसर आनेपर इन दोनोंका प्रयोग करना जानता है, वही सफल भूपाल है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीवाक्येऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा क्रोधकी निन्दा और क्षमाभावकी विशेष प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

क्रोधो हन्ता मनुष्याणां क्रोधो भावयिता पुनः ।
इति विद्धि महाप्राज्ञे क्रोधमूलौ भवाभवौ ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—परम बुद्धिमती द्रौपदी ! क्रोध ही मनुष्योंको मारनेवाला है और क्रोध ही यदि जीत लिया जाय तो अभ्युदय करनेवाला है । तुम यह जान लो कि उन्नति और अवनति दोनों क्रोधमूलक ही हैं (क्रोधको जीतनेसे उन्नति और उसके वशीभूत होनेसे अवनति होती है) ॥ १ ॥

यो हि संहरते क्रोधं भवस्तस्य सुशोभने ।
यः पुनः पुरुषः क्रोधं नित्यं न सहते शुभे ।
तस्याभावाय भवति क्रोधः परमदारुणः ॥ २ ॥

सुशोभने ! जो क्रोधको रोक लेता है, उसकी उन्नति होती है और जो मनुष्य क्रोधके वेगको कभी सहन नहीं कर पाता, उसके लिये वह परम भयंकर क्रोध विनाशकारी बन जाता है ॥ २ ॥

क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते ।
तत् कथं मादृशः क्रोधमुत्सृजेल्लोकनाशनम् ॥ ३ ॥

इस जगत्में क्रोधके कारण लोगोंका नाश होता दिखायी देता है; इसलिये मेरे-जैसा मनुष्य लोकविनाशक क्रोधका उपयोग दूसरोंपर कैसे करेगा ? ॥ ३ ॥

क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि ।
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते ॥ ४ ॥

क्रोधी मनुष्य पाप कर सकता है, क्रोधके वशीभूत मानव गुरुजनोंकी भी हत्या कर सकता है और क्रोधमें भरा हुआ पुरुष अपनी कठोर वाणीद्वारा श्रेष्ठ मनुष्योंका भी अपमान कर देता है ॥ ४ ॥

वाच्यावाच्ये हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित् ।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा ॥ ५ ॥

क्रोधी मनुष्य कभी यह नहीं समझ पाता कि क्या कहना चाहिये और क्या नहीं । क्रोधीके लिये कुछ भी अकार्य अथवा अवाच्य नहीं है ॥ ५ ॥

हिंस्यात् क्रोधादवध्यांस्तु वध्यान् सम्पूजयीत च।
आत्मानमपि च क्रुद्धः प्रेषयेद् यमसादनम् ॥ ६॥

क्रोधवश वह अवध्य पुरुषोंकी भी हत्या कर सकता है और वधके योग्य मनुष्योंकी भी पूजामें तत्पर हो सकता है। इतना ही नहीं, क्रोधी मानव (आत्महत्याद्वारा) अपने आपको भी यमलोकका अतिथि बना सकता है ॥ ६ ॥

एतान् दोषान् प्रपश्यद्भिर्जितः क्रोधो मनीषिभिः।
इच्छद्भिः परमं श्रेय इह चामुत्र चोत्तमम् ॥ ७॥

इन दोषोंको देखनेवाले मनस्वी पुरुषोंने, जो इहलोक और परलोकमें भी परम उत्तम कल्याणकी इच्छा रखते हैं, क्रोधको जीत लिया है ॥ ७ ॥

तं क्रोधं वर्जितं धीरैः कथमस्मद्विधश्चरेत् ।
एतद् द्रौपदि संधाय न मे मन्युः प्रवर्धते ॥ ८ ॥

अतः धीर पुरुषोंने जिसका परित्याग कर दिया है। उस क्रोधको मेरे-जैसा मनुष्य कैसे उपयोगमें ला सकता है ! द्रुपदकुमारी ! यही सोचकर मेरा क्रोध कभी बढ़ता नहीं है ॥ ८॥

आत्मानं च परांश्चैव त्रायते महतो भयात् ।
क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सकः ॥ ९ ॥

क्रोध करनेवाले पुरुषके प्रति जो बदलेमें क्रोध नहीं करता, वह अपनेको और दूसरोंको भी महान् भयसे बचा लेता है । वह अपने और पराये दोनोंके दोषोंको दूर करनेके लिये चिकित्सक बन जाता है ॥ ९ ॥

मूढो यदि क्लिश्यमानः क्रुध्यतेऽशक्तिमान् नरः ।
बलीयसां मनुष्याणां त्यजत्यात्मानमात्मना ॥ १०॥

यदि मूढ़ एवं असमर्थ मनुष्य दूसरोंके द्वारा क्लेश दिये जानेपर स्वयं भी बलिष्ठ मनुष्योंपर क्रोध करता है तो वह अपने ही द्वारा अपने आपका विनाश कर देता है ॥१०॥

तस्यात्मानं संत्यजतो लोका नश्यन्त्यनात्मनः ।
तस्माद् द्रौपद्यशक्तस्य मन्योर्नियमनं स्मृतम् ॥ ११ ॥

अपने चित्तको वशमें न रखनेके कारण क्रोधवश देहत्याग करनेवाले उस मनुष्यके लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं । अतः द्रुपदकुमारी ! असमर्थके लिये अपने क्रोधको रोकना ही अच्छा माना गया है ॥ ११ ॥

विद्वांस्तथैव यः शक्तः क्लिश्यमानो न कुप्यति ।
अनाशयित्वा क्लेष्टारं परलोके च नन्दति ॥ १२ ॥

इसी प्रकार जो विद्वान् पुरुष शक्तिशाली होकर भी दूसरोंद्वारा क्लेश दिये जानेपर स्वयं क्रोध नहीं करता, वह क्लेश देनेवालेका नाश न करके परलोकमें भी आनन्दका भागी होता है ॥ १२ ॥

तस्माद् बलवता चैव दुर्बलेन च नित्यदा ।
क्षन्तव्यं पुरुषेणाहुरापत्स्वपि विजानता ॥१३ ॥

इसलिये बलवान् या निर्बल सभी विज्ञ मनुष्योंको सदा आपत्ति-कालमें भी क्षमाभावका ही आश्रय लेना चाहिये ॥

मन्योर्हि विजयं कृष्णे प्रशंसन्तीह साधवः ।
क्षमावतो जयो नित्यं साधोरिह सतां मतम् ॥१४ ॥

कृष्णे ! साधु पुरुष क्रोधको जीतनेकी ही प्रशंसा करते हैं । संतोंका यह मत है कि इस जगत्में क्षमाशील साधु पुरुषकी सदा जय होती है ॥ १४ ॥

सत्यं चानृततः श्रेयो नृशंस्याच्चानृशंसता ।
तमेवं बहुदोषं तु क्रोधं साधुविवर्जितम् ॥१५ ॥
मादृशः प्रसृजेत् कस्मात् सुयोधनवधादपि।

झूठसे सत्य श्रेष्ठ है । क्रूरतासे दयालुता श्रेष्ठ है, अतः दुर्योधन मेरा वध कर डाले तो भी इस प्रकार अनेक दोषोंसे भरे हुए और सत्पुरुषोंद्वारा परित्यक्त क्रोधका मेरे-जैसा पुरुष कैसे उपयोग कर सकता है ? ॥ १५½ ॥

तेजस्वीति यमाहुर्वै पण्डिता दीर्घदर्शिनः ॥ १६ ॥
न क्रोधोऽभ्यन्तरस्तस्य भवतीति विनिश्चितम् ।

दूरदर्शी विद्वान् जिसे तेजस्वी कहते हैं, उसके भीतर क्रोध नहीं होता; यह निश्चित बात है ॥ १६½ ॥

यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते ॥१७॥
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ।

जो उत्पन्न हुए क्रोधको अपनी बुद्धिसे दबा देता है, उसे तत्त्वदर्शी विद्वान् तेजस्वी मानते हैं ॥ १७½ ॥

क्रुद्धो हि कार्यं सुश्रोणि न यथावत् प्रपश्यति ।
नाकार्यं न च मर्यादां नरः क्रुद्धोऽनुपश्यति ॥ १८ ॥

सुन्दरी ! क्रोधी मनुष्य किसी कार्यको ठीक-ठीक नहीं समझ पाता । वह यह भी नहीं जानता कि मर्यादा क्या है (अर्थात् क्या करना चाहिये) और क्या नहीं करना चाहिये ॥

हन्त्यवध्यानपि क्रुद्धो गुरून् क्रुद्धस्तुदत्यपि ।
तस्मात् तेजसि कर्तव्यः क्रोधो दूरे प्रतिष्ठितः ॥ १९ ॥

क्रोधी मनुष्य अवध्य पुरुषोंका वध कर देता है । क्रोधी मनुष्य गुरुजनोंको कटु वचनोंद्वारा पीड़ा पहुँचाता है । इसलिये जिसमें तेज हो, उस पुरुषको चाहिये कि वह क्रोधको अपनेसे दूर रखे ॥ १९ ॥

दाक्ष्यं ह्यमर्षः शौर्यं च शीघ्रत्वमिति तेजसः ।

गुणाः क्रोधाभिभूतेन न शक्याः प्राप्तुमञ्जसा ॥ २० ॥

दक्षता, अमर्ष, शौर्य और शीघ्रता—ये तेजके गुण हैं। जो मनुष्य क्रोधसे दबा हुआ है, वह इन गुणोंको सहजमें ही नहीं पा सकता ॥ २० ॥

क्रोधं त्यक्त्वा तु पुरुषः सम्यक् तेजोऽभिपद्यते।
कालयुक्तं महाप्राज्ञे क्रुद्धैस्तेजः सुदुःसहम् ॥ २१ ॥

क्रोधका त्याग करके मनुष्य भलीभाँति तेज प्राप्त कर लेता है। महाप्राज्ञे ! क्रोधी पुरुषोंके लिये समयके उपयुक्त तेज अत्यन्त दुःसह है ॥ २१ ॥

क्रोधस्त्वपण्डितैः शश्वत् तेज इत्यभिनिश्चितम्।
रजस्तु लोकनाशाय विहितं मानुषं प्रति ॥ २२॥

मूर्खलोग क्रोधको ही सदा तेज मानते हैं। परंतु रजोगुणजनित क्रोधका यदि मनुष्योंके प्रति प्रयोग हो तो वह लोगोंके नाशका कारण होता है ॥ २२ ॥

तस्माच्छश्वत् त्यजेत् क्रोधं पुरुषः सम्यगाचरन्।
श्रेयान् स्वधर्मानपगो न क्रुद्ध इति निश्चितम् ॥ २३ ॥

अतः सदाचारी पुरुष सदा क्रोधका परित्याग करे। अपने वर्णधर्मके अनुसार न चलनेवाला मनुष्य (अपेक्षाकृत) अच्छा, किंतु क्रोधी नहीं अच्छा—यह निश्चय है ॥ २३ ॥

यदि सर्वमबुद्धीनामतिक्रान्तमचेतसाम्।
अतिक्रमो मद्विधस्य कथंस्वित् स्यादनिन्दिते ॥ २४ ॥

साध्वी द्रौपदी ! यदि मूर्ख और अविवेकी मनुष्य क्षमा आदि सद्गुणोंका उल्लङ्घन कर जाते हैं तो मेरे-जैसा विज्ञ पुरुष उनका अतिक्रमण कैसे कर सकता है ? ॥ २४ ॥

यदि न स्युर्मानुषेषु क्षमिणः पृथिवीसमाः।
न स्यात् संधिर्मनुष्याणां क्रोधमूलो हि विग्रहः ॥ २५ ॥

यदि मनुष्योंमें पृथ्वीके समान क्षमाशील पुरुष न हों तो मानवोंमें कभी सन्धि हो ही नहीं सकती; क्योंकि झगड़ेकी जड़ तो क्रोध ही है ॥ २५ ॥

अभिषक्तो ह्यभिषजेदाहन्याद् गुरुणा हतः।
एवं विनाशो भूतानामधर्मः प्रथितो भवेत् ॥ २६ ॥

यदि कोई अपनेको सतावे तो स्वयं भी उसको सतावे। औरोंकी तो बात ही क्या है, यदि गुरुजन अपनेको मारें तो उन्हें भी मारे बिना न छोड़े; ऐसी धारणा रखनेके कारण सब प्राणियोंका ही विनाश हो जाता है और अधर्म बढ़ जाता है ॥

आक्रुष्टः पुरुषः सर्वं प्रत्याक्रोशेदनन्तरम्।
प्रतिहन्याद्धतश्चैव तथा हिंस्याच्च हिंसितः ॥ २७ ॥

यदि सभी क्रोधके वशीभूत हो जायँ तो एक मनुष्य दूसरेके द्वारा गाली खाकर स्वयं भी बदलेमें उसे गाली दे सकता है। मार खानेवाला मनुष्य बदलेमें मार सकता है। एकका अनिष्ट होनेपर वह दूसरेका भी अनिष्ट कर सकता है ॥ २७ ॥

हन्युर्हि पितरः पुत्रान् पुत्राश्चापि तथा पितॄन्।
हन्युश्च पतयो भार्याः पतीन् भार्यास्तथैव च ॥ २८ ॥

पिता पुत्रोंको मारेंगे और पुत्र पिताको, पति पत्नियोंको मारेंगे और पत्नियाँ पतिको ॥ २८ ॥

एवं संकुपिते लोके शमः कृष्णे न विद्यते।
प्रजानां संधिमूलं हि शमं विद्धि शुभानने ॥ २९ ॥

कृष्णे ! इस प्रकार सम्पूर्ण जगत्के क्रोधका शिकार हो जानेपर तो कहीं शान्ति नहीं रहती। शुभानने ! तुम यह जान लो कि सम्पूर्ण प्रजाकी शान्ति सन्धिमूलक ही है ॥ २९ ॥

ताः क्षिपेरन् प्रजाः सर्वाः क्षिप्रं द्रौपदि तादृशे।
तस्मान्मन्युर्विनाशाय प्रजानामभवाय च ॥ ३० ॥

द्रौपदी ! यदि राजा तुम्हारे कथनानुसार क्रोधी हो जाय तो सारी प्रजाओंका शीघ्र ही नाश हो जायगा। अतः यह समझ लो कि क्रोध प्रजावर्गके नाश और अवनतिका कारण है ॥ ३० ॥

यस्मात् तु लोके दृश्यन्ते क्षमिणः पृथिवीसमाः।
तस्माज्जन्म च भूतानां भवश्च प्रतिपद्यते ॥ ३१ ॥

इस जगत्में पृथ्वीके समान क्षमाशील पुरुष भी देखे जाते हैं, इसीलिये प्राणियोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती रहती है ॥ ३१ ॥

क्षन्तव्यं पुरुषेणेह सर्वापत्सु सुशोभने।
क्षमावतो हि भूतानां जन्म चैव प्रकीर्तितम् ॥ ३२ ॥

सुशोभने ! पुरुषको सभी आपत्तियोंमें क्षमाभाव रखना चाहिये। क्षमाशील पुरुषसे ही समस्त प्राणियोंका जीवन बताया गया है ॥ ३२ ॥

आक्रुष्टस्ताडितः क्रुद्धः क्षमते यो बलीयसा।
यश्च नित्यं जितक्रोधो विद्वानुत्तमपूरुषः ॥ ३३ ॥

जो बलवान् पुरुषके गाली देने या कुपित होकर मारनेपर भी क्षमा कर जाता है तथा जो सदा अपने क्रोधको काबूमें रखता है, वही विद्वान् है और वही श्रेष्ठ पुरुष है ॥ ३३ ॥

प्रभाववानपि नरस्तस्य लोकाः सनातनाः।
क्रोधनस्त्वल्पविज्ञानः प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ ३४ ॥

वही मनुष्य प्रभावशाली कहा जाता है। उसीको सनातन लोक प्राप्त होते हैं। क्रोधी मनुष्य अल्पज्ञ होता है। वह इस लोक और परलोक दोनोंमें विनाशका ही भागी होता है ॥ ३४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा नित्यं क्षमावताम्।
गीताः क्षमावता कृष्णे काश्यपेन महात्मना ॥ ३५॥

इस विषयमें जानकार लोग क्षमावान् पुरुषोंकी गाथाका उदाहरण देते हैं। कृष्णे! क्षमावान् महात्मा काश्यपने इस गाथाका गान किया है ॥ ३५ ॥

क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम्।
य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति ॥ ३६॥

क्षमा धर्म है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा वेद है और क्षमा शास्त्र है। जो इस प्रकार जानता है, वह सब कुछ क्षमा करनेके योग्य हो जाता है ॥ ३६ ॥

क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ॥ ३७॥

क्षमा ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा भूत है, क्षमा भविष्य है, क्षमा तप है और क्षमा शौच है। क्षमाने ही सम्पूर्ण जगत्‌को धारण कर रक्खा है ॥ ३७ ॥

अति यज्ञविदां लोकान् क्षमिणः प्राप्नुवन्ति च।
अति ब्रह्मविदां लोकानति चापि तपस्विनाम् ॥ ३८॥

क्षमाशील मनुष्य यज्ञवेत्ता, ब्रह्मवेत्ता और तपस्वी पुरुषोंसे भी ऊँचे लोक प्राप्त करते हैं ॥ ३८ ॥

अन्ये वै यजुषां लोकाः कर्मिणामपरे तथा।
क्षमावतां ब्रह्मलोके लोकाः परमपूजिताः ॥ ३९॥

(सकामभावसे) यज्ञकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषोंके लोक दूसरे हैं एवं (सकामभावसे) वापी, कूप, तडाग और दान आदि कर्म करनेवाले मनुष्योंके लोक दूसरे हैं। परंतु क्षमावानोंके लोक ब्रह्मलोकके अन्तर्गत हैं; जो अत्यन्त पूजित हैं ॥ ३९ ॥

क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम्।
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः ॥ ४०॥

क्षमा तेजस्वी पुरुषोंका तेज है, क्षमा तपस्वियोंका ब्रह्म है, क्षमा सत्यवादी पुरुषोंका सत्य है। क्षमा यज्ञ है और क्षमा शम (मनोनिग्रह) है ॥ ४० ॥

तां क्षमां तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत्।
यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाश्च धिष्ठिताः ॥ ४१॥

कृष्णे! जिसका महत्त्व ऐसा बताया गया है, जिसमें ब्रह्म, सत्य, यज्ञ और लोक सभी प्रतिष्ठित हैं, उस क्षमाको मेरे-जैसा मनुष्य कैसे छोड़ सकता है ॥ ४१ ॥

क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता।
यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ४२॥

विद्वान् पुरुषको सदा क्षमाका ही आश्रय लेना चाहिये। जब मनुष्य सब कुछ सहन कर लेता है, तब वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ४२ ॥

क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम्।
इह सम्मानमृच्छन्ति परत्र च शुभां गतिम् ॥ ४३॥

क्षमावानोंके लिये ही यह लोक है। क्षमावानोंके लिये ही परलोक है। क्षमाशील पुरुष इस जगत्‌में सम्मान और परलोकमें उत्तम गति पाते हैं ॥ ४३ ॥

येषां मन्युर्मनुष्याणां क्षमयाभिहतः सदा।
तेषां परतरे लोकास्तस्मात् क्षान्तिः परा मता ॥ ४४॥

जिन मनुष्योंका क्रोध सदा क्षमाभावसे दबा रहता है, उन्हें सर्वोत्तम लोक प्राप्त होते हैं। अतः क्षमा सबसे उत्कृष्ट मानी गयी है ॥ ४४ ॥

इति गीताः काश्यपेन गाथा नित्यं क्षमावताम्।
श्रुत्वा गाथाः क्षमायास्त्वं तुष्य द्रौपदि मा क्रुधः॥ ४५॥

इस प्रकार काश्यपजीने नित्य क्षमाशील पुरुषोंकी इस गाथाका गान किया है। द्रौपदी! क्षमाकी यह गाथा सुनकर संतुष्ट हो जाओ, क्रोध न करो ॥ ४५ ॥

पितामहः शान्तनवः शमं सम्पूजयिष्यति।
कृष्णश्च देवकीपुत्रः शमं सम्पूजयिष्यति ॥ ४६॥

मेरे पितामह शान्तनुनन्दन भीष्म शान्तिभावका ही आदर करेंगे। देवकीनन्दन श्रीकृष्ण भी शान्तिभावका ही आदर करेंगे ॥ ४६ ॥

आचार्यो विदुरः क्षत्ता शममेव वदिष्यतः।
कृपश्च संजयश्चैव शममेव वदिष्यतः ॥ ४७॥

आचार्य द्रोण और विदुर भी शान्तिको ही अच्छा कहेंगे। कृपाचार्य और संजय भी शान्त रहना ही अच्छा बतायेंगे ॥ ४७ ॥

सोमदत्तो युयुत्सुश्च द्रोणपुत्रस्तथैव च।
पितामहश्च नो व्यासः शमं वदति नित्यशः ॥ ४८॥

सोमदत्त, युयुत्सु, अश्वत्थामा तथा हमारे पितामह व्यास भी सदा शान्तिका ही उपदेश देते हैं ॥ ४८ ॥

एतैर्हि राजा नियतं चोद्यमानः शमं प्रति।
राज्यं दातेति मे बुद्धिर्न चेल्लोभान्नशिष्यति ॥ ४९॥

ये सब लोग यदि राजा धृतराष्ट्रको सदा शान्तिके लिये प्रेरित करते रहेंगे तो वे अवश्य मुझे राज्य दे देंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। यदि नहीं देंगे तो लोभके कारण नष्ट हो जायँगे ॥ ४९ ॥

कालोऽयं दारुणः प्राप्तो भरतानामभूतये।
निश्चितं मे सदैवैतत् पुरस्तादपि भाविनि ॥ ५०॥

सुयोधनो नार्हतीति क्षमामेवं न विन्दति ।
अर्हस्तत्राहमित्येवं तस्मान्मां विन्दते क्षमा ॥ ५१ ॥

इस समय भरतवंशके विनाशके लिये यह बड़ा भयंकर समय आ गया है । भामिनि ! मेरा पहलेसे ही ऐसा निश्चित मत है कि सुयोधन कभी भी इस प्रकार क्षमाभावको नहीं अपना सकता, वह इसके योग्य नहीं है । मैं इसके योग्य हूँ, इसलिये क्षमा मेरा ही आश्रय लेती है ॥ ५०-५१ ॥

एतदात्मवतां वृत्तमेष धर्मः सनातनः ।
क्षमा चैवानृशंस्यं च तत् कर्तास्म्यहमञ्जसा ॥ ५२ ॥

क्षमा और दया यही जितात्मा पुरुषोंका सदाचार है और यही सनातनधर्म है, अतः मैं यथार्थ रूपसे क्षमा और दयाको ही अपनाऊँगा ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीयुधिष्ठिरसंवादे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदी-युधिष्ठिरसंवादविषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

दुःखसे मोहित द्रौपदीका युधिष्ठिरकी बुद्धि, धर्म एवं ईश्वरके न्यायपर आक्षेप

द्रौपद्युवाच

नमो धात्रे विधात्रे च यौ मोहं चक्रतुस्तव ।
पितृपैतामहे वृत्ते वोढव्ये तेऽन्यथा मतिः ॥ १ ॥

द्रौपदीने कहा—राजन् ! उस धाता (ईश्वर) और विधाता (प्रारब्ध) को नमस्कार है, जिन्होंने आपकी बुद्धिमें मोह उत्पन्न कर दिया । पिता-पितामहोंके आचारका भार वहन करनेमें भी आपका विचार विपरीत दिखायी देता है ॥ १ ॥

कर्मभिश्चिन्तितो लोको गत्यां गत्यां पृथग्विधः ।
तस्मात् कर्माणि नित्यानि लोभान्मोक्षं यियासति ॥ २ ॥
नेह धर्मानृशंस्याभ्यां न क्षान्त्या नार्जवेन च ।
पुरुषः श्रियमाप्नोति न घृणित्वेन कर्हिचित् ॥ ३ ॥

कर्मोंके अनुसार उत्तम, मध्यम, अधम योनिमें भिन्न-भिन्न लोकोंकी प्राप्ति बतलायी गयी है, अतः कर्म नित्य हैं (भोगे बिना उन कर्मोंका क्षय नहीं होता) । मूर्ख लोग लोभसे ही मोक्ष पानेकी इच्छा रखते हैं । इस जगत्में धर्म, कोमलता, क्षमा, विनय और दयासे कोई भी मनुष्य कभी धन और ऐश्वर्यकी प्राप्ति नहीं कर सकता ॥ २-३ ॥

त्वां च व्यसनमभ्यागादिदं भारत दुःसहम् ।
यत् त्वं नार्हसि नापीमे भ्रातरस्ते महौजसः ॥ ४ ॥

भारत ! इसी कारण तो आपपर भी यह दुःसह संकट आ गया, जिसके योग्य न तो आप हैं और न आपके महा-तेजस्वी ये भाई ही हैं ॥ ४ ॥

न हि तेऽध्यगमञ्जातु तदानीं नाद्य भारत ।
धर्मात् प्रियतरं किंचिदपि चेज्जीवितादिह ॥ ५ ॥

भरतकुलतिलक ! आपके भाइयोंने न तो पहले कभी और न आज ही धर्मसे अधिक प्रिय दूसरी किसी वस्तुको समझा है । अपितु धर्मको जीवनसे भी बढ़कर माना है ॥ ५ ॥

धर्मार्थमेव ते राज्यं धर्मार्थं जीवितं च ते ।
ब्राह्मणा गुरवश्चैव जानन्त्यपि च देवताः ॥ ६ ॥

आपका राज्य धर्मके लिये ही है, आपका जीवन भी धर्मके लिये ही है । ब्राह्मण, गुरुजन और देवता सभी इस बातको जानते हैं ॥ ६ ॥

भीमसेनार्जुनौ चोभौ माद्रेयौ च मया सह ।
त्यजेस्त्वमिति मे बुद्धिर्न तु धर्मं परित्यजेः ॥ ७ ॥

मुझे विश्वास है कि आप मेरेसहित भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेवको भी त्याग देंगे; किंतु धर्मका त्याग नहीं करेंगे ॥ ७ ॥

राजानं धर्मगोप्तारं धर्मो रक्षति रक्षितः ।
इति मे श्रुतमार्याणां त्वां तु मन्ये न रक्षति ॥ ८ ॥

मैंने आर्योंके मुँहसे सुना है कि यदि धर्मकी रक्षा की जाय तो वह धर्मरक्षक राजाकी स्वयं भी रक्षा करता है । किंतु मुझे मालूम होता है कि वह आपकी रक्षा नहीं कर रहा है ॥

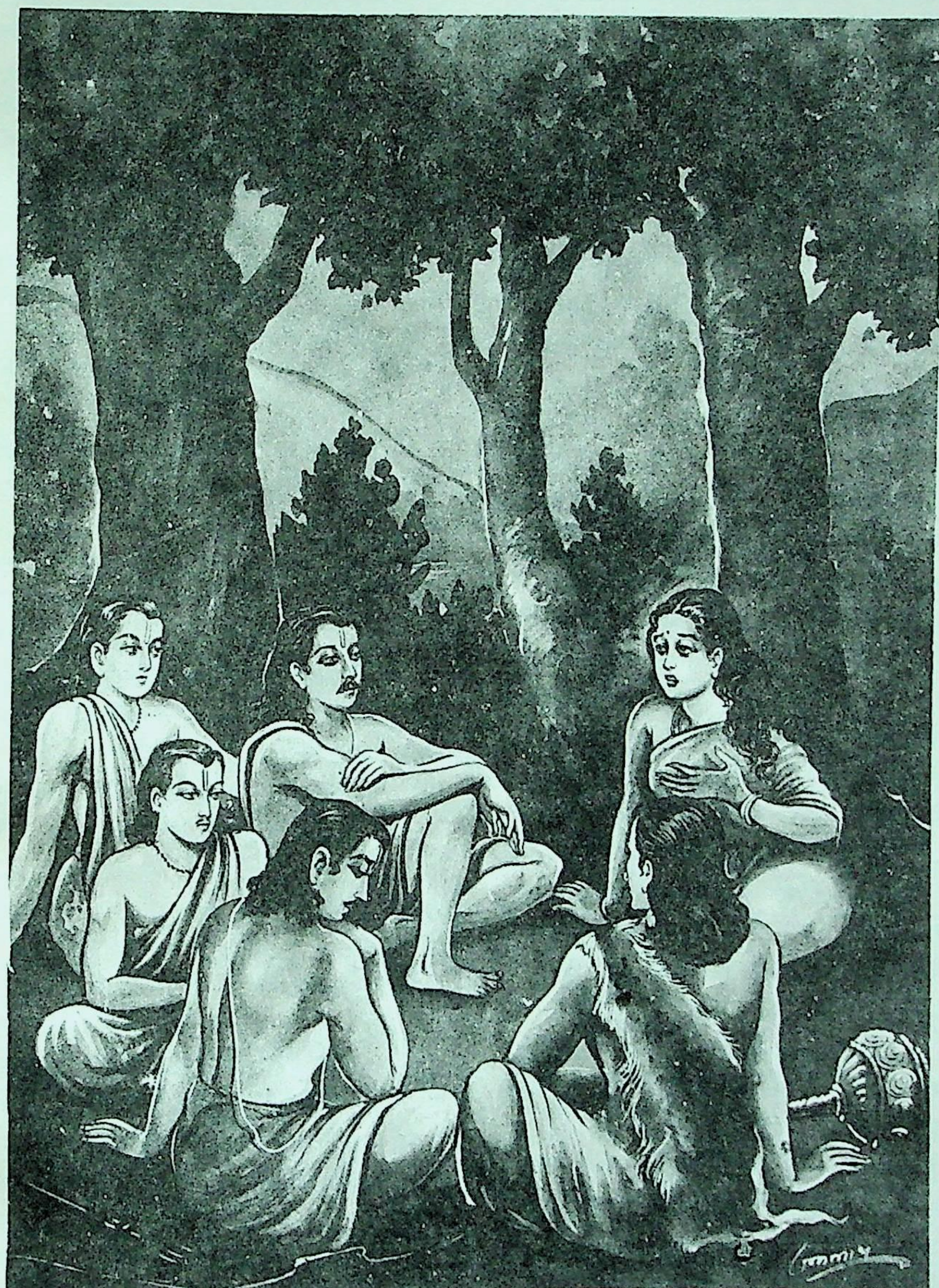
अनन्या हि नरव्याघ्र नित्यदा धर्ममेव ते ।
बुद्धिः सततमन्वेतिच्छायेव पुरुषं निजा ॥ ९ ॥

नरश्रेष्ठ ! जैसे अपनी छाया सदा मनुष्यके पीछे चलती है, उसी प्रकार आपकी बुद्धि सदा अनन्यभावसे धर्मका ही अनुसरण करती है ॥ ९ ॥

नावमंस्था हि सदृशान् नावरांछ्रेयसः कुतः ।
अवाप्य पृथिवीं कृत्स्नां न ते शृङ्गमवर्धत ॥ १० ॥

आपने अपने समान और अपनेसे छोटोंका भी कभी अपमान नहीं किया । फिर अपनेसे बड़ोंका तो करते ही कैसे ? सारी पृथ्वीका राज्य पाकर भी आपका प्रभुताविषयक अहङ्कार कभी नहीं बढ़ा ॥ १० ॥

स्वाहाकारैः स्वधाभिश्च पूजाभिरपि च द्विजान् ।
दैवतानि पितॄंश्चैव सततं पार्थ सेवसे ॥ ११ ॥



द्रौपदी और भीमसेनका युधिष्ठिरसे संवाद

कुन्तीनन्दन ! आप स्वाहा, स्वधा और पूजाके द्वारा देवताओं, पितरों और ब्राह्मणोंकी सदा सेवा करते रहते हैं ॥

ब्राह्मणाः सर्वकामैस्ते सततं पार्थ तर्पिताः ।
यतयो मोक्षिणश्चैव गृहस्थाश्चैव भारत ॥ १२ ॥
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्यत्राहं परिचारिका ।
आरण्यकेभ्यो लौहानि भाजनानि प्रयच्छसि ।
नादेयं ब्राह्मणेभ्यस्ते गृहे किंचन विद्यते ॥ १३ ॥

पार्थ ! आपने ब्राह्मणोंकी समस्त कामनाएँ पूरी करके सदा उन्हें तृप्त किया है । भारत ! आपके यहाँ मोक्षाभिलाषी संन्यासी तथा गृहस्थ ब्राह्मण सोनेके पात्रोंमें भोजन करते थे । जहाँ स्वयं मैं अपने हाथों उनकी सेवा-टहल करती थी । वानप्रस्थोंको भी आप सोनेके पात्र दिया करते थे । आपके घरमें कोई ऐसी वस्तु नहीं थी, जो ब्राह्मणोंके लिये अदेय हो ॥ १२-१३ ॥

यदिदं वैश्वदेवं ते शान्तये क्रियते गृहे ।
तद् दत्त्वातिथिभूतेभ्यो राजञ्छिष्टेन जीवसि ॥ १४ ॥

राजन् ! आपके द्वारा शान्तिके लिये जो घरमें यह वैश्वदेव कर्म किया जाता है, उसमें अतिथियों और प्राणियोंके लिये अन्न देकर आप अवशिष्ट अन्नके द्वारा जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ १४ ॥

इष्टयः पशुबन्धाश्च काम्यनैमित्तिकाश्च ये ।
वर्तन्ते पाकयज्ञाश्च यज्ञकर्म च नित्यदा ॥ १५ ॥

इष्टि (पूजा), पशुबन्ध (पशुओंको बाँधना), काम्य याग, नैमित्तिक याग, पाकयज्ञ तथा नित्ययज्ञ—ये सब भी आपके यहाँ बराबर चलते रहते हैं ॥ १५ ॥

अस्मिन्नपि महारण्ये विजने दस्युसेविते ।
राष्ट्रादपेत्य वसतो धर्मस्ते नावसीदति ॥ १६ ॥

आप राज्यसे निकलकर लुटेरोंद्वारा सेवित इस निर्जन महावनमें निवास कर रहे हैं, तो भी आपका धर्मकार्य कभी शिथिल नहीं हुआ है ॥ १६ ॥

अश्वमेधो राजसूयः पुण्डरीकोऽथ गोसवः ।
एतैरपि महायज्ञैरिष्टं ते भूरिदक्षिणैः ॥ १७ ॥

अश्वमेध, राजसूय, पुण्डरीक तथा गोसव इन सभी महायज्ञोंका आपने प्रचुर दक्षिणादानपूर्वक अनुष्ठान किया है ॥ १७ ॥

राजन् परीतया बुद्ध्या विषमेऽक्षपराजये ।
राज्यं वसून्यायुधानि भ्रातॄन् मां चासि निर्जितः ॥ १८ ॥

परंतु महाराज ! उस कपट द्यूतजनित पराजयके समय आपकी बुद्धि विपरीत हो गयी, जिसके कारण आप राज्य, धन, आयुध तथा भाइयोंको और मुझे भी दाँवपर रखकर हार गये ॥ १८ ॥

ऋजोर्मृदोर्वदान्यस्य ह्रीमतः सत्यवादिनः ।
कथमक्षव्यसनजा बुद्धिरापतिता तव ॥ १९ ॥

आप सरल, कोमल, उदार, लज्जाशील और सत्यवादी हैं । न जाने कैसे आपकी बुद्धिमें जूआ खेलनेका व्यसन आ गया ॥ १९ ॥

अतीव मोहमायाति मनश्च परिभूयते ।
निशाम्य ते दुःखमिदमिमां चापदमीदृशीम् ॥ २० ॥

आपके इस दुःख और भयंकर विपत्तिको विचारकर मुझे अत्यन्त मोह प्राप्त हो रहा है और मेरा मन दुःखसे पीडित हो रहा है ॥ २० ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ईश्वरस्य वशे लोकास्तिष्ठन्ते नात्मनो यथा ॥ २१ ॥

इस विषयमें लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण देते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि सब लोग ईश्वरके वशमें हैं, कोई भी स्वाधीन नहीं है ॥ २१ ॥

धातैव खलु भूतानां सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
दधाति सर्वमीशानः पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरन् ॥ २२ ॥

विधाता ईश्वर ही सबके पूर्वकर्मोंके अनुसार प्राणियोंके लिये सुख-दुःख, प्रिय-अप्रियकी व्यवस्था करते हैं ॥ २२ ॥

यथा दारुमयी योषा नरवीर समाहिता ।
ईरयत्यङ्गमङ्गानि तथा राजन्निमाः प्रजाः ॥ २३ ॥

नरवीर नरेश ! जैसे कठपुतली सूत्रधारसे प्रेरित हो अपने अङ्गोंका संचालन करती है, उसी प्रकार यह सारी प्रजा ईश्वरकी प्रेरणासे अपने हस्त-पाद आदि अङ्गोंद्वारा विविध चेष्टाएँ करती है ॥ २३ ॥

आकाश इव भूतानि व्याप्य सर्वाणि भारत ।
ईश्वरो विदधातीह कल्याणं यच्च पापकम् ॥ २४ ॥

भारत ! ईश्वर आकाशके समान सम्पूर्ण प्राणियोंमें व्याप्त होकर उनके कर्मानुसार सुख-दुःखका विधान करते हैं ॥ २४ ॥

शकुनिस्तन्तुबद्धो वा नियतोऽयमनीश्वरः ।
ईश्वरस्य वशे तिष्ठेन्नान्येषां नात्मनः प्रभुः ॥ २५ ॥

जीव स्वतन्त्र नहीं है, वह डोरेमें बँधे हुए पक्षीकी भाँति कर्मके बन्धनमें बँधा होनेसे परतन्त्र है । वह ईश्वरके ही वशमें होता है । उसका न दूसरोंपर वश चलता है, न अपने ऊपर ॥

मणिः सूत्र इव प्रोतो नस्योत इव गोवृषः ।
स्रोतसो मध्यमापन्नः कूलाद् वृक्ष इव च्युतः ॥ २६ ॥
धातुरादेशमन्वेति तन्मयो हि तदर्पणः ।
नात्माधीनो मनुष्योऽयं कालं भजति कंचन ॥ २७ ॥

सूतमें पिरोयी हुई मणि, नाकमें नथे हुए बैल और किनारेसे टूटकर धाराके बीचमें गिरे हुए वृक्षकी भाँति यह

जीव सदा ईश्वरके आदेशका ही अनुसरण करता है; क्योंकि वह उसीसे व्याप्त और उसीके अधीन है। यह मनुष्य स्वाधीन होकर समयको नहीं बिताता ॥ २६-२७ ॥

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव च ॥ २८ ॥

यह जीव अज्ञानी तथा अपने सुख-दुःखके विधानमें भी असमर्थ है। यह ईश्वरसे प्रेरित होकर ही स्वर्ग एवं नरकमें जाता है ॥ २८ ॥

यथा वायोस्तृणाग्राणि वशं यान्ति बलीयसः ।
धातुरेवं वशं यान्ति सर्वभूतानि भारत ॥ २९ ॥

भारत ! जैसे क्षुद्र तिनके बलवान् वायुके वशमें हो उड़ते-फिरते हैं, उसी प्रकार समस्त प्राणी ईश्वरके अधीन हो आवागमन करते हैं ॥ २९ ॥

आर्ये कर्मणि युञ्जानः पापे वा पुनरीश्वरः ।
व्याप्य भूतानि चरते न चायमिति लक्ष्यते ॥ ३० ॥

कोई श्रेष्ठ कर्ममें लगा हुआ हो चाहे पापकर्ममें, ईश्वर सभी प्राणियोंमें व्याप्त होकर विचरते हैं; किंतु वे यही हैं इस प्रकार उनका लक्ष्य नहीं होता ॥ ३० ॥

हेतुमात्रमिदं धातुः शरीरं क्षेत्रसंज्ञितम् ।
येन कारयते कर्म शुभाशुभफलं विभुः ॥ ३१ ॥

यह क्षेत्रसंज्ञक शरीर ईश्वरका साधनमात्र है, जिसके द्वारा वे सर्वव्यापी परमेश्वर प्राणियोंसे स्वेच्छाप्रारब्धरूप शुभाशुभ फल भुगतानेवाले कर्मोंका अनुष्ठान करवाते हैं ॥ ३१ ॥

पश्य मायाप्रभावोऽयमीश्वरेण यथा कृतः ।
यो हन्ति भूतैर्भूतानि मोहयित्वाऽऽत्ममायया ॥ ३२ ॥

ईश्वरने जिस प्रकार इस मायाके प्रभावका विस्तार किया है, उसे देखिये। वे अपनी मायाद्वारा मोहित करके प्राणियोंसे ही प्राणियोंका वध करवाते हैं ॥ ३२ ॥

अन्यथा परिदृष्टानि मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
अन्यथा परिवर्तन्ते वेगा इव नभस्वतः ॥ ३३ ॥

तत्त्वदर्शी मुनियोंने वस्तुओंके स्वरूप कुछ और प्रकारसे देखे हैं; किंतु अज्ञानियोंके सामने किसी और ही रूपमें भासित होते हैं। जैसे आकाशचारी सूर्यकी किरणें मरुभूमिमें पड़कर जलके रूपमें प्रतीत होने लगती हैं ॥ ३३ ॥

अन्यथैव हि मन्यन्ते पुरुषास्तानि तानि च ।
अन्यथैव प्रभुस्तानि करोति विकरोति च ॥ ३४ ॥

लोग भिन्न-भिन्न वस्तुओंको भिन्न-भिन्न रूपोंमें मानते हैं; परंतु शक्तिशाली परमेश्वर उन्हें और ही रूपमें बनाते और बिगाड़ते हैं ॥ ३४ ॥

यथा काष्ठेन वा काष्ठमश्मानं चाश्मना पुनः ।
अयसा [illegible] निर्विचेष्टमचेतनम् ॥ ३५ ॥

एवं स भगवान् देवः स्वयम्भूः प्रपितामहः ।
हिनस्ति भूतैर्भूतानि छद्म कृत्वा युधिष्ठिर ॥ ३६ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! जैसे अचेतन एवं चेष्टारहित काठ, पत्थर और लोहेको मनुष्य काठ, पत्थर और लोहेसे ही काट देता है, उसी प्रकार सबके प्रपितामह स्वयम्भू भगवान् श्रीहरि मायाकी आड़ लेकर प्राणियोंसे ही प्राणियोंका विनाश करते हैं ॥ ३५-३६ ॥

सम्प्रयोज्य वियोज्यायं कामकारकरः प्रभुः ।
क्रीडते भगवान् भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ॥ ३७ ॥

जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता है, उसी प्रकार स्वेच्छानुसार कर्म (भाँति-भाँतिकी लीलाएँ) करनेवाले शक्तिशाली भगवान् सब प्राणियोंके साथ उनका परस्पर संयोग-वियोग कराते हुए लीला करते रहते हैं ॥ ३७ ॥

न मातृपितृवद् राजन् धाता भूतेषु वर्तते ।
रोषादिव प्रवृत्तोऽयं यथायमितरो जनः ॥ ३८ ॥

राजन् ! मैं समझती हूँ, ईश्वर समस्त प्राणियोंके प्रति माता-पिताके समान दया एवं स्नेहयुक्त बर्ताव नहीं कर रहे हैं, वे तो दूसरे लोगोंकी भाँति मानो रोषसे ही व्यवहार कर रहे हैं ॥ ३८ ॥

आर्याञ्छीलवतो दृष्ट्वा ह्रीमतो वृत्तिकर्शितान् ।
अनार्यान् सुखिनश्चैव विह्वलामीव चिन्तया ॥ ३९ ॥

क्योंकि जो लोग श्रेष्ठ, शीलवान् और संकोची हैं, वे तो जीविकाके लिये कष्ट पा रहे हैं; किंतु जो अनार्य (दुष्ट) हैं, वे सुख भोगते हैं; यह सब देखकर मेरी उक्त धारणा पुष्ट होती है और मैं चिन्तासे विह्वल-सी हो रही हूँ ॥ ३९ ॥

तवेमामापदं दृष्ट्वा समृद्धिं च सुयोधने ।
धातारं गर्हये पार्थ विषमं योऽनुपश्यति ॥ ४० ॥

कुन्तीनन्दन ! आपकी इस आपत्तिको तथा दुर्योधनकी समृद्धिको देखकर मैं उस विधाताकी निन्दा करती हूँ, जो विषम दृष्टिसे देख रहा है अर्थात् सज्जनको दुःख और दुर्जनको सुख देकर उचित विचार नहीं कर रहा है ॥ ४० ॥

आर्यशास्त्रातिगे क्रूरे लुब्धे धर्मापचायिनि ।
धार्तराष्ट्रे श्रियं दत्त्वा धाता किं फलमश्नुते ॥ ४१ ॥

जो आर्यशास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाला, क्रूर, लोभी तथा धर्मकी हानि करनेवाला है, उस धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको धन देकर विधाता क्या फल पाता है ? ॥ ४१ ॥

कर्म चेत् [illegible]मन्वेति कर्तारं नान्यमृच्छति ।
कर्मणा तेन पापेन लिप्यते नूनमीश्वरः ॥ ४२ ॥

यदि किया हुआ कर्म [illegible] करता है,

दूसरेके पास नहीं जाता, तब तो ईश्वर भी उस पापकर्मसे अवश्य लिप्त होंगे ॥ ४२ ॥

अथ कर्म कृतं पापं न चेत् कर्तारमृच्छति ।
कारणं बलमेवेह जनाञ्छोचामि दुर्बलान् ॥ ४३ ॥

इसके विपरीत, यदि किया हुआ पाप-कर्म कर्ताको नहीं प्राप्त होता तो इसका कारण यहाँ बल ही है (ईश्वर शक्तिशाली हैं, इसीलिये उन्हें पापकर्मका फल नहीं मिलता होगा)। उस दशामें मुझे दुर्बल मनुष्योंके लिये शोक हो रहा है ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीवाक्ये त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा द्रौपदीके आक्षेपका समाधान तथा ईश्वर, धर्म और महापुरुषोंके आदरसे लाभ और अनादरसे हानि

युधिष्ठिर उवाच

वल्गु चित्रपदं श्लक्ष्णं याज्ञसेनि त्वया वचः ।
उक्तं तच्छ्रुतमस्माभिर्नास्तिक्यं तु प्रभाषसे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—यज्ञसेनकुमारी ! तुमने जो बात कही है, वह सुननेमें बड़ी मनोहर, विचित्र पदावलीसे सुशोभित तथा बहुत सुन्दर है, मैंने उसे बड़े ध्यानसे सुना है। परंतु इस समय तुम (अज्ञानसे) नास्तिक मतका प्रतिपादन कर रही हो ॥ १ ॥

नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत ।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ॥ २ ॥

राजकुमारी ! मैं कर्मोंके फलकी इच्छा रखकर उनका अनुष्ठान नहीं करता; अपितु 'देना कर्तव्य है' यह समझकर दान देता हूँ और यज्ञको भी कर्तव्य मानकर ही उसका अनुष्ठान करता हूँ ॥ २ ॥

अस्तु वात्र फलं मा वा कर्तव्यं पुरुषेण यत् ।
गृहे वा वसता कृष्णे यथाशक्ति करोमि तत् ॥ ३ ॥

कृष्णे ! यहाँ उस कर्मका फल हो या न हो, गृहस्थ-आश्रममें रहनेवाले पुरुषका जो कर्तव्य है, मैं उसीका यथाशक्ति कर्तव्यबुद्धिसे पालन करता हूँ ॥ ३ ॥

धर्मं चरामि सुश्रोणि न धर्मफलकारणात् ।
आगमाननतिक्रम्य सतां वृत्तमवेक्ष्य च ॥ ४ ॥
धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम् ।
धमवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् ॥ ५ ॥

सुश्रोणि ! मैं धर्मका फल पानेके लोभसे धर्मका आचरण नहीं करता, अपितु साधु पुरुषोंके आचार-व्यवहारको देखकर शास्त्रीय मर्यादाका उल्लङ्घन न करके स्वभावसे ही मेरा मन धर्मपालनमें लगा है। द्रौपदी ! जो मनुष्य कुछ पानेकी इच्छासे धर्मका व्यापार करता है, वह धर्मवादी पुरुषोंकी दृष्टिमें हीन और निन्दनीय है ॥ ४-५ ॥

न धर्मफलमाप्नोति यो धर्मं दोग्धुमिच्छति ।
यश्चैनं शङ्कते कृत्वा नास्तिक्यात् पापचेतनः ॥ ६ ॥

जो पापात्मा मनुष्य नास्तिकतावश, धर्मका अनुष्ठान करके उसके विषयमें शङ्का करता है अथवा धर्मको दुहना चाहता है अर्थात् धर्मके नामपर स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, उसे धर्मका फल बिल्कुल नहीं मिलता ॥ ६ ॥

अतिवादाद् वदाम्येष मा धर्ममभिशङ्किथाः ।
धर्माभिशङ्की पुरुषस्तिर्यग्गतिपरायणः ॥ ७ ॥

मैं सारे प्रमाणोंसे ऊपर उठकर केवल शास्त्रके आधारपर यह जोर देकर कह रहा हूँ कि तुम धर्मके विषयमें शङ्का न करो; क्योंकि धर्मपर संदेह करनेवाला मानव पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ७ ॥

धर्मो यस्याभिशङ्क्यः स्यादार्षं वा दुर्बलात्मनः ।
वेदाच्छूद्र इवापेयात् स लोकादजरामरात् ॥ ८ ॥

जो धर्मके विषयमें संदेह रखता है, अथवा जो दुर्बलात्मा पुरुष वेदादि शास्त्रोंपर अविश्वास करता है, वह जरा-मृत्युरहित परमधामसे उसी प्रकार वञ्चित रहता है, जैसे शूद्र वेदोंके अध्ययनसे ॥ ८ ॥

वेदाध्यायी धर्मपरः कुले जातो मनस्विनि ।
स्थविरेषु स योक्तव्यो राजर्षिर्धर्मचारिभिः ॥ ९ ॥

मनस्विनि ! जो वेदका अध्ययन करनेवाला, धर्मपरायण और कुलीन हो, उस राजर्षिकी गणना धर्मात्मा पुरुषोंको वृद्धोंमें करनी चाहिये (वह आयुमें छोटा हो तो भी उसका वृद्ध पुरुषके समान आदर करना चाहिये) ॥ ९ ॥

पापीयान् स हि शूद्रेभ्यस्तस्करेभ्यो विशिष्यते ।
शास्त्रातिगो मन्दबुद्धिर्यो धर्ममभिशङ्कते ॥ १० ॥

जो मन्दबुद्धि पुरुष शास्त्रोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन करके धर्मके विषयमें आशङ्का करता है, वह शूद्रों और चोरोंसे भी बढ़कर पापी है ॥ १० ॥

प्रत्यक्षं हि त्वया दृष्ट ऋषिर्गच्छन् महातपाः ।
मार्कण्डेयोऽप्रमेयात्मा धर्मेण चिरजीविता ॥ ११ ॥

तुमने अमेयात्मा महातपस्वी मार्कण्डेयजीको जो अभी यहाँसे गये हैं, प्रत्यक्ष देखा है । उन्हें धर्मपालनसे ही चिरजीविता प्राप्त हुई है ॥ ११ ॥

व्यासो वसिष्ठो मैत्रेयो नारदो लोमशः शुकः ।
अन्ये च ऋषयः सर्वे धर्मेणैव सुचेतसः ॥ १२ ॥

व्यास, वसिष्ठ, मैत्रेय, नारद, लोमश, शुक तथा अन्य सब महर्षि धर्मके पालनसे ही शुद्ध हृदयवाले हुए हैं ॥ १२ ॥

प्रत्यक्षं पश्यसि ह्येतान् दिव्ययोगसमन्वितान् ।
शापानुग्रहणे शक्तान् देवेभ्योऽपि गरीयसः ॥ १३ ॥

तुम अपनी आँखों इन सबको देखती हो, ये दिव्य योगशक्तिसे सम्पन्न, शाप और अनुग्रहमें समर्थ तथा देवताओंसे भी अधिक गौरवशाली हैं ॥ १३ ॥

एते हि धर्ममेवादौ वर्णयन्ति सदानघे ।
कर्तव्यममरप्रख्याः प्रत्यक्षागमबुद्धयः ॥ १४ ॥

अनघे ! ये अमरोंके समान विख्यात तथा वेदगम्य विषयको भी प्रत्यक्ष देखनेवाले महर्षि धर्मको ही सबसे प्रथम आचरणमें लाने योग्य बताते हैं ॥ १४ ॥

अतो नार्हसि कल्याणि धातारं धर्ममेव च ।
राज्ञि मूढेन मनसा क्षेप्तुं शङ्कितुमेव च ॥ १५ ॥

अतः कल्याणमयी महारानी द्रौपदी ! तुम्हें मूर्खतायुक्त मनके द्वारा ईश्वर और धर्मपर आक्षेप एवं आशङ्का नहीं करनी चाहिये ॥

उन्मत्तान् मन्यते बालः सर्वानागतनिश्चयान् ।
धर्माभिशङ्की नान्यस्मात् प्रमाणमधिगच्छति ॥ १६ ॥

धर्मके विषयमें संशय रखनेवाला बालबुद्धि मानव जिन्हें धर्मके तत्त्वका निश्चय हो गया है, उन समस्त ज्ञानीजनोंको उन्मत्त समझता है; अतः वह बालबुद्धि दूसरे किसीसे कोई शास्त्र-प्रमाण नहीं ग्रहण करता ॥ १६ ॥

आत्मप्रमाण उन्नद्धः श्रेयसो ह्यवमन्यकः ।
इन्द्रियप्रीतिसम्बद्धं यदिदं लोकसाक्षिकम् ।
एतावन्मन्यते बालो मोहमन्यत्र गच्छति ॥ १७ ॥

केवल अपनी बुद्धिको ही प्रमाण माननेवाला उद्दण्ड मानव श्रेष्ठ पुरुषों एवं उत्तम धर्मकी अवहेलना करता है; क्योंकि वह मूढ़ इन्द्रियोंकी आसक्तिसे सम्बन्ध रखनेवाले इस लोक-प्रत्यक्ष दृश्य जगत्की ही सत्ता स्वीकार करता है । अप्रत्यक्ष वस्तुके विषयमें उसकी बुद्धि मोहमें पड़ जाती है ॥

प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति यो धर्ममभिशङ्कते ।
ध्यायन् स कृपणः पापो न लोकान् प्रतिपद्यते ॥ १८ ॥

जो धर्मके प्रति संदेह करता है, उसकी शुद्धिके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है । वह धर्मविरोधी चिन्तन करनेवाला दीन पापात्मा पुरुष उत्तम लोकोंको नहीं पाता अर्थात् अधोगतिको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

प्रमाणाद्धि निवृत्तो हि वेदशास्त्रार्थनिन्दकः ।
कामलोभातिगो मूढो नरकं प्रतिपद्यते ॥ १९ ॥

जो मूर्ख प्रमाणोंकी ओरसे मुँह मोड़ लेता है, वेद और शास्त्रोंके सिद्धान्तकी निन्दा करता है तथा काम एवं लोभके अत्यन्त परायण है, वह नरकमें पड़ता है ॥ १९ ॥

यस्तु नित्यं कृतमतिर्धर्ममेवाभिपद्यते ।
अशङ्कमानः कल्याणि सोऽमुत्रानन्त्यमश्नुते ॥ २० ॥

कल्याणी ! जो सदा धर्मके विषयमें पूर्ण निश्चय रखनेवाला है और सब प्रकारकी आशङ्काएँ छोड़कर धर्मकी ही शरण लेता है, वह परलोकमें अक्षय अनन्त सुखका भागी होता है अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

आर्षं प्रमाणमुत्क्रम्य धर्मं न प्रतिपालयन् ।
सर्वशास्त्रातिगो मूढः शं जन्मसु न विन्दति ॥ २१ ॥

जो मूढ़ मानव आर्ष-ग्रन्थोंके प्रमाणकी अवहेलना करके समस्त शास्त्रोंके विपरीत आचरण करते हुए धर्मका पालन नहीं करता, वह जन्म-जन्मान्तरोंमें भी कभी कल्याणका भागी नहीं होता ॥ २१ ॥

यस्य नार्षं प्रमाणं स्याच्छिष्टाचारश्च भाविनि ।
न वै तस्य परो लोको नायमस्तीति निश्चयः ॥ २२ ॥

भाविनि ! जिसकी दृष्टिमें ऋषियोंके वचन और शिष्ट पुरुषोंके आचार प्रमाणभूत नहीं हैं, उसके लिये न यह लोक है और न परलोक, यह तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंका निश्चय है ॥

शिष्टैराचरितं धर्मं कृष्णे मा स्माभिशङ्किथाः ।
पुराणमृषिभिः प्रोक्तं सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः ॥ २३ ॥

कृष्णे ! सर्वज्ञ और सर्वद्रष्टा महर्षियोंद्वारा प्रतिपादित तथा शिष्ट पुरुषोंद्वारा आचरित पुरातन धर्मपर शङ्का नहीं करनी चाहिये ॥ २३ ॥

धर्म एव प्लवो नान्यः स्वर्गं द्रौपदि गच्छताम् ।
सैव नौः सागरस्येव वणिजः पारमिच्छतः ॥ २४ ॥

द्रुपदकुमारी ! जैसे समुद्रके पार जानेकी इच्छावाले वणिक्के

लिये जहाजकी आवश्यकता है, वैसे ही स्वर्गमें जानेवालोंके लिये धर्माचरण ही जहाज है, दूसरा नहीं ॥ २४ ॥

अफलो यदि धर्मः स्याच्चरितो धर्मचारिभिः ।
अप्रतिष्ठे तमस्येतज्जगन्मज्जेदनिन्दिते ॥ २५ ॥

साध्वी द्रौपदी ! यदि धर्मपरायण पुरुषोंद्वारा पालित धर्म निष्फल होता तो सम्पूर्ण जगत् असीम अन्धकारमें निमग्न हो जाता ॥ २५ ॥

निर्वाणं नाधिगच्छेयुर्जीवेयुः पशुजीविकाम् ।
विद्यां ते नैव युज्येयुर्न चार्थं केचिदाप्नुयुः ॥ २६ ॥

यदि धर्म निष्फल होता तो धर्मात्मा पुरुष मोक्ष नहीं पाते, कोई विद्याकी प्राप्तिमें नहीं लगते, कोई भी प्रयोजन-सिद्धिके लिये प्रयत्न नहीं करते और सभी पशुओंका-सा जीवन व्यतीत करते ॥ २६ ॥

तपश्च ब्रह्मचर्यं च यज्ञः स्वाध्याय एव च ।
दानमार्जवमेतानि यदि स्युरफलानि वै ॥ २७ ॥
नाचरिष्यन् परे धर्मं परे परतरे च ये ।
विप्रलम्भोऽयमत्यन्तं यदि स्युरफलाः क्रियाः ॥ २८ ॥
ऋषयश्चैव देवाश्च गन्धर्वासुरराक्षसाः ।
ईश्वराः कस्य हेतोस्ते चरेयुर्धर्ममादृताः ॥ २९ ॥

यदि तप, ब्रह्मचर्य, यज्ञ, स्वाध्याय, दान और सरलता आदि धर्म निष्फल होते तो पहले जो श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर पुरुष हुए हैं वे धर्मका आचरण नहीं करते। यदि धार्मिक क्रियाओंका कुछ फल नहीं होता, वे सब निरी ठगविद्या होतीं तो ऋषि, देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षस प्रभावशाली होते हुए भी किसलिये आदरपूर्वक धर्मका आचरण करते ॥

फलदं त्विह विज्ञाय धातारं श्रेयसि ध्रुवम् ।
धर्मं ते व्यचरन् कृष्णे तद्धि श्रेयः सनातनम् ॥ ३० ॥

कृष्णे ! यहाँ धर्मका फल देनेवाले ईश्वर अवश्य हैं, यह बात जानकर ही उन ऋषि आदिकोंने धर्मका आचरण किया है। धर्म ही सनातन श्रेय है ॥ ३० ॥

स नायमफलो धर्मो नाधर्मोऽफलवानपि ।
दृश्यन्तेऽपि हि विद्यानां फलानि तपसां तथा ॥ ३१ ॥
त्वमात्मनो विजानीहि जन्म कृष्णे यथा श्रुतम् ।
वेत्थ चापि यथा जातो धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ॥ ३२ ॥

धर्म निष्फल नहीं होता। अधर्म भी अपना फल दिये बिना नहीं रहता। विद्या और तपस्याके भी फल देखे जाते हैं। कृष्णे ! तुम अपने जन्मके प्रसिद्ध वृत्तान्तको ही स्मरण करो। तुम्हारा प्रतापी भाई धृष्टद्युम्न जिस प्रकार उत्पन्न हुआ है, यह भी तुम जानती हो ॥ ३१-३२ ॥

एतावदेव पर्याप्तमुपमानं शुचिस्मिते ।
कर्मणां फलमाप्नोति धीरोऽल्पेनापि तुष्यति ॥ ३३ ॥

पवित्र मुसकानवाली द्रौपदी ! इतना ही दृष्टान्त देना पर्याप्त है। धीर पुरुष कर्मोंका फल पाता है और थोड़े-से फलसे भी संतुष्ट हो जाता है ॥ ३३ ॥

बहुनापि ह्यविद्वांसो नैव तुष्यन्त्यबुद्धयः ।
तेषां न धर्मजं किंचित् प्रेत्य शर्मास्ति वा पुनः ॥ ३४ ॥

परंतु बुद्धिहीन अज्ञानी मनुष्य बहुत पाकर भी संतुष्ट नहीं होते। उन्हें परलोकमें धर्मजनित थोड़ा-सा भी सुख नहीं मिलता ॥ ३४ ॥

कर्मणां श्रुतपुण्यानां पापानां च फलोदयः ।
प्रभवश्चाप्ययश्चैव देवगुह्यानि भाविनि ॥ ३५ ॥

भामिनि ! वेदोक्त पुण्य देनेवाले सत्कर्मों और अनिष्ट-कारी पापकर्मोंका फलोदय तथा उत्पत्ति और प्रलय—ये सब देवगुह्य हैं (देवता ही उन्हें जानते हैं) ॥ ३५ ॥

नैतानि वेद यः कश्चिन्मुह्यन्त्यत्र प्रजा इमाः ।
अपि कल्पसहस्रेण न स श्रेयोऽधिगच्छति ॥ ३६ ॥

इन देवगुह्य विषयोंमें साधारण लोग मोहित हो जाते हैं। जो इन सबको तात्त्विकरूपसे नहीं जानता है, वह सहस्रों कल्पोंमें भी कल्याणका भागी नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

रक्ष्याण्येतानि देवानां गूढमाया हि देवताः ।
कृशाङ्गाश्च व्रताङ्गाश्च तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
प्रसन्नैर्मानसैर्युक्ताः पश्यन्त्येतानि वै द्विजाः ॥ ३७ ॥

इन सब विषयोंको देवतालोग गुप्त रखते हैं। देवताओंकी माया भी गूढ़ (दुर्बोध) है। जो आशाका परित्याग करके सात्त्विक हितकर एवं पवित्र आहार करनेवाले हैं। तपस्यासे जिनके सारे पाप दग्ध हो गये हैं तथा जो मानसिक प्रसन्नतासे युक्त हैं वे द्विज ही इन देवगुह्य विषयोंको देख पाते हैं ॥ ३७ ॥

न फलादर्शनाद् धर्मः शङ्कितव्यो न देवताः ।
यष्टव्यं च प्रयत्नेन दातव्यं चानसूयता ॥ ३८ ॥

धर्मका फल तुरंत दिखायी न दे तो इसके कारण धर्म एवं देवताओंपर आशङ्का नहीं करनी चाहिये। दोषदृष्टि न रखते हुए यत्नपूर्वक यज्ञ और दान करते रहने चाहिये ॥

कर्मणां फलमस्तीह तथैतद् धर्मशासनम् ।
ब्रह्मा प्रोवाच पुत्राणां यदृषिर्वेद कश्यपः ॥ ३९ ॥

कर्मोंका फल यहाँ अवश्य प्राप्त होता है, यह धर्म-शास्त्रका विधान है। यह बात ब्रह्माजीने अपने पुत्रोंसे कही है, जिसे कश्यप ऋषि जानते हैं ॥ ३९ ॥

तस्मात् ते संशयः कृष्णे नीहार इव नश्यतु ।
व्यवस्य सर्वमस्तीति नास्तिक्यं भावमुत्सृज ॥ ४० ॥

इसलिये कृष्णे ! सब कुछ सत्य है, ऐसा निश्चय करके तुम्हारा धर्मविषयक संदेह कुहरेकी भाँति नष्ट हो जाना चाहिये । तुम अपने इस नास्तिकतापूर्ण विचारको त्याग दो ॥

ईश्वरं चापि भूतानां धातारं मा च वै क्षिप ।
शिक्षस्वैनं नमस्वैनं मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी ॥ ४१ ॥

और समस्त प्राणियोंका भरण-पोषण करनेवाले ईश्वरपर आक्षेप बिल्कुल न करो । तुम शास्त्र और गुरुजनोंके उपदेशानुसार ईश्वरको समझनेकी चेष्टा करो और उन्हींको नमस्कार करो । आज जैसी तुम्हारी बुद्धि है, वैसी नहीं रहनी चाहिये ॥ ४१ ॥

यस्य प्रसादात् तद्भक्तो मर्त्यो गच्छत्यमर्त्यताम् ।
उत्तमां देवतां कृष्णे मावमंस्थाः कथंचन ॥ ४२ ॥

कृष्णे ! जिनके कृपाप्रसादसे उनके प्रति भक्तिभाव रखनेवाला मरणधर्मा मनुष्य अमरत्वको प्राप्त हो जाता है, उन परमदेव परमेश्वरकी तुमको किसी प्रकार अवहेलना नहीं करनी चाहिये ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें युधिष्ठिरवाक्यविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

द्रौपदीका पुरुषार्थको प्रधान मानकर पुरुषार्थ करनेके लिये जोर देना

द्रौपद्युवाच

नावमन्ये न गर्हे च धर्मं पार्थ कथंचन ।
ईश्वरं कुत एवाहमवमंस्ये प्रजापतिम् ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली—कुन्तीनन्दन ! मैं धर्मकी अवहेलना तथा निन्दा किसी प्रकार नहीं कर सकती । फिर समस्त प्रजाओंका पालन करनेवाले परमेश्वरकी अवहेलना तो कर ही कैसे सकती हूँ ॥ १ ॥

आर्ताहं प्रलपामीदमिति मां विद्धि भारत ।
भूयश्च विलपिष्यामि सुमनास्त्वं निबोध मे ॥ २ ॥

भारत ! आप ऐसा समझ लें कि मैं शोकसे आर्त होकर प्रलाप कर रही हूँ । मैं इतनेसे ही चुप नहीं रहूँगी और भी विलाप करूँगी । आप प्रसन्नचित्त होकर मेरी बात सुनिये ॥ २ ॥

कर्म खल्विह कर्तव्यं जानतामित्रकर्शन ।
अकर्माणो हि जीवन्ति स्थावरा नेतरे जनाः ॥ ३ ॥

शत्रुनाशन ! ज्ञानी पुरुषको भी इस संसारमें कर्म अवश्य करना चाहिये । पर्वत और वृक्ष आदि स्थावर भूत ही बिना कर्म किये जी सकते हैं, दूसरे लोग नहीं ॥ ३ ॥

यावद्गोस्तनपानाच्च यावच्छायोपसेवनात् ।
जन्तवः कर्मणा वृत्तिमाप्नुवन्ति युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! गौओंके बछड़े भी माताका दूध पीते और छायामें जाकर विश्राम करते हैं । इस प्रकार सभी जीव कर्म करके ही जीवननिर्वाह करते हैं ॥ ४ ॥

जङ्गमेषु विशेषेण मनुष्या भरतर्षभ ।
इच्छन्ति कर्मणा वृत्तिमवाप्तुं प्रेत्य चेह च ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जंगम जीवोंमें विशेषतः मनुष्य कर्मके द्वारा ही इहलोक और परलोकमें जीविका प्राप्त करना चाहते हैं ॥ ५ ॥

उत्थानमभिजानन्ति सर्वभूतानि भारत ।
प्रत्यक्षं फलमश्नन्ति कर्मणां लोकसाक्षिकम् ॥ ६ ॥

भारत ! सभी प्राणी अपने उत्थानको समझते हैं और कर्मोंके प्रत्यक्ष फलका उपभोग करते हैं, जिसका साक्षी सारा जगत् है ॥ ६ ॥

सर्वे हि स्वं समुत्थानमुपजीवन्ति जन्तवः ।
अपि धाता विधाता च यथायमुदके बकः ॥ ७ ॥

यह जलके समीप जो बगुला बैठकर (मछलीके लिये) ध्यान लगा रहा है, उसीके समान ये सभी प्राणी अपने उद्योगका आश्रय लेकर जीवन धारण करते हैं । धाता और विधाता भी सदा सृष्टिपालनके उद्योगमें लगे रहते हैं ॥ ७ ॥

अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्न हि काचन ।
तदेवाभिप्रपद्येत न विहन्यात् कदाचन ॥ ८ ॥

कर्म न करनेवाले प्राणियोंकी कोई जीविका भी सिद्ध नहीं होती । अतः (प्रारब्धका भरोसा करके) कभी कर्मका परित्याग न करे । सदा कर्मका ही आश्रय ले ॥ ८ ॥

स्वकर्म कुरु मा ग्लासीः कर्मणा भव दंशितः ।
कृतं हि योऽभिजानाति सहस्रे सोऽस्ति नास्ति च ॥ ९ ॥

अतः आप अपना कर्म करें । उसमें ग्लानि न करें, कर्मका कवच पहने रहें । जो कर्म करना अच्छी तरह जानता है, ऐसा मनुष्य हजारोंमें एक भी है या नहीं ? यह बताना कठिन है ॥ ९ ॥

तस्य चापि भवेत् कार्यं विवृद्धौ रक्षणे तथा ।
भक्ष्यमाणो ह्यनादानात् क्षीयेत हिमवानपि ॥ १० ॥

धनकी वृद्धि और रक्षाके लिये भी कर्मकी आवश्यकता है। यदि धनका उपभोग (व्यय) होता रहे और आय न हो तो हिमालय-जैसी धनराशिका भी क्षय हो सकता है॥१०॥

उत्सीदेरन् प्रजाः सर्वा न कुर्युः कर्म चेद् भुवि ।
तथा ह्येता न वर्धेरन् कर्म चेदफलं भवेत् ॥ ११ ॥

यदि समस्त प्रजा इस भूतलपर कर्म करना छोड़ दे तो सबका संहार हो जाय। यदि कर्मका कुछ फल न हो तो इन प्रजाओंकी वृद्धि ही न हो ॥ ११ ॥

अपि चाप्यफलं कर्म पश्यामः कुर्वतो जनान् ।
नान्यथा ह्यपि गच्छन्ति वृत्तिं लोकाः कथंचन ॥ १२ ॥

हम देखती हैं कि लोग व्यर्थ कर्ममें भी लगे रहते हैं, कर्म न करनेपर तो लोगोंकी किसी प्रकार जीविका ही नहीं चल सकती ॥ १२ ॥

यश्च दिष्टपरो लोके यश्चापि हठवादिकः ।
उभावपि शठावेतौ कर्मबुद्धिः प्रशस्यते ॥ १३ ॥

संसारमें जो केवल भाग्यके भरोसे कर्म नहीं करता अर्थात् जो ऐसा मानता है कि पहले जैसा किया है वैसा ही फल अपने आप ही प्राप्त होगा तथा जो हठवादी है—बिना किसी युक्तिके हठपूर्वक यह मानता है कि कर्म करना अनावश्यक है, जो कुछ मिलना होगा, अपने आप मिल जायगा, वे दोनों ही मूर्ख हैं। जिसकी बुद्धि कर्म (पुरुषार्थ) में रुचि रखती है, वही प्रशंसाका पात्र है ॥ १३ ॥

यो हि दिष्टमुपासीनो निर्विचेष्टः सुखं शयेत् ।
अवसीदेत् स दुर्बुद्धिरामो घट इवोदके ॥ १४ ॥

जो खोटी बुद्धिवाला मनुष्य प्रारब्ध (भाग्य) का भरोसा रखकर उद्योगसे मुँह मोड़ लेता और सुखसे सोता रहता है, उसका जलमें रखे हुए कच्चे घड़ेकी भाँति विनाश हो जाता है ॥ १४ ॥

तथैव हठदुर्बुद्धिः शक्तः कर्मण्यकर्मकृत् ।
आसीत न चिरं जीवेदनाथ इव दुर्बलः ॥ १५ ॥

इसी प्रकार जो हठी और दुर्बुद्धि मानव कर्म करनेमें समर्थ होकर भी कर्म नहीं करता, बैठा रहता है, वह दुर्बल एवं अनाथकी भाँति दीर्घजीवी नहीं होता ॥ १५ ॥

अकस्मादिह यः कश्चिदर्थं प्राप्नोति पूरुषः ।
तं हठेनेति मन्यन्ते स हि यत्नो न कस्यचित् ॥ १६ ॥

जो कोई पुरुष इस जगत्‌में अकस्मात् कहींसे धन पा लेता है, उसे लोग हठसे मिला हुआ मान लेते हैं; क्योंकि उसके लिये किसीके द्वारा प्रयत्न किया हुआ नहीं दीखता ॥ १६ ॥

यच्चापि किंचित् पुरुषो दिष्टं नाम भजत्युत ।
दैवेन विधिना पार्थ तद् दैवमिति निश्चितम् ॥ १७ ॥

कुन्तीनन्दन ! मनुष्य जो कुछ भी देवाराधनकी विधिसे अपने भाग्यके अनुसार पाता है, उसे निश्चितरूपसे दैव (प्रारब्ध) कहा गया है ॥ १७ ॥

यत् स्वयं कर्मणा किंचित् फलमाप्नोति पूरुषः ।
प्रत्यक्षमेतल्लोकेषु तत् पौरुषमिति श्रुतम् ॥ १८ ॥

तथा मनुष्य स्वयं कर्म करके जो कुछ फल प्राप्त करता है, उसे पुरुषार्थ कहते हैं। यह सब लोगोंको प्रत्यक्ष दिखायी देता है ॥ १८ ॥

स्वभावतः प्रवृत्तो यः प्राप्नोत्यर्थं न कारणात् ।
तत् स्वभावात्मकं विद्धि फलं पुरुषसत्तम ॥ १९ ॥

नरश्रेष्ठ ! जो स्वभावसे ही कर्ममें प्रवृत्त होकर धन प्राप्त करता है, किसी कारणवश नहीं, उसके उस धनको स्वाभाविक फल समझना चाहिये ॥ १९ ॥

एवं हठाच्च दैवाच्च स्वभावात् कर्मणस्तथा ।
यानि प्राप्नोति पुरुषस्तत् फलं पूर्वकर्मणः ॥ २० ॥

इस प्रकार हठ, दैव, स्वभाव तथा कर्मसे मनुष्य जिन-जिन वस्तुओंको पाता है, वे सब उसके पूर्वकर्मोंके ही फल हैं ॥ २० ॥

धातापि हि स्वकर्मैव तैस्तैर्हेतुभिरीश्वरः ।
विदधाति विभज्येह फलं पूर्वकृतं नृणाम् ॥ २१ ॥

जगदाधार परमेश्वर भी उपर्युक्त हठ आदि हेतुओंसे जीवोंके अपने-अपने कर्मको ही विभक्त करके मनुष्योंको उनके पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मके फलरूपसे यहाँ प्राप्त कराता है ॥ २१ ॥

यद्ध्ययं पुरुषः किंचित् कुरुते वै शुभाशुभम् ।
तद् धातृविहितं विद्धि पूर्वकर्मफलोदयम् ॥ २२ ॥

पुरुष यहाँ जो कुछ भी शुभ-अशुभ कर्म करता है, उसे ईश्वरद्वारा विहित उसके पूर्वकर्मोंके फलका उदय समझिये ॥ २२ ॥

कारणं तस्य देहोऽयं धातुः कर्मणि वर्तते ।
स यथा प्रेरयत्येनं तथायं कुरुतेऽवशः ॥ २३ ॥

यह मानव-शरीर जो कर्ममें प्रवृत्त होता है, वह ईश्वरके कर्मफलसम्पादन-कार्यका साधन है। वे इसे जैसी प्रेरणा देते हैं, यह विवश होकर (स्वेच्छा—प्रारब्धभोगके लिये) वैसा ही करता है ॥ २३ ॥

तेषु तेषु हि कृत्येषु विनियोक्ता महेश्वरः ।
सर्वभूतानि कौन्तेय कारयत्यवशान्यपि ॥ २४ ॥

कुन्तीनन्दन ! परमेश्वर ही समस्त प्राणियोंको विभिन्न कार्योंमें लगाते और स्वभावके परवश हुए उन प्राणियोंसे कर्म कराते हैं ॥ २४ ॥

मनसार्थान् विनिश्चित्य पश्चात् प्राप्नोति कर्मणा।
बुद्धिपूर्वं स्वयं वीर पुरुषस्तत्र कारणम् ॥ २५ ॥

किंतु वीर ! मनसे अभीष्ट वस्तुओंका निश्चय करके फिर कर्मद्वारा मनुष्य स्वयं बुद्धिपूर्वक उन्हें प्राप्त करता है। अतः पुरुष ही उसमें कारण है ॥ २५ ॥

संख्यातुं नैव शक्यानि कर्माणि पुरुषर्षभ ।
अगारनगराणां हि सिद्धिः पुरुषहैतुकी ॥ २६ ॥
तिले तैलं गवि क्षीरं काष्ठे पावकमन्ततः ।
धिया धीरो विजानीयादुपायं चास्य सिद्धये ॥ २७ ॥

नरश्रेष्ठ ! कर्मोंकी गणना नहीं की जा सकती। गृह एवं नगर आदि सभीकी प्राप्तिमें पुरुष ही कारण है। विद्वान् पुरुष पहले बुद्धिद्वारा यह निश्चय करे कि तिलमें तेल है, गायके भीतर दूध है, और काष्ठमें अग्नि है, तत्पश्चात् उसकी सिद्धिके उपायका निश्चय करे ॥ २६-२७ ॥

ततः प्रवर्तते पश्चात् कारणैस्तस्य सिद्धये ।
तां सिद्धिमुपजीवन्ति कर्मजामिह जन्तवः ॥ २८ ॥

तदनन्तर उन्हीं उपायोंद्वारा उस कार्यकी सिद्धिके लिये प्रवृत्त होना चाहिये। सभी प्राणी इस जगत्में उस कर्मजनित सिद्धिका सहारा लेते हैं ॥ २८ ॥

कुशलेन कृतं कर्म कर्त्रा साधु स्वनुष्ठितम् ।
इदं त्वकुशलेनेति विशेषादुपलभ्यते ॥ २९ ॥

योग्य कर्ताके द्वारा किया गया कर्म अच्छे ढंगसे सम्पादित होता है। यह कार्य किसी अयोग्य कर्ताके द्वारा किया गया है, यह बात कार्यकी विशेषतासे अर्थात् परिणामसे जानी जाती है ॥ २९ ॥

इष्टापूर्तफलं न स्यान्न शिष्यो न गुरुर्भवेत् ।
पुरुषः कर्मसाध्येषु स्याच्चेदयमकारणम् ॥ ३० ॥

यदि कर्मसाध्य फलोंमें पुरुष (एवं उसका प्रयत्न) कारण न होता अर्थात् वह कर्ता नहीं बनता तो किसीको यज्ञ और कूपनिर्माण आदि कर्मोंका फल नहीं मिलता। फिर तो न कोई किसीका शिष्य होता और न गुरु ही ॥ ३० ॥

कर्तृत्वादेव पुरुषः कर्मसिद्धौ प्रशस्यते ।
असिद्धौ निन्द्यते चापि कर्मनाशात् कथं त्विह ॥ ३१ ॥

कर्ता होनेके कारण ही कार्यकी सिद्धिमें पुरुषकी प्रशंसा की जाती है और जब कार्यकी सिद्धि नहीं होती, तब उसकी निन्दा की जाती है। यदि कर्मका सर्वथा नाश ही हो जाय, तो यहाँ कार्यकी सिद्धि ही कैसे हो ॥ ३१ ॥

सर्वमेव हठेनैके दैवेनैके वदन्त्युत ।
पुंसः प्रयत्नजं केचित्त्रैधमेतन्निरुच्यते ॥ ३२ ॥

कोई तो सब कार्योंको हठसे ही सिद्ध होनेवाला बतलाते हैं। कुछ लोग दैवसे [illegible] तथा कुछ लोग पुरुषार्थको ही कार्यसिद्धिका कारण बताते हैं। इस तरह ये तीन प्रकारके कारण बताये जाते हैं ॥ ३२ ॥

न चैवैतावता कार्यं मन्यन्त इति चापरे ।
अस्ति सर्वमदृश्यं तु दिष्टं चैव तथा हठः ॥ ३३ ॥

दूसरे लोगोंकी मान्यता इस प्रकार है कि मनुष्यके प्रयत्नकी कोई आवश्यकता नहीं है। अदृश्य दैव (प्रारब्ध) तथा हठ—ये दो ही सब कार्योंके कारण हैं ॥ ३३ ॥

दृश्यते हि हठाच्चैव दिष्टाच्चार्थस्य संततिः ।
किंचिद् दैवाद्धठात् किंचित् किंचिदेव स्वभावतः॥३४॥
पुरुषः फलमाप्नोति चतुर्थं नात्र कारणम् ।
कुशलाः प्रतिजानन्ति ये वै तत्त्वविदो जनाः ॥ ३५ ॥

क्योंकि यह देखा जाता है कि हठ तथा दैवसे सब कार्योंकी धारावाहिक रूपसे सिद्धि हो रही है। जो लोग तत्त्वज्ञ एवं कुशल हैं, वे प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि मनुष्य कुछ फल दैवसे, कुछ हठसे और कुछ स्वभावसे प्राप्त करता है। इस विषयमें इन तीनोंके सिवा कोई चौथा कारण नहीं है ॥ ३४-३५ ॥

तथैव धाता भूतानामिष्टानिष्टफलप्रदः ।
यदि न स्यान्न भूतानां कृपणो नाम कश्चन ॥ ३६ ॥

क्योंकि यदि ईश्वर सब प्राणियोंको इष्ट-अनिष्टरूप फल नहीं देते तो उन प्राणियोंमेंसे कोई भी दीन नहीं होता ॥

यं यमर्थमभिप्रेप्सुः कुरुते कर्म पूरुषः ।
तत्तत् सफलमेव स्याद् यदि न स्यात् पुरा कृतम्॥३७॥

यदि पूर्वकृत प्रारब्ध कर्म प्रभाव डालनेवाला न होता तो मनुष्य जिस-जिस प्रयोजनके अभिप्रायसे कर्म करता, वह सब सफल ही हो जाता ॥ ३७ ॥

त्रिद्वारामर्थसिद्धिं तु नानुपश्यन्ति ये नराः ।
तथैवानर्थसिद्धिं च यथा लोकास्तथैव ते ॥ ३८ ॥

अतः जो लोग अर्थसिद्धि तथा अनर्थकी प्राप्तिमें दैव, हठ और स्वभाव—इन तीनोंको कारण नहीं समझते, वे वैसे ही हैं, जैसे कि साधारण अज्ञ लोग होते हैं ॥ ३८ ॥

कर्तव्यमेव कर्मेति मनोरेष विनिश्चयः ।
एकान्तेन ह्यनीहोऽयं पराभवति पूरुषः ॥ ३९ ॥

किंतु मनुका यह सिद्धान्त है कि कर्म करना ही चाहिये, जो बिल्कुल कर्म छोड़कर निश्चेष्ट हो बैठ रहता है, वह पुरुष पराभवको प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

कुर्वतो हि भवत्येव प्रायेणेह युधिष्ठिर ।
एकान्तफलसिद्धिं तु न विन्दत्यलसः क्वचित् ॥ ४० ॥

(इसलिये मेरा तो कहना यह है कि) महाराज युधिष्ठिर! [illegible] पुरुषको यहाँ प्रायः कर्मकी सिद्धि प्राप्त होती

ही है। परंतु जो आलसी है, जिससे ठीक-ठीक कर्तव्यका पालन नहीं हो पाता, उसे कभी फलकी सिद्धि नहीं प्राप्त होती ॥ ४० ॥

असम्भवे त्वस्य हेतुः प्रायश्चित्तं तु लक्षयेत् ।
कृते कर्मणि राजेन्द्र तथानृण्यमवाप्नुते ॥ ४१॥

यदि कर्म करनेपर भी फलकी उत्पत्ति न हो तो कोई-न-कोई कारण है; ऐसा मानकर प्रायश्चित्त (उसके दोषके समाधान) पर दृष्टि डाले। राजेन्द्र ! कर्मको साङ्गोपाङ्ग कर लेनेपर कर्ता उऋण (निर्दोष) हो जाता है ॥ ४१ ॥

अलक्ष्मीराविशत्येनं शयानमलसं नरम् ।
निःसंशयं फलं लब्ध्वा दक्षो भूतिमुपाश्नुते ॥ ४२॥

जो मनुष्य आलस्यके वशमें पड़कर सोता रहता है, उसे दरिद्रता प्राप्त होती है और कार्यकुशल मानव निश्चय ही अभीष्ट फल पाकर ऐश्वर्यका उपभोग करता है ॥ ४२ ॥

अनर्थाः संशयावस्थाः सिद्ध्यन्ते मुक्तसंशयाः ।
धीरा नराः कर्मरता ननु निःसंशयाः क्वचित् ॥ ४३॥

कर्मका फल होगा या नहीं, इस संशयमें पड़े हुए मनुष्य अर्थसिद्धिसे वञ्चित रह जाते हैं और जो संशयरहित हैं, उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है। कर्मपरायण और संशयरहित धीर मनुष्य निश्चय ही कहीं बिरले देखे जाते हैं ॥ ४३ ॥

एकान्तेन ह्यनर्थोऽयं वर्ततेऽस्मासु साम्प्रतम् ।
स तु निःसंशयं न स्यात् त्वयि कर्मण्यवस्थिते ॥ ४४॥

इस समय हमलोगोंपर राज्यापहरणरूप भारी विपद् आ पड़ी है, यदि आप कर्म (पुरुषार्थ) में तत्परतासे लग जायँ तो निश्चय ही यह आपत्ति टल सकती है ॥ ४४ ॥

अथवा सिद्धिरेव स्यादभिमानं तदेव ते ।
वृकोदरस्य बीभत्सोर्भ्रात्रोश्च यमयोरपि ॥ ४५॥

अथवा यदि कार्यकी सिद्धि ही हो जाय, तो वह आपके, भीमसेन और अर्जुनके तथा नकुल-सहदेवके लिये भी विशेष गौरवकी बात होगी ॥ ४५ ॥

अन्येषां कर्म सफलमस्माकमपि वा पुनः ।
विप्रकर्षेण बुध्येत कृतकर्मा यथाफलम् ॥ ४६॥

कर्मोंके कर लेनेपर अन्तमें कर्ताको जैसा फल मिलता है; उसके अनुसार ही यह जाना जा सकता है कि दूसरोंका कर्म सफल हुआ है या हमारा ॥ ४६ ॥

पृथिवीं लाङ्गलेनेह भित्त्वा बीजं वपत्युत ।
आस्तेऽथ कर्षकस्तूष्णीं पर्जन्यस्तत्र कारणम् ॥ ४७॥
वृष्टिश्चेन्नानुगृह्णीयादनेनास्तत्र कर्षकः ।
यदन्यः पुरुषः कुर्यात् तत् कृतं सफलं मया ॥ ४८॥
तच्चेदं फलमस्माकमपराधो न मे क्वचित् ।
इति धीरोऽन्ववेक्ष्यैव नात्मानं तत्र गर्हयेत् ॥ ४९ ॥

किसान हलसे पृथ्वीको चीरकर उसमें बीज बोता है और फिर चुपचाप बैठा रहता है; क्योंकि उसे सफल बनानेमें मेघ कारण हैं। यदि वृष्टिने अनुग्रह नहीं किया तो उसमें किसानका कोई दोष नहीं है। वह किसान मन-ही-मन यह सोचता है कि दूसरे लोग जोतने-बोनेका जो सफल कार्य जैसे करते हैं, वह सब मैंने भी किया है। उस दशामें यदि मुझे ऐसा प्रतिकूल फल मिला तो इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है—ऐसा विचार करके उस असफलताके लिये वह बुद्धिमान् किसान अपनी निन्दा नहीं करता ॥ ४७—४९ ॥

कुर्वन्तो नार्थसिद्धिर्मे भवतीति ह भारत ।
निर्वेदो नात्र कर्तव्यो द्वावन्यौ ह्यत्र कारणम् ॥ ५० ॥

भारत ! पुरुषार्थ करनेपर भी यदि अपनेको सिद्धि न प्राप्त हो तो इस बातको लेकर मन-ही-मन खिन्न नहीं होना चाहिये; क्योंकि फलकी सिद्धिमें पुरुषार्थके सिवा दो और भी कारण हैं—प्रारब्ध और ईश्वर-कृपा ॥ ५० ॥

सिद्धिर्वाप्यथवासिद्धिरप्रवृत्तिरतोऽन्यथा ।
बहूनां समवाये हि भावानां कर्म सिद्ध्यति ॥ ५१ ॥

महाराज ! कार्यमें सिद्धि प्राप्त होगी या असिद्धि, ऐसा संदेह मनमें लेकर आप कर्ममें प्रवृत्त ही न हों, यह उचित नहीं है; क्योंकि बहुत-से कारण एकत्र होनेपर ही कर्ममें सफलता मिलती है ॥ ५१ ॥

गुणाभावे फलं न्यूनं भवत्यफलमेव च ।
अनारम्भे हि न फलं न गुणो दृश्यते क्वचित् ॥ ५२॥

कर्मोंमें किसी अङ्गकी कमी रह जानेपर थोड़ा फल हो सकता है। यह भी सम्भव है कि फल हो ही नहीं। परंतु कर्मका आरम्भ ही न किया जाय तब तो न कहीं फल दिखायी देगा और न कर्ताका कोई गुण (शौर्य आदि) ही दृष्टिगोचर होगा ॥ ५२ ॥

देशकालावुपायांश्च मङ्गलं स्वस्तिवृद्धये ।
युनक्ति मेधया धीरो यथाशक्ति यथाबलम् ॥ ५३॥

धीर मनुष्य मङ्गलमय कल्याणकी वृद्धिके लिये अपनी बुद्धिके द्वारा शक्ति तथा बलका विचार करते हुए देश-कालके अनुसार साम-दाम आदि उपायोंका प्रयोग करे ॥ ५३ ॥

अप्रमत्तेन तत् कार्यमुपदेष्टा पराक्रमः ।
भूयिष्ठं कर्मयोगेषु दृष्ट एव पराक्रमः ॥ ५४ ॥

सावधान होकर देश-कालके अनुरूप कार्य करे। इसमें पराक्रम ही उपदेशक (प्रधान) है। कार्यकी समस्त युक्तियोंमें पराक्रम ही सबसे श्रेष्ठ समझा गया है ॥ ५४ ॥

यत्र धीमानवेक्षेत श्रेयांसं बहुभिर्गुणैः ।
साम्नैवार्थं ततो लिप्सेत् कर्म चास्मै प्रयोजयेत् ॥ ५५ ॥

जहाँ बुद्धिमान् पुरुष शत्रुको अनेक गुणोंसे श्रेष्ठ देखे,

वहाँ सामनीतिसे ही काम बनानेकी इच्छा करे और उसके लिये जो सन्धि आदि आवश्यक कर्तव्य हो, करे ॥ ५५ ॥

व्यसनं वास्य काङ्क्षेत विवासं वा युधिष्ठिर।
अपि सिन्धोर्गिरेर्वापि किं पुनर्मर्त्यधर्मिणः ॥ ५६ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! अथवा शत्रुपर कोई भारी संकट आने या देशसे उसके निकाले जानेकी प्रतीक्षा करे; क्योंकि अपना विरोधी यदि समुद्र अथवा पर्वत हो तो उसपर भी विपत्ति लानेकी इच्छा रखनी चाहिये, फिर जो मरणधर्मा मनुष्य है, उसके लिये तो कहना ही क्या है ! ॥ ५६ ॥

उत्थानयुक्तः सततं परेषामन्तरैषणे ।
आनृण्यमाप्नोति नरः परस्यात्मन एव च ॥ ५७ ॥

शत्रुओंके छिद्रका अन्वेषण करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहे । ऐसा करनेसे वह अपनी और दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें भी निर्दोष होता है ॥ ५७ ॥

न त्वेवात्मावमन्तव्यः पुरुषेण कदाचन ।
न ह्यात्मपरिभूतस्य भूतिर्भवति शोभना ॥ ५८ ॥

मनुष्य कभी अपने आपका अनादर न करे—अपने आपको छोटा न समझे । जो स्वयं ही अपना अनादर करता है, उसे उत्तम ऐश्वर्यकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ५८ ॥

एवंसंस्थितिका सिद्धिरियं लोकस्य भारत ।
तत्र सिद्धिर्गतिः प्रोक्ता कालावस्थाविभागतः ॥ ५९ ॥

भारत ! लोकको इसी प्रकार कार्यसिद्धि प्राप्त होती है—कार्यसिद्धिकी यही व्यवस्था है । काल और अवस्थाके विभागके अनुसार शत्रुकी दुर्बलताके अन्वेषणका प्रयत्न ही सिद्धिका मूल कारण है ॥ ५९ ॥

ब्राह्मणं मे पिता पूर्वं वासयामास पण्डितम् ।
सोऽपि सर्वामिमां प्राह पित्रे मे भरतर्षभ ॥ ६० ॥
नीतिं बृहस्पतिप्रोक्तां भ्रातॄन् मेऽग्राहयत् पुरा ।
तेषां सकाशादश्रौषमहमेतां तदा गृहे ॥ ६१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पूर्वकालमें मेरे पिताजीने अपने घरपर एक विद्वान् ब्राह्मणको ठहराया था । उन्होंने ही पिताजीसे बृहस्पतिजीकी बतायी हुई इस सम्पूर्ण नीतिका प्रतिपादन किया था और मेरे भाइयोंको भी इसीकी शिक्षा दी थी । उस समय अपने भाइयोंके निकट रहकर घरमें ही मैंने भी उस नीतिको सुना था ॥ ६०-६१ ॥

स मां राजन् कर्मवतीमागतामाह सान्त्वयन् ।
शुश्रूषमाणामासीनां पितुरङ्के युधिष्ठिर ॥ ६२ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! मैं उस समय किसी कार्यसे पिताके पास आयी थी और यह सब सुननेकी इच्छासे उनकी गोदमें बैठ गयी थी । तभी उन ब्राह्मण देवताने मुझे सान्त्वना देते हुए इस नीतिका उपदेश किया था ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीवाक्ये द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

भीमसेनका पुरुषार्थकी प्रशंसा करना और युधिष्ठिरको उत्तेजित करते हुए क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध छेड़नेका अनुरोध

वैशम्पायन उवाच

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा भीमसेनो ह्यमर्षणः ।
निःश्वसन्नुपसंगम्य क्रुद्धो राजानमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! द्रुपदकुमारीका वचन सुनकर अमर्षमें भरे हुए भीमसेन क्रोधपूर्वक उच्छ्वास लेते हुए राजाके पास आये और इस प्रकार कहने लगे— ॥ १ ॥

राज्यस्य पदवीं धर्म्यां व्रज सत्पुरुषोचिताम् ।
धर्मकामार्थहीनानां किं नो वस्तुं तपोवने ॥ २ ॥

'महाराज ! श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये उचित और धर्मके अनुकूल जो राज्य-प्राप्तिका मार्ग (उपाय) हो, उसका आश्रय लीजिये । धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंसे वञ्चित होकर इस तपोवनमें निवास करनेपर हमारा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ॥

नैव धर्मेण तद् राज्यं नार्जवेन न चौजसा ।
अक्षकूटमधिष्ठाय हृतं दुर्योधनेन वै ॥ ३ ॥

'दुर्योधनने धर्मसे, सरलतासे और बलसे भी हमारे राज्यको नहीं लिया है; उसने तो कपटपूर्ण जूएका आश्रय लेकर उसका हरण कर लिया है ॥ ३ ॥

गोमायुनेव सिंहानां दुर्बलेन बलीयसाम् ।
आमिषं विघसाशेन तद्वद् राज्यं हि नो हृतम् ॥ ४ ॥

'बचे हुए अन्नको खानेवाले दुर्बल गीदड़ जैसे अत्यन्त बलिष्ठ सिंहोंका भोजन हर लें, उसी प्रकार शत्रुओंने हमारे राज्यका अपहरण किया है ॥ ४ ॥

धर्मलेशप्रतिच्छन्नः प्रभवं धर्मकामयोः ।
अर्थमुत्सृज्य किं राजन् दुर्गेषु परितप्यसे ॥ ५ ॥

'महाराज ! धर्म और कामके उत्पादक राज्य और धनको खोकर लेशमात्र धर्मसे आवृत हुए अब आप क्यों दुःखसे संतप्त हो रहे हैं ? ॥ ५ ॥

भवतोऽनवधानेन राज्यं नः पश्यतां हृतम् ।
अहार्यमपि शक्रेण गुप्तं गाण्डीवधन्वना ॥ ६ ॥

'गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा सुरक्षित हमारे राज्यको इन्द्र भी नहीं छीन सकते थे, परंतु आपकी असावधानीसे वह हमारे देखते-देखते छिन गया ॥ ६ ॥

कुणीनामिव बिल्वानि पङ्गूनामिव धेनवः ।
हृतमैश्वर्यमस्माकं जीवतां भवतः कृते ॥ ७ ॥

'जैसे लूलोंके पाससे उनके बेल-फल और पंगुओंके निकटसे उनकी गायें छिन जाती हैं और वे जीवित रहकर भी कुछ कर नहीं पाते, उसी प्रकार आपके कारण जीते-जी हमारे राज्यका अपहरण कर लिया गया ॥ ७ ॥

भवतः प्रियमित्येवं महद् व्यसनमीदृशम् ।
धर्मकामे प्रतीतस्य प्रतिपन्नाः स्म भारत ॥ ८ ॥

'भारत ! आप धर्मकी इच्छा रखनेवाले हैं; इस रूपमें आपकी प्रसिद्धि है । अतः आपकी प्रिय अभिलाषा सिद्ध हो, इसीलिये हमलोग ऐसे महान् संकटमें पड़ गये हैं ॥ ८ ॥

कर्शयामः स्वमित्राणि नन्दयामश्च शात्रवान् ।
आत्मानं भवतां शास्त्रैर्नियम्य भरतर्षभ ॥ ९ ॥

'भरतकुलभूषण ! आपके शासनसे अपने-आपको नियन्त्रणमें रखकर आज हमलोग अपने मित्रोंको दुखी और शत्रुओंको सुखी बना रहे हैं ॥ ९ ॥

यद् वयं न तदैवैतान् धार्तराष्ट्रान् निहन्महि ।
भवतः शास्त्रमादाय तन्नस्तपति दुष्कृतम् ॥ १० ॥

'आपके शासनको मानकर जो हमलोगोंने उसी समय इन धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार नहीं डाला, वह दुष्कर्म हमें आज भी संताप दे रहा है ॥ १० ॥

अथैनामन्ववेक्षस्व मृगचर्यामिवात्मनः ।
दुर्बलाचरितां राजन् न बलस्थैर्निषेविताम् ॥ ११ ॥

'राजन् ! मृगोंके समान अपनी इस वनचर्यापर ही दृष्टिपात कीजिये । दुर्बल मनुष्य ही इस प्रकार वनमें रहकर समय बिताते हैं । बलवान् मनुष्य वनवासका सेवन नहीं करते ॥ ११ ॥

यां न कृष्णो न बीभत्सुर्नाभिमन्युर्न सृंजयाः ।
न चाहमभिनन्दामि न च माद्रीसुतावुभौ ॥ १२ ॥

'श्रीकृष्ण, अर्जुन, अभिमन्यु, सृञ्जयवंशी वीर, मैं और ये नकुल-सहदेव—कोई भी इस वनचर्याको पसंद नहीं करते ॥ १२ ॥

भवान् धर्मो धर्म इति सततं व्रतकर्शितः ।
कच्चिद् राजन् न निर्वेदादापन्नः क्लीबजीविकाम् ॥ १३ ॥

'राजन् ! आप 'यह धर्म है, यह धर्म है', ऐसा कहकर सदा व्रतोंका पालन करके कष्ट उठाते रहते हैं । कहीं ऐसा तो नहीं है कि आप वैराग्यके कारण साहसशून्य हो नपुंसकोंका-सा जीवन व्यतीत करने लगे हों ? ॥ १३ ॥

दुर्मनुष्या हि निर्वेदमफलं स्वार्थघातकम् ।
अशक्ताः श्रियमाहर्तुमात्मनः कुर्वते प्रियम् ॥ १४ ॥

'अपनी खोयी हुई राज्यलक्ष्मीका उद्धार करनेमें असमर्थ दुर्बल मनुष्य ही निष्फल और स्वार्थनाशक वैराग्यका आश्रय लेते हैं और उसीको प्रिय मानते हैं ॥ १४ ॥

स भवान् दृष्टिमाञ्छक्तः पश्यन्नस्मासु पौरुषम् ।
आनृशंस्यपरो राजन् नानर्थमवबुध्यसे ॥ १५ ॥

'राजन् ! आप समझदार, दूरदर्शी और शक्तिशाली हैं, हमारे पुरुषार्थको देख चुके हैं; तो भी इस प्रकार दयाको अपनाकर इससे होनेवाले अनर्थको नहीं समझ रहे हैं ॥ १५ ॥

अस्मानमी धार्तराष्ट्राः क्षममाणानलं सतः ।
अशक्तानिव मन्यन्ते तद् दुःखं नाहवे वधः ॥ १६ ॥

'हम शत्रुओंके अपराधको क्षमा करते जा रहे हैं, इसलिये समर्थ होते हुए भी हमें ये धृतराष्ट्रके पुत्र निर्बल-से मानने लगे हैं, यही हमारे लिये महान् दुःख है; युद्धमें मारा जाना कोई दुःख नहीं है ॥ १६ ॥

तत्र चेद् युध्यमानानामजिह्ममनिवर्तिनाम् ।
सर्वशो हि वधः श्रेयान् प्रेत्य लोकान् लभेमहि ॥ १७ ॥

'ऐसी दशामें यदि हम पीठ न दिखाकर युद्धमें निष्कपट भावसे लड़ते रहें और उसमें हमारा वध भी हो जाय, तो वह कल्याणकारक है; क्योंकि युद्धमें मरनेसे हमें उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होगी ॥ १७ ॥

अथवा वयमेवैतान् निहत्य भरतर्षभ ।
आददीमहि गां सर्वां तथापि श्रेय एव नः ॥ १८ ॥

'अथवा भरतश्रेष्ठ ! यदि हम ही इन शत्रुओंको मारकर सारी पृथ्वी ले लें तो वही हमारे लिये कल्याणकर है ॥ १८ ॥

सर्वथा कार्यमेतन्नः स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।
काङ्क्षतां विपुलां कीर्तिं वैरं प्रतिचिकीर्षताम् ॥ १९ ॥

'हम अपने क्षत्रिय-धर्मके अनुष्ठानमें संलग्न हो वैरका बदला लेना चाहते हैं और संसारमें महान् यशका विस्तार करनेकी अभिलाषा रखते हैं, अतः हमारे लिये सब प्रकारसे युद्ध करना ही उचित है ॥ १९ ॥

आत्मार्थं युध्यमानानां विदिते कृत्यलक्षणे ।
अन्यैरपि हृते राज्ये प्रशंसैव न गर्हणा ॥ २० ॥

'शत्रुओंने हमारे राज्यको छीन लिया है, ऐसे अवसरपर यदि हम अपने कर्तव्यको समझकर अपने लाभके लिये ही युद्ध करें तो भी इसके लिये जगत्‌में हमारी प्रशंसा ही होगी, निन्दा नहीं होगी ॥ २० ॥

कर्शनार्थो हि यो धर्मो मित्राणामात्मनस्तथा ।
व्यसनं नाम तद् राजन् न धर्मः स कुधर्म तत् ॥ २१ ॥

'महाराज ! जो धर्म अपने तथा मित्रोंके लिये क्लेश उत्पन्न करनेवाला हो, वह तो संकट ही है । वह धर्म नहीं, कुधर्म है ॥ २१ ॥

सर्वथा धर्मनित्यं तु पुरुषं धर्मदुर्बलम् ।
त्यजतस्तात धर्मार्थौ प्रेतं दुःखसुखे यथा ॥ २२ ॥

'तात ! जैसे मुर्दोंको दुःख और सुख दोनों नहीं होते, उसी प्रकार जो सर्वथा और सर्वदा धर्ममें ही तत्पर रहकर उसके अनुष्ठानसे दुर्बल हो गया है, उसे धर्म और अर्थ दोनों त्याग देते हैं ॥ २२ ॥

यस्य धर्मो हि धर्मार्थं क्लेशभाङ् न स पण्डितः ।
न स धर्मस्य वेदार्थं सूर्यस्यान्धः प्रभामिव ॥ २३ ॥

जिसका धर्म केवल धर्मके लिये ही होता है, वह धर्मके नामपर केवल क्लेश उठानेवाला मानव बुद्धिमान् नहीं है । जैसे अन्धा सूर्यकी प्रभाको नहीं जानता, उसी प्रकार वह धर्मके अर्थको नहीं समझता है ॥ २३ ॥

यस्य चार्थार्थमेवार्थः स च नार्थस्य कोविदः ।
रक्षेत भृतकोऽरण्ये यथा गास्तादृगेव सः ॥ २४ ॥

'जिसका धन केवल धनके ही लिये है, दान आदिके लिये नहीं है, वह धनके तत्त्वको नहीं जानता । जैसे सेवक (ग्वालिया) वनमें गौओंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार वह भी उस धनका दूसरेके लिये रक्षकमात्र है ॥ २४ ॥

अतिवेलं हि योऽर्थार्थी नेतरावनुतिष्ठति ।
स वध्यः सर्वभूतानां ब्रह्महेव जुगुप्सितः ॥ २५ ॥

'जो केवल अर्थके ही संग्रहकी अत्यन्त इच्छा रखनेवाला है और धर्म एवं कामका अनुष्ठान नहीं करता है, वह ब्रह्म-हत्यारेके समान घृणाका पात्र है और सभी प्राणियोंके लिये वध्य है ॥ २५ ॥

सततं यश्च कामार्थी नेतरावनुतिष्ठति ।
मित्राणि तस्य नश्यन्ति धर्मार्थाभ्यां च हीयते ॥ २६ ॥

'इसी प्रकार जो निरन्तर कामकी ही अभिलाषा रखकर धर्म और अर्थका सम्पादन नहीं करता, उसके मित्र नष्ट हो जाते हैं (उसको त्यागकर चल देते हैं) और वह धर्म एवं अर्थ दोनोंसे वञ्चित ही रह जाता है ॥ २६ ॥

तस्य धर्मार्थहीनस्य कामान्ते निधनं ध्रुवम् ।
कामतो रममाणस्य मीनस्येवाम्भसः क्षये ॥ २७ ॥

'जैसे पानी सूख जानेपर उसमें रहनेवाली मछलीकी मृत्यु निश्चित है, उसी प्रकार जो धर्म-अर्थसे हीन होकर केवल काममें ही रमण करता है, उस काम (भोगसामग्री) की समाप्ति होनेपर उसकी भी अवश्य मृत्यु हो जाती है ॥ २७ ॥

तस्माद् धर्मार्थयोर्नित्यं न प्रमाद्यन्ति पण्डिताः ।
प्रकृतिः सा हि कामस्य पावकस्यारणिर्यथा ॥ २८ ॥

'इसलिये विद्वान् पुरुष कभी धर्म और अर्थके सम्पादनमें प्रमाद नहीं करते हैं । धर्म और अर्थ कामकी उत्पत्तिके स्थान हैं (अर्थात् धर्म और अर्थसे ही कामकी सिद्धि होती है) जैसे अरणि अग्निका उत्पत्तिस्थान है ॥ २८ ॥

सर्वथा धर्ममूलोऽर्थो धर्मश्चार्थपरिग्रहः ।
इतरेतरयोर्नीतौ विद्धि मेघोदधी यथा ॥ २९ ॥

'अर्थका कारण है धर्म और धर्म सिद्ध होता है अर्थ-संग्रहसे । जैसे मेघसे समुद्रकी पुष्टि होती है और समुद्रसे मेघकी पूर्ति । इस प्रकार धर्म और अर्थको एक-दूसरेके आश्रित समझना चाहिये ॥ २९ ॥

द्रव्यार्थस्पर्शसंयोगे या प्रीतिरुपजायते ।
स कामश्चित्तसंकल्पः शरीरं नास्य दृश्यते ॥ ३० ॥

'स्त्री, माला, चन्दन आदि द्रव्योंके स्पर्श और सुवर्ण आदि धनके लाभसे जो प्रसन्नता होती है, उसके लिये जो चित्तमें संकल्प उठता है, उसीका नाम काम है । उस कामका शरीर नहीं देखा जाता (इसीलिये वह 'अनङ्ग' कहलाता है)॥ ३० ॥

अर्थार्थी पुरुषो राजन् बृहन्तं धर्ममिच्छति ।
अर्थमिच्छति कामार्थी न कामादन्यमिच्छति ॥ ३१ ॥

'राजन् ! धनकी इच्छा रखनेवाला पुरुष महान् धर्मकी अभिलाषा रखता है और कामार्थी मनुष्य धन चाहता है । जैसे धर्मसे धनकी और धनसे कामकी इच्छा करता है, उस प्रकार वह कामसे किसी दूसरी वस्तुकी इच्छा नहीं करता है ॥

न हि कामेन कामोऽन्यः साध्यते फलमेव तत् ।
उपयोगात् फलस्यैव काष्ठाद् भस्मेव पण्डितैः ॥ ३२ ॥

'जैसे फल उपभोगमें आकर कृतार्थ हो जाता है, उससे दूसरा फल नहीं प्राप्त हो सकता तथा जिस प्रकार काष्ठसे भस्म बन सकता है, परंतु उस भस्मसे दूसरा कोई पदार्थ नहीं बन सकता; इसी तरह बुद्धिमान् पुरुष एक कामसे किसी दूसरे कामकी सिद्धि नहीं मानते, क्योंकि वह साधन नहीं, फल ही है ॥ ३२ ॥

इमाञ्छकुनकान् राजन् हन्ति वैतंसिको यथा ।
एतद्रूपमधर्मस्य भूतेषु हि विहिंसता ॥ ३३ ॥

कामाल्लोभाच्च धर्मस्य प्रवृत्तिं यो न पश्यति ।
स वध्यः सर्वभूतानां प्रेत्य चेह च दुर्मतिः ॥ ३४ ॥

'राजन् ! जैसे पक्षियोंको मारनेवाला व्याध इन पक्षियोंको मारता है, यह विशेष प्रकारकी हिंसा ही अधर्मका स्वरूप है (अतः वह हिंसक सबके लिये वध्य है)। वैसे ही जो खोटी बुद्धि-वाला मनुष्य काम और लोभके वशीभूत होकर धर्मके स्वरूपको नहीं जानता, वह इहलोक और परलोकमें भी सब प्राणियोंका वध्य होता है ॥ ३३-३४ ॥

व्यक्तं ते विदितो राजन्नर्थो द्रव्यपरिग्रहः ।
प्रकृतिं चापि वेत्थास्य विकृतिं चापि भूयसीम् ॥ ३५ ॥

'राजन् ! आपको यह अच्छी तरह ज्ञात है कि धनसे ही भोग्य-सामग्रीका संग्रह होता है । धनका जो कारण है, उससे भी आप परिचित हैं और धनके द्वारा जो बहुत-से कार्य सिद्ध होते हैं, उसे भी आप जानते हैं ॥ ३५ ॥

तस्य नाशे विनाशे वा जरया मरणेन वा ।
अनर्थ इति मन्यन्ते सोऽयमस्मासु वर्तते ॥ ३६ ॥

'उस धनका अभाव होनेपर अथवा प्राप्त हुए धनका नाश होनेपर अथवा स्त्री आदि धनके जरा-जीर्ण एवं मृत्यु-ग्रस्त होनेपर मनुष्यकी जो दशा होती है, उसीको सब लोग अनर्थ मानते हैं। वही इस समय हमलोगोंको भी प्राप्त हुआ है ॥

इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च ।
विषये वर्तमानानां या प्रीतिरुपजायते ॥ ३७ ॥
स काम इति मे बुद्धिः कर्मणां फलमुत्तमम् ।

'पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धिकी अपने विषयोंमें प्रवृत्त होनेके समय जो प्रीति होती है, वही मेरी समझमें काम है । वह कर्मोंका उत्तम फल है ॥ ३७½ ॥

एवमेव पृथग् दृष्ट्वा धर्मार्थौ काममेव च ॥ ३८ ॥
न धर्मपर एव स्यान्न चार्थपरमो नरः ।
न कामपरमो वा स्यात् सर्वान् सेवेत सर्वदा ॥ ३९ ॥
धर्मं पूर्वं धनं मध्ये जघन्ये काममाचरेत् ।
अहन्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः ॥४०॥

'इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम तीनोंको पृथक्-पृथक् समझकर मनुष्य केवल धर्म, केवल अर्थ अथवा केवल कामके ही सेवनमें तत्पर न रहे । उन सबका सदा इस प्रकार सेवन करे, जिससे इनमें विरोध न हो । इस विषयमें शास्त्रोंका यह विधान है कि दिनके पूर्वभागमें धर्मका, दूसरे भागमें अर्थका और अन्तिम भागमें कामका सेवन करे ॥ ३८--४० ॥

कामं पूर्वे धनं मध्ये जघन्ये धर्ममाचरेत् ।
वयस्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः ॥ ४१ ॥

'इसी प्रकार अवस्था-क्रममें शास्त्रका विधान यह है कि आयुके पूर्वभागमें (युवावस्थामें) कामका, मध्यभाग (प्रौढ़-अवस्था) में धनका तथा अन्तिमभाग (वृद्ध-अवस्था)में धर्मका पालन करे ॥ ४१ ॥

धर्मं चार्थं च कामं च यथावद् वदतां वर ।
विभज्य काले कालज्ञः सर्वान् सेवेत पण्डितः ॥ ४२ ॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! उचित कालका ज्ञान रखनेवाला विद्वान् पुरुष धर्म, अर्थ और काम तीनोंका यथावत् विभाग करके उपयुक्त समयपर उन सबका सेवन करे ॥ ४२ ॥

मोक्षो वा परमं श्रेय एष राजन् सुखार्थिनाम् ।
प्राप्तिर्वा बुद्धिमास्थाय सोपायां कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥
तद् वाऽऽशु क्रियतां राजन् प्राप्तिर्वाप्यधिगम्यताम् ।
जीवितं ह्यातुरस्येव दुःखमन्तरवर्तिनः ॥ ४४ ॥

'कुरुनन्दन ! निरतिशय सुखकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओंके लिये यह मोक्ष ही परम कल्याणप्रद है । राजन् ! इसी प्रकार लौकिक सुखकी इच्छावालोंके लिये धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्गकी प्राप्ति ही परम श्रेय है । अतः महाराज ! भक्ति और योगसहित ज्ञानका आश्रय लेकर आप शीघ्र ही या तो मोक्षकी प्राप्ति कर लीजिये अथवा धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्गकी प्राप्तिके उपायका अवलम्बन कीजिये । जो इन दोनोंके बीचमें रहता है, उसका जीवन तो आर्त मनुष्यके समान दुःखमय ही है ॥ ४३-४४ ॥

विदितश्चैव मे धर्मः सततं चरितश्च ते ।
जानन्तस्त्वयि शंसन्ति सुहृदः कर्मचोदनाम् ॥ ४५ ॥

'मुझे मालूम है कि आपने सदा धर्मका ही आचरण किया है, इस बातको जानते हुए भी आपके हितैषी, सगे-सम्बन्धी आपको (धर्मयुक्त) कर्म एवं पुरुषार्थके लिये ही प्रेरित करते हैं ॥ ४५ ॥

दानं यज्ञाः सतां पूजा वेदधारणमार्जवम् ।
एष धर्मः परो राजन् बलवान् प्रेत्य चेह च ॥ ४६ ॥

'महाराज ! इहलोक और परलोकमें भी दान, यज्ञ, संतोंका आदर, वेदोंका स्वाध्याय और सरलता आदि ही उत्तम एवं प्रबल धर्म माने गये हैं ॥ ४६ ॥

एष नार्थविहीनेन शक्यो राजन् निषेवितुम् ।
अखिलाः पुरुषव्याघ्र गुणाः स्युर्यद्यपीतरे ॥ ४७ ॥

'पुरुषसिंह राजन् ! यद्यपि मनुष्यमें दूसरे सभी गुण मौजूद हों तो भी यह यज्ञ आदि रूप धर्म धनहीन पुरुषके द्वारा नहीं सम्पादित किया जा सकता ॥ ४७ ॥

धर्ममूलं जगद् राजन् नान्यद् धर्माद् विशिष्यते ।
धर्मश्चार्थेन महता शक्यो राजन् निषेवितुम् ॥ ४८ ॥

'महाराज ! इस जगत्का मूल कारण धर्म ही है । इस जगत्में धर्मसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है । उस धर्मका अनुष्ठान भी महान् धनसे ही हो सकता है ॥ ४८ ॥

न चार्थो भैक्ष्यचर्येण नापि क्लैब्येन कर्हिचित् ।
वेत्तुं शक्यः सदा राजन् केवलं धर्मबुद्धिना ॥ ४९ ॥

'राजन् ! भीख माँगनेसे, कायरता दिखानेसे अथवा केवल धर्ममें ही मन लगाये रहनेसे धनकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती ॥ ४९ ॥

प्रतिषिद्धा हि ते याच्ञा यया सिद्ध्यति वै द्विजः ।
तेजसैवार्थलिप्सायां यतस्व पुरुषर्षभ ॥ ५० ॥

'नरश्रेष्ठ ! ब्राह्मण जिस याचनाके द्वारा कार्यसिद्धि कर लेता है वह तो आप कर नहीं सकते, क्योंकि क्षत्रियके लिये उसका निषेध है । अतः आप अपने तेजके द्वारा ही धन पानेका प्रयत्न कीजिये ॥ ५० ॥

भैक्ष्यचर्या न विहिता न च विट्शूद्रजीविका ।
क्षत्रियस्य विशेषेण धर्मस्तु बलमौरसम् ॥ ५१ ॥

'क्षत्रियके लिये न तो भीख माँगनेका विधान है और न वैश्य और शूद्रकी जीविका करनेका ही । उसके लिये तो बल और उत्साह ही विशेष धर्म हैं ॥ ५१ ॥

स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व जहि शत्रून् समागतान् ।
धार्तराष्ट्रवनं पार्थ मया पार्थेन नाशय ॥ ५२ ॥

'पार्थ ! अपने धर्मका आश्रय लीजिये, प्राप्त हुए शत्रुओंका वध कीजिये । मेरे तथा अर्जुनके द्वारा धृतराष्ट्रपुत्ररूपी जंगलको कटवा डालिये ॥ ५२ ॥

उदारमेव विद्वांसो धर्मं प्राहुर्मनीषिणः ।
उदारं प्रतिपद्यस्व नावरे स्थातुमर्हसि ॥ ५३ ॥

'मनीषी विद्वान् दानशीलताको ही धर्म कहते हैं, अतः आप उस दानशीलताको ही प्राप्त कीजिये । आपको इस दयनीय अवस्थामें नहीं रहना चाहिये ॥ ५३ ॥

अनुबुध्यस्व राजेन्द्र वेत्थ धर्मान् सनातनान् ।
क्रूरकर्माभिजातोऽसि यस्मादुद्विजते जनः ॥ ५४ ॥

'महाराज ! आप सनातन धर्मोंको जानते हैं, आप कठोर कर्म करनेवाले क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुए हैं, जिससे सबलोग भयभीत रहते हैं; अतः अपने स्वरूप और कर्तव्यकी ओर ध्यान दीजिये ॥ ५४ ॥

प्रजापालनसम्भूतं फलं तव न गर्हितम् ।
एष ते विहितो राजन् धात्रा धर्मः सनातनः ॥ ५५ ॥

'जब आप राज्य प्राप्त कर लेंगे, उस समय प्रजापालनरूप धर्मसे आपको जिस पुण्यफलकी प्राप्ति होगी, वह आपके लिये गर्हित नहीं होगा । महाराज ! विधाताने आप-जैसे क्षत्रियका यही सनातन धर्म नियत किया है ॥ ५५ ॥

तस्मादपचितः पार्थ लोके हास्यं गमिष्यसि ।
स्वधर्माद्धि मनुष्याणां चलनं न प्रशस्यते ॥ ५६ ॥

'पार्थ ! उस धर्मसे हीन होनेपर तो संसारमें आप उपहासके पात्र हो जायँगे । मनुष्योंका अपने धर्मसे भ्रष्ट होना कुछ प्रशंसाकी बात नहीं है ॥ ५६ ॥

स क्षात्रं हृदयं कृत्वा त्यक्त्वेदं शिथिलं मनः ।
वीर्यमास्थाय कौरव्य धुरमुद्वह धुर्यवत् ॥ ५७ ॥

'कुरुनन्दन ! अपने हृदयको क्षत्रियोचित उत्साहसे भरकर मनकी इस शिथिलताको दूर करके पराक्रमका आश्रय ले आप एक धुरन्धर वीर पुरुषकी भाँति युद्धका भार वहन कीजिये ॥

न हि केवलधर्मात्मा पृथिवीं जातु कश्चन ।
पार्थिवो व्यजयद् राजन् न भूतिं न पुनः श्रियम् ॥ ५८ ॥

'महाराज ! केवल धर्ममें ही लगे रहनेवाले किसी भी नरेशने आजतक न तो कभी पृथ्वीपर विजय पायी है और न ऐश्वर्य तथा लक्ष्मीको ही प्राप्त किया है ॥ ५८ ॥

जिह्वां दत्त्वा बहूनां हि क्षुद्राणां लुब्धचेतसाम् ।
निकृत्या लभते राज्यमाहारमिव शल्यकः ॥ ५९ ॥

'जैसे बहेलिया लुब्ध हृदयवाले छोटे-छोटे मृगोंको कुछ खानेकी वस्तुओंका लोभ देकर छलसे उन्हें पकड़ लेता है, उसी प्रकार नीतिज्ञ राजा शत्रुओंके प्रति कूटनीतिका प्रयोग करके उनसे राज्यको प्राप्त कर लेता है ॥ ५९ ॥

भ्रातरः पूर्वजाताश्च सुसमृद्धाश्च सर्वशः ।
निकृत्या निर्जिता देवैरसुराः पार्थिवर्षभ ॥ ६० ॥

'नृपश्रेष्ठ ! आप जानते हैं कि असुरगण देवताओंके बड़े भाई हैं, उनसे पहले उत्पन्न हुए हैं और सब प्रकारसे समृद्धिशाली हैं तो भी देवताओंने छलसे उन्हें जीत लिया ॥ ६० ॥

एवं बलवतः सर्वमिति बुद्ध्वा महीपते ।
जहि शत्रून् महाबाहो परां निकृतिमास्थितः ॥ ६१ ॥

'महाराज ! महाबाहो ! इस प्रकार बलवान्का ही सबपर अधिकार होता है, यह समझकर आप भी कूटनीतिका आश्रय ले अपने शत्रुओंको मार डालिये ॥ ६१ ॥

न ह्यर्जुनसमः कश्चिद् युधि योद्धा धनुर्धरः ।
भविता वा पुमान् कश्चिन्मत्समो वा गदाधरः ॥ ६२ ॥

'युद्धमें अर्जुनके समान कोई धनुर्धर अथवा मेरे समान गदाधारी योद्धा न तो है और न आगे होनेकी ही सम्भावना है ॥ ६२ ॥

सत्त्वेन कुरुते युद्धं राजन् सुबलवानपि ।
अप्रमादी महोत्साही सत्त्वस्थो भव पाण्डव ॥ ६३ ॥

'पाण्डुनन्दन ! अत्यन्त बलवान् पुरुष भी आत्मबलसे ही युद्ध करता है, इसलिये आप सावधानीपूर्वक महान् उत्साह और आत्मबलका आश्रय लीजिये ॥ ६३ ॥

सत्त्वं हि मूलमर्थस्य वितथं यदतोऽन्यथा ।
न तु प्रसक्तं भवति वृक्षच्छायेव हैमनी ॥ ६४ ॥

'आत्मबल ही धनका मूल है, इसके विपरीत जो कुछ है, वह मिथ्या है; क्योंकि हेमन्त ऋतुमें वृक्षोंकी छायाके समान वह आत्माकी दुर्बलता किसी भी कामकी नहीं है ॥ ६४ ॥

अर्थत्यागोऽपि कार्यः स्यादर्थं श्रेयांसमिच्छता ।
बीजौपम्येन कौन्तेय मा ते भूदत्र संशयः ॥ ६५ ॥

'कुन्तीकुमार ! जैसे किसान अधिक अन्नराशि उपजानेकी लालसासे धान्य आदिके अल्प बीजोंका भूमिमें परित्याग कर देता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ अर्थ पानेकी इच्छासे अल्प अर्थका त्याग किया जा सकता है। आपको इस विषयमें संशय नहीं करना चाहिये ॥ ६५ ॥

अर्थेन तु समो नार्थो यत्र लभ्येत नोदयः ।
न तत्र विपणः कार्यः खरकण्डूयनं हि तत् ॥ ६६ ॥

जहाँ अर्थका उपयोग करनेपर उससे अधिक या समान अर्थकी प्राप्ति न हो वहाँ उस अर्थको नहीं लगाना चाहिये, क्योंकि वह (परस्पर) गधोंके शरीरको खुजलानेके समान व्यर्थ है ॥

एवमेव मनुष्येन्द्र धर्मं त्यक्त्वाल्पकं नरः ।
बृहन्तं धर्ममाप्नोति स बुद्ध इति निश्चितम् ॥ ६७ ॥

'नरेश्वर ! इसी प्रकार जो मनुष्य अल्प धर्मका परित्याग करके महान् धर्मकी प्राप्ति करता है, वह निश्चय ही बुद्धिमान् है ॥ ६७ ॥

अमित्रं मित्रसम्पन्नं मित्रैर्भिन्दन्ति पण्डिताः ।
भिन्नैर्मित्रैः परित्यक्तं दुर्बलं कुर्वते वशम् ॥ ६८ ॥

'मित्रोंसे सम्पन्न शत्रुको विद्वान् पुरुष अपने मित्रोंद्वारा भेदनीतिसे उसमें और उसके मित्रोंमें फूट डाल देते हैं, फिर भेदभाव होनेपर मित्र जब उसको त्याग देते हैं, तब वे उस दुर्बल शत्रुको अपने वशमें कर लेते हैं ॥ ६८ ॥

सत्त्वेन कुरुते युद्धं राजन् सुबलवानपि ।
नोद्यमेन न होत्राभिः सर्वाः स्वीकुरुते प्रजाः ॥ ६९ ॥

'राजन् ! अत्यन्त बलवान् पुरुष भी आत्मबलसे ही युद्ध करता है, वह किसी अन्य प्रयत्नसे या प्रशंसाद्वारा सब प्रजाको अपने वशमें नहीं करता ॥ ६९ ॥

सर्वथा संहतैरेव दुर्बलैर्बलवानपि ।
अमित्रः शक्यते हन्तुं मधुहा भ्रमरैरिव ॥ ७० ॥

'जैसे मधुमक्खियाँ संगठित होकर मधु निकालनेवालेको मार डालती हैं, उसी प्रकार सर्वथा संगठित रहनेवाले दुर्बल मनुष्योंद्वारा बलवान् शत्रु भी मारा जा सकता है ॥ ७० ॥

यथा राजन् प्रजाः सर्वाः सूर्यः पाति गभस्तिभिः ।
अत्ति चैव तथैव त्वं सदृशः सवितुर्भव ॥ ७१ ॥

राजन् ! जैसे भगवान् सूर्य पृथ्वीके रसको ग्रहण करते और अपनी किरणोंद्वारा वर्षा करके उन सबकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप भी प्रजाओंसे कर लेकर उनकी रक्षा करते हुए सूर्यके ही समान हो जाइये ॥ ७१ ॥

एतच्चापि तपो राजन् पुराणमिति नः श्रुतम् ।
विधिना पालनं भूमेर्यत् कृतं नः पितामहैः ॥ ७२ ॥

'राजेन्द्र ! हमारे बाप-दादोंने जो किया है, वह धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन भी प्राचीनकालसे चला आनेवाला तप ही है; ऐसा हमने सुना है ॥ ७२ ॥

न तथा तपसा राजँल्लोकान् प्राप्नोति क्षत्रियः ।
यथा सृष्टेन युद्धेन विजयेनेतरेण वा ॥ ७३ ॥

'धर्मराज ! क्षत्रिय तपस्याके द्वारा वैसे पुण्यलोकोंको नहीं प्राप्त होता, जिन्हें वह अपने लिये विहित युद्धके द्वारा विजय अथवा मृत्युको अङ्गीकार करनेसे प्राप्त करता है ॥ ७३ ॥

अपेयात् किल भाः सूर्याल्लक्ष्मीश्चन्द्रमसस्तथा ।
इति लोको व्यवसितो दृष्ट्वेमां भवतो व्यथाम् ॥ ७४ ॥

'आपपर जो यह संकट आया है, इस असम्भव-सी घटनाको देखकर लोग यह निश्चयपूर्वक मानने लगे हैं कि सूर्यसे उसकी प्रभा और चन्द्रमासे उसकी चाँदनी भी दूर हो सकती है ॥ ७४ ॥

भवतश्च प्रशंसाभिर्निन्दाभिरितरस्य च ।
कथायुक्ताः परिषदः पृथग् राजन् समागताः ॥ ७५ ॥

'राजन् ! साधारण लोग भिन्न-भिन्न सभाओंमें सम्मिलित होकर अथवा अलग-अलग समूह-के-समूह इकट्ठे होकर आपकी प्रशंसा और दुर्योधनकी निन्दासे ही सम्बन्ध रखनेवाली बातें करते हैं ॥ ७५ ॥

इदमभ्यधिकं राजन् ब्राह्मणाः कुरवश्च ते ।
समेताः कथयन्तीह मुदिताः सत्यसंधताम् ॥ ७६ ॥

'महाराज ! इसके सिवा, यह भी सुननेमें आया है कि ब्राह्मण और कुरुवंशी एकत्र होकर बड़ी प्रसन्नताके साथ आपकी सत्यप्रतिज्ञताका वर्णन करते हैं ॥ ७६ ॥

यन्न मोहान्न कार्पण्यान्न लोभान्न भयादपि ।
अनृतं किंचिदुक्तं ते न कामान्नार्थकारणात् ॥ ७७ ॥

'उनका कहना है कि आपने कभी न तो मोहसे, न दीनतासे, न लोभसे, न भयसे, न कामनासे और न धनके ही कारणसे किंचिन्मात्र भी असत्य भाषण किया है ॥ ७७ ॥

यदेनः कुरुते किंचिद् राजा भूमिमवाप्नुवन् ।
सर्वं तन्नुदते पश्चाद् यज्ञैर्विपुलदक्षिणैः ॥ ७८ ॥

'राजा पृथ्वीको अपने अधिकारमें करते समय युद्धजनित हिंसा आदिके द्वारा जो कुछ पाप करता है, वह सब राज्य-प्राप्तिके पश्चात् भारी दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा नष्ट कर देता है ॥

ब्राह्मणेभ्यो ददद् ग्रामान् गाश्च राजन् सहस्रशः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यस्तमोभ्य इव चन्द्रमाः ॥ ७९ ॥

'जनेश्वर ! ब्राह्मणोंको बहुत-से गाँव और सहस्रों गौएँ दानमें देकर राजा अपने समस्त पापोंसे उसी प्रकार मुक्त हो जाता है, जैसे चन्द्रमा अन्धकारसे ॥ ७९ ॥

पौरजानपदाः सर्वे प्रायशः कुरुनन्दन।
सवृद्धबालसहिताः शंसन्ति त्वां युधिष्ठिर ॥ ८० ॥

'कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! प्रायः नगर और जनपदमें निवास करनेवाले आबालवृद्ध सब लोग आपकी प्रशंसा करते हैं ॥ ८० ॥

श्वदृतौ क्षीरमासक्तं ब्रह्म वा वृषले यथा।
सत्यं स्तेने बलं नार्यां राज्यं दुर्योधने तथा ॥ ८१ ॥

'कुत्तेके चमड़ेकी कुप्पीमें रक्खा हुआ दूध, शूद्रमें स्थित वेद, चोरमें सत्य और नारीमें स्थित बल जैसे अनुचित है, उसी प्रकार दुर्योधनमें स्थित राजत्व भी संगत नहीं है ॥ ८१ ॥

इति लोके निर्वचनं पुरश्चरति भारत।
अपि चैताः स्त्रियो बालाः स्वाध्यायमधिकुर्वते ॥ ८२ ॥

'भारत ! लोकमें यह उपर्युक्त सत्य प्रवाद पहलेसे चला आ रहा है। स्त्रियाँ और बच्चेतक इसे नित्य किये जानेवाले पाठकी तरह दुहराते रहते हैं ॥ ८२ ॥

इमामवस्थां च गते सहास्माभिररिंदम।
हन्त नष्टाः स्म सर्वे वै भवतोपद्रवे सति ॥ ८३ ॥

'शत्रुदमन ! बड़े दुःखकी बात है कि हमारे साथ ही आज आप इस दुरवस्थामें पहुँच गये हैं और आपहीके कारण ऐसा उपद्रव आया कि हम सब लोग नष्ट हो गये ॥ ८३ ॥

स भवान् रथमास्थाय सर्वोपकरणान्वितम्।
त्वरमाणोऽभिनिर्यातु विप्रेभ्योऽर्थविभावकः ॥ ८४ ॥

'महाराज ! आप विजयमें प्राप्त हुए धनका ब्राह्मणोंको दान करनेके लिये अस्त्र-शस्त्र आदि सभी आवश्यक सामग्रियोंसे सुसज्जित रथपर बैठकर शीघ्र यहाँसे युद्धके लिये निकलिये ॥

वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठानद्यैव गजसाह्वयम्।
अस्त्रविद्भिः परिवृतो भ्रातृभिर्दृढधन्विभिः ॥ ८५ ॥
आशीविषसमैर्वीरैर्मरुद्भिरिव वृत्रहा।
अमित्रांस्तेजसा मृद्नन्नसुरानिव वृत्रहा।
श्रियमादत्स्व कौन्तेय धार्तराष्ट्रान् महाबल ॥ ८६ ॥

'जैसे सर्पोंके समान भयंकर शूरवीर देवताओंसे घिरे हुए वृत्रनाशक इन्द्र असुरोंपर आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार अस्त्र-विद्याके ज्ञाता और सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले हम सब भाइयोंसे घिरे हुए आप श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर आज ही हस्तिनापुरपर चढ़ाई कीजिये। महाबली कुन्तीकुमार ! जैसे इन्द्र अपने तेजसे दैत्योंको मिट्टीमें मिला देते हैं, उसी प्रकार आप अपने प्रभावसे शत्रुओंको मिट्टीमें मिलाकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे अपनी राजलक्ष्मीको ले लीजिये ॥ ८५-८६ ॥

न हि गाण्डीवमुक्तानां शराणां गार्ध्रवाससाम्।
स्पर्शमाशीविषाभानां मर्त्यः कश्चन संसहेत् ॥ ८७ ॥

'मनुष्योंमें कोई ऐसा नहीं है, जो गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए विषैले सर्पोंके समान भयंकर गृध्रपङ्खयुक्त बाणोंका स्पर्श सह सके ॥ ८७ ॥

न स वीरो न मातङ्गो न च सोऽश्वोऽस्ति भारत।
यः सहेत गदावेगं मम क्रुद्धस्य संयुगे ॥ ८८ ॥

'भारत ! इसी प्रकार जगत्‌में ऐसा कोई अश्व या गजराज या कोई वीर पुरुष भी नहीं है, जो रणभूमिमें क्रोधपूर्वक विचरनेवाले मुझ भीमसेनकी गदाका वेग सह सके ॥

सृञ्जयैः सह कैकेयैर्वृष्णीनां वृषभेण च।
कथंस्विद् युधि कौन्तेय न राज्यं प्राप्नुयामहे ॥ ८९ ॥

'कुन्तीनन्दन ! सृंजय और कैकयवंशी वीरों तथा वृष्णिवंशावतंस भगवान् श्रीकृष्णके साथ होकर हम संग्राममें अपना राज्य कैसे नहीं प्राप्त कर लेंगे ? ॥ ८९ ॥

शत्रुहस्तगतां राजन् कथंस्विन्नाहरेर्महीम्।
इह यत्नमुपाहृत्य बलेन महतान्वितः ॥ ९० ॥

'राजन् ! आप विशाल सेनासे सम्पन्न हो यहाँ प्रयत्नपूर्वक युद्ध ठानकर शत्रुओंके हाथमें गयी हुई पृथ्वीको उनसे छीन क्यों नहीं लेते ?' ॥ ९० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि भीमवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें भीमवाक्यविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

धर्म और नीतिकी बात कहते हुए युधिष्ठिरकी अपनी प्रतिज्ञाके पालनरूप धर्मपर ही डटे रहनेकी घोषणा

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तस्तु महानुभावः
सत्यव्रतो भीमसेनेन राजा।
अजातशत्रुस्तदनन्तरं वै
धैर्यान्वितो वाक्यमिदं बभाषे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! भीमसेन जब

इस प्रकार अपनी बात पूरी कर चुके, तब महानुभाव, सत्यप्रतिज्ञ एवं अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरने धैर्यपूर्वक उनसे यह बात कही—॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

असंशयं भारत सत्यमेतद्
यन्मां तुदन् वाक्यशल्यैः क्षिणोषि।
न त्वां विगर्हे प्रतिकूलमेव
ममानयाद्धि व्यसनं व आगात्॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—भरतकुलनन्दन! तुम मुझे पीड़ा देते हुए अपने वाग्बाणोंद्वारा मेरे हृदयको जो विदीर्ण कर रहे हो, यह निःसंदेह ठीक ही है। मेरे प्रतिकूल होनेपर भी इन बातोंके लिये मैं तुम्हारी निन्दा नहीं करता; क्योंकि मेरे ही अन्यायसे तुमलोगोंपर यह विपत्ति आयी है॥

अहं ह्यक्षानन्वपद्यं जिहीर्षन्
राज्यं सराष्ट्रं धृतराष्ट्रस्य पुत्रात्।
तन्मां शठः कितवः प्रत्यदेवीत्
सुयोधनार्थं सुबलस्य पुत्रः॥ ३ ॥

उन दिनों धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके हाथसे उसके राष्ट्र तथा राजपदका अपहरण करनेकी इच्छा रखकर ही मैं द्यूतक्रीड़ामें प्रवृत्त हुआ था; किंतु उस समय धूर्त जुआरी सुबलपुत्र शकुनि दुर्योधनके लिये उसकी ओरसे मेरे विपक्षमें आकर जूआ खेलने लगा॥ ३ ॥

महामायः शकुनिः पर्वतीयः
सभामध्ये प्रवपन्नक्षपूगान्।
अमायिनं मायया प्रत्यजैषीत्
ततोऽपश्यं वृजिनं भीमसेन॥ ४ ॥

भीमसेन! पर्वतीय प्रदेशका निवासी शकुनि बड़ा मायावी है। उसने द्यूतसभामें पासे फेंककर अपनी मायाद्वारा मुझे जीत लिया; क्योंकि मैं माया नहीं जानता था; इसीलिये मुझे यह संकट देखना पड़ा है॥ ४ ॥

अक्षांश्च दृष्ट्वा शकुनेर्यथावत्
कामानुकूलानयुजो युजश्च।
शक्यो नियन्तुमभविष्यदात्मा
मन्युस्तु हन्यात् पुरुषस्य धैर्यम्॥ ५ ॥

शकुनिके सम और विषम सभी पासोंको उसकी इच्छाके अनुसार ही ठीक-ठीक पड़ते देखकर यदि अपने मनको जूएकी ओरसे रोका जा सकता, तो यह अनर्थ न होता, परंतु क्रोधावेश मनुष्यके धैर्यको नष्ट कर देता है (इसीलिये मैं जूएसे अलग न हो सका)॥ ५ ॥

यन्तुं नात्मा शक्यते पौरुषेण
मानेन वीर्येण च तात नद्धः।
न ते वाचो भीमसेनाभ्यसूये
मन्ये तथा तद् भवितव्यमासीत्॥ ६ ॥

तात भीमसेन! किसी विषयमें आसक्त हुए चित्तको पुरुषार्थ, अभिमान अथवा पराक्रमसे नहीं रोका जा सकता (अर्थात् उसे रोकना बहुत ही कठिन है), अतः मैं तुम्हारी बातोंके लिये बुरा नहीं मानता। मैं समझता हूँ, वैसी ही भवितव्यता थी॥ ६ ॥

स नो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
न्यपातयद् व्यसने राज्यमिच्छन्।
दास्यं च नोऽगमयद् भीमसेन
यत्राभवच्छरणं द्रौपदी नः॥ ७ ॥

भीमसेन! धृतराष्ट्रके पुत्र राजा दुर्योधनने राज्य पानेकी-इच्छासे हमलोगोंको विपत्तिमें डाल दिया। हमें दासतक बना लिया था, किंतु उस समय द्रौपदी हमलोगोंकी रक्षक हुई॥

त्वं चापि तद् वेत्थ धनंजयश्च
पुनर्द्यूतायागतानां सभां नः।
यन्माऽब्रवीद् धृतराष्ट्रस्य पुत्र
एकग्लहार्थं भरतानां समक्षम्॥ ८ ॥

तुम और अर्जुन दोनों इस बातको जानते हो कि जब हम पुनः द्यूतके लिये बुलाये जानेपर उस सभामें आये तो उस समय समस्त भरतवंशियोंके समक्ष धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने मुझसे एक ही दाँव लगानेके लिये इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

वने समा द्वादश राजपुत्र
यथाकामं विदितमजातशत्रो।
अथापरं चाविदितं चरेथाः
सर्वैः सह भ्रातृभिश्छद्मगूढः॥ ९ ॥

'राजकुमार अजातशत्रो! (यदि आप हार जायँ तो) आपको बारह वर्षोंतक इच्छानुसार सबकी जानकारीमें और पुनः एक वर्षतक गुप्त वेषमें छिपे रहकर अपने भाइयोंके साथ वनमें निवास करना पड़ेगा॥ ९ ॥

त्वां चेच्छ्रुत्वा तात तथा चरन्त-
मवभोत्स्यन्ते भरतानां चराश्च।
अन्यांश्चरेथास्तावतोऽब्दांस्तथा त्वं
निश्चित्य तत् प्रतिजानीहि पार्थ॥ १० ॥

'कुन्तीकुमार! यदि भरतवंशियोंके गुप्तचर आपके गुप्त निवासका समाचार सुनकर पता लगाने लगें और उन्हें यह मालूम हो जाय कि आपलोग अमुक जगह अमुक रूपमें रह रहे हैं, तब आपको पुनः उतने (बारह) ही वर्षोंतक वनमें रहना पड़ेगा। इस बातको निश्चय करके इसके विषयमें प्रतिज्ञा कीजिये॥ १० ॥

चरेश्चेन्नोऽविदितः कालमेतं
युक्तो राजन् मोहयित्वा मदीयान्।

ब्रवीमि सत्यं कुरुसंसदीह
तवैव ता भारत पञ्च नद्यः ॥ ११ ॥

'भरतवंशी नरेश ! यदि आप सावधान रहकर इतने समयतक मेरे गुप्तचरोंको मोहित करके अज्ञातभावसे ही विचरते रहें तो मैं यहाँ कौरवोंकी सभामें यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि उस सारे पञ्चनदप्रदेशपर फिर तुम्हारा ही अधिकार होगा ॥

वयं चैतद् भारत सर्व एव
त्वया जिताः कालमपास्य भोगान्।
वसेम इत्याह पुरा स राजा
मध्ये कुरूणां स मयोक्तस्तथेति ॥ १२ ॥

'भारत ! यदि आपने ही हम सब लोगोंको जीत लिया तो हम भी उतने ही समयतक सारे भोगोंका परित्याग करके उसी प्रकार वास करेंगे।' राजा दुर्योधनने जब समस्त कौरवोंके बीच इस प्रकार कहा, तब मैंने भी 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली ॥ १२ ॥

तत्र द्यूतमभवन्नो जघन्यं
तस्मिञ्जिताः प्रव्रजिताश्च सर्वे।
इत्थं तु देशाननुसंचरामो
वनानि कृच्छ्राणि च कृच्छ्ररूपाः ॥ १३ ॥

फिर वहाँ हमलोगोंका अन्तिम बार निन्दनीय जूआ हुआ। उसमें हम सब लोग हार गये। और घर छोड़कर वनमें निकल आये। इस प्रकार हम कष्टप्रद वेष धारण करके कष्टदायक वनों और विभिन्न प्रदेशोंमें घूम रहे हैं ॥ १३ ॥

सुयोधनश्चापि न शान्तिमिच्छन्
भूयः स मन्योर्वशमन्वगच्छत्।
उद्योजयामास कुरूंश्च सर्वान्
ये चास्य केचिद् वशमन्वगच्छन् ॥ १४ ॥

उधर दुर्योधन भी शान्तिकी इच्छा न रखकर और भी क्रोधके वशीभूत हो गया है। उसने हमें तो कष्टमें डाल दिया और दूसरे समस्त कौरवोंको जो उसके वंशमें होकर उसीका अनुसरण करते रहे हैं, (देशशासक और दुर्गरक्षक आदि) ऊँचे पदोंपर प्रतिष्ठित कर दिया है ॥ १४ ॥

तं संधिमास्थाय सतां सकाशे
को नाम जह्यादिह राज्यहेतोः।
आर्यस्य मन्ये मरणाद् गरीयो
यद्धर्ममुत्क्रम्य महीं प्रशासेत् ॥ १५ ॥

कौरव-सभामें साधु पुरुषोंके समीप वैसी सन्धिका आश्रय लेकर यानी प्रतिज्ञा करके अब यहाँ राज्यके लिये उसे कौन तोड़े ? धर्मका उल्लङ्घन करके पृथ्वीका शासन करना तो किसी श्रेष्ठ पुरुषके लिये मृत्युसे भी बढ़कर दुःखदायक है—ऐसा मेरा मत है ॥ १५ ॥

तदैव चेद् वीर कर्माकरिष्यो
यदा द्यूते परिघं पर्यमृक्षः।
बाहू दिधक्षन् वारितः फाल्गुनेन
किं दुष्कृतं भीम तदाभविष्यत् ॥ १६ ॥
प्रागेव चैवं समयक्रियायाः
किं नाब्रवीः पौरुषमाविदानः।
प्राप्तं तु कालं त्वभिपद्य पश्चात्
किं मामिदानीमतिवेलमात्थ ॥ १७ ॥

वीर भीमसेन ! द्यूतके समय जब तुमने मेरी दोनों बाँहोंको जला देनेकी इच्छा प्रकट की और अर्जुनने तुम्हें रोका, उस समय तुम शत्रुओंपर आघात करनेके लिये अपनी गदापर हाथ फेरने लगे थे। यदि उसी समय तुमने शत्रुओंपर आघात कर दिया होता तो कितना अनर्थ हो जाता। तुम अपना पुरुषार्थ तो जानते ही थे। जब मैं पूर्वोक्त प्रकारकी प्रतिज्ञा करने लगा उससे पहले ही तुमने ऐसी बात क्यों नहीं कही ? जब प्रतिज्ञाके अनुसार वनवासका समय स्वीकार कर लिया, तब पीछे चलकर इस समय क्यों मुझसे अत्यन्त कठोर बातें कहते हो ? ॥ १६-१७ ॥

भूयोऽपि दुःखं मम भीमसेन
दूये विषस्येव रसं हि पीत्वा।
यद् याज्ञसेनीं परिक्लिश्यमानां
संदृश्य तत् क्षान्तमिति स्म भीम ॥ १८ ॥

भीमसेन ! मुझे इस बातका भी बड़ा दुःख है कि द्रौपदीको शत्रुओंद्वारा क्लेश दिया जा रहा था और हमने अपनी आँखों देखकर भी उसे चुपचाप सह लिया। जैसे कोई विष घोलकर पी ले और उसकी पीड़ासे कराहने लगे, वैसी ही वेदना इस समय मुझे हो रही है ॥ १८ ॥

न त्वद्य शक्यं भरतप्रवीर
कृत्वा यदुक्तं कुरुवीरमध्ये।
कालं प्रतीक्षस्व सुखोदयस्य
पक्तिं फलानामिव बीजवापः ॥ १९ ॥

भरतवंशके प्रमुख वीर ! कौरव वीरोंके बीच मैंने जो प्रतिज्ञा की है, उसे स्वीकार कर लेनेके बाद अब इस समय आक्रमण नहीं किया जा सकता। जैसे बीज बोनेवाला किसान अपनी खेतीके फलोंके पकनेकी बाट जोहता रहता है, उसी प्रकार तुम भी उस समयकी प्रतीक्षा करो जो हमारे लिये सुखकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ १९ ॥

यदा हि पूर्वं निकृतो निकृन्तेद्
वैरं सपुष्पं सफलं विदित्वा।
महागुणं हरति हि पौरुषेण
तदा वीरो जीवति जीवलोके ॥ २० ॥

जब पहले शत्रुके द्वारा ... वीर पुरुष

उसे फूलता-फलता जानकर अपने पुरुषार्थके द्वारा उसका मूलोच्छेद कर डालता है, तभी उस शत्रुके महान् गुणोंका अपहरण कर लेता है और इस जगत्में सुखपूर्वक जीवित रहता है ॥ २० ॥

श्रियं च लोके लभते समग्रां
मन्ये चास्मै शत्रवः संनमन्ते।
मित्राणि चैनमचिराद् भजन्ते
देवा इवेन्द्रमुपजीवन्ति चैनम् ॥ २१ ॥

वह वीर पुरुष लोकमें सम्पूर्ण लक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है। मैं यह भी मानता हूँ कि सभी शत्रु उसके सामने नतमस्तक हो जाते हैं। फिर थोड़े ही दिनोंमें उसके बहुत-से मित्र बन जाते हैं और जैसे देवता इन्द्रके सहारे जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार वे मित्रगण उस वीरकी छत्रछायामें रहकर जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ २१ ॥

मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां
वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च।
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च
सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति ॥ २२ ॥

किंतु भीमसेन! मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा सुनो। मैं जीवन और अमरत्वकी अपेक्षा भी धर्मको ही बढ़कर समझता हूँ। राज्य, पुत्र, यश और धन—ये सब-के-सब सत्यधर्मकी सोलहवीं कलाको भी नहीं पा सकते ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें युधिष्ठिरवाक्यविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

दुःखित भीमसेनका युधिष्ठिरको युद्धके लिये उत्साहित करना

भीमसेन उवाच

संधिं कृत्वैव कालेन ह्यन्तकेन पतत्त्रिणा।
अनन्तेनाप्रमेयेण स्रोतसा सर्वहारिणा ॥ १ ॥
प्रत्यक्षं मन्यसे कालं मर्त्यः सन् कालबन्धनः।
फेनधर्मा महाराज फलधर्मा तथैव च ॥ २ ॥

भीमसेन बोले—महाराज! आप फेनके समान नश्वर, फलके समान पतनशील, तथा कालके बन्धनमें बँधे हुए मरणधर्मा मनुष्य हैं तो भी आपने सबका अन्त और संहार करनेवाले, बाणके समान वेगवान्, अनन्त, अप्रमेय एवं जलस्रोतके समान प्रवाहशील लंबे कालको बीचमें देकर दुर्योधनके साथ सन्धि करके उस कालको अपनी आँखोंके सामने आया हुआ मानते हैं ॥ १-२ ॥

निमेषादपि कौन्तेय यस्यायुरपचीयते।
सूच्येवाञ्जनचूर्णस्य किमिति प्रतिपालयेत् ॥ ३ ॥

किंतु कुन्तीकुमार! सलाईसे थोड़ा-थोड़ा करके उठाये जानेवाले अञ्जनचूर्ण (सुरमे) की भाँति एक-एक निमेषमें जिसकी आयु क्षीण हो रही है, वह क्षणभङ्गुर मानव समयकी प्रतीक्षा क्या कर सकता है? ॥ ३ ॥

यो नूनममितायुः स्यादथवापि प्रमाणवित्।
स कालं वै प्रतीक्षेत सर्वप्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ ४ ॥

अवश्य ही जिसकी आयुकी कोई माप नहीं है अथवा जो आयुकी निश्चित संख्याको जानता है तथा जिसने सब कुछ प्रत्यक्ष देख लिया है। वही समयकी प्रतीक्षा कर सकता है ॥

प्रतीक्ष्यमाणः कालो नः समा राजंस्त्रयोदश।
आयुषोऽपचयं कृत्वा मरणायोपनेष्यति ॥ ५ ॥

राजन्! तेरह वर्षोंतक हमें जिसकी प्रतीक्षा करनी है। वह काल हमारी आयुको क्षीण करके हम सबको मृत्युके निकट पहुँचा देगा ॥ ५ ॥

शरीरिणां हि मरणं शरीरे नित्यमाश्रितम्।
प्रागेव मरणात् तस्माद् राज्यायैव घटामहे ॥ ६ ॥

देहधारीकी मृत्यु सदा उसके शरीरमें ही निवास करती है, अतः मृत्युके पहले ही हमें राज्य-प्राप्तिके लिये चेष्टा करनी चाहिये ॥ ६ ॥

यो न याति प्रसंख्यानमस्पष्टो भूमिवर्धनः।
अयातयित्वा वैराणि सोऽवसीदति गौरिव ॥ ७ ॥

जिसका प्रभाव छिपा हुआ है, वह भूमिके लिये भाररूप ही है, क्योंकि वह जनसाधारणमें ख्याति नहीं प्राप्त कर सकता। वह वैरका प्रतिशोध न लेनेके कारण बैलकी भाँति दुःख उठाता रहता है ॥ ७ ॥

यो न यातयते वैरमल्पसत्त्वोद्यमः पुमान्।
अफलं जन्म तस्याहं मन्ये दुर्जातजायिनः ॥ ८ ॥

जिसका बल और उद्यम बहुत कम है, जो वैरका बदला नहीं ले सकता, उस पुरुषका जन्म अत्यन्त घृणित है। मैं तो उसके जन्मको निष्फल मानता हूँ ॥ ८ ॥

हैरण्यौ भवतो बाहू श्रुतिर्भवति पार्थिवी।
हत्वा द्विषन्तं संग्रामे भुङ्क्ष्व बाहुजितं वसु ॥ ९ ॥

महाराज! आपकी दोनों भुजाएँ सुवर्णकी अधिकारिणी हैं। आपकी कीर्ति राजा पृथुके समान है। आप युद्धमें शत्रुका संहार करके अपने बाहुबलसे उपार्जित धनका उपभोग कीजिये ॥ ९ ॥

हत्वा वै पुरुषो राजन् निकर्तारमरिंदम।
अह्नाय नरकं गच्छेत् स्वर्गेणास्य स सम्मितः ॥ १० ॥

शत्रुदमन नरेश! यदि मनुष्य अपनेको धोखा देनेवाले शत्रुका वध करके तुरंत ही नरकमें पड़ जाय तो उसके लिये वह नरक भी स्वर्गके तुल्य है ॥ १० ॥

अमर्षजो हि संतापः पावकाद् दीप्तिमत्तरः।
येनाहमभिसंतप्तो न नक्तं न दिवा शये ॥ ११ ॥

अमर्षसे जो संताप होता है, वह आगसे भी बढ़कर जलानेवाला है। जिससे संतप्त होकर मुझे न तो रातमें नींद आती है और न दिनमें ॥ ११ ॥

अयं च पार्थो बीभत्सुर्वरिष्ठो ज्याविकर्षणे।
आस्ते परमसंतप्तो नूनं सिंह इवाशये ॥ १२ ॥

ये हमारे भाई अर्जुन धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचनेमें सबसे श्रेष्ठ हैं; परंतु ये भी निश्चय ही अपनी गुफामें दुखी होकर बैठे हुए सिंहकी भाँति सदा अत्यन्त संतप्त होते रहते हैं ॥ १२ ॥

योऽयमेकोऽभिमनुते सर्वान् लोके धनुर्भृतः।
सोऽयमात्मजमूष्माणं महाहस्तीव यच्छति ॥ १३ ॥

जो अकेले ही संसारके समस्त धनुर्धर वीरोंका सामना कर सकते हैं, वे ही अर्जुन महान् गजराजकी भाँति अपने मानसिक क्रोधजनित संतापको किसी प्रकार रोक रहे हैं ॥ १३ ॥

नकुलः सहदेवश्च वृद्धा माता च वीरसूः।
तवैव प्रियमिच्छन्त आसते जडमूकवत् ॥ १४ ॥

नकुल, सहदेव तथा वीर पुत्रोंको जन्म देनेवाली हमारी बूढ़ी माता कुन्ती—ये सबके सब आपका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर ही मूर्खों और गूँगोंकी भाँति चुप रहते हैं ॥ १४ ॥

सर्वे ते प्रियमिच्छन्ति बान्धवाः सह सृञ्जयैः।
अहमेकश्च संतप्तो माता च प्रतिविन्ध्यतः ॥ १५ ॥

आपके सभी बन्धु-बान्धव और सृञ्जयवंशी योद्धा भी आपका प्रिय करना चाहते हैं। केवल हम दो व्यक्तियोंको ही विशेष कष्ट है। एक तो मैं संतप्त होता हूँ और दूसरी प्रतिविन्ध्यकी माता द्रौपदी ॥ १५ ॥

प्रियमेव तु सर्वेषां यद् ब्रवीम्युत किंचन।
सर्वे हि व्यसनं प्राप्ताः सर्वे युद्धाभिनन्दिनः ॥ १६ ॥

मैं जो कुछ कहता हूँ, वह सबको प्रिय है। हम सब लोग संकटमें पड़े हैं और सभी युद्धका अभिनन्दन करते हैं ॥

नातः पापीयसी काचिदापद् राजन् भविष्यति।
यन्नो नीचैरल्पबलै राज्यमाच्छिद्य भुज्यते ॥ १७ ॥

राजन्! इससे बढ़कर अत्यन्त दुःखदायिनी विपत्ति और क्या होगी कि नीच और दुर्बल शत्रु हम बलवानोंका राज्य छीनकर उसका उपभोग कर रहे हैं ॥ १७ ॥

शीलदोषाद् घृणाविष्ट आनृशंस्यात् परंतप।
क्लेशांस्तितिक्षसे राजन् नान्यः कश्चित् प्रशंसति ॥ १८ ॥

परंतप युधिष्ठिर! आप शीलस्वभावके दोष और कोमलतासे एवं दयाभावसे युक्त होनेके कारण इतने क्लेश सह रहे हैं, परंतु महाराज! इसके लिये आपकी कोई प्रशंसा नहीं करता है ॥ १८ ॥

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥ १९ ॥

राजन्! आपकी बुद्धि अर्थज्ञानसे रहित वेदोंके अक्षरमात्रको रटनेवाले मन्दबुद्धि श्रोत्रियकी तरह केवल गुरुकी वाणीका अनुसरण करनेके कारण नष्ट हो गयी है। यह तात्त्विक अर्थको समझने या समझानेवाली नहीं है ॥ १९ ॥

घृणी ब्राह्मणरूपोऽसि कथं क्षत्रेऽभ्यजायथाः।
अस्यां हि योनौ जायन्ते प्रायशः क्रूरबुद्धयः ॥ २० ॥

आप दयालु ब्राह्मणरूप हैं। पता नहीं, क्षत्रियकुलमें कैसे आपका जन्म हो गया; क्योंकि क्षत्रिय योनिमें तो प्रायः क्रूर बुद्धिके ही पुरुष उत्पन्न होते हैं ॥ २० ॥

अश्रौषीस्त्वं राजधर्मान् यथा वै मनुरब्रवीत्।
क्रूरान् निकृतिसम्पन्नान् विहितानशमात्मकान् ॥ २१ ॥
धार्तराष्ट्रान् महाराज क्षमसे किं दुरात्मनः।
कर्तव्ये पुरुषव्याघ्र किमास्से पीठसर्पवत् ॥ २२ ॥
बुद्ध्या वीर्येण संयुक्तः श्रुतेनाभिजनेन च।

महाराज! आपने राजधर्मका वर्णन तो सुना ही होगा, जैसा मनुजीने कहा है। फिर क्रूर, मायावी, हमारे हितके विपरीत आचरण करनेवाले तथा अशान्त चित्तवाले दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंका अपराध आप क्यों क्षमा करते हैं? पुरुषसिंह! आप बुद्धि, पराक्रम, शास्त्रज्ञान तथा उत्तम कुलसे सम्पन्न होकर भी जहाँ कुछ काम करना है, वहाँ अजगरकी भाँति चुपचाप क्यों बैठे हैं? ॥ २१—२२½ ॥

तृणानां मुष्टिनैकेन हिमवन्तं च पर्वतम् ॥ २३½ ॥
छन्नमिच्छसि कौन्तेय योऽस्मान् संवर्तुमिच्छसि।

कुन्तीनन्दन! आप अज्ञातवासके समय जो हमलोगोंको छिपाकर रखना चाहते हैं इससे जान पड़ता है कि आप एक मुट्ठी तिनकेसे हिमालय पर्वतको ढक देना चाहते हैं ॥

[illegible] पृथिव्यां विश्रुतेन च ॥ २४ ॥

दिवीव पार्थ सूर्येण न शक्याचरितुं त्वया ।

पार्थ ! आप इस भूमण्डलमें विख्यात हैं, जैसे सूर्य आकाशमें छिपकर नहीं रह सकते, उसी प्रकार आप भी कहीं छिपे रहकर अज्ञातवासका नियम नहीं पूरा कर सकते ॥ २४½ ॥

बृहच्छाल इवानूपे शाखापुष्पपलाशवान् ॥ २५ ॥
हस्ती श्वेत इवाज्ञातः कथं जिष्णुश्चरिष्यति ।

जहाँ जलकी अधिकता हो, ऐसे प्रदेशमें शाखा, पुष्प और पत्तोंसे सुशोभित विशाल शालवृक्षके समान अथवा श्वेत गजराज ऐरावतके सदृश ये अर्जुन कहीं भी अज्ञात कैसे रह सकेंगे ? ॥ २५½ ॥

इमौ च सिंहसंकाशौ भ्रातरौ सहितौ शिशू ॥ २६ ॥
नकुलः सहदेवश्च कथं पार्थ चरिष्यतः ।

कुन्तीकुमार ! ये दोनों भाई बालक नकुल-सहदेव सिंहके समान पराक्रमी हैं । ये दोनों कैसे छिपकर विचर सकेंगे ? ॥ २६½ ॥

पुण्यकीर्ती राजपुत्री द्रौपदी वीरसूरियम् ॥ २७ ॥
विश्रुता कथमज्ञाता कृष्णा पार्थ चरिष्यति ।

पार्थ ! यह वीरजननी पवित्रकीर्ति राजकुमारी द्रौपदी सारे संसारमें विख्यात है । भला, यह अज्ञातवासके नियम कैसे निभा सकेगी ॥ २७½ ॥

मां चापि राजञ्जानन्ति ह्याकुमारमिमाः प्रजाः ॥ २८ ॥
नाज्ञातचर्यां पश्यामि मेरोरिव निगूहनम् ।

महाराज ! मुझे भी प्रजावर्गके बच्चेतक पहचानते हैं, जैसे मेरुपर्वतको छिपाना असम्भव है, उसी प्रकार मुझे अपनी अज्ञातचर्या भी सम्भव नहीं दिखायी देती ॥ २८½ ॥

तथैव बहवोऽस्माभी राष्ट्रेभ्यो विप्रवासिताः ॥ २९ ॥
राजानो राजपुत्राश्च धृतराष्ट्रमनुव्रताः ।
न हि तेऽप्युपशाम्यन्ति निकृता वा निराकृताः ॥ ३० ॥

राजन् ! इसके सिवा एक बात और है, हमलोगोंने भी बहुत-से राजाओं तथा राजकुमारोंको उनके राज्यसे निकाल दिया है । वे सब आकर राजा धृतराष्ट्रसे मिल गये होंगे, हमने जिनको राज्यसे वञ्चित किया अथवा निकाला है, वे कदापि हमारे प्रति शान्तभाव नहीं धारण कर सकते ॥ २९-३० ॥

अवश्यं तैर्निकर्तव्यमस्माकं तत्प्रियैषिभिः ।
तेऽप्यस्मासु प्रयुञ्जीरन् प्रच्छन्नान् सुबहूंश्चरान् ।
आचक्षीरंश्च नो ज्ञात्वा ततः स्यात् सुमहद् भयम् ॥ ३१ ॥

अवश्य ही दुर्योधनका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर वे राजा-लोग भी हमलोगोंको धोखा देना उचित समझकर हमलोगोंकी खोज करनेके लिये बहुत-से छिपे हुए गुप्तचर नियुक्त करेंगे और पता लग जानेपर निश्चय ही दुर्योधनको सूचित कर देंगे । उस दशामें हमलोगोंपर बड़ा भारी भय उपस्थित हो जायगा ॥ ३१ ॥

अस्माभिरुषिताः सम्यग् वने मासास्त्रयोदश ।
परिमाणेन तान् पश्य तावतः परिवत्सरान् ॥ ३२ ॥

हमने अबतक वनमें ठीक-ठीक तेरह महीने व्यतीत कर लिये हैं, आप इन्हींको परिमाणमें तेरह वर्ष समझ लीजिये ॥

अस्ति मासः प्रतिनिधिर्यथा प्राहुर्मनीषिणः ।
पूतिकामिव सोमस्य तथेदं क्रियतामिति ॥ ३३ ॥

मनीषी पुरुषोंका कहना है कि मास संवत्सरका प्रतिनिधि है । जैसे पूतिका सोमलताके स्थानपर यज्ञमें काम देती है, उसी प्रकार आप इन तेरह मासोंको ही तेरह वर्षोंका प्रतिनिधि स्वीकार कर लीजिये ॥ ३३ ॥

अथवानडुहे राजन् साधवे साधुवाहिने ।
सौहित्यदानादेतस्मादेनसः प्रतिमुच्यते ॥ ३४ ॥

राजन् ! अथवा अच्छी तरह बोझ ढोनेवाले उत्तम बैलको भरपेट भोजन दे देनेपर इस पापसे आपको छुटकारा मिल सकता है ॥ ३४ ॥

तस्माच्छत्रुवधे राजन् क्रियतां निश्चयस्त्वया ।
क्षत्रियस्य हि सर्वस्य नान्यो धर्मोऽस्ति संयुगात् ॥ ३५ ॥

अतः महाराज ! आप शत्रुओंका वध करनेका निश्चय कीजिये; क्योंकि समस्त क्षत्रियोंके लिये युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभि गमनपर्वणिभीमवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें भीमवाक्यविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥



षट्त्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनको समझाना, व्यासजीका आगमन और युधिष्ठिरको प्रतिस्मृतिविद्याप्रदान तथा पाण्डवोंका पुनः काम्यकवनगमन

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनवचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
निःश्वस्य पुरुषव्याघ्रः सम्प्रदध्यौ परंतपः ॥ १ ॥
श्रुता मे राजधर्माश्च वर्णानां च विनिश्चयाः ।
आयत्यां च तदात्वे च यः पश्यति स पश्यति ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमसेनकी

बात सुनकर शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर लम्बी साँस लेकर मन-ही-मन विचार करने लगे—'मैंने राजाओंके धर्म एवं वर्णोंके सुनिश्चित सिद्धान्त भी सुने हैं, परंतु जो भविष्य और वर्तमान दोनोंपर दृष्टि रखता है, वही यथार्थदर्शी है ॥ १-२ ॥

धर्मस्य जानमानोऽहं गतिमग्र्यां सुदुर्विदाम् ।
कथं बलात् करिष्यामि मेरोरिव विमर्दनम् ॥ ३ ॥

'धर्मकी श्रेष्ठ गति अत्यन्त दुर्बोध है, उसे जानता हुआ भी मैं कैसे बलपूर्वक मेरु पर्वतके समान महान् उस धर्मका मर्दन करूँगा' ॥ ३ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा विनिश्चित्येतिकृत्यताम् ।
भीमसेनमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥ ४ ॥

इस प्रकार दो घड़ीतक विचार करनेके पश्चात् अपनेको क्या करना है, इसका निश्चय करके युधिष्ठिरने भीमसेनसे अविलम्ब यह बात कही ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
इदमन्यत् समादत्स्व वाच्यं मे वाक्यकोविद ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहु भरतकुलतिलक वाक्य-विशारद भीम ! तुम जैसा कह रहे हो, वह ठीक है, तथापि मेरी यह दूसरी बात भी मानो ॥ ५ ॥

महापापानि कर्माणि यानि केवलसाहसात् ।
आरभ्यन्ते भीमसेन व्यथन्ते तानि भारत ॥ ६ ॥

भरतनन्दन भीमसेन ! जो महान् पापमय कर्म केवल साहसके भरोसे आरम्भ किये जाते हैं, वे सभी कष्टदायक होते हैं ॥

सुमन्त्रिते सुविक्रान्ते सुकृते सुविचारिते ।
सिध्यन्त्यर्था महाबाहो दैवं चात्र प्रदक्षिणम् ॥ ७ ॥

महाबाहो ! अच्छी तरहसे सलाह और विचार करके पूरा पराक्रम प्रकट करते हुए सुन्दररूपसे जो कार्य किये जाते हैं, वे सफल होते हैं और उसमें दैव भी अनुकूल हो जाता है ॥ ७ ॥

यत् तु केवलचापल्याद् बलदर्पोत्थितः स्वयम् ।
आरब्धव्यमिदं कार्यं मन्यसे शृणु तत्र मे ॥ ८ ॥

तुम स्वयं बलके घमण्डसे उन्मत्त हो जो केवल चपलतावश स्वयं इस युद्धरूपी कार्यको अभी आरम्भ करनेके योग्य मान रहे हो, उसके विषयमें मेरी बात सुनो ॥ ८ ॥

भूरिश्रवाः शलश्चैव जलसंधश्च वीर्यवान् ।
भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च द्रोणपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ ९ ॥
धार्तराष्ट्रा दुराधर्षा दुर्योधनपुरोगमाः ।
सर्व एव कृतास्त्राश्च सततं चाततायिनः ॥ १० ॥
राजानः पार्थिवाश्चैव येऽस्माभिरुपतापिताः ।
संश्रिताः कौरवं पक्षं जातस्नेहाश्च तं प्रति ॥ ११ ॥

भूरिश्रवा, शल, पराक्रमी जलसंध, भीष्म, द्रोण, कर्ण, बलवान् अश्वत्थामा तथा सदाके आततायी दुर्योधन आदि दुर्धर्ष धृतराष्ट्रपुत्र—ये सभी अस्त्र-विद्याके ज्ञाता हैं एवं हमने जिन राजाओं तथा भूमिपालोंको युद्धमें कष्ट पहुँचाया है, वे सभी कौरवपक्षमें मिल गये हैं और उधर ही उनका स्नेह हो गया है ॥ ९—११ ॥

दुर्योधनहिते युक्ता न तथास्मासु भारत ।
पूर्णकोशा बलोपेताः प्रयतिष्यन्ति संगरे ॥ १२ ॥

भारत ! वे दुर्योधनके हितमें ही संलग्न होंगे; हम-लोगोंके प्रति उनका वैसा सद्भाव नहीं हो सकता । उनका खजाना भरा-पूरा है और वे सैनिक-शक्तिसे भी सम्पन्न हैं, अतः वे युद्ध छिड़नेपर हमारे विरुद्ध ही प्रयत्न करेंगे ॥ १२ ॥

सर्वे कौरवसैन्यस्य सपुत्रामात्यसैनिकाः ।
संविभक्ता हि मात्राभिर्भोगैरपि च सर्वशः ॥ १३ ॥

मन्त्रियों और पुत्रोंके सहित कौरवसेनाके सभी सैनिकोंको दुर्योधनकी ओरसे पूरे वेतन और सब प्रकारकी उपभोग-सामग्रीका वितरण किया गया है ॥ १३ ॥

दुर्योधनेन ते वीरा मानिताश्च विशेषतः ।
प्राणांस्त्यक्ष्यन्ति संग्रामे इति मे निश्चिता मतिः ॥ १४ ॥

इतना ही नहीं, दुर्योधनने उन वीरोंका विशेष आदर-सत्कार भी किया है । अतः मेरा यह विश्वास है कि वे उसके लिये संग्राममें (हँसते-हँसते) प्राण दे देंगे ॥ १४ ॥

समा यद्यपि भीष्मस्य वृत्तिरस्मासु तेषु च ।
द्रोणस्य च महाबाहो कृपस्य च महात्मनः ॥ १५ ॥
अवश्यं राजपिण्डस्तैर्निर्वेश्य इति मे मतिः ।
तस्मात् त्यक्ष्यन्ति संग्रामे प्राणानपि सुदुस्त्यजान् ॥ १६ ॥

महाबाहो ! यद्यपि पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण तथा महामना कृपाचार्यका आन्तरिक स्नेह धृतराष्ट्रके पुत्रों तथा हम-लोगोंपर एक-सा ही है, तथापि वे राजा दुर्योधनका दिया हुआ अन्न खाते हैं, अतः उसका ऋण अवश्य चुकायेंगे, ऐसा मुझे प्रतीत होता है । युद्ध छिड़नेपर वे भी दुर्योधनके पक्षसे ही लड़कर अपने दुस्त्यज प्राणोंका भी परित्याग कर देंगे ॥ १५-१६ ॥

सर्वे दिव्यास्त्रविद्वांसः सर्वे धर्मपरायणाः ।
अजेयाश्चेति मे बुद्धिरपि देवैः सवासवैः ॥ १७ ॥

वे सब-के-सब दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता और धर्मपरायण हैं । मेरी बुद्धिमें तो यहाँतक आता है कि इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते ॥ १७ ॥

अमर्षी नित्यसंरब्धस्तत्र कर्णो महारथः ।
सर्वास्त्रविदनाधृष्यो ह्यभेद्यकवचावृतः ॥ १८ ॥

... महारथी कर्ण भी है, जो हमारे प्रति सदा

अमर्ष और क्रोधसे भरा रहता है । वह सब अस्त्रोंका ज्ञाता, अजेय तथा अभेद्य कवचसे सुरक्षित है ॥ १८ ॥

अनिर्जित्य रणे सर्वानेतान् पुरुषसत्तमान् ।
अशक्यो ह्यसहायेन हन्तुं दुर्योधनस्त्वया ॥ १९ ॥

इन समस्त वीर पुरुषोंको युद्धमें परास्त किये बिना तुम अकेले दुर्योधनको नहीं मार सकते ॥ १९ ॥

न निद्रामधिगच्छामि चिन्तयानो वृकोदर ।
अतिसर्वान् धनुर्ग्राहान् सूतपुत्रस्य लाघवम् ॥ २० ॥

वृकोदर ! सूतपुत्र कर्णके हाथोंकी फुर्ती समस्त धनुर्धरोंसे बढ़-चढ़कर है । उसका स्मरण करके मुझे अच्छी तरह नींद नहीं आती है ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतद् वचनमाज्ञाय भीमसेनोऽत्यमर्षणः ।
बभूव विमनास्त्रस्तो न चैवोवाच किंचन ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर अत्यन्त क्रोधी भीमसेन उदास और शङ्कायुक्त हो गये । फिर उनके मुँहसे कोई बात नहीं निकली ॥ २१ ॥

तयोः संवदतोरेवं तदा पाण्डवयोर्द्वयोः ।
आजगाम महायोगी व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ २२ ॥

दोनों पाण्डवोंमें इसी प्रकार बातचीत हो ही रही थी कि महायोगी सत्यवतीनन्दन व्यास वहाँ आ पहुँचे ॥ २२ ॥

सोऽभिगम्य यथान्यायं पाण्डवैः प्रतिपूजितः ।
युधिष्ठिरमिदं वाक्यमुवाच वदतां वरः ॥ २३ ॥

पाण्डवोंने उठकर उनकी अगवानी की और यथायोग्य पूजन किया । तत्पश्चात् वक्ताओंमें श्रेष्ठ व्यासजी युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥ २३ ॥

व्यास उवाच

युधिष्ठिर महाबाहो वेद्मि ते हृदयस्थितम् ।
मनीषया ततः क्षिप्रमागतोऽस्मि नरर्षभ ॥ २४ ॥

व्यासजीने कहा—नरश्रेष्ठ महाबाहु युधिष्ठिर ! मैं ध्यानके द्वारा तुम्हारे मनका भाव जान चुका हूँ । इसलिये शीघ्रतापूर्वक यहाँ आया हूँ ॥ २४ ॥

भीष्माद् द्रोणात् कृपात् कर्णाद् द्रोणपुत्राच्च भारत ।
दुर्योधनान्नृपसुतात् तथा दुःशासनादपि ॥ २५ ॥
यत् ते भयममित्रघ्न हृदि सम्परिवर्तते ।
तत् तेऽहं नाशयिष्यामि विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ २६ ॥

शत्रुहन्ता भारत ! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन और दुःशासनसे भी जो तुम्हारे मनमें भय समा गया है, उसे मैं शास्त्रीय उपायसे नष्ट कर दूँगा ॥ २५-२६ ॥

तच्छ्रुत्वा धृतिमास्थाय कर्मणा प्रतिपादय ।
प्रतिपाद्य तु राजेन्द्र ततः क्षिप्रं ज्वरं जहि ॥ २७ ॥

राजेन्द्र ! उस उपायको सुनकर धैर्यपूर्वक प्रयत्नद्वारा उसका अनुष्ठान करो । उसका अनुष्ठान करके शीघ्र ही अपनी मानसिक चिन्ताका परित्याग कर दो ॥ २७ ॥

तत एकान्तमुन्नीय पाराशर्यो युधिष्ठिरम् ।
अब्रवीदुपपन्नार्थमिदं वाक्यविशारदः ॥ २८ ॥

तदनन्तर प्रवचनकुशल पराशरनन्दन व्यासजी युधिष्ठिरको एकान्तमें ले गये और उनसे यह युक्तियुक्त वचन बोले—॥

श्रेयसस्ते परः कालः प्राप्तो भरतसत्तम ।
येनाभिभविता शत्रून् रणे पार्थो धनुर्धरः ॥ २९ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे कल्याणका सर्वश्रेष्ठ समय आया है, जिससे धनुर्धर अर्जुन युद्धमें शत्रुओंको पराजित कर देंगे।२९।

गृहाणेमां मया प्रोक्तां सिद्धिं मूर्तिमतीमिव ।
विद्यां प्रतिस्मृतिं नाम प्रपन्नाय ब्रवीमि ते ॥ ३० ॥

'मेरी दी हुई इस प्रतिस्मृति नामक विद्याको ग्रहण करो, जो मूर्तिमती सिद्धिके समान है । तुम मेरे शरणागत हो, इसलिये मैं तुम्हें इस विद्याका उपदेश करता हूँ ॥ ३० ॥

यामवाप्य महाबाहुरर्जुनः साधयिष्यति ।
अस्त्रहेतोर्महेन्द्रं च रुद्रं चैवाभिगच्छतु ॥ ३१ ॥
वरुणं च कुबेरं च धर्मराजं च पाण्डव ।
शक्तो ह्येष सुरान् द्रष्टुं तपसा विक्रमेण च ॥ ३२ ॥

'जिसे तुमसे पाकर महाबाहु अर्जुन अपना सब कार्य सिद्ध करेंगे । पाण्डुनन्दन ! ये अर्जुन दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिके लिये देवराज इन्द्र, रुद्र, वरुण, कुबेर तथा धर्मराजके पास जायँ । ये अपनी तपस्या और पराक्रमसे देवताओंको प्रत्यक्ष देखनेमें समर्थ होंगे ॥ ३१-३२ ॥

ऋषिरेष महातेजा नारायणसहायवान् ।
पुराणः शाश्वतो देवस्त्वजेयो जिष्णुरच्युतः ॥ ३३ ॥
अस्त्राणीन्द्राच्च रुद्राच्च लोकपालेभ्य एव च ।
समादाय महाबाहुर्महत् कर्म करिष्यति ॥ ३४ ॥

'भगवान् नारायण जिनके सखा हैं, वे पुरातन महर्षि महातेजस्वी नर ही अर्जुन हैं । सनातन देव, अजेय, विजयशील तथा अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले हैं । महाबाहु अर्जुन इन्द्र, रुद्र तथा अन्य लोकपालोंसे दिव्यास्त्र प्राप्त करके महान् कार्य करेंगे ॥ ३३-३४ ॥

वनादस्माच्च कौन्तेय वनमन्यद् विचिन्त्यताम् ।
निवासार्थाय यद् युक्तं भवेद् वः पृथिवीपते ॥ ३५ ॥

'कुन्तीकुमार ! पृथिवीपते ! अब तुम अपने निवासके लिये इस वनसे किसी दूसरे वनमें, जो तुम्हारे लिये उपयोगी हो, जानेकी बात सोचो ॥ ३५ ॥

एकत्र चिरवासो हि न प्रीतिजननो भवेत् ।
तापसानां च सर्वेषां भवेदुद्वेगकारकः ॥ ३६ ॥

'एक ही स्थानपर अधिक दिनोंतक रहना प्रायः रुचिकर नहीं होता । इसके सिवा, यहाँ तुम्हारा चिरनिवास समस्त तपस्वी महात्माओंके लिये तपमें विघ्न पड़नेके कारण उद्वेग-कारक होगा ॥ ३६ ॥

मृगाणामुपयोगश्च वीरुदोषधिसंक्षयः ।
बिभर्षि च बहून् विप्रान् वेदवेदाङ्गपारगान् ॥ ३७ ॥

'यहाँके हिंसक पशुओंके उपयोग—मारनेका काम हो चुका है तथा तुम बहुत-से वेद-वेदाङ्गोंके पारगामी विद्वान् ब्राह्मणोंका भरण-पोषण करते हो (और हवन करते हो), इसलिये यहाँ लता-गुल्म और ओषधियोंका क्षय हो गया है ॥'

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा प्रपन्नाय शुचये भगवान् प्रभुः ।
प्रोवाच लोकतत्त्वज्ञो योगी विद्यामनुत्तमाम् ॥ ३८ ॥
धर्मराजाय धीमान् स व्यासः सत्यवतीसुतः ।
अनुज्ञाय च कौन्तेयं तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर लोकतत्त्वके ज्ञाता एवं शक्तिशाली योगी परम बुद्धिमान् सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यासजीने अपनी शरणमें आये हुए पवित्र धर्मराज युधिष्ठिरको उस अत्युत्तम विद्याका उपदेश किया और कुन्तीकुमारकी अनुमति लेकर फिर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ३८-३९ ॥

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा तद् ब्रह्म मनसा यतः ।
धारयामास मेधावी काले काले सदाभ्यसन् ॥ ४० ॥

धर्मात्मा मेधावी संयतचित्त युधिष्ठिरने उस वेदोक्त मन्त्रको मनसे धारण किया और समय-समयपर सदा उसका अभ्यास करने लगे ॥ ४० ॥

स व्यासवाक्यमुदितो वनाद् द्वैतवनात् ततः ।
ययौ सरस्वतीकूले काम्यकं नाम काननम् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर वे व्यासजीकी आज्ञासे प्रसन्नतापूर्वक द्वैतवनसे काम्यक-वनमें चले गये, जो सरस्वतीके तटपर सुशोभित है ॥

तमन्वयुर्महाराज शिक्षाक्षरविशारदाः ।
ब्राह्मणास्तपसा युक्ता देवेन्द्रमृषयो यथा ॥ ४२ ॥

महाराज ! जैसे महर्षिगण देवराज इन्द्रका अनुसरण करते हैं, वैसे ही वेदादि शास्त्रोंकी शिक्षा तथा अक्षर ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानमें निपुण बहुत-से तपस्वी ब्राह्मण राजा युधिष्ठिरके साथ उस वनमें गये ॥ ४२ ॥

ततः काम्यकमासाद्य पुनस्ते भरतर्षभ ।
न्यविशन्त महात्मानः सामात्याः सपरिच्छदाः ॥ ४३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँसे काम्यकवनमें आकर मन्त्रियों और सेवकोंसहित वे महात्मा पाण्डव पुनः वहीं बस गये ॥ ४३ ॥

तत्र ते न्यवसन् राजन् किंचित् कालं मनस्विनः ।
धनुर्वेदपरा वीराः शृण्वन्तो वेदमुत्तमम् ॥ ४४ ॥

राजन् ! वहाँ धनुर्वेदके अभ्यासमें तत्पर हो उत्तम वेद-मन्त्रोंका उद्घोष सुनते हुए उन मनस्वी पाण्डवोंने कुछ कालतक निवास किया ॥ ४४ ॥

चरन्तो मृगयां नित्यं शुद्धैर्बाणैर्मृगार्थिनः ।
पितृदैवतविप्रेभ्यो निर्वपन्तो यथाविधि ॥ ४५ ॥

वे प्रतिदिन हिंसक पशुओंको मारनेके लिये शुद्ध (शास्त्रानुकूल) बाणोंद्वारा शिकार खेलते थे एवं शास्त्रकी विधिके अनुसार नित्य पितरों तथा देवताओंको अपना-अपना भाग देते थे अर्थात् नित्य श्राद्ध और नित्य होम करते थे ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि काम्यकवनगमने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें काम्यकवनगमनविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

अर्जुनका सब भाई आदिसे मिलकर इन्द्रकील पर्वतपर जाना एवं इन्द्रका दर्शन करना

वैशम्पायन उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
संस्मृत्य मुनिसंदेशमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
विविक्ते विदितप्रज्ञमर्जुनं पुरुषर्षभम् ।
सान्त्वपूर्वं स्मितं कृत्वा पाणिना परिसंस्पृशन् ॥ २ ॥
स मुहूर्तमिव ध्यात्वा वनवासमरिंदमः ।
धनंजयं धर्मराजो रहसीदमुवाच ह ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ जनमेजय ! कुछ कालके अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरको व्यासजीके संदेशका स्मरण हो आया । तब उन्होंने परम बुद्धिमान् अर्जुनसे एकान्तमें वार्तालाप किया । शत्रुओंका दमन करनेवाले धर्मराज युधिष्ठिरने दो घड़ीतक वनवासके विषयमें चिन्तन करके किंचित् मुसकराते हुए अर्जुनके शरीरको हाथसे स्पर्श किया और एकान्तमें उन्हें सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा ॥ १-३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे द्रोणपुत्रे च भारत ।
धनुर्वेदश्चतुष्पाद एतेष्वद्य प्रतिष्ठितः ॥ ४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भारत! आजकल पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण और अश्वत्थामा—इन सबमें चारों पादोंसे युक्त सम्पूर्ण धनुर्वेद प्रतिष्ठित है ॥ ४ ॥

दैवं ब्राह्मं मानुषं च सयत्नं सचिकित्सितम् ।
सर्वास्त्राणां प्रयोगं च अभिजानन्ति कृत्स्नशः ॥ ५ ॥

वे दैव, ब्राह्म और मानुष तीनों पद्धतियोंके अनुसार सम्पूर्ण अस्त्रोंके प्रयोगकी सारी कलाएँ जानते हैं। उन अस्त्रोंके ग्रहण और धारणरूप प्रयत्नसे तो वे परिचित हैं ही, शत्रुओंद्वारा प्रयुक्त हुए अस्त्रोंकी चिकित्सा (निवारणके उपाय) को भी जानते हैं ॥ ५ ॥

ते सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण परिसान्त्विताः ।
संविभक्ताश्च तुष्टाश्च गुरुवत् तेषु वर्तते ॥ ६ ॥

उन सबको धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने बड़े आश्वासनके साथ रखा है और उपभोगकी सामग्री देकर संतुष्ट किया है। इतना ही नहीं, वह उनके प्रति गुरुजनोचित बर्ताव करता है ॥ ६ ॥

सर्वयोधेषु चैवास्य सदा प्रीतिरनुत्तमा ।
आचार्या मानितास्तुष्टाः शान्तिं व्यवहरन्त्युत ॥ ७ ॥

अन्य सम्पूर्ण योद्धाओंपर भी दुर्योधन सदा ही बहुत प्रेम रखता है। उसके द्वारा सम्मानित और संतुष्ट किये हुए आचार्यगण उसके लिये सदा शान्तिका प्रयत्न करते हैं ॥७॥

शक्तिं न हापयिष्यन्ति ते काले प्रतिपूजिताः ।
अद्य चेयं मही कृत्स्ना दुर्योधनवशानुगा ॥ ८ ॥
सग्रामनगरा पार्थससागरवनाकरा ।
भवानेव प्रियोऽस्माकं त्वयि भारः समाहितः ॥ ९ ॥

जो लोग उसके द्वारा समय-समयपर समादृत हुए हैं, वे कभी उसकी शक्ति क्षीण नहीं होने देंगे। पार्थ! आज यह सारी पृथ्वी ग्राम, नगर, समुद्र, वन तथा खानोंसहित दुर्योधनके वशमें है। तुम्हीं हम सब लोगोंके अत्यन्त प्रिय हो। हमारे उद्धारका सारा भार तुमपर ही है ॥ ८-९ ॥

अत्र कृत्यं प्रपश्यामि प्राप्तकालमरिंदम ।
कृष्णद्वैपायनात् तात गृहीतोपनिषन्मया ॥ १० ॥

शत्रुदमन! अब इस समयके योग्य जो कर्तव्य मुझे उचित दिखायी देता है, उसे सुनो। तात! मैंने श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यासजीसे एक रहस्यमयी विद्या प्राप्त की है ॥१०॥

तया प्रयुक्तया सम्यग् जगत् सर्वं प्रकाशते ।
तेन त्वं ब्रह्मणा तात संयुक्तः सुसमाहितः ॥ ११ ॥
देवतानां यथाकालं प्रसादं प्रतिपालय ।
तपसा योजयात्मानमुग्रेण भरतर्षभ ॥ १२ ॥
धनुष्मान् कवची खड्गी मुनिः साधुव्रते स्थितः ।
न कस्यचिद् ददन्मार्गं गच्छ तातोत्तरां दिशम् ॥ १३ ॥

उसका विधिवत् प्रयोग करनेपर समस्त जगत् अच्छी प्रकारसे ज्यों-का-त्यों स्पष्ट दीखने लगता है। तात! उस मन्त्र-विद्यासे युक्त एवं एकाग्रचित्त होकर तुम यथासमय देवताओंकी प्रसन्नता प्राप्त करो। भरतश्रेष्ठ! अपने-आपको उग्र तपस्यामें लगाओ। धनुष, कवच और खड्ग धारण किये साधु-व्रतके पालनमें स्थित हो मौनावलम्बनपूर्वक किसीको आक्रमणका मार्ग न देते हुए उत्तर दिशाकी ओर जाओ ॥ ११-१३ ॥

इन्द्रे ह्यस्त्राणि दिव्यानि समस्तानि धनंजय ।
वृत्राद् भीतैर्बलं देवैस्तदा शक्रे समर्पितम् ॥ १४ ॥

धनंजय! इन्द्रको समस्त दिव्यास्त्रोंका ज्ञान है। वृत्रासुरसे डरे हुए सम्पूर्ण देवताओंने उस समय अपनी सारी शक्ति इन्द्रको ही समर्पित कर दी थी ॥ १४ ॥

तान्येकस्थानि सर्वाणि ततस्त्वं प्रतिपत्स्यसे ।
शक्रमेव प्रपद्यस्व स तेऽस्त्राणि प्रदास्यति ॥ १५ ॥
दीक्षितोऽद्यैव गच्छ त्वं द्रष्टुं देवं पुरंदरम् ।

वे सब दिव्यास्त्र एक ही स्थानमें हैं, तुम उन्हें वहींसे प्राप्त कर लोगे; अतः तुम इन्द्रकी ही शरण लो। वही तुम्हें सब अस्त्र प्रदान करेंगे। आज ही दीक्षा ग्रहण करके तुम देवराज इन्द्रके दर्शनकी इच्छासे यात्रा करो ॥ १५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा धर्मराजस्तमध्यापयत प्रभुः ॥ १६ ॥
दीक्षितं विधिनानेन धृतवाक्कायमानसम् ।
अनुजज्ञे तदा वीरं भ्राता भ्रातरमग्रजः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर शक्तिशाली धर्मराज युधिष्ठिरने मन, वाणी और शरीरको संयममें रखकर दीक्षा ग्रहण करनेवाले अर्जुनको विधिपूर्वक पूर्वोक्त प्रतिस्मृति-विद्याका उपदेश किया। तदनन्तर बड़े भाई युधिष्ठिरने अपने वीर भाई अर्जुनको वहाँसे प्रस्थान करनेकी आज्ञा दी ॥ १६-१७ ॥

निदेशाद् धर्मराजस्य द्रष्टुकामः पुरंदरम् ।
धनुर्गाण्डीवमादाय तथाक्षय्ये महेषुधी ॥ १८ ॥
कवची सतलत्राणो बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।
हुत्वाग्निं ब्राह्मणान्निष्कैः स्वस्ति वाच्य महाभुजः ॥ १९ ॥
प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृहीतशरासनः ।
वधाय धार्तराष्ट्राणां निःश्वस्योर्ध्वमुदीक्ष्य च ॥ २० ॥

धर्मराजकी आज्ञासे देवराज इन्द्रका दर्शन करनेकी इच्छा मनमें रखकर महाबाहु धनंजयने अग्निमें आहुति दी और

स्वर्ण-मुद्राओंकी दक्षिणा देकर ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया तथा गाण्डीव धनुष और दो महान् अक्षय तूणीर साथ ले कवच, तलत्राण (जूते) तथा अङ्गुलियोंकी रक्षाके लिये गोहके चमड़ेका बना हुआ अङ्गुलित्र धारण किया। इसके बाद ऊपरकी ओर देख लंबी साँस खींचकर धृतराष्ट्रपुत्रोंके वधके लिये महाबाहु अर्जुन धनुष हाथमें लिये वहाँसे प्रस्थित हुए॥

तं दृष्ट्वा तत्र कौन्तेयं प्रगृहीतशरासनम्।
अब्रुवन् ब्राह्मणाः सिद्धा भूतान्यन्तर्हितानि च ॥ २१ ॥

कुन्तीनन्दन अर्जुनको वहाँ धनुष लिये जाते देख सिद्धों, ब्राह्मणों तथा अदृश्य भूतोंने कहा—॥ २१ ॥

क्षिप्रमाप्नुहि कौन्तेय मनसा यद् यदिच्छसि।
अब्रुवन् ब्राह्मणाः पार्थमिति कृत्वा जयाशिषः ॥ २२ ॥
संसाधयस्व कौन्तेय ध्रुवोऽस्तु विजयस्तव।

'कुन्तीकुमार! तुम अपने मनमें जो-जो इच्छा रखते हो, वह सब तुम्हें शीघ्र प्राप्त हो।' इसके बाद ब्राह्मणोंने अर्जुनको विजयसूचक आशीर्वाद देते हुए कहा—'कुन्तीपुत्र! तुम अपना अभीष्ट साधन करो, तुम्हें अवश्य विजय प्राप्त हो'॥

तं तथा प्रस्थितं वीरं शालस्कन्धोरुमर्जुनम् ॥ २३ ॥
मनांस्यादाय सर्वेषां कृष्णा वचनमब्रवीत्।

शाल वृक्षके समान कंधे और जाँघोंसे सुशोभित वीर अर्जुनको इस प्रकार सबके चित्तको चुराकर प्रस्थान करते देख द्रौपदी इस प्रकार बोली॥ २३½ ॥

कृष्णोवाच

यत् ते कुन्ती महाबाहो जातस्यैच्छद् धनंजय ॥ २४ ॥
तत् तेऽस्तु सर्वं कौन्तेय यथा च स्वयमिच्छसि।

द्रौपदीने कहा—कुन्तीकुमार महाबाहु धनंजय! आपके जन्म लेनेके समय आर्या कुन्तीने अपने मनमें आपके लिये जो-जो इच्छाएँ की थीं तथा आप स्वयं भी अपने हृदयमें जो-जो मनोरथ रखते हों, वे सब आपको प्राप्त हों॥

मास्माकं क्षत्रियकुले जन्म कश्चिदवाप्नुयात् ॥ २५ ॥
ब्राह्मणेभ्यो नमो नित्यं येषां भैक्ष्येण जीविका।

हमलोगोंमेंसे कोई भी क्षत्रिय-कुलमें उत्पन्न न हो। उन ब्राह्मणोंको नमस्कार है, जिनका भिक्षासे ही निर्वाह हो जाता है॥ २५½ ॥

इदं मे परमं दुःखं यः स पापः सुयोधनः ॥ २६ ॥
दृष्ट्वा मां गौरिति प्राह प्रहसन् राजसंसदि।

नाथ! मुझे सबसे बढ़कर दुःख इस बातसे हुआ है कि उस पापी दुर्योधनने राजाओंसे भरी हुई सभामें मेरी ओर देखकर और मुझे 'गाय' (अनेक पुरुषोंके उपभोगमें आनेवाली) कहकर मेरा उपहास किया॥ २६½ ॥

तस्माद् दुःखादिदं दुःखं गरीय इति मे मतिः ॥ २७ ॥
यत् तत् परिषदो मध्ये बह्वयुक्तमभाषत।

उस दुःखसे भी बढ़कर महान् कष्ट मुझे इस बातसे हुआ कि उसने भरी सभामें मेरे प्रति बहुत-सी अनुचित बातें कहीं॥ २७½ ॥

नूनं ते भ्रातरः सर्वे त्वत्कथाभिः प्रजागरे ॥ २८ ॥
रंस्यन्ते वीर कर्माणि कथयन्तः पुनः पुनः।
नैव नः पार्थ भोगेषु न धने नोत जीविते ॥ २९ ॥
तुष्टिर्बुद्धिर्भवित्री वा त्वयि दीर्घप्रवासिनि।
त्वयि नः पार्थ सर्वेषां सुखदुःखे समाहिते ॥ ३० ॥
जीवितं मरणं चैव राज्यमैश्वर्यमेव च।
आपृष्टो मेऽसि कौन्तेय स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ॥ ३१ ॥

वीरवर! निश्चय ही आपके चले जानेके बाद आपके सभी भाई जागते समय आपहीके पराक्रमकी चर्चा बार-बार करते हुए अपना मन बहलायेंगे। पार्थ! दीर्घकालके लिये आपके प्रवासी हो जानेपर हमारा मन न तो भोगोंमें लगेगा और न धनमें ही। इस जीवनमें भी कोई रस नहीं रह जायगा। आपके बिना हम इन वस्तुओंसे संतोष नहीं पा सकेंगे। पार्थ! हम सबके सुख-दुःख, जीवन-मरण तथा राज्य-ऐश्वर्य आपपर ही निर्भर हैं। भरतकुलतिलक! कुन्तीकुमार! मैंने आपको विदा दी; आप कल्याणको प्राप्त हों॥ २८—३१ ॥

बलवद्भिर्विरुद्धं न कार्यमेतत् त्वयानघ।
प्रयाह्यविघ्नेनैवाशु विजयाय महाबल।
नमो धात्रे विधात्रे च स्वस्ति गच्छ ह्यनामयम् ॥ ३२ ॥

निष्पाप महाबली आर्यपुत्र! आप बलवानोंसे विरोध न करें, यह मेरा अनुरोध है। विघ्न-बाधाओंसे रहित हो विजय-प्राप्तिके लिये शीघ्र यात्रा कीजिये। धाता और विधाताको नमस्कार है। आप कुशल और स्वस्थतापूर्वक प्रस्थान कीजिये॥

ह्रीः श्रीः कीर्तिर्द्युतिः पुष्टिरुमा लक्ष्मीः सरस्वती।
इमा वै तव पान्थस्य पालयन्तु धनंजय ॥ ३३ ॥

धनंजय! ह्री, श्री, कीर्ति, द्युति, पुष्टि, उमा, लक्ष्मी और सरस्वती—ये सब देवियाँ मार्गमें जाते समय आपकी रक्षा करें॥ ३३ ॥

ज्येष्ठापचायी ज्येष्ठस्य भ्रातुर्वचनकारकः।
प्रपद्येऽहं वसून् रुद्रानादित्यान् समरुद्गणान् ॥ ३४ ॥
विश्वेदेवांस्तथा साध्याञ्छान्त्यर्थं भरतर्षभ।
स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यश्च भारत ॥ ३५ ॥
दिव्येभ्यश्चैव भूतेभ्यो ये चान्ये परिपन्थिनः।

आप बड़े भाईका आदर करनेवाले हैं, उनकी आज्ञाके पालक हैं। भरतश्रेष्ठ! मैं आपकी शान्तिके लिये वसु, रुद्र, आदित्य, मरुद्गण, विश्वेदेव तथा साध्य देवताओंकी शरण

लेती हूँ। भारत! भौम, आन्तरिक्ष तथा दिव्य भूतोंसे और दूसरे भी जो मार्गमें विघ्न डालनेवाले प्राणी हैं, उन सबसे आपका कल्याण हो ॥ ३४-३५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वाऽऽशिषः कृष्णा विरराम यशस्विनी ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसी मङ्गलकामना करके यशस्विनी द्रौपदी चुप हो गयी ॥ ३६ ॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भ्रातॄन् धौम्यं च पाण्डवः।
प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृह्य रुचिरं धनुः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर पाण्डुनन्दन महाबाहु अर्जुनने अपना सुन्दर धनुष हाथमें लेकर सभी भाइयों और धौम्यमुनिको दाहिने करके वहाँसे प्रस्थान किया ॥ ३७ ॥

तस्य मार्गादपाक्रामन् सर्वभूतानि गच्छतः।
युक्तस्यैन्द्रेण योगेन पराक्रान्तस्य शुष्मिणः ॥ ३८ ॥

महान् पराक्रमी और महाबली अर्जुनके यात्रा करते समय उनके मार्गसे समस्त प्राणी दूर हट जाते थे; क्योंकि वे इन्द्रसे मिला देनेवाली प्रतिस्मृतिनामक योगविद्यासे युक्त थे ॥

सोऽगच्छत् पर्वतांस्तात तपोधननिषेवितान्।
दिव्यं हैमवतं पुण्यं देवजुष्टं परंतपः ॥ ३९ ॥

परंतप अर्जुन तपस्वी महात्माओंद्वारा सेवित पर्वतोंके मार्गसे होते हुए दिव्य, पवित्र तथा देवसेवित हिमालय पर्वतपर जा पहुँचे ॥ ३९ ॥

अगच्छत् पर्वतं पुण्यमेकाह्नैव महामनाः।
मनोजवगतिर्भूत्वा योगयुक्तो यथानिलः ॥ ४० ॥

महामना अर्जुन योगयुक्त होनेके कारण मनके समान तीव्र वेगसे चलनेमें समर्थ हो गये थे, अतः वे वायुके समान एक ही दिनमें उस पुण्य पर्वतपर पहुँच गये ॥ ४० ॥

हिमवन्तमतिक्रम्य गन्धमादनमेव च।
अत्यक्रामत् स दुर्गाणि दिवारात्रमतन्द्रितः ॥ ४१ ॥

हिमालय और गन्धमादन पर्वतको लाँघकर उन्होंने आलस्यरहित हो दिन-रात चलते हुए और भी बहुत-से दुर्गम स्थानोंको पार किया ॥ ४१ ॥

इन्द्रकीलं समासाद्य ततोऽतिष्ठद् धनंजयः।
अन्तरिक्षेऽतिशुश्राव तिष्ठेति स वचस्तदा ॥ ४२ ॥

तदनन्तर इन्द्रकील पर्वतपर पहुँचकर अर्जुनने आकाशमें उच्च स्वरसे गूँजती हुई एक वाणी सुनी—'तिष्ठ (यहीं ठहर जाओ)।' तब वे वहीं ठहर गये ॥ ४२ ॥

तच्छ्रुत्वा सर्वतो दृष्टिं चारयामास पाण्डवः।
अथापश्यत् सव्यसाची वृक्षमूले तपस्विनम् ॥ ४३ ॥

वह वाणी सुनकर पाण्डुनन्दन अर्जुनने चारों ओर दृष्टिपात किया। इतनेहीमें उन्हें वृक्षके मूलभागमें बैठे हुए एक तपस्वी महात्मा दिखायी दिये ॥ ४३ ॥

ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमानं पिङ्गलं जटिलं कृशम्।
सोऽब्रवीदर्जुनं तत्र स्थितं दृष्ट्वा महातपाः ॥ ४४ ॥

वे अपने ब्रह्मतेजसे उद्भासित हो रहे थे। उनकी अङ्गकान्ति पिङ्गलवर्णकी थी। सिरपर जटा बढ़ी हुई थी और शरीर अत्यन्त कृश था। उन महातपस्वीने अर्जुनको वहाँ खड़े हुए देखकर पूछा—॥ ४४ ॥

कस्त्वं तातेह सम्प्राप्तो धनुष्मान् कवची शरी।
निबद्धासितलत्राणः क्षत्रधर्ममनुव्रतः ॥ ४५ ॥
नेह शस्त्रेण कर्तव्यं शान्तानामेष आलयः।
विनीतक्रोधहर्षाणां ब्राह्मणानां तपस्विनाम् ॥ ४६ ॥

'तात! तुम कौन हो? जो धनुष-बाण, कवच, तलवार तथा दस्तानेसे सुसज्जित हो क्षत्रियधर्मका अनुगमन करते हुए यहाँ आये हो। यहाँ अस्त्र-शस्त्रकी आवश्यकता नहीं है। यह तो क्रोध और हर्षको जीते हुए तपस्यामें तत्पर शान्त ब्राह्मणोंका स्थान है ॥ ४५-४६ ॥

नेहास्ति धनुषा कार्यं न संग्रामोऽत्र कर्हिचित्।
निक्षिपैतद् धनुस्तात प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ॥ ४७ ॥

'यहाँ कभी कोई युद्ध नहीं होता, इसलिये यहाँ तुम्हारे धनुषका कोई काम नहीं है। तात! यह धनुष यहीं फेंक दो, अब तुम उत्तम गतिको प्राप्त हो चुके हो ॥ ४७ ॥

ओजसा तेजसा वीर यथा नान्यः पुमान् क्वचित्।
तथा हसन्निवाभीक्ष्णं ब्राह्मणोऽर्जुनमब्रवीत्।
न चैनं चालयामास धैर्यात् सुधृतनिश्चयम् ॥ ४८ ॥

'वीर! ओज और तेजमें तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई पुरुष नहीं है!' इस प्रकार उन ब्रह्मर्षिने हँसते हुए-से बार-बार अर्जुनसे धनुषको त्याग देनेकी बात कही। परंतु अर्जुन धनुष न त्यागनेका दृढ़ निश्चय कर चुके थे; अतः ब्रह्मर्षि उन्हें धैर्यसे विचलित नहीं कर सके ॥ ४८ ॥

तमुवाच ततः प्रीतः स द्विजः प्रहसन्निव।
वरं वृणीष्व भद्रं ते शक्रोऽहमरिसूदन ॥ ४९ ॥

तब उन ब्राह्मण देवताने पुनः प्रसन्न होकर उनसे हँसते हुए-से कहा—'शत्रुसूदन! तुम्हारा भला हो, मैं साक्षात् इन्द्र हूँ, मुझसे कोई वर माँगो' ॥ ४९ ॥

एवमुक्तः सहस्राक्षं प्रत्युवाच धनंजयः।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा शूरः कुरुकुलोद्वहः ॥ ५० ॥

यह सुनकर कुरुकुलरत्न शूर-वीर अर्जुनने सहस्र नेत्रधारी इन्द्रसे हाथ जोड़कर प्रणामपूर्वक कहा— ॥ ५० ॥

ईप्सितो ह्येष वै कामो वरं चैनं प्रयच्छ मे।
त्वत्तोऽद्य भगवन्नस्त्रं कृत्स्नमिच्छामि वेदितुम् ॥ ५१ ॥

'भगवन्! मैं आपसे सम्पूर्ण अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ; यही मेरा अभीष्ट मनोरथ है; अतः मुझे यही वर दीजिये' ॥ ५१ ॥

प्रत्युवाच महेन्द्रस्तं प्रीतात्मा प्रहसन्निव।
इह प्राप्तस्य किं कार्यमस्त्रैस्तव धनंजय ॥ ५२ ॥
कामान् वृणीष्व लोकांस्त्वं प्राप्तोऽसि परमां गतिम्।
एवमुक्तः प्रत्युवाच सहस्राक्षं धनंजयः ॥ ५३ ॥
न लोभान्न पुनः कामान्न देवत्वं पुनः सुखम्।
न च सर्वामरैश्वर्यं कामये त्रिदशाधिप ॥ ५४ ॥
भ्रातॄंस्तान् विपिने त्यक्त्वा वैरमप्रतियात्य च।
अकीर्तिं सर्वलोकेषु गच्छेयं शाश्वतीः समाः ॥ ५५ ॥

तब महेन्द्रने प्रसन्नचित्त हो हँसते हुए-से कहा—'धनंजय! जब तुम यहाँतक आ पहुँचे, तब तुम्हें अस्त्रोंको लेकर क्या करना है? अब इच्छानुसार उत्तम लोक माँग लो; क्योंकि तुम्हें उत्तम गति प्राप्त हुई है।' यह सुनकर धनंजयने पुनः देवराजसे कहा—'देवेश्वर! मैं अपने भाइयोंको वनमें छोड़कर (शत्रुओंसे) वैरका बदला लिये बिना लोभ अथवा कामनाके वशीभूत हो न तो देवत्व चाहता हूँ, न सुख और सम्पूर्ण देवताओंका ऐश्वर्य प्राप्त कर लेनेकी ही मेरी इच्छा है। यदि मैंने वैसा किया तो सदाके लिये सम्पूर्ण लोकोंमें मुझे महान् अपयश प्राप्त होगा' ॥ ५२–५५ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच वृत्रहा पाण्डुनन्दनम्।
सान्त्वयञ्छ्लक्ष्णया वाचा सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ५६ ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर विश्ववन्दित, वृत्रविनाशक इन्द्रने मधुर वाणीमें अर्जुनको सान्त्वना देते हुए कहा— ॥ ५६ ॥

यदा द्रक्ष्यसि भूतेशं त्र्यक्षं शूलधरं शिवम्।
तदा दातास्मि ते तात दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः ॥ ५७ ॥

'तात! जब तुम्हें तीन नेत्रोंसे विभूषित त्रिशूलधारी भूतनाथ भगवान् शिवका दर्शन होगा, तब मैं तुम्हें सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्रदान करूँगा ॥ ५७ ॥

क्रियतां दर्शने यत्नो देवस्य परमेष्ठिनः।
दर्शनात् तस्य कौन्तेय संसिद्धः स्वर्गमेष्यसि ॥ ५८ ॥

'कुन्तीकुमार! तुम उन परमेश्वर महादेवजीका दर्शन पानेके लिये प्रयत्न करो। उनके दर्शनसे पूर्णतः सिद्ध हो जानेपर तुम स्वर्गलोकमें पधारोगे' ॥ ५८ ॥

इत्युक्त्वा फाल्गुनं शक्रो जगामादर्शनं पुनः।
अर्जुनोऽप्यथ तत्रैव तस्थौ योगसमन्वितः ॥ ५९ ॥

अर्जुनसे ऐसा कहकर इन्द्र पुनः अदृश्य हो गये। तत्पश्चात् अर्जुन योगयुक्त हुए वहीं रहने लगे ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि इन्द्रदर्शने सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें इन्द्रदर्शनविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

(कैरातपर्व)

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

अर्जुनकी उग्र तपस्या और उसके विषयमें ऋषियोंका भगवान् शङ्करके साथ वार्तालाप

जनमेजय उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि पार्थस्याक्लिष्टकर्मणः।
विस्तरेण कथामेतां यथास्त्राण्युपलब्धवान् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—भगवन्! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कुन्तीनन्दन अर्जुनकी यह कथा मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ; उन्होंने किस प्रकार अस्त्र प्राप्त किये? ॥ १ ॥

यथा च पुरुषव्याघ्रो दीर्घबाहुर्धनंजयः।
वनं प्रविष्टस्तेजस्वी निर्मनुष्यमभीतवत् ॥ २ ॥

पुरुषसिंह महाबाहु तेजस्वी धनंजय उस निर्जन वनमें निर्भयके समान कैसे चले गये थे? ॥ २ ॥

किं च तेन कृतं तत्र वसता ब्रह्मवित्तम।
कथं च भगवान् स्थाणुर्देवराजश्च तोषितः ॥ ३ ॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! उस वनमें रहकर पार्थने क्या किया? भगवान् शंकर तथा देवराज इन्द्रको कैसे संतुष्ट किया? ॥ ३ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्प्रसादाद् द्विजोत्तम।
त्वं हि सर्वज्ञ दिव्यं च मानुषं चैव वेत्थ ह ॥ ४ ॥

विप्रवर! मैं आपकी कृपासे ये सब बातें सुनना चाहता हूँ। सर्वज्ञ! आप दिव्य और मानुष सभी वृत्तान्तोंको जानते हैं ॥ ४ ॥

अत्यद्भुततमं ब्रह्मन् रोमहर्षणमर्जुनः।
भवेन सह संग्रामं चकाराप्रतिमं किल ॥ ५ ॥
पुरा प्रहरतां श्रेष्ठः संग्रामेष्वपराजितः।
यच्छ्रुत्वा नरसिंहानां दैन्यहर्षातिविस्मयात् ॥ ६ ॥
शूराणामपि पार्थानां हृदयानि चकम्पिरे।
यद् यच्च कृतवानन्यत् पार्थस्तदखिलं वद ॥ ७ ॥

ब्रह्मन्! मैंने सुना है, कभी संग्राममें पराजित न होनेवाले,

योद्धाओंमें श्रेष्ठ अर्जुनने पूर्वकालमें भगवान् शङ्करके साथ अत्यन्त अद्भुत, अनुपम और रोमाञ्चकारी युद्ध किया था, जिसे सुनकर मनुष्योंमें श्रेष्ठ शूरवीर कुन्तीपुत्रोंके हृदयोंमें भी दैन्य, हर्ष और विस्मयके कारण कँपकँपी छा गयी थी। अर्जुनने और भी जो-जो कार्य किये हों, वे सब भी मुझे बताइये ॥ ५—७ ॥

न ह्यस्य निन्दितं जिष्णोः सुसूक्ष्ममपि लक्षये ।
चरितं तस्य शूरस्य तन्मे सर्वं प्रकीर्तय ॥ ८ ॥

शूरवीर अर्जुनका अत्यन्त सूक्ष्म चरित्र भी ऐसा नहीं दिखायी देता है, जिसमें थोड़ी-सी भी निन्दाके लिये स्थान हो; अतः वह सब मुझसे कहिये ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

कथयिष्यामि ते तात कथामेतां महात्मनः ।
दिव्यां पौरवशार्दूल महतीमद्भुतोपमाम् ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—तात ! पौरवश्रेष्ठ ! महात्मा अर्जुनकी यह कथा दिव्य, अद्भुत और महत्त्वपूर्ण है; इसे मैं तुम्हें सुनाता हूँ ॥ ९ ॥

गात्रसंस्पर्शसम्बद्धां त्र्यम्बकेण सहानघ ।
पार्थस्य देवदेवेन शृणु सम्यक् समागमम् ॥ १० ॥

अनघ ! देवदेव महादेवजीके साथ अर्जुनके शरीरका जो स्पर्श हुआ था, उससे सम्बन्ध रखनेवाली यह कथा है । तुम उन दोनोंके मिलनका यह वृत्तान्त भली-भाँति सुनो ॥

युधिष्ठिरनियोगात् स जगामामितविक्रमः ।
शक्रं सुरेश्वरं द्रष्टुं देवदेवं च शंकरम् ॥ ११ ॥
दिव्यं तद् धनुरादाय खड्गं च कनकत्सरुम् ।
महाबलो महाबाहुरर्जुनः कार्यसिद्धये ॥ १२ ॥
दिशं ह्युदीचीं कौरव्यो हिमवच्छिखरं प्रति ।
ऐन्द्रिः स्थिरमना राजन् सर्वलोकमहारथः ॥ १३ ॥

राजन् ! अमित पराक्रमी, महाबली, महाबाहु, कुरुकुलभूषण, इन्द्रपुत्र अर्जुन, जो सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात महारथी और सुस्थिर चित्तवाले थे, युधिष्ठिरकी आज्ञासे देवराज इन्द्र तथा देवाधिदेव भगवान् शंकरका दर्शन करनेके लिये कार्यकी सिद्धिका उद्देश्य लेकर अपने उस दिव्य (गाण्डीव) धनुष और सोनेकी मूँठवाले खड्गको हाथमें लिये उत्तर दिशामें हिमालय पर्वतकी ओर चले ॥

त्वरया परया युक्तस्तपसे धृतनिश्चयः ।
वनं कण्टकितं घोरमेक एवान्वपद्यत ॥ १४ ॥

तपस्याके लिये दृढ़ निश्चय करके बड़ी उतावलीके साथ जाते हुए वे अकेले ही एक भयंकर कण्टकाकीर्ण वनमें पहुँचे ॥ १४ ॥

नानापुष्पफलोपेतं नानापक्षिनिषेवितम् ।
नानामृगगणाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम् ॥ १५ ॥

जो नाना प्रकारके फल-फूलोंसे भरा था, भाँति-भाँतिके पक्षी जहाँ कलरव कर रहे थे, अनेक जातियोंके मृग उस वनमें सब ओर विचरते रहते थे तथा कितने ही सिद्ध और चारण निवास कर रहे थे ॥ १५ ॥

ततः प्रयाते कौन्तेये वनं मानुषवर्जितम् ।
शङ्खानां पटहानां च शब्दः समभवद् दिवि ॥ १६ ॥

तदनन्तर कुन्तीनन्दन अर्जुनके उस निर्जन वनमें पहुँचते ही आकाशमें शङ्खों और नगाड़ोंका गम्भीर घोष गूँज उठा ॥

पुष्पवर्षं च सुमहन्निपपात महीतले ।
मेघजालं च विततं छादयामास सर्वतः ॥ १७ ॥
सोऽतीत्य वनदुर्गाणि संनिकर्षे महागिरेः ।
शुशुभे हिमवत्पृष्ठे वसमानोऽर्जुनस्तदा ॥ १८ ॥

पृथ्वीपर फूलोंकी बड़ी भारी वर्षा होने लगी। मेघोंकी घटा घिरकर आकाशमें सब ओर छा गयी। उन दुर्गम वनस्थलियोंको लाँघकर अर्जुन हिमालयके पृष्ठभागमें एक महान् पर्वतके निकट निवास करते हुए शोभा पाने लगे ॥ १७-१८ ॥

तत्रापश्यद् द्रुमान् फुल्लान् विहगैर्वल्गुनादितान् ।
नदीश्च विपुलावर्ता वैदूर्यविमलप्रभाः ॥ १९ ॥

वहाँ उन्होंने फूलोंसे सुशोभित बहुत-से वृक्ष देखे, जो पक्षियोंके मधुर शब्दसे गुञ्जायमान हो रहे थे । उन्होंने वैदूर्यमणिके समान स्वच्छ जलसे भरी हुई शोभामयी कितनी ही नदियाँ देखीं, जिनमें बहुत-सी भँवरें उठ रही थीं ॥ १९ ॥

हंसकारण्डवोद्गीताः सारसाभिरुतास्तथा ।
पुंस्कोकिलरुताश्चैव क्रौञ्चबर्हिणनादिताः ॥ २० ॥

हंस, कारण्डव तथा सारस आदि पक्षी वहाँ मीठी बोली बोलते थे । तटवर्ती वृक्षोंपर कोयल मनोहर शब्द बोल रही थी । क्रौंचके कलरव और मयूरोंकी केकाध्वनि भी वहाँ सब ओर गूँजती रहती थी ॥ २० ॥

मनोहरवनोपेतास्तस्मिन्नतिरथोऽर्जुनः ।
पुण्यशीतामलजलाः पश्यन् प्रीतमनाभवत् ॥ २१ ॥

उन नदियोंके आसपास मनोहर वनश्रेणी सुशोभित होती थी । हिमालयके उस शिखरपर पवित्र, शीतल और निर्मल जलसे भरी हुई उन सुन्दर सरिताओंका दर्शन करके अतिरथी अर्जुनका मन प्रसन्नतासे खिल उठा ॥ २१ ॥

रमणीये वनोद्देशे रममाणोऽर्जुनस्तदा ।
तपस्युग्रे वर्तमान उग्रतेजा महामनाः ॥ २२ ॥

उग्र तेजस्वी महामना अर्जुन वहाँ वनके रमणीय प्रदेशोंमें घूम-फिरकर बड़ी कठोर तपस्यामें संलग्न हो गये ॥

दर्भचीरं निवस्याथ दण्डाजिनविभूषितः ।
शीर्णं च पतितं भूमौ पर्णं समुपयुक्तवान् ॥ २३ ॥

कुशाका ही चीर धारण किये तथा दण्ड और मृगचर्मसे

विभूषित अर्जुन पृथ्वीपर गिरे हुए सूखे पत्तोंका ही भोजनके स्थानमें उपयोग करते थे ॥ २३ ॥

पूर्णे पूर्णे त्रिरात्रे तु मासमेकं फलाशनः ।
द्विगुणेन हि कालेन द्वितीयं मासमत्ययात् ॥२४॥

एक मासतक वे तीन-तीन रातके बाद केवल फलाहार करके रहे । दूसरे मासको उन्होंने पहलेकी अपेक्षा दूने-दूने समयपर अर्थात् छः-छः रातके बाद फलाहार करके व्यतीत किया ॥ २४ ॥

तृतीयमपि मासं स पक्षेणाहारमाचरन् ।
चतुर्थे त्वथ सम्प्राप्ते मासे भरतसत्तमः ॥ २५॥
वायुभक्षो महाबाहुरभवत् पाण्डुनन्दनः ।
ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बः पादाङ्गुष्ठाग्रविष्ठितः ॥ २६ ॥

तीसरा महीना पंद्रह-पंद्रह दिनमें भोजन करके बिताया । चौथा महीना आनेपर भरतश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन महाबाहु अर्जुन केवल वायु पीकर रहने लगे । वे दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये बिना किसी सहारेके पैरके अंगूठेके अग्रभागके बलपर खड़े रहे ॥ २५-२६ ॥

सदोपस्पर्शनाच्चास्य बभूवुरमितौजसः ।
विद्युदम्भोरुहनिभा जटास्तस्य महात्मनः ॥ २७ ॥

अमित तेजस्वी महात्मा अर्जुनके सिरकी जटाएँ नित्य स्नान करनेके कारण विद्युत् और कमलोंके समान हो गयी थीं ॥ २७ ॥

ततो महर्षयः सर्वे जग्मुर्देवं पिनाकिनम् ।
निवेदयिषवः पार्थं तपस्युग्रे समास्थितम् ॥२८ ॥

तदनन्तर भयंकर तपस्यामें लगे हुए अर्जुनके विषयमें कुछ निवेदन करनेकी इच्छासे वहाँ रहनेवाले सभी महर्षि पिनाकधारी महादेवजीकी सेवामें गये ॥ २८ ॥

तं प्रणम्य महादेवं शशंसुः पार्थकर्म तत् ।
एष पार्थो महातेजा हिमवत्पृष्ठमास्थितः ॥ २९ ॥
उग्रे तपसि दुष्पारे स्थितो धूमाययन् दिशः ।
तस्य देवेश न वयं विद्मः सर्वे चिकीर्षितम् ॥ ३० ॥

उन्होंने महादेवजीको प्रणाम करके अर्जुनका वह तपरूप कर्म कह सुनाया । वे बोले—'भगवन्! ये महातेजस्वी कुन्तीपुत्र अर्जुन हिमालयके पृष्ठभागमें स्थित हो अपार एवं उग्र तपस्यामें संलग्न हैं और सम्पूर्ण दिशाओंको धूमाच्छादित कर रहे हैं । देवेश्वर ! वे क्या करना चाहते हैं, इस विषयमें हमलोगोंमेंसे कोई कुछ नहीं जानता है ॥ २९-३० ॥

संतापयति नः सर्वानसौ साधु निवार्यताम् ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ ३१ ।
उमापतिर्भूतपतिर्वाक्यमेतदुवाच ह ।

'वे अपनी तपस्याके संतापसे हम सब महर्षियोंको संतप्त कर रहे हैं । अतः आप उन्हें तपस्यासे सद्भावपूर्वक निवृत्त कीजिये ।' पवित्र चित्तवाले उन महर्षियोंका यह वचन सुनकर भूतनाथ भगवान् शंकर इस प्रकार बोले ॥३१½ ॥

महादेव उवाच

न वो विषादः कर्तव्यः फाल्गुनं प्रति सर्वशः ॥ ३२ ।
शीघ्रं गच्छत संहृष्टा यथागतमतन्द्रिताः ।
अहमस्य विजानामि संकल्पं मनसि स्थितम् ॥ ३३ ।

महादेवजीने कहा—महर्षियो ! तुम्हें अर्जुनके विषयमें किसी प्रकारका विषाद करनेकी आवश्यकता नहीं है । तुरन्त आलस्यरहित हो शीघ्र ही प्रसन्नतापूर्वक जैसे आये हो, वैसे ही लौट जाओ । अर्जुनके मनमें जो संकल्प है, मैं उसे भलीभाँति जानता हूँ ॥ ३२-३३ ॥

नास्य स्वर्गस्पृहा काचिन्नैश्वर्यस्य तथाऽऽयुषः ।
यत् तस्य काङ्क्षितं सर्वं तत् करिष्येऽहमद्य वै ॥३४।

उन्हें स्वर्गलोककी कोई इच्छा नहीं है, वे ऐश्वर्य तथा आयु भी नहीं चाहते । वे जो कुछ पाना चाहते हैं, वह सब मैं आज ही पूर्ण करूँगा ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा शर्ववचनमृषयः सत्यवादिनः ।
प्रहृष्टमनसो जग्मुर्यथा स्वान् पुनरालयान् ॥ ३५ ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भगवान् शंकरका यह वचन सुनकर वे सत्यवादी महर्षि प्रसन्नचित्त हो फिर अपने आश्रमोंको लौट गये ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कैरातपर्वणि मुनिशङ्करसंवादे अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कैरातपर्वमें महर्षियों तथा भगवान् शङ्करके संवादसे सम्बन्ध रखनेवाला अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

भगवान् शङ्कर और अर्जुनका युद्ध, अर्जुनपर उनका प्रसन्न होना एवं अर्जुनके द्वारा भगवान् शङ्करकी स्तुति

वैशम्पायन उवाच

गतेषु तेषु सर्वेषु तपस्विषु महात्मसु ।
पिनाकपाणिर्भगवान् सर्वपापहरो हरः ॥ १ ॥
कैरातं वेषमास्थाय काञ्चनद्रुमसंनिभम् ।
विभ्राजमानो विपुलो गिरिर्मेरुरिवापरः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उन सब तपस्वी महात्माओंके चले जानेपर सर्वपापहारी, पिनाकपाणि, भगवान् शङ्कर किरातवेष धारण करके सुवर्णमय वृक्षके सदृश दिव्य कान्तिसे उद्भासित होने लगे। उनका शरीर दूसरे मेरुपर्वतके समान दीप्तिमान् और विशाल था ॥ १-२ ॥

श्रीमद् धनुरुपादाय शरांश्चाशीविषोपमान् ।
निष्पपात महावेगो दहनो देहवानिव ॥ ३ ॥

वे एक शोभायमान धनुष और सर्पोंके समान विषाक्त बाण लेकर बड़े वेगसे चले। मानो साक्षात् अग्निदेव ही देह धारण करके निकले हों ॥ ३ ॥

देव्या सहोमया श्रीमान् समानव्रतवेषया ।
नानावेषधरैर्हृष्टैर्भूतैरनुगतस्तदा ॥ ४ ॥
किरातवेषसंच्छन्नः स्त्रीभिश्चापि सहस्रशः ।
अशोभत तदा राजन् स देशोऽतीव भारत ॥ ५ ॥

उनके साथ भगवती उमा भी थीं, जिनका व्रत और वेष भी उन्हींके समान था। अनेक प्रकारके वेष धारण किये भूतगण भी प्रसन्नतापूर्वक उनके पीछे हो लिये थे। इस प्रकार किरातवेषमें छिपे हुए श्रीमान् शिव सहस्रों स्त्रियोंसे घिरकर बड़ी शोभा पा रहे थे। भरतवंशी राजन् ! उस समय वह प्रदेश उन सबके चलने-फिरनेसे अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥ ४-५ ॥

क्षणेन तद् वनं सर्वं निःशब्दमभवत् तदा ।
नादः प्रस्रवणानां च पक्षिणां चाप्युपारमत् ॥ ६ ॥

एक ही क्षणमें वह सारा वन शब्दरहित हो गया। झरनों और पक्षियोंतककी आवाज बंद हो गयी ॥ ६ ॥

स संनिकर्षमागम्य पार्थस्याक्लिष्टकर्मणः ।
मूकं नाम दनोः पुत्रं ददर्शाद्भुतदर्शनम् ॥ ७ ॥
वाराहं रूपमास्थाय तर्कयन्तमिवार्जुनम् ।
हन्तुं परं दीप्यमानं तमुवाचाथ फाल्गुनः ॥ ८ ॥
गाण्डीवं धनुरादाय शरांश्चाशीविषोपमान् ।
सज्यं धनुर्वरं कृत्वा ज्याघोषेण निनादयन् ॥ ९ ॥

अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले कुन्तीपुत्र अर्जुनके निकट आकर भगवान् शङ्करने अद्भुत दीखनेवाले मूकनामक अद्भुत दानवको देखा, जो सूअरका रूप धारण करके अत्यन्त तेजस्वी अर्जुनको मार डालनेका उपाय सोच रहा था; उस समय अर्जुनने गाण्डीव धनुष और विषैले सर्पोंके समान भयंकर बाण हाथमें ले धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसकी टंकारसे दिशाओंको प्रतिध्वनित करके कहा—॥ ७-९ ॥

यन्मां प्रार्थयसे हन्तुमनागसमिहागतम् ।
तस्मात् त्वां पूर्वमेवाहं नेताद्य यमसादनम् ॥ १० ॥

'अरे ! तू यहाँ आये हुए मुझ निरपराधको मारनेकी घातमें लगा है, इसीलिये मैं आज पहले ही तुझे यमलोक भेज दूँगा' ॥ १० ॥

दृष्ट्वा तं प्रहरिष्यन्तं फाल्गुनं दृढधन्विनम् ।
किरातरूपी सहसा वारयामास शङ्करः ॥ ११ ॥

सुदृढ़ धनुषवाले अर्जुनको प्रहारके लिये उद्यत देख किरातरूपधारी भगवान् शङ्करने उन्हें सहसा रोका ॥ ११ ॥

मयैष प्रार्थितः पूर्वमिन्द्रकीलसमप्रभः ।
अनादृत्य च तद् वाक्यं प्रजहाराथ फाल्गुनः ॥ १२ ॥

और कहा—'इन्द्रकील पर्वतके समान कान्तिवाले इस सूअरको 'पहलेसे ही मैंने अपना लक्ष्य बना रखा है, अतः तुम न मारो।' परंतु अर्जुनने किरातके वचनकी अवहेलना करके उसपर प्रहार कर ही दिया ॥ १२ ॥

किरातश्च समं तस्मिन्नेकलक्ष्ये महाद्युतिः ।
प्रमुमोचाशनिप्रख्यं शरमग्निशिखोपमम् ॥ १३ ॥

साथ ही महातेजस्वी किरातने भी उसी एकमात्र लक्ष्यपर बिजली और अग्निशिखाके समान तेजस्वी बाण छोड़ा ॥१३॥

तौ मुक्तौ सायकौ ताभ्यां समं तत्र निपेततुः ।
मूकस्य गात्रे विस्तीर्णे शैलसंहनने तदा ॥ १४ ॥

उन दोनोंके छोड़े हुए वे दोनों बाण एक ही साथ मूक दानवके पर्वत-सदृश विशाल शरीरमें लगे ॥ १४ ॥

यथाशनेर्विनिर्घोषो वज्रस्येव च पर्वते ।
तथा तयोः संनिपातः शरयोरभवत् तदा ॥ १५ ॥

जैसे पर्वतपर बिजलीकी गड़गड़ाहट और वज्रपातका भयंकर शब्द होता है, उसी प्रकार उन दोनों बाणोंके आघातका शब्द हुआ ॥ १५ ॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैर्दीप्तास्यैः पन्नगैरिव ।
ममार राक्षसं रूपं भूयः कृत्वा विभीषणम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंके समान अनेक बाणोंसे घायल होकर वह दानव फिर अपने भयानक राक्षसरूपको प्रकट करके मर गया ॥ १६ ॥

स ददर्श ततो जिष्णुः पुरुषं काञ्चनप्रभम् ।
किरातवेषसंच्छन्नं स्त्रीसहायममित्रहा ॥ १७ ॥
तमब्रवीत् प्रीतमनाः कौन्तेयः प्रहसन्निव ।
को भवानटते शून्ये वने स्त्रीगणसंवृतः ॥ १८ ॥

इसी समय शत्रुनाशक अर्जुनने सुवर्णके समान कान्तिमान् एक तेजस्वी पुरुषको देखा, जो स्त्रियोंके साथ आकर अपनेको किरातवेषमें छिपाये हुए थे । तब कुन्तीकुमारने प्रसन्नचित्त होकर हँसते हुए-से कहा–'आप कौन हैं जो इस सूने वनमें स्त्रियोंसे घिरे हुए घूम रहे हैं ? ॥ १७-१८ ॥

न त्वमस्मिन् वने घोरे बिभेषि कनकप्रभ ।
किमर्थं च त्वया विद्धो वराहो मत्परिग्रहः ॥ १९ ॥

'सुवर्णके समान दीप्तिमान् पुरुष ! क्या आपको इस भयानक वनमें भय नहीं लगता ? यह सूअर तो मेरा लक्ष्य था, आपने क्यों उसपर बाण मारा ? ॥ १९ ॥

मयाभिपन्नः पूर्वं हि राक्षसोऽयमिहागतः ।
कामात् परिभवाद् वापि न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ॥२०॥

'यह राक्षस पहले यहीं मेरे पास आया था और मैंने इसे काबूमें कर लिया था । आपने किसी कामनासे इस शूकरको मारा हो या मेरा तिरस्कार करनेके लिये । किसी दशामें भी मैं आपको जीवित नहीं छोड़ूँगा ॥ २० ॥

न ह्येष मृगयाधर्मो यस्त्वयाद्य कृतो मयि ।
तेन त्वां भ्रंशयिष्यामि जीवितात् पर्वताश्रयम् ॥ २१ ॥

'यह मृगयाका धर्म नहीं है, जो आज आपने मेरे साथ किया है । आप पर्वतके निवासी हैं तो भी उस अपराधके कारण मैं आपको जीवनसे वञ्चित कर दूँगा' ॥ २१ ॥

इत्युक्तः पाण्डवेयेन किरातः प्रहसन्निव ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा पाण्डवं सव्यसाचिनम् ॥ २२ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर किरातवेषधारी भगवान् शङ्कर जोर-जोरसे हँस पड़े और सव्यसाची पाण्डवसे मधुर वाणीमें बोले–॥ २२ ॥

न मत्कृते त्वया वीर भीः कार्या वनमन्तिकात् ।
इयं भूमिः सदास्माकमुचिता वसतां वने ॥ २३ ॥

'वीर ! तुम हमारे लिये वनके निकट आनेके कारण भय न करो । हम तो वनवासी हैं, अतः हमारे लिये इस भूमिपर विचरना सदा उचित ही है ॥ २३ ॥

त्वया तु दुष्करः कस्मादिह वासः प्ररोचितः ।
वयं तु बहुसत्त्वेऽस्मिन् निवसामस्तपोधन ॥ २४ ॥

'किंतु तुमने यहाँका दुष्कर निवास कैसे पसंद किया ? तपोधन ! हम तो अनेक प्रकारके जीव-जन्तुओंसे भरे हुए इस वनमें सदा ही रहते हैं ॥ २४ ॥

भवांस्तु कृष्णवर्त्माभः सुकुमारः सुखोचितः ।
कथं शून्यमिमं देशमेकाकी विचरिष्यति ॥ २५ ॥

'तुम्हारे अङ्गोंकी प्रभा प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ती है । तुम सुकुमार हो और सुख भोगनेके योग्य प्रतीत होते हो । इस निर्जन प्रदेशमें किसलिये अकेले विचर रहे हो ?' ॥ २५ ॥

अर्जुन उवाच

गाण्डीवमाश्रयं कृत्वा नाराचांश्चाग्निसंनिभान् ।
निवसामि महारण्ये द्वितीय इव पावकिः ॥ २६ ॥

अर्जुनने कहा–मैं गाण्डीव धनुष और अग्निके समान तेजस्वी बाणोंका आश्रय लेकर इस महान् वनमें द्वितीय कार्तिकेयकी भाँति (निर्भय) निवास करता हूँ ॥ २६ ॥

एष चापि मया जन्तुर्मृगरूपं समाश्रितः ।
राक्षसो निहतो घोरो हन्तुं मामिह चागतः ॥ २७ ॥

यह प्राणी हिंसक पशुका रूप धारण करके मुझे ही मारनेके लिये यहाँ आया था, अतः इस भयंकर राक्षसको मैंने मार गिराया है ॥ २७ ॥

किरात उवाच

मयैष धन्वनिर्मुक्तैस्ताडितः पूर्वमेव हि ।
बाणैरभिहतः शेते नीतश्च यमसादनम् ॥ २८ ॥

किरातरूपधारी शिव बोले–मैंने अपने धनुषद्वारा छोड़े हुए बाणोंसे पहले ही इसे घायल कर दिया था । मेरे ही बाणोंकी चोट खाकर यह सदाके लिये सो रहा है और यमलोकमें पहुँच गया ॥ २८ ॥

ममैष लक्ष्यभूतो हि मम पूर्वपरिग्रहः ।
ममैव च प्रहारेण जीविताद् व्यपरोपितः ॥ २९ ॥

मैंने ही पहले इसे अपने बाणोंका निशाना बनाया, अतः तुमसे पहले इसपर मेरा अधिकार स्थापित हो चुका था । मेरे ही तीव्र प्रहारसे इस दानवको अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा है ॥ २९ ॥

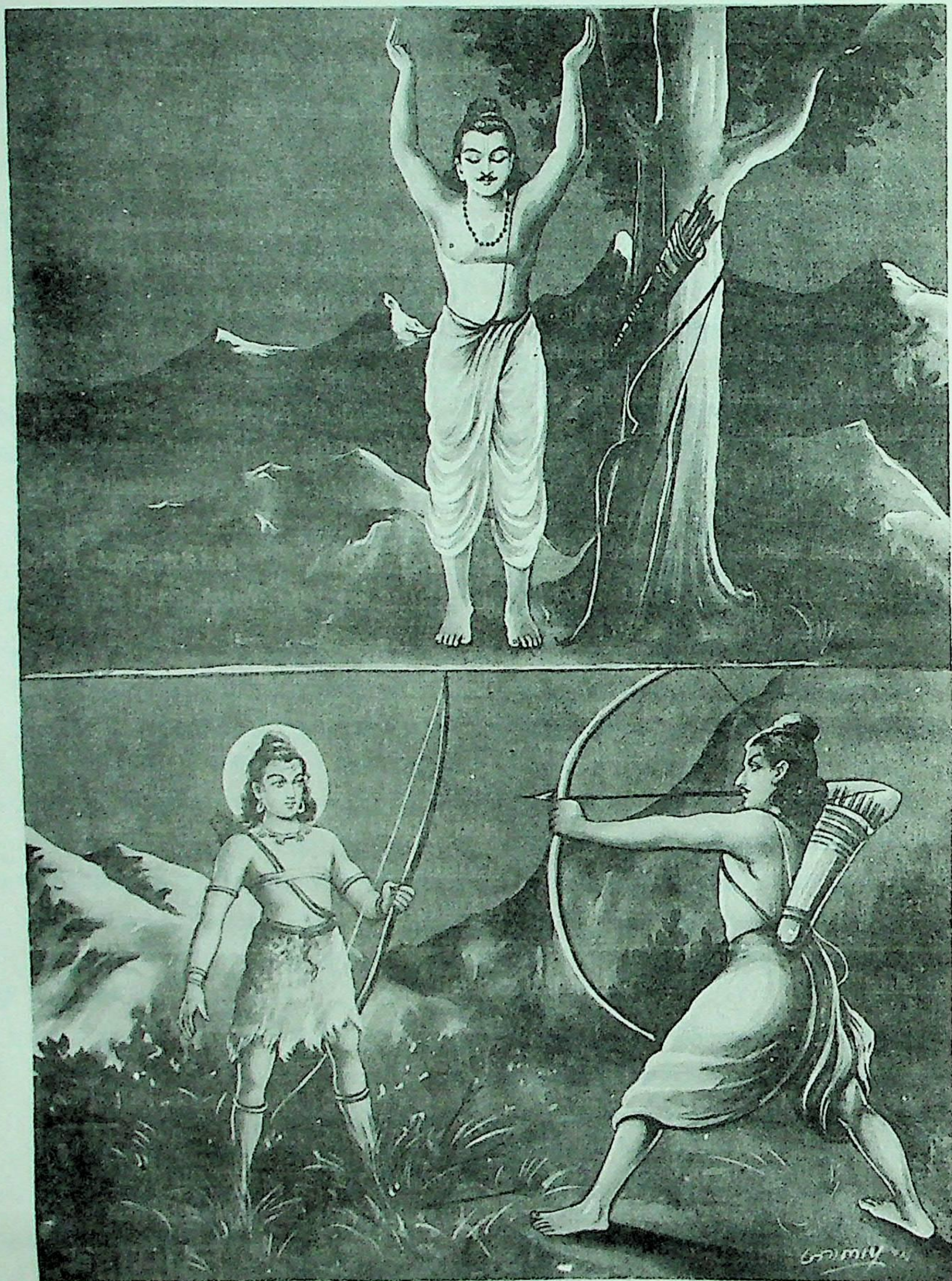
दोषान् स्वान् नार्हसेऽन्यस्मै वक्तुं स्वबलदर्पितः ।
अवलिप्तोऽसि मन्दात्मन् न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ॥ ३० ॥

मन्दबुद्धे ! तुम अपने बलके घमंडमें आकर अपने दोष दूसरेपर नहीं मढ़ सकते । तुम्हें अपनी शक्तिपर बड़ा गर्व है; अतः अब तुम मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकते ॥

स्थिरो भवस्व मोक्ष्यामि सायकानशनीनिव ।
घटस्व परया शक्त्या मुञ्च त्वमपि सायकान् ॥ ३१ ॥

धैर्यपूर्वक सामने खड़े रहो, मैं वज्रके समान भयानक बाण छोड़ूँगा । तुम भी अपनी पूरी शक्ति लगाकर मुझे जीतनेका प्रयत्न करो । मेरे ऊपर अपने बाण छोड़ो ॥ ३१ ॥

अर्जुनकी तपस्या



अर्जुनका किरातवेषधारी भगवान शिवपर वाण चलाना

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा किरातस्यार्जुनस्तदा ।
रोषमाहारयामास ताडयामास चेषुभिः ॥ ३२ ॥

किरातकी वह बात सुनकर उस समय अर्जुनको बड़ा क्रोध हुआ । उन्होंने बाणोंसे उसपर प्रहार आरम्भ किया ॥

ततो हृष्टेन मनसा प्रतिजग्राह सायकान् ।
भूयो भूय इति प्राह मन्दमन्देत्युवाच ह ॥ ३३ ॥
प्रहरस्व शरानेतान् नाराचान् मर्मभेदिनः ।

तब किरातने प्रसन्न चित्तसे अर्जुनके छोड़े हुए सभी बाणोंको पकड़ लिया और कहा—'ओ मूर्ख ! और बाण मार और बाण मार, इन मर्मभेदी नाराचोंका प्रहार कर' ॥ ३३½ ॥

इत्युक्तो बाणवर्षं स मुमोच सहसार्जुनः ॥ ३४ ॥

उसके ऐसा कहनेपर अर्जुनने सहसा बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ ३४ ॥

ततस्तौ तत्र संरब्धौ राजमानौ मुहुर्मुहुः ।
शरैराशीविषाकारैस्ततक्षाते परस्परम् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर वे दोनों क्रोधमें भरकर बारंबार सर्पाकार बाणोंद्वारा एक दूसरेको घायल करने लगे । उस समय उन दोनोंकी बड़ी शोभा होने लगी ॥ ३५ ॥

ततोऽर्जुनः शरवर्षं किराते समवासृजत् ।
तत् प्रसन्नेन मनसा प्रतिजग्राह शङ्करः ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात अर्जुनने किरातपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की; परंतु भगवान् शङ्करने प्रसन्नचित्तसे उन सब बाणोंको ग्रहण कर लिया ॥ ३६ ॥

मुहूर्तं शरवर्षं तत् प्रतिगृह्य पिनाकधृक् ।
अक्षतेन शरीरेण तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ ३७ ॥

पिनाकधारी शिव दो ही घड़ीमें सारी बाणवर्षाको अपनेमें लीन करके पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े रहे । उनके शरीरपर तनिक भी चोट या क्षति नहीं पहुँची थी ॥ ३७ ॥

स दृष्ट्वा बाणवर्षं तु मोघीभूतं धनंजयः ।
परमं विस्मयं चक्रे साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥ ३८ ॥

अपनी की हुई सारी बाणवर्षा व्यर्थ हुई देख धनंजयको बड़ा आश्चर्य हुआ । वे किरातको साधुवाद देने लगे और बोले— ॥ ३८ ॥

अहोऽयं सुकुमाराङ्गो हिमवच्छिखराश्रयः ।
गाण्डीवमुक्तान् नाराचान् प्रतिगृह्णात्यविह्वलः ॥ ३९ ॥

'अहो ! हिमालयके शिखरपर निवास करनेवाले इस किरातके अङ्ग तो बड़े सुकुमार हैं, तो भी यह गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंको ग्रहण कर लेता है और तनिक भी व्याकुल नहीं होता ॥ ३९ ॥

कोऽयं देवो भवेन् साक्षाद् रुद्रो यक्षः सुरोऽसुरः ।
विद्यते हि गिरिश्रेष्ठे त्रिदशानां समागमः ॥ ४० ॥

'यह कौन है ? साक्षात् भगवान् रुद्रदेव, यक्ष, देवता अथवा असुर तो नहीं है । इस श्रेष्ठ पर्वतपर देवताओंका आना-जाना होता रहता है ॥ ४० ॥

न हि मद्बाणजालानामुत्सृष्टानां सहस्रशः ।
शक्तोऽन्यः सहितुं वेगमृते देवं पिनाकिनम् ॥ ४१ ॥

'मैंने सहस्रों बार जिन बाण-समूहोंकी वृष्टि की है, उनका वेग पिनाकधारी भगवान् शङ्करके सिवा दूसरा कोई नहीं सह सकता ॥ ४१ ॥

देवो वा यदि वा यक्षो रुद्रादन्यो व्यवस्थितः ।
अहमेनं शरैस्तीक्ष्णैर्नयामि यमसादनम् ॥ ४२ ॥

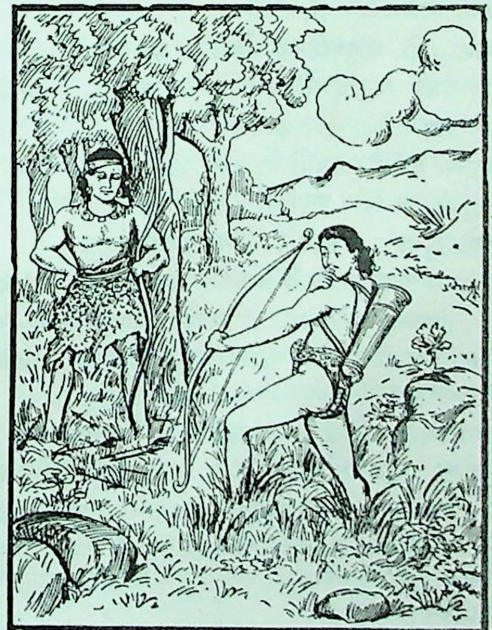
'यदि यह रुद्रदेवसे भिन्न व्यक्ति है तो यह देवता हो या यक्ष—मैं इसे तीखे बाणोंसे मारकर अभी यमलोक भेजता हूँ' ॥ ४२ ॥

ततो हृष्टमना जिष्णुर्नाराचान् मर्मभेदिनः ।
व्यसृजच्छतधा राजन् मयूखानिव भास्करः ॥ ४३ ॥

राजन् ! यह सोचकर प्रसन्नचित्त अर्जुनने सहस्रों किरणोंको फैलानेवाले भगवान् भास्करकी भाँति सैकड़ों मर्मभेदी नाराचोंका प्रहार किया ॥ ४३ ॥

तान् प्रसन्नेन मनसा भगवाँल्लोकभावनः ।
शूलपाणिः प्रत्यगृह्णाच्छिलावर्षमिवाचलः ॥ ४४ ॥

परंतु त्रिशूलधारी भूतभावन भगवान् भवने हर्षभरे हृदयसे उन सब नाराचोंको उसी प्रकार आत्मसात् कर लिया, जैसे पर्वत पत्थरोंकी वर्षाको ॥ ४४ ॥



क्षणेन क्षीणबाणोऽथ संवृत्तः फाल्गुनस्तदा ।
[illegible]माविशत् [illegible] च दृष्ट्वा शरसंक्षयम् ॥ ४५ ॥

उस समय एक ही क्षणमें अर्जुनके सारे बाण समाप्त हो चले। उन बाणोंका इस प्रकार विनाश देखकर उनके मनमें बड़ा भय समा गया ॥ ४५ ॥

चिन्तयामास जिष्णुस्तु भगवन्तं हुताशनम्।
पुरस्तादक्षयौ दत्तौ तूणौ येनास्य खाण्डवे ॥ ४६ ॥

विजयी अर्जुनने उस समय भगवान् अग्निदेवका चिन्तन किया, जिन्होंने खाण्डववनमें प्रत्यक्ष दर्शन देकर उन्हें दो अक्षय तूणीर प्रदान किये थे ॥ ४६ ॥

किं नु मोक्ष्यामि धनुषा यन्मे बाणाः क्षयं गताः।
अयं च पुरुषः कोऽपि बाणान् ग्रसति सर्वशः ॥ ४७ ॥
हत्वा चैनं धनुष्कोट्या शूलाग्रेणेव कुञ्जरम्।
नयामि दण्डधारस्य यमस्य सदनं प्रति ॥ ४८ ॥

वे मन-ही-मन सोचने लगे, 'मेरे सारे बाण नष्ट हो गये, अब मैं धनुषसे क्या चलाऊँगा। यह कोई अद्भुत पुरुष है, जो मेरे सारे बाणोंको खाये जा रहा है। अच्छा, अब मैं शूलके अग्रभागसे घायल किये जानेवाले हाथीकी भाँति इसे धनुषकी कोटि (नोक) से मारकर दण्डधारी यमराजके लोकमें पहुँचा देता हूँ' ॥ ४७-४८ ॥

प्रगृह्याथ धनुष्कोट्या ज्यापाशेनावकृष्य च।
मुष्टिभिश्चापि हतवान् वज्रकल्पैर्महाद्युतिः ॥ ४९ ॥

ऐसा विचारकर महातेजस्वी अर्जुनने किरातको अपने धनुषकी कोटिसे पकड़कर उसकी प्रत्यञ्चामें उसके शरीरको फँसाकर खींचा और वज्रके समान दुःसह मुष्टिप्रहारसे पीड़ित करना प्रारम्भ किया ॥ ४९ ॥

सम्प्रयुद्धो धनुष्कोट्या कौन्तेयः परवीरहा।
तदप्यस्य धनुर्दिव्यं जग्राह गिरिगोचरः ॥ ५० ॥

शत्रु वीरोंका संहार करनेवाले कुन्तीकुमार अर्जुनने जब धनुषकी कोटिसे प्रहार किया, तब उस पर्वतीय किरातने अर्जुनके उस दिव्य धनुषको भी अपनेमें लीन कर लिया ॥

ततोऽर्जुनो ग्रस्तधनुः खड्गपाणिरतिष्ठत।
युद्धस्यान्तमभीप्सन् वै वेगेनाभिजगाम तम् ॥ ५१ ॥

तदनन्तर धनुषके ग्रस्त हो जानेपर अर्जुन हाथमें तलवार लेकर खड़े हो गये और युद्धका अन्त कर देनेकी इच्छासे वेगपूर्वक उसपर आक्रमण किया ॥ ५१ ॥

तस्य मूर्ध्नि शितं खड्गमसक्तं पर्वतेष्वपि।
मुमोच भुजवीर्येण विक्रम्य कुरुनन्दनः ॥ ५२ ॥

उनकी वह तलवार पर्वतोंपर भी कुण्ठित नहीं होती थी। कुरुनन्दन अर्जुनने अपने भुजाओंकी पूरी शक्ति लगाकर किरातके मस्तकपर उस तीक्ष्ण धारवाली तलवारसे वार किया ॥ ५२ ॥

तस्य मूर्धानमासाद्य पफालासिवरो हि सः।
ततो वृक्षैः शिलाभिश्च योधयामास फाल्गुनः ॥ ५३ ॥

परंतु उसके मस्तकसे टकराते ही वह उत्तम तलवार टूक-टूक हो गयी। तब अर्जुनने वृक्षों और शिलाओंसे युद्ध करना आरम्भ किया ॥ ५३ ॥

तदा वृक्षान् महाकायः प्रत्यगृह्णादथो शिलाः।
किरातरूपी भगवांस्ततः पार्थो महाबलः ॥ ५४ ॥
मुष्टिभिर्वज्रसंकाशैर्धूममुत्पादयन् मुखे।
प्रजहार दुराधर्षे किरातसमरूपिणि ॥ ५५ ॥

तब विशालकाय किरातरूपी भगवान् शंकरने उन वृक्षों और शिलाओंको भी ग्रहण कर लिया। यह देखकर महाबली कुन्तीकुमार अपने वज्रतुल्य मुक्कोंसे दुर्धर्ष किरात सदृश रूपवाले भगवान् शिवपर प्रहार करने लगे। उस समय क्रोधके आवेशसे अर्जुनके मुखसे धूम प्रकट हो रहा था ॥ ५४-५५ ॥

ततः शक्राशनिसमैर्मुष्टिभिर्भृशदारुणैः।
किरातरूपी भगवानर्दयामास फाल्गुनम् ॥ ५६ ॥

तदनन्तर किरातरूपी भगवान् शिव भी अत्यन्त दारुण और इन्द्रके वज्रके समान दुःसह मुक्कोंसे मारकर अर्जुनको पीडा देने लगे ॥ ५६ ॥

ततश्चटचटाशब्दः सुघोरः समपद्यत।
पाण्डवस्य च मुष्टीनां किरातस्य च युध्यतः ॥ ५७ ॥

फिर तो घमासान युद्धमें लगे हुए पाण्डुनन्दन अर्जुन तथा किरातरूपी शिवके मुक्कोंका एक-दूसरेके शरीरपर प्रहार होनेसे बड़ा भयंकर 'चट-चट' शब्द होने लगा ॥ ५७ ॥

सुमुहूर्तं तु तद् युद्धमभवल्लोमहर्षणम्।
भुजप्रहारसंयुक्तं वृत्रवासवयोरिव ॥ ५८ ॥

वृत्रासुर और इन्द्रके समान उन दोनोंका वह रोमाञ्चकारी बाहुयुद्ध दो घड़ीतक चलता रहा ॥ ५८ ॥

जघानाथ ततो जिष्णुः किरातमुरसा बली।
पाण्डवं च विचेष्टं तं किरातोऽप्यहनद् बली ॥ ५९ ॥

तत्पश्चात् बलवान् वीर अर्जुनने अपनी छातीसे किरातको बड़े जोरसे मारा, तब महाबली किरातने भी विपरीत चेष्टा करनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनपर आघात किया ॥ ५९ ॥

तयोर्भुजविनिष्पेषात् संघर्षेणोरसोस्तथा।
समजायत गात्रेषु पावकोऽङ्गारधूमवान् ॥ ६० ॥

उन दोनोंकी भुजाओंके टकराने और वक्षःस्थलोंके संघर्षसे उनके अङ्गोंमें धूम और चिनगारियोंके साथ आग प्रकट हो जाती थी ॥ ६० ॥

तत एनं महादेवः पीड्य गात्रैः सुपीडितम्।
तेजसा व्यक्रमद् रोषाच्चेतस्तस्य विमोहयन् ॥ ६१ ॥

तदनन्तर ! महादेवजीने अपने अङ्गोंसे दबाकर अर्जुनको अच्छी तरह पीड़ा दी और उनके चित्तको मूर्च्छित-सा करते

हुए उन्होंने तेज तथा रोषसे उनके ऊपर अपना पराक्रम प्रकट किया ॥ ६१ ॥

ततोऽभिपीडितैर्गात्रैः पिण्डीकृत इवाबभौ ।
फाल्गुनो गात्रसंरुद्धो देवदेवेन भारत ॥ ६२ ॥

भारत ! तदनन्तर देवाधिदेव महादेवजीके अङ्गोंसे अवरुद्ध हो अर्जुन अपने पीडित अवयवोंके साथ मिट्टीके लोंदे-से दिखायी देने लगे ॥ ६२ ॥

निरुच्छ्वासोऽभवच्चैव संनिरुद्धो महात्मना ।
पपात भूम्यां निश्चेष्टो गतसत्त्व इवाभवत् ॥ ६३ ॥

महात्मा भगवान् शंकरके द्वारा भलीभाँति नियन्त्रित हो जानेके कारण अर्जुनकी श्वासक्रिया बंद हो गयी। वे निष्प्राणकी भाँति चेष्टाहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ६३ ॥

स मुहूर्तं तथा भूत्वा सचेताः पुनरुत्थितः ।
रुधिरेणाप्लुताङ्गस्तु पाण्डवो भृशदुःखितः ॥ ६४ ॥

दो घड़ीतक उसी अवस्थामें पड़े रहनेके पश्चात् जब अर्जुनको चेत हुआ, तब वे उठकर खड़े हो गये । उस समय उनका सारा शरीर खूनसे लथपथ हो रहा था और वे बहुत दुखी हो गये थे ॥ ६४ ॥

शरण्यं शरणं गत्वा भगवन्तं पिनाकिनम् ।
मृन्मयं स्थण्डिलं कृत्वा माल्येनापूजयद् भवम् ॥ ६५ ॥

तब वे शरणागतवत्सल पिनाकधारी भगवान् शिवकी शरणमें गये और मिट्टीकी वेदी बनाकर उसीपर पार्थिव शिवकी स्थापना करके पुष्पमालाके द्वारा उनका पूजन किया ॥

तच्च माल्यं तदा पार्थः किरातशिरसि स्थितम् ।
अपश्यत् पाण्डवश्रेष्ठो हर्षेण प्रकृतिं गतः ॥ ६६ ॥

कुन्तीकुमारने जो माला पार्थिव शिवपर चढ़ायी थी, वह उन्हें किरातके मस्तकपर पड़ी दिखायी दी । यह देखकर पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन हर्षसे उल्लसित हो अपने आपेमें आ गये ॥

पपात पादयोस्तस्य ततः प्रीतोऽभवद् भवः ।
उवाच चैनं वचसा मेघगम्भीरगीर्हरः ।
जातविस्मयमालोक्य तपःक्षीणाङ्गसंहतिम् ॥ ६७ ॥

और किरातरूपी भगवान् शंकरके चरणोंमें गिर पड़े । उस समय तपस्याके कारण उनके समस्त अवयव क्षीण हो रहे थे और वे महान् आश्चर्यमें पड़ गये थे, उन्हें इस अवस्थामें देखकर सर्वपापहारी भगवान् भव उनपर बहुत प्रसन्न हुए और मेघके समान गम्भीर वाणीमें बोले ॥ ६७ ॥

भव उवाच

भो भोः फाल्गुन तुष्टोऽस्मि कर्मणाप्रतिमेन ते ।
शौर्येणानेन धृत्या च क्षत्रियो नास्ति ते समः ॥ ६८ ॥

भगवान् शिवने कहा—फाल्गुन ! मैं तुम्हारे इस अनुपम पराक्रम, शौर्य और धैर्यसे बहुत संतुष्ट हूँ । तुम्हारे समान दूसरा कोई क्षत्रिय नहीं है ॥ ६८ ॥

समं तेजश्च वीर्यं च ममाद्य तव चानघ ।
प्रीतस्तेऽहं महाबाहो पश्य मां भरतर्षभ ॥ ६९ ॥

अनघ ! तुम्हारा तेज और पराक्रम आज मेरे समान सिद्ध हुआ है । महाबाहु भरतश्रेष्ठ ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ । मेरी ओर देखो ॥ ६९ ॥

ददामि ते विशालाक्ष चक्षुः पूर्वऋषिर्भवान् ।
विजेष्यसि रणे शत्रूनपि सर्वान् दिवौकसः ॥ ७० ॥

विशाललोचन ! मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ । तुम पहलेके 'नर' नामक ऋषि हो । तुम युद्धमें अपने शत्रुओंपर, वे चाहे सम्पूर्ण देवता ही क्यों न हों, विजय पाओगे ॥ ७० ॥

प्रीत्या च तेऽहं दास्यामि यदस्त्रमनिवारितम् ।
त्वं हि शक्तो मदीयं तदस्त्रं धारयितुं क्षणात् ॥ ७१ ॥

मैं तुम्हारे प्रेमवश तुम्हें अपना पाशुपतास्त्र दूँगा, जिसकी गतिको कोई रोक नहीं सकता । तुम क्षणभरमें मेरे उस अस्त्रको धारण करनेमें समर्थ हो जाओगे ॥ ७१ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो देवं महादेवं गिरिशं शूलपाणिनम् ।
ददर्श फाल्गुनस्तत्र सह देव्या महाद्युतिम् ॥ ७२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर अर्जुनने शूलपाणि महातेजस्वी महादेवजीका देवी पार्वतीसहित दर्शन किया ॥ ७२ ॥

स जानुभ्यां महीं गत्वा शिरसा प्रणिपत्य च ।
प्रसादयामास हरं पार्थः परपुरंजयः ॥ ७३ ॥

शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले कुन्तीकुमारने उनके आगे पृथ्वीपर घुटने टेक दिये और सिरसे प्रणाम करके शिवजीको प्रसन्न किया ॥ ७३ ॥

अर्जुन उवाच

कपर्दिन् सर्वदेवेश भगनेत्रनिपातन ।
देवदेव महादेव नीलग्रीव जटाधर ॥ ७४ ॥

अर्जुन बोले—जटाजूटधारी सर्वदेवेश्वर देवदेव महादेव ! आप भगदेवताके नेत्रोंका विनाश करनेवाले हैं । आपकी ग्रीवामें नील चिह्न शोभा पा रहा है । आप अपने मस्तकपर सुन्दर जटा धारण करते हैं ॥ ७४ ॥

कारणानां च परमं जाने त्वां त्र्यम्बकं विभुम् ।
देवानां च गतिं देव त्वत्प्रसूतमिदं जगत् ॥ ७५ ॥

प्रभो ! मैं आपको समस्त कारणोंमें सर्वश्रेष्ठ कारण मानता हूँ । आप त्रिनेत्रधारी तथा सर्वव्यापी हैं । सम्पूर्ण देवताओंके आश्रय हैं । देव ! यह सम्पूर्ण जगत् आपसे ही उत्पन्न हुआ है ॥ ७५ ॥

अजेयस्त्वं त्रिभिर्लोकैः सदेवासुरमानुषैः।
शिवाय विष्णुरूपाय विष्णवे शिवरूपिणे ॥ ७६ ॥

देवता, असुर और मनुष्योंसहित तीनों लोक भी आपको पराजित नहीं कर सकते। आप ही विष्णुरूप शिव तथा शिवस्वरूप विष्णु हैं, आपको नमस्कार है ॥ ७६ ॥

दक्षयज्ञविनाशाय हरिरुद्राय वै नमः।
ललाटाक्षाय शर्वाय मीढुषे शूलपाणये ॥ ७७ ॥

दक्षयज्ञका विनाश करनेवाले हरिहररूप आप भगवान्‌को नमस्कार है। आपके ललाटमें तृतीय नेत्र शोभा पाता है। आप जगत्‌का संहारक होनेके कारण शर्व कहलाते हैं। भक्तोंकी अभीष्ट कामनाओंकी वर्षा करनेके कारण आपका नाम मीढ्वान् (वर्षणशील) है। अपने हाथमें त्रिशूल धारण करनेवाले आपको नमस्कार है ॥ ७७ ॥

पिनाकगोप्त्रे सूर्याय मङ्गल्याय च वेधसे।
प्रसादये त्वां भगवन् सर्वभूतमहेश्वर ॥ ७८ ॥

पिनाकरक्षक, सूर्यस्वरूप, मङ्गलकारक और सृष्टिकर्ता आप परमेश्वरको नमस्कार है। भगवन्! सर्वभूतमहेश्वर! मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ ॥ ७८ ॥

गणेशं जगतः शम्भुं लोककारणकारणम्।
प्रधानपुरुषातीतं परं सूक्ष्मतरं हरम् ॥ ७९ ॥

आप भूतगणोंके स्वामी, सम्पूर्ण जगत्‌का कल्याण करनेवाले तथा जगत्‌के कारणके भी कारण हैं। प्रकृति और पुरुष दोनोंसे परे अत्यन्त सूक्ष्मस्वरूप तथा भक्तोंके पापोंको हरनेवाले हैं ॥

व्यतिक्रमं मे भगवन् क्षन्तुमर्हसि शंकर।
भगवन् दर्शनाकाङ्क्षी प्राप्तोऽस्मीमं महागिरिम् ॥ ८० ॥

कल्याणकारी भगवन्! मेरा अपराध क्षमा कीजिये। भगवन्! मैं आपहीके दर्शनकी इच्छा लेकर इस महान् पर्वतपर आया हूँ ॥ ८० ॥

दयितं तव देवेश तापसालयमुत्तमम्।
प्रसादये त्वां भगवन् सर्वलोकनमस्कृतम् ॥ ८१ ॥

देवेश्वर! यह शैल-शिखर तपस्वियोंका उत्तम आश्रय तथा आपका प्रिय निवासस्थान है। प्रभो! सम्पूर्ण जगत् आपके चरणोंमें वन्दना करता है। मैं आपसे यह प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझपर प्रसन्न हों ॥ ८१ ॥

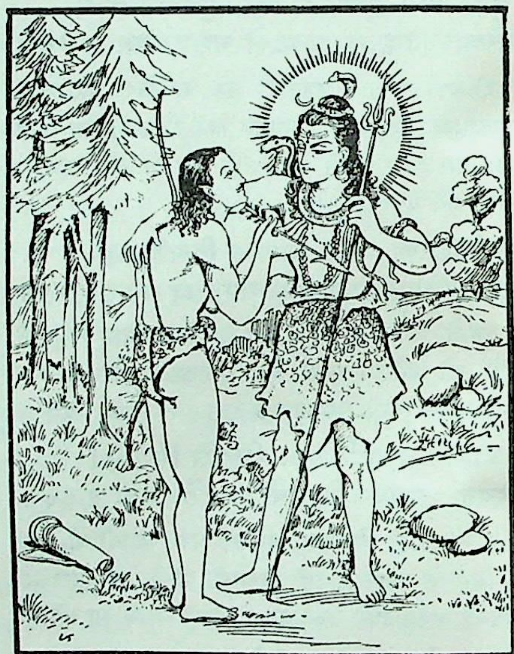
न मे स्यादपराधोऽयं महादेवातिसाहसात्।
कृतो मयायमज्ञानाद् विमर्दो यस्त्वया सह।
शरणं प्रतिपन्नाय तत् क्षमस्वाद्य शंकर ॥ ८२ ॥

महादेव! अत्यन्त साहसवश मैंने जो आपके साथ यह युद्ध किया है, इसमें मेरा अपराध नहीं है। यह अनजानमें मुझसे बन गया है। शङ्कर! मैं अब आपकी शरणमें आया हूँ। आप मेरी उस धृष्टताको क्षमा करें ॥ ८२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमुवाच महातेजाः प्रहस्य वृषभध्वजः।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुं क्षान्तमित्येव फाल्गुनम् ॥ ८३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय! तब महातेजस्वी भगवान् वृषभध्वजने अर्जुनका सुन्दर हाथ पकड़कर उनसे हँसते हुए कहा—'मैंने तुम्हारा अपराध पहलेसे ही क्षमा कर दिया' ॥ ८३ ॥



परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रीतात्मा भगवान् हरः।
पुनः पार्थं सान्त्वपूर्वमुवाच वृषभध्वजः ॥ ८४ ॥

फिर उन्हें दोनों भुजाओंसे खींचकर हृदयसे लगाया और प्रसन्नचित्त हो वृषके चिह्नसे अङ्कितध्वजा धारण करनेवाले भगवान् रुद्रने पुनः कुन्तीकुमारको सान्त्वना देते हुए कहा ॥ ८४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कैरातपर्वणि महादेवस्तवे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कैरातपर्वमें महादेवजीकी स्तुतिसे सम्बन्ध रखनेवाला उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

भगवान् शङ्करका अर्जुनको वरदान देकर अपने धामको प्रस्थान

देवदेव उवाच

नरस्त्वं पूर्वदेहे वै नारायणसहायवान्।
बदर्यां तप्तवानुग्रं तपो वर्षायुतान् बहून्॥ १॥

देवदेव महादेवजी बोले—अर्जुन! तुम पूर्वशरीरमें 'नर' नामक सुप्रसिद्ध ऋषि थे। नारायण तुम्हारे सखा हैं। तुमने बदरिकाश्रममें अनेक सहस्र वर्षोंतक उग्र तपस्या की है॥

त्वयि वा परमं तेजो विष्णौ वा पुरुषोत्तमे।
युवाभ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां तेजसा धार्यते जगत्॥ २॥

तुममें अथवा पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुमें उत्कृष्ट तेज है। तुम दोनों पुरुषरत्नोंने अपने तेजसे इस सम्पूर्ण जगत्को धारण कर रखा है॥ २॥

शक्राभिषेके सुमहद्धनुर्जलदनिःस्वनम्।
प्रगृह्य दानवाः शस्तास्त्वया कृष्णेन च प्रभो॥ ३॥

प्रभो! तुमने और श्रीकृष्णने इन्द्रके अभिषेकके समय मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले महान् धनुषको हाथमें लेकर बहुत-से दानवोंका वध किया था॥ ३॥

तदेतदेव गाण्डीवं तव पार्थ करोचितम्।
मायामास्थाय यद् ग्रस्तं मया पुरुषसत्तम॥ ४॥

पुरुषप्रवर पार्थ! तुम्हारे हाथमें रहनेयोग्य यही वह गाण्डीव धनुष है, जिसे मैंने मायाका आश्रय लेकर अपनेमें विलीन कर लिया था॥ ४॥

तूणौ चाप्यक्षयौ भूयस्तव पार्थ यथोचितौ।
भविष्यति शरीरं च नीरुजं कुरुनन्दन॥ ५॥

कुरुनन्दन! और ये रहे तुम्हारे दोनों अक्षय तूणीर, जो सर्वथा तुम्हारे ही योग्य हैं। कुन्तीकुमार! तुम्हारे शरीरमें जो चोट पहुँची है, वह सब दूर होकर तुम नीरोग हो जाओगे॥५॥

प्रीतिमानस्मि ते पार्थ भवान् सत्यपराक्रमः।
गृहाण वरमस्मत्तः काङ्क्षितं पुरुषोत्तम॥ ६॥

पार्थ! तुम्हारा पराक्रम यथार्थ है, इसलिये मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। पुरुषोत्तम! तुम मुझसे मनोवाञ्छित वर ग्रहण करो॥ ६॥

न त्वया पुरुषः कश्चित् पुमान् मर्त्येषु मानद।
दिवि वा वर्तते क्षत्रं त्वत्प्रधानमरिंदम॥ ७॥

मानद! मर्त्यलोक अथवा स्वर्गलोकमें भी कोई पुरुष तुम्हारे समान नहीं है। शत्रुदमन! क्षत्रिय-जातिमें तुम्हीं सबसे श्रेष्ठ हो॥ ७॥

अर्जुन उवाच

भगवन् ददासि चेन्मह्यं कामं प्रीत्या वृषध्वज।
कामये दिव्यमस्त्रं तद् घोरं पाशुपतं प्रभो॥ ८॥

अर्जुन बोले—भगवन्! वृषध्वज! यदि आप प्रसन्नतापूर्वक मुझे इच्छानुसार वर देते हैं तो प्रभो! मैं उस भयंकर दिव्यास्त्र पाशुपतको प्राप्त करना चाहता हूँ॥ ८॥

यत् तद् ब्रह्मशिरो नाम रौद्रं भीमपराक्रमम्।
युगान्ते दारुणे प्राप्ते कृत्स्नं संहरते जगत्॥ ९॥

जिसका नाम ब्रह्मशिर है, आप भगवान् रुद्र ही जिसके देवता हैं, जो भयानक पराक्रम प्रकट करनेवाला तथा दारुण प्रलयकालमें सम्पूर्ण जगत्का संहारक है॥ ९॥

कर्णभीष्मकृपद्रोणैर्भविता तु महाहवः।
त्वत्प्रसादान्महादेव जयेयं तान् यथा युधि॥ १०॥

महादेव! कर्ण, भीष्म, कृप, द्रोणाचार्य आदिके साथ मेरा महान् युद्ध होनेवाला है, उस युद्धमें मैं आपकी कृपासे उन सबपर विजय पा सकूँ, इसीके लिये दिव्यास्त्र चाहता हूँ॥

दहेयं येन संग्रामे दानवान् राक्षसांस्तथा।
भूतानि च पिशाचांश्च गन्धर्वानथ पन्नगान्॥ ११॥
यस्मिञ्छूलसहस्राणि गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः।
शराश्चाशीविषाकाराः सम्भवन्त्यनुमन्त्रिते॥ १२॥

मुझे वह अस्त्र प्रदान कीजिये, जिससे संग्राममें दानवों, राक्षसों, भूतों, पिशाचों, गन्धर्वों तथा नागोंको भस्म कर सकूँ। जिस अस्त्रके अभिमन्त्रित करते ही सहस्रों शूल, देखनेमें भयंकर गदाएँ और विषैले सर्पोंके समान बाण प्रकट हों। ११-१२।

युध्येयं येन भीष्मेण द्रोणेन च कृपेण च।
सूतपुत्रेण च रणे नित्यं कटुकभाषिणा॥ १३॥

उस अस्त्रको पाकर मैं भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य तथा सदा कटु भाषण करनेवाले सूतपुत्र कर्णके साथ भी युद्धमें लड़ सकूँ॥ १३॥

एष मे प्रथमः कामो भगवन् भगनेत्रहन्।
त्वत्प्रसादाद् विनिर्वृत्तः समर्थः स्यामहं यथा॥ १४॥

भगदेवताकी आँखें नष्ट करनेवाले भगवन्! आपके समक्ष यह मेरा सबसे पहला मनोरथ है, जो आपहीके कृपा-प्रसादसे पूर्ण हो सकता है। आप ऐसा करें, जिससे मैं सर्वथा शत्रुओंको परास्त करनेमें समर्थ हो सकूँ॥ १४॥

भव उवाच

ददामि तेऽस्त्रं दयितमहं पाशुपतं विभो।
समर्थो धारणे मोक्षे संहारे चासि पाण्डव॥ १५॥

महादेवजीने कहा—पराक्रमशाली पाण्डुकुमार ! मैं अपना परम प्रिय पाशुपतास्त्र तुम्हें प्रदान करता हूँ । तुम इसके धारण, प्रयोग और उपसंहारमें समर्थ हो ॥ १५ ॥

नैतद् वेद महेन्द्रोऽपि न यमो न च यक्षराट् ।
वरुणोऽप्यथवा वायुः कुतो वेत्स्यन्ति मानवाः ॥ १६ ॥

इसे देवराज इन्द्र, यम, यक्षराज कुबेर, वरुण अथवा वायुदेवता भी नहीं जानते । फिर साधारण मानव तो जान ही कैसे सकेंगे ? ॥ १६ ॥

न त्वेतत् सहसा पार्थ मोक्तव्यं पुरुषे क्वचित् ।
जगद् विनाशयेत् सर्वमल्पतेजसि पातितम् ॥ १७ ॥

परंतु कुन्तीकुमार ! तुम सहसा किसी पुरुषपर इसका प्रयोग न करना ! यदि किसी अल्पशक्ति योद्धापर इसका प्रयोग किया गया तो यह सम्पूर्ण जगत्‌का नाश कर डालेगा ॥

अवध्यो नाम नास्त्यत्र त्रैलोक्ये सचराचरे ।
मनसा चक्षुषा वाचा धनुषा च निपातयेत् ॥ १८ ॥

चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीमें कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो इस अस्त्रद्वारा मारा न जा सके । इसका प्रयोग करनेवाला पुरुष अपने मानसिक संकल्पसे, दृष्टिसे, वाणीसे तथा धनुष-बाणद्वारा भी शत्रुओंको नष्ट कर सकता है ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा त्वरितः पार्थः शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
उपसंगम्य विश्वेशमधीष्वेत्यथ सोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुन तुरंत ही पवित्र एवं एकाग्रचित्त हो शिष्य-भावसे भगवान् विश्वेश्वरकी शरण गये और बोले—'भगवन् ! मुझे इस पाशुपतास्त्रका उपदेश कीजिये' ॥ १९ ॥

ततस्त्वध्यापयामास सरहस्यनिवर्तनम् ।
तदस्त्रं पाण्डवश्रेष्ठं मूर्तिमन्तमिवान्तकम् ॥ २० ॥
उपतस्थे च तत् पार्थं यथा त्र्यक्षमुमापतिम् ।
प्रतिजग्राह तच्चापि प्रीतिमानर्जुनस्तदा ॥ २१ ॥

तब भगवान् शिवने रहस्य और उपसंहारसहित पाशुपतास्त्रका उन्हें उपदेश दिया । उस समय वह अस्त्र जैसे पहले त्रिनेत्रधारी उमापति शिवकी सेवामें उपस्थित हुआ था, उसी प्रकार मूर्तिमान् यमराजतुल्य पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनके पास आ गया । तब अर्जुनने बहुत प्रसन्न होकर उसे ग्रहण किया ॥ २०-२१ ॥

ततश्चचाल पृथिवी सपर्वतवनद्रुमा ।
ससागरवनोद्देशा सग्रामनगराकरा ॥ २२ ॥

अर्जुनके पाशुपतास्त्र ग्रहण करते ही पर्वत, वन, वृक्ष, समुद्र, वनस्थली, ग्राम, नगर तथा आकरों (खानों) सहित सारी पृथ्वी काँप उठी ॥ २२ ॥

शङ्खदुन्दुभिघोषाश्च भेरीणां च सहस्रशः ।
तस्मिन् मुहूर्ते सम्प्राप्ते निर्घातश्च महानभूत् ॥ २३ ॥

उस शुभ मुहूर्तके आने ही शङ्ख और दुन्दुभियोंके शब्द होने लगे । सहस्रों भेरियाँ बज उठीं । आकाशमें वायुके टकरानेका महान् शब्द होने लगा ॥ २३ ॥

अथास्त्रं जाज्वलद् घोरं पाण्डवस्यामितौजसः ।
मूर्तिमद् वै स्थितं पार्श्वे ददृशुर्देवदानवाः ॥ २४ ॥

तदनन्तर वह भयंकर अस्त्र मूर्तिमान् हो अग्निके समान प्रज्वलित तेजस्वी रूपसे अमित पराक्रमी पाण्डुनन्दन अर्जुनके पार्श्वभागमें खड़ा हो गया । यह बात देवताओं और दानवोंने प्रत्यक्ष देखी ॥ २४ ॥

स्पृष्टस्य त्र्यम्बकेणाथ फाल्गुनस्यामितौजसः ।
यत् किंचिदशुभं देहे तत् सर्वं नाशमीयिवत् ॥ २५ ॥

भगवान् शङ्करके स्पर्श करनेसे अमित तेजस्वी अर्जुनके शरीरमें जो कुछ भी अशुभ था, वह नष्ट हो गया ॥ २५ ॥

स्वर्गं गच्छेत्यनुज्ञातस्त्र्यम्बकेण तदार्जुनः ।
प्रणम्य शिरसा राजन् प्राञ्जलिर्देवमैक्षत ॥ २६ ॥

उस समय भगवान् त्रिलोचनने अर्जुनको यह आज्ञा दी कि 'तुम स्वर्गलोकको जाओ ।' राजन् ! तब अर्जुनने भगवानके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनकी ओर देखने लगे ॥ २६ ॥

ततः प्रभुस्त्रिदिवनिवासिनां वशी
महामतिर्गिरिश उमापतिः शिवः ।
धनुर्महद् दितिजपिशाचसूदनं
ददौ भवः पुरुषवराय गाण्डिवम् ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् देवताओंके स्वामी, जितेन्द्रिय एवं परम बुद्धिमान् कैलासवासी उमावल्लभ भगवान् शिवने पुरुषप्रवर अर्जुनको वह महान् गाण्डीव-धनुष दे दिया, जो दैत्यों और पिशाचोंका संहार करनेवाला था ॥ २७ ॥

ततः शुभं गिरिवरमीश्वरस्तदा
सहोमया सिततटसानुकन्दरम् ।
विहाय तं पतगमहर्षिसेवितं
जगाम खं पुरुषवरस्य पश्यतः ॥ २८ ॥

जिसके तट, शिखर और कन्दराएँ हिमाच्छादित होनेके कारण श्वेत दिखायी देती हैं, पक्षी और महर्षिगण सदा जिसका सेवन करते हैं, उस मङ्गलमय गिरिश्रेष्ठ इन्द्रकीलको छोड़कर भगवान् शङ्कर भगवती उमादेवीके साथ अर्जुनके देखते-देखते आकाशमार्गसे चले गये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कैरातपर्वणि शिवप्रस्थाने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कैरातपर्वमें शिवप्रस्थानविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनके पास दिक्पालोंका आगमन एवं उन्हें दिव्यास्त्र-प्रदान तथा इन्द्रका उन्हें स्वर्गमें चलनेका आदेश देना

वैशम्पायन उवाच

तस्य सम्पश्यतस्त्वेव पिनाकी वृषभध्वजः।
जगामादर्शनं भानुर्लोकस्येवास्तमीयिवान्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनके देखते-देखते पिनाकधारी भगवान् वृषभध्वज अदृश्य हो गये मानो भुवनभास्कर भगवान् सूर्य अस्त हो गये हों ॥ १ ॥

ततोऽर्जुनः परं चक्रे विस्मयं परवीरहा।
मया साक्षान्महादेवो दृष्ट इत्येव भारत॥ २॥

भारत ! तदनन्तर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनको यह सोचकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि आज मुझे महादेवजीका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हुआ है ॥ २ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यन्मया त्र्यम्बको हरः।
पिनाकी वरदो रूपी दृष्टः स्पृष्टश्च पाणिना॥ ३॥

मैं धन्य हूँ ! भगवान्‌का मुझपर बड़ा अनुग्रह है कि त्रिनेत्रधारी, सर्वपापहारी एवं अभीष्ट वर देनेवाले पिनाकपाणि भगवान् शंकरने मूर्तिमान् होकर मुझे दर्शन दिया और अपने करकमलोंसे मेरे अङ्गोंका स्पर्श किया ॥ ३ ॥

कृतार्थं चावगच्छामि परमात्मानमाहवे।
शत्रूंश्च विजितान् सर्वान् निर्वृत्तं च प्रयोजनम्॥ ४॥

आज मैं अपने-आपको परम कृतार्थ मानता हूँ, साथ ही यह विश्वास करता हूँ कि महासमरमें अपने समस्त शत्रुओंपर विजय प्राप्त करूँगा। अब मेरा अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध हो गया ॥ ४ ॥

इत्येवं चिन्तयानस्य पार्थस्यामिततेजसः।
ततो वैदूर्यवर्णाभो भासयन् सर्वतो दिशः।
यादोगणवृतः श्रीमानाजगाम जलेश्वरः॥ ५॥

इस प्रकार चिन्तन करते हुए अमित तेजस्वी कुन्तीकुमार अर्जुनके पास जलके स्वामी श्रीमान् वरुणदेव जल-जन्तुओंसे घिरे हुए आ पहुँचे। उनकी अङ्गकान्ति वैदूर्य मणिके समान थी और वे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहे थे ॥ ५ ॥

नागैर्नदैर्नदीभिश्च दैत्यैः साध्यैश्च दैवतैः।
वरुणो यादसां भर्ता वशी तं देशमागमत्॥ ६॥

नागों, नद और नदियोंके देवताओं, दैत्यों तथा साध्यदेवताओंके साथ जलजन्तुओंके स्वामी जितेन्द्रिय वरुणदेवने उस स्थानको अपने शुभागमनसे सुशोभित किया ॥ ६ ॥

अथ जाम्बूनदवपुर्विमानेन महार्चिषा।
कुबेरः समनुप्राप्तो यक्षैरनुगतः प्रभुः॥ ७॥

तदनन्तर स्वर्णके समान शरीरवाले भगवान् कुबेर महातेजस्वी विमानद्वारा वहाँ आये। उनके साथ बहुत-से यक्ष भी थे ॥ ७ ॥

विद्योतयन्निवाकाशमद्भुतोपमदर्शनः।
धनानामीश्वरः श्रीमानर्जुनं द्रष्टुमागतः॥ ८॥

वे अपने तेजसे आकाशमण्डलको प्रकाशित-से कर रहे थे। उनका दर्शन अद्भुत एवं अनुपम था। परम सुन्दर श्रीमान् धनाध्यक्ष कुबेर अर्जुनको देखनेके लिये वहाँ पधारे थे ॥ ८ ॥

तथा लोकान्तकृच्छ्रीमान् यमः साक्षात् प्रतापवान्।
मर्त्यमूर्तिधरैः सार्धं पितृभिर्लोकभावनैः॥ ९॥

इसी प्रकार समस्त जगत्‌का अन्त करनेवाले श्रीमान् प्रतापी यमराजने प्रत्यक्षरूपमें वहाँ दर्शन दिया। उनके साथ मानव-शरीरधारी विश्वभावन पितृगण भी थे ॥ ९ ॥

दण्डपाणिरचिन्त्यात्मा सर्वभूतविनाशकृत्।
वैवस्वतो धर्मराजो विमानेनावभासयन्॥ १०॥
त्रीँल्लोकान् गुह्यकांश्चैव गन्धर्वांश्च सपन्नगान्।
द्वितीय इव मार्तण्डो युगान्ते समुपस्थिते॥ ११॥

उनके हाथमें दण्ड शोभा पा रहा था। सम्पूर्ण भूतोंका विनाश करनेवाले अचिन्त्यात्मा सूर्यपुत्र धर्मराज अपने (तेजस्वी) विमानसे तीनों लोकों, गुह्यकों, गन्धर्वों तथा नागोंको प्रकाशित कर रहे थे। प्रलयकाल उपस्थित होनेपर दिखायी देनेवाले द्वितीय सूर्यकी भाँति उनकी अद्भुत शोभा हो रही थी ॥ १०-११ ॥

ते भानुमन्ति चित्राणि शिखराणि महागिरेः।
समास्थायार्जुनं तत्र ददृशुस्तपसान्वितम्॥ १२॥

उन सब देवताओंने उस महापर्वतके विचित्र एवं तेजस्वी शिखरोंपर पहुँचकर वहाँ तपस्वी अर्जुनको देखा ॥ १२ ॥

ततो मुहूर्ताद् भगवानैरावतशिरोगतः।
आजगाम सहेन्द्राण्या शक्रः सुरगणैर्वृतः॥ १३॥

तत्पश्चात् दो ही घड़ीके बाद भगवान् इन्द्र इन्द्राणीके साथ ऐरावतकी पीठपर बैठकर वहाँ आये। देवताओंके समुदायने उन्हें सब ओरसे घेर रक्खा था ॥ १३ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
शुशुभे तारकाराजः सितमभ्रमिव स्थितः॥ १४॥

संस्तूयमानो गन्धर्वैर्ऋषिभिश्च तपोधनैः ।
शृङ्गं गिरेः समासाद्य तस्थौ सूर्य इवोदितः ॥ १५ ॥

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे वे शुभ्र वर्णके मेघखण्डसे आच्छादित चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहे थे। बहुत-से तपस्वी-ऋषि तथा गन्धर्वगण उनकी स्तुति करते थे। वे उस पर्वतके शिखरपर आकर ठहर गये, मानो वहाँ सूर्य प्रकट हो गये हों ॥ १४-१५ ॥

अथ मेघस्वनो धीमान् व्याजहार शुभां गिरम् ।
यमः परमधर्मज्ञो दक्षिणां दिशमास्थितः ॥ १६ ॥

तदनन्तर मेघके समान गम्भीर स्वरवाले परम धर्मज्ञ एवं बुद्धिमान् यमराज दक्षिण दिशामें स्थित हो यह शुभ वचन बोले —॥ १६ ॥

अर्जुनार्जुन पश्यास्माँल्लोकपालान् समागतान् ।
दृष्टिं ते वितरामोऽद्य भवानर्हति दर्शनम् ॥ १७ ॥
पूर्वर्षिरमितात्मा त्वं नरो नाम महाबलः ।
नियोगाद् ब्रह्मणस्तात मर्त्यतां समुपागतः ॥ १८ ॥

अर्जुन ! हम सब लोकपाल यहाँ आये हुए हैं। तुम हमें देखो। हम तुम्हें दिव्य दृष्टि देते हैं। तुम हमारे दर्शनके अधिकारी हो। तुम महामना एवं महाबली पुरातन महर्षि नर हो तात ! ब्रह्माजीकी आज्ञासे तुमने मानव-शरीर ग्रहण किया है ॥ १७-१८ ॥

त्वया च वसुसम्भूतो महावीर्यः पितामहः ।
भीष्मः परमधर्मात्मा संसाध्यश्च रणेऽनघ ॥ १९ ॥
क्षत्रं चाग्निसमस्पर्शं भारद्वाजेन रक्षितम् ।
दानवाश्च महावीर्या ये मनुष्यत्वमागताः ॥ २० ॥
निवातकवचाश्चैव दानवाः कुरुनन्दन ।
पितुर्ममांशो देवस्य सर्वलोकप्रतापिनः ॥ २१ ॥
कर्णश्च सुमहावीर्यस्त्वया वध्यो धनंजय ।

'अनघ ! वसुओंके अंशसे उत्पन्न महापराक्रमी और परम धर्मात्मा पितामह भीष्मको तुम संग्राममें जीत लोगे। भरद्वाजपुत्र द्रोणाचार्यके द्वारा सुरक्षित क्षत्रियसमुदाय भी, जिसका स्पर्श अग्निके समान भयंकर है, तुम्हारेद्वारा पराजित होगा। कुरुनन्दन ! मानव-शरीरमें उत्पन्न हुए महाबली दानव तथा निवातकवच नामक दैत्य भी तुम्हारे हाथसे मारे जायँगे। धनंजय ! सम्पूर्ण जगत्को उष्णता प्रदान करनेवाले मेरे पिता भगवान् सूर्यदेवके अंशसे उत्पन्न महापराक्रमी कर्ण भी तुम्हारा वध्य होगा ॥ १९-२१½ ॥

अंशाश्च क्षितिसम्प्राप्ता देवदानवरक्षसाम् ॥ २२ ॥
त्वया निपातिता युद्धे स्वकर्मफलनिर्जिताम् ।
गतिं प्राप्स्यन्ति कौन्तेय यथास्वमरिकर्षण ॥ २३ ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाले कुन्तीकुमार ! देवताओं, दानवों तथा राक्षसोंके जो अंश पृथ्वीपर उत्पन्न हुए हैं, वे युद्धमें तुम्हारेद्वारा मारे जाकर अपने कर्मफलके अनुसार यथोचित गति प्राप्त करेंगे ॥ २२-२३ ॥

अक्षया तव कीर्तिश्च लोके स्थास्यति फाल्गुन ।
त्वया साक्षान्महादेवस्तोषितो हि महामृधे ॥ २४ ॥

'फाल्गुन ! संसारमें तुम्हारी अक्षय कीर्ति स्थापित होगी। तुमने यहाँ महासमरमें साक्षात् महादेवजीको संतुष्ट किया है ॥

लघ्वी वसुमती चापि कर्तव्या विष्णुना सह ।
गृहाणास्त्रं महाबाहो दण्डमप्रतिवारणम् ।
अनेनास्त्रेण सुमहत् त्वं हि कर्म करिष्यसि ॥ २५ ॥

'महाबाहो ! भगवान् श्रीकृष्णके साथ मिलकर तुम्हें इस पृथ्वीका भार भी हल्का करना है, अतः यह मेरा दण्डास्त्र ग्रहण करो। इसका वेग कहीं भी कुण्ठित नहीं होता। इसी अस्त्रके द्वारा तुम बड़े-बड़े कार्य सिद्ध करोगे' ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतिजग्राह तत् पार्थो विधिवत् कुरुनन्दनः ।
समन्त्रं सोपचारं च समोक्षविनिवर्तनम् ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुरुनन्दन कुन्तीकुमार अर्जुनने विधिपूर्वक मन्त्र, उपचार, प्रयोग और उपसंहारसहित उस अस्त्रको ग्रहण किया ॥२६ ॥

ततो जलधरश्यामो वरुणो यादसां पतिः ।
पश्चिमां दिशमास्थाय गिरमुच्चारयन् प्रभुः ॥ २७ ॥

इसके बाद जलजन्तुओंके स्वामी मेघके समान श्याम-कान्तिवाले प्रभावशाली वरुण पश्चिम दिशामें खड़े हो इस प्रकार बोले— ॥ २७ ॥

पार्थ क्षत्रियमुख्यस्त्वं क्षत्रधर्मे व्यवस्थितः ।
पश्य मां पृथुताम्राक्ष वरुणोऽस्मि जलेश्वरः ॥ २८ ॥

'पार्थ ! तुम क्षत्रियोंमें प्रधान एवं क्षत्रिय-धर्ममें स्थित हो। विशाल तथा लाल नेत्रोंवाले अर्जुन ! मेरी ओर देखो। मैं जलका स्वामी वरुण हूँ ॥ २८ ॥

मया समुद्यतान् पाशान् वारुणाननिवारितान् ।
प्रतिगृह्णीष्व कौन्तेय सरहस्यनिवर्तनम् ॥ २९ ॥

'कुन्तीकुमार ! मेरे दिये हुए इन वरुण-पाशोंको रहस्य और उपसंहारसहित ग्रहण करो। इनके वेगको कोई भी रोक नहीं सकता ॥ २९ ॥

एभिस्तदा मया वीर संग्रामे तारकामये ।
दैतेयानां सहस्राणि संयतानि महात्मनाम् ॥ ३० ॥

'वीर ! मैंने इन पाशोंद्वारा तारकामय संग्राममें सहस्रों महाकाय दैत्योंको बाँध लिया था ॥ ३० ॥

तस्मादिमान् महासत्त्व मत्प्रसादसमुत्थितान्।
गृहाण न हि ते मुच्येदन्तकोऽप्याततायिनः ॥ ३१ ॥

'अतः महाबली पार्थ ! मेरे कृपाप्रसादसे प्रकट हुए इन पाशोंको तुम ग्रहण करो। इनके द्वारा आक्रमण करनेपर मृत्यु भी तुम्हारे हाथसे नहीं छूट सकती ॥ ३१ ॥

अनेन त्वं यदास्त्रेण संग्रामे विचरिष्यसि।
तदा निःक्षत्रिया भूमिर्भविष्यति न संशयः ॥ ३२ ॥

'इस अस्त्रके द्वारा जब तुम संग्रामभूमिमें विचरण करोगे, उस समय यह सारी वसुन्धरा क्षत्रियोंसे शून्य हो जायगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कैलासनिलयो धनाध्यक्षोऽभ्यभाषत।
दत्तेष्वस्त्रेषु दिव्येषु वरुणेन यमेन च ॥ ३३ ॥
प्रीतोऽहमपि ते प्राज्ञ पाण्डवेय महाबल।
त्वया सह समागम्य अजितेन तथैव च ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वरुण और यमके दिव्यास्त्र प्रदान कर चुकनेपर कैलासनिवासी धनाध्यक्ष कुबेरने कहा—'महाबली बुद्धिमान् पाण्डुनन्दन ! मैं भी तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम अपराजित वीर हो। तुमसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ ३३-३४ ॥

सव्यसाचिन् महाबाहो पूर्वदेव सनातन।
सहास्माभिर्भवाञ्छ्रान्तः पुराकल्पेषु नित्यशः ॥ ३५ ॥
दर्शनात् ते त्विदं दिव्यं प्रदिशामि नरर्षभ।
अमनुष्यान् महाबाहो दुर्जयानपि जेष्यसि ॥ ३६ ॥

'सव्यसाचिन्! महाबाहो! पुरातन देव! सनातनपुरुष! पूर्व-कल्पोंमें मेरे साथ तुमने सदा तपके द्वारा परिश्रम उठाया है। नरश्रेष्ठ! आज तुम्हें देखकर यह दिव्यास्त्र प्रदान करता हूँ। महाबाहो ! इसके द्वारा तुम दुर्जय मानवेतर प्राणियोंको भी जीत लोगे ॥ ३५–३६ ॥

मत्तश्चैव भवानाशु गृह्णात्वस्त्रमनुत्तमम्।
अनेन त्वमनीकानि धार्तराष्ट्रस्य धक्ष्यसि ॥ ३७ ॥

'तुम मुझसे शीघ्र ही इस अत्युत्तम अस्त्रको ग्रहण कर लो। तुम इसके द्वारा दुर्योधनकी सारी सेनाओंको जलाकर भस्म कर डालोगे ॥ ३७ ॥

तदिदं प्रतिगृह्णीष्व अन्तर्धानं प्रियं मम।
ओजस्तेजोद्युतिकरं प्रस्वापनमरातिनुत् ॥ ३८ ॥

'यह मेरा परम प्रिय अन्तर्धान नामक अस्त्र है। इसे ग्रहण करो। यह ओज, तेज और कान्ति प्रदान करनेवाला, शत्रुसेनाको सुला देनेवाला और समस्त वैरियोंका विनाश करनेवाला है ॥ ३८ ॥

महात्मना शङ्करेण त्रिपुरं निहतं यदा।
तदैतदस्त्रं निर्मुक्तं येन दग्धा महासुराः ॥ ३९ ॥

'परमात्मा शङ्करने जब त्रिपुरासुरके तीनों नगरोंका विनाश किया था, उस समय इस अस्त्रका उनके द्वारा प्रयोग किया गया था; जिससे बड़े-बड़े असुर दग्ध हो गये थे ॥ ३९ ॥

त्वदर्थमुद्यतं चेदं मया सत्यपराक्रम।
त्वमर्हो धारणे चास्य मेरुप्रतिमगौरव ॥ ४० ॥

'सत्यपराक्रमी और मेरुके समान गौरवशाली पार्थ ! तुम्हारे लिये यह अस्त्र मैंने उपस्थित किया है। तुम इसे धारण करनेके योग्य हो' ॥ ४० ॥

ततोऽर्जुनो महाबाहुर्विधिवत् कुरुनन्दनः।
कौबेरमधिजग्राह दिव्यमस्त्रं महाबलः ॥ ४१ ॥

तब कुरुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले महाबाहु महाबली अर्जुनने कुबेरके उस 'अन्तर्धान' नामक दिव्य अस्त्रको ग्रहण किया ॥ ४१ ॥

ततोऽब्रवीद् देवराजः पार्थमक्लिष्टकारिणम्।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा मेघदुन्दुभिनिःस्वनः॥ ४२ ॥

तदनन्तर देवराज इन्द्रने अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कुन्तीकुमार अर्जुनको मीठे वचनोंद्वारा सान्त्वना देते हुए मेघ और दुन्दुभिके समान गम्भीर स्वरसे कहा—॥४२॥

कुन्तीमातर्महाबाहो त्वमीशानः पुरातनः।
परां सिद्धिमनुप्राप्तः साक्षाद् देवगतिं गतः ॥ ४३ ॥

'महाबाहु कुन्तीकुमार ! तुम पुरातन शासक हो। तुम्हें उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई है। तुम साक्षात् देवगतिको प्राप्त हुए हो ॥ ४३ ॥

देवकार्यं तु सुमहत् त्वया कार्यमरिंदम।
आरोढव्यस्त्वया स्वर्गः सज्जीभव महाद्युते ॥ ४४ ॥

'शत्रुदमन ! तुम्हें देवताओंका बड़ा भारी कार्य सिद्ध करना है। महाद्युते ! तैयार हो जाओ। तुम्हें स्वर्गलोकमें चलना है ॥ ४४ ॥

रथो मातलिसंयुक्त आगन्ता त्वत्कृते महीम्।
तत्र तेऽहं प्रदास्यामि दिव्यान्यस्त्राणि कौरव ॥ ४५ ॥

'मातलिके द्वारा जोता हुआ दिव्य रथ तुम्हें लेनेके लिये पृथ्वीपर आनेवाला है। कुरुनन्दन ! वहीं (स्वर्गमें) मैं तुम्हें दिव्यास्त्र प्रदान करूँगा' ॥ ४५ ॥

तान् दृष्ट्वा लोकपालांस्तु समेतान् गिरिमूर्धनि।
जगाम विस्मयं धीमान् कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ ४६ ॥

उस पर्वतशिखरपर एकत्र हुए उन सभी लोकपालोंका दर्शन करके परम बुद्धिमान् धनंजयको बड़ा विस्मय हुआ ॥

ततोऽर्जुनो महातेजा लोकपालान् समागतान्।
पूजयामास विधिवद् वाग्भिरद्भिः फलैरपि ॥ ४७ ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी अर्जुनने वहाँ पधारे हुए लोकपालोंका मीठे वचन, जल और फलोंके द्वारा भी विधिपूर्वक पूजन किया ॥

ततः प्रतिययुर्देवाः प्रतिमान्य धनंजयम् ।
यथागतं विबुधाः सर्वे काममनोजवाः ॥ ४८ ॥

इसके बाद इच्छानुसार मनके समान वेगवाले समस्त देवता अर्जुनके प्रति सम्मान प्रकट करके जैसे आये थे, वैसे ही चले गये ॥ ४८ ॥

ततोऽर्जुनो मुदं लेभे लब्धास्त्रः पुरुषर्षभः ।
कृतार्थमथ चात्मानं स मेने पूर्णमानसम् ॥ ४९ ॥

तदनन्तर देवताओंसे दिव्यास्त्र प्राप्त करके पुरुषोत्तम अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई; उन्होंने अपने-आपको कृतार्थ एवं पूर्णमनोरथ माना ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कैरातपर्वणि देवप्रस्थाने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कैरातपर्वमें देवप्रस्थानविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

(इन्द्रलोकाभिगमनपर्व)

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनका हिमालयसे विदा होकर मातलिके साथ स्वर्गलोकको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

गतेषु लोकपालेषु पार्थः शत्रुनिबर्हणः ।
चिन्तयामास राजेन्द्र देवराजरथं प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! लोकपालोंके चले जानेपर शत्रुसंहारक अर्जुनने देवराज इन्द्रके रथका चिन्तन किया ॥ १ ॥

ततश्चिन्तयमानस्य गुडाकेशस्य धीमतः ।
रथो मातलिसंयुक्त आजगाम महाप्रभः ॥ २ ॥

निद्राविजयी बुद्धिमान् पार्थके चिन्तन करते ही मातलि सहित महातेजस्वी रथ वहाँ आ गया ॥ २ ॥

नभो वितिमिरं कुर्वञ्जलदान् पाटयन्निव ।
दिशः सम्पूरयन् नादैर्महामेघरवोपमैः ॥ ३ ॥

वह रथ आकाशको अन्धकारशून्य मेघोंकी घटाको विदीर्ण और महान् मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर शब्दसे दिशाओंको परिपूर्ण-सा कर रहा था ॥ ३ ॥

असयः शक्तयो भीमा गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ।
दिव्यप्रभावाः प्रासाश्च विद्युतश्च महाप्रभाः ॥ ४ ॥
तथैवाशनयश्चैव चक्रयुक्तास्तुलागुडाः ।
वायुस्फोटाः सनिर्घाता महामेघस्वनास्तथा ॥ ५ ॥

उस रथमें तलवार, भयंकर शक्ति, उग्र गदा, दिव्य प्रभावशाली प्रास, अत्यन्त कान्तिमती विद्युत्, अशनि एवं चक्रयुक्त भारी वजनवाले प्रस्तरके गोले रखे हुए थे, जो चलाते समय हवामें सनसनाहट पैदा करते थे तथा जिनसे वज्रगर्जन और महामेघोंकी गम्भीर ध्वनिके समान शब्द होते थे ॥ ४-५ ॥

तत्र [illegible] ।

सिताभ्रकूटप्रतिमाः संहताश्च तथोपलाः ॥ ६ ॥

उस स्थानमें अत्यन्त भयंकर तथा प्रज्वलित मुखवाले विशालकाय सर्प मौजूद थे। श्वेत बादलोंके समूहकी भाँति ढेर-के-ढेर युद्धमें फेंकने योग्य पत्थर भी रखे हुए थे ॥ ६ ॥

दशवाजिसहस्राणि हरीणां वातरंहसाम् ।
वहन्ति यं नेत्रमुषं दिव्यं मायामयं रथम् ॥ ७ ॥

वायुके समान वेगशाली दस हजार श्वेत-पीत रंगवाले घोड़े नेत्रोंमें चकाचौंध पैदा करनेवाले उस दिव्य मायामय रथको वहन करते थे ॥ ७ ॥

तत्रापश्यन्महानीलं वैजयन्तं महाप्रभम् ।
ध्वजमिन्दीवरश्यामं वंशं कनकभूषणम् ॥ ८ ॥

अर्जुनने उस रथपर अत्यन्त नीलवर्णवाले महातेजस्वी 'वैजयन्त' नामक इन्द्रध्वजको फहराता देखा। उसकी श्याम सुषमा नील कमलकी शोभाको तिरस्कृत कर रही थी। उस ध्वजके दण्डमें सुवर्ण मढ़ा हुआ था ॥ ८ ॥

तस्मिन् रथे स्थितं सूतं तप्तहेमविभूषितम् ।
दृष्ट्वा पार्थो महाबाहुर्देवमेवान्वतर्कयत् ॥ ९ ॥

महाबाहु कुन्तीकुमारने उस रथपर बैठे हुए सारथिको ओर देखा, जो तपाये हुए सुवर्णके आभूषणोंसे विभूषित था। उसे देखकर उन्होंने कोई देवता ही समझा ॥ ९ ॥

तथा तर्कयतस्तस्य फाल्गुनस्याथ मातलिः ।
संनतः प्रस्थितो भूत्वा वाक्यमर्जुनमब्रवीत् ॥ १० ॥

इस प्रकार विचार करते हुए अर्जुनके सम्मुख उपस्थित [illegible] ॥ १० ॥

मातलिरुवाच

भो भोः शक्रात्मज श्रीमाञ्छक्रस्त्वां द्रष्टुमिच्छति।
आरोहतु भवाञ्छीघ्रं रथमिन्द्रस्य सम्मतम् ॥ ११ ॥

मातलि बोला--इन्द्रकुमार ! श्रीमान् देवराज इन्द्र आपको देखना चाहते हैं। यह उनका प्रिय रथ है । आप इसपर शीघ्र आरूढ़ होइये ॥ ११ ॥

आह माममरश्रेष्ठः पिता तव शतक्रतुः ।
कुन्तीसुतमिह प्राप्तं पश्यन्तु त्रिदशालयाः ॥ १२ ॥
एष शक्रः परिवृतो देवैर्ऋषिगणैस्तथा ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च त्वां दिदृक्षुः प्रतीक्षते ॥ १३ ॥

आपके पिता देवेश्वर शतक्रतुने मुझसे कहा है कि 'तुम कुन्तीनन्दन अर्जुनको यहाँ ले आओ, जिससे सब देवता उन्हें देखें ।' देवताओं, महर्षियों, गन्धर्वों तथा अप्सराओंसे घिरे हुए इन्द्र आपको देखनेके लिये प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥१२-१३॥

अस्माल्लोकाद् देवलोकं पाकशासनशासनात् ।
आरोह त्वं मया सार्धं लब्धास्त्रः पुनरेष्यसि ॥ १४ ॥

आप देवराजकी आज्ञासे इस लोकसे मेरे साथ देवलोकको चलिये । वहाँसे दिव्यास्त्र प्राप्त करके लौट आइयेगा ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

मातले गच्छ शीघ्रं त्वमारोहस्व रथोत्तमम् ।
राजसूयाश्वमेधानां शतैरपि सुदुर्लभम् ॥ १५ ॥

अर्जुनने कहा—मातले ! आप जल्दी चलिये । अपने इस उत्तम रथपर पहले आप चढ़िये । यह सैकड़ों राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंद्वारा भी अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १५ ॥

पार्थिवैः सुमहाभागैर्यज्वभिर्भूरिदक्षिणैः ।
दैवतैर्वा समारोढुं दानवैर्वा रथोत्तमम् ॥ १६ ॥

प्रचुर दक्षिणा देनेवाले, महान् सौभाग्यशाली, यज्ञपरायण भूमिपालों, देवताओं अथवा दानवोंके लिये भी इस उत्तम रथपर आरूढ़ होना कठिन है ॥ १६ ॥

नातप्ततपसा शक्य एष दिव्यो महारथः ।
द्रष्टुं वाप्यथवा स्प्रष्टुमारोढुं कुत एव च ॥ १७ ॥

जिन्होंने तपस्या नहीं की है, वे इस महान् दिव्य रथका दर्शन या स्पर्श भी नहीं कर सकते, फिर इसपर आरूढ़ होनेकी तो बात ही क्या है ? ॥ १७ ॥

त्वयि प्रतिष्ठिते साधो रथस्थे स्थिरवाजिनि ।
पश्चादहमथारोक्ष्ये सुकृती सत्पथं यथा ॥ १८ ॥

साधु सारथे ! आप इस रथपर स्थिरतापूर्वक बैठकर जब घोड़ोंको काबूमें कर लें, तब जैसे पुण्यात्मा सन्मार्गपर आरूढ़ होता है, उसी प्रकार पीछे मैं भी इस रथपर आरूढ़ होऊँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा मातलिः शक्रसारथिः ।
आरुरोह रथं शीघ्रं हयान् येमे च रश्मिभिः ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनका यह वचन सुनकर इन्द्रसारथि मातलि शीघ्र ही रथपर जा बैठा और बागडोर खींचकर घोड़ोंको काबूमें किया ॥ १९ ॥

ततोऽर्जुनो हृष्टमना गङ्गायामाप्लुतः शुचिः ।
जजाप जप्यं कौन्तेयो विधिवत् कुरुनन्दनः ॥ २० ॥

तदनन्तर कुरुनन्दन कुन्तीकुमार अर्जुनने प्रसन्नमनसे गङ्गामें स्नान किया और पवित्र हो विधिपूर्वक जपने योग्य मन्त्रका जप किया ॥ २० ॥

ततः पितॄन् यथान्यायं तर्पयित्वा यथाविधि ।
मन्दरं शैलराजं तमाप्रष्टुमुपचक्रमे ॥ २१ ॥

फिर विधिपूर्वक न्यायोचित रीतिसे पितरोंका तर्पण करके विस्तृत शैलराज हिमालयसे विदा लेनेका उपक्रम किया ॥२१॥

साधूनां पुण्यशीलानां मुनीनां पुण्यकर्मणाम् ।
त्वं सदा संश्रयः शैल स्वर्गमार्गाभिकाङ्क्षिणाम् ॥ २२ ॥

'गिरिराज ! तुम साधु-महात्माओं, पुण्यात्मा मुनियों तथा स्वर्गमार्गकी अभिलाषा रखनेवाले पुण्यकर्मा मनुष्योंके सदा शुभ आश्रय हो ॥ २२ ॥

त्वत्प्रसादात् सदा शैल ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ।
स्वर्गं प्राप्ताश्चरन्ति स्म देवैः सह गतव्यथाः ॥ २३ ॥

'गिरिराज ! तुम्हारे कृपाप्रसादसे सदा कितने ही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य स्वर्गमें जाकर व्यथारहित हो देवताओंके साथ विचरते हैं ॥ २३ ॥

अद्रिराज महाशैल मुनिसंश्रय तीर्थवन् ।
गच्छाम्यामन्त्रयामि त्वां सुखमस्म्युषितस्त्वयि ॥२४॥

'अद्रिराज ! महाशैल ! मुनियोंके निवासस्थान ! तीर्थोंसे विभूषित हिमालय ! मैं तुम्हारे शिखरपर सुखपूर्वक रहा हूँ, अतः तुमसे आज्ञा माँगकर यहाँसे जा रहा हूँ ॥ २४ ॥

तव सानूनि कुञ्जाश्च नद्यः प्रस्रवणानि च ।
तीर्थानि च सुपुण्यानि मया दृष्टान्यनेकशः ॥ २५ ॥

'तुम्हारे शिखर, कुञ्जवन, नदियाँ, झरने और परम पुण्यमय तीर्थस्थान मैंने अनेक बार देखे हैं ॥ २५ ॥

फलानि च सुगन्धीनि भक्षितानि ततस्ततः ।
सुसुगन्धाश्च वार्योघास्त्वच्छरीरविनिःसृताः ॥ २६ ॥
अमृतास्वादनीया मे पीताः प्रस्रवणोदकाः ।

'यहाँके विभिन्न स्थानोंसे सुगन्धित फल लेकर भोजन किये हैं । तुम्हारे शरीरसे प्रकट हुए परम सुगन्धित प्रचुर जलका सेवन किया है । तुम्हारे झरनेका अमृतके समान स्वादिष्ट जल मैंने प्रतिदिन पान किया है ॥ २६½ ॥

शिशुर्यथा पितुरङ्के सुसुखं वर्तते नग ॥ २७ ॥
तथा तवाङ्के ललितं शैलराज मया प्रभो ।

'प्रभो नगराज ! जैसे शिशु अपने पिताके अङ्कमें बड़े सुखसे रहता है, उसी प्रकार मैंने भी तुम्हारी गोदमें आमोद-पूर्वक क्रीड़ाएँ की हैं ॥ २७½ ॥

अप्सरोगणसंकीर्णे ब्रह्मघोषानुनादिते ॥ २८ ॥
सुखमस्म्युषितः शैल तव सानुषु नित्यदा ।

'शैलराज ! अप्सराओंसे व्याप्त और वैदिक मन्त्रोंके उच्च घोषसे प्रतिध्वनित तुम्हारे शिखरोंपर मैंने प्रतिदिन बड़े सुखसे निवास किया है' ॥ २८½ ॥

एवमुक्त्वार्जुनः शैलमामन्त्र्य परवीरहा ॥ २९ ॥
आरुरोह रथं दिव्यं द्योतयन्निव भास्करः ।

ऐसा कहकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुन शैल-राजसे आज्ञा माँगकर उस दिव्य रथको देदीप्यमान करते हुए-से उसपर आरूढ़ हो गये, मानो सूर्य सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहे हों ॥ २९½ ॥

स तेनादित्यरूपेण दिव्येनाद्भुतकर्मणा ॥ ३० ॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे धीमान् प्रहृष्टः कुरुनन्दनः ।
सोऽदर्शनपथं यातो मर्त्यानां धर्मचारिणाम् ॥ ३१ ॥

परम बुद्धिमान् कुरुनन्दन अर्जुन बड़े प्रसन्न होकर उस अद्भुत चालसे चलनेवाले सूर्यस्वरूप दिव्य रथके द्वारा ऊपरकी ओर जाने लगे । धीरे-धीरे धर्मात्मा मनुष्योंके दृष्टि-पथसे दूर हो गये ॥ ३०-३१ ॥

ददर्शाद्भुतरूपाणि विमानानि सहस्रशः ।
न तत्र सूर्यः सोमो वा द्योतते न च पावकः ॥ ३२ ॥

ऊपर जाकर उन्होंने सहस्रों अद्भुत विमान देखे । वहाँ न सूर्य प्रकाशित होते हैं, न चन्द्रमा । अग्निकी प्रभा भी वहाँ काम नहीं देती है ॥ ३२ ॥

स्वयैव प्रभया तत्र द्योतन्ते पुण्यलब्धया ।
तारारूपाणि यानीह दृश्यन्ते द्युतिमन्ति वै ॥ ३३ ॥
दीपवद् विप्रकृष्टत्वात् तनूनि सुमहान्त्यपि ।
तानि तत्र प्रभास्वन्ति रूपवन्ति च पाण्डवः ॥ ३४ ॥
ददर्श स्वेषु धिष्ण्येषु दीप्तिमन्तः स्वयार्चिषा ।
तत्र राजर्षयः सिद्धा वीराश्च निहता युधि ॥ ३५ ॥

वहाँ स्वर्गके निवासी अपने पुण्यकर्मोंसे प्राप्त हुई अपनी ही प्रभासे प्रकाशित होते हैं । यहाँ प्रकाशमान तारोंके रूपमें जो दूर होनेके कारण दीपककी भाँति छोटे और बड़े प्रकाशपुञ्ज दिखायी देते हैं, उन सभी प्रकाशमान स्वरूपोंको पाण्डुनन्दन अर्जुनने देखा । जो अपने-अपने अधिष्ठानोंमें अपनी ही ज्योतिसे देदीप्यमान हो रहे थे । उन लोकोंमें वे सिद्ध राजर्षि वीर निवास करते थे, जो युद्धमें प्राण देकर वहाँ पहुँचे थे ॥ ३३-३५ ॥

तपसा च जितं स्वर्गं सम्पेतुः शतसङ्घशः ।
गन्धर्वाणां सहस्राणि सूर्यज्वलिततेजसाम् ॥ ३६ ॥
गुह्यकानामृषीणां च तथैवाप्सरसां गणान् ।
लोकानात्मप्रभान् पश्यन् फाल्गुनो विस्मयान्वितः ॥ ३७ ॥

सैकड़ों झुंड के-झुंड तपस्वी पुरुष स्वर्गमें जा रहे थे, जिन्होंने तपस्याद्वारा उसपर विजय पायी थी । सूर्यके समान प्रकाशमान सहस्रों गन्धर्वों, गुह्यकों, ऋषियों तथा अप्सराओं-के समूहोंको और उनके स्वतः प्रकाशित होनेवाले लोकोंको देखकर अर्जुनको बड़ा आश्चर्य होता था ॥ ३६-३७ ॥

पप्रच्छ मातलिं प्रीत्या स चाप्येनमुवाच ह ।
एते सुकृतिनः पार्थ स्वेषु धिष्ण्येष्ववस्थिताः ॥ ३८ ॥
तान् दृष्टवानसि विभो तारारूपाणि भूतले ।

अर्जुनने प्रसन्नतापूर्वक मातलिसे उनके विषयमें पूछा, तब मातलिने उनसे कहा—'कुन्तीकुमार ! ये वे ही पुण्यात्मा पुरुष हैं, जो अपने-अपने लोकोंमें निवास करते हैं । विभो ! उन्हीं-को भूतलपर आपने तारोंके रूपमें चमकते देखा है' ॥ ३८½ ॥

ततोऽपश्यत् स्थितं द्वारि शुभ्रं वैजयिनं गजम् ॥ ३९ ॥
ऐरावतं चतुर्दन्तं कैलासमिव शृङ्गिणम् ।
स सिद्धमार्गमाक्रम्य कुरुपाण्डवसत्तमः ॥ ४० ॥
व्यरोचत यथापूर्वं मान्धाता पार्थिवोत्तमः ।
अभिचक्राम लोकान् स राज्ञां राजीवलोचनः ॥ ४१ ॥

तदनन्तर अर्जुनने स्वर्गद्वारपर खड़े हुए सुन्दर विजयी

गजराज ऐरावतको देखा, जिसके चार दाँत बाहर निकले हुए थे। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो अनेक शिखरोंसे सुशोभित कैलास पर्वत हो। कुरु-पाण्डवशिरोमणि अर्जुन सिद्धोंके मार्गपर आकर वैसे ही शोभा पाने लगे, जैसे पूर्वकालमें भूपालशिरोमणि मान्धाता सुशोभित होते थे। कमलनयन अर्जुनने उन पुण्यात्मा राजाओंके लोकोंमें भ्रमण किया॥ ३९-४१ ॥

एवं स संक्रमंस्तत्र स्वर्गलोके महायशाः ।
ततो ददर्श शक्रस्य पुरींताममरावतीम् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार महायशस्वी पार्थने स्वर्गलोकमें विचरते हुए आगे जाकर इन्द्रपुरी अमरावतीका दर्शन किया ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा देवराज इन्द्रका दर्शन तथा इन्द्रसभामें उनका स्वागत

वैशम्पायन उवाच

ददर्श स पुरीं रम्यां सिद्धचारणसेविताम् ।
सर्वर्तुकुसुमैः पुण्यैः पादपैरुपशोभिताम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अर्जुनने सिद्धों और चारणोंसे सेवित उस रम्य अमरावती पुरीको देखा, जो सभी ऋतुओंके कुसुमोंसे विभूषित पुण्यमय वृक्षोंसे सुशोभित थी॥

तत्र सौगन्धिकानां च पुष्पाणां पुण्यगन्धिनाम् ।
उद्वीज्यमानो मिश्रेण वायुना पुण्यगन्धिना ॥ २ ॥

वहाँ सुगन्धयुक्त कमल तथा पवित्र गन्धवाले अन्य पुष्पोंकी पवित्र गन्धसे मिली हुई वायु मानो व्यजन डुला रही थी ॥

नन्दनं च वनं दिव्यमप्सरोगणसेवितम् ।
ददर्श दिव्यकुसुमैराह्वयद्भिरिव द्रुमैः ॥ ३ ॥

अप्सराओंसे सेवित दिव्य नन्दनवनका भी उन्होंने दर्शन किया, जो दिव्य पुष्पोंसे भरे हुए वृक्षोंद्वारा मानो उन्हें अपने पास बुला रहा था ॥ ३ ॥

नातप्ततपसा शक्यो द्रष्टुं नानाहिताग्निना ।
स लोकः पुण्यकर्तॄणां नापि युद्धे पराङ्मुखैः ॥ ४ ॥

जिन्होंने तपस्या नहीं की है, जो अग्निहोत्रसे दूर रहे हैं तथा जिन्होंने युद्धमें पीठ दिखा दी है, वैसे लोग पुण्यात्माओंके उस लोकका दर्शन भी नहीं कर सकते ॥ ४ ॥

नायज्वभिर्नाव्रतिकैर्न वेदश्रुतिवर्जितैः ।
नानाप्लुताङ्गैस्तीर्थेषु यज्ञदानबहिष्कृतैः ॥ ५ ॥

जिन्होंने यज्ञ नहीं किया है, व्रतका पालन नहीं किया है, जो वेद और श्रुतियोंके स्वाध्यायसे दूर रहे हैं, जिन्होंने तीर्थोंमें स्नान नहीं किया है तथा जो यज्ञ और दान आदि सत्कर्मोंसे वञ्चित रहे हैं, ऐसे लोगोंको भी उस पुण्यलोकका दर्शन नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

नापि यज्ञहनैः क्षुद्रैर्द्रष्टुं शक्यः कथंचन ।
पानपैर्गुरुतल्पैश्च मांसादैर्वा दुरात्मभिः ॥ ६ ॥

जो यज्ञोंमें विघ्न डालनेवाले नीच, शराबी, गुरुपत्नीगामी, मांसाहारी तथा दुरात्मा हैं, वे तो किसी भी प्रकार उस दिव्य लोकका दर्शन नहीं पा सकते ॥ ६ ॥

स तद् दिव्यं वनं पश्यन् दिव्यगीतनिनादितम् ।
प्रविवेश महाबाहुः शक्रस्य दयितां पुरीम् ॥ ७ ॥

जहाँ सब ओर दिव्य सङ्गीत गूँज रहा था, उस दिव्य वनका दर्शन करते हुए महाबाहु अर्जुनने देवराज इन्द्रकी प्रिय नगरी अमरावतीमें प्रवेश किया ॥ ७ ॥

तत्र देवविमानानि कामगानि सहस्रशः ।
संस्थितान्यभियातानि ददर्शायुतशस्तदा ॥ ८ ॥
संस्तूयमानो गन्धर्वैरप्सरोभिश्च पाण्डवः ।
पुष्पगन्धवहैः पुण्यैर्वायुभिश्चानुवीजितः ॥ ९ ॥

वहाँ स्वेच्छानुसार गमन करनेवाले देवताओंके सहस्रों विमान स्थिरभावसे खड़े थे और हजारों इधर-उधर आते-जाते थे। उन सबको पाण्डुनन्दन अर्जुनने देखा। उस समय गन्धर्व और अप्सराएँ उनकी स्तुति कर रही थीं। फूलोंकी सुगन्धका भार वहन करनेवाली पवित्र मन्द-मन्द वायु मानो उनके लिये चँवर डुला रही थी ॥ ८-९ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
हृष्टाः सम्पूजयामासुः पार्थमक्लिष्टकारिणम् ॥ १० ॥

तदनन्तर देवताओं, गन्धर्वों, सिद्धों और महर्षियोंने अत्यन्त प्रसन्न होकर अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कुन्तीकुमार अर्जुनका स्वागत-सत्कार किया ॥ १० ॥

आशीर्वादैः स्तूयमानो दिव्यवादित्रनिःस्वनैः ।
प्रतिपेदे महाबाहुः शङ्खदुन्दुभिनादितम् ॥ ११ ॥
नक्षत्रमार्गं विपुलं सुरवीथीति विश्रुतम् ।
इन्द्राज्ञया ययौ पार्थः स्तूयमानः समन्ततः ॥ १२ ॥

कहीं उन्हें आशीर्वाद मिलता और कहीं स्तुति-प्रशंसा प्राप्त होती थी। स्थान-स्थानपर दिव्य वाद्योंकी मधुर ध्वनिसे उनका स्वागत हो रहा था। इस प्रकार महाबाहु अर्जुन शङ्ख और दुन्दुभियोंके गम्भीर नादसे गूँजते हुए 'सुरवीथी' नामसे प्रसिद्ध विस्तृत नक्षत्र-मार्गपर चलने लगे। इन्द्रकी आज्ञासे कुन्तीकुमारका सब ओर स्तवन हो रहा था और इस प्रकार वे गन्तव्य मार्गपर बढ़ते चले जा रहे थे ॥ ११-१२ ॥

तत्र साध्यास्तथा विश्वे मरुतोऽथाश्विनौ तथा।
आदित्या वसवो रुद्रास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ १३ ॥
राजर्षयश्च बहवो दिलीपप्रमुखा नृपाः।
तुम्बुरुर्नारदश्चैव गन्धर्वौ च हहाहुहूः ॥ १४ ॥

वहाँ साध्य, विश्वेदेव, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, आदित्य, वसु, रुद्र तथा विशुद्ध ब्रह्मर्षिगण और अनेक राजर्षिगण एवं दिलीप आदि बहुत-से राजा, तुम्बुरु, नारद, हाहा, हूहू आदि गन्धर्वगण विराजमान थे ॥ १३-१४ ॥

तान् स सर्वान् समागम्य विधिवत् कुरुनन्दनः।
ततोऽपश्यद् देवराजं शतक्रतुमरिंदमः ॥ १५ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले कुरुनन्दन अर्जुनने उन सबसे विधिपूर्वक मिलकर अन्तमें सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्रका दर्शन किया ॥ १५ ॥

ततः पार्थो महाबाहुरवतीर्य रथोत्तमात्।
ददर्श साक्षाद् देवेशं पितरं पाकशासनम् ॥ १६ ॥

उन्हें देखते ही महाबाहु पार्थ उस उत्तम रथसे उतर पड़े और देवेश्वर पिता पाकशासन (इन्द्र) को उन्होंने प्रत्यक्ष देखा ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण हेमदण्डेन चारुणा।
दिव्यगन्धाधिवासेन व्यजनेन विधूयता ॥ १७ ॥

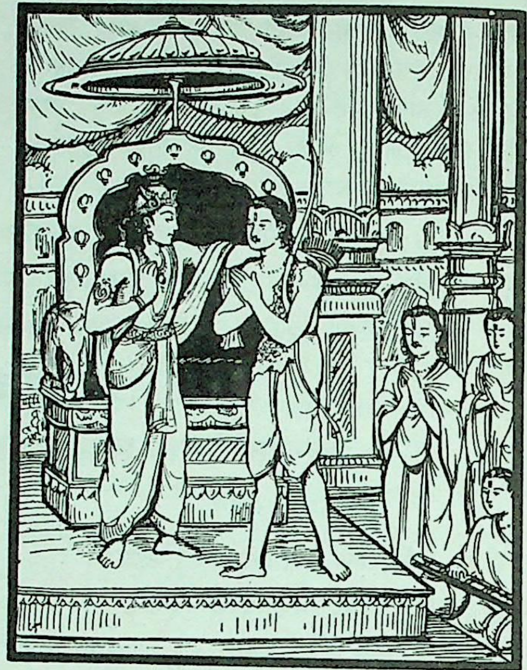
उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिसमें मनोहर स्वर्णमय दण्ड शोभा पा रहा था। उनके उभय पार्श्वमें दिव्य सुगन्धसे वासित चँवर डुलाये जा रहे थे ॥ १७ ॥

विश्वावसुप्रभृतिभिर्गन्धर्वैः स्तुतिवन्दनैः।
स्तूयमानं द्विजाग्र्यैश्च ऋग्यजुःसामसम्भवैः ॥ १८ ॥

विश्वावसु आदि गन्धर्व स्तुति और वन्दनापूर्वक उनके गुण गाते थे। श्रेष्ठ ब्रह्मर्षिगण ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके इन्द्रदेवतासम्बन्धी मन्त्रोंद्वारा उनका स्तवन कर रहे थे ॥ १८ ॥

ततोऽभिगम्य कौन्तेयः शिरसाभ्यगमद् बली।
स चैनं वृत्तपीनाभ्यां बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णत ॥ १९ ॥

तदनन्तर बलवान् कुन्तीकुमारने निकट जाकर देवेन्द्रके चरणोंमें मस्तक रख दिया और उन्होंने अपनी गोल-गोल मोटी भुजाओंसे उठाकर अर्जुनको हृदयसे लगा लिया ॥ १९ ॥



ततः शक्रासने पुण्ये देवर्षिगणसेविते।
शक्रः पाणौ गृहीत्वैनमुपावेशयदन्तिके ॥ २० ॥

तत्पश्चात् इन्द्रने अर्जुनका हाथ पकड़कर अपने देवर्षिगणसेवित पवित्र सिंहासनपर उन्हें पास ही बिठा लिया ॥ २० ॥

मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय देवेन्द्रः परवीरहा।
अङ्कमारोपयामास प्रश्रयावनतं तदा ॥ २१ ॥

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले देवराजने विनीतभावसे आये हुए अर्जुनका मस्तक सूँघा और उन्हें अपनी गोदमें बिठा लिया ॥ २१ ॥

सहस्राक्षनियोगात् स पार्थः शक्रासनं गतः।
अध्यक्रामदमेयात्मा द्वितीय इव वासवः ॥ २२ ॥

उस समय सहस्रनेत्रधारी देवेन्द्रके आदेशसे उनके सिंहासनपर बैठे हुए अपरिमित प्रभावशाली कुन्तीकुमार दूसरे इन्द्रकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ २२ ॥

ततः प्रेम्णा वृत्रशत्रुरर्जुनस्य शुभं मुखम्।
पस्पर्श पुण्यगन्धेन करेण परिसान्त्वयन् ॥ २३ ॥

इसके बाद वृत्रासुरके शत्रु इन्द्रने पवित्र गन्धयुक्त हाथसे बड़े प्रेमके साथ अर्जुनको सब प्रकारसे आश्वासन देते हुए उनके सुन्दर मुखका स्पर्श किया ॥ २३ ॥

प्रमार्जमानः शनकैर्बाहू चास्यायतौ शुभौ।
ज्याशरक्षेपकठिनौ स्तम्भाविव हिरण्मयौ ॥ २४ ॥

अर्जुनकी सुन्दर विशाल भुजाएँ प्रत्यञ्चा खींचकर बाण चलानेकी रगड़से कठोर हो गयी थीं। वे देखनेमें सोनेके खंभे-जैसी जान पड़ती थीं। देवराज उन भुजाओंपर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगे ॥ २४ ॥

वज्रग्रहणचिह्नेन करेण परिसान्त्वयन्।
मुहुर्मुहुर्वज्रधरो बाहू चास्फोटयच्छनैः ॥ २५ ॥

वज्रधारी इन्द्र वज्रधारणजनित चिह्नसे सुशोभित दाहिने हाथसे अर्जुनको बार-बार सान्त्वना देते हुए उनकी भुजाओंको धीरे-धीरे थपथपाने लगे ॥ २५ ॥

स्मयन्निव गुडाकेशं प्रेक्षमाणः सहस्रदृक्।
हर्षेणोत्फुल्लनयनो न चातृप्यत वृत्रहा ॥ २६ ॥

सहस्र नयनोंसे सुशोभित वृत्रसूदन इन्द्र निद्राविजयी अर्जुनको मुसकराते हुए-से देख रहे थे। उस समय इन्द्रकी आँखें हर्ष-से खिल उठी थीं। वे उन्हें देखनेसे तृप्त नहीं होते थे॥

एकासनोपविष्टौ तौ शोभयांचक्रतुः सभाम्।
सूर्याचन्द्रमसौ व्योम चतुर्दश्यामिवोदितौ ॥ २७ ॥

जैसे कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको उदित हुए सूर्य और चन्द्रमा आकाशकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार एक सिंहासनपर बैठे हुए देवराज इन्द्र और कुन्तीकुमार अर्जुन देवसभाको सुशोभित कर रहे थे ॥ २७ ॥

तत्र स्म गाथा गायन्ति साम्ना परमवल्गुना।
गन्धर्वास्तुम्बुरुश्रेष्ठाः कुशला गीतसामसु ॥ २८ ॥

उस समय वहाँ सामगानमें निपुण तुम्बुरु आदि श्रेष्ठ गन्धर्वगण सामगानके नियमानुसार अत्यन्त मधुर स्वरमें गाथागान करने लगे ॥ २८ ॥

घृताची मेनका रम्भा पूर्वचित्तिः स्वयंप्रभा।
उर्वशी मिश्रकेशी च दण्डगौरी वरूथिनी ॥ २९ ॥
गोपाली सहजन्या च कुम्भयोनिः प्रजागरा।
चित्रसेना चित्रलेखा सहा च मधुरस्वरा ॥ ३० ॥
एताश्चान्याश्च ननृतुस्तत्र तत्र सहस्रशः।
चित्तप्रसादने युक्ताः सिद्धानां पद्मलोचनाः ॥ ३१ ॥
महाकटितटश्रोण्यः कम्पमानैः पयोधरैः।
कटाक्षहावमाधुर्यैश्चेतोबुद्धिमनोहरैः ॥ ३२ ॥

घृताची, मेनका, रम्भा, पूर्वचित्ति, स्वयंप्रभा, उर्वशी, मिश्रकेशी, दण्डगौरी, वरूथिनी, गोपाली, सहजन्या, कुम्भ-योनि, प्रजागरा, चित्रसेना, चित्रलेखा, सहा और मधुर स्वरा—ये तथा और भी सहस्रों अप्सराएँ वहाँ इन्द्रसभामें भिन्न-भिन्न स्थानोंपर नृत्य करने लगीं। वे कमललोचना अप्सराएँ सिद्ध पुरुषोंके भी चित्तको प्रसन्न करनेमें संलग्न थीं। उनके कटि-प्रदेश और नितम्ब विशाल थे। नृत्य करते समय उनके उन्नत स्तन कम्पमान हो रहे थे। उनके कटाक्ष, हाव-भाव तथा माधुर्य आदि मन, बुद्धि एवं चित्तकी सम्पूर्ण वृत्तियोंका अपहरण कर लेते थे ॥ २९—३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि इन्द्रसभादर्शने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें इन्द्रसभादर्शनविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनको अस्त्र और सङ्गीतकी शिक्षा

वैशम्पायन उवाच

ततो देवाः सगन्धर्वाः समादायार्घ्यमुत्तमम्।
शक्रस्य मतमाज्ञाय पार्थमानर्चुरञ्जसा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर देवराज इन्द्रका अभिप्राय जानकर देवताओं और गन्धर्वोंने उत्तम अर्घ्य लेकर कुन्तीकुमार अर्जुनका यथोचित पूजन किया॥

पाद्यमाचमनीयं च प्रतिग्राह्य नृपात्मजम्।
प्रवेशयामासुरथो पुरन्दरनिवेशनम् ॥ २ ॥

राजकुमार अर्जुनको पाद्य, (अर्घ्य,) आचमनीय आदि उपचार अर्पित करके देवताओंने उन्हें इन्द्रभवनमें पहुँचा दिया॥

एवं सम्पूजितो जिष्णुरुवास भवने पितुः।
उपशिक्षन् महास्त्राणि ससंहाराणि पाण्डवः ॥ ३ ॥

इस प्रकार देवसमुदायसे पूजित हो पाण्डुकुमार अर्जुन अपने पिताके घरमें रहने और उनसे उपसंहारसहित महान् अस्त्रोंकी शिक्षा ग्रहण करने लगे ॥ ३ ॥

शक्रस्य हस्तात् दयितं वज्रमस्त्रं च दुःसहम्।
अशनीश्च महानादा मेघबर्हिणलक्षणाः ॥ ४ ॥

उन्होंने इन्द्रके हाथसे उनके प्रिय एवं दुःसह अस्त्र वज्र और भारी गड़गड़ाहट पैदा करनेवाली उन अशनियोंको ग्रहण किया, जिनका प्रयोग करनेपर जगत्में मेघोंकी घटा घिर आती और मयूर नृत्य करने लगते हैं ॥ ४ ॥

गृहीतास्त्रस्तु कौन्तेयो भ्रातॄन् सस्मार पाण्डवः।
पुरन्दरनियोगाच्च पञ्चाब्दानवसत् सुखी ॥ ५ ॥

सब अस्त्रोंकी शिक्षा ग्रहण कर लेनेपर पाण्डुपुत्र पार्थने अपने भाइयोंका स्मरण किया। परंतु पुरन्दरके विशेष अनुरोधसे वे (मानव-गणनाके अनुसार) पाँच वर्षोंतक वहाँ सुखपूर्वक ठहरे रहे ॥ ५ ॥

ततः शक्रोऽब्रवीत् पार्थं कृतास्त्रं काल आगते।
नृत्यं गीतं च कौन्तेय चित्रसेनादवाप्नुहि ॥ ६ ॥

तदनन्तर इन्द्रने अस्त्रशिक्षामें निपुण कुन्तीकुमारसे उपयुक्त अवसर आनेपर कहा—'कुन्तीनन्दन! तुम चित्रसेनसे नृत्य और गीतकी शिक्षा ग्रहण कर लो ॥ ६ ॥

वादित्रं देवविहितं नृलोके यन्न विद्यते।
तदर्जयस्व कौन्तेय श्रेयो वै ते भविष्यति ॥ ७ ॥

'कुन्तीनन्दन ! मनुष्यलोकमें जो अबतक प्रचलित नहीं है, देवताओंकी उस वाद्यकलाका ज्ञान प्राप्त कर लो। इससे तुम्हारा भला होगा' ॥

सखायं प्रददौ चास्य चित्रसेनं पुरन्दरः।
स तेन सह संगम्य रेमे पार्थो निरामयः ॥ ८ ॥

पुरन्दरने अर्जुनको सङ्गीतकी शिक्षा देनेके लिये उन्हींके मित्र चित्रसेनको नियुक्त कर दिया। मित्रसे मिलकर दुःख-शोकसे रहित अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए ॥ ८ ॥

गीतवादित्रनृत्यानि भूय एवादिदेश ह।
तथापि नालभच्छर्म तपस्वी द्यूतकारितम् ॥ ९ ॥

चित्रसेनने उन्हें गीत, वाद्य और नृत्यकी बार-बार शिक्षा दी तो भी द्यूतजनित अपमानका स्मरण करके तपस्वी अर्जुनको तनिक भी शान्ति नहीं मिली ॥ ९ ॥

दुःशासनवधामर्षी शकुनेः सौबलस्य च।
ततस्तेनातुलां प्रीतिमुपागम्य क्वचित् क्वचित्।
गान्धर्वमतुलं नृत्यं वादित्रं चोपलब्धवान् ॥ १० ॥

उन्हें दुःशासन तथा सुबलपुत्र शकुनिके वधके लिये मनमें बड़ा रोष होता था तथा चित्रसेनके सहवाससे कभी-कभी उन्हें अनुपम प्रसन्नता प्राप्त होती थी, जिससे उन्होंने गीत, नृत्य और वाद्यकी उस अनुपम कलाको (पूर्णरूपसे) उपलब्ध कर लिया ॥ १० ॥

स शिक्षितो नृत्यगुणाननेकान्
वादित्रगीतार्थगुणांश्च सर्वान्।
न शर्म लेभे परवीरहन्ता
भ्रातॄन् स्मरन् मातरं चैव कुन्तीम् ॥ ११ ॥

शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले वीर अर्जुनने नृत्यसम्बन्धी अनेक गुणोंकी शिक्षा पायी। वाद्य और गीतविषयक सभी गुण सीख लिये। तथापि भाइयों और माता कुन्तीका स्मरण करके उन्हें कभी चैन नहीं पड़ता था ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें अर्जुनकी अस्त्रादिशिक्षासे सम्बन्ध रखनेवाला चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

चित्रसेन और उर्वशीका वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

आदावेवाथ तं शक्रश्चित्रसेनं रहोऽब्रवीत्।
पार्थस्य चक्षुरुर्वश्यां सक्तं विज्ञाय वासवः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! एक समय इन्द्रने अर्जुनके नेत्र उर्वशीके प्रति आसक्त जानकर चित्रसेन गन्धर्वको बुलाया और प्रथम ही एकान्तमें उनसे यह बात कही—॥ १ ॥



गन्धर्वराज गच्छाद्य प्रहितोऽप्सरसां वराम्।
उर्वशीं पुरुषव्याघ्र सोपातिष्ठतु फाल्गुनम् ॥ २ ॥

'गन्धर्वराज ! तुम मेरे भेजनेसे आज अप्सराओंमें श्रेष्ठ उर्वशीके पास जाओ। पुरुषश्रेष्ठ ! तुम्हें वहाँ भेजनेका उद्देश्य यह है कि उर्वशी अर्जुनकी सेवामें उपस्थित हो ॥ २ ॥

यथार्चितो गृहीतास्त्रो विद्यया मन्नियोगतः।
तथा त्वया विधातव्यं स्त्रीषु संगविशारदः ॥ ३ ॥

'जैसे अस्त्रविद्या सीख लेनेके पश्चात् अर्जुनको मेरी आज्ञासे तुमने सङ्गीतविद्याद्वारा सम्मानित किया है, उसी प्रकार स्त्रीसङ्गविशारद हो सकें, ऐसा प्रयत्न करो' ॥ ३ ॥

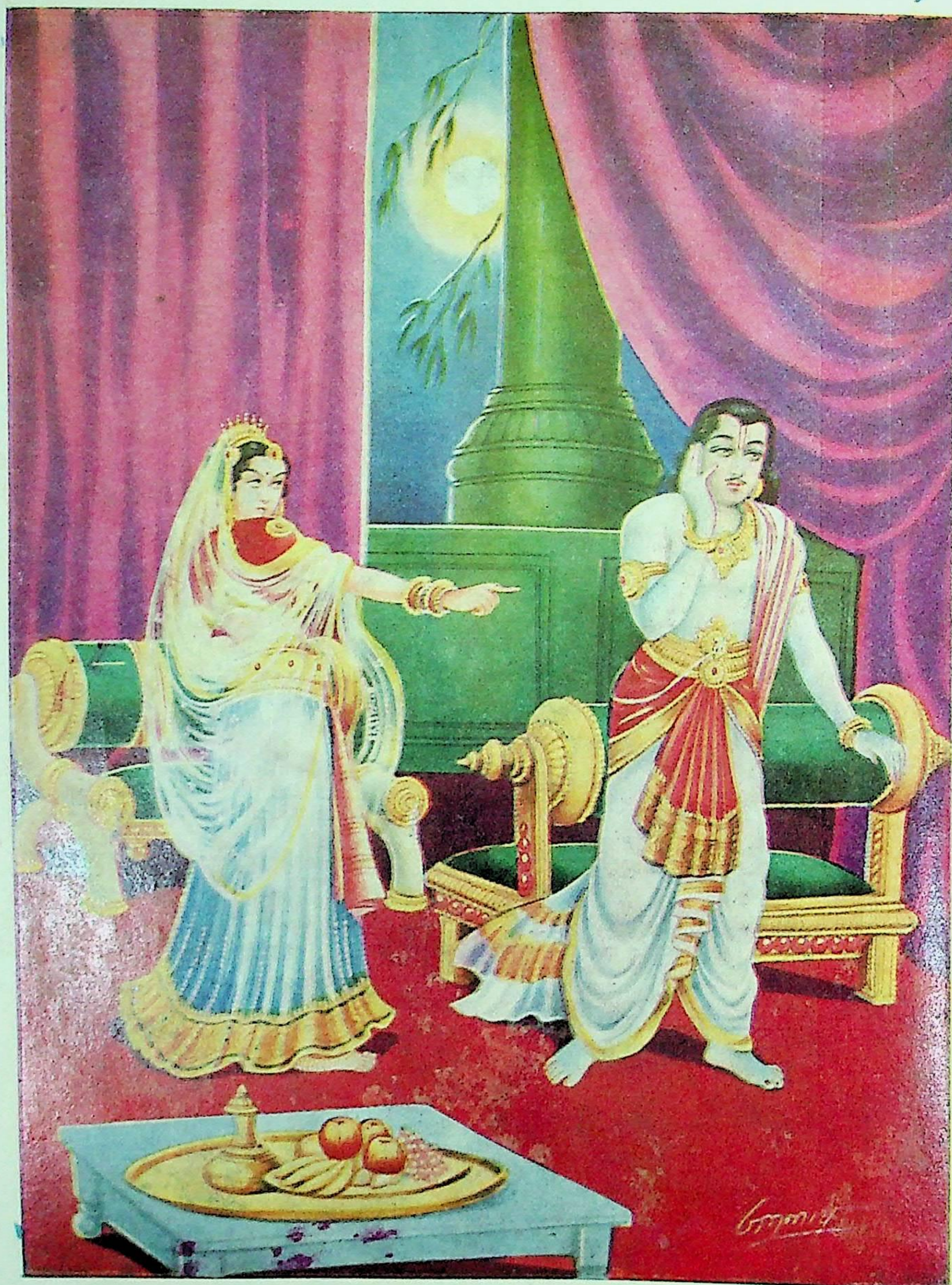
एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सोऽनुज्ञां प्राप्य वासवात्।
गन्धर्वराजोऽप्सरसमभ्यगादुर्वशीं वराम् ॥ ४ ॥

इन्द्रके इस प्रकार कहनेपर 'तथास्तु' कहकर उनसे आज्ञा ले गन्धर्वराज चित्रसेन सुन्दरी अप्सरा उर्वशीके पास गये ॥ ४ ॥

तां दृष्ट्वा विदितो हृष्टः स्वागतेनार्चितस्तया।
सुखासीनः सुखासीनां स्मितपूर्वं वचोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

उससे मिलकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उर्वशीने चित्रसेनको आया जान स्वागतपूर्वक उनका सत्कार किया। जब वे आरामसे बैठ गये, तब सुखपूर्वक सुन्दर आसनपर बैठी हुई उर्वशीसे मुसकराकर बोले— ॥ ५ ॥





उर्वशीका अर्जुनको शाप देना

विदितं तेऽस्तु सुश्रोणि प्रहितोऽहमिहागतः।
त्रिदिवस्यैकराजेन त्वत्प्रसादाभिनन्दिना ॥ ६ ॥

'सुश्रोणि ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि स्वर्गके एकमात्र सम्राट् इन्द्रने, जो तुम्हारे कृपाप्रसादका अभिनन्दन करते हैं, मुझे तुम्हारे पास भेजा है। उन्हींकी आज्ञासे मैं यहाँ आया हूँ ॥ ६ ॥

यस्तु देवमनुष्येषु प्रख्यातः सहजैर्गुणैः।
श्रिया शीलेन रूपेण व्रतेन च दमेन च।
प्रख्यातो बलवीर्येण सम्मतः प्रतिभानवान् ॥ ७ ॥
वर्चस्वी तेजसा युक्तः क्षमावान् वीतमत्सरः।
साङ्गोपनिषदान् वेदांश्चतुराख्यानपञ्चमान् ॥ ८ ॥
योऽधीते गुरुशुश्रूषां मेधां चाष्टगुणाश्रयाम्।
ब्रह्मचर्येण दाक्ष्येण प्रसवैर्वयसापि च ॥ ९ ॥
एको वै रक्षिता चैव त्रिदिवं मघवानिव।
अकत्थनो मानयिता स्थूललक्ष्यः प्रियंवदः ॥ १० ॥
सुहृदश्चान्नपानेन विविधेनाभिवर्षति।
सत्यवाक् पूजितो वक्ता रूपवाननहंकृतः ॥ ११ ॥
भक्तानुकम्पी कान्तश्च प्रियश्च स्थिरसंगरः।
प्रार्थनीयैर्गुणगणैर्महेन्द्रवरुणोपमः ॥ १२ ॥
विदितस्तेऽर्जुनो वीरः स स्वर्गफलमाप्नुयात्।
त्वं तु शक्राभ्यनुज्ञाता तस्य पादान्तिकं व्रज।
तदेवं कुरु कल्याणि प्रसन्नस्त्वां धनंजयः ॥ १३ ॥

'सुन्दरी ! जो अपने स्वाभाविक सद्गुण, श्री, शील (स्वभाव), मनोहर रूप, उत्तम व्रत और इन्द्रियसंयमके कारण देवताओं तथा मनुष्योंमें विख्यात हैं। बल और पराक्रमके द्वारा जिनकी सर्वत्र प्रसिद्धि है; जो सबके प्रिय, प्रतिभाशाली, वर्चस्वी, तेजस्वी, क्षमाशील तथा ईर्ष्यारहित हैं, जिन्होंने छहों अङ्गोंसहित चारों वेदों, उपनिषदों और पञ्चम वेद (इतिहास-पुराण) का अध्ययन किया है। जिन्हें गुरुशुश्रूषा तथा आठ गुणोंसे[1] युक्त मेधाशक्ति प्राप्त है, जो ब्रह्मचर्यपालन, कार्य-दक्षता, संतान तथा युवावस्थाके द्वारा अकेले ही देवराज इन्द्रकी भाँति स्वर्गलोककी रक्षा करनेमें समर्थ हैं, जो अपने मुँहसे अपने गुणोंकी कभी प्रशंसा नहीं करते, दूसरोंको सम्मान देते, अत्यन्त सूक्ष्म विषयको भी स्थूलकी भाँति शीघ्र ही समझ लेते और सबसे प्रिय वचन बोलते हैं, जो अपने सुहृदोंके लिये नाना प्रकारके अन्न-पानकी वर्षा करते और सदा सत्य बोलते हैं, जिनका सर्वत्र आदर होता है, जो अच्छे वक्ता तथा मनोहर रूपवाले होकर भी अहंकारशून्य हैं, जिनके हृदयमें अपने प्रेमी भक्तोंके लिये अत्यन्त कृपा भरी हुई है, जो कान्तिमान्, प्रिय तथा प्रतिज्ञापालन एवं युद्धमें स्थिरतापूर्वक डटे रहनेवाले हैं, जिनके सद्गुणोंकी दूसरे लोग स्पृहा रखते हैं और उन्हीं गुणोंके कारण जो महेन्द्र और वरुणके समान आदरणीय माने जाते हैं, उन वीरवर अर्जुनको तुम अच्छी तरह जानती हो। उन्हें स्वर्गमें आनेका फल अवश्य मिलना चाहिये। तुम देवराजके आज्ञाके अनुसार आज अर्जुनके चरणोंके समीप जाओ। कल्याणि ! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे कुन्तीकुमार धनंजय तुमपर प्रसन्न हों' ॥ ७–१३ ॥

एवमुक्ता स्मितं कृत्वा सम्मानं बहु मन्य च।
प्रत्युवाचोर्वशी प्रीता चित्रसेनमनिन्दिता ॥ १४ ॥

चित्रसेनके ऐसा कहनेपर उर्वशीके अधरोंपर मुसकान दौड़ गयी। उसने इस आदेशको अपने लिये बड़ा सम्मान समझा। अनिन्द्य सुन्दरी उर्वशी उस समय अत्यन्त प्रसन्न होकर चित्रसेनसे इस प्रकार बोली— ॥ १४ ॥

यस्त्वस्य कथितः सत्यो गुणोद्देशस्त्वया मम।
तं श्रुत्वाव्यथयं पुंसो वृणुयां किमतोऽर्जुनम् ॥ १५ ॥

'गन्धर्वराज ! तुमने जो अर्जुनके लेशमात्र गुणोंका मेरे सामने वर्णन किया है, वह सब सत्य है। मैं दूसरे लोगोंके मुखसे भी उनकी प्रशंसा सुनकर उनके लिये व्यथित हो उठी हूँ। अतः इससे अधिक मैं अर्जुनका क्या वरण करूँ ? ॥ १५ ॥

महेन्द्रस्य नियोगेन त्वत्तः सम्प्रणयेन च।
तस्य चाहं गुणौघेन फाल्गुने जातमन्मथा।
गच्छ त्वं हि यथाकामम[illegible]मिष्याम्यहं सुखम् ॥ १६ ॥

'महेन्द्रकी आज्ञासे, तुम्हारे प्रेमपूर्ण बर्तावसे तथा अर्जुनके सद्गुण-समुदायसे मेरा उनके प्रति कामभाव हो गया है। अतः अब तुम जाओ। मैं इच्छानुसार सुखपूर्वक उनके स्थानपर यथासमय आऊँगी' ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि चित्रसेनोर्वशीसंवादे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें चित्रसेन-उर्वशीसंवादविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४५॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

उर्वशीका कामपीड़ित होकर अर्जुनके पास जाना और उनके अस्वीकार करनेपर उन्हें शाप देकर लौट आना

वैशम्पायन उवाच

ततो विसृज्य गन्धर्वं कृतकृत्यं शुचिस्मिता।
उर्वशी चाकरोत् स्नानं पार्थदर्शनलालसा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कृत-कृत्य हुए गन्धर्वराज चित्रसेनको विदा करके पवित्र मुसकान-वाली उर्वशीने अर्जुनसे मिलनेके लिये उत्सुक हो स्नान किया ॥

[1] शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, अर्थविज्ञान तथा तत्त्वविज्ञान—ये बुद्धिके आठ गुण हैं।

स्नानालंकरणैर्हृद्यैर्गन्धमाल्यैश्च सुप्रभैः।
धनंजयस्य रूपेण शरैर्मन्मथचोदितैः ॥ २ ॥
अतिविद्धेन मनसा मन्मथेन प्रदीपिता।
दिव्यास्तरणसंस्तीर्णे विस्तीर्णे शयनोत्तमे ॥ ३ ॥
चित्तसंकल्पभावेन सुचित्तानन्यमानसा।
मनोरथेन सम्प्राप्तं रमन्त्येनं हि फाल्गुनम् ॥ ४ ॥

धनंजयके रूप-सौन्दर्यसे प्रभावित उसका हृदय कामदेवके बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल हो चुका था। वह मदनाग्निसे दग्ध हो रही थी। स्नानके पश्चात् उसने चमकीले और मनोभिराम आभूषण धारण किये। सुगन्धित दिव्य पुष्पोंके हारोंसे अपनेको अलंकृत किया। फिर उसने मन-ही-मन संकल्प किया—दिव्य बिछौनोंसे सजी हुई एक सुन्दर विशाल शय्या बिछी हुई है। उसका हृदय सुन्दर तथा प्रियतमके चिन्तनमें एकाग्र था। उसने मनकी भावनाद्वारा ही यह देखा कि कुन्तीकुमार अर्जुन उसके पास आ गये हैं और वह उनके साथ रमण कर रही है ॥ २–४ ॥

निर्गम्य चन्द्रोदयने विगाढे रजनीमुखे।
प्रस्थिता सा पृथुश्रोणी पार्थस्य भवनं प्रति ॥ ५ ॥

संध्याको चन्द्रोदय होनेपर जब चारों ओर चाँदनी छिटक गयी, उस समय वह विशाल नितम्बोंवाली अप्सरा अपने भवनसे निकलकर अर्जुनके निवासस्थानकी ओर चली ॥ ५ ॥

मृदुकुञ्चितदीर्घेण कुमुदोत्करधारिणा।
केशहस्तेन ललना जगामाथ विराजती ॥ ६ ॥

उसके कोमल, घुँघराले और लम्बे केशोंका समूह वेणीके रूपमें आबद्ध था। उनमें कुमुदपुष्पोंके गुच्छे लगे हुए थे। इस प्रकार सुशोभित वह ललना अर्जुनके गृहकी ओर बढ़ी जा रही थी ॥ ६ ॥

भ्रूक्षेपालापमाधुर्यैः कान्त्या सौम्यतयापि च।
शशिनं वक्त्रचन्द्रेण साऽऽह्वयन्तीव गच्छती॥ ७ ॥

भौंहोंकी भंगिमा, वार्तालापकी मधुरिमा, उज्ज्वल कान्ति और सौम्यभावसे सम्पन्न अपने मनोहर मुखचन्द्रद्वारा वह चन्द्रमाको चुनौती सी देती हुई इन्द्रभवनके पथपर चल रही थी ॥ ७ ॥

दिव्याङ्गरागौ सुमुखौ दिव्यचन्दनरूषितौ।
गच्छन्त्या हाररुचिरौ स्तनौ तस्या ववल्गतुः ॥ ८ ॥

चलते समय सुन्दर हारोंसे विभूषित उर्वशीके उठे हुए स्तन जोर-जोरसे हिल रहे थे। उनपर दिव्य अङ्गराग लगाये गये थे। उनके अग्रभाग अत्यन्त मनोहर थे। वे दिव्य चन्दनसे चर्चित हो रहे थे ॥ ८ ॥

स्तनोद्वहनसंक्षोभान्नम्यमाना पदे पदे।
त्रिवलीदामचित्रेण मध्येनातीवशोभिना ॥ ९ ॥

स्तनोंके भारी भारको वहन करनेके कारण थककर वह पग-पगपर झुकी जाती थी। उसका अत्यन्त सुन्दर मध्यभाग (उदर) त्रिवली रेखासे विचित्र शोभा धारण करता था ॥

अधो भूधरविस्तीर्णं नितम्बोन्नतपीवरम्।
मन्मथायतनं शुभ्रं रसनादामभूषितम् ॥ १० ॥
ऋषीणामपि दिव्यानां मनोव्याघातकारणम्।
सूक्ष्मवस्त्रधरं रेजे जघनं निरवद्यवत् ॥ ११ ॥

सुन्दर महीन वस्त्रोंसे आच्छादित उसका जघनप्रदेश अनिन्द्य सौन्दर्यसे सुशोभित हो रहा था। वह कामदेवका उज्ज्वल मन्दिर जान पड़ता था। नाभिके नीचेके भागमें पर्वतके समान विशाल नितम्ब ऊँचा और स्थूल प्रतीत होता था। कटिमें बँधी हुई करधनीकी लड़ियाँ उस जघनप्रदेशको सुशोभित कर रही थीं। वह मनोहर अङ्ग (जघन) देवलोकवासी महर्षियोंके भी चित्तको क्षुब्ध कर देनेवाला था ॥ १०-११ ॥

गूढगुल्फधरौ पादौ ताम्रायततलाङ्गुलौ।
कूर्मपृष्ठोन्नतौ चापि शोभेते किङ्किणीकिणौ ॥ १२ ॥

उसके दोनों चरणोंके गुल्फ (टखने) मांससे छिपे हुए थे। उसके विस्तृत तलवे और अँगुलियाँ लाल रंगकी थीं। वे दोनों पैर कछुएकी पीठके समान ऊँचे होनेके साथ ही घुँघुरुओंके चिह्नसे सुशोभित थे ॥ १२ ॥

सीधुपानेन चाल्पेन तुष्ट्याथ मदनेन च।
विलासनैश्च विविधैः प्रेक्षणीयतराभवत् ॥ १३ ॥

वह अल्प सुरापानसे, संतोषसे, कामसे और नाना प्रकारकी विलासिताओंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त दर्शनीय हो रही थी ॥ १३ ॥

सिद्धचारणगन्धर्वैः सा प्रयाता विलासिनी।
बह्वाश्चर्येऽपि वै स्वर्गे दर्शनीयतमाकृतिः ॥ १४ ॥
सुसूक्ष्मेणोत्तरीयेण मेघवर्णेन राजता।
तनुरभ्रावृता व्योम्नि चन्द्रलेखेव गच्छति ॥ १५ ॥

जाती हुई उस विलासिनी अप्सराकी आकृति अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए स्वर्गलोकमें भी सिद्ध, चारण और गन्धर्वोंके लिये देखनेके ही योग्य हो रही थी। अत्यन्त महीन मेघके समान श्याम रंगकी सुन्दर ओढ़नी ओढ़े तन्वङ्गी उर्वशी आकाशमें बादलोंसे ढकी हुई चन्द्रलेखा-सी चली जा रही थी ॥ १४-१५ ॥

ततः प्राप्ता क्षणेनैव मनःपवनगामिनी।
भवनं पाण्डुपुत्रस्य फाल्गुनस्य शुचिस्मिता ॥ १६ ॥

मन और वायुके समान तीव्र वेगसे चलनेवाली वह पवित्र मुसकानसे सुशोभित अप्सरा क्षणभरमें पाण्डुकुमार अर्जुनके महलमें जा पहुँची ॥ १६ ॥

तत्र द्वारमनुप्राप्ता द्वारस्थैश्च निवेदिता।
अर्जुनस्य नरश्रेष्ठ उर्वशी शुभलोचना ॥ १७ ॥

उपातिष्ठत तद् वेश्म निर्मलं सुमनोहरम् ।
सशङ्कितमना राजन् प्रत्युद्गच्छत तां निशि ॥ १८ ॥

नरश्रेष्ठ जनमेजय ! महलके द्वारपर पहुँचकर वह ठहर गयी । उस समय द्वारपालोंने अर्जुनको उसके आगमनकी सूचना दी । तब सुन्दर नेत्रोंवाली उर्वशी रात्रिमें अर्जुनके अत्यन्त मनोहर तथा उज्ज्वल भवनमें उपस्थित हुई । राजन् ! अर्जुन सशङ्क हृदयसे उसके सामने गये ॥ १७-१८ ॥

दृष्ट्वैव चोर्वशीं पार्थो लज्जासंवृतलोचनः ।
तदाभिवादनं कृत्वा गुरुपूजां प्रयुक्तवान् ॥ १९ ॥

उर्वशीको आयी देख अर्जुनके नेत्र लज्जासे मुँद गये । उस समय उन्होंने उसके चरणोंमें प्रणाम करके उसका गुरुजनोचित सत्कार किया ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच

अभिवादये त्वां शिरसा प्रवराप्सरसां वरे ।
किमाज्ञापयसे देवि प्रेष्यस्तेऽहमुपस्थितः ॥ २० ॥

अर्जुन बोले—देवि ! श्रेष्ठ अप्सराओंमें भी तुम्हारा सबसे ऊँचा स्थान है । मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करता हूँ । बताओ, मेरे लिये क्या आज्ञा है ? मैं तुम्हारा सेवक हूँ और तुम्हारी आज्ञाका पालन करनेके लिये उपस्थित हूँ ॥ २० ॥

फाल्गुनस्य वचः श्रुत्वा गतसंज्ञा तदोर्वशी ।
गन्धर्ववचनं सर्वं श्रावयामास तं तदा ॥ २१ ॥

अर्जुनकी यह बात सुनकर उर्वशीके होश-हवास गुम हो गये, उस समय उसने गन्धर्वराज चित्रसेनकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं ॥ २१ ॥

उर्वश्युवाच

यथा मे चित्रसेनेन कथितं मनुजोत्तम ।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यथा चाहमिहागता ॥ २२ ॥

उर्वशीने कहा—पुरुषोत्तम ! चित्रसेनने मुझे जैसा संदेश दिया है और उसके अनुसार जिस उद्देश्यको लेकर मैं यहाँ आयी हूँ, वह सब मैं तुम्हें बता रही हूँ ॥ २२ ॥

उपस्थाने महेन्द्रस्य वर्तमाने मनोरमे ।
तवागमनतो वृत्ते स्वर्गस्य परमोत्सवे ॥ २३ ॥
रुद्राणां चैव सांनिध्यमादित्यानां च सर्वशः ।
समागमेऽश्विनोश्चैव वसूनां च नरोत्तम ॥ २४ ॥
महर्षीणां च संघेषु राजर्षिप्रवरेषु च ।
सिद्धचारणयक्षेषु महोरगगणेषु च ॥ २५ ॥
उपविष्टेषु सर्वेषु स्थानमानप्रभावतः ।
ऋद्ध्या प्रज्वलमानेषु अग्निसोमार्कवर्ष्मसु ॥ २६ ॥
वीणासु वाद्यमानासु गन्धर्वैः शक्रनन्दन ।
दिव्ये मनोरमे गेये प्रवृत्ते पृथुलोचन ॥ २७ ॥
सर्वाप्सरःसु मुख्यासु प्रनृत्तासु कुरूद्वह ।
त्वं किलानिमिषः पार्थ मामेकां तत्र दृष्टवान् ॥ २८ ॥

देवराज इन्द्रके इस मनोरम निवासस्थानमें तुम्हारे शुभागमनके उपलक्ष्यमें एक महान् उत्सव मनाया गया । यह उत्सव स्वर्गलोकका सबसे बड़ा उत्सव था । उसमें रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार और वसुगण—इन सबका सब ओरसे समागम हुआ था । नरश्रेष्ठ ! महर्षिसमुदाय, राजर्षिप्रवर, सिद्ध, चारण, यक्ष तथा बड़े-बड़े नाग—ये सभी अपने पद, सम्मान और प्रभावके अनुसार योग्य आसनोंपर बैठे थे । इन सबके शरीर अग्नि, चन्द्रमा और सूर्यके समान तेजस्वी थे और ये समस्त देवता अपनी अद्भुत समृद्धिसे प्रकाशित हो रहे थे । विशाल नेत्रोंवाले इन्द्रकुमार ! उस समय गन्धर्वोंद्वारा अनेक वीणाएँ बजायी जा रही थीं । दिव्य मनोरम संगीत छिड़ा हुआ था और सभी प्रमुख अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं । कुरुकुलनन्दन पार्थ ! उस समय तुम मेरी ओर निर्निमेष नयनोंसे निहार रहे थे ॥ २३—२८ ॥

तत्र चावभृथे तस्मिन्नुपस्थाने दिवौकसाम् ।
तव पित्राभ्यनुज्ञाता गताः स्वं स्वं गृहं सुराः ॥ २९ ॥
तथैवाप्सरसः सर्वा विशिष्टाः स्वगृहं गताः ।
अपि चान्याश्च शत्रुघ्न तव पित्रा विसर्जिताः ॥ ३० ॥

देवसभामें जब उस महोत्सवकी समाप्ति हुई, तब तुम्हारे पिताकी आज्ञा लेकर सब देवता अपने-अपने भवनको चले गये । शत्रुदमन ! इसी प्रकार आपके पितासे विदा लेकर सभी प्रमुख अप्सराएँ तथा दूसरी साधारण अप्सराएँ भी अपने-अपने घरको चली गयीं ॥ २९-३० ॥

ततः शक्रेण संदिष्टश्चित्रसेनो ममान्तिकम् ।
प्राप्तः कमलपत्राक्ष स च मामब्रवीदथ ॥ ३१ ॥

कमलनयन ! तदनन्तर देवराज इन्द्रका संदेश लेकर गन्धर्वप्रवर चित्रसेन मेरे पास आये और इस प्रकार बोले—॥

त्वत्कृतेऽहं सुरेशेन प्रेषितो वरवर्णिनि ।
प्रियं कुरु महेन्द्रस्य मम चैवात्मनश्च ह ॥ ३२ ॥

'वरवर्णिनि ! देवेश्वर इन्द्रने तुम्हारे लिये एक संदेश देकर मुझे भेजा है । तुम उसे सुनकर महेन्द्रका, मेरा तथा मुझसे अपना भी प्रिय कार्य करो ॥ ३२ ॥

शक्रतुल्यं रणे शूरं सदौदार्यगुणान्वितम् ।
पार्थं प्रार्थय सुश्रोणि त्वमित्येवं तदाब्रवीत् ॥ ३३ ॥

'सुश्रोणि ! जो संग्राममें इन्द्रके समान पराक्रमी और उदारता आदि गुणोंसे सदा सम्पन्न हैं, उन कुन्तीनन्दन अर्जुनकी सेवा तुम स्वीकार करो ।' इस प्रकार चित्रसेनने मुझसे कहा था ॥ ३३ ॥

ततोऽहं समनुज्ञाता तेन पित्रा च तेऽनघ ।
तवान्तिकमनुप्राप्ता शुश्रूषितुमरिंदम ॥ ३४ ॥

अनघ ! शत्रुदमन ! तदनन्तर चित्रसेन और तुम्हारे पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके मैं तुम्हारी सेवाके लिये तुम्हारे पास आयी हूँ ॥ ३४ ॥

त्वद्गुणाकृष्टचित्ताहमनङ्गवशमागता ।
चिराभिलषितो वीर ममाप्येष मनोरथः ॥ ३५ ॥

तुम्हारे गुणोंने मेरे चित्तको अपनी ओर खींच लिया है। मैं कामदेवके वशमें हो गयी हूँ। वीर ! मेरे हृदयमें भी चिरकालसे यह मनोरथ चला आ रहा था ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तां तथा ब्रुवतीं श्रुत्वा भृशं लज्जाऽऽवृतोऽर्जुनः ।
उवाच कर्णौ हस्ताभ्यां पिधाय त्रिदशालये ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! स्वर्गलोकमें उर्वशीकी यह बात सुनकर अर्जुन अत्यन्त लज्जासे गड़ गये और हाथोंसे दोनों कान मूँदकर बोले—॥ ३६ ॥

दुःश्रुतं मेऽस्तु सुभगे यन्मां वदसि भाविनि ।
गुरुदारैः समाना मे निश्चयेन वरानने ॥ ३७ ॥

'सौभाग्यशालिनि ! भाविनि ! तुम जैसी बात कह रही हो, उसे सुनना भी मेरे लिये बड़े दुःखकी बात है। वरानने ! निश्चय ही तुम मेरी दृष्टिमें गुरुपत्नियोंके समान पूजनीया हो ॥

यथा कुन्ती महाभागा यथेन्द्राणी शची मम ।
तथा त्वमपि कल्याणि नात्र कार्या विचारणा ॥ ३८ ॥

'कल्याणि ! मेरे लिये जैसी महाभागा कुन्ती और इन्द्राणी शची हैं, वैसी ही तुम भी हो। इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ३८ ॥

यच्चेक्षितासि विस्पष्टं विशेषेण मया शुभे ।
तच्च कारणपूर्वं हि शृणु सत्यं शुचिस्मिते ॥ ३९ ॥

'शुभे ! पवित्र मुसकानवाली उर्वशी ! मैंने जो उस समय सभामें तुम्हारी ओर एकटक दृष्टिसे देखा था, उसका एक विशेष कारण था, उसे सत्य बताता हूँ सुनो ॥ ३९ ॥

इयं पौरववंशस्य जननी मुदितेति ह ।
त्वामहं दृष्टवांस्तत्र विज्ञायोत्फुल्ललोचनः ॥ ४० ॥
न मामर्हसि कल्याणि अन्यथा ध्यातुमप्सरः ।
गुरोर्गुरुतरा मे त्वं मम त्वं वंशवर्धिनी ॥ ४१ ॥

'यह आनन्दमयी उर्वशी ही पूरुवंशकी जननी है, ऐसा समझकर मेरे नेत्र खिल उठे और इस पूज्य भावको लेकर ही मैंने तुम्हें वहाँ देखा था। कल्याणमयी अप्सरा ! तुम मेरे विषयमें कोई अन्यथा भाव मनमें न लाओ। तुम मेरे वंशकी वृद्धि करनेवाली हो, अतः गुरुसे भी अधिक गौरवशालिनी हो'॥

उर्वश्युवाच

अनावृताश्च सर्वाः स्म देवराजाभिनन्दन ।
गुरुस्थाने न मां वीर नियोक्तुं त्वमिहार्हसि ॥ ४२ ॥

उर्वशीने कहा—वीर देवराजनन्दन ! हम सब अप्सराएँ स्वर्गवासियोंके लिये अनावृत हैं—हमारा किसीके साथ कोई पर्दा नहीं है। अतः तुम मुझे गुरुजनके स्थानपर नियुक्त न करो ॥ ४२ ॥

पूरोर्वंशे हि ये पुत्रा नप्तारो वा त्विहागताः ।
तपसा रमयन्त्यस्मान्न च तेषां व्यतिक्रमः ॥ ४३ ॥
तत् प्रसीद न मामार्तां विसर्जयितुमर्हसि ।
हृच्छयेन च संतप्तां भक्तां च भज मानद ॥ ४४ ॥

पूरुवंशके कितने ही पोते-नाती तपस्या करके यहाँ आते हैं और वे हम सब अप्सराओंके साथ रमण करते हैं। इसमें उनका कोई अपराध नहीं समझा जाता। मानद ! मुझपर प्रसन्न होओ। मैं कामवेदनासे पीडित हूँ, मेरा त्याग न करो। मैं तुम्हारी भक्त हूँ और मदनाग्निसे दग्ध हो रही हूँ; अतः मुझे अङ्गीकार करो ॥ ४३-४४ ॥

अर्जुन उवाच

शृणु सत्यं वरारोहे यत् त्वां वक्ष्याम्यनिन्दिते ।
शृण्वन्तु मे दिशश्चैव विदिशश्च सदेवताः ॥ ४५ ॥

अर्जुनने कहा—वरारोहे ! अनिन्दिते ! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, मेरे उस सत्य वचनको सुनो। ये दिशा, विदिशा तथा उनकी अधिष्ठात्री देवियाँ भी सुन लें ॥४५॥

यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे ।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ॥ ४६ ॥

अनघे ! मेरी दृष्टिमें कुन्ती, माद्री और शचीका जो स्थान है, वही तुम्हारा भी है। तुम पूरुवंशकी जननी होनेके कारण आज मेरे लिये परम गुरुस्वरूप हो ॥ ४६ ॥

गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि ।
त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत् त्वया ॥ ४७ ॥

वरवर्णिनि ! मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर तुम्हारी शरणमें आया हूँ। तुम लौट जाओ। मेरी दृष्टिमें तुम माताके समान पूजनीया हो और तुम्हें पुत्रके समान मानकर मेरी रक्षा करनी चाहिये ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता तु पार्थेन उर्वशी क्रोधमूर्च्छिता ।
वेपन्ती भ्रुकुटीवक्त्रा शशापाथ धनंजयम् ॥ ४८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीकुमार अर्जुनके ऐसा कहनेपर उर्वशी क्रोधसे व्याकुल हो उठी। उसका शरीर

काँपने लगा और भौंहें टेढ़ी हो गयीं। उसने अर्जुनको शाप देते हुए कहा॥ ४८॥



उर्वश्युवाच

तव पित्राभ्यनुज्ञातां स्वयं च गृहमागताम्।
यस्मान्मां नाभिनन्देथाः कामबाणवशंगताम्॥ ४९॥
तस्मात् त्वं नर्तनः पार्थ स्त्रीमध्ये मानवर्जितः।
अपुमानिति विख्यातः षण्ढवद् विचरिष्यसि॥ ५०॥

उर्वशी बोली—अर्जुन! तुम्हारे पिता इन्द्रके कहनेसे मैं स्वयं तुम्हारे घरपर आयी और कामबाणसे घायल हो रही हूँ, फिर भी तुम मेरा आदर नहीं करते। अतः तुम्हें स्त्रियोंके बीचमें सम्मानरहित होकर नर्तक बनकर रहना पड़ेगा। तुम नपुंसक कहलाओगे और तुम्हारा सारा आचार-व्यवहार हिजड़ोंके ही समान होगा॥ ४९-५०॥

एवं दत्त्वार्जुने शापं स्फुरदोष्ठी श्वसन्त्यथ।
पुनः प्रत्यागता क्षिप्रमुर्वशी गृहमात्मनः॥ ५१॥

फड़कते हुए ओठोंसे इस प्रकार शाप देकर उर्वशी लंबी साँसें खींचती हुई पुनः शीघ्र ही अपने घरको लौट गयी॥

ततोऽर्जुनस्त्वरमाणश्चित्रसेनमरिंदमः।
सम्प्राप्य रजनीवृत्तं तदुर्वश्या यथातथम्॥ ५२॥
निवेदयामास तदा चित्रसेनाय पाण्डवः।
तत्र चैवं यथावृत्तं शापं चैव पुनः पुनः॥ ५३॥

तदनन्तर शत्रुदमन पाण्डुकुमार अर्जुन बड़ी उतावलीके साथ चित्रसेनके समीप गये तथा रातमें उर्वशीके साथ जो घटना जिस प्रकार घटित हुई, वह सब उन्होंने उस समय चित्रसेनको ज्यों-का-त्यों कह सुनायी। साथ ही उसके शाप देनेकी बात भी उन्होंने बार-बार दुहरायी॥ ५२-५३॥

अवेदयच्च शक्रस्य चित्रसेनोऽपि सर्वशः।
तत आनाय्य तनयं विविक्ते हरिवाहनः॥ ५४॥
सान्त्वयित्वा शुभैर्वाक्यैः स्मयमानोऽभ्यभाषत।
सुपुत्राद्य पृथा तात त्वया पुत्रेण सत्तम॥ ५५॥

चित्रसेनने भी सारी घटना देवराज इन्द्रसे निवेदन की। तब इन्द्रने अपने पुत्र अर्जुनको बुलाकर एकान्तमें कल्याणमय वचनोंद्वारा सान्त्वना देते हुए मुसकराकर उनसे कहा—'तात! तुम सत्पुरुषोंके शिरोमणि हो, तुम-जैसे पुत्रको पाकर कुन्ती वास्तवमें श्रेष्ठ पुत्रवाली है॥ ५४-५५॥

ऋषयोऽपि हि धैर्येण जिता वै ते महाभुज।
यत् तु दत्तवती शापमुर्वशी तव मानद॥ ५६॥
स चापि तेऽर्थकृत् तात साधकश्च भविष्यति॥ ५७॥
अज्ञातवासो वस्तव्यो भवद्भिर्भूतलेऽनघ।
वर्षे त्रयोदशे वीर तत्र त्वं क्षपयिष्यसि॥ ५८॥

'महाबाहो! तुमने अपने धैर्य (इन्द्रियसंयम) के द्वारा ऋषियोंको भी पराजित कर दिया है। मानद! उर्वशीने जो तुम्हें शाप दिया है, वह तुम्हारे अभीष्ट अर्थका साधक होगा। अनघ! तुम्हें भूतलपर तेरहवें वर्षमें अज्ञात वास करना है। वीर! उर्वशीके दिये हुए शापको तुम उसी वर्षमें पूर्ण कर दोगे॥ ५६—५८॥

तेन नर्तनवेषेण अपुंस्त्वेन तथैव च।
वर्षमेकं विहृत्यैव ततः पुंस्त्वमवाप्स्यसि॥ ५९॥

'नर्तक वेष और नपुंसक भावसे एक वर्षतक इच्छानुसार विचरण करके तुम फिर अपना पुरुषत्व प्राप्त कर लोगे' ५९

एवमुक्तस्तु शक्रेण फाल्गुनः परवीरहा।
मुदं परमिकां लेभे न च शापं व्यचिन्तयत्॥ ६०॥

इन्द्रके ऐसा कहनेपर शत्रु वीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर तो उन्हें शापकी चिन्ता छूट गयी॥ ६०॥

चित्रसेनेन सहितो गन्धर्वेण यशस्विना।
रेमे स स्वर्गभवने पाण्डुपुत्रो धनंजयः॥ ६१॥

पाण्डुपुत्र धनंजय महायशस्वी गन्धर्व चित्रसेनके साथ स्वर्गलोकमें सुखपूर्वक रहने लगे॥ ६१॥

इदं यः शृणुयाद् वृत्तं नित्यं पाण्डुसुतस्य वै।
न तस्य कामः कामेषु पापकेषु प्रवर्तते॥ ६२॥

जो मनुष्य पाण्डुनन्दन अर्जुनके इस चरित्रको प्रतिदिन सुनता है, उसके मनमें पापपूर्ण विषयभोगोंकी इच्छा नहीं होती॥ ६२॥

इदममरवरात्मजस्य घोरं
शुचि चरितं विनिशम्य फाल्गुनस्य।
व्यपगतमददम्भरागदोषा-
स्त्रिदिवगता विरमन्ति मानवेन्द्राः॥६३॥

देवराज इन्द्रके पुत्र अर्जुनके इस अत्यन्त दुष्कर पवित्र चरित्रको सुनकर मद, दम्भ तथा विषयासक्ति आदि दोषोंसे रहित श्रेष्ठ मानव स्वर्गलोकमें जाकर वहाँ सुखपूर्वक निवास करते हैं ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि उर्वशीशापो नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें उर्वशीशाप नामक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

लोमश मुनिका स्वर्गमें इन्द्र और अर्जुनसे मिलकर उनका संदेश ले काम्यकवनमें आना

वैशम्पायन उवाच

कदाचिदटमानस्तु महर्षिरुत लोमशः ।
जगाम शक्रभवनं पुरन्दरदिदृक्षया ॥ १ ॥
स समेत्य नमस्कृत्य देवराजं महामुनिः ।
ददर्शार्धासनगतं पाण्डवं वासवस्य हि ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! एक समयकी बात है, महर्षि लोमश इधर-उधर घूमते हुए इन्द्रसे मिलनेकी इच्छा लेकर स्वर्गलोकमें गये । उन महामुनिने देवराज इन्द्रसे मिलकर उन्हें नमस्कार किया और देखा, पाण्डुनन्दन अर्जुन इन्द्रके आधे सिंहासनपर बैठे हैं ॥ १-२ ॥

ततः शक्राभ्यनुज्ञात आसने विष्टरोत्तरे।
निषसाद द्विजश्रेष्ठः पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ ३ ॥

तदनन्तर इन्द्रकी आज्ञासे एक उत्तम सिंहासनपर, जहाँ ऊपर कुशका आसन बिछा हुआ था, महर्षियोंसे पूजित द्विजवर लोमशजी बैठे ॥ ३ ॥

तस्य दृष्ट्वाभवद् बुद्धिः पार्थमिन्द्रासने स्थितम्।
कथं नु क्षत्रियः पार्थः शक्रासनमवाप्तवान् ॥ ४ ॥

इन्द्रके सिंहासनपर बैठे हुए कुन्तीकुमार अर्जुनको देखकर लोमशजीके मनमें यह विचार हुआ कि 'क्षत्रिय होकर भी कुन्तीकुमारने इन्द्रका आसन कैसे प्राप्त कर लिया ? ॥ ४ ॥

किं त्वस्य सुकृतं कर्म के लोका वै विनिर्जिताः।
स एवमनुसम्प्राप्तः स्थानं देवनमस्कृतम् ॥ ५ ॥

'इनका पुण्य-कर्म क्या है ? इन्होंने किन-किन लोकोंपर विजय पायी है ? किस पुण्यके प्रभावसे इन्होंने यह देववन्दित स्थान प्राप्त किया है ?' ॥ ५ ॥

तस्य विज्ञाय संकल्पं शक्रो वृत्रनिषूदनः ।
लोमशं प्रहसन् वाक्यमिदमाह शचीपतिः ॥ ६ ॥

लोमश मुनिके संकल्पको जानकर वृत्रहन्ता शचीपति इन्द्रने हँसते हुए उनसे कहा—॥ ६ ॥

ब्रह्मर्षे श्रूयतां यत् ते मनसैतद् विवक्षितम् ।
नायं [illegible] वै [illegible]मुपागतः ॥ ७ ॥

'ब्रह्मर्षे ! आपके मनमें जो प्रश्न उठा है' उसका समाधान कर रहा हूँ, सुनिये । ये अर्जुन मानवयोनिमें उत्पन्न हुए केवल मरणधर्मा मनुष्य नहीं हैं ॥ ७ ॥

महर्षे मम पुत्रोऽयं कुन्त्यां जातो महाभुजः ।
अस्त्रहेतोरिह प्राप्तः कस्माच्चित् कारणान्तरात् ॥ ८ ॥
अहो नैनं भवान् वेत्ति पुराणमृषिसत्तमम् ।
शृणु मे वदतो ब्रह्मन् योऽयं यच्चास्य कारणम्॥ ९ ॥

'महर्षे ! ये महाबाहु धनंजय कुन्तीके गर्भसे उत्पन्न हुए मेरे पुत्र हैं और कुछ कारणवश अस्त्रविद्या सीखनेके लिये यहाँ आये हैं । आश्चर्य है कि आप इन पुरातन ऋषिप्रवरको नहीं जानते हैं । ब्रह्मन् ! इनका जो स्वरूप है और इनके अवतार-ग्रहणका जो कारण है, वह सब मैं बता रहा हूँ । आप मेरे मुँहसे यह सब सुनिये ॥ ८-९ ॥

नरनारायणौ यौ तौ पुराणावृषिसत्तमौ ।
ताविमावनुजानीहि हृषीकेशधनंजयौ ॥ १० ॥

'नर-नारायण नामसे प्रसिद्ध जो पुरातन मुनीश्वर हैं' वे ही श्रीकृष्ण और अर्जुनके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं, यह बात आप जान लें ॥ १० ॥

विख्यातौ त्रिषु लोकेषु नरनारायणावृषी ।
कार्यार्थमवतीर्णौ तौ पृथ्वीं पुण्यप्रतिश्रयाम् ॥ ११ ॥

'तीनों लोकोंमें विख्यात नर-नारायण ऋषि ही देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये पुण्यके आधाररूप भूतलपर अवतीर्ण हुए हैं ॥ ११ ॥

यन्न शक्यं सुरैर्द्रष्टुमृषिभिर्वा महात्मभिः ।
तदाश्रमपदं पुण्यं बदरीनाम विश्रुतम् ॥ १२ ॥
स निवासोऽभवद् विप्र विष्णोर्जिष्णोस्तथैव च ।
यतः प्रववृते गङ्गा सिद्धचारणसेविता ॥ १३ ॥

'देवता अथवा महात्मा महर्षि भी जिसे देखनेमें समर्थ नहीं, वह बदरी नामसे विख्यात पुण्यतीर्थ इनका आश्रम है [illegible] इन श्रीकृष्ण और अर्जुनका (नारायण और

नरका) निवासस्थान था। जहाँसे सिद्ध-चारणसेवित गङ्गाका प्राकट्य हुआ है ॥ १२-१३ ॥

तौ मन्नियोगाद् ब्रह्मर्षे क्षितौ जातौ महाद्युती।
भूमेर्भारावतरणं महावीर्यौ करिष्यतः ॥ १४ ॥

'ब्रह्मर्षे ! ये दोनों महातेजस्वी नर और नारायण मेरे अनुरोधसे पृथ्वीपर उत्पन्न हुए हैं। इनकी शक्ति महान् है, ये दोनों इस पृथ्वीका भार उतारेंगे ॥ १४ ॥

उद्वृत्ता ह्यसुराः केचिन्निवातकवचा इति।
विप्रियेषु स्थितास्माकं वरदानेन मोहिताः ॥ १५ ॥

'इन दिनों निवातकवच नामसे प्रसिद्ध कुछ असुरगण बड़े उद्दण्ड हो रहे हैं, वे वरदानसे मोहित होकर हमारा अनिष्ट करनेमें लगे हुए हैं ॥ १५ ॥

तर्कयन्ते सुरान् हन्तुं बलदर्पसमन्विताः।
देवान् न गणयन्त्येते तथा दत्तवरा हि ते ॥ १६ ॥

'उनमें बल तो है ही, बली होनेका अभिमान भी है। वे देवताओंको मार डालनेका विचार करते हैं। देवताओंको तो वे लोग कुछ गिनते ही नहीं; क्योंकि उन्हें वैसा ही वरदान प्राप्त हो चुका है ॥ १६ ॥

पातालवासिनो रौद्रा दनोः पुत्रा महाबलाः।
सर्वदेवनिकाया हि नालं योधयितुं हि तान् ॥ १७ ॥
योऽसौ भूमिगतः श्रीमान् विष्णुर्मधुनिषूदनः।
कपिलो नाम देवोऽसौ भगवानजितो हरिः ॥ १८ ॥

'वे महाबली भयंकर दानव पातालमें निवास करते हैं। सम्पूर्ण देवता मिलकर भी उनके साथ युद्ध नहीं कर सकते। इस समय भूतलपर जिनका अवतार हुआ है, वे श्रीमान् मधुसूदन विष्णु ही कपिल नामसे प्रसिद्ध देवता हुए हैं। वे ही भगवान् अपराजित हरि हैं ॥ १७-१८ ॥

येन पूर्वं महात्मानः खनमाना रसातलम्।
दर्शनादेव निहताः सगरस्यात्मजा विभो ॥ १९ ॥

'महर्षे ! पूर्वकालमें रसातलको खोदनेवाले सगरके महामना पुत्र उन्हीं कपिलकी दृष्टिमात्र पड़नेसे भस्म हो गये थे ॥ १९ ॥

तेन कार्यं महत् कार्यमस्माकं द्विजसत्तम।
पार्थेन च महायुद्धे समेताभ्यां न संशयः ॥ २० ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! वे भगवान् श्रीहरि हमारा महान् कार्य सिद्ध कर सकते हैं। कुन्तीकुमार अर्जुनसे भी हमारा कार्य सिद्ध हो सकता है। यदि श्रीकृष्ण और अर्जुन किसी महायुद्धमें एक दूसरेसे मिल जायँ तो वे दोनों एक साथ होकर महान्-से-महान् कार्य सिद्ध कर सकते हैं' इसमें संशय नहीं है ॥ २० ॥

सोऽसुरान् दर्शनादेव शक्तो हन्तुं सहानुगान्।
निवातकवचान् सर्वान् नागानिव महाह्रदे ॥ २१ ॥

'भगवान् श्रीकृष्ण तो दृष्टिनिक्षेपमात्रसे ही महान् कुण्डमें निवास करनेवाले नागोंकी भाँति समस्त 'निवातकवच' नामक दानवोंको उनके अनुयायियोंसहित मार डालनेमें समर्थ हैं ॥ २१ ॥

किं तु नाल्पेन कार्येण प्रबोध्यो मधुसूदनः।
तेजसः सुमहाराशिः प्रबुद्धः प्रदहेज्जगत् ॥ २२ ॥

'परंतु किसी छोटे कार्यके लिये भगवान् मधुसूदनको सूचना देनी उचित नहीं जान पड़ती। वे तेजके महान् राशि हैं; यदि प्रज्वलित हों तो सम्पूर्ण जगत्को भस्म कर सकते हैं ॥ २२ ॥

अयं तेषां समस्तानां शक्तः प्रतिसमासने।
तान् निहत्य रणे शूरः पुनर्यास्यति मानुषान् ॥ २३ ॥

'ये शूरवीर अर्जुन अकेले ही उन समस्त निवातकवचोंका संहार करनेमें समर्थ हैं। उन सबको युद्धमें मारकर ये फिर मनुष्यलोकको लौट जायँगे ॥ २३ ॥

भवानस्मन्नियोगेन यातु तावन्महीतलम्।
काम्यके द्रक्ष्यसे वीरं निवसन्तं युधिष्ठिरम् ॥ २४ ॥

'मुने ! आप मेरे अनुरोधसे कृपया भूलोकमें जाइये और काम्यकवनमें निवास करनेवाले युधिष्ठिरसे मिलिये ॥ २४ ॥

स वाच्यो मम संदेशाद् धर्मात्मा सत्यसंगरः।
नोत्कण्ठा फाल्गुने कार्या कृतास्त्रः शीघ्रमेष्यति ॥ २५ ॥

'वे बड़े धर्मात्मा और सत्यप्रतिज्ञ हैं। उनसे मेरा यह संदेश कहियेगा—'राजन् ! आप अर्जुनके वापस लौटनेके विषयमें उत्कण्ठित न हों। वे अस्त्रविद्या सीखकर शीघ्र ही लौट आयेंगे ॥ २५ ॥

नाशुद्धबाहुवीर्येण नाकृतास्त्रेण वा रणे।
भीष्मद्रोणादयो युद्धे शक्याः प्रतिसमासितुम् ॥ २६ ॥

'जिसका बाहुबल पूर्ण अस्त्रशिक्षाके अभावसे त्रुटिपूर्ण हो तथा जिसने अस्त्रविद्याका पूर्ण ज्ञान न प्राप्त किया हो, वह युद्धमें भीष्म-द्रोण आदिका सामना नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

गृहीतास्त्रो गुडाकेशो महाबाहुर्महामनाः।
नृत्यवादित्रगीतानां दिव्यानां पारमीयिवान् ॥ २७ ॥

'महाबाहु महामना अर्जुन अस्त्रविद्याकी पूरी शिक्षा पा चुके हैं। वे दिव्य नृत्य, वाद्य एवं गीतकी कलामें भी पारङ्गत हो गये हैं ॥ २७ ॥

भवानपि विविक्तानि तीर्थानि मनुजेश्वर।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैर्द्रष्टुमर्हत्यरिंदम ॥ २८ ॥
तीर्थेष्वाप्लुत्य पुण्येषु विपाप्मा विगतज्वरः।
राज्यं भोक्ष्यसि राजेन्द्र सुखी विगतकल्मषः ॥ २९ ॥

'मनुजेश्वर ! शत्रुदमन ! आप भी अपने सभी भाइयोंके साथ

पवित्र तीर्थोंका दर्शन कीजिये। राजेन्द्र ! पुण्यतीर्थोंमें स्नान करके पाप-तापसे रहित हो सुखी एवं निष्कलंक जीवन बिताते हुए आप राज्यभोग करेंगे' ॥ २८-२९ ॥

एवांश्चैनं द्विजश्रेष्ठ पर्यटन्तं महीतलम् ।
त्रातुमर्हति विप्राग्र्य तपोबलसमन्वितः ॥ ३० ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! आप भी भूतलपर विचरनेवाले राजा युधिष्ठिरकी रक्षा करते रहें; क्योंकि आप तपोबलसे सम्पन्न हैं ॥ ३० ॥

गिरिदुर्गेषु च सदा देशेषु विषमेषु च ।
वसन्ति राक्षसा रौद्रास्तेभ्यो रक्षां विधास्यति ॥ ३१ ॥

'पर्वतोंके दुर्गम स्थानोंमें तथा ऊँची-नीची भूमियोंमें भयंकर राक्षस निवास करते हैं; उनसे आप भाइयोंसहित युधिष्ठिरकी रक्षा कीजियेगा' ॥ ३१ ॥

एवमुक्तो महेन्द्रेण बीभत्सुरपि लोमशम् ।
उवाच प्रयतो वाक्यं रक्षेथाः पाण्डुनन्दनम् ॥ ३२ ॥

महेन्द्रके ऐसा कहनेपर अर्जुनने भी विनीत होकर लोमश मुनिसे कहा—'मुने ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी भाइयों-सहित रक्षा कीजिये ॥ ३२ ॥

यथा गुप्तस्त्वया राजा चरेत् तीर्थानि सत्तम ।
दानं दद्याद् यथा चैव तथा कुरु महामुने ॥ ३३ ॥

'साधुशिरोमणे ! महामुने ! आपसे सुरक्षित रहकर राजा युधिष्ठिर तीर्थोंमें भ्रमण करें और दान दें—ऐसी कृपा कीजिये' ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेति सम्प्रतिज्ञाय लोमशः सुमहातपाः ।
काम्यकं वनमुद्दिश्य समुपायान्महीतलम् ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! 'बहुत अच्छा' कहकर महातपस्वी लोमशजीने उनका अनुरोध मान लिया और काम्यकवनमें जानेके लिये भूलोककी ओर प्रस्थान किया ॥ ३४ ॥

ददर्श तत्र कौन्तेयं धर्मराजमरिंदमम् ।
तापसैर्भ्रातृभिश्चैव सर्वतः परिवारितम् ॥ ३५ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने शत्रुदमन कुन्तीकुमार धर्मराज युधिष्ठिरको भाइयों तथा तपस्वी मुनियोंसे घिरा हुआ देखा ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि लोमशगमने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें लोमशगमनविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

दुःखित धृतराष्ट्रका संजयके सम्मुख अपने पुत्रोंके लिये चिन्ता करना

जनमेजय उवाच

अत्यद्भुतमिदं कर्म पार्थस्यामिततेजसः ।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः श्रुत्वा विप्र किमब्रवीत् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! अमित तेजस्वी कुन्ती-कुमार अर्जुनका यह कर्म तो अत्यन्त अद्भुत है। परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने भी यह सब अवश्य सुना होगा। उसे सुनकर उन्होंने क्या कहा था ? यह बतलाइये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

शक्रलोकगतं पार्थं श्रुत्वा राजाम्बिकासुतः ।
द्वैपायनादृषिश्रेष्ठात् संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने ऋषि द्वैपायन व्यासके मुखसे अर्जुनके इन्द्रलोकगमनका समाचार सुनकर संजयसे यह बात कही ॥

धृतराष्ट्र उवाच

श्रुतं मे सूत कार्त्स्न्येन कर्म पार्थस्य धीमतः ।
कच्चित् तवापि विदितं याथातथ्येन सारथे ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—सूत ! मैंने परम बुद्धिमान् कुन्ती-कुमार अर्जुनका सारा वृत्तान्त सुना है। सारथे ! क्या तुम्हें भी इस विषयमें यथार्थ बातें ज्ञात हुई हैं ? ॥ ३ ॥



प्रमत्तो ग्राम्यधर्मेषु मन्दात्मा पापनिश्चयः।
मम पुत्रः सुदुर्बुद्धिः पृथिवीं घातयिष्यति ॥ ४ ॥

मेरा मूढ़बुद्धि पुत्र तो विषयभोगोंमें फँसा हुआ है। उसका विचार सदा पापपूर्ण ही बना रहता है। प्रमादमें पड़ा हुआ वह अत्यन्त दुर्बुद्धि दुर्योधन एक दिन सारे भूमण्डलका नाश करा देगा ॥ ४ ॥

यस्य नित्यमृता वाचः स्वैरेष्वपि महात्मनः।
त्रैलोक्यमपि तस्य स्याद् योद्धा यस्य धनंजयः॥ ५ ॥

जिन महात्माके मुखसे हँसीमें भी सदा सत्य ही बातें निकलती हैं और जिनकी ओरसे लड़नेवाले धनंजय-जैसे योद्धा हैं, उन धर्मराज युधिष्ठिरके लिये इस कौरव-राज्यको जीतनेकी तो बात ही क्या है, वे तीनों लोकोंपर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं ॥ ५ ॥

अस्यतः कर्णिनाराचांस्तीक्ष्णाग्रांश्च शिलाशितान्।
कोऽर्जुनस्याग्रतस्तिष्ठेदपि मृत्युर्जरातिगः ॥ ६ ॥

जो पत्थरपर रगड़कर तेज किये गये हैं, जिनके अग्रभाग बड़े तीखे हैं, उन कर्णिनामक नाराचोंका प्रहार करनेवाले अर्जुनके आगे कौन योद्धा ठहर सकता है ? जराविजयी मृत्यु भी उनका सामना नहीं कर सकती ॥ ६ ॥

मम पुत्रा दुरात्मानः सर्वे मृत्युवशानुगाः।
येषां युद्धं दुराधर्षैः पाण्डवैः प्रत्युपस्थितम् ॥ ७ ॥

मेरे सभी दुरात्मा पुत्र मृत्युके वशमें हो गये हैं; क्योंकि उनके सामने दुर्धर्ष वीर पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेका अवसर उपस्थित हुआ है ॥ ७ ॥

तथैव च न पश्यामि युधि गाण्डीवधन्वनः।
अनिशं चिन्तयानोऽपि य एनमुदियाद् रथी ॥ ८ ॥

मैं दिन-रात विचार करनेपर भी यह नहीं समझ पाता कि युद्धमें 'गाण्डीवधन्वा' अर्जुनका सामना कौन रथी कर सकता है ? ॥ ८ ॥

द्रोणकर्णौ प्रतीयातां यदि भीष्मोऽपि वा रणे।
महान् स्यात् संशयो लोके तत्र पश्यामि नो जयम्॥ ९॥

द्रोण और कर्ण उस अर्जुनका सामना कर सकते हैं। भीष्म भी युद्धमें उनसे लोहा ले सकते हैं; परंतु तो भी मेरे मनमें महान् संशय ही बना हुआ है। मुझे इस लोकमें अपने पक्षकी जीत नहीं दिखायी देती ॥ ९ ॥

घृणी कर्णः प्रमादी च आचार्यः स्थविरो गुरुः।
अमर्षी बलवान् पार्थः संरम्भी दृढविक्रमः ॥ १० ॥
सम्भवेत् तुमुलं युद्धं सर्वशोऽप्यपराजितम्।
सर्वे ह्यस्त्रविदः शूराः सर्वे प्राप्ता महद् यशः ॥ ११ ॥

कर्ण दयालु और प्रमादी है। आचार्य द्रोण वृद्ध एवं गुरु हैं। उधर कुन्तीकुमार अर्जुन अत्यन्त अमर्षमें भरे हुए और बलवान् हैं। उद्योगी और दृढ़ पराक्रमी हैं। सब ओरसे घमासान युद्ध छिड़नेकी सम्भावना हो गयी है। युद्धमें पाण्डवोंकी पराजय नहीं हो सकती; क्योंकि उनकी ओर सभी अस्त्रविद्याके विद्वान् शूरवीर और महान् यशस्वी हैं ॥ १०-११ ॥

अपि सर्वेश्वरत्वं हि ते वाञ्छन्त्यपराजिताः।
वधे नूनं भवेच्छान्तिरेतेषां फाल्गुनस्य वा ॥ १२ ॥

और वे पराजित न होकर सर्वेश्वर सम्राट् बननेकी इच्छा रखते हैं। इन कर्ण आदि योद्धाओंका वध हो जाय अथवा अर्जुन ही मारे जायँ तो इस विवादकी शान्ति हो सकती है ॥

न तु हन्तार्जुनस्यास्ति जेता वास्य न विद्यते।
मन्युस्तस्य कथं शाम्येन्मन्दान् प्रति समुत्थितः॥ १३ ॥

परंतु अर्जुनको मारनेवाला या जीतनेवाला कोई नहीं है। मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंके प्रति उनका बढ़ा हुआ क्रोध कैसे शान्त हो सकता है ? ॥ १३ ॥

त्रिदशेशसमो वीरः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत्।
जिगाय पार्थिवान् सर्वान् राजसूये महाक्रतौ ॥ १४ ॥

अर्जुन इन्द्रके समान वीर हैं। उन्होंने खाण्डववनमें अग्निको तृप्त किया तथा राजसूय महायज्ञमें समस्त राजाओंपर विजय पायी ॥ १४ ॥

शेषं कुर्याद् गिरेर्वज्रो निपतन् मूर्ध्नि संजय।
न तु कुर्युः शराः शेषं क्षिप्तास्तात किरीटिना ॥ १५ ॥

संजय ! पर्वतके शिखरपर गिरनेवाला वज्र भले ही कुछ बाकी छोड़ दे; किंतु तात ! किरीटधारी अर्जुनके चलाये हुए बाण कुछ भी शेष नहीं छोड़ेंगे ॥ १५ ॥

यथा हि किरणा भानोस्तपन्तीह चराचरम्।
तथा पार्थभुजोत्सृष्टाः शरास्तप्स्यन्ति मत्सुतान् ॥ १६ ॥

जैसे सूर्यकी किरणें चराचर जगत्को संतप्त करती हैं, उसी प्रकार अर्जुनकी भुजाओंद्वारा चलाये गये बाण मेरे पुत्रोंको संतप्त कर देंगे ॥ १६ ॥

अपि तद्रथघोषेण भयार्ता सव्यसाचिनः।
प्रतिभाति विदीर्णेव सर्वतो भारती चमूः ॥ १७ ॥

मुझे तो आज भी सव्यसाची अर्जुनके रथकी घर-घराहटसे सारी कौरव-सेना भयातुर हो छिन्न-भिन्न-सी होती प्रतीत हो रही है ॥ १७ ॥

यदोद्वहन् प्रवपंश्चैव बाणान्
स्थाताऽऽततायी समरे किरीटी।
सृष्टोऽन्तकः सर्वहरो विधात्रा
भवेद् यथा तद्वदपारणीयः ॥ १८ ॥

जब किरीटधारी अर्जुन हाथोंमें अस्त्र शस्त्र लिये (तूणीरसे

बाण निकालते और चलाते हुए समरभूमिमें खड़े होंगे, उस समय उनसे पार पाना असम्भव हो जायगा। वे ऐसे जान पड़ेंगे, मानो विधाताने किसी दूसरे सर्वसंहारकारी यमराजकी सृष्टि कर दी हो ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रविलापेऽष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें धृतराष्ट्रविलापविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४८॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयके द्वारा धृतराष्ट्रकी बातोंका अनुमोदन और धृतराष्ट्रका संताप

संजय उवाच

यदेतत् कथितं राजंस्त्वया दुर्योधनं प्रति।
सर्वमेतद् यथातत्त्वं नैतन्मिथ्या महीपते ॥ १ ॥

संजय बोला—राजन्! आपने दुर्योधनके विषयमें जो बातें कही हैं, वे सभी यथार्थ हैं। महीपते! आपका वचन मिथ्या नहीं है ॥ १ ॥

मन्युना हि समाविष्टाः पाण्डवास्ते महौजसः।
दृष्ट्वा कृष्णां सभां नीतां धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ॥ २ ॥
दुःशासनस्य ता वाचः श्रुत्वा ते दारुणोदयाः।
कर्णस्य च महाराज जुगुप्सन्तीति मे मतिः ॥ ३ ॥

महातेजस्वी वे पाण्डव अपनी धर्मपत्नी यशस्विनी कृष्णाको सभामें लायी गयी देखकर क्रोधसे भरे हुए हैं और महाराज! दुःशासन तथा कर्णकी वे कठोर बातें सुनकर पाण्डव आपलोगोंकी निन्दा करते हैं, ऐसा मुझे विश्वास है ॥ २-३ ॥

श्रुतं हि मे महाराज यथा पार्थेन संयुगे।
एकादशतनुः स्थाणुर्धनुषा परितोषितः ॥ ४ ॥

राजेन्द्र! मैंने यह भी सुना है कि कुन्तीकुमार अर्जुनने एकादश मूर्तिधारी भगवान् शंकरको भी अपने धनुष-बाणकी कलाद्वारा संतुष्ट किया है ॥ ४ ॥

कैरातं वेषमास्थाय योधयामास फाल्गुनम्।
जिज्ञासुः सर्वदेवेशः कपर्दी भगवान् स्वयम् ॥ ५ ॥

जटाजूटधारी सर्वदेवेश्वर भगवान् शंकरने स्वयं ही अर्जुनके बलकी परीक्षा लेनेके लिये किरातवेष धारण करके उनके साथ युद्ध किया था ॥ ५ ॥

तत्रैनं लोकपालास्ते दर्शयामासुरर्जुनम्।
अस्त्रहेतोः पराक्रान्तं तपसा कौरवर्षभम् ॥ ६ ॥

वहाँ अस्त्रप्राप्तिके लिये विशेष उद्योगशील कुरुकुलरत्न अर्जुनको उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर उन लोकपालोंने भी दर्शन दिया था ॥ ६ ॥

नैतदुत्सहते चान्यो लब्धुमन्यत्र फाल्गुनात्।
साक्षाद् दर्शनमेतेषामीश्वराणां नरो भुवि ॥ ७ ॥

इस संसारमें अर्जुनको छोड़कर दूसरा कोई मनुष्य ऐसा नहीं है, जो इन लोकेश्वरोंका साक्षात् दर्शन प्राप्त कर सके ॥ ७ ॥

महेश्वरेण यो राजन् न जीर्णो ह्यष्टमूर्तिना।
कस्तमुत्सहते वीरो युद्धे जरयितुं पुमान् ॥ ८ ॥

राजन्! अष्टमूर्ति[1] भगवान् महेश्वर भी जिसे युद्धमें पराजित न कर सके, उन्हीं वीरवर अर्जुनको दूसरा कौन वीर पुरुष जीतनेका साहस कर सकता है ॥ ८ ॥

आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम्।
द्रौपदीं परिकर्षद्भिः कोपयद्भिश्च पाण्डवान् ॥ ९ ॥

भरी सभामें द्रौपदीका वस्त्र खींचकर पाण्डवोंको कुपित करनेवाले आपके पुत्रोंने स्वयं ही इस रोमाञ्चकारी, अत्यन्त भयंकर एवं घमासान युद्धको निमन्त्रित किया है ॥ ९ ॥

यत् तु प्रस्फुरमाणौष्ठो भीमः प्राह वचोऽर्थवत्।
दृष्ट्वा दुर्योधनेनोरू द्रौपद्या दर्शितावुभौ ॥ १० ॥

जब दुर्योधनने द्रौपदीको अपनी दोनों जाँघें दिखायी थीं, उस समय यह देखकर भीमसेनने फड़कते हुए ओठोंसे जो बात कही थी; वह व्यर्थ नहीं हो सकती ॥ १० ॥

ऊरू भेत्स्यामि ते पाप गदया भीमवेगया।
त्रयोदशानां वर्षाणामन्ते दुर्द्यूतदेविनः ॥ ११ ॥

उन्होंने कहा था—'पापी दुर्योधन! मैं तेरहवें वर्षके अन्तमें अपनी भयानक वेगवाली गदासे तुझ कपटी जुआरीकी दोनों जाँघें तोड़ डालूँगा' ॥ ११ ॥

सर्वे प्रहरतां श्रेष्ठाः सर्वे चामिततेजसः।
सर्वे सर्वास्त्रविद्वांसो देवैरपि सुदुर्जयाः ॥ १२ ॥

सभी पाण्डव प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ हैं। सभी अपरिमित तेजसे सम्पन्न हैं तथा सबको सभी अस्त्रोंका परिज्ञान है, अतः वे देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्जय हैं ॥ १२ ॥

मन्ये मन्युसमुद्धूताः पुत्राणां तव संयुगे।
अन्तं पार्थाः करिष्यन्ति भार्यामर्षसमन्विताः ॥ १३ ॥

मेरा तो ऐसा विश्वास है कि अपनी पत्नीके अपमानजनित अमर्षसे युक्त और रोषसे उत्तेजित हो समस्त कुन्तीपुत्र संग्राममें आपके पुत्रोंका संहार कर डालेंगे ॥ १३ ॥

---

[1] सूर्य, जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु, आकाश, दीक्षित ब्राह्मण तथा चन्द्रमा—ये शिवजीकी आठ मूर्तियाँ हैं। (विष्णुपुराण १।८।८)

धृतराष्ट्र उवाच

किं कृतं सूत कर्णेन वदता परुषं वचः।
पर्याप्तं वैरमेतावद् यत् कृष्णा सा सभां गता ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—सूत! कर्णने कठोर बातें कहकर क्या किया, पूरा वैर तो इतनेसे ही बढ़ गया कि द्रौपदीको सभामें (केश पकड़कर) लाया गया ॥ १४ ॥

अपीदानीं मम सुतास्तिष्ठेरन् मन्दचेतसः।
येषां भ्राता गुरुर्ज्येष्ठो विनये नावतिष्ठते ॥ १५ ॥

अब भी मेरे मूर्ख पुत्र चुपचाप बैठे हैं। उनका बड़ा भाई दुर्योधन विनय एवं नीतिके मार्गपर नहीं चलता ॥१५॥

ममापि वचनं सूत न शुश्रूषति मन्दभाक्।
दृष्ट्वा मां चक्षुषा हीनं निर्विचेष्टमचेतसम् ॥ १६ ॥

सूत! वह मन्दभागी दुर्योधन मुझे अन्धा, अकर्मण्य और अविवेकी समझकर मेरी बात भी नहीं सुनना चाहता ॥

ये चास्य सचिवा मन्दाः कर्णसौबलकादयः।
ते तस्य भूयसो दोषान् वर्धयन्ति विचेतसः ॥ १७ ॥

कर्ण और शकुनि आदि जो उसके मूर्ख मन्त्री हैं, वे भी विचारशून्य होकर उसके अधिक-से-अधिक दोष बढ़ानेकी ही चेष्टा करते हैं ॥ १७ ॥

स्वैरमुक्ता ह्यपि शराः पार्थेनामिततेजसा।
निर्दहेयुर्मम सुतान् किं पुनर्मन्युनेरिताः ॥१८॥

अमित तेजस्वी अर्जुनके द्वारा स्वेच्छापूर्वक छोड़े हुए बाण भी मेरे पुत्रोंको जलाकर भस्म कर सकते हैं, फिर क्रोधपूर्वक छोड़े हुए बाणोंके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥

पार्थबाहुबलोत्सृष्टा महाचापविनिःसृताः।
दिव्यास्त्रमन्त्रमुदिताः सादयेयुः सुरानपि ॥ १९ ॥

अर्जुनके बाहु-बलद्वारा चलाये और उनके महान् धनुषसे छूटे हुए दिव्यास्त्रमन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित बाण देवताओंका भी संहार कर सकते हैं ॥ १९ ॥

यस्य मन्त्री च गोप्ता च सुहृच्चैव जनार्दनः।
हरिस्त्रैलोक्यनाथः स किं नु तस्य न निर्जितम् ॥ २० ॥

जिनके मन्त्री, संरक्षक और सुहृद् त्रिभुवननाथ, जनार्दन श्रीहरि हैं, वे किसे नहीं जीत सकते ? ॥ २० ॥

इदं हि सुमहच्चित्रमर्जुनस्येह संजय।
महादेवेन बाहुभ्यां यत् समेत इति श्रुतिः ॥ २१ ॥

संजय! अर्जुनका यह पराक्रम तो बड़े ही आश्चर्यका विषय है कि उन्होंने महादेवजीके साथ बाहुयुद्ध किया, यह मेरे सुननेमें आया है ॥ २१ ॥

प्रत्यक्षं सर्वलोकस्य खाण्डवे यत् कृतं पुरा।
फाल्गुनेन सहायार्थे वह्नेर्दामोदरेण च ॥ २२ ॥

आजसे पहले खाण्डववनमें अग्निदेवकी सहायताके लिये श्रीकृष्ण और अर्जुनने जो कुछ किया है, वह तो सम्पूर्ण जगत्‌की आँखोंके सामने है ॥ २२ ॥

सर्वथा न हि मे पुत्राः सहामात्याः ससौबलाः।
क्रुद्धे पार्थे च भीमे च वासुदेवे च सात्वते ॥ २३ ॥

जब कुन्तीपुत्र अर्जुन, भीमसेन और यदुकुलतिलक वासुदेव श्रीकृष्ण क्रोधमें भरे हुए हैं, तब मुझे यह विश्वास कर लेना चाहिये कि शकुनि तथा अन्य मन्त्रियोंसहित मेरे सभी पुत्र सर्वथा जीवित नहीं रह सकते ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रखेदे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें धृतराष्ट्रखेदविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

वनमें पाण्डवोंका आहार

जनमेजय उवाच

यदिदं शोचितं राज्ञा धृतराष्ट्रेण वै मुने।
प्रव्राज्य पाण्डवान् वीरान् सर्वमेतन्निरर्थकम् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—मुने! वीर पाण्डवोंको वनमें निर्वासित करके राजा धृतराष्ट्रने जो इतना शोक किया, यह सब व्यर्थ था ॥ १ ॥

कथं च राजा पुत्रं तमुपेक्षेताल्पचेतसम्।
दुर्योधनं पाण्डुपुत्रान् कोपयानं महारथान् ॥ २ ॥

उस मन्दबुद्धि राजकुमार दुर्योधनको ही किसी तरह त्याग देना उनके लिये सर्वथा उचित था, जो महारथी पाण्डवोंको अपने दुर्व्यवहारसे कुपित करता जा रहा था ॥ २ ॥

किमासीत् पाण्डुपुत्राणां वने भोजनमुच्यताम्।
वानेयमथवा कृष्टमेतदाख्यातु नो भवान् ॥ ३ ॥

विप्रवर! बताइये, पाण्डवलोग वनमें क्या भोजन करते थे ? जंगली फल-मूल या खेतीसे पैदा हुआ ग्रामीण अन्न ? इसका आप स्पष्ट वर्णन कीजिये ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

वानेयांश्च मृगांश्चैव शुद्धैर्बाणैर्निपातितान्।
ब्राह्मणानां निवेद्याग्रमभुञ्जन् पुरुषर्षभाः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव जंगली फल-मूल और खेतीसे पैदा हुए अन्नादि भी पहले ब्राह्मणोंको निवेदन करके फिर स्वयं खाते थे एवं सब लोगोंकी रक्षाके लिये केवल बाणोंके द्वारा ही हिंसक पशुओंको मारा करते थे ॥ ४ ॥

तांस्तु शूरान् महेष्वासांस्तदा निवसतो वने।
अन्वयुर्ब्राह्मणा राजन् साग्नयोऽनग्नयस्तथा ॥ ५ ॥

राजन्! उन दिनों वनमें निवास करनेवाले महाधनुर्धर शूरवीर पाण्डवोंके साथ बहुत-से साग्निक (अग्निहोत्री) और निरग्निक (अग्निहोत्ररहित) ब्राह्मण भी रहते थे ॥५॥

ब्राह्मणानां सहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम्।
दश मोक्षविदां तत्र यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

राजा युधिष्ठिर जिनका पालन करते थे, वे महात्मा, स्नातक, मोक्षवेत्ता ब्राह्मण दस हजारकी संख्यामें थे ॥ ६ ॥

रुरून् कृष्णमृगांश्चैव मेध्यांश्चान्यान् वनेचरान्।
बाणैरुन्मथ्य विविधैर्ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयत् ॥ ७ ॥

वे रुरुमृग, कृष्णमृग तथा अन्य जो मेध्य (पवित्र)* हिंसक वनजन्तु थे, उन सबको विविध बाणोंद्वारा मारकर उनके चर्म ब्राह्मणोंको आसनादि बनानेके लिये अर्पित कर देते थे ॥

न तत्र कश्चिद् दुर्वर्णो व्याधितो वापि दृश्यते।
कृशो वा दुर्बलो वापि दीनो भीतोऽपि वा पुनः ॥ ८ ॥

वहाँ उन ब्राह्मणोंमेंसे कोई भी ऐसा नहीं दिखायी देता था, जिसके शरीरका रंग दूषित हो अथवा जो किसी रोगसे ग्रस्त हो। उनमेंसे कोई कृशकाय, दुर्बल, दीन अथवा भयभीत भी नहीं जान पड़ता था ॥ ८ ॥

पुत्रानिव प्रियान् भ्रातॄञ्ज्ञातीनिव सहोदरान्।
पुपोष कौरवश्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

कुरुकुलतिलक धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयोंका प्रिय पुत्रोंकी भाँति तथा ज्ञातिजनोंका सहोदर भाइयोंके समान पालन-पोषण करते थे ॥ ९ ॥

पतींश्च द्रौपदी सर्वान् द्विजातींश्च यशस्विनी।
मातृवद् भोजयित्वाग्रे शिष्टमाहारयत् तदा ॥ १० ॥

इसी प्रकार यशस्विनी द्रौपदी भी पतियों तथा समस्त द्विजातियोंको माताके समान पहले भोजन कराकर पीछे बचा-खुचा आप खाती थी ॥ १० ॥

प्राचीं राजा दक्षिणां भीमसेनो
यमौ प्रतीचीमथ वाप्युदीचीम्।
धनुर्धराणां सहितो मृगाणां
क्षयं चक्रुर्नित्यमेवोपगम्य ॥ ११ ॥

राजा युधिष्ठिर पूर्व दिशामें, भीमसेन दक्षिण दिशामें तथा नकुल-सहदेव पश्चिम एवं उत्तर दिशामें और कभी सब मिलकर नित्य वनमें निकल जाते और धनुषधारी (डाकुओं) तथा हिंसक पशुओंका संहार किया करते थे ॥ ११ ॥

तथा तेषां वसतां काम्यके वै
विहीनानामर्जुनेनोत्सुकानाम्।
पञ्चैव वर्षाणि तथा व्यतीयु-
रधीयतां जपतां जुह्वतां च ॥ १२ ॥

इस प्रकार काम्यकवनमें अर्जुनसे वियुक्त एवं उनके लिये उत्कण्ठित होकर निवास करनेवाले पाण्डवोंके पाँच वर्ष व्यतीत हो गये। इतने समयतक उनका स्वाध्याय, जप और होम सदा पूर्ववत् चलता रहा ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि पार्थाहारकथने पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें पाण्डवोंके भोजनका वर्णनविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रके प्रति श्रीकृष्णादिके द्वारा की हुई दुर्योधनादिके वधकी प्रतिज्ञाका वृत्तान्त सुनाना

वैशम्पायन उवाच

तेषां तच्चरितं श्रुत्वा मनुष्यातीतमद्भुतम्।
चिन्ताशोकपरीतात्मा मन्युनाभिपरिप्लुतः ॥ १ ॥
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
अब्रवीत् संजयं सूतमामन्त्र्य पुरुषर्षभ ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—पुरुषरत्न जनमेजय! पाण्डवोंका वह अद्भुत एवं अलौकिक चरित्र सुनकर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रका मन चिन्ता और शोकमें डूब गया। वे अत्यन्त खिन्न हो उठे और लंबी एवं गरम साँसें खींचकर अपने सारथि संजयको निकट बुलाकर बोले— ॥ १-२ ॥

न रात्रौ न दिवा सूत शान्तिं प्राप्नोमि वै क्षणम्।
संचिन्त्य दुर्नयं घोरमतीतं द्यूतजं हि तत् ॥ ३ ॥

'सूत! मैं बीते हुए द्यूतजनित घोर अन्यायका स्मरण करके दिन तथा रातमें क्षणभर भी शान्ति नहीं पाता ॥ ३ ॥

तेषामसह्यवीर्याणां शौर्यं धैर्यं धृतिं पराम्।
अन्योन्यमनुरागं च भ्रातॄणामतिमानुषम् ॥ ४ ॥

* जिनका चर्म आदि ब्राह्मणोंके उपयोगमें आता है, उन्हें मेध्य (पवित्र) कहा गया है; इसलिये उनको पवित्र कहा गया है।

'मैं देखता हूँ, पाण्डवोंके पराक्रम असह्य हैं। उनमें शौर्य, धैर्य तथा उत्तम धारणाशक्ति है। उन सब भाइयोंमें परस्पर अलौकिक प्रेम है ॥ ४ ॥

देवपुत्रौ महाभागौ देवराजसमद्युती।
नकुलः सहदेवश्च पाण्डवौ युद्धदुर्मदौ ॥ ५ ॥

'देवपुत्र महाभाग नकुल-सहदेव देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। वे दोनों ही पाण्डव युद्धमें प्रचण्ड हैं ॥ ५ ॥

दृढायुधौ दूरपातौ युद्धे च कृतनिश्चयौ।
शीघ्रहस्तौ दृढक्रोधौ नित्ययुक्तौ तरस्विनौ ॥ ६ ॥

'उनके आयुध दृढ़ हैं। वे दूरतक निशाना मारते हैं। युद्धके लिये उनका भी दृढ़ निश्चय है। वे दोनों ही बड़ी शीघ्रतासे हस्तसंचालन करते हैं। उनका क्रोध भी अत्यन्त दृढ़ है। वे सदा उद्योगशील और बड़े वेगवान् हैं ॥ ६ ॥

भीमार्जुनौ पुरोधाय यदा तौ रणमूर्धनि।
स्थास्येते सिंहविक्रान्तावश्विनाविव दुःसहौ ॥ ७ ॥
न शेषमिह पश्यामि मम सैन्यस्य संजय।
तौ ह्यप्रतिरथौ युद्धे देवपुत्रौ महारथौ ॥ ८ ॥

'जिस समय भीमसेन और अर्जुनको आगे रखकर वे दोनों सिंहके समान पराक्रमी और अश्विनीकुमारोंके समान दुःसह वीर युद्धके मुहानेपर खड़े होंगे, उस समय मुझे अपनी सेनाका कोई वीर शेष रहता नहीं दिखायी देता है। संजय! देवपुत्र महारथी नकुल-सहदेव युद्धमें अनुपम हैं। कोई भी रथी उनका सामना नहीं कर सकता ॥ ७-८ ॥

द्रौपद्यास्तं परिक्लेशं न क्षंस्येते त्वमर्षिणौ।
वृष्णयोऽथ महेष्वासाः पञ्चाला वा महौजसः ॥ ९ ॥
युधि सत्याभिसंधेन वासुदेवेन रक्षिताः।
प्रधक्ष्यन्ति रणे पार्थाः पुत्राणां मम वाहिनीम् ॥ १० ॥

'अमर्षमें भरे हुए माद्रीकुमार द्रौपदीको दिये गये उस कष्टको कभी क्षमा नहीं करेंगे। महान् धनुर्धर वृष्णिवंशी, महातेजस्वी पाञ्चाल योद्धा और युद्धमें सत्यप्रतिज्ञ वासुदेव श्रीकृष्णसे सुरक्षित कुन्तीपुत्र निश्चय ही मेरे पुत्रोंकी सेनाको भस्म कर डालेंगे ॥ ९-१० ॥

रामकृष्णप्रणीतानां वृष्णीनां सूतनन्दन।
न शक्यः सहितुं वेगः सर्वैस्तैरपि संयुगे ॥ ११ ॥

'सूतनन्दन! बलराम और श्रीकृष्णसे प्रेरित वृष्णिवंशी योद्धाओंके वेगको युद्धमें समस्त कौरव मिलकर भी नहीं सह सकते ॥ ११ ॥

तेषां मध्ये महेष्वासो भीमो भीमपराक्रमः।
शैक्यया वीरघातिन्या गदया विचरिष्यति ॥ १२ ॥
तथा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
गदावेगं च भीमस्य नालं सोढुं नराधिपाः ॥ १३ ॥

'उनके बीचमें जब भयानक पराक्रमी महान् धनुर्धर भीमसेन बड़े-बड़े वीरोंका संहार करनेवाली आकाशमें ऊपर उठी हुई गदा लिये विचरेंगे तब उन भीमकी गदाके वेगको तथा वज्रगर्जनके समान गाण्डीव धनुषकी टंकारको भी कोई नरेश नहीं सह सकता ॥ १२-१३ ॥

ततोऽहं सुहृदां वाचो दुर्योधनवशानुगः।
स्मरणीयाः स्मरिष्यामि मया या न कृताः पुरा ॥ १४ ॥

'उस समय मैं दुर्योधनके वशमें होनेके कारण अपने हितैषी सुहृदोंकी उन याद रखनेयोग्य बातोंको याद करूँगा, जिनका पालन मैंने पहले नहीं किया' ॥ १४ ॥

संजय उवाच

व्यतिक्रमोऽयं सुमहांस्त्वया राजन्नुपेक्षितः।
समर्थेनापि यन्मोहात् पुत्रस्ते न निवारितः ॥ १५ ॥

संजयने कहा—राजन्! आपके द्वारा यह बहुत बड़ा अन्याय हुआ है, जिसकी आपने जान-बूझकर उपेक्षा की है। (उसे रोकनेकी चेष्टा नहीं की है); वह यह है कि आपने समर्थ होते हुए भी मोहवश अपने पुत्रको कभी रोका नहीं ॥

श्रुत्वा हि निर्जितान् द्यूते पाण्डवान् मधुसूदनः।
त्वरितः काम्यके पार्थान् समभावयदच्युतः ॥ १६ ॥

भगवान् मधुसूदनने ज्यों ही सुना कि पाण्डव द्यूतमें पराजित हो गये, त्यों ही वे काम्यकवनमें पहुँचकर कुन्तीपुत्रोंसे मिले और उन्हें आश्वासन दिया ॥ १६ ॥

द्रुपदस्य तथा पुत्रा धृष्टद्युम्नपुरोगमाः।
विराटो धृष्टकेतुश्च केकयाश्च महारथाः ॥ १७ ॥

इसी प्रकार द्रुपदके धृष्टद्युम्न आदि पुत्र, विराट, धृष्टकेतु और महारथी कैकय—इन सबने पाण्डवोंसे भेंट की ॥ १७ ॥

तैश्च यत् कथितं राजन् दृष्ट्वा पार्थान् पराजितान्।
चारेण विदितं सर्वं तन्मयाऽऽवेदितं च ते ॥ १८ ॥

राजन्! पाण्डवोंको जूएमें पराजित देखकर उन सबने जो बातें कहीं, उन्हें गुप्तचरोंद्वारा जानकर मैंने आपकी सेवामें निवेदन कर दिया था ॥ १८ ॥

समागम्य वृतस्तत्र पाण्डवैर्मधुसूदनः।
सारथ्ये फाल्गुनस्याजौ तथेत्याह च तान् हरिः ॥ १९ ॥

पाण्डवोंने मिलकर मधुसूदन श्रीकृष्णको युद्धमें अर्जुनका सारथि होनेके लिये वरण किया और श्रीहरिने 'तथास्तु' कहकर उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया ॥ १९ ॥

अमर्षितो हि कृष्णोऽपि दृष्ट्वा पार्थांस्तथा गतान्।
कृष्णाजिनोत्तरासंगानब्रवीच्च युधिष्ठिरम् ॥ २० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण भी कुन्तीपुत्रोंको उस अवस्थामें काला मृगचर्म ओढ़कर आये हुए देख उस समय अमर्षमें भर गये और युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले— ॥ २० ॥

या सा समृद्धिः पार्थानामिन्द्रप्रस्थे बभूव ह।
राजसूये मया दृष्टा नृपैरन्यैः सुदुर्लभा॥२१॥

'इन्द्रप्रस्थमें कुन्तीकुमारोंके पास जो समृद्धि थी तथा राजसूय-यज्ञके समय जिसे मैंने अपनी आँखों देखा था, वह अन्य नरेशोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ थी॥ २१॥

यत्र सर्वान् महीपालाञ्छस्त्रतेजोभयार्दितान्।
सवङ्गाङ्गान् सपौण्ड्रोड्रान् सचोलद्राविडान्ध्रकान्।२२।
सागरानूपकांश्चैव ये च प्रान्ताभिवासिनः।
सिंहलान् बर्बरान् म्लेच्छान् ये च लङ्कानिवासिनः।२३।
पश्चिमानि च राष्ट्राणि शतशः सागरान्तिकान्।
पह्लवान् दरदान् सर्वान् किरातान् यवनाञ्छकान्।२४।
हारहूणांश्च चीनांश्च तुषारान् सैन्धवांस्तथा।
जागुडान् रामठान् मुण्डान् स्त्रीराज्यमथ तङ्गणान्।२५।
केकयान् मालवांश्चैव तथा काश्मीरकानपि।
अद्राक्षमहमाहूतान् यज्ञे ते परिवेषकान्॥२६॥

'उस समय सब भूमिपाल पाण्डवोंके शस्त्रोंके तेजसे भयभीत थे। अङ्ग, वङ्ग, पुण्ड्र, उड्र, चोल, द्राविड़, आन्ध्र, सागरतटवर्ती द्वीप तथा समुद्रके समीप निवास करनेवाले जो राजा थे, वे सभी राजसूय-यज्ञमें उपस्थित थे। सिंहल, बर्बर, म्लेच्छ, लङ्कानिवासी, पश्चिमके राष्ट्र, सागरके निकटवर्ती सैकड़ों प्रदेश, पह्लव, दरद, समस्त किरात, यवन, शक, हार-हूण, चीन, तुषार, सैन्धव, जागुड़, रामठ, मुण्ड, स्त्रीराज्य, तङ्गण, केकय, मालव तथा काश्मीरदेशके नरेश भी राजसूय-यज्ञमें बुलाये गये थे और मैंने उन सबको आपके यज्ञमें रसोई परोसते देखा था॥ २२-२६॥

सा ते समृद्धिर्यैरात्ता चपला प्रतिसारिणी।
आदाय जीवितं तेषामाहरिष्यामि तामहम्॥२७॥

'सब ओर फैली हुई आपकी उस चञ्चल समृद्धिको जिन लोगोंने छलसे छीन लिया है, उनके प्राण लेकर भी मैं उसे पुनः वापस लाऊँगा॥ २७॥

रामेण सह कौरव्य भीमार्जुनयमैस्तथा।
अक्रूरगदसाम्बैश्च प्रद्युम्नेनाहुकेन च॥२८॥
धृष्टद्युम्नेन वीरेण शिशुपालात्मजेन च।
दुर्योधनं रणे हत्वा सद्यः कर्णं च भारत॥२९॥
दुःशासनं सौबलेयं यश्चान्यः प्रतियोत्स्यते।
ततस्त्वं हास्तिनपुरे भ्रातृभिः सहितो वसन्॥३०॥
धार्तराष्ट्रीं श्रियं प्राप्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम्।

'कुरुनन्दन! भरतकुलतिलक! बलराम, भीमसेन, अर्जुन, नकुल-सहदेव, अक्रूर, गद, साम्ब, प्रद्युम्न, आहुक, वीर धृष्टद्युम्न और शिशुपालपुत्र धृष्टकेतुके साथ आक्रमण करके युद्धमें दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन एवं शकुनिको तथा और जो कोई योद्धा सामना करने आयेगा, उस भी शीघ्र ही मारकर मैं आपकी सम्पत्ति लौटा लाऊँगा। तदनन्तर आप भाइयोंसहित हस्तिनापुरमें निवास करते हुए धृतराष्ट्रकी राज्यलक्ष्मीको पाकर इस सारी पृथ्वीका शासन कीजिये'॥ २८-३०½॥

अथैनमब्रवीद् राजा तस्मिन् वीरसमागमे॥३१॥
शृण्वत्स्वेतेषु वीरेषु धृष्टद्युम्नमुखेषु च।

तब राजा युधिष्ठिरने उस वीरसमुदायमें इन धृष्टद्युम्न आदि शूरवीरोंके सुनते हुए श्रीकृष्णसे कहा॥ ३१½॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रतिगृह्णामि ते वाचमिमां सत्यां जनार्दन॥३२॥

युधिष्ठिर बोले—जनार्दन! मैं आपकी सत्य वाणीको शिरोधार्य करता हूँ॥ ३२॥

अमित्रान् मे महाबाहो सानुबन्धान् हनिष्यसि।
वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं सत्यं मां कुरु केशव॥३३॥
प्रतिज्ञातो वने वासो राजमध्ये मया ह्ययम्।

महाबाहो! केशव! तेरहवें वर्षके बाद आप मेरे सम्पूर्ण शत्रुओंको उनके बन्धु-बान्धवोंसहित नष्ट कीजियेगा। ऐसा करके आप मेरे सत्य (वनवासके लिये की गयी प्रतिज्ञा) की रक्षा कीजिये। मैंने राजाओंकी मण्डलीमें वनवासकी प्रतिज्ञा की है॥ ३३½॥

तद् धर्मराजवचनं प्रतिश्रुत्य सभासदः॥३४॥
धृष्टद्युम्नपुरोगास्ते शमयामासुरञ्जसा।
केशवं मधुरैर्वाक्यैः कालयुक्तैरमर्षितम्॥३५॥

धर्मराजकी वह बात सुनकर धृष्टद्युम्न आदि सभासदोंने समयोचित मधुर वचनोंद्वारा अमर्षमें भरे हुए श्रीकृष्णको शीघ्र ही शान्त किया॥ ३४-३५॥

पाञ्चालीं प्राहुरक्लिष्टां वासुदेवस्य शृण्वतः।
दुर्योधनस्तव क्रोधाद् देवि त्यक्ष्यति जीवितम्॥३६॥

तत्पश्चात् उन्होंने क्लेशरहित हुई द्रौपदीसे भगवान् श्रीकृष्णके सुनते हुए कहा—'देवि! दुर्योधन तुम्हारे क्रोधसे निश्चय ही प्राण त्याग देगा॥ ३६॥

प्रतिजानीमहे सत्यं मा शुचो वरवर्णिनि।
ये स्म तेऽक्षजितां कृष्णे दृष्ट्वा त्वां प्राहसंस्तदा।
मांसानि तेषां खादन्तो हरिष्यन्ति वृकद्विजाः॥३७॥

'वरवर्णिनि! हम यह सच्ची प्रतिज्ञा करते हैं, तुम शोक न करो। कृष्णे! उस समय तुम्हें जूएमें जीती हुई देखकर जिन लोगोंने हँसी उड़ायी है, उनके मांस भेड़िये और गीध खायँगे और नोच नोचकर ले जायँगे॥ ३७॥

पास्यन्ति रुधिरं तेषां गृध्रा गोमायवस्तथा।
उत्तमाङ्गानि कर्षन्तो यैः कृष्टासि सभातले॥३८॥

'इसी प्रकार जिन्होंने तुम्हें सभाभवनमें घसीटा है, उनके कटे हुए सिरोंको घसीटते हुए गीध और गीदड़ उनके रक्त पीयेंगे ॥ ३८ ॥

तेषां द्रक्ष्यसि पाञ्चालि गात्राणि पृथिवीतले ।
क्रव्यादैः कृष्यमाणानि भक्ष्यमाणानि चासकृत् ॥३९॥

'पाञ्चालराजकुमारि ! तुम देखोगी कि उन दुष्टोंके शरीर इस पृथ्वीपर मांसाहारी गीदड़-गीध आदि पशु-पक्षियोंद्वारा बार-बार घसीटे और खाये जा रहे हैं ॥ ३९ ॥

परिक्लिष्टासि यैस्तत्र यैश्चासि समुपेक्षिता ।
तेषामुत्कृत्तशिरसां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥४०॥

'जिन लोगोंने तुम्हें सभामें क्लेश पहुँचाया और जिन्होंने चुपचाप रहकर उस अन्यायकी उपेक्षा की है, उन सबके कटे हुए मस्तकोंका रक्त यह पृथ्वी पीयेगी' ॥ ४० ॥

एवं बहुविधा वाचस्त ऊचुर्भरतर्षभ ।
सर्वे तेजस्विनः शूराः सर्वे चाहतलक्षणाः ॥४१॥

भरतकुलतिलक ! इस प्रकार उन वीरोंने अनेक प्रकारकी बातें कही थीं । वे सब-के-सब तेजस्वी और शूरवीर हैं । उनके शुभ लक्षण अमिट हैं ॥ ४१ ॥

ते धर्मराजेन वृता वर्षादूर्ध्वं त्रयोदशात् ।
पुरस्कृत्योपयास्यन्ति वासुदेवं महारथाः ॥४२॥

धर्मराजने तेरहवें वर्षके बाद युद्ध करनेके लिये उनका वरण किया है । वे महारथी वीर भगवान् श्रीकृष्णको आगे रखकर आक्रमण करेंगे ॥ ४२ ॥

रामश्च कृष्णश्च धनंजयश्च
प्रद्युम्नसाम्बौ युयुधानभीमौ ।
माद्रीसुतौ केकयराजपुत्राः
पाञ्चालपुत्राः सह मत्स्यराज्ञा ॥४३॥

एतान् सर्वान् लोकवीरानजेयान्
महात्मनः सानुबन्धान् ससैन्यान् ।
को जीवितार्थी समरेऽभ्युदीयात्
क्रुद्धान् सिंहान् केसरिणो यथैव ॥४४॥

बलराम, श्रीकृष्ण, अर्जुन, प्रद्युम्न, साम्ब, सात्यकि, भीमसेन, नकुल, सहदेव, केकयराजकुमार, द्रुपद और उनके पुत्र तथा मत्स्यनरेश विराट—ये सब-के-सब विश्व-विख्यात अजेय वीर हैं । ये महामना जब अपने सगे-सम्बन्धियों और सेनाके साथ धावा करेंगे, उस समय क्रोधमें भरे हुए केसरी सिंहोंके समान उन महावीरोंका समरमें जीवनकी इच्छा रखनेवाला कौन पुरुष सामना करेगा ? ४३-४४

धृतराष्ट्र उवाच

यन्माब्रवीद् विदुरो द्यूतकाले
त्वं पाण्डवाञ्जेष्यसि चेन्नरेन्द्र ।
ध्रुवं कुरूणामयमन्तकालो
महाभयो भविता शोणितौघः ॥४५॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! जब जूआ खेला जा रहा था, उस समय विदुरने मुझसे जो यह बात कही थी कि नरेन्द्र ! यदि आप पाण्डवोंको जूएमें जीतेंगे तो निश्चय ही यह कौरवोंके लिये खूनकी धारासे भरा हुआ अत्यन्त भयंकर विनाश-काल होगा ॥ ४५ ॥

मन्ये तथा तद् भवितेति सूत
यथा क्षत्ता प्राह वचः पुरा माम् ।
असंशयं भविता युद्धमेतद्
गते काले पाण्डवानां यथोक्तम् ॥ ४६ ॥

सूत ! विदुरने पहले जो बात कही थी, वह अवश्य ही उसी प्रकार होगी, ऐसा मेरा विश्वास है । वनवासका समय व्यतीत होनेपर पाण्डवोंके कथनानुसार यह घोर युद्ध होकर ही रहेगा, इसमें संशय नहीं ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रविलापे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें धृतराष्ट्रविलापविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

(नलोपाख्यानपर्व)

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीमसेन-युधिष्ठिर-संवाद, बृहदश्वका आगमन तथा युधिष्ठिरके पूछनेपर बृहदश्वके द्वारा नलोपाख्यानकी प्रस्तावना

जनमेजय उवाच

अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि ।
युधिष्ठिरप्रभृतयः किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! अस्त्रविद्याकी प्राप्तिके लिये महात्मा अर्जुनके इन्द्रलोक चले जानेपर युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि ।
आवसन् कृष्णया सार्धं काम्यके भरतर्षभाः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! अस्त्रविद्याके लिये महात्मा अर्जुनके इन्द्रलोक जानेपर भरतकुलभूषण पाण्डव द्रौपदीके साथ काम्यकवनमें निवास करने लगे ॥ २ ॥

ततः कदाचिदेकान्ते विविक्त इव शाद्वले ।
दुःखार्ता भरतश्रेष्ठा निषेदुः सह कृष्णया ॥ ३ ॥
धनंजयं शोचमानाः साश्रुकण्ठाः सुदुःखिताः ।
तद्वियोगार्दितान् सर्वाञ्छोकः समभिपुप्लुवे ॥ ४ ॥

तदनन्तर एक दिन एकान्त एवं पवित्र स्थानमें, जहाँ छोटी-छोटी हरी दूर्वा आदि घास उगी हुई थी, वे भरतवंशके श्रेष्ठ पुरुष दुःखसे पीड़ित हो द्रौपदीके साथ बैठे और धनंजय अर्जुनके लिये चिन्ता करते हुए अत्यन्त दुःखमें भरे अश्रुगद्गद कण्ठसे उन्हींकी बातें करने लगे। अर्जुनके वियोगसे पीड़ित उन समस्त पाण्डवोंको शोक-सागरने अपनी लहरोंमें डुबो दिया ॥ ३-४ ॥

धनंजयवियोगाच्च राज्यभ्रंशाच्च दुःखिताः ।
अथ भीमो महाबाहुर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ५ ॥

पाण्डव राज्य छिन जानेसे तो दुखी थे ही। अर्जुनके विरहसे वे और भी क्लेशमें पड़ गये थे। उस समय महाबाहु भीमने युधिष्ठिरसे कहा—॥ ५ ॥

निदेशात् ते महाराज गतोऽसौ भरतर्षभः ।
अर्जुनः पाण्डुपुत्राणां यस्मिन् प्राणाः प्रतिष्ठिताः ॥ ६ ॥

'महाराज ! आपकी आज्ञासे भरतवंशका रत्न अर्जुन तपस्याके लिये चला गया। हम सब पाण्डवोंके प्राण उसीमें बसते हैं ॥ ६ ॥

यस्मिन् विनष्टे पाञ्चालाः सह पुत्रैस्तथा वयम् ।
सात्यकिर्वासुदेवश्च विनश्येयुर्न संशयः ॥ ७ ॥

'यदि कहीं अर्जुनका नाश हुआ तो पुत्रोंसहित पाञ्चाल, हम पाण्डव, सात्यकि और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण—ये सब-के-सब नष्ट हो जायँगे ॥ ७ ॥

योऽसौ गच्छति धर्मात्मा बहून् क्लेशान् विचिन्तयन् ।
भवन्नियोगाद् बीभत्सुस्ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ८ ॥

'जो धर्मात्मा अर्जुन अनेक प्रकारके क्लेशोंका चिन्तन करते हुए आपकी आज्ञासे तपस्याके लिये गया, उससे बढ़कर दुःख और क्या होगा ? ॥ ८ ॥

यस्य बाहू समाश्रित्य वयं सर्वे महात्मनः ।
मन्यामहे जितानाजौ परान् प्राप्तां च मेदिनीम् ॥ ९ ॥

'जिस महात्मा अर्जुनके बाहुबलका आश्रय लेकर हम संग्राममें शत्रुओंको पराजित और इस पृथ्वीको अपने अधिकारमें आयी हुई समझते हैं ॥ ९ ॥

यस्य प्रभावान्न मया सभामध्ये धनुष्मतः ।
नीता लोकममुं सर्वे धार्तराष्ट्राः ससौबलाः ॥ १० ॥

'जिस धनुर्धर वीरके प्रभावसे प्रभावित होकर मैंने सभामें शकुनिसहित समस्त धृतराष्ट्रपुत्रोंको तुरंत ही यमलोक नहीं भेज दिया ॥ १० ॥

ते वयं बाहुबलिनः क्रोधमुत्थितमात्मनः ।
सहामहे भवन्मूलं वासुदेवेन पालिताः ॥ ११ ॥

'हम सब लोग बाहुबलसे सम्पन्न हैं और भगवान् वासुदेव हमारे रक्षक हैं तो भी हम आपके कारण अपने उठे हुए क्रोधको चुपचाप सह लेते हैं ॥ ११ ॥

वयं हि सह कृष्णेन हत्वा कर्णमुखान् परान् ।
स्वबाहुविजितां कृत्स्नां प्रशासेम वसुन्धराम् ॥ १२ ॥

'भगवान् श्रीकृष्णके साथ हमलोग कर्ण आदि शत्रुओंको मारकर अपने बाहुबलसे जीती हुई सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन कर सकते हैं ॥ १२ ॥

भवतो द्यूतदोषेण सर्वे वयमुपप्लुताः ।
अहीनपौरुषा बाला बलिभिर्बलवत्तराः ॥ १३ ॥

'आपके जूएके दोषसे हमलोग पुरुषार्थयुक्त होकर भी दीन बन गये हैं और वे मूर्ख दुर्योधन आदि भेंटमें मिले हुए हमारे धनसे सम्पन्न हो इस समय अधिक बलशाली बन गये हैं ॥ १३ ॥

क्षात्रं धर्मं महाराज त्वमवेक्षितुमर्हसि ।
न हि धर्मो महाराज क्षत्रियस्य वनाश्रयः ॥ १४ ॥

'महाराज ! आप क्षत्रियधर्मकी ओर तो देखिये। इस प्रकार वनमें रहना कदापि क्षत्रियोंका धर्म नहीं है ॥ १४ ॥

राज्यमेव परं धर्मं क्षत्रियस्य विदुर्बुधाः ।
स क्षत्रधर्मविद् राजा मा धर्म्यान्नीनशः पथः ॥ १५ ॥

'विद्वानोंने राज्यको ही क्षत्रियका सर्वोत्तम धर्म माना है। आप क्षत्रियधर्मके ज्ञाता नरेश हैं। धर्मके मार्गसे विचलित न होइये ॥ १५ ॥

प्राग् द्वादशसमा राजन् धार्तराष्ट्रान् निहन्महि ।
निवर्त्य च वनात् पार्थमानाय्य च जनार्दनम् ॥ १६ ॥

'राजन् ! हमलोग बारह वर्ष बीतनेके पहले ही अर्जुनको वनसे लौटाकर और भगवान् श्रीकृष्णको बुलाकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंका संहार कर सकते हैं ॥ १६ ॥

व्यूढानीकान् महाराज जवेनैव महामते ।
धार्तराष्ट्रानमुं लोकं गमयामि विशाम्पते ॥ १७ ॥

सर्वानहं हनिष्यामि धार्तराष्ट्रान् ससौबलान् ।
दुर्योधनं च कर्णं च यो वान्यः प्रतियोत्स्यते ॥ १८ ॥

'महाराज ! महामते ! धृतराष्ट्रके पुत्र कितनी ही सेनाओंकी मोर्चाबन्दी क्यों न कर लें, हम उन्हें शीघ्र यमलोकका पथिक बनाकर ही छोड़ेंगे । मैं स्वयं ही शकुनिसहित समस्त धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मार डालूँगा । दुर्योधन, कर्ण अथवा दूसरा जो कोई योद्धा मेरा सामना करेगा, उसे भी अवश्य मारूँगा ॥१७-१८॥

मया प्रशमिते पश्चात् त्वमेष्यसि वनात् पुनः ।
एवं कृते न ते दोषा भविष्यन्ति विशाम्पते ॥ १९ ॥

'मेरे द्वारा शत्रुओंका संहार हो जानेपर आप फिर तेरह वर्षके बाद वनसे चले आइयेगा । प्रजानाथ ! ऐसा करनेपर आपको दोष नहीं लगेगा ॥ १९ ॥

यज्ञैश्च विविधैस्तात कृतं पापमरिंदम ।
अवधूय महाराज गच्छेम स्वर्गमुत्तमम् ॥ २० ॥

'तात ! शत्रुदमन ! महाराज ! हम नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करके अपने किये हुए पापको धो-बहाकर उत्तम स्वर्गलोकमें चलेंगे ॥ २० ॥

एवमेतद् भवेद् राजन् यदि राजा न बालिशः ।
अस्माकं दीर्घसूत्रः स्याद् भवान् धर्मपरायणः ॥ २१ ॥

'राजन् ! यदि ऐसा हो तो आप हमारे धर्मपरायण राजा अविवेकी और दीर्घसूत्री नहीं समझे जायँगे ॥ २१ ॥

निकृत्या निकृतिप्रज्ञा हन्तव्या इति निश्चयः ।
न हि नैकृतिकं हत्वा निकृत्या पापमुच्यते ॥ २२ ॥

'शठता करने या जाननेवाले शत्रुओंको शठताके द्वारा ही मारना चाहिये, यह एक सिद्धान्त है । जो स्वयं दूसरोंपर छल-कपटका प्रयोग करता है, उसे छलसे भी मार डालनेमें पाप नहीं बताया गया है ॥ २२ ॥

तथा भारत धर्मेषु धर्मज्ञैरिह दृश्यते ।
अहोरात्रं महाराज तुल्यं संवत्सरेण ह ॥ २३ ॥

'भरतवंशी महाराज ! धर्मशास्त्रमें इसी प्रकार धर्मपरायण धर्मज्ञ पुरुषोंद्वारा यहाँ एक दिन-रात एक संवत्सरके समान देखा जाता है ॥ २३ ॥

तथैव वेदवचनं श्रूयते नित्यदा विभो ।
संवत्सरो महाराज पूर्णो भवति कृच्छ्रतः ॥ २४ ॥

'प्रभो ! महाराज ! इसी प्रकार सदा यह वैदिक वचन सुना जाता है कि कृच्छ्रव्रतके अनुष्ठानसे एक वर्षकी पूर्ति हो जाती है ॥ २४ ॥

यदि वेदाः प्रमाणास्ते दिवसादूर्ध्वमच्युत ।
त्रयोदश समाः कालो ज्ञायतां परिनिष्ठितः ॥ २५ ॥

'अच्युत ! यदि आप वेदको प्रमाण मानते हैं तो तेरहवें दिनके बाद ही तेरह वर्षोंका समय बीत गया, ऐसा समझ लीजिये ॥ २५ ॥

कालो दुर्योधनं हन्तुं सानुबन्धमरिंदम ।
एकाग्रां पृथिवीं सर्वां पुरा राजन् करोति सः ॥ २६ ॥

'शत्रुदमन ! यह दुर्योधनको उसके सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालनेका अवसर आया है । राजन् ! वह सारी पृथ्वीको जबतक एक सूत्रमें बाँध ले, उसके पहले ही यह कार्य कर लेना चाहिये ॥

द्यूतप्रियेण राजेन्द्र तथा तद् भवता कृतम् ।
प्रायेणाज्ञातचर्यायां वयं सर्वे निपातिताः ॥ २७ ॥

'राजेन्द्र ! जूएके खेलमें आसक्त होकर आपने ऐसा अनर्थ कर डाला कि प्रायः हम सब लोगोंको अज्ञातवासके संकटमें लाकर पटक दिया ॥ २७ ॥

न तं देशं प्रपश्यामि यत्र सोऽस्मान् सुदुर्जनः ।
न विज्ञास्यति दुष्टात्मा चारैरिति सुयोधनः ॥ २८ ॥
अधिगम्य च सर्वान् नो वनवासमिमं ततः ।
प्रवाजयिष्यति पुनर्निकृत्याधमपूरुषः ॥ २९ ॥

'मैं ऐसा कोई देश या स्थान नहीं देखता, जहाँ अत्यन्त दुष्टचित्त, दुरात्मा दुर्योधन अपने गुप्तचरोंद्वारा हमलोगोंका पता न लगा ले । वह नीच नराधम हम सब लोगोंका गुप्त निवास जान लेनेपर पुनः अपनी कपटपूर्ण नीतिद्वारा हमें इस वनवासमें ही डाल देगा ॥ २८-२९ ॥

यद्यस्मानभिगच्छेत पापः स हि कथंचन ।
अज्ञातचर्यामुत्तीर्णान् दृष्ट्वा च पुनराह्वयेत् ॥ ३० ॥

'यदि वह पापी किसी प्रकार यह समझ ले कि हम अज्ञातवासकी अवधि पार कर गये हैं, तो वह उस दशामें हमें देखकर पुनः आपको ही जूआ खेलनेके लिये बुलायेगा ॥ ३० ॥

द्यूतेन ते महाराज पुनर्द्यूतमवर्तत ।
भवांश्च पुनराहूतो द्यूते नैवापनेष्यति ॥ ३१ ॥

'महाराज ! आप एक बार जूएके संकटसे बचकर दुबारा द्यूतक्रीडामें प्रवृत्त हो गये थे, अतः मैं समझता हूँ, यदि पुनः आपका द्यूतके लिये आवाहन हो तो आप उससे पीछे न हटेंगे ३१

स तथाक्षेषु कुशलो निश्चितो गतचेतनः ।
चरिष्यसि महाराज वनेषु वसतीः पुनः ॥ ३२ ॥

'नरेश्वर ! वह विवेकशून्य शकुनि जूआ फेंकनेकी कलामें कितना कुशल है, यह आप अच्छी तरह जानते हैं, फिर तो उसमें हारकर आप पुनः वनवास ही भोगेंगे ॥ ३२ ॥

यद्यस्मान् सुमहाराज कृपणान् कर्तुमर्हसि ।
यावज्जीवमवेक्षस्व वेदधर्मांश्च कृत्स्नशः ॥ ३३ ॥

'महाराज ! यदि आप हमें दीन, हीन, कृपण ही बनाना चाहते हैं तो जबतक जीवन है, तबतक सम्पूर्ण वेदोक्त धर्मोंके पालनपर ही दृष्टि रखिये ॥ ३३ ॥

निकृत्या निकृतिप्रज्ञो हन्तव्य इति निश्चयः ।
अनुज्ञातस्त्वया गत्वा यावच्छक्ति सुयोधनम् ॥ ३४ ॥
यथैव कक्षमुत्सृष्टो दहेदनिलसारथिः ।
हनिष्यामि तथा मन्दमनुजानातु मे भवान् ॥ ३५ ॥

'अपना निश्चय तो यही है कि कपटीको कपटसे ही मारना चाहिये। यदि आपकी आज्ञा हो तो जैसे तृणकी राशिमें डाली हुई आग हवाका सहारा पाकर उसे भस्म कर डालती है, वैसे ही मैं जाकर अपनी शक्तिके अनुसार उस मूढ़ दुर्योधनका वध कर डालूँ; अतः आप मुझे आज्ञा दीजिये ॥ ३४-३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणं भीमं तु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उवाच सान्त्वयन् राजा मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डवम् ।३६।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज राजा युधिष्ठिरने उपर्युक्त बातें कहनेवाले पाण्डुनन्दन भीमसेनका मस्तक सूँघकर उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—॥ ३६ ॥

असंशयं महाबाहो हनिष्यसि सुयोधनम् ।
वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं सह गाण्डीवधन्वना ॥ ३७ ॥

'महाबाहो ! इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि तुम तेरहवें वर्षके बाद गाण्डीवधारी अर्जुनके साथ जाकर युद्धमें सुयोधनको मार डालोगे ॥ ३७ ॥

यत् त्वमाभाषसे पार्थ प्राप्तः काल इति प्रभो ।
अनृतं नोत्सहे वक्तुं न ह्येतन्मम विद्यते ॥ ३८ ॥

'किंतु शक्तिशाली वीर कुन्तीकुमार ! तुम जो यह कहते हो कि सुयोधनके वधका अवसर आ गया है, वह ठीक नहीं है। मैं झूठ नहीं बोल सकता, मुझमें यह आदत नहीं है ॥

अन्तरेणापि कौन्तेय निकृतिं पापनिश्चयम् ।
हन्ता त्वमसि दुर्धर्ष सानुबन्धं सुयोधनम् ॥ ३९ ॥

'कुन्तीनन्दन ! तुम दुर्धर्ष वीर हो, छल-कपटका आश्रय लिये बिना भी पापपूर्ण विचार रखनेवाले सुयोधनको सगे-सम्बन्धियोंसहित नष्ट कर सकते हो' ॥ ३९ ॥

एवं ब्रुवति भीमं तु धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
आजगाम महाभागो बृहदश्वो महानृषिः ॥ ४० ॥

धर्मराज युधिष्ठिर जब भीमसेनसे ऐसी बातें कह रहे थे, उसी समय महाभाग महर्षि बृहदश्व वहाँ आ पहुँचे ॥ ४० ॥

तमभिप्रेक्ष्य धर्मात्मा सम्प्राप्तं धर्मचारिणम् ।
शास्त्रवन्मधुपर्केण पूजयामास धर्मराट् ॥ ४१ ॥

धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिरने धर्मानुष्ठान करनेवाले उन महात्माको आया देख शास्त्रीय विधिके अनुसार मधुपर्कद्वारा उनका पूजन किया ॥ ४१ ॥

आश्वस्तं चैनमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः ।
अभिप्रेक्ष्य महाबाहुः कृपणं बह्वभाषत ॥ ४२ ॥

जब वे आसनपर बैठकर थकावटसे निवृत्त हो चुके अर्थात् विश्राम कर चुके, तब महाबाहु युधिष्ठिर उनके पास ही बैठकर उन्हींकी ओर देखते हुए अत्यन्त दीनतापूर्ण वचन बोले—॥ ४२ ॥

अक्षद्यूते च भगवन् धनं राज्यं च मे हृतम् ।
आहूय निकृतिप्रज्ञैः कितवैरक्षकोविदैः ॥ ४३ ॥

'भगवन् ! पासे फेंककर खेले जानेवाले जूएके लिये मुझे बुलाकर छल-कपटमें कुशल तथा पासा डालनेकी कलामें निपुण धूर्त जुआरियोंने मेरे सारे धन तथा राज्यका अपहरण कर लिया है ॥ ४३ ॥

अनक्षज्ञस्य हि सतो निकृत्या पापनिश्चयैः ।
भार्या च मे सभां नीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥४४॥

'मैं जूएका मर्मज्ञ नहीं हूँ। फिर भी पापपूर्ण विचार रखनेवाले उन दुष्टोंके द्वारा मेरी प्राणोंसे भी अधिक गौरवशालिनी पत्नी द्रौपदी केश पकड़कर भरी सभामें लायी गयी ॥ ४४ ॥

पुनर्द्यूतेन मां जित्वा वनवासं सुदारुणम् ।
प्राव्राजयन् महारण्यमजिनैः परिवारितम् ॥ ४५ ॥

'एक बार जूएके संकटसे बच जानेपर पुनः द्यूतका आयोजन करके उन्होंने मुझे जीत लिया और मृगचर्म पहिनाकर वनवासका अत्यन्त दारुण कष्ट भोगनेके लिये इस महान् वनमें निर्वासित कर दिया ॥ ४५ ॥

अहं वने दुर्वसतीर्वसन् परमदुःखितः ।
अक्षद्यूताधिकारे च गिरः शृण्वन् सुदारुणाः ॥ ४६ ॥
आर्तानां सुहृदां वाचो द्यूतप्रभृति शंसताम् ।
अहं हृदि श्रिताः स्मृत्वा सर्वरात्रीर्विचिन्तयन् ॥४७॥

'मैं अत्यन्त दुखी हो बड़ी कठिनाईसे वनमें निवास करता हूँ। जिस सभामें जूआ खेलनेका आयोजन किया गया था, वहाँ प्रतिपक्षी पुरुषोंके मुखसे मुझे अत्यन्त कठोर बातें सुननी पड़ी हैं। इसके सिवा द्यूत आदि कार्योंका उल्लेख करते हुए मेरे दुःखातुर सुहृदोंने जो संतापसूचक बातें कही हैं, वे सब मेरे हृदयमें स्थित हैं। मैं उन सब बातोंको याद करके सारी रात चिन्तामें निमग्न रहता हूँ ॥ ४६-४७ ॥

यस्मिंश्चैव समस्तानां प्राणा गाण्डीवधन्वनि ।
विना महात्मना तेन गतसत्त्व इवाभवम् ॥ ४८ ॥

'इधर जिस गाण्डीव धनुषधारी अर्जुनमें हम सबके प्राण बसते हैं, वह भी हमसे अलग है। महात्मा अर्जुनके बिना मैं निष्प्राण-सा हो गया हूँ ॥ ४८ ॥

कदा द्रक्ष्यामि बीभत्सुं कृतास्त्रं पुनरागतम् ।
प्रियवादिनमक्षुद्रं दयायुक्तमतन्द्रितः ॥ ४९ ॥

'मैं सदा निरालस्य भावसे यही सोचा करता हूँ कि श्रेष्ठ,

दयालु और प्रियवादी अर्जुन कब अस्त्रविद्या सीखकर फिर यहाँ आयेगा और मैं उसे भर आँख देखूँगा ॥ ४९ ॥

अस्ति राजा मया कश्चिदल्पभाग्यतरो भुवि ।
भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा क्वचित् ।
न मत्तो दुःखिततरः पुमानस्तीति मे मतिः ॥ ५० ॥

'क्या मेरे-जैसा अत्यन्त भाग्यहीन राजा इस पृथ्वीपर कोई दूसरा भी है ? अथवा आपने कहीं मेरे-जैसे किसी राजाको पहले कभी देखा या सुना है । मेरा तो यह विश्वास है कि मुझसे बढ़कर अत्यन्त दुखी मनुष्य दूसरा कोई नहीं है'॥

बृहदश्व उवाच

यद् ब्रवीषि महाराज न मत्तो विद्यते क्वचित् ।
अल्पभाग्यतरः कश्चित् पुमानस्तीति पाण्डव ॥५१॥
अत्र ते वर्णयिष्यामि यदि शुश्रूषसेऽनघ ।
यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजाऽऽसीत् पृथिवीपते ॥५२॥

बृहदश्व बोले—महाराज पाण्डुनन्दन ! तुम जो यह कह रहे हो कि मुझसे बढ़कर अत्यन्त भाग्यहीन कोई पुरुष कहीं भी नहीं है, उसके विषयमें मैं तुम्हें एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा । अनघ ! पृथ्वीपते ! यदि तुम सुनना चाहो तो मैं उस व्यक्तिका परिचय दूँगा, जो इस पृथ्वीपर तुमसे भी अधिक दुखी राजा था ॥ ५१-५२ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथैनमब्रवीद् राजा ब्रवीतु भगवानिति ।
इमामवस्थां सम्प्राप्तं श्रोतुमिच्छामि पार्थिवम् ॥ ५३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा युधिष्ठिरने मुनिसे कहा—'भगवन् ! अवश्य कहिये । जो मेरी-जैसी संकटपूर्ण स्थितिमें पहुँचा हुआ हो, उस राजाका चरित्र मैं सुनना चाहता हूँ' ॥ ५३ ॥

बृहदश्व उवाच

शृणु राजन्नवहितः सह भ्रातृभिरच्युत ।
यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजाऽऽसीत् पृथिवीपते ॥५४॥

बृहदश्वने कहा—राजन् ! अपने धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले भूपाल ! तुम भाइयोंसहित सावधान होकर सुनो । इस पृथ्वीपर जो तुमसे भी अधिक दुखी राजा था, उसका परिचय देता हूँ ॥ ५४ ॥

निषधेषु महीपालो वीरसेन इति श्रुतः ।
तस्य पुत्रोऽभवन्नाम्ना नलो धर्मार्थकोविदः ॥ ५५ ॥

निषधदेशमें वीरसेन नामसे प्रसिद्ध एक भूपाल हो गये हैं । उन्हींके पुत्रका नाम नल था । जो धर्म और अर्थके तत्त्वज्ञ थे ॥ ५५ ॥

स निकृत्या जितो राजा पुष्करेणेति नः श्रुतम् ।
वनवासं सुदुःखार्तो भार्यया न्यवसत् सह ॥ ५६ ॥

हमने सुना है कि राजा नलको उनके भाई पुष्करने छलसे ही जूएके द्वारा जीत लिया था और वे अत्यन्त दुःखसे आतुर हो अपनी पत्नीके साथ वनवासका दुःख भोगने लगे थे ॥ ५६ ॥

न तस्य दासा न रथो न भ्राता न च बान्धवाः ।
वने निवसतो राजञ्छिष्यन्ते स्म कदाचन ॥ ५७ ॥

राजन् ! उनके साथ न सेवक थे न रथ, न भाई थे न बान्धव । वनमें रहते समय उनके पास ये वस्तुएँ कदापि शेष नहीं थीं ॥

भवान् हि संवृतो वीरैर्भ्रातृभिर्देवसम्मितैः ।
ब्रह्मकल्पैर्द्विजाग्र्यैश्च तस्मान्नार्हसि शोचितुम् ॥ ५८ ॥

तुम तो देवतुल्य पराक्रमी वीर भाइयोंसे घिरे हुए हो । ब्रह्माजीके समान तेजस्वी श्रेष्ठ ब्राह्मण तुम्हारे चारों ओर बैठे हुए हैं । अतः तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥ ५८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

विस्तरेणाहमिच्छामि नलस्य सुमहात्मनः ।
चरितं वदतां श्रेष्ठ तन्ममाख्यातुमर्हसि ॥ ५९ ॥

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुने ! मैं उत्तम महामना राजा नलका चरित्र विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ । आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें बृहदश्वयुधिष्ठिरसंवादविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

नल-दमयन्तीके गुणोंका वर्णन, उनका परस्पर अनुराग और हंसका दमयन्ती और नलको एक दूसरेके संदेश सुनाना

बृहदश्व उवाच

आसीद् राजा नलो नाम वीरसेनसुतो बली ।
उपपन्नो गुणैरिष्टै रूपवानश्वकोविदः ॥ १ ॥

बृहदश्वने कहा—धर्मराज ! निषधदेशमें वीरसेनके पुत्र नल नामसे प्रसिद्ध एक बलवान् राजा हो गये हैं । वे उत्तम गुणोंसे सम्पन्न, रूपवान् और अश्वसंचालनकी कलामें कुशल थे ॥ १ ॥

अतिष्ठन्मनुजेन्द्राणां मूर्ध्नि देवपतिर्यथा ।
उपर्युपरि सर्वेषामादित्य इव तेजसा ॥ २ ॥
ब्रह्मण्यो वेदविच्छूरो निषधेषु महीपतिः ।
अक्षप्रियः सत्यवादी महानक्षौहिणीपतिः ॥ ३ ॥

जैसे देवराज इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंके शिरमौर हैं, उसी प्रकार राजा नलका स्थान समस्त राजाओंके ऊपर था। वे तेजमें भगवान् सूर्यके समान सर्वोपरि थे। निषध देशके महाराज नल बड़े ब्राह्मणभक्त, वेदवेत्ता, शूरवीर, द्यूत-क्रीड़ाके प्रेमी, सत्यवादी, महान् और एक अक्षौहिणी सेनाके स्वामी थे ॥ २-३ ॥

ईप्सितो वरनारीणामुदारः संयतेन्द्रियः ।
रक्षिता धन्विनां श्रेष्ठः साक्षादिव मनुः स्वयम् ॥ ४ ॥

वे श्रेष्ठ स्त्रियोंको प्रिय थे और उदार, जितेन्द्रिय, प्रजाजनोंके रक्षक तथा साक्षात् मनुके समान धनुर्धरोंमें उत्तम थे ॥४॥

तथैवासीद् विदर्भेषु भीमो भीमपराक्रमः ।
शूरः सर्वगुणैर्युक्तः प्रजाकामः स चाप्रजः ॥ ५ ॥

इसी प्रकार उन दिनों विदर्भदेशमें भयानक पराक्रमी भीम नामक राजा राज्य करते थे। वे शूरवीर और सर्व-सद्गुणसम्पन्न थे। उन्हें कोई संतान नहीं थी। अतः संतान-प्राप्तिकी कामना उनके हृदयमें सदा बनी रहती थी ॥ ५ ॥

स प्रजार्थे परं यत्नमकरोत् सुसमाहितः ।
तमभ्यगच्छद् ब्रह्मर्षिर्दमनो नाम भारत ॥ ६ ॥

भारत! राजा भीमने अत्यन्त एकाग्रचित्त होकर संतान-प्राप्तिके लिये महान् प्रयत्न किया। उन्हीं दिनों उनके यहाँ दमन नामक ब्रह्मर्षि पधारे ॥ ६ ॥

तं स भीमः प्रजाकामस्तोषयामास धर्मवित् ।
महिष्या सह राजेन्द्र सत्कारेण सुवर्चसम् ॥ ७ ॥
तस्मै प्रसन्नो दमनः सभार्याय वरं ददौ ।
कन्यारत्नं कुमारांश्च त्रीनुदारान् महायशाः ॥ ८ ॥

राजेन्द्र! धर्मज्ञ तथा संतानकी इच्छावाले उस भीमने अपनी रानीसहित उन महातेजस्वी मुनिको पूर्ण सत्कार करके संतुष्ट किया। महायशस्वी दमन मुनिने प्रसन्न होकर पत्नी-सहित राजा भीमको एक कन्या और तीन उदार पुत्र प्रदान किये ॥ ७-८ ॥

दमयन्तीं दमं दान्तं दमनं च सुवर्चसम् ।
उपपन्नान् गुणैः सर्वैर्भीमान् भीमपराक्रमान् ॥ ९ ॥

कन्याका नाम था दमयन्ती और पुत्रोंके नाम थे—दम, दान्त तथा दमन। ये सभी बड़े तेजस्वी थे। राजाके तीनों पुत्र गुणसम्पन्न, भयंकर वीर और भयानक पराक्रमी थे ।९।

दमयन्ती तु रूपेण तेजसा यशसा श्रिया ।
सौभाग्येन च लोकेषु यशः प्राप सुमध्यमा ॥ १० ॥

सुन्दर कटिप्रदेशवाली दमयन्ती रूप, तेज, यश, श्री और सौभाग्यके द्वारा तीनों लोकोंमें विख्यात यशस्विनी हुई ॥

अथ तां वयसि प्राप्ते दासीनां समलंकृताम् ।
शतं शतं सखीनां च पर्युपासच्छचीमिव ॥ ११ ॥

जब उसने युवावस्थामें प्रवेश किया, उस समय सौ दासियाँ और सौ सखियाँ वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो सदा उसकी सेवामें उपस्थित रहती थीं। मानो देवाङ्गनाएँ शची-की उपासना करती हों ॥ ११ ॥

तत्र स्म राजते भैमी सर्वाभरणभूषिता ।
सखीमध्येऽनवद्याङ्गी विद्युत्सौदामनी यथा ॥ १२ ॥

अनिन्द्य सुन्दर अङ्गोंवाली भीमकुमारी दमयन्ती सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हो सखियोंकी मण्डलीमें वैसी ही शोभा पाती थी, जैसे मेघमालाके बीच विद्युत् प्रकाशित हो रही हो ॥ १२ ॥

अतीव रूपसम्पन्ना श्रीरिवायतलोचना ।
न देवेषु न यक्षेषु तादृग् रूपवती क्वचित् ॥ १३ ॥

वह लक्ष्मीके समान अत्यन्त सुन्दर रूपसे सुशोभित थी। उसके नेत्र विशाल थे। देवताओं और यक्षोंमें भी वैसी सुन्दरी कन्या कहीं देखनेमें नहीं आती थी ॥ १३ ॥

मानुषेष्वपि चान्येषु दृष्टपूर्वाथवा श्रुता ।
चित्तप्रसादनी बाला देवानामपि सुन्दरी ॥ १४ ॥

मनुष्यों तथा अन्य वर्गके लोगोंमें भी वैसी सुन्दरी पहले न तो कभी देखी गयी थी और न सुननेमें ही आयी थी। उस बालाको देखते ही चित्त प्रसन्न हो जाता था। वह देववर्गमें भी श्रेष्ठ सुन्दरी समझी जाती थी ॥ १४ ॥

नलश्च नरशार्दूलो लोकेष्वप्रतिमो भुवि ।
कन्दर्प इव रूपेण मूर्तिमानभवत् स्वयम् ॥ १५ ॥

नरश्रेष्ठ नल भी इस भूतलके मनुष्योंमें अनुपम सुन्दर थे। उनका रूप देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो नलके आकारमें स्वयं मूर्तिमान् कामदेव ही उत्पन्न हुआ हो ॥१५॥

तस्याः समीपे तु नलं प्रशशंसुः कुतूहलात् ।
नैषधस्य समीपे तु दमयन्तीं पुनः पुनः ॥ १६ ॥

लोग कौतूहलवश दमयन्तीके समीप नलकी प्रशंसा करते थे और निषधराज नलके निकट बार-बार दमयन्तीके सौन्दर्यकी सराहना किया करते थे ॥ १६ ॥

तयोरदृष्टः कामोऽभूच्छृण्वतोः सततं गुणान् ।
अन्योन्यं प्रति कौन्तेय स व्यवर्धत हृच्छयः ॥ १७ ॥

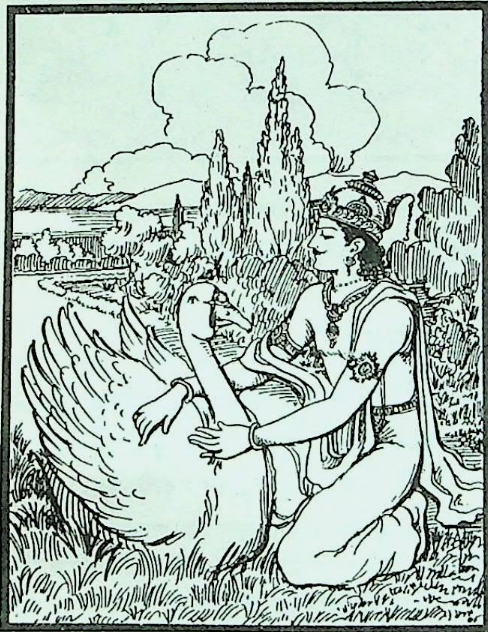
कुन्तीनन्दन! इस प्रकार निरन्तर एक दूसरेके गुणोंको सुनते-सुनते उन दोनोंमें बिना देखे ही परस्पर काम (अनुराग) उत्पन्न हो गया। उनकी वह कामना दिन-दिन बढ़ती ही चली गयी ॥ १७ ॥

अशक्नुवन् नलः कामं तदा धारयितुं हृदा ।
अन्तःपुरसमीपस्थे वन आस्ते रहोगतः ॥ १८ ॥

जब राजा नल उस कामवेदनाको हृदयके भीतर छिपाये रखनेमें असमर्थ हो गये, तब वे अन्तःपुरके समीपवर्ती उपवनमें जाकर एकान्तमें बैठ गये ॥ १८ ॥

स ददर्श ततो हंसान् जातरूपपरिष्कृतान् ।
वने विचरतां तेषामेकं जग्राह पक्षिणम् ॥ १९ ॥

इतनेहीमें उनकी दृष्टि कुछ हंसोंपर पड़ी, जो सुवर्णमय पंखोंसे विभूषित थे। वे उसी उपवनमें विचर रहे थे। राजाने उनमेंसे एक हंसको पकड़ लिया ॥ १९ ॥



ततोऽन्तरिक्षगो वाचं व्याजहार नलं तदा ।
हन्तव्योऽस्मि न ते राजन् करिष्यामि तव प्रियम्॥ २०॥

तब आकाशचारी हंसने उस समय नलसे कहा—'राजन्! आप मुझे न मारें। मैं आपका प्रिय कार्य करूँगा ॥ २० ॥

दमयन्तीसकाशे त्वां कथयिष्यामि नैषध ।
यथा त्वदन्यं पुरुषं न सा मंस्यति कर्हिचित् ॥ २१ ॥

'निषधनरेश! मैं दमयन्तीके निकट आपकी ऐसी प्रशंसा करूँगा, जिससे वह आपके सिवा दूसरे किसी पुरुषको मनमें कभी स्थान न देगी' ॥ २१ ॥

एवमुक्तस्ततो हंसमुत्ससर्ज महीपतिः ।
ते तु हंसाः समुत्पत्य विदर्भानगमंस्ततः ॥ २२ ॥

हंसके ऐसा कहनेपर राजा नलने उसे छोड़ दिया। फिर वे हंस वहाँसे उड़कर विदर्भ देशमें गये ॥ २२ ॥

विदर्भनगरीं गत्वा दमयन्त्यास्तदान्तिके ।
निपेतुस्ते गरुत्मन्तः सा ददर्श च तान् खगान् ॥ २३ ॥

तब विदर्भनगरीमें जाकर वे सभी हंस दमयन्तीके निकट उतरे। दमयन्तीने भी उन अद्भुत पक्षियोंको देखा ॥२३॥

सा तानद्भुतरूपान् वै दृष्ट्वा सखिगणावृता ।
हृष्टा ग्रहीतुं खगमांस्त्वरमाणोपचक्रमे ॥ २४ ॥

सखियोंसे घिरी हुई राजकुमारी दमयन्ती उन अपूर्व पक्षियोंको देखकर बहुत प्रसन्न हुई और तुरंत ही उन्हें पकड़नेकी चेष्टा करने लगी ॥ २४ ॥

अथ हंसा विसस्रृपुः सर्वतः प्रमदावने ।
एकैकशस्तदा कन्यास्तान् हंसान् समुपाद्रवन् ॥ २५ ॥

तब हंस उस प्रमदावनमें सब ओर विचरण करने लगे। उस समय सभी राजकन्याओंने एक-एक करके उन सभी हंसोंका पीछा किया ॥ २५ ॥

दमयन्ती तु यं हंसं समुपाधावदन्तिके ।
स मानुषीं गिरं कृत्वा दमयन्तीमथाब्रवीत् ॥ २६ ॥

दमयन्ती जिस हंसके निकट दौड़ रही थी, उसने उससे मानवी वाणीमें कहा—॥ २६ ॥

दमयन्ति नलो नाम निषधेषु महीपतिः ।
अश्विनोः सदृशो रूपे न समास्तस्य मानुषाः ॥ २७ ॥

'राजकुमारी दमयन्ती! सुनो, निषधदेशमें नल नामसे प्रसिद्ध एक राजा हैं, जो अश्विनीकुमारोंके समान सुन्दर हैं। मनुष्योंमें तो कोई उनके समान है ही नहीं ॥ २७ ॥

कन्दर्प इव रूपेण मूर्तिमानभवत् स्वयम् ।
तस्य वै यदि भार्या त्वं भवेथा वरवर्णिनि ॥ २८ ॥
सफलं ते भवेज्जन्म रूपं चेदं सुमध्यमे ।
वयं हि देवगन्धर्वमनुष्योरगराक्षसान् ॥ २९ ॥
दृष्टवन्तो न चास्माभिर्दृष्टपूर्वस्तथाविधः ।
त्वं चापि रत्नं नारीणां नरेषु च नलो वरः ॥ ३० ॥
विशिष्टया विशिष्टेन संगमो गुणवान् भवेत् ।

'सुन्दरि! रूपकी दृष्टिसे तो वे मानो स्वयं मूर्तिमान् कामदेव-से ही प्रतीत होते हैं। सुमध्यमे! यदि तुम उनकी पत्नी हो जाओ तो तुम्हारा जन्म और यह मनोहर रूप सफल हो जाय। हमलोगोंने देवता, गन्धर्व, मनुष्य, नाग तथा

राक्षसोंको भी देखा है; परंतु हमारी दृष्टिमें अबतक उनके-जैसा कोई भी पुरुष पहले कभी नहीं आया है। तुम रमणियों-में रत्नस्वरूपा हो और नल पुरुषोंके मुकुटमणि हैं। यदि किसी विशिष्ट नारीका विशिष्ट पुरुषके साथ संयोग हो तो वह विशेष गुणकारी होता है ॥२८–३०½॥

एवमुक्ता तु हंसेन दमयन्ती विशांपते ॥ ३१ ॥
अब्रवीत् तत्र तं हंसं त्वमप्येवं नले वद ।

तथेत्युक्त्वाण्डजः कन्यां विदर्भस्य विशाम्पते ।
पुनरागम्य निषधान् नले सर्वं न्यवेदयत् ॥ ३२ ॥

राजन्! हंसके इस प्रकार कहनेपर दमयन्तीने उससे कहा—'पक्षिराज! तुम नलके निकट भी ऐसी ही बातें कहना'। राजन्! विदर्भराजकुमारी दमयन्तीसे 'तथास्तु' कहकर वह हंस पुनः निषधदेशमें आया और उसने नलसे सब बातें निवेदन कीं ॥ ३१-३२ ॥



इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि हंसदमयन्तीसंवादे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें हंसदमयन्तीसंवादविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

स्वर्गमें नारद और इन्द्रकी बातचीत, दमयन्तीके स्वयंवरके लिये राजाओं तथा लोकपालोंका प्रस्थान

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा वचो हंसस्य भारत ।
ततः प्रभृति न स्वस्था नलं प्रति बभूव सा ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—भारत! दमयन्तीने जबसे हंसकी बातें सुनीं, तबसे राजा नलके प्रति अनुरक्त हो जानेके कारण वह अस्वस्थ रहने लगी ॥ १ ॥

ततश्चिन्तापरा दीना विवर्णवदना कृशा ।
बभूव दमयन्ती तु निःश्वासपरमा तदा ॥ २ ॥

तदनन्तर उसके मनमें सदा चिन्ता बनी रहती थी। स्वभावमें दैन्य आ गया। चेहरेका रंग फीका पड़ गया और दमयन्ती दिन-दिन दुबली होने लगी। उस समय वह प्रायः लम्बी साँसें खींचती रहती थी ॥ २ ॥

ऊर्ध्वदृष्टिर्ध्यानपरा बभूवोन्मत्तदर्शना ।
पाण्डुवर्णा क्षणेनाथ हृच्छयाविष्टचेतना ॥ ३ ॥

ऊपरकी ओर निहारती हुई सदा नलके ध्यानमें परायण रहती थी। देखनेमें उन्मत्त-सी जान पड़ती थी। उसका शरीर पाण्डुवर्णका हो गया। कामवेदनाकी अधिकतासे उसकी चेतना क्षण-क्षणमें विलुप्त-सी हो जाती थी ॥ ३ ॥

न शय्यासनभोगेषु रतिं विन्दति कर्हिचित् ।
न नक्तं न दिवा शेते हाहेति रुदती पुनः ॥ ४ ॥

उसकी शय्या, आसन तथा भोग-सामग्रियोंमें कहीं भी प्रीति नहीं होती थी। वह न तो रातमें सोती और न दिनमें ही। बारंबार 'हाय-हाय' करके रोती ही रहती थी ॥ ४ ॥

तामस्वस्थां तदाकारां सख्यस्ता जज्ञुरिङ्गितैः ।
ततो विदर्भपतये दमयन्त्याः सखीजनः ॥ ५ ॥
न्यवेदयत् तामस्वस्थां दमयन्तीं नरेश्वरे ।
तच्छ्रुत्वा नृपतिर्भीमो दमयन्तीं सखीगणात् ॥ ६ ॥
चिन्तयामास तत् कार्यं सुमहत् स्वां सुतां प्रति ।
किमर्थं दुहिता मेऽद्य नातिस्वस्थेव लक्ष्यते ॥ ७ ॥

उसकी वैसी आकृति और अस्वस्थ-अवस्थाका क्या कारण है, यह सखियोंने संकेतसे जान लिया। तदनन्तर दमयन्तीकी सखियोंने विदर्भनरेशको उसकी उस अस्वस्थ-अवस्थाके विषयमें सूचना दी। सखियोंके मुखसे दमयन्तीके विषयमें वैसी बात सुनकर राजा भीमने बहुत सोचा-विचारा, परंतु अपनी पुत्रीके लिये कोई विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य उन्हें नहीं सूझ पड़ा। वे सोचने लगे कि 'क्यों मेरी पुत्री आजकल स्वस्थ नहीं दिखायी देती है?' ॥ ५-७ ॥

स समीक्ष्य महीपालः स्वां सुतां प्राप्तयौवनाम्।
अपश्यदात्मना कार्यं दमयन्त्याः स्वयंवरम् ॥ ८ ॥

राजाने बहुत सोचने-विचारनेके बाद यह निश्चय किया कि मेरी पुत्री अब युवावस्थामें प्रवेश कर चुकी, अतः दमयन्तीके लिये स्वयंवर रचाना ही उन्हें अपना विशेष कर्तव्य दिखायी दिया ॥ ८ ॥

स संनिमन्त्रयामास महीपालान् विशाम्पतिः।
एषोऽनुभूयतां वीराः स्वयंवर इति प्रभो ॥ ९ ॥

राजन्! विदर्भनरेशने सब राजाओंको इस प्रकार निमन्त्रित किया—'वीरो! मेरे यहाँ कन्याका स्वयंवर है। आपलोग पधारकर इस उत्सवका आनन्द लें' ॥ ९ ॥

श्रुत्वा तु पार्थिवाः सर्वे दमयन्त्याः स्वयंवरम्।
अभिजग्मुस्ततो भीमं राजानो भीमशासनात् ॥ १० ॥
हस्त्यश्वरथघोषेण पूरयन्तो वसुन्धराम्।
विचित्रमाल्याभरणैर्बलैर्दृश्यैः स्वलंकृतैः ॥ ११ ॥

दमयन्तीका स्वयंवर होने जा रहा है, यह सुनकर सभी नरेश विदर्भराज भीमके आदेशसे हाथी, घोड़ों तथा रथोंकी तुमुल ध्वनिसे पृथ्वीको गुँजाते हुए उनकी राजधानीमें गये। उस समय उनके साथ विचित्र माला एवं आभूषणोंसे विभूषित बहुत से सैनिक देखे जा रहे थे ॥ १०-११ ॥

तेषां भीमो महाबाहुः पार्थिवानां महात्मनाम्।
यथार्हमकरोत् पूजां तेऽवसंस्तत्र पूजिताः ॥ १२ ॥

महाबाहु राजा भीमने वहाँ पधारे हुए उन महामना नरेशोंका यथायोग्य पूजन किया। तत्पश्चात् वे उनसे पूजित हो वहीं रहने लगे ॥ १२ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सुराणामृषिसत्तमौ।
अटमानौ महात्मानाविन्द्रलोकमितो गतौ ॥ १३ ॥
नारदः पर्वतश्चैव महाप्राज्ञौ महाव्रतौ।
देवराजस्य भवनं विविशाते सुपूजितौ ॥ १४ ॥

इसी समय देवर्षिप्रवर महान् व्रतधारी महाप्राज्ञ नारद और पर्वत दोनों महात्मा इधरसे घूमते हुए इन्द्रलोकमें गये। वहाँ उन्होंने देवराजके भवनमें प्रवेश किया। उस भवनमें उनका विशेष आदर-सत्कार एवं पूजन किया गया। १३-१४।

तावर्चयित्वा मघवा ततः कुशलमव्ययम्।
पप्रच्छानामयं चापि तयोः सर्वगतं विभुः ॥ १५ ॥

उन दोनोंकी पूजा करके भगवान् इन्द्रने उनसे उन दोनोंके तथा सम्पूर्ण जगत्के कुशल-मङ्गल एवं स्वस्थताका समाचार पूछा ॥ १५ ॥

नारद उवाच

आवयोः कुशलं देव सर्वत्रगतमीश्वर।
लोके च मघवन् कृत्स्ने नृपाः कुशलिनो विभो ॥ १६ ॥

तब नारदजीने कहा—प्रभो! देवेश्वर! हमलोगोंकी सर्वत्र कुशल है और समस्त लोकमें भी राजालोग सकुशल हैं ॥ १६ ॥

बृहदश्व उवाच

नारदस्य वचः श्रुत्वा पप्रच्छ बलवृत्रहा।
धर्मज्ञाः पृथिवीपालास्त्यक्तजीवितयोधिनः ॥ १७ ॥
शस्त्रेण निधनं काले ये गच्छन्त्यपराङ्मुखाः।
अयं लोकोऽक्षयस्तेषां यथैव मम कामधुक् ॥ १८ ॥

बृहदश्व कहते हैं—राजन् नारदकी बात सुनकर बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले इन्द्रने उनसे पूछा—'मुने! जो धर्मज्ञ भूपाल अपने प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध करते हैं और पीठ न दिखाकर लड़ते समय किसी शस्त्रके आघातसे मृत्युको प्राप्त होते हैं, उनके लिये हमारा यह स्वर्गलोक अक्षय हो जाता है और मेरी ही तरह उन्हें भी यह मनोवाञ्छित भोग प्रदान करता है ॥ १७-१८ ॥

क्व नु ते क्षत्रियाः शूरा न हि पश्यामि तानहम्।
आगच्छतो महीपालान् दयितानतिथीन् मम ॥ १९ ॥
एवमुक्तस्तु शक्रेण नारदः प्रत्यभाषत।

'वे शूरवीर क्षत्रिय कहाँ हैं? अपने उन प्रिय अतिथियों-को आजकल मैं यहाँ आते नहीं देख रहा हूँ' इन्द्रके ऐसा पूछनेपर नारदजीने उत्तर दिया ॥ १९½ ॥

नारद उवाच

शृणु मे मघवन् येन न दृश्यन्ते महीक्षितः ॥ २० ॥
विदर्भराज्ञो दुहिता दमयन्तीति विश्रुता।
रूपेण समतिक्रान्ता पृथिव्यां सर्वयोषितः ॥ २१ ॥

नारद बोले—मघवन्! मैं वह कारण बताता हूँ, जिससे राजालोग आजकल यहाँ नहीं दिखायी देते, सुनिये। विदर्भनरेश भीमके यहाँ दमयन्ती नामसे प्रसिद्ध एक कन्या उत्पन्न हुई है, जो मनोहर रूप-सौन्दर्यमें पृथ्वीकी सम्पूर्ण युवतियोंको लाँघ गयी है ॥ २०-२१ ॥

तस्याः स्वयंवरः शक्र भविता न चिरादिव।
तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः ॥ २२ ॥

इन्द्र! अब शीघ्र ही उसका स्वयंवर होनेवाला है, उसीमें सब राजा तथा राजकुमार जा रहे हैं ॥ २२ ॥

तां रत्नभूतां लोकस्य प्रार्थयन्तो महीक्षितः।
काङ्क्षन्ति स्म विशेषेण बलवृत्रनिषूदन ॥ २३ ॥

बल और वृत्रासुरके नाशक इन्द्र! दमयन्ती सम्पूर्ण जगत्का एक अद्भुत रत्न है। इसलिये सब राजा उसे पानेकी विशेष अभिलाषा रखते हैं ॥ २३ ॥

एतस्मिन् कथ्यमाने तु लोकपालाश्च साग्निकाः।
आजग्मुर्देवराजस्य समीपममरोत्तमाः ॥ २४ ॥

यह बात हो ही रही थी कि देवश्रेष्ठ लोकपालगण अग्नि-सहित देवराजके समीप आये ॥ २४ ॥

ततस्ते शुश्रुवुः सर्वे नारदस्य वचो महत्।
श्रुत्वैव चाब्रुवन् हृष्टा गच्छामो वयमप्युत ॥२५॥

तदनन्तर उन सबने नारदजीकी ये विशिष्ट बातें सुनीं। सुनते ही वे सब-के-सब हर्षोल्लाससे परिपूर्ण हो बोले—'हमलोग भी उस स्वयंवरमें चलें' ॥ २५ ॥

ततः सर्वे महाराज सगणाः सहवाहनाः।
विदर्भानभिजग्मुस्ते यतः सर्वे महीक्षितः ॥२६॥

महाराज! तदनन्तर वे सब देवता अपने सेवकगणों और वाहनोंके साथ विदर्भदेशमें गये, जहाँ समस्त भूपाल एकत्र हुए थे ॥ २६ ॥

नलोऽपि राजा कौन्तेय श्रुत्वा राज्ञां समागमम्।
अभ्यगच्छददीनात्मा दमयन्तीमनुव्रतः ॥२७॥

कुन्तीनन्दन! उदारहृदय राजा नल भी विदर्भनगरमें समस्त राजाओंका समागम सुनकर दमयन्तीमें अनुरक्त हो वहाँ गये ॥ २७ ॥

अथ देवाः पथि नलं ददृशुर्भूतले स्थितम्।
साक्षादिव स्थितं मूर्त्या मन्मथं रूपसम्पदा ॥ २८ ॥

उस समय देवताओंने पृथ्वीपर मार्गमें खड़े हुए राजा नलको देखा। रूप-सम्पत्तिकी दृष्टिसे वे साक्षात् मूर्तिमान् कामदेव-से जान पड़ते थे ॥ २८ ॥

तं दृष्ट्वा लोकपालास्ते भ्राजमानं यथा रविम्।
तस्थुर्विगतसंकल्पा विस्मिता रूपसम्पदा ॥ २९ ॥

सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले महाराज नलको देखकर वे लोकपाल उनके रूप-वैभवसे चकित हो दमयन्तीको पानेका संकल्प छोड़ बैठे ॥ २९ ॥

ततोऽन्तरिक्षे विष्टभ्य विमानानि दिवौकसः।
अब्रुवन् नैषधं राजन्नवतीर्य नभस्तलात् ॥ ३० ॥

राजन्! तब उन देवताओंने अपने विमानोंको आकाशमें रोक दिया और वहाँसे नीचे उतरकर निषधनरेशसे कहा—॥

भो भो निषधराजेन्द्र नल सत्यव्रतो भवान्।
अस्माकं कुरु साहाय्यं दूतो भव नरोत्तम ॥ ३१ ॥

'निषधदेशके महाराज नरश्रेष्ठ नल! आप सत्यव्रती हैं, हमलोगोंकी सहायता कीजिये। हमारे दूत बन जाइये' ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि इन्द्रनारदसंवादे चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें इन्द्रनारदसंवादविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

नलका दूत बनकर राजमहलमें जाना और दमयन्तीको देवताओंका संदेश सुनाना

बृहदश्व उवाच

तेभ्यः प्रतिज्ञाय नलः करिष्य इति भारत।
अथैतान् परिपप्रच्छ कृताञ्जलिरुपस्थितः ॥ १ ॥
के वै भवन्तः कश्चासौ यस्याहं दूत ईप्सितः।
किं च तद् वो मया कार्यं कथयध्वं यथातथम् ॥२॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—भारत! देवताओंसे उनकी सहायता करनेकी प्रतिज्ञा करके राजा नलने हाथ जोड़ पास जाकर उनसे पूछा—'आपलोग कौन हैं? और वह कौन व्यक्ति है, जिसके पास जानेके लिये आपने मुझे दूत बनानेकी इच्छा की है तथा आपलोगोंका वह कौन-सा कार्य है, जो मेरेद्वारा सम्पन्न होने योग्य है, यह ठीक-ठीक बताइये' ॥ १-२ ॥

एवमुक्तो नैषधेन मघवानभ्यभाषत।
अमरान् वै निबोधास्मान् दमयन्त्यर्थमागतान् ॥ ३ ॥

निषधराज नलके इस प्रकार पूछनेपर इन्द्रने कहा—'भूपाल! तुम हमें देवता समझो, हम दमयन्तीको प्राप्त करनेके लिये यहाँ आये हैं ॥ ३ ॥

अहमिन्द्रोऽयमग्निश्च तथैवायमपां पतिः।
शरीरान्तकरो नृणां यमोऽयमपि पार्थिव ॥ ४ ॥

त्वं वै समागतानस्मान् दमयन्त्यै निवेदय।
लोकपाला महेन्द्राद्याः समायान्ति दिदृक्षवः ॥ ५ ॥

'मैं इन्द्र हूँ, ये अग्निदेव हैं, ये जलके स्वामी वरुण और ये प्राणियोंके शरीरका नाश करनेवाले साक्षात् यमराज हैं। आप दमयन्तीके पास जाकर उसे हमारे आगमनकी सूचना दे दीजिये और कहिये—महेन्द्र आदि लोकपाल तुम्हें देखनेके लिये आ रहे हैं ॥ ४-५ ॥

प्राप्तुमिच्छन्ति देवास्त्वां शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः।
तेषामन्यतमं देवं पतित्वे वरयस्व ह ॥ ६ ॥

'इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम—ये देवता लोग तुम्हें प्राप्त करना चाहते हैं। तुम उनमेंसे किसी एक देवताको पतिरूपमें चुन लो' ॥

एवमुक्तः स शक्रेण नलः प्राञ्जलिरब्रवीत्।
एकार्थे समुपेतं मां न प्रेषयितुमर्हथ ॥ ७ ॥

इन्द्रके ऐसा कहनेपर नल हाथ जोड़कर बोले—'देवताओ! मेरा भी एकमात्र यही प्रयोजन है, जो आपलोगोंका है; अतः एक ही प्रयोजनके लिये आये हुए मुझे दूत बनाकर न भेजिये ॥ ७ ॥

कथं तु जातसंकल्पः स्त्रियमुत्सृजते पुमान्।
परार्थमीदृशं वक्तुं तत् क्षमन्तु महेश्वराः ॥ ८ ॥

'देवेश्वरो ! जिसके मनमें किसी स्त्रीको प्राप्त करनेका संकल्प हो गया है, वह पुरुष उसी स्त्रीको दूसरेके लिये कैसे छोड़ सकता है? अतः आपलोग ऐसी बात कहनेके लिये मुझे क्षमा करें' ॥ ८ ॥

देवा ऊचुः

करिष्य इति संश्रुत्य पूर्वमस्मासु नैषध।
न करिष्यसि कस्मात् त्वं व्रज नैषध मा चिरम् ॥ ९ ॥

देवताओंने कहा—निषधनरेश ! तुम पहले हमलोगोंसे हमारा कार्य सिद्ध करनेके लिये प्रतिज्ञा कर चुके हो, फिर तुम उस प्रतिज्ञाका पालन कैसे नहीं करोगे? इसलिये निषधराज ! तुम शीघ्र जाओ; देर न करो ॥ ९ ॥

बृहदश्व उवाच

एवमुक्तः स देवैस्तैर्नैषधः पुनरब्रवीत्।
सुरक्षितानि वेश्मानि प्रवेष्टुं कथमुत्सहे ॥ १० ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! उन देवताओंके ऐसा कहनेपर निषधनरेशने पुनः उनसे पूछा—'विदर्भराजके सभी भवन (पहरेदारोंसे) सुरक्षित हैं। मैं उनमें कैसे प्रवेश कर सकता हूँ?' ॥ १० ॥

प्रवेक्ष्यसीति तं शक्रः पुनरेवाभ्यभाषत।
जगाम स तथेत्युक्त्वा दमयन्त्या निवेशनम् ॥ ११ ॥

तब इन्द्रने पुनः उत्तर दिया—'तुम वहाँ प्रवेश कर सकोगे।' तत्पश्चात् राजा नल 'तथास्तु' कहकर दमयन्तीके महलमें गये ॥ ११ ॥

ददर्श तत्र वैदर्भीं सखीगणसमावृताम्।
देदीप्यमानां वपुषा श्रिया च वरवर्णिनीम् ॥ १२ ॥

वहाँ उन्होंने देखा, सखियोंसे घिरी हुई परम सुन्दरी विदर्भराजकुमारी दमयन्ती अपने सुन्दर शरीर और दिव्य कान्तिसे अत्यन्त उद्भासित हो रही है ॥ १२ ॥

अतीवसुकुमाराङ्गीं तनुमध्यां सुलोचनाम्।
आक्षिपन्तीमिव प्रभां शशिनः स्वेन तेजसा ॥ १३ ॥

उसके अङ्ग परम सुकुमार हैं, कटिके ऊपरका भाग अत्यन्त पतला है और नेत्र बड़े सुन्दर हैं एवं वह अपने तेजसे चन्द्रमाकी प्रभाको भी तिरस्कृत-सी कर रही है ॥ १३ ॥

तस्य दृष्ट्वैव ववृधे कामस्तां चारुहासिनीम्।
सत्यं चिकीर्षमाणस्तु धारयामास हृच्छयम् ॥ १४ ॥

उस मनोहर मुसकानवाली राजकुमारीको देखते ही नलके हृदयमें कामाग्नि प्रज्वलित हो उठी; तथापि अपनी प्रतिज्ञाको सत्य करनेकी इच्छासे उन्होंने उस कामवेदनाको मनमें ही रोक लिया ॥ १४ ॥

ततस्ता नैषधं दृष्ट्वा सम्भ्रान्ताः परमाङ्गनाः।
आसनेभ्यः समुत्पेतुस्तेजसा तस्य धर्षिताः ॥ १५ ॥

निषधराजको वहाँ आये देख अन्तःपुरकी सारी सुन्दरी स्त्रियाँ चकित हो गयीं और उनके तेजसे तिरस्कृत हो अपने आसनोंसे उठकर खड़ी हो गयीं ॥ १५ ॥

प्रशशंसुश्च सुप्रीता नलं ता विस्मयान्विताः।
न चैनमभ्यभाषन्त मनोभिस्त्वभ्यपूजयन् ॥ १६ ॥

अत्यन्त प्रसन्न और आश्चर्यचकित होकर उन सबने राजा नलके सौन्दर्यकी प्रशंसा की। उन्होंने उनसे वार्तालाप नहीं किया; परंतु मन-ही-मन उनका बड़ा आदर किया ॥

अहो रूपमहो कान्तिरहो धैर्यं महात्मनः।
कोऽयं देवोऽथवा यक्षो गन्धर्वो वा भविष्यति ॥ १७ ॥

वे सोचने लगीं—'अहो ! इनका रूप अद्भुत है, कान्ति बड़ी मनोहर है तथा इन महात्माका धैर्य भी अनूठा है। न जाने ये हैं कौन? सम्भव है, देवता, यक्ष अथवा गन्धर्व हों' ॥ १७ ॥

न तास्तं शक्नुवन्ति स्म व्याहर्तुमपि किंचन।
तेजसा धर्षितास्तस्य लज्जावत्यो वराङ्गनाः ॥ १८ ॥

नलके तेजसे प्रतिहत हुई वे लजीली सुन्दरियाँ उनसे कुछ बोल भी न सकीं ॥ १८ ॥

अथैनं स्मयमानं तु स्मितपूर्वाभिभाषिणी।
दमयन्ती नलं वीरमभ्यभाषत विस्मिता ॥ १९ ॥

तब मुसकराकर बातचीत करनेवाली दमयन्तीने विस्मित होकर मुसकराते हुए वीर नलसे इस प्रकार पूछा—॥ १९ ॥

कस्त्वं सर्वानवद्याङ्ग मम हृच्छयवर्धन।
प्राप्तोऽस्यमरवद् वीर ज्ञातुमिच्छामि तेऽनघ ॥ २० ॥
कथमागमनं चेह कथं चासि न लक्षितः।
सुरक्षितं हि मे वेश्म राजा चैवोग्रशासनः ॥ २१ ॥
एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलस्तां प्रत्युवाच ह।

'आप कौन हैं? आपके सम्पूर्ण अङ्ग निर्दोष एवं परम सुन्दर हैं। आप मेरे हृदयकी कामाग्निको बढ़ा रहे हैं। निष्पाप वीर ! आप देवताओंके समान यहाँ आ पहुँचे हैं। मैं आपका परिचय पाना चाहती हूँ। आपका इस रनिवासमें आना कैसे सम्भव हुआ? आपको किसीने देखा कैसे नहीं? मेरा यह महल अत्यन्त सुरक्षित है और यहाँके राजाका शासन बड़ा कठोर है—वे अपराधियोंको बड़ा कठोर दण्ड देते हैं।' विदर्भराजकुमारीके ऐसा पूछनेपर नलने इस प्रकार उत्तर दिया ॥ २०-२१½ ॥

नल उवाच

नलं मां विद्धि कल्याणि देवदूतमिहागतम् ॥ २२ ॥
देवास्त्वां प्राप्तुमिच्छन्ति शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ।
तेषामन्यतमं देवं पतिं वरय शोभने ॥ २३ ॥

नलने कहा—कल्याणि ! तुम मुझे नल समझो । मैं देवताओंका दूत बनकर यहाँ आया हूँ । इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम देवता तुम्हें प्राप्त करना चाहते हैं । शोभने ! तुम उनमेंसे किसी एकको अपना पति चुन लो ॥ २२-२३ ॥

तेषामेव प्रभावेण प्रविष्टोऽहमलक्षितः ।
प्रविशन्तं न मां कश्चिदपश्यन्नाप्यवारयत् ॥२४॥

उन्हीं देवताओंके प्रभावसे मैं इस महलके भीतर आया हूँ और मुझे कोई देख न सका है । भीतर प्रवेश करते समय न तो किसीने मुझे देखा है और न रोका ही है ।२४।

एतदर्थमहं भद्रे प्रेषितः सुरसत्तमैः ।
एतच्छ्रुत्वा शुभे बुद्धिं प्रकुरुष्व यथेच्छसि ॥२५॥

भद्रे ! इसीलिये श्रेष्ठ देवताओंने मुझे यहाँ भेजा है । शुभे ! इसे सुनकर तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा निश्चय करो॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलस्य देवदौत्ये पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलके देवदूत बनकर दमयन्तीके पास जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

नलका दमयन्तीसे वार्तालाप करना और लौटकर देवताओंको उसका संदेश सुनाना

बृहदश्व उवाच

सा नमस्कृत्य देवेभ्यः प्रहस्य नलमब्रवीत् ।
प्रणयस्व यथाश्रद्धं राजन् किं करवाणि ते ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! दमयन्तीने अपनी श्रद्धाके अनुसार देवताओंको नमस्कार करके नलसे हँसकर कहा—'महाराज ! आप ही मेरा पाणिग्रहण कीजिये और बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ॥ १ ॥

अहं चैव हि यच्चान्यन्ममास्ति वसु किंचन ।
तत् सर्वं तव विश्रब्धं कुरु प्रणयमीश्वर ॥ २ ॥

'नरेश्वर ! मैं तथा मेरा जो कुछ दूसरा धन है, वह सब आपका है । आप पूर्ण विश्वस्त होकर मेरे साथ विवाह कीजिये ॥

हंसानां वचनं यत् तु तन्मां दहति पार्थिव ।
त्वत्कृते हि मया वीर राजानः संनिपातिताः ॥ ३ ॥

'भूपाल ! हंसोंकी जो बात मैंने सुनी' वह (मेरे हृदयमें कामाग्नि प्रज्वलित करके सदा) मुझे दग्ध करती रहती है । वीर ! आपहीको पानेके लिये मैंने यहाँ समस्त राजाओंका सम्मेलन कराया है ॥ ३ ॥

यदि त्वं भजमानां मां प्रत्याख्यास्यसि मानद ।
विषमग्निं जलं रज्जुमास्थास्ये तव कारणात् ॥४॥

'मानद ! आपके चरणोंमें भक्ति रखनेवाली मुझ दासीको यदि आप स्वीकार नहीं करेंगे तो मैं आपके ही कारण विष, अग्नि, जल अथवा फाँसीको निमित्त बनाकर अपना प्राण त्याग दूँगी' ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलस्तां प्रत्युवाच ह ।
तिष्ठत्सु लोकपालेषु कथं मानुषमिच्छसि ॥ ५ ॥

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर राजा नलने उससे पूछा—'(तुम्हें पानेके लिये उत्सुक) लोकपालोंके होते हुए तुम एक साधारण मनुष्यको कैसे पति बनाना चाहती हो ? ॥ ५ ॥

येषामहं लोककृतामीश्वराणां महात्मनाम् ।
न पादरजसा तुल्यो मनस्ते तेषु वर्तताम् ॥ ६ ॥

'जिन लोकस्रष्टा महामना ईश्वरोंके चरणोंकी धूलके समान भी मैं नहीं हूँ, उन्हींकी ओर तुम्हें मन लगाना चाहिये ॥ ६ ॥

विप्रियं ह्याचरन् मर्त्यो देवानां मृत्युमृच्छति ।
त्राहि मामनवद्याङ्गि वरयस्व सुरोत्तमान् ॥ ७ ॥

'निर्दोष अङ्गोंवाली सुन्दरी ! देवताओंके विरुद्ध चेष्टा करनेवाला मानव मृत्युको प्राप्त हो जाता है; अतः तुम मुझे बचाओ और उन श्रेष्ठ देवताओंका ही वरण करो ॥ ७॥

विरजांसि च वासांसि दिव्याश्चित्राः स्रजस्तथा ।
भूषणानि तु मुख्यानि देवान् प्राप्य तु भुङ्क्ष्व वै ॥ ८ ॥

'तथा देवताओंको ही पाकर निर्मल वस्त्र, दिव्य एवं विचित्र पुष्पहार तथा मुख्य-मुख्य आभूषणोंका सुख भोगो ॥

य इमां पृथिवीं कृत्स्नां संक्षिप्य ग्रसते पुनः ।
हुताशमीशं देवानां का तं न वरयेत् पतिम् ॥ ९ ॥

'जो इस सारी पृथ्वीको संक्षिप्त करके पुनः अपना ग्रास बना लेते हैं, उन देवेश्वर अग्निको कौन नारी अपना पति न चुनेगी ? ॥ ९ ॥

यस्य दण्डभयात् सर्वे भूतग्रामाः समागताः ।
धर्ममेवानुरुध्यन्ति का तं न वरयेत् पतिम् ॥ १० ॥

'जिनके दण्डके भयसे संसारमें आये हुए समस्त प्राणि-समुदाय धर्मका ही पालन करते हैं, उन यमराजको कौन अपना पति नहीं वरेगी ?॥ १० ॥

धर्मात्मानं महात्मानं दैत्यदानवमर्दनम्।
महेन्द्रं सर्वदेवानां का तं न वरयेत् पतिम् ॥ ११ ॥

'दैत्यों और दानवोंका मर्दन करनेवाले धर्मात्मा महामना सर्वदेवेश्वर महेन्द्रका कौन नारी पतिरूपमें वरण न करेगी ?॥

क्रियतामविशङ्केन मनसा यदि मन्यसे।
वरुणं लोकपालानां सुहृद्वाक्यमिदं शृणु ॥ १२ ॥

'यदि तुम ठीक समझती हो तो लोकपालोंमें प्रसिद्ध वरुणको निःशङ्क होकर अपना पति बनाओ। यह एक हितैषी सुहृद्-का वचन है, इसे सुनो' ॥ १२ ॥

नैषधेनैवमुक्ता सा दमयन्ती वचोऽब्रवीत्।
समाप्लुताभ्यां नेत्राभ्यां शोकजेनाथ वारिणा ॥ १३ ॥

तदनन्तर निषधराज नलके ऐसा कहनेपर दमयन्ती शोकाश्रुओं-से भरे हुए नेत्रोंद्वारा देखती हुई इस प्रकार बोली—॥ १३ ॥

देवेभ्योऽहं नमस्कृत्य सर्वेभ्यः पृथिवीपते।
वृणे त्वामेव भर्तारं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १४ ॥

'पृथ्वीपते! मैं सम्पूर्ण देवताओंको नमस्कार करके आप-हीको अपना पति चुनती हूँ। यह मैंने आपसे सच्ची बात कही है' ॥ १४ ॥

तामुवाच ततो राजा वेपमानां कृताञ्जलिम्।
दौत्येनागत्य कल्याणि तथा भद्रे विधीयताम् ॥ १५ ॥

ऐसा कहकर दमयन्ती दोनों हाथ जोड़े थर-थर काँपने लगी। उस अवस्थामें राजा नलने उससे कहा—'कल्याणि! मैं इस समय दूतका कार्य करनेके लिये आया हूँ; अतः भद्रे! इस समय वही करो जो मेरे स्वरूपके अनुरूप हो॥

कथं ह्यहं प्रतिश्रुत्य देवतानां विशेषतः।
परार्थे यत्नमारभ्य कथं स्वार्थमिहोत्सहे ॥ १६ ॥

'मैं देवताओंके सामने प्रतिज्ञा करके विशेषतः परोपकारके लिये प्रयत्न आरम्भ करके अब यहाँ स्वार्थ-साधनके लिये कैसे उत्साहित हो सकता हूँ ?॥ १६ ॥

एष धर्मो यदि स्वार्थो ममापि भविता ततः।
एवं स्वार्थं करिष्यामि तथा भद्रे विधीयताम् ॥ १७ ॥

'यदि यह धर्म सुरक्षित रहे तो उससे मेरे स्वार्थकी भी सिद्धि हो सकती है। भद्रे! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे मैं इस प्रकार धर्मयुक्त स्वार्थकी सिद्धि करूँ' ॥ १७ ॥

ततो बाष्पाकुलां वाचं दमयन्ती शुचिस्मिता।
प्रत्याहरन्ती शनकैर्नलं राजानमब्रवीत् ॥ १८ ॥

उपायोऽयं मया दृष्टो निरपायो नरेश्वर।
येन दोषो न भविता तव राजन् कथंचन ॥ १९ ॥

यह सुनकर पवित्र मुसकानवाली दमयन्ती राजा नलसे धीरे-धीरे अश्रुगद्गदवाणीमें बोली—'नरेश्वर! मैंने उस निर्दोष उपायको ढूँढ़ निकाला है, राजन्! जिससे आपको किसी प्रकार दोष नहीं लगेगा ॥ १८-१९ ॥

त्वं चैव हि नरश्रेष्ठ देवाश्चेन्द्रपुरोगमाः।
आयान्तु सहिताः सर्वे मम यत्र स्वयंवरः ॥ २० ॥

'नरश्रेष्ठ! आप और इन्द्र आदि सब देवता एक ही साथ उस रङ्गमण्डपमें पधारें, जहाँ मेरा स्वयंवर होनेवाला है ॥ २० ॥

ततोऽहं लोकपालानां संनिधौ त्वां नरेश्वर।
वरयिष्ये नरव्याघ्र नैवं दोषो भविष्यति ॥ २१ ॥

'नरेश्वर! नरव्याघ्र! तदनन्तर मैं उन लोकपालोंके समीप ही आपका वरण कर लूँगी। ऐसा करनेसे (आपको कोई) दोष नहीं लगेगा' ॥ २१ ॥

एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलो राजा विशाम्पते।
आजगाम पुनस्तत्र यत्र देवाः समागताः ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर! विदर्भराजकुमारीके ऐसा कहनेपर राजा नल पुनः वहीं लौट आये, जहाँ देवताओंसे उनकी भेंट हुई थी ॥ २२ ॥

तमपश्यंस्तथाऽऽयान्तं लोकपाला महेश्वराः।
दृष्ट्वा चैनं ततोऽपृच्छन् वृत्तान्तं सर्वमेव तम् ॥ २३ ॥

महान् शक्तिशाली लोकपालोंने इस प्रकार राजा नलको लौटते देखा और उन्हें देखकर उनसे सारा वृत्तान्त पूछा—२३

कच्चिद् दृष्टा त्वया राजन् दमयन्ती शुचिस्मिता।
किमब्रवीच्च नः सर्वान् वद भूमिप तेऽनघ ॥ २४ ॥

'राजन्! क्या तुमने पवित्र मुसकानवाली दमयन्तीको देखा है ? पापरहित भूपाल! हम सब लोगोंको उसने क्या संदेश दिया, बताओ' ॥ २४ ॥

नल उवाच

भवद्भिरहमादिष्टो दमयन्त्या निवेशनम्।
प्रविष्टः सुमहाकक्षं दण्डिभिः स्थविरैर्वृतम् ॥ २५ ॥

नलने कहा—देवताओ! आपकी आज्ञा पाकर मैं दमयन्तीके महलमें गया। उसकी ड्योढ़ी विशाल थी और दण्डधारी बूढ़े रक्षक उसे घेरकर पहरा दे रहे थे ॥ २५ ॥

प्रविशन्तं च मां तत्र न कश्चिद् दृष्टवान् नरः।
ऋते तां पार्थिवसुतां भवतामेव तेजसा ॥ २६ ॥

आपलोगोंके प्रभावसे उसमें प्रवेश करते समय मुझे वहाँ उस राजकन्या दमयन्तीके सिवा दूसरे किसी मनुष्यने नहीं देखा ॥ २६ ॥

सख्यश्चास्या मया दृष्टास्ताभिश्चाप्युपलक्षितः।
विस्मिताश्चाभवन् सर्वा दृष्ट्वा मां विबुधेश्वराः ॥२७॥

दमयन्तीकी सखियोंको भी मैंने देखा और उन सखियोंने भी मुझे देखा। देवेश्वरो! वे सब मुझे देखकर आश्चर्यचकित हो गयीं ॥ २७ ॥

वर्ण्यमानेषु च मया भवत्सु रुचिरानना।
मामेव गतसंकल्पा वृणीते सा सुरोत्तमाः ॥ २८ ॥

श्रेष्ठ देवताओ! जब मैं आपलोगोंके प्रभावका वर्णन करने लगा, उस समय सुमुखी दमयन्तीने मुझमें ही अपना मानसिक संकल्प रखकर मेरा ही वरण किया ॥ २८ ॥

अब्रवीच्चैव मां बाला आयान्तु सहिताः सुराः।
त्वया सह नरव्याघ्र मम यत्र स्वयंवरः ॥ २९ ॥

उस बालाने मुझसे यह भी कहा कि 'नरव्याघ्र! सब देवता आपके साथ उस स्थानपर पधारें, जहाँ मेरा स्वयंवर होनेवाला है ॥ २९ ॥

तेषामहं संनिधौ त्वां वरयिष्यामि नैषध।
एवं तव महाबाहो दोषो न भवितेति ह ॥ ३० ॥

'निषधराज! मैं उन देवताओंके समीप ही आपका वरण कर लूँगी। महाबाहो! ऐसा होनेपर आपको दोष नहीं लगेगा' ॥ ३० ॥

एतावदेव विबुधा यथावृत्तमुपाहृतम्।
मयाशेषे प्रमाणं तु भवन्तस्त्रिदशेश्वराः ॥ ३१ ॥

देवताओ! दमयन्तीके महलका इतना ही वृत्तान्त है, जिसे मैंने ठीक-ठीक निवेदन कर दिया। देवेश्वरगण! अब इस सम्पूर्ण विषयमें आप सब देवतालोग ही प्रमाण हैं, अर्थात् आप ही साक्षी हैं ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकर्तृकदेवदौत्ये षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यान पर्वमें नलकर्तृक देवदौत्यविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५६॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

स्वयंवरमें दमयन्तीद्वारा नलका वरण, देवताओंका नलको वर देना, देवताओं और राजाओंका प्रस्थान, नल-दमयन्तीका विवाह एवं नलका यज्ञानुष्ठान और संतानोत्पादन

बृहदश्व उवाच

अथ काले शुभे प्राप्ते तिथौ पुण्ये क्षणे तथा।
आजुहाव महीपालान् भीमो राजा स्वयंवरे ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! तदनन्तर शुभ समय, उत्तम तिथि तथा पुण्यदायक अवसर आनेपर राजा भीमने समस्त भूपालोंको स्वयंवरके लिये बुलाया ॥ १ ॥

तच्छ्रुत्वा पृथिवीपालाः सर्वे हृच्छयपीडिताः।
त्वरिताः समुपाजग्मुर्दमयन्तीमभीप्सवः ॥ २ ॥

यह सुनकर सब भूपाल कामपीड़ित हो दमयन्तीको पानेकी इच्छासे तुरंत चल दिये ॥ २ ॥

कनकस्तम्भरुचिरं तोरणेन विराजितम्।
विविशुस्ते नृपा रङ्गं महासिंहा इवाचलम् ॥ ३ ॥

रङ्गमण्डप सोनेके खम्भोंसे सुशोभित था। तोरणसे उसकी शोभा और बढ़ गयी थी। जैसे बड़े-बड़े सिंह पर्वतकी गुफामें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार उन नरेशोंने रङ्गमण्डपमें प्रवेश किया ॥ ३ ॥

तत्रासनेषु विविधेष्वासीनाः पृथिवीक्षितः।
सुरभिस्रग्धराः सर्वे प्रमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ ४ ॥

वहाँ सब भूपाल भिन्न-भिन्न आसनोंपर बैठ गये। सबने सुगन्धित फूलोंकी माला धारण कर रक्खी थी और सबके कानोंमें विशुद्ध मणिमय कुण्डल झिलमिला रहे थे ॥४॥

तां राजसमितिं पुण्यां नागैर्भोगवतीमिव।
सम्पूर्णां पुरुषव्याघ्रैर्व्याघ्रैर्गिरिगुहामिव ॥ ५ ॥

व्याघ्रोंसे भरी हुई पर्वतकी गुफा तथा नागोंसे सुशोभित भोगवती पुरीकी भाँति वह पुण्यमयी राजसभा नरश्रेष्ठ भूपालोंसे भरी दिखायी देती थी ॥ ५ ॥

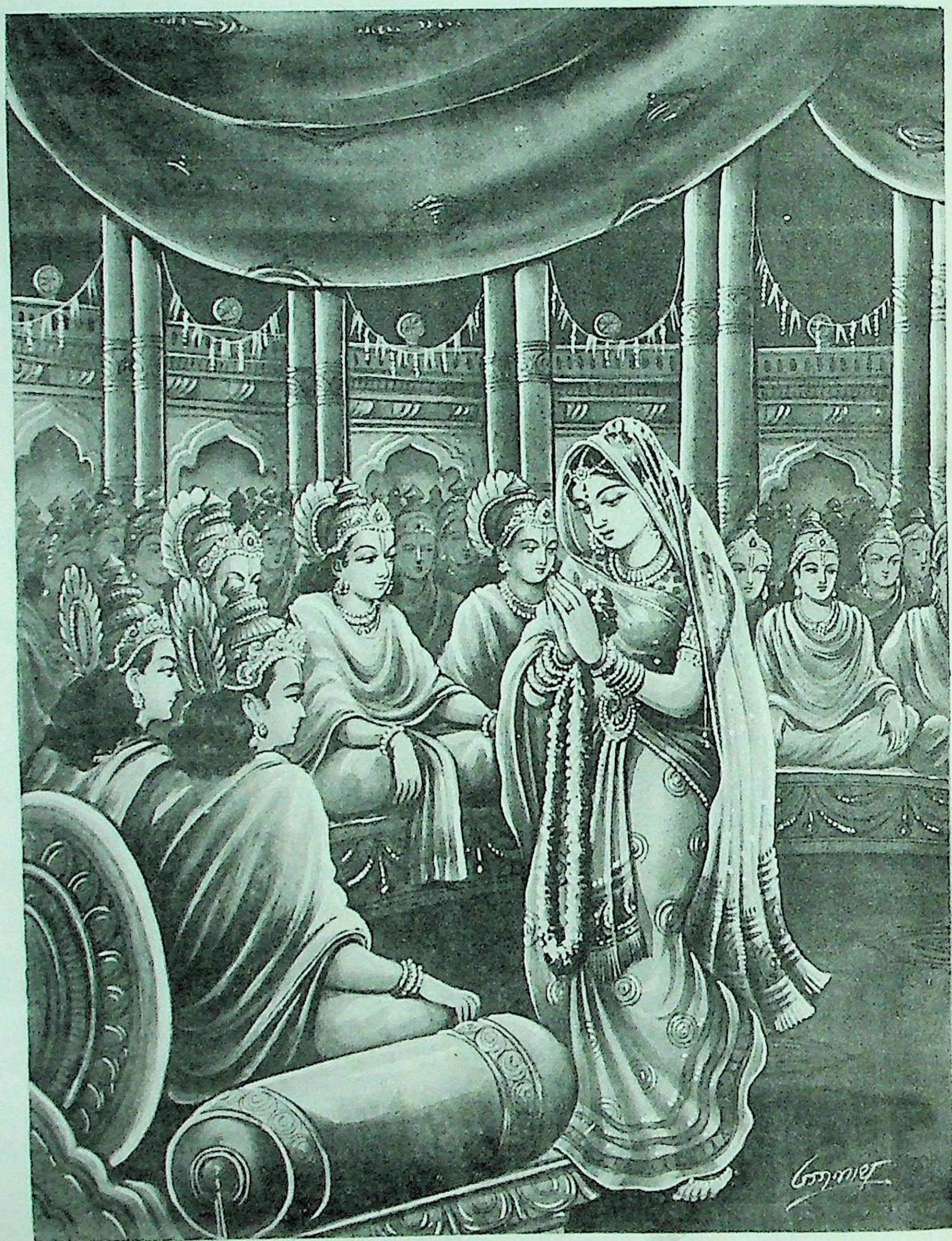
तत्र स्म पीना दृश्यन्ते बाहवः परिघोपमाः।
आकारवर्णसुश्लक्ष्णाः पञ्चशीर्षा इवोरगाः ॥ ६ ॥

वहाँ भूमिपालोंकी (पाँच अँगुलियोंसे युक्त) परिघ-जैसी मोटी भुजाएँ आकार-प्रकार और रंगमें अत्यन्त सुन्दर तथा पाँच मस्तकवाले सर्पके समान दिखायी देती थीं ॥ ६ ॥

सुकेशान्तानि चारूणि सुनासाक्षिभ्रुवाणि च।
मुखानि राज्ञां शोभन्ते नक्षत्राणि यथा दिवि ॥ ७ ॥

जैसे आकाशमें तारे प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार सुन्दर केशान्त भागसे विभूषित एवं रुचिर नासिका, नेत्र और भौंहोंसे युक्त राजाओंके मनोहर मुख सुशोभित हो रहे थे ॥ ७ ॥

दमयन्ती ततो रङ्गं प्रविवेश शुभानना।
मुष्णन्ती प्रभया राज्ञां चक्षूंषि च मनांसि च ॥ ८ ॥



नलकी पहचानके लिये दमयन्तीकी लोकपालोंसे प्रार्थना

तदनन्तर अपनी प्रभासे राजाओंके नयनोंको लुभाती और चित्तको चुराती हुई सुन्दर मुखवाली दमयन्तीने रङ्ग-भूमिमें प्रवेश किया ॥ ८ ॥

तस्या गात्रेषु पतिता तेषां दृष्टिर्महात्मनाम् ।
तत्र तत्रैव सक्तान्नि चचाल च पश्यताम् ॥ ९ ॥

वहाँ आते ही दमयन्तीके अङ्गोंपर उन महामना नरेशोंकी दृष्टि पड़ी । उसे देखनेवाले राजाओंमेंसे जिसकी दृष्टि दमयन्ती-के जिस अङ्गपर पड़ी, वहीं लग गयी, वहाँसे हट न सकी ॥ ९ ॥

ततः संकीर्त्यमानेषु राज्ञां नामसु भारत ।
ददर्श भैमी पुरुषान् पञ्चतुल्याकृतीनिह ॥ १० ॥

भारत ! तत्पश्चात् राजाओंके नाम, रूप, यश और पराक्रम आदिका परिचय दिया जाने लगा । भीमकुमारी दमयन्तीने आगे बढ़कर देखा, यहाँ तो एक जगह पाँच पुरुष एक ही आकृतिके बैठे हुए हैं ॥ १० ॥

तान् समीक्ष्य ततः सर्वान् निर्विशेषाकृतीन् स्थितान् ।
संदेहादथ वैदर्भी नाभ्यजानान्नलं नृपम् ॥ ११ ॥

उन सबके रूप-रङ्ग आदिमें कोई अन्तर नहीं था । वे पाँचों नलके ही समान दिखायी देते थे । उन्हें एक जगह स्थित देखकर संदेह उत्पन्न हो जानेसे विदर्भराजकुमारी वास्तविक राजा नलको पहचान न सकी ॥ ११ ॥

यं यं हि ददृशे तेषां तं तं मेने नलं नृपम् ।
सा चिन्तयन्ती बुद्ध्याथ तर्कयामास भाविनी ।१२।

वह उनमेंसे जिस-जिस व्यक्तिपर दृष्टि डालती, उसी-उसी-को राजा नल समझने लगती थी । वह भाविनी राजकन्या बुद्धिसे सोच-विचारकर मन-ही-मन तर्क करने लगी ॥ १२ ॥

कथं हि देवाञ्जानीयां कथं विद्यां नलं नृपम् ।
एवं संचिन्तयन्ती सा वैदर्भी भृशदुःखिता ॥ १३ ॥

अहो ! मैं कैसे देवताओंको जानूँ और किस प्रकार राजा नलको पहिचानूँ ।' इस चिन्तामें पड़कर विदर्भराजकुमारी दमयन्तीको बड़ा दुःख हुआ ॥ १३ ॥

श्रुतानि देवलिङ्गानि तर्कयामास भारत ।
देवानां यानि लिङ्गानि स्थविरेभ्यः श्रुतानि मे ॥ १४ ॥
तानीह तिष्ठतां भूमावेकस्यापि न लक्षये ।
सा विनिश्चित्य बहुधा विचार्य च पुनः पुनः ॥ १५ ॥
शरणं प्रति देवानां प्राप्तकालममन्यत ।

भारत ! उसने अपने सुने हुए देवचिह्नोंपर भी विचार किया । वह मन-ही-मन कहने लगी 'मैंने बड़े-बूढ़े पुरुषोंसे देवताओंकी पहचान करानेवाले जो लक्षण या चिह्न सुन रक्खे हैं, उन्हें यहाँ भूमिपर बैठे हुए इन पाँच पुरुषोंमेंसे किसी एकमें भी नहीं देख पाती हूँ ।' उसने अनेक प्रकारसे निश्चय और बार-बार विचार करके देवताओंकी शरणमें जाना ही समयोचित कर्तव्य समझा ॥ १४-१५½ ॥

वाचा च मनसा चैव नमस्कारं प्रयुज्य सा ॥ १६ ॥
देवेभ्यः प्राञ्जलिर्भूत्वा वेपमानेदमब्रवीत् ।
हंसानां वचनं श्रुत्वा यथा मे नैषधो वृतः ।
पतित्वे तेन सत्येन देवास्तं प्रदिशन्तु मे ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् मन एवं वाणीद्वारा देवताओंको नमस्कार करके दोनों हाथ जोड़कर काँपती हुई वह इस प्रकार बोली—'मैंने हंसोंकी बात सुनकर निषधनरेश नलका पतिरूपमें वरण कर लिया है । इस सत्यके प्रभावसे देवता लोग स्वयं ही मुझे राजा नलकी पहचान करा दें ॥ १६-१७ ॥

मनसा वचसा चैव यथा नाभिचराम्यहम् ।
तेन सत्येन विबुधास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ १८ ॥

'यदि मैं मन, वाणी एवं क्रियाद्वारा कभी सदाचारसे च्युत नहीं हुई हूँ तो उस सत्यके प्रभावसे देवतालोग मुझे राजा नलकी ही प्राप्ति करावें ॥ १८ ॥

यथा देवैः स मे भर्ता विहितो निषधाधिपः ।
तेन सत्येन मे देवास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ १९ ॥

'यदि देवताओंने उन निषधनरेश नलको ही मेरा पति निश्चित किया हो तो उस सत्यके प्रभावसे देवता लोग मुझे उन्हींको बतला दें ॥ १९ ॥

यथेदं व्रतमारब्धं नलस्याराधने मया ।
तेन सत्येन मे देवास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ २० ॥

'यदि मैंने नलकी आराधनाके लिये ही यह व्रत आरम्भ किया हो तो उस सत्यके प्रभावसे देवता मुझे उन्हींको बतला दें ॥ २० ॥

स्वं चैव रूपं कुर्वन्तु लोकपाला महेश्वराः ।
यथाहमभिजानीयां पुण्यश्लोकं नराधिपम् ॥ २१ ॥

'महेश्वर लोकपालगण अपना रूप प्रकट कर दें, जिससे मैं पुण्यश्लोक महाराज नलको पहचान सकूँ' ॥ २१ ॥

निशम्य दमयन्त्यास्तत् करुणं प्रतिदेवितम् ।
निश्चयं परमं तथ्यमनुरागं च नैषधे ॥ २२ ॥
मनोविशुद्धिं बुद्धिं च भक्तिं रागं च नैषधे ।
यथोक्तं चक्रिरे देवाः सामर्थ्यं लिङ्गधारणे ॥ २३ ॥

दमयन्तीका वह करुण विलाप सुनकर तथा उसके अन्तिम निश्चय, नलविषयक वास्तविक अनुराग, विशुद्ध हृदय, उत्तम बुद्धि तथा नलके प्रति भक्ति एवं प्रेम देखकर देवताओंने दमयन्तीके भीतर वह यथार्थ शक्ति उत्पन्न कर दी, जिससे उसे देवसूचक लक्षणोंका निश्चय हो सके ॥ २२-२३ ॥

सापश्यद् विबुधान् सर्वानस्वेदान् स्तब्धलोचनान्।
हृषितस्रग्रजोहीनान् स्थितानस्पृशतः क्षितिम् ॥२४॥

अब दमयन्तीने देखा—सम्पूर्ण देवता स्वेदरहित हैं—उनके किसी अङ्गमें पसीनेकी बूँद नहीं दिखायी देती, उनकी आँखोंकी पलकें नहीं गिरती हैं। उन्होंने जो पुष्पमालाएँ पहन रक्खी हैं, वे नूतन विकाससे युक्त हैं—कुम्हलाती नहीं हैं। उनपर धूल-कण नहीं पड़ रहे हैं। वे सिंहासनोंपर बैठे हैं, किंतु अपने पैरोंसे पृथ्वीतलका स्पर्श नहीं करते हैं और उनकी परछाईं नहीं पड़ती है ॥ २४ ॥



छायाद्वितीयो म्लानस्रग्रजःस्वेदसमन्वितः।
भूमिष्ठो नैषधश्चैव निमेषेण च सूचितः ॥ २५ ॥

उन पाँचोंमें एक पुरुष ऐसे हैं, जिनकी परछाईं पड़ रही है। उनके गलेकी पुष्पमाला कुम्हला गयी है। उनके अङ्गोंमें धूलकण और पसीनेकी बूँदें भी दिखायी पड़ती हैं। वे पृथ्वीका स्पर्श किये बैठे हैं और उनके नेत्रोंकी पलकें गिरती हैं। इन लक्षणोंसे दमयन्तीने निषधराज नलको पहचान लिया ॥ २५ ॥

सा समीक्ष्य तु तान् देवान् पुण्यश्लोकं च भारत।
नैषधं वरयामास भैमी धर्मेण पाण्डव ॥ २६ ॥

भरतकुलभूषण पाण्डुनन्दन! राजकुमारी दमयन्तीने उन देवताओं तथा पुण्यश्लोक नलकी ओर पुनः दृष्टिपात करके धर्मके अनुसार निषधराज नलका ही वरण किया ॥२६॥

विलज्जमाना वस्त्रान्ते जग्राहायतलोचना।
स्कन्धदेशेऽसृजत् तस्य स्रजं परमशोभनाम् ॥ २७ ॥
वरयामास चैवैनं पतित्वे वरवर्णिनी।

विशाल नेत्रोंवाली दमयन्तीने लजाते-लजाते नलके वस्त्रका छोर पकड़ लिया और उनके गलेमें परम सुन्दर फूलोंका हार डाल दिया। इस प्रकार वरवर्णिनी दमयन्तीने राजा नलका पतिरूपमें वरण कर लिया ॥ २७½ ॥

ततो हाहेति सहसा मुक्तः शब्दो नराधिपैः ॥ २८ ॥

फिर तो दूसरे राजाओंके मुखसे सहसा 'हाहाकार' का शब्द निकल पड़ा ॥ २८ ॥

देवैर्महर्षिभिस्तत्र साधु साध्विति भारत।
विस्मितैरीरितः शब्दः प्रशंसद्भिर्नलं नृपम् ॥२९॥

भारत! देवता और महर्षि वहाँ साधुवाद देने लगे। सबने विस्मित होकर राजा नलकी प्रशंसा करते हुए इनके सौभाग्यको सराहा ॥ २९ ॥

दमयन्तीं तु कौरव्य वीरसेनसुतो नृपः।
आश्वासयद् वरारोहां प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ३० ॥

कुरुनन्दन! वीरसेनकुमार नलने उल्लसित हृदयसे सुन्दरी दमयन्तीको आश्वासन देते हुए कहा—॥ ३० ॥

यत् त्वं भजसि कल्याणि पुमांसं देवसंनिधौ।
तस्मान्मां विद्धि भर्तारमेवं ते वचने रतम् ॥३१॥

'कल्याणी! तुम देवताओंके समीप जो मुझ-जैसे पुरुषका वरण कर रही हो, इस अलौकिक अनुरागके कारण अपने इस पतिको तुम सदा अपनी प्रत्येक आज्ञाके पालनमें तत्पर समझो ॥ ३१ ॥

यावच्च मे धरिष्यन्ति प्राणा देहे शुचिस्मिते।
तावत् त्वयि भविष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥३२॥

'पवित्र मुसकानवाली देवि! मेरे इस शरीरमें जबतक प्राण रहेंगे, तबतक तुममें मेरा अनन्य अनुराग बना रहेगा, यह मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ' ॥ ३२ ॥

दमयन्ती तथा वाग्भिरभिनन्द्य कृताञ्जलिः।
तौ परस्परतः प्रीतौ दृष्ट्वा त्वग्निपुरोगमान् ॥ ३३ ॥
तानेव शरणं देवाञ्जग्मतुर्मनसा तदा।

इसी प्रकार दमयन्तीने भी हाथ जोड़कर विनीत वचनोंद्वारा महाराज नलका अभिनन्दन किया। वे दोनों एक-दूसरेको पाकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सामने अग्नि आदि देवताओंको देखकर मन-ही-मन उनकी ही शरण ली ॥ ३३½ ॥

वृते तु नैषधे भैम्या लोकपाला महौजसः ॥ ३४ ॥
प्रहृष्टमनसः सर्वे नलायाष्टौ वरान् ददुः।

दमयन्तीने जब नलका वरण कर लिया, तब उन सब महातेजस्वी लोकपालोंने प्रसन्नचित्त होकर नलको आठ वरदान दिये ॥ ३४½ ॥



प्रत्यक्षदर्शनं यज्ञे गतिं चानुत्तमां शुभाम् ॥ ३५ ॥
नैषधाय ददौ शक्रः प्रीयमाणः शचीपतिः ।

शचीपति इन्द्रने प्रसन्न होकर निषधराज नलको यह वर दिया कि 'मैं यज्ञमें तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन दूँगा और अन्तमें सर्वोत्तम शुभ गति प्रदान करूँगा' ॥ ३५½ ॥

अग्निरात्मभवं प्रादाद् यत्र वाञ्छति नैषधः ॥ ३६ ॥
लोकानात्मप्रभांश्चैव ददौ तस्मै हुताशनः ।

हविष्यभोक्ता अग्निदेवने नलको अपने ही समान तेजस्वी लोक प्रदान किये और यह भी कहा कि 'राजा नल जहाँ चाहेंगे, वहीं मैं प्रकट हो जाऊँगा' ॥३६½॥

यमस्त्वन्नरसं प्रादाद् धर्मे च परमां स्थितिम् ॥ ३७ ॥

यमराजने यह कहा कि 'राजा नलकी बनायी हुई रसोईमें उत्तमोत्तम रस एवं स्वाद उपलब्ध होगा और धर्ममें इनकी दृढ़ निष्ठा बनी रहेगी' ॥ ३७ ॥

अपां पतिरपां भावं यत्र वाञ्छति नैषधः ।
स्रजश्चोत्तमगन्धाढ्याः सर्वे च मिथुनं ददुः ॥ ३८ ॥

जलके स्वामी वरुणने नलकी इच्छाके अनुसार जल प्रकट होनेका वर दिया और यह भी कहा कि 'तुम्हारी पुष्पमालाएँ सदा उत्तम गन्धसे सम्पन्न होंगी ।' इस प्रकार सब देवताओंने दो-दो वर दिये ॥ ३८ ॥

वरानेवं प्रदायास्य देवास्ते त्रिदिवं गताः ।
पार्थिवाश्चानुभूयास्य विवाहं विस्मयान्विताः ॥ ३९ ॥
दमयन्त्याश्च मुदिताः प्रतिजग्मुर्यथागतम् ।

इस प्रकार राजा नलको वरदान देकर वे देवतालोग स्वर्गलोकको चले गये। स्वयंवरमें आये हुए राजा भी विस्मयविमुग्ध हो नल और दमयन्तीके विवाहोत्सवका-सा अनुभव करते हुए प्रसन्नतापूर्वक जैसे आये थे, वैसे लौट गये ॥ ३९½ ॥

गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु भीमः प्रीतो महामनाः ॥ ४० ॥
विवाहं कारयामास दमयन्त्या नलस्य च ।

सब नरेशोंके विदा हो जानेपर महामना भीमने बड़ी प्रसन्नताके साथ नल-दमयन्तीका शास्त्रविधिके अनुसार विवाह कराया ॥ ४०½ ॥

उष्य तत्र यथाकामं नैषधो द्विपदां वरः ॥ ४१ ॥
भीमेन समनुज्ञातो जगाम नगरं स्वकम् ।

मनुष्योंमें श्रेष्ठ निषधनरेश नल अपनी इच्छाके अनुसार कुछ दिनोंतक ससुरालमें रहे, फिर विदर्भनरेश भीमकी आज्ञा ले (दमयन्तीसहित) अपनी राजधानीको चले गये ॥४१½॥

अवाप्य नारीरत्नं तु पुण्यश्लोकोऽपि पार्थिवः ॥ ४२ ॥
रेमे सह तया राजञ्छच्येव बलवृत्रहा ।

राजन् ! पुण्यश्लोक महाराज नलने भी उस रमणीरत्नको पाकर उसके साथ उसी प्रकार विहार किया, जैसे शचीके साथ इन्द्र करते हैं ॥ ४२½ ॥

अतीव मुदितो राजा भ्राजमानोंऽशुमानिव ॥ ४३ ॥
अरञ्जयत् प्रजा वीरो धर्मेण परिपालयन् ।

राजा नल सूर्यके समान प्रकाशित होते थे । वीरवर नल अत्यन्त प्रसन्न रहकर अपनी प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करते हुए उसे प्रसन्न रखते थे ॥ ४३½ ॥

ईजे चाप्यश्वमेधेन ययातिरिव नाहुषः ॥ ४४ ॥
अन्यैश्च बहुभिर्धीमान् क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।

उन बुद्धिमान् नरेशने नहुषनन्दन ययातिकी भाँति अश्वमेध तथा पर्याप्त दक्षिणावाले दूसरे बहुत-से यज्ञोंका भी अनुष्ठान किया ॥ ४४½ ॥

पुनश्च रमणीयेषु वनेषूपवनेषु च ॥ ४५ ॥
दमयन्त्या सह नलो विजहारामरोपमः ।

तदनन्तर देवतुल्य राजा नलने दमयन्तीके साथ रमणीय वनों और उपवनोंमें विहार किया ॥ ४५½ ॥

जनयामास च ततो दमयन्त्यां महामनाः ।
इन्द्रसेनं सुतं चापि इन्द्रसेनां च कन्यकाम् ॥ ४६ ॥

महामना नलने दमयन्तीके गर्भसे इन्द्रसेन नामक एक पुत्र और इन्द्रसेना नामवाली एक कन्याको जन्म दिया ॥ ४६ ॥

एवं स यजमानश्च विहरंश्च नराधिपः ।
ररक्ष वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिपः ॥४७॥

इस प्रकार यज्ञोंका अनुष्ठान तथा सुखपूर्वक विहार करते हुए महाराज नलने धन-धान्यसे सम्पन्न वसुन्धराका पालन किया ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीस्वयंवरे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत दमयन्ती-स्वयंवरविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

देवताओंके द्वारा नलके गुणोंका गान और उनके निषेध करनेपर भी नलके विरुद्ध कलियुगका कोप

बृहदश्व उवाच

वृते तु नैषधे भैम्या लोकपाला महौजसः ।
यान्तो ददृशुरायान्तं द्वापरं कलिना सह ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! भीमकुमारी दमयन्तीद्वारा निषधनरेश नलका वरण हो जानेपर जब महातेजस्वी लोकपालगण स्वर्गलोकको जा रहे थे, उस समय मार्गमें उन्होंने देखा कि कलियुगके साथ द्वापर आ रहा है॥

अथाब्रवीत् कलिं शक्रः सम्प्रेक्ष्य बलवृत्रहा ।
द्वापरेण सहायेन कले ब्रूहि क्व यास्यसि ॥ २ ॥

कलियुगको देखकर बल और वृत्रासुरका नाश करनेवाले इन्द्रने पूछा—'कले! बताओ तो सही द्वापरके साथ कहाँ जा रहे हो?' ॥ २ ॥

ततोऽब्रवीत् कलिः शक्रं दमयन्त्याः स्वयंवरम् ।
गत्वा हि वरयिष्ये तां मनो हि मम तां गतम् ॥ ३ ॥

तब कलिने इन्द्रसे कहा—'देवराज! मैं दमयन्तीके स्वयंवरमें जाकर उसका वरण करूँगा; क्योंकि मेरा मन उसके प्रति आसक्त हो गया है' ॥ ३ ॥

तमब्रवीत् प्रहस्येन्द्रो निर्वृत्तः स स्वयंवरः ।
वृतस्तया नलो राजा पतिरस्मत्समीपतः ॥ ४ ॥

तब इन्द्रने हँसकर कहा—'वह स्वयंवर तो हो गया। हमारे समीप ही दमयन्तीने राजा नलको अपना पति चुन लिया' ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु शक्रेण कलिः कोपसमन्वितः ।
देवानामन्त्र्य तान् सर्वानुवाचेदं वचस्तदा ॥ ५ ॥

इन्द्रके ऐसा कहनेपर कलियुगको क्रोध चढ़ आया और उसी समय उसने उन सब देवताओंको सम्बोधित करके यह बात कही— ॥ ५ ॥

देवानां मानुषं मध्ये यत् सा पतिमविन्दत ।
ततस्तस्या भवेन्न्याय्यं विपुलं दण्डधारणम् ॥ ६ ॥

'दमयन्तीने देवताओंके बीचमें मनुष्यका पतिरूपमें वरण किया है। अतः उसे बड़ा भारी दण्ड देना उचित प्रतीत होता है' ॥ ६ ॥

एवमुक्ते तु कलिना प्रत्यूचुस्ते दिवौकसः ।
अस्माभिः समनुज्ञाते दमयन्त्या नलो वृतः ॥ ७ ॥

कलियुगके ऐसा कहनेपर देवताओंने उत्तर दिया—'दमयन्तीने हमारी आज्ञा लेकर नलका वरण किया है ॥७॥

का च सर्वगुणोपेतं नाश्रयेत नलं नृपम् ।
यो वेद धर्मानखिलान् यथावच्चरितव्रतः ॥ ८ ॥
योऽधीते चतुरो वेदान् सर्वानाख्यानपञ्चमान् ।
नित्यं तृप्ता गृहे यस्य देवा यज्ञेषु धर्मतः ।
अहिंसानिरतो यश्च सत्यवादी दृढव्रतः ॥ ९ ॥
यस्मिन् दाक्ष्यं धृतिर्ज्ञानं तपः शौचं दमः शमः ।
ध्रुवाणि पुरुषव्याघ्रे लोकपालसमे नृपे ॥ १० ॥
एवंरूपं नलं यो वै कामयेच्छपितुं कले ।
आत्मानं स शपेन्मूढो हन्यादात्मानमात्मना ॥ ११ ॥

'राजा नल सर्वगुणसम्पन्न हैं। कौन स्त्री उनका वरण नहीं करेगी? जिन्होंने भलीभाँति ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करके चारों वेदों तथा पञ्चम वेद समस्त इतिहास-पुराणका भी अध्ययन किया है, जो सब धर्मोंको जानते हैं, जिनके घरपर पञ्चयज्ञोंमें धर्मके अनुसार सम्पूर्ण देवता नित्य तृप्त होते हैं, जो अहिंसापरायण, सत्यवादी तथा दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले हैं, जिन नरश्रेष्ठ लोकपाल-सदृश तेजस्वी नलमें दक्षता, धैर्य, ज्ञान, तप, शौच, शम और दम आदि गुण नित्य निवास करते हैं। कले! ऐसे राजा नलको जो मूढ़ शाप देनेकी इच्छा रखता है, वह मानो अपनेको ही शाप देता है। अपनेद्वारा अपना ही विनाश करता है ॥ ८—११ ॥

एवंगुणं नलं यो वै कामयेच्छपितुं कले ।
कृच्छ्रे स नरके मज्जेदगाधे विपुले ह्रदे ।
एवमुक्त्वा कलिं देवा द्वापरं च दिवं ययुः ॥ १२ ॥

'ऐसे सद्गुणसम्पन्न महाराज नलको जो शाप देनेकी कामना करेगा, वह कष्टसे भरे हुए अगाध एवं विशाल नरककुण्डमें निमग्न होगा।' कलियुग और द्वापरसे ऐसा कहकर देवतालोग स्वर्गमें चले गये ॥ १२ ॥

ततो गतेषु देवेषु कलिर्द्वापरमब्रवीत् ।
संहर्तुं नोत्सहे कोपं नले वत्स्यामि द्वापर ॥ १३ ॥

भ्रंशयिष्यामि तं राज्यान्न भैम्या सह रंस्यते ।
त्वमप्यक्षान् समाविश्य साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

तदनन्तर देवताओंके चले जानेपर कलियुगने द्वापरसे कहा—'द्वापर ! मैं अपने क्रोधका उपसंहार नहीं कर सकता । नलके भीतर निवास करूँगा और उन्हें राज्यसे वञ्चित कर दूँगा । जिससे वे दमयन्तीसे रमण नहीं कर सकेंगे । तुम्हें भी जूएके पासोंमें प्रवेश करके मेरी सहायता करनी चाहिये' ॥ १३-१४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कलिदेवसंवादे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें कलि-देवता-संवादविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

नलमें कलियुगका प्रवेश एवं नल और पुष्करकी द्यूतक्रीडा, प्रजा और दमयन्तीके निवारण करनेपर भी राजाका द्यूतसे निवृत्त नहीं होना

बृहदश्व उवाच

एवं स समयं कृत्वा द्वापरेण कलिः सह ।
आजगाम ततस्तत्र यत्र राजा स नैषधः ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार द्वापरके साथ संकेत करके कलियुग उस स्थानपर आया, जहाँ निषधराज नल रहते थे ॥ १ ॥

स नित्यमन्तरप्रेप्सुर्निषधेष्ववसच्चिरम् ।
अथास्य द्वादशे वर्षे ददर्श कलिरन्तरम् ॥ २ ॥

वह प्रतिदिन राजा नलका छिद्र देखता हुआ निषध देशमें दीर्घकालतक टिका रहा । बारह वर्षोंके बाद एक दिन कलिको एक छिद्र दिखायी दिया ॥ २ ॥

कृत्वा मूत्रमुपस्पृश्य संध्यामन्वास्त नैषधः ।
अकृत्वा पादयोः शौचं तत्रैनं कलिराविशत् ॥ ३ ॥

राजा नल उस दिन लघुशङ्का करके आये और हाथ-मुँह धोकर आचमन करनेके पश्चात् संध्योपासना करने बैठ गये; पैरोंको नहीं धोया । यह छिद्र देखकर कलियुग उनके भीतर प्रविष्ट हो गया ॥ ३ ॥

स समाविश्य च नलं समीपं पुष्करस्य च ।
गत्वा पुष्करमाहेदमेहि दीव्य नलेन वै ॥ ४ ॥

नलमें आविष्ट होकर कलियुगने दूसरा रूप धारण करके पुष्करके पास जाकर कहा—'चलो, राजा नलके साथ जूआ खेलो ॥ ४ ॥

अक्षद्यूते नलं जेता भवान् हि सहितो मया ।
निषधान् प्रतिपद्यस्व जित्वा राज्यं नलं नृपम् ॥ ५ ॥

मेरे साथ रहकर तुम जूएमें अवश्य राजा नलको जीत लोगे । इस प्रकार महाराज नलको उनके राज्यसहित जीतकर निषध देशको अपने अधिकारमें कर लो' ॥ ५ ॥

एवमुक्तस्तु कलिना पुष्करो नलमभ्ययात् ।
कलिश्चैव वृषो भूत्वा गवां पुष्करमभ्ययात् ॥ ६ ॥

कलिके ऐसा कहनेपर पुष्कर राजा नलके पास गया । कलि भी साँड़ बनकर पुष्करके साथ हो लिया ॥ ६ ॥

आसाद्य तु नलं वीरं पुष्करः परवीरहा ।
दीव्यावेत्यब्रवीद् भ्राता वृषेणेति मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पुष्करने वीरवर नलके पास जाकर उनसे बार-बार कहा—'हम दोनों धर्मपूर्वक जूआ खेलें ।' पुष्कर राजा नलका भाई लगता था ॥ ७ ॥

न चक्षमे ततो राजा समाह्वानं महामनाः ।
वैदर्भ्याः प्रेक्षमाणायाः पणकालममन्यत ॥ ८ ॥

महामना राजा नल द्यूतके लिये पुष्करके आह्वानको न सह सके । विदर्भराजकुमारी दमयन्तीके देखते-देखते उसी क्षण जूआ खेलनेका उपयुक्त अवसर समझ लिया ॥ ८ ॥

हिरण्यस्य सुवर्णस्य यानयुग्यस्य वाससाम् ।
आविष्टः कलिना द्यूते जीयते स नलस्तदा ॥ ९ ॥
तमक्षमदसम्मत्तं सुहृदां न तु कश्चन ।
निवारणेऽभवच्छक्तो दीव्यमानमरिंदमम् ॥ १० ॥

तब कलियुगसे आविष्ट होकर राजा नल हिरण्य, सुवर्ण, रथ आदि वाहन और बहुमूल्य वस्त्र दाँवपर लगाते तथा हार जाते थे । सुहृदोंमें कोई भी ऐसा नहीं था, जो द्यूतक्रीडाके मदसे उन्मत्त शत्रुदमन नलको उस समय जूआ खेलनेसे रोक सके ।९-१०।

ततः पौरजनाः सर्वे मन्त्रिभिः सह भारत ।
राजानं द्रष्टुमागच्छन् निवारयितुमातुरम् ॥ ११ ॥

भारत ! तदनन्तर समस्त पुरवासी मनुष्य मन्त्रियोंके साथ राजासे मिलने तथा उन आतुर नरेशको द्यूतक्रीडासे रोकनेके लिये वहाँ आये ॥ ११ ॥

ततः सूत उपागम्य दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।
एष पौरजनो देवि द्वारि तिष्ठति कार्यवान् ॥ १२ ॥

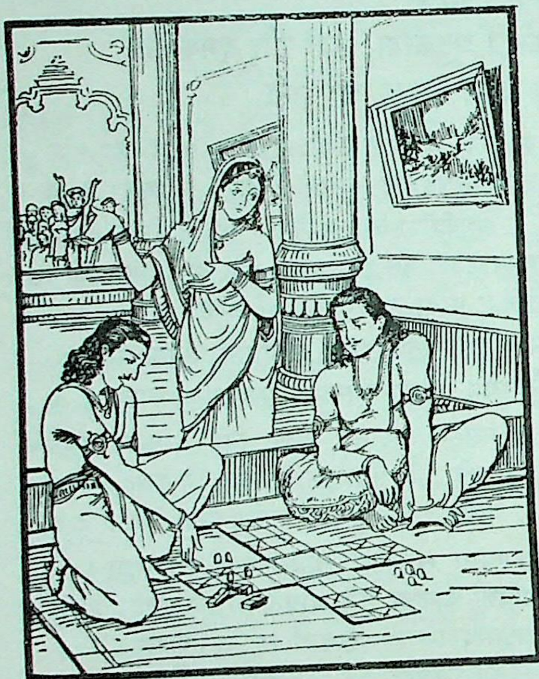
इसी समय सारथिने महलमें जाकर महारानी दमयन्तीसे निवेदन किया—'देवि ! ये पुरवासीलोग कार्यवश राजद्वारपर खड़े हैं ॥ १२ ॥

निवेद्यतां नैषधाय सर्वाः प्रकृतयः स्थिताः ।
अमृष्यमाणा व्यसनं राज्ञो धर्मार्थदर्शिनः ॥ १३ ॥

'आप निषधराजसे निवेदन कर दें। धर्म-अर्थका तत्त्व जाननेवाले महाराजके भावी संकटको सहन न कर सकनेके कारण मन्त्रियोंसहित सारी प्रजा द्वारपर खड़ी है' ॥ १३ ॥

ततः सा बाष्पकलया वाचा दुःखेन कर्शिता।
उवाच नैषधं भैमी शोकोपहतचेतना ॥ १४ ॥

यह सुनकर दुःखसे दुर्बल हुई दमयन्तीने शोकसे अचेत-सी होकर आँसू बहाते हुए गद्‌गद वाणीमें निषध-नरेशसे कहा—॥ १४ ॥



राजन् पौरजनो द्वारि त्वां दिदृक्षुरवस्थितः।
मन्त्रिभिः सहितः सर्वै राजभक्तिपुरस्कृतः ॥ १५ ॥
तं द्रष्टुमर्हसीत्येवं पुनः पुनरभाषत।
तां तथा रुचिरापाङ्गीं विलपन्तीं तथाविधाम् ॥ १६ ॥
आविष्टः कलिना राजा नाभ्यभाषत किंचन।
ततस्ते मन्त्रिणः सर्वे ते चैव पुरवासिनः ॥ १७ ॥
नायमस्तीति दुःखार्ता व्रीडिता जग्मुरालयान्।
तथा तदभवद् द्यूतं पुष्करस्य नलस्य च।
युधिष्ठिर बहून् मासान् पुण्यश्लोकस्त्वजीयत ॥ १८ ॥

'महाराज! पुरवासी प्रजा राजभक्तिपूर्वक आपसे मिलनेके लिये समस्त मन्त्रियोंके साथ द्वारपर खड़ी है। आप उन्हें दर्शन दें।' दमयन्तीने इन वाक्योंको बार-बार दुहराया। मनोहर नयनप्रान्तवाली विदर्भकुमारी इस प्रकार विलाप करती रह गयी, परंतु कलियुगसे आविष्ट हुए राजाने उससे कोई बाततक न की। तब वे सब मन्त्री और पुरवासी दुःखसे आतुर और लज्जित हो यह कहते हुए अपने-अपने घर चले गये कि 'यह राजा नल अब राज्यपर अधिक समयतक रहने-वाला नहीं है।' युधिष्ठिर! पुष्कर और नलकी वह द्यूतक्रीडा कई महीनोंतक चलती रही। पुण्यश्लोक महाराज नल उसमें हारते जा ही रहे थे ॥ १५-१८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलद्यूते एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलद्यूतविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

दुःखित दमयन्तीका वार्ष्णेयके द्वारा कुमार-कुमारीको कुण्डिनपुर भेजना

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती ततो दृष्ट्वा पुण्यश्लोकं नराधिपम्।
उन्मत्तवदनुन्मत्ता देवने गतचेतसम् ॥ १ ॥
भयशोकसमाविष्टा राजन् भीमसुता ततः।
चिन्तयामास तत् कार्यं सुमहत् पार्थिवं प्रति ॥ २ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! तदनन्तर दमयन्तीने देखा कि पुण्यश्लोक महाराज नल उन्मत्तकी भाँति द्यूतक्रीडामें आसक्त हैं। वह स्वयं सावधान थी। उनकी वैसी अवस्था देख भीमकुमारी भय और शोकसे व्याकुल हो गयी और महाराजके हितके लिये किसी महत्त्वपूर्ण कार्यका चिन्तन करने लगी ॥ १-२ ॥

सा शङ्कमाना तत् पापं चिकीर्षन्ती च तत्प्रियम्।
नलं च हृतसर्वस्वमुपलभ्येदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

उसके मनमें यह आशङ्का हो गयी कि राजापर बहुत बड़ा कष्ट आनेवाला है। वह उनका प्रिय एवं हित करना चाहती थी। अतः महाराजके सर्वस्वका अपहरण होता जान धायको बुलाकर (इस प्रकार बोली) ॥ ३ ॥

बृहत्सेनामतियशां तां धात्रीं परिचारिकाम्।
हितां सर्वार्थकुशलामनुरक्तां सुभाषिताम् ॥ ४ ॥

उसकी धायका नाम बृहत्सेना था। वह अत्यन्त यशस्विनी और परिचर्याके कार्यमें निपुण थी। समस्त कार्योंके साधनमें कुशल, हितैषिणी, अनुरागिणी और मधुरभाषिणी थी ॥४॥

बृहत्सेने व्रजामात्यानानाय्य नलशासनात्।
आचक्ष्व यद्धृतं द्रव्यमवशिष्टं च यद् वसु ॥ ५ ॥

(दमयन्तीने उससे कहा)—'बृहत्सेने ! तुम मन्त्रियोंके पास जाओ तथा राजा नलकी आज्ञासे उन्हें बुला लाओ। फिर उन्हें यह बताओ कि अमुक-अमुक द्रव्य हारा जा चुका है और अमुक धन अभी अवशिष्ट है' ॥ ५ ॥

ततस्ते मन्त्रिणः सर्वे विज्ञाय नलशासनम्।
अपि नो भागधेयं स्यादित्युक्त्वा नलमाव्रजन् ॥ ६ ॥

तब वे सब मन्त्री राजा नलका आदेश जानकर 'हमारा अहोभाग्य है', ऐसा कहते हुए नलके पास आये ॥ ६ ॥

तास्तु सर्वाः प्रकृतयो द्वितीयं समुपस्थिताः।
न्यवेदयद् भीमसुता न च तत् प्रत्यनन्दत ॥ ७ ॥

वे सारी (मन्त्री आदि) प्रकृतियाँ दूसरी बार राजद्वारपर उपस्थित हुईं। दमयन्तीने इसकी सूचना महाराज नलको दी, परंतु उन्होंने इस बातका अभिनन्दन नहीं किया ॥ ७ ॥

वाक्यमप्रतिनन्दन्तं भर्तारमभिवीक्ष्य सा।
दमयन्ती पुनर्वेश्म व्रीडिता प्रविवेश ह ॥ ८ ॥
निशम्य सततं चाक्षान् पुण्यश्लोकपराङ्मुखान्।
नलं च हृतसर्वस्वं धात्रीं पुनरुवाच ह ॥ ९ ॥
बृहत्सेने पुनर्गच्छ वार्ष्णेयं नलशासनात्।
सूतमानय कल्याणि महत् कार्यमुपस्थितम् ॥ १० ॥

पतिको अपनी बातका प्रसन्नतापूर्वक उत्तर देते न देख दमयन्ती लज्जित हो पुनः महलके भीतर चली गयी। वहाँ फिर उसने सुना कि सारे पासे लगातार पुण्यश्लोक राजा नलके विपरीत पड़ रहे हैं और उनका सर्वस्व अपहृत हो रहा है। तब उसने पुनः धायसे कहा—'बृहत्सेने ! फिर राजा नलकी आज्ञासे जाओ और वार्ष्णेय सूतको बुला लाओ। कल्याणि ! एक बहुत बड़ा कार्य उपस्थित हुआ है' ॥८–१०॥

बृहत्सेना तु सा श्रुत्वा दमयन्त्याः प्रभाषितम्।
वार्ष्णेयमानयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ ११ ॥
वार्ष्णेयं तु ततो भैमी सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा।
उवाच देशकालज्ञा प्राप्तकालमनिन्दिता ॥ १२ ॥

बृहत्सेनाने दमयन्तीकी बात सुनकर विश्वसनीय पुरुषोंद्वारा वार्ष्णेयको बुलाया। तब अनिन्द्य स्वभाववाली और देश-कालको जाननेवाली भीमकुमारी दमयन्तीने वार्ष्णेयको मधुर वाणीमें सान्त्वना देते हुए यह समयोचित बात कही—॥ ११-१२ ॥

जानीषे त्वं यथा राजा सम्यग् वृत्तः सदा त्वयि।
तस्य त्वं विषमस्थस्य साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

'सूत ! तुम जानते हो कि महाराज तुम्हारे प्रति कैसा अच्छा बर्ताव करते थे। आज वे विषम संकटमें पड़ गये हैं, अतः तुम्हें भी उनकी सहायता करनी चाहिये ॥ १३ ॥

यथा यथा हि नृपतिः पुष्करेणैव जीयते।
तथा तथास्य वै द्यूते रागो भूयोऽभिवर्धते ॥ १४ ॥

'राजा जैसे-जैसे पुष्करसे पराजित हो रहे हैं, वैसे-ही-वैसे जूएमें उनकी आसक्ति बढ़ती जा रही है ॥ १४ ॥

यथा च पुष्करस्याक्षाः पतन्ति वशवर्तिनः।
तथा विपर्ययश्चापि नलस्याक्षेषु दृश्यते ॥ १५ ॥

'जैसे पुष्करके पासे उसकी इच्छाके अनुसार पड़ रहे हैं, वैसे ही नलके पासे विपरीत पड़ते देखे जा रहे हैं ॥ १५ ॥

सुहृत्स्वजनवाक्यानि यथावन्न शृणोति च।
ममापि च तथा वाक्यं नाभिनन्दति मोहितः ॥ १६ ॥
नूनं मन्ये न दोषोऽस्ति नैषधस्य महात्मनः।
यत् तु मे वचनं राजा नाभिनन्दति मोहितः ॥ १७ ॥

'वे सुहृदों और स्वजनोंके वचन अच्छी तरह नहीं सुनते हैं। जूएने उन्हें ऐसा मोहित कर रखा है कि इस समय वे मेरी बातका भी आदर नहीं कर रहे हैं। मैं इसमें महामना नैषधका निश्चय ही कोई दोष नहीं मानती। जूएसे मोहित होनेके कारण ही राजा मेरी बातका अभिनन्दन नहीं कर रहे हैं ॥ १६-१७ ॥

शरणं त्वां प्रपन्नास्मि सारथे कुरु मद्वचः।
न हि मे शुध्यते भावः कदाचिद् विनशेदपि ॥ १८ ॥

'सारथे ! मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ, मेरी बात मानो। मेरे मनमें अशुभ विचार आते हैं, इससे अनुमान होता है कि राजा नलका राज्यसे च्युत होना सम्भव है ॥ १८ ॥

नलस्य दयितानश्वान् योजयित्वा मनोजवान्।
इदमारोप्य मिथुनं कुण्डिनं यातुमर्हसि ॥ १९ ॥

'तुम महाराजके प्रिय, मनके समान वेगशाली अश्वोंको रथमें जोतकर उसपर इन दोनों बच्चोंको बिठा लो और कुण्डिनपुरको चले जाओ' ॥ १९ ॥

मम ज्ञातिषु निक्षिप्य दारकौ स्यन्दनं तथा।
अश्वांश्चेमान् यथाकामं वस वान्यत्र गच्छ वा ॥ २० ॥

'वहाँ इन दोनों बालकोंको, इस रथको और इन घोड़ोंको भी मेरे भाई-बन्धुओंकी देख-रेखमें सौंपकर तुम्हारी इच्छा हो तो वहीं रह जाना या अन्यत्र कहीं चले जाना' ॥ २० ॥

दमयन्त्यास्तु तद् वाक्यं वार्ष्णेयो नलसारथिः।
न्यवेदयदशेषेण नलामात्येषु मुख्यशः ॥ २१ ॥

दमयन्तीकी यह बात सुनकर नलके सारथि वार्ष्णेयने नलके मुख्य-मुख्य मन्त्रियोंसे यह सारा वृत्तान्त निवेदित किया ॥ २१ ॥

तैः समेत्य विनिश्चित्य सोऽनुज्ञातो महीपते।
ययौ मिथुनमारोप्य विदर्भांस्तेन वाहिना ॥ २२ ॥

राजन् ! उनसे मिलकर इस विषयपर भलीभाँति विचार

करके उन मन्त्रियोंकी आज्ञा ले सारथि वार्ष्णेयने दोनों बालकोंको रथपर बैठाकर विदर्भ देशको प्रस्थान किया ॥ २२ ॥

हयांस्तत्र विनिक्षिप्य सूतो रथवरं च तम् ।
इन्द्रसेनां च तां कन्यामिन्द्रसेनं च बालकम् ॥ २३ ॥
आमन्त्र्य भीमं राजानमार्तः शोचन् नलं नृपम् ।
अटमानस्ततोऽयोध्यां जगाम नगरीं तदा ॥ २४ ॥

वहाँ पहुँचकर उसने घोड़ोंको, उस श्रेष्ठ रथको तथा उस बालिका इन्द्रसेनाको एवं राजकुमार इन्द्रसेनको वहीं रख दिया तथा राजा भीमसे विदा ले आर्तभावसे राजा नलकी दुर्दशाके लिये शोक करता हुआ घूमता-घामता अयोध्या नगरीमें चला गया ॥ २३-२४ ॥

ऋतुपर्णं स राजानमुपतस्थे सुदुःखितः ।
भृतिं चोपययौ तस्य सारथ्येन महीपते ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर ! वह अत्यन्त दुखी हो राजा ऋतुपर्णकी सेवामें उपस्थित हुआ और उनका सारथि बनकर जीविका चलाने लगा ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कुण्डिनं प्रति कुमारयोः प्रस्थापने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलकी कन्या और पुत्रको कुण्डिनपुर भेजनेसे सम्बन्ध रखनेवाला साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

नलका जूएमें हारकर दमयन्तीके साथ वनको जाना और पक्षियोंद्वारा आपद्ग्रस्त नलके वस्त्रका अपहरण

बृहदश्व उवाच

ततस्तु याते वार्ष्णेये पुण्यश्लोकस्य दीव्यतः ।
पुष्करेण हृतं राज्यं यच्चान्यद् वसु किंचन ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर वार्ष्णेयके चले जानेपर जूआ खेलनेवाले पुण्यश्लोक महाराज नलके सारे राज्य और जो कुछ धन था, उन सबका जूएमें पुष्करने अपहरण कर लिया ॥ १ ॥

हृतराज्यं नलं राजन् प्रहसन् पुष्करोऽब्रवीत् ।
द्यूतं प्रवर्ततां भूयः प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव ॥ २ ॥

राजन् ! राज्य हार जानेपर नलसे पुष्करने हँसते हुए कहा कि 'क्या फिर जूआ आरम्भ हो ? अब तुम्हारे पास दाँवपर लगानेके लिये क्या है ?' ॥ २ ॥

शिष्टा ते दमयन्त्येका सर्वमन्यज्जितं मया ।
दमयन्त्याः पणः साधु वर्ततां यदि मन्यसे ॥ ३ ॥

'तुम्हारे पास केवल दमयन्ती शेष रह गयी है और सब वस्तुएँ तो मैंने जीत ली हैं, यदि तुम्हारी राय हो तो दमयन्तीको दाँवपर रखकर एक बार फिर जूआ खेला जाय' ॥ ३ ॥

पुष्करेणैवमुक्तस्य पुण्यश्लोकस्य मन्युना ।
व्यदीर्यतेव हृदयं न चैनं किंचिदब्रवीत् ॥ ४ ॥

पुष्करके ऐसा कहनेपर पुण्यश्लोक महाराज नलका हृदय शोकसे विदीर्ण-सा हो गया, परंतु उन्होंने उससे कुछ कहा नहीं ॥ ४ ॥

ततः पुष्करमालोक्य नलः परममन्युमान् ।
उत्सृज्य सर्वगात्रेभ्यो भूषणानि महायशाः ॥ ५ ॥
एकवासा ह्यसंवीतः सुहृच्छोकविवर्धनः ।
निश्चक्राम ततो राजा त्यक्त्वा सुविपुलां श्रियम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर महायशस्वी नलने अत्यन्त दुःखित हो पुष्करकी ओर देखकर अपने सब अङ्गोंके आभूषण उतार दिये और केवल एक अधोवस्त्र धारण करके चादर ओढ़े बिना ही अपनी विशाल सम्पत्तिको त्यागकर सुहृदोंका शोक बढ़ाते हुए वे राजभवनसे निकल पड़े ॥ ५-६ ॥

दमयन्त्येकवस्त्राथ गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वगात् ।
स तया बाह्यतः सार्धं त्रिरात्रं नैषधोऽवसत् ॥ ७ ॥

दमयन्तीके शरीरपर भी एक ही वस्त्र था। वह जाते हुए राजा नलके पीछे हो ली। वे उसके साथ नगरसे बाहर तीन-राततक टिके रहे ॥ ७ ॥

पुष्करस्तु महाराज घोषयामास वै पुरे ।
नले यः सम्यगातिष्ठेत् स गच्छेद् वध्यतां मम ॥ ८ ॥

महाराज ! पुष्करने उस नगरमें यह घोषणा करा दी—डुग्गी पिटवा दी कि 'जो नलके साथ अच्छा बर्ताव करेगा, वह मेरा वध्य होगा' ॥ ८ ॥

पुष्करस्य तु वाक्येन तस्य विद्वेषणेन च ।
पौरा न तस्य सत्कारं कृतवन्तो युधिष्ठिर ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर ! पुष्करके उस वचनसे और नलके प्रति पुष्करका द्वेष होनेसे पुरवासियोंने राजा नलका कोई सत्कार नहीं किया ॥ ९ ॥

स तथा नगराभ्याशे सत्कारार्हो न सत्कृतः ।
त्रिरात्रमुषितो राजा जलमात्रेण वर्तयन् ॥ १० ॥

इस प्रकार राजा नल अपने नगरके समीप तीन राततक

केवल जलमात्रका आहार करके टिके रहे। वे सर्वथा सत्कारके योग्य थे तो भी उनका सत्कार नहीं किया गया ॥ १० ॥

पीड्यमानः क्षुधा तत्र फलमूलानि कर्षयन्।
प्रातिष्ठत ततो राजा दमयन्ती तमन्वगात् ॥ ११ ॥

वहाँ भूखसे पीड़ित हो फल-मूल आदि जुटाते हुए राजा नल वहाँसे अन्यत्र चले गये। केवल दमयन्ती उनके पीछे-पीछे गयी ॥ ११ ॥

क्षुधया पीड्यमानस्तु नलो बहुतिथेऽहनि।
अपश्यच्छकुनान् कांश्चिद्धिरण्यसदृशच्छदान् ॥ १२ ॥

इसी प्रकार नल बहुत दिनोंतक क्षुधासे पीड़ित रहे। एक दिन उन्होंने कुछ ऐसे पक्षी देखे, जिनकी पाँखें सोनेकी-सी थीं ॥ १२ ॥

स चिन्तयामास तदा निषधाधिपतिर्बली।
अस्ति भक्ष्यो ममाद्यायं वसु चेदं भविष्यति ॥ १३ ॥

उन्हें देखकर (क्षुधातुर और आपत्तिग्रस्त होनेके कारण) बलवान् निषध-नरेशके मनमें यह बात आयी कि 'यह पक्षियोंका समुदाय ही आज मेरा भक्ष्य हो सकता है और इनकी ये पाँखें मेरे लिये धन हो जायँगी' ॥ १३ ॥



ततस्तान् परिधानेन वाससा स समावृणोत्।
तस्य तद् वस्त्रमादाय सर्वे जग्मुर्विहायसा ॥ १४ ॥

तदनन्तर उन्होंने अपने अधोवस्त्रसे उन पक्षियोंको ढँक दिया। किंतु वे सब पक्षी उनका वह वस्त्र लेकर आकाशमें उड़ गये ॥ १४ ॥

उत्पतन्तः खगा वाक्यमेतदाहुस्ततो नलम्।
दृष्ट्वा दिग्वाससं भूमौ स्थितं दीनमधोमुखम् ॥ १५ ॥

उड़ते हुए उन पक्षियोंने राजा नलको दीनभावसे नीचे मुँह किये धरतीपर नग्न खड़ा देख उनसे कहा— ॥ १५ ॥

वयमक्षाः सुदुर्बुद्धे तव वासो जिहीर्षवः।
आगता न हि नः प्रीतिः सवाससि गते त्वयि ॥ १६ ॥

'ओ खोटी बुद्धिवाले नरेश! हम (पक्षी नहीं,) पासे हैं और तुम्हारा वस्त्र अपहरण करनेकी इच्छासे ही यहाँ आये थे। तुम वस्त्र पहने हुए ही वहाँसे चले आये थे, इससे हमें प्रसन्नता नहीं हुई थी' ॥ १६ ॥

तान् समीपगतानक्षानात्मानं च विवाससम्।
पुण्यश्लोकस्तदा राजन् दमयन्तीमथाब्रवीत् ॥ १७ ॥
येषां प्रकोपादैश्वर्यात् प्रच्युतोऽहमनिन्दिते।
प्राणयात्रां न विन्देयं दुःखितः क्षुधयान्वितः ॥ १८ ॥
येषां कृते न सत्कारमकुर्वन् मयि नैषधाः।
इमे ते शकुना भूत्वा वासो भीरु हरन्ति मे ॥ १९ ॥

राजन्! उन पासोंको नजदीकसे जाते देख और अपनेआपको नग्नावस्थामें पाकर पुण्यश्लोक नलने उस समय दमयन्तीसे कहा—'सती साध्वी रानी! जिनके क्रोधसे मेरा ऐश्वर्य छिन गया, मैं क्षुधापीड़ित एवं दुःखित होकर जीवन-निर्वाहके लिये अन्नतक नहीं पा रहा हूँ और जिनके कारण निषध देशकी प्रजाने मेरा सत्कार नहीं किया, भीरु! वे ही ये पासे हैं, जो पक्षी होकर मेरा वस्त्र लिये जा रहे हैं ॥ १७–१९ ॥

वैषम्यं परमं प्राप्तो दुःखितो गतचेतनः।
भर्ता तेऽहं निबोधेदं वचनं हितमात्मनः ॥ २० ॥

'मैं बड़ी विषम परिस्थितिमें पड़ गया हूँ। दुःखके मारे मेरी चेतना लुप्त-सी हो रही है। मैं तुम्हारा पति हूँ, अतः तुम्हारे हितकी बात बता रहा हूँ, इसे सुनो— ॥ २० ॥

एते गच्छन्ति बहवः पन्थानो दक्षिणापथम्।
अवन्तीमृक्षवन्तं च समतिक्रम्य पर्वतम् ॥ २१ ॥

'ये बहुत-से मार्ग हैं, जो दक्षिण दिशाकी ओर जाते हैं। यह मार्ग ऋक्षवान् पर्वतको लाँघकर अवन्तीदेशको जाता है ॥ २१ ॥

एष विन्ध्यो महाशैलः पयोष्णी च समुद्रगा।
आश्रमाश्च महर्षीणां बहुमूलफलान्विताः ॥ २२ ॥
एष पन्था विदर्भाणामसौ गच्छति कोसलान्।
अतः परं च देशोऽयं दक्षिणे दक्षिणापथः ॥ २३ ॥

'यह महान् पर्वत विन्ध्य दिखायी दे रहा है और यह समुद्रगामिनी पयोष्णी नदी है। यहाँ महर्षियोंके बहुत-से आश्रम हैं, जहाँ प्रचुर मात्रामें फल-मूल उपलब्ध हो सकते

हैं। यह विदर्भ देशका मार्ग है और वह कोसल देशको जाता है। दक्षिण दिशामें इसके बादका देश दक्षिणापथ कहलाता है' ॥ २२-२३ ॥

एतद् वाक्यं नलो राजा दमयन्तीं समाहितः।
उवाचासकृदार्तो हि भैमीमुद्दिश्य भारत ॥ २४ ॥

भारत ! राजा नलने एकाग्रचित्त होकर बड़ी आतुरताके साथ दमयन्तीसे उपर्युक्त बातें बार-बार कहीं ॥ २४ ॥

ततः सा बाष्पकलया वाचा दुःखेन कर्शिता।
उवाच दमयन्ती तं नैषधं करुणं वचः ॥ २५ ॥

तब दमयन्ती अत्यन्त दुःखसे दुर्बल हो नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई गद्गद वाणीमें राजा नलसे यह करुण वचन बोली—॥ २५ ॥

उद्वेजते मे हृदयं सीदन्त्यङ्गानि सर्वशः।
तव पार्थिव संकल्पं चिन्तयन्त्याः पुनः पुनः ॥ २६ ॥
हृतराज्यं हृतद्रव्यं विवस्त्रं क्षुच्छ्रमान्वितम्।
कथमुत्सृज्य गच्छेयमहं त्वां निर्जने वने ॥ २७ ॥

'महाराज ! आपका मानसिक संकल्प क्या है, इसपर जब मैं बार-बार विचार करती हूँ, तब मेरा हृदय उद्विग्न हो उठता है और सारे अङ्ग शिथिल हो उठते हैं। आपका राज्य छिन गया। धन नष्ट हो गया। आपके शरीरपर वस्त्रतक नहीं रह गया तथा आप भूख और परिश्रमसे कष्ट पा रहे हैं। ऐसी अवस्थामें इस निर्जन वनमें आपको असहाय छोड़कर मैं कैसे जा सकती हूँ ? ॥ २६-२७ ॥

श्रान्तस्य ते क्षुधार्तस्य चिन्तयानस्य तत् सुखम्।
वने घोरे महाराज नाशयिष्याम्यहं क्लमम् ॥ २८ ॥

'महाराज ! जब आप भयंकर वनमें थके-माँदे भूखसे पीड़ित हो अपने पूर्व सुखका चिन्तन करते हुए अत्यन्त दुःखी होने लगेंगे, उस समय मैं सान्त्वनाद्वारा आपके संताप-का निवारण करूँगी ॥ २८ ॥

न च भार्यासमं किंचिद् विद्यते भिषजां मतम्।
औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २९ ॥

'चिकित्सकोंका मत है कि समस्त दुःखोंकी शान्तिके लिये पत्नीके समान दूसरी कोई औषध नहीं है; यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ' ॥ २९ ॥

नल उवाच

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं दमयन्ति सुमध्यमे।
नास्ति भार्यासमं मित्रं नरस्यार्तस्य भेषजम् ॥ ३० ॥

नलने कहा—सुमध्यमा दमयन्ती ! तुम जैसा कहती हो वह ठीक है। दुखी मनुष्यके लिये पत्नीके समान दूसरा कोई मित्र या औषध नहीं है ॥ ३० ॥

न चाहं त्यक्तकामस्त्वां किमलं भीरु शङ्कसे।
त्यजेयमहमात्मानं न चैव त्वामनिन्दिते ॥ ३१ ॥

भीरु ! मैं तुम्हें त्यागना नहीं चाहता, तुम इतनी अधिक शङ्का क्यों करती हो ? अनिन्दिते ! मैं अपने शरीरका त्याग कर सकता हूँ, पर तुम्हें नहीं छोड़ सकता ॥ ३१ ॥

दमयन्त्युवाच

यदि मां त्वं महाराज न विहातुमिहेच्छसि।
तत् किमर्थं विदर्भाणां पन्थाः समुपदिश्यते ॥ ३२ ॥

दमयन्तीने कहा—महाराज ! यदि आप मुझे त्यागना नहीं चाहते तो विदर्भदेशका मार्ग क्यों बता रहे हैं ? ॥ ३२ ॥

अवैमि चाहं नृपते न तु मां त्यक्तुमर्हसि।
चेतसा त्वपकृष्टेन मां त्यजेथा महीपते ॥ ३३ ॥

राजन् ! मैं जानती हूँ कि आप स्वयं मुझे नहीं त्याग सकते, परंतु महीपते ! इस घोर आपत्तिने आपके चित्तको आकर्षित कर लिया है, इस कारण आप मेरा त्याग भी कर सकते हैं ॥ ३३ ॥

पन्थानं हि ममाभीक्ष्णमाख्यासि च नरोत्तम।
अतो निमित्तं शोकं मे वर्धयस्यमरोपम ॥ ३४ ॥

नरश्रेष्ठ ! आप बार-बार जो मुझे विदर्भदेशका मार्ग बता रहे हैं। देवोपम आर्यपुत्र ! इसके कारण आप मेरा शोक ही बढ़ा रहे हैं ॥ ३४ ॥

यदि चायमभिप्रायस्तव ज्ञातीन् व्रजेदिति।
सहितावेव गच्छावो विदर्भान् यदि मन्यसे ॥ ३५ ॥

यदि आपका यह अभिप्राय हो कि दमयन्ती अपने बन्धु-बान्धवोंके यहाँ चली जाय तो आपकी सम्मति हो तो हम दोनों साथ ही विदर्भदेशको चलें ॥ ३५ ॥

विदर्भराजस्तत्र त्वां पूजयिष्यति मानद।
तेन त्वं पूजितो राजन् सुखं वत्स्यसि नो गृहे ॥ ३६ ॥

मानद ! वहाँ विदर्भनरेश आपका पूरा आदर-सत्कार करेंगे। राजन् ! उनसे पूजित होकर आप हमारे घरमें सुख-पूर्वक निवास कीजियेगा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलवनयात्रायामेकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलकी वनयात्रा-विषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

राजा नलकी चिन्ता और दमयन्तीको अकेली सोती छोड़कर उनका अन्यत्र प्रस्थान

नल उवाच

यथा राज्यं तव पितुस्तथा मम न संशयः।
न तु तत्र गमिष्यामि विषमस्थः कथंचन॥ १॥

नलने कहा—प्रिये! इसमें संदेह नहीं कि विदर्भराज्य जैसे तुम्हारे पिताका है, वैसे मेरा भी है, तथापि आपत्तिमें पड़ा हुआ मैं किसी तरह वहाँ नहीं जाऊँगा॥ १॥

कथं समृद्धो गत्वाहं तव हर्षविवर्धनः।
परिच्युतो गमिष्यामि तव शोकविवर्धनः॥ २॥

एक दिन मैं भी समृद्धिशाली राजा था। उस अवस्थामें वहाँ जाकर मैंने तुम्हारे हर्षको बढ़ाया था और आज उस राज्यसे वञ्चित होकर केवल तुम्हारे शोककी वृद्धि कर रहा हूँ, ऐसी दशामें वहाँ कैसे जाऊँगा?॥ २॥

बृहदश्व उवाच

इति ब्रुवन् नलो राजा दमयन्तीं पुनः पुनः।
सान्त्वयामास कल्याणीं वाससोऽर्धेन संवृताम्॥ ३॥
तावेकवस्त्रसंवीतावटमानावितस्ततः।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ सभां कांचिदुपेयतुः॥ ४॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! आधे वस्त्रसे ढकी हुई कल्याणमयी दमयन्तीसे बार-बार ऐसा कहकर राजा नलने उसे सान्त्वना दी; क्योंकि वे दोनों एक ही वस्त्रसे अपने अङ्गोंको ढककर इधर-उधर घूम रहे थे। भूख और प्याससे थके-माँदे वे दोनों दम्पति किसी सभाभवन (धर्मशाला) में जा पहुँचे॥ ३-४॥

तां सभामुपसम्प्राप्य तदा स निषधाधिपः।
वैदर्भ्या सहितो राजा निषसाद महीतले॥ ५॥

तत्र उस धर्मशालामें पहुँचकर निषधनरेश राजा नल वैदर्भीके साथ भूतलपर बैठे॥ ५॥

स वै विवस्त्रो विकटो मलिनः पांसुगुण्ठितः।
दमयन्त्या सह श्रान्तः सुष्वाप धरणीतले॥ ६॥

वे वस्त्रहीन, चटाई आदिसे रहित, मलिन एवं धूलि-धूसरित हो रहे थे। दमयन्तीके साथ थककर भूमिपर ही सो गये॥ ६॥

दमयन्त्यपि कल्याणी निद्रयापहृता ततः।
सहसा दुःखमासाद्य सुकुमारी तपस्विनी॥ ७॥

सुकुमारी तपस्विनी कल्याणमयी दमयन्ती भी सहसा दुःखमें पड़ गयी थी। वहाँ आनेपर उसे भी निद्राने घेर लिया॥

सुप्तायां दमयन्त्यां तु नलो राजा विशाम्पते।
शोकोन्मथितचित्तात्मा न स्म शेते तथा पुरा॥ ८॥

राजन्! राजा नलका चित्त शोकसे मथा जा रहा था। वे दमयन्तीके सो जानेपर भी स्वयं पहलेकी भाँति सो न सके॥

स तद् राज्यापहरणं सुहृत्त्यागं च सर्वशः।
वने च तं परिध्वंसं प्रेक्ष्य चिन्तामुपेयिवान्॥ ९॥

राज्यका अपहरण, सुहृदोंका त्याग और वनमें प्राप्त होनेवाले नाना प्रकारके क्लेशपर विचार करते हुए वे चिन्ताको प्राप्त हो गये॥ ९॥

किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः।
किं नु मे मरणं श्रेयः परित्यागो जनस्य वा॥ १०॥

वे सोचने लगे 'ऐसा करनेसे मेरा क्या होगा और यह कार्य न करनेसे भी क्या होगा। मेरा मर जाना अच्छा है कि अपनी आत्मीया दमयन्तीको त्याग देना॥ १०॥

मामियं ह्यनुरक्तैवं दुःखमाप्नोति मत्कृते।
मद्विहीना त्वियं गच्छेत् कदाचित् स्वजनं प्रति॥ ११॥

'यह मुझसे इस प्रकार अनुरक्त होकर मेरे ही लिये दुःख उठा रही है। यदि मुझसे अलग हो जाय तो यह कदाचित् अपने स्वजनोंके पास जा सकती है॥ ११॥

मयि निःसंशयं दुःखमियं प्राप्स्यत्यनुव्रता।
उत्सर्गे संशयः स्यात् तु विन्देतापि सुखं क्वचित्॥ १२॥

'मेरे पास रहकर तो यह पतिव्रता नारी निश्चय ही केवल दुःख भोगेगी। यद्यपि इसे त्याग देनेपर एक संशय बना रहेगा तो भी यह सम्भव है कि इसे कभी सुख मिल जाय'॥

स विनिश्चित्य बहुधा विचार्य च पुनः पुनः।
उत्सर्गं मन्यते श्रेयो दमयन्त्या नराधिप॥ १३॥

राजन्! नल अनेक प्रकारसे बार-बार विचार करके एक निश्चयपर पहुँच गये और दमयन्तीका परित्याग कर देनेमें ही उसकी भलाई मानने लगे॥ १३॥

न चैषा तेजसा शक्या कैश्चिद् धर्षयितुं पथि।
यशस्विनी महाभागा मद्भक्तेयं पतिव्रता॥ १४॥

'यह महाभागा यशस्विनी दमयन्ती मेरी भक्त और पतिव्रता है। पातिव्रत-तेजके कारण मार्गमें कोई इसका सतीत्व नष्ट नहीं कर सकता॥ १४॥

एवं तस्य तदा बुद्धिर्दमयन्त्यां न्यवर्तत।
कलिना दुष्टभावेन दमयन्त्या विसर्जने॥ १५॥

ऐसा सोचकर उनकी बुद्धि दमयन्तीको अपने साथ रखनेके विचारसे निवृत्त हो गयी। बल्कि दुष्ट स्वभाववाले

कलियुगसे प्रभावित होनेके कारण दमयन्तीको त्याग देनेमें ही उनकी बुद्धि प्रवृत्त हुई ॥ १५ ॥

सोऽवस्त्रतामात्मनश्च तस्याश्चाप्येकवस्त्रताम् ।
चिन्तयित्वाध्यगाद् राजा वस्त्रार्धस्यावकर्तनम् ॥१६॥

तदनन्तर राजाने अपनी वस्त्रहीनता और दमयन्तीकी एकवस्त्रताका विचार करके उसके आधे वस्त्रको फाड़ लेना ही उचित समझा ॥ १६ ॥

कथं वासो विकर्तेयं न च बुध्येत मे प्रिया ।
विचिन्त्यैवं नलो राजा सभां पर्यचरत्तदा ॥१७॥

फिर यह सोचकर कि 'मैं कैसे वस्त्रको काटूँ, जिससे मेरी प्रियाकी नींद न टूटे।' राजा नल धर्मशालामें (नंगे ही) इधर-उधर घूमने लगे ॥ १७ ॥

परिधावन्नथ नल इतश्चेतश्च भारत ।
आससाद सभोद्देशे विकोशं खड्गमुत्तमम् ॥१८॥

भारत ! इधर-उधर दौड़-धूप करनेपर राजा नलको उस सभाभवनमें एक अच्छी-सी नंगी तलवार मिल गयी ॥



तेनार्धं वाससश्छित्त्वा निवस्य च परंतपः ।
सुप्तामुत्सृज्य वैदर्भीं प्राद्रवद् गतचेतनाम् ॥१९॥

उसीसे दमयन्तीका आधा वस्त्र काटकर परंतप नलने उसके द्वारा अपना शरीर ढँक लिया और अचेत सोती हुई विदर्भराजकुमारी दमयन्तीको वहीं छोड़कर वे शीघ्रतासे चले गये ॥ १९ ॥

ततो निवृत्तहृदयः पुनरागम्य तां सभाम् ।
दमयन्तीं तदा दृष्ट्वा रुरोद निषधाधिपः ॥२०॥

कुछ दूर जानेपर उनके हृदयका विचार पलट गया और वे पुनः उसी सभाभवनमें लौट आये । वहाँ उस समय दमयन्तीको देखकर निषधनरेश नल फूट-फूटकर रोने लगे ॥

यां न वायुर्न चादित्यः पुरा पश्यति मे प्रियाम् ।
सेयमद्य सभामध्ये शेते भूमावनाथवत् ॥२१॥

(वे विलाप करते हुए कहने लगे—) 'पहले जिस मेरी प्रियतमा दमयन्तीको वायु तथा सूर्य देवता भी नहीं देख पाते थे, वही आज इस धर्मशालेमें भूमिपर अनाथकी भाँति सो रही है ॥ २१ ॥

इयं वस्त्रावकर्तेन संवीता चारुहासिनी ।
उन्मत्तेव वरारोहा कथं बुद्ध्वा भविष्यति ॥२२॥

'यह मनोहर हास्यवाली सुन्दरी वस्त्रके आधे टुकड़ेसे लिपटी हुई सो रही है । जब इसकी नींद खुलेगी, तब पगली-सी होकर न जाने यह कैसी दशाको पहुँच जायगी ॥२२॥

कथमेका सती भैमी मया विरहिता शुभा ।
चरिष्यति वने घोरे मृगव्यालनिषेविते ॥२३॥

'यह भयंकर वन हिंसक पशुओं और सर्पोंसे भरा है । मुझसे बिछुड़कर शुभलक्षणा सती दमयन्ती अकेली इस वनमें कैसे विचरण करेगी ? ॥ २३ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ समरुद्गणौ ।
रक्षन्तु त्वां महाभागे धर्मेणासि समावृता ॥२४॥

'महाभागे ! तुम धर्मसे आवृत हो, आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार और मरुद्गण—ये सब देवता तुम्हारी रक्षा करें' ॥

एवमुक्त्वा प्रियां भार्यां रूपेणाप्रतिमां भुवि ।
कलिनापहृतज्ञानो नलः प्रातिष्ठदुद्यतः ॥२५॥

इस भूतलपर रूप-सौन्दर्यमें जिसकी समानता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं थी, उसी अपनी प्यारी पत्नी दमयन्तीके प्रति इस प्रकार कहकर राजा नल वहाँसे उठे और चल दिये । उस समय कलिने इनकी विवेकशक्ति हर ली थी ।२५।

गत्वा गत्वा नलो राजा पुनरेति सभां मुहुः ।
आकृष्यमाणः कलिना सौहृदेनावकृष्यते ॥२६॥

राजा नलको एक ओर कलियुग खींच रहा था और दूसरी ओर दमयन्तीका सौहार्द । अतः वे बार-बार जाकर फिर उस धर्मशालेमें ही लौट आते थे ॥ २६ ॥

द्विधेव हृदयं तस्य दुःखितस्याभवत् तदा ।
दोलेव मुहुरायाति याति चैव सभां प्रति ॥२७॥

उस समय दुखी राजा नलका हृदय मानो दुविधामें पड़ गया था । जैसे झूला बार-बार नीचे-ऊपर आता-जाता रहता है, उसी प्रकार उनका हृदय कभी बाहर जाता, कभी सभा-भवनमें लौट आता था ॥ २७ ॥

अवकृष्टस्तु कलिना मोहितः प्राद्रवन्नलः।
सुप्तामुत्सृज्य तां भार्यां विलप्य करुणं बहु ॥२८॥

अन्तमें कलियुगने प्रबल आकर्षण किया, जिससे मोहित होकर राजा नल बहुत देरतक करुण विलाप करके अपनी सोती हुई पत्नीको छोड़कर शीघ्रतासे चले गये ॥ २८ ॥

नष्टात्मा कलिना स्पृष्टस्तत् तद् विगणयन् नृपः।
जगामैकां वने शून्ये भार्यामुत्सृज्य दुःखितः ॥२९॥

कलियुगके स्पर्शसे उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी थी; अतः वे अत्यन्त दुखी हो विभिन्न बातोंका विचार करते हुए उस सूने वनमें अपनी पत्नीको अकेली छोड़कर चल दिये ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीपरित्यागे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्तीपरित्यागविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

दमयन्तीका विलाप तथा अजगर एवं व्याधसे उसके प्राण एवं सतीत्वकी रक्षा तथा दमयन्तीके पातिव्रत्यधर्मके प्रभावसे व्याधका विनाश

बृहदश्व उवाच

अपक्रान्ते नले राजन् दमयन्ती गतक्लमा।
अबुध्यत वरारोहा संत्रस्ता विजने वने ॥ १ ॥
अपश्यमाना भर्तारं शोकदुःखसमन्विता।
प्राक्रोशदुच्चैः संत्रस्ता महाराजेति नैषधम् ॥ २ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! नलके चले जानेपर जब दमयन्तीकी थकावट दूर हो गयी, तब उसकी आँख खुली। उस निर्जन वनमें अपने स्वामीको न देखकर सुन्दरी दमयन्ती भयातुर और दुःख-शोकसे व्याकुल हो गयी। उसने भयभीत होकर निषधनरेश नलको 'महाराज! आप कहाँ हैं?' यह कहकर बड़े जोरसे पुकारा ॥ १–२ ॥

हा नाथ हा महाराज हा स्वामिन् किं जहासि माम्।
हा हतास्मि विनष्टास्मि भीतास्मि विजने वने ॥ ३ ॥

'हा नाथ! हा महाराज! हा स्वामिन्! आप मुझे क्यों त्याग रहे हैं? हाय! मैं मारी गयी, नष्ट हो गयी, इस जनशून्य वनमें मुझे बड़ा भय लग रहा है ॥ ३ ॥

ननु नाम महाराज धर्मज्ञः सत्यवागसि।
कथमुक्त्वा तथा सत्यं सुप्तामुत्सृज्य कानने ॥ ४ ॥

'महाराज! आप तो धर्मज्ञ और सत्यवादी हैं; फिर वैसी सच्ची प्रतिज्ञा करके आज आप इस जंगलमें मुझे सोती छोड़कर कैसे चले गये? ॥ ४ ॥

कथमुत्सृज्य गन्तासि दक्षां भार्यामनुव्रताम्।
विशेषतोऽनपकृते परेणापकृते सति ॥ ५ ॥

'मैं आपकी सेवामें कुशल और अनुरक्त भार्या हूँ। विशेषतः मेरेद्वारा आपका कोई अपराध भी नहीं हुआ है। यदि कोई अपराध हुआ है, तो वह दूसरेके ही द्वारा, मुझसे नहीं; तो भी आप मुझे त्यागकर क्यों चले जा रहे हैं? ॥ ५ ॥

शक्यसे ता गिरः सम्यक् कर्तुं मयि नरेश्वर।
यास्तेषां लोकपालानां संनिधौ कथिताः पुरा ॥ ६ ॥

'नरेश्वर! आपने पहले स्वयंवरसभामें उन लोकपालोंके निकट जो बातें कहीं थीं, क्या आप उन्हें आज मेरे प्रति सत्य सिद्ध कर सकेंगे? ॥ ६ ॥

नाकाले विहितो मृत्युर्मर्त्यानां पुरुषर्षभ।
तत्र कान्ता त्वयोत्सृष्टा मुहूर्तमपि जीवति ॥ ७ ॥

'पुरुषशिरोमणे! मनुष्योंकी मृत्यु असमयमें नहीं होती, तभी तो आपकी यह प्रियतमा आपसे परित्यक्त होकर दो घड़ी भी जी रही है ॥ ७ ॥

पर्याप्तः परिहासोऽयमेतावान् पुरुषर्षभ।
भीताहमतिदुर्धर्ष दर्शयात्मानमीश्वर ॥ ८ ॥

'पुरुषश्रेष्ठ! यहाँ इतना ही परिहास बहुत है। अत्यन्त दुर्धर्ष वीर! मैं बहुत डर गयी हूँ। प्राणेश्वर! अब मुझे अपना दर्शन दीजिये ॥ ८ ॥

दृश्यसे दृश्यसे राजन्नेष दृष्टोऽसि नैषध।
आवार्य गुल्मैरात्मानं किं मां न प्रतिभाषसे ॥ ९ ॥

'राजन्! निषधनरेश! आप दीख रहे हैं, दीख रहे हैं, यह दिखायी दिये। लताओंद्वारा अपनेको छिपाकर आप मुझसे बात क्यों नहीं कर रहे हैं? ॥ ९ ॥

नृशंसं बत राजेन्द्र यन्मामेवंगतामिह।
विलपन्तीं समागम्य नाश्वासयसि पार्थिव ॥१०॥

'राजेन्द्र! मैं इस प्रकार भय और चिन्तामें पड़कर यहाँ विलाप कर रही हूँ और आप आकर आश्वासन भी नहीं देते! भूपाल! यह तो आपकी बड़ी निर्दयता है ॥ १० ॥

न शोचाम्यहमात्मानं न चान्यदपि किंचन।
कथं नु भवितास्येक इति त्वां नृप शोचिमि ॥११॥

'नरेश्वर! मैं अपने लिये शोक नहीं करती। मुझे दूसरी

किसी बातका भी शोक नहीं है । मैं केवल आपके लिये शोक कर रही हूँ कि आप अकेले कैसी शोचनीय दशामें पड़ जायँगे ! ॥ ११ ॥

कथं नु राजंस्तृषितः क्षुधितः श्रमकर्षितः ।
सायाह्ने वृक्षमूलेषु मामपश्यन् भविष्यसि ॥१२॥

'राजन् ! आप भूखे-प्यासे और परिश्रमसे थके-माँदे होकर जब सायंकाल किसी वृक्षके नीचे आकर विश्राम करेंगे, उस समय मुझे अपने पास न देखकर आपकी कैसी दशा हो जायगी ?' ॥ १२ ॥

ततः सा तीव्रशोकार्ता प्रदीप्तेव च मन्युना ।
इतश्चेतश्च रुदती पर्यधावत दुःखिता ॥१३॥

तदनन्तर प्रचण्ड शोकसे पीड़ित हो क्रोधाग्निसे दग्ध होती हुई-सी दमयन्ती अत्यन्त दुखी हो रोने और इधर-उधर दौड़ने लगी ॥ १३ ॥

मुहुरुत्पतते बाला मुहुः पतति विह्वला ।
मुहुरालीयते भीता मुहुः क्रोशति रोदिति ॥१४॥

दमयन्ती बार-बार उठती और बार-बार विह्वल होकर गिर पड़ती थी । वह कभी भयभीत होकर छिपती और कभी जोर-जोरसे रोने-चिल्लाने लगती थी ॥ १४ ॥

अतीव शोकसंतप्ता मुहुर्निःश्वस्य विह्वला ।
उवाच भैमी निःश्वस्य रुदत्यथ पतिव्रता ॥१५॥

अत्यन्त शोकसंतप्त हो बार-बार लम्बी साँसे खींचती हुई व्याकुल पतिव्रता दमयन्ती दीर्घ निःश्वास लेकर रोती हुई बोली—॥ १५ ॥

यस्याभिशापाद् दुःखार्तो दुःखं विन्दति नैषधः ।
तस्य भूतस्य नो दुःखाद् दुःखमप्यधिकं भवेत् ॥१६॥

'जिसके अभिशापसे निषधनरेश नल दुःखसे पीड़ित हो क्लेशपर क्लेश उठाते जा रहे हैं, उस प्राणीको हम-लोगोंके दुःखसे भी अधिक दुःख प्राप्त हो ॥ १६ ॥

अपापचेतसं पापो य एवं कृतवान् नलम् ।
तस्माद् दुःखतरं प्राप्य जीवत्वसुखजीविकाम् ॥१७॥

'जिस पापीने पुण्यात्मा राजा नलको इस दशामें पहुँचाया है, वह उनसे भी भारी दुःखमें पड़कर दुःखकी ही जिंदगी बितावे' ॥ १७ ॥

एवं तु विलपन्ती सा राज्ञो भार्या महात्मनः ।
अन्वेषमाणा भर्तारं वने श्वापदसेविते ॥१८॥
उन्मत्तवद् भीमसुता विलपन्ती इतस्ततः ।
हा हा राजन्निति मुहुरितश्चेतश्च धावति ॥१९॥

इस प्रकार विलाप करती तथा हिंस्र जन्तुओंसे भरे हुए वनमें अपने पतिको ढूँढ़ती हुई महात्मा राजा नलकी पत्नी भीमकुमारी दमयन्ती उन्मत्त हुई रोती-बिलखती और 'हा राजन्, हा महाराज' ऐसा बार-बार कहती हुई इधर-उधर दौड़ने लगी ॥ १८–१९ ॥

तां क्रन्दमानामत्यर्थं कुररीमिव वाशतीम् ।
करुणं बहु शोचन्तीं विलपन्तीं मुहुर्मुहुः ॥२०॥
सहसाभ्यागतां भैमीमभ्याशपरिवर्तिनीम् ।
जग्राहाजगरो ग्राहो महाकायः क्षुधान्वितः ॥२१॥

वह कुररी पक्षीकी भाँति जोर-जोरसे करुण क्रन्दन कर रही थी और अत्यन्त शोक करती हुई बार-बार विलाप कर रही थी । वहाँसे थोड़ी ही दूरपर एक विशालकाय भूखा अजगर बैठा था । उसने बार-बार चक्कर लगाती सहसा निकट आयी हुई भीमकुमारी दमयन्तीको (पैरोंकी ओरसे) निगलना आरम्भ कर दिया ॥ २०–२१ ॥

सा ग्रस्यमाना ग्राहेण शोकेन च परिप्लुता ।
नात्मानं शोचति तथा यथा शोचति नैषधम् ॥२२॥

शोकमें डूबी हुई वैदर्भीको अजगर निगल रहा था, तो भी वह अपने लिये उतना शोक नहीं कर रही थी, जितना शोक उसे निषध-नरेश नलके लिये था ॥ २२ ॥

हा नाथ मामिह वने ग्रस्यमानामनाथवत् ।
ग्राहेणानेन विजने किमर्थं नानुधावसि ॥२३॥

(वह विलाप करती हुई कहने लगी—) 'हा नाथ ! इस निर्जन वनमें यह अजगर सर्प मुझे अनाथकी भाँति निगल रहा है । आप मेरी रक्षाके लिये दौड़कर आते क्यों नहीं हैं ? ॥

कथं भविष्यसि पुनर्मामनुस्मृत्य नैषध ।
कथं भवाञ्जगामाद्य मामुत्सृज्य वने प्रभो ॥२४॥

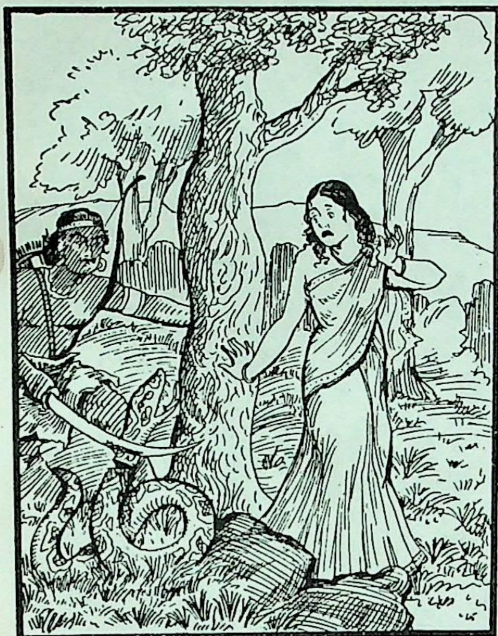
'निषधनरेश ! यदि मैं मर गयी, तो मुझे बार-बार याद करके आपकी कैसी दशा हो जायगी ? प्रभो ! आज मुझे वनमें छोड़कर आप क्यों चले गये ? ॥ २४ ॥

पापान्मुक्तः पुनर्लब्ध्वा बुद्धिं चेतो धनानि च ।
श्रान्तस्य ते क्षुधार्तस्य परिग्लानस्य नैषध ।
कः श्रमं राजशार्दूल नाशयिष्यति तेऽनघ ॥२५॥

'निष्पाप निषधनरेश ! इस संकटसे मुक्त होनेपर जब आपको पुनः शुद्ध बुद्धि, चेतना और धन आदिकी प्राप्ति होगी, उस समय मेरे बिना आपकी क्या दशा होगी ? नृपप्रवर ! जब आप भूखसे पीड़ित हो थके-माँदे एवं अत्यन्त खिन्न होंगे, उस समय आपकी उस थकावटको कौन दूर करेगा ?' ॥२५॥

ततः कश्चिन्मृगव्याधो विचरन् गहने वने ।
आक्रन्दमानां संश्रुत्य जवेनाभिससार ह ॥२६॥

इसी समय कोई व्याध उस गहन वनमें विचर रहा था । वह दमयन्तीका करुण क्रन्दन सुनकर बड़े वेगसे उधर आया ॥ २६ ॥



तां तु दृष्ट्वा तथा ग्रस्तामुरगेणायतेक्षणाम् ।
त्वरमाणो मृगव्याधः समभिक्रम्य वेगतः ॥२७॥
मुखतः पाटयामास शस्त्रेण निशितेन च ।
निर्विचेष्टं भुजङ्गं तं विशस्य मृगजीवनः ॥२८॥
मोक्षयित्वा स तां व्याधः प्रक्षाल्य सलिलेन ह ।
समाश्वास्य कृताहारामथ पप्रच्छ भारत ॥२९॥

उस विशाल नयनोंवाली युवतीको अजगरके द्वारा उस प्रकार निगली जाती हुई देख व्याधने बड़ी उतावलीके साथ वेगसे दौड़कर तीखे शस्त्रसे शीघ्र ही उस अजगरका मुख फाड़ दिया। वह अजगर छटपटाकर चेष्टारहित हो गया। मृगोंको मारकर जीविका चलानेवाले उस व्याधने सर्पके टुकड़े-टुकड़े करके दमयन्तीको छुड़ाया। फिर जलसे उसके सर्पग्रस्त शरीरको धोकर उसे आश्वासन दे उसके लिये भोजनकी व्यवस्था कर दी। भारत! जब वह भोजनकर चुकी, तब व्याधने उससे पूछा—॥ २७-२९ ॥

कस्य त्वं मृगशावाक्षि कथं चाभ्यागता वनम् ।
कथं चेदं महत् कृच्छ्रं प्राप्तवत्यसि भाविनि ॥३०॥

'मृगलोचने! तुम किसकी स्त्री हो और कैसे वनमें चली आयी हो? भामिनि! किस प्रकार तुम्हें यह महान् कष्ट प्राप्त हुआ है?' ॥ ३० ॥

दमयन्ती तथा तेन पृच्छ्यमाना विशाम्पते ।
सर्वमेतद् यथावृत्तमाचचक्षेऽस्य भारत ॥३१॥

भरतवंशी नरेश युधिष्ठिर! व्याधके पूछनेपर दमयन्तीने उसे सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे कह सुनाया ॥ ३१ ॥

तामर्धवस्त्रसंवीतां पीनश्रोणिपयोधराम् ।
सुकुमारानवद्याङ्गीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥३२॥
अरालपक्ष्मनयनां तथा मधुरभाषिणीम् ।
लक्षयित्वा मृगव्याधः कामस्य वशमीयिवान् ॥ ३३ ॥

स्थूल नितम्ब और स्तनोंवाली विदर्भकुमारीने आधे वस्त्रसे ही अपने अङ्गोंको ढँक रखा था। पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली दमयन्तीका एक-एक अङ्ग सुकुमार एवं निर्दोष था। उसकी आँखें तिरछी बरौनियोंसे सुशोभित थीं और वह बड़े मधुर स्वरमें बोल रही थी। इन सब बातोंकी ओर लक्ष्य करके वह व्याध कामके अधीन हो गया ॥ ३२-३३ ॥

तामेवं श्लक्ष्णया वाचा लुब्धको मृदुपूर्वया ।
सान्त्वयामास कामार्तस्तदबुध्यत भाविनी ॥ ३४ ॥

वह मधुर एवं कोमल वाणीसे उसे अपने अनुकूल बनानेके लिये भाँति-भाँतिके आश्वासन देने लगा। वह व्याध उस समय कामवेदनासे पीड़ित हो रहा था। सती दमयन्तीने उसके दूषित मनोभावको समझ लिया ॥ ३४ ॥

दमयन्त्यपि तं दुष्टमुपलभ्य पतिव्रता ।
तीव्ररोषसमाविष्टा प्रजज्वालेव मन्युना ॥ ३५ ॥

पतिव्रता दमयन्ती भी उसकी दुष्टताको समझकर तीव्र क्रोधके वशीभूत हो मानो रोषाग्निसे प्रज्वलित हो उठी ॥ ३५ ॥

स तु पापमतिः क्षुद्रः प्रधर्षयितुमातुरः ।
दुर्धर्षां तर्कयामास दीप्तामग्निशिखामिव ॥ ३६ ॥

यद्यपि वह नीच पापात्मा व्याध उसपर बलात्कार करनेके लिये व्याकुल हो गया था, परंतु दमयन्ती अग्नि-शिखाकी भाँति उद्दीप्त हो रही थी; अतः उसका स्पर्श करना उसको अत्यन्त दुष्कर प्रतीत हुआ ॥ ३६ ॥

दमयन्ती तु दुःखार्ता पतिराज्यविनाकृता ।
अतीतवाक्पथे काले शशापैनं रुषान्विता ॥ ३७ ॥

पति तथा राज्य दोनोंसे वञ्चित होनेके कारण दमयन्ती अत्यन्त दुःखसे आतुर हो रही थी। इधर व्याधकी कुचेष्टा वाणीद्वारा रोकनेपर रुक सके, ऐसी प्रतीत नहीं होती

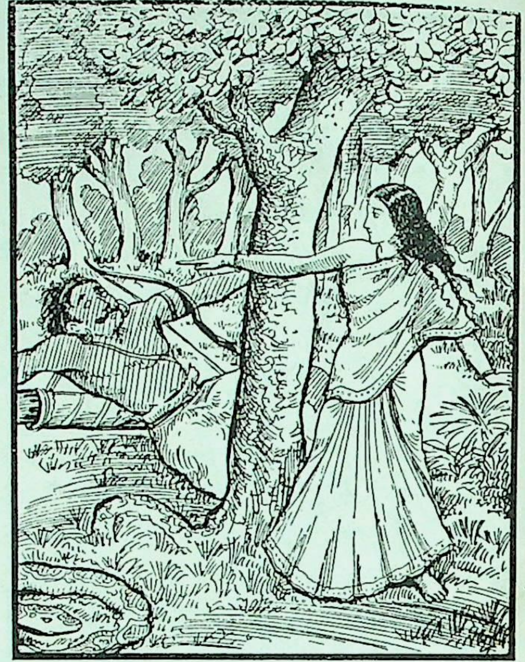
थी । तब (उस व्याधपर अत्यन्त रुष्ट हो) उसने उसे शाप दे दिया—॥ ३७ ॥

यद्यहं नैषधादन्यं मनसापि न चिन्तये ।
तथायं पततां क्षुद्रो परासुर्मृगजीवनः ॥ ३८ ॥

'यदि मैं निषधराज नलके सिवा दूसरे किसी पुरुषका मनसे भी चिन्तन नहीं करती होऊँ, तो इसके प्रभावसे यह तुच्छ व्याध प्राणशून्य होकर गिर पड़े' ॥ ३८ ॥

उक्तमात्रे तु वचने तथा स मृगजीवनः ।
व्यसुः पपात मेदिन्यामग्निदग्ध इव द्रुमः ॥ ३९ ॥

दमयन्तीके इतना कहते ही वह व्याध आगसे जले हुए वृक्षकी भाँति प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३९ ॥



इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि अजगरग्रस्तदमयन्तीमोचने त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें अजगरग्रस्तदमयन्तीमोचनविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६३॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

दमयन्तीका विलाप और प्रलाप, तपस्वियोंद्वारा दमयन्तीको आश्वासन तथा उसकी व्यापारियोंके दलसे भेंट

बृहदश्व उवाच

सा निहत्य मृगव्याधं प्रतस्थे कमलेक्षणा ।
वनं प्रतिभयं शून्यं झिल्लिकागणनादितम् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! व्याधका विनाश करके वह कमलनयनी राजकुमारी झिल्लियोंकी झंकारसे गूँजते हुए निर्जन एवं भयंकर वनमें आगे बढ़ी ॥ १ ॥

सिंहद्वीपिरुरुव्याघ्रमहिषर्क्षगणैर्युतम् ।
नानापक्षिगणाकीर्णं म्लेच्छतस्करसेवितम् ॥ २ ॥

वह वन सिंह, चीतों, रुरुमृग, व्याघ्र, भैंसों तथा रीछ आदि पशुओंसे युक्त एवं भाँति-भाँतिके पक्षिसमुदायसे व्याप्त था । वहाँ म्लेच्छ और तस्करोंका निवास था ॥ २ ॥

शालवेणुधवाश्वत्थतिन्दुकेङ्गुदकिंशुकैः ।
अर्जुनारिष्टसंछन्नं स्यन्दनैश्च सशाल्मलैः ॥ ३ ॥
जम्ब्वाम्रलोध्रखदिरसालवेत्रसमाकुलम् ।
पद्मकामलकप्लक्षकदम्बोदुम्बरावृतम् ॥ ४ ॥
बदरीबिल्वसंछन्नं न्यग्रोधैश्च समाकुलम् ।
प्रियालतालखर्जूरहरीतकबिभीतकैः ॥ ५ ॥

शाल, वेणु, धव, पीपल, तिन्दुक, इङ्गुद, पलाश, अर्जुन, अरिष्ट, स्यन्दन (तिनिश), सेमल, जामुन, आम, लोध, खैर, साखू, बेंत, पद्मक, आँवला, पाकर, कदम्ब, गूलर, बेर, बेल, बरगद, प्रियाल, ताल, खजूर, हर्रे तथा बहेड़े आदि वृक्षोंसे वह विशाल वन परिपूर्ण हो रहा था ॥ ३—५ ॥

नानाधातुशतैर्नद्धान् विविधानपि चाचलान् ।
निकुञ्जान् परिसंघुष्टान् दरीश्चाद्भुतदर्शनाः ॥ ६ ॥

दमयन्तीने वहाँ सैकड़ों धातुओंसे संयुक्त नाना प्रकारके पर्वत, पक्षियोंके कलरवोंसे गुंजायमान कितने ही निकुंज और अद्भुत कन्दराएँ देखीं ॥ ६ ॥

नदीः सरांसि वापीश्च विविधांश्च मृगद्विजान् ।
सा बहून् भीमरूपांश्च पिशाचोरगराक्षसान् ॥ ७ ॥
पल्वलानि तडागानि गिरिकूटानि सर्वशः ।
सरितो निर्झरांश्चैव ददर्शाद्भुतदर्शनान् ॥ ८ ॥

कितनी ही नदियों, सरोवरों, बावलियों तथा नाना प्रकारके मृगों और पक्षियोंको देखा । उसने बहुत-से भयानक रूपवाले पिशाच, नाग तथा राक्षस देखे । कितने ही गड्ढों, पोखरों और पर्वतशिखरोंका अवलोकन किया । सरिताओं और अद्भुत झरनोंको देखा ॥ ७-८ ॥



सती दमयन्तीके तेजसे पापी व्याधका विनाश

यूथशो ददृशे चात्र विदर्भाधिपनन्दिनी।
महिषांश्च वराहांश्च ऋक्षांश्च वनपन्नगान्॥ ९॥
तेजसा यशसा लक्ष्म्या स्थित्या च परया युता।
वैदर्भी विचरत्येका नलमन्वेषती तदा॥ १०॥

विदर्भराजनन्दिनीने उस वनमें झुंड-के-झुंड भैंसे, सूअर, रीछ और जंगली साँप देखे। तेज, यश, शोभा और परम धैर्यसे युक्त विदर्भकुमारी उस समय अकेली विचरती और नलको ढूँढ़ती थी॥ ९-१०॥

नाबिभ्यत् सा नृपसुता भैमी तत्राथ कस्यचित्।
दारुणामटवीं प्राप्य भर्तृव्यसनपीडिता॥ ११॥

वह पतिके विरहरूपी संकटसे संतप्त थी। अतः राजकुमारी दमयन्ती उस भयंकर वनमें प्रवेश करके भी किसी जीव-जन्तुसे भयभीत नहीं हुई॥ ११॥

विदर्भतनया राजन् विललाप सुदुःखिता।
भर्तृशोकपरीताङ्गी शिलातलमथाश्रिता॥ १२॥

राजन्! विदर्भकुमारी दमयन्तीके अङ्ग-अङ्गमें पतिके वियोगका शोक व्याप्त हो गया था, इसलिये वह अत्यन्त दुःखित हो एक शिलाके नीचे भागमें बैठकर बहुत विलाप करने लगी—॥ १२॥

दमयन्त्युवाच

व्यूढोरस्क महाबाहो नैषधानां जनाधिप।
क्व नु राजन् गतोऽस्यद्य विसृज्य विजने वने॥ १३॥
अश्वमेधादिभिर्वीर क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
कथमिष्ट्वा नरव्याघ्र मयि मिथ्या प्रवर्तसे॥ १४॥

दमयन्ती बोली—चौड़ी छातीवाले महाबाहु निषधनरेश महाराज! आज इस निर्जन वनमें (मुझ अकेलीको) छोड़कर आप कहाँ चले गये? नरश्रेष्ठ! वीरशिरोमणे! प्रचुर दक्षिणावाले अश्वमेध आदि यज्ञोंका अनुष्ठान करके भी आप मेरे साथ मिथ्या बर्ताव क्यों कर रहे हैं?॥ १३-१४॥

यत् त्वयोक्तं नरश्रेष्ठ तत् समक्षं महाद्युते।
स्मर्तुमर्हसि कल्याण वचनं पार्थिवर्षभ॥ १५॥

महातेजस्वी कल्याणमय राजाओंमें उत्तम नरश्रेष्ठ! आपने मेरे सामने जो बात कही थी, अपनी उस बातका स्मरण करना उचित है॥ १५॥

यच्चोक्तं विहगैर्हंसैः समीपे तव भूमिप।
मत्समक्षं यदुक्तं च तदवेक्षितुमर्हसि॥ १६॥

भूमिपाल! आकाशचारी हंसोंने आपके समीप तथा मेरे सामने जो बातें कही थीं, उनपर विचार कीजिये॥ १६॥

चत्वार एकतो वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः।
स्वधीता मनुजव्याघ्र सत्यमेकं किलैकतः॥ १७॥

नरसिंह! एक ओर अङ्ग और उपाङ्गोंसहित विस्तारपूर्वक चारों वेदोंका स्वाध्याय हो और दूसरी ओर केवल सत्यभाषण हो तो वह निश्चय ही उससे बढ़कर है॥ १७॥

तस्मादर्हसि शत्रुघ्न सत्यं कर्तुं नरेश्वर।
उक्तवानसि यद् वीर मत्सकाशे पुरा वचः॥ १८॥

अतः शत्रुहन्ता नरेश्वर! वीर! आपने पहले मेरे समीप जो बातें कहीं हैं, उन्हें सत्य करना चाहिये॥ १८॥

हा वीर नल नामाहं नष्टा किल तवानघ।
अस्यामटव्यां घोरायां किं मां न प्रतिभाषसे॥ १९॥

हा निष्पाप वीर नल! आपकी मैं दमयन्ती इस भयंकर वनमें नष्ट हो रही हूँ, आप मेरी बातका उत्तर क्यों नहीं देते?॥ १९॥

कर्षयत्येष मां रौद्रो व्यात्तास्यो दारुणाकृतिः।
अरण्यराट् क्षुधाविष्टः किं मां न त्रातुमर्हसि॥ २०॥

यह भयानक आकृतिवाला क्रूर सिंह भूखसे पीड़ित हो मुँह बाये खड़ा है और मुझपर आक्रमण करना चाहता है, क्या आप मेरी रक्षा नहीं कर सकते?॥ २०॥

न मे त्वदन्या काचिद्धि प्रियास्तीत्यब्रवीः सदा।
तामृतां कुरु कल्याण पुरोक्तां भारतीं नृप॥ २१॥

कल्याणमय नरेश! आप पहले जो सदा यह कहते थे कि तुम्हारे सिवा दूसरी कोई भी स्त्री मुझे प्रिय नहीं है, अपनी उस बातको सत्य कीजिये॥ २१॥

उन्मत्तां विलपन्तीं मां भार्यामिष्टां नराधिप।
ईप्सितामीप्सितोऽसि त्वं किं मां न प्रतिभाषसे॥ २२॥

महाराज! मैं आपकी प्रिय पत्नी हूँ और आप मेरे प्रियतम पति हैं, ऐसी दशामें भी मैं यहाँ उन्मत्त विलाप कर रही हूँ तो भी आप मेरी बातका उत्तर क्यों नहीं देते?॥ २२॥

कृशां दीनां विवर्णां च मलिनां वसुधाधिप।
वस्त्रार्धप्रावृतामेकां विलपन्तीमनाथवत्॥ २३॥
यूथभ्रष्टामिवैकां मां हरिणीं पृथुलोचन।
न मानयसि मामार्य रुदन्तीमरिकर्शन॥ २४॥

पृथ्वीनाथ! मैं दीन, दुर्बल, कान्तिहीन और मलिन होकर आधे वस्त्रसे अपने अङ्गोंको ढककर अकेली अनाथ-सी विलाप कर रही हूँ। विशाल नेत्रोंवाले शत्रुसूदन आर्य! मेरी दशा अपने झुंडसे बिछुड़ी हुई हरिणीकी-सी हो रही है। मैं यहाँ अकेली रो रही हूँ। परंतु आप मेरा मान नहीं रखते हैं॥ २३-२४॥

महाराज महारण्ये अहमेकाकिनी सती।
दमयन्त्यभिभाषे त्वां किं मां न प्रतिभाषसे॥ २५॥

महाराज! इस महान् वनमें मैं सती दमयन्ती अकेली

आपको पुकार रही हूँ, आप मुझे उत्तर क्यों नहीं देते ? ॥ २५ ॥

कुलशीलोपसम्पन्न चारुसर्वाङ्गशोभन ।
नाद्य त्वां प्रतिपश्यामि गिरावस्मिन् नरोत्तम ॥ २६ ॥

नरश्रेष्ठ ! आप उत्तम कुल और श्रेष्ठ शीलस्वभावसे सम्पन्न हैं । आप अपने सम्पूर्ण मनोहर अङ्गोंसे सुशोभित होते हैं । आज इस पर्वत-शिखरपर मैं आपको नहीं देख पाती हूँ ॥

वने चास्मिन् महाघोरे सिंहव्याघ्रनिषेविते ।
शयानमुपविष्टं वा स्थितं वा निषधाधिप ॥ २७ ॥

निषधनरेश ! इस महाभयंकर वनमें, जहाँ सिंह-व्याघ्र रहते हैं, आप कहीं सोये हैं, बैठे हैं अथवा खड़े हैं ? ॥ २७ ॥

प्रस्थितं वा नरश्रेष्ठ मम शोकविवर्धन ।
कं नु पृच्छामि दुःखार्ता त्वदर्थे शोककर्शिता ॥ २८ ॥

मेरे शोकको बढ़ानेवाले नरश्रेष्ठ ! आप यहीं हैं या कहीं अन्यत्र चल दिये, यह मैं किससे पूछूँ ? आपके लिये शोकसे दुर्बल होकर मैं अत्यन्त दुःखसे आतुर हो रही हूँ ॥ २८ ॥

कच्चिद् दृष्टस्त्वयारण्ये संगत्येह नलो नृपः ।
को नु मे वाद्य प्रष्टव्यो वनेऽस्मिन् प्रस्थितं नलम् ॥ २९ ॥

'क्या तुमने इस वनमें राजा नलसे मिलकर उन्हें देखा है ?' ऐसा प्रश्न अब मैं इस वनमें प्रस्थान करनेवाले नलके विषयमें किससे करूँ ? ॥ २९ ॥

अभिरूपं महात्मानं परव्यूहविनाशनम् ।
यमन्वेषसि राजानं नलं पद्मनिभेक्षणम् ॥ ३० ॥
अयं स इति कस्याद्य श्रोष्यामि मधुरां गिरम् ।

'शत्रुओंके व्यूहका नाश करनेवाले जिन परम सुन्दर कमल-नयन महात्मा राजा नलको तू खोज रही है, वे यही तो हैं, ऐसी मधुर वाणी आज मैं किसके मुखसे सुनूँगी ? ॥ ३०½ ॥

अरण्यराडयं श्रीमांश्चतुर्दंष्ट्रो महाहनुः ॥ ३१ ॥
शार्दूलोऽभिमुखोऽभ्येति व्रजाम्येनमशङ्किता ।
भवान् मृगाणामधिपस्त्वमस्मिन् कानने प्रभुः ॥ ३२ ॥

यह वनका राजा कान्तिमान् सिंह मेरे सामने चला आ रहा है, इसके चार दाढ़ें और विशाल ठोड़ी है । मैं निःशङ्क होकर इसके सामने जा रही हूँ और कहती हूँ, 'आप मृगोंके राजा और इस वनके स्वामी हैं ॥ ३१-३२ ॥

विदर्भराजतनयां दमयन्तीति विद्धि माम् ।
निषधाधिपतेर्भार्यां नलस्यामित्रघातिनः ॥ ३३ ॥

'मैं विदर्भराजकुमारी दमयन्ती हूँ । मुझे शत्रुघाती निषध-नरेश नलकी पत्नी समझिये ॥ ३३ ॥

पतिमन्वेषतीमेकां कृपणां शोककर्शिताम् ।
आश्वासय मृगेन्द्रेह यदि दृष्टस्त्वया नलः ॥ ३४ ॥

मृगेन्द्र ! मैं इस वनमें अकेली पतिकी खोजमें भटक रही हूँ तथा शोकसे पीडित एवं दीन हो रही हूँ । यदि आपने नलको यहाँ कहीं देखा हो तो उनका कुशल-समाचार बताकर मुझे आश्वासन दीजिये ॥ ३४ ॥

अथवा त्वं वनपते नलं यदि न शंससि ।
मां खादय मृगश्रेष्ठ दुःखादस्माद् विमोचय ॥ ३५ ॥

'अथवा वनराज मृगश्रेष्ठ ! यदि आप नलके विषयमें कुछ नहीं बताते हैं तो मुझे खा जायँ और इस दुःखसे छुटकारा दे दें' ॥ ३५ ॥

श्रुत्वारण्ये विलपितं न मामाश्वासयत्ययम् ।
यात्येतां स्वादुसलिलामापगां सागरंगमाम् ॥ ३६ ॥

अहो ! इस घोर वनमें मेरा विलाप सुनकर भी यह सिंह मुझे सान्त्वना नहीं देता । यह तो स्वादिष्ट जलसे भरी हुई इस समुद्रगामिनी नदीकी ओर जा रहा है ॥ ३६ ॥

इमं शिलोच्चयं पुण्यं शृङ्गैर्बहुभिरुच्छ्रितैः ।
विराजद्भिरिवानेकैर्नैकवर्णैर्मनोरमैः ॥ ३७ ॥

अच्छा, इस पवित्र पर्वतसे ही पूछती हूँ । यह बहुत-से ऊँचे-ऊँचे शोभाशाली बहुरंगे एवं मनोरम शिखरोंद्वारा सुशोभित है ॥ ३७ ॥

नानाधातुसमाकीर्णं विविधोपलभूषितम् ।
अस्यारण्यस्य महतः केतुभूतमिवोत्थितम् ॥ ३८ ॥

अनेक प्रकारके धातुओंसे व्याप्त और भाँति-भाँतिके शिला-खण्डोंसे विभूषित है । यह पर्वत इस महान् वनकी ऊपर उठी हुई पताकाके समान जान पड़ता है ॥ ३८ ॥

सिंहशार्दूलमातङ्गवराहर्क्षमृगायुतम् ।
पतत्रिभिर्बहुविधैः समन्तादनुनादितम् ॥ ३९ ॥

यह सिंह, व्याघ्र, हाथी, सूअर, रीछ और मृगोंसे परिपूर्ण है । इसके चारों ओर अनेक प्रकारके पक्षी कलरव कर रहे हैं ॥ ३९ ॥

किंशुकाशोकबकुलपुन्नागैरुपशोभितम् ।
कर्णिकारधवप्लक्षैः सुपुष्पैरुपशोभितम् ॥ ४० ॥

पलाश, अशोक, बकुल, पुन्नाग, कनेर, धव तथा प्लक्ष आदि सुन्दर फूलोंवाले वृक्षोंसे वह पर्वत सुशोभित हो रहा है ॥ ४० ॥

सरिद्भिः सविहङ्गाभिः शिखरैश्च समाकुलम् ।
गिरिराजमिमं तावत् पृच्छामि नृपतिं प्रति ॥ ४१ ॥

यह पर्वत अनेक सरिताओं, सुन्दर पक्षियों और शिखरोंसे परिपूर्ण है । अब मैं इसी गिरिराजसे महाराज नलका समाचार पूछती हूँ ॥ ४१ ॥

भगवन्नचलश्रेष्ठ दिव्यदर्शन विश्रुत ।
त्रायस्व महाकल्याण नमस्तेऽस्तु महीधर ॥ ४२ ॥

'भगवन् ! अचलप्रवर ! दिव्य दृष्टिवाले ! विख्यात ! सबको शरण देनेवाले परम कल्याणमय महीधर ! आपको नमस्कार है ॥ ४२ ॥

प्रणमाम्यभिगम्याहं राजपुत्रीं निबोध माम् ।
राज्ञः स्नुषां राजभार्यां दमयन्तीति विश्रुताम् ॥ ४३॥

'मैं निकट आकर आपके चरणोंमें प्रणाम करती हूँ । आप मेरा परिचय इस प्रकार जानें, मैं राजाकी पुत्री, राजाकी पुत्रवधू तथा राजाकी ही पत्नी हूँ । मेरी 'दमयन्ती' नामसे प्रसिद्धि है ॥ ४३ ॥

राजा विदर्भाधिपतिः पिता मम महारथः ।
भीमो नाम क्षितिपतिश्चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता ॥ ४४॥

'विदर्भदेशके स्वामी महारथी भीम नामक राजा मेरे पिता हैं । वे पृथ्वीके पालक तथा चारों वर्णोंके रक्षक हैं॥

राजसूयाश्वमेधानां क्रतूनां दक्षिणावताम् ।
आहर्ता पार्थिवश्रेष्ठः पृथुचार्वञ्चितेक्षणः ॥ ४५ ॥

'उन्होंने (प्रचुर) दक्षिणावाले राजसूय तथा अश्वमेध नामक यज्ञोंका अनुष्ठान किया है । वे भूमिपालोंमें श्रेष्ठ हैं । उनके नेत्र बड़े, चञ्चल और सुन्दर हैं ॥ ४५ ॥

ब्रह्मण्यः साधुवृत्तश्च सत्यवागनसूयकः ।
शीलवान् वीर्यसम्पन्नः पृथुश्रीर्धर्मविच्छुचिः ॥ ४६ ॥

'वे ब्राह्मणभक्त, सदाचारी, सत्यवादी, किसीके दोषको न देखनेवाले, शीलवान्, पराक्रमी, प्रचुर सम्पत्तिके स्वामी, धर्मज्ञ तथा पवित्र हैं ॥ ४६ ॥

सम्यग् गोप्ता विदर्भाणां निर्जितारिगणः प्रभुः ।
तस्य मां विद्धि तनयां भगवंस्त्वामुपस्थिताम् ॥ ४७ ॥

'वे विदर्भदेशकी जनताका अच्छी तरह पालन करनेवाले हैं । उन्होंने समस्त शत्रुओंको जीत लिया है, वे बड़े शक्तिशाली हैं । भगवन् ! मुझे उन्हींकी पुत्री जानिये । मैं आपकी सेवामें (एक जिज्ञासा लेकर) उपस्थित हुई हूँ ॥ ४७ ॥

निषधेषु महाराजः श्वशुरो मे नरोत्तमः ।
गृहीतनामा विख्यातो वीरसेन इति स्म ह ॥ ४८ ॥

'निषधदेशके महाराज मेरे श्वशुर थे, वे प्रातःस्मरणीय नरश्रेष्ठ वीरसेनके नामसे विख्यात थे ॥ ४८ ॥

तस्य राज्ञः सुतो वीरः श्रीमान् सत्यपराक्रमः ।
क्रमप्राप्तं पितुः स्वं यो राज्यं समनुशास्ति ह॥ ४९ ॥

'उन्हीं महाराज वीरसेनके एक वीर पुत्र हैं, जो बड़े ही सुन्दर और सत्यपराक्रमी हैं । वे वंशपरम्परासे प्राप्त अपने पिताके राज्यका पालन करते हैं ।। ४९ ॥

नलो नामारिहा श्यामः पुण्यश्लोक इति श्रुतः ।
ब्रह्मण्यो वेदविद् वाग्मी पुण्यकृत् सोमपोऽग्निमान्॥५०॥

'उनका नाम नल है । शत्रुदमन, श्यामसुन्दर राजा नल पुण्यश्लोक कहे जाते हैं । वे बड़े ब्राह्मणभक्त, वेदवेत्ता, वक्ता, पुण्यात्मा, सोमपान करनेवाले और अग्निहोत्री हैं ॥ ५० ॥

यष्टा दाता च योद्धा च सम्यक् चैव प्रशासिता ।
तस्य मामबलां श्रेष्ठां विद्धि भार्यामिहागताम् ॥ ५१ ॥
त्यक्तश्रियं भर्तृहीनामनाथां व्यसनान्विताम् ।
अन्वेषमाणां भर्तारं त्वं मां पर्वतसत्तम ॥ ५२ ॥

'वे एक अच्छे यज्ञकर्ता, उत्तम दाता, शूरवीर योद्धा और श्रेष्ठ शासक हैं, आप मुझे उन्हींकी श्रेष्ठ पत्नी समझ लीजिये । मैं अबला नारी आपके निकट यहाँ उन्हींकी कुशल पूछनेके लिये आयी हूँ । गिरिराज ! (मेरे स्वामी मुझे छोड़कर कहीं चले गये हैं) । मैं धन-सम्पत्तिसे वञ्चित, पतिदेवसे रहित, अनाथ और सङ्कटोंकी मारी हुई हूँ । इस वनमें अपने पतिकी ही खोज कर रही हूँ ॥ ५१-५२ ॥

समुल्लिखद्भिरेतैर्हि त्वया शृङ्गशतैर्नृपः ।
कच्चिद् दृष्टोऽचलश्रेष्ठ वनेऽस्मिन् दारुणे नलः ॥ ५३ ॥

'पर्वतश्रेष्ठ ! क्या आपने इन सैकड़ों गगनचुम्बी शिखरोंद्वारा इस भयानक वनमें कहीं राजा नलको देखा है ?॥ ५३ ॥

गजेन्द्रविक्रमो धीमान् दीर्घबाहुरमर्षणः ।
विक्रान्तः सत्त्ववान् वीरो भर्ता मम महायशाः ॥ ५४ ॥
निषधानामधिपतिः कच्चिद् दृष्टस्त्वया नलः ।
विलपतीं किमेकां मां पर्वतश्रेष्ठ विह्वलाम् ॥ ५५ ॥
गिरा नाश्वासयस्यद्य स्वां सुतामिव दुःखिताम् ।

'मेरे महायशस्वी स्वामी निषधराज नल गजराजकी-सी चालसे चलते हैं । वे बड़े बुद्धिमान्, महाबाहु, अमर्षशील (दुःखको न सह सकनेवाले), पराक्रमी, धैर्यवान् तथा वीर हैं । क्या आपने कहीं उन्हें देखा है ? गिरिश्रेष्ठ ! मैं आपकी पुत्रीके समान हूँ और (पतिके वियोगसे बहुत ही) दुखी हूँ । क्या आप व्याकुल होकर अकेली विलाप करती हुई मुझ अबलाको आज अपनी वाणीद्वारा आश्वासन न देंगे ?' ॥ ५४-५५½ ॥

वीर विक्रान्त धर्मज्ञ सत्यसंध महीपते ॥ ५६॥
यद्यस्यस्मिन् वने राजन् दर्शयात्मानमात्मना ।

वीर ! धर्मज्ञ ! सत्यप्रतिज्ञ और पराक्रमी महीपाल ! यदि आप इसी वनमें हैं तो राजन् ! अपने-आपको प्रकट करके मुझे दर्शन दीजिये ॥ ५६½ ॥

कदा सुस्निग्धगम्भीरां जीमूतस्वनसंनिभाम् ॥ ५७॥
श्रोष्यामि नैषधस्याहं वाचंताममृतोपमाम् ।
वैदर्भीत्येव विस्पष्टां शुभां राज्ञो महात्मनः ॥ ५८ ॥
आम्नायसारिणीमृद्धां मम शोकविनाशिनीम् ।

मैं कब निषधराज नलकी मेघ-गर्जनाके समान स्निग्ध,

गम्भीर, अमृतोपम वह मधुर वाणी सुनूँगी। उन महामना राजाके मुखसे 'वैदर्भि !' इस सम्बोधनसे युक्त शुभ, स्पष्ट, वेदके अनुकूल, सुन्दर पद और अर्थसे युक्त तथा मेरे शोकका विनाश करनेवाली वाणी मुझे कब सुनायी देगी ॥५७-५८½॥

भीतामाश्वासयत मां नृपते धर्मवत्सल ॥ ५९ ॥

धर्मवत्सल नरेश्वर ! मुझ भयभीत अबलाको आश्वासन दीजिये ॥ ५९ ॥

इति सा तं गिरिश्रेष्ठमुक्त्वा पार्थिवनन्दिनी।
दमयन्ती ततो भूयो जगाम दिशमुत्तराम् ॥ ६० ॥

इस प्रकार उस श्रेष्ठ पर्वतसे कहकर वह राजकुमारी दमयन्ती फिर वहाँसे उत्तर दिशाकी ओर चल दी ॥ ६० ॥

सा गत्वा त्रीनहोरात्रान् ददर्श परमाङ्गना ।
तापसारण्यमतुलं दिव्यकाननशोभितम् ॥ ६१ ॥

लगातार तीन दिन और तीन रात चलनेके पश्चात् उस श्रेष्ठ नारीने तपस्वियोंसे युक्त एक वन देखा, जो अनुपम तथा दिव्य वनसे सुशोभित था ॥ ६१ ॥

वसिष्ठभृग्वत्रिसमैस्तापसैरुपशोभितम् ।
नियतैः संयताहारैर्दमशौचसमन्वितैः ॥ ६२ ॥

तथा वसिष्ठ, भृगु और अत्रिके समान नियम-परायण, मिताहारी तथा (शम,) दम, शौच आदिसे सम्पन्न तपस्वियोंसे वह शोभायमान हो रहा था ॥ ६२ ॥

अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च पत्राहारैस्तथैव च ।
जितेन्द्रियैर्महाभागैः स्वर्गमार्गदिदृक्षुभिः ॥ ६३ ॥

वहाँ कुछ तपस्वीलोग केवल जल पीकर रहते थे और कुछ लोग वायु पीकर। कितने ही केवल पत्ते चबाकर रहते थे। वे जितेन्द्रिय महाभाग स्वर्गलोकके मार्गका दर्शन करना चाहते थे ॥ ६३ ॥

वल्कलाजिनसंवीतैर्मुनिभिः संयतेन्द्रियैः ।
तापसाध्युषितं रम्यं ददर्शाश्रममण्डलम् ॥ ६४ ॥

वल्कल और मृगचर्म धारण करनेवाले उन जितेन्द्रिय मुनियोंसे सेवित एक रमणीय आश्रममण्डल दिखायी दिया, जिसमें प्रायः तपस्वीलोग ही निवास करते थे ॥ ६४ ॥

नानामृगगणैर्जुष्टं शाखामृगगणायुतम् ।
तापसैः समुपेतं च सा दृष्ट्वैव समाश्वसत् ॥ ६५ ॥

उस आश्रममें नाना प्रकारके मृगों और वानरोंके समुदाय भी विचरते रहते थे। तपस्वी महात्माओंसे भरे हुए उस आश्रमको देखते ही दमयन्तीको बड़ी सान्त्वना मिली ॥६५॥

सुभ्रूः सुकेशी सुश्रोणी सुकुचा सुद्विजानना।
वर्चस्विनी सुप्रतिष्ठा स्वसितायतलोचना ॥ ६६ ॥

उसकी भौंहें बड़ी सुन्दर थीं। केश मनोहर जान पड़ते थे। नितम्बभाग, स्तन, दन्तपंक्ति और मुख सभी सुन्दर थे। उसके मनोहर कजरारे नेत्र विशाल थे। वह तेजस्विनी और प्रतिष्ठित थी ॥ ६६ ॥

सा विवेशाश्रमपदं वीरसेनसुतप्रिया ।
योषिद्रत्नं महाभागा दमयन्ती तपस्विनी ॥ ६७ ॥

महाराज वीरसेनकी पुत्रवधू रमणीशिरोमणि महाभागा तपस्विनी उस दमयन्तीने आश्रमके भीतर प्रवेश किया ॥६७॥

साभिवाद्य तपोवृद्धान् विनयावनता स्थिता ।
स्वागतं त इति प्रोक्ता तैः सर्वैस्तापसोत्तमैः ॥ ६८ ॥

वहाँ तपोवृद्ध महात्माओंको प्रणाम करके वह उनके समीप विनीत भावसे खड़ी हो गयी। तब वहाँके सभी श्रेष्ठ तपस्वीजनोंने उससे कहा—'देवि ! तुम्हारा स्वागत है' ।६८।

पूजां चास्या यथान्यायं कृत्वा तत्र तपोधनाः।
आस्यतामित्यथोचुस्ते ब्रूहि किं करवामहे ॥ ६९ ॥

तदनन्तर वहाँ दमयन्तीका यथोचित आदर-सत्कार करके उन तपोधनोंने कहा—'शुभे ! बैठो, बताओ, हम तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करें' ॥ ६९ ॥

तानुवाच वरारोहा कच्चिद् भगवतामिह ।
तपःस्वग्निषु धर्मेषु मृगपक्षिषु चानघाः ॥ ७० ॥
कुशलं वो महाभागाः स्वधर्माचरणेषु च ।
तैरुक्ता कुशलं भद्रे सर्वत्रेति यशस्विनि ॥ ७१ ॥

उस समय सुन्दर अङ्गोंवाली दमयन्तीने उनसे कहा—'भगवन् ! निष्पाप महाभागगण ! यहाँ तप, अग्निहोत्र, धर्म, मृग और पक्षियोंके पालन तथा अपने धर्मके आचरण आदि विषयोंमें आपलोग सकुशल हैं न ?' तब उन महात्माओंने कहा—'भद्रे ! यशस्विनि ! सर्वत्र कुशल है' ॥ ७०-७१ ॥

ब्रूहि सर्वानवद्याङ्गि का त्वं किं च चिकीर्षसि।
दृष्ट्वैव ते परं रूपं द्युतिं च परमामिह ॥ ७२ ॥
विस्मयो नः समुत्पन्नः समाश्वसिहि मा शुचः।
अस्यारण्यस्य देवी त्वमुताहोऽस्य महीभृतः ॥ ७३ ॥

'सर्वाङ्गसुन्दरी ! बताओ, तुम कौन हो और क्या करना चाहती हो ? तुम्हारे उत्तम रूप और परम सुन्दर कान्तिको यहाँ देखकर हमें बड़ा विस्मय हो रहा है। धैर्य धारण करो, शोक न करो। तुम इस वनकी देवी हो या इस पर्वतकी अधिदेवता ॥ ७२-७३ ॥

अस्याश्च नद्याः कल्याणि वद सत्यमनिन्दिते।
साब्रवीत् तानृषीन् नाहमरण्यस्यास्य देवता ॥ ७४ ॥
न चाप्यस्य गिरेर्विप्रा नैव नद्याश्च देवता ।
मानुषीं मां विजानीत यूयं सर्वे तपोधनाः ॥ ७५ ॥

'अनिन्दिते ! कल्याणि ! अथवा तुम इस नदीकी अधिष्ठात्री देवी हो, सच-सच बताओ ।' दमयन्तीने उन ऋषियोंसे कहा– 'तपस्याके धनी ब्राह्मणो ! न तो मैं इस वनकी देवी हूँ, न पर्वतकी अधिदेवता और न इस नदीकी ही देवी हूँ । आप सब लोग मुझे मानवी समझें ।। ७४-७५ ।।

विस्तरेणाभिधास्यामि तन्मे शृणुत सर्वशः ।
विदर्भेषु महीपालो भीमो नाम महीपतिः ॥ ७६ ॥

'मैं विस्तारपूर्वक अपना परिचय दे रही हूँ, आपलोग सुनें । विदर्भदेशमें भीम नामसे प्रसिद्ध एक भूमिपाल हैं ॥

तस्य मां तनयां सर्वे जानीत द्विजसत्तमाः ।
निषधाधिपतिर्धीमान् नलो नाम महायशाः ॥ ७७ ॥
वीरः संग्रामजिद् विद्वान् मम भर्ता विशाम्पतिः ।
देवताभ्यर्चनपरो द्विजातिजनवत्सलः ॥ ७८ ॥

'द्विजवरो ! आप सब महात्मा जान लें, मैं उन्हीं महाराजकी पुत्री हूँ । निषध देशके स्वामी, संग्रामविजयी, वीर, विद्वान्, बुद्धिमान्, प्रजापालक महायशस्वी राजा नल मेरे पति हैं । वे देवताओंके पूजनमें संलग्न रहते हैं और ब्राह्मणोंके प्रति उनके हृदयमें बड़ा स्नेह है ।। ७७-७८ ।।

गोप्ता निषधवंशस्य महातेजा महाबलः ।
सत्यवान् धर्मवित् प्राज्ञः सत्यसंधोऽरिमर्दनः ॥ ७९ ॥
ब्रह्मण्यो दैवतपरः श्रीमान् परपुरंजयः ।
नलो नाम नृपश्रेष्ठो देवराजसमद्युतिः ॥ ८० ॥
मम भर्ता विशालाक्षः पूर्णेन्दुवदनोऽरिहा ।
आहर्ता क्रतुमुख्यानां वेदवेदाङ्गपारगः ॥ ८१ ॥

'वे निषधकुलके रक्षक, महातेजस्वी, महाबली, सत्यवादी, धर्मज्ञ, विद्वान्, सत्यप्रतिज्ञ, शत्रुमर्दन, ब्राह्मणभक्त, देवोपासक, शोभा और सम्पत्तिसे युक्त तथा शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले हैं । मेरे स्वामी नृपश्रेष्ठ नल देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी हैं । उनके नेत्र विशाल हैं, उनका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान सुन्दर है, वे शत्रुओंका संहार करनेवाले, बड़े-बड़े यज्ञोंके आयोजक और वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् हैं ।। ७९–८१ ।।

सपत्नानां मृधे हन्ता रविसोमसमप्रभः ।
स कैश्चिन्निकृतिप्रज्ञैरनार्यैरकृतात्मभिः ॥ ८२ ॥
आहूय पृथिवीपालः सत्यधर्मपरायणः ।
देवने कुशलैर्जिह्मैर्हृतं राज्यं वसूनि च ॥ ८३ ॥

'युद्धमें उन्होंने कितने ही शत्रुओंका संहार किया है । वे सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी और कान्तिमान् हैं । एक दिन कुछ कपटकुशल, अजितेन्द्रिय, अनार्य, कुटिल तथा द्यूतनिपुण जुआरिओंने उन सत्यधर्मपरायण महाराज नलको जूएके लिये आवाहन करके उनके सारे राज्य और धनका अपहरण कर लिया ।। ८२-८३ ।।

तस्य मामवगच्छध्वं भार्यां राजर्षभस्य वै ।
दमयन्तीति विख्यातां भर्तुर्दर्शनलालसाम् ॥ ८४ ॥

'आप दमयन्ती नामसे विख्यात मुझे उन्हीं नृपश्रेष्ठ नलकी पत्नी जानें । मैंअपने स्वामीके दर्शनके लिये उत्सुक हो रही हूँ ।।

सा वनानि गिरींश्चैव सरांसि सरितस्तथा ।
पल्वलानि च सर्वाणि तथारण्यानि सर्वशः ॥ ८५ ॥
अन्वेषमाणा भर्तारं नलं रणविशारदम् ।
महात्मानं कृतास्त्रं च विचरामीह दुःखिता ॥ ८६ ॥

'मेरे पति महामना नल युद्धकलामें कुशल और सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वान् हैं । मैं उन्हींकी खोज करती हुई वन, पर्वत, सरोवर, नदी, गड्ढे और सभी जंगलोंमें दुखी होकर घूमती हूँ ।। ८५-८६ ।।

कच्चिद् भगवतां रम्यं तपोवनमिदं नृपः ।
भवेत् प्राप्तो नलो नाम निषधानां जनाधिपः ॥ ८७ ॥
यत्कृतेऽहमिदं ब्रह्मन् प्रपन्ना भृशदारुणम् ।
वनं प्रतिभयं घोरं शार्दूलमृगसेवितम् ॥ ८८ ॥

'भगवन् ! क्या आपके इस रमणीय तपोवनमें निषधनरेश नल आये थे ? ब्रह्मन् ! जिनके लिये मैं व्याघ्र, सिंह आदि पशुओंसे सेवित अत्यन्त दारुण, भयंकर, घोर वनमें आयी हूँ ।। ८७-८८ ।।

यदि कैश्चिदहोरात्रैर्न द्रक्ष्यामि नलं नृपम् ।
आत्मानं श्रेयसा योक्ष्ये देहस्यास्य विमोचनात् ॥ ८९ ॥

'यदि कुछ ही दिन-रातमें मैं राजा नलको नहीं देखूँगी तो इस शरीरका परित्याग करके आत्माका कल्याण करूँगी ।।

को नु मे जीवितेनार्थस्तमृते पुरुषर्षभम् ।
कथं भविष्याम्यद्याहं भर्तृशोकाभिपीडिता ॥ ९० ॥

'उन पुरुषरत्न नलके बिना जीवन धारण करनेसे मेरा क्या प्रयोजन है ? अब मैं पतिशोकसे पीडित होकर न जाने कैसी हो जाऊँगी ?' ।। ९० ।।

तथा विलपतीमेकामरण्ये भीमनन्दिनीम् ।
दमयन्तीमथोचुस्ते तापसाः सत्यदर्शिनः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार वनमें अकेली विलाप करती हुई भीमनन्दिनी दमयन्तीसे सत्यका दर्शन करनेवाले उन तपस्वियोंने कहा–।।

उदर्कस्तव कल्याणि कल्याणो भविता शुभे ।
वयं पश्याम तपसा क्षिप्रं द्रक्ष्यसि नैषधम् ॥ ९२ ॥

'कल्याणि ! शुभे ! हम अपने तपोबलसे देख रहे हैं, तुम्हारा भविष्य परम कल्याणमय होगा । तुम शीघ्र ही निषधनरेश नलका दर्शन प्राप्त करोगी ।। ९२ ।।

निषधानामधिपतिं नलं रिपुनिपातिनम् ।
भैमि धर्मभृतां श्रेष्ठं द्रक्ष्यसे विगतज्वरम् ॥ ९३ ॥

'भीमकुमारी ! तुम शत्रुओंका संहार करनेवाले निषध देशके अधिपति और धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ राजा नलको सब प्रकारकी चिन्ताओंसे रहित देखोगी ॥ ९३ ॥

विमुक्तं सर्वपापेभ्यः सर्वरत्नसमन्वितम् ।
तदेव नगरं श्रेष्ठं प्रशासतमरिंदमम् ॥ ९४ ॥
द्विषतां भयकर्तारं सुहृदां शोकनाशनम् ।
पतिं द्रक्ष्यसि कल्याणि कल्याणाभिजनं नृपम् ॥ ९५ ॥

'तुम्हारे पति सब प्रकारके पापजनित दुःखोंसे मुक्त और सम्पूर्ण रत्नोंसे सम्पन्न होंगे । शत्रुदमन राजा नल फिर उसी श्रेष्ठ नगरका शासन करेंगे । वे शत्रुओंके लिये भयदायक और सुहृदोंके लिये शोकका नाश करनेवाले होंगे । कल्याणि ! इस प्रकार सत्कुलमें उत्पन्न अपने पतिको तुम (नरेशके पदपर प्रतिष्ठित) देखोगी' ॥ ९४-९५ ॥

एवमुक्त्वा नलस्येष्टां महिषीं पार्थिवात्मजाम् ।
अन्तर्हितास्तापसास्ते साग्निहोत्राश्रमास्तथा ॥ ९६ ॥

नलकी प्रियतमा महारानी राजकुमारी दमयन्तीसे ऐसा कहकर वे सभी तपस्वी अग्निहोत्र और आश्रमसहित अदृश्य हो गये ॥ ९६ ॥

सा दृष्ट्वा महदाश्चर्यं विस्मिता ह्यभवत् तदा ।
दमयन्त्यनवद्याङ्गी वीरसेननृपस्नुषा ॥ ९७ ॥

उस समय राजा वीरसेनकी पुत्रवधू सर्वाङ्गसुन्दरी दमयन्ती वह महान् आश्चर्यकी बात देखकर बड़े विस्मयमें पड़ गयी । ९७ ।

किं नु स्वप्नो मया दृष्टः कोऽयं विधिरिहाभवत् ।
क्व नु ते तापसाः सर्वे क्व तदाश्रममण्डलम् ॥ ९८ ॥

(उसने सोचा—)'क्या मैंने कोई स्वप्न देखा है ? यहाँ यह कैसी अद्भुत घटना हो गयी ? वे सब तपस्वी कहाँ चले गये और वह आश्रममण्डल कहाँ है ? ॥ ९८ ॥

क्व सा पुण्यजला रम्या नदी द्विजनिषेविता ।
क्व नु ते ह नगा हृद्याः फलपुष्पोपशोभिताः ॥ ९९ ॥

'वह पुण्यसलिला रमणीय नदी, जिसपर पक्षी निवास कर रहे थे, कहाँ चली गयी ? फल और फूलोंसे सुशोभित वे मनोरम वृक्ष कहाँ विलीन हो गये' ॥ ९९ ॥

ध्यात्वा चिरं भीमसुता दमयन्ती शुचिस्मिता ।
भर्तृशोकपरा दीना विवर्णवदनाभवत् ॥१००॥

पवित्र मुसकानवाली भीमपुत्री दमयन्ती बहुत देरतक इन सब बातोंपर विचार करती रही । तत्पश्चात् वह पति-शोक-परायण और दीन हो गयी तथा उसके मुखपर उदासी छा गयी ॥ १०० ॥

सा गत्वाथापरां भूमिं बाष्पसंदिग्धया गिरा ।
विललापाश्रुपूर्णाक्षी दृष्ट्वाशोकतरुं ततः ॥१०१॥
उपगम्य तरुश्रेष्ठमशोकं पुष्पितं वने ।
पल्लवापीडितं हृद्यं विहङ्गैरनुनादितम् ॥१०२॥

तदनन्तर वह दूसरे स्थानपर जाकर अश्रुगद्गद वाणीसे विलाप करने लगी । उसने आँसू भरे नेत्रोंसे देखा, वहाँसे कुछ ही दूरपर एक अशोकका वृक्ष था । दमयन्ती उसके पास गयी । वह तरुवर अशोक फूलोंसे भरा था । उस वनमें पल्लवोंसे लदा हुआ और पक्षियोंके कलरवोंसे गुञ्जायमान वह वृक्ष बड़ा ही मनोरम जान पड़ता था ॥ १०१-१०२ ॥

अहो बतायमगमः श्रीमानस्मिन् वनान्तरे ।
आपीडैर्बहुभिर्भाति श्रीमान् पर्वतराडिव ॥१०३॥

(उसे देखकर वह मन-ही-मन कहने लगी—) 'अहो ! इस वनके भीतर यह अशोक बड़ा ही सुन्दर है । यह अनेक प्रकारके फल, फूल आदि अलङ्कारोंसे अलंकृत सुन्दर गिरि-राजकी भाँति सुशोभित हो रहा है' ॥ १०३ ॥

विशोकां कुरु मां क्षिप्रमशोक प्रियदर्शन ।
वीतशोकभयाबाधं कच्चित् त्वं दृष्टवान् नृपम् ॥१०४॥
नलं नामारिदमनं दमयन्त्याः प्रियं पतिम् ।
निषधानामधिपतिं दृष्टवानसि मे प्रियम् ॥१०५॥

(अब उसने अशोकसे कहा—) 'प्रियदर्शन अशोक ! तुम शीघ्र ही मेरा शोक दूर कर दो । क्या तुमने शोक, भय और बाधासे रहित शत्रुदमन राजा नलको देखा है ? क्या मेरे प्रियतम, दमयन्तीके प्राणवल्लभ, निषधनरेश नलपर तुम्हारी दृष्टि पड़ी है ? ॥ १०४-१०५ ॥

एकवस्त्रार्धसंवीतं सुकुमारतनुत्वचम् ।
व्यसनेनार्दितं वीरमरण्यमिदमागतम् ॥१०६॥

'उन्होंने एक साड़ीके आधे टुकड़ेसे अपने शरीरको ढँक रक्खा है, उनके अङ्गोंकी त्वचा बड़ी सुकुमार है । वे वीरवर नल भारी संकटसे पीडित होकर इस वनमें आये हैं ॥

यथा विशोका गच्छेयमशोकनग तत् कुरु ।
सत्यनामा भवाशोक अशोकः शोकनाशनः ॥१०७॥

'अशोक वृक्ष ! तुम ऐसा करो, जिससे मैं यहाँसे शोक-रहित होकर जाऊँ । अशोक उसे कहते हैं, जो शोकका नाश करनेवाला हो, अतः अशोक ! तुम अपने नामको सत्य एवं सार्थक करो' ॥ १०७ ॥

एवं साशोकवृक्षं तमार्ता वै परिगम्य ह ।
जगाम दारुणतरं देशं भैमी वराङ्गना ॥१०८॥

इस प्रकार शोकार्त हुई सुन्दरी दमयन्ती उस अशोक वृक्षकी परिक्रमा करके वहाँसे अत्यन्त भयंकर स्थानकी ओर गयी ॥

सा ददर्श नगान् नैकान् नैकांश्च सरितस्तथा ।
नैकांश्च पर्वतान् रम्यान् नैकांश्च मृगपक्षिणः ॥१०९॥

कन्दरांश्च नितम्बांश्च नदीश्चाद्भुतदर्शनाः ।
ददर्श तान् भीमसुता पतिमन्वेषती तदा ॥११०॥

गत्वा प्रकृष्टमध्वानं दमयन्ती शुचिस्मिता ।
ददर्शाथ महासार्थं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ॥१११॥

उत्तरन्तं नदीं रम्यां प्रसन्नसलिलां शुभाम् ।
सुशीततोयां विस्तीर्णां ह्रदिनीं वेतसैर्वृताम् ॥११२॥

उसने अनेक प्रकारके वृक्ष, अनेकानेक सरिताओं, बहुसंख्यक रमणीय पर्वतों, अनेक मृग-पक्षियों, पर्वतकी कन्दराओं तथा उनके मध्य भागों और अद्भुत नदियोंको देखा। पतिका अन्वेषण करनेवाली दमयन्तीने उस समय पूर्वोक्त सभी वस्तुओंको देखा। इस तरह बहुत दूरतकका मार्ग तय कर लेनेके बाद पवित्र मुसकानवाली दमयन्तीने एक बहुत बड़े सार्थ (व्यापारियोंके दल) को देखा, जो हाथी, घोड़े तथा रथसे व्याप्त था। वह व्यापारियोंका समूह स्वच्छ जलसे सुशोभित एक सुन्दर रमणीय नदीको पार कर रहा था। नदीका जल बहुत ठंडा था। उसका पाट चौड़ा था। उसमें कई कुण्ड थे और वह किनारेपर उगे हुए बेंतके वृक्षोंसे आच्छादित हो रही थी ॥

प्रोद्घुष्टां क्रौञ्चकुररैश्च क्रवाकोपकूजिताम् ।
कूर्मग्राहझषाकीर्णां विपुलद्वीपशोभिताम् ॥११३॥

उसके तटपर क्रौञ्च, कुरर और चक्रवाक आदि पक्षी कूज रहे थे। कछुए, मगर और मछलियोंसे भरी हुई वह नदी विस्तृत टापूसे सुशोभित हो रही थी ॥ ११३ ॥

सा दृष्ट्वैव महासार्थं नलपत्नी यशस्विनी ।
उपसर्प्य वरारोहा जनमध्यं विवेश ह ॥११४॥

उस बहुत बड़े समूहको देखते ही यशस्विनी नलपत्नी सुन्दरी दमयन्ती उसके पास पहुँच कर लोगोंकी भीड़में घुस गयी ॥

उन्मत्तरूपा शोकार्ता तथा वस्त्रार्धसंवृता ।
कृशा विवर्णा मलिना पांसुध्वस्तशिरोरुहा ॥११५॥

उसका रूप उन्मत्त स्त्रीका-सा जान पड़ता था, वह शोकसे पीडित, दुर्बल, उदास और मलिन हो रही थी। उसने आधे वस्त्रसे अपने शरीरको ढक रखा था और उसके केशोंपर धूल जम गयी थी ॥ ११५ ॥

तां दृष्ट्वा तत्र मनुजाः केचिद् भीताः प्रदुद्रुवुः ।
केचिच्चिन्तापरा जग्मुः केचित् तत्र विचुक्रुशुः ॥११६॥

वहाँ दमयन्तीको सहसा देखकर कितने ही मनुष्य भयसे भाग खड़े हुए। कोई-कोई भारी चिन्तामें पड़ गये और कुछ लोग तो चीखने-चिल्लाने लगे ॥ ११६ ॥

प्रहसन्ति स्म तां केचिदभ्यसूयन्ति चापरे ।
अकुर्वत दयां केचित् पप्रच्छुश्चापि भारत ॥११७॥

कुछ लोग उसकी हँसी उड़ाते थे और कुछ उसमें दोष देख रहे थे। भारत! उन्हींमें कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्हें उसपर दया आ गयी और उन्होंने उसका समाचार पूछा—॥

कासि कस्यासि कल्याणि किं वा मृगयसे वने ।
त्वां दृष्ट्वा व्यथिताः स्मेह कच्चित् त्वमसि मानुषी ॥११८॥

'कल्याणि! तुम कौन हो? किसकी स्त्री हो और इस वनमें क्या खोज रही हो? तुम्हें देखकर हम बहुत दुखी हैं। क्या तुम मानवी हो?॥ ११८ ॥

वद सत्यं वनस्यास्य पर्वतस्याथवा दिशः ।
देवता त्वं हि कल्याणि त्वां वयं शरणं गताः ॥११९॥

'कल्याणि! सच बताओ, तुम इस वन, पर्वत अथवा दिशाकी अधिष्ठात्री देवी तो नहीं हो? हम सब लोग तुम्हारी शरणमें आये हैं ॥ ११९ ॥

यक्षी वा राक्षसी वा त्वमुताहोऽसि वराङ्गना ।
सर्वथा कुरु नः स्वस्ति रक्ष चास्माननिन्दिते ॥१२०॥

यथायं सर्वथा सार्थः क्षेमी शीघ्रमितो व्रजेत् ।
तथा विधत्स्व कल्याणि यथा श्रेयो हि नो भवेत् ॥१२१॥

'तुम यक्षी हो या राक्षसी अथवा कोई श्रेष्ठ देवाङ्गना हो? अनिन्दिते! सर्वथा हमारा कल्याण एवं संरक्षण करो। कल्याणी! यह हमारा समूह शीघ्र कुशलपूर्वक यहाँसे चला जाय और हमलोगोंका सब प्रकारसे भला हो, ऐसी कृपा करो' ॥

तथोक्ता तेन सार्थेन दमयन्ती नृपात्मजा ।
प्रत्युवाच ततः साध्वी भर्तृव्यसनपीडिता ॥१२२॥

उस यात्रीदलके द्वारा जब ऐसी बात कही गयी, तब पतिके वियोगजनित दुःखसे पीड़ित साध्वी राजकुमारी दमयन्तीने उन सबको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १२२ ॥

सार्थवाहं च सार्थं च जना ये चात्र केचन ।
युवस्थविरबालाश्च सार्थस्य च पुरोगमाः ॥१२३॥

मानुषीं मां विजानीत मनुजाधिपतेः सुताम् ।
नृपस्नुषां राजभार्यां भर्तृदर्शनलालसाम् ॥१२४॥

'इस जनसमुदायके जो सरदार हों, उनसे, इस जनसमूहसे तथा इसके (भीतर रहनेवाले और) आगे चलनेवाले जो बाल-वृद्ध और युवक मनुष्य हों, उन सबसे मेरा यह कहना है कि आप सब लोग मुझे मानवी समझें। मैं एक नरेशपुत्री, महाराजकी पुत्रवधू तथा राजपत्नी हूँ। अपने स्वामीके दर्शनकी इच्छासे इस वनमें भटक रही हूँ १२३-१२४

विदर्भराण्मम पिता भर्ता राजा च नैषधः ।
नलो नाम महाभागस्तं मृगयाम्यपराजितम् ॥१२५॥

'विदर्भराज भीम मेरे पिता हैं, निषधनरेश महाभाग राजा नल मेरे पति हैं। मैं उन्हीं अपराजित वीर नलकी खोज कर रही हूँ ॥ १२५ ॥

यदि जानीत नृपतिं क्षिप्रं शंसत मे प्रियम् ।
नलं पुरुषशार्दूलममित्रगणसूदनम् ॥१२६॥

'यदि आपलोग शत्रुसमूहका संहार करनेवाले मेरे प्रियतम पुरुषसिंह महाराज नलके विषयमें कुछ जानते हों तो शीघ्र बतावें' ॥ १२६ ॥

तामुवाचानवद्याङ्गीं सार्थस्य महतः प्रभुः ।
सार्थवाहः शुचिर्नाम शृणु कल्याणि मद्वचः ॥१२७॥

उस महान् समूहका मालिक और समस्त यात्रीदलका संचालक (वणिक्) शुचिनामसे प्रसिद्ध था । उसने उस सुन्दरीसे कहा—'कल्याणि ! मेरी बात सुनो ॥ १२७ ॥

अहं सार्थस्य नेता वै सार्थवाहः शुचिस्मिते ।
मनुष्यं नलनामानं न पश्यामि यशस्विनि ॥१२८॥

'शुचिस्मिते ! मैं इस दलका नेता और संचालक हूँ । यशस्विनि ! मैंने नल नामधारी किसी मनुष्यको इस वनमें नहीं देखा है ॥ १२८ ॥

कुञ्जरद्वीपिमहिषशार्दूलर्क्षमृगानपि ।
पश्याम्यस्मिन् वने कृत्स्ने ह्यमनुष्यनिषेविते ॥१२९॥

'यह सम्पूर्ण वन मनुष्येतर प्राणियोंसे भरा है । इसके भीतर हाथियों, चीतों, भैंसों, सिंहों, रीछों और मृगोंको ही मैं देखता आ रहा हूँ ॥ १२९ ॥

ऋते त्वां मानुषीं मर्त्यं न पश्यामि महावने ।
तथा नो यक्षराडद्य मणिभद्रः प्रसीदतु ॥१३०॥

'तुम-जैसी मानव-कन्याके सिवा और किसी मनुष्यको मैं इस विशाल वनमें नहीं देख रहा हूँ । इसलिये यक्षराज मणिभद्र आज हमपर प्रसन्न हों' ॥ १३० ॥

साब्रवीद् वणिजः सर्वान् सार्थवाहं च तं ततः ।
क नु यास्यति सार्थोऽयमेतदाख्यातुमर्हसि ॥१३१॥

तब दमयन्तीने उन सब व्यापारियों तथा दलके संचालकसे कहा—'आपका यह दल कहाँ जायगा ? यह मुझे बताइये' ॥ १३१ ॥

सार्थवाह उवाच

सार्थोऽयं चेदिराजस्य सुबाहोः सत्यदर्शिनः ।
क्षिप्रं जनपदं गन्ता लाभाय मनुजात्मजे ॥१३२॥

सार्थवाहने कहा—राजकुमारी ! हमारा यह दल शीघ्र ही सत्यदर्शी चेदिराज सुबाहुके जनपद (नगर) में विशेष लाभके उद्देश्यसे जायगा ॥ १३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीसार्थवाहसंगमे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्तीकी सार्थवाहसे भेंटविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

जंगली हाथियोंद्वारा व्यापारियोंके दलका सर्वनाश तथा दुःखित दमयन्तीका चेदिराजके भवनमें सुखपूर्वक निवास

बृहदश्व उवाच

सा तच्छ्रुत्वानवद्याङ्गी सार्थवाहवचस्तदा ।
जगाम सह तेनैव सार्थेन पतिलालसा ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! दलके संचालककी वह बात सुनकर निर्दोष एवं सुन्दर अङ्गोंवाली दमयन्ती पतिदेवके दर्शनके लिये उत्सुक हो व्यापारियोंके उस दलके साथ ही यात्रा करने लगी ॥ १ ॥

अथ काले बहुतिथे वने महति दारुणे ।
तडागं सर्वतोभद्रं पद्मसौगन्धिकं महत् ॥ २ ॥
ददृशुर्वणिजो रम्यं प्रभूतयवसेन्धनम् ।
बहुपुष्पफलोपेतं नानापक्षिनिषेवितम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर बहुत समयके बाद एक भयंकर विशाल वनमें पहुँचकर उन व्यापारियोंने एक महान् सरोवर देखा, जिसका नाम था, पद्म-सौगन्धिक । वह सब ओरसे कल्याणप्रद जान पड़ता था । उस रमणीय सरोवरके पास घास और ईन्धनकी अधिकता थी, फूल और फल भी वहाँ प्रचुरमात्रामें उपलब्ध होते थे । उस तालाबपर बहुत-से पक्षी निवास करते थे ॥ २-३ ॥

निर्मलस्वादुसलिलं मनोहारि सुशीतलम् ।
सुपरिश्रान्तवाहास्ते निवेशाय मनो दधुः ॥ ४ ॥

सरोवरका जल स्वच्छ और स्वादु था, वह देखनेमें बड़ा ही मनोहर और अत्यन्त शीतल था । व्यापारियोंके वाहन बहुत थक गये थे । इसलिये उन्होंने वहीं पड़ाव डालनेका निश्चय किया ॥ ४ ॥

सम्मते सार्थवाहस्य विविशुर्वनमुत्तमम् ।
उवास सार्थः सुमहान् वेलामासाद्य पश्चिमाम् ॥५॥

समूहके अधिपतिसे अनुमति लेकर सब लोगोंने उस उत्तम वनमें प्रवेश किया और वह महान् जनसमुदाय सरोवरके पश्चिम तटपर ठहर गया ॥ ५ ॥

अथार्धरात्रसमये निःशब्दस्तिमिते तदा ।
सुप्ते सार्थे परिश्रान्ते हस्तियूथमुपागमत् ॥ ६ ॥
पानीयार्थं गिरिनदीं मदप्रस्रवणाविलाम् ।
अथापश्यत सार्थं तं सार्थजान् सुबहून् गजान् ॥७॥

तत्पश्चात् आधी रातके समय जब कहींसे भी कोई शब्द सुनायी नहीं देता था और उस दलके सभी लोग थककर सो गये थे, उस समय गजराजोंके मदकी धारासे मलिन जलवाली पहाड़ी नदीमें पानी पीनेके लिये (जंगली) हाथियोंका एक झुंड आ निकला । उस झुंडने व्यापारियोंके सोये हुए दलको और उसके साथ आये हुए बहुत-से हाथियोंको भी देखा ॥ ६-७ ॥

ते तान् ग्राम्यगजान् दृष्ट्वा सर्वे वनगजास्तदा ।
समाद्रवन्त वेगेन जिघांसन्तो मदोत्कटाः ॥ ८ ॥

तब वनमें रहनेवाले उन सभी मदोन्मत्त गजोंने उन ग्रामीण हाथियोंको देखकर उन्हें मार डालनेकी इच्छासे उनपर वेगपूर्वक आक्रमण किया ॥ ८ ॥

तेषामापततां वेगः करिणां दुःसहोऽभवत् ।
नगाग्रादिव शीर्णानां शृङ्गाणां पततां क्षितौ ॥ ९ ॥

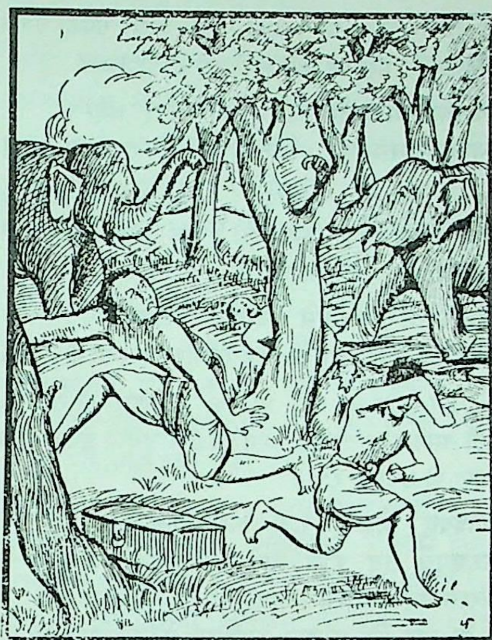
पर्वतकी चोटीसे टूटकर पृथ्वीपर गिरनेवाले बड़े-बड़े शिखरोंके समान उन आक्रमणकारी जंगली हाथियोंका वेग (उस यात्रीदलके लिये) अत्यन्त दुःसह था ॥ ९ ॥

स्पन्दतामपि नागानां मार्गा नष्टा वनोद्भवाः ।
मार्गं संरुध्य संसुप्तं पद्मिन्याः सार्थमुत्तमम् ॥१०॥

ग्रामीण हाथियोंपर आक्रमण करनेकी चेष्टावाले उन वनवासी गजराजोंके वन्य मार्ग अवरुद्ध हो गये थे । सरोवरके तटपर व्यापारियोंका महान् समुदाय उनका मार्ग रोककर सो रहा था ॥ १० ॥

ते तं ममर्दुः सहसा चेष्टमानं महीतले ।
हाहाकारं प्रमुञ्चन्तः सार्थिकाः शरणार्थिनः ॥ ११ ॥
वनगुल्मांश्च धावन्तो निद्रान्धा बहवोऽभवन् ।
केचिद् दन्तैः करैः केचित् केचित् पद्भ्यां हता गजैः ॥

उन हाथियोंने सहसा पहुँचकर समूचे दलको कुचल दिया । कितने ही मनुष्य धरतीपर पड़े-पड़े छटपटा रहे थे । उस दलके कितने ही पुरुष हाहाकार करते हुए बचावकी जगह खोजते हुए जंगलके पौधोंके समूहमें भाग गये । बहुत-से मनुष्य तो नींदके मारे अन्धे हो रहे थे । हाथियोंने किन्हींको दाँतोंसे, किन्हींको सूड़ोंसे और कितनोंको पैरोंसे घायल कर दिया ॥ ११-१२ ॥



निहतोष्ट्राश्वबहुलाः पदातिजनसंकुलाः ।
भयादाधावमानाश्च परस्परहतास्तदा ॥ १३ ॥
घोरान् नादान् विमुञ्चन्तो निपेतुर्धरणीतले ।
वृक्षेष्वारुह्य संरब्धाः पतिता विषमेषु च ॥ १४ ॥

उनके बहुत-से ऊँट और घोड़े मारे गये और उस समुदायमें बहुत-से पैदल लोग भी थे । वे सब लोग उस समय भय से चारों ओर भागते हुए एक दूसरेसे टकराकर चोट खा जाते थे । घोर आर्तनाद करते हुए सभी लोग धरतीपर गिरने लगे । कुछ लोग बड़े वेगसे वृक्षोंपर चढ़ते हुए नीचेकी विषम भूमियोंपर गिर पड़ते थे ॥ १३-१४ ॥

एवं प्रकारैर्बहुभिर्दैवेनाक्रम्य हस्तिभिः ।
राजन् विनिहतं सर्वं समृद्धं सार्थमण्डलम् ॥ १५ ॥

राजन् ! इस प्रकार दैववश बहुतेरे जंगली हाथियोंने आक्रमण करके (प्रायः) उस सम्पूर्ण समृद्धिशाली व्यापारियोंके समुदाय-को नष्ट कर दिया ॥ १५ ॥

आरावः सुमहांश्चासीत् त्रैलोक्यभयकारकः ।
एषोऽग्निरुत्थितः कष्टस्त्रायध्वं धावताधुना ॥ १६ ॥
रत्नराशिर्विशीर्णोऽयं गृह्णीध्वं किं प्रधावत ।

उस समय वहाँ तीनों लोकोंको भयमें डालनेवाला महान् आर्तनाद एवं चीत्कार हो रहा था । कोई कहता—'अरे ! इधर बड़े जोरकी आग प्रज्वलित हो उठी है । यह भारी संकट आ गया (अब) दौड़ो और बचाओ ।' दूसरा कहता—'अरे ! ये ढेर-के-ढेर रत्न बिखरे पड़े हैं, इन्हें सम्हालकर रक्खो । इधर-उधर भागते क्यों हो ?' ॥ १६½ ॥

सामान्यमेतद् द्रविणं न मिथ्यावचनं मम ॥ १७ ॥

तीसरा कहता था—'भाई ! इस धनपर सबका समान अधिकार है, मेरी यह बात झूठी नहीं है' ॥ १७ ॥

एवमेवाभिभाषन्तो विद्रवन्ति भयात् तदा ।
पुनरेवाभिधास्यामि चिन्तयध्वं सुकातराः ॥ १८ ॥

कोई कहता—'ऐ कायरो ! मैं फिर तुमसे बात करूँगा, अभी अपनी रक्षाकी चिन्ता करो ।' इस तरहकी बातें करते हुए सब लोग भयसे भाग रहे थे ॥ १८ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने दारुणे जनसंक्षये ।
दमयन्ती च बुबुधे भयसंत्रस्तमानसा ॥ १९ ॥

इस प्रकार जब वहाँ भयानक नर-संहार हो रहा था, उसी समय दमयन्ती भी जाग उठी । उसका हृदय भयसे संत्रस्त हो उठा ॥ १९ ॥

अपश्यद् वैशसं तत्र सर्वलोकभयंकरम् ।
अदृष्टपूर्वं तद् दृष्ट्वा बाला पद्मनिभेक्षणा ॥ २० ॥
संसक्तवदनाश्वासा उत्तस्थौ भयविह्वला ।
ये तु तत्र विनिर्मुक्ताः सार्थात् केचिदविक्षताः ॥
तेऽब्रुवन् सहिताः सर्वे कस्येदं कर्मणः फलम् ।
नूनं न पूजितोऽस्माभिर्मणिभद्रो महायशाः ॥ २२ ॥
तथा यक्षाधिपः श्रीमान् न वै वैश्रवणः प्रभुः ।
न पूजा विघ्नकर्तॄणामथवा प्रथमं कृता ॥ २३ ॥
शकुनानां फलं वाथ विपरीतमिदं ध्रुवम् ।
ग्रहा न विपरीतास्तु किमन्यदिदमागतम् ॥ २४ ॥

वहाँ उसने वह महासंहार अपनी आँखों देखा, जो सब लोगोंके लिये भयंकर था । उसने ऐसी दुर्घटना पहले कभी नहीं देखी थी । वह सब देखकर वह कमलनयनी बाला भयसे व्याकुल हो उठी । उसको कहींसे कोई सान्त्वना नहीं मिल रही थी । वह इस प्रकार स्तब्ध हो रही थी, मानो धरतीसे सट गयी हो । तदनन्तर वह किसी प्रकार उठकर खड़ी हुई । दलके जो लोग उस संकटसे मुक्त हो आघातसे बचे हुए थे, वे सब एकत्र हो कहने लगे कि 'यह हमारे किस कर्मका फल है ? निश्चय ही हमने महायशस्वी मणिभद्रका पूजन नहीं किया है । इसी प्रकार हमने श्रीमान् यक्षराज कुबेरकी भी पूजा नहीं की है अथवा विघ्नकर्ता विनायकोंकी भी पहले पूजा नहीं कर ली थी । अथवा हमने पहले जो-जो शकुन देखे थे, उसका यह विपरीत फल है । यदि हमारे ग्रह विपरीत न होते तो और किस हेतुसे यह संकट हमारे ऊपर कैसे आ सकता था ?' ॥ २०—२४ ॥

अपरे त्वब्रुवन् दीना ज्ञातिद्रव्यविनाकृताः ।
यासावद्य महासार्थे नारी ह्युन्मत्तदर्शना ॥२५॥
प्रविष्टा विकृताकारा कृत्वा रूपममानुषम् ।
तयेयं विहिता पूर्वं माया परमदारुणा ॥२६॥

दूसरे लोग जो अपने कुटुम्बीजनों और धनके विनाशसे दीन हो रहे थे, वे इस प्रकार कहने लगे—'आज हमारे विशाल जनसमूहके साथ वह जो उन्मत्त-जैसी दिखायी देनेवाली नारी आ गयी थी, वह विकराल आकारवाली राक्षसी थी तो भी अलौकिक सुन्दर रूप धारण करके हमारे दलमें घुस गयी थी । उसीने पहलेसे ही यह अत्यन्त भयंकर माया फैला रक्खी थी ॥ २५-२६ ॥

राक्षसी वा ध्रुवं यक्षी पिशाची वा भयंकरी ।
तस्याः सर्वमिदं पापं नात्र कार्या विचारणा ॥२७॥
पश्यामो यदि तां पापां सार्थघ्नीं नैकदुःखदाम् ।
लोष्टभिः पांसुभिश्चैव तृणैः काष्ठैश्च मुष्टिभिः ॥२८॥
अवश्यमेव हन्यामः सार्थस्य किल कृत्यकाम् ।

'निश्चय ही वह राक्षसी, यक्षी अथवा भयंकर पिशाची थी—इसमें विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि यह सारा पापपूर्ण कृत्य उसीका किया हुआ है । उसने हमें अनेक प्रकारका दुःख दिया और प्रायः सारे दलका विनाश कर डाला । वह पापिनी समूचे सार्थके लिये अवश्य ही कृत्या बनकर आयी थी । यदि हम उसे देख लेंगे तो ढेलोंसे, धूल और तिनकोंसे, लकड़ियों और मुक्कोंसे भी अवश्य मार डालेंगे ॥ २७-२८½ ॥

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा वाक्यं तेषां सुदारुणम् ॥२९॥
ह्रीता भीता च संविग्ना प्राद्रवद् यत्र काननम् ।
आशङ्कमाना तत्पापमात्मानं पर्यदेवयत् ॥३०॥

उनका वह अत्यन्त भयंकर वचन सुनकर दमयन्ती लज्जासे गड़ गयी और भयसे व्याकुल हो उठी । उनके पापपूर्ण संकल्पके संघटित होनेकी आशङ्का करके वह उसी ओर भाग गयी, जहाँ घना जंगल था । वहाँ जाकर अपनी इस परिस्थितिपर विचार करके वह विलाप करने लगी—॥ २९-३० ॥

अहो ममोपरि विधेः संरम्भो दारुणो महान् ।
नानुबध्नाति कुशलं कस्येदं कर्मणः फलम् ॥३१॥

'अहो ! मुझपर विधाताका अत्यन्त भयानक और महान् कोप है, जिससे मुझे कहीं भी कुशल-क्षेमकी प्राप्ति नहीं होती । न जाने, यह हमारे किस कर्मका फल है ? ॥ ३१ ॥

न स्मराम्यशुभं किंचित् कृतं कस्यचिदण्वपि ।
कर्मणा मनसा वाचा कस्येदं कर्मणः फलम् ॥३२॥

'मैंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी किसीका थोड़ा-सा भी अमङ्गल किया हो, इसकी याद नहीं आती, फिर यह मेरे किस कर्मका फल मिल रहा है ? ॥ ३२ ॥

नूनं जन्मान्तरकृतं पापमापतितं महत् ।
अपश्चिमामिमां कष्टामापदं प्राप्तवत्यहम् ॥३३॥

'निश्चय ही यह मेरे दूसरे जन्मोंके किये हुए पापका महान् फल प्राप्त हुआ है, जिससे मैं इस अनन्त कष्टमें पड़ गयी हूँ ॥ ३३ ॥

भर्तृराज्यापहरणं स्वजनाच्च पराजयः।
भर्त्रा सह वियोगश्च तनयाभ्यां च विच्युतिः ॥३४॥

'मेरे स्वामीके राज्यका अपहरण हुआ, उन्हें आत्मीय-जनसे ही पराजित होना पड़ा, मेरा अपने पतिदेवसे वियोग हुआ और अपनी संतानोंके दर्शनसे भी वञ्चित हो गयी हूँ। ३४

निर्नाथता वने वासो बहुव्यालनिषेविते ।

'इतना ही नहीं, असंख्य सर्प आदि जन्तुओंसे भरे हुए इस वनमें मुझे अनाथकी-सी दशामें रहना पड़ता है, ॥ ३४½॥

अथापरेद्युः सम्प्राप्ते हतशिष्टा जनास्तदा ॥३५॥
देशात् तस्माद् विनिष्क्रम्य शोचन्ते वैशसं कृतम् ।
भ्रातरं पितरं पुत्रं सखायं च नराधिप ॥३६॥

तदनन्तर दूसरा दिन प्रारम्भ होनेपर मरनेसे बचे हुए लोग उस स्थानसे निकलकर उस विकट संहारके लिये शोक करने लगे। राजन्! कोई भाईके लिये दुखी था, कोई पिताके लिये; किसीको पुत्रका शोक था और किसीको मित्रका ॥ ३५-३६ ॥

अशोचत् तत्र वैदर्भी किं नु मे दुष्कृतं कृतम् ।
योऽपि मे निर्जनेऽरण्ये सम्प्राप्तोऽयं जनार्णवः ॥३७॥
स हतो हस्तियूथेन मन्दभाग्यान्ममैव तत् ।
प्राप्तव्यं सुचिरं दुःखं नूनमद्यापि वै मया ॥३८॥

विदर्भराजकुमारी दमयन्ती भी इसके लिये शोक करने लगी कि 'मैंने कौन-सा पाप किया है, जिससे इस निर्जन वनमें मुझे जो यह समुद्रके समान जनसमुदाय प्राप्त हो गया था, वह भी मेरे ही दुर्भाग्यसे हाथियोंके झुंडद्वारा मारा गया। निश्चय ही मुझे अभी दीर्घकालतक दुःख-ही-दुःख भोगना है ॥ ३७-३८ ॥

नाप्राप्तकालो म्रियते श्रुतं वृद्धानुशासनम् ।
या नाहमद्य मृदिता हस्तियूथेन दुःखिता ॥३९॥

'जिसकी मृत्युका समय नहीं आया है, वह इच्छा होते हुए भी मर नहीं सकता। वृद्ध पुरुषोंका यह जो उपदेश मैंने सुन रक्खा है, यह ठीक ही जान पड़ता है, तभी तो आज मैं दुःखित होनेपर भी हाथियोंके झुंडसे कुचलकर मर न सकी। ३९

न ह्यदैवकृतं किंचिन्नराणामिह विद्यते ।
न च मे बालभावेऽपि किंचित् पापकृतं कृतम् ॥४०॥
कर्मणा मनसा वाचा यदिदं दुःखमागतम् ।

मनुष्योंको इस जगत्‌में कोई भी सुख या दुःख ऐसा नहीं मिलता, जो विधाताका दिया हुआ न हो। मैंने बचपनमें भी मन, वाणी अथवा क्रियाद्वारा ऐसा पाप नहीं किया है, जिससे मुझे यह दुःख प्राप्त होता ॥ ४०½ ॥

मन्ये स्वयंवरकृते लोकपालाः समागताः ॥४१॥
प्रत्याख्याता मया तत्र नलस्यार्थाय देवताः ।
नूनं तेषां प्रभावेण वियोगं प्राप्तवत्यहम् ॥४२॥
एवमादीनि दुःखार्ता सा विलप्य वराङ्गना ।
प्रलापानि तदा तानि दमयन्ती पतिव्रता ॥४३॥

'मैं समझती हूँ, स्वयंवरके लिये जो लोकपाल देवगण पधारे थे, नलके कारण मैंने उनका तिरस्कार कर दिया था। अवश्य उन्हीं देवताओंके प्रभावसे आज मुझे वियोगका कष्ट प्राप्त हुआ है।' इस प्रकार दुःखसे आतुर हुई सुन्दरी पतिव्रता दमयन्तीने उस समय अनेक प्रकारसे विलाप एवं प्रलाप किये ॥ ४१–४३ ॥

हतशेषैः सह तदा ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
अगच्छद् राजशार्दूल चन्द्रलेखेव शारदी ॥४४॥
गच्छन्ती साचिराद् बाला पुरमासादयन्महत् ।
सायाह्ने चेदिराजस्य सुबाहोः सत्यदर्शिनः ॥४५॥

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर मरनेसे बचे हुए वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंके साथ यात्रा करती हुई शरत्कालके चन्द्रमाकी कलाके समान वह सुन्दरी युवती थोड़े ही समयमें संध्या होते-होते सत्यदर्शी चेदिराज सुबाहुकी राजधानीमें जा पहुँची ॥ ४४-४५ ॥

अथ वस्त्रार्धसंवीता प्रविवेश पुरोत्तमम् ।
तां विह्वलां कृशां दीनां मुक्तकेशीममार्जिताम् ॥४६॥

शरीरमें आधी साड़ीको लपेटे हुए ही उसने उस उत्तम नगरमें प्रवेश किया। वह विह्वल, दीन और दुर्बल हो रही थी। उसके सिरके बाल खुले हुए थे। उसने स्नान नहीं किया था ॥ ४६ ॥

उन्मत्तामिव गच्छन्तीं ददृशुः पुरवासिनः ।
प्रविशन्तीं तु तां दृष्ट्वा चेदिराजपुरीं तदा ॥४७॥
अनुजग्मुस्तत्र बाला ग्रामिपुत्राः कुतूहलात् ।
सा तैः परिवृतागच्छत् समीपं राजवेश्मनः ॥४८॥

पुरवासियोंने उसे उन्मत्ताकी भाँति जाते देखा। चेदिनरेश-की राजधानीमें उसे प्रवेश करते देख उस समय बहुत-से ग्रामीण बालक कौतूहलवश उसके साथ हो लिये थे। उनसे घिरी हुई दमयन्ती राजमहलके समीप गयी ॥ ४७-४८ ॥

तां प्रासादगतापश्यद् राजमाता जनैर्वृताम् ।
धात्रीमुवाच गच्छैनामानयेह ममान्तिकम् ॥४९॥

उस समय राजमाताने उसे महलपरसे देखा। वह जनसाधारणसे घिरी हुई थी। राजमाताने धायसे कहा—'जाओ, इस युवतीको मेरे पास ले आओ ॥ ४९ ॥

जनेन क्लिश्यते बाला दुःखिता शरणार्थिनी।
तादृग् रूपं च पश्यामि विद्योतयति मे गृहम् ॥५०॥

'इसे लोग तंग कर रहे हैं। यह दुःखिनी युवती कोई आश्रय चाहती है। मुझे इसका रूप ऐसा दिखायी देता है, जो मेरे घरको प्रकाशित कर देगा ॥ ५० ॥

उन्मत्तवेषा कल्याणी श्रीरिवायतलोचना।
सा जनं वारयित्वा तं प्रासादतलमुत्तमम् ॥५१॥
आरोप्य विस्मिता राजन् दमयन्तीमपृच्छत।
एवमप्यसुखाविष्टा बिभर्षि परमं वपुः ॥५२॥

'इसका वेष तो उन्मत्तके समान है, परंतु यह विशाल-नेत्रोंवाली युवती कल्याणमयी लक्ष्मीके समान जान पड़ती है।' धाय उन सब लोगोंको हटाकर उसे उत्तम राजमहलकी अट्टालिकापर चढ़ा ले आयी। राजन्! तत्पश्चात् विस्मित होकर राजमाताने दमयन्तीसे पूछा—'अहो! तुम इस प्रकार दुःखसे दबी होनेपर भी इतना सुन्दर रूप कैसे धारण करती हो?॥५१-५२॥



भासि विद्युदिवाभ्रेषु शंस मे कासि कस्य वा।
न हि ते मानुषं रूपं भूषणैरपि वर्जितम् ॥५३॥
असहाया नरेभ्यश्च नोद्विजस्यमरप्रभे।

'मेघमालामें प्रकाशित होनेवाली बिजलीकी भाँति तुम इस दुःखमें भी कैसी तेजस्विनी दिखायी देती हो। मुझसे बताओ, तुम कौन हो? किसकी स्त्री हो? यद्यपि तुम्हारे शरीरपर कोई आभूषण नहीं है तो भी तुम्हारा यह रूप मानव-जगत्का नहीं जान पड़ता। देवताकी-सी दिव्य कान्ति धारण करनेवाली वत्से! तुम असहाय-अवस्थामें होकर भी लोगोंसे डरती क्यों नहीं हो?' ॥ ५३ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्या भैमी वचनमब्रवीत् ॥५४॥

उसकी वह बात सुनकर भीमकुमारीने कहा—॥ ५४ ॥

मानुषीं मां विजानीहि भर्तारं समनुव्रताम्।
सैरन्ध्रीजातिसम्पन्नां भुजिष्यां कामवासिनीम् ॥५५॥

'माताजी! आप मुझे मानव-कन्या ही समझिये। मैं अपने पतिके चरणोंमें अनुराग रखनेवाली एक नारी हूँ। मेरी अन्तःपुरमें काम करनेवाली सैरन्ध्री जाति है। मैं सेविका हूँ और जहाँ इच्छा होती है, वहीं रहती हूँ ॥ ५५ ॥

फलमूलाशनामेकां यत्रसायंप्रतिश्रयाम्।
असंख्येयगुणो भर्ता मां च नित्यमनुव्रतः ॥५६॥

'मैं अकेली हूँ, फल-मूल खाकर जीवन-निर्वाह करती हूँ और जहाँ साँझ होती है, वहीं टिक जाती हूँ। मेरे स्वामीमें असंख्य गुण हैं, उनका मेरे प्रति सदा अत्यन्त अनुराग है ॥ ५६ ॥

भक्ताहमपि तं वीरं छायेवानुगता पथि।
तस्य दैवात् प्रसङ्गोऽभूदतिमात्रं सुदेवने ॥५७॥

'जैसे छाया राह चलनेवाले पथिकके पीछे-पीछे चलती है, उसी प्रकार मैं भी अपने वीर पतिदेवमें भक्तिभाव रखकर सदा उन्हींका अनुसरण करती हूँ। दुर्भाग्यवश एक दिन मेरे पतिदेव जूआ खेलनेमें अत्यन्त आसक्त हो गये ॥

द्यूते स निर्जितश्चैव वनमेक उपेयिवान्।
तमेकवसनं वीरमुन्मत्तमिव विह्वलम् ॥५८॥
आश्वासयन्ती भर्तारमहमप्यगमं वनम्।
स कदाचिद् वने वीरः कस्मिंश्चित् कारणान्तरे॥ ५९ ॥

'और उसीमें अपना सब कुछ हारकर वे अकेले ही वनकी ओर चल दिये। एक वस्त्र धारण किये उन्मत्त और विह्वल हुए अपने वीर स्वामीको सान्त्वना देती हुई मैं भी उनके साथ वनमें चली आयी। एक दिनकी बात है, मेरे वीर स्वामी किसी कारणवश वनमें गये ॥ ५८-५९ ॥

क्षुत्परीतस्तु विमनास्तदप्येकं व्यसर्जयत्।
तमेकवसना नग्नमुन्मत्तवदचेतसम् ॥ ६० ॥
अनुव्रजन्ती बहुला न स्वपामि निशास्तदा।
ततो बहुतिथे काले सुप्तामुत्सृज्य मां क्वचित्॥ ६१ ॥
वाससोऽर्धं परिच्छिद्य त्यक्तवान् मामनागसम्।
तं मार्गमाणा भर्तारं दह्यमाना दिवानिशम् ॥ ६२ ॥

'उस समय वे भूखसे पीड़ित और अनमने हो रहे थे। अतः उन्होंने अपने उस एक वस्त्रको भी कहीं वनमें ही छोड़ दिया। मेरे शरीरपर भी एक ही वस्त्र था। वे नग्न, उन्मत्त-जैसे और अचेत हो रहे थे। उसी दशामें सदा उनका अनुसरण करती हुई अनेक रात्रियोंतक कभी सो

न सकी। तदनन्तर बहुत समयके पश्चात् एक दिन जब मैं सो गयी थी, उन्होंने मेरी आधी साड़ी फाड़ ली और मुझ निरपराधिनी पत्नीको वहीं छोड़कर वे कहीं चल दिये। मैं दिन-रात वियोगाग्निमें जलती हुई निरन्तर उन्हीं पतिदेवको ढूँढ़ती फिरती हूँ ॥ ६०–६२ ॥

साहं कमलगर्भाभमपश्यन्ती हृदि प्रियम्।
न विन्दाम्यमरप्रख्यं प्रियं प्राणेश्वरं प्रभुम् ॥ ६३ ॥

'मेरे प्रियतमकी कान्ति कमलके भीतरी भागके समान है। वे देवताओंके समान तेजस्वी, मेरे प्राणोंके स्वामी और शक्तिशाली हैं। बहुत खोजनेपर भी मैं अपने प्रियको न तो देख सकी हूँ और न उनका पता ही पा रही हूँ' ॥६३॥

तामश्रुपरिपूर्णाक्षीं विलपन्तीं तथा बहु।
राजमाताब्रवीदार्ता भैमीमार्तस्वरां स्वयम् ॥ ६४ ॥
वसस्व मयि कल्याणि प्रीतिर्मे परमा त्वयि।
मृगयिष्यन्ति ते भद्रे भर्तारं पुरुषा मम ॥ ६५ ॥

भीमकुमारी दमयन्तीके नेत्रोंमें आँसू भरे हुए थे एवं वह आर्तस्वरसे बहुत विलाप कर रही थी। राजमाता स्वयं भी उसके दुःखसे दुखी हो बोली—'कल्याणि! तुम मेरे पास रहो। तुमपर मेरा बहुत प्रेम है। भद्रे! मेरे सेवक तुम्हारे पतिकी खोज करेंगे ॥ ६४-६५ ॥

अपि वा स्वयमागच्छेत् परिधावन्नितस्ततः।
इहैव वसती भद्रे भर्तारमुपलप्स्यसे ॥ ६६ ॥

'अथवा यह भी सम्भव है, वे इधर-उधर भटकते हुए स्वयं ही इधर आ निकलें। भद्रे! तुम यहीं रहकर अपने पतिको प्राप्त कर लोगी' ॥ ६६ ॥

राजमातुर्वचः श्रुत्वा दमयन्ती वचोऽब्रवीत्।
समयेनोत्सहे वस्तुं त्वयि वीरप्रजायिनि ॥ ६७ ॥

राजमाताकी यह बात सुनकर दमयन्तीने कहा—'वीरमातः! मैं एक नियमके साथ आपके यहाँ रह सकती हूँ ॥

उच्छिष्टं नैव भुञ्जीयां न कुर्यां पादधावनम्।
न चाहं पुरुषानन्यान् प्रभाषेयं कथंचन ॥ ६८ ॥

'मैं किसीका जूठा नहीं खाऊँगी, किसीके पैर नहीं धोऊँगी और किसी भी दूसरे पुरुषसे किसी तरह भी वार्तालाप नहीं करूँगी ॥ ६८ ॥

प्रार्थयेद् यदि मां कश्चिद् दण्ड्यस्ते स पुमान् भवेत्।
वध्यश्च तेऽसकृन्मन्द इति मे व्रतमाहितम् ॥ ६९ ॥

'यदि कोई पुरुष मुझे प्राप्त करना चाहे तो वह आपके द्वारा दण्डनीय हो और बार-बार ऐसे अपराध करनेवाले मूढ़को आप प्राणदण्ड भी दें, यही मेरा निश्चित व्रत है ॥

भर्तुरन्वेषणार्थं तु पश्येयं ब्राह्मणानहम्।
यद्येवमिह वत्स्यामि त्वत्सकाशे न संशयः ॥ ७० ॥

'मैं अपने पतिकी खोजके लिये केवल ब्राह्मणोंसे मिल सकती हूँ। यदि यहाँ ऐसी व्यवस्था हो सके तो निश्चय ही आपके निकट निवास करूँगी। इसमें संशय नहीं है ॥ ७० ॥

अतोऽन्यथा न मे वासो वर्तते हृदये क्वचित्।
तां प्रहृष्टेन मनसा राजमातेदमब्रवीत् ॥ ७१ ॥

'यदि इसके विपरीत कोई बात हो तो कहीं भी रहनेका मेरे मनमें संकल्प नहीं हो सकता।' यह सुनकर राजमाता प्रसन्नचित्त होकर उससे बोली—॥ ७१ ॥

सर्वमेतत् करिष्यामि दिष्ट्या ते व्रतमीदृशम्।
एवमुक्त्वा ततो भैमीं राजमाता विशाम्पते ॥ ७२ ॥
उवाचेदं दुहितरं सुनन्दां नाम भारत।
सैरन्ध्रीमभिजानीष्व सुनन्दे देवरूपिणीम् ॥ ७३ ॥

'बेटी! मैं यह सब करूँगी। सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा व्रत ऐसा उत्तम है।' राजा युधिष्ठिर! दमयन्तीसे ऐसा कहकर राजमाता अपनी पुत्री सुनन्दासे बोली—'सुनन्दे! इस सैरन्ध्रीको तुम देवीस्वरूपा समझो ॥ ७२-७३ ॥

वयसा तुल्यतां प्राप्ता सखी तव भवत्वियम्।
एतया सह मोदस्व निरुद्विग्नमनाः सदा ॥ ७४ ॥

'यह अवस्थामें तुम्हारे समान है, अतः तुम्हारी सखी होकर रहे। तुम इसके साथ सदा प्रसन्नचित्त एवं आनन्दमग्न रहो' ॥ ७४ ॥

ततः परमसंहृष्टा सुनन्दा गृहमागमत्।
दमयन्तीमुपादाय सखीभिः परिवारिता ॥ ७५ ॥

तब सखियोंसे घिरी हुई सुनन्दा अत्यन्त हर्षोल्लासमें भरकर दमयन्तीको साथ ले अपने भवनमें आयी ॥ ७५ ॥

स तत्र पूज्यमाना वै दमयन्ती व्यनन्दत।
सर्वकामैः सुविहितैर्निरुद्वेगावसत् तदा ॥ ७६ ॥

सुनन्दा दमयन्तीके इच्छानुसार सब प्रकारकी व्यवस्था करके उसे बड़े आदर-सत्कारके साथ रखने लगी। इससे दमयन्तीको बड़ी प्रसन्नता हुई और वह वहाँ उद्वेगरहित हो रहने लगी ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीचेदिराजगृहवासे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्तीका चेदिराजके भवनमें निवासविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

राजा नलके द्वारा दावानलसे कर्कोटक नागकी रक्षा तथा नागद्वारा नलको आश्वासन

बृहदश्व उवाच

उत्सृज्य दमयन्तीं तु नलो राजा विशाम्पते।
ददर्श दावं दह्यन्तं महान्तं गहने वने॥ १॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! दमयन्तीको छोड़कर जब राजा नल आगे बढ़ गये, तब एक गहन वनमें उन्होंने महान् दावानल प्रज्वलित होते देखा॥ १॥

तत्र शुश्राव शब्दं वै मध्ये भूतस्य कस्यचित्।
अभिधाव नलेत्युच्चैः पुण्यश्लोकेति चासकृत्॥ २॥
मा भैरिति नलश्चोक्त्वा मध्यमग्नेः प्रविश्य तम्।
ददर्श नागराजानं शयानं कुण्डलीकृतम्॥ ३॥

उसीके बीचमें उन्हें किसी प्राणीका यह शब्द सुनायी पड़ा—'पुण्यश्लोक महाराज नल! दौड़िये, मुझे बचाइये।' उच्चस्वरसे बार-बार दुहरायी गयी इस वाणीको सुनकर राजा नलने कहा—'डरो मत'। इतना कहकर वे आगके भीतर घुस गये। वहाँ उन्होंने देखा, एक नागराज कुण्डलाकार पड़ा हुआ सो रहा है॥ २-३॥

स नागः प्राञ्जलिर्भूत्वा वेपमानो नलं तदा।
उवाच मां विद्धि राजन् नागं कर्कोटकं नृप॥ ४॥
मया प्रलब्धो ब्रह्मर्षिर्नारदः सुमहातपाः।
तेन मन्युपरीतेन शप्तोऽस्मि मनुजाधिप॥ ५॥
तिष्ठ त्वं स्थावर इव यावदेव नलः क्वचित्।
इतो नेता हि तत्र त्वं शापान्मोक्ष्यसि मत्कृतात्॥ ६॥

उस नागने हाथ जोड़कर काँपते हुए नलसे उस समय इस प्रकार कहा—'राजन्! मुझे कर्कोटक नाग समझिये। नरेश्वर! एक दिन मेरेद्वारा महातपस्वी ब्रह्मर्षि नारद ठगे गये, अतः मनुजेश्वर! उन्होंने क्रोधसे आविष्ट होकर मुझे शाप दे दिया—'तुम स्थावर वृक्षकी भाँति एक जगह पड़े रहो, जब कभी राजा नल आकर तुम्हें यहाँसे अन्यत्र ले जायँगे, तभी तुम मेरे शापसे छुटकारा पा सकोगे'॥ ४—६॥

तस्य शापान्न शक्तोऽस्मि पदाद् विचलितुं पदम्।
उपदेक्ष्यामि ते श्रेयस्त्रातुमर्हति मां भवान्॥ ७॥

'राजन्! नारदजीके उस शापसे मैं एक पग भी चल नहीं सकता; आप मुझे बचाइये, मैं आपको कल्याणकारी उपदेश दूँगा॥ ७॥

सखा च ते भविष्यामि मत्समो नास्ति पन्नगः।
लघुश्च ते भविष्यामि शीघ्रमादाय गच्छ माम्॥ ८॥

'साथ ही मैं आपका मित्र हो जाऊँगा। सर्पोंमें मेरे-जैसा प्रभावशाली दूसरा कोई नहीं है। मैं आपके लिये हल्का हो जाऊँगा। आप शीघ्र मुझे लेकर यहाँसे चल दीजिये'॥ ८॥

एवमुक्त्वा स नागेन्द्रो बभूवाङ्गुष्ठमात्रकः।
तं गृहीत्वा नलः प्रायाद् देशं दावविवर्जितम्॥ ९॥

इतना कहकर नागराज कर्कोटक अँगूठेके बराबर हो गया। उसे लेकर राजा नल वनके उस प्रदेशकी ओर चले गये, जहाँ दावानल नहीं था॥ ९॥

आकाशदेशमासाद्य विमुक्तं कृष्णवर्त्मना।
उत्स्रष्टुकामं तं नागः पुनः कर्कोटकोऽब्रवीत्॥ १०॥

अग्निके प्रभावसे रहित अवकाश देशमें पहुँचनेपर जब नलने उस नागको छोड़नेका विचार किया, उस समय कर्कोटकने फिर कहा—॥ १०॥

पदानि गणयन् गच्छ स्वानि नैषध कानिचित्।
तत्र तेऽहं महाबाहो श्रेयो धास्यामि यत् परम्॥ ११॥

'नैषध! आप अपने कुछ पैंड गिनते हुए चलिये। महाबाहो! ऐसा करनेपर मैं आपके लिये परम कल्याणका साधन करूँगा'॥ ११॥

ततः संख्यातुमारब्धमदशद् दशमे पदे।
तस्य दष्टस्य तद् रूपं क्षिप्रमन्तरधीयत॥ १२॥

तब राजा नलने अपने पैंड गिनने आरम्भ किये। पैंड गिनते-गिनते जब राजा नलने 'दश' कहा, तब नागने उन्हें डँस लिया। उसके डँसते ही उनका पहला रूप तत्काल अन्तर्हित (होकर श्याम वर्ण) हो गया॥ १२॥

स दृष्ट्वा विस्मितस्तस्थावात्मानं विकृतं नलः।
स्वरूपधारिणं नागं ददर्श स महीपतिः॥ १३॥

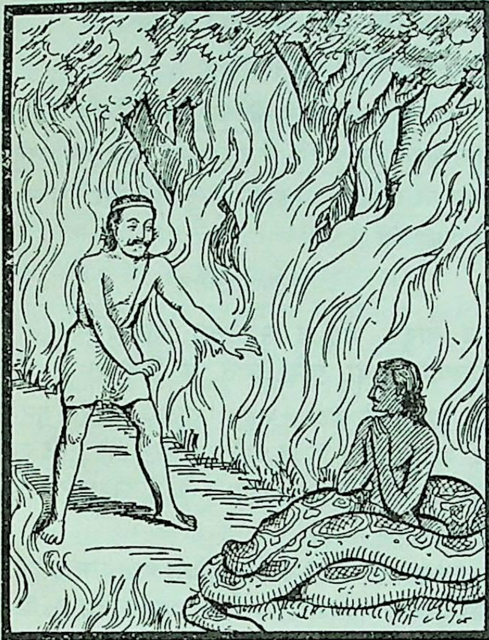
अपने रूपको इस प्रकार विकृत (गौरवर्णसे श्यामवर्ण) हुआ देख राजा नलको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने अपने पूर्वस्वरूपको धारण करके खड़े हुए कर्कोटक नागको देखा॥

ततः कर्कोटको नागः सान्त्वयन् नलमब्रवीत्।
मया तेऽन्तर्हितं रूपं न त्वां विद्युर्जना इति॥ १४॥

तब कर्कोटक नागने राजा नलको सान्त्वना देते हुए कहा—'राजन्! मैंने आपके पहले रूपको इसलिये अदृश्य कर दिया है कि लोग आपको पहचान न सकें॥ १४॥

यत्कृते चासि निकृतो दुःखेन महता नल।
विषेण स मदीयेन त्वयि दुःखं निवत्स्यति॥ १५॥

'महाराज नल ! जिस कलियुगके कपटसे आपको महान्



दुःखका सामना करना पड़ा है, वह मेरे विषसे दग्ध होकर आपके भीतर बड़े कष्टसे निवास करेगा ॥ १५ ॥

विषेण संवृतैर्गात्रैर्यावत् त्वां न विमोक्ष्यति ।
तावत् त्वयि महाराज दुःखं वै स निवत्स्यति ॥ १६ ॥

'कलियुगके सारे अङ्ग मेरे विषसे व्याप्त हो जायँगे । महाराज ! वह जबतक आपको छोड़ नहीं देगा, तबतक आपके भीतर बड़े दुःखसे निवास करेगा ॥ १६ ॥

अनागा येन निकृतस्त्वमनर्हो जनाधिप ।
क्रोधादसूययित्वा तं रक्षा मे भवतः कृता ॥ १७ ॥

'नरेश्वर ! आप छल-कपटद्वारा सताये जाने योग्य नहीं थे, तो भी जिसने बिना किसी अपराधके आपके साथ कपटका व्यवहार किया है, उसीके प्रति क्रोधसे दोषदृष्टि रखकर मैंने आपकी रक्षा की है ॥ १७ ॥

न ते भयं नरव्याघ्र दंष्ट्रिभ्यः शत्रुतोऽपि वा ।
ब्रह्मविद्भ्यश्च भविता मत्प्रसादान्नराधिप ॥ १८ ॥

'नरव्याघ्र महाराज ! मेरे प्रसादसे आपको दाढ़ोंवाले जन्तुओं और शत्रुओंसे तथा वेदवेत्ताओंके शाप आदिसे भी कभी भय नहीं होगा ॥ १८ ॥

राजन् विषनिमित्ता च न ते पीडा भविष्यति ।
संग्रामेषु च राजेन्द्र शश्वज्जयमवाप्स्यसि ॥ १९ ॥

'राजन् ! आपको विषजनित पीड़ा कभी नहीं होगी । राजेन्द्र ! आप युद्धमें भी सदा विजय प्राप्त करेंगे ॥ १९ ॥

गच्छ राजन्नितः सूतो बाहुकोऽहमिति ब्रुवन् ।
समीपमृतुपर्णस्य स हि चैवाक्षनैपुणः ॥ २० ॥

'राजन् ! अब आप यहाँसे अपनेको बाहुक नामक सूत बताते हुए राजा ऋतुपर्णके समीप जाइये । वे द्यूत-विद्यामें बड़े निपुण हैं ॥ २० ॥

अयोध्यां नगरीं रम्यामद्य वै निषधेश्वर ।
स तेऽक्षहृदयं दाता राजाश्वहृदयेन वै ॥ २१ ॥
इक्ष्वाकुकुलजः श्रीमान् मित्रं चैव भविष्यति ।
भविष्यसि यदाक्षज्ञः श्रेयसा योक्ष्यसे तदा ॥ २२ ॥

'निषधेश्वर ! आप आज ही रमणीय अयोध्यापुरीको चले जाइये । इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न श्रीमान् राजा ऋतुपर्ण आपसे अश्वविद्याका रहस्य सीखकर बदलेमें आपको द्यूत-क्रीड़ाका रहस्य बतलायेंगे और आपके मित्र भी हो जायँगे । जब आप द्यूतविद्याके ज्ञाता होंगे, तब पुनः कल्याण-भागी हो जायँगे ॥ २१-२२ ॥

समेष्यसि दारैस्त्वं मा स्म शोके मनः कृथाः ।
राज्येन तनयाभ्यां च सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २३ ॥

'मैं सच कहता हूँ, आप एक ही साथ अपनी पत्नी, दोनों संतानों तथा राज्यको प्राप्त कर लेंगे; अतः अपने मनमें चिन्ता न कीजिये ॥ २३ ॥

स्वं रूपं च यदा द्रष्टुमिच्छेथास्त्वं नराधिप ।
संस्मर्तव्यस्तदा तेऽहं वासश्चेदं निवासयेः ॥ २४ ॥

'नरेश्वर ! जब आप अपने (पहलेवाले) रूपको देखना चाहें, उस समय मेरा स्मरण करें और इस कपड़ेको ओढ़ लें ॥

अनेन वाससाच्छन्नः स्वं रूपं प्रतिपत्स्यसे ।
इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै दिव्यं वासोयुगं तदा ॥ २५ ॥

'इस वस्त्रसे आच्छादित होते ही आप अपना पहला रूप प्राप्त कर लेंगे ।' ऐसा कहकर नागने उन्हें दो दिव्य वस्त्र प्रदान किये ॥ २५ ॥

एवं नलं च संदिश्य वासो दत्त्वा च कौरव ।
नागराजस्ततो राजंस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ २६ ॥

कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! इस प्रकार राजा नलको संदेश और वस्त्र देकर नागराज कर्कोटक वहीं अन्तर्धान हो गया ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकर्कोटकसंवादे षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलकर्कोटकसंवादविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६६॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

राजा नलका ऋतुपर्णके यहाँ अश्वाध्यक्षके पदपर नियुक्त होना और वहाँ दमयन्तीके लिये निरन्तर चिन्तित रहना तथा उनकी जीवलसे बातचीत

बृहदश्व उवाच

तस्मिन्नन्तर्हिते नागे प्रययौ नैषधो नलः।
ऋतुपर्णस्य नगरं प्राविशद् दशमेऽहनि ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—कर्कोटक नागके अन्तर्धान हो जानेपर निषधनरेश नलने दसवें दिन राजा ऋतुपर्णके नगरमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

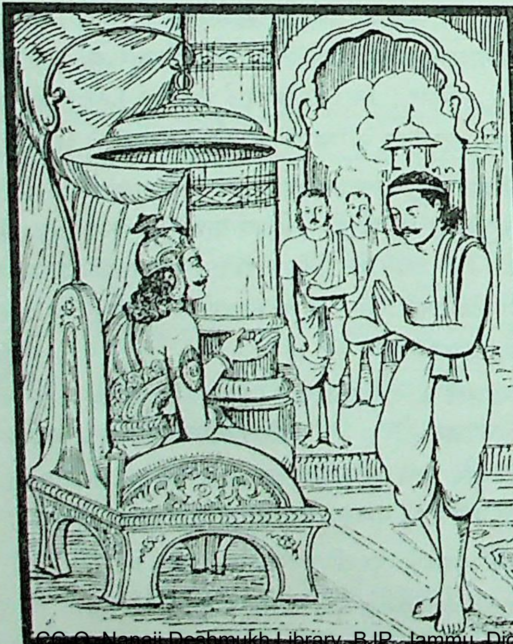
स राजानमुपातिष्ठद् बाहुकोऽहमिति ब्रुवन्।
अश्वानां वाहने युक्तः पृथिव्यां नास्ति मत्समः ॥ २ ॥

वे बाहुक नामसे अपना परिचय देते हुए राजा ऋतुपर्णके यहाँ उपस्थित हुए और बोले—'घोड़ोंको हाँकनेकी कलामें इस पृथ्वीपर मेरे समान दूसरा कोई नहीं है ॥ २ ॥

अर्थकृच्छ्रेषु चैवाहं प्रष्टव्यो नैपुणेषु च।
अन्नसंस्कारमपि च जानाम्यन्यैर्विशेषतः ॥ ३ ॥

'मैं इन दिनों अर्थसंकटमें हूँ। आपको किसी भी कलाकी निपुणताके विषयमें सलाह लेनी हो, तो मुझसे पूछ सकते हैं। अन्न-संस्कार (भाँति-भाँतिकी रसोई बनानेका कार्य) भी मैं दूसरोंकी अपेक्षा विशेष जानता हूँ ॥ ३ ॥

यानि शिल्पानि लोकेऽस्मिन् यच्चैवान्यत् सुदुष्करम्।
सर्वं यतिष्ये तत् कर्तुमृतुपर्ण भरस्व माम् ॥ ४ ॥



'इस जगत्‌में जितनी भी शिल्पकलाएँ हैं तथा दूसरे भी जो अत्यन्त कठिन कार्य हैं, मैं उन सबको अच्छी तरह करनेका प्रयत्न कर सकता हूँ। महाराज ऋतुपर्ण! आप मेरा भरण-पोषण कीजिये' ॥ ४ ॥

ऋतुपर्ण उवाच

वस बाहुक भद्रं ते सर्वमेतत् करिष्यसि।
शीघ्रयाने सदा बुद्धिर्ध्रियते मे विशेषतः ॥ ५ ॥

ऋतुपर्णने कहा—बाहुक! तुम्हारा भला हो। तुम मेरे यहाँ निवास करो। ये सब कार्य तुम्हें करने होंगे। मेरे मनमें सदा यही विचार विशेषतः रहता है कि मैं शीघ्रतापूर्वक कहीं भी पहुँच सकूँ ॥ ५ ॥

स त्वमातिष्ठ योगं तं येन शीघ्रा हया मम।
भवेयुरश्वाध्यक्षोऽसि वेतनं ते शतं शतम् ॥ ६ ॥

अतः तुम ऐसा उपाय करो, जिससे मेरे घोड़े शीघ्रगामी हो जायँ। आजसे तुम हमारे अश्वाध्यक्ष हो। दस हजार मुद्राएँ तुम्हारा वार्षिक वेतन है ॥ ६ ॥

त्वामुपस्थास्यतश्चैव नित्यं वार्ष्णेयजीवलौ।
एताभ्यां रंस्यसे सार्धं वस वै मयि बाहुक ॥ ७ ॥

वार्ष्णेय और जीवल—ये दोनों सारथि तुम्हारी सेवामें रहेंगे। बाहुक! इन दोनोंके साथ तुम बड़े सुखसे रहोगे। तुम मेरे यहाँ रहो ॥ ७ ॥

बृहदश्व उवाच

एवमुक्तो नलस्तेन न्यवसत् तत्र पूजितः।
ऋतुपर्णस्य नगरे सहवार्ष्णेयजीवलः ॥ ८ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! राजाके ऐसा कहनेपर नल वार्ष्णेय और जीवलके साथ सम्मानपूर्वक ऋतुपर्णके नगरमें निवास करने लगे ॥ ८ ॥

स वै तत्रावसद् राजा वैदर्भीमनुचिन्तयन्।
सायं सायं सदा चेमं श्लोकमेकं जगाद ह ॥ ९ ॥

वे दमयन्तीका निरन्तर चिन्तन करते हुए वहाँ रहने लगे। वे प्रतिदिन सायंकाल इस एक श्लोकको पढ़ा करते थे— ॥ ९ ॥

क्व नु सा क्षुत्पिपासार्ता श्रान्ता शेते तपस्विनी।
स्मरन्ती तस्य मन्दस्य कं वा साद्योपतिष्ठति ॥ १० ॥

'भूख-प्याससे पीड़ित और थकी-माँदी वह तपस्विनी उस मन्दबुद्धि पुरुषका स्मरण करती हुई कहाँ सोती होगी तथा अब वह किसके समीप रहती होगी ?' ॥ १० ॥

एवं ब्रुवन्तं राजानं निशायां जीवलोऽब्रवीत् ।
कामेनां शोचसे नित्यं श्रोतुमिच्छामि बाहुक ॥ ११ ॥

एक दिन रात्रिके समय जब राजा इस प्रकार बोल रहे थे 'जीवलने पूछा—बाहुक ! तुम प्रतिदिन किस स्त्रीके लिये शोक करते हो, मैं सुनना चाहता हूँ ॥ ११ ॥

आयुष्मन् कस्य वा नारी यामेवमनुशोचसि ।
तमुवाच नलो राजा मन्दप्रज्ञस्य कस्यचित् ॥ १२ ॥
आसीद् बहुमता नारी तस्यादृढतरं वचः ।
स वै केनचिदर्थेन तया मन्दो व्ययुज्यत ॥ १३ ॥

'आयुष्मन् ! वह किसकी पत्नी है, जिसके लिये तुम इस प्रकार निरन्तर शोकमग्न रहते हो ।' तब राजा नलने उससे कहा—'किसी अल्पबुद्धि पुरुषके एक स्त्री थी, जो उसके अत्यन्त आदरकी पात्र थी। किंतु उस पुरुषकी बात अत्यन्त दृढ़ नहीं थी । वह अपनी प्रतिज्ञासे फिसल गया । किसी विशेष प्रयोजनसे विवश होकर वह भाग्यहीन पुरुष अपनी पत्नीसे बिछुड़ गया ॥ १२-१३ ॥

विप्रयुक्तः स मन्दात्मा भ्रमत्यसुखपीडितः ।
दह्यमानः स शोकेन दिवारात्रमतन्द्रितः ॥ १४ ॥

'पत्नीसे विलग होकर वह मन्दबुद्धि मानव दिन-रात शोकाग्निसे दग्ध एवं दुःखसे पीड़ित होकर आलस्यसे रहित हो इधर-उधर भटकता रहता है ॥ १४ ॥

निशाकाले स्मरंस्तस्याः श्लोकमेकं स गायति।
स विभ्रमन् महीं सर्वां क्वचिदासाद्य किंचन ॥ १५ ॥
वसत्यनर्हस्तद् दुःखं भूय एवानुसंस्मरन् ।

'रातमें उसीका स्मरण करके वह एक श्लोकको गाया करता है । सारी पृथ्वीका चक्कर लगाकर वह कभी किसी स्थानमें पहुँचा और वहीं निरन्तर उस प्रियतमाका स्मरण करके दुःख भोगता रहता है। यद्यपि वह उस दुःखको भोगनेके योग्य है नहीं॥१५½॥

सा तु तं पुरुषं नारी कृच्छ्रेऽप्यनुगता वने ॥ १६ ॥
त्यक्ता तेनाल्पपुण्येन दुष्करं यदि जीवति ।
एका बालानभिज्ञा च मार्गाणामतथोचिता ॥ १७ ॥

'वह नारी इतनी पतिव्रता थी कि संकटकालमें भी उस पुरुषके पीछे-पीछे वनमें चली गयी; किंतु उस अल्प पुण्यवाले पुरुषने उसे वनमें ही त्याग दिया । अब तो यदि वह जीवित होगी तो बड़े कष्टसे उसके दिन बीतते होंगे । वह स्त्री अकेली थी । उसे मार्गका ज्ञान नहीं था । जिस संकटमें वह पड़ी थी, उसके योग्य वह कदापि नहीं थी ॥ १६-१७ ॥

क्षुत्पिपासापरीताङ्गी दुष्करं यदि जीवति ।
श्वापदाचरिते नित्यं वने महति दारुणे ॥ १८ ॥
त्यक्ता तेनाल्पभाग्येन मन्दप्रज्ञेन मारिष ।
इत्येवं नैषधो राजा दमयन्तीमनुस्मरन् ॥
अज्ञातवासं न्यवसद् राज्ञस्तस्य निवेशने ॥ १९ ॥

'भूख और प्याससे उसके अङ्ग व्याप्त हो रहे थे । उस दशामें परित्यक्त होकर वह यदि जीवित भी हो तो भी उसका जीवित रहना बहुत कठिन है । आर्य जीवन ! अत्यन्त भयकर विशाल वनमें जहाँ नित्य-निरन्तर हिंसक जन्तु विचरते रहते हैं, उस मन्दबुद्धि एवं मन्दभाग्य पुरुषने उसका त्याग कर दिया था ।' इस प्रकार निषधनरेश राजा नल दमयन्तीका निरन्तर स्मरण करते हुए राजा ऋतुपर्णके यहाँ अज्ञातवास कर रहे थे ॥ १८-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलविलापे सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलविलापविषयक सड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

विदर्भराजका नल-दमयन्तीकी खोजके लिये ब्राह्मणोंको भेजना, सुदेव ब्राह्मणका चेदिराजके भवनमें जाकर मन-ही-मन दमयन्तीके गुणोंका चिन्तन और उससे भेंट करना

बृहदश्व उवाच

हृतराज्ये नले भीमः सभार्ये च वनं गते ।
द्विजान् प्रस्थापयामास नलदर्शनकाङ्क्षया ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! राज्यका अपहरण हो जानेपर जब राजा नल पत्नीसहित वनमें चले गये, तब विदर्भ-नरेश भीमने नलका पता लगानेके लिये बहुत-से ब्राह्मणोंको इधर-उधर भेजा ॥ १ ॥

संदिदेश च तान् भीमो वसु दत्त्वा च पुष्कलम्।
मृगयध्वं नलं चैव दमयन्तीं च मे सुताम् ॥ २ ॥

राजा भीमने प्रचुर धन देकर ब्राह्मणोंको यह संदेश दिया—'आपलोग राजा नल और मेरी पुत्री दमयन्तीकी खोज करें ॥ २ ॥

अस्मिन् कर्मणि सम्पन्ने विज्ञाते निषधाधिपे ।
गवां सहस्रं दास्यामि यो वस्तावानयिष्यति ॥ ३ ॥

'निषधनरेश नलका पता लग जानेपर जब यह कार्य सम्पन्न हो जायगा, तब मैं आपलोगोंमेंसे जो भी नल-दमयन्तीको यहाँ ले आयेगा, उसे एक हजार गौएँ दूँगा ॥ ३ ॥

अग्रहारांश्च दास्यामि ग्रामं नगरसम्मितम् ।
न चेच्छक्याविहानेतुं दमयन्ती नलोऽपि वा ॥ ४ ॥
ज्ञातमात्रेऽपि दास्यामि गवां दशशतं धनम् ।

'साथ ही जीविकाके लिये अग्रहार (करमुक्त भूमि) दूँगा और ऐसा गाँव दे दूँगा, जो आयमें नगरके समान होगा । यदि नल-दमयन्तीमेंसे किसी एकको या दोनोंको ही यहाँ ले आना सम्भव न हो सके तो केवल उनका पता लग जानेपर भी मैं एक हजार गोधन दान करूँगा' ॥ ४½ ॥

इत्युक्तास्ते ययुर्हृष्टा ब्राह्मणाः सर्वतो दिशम् ॥ ५ ॥
पुरराष्ट्राणि चिन्वन्तो नैषधं सह भार्यया ।
नैव क्वापि प्रपश्यन्ति नलं वा भीमपुत्रिकाम् ॥ ६ ॥
ततश्चेदिपुरीं रम्यां सुदेवो नाम वै द्विजः ।
विचिन्वानोऽथ वैदर्भीमपश्यद् राजवेश्मनि ॥ ७ ॥

राजाके ऐसा कहनेपर वे सब ब्राह्मण बड़े प्रसन्न होकर सब दिशाओंमें चले गये और नगर तथा राष्ट्रोंमें पत्नीसहित निषधनरेश नलका अनुसंधान करने लगे; परंतु कहीं भी वे नल अथवा भीमकुमारी दमयन्तीको नहीं देख पाते थे। तदनन्तर सुदेव नामक ब्राह्मणने पता लगाते हुए रमणीय चेदिनगरीमें जाकर वहाँ राजमहलमें विदर्भकुमारी दमयन्तीको देखा।५—७।

पुण्याहवाचने राज्ञः सुनन्दासहितां स्थिताम् ।
मन्दं प्रख्यायमानेन रूपेणाप्रतिमेन ताम् ॥ ८ ॥
निबद्धां धूमजालेन प्रभामिव विभावसोः ।
तां समीक्ष्य विशालाक्षीमधिकं मलिनां कृशाम् ।
तर्कयामास भैमीति कारणैरुपपादयन् ॥ ९ ॥

वह राजाके पुण्याहवाचनके समय सुनन्दाके साथ खड़ी थी । उसका अनुपम रूप (मैलसे आवृत होनेके कारण) मन्द मन्द प्रकाशित हो रहा था, मानो अग्निकी प्रभा धूमसमूहसे आवृत हो रही हो । विशाल नेत्रोंवाली उस राजकुमारीको अधिक मलिन और दुर्बल देख उपर्युक्त कारणोंसे उसकी पहचान करते हुए सुदेवने निश्चय किया कि यह भीमकुमारी दमयन्ती ही है ॥ ८-९ ॥

सुदेव उवाच

यथेयं मे पुरा दृष्टा तथारूपेयमङ्गना ।
कृतार्थोऽस्म्यद्य दृष्ट्वेमां लोककान्तामिव श्रियम् ॥ १० ॥

सुदेव मन-ही-मन बोले—मैंने पहले जिस रूपमें इस कल्याणमयी राजकन्याको देखा है, वैसी ही यह आज भी है । लोककमनीय लक्ष्मीकी भाँति इस भीमकुमारीको देखकर आज मैं कृतार्थ हो गया हूँ ॥ १० ॥

पूर्णचन्द्रनिभां श्यामां चारुवृत्तपयोधराम् ।
कुर्वन्तीं प्रभया देवीं सर्वा वितिमिरा दिशः ॥ ११ ॥

यह श्यामा युवती पूर्ण चन्द्रमाके समान कान्तिमती है । इसके स्तन बड़े मनोहर और गोल-गोल हैं । यह देवी अपनी प्रभासे सम्पूर्ण दिशाओंको आलोकित कर रही है ॥

चारुपद्मविशालाक्षीं मन्मथस्य रतीमिव ।
इष्टां समस्तलोकस्य पूर्णचन्द्रप्रभामिव ॥ १२ ॥

उसके बड़े-बड़े नेत्र मनोहर कमलोंकी शोभाको लज्जित कर रहे हैं । यह कामदेवकी रति-सी जान पड़ती है । पूर्णिमाके चन्द्रमाकी चाँदनीके समान यह सब लोगोंके लिये प्रिय है ॥ १२ ॥

विदर्भसरसस्तस्माद् दैवदोषादिवोद्धृताम् ।
मलपङ्कानुलिप्ताङ्गीं मृणालीमिव चोद्धृताम् ॥ १३ ॥
पौर्णमासीमिव निशां राहुग्रस्तनिशाकराम् ।
पतिशोकाकुलां दीनां शुष्कस्रोतां नदीमिव ॥ १४ ॥

विदर्भरूपी सरोवरसे यह कमलिनी मानो प्रारब्धके दोषसे निकाल ली गयी है । इसके मलिन अङ्ग कीचड़ लिपटी हुई नलिनीके समान प्रतीत होते हैं । यह उस पूर्णिमाकी रजनीके समान जान पड़ती है, जिसके चन्द्रमापर मानो राहुने ग्रहण लगा रक्खा हो । पति-शोकसे व्याकुल और दीन होनेके कारण यह सूखे जल-प्रवाहवाली सरिताके समान प्रतीत होती है ॥ १३-१४ ॥

विध्वस्तपर्णकमलां वित्रासितविहंगमाम् ।
हस्तिहस्तपरामृष्टां व्याकुलामिव पद्मिनीम् ॥ १५ ॥

इसकी दशा उस पुष्करिणीके समान दिखायी देती है, जिसे हाथियोंने अपने शुण्डदण्डसे मथ डाला हो तथा जो नष्ट हुए पत्तोंवाले कमलसे युक्त हो एवं जिसके भीतर निवास करनेवाले पक्षी अत्यन्त भयभीत हो रहे हों। यह दुःखसे अत्यन्त व्याकुल-सी प्रतीत हो रही है ॥ १५ ॥

सुकुमारीं सुजाताङ्गीं रत्नगर्भगृहोचिताम् ।
दह्यमानामिवार्केण मृणालीमिव चोद्धृताम् ॥ १६ ॥

मनोहर अङ्गोंवाली यह सुकुमारी राजकन्या उन महलोंमें रहनेयोग्य है, जिनका भीतरी भाग रत्नोंका बना हुआ है । (इस समय दुःखने इसे ऐसा दुर्बल कर दिया है कि) यह सरोवरसे निकाली और सूर्यकी किरणोंसे जलायी हुई कमलिनीके समान प्रतीत हो रही है ॥ १६ ॥

रूपौदार्यगुणोपेतां मण्डनार्हाममण्डिताम् ।
चन्द्रलेखामिव नवां व्योम्नि नीलाभ्रसंवृताम् ॥ १७ ॥

यह रूप और उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न है । शृङ्गार धारण करनेके योग्य होनेपर भी यह शृङ्गारशून्य है, मानो आकाशमें मेघोंकी काली घटासे आवृत नूतन चन्द्रकला हो ॥

कामभोगैः प्रियैर्हीनां हीनां बन्धुजनेन च ।
देहं संधारयन्तीं हि भर्तृदर्शनकाङ्क्षया ॥ १८ ॥

यह राजकन्या प्रिय कामभोगोंसे वञ्चित है। अपने बन्धु-जनोंसे बिछुड़ी हुई है और पतिके दर्शनकी इच्छासे अपने (दीन-दुर्बल) शरीरको धारण कर रही है ॥ १८ ॥

भर्ता नाम परं नार्या भूषणं भूषणैर्विना ।
एषा हि रहिता तेन शोभमाना न शोभते ॥ १९ ॥

वास्तवमें पति ही नारीका सबसे श्रेष्ठ आभूषण है। उसके होनेसे वह बिना आभूषणोंके सुशोभित होती है; परंतु यह पतिरूप आभूषणसे रहित होनेके कारण शोभामयी होकर भी सुशोभित नहीं हो रही है ॥ १९ ॥

दुष्करं कुरुतेऽत्यन्तं हीनो यदनया नलः ।
धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनापि सीदति ॥ २० ॥

इससे विलग होकर राजा नल यदि अपने शरीरको धारण करते हैं और शोकसे शिथिल नहीं हो रहे हैं तो यह समझना चाहिये कि वे अत्यन्त दुष्कर कर्म कर रहे हैं ॥ २० ॥

इमामसितकेशान्तां शतपत्रायतेक्षणाम् ।
सुखार्हां दुःखितां दृष्ट्वा ममापि व्यथते मनः ॥ २१ ॥

काले-काले केशों और कमलके समान विशाल नेत्रोंसे सुशोभित इस राजकन्याको, जो सदा सुख भोगनेके ही योग्य है, दुःखित देखकर मेरे मनमें भी बड़ी व्यथा हो रही है ॥ २१ ॥

कदा नु खलु दुःखस्य पारं यास्यति वै शुभा ।
भर्तुः समागमात् साध्वी रोहिणी शशिनो यथा ॥ २२ ॥

जैसे रोहिणी चन्द्रमाके संयोगसे सुखी होती है, उसी प्रकार यह शुभलक्षणा साध्वी राजकुमारी अपने पतिके समागमसे (संतुष्ट हो) कब इस दुःखके समुद्रसे पार हो सकेगी ॥ २२ ॥

अस्या नूनं पुनर्लाभान्नैषधः प्रीतिमेष्यति ।
राजा राज्यपरिभ्रष्टः पुनर्लब्ध्वा च मेदिनीम् ॥ २३ ॥

जैसे कोई राजा एक बार अपने राज्यसे च्युत होकर फिर उसी राज्यभूमिको प्राप्त कर लेनेपर अत्यन्त आनन्दका अनुभव करता है, उसी प्रकार पुनः इसके मिल जानेपर निषधनरेश नलको निश्चय ही बड़ी प्रसन्नता होगी ॥ २३ ॥

तुल्यशीलवयोयुक्तां तुल्याभिजनसंवृताम् ।
नैषधोऽर्हति वैदर्भीं तं चेयमसितेक्षणा ॥ २४ ॥

विदर्भकुमारी दमयन्ती राजा नलके समान शील और अवस्थासे युक्त है, उन्हींके तुल्य उत्तम कुलमें सुशोभित है। निषधनरेश नल विदर्भकुमारीके योग्य हैं और यह कजरारे नेत्रोंवाली वैदर्भी नलके योग्य है ॥ २४ ॥

युक्तं तस्याप्रमेयस्य वीर्यसत्त्ववतो मया ।
समाश्वासयितुं भार्यां पतिदर्शनलालसाम् ॥ २५ ॥

राजा नलका पराक्रम और धैर्य असीम है। उनकी यह पत्नी पतिदर्शनके लिये लालायित और उत्कण्ठित है, अतः मुझे इससे मिलकर इसे आश्वासन देना चाहिये ॥ २५ ॥

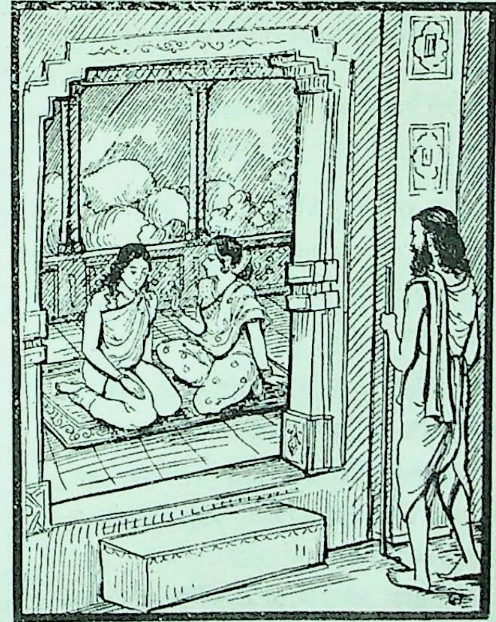
अहमाश्वासयाम्येनां पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।
अदृष्टपूर्वां दुःखस्य दुःखार्तां ध्यानतत्पराम् ॥ २६ ॥

इस पूर्णचन्द्रमुखी राजकुमारीने पहले कभी दुःखको नहीं देखा था। इस समय दुःखसे आतुर हो पतिके ध्यानमें परायण है, अतः मैं इसे आश्वासन देनेका विचार कर रहा हूँ ॥ २६ ॥

बृहदश्व उवाच

एवं विमृश्य विविधैः कारणैर्लक्षणैश्च ताम् ।
उपागम्य ततो भैमीं सुदेवो ब्राह्मणोऽब्रवीत् ॥ २७ ॥
अहं सुदेवो वैदर्भि भ्रातुस्ते दयितः सखा ।
भीमस्य वचनाद् राज्ञस्त्वामन्वेष्टुमिहागतः ॥ २८ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार भाँति-भाँतिके कारणों और लक्षणोंसे दमयन्तीको पहचानकर और अपने कर्तव्यके विषयमें विचार करके सुदेव ब्राह्मण उसके समीप गये और इस प्रकार बोले—'विदर्भराजकुमारी !



मैं तुम्हारे भाईका प्रिय सखा सुदेव हूँ। महाराज भीमकी आज्ञासे तुम्हारी खोज करनेके लिये यहाँ आया हूँ ॥ २७-२८ ॥

कुशली ते पिता राज्ञि जननी भ्रातरश्च ते ।
आयुष्मन्तौ कुशलिनौ तत्रस्थौ दारकौ च तौ ॥ २९ ॥

'निषधदेशकी महारानी ! तुम्हारे पिता, माता और भाई सब सकुशल हैं और कुण्डिनपुरमें जो तुम्हारे बालक हैं, वे भी कुशलसे हैं ॥ २९ ॥

त्वत्कृते बन्धुवर्गाश्च गतसत्त्वा इवासते ।
अन्वेष्टारो ब्राह्मणाश्च भ्रमन्ति शतशो महीम् ॥ ३० ॥

'तुम्हारे बन्धु-बान्धव तुम्हारी ही चिन्तासे मृतक-तुल्य हो रहे हैं । (तुम्हारी खोज करनेके लिये) सैकड़ों ब्राह्मण इस पृथ्वीपर घूम रहे हैं' ॥ ३० ॥

बृहदश्व उवाच

अभिज्ञाय सुदेवं तं दमयन्ती युधिष्ठिर ।
पर्यपृच्छत तान् सर्वान् क्रमेण सुहृदः स्वकान् ॥ ३१ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! सुदेवको पहचानकर दमयन्तीने क्रमशः अपने सभी सगे-सम्बन्धियोंका कुशल-समाचार पूछा ॥ ३१ ॥

रुरोद च भृशं राजन् वैदर्भी शोककर्शिता ।
दृष्ट्वा सुदेवं सहसा भ्रातुरिष्टं द्विजोत्तमम् ॥ ३२ ॥
रुदतीं तामथो दृष्ट्वा सुनन्दा शोककर्शिता ।
सुदेवेन सहैकान्ते कथयन्तीं च भारत ॥ ३३ ॥

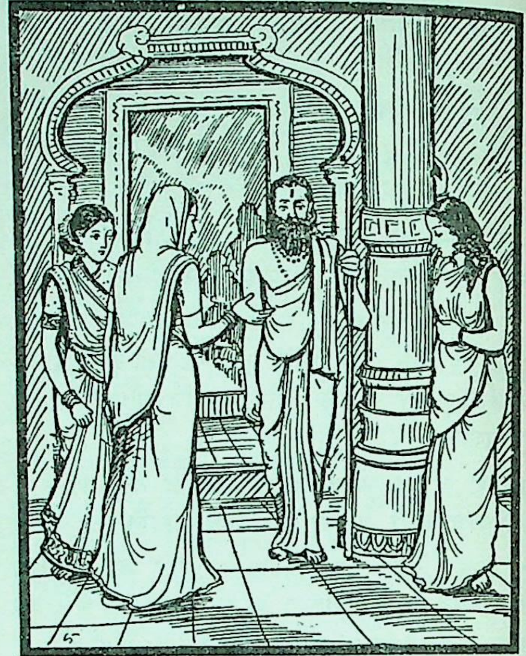
राजन् ! अपने भाईके प्रिय मित्र द्विजश्रेष्ठ सुदेवको सहसा आया देख दमयन्ती शोकसे व्याकुल हो फूट-फूटकर रोने लगी । भारत ! तदनन्तर उसे सुदेवके साथ एकान्तमें बात करती तथा रोती देख सुनन्दा शोकसे व्याकुल हो उठी ॥ ३२-३३ ॥

जनित्र्यै कथयामास सैरन्ध्री रोदितीति च ।
ब्राह्मणेन सहागम्य तां वेद यदि मन्यसे ॥ ३४ ॥

उसने अपनी मातासे जाकर कहा—'माँ ! सैरन्ध्री एक ब्राह्मणसे मिलकर बहुत रो रही है । यदि तुम ठीक समझो तो इसका कारण जाननेकी चेष्टा करो' ॥ ३४ ॥

अथ चेदिपतेर्माता राज्ञश्चान्तःपुरात् तदा ।
जगाम यत्र सा बाला ब्राह्मणेन सहाभवत् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर चेदिराजकी माता उस समय अन्तःपुरसे निकलकर उसी स्थानपर गयीं, जहाँ राजकन्या दमयन्ती ब्राह्मणके साथ खड़ी थी ॥ ३५ ॥



ततः सुदेवमानाय्य राजमाता विशाम्पते ।
पप्रच्छ भार्या कस्येयं सुता वा कस्य भाविनी ॥ ३६ ॥
कथं च नष्टा ज्ञातिभ्यो भर्तुर्वा वामलोचना ।
त्वया च विदिता विप्र कथमेवंगता सती ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर ! तब राजमाताने सुदेवको बुलाकर पूछा—'विप्रवर ! जान पड़ता है, तुम इसे जानते हो । बताओ, यह सुन्दरी युवती किसकी पत्नी अथवा किसकी पुत्री है ? यह सुन्दर नेत्रोंवाली सुन्दरी अपने भाई-बन्धुओं अथवा पतिसे किस प्रकार विलग हुई है ? यह सती-साध्वी नारी ऐसी दुरवस्थामें क्यों पड़ गयी ? ॥ ३६-३७ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्तः सर्वमशेषतः ।
तत्त्वेन हि ममाचक्ष्व पृच्छन्त्या देवरूपिणीम् ॥ ३८ ॥

'ब्रह्मन् ! इस देवरूपिणी नारीके विषयमें यह सारा वृत्तान्त मैं पूर्णरूपसे सुनना चाहती हूँ । मैं जो कुछ पूछती हूँ, वह मुझे ठीक-ठीक बताओ' ॥ ३८ ॥

एवमुक्तस्तया राजन् सुदेवो द्विजसत्तमः ।
सुखोपविष्ट आचष्ट दमयन्त्या यथातथम् ॥ ३९ ॥

राजन् ! राजमाताके इस प्रकार पूछनेपर वे द्विजश्रेष्ठ सुदेव सुखपूर्वक बैठकर दमयन्तीका यथार्थ वृत्तान्त बताने लगे ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीसुदेवसंवादे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्ती-सुदेव-संवादविषयक अरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

दमयन्तीका अपने पिताके यहाँ जाना और वहाँसे नलको ढूँढ़नेके लिये अपना संदेश देकर ब्राह्मणोंको भेजना

सुदेव उवाच

विदर्भराजो धर्मात्मा भीमो नाम महाद्युतिः ।
सुतेयं तस्य कल्याणी दमयन्तीति विश्रुता ॥ १ ॥

सुदेवने कहा—देवि ! विदर्भदेशके राजा महातेजस्वी भीम बड़े धर्मात्मा हैं । यह उन्हींकी पुत्री है । इस कल्याणस्वरूपा राजकन्याका नाम दमयन्ती है ॥ १ ॥

राजा तु नैषधो नाम वीरसेनसुतो नलः ।
भार्येयं तस्य कल्याणी पुण्यश्लोकस्य धीमतः ॥ २ ॥

वीरसेनपुत्र नल निषधदेशके सुप्रसिद्ध राजा हैं। उन्हीं (परम) बुद्धिमान् पुण्यश्लोक नलकी यह कल्याणमयी पत्नी है॥

स द्यूतेन जितो भ्रात्रा हृतराज्यो महीपतिः ।
दमयन्त्या गतः सार्धं न प्राज्ञायत कस्यचित् ॥ ३ ॥

एक दिन राजा नल अपने भाईके द्वारा जूएमें हार गये। उसीमें उनका सारा राज्य चला गया। वे दमयन्तीके साथ वनमें चले गये। तबसे अबतक किसीको उनका पता नहीं लगा॥ ३ ॥

ते वयं दमयन्त्यर्थे चरामः पृथिवीमिमाम् ।
सेयमासादिता बाला तव पुत्रनिवेशने ॥ ४ ॥

हम अनेक ब्राह्मण दमयन्तीको ढूँढ़नेके लिये इस पृथ्वीपर विचर रहे हैं। आज आपके पुत्रके महलमें मुझे यह राजकुमारी मिली है॥ ४ ॥

अस्या रूपेण सदृशी मानुषी न हि विद्यते ।
अस्या ह्येष भ्रुवोर्मध्ये सहजः पिप्लुरुत्तमः ॥ ५ ॥

रूपमें इसकी समानता करनेवाली कोई भी मानवकन्या नहीं है। इसके दोनों भौंहोंके बीच एक जन्मजात उत्तम तिलका चिह्न है॥ ५ ॥

श्यामायाः पद्मसंकाशो लक्षितोऽन्तर्हितो मया ।
मलेन संवृतो ह्यस्याश्छन्नोऽभ्रेणेव चन्द्रमाः ॥ ६ ॥

मैंने देखा है, इस श्यामा राजकुमारीके ललाटमें वह कमलके समान चिह्न छिपा हुआ है। मेघमालासे ढँके हुए चन्द्रमाकी भाँति उसका वह चिह्न मैलसे ढक गया है॥ ६ ॥

चिह्नभूतो विभूत्यर्थमयं धात्रा विनिर्मितः ।
प्रतिपत्कलुषस्येन्दोर्लेखा नातिविराजते ॥ ७ ॥
न चास्या नश्यते रूपं वपुर्मलसमाचितम् ।
असंस्कृतमभिव्यक्तं भाति काञ्चनसंनिभम् ॥ ८ ॥
अनेन वपुषा बाला पिप्लुनानेन सूचिता ।
लक्षितेयं मया देवी निभृतोऽग्निरिवोष्मणा ॥ ९ ॥

विधाताके द्वारा निर्मित यह चिह्न इसके भावी ऐश्वर्यका सूचक है। इस समय यह प्रतिपदाकी मलिन चन्द्रकलाके समान अधिक शोभा नहीं पा रही है। इसका सुवर्ण-जैसा सुन्दर शरीर मैलसे व्याप्त और संस्कारशून्य (मार्जन आदिसे रहित) होनेपर भी स्पष्ट रूपसे उद्भासित हो रहा है। इसका रूप-सौन्दर्य नष्ट नहीं हुआ है। जैसे छिपी हुई आग अपनी गर्मीसे पहचान ली जाती है, उसी प्रकार यद्यपि देवी दमयन्ती मलिन शरीरसे युक्त है तो भी इस ललाटवर्ती तिलके चिह्नसे ही मैंने इसे पहचान लिया है॥ ७-९ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य सुदेवस्य विशाम्पते ।
सुनन्दा शोधयामास पिप्लुप्रच्छादनं मलम् ॥१०॥

युधिष्ठिर! सुदेवका यह वचन सुनकर सुनन्दाने दमयन्तीके ललाटवर्ती चिह्नको ढँकनेवाली मैल धो दी॥ १० ॥

स मलेनापकृष्टेन पिप्लुस्तस्या व्यरोचत ।
दमयन्त्या यथा व्यभ्रे नभसीव निशाकरः ॥११॥

मैल धुल जानेपर उसके ललाटका वह चिह्न उसी प्रकार चमक उठा, जैसे बादलरहित आकाशमें चन्द्रमा प्रकाशित होता है॥ ११ ॥

पिप्लुं दृष्ट्वा सुनन्दा च राजमाता च भारत ।
रुदत्यौ तां परिष्वज्य मुहूर्तमिव तस्थतुः ॥१२॥

भारत! उस चिह्नको देखकर सुनन्दा और राजमाता दोनों रोने लगीं और दमयन्तीको हृदयसे लगाये दो घड़ीतक स्तब्ध खड़ी रहीं॥ १२ ॥

उत्सृज्य बाष्पं शनकै राजमातेदमब्रवीत् ।
भगिन्या दुहिता मेऽसि पिप्लुनानेन सूचिता ॥१३॥

तत्पश्चात् राजमाताने आँसू बहाते हुए धीरेसे कहा—'बेटी! तुम मेरी बहिनकी पुत्री हो। इस चिह्नके कारण मैंने भी तुम्हें पहचान लिया॥ १३ ॥

अहं च तव माता च राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
सुते दशार्णाधिपतेः सुदाम्नश्चारुदर्शने ॥१४॥

'सुन्दरी! मैं और तुम्हारी माता दोनों दशार्णदेशके स्वामी महामना राजा सुदामाकी पुत्रियाँ हैं॥ १४ ॥

भीमस्य राज्ञः सा दत्ता वीरबाहोरहं पुनः ।
त्वं तु जाता मया दृष्टा दशार्णेषु पितुर्गृहे ॥१५॥

'तुम्हारी माँका ब्याह राजा भीमके साथ हुआ और मेरा चेदिराज वीरबाहुके साथ। तुम्हारा जन्म दशार्णदेशमें मेरे पिताके ही घरपर हुआ और मैंने अपनी आँखों देखा॥

यथैव ते पितुर्गेहं तथैव मम भामिनि ।
यथैव च ममैश्वर्यं दमयन्ति तथा तव ॥१६॥

'भामिनि! तुम्हारे लिये जैसा पिताका घर है, वैसा ही मेरा घर है। दमयन्ती! यह सारा ऐश्वर्य जैसे मेरा है, उसी प्रकार तुम्हारा भी है'॥ १६ ॥

तां प्रहृष्टेन मनसा दमयन्ती विशाम्पते ।
प्रणम्य मातुर्भगिनीमिदं वचनमब्रवीत् ॥१७॥

युधिष्ठिर! तब दमयन्तीने प्रसन्न हृदयसे अपने मौसीको प्रणाम करके कहा—॥ १७ ॥

अज्ञायमानापि सती सुखमस्म्युषिता त्वयि ।
सर्वकामैः सुविहिता रक्ष्यमाणा सदा त्वया ॥१८॥

'माँ! यद्यपि तुम मुझे पहचानती नहीं थी, तब भी मैं तुम्हारे यहाँ बड़े सुखसे रही हूँ। तुमने मेरे इच्छानुसार सारी सुविधाएँ कर दीं और सदा तुम्हारे द्वारा मेरी रक्षा होती रही॥

सुखात् सुखतरो वासो भविष्यति न संशयः।
चिरविप्रोषितां मातर्मामनुज्ञातुमर्हसि ॥१९॥

'अब यदि मैं यहाँ रहूँ तो यह मेरे लिये अधिक-से-अधिक सुखदायक होगा, इसमें संशय नहीं है, किंतु मैं बहुत दिनोंसे प्रवासमें भटक रही हूँ, अतः माताजी ! मुझे विदर्भ जानेकी आज्ञा दीजिये ॥ १९ ॥

दारकौ च हि मे नीतौ वसतस्तत्र बालकौ।
पित्रा विहीनौ शोकार्तौ मया चैव कथं नु तौ ॥२०॥

'मैंने अपने बच्चोंको पहले ही कुण्डिनपुर भेज दिया था। वे वहीं रहते हैं। पितासे तो उनका वियोग हो ही गया है; मुझसे भी वे बिछुड़ गये हैं, ऐसी दशामें वे शोकार्त बालक कैसे रहते होंगे ? ॥ २० ॥

यदि चापि प्रियं किंचिन्मयि कर्तुमिहेच्छसि।
विदर्भान् यातुमिच्छामि शीघ्रं मे यानमादिश ॥२१॥
बाढमित्येव तामुक्त्वा हृष्टा मातृष्वसा नृप।
गुप्तां बलेन महता पुत्रस्यानुमते ततः ॥२२॥
प्रास्थापयद् राजमाता श्रीमतीं नरवाहिना।
यानेन भरतश्रेष्ठ स्वन्नपानपरिच्छदाम् ॥२३॥

'माँ ! यदि तुम मेरा कुछ भी प्रिय करना चाहती हो तो मेरे लिये शीघ्र किसी सवारीकी व्यवस्था कर दो। मैं विदर्भदेश जाना चाहती हूँ।' राजन् ! तब 'बहुत अच्छा' कहकर दमयन्ती-की मौसीने प्रसन्नतापूर्वक अपने पुत्रकी राय लेकर सुन्दरी दमयन्तीको पालकीपर बिठाकर विदा किया। उसकी रक्षाके लिये बहुत बड़ी सेना दे दी। भरतश्रेष्ठ ! राजमाताने दमयन्तीके साथ खाने-पीनेकी तथा अन्य आवश्यक सामग्रियोंकी अच्छी व्यवस्था कर दी ॥ २१–२३ ॥

ततः सा न चिरादेव विदर्भानगमत् पुनः।
तां तु बन्धुजनः सर्वः प्रहृष्टः समपूजयत् ॥२४॥

तदनन्तर वहाँसे विदा हो वह थोड़े ही दिनोंमें विदर्भ-देशकी राजधानीमें जा पहुँची। उसके आगमनसे माता-पिता आदि सभी बन्धु-बान्धव बड़े प्रसन्न हुए और सबने उसका स्वागत-सत्कार किया ॥ २४ ॥

सर्वान् कुशलिनो दृष्ट्वा बान्धवान् दारकौ च तौ।
मातरं पितरं चोभौ सर्वं चैव सखीजनम् ॥२५॥
देवताः पूजयामास ब्राह्मणांश्च यशस्विनी।
परेण विधिना देवी दमयन्ती विशाम्पते ॥२६॥

राजन् ! समस्त बन्धु-बान्धवों, दोनों बच्चों, माता-पिता और सम्पूर्ण सखियोंको सकुशल देखकर यशस्विनी देवी दमयन्तीने उत्तम विधिके साथ देवताओं और ब्राह्मणोंका पूजन किया ॥ २५-२६ ॥

अतर्पयत् सुदेवं च गोसहस्रेण पार्थिवः।
प्रीतो दृष्ट्वैव तनयां ग्रामेण द्रविणेन च ॥२७॥

राजा भीम अपनी पुत्रीको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने एक हजार गौ, एक गाँव तथा धन देकर सुदेव ब्राह्मणको संतुष्ट किया ॥ २७ ॥

सा व्युष्टा रजनीं तत्र पितुर्वेश्मनि भाविनी।
विश्रान्ता मातरं राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥२८॥

युधिष्ठिर ! भाविनी दमयन्तीने उस रातमें पिताके घरमें विश्राम किया। सबेरा होनेपर उसने मातासे कहा—॥ २८ ॥

दमयन्त्युवाच

मां चेदिच्छसि जीवन्तीं मातः सत्यं ब्रवीमि ते।
नलस्य नरवीरस्य यतस्वानयने पुनः ॥२९॥

दमयन्ती बोली—माँ ! यदि मुझे जीवित देखना चाहती हो तो मैं तुमसे सच कहती हूँ, नरवीर महाराज नल-की खोज करानेका पुनः प्रयत्न करो ॥ २९ ॥

दमयन्त्या तथोक्ता तु सा देवी भृशदुःखिता।
बाष्पेणापिहिता राज्ञी नोत्तरं किंचिदब्रवीत् ॥३०॥

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर महारानीकी आँखें आँसुओंसे भर आयीं। वे अत्यन्त दुखी हो गयीं और तत्काल उसे कोई उत्तर न दे सकीं ॥ ३० ॥

तदवस्थां तु तां दृष्ट्वा सर्वमन्तःपुरं तदा।
हाहाभूतमतीवासीद् भृशं च प्ररुरोद ह ॥३१॥

तब महारानीकी यह दयनीय अवस्था देख उस समय सारे अन्तःपुरमें हाहाकार मच गया। सब-के-सब फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ३१ ॥

ततो भीमं महाराजं भार्या वचनमब्रवीत्।
दमयन्ती तव सुता भर्तारमनुशोचति ॥३२॥

तदनन्तर महाराज भीमसे उनकी पत्नीने कहा—'प्राण-नाथ ! आपकी पुत्री दमयन्ती अपने पतिके लिये निरन्तर शोकमें डूबी रहती है ॥ ३२ ॥

अपकृष्य च लज्जां सा स्वयमुक्तवती नृप।
प्रयतन्तां तव प्रेष्याः पुण्यश्लोकस्य मार्गणे ॥३३॥

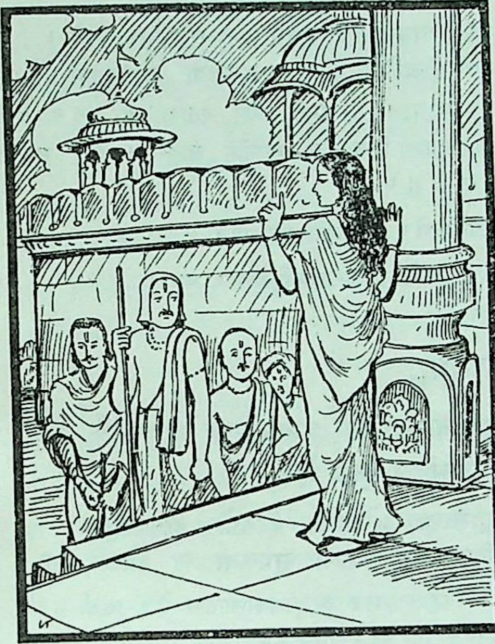
'नरेश्वर ! उसने लाज छोड़कर स्वयं अपने मुँहसे कहा है, अतः आपके सेवक पुण्यश्लोक महाराज नलका पता लगानेका प्रयत्न करें' ॥ ३३ ॥

तया प्रदेशितो राजा ब्राह्मणान् वशवर्तिनः।
प्रास्थापयद् दिशः सर्वा यतध्वं नलमार्गणे ॥३४॥

महारानीसे प्रेरित हो राजा भीमने अपने अधीनस्थ ब्राह्मणोंको यह कहकर सब दिशाओंमें भेजा कि 'आपलोग नलको ढूँढ़नेकी चेष्टा करें' ॥ ३४ ॥

ततो विदर्भाधिपतेर्नियोगाद् ब्राह्मणास्तदा।
दमयन्तीमथो दृष्ट्वा प्रस्थिताःस्मेत्यथाब्रुवन् ॥३५॥

तत्पश्चात् विदर्भनरेशकी आज्ञासे ब्राह्मणलोग प्रस्थित हो दमयन्तीके पास जाकर बोले—'राजकुमारी! हम सब नलका पता लगाने जा रहे हैं (क्या आपको कुछ कहना है?)'॥



अथ तानब्रवीद् भैमी सर्वराष्ट्रेष्विदं वचः।
ब्रुवध्वं जनसंसत्सु तत्र तत्र पुनः पुनः॥३६॥

तब भीमकुमारीने उन ब्राह्मणोंसे कहा—'सब राष्ट्रोंमें घूम-घूमकर जनसमुदायमें आपलोग बार-बार मेरी यह बात बोलें—॥३६॥

क्व नु त्वं कितवच्छित्त्वा वस्त्रार्धं प्रस्थितो मम।
उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय॥३७॥

'ओ जुआरी प्रियतम! तुम वनमें सोयी हुई और अपने पतिमें अनुराग रखनेवाली मुझ प्यारी पत्नीको छोड़कर तथा मेरे आधे वस्त्रको फाड़कर कहाँ चल दिये?॥३७॥

सा वै यथा त्वया दृष्टा तथाऽऽस्ते त्वत्प्रतीक्षिणी।
दह्यमाना भृशं बाला वस्त्रार्धेनाभिसंवृता॥३८॥

'उसे तुमने जिस अवस्थामें देखा था, उसी अवस्थामें वह आज भी है और तुम्हारे आगमनकी प्रतीक्षा कर रही है। आधे वस्त्रसे अपने शरीरको ढँककर वह युवती तुम्हारी विरहाग्निमें निरन्तर जल रही है॥३८॥

तस्या रुदन्त्याः सततं तेन शोकेन पार्थिव।
प्रसादं कुरु वै वीर प्रतिवाक्यं ददस्व च॥३९॥

'वीर भूमिपाल! सदा तुम्हारे शोकसे रोती हुई अपनी उस प्यारी पत्नीपर पुनः कृपा करो और मुझे मेरी बातका उत्तर दो'॥३९॥

एवमन्यच्च वक्तव्यं कृपां कुर्याद् यथा मयि।
वायुना धूयमानो हि वनं दहति पावकः॥४०॥

'ब्राह्मणो! ये तथा और भी बहुत-सी ऐसी बातें आप कहें, जिससे वे मुझपर कृपा करें। वायुकी सहायतासे प्रज्वलित आग सारे वनको जला डालती है (इसी प्रकार विरहकी व्याकुलता मुझे जला रही है)॥४०॥

भर्तव्या रक्षणीया च पत्नी पत्या हि सर्वदा।
तन्नष्टमुभयं कस्माद् धर्मज्ञस्य सतस्तव॥४१॥

'प्राणनाथ! पतिको उचित है कि वह सदा अपनी पत्नीका भरण-पोषण एवं संरक्षण करे। आप धर्मज्ञ और साधु पुरुष हैं, आपके ये दोनों कर्तव्य सहसा नष्ट कैसे हो गये?॥

ख्यातः प्राज्ञः कुलीनश्च सानुक्रोशो भवान् सदा।
संवृत्तो निरनुक्रोशः शङ्के मद्भाग्यसंक्षयात्॥४२॥

'आप विख्यात विद्वान्, कुलीन और सदा सबके प्रति दयाभाव रखनेवाले हैं, परंतु मेरे हृदयमें यह संदेह होने लगा है कि आप मेरा भाग्य नष्ट होनेके कारण मेरे प्रति निर्दय हो गये हैं॥४२॥

तत् कुरुष्व नरव्याघ्र दयां मयि नरर्षभ।
आनृशंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव हि मे श्रुतः॥४३॥

'नरव्याघ्र! नरोत्तम! मुझपर दया करो। मैंने तुम्हारे ही मुखसे सुन रक्खा है कि दयालुता सबसे बड़ा धर्म है'॥

एवं ब्रुवाणान् यदि वः प्रतिब्रूयात् कथंचन।
स नरः सर्वथा ज्ञेयः कश्चासौ क्व नु वर्तते॥४४॥

'ब्राह्मणो! यदि आपके ऐसी बातें कहनेपर कोई किसी प्रकार भी आपको उत्तर दे तो उस मनुष्यका सब प्रकारसे परिचय प्राप्त कीजियेगा कि वह कौन है और कहाँ रहता है, इत्यादि॥४४॥

यश्चैवं वचनं श्रुत्वा ब्रूयात् प्रतिवचो नरः।
तदादाय वचस्तस्य ममावेद्यं द्विजोत्तमाः॥४५॥

'विप्रवरो! आपके इन वचनोंको सुनकर जो कोई मनुष्य जैसा भी उत्तर दे, उसकी वह बात याद रखकर आपलोग मुझे बतावें॥४५॥

यथा च वो न जानीयाद् ब्रुवतो मम शासनात्।
पुनरागमनं चैव तथा कार्यमतन्द्रितैः॥४६॥

'किसीको भी यह नहीं मालूम होना चाहिये कि आपलोग मेरी आज्ञासे ये बातें कह रहे हैं। जब कोई उत्तर मिल जाय, तब आप आलस्य छोड़कर पुनः यहाँ तुरंत लौट आवें॥४६॥

यदि वासौ समृद्धः स्याद् यदि वाप्यधनो भवेत्।
यदि वाप्यसमर्थः स्याज्ज्ञेयमस्य चिकीर्षितम्॥४७॥

'उत्तर देनेवाला पुरुष धनवान् हो या निर्धन, समर्थ हो या असमर्थ, वह क्या करना चाहता है, इस बातको जाननेका प्रयत्न कीजिये' ॥ ४७ ॥

एवमुक्तास्त्वगच्छंस्ते ब्राह्मणाः सर्वतो दिशम् ।
नलं मृगयितुं राजंस्तदा व्यसनिनं तथा ॥४८॥
ते पुराणि सराष्ट्राणि ग्रामान् घोषांस्तथाऽऽश्रमान् ।
अन्वेषन्तो नलं राजन् नाधिजग्मुर्द्विजातयः ॥४९॥

राजन् ! दमयन्तीके ऐसा कहनेपर वे ब्राह्मण संकटमें पड़े हुए राजा नलको ढूँढ़नेके लिये सब दिशाओंकी ओर चले गये । युधिष्ठिर ! उन ब्राह्मणोंने नगरों, राष्ट्रों, गाँवों, गोष्ठों तथा आश्रमोंमें भी नलका अन्वेषण किया; किंतु उन्हें कहीं भी उनका पता न लगा ॥ ४८-४९ ॥

तच्च वाक्यं तथा सर्वे तत्र तत्र विशाम्पते ।
श्रावयांचक्रिरे विप्रा दमयन्त्या यथेरितम् ॥५०॥

महाराज ! दमयन्तीने जैसा बताया था, उस वाक्यको सभी ब्राह्मण भिन्न-भिन्न स्थानोंमें जाकर लोगोंको सुनाया करते थे ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलान्वेषणे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलकी खोजविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमोऽध्यायः

पर्णादका दमयन्तीसे बाहुकरूपधारी नलका समाचार बताना और दमयन्तीका ऋतुपर्णके यहाँ सुदेव नामक ब्राह्मणको स्वयंवरका संदेश देकर भेजना

बृहदश्व उवाच

अथ दीर्घस्य कालस्य पर्णादो नाम वै द्विजः ।
प्रत्येत्य नगरं भैमीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर दीर्घ-कालके पश्चात् पर्णादनामक ब्राह्मण विदर्भदेशकी राजधानीमें लौटकर आये और दमयन्तीसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

नैषधं मृगयानेन दमयन्ति मया नलम् ।
अयोध्यां नगरीं गत्वा भाङ्गासुरिमुपस्थितः ॥ २ ॥

'दमयन्ती ! मैं निषधनरेश नलको ढूँढ़ता हुआ अयोध्या नगरीमें गया और वहाँ राजा ऋतुपर्णके दरबारमें उपस्थित हुआ ॥ २ ॥

श्रावितश्च मया वाक्यं त्वदीयं स महाजने ।
ऋतुपर्णो महाभागो यथोक्तं वरवर्णिनि ॥ ३ ॥
तच्छ्रुत्वा नाब्रवीत् किंचिदृतुपर्णो नराधिपः ।
न च पारिषदः कश्चिद् भाष्यमाणो मयासकृत् ॥ ४ ॥

'वहाँ बहुत लोगोंकी भीड़में मैंने तुम्हारा वाक्य महाभाग ऋतुपर्णको सुनाया । वरवर्णिनि ! उस बातको सुनकर राजा ऋतुपर्ण कुछ न बोले । मेरे बार-बार कहनेपर भी उनका कोई सभासद् भी इसका उत्तर न दे सका ॥ ३-४ ॥

अनुज्ञातं तु मां राज्ञा विजने कश्चिदब्रवीत् ।
ऋतुपर्णस्य पुरुषो बाहुको नाम नामतः ॥ ५ ॥

'परंतु ऋतुपर्णके यहाँ बाहुक नामधारी एक पुरुष है, उसने जब मैं राजासे विदा लेकर लौटने लगा, तब मुझसे एकान्तमें आकर तुम्हारी बातोंका उत्तर दिया ॥ ५ ॥

सूतस्तस्य नरेन्द्रस्य विरूपो ह्रस्वबाहुकः ।
शीघ्रयानेषु कुशलो मृष्टकर्ता च भोजने ॥ ६ ॥

'वह महाराज ऋतुपर्णका सारथि है । उसकी भुजाएँ छोटी हैं तथा वह देखनेमें कुरूप भी है । वह घोड़ोंको शीघ्र हाँकनेमें कुशल है और अपने बनाये हुए भोजनमें बड़ा मिठास उत्पन्न कर देता है ॥ ६ ॥

स विनिःश्वस्य बहुशो रुदित्वा च पुनः पुनः ।
कुशलं चैव मां पृष्ट्वा पश्चादिदमभाषत ॥ ७ ॥

'बाहुकने बार-बार लम्बी साँसें खींचकर अनेक बार रोदन किया और मुझसे कुशल-समाचार पूछकर फिर वह इस प्रकार कहने लगा—॥ ७ ॥

वैषम्यमपि सम्प्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः ।
आत्मानमात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः ॥ ८ ॥

'उत्तम कुलकी स्त्रियाँ बड़े भारी सङ्कटमें पड़कर भी स्वयं अपनी रक्षा करती हैं । ऐसा करके वे सत्य और स्वर्ग दोनोंपर विजय पा लेती हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

रहिता भर्तृभिश्चैव न कुप्यन्ति कदाचन ।
प्राणांश्चारित्रकवचान् धारयन्ति वरस्त्रियः ॥ ९ ॥

'श्रेष्ठ नारियाँ अपने पतियोंसे परित्यक्त होनेपर भी कभी क्रोध नहीं करतीं । वे सदाचाररूपी कवचसे आवृत प्राणोंको धारण करती हैं ॥ ९ ॥

विषमस्थेन मूढेन परिभ्रष्टसुखेन च ।
यत्र सा तेन परित्यक्ता तत्र न क्रोद्धुमर्हति ॥१०॥

'वह पुरुष बड़े संकटमें था, सुखके साधनोंसे वञ्चित होकर किंकर्तव्यविमूढ हो गया था। ऐसी दशामें यदि उसने अपनी पत्नीका परित्याग किया है तो इसके लिये पत्नीको उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

प्राणयात्रां परिप्रेप्सोः शकुनैर्हृतवाससः।
आधिभिर्दह्यमानस्य श्यामा न क्रोद्धुमर्हति ॥११॥

'जीविका पानेके लिये चेष्टा करते समय पक्षियोंने जिसके वस्त्रका अपहरण कर लिया था और जो अनेक प्रकारकी मानसिक चिन्ताओंसे दग्ध हो रहा था, उस पुरुषपर श्यामाको क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

सत्कृतासत्कृता वापि पतिं दृष्ट्वा तथागतम्।
भ्रष्टराज्यं श्रिया हीनं क्षुधितं व्यसनाप्लुतम् ॥१२॥

'पतिने उसका सत्कार किया हो या असत्कार—उसे चाहिये कि पतिको वैसे संकटमें पड़ा देखकर उसे क्षमा कर दे; क्योंकि वह राज्य और लक्ष्मीसे वञ्चित हो भूखसे पीड़ित एवं विपत्तिके अथाह सागरमें डूबा हुआ था' ॥ १२ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा त्वरितोऽहमिहागतः।
श्रुत्वा प्रमाणं भवती राज्ञश्चैव निवेदय ॥१३॥

'बाहुककी वह बात सुनकर मैं तुरंत यहाँ चला आया। यह सब सुनकर अब कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें तुम्हीं प्रमाण हो। (तुम्हारी इच्छा हो तो) महाराजको भी ये बातें सूचित कर दो' ॥ १३ ॥

एतच्छ्रुत्वाश्रुपूर्णाक्षी पर्णादस्य विशाम्पते।
दमयन्ती रहोऽभ्येत्य मातरं प्रत्यभाषत ॥१४॥

युधिष्ठिर! पर्णादका यह कथन सुनकर दमयन्तीके नेत्रोंमें आँसू भर आया। उसने एकान्तमें जाकर अपनी मातासे कहा—॥ १४ ॥

अयमर्थो न संवेद्यो भीमे मातः कदाचन।
त्वत्संनिधौ नियोक्ष्येऽहं सुदेवं द्विजसत्तमम् ॥१५॥
यथा न नृपतिर्भीमः प्रतिपद्येत मे मतम्।
तथा त्वया प्रकर्तव्यं मम चेत् प्रियमिच्छसि ॥१६॥

'माँ! पिताजीको यह बात कदापि मालूम न होनी चाहिये। मैं तुम्हारे ही सामने विप्रवर सुदेवको इस कार्यमें लगाऊँगी। तुम ऐसी चेष्टा करो, जिससे पिताजीको मेरा विचार ज्ञात न हो। यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहती हो तो तुम्हें इसके लिये सचेष्ट रहना होगा ॥ १५-१६ ॥

यथा चाहं समानीता सुदेवेनाशु बान्धवान्।
तेनैव मङ्गलेनाशु सुदेवो यातु मा चिरम् ॥१७॥
समानेतुं नलं मातरयोध्यां नगरीमितः।

'जैसे सुदेवने मुझे यहाँ लाकर बन्धु-बान्धवोंसे शीघ्र मिला दिया, उसी मङ्गलमय उद्देश्यकी सिद्धिके लिये सुदेव ब्राह्मण फिर शीघ्र ही यहाँसे अयोध्या जायँ, देर न करें। माँ! वहाँ जानेका उद्देश्य है, महाराज नलको यहाँ ले आना' ॥ १७½ ॥

विश्रान्तं तु ततः पश्चात् पर्णादं द्विजसत्तमम् ॥१८॥
अर्चयामास वैदर्भी धनेनातीव भाविनी।
नले चेहागते तत्र भूयो दास्यामि ते वसु ॥१९॥

इतनेहीमें विप्रवर पर्णाद जब विश्राम कर चुके, तब विदर्भराजकुमारी दमयन्तीने बहुत धन देकर उनका सत्कार किया और यह भी कहा—'महाराज नलके यहाँ पधारनेपर मैं आपको और भी धन दूँगी ॥ १८-१९ ॥



त्वया हि मे बहु कृतं यदन्यो न करिष्यति।
यद् भर्त्राहं समेष्यामि शीघ्रमेव द्विजोत्तम ॥२०॥

'विप्रवर! आपने मेरा बहुत बड़ा उपकार किया, जो दूसरा नहीं कर सकता; क्योंकि अब मैं अपने स्वामीसे शीघ्र ही मिल सकूँगी' ॥ २० ॥

स एवमुक्तोऽथाश्वास्य आशीर्वादैः सुमङ्गलैः।
गृहानुपययौ चापि कृतार्थः सुमहामनाः ॥२१॥

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर अत्यन्त उदार हृदयवाले पर्णाद अपने परम मङ्गलमय आशीर्वादोंद्वारा उसे आश्वासन दे कृतार्थ हो अपने घर चले गये ॥ २१ ॥

ततः सुदेवमाभाष्य दमयन्ती युधिष्ठिर।
अब्रवीत् संनिधौ मातुर्दुःखशोकसमन्विता ॥२२॥

युधिष्ठिर! तदनन्तर दमयन्तीने सुदेव ब्राह्मणको बुलाकर अपनी माताके समीप दुःख-शोकसे पीड़ित होकर कहा—॥ २२ ॥

गत्वा सुदेव नगरीमयोध्यावासिनं नृपम्।
ऋतुपर्णं वचो ब्रूहि सम्पतन्निव कामगः ॥२३॥

'सुदेवजी ! आप इच्छानुसार चलनेवाले द्रुतगामी पक्षीकी भाँति शीघ्रतापूर्वक अयोध्या नगरीमें जाकर वहाँके निवासी राजा ऋतुपर्णसे कहिये—॥ २३ ॥

आस्थास्यति पुनर्भैमी दमयन्ती स्वयंवरम्।
तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः ॥२४॥

'भीमकुमारी दमयन्ती पुनः स्वयंवर करेगी। वहाँ बहुत-से राजा और राजकुमार सब ओरसे जा रहे हैं ॥२४॥

तथा च गणितः कालः श्वोभूते स भविष्यति।
यदि सम्भावनीयं ते गच्छ शीघ्रमरिंदम ॥२५॥

'उसके लिये समय नियत हो चुका है। कल ही स्वयंवर होगा। शत्रुदमन ! यदि आपका वहाँ पहुँचना सम्भव हो तो शीघ्र जाइये ॥ २५ ॥

सूर्योदये द्वितीयं सा भर्तारं वरयिष्यति।
न हि स ज्ञायते वीरो नलो जीवति वा न वा ॥२६॥

'कल सूर्योदय होनेके बाद वह दूसरे पतिका वरण कर लेगी; क्योंकि वीरवर नल जीवित हैं या नहीं, इसका कुछ पता नहीं लगता है' ॥ २६ ॥

एवं तया यथोक्तो वै गत्वा राजानमब्रवीत्।
ऋतुपर्णं महाराज सुदेवो ब्राह्मणस्तदा ॥२७॥

महाराज ! दमयन्तीके इस प्रकार बतानेपर सुदेव ब्राह्मणने राजा ऋतुपर्णके पास जाकर वही बात कही ॥२७॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीपुनःस्वयंवरकथने सप्ततितमोऽध्यायः ॥७०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्तीके पुनः स्वयंवरकी चर्चासे सम्बन्ध रखनेवाला सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

राजा ऋतुपर्णका विदर्भदेशको प्रस्थान, राजा नलके विषयमें वार्ष्णेयका विचार और बाहुककी अद्भुत अश्वसंचालन-कलासे वार्ष्णेय और ऋतुपर्णका प्रभावित होना

बृहदश्व उवाच

श्रुत्वा वचः सुदेवस्य ऋतुपर्णो नराधिपः।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा बाहुकं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! सुदेवकी वह बात सुनकर राजा ऋतुपर्णने मधुर वाणीसे सान्त्वना देते हुए बाहुकसे कहा—॥ १ ॥

विदर्भान् यातुमिच्छामि दमयन्त्याः स्वयंवरम्।
एकाह्ना हयतत्त्वज्ञ मन्यसे यदि बाहुक ॥ २ ॥

'बाहुक ! तुम अश्वविद्याके तत्त्वज्ञ हो, यदि मेरी बात मानो तो मैं दमयन्तीके स्वयंवरमें सम्मिलित होनेके लिये एक ही दिनमें विदर्भदेशकी राजधानीमें पहुँचना चाहता हूँ' ॥२॥

एवमुक्तस्य कौन्तेय तेन राज्ञा नलस्य ह।
व्यदीर्यत मनो दुःखात् प्रदध्यौ च महामनाः ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन ! राजा ऋतुपर्णके ऐसा कहनेपर राजा नलका मन अत्यन्त दुःखसे विदीर्ण होने लगा। महामना नल बहुत देरतक किसी भारी चिन्तामें निमग्न हो गये ॥३॥

दमयन्ती वदेदेतत् कुर्याद् दुःखेन मोहिता।
अस्मदर्थे भवेद् वायमुपायश्चिन्तितो महान् ॥ ४ ॥

वे सोचने लगे—'क्या दमयन्ती ऐसी बात कह सकती है ? अथवा सम्भव है, दुःखसे मोहित होकर वह ऐसा कार्य कर ले। कहीं ऐसा तो नहीं है कि उसने मेरी प्राप्तिके लिये यह महान् उपाय सोच निकाला हो ? ॥ ४ ॥

नृशंसं बत वैदर्भी भर्तृकामा तपस्विनी।
मया क्षुद्रेण निकृता कृपणा पापबुद्धिना ॥ ५ ॥
स्त्रीस्वभावश्चलो लोके मम दोषश्च दारुणः।
स्यादेवमपि कुर्यात् सा विवासाद् गतसौहृदा ॥ ६ ॥

'तपस्विनी एवं दीन विदर्भराजकुमारीको मुझ नीच एवं पापबुद्धि पुरुषने धोखा दिया है, इसीलिये वह ऐसा निष्ठुर कार्य करनेको उद्यत हो गयी। संसारमें स्त्रीका चञ्चल स्वभाव प्रसिद्ध है। मेरा अपराध भी भयंकर है। सम्भव है मेरे प्रवाससे उसका हार्दिक स्नेह कम हो गया हो, अतः वह ऐसा भी कर ले ॥ ५-६ ॥

मम शोकेन संविग्ना नैराश्यात् तनुमध्यमा।
नैवं सा कर्हिचित् कुर्यात् सापत्या च विशेषतः ॥ ७ ॥

'क्योंकि पतली कमरवाली वह युवती मेरे शोकसे अत्यन्त उद्विग्न हो उठी होगी और मेरे मिलनेकी आशा न होनेके कारण उसने ऐसा विचार कर लिया होगा, परंतु मेरा हृदय कहता है कि वह कभी ऐसा नहीं कर सकती। विशेषतः वह संतानवती है। इसलिये भी उससे ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

यदत्र सत्यं वासत्यं गत्वा वेत्स्यामि निश्चयम् ।
ऋतुपर्णस्य वै काममात्मार्थं च करोम्यहम् ॥ ८ ॥

'इसमें कितना सत्य या असत्य है—इसे मैं वहाँ जाकर ही निश्चितरूपसे जान सकूँगा, अतः मैं अपने लिये ही ऋतुपर्णकी इस कामनाको पूर्ण करूँगा' ॥ ८ ॥

इति निश्चित्य मनसा बाहुको दीनमानसः ।
कृताञ्जलिरुवाचेदमृतुपर्णं जनाधिपम् ॥ ९ ॥
प्रतिजानामि ते वाक्यं गमिष्यामि नराधिप ।
एकाह्ना पुरुषव्याघ्र विदर्भनगरीं नृप ॥१०॥

मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके दीनहृदय बाहुकने दोनों हाथ जोड़कर राजा ऋतुपर्णसे इस प्रकार कहा—'नरेश्वर ! पुरुषसिंह ! मैंने आपकी आज्ञा सुनी है, मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मैं एक ही दिनमें विदर्भदेशकी राजधानीमें आपके साथ जा पहुँचूँगा' ॥ ९-१० ॥

ततः परीक्षामश्वानां चक्रे राजन् स बाहुकः ।
अश्वशालामुपागम्य भाङ्गासुरिर्नृपाज्ञया ॥११॥

युधिष्ठिर ! तदनन्तर बाहुकने अश्वशालामें जाकर राजा ऋतुपर्णकी आज्ञासे अश्वोंकी परीक्षा की ॥ ११ ॥

स त्वर्यमाणो बहुश ऋतुपर्णेन बाहुकः ।
अश्वाञ्जिज्ञासमानो वै विचार्य च पुनः पुनः ।
अध्यगच्छत् कृशानश्वान् समर्थानध्वनि क्षमान् ॥१२॥

ऋतुपर्ण बाहुकको बार-बार उत्तेजित करने लगे, अतः उसने अच्छी तरह विचार करके अश्वोंकी परीक्षा कर ली और ऐसे अश्वोंको चुना, जो देखनेमें दुबले होनेपर भी मार्ग तय करनेमें शक्तिशाली एवं समर्थ थे ॥ १२ ॥

तेजोबलसमायुक्तान् कुलशीलसमन्वितान् ।
वर्जितॉंल्लक्षणैर्हीनैः पृथुप्रोथान् महाहनून् ॥१३॥

वे तेज और बलसे युक्त थे। वे अच्छी जातिके और अच्छे स्वभावके थे। उनमें अशुभ लक्षणोंका सर्वथा अभाव था। उनकी नाक मोटी और थूथन(ठोड़ी)चौड़ी था १३

शुद्धान् दशभिरावर्तैः सिन्धुजान् वातरंहसः ।
दृष्ट्वा तानब्रवीद् राजा किंचित् कोपसमन्वितः ॥१४॥

वे वायुके समान वेगशाली सिन्धुदेशके घोड़े थे। वे दस आवर्त (भँवरियों) के चिह्नोंसे युक्त होनेके कारण निर्दोष थे। उन्हें देखकर राजा ऋतुपर्णने कुछ कुपित होकर कहा—॥१४॥

किमिदं प्रार्थितं कर्तुं प्रलब्धव्या न ते वयम् ।
कथमल्पबलप्राणा वक्ष्यन्तीमे हया मम ।
महदध्वानमपि च गन्तव्यं कथमीदृशैः ॥१५॥

'क्या तुमसे ऐसे ही घोड़े चुननेके लिये कहा था, तुम मुझे धोखा तो नहीं दे रहे हो। ये अल्प बल और शक्तिवाले घोड़े कैसे इतना लम्बा रास्ता तय कर सकेंगे? ऐसे घोड़ोंसे इतनी दूरतक रथ कैसे ले जाया जायगा?' ॥१५॥

बाहुक उवाच

एको ललाटे द्वौ मूर्ध्नि द्वौ द्वौ पार्श्वोपपार्श्वयोः ।
द्वौ द्वौ वक्षसि विज्ञेयौ प्रयाणे चैक एव तु ॥१६॥

बाहुकने कहा—राजन् ! ललाटमें एक, मस्तकमें दो, पार्श्वभागमें दो, उपपार्श्वभागमें भी दो, छातीमें दोनों ओर दो दो और पीठमें एक—इस प्रकार कुल बारह भँवरियोंको पहचानकर घोड़े रथमें जोतने चाहिये ॥ १६ ॥

एते हया गमिष्यन्ति विदर्भान् नात्र संशयः ।
यानन्यान् मन्यसे राजन् ब्रूहि तान् योजयामि ते ॥१७॥

ये मेरे चुने हुए घोड़े अवश्य विदर्भदेशकी राजधानीतक पहुँचेंगे, इसमें संशय नहीं है। महाराज ! इन्हें छोड़कर आप जिनको ठीक समझें, उन्हींको मैं रथमें जोत दूँगा ॥ १७ ॥

ऋतुपर्ण उवाच

त्वमेव हयतत्त्वज्ञः कुशलो ह्यसि बाहुक ।
यान् मन्यसे समर्थांस्त्वं क्षिप्रं तानेव योजय ॥१८॥

ऋतुपर्ण बोले—बाहुक ! तुम अश्वविद्याके तत्त्वज्ञ और कुशल हो, अतः तुम जिन्हें इस कार्यमें समर्थ समझो, उन्हींको शीघ्र जोतो ॥ १८ ॥

ततः सदश्वांश्चतुरः कुलशीलसमन्वितान् ।
योजयामास कुशलो जवयुक्तान् रथे नलः ॥१९॥

तब चतुर एवं कुशल राजा नलने अच्छी जाति और उत्तम स्वभावके चार वेगशाली घोड़ोंको रथमें जोता ॥१९॥

ततो युक्तं रथं राजा समारोहत् त्वरान्वितः ।
अथ पर्यपतन् भूमौ जानुभिस्ते हयोत्तमाः ॥२०॥

जुते हुए रथपर राजा ऋतुपर्ण बड़ी उतावलीके साथ सवार हुए। इसलिये उनके चढ़ते ही वे उत्तम घोड़े घुटनोंके बल पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २० ॥

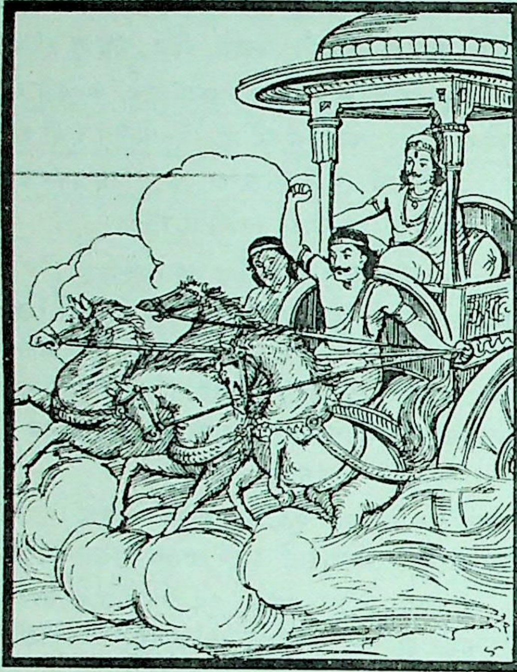
ततो नरवरः श्रीमान् नलो राजा विशाम्पते ।
सान्त्वयामास तानश्वांस्तेजोबलसमन्वितान् ॥२१॥

युधिष्ठिर ! तब नरश्रेष्ठ श्रीमान् राजा नलने तेज और बलसे सम्पन्न उन घोड़ोंको पुचकारा ॥ २१ ॥

रश्मिभिश्च समुद्यम्य नलो यातुमियेष सः ।
सूतमारोप्य वार्ष्णेयं जवमास्थाय वै परम् ॥२२॥
ते चोद्यमाना विधिवद् बाहुकेन हयोत्तमाः ।
समुत्पेतुरथाकाशं रथिनं मोहयन्निव ॥२३॥

फिर अपने हाथमें बागडोर ले उन्हें काबूमें करके रथको आगे बढ़ानेकी इच्छा की। वार्ष्णेय सारथिको रथपर बैठाकर अत्यन्त वेगका आश्रय ले उन्होंने रथ हाँक दिया। बाहुकके द्वारा विधिपूर्वक हाँके जाते हुए वे उत्तम अश्व

रथीको मोहित-से करते हुए इतने तीव्र वेगसे चले, मानो आकाशमें उड़ रहे हों ॥ २२-२३ ॥



तथा तु दृष्ट्वा तानश्वान् वहतो वातरंहसः ।
अयोध्याधिपतिः श्रीमान् विस्मयं परमं ययौ ॥२४॥

उस प्रकार वायुके समान वेगसे रथका वहन करनेवाले उन अश्वोंको देखकर श्रीमान् अयोध्यानरेशको बड़ा विस्मय हुआ ॥ २४ ॥

रथघोषं तु तं श्रुत्वा हयसंग्रहणं च तत् ।
वार्ष्णेयश्चिन्तयामास बाहुकस्य हयज्ञताम् ॥२५॥
किं नु स्यान्मातलिरयं देवराजस्य सारथिः ।
तथा तल्लक्षणं वीरे बाहुके दृश्यते महत् ॥२६॥

रथकी आवाज सुनकर और घोड़ोंको काबूमें करनेकी वह कला देखकर वार्ष्णेयने बाहुकके अश्व-विज्ञानपर सोचना आरम्भ किया। 'क्या यह देवराज इन्द्रका सारथि-मातलि है ? इस वीर बाहुकमें मातलिका-सा ही महान् लक्षण देखा जाता है ॥ २५-२६ ॥

शालिहोत्रोऽथ किं नु स्याद्धयानां कुलतत्त्ववित् ।
मानुषं समनुप्राप्तो वपुः परमशोभनम् ॥२७॥

'अथवा घोड़ोंकी जाति और उनके विषयकी तात्त्विक बातें जाननेवाले ये आचार्य शालिहोत्र तो नहीं हैं, जो परम सुन्दर मानव शरीर धारण करके यहाँ आ पहुँचे हैं ॥ २७ ॥

उताहोस्विद् भवेद् राजा नलः परपुरंजयः ।
सोऽयं नृपतिरायात इत्येवं समचिन्तयत् ॥ २८॥

'अथवा शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले साक्षात् राजा नल ही तो इस रूपमें नहीं आ गये हैं ? अवश्य वे ही हैं, इस प्रकार वार्ष्णेयने चिन्तन करना प्रारम्भ किया ॥ २८ ॥

अथ चेह नलो विद्यां वेत्ति तामेव बाहुकः ।
तुल्यं हि लक्षये ज्ञानं बाहुकस्य नलस्य च ॥२९॥

'राजा नल इस जगत्में जिस विद्याको जानते हैं, उसीको बाहुक भी जानता है । बाहुक और नल दोनोंका ज्ञान मुझे एक-सा दिखायी देता है ॥ २९ ॥

अपि चेदं वयस्तुल्यं बाहुकस्य नलस्य च ।
नायं नलो महावीर्यस्तद्विद्यश्च भविष्यति ॥३०॥

'इसी प्रकार बाहुक और नलकी अवस्था भी एक है । यह महापराक्रमी राजा नल नहीं है तो भी उनके ही समान विद्वान् कोई दूसरा महापुरुष होगा ॥ ३० ॥

प्रच्छन्ना हि महात्मानश्चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।
दैवेन विधिना युक्ताः शास्त्रोक्तैश्च निरूपणैः ॥३१॥

'बहुत-से महात्मा प्रच्छन्न रूप धारण करके देवोचित विधि तथा शास्त्रोक्त नियमोंसे युक्त होकर इस पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ॥ ३१ ॥

भवेन्न मतिभेदो मे गात्रवैरूप्यतां प्रति ।
प्रमाणात् परिहीनस्तु भवेदिति मतिर्मम ॥३२॥

'इसके शरीरकी रूपहीनताको लक्ष्य करके मेरी बुद्धिमें यह भेद नहीं पैदा होता कि यह नल नहीं है, परंतु राजा नलकी जो मोटाई है, उससे यह कुछ दुबला-पतला है । उससे मेरे मनमें यह विचार होता है कि सम्भव है, यह नल न हो ॥

वयःप्रमाणं तत्तुल्यं रूपेण तु विपर्ययः ।
नलं सर्वगुणैर्युक्तं मन्ये बाहुकमन्ततः ॥३३॥

'इसकी अवस्थाका प्रमाण तो उन्हींके समान है, परंतु रूपकी दृष्टिसे तो अन्तर पड़ता है । फिर भी अन्ततः मैं इसी निर्णयपर पहुँचता हूँ कि मेरी रायमें बाहुक सर्वगुणसम्पन्न राजा नल ही हैं' ॥ ३३ ॥

एवं विचार्य बहुशो वार्ष्णेयः पर्यचिन्तयत् ।
हृदयेन महाराज पुण्यश्लोकस्य सारथिः ॥३४॥

महाराज युधिष्ठिर ! इस प्रकार पुण्यश्लोक नलके सारथि वार्ष्णेयने बार-बार उपर्युक्त रूपसे विचार करते हुए मन-ही-मन उक्त धारणा बना ली ॥ ३४ ॥

ऋतुपर्णश्च राजेन्द्रो बाहुकस्य हयज्ञताम् ।
चिन्तयन् मुमुदे राजा सहवार्ष्णेयसारथिः ॥३५॥

महाराज ऋतुपर्ण भी बाहुकके अश्वसंचालनविषयक ज्ञानपर विचार करके वार्ष्णेय सारथिके साथ बहुत प्रसन्न हुए ॥

एकाग्र्यं च तथोत्साहं हयसंग्रहणं च तत् ।

परं यत्नं च सम्प्रेक्ष्य परां मुदमवाप ह ॥३६॥

उसकी यह एकाग्रता, वह उत्साह, घोड़ोंको काबूमें रखनेकी वह कला और वह उत्तम प्रयत्न देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णविदर्भगमने एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें ऋतुपर्णका विदर्भदेशमें गमनविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

ऋतुपर्णके उत्तरीय वस्त्र गिरने और बहेड़ेके वृक्षके फलोंको गिननेके विषयमें नलके साथ ऋतुपर्णकी बातचीत, ऋतुपर्णसे नलको द्यूतविद्याके रहस्यकी प्राप्ति और उनके शरीरसे कलियुगका निकलना

बृहदश्व उवाच

स नदीः पर्वतांश्चैव वनानि च सरांसि च ।
अचिरेणातिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! जैसे पक्षी आकाशमें उड़ता है, उसी प्रकार बाहुक (बड़े वेगसे) शीघ्रतापूर्वक कितनी ही नदियों, पर्वतों, वनों और सरोवरोंको लाँघता हुआ आगे बढ़ने लगा ॥ १ ॥

तथा प्रयाते तु रथे तदा भाङ्गासुरिर्नृपः ।
उत्तरीयमधोऽपश्यद् भ्रष्टं परपुरंजयः ॥ २ ॥

जब रथ इस प्रकार तीव्र गतिसे दौड़ रहा था, उसी समय शत्रुओंके नगरोंको जीतनेवाले राजा ऋतुपर्णने देखा, उनका उत्तरीय वस्त्र नीचे गिर गया है ॥ २ ॥

ततः स त्वरमाणस्तु पटे निपतिते तदा ।
ग्रहीष्यामीति तं राजा नलमाह महामनाः ॥ ३ ॥
निगृह्णीष्व महाबुद्धे हयानेतान् महाजवान् ।
वार्ष्णेयो यावदेनं मे पटमानयतामिह ॥ ४ ॥

उस समय वस्त्र गिर जानेपर उन महामना नरेशने बड़ी उतावलीके साथ नलसे कहा—'महामते ! इन वेगशाली घोड़ोंको (थोड़ी देरके लिये) रोक लो । मैं अपनी गिरी हुई चादर लूँगा । जबतक यह वार्ष्णेय उतरकर मेरे उत्तरीय वस्त्रको ला दे, तबतक रथको रोके रहो' ॥ ३-४ ॥

नलस्तं प्रत्युवाचाथ दूरे भ्रष्टः पटस्तव ।
योजनं समतिक्रान्तो नाहर्तुं शक्यते पुनः ॥ ५ ॥

यह सुनकर नलने उसे उत्तर दिया—'महाराज ! आपका वस्त्र बहुत दूर गिरा है । मैं उस स्थानसे चार कोस आगे आ गया हूँ । अब फिर वह नहीं लाया जा सकता' ॥ ५ ॥

एवमुक्तो नलेनाथ तदा भाङ्गासुरिर्नृपः ।
आससाद वने राजन् फलवन्तं बिभीतकम् ॥ ६ ॥

राजन् ! नलके ऐसा कहनेपर राजा ऋतुपर्ण चुप हो गये । अब वे एक वनमें एक बहेड़ेके वृक्षके पास आ पहुँचे, जिसमें बहुत-से फल लगे थे ॥ ६ ॥

तं दृष्ट्वा बाहुकं राजा त्वरमाणोऽभ्यभाषत ।
ममापि सूत पश्य त्वं संख्याने परमं बलम् ॥ ७ ॥

उस वृक्षको देखकर राजा ऋतुपर्णने तुरंत ही बाहुकसे कहा—'सूत ! तुम देखो, मुझमें भी गणना करने (हिसाब लगाने) की कितनी अद्भुत शक्ति है ॥ ७ ॥

सर्वः सर्वं न जानाति सर्वज्ञो नास्ति कश्चन ।
नैकत्र परिनिष्ठास्ति ज्ञानस्य पुरुषे क्वचित् ॥ ८ ॥

'सब लोग सभी बातें नहीं जानते । संसारमें कोई भी सर्वज्ञ नहीं है तथा एक ही पुरुषमें सम्पूर्ण ज्ञानकी प्रतिष्ठा नहीं है ॥ ८ ॥

वृक्षेऽस्मिन् यानि पर्णानि फलान्यपि च बाहुक ।
पतितान्यपि यान्यत्र तत्रैकमधिकं शतम् ॥ ९ ॥
एकपत्राधिकं चात्र फलमेकं च बाहुक ।
पञ्च कोट्योऽथ पत्राणां द्वयोरपि च शाखयोः ॥ १० ॥
प्रचिनुह्यस्य शाखे द्वे याश्चाप्यन्याः प्रशाखिकाः ।
आभ्यां फलसहस्रे द्वे पञ्चोनं शतमेव च ॥ ११ ॥

'बाहुक ! इस वृक्षपर जितने पत्ते और फल हैं, उन सबको मैं बताता हूँ । पेड़के नीचे जो पत्ते और फल गिरे हुए हैं, उनकी संख्या एक सौ अधिक है, इसके सिवा एक पत्र तथा एक फल और भी अधिक है; अर्थात् नीचे गिरे हुए पत्तों और फलोंकी संख्या वृक्षमें लगे हुए पत्तों और फलोंसे एक सौ दो अधिक है । इस वृक्षकी दोनों शाखाओंमें पाँच करोड़ पत्ते हैं । तुम्हारी इच्छा हो तो इन दोनों शाखाओं तथा इसकी अन्य प्रशाखाओं (को काटकर उन) के पत्ते गिन लो । इसी प्रकार इन शाखाओंमें दो हजार पञ्चानवे फल लगे हुए हैं ॥ ९-११ ॥

ततो रथमवस्थाप्य राजानं बाहुकोऽब्रवीत् ।
परोक्षमिव मे राजन् कत्थसे शत्रुकर्शन ॥ १२ ॥
प्रत्यक्षमेतत् कर्तास्मि शातयित्वा बिभीतकम् ।
अथात्र गणिते राजन् विद्यते न परोक्षता ॥ १३ ॥
प्रत्यक्षं ते महाराज शातयिष्ये बिभीतकम् ।
अहं हि नाभिजानामि भवेदेवं न वेति वा ॥ १४ ॥

यह सुनकर बाहुकने रथ खड़ा करके राजासे कहा—'शत्रुसूदन नरेश ! आप जो कह रहे हैं, वह संख्या परोक्ष है। मैं इस बहेड़ेके वृक्षको काटकर उसके फलोंकी संख्याको प्रत्यक्ष करूँगा। महाराज ! आपकी आँखोंके सामने इस बहेड़ेको काटूँगा। इस प्रकार गणना कर लेनेपर वह संख्या परोक्ष नहीं रह जायगी। बिना ऐसा किये मैं तो नहीं समझ सकता कि (फलोंकी) संख्या इतनी है या नहीं ॥ १२-१४ ॥

संख्यास्यामि फलान्यस्य पश्यतस्ते जनाधिप।
मुहूर्तमपि वार्ष्णेयो रश्मीन् यच्छतु वाजिनाम् ॥ १५ ॥

'जनेश्वर ! यदि वार्ष्णेय दो घड़ीतक भी इन घोड़ोंकी लगाम सँभाले तो मैं आपके देखते-देखते इसके फलोंको गिन लूँगा' ॥ १५ ॥

तमब्रवीन्नृपः सूतं नायं कालो विलम्बितुम्।
बाहुकस्त्वब्रवीदेनं परं यत्नं समास्थितः ॥ १६ ॥
प्रतीक्षस्व मुहूर्तं त्वमथवा त्वरते भवान् ।
एष याति शिवः पन्था याहि वार्ष्णेयसारथिः ॥ १७ ॥

तब राजाने सारथिसे कहा—'यह विलम्ब करनेका समय नहीं है।' बाहुक बोला—'मैं प्रयत्नपूर्वक शीघ्र ही गणना समाप्त कर दूँगा। आप दो ही घड़ीतक प्रतीक्षा कीजिये। अथवा यदि आपको बड़ी जल्दी हो तो यह विदर्भदेशका मङ्गलमय मार्ग है, वार्ष्णेयको सारथि बनाकर चले जाइये' ॥

अब्रवीदृतुपर्णस्तु सान्त्वयन् कुरुनन्दन ।
त्वमेव यन्ता नान्योऽस्ति पृथिव्यामपि बाहुक ॥ १८ ॥

कुरुनन्दन ! तब ऋतुपर्णने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'बाहुक ! तुम्हीं इन घोड़ोंको हाँक सकते हो। इस कलामें पृथ्वीपर तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई नहीं है ॥ १८ ॥

त्वत्कृते यातुमिच्छामि विदर्भान् हयकोविद ।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि न विघ्नं कर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

'घोड़ोंके रहस्यको जाननेवाले बाहुक ! तुम्हारे ही प्रयत्नसे मैं विदर्भदेशकी राजधानीमें पहुँचना चाहता हूँ। देखो, तुम्हारी शरणमें आया हूँ। इस कार्यमें विघ्न न डालो ॥ १९ ॥

कामं च ते करिष्यामि यन्मां वक्ष्यसि बाहुक ।
विदर्भान् यदि यात्वाद्य सूर्यं दर्शयितासि मे ॥ २० ॥

'बाहुक ! यदि आज विदर्भदेशमें पहुँचकर तुम मुझे सूर्यका दर्शन करा सको तो तुम जो कहोगे, तुम्हारी वही इच्छा पूर्ण करूँगा' ॥ २० ॥

अथाब्रवीद् बाहुकस्तं संख्याय च बिभीतकम् ।
ततो विदर्भान् यास्यामि कुरुष्वैवं वचो मम ॥ २१ ॥

यह सुनकर बाहुकने कहा—'मैं बहेड़ेके फलोंको गिनकर विदर्भदेशको चलूँगा। आप मेरी यह बात मान लीजिये' ॥ २१ ॥

अकाम इव तं राजा गणयस्वेत्युवाच ह ।
एकदेशं च शाखायाः समादिष्टं मयानघ ॥ २२ ॥
गणयस्वाश्वतत्त्वज्ञ ततस्त्वं प्रीतिमावह ।
सोऽवतीर्य रथात् तूर्णं शातयामास तं द्रुमम् ॥ २३ ॥

राजाने मानो अनिच्छासे कहा—'अच्छा, गिन लो। अश्वविद्याके तत्त्वको जाननेवाले निष्पाप बाहुक ! मेरे बताये अनुसार तुम शाखाके एक ही भागको गिनो। इससे तुम्हें बड़ी प्रसन्नता होगी'। बाहुकने रथसे उतरकर तुरंत ही उस वृक्षको काट डाला ॥ २२-२३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो राजानमिदमब्रवीत् ।
गणयित्वा यथोक्तानि तावन्त्येव फलानि तु ॥ २४ ॥

गिननेसे उसे उतने ही फल मिले। तब उसने विस्मित होकर राजा ऋतुपर्णसे कहा—॥ २४ ॥

अत्यद्भुतमिदं राजन् दृष्टवानस्मि ते बलम् ।
श्रोतुमिच्छामि तां विद्यां यथैतज्ज्ञायते नृप ॥ २५ ॥
तमुवाच ततो राजा त्वरितो गमने नृप ।
विद्ध्यक्षहृदयज्ञं मां संख्याने च विशारदम् ॥ २६ ॥

'राजन् ! आपमें गणितकी यह अद्भुत शक्ति मैंने देखी है। नराधिप ! जिस विद्यासे यह गिनती जान ली जाती है, मैं उसे सुनना चाहता हूँ।' राजा तुरंत जानेके लिये उत्सुक थे, अतः उन्होंने बाहुकसे कहा—'तुम मुझे द्यूत-विद्याका मर्मज्ञ और गणितमें अत्यन्त निपुण समझो' ॥ २५-२६ ॥

बाहुकस्तमुवाचाथ देहि विद्यामिमां मम ।
मत्तोऽपि चाश्वहृदयं गृहाण पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥

बाहुकने कहा—'पुरुषश्रेष्ठ ! तुम यह विद्या मुझे बतला दो और बदलेमें मुझसे भी अश्व-विद्याका रहस्य ग्रहण कर लो' ॥ २७ ॥

ऋतुपर्णस्ततो राजा बाहुकं कार्यगौरवात् ।
हयज्ञानस्य लोभाच्च तं तथेत्यब्रवीद् वचः ॥ २८ ॥

तब राजा ऋतुपर्णने कार्यकी गुरुता और अश्वविज्ञानके लोभसे बाहुकको आश्वासन देते हुए कहा—'तथास्तु' ॥ २८ ॥

यथोक्तं त्वं गृहाणेदमक्षाणां हृदयं परम् ।

निक्षेपो मेऽश्वहृदयं त्वयि तिष्ठतु बाहुक ।
एवमुक्त्वा ददौ विद्यामृतुपर्णो नलाय वै ॥ २९ ॥

'बाहुक ! तुम मुझसे द्यूत-विद्याका गूढ़ रहस्य ग्रहण करो और अश्वविज्ञानको मेरे लिये अपने ही पास धरोहरके रूपमें रहने दो।' ऐसा कहकर ऋतुपर्णने नलको अपनी विद्या दे दी ॥

तस्याक्षहृदयज्ञस्य शरीरान्निःसृतः कलिः ।
कर्कोटकविषं तीक्ष्णं मुखात् सततमुद्वमन् ॥ ३० ॥
कलेस्तस्य तदार्तस्य शापाग्निः स विनिःसृतः ।
स तेन कर्शितो राजा दीर्घकालमनात्मवान् ॥ ३१ ॥

द्यूत-विद्याका रहस्य जाननेके अनन्तर नलके शरीरसे कलियुग निकला । वह कर्कोटक नागके तीखे विषको अपने मुखसे बार-बार उगल रहा था । उस समय कष्टमें पड़े हुए कलियुगकी वह शापाग्नि भी दूर हो गयी । राजा नलको उसने दीर्घकालतक कष्ट दिया था और उसीके कारण वे किंकर्तव्यविमूढ हो रहे थे ॥ ३०-३१ ॥

ततो विषविमुक्तात्मा स्वं रूपमकरोत् कलिः ।
तं शप्तुमैच्छत् कुपितो निषधाधिपतिर्नलः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर विषके प्रभावसे मुक्त होकर कलियुगने अपने स्वरूपको प्रकट किया । उस समय निषधनरेश नलने कुपित हो कलियुगको शाप देनेकी इच्छा की ॥ ३२ ॥

तमुवाच कलिर्भीतो वेपमानः कृताञ्जलिः ।
कोपं संयच्छ नृपते कीर्तिं दास्यामि ते पराम् ॥ ३३ ॥

तब कलियुग भयभीत हो काँपता हुआ हाथ जोड़ उनसे बोला—'महाराज ! अपने क्रोधको रोकिये । मैं आपको उत्तम कीर्ति प्रदान करूँगा ॥ ३३ ॥

इन्द्रसेनस्य जननी कुपिता माशपत् पुरा ।
यदा त्वया परित्यक्ता ततोऽहं भृशपीडितः ॥ ३४ ॥

'इन्द्रसेनकी माता दमयन्तीने, पहले जब उसे आपने वनमें त्याग दिया था, कुपित होकर मुझे शाप दे दिया। उससे मैं बड़ा कष्ट पाता रहा हूँ ॥ ३४ ॥

अवसं त्वयि राजेन्द्र सुदुःखमपराजित ।
विषेण नागराजस्य दह्यमानो दिवानिशम् ॥ ३५ ॥

'किसीसे पराजित न होनेवाले महाराज! मैं आपके शरीरमें अत्यन्त दुःखित होकर रहता था । नागराज कर्कोटकके विषसे मैं दिन-रात झुलसता जा रहा था (इस प्रकार मुझे अपने कियेका कठोर दण्ड मिल गया है) ॥ ३५ ॥

शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि शृणु चेदं वचो मम ।
ये च त्वां मनुजा लोके कीर्तयिष्यन्त्यतन्द्रिताः ।
मत्प्रसूतं भयं तेषां न कदाचिद् भविष्यति ॥ ३६ ॥
भयार्तं शरणं यातं यदि मां त्वं न शप्स्यसे ।
एवमुक्तो नलो राजा न्ययच्छत् कोपमात्मनः ॥ ३७ ॥

'अब मैं आपकी शरणमें हूँ । आप मेरी यह बात सुनिये । यदि भयसे पीड़ित और शरणमें आये हुए मुझको आप शाप नहीं देंगे तो संसारमें जो मनुष्य आलस्यरहित हो आपकी कीर्ति-कथाका कीर्तन करेंगे, उन्हें मुझसे कभी भय नहीं होगा ।' कलियुगके ऐसा कहनेपर राजा नलने अपने क्रोधको रोक लिया ॥ ३६-३७ ॥

ततो भीतः कलिः क्षिप्रं प्रविवेश विभीतकम् ।
कलिस्त्वन्यैस्तदादृश्यः कथयन् नैषधेन वै ॥ ३८ ॥

तदनन्तर कलियुग भयभीत हो तुरंत ही बहेड़ेके वृक्षमें समा गया । वह जिस समय निषधराज नलके साथ बात कर रहा था, उस समय दूसरे लोग उसे नहीं देख पाते थे ॥३८॥

ततो गतज्वरो राजा नैषधः परवीरहा ।
सम्प्रणष्टे कलौ राजा संख्यायास्य फलान्युत ॥ ३९ ॥
मुदा परमया युक्तस्तेजसाथ परेण वै ।
रथमारुह्य तेजस्वी प्रययौ जवनैर्हयैः ॥ ४० ॥

तदनन्तर कलियुगके अदृश्य हो जानेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले निषधनरेश राजा नल सारी चिन्ताओंसे मुक्त हो गये । बहेड़ेके फलोंको गिनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई । वे उत्तम तेजसे युक्त तेजस्वी रूप धारण करके रथपर चढ़े और वेगशाली घोड़ोंको हाँकते हुए विदर्भदेशको चल दिये ॥

विभीतकश्चाप्रशस्तः संवृत्तः कलिसंश्रयात् ।
हयोत्तमानुत्पततो द्विजानिव पुनः पुनः ॥ ४१ ॥
नलः संचोदयामास प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
विदर्भाभिमुखो राजा प्रययौ स महायशाः ॥ ४२ ॥

कलियुगके आश्रय लेनेसे बहेड़ेका वृक्ष निन्दित हो गया। तदनन्तर राजा नलने प्रसन्नचित्तसे पुनः घोड़ोंको हाँकना आरम्भ किया । वे उत्तम अश्व पक्षियोंकी तरह बार-बार उड़ते हुए-से प्रतीत हो रहे थे । अब महायशस्वी राजा नल विदर्भदेशकी ओर (बड़े वेगसे बढ़े) जा रहे थे॥४१-४२॥

नले तु समतिक्रान्ते कलिरप्यगमद् गृहम् ।
ततो गतज्वरो राजा नलोऽभूत् पृथिवीपतिः ।
विमुक्तः कलिना राजन् रूपमात्रवियोजितः ॥ ४३ ॥

नलके चले जानेपर कलि अपने घर चले गये । राजन् !

कलिसे मुक्त हो भूमिपाल राजा नल सारी चिन्ताओंसे छुटकारा पा गये; किंतु अभीतक उन्हें अपना पहला रूप नहीं प्राप्त हुआ था। उनमें केवल इतनी ही कमी रह गयी थी ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कलिनिर्गमे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें कलियुगनिर्गमनविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

ऋतुपर्णका कुण्डिनपुरमें प्रवेश, दमयन्तीका विचार तथा भीमके द्वारा ऋतुपर्णका स्वागत

बृहदश्व उवाच

ततो विदर्भान् सम्प्राप्तं सायाह्ने सत्यविक्रमम्।
ऋतुपर्णं जना राज्ञे भीमाय प्रत्यवेदयन् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर शाम होते-होते सत्यपराक्रमी राजा ऋतुपर्ण विदर्भराज्यमें जा पहुँचे। लोगोंने राजा भीमको इस बातकी सूचना दी ॥ १ ॥

स भीमवचनाद् राजा कुण्डिनं प्राविशत् पुरम्।
नादयन् रथघोषेण सर्वाः स विदिशो दिशः ॥ २ ॥

भीमके अनुरोधसे राजा ऋतुपर्णने अपने रथकी घर्घराहटद्वारा सम्पूर्ण दिशा-विदिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए कुण्डिनपुरमें प्रवेश किया ॥ २ ॥

ततस्तं रथनिर्घोषं नलाश्वास्तत्र शुश्रुवुः ।
श्रुत्वा तु समहृष्यन्त पुरेव नलसंनिधौ ॥ ३ ॥

नलके घोड़े वहीं रहते थे, उन्होंने रथका वह घोष सुना। सुनकर वे उतने ही प्रसन्न और उत्साहित हुए, जितने कि पहले नलके समीप रहा करते थे ॥ ३ ॥

दमयन्ती तु शुश्राव रथघोषं नलस्य तम् ।
यथा मेघस्य नदतो गम्भीरं जलदागमे ॥ ४ ॥

दमयन्तीने भी नलके रथकी वह घर्घराहट सुनी, मानो वर्षाकालमें गरजते हुए मेघोंका गम्भीर घोष सुनायी देता हो ॥

परं विस्मयमापन्ना श्रुत्वा नादं महास्वनम् ।
नलेन संगृहीतेषु पुरेव नलवाजिषु ।
सदृशं रथनिर्घोषं मेने भैमी तथा हयाः ॥ ५ ॥

वह महाभयंकर रथनाद सुनकर उसे बड़ा विस्मय हुआ। पूर्वकालमें राजा नल जब घोड़ोंकी बाग सँभालते थे, उन दिनों उनके रथसे जैसी गम्भीर ध्वनि प्रकट होती थी, वैसी ही उस समयके रथकी घर्घराहट भी दमयन्ती और उसके घोड़ोंको जान पड़ी ॥ ५ ॥

प्रासादस्थाश्च शिखिनः शालास्थाश्चैव वारणाः।
हयाश्च शुश्रुवुस्तस्य रथघोषं महीपतेः ॥ ६ ॥

महलपर बैठे हुए मयूरों, गजशालामें बँधे हुए गजराजों तथा अश्वशालाके अश्वोंने राजाके रथका वह अद्भुत घोष सुना ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा रथनिर्घोषं वारणाः शिखिनस्तथा ।
प्रणेदुरुन्मुखा राजन् मेघनाद इवोत्सुकाः ॥ ७ ॥

राजन् ! रथकी उस आवाजको सुनकर हाथी और मयूर अपना मुँह ऊपर उठाकर उसी प्रकार उत्कण्ठापूर्वक अपनी बोली बोलने लगे, जैसे वे मेघोंकी गर्जना होनेपर बोला करते हैं ॥ ७ ॥

दमयन्त्युवाच

यथासौ रथनिर्घोषः पूरयन्निव मेदिनीम् ।
ममाह्लादयते चेतो नल एष महीपतिः ॥ ८ ॥

(उस समय) दमयन्तीने (मन-ही-मन) कहा—अहो ! रथकी वह घर्घराहट इस पृथ्वीको गुँजाती हुई जिस प्रकार मेरे मनको आह्लाद प्रदान कर रही है, उससे जान पड़ता है, ये महाराज नल ही पधारे हैं ॥ ८ ॥

अद्य चन्द्राभवक्त्रं तं न पश्यामि नलं यदि ।
असंख्येयगुणं वीरं विनङ्क्ष्यामि न संशयः ॥ ९ ॥

आज यदि असंख्य गुणोंसे विभूषित तथा चन्द्रमाके समान मुखवाले वीरवर नलको न देखूँगी तो अपने इस जीवनका अन्त कर दूँगी, इसमें संशय नहीं है ॥ ९ ॥

यदि वै तस्य वीरस्य बाह्वोर्नाद्याहमन्तरम् ।
प्रविशामि सुखस्पर्शं न भविष्याम्यसंशयम् ॥ १० ॥

आज यदि मैं इन वीरशिरोमणि नलकी दोनों भुजाओंके मध्यभागमें, जिसका स्पर्श अत्यन्त सुखद है, प्रवेश न कर सकी तो अवश्य जीवित न रह सकूँगी ॥ १० ॥

यदि मां मेघनिर्घोषो नोपगच्छति नैषधः ।
अद्य चामीकरप्रख्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥ ११ ॥

यदि रथद्वारा मेघके समान गम्भीर गर्जना करनेवाले निषधदेशके स्वामी महाराज नल आज मेरे पास नहीं पधारेंगे तो मैं सुवर्णके समान देदीप्यमान दहकती हुई आगमें प्रवेश कर जाऊँगी ॥ ११ ॥

यदि मां सिंहविक्रान्तो मत्तवारणविक्रमः।
नाभिगच्छति राजेन्द्रो विनङ्क्ष्यामि न संशयः॥ १२ ॥

यदि सिंहके समान पराक्रमी और मतवाले हाथीके समान

मस्तानी चालसे चलनेवाले राजराजेश्वर नल मेरे पास नहीं आयेंगे तो आज अपने जीवनको नष्ट कर दूँगी; इसमें संशय नहीं है ॥ १२ ॥

न स्मराम्यनृतं किंचिन्न स्मराम्यपकारताम् ।
न च पर्युषितं वाक्यं स्वैरेष्वपि कदाचन ॥ १३ ॥

मुझे याद नहीं कि स्वेच्छापूर्वक अर्थात् हँसी-मजाकमें भी मैं कभी झूठ बोली हूँ, स्मरण नहीं कि कभी किसीका मेरेद्वारा अपकार हुआ हो तथा यह भी स्मरण नहीं कि मैंने प्रतिज्ञा की हुई बातका उल्लङ्घन किया हो ॥ १३ ॥

प्रभुः क्षमावान् वीरश्च दाता चाप्यधिको नृपैः ।
रहोऽनीचानुवर्ती च क्लीबवन्मम नैषधः ॥ १४ ॥

मेरे निषधराज नल शक्तिशाली, क्षमाशील, वीर, दाता, सब राजाओंसे श्रेष्ठ, एकान्तमें भी नीच कर्मसे दूर रहनेवाले तथा परायी स्त्रियोंके लिये नपुंसकतुल्य हैं ॥ १४ ॥

गुणांस्तस्य स्मरन्त्या मे तत्पराया दिवानिशम् ।
हृदयं दीर्यत इदं शोकात् प्रियविनाकृतम् ॥ १५ ॥

मैं (सदा) उन्हींके गुणोंका स्मरण करती और दिन-रात उन्हींके परायण रहती हूँ। प्रियतम नलके बिना मेरा यह हृदय उनके विरहशोकसे विदीर्ण-सा होता रहता है ॥ १५ ॥

एवं विलपमाना सा नष्टसंज्ञेव भारत ।
आरुरोह महद् वेश्म पुण्यश्लोकदिदृक्षया ॥ १६ ॥

भारत ! इस प्रकार विलाप करती हुई दमयन्ती अचेत-सी हो गयी। वह पुण्यश्लोक नलके दर्शनकी इच्छासे ऊँचे महलकी छतपर जा चढ़ी ॥ १६ ॥

ततो मध्यमकक्षायां ददर्श रथमास्थितम् ।
ऋतुपर्णं महीपालं सहवार्ष्णेयबाहुकम् ॥ १७ ॥

वहाँसे उसने देखा, वार्ष्णेय और बाहुकके साथ रथपर बैठे हुए महाराज ऋतुपर्ण मध्यम कक्षा (परकोटे)में पहुँच गये हैं ॥ १७ ॥

ततोऽवतीर्य वार्ष्णेयो बाहुकश्च रथोत्तमात् ।
हयांस्तानवमुच्याथ स्थापयामास वै रथम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर वार्ष्णेय और बाहुकने उस उत्तम रथसे उतरकर घोड़े खोल दिये और रथको एक जगह खड़ा कर दिया ॥

सोऽवतीर्य रथोपस्थादृतुपर्णो नराधिपः ।
उपतस्थे महाराजं भीमं भीमपराक्रमम् ॥ १९ ॥

इसके बाद राजा ऋतुपर्ण रथके पिछले भागसे उतरकर भयानक पराक्रमी महाराज भीमसे मिले ॥ १९ ॥

तं भीमः प्रतिजग्राह पूजया परया ततः ।
स तेन पूजितो राज्ञा ऋतुपर्णो नराधिपः ॥ २० ॥

तदनन्तर भीमने बड़े आदर-सत्कारके साथ उन्हें अपनाया और राजा ऋतुपर्णका भलीभाँति आदर-सत्कार किया ॥ २० ॥

स तत्र कुण्डिने रम्ये वसमानो महीपतिः ।
न च किंचित् तदापश्यत् प्रेक्षमाणो मुहुर्मुहुः ॥
स तु राज्ञा समागम्य विदर्भपतिना तदा ॥ २१ ॥
अकस्मात् सहसा प्राप्तं स्त्रीमन्त्रं न स्म विन्दति ।

भूपाल ऋतुपर्ण रमणीय कुण्डिनपुरमें ठहर गये। उन्हें बार-बार देखनेपर भी वहाँ (स्वयंवर-जैसी) कोई चीज नहीं दिखायी दी। वे विदर्भनरेशसे मिलकर सहसा इस बातको न जान सके कि यह स्त्रियोंकी अकस्मात् गुप्त मन्त्रणामात्र थी ॥ २१½ ॥

किं कार्यं स्वागतं तेऽस्तु राज्ञा पृष्टः स भारत ॥ २२ ॥

भरतनन्दन युधिष्ठिर ! विदर्भराजने स्वागतपूर्वक ऋतुपर्णसे पूछा—'आपके यहाँ पधारनेका क्या कारण है ?'॥

नाभिजज्ञे स नृपतिर्दुहित्रर्थे समागतम् ।
ऋतुपर्णोऽपि राजा स धीमान् सत्यपराक्रमः ॥ २३ ॥

राजा भीम यह नहीं जानते थे कि दमयन्तीके लिये ही इनका शुभागमन हुआ है। राजा ऋतुपर्ण भी बड़े बुद्धिमान् और सत्यपराक्रमी थे ॥ २३ ॥

राजानं राजपुत्रं वा न स्म पश्यति कंचन ।
नैव स्वयंवरकथां न च विप्रसमागमम् ॥ २४ ॥
ततो व्यगणयद् राजा मनसा कोसलाधिपः ।
आगतोऽस्मीत्युवाचैनं भवन्तमभिवादकः ॥ २५ ॥

उन्होंने वहाँ किसी भी राजा या राजकुमारको नहीं देखा। ब्राह्मणोंका भी वहाँ समागम नहीं हो रहा था। स्वयंवरकी तो कोई चर्चातक नहीं थी। तब कोशलनरेशने मन-ही-मन कुछ विचार किया और विदर्भराजसे कहा—'राजन् ! मैं आपका अभिवादन करनेके लिये आया हूँ' ॥

राजापि च स्मयन् भीमो मनसा समचिन्तयत् ।
अधिकं योजनशतं तस्यागमनकारणम् ॥ २६ ॥
ग्रामान् बहूनतिक्रम्य नाध्यगच्छद् यथातथम् ।
अल्पकार्यं विनिर्दिष्टं तस्यागमनकारणम् ॥ २७ ॥

यह सुनकर राजा भीम भी मुसकरा दिये और मन-ही-मन सोचने लगे—'ये बहुत-से गाँवोंको लाँघकर सौ योजनसे भी अधिक दूर चले आये हैं, किंतु कार्य इन्होंने बहुत साधारण बतलाया है। फिर इनके आगमनका क्या कारण है, इसे मैं ठीक-ठीक न जान सका ॥ २६-२७ ॥

पश्चादुदर्के ज्ञास्यामि कारणं यद् भविष्यति ।
नैतदेवं स नृपतिस्तं सत्कृत्य व्यसर्जयत् ॥ २८ ॥

'अच्छा, जो भी कारण होगा पीछे मालूम कर लूँगा। ये जो कारण बता रहे हैं, इतना ही इनके आगमनका हेतु नहीं

है।' ऐसा विचारकर राजाने उन्हें सत्कारपूर्वक विश्रामके लिये विदा किया ॥ २८ ॥

विश्राम्यतामित्युवाच क्लान्तोऽसीति पुनः पुनः ।
स सत्कृतः प्रहृष्टात्मा प्रीतः प्रीतेन पार्थिवः ॥ २९ ॥

और कहा—'आप बहुत थक गये होंगे, अतः विश्राम कीजिये।' विदर्भनरेशके द्वारा प्रसन्नतापूर्वक आदर-सत्कार पाकर राजा ऋतुपर्णको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ २९ ॥

राजप्रेष्यैरनुगतो दिष्टं वेश्म समाविशत् ।
ऋतुपर्णे गते राजन् वार्ष्णेयसहिते नृपे ॥ ३० ॥
बाहुको रथमादाय रथशालामुपागमत् ।
स मोचयित्वा तानश्वानुपचर्य च शास्त्रतः ॥ ३१ ॥
स्वयं चैतान् समाश्वास्य रथोपस्थ उपाविशत् ।

फिर वे राजसेवकोंके साथ गये और बताये हुए भवनमें विश्रामके लिये प्रवेश किया। राजन्! वार्ष्णेयसहित ऋतुपर्णके चले जानेपर बाहुक रथ लेकर रथशालामें गया। उसने उन घोड़ोंको खोल दिया और अश्वशास्त्रकी विधिके अनुसार उनकी परिचर्या करनेके बाद घोड़ोंको पुचकारकर उन्हें धीरज देनेके पश्चात् वह स्वयं भी रथके पिछले भागमें जा बैठा ॥ ३०-३१½ ॥

दमयन्त्यपि शोकार्ता दृष्ट्वा भाङ्गासुरिं नृपम् ॥ ३२ ॥
सूतपुत्रं च वार्ष्णेयं बाहुकं च तथाविधम् ।
चिन्तयामास वैदर्भी कस्यैष रथनिःस्वनः ॥ ३३ ॥

दमयन्ती भी शोकसे आतुर हो राजा ऋतुपर्ण, सूतपुत्र वार्ष्णेय तथा पूर्वोक्त बाहुकको देखकर सोचने लगी—'यह किसके रथकी घर्घराहट सुनायी पड़ती थी ॥ ३२-३३ ॥

नलस्येव महानासीन्न च पश्यामि नैषधम् ।
वार्ष्णेयेन भवेन्नूनं विद्या सैवोपशिक्षिता ॥ ३४ ॥
तेनाद्य रथनिर्घोषो नलस्येव महानभूत् ।
आहोस्विदृतुपर्णोऽपि यथा राजा नलस्तथा ।
यथायं रथनिर्घोषो नैषधस्येव लक्ष्यते ॥ ३५ ॥

'वह गम्भीर घोष तो महाराज नलके रथ-जैसा था; परंतु इन आगन्तुकोंमें मुझे निषधराज नल नहीं दिखायी देते। वार्ष्णेयने भी नलके समान ही अश्वविद्या सीख ली हो, निश्चय ही यह सम्भावना की जा सकती है। तभी आज रथकी आवाज बड़े जोरसे सुनायी दे रही थी, जैसे नलके रथ हाँकते समय हुआ करती है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि राजा ऋतुपर्ण भी वैसे ही अश्वविद्यामें निपुण हों, जैसे राजा नल हैं; क्योंकि नलके ही समान इनके रथका भी गम्भीर घोष लक्षित होता है' ॥ ३४-३५ ॥

एवं सा तर्कयित्वा तु दमयन्ती विशाम्पते ।
दूतीं प्रस्थापयामास नैषधान्वेषणे शुभा ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर! इस प्रकार विचार करके शुभलक्षणा दमयन्तीने नलका पता लगानेके लिये अपनी दूतीको भेजा ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णस्य भीमपुरप्रवेशे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें ऋतुपर्णका राजा भीमके नगरमें प्रवेशविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

बाहुक-केशिनी-संवाद

दमयन्त्युवाच

गच्छ केशिनि जानीहि क एष रथवाहकः ।
उपविष्टो रथोपस्थे विकृतो ह्रस्वबाहुकः ॥ १ ॥

दमयन्ती बोली—केशिनी! जाओ और पता लगाओ कि यह छोटी-छोटी बाँहोंवाला कुरूप रथवाहक, जो रथके पिछले भागमें बैठा है, कौन है? ॥ १ ॥

अभ्येत्य कुशलं भद्रे मृदुपूर्वं समाहिता ।
पृच्छेथाः पुरुषं ह्येनं यथातत्त्वमनिन्दिते ॥ २ ॥

भद्रे! इसके निकट जाकर सावधानीके साथ मधुर वाणीमें कुशल पूछना। अनिन्दिते! साथ ही इस पुरुषके विषयमें ठीक-ठीक बातें जाननेकी चेष्टा करना ॥ २ ॥

अत्र मे महती शङ्का भवेदेष नलो नृपः ।
यथा च मनसस्तुष्टिर्हृदयस्य च निर्वृतिः ॥ ३ ॥

इसके विषयमें मुझे बड़ी भारी शङ्का है। सम्भव है, इस वेषमें राजा नल ही हों। मेरे मनमें जैसा संतोष है और हृदयमें जैसी शान्ति है, इससे मेरी उक्त धारणा पुष्ट हो रही है ॥ ३ ॥

ब्रूयाश्चैनं कथान्ते त्वं पर्णादवचनं यथा ।
प्रतिवाक्यं च सुश्रोणि बुद्ध्येथास्त्वमनिन्दिते ॥ ४ ॥

सुश्रोणि! तुम बातचीतके सिलसिलेमें इसके सामने पर्णाद ब्राह्मणवाली बात कहना और अनिन्दिते! यह जो उत्तर दे, उसे अच्छी तरह समझना ॥ ४ ॥

ततः समाहिता गत्वा दूती बाहुकमब्रवीत् ।
दमयन्त्यपि कल्याणी प्रासादस्था ह्युपैक्षत ॥ ५ ॥

तब वह दूती बड़ी सावधानीसे वहाँ जाकर बाहुकसे बातचीत करने लगी और कल्याणी दमयन्ती भी महलमें

उसके लौटनेकी प्रतीक्षामें बैठी रही ॥ ५ ॥

केशिन्युवाच

स्वागतं ते मनुष्येन्द्र कुशलं ते ब्रवीम्यहम्।
दमयन्त्या वचः साधु निबोध पुरुषर्षभ ॥ ६ ॥

केशिनीने कहा—नरेन्द्र ! आपका स्वागत है ! मैं आपका कुशल-समाचार पूछती हूँ । पुरुषश्रेष्ठ ! दमयन्तीकी कही हुई ये उत्तम बातें सुनिये ॥ ६ ॥

कदा वै प्रस्थिता यूयं किमर्थमिह चागताः।
तत् त्वं ब्रूहि यथान्यायं वैदर्भी श्रोतुमिच्छति ॥ ७ ॥

विदर्भराजकुमारी यह सुनना चाहती हैं कि आपलोग अयोध्यासे कब चले हैं और किस लिये यहाँ आये हैं ? आप न्यायके अनुसार ठीक-ठीक बतायें ॥ ७ ॥

बाहुक उवाच

श्रुतः स्वयंवरो राज्ञा कोसलेन महात्मना।
द्वितीयो दमयन्त्या वै भविता श्व इति द्विजात् ॥ ८ ॥

बाहुक बोला—महात्मा कोसलराजने एक ब्राह्मणके मुखसे सुना था कि कल दमयन्तीका द्वितीय स्वयंवर होनेवाला है ॥ ८ ॥

श्रुत्वैतत् प्रस्थितो राजा शतयोजनयायिभिः।
हयैर्वातजवैर्मुख्यैरहमस्य च सारथिः ॥ ९ ॥

यह सुनकर राजा हवाके समान वेगवाले और सौ योजनतक दौड़नेवाले अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए रथपर सवार हो विदर्भदेशके लिये प्रस्थित हो गये । इस यात्रामें मैं ही इनका सारथि था ॥ ९ ॥

केशिन्युवाच

अथ योऽसौ तृतीयो वः स कुतः कस्य वा पुनः।
त्वं च कस्य कथं चेदं त्वयि कर्म समाहितम् ॥ १० ॥

केशिनीने पूछा—आपलोगोंमेंसे जो तीसरा व्यक्ति है, वह कहाँसे आया है अथवा किसका सेवक है ? ऐसे ही आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं और आपपर इस कार्यका भार कैसे आया है ? ॥ १० ॥

बाहुक उवाच

पुण्यश्लोकस्य वै सूतो वार्ष्णेय इति विश्रुतः।
स नले विद्रुते भद्रे भाङ्गासुरिमुपस्थितः॥ ११ ॥

बाहुक बोला—भद्रे ! उस तीसरे व्यक्तिका नाम वार्ष्णेय है । वह पुण्यश्लोक राजा नलका सारथि है । नलके वनमें निकल जानेपर वह ऋतुपर्णकी सेवामें चला गया है ॥

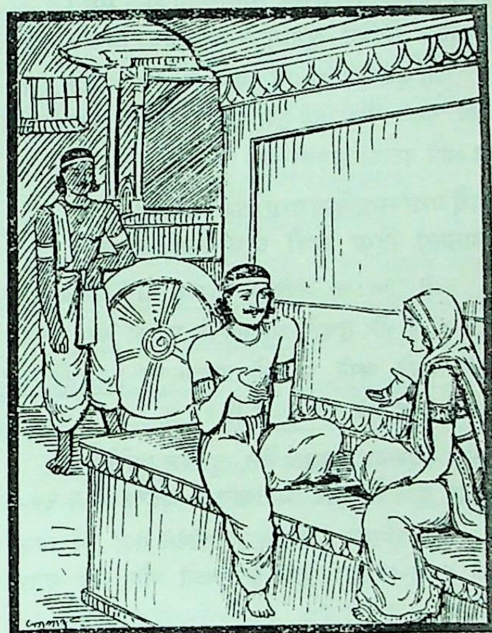
अहमप्यश्वकुशलः सूतत्वे च प्रतिष्ठितः।
ऋतुपर्णेन सारथ्ये भोजने च वृतः स्वयम् ॥ १२ ॥

मैं भी अश्वविद्यामें कुशल हूँ और सारथिके कार्यमें भी निपुण हूँ, इसलिये राजा ऋतुपर्णने स्वयं ही मुझे वेतन देकर सारथिके पदपर नियुक्त कर लिया ॥ १२ ॥

केशिन्युवाच

अथ जानाति वार्ष्णेयः क्व नु राजा नलो गतः।
कथं च त्वयि वा तेन कथितं स्यात् तु बाहुक ॥ १३ ॥

केशिनीने पूछा—बाहुक ! क्या वार्ष्णेय यह जानता है कि राजा नल कहाँ चले गये, उसने आपसे महाराजके सम्बन्धमें कैसी बात बतायी है ? ॥ १३ ॥



बाहुक उवाच

इहैव पुत्रौ निक्षिप्य नलस्य शुभकर्मणः।
गतस्ततो यथाकामं नैष जानाति नैषधम् ॥ १४ ॥

बाहुक बोला—भद्रे ! पुण्यकर्मा नलके दोनों बालकोंको यहीं रखकर वार्ष्णेय अपनी रुचिके अनुसार अयोध्या चला गया था । यह नलके विषयमें कुछ नहीं जानता है ॥

न चान्यः पुरुषः कश्चिन्नलं वेत्ति यशस्विनि।
गूढश्चरति लोकेऽस्मिन् नष्टरूपो महीपतिः ॥ १५ ॥

यशस्विनि ! दूसरा कोई पुरुष भी नलको नहीं जानता । राजा नलका पहला रूप अदृश्य हो गया है । वे इस जगत्में गूढ़भावसे विचरते हैं ॥ १५ ॥

आत्मैव तु नलं वेद या चास्य तदनन्तरा।
न हि वै स्वानि लिङ्गानि नलः शंसति कर्हिचित् ॥ १६ ॥

परमात्मा ही नलको जानते हैं तथा उसकी जो अन्तरात्मा है, वह उन्हें जानती है, दूसरा कोई नहीं; क्योंकि राजा नल

अपने लक्षणों या चिह्नोंको कभी दूसरोंके सामने नहीं प्रकट करते हैं ॥ १६ ॥

केशिन्युवाच

योऽसावयोध्यां प्रथमं गतोऽसौ ब्राह्मणस्तदा।
इमानि नारीवाक्यानि कथयानः पुनः पुनः ॥ १७ ॥

केशिनीने कहा—पहली बार अयोध्यामें जब वे ब्राह्मण-देवता गये थे, तब उन्होंने स्त्रियोंकी सिखायी हुई निम्नाङ्कित बातें बार-बार कही थीं—॥ १७ ॥

क नु त्वं कितवच्छित्त्वा वस्त्रार्धं प्रस्थितो मम ।
उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय ॥ १८ ॥

'ओ जुआरी प्रियतम ! तुम अपने प्रति अनुराग रखनेवाली वनमें सोयी हुई मुझ प्यारी पत्नीको छोड़कर तथा मेरे आधे वस्त्रको फाड़कर कहाँ चल दिये ? ॥ १८ ॥

सा वै यथा समादिष्टा तथाऽऽस्ते त्वत्प्रतीक्षिणी।
दह्यमाना दिवा रात्रौ वस्त्रार्धेनाभिसंवृता ॥ १९ ॥

'उसे तुमने जिस अवस्थामें देखा था, उसी अवस्थामें वह आज भी है और तुम्हारे आगमनकी प्रतीक्षा कर रही है। आधे वस्त्रसे अपने शरीरको ढककर वह युवती दिन-रात तुम्हारी विरहाग्निमें जल रही है ॥ १९ ॥

तस्या रुदन्त्याः सततं तेन दुःखेन पार्थिव ।
प्रसादं कुरु मे वीर प्रतिवाक्यं वदस्व च ॥ २० ॥

'वीर भूमिपाल ! सदा तुम्हारे शोकसे रोती हुई अपनी उसी प्यारी पत्नीपर पुनः कृपा करो और मेरी बातका उत्तर दो' ॥ २० ॥

तस्यास्तत् प्रियमाख्यानं प्रवदस्व महामते ।
तदेव वाक्यं वैदर्भी श्रोतुमिच्छत्यनिन्दिता ॥ २१ ॥

'महामते ! इसके उत्तरमें आप दमयन्तीको प्रिय लगनेवाली कोई बात कहिये । साध्वी विदर्भकुमारी आपकी उसी बातको पुनः सुनना चाहती हैं ॥ २१ ॥

एतच्छ्रुत्वा प्रतिवचस्तस्य दत्तं त्वया किल ।
यत् पुरा तत् पुनस्त्वत्तो वैदर्भी श्रोतुमिच्छति॥ २२ ॥

बाहुक ! ब्राह्मणके मुखसे यह वचन सुनकर पहले आपने जो उत्तर दिया था, उसीको वैदर्भी आपके मुँहसे पुनः सुनना चाहती हैं ॥ २२ ॥

बृहदश्व उवाच

एवमुक्तस्य केशिन्या नलस्य कुरुनन्दन ।
हृदयं व्यथितं चासीदश्रुपूर्णे च लोचने ॥ २३ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! केशिनीके ऐसा कहनेपर राजा नलके हृदयमें बड़ी वेदना हुई । उनकी दोनों आँखें आँसुओंसे भर गयीं ॥ २३ ॥

स निगृह्यात्मनो दुःखं दह्यमानो महीपतिः ।
बाष्पसंदिग्धया वाचा पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

निषधनरेश शोकाग्निसे दग्ध हो रहे थे, तो भी उन्होंने अपने दुःखके वेगको रोककर अश्रुगद्गद वाणीमें पुनः यों कहना आरम्भ किया ॥ २४ ॥

बाहुक उवाच

वैषम्यमपि सम्प्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः ।
आत्मानमात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः ॥ २५ ॥

बाहुक बोला—उत्तम कुलकी स्त्रियाँ बड़े भारी संकटमें पड़कर भी स्वयं अपनी रक्षा करती हैं । ऐसा करके वे स्वर्ग और सत्य दोनोंपर विजय पा लेती हैं, इसमें संशय नहीं है ॥

रहिता भर्तृभिश्चापि न क्रुध्यन्ति कदाचन ।
प्राणांश्चारित्रकवचान् धारयन्ति वरस्त्रियः ॥ २६ ॥

श्रेष्ठ नारियाँ अपने पतियोंसे परित्यक्त होनेपर भी कभी क्रोध नहीं करतीं । वे सदा सदाचाररूपी कवचसे आवृत प्राणोंको धारण करती हैं ॥ २६ ॥

विषमस्थेन मूढेन परिभ्रष्टसुखेन च ।
यत् सा तेन परित्यक्ता तत्र न क्रोद्धुमर्हति ॥ २७ ॥

वह पुरुष बड़े संकटमें था तथा सुखके साधनोंसे वञ्चित होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। ऐसी दशामें यदि उसने अपनी पत्नीका परित्याग किया है,तो इसके लिये पत्नीको उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ २७ ॥

प्राणयात्रां परिप्रेप्सोः शकुनैर्हृतवाससः ।
आधिभिर्दह्यमानस्य श्यामा न क्रोद्धुमर्हति ॥ २८ ॥

जीविका पानेके लिये चेष्टा करते समय पक्षियोंने जिसके वस्त्रका अपहरण कर लिया था और जो अनेक प्रकारकी मानसिक चिन्ताओंसे दग्ध हो रहा था, उस पुरुषपर श्यामाको क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ २८ ॥

सत्कृतासत्कृता वापि पतिं दृष्ट्वा तथाविधम् ।
राज्यभ्रष्टं श्रिया हीनं क्षुधितं व्यसनाप्लुतम् ॥ २९ ॥

पतिने उसका सत्कार किया हो या असत्कार; उसे चाहिये कि पतिको वैसे संकटमें पड़ा देखकर उसे क्षमा कर दे; क्योंकि वह राज्य और लक्ष्मीसे वञ्चित हो भूखसे पीड़ित एवं विपत्तिके अथाह सागरमें डूबा हुआ था ॥ २९ ॥

एवं ब्रुवाणस्तद् वाक्यं नलः परमदुर्मनाः ।
न वाष्पमशकत् सोढुं प्ररुरोद च भारत ॥ ३० ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त बातें कहते हुए नलका मन अत्यन्त उदास हो गया। भारत ! वे अपने उमड़ते हुए आँसुओंको रोक न सके तथा रोने लगे ॥ ३० ॥

ततः सा केशिनी गत्वा दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।

तत् सर्वं कथितं चैव विकारं तस्य चैव तम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर केशिनीने भीतर जाकर दमयन्तीसे यह सब निवेदन किया। उसने बाहुककी कही हुई सारी बातों और उसके मनोविकारोंको भी यथावत् कह सुनाया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकेशिनीसंवादे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नल-केशिनीसंवादविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

दमयन्तीके आदेशसे केशिनीद्वारा बाहुककी परीक्षा तथा बाहुकका अपने लड़के-लड़कियोंको देखकर उनसे प्रेम करना

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा भृशं शोकपरायणा।
शङ्कमाना नलं तं वै केशिनीमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! यह सब सुनकर दमयन्ती अत्यन्त शोकमग्न हो गयी। उसके हृदयमें निश्चित-रूपसे बाहुकके नल होनेका संदेह हो गया और वह केशिनी-से इस प्रकार बोली—॥ १ ॥

गच्छ केशिनि भूयस्त्वं परीक्षां कुरु बाहुके।
अब्रुवाणा समीपस्था चरितान्यस्य लक्षय ॥ २ ॥

'केशिनि ! फिर जाओ और बाहुककी परीक्षा करो। अबकी बार तुम कुछ बोलना मत। निकट रहकर उसके चरित्रोंपर दृष्टि रखना ॥ २ ॥

यदा च किंचित् कुर्यात् स कारणं तत्र भामिनि।
तत्र संचेष्टमानस्य लक्षयन्ती विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

'भामिनि ! जब वह कोई काम करे तो उस कार्यको करते समय उसकी प्रत्येक चेष्टा और उसके कारणपर लक्ष्य रखना ॥ ३ ॥

न चास्य प्रतिबन्धेन देयोऽग्निरपि केशिनि।
याचते न जलं देयं सर्वथा त्वरमाणया ॥ ४ ॥

'केशिनि ! वह आग्रह करे तो भी उसे आग न देना और माँगनेपर भी किसी प्रकार जल्दीमें आकर पानी भी न देना ॥ ४ ॥

एतत् सर्वं समीक्ष्य त्वं चरितं मे निवेदय।
निमित्तं यत् त्वया दृष्टं बाहुके दैवमानुषम् ॥ ५ ॥
यच्चान्यदपि पश्येथास्तच्चाख्येयं त्वया मम।

'बाहुकके इन सब चरित्रोंकी समीक्षा करके फिर मुझे सब बात बताना। बाहुकमें यदि तुम्हें कोई दिव्य अथवा मानवोचित विशेषता दिखायी दे तथा और भी जो कोई विशेषता दृष्टिगोचर हो तो उसपर भी दृष्टि रखना और मुझे आकर बताना' ॥ ५½ ॥

दमयन्त्यैवमुक्ता सा जगामाथ च केशिनी ॥ ६ ॥
निशम्याथ हयज्ञस्य लिङ्गानि पुनरागमत्।

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर केशिनी पुनः वहाँ गयी और अश्वविद्याविशारद बाहुकके लक्षणोंका अवलोकन करके वह फिर लौट आयी ॥ ६½ ॥

सा तत् सर्वं यथावृत्तं दमयन्त्यै न्यवेदयत्।
निमित्तं यत् तया दृष्टं बाहुके दैवमानुषम् ॥ ७ ॥

उसने बाहुकमें जो दिव्य अथवा मानवोचित विशेषताएँ देखीं, उनका यथावत् समाचार पूर्णरूपसे दमयन्तीको बताया ॥ ७ ॥

केशिन्युवाच

दृढं शुच्युपचारोऽसौ न मया मानुषः क्वचित्।
दृष्टपूर्वः श्रुतो वापि दमयन्ति तथाविधः ॥ ८ ॥

केशिनीने कहा—दमयन्ती ! उसका प्रत्येक व्यवहार अत्यन्त पवित्र है। ऐसा मनुष्य तो मैंने कहीं भी पहले न तो देखा है और न सुना ही है ॥ ८ ॥

ह्रस्वमासाद्य संचारं नासौ विनमते क्वचित्।
तं तु दृष्ट्वा यथासंगमुत्सर्पति यथासुखम् ॥ ९ ॥

किसी छोटे-से-छोटे दरवाजेपर जाकर भी वह झुकता नहीं है। उसे देखकर बड़ी आसानीके साथ दरवाजा ही इस प्रकार ऊँचा हो जाता है कि जिससे मस्तकका उससे स्पर्श न हो ॥ ९ ॥

संकटेऽप्यस्य सुमहान् विवरो जायतेऽधिकः।
ऋतुपर्णस्य चार्थाय भोजनीयमनेकशः ॥ १० ॥
प्रेषितं तत्र राज्ञा तु मांसं चैव प्रभूतवत्।
तस्य प्रक्षालनार्थाय कुम्भास्तत्रोपकल्पिताः ॥ ११ ॥

संकुचित स्थानमें भी उसके लिये बहुत बड़ा अवकाश बन जाता है। राजा भीमने ऋतुपर्णके लिये अनेक प्रकारके भोज्य पदार्थ भेजे थे। उसमें प्रचुर मात्रामें केला आदि फलोंका गूदा भी था,* उसको धोनेके लिये वहाँ खाली घड़े रख दिये थे ॥ १०-११ ॥

* 'मांस' शब्दका अर्थ 'संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ' में फलका गूदा किया गया है।

ते तेनावेक्षिताः कुम्भाः पूर्णा एवाभवंस्ततः।
ततः प्रक्षालनं कृत्वा समधिश्रित्य बाहुकः ॥ १२ ॥
तृणमुष्टिं समादाय सवितुस्तं समादधत्।
अथ प्रज्वलितस्तत्र सहसा हव्यवाहनः ॥ १३ ॥

परंतु बाहुकके देखते ही वे सारे घड़े पानीसे भर गये। उससे खाद्य पदार्थोंको धोकर बाहुकने चूल्हेपर चढ़ा दिया। फिर एक मुट्ठी तिनका लेकर सूर्यकी किरणोंसे ही उसे उद्दीप्त किया। फिर तो देखते-ही-देखते सहसा उसमें आग प्रज्वलित हो गयी ॥ १२-१३ ॥

तदद्भुततमं दृष्ट्वा विस्मिताहमिहागता।
अन्यच्च तस्मिन् सुमहदाश्चर्यं लक्षितं मया ॥ १४ ॥

यह अद्भुत बात देखकर मैं आश्चर्यचकित होकर यहाँ आयी हूँ। बाहुकमें एक और भी बड़े आश्चर्यकी बात देखी है ॥ १४ ॥

यदग्निमपि संस्पृश्य नैवासौ दह्यते शुभे।
छन्देन चोदकं तस्य वहत्यावर्जितं द्रुतम् ॥ १५ ॥

शुभे! वह अग्निका स्पर्श करके भी जलता नहीं है। पात्रमें रक्खा हुआ थोड़ा-सा जल भी उसकी इच्छाके अनुसार तुरंत ही प्रवाहित हो जाता है ॥ १५ ॥

अतीव चान्यत् सुमहदाश्चर्यं दृष्टवत्यहम्।
यत् स पुष्पाण्युपादाय हस्ताभ्यां ममृदे शनैः ॥ १६ ॥
मृद्यमानानि पाणिभ्यां तेन पुष्पाणि नान्यथा।
भूय एव सुगन्धीनि हृषितानि भवन्ति हि।
एतान्यद्भुतलिङ्गानि दृष्ट्वाहं द्रुतमागता ॥ १७ ॥

एक और भी अत्यन्त आश्चर्यजनक बात मुझे उसमें दिखायी दी है। वह फूल लेकर उन्हें हाथोंसे धीरे-धीरे मसलता था। हाथोंसे मसलनेपर भी वे फूल विकृत नहीं होते थे अपितु और भी सुगन्धित और विकसित हो जाते थे। ये अद्भुत लक्षण देखकर मैं शीघ्रतापूर्वक यहाँ आयी हूँ ॥ १६-१७ ॥

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा पुण्यश्लोकस्य चेष्टितम्।
अमन्यत नलं प्राप्तं कर्मचेष्टाभिसूचितम् ॥ १८ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! दमयन्तीने पुण्यश्लोक महाराज नलकी-सी बाहुककी सारी चेष्टाओंको सुनकर मन-ही-मन यह निश्चय कर लिया कि महाराज नल ही आये हैं। अपने कार्यों और चेष्टाओंद्वारा वे पहचान लिये गये हैं ॥ १८ ॥

सा शङ्कमाना भर्तारं बाहुकं पुनरिङ्गितैः।
केशिनीं श्लक्ष्णया वाचा रुदती पुनरब्रवीत् ॥ १९ ॥
पुनर्गच्छ प्रमत्तस्य बाहुकस्योपसंस्कृतम्।
महानसाद् द्रुतं मांसमानयस्वेह भाविनि ॥ २० ॥
सा गत्वा बाहुकस्याग्रे तन्मांसमपकृष्य च।
अत्युष्णमेव त्वरिता तत्क्षणात् प्रियकारिणी ॥ २१ ॥

चेष्टाओंद्वारा उसके मनमें यह प्रबल आशङ्का जम गयी कि बाहुक मेरे पति ही हैं। फिर तो वह रोने लगी और मधुर वाणीमें केशिनीसे बोली—'सखि! एक बार फिर जाओ और जब बाहुक असावधान हो तो उसके द्वारा विशेषविधिसे उबालकर तैयार किया हुआ फलोंका गूदा रसोईघरमेंसे शीघ्र उठा लाओ।' केशिनी दमयन्तीकी प्रियकारिणी सखी थी। वह तुरंत गयी और जब बाहुकका ध्यान दूसरी ओर गया तब उसके उबाले हुए गरम-गरम फलोंके गूदेमेंसे थोड़ा-सा निकालकर तत्काल ले आयी ॥ १९–२१ ॥

दमयन्त्यै ततः प्रादात् केशिनी कुरुनन्दन।
सोचिता नलसिद्धस्य मांसस्य बहुशः पुरा ॥ २२ ॥

कुरुनन्दन! केशिनीने वह फलोंका गूदा दमयन्तीको दे दिया। उसे पहले अनेक बार नलके द्वारा उबाले हुए फलोंके गूदेके स्वादका अनुभव था ॥ २२ ॥

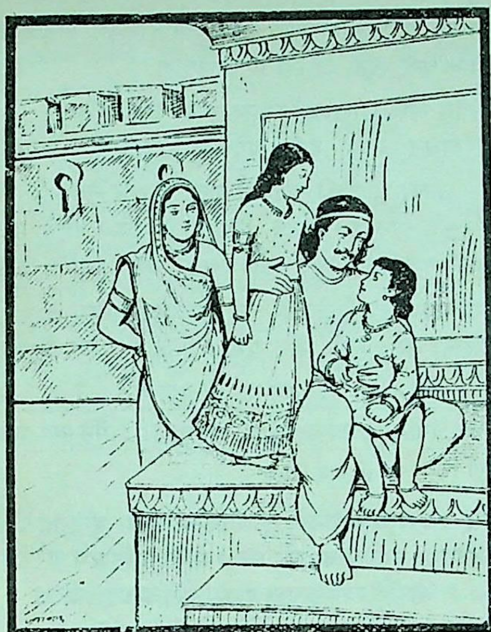
प्राश्य मत्वा नलं सूतं प्राक्रोशद् भृशदुःखिता।
वैक्लव्यं परमं गत्वा प्रक्षाल्य च मुखं ततः ॥ २३ ॥
मिथुनं प्रेषयामास केशिन्या सह भारत।
इन्द्रसेनां सह भ्रात्रा समभिज्ञाय बाहुकः ॥ २४ ॥
अभिद्रुत्य ततो राजा परिष्वज्याङ्कमानयत्।
बाहुकस्तु समासाद्य सुतौ सुरसुतोपमौ ॥ २५ ॥
भृशं दुःखपरीतात्मा सुस्वरं प्ररुरोद ह।
नैषधो दर्शयित्वा तु विकारमसकृत् तदा।
उत्सृज्य सहसा पुत्रौ केशिनीमिदमब्रवीत् ॥ २६ ॥

उसे खाकर वह पूर्णरूपसे इस निश्चयपर पहुँच गयी कि बाहुक सारथि वास्तवमें राजा नल हैं। फिर तो वह अत्यन्त दुःखी होकर विलाप करने लगी। उस समय उसकी व्याकुलता बहुत बढ़ गयी। भारत! फिर उसने मुँह धोकर केशिनीके साथ अपने बच्चोंको बाहुकके पास भेजा। बाहुकरूपी राजा नलने इन्द्रसेना और उसके भाई इन्द्रसेनको पहचान लिया और दौड़कर दोनों बच्चोंको छातीसे लगाकर गोदमें ले लिया। देवकुमारोंके समान उन दोनों सुन्दर बालकोंको





नलका अपने पूर्वरूपमें प्रकट होकर दमयन्तीसे मिलना



पाकर निषधराज नल अत्यन्त दुःखमग्न हो जोर-जोरसे रोने लगे। उन्होंने बार-बार अपने मनोविकार दिखाये और सहसा दोनों बच्चोंको छोड़कर केशिनीसे इस प्रकार कहा—॥ २३–२६ ॥

इदं च सदृशं भद्रे मिथुनं मम पुत्रयोः।
अतो दृष्ट्वैव सहसा बाष्पमुत्सृष्टवानहम् ॥ २७ ॥

'भद्रे ! ये दोनों बालक मेरे पुत्र और पुत्रीके समान हैं, इसीलिये इन्हें देखकर सहसा मेरे नेत्रोंसे आँसू बहने लगे ॥ २७ ॥

बहुशः सम्पतन्तीं त्वां जनः संकेतदोषतः।
वयं च देशातिथयो गच्छ भद्रे यथासुखम् ॥ २८ ॥

'भद्रे ! तुम बार-बार आती-जाती हो, लोग किसी दोषकी आशङ्का कर लेंगे और हमलोग इस देशके अतिथि हैं; अतः तुम सुखपूर्वक महलमें चली जाओ' ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कन्यापुत्रदर्शने पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलका अपनी पुत्री और पुत्रके देखनेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

दमयन्ती और बाहुककी बातचीत, नलका प्राकट्य और नल-दमयन्ती-मिलन

बृहदश्व उवाच

सर्वं विकारं दृष्ट्वा तु पुण्यश्लोकस्य धीमतः।
आगत्य केशिनी सर्वं दमयन्त्यै न्यवेदयत् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! परम बुद्धिमान् पुण्यश्लोक राजा नलके सम्पूर्ण विकारोंको देखकर केशिनीने दमयन्तीको आकर बताया ॥ १ ॥

दमयन्ती ततो भूयः प्रेषयामास केशिनीम्।
मातुः सकाशं दुःखार्ता नलदर्शनकाङ्क्षया ॥ २ ॥

अब दमयन्ती नलके दर्शनकी अभिलाषासे दुःखातुर हो गयी। उसने केशिनीको पुनः अपनी माँके पास भेजा ॥२॥

परीक्षितो मे बहुशो बाहुको नलशङ्कया।
रूपे मे संशयस्त्वेकः स्वयमिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

(और यह कहलाया—) 'माँ ! मेरे मनमें बाहुकके ही नलके होनेका संदेह था, जिसकी मैंने बार-बार परीक्षा करा ली है। और सब लक्षण तो मिल गये हैं। केवल नलके रूपमें संदेह रह गया है। इस संदेहका निवारण करनेके लिये मैं स्वयं पता लगाना चाहती हूँ ॥ ३ ॥

स वा प्रवेश्यतां मातर्मां वानुज्ञातुमर्हसि।
विदितं वाथवा ज्ञातं पितुर्मे संविधीयताम् ॥ ४ ॥

'माताजी ! या तो बाहुकको महलमें बुलाओ या मुझे ही बाहुकके निकट जानेकी आज्ञा दो। तुम अपनी रुचिके अनुसार पिताजीसे सूचित करके अथवा उन्हें इसकी सूचना दिये बिना इसकी व्यवस्था कर सकती हो' ॥ ४ ॥

एवमुक्ता तु वैदर्भ्या सा देवी भीममब्रवीत्।
दुहितुस्तमभिप्रायमन्वजानात् स पार्थिवः ॥ ५ ॥

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर महारानीने विदर्भनरेश भीमसे अपनी पुत्रीका यह अभिप्राय बताया। सब बातें सुनकर महाराजने आज्ञा दे दी ॥ ५ ॥

सा वै पित्राभ्यनुज्ञाता मात्रा च भरतर्षभ।
नलं प्रवेशयामास यत्र तस्याः प्रतिश्रयः ॥ ६ ॥
तां स्म दृष्ट्वैव सहसा दमयन्तीं नलो नृपः।
आविष्टः शोकदुःखाभ्यां बभूवाश्रुपरिप्लुतः ॥ ७ ॥

भरतकुलभूषण ! पिता और माताकी आज्ञा ले दमयन्तीने नलको राजभवनके भीतर जहाँ वह स्वयं रहती

थी, बुलवाया। दमयन्तीको सहसा सामने उपस्थित देख राजा नल शोक और दुःखसे व्याप्त हो नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ॥ ६-७ ॥

तं तु दृष्ट्वा तथायुक्तं दमयन्ती नलं तदा।
तीव्रशोकसमाविष्टा बभूव वरवर्णिनी ॥ ८ ॥

उस समय नलको उस अवस्थामें देखकर सुन्दरी दमयन्ती भी तीव्र शोकसे व्याकुल हो गयी ॥ ८ ॥

ततः काषायवसना जटिला मलपङ्किनी।
दमयन्ती महाराज बाहुकं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

महाराज! तदनन्तर मलिन वस्त्र पहने, जटा धारण किये, मैल और पङ्कसे मलिन दमयन्तीने बाहुकसे पूछा— ॥ ९ ॥

पूर्वं दृष्टस्त्वया कश्चिद् धर्मज्ञो नाम बाहुक।
सुप्तामुत्सृज्य विपिने गतो यः पुरुषः स्त्रियम् ॥ १० ॥

'बाहुक! तुमने पहले किसी ऐसे धर्मज्ञ पुरुषको देखा है, जो अपनी सोयी हुई पत्नीको वनमें अकेली छोड़कर चले गये थे ॥ १० ॥

अनागसं प्रियां भार्यां विजने श्रममोहिताम्।
अपहाय तु को गच्छेत् पुण्यश्लोकमृते नलम् ॥ ११ ॥

'पुण्यश्लोक महाराज नलके सिवा दूसरा कौन होगा, जो एकान्तमें थकावटके कारण अचेत सोयी हुई अपनी निर्दोष प्रियतमा पत्नीको छोड़कर जा सकता हो ॥ ११ ॥

किमु तस्य मया बाल्यादपराद्धं महीपतेः।
यो मामुत्सृज्य विपिने गतवान् निद्रयार्दिताम् ॥ १२ ॥

'न जाने उन महाराजका मैंने बचपनसे ही क्या अपराध किया था, जो नींदकी मारी हुई मुझ असहाय अबलाको जंगलमें छोड़कर चल दिये ॥ १२ ॥

साक्षाद् देवानपाहाय वृतो यः स पुरा मया।
अनुव्रतां साभिकामां पुत्रिणीं त्यक्तवान् कथम् ॥ १३ ॥

'पहले स्वयंवरके समय साक्षात् देवताओंको छोड़कर मैंने उनका वरण किया था। मैं उनकी अनुगत भक्त, निरन्तर उन्हें चाहनेवाली और पुत्रवती हूँ, तो भी उन्होंने कैसे मुझे त्याग दिया? ॥ १३ ॥

अग्नौ पाणिं गृहीत्वा तु देवानामग्रतस्तथा।
भविष्यामीति सत्यं तु प्रतिश्रुत्य क्व तद् गतम् ॥ १४ ॥

'अग्निके समीप और देवताओंके समक्ष मेरा हाथ पकड़कर और 'मैं तेरा ही अनुगत होकर रहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके जिन्होंने मुझे अपनाया था, उनका वह सत्य कहाँ चला गया?' १४

दमयन्त्या ब्रुवन्त्यास्तु सर्वमेतदरिंदम।
शोकजं वारि नेत्राभ्यामसुखं प्रास्रवद् बहु ॥ १५ ॥

शत्रुदमन युधिष्ठिर! दमयन्ती जब ये सब बातें कह रही थी, उस समय नलके नेत्रोंसे शोकजनित दुःखपूर्ण आँसुओंकी अजस्र धारा बहती जा रही थी ॥ १५ ॥

अतीव कृष्णसाराभ्यां रक्तान्ताभ्यां जलं तु तत्।
परिस्रवन् नलो दृष्ट्वा शोकार्तामिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

उनकी आँखोंकी पुतलियाँ काली थीं और नेत्रके किनारे कुछ-कुछ लाल थे। उनसे निरन्तर अश्रुधारा बहाते हुए नलने दमयन्तीको शोकसे आतुर देख इस प्रकार कहा— ॥ १६ ॥

मम राज्यं प्रणष्टं यन्नाहं तत् कृतवान् स्वयम्।
कलिना तत् कृतं भीरु यच्च त्वामहमत्यजम् ॥ १७ ॥

'भीरु! मेरा जो राज्य नष्ट हो गया और मैंने जो तुम्हें त्याग दिया, वह सब कलियुगकी करतूत थी। मैंने स्वयं कुछ नहीं किया था ॥ १७ ॥

यत् त्वया धर्मकृच्छ्रे तु शापेनाभिहतः पुरा।
वनस्थया दुःखितया शोचन्त्या मां दिवानिशम् ॥ १८ ॥
स मच्छरीरे त्वच्छापाद् दह्यमानोऽवसत् कलिः।
त्वच्छापदग्धः सततं सोऽग्नावग्निरिवाहितः ॥ १९ ॥

'पहले जब तुम वनमें दुखी होकर दिन-रात मेरे लिये शोक करती थी और उस समय धर्मसंकटमें पड़नेपर तुमने जिसे शाप दे दिया था, वही कलियुग मेरे शरीरमें तुम्हारी शापाग्निसे दग्ध होता हुआ निवास करता था, जैसे आगमें रक्खी हुई आग हो; उसी प्रकार वह कलि तुम्हारे शापसे दग्ध हो सदा मेरे भीतर रहता था ॥ १८-१९ ॥

मम च व्यवसायेन तपसा चैव निर्जितः।
दुःखस्यान्तेन चानेन भवितव्यं हि नौ शुभे ॥ २० ॥

'शुभे! मेरे व्यवसाय (उद्योग) तथा तपस्यासे कलियुग परास्त हो चुका है। अतः अब हमारे दुःखोंका अन्त हो जाना चाहिये ॥ २० ॥

विमुच्य मां गतः पापस्ततोऽहमिह चागतः।
त्वदर्थं विपुलश्रोणि न हि मेऽन्यत् प्रयोजनम् ॥ २१ ॥

'विशाल नितम्बवाली सुन्दरी! पापी कलियुग मुझे छोड़कर चला गया, इसीसे मैं तुम्हारी प्राप्तिका उद्देश्य लेकर यहाँ आया हूँ। इसके सिवा, मेरे आगमनका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २१ ॥

कथं नु नारी भर्तारमनुरक्तमनुव्रतम्।
उत्सृज्य वरयेदन्यं यथा त्वं भीरु कर्हिचित् ॥ २२ ॥

'भीरु! कोई भी स्त्री कभी अपने अनुरक्त एवं भक्त पतिको त्यागकर दूसरे पुरुषका वरण कैसे कर सकती है? जैसे कि तुम करने जा रही हो ॥ २२ ॥

दूताश्चरन्ति पृथिवीं कृत्स्नां नृपतिशासनात्।
भैमी किल स भर्तारं द्वितीयं वरयिष्यति ॥ २३ ॥

'विदर्भनरेशकी आज्ञासे सारी पृथ्वीपर दूत विचरते हैं और यह घोषणा कर रहे हैं कि दमयन्ती द्वितीय पतिका वरण करेगी ॥ २३ ॥

स्वैरवृत्ता यथाकाममनुरूपमिवात्मनः ।
श्रुत्वैव चैवं त्वरितो भाङ्गासुरिरुपस्थितः ॥२४॥

'दमयन्ती स्वेच्छाचारिणी है और अपनी रुचिके अनुसार किसी अनुरूप पतिका वरण कर सकती है', यह सुनकर ही राजा ऋतुपर्ण बड़ी उतावलीके साथ यहाँ उपस्थित हुए हैं' ॥ २४ ॥

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा नलस्य परिदेवितम् ।
प्राञ्जलिर्वेपमाना च भीता वचनमब्रवीत् ॥२५॥

दमयन्ती नलका यह विलाप सुनकर काँप उठी और भयभीत हो हाथ जोड़कर यह वचन बोली ॥ २५ ॥

दमयन्त्युवाच

न मामर्हसि कल्याण दोषेण परिशङ्कितुम् ।
मया हि देवानुत्सृज्य वृतस्त्वं निषधाधिप ॥२६॥

दमयन्तीने कहा—कल्याणमय निषधनरेश ! आपको मुझपर दोषारोपण करते हुए मेरे चरित्रपर संदेह नहीं करना चाहिये । (आपके प्रति अनन्य प्रेमके कारण ही) मैंने देवताओंको छोड़कर आपका वरण किया है ॥ २६ ॥

तवाभिगमनार्थं तु सर्वतो ब्राह्मणा गताः ।
वाक्यानि मम गाथाभिर्गायमाना दिशो दश ॥२७॥

आपका पता लगानेके लिये ही चारों ओर ब्राह्मणलोग भेजे गये और वे मेरी कही हुई बातोंको सब दिशाओंमें गाथाके रूपमें गाते फिरे ॥ २७ ॥

ततस्त्वां ब्राह्मणो विद्वान् पर्णादो नाम पार्थिव ।
अभ्यगच्छत् कोसलायामृतुपर्णनिवेशने ॥२८॥

राजन् ! इसी योजनाके अनुसार पर्णाद नामक विद्वान् ब्राह्मण अयोध्यापुरीमें ऋतुपर्णके राजभवनमें गये थे ॥ २८ ॥

तेन वाक्ये कृते सम्यक् प्रतिवाक्ये तथाऽऽहृते ।
उपायोऽयं मया दृष्टो नैषधानयने तव ॥२९॥

उन्होंने वहाँ मेरी बात उपस्थित की और वहाँसे आपके द्वारा प्राप्त हुआ ठीक-ठीक उत्तर वे ले आये । निषधराज ! इसके बाद आपको यहाँ बुलानेके लिये मुझे यह उपाय सूझा (कि एक ही दिनके बाद होनेवाले स्वयंवरका समाचार देकर ऋतुपर्णको बुलाया जाय) ॥ २९ ॥

त्वामृते न हि लोकेऽन्य एकाह्ना पृथिवीपते ।
समर्थो योजनशतं गन्तुमश्वैर्नराधिप ॥३०॥

नरेश्वर ! पृथ्वीनाथ ! मैं यह अच्छी तरह जानती हूँ कि इस जगत्में आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो एक ही दिनमें घोड़े जुते हुए रथकी सवारीसे सौ योजन दूरतक जानेमें समर्थ हो ॥ ३० ॥

स्पृशेयं तेन सत्येन पादावेतौ महीपते ।
यथा नासत्कृतं किंचिन्मनसापि चराम्यहम् ॥ ३१ ॥

महीपते ! मैं मनसे भी कभी कोई असदाचरण नहीं करती हूँ और इसी सत्यकी शपथ खाकर आपके इन दोनों चरणोंका स्पर्श करती हूँ ॥ ३१ ॥

अयं चरति लोकेऽस्मिन् भूतसाक्षी सदागतिः ।
एष मे मुञ्चतु प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥ ३२ ॥

ये सदा गतिशील वायुदेवता इस जगत्में निरन्तर विचरते रहते हैं, अतः ये सम्पूर्ण भूतोंके साक्षी हैं । यदि मैंने पाप किया है तो ये मेरे प्राणोंका हरण कर लें ॥ ३२ ॥

यथा चरति तिग्मांशुः परेण भुवनं सदा ।
स मुञ्चतु मम प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥ ३३ ॥

प्रचण्ड किरणोंवाले सूर्यदेव समस्त भुवनोंके ऊपर विचरते हैं, (अतः वे भी सबके शुभाशुभ कर्म देखते रहते हैं) । यदि मैंने पाप किया है तो ये मेरे प्राणोंका हरण कर लें ॥ ३३ ॥

चन्द्रमाः सर्वभूतानामन्तश्चरति साक्षिवत् ।
स मुञ्चतु मम प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥ ३४ ॥

चित्तके अभिमानी देवता चन्द्रमा समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें साक्षीरूपसे विचरते हैं । यदि मैंने पाप किया है तो वे मेरे प्राणोंका हरण कर लें ॥ ३४ ॥



एते देवास्त्रयः कृत्स्नं त्रैलोक्यं धारयन्ति वै।
विब्रुवन्तु यथा सत्यमेतद् देवास्त्यजन्तु माम् ॥ ३५ ॥

ये पूर्वोक्त तीन देवता सम्पूर्ण त्रिलोकीको धारण करते हैं। मेरे कथनमें कितनी सचाई है, इसे देवतालोग स्वयं स्पष्ट करें। यदि मैं झूठ बोलती हूँ तो देवता मेरा त्याग कर दें ॥३५॥

एवमुक्तस्तथा वायुरन्तरिक्षादभाषत ।
नैषा कृतवती पापं नल सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ३६ ॥

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर अन्तरिक्षलोकसे वायुदेवताने कहा—'नल ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, इस दमयन्तीने कभी कोई पाप नहीं किया है ॥ ३६ ॥

राजञ्छीलनिधिः स्फीतो दमयन्त्या सुरक्षितः।
साक्षिणो रक्षिणश्चास्या वयं त्रीन् परिवत्सरान्॥ ३७ ॥

'राजन् ! दमयन्तीने अपने शीलकी उज्ज्वल निधिको सदा सुरक्षित रक्खा है । हमलोग तीन वर्षोंतक निरन्तर इसके रक्षक और साक्षी रहे हैं ॥ ३७ ॥

उपायो विहितश्चायं त्वदर्थमतुलोऽनया ।
न ह्येकाह्ना शतं गन्ता त्वामृतेऽन्यः पुमानिह ॥ ३८ ॥

'तुम्हारी प्राप्तिके लिये दमयन्तीने यह अनुपम उपाय ढूँढ़ निकाला था; क्योंकि इस जगत्‌में तुम्हारे सिवा दूसरा कोई पुरुष नहीं है, जो एक दिनमें सौ योजन (रथद्वारा) जा सके ॥

उपपन्ना त्वया भैमी त्वं च भैम्या महीपते ।
नात्र शङ्का त्वया कार्या संगच्छ सह भार्यया ॥ ३९ ॥

राजन् ! भीमकुमारी दमयन्ती तुम्हारे योग्य है और तुम दमयन्तीके योग्य हो । तुम्हें इसके चरित्रके विषयमें कोई शङ्का नहीं करनी चाहिये। तुम अपनी पत्नीसे निःशङ्क होकर मिलो' ॥ ३९ ॥

तथा ब्रुवति वायौ तु पुष्पवृष्टिः पपात ह ।
देवदुन्दुभयो नेदुर्ववौ च पवनः शिवः ॥ ४० ॥

वायुदेवके ऐसा कहते समय आकाशसे फूलोंकी वर्षा हो रही थी, देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज रही थीं और मङ्गलमय पवन चलने लगा ॥ ४० ॥

तदद्भुतमयं दृष्ट्वा नलो राजाथ भारत ।
दमयन्त्यां विशङ्कां तामुपाकर्षदरिंदमः ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर ! यह अद्भुत दृश्य देखकर शत्रुसूदन राजा नलने दमयन्तीके विरुद्ध होनेवाली शङ्काको त्याग दिया ॥४१॥

ततस्तद् वस्त्रमजरं प्रावृणोद् वसुधाधिपः ।
संस्मृत्य नागराजं तं ततो लेभे स्वकं वपुः ॥ ४२ ॥

तदनन्तर उन भूपालने नागराज कर्कोटकका स्मरण करके उसके दिये हुए अजीर्ण वस्त्रको ओढ़ लिया। उससे उन्हें अपने पूर्वस्वरूपकी प्राप्ति हो गयी ॥ ४२ ॥

स्वरूपिणं तु भर्तारं दृष्ट्वा भीमसुता तदा ।
प्राक्रोशदुच्चैरालिङ्ग्य पुण्यश्लोकमनिन्दिता ॥ ४३ ॥

अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हुए अपने पतिदेव पुण्यश्लोक महाराज नलको देखकर सती साध्वी दमयन्ती उनके हृदयसे लगकर उच्च स्वरसे रोने लगी ॥ ४३ ॥

भैमीमपि नलो राजा भ्राजमानो यथा पुरा ।
सस्वजे स्वसुतौ चापि यथावत् प्रत्यनन्दत ॥ ४४ ॥

राजा नलका रूप पहलेकी ही भाँति ही प्रकाशित हो रहा था। उन्होंने भी दमयन्तीको छातीसे लगा लिया और अपने दोनों बालकोंको भी प्यार-दुलार करके प्रसन्न किया ॥ ४४ ॥

ततः स्वोरसि विन्यस्य वक्त्रं तस्य शुभानना ।
परीता तेन दुःखेन निशश्वासायतेक्षणा ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् सुन्दर मुख और विशाल नेत्रोंवाली दमयन्ती नलके मुखको अपने वक्षःस्थलपर रखकर दुःखसे व्याकुल हो लंबी साँसें खींचने लगी ॥ ४५ ॥

तथैव मलदिग्धाङ्गीं परिष्वज्य शुचिस्मिताम् ।
सुचिरं पुरुषव्याघ्रस्तस्थौ शोकपरिप्लुतः ॥ ४६ ॥

इसी प्रकार पवित्र मुसकान तथा मैलसे भरे हुए अङ्गोंवाली दमयन्तीको हृदयसे लगाकर पुरुषसिंह नल बहुत देरतक शोकमग्न खड़े रहे ॥ ४६ ॥

ततः सर्वं यथावृत्तं दमयन्त्या नलस्य च ।
भीमायाकथयत् प्रीत्या वैदर्भ्या जननी नृप ॥ ४७ ॥

'राजन् ! तदनन्तर (दमयन्तीके द्वारा मालूम होनेपर) दमयन्तीकी माताने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक राजा भीमसे नल-दमयन्तीका सारा वृत्तान्त यथावत् कह सुनाया ॥ ४७ ॥

ततोऽब्रवीन्महाराजः कृतशौचमहं नलम् ।
दमयन्त्या सहोपेतं कल्ये द्रष्टा सुखोषितम् ॥ ४८ ॥

तब महाराज भीमने कहा—'आज नलको सुखपूर्वक यहीं रहने दो। कल सबेरे स्नान आदिसे शुद्ध हुए दमयन्ती-सहित नलसे मैं मिलूँगा' ॥ ४८ ॥

ततस्तौ सहितौ रात्रिं कथयन्तौ पुरातनम् ।
वने विचरितं सर्वमूषतुर्मुदितौ नृप ॥ ४९ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् वे दोनों दम्पति रातभर वनमें रहनेकी पुरानी घटनाओंको एक-दूसरेसे कहते हुए प्रसन्नतापूर्वक एक साथ रहे ॥ ४९ ॥

गृहे भीमस्य नृपतेः परस्परसुखैषिणौ ।
वसेतां हृष्टसंकल्पौ वैदर्भी च नलश्च ह ॥ ५० ॥

एक दूसरेको सुख देनेकी इच्छा रखनेवाले दमयन्ती और नल राजा भीमके महलमें प्रसन्नचित्त होकर रहे ॥ ५० ॥

स चतुर्थे ततो वर्षे संगम्य सह भार्यया ।
सर्वकामैः सुसिद्धार्थो लब्धवान् परमां मुदम् ॥ ५१ ॥

चौथे वर्षमें अपनी प्यारी पत्नीसे मिलकर सम्पूर्ण कामनाओंसे सफलमनोरथ हो नल अत्यन्त आनन्दमें निमग्न हो गये ॥ ५१ ॥

दमयन्त्यपि भर्तारमासाद्याप्यायिता भृशम् ।
अर्धसंजातसस्येव तोयं प्राप्य वसुंधरा ॥ ५२ ॥

जैसे आधी जमी हुई खेतीसे भरी वसुधा वर्षाका जल पाकर उल्लसित हो उठती है, उसी प्रकार दमयन्ती भी अपने पतिको पाकर बहुत संतुष्ट हुई ॥ ५२ ॥

सैवं समेत्य व्यपनीय तन्द्रां
शान्तज्वरा हर्षविवृद्धसत्त्वा ।
रराज भैमी समवाप्तकामा
शीतांशुना रात्रिरिवोदितेन ॥ ५३ ॥

जैसे चन्द्रोदयसे रात्रिकी शोभा बढ़ जाती है, उसी प्रकार भीमकुमारी दमयन्ती पतिसे मिलकर आलस्यका त्याग करके निश्चिन्त और हर्षोल्लसित हृदयसे पूर्णकाम होकर अत्यन्त शोभा पाने लगी ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलदमयन्तीसमागमे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलदमयन्तीसमागमविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७६॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

नलके प्रकट होनेपर विदर्भनगरमें महान् उत्सवका आयोजन, ऋतुपर्णके साथ नलका वार्तालाप और ऋतुपर्णका नलसे अश्वविद्या सीखकर अयोध्या जाना

बृहदश्व उवाच

अथ तां व्युषितो रात्रिं नलो राजा स्वलंकृतः ।
वैदर्भ्या सहितः काले ददर्श वसुधाधिपम् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर वह रात बीतनेपर राजा नल वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो दमयन्तीके साथ यथासमय राजा भीमसे मिले ॥ १ ॥

ततोऽभिवादयामास प्रयतः श्वशुरं नलः ।
ततोऽनु दमयन्ती च ववन्दे पितरं शुभा ॥ २ ॥

स्नानादिसे पवित्र हुए नलने विनीतभावसे श्वशुरको प्रणाम किया । तत्पश्चात् शुभलक्षणा दमयन्तीने भी पिताकी वन्दना की ॥ २ ॥

तं भीमः प्रतिजग्राह पुत्रवत् परया मुदा ।
यथार्हं पूजयित्वा च समाश्वासयत प्रभुः ॥ ३ ॥
नलेन सहितां तत्र दमयन्तीं पतिव्रताम् ।

राजा भीमने बड़ी प्रसन्नताके साथ नलको पुत्रकी भाँति अपनाया और नलसहित पतिव्रता दमयन्तीका यथायोग्य आदर-सत्कार करके उन्हें आश्वासन दिया ॥ ३½ ॥

तामर्हणां नलो राजा प्रतिगृह्य यथाविधि ॥ ४ ॥
परिचर्यां स्वकां तस्मै यथावत् प्रत्यवेदयत् ।
ततो बभूव नगरे सुमहान् हर्षजः स्वनः ॥ ५ ॥
जनस्य सम्प्रहृष्टस्य नलं दृष्ट्वा तथाऽऽगतम् ।

राजा नलने उस पूजाको विधिपूर्वक स्वीकार करके अपनी ओरसे भी श्वशुरका सेवा-सत्कार किया । तदनन्तर विदर्भनगरमें राजा नलको इस प्रकार आया देख हर्षोल्लासमें भरी हुई जनताका महान् आनन्दजनित कोलाहल होने लगा ॥

अशोभयच्च नगरं पताकाध्वजमालिनम् ॥ ६ ॥
सिक्ताः सुमृष्टपुष्पाढ्या राजमार्गाः स्वलंकृताः ।
द्वारि द्वारि च पौराणां पुष्पभङ्गः प्रकल्पितः ॥ ७ ॥

विदर्भनरेशने ध्वजा, पताकाओंकी पङ्क्तियोंसे कुण्डिनपुरको अद्भुत शोभासे सम्पन्न किया । सड़कोंको खूब झाड़-बुहारकर उनपर छिड़काव किया गया था । फूलोंसे उन्हें अच्छी तरह सजाया गया था । पुरवासियोंके द्वार-द्वारपर सुगंध फैलानेके लिये राशि-राशि फूल बिखेरे गये थे ॥ ६-७ ॥

अर्चितानि च सर्वाणि देवतायतनानि च ।
ऋतुपर्णोऽपि शुश्राव बाहुकच्छद्मिनं नलम् ॥ ८ ॥
दमयन्त्या समायुक्तं जहृषे च नराधिपः ।

सम्पूर्ण देवमन्दिरोंकी सजावट और देवमूर्तियोंकी पूजा की गयी थी । राजा ऋतुपर्णने भी जब यह सुना कि बाहुकके वेषमें राजा नल ही थे और अब वे दमयन्तीसे मिले हैं, तब उन्हें बड़ा हर्ष हुआ ॥ ८½ ॥

समानाय्य नलं राजा क्षमयामास पार्थिवम् ॥ ९ ॥

उन्होंने राजा नलको बुलवाकर उनसे क्षमा माँगी ॥ ९ ॥

स च तं क्षमयामास हेतुभिर्बुद्धिसम्मितः ।
स सत्कृतो महीपालो नैषधं विस्मिताननः ॥ १० ॥
उवाच वाक्यं तत्त्वज्ञो नैषधं वदतां वरः ।

बुद्धिमान् नलने भी अनेक युक्तियोंद्वारा उनसे क्षमा-याचना की । नलसे आदर-सत्कार पाकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ एवं तत्त्वज्ञ राजा ऋतुपर्ण मुसकराते हुए मुखसे बोले— ॥ १०½ ॥

दिष्ट्या समेतो दारैः स्वैर्भवानित्यभ्यनन्दत ॥ ११ ॥

'निषधनरेश ! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आप अपनी बिछुड़ी हुई पत्नीसे मिले ।' ऐसा कहकर उन्होंने नलका अभिनन्दन किया ॥ ११ ॥

किंचित् तु नापराधं ते कृतवानस्मि नैषध ।
अज्ञातवासे वसतो मद्गृहे वसुधाधिप ॥ १२ ॥

(और पुनः कहा–) 'नैषध ! भूपालशिरोमणे ! आप मेरे घरपर जब अज्ञातवासकी अवस्थामें रहते थे, उस समय मैंने आपका कोई अपराध तो नहीं किया है ? ॥ १२ ॥

यदि वाबुद्धिपूर्वाणि यदि बुद्ध्यापि कानिचित्।
मया कृतान्यकार्याणि तानि त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

'उन दिनों यदि मैंने बिना जाने या जान-बूझकर आपके साथ अनुचित बर्ताव किये हों तो उन्हें आप क्षमा कर दें' ॥ १३ ॥



नल उवाच

न मेऽपराधं कृतवांस्त्वं स्वल्पमपि पार्थिव ।
कृतेऽपि च न मे कोपः क्षन्तव्यं हि मया तव ॥ १४ ॥

नलने कहा—राजन् ! आपने मेरा कभी थोड़ा-सा भी अपराध नहीं किया है और यदि किया भी हो तो उसके लिये मेरे हृदयमें क्रोध नहीं है । मुझे आपके प्रत्येक बर्तावको क्षमा ही करना चाहिये ॥ १४ ॥

पूर्वं ह्यपि सखा मेऽसि सम्बन्धी च जनाधिप ।
अत ऊर्ध्वं तु भूयस्त्वं प्रीतिमाहर्तुमर्हसि ॥ १५ ॥

जनेश्वर ! आप पहले भी मेरे सखा और सम्बन्धी थे और इसके बाद भी आपको मुझपर अधिक-से-अधिक प्रेम रखना चाहिये ॥ १५ ॥

सर्वकामैः सुविहितैः सुखमस्म्युषितस्त्वयि ।
न तथा स्वगृहे राजन् यथा तव गृहे सदा ॥ १६ ॥

राजन् ! मेरी समस्त कामनाएँ वहाँ अच्छी तरह पूर्ण की गयीं और इसके कारण मैं सदा आपके यहाँ सुखी रहा । महाराज ! आपके भवनमें मुझे जैसा आराम मिला, वैसा अपने घरमें भी नहीं मिला ॥ १६ ॥

इदं चैव हयज्ञानं त्वदीयं मयि तिष्ठति ।
तदुपाकर्तुमिच्छामि मन्यसे यदि पार्थिव ।
एवमुक्त्वा ददौ विद्यामृतुपर्णाय नैषधः ॥ १७ ॥

आपका अश्वविज्ञान मेरे पास धरोहरके रूपमें पड़ा है । राजन् ! यदि आप ठीक समझें तो मैं उसे आपको देनेकी इच्छा रखता हूँ । ऐसा कहकर निषधराज नलने ऋतुपर्णको अश्वविद्या प्रदान की ॥ १७ ॥

स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ।
गृहीत्वा चाश्वहृदयं राजन् भाङ्गासुरिर्नृपः ॥ १८ ॥
निषधाधिपतेश्चापि दत्त्वाक्षहृदयं नृपः ।
सूतमन्यमुपादाय ययौ स्वपुरमेव ह ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर ! ऋतुपर्णने भी शास्त्रीय विधिके अनुसार उनसे अश्वविद्या ग्रहण की । अश्वोंका रहस्य ग्रहण करके और निषधनरेश नलको पुनः द्यूतविद्याका रहस्य समझाकर दूसरा सारथि साथ ले राजा ऋतुपर्ण अपने नगरको चले गये ॥ १८-१९ ॥

ऋतुपर्णे गते राजन् नलो राजा विशाम्पते ।
नगरे कुण्डिने कालं नातिदीर्घमिवावसत् ॥ २० ॥

राजन् ! ऋतुपर्णके चले जानेपर राजा नल कुण्डिनपुरमें कुछ समयतक रहे । वह काल उन्हें थोड़े समयके समान ही प्रतीत हुआ ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णस्वदेशगमने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें ऋतुपर्णका स्वदेशगमनविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

राजा नलका पुष्करको जूएमें हराना और उसको राजधानीमें भेजकर अपने नगरमें प्रवेश करना

बृहदश्व उवाच

स मासमुष्य कौन्तेय भीममामन्त्र्य नैषधः।
पुरादल्पपरीवारो जगाम निषधान् प्रति ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! निषधनरेश एक मासतक कुण्डिनपुरमें रहकर राजा भीमकी आज्ञा ले थोड़े-से सेवकोंसहित वहाँसे निषधदेशकी ओर प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

रथेनैकेन शुभ्रेण दन्तिभिः परिषोडशैः।
पञ्चाशद्भिर्हयैश्चैव षट्शतैश्च पदातिभिः ॥ २ ॥

उनके साथ चारों ओरसे सोलह हाथियोंद्वारा घिरा हुआ एक सुन्दर रथ, पचास घोड़े और छः सौ पैदल सैनिक थे ॥

स कम्पयन्निव महीं त्वरमाणो महीपतिः।
प्रविवेशाथ संरब्धस्तरसैव महामनाः ॥ ३ ॥

महामना राजा नलने इन सबके द्वारा पृथ्वीको कम्पित-सी करते हुए बड़ी उतावलीके साथ रोषावेशमें भरे वेगपूर्वक निषधदेशकी राजधानीमें प्रवेश किया ॥ ३ ॥

ततः पुष्करमासाद्य वीरसेनसुतो नलः।
उवाच दीव्याव पुनर्बहुवित्तं मयार्जितम् ॥ ४ ॥
दमयन्ती च यच्चान्यन्मम किंचन विद्यते।
एष वै मम संन्यासस्तव राज्यं तु पुष्कर ॥ ५ ॥
पुनः प्रवर्ततां द्यूतमिति मे निश्चिता मतिः।
एकपाणेन भद्रं ते प्राणयोश्च पणावहे ॥ ६ ॥

तदनन्तर वीरसेनपुत्र नलने पुष्करके पास जाकर कहा—'अब हम दोनों फिरसे जूआ खेलें। मैंने बहुत धन प्राप्त किया है। दमयन्ती तथा अन्य जो कुछ भी मेरे पास है, यह सब मेरी ओरसे दाँवपर लगाया जायगा और पुष्कर! तुम्हारी ओरसे सारा राज्य ही दाँवपर रखा जायगा। इस एक पणके साथ हम दोनोंमें फिर जूएका खेल प्रारम्भ हो यह मेरा निश्चित विचार है। तुम्हारा भला हो, यदि ऐसा न कर सको तो हम दोनों अपने प्राणोंकी बाजी लगावें ॥

जित्वा परस्वमाहृत्य राज्यं वा यदि वा वसु।
प्रतिपाणः प्रदातव्यः परमो धर्म उच्यते ॥ ७ ॥

'जूएके दाँवमें दूसरेका राज्य या धन जीतकर रख लिया जाय तो उसे यदि वह पुनः खेलना चाहे तो प्रति-पण (बदलेका दाव) देना चाहिये, यह परम धर्म कहा गया है ॥ ७ ॥

न चेद् वाञ्छसि त्वं द्यूतं युद्धद्यूतं प्रवर्तताम्।
द्वैरथेनास्तु वै शान्तिस्तव वा मम वा नृप ॥ ८ ॥

'यदि तुम पासोंसे जूआ खेलना न चाहो तो बाणोंद्वारा युद्धका जूआ प्रारम्भ होना चाहिये। राजन्! द्वैरथयुद्धके द्वारा तुम्हारी अथवा मेरी शान्ति हो जाय ॥ ८ ॥

वंशभोज्यमिदं राज्यमर्थितव्यं यथा तथा।
येन केनाप्युपायेन वृद्धानामिति शासनम् ॥ ९ ॥

'यह राज्य हमारी वंशपरम्पराके उपभोगमें आनेवाला है। जिस-किसी उपायसे भी जैसे-तैसे इसका उद्धार करना चाहिये; ऐसा वृद्ध पुरुषोंका उपदेश है ॥ ९ ॥

द्वयोरेकतरे बुद्धिः क्रियतामद्य पुष्कर।
कैतवेनाक्षवत्यां तु युद्धे वा नाम्यतां धनुः ॥ १० ॥

'पुष्कर! आज तुम दोमेंसे एकमें मन लगाओ। छलपूर्वक जूआ खेलो अथवा युद्धके लिये धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाओ' ॥ १० ॥

नैषधेनैवमुक्तस्तु पुष्करः प्रहसन्निव।
ध्रुवमात्मजयं मत्वा प्रत्याह पृथिवीपतिम् ॥ ११ ॥

निषधराज नलके ऐसा कहनेपर पुष्करने अपनी विजय-को अवश्यम्भावी मानकर हँसते हुए उनसे कहा— ॥ ११ ॥

दिष्ट्या त्वयार्जितं वित्तं प्रतिपाणाय नैषध।
दिष्ट्या च दुष्कृतं कर्म दमयन्त्याः क्षयं गतम् ॥ १२ ॥

'नैषध! सौभाग्यकी बात है कि तुमने दाँवपर लगानेके लिये धनका उपार्जन कर लिया है। यह भी आनन्दकी बात है कि दमयन्तीके दुष्कर्मोंका क्षय हो गया ॥ १२ ॥

दिष्ट्या च ध्रियसे राजन् सदारोऽद्य महाभुज।
धनेनानेन वै भैमी जितेन समलंकृता ॥ १३ ॥
मामुपस्थास्यति व्यक्तं दिवि शक्रमिवाप्सराः।
नित्यशो हि स्मरामि त्वां प्रतीक्षेऽपि च नैषध ॥ १४ ॥

'महाबाहु नरेश! सौभाग्यसे तुम पत्नीसहित अभी जीवित हो। इसी धनको जीत लेनेपर दमयन्ती शृङ्गार करके निश्चय ही मेरी सेवामें उपस्थित होगी, ठीक उसी तरह, जैसे स्वर्ग-लोककी अप्सरा देवराज इन्द्रकी सेवामें जाती है। नैषध! मैं प्रतिदिन तुम्हारी याद करता हूँ और तुम्हारी राह भी देखा करता हूँ ॥ १३-१४ ॥

देवनेन मम प्रीतिर्न भवत्यसुहृद्गणैः।
जित्वा त्वद्य वरारोहां दमयन्तीमनिन्दिताम् ॥ १५ ॥
कृतकृत्यो भविष्यामि सा हि मे नित्यशो हृदि।

शत्रुओंके साथ जूआ खेलनेसे मुझे कभी तृप्ति ही नहीं होती। आज श्रेष्ठ अङ्गोंवाली अनिन्द्य सुन्दरी दमयन्तीको

जीतकर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा; क्योंकि वह सदा मेरे हृदय-मन्दिरमें निवास करती है' ॥ १५½ ॥

श्रुत्वा तु तस्य ता वाचो बह्वबद्धप्रलापिनः ॥१६॥
इयेष स शिरश्छेत्तुं खड्गेन कुपितो नलः।
स्मयंस्तु रोषताम्राक्षस्तमुवाच नलो नृपः ॥१७॥

इस प्रकार बहुत-से असम्बद्ध प्रलाप करनेवाले पुष्करकी वे बातें सुनकर राजा नलको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने तलवारसे उसका सिर काट लेनेकी इच्छा की। रोषसे उनकी आँखें लाल हो गयीं तो भी राजा नलने हँसते हुए उससे कहा—॥

पणावः किं व्याहरसे जितो न व्याहरिष्यसि।
ततः प्रावर्तत द्यूतं पुष्करस्य नलस्य च ॥१८॥
एकपाणेन वीरेण नलेन स पराजितः।
स रत्नकोशनिचयैः प्राणेन पणितोऽपि च ॥१९॥

'अब हम दोनों जूआ प्रारम्भ करें; तुम अभी व्यर्थ बकवाद क्यों करते हो ? हार जानेपर ऐसी बातें न कर सकोगे।' तदनन्तर पुष्कर तथा राजा नलमें एक ही दाँव लगानेकी शर्त रखकर जूएका खेल प्रारम्भ हुआ। तब वीर नलने पुष्करको हरा दिया। पुष्करने रत्न, खजाना तथा प्राणोंतककी बाजी लगा दी थी ॥ १८-१९ ॥

जित्वा च पुष्करं राजा प्रहसन्निदमब्रवीत्।
मम सर्वमिदं राज्यमव्यग्रं हतकण्टकम् ॥२०॥
वैदर्भी न त्वया शक्या राजापसद वीक्षितुम्।
तस्यास्त्वं सपरीवारो मूढ दासत्वमागतः ॥२१॥

पुष्करको परास्त करके राजा नलने हँसते हुए उससे कहा—'नृपाधम ! अब यह शान्त और अकण्टक सारा राज्य मेरे अधिकारमें आ गया। विदर्भकुमारी दमयन्तीकी ओर तू आँख उठाकर देख भी नहीं सकता। मूर्ख ! आजसे तू परिवारसहित दमयन्तीका दास हो गया ॥ २०-२१ ॥

न त्वया तत् कृतं कर्म येनाहं विजितः पुरा।
कलिना तत् कृतं कर्म त्वं च मूढ न बुध्यसे ॥२२॥

'पहले तेरे द्वारा जो मैं पराजित हो गया था, उसमें तेरा कोई पुरुषार्थ नहीं था। मूढ़ ! वह सब कलियुगकी करतूत थी, जिसे तू नहीं जानता है ॥ २२ ॥

नाहं परकृतं दोषं त्वय्याधास्ये कथंचन।
यथासुखं वै जीव त्वं प्राणानवसृजामि ते ॥२३॥

'दूसरे (कलियुग) के किये हुए अपराधको मैं किसी तरह तेरे मत्थे नहीं मढ़ूँगा। तू सुखपूर्वक जीवित रह। मैं तेरे प्राण तुझे वापस देता हूँ ॥ २३ ॥

तथैव सर्वसम्भारं स्वमंशं वितरामि ते।
तथैव च मम प्रीतिस्त्वयि वीर न संशयः ॥२४॥

'तेरा सारा सामान और तेरे हिस्सेका धन भी तुझे लौटाये देता हूँ। वीर ! तेरे ऊपर मेरा पूर्ववत् प्रेम बना रहेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २४ ॥

सौहार्दं चापि मे त्वत्तो न कदाचित् प्रहास्यति।
पुष्कर त्वं हि मे भ्राता संजीव शरदः शतम् ॥२५॥

'तेरे प्रति जो मेरा सौहार्द रहा है, वह कभी मेरे हृदयसे दूर नहीं होगा। पुष्कर ! तू मेरा भाई है, जा, सौ वर्षोंतक जीवित रह' ॥ २५ ॥

एवं नलः सान्त्वयित्वा भ्रातरं सत्यविक्रमः।
स्वपुरं प्रेषयामास परिष्वज्य पुनः पुनः ॥२६॥

इस प्रकार सत्यपराक्रमी राजा नलने अपने भाई पुष्करको सान्त्वना दे बार-बार हृदयसे लगाकर उसकी राजधानीको भेज दिया ॥ २६ ॥

सान्त्वितो नैषधेनैवं पुष्करः प्रत्युवाच तम्।
पुण्यश्लोकं तदा राजन्नभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥२७॥
कीर्तिरस्तु तवाक्षय्या जीव वर्षशतं सुखी।
यो मे वितरसि प्राणानधिष्ठानं च पार्थिव ॥२८॥

राजन् ! निषधराजके इस प्रकार सान्त्वना देनेपर पुष्करने पुण्यश्लोक नलको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'पृथ्वीनाथ ! आप जो मुझे प्राण और निवासस्थान भी वापस दे रहे हैं, इससे आपकी अक्षय कीर्ति बनी रहे। आप सौ वर्षोंतक जीयें और सुखी रहें' ॥२७-२८॥

स तथा सत्कृतो राज्ञा मासमुष्य तदा नृप।
प्रययौ पुष्करो हृष्टः स्वपुरं स्वजनावृतः ॥२९॥

महत्या सेनया सार्धं विनीतैः परिचारकैः।
भ्राजमान इवादित्यो वपुषा पुरुषर्षभ ॥३०॥

नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! राजा नलके द्वारा इस प्रकार सत्कार पाकर पुष्कर एक मासतक वहाँ टिका रहा और फिर आत्मीय जनोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक अपनी राजधानीको चला गया। उसके साथ विशाल सेना और विनयशील सेवक भी थे। वह शरीरसे सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहा था ॥२९-३०॥

प्रस्थाप्य पुष्करं राजा वित्तवन्तमनामयम्।
प्रविवेश पुरं श्रीमानत्यर्थमुपशोभिताम् ॥३१॥

पुष्करको धन—वित्तके साथ सकुशल घर भेजकर श्रीमान् राजा नलने अपने अत्यन्त शोभासम्पन्न नगरमें प्रवेश किया ॥

प्रविश्य सान्त्वयामास पौरांश्च निषधाधिपः।
पौरा जानपदाश्चापि सम्प्रहृष्टतनूरुहाः ॥३२॥

प्रवेश करके निषधनरेशने पुरवासियोंको सान्त्वना दी। नगर और जनपदके लोग बड़े प्रसन्न हुए। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया ॥ ३२ ॥

ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे सामात्यप्रमुखा जनाः।
अद्य स्म निर्वृता राजन् पुरे जनपदेऽपि च।
उपासितुं पुनः प्राप्ता देवा इव शतक्रतुम् ॥३३॥

मन्त्री आदि सब लोगोंने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज ! आज हम नगर और जनपदके निवासी संतोषसे साँस ले सके हैं। जैसे देवता-देवराज इन्द्रकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार अब हमें पुनः आपकी उपासना करने—आपके पास बैठनेका शुभ अवसर प्राप्त हुआ है' ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि पुष्करपराभवपूर्वकं राज्यप्रत्यानयने अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें पुष्करको हराकर राजा नलके अपने नगरमें आनेसे सम्बन्ध रखनेवाला अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

राजा नलके आख्यानके कीर्तनका महत्त्व, बृहदश्व मुनिका युधिष्ठिरको आश्वासन देना तथा द्यूतविद्या और अश्वविद्याका रहस्य बताकर जाना

बृहदश्व उवाच

प्रशान्ते तु पुरे हृष्टे सम्प्रवृत्ते महोत्सवे।
महत्या सेनया राजा दमयन्तीमुपानयत् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब नगरमें शान्ति छा गयी और सब लोग प्रसन्न हो गये, सर्वत्र महान् उत्सव होने लगा, उस समय राजा नल विशाल सेनाके साथ जाकर दमयन्तीको विदर्भदेशसे बुला लाये ॥ १ ॥

दमयन्तीमपि पिता सत्कृत्य परवीरहा।
प्रास्थापयदमेयात्मा भीमो भीमपराक्रमः ॥ २ ॥

दमयन्तीके पिता भयंकर पराक्रमी भीम अप्रमेय आत्मबलसे सम्पन्न थे, शत्रुपक्षके वीरोंका हनन करनेमें समर्थ थे। उन्होंने अपनी पुत्री दमयन्तीको बड़े सत्कारके साथ विदा किया ॥ २ ॥

आगतायां तु वैदर्भ्यां सपुत्रायां नलो नृपः।
वर्तयामास मुदितो देवराडिव नन्दने ॥ ३ ॥
तथा प्रकाशतां यातो जम्बुद्वीपे स राजसु।
पुनः शशास तद् राज्यं प्रत्याहृत्य महायशाः ॥ ४ ॥

पुत्र और पुत्रीसहित दमयन्तीके आ जानेपर राजा नल सब बर्ताव-व्यवहार बड़े आनन्दसे सम्पन्न करने लगे। जैसे नन्दनवनमें देवराज इन्द्र शोभा पाते हैं, उसी प्रकार वे जम्बूद्वीपके समस्त राजाओंमें प्रकाशमान हो रहे थे। वे महायशस्वी नरेश अपने राज्यको पुनः वापस लेकर उसका न्यायपूर्वक शासन करने लगे ॥ ३-४ ॥

ईजे च विविधैर्यज्ञैर्विधिवच्चाप्तदक्षिणैः।
तथा त्वमपि राजेन्द्र ससुहृद् यक्ष्यसेऽचिरात् ॥ ५ ॥

उन्होंने पर्याप्त दक्षिणासे युक्त विविध प्रकारके यज्ञोंद्वारा विधिपूर्वक भगवान्‌का यजन किया। राजेन्द्र ! इसी प्रकार तुम भी पुनः अपना राज्य पाकर सुहृदोंसहित शीघ्र ही यज्ञका अनुष्ठान करोगे ॥ ५ ॥

दुःखमेतादृशं प्राप्तो नलः परपुरंजयः।
देवनेन नरश्रेष्ठ सभार्यो भरतर्षभ ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पुरुषोत्तम ! शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले महाराज नल जूआ खेलनेके कारण अपनी पत्नीसहित इस प्रकारके महान् संकटमें पड़ गये थे ॥ ६ ॥

एकाकिनैव सुमहन्नलेन पृथिवीपते।
दुःखमासादितं घोरं प्राप्तश्चाभ्युदयः पुनः ॥ ७ ॥

पृथ्वीपते ! राजा नलने अकेले ही यह भयंकर और महान् दुःख प्राप्त किया था; उन्हें पुनः अभ्युदयकी प्राप्ति हुई ॥

त्वं पुनर्भ्रातृसहितः कृष्णया चैव पाण्डव।
रमसेऽस्मिन् महारण्ये धर्ममेवानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम तो अपने सभी भाइयों और महारानी द्रौपदीके साथ इस महान् वनमें भ्रमण करते हो और निरन्तर धर्मके ही चिन्तनमें लगे रहते हो ॥ ८ ॥

ब्राह्मणैश्च महाभागैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ।
नित्यमन्वास्यसे राजंस्तत्र का परिदेवना ॥ ९ ॥

राजन् ! महान् भाग्यशाली वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण सदा तुम्हारे साथ रहते हैं; फिर तुम्हारे लिये इस परिस्थितिमें शोककी क्या बात है ? ॥ ९ ॥

कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ॥ १० ॥

कर्कोटक नाग, दमयन्ती, नल तथा राजर्षि ऋतुपर्णकी चर्चा कलियुगके दोषका नाश करनेवाली है ॥ १० ॥

इतिहासमिमं चापि कलिनाशनमच्युत ।
शक्यमाश्वसितुं श्रुत्वा त्वद्विधेन विशाम्पते ॥ ११ ॥

महाराज ! तुम्हारे-जैसे लोगोंको यह कलिनाशक इतिहास सुनकर आश्वासन प्राप्त हो सकता है ॥ ११ ॥

अस्थिरत्वं च संचिन्त्य पुरुषार्थस्य नित्यदा ।
तस्योदये व्यये चापि न चिन्तयितुमर्हसि ॥ १२ ॥

पुरुषको प्राप्त होनेवाले सभी विषय सदा अस्थिर एवं विनाशशील हैं । यह सोचकर उनके मिलने या नष्ट होनेपर तुम्हें तनिक भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ १२ ॥

श्रुत्वेतिहासं नृपते समाश्वसिहि मा शुचः ।
व्यसने त्वं महाराज न विषीदितुमर्हसि ॥ १३ ॥

नरेश ! इस इतिहासको सुनकर तुम धैर्य धारण करो, शोक न करो, महाराज ! तुम्हें संकटमें पड़नेपर विषादग्रस्त नहीं होना चाहिये ॥ १३ ॥

विषमावस्थिते दैवे पौरुषेऽफलतां गते ।
विषादयन्ति नात्मानं सत्त्वोपाश्रयिणो नराः ॥ १४ ॥

जब दैव (प्रारब्ध) प्रतिकूल हो और पुरुषार्थ निष्फल हो जाय, उस समय भी सत्त्वगुणका आश्रय लेनेवाले मनुष्य अपने मनमें विषाद नहीं लाते ॥ १४ ॥

ये चेदं कथयिष्यन्ति नलस्य चरितं महत् ।
श्रोष्यन्ति चाप्यभीक्ष्णं वै नालक्ष्मीस्तान् भजिष्यति १५
अर्थास्तस्योपपत्स्यन्ते धन्यतां च गमिष्यति ।

जो राजा नलके इस महान् चरित्रका वर्णन करेंगे अथवा निरन्तर सुनेंगे, उन्हें दरिद्रता नहीं प्राप्त होगी । उनके सभी मनोरथ सिद्ध होंगे और वे संसारमें धन्य हो जायँगे ॥ १५½ ॥

इतिहासमिमं श्रुत्वा पुराणं शश्वदुत्तमम् ॥ १६ ॥
पुत्रान् पौत्रान् पशूंश्चापि लभते नृषु चाग्र्यताम् ।
आरोग्यप्रीतिमांश्चैव भविष्यति न संशयः ॥ १७ ॥

इस प्राचीन एवं उत्तम इतिहासका सदा ही श्रवण करके मनुष्य पुत्र, पौत्र, पशु तथा मानवोंमें श्रेष्ठता प्राप्त कर लेता है । साथ ही, वह नीरोग और प्रसन्न होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १६–१७ ॥

भयात् त्रस्यसि यच्च त्वमाह्वयिष्यति मां पुनः ।
अक्षज्ञ इति तत् तेऽहं नाशयिष्यामि पार्थिव ॥ १८ ॥

राजन् ! तुम जो इस भयसे डर रहे हो, कि कोई द्यूत विद्याका ज्ञाता मनुष्य पुनः मुझे जूएके लिये बुलायेगा (उस दशामें पुनः पराजयका कष्ट देखना पड़ेगा) । तुम्हारे उस भयको मैं दूर कर दूँगा ॥ १८ ॥

वेदाक्षहृदयं कृत्स्नमहं सत्यपराक्रम ।
उपपद्यस्व कौन्तेय प्रसन्नोऽहं ब्रवीमि ते ॥ १९ ॥

सत्यपराक्रमी कुन्तीनन्दन ! मैं द्यूतविद्याके सम्पूर्ण हृदय (रहस्य) को जानता हूँ, तुम उसे ग्रहण कर लो । मैं प्रसन्न होकर तुम्हें बतलाता हूँ ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो हृष्टमना राजा बृहदश्वमुवाच ह ।
भगवन्नक्षहृदयं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने प्रसन्नचित्त हो बृहदश्वसे कहा—'भगवन् ! मैं द्यूतविद्याके रहस्यको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ' ॥

ततोऽक्षहृदयं प्रादात् पाण्डवाय महात्मने ।
दत्त्वा चाश्वशिरोऽगच्छदुपस्प्रष्टुं महातपाः ॥ २१ ॥

तब महातपस्वी मुनिने महात्मा पाण्डुनन्दनको द्यूतविद्याका रहस्य बताया और उन्हें अश्वविद्याका भी उपदेश देकर वे स्नान आदि करनेके लिये चले गये ॥ २१ ॥

बृहदश्वे गते पार्थमश्रौषीत् सव्यसाचिनम् ।
वर्तमानं तपस्युग्रे वायुभक्षं मनीषिणम् ॥ २२ ॥
ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यः सम्पतद्भ्यस्ततस्ततः ।
तीर्थशैलवनेभ्यश्च समेतेभ्यो दृढव्रतः ॥ २३ ॥
इति पार्थो महाबाहुर्दुरापं तप आस्थितः ।
न तथा दृष्टपूर्वोऽन्यः कश्चिदुग्रतपा इति ॥ २४ ॥

बृहदश्व मुनिके चले जानेपर दृढव्रती राजा युधिष्ठिरने इधर-उधरके तीर्थों, पर्वतों और वनोंसे आये हुए तपस्वी ब्राह्मणोंके मुखसे सव्यसाची अर्जुनका यह समाचार सुना कि 'मनीषी अर्जुन वायुका आहार करके कठोर तपस्यामें लगे हैं । महाबाहु कुन्तीकुमार बड़ी दुष्कर तपस्यामें स्थित हैं । ऐसा कठोर तपस्वी आजसे पहले दूसरा कोई नहीं देखा गया है ॥ २२–२४ ॥

यथा धनंजयः पार्थस्तपस्वी नियतव्रतः।
मुनिरेकचरः श्रीमान् धर्मो विग्रहवानिव ॥२५॥

'कुन्तीकुमार धनंजय जिस प्रकार नियम और व्रतका पालन करते हुए तपस्यामें संलग्न हैं, वह अद्भुत है। वे मौनभावसे रहते और अकेले ही विचरते हैं। श्रीमान् अर्जुन धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप जान पड़ते हैं' ॥ २५ ॥

तं श्रुत्वा पाण्डवो राजंस्तप्यमानं महावने।
अन्वशोचत कौन्तेयः प्रियं वै भ्रातरं जयम् ॥२६॥

राजन्! उस महान् वनमें अपने प्रिय भाई अर्जुनको तपस्या करते सुनकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर उनके लिये बार-बार शोक करने लगे ॥ २६ ॥

दह्यमानेन तु हृदा शरणार्थी महावने।
ब्राह्मणान् विविधज्ञानान् पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ॥२७॥

अर्जुनके वियोगमें संतप्त हृदयवाले वे युधिष्ठिर निर्भय आश्रयकी इच्छा रखते हुए उस महान् वनमें रहते थे और अनेक प्रकारके ज्ञानसे सम्पन्न ब्राह्मणोंसे अपना मनोगत अभिप्राय पूछा करते थे ॥ २७ ॥

(प्रतिगृह्याक्षहृदयं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
आसीद्धृष्टमना राजन् भीमसेनादिभिर्युतः ॥

राजन्! द्यूतविद्याका रहस्य जानकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर भीमसेन आदिके साथ मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥

स्वभ्रातॄन् सहितान् पश्यन् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अपश्यन्नर्जुनं तत्र बभूवाश्रुपरिप्लुतः।
संतप्यमानः कौन्तेयो भीमसेनमुवाच ह ॥

उन्होंने एक साथ बैठे हुए सब भाइयोंकी ओर देखा, उस समय वहाँ अर्जुनको न देखकर उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये और वे अत्यन्त संतप्त हो भीमसेनसे बोले ॥

युधिष्ठिर उवाच

कदा द्रक्ष्यामि वै भीम पार्थमत्र तवानुजम्।
मत्कृते हि कुरुश्रेष्ठस्तप्यते दुश्चरं तपः ॥

युधिष्ठिरने कहा—भीमसेन! मैं तुम्हारे छोटे भाई अर्जुनको कब देखूँगा? कुरुश्रेष्ठ अर्जुन मेरे ही लिये अत्यन्त कठोर तपस्या करते हैं ॥

तस्याक्षहृदयज्ञानमाख्यास्यामि कदा न्वहम्।
स हि श्रुत्वाक्षहृदयं समुपात्तं मया विभो ॥
प्रहृष्टः पुरुषव्याघ्रो भविष्यति न संशयः।)

मैं उन्हें अक्षहृदय (द्यूतविद्याके रहस्य) का ज्ञान कब कराऊँगा। भीम! मेरे द्वारा ग्रहण किये हुए अक्षहृदयको सुनकर पुरुषसिंह अर्जुन बहुत प्रसन्न होंगे, इसमें संशय नहीं है ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि बृहदश्वगमने एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें बृहदश्वगमनविषयक उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

(तीर्थयात्रापर्व)

अशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनके लिये द्रौपदीसहित पाण्डवोंकी चिन्ता

जनमेजय उवाच

भगवन् काम्यकात् पार्थे गते मे प्रपितामहे।
पाण्डवाः किमकुर्वंस्ते तमृते सव्यसाचिनम् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन्! मेरे प्रपितामह अर्जुनके काम्यकवनसे चले जानेपर उनसे अलग रहते हुए शेष पाण्डवोंने कौन-सा कार्य किया? ॥ १ ॥

स हि तेषां महेष्वासो गतिरासीदनीकजित्।
आदित्यानां यथा विष्णुस्तथैव प्रतिभाति मे ॥ २ ॥

वे सैन्यविजयी, महान् धनुर्धर अर्जुन ही उन सबके आश्रय थे। जैसे आदित्योंमें विष्णु हैं, वैसे ही पाण्डवोंमें मुझे धनंजय जान पड़ते हैं ॥ २ ॥

तेनेन्द्रसमवीर्येण संग्रामेष्वनिवर्तिना।
विनाभूता वने वीराः कथमासन् पितामहाः ॥ ३ ॥

वे संग्रामसे कभी पीछे न हटनेवाले और इन्द्रके समान पराक्रमी थे। उनके बिना मेरे अन्य वीर पितामह वनमें कैसे रहते थे? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

गते तु पाण्डवे तात काम्यकात् सत्यविक्रमे।
बभूवुः पाण्डवेयास्ते दुःखशोकपरायणाः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तात! सत्यपराक्रमी पाण्डुकुमार अर्जुनके काम्यकवनसे चले जानेपर सभी पाण्डव उनके लिये दुःख और शोकमें मग्न रहने लगे ॥ ४ ॥

आक्षिप्तसूत्रा मणयश्छिन्नपक्षा इव द्विजाः।
अप्रीतमनसः सर्वे बभूवुरथ पाण्डवाः ॥ ५ ॥

जैसे मणियोंकी मालाका सूत टूट जाय अथवा पक्षियोंके पंख कट जायँ, वैसी दशामें उन मणियों और पक्षियोंकी जो

अवस्था होती है, वैसी ही अर्जुनके बिना पाण्डवोंकी थी। उन सबके मनमें तनिक भी प्रसन्नता नहीं थी ॥ ५ ॥

वनं तु तदभूत् तेन हीनमक्लिष्टकर्मणा ।
कुबेरेण यथा हीनं वनं चैत्ररथं तथा ॥ ६ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले अर्जुनके बिना वह वन उसी प्रकार शोभा-शून्य-सा हो गया, जैसे कुबेरके बिना चैत्ररथ वन ॥ ६ ॥

तमृते ते नरव्याघ्राः पाण्डवा जनमेजय ।
मुदमप्राप्नुवन्तो वै काम्यके न्यवसंस्तदा ॥ ७ ॥

जनमेजय ! अर्जुनके बिना वे नरश्रेष्ठ पाण्डव आनन्द-शून्य हो काम्यकवनमें रह रहे थे ॥ ७ ॥

ब्राह्मणार्थे पराक्रान्ताः शुद्धैर्बाणैर्महारथाः ।
निघ्नन्तो भरतश्रेष्ठ मेध्यान् बहुविधान् मृगान् ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे महारथी वीर शुद्ध बाणोंद्वारा ब्राह्मणोंके (बाघम्बर आदि) लिये पराक्रम करके नाना प्रकारके पवित्र* मृगोंको मारा करते थे ॥ ८ ॥

नित्यं हि पुरुषव्याघ्रा वन्याहारमरिंदमाः ।
उपाकृत्य उपाहृत्य ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयन् ॥ ९ ॥

वे नरश्रेष्ठ और शत्रुदमन पाण्डव प्रतिदिन ब्राह्मणोंके लिये जंगली फल-मूलका आहार संगृहीत करके उन्हें अर्पित करते थे ॥ ९ ॥

सर्वे संन्यवसंस्तत्र सोत्कण्ठाः पुरुषर्षभाः ।
अहृष्टमनसः सर्वे गते राजन् धनंजये ॥ १० ॥

राजन् ! धनंजयके चले जानेपर वे सभी नरश्रेष्ठ वहाँ खिन्न-चित्त हो उन्हींके लिये उत्कण्ठित होकर रहते थे ।१०।

विशेषतस्तु पाञ्चाली स्मरन्ती मध्यमं पतिम् ।
उद्विग्नं पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥

विशेषतः पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी अपने मझले पति अर्जुनका स्मरण करती हुई सदा उद्विग्न रहनेवाले पाण्डव-शिरोमणि युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोली—॥ ११ ॥

योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ।
तमृते पाण्डवश्रेष्ठ वनं न प्रतिभाति मे ॥ १२ ॥

'पाण्डवश्रेष्ठ ! जो दो भुजावाले अर्जुन सहस्रबाहु अर्जुनके समान पराक्रमी हैं, उनके बिना यह वन मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ १२ ॥

शून्यामिव प्रपश्यामि तत्र तत्र महीमिमाम् ।
बह्वाश्चर्यमिदं चापि वनं कुसुमितद्रुमम् ॥ १३ ॥
न तथा रमणीयं वै तमृते सव्यसाचिनम् ।
नीलाम्बुदसमप्रख्यं मत्तमातङ्गगामिनम् ॥ १४ ॥
तमृते पुण्डरीकाक्षं काम्यकं नातिभाति मे ।
यस्य वा धनुषो घोषः श्रूयते चाशनिस्वनः ।
न लभे शर्म वै राजन् स्मरन्ती सव्यसाचिनम् ॥ १५ ॥

'मैं यत्र-तत्र यहाँकी जिस-जिस भूमिपर दृष्टि डालती हूँ, सबको सूनी-सी ही पाती हूँ । यह अनेक आश्चर्यसे भरा हुआ और विकसित कुसुमोंसे अलंकृत वृक्षोंवाला काम्यकवन भी सव्यसाची अर्जुनके बिना पहले-जैसा रमणीय नहीं जान पड़ता है। नीलमेघके समान कान्ति और मतवाले गजराजकी-सी गतिवाले उन कमलनयन अर्जुनके बिना यह काम्यकवन मुझे तनिक भी नहीं भाता है । राजन् ! जिनके धनुषकी टङ्कार बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान सुनायी देती है, उन सव्यसाचीकी याद करके मुझे तनिक भी चैन नहीं मिलता' ॥ १३—१५ ॥

तथा लालप्यमानां तां निशम्य परवीरहा ।
भीमसेनो महाराज द्रौपदीमिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

महाराज ! इस प्रकार विलाप करती हुई द्रौपदीकी बात सुनकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भीमसेनने उससे इस प्रकार कहा ॥ १६ ॥

भीम उवाच

मनःप्रीतिकरं भद्रे यद् ब्रवीषि सुमध्यमे ।
तन्मे प्रीणाति हृदयममृतप्राशनोपमम् ॥ १७ ॥

भीमसेन बोले—भद्रे ! सुमध्यमे ! तुम जो कुछ कहती हो, वह मेरे मनको प्रसन्न करनेवाला है । तुम्हारी बात मेरे हृदयको अमृतपानके तुल्य तृप्ति प्रदान करती है ॥१७॥

यस्य दीर्घौ समौ पीनौ भुजौ परिघसंनिभौ ।
मौर्वीकृतकिणौ वृत्तौ खड्गायुधधनुर्धरौ ॥ १८ ॥
निष्काङ्गदकृतापीडौ पञ्चशीर्षाविवोरगौ ।
तमृते पुरुषव्याघ्रं नष्टसूर्यमिवाम्बरम् ॥ १९ ॥

जिनकी दोनों भुजाएँ लम्बी, मोटी, बराबर-बराबर तथा परिघके समान सुशोभित होनेवाली हैं, जिनपर प्रत्यञ्चाकी रगड़का चिह्न बन गया है, जो गोलाकार हैं और जिनमें खड्ग एवं धनुष सुशोभित होते हैं, सोनेके भुजबन्दोंसे विभूषित होकर जो पाँच-पाँच फनवाले दो सर्पोंके समान प्रतीत होती हैं उन पाँचों अंगुलियोंसे युक्त दोनों भुजाओंसे विभूषित नरश्रेष्ठ अर्जुनके बिना आज यह वन सूर्यहीन आकाशके समान श्रीहीन दिखलायी देता है ॥ १८-१९ ॥

यमाश्रित्य महाबाहुं पाञ्चालाः कुरवस्तथा ।
सुराणामपि मत्तानां पृतनासु न बिभ्यति ॥ २० ॥
यस्य बाहू समाश्रित्य वयं सर्वे महात्मनः ।
मन्यामहे जितानाजौ परान् प्राप्तां च मेदिनीम् ॥ २१ ॥
तमृते फाल्गुनं वीरं न लभे काम्यके धृतिम् ।

---

*जिनके मारनेपर मारनेवाला पवित्र हो जाय, ऐसे हिंसक सिंह-व्याघ्रादि पशुओंको पवित्र मृग कहा जाता है ।

पश्यामि च दिशः सर्वास्तिमिरेणावृता इव ।

जिन महाबाहु अर्जुनका आश्रय लेकर पाञ्चाल और कुरुवंशके वीर युद्धके लिये उद्यत देवताओंकी सेनाका सामना करनेसे भी भयभीत नहीं होते हैं, जिन महात्माके बाहुबलके भरोसे हम सब लोग युद्धमें अपने शत्रुओंको पराजित और इस पृथ्वीका राज्य अपने अधिकारमें आया हुआ मानते हैं, उन वीरवर अर्जुनके बिना हमें काम्यकवनमें धैर्य नहीं प्राप्त हो रहा है। मुझे सारी दिशाएँ अन्धकारसे आच्छन्न-सी दिखायी देती हैं ॥ २०-२१½ ॥

ततोऽब्रवीत् साश्रुकण्ठो नकुलः पाण्डुनन्दनः ॥ २२ ॥

भीमसेनकी यह बात सुनकर पाण्डुनन्दन नकुल अश्रुगद्गद कण्ठसे बोले ॥ २२ ॥

नकुल उवाच

यस्मिन् दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति रणाजिरे ।
देवा अपि युधां श्रेष्ठं तमृते का रतिर्वने ॥ २३ ॥

नकुलने कहा—जिन महावीर अर्जुनके विषयमें रणप्राङ्गणके भीतर देवताओंके द्वारा भी दिव्य कर्मोंका वर्णन किया जाता है, उन योद्धाओंमें श्रेष्ठ धनंजयके बिना अब इस वनमें हमें क्या प्रसन्नता है ? ॥ २३ ॥

उदीचीं यो दिशं गत्वा जित्वा युधि महाबलान् ।
गन्धर्वमुख्याञ्छतशो हयाँल्लेभे महाद्युतिः ॥ २४ ॥

जिन महातेजस्वीने उत्तर दिशामें जाकर महाबली मुख्य-मुख्य गन्धर्वोंको युद्धमें परास्त करके उनसे सैकड़ों घोड़े प्राप्त किये ॥ २४ ॥

राज्ञे तित्तिरिकल्माषाञ्छ्रीमतोऽनिलरंहसः ।
प्रादाद् भ्रात्रे प्रियः प्रेम्णा राजसूये महाक्रतौ ॥ २५ ॥

जिन्होंने महायज्ञ राजसूयमें अपने प्यारे भाई धर्मराज युधिष्ठिरको प्रेमपूर्वक वायुके समान वेगशाली तित्तिरिकल्माष नामक सुन्दर घोड़े भेंट किये थे ॥ २५ ॥

तमृते भीमधन्वानं भीमादवरजं वने ।
कामये काम्यके वासं नेदानीममरोपमम् ॥ २६ ॥

भीमके छोटे भाई उन भयंकर धनुर्धर देवोपम अर्जुनके बिना इस समय मुझे इस काम्यकवनमें रहनेकी इच्छा नहीं होती ॥ २६ ॥

सहदेव उवाच

यो धनानि च कन्याश्च युधि जित्वा महारथः ।
आजहार पुरा राज्ञे राजसूये महाक्रतौ ॥ २७ ॥
यः समेतान् मृधे जित्वा यादवानमितद्युतिः ।
सुभद्रामाजहारैको वासुदेवस्य सम्मते ॥ २८ ॥

सहदेवने कहा—जिन महारथी वीरने पहले राजसूय महायज्ञके अवसरपर युद्धमें जीतकर बहुत धन और कन्याएँ महाराज युधिष्ठिरको भेंट की थीं, जिन अनन्त तेजस्वी धनंजयने भगवान् श्रीकृष्णकी सम्मतिसे युद्धके लिये एकत्र हुए समस्त यादवोंको अकेले ही जीतकर सुभद्राका हरण कर लिया था ॥

तस्य जिष्णोर्वृसीं दृष्ट्वा शून्यामिव निवेशने ।
हृदयं मे महाराज न शाम्यति कदाचन ॥ २९ ॥
वनादस्माद् विवासं तु रोचयेऽहमरिंदम ।
न हि नस्तमृते वीरं रमणीयमिदं वनम् ॥ ३० ॥

महाराज ! उन्हीं विजयी भ्राता धनंजयके आसनको अब अपनी कुटियामें सूना देखकर मेरे हृदयको कभी शान्ति नहीं मिलती। अतः शत्रुदमन ! मैं इस वनसे अन्यत्र चलना पसंद करता हूँ। वीरवर अर्जुनके बिना अब यह वन रमणीय नहीं लगता ॥ २९-३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अर्जुनानुशोचने अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें अर्जुनके लिये पाण्डवोंका अनुतापविषयक असीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८०॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके पास देवर्षि नारदका आगमन और तीर्थयात्राके फलके सम्बन्धमें पूछनेपर नारदजीद्वारा भीष्म-पुलस्त्य-संवादकी प्रस्तावना

वैशम्पायन उवाच

धनंजयोत्सुकानां तु भ्रातॄणां कृष्णया सह ।
श्रुत्वा वाक्यानि विमना धर्मराजोऽप्यजायत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धनंजयके लिये उत्सुक द्रौपदीसहित सब भाइयोंके पूर्वोक्त वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरका भी मन बहुत उदास हो गया ॥ १ ॥

अथापश्यन्महात्मानं देवर्षिं तत्र नारदम् ।
दीप्यमानं श्रिया ब्राह्म्या हुतार्चिषमिवानलम् ॥ २ ॥

इतनेमें ही उन्होंने देखा, महात्मा देवर्षि नारद वहाँ उपस्थित हैं, जो अपने ब्राह्म तेजसे देदीप्यमान हो घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान प्रकाशित हो रहे हैं ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य भ्रातृभिः सह धर्मराट् ।
प्रत्युत्थाय यथान्यायं पूजां चक्रे महात्मने ॥ ३ ॥

उन्हें आया देख भाइयोंसहित धर्मराजने उठकर उन महात्माका यथायोग्य सत्कार किया ॥ ३ ॥

स तैः परिवृतः श्रीमान् भ्रातृभिः कुरुसत्तमः ।
विबभावतिदीप्तौजा देवैरिव शतक्रतुः ॥ ४ ॥

अपने भाइयोंसे घिरे हुए अत्यन्त तेजस्वी कुरुश्रेष्ठ श्रीमान् युधिष्ठिर देवताओंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ ४ ॥

यथा च वेदान् सावित्री याज्ञसेनी तथा पतीन् ।
न जहौ धर्मतः पार्थान् मेरुमर्कप्रभा यथा ॥ ५ ॥

जैसे गायत्री चारों वेदोंका और सूर्यकी प्रभा मेरु पर्वतका त्याग नहीं करती, उसी प्रकार याज्ञसेनी द्रौपदीने भी धर्मतः अपने पति कुन्तीकुमारोंका परित्याग नहीं किया ॥ ५ ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां नारदो भगवानृषिः ।
आश्वासयद् धर्मसुतं युक्तरूपमिवानघ ॥ ६ ॥

निष्पाप जनमेजय ! उनकी वह पूजा ग्रहण करके देवर्षि भगवान् नारदने धर्मपुत्र युधिष्ठिरको उचित सान्त्वना दी ॥

उवाच च महात्मानं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
ब्रूहि धर्मभृतां श्रेष्ठ केनार्थः किं ददानि ते ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् वे महात्मा धर्मराज युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश ! बोलो, तुम्हें किस वस्तुकी आवश्यकता है ? मैं तुम्हें क्या दूँ ?' ॥ ७ ॥

अथ धर्मसुतो राजा प्रणम्य भ्रातृभिः सह ।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा नारदं देवसम्मितम् ॥ ८ ॥

तब भाइयोंसहित धर्मनन्दन राजा युधिष्ठिरने देवतुल्य नारदजीको प्रणाम करके हाथ जोड़कर कहा—॥ ८ ॥

त्वयि तुष्टे महाभाग सर्वलोकाभिपूजिते ।
कृतमित्येव मन्येऽहं प्रसादात् तव सुव्रत ॥ ९ ॥

'महाभाग ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे ! सम्पूर्ण विश्वके द्वारा पूजित आप महात्माके संतुष्ट होनेपर मैं ऐसा समझता हूँ कि आपकी कृपासे मेरा सब कार्य पूरा हो गया ॥ ९ ॥

यदि त्वहमनुग्राह्यो भ्रातृभिः सहितोऽनघ ।
संदेहं मे मुनिश्रेष्ठ तत्त्वतश्छेत्तुमर्हसि ॥ १० ॥

'निष्पाप मुनिश्रेष्ठ ! यदि भाइयोंसहित मैं आपकी कृपाका पात्र होऊँ तो आप मेरे संदेहको सम्यक् प्रकारसे नष्ट कर दीजिये ॥ १० ॥

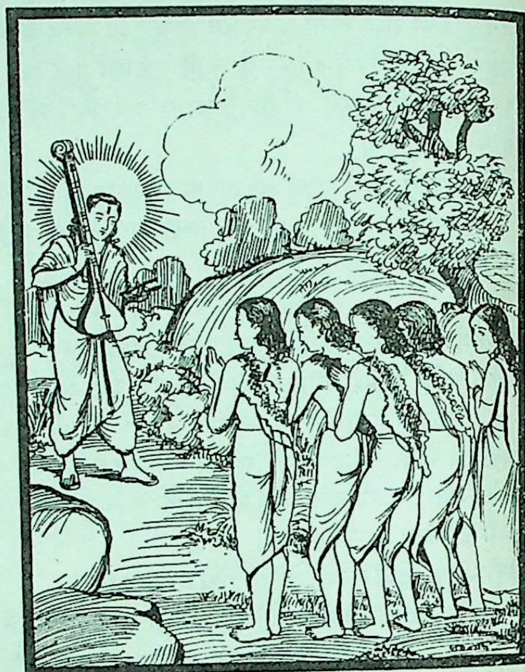
प्रदक्षिणां यः कुरुते पृथिवीं तीर्थतत्परः ।
किं फलं तस्य कार्त्स्न्येन तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥ ११ ॥

'जो मनुष्य तीर्थयात्रामें तत्पर होकर इस पृथ्वीकी परिक्रमा करता है, उसे क्या फल मिलता है ? यह आप पूर्णरूपसे बतानेकी कृपा करें' ॥ ११ ॥

नारद उवाच

शृणु राजन्नवहितो यथा भीष्मेण धीमता ।
पुलस्त्यस्य सकाशाद् वै सर्वमेतदुपश्रुतम् ॥ १२ ॥

नारदजीने कहा—राजन् ! सावधान होकर सुनो,



बुद्धिमान् भीष्मजीने महर्षि पुलस्त्यके मुखसे ये सब बातें जिस प्रकार सुनी थीं, वह सब मैं तुम्हें बता रहा हूँ ॥ १२ ॥

पुरा भागीरथीतीरे भीष्मो धर्मभृतां वरः ।
पित्र्यं व्रतं समास्थाय न्यवसन्मुनिभिः सह ॥ १३ ॥
शुभे देशे तथा राजन् पुण्ये देवर्षिसेविते ।
गङ्गाद्वारे महाभाग देवगन्धर्वसेविते ॥ १४ ॥

महाभाग ! पहलेकी बात है, देवताओं और गन्धर्वोंसे सेवित गङ्गाद्वार (हरिद्वार) तीर्थमें भागीरथीके पवित्र, शुभ एवं देवर्षिसेवित तट-प्रदेशमें श्रेष्ठ धर्मात्मा भीष्मजी पितृसम्बन्धी (श्राद्ध, तर्पण आदि) व्रतका आश्रय ले महर्षियोंके साथ रहते थे ॥ १३-१४ ॥

स पितॄंस्तर्पयामास देवांश्च परमद्युतिः ।
ऋषींश्च तर्पयामास विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १५ ॥

परम तेजस्वी भीष्मजीने वहाँ शास्त्रीय विधिके अनुसार देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण किया ॥ १५ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य जपन्नेव महायशाः ।
ददर्शाद्भुतसंकाशं पुलस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ १६ ॥

कुछ समयके बाद जब महायशस्वी भीष्मजी जपमें लगे हुए थे, अपने पास ही उन्होंने अद्भुत तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ पुलस्त्यजीको देखा ॥ १६ ॥

स तं दृष्ट्वोग्रतपसं दीप्यमानमिव श्रिया।
प्रहर्षमतुलं लेभे विस्मयं परमं ययौ ॥ १७ ॥

वे उग्र तपस्वी महर्षि तेजसे देदीप्यमान हो रहे थे। उन्हें देखकर भीष्मजीको अनुपम प्रसन्नता प्राप्त हुई तथा वे बड़े आश्चर्यमें पड़ गये ॥ १७ ॥

उपस्थितं महाभागं पूजयामास भारत।
भीष्मो धर्मभृतां श्रेष्ठो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १८ ॥

भारत ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भीष्मने वहाँ उपस्थित हुए महाभाग महर्षिका शास्त्रोक्त विधिसे पूजन किया ॥ १८ ॥

शिरसा चार्घ्यमादाय शुचिः प्रयतमानसः।
नाम संकीर्तयामास तस्मिन् ब्रह्मर्षिसत्तमे ॥ १९ ॥

उन्होंने पवित्र एवं एकाग्रचित्त होकर (पुलस्त्यजीके दिये हुए) अर्घ्यको सिरपर धारण करके उन ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ पुलस्त्यजीको अपने नामका इस प्रकार परिचय दिया—॥ १९ ॥

भीष्मोऽहमस्मि भद्रं ते दासोऽस्मि तव सुव्रत।
तव संदर्शनादेव मुक्तोऽहं सर्वकिल्बिषैः ॥ २० ॥

'सुव्रत ! आपका भला हो, मैं आपका दास भीष्म हूँ। आपके दर्शनमात्रसे मैं सब पापोंसे मुक्त हो गया' ॥ २० ॥

एवमुक्त्वा महाराज भीष्मो धर्मभृतां वरः।
वाग्यतः प्राञ्जलिर्भूत्वा तूष्णीमासीद् युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ एवं वाणीको संयममें रखनेवाले भीष्म ऐसा कहकर हाथ जोड़े चुप हो गये ॥ २१ ॥

तं दृष्ट्वा नियमेनाथ स्वाध्यायाम्नायकर्शितम्।
भीष्मं कुरुकुलश्रेष्ठं मुनिः प्रीतमनाभवत् ॥ २२ ॥

कुरुकुलशिरोमणि भीष्मको नियम, स्वाध्याय तथा वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानसे दुर्बल हुआ देख पुलस्त्य मुनि मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पार्थनारदसंवादे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें युधिष्ठिरनारदसंवादविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

भीष्मजीके पूछनेपर पुलस्त्यजीका उन्हें विभिन्न तीर्थोंकी यात्राका माहात्म्य बताना

पुलस्त्य उवाच

अनेन तव धर्मज्ञ प्रश्रयेण दमेन च।
सत्येन च महाभाग तुष्टोऽस्मि तव सुव्रत ॥ १ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—धर्मज्ञ ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महाभाग ! तुम्हारे इस विनय, इन्द्रियसंयम और सत्यपालनसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ ॥ १ ॥

यस्येदृशस्ते धर्मोऽयं पितृभक्त्याश्रितोऽनघ।
तेन पश्यसि मां पुत्र प्रीतिश्च परमा त्वयि ॥ २ ॥

निष्पाप वत्स ! तुम्हारेद्वारा पितृभक्तिके आश्रित जो ऐसे उत्तम धर्मका पालन हो रहा है, इसीके प्रभावसे तुम मेरा दर्शन कर रहे हो और तुमपर मेरा बहुत प्रेम हो गया है २

अमोघदर्शी भीष्माहं ब्रूहि किं करवाणि ते।
यद् वक्ष्यसि कुरुश्रेष्ठ तस्य दातास्मि तेऽनघ ॥ ३ ॥

निष्पाप कुरुश्रेष्ठ भीष्म ! मेरा दर्शन अमोघ है। बोलो, मैं तुम्हारे किस मनोरथकी पूर्ति करूँ ? तुम जो माँगोगे, वही दूँगा ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

प्रीते त्वयि महाभाग सर्वलोकाभिपूजिते।
कृतमेतावता मन्ये यदहं दृष्टवान् प्रभुम् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—महाभाग ! आप सम्पूर्ण लोकोंद्वारा पूजित हैं। आपके प्रसन्न हो जानेपर मुझे क्या नहीं मिला ? आप-जैसे शक्तिशाली महर्षिका मुझे दर्शन हुआ, इतनेहीसे मैं अपनेको कृतकृत्य मानता हूँ ॥ ४ ॥

यदि त्वहमनुग्राह्यस्तव धर्मभृतां वर।
संदेहं ते प्रवक्ष्यामि तन्मे त्वं छेत्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महर्षे ! यदि मैं आपकी कृपाका पात्र हूँ तो मैं आपके सामने अपना संशय रखता हूँ। आप उसका निवारण करें ॥ ५ ॥

अस्ति मे हृदये कश्चित् तीर्थेभ्यो धर्मसंशयः।
तमहं श्रोतुमिच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥

मेरे मनमें तीर्थोंसे होनेवाले धर्मके विषयमें कुछ संशय हो गया है, मैं उसीका समाधान सुनना चाहता हूँ; आप बतानेकी कृपा करें ॥ ६ ॥

प्रदक्षिणां यः पृथिवीं करोत्यमरसंनिभ।
किं फलं तस्य विप्रर्षे तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ ७ ॥

देवतुल्य ब्रह्मर्षे ! जो (तीर्थोंके उद्देश्यसे) सारी पृथ्वीकी परिक्रमा करता है, उसे क्या फल मिलता है ? यह निश्चित करके मुझे बताइये ॥ ७ ॥

पुलस्त्य उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यदृषीणां परायणम्।
तदेकाग्रमनाः पुत्र शृणु तीर्थेषु यत् फलम् ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—वत्स ! तीर्थयात्रा ऋषियोंके लिये बहुत बड़ा आश्रय है । मैं इसके विषयमें तुम्हें बताऊँगा । तीर्थोंके सेवनसे जो फल होता है, उसे एकाग्र होकर सुनो ॥ ८ ॥

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ ९ ॥

जिसके हाथ, पैर और मन अपने काबूमें हों तथा जो विद्या, तप और कीर्तिसे सम्पन्न हो, वही तीर्थसेवनका फल पाता है ॥ ९ ॥

प्रतिग्रहादपावृत्तः संतुष्टो येन केनचित् ।
अहंकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ १० ॥

जो प्रतिग्रहसे दूर रहे तथा जो कुछ अपने पास हो, उसीसे संतुष्ट रहे और जिसमें अहंकारका अभाव हो, वही तीर्थका फल पाता है ॥ १० ॥

अकल्कको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स तीर्थफलमश्नुते ॥ ११ ॥

जो दम्भ आदि दोषोंसे दूर, कर्तृत्वके अहंकारसे शून्य, अल्पाहारी और जितेन्द्रिय हो, वह सब पापोंसे विमुक्त हो तीर्थके वास्तविक फलका भागी होता है ॥ ११ ॥

अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः ।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥ १२ ॥

राजन् ! जिसमें क्रोध न हो, जो सत्यवादी और दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाला हो तथा जो सब प्राणियोंके प्रति आत्मभाव रखता हो, वही तीर्थके फलका भागी होता है ॥ १२ ॥

ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता देवेष्विह यथाक्रमम् ।
फलं चैव यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः ॥ १३ ॥

ऋषियोंने देवताओंके उद्देश्यसे यथायोग्य यज्ञ बताये हैं और उन यज्ञोंका यथावत् फल भी बताया है, जो इहलोक और परलोकमें भी सर्वथा प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं महीपते ।
बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भारविस्तराः ॥ १४ ॥

परंतु भूपाल ! दरिद्र मनुष्य उन यज्ञोंका अनुष्ठान नहीं कर सकते; क्योंकि उनमें बहुत-सी सामग्रियोंकी आवश्यकता होती है । नाना प्रकारके साधनोंका संग्रह होनेसे उनमें विस्तार बहुत बढ़ जाता है ॥ १४ ॥

प्राप्यन्ते पार्थिवैरेते समृद्धैर्वा नरैः क्वचित् ।
नार्थन्यूनैर्नावगणैरेकात्मभिरसाधनैः ॥ १५ ॥

अतः राजालोग अथवा कहीं-कहीं कुछ समृद्धिशाली मनुष्य ही यज्ञोंका अनुष्ठान कर सकते हैं । जिनके पास धनकी कमी और सहायकोंका अभाव है, जो अकेले और साधनशून्य हैं, उनके द्वारा यज्ञोंका अनुष्ठान नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर ।
तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तं निबोध युधां वर ॥ १६ ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ नरेश्वर ! जो सत्कर्म दरिद्रलोग भी कर सकें और जो अपने पुण्योंद्वारा यज्ञोंके समान फलप्रद हो सके, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ १६ ॥

ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम ।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह ऋषियोंका परम गोपनीय रहस्य है । तीर्थयात्रा बड़ा पवित्र सत्कर्म है । वह यज्ञोंसे भी बढ़कर है ॥

अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यनभिगम्य च ।
अदत्त्वा काञ्चनं गाश्च दरिद्रो नाम जायते ॥ १८ ॥

मनुष्य इसीलिये दरिद्र होता है कि वह (तीर्थोंमें) तीन राततक उपवास नहीं करता, तीर्थोंकी यात्रा नहीं करता और सुवर्ण-दान और गोदान नहीं करता ॥ १८ ॥

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ।
न तत् फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत् ॥ १९ ॥

मनुष्य तीर्थयात्रासे जिस फलको पाता है, उसे प्रचुर दक्षिणावाले अग्निष्टोम आदि यज्ञोंद्वारा यजन करके भी नहीं पा सकता ॥ १९ ॥

नृलोके देवदेवस्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
पुष्करं नाम विख्यातं महाभागः समाविशेत् ॥ २० ॥

मनुष्यलोकमें देवाधिदेव ब्रह्माजीका त्रिलोकविख्यात तीर्थ है, जो 'पुष्कर' नामसे प्रसिद्ध है । उसमें कोई बड़भागी मनुष्य ही प्रवेश कर पाता है ॥ २० ॥

दशकोटिसहस्राणि तीर्थानां वै महामते ।
सांनिध्यं पुष्करे येषां त्रिसंध्यं कुरुनन्दन ॥ २१ ॥

महामते कुरुनन्दन ! पुष्करमें तीनों समय दस सहस्र कोटि (दस खरब) तीर्थोंका निवास रहता है ॥ २१ ॥

आदित्या वसवो रुद्राः साध्याश्च समरुद्गणाः ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव नित्यं संनिहिता विभो ॥ २२ ॥

विभो ! वहाँ आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, मरुद्गण, गन्धर्व और अप्सराओंकी भी नित्य संनिधि रहती है ॥ २२ ॥

यत्र देवास्तपस्तप्त्वा दैत्या ब्रह्मर्षयस्तथा ।
दिव्ययोगा महाराज पुण्येन महतान्विताः ॥ २३ ॥

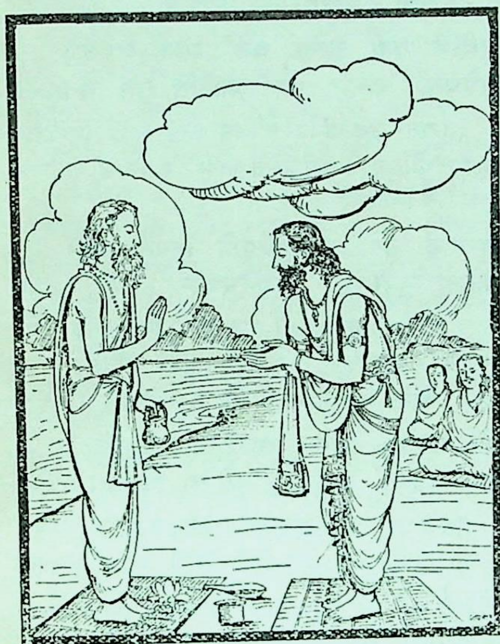
महाराज ! वहाँ तप करके देवता, दैत्य और ब्रह्मर्षि महान् पुण्यसे सम्पन्न हो दिव्य योगसे युक्त होते हैं ॥ २३ ॥

मनसाप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः ।
पूयन्ते सर्वपापानि नाकपृष्ठे च पूज्यते ॥ २४ ॥

जो मनस्वी पुरुष मनसे भी पुष्कर तीर्थमें जानेकी इच्छा करता है, उसके स्वर्गके प्रतिबन्धक सारे पाप मिट जाते हैं और वह स्वर्गलोकमें पूजित होता है ॥ २४ ॥

तस्मिंस्तीर्थे महाराज नित्यमेव पितामहः ।
उवास परमप्रीतो भगवान् कमलासनः ॥२५॥

महाराज ! उस तीर्थमें कमलासन भगवान् ब्रह्माजी नित्य ही बड़ी प्रसन्नताके साथ निवास करते हैं ॥२५॥



पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिगणाः पुरा ।
सिद्धिं समभिसम्प्राप्ताः पुण्येन महतान्विताः ॥२६॥

महाभाग ! पुष्करमें पहले देवता तथा ऋषि महान् पुण्यसे सम्पन्न हो सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं ॥ २६ ॥

तत्राभिषेकं यः कुर्यात् पितृदेवार्चने रतः ।
अश्वमेधाद् दशगुणं फलं प्राहुर्मनीषिणः ॥२७॥

जो वहाँ स्नान करता तथा देवताओं और पितरोंकी पूजामें संलग्न रहता है, उस पुरुषको अश्वमेधसे दस गुना फल प्राप्त होता है; ऐसा मनीषीगण कहते हैं ॥ २७ ॥

अप्येकं भोजयेद् विप्रं पुष्करारण्यमाश्रितः ।
तेनासौ कर्मणा भीष्म प्रेत्य चेह च मोदते ॥२८॥

भीष्म ! पुष्करमें जाकर कमसे कम एक ब्राह्मणको अवश्य भोजन कराये । उस पुण्यकर्मसे मनुष्य इहलोक और परलोकमें भी आनन्दका भागी होता है ॥ २८ ॥

शाकैर्मूलैः फलैर्वापि येन वर्तयते स्वयम् ।
तद् वै दद्याद् ब्राह्मणाय श्रद्धावाननसूयकः ॥२९॥

मनुष्य साग, फल तथा मूल जिसके द्वारा स्वयं प्राण-यात्राका निर्वाह करता है, वही श्रद्धाभावसे दूसरोंके दोष न देखते हुए ब्राह्मणको दान करे ॥ २९ ॥

तेनैव प्राप्नुयात् प्राज्ञो हयमेधफलं नरः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वा राजसत्तम ॥३०॥
न वै योनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे महात्मनः ।

उसीसे विद्वान् पुरुष अश्वमेधयज्ञका फल पाता है । नृपश्रेष्ठ ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र जो कोई भी महात्मा ब्रह्माजीके तीर्थमें स्नान कर लेते हैं, वे फिर किसी योनिमें जन्म नहीं लेते हैं ॥ ३०½ ॥

कार्तिकीं तु विशेषेण योऽभिगच्छति पुष्करम् ॥३१॥
प्राप्नुयात् स नरो लोकान् ब्रह्मणः सदनेऽक्षयान् ।

विशेषतः कार्तिकमासकी पूर्णिमाको जो पुष्करतीर्थमें स्नानके लिये जाता है, वह मनुष्य ब्रह्मधाममें अक्षय लोकोंको प्राप्त होता है ॥ ३१½ ॥

सायं प्रातः स्मरेद् यस्तु पुष्कराणि कृताञ्जलिः ॥३२॥
उपस्पृष्टं भवेत् तेन सर्वतीर्थेषु भारत ।

भारत ! जो सायंकाल और प्रातःकाल हाथ जोड़कर तीनों पुष्करोंका स्मरण करता है, उसने मानो सब तीर्थोंमें स्नान एवं आचमन कर लिया ॥ ३२½ ॥

जन्मप्रभृति यत् पापं स्त्रिया वा पुरुषेण वा ॥३३॥
पुष्करे स्नातमात्रस्य सर्वमेव प्रणश्यति ।

स्त्री अथवा पुरुषने जन्मसे लेकर वर्तमान अवस्थातक जितने भी पाप किये हैं, पुष्करतीर्थमें स्नान करनेमात्रसे वे सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ३३½ ॥

यथा सुराणां सर्वेषामादिस्तु मधुसूदनः ॥३४॥
तथैव पुष्करं राजंस्तीर्थानामादिरुच्यते ।

राजन् ! जैसे भगवान् मधुसूदन (विष्णु) सब देवताओं-के आदि हैं, वैसे ही पुष्कर सब तीर्थोंका आदि कहा जाता है ॥

उष्य द्वादश वर्षाणि पुष्करे नियतः शुचिः ॥३५॥
क्रतून् सर्वानवाप्नोति ब्रह्मलोकं स गच्छति ।

पुष्करमें पवित्रतापूर्वक संयम-नियमके साथ बारह वर्षोंतक निवास करके मानव सम्पूर्ण यज्ञोंका फल पाता और ब्रह्मलोक-को जाता है ॥ ३५½ ॥

यस्तु वर्षशतं पूर्णमग्निहोत्रमुपासते ॥३६॥
कार्तिकीं वा वसेदेकां पुष्करे सममेव तत् ॥३७॥

जो पूरे सौ वर्षोंतक अग्निहोत्र करता है और जो कार्तिक-की एक ही पूर्णिमाको पुष्करमें वास करता है, दोनोंका फल बराबर है ॥ ३६-३७ ॥

त्रीणि शृङ्गाणि शुभ्राणि त्रीणि प्रस्रवणानि च ।
पुष्कराण्यादिसिद्धानि न विद्मस्तत्र कारणम् ॥३८॥

तीन शुभ्र पर्वतशिखर, तीन सोते और तीन पुष्कर—ये आदिसिद्ध तीर्थ हैं। ये कब किस कारणसे तीर्थ माने गये ! इसका हमें पता नहीं है ॥ ३८ ॥

दुष्करं पुष्करे गन्तुं दुष्करं पुष्करे तपः।
दुष्करं पुष्करे दानं वस्तुं चैव सुदुष्करम् ॥३९॥

पुष्करमें जाना अत्यन्त दुर्लभ है, पुष्करमें तप अत्यन्त दुर्लभ है, पुष्करमें दान देनेका सुयोग तो और भी दुर्लभ है और उसमें निवासका सौभाग्य तो अत्यन्त ही दुष्कर है ॥ ३९॥

उष्य द्वादशरात्रं तु नियतो नियताशनः।
प्रदक्षिणमुपावृत्य जम्बूमार्गं समाविशेत् ॥४०॥

वहाँ इन्द्रियसंयम और नियमित आहार करते हुए बारह रात रहकर तीर्थकी परिक्रमा करनेके पश्चात् जम्बूमार्गको जाय ॥ ४० ॥

जम्बूमार्गं समाविश्य देवर्षिपितृसेवितम्।
अश्वमेधमवाप्नोति सर्वकामसमन्वितः ॥४१॥

जम्बूमार्ग देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंसे सेवित तीर्थ है। उसमें जाकर मनुष्य समस्त मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न हो अश्वमेधयज्ञका फल पाता है ॥ ४१ ॥

तत्रोष्य रजनीः पञ्च पूतात्मा जायते नरः।
न दुर्गतिमवाप्नोति सिद्धिं प्राप्नोति चोत्तमाम् ॥४२॥

वहाँ पाँच रात निवास करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। उसे कभी दुर्गति नहीं प्राप्त होती, वह उत्तम सिद्धि पा लेता है ॥ ४२ ॥

जम्बूमार्गादुपावृत्य गच्छेत् तन्दुलिकाश्रमम्।
न दुर्गतिमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥४३॥

जम्बूमार्गसे लौटकर मनुष्य तन्दुलिकाश्रमको जाय। इससे वह दुर्गतिमें नहीं पड़ता और अन्तमें ब्रह्मलोकको चला जाता है ॥ ४३ ॥

आगस्त्यं सर आसाद्य पितृदेवार्चने रतः।
त्रिरात्रोपोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ॥४४॥

राजन् ! जो अगस्त्यसरोवर जाकर देवताओं और पितरोंके पूजनमें तत्पर हो तीन रात उपवास करता है, वह अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ॥ ४४ ॥

शाकवृत्तिः फलैर्वापि कौमारं विन्दते परम्।
कण्वाश्रमं ततो गच्छेच्छ्रीजुष्टं लोकपूजितम् ॥४५॥

जो शाकाहार या फलाहार करके वहाँ रहता है, वह परम उत्तम कुमारलोक (कार्तिकेयके लोक) में जाता है। वहाँसे लोकपूजित-कण्वके आश्रममें जाय, जो भगवती लक्ष्मीके द्वारा सेवित है ॥ ४५ ॥

धर्मारण्यं हि तत् पुण्यमाद्यं च भरतर्षभ।
यत्र प्रविष्टमात्रो वै सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४६॥

भरतश्रेष्ठ ! वह धर्मारण्य कहलाता है, उसे परम पवित्र एवं आदितीर्थ माना गया है। उसमें प्रवेश करनेमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ४६ ॥

अर्चयित्वा पितॄन् देवान् नियतो नियताशनः।
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य फलमश्नुते ॥४७॥

जो वहाँ नियमपूर्वक मिताहारी होकर देवता और पितरोंकी पूजा करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न यज्ञका फल पाता है ॥ ४७ ॥

प्रदक्षिणं ततः कृत्वा ययातिपतनं व्रजेत्।
हयमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति तत्र वै ॥४८॥

तदनन्तर उस तीर्थकी परिक्रमा करके वहाँसे ययातिपतन नामक तीर्थमें जाय। वहाँ जानेसे यात्रीको अवश्य ही अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ॥ ४८ ॥

महाकालं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ॥४९॥

वहाँसे महाकालतीर्थको जाय। वहाँ नियमपूर्वक रहकर नियमित भोजन करे। वहाँ कोटितीर्थमें आचमन (एवं स्नान) करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञः स्थाणोस्तीर्थमुमापतेः।
नाम्ना भद्रवटं नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥५०॥

वहाँसे धर्मज्ञ पुरुष उमावल्लभ भगवान् स्थाणु (शिव) के उस तीर्थमें जाय, जो तीनों लोकोंमें 'भद्रवट'के नामसे प्रसिद्ध है ॥ ५० ॥

तत्राभिगम्य चेशानं गोसहस्रफलं लभेत्।
महादेवप्रसादाच्च गाणपत्यं च विन्दति ॥५१॥
समृद्धमसपत्नं च श्रिया युक्तं नरोत्तमः।

वहाँ भगवान् शिवका निकटसे दर्शन करके नरश्रेष्ठ यात्री एक हजार गोदानका फल पाता है और महादेवजीके प्रसादसे वह गणोंका आधिपत्य प्राप्त कर लेता है, जो आधिपत्य भारी समृद्धि और लक्ष्मीसे सम्पन्न तथा शत्रुजनित बाधासे रहित होता है ॥ ५१½ ॥

नर्मदां तु समासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम् ॥५२॥
तर्पयित्वा पितॄन् देवानग्निष्टोमफलं लभेत्।

वहाँसे त्रिभुवनविख्यात नर्मदा नदीके तटपर जाकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ५२½ ॥

दक्षिणं सिन्धुमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥५३॥
अग्निष्टोममवाप्नोति विमानं चाधिरोहति।

इन्द्रियोंको काबूमें रखकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए दक्षिण समुद्रकी यात्रा करनेसे मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल और विमानपर बैठनेका सौभाग्य पाता है ॥ ५३½ ॥

चर्मण्वतीं समासाद्य नियतो नियताशनः ।
रन्तिदेवाभ्यनुज्ञातमग्निष्टोमफलं लभेत् ॥५४॥

इन्द्रियसंयम या शौच-संतोष आदिके पालनपूर्वक नियमित आहारका सेवन करते हुए चर्मण्वती (चंबल) नदीमें स्नान आदि करनेसे राजा रन्तिदेवद्वारा अनुमोदित अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ हिमवत्सुतमर्बुदम् ।
पृथिव्यां यत्र वै छिद्रं पूर्वमासीद् युधिष्ठिर ॥५५॥

धर्मज्ञ युधिष्ठिर ! वहाँसे आगे हिमालयपुत्र अर्बुद (आबू) की यात्रा करे, जहाँ पहले पृथ्वीमें विवर था ॥५५॥

तत्राश्रमो वसिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥५६॥

वहाँ महर्षि वसिष्ठका त्रिलोकविख्यात आश्रम है, जिसमें एक रात रहनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥

पिङ्गतीर्थमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
कपिलानां नरश्रेष्ठ शतस्य फलमश्नुते ॥५७॥

नरश्रेष्ठ ! पिङ्गतीर्थमें स्नान एवं आचमन करके ब्रह्मचारी एवं जितेन्द्रिय मनुष्य सौ कपिलाओंके दानका फल प्राप्त कर लेता है ॥ ५७ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रभासं तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र संनिहितो नित्यं स्वयमेव हुताशनः ॥५८॥
देवतानां मुखं वीर ज्वलनोऽनिलसारथिः ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर उत्तम प्रभासतीर्थमें जाय । वीर ! उस तीर्थमें देवताओंके मुखस्वरूप भगवान् अग्निदेव, जिनके सारथि वायु हैं, सदा निवास करते हैं ॥ ५८½ ॥

तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः ॥५९॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति मानवः ।

उस तीर्थमें स्नान करके शुद्ध एवं संयत चित्त हो मानव अतिरात्र और अग्निष्टोम यज्ञोंका फल पाता है ॥ ५९½ ॥

ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च संगमे ॥६०॥
गोसहस्रफलं तस्य स्वर्गलोकं च विन्दति ।
प्रभया दीप्यते नित्यमग्निवद् भरतर्षभ ॥६१॥

तदनन्तर सरस्वती और समुद्रके संगममें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल और स्वर्गलोक पाता है । भरतश्रेष्ठ ! वह पुण्यात्मा पुरुष अपने तेजसे सदा अग्निकी भाँति प्रकाशित होता है ॥ ६०-६१ ॥

तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः ।
त्रिरात्रमुषितः स्नातस्तर्पयेत् पितृदेवताः ॥६२॥

मनुष्य शुद्धचित्त हो जलोंके स्वामी वरुणके तीर्थ (समुद्र) में स्नान करके वहाँ तीन रात रहे और प्रतिदिन नहाकर देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करे ॥ ६२ ॥

प्रभासते यथा सोमः सोऽश्वमेधं च विन्दति ।
वरदानं ततो गच्छेत् तीर्थं भरतसत्तम ॥६३॥

ऐसा करनेवाला यात्री चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है । साथ ही उसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है । भरतश्रेष्ठ ! वहाँसे वरदानतीर्थमें जाय ॥ ६३ ॥

विष्णोर्दुर्वाससा यत्र वरो दत्तो युधिष्ठिर ।
वरदाने नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥६४॥

युधिष्ठिर ! यह वह स्थान है, जहाँ मुनिवर दुर्वासाने श्रीकृष्णको वरदान दिया था । वरदानतीर्थमें स्नान करनेसे मानव सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ ६४ ॥

ततो द्वारवतीं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
पिण्डारके नरः स्नात्वा लभेद् बहु सुवर्णकम् ॥ ६५ ॥

वहाँसे तीर्थयात्रीको द्वारका जाना चाहिये । वह नियमसे रहे और नियमित भोजन करे । पिण्डारकतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको अधिकाधिक सुवर्णकी प्राप्ति होती है ॥ ६५ ॥

तस्मिंस्तीर्थे महाभाग पद्मलक्षणलक्षिताः ।
अद्यापि मुद्रा दृश्यन्ते तदद्भुतमरिंदम ॥ ६६ ॥

महाभाग ! उस तीर्थमें आज भी कमलके चिह्नोंसे चिह्नित सुवर्णमुद्राएँ देखी जाती हैं । शत्रुदमन ! यह एक अद्भुत बात है ॥ ६६ ॥

त्रिशूलाङ्कानि पद्मानि दृश्यन्ते कुरुनन्दन ।
महादेवस्य सांनिध्यं तत्र वै पुरुषर्षभ ॥ ६७ ॥

पुरुषरत्न कुरुनन्दन ! जहाँ त्रिशूलसे अङ्कित कमल दृष्टिगोचर होते हैं । वहीं महादेवजीका निवास है ॥ ६७ ॥

सागरस्य च सिन्धोश्च संगमं प्राप्य भारत ।
तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः ॥ ६८ ॥
तर्पयित्वा पितॄन् देवानृषींश्च भरतर्षभ ।
प्राप्नोति वारुणं लोकं दीप्यमानं स्वतेजसा ॥ ६९ ॥

भारत ! सागर और सिंधु नदीके संगममें जाकर वरुण-तीर्थमें स्नान करके शुद्धचित्त हो देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण करे । भरतकुलतिलक ! ऐसा करनेसे मनुष्य दिव्य दीप्तिसे देदीप्यमान वरुणलोकको प्राप्त होता है ॥

शङ्कुकर्णेश्वरं देवमर्चयित्वा युधिष्ठिर ।
अश्वमेधाद् दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ७० ॥

युधिष्ठिर ! वहाँ शङ्कुकर्णेश्वर शिवकी पूजा करनेसे मनीषी पुरुष अश्वमेधसे दस गुने पुण्यफलकी प्राप्ति बताते हैं ॥

---

१. यद्यपि यहाँ पुलस्त्यजी भीष्मजीको यह प्रसंग सुना रहे हैं, तथापि इस संवादको नारदजीने युधिष्ठिरके समक्ष उपस्थित किया है; अतः नारदजी युधिष्ठिरको सम्बोधित करें, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छेत भरतर्षभ ।
तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ ७१ ॥
दमीति नाम्ना विख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् ।
तत्र ब्रह्मादयो देवा उपासन्ते महेश्वरम् ॥ ७२ ॥

भरतवंशावतंस कुरुश्रेष्ठ ! उनकी परिक्रमा करके त्रिभुवन-विख्यात 'दमी' नामक तीर्थमें जाय, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है । वहाँ ब्रह्मा आदि देवता भगवान् महेश्वर-की उपासना करते हैं ॥ ७१-७२ ॥

तत्र स्नात्वा च पीत्वा च रुद्रं देवगणैर्वृतम् ।
जन्मप्रभृति यत् पापं तत् स्नातस्य प्रणश्यति ॥ ७३ ॥

वहाँ स्नान, जलपान और देवताओंसे घिरे हुए रुद्रदेवका दर्शन-पूजन करनेसे स्नानकर्ता पुरुषके जन्मसे लेकर वर्तमान समयतकके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ७३ ॥

दमी चात्र नरश्रेष्ठ सर्वदेवैरभिष्टुतः ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र हयमेधमवाप्नुयात् ॥ ७४ ॥

नरश्रेष्ठ ! भगवान् दमीका सभी देवता स्तवन करते हैं । पुरुषसिंह ! वहाँ स्नान करनेसे अश्वमेधयज्ञके फलकी प्राप्ति होती है ॥ ७४ ॥

गत्वा यत्र महाप्राज्ञ विष्णुना प्रभविष्णुना ।
पुरा शौचं कृतं राजन् हत्वा दैतेयदानवान् ॥ ७५ ॥

महाप्राज्ञ नरेश ! सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने पहले दैत्यों-दानवोंका वध करके इसी तीर्थमें जाकर (लोकसंग्रहके लिये) शुद्धि की थी ॥ ७५ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ वसोर्धारामभिष्टुताम् ।
गमनादेव तस्यां हि हयमेधफलं लभेत् ॥ ७६ ॥

धर्मज्ञ ! वहाँसे वसुधारातीर्थमें जाय, जो सबके द्वारा प्रशंसित है । वहाँ जानेमात्रसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ॥ ७६ ॥

स्नात्वा कुरुवरश्रेष्ठ प्रयतात्मा समाहितः ।
तर्प्य देवान् पितॄंश्चैव विष्णुलोके महीयते ॥ ७७ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! वहाँ स्नान करके शुद्ध और समाहितचित्त होकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्य विष्णु-लोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ७७ ॥

तीर्थं चात्र सरः पुण्यं वसूनां भरतर्षभ ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च वसूनां सम्मतो भवेत् ॥ ७८ ॥
सिन्धूत्तममिति ख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ लभेद् बहु सुवर्णकम् ॥ ७९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस तीर्थमें वसुओंका पवित्र सरोवर है । उसमें स्नान और जलपान करनेसे मनुष्य वसु देवताओंका प्रिय होता है । नरश्रेष्ठ ! वहाँ सिन्धूत्तम नामसे प्रसिद्ध तीर्थ है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है । उसमें स्नान करनेसे प्रचुर स्वर्णराशिकी प्राप्ति होती है ॥ ७८-७९ ॥

भद्रतुङ्गं समासाद्य शुचिः शीलसमन्वितः ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति गतिं च परमां व्रजेत् ॥ ८० ॥

भद्रतुङ्गतीर्थमें जाकर पवित्र एवं सुशील पुरुष ब्रह्म-लोकमें जाता और वहाँ उत्तम गति पाता है ॥ ८० ॥

कुमारिकाणां शक्रस्य तीर्थं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ॥ ८१ ॥

शक्रकुमारिका-तीर्थ सिद्ध पुरुषोंद्वारा सेवित है । वहाँ स्नान करके मनुष्य शीघ्र ही स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है ॥

रेणुकायाश्च तत्रैव तीर्थं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा भवेद् विप्रो निर्मलश्चन्द्रमा यथा ॥ ८२ ॥

वहीं सिद्धसेवित रेणुकातीर्थ है, जिसमें स्नान करके ब्राह्मण चन्द्रमाके समान निर्मल होता है ॥ ८२ ॥

अथ पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः ।
पञ्चयज्ञानवाप्नोति क्रमशो येऽनुकीर्तिताः ॥ ८३ ॥

तदनन्तर शौच-संतोष आदि नियमोंका पालन और नियमित भोजन करते हुए पञ्चनद तीर्थमें जाकर मनुष्य पञ्चमहायज्ञोंका फल पाता है जो कि शास्त्रोंमें क्रमशः बतलाये गये हैं ॥ ८३ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र भीमायाः स्थानमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा तु योन्यां वै नरो भरतसत्तम ॥ ८४ ॥
देव्याः पुत्रो भवेद् राजंस्तप्तकुण्डलविग्रहः ।
गवां शतसहस्रस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ८५ ॥

राजेन्द्र ! वहाँसे भीमाके उत्तम स्थानकी यात्रा करे ! भरतश्रेष्ठ ! वहाँ योनितीर्थमें स्नान करके मनुष्य देवीका पुत्र होता है । उसकी अङ्गकान्ति तपाये हुए सुवर्णकुण्डलके समान होती है । राजन् ! उस तीर्थके सेवनसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ ८४-८५ ॥

श्रीकुण्डं तु समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
पितामहं नमस्कृत्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ८६ ॥

त्रिभुवनविख्यात श्रीकुण्डमें जाकर ब्रह्माजीको नमस्कार करनेसे सहस्र गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ ८६ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ विमलं तीर्थमुत्तमम् ।
अद्यापि यत्र दृश्यन्ते मत्स्याः सौवर्णराजताः ॥ ८७ ॥

धर्मज्ञ ! वहाँसे परम उत्तम विमलतीर्थकी यात्रा करे, जहाँ आज भी सोने और चाँदीके रंगकी मछलियाँ दिखायी देती हैं ॥ ८७ ॥

तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं वासवं लोकमाप्नुयात् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ॥ ८८ ॥

उसमें स्नान करनेसे मनुष्य शीघ्र ही इन्द्रलोकको प्राप्त होता है और सब पापोंसे शुद्ध हो परमगति प्राप्त कर लेता है ॥ ८८ ॥

वितस्तां च समासाद्य संतर्प्य पितृदेवताः ।
नरः फलमवाप्नोति वाजपेयस्य भारत ॥ ८९ ॥

भारत ! वितस्तातीर्थ (झेलम) में जाकर वहाँ देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्यको वाजपेययज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ८९ ॥

काश्मीरेष्वेव नागस्य भवनं तक्षकस्य च ।
वितस्ताख्यमिति ख्यातं सर्वपापप्रमोचनम् ॥ ९० ॥

काश्मीरमें ही नागराज तक्षकका वितस्ता नामसे प्रसिद्ध भवन है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है ॥ ९० ॥

तत्र स्नात्वा नरो नूनं वाजपेयमवाप्नुयात् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेच्च परमां गतिम् ॥ ९१ ॥

वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य निश्चय ही वाजपेययज्ञका फल प्राप्त करता है और सब पापोंसे शुद्ध हो उत्तम गतिका भागी होता है ॥ ९१ ॥

ततो गच्छेत वडवां त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ।
पश्चिमायां तु संध्यायामुपस्पृश्य यथाविधि ॥ ९२ ॥
चरुं सप्तार्चिषे राजन् यथाशक्ति निवेदयेत् ।
पितॄणामक्षयं दानं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ९३ ॥

वहाँसे त्रिभुवनविख्यात वडवातीर्थको जाय । वहाँ पश्चिम संध्याके समय विधिपूर्वक स्नान और आचमन करके अग्निदेवको यथाशक्ति चरु निवेदन करे । वहाँ पितरोंके लिये दिया हुआ दान अक्षय होता है; ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥ ९२-९३ ॥

ऋषयः पितरो देवा गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
गुह्यकाः किन्नरा यक्षाः सिद्धा विद्याधरा नराः ॥ ९४ ॥
राक्षसा दितिजा रुद्रा ब्रह्मा च मनुजाधिप ।
नियतः परमां दीक्षामास्थायाब्दसहस्रिकीम् ॥ ९५ ॥
विष्णोः प्रसादनं कुर्वंश्चरुं च श्रपयंस्तथा ।
सप्तभिः सप्तभिश्चैव ऋग्भिस्तुष्टाव केशवम् ॥ ९६ ॥

राजन् ! वहाँ देवता, ऋषि, पितर, गन्धर्व, अप्सरा, गुह्यक, किन्नर, यक्ष, सिद्ध, विद्याधर, मनुष्य, राक्षस, दैत्य, रुद्र और ब्रह्मा—इन सबने नियमपूर्वक सहस्र वर्षोंके लिये उत्तम दीक्षा ग्रहण करके भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये चरु अर्पण किया । ऋग्वेदके सात-सात मन्त्रोंद्वारा-सबने चरुकी सात-सात आहुतियाँ दीं और भगवान् केशवको प्रसन्न किया ॥ ९४–९६ ॥

ददावष्टगुणैश्वर्यं तेषां तुष्टस्तु केशवः ।
यथाभिलषितानन्यान् कामान् दत्त्वा महीपते ॥ ९७ ॥
तत्रैवान्तर्दधे देवो विद्युदभ्रेषु वै यथा ।
नाम्ना सप्तचरुं तेन ख्यातं लोकेषु भारत ॥ ९८ ॥
गवां शतसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
अश्वमेधसहस्रेण श्रेयान् सप्तार्चिषे चरुः ॥ ९९ ॥
ततो निवृत्तो राजेन्द्र रुद्रं पदमथाविशेत् ।
अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत् ॥ १०० ॥

उनपर प्रसन्न होकर भगवान्ने उन्हें अष्टगुण-ऐश्वर्य अर्थात् अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ प्रदान कीं । महाराज ! तत्पश्चात् उनकी इच्छाके अनुसार अन्यान्य वर देकर भगवान् केशव वहाँसे उसी प्रकार अन्तर्धान हो गये, जैसे मेघोंकी घटामें बिजली तिरोहित हो जाती है । भारत ! इसीलिये वह तीर्थ तीनों लोकोंमें सप्तचरुके नामसे विख्यात है । वहाँ अग्निके लिये दिया हुआ चरु एक लाख गोदान, सौ राजसूय यज्ञ और सहस्र अश्वमेधयज्ञसे भी अधिक कल्याणकारी है । राजेन्द्र ! वहाँसे लौटकर रुद्रपद नामक तीर्थमें जाय । वहाँ महादेवजीकी पूजा करके तीर्थयात्री पुरुष अश्वमेधका फल पाता है ॥ ९७–१०० ॥

मणिमन्तं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
एकरात्रोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ १०१ ॥

राजन् ! एकाग्रचित्त हो ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक मणिमान् तीर्थमें जाय और वहाँ एक रात निवास करे । इससे अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १०१ ॥

अथ गच्छेत राजेन्द्र देविकां लोकविश्रुताम् ।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ॥ १०२ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! राजेन्द्र ! वहाँसे लोकविख्यात देविकातीर्थकी यात्रा करे, जहाँ ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति सुनी जाती है ॥ १०२ ॥

त्रिशूलपाणेः स्थानं च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
देविकायां नरः स्नात्वा समभ्यर्च्य महेश्वरम् ॥ १०३ ॥
यथाशक्ति चरुं तत्र निवेद्य भरतर्षभ ।
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य लभते फलम् ॥ १०४ ॥

वहाँ त्रिशूलपाणि भगवान् शिवका स्थान है, जिसकी तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि है । देविकामें स्नान करके भगवान् महेश्वरका पूजन और उन्हें यथाशक्ति चरु निवेदन करके सम्पूर्ण कामनाओंसे समृद्ध यज्ञके फलकी प्राप्ति होती है । १०३–१०४ ।

कामाख्यं तत्र रुद्रस्य तीर्थं देवनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं सिद्धिं प्राप्नोति भारत ॥ १०५ ॥

वहाँ भगवान् शङ्करका देवसेवित कामतीर्थ है । भारत ! उसमें स्नान करके मनुष्य शीघ्र मनोवाञ्छित सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ १०५ ॥

यजनं याजनं चैव तथैव ब्रह्म वालुकाम् ।
पुष्पाम्भश्च उपस्पृश्य न शोचेन्मरणं गतः ॥ १०६ ॥

वहाँ यजन, याजन तथा वेदोंका स्वाध्याय करके अथवा वहाँकी बालू, पुष्प एवं जलका स्पर्श करके मृत्युको प्राप्त हुआ पुरुष शोकसे पार हो जाता है ॥ १०६ ॥

अर्धयोजनविस्तारा पञ्चयोजनमायता ।
एतावती वेदिका तु पुण्या देवर्षिसेविता ॥१०७॥

वहाँ पाँच योजन लंबी और आधा योजन चौड़ी पवित्र वेदिका है, जिसका देवता तथा ऋषि-मुनि भी सेवन करते हैं ॥ १०७ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ दीर्घसत्रं यथाक्रमम् ।
तत्र ब्रह्मादयो देवाः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥१०८॥

धर्मज्ञ ! वहाँसे क्रमशः 'दीर्घसत्र' नामक तीर्थमें जाय । वहाँ ब्रह्मा आदि देवता, सिद्ध और महर्षि रहते हैं ॥ १०८ ॥

दीर्घसत्रमुपासन्ते दीक्षिता नियतव्रताः ॥१०९॥

वे नियमपूर्वक व्रतका पालन करते हुए दीक्षा लेकर दीर्घसत्रकी उपासना करते हैं ॥ १०९ ॥

गमनादेव राजेन्द्र दीर्घसत्रमरिंदम ।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं प्राप्नोति भारत ॥११०॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले भरतवंशी राजेन्द्र ! वहाँकी यात्रा करने मात्रसे मनुष्य राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंके समान फल पाता है ॥ ११० ॥

ततो विनशनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
गच्छत्यन्तर्हिता यत्र मेरुपृष्ठे सरस्वती ॥१११॥

तदनन्तर शौच-संतोषादि नियमोंका पालन और नियमित आहार ग्रहण करते हुए विनशनतीर्थमें जाय, जहाँ मेरु-पृष्ठपर रहनेवाली सरस्वती अदृश्य भावसे बहती है ॥ १११ ॥

चमसेऽथ शिवोद्भेदे नागोद्भेदे च दृश्यते ।
स्नात्वा तु चमसोद्भेदे अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥११२॥

वहाँ चमसोद्भेद, शिवोद्भेद और नागोद्भेद तीर्थमें सरस्वतीका दर्शन होता है । चमसोद्भेदमें स्नान करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ११२ ॥

शिवोद्भेदे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।
नागोद्भेदे नरः स्नात्वा नागलोकमवाप्नुयात् ॥११३॥

शिवोद्भेदमें स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है । नागोद्भेदतीर्थमें स्नान करनेसे उसे नागलोककी प्राप्ति होती है ॥ ११३ ॥

शशयानं च राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम् ।
शशरूपप्रतिच्छन्नाः पुष्करा यत्र भारत ॥११४॥
सरस्वत्यां महाराज अनुसंवत्सरं च ते ।
दृश्यन्ते भरतश्रेष्ठ वृत्तां वै कार्तिकीं सदा ॥११५॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र द्योतते शशिवत् सदा ।
गोसहस्रफलं चैव प्राप्नुयाद् भरतर्षभ ॥११६॥

राजेन्द्र ! शशयान नामक तीर्थ अत्यन्त दुर्लभ है। उसमें जाकर स्नान करे । महाराज भारत ! वहाँ सरस्वती नदीमें प्रतिवर्ष कार्तिकी पूर्णिमाको शश (खरगोश) के रूपमें छिपे हुए पुष्कर तीर्थ देखे जाते हैं । भरतश्रेष्ठ ! नरव्याघ्र ! वहाँ स्नान करके मनुष्य सदा चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है । भरतकुलतिलक ! उसे सहस्र गोदानका फल भी मिलता है ॥ ११४–११६ ॥

कुमारकोटिमासाद्य नियतः कुरुनन्दन ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ॥११७॥

कुरुनन्दन ! वहाँसे कुमारकोटि तीर्थमें जाकर वहाँ नियमपूर्वक स्नान करे और देवता तथा पितरोंके पूजनमें तत्पर रहे ॥ ११७ ॥

गवामयुतमाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ रुद्रकोटिं समाहितः ॥११८॥
पुरा यत्र महाराज मुनिकोटिः समागता ।
हर्षेण महताविष्टा रुद्रदर्शनकाङ्क्षया ॥११९॥
अहं पूर्वमहं पूर्वं द्रक्ष्यामि वृषभध्वजम् ।
एवं सम्प्रस्थिता राजन्नृषयः किल भारत ॥१२०॥

ऐसा करनेसे मनुष्य दस हजार गोदानका फल पाता है और अपने कुलका उद्धार कर देता है । धर्मज्ञ ! वहाँसे एकाग्रचित्त हो रुद्रकोटितीर्थमें जाय । महाराज ! रुद्रकोटि वह स्थान है, जहाँ पूर्वकालमें एक करोड़ मुनि बड़े हर्षमें भरकर भगवान् रुद्रके दर्शनकी अभिलाषासे आये थे । भारत ! 'भगवान् वृषभध्वजका दर्शन पहले मैं करूँगा, मैं करूँगा' ऐसा संकल्प करके वे महर्षि वहाँके लिये प्रस्थित हुए थे ॥ ११८–१२० ॥

ततो योगेश्वरेणापि योगमास्थाय भूपते ।
तेषां मन्युप्रणाशार्थमृषीणां भावितात्मनाम् ॥१२१॥
सृष्टा कोटीति रुद्राणामृषीणामग्रतः स्थिता ।
मया पूर्वतरं दृष्ट इति ते मेनिरे पृथक् ॥१२२॥
तेषां तुष्टो महादेवो मुनीनां भावितात्मनाम् ।
भक्त्या परमया राजन् वरं तेषां प्रदिष्टवान् ॥१२३॥

राजन् ! तब योगेश्वर भगवान् शिवने भी योगका आश्रय ले, उन शुद्धात्मा महर्षियोंके शोककी शान्तिके लिये करोड़ों शिवलिङ्गोंकी सृष्टि कर दी, जो उन सभी ऋषियोंके आगे उपस्थित थे; इससे उन सबने अलग-अलग भगवान्का दर्शन किया है । राजन् ! उन शुद्धचेता मुनियोंकी उत्तम भक्तिसे संतुष्ट हो महादेवजीने उन्हें वर दिया ॥ १२१-१२३ ॥

अद्यप्रभृति युष्माकं धर्मवृद्धिर्भविष्यति ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र रुद्रकोट्यां नरः शुचिः ॥१२४॥
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।

महर्षियो ! आजसे तुम्हारे धर्मकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहेगी। नरश्रेष्ठ ! उस रुद्रकोटिमें स्नान करके शुद्ध हुआ मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ १२४ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र संगमं लोकविश्रुतम् ॥१२५॥
सरस्वत्या महापुण्यं केशवं समुपासते ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥१२६॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर परम पुण्यमय लोकविख्यात सरस्वती-संगम तीर्थमें जाय, जहाँ ब्रह्मा आदि देवता और तपस्याके धनी महर्षि भगवान् केशवकी उपासना करते हैं ॥ १२५-१२६ ॥

अभिगच्छन्ति राजेन्द्र चैत्रशुक्लचतुर्दशीम् ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र विन्देद् बहुसुवर्णकम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥१२७॥

राजेन्द्र ! वहाँ लोग चैत्र शुक्ला चतुर्दशीको विशेषरूपसे जाते हैं। पुरुषसिंह ! वहाँ स्नान करनेसे प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है और सब पापोंसे शुद्धचित्त होकर मनुष्य ब्रह्मलोकको जाता है ॥ १२७ ॥

ऋषीणां यत्र सत्राणि समाप्तानि नराधिप ।
तत्रावसानमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥१२८॥

नरेश्वर ! जहाँ ऋषियोंके सत्र समाप्त हुए हैं, वहाँ अवसान तीर्थमें जाकर मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ १२८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें पुलस्त्यकथिततीर्थयात्राविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रकी सीमामें स्थित अनेक तीर्थोंकी महत्ताका वर्णन

पुलस्त्य उवाच

ततो गच्छेत राजेन्द्र कुरुक्षेत्रमभिष्टुतम् ।
पापेभ्यो यत्र मुच्यन्ते दर्शनात् सर्वजन्तवः ॥ १ ॥

पुलस्त्यजी कहते हैं—राजेन्द्र ! तदनन्तर ऋषियों-द्वारा प्रशंसित कुरुक्षेत्रकी यात्रा करे, जिसके दर्शनमात्रसे सब जीव पापोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् ।
य एवं सततं ब्रूयात् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २ ॥

'मैं कुरुक्षेत्रमें जाऊँगा, कुरुक्षेत्रमें निवास करूँगा।' इस प्रकार जो सदा कहा करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २ ॥

पांसवोऽपि कुरुक्षेत्रे वायुना समुदीरिताः ।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ३ ॥

वायुद्वारा उड़ाकर लायी हुई कुरुक्षेत्रकी धूल भी शरीर-पर पड़ जाय, तो वह पापी मनुष्यको भी परमगतिकी प्राप्ति करा देती है ॥ ३ ॥

दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च ।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ॥ ४ ॥

जो सरस्वतीके दक्षिण और दृषद्वतीके उत्तर कुरुक्षेत्रमें वास करते हैं, वे मानो स्वर्गलोकमें ही रहते हैं ॥ ४ ॥

तत्र मासं वसेद् धीरः सरस्वत्यां युधिष्ठिर ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयः सिद्धचारणाः ॥ ५ ॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षाः पन्नगाश्च महीपते ।
ब्रह्मक्षेत्रं महापुण्यमभिगच्छन्ति भारत ॥ ६ ॥

(नारदजी कहते हैं—) युधिष्ठिर ! वहाँ सरस्वतीके तट-पर धीर पुरुष एक मासतक निवास करे; क्योंकि महाराज ! ब्रह्मा आदि देवता, ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष और नाग भी उस परम पुण्यमय ब्रह्मक्षेत्रको जाते हैं ॥

मनसाप्यभिकामस्य कुरुक्षेत्रं युधिष्ठिर ।
पापानि विप्रणश्यन्ति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर ! जो मनसे भी कुरुक्षेत्रमें जानेकी इच्छा करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और वह ब्रह्मलोकको जाता है ॥ ७ ॥

गत्वा हि श्रद्धया युक्तः कुरुक्षेत्रं कुरूद्वह ।
फलं प्राप्नोति च तदा राजसूयाश्वमेधयोः ॥ ८ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! श्रद्धासे युक्त होकर कुरुक्षेत्रकी यात्रा करनेपर मनुष्य राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंका फल पाता है ॥ ८ ॥

ततो मचक्रुकं नाम द्वारपालं महाबलम् ।
यक्षं समभिवाद्यैव गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ९ ॥

तदनन्तर, वहाँ मचक्रुक नामवाले द्वारपाल महाबली यक्षको नमस्कार करनेमात्रसे सहस्र गोदानका फल मिल जाता है ॥ ९ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ विष्णोः स्थानमनुत्तमम् ।
सततं नाम राजेन्द्र यत्र संनिहितो हरिः ॥१०॥

धर्मज्ञ राजेन्द्र ! तत्पश्चात भगवान् विष्णुके परम उत्तम

सतत नामक तीर्थ-स्थानमें जाय, जहाँ श्रीहरि सदा निवास करते हैं ॥ १० ॥

तत्र स्नात्वा च नत्वा च त्रिलोकप्रभवं हरिम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ॥११॥
ततः पारिप्लवं गच्छेत् तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति भारत ॥१२॥

वहाँ स्नान और त्रिलोकभावन भगवान् श्रीहरिको नमस्कार करनेसे मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है । इसके बाद त्रिभुवन-विख्यात पारिप्लव नामक तीर्थमें जाय । भारत ! वहाँ स्नान करनेसे अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञोंका फल प्राप्त होता है ॥ ११-१२॥

पृथिवीतीर्थमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत् ।
ततः शालूकिनीं गत्वा तीर्थसेवी नराधिप ॥१३॥
दशाश्वमेधे स्नात्वा च तदेव फलमाप्नुयात् ।
सर्पदेवीं समासाद्य नागानां तीर्थमुत्तमम् ॥१४॥
अग्निष्टोममवाप्नोति नागलोकं च विन्दति ।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ द्वारपालं तरन्तुकम् ॥१५॥
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ।
ततः पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः ॥१६॥
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ।
अश्विनोस्तीर्थमासाद्य रूपवानभिजायते ॥१७॥

महाराज ! वहाँसे पृथिवीतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल प्राप्त होता है । राजन् ! वहाँसे तीर्थसेवी मनुष्य शालूकिनीमें जाकर दशाश्वमेधतीर्थमें स्नान करनेसे उसी फलका भागी होता है । सर्पदेवीमें जाकर उत्तम नागतीर्थका सेवन करनेसे मनुष्य अग्निष्टोमका फल पाता और नागलोकमें जाता है । धर्मज्ञ ! वहाँसे तरन्तुक नामक द्वारपालके पास जाय । वहाँ एक रात निवास करनेसे सहस्र गोदानका फल होता है । वहाँसे नियमपूर्वक नियमित भोजन करते हुए पञ्चनदतीर्थमें जाय और वहाँ कोटितीर्थमें स्नान करे । इससे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है । अश्विनीतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य रूपवान् होता है ॥१३-१७॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ वाराहं तीर्थमुत्तमम् ।
विष्णुर्वाराहरूपेण पूर्वं यत्र स्थितोऽभवत् ॥१८॥
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत् ।

धर्मज्ञ ! वहाँसे परम उत्तम वाराहतीर्थको जाय, जहाँ भगवान् विष्णु पहले वाराहरूपसे स्थित हुए थे । नरश्रेष्ठ ! वहाँ स्नान करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है ॥ १८½ ॥

ततो जयन्त्यां राजेन्द्र सोमतीर्थं समाविशेत् ॥१९॥
स्नात्वा फलमवाप्नोति राजसूयस्य मानवः ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर जयन्तीमें सोमतीर्थके निकट जाय, वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य राजसूययज्ञका फल पाता है ॥ १९½ ॥

एकहंसे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥२०॥
कृतशौचं समासाद्य तीर्थसेवी नराधिप ।
पुण्डरीकमवाप्नोति कृतशौचो भवेच्च सः ॥२१॥

एकहंसतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है । नरेश्वर ! कृतशौचतीर्थमें जाकर तीर्थसेवी मनुष्य पुण्डरीकयागका फल पाता और शुद्ध हो जाता है ॥ २०-२१ ॥

ततो मुञ्जवटं नाम स्थाणोः स्थानं महात्मनः ।
उपोष्य रजनीमेकां गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥२२॥

तदनन्तर महात्मा स्थाणुके मुञ्जवट नामक स्थानमें जाय । वहाँ एक रात रहनेसे मानव गणपतिपद प्राप्त करता है ॥२२॥

तत्रैव च महाराज यक्षिणीं लोकविश्रुताम् ।
स्नात्वाभिगम्य राजेन्द्र सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥२३॥

महाराज ! वहीं लोकविख्यात यक्षिणीतीर्थ है । राजेन्द्र ! उसमें जानेसे और स्नान करनेसे सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति होती है ॥ २३ ॥

कुरुक्षेत्रस्य तद् द्वारं विश्रुतं भरतर्षभ ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य तीर्थसेवी समाहितः ॥२४॥
सम्मितं पुष्कराणां च स्नात्वार्च्य पितृदेवताः ।
जामदग्न्येन रामेण कृतं तत् सुमहात्मना ॥२५॥
कृतकृत्यो भवेद् राजन्नश्वमेधं च विन्दति ।

भरतश्रेष्ठ ! वह कुरुक्षेत्रका विख्यात द्वार है । उसकी परिक्रमा करके तीर्थयात्री मनुष्य एकाग्रचित्त हो पुष्करतीर्थके तुल्य उस तीर्थमें स्नान करके देवताओं और पितरोंकी पूजा करे । राजन् ! इससे तीर्थयात्री कृतकृत्य होता और अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त करता है । उत्तम श्रेणीके महात्मा जमदग्निनन्दन परशुरामने उस तीर्थका निर्माण किया है ॥२४-२५½॥

ततो रामह्रदान् गच्छेत् तीर्थसेवी समाहितः ॥२६॥

तदनन्तर तीर्थयात्री एकाग्रचित्त हो परशुरामकुण्डोंपर जाय ॥ २६ ॥

तत्र रामेण राजेन्द्र तरसा दीप्ततेजसा ।
क्षत्रमुत्साद्य वीरेण ह्रदाः पञ्च निवेशिताः ॥२७॥

राजेन्द्र ! वहाँ उद्दीप्त तेजस्वी वीरवर परशुरामने सम्पूर्ण क्षत्रियकुलका वेगपूर्वक संहार करके पाँच कुण्ड स्थापित किये थे ॥ २७ ॥

पूरयित्वा नरव्याघ्र रुधिरेणेति विश्रुतम् ।
पितरस्तर्पिताः सर्वे तथैव प्रपितामहाः ॥२८॥

पुरुषसिंह ! उन कुण्डोंको उन्होंने रक्तसे भर दिया था, ऐसा सुना जाता है । उसी रक्तसे परशुरामजीने अपने पितरों और प्रपितामहोंका तर्पण किया ॥ २८ ॥

ततस्ते पितरः प्रीता राममूचुर्नराधिप ।

राजन् ! तब वे पितर अत्यन्त प्रसन्न हो परशुरामजीसे इस प्रकार बोले ॥ २८½ ॥

पितर ऊचुः

राम राम महाभाग प्रीताः स्म तव भार्गव ॥२९॥
अनया पितृभक्त्या च विक्रमेण च ते विभो ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते किमिच्छसि महाद्युते ॥३०॥

पितरोंने कहा—महाभाग राम ! परशुराम ! भृगुनन्दन ! विभो ! हम तुम्हारी इस पितृभक्तिसे और तुम्हारे पराक्रमसे भी बहुत प्रसन्न हुए हैं । महाद्युते ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम कोई वर माँगो । बोलो, क्या चाहते हो ? ॥ २९-३० ॥

एवमुक्तः स राजेन्द्र रामः प्रहरतां वरः ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं पितॄन् स गगने स्थितान् ।३१।
भवन्तो यदि मे प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि ।
पितृप्रसादमिच्छेयं तप आप्यायनं पुनः ॥३२॥

राजेन्द्र ! उनके ऐसा कहनेपर योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामने हाथ जोड़कर आकाशमें खड़े हुए उन पितरोंसे कहा—'पितृगण ! यदि आपलोग मुझपर प्रसन्न हैं और यदि मैं आपका अनुग्रहपात्र होऊँ तो मैं आपका कृपा-प्रसाद चाहता हूँ । पुनः मेरी तपस्या पूरी हो जाय ॥ ३१-३२ ॥

यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया ।
ततश्च पापान्मुच्येयं युष्माकं तेजसाप्यहम् ॥३३॥
ह्रदाश्च तीर्थभूता मे भवेयुर्भुवि विश्रुताः ।

'मैंने जो रोषके वशीभूत होकर सारे क्षत्रियकुलका संहार कर दिया है, आपके प्रभावसे मैं उस पापसे मुक्त हो जाऊँ तथा मेरे ये कुण्ड भूमण्डलमें विख्यात तीर्थस्वरूप हो जायँ ॥ ३३½ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं रामस्य पितरस्तदा ॥३४॥
प्रत्यूचुः परमप्रीता रामं हर्षसमन्विताः ।
तपस्ते वर्धतां भूयः पितृभक्त्या विशेषतः ॥३५॥

परशुरामजीका यह शुभ वचन सुनकर उनके पितर बड़े प्रसन्न हुए और हर्षमें भरकर बोले—'वत्स ! तुम्हारी तपस्या इस विशेष पितृभक्तिसे पुनः बढ़ जाय ॥ ३४-३५ ॥

यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं त्वया ।
ततश्च पापान्मुक्तस्त्वं पतितास्ते स्वकर्मभिः ॥३६॥

'तुमने जो रोषमें भरकर क्षत्रियकुलका संहार किया है, उस पापसे तुम मुक्त हो गये । वे क्षत्रिय अपने ही कर्मसे मरे हैं ॥ ३६ ॥

ह्रदाश्च तव तीर्थत्वं गमिष्यन्ति न संशयः ।
ह्रदेषु तेषु यः स्नात्वा पितॄन् संतर्पयिष्यति ॥३७॥
पितरस्तस्य वै प्रीता दास्यन्ति भुवि दुर्लभम् ।
ईप्सितं च मनःकामं स्वर्गलोकं च शाश्वतम् ॥३८॥

'तुम्हारे बनाये हुए ये कुण्ड तीर्थस्वरूप होंगे, इसमें संशय नहीं है । जो इन कुण्डोंमें नहाकर पितरोंका तर्पण करेंगे, उन्हें तृप्त हुए पितर ऐसा वर देंगे, जो इस भूतलपर दुर्लभ है । वे उसके लिये मनोवाञ्छित कामना और सनातन स्वर्गलोक सुलभ कर देंगे' ॥ ३७-३८ ॥

एवं दत्त्वा वरान् राजन् रामस्य पितरस्तदा ।
आमन्त्र्य भार्गवं प्रीत्या तत्रैवान्तर्हितास्ततः ॥३९॥
एवं रामह्रदाः पुण्या भार्गवस्य महात्मनः ।
स्नात्वा ह्रदेषु रामस्य ब्रह्मचारी शुभव्रतः ॥४०॥
राममभ्यर्च्य राजेन्द्र लभेद् बहुसुवर्णकम् ।
वंशमूलकमासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ॥४१॥
स्ववंशमुद्धरेद् राजन् स्नात्वा वै वंशमूलके ।
कायशोधनमासाद्य तीर्थं भरतसत्तम ॥४२॥
शरीरशुद्धिः स्नातस्य तस्मिंस्तीर्थे न संशयः ।
शुद्धदेहश्च संयाति शुभाँल्लोकाननुत्तमान् ॥४३॥

राजन् ! इस प्रकार वर देकर परशुरामजीके पितर प्रसन्नतापूर्वक उनसे अनुमति ले वहीं अन्तर्धान हो गये । इस प्रकार भृगुनन्दन महात्मा परशुरामके वे कुण्ड बड़े पुण्यमय माने गये हैं । राजन् ! जो उत्तम व्रत एवं ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए परशुरामजीके उन कुण्डोंके जलमें स्नान करके उनकी पूजा करता है, उसे प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है। कुरुश्रेष्ठ ! तदनन्तर तीर्थसेवी मनुष्य वंशमूलकतीर्थमें जाय । राजन् ! वंशमूलकमें स्नान करके मनुष्य अपने कुलका उद्धार कर देता है। भरतश्रेष्ठ ! कायशोधनतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे शरीरकी शुद्धि होती है, इसमें संशय नहीं। शरीर शुद्ध होनेपर मनुष्य परम उत्तम कल्याणमय लोकोंमें जाता है ॥ ३९-४३ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
लोका यत्रोद्धृताः पूर्वं विष्णुना प्रभविष्णुना ॥४४॥
लोकोद्धारं समासाद्य तीर्थं त्रैलोक्यपूजितम् ।
स्नात्वा तीर्थवरे राजँल्लोकानुद्धरते स्वकान् ॥४५॥

धर्मज्ञ ! तदनन्तर त्रिभुवनविख्यात लोकोद्धारतीर्थमें जाय, जो तीनों लोकोंमें पूजित है । वहाँ पूर्वकालमें सर्व-शक्तिमान् भगवान् विष्णुने कितने ही लोकोंका उद्धार किया था । राजन् ! लोकोद्धारमें जाकर उस उत्तम तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य आत्मीय जनोंका उद्धार करता है ॥४४-४५॥

श्रीतीर्थं च समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः ।
अर्चयित्वा पितॄन् देवान् विन्दते श्रियमुत्तमाम् ।४६।

मनको वशमें करके श्रीतीर्थमें जाकर स्नान करके देवताओं और पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्य उत्तम सम्पत्ति प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

कपिलातीर्थमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च पितॄन् स्वान् दैवतान्यपि ॥४७॥
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः ।

कपिला-तीर्थमें जाकर ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो वहाँ स्नान और देवता-पितरोंका पूजन करके मानव सहस्र कपिला गौओंके दानका फल प्राप्त करता है ॥ ४७½ ॥

सूर्यतीर्थं समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः ॥४८॥
अर्चयित्वा पितॄन् देवानुपवासपरायणः
अग्निष्टोममवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति ॥४९॥

मनको वशमें करके सूर्यतीर्थमें जाकर स्नान और देवता-पितरोंका अर्चन करके उपवास करनेवाला मनुष्य अग्निष्टोम-यज्ञका फल पाता और सूर्यलोकमें जाता है ॥ ४८-४९ ॥

गवां भवनमासाद्य तीर्थसेवी यथाक्रमम् ।
तत्राभिषेकं कुर्वाणो गोसहस्रफलं लभेत् ॥५०॥

तदनन्तर तीर्थसेवी क्रमशः गोभवन तीर्थमें जाकर वहाँ स्नान करे। इससे उसको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥५०॥

शङ्खिनीतीर्थमासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ।
देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा लभते रूपमुत्तमम् ॥५१॥

कुरुश्रेष्ठ ! तीर्थयात्री पुरुष शङ्खिनीतीर्थमें जाकर वहाँ देवीतीर्थमें स्नान करनेसे उत्तम रूप प्राप्त करता है ॥ ५१ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र द्वारपालमरन्तुकम् ।
तच्च तीर्थं सरस्वत्यां यक्षेन्द्रस्य महात्मनः ॥५२॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर अरन्तुक नामक द्वारपालके पास जाय । महात्मा यक्षराज कुबेरका वह तीर्थ सरस्वती नदीमें है । राजन् ! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्यको अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ५२½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मावर्तं नरोत्तमः ॥५३॥
ब्रह्मावर्ते नरः स्नात्वा ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर श्रेष्ठ मानव ब्रह्मावर्ततीर्थको जाय। ब्रह्मावर्तमें स्नान करके मनुष्य ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है ॥ ५३½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र सुतीर्थकमनुत्तमम् ॥५४॥
तत्र संनिहिता नित्यं पितरो दैवतैः सह ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ॥५५॥
अश्वमेधमवाप्नोति पितृलोकं च गच्छति ।

राजेन्द्र ! वहाँसे परम उत्तम सुतीर्थमें जाय । वहाँ देवतालोग पितरोंके साथ सदा विद्यमान रहते हैं । वहाँ पितरों और देवताओंके पूजनमें तत्पर हो स्नान करे । इससे तीर्थयात्री अश्वमेधयज्ञका फल पाता और पितृलोकमें जाता है ॥ ५४-५५½ ॥

ततोऽम्बुमत्यां धर्मज्ञ सुतीर्थकमनुत्तमम् ॥५६॥

धर्मज्ञ ! वहाँसे अम्बुमतीमें, जो परम उत्तम तीर्थ है, जाय । ५६ ।

काशीश्वरस्य तीर्थेषु स्नात्वा भरतसत्तम ।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो ब्रह्मलोके महीयते ॥५७॥

भरतश्रेष्ठ ! काशीश्वरके तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य सब रोगोंसे मुक्त हो जाता और ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥५७॥

मातृतीर्थं च तत्रैव यत्र स्नातस्य भारत ।
प्रजा विवर्धते राजन्ननन्तां श्रियमश्नुते ॥५८॥

भरतवंशी महाराज ! वहीं मातृतीर्थ है, जिसमें स्नान करनेवाले पुरुषकी संतति बढ़ती है और वह कभी क्षीण न होनेवाली सम्पत्तिका उपभोग करता है ॥ ५८ ॥

ततः सीतवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
तीर्थं तत्र महाराज महदन्यत्र दुर्लभम् ॥५९॥

तदनन्तर नियमसे रहकर नियमित भोजन करते हुए सीतवनमें जाय । महाराज ! वहाँ महान् तीर्थ है, जो अन्यत्र दुर्लभ है ॥ ५९ ॥

पुनाति गमनादेव दृष्टमेकं नराधिप ।
केशानभ्युक्ष्य वै तस्मिन् पूतो भवति भारत ॥६०॥

नरेश्वर ! वह तीर्थ एक बार जाने या दर्शन करनेसे ही पवित्र कर देता है । भारत ! उसमें केशोंको धो लेने मात्रसे ही मनुष्य पवित्र हो जाता है ॥ ६० ॥

तीर्थं तत्र महाराज श्वाविल्लोमापहं स्मृतम् ।
यत्र विप्रा नरव्याघ्र विद्वांसस्तीर्थतत्पराः ॥६१॥
प्रीतिं गच्छन्ति परमां स्नात्वा भरतसत्तम ।
श्वाविल्लोमापनयने तीर्थे भरतसत्तम ॥६२॥
प्राणायामैर्निर्हरन्ति स्वलोमानि द्विजोत्तमाः ।
पूतात्मानश्च राजेन्द्र प्रयान्ति परमां गतिम् ॥६३॥

महाराज ! वहाँ श्वाविल्लोमापह नामक तीर्थ है । नरव्याघ्र ! उसमें तीर्थपरायण हुए विद्वान् ब्राह्मण स्नान करके बड़े प्रसन्न होते हैं । भरतसत्तम ! श्वाविल्लोमापनयनतीर्थमें प्राणायाम (योगकी क्रिया) करनेसे श्रेष्ठ द्विज अपने रोएँ झाड़ देते हैं तथा राजेन्द्र ! वे शुद्धचित्त होकर परमगतिको प्राप्त होते हैं ॥ ६१–६३ ॥

दशाश्वमेधिकं चैव तस्मिंस्तीर्थे महीपते ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र गच्छेत परमां गतिम् ॥६४॥

भूपाल ! वहीं दशाश्वमेधिक तीर्थ भी है । पुरुषसिंह ! उसमें स्नान करके मनुष्य उत्तम गति प्राप्त करता है ॥६४॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र मानुषं लोकविश्रुतम् ।
यत्र कृष्णमृगा राजन् व्याधेन शरपीडिताः ॥६५॥
विगाह्य तस्मिन् सरसि मानुषत्वमुपागताः ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः ॥६६॥
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर लोकविख्यात मानुषतीर्थमें जाय

राजन्! वहाँ व्याधके बाणोंसे पीडित हुए कृष्णमृग उस सरोवरमें गोते लगाकर मनुष्यशरीर पा गये थे, इसीलिये उसका नाम मानुषतीर्थ है। ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो उस तीर्थमें स्नान करनेवाला मानव सब पापोंसे मुक्त हो स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥ ६५-६६½॥

मानुषस्य तु पूर्वेण क्रोशमात्रे महीपते॥६७॥
आपगा नाम विख्याता नदी सिद्धनिषेविता।
श्यामाकं भोजने तत्र यः प्रयच्छति मानवः॥६८॥
देवान् पितॄन् समुद्दिश्य तस्य धर्मफलं महत्।
एकस्मिन् भोजिते विप्रे कोटिर्भवति भोजिता॥६९॥

राजन्! मानुषतीर्थसे पूर्व एक कोसकी दूरीपर आपगा नामसे विख्यात एक नदी है, जो सिद्धपुरुषोंसे सेवित है। जो मनुष्य वहाँ देवताओं और पितरोंके उद्देश्यसे भोजन कराते समय श्यामाक (साँवा) नामक अन्न देता है, उसे महान् धर्मफलकी प्राप्ति होती है। वहाँ एक ब्राह्मणको भोजन करानेपर एक करोड़ ब्राह्मणोंको भोजन करानेका फल मिलता है।६७-६९।

तत्र स्नात्वार्चयित्वा च पितॄन् वै दैवतानि च।
उषित्वा रजनीमेकामग्निष्टोमफलं लभेत्॥७०॥

वहाँ स्नान करके देवताओं और पितरोंके पूजनपूर्वक एक रात निवास करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम्।
ब्रह्मोदुम्बरमित्येव प्रकाशं भुवि भारत॥७१॥

भरतवंशी राजेन्द्र! तदनन्तर ब्रह्माजीके उत्तम स्थानमें जाय, जो इस पृथ्वीपर ब्रह्मोदुम्बरतीर्थके नामसे प्रसिद्ध है॥ ७१॥

तत्र सप्तर्षिकुण्डेषु स्नातस्य नरपुङ्गव।
केदारे चैव राजेन्द्र कपिलस्य महात्मनः॥७२॥
ब्रह्माणमधिगम्याथ शुचिः प्रयतमानसः।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते॥७३॥
कपिलस्य च केदारं समासाद्य सुदुर्लभम्।
अन्तर्धानमवाप्नोति तपसा दग्धकिल्बिषः॥७४॥

वहाँ सप्तर्षिकुण्ड है। नरश्रेष्ठ महाराज! उन कुण्डोंमें तथा महात्मा कपिलके केदारतीर्थमें स्नान करनेसे पुरुषको महान् पुण्यकी प्राप्ति होती है। वह मनुष्य ब्रह्माजीके निकट जाकर उनका दर्शन करनेसे शुद्ध, पवित्रचित्त एवं सब पापोंसे रहित होकर ब्रह्मलोकमें जाता है। कपिलका केदार भी अत्यन्त दुर्लभ है। वहाँ जानेसे तपस्याद्वारा सब पाप नष्ट हो जानेके कारण मनुष्यको अन्तर्धानविद्याकी प्राप्ति हो जाती है॥ ७२--७४॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र सरकं लोकविश्रुतम्।
कृष्णपक्षे चतुर्दश्यामभिगम्य वृषध्वजम्॥ ७५॥
लभेत सर्वकामान् हि स्वर्गलोकं च गच्छति।

राजेन्द्र! तदनन्तर लोकविख्यात सरकतीर्थमें जाय। वहाँ कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको भगवान् शंकरका दर्शन करनेसे मनुष्य सब कामनाओंको प्राप्त कर लेता और स्वर्गलोकमें जाता है॥ ७५½॥

तिस्रः कोट्यस्तु तीर्थानां सरके कुरुनन्दन॥ ७६॥

कुरुनन्दन! सरकमें तीन करोड़ तीर्थ हैं॥ ७६॥

रुद्रकोट्यां तथा कूपे ह्रदेषु च महीपते।
इलास्पदं च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम॥ ७७॥
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च दैवतानि पितॄनथ।
न दुर्गतिमवाप्नोति वाजपेयं च विन्दति॥ ७८॥

राजन्! ये सब तीर्थ रुद्रकोटिमें, कूपमें और कुण्डोंमें हैं। भरतशिरोमणे! वहीं इलास्पदतीर्थ है, जिसमें स्नान और देवता-पितरोंका पूजन करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता और वाजपेययज्ञका फल पाता है॥ ७७-७८॥

किंदाने च नरः स्नात्वा किंजप्ये च महीपते।
अप्रमेयमवाप्नोति दानं जप्यं च भारत॥ ७९॥

महीपते! वहाँ किंदान और किंजप्य नामक तीर्थ भी हैं। भारत! उनमें स्नान करनेसे मनुष्य दान और जपका असीम फल पाता है॥ ७९॥

कलश्यां वार्युपस्पृश्य श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः॥ ८०॥

कलशीतीर्थमें जलका आचमन करके श्रद्धालु और जितेन्द्रिय मानव अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है॥ ८०॥

सरकस्य तु पूर्वेण नारदस्य महात्मनः।
तीर्थं कुरुकुलश्रेष्ठ अम्बाजन्मेति विश्रुतम्॥ ८१॥

कुरुकुलश्रेष्ठ! सरकतीर्थके पूर्वमें महात्मा नारदका तीर्थ है, जो अम्बाजन्मके नामसे विख्यात है॥ ८१॥

तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा प्राणानुत्सृज्य भारत।
नारदेनाभ्यनुज्ञातो लोकान् प्राप्नोत्यनुत्तमान्॥ ८२॥

भारत! उस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य प्राणत्यागके पश्चात् नारदजीकी आज्ञाके अनुसार परम उत्तम लोकोंमें जाता है॥ ८२॥

शुक्लपक्षे दशम्यां च पुण्डरीकं समाविशेत्।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् पुण्डरीकफलं लभेत्॥ ८३॥

शुक्लपक्षकी दशमी तिथिको पुण्डरीक तीर्थमें प्रवेश करे। राजन्! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्यको पुण्डरीकयागका फल प्राप्त होता है॥ ८३॥

ततस्त्रिविष्टपं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
तत्र वैतरणी पुण्या नदी पापप्रणाशिनी॥ ८४॥

तदनन्तर तीनों लोकोंमें विख्यात त्रिविष्टपतीर्थमें जाय।

वहाँ वैतरणी नामक पुण्यमयी पापनाशिनी नदी है ॥ ८४ ॥

तत्र स्नात्वार्चयित्वा च शूलपाणिं वृषध्वजम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ॥ ८५ ॥

उसमें स्नान करके शूलपाणि भगवान् शंकरकी पूजा करनेसे मनुष्य सब पापोंसे शुद्धचित्त हो परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ८५ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र फलकीवनमुत्तमम् ।
तत्र देवाः सदा राजन् फलकीवनमाश्रिताः ॥ ८६ ॥
तपश्चरन्ति विपुलं बहु वर्षसहस्रकम् ।
दृषद्वत्यां नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः ॥ ८७ ॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति भारत ।
तीर्थे च सर्वदेवानां स्नात्वा भरतसत्तम ॥ ८८ ॥
गोसहस्रस्य राजेन्द्र फलं विन्दति मानवः ।
पाणिखाते नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः ॥ ८९ ॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति भारत ।
राजसूयमवाप्नोति ऋषिलोकं च विन्दति ॥ ९० ॥

राजेन्द्र ! वहाँसे फलकीवन नामक उत्तम तीर्थकी यात्रा करे। राजन् ! देवतालोग फलकीवनमें सदा निवास करते हैं और अनेक सहस्र वर्षोंतक वहाँ भारी तपस्यामें लगे रहते हैं। भारत ! दृषद्वतीमें स्नान करके देवता-पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्य अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञोंका फल पाता है। भरतसत्तम राजेन्द्र ! सर्वदेवतीर्थमें स्नान करनेसे मानव सहस्र गोदानका फल पाता है। भारत ! पाणिखाततीर्थमें स्नान करके देवता-पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्य अग्निष्टोम और अतिरात्र-यज्ञोंसे मिलनेवाले फलको प्राप्त कर लेता है; साथ ही वह राजसूययज्ञका फल पाता एवं ऋषिलोकमें जाता है ॥८६–९०॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र मिश्रकं तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र तीर्थानि राजेन्द्र मिश्रितानि महात्मना ॥ ९१ ॥
व्यासेन नृपशार्दूल द्विजार्थमिति नः श्रुतम ।
सर्वतीर्थेषु स स्नाति मिश्रके स्नाति यो नरः ॥ ९२ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् परम उत्तम मिश्रकतीर्थमें जाय। महाराज ! वहाँ महात्मा व्यासने द्विजोंके लिये सभी तीर्थोंका सम्मिश्रण किया है; यह बात मेरे सुननेमें आयी है। जो मनुष्य मिश्रकतीर्थमें स्नान करता है, उसका वह स्नान सभी तीर्थोंमें स्नान करनेके समान है ॥ ९१-९२ ॥

ततो व्यासवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
मनोजवे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ९३ ॥

तत्पश्चात् नियमपूर्वक रहते हुए मिताहारी होकर व्यास-वनकी यात्रा करे। वहाँ मनोजवतीर्थमें स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ ९३ ॥

गत्वा मधुवटीं चैव देव्यास्तीर्थे नरः शुचिः ।
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च पितॄन् देवांश्च पूरुषः ॥ ९४ ॥
स देव्या समनुज्ञातो गोसहस्रफलं लभेत् ।

मधुवटीमें जाकर देवीतीर्थमें स्नान करके पवित्र हुआ मानव वहाँ देवता-पितरोंकी पूजा करके देवीकी आज्ञाके अनुसार सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ ९४½ ॥

कौशिक्याः संगमे यस्तु दृषद्वत्याश्च भारत ॥ ९५ ॥
स्नाति वै नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

भारत ! कौशिकी और दृषद्वतीके संगममें जो नियमित भोजन करते हुए स्नान करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ९५½ ॥

ततो व्यासस्थली नाम यत्र व्यासेन धीमता ॥ ९६ ॥
पुत्रशोकाभितप्तेन देहत्यागे कृता मतिः ।
ततो देवैस्तु राजेन्द्र पुनरुत्थापितस्तदा ॥ ९७ ॥
अभिगत्वा स्थलीं तस्य गोसहस्रफलं लभेत् ।

तत्पश्चात् व्यासस्थलीमें जाय, जहाँ परम बुद्धिमान् व्यासने पुत्रशोकसे संतप्त हो शरीर त्याग देनेका विचार किया था। राजेन्द्र ! उस समय उन्हें देवताओंने पुनः उठाया था। उस स्थलमें जानेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥९६-९७½॥

किंदत्तं कूपमासाद्य तिलप्रस्थं प्रदाय च ॥ ९८ ॥
गच्छेत परमां सिद्धिमृणैर्मुक्तः कुरूद्वह ।
वेदीतीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ९९ ॥

किंदत्त नामक कूपके समीप जाकर एक प्रस्थ अर्थात् सोलह मुट्ठी तिल दान करे। कुरुश्रेष्ठ ! ऐसा करनेसे मनुष्य तीनों ऋणोंसे मुक्त हो परम सिद्धिको प्राप्त होता है। वेदीतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ॥९८-९९॥

अहश्च सुदिनं चैव द्वे तीर्थे लोकविश्रुते ।
तयोः स्नात्वा नरव्याघ्र सूर्यलोकमवाप्नुयात् ॥१००॥

अहन् और सुदिन—ये दो लोकविख्यात तीर्थ हैं। नरश्रेष्ठ ! उन दोनोंमें स्नान करके मनुष्य सूर्यलोकमें जाता है ॥१००॥

मृगधूमं ततो गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत गङ्गायां नृपसत्तम ॥१०१॥

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर तीनों लोकोंमें विख्यात मृगधूमतीर्थमें जाय और वहाँ गङ्गाजीमें स्नान करे ॥ १०१ ॥

अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत् ।
देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥१०२॥

वहाँ महादेवजीकी पूजा करके मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता है। देवीतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ १०२ ॥

ततो वामनकं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्र विष्णुपदे स्नात्वा अर्चयित्वा च वामनम् ॥१०३॥

सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोकं स गच्छति ।
कुलम्पुने नरः स्नात्वा पुनाति स्वकुलं ततः ॥१०४॥

तत्पश्चात् त्रिलोकविख्यात वामनतीर्थमें जाय । वहाँ विष्णुपदमें स्नान और वामनदेवताका पूजन करनेसे मनुष्य सब पापोंसे शुद्ध हो भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है । कुलम्पुन-तीर्थमें स्नान करके मानव अपने कुलको पवित्र कर देता है ॥

पवनस्य ह्रदे स्नात्वा मरुतां तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र विष्णुलोके महीयते ॥१०५॥

नरव्याघ्र ! तदनन्तर पवनह्रदमें स्नान करे । वह मरुद्गणोंका उत्तम तीर्थ है । वहाँ स्नान करनेसे मानव विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १०५ ॥

अमराणां ह्रदे स्नात्वा समभ्यर्च्यामराधिपम् ।
अमराणां प्रभावेण स्वर्गलोके महीयते ॥१०६॥

अमरह्रदमें स्नान करके अमरेश्वर इन्द्रका पूजन करे । ऐसा करके मनुष्य अमरोंके प्रभावसे स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥

शालिहोत्रस्य तीर्थे च शालिसूर्ये यथाविधि ।
स्नात्वा नरवरश्रेष्ठ गोसहस्रफलं लभेत् ॥१०७॥

नरश्रेष्ठ ! शालिहोत्रके शालिसूर्यनामक तीर्थमें विधिपूर्वक स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ १०७ ॥

श्रीकुञ्जं च सरस्वत्यास्तीर्थे भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥१०८॥

भरतसत्तम नरश्रेष्ठ ! श्रीकुञ्जनामक सरस्वती-तीर्थमें स्नान करनेसे मानव अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त कर लेता है ॥ १०८ ॥

ततो नैमिषकुञ्जं च समासाद्य कुरूद्वह ।
ऋषयः किल राजेन्द्र नैमिषेयास्तपस्विनः ॥१०९॥
तीर्थयात्रां पुरस्कृत्य कुरुक्षेत्रं गताः पुरा ।
ततः कुञ्जः सरस्वत्याः कृतो भरतसत्तम ॥११०॥

कुरुश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् नैमिषकुञ्जकी यात्रा करे । राजेन्द्र ! कहते हैं, नैमिषारण्यके निवासी तपस्वी ऋषि पहले कभी तीर्थयात्राके प्रसंगसे कुरुक्षेत्रमें गये थे । भरतश्रेष्ठ ! उसी समय उन्होंने सरस्वतीकुञ्जका निर्माण किया था (वही नैमिषकुञ्ज कहलाता है) ॥ १०९-११० ॥

ऋषीणामवकाशः स्याद् यथा तुष्टिकरो महान् ।
तस्मिन् कुञ्जे नरः स्नात्वा अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥१११॥

वह ऋषियोंका स्थान है, जो उनके लिये महान् संतोष-जनक है । उस कुञ्जमें स्नान करके मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ॥ १११ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ कन्यातीर्थमनुत्तमम् ।
कन्यातीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥११२॥

धर्मज्ञ ! तदनन्तर परम उत्तम कन्यातीर्थकी यात्रा करे । कन्यातीर्थमें स्नान करनेसे मानव सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ ११२ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मणस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र वर्णावरः स्नात्वा ब्राह्मण्यं लभते नरः ॥११३॥
ब्राह्मणश्च विशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर परम उत्तम ब्रह्मतीर्थमें जाय । वहाँ स्नान करनेसे ब्राह्मणेतर वर्णका मनुष्य भी ब्राह्मणत्वलाभ करता है । ब्राह्मण होनेपर शुद्धचित्त हो वह परम गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ११३½ ॥

ततो गच्छेन्नरश्रेष्ठ सोमतीर्थमनुत्तमम् ॥११४॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन् सोमलोकमवाप्नुयात् ।

नरश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् उत्तम सोमतीर्थकी यात्रा करे । राजन् ! वहाँ स्नान करनेसे मानव सोमलोकको जाता है ॥ ११४½ ॥

सप्तसारस्वतं तीर्थं ततो गच्छेन्नराधिप ॥११५॥
यत्र मङ्कणकः सिद्धो महर्षिर्लोकविश्रुतः ।
पुरा मङ्कणको राजन् कुशाग्रेणेति नः श्रुतम् ॥११६॥
क्षतः किल करे राजंस्तस्य शाकरसोऽस्रवत् ।
स वै शाकरसं दृष्ट्वा हर्षाविष्टः प्रनृत्तवान् ॥११७॥

नरेश्वर ! इसके बाद सप्तसारस्वत नामक तीर्थकी यात्रा करे, जहाँ लोकविख्यात महर्षि मङ्कणकको सिद्धि प्राप्त हुई थी । राजन् ! हमारे सुननेमें आया है कि पहले कभी महर्षि मङ्कणकके हाथमें कुशका अग्रभाग गड़ गया, जिससे उनके हाथमें घाव हो गया । महाराज ! उस समय उस हाथसे शाकका रस चूने लगा । शाकका रस चूता देख महर्षि हर्षावेशसे मतवाले हो नृत्य करने लगे ॥ ११५–११७ ॥

ततस्तस्मिन् प्रनृत्ते तु स्थावरं जंगमं च यत् ।
प्रनृत्तमुभयं वीर तेजसा तस्य मोहितम् ॥११८॥

वीर ! उनके नृत्य करते समय उनके तेजसे मोहित हो सारा चराचर जगत् नृत्य करने लगा ॥ ११८ ॥

ब्रह्मादिभिः सुरैः राजन्नृषिभिश्च तपोधनैः ।
विज्ञप्तो वै महादेव ऋषेरर्थे नराधिप ॥११९॥

राजन् ! नरेश्वर ! उस समय ब्रह्मा आदि देवता तथा तपोधन महर्षिगण—सबने मङ्कणक मुनिके विषयमें महादेवजीसे निवेदन किया—॥ ११९ ॥

नायं नृत्येद् यथा देव तथा त्वं कर्तुमर्हसि ।
तं प्रनृत्तं समासाद्य हर्षाविष्टेन चेतसा ।
सुराणां हितकामार्थमृषिं देवोऽभ्यभाषत ॥१२०॥

'देव ! आप कोई ऐसा उपाय करें, जिससे इनका यह नृत्य बंद हो जाय ।' महादेवजी देवताओंके हितकी इच्छासे

हर्षावेशसे नाचते हुए मुनिके पास गये और इस प्रकार बोले—॥ १२० ॥

भो भो महर्षे धर्मज्ञ किमर्थं नृत्यते भवान्।
हर्षस्थानं किमर्थं वा तवाद्य मुनिपुङ्गव ॥१२१॥

'धर्मज्ञ महर्षे! मुनिप्रवर! आप किसलिये नृत्य कर रहे हैं? आज आपके इस हर्षातिरेकका क्या कारण है?' ॥

ऋषिरुवाच

तपस्विनो धर्मपथे स्थितस्य द्विजसत्तम।
किं न पश्यसि मे ब्रह्मन् कराच्छाकरसं स्रुतम् ॥१२२॥
यं दृष्ट्वा सम्प्रनृत्तोऽहं हर्षेण महतान्वितः।

ऋषिने कहा—द्विजश्रेष्ठ! ब्रह्मन्! मैं धर्मके मार्गपर स्थिर रहनेवाला तपस्वी हूँ। मेरे हाथसे यह शाकका रस चू रहा है। क्या आप इसे नहीं देखते? इसीको देखकर मैं महान् हर्षसे नाच रहा हूँ॥ १२२½ ॥

तं प्रहस्याब्रवीद् देव ऋषिं रागेण मोहितम् ॥१२३॥

महर्षि रागसे मोहित हो रहे थे। महादेवजीने उनकी बात सुनकर हँसते हुए कहा—॥ १२३ ॥

अहं तु विस्मयं विप्र न गच्छामीति पश्य माम्।
एवमुक्त्वा नरश्रेष्ठ महादेवेन धीमता ॥१२४॥
अङ्गुल्यग्रेण राजेन्द्र स्वाङ्गुष्ठस्ताडितोऽनघ।
ततो भस्म क्षताद् राजन् निर्गतं हिमसंनिभम् ॥१२५॥

'विप्रवर! मुझे तो यह देखकर कोई आश्चर्य नहीं हो रहा है। मेरी ओर देखिये।'

नरश्रेष्ठ! निष्पाप राजेन्द्र! ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् महादेवजीने अंगुलीके अग्रभागसे अपने अँगूठेको ठोंका। राजन्! उनके चोट करनेपर उस अँगूठेसे बर्फके समान सफेद भस्म गिरने लगा॥ १२४-१२५ ॥

तद् दृष्ट्वा व्रीडितो राजन् स मुनिः पादयोर्गतः।
नान्यद् देवात् परं मेने रुद्रात् परतरं महत् ॥१२६॥

महाराज! यह अद्भुत बात देखकर मुनि लज्जित हो महादेवजीके चरणोंमें पड़ गये और उन्होंने दूसरे किसी देवताको महादेवजीसे बढ़कर नहीं माननेका निश्चय किया॥ १२६ ॥

सुरासुरस्य जगतो गतिस्त्वमसि शूलधृक्।
त्वया सर्वमिदं सृष्टं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥१२७॥

वे बोले—'भगवन्! देवता और असुरोंसहित सम्पूर्ण जगत्के आश्रय आप ही हैं। त्रिशूलधारी महेश्वर! आपने ही चराचर जीवोंसहित सम्पूर्ण त्रिलोकीको उत्पन्न किया है॥१२७॥

त्वमेव सर्वान् ग्रससि पुनरेव युगक्षये।
देवैरपि न शक्यस्त्वं परिज्ञातुं कुतो मया ॥१२८॥

'फिर प्रलयकाल आनेपर आप ही सब जीवोंको अपना ग्रास बना लेते हैं। देवता भी आपके स्वरूपको नहीं जान सकते, फिर मेरी तो बात ही क्या? ॥ १२८ ॥

त्वयि सर्वे प्रदृश्यन्ते सुरा ब्रह्मादयोऽनघ।
सर्वस्त्वमसि लोकानां कर्ता कारयिता च ह ॥१२९॥

'अनघ! ब्रह्मा आदि सब देवता आपहीमें दिखायी देते हैं। इस जगत्के करने और करानेवाले सब कुछ आप ही हैं॥

त्वत्प्रसादात् सुराः सर्वे मोदन्तीहाकुतोभयाः।
एवं स्तुत्वा महादेवमृषिर्वचनमब्रवीत् ॥१३०॥

'आपके प्रसादसे सब देवता यहाँ निर्भय और प्रसन्न रहते हैं।' इस प्रकार स्तुति करके ऋषिने फिर महादेवजीसे कहा—॥ १३० ॥

त्वत्प्रसादान् महादेव तपो मे न क्षरेत वै।
ततो देवः प्रहृष्टात्मा ब्रह्मर्षिमिदमब्रवीत् ॥१३१॥

'महादेव! आपकी कृपासे मेरी तपस्या नष्ट न हो।' तब महादेवजीने प्रसन्नचित्त हो महर्षिसे कहा—॥ १३१ ॥

तपस्ते वर्धतां विप्र मत्प्रसादात् सहस्रधा।
आश्रमे चेह वत्स्यामि त्वया सह महामुने ॥१३२॥

'ब्रह्मन्! मेरे प्रसादसे आपकी तपस्या हजारगुनी बढ़े। महामुने! मैं तुम्हारे साथ इस आश्रममें रहूँगा॥ १३२ ॥

सप्तसारस्वते स्नात्वा अर्चयिष्यन्ति ये तु माम्।
न तेषां दुर्लभं किंचिदिहलोके परत्र च ॥१३३॥

'जो सप्तसारस्वत तीर्थमें स्नान करके मेरी पूजा करेंगे, उनके लिये इहलोक और परलोकमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं होगी॥ १३३ ॥

सारस्वतं च ते लोकं गमिष्यन्ति न संशयः।
एवमुक्त्वा महादेवस्तत्रैवान्तरधीयत ॥१३४॥

'इतना ही नहीं, वे सरस्वतीके लोकमें जायँगे, इसमें संशय नहीं है।' ऐसा कहकर महादेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये॥ १३४ ॥

ततस्त्वौशनसं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥१३५॥

तदनन्तर तीनों लोकोंमें विख्यात औशनस तीर्थकी यात्रा करे, जहाँ ब्रह्मा आदि देवता तथा तपस्वी ऋषि रहते हैं॥

कार्तिकेयश्च भगवांस्त्रिसंध्यं किल भारत।
सांनिध्यमकरोन्नित्यं भार्गवप्रियकाम्यया ॥१३६॥

भारत! शुक्राचार्यजीका प्रिय करनेके लिये भगवान् कार्तिकेय भी वहाँ सदा तीनों संध्याओंके समय उपस्थित रहते हैं॥ १३६ ॥

कपालमोचनं तीर्थं सर्वपापप्रमोचनम्।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१३७॥



भगवान् शङ्करका मङ्कणक मुनिको नृत्य करनेसे रोकना

कपालमोचनतीर्थ सब पापोंसे छुड़ानेवाला है ! नरश्रेष्ठ ! वहाँ स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १३७ ॥

अग्नितीर्थं ततो गच्छेत् तत्र स्नात्वा नरर्षभ ।
अग्निलोकमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ १३८ ॥

नरश्रेष्ठ ! वहाँसे अग्नितीर्थको जाय । उसमें स्नान करनेसे मनुष्य अग्निलोकमें जाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ १३८ ॥

विश्वामित्रस्य तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ ब्राह्मण्यमधिगच्छति ॥ १३९ ॥

भरतसत्तम ! वहीं विश्वामित्रतीर्थ है । नरश्रेष्ठ ! वहाँ स्नान करनेसे ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति होती है ॥ १३९ ॥

ब्रह्मयोनिं समासाद्य शुचिः प्रयतमानसः ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥ १४० ॥
पुनात्यासप्तमं चैव कुलं नास्त्यत्र संशयः ।

नरश्रेष्ठ ! ब्रह्मयोनितीर्थमें जाकर पवित्र एवं जितात्मा पुरुष वहाँ स्नान करनेसे ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेता है साथ ही, अपने कुलकी सात पीढ़ियोंतकको पवित्र कर देता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १४०½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥ १४१ ॥
पृथूदकमिति ख्यातं कार्तिकेयस्य वै नृप ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ॥ १४२ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर कार्तिकेयके त्रिभुवनविख्यात पृथूदक-तीर्थकी यात्रा करे और वहाँ स्नान करके देवताओं तथा पितरोंकी पूजामें संलग्न रहे ॥ १४१-१४२ ॥

अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि स्त्रिया वा पुरुषेण वा ।
यत् किंचिदशुभं कर्म कृतं मानुषबुद्धिना ॥ १४३ ॥
तत् सर्वं नश्यते तत्र स्नातमात्रस्य भारत ।
अश्वमेधफलं चास्य स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ १४४ ॥

भारत ! स्त्री हो या पुरुष, उसने मानव-बुद्धिसे अनजानमें या जान-बूझकर जो कुछ भी पापकर्म किया है, वह सब पृथूदकतीर्थमें स्नान करनेमात्रसे नष्ट हो जाता है और तीर्थसेवी पुरुषको अश्वमेधयज्ञके फल एवं स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है ॥ १४३-१४४ ॥

पुण्यमाहुः कुरुक्षेत्रं कुरुक्षेत्रात् सरस्वती ।
सरस्वत्याश्च तीर्थानि तीर्थेभ्यश्च पृथूदकम् ॥ १४५ ॥

कुरुक्षेत्र तीर्थको सबसे पवित्र कहते हैं, कुरुक्षेत्रसे भी पवित्र है सरस्वती नदी, सरस्वतीसे भी पवित्र हैं उसके तीर्थ और उन तीर्थोंसे भी पवित्र हैं पृथूदक ॥ १४५ ॥

उत्तमं सर्वतीर्थानां यस्त्यजेदात्मनस्तनुम् ।
पृथूदके जप्यपरो नैव श्वो मरणं तपेत् ॥ १४६ ॥

वह सब तीर्थोंमें उत्तम है, जो पृथूदकतीर्थमें जपपरायण होकर अपने शरीरका त्याग करता है, उसे पुनर्मृत्युका भय नहीं होता ॥ १४६ ॥

गीतं सनत्कुमारेण व्यासेन च महात्मना ।
एवं स नियतं राजन्नभिगच्छेत् पृथूदकम् ॥ १४७ ॥

यह बात भगवान् सनत्कुमार तथा महात्मा व्यासने कही है । राजन् ! इस प्रकार तीर्थयात्री नियमपूर्वक पृथूदक तीर्थकी यात्रा करे ॥ १४७ ॥

पृथूदकात् तीर्थतमं नान्यत् तीर्थं कुरूद्वह ।
तन्मेध्यं तत् पवित्रं च पावनं च न संशयः ॥ १४८ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! पृथूदकसे श्रेष्ठतम तीर्थ दूसरा कोई नहीं है । वही मेध्य, पवित्र और पावन है, इसमें संशय नहीं है ॥ १४८ ॥

तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति येऽपि पापकृतो नराः ।
पृथूदके नरश्रेष्ठ एवमाहुर्मनीषिणः ॥ १४९ ॥

नरश्रेष्ठ ! पापी मनुष्य भी वहाँ पृथूदक तीर्थमें स्नान करनेसे स्वर्गलोकमें चले जाते हैं, ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥

मधुस्रवं च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १५० ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहीं मधुस्रव तीर्थ है । राजन् ! उसमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ १५० ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं मेध्यं यथाक्रमम् ।
सरस्वत्यरुणायाश्च संगमं लोकविश्रुतम् ॥ १५१ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर क्रमशः लोकविख्यात सरस्वती-अरुणासंगम नामक पवित्र तीर्थकी यात्रा करे ॥ १५१ ॥

त्रिरात्रोपोषितः स्नात्वा मुच्यते ब्रह्महत्यया ।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति मानवः ॥ १५२ ॥
आसप्तमं कुलं चैव पुनाति भरतर्षभ ।

वहाँ स्नान करके तीन रात उपवास करनेसे ब्रह्महत्यासे छुटकारा मिल जाता है । इतना ही नहीं, वह मनुष्य अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञोंसे मिलनेवाले फलको भी पा लेता है । भरतश्रेष्ठ ! वह अपने कुलकी सात पीढ़ियोंको पवित्र कर देता है ॥

अर्धकीलं च तत्रैव तीर्थं कुरुकुलोद्वह ॥ १५३ ॥
विप्राणामनुकम्पार्थं दर्भिणा निर्मितं पुरा ।
व्रतोपनयनाभ्यां चाप्युपवासेन वाप्युत ॥ १५४ ॥
क्रियामन्त्रैश्च संयुक्तो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः ।
क्रियामन्त्रविहीनोऽपि तत्र स्नात्वा नरर्षभ ।
चीर्णव्रतो भवेद् विद्वान् दृष्टमेतत् पुरातनैः ॥ १५५ ॥

कुरुकुलशिरोमणे ! वहीं अर्धकील नामक तीर्थ है, जिसे पूर्वकालमें दर्भी मुनिने ब्राह्मणोंपर कृपा करनेके लिये प्रकट किया था । वहाँ व्रत, उपनयन और उपवास करनेसे मनुष्य कर्मकाण्ड और मन्त्रोंका ज्ञाता ब्राह्मण होता है, इसमें संशय नहीं है । नरश्रेष्ठ ! क्रियाविहीन और

मन्त्रहीन पुरुष भी उसमें स्नान करके व्रतका पालन करनेसे विद्वान् होता है, यह बात प्राचीन महर्षियोंने प्रत्यक्ष देखी है ॥

समुद्राश्चापि चत्वारः समानीताश्च दर्भिणा ।
तेषु स्नातो नरश्रेष्ठ न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ १५६ ॥
फलानि गोसहस्राणां चतुर्णां विन्दते च सः ।

दर्भीमुनि वहाँ चार समुद्रोंको भी ले आये हैं । नरश्रेष्ठ ! उनमें स्नान करनेवाला मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता । और उसे चार हजार गोदानका भी फल मिलता है ॥ १५६½ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं शतसहस्रकम् ॥ १५७ ॥
साहस्रकं च तत्रैव द्वे तीर्थे लोकविश्रुते ।
उभयोर्हि नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १५८ ॥
दानं वाप्युपवासो वा सहस्रगुणितं भवेत् ।

धर्मज्ञ ! तदनन्तर वहाँसे शतसहस्र और साहस्रक तीर्थोंकी यात्रा करे । वे दोनों लोकविख्यात तीर्थ हैं । उनमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल प्राप्त होता है । वहाँ किये हुए दान अथवा उपवासका महत्त्व अन्यत्रसे सहस्रगुना अधिक है ॥ १५७-१५८½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र रेणुकातीर्थमुत्तमम् ॥ १५९ ॥
तीर्थाभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ १६० ॥

राजेन्द्र ! वहाँसे उत्तम रेणुकातीर्थकी यात्रा करे । पहले उस तीर्थमें स्नान करे; फिर देवताओं और पितरोंकी पूजामें तत्पर हो जाय । इससे तीर्थयात्री सब पापोंसे शुद्ध हो अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ॥ १५९-१६० ॥

विमोचनमुपस्पृश्य जितमन्युर्जितेन्द्रियः ।
प्रतिग्रहकृतैर्दोषैः सर्वैः स परिमुच्यते ॥ १६१ ॥

विमोचनतीर्थमें स्नान और आचमन करके क्रोध और इन्द्रियोंको काबूमें रखनेवाला मनुष्य प्रतिग्रहजनित सारे दोषोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १६१ ॥

ततः पञ्चवटीं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
पुण्येन महता युक्तः सतां लोके महीयते ॥ १६२ ॥

तदनन्तर ब्रह्मचारी एवं जितेन्द्रिय पुरुष पञ्चवटीतीर्थमें जाकर महान् पुण्यसे युक्त हो सत्पुरुषोंके लोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १६२ ॥

यत्र योगेश्वरः स्थाणुः स्वयमेव वृषध्वजः ।
तमर्चयित्वा देवेशं गमनादेव सिध्यति ॥ १६३ ॥

वहाँ योगेश्वर एवं वृषभध्वज स्वयं भगवान् शिव निवास करते हैं । उन देवेश्वरकी पूजा करके मनुष्य वहाँ जानेमात्रसे सिद्ध हो जाता है ॥ १६३ ॥

तैजसं वारुणं तीर्थं दीप्यमानं स्वतेजसा ।
यत्र ब्रह्मादिभिर्देवैर्ऋषिभिश्च तपोधनैः ॥ १६४ ॥
सैनापत्येन देवानामभिषिक्तो गुहस्तदा ।
तैजसस्य तु पूर्वेण कुरुतीर्थं कुरूद्वह ॥ १६५ ॥

वहीं तैजस नामक वरुणदेवतासम्बन्धी तीर्थ है, जो अपने तेजसे प्रकाशित होता है । जहाँ ब्रह्मा आदि देवताओं तथा तपस्वी ऋषियोंने कार्तिकेयको देवसेनापतिके पदपर अभिषिक्त किया था । कुरुश्रेष्ठ ! तैजसतीर्थके पूर्वभागमें कुरुतीर्थ है ॥ १६४-१६५ ॥

कुरुतीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥ १६६ ॥

जो मनुष्य ब्रह्मचर्यपालन और इन्द्रियसंयमपूर्वक कुरुतीर्थमें स्नान करता है, वह सब पापोंसे शुद्ध होकर ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ १६६ ॥

स्वर्गद्वारं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
स्वर्गलोकमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ १६७ ॥

तदनन्तर नियमपरायण हो नियमित भोजन करते हुए स्वर्गद्वारको जाय । उस तीर्थके सेवनसे मनुष्य स्वर्गलोक पाता और ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ १६७ ॥

ततो गच्छेदनरकं तीर्थसेवी नराधिप ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ १६८ ॥
तत्र ब्रह्मा स्वयं नित्यं देवैः सह महीपते ।
अन्वास्ते पुरुषव्याघ्र नारायणपुरोगमैः ॥ १६९ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर तीर्थसेवी पुरुष अनरकतीर्थमें जाय । राजन् ! उसमें स्नान करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता । महीपते ! पुरुषसिंह ! वहाँ स्वयं ब्रह्मा नारायण आदि देवताओंके साथ नित्य निवास करते हैं ॥ १६८-१६९ ॥

सांनिध्यं तत्र राजेन्द्र रुद्रपत्न्याः कुरूद्वह ।
अभिगम्य च तां देवीं न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ १७० ॥

कुरुश्रेष्ठ ! महाराज ! वहाँ रुद्रपत्नी दुर्गाजीका स्थान भी है । उस देवीके निकट जानेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता ॥ १७० ॥

तत्रैव च महाराज विश्वेश्वरमुमापतिम् ।
अभिगम्य महादेवं मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ १७१ ॥

महाराज ! वहीं विश्वनाथ उमावल्लभ महादेवजीका स्थान है । वहाँकी यात्रा करके मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है ॥

नारायणं चाभिगम्य पद्मनाभमरिंदम ।
राजमानो महाराज विष्णुलोकं च गच्छति ॥ १७२ ॥
तीर्थेषु सर्वदेवानां स्नातः स पुरुषर्षभ ।
सर्वदुःखैः परित्यक्तो द्योतते शशिवन्नरः ॥ १७३ ॥

शत्रुदमन महाराज ! पद्मनाभ भगवान् नारायणके निकट जाकर (उनका दर्शन करके) मनुष्य तेजस्वी रूप धारण करके भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है । पुरुषरत्न ! सब

देवताओंके तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य सब दुःखोंसे मुक्त हो चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है ॥ १७२-१७३ ॥

ततः स्वस्तिपुरं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥१७४॥

नरेश्वर ! तदनन्तर तीर्थसेवी पुरुष स्वस्तिपुरमें जाय, उसकी परिक्रमा करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥

पावनं तीर्थमासाद्य तर्पयेत् पितृदेवताः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत ॥१७५॥

तत्पश्चात् पावनतीर्थमें जाकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करे । भारत ! ऐसा करनेवाले पुरुषको अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है ॥ १७५ ॥

गङ्गाह्रदश्च तत्रैव कूपश्च भरतर्षभ ।
तिस्रः कोट्यस्तु तीर्थानां तस्मिन् कूपे महीपते ॥१७६॥

भरतश्रेष्ठ ! वहीं गङ्गाह्रद नामक कूप है । भूपाल ! उस कूपमें तीन करोड़ तीर्थोंका वास है ॥ १७६ ॥

तत्र स्नात्वा नरो राजन् स्वर्गलोकं प्रपद्यते ।
आपगायां नरः स्नात्वा अर्चयित्वा महेश्वरम् ॥१७७॥
गाणपत्यमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।

राजन् ! उसमें स्नान करके मानव स्वर्गलोकमें जाता है । जो मनुष्य आपगामें स्नान करके महादेवजीकी पूजा करता है, वह गणपति पद पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ १७७½ ॥

ततः स्थाणुवटं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥१७८॥
तत्र स्नात्वा स्थितो रात्रिं रुद्रलोकमवाप्नुयात् ।

तदनन्तर त्रिभुवनविख्यात स्थाणुवटतीर्थमें जाय वहाँ स्नान करके रातभर निवास करनेवाला मनुष्य रुद्रलोकमें जाता है ॥

बदरीपाचनं गच्छेद् वसिष्ठस्याश्रमं ततः ॥१७९॥
बदरीं भक्षयेत् तत्र त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
सम्यग् द्वादशवर्षाणि बदरीं भक्षयेत् तु यः ॥१८०॥
त्रिरात्रोपोषितस्तेन भवेत् तुल्यो नराधिप ।
रुद्रमार्गं समासाद्य तीर्थसेवी नराधिप ॥१८१॥
अहोरात्रोपवासेन शक्रलोके महीयते ।

तदनन्तर बदरीपाचन नामसे प्रसिद्ध वशिष्ठके आश्रमपर जाय और वहाँ तीन रात उपवासपूर्वक रहकर बेरका फल खाय । जो मनुष्य वहाँ बारह वर्षोंतक भलीभाँति त्रिरात्रोपवासपूर्वक बेरका फल खाता है, वह उन्हीं वसिष्ठके समान होता है । राजन् ! नरेश्वर ! तीर्थसेवी मनुष्य रुद्रमार्गमें जाकर एक दिन-रात उपवास करे । इससे वह इन्द्रलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १७९–१८१½ ॥

एकरात्रं समासाद्य एकरात्रोषितो नरः ॥१८२॥
नियतः सत्यवादी च ब्रह्मलोके महीयते ।

तदनन्तर एकरात्रतीर्थमें जाकर मनुष्य नियमपूर्वक और सत्यवादी होकर एक रात निवास करनेपर ब्रह्मलोकमें पूजित होता है ॥ १८२½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥१८३॥
आदित्यस्याश्रमो यत्र तेजोराशेर्महात्मनः ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा पूजयित्वा विभावसुम् ॥१८४॥
आदित्यलोकं व्रजति कुलं चैव समुद्धरेत् ।

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् उस त्रैलोक्यविख्यात तीर्थमें जाय, जहाँ तेजोराशि महात्मा सूर्यका आश्रम है । उसमें स्नान करके सूर्यदेवकी पूजा करनेसे मनुष्य सूर्यके लोकमें जाता और अपने कुलका उद्धार करता है ॥ १८३-१८४½ ॥

सोमतीर्थे नरः स्नात्वा तीर्थसेवी नराधिप ॥१८५॥
सोमलोकमवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः ।

नरेश्वर ! सोमतीर्थमें स्नान करके तीर्थसेवी मानव सोमलोकको प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १८५½ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ दधीचस्य महात्मनः ॥१८६॥
तीर्थं पुण्यतमं राजन् पावनं लोकविश्रुतम् ।
यत्र सारस्वतो यातः सोऽङ्गिरास्तपसो निधिः ॥१८७॥

धर्मज्ञ राजन् ! तदनन्तर महात्मा दधीचके लोकविख्यात परम पुण्यमय, पावन तीर्थकी यात्रा करे । जहाँ तपस्याके भण्डार सरस्वतीपुत्र अङ्गिराका जन्म हुआ ॥ १८६-१८७ ॥

तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ।
सारस्वतीं गतिं चैव लभते नात्र संशयः ॥१८८॥

उस तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है और सरस्वतीलोकको प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १८८ ॥

ततः कन्याश्रमं गच्छेन्नियतो ब्रह्मचर्यवान् ।
त्रिरात्रोपोषितो राजन् नियतो नियताशनः ॥१८९॥
लभेत् कन्याशतं दिव्यं स्वर्गलोकं च गच्छति ।

तदनन्तर नियमपूर्वक रहकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए कन्याश्रम तीर्थमें जाय । राजन् ! वहाँ तीन रात उपवास करके नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करनेसे सौ दिव्य कन्याओंकी प्राप्ति होती है और वह मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १८९½ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं संनिहतीमपि ॥१९०॥

धर्मज्ञ ! तदनन्तर वहाँसे संनिहतीतीर्थकी यात्रा करे ॥

तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
मासि मासि समायान्ति पुण्येन महतान्विताः ॥१९१॥

उस तीर्थमें ब्रह्मा आदि देवता और तपोधन महर्षि प्रतिमास महान् पुण्यसे सम्पन्न होकर जाते हैं ॥ १९१ ॥

संनिहत्यामुपस्पृश्य राहुग्रस्ते दिवाकरे ।
अश्वमेधशतं तेन तत्रेष्टं शाश्वतं भवेत् ॥१९२॥

सूर्यग्रहणके समय संनिहतीमें स्नान करनेसे सौ अश्वमेध

यज्ञोंका अभीष्ट एवं शाश्वत फल प्राप्त होता है ॥ १९२ ॥

पृथिव्यां यानि तीर्थानि अन्तरिक्षचराणि च ।
नद्यो ह्रदास्तडागाश्च सर्वप्रस्रवणानि च ॥१९३॥
उदपानानि वाप्यश्च तीर्थान्यायतनानि च ।
निःसंशयममावास्यां समेष्यन्ति नराधिप ॥१९४॥
मासि मासि नरव्याघ्र संनिहत्यां न संशयः ।
तीर्थसंनिहनादेव संनिहत्येति विश्रुता ॥१९५॥

पृथ्वीपर और आकाशमें जितने तीर्थ, नदी, ह्रद, तड़ाग, सम्पूर्ण झरने, उदपान, बावली, तीर्थ और मन्दिर हैं, वे प्रत्येक मासकी अमावस्याको संनिहतीमें अवश्य पधारेंगे । तीर्थोंका संघात या समूह होनेके कारण ही वह संनिहती नामसे विख्यात है ॥ १९३–१९५ ॥

तत्र स्नात्वा च पीत्वा च स्वर्गलोके महीयते ।
अमावास्यां तु तत्रैव राहुग्रस्ते दिवाकरे ॥१९६॥
यः श्राद्धं कुरुते मर्त्यस्तस्य पुण्यफलं शृणु ।
अश्वमेधसहस्रस्य सम्यगिष्टस्य यत् फलम् ॥१९७॥
स्नात एव समाप्नोति कृत्वा श्राद्धं च मानवः ।
यत् किंचिद् दुष्कृतं कर्म स्त्रिया वा पुरुषेण वा ॥१९८॥
स्नातमात्रस्य तत् सर्वं नश्यते नात्र संशयः ।
पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥१९९॥

राजन् ! उसमें स्नान और जलपान करके मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है । जो सूर्यग्रहणके समय अमावस्याको वहाँ पितरोंका श्राद्ध करता है, उसके पुण्यफलका वर्णन सुनो—। भलीभाँति सम्पन्न किये हुए सहस्र अश्वमेध यज्ञोंका जो फल होता है, उसे मनुष्य उस तीर्थमें स्नानमात्र करके अथवा श्राद्ध करके पा लेता है । स्त्री या पुरुषने जो कुछ भी दुष्कर्म किया हो, वह सब वहाँ स्नान करनेमात्रसे नष्ट हो जाता है; इसमें संशय नहीं है । वह पुरुष कमलके समान रंगवाले विमानद्वारा ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ १९६–१९९ ॥

अभिवाद्य ततो यक्षं द्वारपालं मचक्रुकम् ।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य लभेद् बहुसुवर्णकम् ॥२००॥

तदनन्तर मचक्रुक नामक द्वारपाल यक्षको प्रणाम करके कोटितीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है ॥ २०० ॥

गङ्गाह्रदश्च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नायीत धर्मज्ञ ब्रह्मचारी समाहितः ॥२०१॥
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दति मानवः ।

धर्मज्ञ भरतश्रेष्ठ ! वहीं गङ्गाह्रद नामक तीर्थ है, उसमें ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो स्नान करे, इससे मनुष्यको राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंद्वारा मिलनेवाले फलकी प्राप्ति होती है ॥ २०१½ ॥

पृथिव्यां नैमिषं तीर्थमन्तरिक्षे च पुष्करम् ॥२०२॥
त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते ।
पांसवोऽपि कुरुक्षेत्राद् वायुना समुदीरिताः ॥२०३॥
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ।
दक्षिणेन सरस्वत्या उत्तरेण दृषद्वतीम् ॥२०४॥
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ।

भूमण्डलके निवासियोंके लिये नैमिष, अन्तरिक्ष-निवासियोंके लिये पुष्कर और तीनों लोकोंके निवासियोंके लिये कुरुक्षेत्र विशिष्ट तीर्थ हैं । कुरुक्षेत्रसे वायुद्वारा उड़ायी हुई धूल भी पापी-से-पापी मनुष्यपर भी पड़ जाय तो उसे परमगतिको पहुँचा देती है । सरस्वतीसे दक्षिण, दृषद्वतीसे उत्तर कुरुक्षेत्रमें जो लोग निवास करते हैं, वे मानो स्वर्गलोकमें बसते हैं ॥ २०२–२०४½ ॥

कुरुक्षेत्रे गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् ॥२०५॥
अप्येकां वाचमुत्सृज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

'मैं कुरुक्षेत्रमें जाऊँगा, कुरुक्षेत्रमें निवास करूँगा' ऐसी बात एक बार मुँहसे कह देनेपर भी मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २०५½ ॥

ब्रह्मवेदी कुरुक्षेत्रं पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम् ॥२०६॥
तस्मिन् वसन्ति ये मर्त्या न ते शोच्याः कथंचन ॥२०७॥

कुरुक्षेत्र ब्रह्माजीकी वेदी है, इस पुण्यक्षेत्रका ब्रह्मर्षिगण सेवन करते हैं । जो मानव उसमें निवास करते हैं, वे किसी प्रकार शोकजनक अवस्थामें नहीं पड़ते ॥ २०६-२०७ ॥

तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं
रामह्रदानां च मचक्रुकस्य च ।
एतत् कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं
पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते ॥२०८॥

तरन्तुक और अरन्तुकके तथा रामह्रद और मचक्रुकके बीचका जो भूभाग है, यही कुरुक्षेत्र एवं समन्तपञ्चक है । इसे ब्रह्माजीकी उत्तरवेदी कहते हैं ॥ २०८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें पुलस्त्यतीर्थयात्राविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमोऽध्यायः

नाना प्रकारके तीर्थोंकी महिमा

पुलस्त्य उवाच

ततो गच्छेन्महाराज धर्मतीर्थमनुत्तमम् ।
यत्र धर्मो महाभागस्तप्तवानुत्तमं तपः ॥ १ ॥

पुलस्त्यजी कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर परम उत्तम धर्मतीर्थकी यात्रा करे, जहाँ महाभाग धर्मने उत्तम तपस्या की थी ॥ १ ॥

तेन तीर्थं कृतं पुण्यं स्वेन नाम्ना च विश्रुतम् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् धर्मशीलः समाहितः ॥ २ ॥
आसप्तमं कुलं चैव पुनीते नात्र संशयः ।

राजन् ! उन्होंने ही अपने नामसे विख्यात पुण्य तीर्थकी स्थापना की है । वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य धर्मशील एवं एकाग्रचित्त होता है और अपने कुलकी सातवीं पीढ़ी तकके लोगोंको पवित्र कर देता है; इसमें संशय नहीं है ॥ २½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ज्ञानपावनमुत्तमम् ॥ ३ ॥
अग्निष्टोममवाप्नोति मुनिलोकं च गच्छति ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर उत्तम ज्ञानपावन तीर्थमें जाय । वहाँ जानेसे मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता और मुनिलोकमें जाता है ॥ ३½ ॥

सौगन्धिकवनं राजंस्ततो गच्छेत मानवः ॥ ४ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् मानव सौगन्धिक वनमें जाय ॥ ४ ॥

तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
सिद्धचारणगन्धर्वाः किंनराश्च महोरगाः ॥ ५ ॥

वहाँ ब्रह्मा आदि देवता, तपोधन ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, किन्नर और बड़े-बड़े नाग निवास करते हैं ॥ ५ ॥

तद् वनं प्रविशन्नेव सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
ततश्चापि सरिच्छ्रेष्ठा नदीनामुत्तमा नदी ॥ ६ ॥
प्लक्षाद्देवी स्रुता राजन् महापुण्या सरस्वती ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत वल्मीकान्निःसृते जले ॥ ७ ॥

उस वनमें प्रवेश करते ही मानव सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । उससे आगे सरिताओंमें श्रेष्ठ और नदियोंमें उत्तम नदी परम पुण्यमयी सरस्वतीदेवीका उद्गम स्थान है, जहाँ वे प्लक्ष (पकड़ी) नामक वृक्षकी जड़से टपक रही हैं । राजन् ! वहाँ बाँबीसे निकले हुए जलमें स्नान करना चाहिये ॥

अर्चयित्वा पितॄन् देवानश्वमेधफलं लभेत् ।
ईशानाध्युषितं नाम तत्र तीर्थं सुदुर्लभम् ॥ ८ ॥

वहाँ देवताओं तथा पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्यको अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है । वहीं ईशानाध्युषित नामक परम दुर्लभ तीर्थ है ॥ ८ ॥

षट्सु शम्यानिपातेषु वल्मीकादिति निश्चयः ।
कपिलानां सहस्रं च वाजिमेधं च विन्दति ॥ ९ ॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र दृष्टमेतत् पुरातनैः ।

जहाँ बाँबीका जल है, वहाँसे इसकी दूरी छः शम्यानिपात[1] है । यह निश्चित माप बताया गया है । नरश्रेष्ठ ! उस तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र कपिलादान और अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है; इसे प्राचीन ऋषियोंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है ।

सुगन्धां शतकुम्भां च पञ्चयज्ञां च भारत ॥ १० ॥
अभिगम्य नरश्रेष्ठ स्वर्गलोके महीयते ।

भारत ! पुरुषरत्न ! सुगन्धा, शतकुम्भा तथा पञ्चयज्ञा तीर्थमें जाकर मानव स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १०½ ॥

त्रिशूलखातं तत्रैव तीर्थमासाद्य भारत ॥ ११ ॥
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।
गाणपत्यं च लभते देहं त्यक्त्वा न संशयः ॥ १२ ॥

भरतकुलतिलक ! वहीं त्रिशूलखात नामक तीर्थ है; वहाँ जाकर स्नान करे और देवताओं तथा पितरोंकी पूजामें लग जाय । ऐसा करनेवाला मनुष्य देहत्यागके अनन्तर गणपति-पद प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ।११-१२।

ततो गच्छेत राजेन्द्र देव्याः स्थानं सुदुर्लभम् ।
शाकम्भरीति विख्याता त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ १३ ॥

राजेन्द्र ! वहाँसे परमदुर्लभ देवीस्थानकी यात्रा करे, वह देवी तीनों लोकोंमें शाकम्भरीके नामसे विख्यात है ॥ १३ ॥

दिव्यं वर्षसहस्रं हि शाकेन किल सुव्रता ।
आहारं सा कृतवती मासि मासि नराधिप ॥ १४ ॥
ऋषयोऽभ्यागतास्तत्र देव्या भक्त्या तपोधनाः ।
आतिथ्यं च कृतं तेषां शाकेन किल भारत ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! कहते हैं उत्तम व्रतका पालन करनेवाली उस देवीने एक हजार दिव्य वर्षोंतक एक-एक महीनेपर केवल शाकका आहार किया था । देवीकी भक्तिसे प्रभावित होकर बहुत-से तपोधन महर्षि वहाँ आये । भारत ! उस देवीने उन महर्षियोंका आतिथ्य-सत्कार भी शाकके ही द्वारा किया ॥

ततः शाकम्भरीत्येव नाम तस्याः प्रतिष्ठितम् ।
शाकम्भरीं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥ १६ ॥

---

१. शम्याका अर्थ है डंडा । कोई बलवान् पुरुष डंडेको खूब जोर लगाकर फेंके तो वह जहाँ गिरे, उतनी दूरके स्थानको एक शम्यानिपात कहते हैं । ऐसे ही छः शम्यानिपातकी दूरी समझ लेनी चाहिये ।

त्रिरात्रमुषितः शाकं भक्षयित्वा नरः शुचिः।
शाकाहारस्य यत् किंचिद् वर्षैर्द्वादशभिः कृतम् ॥ १७ ॥
तत् फलं तस्य भवति देव्याश्छन्देन भारत ।

भारत ! तबसे उस देवीका 'शाकम्भरी' ही नाम प्रसिद्ध हो गया । शाकम्भरीके समीप जाकर मनुष्य ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त और पवित्र हो वहाँ तीन राततक शाक खाकर रहे तो बारह वर्षोंतक शाकाहारी मनुष्यको जो पुण्य प्राप्त होता है, वह उसे देवीकी इच्छासे (तीन ही दिनोंमें) मिल जाता है ॥ १६-१७½॥

ततो गच्छेत् सुवर्णाख्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ १८ ॥
तत्र विष्णुः प्रसादार्थं रुद्रमाराधयत् पुरा ।
वरांश्च सुबहूँल्लेभे दैवतेषु सुदुर्लभान् ॥ १९ ॥

तदनन्तर त्रिभुवनविख्यात सुवर्णतीर्थकी यात्रा करे । वहाँ पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने रुद्रदेवकी प्रसन्नताके लिये उनकी आराधना की और उनसे अनेक देवदुर्लभ उत्तम वर प्राप्त किये ॥ १८-१९ ॥

उक्तश्च त्रिपुरघ्नेन परितुष्टेन भारत ।
अपि च त्वं प्रियतरो लोके कृष्ण भविष्यसि ॥ २० ॥
त्वन्मुखं च जगत् सर्वं भविष्यति न संशयः ।
तत्राभिगम्य राजेन्द्र पूजयित्वा वृषध्वजम् ॥ २१ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति गाणपत्यं च विन्दति ।
धूमावतीं ततो गच्छेत् त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ २२ ॥
मनसा प्रार्थितान् कामाँल्लभते नात्र संशयः ।

भारत ! उस समय संतुष्टचित्त त्रिपुरारि शिवने श्रीविष्णुसे कहा—'श्रीकृष्ण ! तुम मुझे लोकमें अत्यन्त प्रिय होओगे । संसारमें सर्वत्र तुम्हारी ही प्रधानता होगी, इसमें संशय नहीं है ।' राजेन्द्र ! उस तीर्थमें जाकर भगवान् शंकरकी पूजा करनेसे मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और गणपतिपद प्राप्त कर लेता है । वहाँसे मनुष्य धूमावतीतीर्थको जाय और तीन रात उपवास करे । इससे वह निःसंदेह मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥ २०-२२½ ॥

देव्यास्तु दक्षिणार्धेन रथावर्तो नराधिप ॥ २३ ॥
तत्रारोहेत धर्मज्ञ श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
महादेवप्रसादाद्धि गच्छेत परमां गतिम् ॥ २४ ॥

नरेश्वर ! देवीसे दक्षिणार्ध भागमें रथावर्त नामक तीर्थ है । धर्मज्ञ ! जो श्रद्धालु एवं जितेन्द्रिय पुरुष उस तीर्थकी यात्रा करता है, वह महादेवजीके प्रसादसे परम गति प्राप्त कर लेता है ॥ २३-२४ ॥

प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छेत भरतर्षभ ।
धारां नाम महाप्राज्ञः सर्वपापप्रमोचनीम् ॥ २५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर महाप्राज्ञ पुरुष उस तीर्थकी परिक्रमा करके धाराकी यात्रा करे, जो सब पापोंसे छुड़ानेवाली है ॥ २५ ॥

तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र न शोचति नराधिप ।

नरव्याघ्र ! नराधिप ! वहाँ स्नान करके मनुष्य कभी शोकमें नहीं पड़ता है ॥ २५½ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ नमस्कृत्य महागिरिम् ॥ २६ ॥
स्वर्गद्वारेण यत् तुल्यं गङ्गाद्वारं न संशयः ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत कोटितीर्थे समाहितः ॥ २७ ॥

धर्मज्ञ ! वहाँसे महापर्वत हिमालयको नमस्कार करके गङ्गाद्वार (हरिद्वार) की यात्रा करे, जो स्वर्गद्वारके समान है; इसमें संशय नहीं है । वहाँ एकाग्रचित्त हो कोटितीर्थमें स्नान करे ॥ २६-२७ ॥

पुण्डरीकमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।
उष्यैकां रजनीं तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ॥ २८ ॥

ऐसा करनेवाला मनुष्य पुण्डरीकयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है । वहाँ एक रात निवास करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ २८ ॥

सप्तगङ्गे त्रिगङ्गे च शक्रावर्ते च तर्पयन् ।
देवान् पितॄंश्च विधिवत् पुण्ये लोके महीयते ॥ २९ ॥

सप्तगङ्ग, त्रिगङ्ग और शक्रावर्ततीर्थमें विधिपूर्वक देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करनेवाला मनुष्य पुण्यलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ २९ ॥

ततः कनखले स्नात्वा त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ३० ॥

तदनन्तर कनखलमें स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ३० ॥

कपिलावटं ततो गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।
उपोष्य रजनीं तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! उसके बाद तीर्थसेवी मनुष्य कपिलावट तीर्थमें जाय । वहाँ रातभर उपवास करनेसे उसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ ३१ ॥

नागराजस्य राजेन्द्र कपिलस्य महात्मनः ।
तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ सर्वलोकेषु विश्रुतम् ॥ ३२ ॥

राजेन्द्र ! कुरुश्रेष्ठ ! वहीं नागराज महात्मा कपिलका तीर्थ है, जो सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात है ॥ ३२ ॥

तत्राभिषेकं कुर्वीत नागतीर्थे नराधिप ।
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः ॥ ३३ ॥

महाराज ! वहाँ नागतीर्थमें स्नान करना चाहिये । इससे मनुष्यको सहस्र कपिलादानका फल प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

ततो ललितकं गच्छेच्छान्तनोस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् शान्तनुके उत्तम तीर्थ ललितकमें जाय । राजन् ! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता ॥ ३४ ॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये स्नाति यः संगमे नरः ।
दशाश्वमेधानाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ३५ ॥

जो मनुष्य गङ्गा-यमुनाके बीच संगम (प्रयाग) में स्नान करता है, उसे दस अश्वमेध यज्ञोंका फल मिलता है और वह अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ३५ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र सुगंधां लोकविश्रुताम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३६ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर लोकविख्यात सुगन्धातीर्थकी यात्रा करे । इससे सब पापोंसे विशुद्धचित्त हुआ मानव ब्रह्मलोकमें पूजित होता है ॥ ३६ ॥

रुद्रावर्तं ततो गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ३७ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर तीर्थसेवी पुरुष रुद्रावर्ततीर्थमें जाय । राजन् ! वहाँ स्नान करके मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ३७ ॥

गङ्गायाश्च नरश्रेष्ठ सरस्वत्याश्च संगमे ।
स्नात्वाश्वमेधं प्राप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ३८ ॥

नरश्रेष्ठ ! गङ्गा और सरस्वतीके संगममें स्नान करनेसे मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ३८ ॥

भद्रकर्णेश्वरं गत्वा देवमर्च्य यथाविधि ।
न दुर्गतिमवाप्नोति नाकपृष्ठे च पूज्यते ॥ ३९ ॥

भगवान् भद्रकर्णेश्वरके समीप जाकर विधिपूर्वक उनकी पूजा करनेवाला पुरुष कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता और स्वर्गलोकमें पूजित होता है ॥ ३९ ॥

ततः कुब्जाम्रकं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।
गोसहस्रमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ४० ॥

नरेन्द्र ! तत्पश्चात् तीर्थसेवी मानव कुब्जाम्रक तीर्थमें जाय । वहाँ उसे सहस्र गोदानका फल मिलता है और अन्तमें वह स्वर्गलोकको जाता है ॥ ४० ॥

अरुन्धतीवटं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।
सामुद्रकमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ४१ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
गोसहस्रफलं विद्यात् कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ४२ ॥

नरपते ! तत्पश्चात् तीर्थसेवी अरुन्धती-वटके समीप जाय और सामुद्रकतीर्थमें स्नान करके ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो तीन रात उपवास करे । इससे मनुष्य अश्वमेध यज्ञ और सहस्र गोदानका फल पाता तथा अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ४१-४२ ॥

ब्रह्मावर्तं ततो गच्छेद् ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति ॥ ४३ ॥

तदनन्तर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक चित्तको एकाग्र करके ब्रह्मावर्ततीर्थमें जाय । इससे वह अश्वमेधयज्ञका फल पाता और सोमलोकको जाता है ॥ ४३ ॥

यमुनाप्रभवं गत्वा समुपस्पृश्य यामुनम् ।
अश्वमेधफलं लब्ध्वा स्वर्गलोके महीयते ॥ ४४ ॥

यमुनाप्रभव नामक तीर्थमें जाकर यमुनाजलमें स्नान करके अश्वमेधयज्ञका फल पाकर मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ४४ ॥

दर्वीसंक्रमणं प्राप्य तीर्थं त्रैलोक्यपूजितम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ४५ ॥

दर्वीसंक्रमण नामक त्रिभुवनपूजित तीर्थमें जानेसे तीर्थयात्री अश्वमेधयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ४५ ॥

सिन्धोश्च प्रभवं गत्वा सिद्धगन्धर्वसेवितम् ।
तत्रोष्य रजनीः पञ्च विन्देद् बहुसुवर्णकम् ॥ ४६ ॥

सिंधुके उद्गमस्थानमें, जो सिद्ध-गन्धर्वोंद्वारा सेवित है, जाकर पाँच रात उपवास करनेसे प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है ॥

अथ वेदीं समासाद्य नरः परमदुर्गमाम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ४७ ॥

तदनन्तर मनुष्य परम दुर्गम वेदीतीर्थमें जाकर अश्वमेध यज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ४७ ॥

ऋषिकुल्यां समासाद्य वासिष्ठं चैव भारत ।
वासिष्ठीं समतिक्रम्य सर्वे वर्णा द्विजातयः ॥ ४८ ॥

भरतनन्दन ! ऋषिकुल्या एवं वासिष्ठतीर्थमें जाकर स्नान आदि करके वासिष्ठीको लाँघकर जानेवाले क्षत्रिय आदि सभी वर्णोंके लोग द्विजाति हो जाते हैं ॥ ४८ ॥

ऋषिकुल्यां समासाद्य नरः स्नात्वा विकल्मषः ।
देवान् पितॄंश्चार्चयित्वा ऋषिलोकं प्रपद्यते ॥ ४९ ॥

ऋषिकुल्यामें जाकर स्नान करके पापरहित मानव देवताओं और पितरोंकी पूजा करके ऋषिलोकमें जाता है ॥

यदि तत्र वसेन्मासं शाकाहारो नराधिप ।
भृगुतुङ्गं समासाद्य वाजिमेधफलं लभेत् ॥ ५० ॥

नरेश्वर ! यदि मनुष्य भृगुतुङ्गमें जाकर शाकाहारी हो वहाँ एक मासतक निवास करे तो उसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

गत्वा वीरप्रमोक्षं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
कृत्तिकामघयोश्चैव तीर्थमासाद्य भारत ॥ ५१ ॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलमाप्नोति मानवः ।
तत्र संध्यां समासाद्य विद्यातीर्थमनुत्तमम् ॥ ५२ ॥

उपस्पृश्य च वै विद्यां च तत्रोपपद्यते ।
महाश्रमे वसेद् रात्रिं सर्वपापप्रमोचने ॥ ५३ ॥
एककालं निराहारो लोकानावसते शुभान् ।

वीरप्रमोक्षतीर्थमें जाकर मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है । भारत ! कृत्तिका और मघाके तीर्थमें जाकर मानव अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञोंका फल पाता है । वहीं प्रातःसंध्याके समय परम उत्तम विद्यातीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य जहाँ-कहीं भी विद्या प्राप्त कर लेता है । जो सब पापोंसे छुड़ानेवाले महाश्रमतीर्थमें एक समय उपवास करके एक रात वहीं निवास करता है, उसे शुभ लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ ५१–५३½ ॥

षष्ठकालोपवासेन मासमुष्य महालये ॥ ५४ ॥
सर्वपापविशुद्धात्मा विन्देद् बहुसुवर्णकम् ।
दशापरान् दश पूर्वान् नरानुद्धरते कुलम् ॥ ५५ ॥

जो छठे समय उपवासपूर्वक एक मासतक महालय-तीर्थमें निवास करता है, वह सब पापोंसे शुद्धचित्त हो प्रचुर सुवर्णराशि प्राप्त करता है । साथ ही दस पहलेकी और दस बादकी पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है ॥ ५४-५५ ॥

अथ वेतसिकां गत्वा पितामहनिषेविताम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति गच्छेदौशनसीं गतिम् ॥ ५६ ॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजीके द्वारा सेवित वेतसिकातीर्थमें जाकर मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और शुक्राचार्यके लोकमें जाता है ॥ ५६ ॥

अथ सुन्दरिकातीर्थं प्राप्य सिद्धनिषेवितम् ।
रूपस्य भागी भवति दृष्टमेतत् पुरातनैः ॥ ५७ ॥

तदनन्तर सिद्धसेवित सुन्दरिकातीर्थमें जाकर मनुष्य रूपका भागी होता है, यह बात प्राचीन ऋषियोंने देखी है ॥

ततो वै ब्राह्मणीं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥ ५८ ॥

इसके बाद इन्द्रियसंयम और ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक ब्राह्मणीतीर्थमें जानेसे मनुष्य कमलके समान कान्तिवाले विमानद्वारा ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ ५८ ॥

ततस्तु नैमिषं गच्छेत् पुण्यं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र नित्यं निवसति ब्रह्मा देवगणैः सह ॥ ५९ ॥

तदनन्तर सिद्धसेवित पुण्यमय नैमिष (नैमिषारण्य) तीर्थमें जाय । वहाँ देवताओंके साथ ब्रह्माजी नित्य निवास करते हैं ॥ ५९ ॥

नैमिषं मृगयानस्य पापस्यार्धं प्रणश्यति ।
प्रविष्टमात्रस्तु नरः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ६० ॥

नैमिषकी खोज करनेवाले पुरुषका आधा पाप उसी समय नष्ट हो जाता है और उसमें प्रवेश करते ही वह सारे पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ६० ॥

तत्र मासं वसेद् धीरो नैमिषे तीर्थतत्परः ।
पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि नैमिषे ॥ ६१ ॥

धीर पुरुष तीर्थसेवनमें तत्पर हो एक मासतक नैमिषमें निवास करे । पृथ्वीमें जितने तीर्थ हैं, वे सभी नैमिषमें विद्यमान हैं ॥ ६१ ॥

कृताभिषेकस्तत्रैव नियतो नियताशनः ।
गवां मेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत ॥ ६२ ॥

भारत ! जो वहाँ स्नान करके नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करता है, वह गोमेधयज्ञका फल पाता है ॥ ६२ ॥

पुनात्यासप्तमं चैव कुलं भरतसत्तम ।
यस्त्यजेन्नैमिषे प्राणानुपवासपरायणः ॥ ६३ ॥
स मोदेत् सर्वलोकेषु एवमाहुर्मनीषिणः ।
नित्यं मेध्यं च पुण्यं च नैमिषं नृपसत्तम ॥ ६४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अपने कुलकी सात पीढ़ियोंका भी वह उद्धार कर देता है । जो नैमिषमें उपवासपूर्वक प्राणत्याग करता है, वह सब लोकोंमें आनन्दका अनुभव करता है; ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है । नृपश्रेष्ठ ! नैमिषतीर्थ नित्य, पवित्र और पुण्यजनक है ॥ ६३-६४ ॥

गङ्गोद्भेदं समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
वाजपेयमवाप्नोति ब्रह्मभूतो भवेत् सदा ॥ ६५ ॥

गङ्गोद्भेदतीर्थमें जाकर तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता और सदाके लिये ब्रह्मीभूत हो जाता है ॥ ६५ ॥

सरस्वतीं समासाद्य तर्पयेत् पितृदेवताः ।
सारस्वतेषु लोकेषु मोदते नात्र संशयः ॥ ६६ ॥

सरस्वतीतीर्थमें जाकर देवता और पितरोंका तर्पण करे । इससे तीर्थयात्री सारस्वतलोकोंमें जाकर आनन्दका भागी होता है; इसमें संशय नहीं है ॥ ६६ ॥

ततश्च बाहुदां गच्छेद् ब्रह्मचारी समाहितः ।
तत्रोष्य रजनीमेकां स्वर्गलोके महीयते ॥ ६७ ॥
देवसत्रस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति कौरव ।

तदनन्तर बाहुदा-तीर्थमें जाय और ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो वहाँ एक रात उपवास करे; इससे वह स्वर्ग-लोकमें प्रतिष्ठित होता है कुरुनन्दन ! उसे देवसत्र यज्ञका भी फल प्राप्त होता है ॥ ६७½ ॥

ततः क्षीरवतीं गच्छेत् पुण्यां पुण्यतरैर्वृताम् ॥ ६८ ॥
पितृदेवार्चनपरो वाजपेयमवाप्नुयात् ।

वहाँसे क्षीरवती नामक पुण्यतीर्थमें जाय, जो अत्यन्त पुण्यात्मा पुरुषोंसे भरी हुई है। वहाँ स्नान करके देवता और पितरोंके पूजनमें लगा हुआ मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता है ॥ ६८½ ॥

विमलाशोकमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥६९॥
तत्रोष्य रजनीमेकां स्वर्गलोके महीयते ।

वहीं विमलाशोक नामक उत्तम तीर्थ है, वहाँ जाकर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो एक रात निवास करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ६९½ ॥

गोप्रतारं ततो गच्छेत् सरय्वास्तीर्थमुत्तमम् ॥७०॥
यत्र रामो गतः स्वर्गं सभृत्यबलवाहनः ।
स च वीरो महाराज तस्य तीर्थस्य तेजसा ॥७१॥

वहाँसे सरयूके उत्तम तीर्थ गोप्रतारमें जाय। महाराज! वहाँ अपने सेवकों, सैनिकों और वाहनोंके साथ गोते लगाकर उस तीर्थके प्रभावसे वे वीर श्रीरामचन्द्रजी अपने नित्यधामको पधारे थे ॥ ७०-७१ ॥

रामस्य च प्रसादेन व्यवसायाच्च भारत ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा गोप्रतारे नराधिप ॥७२॥
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते ।

भरतनन्दन! नरेश्वर! उस सरयूके गोप्रतारतीर्थमें स्नान करके मनुष्य श्रीरामचन्द्रजीकी कृपा और उद्योगसे सब पापोंसे शुद्ध होकर स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है ७२½

रामतीर्थे नरः स्नात्वा गोमत्यां कुरुनन्दन ॥७३॥
अश्वमेधमवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः ।

कुरुनन्दन! गोमतीके रामतीर्थमें स्नान करके मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और अपने कुलको पवित्र कर देता है ॥ ७३½ ॥

शतसाहस्रकं तीर्थं तत्रैव भरतर्षभ ॥७४॥
तत्रोपस्पर्शनं कृत्वा नियतो नियताशनः ।
गोसहस्रफलं पुण्यं प्राप्नोति भरतर्षभ ॥७५॥

भरतकुलभूषण! वहीं शतसाहस्रकतीर्थ है। उसमें स्नान करके नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करते हुए मनुष्य सहस्र गोदानका पुण्यफल प्राप्त करता है ॥ ७४-७५ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र भर्तृस्थानमनुत्तमम् ।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥७६॥

राजेन्द्र! वहाँसे परम उत्तम भर्तृस्थानको जाय। वहाँ जानेसे मनुष्यको अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ७६ ॥

कोटितीर्थे नरः स्नात्वा अर्चयित्वा गुहं नृप ।
गोसहस्रफलं विद्यात् तेजस्वी च भवेन्नरः ॥७७॥

राजन्! मनुष्य कोटितीर्थमें स्नान करके कार्तिकेयजीका पूजन करनेसे सहस्र गोदानका फल पाता और तेजस्वी होता है ॥ ७७ ॥

ततो वाराणसीं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम् ।
कपिलाह्रदे नरः स्नात्वा राजसूयमवाप्नुयात् ॥७८॥

तदनन्तर वाराणसी (काशी)तीर्थमें जाकर भगवान् शङ्करकी पूजा करे और कपिलाह्रदमें गोता लगाये; इससे मनुष्यको राजसूययज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥

अविमुक्तं समासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ।
दर्शनाद् देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥७९॥
प्राणानुत्सृज्य तत्रैव मोक्षं प्राप्नोति मानवः ।

कुरुश्रेष्ठ! अविमुक्त तीर्थमें जाकर तीर्थसेवी मनुष्य देवदेव महादेवजीका दर्शनमात्र करके ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है। वहीं प्राणोत्सर्ग करके मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ७९½ ॥

मार्कण्डेयस्य राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम् ॥८०॥
गोमतीगङ्गयोश्चैव संगमे लोकविश्रुते ।
अग्निष्टोममवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥८१॥

राजेन्द्र! गोमती और गङ्गाके लोकविख्यात संगमके समीप मार्कण्डेयजीका दुर्लभ तीर्थ है। उसमें जाकर मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ८०-८१ ॥

ततो गयां समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥८२॥

तदनन्तर गयातीर्थमें जाकर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ८२ ॥

तत्राक्षयवटो नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
तत्र दत्तं पितृभ्यस्तु भवत्यक्षयमुच्यते ॥८३॥

वहाँ तीनों लोकोंमें विख्यात अक्षयवट है। उनके समीप पितरोंके लिये दिया हुआ सब कुछ अक्षय बताया जाता है ॥ ८३ ॥

महानद्यामुपस्पृश्य तर्पयेत् पितृदेवताः ।
अक्षयान् प्राप्नुयाल्लोकान् कुलं चैव समुद्धरेत् ॥८४॥

महानदीमें स्नान करके जो देवताओं और पितरोंका तर्पण करता है, वह अक्षय लोकोंको प्राप्त होता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ८४ ॥

ततो ब्रह्मसरो गत्वा धर्मारण्योपशोभितम् ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति प्रभातामेव शर्वरीम् ॥८५॥

तदनन्तर धर्मारण्यसे सुशोभित ब्रह्मसरोवरकी यात्रा करके वहाँ एक रात प्रातःकालतक निवास करनेसे मनुष्य ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है ॥ ८५ ॥

ब्रह्मणा तत्र सरसि यूपश्रेष्ठः समुच्छ्रितः ।
यूपं प्रदक्षिणं कृत्वा वाजपेयफलं लभेत् ॥८६॥

ब्रह्माजीने उस सरोवरमें एक श्रेष्ठ यूपकी स्थापना की थी। उसकी परिक्रमा करनेसे मानव वाजपेययज्ञका फल पा लेता है ॥ ८६ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र धेनुकं लोकविश्रुतम्।
एकरात्रोषितो राजन् प्रयच्छेत् तिलधेनुकाम् ॥८७॥
सर्वपापविशुद्धात्मा सोमलोकं व्रजेद् ध्रुवम्।

राजेन्द्र ! वहाँसे लोकविख्यात धेनुतीर्थमें जाय। महाराज ! वहाँ एक रात रहकर तिलकी गौका दान करे*। इससे तीर्थयात्री पुरुष सब पापोंसे शुद्धचित्त हो निश्चय ही सोमलोकमें जाता है ॥ ८७½ ॥

तत्र चिह्नं महद् राजन्नद्यापि सुमहद् भृशम् ॥८८॥
कपिलायाः सवत्सायाश्चरन्त्याः पर्वते कृतम्।
सवत्सायाः पदानि स्म दृश्यन्तेऽद्यापि भारत ॥८९॥

राजन् ! वहाँ एक पर्वतपर चरनेवाली बछड़ेसहित कपिला गौका विशाल चरणचिह्न आज भी अङ्कित है। भरतनन्दन ! बछड़ेसहित उस गौके चरणचिह्न आज भी वहाँ देखे जाते हैं ॥ ८८-८९ ॥

तेषूपस्पृश्य राजेन्द्र पदेषु नृपसत्तम।
यत् किंचिदशुभं कर्म तत् प्रणश्यति भारत ॥९०॥

भारत ! नृपश्रेष्ठ ! राजेन्द्र ! उन चरणचिह्नोंका स्पर्श करके मनुष्यका जो कुछ भी अशुभ कर्म शेष रहता है, वह सब नष्ट हो जाता है ॥ ९० ॥

ततो गृध्रवटं गच्छेत् स्थानं देवस्य धीमतः।
स्नायीत भस्मना तत्र अभिगम्य वृषध्वजम् ॥९१॥

तदनन्तर परम बुद्धिमान् महादेवजीके गृध्रवट नामक स्थानकी यात्रा करे और वहाँ भगवान् शङ्करके समीप जाकर भस्मसे स्नान करे (अपने शरीरमें भस्म लगाये) ॥ ९१ ॥

ब्राह्मणेन भवेच्चीर्णं व्रतं द्वादशवार्षिकम्।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वपापं प्रणश्यति ॥९२॥

वहाँ यात्रा करनेसे ब्राह्मणको बारह वर्षोंतक व्रतके पालन करनेका फल प्राप्त होता है और अन्य वर्णके लोगोंके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ९२ ॥

उद्यन्तं च ततो गच्छेत् पर्वतं गीतनादितम्।
सावित्र्यास्तु पदं तत्र दृश्यते भरतर्षभ ॥९३॥

भरतकुलभूषण ! तदनन्तर संगीतकी ध्वनिसे गूँजते हुए उदयगिरिपर जाय। वहाँ सावित्रीका चरणचिह्न आज भी दिखायी देता है ॥ ९३ ॥

तत्र संध्यामुपासीत ब्राह्मणः संशितव्रतः।
तेन ह्युपास्ता भवति संध्या द्वादशवार्षिकी ॥९४॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण वहाँ संध्योपासना करे। इससे उसके द्वारा बारह वर्षोंतककी संध्योपासना सम्पन्न हो जाती है ॥ ९४ ॥

योनिद्वारं च तत्रैव विश्रुतं भरतर्षभ।
तत्राभिगम्य मुच्येत पुरुषो योनिसंकटात् ॥९५॥

भरतश्रेष्ठ ! वहीं विख्यात योनिद्वारतीर्थ है, जहाँ जाकर मनुष्य योनिसंकटसे मुक्त हो जाता है—उसका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ ९५ ॥

कृष्णशुक्लावुभौ पक्षौ गयायां यो वसेन्नरः।
पुनात्यासप्तमं राजन् कुलं नास्त्यत्र संशयः ॥९६॥

राजन् ! जो मानव कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षोंमें गयातीर्थमें निवास करता है, वह अपने कुलकी सातवीं पीढ़ीतकको पवित्र कर देता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ९६ ॥

एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥९७॥

बहुत-से पुत्रोंकी इच्छा करे। सम्भव है, उनमेंसे एक भी गयामें जाय या अश्वमेधयज्ञ करे अथवा नील वृषका उत्सर्ग ही करे ॥ ९७ ॥

ततः फल्गुं व्रजेद् राजंस्तीर्थसेवी नराधिप।
अश्वमेधमवाप्नोति सिद्धिं च महतीं व्रजेत् ॥९८॥

राजन् ! नरेश्वर ! तदनन्तर तीर्थसेवी मानव फल्गुतीर्थमें जाय। वहाँ जानेसे उसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है और बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ९८ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र धर्मप्रस्थं समाहितः।
तत्र धर्मो महाराज नित्यमास्ते युधिष्ठिर ॥९९॥

महाराज ! तदनन्तर एकाग्रचित्त हो मनुष्य धर्मप्रस्थकी यात्रा करे। युधिष्ठिर ! वहाँ धर्मराजका नित्य निवास है ॥ ९९ ॥

तत्र कूपोदकं कृत्वा तेन स्नातः शुचिस्तथा।
पितॄन् देवांस्तु संतर्प्य मुक्तपापो दिवं व्रजेत् ॥१००॥

वहाँ कुएँका जल लेकर उससे स्नान करके पवित्र हो देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्यके सारे पाप छूट जाते हैं और वह स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १०० ॥

मतङ्गस्याश्रमस्तत्र महर्षेर्भावितात्मनः।
तं प्रविश्याश्रमं श्रीमच्छ्रमशोकविनाशनम् ॥१०१॥
गवामयनयज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः।
धर्मं तत्राभिसंस्पृश्य वाजिमेधमवाप्नुयात् ॥१०२॥

वहीं भावितात्मा महर्षि मतङ्गका आश्रम है। श्रम और शोकका विनाश करनेवाले उस सुन्दर आश्रममें प्रवेश करनेसे मनुष्य गवायनयज्ञका फल पाता है। वहाँ धर्मके निकट जा उनके श्रीविग्रहका दर्शन और स्पर्श करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १०१-१०२ ॥

* तिलकी गौकी आकृति बनाकर उसका दान करे।

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मस्थानमनुत्तमम्।
तत्राभिगम्य राजेन्द्र ब्रह्माणं पुरुषर्षभ ॥१०३॥
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दति मानवः।

राजेन्द्र ! तदनन्तर परम उत्तम ब्रह्मस्थानको जाय। महाराज ! पुरुषोत्तम ! वहाँ ब्रह्माजीके समीप जाकर मनुष्य राजसूय और अश्वमेधयज्ञोंका फल पाता है ॥ १०३½ ॥

ततो राजगृहं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ॥१०४॥
उपस्पृश्य ततस्तत्र कक्षीवानिव मोदते।
यक्षिण्या नैत्यकं तत्र प्राश्नीत पुरुषः शुचिः ॥१०५॥
यक्षिण्यास्तु प्रसादेन मुच्यते ब्रह्महत्यया।

नरेश्वर ! तदनन्तर तीर्थसेवी मनुष्य राजगृहको जाय। वहाँ स्नान करके वह कक्षीवान्‌के समान प्रसन्न होता है। उस तीर्थमें पवित्र होकर पुरुष यक्षिणीदेवीका नैवेद्य भक्षण करे। यक्षिणीके प्रसादसे वह ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है ॥ १०४-१०५½ ॥

मणिनागं ततो गत्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥१०६॥

तदनन्तर मणिनागतीर्थमें जाकर तीर्थयात्री सहस्र गोदानका फल प्राप्त करे ॥ १०६ ॥

तैर्थिकं भुञ्जते यस्तु मणिनागस्य भारत।
दष्टस्याशीविषेणापि न तस्य क्रमते विषम् ॥१०७॥
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत्।

भरतनन्दन ! जो मणिनागका तीर्थप्रसाद (नैवेद्य, चरणामृत आदि) का भक्षण करता है, उसे साँप काट ले तो भी उसपर विषका असर नहीं होता। वहाँ एक रात रहनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ १०७½ ॥

ततो गच्छेत ब्रह्मर्षेर्गौतमस्य वनं प्रियम् ॥१०८॥
अहल्याया ह्रदे स्नात्वा व्रजेत परमां गतिम्।
अभिगम्याश्रमं राजन् विन्दते श्रियमात्मनः ॥१०९॥

तत्पश्चात् ब्रह्मर्षि गौतमके प्रिय वनकी यात्रा करे। वहाँ अहल्याकुण्डमें स्नान करनेसे मनुष्य परमगतिको प्राप्त होता है। राजन् ! गौतमके आश्रममें जाकर मनुष्य अपने लिये लक्ष्मी प्राप्त कर लेता है ॥ १०८-१०९ ॥

तत्रोदपानं धर्मज्ञ त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
तत्राभिषेकं कृत्वा तु वाजिमेधमवाप्नुयात् ॥११०॥

धर्मज्ञ ! वहाँ एक त्रिभुवनविख्यात कूप है, जिसमें स्नान करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ११० ॥

जनकस्य तु राजर्षेः कूपस्त्रिदशपूजितः।
तत्राभिषेकं कृत्वा तु विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥१११॥

राजर्षि जनकका एक कूप है, जिसका देवता भी सम्मान करते हैं। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य विष्णुलोकमें जाता है ॥ १११ ॥

ततो विनशनं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनम्।
वाजपेयमवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति ॥११२॥

तत्पश्चात् सब पापोंसे छुड़ानेवाले विनशन तीर्थको जाय, जिससे मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता और सोमलोकको जाता है ॥ ११२ ॥

गण्डकीं तु समासाद्य सर्वतीर्थजलोद्भवाम्।
वाजपेयमवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति ॥११३॥

गण्डकी नदी सब तीर्थोंके जलसे उत्पन्न हुई है। वहाँ जाकर तीर्थयात्री अश्वमेधयज्ञका फल पाता और सूर्यलोकमें जाता है ॥ ११३ ॥

ततो विशल्यामासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम्।
अग्निष्टोममवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥११४॥

तत्पश्चात् त्रिलोकीमें विख्यात विशल्या नदीके तटपर जाकर स्नान करे। इससे वह अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ११४ ॥

ततोऽधिवङ्गं धर्मज्ञ समाविश्य तपोवनम्।
गुह्यकेषु महाराज मोदते नात्र संशयः ॥११५॥

धर्मज्ञ महाराज ! तदनन्तर वङ्गदेशीय तपोवनमें प्रवेश करके तीर्थयात्री इस शरीरके अन्तमें गुह्यकलोकमें जाकर निःसंदेह आनन्दका भागी होता है ॥ ११५ ॥

कम्पनां तु समासाद्य नदीं सिद्धनिषेविताम्।
पुण्डरीकमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥११६॥

तत्पश्चात् सिद्धसेवित कम्पना नदीमें पहुँचकर मनुष्य पुण्डरीकयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ११६ ॥

अथ माहेश्वरीं धारां समासाद्य धराधिप।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥११७॥

राजन् ! तत्पश्चात् माहेश्वरी धाराकी यात्रा करनेसे तीर्थयात्रीको अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है और वह अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ११७ ॥

दिवौकसां पुष्करिणीं समासाद्य नराधिप।
न दुर्गतिमवाप्नोति वाजिमेधं च विन्दति ॥११८॥

नरेश्वर ! फिर देवपुष्करिणीमें जाकर मानव कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता और अश्वमेधयज्ञका फल पाता है ॥

अथ सोमपदं गच्छेद् ब्रह्मचारी समाहितः।
माहेश्वरपदे स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ॥११९॥

तदनन्तर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो सोमपद तीर्थमें जाय। वहाँ माहेश्वरपदमें स्नान करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ॥ ११९ ॥

तत्र कोटिस्तु तीर्थानां विश्रुता भरतर्षभ।
कूर्मरूपेण राजेन्द्र ह्यसुरेण दुरात्मना ॥१२०॥
ह्रियमाणा हृता राजन् विष्णुना प्रभविष्णुना।
तत्राभिषेकं कुर्वीत तीर्थकोट्यां युधिष्ठिर ॥१२१॥
पुण्डरीकमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति।

भरतकुलतिलक ! वहाँ तीर्थोंकी विख्यात श्रेणीको एक

दुरात्मा असुर कूर्मरूप धारण करके हरकर लिये जाता था। राजन्! यह देख सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने उस तीर्थश्रेणीका उद्धार किया। युधिष्ठिर! वहाँ उस तीर्थकोटिमें स्नान करना चाहिये। ऐसा करनेवाले यात्रीको पुण्डरीक यज्ञका फल मिलता है और वह विष्णुलोकको जाता है॥ १२०-१२१½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र स्थानं नारायणस्य च ॥१२२॥
सदा संनिहितो यत्र विष्णुर्वसति भारत।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥१२३॥
आदित्या वसवो रुद्रा जनार्दनमुपासते।
शालग्राम इति ख्यातो विष्णुरद्भुतकर्मकः ॥१२४॥

राजेन्द्र! तदनन्तर नारायण स्थानको जाय। भरतनन्दन! वहाँ भगवान् विष्णु सदा निवास करते हैं। ब्रह्मा आदि देवता, तपोधन ऋषि, आदित्य, वसु तथा रुद्र भी वहाँ रहकर जनार्दनकी उपासना करते हैं। उस तीर्थमें अद्भुतकर्मा भगवान् विष्णु शालग्रामके नामसे प्रसिद्ध हैं॥

अभिगम्य त्रिलोकेशं वरदं विष्णुमव्ययम्।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ॥१२५॥

तीनों लोकोंके स्वामी उन वरदायक अविनाशी भगवान् विष्णुके समीप जाकर मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता और विष्णुलोकमें जाता है॥ १२५ ॥

तत्रोदपानं धर्मज्ञ सर्वपापप्रमोचनम्।
समुद्रास्तत्र चत्वारः कूपे संनिहिताः सदा ॥१२६॥

धर्मज्ञ! वहाँ एक कूप है, जो सब पापोंको दूर करनेवाला है। उसमें सदा चारों समुद्र निवास करते हैं॥ १२६ ॥

तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र न दुर्गतिमवाप्नुयात्।
अभिगम्य महादेवं वरदं रुद्रमव्ययम् ॥१२७॥
विराजति यथा सोमो मेघैर्मुक्तो नराधिप।
जातिस्मरमुपस्पृश्य शुचिः प्रयतमानसः ॥१२८॥

राजेन्द्र! उसमें निवास करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता। सबको वर देनेवाले अविनाशी महादेव रुद्रके समीप जाकर मनुष्य मेघोंके आवरणसे मुक्त हुए चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित होता है। नरेश्वर! वहीं जातिस्मर तीर्थ है; जिसमें स्नान करके मनुष्य पवित्र एवं शुद्धचित्त हो जाता है। अर्थात् उसके शरीर और मनकी शुद्धि हो जाती है॥१२७-१२८॥

जातिस्मरत्वमाप्नोति स्नात्वा तत्र न संशयः।
माहेश्वरपुरं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम् ॥१२९॥
ईप्सिताँल्लभते कामानुपवासान्न संशयः।
ततस्तु वामनं गत्वा सर्वपापप्रमोचनम् ॥१३०॥
अभिगम्य हरिं देवं न दुर्गतिमवाप्नुयात्।
कुशिकस्याश्रमं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनम् ॥१३१॥

उस तीर्थमें स्नान करनेसे पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है, इसमें संशय नहीं है। माहेश्वरपुरमें जाकर भगवान् शङ्करकी पूजा और उपवास करनेसे मनुष्य सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। तत्पश्चात् सब पापोंको दूर करनेवाले वामनतीर्थकी यात्रा करके भगवान् श्रीहरिके निकट जाय। उनका दर्शन करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता। इसके बाद सब पापोंसे छुड़ानेवाले कुशिकाश्रमकी यात्रा करे॥ १२९-१३१ ॥

कौशिकीं तत्र गच्छेत महापापप्रणाशिनीम्।
राजसूयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥१३२॥

वहीं बड़े-बड़े पापोंका नाश करनेवाली कौशिकी (कोशी) नदी है। उसके तटपर जाकर स्नान करे। ऐसा करनेवाला मानव राजसूययज्ञका फल पाता है॥ १३२ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र चम्पकारण्यमुत्तमम्।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥१३३॥

राजेन्द्र! तदनन्तर उत्तम चम्पकारण्य (चम्पारन) की यात्रा करे। वहाँ एक रात निवास करनेसे तीर्थयात्रीको सहस्र गोदानका फल मिलता है॥ १३३ ॥

अथ ज्येष्ठिलमासाद्य तीर्थं परमदुर्लभम्।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥१३४॥

तत्पश्चात् परम दुर्लभ ज्येष्ठिल तीर्थमें जाकर एक रात निवास करनेसे मानव सहस्र गोदानका फल पाता है॥१३४॥

तत्र विश्वेश्वरं दृष्ट्वा देव्या सह महाद्युतिम्।
मित्रावरुणयोर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ ॥१३५॥
त्रिरात्रोपोषितस्तत्र अग्निष्टोमफलं लभेत्।

पुरुषरत्न! वहाँ पार्वतीदेवीके साथ महातेजस्वी भगवान् विश्वेश्वरका दर्शन करनेसे तीर्थयात्रीको मित्र और वरुणदेवताके लोकोंकी प्राप्ति होती है वहाँ तीन रात उपवास करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है॥ १३५½ ॥

कन्यासंवेद्यमासाद्य नियतो नियताशनः ॥१३६॥
मनोः प्रजापतेर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ।
कन्यायां ये प्रयच्छन्ति दानमण्वपि भारत ॥१३७॥
तदक्षय्यमिति प्राहुर्ऋषयः संशितव्रताः।

पुरुषश्रेष्ठ! इसके बाद नियमपूर्वक नियमित भोजन करते हुए तीर्थयात्रीको कन्यासंवेद्य नामक तीर्थमें जाना चाहिये। इससे वह प्रजापति मनुके लोक प्राप्त कर लेता है। भरतनन्दन! जो लोग कन्यासंवेद्य तीर्थमें थोड़ा-सा भी दान देते हैं, उनके उस दानको उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षि अक्षय बताते हैं॥ १३६-१३७½ ॥

निश्चीरां च समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ॥ १३८॥
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ।
ये तु दानं प्रयच्छन्ति निश्चीरासंगमे नराः ॥ १३९॥
ते यान्ति नरशार्दूल शक्रलोकमनामयम् ।
तत्राश्रमो वसिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ १४०॥

तदनन्तर त्रिलोकविख्यात निश्चीरा नदीकी यात्रा करे। इससे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है और तीर्थयात्री पुरुष भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। नरश्रेष्ठ! जो मानव निश्चीरासंगममें दान देते हैं, वे रोग-शोकसे रहित इन्द्रलोकमें जाते हैं। वहीं तीनों लोकोंमें विख्यात वसिष्ठ-आश्रम है ॥

तत्राभिषेकं कुर्वाणो वाजपेयमवाप्नुयात् ।
देवकूटं समासाद्य ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥ १४१॥
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।

वहाँ स्नान करनेवाला मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता है। तदनन्तर ब्रह्मर्षियोंसे सेवित देवकूट तीर्थमें जाकर स्नान करे। ऐसा करनेवाला पुरुष अश्वमेधयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ १४१½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र कौशिकस्य मुनेर्ह्रदम् ॥ १४२॥
यत्र सिद्धिं परां प्राप्तो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः ।
तत्र मासं वसेद् वीर कौशिक्यां भरतर्षभ ॥ १४३॥

राजेन्द्र! तत्पश्चात् कौशिक मुनिके कुण्डमें स्नानके लिये जाय जहाँ कुशिकनन्दन विश्वामित्रने उत्तम सिद्धि प्राप्त की थी। वीर! भरतकुलभूषण! उस तीर्थमें कौशिकी नदीके तटपर एक मासतक निवास करे ॥ १४२-१४३ ॥

अश्वमेधस्य यत् पुण्यं तन्मासेनाधिगच्छति ।
सर्वतीर्थवरे चैव यो वसेत महाह्रदे ॥ १४४॥
न दुर्गतिमवाप्नोति विन्देद् बहु सुवर्णकम् ।

ऐसा करनेसे एक मासमें ही अश्वमेधयज्ञका पुण्यफल प्राप्त हो जाता है। जो सब तीर्थोंमें उत्तम महाह्रदमें स्नान करता है, वह कभी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता और प्रचुर सुवर्णराशि प्राप्त कर लेता है ॥ १४४½ ॥

कुमारमभिगम्याथ वीराश्रमनिवासिनम् ॥ १४५॥
अश्वमेधमवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः ।

तदनन्तर वीराश्रमनिवासी कुमार कार्तिकेयके निकट जाकर मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १४५½ ॥

अग्निधारां समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ॥ १४६॥
तत्राभिषेकं कुर्वाणो ह्यग्निष्टोममवाप्नुयात् ।

अग्निधारातीर्थ तीनों लोकोंमें विख्यात है। वहाँ जाकर स्नान करनेवाला पुरुष अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है ॥ १४६½ ॥

अधिगम्य महादेवं वरदं विष्णुमव्ययम् ॥ १४७॥

वहाँ वर देनेवाले महान् देवता अविनाशी भगवान् विष्णुके निकट जाकर उनका दर्शन और पूजन करे ॥ १४७ ॥

पितामहसरो गत्वा शैलराजसमीपतः ।
तत्राभिषेकं कुर्वाणो ह्यग्निष्टोममवाप्नुयात् ॥ १४८॥

गिरिराज हिमालयके निकट पितामहसरोवरमें जाकर स्नान करनेवाले पुरुषको अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है ॥

पितामहस्य सरसः प्रस्रुता लोकपावनी ।
कुमारधारा तत्रैव त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ १४९॥

पितामहसरोवरसे सम्पूर्ण जगत्को पवित्र करनेवाली एक धारा प्रवाहित होती है, जो तीनों लोकोंमें कुमारधाराके नामसे विख्यात है ॥ १४९ ॥

यत्र स्नात्वा कृतार्थोऽस्मीत्यात्मानमवगच्छति ।
षष्ठकालोपवासेन मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥ १५०॥

उसमें स्नान करके मनुष्य अपने आपको कृतार्थ मानने लगता है। वहाँ रहकर छठे समय उपवास करनेसे मनुष्य ब्रह्महत्यासे छुटकारा पा जाता है ॥ १५० ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थसेवनतत्परः ।
शिखरं वै महादेव्या गौर्यास्त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥ १५१॥

धर्मज्ञ! तदनन्तर तीर्थसेवनमें तत्पर मानव महादेवी गौरीके शिखरपर जाय, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥ १५१ ॥

समारुह्य नरश्रेष्ठ स्तनकुण्डेषु संविशेत् ।
स्तनकुण्डमुपस्पृश्य वाजपेयफलं लभेत् ॥ १५२॥

नरश्रेष्ठ! उस शिखरपर चढ़कर मानव स्तनकुण्डमें स्नान करे। स्तनकुण्डमें अवगाहन करनेसे वाजपेययज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १५२ ॥

तत्राभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः ।
हयमेधमवाप्नोति शक्रलोकं च गच्छति ॥ १५३॥

उस तीर्थमें स्नान करके देवताओं और पितरोंकी पूजा करनेवाला पुरुष अश्वमेधयज्ञका फल पाता और इन्द्रलोकमें पूजित होता है ॥ १५३ ॥

ताम्रारुणं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ १५४॥

तदनन्तर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो ताम्रारुण-तीर्थकी यात्रा करनेसे मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ १५४ ॥

नन्दिन्यां च समासाद्य कूपं देवनिषेवितम् ।
नरमेधस्य यत् पुण्यं तदाप्नोति नराधिप ॥ १५५॥

नन्दिनीतीर्थमें देवताओंद्वारा सेवित एक कूप है। नरेश्वर! वहाँ जाकर स्नान करनेसे मानव नरमेधयज्ञका पुण्यफल प्राप्त करता है ॥ १५५ ॥

कालिकासंगमे स्नात्वा कौशिक्यरुणयोर्गतः।
त्रिरात्रोपोषितो राजन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१५६॥

राजन्! कौशिकी-अरुणा-संगम और कालिका-संगममें स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १५६ ॥

उर्वशीतीर्थमासाद्य ततः सोमाश्रमं बुधः।
कुम्भकर्णाश्रमं गत्वा पूज्यते भुवि मानवः ॥१५७॥

तदनन्तर उर्वशीतीर्थ, सोमाश्रम और कुम्भकर्णाश्रमकी यात्रा करके मनुष्य इस भूतलपर पूजित होता हैं ॥ १५७ ॥

कोकामुखमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी यतव्रतः।
जातिस्मरत्वमाप्नोति दृष्टमेतत् पुरातनैः ॥१५८॥

कोकामुखतीर्थमें स्नान करके ब्रह्मचर्य एवं संयम-नियमका पालन करनेवाला पुरुष पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेता है। यह बात प्राचीन पुरुषोंने प्रत्यक्ष देखी है ॥ १५८ ॥

प्राङ्नदीं च समासाद्य कृतात्मा भवति द्विजः।
सर्वपापविशुद्धात्मा शक्रलोकं च गच्छति ॥१५९॥

प्राङ्नदी तीर्थमें जानेसे द्विज कृतार्थ हो जाता है। वह सब पापोंसे शुद्धचित्त होकर इन्द्रलोकमें जाता है ॥ १५९ ॥

ऋषभद्वीपमासाद्य मेध्यं क्रौञ्चनिषूदनम्।
सरस्वत्यामुपस्पृश्य विमानस्थो विराजते ॥१६०॥

तीर्थसेवी मनुष्य पवित्र ऋषभद्वीप और क्रौञ्चनिषूदन-तीर्थमें जाकर सरस्वतीमें स्नान करनेसे विमानपर विराजमान होता है ॥ १६० ॥

औद्दालकं महाराज तीर्थं मुनिनिषेवितम्।
तत्राभिषेकं कृत्वा वै सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१६१॥

महाराज! मुनियोंसे सेवित औद्दालकतीर्थमें स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १६१ ॥

धर्मतीर्थं समासाद्य पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम्।
वाजपेयमवाप्नोति विमानस्थश्च पूज्यते ॥१६२॥

परम पवित्र ब्रह्मर्षिसेवित धर्मतीर्थमें जाकर स्नान करनेवाला मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता और विमानपर बैठकर पूजित होता है ॥ १६२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥८४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें पुलस्त्यकी तीर्थयात्रासे सम्बन्ध रखनेवाला चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

गङ्गासागर, अयोध्या, चित्रकूट, प्रयाग आदि विभिन्न तीर्थोंकी महिमाका वर्णन और गङ्गाका माहात्म्य

पुलस्त्य उवाच

अथ संध्यां समासाद्य संवेद्यं तीर्थमुत्तमम्।
उपस्पृश्य नरो विद्यां लभते नात्र संशयः ॥ १ ॥

पुलस्त्यजी कहते हैं—भीष्म! तदनन्तर प्रातःसंध्याके समय उत्तम संवेद्यतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य विद्यालाभ करता है; इसमें संशय नहीं है ॥ १ ॥

रामस्य च प्रभावेण तीर्थं राजन् कृतं पुरा।
तल्लौहित्यं समासाद्य विन्द्याद् बहु सुवर्णकम् ॥ २ ॥

राजन्! पूर्वकालमें श्रीरामके प्रभावसे जो तीर्थ प्रकट हुआ, उसका नाम लौहित्यतीर्थ है। उसमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्यको बहुत-सी सुवर्णराशि प्राप्त होती है ॥ २ ॥

करतोयां समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः।
अश्वमेधमवाप्नोति प्रजापतिकृतो विधिः ॥ ३ ॥

करतोयामें जाकर स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता है। यह ब्रह्माजीद्वारा की हुई व्यवस्था है ॥ ३ ॥

गङ्गायास्तत्र राजेन्द्र सागरस्य च संगमे।
अश्वमेधं दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ४ ॥

राजेन्द्र! वहाँ गङ्गासागरसंगममें स्नान करनेसे दस अश्वमेध यज्ञोंके फलकी प्राप्ति होती है, ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥ ४ ॥

गङ्गायास्त्वपरं पारं प्राप्य यः स्नाति मानवः।
त्रिरात्रमुषितो राजन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

राजन्! जो मानव गङ्गासागरसंगममें गङ्गाके दूसरे पार पहुँचकर स्नान करता है और तीन रात वहाँ निवास करता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ५ ॥

ततो वैतरणीं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनीम्।
विरजं तीर्थमासाद्य विराजति यथा शशी ॥ ६ ॥

तदनन्तर सब पापोंसे छुड़ानेवाली वैतरणीकी यात्रा करे। वहाँ विरजतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है ॥ ६ ॥

प्रतरेच्च कुलं पुण्यं सर्वपापं व्यपोहति।
गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति स्वकुलं नरः ॥ ७ ॥

उसका पुण्यमय कुल संसारसागरसे तर जाता है। वह अपने सब पापोंका नाश कर देता है और सहस्र गोदानका फल प्राप्त करके अपने कुलको पवित्र कर देता है ॥ ७ ॥

शोणस्य ज्योतिरथ्यायाः संगमे नियतः शुचिः।
तर्पयित्वा पितॄन् देवानग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ८ ॥

शोण और ज्योतिरथ्याके संगममें स्नान करके जितेन्द्रिय एवं पवित्र पुरुष यदि देवताओं और पितरोंका तर्पण करे तो वह अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ॥ ८ ॥

शोणस्य नर्मदायाश्च प्रभवे कुरुनन्दन।
वंशगुल्म उपस्पृश्य वाजिमेधफलं लभेत् ॥ ९ ॥

कुरुनन्दन ! शोण और नर्मदाके उत्पत्तिस्थान वंशगुल्मतीर्थमें स्नान करके तीर्थयात्री अश्वमेधयज्ञका फल पाता है ॥ ९ ॥

ऋषभं तीर्थमासाद्य कोसलायां नराधिप।
वाजपेयमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ १० ॥
गोसहस्रफलं विन्द्यात् कुलं चैव समुद्धरेत्।

नरेश्वर ! कोसला (अयोध्या) में ऋषभतीर्थमें जाकर स्नानपूर्वक तीन रात उपवास करनेवाला मानव वाजपेय यज्ञका फल पाता है इतना ही नहीं, वह सहस्र गोदानका फल पाता और अपने कुलका भी उद्धार कर देता है ॥ १०½ ॥

कोसलां तु समासाद्य कालतीर्थमुपस्पृशेत् ॥ ११ ॥
वृषभैकादशफलं लभते नात्र संशयः।
पुष्पवत्यामुपस्पृश्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ १२ ॥
गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति स्वकुलं नृप।

कोसला नगरी (अयोध्या) में जाकर कालतीर्थमें स्नान करे ऐसा करनेसे ग्यारह वृषभ-दानका फल मिलता है, इसमें संशय नहीं है। पुष्पवतीमें स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता और अपने कुलको पवित्र कर देता है ॥ ११-१२½ ॥

ततो बदरिकातीर्थे स्नात्वा भरतसत्तम ॥ १३ ॥
दीर्घमायुरवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति।

भरतकुलभूषण ! तदनन्तर बदरिकातीर्थमें स्नान करके मनुष्य दीर्घायु पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १३½ ॥

अथ चम्पां समासाद्य भागीरथ्यां कृतोदकः ॥ १४ ॥
दण्डाख्यमभिगम्यैव गोसहस्रफलं लभेत्।

तत्पश्चात् चम्पामें जाकर भागीरथीमें तर्पण करे और दण्ड-नामक तीर्थमें जाकर सहस्र गोदानका फल प्राप्त करे ॥ १४½ ॥

लपेटिकां ततो गच्छेत् पुण्यां पुण्योपशोभिताम् ॥ १५ ॥
वाजपेयमवाप्नोति देवैः सर्वैश्च पूज्यते।

तदनन्तर पुण्यशोभिता पुण्यमयी लपेटिकामें जाकर स्नान करे। ऐसा करनेसे तीर्थयात्री वाजपेययज्ञका फल पाता और सम्पूर्ण देवताओंद्वारा पूजित होता है ॥ १५½ ॥

ततो महेन्द्रमासाद्य जामदग्न्यनिषेवितम् ॥ १६ ॥
रामतीर्थे नरः स्नात्वा अश्वमेधफलं लभेत्।

इसके बाद परशुरामसेवित महेन्द्रपर्वतपर जाकर वहाँके रामतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ॥ १६½ ॥

मतङ्गस्य तु केदारस्तत्रैव कुरुनन्दन ॥ १७ ॥
तत्र स्नात्वा कुरुश्रेष्ठ गोसहस्रफलं लभेत्।

कुरुश्रेष्ठ कुरुनन्दन ! वहीं मतङ्गका केदार है, उसमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ १७½ ॥

श्रीपर्वतं समासाद्य नदीतीरमुपस्पृशेत् ॥ १८ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति पूजयित्वा वृषध्वजम्।

श्रीपर्वतपर जाकर वहाँकी नदीके तटपर स्नान करे। वहाँ भगवान् शङ्करकी पूजा करके मनुष्यको अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १८½ ॥

श्रीपर्वते महादेवो देव्या सह महाद्युतिः ॥ १९ ॥
न्यवसत् परमप्रीतो ब्रह्मा च त्रिदशैः सह।
तत्र देवह्रदे स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः ॥ २० ॥
अश्वमेधमवाप्नोति परां सिद्धिं च गच्छति।
ऋषभं पर्वतं गत्वा पाण्ड्ये देवतपूजितम्।
वाजपेयमवाप्नोति नाकपृष्ठे च मोदते ॥ २१ ॥

श्रीपर्वतपर देवी पार्वतीके साथ महातेजस्वी महादेवजी बड़ी प्रसन्नताके साथ निवास करते हैं। देवताओंके साथ ब्रह्माजी भी वहाँ रहते हैं। वहाँ देवकुण्डमें स्नान करके पवित्र हो जितात्मा पुरुष अश्वमेधयज्ञका फल पाता और परम सिद्धि लाभ करता है। पाण्ड्यदेशमें देवपूजित ऋषभ पर्वतपर जाकर तीर्थयात्री वाजपेययज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें आनन्दित होता है ॥ १९-२१ ॥

ततो गच्छेत कावेरीं वृतामप्सरसां गणैः।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् गोसहस्रफलं लभेत् ॥ २२ ॥

राजन् ! तदनन्तर अप्सराओंसे आवृत कावेरीनदीकी यात्रा करे। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ २२ ॥

ततस्तीरे समुद्रस्य कन्यातीर्थमुपस्पृशेत्।
तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २३ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् समुद्रके तटपर विद्यमान कन्यातीर्थ (कन्याकुमारी) में जाकर स्नान करे। उस तीर्थमें स्नान करते ही मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २३ ॥

अथ गोकर्णमासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
समुद्रमध्ये राजेन्द्र सर्वलोकनमस्कृतम् ॥२४॥
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः।
भूतयक्षपिशाचाश्च किंनराः समहोरगाः ॥२५॥
सिद्धचारणगन्धर्वमानुषाः पन्नगास्तथा।
सरितः सागराः शैला उपासन्त उमापतिम् ॥२६॥

महाराज ! इसके बाद समुद्रके मध्यमें विद्यमान त्रिभुवन-विख्यात अखिल लोकवन्दित गोकर्णतीर्थमें जाकर स्नान करे। जहाँ ब्रह्मा आदि देवता, तपोधन महर्षि, भूत, यक्ष, पिशाच, किन्नर, महानाग, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, मनुष्य, सर्प, नदी, समुद्र और पर्वत—ये सभी उमावल्लभ भगवान् शंकरकी उपासना करते हैं ॥ २४–२६ ॥

तत्रेशानं समभ्यर्च्य त्रिरात्रोपोषितो नरः।
अश्वमेधमवाप्नोति गाणपत्यं च विन्दति ॥२७॥

वहाँ भगवान् शिवकी पूजा करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और गणपति-पद प्राप्त कर लेता है ॥ २७ ॥

उष्य द्वादशरात्रं तु पूतात्मा च भवेन्नरः।
तत एव च गायत्र्याः स्थानं त्रैलोक्यपूजितम् ॥२८॥

वहाँ बारह रात निवास करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। वहीं गायत्रीका त्रिलोकपूजित स्थान है ॥ २८॥

त्रिरात्रमुषितस्तत्र गोसहस्रफलं लभेत्।
निदर्शनं च प्रत्यक्षं ब्राह्मणानां नराधिप ॥२९॥

वहाँ तीन रात निवास करनेवाला पुरुष सहस्र गोदान-का फल प्राप्त करता है। नरेश्वर ! ब्राह्मणोंकी पहचानके लिये वहाँ प्रत्यक्ष उदाहरण है ॥ २९ ॥

गायत्रीं पठते यस्तु योनिसंकरजस्तथा।
गाथा च गाथिका चापि तस्य सम्पद्यते नृप ॥३०॥

राजन् ! जो वर्णसंकर योनिमें उत्पन्न हुआ है, वह यदि गायत्रीमन्त्रका पाठ करता है, तो उसके मुखसे वह गाथा या गीतकी तरह स्वर और वर्णोंके नियमसे रहित होकर निकलती है अर्थात् वह गायत्रीका उच्चारण ठीक नहीं कर सकता ॥३०॥

अब्राह्मणस्य सावित्रीं पठतस्तु प्रणश्यति।

जो सर्वथा ब्राह्मण नहीं है, ऐसा मनुष्य यदि वहाँ गायत्रीमन्त्रका पाठ करे तो वहाँ वह मन्त्र लुप्त हो जाता है अर्थात् उसे भूल जाता है ॥ ३०½ ॥

संवर्तस्य तु विप्रर्षेर्वापीमासाद्य दुर्लभाम् ॥३१॥
रूपस्य भागी भवति सुभगश्च प्रजायते।

राजन् ! वहाँ ब्रह्मर्षि संवर्तकी दुर्लभ बावली है। उसमें स्नान करके मनुष्य सुन्दर रूपका भागी और सौभाग्यशाली होता है ॥ ३१½ ॥

ततो वेणां समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥३२॥
मयूरहंससंयुक्तं विमानं लभते नरः।

तदनन्तर वेणा नदीके तटपर जाकर तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य (मृत्युके पश्चात्) मोर और हंसोंसे जुता हुआ विमानको प्राप्त करता है ॥ ३२½ ॥

ततो गोदावरीं प्राप्य नित्यं सिद्धनिषेविताम् ॥३३॥
गवां मेधमवाप्नोति वासुकेर्लोकमुत्तमम्।
वेणायाः संगमे स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ॥३४॥

तत्पश्चात् सदा सिद्ध पुरुषोंसे सेवित गोदावरीके तटपर जाकर स्नान करनेसे तीर्थयात्री गोमेधयज्ञका फल पाता और वासुकिके लोकमें जाता है। वेणासंगममें स्नान करके मनुष्य अश्वमेधके फलका भागी होता है ॥ ३३-३४ ॥

वरदासंगमे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्।
ब्रह्मस्थानं समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ ३५ ॥
गोसहस्रफलं विन्द्यात् स्वर्गलोकं च गच्छति।

वरदासंगमतीर्थमें स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है। ब्रह्मस्थानमें जाकर तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है।

कुशप्लवनमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ३६ ॥
त्रिरात्रमुषितः स्नात्वा अश्वमेधफलं लभेत्।

कुशप्लवनतीर्थमें जाकर स्नान करके ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो तीन रात निवास करनेवाला पुरुष अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥ ३६½ ॥

ततो देवह्रदेऽरण्ये कृष्णवेणाजलोद्भवे ॥ ३७ ॥
जातिस्मरह्रदे स्नात्वा भवेज्जातिस्मरो नरः।

तदनन्तर कृष्णवेणाके जलसे उत्पन्न हुए रमणीय देवकुण्डमें, जिसे जातिस्मर ह्रद कहते हैं, स्नान करे। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य जातिस्मर (पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करनेकी शक्ति-वाला) होता है ॥ ३७½ ॥

यत्र क्रतुशतैरिष्ट्वा देवराजो दिवं गतः ॥ ३८ ॥
अग्निष्टोमफलं विन्द्याद् गमनादेव भारत।
सर्वदेवह्रदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ३९ ॥

वहीं सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके देवराज इन्द्र स्वर्गके सिंहासनपर आसीन हुए थे। भरतनन्दन ! वहाँ जानेमात्रसे यात्री अग्निष्टोमयज्ञका फल पा लेता है। तत्पश्चात् सर्वदेवह्रदमें स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ ३८-३९ ॥

ततो वापीं महापुण्यां पयोष्णीं सरितां वराम्।
पितृदेवार्चनरतो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ४० ॥

तदनन्तर परम पुण्यमयी वापी और सरिताओंमें श्रेष्ठ पयोष्णीमें जाकर स्नान करे और देवताओं तथा पितरोंके

पूजनमें तत्पर रहे, ऐसा करनेसे तीर्थसेवीको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ ४० ॥

दण्डकारण्यमासाद्य पुण्यं राजन्नुपस्पृशेत् ।
गोसहस्रफलं तस्य स्नातमात्रस्य भारत ॥ ४१ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! जो दण्डकारण्यमें जाकर स्नान करता है, उसे स्नान करनेमात्रसे सहस्र गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

शरभङ्गाश्रमं गत्वा शुकस्य च महात्मनः ।
न दुर्गतिमवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः ॥ ४२ ॥

शरभङ्ग मुनि तथा महात्मा शुकके आश्रमपर जानेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता और अपने कुलको पवित्र कर देता है ॥ ४२ ॥

ततः शूर्पारकं गच्छेज्जामदग्न्यनिषेवितम् ।
रामतीर्थे नरः स्नात्वा विन्द्याद् बहुसुवर्णकम् ॥ ४३ ॥

तदनन्तर परशुरामसेवित शूर्पारकतीर्थकी यात्रा करे। वहाँ रामतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है ॥ ४३ ॥

सप्तगोदावरे स्नात्वा नियतो नियताशनः ।
महत् पुण्यमवाप्नोति देवलोकं च गच्छति ॥ ४४ ॥

सप्तगोदावरतीर्थमें स्नान करके नियम-पालनपूर्वक नियमित भोजन करनेवाला पुरुष महान् पुण्यलाभ करता और देव-लोकमें जाता है ॥ ४४ ॥

ततो देवपथं गत्वा नियतो नियताशनः ।
देवसत्रस्य यत् पुण्यं तदेवाप्नोति मानवः ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् नियमपालनके साथ-साथ नियमित आहार ग्रहण करनेवाला मानव देवपथमें जाकर देवसत्रका जो पुण्य है, उसे पा लेता है ॥ ४५ ॥

तुङ्गकारण्यमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
वेदानध्यापयत् तत्र ऋषिः सारस्वतः पुरा ॥ ४६ ॥

तुङ्गकारण्यमें जाकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए इन्द्रियों-को अपने वशमें रखे। प्राचीन कालमें वहाँ सारस्वत ऋषिने अन्य ऋषियोंको वेदोंका अध्ययन कराया था ॥ ४६ ॥

तत्र वेदेषु नष्टेषु मुनेरङ्गिरसः सुतः ।
ऋषीणामुत्तरीयेषु सूपविष्टो यथासुखम् ॥ ४७ ॥

एक समय उन ऋषियोंको सारा वेद भूल गया। इस प्रकार वेदोंके नष्ट होने (भूल जाने) पर अङ्गिरा मुनिका पुत्र ऋषियोंके उत्तरीय वस्त्रों (चादरों) में छिपकर सुखपूर्वक बैठ गया (और विधिपूर्वक ॐकारका उच्चारण करने लगा)॥

ओङ्कारेण यथान्यायं सम्यगुच्चारितेन ह ।
येन यत् पूर्वमभ्यस्तं तत् सर्वं समुपस्थितम् ॥ ४८ ॥

नियमके अनुसार ॐकारका ठीक-ठीक उच्चारण होनेपर, जिसने पूर्वकालमें जिस वेदका अध्ययन एवं अभ्यास किया था, उसे वह सब स्मरण हो आया ॥ ४८ ॥

ऋषयस्तत्र देवाश्च वरुणोऽग्निः प्रजापतिः ।
हरिर्नारायणस्तत्र महादेवस्तथैव च ॥ ४९ ॥

उस समय वहाँ बहुतसे ऋषि, देवता, वरुण, अग्नि, प्रजापति, भगवान् नारायण और महादेवजी भी उपस्थित हुए॥

पितामहश्च भगवान् देवैः सह महाद्युतिः ।
भृगुं नियोजयामास याजनार्थे महाद्युतिम् ॥ ५० ॥

महातेजस्वी भगवान् ब्रह्माने देवताओंके साथ जाकर परम कान्तिमान् भृगुको यज्ञ करानेके कामपर नियुक्त किया॥

ततः स चक्रे भगवानृषीणां विधिवत् तदा ।
सर्वेषां पुनराधानं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ५१ ॥
आज्यभागेन तत्राग्निं तर्पयित्वा यथाविधि ।
देवाः स्वभवनं याता ऋषयश्च यथाक्रमम् ॥ ५२ ॥

तदनन्तर भगवान् भृगुने वहाँ सब ऋषियोंके यहाँ शास्त्रीय विधिके अनुसार पुनः भलीभाँति अग्निस्थापन कराया। उस समय आज्यभागके द्वारा विधिपूर्वक अग्निको तृप्त करके सब देवता और ऋषि क्रमशः अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ५१-५२ ॥

तदरण्यं प्रविष्टस्य तुङ्गकं राजसत्तम ।
पापं प्रणश्यत्यखिलं स्त्रियो वा पुरुषस्य वा ॥ ५३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! उस तुङ्गकारण्यमें प्रवेश करते ही स्त्री या पुरुष सबके पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ५३ ॥

तत्र मासं वसेद् धीरो नियतो नियताशनः ।
ब्रह्मलोकं व्रजेद् राजन् कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ५४ ॥

धीर पुरुषको चाहिये कि वह नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करते हुए एक मासतक वहाँ रहे। राजन् ! ऐसा करनेवाला तीर्थयात्री ब्रह्मलोकमें जाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ५४ ॥

मेधाविकं समासाद्य पितॄन् देवांश्च तर्पयेत् ।
अग्निष्टोममवाप्नोति स्मृतिं मेधां च विन्दति ॥ ५५ ॥

तत्पश्चात् मेधाविकतीर्थमें जाकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करे; ऐसा करनेवाला पुरुष अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता और स्मृति एवं बुद्धिको प्राप्त कर लेता है ॥ ५५ ॥

अत्र कालञ्जरं नाम पर्वतं लोकविश्रुतम् ।
तत्र देवह्रदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५६ ॥

इस तीर्थमें कालञ्जर नामक लोकविख्यात पर्वत है, वहाँ देवह्रद नामक तीर्थमें स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ ५६ ॥

योऽस्नातः साधयेत् तत्र गिरौ कालञ्जरे नृप ।
स्वर्गलोके महीयेत नरो नास्त्यत्र संशयः ॥ ५७ ॥

राजन् ! जो कालञ्जर पर्वतपर स्नान करके वहाँ साधन करता है, वह मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है; इसमें संशय नहीं है ॥ ५७ ॥

ततो गिरिवरश्रेष्ठे चित्रकूटे विशाम्पते ।
मन्दाकिनीं समासाद्य सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥ ५८ ॥
तत्राभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः ।
अश्वमेधमवाप्नोति गतिं च परमां व्रजेत् ॥ ५९ ॥

राजन् ! तदनन्तर पर्वतश्रेष्ठ चित्रकूटमें सब पापोंका नाश करनेवाली मन्दाकिनीके तटपर पहुँचकर उसमें स्नान करे और देवताओं तथा पितरोंकी पूजामें लग जाय । इससे वह अश्वमेधयज्ञका फल पाता और परम गतिको प्राप्त होता है ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ भर्तृस्थानमनुत्तमम् ।
यत्र नित्यं महासेनो गुहः संनिहितो नृप ॥ ६० ॥
तत्र गत्वा नृपश्रेष्ठ गमनादेव सिध्यति ।

धर्मज्ञनरेश ! तत्पश्चात् तीर्थयात्री परम उत्तम भर्तृस्थानकी यात्रा करे, जहाँ महासेन कार्तिकेयजी निवास करते हैं । नृपश्रेष्ठ ! वहाँ जानेमात्रसे सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ६०½ ॥

कोटितीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ६१ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य ज्येष्ठस्थानं व्रजेन्नरः ।
अभिगम्य महादेवं विराजति यथा शशी ॥ ६२ ॥

कोटि-तीर्थमें स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है । उसकी परिक्रमा करके तीर्थयात्री मानव ज्येष्ठस्थानको जाय । वहाँ महादेवजीका दर्शन-पूजन करनेसे वह चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है ॥ ६१-६२ ॥

तत्र कूपे महाराज विश्रुता भरतर्षभ ।
समुद्रास्तत्र चत्वारो निवसन्ति युधिष्ठिर ॥ ६३ ॥

भरतकुलभूषण महाराज युधिष्ठिर ! वहाँ एक कूप है, जिसमें चारों समुद्र निवास करते हैं ॥ ६३ ॥

तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र पितृदेवार्चने रतः ।
नियतात्मा नरः पूतो गच्छेत परमां गतिम् ॥ ६४ ॥

राजेन्द्र ! उसमें स्नान करके देवताओं और पितरोंके पूजनमें तत्पर रहनेवाला जितात्मा पुरुष पवित्र हो परमगतिको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र शृङ्गवेरपुरं महत् ।
यत्र तीर्णो महाराज रामो दाशरथिः पुरा ॥ ६५ ॥

राजेन्द्र ! वहाँसे महान् शृङ्गवेरपुरकी यात्रा करे । महाराज ! पूर्वकालमें दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीने वहीं गङ्गा पार की थी ॥ ६५ ॥

तस्मिंस्तीर्थे महाबाहो स्नात्वा पापैः प्रमुच्यते ।
गङ्गायां तु नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ६६ ॥
विधूतपाप्मा भवति वाजपेयं च विन्दति ।

महाबाहो ! उस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्र हो गङ्गाजीमें स्नान करके मनुष्य पापरहित होता तथा वाजपेययज्ञका फल पाता है ॥ ६६½ ॥

ततो मुञ्जवटं गच्छेत् स्थानं देवस्य धीमतः ॥ ६७ ॥
अभिगम्य महादेवमभिवाद्य च भारत ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥ ६८ ॥
तस्मिंस्तीर्थे तु जाह्नव्यां स्नात्वा पापैः प्रमुच्यते ।

तदनन्तर तीर्थयात्री परम बुद्धिमान् महादेवजीके मुञ्जवट नामक तीर्थको जाय । भरतनन्दन ! उस तीर्थमें महादेवजीके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके परिक्रमा करनेसे मनुष्य गणपतिपद प्राप्त कर लेता है । उक्त तीर्थमें जाकर गङ्गामें स्नान करनेसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है । ॥ ६७-६८½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रयागमृषिसंस्तुतम् ॥ ६९ ॥
तत्र ब्रह्मादयो देवा दिशश्च सदिगीश्वराः ।
लोकपालाश्च साध्याश्च पितरो लोकसम्मताः ॥ ७० ॥
सनत्कुमारप्रमुखास्तथैव परमर्षयः ।
अङ्गिरःप्रमुखाश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ७१ ॥
तथा नागाः सुपर्णाश्च सिद्धाश्चक्रचरास्तथा ।
सरितः सागराश्चैव गन्धर्वाप्सरसोऽपि च ॥ ७२ ॥
हरिश्च भगवानास्ते प्रजापतिपुरस्कृतः ।
तत्र त्रीण्यग्निकुण्डानि येषां मध्येन जाह्नवी ॥ ७३ ॥
वेगेन समतिक्रान्ता सर्वतीर्थपुरस्कृता ।
तपनस्य सुता देवी त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ ७४ ॥
यमुना गङ्गया सार्धं संगता लोकपावनी ।
गङ्गायमुनयोर्मध्यं पृथिव्या जघनं स्मृतम् ॥ ७५ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् महर्षियोंद्वारा प्रशंसित प्रयागतीर्थमें जाय । जहाँ ब्रह्मा आदि देवता, दिशा, दिक्पाल, लोकपाल, साध्य, लोकसम्मानित पितर, सनत्कुमार आदि महर्षि, अङ्गिरा आदि निर्मल ब्रह्मर्षि, नाग, सुपर्ण, सिद्ध, सूर्य, नदी, समुद्र, गन्धर्व, अप्सरा तथा ब्रह्माजीसहित भगवान् विष्णु निवास करते हैं । वहाँ तीन अग्निकुण्ड हैं, जिनके बीचसे सब तीर्थोंसे सम्पन्न गङ्गा वेगपूर्वक बहती है । त्रिभुवनविख्यात सूर्यपुत्री लोकपावनी यमुनादेवी वहाँ गङ्गाजीके साथ मिली हैं । गङ्गा और यमुनाका मध्यभाग पृथ्वीका जघन माना गया है ॥ ६९–७५ ॥

प्रयागं जघनस्थानमुपस्थमृषयो विदुः ।
प्रयागं सप्रतिष्ठानं कम्बलाश्वतरौ तथा ॥ ७६ ॥

तीर्थं भोगवती चैव वेदिरेषा प्रजापतेः ।
तत्र वेदाश्च यज्ञाश्च मूर्तिमन्तो युधिष्ठिर ॥ ७७ ॥
प्रजापतिमुपासन्ते ऋषयश्च तपोधनाः ।
यजन्ते क्रतुभिर्देवास्तथा चक्रधरा नृपाः ॥ ७८ ॥
ततः पुण्यतमं नाम त्रिषु लोकेषु भारत ।
प्रयागं सर्वतीर्थेभ्यः प्रवदन्त्यधिकं विभो ॥ ७९ ॥
गमनात् तस्य तीर्थस्य नामसंकीर्तनादपि ।
मृत्युकालभयाच्चापि नरः पापात् प्रमुच्यते ॥ ८० ॥

ऋषियोंने प्रयागको जघनस्थानीय उपस्थ बताया है। प्रतिष्ठानपुर (झूसी) सहित प्रयाग, कम्बल और अश्वतर नाग तथा भोगवतीतीर्थ यह ब्रह्माजीकी वेदी है। युधिष्ठिर! उस तीर्थमें वेद और यज्ञ मूर्तिमान् होकर रहते हैं और प्रजापतिकी उपासना करते हैं। तपोधन ऋषि, देवता तथा चक्रधर नृपतिगण वहाँ यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करते हैं। भरतनन्दन! इसीलिये तीनों लोकोंमें प्रयागको सब तीर्थोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ एवं पुण्यतम बताते हैं। उस तीर्थमें जानेसे अथवा उसका नाम लेनेमात्रसे भी मनुष्य मृत्युकालके भय और पापसे मुक्त हो जाता है॥ ७६—८०॥

तत्राभिषेकं यः कुर्यात् संगमे लोकविश्रुते ।
पुण्यं स फलमाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ॥ ८१ ॥

वहाँके विश्वविख्यात संगममें जो स्नान करता है, वह राजसूय और अश्वमेधयज्ञोंका पुण्यफल प्राप्त कर लेता है॥

एषा यजनभूमिर्हि देवानामभिसंस्कृता ।
तत्र दत्तं सूक्ष्ममपि महद् भवति भारत ॥ ८२ ॥

भरतनन्दन! यह देवताओंकी संस्कार की हुई यज्ञभूमि है। यहाँ दिया हुआ थोड़ा-सा भी दान महान् होता है॥

न वेदवचनात् तात न लोकवचनादपि ।
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति ॥ ८३ ॥

तात! तुम्हें किसी वैदिक वचनसे या लौकिक वचनसे भी प्रयागमें मरनेका विचार नहीं त्यागना चाहिये॥ ८३॥

दश तीर्थसहस्राणि षष्टिः कोट्यस्तथापराः ।
येषां सांनिध्यमत्रैव कीर्तितं कुरुनन्दन ॥ ८४ ॥
चतुर्विद्ये च यत् पुण्यं सत्यवादिषु चैव यत् ।
स्नात एव तदाप्नोति गङ्गायमुनसंगमे ॥ ८५ ॥

कुरुनन्दन! साठ करोड़ दस हजार तीर्थोंका निवास केवल इस प्रयागमें ही बताया गया है। चारों विद्याओंके ज्ञानसे जो पुण्य होता है तथा सत्य बोलनेवाले व्यक्तियोंको जिस पुण्यकी प्राप्ति होती है, वह सब गङ्गा-यमुनाके संगममें स्नान करनेमात्रसे प्राप्त हो जाता है॥ ८४-८५॥

तत्र भोगवती नाम वासुकेस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्राभिषेकं यः कुर्यात् सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥ ८६ ॥

प्रयागमें भोगवती नामसे प्रसिद्ध वासुकि नागका उत्तम तीर्थ है। जो वहाँ स्नान करता है, उसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है॥ ८६॥

तत्र हंसप्रपतनं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
दशाश्वमेधिकं चैव गङ्गायां कुरुनन्दन ॥ ८७ ॥

कुरुनन्दन! वहीं त्रिलोकविख्यात हंसप्रपतन नामक तीर्थ है और गङ्गाके तटपर दशाश्वमेधिक तीर्थ है॥ ८७॥

कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा यत्र तत्रावगाहिता ।
विशेषो वै कनखले प्रयागे परमं महत् ॥ ८८ ॥

गङ्गामें जहाँ कहीं भी स्नान किया जाय, वह कुरुक्षेत्रके समान पुण्यदायिनी है। कनखलमें गङ्गाका स्नान विशेष माहात्म्य रखता है और प्रयागमें गङ्गा-स्नानका माहात्म्य सबकी अपेक्षा बहुत अधिक है॥ ८८॥

यद्यकार्यशतं कृत्वा कृतं गङ्गाभिषेचनम् ।
सर्वं तत् तस्य गङ्गाम्भो दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥ ८९ ॥
सर्वं कृतयुगे पुण्यं त्रेतायां पुष्करं स्मृतम् ।
द्वापरेऽपि कुरुक्षेत्रं गङ्गा कलियुगे स्मृता ॥ ९० ॥
पुष्करे तु तपस्तप्येद् दानं दद्यान्महालये ।
मलये त्वग्निमारोहेद् भृगुतुङ्गे त्वनाशनम् ॥ ९१ ॥

जैसे अग्नि ईंधनको जला देती है, उसी प्रकार सैकड़ों निषिद्ध कर्म करके भी यदि गङ्गास्नान किया जाय तो उसका जल उन सब पापोंको भस्म कर देता है। सत्ययुगमें सभी तीर्थ पुण्यदायक होते हैं। त्रेतामें पुष्करका महत्त्व है। द्वापरमें कुरुक्षेत्र विशेष पुण्यदायक है और कलियुगमें गङ्गाकी अधिक महिमा बतायी गयी है। पुष्करमें तप करे, महालयमें दान दे, मलय पर्वतमें अग्निपर आरूढ हो और भृगुतुङ्गमें उपवास करे॥ ८९—९१॥

पुष्करे तु कुरुक्षेत्रे गङ्गायां मध्यमेषु च ।
स्नात्वा तारयते जन्तुः सप्तसप्तावरांस्तथा ॥ ९२ ॥

पुष्करमें, कुरुक्षेत्रमें, गङ्गामें तथा प्रयाग आदि मध्यवर्ती तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य अपने आगे-पीछेकी सात-सात पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है॥ ९२॥

पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति ।
अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम् ॥ ९३ ॥

गङ्गाजीका नाम लिया जाय तो वह सारे पापोंको धो-बहाकर पवित्र कर देती है। दर्शन करनेपर कल्याण प्रदान करती है तथा स्नान और जलपान करनेपर वह मनुष्यकी सात पीढ़ियोंको पावन बना देती है॥ ९३॥

यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गायाः स्पृशते जलम् ।
तावत् स पुरुषो राजन् स्वर्गलोके महीयते ॥ ९४ ॥

राजन् ! मनुष्यकी हड्डी जबतक गङ्गाजलका स्पर्श करती है, तबतक वह पुरुष स्वर्गलोकमें पूजित होता है ॥ ९४ ॥

यथा पुण्यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
उपास्य पुण्यं लब्ध्वा च भवत्यमरलोकभाक् ॥ ९५ ॥

जितने पुण्य-तीर्थ हैं और जितने पुण्य मन्दिर हैं, उन सबकी उपासना (सेवन) से पुण्यलाभ करके मनुष्य देवलोकका भागी होता है ॥ ९५ ॥

न गङ्गासदृशं तीर्थं न देवः केशवात् परः ।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति एवमाह पितामहः ॥९६॥

गङ्गाके समान कोई तीर्थ नहीं, भगवान् विष्णुसे बढ़कर कोई देवता नहीं और ब्राह्मणोंसे उत्तम कोई वर्ण नहीं है; ऐसा ब्रह्माजीका कथन है ॥ ९६ ॥

यत्र गङ्गा महाराज स देशस्तत् तपोवनम् ।
सिद्धिक्षेत्रं च तज्ज्ञेयं गङ्गातीरसमाश्रितम् ॥ ९७ ॥

महाराज ! जहाँ गङ्गा बहती हैं, वही उत्तम देश है और वही तपोवन है । गङ्गाके तटवर्ती स्थानको सिद्धिक्षेत्र समझना चाहिये ॥ ९७ ॥

इदं सत्यं द्विजातीनां साधूनामात्मजस्य च ।
सुहृदां च जपेत् कर्णे शिष्यस्यानुगतस्य च ॥ ९८ ॥

इस सत्य सिद्धान्तको ब्राह्मण आदि द्विजों, साधु पुरुषों, पुत्र, सुहृदों, शिष्यवर्ग तथा अपने अनुगत मनुष्योंके कानमें कहना चाहिये ॥ ९८ ॥

इदं धन्यमिदं मेध्यमिदं स्वर्ग्यमनुत्तमम् ।
इदं पुण्यमिदं रम्यं पावनं धर्म्यमुत्तमम् ॥ ९९ ॥

यह गङ्गा-माहात्म्य धन्य, पवित्र, स्वर्गप्रद और परम उत्तम है । यह पुण्यदायक, रमणीय, पावन, उत्तम, धर्मसंगत और श्रेष्ठ है ॥ ९९ ॥

महर्षीणामिदं गुह्यं सर्वपापप्रमोचनम् ।
अधीत्य द्विजमध्ये च निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ॥१००॥

यह महर्षियोंका गोपनीय रहस्य है । सब पापोंका नाश करनेवाला है । द्विजमण्डलीमें इस गङ्गा-माहात्म्यका पाठ करके मनुष्य निर्मल हो स्वर्गलोकमें पहुँच जाता है ॥ १०० ॥

श्रीमत् स्वर्ग्यं तथा पुण्यं सपत्नशमनं शिवम् ।
मेधाजननमग्र्यं वै तीर्थवंशानुकीर्तनम् ॥१०१॥

यह तीर्थसमूहोंकी महिमाका वर्णन परम उत्तम, सम्पत्तिदायक, स्वर्गप्रद, पुण्यकारक, शत्रुओंका निवारण करनेवाला, कल्याणकारक तथा मेधाशक्तिको उत्पन्न करनेवाला है ॥

अपुत्रो लभते पुत्रमधनो धनमाप्नुयात् ।
महीं विजयते राजा वैश्यो धनमवाप्नुयात् ॥१०२॥

इस तीर्थ-माहात्म्यका पाठ करनेसे पुत्रहीनको पुत्र प्राप्त होता है, धनहीनको धन मिलता है, राजा इस पृथ्वीपर विजय पाता है और वैश्यको व्यापारमें धन मिलता है ॥

शूद्रो यथेप्सितान् कामान् ब्राह्मणः पारगः पठन् ।
यश्चेदं शृणुयान्नित्यं तीर्थपुण्यं नरः शुचिः ॥१०३॥
जातीः स स्मरते बह्वीर्नाकपृष्ठे च मोदते ।
गम्यान्यपि च तीर्थानि कीर्तितान्यगमानि च ॥१०४॥

शूद्र मनोवाञ्छित वस्तुएँ पाता है और ब्राह्मण इसका पाठ करे तो वह समस्त शास्त्रोंका पारंगत विद्वान् होता है । जो मनुष्य तीर्थोंके इस पुण्य माहात्म्यको प्रतिदिन सुनता है, वह पवित्र हो पहलेके अनेक जन्मोंकी बातें याद कर लेता है और देहत्यागके पश्चात् स्वर्गलोकमें आनन्दका अनुभव करता है । भीष्म ! मैंने यहाँ गम्य और अगम्य सभी प्रकारके तीर्थोंका वर्णन किया है ॥ १०३-१०४ ॥

मनसा तानि गच्छेत सर्वतीर्थसमीक्षया ।
एतानि वसुभिः साध्यैरादित्यैर्मरुदश्विभिः ॥१०५॥
ऋषिभिर्देवकल्पैश्च स्नातानि सुकृतैषिभिः ।
एवं त्वमपि कौरव्य विधिनानेन सुव्रत ॥१०६॥
व्रज तीर्थानि नियतः पुण्यं पुण्येन वर्धयन् ।
भावितैः करणैः पूर्वमास्तिक्याच्छ्रुतिदर्शनात् ॥१०७॥
प्राप्यन्ते तानि तीर्थानि सद्भिः शास्त्रानुदर्शिभिः ।
नाव्रती नाकृतात्मा च नाशुचिर्न च तस्करः ॥१०८॥
स्नाति तीर्थेषु कौरव्य न च वक्रमतिर्नरः ।
त्वया तु सम्यग्वृत्तेन नित्यं धर्मार्थदर्शिना ॥१०९॥
पिता पितामहश्चैव सर्वे च प्रपितामहाः ।
पितामहपुरोगाश्च देवाः सर्षिगणा नृप ॥११०॥
तव धर्मेण धर्मज्ञ नित्यमेवाभितोषिताः ।
अवाप्स्यसि त्वं लोकान् वै वसूनां वासवोपम ।
कीर्तिं च महतीं भीष्म प्राप्स्यसे भुवि शाश्वतीम् ॥१११॥

सम्पूर्ण तीर्थोंके दर्शनकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये मनुष्य जहाँ जाना सम्भव न हो, उन अगम्य तीर्थोंमें मनसे यात्रा करे अर्थात् मनसे उन तीर्थोंका चिन्तन करे । वसुगण, साध्यगण, आदित्यगण, मरुद्गण, दोनों अश्विनीकुमार तथा देवोपम महर्षियोंने भी पुण्य-लाभकी इच्छासे उन तीर्थोंमें स्नान किया है । उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कुरुनन्दन ! इसी प्रकार तुम भी विधिपूर्वक शौच-संतोषादि नियमोंका पालन करते और पुण्यसे पुण्यको बढ़ाते हुए उन तीर्थोंकी यात्रा करो । आस्तिकता और वेदोंके अनुशीलनसे पहले अपने इन्द्रियोंको पवित्र करके शास्त्रज्ञ साधु पुरुष ही उन तीर्थोंको प्राप्त करते हैं । कुरुनन्दन ! जो ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका पालन नहीं करता, जिसने अपने चित्तको वशमें नहीं किया, जो अपवित्र आचार-विचारवाला और चोर है, जिसकी बुद्धि वक्र है, ऐसा मनुष्य श्रद्धा न होनेके कारण तीर्थोंमें स्नान नहीं

करता । तुम धर्म और अर्थके ज्ञाता तथा नित्य सदाचारमें तत्पर रहनेवाले हो । धर्मज्ञ ! तुमने पिता-पितामह-प्रपितामह, ब्रह्मा आदि देवता तथा महर्षिगण इन सबको सदा स्वधर्म-पालनसे संतुष्ट किया है, अतः इन्द्रके समान तेजस्वी नरेश ! तुम वसुओंके लोकमें जाओगे । भीष्म ! तुम्हें इस पृथ्वीपर विशाल एवं अक्षय कीर्ति प्राप्त होगी ॥ १०५–१११ ॥

नारद उवाच

एवमुक्त्वाभ्यनुज्ञाय पुलस्त्यो भगवानृषिः ।
प्रीतः प्रीतेन मनसा तत्रैवान्तरधीयत ॥११२॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर भीष्मजीकी अनुमति ले संतुष्ट हुए भगवान् पुलस्त्य मुनि प्रसन्न मनसे वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ११२ ॥

भीष्मश्च कुरुशार्दूल शास्त्रतत्त्वार्थदर्शिवान् ।
पुलस्त्यवचनाच्चैव पृथिवीं परिचक्रमे ॥११३॥

कुरुश्रेष्ठ ! शास्त्रके तात्त्विक अर्थको जाननेवाले भीष्मने महर्षि पुलस्त्यके वचनसे (तीर्थयात्राके लिये) सारी पृथ्वीकी परिक्रमा की ॥ ११३ ॥

एवमेषा महाभाग प्रतिष्ठाने प्रतिष्ठिता ।
तीर्थयात्रा महापुण्या सर्वपापप्रमोचनी ॥११४॥

महाभाग ! इस प्रकार यह सब पापोंको दूर करनेवाली महापुण्यमयी तीर्थयात्रा प्रतिष्ठानपुर (प्रयागमें) प्रतिष्ठित है ॥ ११४ ॥

अनेन विधिना यस्तु पृथिवीं संचरिष्यति ।
अश्वमेधशतस्याग्र्यं फलं प्रेत्य स भोक्ष्यति ॥११५॥

जो इस विधिसे (तीर्थयात्राके उद्देश्यसे) सारी पृथ्वी-की परिक्रमा करेगा, वह सौ अश्वमेधयज्ञोंसे भी उत्तम पुण्य-फल पाकर देहत्यागके पश्चात् उसका उपभोग करेगा ॥११५॥

ततश्चाष्टगुणं पार्थ प्राप्स्यसे धर्ममुत्तमम् ।
भीष्मः कुरूणां प्रवरो यथापूर्वमवाप्तवान् ॥११६॥

कुन्तीनन्दन ! कुरुप्रवर भीष्मने पहले जिस प्रकार तीर्थयात्राजनित पुण्य प्राप्त किया था, उससे भी आठगुने उत्तम धर्मकी उपलब्धि तुम्हें होगी ॥ ११६ ॥

नेता च त्वमृषीन् यस्मात् तेन तेऽष्टगुणं फलम् ।
रक्षोगणविकीर्णानि तीर्थान्येतानि भारत ।
न गतानि मनुष्येन्द्रैस्त्वामृते कुरुनन्दन ॥११७॥

तुम अपने साथ इन सब ऋषियोंको ले जाओगे, इसीलिये तुम्हें आठगुना पुण्यफल प्राप्त होगा । भरतकुल-भूषण कुरुनन्दन ! इन सभी तीर्थोंमें राक्षसोंके समुदाय फैले हुए हैं । तुम्हारे सिवा, दूसरे नरेशोंने वहाँकी यात्रा नहीं की है ॥ ११७ ॥

इदं देवर्षिचरितं सर्वतीर्थाभिसंवृतम् ।
यः पठेत् कल्यमुत्थाय सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥११८॥

जो मनुष्य सबेरे उठकर देवर्षि पुलस्त्यद्वारा वर्णित सम्पूर्ण तीर्थोंके माहात्म्यसे संयुक्त इस प्रसंगका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ११८ ॥

ऋषिमुख्याः सदा यत्र वाल्मीकिस्त्वथ कश्यपः ।
आत्रेयः कुण्डजठरो विश्वामित्रोऽथ गौतमः ॥११९॥
असितो देवलश्चैव मार्कण्डेयोऽथ गालवः ।
भरद्वाजो वसिष्ठश्च मुनिरुद्दालकस्तथा ॥१२०॥
शौनकः सह पुत्रेण व्यासश्च तपतां वरः ।
दुर्वासाश्च मुनिश्रेष्ठो जाबालिश्च महातपाः ॥१२१॥
एते ऋषिवराः सर्वे त्वत्प्रतीक्षास्तपोधनाः ।
एभिः सह महाराज तीर्थान्येतान्यनुव्रज ॥१२२॥

महाराज ! ऋषिप्रवर वाल्मीकि, कश्यप, आत्रेय, कुण्डजठर, विश्वामित्र, गौतम, असित, देवल, मार्कण्डेय, गालव, भरद्वाज, वसिष्ठ, उद्दालक मुनि, शौनक तथा पुत्रसहित तपोधनप्रवर व्यास, मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा और महातपस्वी जाबालि—ये सभी महर्षि, जो तपस्याके धनी हैं, तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं । इन सबके साथ उक्त तीर्थोंमें जाओ ॥ ११९–१२२॥

एष ते लोमशो नाम महर्षिरमितद्युतिः ।
समेष्यति महाराज तेन सार्धमनुव्रज ॥१२३॥

महाराज ! ये अमिततेजस्वी महर्षि लोमश तुम्हारे पास आनेवाले हैं, उन्हें साथ लेकर यात्रा करो ॥ १२३ ॥

मयापि सह धर्मज्ञ तीर्थान्येतान्यनुक्रमात् ।
प्राप्स्यसे महतीं कीर्तिं यथा राजा महाभिषः ॥१२४॥

धर्मज्ञ ! इस यात्रामें मैं भी तुम्हारा साथ दूँगा । प्राचीन राजा महाभिषके समान तुम भी क्रमशः इन तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए महान् यश प्राप्त करोगे ॥ १२४ ॥

यथा ययातिर्धर्मात्मा यथा राजा पुरूरवाः ।
तथा त्वं राजशार्दूल स्वेन धर्मेण शोभसे ॥१२५॥
यथा भगीरथो राजा यथा रामश्च विश्रुतः ।
तथा त्वं सर्वराजभ्यो भ्राजसे रश्मिवानिव ॥१२६॥

नृपश्रेष्ठ ! जैसे धर्मात्मा ययाति तथा राजा पुरूरवा थे वैसे ही तुम भी अपने धर्मसे सुशोभित हो रहे हो । जैसे राजा भगीरथ तथा विख्यात महाराज श्रीराम हो गये हैं, उसी प्रकार तुम भी सूर्यकी भाँति सब राजाओंसे अधिक शोभा पा रहे हो ॥ १२५-१२६ ॥

यथा मनुर्यथेक्ष्वाकुर्यथा पूरुर्महायशाः ।
यथा वैन्यो महाराज तथा त्वमपि विश्रुतः ॥१२७॥
यथा च वृत्रहा सर्वान् सपत्नान् निर्दहन् पुरा ।
त्रैलोक्यं पालयामास देवराड् विगतज्वरः ॥१२८॥

तथा शत्रुक्षयं कृत्वा त्वं प्रजाः पालयिष्यसि ।
स्वधर्मविजितामुर्वीं प्राप्य राजीवलोचन ॥१२९॥
ख्यातिं यास्यसि धर्मेण कार्तवीर्यार्जुनो यथा ॥१३०॥

महाराज ! जैसे मनु, जैसे इक्ष्वाकु, जैसे महायशस्वी पूरु और जैसे वेननन्दन पृथु हो गये हैं, वैसी ही तुम्हारी भी ख्याति है। पूर्वकालमें वृत्रासुरविनाशक देवराज इन्द्रने जैसे सब शत्रुओंका संहार करते हुए निश्चिन्त होकर तीनों लोकोंका पालन किया था, उसी प्रकार तुम भी शत्रुओंका नाश करके प्रजाका पालन करोगे। कमलनयन नरेश ! तुम अपने धर्मसे जीती हुई पृथ्वीपर अधिकार प्राप्त करके स्वधर्मपालनद्वारा कार्तवीर्य अर्जुनके समान विख्यात होओगे॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वास्य राजानं नारदो भगवानृषिः ।
अनुज्ञाप्य महाराज तत्रैवान्तरधीयत ॥१३१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! देवर्षि नारद इस प्रकार राजा युधिष्ठिरको आश्वासन देकर उनकी आज्ञा ले वहीं अन्तर्धान हो गये॥ १३१ ॥

युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा तमेवार्थं विचिन्तयन् ।
तीर्थयात्राश्रितं पुण्यमृषीणां प्रत्यवेदयत् ॥१३२॥

धर्मात्मा युधिष्ठिरने भी इसी विषयका चिन्तन करते हुए अपने पास रहनेवाले महर्षियोंसे तीर्थयात्रासम्बन्धी महान् पुण्यके विषयमें निवेदन किया॥ १३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां नारदवाक्ये पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें महर्षि पुलस्त्यकी तीर्थयात्राके सम्बन्धमें नारदवाक्यविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८५ ॥

षडशीतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धौम्य मुनिसे पुण्य तपोवन, आश्रम एवं नदी आदिके विषयमें पूछना

वैशम्पायन उवाच

भ्रातॄणां मतमाज्ञाय नारदस्य च धीमतः ।
पितामहसमं धौम्यं प्राह राजा युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपने भाइयों तथा परम बुद्धिमान् देवर्षि नारदकी सम्मति जानकर राजा युधिष्ठिरने पितामहके समान प्रभावशाली पुरोहित धौम्यजीसे कहा—॥१॥

मया स पुरुषव्याघ्रो जिष्णुः सत्यपराक्रमः ।
अस्त्रहेतोर्महाबाहुरमितात्मा विवासितः ॥ २ ॥

'ब्रह्मन् ! मैंने अस्त्रप्राप्तिके लिये विजयी सत्यपराक्रमी, महामना एवं प्रतापी पुरुषसिंह महाबाहु अर्जुनको निर्वासित कर रखा है॥

स हि वीरोऽनुरक्तश्च समर्थश्च तपोधनः ।
कृती च भृशमप्यस्त्रे वासुदेव इव प्रभुः ॥ ३ ॥

'वह वीर मुझमें अनुराग रखनेवाला, सामर्थ्यशाली, तपस्याका धनी, पुण्यात्मा और अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति प्रभावशाली है॥ ३ ॥

अहं ह्येतावुभौ ब्रह्मन् कृष्णावरिविघातिनौ ।
अभिजानामि विक्रान्तौ तथा व्यासः प्रतापवान् ॥ ४ ॥

'विप्रवर ! मैं इन दोनों कृष्णनामधारी वीरोंको शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ और महापराक्रमी समझता हूँ। महाप्रतापी वेदव्यासजीकी भी यही धारणा है॥ ४ ॥

त्रियुगौ पुण्डरीकाक्षौ वासुदेवधनंजयौ ।
नारदोऽपि तथा वेद योऽप्यशंसत् सदा मम ॥ ५ ॥

'कमलके समान नेत्रोंवाले भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन तीन युगोंसे सदा साथ रहते आये हैं। नारदजी भी इन दोनोंको इसी रूपमें जानते हैं और सदा मुझसे इस बातकी चर्चा करते रहते हैं॥ ५ ॥

तथाहमपि जानामि नरनारायणावृषी ।
शक्तोऽयमित्यतो मत्वा मया स प्रेषितोऽर्जुनः ॥ ६ ॥
इन्द्रादनवरः शक्रं सुरसूनुः सुराधिपम् ।
द्रष्टुमस्त्राणि चादातुमिन्द्रादिति विवासितः ॥ ७ ॥
भीष्मद्रोणावतिरथौ कृपो द्रौणिश्च दुर्जयः ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण वृता युधि महारथाः ॥ ८ ॥

'मैं भी ऐसा ही समझता हूँ कि श्रीकृष्ण और अर्जुन सुप्रसिद्ध नर-नारायण ऋषि हैं। अर्जुनको शक्तिशाली समझकर ही मैंने उसे दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिके लिये भेजा है। देवपुत्र अर्जुन इन्द्रसे कम नहीं हैं। यह जानकर ही मैंने उसे देवराज इन्द्रका दर्शन करने और उनसे दिव्यास्त्रोंको प्राप्त करनेके लिये भेजा है। भीष्म और द्रोण अतिरथी वीर हैं। कृपाचार्य तथा अश्वत्थामाको भी जीतना कठिन है। धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनने इन सभी महारथियोंको युद्धके लिये वरण कर लिया है॥ ६–८ ॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वास्त्रविदुषस्तथा ।
योद्धुकामाश्च पार्थेन सततं ये महाबलाः ।
स च दिव्यास्त्रवित् कर्णः सूतपुत्रो महारथः ॥ ९ ॥

'वे सब-के-सब वेदज्ञ, शूरवीर, सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता,

महाबली और सदा अर्जुनके साथ युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले हैं । वह सूतपुत्र महारथी कर्ण भी दिव्यास्त्रोंका ज्ञाता है ॥ ९ ॥

योऽस्त्रवेगानिलबलः शरार्चिस्तलनिःस्वनः ।
रजोधूमोऽस्त्रसम्पातो धार्तराष्ट्रानिलोद्धतः ॥ १० ॥
निसृष्ट इव कालेन युगान्ते ज्वलनो महान् ।
मम सैन्यमयं कक्षं प्रधक्ष्यति न संशयः ॥ ११ ॥

'कालने उसे प्रलयकालीन संवर्तक नामक महान् अग्निके समान उत्पन्न किया है । अस्त्रोंका वेग ही उसका वायुतुल्य बल है । बाण ही उसकी ज्वाला हैं । हथेलीसे होनेवाली आवाज़ ही उस दाहक अग्निका शब्द है । युद्धमें उठनेवाली धूल ही उस कर्णरूपी अग्निका धूम है । अस्त्रोंकी वर्षा ही उसकी लपटोंका लगना है । धृतराष्ट्रपुत्ररूपी वायुका सहारा पाकर वह और भी उद्धत एवं प्रज्वलित हो उठा है । इसमें संदेह नहीं कि वह मेरी सेनाको सूखे तिनकोंकी राशिके समान भस्म कर डालेगा ॥ १०-११ ॥

तं स कृष्णानिलोद्धूतो दिव्यास्त्रज्वलनो महान् ।
श्वेतवाजिबलाकाभृद् गाण्डीवेन्द्रायुधोल्बणः ॥ १२ ॥
संरब्धः शरधाराभिः सुदीप्तं कर्णपावकम् ।
अर्जुनोदीरितो मेघः शमयिष्यति संयुगे ॥ १३ ॥
स साक्षादेव सर्वाणि शक्रात् परपुरंजयः ।
दिव्यान्यस्त्राणि बीभत्सुस्ततश्च प्रतिपत्स्यते ॥ १४ ॥

'उस आगको युद्धमें अर्जुननामक महामेघ ही बुझा सकेगा । श्रीकृष्णरूपी वायुका सहारा पाकर ही वह मेघ उठेगा । दिव्यास्त्रोंका प्रकाश ही उसमें बिजलीकी चमक होगी । रथके श्वेत घोड़े ही उसके निकट उड़नेवाली बकपंक्तियोंकी भाँति सुशोभित होंगे । गाण्डीव धनुष ही इन्द्रधनुषके समान दुःसह दृश्य उपस्थित करनेवाला होगा । वह क्रोधमें भरकर बाणरूपी जलकी धारासे कर्णरूपी प्रज्वलित अग्निको निश्चय ही शान्त कर देगा । शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाला अर्जुन साक्षात् इन्द्रसे सारे दिव्यास्त्र प्राप्त करेगा ॥

अलं स तेषां सर्वेषामिति मे धीयते मतिः ।
नास्ति त्वतिकृतार्थानां रणेऽरीणां प्रतिक्रिया ॥ १५ ॥

'धृतराष्ट्र-पक्षके उक्त सभी महारथियोंको जीतनेके लिये वह अकेला ही पर्याप्त होगा; ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है । अन्यथा अत्यन्त कृतार्थताका अनुभव करनेवाले शत्रुओंको दबानेका और कोई उपाय नहीं है ॥ १५ ॥

ते वयं पाण्डवं सर्वे गृहीतास्त्रमरिंदमम् ।
द्रष्टारो न हि बीभत्सुर्भारमुद्यम्य सीदति ॥ १६ ॥

'अतः हम शत्रुहन्ता पाण्डुनन्दन अर्जुनको अवश्य ही सब दिव्यास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करके आया हुआ देखेंगे; क्योंकि वह वीर किसी कार्य-भारको उठाकर उसे पूर्ण किये बिना कभी श्रान्त नहीं होता ॥ १६ ॥

वयं तु तमृते वीरं वनेऽस्मिन् द्विपदां वर ।
अवधानं न गच्छामः काम्यके सह कृष्णया ॥ १७ ॥

'नरश्रेष्ठ ! इस काम्यकवनमें वीर अर्जुनके बिना द्रौपदीसहित हम सब पाण्डवोंका मन बिल्कुल नहीं लग रहा है ॥

भवानन्यद् वनं साधु बह्वन्नं फलवच्छुचि ।
आख्यातु रमणीयं च सेवितं पुण्यकर्मभिः ॥ १८ ॥

'इसलिये आप हमें किसी ऐसे रमणीय वनका पता बतायें जो बहुत अच्छा, पवित्र, प्रचुर अन्न और फलसे सम्पन्न तथा पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा सेवित हो ॥ १८ ॥

यत्र कंचिद् वयं कालं वसन्तः सत्यविक्रमम् ।
प्रतीक्षामोऽर्जुनं वीरं वृष्टिकामा इवाम्बुदम् ॥ १९ ॥

'जहाँ हमलोग कुछ काल रहकर सत्यपराक्रमी वीर अर्जुनके आगमनकी उसी प्रकार प्रतीक्षा करें, जैसे वृष्टिकी इच्छा रखनेवाले किसान बादलोंकी राह देखते हैं ॥ १९ ॥

विविधानाश्रमान् कांश्चिद् द्विजातिभ्यः प्रतिश्रुतान् ।
सरांसि सरितश्चैव रमणीयांश्च पर्वतान् ॥ २० ॥
आचक्ष्व न हि मे ब्रह्मन् रोचते तमृतेऽर्जुनम् ।
वनेऽस्मिन् काम्यके वासो गच्छामोऽन्यां दिशं प्रति ॥

'ब्रह्मन् ! आप दूसरे ब्राह्मणोंसे सुने हुए नाना प्रकारके कतिपय आश्रमों, सरोवरों, सरिताओं तथा रमणीय पर्वतोंका पता बताइये । अर्जुनके बिना अब काम्यकवनमें रहना हमें अच्छा नहीं लगता; इसलिये अब दूसरी दिशाको चलेंगे' ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यकी तीर्थयात्राविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

धौम्यद्वारा पूर्वदिशाके तीर्थोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

तान् सर्वानुत्सुकान् दृष्ट्वा पाण्डवान् दीनचेतसः ।
आश्वासयंस्तथा धौम्यो बृहस्पतिसमोऽब्रवीत् ॥ १ ॥
ब्राह्मणानुमतान् पुण्यानाश्रमान् भरतर्षभ ।
दिशस्तीर्थानि शैलांश्च शृणु मे वदतोऽनघ ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंका

चित्त अर्जुनके लिये अत्यन्त दीन हो रहा था। वे सब-के-सब उनसे मिलनेको उत्सुक थे। उनकी ऐसी अवस्था देखकर बृहस्पतिके समान तेजस्वी महर्षि धौम्यने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—'पापरहित भरतकुलभूषण! ब्राह्मणलोग जिन्हें आदर देते हैं, उन पुण्य आश्रमों, दिशाओं, तीर्थों और पर्वतोंका मैं वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ १-२ ॥

याञ्छ्रुत्वा गदतो राजन् विशोको भवितासि ह।
द्रौपद्या चानया सार्धं भ्रातृभिश्च नरेश्वर ॥ ३ ॥

'नरेश्वर! राजन्! मेरे मुखसे उन सबका वर्णन सुनकर तुम द्रौपदी तथा भाइयोंके साथ शोकरहित हो जाओगे ॥ ३ ॥

श्रवणाच्चैव तेषां त्वं पुण्यमाप्स्यसि पाण्डव।
गत्वा शतगुणं चैव तेभ्य एव नरोत्तम ॥ ४ ॥

'नरश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन! उनका श्रवण करनेमात्रसे तुम्हें उनके सेवनका पुण्य प्राप्त होगा और वहाँ जानेसे सौगुने पुण्यकी प्राप्ति होगी ॥ ४ ॥

पूर्वं प्राचीं दिशं राजन् राजर्षिगणसेविताम्।
रम्यां ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर यथास्मृति ॥ ५ ॥

'महाराज युधिष्ठिर! मैं अपनी स्मरणशक्तिके अनुसार सबसे पहले राजर्षिगणोंद्वारा सेवित रमणीय प्राची दिशाका वर्णन करूँगा ॥ ५ ॥

तस्यां देवर्षिजुष्टायां नैमिषं नाम भारत।
यत्र तीर्थानि देवानां पुण्यानि च पृथक् पृथक् ॥ ६ ॥

'भरतनन्दन! देवर्षिसेवित प्राची दिशामें नैमिष नामक तीर्थ है, जहाँ भिन्न-भिन्न देवताओंके अलग-अलग पुण्यतीर्थ हैं ॥ ६ ॥

यत्र सा गोमती पुण्या रम्या देवर्षिसेविता।
यज्ञभूमिश्च देवानां शामित्रं च विवस्वतः ॥ ७ ॥

'जहाँ देवर्षिसेवित परम रमणीय पुण्यमयी गोमती नदी है। देवताओंकी यज्ञभूमि और सूर्यका यज्ञपात्र विद्यमान है ॥

तस्यां गिरिवरः पुण्यो गयो राजर्षिसत्कृतः।
शिवं ब्रह्मसरो यत्र सेवितं त्रिदशर्षिभिः ॥ ८ ॥

'प्राची दिशामें ही पुण्यपर्वतश्रेष्ठ गय है, जो राजर्षि गयके द्वारा सम्मानित हुआ है। वहाँ कल्याणमय ब्रह्मसरोवर है, जिसका देवर्षिगण सेवन करते हैं ॥ ८ ॥

यदर्थे पुरुषव्याघ्र कीर्तयन्ति पुरातनाः।
एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ॥ ९ ॥
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्।
उत्तारयति संतत्या दशपूर्वान् दशावरान् ॥ १० ॥

'पुरुषसिंह! उस गयाके विषयमें ही प्राचीनलोग यह कहा करते हैं कि 'बहुत-से पुत्रोंकी इच्छा करनी चाहिये; सम्भव है, उनमेंसे एक भी गया जाय या अश्वमेध-यज्ञ करे अथवा नीलवृषका* उत्सर्ग करे। ऐसा पुरुष अपनी संततिद्वारा दस पहलेकी और दस बादकी पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है' ॥

महानदी च तत्रैव तथा गयशिरो नृप।
यत्रासौ कीर्त्यते विप्रैरक्षय्यकरणो वटः ॥ ११ ॥

'राजन्! वहीं महानदी और गयशीर्ष तीर्थ है, जहाँ ब्राह्मणोंने अक्षयवटकी स्थिति बतायी है जिसके जड़ और शाखा आदि उपकरण कभी नष्ट नहीं होते ॥ ११ ॥

यत्र दत्तं पितृभ्योऽन्नमक्षय्यं भवति प्रभो।
सा च पुण्यजला तत्र फल्गुर्नाम महानदी ॥ १२ ॥
बहुमूलफला चापि कौशिकी भरतर्षभ।
विश्वामित्रोऽध्यगाद् यत्र ब्राह्मणत्वं तपोधनः ॥ १३ ॥

'प्रभो! वहाँ पितरोंके लिये दिया हुआ अन्न अक्षय होता है। भरतश्रेष्ठ! वहीं फल्गु नामवाली पुण्यसलिला महानदी है और वहीं बहुत-से फल-मूलोंवाली कौशिकी नदी प्रवाहित होती है जहाँ तपोधन विश्वामित्र ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए थे ॥ १२-१३ ॥

गङ्गा यत्र नदी पुण्या यस्यास्तीरे भगीरथः।
अयजत् तत्र बहुभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ १४ ॥

'पूर्वदिशामें ही पुण्यनदी गङ्गा बहती है, जिसके तटपर राजा भगीरथने प्रचुर दक्षिणावाले बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ १४ ॥

पञ्चालेषु च कौरव्य कथयन्त्युत्पलावनम्।
विश्वामित्रोऽयजद् यत्र पुत्रेण सह कौशिकः ॥ १५ ॥

'कुरुनन्दन! पञ्चालदेशमें ऋषिलोग उत्पलावन बतलाते हैं, जहाँ कुशिकनन्दन विश्वामित्रने अपने पुत्रके साथ यज्ञ किया था ॥ १५ ॥

यत्रानुवंशं भगवाञ्जामदग्न्यस्तथा जगौ।
विश्वामित्रस्य तां दृष्ट्वा विभूतिमतिमानुषीम् ॥ १६ ॥

'उसी यज्ञमें विश्वामित्रका अलौकिक वैभव देखकर जमदग्निनन्दन परशुरामने उनके वंशके अनुरूप यशका वर्णन किया था ॥ १६ ॥

कान्यकुब्जेऽपिबत् सोममिन्द्रेण सह कौशिकः।
ततः क्षत्रादपाक्रामद् ब्राह्मणोऽस्मीति चाब्रवीत् ॥ १७ ॥

'विश्वामित्रजीने कान्यकुब्जदेशमें इन्द्रके साथ सोमपान किया; वहीं वे क्षत्रियत्वसे ऊपर उठ गये और 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह बात घोषित कर दी ॥ १७ ॥

---

* लोहितो यस्तु वर्णेन पुच्छाग्रेण तु पाण्डुरः।
श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते ॥

जिसका रंग तो लाल हो पर, पूछका अग्रभाग सफेद हो एवं खुर और सींग भी सफेद हों, वह नील वृष कहा जाता है।

पवित्रमृषिभिर्जुष्टं पुण्यं पावनमुत्तमम् ।
गङ्गायमुनयोर्वीर संगमं लोकविश्रुतम् ॥१८॥

'वीरवर ! गङ्गा और यमुनाका परम उत्तम पुण्यमय पवित्र संगम सम्पूर्ण जगत्‌में विख्यात है और बड़े-बड़े महर्षि उसका सेवन करते हैं ॥ १८ ॥

यत्रायजत भूतात्मा पूर्वमेव पितामहः ।
प्रयागमिति विख्यातं तस्माद् भरतसत्तम ॥१९॥

'जहाँ समस्त प्राणियोंके आत्मा भगवान् ब्रह्माजीने पहले ही यज्ञ किया था । भरतकुलभूषण ! ब्रह्माजीके उस प्रकृष्टयाग-से ही उस स्थानका नाम 'प्रयाग' हो गया ॥ १९ ॥

अगस्त्यस्य तु राजेन्द्र तत्राश्रमवरो नृप ।
तत् तथा तापसारण्यं तापसैरुपशोभितम् ॥२०॥

'राजेन्द्र ! वहाँ महर्षि अगस्त्यका श्रेष्ठ आश्रम है । इसी प्रकार तापसारण्य तपस्वीजनोंसे सुशोभित है ॥ २० ॥

हिरण्यबिन्दुः कथितो गिरौ कालञ्जरे महान् ।
आगस्त्यपर्वतो रम्यः पुण्यो गिरिवरः शिवः ॥२१॥

'कालञ्जर पर्वतपर हिरण्यबिन्दु नामसे प्रसिद्ध महान् तीर्थ बताया गया है । आगस्त्यपर्वत बहुत ही रमणीय, पवित्र, श्रेष्ठ एवं कल्याणस्वरूप है ॥ २१ ॥

महेन्द्रो नाम कौरव्य भार्गवस्य महात्मनः ।
अयजत् तत्र कौन्तेय पूर्वमेव पितामहः ॥२२॥

'कुरुनन्दन ! महात्मा भार्गवका निवासस्थान महेन्द्रपर्वत है । कुन्तीनन्दन ! वहाँ ब्रह्माजीने पूर्वकालमें यज्ञ किया था ॥

यत्र भागीरथी पुण्या सरस्यासीद् युधिष्ठिर ।
यत्र सा ब्रह्मशालेति पुण्या ख्याता विशाम्पते ॥२३॥
धूतपाप्मभिराकीर्णा पुण्यं तस्याश्च दर्शनम् ।

'युधिष्ठिर ! जहाँ पुण्यसलिला भागीरथी गङ्गा सरोवरमें स्थित थी । महाराज ! जहाँपर उन्हें 'ब्रह्मशाला' यह पवित्र नाम दिया गया है । वह पुण्यतीर्थ निष्पाप मनुष्योंसे व्याप्त है; उसका दर्शन पुण्यमय बताया गया है ॥ २३½ ॥

पवित्रो मङ्गलीयश्च ख्यातो लोके महात्मनः ॥२४॥
केदारश्च मतङ्गस्य महानाश्रम उत्तमः ।
कुण्डोदः पर्वतो रम्यो बहुमूलफलोदकः ॥२५॥
नैषधस्तृषितो यत्र जलं शर्म च लब्धवान् ।

'वहीं महात्मा मतंगऋषिका महान् एवं उत्तम आश्रम केदारतीर्थ है । वह परम पवित्र, मङ्गलकारी और लोकमें विख्यात है । कुण्डोद नामक रमणीय पर्वत बहुत फल-मूल और जलसे सम्पन्न है, जहाँ प्यासे हुए निषधनरेशको जल और शान्तिकी उपलब्धि हुई थी ॥ २४-२५½ ॥

यत्र देववनं पुण्यं तापसैरुपशोभितम् ॥२६॥
बाहुदा च नदी यत्र नन्दा च गिरिमूर्धनि ।

'वहीं तपस्वीजनोंसे सुशोभित पवित्र देववन नामक पुण्य-क्षेत्र है, जहाँ पर्वतके शिखरपर बाहुदा और नन्दा नदी बहती हैं ॥२६½॥

तीर्थानि सरितः शैलाः पुण्यान्यायतनानि च ॥२७॥
प्राच्यां दिशि महाराज कीर्तितानि मया तव ।
तिसृष्वन्यानि पुण्यानि दिक्षु तीर्थानि मे शृणु ।
सरितः पर्वतांश्चैव पुण्यान्यायतनानि च ॥२८॥

'महाराज ! पूर्वदिशामें जो बहुत-से तीर्थ, नदियाँ, पर्वत और पुण्यमन्दिर आदि हैं, उनका मैंने तुमसे (संक्षेपमें) वर्णन किया है । अब शेष तीन दिशाओंके सरिताओं, पर्वतों और पुण्यस्थानोंका वर्णन करता हूँ, सुनो' ॥ २७-२८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यतीर्थयात्राविषयक सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

धौम्यमुनिके द्वारा दक्षिणदिशावर्ती तीर्थोंका वर्णन

धौम्य उवाच

दक्षिणस्यां तु पुण्यानि शृणु तीर्थानि भारत ।
विस्तरेण यथाबुद्धि कीर्त्यमानानि तानि वै ॥ १ ॥

धौम्यजी कहते हैं—भरतवंशी युधिष्ठिर ! अब मैं अपनी बुद्धिके अनुसार दक्षिणदिशावर्ती पुण्यतीर्थोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ १ ॥

यस्यामाख्यायते पुण्या दिशि गोदावरी नदी ।
बह्वारामा बहुजला तापसाचरिता शिवा ॥ २ ॥

दक्षिणमें पुण्यमयी गोदावरी नदी बहुत प्रसिद्ध है, जिसके तटपर अनेक बगीचे सुशोभित हैं । उसके भीतर अगाध जल भरा हुआ है । बहुत-से तपस्वी उसका सेवन करते हैं तथा वह सबके लिये कल्याणस्वरूपा है ॥ २ ॥

वेणा भीमरथी चैव नद्यौ पापभयापहे ।
मृगद्विजसमाकीर्णे तापसालयभूषिते ॥ ३ ॥

वेणा और भीमरथी—ये दो नदियाँ भी दक्षिणमें ही हैं, जो समस्त पापभयका नाश करनेवाली हैं । उसके दोनों तट

अनेक प्रकारके पशु-पक्षियोंसे व्याप्त और तपस्वीजनोंके आश्रमोंसे विभूषित हैं ॥ ३ ॥

राजर्षेस्तस्य च सरिन्नृगस्य भरतर्षभ ।
रम्यतीर्था बहुजला पयोष्णी द्विजसेविता ॥ ४ ॥

भरतकुलभूषण ! राजा नृगकी नदी पयोष्णी भी उधर ही है, जो रमणीय तीर्थों और अगाध जलसे सुशोभित है। द्विज उसका सेवन करते हैं ॥ ४ ॥

अपि चात्र महायोगी मार्कण्डेयो महायशाः ।
अनुवंश्यां जगौ गाथां नृगस्य धरणीपतेः ॥ ५ ॥
नृगस्य यजमानस्य प्रत्यक्षमिति नः श्रुतम् ।
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ॥ ६ ॥
पयोष्ण्यां यजमानस्य वाराहे तीर्थ उत्तमे ।
उद्धृतं भूतलस्थं वा वायुना समुदीरितम् ।
पयोष्ण्या हरते तोयं पापमामरणान्तिकम् ॥ ७ ॥

इस विषयमें हमारे सुननेमें आया है कि महायोगी एवं महायशस्वी मार्कण्डेयने यजमान राजा नृगके सामने उनके वंशके योग्य यशोगाथाका वर्णन इस प्रकार किया था—'पयोष्णीके तटपर उत्तम वाराहतीर्थमें यज्ञ करनेवाले राजा नृगके यज्ञमें इन्द्र सोमपान करके मस्त हो गये थे और प्रचुर दक्षिणा पाकर ब्राह्मणलोग भी हर्षोल्लाससे पूर्ण हो गये थे।' पयोष्णीका जल हाथसे उठाया गया हो या धरतीपर पड़ा हो अथवा वायुके वेगसे उछलकर अपने ऊपर पड़ गया हो, वह जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त किये हुए समस्त पापोंको हर लेता है ॥ ५–७ ॥

स्वर्गादुत्तुङ्गममलं विषाणं यत्र शूलिनः ।
स्वमात्मविहितं दृष्ट्वा मर्त्यः शिवपुरं व्रजेत् ॥ ८ ॥

जहाँ भगवान् शङ्करका स्वयं ही अपने लिये बनाया हुआ शृंगनामक वाद्यविशेष स्वर्गसे भी ऊँचा और निर्मल है, उसका दर्शन करके मरणधर्मा मानव शिवधाममें चला जाता है ॥ ८ ॥

एकतः सरितः सर्वा गङ्गाद्याः सलिलोच्चयाः ।
पयोष्णी चैकतः पुण्या तीर्थेभ्यो हि मता मम ॥ ९ ॥

एक ओर अगाध जलराशिसे भरी हुई गङ्गा आदि सम्पूर्ण नदियाँ हों और दूसरी ओर केवल पुण्यसलिला पयोष्णी नदी हो तो वही अन्य सब नदियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; ऐसा मेरा विचार है ॥ ९ ॥

माठरस्य वनं पुण्यं बहुमूलफलं शिवम् ।
यूपश्च भरतश्रेष्ठ वरुणस्रोतसे गिरौ ॥ १० ॥

भरतश्रेष्ठ ! दक्षिणमें पवित्र माठर-वन है, जो प्रचुर फल-मूलसे सम्पन्न और कल्याणस्वरूप है। वहाँ वरुणस्रोतस नामक पर्वतपर माठर (सूर्यके पार्श्ववर्ती देवता) का विजय-स्तम्भ सुशोभित होता है ॥ १० ॥

प्रवेण्युत्तरमार्गे तु पुण्ये कण्वाश्रमे तथा ।
तापसानामरण्यानि कीर्तितानि यथाश्रुति ॥ ११ ॥

यह स्तम्भ प्रवेणी-नदीके उत्तरवर्ती मार्गमें कण्वके पुण्यमय आश्रममें है। इस प्रकार जैसा कि मैंने सुन रखा था, तपस्वी महात्माओंके निवास योग्य वनोंका वर्णन किया है ॥ ११ ॥

वेदी शूर्पारके तात जमदग्नेर्महात्मनः ।
रम्या पाषाणतीर्था च पुनश्चन्द्रा च भारत ॥ १२ ॥

तात ! शूर्पारकक्षेत्रमें महात्मा जमदग्निकी वेदी है। भारत ! वहीं रमणीय पाषाणतीर्था और पुनश्चन्द्रा नामक तीर्थ-विशेष हैं ॥ १२ ॥

अशोकतीर्थं तत्रैव कौन्तेय बहुलाश्रमम् ।
अगस्त्यतीर्थं पाण्ड्येषु वारुणं च युधिष्ठिर ॥ १३ ॥
कुमार्यः कथिताः पुण्याः पाण्ड्येष्वेव नरर्षभ ।
ताम्रपर्णीं तु कौन्तेय कीर्तयिष्यामि तां शृणु ॥ १४ ॥

कुन्तीनन्दन ! उसी क्षेत्रमें अशोकतीर्थ है, जहाँ महर्षियोंके बहुत-से आश्रम हैं। युधिष्ठिर ! पाण्ड्यदेशमें अगस्त्यतीर्थ और वारुणतीर्थ है। नरश्रेष्ठ ! पाण्ड्यदेशके भीतर पवित्र कुमारी कन्याएँ (कन्याकुमारी तीर्थ) कही गयी हैं। कुन्तीकुमार ! अब मैं तुमसे ताम्रपर्णी नदीकी महिमाका वर्णन करूँगा, सुनो १३-१४

यत्र देवैस्तपस्तप्तं महदिच्छद्भिराश्रमे ।
गोकर्ण इति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु भारत ॥ १५ ॥

भरतनन्दन ! वहाँ मोक्ष पानेकी इच्छासे देवताओंने आश्रममें रहकर बड़ी भारी तपस्या की थी। वहाँका गोकर्ण-तीर्थ तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥ १५ ॥

शीततोयो बहुजलः पुण्यस्तात शिवः शुभः ।
ह्रदः परमदुष्प्रापो मानुषैरकृतात्मभिः ॥ १६ ॥

तात ! गोकर्णतीर्थमें शीतल जल भरा रहता है। उसकी जलराशि अनन्त है। वह पवित्र, कल्याणमय और शुभ है। जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, ऐसे मनुष्योंके लिये गोकर्णतीर्थ अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १६ ॥

तत्र वृक्षतृणाद्यैश्च सम्पन्नः फलमूलवान् ।
आश्रमोऽगस्त्यशिष्यस्य पुण्यो देवसमो गिरिः ॥ १७ ॥

वहाँ अगस्त्यके शिष्यका पुण्यमय आश्रम है, जो वृक्षों और तृण आदिसे सम्पन्न एवं फल-मूलोंसे परिपूर्ण है। देवसम नामक पर्वत ही वह आश्रम है ॥ १७ ॥

वैदूर्यपर्वतस्तत्र श्रीमान् मणिमयः शिवः ।
अगस्त्यस्याश्रमश्चैव बहुमूलफलोदकः ॥ १८ ॥

वहाँ परम सुन्दर मणिमय वैदूर्यपर्वत है, जो शिवस्वरूप है। उसीपर महर्षि अगस्त्यका आश्रम है, जो प्रचुर फल-मूल और जलसे सम्पन्न है ॥ १८ ॥

सुराष्ट्रेष्वपि वक्ष्यामि पुण्यान्यायतनानि च ।
आश्रमान् सरितश्चैव सरांसि च नराधिप ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! अब मैं सुराष्ट्र (सौराष्ट्र) देशीय पुण्यस्थानों, मन्दिरों, आश्रमों, सरिताओं और सरोवरोंका वर्णन करता हूँ ॥

चमसोद्भेदनं विप्रास्तत्रापि कथयन्त्युत ।
प्रभासं चोदधौ तीर्थं त्रिदशानां युधिष्ठिर ॥ २० ॥

विप्रगण ! वहीं चमसोद्भेदतीर्थकी चर्चा की जाती है । युधिष्ठिर ! सुराष्ट्रमें ही समुद्रके तटपर प्रभासक्षेत्र है, जो देवताओंका तीर्थ कहा गया है ॥ २० ॥

तत्र पिण्डारकं नाम तापसाचरितं शिवम् ।
उज्जयन्तश्च शिखरी क्षिप्रं सिद्धिकरो महान् ॥ २१ ॥

वहीं पिण्डारक नामक तीर्थ है, जो तपस्वी जनोंद्वारा सेवित और कल्याणस्वरूप है । उधर ही उज्जयन्त नामक महान् पर्वत है, जो शीघ्र सिद्धि प्रदान करनेवाला है ॥ २१ ॥

तत्र देवर्षिवर्येण नारदेनानुकीर्तितः ।
पुराणः श्रूयते श्लोकस्तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! उसके विषयमें देवर्षिप्रवर श्रीनारदजीके द्वारा कहा हुआ एक प्राचीन श्लोक सुना जाता है, उसको मुझसे सुनो ॥ २२ ॥

पुण्ये गिरौ सुराष्ट्रेषु मृगपक्षिनिषेविते ।
उज्जयन्ते स्म तप्ताङ्गो नाकपृष्ठे महीयते ॥ २३ ॥

सुराष्ट्र देशमें मृगों और पक्षियोंसे सेवित उज्जयन्त नामक पुण्यपर्वतपर तपस्या करनेवाला पुरुष स्वर्गलोकमें पूजित होता है ॥ २३ ॥

पुण्या द्वारवती तत्र यत्रासौ मधुसूदनः ।
साक्षाद् देवः पुराणोऽसौ स हि धर्मः सनातनः ॥ २४ ॥

उज्जयन्तके ही आस-पास पुण्यमयी द्वारकापुरी है, जहाँ साक्षात् पुराणपुरुष भगवान् मधुसूदन निवास करते हैं । वे ही सनातन धर्मस्वरूप हैं ॥ २४ ॥

ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः ।
ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम् ॥ २५ ॥

जो वेदवेत्ता और अध्यात्मशास्त्रके विद्वान् ब्राह्मण हैं, वे परमात्मा श्रीकृष्णको ही सनातन धर्मरूप बताते हैं ॥ २५ ॥

पवित्राणां हि गोविन्दः पवित्रं परमुच्यते ।
पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
त्रैलोक्ये पुण्डरीकाक्षो देवदेवः सनातनः ॥ २६ ॥
अव्ययात्मा व्ययात्मा च क्षेत्रज्ञः परमेश्वरः ।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा तत्रैव मधुसूदनः ॥ २७ ॥

भगवान् गोविन्द पवित्रोंको भी पावन करनेवाले परमपवित्र कहे जाते हैं । वे पुण्योंके भी पुण्य और मङ्गलोंके भी मङ्गल हैं । कमलनयन देवाधिदेव सनातन श्रीहरि अविनाशी परमात्मा, व्ययात्मा (क्षरपुरुष), क्षेत्रज्ञ और परमेश्वर हैं । वे अचिन्त्यस्वरूप भगवान् मधुसूदन वहीं द्वारकापुरीमें विराजमान हैं ॥ २६-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायामष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यतीर्थयात्राविषयक अठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमोऽध्यायः

धौम्यद्वारा पश्चिम दिशाके तीर्थोंका वर्णन

धौम्य उवाच

आनर्तेषु प्रतीच्यां वै कीर्तयिष्यामि ते दिशि ।
यानि तत्र पवित्राणि पुण्यान्यायतनानि च ॥ १ ॥

धौम्यजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! अब मैं पश्चिम दिशाके आनर्तदेशमें जो-जो पवित्र तीर्थ और पुण्यस्वरूप देवालय हैं, उन सबका वर्णन करूँगा ॥ १ ॥

प्रियङ्ग्वाम्रवणोपेता वानीरफलमालिनी ।
प्रत्यक्स्रोता नदी पुण्या नर्मदा तत्र भारत ॥ २ ॥

भरतनन्दन ! पश्चिम दिशामें पुण्यमयी नर्मदा नदी प्रवाहित होती है, जिसकी धारा पूर्वसे पश्चिमकी ओर है । उसके तटपर प्रियङ्गु और आमके वृक्षोंका वन है । बेंत तथा फलवाले वृक्षोंकी श्रेणियाँ भी उसकी शोभा बढ़ाती हैं ॥ २ ॥

त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
सरिद्वनानि शैलेन्द्रा देवाश्च सपितामहाः ॥ ३ ॥
नर्मदायां कुरुश्रेष्ठ सह सिद्धर्षिचारणैः ।
स्नातुमायान्ति पुण्यौघैः सदा वारिषु भारत ॥ ४ ॥

भरतनन्दन कुरुश्रेष्ठ ! त्रिलोकीमें जो-जो पुण्यतीर्थ, मन्दिर, नदी, वन, पर्वत, ब्रह्मा आदि देवता, सिद्ध, ऋषि, चारण एवं पुण्यात्माओंके समूह हैं, वे सब सदा नर्मदाके जलमें स्नान करनेके लिये आया करते हैं ॥ ३-४ ॥

निकेतः श्रूयते पुण्यो यत्र विश्रवसो मुनेः ।
जज्ञे धनपतिर्यत्र कुबेरो नरवाहनः ॥ ५ ॥

वहीं मुनिवर विश्रवाका पवित्र आश्रम सुना जाता है, जहाँ नरवाहन धनाध्यक्ष कुबेरका जन्म हुआ था ॥ ५ ॥

वैदूर्यशिखरो नाम पुण्यो गिरिवरः शिवः ।
नित्यपुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः ॥ ६ ॥

वैदूर्यशिखरनामक मङ्गलमय पवित्र पर्वत भी नर्मदा-तटपर है; वहाँ हरे-हरे पत्तोंसे सुशोभित सदा फल और फूलोंके भारसे लदे हुए वृक्ष शोभा पाते हैं ॥ ६ ॥

तस्य शैलस्य शिखरे सरः पुण्यं महीपते ।
फुल्लपद्मं महाराज देवगन्धर्वसेवितम् ॥ ७ ॥

राजन् ! उस पर्वतके शिखरपर एक पुण्य सरोवर है, जिसमें सदा कमल खिले रहते हैं । महाराज ! देवता और गन्धर्व भी उस पुण्यतीर्थका सेवन करते हैं ॥ ७ ॥

बह्वाश्चर्यं महाराज दृश्यते तत्र पर्वते ।
पुण्ये स्वर्गोपमे चैव देवर्षिगणसेविते ॥ ८ ॥

राजन् ! देवर्षिगणोंसे सेवित वह पुण्यपर्वत स्वर्गके समान सुन्दर एवं सुखद है । वहाँ अनेक आश्चर्यकी बातें देखी जाती हैं ॥ ८ ॥

ह्रदिनी पुण्यतीर्था च राजर्षेस्तत्र वै सरित् ।
विश्वामित्रनदी राजन् पुण्या परपुरंजय ॥ ९ ॥
यस्यास्तीरे सतां मध्ये ययातिर्नहुषात्मजः ।
पपात स पुनर्लोकाँल्लेभे धर्मान् सनातनान् ॥ १० ॥

शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले नरेश ! वहाँ राजर्षि विश्वामित्रकी तपस्यासे प्रकट हुई एक पुण्यमयी नदी है, जो परम पवित्र तीर्थ मानी गयी है । उसीके तटपर नहुष-नन्दन राजा ययाति स्वर्गसे साधु पुरुषोंके बीचमें गिरे थे और पुनः सनातन धर्ममय लोकोंमें चले गये थे ॥ ९-१० ॥

तत्र पुण्यो ह्रदः ख्यातो मैनाकश्चैव पर्वतः ।
बहुमूलफलोपेतस्त्वसितो नाम पर्वतः ॥ ११ ॥

वहाँ पुण्यसरोवर, विख्यात मैनाक पर्वत और प्रचुर फल-मूलोंसे सम्पन्न असित नामक पर्वत है ॥ ११ ॥

आश्रमः कक्षसेनस्य पुण्यस्तत्र युधिष्ठिर ।
च्यवनस्याश्रमश्चैव विख्यातस्तत्र पाण्डव ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर ! उसी पर्वतपर कच्छसेनका पुण्यदायक आश्रम है । पाण्डुनन्दन ! महर्षि च्यवनका सुविख्यात आश्रम भी वहीं है ॥ १२ ॥

तत्राल्पेनैव सिध्यन्ति मानवास्तपसा विभो ।
जम्बूमार्गो महाराज ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥ १३ ॥
आश्रमः शाम्यतां श्रेष्ठ मृगद्विजनिषेवितः ।

प्रभो ! वहाँ थोड़ी ही तपस्यासे मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं । महाराज ! पश्चिम दिशामें ही जम्बूमार्ग है, जहाँ शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंका आश्रम है । शान्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! वह आश्रम पशु-पक्षियोंसे सेवित है ॥ १३½ ॥

ततः पुण्यतमा राजन् सततं तापसैर्युता ॥ १४ ॥
केतुमाला च मेध्या च गङ्गाद्वारं च भूमिप ।
ख्यातं च सैन्धवारण्यं पुण्यं द्विजनिषेवितम् ॥ १५ ॥

राजन् ! उधर ही सदा तपस्वी जनोंसे भरे हुए पुण्यतम तीर्थ—केतुमाला, मेध्या और गङ्गाद्वार (हरिद्वार) हैं । भूपाल ! द्विजोंसे सेवित सुप्रसिद्ध सैन्धवारण्य भी उधर ही है ॥ १४-१५ ॥

पितामहसरः पुण्यं पुष्करं नाम नामतः ।
वैखानसानां सिद्धानामृषीणामाश्रमः प्रियः ॥ १६ ॥

ब्रह्माजीका पुण्यदायक सरोवर पुष्कर भी पश्चिम दिशामें ही है, जो वानप्रस्थों, सिद्धों और महर्षियोंका प्रिय आश्रम है ॥

अप्यत्र संश्रयार्थाय प्रजापतिरथो जगौ ।
पुष्करेषु कुरुश्रेष्ठ गाथां सुकृतिनां वर ॥ १७ ॥

पुण्यवानोंमें प्रधान कुरुश्रेष्ठ ! पुष्करमें निवास करनेके लिये प्रजापति ब्रह्माजीने एक गाथा गायी है, जो इस प्रकार है ॥

मनसाप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः ।
विप्रणश्यन्ति पापानि नाकपृष्ठे च मोदते ॥ १८ ॥

'जो मनस्वी पुरुष मनसे भी पुष्करतीर्थमें निवास करनेकी इच्छा करता है, उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और वह स्वर्गलोकमें आनन्द भोगता है' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यतीर्थयात्राविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमोऽध्यायः

धौम्यद्वारा उत्तर दिशाके तीर्थोंका वर्णन

धौम्य उवाच

उदीच्यां राजशार्दूल दिशि पुण्यानि यानि वै ।
तानि ते कीर्तयिष्यामि पुण्यान्यायतनानि च ॥ १ ॥
शृणुष्वावहितो भूत्वा मम मन्त्रयतः प्रभो ।
कथाप्रतिग्रहो वीर श्रद्धां जनयते शुभाम् ॥ २ ॥

धौम्यजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! उत्तर दिशामें जो पुण्यप्रद तीर्थ और देवालय आदि हैं, उनका तुमसे वर्णन करता हूँ । प्रभो ! तुम सावधान होकर वह सब मेरे मुखसे

सुनो। वीरवर! तीर्थोंकी कथाका प्रसंग उनके प्रति मङ्गलमयी श्रद्धा उत्पन्न करता है ॥ १-२ ॥

सरस्वती महापुण्या ह्रदिनी तीर्थमालिनी ।
समुद्रगा महावेगा यमुना यत्र पाण्डव ॥ ३ ॥

तीर्थोंकी पंक्तिसे सुशोभित सरस्वती नदी बड़ी पुण्यदायिनी है । पाण्डुनन्दन ! समुद्रमें मिलनेवाली महावेगशालिनी यमुना भी उत्तर दिशामें ही हैं ॥ ३ ॥

यत्र पुण्यतरं तीर्थं प्लक्षावतरणं शुभम् ।
यत्र सारस्वतैरिष्ट्वा गच्छन्त्यवभृथैर्द्विजाः ॥ ४ ॥

उधर ही अत्यन्त पुण्यमय प्लक्षावतरण नामक मङ्गलकारक तीर्थ है; जहाँ ब्राह्मणगण यज्ञ करके सरस्वतीके जलसे अवभृथस्नान करते और अपने स्थानको जाते हैं ॥४॥

पुण्यं चाख्यायते दिव्यं शिवमग्निशिरोऽनघ ।
सहदेवोऽयजद् यत्र शम्याक्षेपेण भारत ॥ ५ ॥

उधर ही अग्निशिर नामक दिव्य, कल्याणमय, पुण्यतीर्थ बताया जाता है । निष्पाप भरतनन्दन ! उसी तीर्थमें सहदेवने शमीका डंडा फेंकवाकर, जितनी दूरीमें वह डंडा पड़ा था उतनी दूरीमें, मण्डप बनवाकर उसमें यज्ञ किया ॥

एतस्मिन्नेव चार्थेऽसाविन्द्रगीता युधिष्ठिर ।
गाथा चरति लोकेऽस्मिन् गीयमाना द्विजातिभिः॥ ६ ॥

युधिष्ठिर ! इसी विषयमें इन्द्रकी गायी हुई एक गाथा लोकमें प्रचलित है, जिसे ब्राह्मण गाया करते हैं ॥ ६ ॥

अग्नयः सहदेवेन सेविता यमुनामनु ।
ते तस्य कुरुशार्दूल सहस्रशतदक्षिणाः ॥ ७ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! सहदेवने यमुना-तटपर लाख स्वर्णमुद्राओंकी दक्षिणा देकर अग्निकी उपासना की थी* ॥ ७ ॥

तत्रैव भरतो राजा चक्रवर्ती महायशाः ।
विंशतिः सप्त चाष्टौ च हयमेधानुपाहरत् ॥ ८ ॥

वहीं महायशस्वी चक्रवर्ती राजा भरतने पैंतीस अश्वमेधयज्ञोंका अनुष्ठान किया ॥ ८ ॥

कामकृद् यो द्विजातीनां श्रुतस्तात यथा पुरा ।
अत्यन्तमाश्रमः पुण्यः शरभङ्गस्य विश्रुतः ॥ ९ ॥

तात ! प्राचीनकालमें राजा भरत ब्राह्मणोंकी मनोवाञ्छाको पूर्ण करनेवाला राजा सुना गया है । उत्तराखण्डमें ही महर्षि शरभङ्गका अत्यन्त पुण्यदायक आश्रम विख्यात है ॥

सरस्वती नदी सद्भिः सततं पार्थ पूजिता ।
बालखिल्यैर्महाराज यत्रेष्टमृषिभिः पुरा ॥ १० ॥

कुन्तीनन्दन ! साधु पुरुषोंने सरस्वती नदीकी सदा उपासना की है । महाराज ! पूर्वकालमें बालखिल्य ऋषियोंने वहाँ यज्ञ किया था ॥ १० ॥

दृषद्वती महापुण्या यत्र ख्याता युधिष्ठिर ।
न्यग्रोधाख्यस्तु पुण्याख्यः पाञ्चाल्यो द्विपदां वर॥ ११ ॥
दाल्भ्यघोषश्च दाल्भ्यश्च धरणीस्थो महात्मनः ।
कौन्तेयानन्तयशसः सुव्रतस्यामितौजसः ॥ १२ ॥
आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।

युधिष्ठिर ! परम पुण्यमयी दृषद्वती नदी भी उधर ही बतायी गयी है । मनुष्योंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! वहीं न्यग्रोध, पुण्य, पाञ्चाल्य, दाल्भ्यघोष और दाल्भ्य—ये पाँच आश्रम हैं तथा अनन्तकीर्ति एवं अमित तेजस्वी महात्मा सुव्रतका पुण्य आश्रम भी उत्तराखण्डमें ही बताया जाता है, जो पृथ्वीपर रहकर भी तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥ ११-१२½ ॥

एतावर्णाववर्णौ च विश्रुतौ मनुजाधिप ॥ १३ ॥

नरेश्वर ! उत्तराखण्डमें ही विख्यात मुनि नर और नारायण हैं, जो एतावर्ण (श्यामवर्ग—साकार) होते हुए भी वास्तवमें अवर्ण (निराकार) ही हैं ॥ १३ ॥

वेदज्ञौ वेदविद्वांसौ वेदविद्याविदावुभौ ।
ईजाते क्रतुभिर्मुख्यैः पुण्यैर्भरतसत्तम ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ये दोनों मुनि वेदज्ञ, वेदके मर्मज्ञ तथा वेदविद्याके पूर्ण जानकार हैं । इन्होंने पुण्यदायक उत्तम यज्ञोंद्वारा शङ्करका यजन किया है ॥ १४ ॥

समेत्य बहुशो देवाः सेन्द्राः सवरुणाः पुरा ।
विशाखयूपेऽतप्यन्त तेन पुण्यतमश्च सः ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें इन्द्र, वरुण आदि बहुत-से देवताओंने मिलकर विशाखयूप नामक स्थानमें तप किया था, अतः वह अत्यन्त पुण्यप्रद स्थान है ॥ १५ ॥

ऋषिर्महान् महाभागो जमदग्निर्महायशाः ।
पलाशकेषु पुण्येषु रम्येष्वयजत प्रभुः ॥ १६ ॥

महाभाग, महायशस्वी और महाप्रभावशाली महर्षि जमदग्निने परम सुन्दर तथा पुण्यप्रद पलाशवनमें यज्ञ किया था ॥ १६ ॥

यत्र सर्वाः सरिच्छ्रेष्ठाः साक्षात् तमृषिसत्तमम् ।
स्वं स्वं तोयमुपादाय परिवार्योपतस्थिरे ॥ १७ ॥

जिसमें सब श्रेष्ठ नदियाँ मूर्तिमती हो अपना-अपना जल लेकर उन मुनिश्रेष्ठके पास आयीं और उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़ी हुई थीं ॥ १७ ॥

अपि चात्र महाराज स्वयं विश्वावसुर्जगौ ।
इमं श्लोकं तदा वीर प्रेक्ष्य दीक्षां महात्मनः ॥ १८ ॥

---

* ये सहदेव सुप्रसिद्ध राजा संजयके पुत्र थे—'सहदेवः संजयपुत्रः' इति नीलकण्ठी ।

वीर महाराज ! यहाँ महात्मा जमदग्निकी वह यज्ञदीक्षा देखकर स्वयं गन्धर्वराज विश्वावसुने इस श्लोकका गान किया था ॥ १८ ॥

यजमानस्य वै देवाञ्जमदग्नेर्महात्मनः ।
आगम्य सरितो विप्रान् मधुना समतर्पयन् ॥१९॥

'महात्मा जमदग्नि जब यज्ञद्वारा देवताओंका यजन कर रहे थे, उस समय उनके यज्ञमें सरिताओंने आकर मधुसे ब्राह्मणोंको तृप्त किया' ॥ १९ ॥

गन्धर्वयक्षरक्षोभिरप्सरोभिश्च सेवितम् ।
किरातकिन्नरावासं शैलं शिखरिणां वरम् ॥२०॥
बिभेद तरसा गङ्गा गङ्गाद्वारं युधिष्ठिर ।
पुण्यं तत् ख्यायते राजन् ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥२१॥

युधिष्ठिर ! गिरिश्रेष्ठ हिमालय किरातों और किन्नरोंका निवासस्थान है । गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और अप्सराएँ उसका सदा सेवन करती हैं । गङ्गाजी अपने वेगसे उस शैलराजको फोड़कर जहाँ प्रकट हुई है, वह पुण्यस्थान गङ्गाद्वार (हरिद्वार) के नामसे विख्यात है । राजन् ! उस तीर्थका ब्रह्मर्षिगण सदा सेवन करते हैं ॥ २०-२१ ॥

सनत्कुमारः कौरव्य पुण्यं कनखलं तथा ।
पर्वतश्च पुरुर्नाम यत्र यातः पुरूरवाः ॥२२॥

कुरुनन्दन ! पुण्यमय कनखलमें पहले सनत्कुमारने यात्रा की थी । वहीं पुरु नामसे प्रसिद्ध पर्वत है, जहाँ पूर्वकालमें पुरूरवाने यात्रा की थी ॥ २२ ॥

भृगुर्यत्र तपस्तेपे महर्षिगणसेविते ।
राजन् स आश्रमः ख्यातो भृगुतुङ्गो महागिरिः ॥२३॥

राजन् ! महर्षियोंसे सेवित जिस महान् पर्वतपर भृगुने तपस्या की थी, वह भृगुतुङ्ग आश्रमके नामसे विख्यात है ॥ २३ ॥

यः स भूतं भविष्यच्च भवच्च भरतर्षभ ।
नारायणः प्रभुर्विष्णुः शाश्वतः पुरुषोत्तमः ॥२४॥
तस्यातियशसः पुण्यां विशालां बदरीमनु ।
आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥२५॥

भरतश्रेष्ठ ! भूत, भविष्य और वर्तमान जिनका स्वरूप है, जो सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सनातन एवं पुरुषोत्तम नारायण हैं उन अत्यन्त यशस्वी श्रीहरिकी पुण्यमयी विशालापुरी बदरीवनके निकट है । वह नर-नारायणका आश्रम कहा गया है वह पुण्यप्रद बदरिकाश्रम तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥ २४-२५ ॥

उष्णतोयवहा गङ्गा शीततोयवहा पुरा ।
सुवर्णसिकता राजन् विशालां बदरीमनु ॥२६॥

राजन् ! पूर्वकालसे ही विशाला बदरीके समीप गङ्गा कहीं गर्म जल तथा कहीं शीतल जल प्रवाहित करती हैं । उनकी बालू सुवर्णकी भाँति चमकती रहती है ॥ २६ ॥

ऋषयो यत्र देवाश्च महाभागा महौजसः ।
प्राप्य नित्यं नमस्यन्ति देवं नारायणं प्रभुम् ॥२७॥
यत्र नारायणो देवः परमात्मा सनातनः ।
तत्र कृत्स्नं जगत् सर्वं तीर्थान्यायतनानि च ॥२८॥

जहाँ महाभाग एवं महातेजस्वी देवता तथा महर्षि प्रतिदिन जाकर अमित प्रभावशाली भगवान् नारायणको नमस्कार करते हैं । जहाँ सनातन परमात्मा भगवान् नारायण विराजमान हैं, वहाँ सम्पूर्ण जगत् है और समस्त तीर्थ तथा देवालय हैं ॥ २७-२८ ॥

तत् पुण्यं परमं ब्रह्म तत् तीर्थं तत् तपोवनम् ।
तत् परं परमं देवं भूतानां परमेश्वरम् ॥२९॥

वह बदरिकाश्रम पुण्यक्षेत्र और परब्रह्मस्वरूप है । वही तीर्थ है, वही तपोवन है, वही सम्पूर्ण भूतोंका परमदेव परमेश्वर है ॥ २९ ॥

शाश्वतं परमं चैव धातारं परमं पदम् ।
यं विदित्वा न शोचन्ति विद्वांसः शास्त्रदृष्टयः ॥३०॥
तत्र देवर्षयः सिद्धाः सर्वे चैव तपोधनाः ।

वही सनातन परमधाता एवं परमपद है, जिसे जान लेनेपर शास्त्रदर्शी विद्वान् कभी शोक नहीं करते हैं । वहीं देवर्षि सिद्ध और समस्त तपोधन महात्मा निवास करते हैं ॥ ३०½ ॥

आदिदेवो महायोगी यत्रास्ते मधुसूदनः ॥३१॥
पुण्यानामपि तत् पुण्यमत्र ते संशयोऽस्तु मा ।
एतानि राजन् पुण्यानि पृथिव्यां पृथिवीपते ॥३२॥
कीर्तितानि नरश्रेष्ठ तीर्थान्यायतनानि च ।
एतानि वसुभिः साध्यैरादित्यैर्मरुद्भिरश्विभिः ॥३३॥
ऋषिभिर्देवकल्पैश्च सेवितानि महात्मभिः ।
चरन्नेतानि कौन्तेय सहितो ब्राह्मणर्षभैः ।
भ्रातृभिश्च महाभागैरुत्कण्ठां विहरिष्यसि ॥३४॥

जहाँ महायोगी आदिदेव भगवान् मधुसूदन विराजमान हैं वह स्थान पुण्योंका भी पुण्य है । इस विषयमें तुम्हें संशय नहीं होना चाहिये । राजन् ! पृथ्वीपते ! नरश्रेष्ठ ! ये भूमण्डलके पुण्यतीर्थ और आश्रम आदि कहे गये वसु, साध्य, आदित्य, मरुद्गण, अश्विनीकुमार तथा देवोपम महात्मा मुनि इन सब तीर्थोंका सेवन करते हैं । कुन्तीनन्दन !

तुम श्रेष्ठ ब्राह्मणों और महान् सौभाग्यशाली भाइयोंके साथ इन तीर्थोंमें विचरते रहोगे तो अर्जुनके लिये तुम्हारी मिलनेकी उत्कट इच्छा अर्थात् विरहव्याकुलता शान्त हो जायगी ॥ ३१-३४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यतीर्थयात्राविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

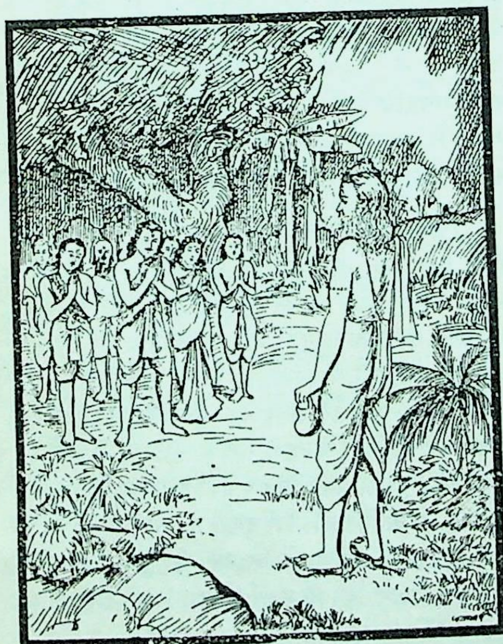
एकनवतितमोऽध्यायः

महर्षि लोमशका आगमन और युधिष्ठिरसे अर्जुनके पाशुपत आदि दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिका वर्णन तथा इन्द्रका संदेश सुनाना

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाषमाणे तु धौम्ये कौरवनन्दन ।
लोमशः स महातेजा ऋषिस्तत्राजगाम ह ॥ १ ॥
तं पाण्डवाग्रजो राजा सगणो ब्राह्मणाश्च ते ।
उपातिष्ठन्महाभागं दिवि शक्रमिवामराः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कौरवनन्दन ! जब धौम्य ऋषि इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय महातेजस्वी महर्षि लोमश वहाँ आये । जैसे स्वर्गमें इन्द्रके आनेपर समस्त देवता उठकर खड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार ज्येष्ठ पाण्डव राजा युधिष्ठिर, उनके समुदायके अन्य लोग तथा वे ब्राह्मण भी उन महाभाग लोमशको आया देख उनके स्वागतके लिये उठकर खड़े हो गये ॥ १-२ ॥



समभ्यर्च्य यथान्यायं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पप्रच्छागमने हेतुमटने च प्रयोजनम् ॥ ३ ॥

धर्मनन्दन युधिष्ठिरने यथायोग्य उनका पूजन करके उन्हें आसनपर बिठाया और वहाँ आने तथा वनमें घूमनेका प्रयोजन पूछा ॥ ३ ॥

स पृष्टः पाण्डुपुत्रेण प्रीयमाणो महामनाः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा हर्षयन्निव पाण्डवान् ॥ ४ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर महामना महर्षि लोमश बड़े प्रसन्न हुए और अपनी मधुर वाणीद्वारा पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाते हुए-से बोले—॥ ४ ॥

संचरन्नस्मि कौन्तेय सर्वाँल्लोकान् यदृच्छया ।
गतः शक्रस्य भवनं तत्रापश्यं सुरेश्वरम् ॥ ५ ॥

'कुन्तीनन्दन ! मैं यों ही इच्छानुसार सम्पूर्ण लोकोंमें विचरण करता हूँ । एक दिन मैं इन्द्रके भवनमें गया और वहाँ देवराज इन्द्रसे मिला ॥ ५ ॥

तव च भ्रातरं वीरमपश्यं सव्यसाचिनम् ।
शक्रस्यार्धासनगतं तत्र मे विस्मयो महान् ॥ ६ ॥

'वहाँ मैंने तुम्हारे वीर भ्राता सव्यसाची अर्जुनको भी देखा, जो इन्द्रके आधे सिंहासनपर बैठे हुए थे । वहाँ उन्हें इस दशामें देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ६ ॥

आसीत् पुरुषशार्दूल दृष्ट्वा पार्थं तथागतम् ।
आह मां तत्र देवेशो गच्छ पाण्डुसुतान् प्रति ॥ ७ ॥

'पुरुषसिंह युधिष्ठिर ! तुम्हारे भाई अर्जुनको इन्द्रके सिंहासनपर बैठा देख जब मैं आश्चर्यचकित हो रहा था, उसी समय देवराज इन्द्रने मुझसे कहा—'मुने ! तुम पाण्डवोंके पास जाओ' ॥ ७ ॥

सोऽहमभ्यागतः क्षिप्रं दिदृक्षुस्त्वां सहानुजम् ।
वचनात् पुरुहूतस्य पार्थस्य च महात्मनः ॥ ८ ॥

'उन इन्द्रके आदेशसे मैं भाइयोंसहित तुम्हें देखनेके लिये शीघ्रतापूर्वक यहाँ आया हूँ । इसके लिये इन्द्रने तो मुझसे कहा ही था, महात्मा अर्जुनने भी अनुरोध किया था ॥

आख्यास्ये ते प्रियं तात महत् पाण्डवनन्दन ।
ऋषिभिः सहितो राजन् कृष्णया चैव तच्छृणु ॥ ९ ॥

यत् त्वयोक्तो महाबाहुरस्त्रार्थं भरतर्षभ ।
तदस्त्रमाप्तं पार्थेन रुद्रादप्रतिमं विभो ॥१०॥

'तात ! पाण्डवोंको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर ! मैं तुम्हें बड़ा प्रिय समाचार सुनाऊँगा । राजन् ! तुम इन महर्षियों और द्रौपदीके साथ मेरी बात सुनो । भरतकुलभूषण विभो ! तुमने महाबाहु अर्जुनको दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिके लिये जो आदेश दिया था, उसके विषयमें यह निवेदन करना है कि अर्जुनने भगवान् शङ्करसे उनका अनुपम अस्त्र (पाशुपत) प्राप्त कर लिया है ॥ ९-१० ॥

यत् तद् ब्रह्मशिरो नाम तपसा रुद्रमागमत् ।
अमृतादुत्थितं रौद्रं तल्लब्धं सव्यसाचिना ॥११॥

'जो ब्रह्मशिर नामक अस्त्र अमृतसे प्रकट होकर तपस्याके प्रभावसे भगवान् शङ्करको मिला था, वही पाशुपतास्त्र सव्यसाची अर्जुनने प्राप्त कर लिया है ॥ ११ ॥

तत् समन्त्रं ससंहारं सप्रायश्चित्तमङ्गलम् ।
वज्रमस्त्राणि चान्यानि दण्डादीनि युधिष्ठिर ॥१२॥

'युधिष्ठिर ! रुद्र देवताका वह वज्रके समान दुर्भेद्य अस्त्र मन्त्र, उपसंहार, प्रायश्चित्त और मङ्गलसहित अर्जुनने पा लिया है । साथ ही, दण्ड आदि अन्य अस्त्र भी उन्होंने हस्तगत कर लिये हैं ॥ १२ ॥

यमात् कुबेराद् वरुणादिन्द्राच्च कुरुनन्दन ।
अस्त्राण्यधीतवान् पार्थो दिव्यान्यमितविक्रमः ॥१३॥

'कुरुनन्दन ! अमित पराक्रमी अर्जुनने यम, कुबेर, वरुण और इन्द्रसे दिव्यास्त्रोंका अध्ययन किया है ॥ १३ ॥

विश्वावसोस्तु तनयाद् गीतं नृत्यं च साम च ।
वादित्रं च यथान्यायं प्रत्यविन्दद् यथाविधि ॥१४॥

'इतना ही नहीं, उन्होंने विश्वावसुके पुत्रसे नृत्य, गीत, सामगान और वाद्यकलाकी भी विधिपूर्वक यथोचित शिक्षा प्राप्त कर ली है ॥ १४ ॥

एवं कृतास्त्रः कौन्तेयो गान्धर्वं वेदमाप्तवान् ।
सुखं वसति बीभत्सुरनुजस्यानुजस्तव ॥१५॥

'इस प्रकार अस्त्रविद्यामें निपुणता प्राप्त करके कुन्तीकुमारने गान्धर्ववेद (संगीतविद्या) को भी प्राप्त कर लिया है । अब तुम्हारे छोटे भाई भीमसेनके छोटे भाई अर्जुन वहाँ बड़े सुखसे रह रहे हैं ॥ १५ ॥

यदर्थं मां सुरश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ।
तच्च ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर निबोध मे ॥१६॥

'युधिष्ठिर ! देवश्रेष्ठ इन्द्रने मुझसे तुम्हारे लिये जो संदेश कहा था, उसे अब तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो ॥ १६ ॥

भवान् मनुष्यलोकेऽपि गमिष्यति न संशयः ।
ब्रूयाद् युधिष्ठिरं तत्र वचनान्मे द्विजोत्तम ॥१७॥
आगमिष्यति ते भ्राता कृतास्त्रः क्षिप्रमर्जुनः ।
सुरकार्यं महत् कृत्वा यदशक्यं दिवौकसाम् ॥१८॥
तपसापि त्वमात्मानं योजय भ्रातृभिः सह ।
तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ॥१९॥

'उन्होंने मुझसे कहा—द्विजोत्तम ! इसमें संदेह नहीं कि आप घूमते-घामते मनुष्यलोकमें भी जायँगे; अतः मेरे अनुरोधसे आप राजा युधिष्ठिरके पास जाकर यह बात कह दीजियेगा—'राजन् ! तुम्हारे भाई अर्जुन अस्त्रविद्यामें निपुण हो चुके हैं । अब वे देवताओंका एक बहुत बड़ा कार्य, जिसे देवता स्वयं नहीं कर सकते, सिद्ध करके शीघ्र तुम्हारे पास आ जायँगे; तबतक तुम भी अपने भाइयोंके साथ स्वयंको तपस्यामें लगाओ; क्योंकि तपस्यासे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है । तपस्यासे महान् फलकी प्राप्ति होती है ॥ १७–१९ ॥

अहं च कर्णं जानामि यथावद् भरतर्षभ ।
सत्यसंधं महोत्साहं महावीर्यं महाबलम् ॥२०॥

''भरतश्रेष्ठ ! मैं कर्णको अच्छी तरह जानता हूँ । वह सत्यप्रतिज्ञ, अत्यन्त उत्साही, महापराक्रमी और महाबली है ॥

महाहवेष्वप्रतिमं महायुद्धविशारदम् ।
महाधनुर्धरं वीरं महास्त्रं वरवर्णिनम् ॥२१॥
महेश्वरसुतप्रख्यमादित्यतनयं प्रभुम् ।
तथार्जुनमतिस्कन्दं सहजोल्वणपौरुषम् ॥२२॥
न स पार्थस्य संग्रामे कलामर्हति षोडशीम् ।
यच्चापि ते भयं कर्णान्मनसिस्थमरिंदम ॥२३॥
तच्चाप्यपहरिष्यामि सव्यसाचिन्युपागते ।
यच्च ते मानसं वीर तीर्थयात्रामिमां प्रति ।
स महर्षिर्लोमशस्ते कथयिष्यत्यसंशयम् ॥२४॥

''बड़े-बड़े संग्रामोंमें उसकी समानता करनेवाला कोई नहीं है । वह महान् युद्धविशारद, महाधनुर्धर, अस्त्र-शस्त्रोंका महान् ज्ञाता, श्रेष्ठ, सुन्दर महेश्वरपुत्र कार्तिकेयके समान पराक्रमी, सूर्यदेवताका पुत्र और शक्तिशाली वीर है । इसी प्रकार मैं अर्जुनको भी जानता हूँ । वह कार्तिकेयसे भी बढ़कर है, उसमें स्वभावसे ही दुःसह पुरुषार्थ भरा हुआ है । युद्धमें कर्ण अर्जुनकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं है । शत्रुदमन ! तुम्हारे मनमें जिस बातको लेकर कर्णसे भय बना रहता है, मैं अर्जुनके लौटनेपर तुम्हारे उस भयको भी दूर कर दूँगा । वीरवर ! तीर्थयात्राके विषयमें जो तुम्हारा मानसिक संकल्प है, उसके विषयमें महर्षि लोमश निश्चय ही तुमसे सब कुछ बतावेंगे ॥ २१–२४ ॥

यच्च किंचित् तपोयुक्तं फलं तीर्थेषु भारत ।
ब्रह्मर्षिरेष ब्रूयात् ते तच्छ्रद्धेयं न चान्यथा ॥२५॥

''भरतनन्दन ! तीर्थोंमें जो कुछ तपस्यायुक्त फल प्राप्त होता है, वह सब ये ब्रह्मर्षि लोमश तुम्हें बतायेंगे, तुम्हें उस-पर विश्वास करना चाहिये । उसमें अन्यथाबुद्धि नहीं करनी चाहिये'' ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशसंवादे एकनवतितमोऽध्यायः ॥९१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें युधिष्ठिरलोमश-संवादविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

महर्षि लोमशके मुखसे इन्द्र और अर्जुनका संदेश सुनकर युधिष्ठिरका प्रसन्न होना और तीर्थयात्राके लिये उद्यत हो अपने अधिक साथियोंको विदा करना

लोमश उवाच

धनंजयेन चाप्युक्तं यत् तच्छृणु युधिष्ठिर ।
युधिष्ठिरं भ्रातरं मे योजयेर्धर्म्यया श्रिया ॥ १ ॥
त्वं हि धर्मान् परान् वेत्थ तपांसि च तपोधन ।
श्रीमतां चापि जानासि धर्मं राज्ञां सनातनम् ॥ २ ॥

लोमश मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब मैं आने लगा, तब अर्जुनने भी मुझसे जो बात कही थी, वह सुनो । वे बोले—'तपोधन ! आप मेरे बड़े भैया युधिष्ठिरको धर्मानुकूल राजलक्ष्मीसे संयुक्त कीजिये । आप उत्कृष्ट धर्मों और तपस्याओंको जानते हैं । श्रीसम्पन्न राजाओंका जो सनातन धर्म है, उसका भी आपको पूर्ण ज्ञान है ॥ १-२ ॥

स भवान् परमं वेद पावनं पुरुषं प्रति ।
तेन संयोजयेथास्त्वं तीर्थपुण्येन पाण्डवान् ॥ ३ ॥

'पुरुषको पवित्र बनानेवाला जो उत्तम साधन है, उसे आप जानते हैं। अतः आप पाण्डवोंको तीर्थयात्राजनित पुण्यसे सम्पन्न कीजिये ॥ ३ ॥

यथा तीर्थानि गच्छेत गाश्च दद्यात् स पार्थिवः ।
तथा सर्वात्मना कार्यमिति मामर्जुनोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

'महाराज युधिष्ठिर जिस प्रकार तीर्थोंमें जायँ और वहाँ गोदान करें, वैसा सब प्रकारसे प्रयत्न कीजियेगा ।' यह बात अर्जुनने मुझसे कही थी ॥ ४ ॥

भवता चानुगुप्तोऽसौ चरेत् तीर्थानि सर्वशः ।
रक्षोभ्यो रक्षितव्यश्च दुर्गेषु विषमेषु च ॥ ५ ॥

उन्होंने यह भी कहा—'महाराज युधिष्ठिर आपसे सुरक्षित रहकर सब तीर्थोंमें विचरण करें । दुर्गम स्थानों और विषम अवसरोंमें आप राक्षसोंसे उनकी रक्षा करें ॥ ५ ॥

दधीच इव देवेन्द्रं यथा चाप्यङ्गिरा रविम् ।
तथा रक्षस्व कौन्तेयान् राक्षसेभ्यो द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! जैसे दधीचने देवराज इन्द्रकी और महर्षि अङ्गिराने सूर्यकी रक्षा की है, उसी प्रकार आप राक्षसोंसे कुन्ती-कुमारोंकी रक्षा कीजिये ॥ ६ ॥

यातुधाना हि बहवो राक्षसाः पर्वतोपमाः ।
त्वयाभिगुप्तं कौन्तेयं न विवर्तेयुरन्तिकम् ॥ ७ ॥

'बहुत-से पिशाच तथा राक्षस, जो पर्वतोंके समान विशाल-काय हैं, आपसे सुरक्षित राजा युधिष्ठिरके पास नहीं आ सकेंगे' ॥

सोऽहमिन्द्रस्य वचनान्नियोगादर्जुनस्य च ।
रक्षमाणो भयेभ्यस्त्वां चरिष्यामि त्वया सह ॥ ८ ॥

राजन् ! इस प्रकार मैं इन्द्रके कथन और अर्जुनके अनुरोधसे सब प्रकारके भयसे तुम्हारी रक्षा करते हुए तुम्हारे साथ-साथ तीर्थोंमें विचरण करूँगा ॥ ८ ॥

द्विस्तीर्थानि मया पूर्वं दृष्टानि कुरुनन्दन ।
इदं तृतीयं द्रक्ष्यामि तान्येव भवता सह ॥ ९ ॥

कुरुनन्दन ! पहले दो बार मैंने सब तीर्थोंके दर्शन कर लिये; अब तीसरी बार तुम्हारे साथ पुनः उनका दर्शन करूँगा ॥

इयं राजर्षिभिर्याता पुण्यकृद्भिर्युधिष्ठिर ।
मन्वादिभिर्महाराज तीर्थयात्रा भयापहा ॥१०॥

महाराज युधिष्ठिर ! यह तीर्थयात्रा सब प्रकारके भयका नाश करनेवाली है । मनु आदि पुण्यात्मा राजर्षियोंने इस तीर्थयात्रारूपी धर्मका पालन किया है ॥ १० ॥

नानृजुर्नाकृतात्मा च नाविद्यो न च पापकृत् ।
स्नाति तीर्थेषु कौरव्य न च वक्रमतिर्नरः ॥११॥

कुरुनन्दन ! जो सरल नहीं है, जिसने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, जो विद्याहीन और पापात्मा है तथा जिसकी बुद्धि कुटिलतासे भरी हुई है, ऐसा मनुष्य (श्रद्धा न होनेके कारण) तीर्थोंमें स्नान नहीं करता ॥११॥

त्वं तु धर्ममतिर्नित्यं धर्मज्ञः सत्यसंगरः ।
विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो भूय एव भविष्यसि ॥१२॥

तुम तो सदा धर्ममें मन लगाये रखनेवाले, धर्मज्ञ, सत्य-प्रतिज्ञ और सब प्रकारकी आसक्तियोंसे शून्य हो और आगे भी तुममे अधिकाधिक इन गुणोंका विकास होगा ॥ १२ ॥

यथा भगीरथो राजा राजानश्च गयादयः ।
यथा ययातिः कौन्तेय तथा त्वमपि पाण्डव ॥१३॥

कुन्तीकुमार पाण्डुनन्दन ! जैसे राजा भगीरथ हो गये हैं, जैसे गय आदि राजर्षि हो चुके हैं तथा जैसे महाराज ययाति हुए हैं, वैसे ही तुम भी विख्यात हो ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न हर्षात् सम्प्रपश्यामि वाक्यस्यास्योत्तरं क्वचित् ।
स्मरेद्धि देवराजो यं को नामाभ्यधिकस्ततः ॥१४॥

युधिष्ठिर बोले—महर्षे ! आपके दर्शन और आपकी बातोंके सुननेसे मुझे इतना अधिक हर्ष हुआ है कि मुझे इन वचनोंका कोई उत्तर नहीं सूझता । देवराज इन्द्र जिसका स्मरण करते हों, उससे बढ़कर इस संसारमें कौन है ! ॥१४॥

भवता संगमो यस्य भ्राता चैव धनंजयः ।
वासवः स्मरते यस्य को नामाभ्यधिकस्ततः ॥१५॥

जिसे आपका संग प्राप्त हो, जिसके अर्जुन-जैसा भाई हो और जिसे इन्द्र याद करते हों, उससे बढ़कर सौभाग्यशाली और कौन है ! ॥ १५ ॥

यच्च मां भगवानाह तीर्थानां दर्शनं प्रति ।
धौम्यस्य वचनादेषा बुद्धिः पूर्वं कृतैव मे ॥१६॥

भगवन् ! आपने मुझे तीर्थोंके दर्शनके लिये जो उत्साह प्रदान किया है, वह ठीक है । मैंने पहलेसे ही धौम्यजीके आदेशसे तीर्थोंमें जानेका विचार कर रखा है ॥ १६ ॥

तद् यदा मन्यसे ब्रह्मन् गमनं तीर्थदर्शने ।
तदैव गन्तास्मि तीर्थान्येष मे निश्चयः परः ॥१७॥

अतः ब्रह्मन् ! आप जब ठीक समझें तभी मैं तीर्थोंके दर्शनके लिये चल दूँगा; यही मेरा अन्तिम निश्चय है ॥१७॥

वैशम्पायन उवाच

गमने कृतबुद्धिं तु पाण्डवं लोमशोऽब्रवीत् ।
लघुर्भव महाराज लघुः स्वैरं गमिष्यसि ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तीर्थयात्राके लिये जिन्होंने निश्चित विचार कर लिया था, उन पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे महर्षि लोमशने कहा—'महाराज ! लोकसमूहसे आप हल्के हो जाइये—थोड़े ही लोगोंको साथ रखिये; क्योंकि थोड़े संगी-साथी होनेपर आप इच्छानुसार सर्वत्र जा सकेंगे' ॥

युधिष्ठिर उवाच

भिक्षाभुजो निवर्तन्तां ब्राह्मणा यतयश्च ये ।
क्षुत्तृडध्वश्रमायासशीतार्तिमसहिष्णवः ॥१९॥

युधिष्ठिर बोले—जो भिक्षाभोजी ब्राह्मण और संन्यासी हैं तथा जो भूख-प्यास, परिश्रम-थकावट और सर्दीकी पीड़ा सहन न कर सकें, उन्हें लौट जाना चाहिये ॥ १९ ॥

ते सर्वे विनिवर्तन्तां ये च मिष्टभुजो द्विजाः ।
पक्वान्नलेह्यपानानां मांसानां च विकल्पकाः ॥२०॥

जो द्विज मिष्टान्नभोजी हैं, वे भी लौट जायँ । जो पक्वान्न, चटनी, पेय पदार्थ और मांस आदि खानेवाले मनुष्य हों, वे भी लौट जायँ ॥ २० ॥

तेऽपि सर्वे निवर्तन्तां ये च सूदानुयायिनः ।
मया यथोचिताजीव्यैः संविभक्ताश्च वृत्तिभिः ॥२१॥

जो लोग रसोइयोंकी अपेक्षा रखनेवाले हैं तथा जिन्हें मैंने अलग-अलग बाँटकर उचित-उचित आजीविकाकी व्यवस्था कर दी है, वे सब लोग घर लौट जायँ ॥ २१ ॥

ये चाप्यनुरताः पौरा राजभक्तिपुरःसराः ।
धृतराष्ट्रं महाराजमभिगच्छन्तु ते च वै ॥२२॥
स दास्यति यथाकालमुचिता यस्य या भृतिः ।
स चेद् यथोचितां वृत्तिं न दद्यान्मनुजेश्वरः ॥२३॥
अस्मत्प्रियहितार्थाय पाञ्चाल्यो वः प्रदास्यति ॥२४॥

जो पुरवासी राजभक्तिवश मेरे पीछे-पीछे चले आये हैं, वे अब महाराज धृतराष्ट्रके पास चले जायँ । वे उनके लिये यथा-समय समुचित आजीविका प्रदान करेंगे । यदि राजा धृतराष्ट्र उचित जीविकाकी व्यवस्था न करें तो पाञ्चालनरेश द्रुपद हमारा प्रिय और हित करनेके लिये अवश्य आपलोगोंको जीविका देंगे ॥ २२—२४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो भूयिष्ठशः पौरा गुरुभारप्रपीडिताः ।
विप्राश्च यतयो मुख्या जग्मुर्नागपुरं प्रति ॥२५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब बहुत-से नागरिक, ब्राह्मण और यति मानसिक दुःखके भारी भारसे पीड़ित हो हस्तिनापुरको चले गये ॥ २५ ॥

तान् सर्वान् धर्मराजस्य प्रेम्णा राजाम्बिकासुतः ।
प्रतिजग्राह विधिवद् धनैश्च समतर्पयत् ॥२६॥

अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने धर्मराज युधिष्ठिरके स्नेहवश उन सबको विधिपूर्वक अपनाया और उन्हें धन देकर तृप्त किया ॥ २६ ॥

ततः कुन्तीसुतो राजा लघुभिर्ब्राह्मणैः सह ।
लोमशेन च सुप्रीतस्त्रिरात्रं काम्यकेऽवसत् ॥२७॥

तदनन्तर कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर थोड़े-से ब्राह्मणों और लोमशजीके साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक तीन राततक काम्यक वनमें टिके रहे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमोऽध्यायः

ऋषियोंको नमस्कार करके पाण्डवोंका तीर्थयात्राके लिये विदा होना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयान्तं कौन्तेयं ब्राह्मणा वनवासिनः।
अभिगम्य तदा राजन्निदं वचनमब्रुवन्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको तीर्थयात्राके लिये उद्यत जान काम्यकवनके निवासी ब्राह्मण उनके निकट आकर इस प्रकार बोले—॥ १॥

राजंस्तीर्थानि गन्तासि पुण्यानि भ्रातृभिः सह।
ऋषिणा चैव सहितो लोमशेन महात्मना॥ २॥

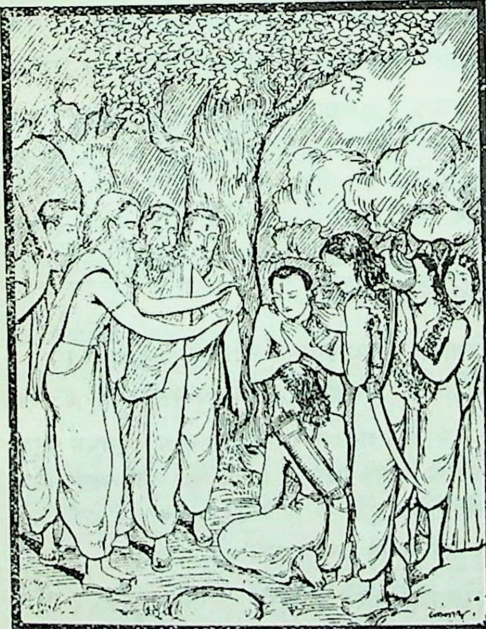
'महाराज! आप अपने भाइयों तथा महात्मा लोमश मुनिके साथ पुण्यतीर्थोंमें जानेवाले हैं॥ २॥

अस्मानपि महाराज नेतुमर्हसि पाण्डव।
अस्माभिर्हि न शक्यानि त्वदृते तानि कौरव॥ ३॥

'कुरुकुलतिलक पाण्डुनन्दन! हमें भी अपने साथ ले चलें। महाराज! आपके बिना हमलोग उन तीर्थोंकी यात्रा नहीं कर सकते॥ ३॥

श्वापदैरुपसृष्टानि दुर्गाणि विषमाणि च।
अगम्यानि नरैरल्पैस्तीर्थानि मनुजेश्वर॥ ४॥

'मनुजेश्वर! वे सभी तीर्थ हिंसक जन्तुओंसे भरे पड़े हैं। दुर्गम और विषम भी हैं। थोड़े-से मनुष्य वहाँकी यात्रा नहीं कर सकते॥ ४॥



भवतो भ्रातरः शूरा धनुर्धरवराः सदा।
भवद्भिः पालिताः शूरैर्गच्छामो वयमप्युत॥ ५॥

'आपके भाई शूरवीर हैं और सदा श्रेष्ठ धनुष धारण किये रहते हैं। आप-जैसे शूरवीरोंसे सुरक्षित होकर हम भी उन तीर्थोंकी यात्रा पूरी कर लेंगे॥ ५॥

भवत्प्रसादाद्धि वय प्राप्नुयाम सुखं फलम्।
तीर्थानां पृथिवीपाल वनानां च विशाम्पते॥ ६॥

'भूपाल! प्रजानाथ! आपके प्रसादसे हमलोग भी उन तीर्थों और वनोंकी यात्राका फल अनायास ही पा लेंगे॥ ६॥

तव वीर्यपरित्राताः शुद्धास्तीर्थपरिप्लुताः।
भवेम धूतपाप्मानस्तीर्थसंदर्शनान्नृप॥ ७॥

'नरेश्वर! आपके बल-पराक्रमसे सुरक्षित हो हम भी तीर्थोंमें स्नान करके शुद्ध हो जायँगे और उन तीर्थोंके दर्शनसे हमारे सब पाप धुल जायँगे॥ ७॥

भवानपि नरेन्द्रस्य कार्तवीर्यस्य भारत।
अष्टकस्य च राजर्षेर्लोमपादस्य चैव ह॥ ८॥
भरतस्य च वीरस्य सार्वभौमस्य पार्थिव।
ध्रुवं प्राप्स्यसि दुष्प्रापाँल्लोकांस्तीर्थपरिप्लुतः॥ ९॥

'भूपाल! भरतनन्दन! आप भी तीर्थोंमें नहाकर राजा कार्तवीर्य अर्जुन, राजर्षि अष्टक, लोमपाद और भूमण्डलमें सर्वत्र विदित सम्राट् वीरवर भरतको मिलनेवाले दुर्लभ लोकोंको अवश्य प्राप्त कर लेंगे॥ ८-९॥

प्रभासादीनि तीर्थानि महेन्द्रादींश्च पर्वतान्।
गङ्गाद्याः सरितश्चैव प्लक्षादींश्च वनस्पतीन्॥ १०॥
त्वया सह महीपाल द्रष्टुमिच्छामहे वयम्।
यदि ते ब्राह्मणेष्वस्ति काचित् प्रीतिर्जनाधिप॥ ११॥
कुरु क्षिप्रं वचोऽस्माकं ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे।

'महीपाल! प्रभास आदि तीर्थों, महेन्द्र आदि पर्वतों, गङ्गा आदि नदियों तथा प्लक्ष आदि वृक्षोंका हम आपके साथ दर्शन करना चाहते हैं। जनेश्वर! यदि आपके मनमें ब्राह्मणोंके प्रति कुछ प्रेम है तो आप हमारी बात शीघ्र मान लीजिये; इससे आपका कल्याण होगा॥ १०-११½॥

तीर्थानि हि महाबाहो तपोविघ्नकरैः सदा॥ १२॥
अनुकीर्णानि रक्षोभिस्तेभ्यो नस्त्रातुमर्हसि।

'महाबाहो! तपस्यामें विघ्न डालनेवाले बहुत-से राक्षस उन तीर्थोंमें भरे पड़े हैं, उनसे आप हमारी रक्षा करनेमें समर्थ हैं॥ १२½॥

तीर्थान्युक्तानि धौम्येन नारदेन च धीमता ॥१३॥
यान्युवाच च देवर्षिर्लोमशः सुमहातपाः ।
विधिवत् तानि सर्वाणि पर्यटस्व नराधिप ॥१४॥
धूतपाप्मा सहास्माभिर्लोमशेनाभिपालितः ।

'नरेश्वर ! आप पापरहित हैं, धौम्य मुनि, परम बुद्धिमान् नारदजी तथा महातपस्वी देवर्षि लोमशने जिन-जिन तीर्थोंका वर्णन किया है, उन सबमें आप महर्षि लोमशजीसे सुरक्षित हो हमारे साथ विधिपूर्वक भ्रमण करें ॥ १३-१४½ ॥

स राजा पूज्यमानस्तैर्हर्षादश्रुपरिप्लुतः ॥१५॥
भीमसेनादिभिर्वीरैर्भ्रातृभिः परिवारितः ।
बाढमित्यब्रवीत् सर्वांस्तानृषीन् पाण्डवर्षभः ॥१६॥
लोमशं समनुज्ञाप्य धौम्यं चैव पुरोहितम् ।

पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर अपने वीर भ्राता भीमसेन आदिसे घिरकर खड़े थे । उन ब्राह्मणोंद्वारा इस प्रकार सम्मानित होनेपर उनके नेत्रोंमें हर्षके आँसू भर आये । उन्होंने देवर्षि लोमश तथा पुरोहित धौम्यजीकी आज्ञा लेकर उन सब ऋषियोंसे 'बहुत अच्छा' कहकर उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया ॥ १५-१६½ ॥

ततः स पाण्डवश्रेष्ठो भ्रातृभिः सहितो वशी ॥१७॥
द्रौपद्या चानवद्याङ्ग्या गमनाय मनो दधे ।

तदनन्तर मन-इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरने भाइयों तथा सुन्दर अङ्गोंवाली द्रौपदीके साथ यात्रा करनेका मन-ही-मन निश्चय किया ॥ १७½ ॥

अथ व्यासो महाभागस्तथा पर्वतनारदौ ॥१८॥
काम्यके पाण्डवं द्रष्टुं समाजग्मुर्मनीषिणः ।
तेषां युधिष्ठिरो राजा पूजां चक्रे यथाविधि ।
सत्कृतास्ते महाभागा युधिष्ठिरमथाब्रुवन् ॥१९॥

इतनेहीमें महाभाग व्यास, पर्वत और नारद आदि मनीषीजन काम्यकवनमें पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे मिलनेके लिये आये । राजा युधिष्ठिरने उनकी विधिपूर्वक पूजा की । उनसे सत्कार पाकर वे महाभाग महर्षि महाराज युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले ॥१८-१९ ॥

ऋषय ऊचुः

युधिष्ठिर यमौ भीम मनसा कुरुतार्जवम् ।
मनसा कृतशौचा वै शुद्धास्तीर्थानि यास्यथ ॥२०॥

ऋषियोंने कहा—युधिष्ठिर ! भीमसेन ! नकुल ! और सहदेव ! तुमलोग तीर्थोंके प्रति मनसे श्रद्धापूर्वक सरलभाव रक्खो । मनसे शुद्धिका सम्पादन करके शुद्धचित्त होकर तीर्थोंमें जाओ ॥ २० ॥

शरीरनियमं प्राहुर्ब्राह्मणा मानुषं व्रतम् ।
मनोविशुद्धां बुद्धिं च दैवमाहुर्व्रतं द्विजाः ॥२१॥

ब्राह्मणलोग शरीर-शुद्धिके नियमको मानुषव्रत बताते हैं और मनके द्वारा शुद्ध की हुई बुद्धिको 'दैवव्रत' कहते हैं ॥

मनो ह्यदुष्टं शौचाय पर्याप्तं वै नराधिप ।
मैत्रीं बुद्धिं समास्थाय शुद्धास्तीर्थानि द्रक्ष्यथ ॥२२॥

नरेश्वर ! यदि मन राग-द्वेषसे दूषित न हो तो वह शुद्धिके लिये पर्याप्त माना गया है । सब प्राणियोंके प्रति मैत्री-बुद्धिका आश्रय ले शुद्धभावसे तीर्थोंका दर्शन करो ॥ २२ ॥

ते यूयं मानसैः शुद्धाः शरीरनियमव्रतैः ।
दैवं व्रतं समास्थाय यथोक्तं फलमाप्स्यथ ॥२३॥

तुम मानसिक और शारीरिक नियमव्रतोंसे शुद्ध हो । दैवव्रतका आश्रय ले यात्रा करोगे तो तीर्थोंका तुम्हें यथावत् फल प्राप्त होगा ॥ २३ ॥

ते तथेति प्रतिज्ञाय कृष्णया सह पाण्डवाः ।
कृतस्वस्त्ययनाः सर्वे मुनिभिर्दिव्यमानुषैः ॥२४॥

महर्षियोंके ऐसा कहनेपर द्रौपदीसहित पाण्डवोंने 'बहुत अच्छा' कहकर (उनकी आज्ञाएँ शिरोधार्य कीं और उनके बताये हुए नियमोंका पालन करनेकी) प्रतिज्ञा की । तत्पश्चात् उन दिव्य और मानव महर्षियोंने उन सबके लिये स्वस्तिवाचन किया ॥ २४ ॥

लोमशस्योपसंगृह्य पादौ द्वैपायनस्य च ।
नारदस्य च राजेन्द्र देवर्षेः पर्वतस्य च ॥२५॥
धौम्येन सहिता वीरास्तथा तैर्वनवासिभिः ।
मार्गशीर्ष्यामतीतायां पुष्येण प्रययुस्ततः ॥२६॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर महर्षि लोमश, द्वैपायन व्यास, देवर्षि नारद और पर्वतके चरणोंका स्पर्श करके वनवासी ब्राह्मणों, पुरोहित धौम्य और लोमश आदिके साथ वीर पाण्डव तीर्थयात्राके लिये निकले । मार्गशीर्षकी पूर्णिमा व्यतीत होनेपर जब पुष्य नक्षत्र आया, तब उसी नक्षत्रमें उन्होंने यात्रा प्रारम्भ की ॥ २५-२६ ॥

कठिनानि समादाय चीराजिनजटाधराः ।
अभेद्यैः कवचैर्युक्तास्तीर्थान्यन्वचरंस्ततः ॥२७॥

उन सबने शरीरपर फटे-पुराने वस्त्र या मृगचर्म धारण कर रखे थे । उनके मस्तकपर जटाएँ थीं । उनके अङ्ग अभेद्य कवचोंसे ढके हुए थे । वे सूर्यप्रदत्त बटलोई आदि पात्र लेकर वहाँ तीर्थोंमें विचरण करने लगे ॥ २७ ॥

इन्द्रसेनादिभिर्भृत्यै रथैः परिचतुर्दशैः ।
महानसव्यापृतैश्च तथान्यैः परिचारकैः ॥२८॥

उनके साथ इन्द्रसेन आदि चौदहसे अधिक सेवक रथ लिये पीछे-पीछे जा रहे थे। रसोईके काममें संलग्न रहनेवाले अन्यान्य सेवक भी उनके साथ थे ॥ २८ ॥

सायुधा बद्धनिस्त्रिंशास्तूणवन्तः समार्गणाः।
प्राङ्मुखाः प्रययुर्वीराः पाण्डवा जनमेजय ॥२९॥

जनमेजय! वीर पाण्डव आवश्यक अस्त्र-शस्त्र ले कमरमें तलवार बाँधकर पीठपर तरकस कसे हुए हाथोंमें बाण लिये पूर्वदिशाकी ओर मुँह करके वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

देवताओं और धर्मात्मा राजाओंका उदाहरण देकर महर्षि लोमशका युधिष्ठिरको अधर्मसे हानि बताना और तीर्थयात्राजनित पुण्यकी महिमाका वर्णन करते हुए आश्वासन देना

युधिष्ठिर उवाच

न वै निर्गुणमात्मानं मन्ये देवर्षिसत्तम।
तथास्मि दुःखसंतप्तो यथा नान्यो महीपतिः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—देवर्षिप्रवर लोमश! मेरी समझसे मैं अपनेको सात्त्विक गुणोंसे हीन नहीं मानता तो भी दुःखोंसे इतना संतप्त होता रहता हूँ, जितना दूसरा कोई राजा नहीं हुआ होगा ॥ १ ॥

परांश्च निर्गुणान् मन्ये न च धर्मगतानपि।
ते च लोमश लोकेऽस्मिन्नृध्यन्ते केन हेतुना ॥ २ ॥

इसके सिवा, दुर्योधनादि शत्रुओंको सात्त्विक गुणोंसे रहित समझता हूँ। साथ ही यह भी जानता हूँ कि वे धर्मपरायण नहीं हैं तो भी वे इस लोकमें उत्तरोत्तर समृद्धिशाली होते जा रहे हैं, इसका क्या कारण है? ॥ २ ॥

लोमश उवाच

नात्र दुःखं त्वया राजन् कार्यं पार्थ कथंचन।
यदधर्मेण वर्धेयुरधर्मरुचयो जनाः ॥ ३ ॥

लोमशजीने कहा—राजन्! कुन्तीनन्दन! अधर्ममें रुचि रखनेवाले लोग यदि उस अधर्मके द्वारा बढ़ रहे हों तो इसके लिये तुम्हें किसी प्रकार दुःख नहीं मानना चाहिये ॥ ३ ॥

वर्धत्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ ४ ॥

पहले अधर्मद्वारा मनुष्य बढ़ सकता है, फिर अपने मनोऽनुकूल सुख-सम्पत्तिरूप अभ्युदयको देख सकता है, तत्पश्चात् वह शत्रुओंपर विजय पा सकता है और अन्तमें जड़-मूलसहित नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

मया हि दृष्टा दैतेया दानवाश्च महीपते।
वर्धमाना ह्यधर्मेण क्षयं चोपगताः पुनः ॥ ५ ॥

महीपाल! मैंने दैत्यों और दानवोंको अधर्मके द्वारा बढ़ते और पुनः नष्ट होते भी देखा है ॥ ५ ॥

पुरा देवयुगे चैव दृष्टं सर्वं मया विभो।
अरोचयन् सुरा धर्मं धर्मं तत्यजिरेऽसुराः ॥ ६ ॥

प्रभो! पहले देवयुगमें ही मैंने यह सब अपनी आँखों देखा है। देवताओंने धर्मके प्रति अनुराग किया और असुरोंने उसका परित्याग कर दिया ॥ ६ ॥

तीर्थानि देवा विविशुर्नाविशन् भारतासुराः।
तानधर्मकृतो दर्पः पूर्वमेव समाविशत् ॥ ७ ॥

भरतनन्दन! देवताओंने स्नानके लिये तीर्थोंमें प्रवेश किया, परंतु असुर उनमें नहीं गये। अधर्मजनित दर्प असुरोंमें पहलेसे ही समा गया था ॥ ७ ॥

दर्पान्मानः समभवन्मानात् क्रोधो व्यजायत।
क्रोधादह्रीस्ततोऽलज्जा वृत्तं तेषां ततोऽनशत् ॥ ८ ॥

दर्पसे मान हुआ और मानसे क्रोध उत्पन्न हुआ। क्रोधसे निर्लज्जता आयी और निर्लज्जताने उनके सदाचारको नष्ट कर दिया ॥

तानलज्जान् गतह्रीकान् हीनवृत्तान् वृथाव्रतान्।
क्षमा लक्ष्मीः स्वधर्मश्च न चिरात् प्रजहुस्ततः ॥ ९ ॥
लक्ष्मीस्तु देवानगमदलक्ष्मीरसुरान् नृप।
तानलक्ष्मीसमाविष्टान् दर्पोपहतचेतसः ॥ १० ॥
दैतेयान् दानवांश्चैव कलिरप्याविशत् ततः।
तानलक्ष्मीसमाविष्टान् दानवान् कलिना हतान् ॥ ११ ॥
दर्पाभिभूतान् कौन्तेय क्रियाहीनानचेतसः।
मानाभिभूतानचिराद् विनाशः समपद्यत ॥ १२ ॥

इस प्रकार लज्जा, संकोच और सदाचारसे हीन एवं निष्फल व्रतका आचरण करनेवाले उन असुरोंको क्षमा, लक्ष्मी और स्वधर्मने शीघ्र त्याग दिया। राजन्! लक्ष्मी देवताओंके पास चली गयी और अलक्ष्मी असुरोंके यहाँ। अलक्ष्मीके आवेशसे युक्त होनेपर उनका चित्त दर्प और अभिमानसे दूषित हो

गया। उस दशामें उन दैत्यों और दानवोंमें कलिका भी प्रवेश हो गया। जब वे दानव अलक्ष्मीसे संयुक्त, कलिसे तिरस्कृत और अभिमानसे अभिभूत हो सत्कर्मोंसे शून्य, विवेकरहित और मानसे उन्मत्त हो गये, तब शीघ्र ही उनका विनाश हो गया ॥ ९—१२ ॥

निर्यशस्कास्तथा दैत्याः कृत्स्नशो विलयं गताः ।
देवास्तु सागरांश्चैव सरितश्च सरांसि च ॥ १३ ॥
अभ्यगच्छन् धर्मशीलाः पुण्यान्यायतनानि च ।
तपोभिः क्रतुभिर्दानैराशीर्वादैश्च पाण्डव ॥ १४ ॥
प्रजहुः सर्वपापानि श्रेयश्च प्रतिपेदिरे ।
एवमादानवन्तश्च निरादानाश्च सर्वशः ॥ १५ ॥
तीर्थान्यगच्छन् विबुधास्तेनापुर्भूतिमुत्तमाम् ।
(यत्र धर्मेण वर्तन्ते राजानो राजसत्तम ।
सर्वान् सपत्नान् बाधन्ते राज्यं चैषां विवर्धते ॥)
तथा त्वमपि राजेन्द्र स्नात्वा तीर्थेषु सानुजः ॥ १६ ॥
पुनर्वेत्स्यसि तां लक्ष्मीमेष पन्थाः सनातनः ।

यशोहीन दैत्य पूर्णतः विनष्ट हो गये। किंतु धर्मशील देवताओंने पवित्र समुद्रों, सरिताओं, सरोवरों और पुण्यप्रद आश्रमोंकी यात्रा की। पाण्डुनन्दन ! वहाँ तपस्या, यज्ञ और दान आदि करके महात्माओंके आशीर्वादसे वे सब पापोंसे मुक्त हो कल्याणके भागी हुए। इस प्रकार उत्तम नियम ग्रहण करके किसीसे भी कोई प्रतिग्रह न लेकर देवताओंने तीर्थोंमें विचरण किया; इससे उन्हें उत्तम ऐश्वर्यकी प्राप्ति हुई। नृपश्रेष्ठ ! जहाँ राजा धर्मके अनुसार बर्ताव करते हैं, वहाँ वे सब शत्रुओंको नष्ट कर देते हैं और उनका राज्य भी बढ़ता रहता है। राजेन्द्र ! इसलिये तुम भी भाइयोंसहित तीर्थोंमें स्नान करके खोयी हुई राजलक्ष्मी प्राप्त कर लोगे। यही सनातन मार्ग है ॥ १३—१६½ ॥

यथैव हि नृगो राजा शिबिरौशीनरो यथा ॥ १७ ॥
भगीरथो वसुमना गयः पूरुः पुरूरवाः ।
चरमाणास्तपो नित्यं स्पर्शनादम्भसश्च ते ॥ १८ ॥
तीर्थाभिगमनात् पूता दर्शनाच्च महात्मनाम् ।
अलभन्त यशः पुण्यं धनानि च विशाम्पते ॥ १९ ॥
तथा त्वमपि राजेन्द्र लब्धासि विपुलां श्रियम् ।

जैसे राजा नृग, उशीनर पुत्र शिबि, भगीरथ, वसुमना, गय, पूरु तथा पुरूरवा आदि नरेशोंने सदा तपस्यापूर्वक तीर्थयात्रा करके वहाँके जलके स्पर्श और महात्माओंके दर्शनसे पावन यश और प्रचुर धन प्राप्त किये थे; उसी प्रकार तुम भी तीर्थ-यात्राके पुण्यसे विपुल सम्पत्ति प्राप्त कर लोगे ॥ १७—१९½ ॥

यथा चेक्ष्वाकुरभवत् सपुत्रजनबान्धवः ॥ २० ॥
मुचुकुन्दोऽथ मान्धाता मरुत्तश्च महीपतिः ।
कीर्तिं पुण्यामविन्दन्त यथा देवास्तपोबलात् ॥ २१ ॥
देवर्षयश्च कार्त्स्न्येन तथा त्वमपि वेत्स्यसि ।
धार्तराष्ट्रास्त्वधर्मेण मोहेन च वशीकृताः ।
न चिराद् वै विनङ्क्ष्यन्ति दैत्या इव न संशयः ॥ २२ ॥

जैसे पुत्र, सेवक तथा बन्धु-बान्धवोंसहित राजा इक्ष्वाकु, मुचुकुन्द, मान्धाता तथा महाराज मरुत्तने पुण्यकीर्ति प्राप्त की थी, जैसे देवताओं और देवर्षियोंने तपोबलसे यश और ऐश्वर्य प्राप्त किया था; उसी प्रकार तुम भी पूर्णरूपसे यश और धन-सम्पत्ति प्राप्त करोगे। धृतराष्ट्रके पुत्र पाप और मोहके वशीभूत हैं; अतः वे दैत्योंकी भाँति शीघ्र नष्ट हो जायँगे; इसमें संशय नहीं है ॥ २०–२२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २३ श्लोक हैं)

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

पाण्डवोंका नैमिषारण्य आदि तीर्थोंमें जाकर प्रयाग तथा गयातीर्थमें जाना और गय राजाके महान् यज्ञोंकी महिमा सुनना

वैशम्पायन उवाच

ते तथा सहिता वीरा वसन्तस्तत्र तत्र ह ।
क्रमेण पृथिवीपाल नैमिषारण्यमागताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार वे वीर पाण्डव विभिन्न स्थानोंमें निवास करते हुए क्रमशः नैमिषारण्य तीर्थमें आये ॥ १ ॥

ततस्तीर्थेषु पुण्येषु गोमत्याः पाण्डवा नृप ।
कृताभिषेकाः प्रददुर्गाश्च वित्तं च भारत ॥ २ ॥

भरतनन्दन ! नरेश्वर ! तदनन्तर गोमतीके पुण्यतीर्थोंमें स्नान करके पाण्डवोंने वहाँ गोदान और धनदान किया ॥*

* यहाँ पाण्डवोंके द्वारा गोदान और धनदान करनेके विषयमें यह शङ्का होती है कि इनके पास ये सब कहाँसे आये, पर ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वनपर्वके बारहवें अध्यायमें आता है कि काम्यकवनमें पाण्डवोंसे मिलनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण एवं भोजवंशी, वृष्णिवंशी और अन्धक कुलके राजागण तथा द्रुपद, धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु एवं केकय राजकुमार आये थे। उनका पाण्डवोंसे मिलकर

तत्र देवान् पितॄन् विप्रांस्तर्पयित्वा पुनः पुनः ।
कन्यातीर्थेऽश्वतीर्थे च गवां तीर्थे च भारत ।
कालकोट्यां वृषप्रस्थे गिरावुष्य च पाण्डवाः ॥ ३ ॥
बाहुदायां महीपाल चक्रुः सर्वेऽभिषेचनम् ।
प्रयागे देवयजने देवानां पृथिवीपते ॥ ४ ॥
ऊषुराप्लुत्य गात्राणि तपश्चातस्थुरुत्तमम् ।
गङ्गायमुनयोश्चैव संगमे सत्यसंगराः ॥ ५ ॥

भारत ! भूपाल ! वहाँ देवताओं, पितरों तथा ब्राह्मणोंको बार-बार तृप्त करके कन्यातीर्थ, अश्वतीर्थ, गोतीर्थ, कालकोटि तथा वृषप्रस्थगिरिमें निवास करते हुए उन सब पाण्डवोंने बाहुदा नदीमें स्नान किया । पृथ्वीपते ! तदनन्तर उन्होंने देवताओंकी यज्ञभूमि प्रयागमें पहुँचकर वहाँ गङ्गा-यमुनाके संगममें स्नान किया । सत्यप्रतिज्ञ पाण्डव वहाँ स्नान करके कुछ दिनोंतक उत्तम तपस्यामें लगे रहे ॥ ३-५ ॥

विपाप्मानो महात्मानो विप्रेभ्यः प्रददुर्वसु ।
तपस्विजनजुष्टां च ततो वेदीं प्रजापतेः ॥ ६ ॥
जग्मुः पाण्डुसुता राजन् ब्राह्मणैः सह भारत ।
तत्र ते न्यवसन् वीरास्तपश्चातस्थुरुत्तमम् ॥ ७ ॥
संतर्पयन्तः सततं वन्येन हविषा द्विजान् ।

उन पापरहित महात्माओंने (त्रिवेणीतटपर) ब्राह्मणोंको धन दान किया ।* भरतनन्दन ! तत्पश्चात् पाण्डव ब्राह्मणोंके साथ ब्रह्माजीकी वेदीपर गये, जो तपस्वीजनोंसे सेवित है । वहाँ उन वीरोंने उत्तम तपस्या करते हुए निवास किया । वे सदा कन्द-मूल-फल आदि वन्य हविष्यद्वारा ब्राह्मणोंको तृप्त करते रहते थे ॥ ६—७½ ॥

ततो महीधरं जग्मुर्धर्मज्ञेनाभिसंस्कृतम् ॥ ८ ॥
राजर्षिणा पुण्यकृता गयेनानुपमद्युते ।

अनुपम तेजस्वी जनमेजय ! प्रयागसे चलकर पाण्डव पुण्यात्मा एवं धर्मज्ञ राजर्षि गयके द्वारा यज्ञ करके शुद्ध किये हुए उत्तम पर्वतसे उपलक्षित गयातीर्थमें गये ॥ ८½ ॥

नगो गयशिरो यत्र पुण्या चैव महानदी ॥ ९ ॥
वानीरमालिनी रम्या नदी पुलिनशोभिता ।

जहाँ गयशिर नामक पर्वत और बेंतकी पंक्तियोंसे घिरी हुई रमणीय महानदी है, जो अपने दोनों तटोंसे विशेष शोभा पाती है ॥ ९½ ॥

दिव्यं पवित्रकूटं च पवित्रं धरणीधरम् ॥ १० ॥
ऋषिजुष्टं सुपुण्यं तत् तीर्थं ब्रह्मसरोत्तमम् ।
अगस्त्यो भगवान् यत्र गतो वैवस्वतं प्रति ॥ ११ ॥

वहाँ महर्षियोंसे सेवित, पावन शिखरोंवाला, दिव्य एवं पवित्र दूसरा पर्वत भी है, जो अत्यन्त पुण्यदायक तीर्थ है । वहीं उत्तम ब्रह्मसरोवर है, जहाँ भगवान् अगस्त्यमुनि वैवस्वत यमसे मिलनेके लिये पधारे थे ॥ १०-११ ॥

उवास च स्वयं तत्र धर्मराजः सनातनः ।
सर्वासां सरितां चैव समुद्भेदो विशाम्पते ॥ १२ ॥

क्योंकि सनातन धर्मराज वहाँ स्वयं निवास करते हैं । राजन् ! वहाँ सम्पूर्ण नदियोंका प्राकट्य हुआ है ॥ १२ ॥

यत्र संनिहितो नित्यं महादेवः पिनाकधृक् ।
तत्र ते पाण्डवा वीराश्चातुर्मास्यैस्तदेजिरे ॥ १३ ॥
ऋषियज्ञेन महता यत्राक्षयवटो महान् ।

पिनाकपाणि भगवान् महादेव उस तीर्थमें नित्य निवास करते हैं । वहाँ वीर पाण्डवोंने उन दिनों चातुर्मास्यव्रत ग्रहण करके महान् ऋषियज्ञ अर्थात् वेदादि सत् शास्त्रोंके स्वाध्यायद्वारा भगवान्‌की आराधना की । वहीं महान् अक्षय-वट है ॥ १३½ ॥

अक्षये देवयजने अक्षयं यत्र वै फलम् ॥ १४ ॥

देवताओंकी वह यज्ञभूमि अक्षय है और वहाँ किये हुए प्रत्येक सत्कर्मका फल अक्षय होता है ॥ १४ ॥

ते तु तत्रोपवासांस्तु चक्रुर्निश्चितमानसाः ।
ब्राह्मणास्तत्र शतशः समाजग्मुस्तपोधनाः ॥ १५ ॥

अविचल चित्तवाले पाण्डवोंने उस तीर्थमें कई उपवास किये । उस समय वहाँ सैकड़ों तपस्वी ब्राह्मण पधारे ॥ १५ ॥

चातुर्मास्येनायजन्त आर्षेण विधिना तदा ।
तत्र विद्यातपोवृद्धा ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
कथां प्रचक्रिरे पुण्यां सदसिस्था महात्मनाम् ॥ १६ ॥

उन्होंने शास्त्रोक्त विधिपूर्वक चातुर्मास्य यज्ञ किया । वहाँ आये हुए ब्राह्मण विद्या और तपस्यामें बढ़े-चढ़े तथा वेदोंके पारंगत विद्वान् थे । उन्होंने परस्पर मिलकर सभामें बैठकर महात्मा पुरुषोंकी पवित्र कथाएँ कहीं ॥ १६ ॥

तत्र विद्याव्रतस्नातः कौमारं व्रतमास्थितः ।
शमठोऽकथयद् राजन्नामूर्तरयसं गयम् ॥ १७ ॥

उनमें शमठ नामक एक विद्वान् ब्राह्मण थे, जो विद्याध्ययनका व्रत समाप्त करके स्नातक हो चुके थे । उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्यपालनका व्रत ले रखा था । राजन् ! शमठने वहाँ अमूर्तरयाके पुत्र महाराज गयकी कथा इस प्रकार कही ॥ १७ ॥

शमठ उवाच

अमूर्तरयसः पुत्रो गयो राजर्षिसत्तमः ।
पुण्यानि यस्य कर्माणि तानिमे शृणु भारत ॥ १८ ॥

---

* अपने-अपने राज्यमें लौट जानेका भी वर्णन वनपर्वके बाईसवें अध्यायमें आया है । इससे अनुमान होता है कि इन राजाओंने पाण्डवोंको भेंटमें प्रचुर धन दिया होगा ।

शमठ बोले—भरतनन्दन युधिष्ठिर ! अमूर्तरयाके पुत्र गय राजर्षियोंमें श्रेष्ठ थे । उनके कर्म बड़े ही पवित्र एवं पावन थे । मैं उनका वर्णन करता हूँ, सुनो—॥ १८ ॥

यस्य यज्ञो बभूवेह बह्वन्नो बहुदक्षिणः ।
यत्रान्नपर्वता राजञ्शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १९ ॥
घृतकुल्याश्च दध्नश्च नद्यो बहुशतास्तथा ।
व्यञ्जनानां प्रवाहाश्च महार्हाणां सहस्रशः ॥ २० ॥

राजन् ! यहाँ राजा गयने बड़ा भारी यज्ञ किया था । उसमें बहुत अन्न खर्च हुआ था और असंख्य दक्षिणा बाँटी गयी थी । उस यज्ञमें अन्नके सैकड़ों और हजारों पर्वत लग गये थे । घीके कई सौ कुण्ड और दहीकी नदियाँ बहती थीं । सहस्रों प्रकारके उत्तमोत्तम व्यञ्जनोंकी बाढ़-सी आ गयी थी ॥ १९-२० ॥

अहन्यहनि चाप्येवं याचतां सम्प्रदीयते ।
अन्ये च ब्राह्मणा राजन् भुञ्जतेऽन्नं सुसंस्कृतम् ॥ २१ ॥

याचकोंको प्रतिदिन इसी प्रकार भोजन और दान दिया जाता था । राजन् ! अन्यान्य ब्राह्मण भी वहाँ उत्तम रीतिसे तैयारकी हुई रसोई जीमते थे ॥ २१ ॥

तत्र वै दक्षिणाकाले ब्रह्मघोषो दिवं गतः ।
न च प्रज्ञायते किंचिद् ब्रह्मशब्देन भारत ॥ २२ ॥

भरतनन्दन ! उस यज्ञमें दक्षिणा देते समय जो वेद-मन्त्रोंकी ध्वनि होती थी, वह स्वर्गलोकतक गूँज उठती थी । उस वेदध्वनिके सामने दूसरा कोई शब्द नहीं सुनायी पड़ता था ॥ २२ ॥

पुण्येन चरता राजन् भूर्दिशः खं नभस्तथा ।
आपूर्णमासीच्छब्देन तदप्यासीन्महाद्भुतम् ॥ २३ ॥
यत्र स्म गाथा गायन्ति मनुष्या भरतर्षभ ।
अन्नपानैः शुभैस्तृप्ता देशे देशे सुवर्चसः ॥ २४ ॥

राजन् ! वहाँ सब ओर फैले हुए पुण्यमय शब्दसे पृथ्वी, दिशाएँ, स्वर्ग और आकाश परिपूर्ण हो गये । यह बड़ी ही अद्भुत बात थी । भरतश्रेष्ठ ! उस यज्ञमें सब मनुष्य यह गाथा गाते रहते थे कि 'इस यज्ञमें देश-देशके अत्यन्त तेजस्वी पुरुष उत्तम अन्नपानसे तृप्त हो रहे हैं ॥ २३-२४ ॥

गयस्य यज्ञे के त्वद्य प्राणिनो भोक्तुमीप्सवः ।
तत्र भोजनशिष्टस्य पर्वताः पञ्चविंशतिः ॥ २५ ॥

'गयके यज्ञमें लोग यही पूछते फिरते थे कि 'कौन-कौन ऐसे प्राणी रह गये हैं, जो अभी भोजन करना चाहते हैं ?' वहाँ खानेसे बचे हुए अन्नके पचीस पर्वत शेष रह गये थे ॥ २५ ॥

न तत् पूर्वे जनाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे ।
गयो यदकरोद् यज्ञे राजर्षिरमितद्युतिः ॥ २६ ॥

'अमिततेजस्वी राजर्षि गयने अपने यज्ञमें जो व्यय किया था, वह पहलेके राजाओंने भी नहीं किया था और भविष्यमें भी कोई दूसरे कर सकेंगे, ऐसा सम्भव नहीं है ॥ २६ ॥

कथं तु देवा हविषा गयेन परितर्पिताः ।
पुनः शक्ष्यन्त्युपादातुमन्यैर्दत्तानि कानिचित् ॥ २७ ॥

'गयने सम्पूर्ण देवताओंको हविष्यसे भलीभाँति तृप्त कर दिया है, अब वे दूसरोंके दिये हुए हविष्यको कैसे ग्रहण कर सकेंगे ? ॥ २७ ॥

सिकता वा यथा लोके यथा वा दिवि तारकाः ।
यथा वा वर्षतो धारा असंख्येयाः स्म केनचित् ।
तथा गणयितुं शक्या गययज्ञे न दक्षिणाः ॥ २८ ॥

'जैसे लोकमें बालूके कण, आकाशके तारे और बरसते हुए बादलोंकी जलधाराएँ किसीके द्वारा भी गिनी नहीं जा सकतीं, उसी प्रकार गयके यज्ञमें दी हुई दक्षिणाओंकी भी कोई गणना नहीं कर सकता था' ॥ २८ ॥

एवंविधाः सुबहवस्तस्य यज्ञा महीपतेः ।
बभूवुरस्य सरसः समीपे कुरुनन्दन ॥ २९ ॥

कुरुनन्दन ! महाराज गयके ऐसे ही बहुत-से यज्ञ इस ब्रह्मसरोवरके समीप सम्पन्न हुए हैं ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गययज्ञकथने पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमश-तीर्थयात्राके प्रसंगमें 'गयके यज्ञका वर्णन' विषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

इल्वल और वातापिका वर्णन, महर्षि अगस्त्यका पितरोंके उद्धारके लिये विवाह करनेका विचार तथा विदर्भराजका महर्षि अगस्त्यसे एक कन्या पाना

वैशम्पायन उवाच

ततः सम्प्रययौ राजा कौन्तेयो भूरिदक्षिणः ।
अगस्त्याश्रममासाद्य दुर्जयायामुवास ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर

प्रचुर दक्षिणा देनेवाले कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरने गयासे प्रस्थान किया और अगस्त्याश्रममें जाकर दुर्जय मणिमती नगरीमें निवास किया ॥ १ ॥

तत्रैव लोमशं राजा पप्रच्छ वदतां वरः ।
अगस्त्येनेह वातापिः किमर्थमुपशामितः ॥ २ ॥

वहीं वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने महर्षि लोमशसे पूछा—'ब्रह्मन् ! अगस्त्यजीने यहाँ वातापिको किसलिये नष्ट किया ? ॥ २ ॥

आसीद्वा किं प्रभावश्च स दैत्यो मानवान्तकः ।
किमर्थं चोदितो मन्युरगस्त्यस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

'मनुष्योंका विनाश करनेवाले उस दैत्यका प्रभाव कैसा था ? और महात्मा अगस्त्यजीके मनमें क्रोधका उदय कैसे हुआ' ? ॥ ३ ॥

लोमश उवाच

इल्वलो नाम दैतेय आसीत् कौरवनन्दन ।
मणिमत्यां पुरि पुरा वातापिस्तस्य चानुजः ॥ ४ ॥

लोमशजीने कहा—कौरवनन्दन ! पूर्वकालकी बात है, इस मणिमती नगरीमें इल्वल नामक दैत्य रहता था । वातापि उसीका छोटा भाई था ॥ ४ ॥

स ब्राह्मणं तपोयुक्तमुवाच दितिनन्दनः ।
पुत्रं मे भगवानेकमिन्द्रतुल्यं प्रयच्छतु ॥ ५ ॥
तस्मै स ब्राह्मणो नादात् पुत्रं वासवसम्मितम् ।
चुक्रोध सोऽसुरस्तस्य ब्राह्मणस्य ततो भृशम् ॥ ६ ॥
तदाप्रभृति राजेन्द्र इल्वलो ब्रह्महासुरः ।
मन्युमान् भ्रातरं छागं मायावी ह्यकरोत् ततः ॥ ७ ॥
मेषरूपी च वातापिः कामरूप्यभवत् क्षणात् ।
संस्कृत्य च भोजयति ततो विप्रं जिघांसति ॥ ८ ॥

एक दिन दितिनन्दन इल्वलने एक तपस्वी ब्राह्मणसे कहा—'भगवन् ! आप मुझे ऐसा पुत्र दें, जो इन्द्रके समान पराक्रमी हो ।' उन ब्राह्मणदेवताने इल्वलको इन्द्रके समान पुत्र नहीं दिया । इससे वह असुर उन ब्राह्मणदेवतापर बहुत कुपित हो उठा । राजन् ! तभीसे इल्वल दैत्य क्रोधमें भरकर ब्राह्मणोंकी हत्या करने लगा । वह मायावी अपने भाई वातापिको मायासे बकरा बना देता था । वातापि भी इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ था ! अतः वह क्षणभरमें भेड़ा और बकरा बन जाता था । फिर इल्वल उस भेड़ या बकरेको पकाकर उसका मांस राँधता और किसी ब्राह्मणको खिला देता था । इसके बाद वह ब्राह्मणको मारनेकी इच्छा करता था॥

स चाह्वयति यं वाचा गतं वैवस्वतक्षयम् ।
स पुनर्देहमास्थाय जीवन् स्म प्रत्यदृश्यत ॥ ९ ॥

इल्वलमें यह शक्ति थी कि वह जिस किसी भी यमलोकमें गये हुए प्राणीको उसका नाम लेकर बुलाता, वह पुनः शरीर धारण करके जीवित दिखायी देने लगता था ॥ ९ ॥

ततो वातापिमसुरं छागं कृत्वा सुसंस्कृतम् ।
तं ब्राह्मणं भोजयित्वा पुनरेव समाह्वयत् ॥ १० ॥

उस दिन वातापि दैत्यको बकरा बनाकर इल्वल उसके मांसका संस्कार किया और उन ब्राह्मणदेवको वह मांस खिलाकर पुनः अपने भाईको पुकारा ॥ १० ॥

तामिल्वलेन महता स्वरेण वाचमीरिताम् ।
श्रुत्वातिमायो बलवान् क्षिप्रं ब्राह्मणकण्टकः ॥ ११ ॥
तस्य पार्श्वं विनिर्भिद्य ब्राह्मणस्य महासुरः ।
वातापिः प्रहसन् राजन् निश्चक्राम विशाम्पते ॥ १२ ॥

राजन् ! इल्वलके द्वारा उच्च स्वरसे बोली हुई वाणी सुनकर वह अत्यन्त मायावी ब्राह्मणशत्रु बलवान् महादैत्य वातापि उस ब्राह्मणकी पसलीको फाड़कर हँसता हुआ निकल आया ॥

एवं स ब्राह्मणान् राजन् भोजयित्वा पुनः पुनः ।
हिंसयामास दैतेय इल्वलो दुष्टचेतनः ॥ १३ ॥

राजन् ! इस प्रकार दुष्टहृदय इल्वल दैत्य बार-बार ब्राह्मणोंको भोजन कराकर अपने भाईद्वारा उनकी हिंसा करा देता था (इसीलिये अगस्त्यमुनिने वातापिको नष्ट किया था)॥

अगस्त्यश्चापि भगवानेतस्मिन् काल एव तु ।
पितॄन् ददर्श गर्ते वै लम्बमानानधोमुखान् ॥ १४ ॥

इन्हीं दिनों भगवान् अगस्त्यमुनि कहीं चले जा रहे थे । उन्होंने एक जगह अपने पितरोंको देखा, जो एक गड्ढेमें नीचे मुँह किये लटक रहे थे ॥ १४ ॥



सोऽपृच्छल्लम्बमानांस्तान् भवन्त इव कम्पिताः ।
(किमर्थं वेह लम्बध्वं गर्ते यूयमधोमुखाः ।)
संतानहेतोरिति ते प्रत्यूचुर्ब्रह्मवादिनः ॥१५॥

तब उन लटकते हुए पितरोंसे अगस्त्यजीने पूछा—'आपलोग यहाँ किसलिये नीचे मुँह किये काँपते हुए-से लटक रहे हैं ?' यह सुनकर उन वेदवादी पितरोंने उत्तर दिया—'संतानपरम्पराके लोपकी सम्भावनाके कारण हमारी यह दुर्दशा हो रही है' ॥ १५ ॥

ते तस्मै कथयामासुर्वयं ते पितरः स्वकाः ।
गर्तमेतमनुप्राप्ता लम्बामः प्रसवार्थिनः ॥१६॥

उन्होंने अगस्त्यके पूछनेपर बताया कि 'हम तुम्हारे ही पितर हैं। संतानके इच्छुक होकर इस गड्ढेमें लटक रहे हैं॥

यदि नो जनयेथास्त्वमगस्त्यापत्यमुत्तमम् ।
स्यान्नोऽस्मान्निरयान्मोक्षस्त्वं च पुत्राप्नुया गतिम्॥१७॥

'अगस्त्य ! यदि तुम हमारे लिये उत्तम संतान उत्पन्न कर सको तो हम इस नरकसे छुटकारा पा सकते हैं और बेटा ! तुम्हें भी सद्‌गति प्राप्त होगी' ॥ १७ ॥

स तानुवाच तेजस्वी सत्यधर्मपरायणः ।
करिष्ये पितरः कामं व्येतु वो मानसो ज्वरः ॥१८॥

तब सत्यधर्मपरायण तेजस्वी अगस्त्यने उनसे कहा—'पितरो ! मैं आपकी इच्छा पूर्ण करूँगा । आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये' ॥ १८ ॥

ततः प्रसवसंतानं चिन्तयन् भगवानृषिः ।
आत्मनः प्रसवस्यार्थे नापश्यत् सदृशीं स्त्रियम् ॥१९॥

तब भगवान् महर्षि अगस्त्यने संतानोत्पादनकी चिन्ता करते हुए अपने अनुरूप संतानको गर्भमें धारण करनेके लिये योग्य पत्नीका अनुसंधान किया परंतु उन्हें कोई योग्य स्त्री दिखायी नहीं दी ॥ १९ ॥

स तस्य तस्य सत्त्वस्य तत् तदङ्गमनुत्तमम् ।
संगृह्य तत्समैरङ्गैर्निर्ममे स्त्रियमुत्तमाम् ॥२०॥

तब उन्होंने एक-एक जन्तुके उत्तमोत्तम अङ्गोंका भावना-द्वारा संग्रह करके उन सबके द्वारा एक परम सुन्दर स्त्रीका निर्माण किया ॥ २० ॥

स तां विदर्भराजस्य पुत्रार्थं तप्यतस्तपः ।
निर्मितामात्मनोऽर्थाय मुनिः प्रादान्महातपाः ॥२१॥

उन दिनों विदर्भराज पुत्रके लिये तपस्या कर रहे थे। महातपस्वी अगस्त्यमुनिने अपने लिये निर्मित की हुई वह स्त्री राजाको दे दी ॥ २१ ॥

सा तत्र जज्ञे सुभगा विद्युत् सौदामनी यथा ।
विभ्राजमाना वपुषा व्यवर्धत शुभानना ॥२२॥

उस सुन्दरी कन्याका उस राजभवनमें बिजलीके समान प्रादुर्भाव हुआ । वह शरीरसे प्रकाशमानहो रही थी । उसका मुख बहुत सुन्दर था, वह राजकन्या वहाँ दिनोंदिन बढ़ने लगी ॥२२॥

जातमात्रां च तां दृष्ट्वा वैदर्भः पृथिवीपतिः ।
प्रहर्षेण द्विजातिभ्यो न्यवेदयत भारत ॥२३॥

भरतनन्दन ! राजा विदर्भने उस कन्याके उत्पन्न होते ही हर्षमें भरकर ब्राह्मणोंको यह शुभ संवाद सुनाया ॥ २३ ॥

अभ्यनन्दन्त तां सर्वे ब्राह्मणा वसुधाधिप ।
लोपामुद्रेति तस्याश्च चक्रिरे नाम ते द्विजाः ॥२४॥

राजन् ! उस समय सब ब्राह्मणोंने राजाका अभिनन्दन किया और उस कन्याका नाम 'लोपामुद्रा' रख दिया ॥ २४ ॥

ववृधे सा महाराज बिभ्रती रूपमुत्तमम् ।
अप्स्विवोत्पलिनी शीघ्रमग्नेरिव शिखा शुभा ॥२५॥

महाराज ! उत्तम रूप धारण करनेवाली वह राजकुमारी जलमें कमलिनी तथा यज्ञवेदीपर प्रज्वलित शुभ्र अग्निशिखाकी भाँति शीघ्रतापूर्वक बढ़ने लगी ॥ २५ ॥

तां यौवनस्थां राजेन्द्र शतं कन्याः स्वलंकृताः ।
दास्यः शतं च कल्याणीमुपातस्थुर्वशानुगाः॥२६॥

राजेन्द्र ! जब उसने युवावस्थामें पदार्पण किया, उस समय उस कल्याणी कन्याको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित सौ सुन्दरी कन्याएँ और सौ दासियाँ उसकी आज्ञाके अधीन होकर घेरे रहतीं और उसकी सेवा किया करती थीं ॥ २६ ॥

सा स्म दासीशतवृता मध्ये कन्याशतस्य च ।
आस्ते तेजस्विनी कन्या रोहिणीव दिवि प्रभा ॥२७॥

सौ दासियों और सौ कन्याओंके बीचमें वह तेजस्विनी कन्या आकाशमें सूर्यकी प्रभा तथा नक्षत्रोंमें रोहिणीके समान सुशोभित होती थी ॥ २७ ॥

यौवनस्थामपि च तां शीलाचारसमन्विताम् ।
न वव्रे पुरुषः कश्चिद् भयात् तस्य महात्मनः ॥२८॥

यद्यपि वह युवती और शील एवं सदाचारसे सम्पन्न थी तो भी महात्मा अगस्त्यके भयसे किसी राजकुमारने उसका वरण नहीं किया ॥ २८ ॥

सा तु सत्यवती कन्या रूपेणाप्सरसोऽप्यति ।
तोषयामास पितरं शीलेन स्वजनं तथा ॥२९॥

वह सत्यवती राजकुमारी रूपमें अप्सराओंसे भी बढ़कर थी । उसने अपने शील-स्वभावसे पिता तथा स्वजनोंको संतुष्ट कर दिया था ॥ २९ ॥

वैदर्भीं तु तथायुक्तां युवतीं प्रेक्ष्य वै पिता ।

मनसा चिन्तयामास कस्मै दद्यामिमां सुताम् ॥३०॥

पिता विदर्भराजकुमारीको युवावस्थामें प्रविष्ट हुई देख मन-ही-मन यह विचार करने लगे कि 'इस कन्याका किसके साथ विवाह करूँ' ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां अगस्त्योपाख्याने षण्णवतितमोऽध्यायः ॥९६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमश-तीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यानविषयक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३०½ श्लोक हैं)

सप्तनवतितमोऽध्यायः

महर्षि अगस्त्यका लोपामुद्रासे विवाह, गङ्गाद्वारमें तपस्या एवं पत्नीकी इच्छासे धनसंग्रहके लिये प्रस्थान

लोमश उवाच

यदा त्वमन्यतागस्त्यो गार्हस्थ्ये तां क्षमामिति ।
तदाभिगम्य प्रोवाच वैदर्भं पृथिवीपतिम् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब मुनिवर अगस्त्यजीको यह मालूम हो गया कि विदर्भराजकुमारी मेरी गृहस्थी चलानेके योग्य हो गयी है, तब वे विदर्भनरेशके पास जाकर बोले—॥

राजन् निवेशो बुद्धिर्मे वर्तते पुत्रकारणात् ।
वरये त्वां महीपाल लोपामुद्रां प्रयच्छ मे ॥ २ ॥

'राजन् ! पुत्रोत्पत्तिके लिये मेरा विवाह करनेका विचार है। अतः महीपाल ! मैं आपकी कन्याका वरण करता हूँ । आप लोपा-मुद्राको मुझे दे दीजिये' ॥ २ ॥

एवमुक्तः स मुनिना महीपालो विचेतनः ।
प्रत्याख्यानाय चाशक्तः प्रदातुं चैव नैच्छत ॥ ३ ॥

मुनिवर अगस्त्यके ऐसा कहनेपर विदर्भराजके होश उड़ गये । वे न तो अस्वीकार कर सके और न उन्होंने अपनी कन्या देनेकी इच्छा ही की ॥ ३ ॥

ततः स भार्यामभ्येत्य प्रोवाच पृथिवीपतिः ।
महर्षिर्वीर्यवानेष क्रुद्धः शापाग्निना दहेत् ॥ ४ ॥

तब विदर्भनरेश अपनी पत्नीके पास जाकर बोले—'प्रिये ! ये महर्षि अगस्त्य बड़े शक्तिशाली हैं। यदि कुपित हों तो हमें शापकी अग्निसे भस्म कर सकते हैं' ॥ ४ ॥

तं तथा दुःखितं दृष्ट्वा सभार्यं पृथिवीपतिम् ।
लोपामुद्राभिगम्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

रानीसहित महाराजको इस प्रकार दुखी देख लोपामुद्रा उनके पास गयी,और समयके अनुसार इस प्रकार बोली—॥

न मत्कृते महीपाल पीडामभ्येतुमर्हसि ।
प्रयच्छ मामगस्त्याय त्राह्यात्मानं मया पितः ॥ ६ ॥

'राजन् ! आपको मेरे लिये दुःख नहीं मानना चाहिये । पिताजी ! आप मुझे अगस्त्यजीकी सेवामें दे दें और मेरे द्वारा अपनी रक्षा करें' ॥ ६ ॥

दुहितुर्वचनाद् राजा सोऽगस्त्याय महात्मने ।
लोपामुद्रां ततः प्रादाद् विधिपूर्वं विशाम्पते ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर ! पुत्रीकी यह बात सुनकर राजाने महात्मा अगस्त्यमुनिको विधिपूर्वक अपनी कन्या लोपामुद्रा ब्याह दी॥

प्राप्य भार्यामगस्त्यस्तु लोपामुद्रामभाषत ।
महार्हाण्युत्सृजैतानि वासांस्याभरणानि च ॥ ८ ॥

लोपामुद्राको पत्नीरूपमें पाकर महर्षि अगस्त्यने उससे कहा—'ये तुम्हारे वस्त्र और आभूषण बहुमूल्य हैं। इन्हें उतार दो' ॥ ८ ॥

ततः सा दर्शनीयानि महार्हाणि तनूनि च ।
समुत्ससर्ज रम्भोरुर्वसनान्यायतेक्षणा ॥ ९ ॥
ततश्चीराणि जग्राह वल्कलान्यजिनानि च ।
समानव्रतचर्या च बभूवायतलोचना ॥१०॥

तब कदलीके समान जाँघ तथा विशाल नेत्रोंवाली लोपामुद्राने अपने बहुमूल्य, महीन एवं दर्शनीय वस्त्र उतार दिये और फटे-पुराने वस्त्र तथा वल्कल और मृगचर्म धारण कर लिये । वह विशालनयनी बाला पतिके समान ही व्रत और आचारका पालन करनेवाली हो गयी ॥ ९–१० ॥

गङ्गाद्वारमथागम्य भगवानृषिसत्तमः ।
उग्रमातिष्ठत तपः सह पत्न्यानुकूलया ॥११॥

तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ भगवान् अगस्त्य अपनी अनुकूल पत्नीके साथ गङ्गाद्वार (हरिद्वार) में आकर घोर तपस्यामें संलग्न हो गये ॥ ११ ॥

सा प्रीता बहुमानाच्च पतिं पर्यचरत् तदा ।
अगस्त्यश्च परां प्रीतिं भार्यायामचरत् प्रभुः ॥१२॥

लोपामुद्रा बड़ी ही प्रसन्नता और विशेष आदरके साथ पतिदेवकी सेवा करने लगी । शक्तिशाली महर्षि अगस्त्यजी भी अपनी पत्नीपर बड़ा प्रेम रखते थे ॥ १२ ॥

ततो बहुतिथे काले लोपामुद्रां विशाम्पते ।
तपसा द्योतितां स्नातां ददर्श भगवानृषिः ॥१३॥
स तस्याः परिचारेण शौचेन च दमेन च ।
श्रिया रूपेण च प्रीतो मैथुनायाजुहाव ताम् ॥१४॥

राजन् ! जब इसी प्रकार बहुत समय व्यतीत हो गया, तब एक दिन भगवान् अगस्त्यमुनिने ऋतुस्नानसे निवृत्त हुई पत्नी लोपामुद्राको देखा। वह तपस्याके तेजसे प्रकाशित हो रही थी। महर्षिने अपनी पत्नीकी सेवा, पवित्रता, इन्द्रिय-संयम, शोभा तथा रूप-सौन्दर्यसे प्रसन्न होकर उसे मैथुनके लिये पास बुलाया ॥ १३-१४ ॥

ततः सा प्राञ्जलिर्भूत्वा लज्जमानेव भाविनी।
तदा सप्रणयं वाक्यं भगवन्तमथाब्रवीत् ॥१५॥

तब अनुरागिणी लोपामुद्रा कुछ लज्जित-सी हो हाथ जोड़कर बड़े प्रेमसे भगवान् अगस्त्यसे बोली—॥ १५ ॥

असंशयं प्रजाहेतोर्भार्यां पतिरविन्दत।
या तु त्वयि मम प्रीतिस्तामृषे कर्तुमर्हसि ॥१६॥

'महर्षे ! इसमें संदेह नहीं कि पतिदेवने अपनी इस पत्नीको संतानके लिये ही ग्रहण किया है, परंतु आपके प्रति मेरे हृदयमें जो प्रीति है, वह भी आपको सफल करनी चाहिये ॥ १६ ॥

यथा पितुर्गृहे विप्र प्रासादे शयनं मम।
तथाविधे त्वं शयने मामुपैतुमिहार्हसि ॥१७॥

'ब्रह्मन् ! मैं अपने पिताके घर उनके महलमें जैसी शय्यापर सोया करती थी, वैसी ही शय्यापर आप मेरे साथ समागम करें ॥



इच्छामि त्वां स्रग्विणं च भूषणैश्च विभूषितम्।
उपसर्तुं यथाकामं दिव्याभरणभूषिता ॥१८॥

'मैं चाहती हूँ कि आप सुन्दर हार और आभूषणों से विभूषित हों और मैं भी दिव्य अलंकारोंसे अलंकृत हो इच्छानुसार आपके साथ समागम-सुखका अनुभव करूँ ॥

अन्यथा नोपतिष्ठेयं चीरकाषायवासिनी।
नैवापवित्रो विप्रर्षे भूषणोऽयं कथंचन ॥१९॥

'अन्यथा मैं यह जीर्ण-शीर्ण काषाय-वस्त्र पहनकर आपके साथ समागम नहीं करूँगी । ब्रह्मर्षे ! तपस्वीजनोंका यह पवित्र आभूषण किसी प्रकार सम्भोग आदिके द्वारा अपवित्र नहीं होना चाहिये' ॥ १९ ॥

अगस्त्य उवाच

न ते धनानि विद्यन्ते लोपामुद्रे तथा मम।
यथाविधानि कल्याणि पितुस्तव सुमध्यमे ॥२०॥

अगस्त्यजीने कहा—सुन्दर कटिप्रदेशवाली कल्याणी लोपामुद्रे ! तुम्हारे पिताके घरमें जैसे धन-वैभव हैं, वे न तो तुम्हारे पास हैं और न मेरे ही पास (फिर ऐसा कैसे हो सकता है ?) ॥ २० ॥

लोपामुद्रोवाच

ईशोऽसि तपसा सर्वं समाहर्तुं तपोधन।
क्षणेन जीवलोके यद् वसु किंचन विद्यते ॥२१॥

लोपामुद्रा बोली—तपोधन ! इस जीव-जगत्में जो कुछ भी धन है, वह सब क्षणभरमें आप अपनी तपस्याके प्रभावसे जुटा लेनेमें समर्थ हैं ॥ २१ ॥

अगस्त्य उवाच

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं तपोव्ययकरं तु तत्।
यथा तु मे न नश्येत तपस्तन्मां प्रचोदय ॥२२॥

अगस्त्यजीने कहा—प्रिये ! तुम्हारा कथन ठीक है। परंतु ऐसा करनेसे तपस्याका क्षय होगा। मुझे ऐसा कोई उपाय बताओ, जिससे मेरी तपस्या क्षीण न हो ॥ २२ ॥

लोपामुद्रोवाच

अल्पावशिष्टः कालोऽयमृतोर्मम तपोधन।
न चान्यथाहमिच्छामि त्वामुपैतुं कथंचन ॥२३॥

लोपामुद्रा बोली—तपोधन ! मेरे ऋतुकालका थोड़ा ही समय शेष रह गया है। मैं जैसा बता चुकी हूँ, उसके सिवा और किसी तरह आपसे समागम नहीं करना चाहती ॥२३॥

न चापि धर्ममिच्छामि विलोप्तुं ते कथंचन।
एवं तु मे यथाकामं सम्पादयितुमर्हसि ॥२४॥

साथ ही मेरी यह भी इच्छा नहीं है कि किसी प्रकार आपके धर्मका लोप हो। इस प्रकार अपने तप एवं धर्मकी रक्षा करते हुए जिस तरह सम्भव हो उसी तरह आप मेरी इच्छा पूरी करें ॥ २४ ॥

अगस्त्य उवाच

यद्येष कामः सुभगे तव बुद्धया विनिश्चितः ।
हर्तुं गच्छाम्यहं भद्रे चर काममिह स्थिता ॥२५॥

अगस्त्यजीने कहा—सुभगे ! यदि तुमने अपनी बुद्धिसे यही मनोरथ पानेका निश्चय कर लिया है तो मैं धन लानेके लिये जाता हूँ; तुम यहीं रहकर इच्छानुसार धर्माचरण करो ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥९७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यानविषयक सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमोऽध्यायः

धन प्राप्त करनेके लिये अगस्त्यका श्रुतर्वा, ब्रध्नश्व और त्रसदस्यु आदिके पास जाना

लोमश उवाच

ततो जगाम कौरव्य सोऽगस्त्यो भिक्षितुं वसु ।
श्रुतर्वाणं महीपालं यं वेदाभ्यधिकं नृपैः ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! तदनन्तर अगस्त्यजी धन माँगनेके लिये महाराज श्रुतर्वाके पास गये, जिन्हें वे सब राजाओंसे अधिक वैभवसम्पन्न समझते थे ॥ १ ॥

स विदित्वा तु नृपतिः कुम्भयोनिमुपागतम् ।
विषयान्ते सहामात्यः प्रत्यगृह्णात् सुसत्कृतम् ॥ २ ॥

राजाको जब यह मालूम हुआ कि महर्षि अगस्त्य मेरे यहाँ आ रहे हैं, तब वे मन्त्रियोंके साथ अपने राज्यकी सीमापर चले आये और बड़े आदर-सत्कारसे उन्हें अपने साथ लिवा ले गये ॥ २ ॥

तस्मै चार्घ्यं यथान्यायमानीय पृथिवीपतिः ।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा पप्रच्छागमनेऽर्थिताम् ॥ ३ ॥

भूपाल श्रुतर्वाने उनके लिये यथायोग्य अर्घ्य निवेदन करके विनीतभावसे हाथ जोड़कर उनके पधारनेका प्रयोजन पूछा ॥ ३ ॥

अगस्त्य उवाच

वित्तार्थिनमनुप्राप्तं विद्धि मां पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ मे ॥४॥

तब अगस्त्यजीने कहा—पृथ्वीपते ! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं धन माँगनेके लिये आपके यहाँ आया हूँ । दूसरे प्राणियोंको कष्ट न देते हुए यथाशक्ति अपने धनका जितना अंश मुझे दे सकें, दे दें ॥ ४ ॥

लोमश उवाच

तत आयव्ययौ पूर्णौ तस्मै राजा न्यवेदयत् ।
अतो विद्वन्नुपादत्स्व यदत्र वसु मन्यसे ॥ ५ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब राजा श्रुतर्वाने महर्षिके सामने अपने आय-व्ययका पूरा ब्योरा रख दिया और कहा—'ज्ञानी महर्षे ! इस धनमेंसे जो आप ठीक समझें, वह ले लें' ॥ ५ ॥

तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥ ६ ॥

ब्रह्मर्षि अगस्त्यकी बुद्धि सम थी । उन्होंने आय और व्यय दोनोंको बराबर देखकर यह विचार किया कि इसमेंसे थोड़ा-सा भी धन लेनेपर दूसरे प्राणियोंको सर्वथा कष्ट हो सकता है ॥ ६ ॥

स श्रुतर्वाणमादाय ब्रध्नश्वमगमत् ततः ।
स च तौ विषयस्यान्ते प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ॥ ७ ॥

तब वे श्रुतर्वाको साथ लेकर राजा ब्रध्नश्वके पास गये । उन्होंने भी अपने राज्यकी सीमापर आकर उन दोनों सम्माननीय अतिथियोंकी अगवानी की और विधिपूर्वक उन्हें अपनाया ॥ ७ ॥

तयोरर्घ्यं च पाद्यं च ब्रध्नश्वः प्रत्यवेदयत् ।
अनुज्ञाप्य च पप्रच्छ प्रयोजनमुपक्रमे ॥ ८ ॥

ब्रध्नश्वने उन दोनोंको अर्घ्य और पाद्य निवेदन किये, फिर उनकी आज्ञा ले अपने यहाँ पधारनेका प्रयोजन पूछा ॥

अगस्त्य उवाच

वित्तकामाविह प्राप्तौ विद्ध्यावां पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ नौ ॥९॥

अगस्त्यजीने कहा—पृथ्वीपते ! आपको विदित हो कि हम दोनों आपके यहाँ धनकी इच्छासे आये हैं । दूसरे प्राणियोंको कष्ट न देते हुए जो धन आपके पास बचता हो, उसमेंसे यथाशक्ति कुछ भाग हमें भी दीजिये ॥ ९ ॥

लोमश उवाच

तत आयव्ययौ पूर्णौ ताभ्यां राजा न्यवेदयत् ।
अतो ज्ञात्वा तु गृह्णीतं यदत्र व्यतिरिच्यते ॥१०॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब राजा ब्रध्नश्वने भी उन दोनोंके सामने आय और व्ययका पूरा विवरण रख दिया और कहा—'आप दोनोंको इसमें जो धन अधिक जान पड़ता हो, वह ले लें' ॥ १० ॥

तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥११॥

तब समान बुद्धिवाले ब्रह्मर्षि अगस्त्यने उस विवरणमें आय और व्यय बराबर देखकर यह निश्चय किया कि इसमें-से यदि थोड़ा-सा भी धन लिया जाय तो दूसरे प्राणियोंको सर्वथा कष्ट हो सकता है ॥ ११ ॥

पौरुकुत्सं ततो जग्मुस्त्रसदस्युं महाधनम् ।
अगस्त्यश्च श्रुतर्वा च ब्रध्नश्वश्च महीपतिः ॥१२॥

तब अगस्त्य, श्रुतर्वा और ब्रध्नश्व—तीनों पुरुकुत्सनन्दन-महाधनी त्रसदस्युके पास गये ॥ १२ ॥

त्रसदस्युस्तु तान् दृष्ट्वा प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ।
अभिगम्य महाराज विषयान्ते महामनाः ॥१३॥
अर्चयित्वा यथान्यायमिक्ष्वाकू राजसत्तमः ।
समस्तांश्च ततोऽपृच्छत् प्रयोजनमुपक्रमे ॥१४॥

महाराज ! भूपालोंमें श्रेष्ठ इक्ष्वाकुवंशी महामना त्रसदस्यु-ने उन्हें आते देख राज्यकी सीमापर पहुँचकर विधिपूर्वक उन सबका स्वागत-सत्कार किया और उन सबसे अपने यहाँ पधारनेका प्रयोजन पूछा ॥ १३-१४ ॥

अगस्त्य उवाच

वित्तकामानिह प्राप्तान् विद्धि नः पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ नः ।१५।

अगस्त्यने कहा—पृथ्वीपते ! आपको विदित हो कि हम धनकी कामनासे यहाँ आये हैं । आप दूसरे प्राणियोंको पीड़ा न देते हुए यथाशक्ति अपने धनका कुछ भाग हम सब-को दीजिये ॥ १५ ॥

लोमश उवाच

तत आयव्ययौ पूर्णौ तेषां राजा न्यवेदयत् ।
एतज्ज्ञात्वा ह्युपादध्वं यदत्र व्यतिरिच्यते ॥१६॥
तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥१७॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब राजाने उन्हें अपने आय-व्ययका पूरा विवरण दे दिया और कहा—'इसे समझकर जो धन शेष बचता हो, वह आपलोग ले लें ।' समबुद्धिवाले महर्षि अगस्त्यने वहाँ भी आय-व्ययका लेखा बराबर देखकर यही माना कि इसमेंसे धन लिया जाय तो दूसरे प्राणियोंको सर्वथा कष्ट हो सकता है ॥ १६-१७ ॥

ततः सर्वे समेत्याथ ते नृपास्तं महामुनिम् ।
इदमूचुर्महाराज समवेक्ष्य परस्परम् ॥१८॥

महाराज ! तब वे सब राजा परस्पर मिलकर एक दूसरे-की ओर देखते हुए महामुनि अगस्त्यसे इस प्रकार बोले—।१८।

अयं वै दानवो ब्रह्मन्निल्वलो वसुमान् भुवि ।
तमतिक्रम्य सर्वेऽद्य वयं चार्थामहे वसु ॥१९॥

'ब्रह्मन् ! यह इल्वल दानव इस पृथ्वीपर सबसे अधिक धनी है । हम सब लोग उसीके पास चलकर आज धन माँगें' ॥ १९ ॥

लोमश उवाच

तेषां तदासीदुचितमिल्वलस्यैव भिक्षणम् ।
ततस्ते सहिता राजन्निल्वलं समुपाद्रवन् ॥२०॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस समय उन सबको इल्वलके यहाँ याचना करना ही ठीक जान पड़ा, अतः वे एक साथ होकर इल्वलके यहाँ शीघ्रतापूर्वक गये ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥९८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यान-विषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

एकोनशततमोऽध्यायः

अगस्त्यजीका इल्वलके यहाँ धनके लिये जाना, वातापि तथा इल्वलका वध, लोपामुद्राको पुत्रकी प्राप्ति तथा श्रीरामके द्वारा हरे हुए तेजकी परशुरामको तीर्थस्नानद्वारा पुनः प्राप्ति

लोमश उवाच

इल्वलस्तान् विदित्वा तु महर्षिसहितान् नृपान् ।
उपस्थितान् सहामात्यो विषयान्ते ह्यपूजयत् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! इल्वलने महर्षिसहित उन राजाओंको आता जान मन्त्रियोंके साथ अपने राज्यकी सीमापर उपस्थित होकर उन सबका पूजन किया ॥ १ ॥

तेषां ततोऽसुरश्रेष्ठस्त्वातिथ्यमकरोत् तदा ।
सुसंस्कृतेन कौरव्य भ्रात्रा वातापिना यदा ॥ २ ॥

कुरुनन्दन ! उस समय असुरश्रेष्ठ इल्वलने अपने भाई वातापिका मांस राँधकर उसके द्वारा उन संबका आतिथ्य किया ॥ २ ॥

ततो राजर्षयः सर्वे विषण्णा गतचेतसः ।
वातापिं संस्कृतं दृष्ट्वा मेषभूतं महासुरम् ॥ ३ ॥

भेड़के रूपमें महान् दैत्य वातापिको ही राँधा गया देख उन सभी राजर्षियोंका मन खिन्न हो गया और वे अचेत-से हो गये ॥ ३ ॥

अथाब्रवीदगस्त्यस्तान् राजर्षीनृषिसत्तमः ।
विषादो वो न कर्तव्यो ह्यहं भोक्ष्ये महासुरम् ॥ ४ ॥
धुर्यासनमथासाद्य निषसाद महानृषिः ।
तं पर्यवेषद् दैत्येन्द्र इल्वलः प्रहसन्निव ॥५ ॥

तब ऋषिश्रेष्ठ अगस्त्यने उन राजर्षियोंसे (आश्वासन देते हुए) कहा—'तुमलोगोंको चिन्ता नहीं करनी चाहिये । मैं ही इस महादैत्यको खा जाऊँगा ।' ऐसा कहकर महर्षि अगस्त्य प्रधान आसनपर जा बैठे और दैत्यराज इल्वलने हँसते हुए-से उन्हें वह मांस परोस दिया ॥ ४-५ ॥

अगस्त्य एव कृत्स्नं तु वातापिं बुभुजे ततः ।
भुक्तवत्यसुरोऽऽह्वानमकरोत् तस्य चेल्वलः ॥ ६ ॥

अगस्त्यजी ही वातापिका सारा मांस खा गये ; जब वे भोजन कर चुके, तब असुर इल्वलने वातापिका नाम लेकर पुकारा ॥ ६ ॥

ततो वायुः प्रादुरभूदधस्तस्य महात्मनः ।
शब्देन महता तात गर्जन्निव यथा घनः ॥ ७ ॥

तात ! उस समय महात्मा अगस्त्यकी गुदासे गर्जते हुए मेघकी भाँति भारी आवाजके साथ अधोवायु निकली ॥ ७ ॥

वातापे निष्क्रमस्वेति पुनः पुनरुवाच ह ।
तं प्रहस्याब्रवीद् राजन्नगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥ ८ ॥

इल्वल बार-बार कहने लगा—'वातापे ! निकलो-निकलो ।' राजन् ! तब मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यने उससे हँसकर कहा—॥ ८ ॥

कुतो निष्क्रमितुं शक्तो मया जीर्णस्तु सोऽसुरः ।
इल्वलस्तु विषण्णोऽभूद् दृष्ट्वा जीर्णं महासुरम् ॥ ९ ॥

'अब वह कैसे निकल सकता है, मैंने (लोकहितके लिये) उस असुरको पचा लिया है ।' महादैत्य वातापिको पच गया देख इल्वलको बड़ा खेद हुआ ॥ ९ ॥

प्राञ्जलिश्च सहामात्यैरिदं वचनमब्रवीत् ।
किमर्थमुपयाताः स्थ ब्रूत किं करवाणि वः ॥१०॥

उसने मन्त्रियोंसहित हाथ जोड़कर उन अतिथियोंसे यह बात पूछी—'आपलोग किस प्रयोजनसे यहाँ पधारे हैं, बताइये, मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ ?' ॥ १० ॥

प्रत्युवाच ततोऽगस्त्यः प्रहसन्निल्वलं तदा ।
ईशं ह्यसुर विद्मस्त्वां वयं सर्वे धनेश्वरम् ॥११॥

तब महर्षि अगस्त्यने हँसकर इल्वलसे कहा—'असुर! हम सब लोग तुम्हें शक्तिशाली शासक एवं धनका स्वामी समझते हैं ॥ ११ ॥

एते च नातिधनिनो धनार्थश्च महान् मम ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ नः ॥१२॥

'ये नरेश अधिक धनवान् नहीं हैं और मुझे बहुत धनकी आवश्यकता आ पड़ी है । अतः दूसरे जीवोंको कष्ट न देते हुए अपने धनमेंसे यथाशक्ति कुछ भाग हमें दो' ॥१२॥

ततोऽभिवाद्य तमृषिमिल्वलो वाक्यमब्रवीत् ।
दित्सितं यदि वेत्सि त्वं ततो दास्यामि ते वसु ॥१३॥

तब इल्वलने महर्षिको प्रणाम करके कहा—'मैं कितना धन देना चाहता हूँ ? यह बात यदि आप जान लें तो मैं आपको धन दूँगा' ॥ १३ ॥

अगस्त्य उवाच

गवां दशसहस्राणि राज्ञामेकैकशोऽसुर ।
तावदेव सुवर्णस्य दित्सितं ते महासुर ॥१४॥

अगस्त्यजीने कहा—महान् असुर ! तुम इनमेंसे एक-एक राजाको दस-दस हजार गौएँ तथा इतनी ही (दस-दस हजार) सुवर्णमुद्राएँ देना चाहते हो ॥ १४ ॥

मह्यं ततो वै द्विगुणं रथश्चैव हिरण्मयः ।
मनोजवौ वाजिनौ च दित्सितं ते महासुर ॥१५॥

इन राजाओंकी अपेक्षा दूनी गौएँ और सुवर्णमुद्राएँ तुमने मेरे लिये देनेका विचार किया है । महादैत्य ! इसके सिवा एक स्वर्णमय रथ, जिसमें मनके समान तीव्रगामी दो घोड़े जुते हों, तुम मुझे और देना चाहते हो ॥ १५ ॥

(लोमश उवाच

इल्वलस्तु मुनिं प्राह सर्वमस्ति यथाऽऽत्थ माम् ।
रथं तु यमवोचो मां नैनं विद्मो हिरण्मयम् ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! इसपर इल्वलने अगस्त्य मुनिसे कहा कि 'आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वह सब सत्य है; किंतु आपने जो मुझसे रथकी बात कही है, उस रथको हमलोग सुवर्णमय नहीं समझते हैं' ॥

अगस्त्य उवाच

न मे वागनृता काचिदुक्तपूर्वा महासुर ।)
जिज्ञास्यतां रथः सद्यो व्यक्त एष हिरण्मयः ।

अगस्त्यजीने कहा—महादैत्य ! मेरे मुँहसे पहले कभी कोई बात झूठी नहीं निकली है, अतः शीघ्र पता लगाओ, यह रथ निश्चय ही सोनेका है ॥

लोमश उवाच

जिज्ञास्यमानः स रथः कौन्तेयासीद्धिरण्मयः ।
ततः प्रव्यथितो दैत्यो ददावभ्यधिकं वसु ॥१६॥

लोमशजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! पता लगानेपर वह रथ सोनेका ही निकला, तब मनमें (भाई-की मृत्युसे) व्यथित हुए उस दैत्यने महर्षिको बहुत अधिक धन दिया ॥ १६ ॥

विरावश्च सुरावश्च तस्मिन् युक्तौ रथे हयौ ।
ऊहतुः सवसूनाशु तावगस्त्याश्रमं प्रति ॥१७॥
सर्वान् राज्ञः सहागस्त्यान् निमेषादिव भारत ।
(इल्वलस्त्वनुगम्यैनमगस्त्यं हन्तुमैच्छत ।
भस्म चक्रे महातेजा हुंकारेण महासुरम् ॥
मुनेराश्रममश्वौ तौ निन्यतुर्वातरंहसौ ।)
अगस्त्येनाभ्यनुज्ञाता जग्मू राजर्षयस्तदा ।
कृतवांश्च मुनिः सर्वं लोपामुद्राचिकीर्षितम् ॥१८॥

उस रथमें विराव और सुराव नामक दो घोड़े जुते हुए थे । वे धनसहित राजाओं तथा अगस्त्य मुनिको शीघ्र ही मानो पलक मारते ही अगस्त्याश्रमकी ओर ले भागे । उस समय इल्वल असुरने अगस्त्य मुनिके पीछे जाकर उनको मारनेकी इच्छा की; परंतु महातेजस्वी अगस्त्यमुनिने उस महादैत्य इल्वलको हुंकारसे ही भस्म कर दिया । तदनन्तर उन वायुके समान वेगवाले घोड़ोंने उन सबको मुनिके आश्रमपर पहुँचा दिया । भरतनन्दन ! फिर अगस्त्यजीकी आज्ञा ले वे राजर्षिगण अपनी-अपनी राजधानीको चले गये और महर्षिने लोपामुद्राकी सभी इच्छाएँ पूर्ण कीं ॥ १७-१८ ॥

लोपामुद्रोवाच

कृतवानसि तत् सर्वं भगवन् मम काङ्क्षितम् ।
उत्पादय सकृन्मह्यमपत्यं वीर्यवत्तरम् ॥१९॥

लोपामुद्रा बोली—भगवन् ! मेरी जो-जो अभिलाषा थी, वह सब आपने पूर्ण कर दी । अब मुझसे एक अत्यन्त शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न कीजिये ॥ १९ ॥



अगस्त्य उवाच

तुष्टोऽहमस्मि कल्याणि तव वृत्तेन शोभने ।
विचारणामपत्ये तु तव वक्ष्यामि तां शृणु ॥२०॥

अगस्त्यजीने कहा—शोभामयी कल्याणी ! तुम्हारे सद्व्यवहारसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ । पुत्रके सम्बन्धमें तुम्हारे सामने एक विचार उपस्थित करता हूँ, सुनो ॥ २० ॥

सहस्रं तेऽस्तु पुत्राणां शतं वा दशसम्मितम् ।
दश वा शततुल्याः स्युरेको वापि सहस्रजित् ॥२१॥

क्या तुम्हारे गर्भसे एक हजार या एक सौ पुत्र उत्पन्न हों, जो दसके ही समान हों ? अथवा दस ही पुत्र हों, जो सौ पुत्रोंकी समानता करनेवाले हों ? अथवा एक ही पुत्र हो, जो हजारोंको जीतनेवाला हो ? ॥ २१ ॥

लोपामुद्रोवाच

सहस्रसम्मितः पुत्र एकोऽप्यस्तु तपोधन ।
एको हि बहुभिः श्रेयान् विद्वान् साधुरसाधुभिः ॥२२॥

लोपामुद्रा बोली—तपोधन ! मुझे सहस्रोंकी समानता करनेवाला एक ही श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त हो; क्योंकि बहुत-से दुष्ट पुत्रोंकी अपेक्षा एक ही विद्वान् एवं श्रेष्ठ पुत्र उत्तम माना गया है ॥ २२ ॥

लोमश उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय तया समभवन्मुनिः ।
समये समशीलिन्या श्रद्धावाञ्छ्रद्दधानया ॥२३॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! तब 'तथास्तु' कहकर श्रद्धालु महात्मा अगस्त्यने समान शील-स्वभाववाली श्रद्धालु पत्नी लोपामुद्राके साथ यथासमय समागम किया ॥ २३ ॥

तत आधाय गर्भं तमगमद् वनमेव सः ।
तस्मिन् वनगते गर्भो ववृधे सप्त शारदान् ॥२४॥

गर्भाधान करके अगस्त्यजी फिर वनमें ही चले गये । उनके वनमें चले जानेपर वह गर्भ सात वर्षोंतक माताके पेटमें ही पलता और बढ़ता रहा ॥ २४ ॥

सप्तमेऽब्दे गते चापि प्राच्यवत् स महाकविः ।
ज्वलन्निव प्रभावेण दृढस्युर्नाम भारत ॥२५॥

भारत ! सात वर्ष बीतनेपर अपने तेज और प्रभावसे प्रज्वलित होता हुआ वह गर्भ उदरसे बाहर निकला । वही महाविद्वान् दृढस्युके नामसे विख्यात हुआ ॥ २५ ॥

साङ्गोपनिषदान् वेदाञ्जपन्निव महातपाः ।
तस्य पुत्रोऽभवदृषेः स तेजस्वी महाद्विजः ॥२६॥

महर्षिका वह महातपस्वी और तेजस्वी पुत्र जन्मकालसे ही अङ्ग और उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका स्वाध्याय-सा [illegible] ॥२६॥

स बाल एव तेजस्वी पितुस्तस्य निवेशने ।
इध्मानां भारमाजह्रे इध्मवाहस्ततोऽभवत् ॥२७॥

पिताके घरमें रहते हुए तेजस्वी दृढस्यु बाल्यकालसे ही इध्म (समिधा) का भार वहन करके लाने लगे; अतः 'इध्मवाह' नामसे विख्यात हो गये ॥ २७ ॥

तथायुक्तं तु तं दृष्ट्वा मुमुदे स मुनिस्तदा ।
एवं स जनयामास भारतापत्यमुत्तमम् ॥२८॥

अपने पुत्रको स्वाध्याय और समिधानयनके कार्यमें संलग्न देख महर्षि अगस्त्य उस समय बहुत प्रसन्न हुए । भारत ! इस प्रकार अगस्त्यजीने उत्तम संतान उत्पन्न की ॥ २८ ॥

लेभिरे पितरश्चास्य लोकान् राजन् यथेप्सितान् ।
तत ऊर्ध्वमयं ख्यातस्त्वगस्त्यस्याश्रमो भुवि ॥२९॥

राजन् ! तदनन्तर उनके पितरोंने मनोवाञ्छित लोक प्राप्त कर लिये । उसके बादसे यह स्थान इस पृथ्वीपर अगस्त्याश्रमके नामसे विख्यात हो गया ॥ २९ ॥

प्राह्लादिरेवं वातापिरगस्त्येनोपशामितः ।
तस्यायमाश्रमो राजन् रमणीयैर्गुणैर्युतः ॥३०॥

वातापि प्रह्लादके गोत्रमें उत्पन्न हुआ था, जिसे अगस्त्यजीने इस प्रकार शान्त कर दिया । राजन् ! यह उन्हींका रमणीय गुणोंसे युक्त आश्रम है ॥ ३० ॥

एषा भागीरथी पुण्या देवगन्धर्वसेविता ।
वातेरिता पताकेव विराजति नभस्तले ॥ ३१ ॥

इसके समीप यह वही देवगन्धर्वसेवित पुण्यसलिला भागीरथी है, जो आकाशमें वायुकी प्रेरणासे फहरानेवाली श्वेत पताकाके समान सुशोभित हो रही है ॥ ३१ ॥

प्रतार्यमाणा कूटेषु यथा निम्नेषु नित्यशः ।
शिलातलेषु संत्रस्ता पन्नगेन्द्रवधूरिव ॥ ३२ ॥

यह क्रमशः नीचे-नीचेके शिखरोंपर गिरती हुई सदा तीव्रगतिसे बहती है और शिलाखण्डोंके नीचे इस प्रकार समायी जाती है, मानो भयभीत सर्पिणी बिलमें घुसी जा रही हो॥

दक्षिणां वै दिशं सर्वां प्लावयन्ती च मातृवत् ।
पूर्वं शम्भोर्जटाभ्रष्टा समुद्रमहिषी प्रिया ।
अस्यां नद्यां सुपुण्यायां यथेष्टमवगाह्यताम् ॥ ३३ ॥

पहले भगवान् शङ्करकी जटासे गिरकर प्रवाहित होनेवाली समुद्रकी प्रियतमा महारानी गङ्गा सम्पूर्ण दक्षिण दिशाको इस प्रकार आप्लावित कर रही है, मानो माता अपनी संतानको नहला रही हो । इस परम पवित्र नदीमें तुम इच्छानुसार स्नान करो ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर निबोधेदं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
भृगोस्तीर्थं महाराज महर्षिगणसेवितम् ॥ ३४ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! इधर ध्यान दो, यह महर्षिगणसेवित भृगुतीर्थ है, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥ ३४ ॥

यत्रोपस्पृष्टवान् रामो हृतं तेजस्तदाऽऽप्तवान् ।
अत्र त्वं भ्रातृभिः सार्धं कृष्णया चैव पाण्डव ॥ ३५ ॥
दुर्योधनहृतं तेजः पुनरादातुमर्हसि ।
कृतवैरेण रामेण यथा चोपहृतं पुनः ॥ ३६ ॥

जहाँ परशुरामजीने स्नान किया और उसी क्षण अपने खोये हुए तेजको पुनः प्राप्त कर लिया । पाण्डुनन्दन ! तुम अपने भाइयों और द्रौपदीके साथ इसमें स्नान करके दुर्योधनद्वारा छीने हुए अपने तेजको पुनः प्राप्त कर सकते हो । जैसे दशरथनन्दन श्रीरामसे वैर करनेपर उनके द्वारा अपहृत हुए तेजको परशुरामने यहाँ स्नानके प्रभावसे पुनः पा लिया था ॥

वैशम्पायन उवाच

स तत्र भ्रातृभिश्चैव कृष्णया चैव पाण्डवः ।
स्नात्वा देवान् पितॄंश्चैव तर्पयामास भारत ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा युधिष्ठिरने अपने भाइयों और द्रौपदीके साथ उस तीर्थमें स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण किया ॥ ३७ ॥

तस्य तीर्थस्य रूपं वै दीप्ताद् दीप्ततरं बभौ ।
अप्रधृष्यतरश्चासीच्छात्रवाणां नरर्षभ ॥ ३८ ॥

नरश्रेष्ठ ! उस तीर्थमें स्नान कर लेनेपर राजा युधिष्ठिरका रूप अत्यन्त तेजोयुक्त हो प्रकाशमान हो गया । अब वे शत्रुओंके लिये परम दुर्धर्ष हो गये ॥ ३८ ॥

अपृच्छच्चैव राजेन्द्र लोमशं पाण्डुनन्दनः ।
भगवन् किमर्थं रामस्य हृतमासीद् वपुः प्रभो ।
कथं प्रत्याहृतं चैव एतदाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ३९ ॥

राजेन्द्र ! उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने महर्षि लोमशसे पूछा—'भगवन् ! परशुरामजीके तेजका अपहरण किसलिये किया गया था और प्रभो ! वह इन्हें पुनः किस प्रकार प्राप्त हो गया ? यह मैं जानना चाहता हूँ । आप कृपा करके इस प्रसंगका वर्णन करें' ॥ ३९ ॥

लोमश उवाच

शृणु रामस्य राजेन्द्र भार्गवस्य च धीमतः ।
जातो दशरथस्यासीत् पुत्रो रामो महात्मनः ॥ ४० ॥
विष्णुः स्वेन शरीरेण रावणस्य वधाय वै ।
पश्यामस्तमयोध्यायां जातं दाशरथिं ततः ॥ ४१ ॥

लोमशजीने कहा—राजेन्द्र ! तुम दशरथनन्दन श्रीराम तथा परम बुद्धिमान् भृगुनन्दन परशुरामजीका चरित्र सुनो । पूर्वकालमें महात्मा राजा दशरथके यहाँ साक्षात् भगवान् विष्णु अपने ही सच्चिदानन्दमय विग्रहसे श्रीरामरूपमें अवतीर्ण हुए थे । उनके अवतारका उद्देश्य था—पापी रावणका

विनाश । अयोध्यामें प्रकट हुए दशरथनन्दन श्रीरामका हम लोग प्रायः दर्शन करते रहते थे ॥ ४०-४१ ॥

ऋचीकनन्दनो रामो भार्गवो रेणुकासुतः ।
तस्य दाशरथेः श्रुत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ४२ ॥
कौतूहलान्वितो रामस्त्वयोध्यामगमत् पुनः ।
धनुरादाय तद् दिव्यं क्षत्रियाणां निवर्हणम् ॥ ४३ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले दशरथकुमार श्रीरामका भारी पराक्रम सुनकर भृगु तथा ऋचीकके वंशज रेणुकानन्दन परशुराम उन्हें देखनेके लिये उत्सुक हो क्षत्रियसंहारक दिव्य धनुष लिये अयोध्यामें आये ॥ ४२-४३ ॥

जिज्ञासमानो रामस्य वीर्यं दाशरथेस्तदा ।
तं वै दशरथः श्रुत्वा विषयान्तमुपागतम् ॥ ४४ ॥
प्रेषयामास रामस्य रामं पुत्रं पुरस्कृतम् ।
स तमभ्यागतं दृष्ट्वा उद्यतास्त्रमवस्थितम् ॥ ४५ ॥
प्रहसन्निव कौन्तेय रामो वचनमब्रवीत् ।
कृतकालं हि राजेन्द्र धनुरेतन्मया विभो ॥ ४६ ॥
समारोपय यत्नेन यदि शक्नोषि पार्थिव ।

उनके शुभागमनका उद्देश्य था दशरथनन्दन श्रीरामके बल-पराक्रमकी परीक्षा करना । महाराज दशरथने जब सुना कि परशुरामजी हमारे राज्यकी सीमापर आ गये हैं, तब उन्होंने मुनिकी अगवानीके लिये अपने पुत्र श्रीरामको भेजा । कुन्तीनन्दन ! श्रीरामचन्द्रजी धनुष-बाण हाथमें लिये आकर खड़े हैं, यह देखकर परशुरामजीने हँसते हुए कहा—'राजेन्द्र ! प्रभो ! भूपाल ! यदि तुममें शक्ति हो तो यत्नपूर्वक इस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाओ । यह वह धनुष है, जिसके द्वारा मैंने क्षत्रियोंका संहार किया है ॥ ४४–४६½ ॥

इत्युक्तस्त्वाह भगवंस्त्वं नाधिक्षेप्तुमर्हसि ॥ ४७ ॥

उनके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'भगवन् ! आपको इस तरह आक्षेप नहीं करना चाहिये ॥ ४७ ॥

नाहमप्यधमो धर्मे क्षत्रियाणां द्विजातिषु ।
इक्ष्वाकूणां विशेषेण बाहुवीर्ये न कत्थनम् ॥ ४८ ॥

'मैं भी समस्त द्विजातियोंमें क्षत्रिय-धर्मका पालन करनेमें अधम नहीं हूँ । विशेषतः इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय अपने बाहुबलकी प्रशंसा नहीं करते' ॥ ४८ ॥

तमेवंवादिनं तत्र रामो वचनमब्रवीत् ।
अलं वै व्यपदेशेन धनुरायच्छ राघव ॥ ४९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर परशुरामजी बोले—'रघुनन्दन ! बातें बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं । यह धनुष लो और इसपर प्रत्यञ्चा चढ़ाओ' ॥ ४९ ॥

ततो जग्राह रोषेण क्षत्रियर्षभसूदनम् ।
रामो दाशरथिर्दिव्यं हस्ताद् रामस्य कार्मुकम् ॥ ५० ॥
धनुरारोपयामास सलील इव भारत ।
ज्याशब्दमकरोच्चैव स्मयमानः स वीर्यवान् ॥ ५१ ॥

तब दशरथनन्दन श्रीरामजीने रोषपूर्वक परशुरामका वह वीर क्षत्रियोंका संहारक दिव्य धनुष उनके हाथसे ले लिया । भारत ! उन्होंने लीलापूर्वक प्रत्यञ्चा चढ़ा दी । तत्पश्चात् पराक्रमी श्रीरामचन्द्रजीने मुसकराते हुए धनुषकी टंकार फैलायी ॥ ५०-५१ ॥

तस्य शब्दस्य भूतानि वित्रसन्त्यशनेरिव ।
अथाब्रवीत् तदा रामो रामं दाशरथिस्तदा ॥ ५२ ॥
इदमारोपितं ब्रह्मन् किमन्यत् करवाणि ते ।
तस्य रामो ददौ दिव्यं जामदग्न्यो महात्मनः ।
शरमाकर्णदेशान्तमयमाकृष्यतामिति ॥ ५३ ॥

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान उस टंकार-ध्वनिको सुनकर सब प्राणी घबरा उठे । उस समय दशरथनन्दन श्रीरामने परशुरामजीसे कहा—'ब्रह्मन् ! यह धनुष तो मैंने चढ़ा दिया अब और आपका कौन-सा कार्य करूँ ?' तब जमदग्निनन्दन परशुरामने महात्मा श्रीरामचन्द्रजीको एक दिव्य बाण दे दिया और कहा—'इसे धनुषपर रखकर अपने कानके पासतक खींचिये' ॥ ५२-५३ ॥

लोमश उवाच

एतच्छ्रुत्वाब्रवीद् रामः प्रदीप्त इव मन्युना ।
श्रूयते क्षम्यते चैव दर्पपूर्णोऽसि भार्गव ॥ ५४ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! इतना सुनते ही श्रीरामचन्द्रजी मानो क्रोधसे प्रज्वलित हो उठे और बोले—'भृगुनन्दन ! तुम बड़े घमण्डी हो । मैं तुम्हारी कठोर बातें सुनता हूँ फिर क्षमा कर लेता हूँ ॥ ५४ ॥

त्वया ह्यधिगतं तेजः क्षत्रियेभ्यो विशेषतः ।
पितामहप्रसादेन तेन मां क्षिपसि ध्रुवम् ॥ ५५ ॥

'तुमने अपने पितामह ऋचीकके प्रभावसे क्षत्रियोंको जीतकर विशेष तेज प्राप्त किया है, निश्चय ही, इसीलिये मुझपर आक्षेप करते हो ॥ ५५ ॥

पश्य मां स्वेन रूपेण चक्षुस्ते वितराम्यहम् ।
ततो रामशरीरे वै रामः पश्यति भार्गवः ॥ ५६ ॥
आदित्यान् सवसून् रुद्रान् साध्यांश्च समरुद्गणान् ।
पितरो हुताशनश्चैव नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥ ५७ ॥
गन्धर्वा राक्षसा यक्षा नद्यस्तीर्थानि यानि च ।
ऋषयो बालखिल्याश्च ब्रह्मभूताः सनातनाः ॥ ५८ ॥
देवर्षयश्च कात्स्न्येंन समुद्राः पर्वतास्तथा ।
वेदाश्च सोपनिषदो वषट्कारैः सहाध्वरैः ॥ ५९ ॥
चेतोमन्ति च सामानि धनुर्वेदश्च भारत ।
[illegible] युधिष्ठिर ॥ ६० ॥

'लो ! मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि देता हूँ। उसके द्वारा मेरे यथार्थ स्वरूपका दर्शन करो।' तब भृगुवंशी परशुरामजीने श्रीरामचन्द्रजीके शरीरमें बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, साध्य देवता, उनचास मरुद्गण, पितृगण, अग्निदेव, नक्षत्र, ग्रह, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, नदियाँ, तीर्थ, सनातन ब्रह्मभूत बालखिल्य ऋषि, देवर्षि, सम्पूर्ण समुद्र, पर्वत, उपनिषदोंसहित वेद, वषट्कार, यज्ञ, साम और धनुर्वेद, इन सभीको चेतनरूप धारण किये हुए प्रत्यक्ष देखा। भरतनन्दन युधिष्ठिर ! मेघोंके समूह, वर्षा और विद्युत्‌का भी उनके भीतर दर्शन हो रहा था ॥ ५६—६० ॥

ततः स भगवान् विष्णुस्तं वै बाणं मुमोच ह।
शुष्काशनिसमाकीर्णं महोल्काभिश्च भारत ॥ ६१ ॥
पांसुवर्षेण महता मेघवर्षैश्च भूतलम्।
भूमिकम्पैश्च निर्घातैर्नादैश्च विपुलैरपि ॥ ६२ ॥

तदनन्तर भगवान् विष्णुरूप श्रीरामचन्द्रजीने उस बाणको छोड़ा। भारत ! उस समय सारी पृथ्वी बिना बादलकी बिजली और बड़ी-बड़ी उल्काओंसे व्याप्त-सी हो उठी। बड़े जोरकी आँधी उठी और सब ओर धूलकी वर्षा होने लगी। फिर मेघोंकी घटा घिर आयी और भूतलपर मूसलाधार वर्षा होने लगी। बारंबार भूकम्प होने लगा। मेघगर्जन तथा अन्य भयानक उत्पातसूचक शब्द गूँजने लगे ॥ ६१-६२ ॥

स रामं विह्वलं कृत्वा तेजश्चाक्षिप्य केवलम्।
आगच्छज्ज्वलितो बाणो रामबाहुप्रचोदितः ॥ ६३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी भुजाओंसे प्रेरित हुआ वह प्रज्वलित बाण परशुरामजीको व्याकुल करके केवल उनके तेजको छीनकर पुनः लौट आया ॥ ६३ ॥

स तु विह्वलतां गत्वा प्रतिलभ्य च चेतनाम्।
रामः प्रत्यागतप्राणः प्राणमद् विष्णुतेजसम् ॥ ६४ ॥
विष्णुना सोऽभ्यनुज्ञातो महेन्द्रमगमत् पुनः।
भीतस्तु तत्र न्यवसद् व्रीडितस्तु महातपाः ॥ ६५ ॥

परशुरामजी एक बार मूर्च्छित होकर जब पुनः होशमें आये, तब मरकर जी उठे हुए मनुष्यकी भाँति उन्होंने विष्णुतेज धारण करनेवाले भगवान् श्रीरामको नमस्कार किया। तत्पश्चात् भगवान् विष्णु श्रीरामकी आज्ञा लेकर वे पुनः महेन्द्र पर्वतपर चले गये। वहाँ भयभीत और लज्जित हो महान् तपस्यामें संलग्न होकर रहने लगे ॥ ६४-६५ ॥

ततः संवत्सरेऽतीते हृतौजसमवस्थितम्।
निर्मदं दुःखितं दृष्ट्वा पितरो राममब्रुवन् ॥ ६६ ॥

तदनन्तर एक वर्ष व्यतीत होनेपर तेजोहीन और अभिमानशून्य होकर रहनेवाले परशुरामको दुखी देखकर उनके पितरोंने कहा ॥ ६६ ॥

पितर ऊचुः

न वै सम्यगिदं पुत्र विष्णुमासाद्य वै कृतम्।
स हि पूज्यश्च मान्यश्च त्रिषु लोकेषु सर्वदा ॥ ६७ ॥

पितर बोले—तुमने भगवान् विष्णुके पास जाकर जो बर्ताव किया है वह ठीक नहीं था। वे तीनों लोकोंमें सर्वदा पूजनीय और माननीय हैं ॥ ६७ ॥

गच्छ पुत्र नदीं पुण्यां वधूसरकृताह्वयाम्।
तत्रोपस्पृश्य तीर्थेषु पुनर्वपुरवाप्स्यसि ॥ ६८ ॥

बेटा ! अब तुम वधूसर नामक पुण्यमयी नदीके तटपर जाओ। वहाँ तीर्थोंमें स्नान करके पूर्ववत् अपना तेजोमय शरीर पुनः प्राप्त कर लोगे ॥ ६८ ॥

दीप्तोदं नाम तत् तीर्थं यत्र ते प्रपितामहः।
भृगुर्देवयुगे राम तप्तवानुत्तमं तपः ॥ ६९ ॥

राम ! वह दीप्तोदक नामक तीर्थ है, जहाँ देवयुगमें तुम्हारे प्रपितामह भृगुने उत्तम तपस्या की थी ॥ ६९ ॥

तत् तथा कृतवान् रामः कौन्तेय वचनात् पितुः।
प्राप्तवांश्च पुनस्तेजस्तीर्थेऽस्मिन् पाण्डुनन्दन ॥ ७० ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! पितरोंके कहनेसे परशुरामजीने वैसा ही किया। पाण्डुनन्दन ! इस तीर्थमें नहाकर पुनः उन्होंने अपना तेज प्राप्त कर लिया ॥ ७० ॥

एतदीदृशकं तात रामेणाक्लिष्टकर्मणा।
प्राप्तमासीन्महाराज विष्णुमासाद्य वै पुरा ॥ ७१ ॥

तात महाराज युधिष्ठिर ! इस प्रकार पूर्वकालमें अनायास ही महान् कर्म करनेवाले परशुराम विष्णुस्वरूप श्रीरामचन्द्रजीसे भिड़कर इस दशाको प्राप्त हुए थे ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां जामदग्न्यतेजोहानिकथने एकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें परशुरामके तेजकी हानिविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ७४ श्लोक हैं)

शततमोऽध्यायः

वृत्रासुरसे त्रस्त देवताओंको महर्षि दधीचका अस्थिदान एवं वज्रका निर्माण

युधिष्ठिर उवाच

भूय एवाहमिच्छामि महर्षेस्तस्य धीमतः ।
कर्मणां विस्तरं श्रोतुमगस्त्यस्य द्विजोत्तम ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! मैं पुनः बुद्धिमान् महर्षि अगस्त्यजीके चरित्रका विस्तारपूर्वक वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

लोमश उवाच

शृणु राजन् कथां दिव्यामद्भुतामतिमानुषीम् ।
अगस्त्यस्य महाराज प्रभावममितौजसः ॥ २ ॥

लोमशजीने कहा—महाराज ! अमिततेजस्वी महर्षि अगस्त्यकी कथा दिव्य, अद्भुत और अलौकिक है । उनका प्रभाव महान् है । मैं उसका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २ ॥

आसन् कृतयुगे घोरा दानवा युद्धदुर्मदाः ।
कालकेया इति ख्याता गणाः परमदारुणाः ॥ ३ ॥

सत्ययुगकी बात है, दैत्योंके बहुत-से भयंकर दल थे, जो कालकेय नामसे विख्यात थे । उनका स्वभाव अत्यन्त निर्दय था । वे युद्धमें उन्मत्त होकर लड़ते थे ॥ ३ ॥

ते तु वृत्रं समाश्रित्य नानाप्रहरणोद्यताः ।
समन्तात् पर्यधावन्त महेन्द्रप्रमुखान् सुरान् ॥ ४ ॥

उन सबने एक दिन वृत्रासुरकी शरण ले उसकी अध्यक्षतामें नाना प्रकारके आयुधोंसे सुसज्जित हो महेन्द्र आदि देवताओंपर चारों ओरसे आक्रमण किया ॥ ४ ॥

ततो वृत्रवधे यत्नमकुर्वंस्त्रिदशाः पुरा ।
पुरंदरं पुरस्कृत्य ब्रह्माणमुपतस्थिरे ॥ ५ ॥

तब समस्त देवता वृत्रासुरके वधके प्रयत्नमें लग गये । वे देवराज इन्द्रको आगे करके ब्रह्माजीके पास गये ॥ ५ ॥

कृताञ्जलींस्तु तान् सर्वान् परमेष्ठीत्युवाच ह ।
विदितं मे सुराः सर्वं यद् वः कार्यं चिकीर्षितम् ॥ ६ ॥

वहाँ पहुँचकर सब देवता हाथ जोड़कर खड़े हो गये । तब ब्रह्माजीने उनसे कहा—'देवताओ ! तुम जो कार्य सिद्ध करना चाहते हो, वह सब मुझे मालूम है ॥ ६ ॥

तमुपायं प्रवक्ष्यामि यथा वृत्रं वधिष्यथ ।
दधीच इति विख्यातो महानृषिरुदारधीः ॥ ७ ॥
तं गत्वा सहिताः सर्वे वरं वै सम्प्रयाचत ।
स वो दास्यति धर्मात्मा सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ ८ ॥

'मैं तुम्हें एक उपाय बता रहा हूँ, जिससे तुम वृत्रासुरका वध कर सकोगे । दधीच नामसे विख्यात जो उदारचेता महर्षि हैं, उनके पास जाकर तुम सब लोग एक साथ एक ही वर माँगो । वे बड़े धर्मात्मा हैं । अत्यन्त प्रसन्न मनसे तुम्हें मुँहमाँगी वस्तु देंगे ॥ ७-८ ॥

स वाच्यः सहितैः सर्वैर्भवद्भिर्जयकाङ्क्षिभिः ।
स्वान्यस्थीनि प्रयच्छेति त्रैलोक्यस्य हिताय वै ॥ ९ ॥

'जब वे वर देना स्वीकार कर लें, तब विजयकी अभिलाषा रखनेवाले तुम सब लोग उनसे एक साथ यों कहना—'महात्मन् ! आप तीनों लोकोंके हितके लिये अपने शरीरकी हड्डियाँ प्रदान करें' ॥ ९ ॥

स शरीरं समुत्सृज्य स्वान्यस्थीनि प्रदास्यति ।
तस्यास्थिभिर्महाघोरं वज्रं संस्क्रियतां दृढम् ॥ १० ॥

'तुम्हारे माँगनेपर वे शरीर त्यागकर अपनी हड्डियाँ दे देंगे । उनकी उन हड्डियोंद्वारा तुमलोग सुदृढ़ एवं अत्यन्त भयंकर वज्रका निर्माण करो ॥ १० ॥

महच्छत्रुहणं घोरं षडश्रं भीमनिःस्वनम् ।
तेन वज्रेण वै वृत्रं वधिष्यति शतक्रतुः ॥ ११ ॥

'उसकी आकृति षट्कोणके समान होगी । वह महान् एवं घोर शत्रुनाशक अस्त्र भयंकर गड़गड़ाहट पैदा करनेवाला होगा । उस वज्रके द्वारा इन्द्र निश्चय ही वृत्रासुरका वध कर डालेंगे ॥ ११ ॥

एतद् वः सर्वमाख्यातं तस्माच्छीघ्रं विधीयताम् ।
एवमुक्तास्ततो देवा अनुज्ञाप्य पितामहम् ॥ १२ ॥
नारायणं पुरस्कृत्य दधीचस्याश्रमं ययुः ।
सरस्वत्याः परे पारे नानाद्रुमलतावृतम् ॥ १३ ॥

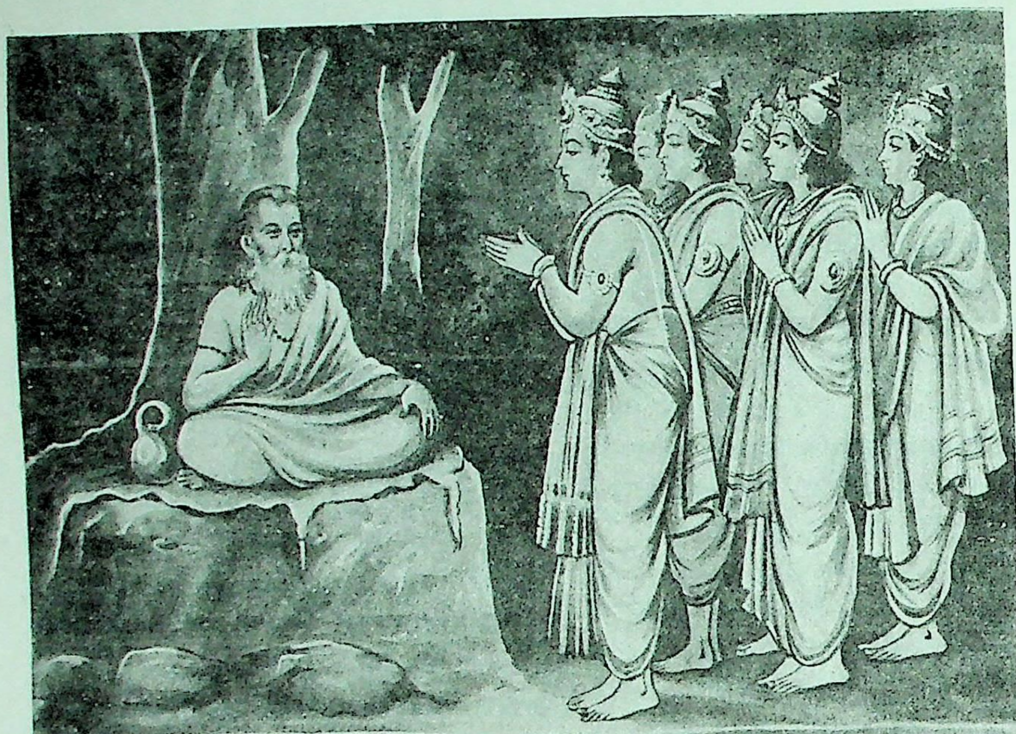
'ये सब बातें मैंने तुम्हें बता दी हैं । अतः अब शीघ्रता करो ।' ब्रह्माजीके ऐसा करनेपर सब देवता उनकी आज्ञा ले भगवान् नारायणको आगे करके दधीचके आश्रमपर गये । वह आश्रम सरस्वती नदीके उस पार था । अनेक प्रकारके वृक्ष और लताएँ उसे घेरे हुए थीं ॥ १२-१३ ॥

षट्पदोद्गीतनिनदैर्विघुष्टं सामगैरिव ।
पुंस्कोकिलरवोन्मिश्रं जीवं जीवकनादितम् ॥ १४ ॥

भ्रमरोंके गीतोंकी ध्वनिसे वह स्थान इस प्रकार गूँज रहा था, मानो सामगान करनेवाले ब्राह्मणोंद्वारा सामवेदका पाठ हो रहा हो । कोकिलके कलरवोंसे कूजित और दूसरे जन्तुओं (पशु-पक्षियों) के शब्दोंसे कोलाहलपूर्ण बना हुआ वह आश्रम सजीव-सा जान पड़ता था ॥ १४ ॥

महिषैश्च वराहैश्च सृमरैश्चमरैरपि ।
तत्र तत्रानुचरितं शार्दूलभयवर्जितः ॥ १५ ॥

देवताओंद्वारा वृत्रासुरके वधके लिये दधीचिसे उनकी अस्थियोंकी याचना





देवराज इन्द्रका वज्रके प्रहारसे वृत्रासुरका वध करना

भैंसे, सूअर, बाल मृग और चवँरी गायें बाघ-सिंहोंके भयसे रहित हो उस आश्रमके आस-पास विचर रही थीं ॥ १५ ॥

करेणुभिर्वारणैश्च प्रभिन्नकरटामुखैः ।
सरोऽवगाढैः क्रीडद्भिः समन्तादनुनादितम् ॥ १६ ॥

अपने कपोलोंसे मदकी धारा बहानेवाले हाथी और हथिनियाँ वहाँ सरोवरके जलमें गोते लगाकर क्रीड़ाएँ कर रहे थे, जिससे आश्रमके चारों ओर कोलाहल-सा हो रहा था ॥

सिंहव्याघ्रैर्महानादान्नदद्भिरनुनादितम् ।
अपरैश्चापि संलीनैर्गुहाकन्दरशायिभिः ॥ १७ ॥

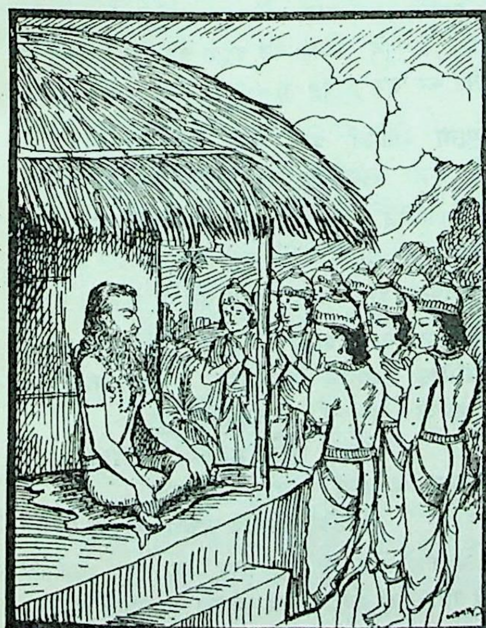
पर्वतोंकी गुफाओं तथा कन्दराओंमें लेटे, झाड़ियोंमें छिपे और वनमें विचरते हुए जोर-जोरसे दहाड़नेवाले सिंहों और व्याघ्रोंकी गर्जनासे वह स्थान गूँज रहा था ॥ १७ ॥

तेषु तेष्ववकाशेषु शोभितं सुमनोरमम् ।
त्रिविष्टपसमप्रख्यं दधीचाश्रममागमन् ॥ १८ ॥

विभिन्न स्थानोंमें अधिक शोभा पानेवाला महर्षि दधीचका वह मनोरम आश्रम स्वर्गके समान प्रतीत होता था । देवता लोग वहाँ आ पहुँचे ॥ १८ ॥

तत्रापश्यन् दधीचं ते दिवाकरसमद्युतिम् ।
जाज्वल्यमानं वपुषा यथा लक्ष्म्या पितामहम् ॥ १९ ॥

उन्होंने देखा, महर्षि दधीच भगवान् सूर्यके समान तेजसे प्रकाशित हो रहे है । अपने शरीरकी दिव्य कान्तिसे साक्षात् ब्रह्माजीके समान जान पड़ते हैं ॥ १९ ॥



तस्य पादौ सुरा राजन्नभिवाद्य प्रणम्य च ।
अयाचन्त वरं सर्वे यथोक्तं परमेष्ठिना ॥ २० ॥

राजन् ! उस समय सब देवताओंने महर्षिके चरणोंमें अभिवादन एवं प्रणाम करके ब्रह्माजीने जैसे कहा था, उसी प्रकार उनसे वर माँगा ॥ २० ॥

ततो दधीचः परमप्रतीतः
सुरोत्तमांस्तानिदमभ्युवाच ।
करोमि यद् वो हितमद्य देवाः
स्वं चापि देहं स्वयमुत्सृजामि ॥ २१ ॥

तब महर्षि दधीचने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन श्रेष्ठ देवताओंसे इस प्रकार कहा—'देवगण ! आज मैं वही करूँगा, जिससे आपलोगोंका हित हो । अपने इस शरीरको मैं स्वयं ही त्याग देता हूँ' ॥ २१ ॥

स एवमुक्त्वा द्विपदां वरिष्ठः
प्राणान् वशी स्वान् सहसोत्ससर्ज ।
ततः सुरास्ते जगृहुः परासो-
रस्थीनि तस्याथ यथोपदेशम् ॥ २२ ॥

ऐसा कहकर मनुष्योंमें श्रेष्ठ, जितेन्द्रिय महर्षि दधीचने सहसा अपने प्राणोंका त्याग कर दिया । तब देवताओंने ब्रह्माजीके उपदेशके अनुसार महर्षिके निर्जीव शरीरसे हड्डियाँ ले लीं ॥ २२ ॥

प्रहृष्टरूपाश्च जयाय देवा-
स्त्वष्टारमागम्य तमर्थमूचुः ।
त्वष्टा तु तेषां वचनं निशम्य
प्रहृष्टरूपः प्रयतः प्रयत्नात् ॥ २३ ॥
चकार वज्रं भृशमुग्ररूपं
कृत्वा च शक्रं स उवाच हृष्टः ।
अनेन वज्रप्रवरेण देव
भस्मीकुरुष्वाद्य सुरारिमुग्रम् ॥ २४ ॥

इसके बाद वे हर्षोल्लाससे भरकर विजयकी आशा लिये त्वष्टा प्रजापतिके पास आये और उनसे अपना प्रयोजन बताया । देवताओंकी बात सुनकर त्वष्टा प्रजापति बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने एकाग्रचित्त हो प्रयत्नपूर्वक अत्यन्त भयंकर वज्रका निर्माण किया । तत्पश्चात् वे हर्षमें भरकर इन्द्रसे बोले—'देव ! इस उत्तम वज्रसे आप आज ही भयंकर देवद्रोही वृत्रासुरको भस्म कर डालिये ॥ २३-२४ ॥

ततो हतारिः सगणः सुखं वै
प्रशाधि कृत्स्नं त्रिदिवं दिविष्ठः ।
त्वष्ट्रा तथोक्तस्तु पुरंदरस्तद्
वज्रं प्रहृष्टः प्रयतो ह्यगृह्णात् ॥ २५ ॥

'इस प्रकार शत्रुके मारे जानेपर आप देवगणोंके साथ

स्वर्गमें रहकर सुखपूर्वक सम्पूर्ण स्वर्गका शासन एवं पालन कीजिये ।' त्वष्टा प्रजापतिके ऐसा कहनेपर इन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने शुद्धचित्त होकर उनके हाथसे वह वज्र ले लिया ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां वज्रनिर्माणकथने शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें वज्रनिर्माणकथनविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१००॥

एकाधिकशततमोऽध्यायः

वृत्रासुरका वध और असुरोंकी भयंकर मन्त्रणा

लोमश उवाच

ततः स वज्री बलिभिर्दैवतैरभिरक्षितः ।
आससाद ततो वृत्रं स्थितमावृत्य रोदसी ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर वज्रधारी इन्द्र बलवान् देवताओंसे सुरक्षित हो वृत्रासुरके पास गये । वह असुर भूलोक और आकाशको घेरकर खड़ा था ॥ १ ॥

कालकेयैर्महाकायैः समन्तादभिरक्षितम् ।
समुद्यतप्रहरणैः सश्रृङ्गैरिव पर्वतैः ॥ २ ॥

कालकेय नामवाले विशालकाय दैत्य, जो हाथोंमें हथियार लिये होनेके कारण श्रृङ्गयुक्त पर्वतोंके समान जान पड़ते थे, चारों ओरसे उसकी रक्षा कर रहे थे ॥ २ ॥

ततो युद्धं समभवद् देवानां दानवैः सह ।
मुहूर्तं भरतश्रेष्ठ लोकत्रासकरं महत् ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इन्द्रके आते ही देवताओंका दानवोंके साथ दो घड़ीतक बड़ा भीषण युद्ध हुआ, जो तीनों लोकोंको त्रस्त करनेवाला था ॥ ३ ॥

उद्यतप्रतिपिष्टानां खड्गानां वीरबाहुभिः ।
आसीत् सुतुमुलः शब्दः शरीरेष्वभिपात्यताम् ॥ ४ ॥

वीरोंकी भुजाओंके साथ उठे हुए खड्ग शत्रुके शरीरोंपर पड़ते और विपक्षी योद्धाओंके घातक प्रहारोंसे टूटकर चूर-चूर हो जाते थे, उस समय उनका अत्यन्त भयंकर शब्द सुन पड़ता था ॥ ४ ॥

शिरोभिः प्रपतद्भिश्चाप्यन्तरिक्षान्महीतलम् ।
तालैरिव महाराज वृन्ताद् भ्रष्टैरदृश्यत ॥ ५ ॥

महाराज ! अपने मूल स्थानसे टूटकर गिरे हुए तालफलोंके समान आकाशसे गिरते हुए योद्धाओंके मस्तकोंद्वारा वहाँकी भूमि आच्छादित दिखायी देती थी ॥५॥

ते हेमकवचा भूत्वा कालेयाः परिघायुधाः ।
त्रिदशानभ्यवर्तन्त दावदग्धा इवाद्रयः ॥ ६ ॥

कालकेयोंने सोनेके कवच धारण करके हाथोंमें परिघ लिये देवताओंपर धावा किया । उस समय वे दानव दावानलसे दग्ध हुए पर्वतोंकी भाँति दिखायी देते थे ॥ ६ ॥

तेषां वेगवतां वेगं साभिमानं प्रधावताम् ।
न शेकुस्त्रिदशाः सोढुं ते भग्नाः प्राद्रवन् भयात् ॥ ७ ॥

अभिमानपूर्वक आक्रमण करनेवाले उन वेगशाली दैत्योंका वेग देवताओंके लिये असह्य हो गया । वे अपने दलसे बिछुड़कर भयसे भागने लगे ॥ ७ ॥

तान् दृष्ट्वा द्रवतो भीतान् सहस्राक्षः पुरंदरः ।
वृत्रे विवर्धमाने च कश्मलं महदाविशत् ॥ ८ ॥

देवताओंको डरकर भागते देख वृत्रासुरकी प्रगतिका अनुमान करके सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्रपर महान् मोह छा गया॥

कालेयभयसंत्रस्तो देवः साक्षात् पुरंदरः ।
जगाम शरणं शीघ्रं तं तु नारायणं प्रभुम् ॥ ९ ॥

कालेयोंके भयसे त्रस्त हुए साक्षात् इन्द्रदेवने सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणकी शीघ्रतापूर्वक शरण ली ॥ ९ ॥

तं शक्रं कश्मलाविष्टं दृष्ट्वा विष्णुः सनातनः ।
स्वतेजो व्यदधाच्छक्रे बलमस्य विवर्धयन् ॥१०॥

इन्द्रको इस प्रकार मोहाच्छन्न होते देख सनातन भगवान् विष्णुने उनका बल बढ़ाते हुए उनमें अपना तेज स्थापित कर दिया ॥ १० ॥

विष्णुना गोपितं शक्रं दृष्ट्वा देवगणास्ततः ।
सर्वे तेजः समादध्युस्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥११॥

देवताओंने देखा इन्द्र भगवान् विष्णुके द्वारा सुरक्षित हो गये हैं, तब उन सबने तथा शुद्ध अन्तःकरणवाले ब्रह्मर्षियोंने भी देवराज इन्द्रमें अपना-अपना तेज भर दिया ॥ ११ ॥

स समाप्यायितः शक्रो विष्णुना दैवतैः सह ।
ऋषिभिश्च महाभागैर्बलवान् समपद्यत ॥१२॥

ज्ञात्वा बलस्थं त्रिदशाधिपं तु
ननाद वृत्रो महतो निनादान् ।
तस्य प्रणादेन धरा दिशश्च
खं द्यौर्नगाश्चापि चचाल सर्वम् ॥१३॥

देवताओंसहित श्रीविष्णु तथा महाभाग महर्षियोंके तेजसे परिपूर्ण हो देवराज इन्द्र अत्यन्त बलशाली हो गये । देवेश्वर इन्द्रको बलसे सम्पन्न जान वृत्रासुरने बड़ी विकट

गर्जना की । उसके सिंहनादसे भूलोक, सम्पूर्ण दिशाएँ, आकाश, स्वर्गलोक तथा पर्वत सब-के-सब काँप उठे॥ १२-१३ ॥

ततो महेन्द्रः परमाभितप्तः
श्रुत्वा रवं घोररूपं महान्तम् ।
भये निमग्नस्त्वरितो मुमोच
वज्रं महत् तस्य वधाय राजन् ॥१४॥

राजन् ! उस समय उस अत्यन्त भयानक गर्जनाको सुनकर देवराज इन्द्र बहुत संतप्त हो उठे और भयभीत होकर उन्होंने बड़ी उतावलीके साथ वृत्रासुरके वधके लिये अपने महान् वज्रका प्रहार किया ॥ १४ ॥

स शक्रवज्राभिहतः पपात
महासुरः काञ्चनमाल्यधारी ।
यथा महाशैलवरः पुरस्तात्
स मन्दरो विष्णुकराद् विमुक्तः ॥१५॥

इन्द्रके वज्रसे आहत होकर सुवर्णमालाधारी वह महान् असुर पूर्वकालमें भगवान् विष्णुके हाथसे छूटे हुए महान् पर्वत मन्दरकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १५ ॥

तस्मिन् हते दैत्यवरे भयार्तः
शक्रः प्रदुद्राव सरः प्रवेष्टुम् ।
वज्रं स मेने न कराद् विमुक्तं
वृत्रं भयाच्चापि हतं न मेने ॥१६॥

महादैत्य वृत्रके मारे जानेपर भी इन्द्र भयसे पीड़ित हो (छिपनेकी इच्छासे) तालाबमें प्रवेश करने दौड़े । उन्हें भयके कारण यह विश्वास नहीं होता था कि वज्र मेरे हाथसे छूट चुका है और वृत्रासुर भी अवश्य मारा गया है ॥ १६ ॥

सर्वे च देवा मुदिताः प्रहृष्टा
महर्षयश्चेन्द्रमभिष्टुवन्तः ।
सर्वांश्च दैत्यांस्त्वरिताः समेत्य
जघ्नुः सुरा वृत्रवधाभितप्तान् ॥१७॥

उस समय सब देवता बड़े प्रसन्न हुए । महर्षिगण भी हर्षोल्लासमें भरकर इन्द्रदेवकी स्तुति करने लगे । तत्पश्चात् सब देवताओंने मिलकर वृत्रासुरके वधसे संतप्त हुए समस्त दैत्योंको तुरंत मार भगाया ॥ १७ ॥

तैस्त्रास्यमानास्त्रिदशैः समेतैः
समुद्रमेवाविविशुर्भयार्ताः ।
प्रविश्य चैवोदधिमप्रमेयं
झषाकुलं नक्रसमाकुलं च ॥१८॥

तदा स्म मन्त्रं सहिताः प्रचक्रु-
स्त्रैलोक्यनाशार्थमभिस्मयन्तः ।
तत्र स्म केचिन्मतिनिश्चयज्ञा-
स्तांस्तानुपायाननुपवर्णयन्ति ॥१९॥

संगठित देवताओंद्वारा त्रास दिये जानेपर वे सब दैत्य भयसे आतुर हो समुद्रमें ही प्रवेश कर गये । मत्स्यों और मगरोंसे भरे हुए उस अपार महासागरमें प्रविष्ट हो वे सम्पूर्ण दानव तीनों लोकोंका नाश करनेके लिये बड़े गर्वसे एक साथ मन्त्रणा करने लगे । उनमेंसे कुछ दैत्य जो अपनी बुद्धिके निश्चयको स्पष्टरूपसे जाननेवाले थे । (जगत्के विनाशके लिये) उपयोगी विभिन्न उपायोंका वर्णन करने लगे ॥

तेषां तु तत्र क्रमकालयोगाद्
घोरा मतिश्चिन्तयतां बभूव ।
ये सन्ति विद्यातपसोपपन्ना-
स्तेषां विनाशः प्रथमं तु कार्यः ॥२०॥
लोका हि सर्वे तपसा ध्रियन्ते
तस्मात् त्वरध्वं तपसः क्षयाय ।
ये सन्ति केचिच्च वसुंधरायां
तपस्विनो धर्मविदश्च तज्ज्ञाः ॥२१॥
तेषां वधः क्रियतां क्षिप्रमेव
तेषु प्रणष्टेषु जगत् प्रणष्टम् ।
एवं हि सर्वे गतबुद्धिभावा
जगद्विनाशे परमप्रहृष्टाः ॥२२॥
दुर्गं समाश्रित्य महोर्मिमन्तं
रत्नाकरं वरुणस्यालयं स्म ॥२३॥

वहाँ क्रमशः दीर्घकालतक उपायचिन्तनमें लगे हुए उन असुरोंने यह घोर निश्चय किया कि जो लोग विद्वान् और तपस्वी हों, सबसे पहले उन्हींका विनाश करना चाहिये । सम्पूर्ण लोक तपसे ही टिके हुए हैं । अतः तुम सब लोग तपस्याके विनाशके लिये शीघ्रतापूर्वक कार्य करो । भूमण्डलमें जो कोई भी तपस्वी, धर्मज्ञ एवं उन्हें जानने-माननेवाले लोग हों, उन सबका तुरंत वध कर डालो । उनके नष्ट होनेपर सारा जगत् नष्ट हो जायगा । इस प्रकार बुद्धि और विचारसे हीन वे समस्त दैत्य संसारके विनाशकी बात सोचकर अत्यन्त हर्षका अनुभव करने लगे । उत्ताल तरंगोंसे भरे हुए वरुणके निवासस्थान रत्नाकर समुद्ररूप दुर्गका आश्रय लेकर वे उसमें निर्भय होकर रहने लगे ॥ २०--२३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां वृत्रवधोपाख्याने एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥१०१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें वृत्रवधोपाख्यानविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

कालेयोंद्वारा तपस्वियों, मुनियों और ब्रह्मचारियों आदिका संहार तथा देवताओंद्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुति

लोमश उवाच

समुद्रं ते समाश्रित्य वारुणं निधिमम्भसः ।
कालेयाः सम्प्रवर्तन्त त्रैलोक्यस्य विनाशने ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! वरुणके निवासस्थान जलनिधि समुद्रका आश्रय लेकर कालेय नामक दैत्य तीनों लोकोंके विनाश-कार्यमें लग गये ॥ १ ॥

ते रात्रौ समभिक्रुद्धा भक्षयन्ति सदा मुनीन् ।
आश्रमेषु च ये सन्ति पुण्येष्वायतनेषु च ॥ २ ॥

वे सदा रातमें कुपित होकर आते और आश्रमों तथा पुण्य-स्थानोंमें जो निवास करते थे, उन मुनियोंको खा जाते थे ॥ २ ॥

वसिष्ठस्याश्रमे विप्रा भक्षितास्तैर्दुरात्मभिः ।
अशीतिः शतमष्टौ च नव चान्ये तपस्विनः ॥ ३ ॥

उन दुरात्माओंने वसिष्ठके आश्रममें निवास करनेवाले एक सौ अट्ठासी ब्राह्मणों तथा नौ दूसरे तपस्वियोंको अपना आहार बना लिया ॥ ३ ॥

च्यवनस्याश्रमं गत्वा पुण्यं द्विजनिषेवितम् ।
फलमूलाशनानां हि मुनीनां भक्षितं शतम् ॥ ४ ॥

च्यवन मुनिके पवित्र आश्रममें, जहाँ बहुत-से द्विज निवास करते थे, जाकर उन दैत्योंने फल-मूलका आहार करनेवाले सौ मुनियोंको भक्षण कर लिया ॥ ४ ॥

एवं रात्रौ स्म कुर्वन्ति विविशुश्चार्णवं दिवा ।
भरद्वाजाश्रमे चैव नियता ब्रह्मचारिणः ॥ ५ ॥
वाय्वाहाराम्बुभक्षाश्च विंशतिः संनिषूदिताः ।
एवं क्रमेण सर्वांस्तानाश्रमान् दानवास्तदा ॥ ६ ॥
निशायां परिबाधन्ते मत्ता भुजबलाश्रयात् ।
कालोपसृष्टाः कालेया घ्नन्तो द्विजगणान् बहून् ॥ ७ ॥
न चैनानन्वबुध्यन्त मनुजा मनुजोत्तम ।
एवं प्रवृत्तान् दैत्यांस्तांस्तापसेषु तपस्विषु ॥ ८ ॥

इस प्रकार वे रातमें तपस्वी मुनियोंका संहार करते और दिनमें समुद्रके जलमें प्रवेश कर जाते थे । भरद्वाज मुनिके आश्रममें वायु और जल पीकर संयम-नियमके साथ रहनेवाले बीस ब्रह्मचारियोंको कालेयोंने कालके गालमें डाल दिया । इस तरह क्रमशः सभी आश्रमोंमें जाकर अपने बाहुबलके भरोसे उन्मत्त रहनेवाले दानव रातमें वहाँके निवासियोंको सर्वथा कष्ट पहुँचाया करते थे । नरश्रेष्ठ ! कालेय दानव कालके अधीन हो रहे थे; इसीलिये वे असंख्य ब्राह्मणोंकी हत्या करते चले जा रहे थे । मनुष्योंको उनके इस षड्यन्त्रका पता नहीं लगता था । इस प्रकार वे तपस्याके धनी तापसोंके संहारमें प्रवृत्त हो रहे थे ॥ ५–८ ॥

प्रभाते समदृश्यन्त नियताहारकर्शिताः ।
महीतलस्था मुनयः शरीरैर्गतजीवितैः ॥ ९ ॥

प्रातःकाल आनेपर नियमित आहारसे दुर्बल मुनिगण अपने अस्थिमात्रावशिष्ट निष्प्राण शरीरोंसे पृथ्वीपर पड़े दिखायी देते थे ॥ ९ ॥

क्षीणमांसैर्विरुधिरैर्विमज्जान्त्रैर्विसंधिभिः ।
आकीर्णैराबभौ भूमिः शङ्खानामिव राशिभिः ॥१०॥

राक्षसोंके द्वारा भक्षण करनेके कारण उनके शरीरोंका मांस तथा रक्त क्षीण हो चुका था । वे मज्जा, आँतें और संधि-स्थानों (घुटने आदि) से रहित हो गये थे । इस तरह सब ओर फैली हुई सफेद हड्डियोंके कारण वहाँकी भूमि शंखराशिसे आच्छादित-सी प्रतीत होती थी ॥ १० ॥

कलशैर्विप्रविद्धैश्च स्रुवैर्भग्नैस्तथैव च ।
विकीर्णैरग्निहोत्रैश्च भूर्बभूव समावृता ॥११॥

उलटे-पुलटे पड़े हुए कलशों, टूटे-फूटे स्रुवों तथा बिखरी पड़ी हुई अग्निहोत्रकी सामग्रियोंसे उन आश्रमोंकी भूमि आच्छादित हो रही थी ॥ ११ ॥

निःस्वाध्यायवषट्कारं नष्टयज्ञोत्सवक्रियम् ।
जगदासीन्निरुत्साहं कालेयभयपीडितम् ॥१२॥

स्वाध्याय और वषट्कार बंद हो गये । यज्ञोत्सव आदि कार्य नष्ट हो गये । कालेयोंके भयसे पीड़ित हुए सम्पूर्ण जगत्में कहीं कोई उत्साह नहीं रह गया था ॥ १२ ॥

एवं संक्षीयमाणाश्च मानवा मनुजेश्वर ।
आत्मत्राणपरा भीताः प्राद्रवन्त दिशो भयात् ॥१३॥

नरेश्वर ! इस प्रकार दिन-दिन नष्ट होनेवाले मनुष्य भयभीत हो अपनी रक्षाके लिये चारों दिशाओंमें भाग गये ॥

केचिद् गुहाः प्रविविशुर्निर्झरांश्चापरे तथा ।
अपरे मरणोद्विग्ना भयात् प्राणान् समुत्सृजन् ॥१४॥

कुछ लोग गुफाओंमें जा छिपे । कितने ही मानव झरनोंके आसपास रहने लगे और कितने ही मनुष्य मृत्युसे इतने घबरा गये कि भयसे ही उनके प्राण निकल गये ॥ १४ ॥

केचिच्च महेष्वासाः शूराः परमहर्षिताः ।
मार्गमाणाः परं यत्नं दानवानां प्रचक्रिरे ॥१५॥

इस भूतलपर कुछ महान् धनुर्धर शूरवीर भी थे, जो अत्यन्त हर्ष और उत्साहसे युक्त हो दानवोंके स्थानका पता लगाते हुए उनके दमनके लिये भारी प्रयत्न करने लगे ॥

न चैतानधिजग्मुस्ते समुद्रं समुपाश्रितान्।
श्रमं जग्मुश्च परममाजग्मुः क्षयमेव च ॥१६॥

परंतु समुद्रमें छिपे हुए दानवोंको वे पकड़ नहीं पाते। उन्होंने बहुत परिश्रम किया और अन्तमें थककर वे पुनः अपने घरको ही लौट आये ॥ १६ ॥

जगत्युपशमं याते नष्टयज्ञोत्सवक्रिये।
आजग्मुः परमामार्तिं त्रिदशा मनुजेश्वर ॥१७॥

मनुजेश्वर! यज्ञोत्सव आदि कार्योंके नष्ट हो जानेपर जब जगत्का विनाश होने लगा, तब देवताओंको बड़ी पीड़ा हुई ॥

समेत्य समहेन्द्राश्च भयान्मन्त्रं प्रचक्रिरे।
शरण्यं शरणं देवं नारायणमजं विभुम् ॥१८॥
तेऽभिगम्य नमस्कृत्य वैकुण्ठमपराजितम्।
ततो देवाः समस्तास्ते तदोचुर्मधुसूदनम् ॥१९॥

इन्द्र आदि सब देवताओंने मिलकर भयसे मुक्त होनेके लिये मन्त्रणा की। फिर वे समस्त देवता सबको शरण देनेवाले, शरणागतवत्सल, अजन्मा एवं सर्वव्यापी, अपराजित वैकुण्ठनाथ भगवान् नारायणदेवकी शरणमें गये और नमस्कार करके उन मधुसूदनसे बोले—॥ १८-१९ ॥

त्वं नः स्रष्टा च भर्ता च हर्ता च जगतः प्रभो।
त्वया सृष्टमिदं विश्वं यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ॥२०॥

'प्रभो! आप ही हमारे स्रष्टा और पालक हैं। आप ही सम्पूर्ण जगत्का संहार करनेवाले हैं। इस स्थावर और जङ्गम सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि आपने ही की है ॥ २० ॥

त्वया भूमिः पुरा नष्टा समुद्रात् पुष्करेक्षण।
वाराहं वपुराश्रित्य जगदर्थे समुद्धृता ॥२१॥

'कमलनयन! पूर्वकालमें आपने वराहरूप धारण करके सम्पूर्ण जगत्के हितके लिये समुद्रके जलसे इस खोयी हुई पृथ्वीका उद्धार किया था ॥ २१ ॥

आदिदैत्यो महावीर्यो हिरण्यकशिपुः पुरा।
नारसिंहं वपुः कृत्वा सूदितः पुरुषोत्तम ॥२२॥

'पुरुषोत्तम! प्राचीनकालमें आपने ही नृसिंह-शरीर धारण करके महापराक्रमी आदिदैत्य हिरण्यकशिपुका वध किया था ॥ २२ ॥

अवध्यः सर्वभूतानां बलिश्चापि महासुरः।
वामनं वपुराश्रित्य त्रैलोक्याद् भ्रंशितस्त्वया ॥२३॥

'सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये अवध्य महादैत्य बलिको भी आपने ही वामनरूप धारण करके त्रिलोकीके राज्यसे वञ्चित किया ॥ २३ ॥

असुरश्च महेष्वासो जम्भ इत्यभिविश्रुतः।
यज्ञक्षोभकरः क्रूरस्त्वयैव विनिपातितः ॥२४॥

'यज्ञोंका नाश करनेवाले क्रूरकर्मा महाधनुर्धर जम्भ नामसे विख्यात असुरको भी आपने ही मार गिराया था ॥

एवमादीनि कर्माणि येषां संख्या न विद्यते।
अस्माकं भयभीतानां त्वं गतिर्मधुसूदन ॥२५॥

'ऐसे-ऐसे आपके अनेक कर्म हैं, जिनकी कोई संख्या नहीं है। मधुसूदन! हम भयभीत देवताओंके एकमात्र आश्रय आप ही हैं ॥ २५ ॥

तस्मात् त्वां देवदेवेश लोकार्थं ज्ञापयामहे।
रक्ष लोकांश्च देवांश्च शक्रं च महतो भयात् ॥२६॥

'देवदेवेश्वर! इसीलिये लोकहितके उद्देश्यसे हम यह निवेदन कर रहे हैं कि आप सम्पूर्ण जगत्के प्राणियों, देवताओं और इन्द्रकी भी महान् भयसे रक्षा कीजिये ॥'

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां विष्णुस्तवे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१०२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें विष्णुस्तुतिविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०२॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् विष्णुके आदेशसे देवताओंका महर्षि अगस्त्यके आश्रमपर जाकर उनकी स्तुति करना

देवा ऊचुः

तव प्रसादाद् वर्धन्ते प्रजाः सर्वाश्चतुर्विधाः।
ता भाविता भावयन्ति हव्यकव्यैर्दिवौकसः ॥ १ ॥

देवता कहते हैं—प्रभो! जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज—इन चार भेदोंवाली सम्पूर्ण प्रजा आपकी कृपासे ही वृद्धिको प्राप्त होती है। [illegible] (मानव) प्रजाएँ ही हव्य और कव्योंद्वारा देवताओंका भरण-पोषण करती हैं ॥ १ ॥

लोका ह्येवं विवर्धन्ते ह्यन्योन्यं समुपाश्रिताः।
त्वत्प्रसादान्निरुद्विग्नास्त्वयैव परिरक्षिताः ॥ २ ॥
इदं च समनुप्राप्तं लोकानां भयमुत्तमम्।
न च जानीम केनेमे रात्रौ वध्यन्ति ब्राह्मणाः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार सब लोग एक-दूसरेके सहारे उन्नति करते हैं। आपकी ही कृपासे सब प्राणी उद्वेगरहित जीवन बिताते और आपके द्वारा ही सर्वथा सुरक्षित रहते हैं। भगवन्! मनुष्योंके समक्ष यह बड़ा भारी भय उपस्थित हुआ है। न जाने कौन रातमें आकर इन ब्राह्मणोंका वध कर रहा है ॥ २-३ ॥

क्षीणेषु च ब्राह्मणेषु पृथिवी क्षयमेष्यति।
ततः पृथिव्यां क्षीणायां त्रिदिवं क्षयमेष्यति ॥ ४ ॥

ब्राह्मणोंके नष्ट होनेपर सारी पृथ्वी नष्ट हो जायगी और पृथ्वीका नाश होनेपर स्वर्ग भी नष्ट हो जायगा ॥ ४ ॥

त्वत्प्रसादान्महाबाहो लोकाः सर्वे जगत्पते।
विनाशं नाधिगच्छेयुस्त्वया वै परिरक्षिताः ॥ ५ ॥

महाबाहो! जगत्पते! आप ऐसी कृपा करें, जिससे आपके द्वारा सुरक्षित होकर सब लोग विनाशको न प्राप्त हों ॥

विष्णुरुवाच

विदितं मे सुराः सर्वं प्रजानां क्षयकारणम्।
भवतां चापि वक्ष्यामि शृणुध्वं विगतज्वराः ॥ ६ ॥

भगवान् विष्णु बोले—देवताओ! प्रजाके विनाशका जो कारण उपस्थित हुआ है, वह सब मुझे ज्ञात है। मैं तुमलोगोंको भी बता रहा हूँ; निश्चिन्त होकर सुनो ॥ ६ ॥



कालेय इति विख्यातो गणः परमदारुणः।
तैश्च वृत्रं समाश्रित्य जगत् सर्वं प्रमाथितम् ॥ ७ ॥

दैत्योंका एक अत्यन्त भयंकर दल है, जो कालेय नामसे विख्यात है। उन दैत्योंने वृत्रासुरका सहारा लेकर सारे संसारमें तहलका मचा दिया था ॥ ७ ॥

ते वृत्रं निहतं दृष्ट्वा सहस्राक्षेण धीमता।
जीवितं परिरक्षन्तः प्रविष्टा वरुणालयम् ॥ ८ ॥

परम बुद्धिमान् इन्द्रके द्वारा वृत्रासुरको मारा गया देख वे अपने प्राण बचानेके लिये समुद्रमें जाकर छिप गये हैं ॥ ८ ॥

ते प्रविश्योदधिं घोरं नक्रग्राहसमाकुलम्।
उत्सादनार्थं लोकानां रात्रौ घ्नन्ति ऋषीनिह ॥ ९ ॥

नाक और ग्राहोंसे भरे हुए भयंकर समुद्रमें घुसकर वे सम्पूर्ण जगत्‌का संहार करनेके लिये रातमें निकलते तथा यहाँ ऋषियोंकी हत्या करते हैं ॥ ९ ॥

न तु शक्याः क्षयं नेतुं समुद्राश्रयगा हि ते।
समुद्रस्य क्षये बुद्धिर्भवद्भिः सम्प्रधार्यताम् ॥ १० ॥

उन दानवोंका संहार नहीं किया जा सकता; क्योंकि वे दुर्गम समुद्रके आश्रयमें रहते हैं। अतः तुमलोगोंको समुद्रको सुखानेका विचार करना चाहिये ॥ १० ॥

अगस्त्येन विना को हि शक्तोऽन्योऽर्णवशोषणे।
अन्यथा हि न शक्यास्ते विना सागरशोषणम् ॥ ११ ॥

महर्षि अगस्त्यके सिवा दूसरा कौन है, जो समुद्रका शोषण करनेमें समर्थ हो। समुद्रको सुखाये बिना वे दानव काबूमें नहीं आ सकते ॥ ११ ॥

एतच्छ्रुत्वा तदा देवा विष्णुना समुदाहृतम्।
परमेष्ठिनमाज्ञाप्य अगस्त्यस्याश्रमं ययुः ॥ १२ ॥

भगवान् विष्णुकी कही हुई यह बात सुनकर देवता ब्रह्माजीकी आज्ञा ले अगस्त्यके आश्रमपर गये ॥ १२ ॥

तत्रापश्यन् महात्मानं वारुणिं दीप्ततेजसम्।
उपास्यमानमृषिभिर्देवैरिव पितामहम् ॥ १३ ॥

वहाँ उन्होंने मित्रावरुणके पुत्र महात्मा अगस्त्यजीको देखा। उनका तेज उद्भासित हो रहा था। जैसे देवतालोग ब्रह्माजीके पास बैठते हैं, उसी प्रकार बहुत-से ऋषि-मुनि उनके निकट बैठे थे ॥ १३ ॥

तेऽभिगम्य महात्मानं मैत्रावरुणिमच्युतम्।
आश्रमस्थं तपोराशिं कर्मभिः स्वैरभिष्टुवन् ॥ १४ ॥

अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले मित्रावरुणनन्दन तपोराशि महात्मा अगस्त्य आश्रममें ही विराजमान थे। देवताओंने समीप जाकर उनके अद्भुत कर्मोंका वर्णन करते हुए स्तुति प्रारम्भ की ॥ १४ ॥

देवा ऊचुः

नहुषेणाभितप्तानां त्वं लोकानां गतिः पुरा।
भ्रंशितश्च सुरैश्वर्याल्लोकार्थं लोककण्टकः ॥ १५ ॥

देवता बोले—भगवन्! पूर्वकालमें राजा नहुषके अन्यायसे संतप्त हुए लोकोंकी आपने ही रक्षा की थी। आपने ही उस लोककण्टक नरेशको देवेन्द्रपद तथा स्वर्गसे नीचे गिरा दिया था॥ १५॥

क्रोधात् प्रवृद्धः सहसा भास्करस्य नगोत्तमः।
वचस्त्वानतिक्रामन् विन्ध्यः शैलो न वर्धते॥१६॥

पर्वतोंमें श्रेष्ठ विन्ध्य सूर्यदेवपर क्रोध करके जब सहसा बढ़ने लगा, तब आपने ही उसे रोका था। आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करते हुए विन्ध्यगिरि आज भी बढ़ नहीं रहा है॥ १६॥

तमसा चावृते लोके मृत्युनाभ्यर्दिताः प्रजाः।
त्वामेव नाथमासाद्य निर्वृत्तिं परमां गताः॥१७॥

विन्ध्यगिरिके बढ़नेसे जब सारे जगत्में अन्धकार छा गया और सारी प्रजा मृत्युसे पीड़ित होने लगी। उस समय आपको ही अपना रक्षक पाकर सबने अत्यन्त हर्षका अनुभव किया था॥ १७॥

अस्माकं भयभीतानां नित्यशो भगवान् गतिः।
ततस्त्वार्ताः प्रयाचामो वरं त्वां वरदो ह्यसि॥१८॥

सदा आप ही हम भयभीत देवताओंके लिये आश्रय होते आये हैं। अतः इस समय भी संकटमें पड़कर हम आपसे वर माँग रहे हैं; क्योंकि आप ही वर देनेके योग्य हैं॥ १८॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्यमाहात्म्यकथने त्र्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १०३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्यमाहात्म्य-वर्णनविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १०३॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

अगस्त्यजीका विन्ध्यपर्वतको बढ़नेसे रोकना और देवताओंके साथ सागर-तटपर जाना

युधिष्ठिर उवाच

किमर्थं सहसा विन्ध्यः प्रवृद्धः क्रोधमूर्च्छितः।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामुने॥१॥

युधिष्ठिरने पूछा—महामुने! विन्ध्यपर्वत किस लिये क्रोधसे मूर्छित हो सहसा बढ़ने लगा था? मैं इस प्रसंगको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ॥ १॥

लोमश उवाच

अद्रिराजं महाशैलं मेरुं कनकपर्वतम्।
उदयास्तमने भानुः प्रदक्षिणमवर्तत॥२॥

लोमशजीने कहा—राजन्! सूर्यदेव सुवर्णमय महान् पर्वत गिरिराज मेरुकी उदय और अस्तके समय परिक्रमा किया करते हैं॥ २॥

तं तु दृष्ट्वा तथा विन्ध्यः शैलः सूर्यमथाब्रवीत्।
यथा हि मेरुर्भवता नित्यशः परिगम्यते॥३॥
प्रदक्षिणश्च क्रियते मामेवं कुरु भास्कर।
एवमुक्तस्ततः सूर्यः शैलेन्द्रं प्रत्यभाषत॥४॥
नाहमात्मेच्छया शैलं करोम्येनं प्रदक्षिणम्।
एष मार्गः प्रदिष्टो मे यैरिदं निर्मितं जगत्॥५॥

उन्हें ऐसा करते देख विन्ध्यगिरिने उनसे कहा—'भास्कर! जैसे आप मेरुकी प्रतिदिन परिक्रमा करते हैं, उसी तरह मेरी भी कीजिये।' यह सुनकर भगवान् सूर्यने गिरिराज विन्ध्यसे कहा—'गिरिश्रेष्ठ! मैं अपनी इच्छासे मेरुगिरिकी परिक्रमा नहीं करता हूँ। जिन्होंने इस संसारकी सृष्टि की है, उन विधाताने मेरे लिये यही मार्ग निश्चित किया है'॥ ३—५॥

एवमुक्तस्ततः क्रोधात् प्रवृद्धः सहसाचलः।
सूर्याचन्द्रमसोर्मार्गं रोद्धुमिच्छन् परंतप॥६॥

परंतप युधिष्ठिर! सूर्यदेवके ऐसा कहनेपर विन्ध्यपर्वत सहसा कुपित हो सूर्य और चन्द्रमाका मार्ग रोक लेनेकी इच्छासे बढ़ने लगा॥ ६॥

ततो देवाः सहिताः सर्व एव
विन्ध्यं समागम्य महाद्रिराजम्।
निवारयामासुरुपायतस्तं
न च स तेषां वचनं चकार॥७॥

यह देख सब देवता एक साथ मिलकर महान् पर्वतराज विन्ध्यके पास गये और अनेक उपायोंद्वारा उसके क्रोधका निवारण करने लगे; परंतु उसने उनकी बात नहीं मानी॥ ७॥

अथाभिजग्मुर्मुनिमाश्रमस्थं
तपस्विनं धर्मभृतां वरिष्ठम्।
अगस्त्यमत्यद्भुतवीर्यवन्तं
तं चार्थमूचुः सहिताः सुरास्ते॥८॥

तब वे सब देवता मिलकर अपने आश्रमपर विराजमान धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तपस्वी अगस्त्य मुनिके पास गये, जो अद्भुत प्रभावशाली थे। वहाँ जाकर उन्होंने अपना प्रयोजन कह सुनाया॥ ८॥

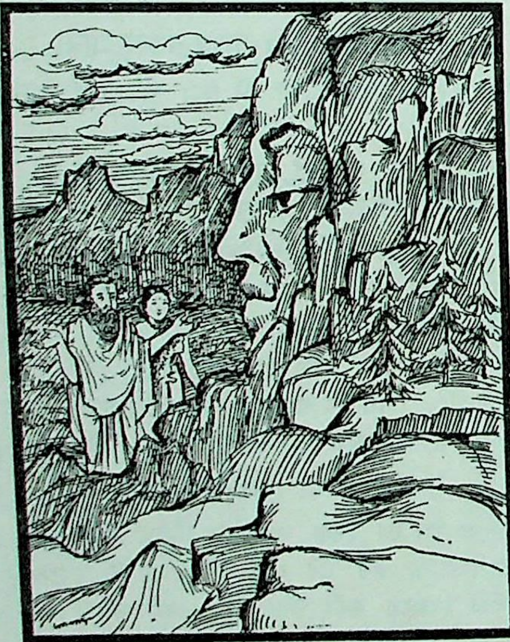
देवा ऊचुः

सूर्याचन्द्रमसोर्मार्गं नक्षत्राणां गतिं तथा ।
शैलराजो वृणोत्येष विन्ध्यः क्रोधवशानुगः ॥ ९ ॥
तं निवारयितुं शक्तो नान्यः कश्चिद् द्विजोत्तम ।
ऋते त्वां हि महाभाग तस्मादेनं निवारय ॥१०॥

देवता बोले—द्विजश्रेष्ठ ! यह पर्वतराज विन्ध्य क्रोधके वशीभूत होकर सूर्य और चन्द्रमाके मार्ग तथा नक्षत्रोंकी गतिको रोक रहा है । महाभाग ! आपके सिवा दूसरा कोई इसका निवारण नहीं कर सकता । अतः आप चलकर इसे रोकिये ॥ ९-१०॥

तच्छ्रुत्वा वचनं विप्रः सुराणां शैलमभ्यगात् ।
सोऽभिगम्याब्रवीद् विन्ध्यं सदारः समुपस्थितः ॥११॥

देवताओंकी यह बात सुनकर विप्रवर अगस्त्य अपनी पत्नी लोपामुद्राके साथ विन्ध्यपर्वतके समीप गये और वहाँ उपस्थित हो उससे इस प्रकार बोले-- ॥ ११ ॥



मार्गमिच्छाम्यहं दत्तं भवता पर्वतोत्तम ।
दक्षिणामभिगन्तास्मि दिशं कार्येण केनचित् ॥१२॥

'पर्वतश्रेष्ठ ! मैं किसी कार्यसे दक्षिण दिशाको जा रहा हूँ, मेरी इच्छा है, तुम मुझे मार्ग प्रदान करो ॥ १२ ॥

यावदागमनं मह्यं तावत् त्वं प्रतिपालय ।
निवृत्ते मयि शैलेन्द्र ततो वर्धस्व कामतः ॥ १३ ॥

'जबतक मैं पुनः लौटकर न आऊँ, तबतक मेरी प्रतीक्षा करते रहो । शैलराज ! मेरे लौट आनेपर तुम पुनः इच्छानुसार बढ़ते रहना' ॥ १३ ॥

एवं स समयं कृत्वा विन्ध्येनामित्रकर्शन ।
अद्यापि दक्षिणाद् देशाद् वारुणिर्न निवर्तते ॥ १४ ॥

शत्रुसूदन ! विन्ध्यके साथ ऐसा नियम करके मित्रावरुणनन्दन अगस्त्यजी चले गये और आजतक दक्षिण प्रदेशसे नहीं लौटे ॥ १४ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथा विन्ध्यो न वर्धते ।
अगस्त्यस्य प्रभावेण यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १५ ॥

राजन् ! तुम मुझसे जो बात पूछ रहे थे, वह सब प्रसंग मैंने कह दिया । महर्षि अगस्त्यके ही प्रभावसे विन्ध्यपर्वत बढ़ नहीं रहा है ॥ १५ ॥

कालेयास्तु यथा राजन् सुरैः सर्वैर्निषूदिताः ।
अगस्त्याद् वरमासाद्य तन्मे निगदतः शृणु ॥ १६ ॥

राजन् ! सब देवताओंने अगस्त्यसे वर पाकर जिस प्रकार कालेय नामक दैत्योंका संहार किया, वह बता रहा हूँ, सुनो–॥ १६ ॥

त्रिदशानां वचः श्रुत्वा मैत्रावरुणिरब्रवीत् ।
किमर्थमभियाताः स्थ वरं मत्तः कमिच्छथ ।
एवमुक्तास्ततस्तेन देवता मुनिमब्रुवन् ॥ १७ ॥
(सर्वे प्राञ्जलयो भूत्वा पुरन्दरपुरोगमाः ।)

देवताओंकी बात सुनकर मित्रावरुणनन्दन अगस्त्यने पूछा—'देवताओ ! आपलोग किसलिये यहाँ पधारे हैं और मुझसे कौन-सा वर चाहते हैं ?' उनके इस प्रकार पूछनेपर इन्द्रको आगे करके सब देवताओंने हाथ जोड़कर मुनिसे कहा–॥

एवं त्वयेच्छाम कृतं हि कार्यं
महार्णवं पीयमानं महात्मन् ।
ततो वधिष्याम सहानुबन्धान्
कालेयसंज्ञान् सुरविद्विषस्तान् ॥ १८ ॥

'महात्मन् ! हम आपके द्वारा यह कार्य सम्पन्न कराना चाहते हैं कि आप सारे महासागरके जलको पी जायँ । तदनन्तर हमलोग देवद्रोही कालेय नामक दानवोंका उनके बन्धु-बान्धवोंसहित वध कर डालेंगे' ॥ १८ ॥

त्रिदशानां वचः श्रुत्वा तथेति मुनिरब्रवीत् ।
करिष्ये भवतां कामं लोकानां च महत् सुखम् ॥१९॥

देवताओंका यह कथन सुनकर महर्षि अगस्त्यने कहा—'बहुत अच्छा' मैं आपलोगोंका मनोरथ पूर्ण करूँगा । इससे सम्पूर्ण लोकोंको महान् सुख प्राप्त होगा' ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा ततोऽगच्छत् समुद्रं सरितां पतिम् ।
ऋषिभिश्च तपःसिद्धैः सार्धं देवैश्च सुव्रत ॥ २० ॥

महर्षि कपिलकी क्रोधाग्निमें सगरपुत्रोंका भस्म होना



महर्षि अगस्त्यका समुद्रपान

सुव्रत ! ऐसा कहकर अगस्त्यजी देवताओं तथा तपःसिद्ध ऋषियोंके साथ नदीपति समुद्रके तटपर गये ॥ २० ॥

मनुष्योरगगन्धर्वयक्षकिंपुरुषास्तथा ।
अनुजग्मुर्महात्मानं द्रष्टुकामास्तदद्भुतम् ॥ २१ ॥

उस समय मनुष्य, नाग, गन्धर्व, यक्ष और किन्नर सभी उस अद्भुत दृश्यको देखनेके लिये उन महात्माके पीछे चल दिये ॥ २१ ॥

ततोऽभ्यगच्छन् सहिताः समुद्रं भीमनिःस्वनम् ।
नृत्यन्तमिव चोर्मीभिर्वल्गन्तमिव वायुना ॥ २२ ॥

फिर वे सब लोग एक साथ भयंकर गर्जना करनेवाले समुद्रके समीप गये, जो अपने उत्ताल तरङ्गोंद्वारा मानो नृत्य कर रहा था और वायुके द्वारा उछलता-कूदता-सा जान पड़ता था ॥ २२ ॥

हसन्तमिव फेनौघैः स्खलन्तं कन्दरेषु च ।
नानाग्राहसमाकीर्णं नानाद्विजगणान्वितम् ॥ २३ ॥

वह फेनोंके समुदायद्वारा मानो अपनी हास्यछटा बिखेर रहा था और कन्दराओंसे टकराता-सा जान पड़ता था । उसमें नाना प्रकारके ग्राह आदि जलजन्तु भरे हुए थे तथा बहुत-से पक्षी निवास करते थे ॥ २३ ॥

अगस्त्यसहिता देवाः सगन्धर्वमहोरगाः ।
ऋषयश्च महाभागाः समासेदुर्महोदधिम् ॥ २४ ॥

अगस्त्यजीके साथ देवता, गन्धर्व, बड़े-बड़े नाग और महाभाग ऋषिगण सभी महासागरके तटपर जा पहुँचे ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योदधिगमने चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें अगस्त्यका समुद्रतटपर गमनविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २४½ श्लोक हैं)

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

अगस्त्यजीके द्वारा समुद्रपान और देवताओंका कालेय दैत्योंका वध करके ब्रह्माजीसे समुद्रको पुनः भरनेका उपाय पूछना

लोमश उवाच

समुद्रं स समासाद्य वारुणिर्भगवानृषिः ।
उवाच सहितान् देवानृषींश्चैव समागतान् ॥ १ ॥
अहं लोकहितार्थं वै पिबामि वरुणालयम् ।
भवद्भिर्यदनुष्ठेयं तच्छीघ्रं संविधीयताम् ॥ २ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! समुद्रके तटपर जाकर मित्रावरुण-नन्दन भगवान् अगस्त्यमुनि वहाँ एकत्र हुए देवताओं तथा समागत ऋषियोंसे बोले—'मैं लोकहितके लिये समुद्रका जल पी लेता हूँ । फिर आपलोगोंको जो कार्य करना हो, उसे शीघ्र पूरा कर लें' ॥ १-२ ॥



एतावदुक्त्वा वचनं मैत्रावरुणिरच्युतः ।
समुद्रमपिबत् क्रुद्धः सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ३ ॥

अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले मित्रा-वरुण-कुमार अगस्त्यजी कुपित हो सब लोगोंके देखते-देखते समुद्रको पीने लगे ॥ ३ ॥

पीयमानं समुद्रं तं दृष्ट्वा सेन्द्रास्तदामराः ।
विस्मयं परमं जग्मुः स्तुतिभिश्चाप्यपूजयन् ॥ ४ ॥

उन्हें समुद्र-पान करते देख इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता बड़े विस्मित हुए और स्तुतियोंद्वारा उनका समादर करने लगे ॥ ४ ॥

त्वं नस्त्राता विधाता च लोकानां लोकभावन ।
त्वत्प्रसादात् समुच्छेदं न गच्छेत् सामरं जगत् ॥ ५ ॥

'लोकभावन महर्षे ! आप हमारे रक्षक तथा सम्पूर्ण लोकोंके विधाता हैं । आपकी कृपासे अब देवताओंसहित सम्पूर्ण जगत् विनाशको नहीं प्राप्त होगा' ॥ ५ ॥

स पूज्यमानस्त्रिदशैर्महात्मा
गन्धर्वतूर्येषु नदत्सु सर्वशः ।
दिव्यैश्च पुष्पैरवकीर्यमाणो
महार्णवं निःसलिलं चकार ॥ ६ ॥

इस प्रकार जब देवता महात्मा अगस्त्यकी प्रशंसा कर रहे थे, सब ओर गन्धर्वोंके वाद्योंकी ध्वनि फैल रही थी और अगस्त्यजीपर दिव्य फूलोंकी बौछार हो रही थी, उसी समय अगस्त्यजीने सम्पूर्ण महासागरको जलशून्य कर दिया ॥

दृष्ट्वा कृतं निःसलिलं महार्णवं
सुराः समस्ताः परमप्रहृष्टाः ।
प्रगृह्य दिव्यानि वरायुधानि
तान् दानवाञ्जघ्नुरदीनसत्त्वाः ॥ ७ ॥

उस महासमुद्रको निर्जल हुआ देख सब देवता बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने अपने दिव्य एवं श्रेष्ठ आयुध लेकर अत्यन्त उत्साहसे सम्पन्न हो दानवोंपर आक्रमण किया ॥७॥

ते वध्यमानास्त्रिदशैर्महात्मभि-
र्महाबलैर्वेगिभिरुन्नदद्भिः ।
न सेहिरे वेगवतां महात्मनां
वेगं तदा धारयितुं दिवौकसाम् ॥ ८ ॥

महान् बलवान् वेगशाली और महाबुद्धिमान् देवता जब सिंहगर्जना करते हुए दैत्योंको मारने लगे, उस समय वे उन वेगवान् महामना देवताओंका वेग न सह सके ॥ ८ ॥

ते वध्यमानास्त्रिदशैर्दानवा भीमनिःस्वनाः ।
चक्रुः सुतुमुलं युद्धं मुहूर्तमिव भारत ॥ ९ ॥

भरतनन्दन ! देवताओंकी मार पड़नेपर दानवोंने भी भयंकर गर्जना करते हुए दो घड़ीतक उनके साथ घोर युद्ध किया ॥ ९ ॥

ते पूर्वं तपसा दग्धा मुनिभिर्भावितात्मभिः ।
यतमानाः परं शक्त्या त्रिदशैर्विनिषूदिताः ॥ १० ॥

उन दैत्योंको शुद्ध अन्तःकरणवाले मुनियोंने अपनी तपस्याद्वारा पहलेसे ही दग्ध-सा कर रखा था, अतः पूरी शक्ति लगाकर अधिक-से-अधिक प्रयास करनेपर भी देवताओंद्वारा वे मार डाले गये ॥ १० ॥

ते हेमनिष्काभरणाः कुण्डलाङ्गदधारिणः ।
निहता बह्वशोभन्त पुष्पिता इव किंशुकाः ॥ ११ ॥

सोनेकी मोहरोंकी मालाओंसे भूषित तथा कुण्डल एवं बाजूबंदधारी दैत्य वहाँ मारे जाकर खिले हुए पलाशके वृक्षोंकी भाँति अधिक शोभा पा रहे थे ॥ ११ ॥

हतशेषास्ततः केचित् कालेया मनुजोत्तम ।
विदार्य वसुधां देवीं पातालतलमास्थिताः ॥ १२ ॥

नरश्रेष्ठ ! मरनेसे बचे हुए कुछ कालेय दैत्य वसुन्धरा देवीको विदीर्ण करके पातालमें चले गये ॥ १२ ॥

निहतान् दानवान् दृष्ट्वा त्रिदशा मुनिपुङ्गवम् ।
तुष्टुवुर्विविधैर्वाक्यैरिदं वचनमब्रुवन् ॥ १३ ॥

सब दानवोंको मारा गया देख देवताओंने नाना प्रकारके वचनोंद्वारा मुनिवर अगस्त्यजीका स्तवन किया और यह बात कही— ॥ १३ ॥

त्वत्प्रसादान्महाभागलोकैः प्राप्तं महत् सुखम् ।
त्वत्तेजसा च निहताः कालेयाः क्रूरविक्रमाः ॥ १४ ॥

'महाभाग ! आपकी कृपासे समस्त लोकोंने महान् सुख प्राप्त किया है; क्योंकि क्रूरतापूर्ण पराक्रम दिखानेवाले कालेय दैत्य आपके तेजसे दग्ध हो गये ॥ १४ ॥

पूरयस्व महाबाहो समुद्रं लोकभावन ।
यत् त्वया सलिलं पीतं तदस्मिन् पुनरुत्सृज ॥ १५ ॥

'मुने ! आपकी बाँहें बड़ी हैं ! आप नूतन संसारकी सृष्टि करनेमें समर्थ हैं । अब आप समुद्रको फिर भर दीजिये । आपने जो इसका जल पी लिया है, उसे फिर इसीमें छोड़ दीजिये' ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच भगवान् मुनिपुङ्गवः ।
(तांस्तदा सहितान् देवानगस्त्यः सपुरन्दरान् ।)
जीर्णं तद्धि मया तोयमुपायोऽन्यः प्रचिन्त्यताम् ॥ १६ ॥
पूरणार्थं समुद्रस्य भवद्भिर्यत्नमास्थितैः ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं महर्षेर्भावितात्मनः ॥ १७ ॥
विस्मिताश्च विषण्णाश्च बभूवुः सहिताः सुराः ।
परस्परमनुज्ञाप्य प्रणम्य मुनिपुङ्गवम् ॥ १८ ॥

उनके ऐसा कहनेपर मुनिप्रवर भगवान् अगस्त्यने वहाँ एकत्र हुए इन्द्र आदि समस्त देवताओंसे उस समय यों कहा— 'देवगण ! वह जल तो मैंने पचा लिया, अतः समुद्रको भरनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहकर आपलोग कोई दूसरा ही उपाय सोचें ।' शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षिका यह वचन सुनकर सब देवता बड़े विस्मित हो गये; उनके मनमें विषाद छा गया । वे आपसमें सलाह करके मुनिवर अगस्त्यजीको प्रणाम कर वहाँसे चल दिये ॥ १६–१८ ॥

प्रजाः सर्वा महाराज विप्रजग्मुर्यथागतम् ।
त्रिदशा विष्णुना सार्धमुपजग्मुः पितामहम् ॥ १९ ॥

महाराज ! फिर सारी प्रजा जैसे आयी थी, वैसे ही लौट गयी । देवतालोग भगवान् विष्णुके साथ ब्रह्माजीके पास गये ॥

पूरणार्थं समुद्रस्य मन्त्रयित्वा पुनः पुनः ।
(ते धातारमुपागम्य त्रिदशाः सह विष्णुना ।)
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे सागरस्याभिपूरणम् ॥ २० ॥

समुद्रको भरनेके उद्देश्यसे बार-बार आपसमें सलाह करके श्रीविष्णुसहित सब देवता ब्रह्माजीके निकट जा हाथ जोड़कर यह पूछने लगे कि 'समुद्रको पुनः भरनेके लिये क्या उपाय किया जाय' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यानविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २१ श्लोक हैं)

षडधिकशततमोऽध्यायः

राजा सगरका संतानके लिये तपस्या करना और शिवजीके द्वारा वरदान पाना

लोमश उवाच

तानुवाच समेतांस्तु ब्रह्मा लोकपितामहः ।
गच्छध्वं विबुधाः सर्वे यथाकामं यथेप्सितम् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! तब लोकपितामह ब्रह्माजीने अपने पास आये हुए सब देवताओंसे कहा—'देवगण ! इस समय तुम सब लोग इच्छानुसार अभीष्ट स्थानको चले जाओ ॥ १ ॥

महता कालयोगेन प्रकृतिं यास्यतेऽर्णवः ।
ज्ञातींश्च कारणं कृत्वा महाराजो भगीरथः ॥ २ ॥
पूरयिष्यति तोयौघैः समुद्रं निधिमम्भसाम् ।

'अब दीर्घकालके पश्चात् समुद्र फिर अपनी स्वाभाविक अवस्थामें आ जायगा । महाराज भगीरथ अपने कुटुम्बी जनों (प्रपितामहों)के उद्धारका उद्देश्य लेकर जलनिधि समुद्रको पुनः अगाध जल-राशिसे भर देंगे' ॥ २½ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा सर्वे विबुधसत्तमाः ।
कालयोगं प्रतीक्षन्तो जग्मुश्चापि यथागतम् ॥ ३ ॥

ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर सम्पूर्ण श्रेष्ठ देवता अवसरकी प्रतीक्षा करते हुए जैसे आये थे, वैसे ही चले गये ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै ज्ञातयो ब्रह्मन् कारणं चात्र किं मुने ।
कथं समुद्रः पूर्णश्च भगीरथप्रतिश्रयात् ॥ ४ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—ब्रह्मन् ! भगीरथके कुटुम्बीजन समुद्रकी पूर्तिमें निमित्त क्योंकर बने ? मुने ! उनके निमित्त बननेका कारण क्या है ? और भगीरथके आश्रयसे किस प्रकार समुद्रकी पूर्ति हुई ? ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
कथ्यमानं त्वया विप्र राज्ञां चरितमुत्तमम् ॥ ५ ॥

तपोधन ! विप्रवर ! मैं यह प्रसङ्ग, जिसमें राजाओंके उत्तम चरित्रका वर्णन है, आपके मुखसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु विप्रेन्द्रो धर्मराज्ञा महात्मना ।
कथयामास माहात्म्यं सगरस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा धर्मराजके इस प्रकार पूछनेपर विप्रवर लोमशने महात्मा राजा सगरका माहात्म्य बतलाया ॥ ६ ॥

लोमश उवाच

इक्ष्वाकूणां कुले जातः सगरो नाम पार्थिवः ।
रूपसत्त्वबलोपेतः स चापुत्रः प्रतापवान् ॥ ७ ॥

लोमशजी बोले—राजन् ! इक्ष्वाकुवंशमें सगर नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं । वे रूप, धैर्य और बलसे सम्पन्न तथा बड़े प्रतापी थे, परंतु उनके कोई पुत्र न था ॥ ७ ॥

स हैहयान् समुत्साद्य तालजङ्घांश्च भारत ।
वशे च कृत्वा राजन्यान् स्वराज्यमन्वशासत ॥ ८ ॥

भारत ! उन्होंने हैहय तथा तालजङ्घनामक क्षत्रियोंका संहार करके सब राजाओंको अपने वशमें कर लिया और अपने राज्यका शासन करने लगे ॥ ८ ॥

तस्य भार्ये त्वभवतां रूपयौवनदर्पिते ।
वैदर्भी भरतश्रेष्ठ शैब्या च भरतर्षभ ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा सगरके दो पत्नियाँ थीं, वैदर्भी और शैब्या । उन दोनोंको ही अपने रूप और यौवनका बड़ा अभिमान था ॥ ९ ॥

स पुत्रकामो नृपतिस्तप्यते स्म महत्तपः ।
पत्नीभ्यां सह राजेन्द्र कैलासं गिरिमाश्रितः ॥ १० ॥
स तप्यमानः सुमहत् तपो योगसमन्वितः ।
आससाद महात्मानं त्र्यक्षं त्रिपुरमर्दनम् ॥ ११ ॥
शंकरं भवमीशानं शूलपाणिं पिनाकिनम् ।
त्र्यम्बकं शिवमुग्रेशं बहुरूपमुमापतिम् ॥ १२ ॥

राजेन्द्र ! राजा सगर अपनी दोनों पत्नियोंके साथ कैलास पर्वतपर जाकर पुत्रकी इच्छासे बड़ी भारी तपस्या

करने लगे। योगयुक्त होकर महान् तपमें लगे हुए महाराज सगरको त्रिपुरनाशक, त्रिनेत्रधारी, शंकर, भव, ईशान, शूलपाणि, पिनाकी, त्र्यम्बक, उग्रेश, बहुरूप और उमापति आदि नामोंसे प्रसिद्ध महात्मा भगवान् शिवका दर्शन हुआ ॥

स तं दृष्ट्वैव वरदं पत्नीभ्यां सहितो नृपः ।
प्रणिपत्य महाबाहुः पुत्रार्थे समयाचत ॥ १३ ॥
तं प्रीतिमान् हरः प्राह सभार्यं नृपसत्तमम् ।
यस्मिन् वृतो मुहूर्तेऽहं त्वयेह नृपते वरम् ॥ १४ ॥

वरदायक भगवान् शिवको देखते ही महाबाहु राजा सगरने दोनों पत्नियोंसहित प्रणाम किया और पुत्रके लिये



याचना की। तब भगवान् शिवने प्रसन्न होकर पत्नीसहित नृपश्रेष्ठ सगरसे कहा—'राजन्! तुमने यहाँ जिस मुहूर्तमें वर माँगा है, उसका परिणाम यह होगा॥ १३-१४ ॥

षष्टिः पुत्रसहस्राणि शूराः परमदर्पिताः ।
एकस्यां सम्भविष्यन्ति पत्न्यां नरवरोत्तम ॥ १५ ॥
ते चैव सर्वे सहिताः क्षयं यास्यन्ति पार्थिव ।
एको वंशधरः शूर एकस्यां सम्भविष्यति ॥ १६ ॥

'नरश्रेष्ठ! तुम्हारी एक पत्नीके गर्भसे अत्यन्त अभिमानी साठ हजार शूरवीर पुत्र होंगे, परंतु वे सब-के-सब एक ही साथ नष्ट हो जायँगे। भूपाल! तुम्हारी जो दूसरी पत्नी है, उसके गर्भसे एक ही शूरवीर वंशधर पुत्र उत्पन्न होगा'॥

एवमुक्त्वा तु तं रुद्रस्तत्रैवान्तरधीयत ।
स चापि सगरो राजा जगाम स्वं निवेशनम् ॥ १७ ॥
पत्नीभ्यां सहितस्तत्र सोऽतिहृष्टमनास्तदा ।
तस्य ते मनुजश्रेष्ठ भार्ये कमललोचने ॥ १८ ॥
वैदर्भी चैव शैव्या च गर्भिण्यौ सम्बभूवतुः ।
ततः कालेन वैदर्भी गर्भालाबुं व्यजायत ॥ १९ ॥
शैव्या च सुषुवे पुत्रं कुमारं देवरूपिणम् ।
तदालाबुं समुत्स्रष्टुं मनश्चक्रे स पार्थिवः ॥ २० ॥

ऐसा कहकर भगवान् शङ्कर वहीं अन्तर्धान हो गये। राजा सगर भी अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो पत्नियोंसहित अपने निवासस्थानको चले गये। नरश्रेष्ठ! तदनन्तर उनकी वे दोनों कमलनयनी पत्नियाँ वैदर्भी और शैव्या गर्भवती हुईं। फिर समय आनेपर वैदर्भीने अपने गर्भसे एक तूँबी उत्पन्न की और शैव्याने देवताके समान सुन्दर रूपवाले एक पुत्रको जन्म दिया। राजा सगरने उस तूँबीको फेंक देनेका विचार किया॥ १७—२०॥

अथान्तरिक्षाच्छुश्राव वाचं गम्भीरनिःस्वनाम्।
राजन् मा साहसं कार्षीः पुत्रान् न त्यक्तुमर्हसि ॥ २१ ॥
अलाबुमध्यान्निष्कृष्य बीजं यत्नेन गोप्यताम् ।
सोपस्वेदेषु पात्रेषु घृतपूर्णेषु भागशः ॥२२॥

इसी समय आकाशसे एक गम्भीर वाणी सुनायी दी—'राजन्! ऐसा दुःसाहस न करो। अपने इन पुत्रोंका त्याग करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है। इस तूँबीमेंसे एक-एक बीजको निकालकर घीसे भरे हुए गरम घड़ोंमें अलग-अलग रक्खो और यत्नपूर्वक इन सबकी रक्षा करो ॥ २१-२२ ॥

ततः पुत्रसहस्राणि षष्टिं प्राप्स्यसि पार्थिव ।
महादेवेन दिष्टं ते पुत्रजन्म नराधिप ।
अनेन क्रमयोगेन मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा ॥२३॥

'पृथ्वीपते! ऐसा करनेसे तुम्हें साठ हजार पुत्र प्राप्त होंगे। नरश्रेष्ठ! महादेवजीने तुम्हारे लिये इसी क्रमसे पुत्र-जन्म होनेका निर्देश किया है; अतः तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं होना चाहिये'॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सगरसंततिकथने षडधिकशततमोऽध्यायः ॥१०६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सगरसंततिवर्णनविषयक एक सौ छःवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १०६॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

सगरके पुत्रोंकी उत्पत्ति, साठ हजार सगरपुत्रोंका कपिलकी क्रोधाग्निसे भस्म होना, असमञ्जसका परित्याग, अंशुमान्‌के प्रयत्नसे सगरके यज्ञकी पूर्ति, अंशुमान्‌से दिलीपको और दिलीपसे भगीरथको राज्यकी प्राप्ति

लोमश उवाच

एतच्छ्रुत्वान्तरिक्षाच्च स राजा राजसत्तमः।
यथोक्तं तच्चकाराथ श्रद्दधद् भरतर्षभ ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! यह आकाशवाणी सुनकर भूपालशिरोमणि राजा सगरने उसपर विश्वास करके उसके कथनानुसार सब कार्य किया ॥ १ ॥

एकैकशस्ततः कृत्वा बीजं बीजं नराधिपः।
घृतपूर्णेषु कुम्भेषु तान् भागान् विदधे ततः ॥ २ ॥

नरेशने एक-एक बीजको अलग करके उन सबको घीसे भरे हुए घड़ोंमें रक्खा ॥ २ ॥

धात्रीश्चैकैकशः प्रादात् पुत्ररक्षणतत्परः।
ततः कालेन महता समुत्तस्थुर्महाबलाः ॥ ३ ॥
षष्टिः पुत्रसहस्राणि तस्याप्रतिमतेजसः।
रुद्रप्रसादाद् राजर्षेः समजायन्त पार्थिव ॥ ४ ॥

फिर पुत्रोंकी रक्षाके लिये तत्पर हो सबके लिये पृथक्-पृथक् धायें नियुक्त कर दीं। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् उस अनुपम तेजस्वी नरेशके साठ हजार महाबली पुत्र उन घड़ोंमेंसे निकल आये। युधिष्ठिर ! राजर्षि सगरके वे सभी पुत्र भगवान् शिवकी कृपासे ही उत्पन्न हुए थे ॥ ३-४ ॥

ते घोराः क्रूरकर्माण आकाशपरिसर्पिणः।
बहुत्वाच्चावजानन्तः सर्वाँल्लोकान् सहामरान् ॥ ५ ॥

वे सब-के-सब भयंकर स्वभाववाले और क्रूरकर्मा थे। आकाशमें भी सब ओर घूम-फिर सकते थे। उनकी संख्या अधिक होनेके कारण वे देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंकी अवहेलना करते थे ॥ ५ ॥

त्रिदशांश्चाप्यबाधन्त तथा गन्धर्वराक्षसान्।
सर्वाणि चैव भूतानि शूराः समरशालिनः ॥ ६ ॥

समरभूमिमें शोभा पानेवाले वे शूरवीर राजकुमार देवताओं, गन्धर्वों, राक्षसों तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको कष्ट दिया करते थे ॥ ६ ॥

वध्यमानास्ततो लोकाः सागरैर्मन्दबुद्धिभिः।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहिताः सर्वदैवतैः ॥ ७ ॥

मन्दबुद्धि सगरपुत्रोंद्वारा सताये हुए सब लोग सम्पूर्ण देवताओंके साथ ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥ ७ ॥

तानुवाच महाभागः सर्वलोकपितामहः।
गच्छध्वं त्रिदशाः सर्वे लोकैः सार्धं यथागतम् ॥ ८ ॥

उस समय सर्वलोकपितामह महाभाग ब्रह्माने उनसे कहा—'देवताओ ! तुम सभी इन सब लोगोंके साथ जैसे आये हो, वैसे लौट जाओ ॥ ८ ॥

नातिदीर्घेण कालेन सागराणां क्षयो महान्।
भविष्यति महाघोरः स्वकृतैः कर्मभिः सुराः ॥ ९ ॥

'अब थोड़े ही दिनोंमें अपने ही किये हुए अपराधोंद्वारा इन सगरपुत्रोंका अत्यन्त घोर और महान् संहार होगा' ॥ ९ ॥

एवमुक्तास्तु ते देवा लोकाश्च मनुजेश्वर।
पितामहमनुज्ञाप्य विप्रजग्मुर्यथागतम् ॥ १० ॥

नरेश्वर ! उनके ऐसा कहनेपर सब देवता तथा अन्य लोग ब्रह्माजीकी आज्ञा ले जैसे आये थे, वैसे लौट गये ॥ १० ॥

ततः काले बहुतिथे व्यतीते भरतर्षभ।
दीक्षितः सगरो राजा हयमेधेन वीर्यवान् ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर बहुत समय बीत जानेपर पराक्रमी राजा सगरने अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा ली ॥ ११ ॥

तस्याश्वो व्यचरद् भूमिं पुत्रैः स परिरक्षितः।
(सर्वैरेव महोत्साहैः स्वच्छन्दप्रचरो नृप।)
समुद्रं स समासाद्य निस्तोयं भीमदर्शनम् ॥ १२ ॥
रक्ष्यमाणः प्रयत्नेन तत्रैवान्तरधीयत।
ततस्ते सागरास्तात हृतं मत्वा हयोत्तमम् ॥ १३ ॥
आगम्य पितुराचख्युरदृश्यं तुरगं हृतम्।
तेनोक्ता दिक्षु सर्वासु सर्वे मार्गत वाजिनम् ॥ १४ ॥
(ससमुद्रवनद्वीपां विचरन्तो वसुन्धराम्।)

राजन् ! उनका यज्ञिय अश्व उनके अत्यन्त उत्साही सभी पुत्रोंद्वारा सुरक्षित हो स्वच्छन्दगतिसे पृथ्वीपर विचरने लगा। जब वह अश्व भयंकर दिखायी देनेवाले जलशून्य समुद्रके तटपर आया, तब प्रयत्नपूर्वक रक्षित होनेपर भी वहाँ सहसा अदृश्य हो गया। तात ! तब उस उत्तम अश्वको अपहृत जानकर सगरपुत्रोंने पिताके पास आकर कहा—'हमारे यज्ञिय अश्वको किसीने चुरा लिया, अब वह दिखायी नहीं देता।' यह सुनकर राजा सगरने कहा—'तुम सब लोग समुद्र, वन और द्वीपोंसहित सारी पृथ्वीपर विचरते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें जाकर उस अश्वका पता लगाओ' ॥ १२—१४ ॥

ततस्ते पितुराज्ञाय दिक्षु सर्वासु तं हयम्।
अमार्गन्त महाराज सर्वं च पृथिवीतलम् ॥ १५ ॥

ततस्ते सागराः सर्वे समुपेत्य परस्परम् ।
नाध्यगच्छन्त तुरगमश्वहर्तारमेव च ॥१६॥

महाराज ! तदनन्तर वे पिताकी आज्ञा ले इस सम्पूर्ण भूतलमें सभी दिशाओंमें अश्वकी खोज करने लगे । खोजते-खोजते सभी सगरपुत्र एक-दूसरेसे मिले, परंतु वे अश्व तथा अश्वहर्ताका पता न लगा सके ॥ १५-१६ ॥

आगम्य पितरं चोचुस्ततः प्राञ्जलयोऽग्रतः ।
ससमुद्रवनद्वीपा सनदीनदकन्दरा ॥१७॥
सपर्वतवनोद्देशा निखिलेन मही नृप ।
अस्माभिर्विचिता राजञ्छासनात् तव पार्थिव ॥१८॥
न चाश्वमधिगच्छामो नाश्वहर्तारमेव च ।
श्रुत्वा तु वचनं तेषां स राजा क्रोधमूर्च्छितः ॥१९॥
उवाच वचनं सर्वांस्तदा दैववशान्नृप ।
अनागमाय गच्छध्वं भूयो मार्गत वाजिनम् ॥२०॥
यज्ञियं तं विना ह्यश्वं नागन्तव्यं हि पुत्रकाः ।
प्रतिगृह्य तु संदेशं पितुस्ते सगरात्मजाः ॥२१॥
भूय एव महीं कृत्स्नां विचेतुमुपचक्रमुः ।
अथापश्यन्त ते वीराः पृथिवीमवदारिताम् ॥२२॥

तब वे पिताके पास आकर उनके आगे हाथ जोड़कर बोले—'महाराज ! हमने आपकी आज्ञासे समुद्र, वन, द्वीप, नदी, नद, कन्दरा, पर्वत और वन्य प्रदेशोंसहित सारी पृथ्वी खोज डाली, परंतु हमें न तो अश्व मिला न उसका चुरानेवाला ही ।' युधिष्ठिर ! उनकी यह बात सुनकर राजा सगर क्रोधसे मूर्च्छित हो उठे और उस समय दैववश उन सबसे इस प्रकार बोले—'जाओ, लौटकर न आना । पुनः घोड़ेका पता लगाओ । पुत्रो ! उस यज्ञके अश्वको लिये बिना वापस न आना ।' पिताका वह संदेश शिरोधार्य करके सगरपुत्रोंने फिर सारी पृथ्वीपर अश्वको ढूँढ़ना आरम्भ किया । तदनन्तर उन वीरोंने एक स्थानपर पृथ्वीमें दरार पड़ी हुई देखी ॥ १७—२२ ॥

समासाद्य बिलं तच्चाप्यखनन् सगरात्मजाः ।
कुद्दालैर्ह्रेषुकैश्चैव समुद्रं यत्नमास्थिताः ॥२३॥

उस बिलके पास पहुँचकर सगरपुत्रोंने कुदालों और फावड़ोंसे समुद्रको प्रयत्नपूर्वक खोदना आरम्भ किया ॥२३॥

स खन्यमानः सहितैः सागरैर्वरुणालयः ।
अगच्छत् परमामार्तिं दीर्यमाणः समन्ततः ॥२४॥
असुरोरगरक्षांसि सत्त्वानि विविधानि च ।
आर्तनादमकुर्वन्त वध्यमानानि सागरैः ॥२५॥

एक साथ लगे हुए सगरकुमारोंके खोदनेपर सब ओरसे विदीर्ण होनेवाले समुद्रको बड़ी पीड़ाका अनुभव होता था ; सगरपुत्रोंके हाथों मारे जाते हुए असुर, नाग, राक्षस और नाना प्रकारके जन्तु बड़े जोरसे आर्तनाद करते थे ॥२४-२५॥

छिन्नशीर्षा विदेहाश्च भिन्नत्वगस्थिसंधयः ।
प्राणिनः समदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥२६॥

सैकड़ों और हजारों ऐसे प्राणी दिखायी देने लगे, जिनके मस्तक कट गये थे, शरीर छिन्न-भिन्न हो गये थे, चमड़े छिल गये थे तथा हड्डियोंके जोड़ टूट गये थे ॥ २६ ॥

एवं हि खनतां तेषां समुद्रं वरुणालयम् ।
व्यतीतः सुमहान् कालो न चाश्वः समदृश्यत ॥२७॥

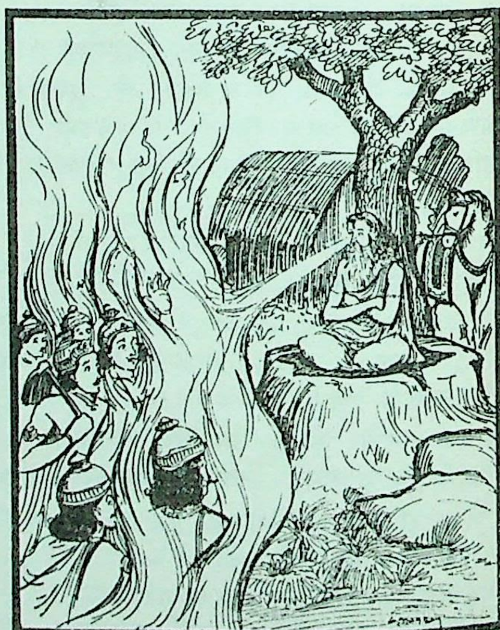
इस प्रकार वरुणके निवासभूत समुद्रकी खुदाई करते-करते उनका बहुत समय बीत गया, परंतु वह अश्व कहीं दिखायी नहीं दिया ॥ २७ ॥

ततः पूर्वोत्तरे देशे समुद्रस्य महीपते ।
विदार्य पातालमथ संक्रुद्धाः सगरात्मजाः ॥२८॥
अपश्यन्त हयं तत्र विचरन्तं महीतले ।
कपिलं च महात्मानं तेजोराशिमनुत्तमम् ।
तेजसा दीप्यमानं तु ज्वालाभिरिव पावकम् ॥२९॥

राजन् ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए सगरपुत्रोंने समुद्रके पूर्वोत्तर प्रदेशमें पाताल फोड़कर प्रवेश किया और वहाँ उस यज्ञिय अश्वको पृथ्वीपर विचरते देखा । वहीं तेजकी परम उत्तम राशि महात्मा कपिल बैठे थे, जो अपने दिव्य तेजसे उसी प्रकार उद्भासित हो रहे थे, जैसे लपटोंसे अग्नि ॥

ते तं दृष्ट्वा हयं राजन् सम्प्रहृष्टतनूरुहाः ।
अनादृत्य महात्मानं कपिलं कालचोदिताः ॥३०॥
संक्रुद्धाः समधावन्त अश्वग्रहणकाङ्क्षिणः ।
ततः क्रुद्धो महाराज कपिलो मुनिसत्तमः ॥३१॥

राजन् ! उस अश्वको देखकर उनके शरीरमें हर्षजनित रोमाञ्च हो आया । वे कालसे प्रेरित हो क्रोधमें भरकर महात्मा कपिलका अनादर करके उस अश्वको पकड़नेके लिये दौड़े ।



महाराज ! तब मुनिश्रेष्ठ कपिल कुपित हो उठे ॥३०-३१॥

वासुदेवेति यं प्राहुः कपिलं मुनिपुङ्गवम् ।
स चक्षुर्विकृतं कृत्वा तेजस्तेषु समुत्सृजन् ॥३२॥
ददाह सुमहातेजा मन्दबुद्धीन् स सागरान् ।

मुनिप्रवर कपिल वे ही भगवान् विष्णु हैं, जिन्हें वासुदेव कहते हैं। उन महातेजस्वीने विकराल आँखें करके अपना तेज उनपर छोड़ दिया और मन्दबुद्धि सगरपुत्रोंको जला दिया ॥३२½॥

तान् दृष्ट्वा भस्मसाद् भूतान् नारदः सुमहातपाः ॥३३॥
सगरान्तिकमागच्छत् तच्च तस्मै न्यवेदयत् ।
स तच्छ्रुत्वा वचो घोरं राजा मुनिमुखोद्गतम् ॥३४॥
मुहूर्तं विमना भूत्वा स्थाणोर्वाक्यमचिन्तयत् ।
(स पुत्रनिधनोद्भूतदुःखेन समभिप्लुतः ।
आत्मानमात्मनाऽऽश्वास्य हयमेवान्वचिन्तयत् ॥)
अंशुमन्तं समाहूय असमञ्जःसुतं तदा ॥३५॥
पौत्रं भरतशार्दूल इदं वचनमब्रवीत् ।
षष्टिस्तानि सहस्राणि पुत्राणाममितौजसाम् ॥३६॥
कापिलं तेज आसाद्य मत्कृते निधनं गताः ।
तव चापि पिता तात परित्यक्तो मयानघ ।
धर्मं संरक्षमाणेन पौराणां हितमिच्छता ॥३७॥

उन्हें भस्म हुआ देख महातपस्वी नारदजी राजा सगरके समीप आये और उनसे सब समाचार निवेदित किया। मुनिके मुखसे निकले हुए इस घोर वचनको सुनकर राजा सगर दो घड़ीतक अनमने हो महादेवजीके कथनपर विचार करते रहे। पुत्रकी मृत्युजनित वेदनासे अत्यन्त दुखी हो स्वयं ही अपने आपको सान्त्वना दे उन्होंने अश्वको ही ढूँढ़नेका विचार किया। भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर असमञ्जसके पुत्र अपने पौत्र अंशुमान्‌को बुलाकर यह बात कही—'तात ! मेरे अमिततेजस्वी साठ हजार पुत्र मेरे ही लिये महर्षि कपिलकी क्रोधाग्निमें पड़कर नष्ट हो गये। अनघ ! पुरवासियोंके हितकी रक्षा रखकर धर्मकी रक्षा करते हुए मैंने तुम्हारे पिताको भी त्याग दिया है' ॥ ३३—३७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किमर्थं राजशार्दूलः सगरः पुत्रमात्मजम् ।
त्यक्तवान् दुस्त्यजं वीरं तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥३८॥

युधिष्ठिरने पूछा—तपोधन ! नृपश्रेष्ठ सगरने किसलिये अपने दुस्त्यज वीर पुत्रका त्याग किया था, यह मुझे बताइये ॥

लोमश उवाच

असमञ्जा इति ख्यातः सगरस्य सुतो ह्यभूत् ।
यं शैब्या जनयामास पौराणां स हि बाधकः ॥३९॥
(क्रीडतः सहसाऽऽसाद्य तत्र तत्र महीपते ।
गलेषु क्रोशतो गृह्य नद्यां चिक्षेप दुर्बलान् ।
ततः पौराः समाजग्मुर्भयशोकपरिप्लुताः ॥४०॥
सगरं चाभ्यभाषन्त सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ।
त्वं नस्त्राता महाराज परचक्रादिभिर्भयात् ॥४१॥

लोमशजीने कहा—राजन् ! सगरका वह पुत्र जिसे रानी शैब्याने उत्पन्न किया था, असमञ्जसके नामसे विख्यात हुआ। वह जहाँ-तहाँ खेल-कूदमें लगे हुए पुरवासियोंके दुर्बल बालकोंके समीप सहसा पहुँच जाता और चीखते-चिल्लाते रहनेपर भी उनका गला पकड़कर उन्हें नदीमें फेंक देता था। तब समस्त पुरवासी भय और शोकमें मग्न हो राजा सगरके पास आये और हाथ जोड़े खड़े हो इस प्रकार कहने लगे—'महाराज ! आप शत्रुसेना आदिके भयसे हमारी रक्षा करनेवाले हैं ॥ ३९—४१ ॥

असमञ्जोभयाद् घोरात् ततो नस्त्रातुमर्हसि ।
पौराणां वचनं श्रुत्वा घोरं नृपतिसत्तमः ॥४२॥
मुहूर्तं विमना भूत्वा सचिवानिदमब्रवीत् ।
असमञ्जाः पुरादद्य सुतो मे विप्रवास्यताम् ॥४३॥

'अतः असमञ्जसके घोर भयसे आप हमारी रक्षा करें !' पुरवासियोंका यह भयंकर वचन सुनकर नृपश्रेष्ठ सगर दो घड़ीतक अनमने होकर बैठे रहे। फिर मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोले—'आज मेरे पुत्र असमञ्जसको मेरे घरसे बाहर निकाल दो ॥ ४२-४३ ॥

यदि वो मत्प्रियं कार्यमेतच्छीघ्रं विधीयताम् ।
एवमुक्ता नरेन्द्रेण सचिवास्ते नराधिप ॥४४॥
यथोक्तं त्वरिताश्चक्रुर्यथाऽऽज्ञापितवान् नृपः ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यथा पुत्रो महात्मना ॥४५॥
पौराणां हितकामेन सगरेण विवासितः ।
अंशुमांस्तु महेष्वासो यदुक्तः सगरेण हि ।
तत् ते सर्वं प्रवक्ष्यामि कीर्त्यमानं निबोध मे ॥४६॥

'यदि तुम्हें मेरा प्रिय कार्य करना है तो मेरी इस आज्ञाका शीघ्र पालन होना चाहिये ।' राजन् ! महाराज सगरके ऐसा कहनेपर मन्त्रियोंने शीघ्र वैसा ही किया, जैसा उनका आदेश था। युधिष्ठिर ! पुरवासियोंके हित चाहनेवाले महात्मा सगरने जिस प्रकार अपने पुत्रको निर्वासित किया था, वह सब प्रसंग मैंने तुमसे कह सुनाया। अब महाधनुर्धर अंशुमान्‌से राजा सगरने जो कुछ कहा, वह सब तुम्हें बता रहा हूँ, मेरे मुखसे सुनो ॥ ४४—४६ ॥

सगर उवाच

पितुश्च तेऽहं त्यागेन पुत्राणां निधनेन च ।
अलाभेन तथाश्वस्य परितप्यामि पुत्रक ॥४७॥

सगर बोले—बेटा ! तुम्हारे पिताको त्याग देनेसे, अन्य पुत्रोंकी मृत्यु हो जानेसे तथा यज्ञसम्बन्धी अश्वके न मिलनेसे मैं सर्वथा संतप्त हो रहा हूँ ॥ ४७ ॥

तस्माद् दुःखाभिसंतप्तं यज्ञविघ्नाच्च मोहितम् ।
हयस्यानयनात् पौत्र नरकान्मां समुद्धर ॥४८॥

अतः पौत्र ! यज्ञमें विघ्न पड़ जानेसे मैं मोहित और दुःखसे संतप्त हूँ, तुम अश्वको ले आकर नरकसे मेरा उद्धार करो ॥ ४८ ॥

अंशुमानेवमुक्तस्तु सगरेण महात्मना ।
जगाम दुःखात् तं देशं यत्र वै दारिता मही ॥४९॥

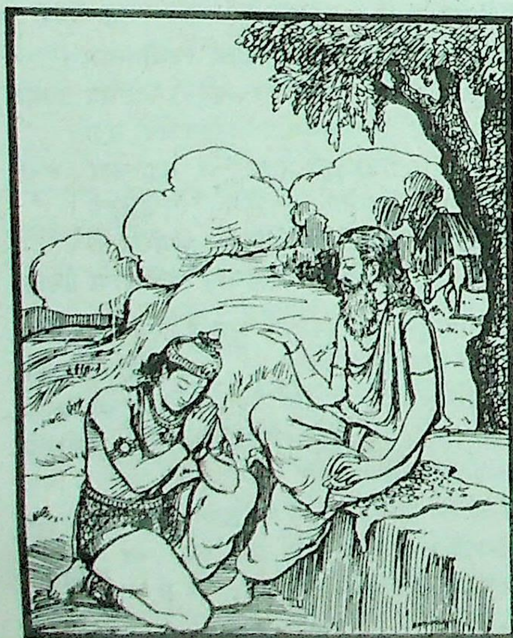
महात्मा सगरके ऐसा कहनेपर अंशुमान् बड़े दुःखसे उस स्थानपर गये, जहाँ पृथ्वी विदीर्ण की गयी थी ॥ ४९ ॥

स तु तेनैव मार्गेण समुद्रं प्रविवेश ह ।
अपश्यच्च महात्मानं कपिलं तुरगं च तम् ॥५०॥

उन्होंने उसी मार्गसे समुद्रमें प्रवेश किया और महात्मा कपिल तथा यज्ञिय अश्वको देखा ॥ ५० ॥

स दृष्ट्वा तेजसो राशिं पुराणमृषिसत्तमम् ।
प्रणम्य शिरसा भूमौ कार्यमस्मै न्यवेदयत् ॥५१॥

तेजोराशि मुनिप्रवर पुराणपुरुष कपिलजीका दर्शन करके अंशुमान्ने धरतीपर माथा टेककर प्रणाम किया और उनसे अपना कार्य बताया ॥ ५१ ॥



ततः प्रीतो महाराज कपिलोऽंशुमतोऽभवत् ।
उवाच चैनं धर्मात्मा वरदोऽस्मीति भारत ॥५२॥

भरतवंशी महाराज ! इससे धर्मात्मा कपिलजी अंशुमान्पर प्रसन्न हो गये और बोले—'मैं तुम्हें वर देनेको उद्यत हूँ' ॥५२॥

स वव्रे तुरगं तत्र प्रथमं यज्ञकारणात् ।
द्वितीयं वरकं वव्रे पितॄणां पावनेच्छया ॥५३॥

अंशुमान्ने पहले तो यज्ञकार्यकी सिद्धिके लिये वहाँ उस अश्वके लिये प्रार्थना की और दूसरा वर अपने पितरोंको पवित्र करनेकी इच्छासे माँगा ॥ ५३ ॥

तमुवाच महातेजाः कपिलो मुनिपुङ्गवः ।
ददानि तव भद्रं ते यद् यत् प्रार्थयसेऽनघ ॥५४॥
त्वयि क्षमा च धर्मश्च सत्यं चापि प्रतिष्ठितम् ।
त्वया कृतार्थः सगरः पुत्रवांश्च त्वया पिता ॥५५॥

तब मुनिश्रेष्ठ महातेजस्वी कपिलने अंशुमान्से कहा—'अनघ ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम जो कुछ माँगते हो वह सब तुम्हें दूँगा । तुममें क्षमा, धर्म और सत्य सब कुछ प्रतिष्ठित है । तुम-जैसे पौत्रको पाकर राजा सगर कृतार्थ हैं और तुम्हारे पिता तुम्हींसे वस्तुतः पुत्रवान् हैं ॥ ५४-५५ ॥

तव चैव प्रभावेण स्वर्गं यास्यन्ति सागराः ।
(शलभत्वं गता ह्येते मम क्रोधहुताशने ।)
पौत्रश्च ते त्रिपथगां त्रिदिवादानयिष्यति ॥५६॥
पावनार्थं सागराणां तोषयित्वा महेश्वरम् ।
हयं नयस्व भद्रं ते यज्ञियं नरपुङ्गव ॥५७॥

'तुम्हारे ही प्रभावसे सगरके सारे पुत्र जो मेरी क्रोधाग्निमें शलभकी भाँति भस्म हो गये हैं, स्वर्गलोकमें चले जायँगे । तुम्हारा पौत्र भगवान् शङ्करको संतुष्ट करके सगरपुत्रोंको पवित्र करनेके लिये स्वर्गलोकसे यहाँ गङ्गाजीको ले आयेगा । नरश्रेष्ठ ! तुम्हारा भला हो । तुम इस यज्ञिय अश्वको ले जाओ ॥ ५६-५७ ॥

यज्ञः समाप्यतां तात सगरस्य महात्मनः ।
अंशुमानेवमुक्तस्तु कपिलेन महात्मना ॥५८॥
आजगाम हयं गृह्य यज्ञवाटं महात्मनः ।
सोऽभिवाद्य ततः पादौ सगरस्य महात्मनः ॥५९॥
मूर्ध्नि तेनाप्युपाघ्रातस्तस्मै सर्वं न्यवेदयत् ।
यथा दृष्टं श्रुतं चापि सागराणां क्षयं तथा ॥६०॥
तं चास्मै हयमाचष्ट यज्ञवाटमुपागतम् ।
तच्छ्रुत्वा सगरो राजा पुत्रजं दुःखमत्यजत् ॥६१॥

'तात ! महात्मा सगरका यज्ञ पूर्ण करो ।' महात्मा कपिलके ऐसा कहनेपर अंशुमान् उस अश्वको लेकर महामना सगरके यज्ञमण्डपमें आये और उनके चरणोंमें प्रणाम करके उनसे सब समाचार निवेदन किया । सगरने भी स्नेहसे अंशुमानका मस्तक सूँघा । अंशुमानने सगरपुत्रोंका विनाश जैसा देखा और सुना था, वह सब बताया, साथ

ही यह भी कहा कि 'यज्ञिय अश्व यज्ञमण्डपमें आ गया है ।' यह सुनकर राजा सगरने पुत्रोंके मरनेका दुःख त्याग दिया ॥ ५८–६१ ॥

अंशुमन्तं च सम्पूज्य समापयत तं क्रतुम् ।
समाप्तयज्ञः सगरो देवैः सर्वैः सभाजितः ॥ ६२ ॥

और अंशुमान्‌की प्रशंसा करते हुए अपने उस यज्ञको पूर्ण किया । यज्ञ पूर्ण हो जानेपर सब देवताओंने सगरका बड़ा सत्कार किया ॥ ६२ ॥

पुत्रत्वे कल्पयामास समुद्रं वरुणालयम् ।
प्रशास्य सुचिरं कालं राज्यं राजीवलोचनः ॥ ६३ ॥
पौत्रे भारं समावेश्य जगाम त्रिदिवं तदा ।
अंशुमानपि धर्मात्मा महीं सागरमेखलाम् ॥ ६४ ॥
प्रशशास महाराज यथैवास्य पितामहः ।
तस्य पुत्रः समभवद् दिलीपो नाम धर्मवित् ॥ ६५ ॥

कमलके समान नेत्रोंवाले सगरने वरुणालय समुद्रको अपना पुत्र माना और दीर्घकालतक राज्यशासन करके अन्तमें अपने पौत्र अंशुमान्‌पर राज्यका सारा भार रखकर वे स्वर्गलोकको चले गये । महाराज ! धर्मात्मा अंशुमान् भी अपने पितामह सगरके समान ही समुद्रसे घिरी हुई इस वसुधाका पालन करते रहे । उनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम दिलीप था । वह भी धर्मका ज्ञाता था ॥ ६३–६५ ॥

तस्मै राज्यं समाधाय अंशुमानपि संस्थितः ।
दिलीपस्तु ततः श्रुत्वा पितॄणां निधनं महत् ॥ ६६ ॥
पर्यतप्यत दुःखेन तेषां गतिमचिन्तयत् ।
गङ्गावतरणे यत्नं सुमहच्चाकरोन्नृपः ॥ ६७ ॥

दिलीपको राज्य देकर अंशुमान् भी परलोकवासी हुए । दिलीपने जब अपने पितरोंके महान् संहारका समाचार सुना, तब वे दुःखसे संतप्त हो उठे और उनकी सद्‌गतिका उपाय सोचने लगे । राजा दिलीपने गङ्गाजीको इस भूतलपर उतारनेके लिये महान् प्रयत्न किया ॥ ६६-६७ ॥

न चावतारयामास चेष्टमानो यथाबलम् ।
तस्य पुत्रः समभवच्छ्रीमान् धर्मपरायणः ॥ ६८ ॥
भगीरथ इति ख्यातः सत्यवागनसूयकः ।
अभिषिच्य तु तं राज्ये दिलीपो वनमाश्रितः ॥ ६९ ॥
(भगीरथं महात्मानं सत्यधर्मपरायणम् ।)

यथाशक्ति चेष्टा करनेपर भी वे गङ्गाको पृथ्वीपर उतार न सके । दिलीपके भगीरथ नामसे विख्यात एक पुत्र हुआ, जो परम कान्तिमान्, धर्मपरायण, सत्यवादी और अदोषदर्शी था । सत्यधर्मपरायण महात्मा भगीरथका राज्याभिषेक करके दिलीप वनमें चले गये ॥ ६८-६९ ॥

तपःसिद्धिसमायोगात् स राजा भरतर्षभ ।
वनाज्जगाम त्रिदिवं कालयोगेन भारत ॥ ७० ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा दिलीप तपस्याजनक सिद्धिसे संयुक्त हो अन्तकाल आनेपर वनसे स्वर्गलोकको चले गये ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्यमाहात्म्यकथने सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्यमाहात्म्यवर्णनविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ७३½ श्लोक हैं)

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

भगीरथका हिमालयपर तपस्याद्वारा गङ्गा और महादेवजीको प्रसन्न करके उनसे वर प्राप्त करना

लोमश उवाच

स तु राजा महेष्वासश्चक्रवर्ती महारथः ।
बभूव सर्वलोकस्य मनोनयननन्दनः ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! महान् धनुर्धर महारथी राजा भगीरथ चक्रवर्ती नरेश थे । वे सब लोगोंके मन और नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाले थे ॥ १ ॥

स शुश्राव महाबाहुः कपिलेन महात्मना ।
पितॄणां निधनं घोरमप्राप्तिं त्रिदिवस्य च ॥ २ ॥
स राज्यं सचिवे न्यस्य हृदयेन विदूयता ।
जगाम हिमवत्पार्श्वं तपस्तप्तुं नरेश्वर ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! उन महाबाहुने जब यह सुना कि महात्मा कपिलद्वारा मेरे पितरोंकी भयंकर मृत्यु हुई है और वे स्वर्ग-प्राप्तिसे वञ्चित रह गये हैं, तब उन्होंने व्यथित हृदयसे अपना राज्य मन्त्रीको सौंप दिया और स्वयं हिमालयके शिखरपर तपस्या करनेके लिये प्रस्थान किया ॥ २-३ ॥

आरिराधयिषुर्गङ्गां तपसा दग्धकिल्बिषः ।
सोऽपश्यत नरश्रेष्ठ हिमवन्तं नगोत्तमम् ॥ ४ ॥
शृङ्गैर्बहुविधाकारैर्धातुमद्भिरलंकृतम् ।
पवनालम्बिभिर्मेघैः परिषिक्तं समन्ततः ॥ ५ ॥

नरश्रेष्ठ ! तपस्यासे सारा पाप नष्ट करके वे गङ्गाजीकी आराधना करना चाहते थे । उन्होंने देखा कि गिरिराज हिमालय विविध धातुओंसे विभूषित नाना प्रकारके शिखरों-

से अलंकृत है । वायुके आधारपर उड़नेवाले मेघ चारों ओरसे उसका अभिषेक कर रहे हैं ॥ ४-५ ॥

नदीकुञ्जनितम्बैश्च प्रासादैरुपशोभितम् ।
गुहाकन्दरसंलीनसिंहव्याघ्रनिषेवितम् ॥ ६ ॥

अनेकानेक नदियों, निकुञ्जों, घाटियों और प्रासादों (मन्दिरों) से इसकी बड़ी शोभा हो रही है । गुफाओं और कन्दराओंमें छिपे हुए सिंह तथा व्याघ्रोंसे यह पर्वत सदा सेवित होता है ॥ ६ ॥

शकुनैश्च विचित्राङ्गैः कूजद्भिर्विविधा गिरः ।
भृङ्गराजैस्तथा हंसैर्दात्यूहैर्जलकुक्कुटैः ॥ ७ ॥
मयूरैः शतपत्रैश्च जीवंजीवककोकिलैः ।
चकोरैरसितापाङ्गैस्तथा पुत्रप्रियैरपि ॥ ८ ॥

भाँति-भाँतिके कलरव करते हुए विचित्र अङ्गोंवाले पक्षी, भृङ्गराज, हंस, चातक, जलमुर्ग, मोर, शतपत्र नामक पक्षी, चक्रवाक, कोकिल, चकोर, असितापाङ्ग और पुत्रप्रिय आदि इस पर्वतकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ७-८ ॥

जलस्थानेषु रम्येषु पद्मिनीभिश्च संकुलम् ।
सारसानां च मधुरैर्व्याहृतैः समलंकृतम् ॥ ९ ॥
किन्नरैरप्सरोभिश्च निषेवितशिलातलम् ।
दिग्वारणविषाणाग्रैः समन्ताद् धृष्टपादपम् ॥ १० ॥
विद्याधरानुचरितं नानारत्नसमाकुलम् ।
विषोल्बणभुजंगैश्च दीप्तजिह्वैर्निषेवितम् ॥ ११ ॥
क्वचित् कनकसंकाशं क्वचिद् रजतसंनिभम् ।
क्वचिदञ्जनपुञ्जाभं हिमवन्तमुपागमत् ॥ १२ ॥
स तु तत्र नरश्रेष्ठस्तपो घोरं समाश्रितः ।
फलमूलाम्बुसम्भक्षः सहस्रपरिवत्सरान् ॥ १३ ॥
संवत्सरसहस्रे तु गते दिव्ये महानदी ।
दर्शयामास तं गङ्गा तदा मूर्तिमती स्वयम् ॥ १४ ॥

वहाँके रमणीय जलाशयोंमें पद्मसमूह भरे हुए हैं। सारसोंके मधुर कलरव उस पर्वतीय प्रदेशको सुशोभित कर रहे हैं। हिमालयकी शिलाओंपर किन्नर और अप्सराएँ बैठी हैं। वहाँके वृक्षोंपर चारों ओरसे दिग्गजोंके दाँतोंकी रगड़ दिखायी देती है। हिमालयके इन शिखरोंपर विद्याधर-गण विचर रहे हैं। नाना प्रकारके रत्न सब ओर व्याप्त हैं। प्रज्वलित जिह्वावाले भयंकर विषधर सर्प इस गिरिप्रदेशका सेवन करते हैं। यह शैलराज कहीं तो सुवर्णके समान उद्भासित होता है, कहीं चाँदीके समान चमकता है और कहीं कज्जलराशिके समान काला दिखायी देता है। नरश्रेष्ठ भगीरथ उस हिमवान् पर्वतपर गये और घोर तपस्यामें लग गये। उन्होंने सहस्र वर्षोंतक फल, मूल और जलका आहार किया। एक हजार दिव्य वर्ष बीत जानेपर महानदी गङ्गाने स्वयं [illegible] ॥ ९-१४ ॥

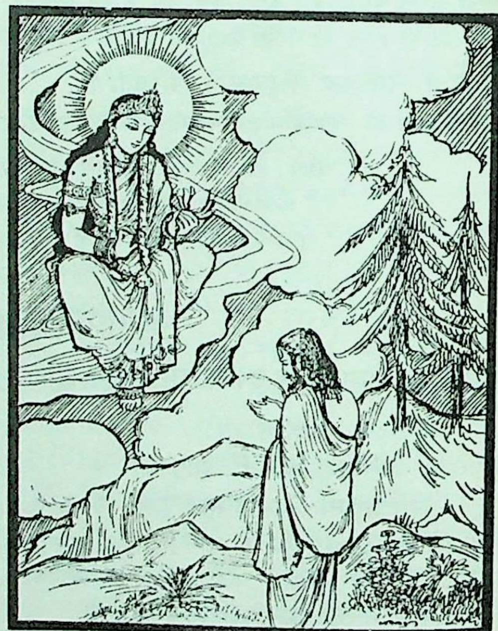
गङ्गोवाच

किमिच्छसि महाराज मत्तः किं च ददानि ते ।
तद् ब्रवीहि नरश्रेष्ठ करिष्यामि वचस्तव ॥ १५ ॥

गङ्गाजीने कहा—महाराज ! तुम मुझसे क्या चाहते हो, मैं तुम्हें क्या दूँ ? नरश्रेष्ठ ! बताओ, मैं तुम्हारी याचना पूर्ण करूँगी ॥ १५ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच राजा हैमवतीं तदा ।
(नदीं भगीरथो राजन् प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ।)
पितामहा मे वरदे कपिलेन महानदि ॥ १६ ॥
अन्वेषमाणास्तुरगं नीता वैवस्वतक्षयम् ।
षष्टिस्तानि सहस्राणि सागराणां महात्मनाम् ॥ १७ ॥
कपिलं देवमासाद्य क्षणेन निधनं गताः ।
तेषामेवं विनष्टानां स्वर्गे वासो न विद्यते ॥ १८ ॥
यावत् तानि शरीराणि त्वं जलैर्नाभिषिञ्चसि ।
तावत् तेषां गतिर्नास्ति सागराणां महानदि ॥ १९ ॥
स्वर्गं नय महाभागे मत्पितॄन् सगरात्मजान् ।
तेषामर्थेन याचामि त्वामहं वै महानदि ॥ २० ॥

राजन् ! उनके ऐसा कहनेपर राजा भगीरथने हिमालय-नन्दिनी गङ्गाको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और इस प्रकार



कहा—'वरदायिनी महानदी ! मेरे पितामह यज्ञसम्बन्धी अश्वका पता लगाते हुए कपिलके कोपसे यमलोकको जा पहुँचे हैं। वे सब महात्मा सगरके पुत्र थे और उनकी संख्या साठ हजार थी। भगवान् कपिलके निकट जाकर [illegible] इस प्रकार दुर्मृत्युसे

मरनेके कारण उन्हें स्वर्गमें निवास नहीं प्राप्त हुआ है। महानदी ! जबतक तुम अपने जलसे उनके भस्म हुए शरीरोंको सींच न दोगी, तबतक उन सगरपुत्रोंकी सद्‌गति नहीं हो सकती ! महाभागे ! मेरे पितामह सगरकुमारोंको स्वर्गमें पहुँचा दो। महानदी ! मैं उन्हींके उद्धारके लिये तुमसे याचना करता हूँ' ॥ १६-२० ॥

लोमश उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञो गङ्गा लोकनमस्कृता।
भगीरथमिदं वाक्यं सुप्रीता समभाषत ॥ २१ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! राजा भगीरथकी यह बात सुनकर विश्ववन्दिता गङ्गा अत्यन्त प्रसन्न हुईं और उनसे इस प्रकार बोलीं—॥ २१ ॥

करिष्यामि महाराज वचस्ते नात्र संशयः।
वेगं तु मम दुर्धार्यं पतन्त्या गगनाद् भुवम् ॥ २२ ॥

'महाराज ! मैं तुम्हारी बात मानूँगी, इसमें संशय नहीं है; परंतु आकाशसे पृथ्वीपर गिरते समय मेरे वेगको रोकना बहुत कठिन है ॥ २२ ॥

न शक्तस्त्रिषु लोकेषु कश्चिद् धारयितुं नृप।
अन्यत्र विबुधश्रेष्ठान्नीलकण्ठान्महेश्वरात् ॥ २३ ॥

'राजन् ! देवश्रेष्ठ महेश्वर नीलकण्ठको छोड़कर तीनों लोकोंमें कोई भी मेरा वेग धारण नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

तं तोषय महाबाहो तपसा वरदं हरम्।
स तु मां प्रच्युतां देवः शिरसा धारयिष्यति ॥ २४ ॥

'महाबाहो ! तुम तपस्याद्वारा उन्हीं वरदायक भगवान् शिवको संतुष्ट करो। स्वर्गसे गिरते समय वे ही मुझे अपने मस्तकपर धारण करेंगे ॥ २४ ॥

स करिष्यति ते कामं पितॄणां हितकाम्यया।
(तपसाऽऽराधितः शम्भुर्भगवाँल्लोकभावनः।)

'विश्वभावन भगवान् शंकर तपस्याद्वारा आराधना करनेपर तुम्हारे पितरोंके हितकी इच्छासे अवश्य तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करेंगे' ॥ २४½ ॥

एतच्छ्रुत्वा ततो राजन् महाराजो भगीरथः ॥ २५ ॥
कैलासं पर्वतं गत्वा तोषयामास शंकरम्।
तपस्तीव्रमुपागम्य कालयोगेन केनचित् ॥ २६ ॥

राजन् ! यह सुनकर महाराज भगीरथ कैलासपर्वतपर गये और वहाँ उन्होंने तीव्र तपस्या करके कुछ समयके बाद भगवान् शंकरको प्रसन्न किया ॥ २५-२६ ॥

अगृह्णाच्च वरं तस्माद् गङ्गाया धारणे नृप।
स्वर्गे वासं समुद्दिश्य पितॄणां स नरोत्तमः ॥ २७ ॥

नरेश्वर ! तत्पश्चात् गङ्गाजीकी प्रेरणाके अनुसार नरश्रेष्ठ भगीरथने अपने पितरोंको स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे महादेवजीसे गङ्गाजीके वेगको धारण करनेके लिये वरकी याचना की ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यानविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २८ श्लोक हैं)

नवाधिकशततमोऽध्यायः

पृथ्वीपर गङ्गाजीके उतरने और समुद्रको जलसे भरनेका विवरण तथा सगरपुत्रोंका उद्धार

लोमश उवाच

भगीरथवचः श्रुत्वा प्रियार्थं च दिवौकसाम्।
एवमस्त्विति राजानं भगवान् प्रत्यभाषत ॥ १ ॥
धारयिष्ये महाभाग गगनात् प्रच्युतां शिवाम्।
दिव्यां देवनदीं पुण्यां त्वत्कृते नृपसत्तम ॥ २ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! राजा भगीरथकी बात सुनकर देवताओंका प्रिय करनेके लिये भगवान् शिवने कहा—'एवमस्तु' महाभाग ! मैं तुम्हारे लिये आकाशसे गिरती हुई कल्याणमयी पुण्यस्वरूपा दिव्य देवनदी गङ्गाको अवश्य धारण करूँगा' ॥

एवमुक्त्वा महाबाहो हिमवन्तमुपागमत्।
वृतः पारिषदैर्घोरैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ॥ ३ ॥

महाबाहो ! ऐसा कहकर भगवान् शिव भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित अपने भयंकर पार्षदोंसे घिरे हुए हिमालयपर आये ॥ ३ ॥

तत्र स्थित्वा नरश्रेष्ठं भगीरथमुवाच ह।
प्रयाचस्व महाबाहो शैलराजसुतां नदीम् ॥ ४ ॥
(पितॄणां पावनार्थं ते तामहं मनुजाधिप।)
पतमानां सरिच्छ्रेष्ठां धारयिष्ये त्रिविष्टपात्।

वहाँ ठहरकर उन्होंने नरश्रेष्ठ भगीरथसे कहा—'महाबाहो ! गिरिराजनन्दिनी महानदी गङ्गासे भूतलपर उतरनेके लिये प्रार्थना करो। नरेश्वर ! मैं तुम्हारे पितरोंको पवित्र करनेके लिये स्वर्गसे उतरती हुई सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाको सिरपर धारण करूँगा' ॥ ४½ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजा शर्वेण समुदाहृतम् ॥ ५ ॥

प्रयतः प्रणतो भूत्वा गङ्गां समनुचिन्तयत्।
ततः पुण्यजला रम्या राज्ञा समनुचिन्तिता ॥ ६ ॥
ईशानं च स्थितं दृष्ट्वा गगनात् सहसा च्युता।
तां प्रच्युतामथो दृष्ट्वा देवाः सार्धं महर्षिभिः ॥ ७ ॥
गन्धर्वोरगयक्षाश्च समाजग्मुर्दिदृक्षवः ।
ततः पपात गगनाद् गङ्गा हिमवतः सुता ॥ ८ ॥

भगवान् शङ्करकी कही हुई यह बात सुनकर राजा भगीरथने एकाग्रचित्त हो प्रणाम करके गङ्गाजीका चिन्तन किया। राजाके चिन्तन करनेपर भगवान् शङ्करको खड़ा हुआ देख पुण्यसलिला रमणीय नदी गङ्गा सहसा आकाशसे नीचे गिरीं। उन्हें गिरती देख दर्शनके लिये उत्सुक हो महर्षियों-सहित देवता, गन्धर्व, नाग और यक्ष वहाँ आ गये। तदनन्तर हिमालयनन्दिनी गङ्गा आकाशसे वहाँ आ गिरीं ॥ ५-८ ॥

समुद्भूतमहावर्ता मीनग्राहसमाकुला ।
तां दधार हरो राजन् गङ्गां गगनमेखलाम् ॥ ९ ॥
ललाटदेशे पतितां मालां मुक्तामयीमिव ।

उस समय उनके जलमें बड़ी-बड़ी भँवरें और तरङ्गें उठ रही थीं। मत्स्य और ग्राह भरे हुए थे। राजन्! आकाशकी मेखलारूप गङ्गाको भगवान् शिवने अपने ललाटदेशमें पड़ी हुई मोतियोंकी मालाकी भाँति धारण कर लिया ॥ ९½ ॥

सा बभूव विसर्पन्ती त्रिधा राजन् समुद्रगा ॥ १० ॥
फेनपुञ्जाकुलजला हंसानामिव पङ्क्तयः ।
क्वचिदाभोगकुटिला प्रस्खलन्ती क्वचित् क्वचित् ॥ ११ ॥
सा फेनपटसंवीता मत्तेव प्रमदाव्रजत् ।
क्वचित् सा तोयनिनदैर्नदन्ती नादमुत्तमम् ॥ १२ ॥
एवंप्रकारान् सुबहून् कुर्वती गगनाच्च्युता ।
पृथिवीतलमासाद्य भगीरथमथाब्रवीत् ॥ १३ ॥

महाराज! नीचे गिरती हुई फेनपुञ्जसे व्याप्त हुए जल-वाली समुद्रगामिनी गङ्गा तीन धाराओंमें बँटकर हंसोंकी पंक्तियोंके समान सुशोभित होने लगी। वह मतवाली स्त्रीकी भाँति इस प्रकार आयी कि कहीं तो सर्प-शरीरकी भाँति कुटिल गतिसे बहती थी और कहीं-कहीं ऊँचेसे नीचे गिरकर चट्टानों-से टकराती जाती थी एवं श्वेत वस्त्रोंके समान प्रतीत होनेवाले फेनपुञ्ज उसे आच्छादित किये हुए थे। कहीं-कहीं वह जलके कल-कल नादसे उत्तम संगीत-सा गा रही थी। इस प्रकार अनेक रूप धारण करनेवाली गङ्गा आकाशसे गिरी और भूतलपर पहुँचकर राजा भगीरथसे बोली—॥ १०-१३ ॥

दर्शयस्व महाराज मार्गं केन व्रजाम्यहम् ।
त्वदर्थमवतीर्णास्मि पृथिवीं पृथिवीपते ॥ १४ ॥

'महाराज! रास्ता दिखाओ मैं किस मार्गसे चलूँ! पृथ्वीपते! तुम्हारे लिये ही मैं इस भूतलपर उतरी हूँ' ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजा प्रातिष्ठत भगीरथः ।
यत्र तानि शरीराणि सागराणां महात्मनाम् ॥ १५ ॥
प्लावनार्थं नरश्रेष्ठ पुण्येन सलिलेन च ।

यह सुनकर राजा भगीरथ जहाँ महात्मा सगरपुत्रोंके शरीर पड़े थे, वहाँ गङ्गाजीके पावन जलसे उन शरीरोंको प्लावित करनेके लिये उस स्थानसे प्रस्थित हुए ॥ १५½ ॥

गङ्गाया धारणं कृत्वा हरो लोकनमस्कृतः ॥ १६ ॥
कैलासं पर्वतश्रेष्ठं जगाम त्रिदशैः सह ।
समासाद्य समुद्रं च गङ्गया सहितो नृपः ॥ १७ ॥
पूरयामास वेगेन समुद्रं वरुणालयम् ।
दुहितृत्वे च नृपतिर्गङ्गां समनुकल्पयत् ॥ १८ ॥

विश्ववन्दित भगवान् शंकर गङ्गाजीको सिरपर धारण करके देवताओंके साथ पर्वतश्रेष्ठ कैलासको चले गये। राजा भगीरथने गङ्गाजीके साथ समुद्रतटपर जाकर वरुणालय समुद्रको बड़े वेगसे भर दिया और गङ्गाजीको अपनी पुत्री बना लिया ।१६-१८।

पितॄणां चोदकं तत्र ददौ पूर्णमनोरथः ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं गङ्गा त्रिपथगा यथा ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् वहाँ उन्होंने पितरोंके लिये जलदान किया और पितरोंका उद्धार होनेसे वे सफलमनोरथ हो गये। युधिष्ठिर! जिस प्रकार गङ्गा त्रिपथगा (स्वर्ग, पाताल और पृथ्वीपर गमन करनेवाली) हुई, वह सब प्रसंग मैंने तुम्हें सुना दिया ॥ १९ ॥

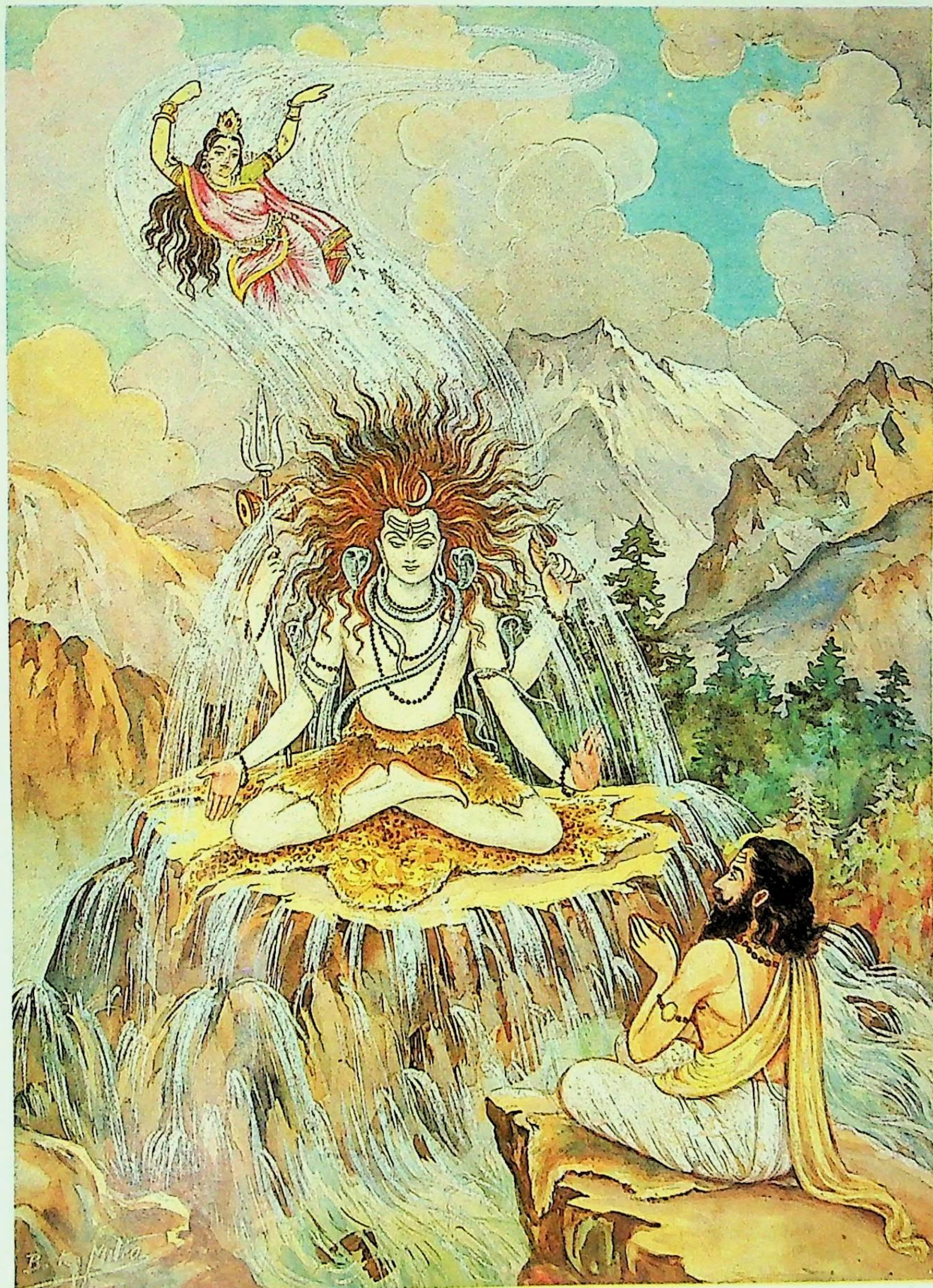
पूरणार्थं समुद्रस्य पृथिवीमवतारिता ।
(कालेयाश्च यथा राजंस्त्रिदशैर्विनिपातिताः ।)
समुद्रश्च यथा पीतः कारणार्थं महात्मना ॥ २० ॥
वातापिश्च यथा नीतः क्षयं स ब्रह्महा प्रभो ।
अगस्त्येन महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २१ ॥

महाराज! समुद्रको भरनेके लिये ही गङ्गा पृथ्वीपर उतारी गयी थी। राजन्! देवताओंने कालेयनामक दैत्योंको जिस प्रकार मार गिराया और कारणवश महात्मा अगस्त्यने जिस प्रकार समुद्र पी लिया तथा उन्होंने ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले वातापि नामक दैत्यको जिस प्रकार नष्ट किया, वह सब प्रसंग, जिसके विषयमें तुमने पूछा था, मैंने बता दिया ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्यमाहात्म्यकथने नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्यमाहात्म्यकथनविषयक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २२ श्लोक हैं)



भगवान् शिवका आकाशसे गिरती हुई गङ्गाको अपने सिरपर धारण करना

दशाधिकशततमोऽध्यायः

नन्दा तथा कौशिकीका माहात्म्य, ऋष्यशृङ्ग मुनिका उपाख्यान और उनको अपने राज्यमें लानेके लिये राजा लोमपादका प्रयत्न

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयातः कौन्तेयः क्रमेण भरतर्षभ।
नन्दामपरनन्दां च नद्यौ पापभयापहे॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर क्रमशः आगे बढ़ने लगे। उन्होंने पाप और भयका निवारण करनेवाली नन्दा और अपरनन्दा—इन दो नदियोंकी यात्रा की॥ १॥

पर्वतं स समासाद्य हेमकूटमनामयम्।
अचिन्त्यानद्भुतान् भावान् ददर्श सुबहून् नृपः॥ २॥

तत्पश्चात् रोग-शोकसे रहित हेमकूट पर्वतपर पहुँचकर राजा युधिष्ठिरने वहाँ बहुत-सी अचिन्त्य एवं अद्भुत बातें देखीं॥ २॥

वाताबद्धा भवन्मेघा उपलाश्च सहस्रशः।
नाशक्नुवंस्तमारोढुं विषण्णमनसो जनाः॥ ३॥

वहाँ वायुका सहारा लिये बिना ही बादल उत्पन्न हो जाते और अपने-आप हजारों पत्थर (ओले) पड़ने लगते थे। जिनके मनमें खेद भरा होता था ऐसे मनुष्य उस पर्वतपर चढ़ नहीं सकते थे॥ ३॥

वायुर्नित्यं ववौ तत्र नित्यं देवश्च वर्षति।
स्वाध्यायघोषश्च तथा श्रूयते न च दृश्यते॥ ४॥
सायं प्रातश्च भगवान् दृश्यते हव्यवाहनः।
मक्षिकाश्चादशंस्तत्र तपसः प्रतिघातिकाः॥ ५॥
निर्वेदो जायते तत्र गृहाणि स्मरते जनः।
एवं बहुविधान् भावानद्भुतान् वीक्ष्य पाण्डवः।
लोमशं पुनरेवाथ पर्यपृच्छत् तदद्भुतम्॥ ६॥

वहाँ प्रतिदिन हवा चलती और रोज-रोज मेघ वर्षा करता था। वेदोंके स्वाध्यायकी ध्वनि तो सुनायी पड़ती; परंतु स्वाध्याय करनेवालेका दर्शन नहीं होता था। सायंकाल और प्रातःकाल भगवान् अग्निदेव प्रज्वलित दिखायी देते थे। तपस्यामें विघ्न डालनेवाली मक्खियाँ वहाँ लोगोंको डंक मारती रहती थीं, अतः वहाँ विरक्ति होती और लोग घरोंकी याद करने लगते थे। इस प्रकार बहुत-सी अद्भुत बातें देखकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने लोमशजीसे पुनः इस अद्भुत अवस्थाके विषयमें पूछा॥ ४—६॥

(युधिष्ठिर उवाच

यदेतद् भगवंश्चित्रं पर्वतेऽस्मिन् महौजसि।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व विस्तरेण महाद्युते॥)

युधिष्ठिरने कहा—महातेजस्वी भगवन् ! इस परम तेजोमय पर्वतपर जो ये आश्चर्यजनक बातें होती हैं, इसका क्या रहस्य है ? यह सब विस्तारपूर्वक मुझे बताइये॥

लोमश उवाच

यथाश्रुतमिदं पूर्वमस्माभिररिकर्शन।
तदेकाग्रमना राजन् निबोध गदतो मम॥ ७॥

तब लोमशजीने कहा—शत्रुसूदन ! हमने पूर्वकालमें जैसा सुन रखा है, वैसा बताया जाता है। तुम एकाग्रचित्त हो मेरे मुखसे इसका रहस्य सुनो॥ ७॥

अस्मिन्नृषभकूटेऽभूदृषभो नाम तापसः।
अनेकशतवर्षायुस्तपस्वी कोपनो भृशम्॥ ८॥

पहलेकी बात है, इस ऋषभकूटपर ऋषभनामसे प्रसिद्ध एक तपस्वी रहते थे। उनकी आयु कई सौ वर्षोंकी थी। वे तपस्वी होनेके साथ ही बड़े क्रोधी थे॥ ८॥

स वै सम्भाष्यमाणोऽन्यैः कोपाद् गिरिमुवाच ह।
य इह व्याहरेत् कश्चिदुपलानुत्सृजेस्तथा॥ ९॥
वातं चाहूय मा शब्दमित्युवाच स तापसः।
व्याहरंश्चेह पुरुषो मेघशब्देन वार्यते॥ १०॥
एवमेतानि कर्माणि राजंस्तेन महर्षिणा।
कृतानि कानिचित् क्रोधात् प्रतिषिद्धानि कानिचित्॥ ११॥

उन्होंने दूसरोंके बुलानेपर कुपित होकर उस पर्वतसे कहा—'जो कोई यहाँपर बातचीत करे, उसपर तू ओले बरसा।' इसी प्रकार वायुको भी बुलाकर उन तपस्वी मुनिने कहा—'देखो, यहाँ किसी प्रकारका शब्द नहीं होना चाहिये।' तबसे जो कोई पुरुष यहाँ बोलता है, उसे मेघकी गर्जनाद्वारा रोका जाता है। राजन् ! इस प्रकार उन महर्षिने ही ये अद्भुत कार्य किये हैं। उन्होंने क्रोधवश कुछ कार्योंका विधान और कुछ बातोंका निषेध कर दिया है॥ ९—११॥

नन्दां त्वभिगता देवाः पुरा राजन्निति श्रुतिः।
अन्वपद्यन्त सहसा पुरुषा देवदर्शिनः॥ १२॥

राजन् ! यह सुना जाता है कि प्राचीन कालमें देवतालोग नन्दाके तटपर आये थे, उस समय उनके दर्शनकी इच्छासे बहुतेरे मनुष्य सहसा वहाँ आ पहुँचे॥ १२॥

ते दर्शनं त्वनिच्छन्तो देवाः शक्रपुरोगमाः।
दुर्गं चक्रुरिमं देशं गिरिं प्रत्यूहरूपकम्॥ १३॥

इन्द्र आदि देवता उन्हें दर्शन देना नहीं चाहते थे, अतः विघ्नस्वरूप इस पर्वतीय प्रदेशको उन्होंने जनसाधारणके लिये दुर्गम बना दिया॥ १३॥

तदाप्रभृति कौन्तेय नरा गिरिमिमं सदा।
नाशक्नुवन्नभिद्रष्टुं कुत एवाधिरोहितुम् ॥१४॥

कुन्तीनन्दन! तभीसे साधारण मनुष्य इस पर्वतको देख भी नहीं सकते, चढ़ना तो दूरकी बात है ॥ १४ ॥

नातप्ततपसा शक्यो द्रष्टुमेष महागिरिः।
आरोढुं वापि कौन्तेय तस्मान्नियतवाग भव ॥१५॥

कुन्तीकुमार! जिसने तपस्या नहीं की है, वह मनुष्य इस महान् पर्वतको न तो देख सकता है और न चढ़ ही सकता है; अतः तुम मौन व्रत धारण करो ॥ १५ ॥

इह देवास्तदा सर्वे यज्ञानाजह्रुरुत्तमान्।
तेषामेतानि लिङ्गानि दृश्यन्तेऽद्यापि भारत ॥१६॥

उन दिनों सम्पूर्ण देवताओंने यहाँ आकर उत्तम यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। भारत! उनके ये चिह्न आज भी प्रत्यक्ष देखे जाते हैं ॥ १६ ॥

कुशाकारेव दूर्वेयं संस्तीर्णेव च भूरियम्।
यूपप्रकारा बहवो वृक्षाश्चेमे विशाम्पते ॥१७॥

यह दूर्वा कुशके आकारकी दिखायी देती है और यह भूमि ऐसी लगती है, मानो इसपर कुश बिछाये गये हों। महाराज! ये वृक्ष भी यज्ञ-यूपके समान जान पड़ते हैं ॥१७॥

देवाश्च ऋषयश्चैव वसन्त्यद्यापि भारत।
तेषां सायं तथा प्रातर्दृश्यते हव्यवाहनः ॥१८॥

भारत! आज भी यहाँ देवता तथा ऋषि निवास करते हैं। सायंकाल और प्रातःकाल यहाँ उनके द्वारा प्रज्वलित की हुई अग्निका दर्शन होता है ॥ १८ ॥

इहाप्लुतानां कौन्तेय सद्यः पाप्माभिहन्यते।
कुरुश्रेष्ठाभिषेकं वै तस्मात् कुरु सहानुजः ॥१९॥

कुन्तीनन्दन! इस तीर्थमें गोता लगानेवाले मानवोंका सारा पाप तत्काल नष्ट हो जाता है। अतः कुरुश्रेष्ठ! तुम अपने भाइयोंके साथ यहाँ स्नान करो ॥ १९ ॥

ततो नन्दाप्लुताङ्गस्त्वं कौशिकीमभियास्यसि।
विश्वामित्रेण यत्रोग्रं तपस्तप्तमनुत्तमम् ॥२०॥

नन्दामें गोता लगानेके पश्चात् तुम्हें कौशिकीके तटपर चलना होगा, जहाँ महर्षि विश्वामित्रजीने उत्तम एवं उग्र तपस्या की थी ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत्र समाप्लुत्य गात्राणि सगणो नृपः।
जगाम कौशिकीं पुण्यां रम्यां शीतजलां शुभाम् ।२१।

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर राजा युधिष्ठिर अपने दल-बलके साथ नन्दामें गोता लगाकर रमणीय एवं शीतल जलवाली शुभ पुण्यमयी कौशिकीके तटपर गये ॥२१॥

लोमश उवाच

एषा देवनदी पुण्या कौशिकी भरतर्षभ।
विश्वामित्राश्रमो रम्य एष चात्र प्रकाशते ॥२२॥

वहाँ लोमशजीने कहा—भरतश्रेष्ठ! यह देवताओंकी नदी पुण्यसलिला कौशिकी है और यह विश्वामित्रका रमणीय आश्रम है, जो यहाँ प्रकाशित हो रहा है ॥ २२ ॥

आश्रमश्चैव पुण्याख्यः काश्यपस्य महात्मनः।
ऋष्यशृङ्गः सुतो यस्य तपस्वी संयतेन्द्रियः ॥२३॥
तपसो यः प्रभावेण वर्षयामास वासवम्।
अनावृष्ट्यां भयाद् यस्य ववर्ष बलवृत्रहा ॥२४॥

यहीं कश्यपगोत्रीय महात्मा विभाण्डकका 'पुण्य' नामक आश्रम है। इन्हींके तपस्वी एवं जितेन्द्रिय पुत्र महात्मा ऋष्यशृङ्ग हैं, जिन्होंने अपनी तपस्याके प्रभावसे इन्द्रद्वारा वर्षा करवायी थी। उन दिनों देशमें घोर अनावृष्टि फैल रही थी, वैसे समयमें ऋष्यशृङ्ग मुनिके भयसे बल और वृत्रासुरके विनाशक देवराज इन्द्रने उस देशमें वर्षा की थी ॥२३-२४॥

मृग्यां जातः स तेजस्वी काश्यपस्य सुतः प्रभुः।
विषये लोमपादस्य यश्चकाराद्भुतं महत् ॥२५॥

वे तेजस्वी एवं शक्तिशाली मुनि मृगीके पेटसे पैदा हुए थे और कश्यपनन्दन विभाण्डकके पुत्र थे। उन्होंने राजा लोमपादके राज्यमें अत्यन्त अद्भुत कार्य किया था ॥ २५ ॥

निवर्तितेषु सस्येषु यस्मै शान्तां ददौ नृपः।
लोमपादो दुहितरं सावित्रीं सविता यथा ॥२६॥

जब वर्षासे खेती अच्छी तरह लहलहा उठी, तब राजा लोमपादने अपनी पुत्री शान्ता ऋष्यशृङ्गको ब्याह दी; ठीक उसी तरह, जैसे सूर्यदेवने अपनी बेटी सावित्रीका ब्रह्माजीके साथ ब्याह किया था ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ऋष्यशृङ्गः कथं मृग्यामुत्पन्नः काश्यपात्मजः।
विरुद्धे योनिसंसर्गे कथं च तपसा युतः ॥२७॥
किमर्थं च भयाच्छक्रस्तस्य बालस्य धीमतः।
अनावृष्ट्यां प्रवृत्तायां ववर्ष बलवृत्रहा ॥२८॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! कश्यपनन्दन विभाण्डकके पुत्र ऋष्यशृङ्ग मृगीके पेटसे कैसे उत्पन्न हुए? मनुष्यका पशुयोनिसे संसर्ग करना तो शास्त्र और व्यवहार दोनों ही दृष्टियोंसे विरुद्ध है। ऐसे विरुद्ध योनि-संसर्गसे उत्पन्न हुआ बालक तपस्वी कैसे हो सका? उस बुद्धिमान् बालकके भयसे बल और वृत्रासुरका विनाश करनेवाले देवराज इन्द्रने अनावृष्टिके समय वर्षा कैसे की? ॥ २७-२८ ॥

कथंरूपा च सा शान्ता राजपुत्री यतव्रता।
लोभयामास या चेतो मृगभूतस्य तस्य वै ॥२९॥

लोमपादश्च राजर्षिर्यदाश्रूयत धार्मिकः ।
कथं वै विषये तस्य नावर्षत् पाकशासनः ॥३०॥

नियम और व्रतका पालन करनेवाली राजकुमारी शान्ता भी कैसी थी, जिसने मृगस्वरूप मुनिका भी मन मोह लिया । राजर्षि लोमपाद तो बड़े धर्मात्मा सुने गये हैं, फिर उनके राज्यमें इन्द्र वर्षा क्यों नहीं करते थे ? ॥ २९-३० ॥

एतन्मे भगवन् सर्वं विस्तरेण यथातथम् ।
वक्तुमर्हसि शुश्रूषोर्ऋष्यशृङ्गस्य चेष्टितम् ॥३१॥

भगवन् ! ये सब बातें आप विस्तारपूर्वक यथार्थरूपसे बताइये । मैं महर्षि ऋष्यशृङ्गके चरित्रको सुनना चाहता हूँ ॥

लोमश उवाच

विभाण्डकस्य विप्रर्षेस्तपसा भावितात्मनः ।
अमोघवीर्यस्य सतः प्रजापतिसमद्युतेः ॥३२॥
शृणु पुत्रो यथा जात ऋष्यशृङ्गः प्रतापवान् ।
महाह्रदे महातेजा बालः स्थविरसम्मतः ॥३३॥

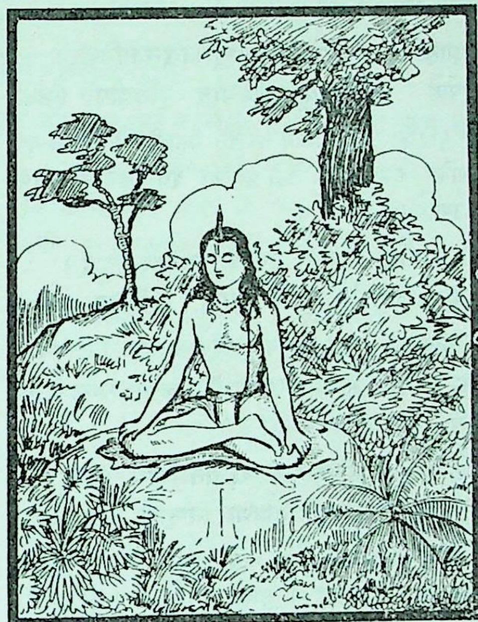
लोमशजीने कहा—राजन् ! ब्रह्मर्षि विभाण्डकका अन्तःकरण तपस्यासे पवित्र हो गया था। वे प्रजापतिके समान तेजस्वी और अमोघवीर्य महात्मा थे । उनके प्रतापी पुत्र ऋष्यशृङ्गका जन्म कैसे हुआ, यह बताता हूँ, सुनो । जैसे विभाण्डक मुनि परम पूजनीय थे, वैसे ही उनका पुत्र भी बड़ा तेजस्वी हुआ । वह बाल्यावस्थामें भी वृद्ध पुरुषोंद्वारा सम्मानित होता था ॥ ३२-३३ ॥

महाह्रदं समासाद्य काश्यपस्तपसि स्थितः ।
दीर्घकालं परिश्रान्त ऋषिः स देवसम्मितः ॥३४॥

कश्यपगोत्रीय विभाण्डक मुनि देवताओंके समान सुन्दर थे । वे एक बहुत बड़े कुण्डमें प्रविष्ट होकर तपस्या करने लगे । उन्होंने दीर्घकालतक महान् क्लेश सहन किया ॥३४॥

तस्य रेतः प्रचस्कन्द दृष्ट्वाप्सरसमुर्वशीम् ।
अप्सूपस्पृशतो राजन् मृगी तच्चापिबत् तदा ॥३५॥
सह तोयेन तृषिता गर्भिणी चाभवत् ततः ।
सा पुरोक्ता भगवता ब्रह्मणा लोककर्तृणा ॥३६॥
देवकन्या मृगी भूत्वा मुनिं सूय विमोक्ष्यसे ।
अमोघत्वाद् विधेश्चैव भावित्वाद् दैवनिर्मितात् ।३७।
तस्यां मृग्यां समभवत् तस्य पुत्रो महानृषिः ।
ऋष्यशृङ्गस्तपोनित्यो वन एवाभ्यवर्तत ॥३८॥

राजन् ! एक दिन जब वे जलमें स्नान कर रहे थे, उर्वशी अप्सराको देखकर उनका वीर्य स्खलित हो गया । उसी समय प्याससे व्याकुल हुई एक मृगी वहाँ आयी और पानीके साथ उस वीर्यको भी पी गयी । इससे उसके गर्भ रह गया । वह पूर्वजन्ममें एक देवकन्या थी । लोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्माने उसे यह वचन दिया था कि तू मृगी होकर एक मुनिको जन्म देनेके पश्चात् उस योनिसे मुक्त हो जायगी । ब्रह्माजीकी वाणी अमोघ है और दैवके विधानको कोई टाल नहीं सकता, इसलिये विभाण्डकके पुत्र महर्षि ऋष्यशृङ्गका जन्म मृगीके ही पेटसे हुआ । वे सदा तपस्यामें संलग्न रहकर वनमें ही निवास करते थे ॥ ३५-३८ ॥



तस्यर्षेः शृङ्गं शिरसि राजन्नासीन्महात्मनः ।
तेनर्ष्यशृङ्ग इत्येवं तदा स प्रथितोऽभवत् ॥३९॥

राजन् ! उन महात्मा मुनिके सिरपर एक सींग था, इसलिये उस समय उनका ऋष्यशृङ्ग नाम प्रसिद्ध हुआ ॥३९॥

न तेन दृष्टपूर्वोऽन्यः पितुरन्यत्र मानुषः ।
तस्मात् तस्य मनो नित्यं ब्रह्मचर्येऽभवन्नृप ॥४०॥

नरेश्वर ! उन्होंने अपने पिताके सिवा दूसरे किसी मनुष्यको पहले कभी नहीं देखा था, इसलिये उनका मन सदा स्वभावसे ही ब्रह्मचर्यमें संलग्न रहता था ॥ ४० ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सखा दशरथस्य वै ।
लोमपाद इति ख्यातो ह्यङ्गानामीश्वरोऽभवत् ॥४१॥

इन्हीं दिनों राजा दशरथके मित्र लोमपाद अङ्गदेशके राजा हुए ॥ ४१ ॥

तेनं कामात् कृतं मिथ्या ब्राह्मणस्येति नः श्रुतिः ।
स ब्राह्मणैः परित्यक्तस्ततो वै जगतः पतिः ॥४२॥
पुरोहितापचाराच्च तस्य राज्ञो यदृच्छया ।
न ववर्ष सहस्राक्षस्ततोऽपीड्यन्त वै प्रजाः ॥४३॥

उन्होंने जान-बूझकर एक ब्राह्मणके साथ मिथ्या व्यवहार किया—यह बात हमारे सुननेमें आयी है। इसी अपराधके कारण ब्राह्मणोंने राजा लोमपादको त्याग दिया था। राजाने पुरोहितपर मनमाना दोषारोपण किया था, इसलिये इन्द्रने उनके राज्यमें वर्षा बंद कर दी। इस अनावृष्टिके कारण प्रजाको बड़ा कष्ट होने लगा ॥ ४२-४३ ॥

स ब्राह्मणान् पर्यपृच्छत् तपोयुक्तान् मनीषिणः।
प्रवर्षणे सुरेन्द्रस्य समर्थान् पृथिवीपते ॥४४॥

युधिष्ठिर! तब राजाने तपस्वी, मेधावी और इन्द्रसे वर्षा करवानेमें समर्थ ब्राह्मणोंको बुलाकर इस संकटके निवारण-का उपाय पूछा ॥ ४४ ॥

कथं प्रवर्षेत् पर्जन्य उपायः परिदृश्यताम्।
तमूचुश्चोदितास्ते तु स्वमतानि मनीषिणः ॥४५॥

'विप्रगण! मेघ कैसे वर्षा करे—यह उपाय सोचिये।' उनके पूछनेपर मनीषी महात्माओंने अपना-अपना विचार बताया ॥ ४५ ॥

तत्र त्वेको मुनिवरस्तं राजानमुवाच ह।
कुपितास्तव राजेन्द्र ब्राह्मणा निष्कृतिं चर ॥४६॥

उन्हीं ब्राह्मणोंमें एक श्रेष्ठ महर्षि भी थे। उन्होंने राजासे कहा—'राजेन्द्र! तुम्हारे ऊपर ब्राह्मण कुपित हैं; इसके लिये तुम प्रायश्चित्त करो ॥ ४६ ॥

ऋष्यशृङ्गं मुनिसुतमानयस्व च पार्थिव।
वानेयमनभिज्ञं च नारीणामार्जवे रतम् ॥४७॥
स चेदवतरेद् राजन् विषयं ते महातपाः।
सद्यः प्रवर्षेत् पर्जन्य इति मे नात्र संशयः ॥४८॥

'भूपाल! साथ ही हम तुम्हें यह सलाह देते हैं कि अपने राज्यमें महर्षि विभाण्डकके पुत्र वनवासी ऋष्यशृङ्गको बुलाओ। वे स्त्रियोंसे सर्वथा अपरिचित हैं और सदा सरल व्यवहारमें ही तत्पर रहते हैं। महाराज! वे महातपस्वी ऋष्यशृङ्ग यदि आपके राज्यमें पदार्पण करें तो तत्काल ही मेघ वर्षा करेगा, इस विषयमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है' ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजन् कृत्वा निष्कृतिमात्मनः।
स गत्वा पुनरागच्छत् प्रसन्नेषु द्विजातिषु ॥४९॥

राजन्! यह सुनकर राजा लोमपाद अपने अपराधका प्रायश्चित्त करके ब्राह्मणोंके पास गये और जब वे प्रसन्न हो गये, तब पुनः अपनी राजधानीको लौट आये ॥ ४९ ॥

राजानमागतं श्रुत्वा प्रतिसंजहृषुः प्रजाः।
ततोऽङ्गपतिराहूय सचिवान् मन्त्रकोविदान् ॥५०॥

ऋष्यशृङ्गागमे यत्नमकरोन्मन्त्रनिश्चये।
सोऽध्यगच्छदुपायं तु तैरमात्यैः सहाच्युतः ॥५१॥
शास्त्रज्ञैरलमर्थज्ञैर्नीत्यां च परिनिष्ठितैः।
ततश्चानाययामास वारमुख्या महीपतिः ॥५२॥
वेश्याः सर्वत्र निष्णातास्ता उवाच स पार्थिवः।
ऋष्यशृङ्गमृषेः पुत्रमानयध्वमुपायतः ॥५३॥

राजाका आगमन सुनकर प्रजाजनोंको बड़ा हर्ष हुआ। तदनन्तर अङ्गराज मन्त्रकुशल मन्त्रियोंको बुलाकर उनसे सलाह करके एक निश्चयपर पहुँच जानेके बाद मुनिकुमार ऋष्यशृङ्गको अपने यहाँ ले आनेके प्रयत्नमें लग गये। राजाके मन्त्री शास्त्रज्ञ, अर्थशास्त्रके विद्वान् और नीतिनिपुण थे। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले नरेशने उन मन्त्रियोंके साथ विचार करके एक उपाय जान लिया। तत्पश्चात् भूपाल लोमपादने दूसरोंको लुभानेकी सब कलाओं-में कुशल प्रधान-प्रधान वेश्याओंको बुलाया और कहा—'तुमलोग कोई उपाय करके मुनिकुमार ऋष्यशृङ्गको यहाँ ले आओ ॥ ५०-५३ ॥

लोभयित्वाभिविश्वास्य विषयं मम शोभनाः।
ता राजभयभीताश्च शापभीताश्च योषितः ॥५४॥
अशक्यमूचुस्तत् कार्यं विवर्णा गतचेतसः।
तत्र त्वेका जरद्योषा राजानमिदमब्रवीत् ॥५५॥

'सुन्दरियो! तुम लुभाकर उन्हें सब प्रकारसे सुख-सुविधाका विश्वास दिलाकर मेरे राज्यमें ले आना।' महाराजकी यह बात सुनते ही वेश्याओंका रंग फीका पड़ गया। वे अचेत-सी हो गयीं। एक ओर तो उन्हें राजाका भय था और दूसरी ओर वे मुनिके शापसे डरी हुई थीं; अतः उन्होंने इस कार्यको असम्भव बताया। उन सबमें एक बूढ़ी स्त्री थी। उसने राजासे इस प्रकार कहा—॥५४-५५॥

प्रयतिष्ये महाराज तमानेतुं तपोधनम्।
अभिप्रेतांस्तु मे कामांस्त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥५६॥
ततः शक्ष्याम्यानयितुमृष्यशृङ्गमृषेः सुतम्।
तस्याः सर्वमभिप्रेतमन्वजानात् स पार्थिवः ॥ ५७ ॥

'महाराज! मैं उन तपोधन मुनिकुमारको लानेका प्रयत्न करूँगी; परंतु आप यह आज्ञा दें कि मैं इसके लिये मनचाही व्यवस्था कर सकूँ। यदि मेरी इच्छा पूर्ण हुई तो मैं मुनिपुत्र ऋष्यशृङ्गको यहाँ लानेमें सफल हो सकूँगी।' राजाने उसकी इच्छाके अनुसार व्यवस्था करनेकी आज्ञा दे दी ॥५६-५७॥

धनं च प्रददौ भूरि रत्नानि विविधानि च।
ततो रूपेण सम्पन्ना वयसा च महीपते।
स्त्रिय आदाय काश्चित् सा जगाम वनमञ्जसा ॥ ५८ ॥

साथ ही उसे प्रचुर धन और नाना प्रकारके रत्न भी दिये । युधिष्ठिर ! तदनन्तर वह वेश्या रूप और यौवनसे सम्पन्न कुछ सुन्दरी स्त्रियोंको साथ लेकर शीघ्रतापूर्वक वनकी ओर चल दी ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृष्यश्रृङ्गोपाख्याने दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें ऋष्यश्रृङ्गोपाख्यानविषयक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

वेश्याका ऋष्यश्रृङ्गको लुभाना और विभाण्डक मुनिका आश्रमपर आकर अपने पुत्रकी चिन्ताका कारण पूछना

लोमश उवाच

सा तु नाव्याश्रमं चक्रे राजकार्यार्थसिद्धये ।
संदेशाच्चैव नृपतेः स्वबुद्ध्या चैव भारत ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—भरतनन्दन ! उस वेश्याने राजाकी आज्ञाके अनुसार और अपनी बुद्धिसे भी उनका कार्य सिद्ध करनेके लिये नावपर एक सुन्दर आश्रम बनाया ॥

नानापुष्पफलैर्वृक्षैः कृत्रिमैरुपशोभितैः ।
नानागुल्मलतोपेतैः स्वादुकामफलप्रदैः ॥ २ ॥

वह आश्रम भाँति-भाँतिके पुष्प और फलोंसे सुशोभित कृत्रिम वृक्षोंसे घिरा हुआ था । उन वृक्षोंपर नाना प्रकारके गुल्म और लतासमूह फैले हुए थे और वे वृक्ष स्वादिष्ट एवं वांछनीय फल देनेवाले थे ॥ २ ॥

अतीव रमणीयं तदतीव च मनोहरम् ।
चक्रे नाव्याश्रमं रम्यमद्भुतोपमदर्शनम् ॥ ३ ॥

उन वृक्षोंके कारण वह आश्रम अत्यन्त रमणीय और परम मनोहर दिखायी देता था । वेश्याने उस नावपर जिस सुन्दर आश्रमका निर्माण किया था, वह देखनेमें अद्भुत-सा था ॥ ३ ॥

ततो निबध्य तां नावमदूरे काश्यपाश्रमात् ।
चारयामास पुरुषैर्विहारं तस्य वै मुनेः ॥ ४ ॥

तदनन्तर उसने अपनी उस नावको काश्यप गोत्रीय विभाण्डक मुनिके आश्रमसे थोड़ी ही दूरपर बाँध दिया और गुप्तचरोंको भेजकर यह पता लगा लिया कि इस समय विभाण्डक मुनि अपनी कुटियासे बाहर गये हैं ॥ ४ ॥

ततो दुहितरं वेश्यां समाधायेतिकार्यताम् ।
दृष्ट्वान्तरं काश्यपस्य प्राहिणोद् बुद्धिसम्मताम् ॥ ५ ॥

तदनन्तर विभाण्डक मुनिको दूर गया देख उस वेश्याने अपनी परम बुद्धिमती पुत्रीको, जो उसीकी भाँति वेश्यावृत्ति अपनाये हुए थी, कर्तव्यकी शिक्षा देकर मुनिके आश्रमपर भेजा ॥ ५ ॥

सा तत्र गत्वा कुशला तपोनित्यस्य संनिधौ ।
आश्रमं तं समासाद्य ददर्श तमृषेः सुतम् ॥ ६ ॥

वह भी कार्यसाधनमें कुशल थी । उसने वहाँ जाकर निरन्तर तपस्यामें लगे रहनेवाले ऋषिकुमार ऋष्यश्रृङ्गके समीप उस आश्रममें पहुँचकर उनको देखा ॥ ६ ॥

वेश्योवाच

कच्चिन्मुने कुशलं तापसानां
कच्चिच्च वो मूलफलं प्रभूतम् ।
कच्चिद् भवान् रमते चाश्रमेऽस्मि-
स्त्वां वै द्रष्टुं साम्प्रतमागतोऽस्मि ॥ ७ ॥

'तत्पश्चात्' वेश्याने कहा—मुने ! तपस्वीलोग कुशलसे तो हैं न ? आपलोगोंको पर्याप्त फल-मूल तो मिल जाते हैं न ? आप इस आश्रममें प्रसन्न तो हैं न ? मैं इस समय आपके दर्शनके लिये ही यहाँ आया हूँ ॥ ७ ॥

कच्चित् तपो वर्धते तापसानां
पिता च ते कच्चिदहीनतेजाः ।
कच्चित् त्वया प्रीयते चैव विप्र
कच्चित् स्वाध्यायः क्रियते चर्ष्यश्रृङ्ग ॥ ८ ॥

क्या तपस्वीलोगोंकी तपस्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है ? आपके पिताका तेज क्षीण तो नहीं हो रहा है ? ब्रह्मन् ! आप मजेमें हैं न ? ऋष्यश्रृङ्गजी ! आपके स्वाध्यायका क्रम चल रहा है न ? ॥ ८ ॥

ऋष्यश्रृङ्ग उवाच

ऋद्ध्या भवाञ्ज्योतिरिव प्रकाशते
मन्ये चाहं त्वामभिवादनीयम् ।
पाद्यं वै ते सम्प्रदास्यामि कामाद्
यथाधर्मं फलमूलानि चैव ॥ ९ ॥

ऋष्यश्रृङ्ग बोले—ब्रह्मन् ! आप अपनी समृद्धिसे ज्योतिकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं । मैं आपको अपने लिये वन्दनीय मानता हूँ और स्वेच्छासे धर्मके अनुसार आपके लिये पाद्य-अर्घ्य एवं फल-मूल अर्पण करता हूँ ॥ ९ ॥

कौश्यां बृष्यामास्स्व यथोपजोषं
कृष्णाजिनेनावृतायां सुखायाम् ।
क्व चाश्रमस्तव किं नाम चेदं
व्रतं ब्रह्मंश्चरसि हि देववत् त्वम् ॥ १० ॥

इस कुशासनपर आप सुखपूर्वक बैठें। इसपर काला मृगचर्म बिछाया गया है, इसलिये इसपर बैठनेमें आराम रहेगा। आपका आश्रम कहाँ है? और आपका नाम क्या है? ब्रह्मन्! आप देवताके समान यह किस व्रतका आचरण कर रहे हैं? ॥ १० ॥

वेश्योवाच

ममाश्रमः काश्यपपुत्र रम्य-
स्त्रियोजनं शैलमिमं परेण।
तत्र स्वधर्मो नाभिवादनं मे
न चोदकं पाद्यमुपस्पृशामि ॥ ११ ॥

वेश्या बोली—काश्यपनन्दन! मेरा आश्रम बड़ा मनोहर है। वह इस पर्वतके उस पार तीन योजनकी दूरीपर स्थित है। वहाँ मेरा जो अपना धर्म है, उसके अनुसार आपको मेरा अभिवादन (प्रणाम) नहीं करना चाहिये। मैं आपके दिये हुए अर्घ्य और पाद्यका स्पर्श नहीं करूँगा ॥

भवता नाभिवाद्योऽहमभिवाद्यो भवान् मया।
व्रतमेतादृशं ब्रह्मन् परिष्वज्यो भवान् मया ॥ १२ ॥

मैं आपके लिये वन्दनीय नहीं हूँ। आप ही मेरे वन्दनीय हैं। ब्रह्मन्! मेरा यह नियम है, जिसके अनुसार मुझे आपका आलिङ्गन करना चाहिये ॥ १२ ॥

ऋष्यशृङ्ग उवाच

फलानि पक्वानि ददानि तेऽहं
भल्लातकान्यामलकानि चैव।
करूषकाणीङ्गुदधन्वनानि
पिप्पलानां कामकारं कुरुष्व ॥ १३ ॥

ऋष्यशृङ्गने कहा—ब्रह्मन्! मैं तुम्हें पके फल दे रहा हूँ। ये भिलावा, आँवले, करूषक (फालसा), इङ्गुद (हिंगोट), धन्वन (धामिन) और पीपलके फल प्रस्तुत हैं—इन सबका इच्छानुसार उपयोग कीजिये ॥ १३ ॥

लोमश उवाच

सा तानि सर्वाणि विवर्जयित्वा
भक्ष्याण्यनर्हाणि ददौ ततोऽस्य।
तान्यृष्यशृङ्गस्य महारसानि
भृशं सुरूपाणि रुचिं ददुर्हि ॥ १४ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वेश्याने उन सब फलोंको छोड़कर स्वयं ऋष्यशृङ्गको अत्यन्त सुन्दर और अमूल्य भक्ष्य पदार्थ (फल आदि) दिये। उन परम सरस फलोंने उनकी रुचिको बढ़ाया ॥ १४ ॥

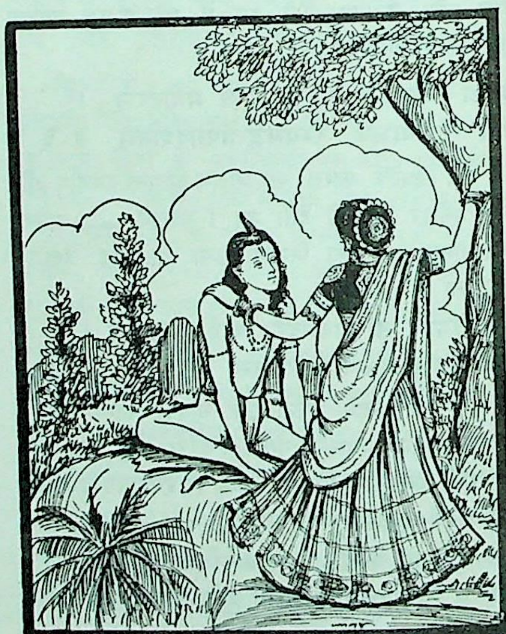
ददौ च माल्यानि सुगन्धवन्ति
चित्राणि वासांसि च भानुमन्ति।
पेयानि चाग्र्याणि ततो मुमोद
चिक्रीड चैव प्रजहास चैव ॥ १५ ॥

सा कन्दुकेनारमतास्य मूले
विभज्यमाना फलिता लतेव।
गात्रैश्च गात्राणि निषेवमाणा
समाश्लिषच्चासकृदृष्यशृङ्गम् ॥ १६ ॥

साथ ही सुगन्धित मालाएँ तथा विचित्र एवं चमकीले वस्त्र प्रदान किये। इतना ही नहीं, उसने मुनिकुमारको अच्छी श्रेणीके पेय पिलाये, जिससे वे बहुत प्रसन्न हुए। वे उसके साथ खेलने और जोर-जोरसे हँसने लगे। वेश्या ऋष्यशृङ्गके पास ही गेंद खेलने लगी। वह अपने अङ्गोंको मोड़ती हुई फलोंके भारसे लदी लताकी भाँति झुक जाती और ऋष्यशृङ्ग मुनिको बार-बार अपने अङ्कमें भर लेती थी। साथ ही अपने अङ्गोंसे उनके अङ्गोंको इस प्रकार दबाती, मानो उनके भीतर समा जायगी ॥ १५-१६ ॥

सर्जानशोकांस्तिलकांश्च वृक्षान्
सुपुष्पितानवनाम्यावभज्य।
विलज्जमानेव मदाभिभूता
प्रलोभयामास सुतं महर्षेः ॥ १७ ॥

वहाँ शाल, अशोक और तिलकके वृक्ष खूब फूले हुए थे। उनकी डालियोंको झुकाकर वह मदोन्मत्त वेश्या लज्जाका नाट्य-सा करती हुई महर्षिके उस पुत्रको लुभाने लगी ॥



अथर्ष्यशृङ्गं विकृतं समीक्ष्य
पुनः पुनः पीड्य च कायमस्य।
अवेक्ष्यमाणा शनकैर्जगाम
कृत्वाग्निहोत्रस्य तदापदेशम् ॥ १८ ॥

ऋष्यशृङ्गकी आकृतिमें किञ्चित् विकार देखकर उसने बार-बार उनके शरीरको आलिङ्गनके द्वारा दबाया और अग्निहोत्रका बहाना बनाकर वह उनके द्वारा देखी जाती हुई धीरे-धीरे वहाँसे चली गयी ॥ १८ ॥

तस्यां गतायां मदनेन मत्तो
विचेतनश्चाभवदृष्यशृङ्गः ।
तामेव भावेन गतेन शून्ये
विनिःश्वसन्नार्तरूपो बभूव ॥ १९ ॥

उसके चले जानेपर उसके अनुरागसे उन्मत्त मुनिकुमार ऋष्यशृङ्ग अचेत-से हो गये। उस निर्जन स्थानमें उनकी मनोवृत्ति उसीकी ओर लगी रही और वे लम्बी साँस खींचते हुए अत्यन्त व्यथित हो उठे ॥ १९ ॥

ततो मुहूर्ताद्धरिपिङ्गलाक्षः
प्रवेष्टितो रोमभिरानखाग्रात् ।
स्वाध्यायवान् वृत्तसमाधियुक्तो
विभाण्डकः काश्यपः प्रादुरासीत् ॥२०॥

तदनन्तर दो घड़ीके बाद हरे-पीले नेत्रोंवाले काश्यपनन्दन विभाण्डक मुनि वहाँ आ पहुँचे। वे सिरसे लेकर पैरोंके नखोंतक रोमावलियोंसे भरे हुए थे। महात्मा विभाण्डक स्वाध्यायशील, सदाचारी तथा समाधिनिष्ठ महर्षि थे ॥ २० ॥

सोऽपश्यदासीनमुपेत्य पुत्रं
ध्यायन्तमेकं विपरीतचित्तम् ।
विनिःश्वसन्तं मुहुरूर्ध्वदृष्टिं
विभाण्डकः पुत्रमुवाच दीनम् ॥ २१ ॥
न कल्प्यन्ते समिधः किं नु तात
कच्चिद्धुतं चाग्निहोत्रं त्वयाद्य ।
सुनिर्णिक्तं स्रुक्स्रुवं होमधेनुः
कच्चित् सवत्साद्य कृता त्वया च ॥ २२ ॥
न वै यथापूर्वमिवासि पुत्र
चिन्तापरश्चासि विचेतनश्च ।
दीनोऽतिमात्रं त्वमिहाद्य किं नु
पृच्छामि त्वां क इहाद्यागतोऽभूत् ॥२३॥

निकट आनेपर उन्होंने अपने पुत्रको अकेला उदासीन भावसे चिन्तामग्न होकर बैठा देखा। उसके चित्तकी दशा विपरीत थी। वह बार-बार ऊपरकी ओर दृष्टि किये उच्छ्वास ले रहा था। इस दयनीय दशामें पुत्रको देखकर विभाण्डक मुनिने पूछा—'तात! आज तुम अग्निकुण्डमें समिधाएँ क्यों नहीं रख रहे हो! क्या तुमने अग्निहोत्र कर लिया? स्रुक् और स्रुवा आदि यज्ञपात्रोंको भली-भाँति शुद्ध करके रक्खा है न? कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि तुमने हवनके लिये दूध देनेवाली गायका बछड़ा खोल दिया हो जिससे वह सारा दूध पी गया हो। बेटा! आज तुम पहले-जैसे दिखायी नहीं देते। किसी भारी चिन्तामें निमग्न हो, अपनी सुध-बुध खो बैठे हो। क्या कारण है जो आज तुम अत्यन्त दीन हो रहे हो। मैं तुमसे पूछता हूँ, बताओ, आज यहाँ कौन आया था?' ॥ २१-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृष्यशृङ्गोपाख्याने एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें ऋष्यशृङ्गोपाख्यानविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

ऋष्यशृङ्गका पिताको अपनी चिन्ताका कारण बताते हुए ब्रह्मचारीरूपधारी वेश्याके स्वरूप और आचरणका वर्णन

ऋष्यशृङ्ग उवाच

इहागतो जटिलो ब्रह्मचारी
न वै ह्रस्वो नातिदीर्घो मनस्वी ।
सुवर्णवर्णः कमलायताक्षः
स्वतः सुराणामिव शोभमानः ॥ १ ॥

ऋष्यशृङ्गने कहा—पिताजी! यहाँ एक जटाधारी ब्रह्मचारी आया था। वह न तो छोटा था और न बहुत बड़ा ही। उसका हृदय बहुत उदार था। उसके शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान थी और बड़ी-बड़ी आँखें कमलोंके सदृश जान पड़ती थीं। वह स्वयं देवताओंके समान सुशोभित हो रहा था ॥ १ ॥

समृद्धरूपः सवितेव दीप्तः
सुशुक्लकृष्णाक्षिरतीव गौरः ।
नीलाः प्रसन्नाश्च जटाः सुगन्धा
हिरण्यरज्जुग्रथिताः सुदीर्घाः ॥ २ ॥

उसका रूप बड़ा सुन्दर था। वह सूर्यदेवकी भाँति उद्भासित हो रहा था। उसके नेत्र स्वच्छ, चिकने एवं कजरारे थे। वह बड़ा गोरा दिखायी देता था। उसकी

जटाएँ बहुत लम्बी, साफ-सुथरी और नीले रंगकी थीं। उनसे बड़ी मधुर गन्ध फैल रही थी। वे सारी जटाएँ एक सुनहरी रस्सीसे गुँथी हुई थीं ॥ २ ॥

आश्चर्यरूपा पुनरस्य कण्ठे
विभ्राजते विद्युदिवान्तरिक्षे।
द्वौ चास्य पिण्डावधरेण कण्ठा-
दजातरोमौ सुमनोहरौ च ॥ ३ ॥

उसके गलेमें एक ऐसा आश्चर्यरूप आभूषण (कण्ठा) था, जो आकाशमें बिजलीकी भाँति चमक रहा था। उसके गलेसे नीचे (वक्षःस्थलपर) दो मांसपिण्ड थे, जिनपर रोएँ नहीं उगे थे। वे अत्यन्त मनोहर जान पड़ते थे ॥ ३ ॥

विलग्नमध्यश्च स नाभिदेशे
कटिश्च तस्यातिकृतप्रमाणा।
तथास्य चीरान्तरतः प्रभाति
हिरण्मयी मेखला मे यथेयम् ॥ ४ ॥

उस ब्रह्मचारीके नाभिदेशके समीप जो शरीरका मध्य भाग था, वह बहुत पतला था और उसका नितम्बभाग अत्यन्त स्थूल था। जैसे मेरे कौपीनके नीचे यह मूँजकी मेखला बँधी है, इसी प्रकार उसके कटि-प्रदेशमें भी एक सोनेकी मेखला (करधनी) थी, जो उसके चीरके भीतरसे चमकती रहती थी॥४॥

अन्यच्च तस्याद्भुतदर्शनीयं
विकूजितं पादयोः सम्प्रभाति।
पाण्योश्च तद्वत् स्वनवन्निबद्धौ
कलापकावक्षमाला यथेयम् ॥ ५ ॥

उसकी अन्य सब बातें भी अद्भुत, एवं दर्शनीय थीं। पैरोंमें (पायलकी) छम-छम ध्वनि बड़ी मधुर प्रतीत होती थी। इसी प्रकार हाथोंकी कलाइयोंमें मेरी इस रुद्राक्षकी मालाकी भाँति उसने दो कलापक (कंगन) बाँध रखे थे, उनसे भी बड़ी मधुर ध्वनि होती रहती थी ॥ ५ ॥

विचेष्टमानस्य च तस्य तानि
कूजन्ति हंसाः सरसीव मत्ताः।
चीराणि तस्याद्भुतदर्शनानि
नेमानि तद्वन्मम रूपवन्ति ॥ ६ ॥

वह ब्रह्मचारी जब तनिक भी चलता-फिरता या हिलता-डुलता था, उस समय उसके आभूषण बड़ी मनोहर झनकार उत्पन्न करते थे, मानो सरोवरमें मतवाले हंस कलरव कर रहे हों। उसके चीर भी अद्भुत दिखायी देते थे। मेरी कौपीनके ये वल्कलवस्त्र वैसे सुन्दर नहीं हैं ॥ ६ ॥

वक्त्रं च तस्याद्भुतदर्शनीयं
प्रव्याहृतं ह्लादयतीव चेतः।
पुंस्कोकिलस्येव च तस्य वाणी
तां शृण्वतो मे व्यथितोऽन्तरात्मा ॥ ७ ॥

उसका मुख भी देखने ही योग्य था। उसकी अद्भुत शोभा थी। ब्रह्मचारीकी एक-एक बात मनको आनन्द-सिन्धुमें निमग्न-सा कर देती थी। उसकी वाणी कोकिलके समान थी, जिसे एकबार सुन लेनेपर अब पुनः सुननेके लिये मेरी अन्तरात्मा व्यथित हो उठी है ॥ ७ ॥

यथा वनं माधवमासि मध्ये
समीरितं श्वसनेनेव भाति।
तथा स भात्युत्तमपुण्यगन्धी
निषेव्यमाणः पवनेन तात ॥ ८ ॥

तात! जैसे माधवमास (वैशाख या वसंत ऋतु) में (सौरभयुक्त मलय-) समीरसे सेवित वन-उपवनकी शोभा होती है, उसी प्रकार पवनदेवसे सेवित वह ब्रह्मचारी उत्तम एवं पवित्र गन्धसे सुवासित और सुशोभित हो रहा था ॥ ८ ॥

सुसंयताश्चापि जटा विषक्ता
द्वैधीकृता नातिसमा ललाटे।
कर्णौ च चित्रैरिव चक्रवाकैः
समावृतौ तस्य सुरूपवद्भिः ॥ ९ ॥

उसकी जटा सटी हुई और अच्छी प्रकार बँधी हुई थी, जो ललाटप्रदेशमें दो भागोंमें विभक्त थी; किंतु बराबर नहीं थी। उसके कुण्डलमण्डित कान सुन्दर एवं विचित्र चक्रवाकोंसे घिरे हुए-से जान पड़ते थे ॥ ९ ॥

तथा फलं वृत्तमथो विचित्रं
समाहरत् पाणिना दक्षिणेन।
तद् भूमिमासाद्य पुनः पुनश्च
समुत्पतत्यद्भुतरूपमुच्चैः ॥ १० ॥

उसके पास एक विचित्र गोलाकार फल (गेंद) था, जिसपर वह अपने दाहिने हाथसे आघात करता था। वह फल (गेंद) पृथ्वीपर जाकर बार-बार ऊँचेकी ओर उछलता था; उस समय उसका रूप अद्भुत दिखायी देता था ॥१०॥

तच्चाभिहत्य परिवर्ततेऽसौ
वातेरितो वृक्ष इवावघूर्णन्।
तं प्रेक्षतः पुत्रमिवामराणां
प्रीतिः परा तात रतिश्च जाता ॥ ११ ॥

उस फल (गेंद) को मारकर वह चारों ओर घूमने लगता था, मानो वृक्ष हवाका झोंका खाकर झूम रहा हो। तात! देवपुत्रके समान उस ब्रह्मचारीको देखते समय मेरे हृदयमें बड़ा प्रेम और आनन्द उमड़ रहा था और मेरी उसके प्रति आसक्ति हो गयी है ॥ ११ ॥

स मे समाश्लिष्य पुनः शरीरं
जटासु गृह्याभ्यवनाम्य वक्त्रम्।
वक्त्रेण वक्त्रं प्रणिधाय शब्दं
चकार तन्मेऽजनयत् प्रहर्षम् ॥ १२ ॥

वह बार-बार मेरे शरीरका आलिङ्गन करके मेरी जटा पकड़ लेता और मेरे मुखको झुकाकर उसपर अपना मुख रख देता था, इस प्रकार मुखसे मुख मिलाकर उससे एक ऐसा शब्द किया, जिसने मेरे हृदयमें अत्यन्त आनन्द उत्पन्न कर दिया ॥ १२ ॥

न चापि पाद्यं बहु मन्यतेऽसौ
फलानि चेमानि मयाऽऽहृतानि ।
एवंव्रतोऽस्मीति च मामवोचत्
फलानि चान्यानि समाददन्मे ॥ १३ ॥

मैंने जो पाद्य अर्पण किया, उसको उसने बहुत महत्त्व नहीं दिया । मेरे दिये हुए ये फल भी उसने स्वीकार नहीं किये और मुझसे कहा—'मेरा ऐसा ही नियम है ।' साथ ही उसने मेरे लिये दूसरे-दूसरे फल दिये ॥ १३ ॥

मयोपयुक्तानि फलानि यानि
नेमानि तुल्यानि रसेन तेषाम् ।
न चापि तेषां त्वगियं यथैषां
साराणि नैषामिव सन्ति तेषाम् ॥ १४ ॥

मैंने उसके दिये हुए जिन फलोंका उपयोग किया है, उनके समान रस हमारे इन फलोंमें नहीं है । उन फलोंके छिलके भी ऐसे नहीं थे, जैसे इन जंगली फलोंके हैं । इन फलोंके गूदे जैसे हैं, वैसे उसके दिये हुए फलोंके नहीं थे (वे सर्वथा विलक्षण थे) ॥ १४ ॥

तोयानि चैवातिरसानि मह्यं
प्रादात् स वै पातुमुदाररूपः ।
पीत्वैव यान्यभ्यधिकः प्रहर्षो
ममाभवद् भूश्चलितेव चासीत् ॥ १५ ॥

उदारताके मूर्तिमान् स्वरूप उस ब्रह्मचारीने मुझे पीनेके लिये अत्यन्त स्वादिष्ट जल भी दिया था । उस जलको पीते ही मेरे हर्षकी सीमा न रही । मुझे यह धरती डोलती-सी जान पड़ने लगी ॥ १५ ॥

इमानि चित्राणि च गन्धवन्ति
माल्यानि तस्योद्ग्रथितानि पट्टैः ।
यानि प्रकीर्येह गतः स्वमेव
स आश्रमं तपसा द्योतमानः ॥ १६ ॥

ये विचित्र सुगन्धित मालाएँ उसीने रेशमी डोरोंसे गूँथकर बनायी थीं, जिन्हें यहाँ बिखेरकर तपस्यासे प्रकाशित होनेवाला वह ब्रह्मचारी अपने आश्रमको चला गया था ॥

गतेन तेनास्मि कृतो विचेता
गात्रं च मे सम्परिदह्यतीव ।
इच्छामि तस्यान्तिकमाशु गन्तुं
तं चेह नित्यं परिवर्तमानम् ॥ १७ ॥

उसके चले जानेसे मैं अचेत हो गया हूँ । मेरा शरीर जलता-सा जान पड़ता है । मैं चाहता हूँ, शीघ्र उसके पास ही चला जाऊँ अथवा वही यहाँ नित्य मेरे पास रहे ॥ १७ ॥

गच्छामि तस्यान्तिकमेव तात
का नाम सा ब्रह्मचर्या च तस्य ।
इच्छाम्यहं चरितुं तेन सार्धं
यथा तपः स चरत्यार्यधर्मा ॥ १८ ॥

पिताजी ! मैं उसीके पास जाता हूँ, देखूँ, उसकी ब्रह्मचर्यकी साधना कैसी है ? वह आर्यधर्मका पालन करनेवाला ब्रह्मचारी जिस प्रकार तप करता है, उसके साथ रहकर मैं भी वैसी ही तपस्या करना चाहता हूँ ॥ १८ ॥

चर्तुं तथेच्छा हृदये ममास्ति
दुनोति चित्तं यदि तं न पश्ये ॥ १९ ॥

वैसा ही तप करनेकी इच्छा मेरे हृदयमें भी है । यदि उसे नहीं देखूँगा तो मेरा यह चित्त संतप्त होता रहेगा १९

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृष्यशृङ्गोपाख्याने द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें ऋष्यशृङ्गोपाख्यानविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

ऋष्यशृङ्गका अङ्गराज लोमपादके यहाँ जाना, राजाका उन्हें अपनी कन्या देना, राजाद्वारा विभाण्डक मुनिका सत्कार तथा उनपर मुनिका प्रसन्न होना

विभाण्डक उवाच

रक्षांसि चैतानि चरन्ति पुत्र
रूपेण तेनाद्भुतदर्शनेन ।
अतुल्यवीर्याण्यभिरूपवन्ति
विघ्नं सदा तपसश्चिन्तयन्ति ॥ १ ॥

विभाण्डकने कहा—बेटा ! इस प्रकार अद्भुत दर्शनीय रूप धारण करके तो राक्षस ही इस वनमें विचरा करते हैं । ये अनुपम पराक्रमी और मनोहर रूप धारण करनेवाले होते हैं तथा ऋषि-मुनियोंकी तपस्यामें सदा विघ्न डालनेका ही उपाय सोचते रहते हैं ॥ १ ॥

सुरूपरूपाणि च तानि तात
प्रलोभयन्ते विविधैरुपायैः ।
सुखाच्च लोकाच्च निपातयन्ति
तान्युग्ररूपाणि मुनीन् वनेषु ॥ २ ॥

तात ! वे मनोहर रूपधारी राक्षस नाना प्रकारके उपायों-द्वारा मुनिलोगोंको प्रलोभनमें डालते रहते हैं । फिर वे ही भयानक रूप धारण करके वनमें निवास करनेवाले मुनियोंको आनन्दमय लोकोंसे नीचे गिरा देते हैं ॥ २ ॥

न तानि सेवेत मुनिर्यतात्मा
सतां लोकान् प्रार्थयानः कथंचित् ।
कृत्वा विघ्नं तापसानां रमन्ते
पापाचारास्तापसस्तान् न पश्येत् ॥ ३ ॥

अतः जो साधु पुरुषोंको मिलनेवाले पुण्यलोकोंको पाना चाहता है, वह मुनि मनको संयममें रखकर उन राक्षसोंका (जो मोहक रूप बनाकर धोखा देनेके लिये आते हैं) किसी प्रकार सेवन न करे । वे पापाचारी निशाचर तपस्वी मुनियोंके तपमें विघ्न डालकर प्रसन्न होते हैं, अतः तपस्वीको चाहिये कि वह उनकी ओर आँख उठाकर देखे ही नहीं ॥

असज्जनेनाचरितानि पुत्र
पापान्यपेयानि मधूनि तानि ।
माल्यानि चैतानि न वै मुनीनां
स्मृतानि चित्रोज्ज्वलगन्धवन्ति ॥ ४ ॥

वत्स ! जिसे तुम जल समझते थे, वह मद्य था । वह पापजनक और अपेय है, उसे कभी नहीं पीना चाहिये । दुष्ट पुरुष उसका उपयोग करते हैं तथा ये विचित्र, उज्ज्वल और सुगन्धित पुष्पमालाएँ भी मुनियोंके योग्य नहीं बतायी गयी हैं ॥ ४ ॥

रक्षांसि तानीति निवार्य पुत्रं
विभाण्डकस्तां मृगयाम्बभूव ।
नासादयामास यदा त्र्यहेण
तदा स पर्याववृतेऽऽश्रमाय ॥ ५ ॥

'ऐसी वस्तुएँ लानेवाले राक्षस ही हैं ।' ऐसा कहकर विभाण्डक मुनिने पुत्रको उससे मिलने-जुलनेसे मना कर दिया और स्वयं उस वेश्याकी खोज करने लगे । तीन दिनों-तक ढूँढ़नेपर भी जब वे उसका पता न लगा सके, तब आश्रमपर लौट आये ॥ ५ ॥

यदा पुनः काश्यपो वै जगाम
फलान्याहर्तुं विधिनाऽऽश्रमात् सः ।
तदा पुनर्लोभयितुं जगाम
सा वेशयोषा मुनिमृष्यश्रृङ्गम् ॥ ६ ॥

जब काश्यपनन्दन विभाण्डक मुनि [illegible] पुनः विधिके अनुसार फल लानेके लिये वनमें गये, तब वह वेश्या ऋष्यश्रृङ्ग मुनिको लुभानेके लिये फिर उनके आश्रमपर आयी ॥ ६ ॥

दृष्ट्वैव तामृष्यश्रृङ्गः प्रहृष्टः
सम्भ्रान्तरूपोऽभ्यपतत् तदानीम् ।
प्रोवाच चैनां भवतः श्रमाय
गच्छाव यावन्न पिता ममेति ॥ ७ ॥

उसे देखते ही ऋष्यश्रृङ्ग मुनि हर्ष-विभोर हो उठे और घबराकर तुरंत उसके पास दौड़ गये । निकट जाकर उन्होंने कहा—'ब्रह्मन् ! मेरे पिताजी जबतक लौटकर नहीं आते, तभीतक मैं और आप—दोनों आपके आश्रमकी ओर चल दें' ॥ ७ ॥

ततो राजन् काश्यपस्यैकपुत्रं
प्रवेश्य योगेन विमुच्य नावम् ।
प्रमोदयन्त्यो विविधैरुपायै-
राजग्मुरङ्गाधिपतेः समीपम् ॥ ८ ॥

राजन् ! तदनन्तर विभाण्डक मुनिके इकलौते पुत्रको युक्तिसे नावमें ले जाकर वेश्याने नाव खोल दी । फिर सभी युवतियाँ भाँति-भाँतिके उपायोंद्वारा उनका मनोरञ्जन करती हुई अङ्गराजके समीप आयीं ॥ ८ ॥

संस्थाप्य तामाश्रमदर्शने तु
संतारितां नावमथातिशुभ्राम् ।
नीरादुपादाय तथैव चक्रे
नाव्याश्रमं नाम वनं विचित्रम् ॥ ९ ॥

नाविकोंद्वारा संचालित उस अत्यन्त उज्ज्वल नौकाको जलसे बाहर निकालकर राजाने एक स्थानपर स्थापित कर दिया और जितनी दूरीसे वह नौकागत आश्रम दिखायी देता था, उतनी दूरीके विस्तृत मैदानमें उन्होंने ऋष्यश्रृङ्ग मुनिके आश्रम-जैसे ही एक विचित्र वनका निर्माण करा दिया, जो 'नाव्याश्रम'के नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ९ ॥

अन्तःपुरे तं तु निवेश्य राजा
विभाण्डकस्यात्मजमेकपुत्रम् ।
ददर्श देवं सहसा प्रवृष्ट-
मापूर्यमाणं च जगज्जलेन ॥ १० ॥

राजा लोमपादने विभाण्डक मुनिके इकलौते पुत्रको महलके भीतर रनवासमें ठहरा दिया और देखा, सहसा उसी क्षण इन्द्रदेवने वर्षा आरम्भ कर दी तथा सारा जगत् जलसे परिपूर्ण हो गया ॥ १० ॥

स लोमपादः परिपूर्णकामः
सुतां ददावृष्यश्रृङ्गाय शान्ताम् ।
क्रोधप्रतीकारकरं च चक्रे
गाश्चैव मार्गेषु च कर्षणानि ॥ ११ ॥

लोमपादकी कामना पूरी हुई। उन्होंने प्रसन्न होकर अपनी पुत्री शान्ता ऋष्यश्रृङ्ग मुनिको ब्याह दी। फिर विभाण्डक मुनिके क्रोधके निवारणका भी उपाय कर दिया। जिस रास्तेसे महर्षि आनेवाले थे, उसमें स्थान-स्थानपर बहुत-से गाय-बैल रखवा दिये और किसानोंद्वारा खेतोंकी जुताई आरम्भ करा दी ॥ ११ ॥

विभाण्डकस्याव्रजतः स राजा
पशून् प्रभूतान् पशुपांश्च वीरान्।
समादिशत् पुत्रगृद्धी महर्षि-
र्विभाण्डकः परिपृच्छेद् यदा वः ॥ १२ ॥
स वक्तव्यः प्राञ्जलिभिर्भवद्भिः
पुत्रस्य ते पशवः कर्षणं च।
किं ते प्रियं वै क्रियतां महर्षे
दासाः स्म सर्वे तव वाचि बद्धाः ॥ १३ ॥

राजाने विभाण्डक मुनिके आगमन-पथमें बहुत-से पशु तथा वीर पशुरक्षक भी नियुक्त कर दिये और सबको यह आदेश दे दिया था कि जब पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाले महर्षि विभाण्डक तुमसे पूछें, तब हाथ जोड़कर उन्हें इस प्रकार उत्तर देना—'ये सब आपके पुत्रके ही पशु हैं, ये खेत भी उन्हींके जोते जा रहे हैं। महर्षे! आज्ञा दें, हम आपका कौन-सा प्रिय कार्य करें। हम सब लोग आपके आज्ञापालक दास हैं' ॥ १२-१३ ॥

अथोपायात् स मुनिश्चण्डकोपः
स्वमाश्रमं मूलफलं गृहीत्वा।
अन्वेषमाणश्च न तत्र पुत्रं
ददर्श चुक्रोध ततो भृशं सः ॥ १४ ॥

इधर प्रचण्ड कोपधारी महात्मा विभाण्डक फल-मूल लेकर अपने आश्रमपर आये। वहाँ बहुत खोज करनेपर भी जब अपना पुत्र उन्हें दिखायी न दिया, तब वे अत्यन्त क्रोधमें भर गये ॥ १४ ॥

ततः स कोपेन विदीर्यमाण
आशङ्कमानो नृपतेर्विधानम्।
जगाम चम्पां प्रति धक्ष्यमाण-
स्तमङ्गराजं सपुरं सराष्ट्रम् ॥ १५ ॥

कोपसे उनका हृदय विदीर्ण-सा होने लगा। उनके मनमें यह संदेह हुआ कि कहीं राजा लोमपादकी तो यह करतूत नहीं है। तब वे चम्पानगरीकी ओर चल दिये, मानो अङ्गराजको उनके राष्ट्र और नगरसहित जला देना चाहते हों ॥ १५ ॥

स वै श्रान्तः क्षुधितः काश्यपस्तान्
घोषान् समासादितवान् समृद्धान्।
गोपैश्च तैर्विधिवत् पूज्यमानो
राजेव तां रात्रिमुवास तत्र ॥ १६ ॥

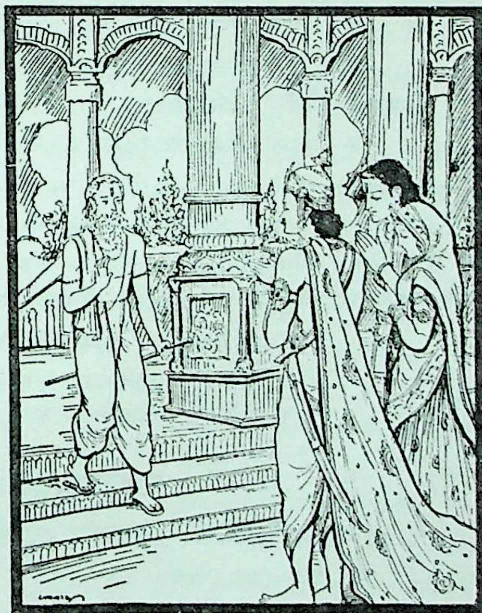
थककर भूखसे पीड़ित होनेपर विभाण्डक मुनि सायंकालमें उन्हीं समृद्धिशाली गोष्ठोंमें गये। गोपगणोंने उनकी विधिपूर्वक पूजा की। वे राजाकी भाँति सुख-सुविधाके साथ वहीं रातभर रहे ॥ १६ ॥

अवाप्य सत्कारमतीव तेभ्यः
प्रोवाच कस्य प्रथिताः स्थ गोपाः।
ऊचुस्ततस्तेऽभ्युपगम्य सर्वे
धनं तवेदं विहितं सुतस्य ॥ १७ ॥

गोपगणोंसे अत्यन्त सत्कार पाकर मुनिने पूछा—'तुम किसके गोपालक हो?' तब उन सबने निकट आकर कहा—'यह सारा धन आपके पुत्रका ही है' ॥ १७ ॥

देशेषु देशेषु स पूज्यमान-
स्तांश्चैव श्रृण्वन् मधुरान् प्रलापान्।
प्रशान्तभूयिष्ठरजाः प्रहृष्टः
समाससादाङ्गपतिं पुरस्थम् ॥ १८ ॥

देश-देशमें सम्मानित हो वे ही मधुर वचन सुनते-सुनते मुनिका रजोगुणजनित अत्यधिक क्रोध बिल्कुल शान्त हो गया। वे प्रसन्नतापूर्वक राजधानीमें जाकर अङ्गराजसे मिले ॥



स पूजितस्तेन नरर्षभेण
ददर्श पुत्रं दिवि देवं यथेन्द्रम्।
शान्तां स्नुषां चैव ददर्श तत्र
सौदामनीमुच्चरन्तीं यथैव ॥ १९ ॥

नरश्रेष्ठ लोमपादसे पूजित हो मुनिने अपने पुत्रको उसी प्रकार ऐश्वर्यसम्पन्न देखा, जैसे देवराज इन्द्र स्वर्गलोकमें देखे जाते हैं। पुत्रके पास ही उन्होंने बहू शान्ताको भी देखा, जो विद्युत्के समान उद्भासित हो रही थी ॥ १९ ॥

ग्रामांश्च घोषांश्च सुतस्य दृष्ट्वा
शान्तां च शान्तोऽस्य परः स कोपः।
चकार तस्यैव परं प्रसादं
विभाण्डको भूमिपतेर्नरेन्द्र ॥ २० ॥

अपने पुत्रके अधिकारमें आये हुए ग्राम, घोष और बहू शान्ताको देखकर उनका महान् कोप शान्त हो गया। युधिष्ठिर ! उस समय विभाण्डक मुनिने राजा लोमपादपर बड़ी कृपा की ॥ २० ॥

स तत्र निक्षिप्य सुतं महर्षि-
रुवाच सूर्याग्निसमप्रभावः।
जाते च पुत्रे वनमेवाव्रजेथा
राज्ञः प्रियाण्यस्य सर्वाणि कृत्वा॥ २१ ॥

सूर्य और अग्निके समान प्रभावशाली महर्षिने अपने पुत्रको वहीं छोड़ दिया और कहा—'बेटा ! पुत्र उत्पन्न हो जानेपर इन अङ्गराजके सारे प्रिय कार्य सिद्ध करके फिर वनमें ही आ जाना' ॥ २१ ॥

स तद्वचः कृतवानृष्यशृङ्गो
ययौ च यत्रास्य पिता बभूव।
शान्ता चैनं पर्यचरन्नरेन्द्र
खे रोहिणी सोममिवानुकूला ॥ २२ ॥

ऋष्यशृङ्गने पिताकी आज्ञाका अक्षरशः पालन किया। अन्तमें वे पुनः उसी आश्रममें चले गये, जहाँ उनके पिता रहते थे। नरेन्द्र ! शान्ता उसी प्रकार अनुकूल रहकर उनकी सेवा करती थी, जैसे आकाशमें रोहिणी चन्द्रमाकी सेवा करती है ॥ २२ ॥

अरुन्धती वा सुभगा वसिष्ठं
लोपामुद्रा वा यथा ह्यगस्त्यम्।
नलस्य वै दमयन्ती यथाभूद्
यथा शची वज्रधरस्य चैव ॥ २३ ॥

अथवा जैसे सौभाग्यशालिनी अरुन्धती वसिष्ठजीकी, लोपामुद्रा अगस्त्यजीकी, दमयन्ती नलकी तथा शची वज्रधारी इन्द्रकी सेवा करती है ॥ २३ ॥

नारायणी चेन्द्रसेना बभूव
वश्या नित्यं मुद्गलस्याजमीढ।
(यथा सीता दाशरथेर्महात्मनो
यथा तव द्रौपदी पाण्डुपुत्र।)
तथा शान्ता ऋष्यशृङ्गं वनस्थं
प्रीत्या युक्ता पर्यचरन्नरेन्द्र ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर! जैसे नारायणी इन्द्रसेना सदा महर्षि मुद्गलके अधीन रहती थी तथा पाण्डुनन्दन ! जैसे सीता महात्मा दशरथनन्दन श्रीरामके अधीन रही हैं और द्रौपदी सदा तुम्हारे वशमें रहती आयी है, उसी प्रकार शान्ता भी सदा अधीन रहकर वनवासी ऋष्यशृङ्गकी प्रसन्नतापूर्वक सेवा करती थी ॥२४॥

तस्याश्रमः पुण्य एषोऽवभाति
महाह्रदं शोभयन् पुण्यकीर्तिः।
अत्र स्नातः कृतकृत्यो विशुद्ध-
स्तीर्थान्यन्यान्यनुसंयाहि राजन् ॥२५॥

उनका यह पुण्यमय आश्रम, जो पवित्र कीर्तिसे युक्त है, इस महान् कुण्डकी शोभा बढ़ाता हुआ प्रकाशित हो रहा है, राजन् ! यहाँ स्नान करके शुद्ध एवं कृतकृत्य होकर अन्य तीर्थोंकी यात्रा करो ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृष्यशृङ्गोपाख्याने त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें ऋष्यशृङ्गोपाख्यानविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका आधा श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका कौशिकी, गङ्गासागर एवं वैतरणीनदी होते हुए महेन्द्रपर्वतपर गमन

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयातः कौशिक्याः पाण्डवो जनमेजय।
आनुपूर्व्येण सर्वाणि जगामायतनान्यथ ॥ १ ॥
स सागरं समासाद्य गङ्गायाः संगमे नृप।
नदीशतानां पञ्चानां मध्ये चक्रे समाप्लवम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने कौशिकी नदीके तटवर्ती सभी तीर्थों और मन्दिरोंकी क्रमशः यात्रा की। राजन् ! उन्होंने गङ्गा-सागरसङ्गमतीर्थमें समुद्रतटपर पहुँचकर पाँच सौ नदियोंके जलमें स्नान किया ॥ १-२ ॥

ततः समुद्रतीरेण जगाम वसुधाधिपः।
भ्रातृभिः सहितो वीरः कलिङ्गान् प्रति भारत ॥ ३ ॥

भारत ! तत्पश्चात् वीर भूपाल युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ कलिङ्ग देश (उड़ीसा) में गये ॥ ३ ॥

लोमश उवाच

एते कलिङ्गाः कौन्तेय यत्र वैतरणी नदी ।
यत्रायजत धर्मोऽपि देवाञ्छरणमेत्य वै ॥ ४ ॥

तब लोमशजीने कहा—कुन्तीकुमार ! यह कलिङ्ग देश है, जिसमें वैतरणी नदी बहती है। जहाँ धर्मने भी देवताओंकी शरणमें जाकर यज्ञ किया था ॥ ४ ॥

ऋषिभिः समुपायुक्तं यज्ञियं गिरिशोभितम् ।
उत्तरं तीरमेतद्धि सततं द्विजसेवितम् ॥ ५ ॥

यह पर्वतमालाओंसे सुशोभित वैतरणीका वही उत्तर तट है, जहाँ यज्ञका आयोजन किया गया था। बहुत-से ऋषि तथा ब्राह्मणलोग सदा इस उत्तर तटका सेवन करते आये हैं॥

समानं देवयानेन पथा स्वर्गमुपेयुषः ।
अत्र वै ऋषयोऽन्येऽपि पुरा क्रतुभिरीजिरे ॥ ६ ॥

स्वर्गलोककी प्राप्ति करनेवाले पुण्यात्मा मनुष्यके लिये यह स्थान 'देवयान' मार्गके समान है। प्राचीन कालमें ऋषियों तथा अन्य लोगोंने भी यहाँ बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ ६ ॥

अत्रैव रुद्रो राजेन्द्र पशुमादत्तवान् मखे ।
पशुमादाय राजेन्द्र भागोऽयमिति चाब्रवीत् ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! यहीं रुद्रदेवने यज्ञमें पशुको ग्रहण कर लिया था। उस पशुको ग्रहण करके उन्होंने कहा—'यह तो मेरा हिस्सा है' ॥ ७ ॥

हृते पशौ तदा देवास्तमूचुर्भरतर्षभ ।
मा परस्वमभिद्रोग्धा मा धर्मान् सकलान् वशीः ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पशुका अपहरण हो जानेपर देवताओंने उनसे कहा—'आप दूसरोंके धनसे द्रोह न करें (दूसरोंके हिस्सेको न लें) धर्मके साधनभूत समस्त यज्ञभागोंको लेनेकी इच्छा न करें'॥८॥

ततः कल्याणरूपाभिर्वाग्भिस्ते रुद्रमस्तुवन् ।
इष्ट्या चैनं तर्पयित्वा मानयांचक्रिरे तदा ॥ ९ ॥

यों कहकर उन्होंने कल्याणमय वचनोंद्वारा भगवान् रुद्रका स्तवन किया और इष्टिद्वारा उन्हें तृप्त करके उस समय उनका विशेष सम्मान किया ॥ ९ ॥

ततः स पशुमुत्सृज्य देवयानेन जग्मिवान् ।
तत्रानुवंशो रुद्रस्य तं निबोध युधिष्ठिर ॥ १० ॥

तब वे उस पशुको वहीं छोड़कर देवयान-मार्गसे चले गये। युधिष्ठिर ! यज्ञमें भगवान् रुद्रकी भागपरम्पराका बोधक एक श्लोक है, उसे बताता हूँ, सुनो—॥ १० ॥

अयातयामं सर्वेभ्यो भागेभ्यो भागमुत्तमम् ।
देवाः संकल्पयामासुर्भयाद् रुद्रस्य शाश्वतम् ॥ ११ ॥

'देवताओंने रुद्रदेवके भयसे उनके लिये शीघ्र ही सब भागोंकी अपेक्षा उत्तम एवं सनातन भाग देनेका संकल्प किया' ॥ ११ ॥

इमां गाथामत्र गायन्नपः स्पृशति यो नरः ।
देवयानोऽस्य पन्थाश्च चक्षुषाभिप्रकाशते ॥ १२ ॥

जो मनुष्य यहाँ इस गाथाका गान करते हुए वैतरणीके जलका स्पर्श करता है, उसकी दृष्टिमें देवयान-मार्ग प्रकाशित हो जाता है ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो वैतरणीं सर्वे पाण्डवा द्रौपदी तथा ।
अवतीर्य महाभागास्तर्पयांचक्रिरे पितॄन् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर महान् भाग्यशाली समस्त पाण्डवों और द्रौपदीने वैतरणीके जलमें उतरकर अपने पितरोंका तर्पण किया ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

उपस्पृश्येह विधिवदस्यां नद्यां तपोबलात् ।
मानुषादस्मि विषयादपेतः पश्य लोमश ॥ १४ ॥

उस समय युधिष्ठिर बोले—लोमशजी ! देखिये, इस वैतरणी नदीमें विधिपूर्वक स्नान करनेसे मुझे तपोबल प्राप्त हुआ है, जिसके प्रभावसे मैं मानवीय विषयोंसे दूर हो गया हूँ ॥ १४ ॥

सर्वाँल्लोकान् प्रपश्यामि प्रसादात् तव सुव्रत ।
वैखानसानां जपतामेष शब्दो महात्मनाम् ॥ १५ ॥

सुव्रत ! आपकी कृपासे इस समय मुझे सम्पूर्ण लोकोंका दर्शन हो रहा है। यह जप और स्वाध्यायमें लगे हुए महात्मा वैखानस ऋषियोंका शब्द है ॥ १५ ॥

लोमश उवाच

त्रिशतं वै सहस्राणि योजनानां युधिष्ठिर ।
यत्र ध्वनिं शृणोष्येनं तूष्णीमास्स्व विशाम्पते ॥ १६ ॥

लोमशजीने कहा—राजा युधिष्ठिर ! जहाँसे आती हुई इस ध्वनिको तुम सुन रहे हो, वह स्थान यहाँसे तीन लाख योजन दूर है; अतः अब चुप रहो ॥ १६ ॥

एतत् स्वयम्भुवो राजन् वनं दिव्यं प्रकाशते ।
यत्रायजत राजेन्द्र विश्वकर्मा प्रतापवान् ॥ १७ ॥

राजन् ! यह ब्रह्माजीका दिव्य वन प्रकाशित हो रहा है; राजेन्द्र ! यहीं प्रतापी विश्वकर्माने यज्ञ किया है ॥ १७ ॥

यस्मिन् यज्ञे हि भूर्दत्ता कश्यपाय महात्मने ।
सपर्वतवनोद्देशा दक्षिणार्थे स्वयम्भुवा ॥ १८ ॥

उस यज्ञमें ब्रह्माजीने पर्वत और वनप्रान्तसहित यह सारी पृथ्वी महात्मा कश्यपको दक्षिणारूपमें दे दी थी ॥ १८॥

अवासीदच्च कौन्तेय दत्तमात्रा मही तदा।
उवाच चापि कुपिता लोकेश्वरमिदं प्रभुम् ॥ १९ ॥
न मां मर्त्याय भगवन् कस्मैचिद् दातुमर्हसि।
प्रदानं मोघमेतत् ते यास्याम्येषा रसातलम् ॥ २० ॥

कुन्तीकुमार ! उनके द्वारा अपना दान होते ही पृथ्वी बहुत दुखी हो गयी और कुपित हो लोकनाथ प्रभु ब्रह्मासे इस प्रकार बोली—'भगवन् ! आप मुझे किसी मनुष्यको न सौंपें। यदि मुझे मनुष्यको सौंपेंगे तो वह व्यर्थ होगा, क्योंकि मैं अभी रसातलको चली जाऊँगी' ॥ १९-२० ॥

विषीदन्तीं तु तां दृष्ट्वा कश्यपो भगवानृषिः।
प्रसादयाम्बभूवाथ ततो भूमिं विशाम्पते ॥ २१ ॥

राजन् ! पृथ्वी देवीको विषाद करती देख महर्षि भगवान् कश्यपने प्रार्थनाद्वारा उन्हें प्रसन्न किया ॥ २१ ॥

ततः प्रसन्ना पृथिवी तपसा तस्य पाण्डव।
पुनरुन्नह्य सलिलाद् वेदीरूपा स्थिता बभौ ॥ २२ ॥

पाण्डुनन्दन ! उनकी तपस्यासे प्रसन्न हुई पृथ्वी पुनः जलसे ऊपर उठकर वेदीके रूपमें स्थित हो गयी ॥ २२ ॥

सैषा प्रकाशते राजन् वेदी संस्थानलक्षणा।
आरुह्यात्र महाराज वीर्यवान् वै भविष्यसि ॥ २३ ॥

राजन् ! वह पृथ्वी देवी ही यहाँ इस मिट्टीकी वेदीके रूपमें प्रकाशित हो रही है। महाराज ! इसपर आरुढ़ होकर तुम बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो जाओगे ॥ २३ ॥

सैषा सागरमासाद्य राजन् वेदी समाश्रिता।
एतामारुह्य भद्रं ते त्वमेकस्तर सागरम् ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर ! वही यह वेदीस्वरूपा पृथ्वी समुद्रका आश्रय लेकर स्थित है; तुम्हारा कल्याण हो। तुम अकेले ही इसपर चढ़कर समुद्रको पार करो ॥ २४ ॥

अहं च ते स्वस्त्ययनं प्रयोक्ष्ये
यथा त्वमेनामधिरोहसेऽद्य।
स्पृष्टा हि मर्त्येन ततः समुद्र-
मेषा वेदी प्रविशत्याजमीढ ॥ २५ ॥

मैं तुम्हारे लिये स्वस्तिवाचन करूँगा, जिससे तुम आज इस वेदीपर चढ़ सको; अजमीढकुलनन्दन ! नहीं तो मनुष्यके द्वारा स्पर्श हो जानेपर यह वेदी समुद्रमें प्रवेश कर जाती है ॥

ॐ नमो विश्वगुप्ताय नमो विश्वपराय ते।
सांनिध्यं कुरु देवेश सागरे लवणाम्भसि ॥ २६ ॥

(समुद्रमें स्नान करते समय उसकी प्रार्थनाके लिये निम्नाङ्कित मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये—) जिनमें यह सम्पूर्ण विश्व लीन होता है तथा जो सबसे श्रेष्ठ हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है। देवेश्वर ! आप खारे समुद्रमें निवास करें ॥ २६ ॥

अग्निर्मित्रो योनिरापोऽथ देव्यो
विष्णो रेतस्त्वममृतस्य नाभिः।
एवं ब्रुवन् पाण्डव सत्यवाक्यं
वेदीमिमां त्वं तरसाधिरोह ॥ २७ ॥

'हे समुद्र ! अग्नि, मित्र (सूर्य) और दिव्य जल—ये सब तुम्हारी योनि (उत्पत्ति-कारण) हैं। तुम सर्वव्यापी परमात्माके रेतस् (वीर्य या शक्ति) हो और तुम्हीं अमृतकी उत्पत्तिके स्थान हो।' पाण्डुनन्दन ! इस सत्य वाक्यका उच्चारण करते हुए तुम शीघ्रतापूर्वक इस वेदीपर आरूढ हो जाओ ॥ २७ ॥

अग्निश्च ते योनिरिडा च देहो
रेतोधा विष्णोरमृतस्य नाभिः।
एवं जपन् पाण्डव सत्यवाक्यं
ततोऽवगाहेत पतिं नदीनाम् ॥ २८ ॥

'हे महासागर ! अग्नि तुम्हारी योनि (कारण) है और यज्ञ शरीर है, तुम भगवान् विष्णुकी शक्तिके आधार और मोक्षके साधन हो।' पाण्डुपुत्र ! इस सत्य वचनको बोलते हुए नदियोंके स्वामी समुद्रमें स्नान करना चाहिये ॥ २८ ॥

अन्यथा हि कुरुश्रेष्ठ देवयोनिरपां पतिः।
कुशाग्रेणापि कौन्तेय न स्प्रष्टव्यो महोदधिः ॥ २९ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जलका स्वामी समुद्र देवताओंका अधिष्ठान है। कुन्तीनन्दन ! ऊपर बतायी हुई रीतिके सिवा, दूसरे किसी प्रकारसे इस महासागरका कुशके अग्रभागद्वारा भी स्पर्श नहीं करना चाहिये ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कृतस्वस्त्ययनो महात्मा
युधिष्ठिरः सागरमभ्यगच्छत्।
कृत्वा च तच्छासनमस्य सर्वं
महेन्द्रमासाद्य निशामुवास ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर लोमशजीके स्वस्तिवाचन करनेके पश्चात् महात्मा राजा युधिष्ठिरने उनकी बतायी हुई सारी विधियोंका पालन करते हुए समुद्रमें स्नान करनेके लिये प्रवेश किया। इसके बाद महेन्द्रपर्वतपर जाकर रात्रि बितायी ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां महेन्द्राचलगमने चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें महेन्द्राचलगमनविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

अकृतव्रणके द्वारा युधिष्ठिरसे परशुरामजीके उपाख्यानके प्रसङ्गमें ऋचीक मुनिका गाधिकन्या-के साथ विवाह और भृगुऋषिकी कृपासे जमदग्निकी उत्पत्तिका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

स तत्र तामुषित्वैकां रजनीं पृथिवीपतिः।
तापसानां परं चक्रे सत्कारं भ्रातृभिः सह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस पर्वतपर एक रात निवास करके भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरने तपस्वी मुनियोंका बहुत सत्कार किया ॥ १ ॥

लोमशस्तस्य तान् सर्वानाचख्यौ तत्र तापसान्।
भृगूनङ्गिरसश्चैव वसिष्ठानथ काश्यपान् ॥ २ ॥

लोमशजीने युधिष्ठिरसे उन सभी तपस्वी महात्माओंका परिचय कराया। उनमें भृगु, अङ्गिरा, वसिष्ठ तथा कश्यप-गोत्रके अनेक संत महात्मा थे ॥ २ ॥

तान् समेत्य स राजर्षिरभिवाद्य कृताञ्जलिः।
रामस्यानुचरं वीरमपृच्छदकृतव्रणम् ॥ ३ ॥
कदा तु रामो भगवांस्तापसान् दर्शयिष्यति।
तेनैवाहं प्रसंगेन द्रष्टुमिच्छामि भार्गवम् ॥ ४ ॥

उन सबसे मिलकर राजर्षि युधिष्ठिरने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया और परशुरामजीके सेवक वीरवर अकृतव्रणसे पूछा—'भगवान् परशुरामजी इन तपस्वी महात्माओंको कब दर्शन देंगे ? उसी निमित्तसे मैं भी उन भगवान् भार्गवका दर्शन करना चाहता हूँ' ॥ ३-४ ॥

अकृतव्रण उवाच

आयानेवासि विदितो रामस्य विदितात्मनः।
प्रीतिस्त्वयि च रामस्य क्षिप्रं त्वां दर्शयिष्यति ॥ ५ ॥
चतुर्दशीमष्टमीं च रामं पश्यन्ति तापसाः।
अस्यां रात्र्यां व्यतीतायां भवित्री श्वश्चतुर्दशी ॥ ६ ॥

अकृतव्रणने कहा—राजन् ! आत्मज्ञानी परशुरामजीको पहले ही यह ज्ञात हो गया था कि आप आ रहे हैं। आपपर उनका बहुत प्रेम है, अतः वे शीघ्र ही आपको दर्शन देंगे। ये तपस्वीलोग प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमीको परशुरामजीका दर्शन करते हैं। आजकी रात बीत जानेपर कल सबेरे चतुर्दशी हो जायगी ॥ ५-६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भवाननुगतो रामं जामदग्न्यं महाबलम्।
प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य पूर्ववृत्तस्य कर्मणः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मुने ! आप महाबली परशुरामजी-के अनुगत भक्त हैं। उन्होंने पहले जो-जो कार्य किये हैं, उन सबको आपने प्रत्यक्ष देखा है ॥ ७ ॥

स भवान् कथयत्वद्य यथा रामेण निर्जिताः।
आहवे क्षत्रियाः सर्वे कथं केन च हेतुना ॥ ८ ॥

अतः हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि परशुरामजीने किस प्रकार और किस कारणसे समस्त क्षत्रियोंको युद्धमें पराजित किया था। आप वह सब वृत्तान्त आज मुझे बताइये ॥ ८ ॥

अकृतव्रण उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम्।
भृगूणां राजशार्दूल वंशे जातस्य भारत ॥ ९ ॥

अकृतव्रणने कहा—भरतकुलभूषण नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! भृगुवंशी परशुरामजीकी कथा बहुत बड़ी और उत्तम है, मैं आपसे उसका वर्णन करूँगा ॥ ९ ॥

रामस्य जामदग्न्यस्य चरितं देवसम्मितम्।
हैहयाधिपतेश्चैव कार्तवीर्यस्य भारत ॥ १० ॥

भारत ! जमदग्निकुमार परशुराम तथा हैहयराज कार्त-वीर्यका चरित्र देवताओंके तुल्य है ॥ १० ॥

रामेण चार्जुनो नाम हैहयाधिपतिर्हतः।
तस्य बाहुशतान्यासंस्त्रीणि सप्त च पाण्डव ॥ ११ ॥

पाण्डुनन्दन ! परशुरामजीने अर्जुन नामसे प्रसिद्ध जिस हैहयराज कार्तवीर्यका वध किया था, उसके एक हजार भुजाएँ थीं ॥ ११ ॥

दत्तात्रेयप्रसादेन विमानं काञ्चनं तथा।
ऐश्वर्यं सर्वभूतेषु पृथिव्यां पृथिवीपते ॥ १२ ॥

पृथ्वीपते ! श्रीदत्तात्रेयजीकी कृपासे उसे एक सोनेका विमान मिला था और भूतलके सभी प्राणियोंपर उसका प्रभुत्व था ॥ १२ ॥

अव्याहतगतिश्चैव रथस्तस्य महात्मनः।
रथेन तेन तु सदा वरदानेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥
ममर्द देवान् यक्षांश्च ऋषींश्चैव समन्ततः।
भूतांश्चैव स सर्वांस्तु पीडयामास सर्वतः ॥ १४ ॥

महामना कार्तवीर्यके रथकी गतिको कोई भी रोक नहीं सकता था। उस रथ और वरके प्रभावसे शक्तिसम्पन्न हुआ कार्तवीर्य अर्जुन सब ओर घूमकर सदा देवताओं, यक्षों तथा ऋषियोंको रौंदता फिरता था और सम्पूर्ण प्राणियोंको भी सब प्रकारसे पीड़ा देता था ॥ १३-१४ ॥

ततो देवाः समेत्याहुर्ऋषयश्च महाव्रताः ।
देवदेवं सुरारिघ्नं विष्णुं सत्यपराक्रमम् ॥ १५ ॥
भगवन् भूतरक्षार्थमर्जुनं जहि वै प्रभो ।
विमानेन च दिव्येन हैहयाधिपतिः प्रभुः ॥ १६ ॥
शचीसहायं क्रीडन्तं धर्षयामास वासवम् ।
ततस्तु भगवान् देवः शक्रेण सहितस्तदा ।
कार्तवीर्यविनाशार्थं मन्त्रयामास भारत ॥ १७ ॥

कार्तवीर्यका ऐसा अत्याचार देख देवता तथा महान् व्रतका पालन करनेवाले ऋषि मिलकर दैत्योंका विनाश करनेवाले सत्यपराक्रमी देवाधिदेव भगवान् विष्णुके पास जा इस प्रकार बोले—'भगवन् ! आप समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये कृतवीर्यकुमार अर्जुनका वध कीजिये।' एक दिन शक्तिशाली हैहयराजने दिव्य विमानद्वारा शचीके साथ क्रीड़ा करते हुए देवराज इन्द्रपर आक्रमण किया। भारत ! तब भगवान् विष्णुने कार्तवीर्य अर्जुनका नाश करनेके सम्बन्धमें इन्द्रके साथ विचार-विनिमय किया ॥ १५–१७ ॥

यत् तद् भूतहितं कार्यं सुरेन्द्रेण निवेदितम् ।
सम्प्रतिश्रुत्य तत् सर्वं भगवाँल्लोकपूजितः ॥ १८ ॥
जगाम बदरीं रम्यां स्वमेवाश्रममण्डलम् ।

समस्त प्राणियोंके हितके लिये जो कार्य करना आवश्यक था, उसे देवेन्द्रने बताया। तत्पश्चात् विश्ववन्दित भगवान् विष्णुने वह सब कार्य करनेकी प्रतिज्ञा करके अत्यन्त रमणीय बदरीतीर्थकी यात्रा की, जहाँ उनका अपना ही विस्तृत आश्रम था ॥ १८½ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु पृथिव्यां पृथिवीपतिः ॥ १९ ॥
कान्यकुब्जे महानासीत् पार्थिवः सुमहाबलः ।
गाधीति विश्रुतो लोके वनवासं जगाम ह ॥ २० ॥
वने तु तस्य वसतः कन्या जज्ञेऽप्सरःसमा ।
ऋचीको भार्गवस्तां च वरयामास भारत ॥ २१ ॥

इसी समय इस भूतलपर कान्यकुब्ज देशमें एक महाबली महाराज शासन करते थे, जो गाधिके नामसे विख्यात थे। वे राजधानी छोड़कर वनमें गये और वहीं रहने लगे। उनके वनवासकालमें ही एक कन्या उत्पन्न हुई, जो अप्सराके समान सुन्दरी थी। भारत ! विवाहके योग्य होनेपर भृगुपुत्र ऋचीक मुनिने उसका वरण किया ॥ १९–२१ ॥

तमुवाच ततो गाधिर्ब्राह्मणं संशितव्रतम् ।
उचितं नः कुले किंचित् पूर्वैर्यत् सम्प्रवर्तितम् ॥ २२ ॥
एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम् ।
सहस्रं वाजिनां शुल्कमिति विद्धि द्विजोत्तम ॥ २३ ॥

उस समय राजा गाधिने कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्रह्मर्षि ऋचीकसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! हमारे कुलमें पूर्वजोंने जो कुछ शुल्क लेनेका नियम चला रक्खा है, उसका पालन करना हमलोगोंके लिये भी उचित है। अतः आप यह जान लें कि इस कन्याके लिये एक सहस्र वेगशाली अश्व शुल्करूपमें देने पड़ेंगे, जिनके शरीरका रंग तो सफेद और पीला मिला हुआ-सा और कान एक ओरसे काले रंगके हों ॥

न चापि भगवान् वाच्यो दीयतामिति भार्गव ।
देया मे दुहिता चैव त्वद्विधाय महात्मने ॥ २४ ॥

'भृगुनन्दन ! आप कोई निन्दनीय तो हैं नहीं, यह शुल्क चुका दीजिये, फिर आप-जैसे महात्माको मैं अवश्य अपनी कन्या ब्याह दूँगा' ॥ २४ ॥

ऋचीक उवाच

एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम् ।
दास्याम्यश्वसहस्रं ते मम भार्या सुतास्तु ते ॥ २५ ॥

ऋचीक बोले– राजन् ! मैं आपको एक ओरसे श्याम कर्णवाले पाण्डुरंगके वेगशाली अश्व एक हजारकी संख्यामें अर्पित करूँगा। आपकी पुत्री मेरी धर्मपत्नी बने ॥

अकृतव्रण उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय राजन् वरुणमब्रवीत् ।
एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम् ॥ २६ ॥
सहस्रं वाजिनामेकं शुल्कार्थं मे प्रदीयताम् ।
तस्मै प्रादात् सहस्रं वै वाजिनां वरुणस्तदा ॥ २७ ॥

अकृतव्रण कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार शुल्क देनेकी प्रतिज्ञा करके ऋचीक मुनिने वरुणके पास जाकर कहा—'देव ! मुझे शुल्कमें देनेके लिये एक हजार ऐसे अश्व प्रदान करें, जिनके शरीरका रंग पाण्डुर और कान एक ओरसे श्याम हों। साथ ही वे सभी अश्व तीव्रगामी होने चाहिये।' उस समय वरुणने उनकी इच्छाके अनुसार एक हजार श्यामकर्ण घोड़े दे दिये ॥ २६-२७ ॥

तदश्वतीर्थं विख्यातमुत्थिता यत्र ते हयाः ।
गङ्गायां कान्यकुब्जे वै ददौ सत्यवतीं तदा ॥ २८ ॥
ततो गाधिः सुतां चास्मै जन्याश्चासन् सुरास्तदा ।
लब्ध्वा हयसहस्रं तु तांश्च दृष्ट्वा दिवौकसः ॥ २९ ॥

जहाँ वे श्यामकर्ण घोड़े प्रकट हुए थे, वह स्थान अश्वतीर्थके नामसे विख्यात हुआ। तत्पश्चात् राजा गाधिने शुल्करूपमें एक हजार श्यामकर्ण घोड़े प्राप्त करके गङ्गातटपर कान्यकुब्ज नगरमें ऋचीक मुनिको अपनी पुत्री सत्यवती ब्याह दी ! उस समय देवता बराती बने थे। देवता उन सबको देखकर वहाँसे चले गये ॥ २८-२९ ॥

धर्मेण लब्ध्वा तां भार्यामृचीको द्विजसत्तमः ।
यथाकामं यथाजोषं तया रेमे सुमध्यया ॥ ३० ॥

विप्रवर ऋचीकने धर्मपूर्वक सत्यवतीको पत्नीरूपमें प्राप्त करके उस सुन्दरीके साथ अपनी इच्छाके अनुसार सुखपूर्वक रमण किया ॥ ३० ॥

तं विवाहे कृते राजन् सभार्यमवलोककः ।
आजगाम भृगुः श्रेष्ठं पुत्रं दृष्ट्वा ननन्द ह ॥ ३१ ॥

राजन्! विवाह करनेके पश्चात् पत्नीसहित ऋचीकको देखनेके लिये महर्षि भृगु उनके आश्रमपर आये और अपने श्रेष्ठ पुत्रको विवाहित देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३१ ॥

भार्यापती तमासीनं गुरुं सुरगणार्चितम् ।
अर्चित्वा पर्युपासीनौ प्राञ्जली तस्थतुस्तदा ॥ ३२ ॥

उन दोनों पति-पत्नीने पवित्र आसनपर विराजमान देववृन्दवन्दित गुरु (पिता एवं श्वशुर) का पूजन किया और उनकी उपासनामें संलग्न हो वे हाथ जोड़े खड़े रहे ॥ ३२ ॥

ततः स्नुषां स भगवान् प्रहृष्टो भृगुरब्रवीत् ।
वरं वृणीष्व सुभगे दाता ह्यस्मि तवेप्सितम् ॥ ३३ ॥

भगवान् भृगुने अत्यन्त प्रसन्न होकर अपनी पुत्रवधूसे कहा—'सौभाग्यवती बहू! कोई वर माँगो, मैं तुम्हारी इच्छाके अनुरूप वर प्रदान करूँगा' ॥ ३३ ॥



सा वै प्रसादयामास तं गुरुं पुत्रकारणात् ।
आत्मनश्चैव मातुश्च प्रसादं च चकार सः ॥ ३४ ॥

सत्यवतीने श्वशुरको अपने और अपनी माताके लिये पुत्र-प्राप्तिका उद्देश्य रखकर प्रसन्न किया। तब भृगुजीने उसपर कृपादृष्टि की ॥ ३४ ॥

भृगुरुवाच

ऋतौ त्वं चैव माता च स्नाते पुंसवनाय वै ।
आलिङ्गेतां पृथग् वृक्षौ साश्वत्थं त्वमुदुम्बरम् ॥ ३५ ॥

भृगुजी बोले—बहू! ऋतुकालमें स्नान करनेके पश्चात् तुम और तुम्हारी माता पुत्र-प्राप्तिके उद्देश्यसे दो भिन्न-भिन्न वृक्षोंका आलिङ्गन करो। तुम्हारी माता तो पीपलका और तुम गूलरका आलिङ्गन करना ॥ ३५ ॥

चरुद्वयमिदं भद्रे जनन्याश्च तवैव च ।
विश्वमावर्तयित्वा तु मया यत्नेन साधितम् ॥ ३६ ॥

भद्रे! मैंने विराट् पुरुष परमात्माका चिन्तन करके तुम्हारे और तुम्हारी माताके लिये यत्नपूर्वक दो चरु तैयार किये हैं ॥

प्राशितव्यं प्रयत्नेन चेत्युक्त्वादर्शनं गतः ।
आलिङ्गने चरौ चैव चक्रतुस्ते विपर्ययम् ॥ ३७ ॥

तुम दोनों प्रयत्नपूर्वक अपने-अपने चरुका भक्षण करना ऐसा कहकर भृगुजी अन्तर्धान हो गये। इधर सत्यवती और उसकी माताने वृक्षोंके आलिङ्गन और चरु-भक्षणमें उलट-फेर कर दिया ॥ ३७ ॥

ततः पुनः स भगवान् काले बहुतिथे गते ।
दिव्यज्ञानाद् विदित्वा तु भगवानागतः पुनः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर बहुत दिन बीतनेपर भगवान् भृगु अपनी दिव्य ज्ञानशक्तिसे सब बातें जानकर पुनः वहाँ आये ॥ ३८ ॥

अथोवाच महातेजा भृगुः सत्यवतीं स्नुषाम् ।
उपयुक्तश्चरुर्भद्रे वृक्षे चालिङ्गनं कृतम् ॥ ३९ ॥
विपरीतेन ते सुभ्रूर्मात्रा चैवासि वञ्चिता ।
ब्राह्मणः क्षत्रवृत्तिर्वै तव पुत्रो भविष्यति ॥ ४० ॥

उस समय महातेजस्वी भृगु अपनी पुत्रवधू सत्यवतीसे बोले—'भद्रे! तुमने जो चरुभक्षण और वृक्षोंका आलिङ्गन किया है, उसमें उलट-फेर करके तुम्हारी माताने तुम्हें ठग लिया। सुभ्रू! इस भूलके कारण तुम्हारा पुत्र ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियोचित आचार-विचारवाला होगा ॥ ३९-४० ॥

क्षत्रियो ब्राह्मणाचारो मातुस्तव सुतो महान् ।
भविष्यति महावीर्यः साधूनां मार्गमास्थितः ॥ ४१ ॥

'और तुम्हारी माताका पुत्र क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणोचित आचार-विचारका पालन करनेवाला होगा। वह महापराक्रमी बालक साधु-महात्माओंके मार्गका अवलम्बन करेगा' ॥ ४१ ॥

ततः प्रसादयामास श्वशुरं सा पुनः पुनः ।
न मे पुत्रो भवेदीदृक कामं पौत्रो भवेदिति ॥ ४२ ॥

तब सत्यवतीने बारंबार प्रार्थना करके पुनः अपने श्वसुरको प्रसन्न किया और कहा—'भगवन् ! मेरा पुत्र ऐसा न हो। भले ही, पौत्र क्षत्रियस्वभावका हो जाय' ॥ ४२ ॥

एवमस्त्विति सा तेन पाण्डच प्रतिनन्दिता।
जमदग्निं ततः पुत्रं जज्ञे सा काल आगते ॥ ४३ ॥

पाण्डुनन्दन ! तब 'एवमस्तु' कहकर भृगुजीने अपनी पुत्रवधूका अभिनन्दन किया। तत्पश्चात् प्रसवका समय आनेपर सत्यवतीने जमदग्निनामक पुत्रको जन्म दिया ॥ ४३ ॥

तेजसा वर्चसा चैव युक्तं भार्गवनन्दनम्।
स वर्धमानस्तेजस्वी वेदस्याध्ययनेन च ॥ ४४ ॥
बहूनृषीन् महातेजाः पाण्डवेयात्यवर्तत।

भार्गवनन्दन जमदग्नि तेज और ओज (बल) दोनोंसे सम्पन्न थे। युधिष्ठिर ! बड़े होनेपर महातेजस्वी जमदग्नि मुनि वेदाध्ययनद्वारा अन्य बहुत-से ऋषियोंसे आगे बढ़ गये ॥ ४४½ ॥

तं तु कृत्स्नो धनुर्वेदः प्रत्यभाद् भरतर्षभ।
चतुर्विधानि चास्त्राणि भास्करोपमवर्चसम् ॥ ४५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! सूर्यके समान तेजस्वी जमदग्निकी बुद्धिमें सम्पूर्ण धनुर्वेद और चारों प्रकारके अस्त्र स्वतः स्फुरित हो गये ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्तवीर्योपाख्याने पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमश-तीर्थयात्राके प्रसंगमें कार्तवीर्योपाख्यानविषयक एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

पिताकी आज्ञासे परशुरामजीका अपनी माताका मस्तक काटना और उन्हींके वरदानसे पुनः जिलाना, परशुरामजीद्वारा कार्तवीर्य-अर्जुनका वध और उसके पुत्रोंद्वारा जमदग्नि मुनिकी हत्या

अकृतव्रण उवाच

स वेदाध्ययने युक्तो जमदग्निर्महातपाः।
तपस्तेपे ततो देवान् नियमाद् वशमानयत् ॥ १ ॥

अकृतव्रण कहते हैं—राजन् ! महातपस्वी जमदग्निने वेदाध्ययनमें तत्पर होकर तपस्या आरम्भ की। तदनन्तर शौच-संतोषादि नियमोंका पालन करते हुए उन्होंने सम्पूर्ण देवताओंको अपने वशमें कर लिया* ॥ १ ॥

स प्रसेनजितं राजन्नधिगम्य नराधिपम्।
रेणुकां वरयामास स च तस्मै ददौ नृपः ॥ २ ॥

युधिष्ठिर ! फिर राजा प्रसेनजित्के पास जाकर जमदग्नि मुनिने उनकी पुत्री रेणुकाके लिये याचना की और राजाने मुनिको अपनी कन्या ब्याह दी ॥ २ ॥

रेणुकां त्वथ सम्प्राप्य भार्यां भार्गवनन्दनः।
आश्रमस्थस्तया सार्धं तपस्तेपेऽनुकूलया ॥ ३ ॥

भृगुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले जमदग्नि राजकुमारी रेणुकाको पत्नीरूपमें पाकर आश्रमपर ही रहते हुए उसके साथ तपस्या करने लगे। रेणुका सदा सब प्रकारसे पतिके अनुकूल चलनेवाली स्त्री थी ॥ ३ ॥

तस्याः कुमाराश्चत्वारो जज्ञिरे रामपञ्चमाः।
सर्वेषामजघन्यस्तु राम आसीज्जघन्यजः ॥ ४ ॥

उसके गर्भसे क्रमशः चार पुत्र हुए, फिर पाँचवें पुत्र परशुरामजीका जन्म हुआ। अवस्थाकी दृष्टिसे भाइयोंमें छोटे होनेपर भी वे गुणोंमें उन सबसे बढ़े-चढ़े थे ॥ ४ ॥

फलाहारेषु सर्वेषु गतेष्वथ सुतेषु वै।
रेणुका स्नातुमगमत् कदाचिन्नियतव्रता ॥ ५ ॥

एक दिन जब सब पुत्र फल लानेके लिये वनमें चले गये, तब नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाली रेणुका स्नान करनेके लिये नदी-तटपर गयी ॥ ५ ॥

सा तु चित्ररथं नाम मार्तिकावतकं नृपम्।
ददर्श रेणुका राजन्नागच्छन्तीं यदृच्छया ॥ ६ ॥

---

* यहाँ कुछ प्रतियोंमें 'देवान्' की जगह 'वेदान्' पाठ मिलता है। उस दशामें यह अर्थ होगा कि 'वेदोंको वशमें कर लिया।' परंतु वेदोंको वशमें करनेकी बात असंगत-सी लगती है। देवताओंको वशमें करना ही सुसंगत जान पड़ता है, इसलिये हमने 'देवान्' यही पाठ रखा है। काश्मीरकी देवनागरी लिपिवाली हस्तलिखित पुस्तकमें यहाँ तीन श्लोक अधिक मिलते हैं। उनसे भी 'देवान्' पाठका ही समर्थन होता है। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

तं तप्यमानं ब्रह्मर्षिमूचुर्देवाः सबान्धवाः।
किमर्थं तप्यसे ब्रह्मन् कः कामः प्रार्थितस्तव ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच देवान् ब्रह्मर्षिसत्तमः।
स्वर्गहेतोस्तपस्तप्ये लोकाश्च स्युर्ममाक्षयाः ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य तदा देवास्तमूचिरे।
नासंततेर्भवेल्लोकः कृत्वा धर्मशतान्यपि ॥
स श्रुत्वा वचनं तेषां त्रिदशानां कुरूद्वह ॥

इन श्लोकोंद्वारा देवताओंके प्रकट होकर वरदान देनेका प्रसंग सूचित होता है, अतः '…ततो देवान् नियमाद् वशमानयत्' यही पाठ ठीक है।

क्रीडन्तं सलिले दृष्ट्वा सभार्यं पद्ममालिनम् ।
ऋद्धिमन्तं ततस्तस्य स्पृहयामास रेणुका ॥ ७ ॥

राजन् ! जब वह स्नान करके लौटने लगी, उस समय अकस्मात् उसकी दृष्टि मार्तिकावत देशके राजा चित्ररथपर पड़ी, जो कमलोंकी माला धारण करके अपनी पत्नीके साथ जलमें क्रीड़ा कर रहा था । उस समृद्धिशाली नरेशको उस अवस्थामें देखकर रेणुकाने उसकी इच्छा की ॥ ६-७ ॥

व्यभिचाराच्च तस्मात् सा क्लिन्नाम्भसि विचेतना ।
प्रविवेशाश्रमं त्रस्ता तां वै भर्तान्वबुध्यत ॥ ८ ॥

उस समय इस मानसिक विकारसे द्रवित हुई रेणुका जलमें बेहोश-सी हो गयी । फिर त्रस्त होकर उसने आश्रमके भीतर प्रवेश किया । परंतु पतिदेव उसकी सब बातें जान गये ॥८॥

स तां दृष्ट्वा च्युतां धैर्याद् ब्राह्म्या लक्ष्म्या विवर्जिताम् ।
धिक्छब्देन महातेजा गर्हयामास वीर्यवान् ॥ ९ ॥

उसे धैर्यसे च्युत और ब्रह्मतेजसे वञ्चित हुई देख उन महातेजस्वी शक्तिशाली महर्षिने धिक्कारपूर्ण वचनोंद्वारा उसकी निन्दा की ॥ ९ ॥

ततो ज्येष्ठो जामदग्न्यो रुमण्वान् नाम नामतः ।
आजगाम सुषेणश्च वसुर्विश्वावसुस्तथा ॥ १० ॥

इसी समय जमदग्निके ज्येष्ठ पुत्र रुमण्वान् वहाँ आ गये । फिर क्रमशः सुषेण, वसु और विश्वावसु भी आ पहुँचे ॥

तानानुपूर्व्याद् भगवान् वधे मातुरचोदयत् ।
न च ते जातसंस्नेहाः किंचिदूचुर्विचेतसः ॥ ११ ॥

भगवान् जमदग्निने बारी-बारीसे उन सभी पुत्रोंको यह आज्ञा दी कि तुम अपनी माताका वध कर डालो, परंतु मातृस्नेह उमड़ आनेसे वे कुछ भी बोल न सके--बेहोश-से खड़े रहे ॥ ११ ॥

ततः शशाप तान् क्रोधात् ते शप्ताश्चेतनां जहुः ।
मृगपक्षिसधर्माणः क्षिप्रमासञ्जडोपमाः ॥ १२ ॥

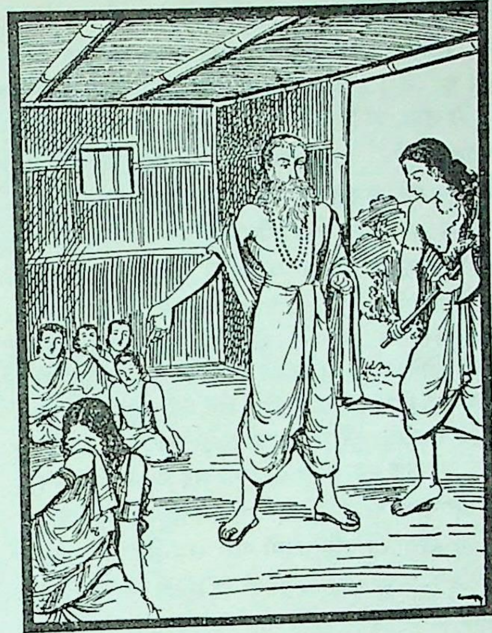
तब महर्षिने कुपित हो उन सब पुत्रोंको शाप दे दिया । शापग्रस्त होनेपर वे अपनी चेतना (विचार-शक्ति) खो बैठे और तुरंत मृग एवं पक्षियोंके समान जड बुद्धि हो गये ॥

ततो रामोऽभ्ययात् पश्चादाश्रमं परवीरहा ।
तमुवाच महाबाहुर्जमदग्निर्महातपाः ॥ १३ ॥

तदनन्तर शत्रुपक्षके वीरोंका संहार करनेवाले परशुरामजी सबसे पीछे आश्रमपर आये । उस समय महातपस्वी महाबाहु जमदग्निने उनसे कहा—॥ १३ ॥

जहीमां मातरं पापां मा च पुत्र व्यथां कृथाः ।
तत आदाय परशुं रामो मातुः शिरोऽहरत् ॥ १४ ॥

'बेटा ! अपनी इस पापिनी माताको अभी मार डालो और



इसके लिये मनमें किसी प्रकारका खेद न करो ।'

तब परशुरामजीने फरसा लेकर उसी क्षण माताका मस्तक काट डाला ॥ १४ ॥

ततस्तस्य महाराज जमदग्नेर्महात्मनः ।
कोपोऽभ्यगच्छत् सहसा प्रसन्नश्चाब्रवीदिदम् ॥ १५ ॥

महाराज ! इससे महात्मा जमदग्निका कोप सहसा शान्त हो गया और उन्होंने प्रसन्न होकर कहा--॥ १५ ॥

ममेदं वचनात् तात कृतं ते कर्म दुष्करम् ।
वृणीष्व कामान् धर्मज्ञ यावतो वाञ्छसे हृदा ॥ १६ ॥
स वव्रे मातुरुत्थानमस्मृतिं च वधस्य वै ।
पापेन तेन चास्पर्शं भ्रातॄणां प्रकृतिं तथा ॥ १७ ॥
अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे दीर्घमायुश्च भारत ।
ददौ च सर्वान् कामांस्ताञ्जमदग्निर्महातपाः ॥ १८ ॥

'तात ! तुमने मेरे कहनेसे वह कार्य किया है, जिसे करना दूसरोंके लिये बहुत कठिन है । तुम धर्मके ज्ञाता हो । तुम्हारे मनमें जो-जो कामनाएँ हों, उन सबको माँग लो ।' तब परशुरामजीने कहा—'पिताजी, मेरी माता जीवित हो उठें, उन्हें मेरेद्वारा मारे जानेकी बात याद न रहे, वह मानस-पाप उनका स्पर्श न कर सके, मेरे चारों भाई स्वस्थ हो जायँ, युद्धमें मेरा सामना करनेवाला कोई न हो और मैं बड़ी आयु प्राप्त करूँ ।' भारत ! महातपस्वी जमदग्निने वरदान देकर उनकी वे सभी कामनाएँ पूर्ण कर दीं ॥ १६-१८ ॥

कदाचित् तु तथैवास्य विनिष्क्रान्ताः सुताः प्रभो।
अथानूपपतिर्वीरः कार्तवीर्योऽभ्यवर्तत ॥ १९ ॥

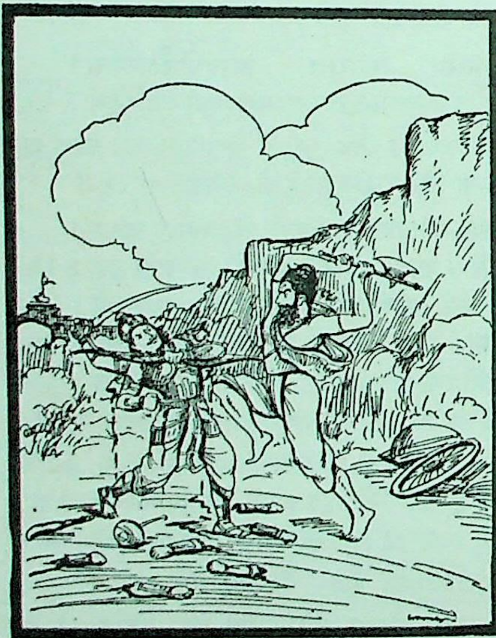
युधिष्ठिर ! एक दिन इसी तरह उनके सब पुत्र बाहर गये हुए थे। उसी समय अनूपदेशका वीर राजा कार्तवीर्य अर्जुन उधर आ निकला ॥ १९ ॥

तमाश्रमपदं प्राप्तमृषेर्भार्या समार्चयत्।
स युद्धमदसम्मत्तो नाभ्यनन्दत् तथार्चनम् ॥ २० ॥
प्रमथ्य चाश्रमात् तस्माद्धोमधेनोस्तथा बलात्।
जहार वत्सं क्रोशन्त्या बभञ्ज च महाद्रुमान् ॥ २१ ॥

आश्रममें आनेपर ऋषिपत्नी रेणुकाने उसका यथोचित आतिथ्य-सत्कार किया। कार्तवीर्य अर्जुन युद्धके मदसे उन्मत्त हो रहा था। उसने उस सत्कारको आदरपूर्वक ग्रहण नहीं किया। उलटे मुनिके आश्रमको तहस-नहस करके वहाँसे डकराती हुई होमधेनुके बछड़ेको बलपूर्वक हर लिया और आश्रमके बड़े-बड़े वृक्षोंको भी तोड़ डाला ॥ २०-२१ ॥

आगताय च रामाय तदाचष्ट पिता स्वयम्।
गां च रोरुदतीं दृष्ट्वा कोपो रामं समाविशत् ॥ २२ ॥

जब परशुरामजी आश्रममें आये, तब स्वयं जमदग्निने उनसे सारी बातें कहीं। बारंबार डकराती हुई होमकी धेनुपर भी उनकी दृष्टि पड़ी। इससे वे अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ २२ ॥



स मृत्युवशमापन्नं कार्तवीर्यमुपाद्रवत्।
तस्याथ युधि विक्रम्य भार्गवः परवीरहा ॥ २३ ॥
चिच्छेद निशितैर्भल्लैर्बाहून् परिघसंनिभान्।
सहस्रसम्मितान् राजन् प्रगृह्य रुचिरं धनुः ॥ २४ ॥

और कालके वशीभूत हुए कीर्तवीर्य अर्जुनपर धावा बोल दिया। शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भृगुनन्दन परशुरामजीने अपना सुन्दर धनुष ले युद्धमें महान् पराक्रम दिखाकर पैने बाणों-द्वारा उसकी परिघसदृश सहस्र भुजाओंको काट डाला ॥

अभिभूतः स रामेण संयुक्तः कालधर्मणा।
अर्जुनस्याथ दायादा रामेण कृतमन्यवः ॥ २५ ॥

इस प्रकार परशुरामजीसे परास्त हो कार्तवीर्य अर्जुन कालके गालमें चला गया। पिताके मारे जानेसे अर्जुनके पुत्र परशुरामजीपर कुपित हो उठे ॥ २५ ॥

आश्रमस्थं विना रामं जगदग्निमुपाद्रवन्।
ते तं जघ्नुर्महावीर्यमयुध्यन्तं तपस्विनम् ॥ २६ ॥

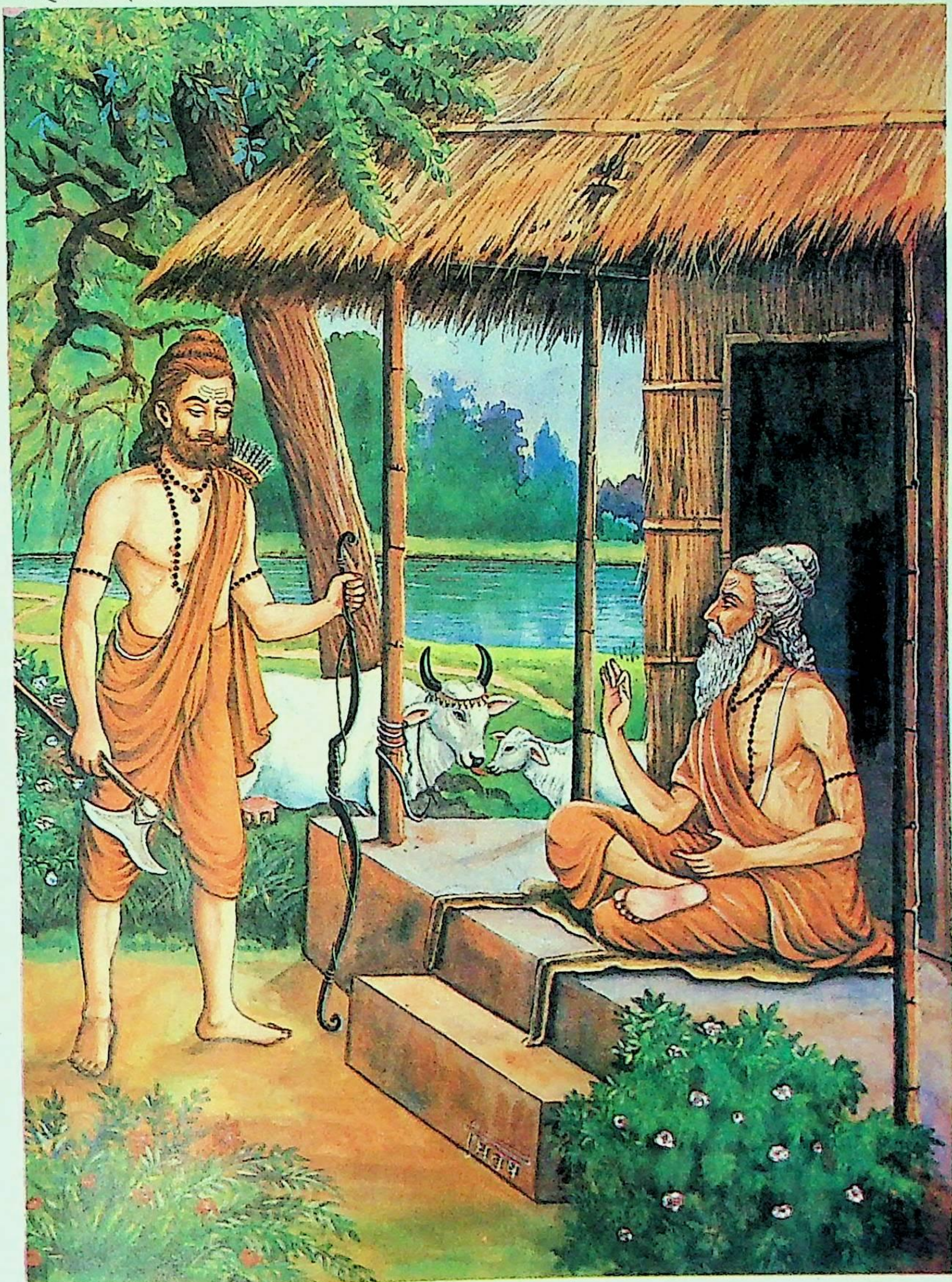
और एक दिन परशुरामजीकी अनुपस्थितिमें जब आश्रमपर केवल जमदग्निजी ही रह गये थे, वे उन्हींपर चढ़ आये। यद्यपि जमदग्निजी महान् शक्तिशाली थे तो भी तपस्वी ब्राह्मण होनेके कारण युद्धमें प्रवृत्त नहीं हुए। इस दशामें भी कार्तवीर्यके पुत्र उनपर प्रहार करने लगे ॥ २६ ॥

असकृद् रामरामेति विक्रोशन्तमनाथवत्।
कार्तवीर्यस्य पुत्रास्तु जमदग्निं युधिष्ठिर ॥ २७ ॥
पीडयित्वा शरैर्जग्मुर्यथागतमरिंदमाः।
अपक्रान्तेषु वै तेषु जमदग्नौ तथा गते ॥ २८ ॥
समित्पाणिरुपागच्छदाश्रमं भृगुनन्दनः।
स दृष्ट्वा पितरं वीरस्तथा मृत्युवशं गतम्।
अनर्हन्तं तथाभूतं विललाप सुदुःखितः ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर ! वे महर्षि अनाथकी भाँति 'राम ! राम !!' की रट लगा रहे थे, उसी अवस्थामें कार्तवीर्य अर्जुनके पुत्रोंने उन्हें बाणोंसे घायल करके मार डाला। इस प्रकार मुनिकी हत्या करके वे शत्रुसंहारक क्षत्रिय जैसे आये थे, उसी प्रकार लौट गये। जमदग्निके इस तरह मारे जानेके बाद जब वे कार्तवीर्य-पुत्र भाग गये, तब भृगुनन्दन परशुरामजी हाथोंमें समिधा लिये आश्रममें आये। वहाँ अपने पिताको इस प्रकार दुर्दशापूर्वक मरा देख उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उनके पिता इस प्रकार मारे जानेके योग्य कदापि नहीं थे, परशुरामजी उन्हें याद करके विलाप करने लगे ॥ २७–२९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्तवीर्योपाख्याने जमदग्निवधे षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें कार्तवीर्योपाख्यानमें जमदग्निवधविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११६ ॥



जमदग्निका परशुरामसे कार्तवीर्य-अर्जुनका अपराध बताना

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

परशुरामजीका पिताके लिये विलाप और पृथ्वीको इक्कीस बार निःक्षत्रिय करना एवं महाराज युधिष्ठिरके द्वारा परशुरामजीका पूजन

राम उवाच

ममापराधात् तैः क्षुद्रैर्हतस्त्वं तात बालिशैः।
कार्तवीर्यस्य दायादैर्वने मृग इवेषुभिः॥ १॥

परशुरामजी बोले—हा तात! मेरे अपराधका बदला लेनेके लिये कार्तवीर्यके उन नीच और पामर पुत्रोंने वनमें बाणोंद्वारा मारे जानेवाले मृगकी भाँति आपकी हत्या की है॥ १॥

धर्मज्ञस्य कथं तात वर्तमानस्य सत्पथे।
मृत्युरेवंविधो युक्तः सर्वभूतेष्वनागसः॥ २॥

पिताजी! आप तो धर्मज्ञ होनेके साथ ही सन्मार्गपर चलनेवाले थे, कभी किसी भी प्राणीके प्रति कोई अपराध नहीं करते थे, फिर आपकी ऐसी मृत्यु कैसे उचित हो सकती है?॥ २॥



किं नु तैर्न कृतं पापं यैर्भवांस्तपसि स्थितः।
अयुध्यमानो वृद्धः सन् हतः शरशतैः शितैः॥ ३॥

आप तपस्यामें संलग्न, युद्धसे विरत और वृद्ध थे तो भी जिन्होंने सैकड़ों तीखे बाणोंद्वारा आपकी हत्या की है, उन्होंने कौन-सा पाप नहीं किया?॥ ३॥

किं नु ते तत्र वक्ष्यन्ति सचिवेषु सुहृत्सु च।
अयुध्यमानं धर्मज्ञमेकं हत्वानपत्रपाः॥ ४॥

वे निर्लज्ज राजकुमार युद्धसे दूर रहनेवाले आप-जैसे धर्मज्ञ एवं असहाय पुरुषको मारकर अपने सुहृदों और मन्त्रियोंके सामने क्या कहेंगे?॥ ४॥

विलप्यैवं सकरुणं बहु नानाविधं नृप।
प्रेतकार्याणि सर्वाणि पितुश्चक्रे महातपाः॥ ५॥
ददाह पितरं चाग्नौ रामः परपुरंजयः।
प्रतिजज्ञे वधं चापि सर्वक्षत्रस्य भारत॥ ६॥

राजन्! इस प्रकार भाँति-भाँतिसे अत्यन्त करुणाजनक विलाप करके शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले महातपस्वी परशुरामजीने अपने पिताके समस्त प्रेतकर्म किये। भारत! पहले तो उन्होंने विधिपूर्वक अग्निमें पिताका दाह-संस्कार किया, तत्पश्चात् सम्पूर्ण क्षत्रियोंके वधकी प्रतिज्ञा की॥ ५-६॥

संक्रुद्धोऽतिबलः संख्ये शस्त्रमादाय वीर्यवान्।
जघ्निवान् कार्तवीर्यस्य सुतानेकोऽन्तकोपमः॥ ७॥

अत्यन्त बलवान् एवं पराक्रमी परशुरामजी क्रोधके आवेशमें साक्षात् यमराजके समान हो गये। उन्होंने युद्धमें शस्त्र लेकर अकेले ही कार्तवीर्यके सब पुत्रोंको मार डाला॥ ७॥

तेषां चानुगता ये च क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ।
तांश्च सर्वानवामृद्नाद् रामः प्रहरतां वरः॥ ८॥

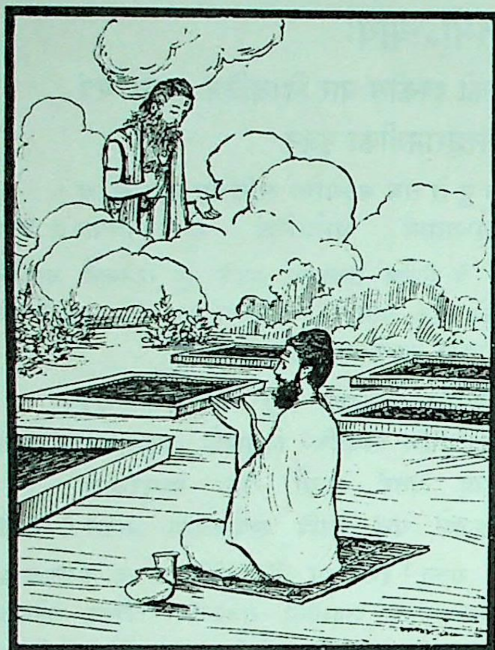
क्षत्रियशिरोमणे! उस समय जिन-जिन क्षत्रियोंने उनका साथ दिया, उन सबको भी योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामजीने मिट्टीमें मिला दिया॥ ८॥

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रुधिरह्रदान्॥ ९॥

इस प्रकार भगवान् परशुरामने इस पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे सूनी करके उनके रक्तसे समन्तपञ्चक क्षेत्रमें पाँच रुधिर-कुण्ड भर दिये॥ ९॥

स तेषु तर्पयामास भृगून् भृगुकुलोद्वहः।
साक्षाद् ददर्श चर्चीकं स च रामं न्यवारयत्॥ १०॥

भृगुकुलभूषण रामने उन कुण्डोंमें भृगुवंशी पितरोंका तर्पण किया और उस समय साक्षात् प्रकट हुए महर्षि ऋचीकको देखा। उन्होंने परशुरामको इस घोर कर्मसे रोका॥ १०॥



ततो यज्ञेन महता जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
तर्पयामास देवेन्द्रमृत्विग्भ्यः प्रददौ महीम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर प्रतापी जमदग्निकुमारने एक महान् यज्ञ करके देवराज इन्द्रको तृप्त किया तथा ऋत्विजोंको दक्षिणा-रूपमें भूमि दी ॥ ११ ॥

वेदीं चाप्यददद्धैमीं कश्यपाय महात्मने ।
दशव्यामायतां कृत्वा नवोत्सेधां विशाम्पते ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर ! उन्होंने महात्मा कश्यपको एक सोनेकी वेदी प्रदान की, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई दस-दस व्याम (चालीस-चालीस हाथ) की थी। ऊँचाईमें भी वह वेदी नौ व्याम (छत्तीस हाथ) की थी ॥ १२ ॥

तां कश्यपस्यानुमते ब्राह्मणाः खण्डशस्तदा ।
व्यभजंस्ते तदा राजन् प्रख्याताः खाण्डवायनाः ॥ १३ ॥

राजन् ! उस समय कश्यपजीकी आज्ञासे ब्राह्मणोंने उस स्वर्णवेदीको खण्ड-खण्ड करके बाँट लिया, अतः वे खाण्डवायन नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ १३ ॥

स प्रदाय महीं तस्मै कश्यपाय महात्मने ।
अस्मिन् महेन्द्रे शैलेन्द्रे वसत्यमितविक्रमः ॥ १४ ॥

इस प्रकार सारी पृथ्वी महात्मा कश्यपको देकर अमित पराक्रमी परशुरामजी इस पर्वतराज महेन्द्रपर निवास करते हैं ॥ १४ ॥

एवं वैरमभूत् तस्य क्षत्रियैर्लोकवासिभिः ।
पृथिवी चापि विजिता रामेणामिततेजसा ॥ १५ ॥

इस तरह उनका सम्पूर्ण जगत्के क्षत्रियोंके साथ वैर हुआ था और उसी समय अमित तेजस्वी परशुरामजीने सारी पृथ्वी जीती थी ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततश्चतुर्दशीं रामः समयेन महामनाः ।
दर्शयामास तान् विप्रान् धर्मराजं च सानुजम् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर चतुर्दशी तिथिको निश्चित समयपर महामना परशुरामजीने उस पर्वतपर रहनेवाले उन ब्राह्मणों तथा भाइयोंसहित युधिष्ठिरको दर्शन दिया ॥ १६ ॥

स तमानर्च राजेन्द्र भ्रातृभिः सहितः प्रभुः ।
द्विजानां च परां पूजां चक्रे नृपतिसत्तमः ॥ १७ ॥

राजेन्द्र ! उस समय प्रभावशाली नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिरने भाइयोंके साथ श्रद्धापूर्वक भगवान् परशुरामकी पूजा की तथा अन्य ब्राह्मणोंका भी बहुत आदर-सत्कार किया ॥१७॥

अर्चित्वा जामदग्न्यं स पूजितस्तेन चोदितः ।
महेन्द्र उष्य तां रात्रिं प्रययौ दक्षिणामुखः ॥ १८ ॥

जमदग्निनन्दन परशुरामजीकी पूजा करके स्वयं भी उनके द्वारा सम्मानित हो वे उन्हींकी आज्ञासे उस रातको महेन्द्रपर्वतपर ही रहे, फिर सबेरे उठकर दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्तवीर्योपाख्याने सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें कार्तवीर्योपाख्यानविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका विभिन्न तीर्थोंमें होते हुए प्रभासक्षेत्रमें पहुँचकर तपस्यामें प्रवृत्त होना और यादवोंका पाण्डवोंसे मिलना

वैशम्पायन उवाच

गच्छन् स तीर्थानि महानुभावः
पुण्यानि रम्याणि ददर्श राजा ।
सर्वाणि विप्रैरुपशोभितानि
क्वचित् क्वचिद् भारत सागरस्य ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! आगे जाते

हुए महानुभाव राजा युधिष्ठिरने समुद्रतटके समस्त पुण्य तीर्थोंका दर्शन किया। वे सभी तीर्थ परम मनोहर थे। उनमें कहीं-कहीं ब्राह्मणलोग निवास करते थे, जिससे उन तीर्थोंकी बड़ी शोभा होती थी ॥ १ ॥

स वृत्तवांस्तेषु कृताभिषेकः
सहानुजः पार्थिवपुत्रपौत्रः।
समुद्रगां पुण्यतमां प्रशस्तां
जगाम पारिक्षित पाण्डुपुत्रः ॥ २ ॥

परीक्षितनन्दन ! सदाचारी पाण्डुकुमार युधिष्ठिर कश्यपपुत्र सूर्यदेवके पौत्र थे (क्योंकि उनकी उत्पत्ति सूर्यकुमार धर्मसे हुई थी)। वे भाइयोंसहित उन तीर्थोंमें स्नान करके समुद्रगामिनी पुण्यमयी प्रशस्ता नदीके तटपर गये ॥ २ ॥

तत्रापि चाप्लुत्य महानुभावः
संतर्पयामास पितॄन् सुरांश्च।
द्विजातिमुख्येषु धनं विसृज्य
गोदावरीं सागरगामगच्छत् ॥ ३ ॥

महानुभाव युधिष्ठिरने वहाँ भी स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण किया तथा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको धन दान करके सागरगामिनी गोदावरी नदीकी ओर प्रस्थान किया ॥ ३ ॥

ततो विपाप्मा द्रविडेषु राजन्
समुद्रमासाद्य च लोकपुण्यम्।
अगस्त्यतीर्थं च महापवित्रं
नारीतीर्थान्यथ वीरो ददर्श ॥ ४ ॥

जनमेजय ! गोदावरीमें स्नान करके पवित्र हो वे वहाँसे द्रविड़देशमें घूमते हुए संसारके पुण्यमय तीर्थ समुद्रके तटपर गये। वहाँ स्नानादि करनेके पश्चात् वीर पाण्डुकुमारने आगे बढ़कर परम पवित्र अगस्त्य-तीर्थ तथा नारी-तीर्थों[१]का दर्शन किया ॥ ४ ॥

तत्रार्जुनस्याग्र्यधनुर्धरस्य
निशम्य तत् कर्म नरैरशक्यम्।
सम्पूज्यमानः परमर्षिसङ्घैः
परां मुदं पाण्डुसुतः स लेभे ॥ ५ ॥
स तेषु तीर्थेष्वभिषिक्तगात्रः
कृष्णासहायः सहितोऽनुजैश्च।
सम्पूजयन् विक्रममर्जुनस्य
रेमे महीपाल पतिः पृथिव्याः ॥ ६ ॥

वहाँ श्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुनके उस पराक्रमको, जो दूसरे मनुष्योंके लिये असम्भव था, सुनकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई। उन तीर्थोंमें बड़े-बड़े ऋषिगण भी उनका सत्कार करते थे। जनमेजय ! द्रौपदी तथा भाइयोंके साथ राजा युधिष्ठिरने उन पाँचों तीर्थोंमें स्नान करके अर्जुनके पराक्रमकी प्रशंसा करते हुए बड़े हर्षका अनुभव किया ॥ ५-६ ॥

ततः सहस्राणि गवां प्रदाय
तीर्थेषु तेष्वम्बुधरोत्तमस्य।
हृष्टः सह भ्रातृभिरर्जुनस्य
संकीर्तयामास गवां प्रदानम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर समुद्रतटवर्ती उन सभी तीर्थोंमें सहस्रों गोदान करके भाइयोंसहित युधिष्ठिरने प्रसन्नतापूर्वक अर्जुनके द्वारा किये हुए गोदानका बारंबार वर्णन किया ॥ ७ ॥

स तानि तीर्थानि च सागरस्य
पुण्यानि चान्यानि बहूनि राजन्।
क्रमेण गच्छन् परिपूर्णकामः
शूर्पारकं पुण्यतमं ददर्श ॥ ८ ॥

राजन् ! समुद्र-सम्बन्धी तथा अन्य बहुत-से पुण्य तीर्थोंमें क्रमशः भ्रमण करते हुए पूर्णकाम राजा युधिष्ठिरने अत्यन्त पुण्यमय शूर्पारकतीर्थका दर्शन किया ॥ ८ ॥

तत्रोदधेः कंचिदतीत्य देशं
ख्यातं पृथिव्यां वनमाससाद।
तप्तं सुरैस्तत्र तपः पुरस्ता-
दिष्टं तथा पुण्यपरैर्नरेन्द्रैः ॥ ९ ॥

वहाँ समुद्रके कुछ भागको लाँघकर वे एक ऐसे वनमें आये, जो भूमण्डलमें सर्वत्र विख्यात था। वहाँ पूर्वकालमें देवताओंने तपस्या की थी और पुण्यात्मा नरेशोंने यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ ९ ॥

स तत्र तामग्र्यधनुर्धरस्य
वेदीं ददर्शायतपीनबाहुः।
ऋचीकपुत्रस्य तपस्विसङ्घैः
समावृतां पुण्यकृदर्चनीयाम् ॥ १० ॥

लम्बी और मोटी भुजाओंवाले युधिष्ठिरने उस वनमें धनुर्धरशिरोमणि ऋचीकवंशी परशुरामजीकी वेदी देखी, जो पुण्यात्मा पुरुषोंके लिये पूजनीय थी तथा तपस्वियोंके समुदाय उसे सदा घेरे रहते थे ॥ १० ॥

ततो वसूनां वसुधाधिपः स
मरुद्गणानां च तथाश्विनोश्च।
वैवस्वतादित्यधनेश्वराणा-
मिन्द्रस्य विष्णोः सवितुर्विभोश्च ॥ ११ ॥
भवस्य चन्द्रस्य दिवाकरस्य
पतेरपां साध्यगणस्य चैव।
धातुः पितॄणां च तथा महात्मा
रुद्रस्य राजन् सगणस्य चैव ॥ १२ ॥

१. पाँच अप्सराओंके तीर्थ।

सरस्वत्याः सिद्धगणस्य चैव
पुण्याश्च ये चाप्यमरास्तथान्ये।
पुण्यानि चाप्यायतनानि तेषां
ददर्श राजा सुमनोहराणि ॥ १३ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् उन महात्मा नरेशने वसु, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, यम, आदित्य, कुबेर, इन्द्र, विष्णु, भगवान् सविता, शिव, चन्द्रमा, सूर्य, वरुण, साध्यगण, धाता, पितृगण, अपने गणोंसहित रुद्र, सरस्वती, सिद्ध-समुदाय तथा अन्य पुण्यमय देवताओंके परम पवित्र और मनोहर मन्दिरोंके दर्शन किये ॥ ११-१३ ॥

तेषूपवासान विबुधानुपोष्य
दत्त्वा च रत्नानि महान्ति राजा।
तीर्थेषु सर्वेषु परिप्लुताङ्गः
पुनः स शूर्पारकमाजगाम ॥ १४ ॥

उन तीर्थोंके निकट निवास करनेवाले विद्वान् ब्राह्मणोंको वस्त्राभूषणोंसे आच्छादित एवं विभूषित करके उन्हें बहुमूल्य रत्नोंकी भेंट दे वहाँके सभी तीर्थोंमें स्नान करके महाराज युधिष्ठिर पुनः शूर्पारकक्षेत्रमें लौट आये ॥ १४ ॥

स तेन तीर्थेन तु सागरस्य
पुनः प्रयातः सह सोदरीयैः।
द्विजैः पृथिव्यां प्रथितं महद्भि-
स्तीर्थं प्रभासं समुपाजगाम ॥ १५ ॥

वहाँसे प्रस्थित हो वे भाइयोंसहित सागरतटवर्ती तीर्थोंके मार्गसे होते हुए फिर प्रभासक्षेत्र आये, जो श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके कारण भूमण्डलमें अधिक प्रसिद्ध है ॥ १५ ॥

तत्राभिषिक्तः पृथुलोहिताक्षः
सहानुजैर्देवगणान् पितॄंश्च।
संतर्पयामास तथैव कृष्णा
ते चापि विप्राः सह लोमशेन ॥ १६ ॥

वहाँ भाइयोंसहित स्नान करके विशाल एवं लाल नेत्रोंवाले राजा युधिष्ठिरने देवताओं और पितरोंका तर्पण किया। इसी प्रकार द्रौपदीने, साथ आये हुए उन ब्राह्मणोंने तथा महर्षि लोमशने भी वहाँ स्नान एवं तर्पण किये ॥ १६ ॥

स द्वादशाहं जलवायुभक्षः
कुर्वन् क्षपाहःसु तदाभिषेकम्।
समन्ततोऽग्नीनुपदीपयित्वा
तेपे तपो धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ १७ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर वहाँ बारह दिनोंतक केवल जल और वायु पीकर रहते हुए दिनमें और रातमें भी स्नान करते तथा अपने चारों ओर आग जलाकर तपस्यामें लगे रहते थे ॥ १७ ॥

तमुग्रमास्थाय तपश्चरन्तं
शुश्राव रामश्च जनार्दनश्च।
तौ सर्ववृष्णिप्रवरौ ससैन्यौ
युधिष्ठिरं जग्मतुराजमीढम् ॥ १८ ॥

इसी समय वृष्णिवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामने सुना कि महाराज युधिष्ठिर प्रभासक्षेत्रमें उग्र तपस्या कर रहे हैं; तब वे अपने सैनिकोंसहित अजमीढकुल-भूषण युधिष्ठिरसे मिलनेके लिये गये ॥ १८ ॥

ते वृष्णयः पाण्डुसुतान् समीक्ष्य
भूमौ शयानान् मलदिग्धगात्रान्।
अनर्हतीं द्रौपदीं चापि दृष्ट्वा
सुदुःखिताश्चुक्रुशुरार्तनादम् ॥ १९ ॥

वहाँ जाकर वृष्णिवंशियोंने देखा, पाण्डवलोग पृथ्वीपर सो रहे हैं, उनके सारे अङ्ग धूलसे सने हुए हैं तथा कष्ट-सहनके अयोग्य द्रौपदी भी भारी दुर्दशा भोग रही है। यह सब देखकर वे बड़े दुखी हुए और आर्त स्वरसे रोने लगे ॥ १९ ॥

ततः स रामं च जनार्दनं च
कार्ष्णिं च साम्बं च शिनेश्च पौत्रम्।
अन्यांश्च वृष्णीनुपगम्य पूजां
चक्रे यथाधर्ममहीनसत्त्वः ॥ २० ॥

(उस महान् संकटमें भी) महाराज युधिष्ठिरने अपना धैर्य नहीं छोड़ा था। उन्होंने बलराम, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न, साम्ब, सात्यकि तथा अन्यान्य वृष्णिवंशियोंके पास जा-जाकर धर्मानुसार उन सबका आदर-सत्कार किया ॥ २० ॥

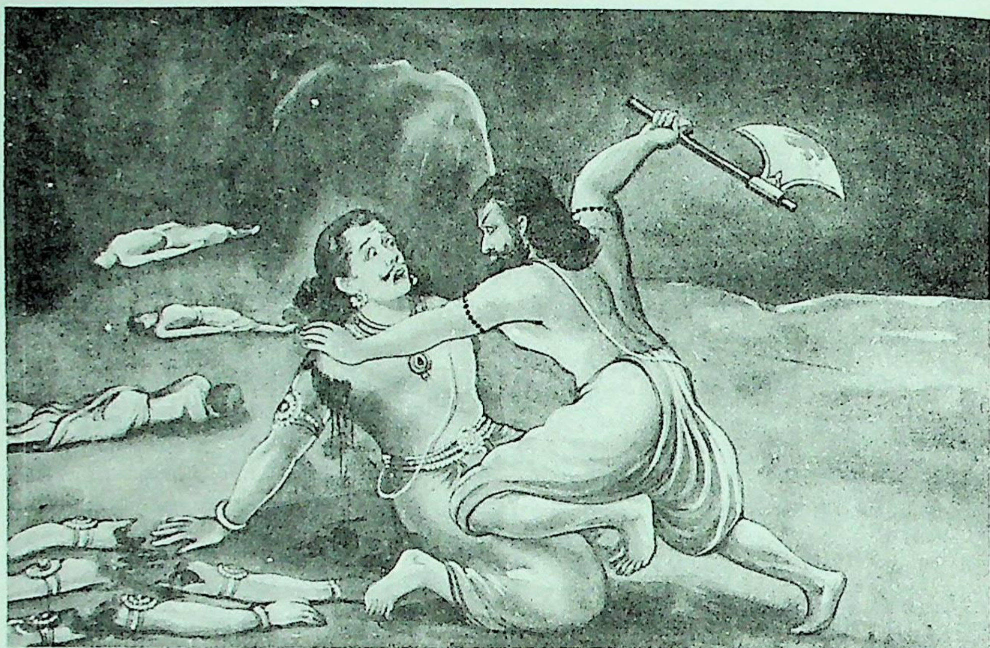
ते चापि सर्वान् प्रतिपूज्य पार्थां-
स्तैः सत्कृताः पाण्डुसुतैस्तथैव।
युधिष्ठिरं सम्परिवार्य राज-
न्नुपाविशन् देवगणा यथेन्द्रम् ॥ २१ ॥

राजन् ! पाण्डुपुत्रोंद्वारा सत्कृत होकर यादवोंने भी उन सबका यथोचित सत्कार किया और फिर देवता जैसे इन्द्रके चारों ओर बैठ जाते हैं, उसी प्रकार वे धर्मराज युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ २१ ॥

तेषां स सर्वं चरितं परेषां
वने च वासं परमप्रतीतः।
अस्त्रार्थमिन्द्रस्य गतं च पार्थं
निवेशन हृष्टमनाः शशंस ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने अत्यन्त विश्वस्त होकर यादवोंसे शत्रुओंकी सारी करतूतें कह सुनायीं और अपने वनवासका भी सब समाचार बताया। साथ ही बड़ी प्रसन्नताके साथ यह भी सूचित किया कि अर्जुन दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिके लिये इन्द्रलोकमें गये हैं ॥ २२ ॥

भगवान् परशुरामद्वारा सहस्रार्जुनका वध





प्रभासक्षेत्रमें पाण्डवोंकी यादवोंसे भेंट

श्रुत्वा तु ते तस्य वचः प्रतीता-
स्तांश्चापि दृष्ट्वा सुकृशानतीव।
नेत्रोद्भवं सम्मुमुचुर्महार्हा
दुःखार्तिजं वारि महानुभावाः ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर उन्हें कुछ सान्त्वना मिली। परंतु पाण्डवोंको अत्यन्त दुर्बल देखकर वे परम पूजनीय महानुभाव यादव वीर दुःख और वेदनासे पीड़ित हो आँसू बहाने लगे ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां प्रभासे यादवपाण्डवसमागमे अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११८

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें प्रभासक्षेत्रके भीतर यादव-पाण्डव-समागमविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रभासतीर्थमें बलरामजीके पाण्डवोंके प्रति सहानुभूतिसूचक दुःखपूर्ण उद्गार

जनमेजय उवाच

प्रभासतीर्थमासाद्य पाण्डवा वृष्णयस्तथा।
किमकुर्वन् कथाश्चैषां कास्तत्रासंस्तपोधन ॥ १ ॥
ते हि सर्वे महात्मानः सर्वशास्त्रविशारदाः।
वृष्णयः पाण्डवाश्चैव सुहृदश्च परस्परम् ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—तपोधन! प्रभासतीर्थमें पहुँचकर पाण्डवों तथा वृष्णिवंशियोंने क्या किया? वहाँ उनमें कैसी बातचीत हुई? वे सब महात्मा यादव और पाण्डव सम्पूर्ण शास्त्रोंके विद्वान् और एक-दूसरेका हित चाहनेवाले थे, (अतः उनमें क्या बात हुई? यह मैं जानना चाहता हूँ) ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रभासतीर्थं सम्प्राप्य पुण्यं तीर्थं महोदधेः।
वृष्णयः पाण्डवान् वीराः परिवार्योपतस्थिरे ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! प्रभासक्षेत्र समुद्रतटवर्ती एक पुण्यमय तीर्थ है। वहाँ जाकर वृष्णिवंशी वीर पाण्डवोंको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ ३ ॥

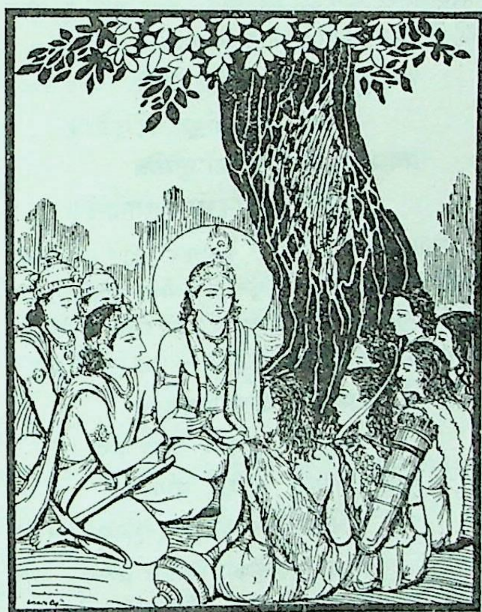
ततो गोक्षीरकुन्देन्दुमृणालरजतप्रभः।
वनमाली हली रामो बभाषे पुष्करेक्षणम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर गोदुग्ध, कुन्दकुसुम, चन्द्रमा, मृणाल (कमलनाल) तथा चाँदीकी-सी कान्तिवाले वनमालाविभूषित हलधर बलरामने कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णसे कहा ॥ ४ ॥

बलदेव उवाच

न कृष्ण धर्मश्चरितो भवाय
जन्तोरधर्मश्च पराभवाय।
युधिष्ठिरो यत्र जटी महात्मा
वनाश्रयः क्लिश्यति चीरवासाः ॥ ५ ॥

बलदेवजी बोले—श्रीकृष्ण! जान पड़ता है, आचरणमें लाया हुआ धर्म भी प्राणियोंके अभ्युदयका कारण नहीं होता और उनका किया हुआ अधर्म भी पराजयकी प्राप्ति करानेवाला नहीं होता; क्योंकि महात्मा युधिष्ठिरको (जो सदा धर्मका ही पालन करते हैं) जटाधारी होकर वल्कल वस्त्र पहने वनमें रहते हुए महान् क्लेश भोगना पड़ रहा है ॥ ५ ॥



दुर्योधनश्चापि महीं प्रशास्ति
न चास्य भूमिर्विवरं ददाति।
धर्मादधर्मश्चरितो वरीया-
नितीव मन्येत नरोऽल्पबुद्धिः ॥ ६ ॥
दुर्योधने चापि विवर्धमाने
युधिष्ठिरे चासुखमात्तराज्ये।
किं त्वत्र कर्तव्यमिति प्रजाभिः
शङ्का मिथः संजनिता नराणाम् ॥ ७ ॥

उधर, दुर्योधन (अधर्मपरायण होनेपर भी) पृथ्वीका शासन कर रहा है। उसके लिये यह पृथ्वी भी नहीं फटती है। इससे तो मन्द बुद्धिवाले मनुष्य यही समझेंगे कि धर्माचरणकी अपेक्षा अधर्मका आचरण ही श्रेष्ठ है। दुर्योधन

निरन्तर उन्नति कर रहा है और युधिष्ठिर छलसे राज्य छिन जानेके कारण दुःख उठा रहे हैं । (युधिष्ठिर और दुर्योधनके दृष्टान्तको सामने रखकर) मनुष्योंमें परस्पर महान् संदेह खड़ा हो गया है । प्रजा यह सोचने लगी है कि हमें क्या करना चाहिये—हमें धर्मका आश्रय लेना चाहिये या अधर्मका ? ॥ ६-७ ॥

अयं स धर्मप्रभवो नरेन्द्रो
धर्मे धृतः सत्यधृतिः प्रदाता ।
चलेद्धि राज्याच्च सुखाच्च पार्थो
धर्मादपेतस्तु कथं विवर्धेत् ॥ ८ ॥

ये राजा युधिष्ठिर साक्षात् धर्मके पुत्र हैं । धर्म ही इनका आधार है । ये सदा सत्यका आश्रय लेते और दान देते रहते हैं । कुन्तीकुमार युधिष्ठिर राज्य और सुख छोड़ सकते हैं, (परंतु धर्मका त्याग नहीं कर सकते) भला, धर्मसे दूर होकर कोई कैसे अभ्युदयका भागी हो सकता है ? ॥ ८ ॥

कथं नु भीष्मश्च कृपश्च विप्रो
द्रोणश्च राजा च कुलस्य वृद्धः ।
प्रव्राज्य पार्थान् सुखमाप्नुवन्ति
धिक् पापबुद्धीन् भरतप्रधानान् ॥ ९ ॥

पितामह भीष्म, ब्राह्मण कृपाचार्य, द्रोण तथा कुलके बड़े-बूढ़े राजा धृतराष्ट्र—ये कुन्तीके पुत्रोंको राज्यसे निकालकर कैसे सुख पाते हैं ? भरतकुलके इन प्रधान व्यक्तियोंको धिक्कार है ! क्योंकि इनकी बुद्धि पापमें लगी हुई है ॥ ९ ॥

किं नाम वक्ष्यत्यवनिप्रधानः
पितॄन् समागम्य परत्र पापः ।
पुत्रेषु सम्यक् चरितं मयेति
पुत्रानपापान् व्यपरोप्य राज्यात् ॥ १० ॥

पापी राजा धृतराष्ट्र परलोकमें पितरोंसे मिलनेपर उनके सामने कैसे यह कह सकेगा कि 'मैंने अपने और भाई पाण्डुके पुत्रोंके साथ न्याययुक्त बर्ताव किया है ।' जब कि उसने इन निर्दोष पुत्रोंको राज्यसे वञ्चित कर दिया है ॥ १० ॥

नासौ धिया सम्प्रति पश्यति स्म
किं नाम कृत्वाहमचक्षुरेवम् ।
जातः पृथिव्यामिति पार्थिवेषु
प्रव्राज्य कौन्तेयमिति स्म राज्यात् ॥ ११ ॥

वह अब भी अपने बुद्धिरूप नेत्रोंसे यह नहीं देख पाता कि कौन-सा पाप करनेके कारण मुझे इस प्रकार अन्धा होना पड़ा है और आगे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको राज्यसे निकालकर जब मैं भूतलके राजाओंमें फिरसे जन्म लूँगा, तब मेरी दशा कैसी होगी ? ॥ ११ ॥

नूनं समृद्धान् पितृलोकभूमौ
चामीकराभान् क्षितिजान् प्रफुल्लान् ।
विचित्रवीर्यस्य सुतः सपुत्रः
कृत्वा नृशंसं बत पश्यति स्म ॥ १२ ॥

विचित्रवीर्यका पुत्र धृतराष्ट्र और उसके पुत्र दुर्योधन आदि यह क्रूर कर्म करके (स्वप्नमें) निश्चय ही पितृलोककी भूमिमें सुवर्णके समान चमकनेवाले समृद्धिशाली एवं पुष्पित वृक्षोंको देख रहे हैं * ॥ १२ ॥

व्यूढोत्तरांसान् पृथुलोहिताक्षान्
नेमान् स्म पृच्छन् स शृणोति नूनम् ।
प्रास्थापयद् यत् सवनं सशङ्को
युधिष्ठिरं सानुजमात्तशस्त्रम् ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र सुदृढ़ कंधे तथा विशाल एवं लाल नेत्रोंवाले इन भीष्म आदिसे कोई बात पूछता तो है, परंतु निश्चय ही उनकी बात सुनकर मानता नहीं है, तभी तो भाइयोंसहित शस्त्रधारी युधिष्ठिरके प्रति भी मनमें शङ्का रखकर इन्हें उसने वनमें भेज दिया है ॥ १३ ॥

योऽयं परेषां पृतनां समृद्धां
निरायुधो दीर्घभुजो निहन्यात् ।
श्रुत्वैव शब्दं हि वृकोदरस्य
मुञ्चन्ति सैन्यानि शकृत् समूत्रम् ॥ १४ ॥

(भला ! वे कौरव इन पाण्डवोंका सामना कैसे कर सकते हैं ?) ये बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले भीमसेन बिना अस्त्र-शस्त्रोंके ही शत्रुओंकी शक्तिशाली सेनाका संहार कर सकते हैं । भीमका तो सिंहनाद सुनकर ही विरोधी दलके सैनिक मल-मूत्र करने लगते हैं ॥ १४ ॥

स क्षुत्पिपासाध्वकृशस्तरस्वी
समेत्य नानायुधबाणपाणिः ।
वने स्मरन् वासमिमं सुघोरं
शेषं न कुर्यादिति निश्चितं मे ॥ १५ ॥

वे ही वेगशाली भीम इन दिनों भूख-प्यास और रास्ता चलनेकी थकावटसे दुर्बल हो गये हैं । इस भयंकर वनवासका स्मरण करते हुए जब ये हाथोंमें अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र एवं धनुष-बाण लिये शत्रुओंपर आक्रमण करेंगे, उस समय किसीको भी जीता न छोड़ेंगे—यह मेरा निश्चय है ॥ १५ ॥

न ह्यस्य वीर्येण बलेन कश्चित्
समः पृथिव्यामपि विद्यतेऽन्यः ।
स शीतवातातपकर्शिताङ्गो
न शेषमाजावसुहृत्सु कुर्यात् ॥ १६ ॥

इनके समान पराक्रमी और बलवान् वीर इस पृथ्वीपर

---

* स्वप्नमें ऐसे दृश्योंको देखना मृत्युसूचक माना गया है ।

कोई नहीं है। इस समय सर्दी-गर्मी और वायुके कष्टसे यद्यपि इनका शरीर दुबला हो गया है तो भी समरमें शत्रुओंमेंसे किसीको भी ये शेष नहीं रहने देंगे ॥ १६ ॥

प्राच्यां नृपानेकरथेन जित्वा
वृकोदरः सानुचरान् रणेषु।
स्वस्त्यागमद् योऽतिरथस्तरस्वी
सोऽयं वने क्लिश्यति चीरवासाः॥ १७॥

यः सिन्धुकूले व्यजयन्नृदेवान्
समागतान् दाक्षिणात्यान् महीपान्।
तं पश्यतेमं सहदेवमद्य
तरस्विनं तापसवेषरूपम्॥ १८॥

जो पूर्वदिशामें (दिग्विजयकी यात्राके समय) केवल एक रथ लेकर युद्धमें बहुत-से राजाओंको सेवकोंसहित परास्त करके सकुशल लौट आये थे, वे ही अतिरथी और वेगशाली वीर वृकोदर आज वनमें वल्कल वस्त्र पहनकर कष्ट भोग रहे हैं। जिसने समुद्र-तटपर सामना करनेके लिये आये हुए दक्षिण दिशाके सम्पूर्ण राजाओंपर विजय पायी थी, उसी वेगवान् वीर इस सहदेवको देखो—यह आज तपस्वीकी-सी वेषभूषा धारण किये हुए दुःख पा रहा है ॥ १७-१८ ॥

यः पार्थिवानेकरथेन जिग्ये
दिशं प्रतीचीं प्रति युद्धशौण्डः।
सोऽयं वने मूलफलेन जीव-
ञ्जटी चरत्यद्य मलाचिताङ्गः ॥ १९ ॥

जिस युद्धकुशल नकुलने एकमात्र रथकी सहायतासे पश्चिम दिशाके समस्त भूपालोंको जीत लिया था, वही आज वनमें फल-मूलसे जीवन-निर्वाह करता हुआ सिरपर जटा धारण किये मलिन शरीरसे विचर रहा है ॥ १९ ॥

सत्रे समृद्धेऽतिरथस्य राज्ञो
वेदीतलादुत्पतिता सुता या।
सेयं वने वासमिमं सुदुःखं
कथं सहत्यद्य सती सुखार्हा ॥ २० ॥

जो अतिरथी राजा द्रुपदके समृद्धिशाली यज्ञमें वेदीसे प्रकट हुई थी, वही यह सुख भोगनेके योग्य सती-साध्वी द्रौपदी वनवासके इस महान् दुःखको कैसे सहन करती है ? ॥

त्रिवर्गमुख्यस्य समीरणस्य
देवेश्वरस्याप्यथवाश्विनोश्च ।
एषां सुराणां तनयाः कथं नु
वनेऽचरन् ध्वस्तसुखाः सुखार्हाः ॥ २१ ॥

धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमारों-जैसे देवताओंके ये पुत्र सुख भोगनेके योग्य होते हुए भी आज सब प्रकारके सुखोंसे वञ्चित हो वनमें कैसे विचरण कर रहे हैं ? ॥ २१ ॥

जिते हि धर्मस्य सुते सभार्ये
सभ्रातृके सानुचरे निरस्ते।
दुर्योधने चापि विवर्धमाने
कथं न सीदत्यवनिः सशैला ॥ २२ ॥

पत्नीसहित धर्मराज युधिष्ठिर जूएमें हार गये और भाइयों एवं सेवकोंसहित राज्यसे बाहर कर दिये गये; उधर दुर्योधन (अनीतिपरायण होकर भी दिनोंदिन) बढ़ रहा है; ऐसी दशामें पर्वतोंसहित यह पृथ्वी क्यों नहीं फट जाती ? ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां बलरामवाक्ये एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें बलरामवाक्यविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिके शौर्यपूर्ण उद्गार तथा युधिष्ठिरद्वारा श्रीकृष्णके वचनोंका अनुमोदन एवं पाण्डवोंका पयोष्णी नदीके तटपर निवास

सात्यकिरुवाच

न राम कालः परिदेवनाय
यदुत्तरं त्वत्र तदेव सर्वे।
समाचरामो ह्यनतीतकालं
युधिष्ठिरो यद्यपि नाह किंचित् ॥ १ ॥

सात्यकिने कहा—बलरामजी ! यह समय बैठकर विलाप करनेका नहीं है। अब आगे जो कुछ करना है, उसीको हम सब लोग मिलकर करें। यद्यपि महाराज युधिष्ठिर हमसे कुछ नहीं कहते हैं तो भी हमें अब व्यर्थ समय न बिताकर कौरवोंको उचित उत्तर देना चाहिये ॥१॥

ये नाथवन्तोऽद्य भवन्ति लोके
ते नात्मना कर्म समारभन्ते।
तेषां तु कार्येषु भवन्ति नाथाः
शिब्यादयो राम यथा ययातेः ॥ २ ॥

इस संसारमें जो लोग सनाथ हैं—जिनके बहुत-से सहायक हैं—वे स्वयं कोई कार्य आरम्भ नहीं करते हैं। उनके सभी कार्योंमें वे सहायक एवं सुहृद् ही सहयोगी होते हैं, जैसे ययातिके उद्धार-कार्यमें शिबि आदि उनके नातियोंने योगदान किया था ॥ २ ॥

येषां तथा राम समारभन्ते
कार्याणि नाथाः स्वमतेन लोके ।
ते नाथवन्तः पुरुषप्रवीरा
नानाथवत् कृच्छ्रमवाप्नुवन्ति ॥ ३ ॥

बलरामजी ! जगत्‌में जिनके कार्य उनके सहायक अपने ही विचारसे प्रारम्भ करते हैं, वे पुरुषश्रेष्ठ सनाथ माने जाते हैं। वे अनाथकी भाँति कभी कष्टमें नहीं पड़ते ॥ ३ ॥

कस्मादिमौ रामजनार्दनौ च
प्रद्युम्नसाम्बौ च मया समेतौ ।
वसन्त्यरण्ये सहसोदरीयै-
स्त्रैलोक्यनाथानभिगम्य पार्थाः ॥ ४ ॥

आप दोनों भाई बलराम और श्रीकृष्ण, मेरेसहित ये प्रद्युम्न और साम्ब सब-के-सब मौजूद हैं। इन त्रिभुवन-पतियोंसे मिलकर भी ये कुन्तीके पुत्र अभीतक अपने भाइयोंके साथ वनमें क्यों निवास करते हैं ? ॥ ४ ॥

निर्यातु साध्वद्य दशार्हसेना
प्रभूतनानायुधचित्रवर्मा ।
यमक्षयं गच्छतु धार्तराष्ट्रः
सबान्धवो वृष्णिबलाभिभूतः ॥ ५ ॥
त्वं ह्येव कोपात् पृथिवीमपीमां
संवेष्टयेस्तिष्ठतु शार्ङ्गधन्वा ।
स धार्तराष्ट्रं जहि सानुबन्धं
वृत्रं यथा देवपतिर्महेन्द्रः ॥ ६ ॥

उत्तम तो यह है कि आज ही यदुवंशियोंकी सेना नाना प्रकारके प्रचुर अस्त्र-शस्त्र और विचित्र कवच धारण करके युद्धके लिये प्रस्थान करे। धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन वृष्णिवंशियों-के पराक्रमसे पराजित हो बन्धु-बान्धवोंसहित यमलोक चला जाय। बलरामजी ! भगवान् श्रीकृष्ण अलग खड़े रहें, केवल आप ही चाहें तो इस समूची पृथ्वीको भी अपनी क्रोधाग्निकी लपटोंमें लपेट सकते हैं। जैसे देवराज इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया था, उसी प्रकार आप भी दुर्योधनको उसके सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालिये ॥ ५-६ ॥

भ्राता च मे यः स सखा गुरुश्च
जनार्दनस्यात्मसमश्च पार्थः ।
यदर्थमैच्छन् मनुजाः सुपुत्रं
शिष्यं गुरुश्चाप्रतिकूलवादम् ॥ ७ ॥

[illegible] हैं, [illegible] और गुरु हैं, [illegible] आत्मतुल्य सुहृद् हैं, वे कुन्तीकुमार अर्जुन भी अलग रहें। मनुष्य जिस उद्देश्यसे अच्छे पुत्रकी और गुरु प्रतिकूल न बोलनेवाले शिष्यकी कामना करते हैं, उसे सफल करनेका समय आ गया है ॥ ७ ॥

यदर्थमभ्युद्यतमुत्तमं तत्
करोति कर्माग्र्यमपारणीयम् ।
तस्यास्त्रवर्षाण्यहमुत्तमास्त्रै-
र्विहत्य सर्वाणि रणेऽभिभूय ॥ ८ ॥

जिसके लिये सुयोग्य शिष्य या पुत्र उत्तम अस्त्र-शस्त्र उठाता है तथा युद्धमें श्रेष्ठ एवं अपार पराक्रम कर दिखाता है, उसकी पूर्तिका यही अवसर है। मैं संग्रामभूमिमें अपने उत्तम आयुधोंद्वारा शत्रुओंकी सारी अस्त्र-वर्षाको नष्ट करके उनके समस्त सैनिकोंको परास्त कर दूँगा ॥ ८ ॥

कायाच्छिरः सर्पविषाग्निकल्पैः
शरोत्तमैरुन्मथितास्मि राम ।
खड्गेन चाहं निशितेन संख्ये
कायाच्छिरस्तस्य बलात् प्रमथ्य ॥ ९ ॥

बलरामजी ! सर्प, विष एवं अग्निके समान भयंकर उत्तम बाणोंद्वारा शत्रुके सिरको धड़से अलग कर दूँगा; साथ ही उस समराङ्गणमें शत्रुमण्डलीको मैं बलपूर्वक रौंदकर तीखी तलवारद्वारा उसका मस्तक उड़ा दूँगा ॥ ९ ॥

ततोऽस्य सर्वाननुगान् हनिष्ये
दुर्योधनं चापि कुरूंश्च सर्वान् ।
आत्तायुधं मामिह रौहिणेय
पश्यन्तु भौमा युधि जातहर्षाः ॥ १० ॥

तदनन्तर उसके समस्त सेवकोंसहित दुर्योधन और समस्त कौरवोंको भी मार डालूँगा। रोहिणीनन्दन ! युद्धमें भयानक पराक्रम दिखानेवाले योद्धा हर्ष और उत्साहमें भर-कर आज मुझे हाथमें अस्त्र लिये पूर्वोक्त पराक्रम करते हुए प्रत्यक्ष देखें ॥ १० ॥

निघ्नन्तमेकं कुरुयोधमुख्या-
नग्निं महाकक्षमिवान्तकाले ।
प्रद्युम्नमुक्तान् निशितान् न शक्ताः
सोढुं कृपद्रोणविकर्णकर्णाः ॥ ११ ॥

जैसे प्रलयकालीन अग्नि सूखे घासकी राशिको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार मैं अकेला ही कौरवदलके प्रधान वीरोंका संहार कर डालूँगा और ऐसा करते हुए सब लोग मुझे प्रत्यक्ष देखेंगे। प्रद्युम्नके छोड़े हुए तीखे बाणोंको सहन करनेकी शक्ति कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, विकर्ण और कर्ण-[illegible]

जानामि वीर्यं च जयात्मजस्य
कार्ष्णिर्भवत्येष यथा रणस्थः ।
साम्बः ससूतं सरथं भुजाभ्यां
दुःशासनं शास्तु बलात् प्रमथ्य ॥ १२ ॥

मैं अर्जुनकुमार अभिमन्युके भी पराक्रमको जानता हूँ । वह समरभूमिमें खड़ा होनेपर साक्षात् श्रीकृष्णनन्दन प्रद्युम्नके ही समान जान पड़ता है । वीरवर साम्ब बलपूर्वक शत्रुसेनाको मथकर अपनी दोनों भुजाओंसे रथ और सारथिसहित दुःशासनका दमन करें ॥ १२ ॥

न विद्यते जाम्बवतीसुतस्य
रणे विषह्यं हि रणोत्कटस्य ।
एतेन बालेन हि शम्बरस्य
दैत्यस्य सैन्यं सहसा प्रणुन्नम् ॥ १३ ॥

जाम्बवतीनन्दन साम्ब रणभूमिमें बड़े प्रचण्ड पराक्रमशाली बन जाते हैं । उस समय इनके लिये कुछ भी असह्य नहीं है । इन्होंने बाल्यावस्थामें ही सहसा शम्बरासुरकी सेनाको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था ॥ १३ ॥

वृत्तोरुरत्यायतपीनबाहु-
रेतेन संख्ये निहतोऽश्वचक्रः ।
को नाम साम्बस्य महारथस्य
रणे समक्षं रथमभ्युदीयात् ॥ १४ ॥

इनकी जाँघें गोल हैं, भुजाएँ लंबी और मोटी हैं; इन्होंने युद्धमें अश्वारोहियोंकी कितनी ही सेनाओंका संहार किया है । भला, संग्रामभूमिमें महारथी साम्बके रथके सम्मुख कौन आ सकता है ? ॥ १४ ॥

यथा प्रविश्यान्तरमन्तकस्य
काले मनुष्यो न विनिष्क्रमेत ।
तथा प्रविश्यान्तरमस्य संख्ये
को नाम जीवन् पुनराव्रजेत ॥ १५ ॥

जैसे अन्तकाल आनेपर यमराजकी भुजाओंमें पड़ा हुआ मनुष्य कदापि वहाँसे निकल नहीं सकता, उसी प्रकार रणक्षेत्रमें वीरवर साम्बके वशमें आया हुआ कौन ऐसा योद्धा होगा, जो पुनः जीवित लौट सके ॥ १५ ॥

द्रोणं च भीष्मं च महारथौ तौ
सुतैर्वृतं चाप्यथ सोमदत्तम् ।
सर्वाणि सैन्यानि च वासुदेवः
प्रधक्ष्यते सायकवह्निजालैः ॥ १६ ॥

वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण चाहें तो अपने बाणरूपी अग्निकी लपटोंसे द्रोण और भीष्म—इन दोनों प्रसिद्ध महारथियोंको, पुत्रोंसहित सोमदत्तको तथा सारी कौरव-सेनाको भी भस्म कर डालेंगे ॥ १६ ॥

किं नाम लोकेष्वविषह्यमस्ति
कृष्णस्य सर्वेषु सदैवतेषु ।
आत्तायुधस्योत्तमबाणपाणे-
श्चक्रायुधस्याप्रतिमस्य युद्धे ॥ १७ ॥

देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंमें कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो हाथोंमें हथियार, उत्तम बाण तथा चक्र धारण करके युद्धमें अनुपम पराक्रम प्रकट करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके लिये असह्य हो ॥ १७ ॥

ततोऽनिरुद्धोऽप्यसिचर्मपाणि-
र्महीमिमां धार्तराष्ट्रैर्विसंज्ञैः ।
हृतोत्तमाङ्गैर्निहतैः करोतु
कीर्णां कुशैर्वेदिमिवाध्वरेषु ॥ १८ ॥
गदोल्मुकौ बाहुकभानुनीथाः
शूरश्च संख्ये निशठः कुमारः ।
रणोत्कटौ सारणचारुदेष्णौ
कुलोचितं विप्रथयन्तु कर्म ॥ १९ ॥

ढाल-तलवार लिये हुए वीरवर अनिरुद्ध भी, जैसे यज्ञोंमें कुशाओंद्वारा यज्ञकी वेदी ढक दी जाती है, उसी प्रकार युद्धमें सिर कटाकर मरे और अचेत पड़े हुए धृतराष्ट्र-पुत्रोंद्वारा इस भूमिको ढक दें । गद, उल्मुक, बाहुक, भानु, नीथ, युद्धमें शूरवीर कुमार निशठ तथा रणभूमिमें प्रचण्ड पराक्रमी सारण और चारुदेष्ण—ये सब लोग अपने कुलके अनुरूप पराक्रम प्रकट करें ॥ १८-१९ ॥

सवृष्णिभोजान्धकयोधमुख्या
समागता सात्वतशूरसेना ।
हत्वा रणे तान् धृतराष्ट्रपुत्राँ-
ल्लोके यशः स्फीतमुपाकरोतु ॥ २० ॥

यदुवंशियोंकी शौर्यपूर्ण सेना, जिसमें वृष्णि, भोज और अन्धकवंशी योद्धाओंकी प्रधानता है, आक्रमण करके युद्धमें धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार डाले और संसारमें अपने उज्ज्वल यशका विस्तार करे ॥ २० ॥

ततोऽभिमन्युः पृथिवीं प्रशास्तु
यावद् व्रतं धर्मभृतां वरिष्ठः ।
युधिष्ठिरः पारयते महात्मा
द्यूते यथोक्तं कुरुसत्तमेन ॥ २१ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिर जबतक अपने उस व्रतको, जिसे इन कुरुकुलभूषणने जूएके समय प्रतिज्ञापूर्वक स्वीकार किया था, पूर्ण न कर लें, तबतक अभिमन्यु इस पृथ्वीका शासन करे ॥ २१ ॥

अस्मत्प्रमुक्तैर्विशिखैर्जितारि-
स्ततो महीं भोक्ष्यति धर्मराजः ।
निर्धार्तराष्ट्रां हतसूतपुत्रा-
मेतद्धि नः कृत्यतमं यशस्यम् ॥ २२ ॥

तदनन्तर अपना व्रत समाप्त करके हमारे द्वारा छोड़े हुए बाणोंसे ही शत्रुओंपर विजय पाकर धर्मराज युधिष्ठिर इस पृथ्वीका राज्य भोगेंगे । उस समयतक यह पृथ्वी धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे रहित हो जायगी और सूतपुत्र कर्ण भी मर जायगा । यदि ऐसा हुआ तो यह हमारे लिये महान् यशोवर्धक कार्य होगा ॥ २२ ॥

वासुदेव उवाच

असंशयं माधव सत्यमेतद्
गृह्णीम ते वाक्यमदीनसत्त्व ।
स्वाभ्यां भुजाभ्यामजितां तु भूमिं
नेच्छेत् कुरूणामृषभः कथंचित् ॥ २३ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—उदारहृदय मधुकुलभूषण सात्यके ! तुम्हारी यह बात सत्य है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है । हम तुम्हारे इन वचनोंको स्वीकार करते हैं; परंतु ये कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर किसी भी ऐसी भूमिको किसी तरह लेना नहीं चाहेंगे, जिसे इन्होंने अपनी भुजाओंद्वारा न जीता हो ॥ २३ ॥

न ह्येष कामान्न भयान्न लोभाद्
युधिष्ठिरो जातु जह्यात् स्वधर्मम् ।
भीमार्जुनौ चातिरथौ यमौ च
तथैव कृष्णा द्रुपदात्मजेयम् ॥ २४ ॥

कामना, भय अथवा लोभ किसी भी कारणसे युधिष्ठिर अपना धर्म कदापि नहीं छोड़ सकते । उसी तरह अतिरथी वीर भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा यह द्रुपदकुमारी कृष्णा भी अपना धर्म नहीं छोड़ सकती ॥ २४ ॥

उभौ हि युद्धेऽप्रतिमौ पृथिव्यां
वृकोदरश्चैव धनंजयश्च ।
कस्मान्न कृत्स्नां पृथिवीं प्रशासे-
न्माद्रीसुताभ्यां च पुरस्कृतोऽयम् ॥ २५ ॥

भीमसेन और अर्जुन–ये दोनों वीर युद्धमें इस पृथ्वीपर अपना सानी नहीं रखते । इनसे और दोनों माद्रीकुमारोंसे संयुक्त होनेपर ये युधिष्ठिर सारी पृथ्वीका शासन कैसे नहीं कर सकते ! ॥ २५ ॥

यदा तु पञ्चालपतिर्महात्मा
सकेकयश्चेदिपतिर्वयं च ।
युध्येम विक्रम्य रणे समेता-
स्तदैव सर्वे रिपवो हि न स्युः ॥ २६ ॥

जब महात्मा पाञ्चालराज, केकय, चेदिराज और हम सब लोग एक साथ होकर रणमें पराक्रम दिखायेंगे, उसी समय हमारे सारे शत्रुओंका अस्तित्व मिट जायगा ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

नेदं चित्रं माधव यद् ब्रवीषि
सत्यं तु मे रक्ष्यतमं न राज्यम् ।
कृष्णस्तु मां वेद यथावदेकः
कृष्णं च वेदाहमथो यथावत् ॥ २७ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सात्यके ! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह तुम्हारे-जैसे वीरके लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; परंतु मेरे लिये सत्यकी रक्षा ही प्रधान है, राज्यकी प्राप्ति नहीं । केवल श्रीकृष्ण ही मुझे अच्छी तरह जानते हैं और मैं भी कृष्णके स्वरूपको यथार्थरूपसे जानता हूँ ॥ २७ ॥

यदैव कालं पुरुषप्रवीरो
वेत्स्यत्ययं माधव विक्रमस्य ।
तदा रणे त्वं च शिनिप्रवीर
सुयोधनं जेष्यसि केशवश्च ॥ २८ ॥

शिनिवंशके प्रधान वीर माधव ! ये पुरुषरत्न श्रीकृष्ण जभी पराक्रम दिखानेका अवसर आया समझेंगे, तभी तुम और भगवान् केशव मिलकर युद्धमें दुर्योधनको जीत सकोगे ॥ २८ ॥

प्रतिप्रयान्त्वद्य दशार्हवीरा
दृष्टोऽस्मि नाथैर्नरलोकनाथैः ।
धर्मेऽप्रमादं कुरुताप्रमेया
द्रष्टास्मि भूयः सुखिनः समेतान् ॥ २९ ॥

अब ये यदुवंशी वीर द्वारकाको लौट जायँ । आपलोग मेरे नाथ या सहायक तो हैं ही, सम्पूर्ण मनुष्य-लोकके भी रक्षक हैं; आपलोगोंसे मिलना हो गया, यह बड़े आनन्दकी बात है । अनुपम शक्तिशाली वीरो ! आपलोग धर्मपालनकी ओरसे सदा सावधानी रखें । मैं पुनः आप सभी सुखी मित्रोंको एकत्र हुआ देखूँगा ॥ २९ ॥

तेऽन्योन्यमामन्त्र्य तथाभिवाद्य
वृद्धान् परिष्वज्य शिशूंश्च सर्वान् ।
यदुप्रवीराः स्वगृहाणि जग्मु-
स्ते चापि तीर्थान्यनुसंविचेरुः ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् वे यादव-पाण्डव वीर एक दूसरेकी अनुमति ले, वृद्धोंको प्रणाम करके, बालकोंको हृदयसे लगाकर तथा अन्य सबसे यथायोग्य मिलकर अपने अभीष्ट स्थानको चल दिये । यादववीर अपने घर गये और पाण्डवलोग पूर्ववत् तीर्थोंमें विचरने लगे ॥ ३० ॥

विसृज्य कृष्णं त्वथ धर्मराजो
विदर्भराजोपचितां सुतीर्थाम् ।
जगाम पुण्यां सरितं पयोष्णीं
सभ्रातृभृत्यः सह लोमशेन ॥ ३१ ॥

श्रीकृष्णको विदा करके धर्मराज युधिष्ठिर लोमशजी, भाइयों और सेवकोंके साथ विदर्भनरेशद्वारा पूजित, उत्तम तीर्थोंवाली पुण्य नदी पयोष्णीके तटपर गये ॥ ३१ ॥

सुतेन सोमेन विमिश्रतोयां
पयः पयोष्णीं प्रति सोऽध्युवास।
द्विजातिमुख्यैर्मुदितैर्महात्मा
संस्तूयमानः स्तुतिभिर्वराभिः ॥ ३२ ॥

उसके जलमें यज्ञसम्बन्धी सोमरस मिला हुआ था। पयोष्णीके तटपर जा उन्होंने उसका जल पीकर वहाँ निवास किया। उस समय प्रसन्नतासे भरे हुए श्रेष्ठ द्विज उत्तम स्तुतियोंद्वारा उन महात्मा नरेशकी स्तुति कर रहे थे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यादवगमने विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राप्रसङ्गमें यादवगमनविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२० ॥

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा गयके यज्ञकी प्रशंसा, पयोष्णी, वैदूर्य पर्वत और नर्मदाके माहात्म्य तथा च्यवन-सुकन्याके चरित्रका आरम्भ

लोमश उवाच

नृगेण यजमानेन सोमेनेह पुरंदरः।
तर्पितः श्रूयते राजन् स तृप्तो मुदमभ्यगात् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! सुना जाता है कि इस पयोष्णी नदीके तटपर राजा नृगने यज्ञ करके सोमरसके द्वारा देवराज इन्द्रको तृप्त किया था। उस समय इन्द्र पूर्णतः तृप्त होकर आनन्दमग्न हो गये थे ॥ १ ॥

इह देवैः सहेन्द्रैश्च प्रजापतिभिरेव च।
इष्टं बहुविधैर्यज्ञैर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २ ॥

यहीं इन्द्रसहित देवताओंने और प्रजापतियोंने भी प्रचुर दक्षिणासे युक्त अनेक प्रकारके बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन किया है ॥ २ ॥

आमूर्तरयसश्चेह राजा वज्रधरं प्रभुम्।
तर्पयामास सोमेन हयमेधेषु सप्तसु ॥ ३ ॥

अमूर्तरयाके पुत्र राजा गयने भी यहाँ सात अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करके उनमें सोमरसके द्वारा वज्रधारी इन्द्रको संतुष्ट किया था ॥ ३ ॥

तस्य सप्तसु यज्ञेषु सर्वमासीद्धिरण्मयम्।
वानस्पत्यं च भौमं च यद् द्रव्यं नियतं मखे ॥ ४ ॥

यज्ञमें जो वस्तुएँ नियमित रूपसे काष्ठ और मिट्टीकी बनी हुई होती हैं, ये सब-की-सब राजा गयके उक्त सातों यज्ञोंमें सुवर्णसे बनायी गयी थीं ॥ ४ ॥

चषालयूपचमसाः स्थाल्यः पात्र्यः स्रुचः स्रुवाः।
तेष्वेव चास्य यज्ञेषु प्रयोगाः सप्त विश्रुताः ॥ ५ ॥

प्रायः यज्ञोंमें चषाल[1], यूप[2], चमस[3], स्थाली[4], पात्री[5], स्रुक्[6] और स्रुवा[7]—ये सात साधन उपयोगमें लाये जाते हैं। राजा गयके पूर्वोक्त सातों यज्ञोंमें ये सभी उपकरण सुवर्णके ही थे, ऐसा सुना जाता है ॥ ५ ॥

सप्तैकैकस्य यूपस्य चषालाश्चोपरि स्थिताः।
तस्य स्म यूपान् यज्ञेषु भ्राजमानान् हिरण्मयान् ॥ ६ ॥
स्वयमुत्थापयामासुर्देवाः सेन्द्रा युधिष्ठिर।
तेषु तस्य मखाग्र्येषु गयस्य पृथिवीपतेः ॥ ७ ॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः।
प्रसंख्यानानसंख्येयान् प्रत्यगृह्णन् द्विजातयः ॥ ८ ॥

सात यूपोंमेंसे प्रत्येकके ऊपर सात-सात चषाल थे। युधिष्ठिर! उन यज्ञोंमें जो चमकते हुए सुवर्णमय यूप थे, उन्हें इन्द्र आदि देवताओंने स्वयं खड़ा किया था। राजा गयके उन उत्तम यज्ञोंमें इन्द्र सोमपान करके और ब्राह्मण बहुत-सी दक्षिणा पाकर हर्षोन्मत्त हो गये थे। ब्राह्मणोंने दक्षिणामें जो बहुसंख्यक धनराशि प्राप्त की थी, उसकी गणना नहीं की जा सकती थी ॥ ६—८ ॥

सिकता वा यथा लोके यथा वा दिवि तारकाः।
यथा वा वर्षतो धारा असंख्येयाः स्म केनचित् ॥ ९ ॥
तथैव तदसंख्येयं धनं यत् प्रददौ गयः।
सदस्येभ्यो महाराज तेषु यज्ञेषु सप्तसु ॥ १० ॥

महाराज! राजा गयने सातों यज्ञोंमें सदस्योंको, जो असंख्य धन प्रदान किया था, उसकी गणना उसी प्रकार

१. यूपके ऊपरका गोलाकार काष्ठ। २. यूप—यज्ञ-स्तम्भ। ३. चमस—सोमपानका पात्र। ४. बटलोई। ५. पकी-पकायी रखनेका सामग्री-पात्र। ६. हविष्य अर्पण करनेका उपकरण। ७. घृत आदिकी आहुति डालनेका साधन।

नहीं हो सकती थी, जैसे इस जगत्‌में कोई बालूके कणों, आकाशके तारों और वर्षाकी धाराओंको नहीं गिन सकता ॥ ९-१० ॥

भवेत् संख्येयमेतद्धि यदेतत् परिकीर्तितम् ।
न तस्य शक्याः संख्यातुं दक्षिणा दक्षिणावतः॥ ११ ॥

उपर्युक्त बालूके कण आदि कदाचित् गिने भी जा सकते हैं; परंतु दक्षिणा देनेवाले राजा गयकी दक्षिणाकी गणना करना सम्भव नहीं है ॥ ११ ॥

हिरण्मयीभिर्गोभिश्च कृताभिर्विश्वकर्मणा ।
ब्राह्मणांस्तर्पयामास नानादिग्भ्यः समागतान् ॥ १२ ॥
अल्पावशेषा पृथिवी चैत्यैरासीन्महात्मनः ।
गयस्य यजमानस्य तत्र तत्र विशाम्पते ॥ १३ ॥

उन्होंने विश्वकर्माकी बनायी हुई सुवर्णमयी गौएँ देकर विभिन्न दिशाओंसे आये हुए ब्राह्मणोंको संतुष्ट किया था। युधिष्ठिर ! भिन्न-भिन्न स्थानोंमें यज्ञ करनेवाले महामना राजा गयके राज्यकी थोड़ी ही भूमि ऐसी बच गयी थी, जहाँ यज्ञके मण्डप न हों ॥ १२-१३ ॥

स लोकान् प्राप्तवानैन्द्रान् कर्मणा तेन भारत ।
सलोकतां तस्य गच्छेत् पयोष्ण्यां य उपस्पृशेत्॥ १४ ॥

भारत ! उस यज्ञ-कर्मके प्रभावसे गयने इन्द्रादि लोकों-को प्राप्त किया। जो इस पयोष्णी नदीमें स्नान करता है, वह भी राजा गयके समान पुण्यलोकका भागी होता है ॥ १४ ॥

तस्मात् त्वमत्र राजेन्द्र भ्रातृभिः सहितोऽच्युत ।
उपस्पृश्य महीपाल धूतपाप्मा भविष्यसि ॥ १५ ॥

अतः राजेन्द्र ! तुम भाइयोंसहित इसमें स्नान करके सब पापोंसे मुक्त हो जाओगे ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

स पयोष्ण्यां नरश्रेष्ठः स्नात्वा वै भ्रातृभिः सह ।
वैदूर्यपर्वतं चैव नर्मदां च महानदीम् ॥ १६ ॥
(उद्दिश्य पाण्डवश्रेष्ठः स प्रतस्थे महीपतिः ।)
समागमत तेजस्वी भ्रातृभिः सहितोऽनघ ।
तत्रास्य सर्वाण्याचख्यौ लोमशो भगवानृषिः ॥ १७ ॥
तीर्थानि रमणीयानि पुण्यान्यायतनानि च ।
यथायोगं यथाप्रीति प्रययौ भ्रातृभिः सह ।
तत्र तत्राददाद् वित्तं ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—निष्पाप जनमेजय ! पाण्डवप्रवर नरश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर भाइयोंसहित पयोष्णी-नदीमें स्नान करके वैदूर्यपर्वत और महानदी नर्मदाके तटपर जानेका उद्देश्य लेकर वहाँसे चल दिये और वे तेजस्वी नरेश सब भाइयोंको साथ लिये यथासमय अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँच गये । वहाँ भगवान् लोमश मुनिने उनसे समस्त रमणीय तीर्थों और पवित्र देवस्थानोंका परिचय कराया । तत्पश्चात् राजाने अपनी सुविधा और प्रसन्नताके अनुसार सहस्रों ब्राह्मणोंको धनका दान किया और भाइयों-सहित उन सब स्थानोंकी यात्रा की ॥ १६–१८ ॥

लोमश उवाच

देवानामेति कौन्तेय तथा राज्ञां सलोकताम् ।
वैदूर्यपर्वतं दृष्ट्वा नर्मदामवतीर्य च ॥ १९ ॥

लोमशजीने कहा—कुन्तीनन्दन ! वैदूर्यपर्वतका दर्शन करके नर्मदामें उतरनेसे मनुष्य देवताओं तथा पुण्यात्मा राजाओंके समान पवित्र लोकोंको प्राप्त कर लेता है ॥ १९ ॥

संधिरेष नरश्रेष्ठ त्रेताया द्वापरस्य च ।
एतमासाद्य कौन्तेय सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २० ॥

नरश्रेष्ठ ! यह वैदूर्यपर्वत त्रेता और द्वापरकी सन्धिमें प्रकट हुआ है, इसके निकट जाकर मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २० ॥

एष शर्यातियज्ञस्य देशस्तात प्रकाशते ।
साक्षाद् यत्रापिबत् सोममश्विभ्यां सह कौशिकः॥ २१॥

तात ! यह राजा शर्यातिके यज्ञका स्थान प्रकाशित हो रहा है, जहाँ साक्षात् इन्द्रने अश्विनीकुमारोंके साथ बैठकर सोम-पान किया था ॥ २१ ॥

चुकोप भार्गवश्चापि महेन्द्रस्य महातपाः ।
संस्तम्भयामास च तं वासवं च्यवनः प्रभुः ।
सुकन्यां चापि भार्यां स राजपुत्रीमवाप्तवान् ॥ २२ ॥
(नासत्यौ च महाभाग कृतवान् सोमपीथिनौ ।)

महाभाग ! यहीं महातपस्वी भृगुनन्दन भगवान् च्यवन देवराज इन्द्रपर कुपित हुए थे और यहीं उन्होंने इन्द्रको स्तम्भित भी कर दिया था। इतना ही नहीं, मुनिवर च्यवन-ने यहीं अश्विनीकुमारोंको यज्ञमें सोमपानका अधिकारी बनाया था। और इसी स्थानपर राजकुमारी सुकन्या उन्हें पत्नी-रूपमें प्राप्त हुई थी ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं विष्टम्भितस्तेन भगवान् पाकशासनः ।
किमर्थं भार्गवश्चापि कोपं चक्रे महातपाः ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मुने ! महातपस्वी भृगुपुत्र महर्षि च्यवनने भगवान् इन्द्रका स्तम्भन कैसे किया ? उन्हें इन्द्रपर क्रोध किस लिये हुआ ? ॥ २३ ॥

नासत्यौ च कथं ब्रह्मन् कृतवान् सोमपीथिनौ।
एतत् सर्वं यथावृत्तमाख्यातु भगवान् मम ॥ २४ ॥

तथा ब्रह्मन् ! उन्होंने अश्विनीकुमारोंको यज्ञमें सोमपानका अधिकारी किस प्रकार बनाया ? ये सब बातें आप यथार्थरूपसे मुझे बतावें ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

महर्षि च्यवनको सुकन्याकी प्राप्ति

लोमश उवाच

भृगोर्महर्षेः पुत्रोऽभूच्च्यवनो नाम भारत।
समीपे सरसस्तस्य तपस्तेपे महाद्युतिः ॥ १ ॥
स्थाणुभूतो महातेजा वीरस्थानेन पाण्डव।
अतिष्ठत चिरं कालमेकदेशे विशाम्पते ॥ २ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! महर्षि भृगुके पुत्र च्यवन मुनि हुए, जो महान् तेजस्वी थे। उन्होंने उस सरोवरके समीप तपस्या आरम्भ की। पाण्डुनन्दन ! परम तेजस्वी महात्मा च्यवन वीरासनसे बैठकर ठूँठे काठके समान जान पड़ते थे। राजन् ! वे एक ही स्थानपर दीर्घकालतक अविचल भावसे बैठे रहे ॥ १-२ ॥

स वल्मीकोऽभवदृषिर्लताभिरिव संवृतः।
कालेन महता राजन् समाकीर्णः पिपीलिकैः ॥ ३ ॥

धीरे-धीरे अधिक समय बीतनेपर उनका शरीर चींटियोंसे व्याप्त हो गया। वे महर्षि लताओंसे आच्छादित हो गये और बाँबीके समान प्रतीत होने लगे ॥ ३ ॥

तथा स संवृतो धीमान् मृत्पिण्ड इव सर्वशः।
तप्यते स्म तपो घोरं वल्मीकेन समावृतः ॥ ४ ॥

इस प्रकार लता-वेलोंसे आच्छादित हो बुद्धिमान् च्यवन मुनि सब ओरसे केवल मिट्टीके लौंदेके समान जान पड़ने लगे। दीमकोंद्वारा जमा की हुई मिट्टीके ढेरसे ढके हुए वे बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे ॥ ४ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य शर्यातिर्नाम पार्थिवः।
आजगाम सरो रम्यं विहर्तुमिदमुत्तमम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार दीर्घ काल व्यतीत होनेपर राजा शर्याति इस उत्तम एवं रमणीय सरोवरके तटपर विहारके लिये आये ॥ ५ ॥

तस्य स्त्रीणां सहस्राणि चत्वार्यासन् परिग्रहे।
एकैव च सुता सुभ्रूः सुकन्या नाम भारत ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर ! उनके अन्तःपुरमें चार हजार स्त्रियाँ थीं; परंतु संतानके नामपर केवल एक ही सुन्दरी पुत्री थी, जिसका नाम सुकन्या था ॥ ६ ॥

सा सखीभिः परिवृता दिव्याभरणभूषिता।
चंक्रम्यमाणा वल्मीकं भार्गवस्य समासदत् ॥ ७ ॥

वह कन्या दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो सखियोंसे घिरी हुई वनमें इधर-उधर घूमने लगी। घूमती-घामती वह भृगुनन्दन च्यवनकी बाँबीके पास जा पहुँची ॥ ७ ॥

सा वै वसुमतीं तत्र पश्यन्ती सुमनोरमाम्।
वनस्पतीन् विचिन्वन्ती विजहार सखीवृता ॥ ८ ॥

वहाँकी भूमि उसे बड़ी मनोहर दिखायी दी। वह सखियोंके साथ वृक्षोंके फल-फूल तोड़ती हुई चारों ओर घूमने लगी ॥ ८ ॥

रूपेण वयसा चैव मदनेन मदेन च।
बभञ्ज वनवृक्षाणां शाखाः परमपुष्पिताः ॥ ९ ॥
तां सखीरहितामेकामेकवस्त्रामलंकृताम्।
ददर्श भार्गवो धीमांश्चरन्तीमिव विद्युतम् ॥ १० ॥

सुन्दर रूप, नयी अवस्था, काम-भावके उदय और यौवनके मदसे प्रेरित हो सुकन्याने उत्तम फूलोंसे भरी हुई वन-वृक्षोंकी बहुत-सी शाखाएँ तोड़ लीं। वह सखियोंका साथ छोड़कर अकेली टहलने लगी। उस समय उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था और वह भाँति-भाँतिके अलङ्कारोंसे अलङ्कृत थी। बुद्धिमान् च्यवन मुनिने उसे देखा। वह चमकती हुई विद्युत्के समान चारों ओर विचर रही थी ॥ ९-१० ॥

तां पश्यमानो विजने स रेमे परमद्युतिः।
क्षामकण्ठश्च विप्रर्षिस्तपोबलसमन्वितः ॥ ११ ॥

उसे एकान्तमें देखकर परम कान्तिमान्, तपोबलसम्पन्न एवं दुर्बल कण्ठवाले ब्रह्मर्षि च्यवनको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ११ ॥

तामाबभाषे कल्याणीं सा चास्य न शृणोति वै।
ततः सुकन्या वल्मीके दृष्ट्वा भार्गवचक्षुषी ॥ १२ ॥
कौतूहलात् कण्टकेन बुद्धिमोहबलात्कृता।
किं नु खल्विदमित्युक्त्वा निर्बिभेदास्य लोचने ॥ १३ ॥
अक्रुध्यत् स तया विद्धे नेत्रे परममन्युमान्।
ततः शर्यातिसैन्यस्य शकृन्मूत्रे समावृणोत् ॥ १४ ॥

ततो रुद्धे शकृन्मूत्रे सैन्यमानाहदुःखितम् ।
तथागतमभिप्रेक्ष्य पर्यपृच्छत् स पार्थिवः ॥ १५ ॥
तपोनित्यस्य वृद्धस्य रोषणस्य विशेषतः ।
केनापकृतमद्येह भार्गवस्य महात्मनः ॥ १६ ॥
ज्ञातं वा यदि वाज्ञातं तद् द्रुतं ब्रूत मा चिरम् ।
तमूचुः सैनिकाः सर्वे न विद्मोऽपकृतं वयम् ॥ १७ ॥

उन्होंने उस कल्याणमयी राजकन्याको पुकारा; परंतु वह (ब्रह्मर्षिका कण्ठ दुर्बल होनेके कारण) उनकी आवाज नहीं सुनती थी । उस बाँबीमें मुनिवर च्यवनकी चमकती हुई आँखोंको देखकर उसे बहुत कौतूहल हुआ । उसकी बुद्धिपर मोह छा गया और उसने विवश होकर यह कहती हुई कि 'देखूँ यह क्या है !' एक काँटेसे उन्हें छेद दिया ।



उसके द्वारा आँखें बिंध जानेके कारण परम क्रोधी ब्रह्मर्षि च्यवन अत्यन्त कुपित हो उठे । फिर तो उन्होंने शर्यातिकी सेनाके मल-मूत्र बंद कर दिये । मल-मूत्रका द्वार बंद हो जानेसे मलावरोधके कारण सारी सेनाको बहुत दुःख होने लगा । सैनिकोंकी ऐसी अवस्था देखकर राजाने सबसे पूछा—'यहाँ नित्य-निरन्तर तपस्यामें संलग्न रहनेवाले वयोवृद्ध महामना च्यवन रहते हैं । वे स्वभावतः बड़े क्रोधी हैं । उनका जानकर या बिना जाने आज किसने अपकार किया है ? जिन लोगोंने भी ब्रह्मर्षिका अपराध किया हो, वे तुरंत सब कुछ बता दें, विलम्ब न करें ।'

तब सम्पूर्ण सैनिकोंने उनसे कहा—'महाराज ! हम नहीं जानते कि किसके द्वारा उनका अपराध हुआ है' ॥ १३—१७ ॥

सर्वोपायैर्यथाकामं भवांस्तदधिगच्छतु ।
ततः स पृथिवीपालः साम्ना चोग्रेण च स्वयम् ॥ १८ ॥
पर्यपृच्छत् सुहृद्वर्गं पर्यजानन्न चैव ते ।
आनाहार्तं ततो दृष्ट्वा तत्सैन्यमसुखार्दितम् ॥ १९ ॥
पितरं दुःखितं दृष्ट्वा सुकन्येदमथाब्रवीत् ।
मयाटन्त्येह वल्मीके दृष्टं सत्त्वमभिज्वलत् ॥ २० ॥
खद्योतवदभिज्ञातं तन्मया विद्धमन्तिकात् ।
एतच्छ्रुत्वा तु वल्मीकं शर्यातिस्तूर्णमभ्ययात् ॥ २१ ॥
तत्रापश्यत् तपोवृद्धं वयोवृद्धं च भार्गवम् ।
अयाचदथ सैन्यार्थं प्राञ्जलिः पृथिवीपतिः ॥ २२ ॥

'आप अपनी रुचिके अनुसार सभी उपायोंद्वारा इसका पता लगावें ।' तब राजा शर्यातिने साम और उग्रनीतिके द्वारा सभी सुहृदोंसे पूछा; परंतु वे भी इसका पता न लगा सके । तदनन्तर सुकन्याने सारी सेनाको मलावरोधके कारण दुःखसे पीड़ित और पिताको भी चिन्तित देख इस प्रकार कहा—'तात ! मैंने इस वनमें घूमते समय एक बाँबीके भीतर कोई चमकीली वस्तु देखी, जो जुगनूके समान जान पड़ती थी । उसके निकट जाकर मैंने उसे काँटेसे बींध दिया ।' यह सुनकर शर्याति तुरंत ही बाँबीके पास गये । वहाँ उन्होंने तपस्यामें बढ़े-चढ़े वयोवृद्ध महात्मा च्यवनको देखा और हाथ जोड़कर अपने सैनिकोंका कष्ट निवारण करनेके लिये याचना की—॥ १८—२२ ॥

अज्ञानाद् बालया यत् ते कृतं तत् क्षन्तुमर्हसि ।
ततोऽब्रवीन्महीपालं च्यवनो भार्गवस्तदा ॥ २३ ॥
अपमानादहं विद्धो ह्यनया दर्पपूर्णया ।
रूपौदार्यसमायुक्तां लोभमोहबलात्कृताम् ॥ २४ ॥
तामेव प्रतिगृह्याहं राजन् दुहितरं तव ।
क्षंस्यामीति महीपाल सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २५ ॥

'भगवन् ! मेरी बालिकाने अज्ञानवश जो आपका अपराध किया है, उसे आप कृपापूर्वक क्षमा करें ।' उनके ऐसा कहनेपर भृगुनन्दन च्यवनने राजासे कहा—'राजन् ! तुम्हारी इस पुत्रीने अहंकारवश अपमानपूर्वक मेरी आँखें फोड़ी हैं, अतः रूप और उदारता आदि गुणोंसे युक्त तथा लोभ और मोहके वशीभूत हुई तुम्हारी इस कन्याको पत्नी-रूपमें प्राप्त करके ही मैं इसका अपराध क्षमा कर सकता हूँ । भूपाल ! यह मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ' ॥ २३—२५ ॥

लोमश उवाच

ऋषेर्वचनमाज्ञाय शर्यातिरविचारयन् ।
ददौ दुहितरं तस्मै च्यवनाय महात्मने ॥ २६ ॥

लोमशजी कहते हैं—च्यवन ऋषिका यह वचन सुनकर राजा शर्यातिने बिना कुछ विचार किये ही महात्मा च्यवनको अपनी पुत्री दे दी ॥ २६ ॥

प्रतिगृह्य च तां कन्यां भगवान् प्रससाद ह ।
प्राप्तप्रसादो राजा वै ससैन्यः पुरमाव्रजत् ॥ २७ ॥

उस राजकन्याको पाकर भगवान् च्यवन मुनि प्रसन्न हो गये । तत्पश्चात् उनका कृपाप्रसाद प्राप्त करके राजा शर्याति सेनासहित सकुशल अपनी राजधानीको लौट आये ॥ २७ ॥

सुकन्यापि पतिं लब्ध्वा तपस्विनमनिन्दिता ।
नित्यं पर्यचरत् प्रीत्या तपसा नियमेन च ॥ २८ ॥

सुकन्या भी तपस्वी च्यवनको पतिरूपमें पाकर प्रतिदिन प्रेमपूर्वक तप और नियमका पालन करती हुई उनकी परिचर्या करने लगी ॥ २८ ॥

अग्नीनामतिथीनां च शुश्रूषुरनसूयिका ।
समाराधयत क्षिप्रं च्यवनं सा शुभानना ॥ २९ ॥

सुमुखी सुकन्या किसीके गुणोंमें दोष नहीं देखती थी । वह त्रिविध अग्नियों और अतिथियोंकी सेवामें तत्पर हो शीघ्र ही महर्षि च्यवनकी आराधनामें लग गयी ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२२ ॥

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अश्विनीकुमारोंकी कृपासे महर्षि च्यवनको सुन्दर रूप और युवावस्थाकी प्राप्ति

लोमश उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य त्रिदशावश्विनौ नृप ।
कृताभिषेकां विवृतां सुकन्यां तामपश्यताम् ॥ १ ॥
तां दृष्ट्वा दर्शनीयाङ्गीं देवराजसुतामिव ।
ऊचतुः समभिद्रुत्य नासत्यावश्विनाविदम् ॥ २ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर कुछ कालके बाद जब एक समय सुकन्या स्नान कर चुकी थी, उस समय उसके सब अङ्ग ढके हुए नहीं थे । इसी अवस्थामें दोनों अश्विनीकुमार देवताओंने उसे देखा । साक्षात् देवराज इन्द्रकी पुत्रीके समान दर्शनीय अङ्गोंवाली उस राजकन्याको देखकर नासत्यसंज्ञक अश्विनीकुमारोंने उसके पास जा यह बात कही—॥ १-२ ॥

कस्य त्वमसि वामोरु वनेऽस्मिन् किं करोषि च ।
इच्छाव भद्रे ज्ञातुं त्वां तत्त्वमाख्याहि शोभने ॥ ३ ॥

'वामोरु ! तुम किसकी पुत्री और किसकी पत्नी हो ? इस वनमें क्या करती हो ! भद्रे ! हम तुम्हारा परिचय प्राप्त करना चाहते हैं । शोभने ! तुम सब बातें ठीक-ठीक बताओ' ॥ ३ ॥

ततः सुकन्या सव्रीडा तावुवाच सुरोत्तमौ ।
शर्यातितनयां वित्तं भार्यां मां च्यवनस्य च ॥ ४ ॥

तब सुकन्याने लज्जित होकर उन दोनों श्रेष्ठ देवताओंसे कहा—'देवेश्वरो ! आपको विदित होना चाहिये कि मैं राजा शर्यातिकी पुत्री और महर्षि च्यवनकी पत्नी हूँ ॥ ४ ॥

(नाम्ना चाहं सुकन्यास्मि नृलोकेऽस्मिन् प्रतिष्ठिता।
साहं सर्वात्मना नित्यं पतिं प्रति सुनिष्ठिता ॥)

'मेरा नाम इस जगत्में सुकन्या प्रसिद्ध है । मैं सम्पूर्ण हृदयसे सदा अपने पतिदेवके प्रति निष्ठा रखती हूँ ।' यह सुनकर अश्विनीकुमारोंने पुनः हँसते हुए कहा—

अथाश्विनौ प्रहस्यैतामब्रूतां पुनरेव तु ।
कथं त्वमसि कल्याणि पित्रा दत्ता गताध्वने ॥ ५ ॥
भ्राजसेऽस्मिन् वने भीरु विद्युत्सौदामनी यथा ।
न देवेष्वपि तुल्यां हि त्वया पश्याव भाविनि ॥ ६ ॥

'कल्याणि ! तुम्हारे पिताने इस अत्यन्त बूढ़े पुरुषके साथ तुम्हारा विवाह कैसे कर दिया ? भीरु ! इस वनमें तुम विद्युत्की भाँति प्रकाशित हो रही हो । भामिनि ! देवताओंके यहाँ भी तुम-जैसी सुन्दरीको हम नहीं देख पाते हैं ॥ ५-६ ॥

अनाभरणसम्पन्ना परमाम्बरवर्जिता ।
शोभयस्यधिकं भद्रे वनमप्यनलंकृता ॥ ७ ॥

'भद्रे ! तुम्हारे अङ्गोंपर आभूषण नहीं है । तुम उत्तम वस्त्रोंसे भी वञ्चित हो और तुमने कोई शृङ्गार भी नहीं धारण किया है तो भी इस वनकी अधिकाधिक शोभा बढ़ा रही हो ॥ ७ ॥

सर्वाभरणसम्पन्ना परमाम्बरधारिणी ।
शोभसे त्वनवद्याङ्गि न त्वेवं मलपङ्किनी ॥ ८ ॥

'निर्दोष अङ्गोंवाली सुन्दरी ! यदि तुम समस्त भूषणोंसे भूषित हो जाओ और अच्छे-अच्छे वस्त्र पहन लो, तो उस समय तुम्हारी जो शोभा होगी, वैसी इस मल और पङ्कसे युक्त मलिन वेशमें नहीं हो रही है ॥ ८ ॥

कस्मादेवंविधा भूत्वा जराजर्जरितं पतिम् ।
त्वमुपास्से ह कल्याणि कामभोगबहिष्कृतम् ॥ ९ ॥

'कल्याणि ! तुम ऐसी अनुपम सुन्दरी होकर काम-भोगसे शून्य इस जरा-जर्जर बूढ़े पतिकी उपासना कैसे करती हो?।।९।।

असमर्थं परित्राणे पोषणे तु शुचिस्मिते ।
सा त्वं च्यवनमुत्सृज्य वरयस्वैकमावयोः ॥ १० ॥

'पवित्र मुसकानवाली देवि ! वह बूढ़ा तो तुम्हारी रक्षा और पालन-पोषणमें भी समर्थ नहीं है। अतः तुम च्यवनको छोड़कर हम दोनोंमेंसे किसी एकको अपना पति चुन लो ।।१०।।

पत्यर्थे देवगर्भाभे मा वृथा यौवनं कृथाः ।
एवमुक्ता सुकन्यापि सुरौ ताविदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

'देवकन्याके समान सुन्दरी राजकुमारी ! बूढ़े पतिके लिये अपनी इस जवानीको व्यर्थ न गँवाओ ।'

उनके ऐसा कहनेपर सुकन्याने उन दोनों देवताओंसे कहा--।। ११ ।।

रताहं च्यवने पत्यौ मैवं मां पर्यशङ्कतम् ।
तावब्रूतां पुनस्त्वेनामावां देवभिषग्वरौ ॥ १२ ॥
युवानं रूपसम्पन्नं करिष्यावः पतिं तव ।
ततस्तस्यावयोश्चैव वृणीष्वान्यतमं पतिम् ॥ १३ ॥
एतेन समयेनैनमामन्त्रय पतिं शुभे ।

'देवेश्वरो ! मैं अपने पतिदेव च्यवनमुनिमें ही पूर्ण अनुराग रखती हूँ, अतः आप मेरे विषयमें इस प्रकारकी अनुचित आशङ्का न करें ।' तब उन दोनोंने पुनः सुकन्यासे कहा– 'शुभे ! हम देवताओंके श्रेष्ठ वैद्य हैं। तुम्हारे पतिको तरुण और मनोहर रूपसे सम्पन्न बना देंगे । तब तुम हम तीनोंमेंसे किसी एकको अपना पति बना लेना । इस शर्तके साथ तुम चाहो तो अपने पतिको यहाँ बुला लो' ।। १२-१३½ ।।

सा तयोर्वचनाद् राजन्नुपसंगम्य भार्गवम् ॥ १४ ॥
उवाच वाक्यं यत् ताभ्यामुक्तं भृगुसुतं प्रति ।
तच्छ्रुत्वा च्यवनो भार्यामुवाच क्रियतामिति ॥ १५ ॥

राजन् ! उन दोनोंकी यह बात सुनकर सुकन्या च्यवन मुनिके पास गयी और अश्विनीकुमारोंने जो कुछ कहा था, वह सब उन्हें कह सुनाया । यह सुनकर च्यवनने अपनी पत्नीसे कहा—'प्रिये ! देववैद्योंने जैसा कहा है, वैसा करो' ।। १४-१५ ।।

(सा भर्त्रा समनुज्ञाता क्रियतामिति चाब्रवीत् ।
श्रुत्वा तदश्विनौ वाक्यं तस्यास्तत् क्रियतामिति ॥)
ऊचतू राजपुत्रीं तां पतिस्तव विशत्वपः ।
ततोऽम्भश्च्यवनः शीघ्रं रूपार्थी प्रविवेश ह ॥ १६ ॥

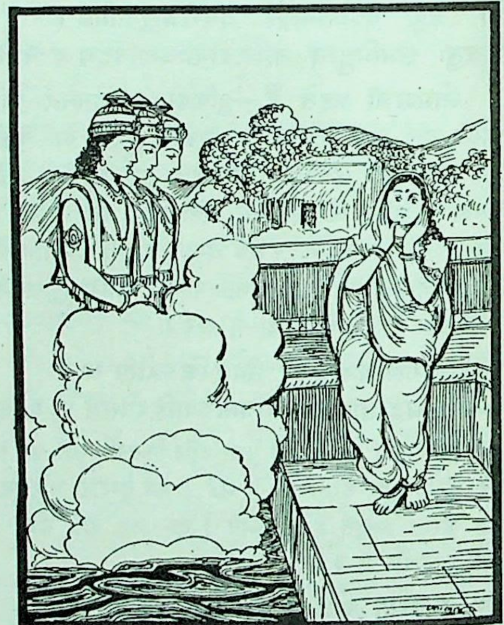
पतिकी यह आज्ञा पाकर सुकन्याने अश्विनीकुमारोंसे कहा–'आप मेरे पतिको रूप और यौवनसे सम्पन्न बना दें ।' उसका यह कथन सुनकर अश्विनीकुमारोंने राजकुमारी सुकन्यासे कहा—'तुम्हारे पतिदेव इस जलमें प्रवेश करें ।' तब च्यवन मुनिने सुन्दर रूपकी अभिलाषा लेकर शीघ्रतापूर्वक उस सरोवरके जलमें प्रवेश किया ।। १६ ।।

अश्विनावपि तद् राजन् सरः प्राविशतां तदा ।
ततो मुहूर्तादुत्तीर्णाः सर्वे ते सरसस्तदा ॥ १७ ॥
दिव्यरूपधराः सर्वे युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
तुल्यवेषधराश्चैव मनसः प्रीतिवर्धनाः ॥ १८ ॥

राजन् ! उनके साथ ही दोनों अश्विनीकुमार भी उस सरोवरमें प्रवेश कर गये । तदनन्तर दो घड़ीके पश्चात् वे सब-के-सब दिव्य रूप धारण करके सरोवरसे बाहर निकले । उन सबकी युवावस्था थी। उन्होंने कानोंमें चमकीले कुण्डल धारण कर रक्खे थे । वेष-भूषा भी उनकी एक-सी ही थी और वे सभी मनकी प्रीति बढ़ानेवाले थे ।। १७-१८ ।।

तेऽब्रुवन् सहिताः सर्वे वृणीष्वान्यतमं शुभे ।
अस्माकमीप्सितं भद्रे पतित्वे वरवर्णिनि ॥ १९ ॥

सरोवरसे बाहर आकर उन सबने एक साथ कहा— 'शुभे ! भद्रे ! वरवर्णिनि ! हममेंसे किसी एकको, जो तुम्हारी रुचिके अनुकूल हो, अपना पति बना लो ।। १९ ।।



यत्र वाप्यभिकामासि तं वृणीष्व सुशोभने ।
सा समीक्ष्य तु तान् सर्वांस्तुल्यरूपधरान् स्थितान् ॥ २० ॥
निश्चित्य मनसा बुद्ध्या देवी वव्रे स्वकं पतिम् ।
लब्ध्वा तु च्यवनो भार्यां वयो रूपं च वाञ्छितम् ॥ २१ ॥
हृष्टोऽब्रवीन्महातेजास्तौ नासत्याविदं वचः ।
यथाहं रूपसम्पन्नो वयसा च समन्वितः ॥ २२ ॥

कुतो भवद्भ्यां वृद्धः सन् भार्यां च प्राप्तवानिमाम्।
तस्माद् युवां करिष्यामि प्रीत्याहं सोमपीथिनौ।
मिषतो देवराजस्य सत्यमेतद् ब्रवीमि वाम्॥ २३॥

'अथवा शोभने! जिसको भी तुम मनसे चाहती होओ, उसीको पति बनाओ।' देवी सुकन्याने उन सबको एक-जैसा रूप धारण किये खड़े देख मन और बुद्धिसे निश्चय करके अपने पतिको ही स्वीकार किया। महातेजस्वी च्यवन मुनिने अनुकूल पत्नी, तरुण अवस्था और मनोवाञ्छित रूप पाकर बड़े हर्षका अनुभव किया और दोनों अश्विनीकुमारोंसे कहा—'आप दोनोंने मुझ बूढ़ेको रूपवान् और तरुण बना दिया, साथ ही मुझे अपनी यह भार्या भी मिल गयी; इसलिये मैं प्रसन्न होकर आप दोनोंको यज्ञमें देवराज इन्द्रके सामने ही सोमपानका अधिकारी बना दूँगा। यह मैं आपलोगोंसे सत्य कहता हूँ'॥ २०—२३॥

तच्छ्रुत्वा हृष्टमनसौ दिवं तौ प्रतिजग्मतुः।
च्यवनश्च सुकन्या च सुराविव विजह्रतुः॥ २४॥

यह सुनकर दोनों अश्विनीकुमार प्रसन्नचित्त हो देवलोकको लौट गये और च्यवन तथा सुकन्या देवदम्पतिकी भाँति विहार करने लगे॥ २४॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राप्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

शर्यातिके यज्ञमें च्यवनका इन्द्रपर कोप करके वज्रको स्तम्भित करना और उसे मारनेके लिये मदासुरको उत्पन्न करना

लोमश उवाच

ततः शुश्राव शर्यातिर्वयःस्थं च्यवनं कृतम्।
सुहृष्टः सेनया सार्धमुपायाद् भार्गवाश्रमम्॥ १॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर राजा शर्यातिने सुना कि महर्षि च्यवन युवावस्थाको प्राप्त हो गये; इस समाचारसे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे सेनाके साथ महर्षि च्यवनके आश्रमपर आये॥ १॥

च्यवनं च सुकन्यां च दृष्ट्वा देवसुताविव।
रेमे सभार्यः शर्यातिः कृत्स्नां प्राप्य महीमिव॥ २॥
ऋषिणा सत्कृतस्तेन सभार्यः पृथिवीपतिः।
उपोपविष्टः कल्याणीः कथाश्चक्रे मनोरमाः॥ ३॥

च्यवन और सुकन्याको देवकुमारोंके समान सुखी देखकर पत्नीसहित शर्यातिको महान् हर्ष हुआ, मानो उन्हें सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य मिल गया हो। च्यवन ऋषिने रानियोंसहित राजाका बड़ा आदर-सत्कार किया और उनके पास बैठकर मनको प्रिय लगनेवाली कल्याणमयी कथाएँ सुनायीं॥ २-३॥

अथैनं भार्गवो राजन्नुवाच परिसान्त्वयन्।
याजयिष्यामि राजंस्त्वां सम्भारानवकल्पय॥ ४॥

युधिष्ठिर! तत्पश्चात् भृगुनन्दन च्यवनने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—'राजन्! मैं आपसे यज्ञ कराऊँगा। आप सामग्री जुटाइये'॥ ४॥

ततः परमसंहृष्टः शर्यातिरवनीपतिः।
च्यवनस्य महाराज तद् वाक्यं प्रत्यपूजयत्॥ ५॥

महाराज! यह सुनकर राजा शर्याति बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने च्यवन मुनिके उस वचनकी बड़ी सराहना की॥

प्रशस्तेऽहनि यज्ञीये सर्वकामसमृद्धिमत्।
कारयामास शर्यातिर्यज्ञायतनमुत्तमम्॥ ६॥

तदनन्तर यज्ञके लिये उपयोगी शुभ दिन आनेपर शर्यातिने एक उत्तम यज्ञ-मण्डप तैयार करवाया, जो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित समृद्धियोंसे सम्पन्न था॥ ६॥

तत्रैनं च्यवनो राजन् याजयामास भार्गवः।
अद्भुतानि च तत्रासन् यानि तानि निबोध मे॥ ७॥

राजन्! भृगुपुत्र च्यवनने उस यज्ञमण्डपमें राजासे यज्ञ करवाया। उस यज्ञमें जो अद्भुत बातें हुईं थीं, उन्हें मुझसे सुनो॥ ७॥

अगृह्णाच्च्यवनः सोममश्विनोर्देवयोस्तदा।
तमिन्द्रो वारयामास गृह्णानं स तयोर्ग्रहम्॥ ८॥

महर्षि च्यवनने उस समय दोनों अश्विनीकुमारोंको देनेके लिये सोमरसका भाग हाथमें लिया। उन दोनोंके लिये सोमका भाग ग्रहण करते समय इन्द्रने मुनिको मना किया॥

इन्द्र उवाच

उभावेतौ न सोमार्हौ नासत्याविति मे मतिः।
भिषजौ दिवि देवानां कर्मणा तेन नार्हतः॥ ९॥

इन्द्र बोले—मुने! मेरा यह सिद्धान्त है कि ये दोनों अश्विनीकुमार यज्ञमें सोमपानके अधिकारी नहीं हैं; क्योंकि ये द्युलोकनिवासी देवताओंके वैद्य हैं और उस वैद्यवृत्तिके कारण ही इन्हें यज्ञमें सोमपानका अधिकार नहीं रह गया है॥

च्यवन उवाच

महोत्साहौ महात्मानौ रूपद्रविणवत्तरौ ।
यौ चक्रतुर्मां मघवन् वृन्दारकमिवाजरम् ॥ १० ॥
ऋते त्वां विबुधांश्चान्यान् कथं वै नार्हतः सवम् ।
अश्विनावपि देवेन्द्र देवौ विद्धि पुरंदर ॥ ११ ॥

च्यवनने कहा—मघवन् ! ये दोनों अश्विनीकुमार बड़े उत्साही और महान् बुद्धिमान् हैं। रूप-सम्पत्तिमें भी सबसे बढ़-चढ़कर हैं। इन्होंने ही मुझे देवताओंके समान दिव्य रूपसे युक्त और अजर बनाया है। देवराज ! फिर तुम्हारे या अन्य देवताओंके सिवा इन्हें यज्ञमें सोमरसका भाग पानेका अधिकार क्यों नहीं है ? पुरंदर ! इन अश्विनीकुमारोंको भी देवता ही समझो ॥ १०-११ ॥

इन्द्र उवाच

चिकित्सकौ कर्मकरौ कामरूपसमन्वितौ ।
लोके चरन्तौ मर्त्यानां कथं सोममिहार्हतः ॥ १२ ॥

इन्द्र बोले—ये दोनों चिकित्सा-कार्य करते हैं और मनमाना रूप धारण करके मृत्युलोकमें भी विचरते रहते हैं, फिर इन्हें इस यज्ञमें सोमपानका अधिकार कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥

लोमश उवाच

एतदेव यदा वाक्यमाम्रेडयति देवराट् ।
अनादृत्य ततः शक्रं ग्रहं जग्राह भार्गवः ॥ १३ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब देवराज इन्द्र बार-बार यही बात दुहराने लगे। तब भृगुनन्दन च्यवनने उनकी अवहेलना करके अश्विनीकुमारोंको देनेके लिये सोमरसका भाग ग्रहण किया ॥ १३ ॥

ग्रहीष्यन्तं तु तं सोममश्विनोरुत्तमं तदा ।
समीक्ष्य बलभिद् देव इदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

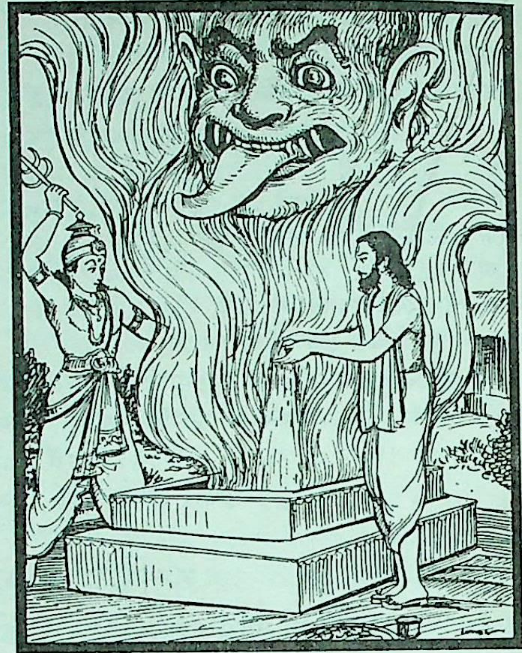
उस समय देववैद्योंके लिये उत्तम सोमरस ग्रहण करते देख इन्द्रने च्यवन मुनिसे इस प्रकार कहा—॥ १४ ॥

आभ्यामर्थाय सोमं त्वं ग्रहीष्यसि यदि स्वयम् ।
वज्रं ते प्रहरिष्यामि घोररूपमनुत्तमम् ॥ १५ ॥

'ब्रह्मन् ! यदि तुम इन दोनोंके लिये स्वयं सोमरस ग्रहण करोगे तो मैं तुमपर अपना परम उत्तम भयंकर वज्र छोड़ दूँगा' ॥

एवमुक्तः स्मयन्निन्द्रमभिवीक्ष्य स भार्गवः ।
जग्राह विधिवत् सोममश्विभ्यामुत्तमं ग्रहम् ॥ १६ ॥

उनके ऐसा कहनेपर च्यवन मुनिने मुसकराते हुए इन्द्रकी ओर देखकर अश्विनीकुमारोंके लिये विधिपूर्वक उत्तम सोमरस हाथमें लिया ॥ १६ ॥



ततोऽस्मै प्राहरद् वज्रं घोररूपं शचीपतिः ।
तस्य प्रहरतो बाहुं स्तम्भयामास भार्गवः ॥ १७ ॥

तब शचीपति इन्द्र उनके ऊपर भयंकर वज्र छोड़ने लगे, परंतु वे जैसे ही प्रहार करने लगे, भृगुनन्दन च्यवनने उनकी भुजाको स्तम्भित कर दिया ॥ १७ ॥

तं स्तम्भयित्वा च्यवनो जुहुवे मन्त्रतोऽनलम् ।
कृत्यार्थी सुमहातेजा देवं हिंसितुमुद्यतः ॥ १८ ॥

इस प्रकार उनकी भुजा स्तम्भित करके महातेजस्वी च्यवन ऋषिने मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्निमें आहुति दी। वे देवराज इन्द्रको मार डालनेके लिये उद्यत होकर कृत्या उत्पन्न करना चाहते थे ॥ १८ ॥

ततः कृत्याथ संजज्ञे मुनेस्तस्य तपोबलात् ।
मदो नाम महावीर्यो बृहत्कायो महासुरः ॥ १९ ॥
शरीरं यस्य निर्देष्टुमशक्यं तु सुरासुरैः ।
तस्यास्यमभवद् घोरं तीक्ष्णाग्रदशनं महत् ॥ २० ॥
हनुरेका स्थिता त्वस्य भूमावेका दिवं गता ।
चतस्रश्चायता दंष्ट्रा योजनानां शतं शतम् ॥ २१ ॥

च्यवन ऋषिके तपोबलसे वहाँ कृत्या प्रकट हो गयी। उस कृत्याके रूपमें महापराक्रमी विशालकाय महादैत्य मदका प्रादुर्भाव हुआ। जिसके शरीरका वर्णन देवता तथा असुर भी नहीं कर सकते। उस असुरका विशाल मुख बड़ा भयंकर था। उसके आगेके दाँत बड़े तीखे दिखायी देते थे। उसका ठोढ़ीसहित नीचेका ओठ धरतीपर टिका हुआ

था और दूसरा स्वर्गलोकतक पहुँच गया था। उसकी चार दाढ़ें सौ-सौ योजनतक फैली हुई थीं ॥ १९—२१ ॥

इतरे तस्य दशना बभूवुर्दशयोजनाः।
प्रासादशिखराकाराः शूलाग्रसमदर्शनाः ॥ २२ ॥

उस दैत्यके दूसरे दाँत भी दस-दस योजन लम्बे थे। उनकी आकृति महलोंके कँगूरोंके समान थी। उनका अग्रभाग शूलके समान तीखा दिखलायी देता था ॥ २२ ॥

बाहू पर्वतसंकाशावायतावयुतं समौ।
नेत्रे रविशशिप्रख्ये वक्त्रं कालाग्निसंनिभम् ॥ २३ ॥
लेलिहञ्जिह्वया वक्त्रं विद्युच्चपललोलया।
व्यात्ताननो घोरदृष्टिर्ग्रसन्निव जगद् बलात् ॥ २४ ॥
स भक्षयिष्यन् संक्रुद्धः शतक्रतुमुपाद्रवत्।
महता घोररूपेण लोकाञ्छब्देन नादयन् ॥ २५ ॥

दोनों भुजाएँ दो पर्वतोंके समान प्रतीत होती थीं। दोनोंकी लंबाई एक समान दस-दस हजार योजनकी थी। उसके दोनों नेत्र चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रज्वलित हो रहे थे। उसका मुख प्रलयकालकी अग्निके समान जाज्वल्यमान जान पड़ता था। उसकी लपलपाती हुई चञ्चल जीभ विद्युत्‌के समान चमक रही थी और उसके द्वारा वह अपने जबड़ोंको चाट रहा था। उसका मुख खुला हुआ था और दृष्टि भयंकर थी; ऐसा जान पड़ता था, मानो वह सारे जगत्‌को बलपूर्वक निगल जायगा। वह दैत्य कुपित हो अपनी अत्यन्त भयंकर गर्जनासे सम्पूर्ण जगत्‌को गुँजाता हुआ इन्द्रको खा जानेके लिये उनकी ओर दौड़ा ॥२३-२५॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२४ ॥

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अश्विनीकुमारोंका यज्ञमें भाग स्वीकार कर लेनेपर इन्द्रका संकट-मुक्त होना तथा लोमशजीके द्वारा अन्यान्य तीर्थोंके महत्त्वका वर्णन

लोमश उवाच

तं दृष्ट्वा घोरवदनं मदं देवः शतक्रतुः।
आयान्तं भक्षयिष्यन्तं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ १ ॥
भयात् संस्तम्भितभुजः सृक्किणी लेलिहन् मुहुः।
ततोऽब्रवीद् देवराजश्च्यवनं भयपीडितः ॥ २ ॥
सोमार्हावश्विनावेतावद्यप्रभृति भार्गव।
भविष्यतः सत्यमेतद् वचो विप्रः प्रसीद मे ॥ ३ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! मुँह बाये हुए यमराजकी भाँति भयंकर मुखवाले उस मदासुरको निगलनेके लिये आते देख देवराज इन्द्र भयसे व्याकुल हो गये। जिनकी भुजाएँ स्तब्ध हो गयी थीं, वे इन्द्र मृत्युके डरसे घबराकर बार-बार ओष्ठ-प्रान्त चाटने लगे। उसी अवस्थामें उन्होंने महर्षि च्यवनसे कहा—'भृगुनन्दन! ये दोनों अश्विनीकुमार आजसे सोमपानके अधिकारी होंगे। मेरी यह बात सत्य है, अतः आप मुझपर प्रसन्न हों ॥ १–३ ॥

न ते मिथ्या समारम्भो भवत्वेष परो विधिः।
जानामि चाहं विप्रर्षे न मिथ्या त्वं करिष्यसि ॥ ४ ॥
सोमार्हावश्विनावेतौ यथा वाद्य कृतौ त्वया।
भूय एव तु ते वीर्यं प्रकाशेदिति भार्गव ॥ ५ ॥
सुकन्यायाः पितुश्चास्य लोके कीर्तिः प्रथेदिति।
अतो मयैतद् विहितं तव वीर्यप्रकाशनम् ॥ ६ ॥
तस्मात् प्रसादं कुरु मे भवत्वेवं यथेच्छसि।

'आपके द्वारा किया हुआ यह यज्ञका आयोजन मिथ्या न हो। आपने जो कर दिया, वही उत्तम विधान हो। ब्रह्मर्षे! मैं जानता हूँ, आप अपना संकल्प कभी मिथ्या न होने देंगे! आज आपने इन अश्विनीकुमारोंको जैसे सोमपानका अधिकारी बनाया है, उसी प्रकार मेरा भी कल्याण कीजिये। भृगुनन्दन! आपकी अधिक-से-अधिक शक्ति प्रकाशमें आवे तथा जगत्‌में सुकन्या और इसके पिताकी कीर्तिका विस्तार हो। इस उद्देश्यसे मैंने यह आपके बल-वीर्यको प्रकाशित करनेवाला कार्य किया है अतः आप प्रसन्न होकर मेरे ऊपर कृपा करें। आप जैसा चाहते हैं, वैसा ही होगा' ॥ ४—६½ ॥

एवमुक्तस्य शक्रेण भार्गवस्य महात्मनः ॥ ७ ॥
स मन्युर्व्यगमच्छीघ्रं मुमोच च पुरंदरम्।
मदं च व्यभजद् राजन् पाने स्त्रीषु च वीर्यवान् ॥ ८ ॥
अक्षेषु मृगयायां च पूर्वसृष्टं पुनः पुनः।
तदा मदं विनिक्षिप्य शक्रं संतर्प्य चेन्दुना ॥ ९ ॥
अश्विभ्यां सहितान् देवान् याजयित्वा च तं नृपम्।
विख्याप्य वीर्यं लोकेषु सर्वेषु वदतां वरः ॥ १० ॥
सुकन्यया सहारण्ये विजहारानुकूलया।
तस्यैतद् द्विजसंघुष्टं सरो राजन् प्रकाशते ॥ ११ ॥

इन्द्रके ऐसा कहनेपर भृगुनन्दन महामना च्यवनका

क्रोध शीघ्र शान्त हो गया और उन्होंने देवेन्द्रको (उसी क्षण सम्पूर्ण दुःखोंसे; मुक्त कर दिया। राजन्! उन शक्तिशाली ऋषिने मदको, जिसे पहले उन्होंने ही उत्पन्न किया था, मद्यपान, स्त्री, जूआ और मृगया (शिकार)—इन चार स्थानोंमें पृथक्-पृथक् बाँट दिया। इस प्रकार मदको दूर हटाकर उन्होंने देवराज इन्द्र और अश्विनीकुमारोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको सोमरससे तृप्त किया तथा राजा शर्यातिका यज्ञ पूर्ण कराकर समस्त लोकोंमें अपनी अद्भुत शक्तिको विख्यात करके वक्ताओंमें श्रेष्ठ च्यवन ऋषि अपनी मनोनुकूल पत्नी सुकन्याके साथ वनमें विहार करने लगे। युधिष्ठिर! यह जो पक्षियोंके कलरवसे गूँजता हुआ सरोवर सुशोभित हो रहा है, महर्षि च्यवनका ही है ॥ ७—११ ॥

अत्र त्वं सह सोदर्यैः पितॄन् देवांश्च तर्पय।
एतद् दृष्ट्वा महीपाल सिकताक्षं च भारत ॥ १२ ॥
सैन्धवारण्यमासाद्य कुल्यानां कुरु दर्शनम्।
पुष्करेषु महाराज सर्वेषु च जलं स्पृश ॥ १३ ॥
स्थाणोर्मन्त्राणि च जपन् सिद्धिं प्राप्स्यसि भारत।
संधिर्द्वयोर्नरश्रेष्ठ त्रेताया द्वापरस्य च ॥ १४ ॥

तुम भाइयोंसहित इसमें स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण करो। भूपाल! भरतनन्दन! इस सरोवरका और सिकताक्षतीर्थका दर्शन करके सैन्धवारण्यमें पहुँचकर वहाँकी छोटी-छोटी नदियोंके दर्शन करना। महाराज! यहाँके सभी तालाबमें जाकर जलका स्पर्श करो। भारत! स्थाणु (शिव) के मन्त्रोंका जप करते हुए उन तीर्थोंमें स्नान करनेसे तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी। नरश्रेष्ठ! यह त्रेता और द्वापरकी संधिके समय प्रकट हुआ तीर्थ है ॥ १२—१४ ॥

अयं हि दृश्यते पार्थ सर्वपापप्रणाशनः।
अत्रोपस्पृश्य चैव त्वं सर्वपापप्रणाशने ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर! यह सब पापोंका नाश करनेवाला तीर्थ दिखायी देता है। इस सर्वपापनाशन तीर्थमें स्नान करके तुम शुद्ध हो जाओगे ॥ १५ ॥

आर्चीकपर्वतश्चैव निवासो वै मनीषिणाम्।
सदाफलः सदास्रोतो मरुतां स्थानमुत्तमम् ॥ १६ ॥

इसके आगे आर्चीक पर्वत है, जहाँ मनीषी पुरुष निवास करते हैं। वहाँ सदा फल लगे रहते हैं और निरन्तर पानीके झरने बहते हैं। इस पर्वतपर अनेक देवताओंके उत्तम स्थान हैं ॥ १६ ॥

चैत्याश्चैते बहुविधास्त्रिदशानां युधिष्ठिर।
एतच्चन्द्रमसस्तीर्थमृषयः पर्युपासते।
वैखानसा बालखिल्याः पावका वायुभोजनाः ॥ १७ ॥

शृङ्गाणि त्रीणि पुण्यानि त्रीणि प्रस्रवणानि च।
सर्वाण्यनुपरिक्रम्य यथाकाममुपस्पृश ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर! ये देवताओंके अनेकानेक मन्दिर दिखायी देते हैं, जो नाना प्रकारके हैं। यह चन्द्रतीर्थ है, जिसकी बहुतसे ऋषिलोग उपासना करते हैं। यहाँ बालखिल्य नामक वैखानस महात्मा रहते हैं, जो वायुका आहार करनेवाले और परम पावन हैं। यहाँ तीन पवित्र शिखर और तीन झरने हैं। इन सबकी इच्छानुसार परिक्रमा करके स्नान करो ।१७-१८।

शान्तनुश्चात्र राजेन्द्र शुनकश्च नराधिपः।
नरनारायणौ चोभौ स्थानं प्राप्ताः सनातनम् ॥ १९ ॥

राजेन्द्र! यहाँ राजा शान्तनु, शुनक और नर-नारायणये सभी नित्य धाममें गये हैं ॥ १९ ॥

इह नित्यशया देवाः पितरश्च महर्षिभिः।
आर्चीकपर्वते तेपुस्तान् यजस्व युधिष्ठिर ॥ २० ॥

युधिष्ठिर! इस आर्चीक पर्वतपर नित्य निवास करते हुए महर्षियोंसहित जिन देवताओं और पितरोंने तपस्या की है, तुम उन सबकी पूजा करो ॥ २० ॥

इह ते वै चरून् प्राश्नन्नृषयश्च विशाम्पते।
यमुना चाक्षयस्रोता कृष्णश्चेह तपोरतः ॥ २१ ॥
यमौ च भीमसेनश्च कृष्णा चामित्रकर्शन।
सर्वे चात्र गमिष्यामस्त्वयैव सह पाण्डव ॥ २२ ॥
एतत् प्रस्रवणं पुण्यमिन्द्रस्य मनुजेश्वर।
यत्र धाता विधाता च वरुणश्चोर्ध्वमागताः ॥ २३ ॥

राजन्! यहाँ देवताओं और ऋषियोंने चरुभोजन किया था। इसके पास ही अक्षय प्रवाहवाली यमुना नदी बहती है। यहीं भगवान् कृष्णने भी तपस्या की है। शत्रुदमन! नकुल, सहदेव, भीमसेन, द्रौपदी और हम सब लोग तुम्हारे साथ इसी स्थानपर चलेंगे। पाण्डुनन्दन! यह इन्द्रका पवित्र झरना है। नरेश्वर! यह वही स्थान है, जहाँ धाता, विधाता और वरुण ऊर्ध्वलोक गये हैं ॥ २१—२३ ॥

इह तेऽप्यवसन् राजन् क्षान्ताः परमधर्मिणः।
मैत्राणामृजुबुद्धीनामयं गिरिवरः शुभः ॥ २४ ॥

राजन्! वे क्षमाशील और परम धर्मात्मा पुरुष यहीं रहते थे। सरल बुद्धि तथा सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाले सत्पुरुषोंके लिये यह श्रेष्ठ पर्वत शुभ आश्रय है ॥ २४ ॥

एषा सा यमुना राजन् महर्षिगणसेविता।
नानायज्ञचिता राजन् पुण्या पापभयापहा ॥ २५ ॥
अत्र राजा महेष्वासो मान्धातायजत स्वयम्।
साहदेविश्च कौन्तेय सोमको ददतां वरः ॥ २६ ॥

राजन्! यही वह महर्षिगणसेवित यज्ञमयी यमुना

है, जिसके तटपर अनेक यज्ञ हो चुके हैं। यह पापके भयको दूर भगानेवाली है। कुन्तीनन्दन! यहीं महान् धनुर्धर राजा मान्धाताने स्वयं यज्ञ किया था। दानिशिरोमणि सहदेव-कुमार सोमकने भी इसीके तटपर यज्ञानुष्ठान किया॥ २५-२६॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२५॥

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा मान्धाताकी उत्पत्ति और संक्षिप्त चरित्र

युधिष्ठिर उवाच

मान्धाता राजशार्दूलस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
कथं जातो महाब्रह्मन् यौवनाश्वो नृपोत्तमः॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—ब्राह्मणश्रेष्ठ! युवनाश्वके पुत्र नृपश्रेष्ठ मान्धाता तीनों लोकोंमें विख्यात थे। उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई थी?॥ १॥

कथं चैनां परां काष्ठां प्राप्तवानमितद्युतिः।
यस्य लोकास्त्रयो वश्या विष्णोरिव महात्मनः॥ २॥

अमित तेजस्वी मान्धाताने यह सर्वोच्च स्थिति कैसे प्राप्त कर ली थी? सुना है, परमात्मा विष्णुके समान महाराज मान्धाताके वशमें तीनों लोक थे॥ २॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं चरितं तस्य धीमतः।
(सत्यकीर्तेर्हि मान्धातुः कथ्यमानं त्वयानघ।)
यथा मान्धातृशब्दश्च तस्य शक्रसमद्युतेः।
जन्म चाप्रतिवीर्यस्य कुशलो ह्यसि भाषितुम्॥ ३॥

निष्पाप महर्षे! मैं आपके मुखसे उन सत्यकीर्ति एवं बुद्धिमान् राजा मान्धाताका वह सब चरित्र सुनना चाहता हूँ। इन्द्रके समान तेजस्वी और अनुपम पराक्रमी उन नरेशका 'मान्धाता' नाम कैसे हुआ? और उनके जन्मका वृत्तान्त क्या है? बताइये; क्योंकि आप ये सब बातें बतानेमें कुशल हैं॥ ३॥

लोमश उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् राज्ञस्तस्य महात्मनः।
यथा मान्धातृशब्दो वै लोकेषु परिगीयते॥ ४॥

लोमशजीने कहा—राजन्! लोकमें उन महामना नरेशका 'मान्धाता' नाम कैसे प्रचलित हुआ? यह बतलाता हूँ, ध्यान देकर सुनो॥ ४॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो युवनाश्वो महीपतिः।
सोऽयजत् पृथिवीपालः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः॥ ५॥

इक्ष्वाकुवंशमें युवनाश्व नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। भूपाल युवनाश्वने प्रचुर दक्षिणावाले बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया॥ ५॥

अश्वमेधसहस्रं च प्राप्य धर्मभृतां वरः।
अन्यैश्च क्रतुभिर्मुख्यैरयजत् स्वाप्तदक्षिणैः॥ ६॥

वे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ थे। उन्होंने एक सहस्र अश्वमेध यज्ञ पूर्ण करके बहुत दक्षिणाके साथ दूसरे-दूसरे श्रेष्ठ यज्ञोंद्वारा भी भगवान्‌की आराधना की॥ ६॥

अनपत्यस्तु राजर्षिः स महात्मा महाव्रतः।
मन्त्रिष्वाधाय तद् राज्यं वननित्यो बभूव ह॥ ७॥
शास्त्रदृष्टेन विधिना संयोज्यात्मानमात्मवान्।
स कदाचिन्नृपो राजन्नुपवासेन दुःखितः॥ ८॥
पिपासाशुष्कहृदयः प्रविवेशाश्रमं भृगोः।
तामेव रात्रिं राजेन्द्र महात्मा भृगुनन्दनः॥ ९॥
इष्टिं चकार सौद्युम्नेर्महर्षिः पुत्रकारणात्।
सम्भृतो मन्त्रपूतेन वारिणा कलशो महान्॥ १०॥

वे महामना राजर्षि महान् व्रतका पालन करनेवाले थे तो भी उनके कोई संतान नहीं हुई। तब वे मनस्वी नरेश राज्यका भार मन्त्रियोंपर रखकर शास्त्रीय विधिके अनुसार अपने आपको परमात्म-चिन्तनमें लगाकर सदा वनमें ही रहने लगे। एक दिनकी बात है, राजा युवनाश्व उपवासके कारण दुःखित हो गये। प्याससे उनका हृदय सूखने लगा। उन्होंने जल पीनेकी इच्छासे रातके समय महर्षि भृगुके आश्रममें प्रवेश किया। राजेन्द्र! उसी रातमें महात्मा भृगुनन्दन महर्षि च्यवनने सुद्युम्नकुमार युवनाश्वको पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिये एक इष्टि की थी। उस इष्टिके समय महर्षिने मन्त्रपूत जलसे एक बहुत बड़े कलशको भरकर रख दिया था॥ ७-१०॥

तत्रातिष्ठत राजेन्द्र पूर्वमेव समाहितः।
यत् प्राश्य प्रसवेत् तस्य पत्नी शक्रसमं सुतम्॥ ११॥

महाराज! वह कलशका जल पहलेसे ही आश्रमके भीतर इस उद्देश्यसे रखा गया था कि उसे पीकर राजा युवनाश्वकी रानी इन्द्रके समान शक्तिशाली पुत्रको जन्म दे सके॥ ११॥

तं न्यस्य वेद्यां कलशं सुषुपुस्ते महर्षयः।
रात्रिजागरणक्लान्तान् सौद्युम्निः समतीत्य तान्॥ १२॥

उस कलशको वेदीपर रखकर सभी महर्षि सो गये थे। रातमें देरतक जागनेके कारण वे सब-के-सब थके हुए थे। युवनाश्व उन्हें लाँघकर आगे बढ़ गये ॥ १२ ॥

शुष्ककण्ठः पिपासार्तः पानीयार्थी भृशं नृपः।
तं प्रविश्याश्रमं शान्तः पानीयं सोऽभ्ययाचत ॥ १३ ॥

वे प्यासये पीड़ित थे। उनका कण्ठ सूख गया था। पानी पीनेकी अत्यन्त अभिलाषासे वे उस आश्रमके भीतर गये और शान्तभावसे जलके लिये याचना करने लगे ॥ १३ ॥

तस्य श्रान्तस्य शुष्केण कण्ठेन क्रोशतस्तदा।
नाश्रौषीत् कश्चन तदा शकुनेरिव वाशतः ॥ १४ ॥

राजा थककर सूखे कण्ठसे पानीके लिये चिल्ला रहे थे, परंतु उस समय चें-चें करनेवाले पक्षीकी भाँति उनकी चीख-पुकार कोई भी न सुन सका ॥ १४ ॥

ततस्तं कलशं दृष्ट्वा जलपूर्णं स पार्थिवः।
अभ्यद्रवत वेगेन पीत्वा चाम्भो व्यवासृजत् ॥ १५ ॥

तदनन्तर जलसे भरे हुए पूर्वोक्त कलशपर उनकी दृष्टि पड़ी। देखते ही वे बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े और (इच्छानुसार) पीकर उन्होंने बचे हुए जलको वहीं गिरा दिया ॥ १५ ॥

स पीत्वा शीतलं तोयं पिपासार्तो महीपतिः।
निर्वाणमगमद् धीमान् सुसुखी चाभवत् तदा ॥ १६ ॥

राजा युवनाश्व प्याससे बड़ा कष्ट पा रहे थे। वह शीतल जल पीकर उन्हें बड़ी शान्ति मिली। वे बुद्धिमान् नरेश उस समय जल पीनेसे बहुत सुखी हुए ॥ १६ ॥

ततस्ते प्रत्यबुध्यन्त मुनयः सतपोधनाः।
निस्तोयं तं च कलशं ददृशुः सर्व एव ते ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् तपोधन च्यवन मुनिके सहित सब मुनि जाग उठे। उन सबने उस कलशको जलसे शून्य देखा ॥ १७ ॥

कस्य कर्मेदमिति ते पर्यपृच्छन् समागताः।
युवनाश्वो ममेत्येवं सत्यं समभिपद्यत ॥ १८ ॥

फिर तो वे सब एकत्र हो गये और एक दूसरेसे पूछने लगे—'यह किसका काम है?' युवनाश्वने सामने आकर कहा—'यह मेरा ही कर्म है।' इस प्रकार उन्होंने सत्यको स्वीकार कर लिया ॥ १८ ॥

न युक्तमिति तं प्राह भगवान् भार्गवस्तदा।
सुतार्थं स्थापिता ह्यापस्तपसा चैव सम्भृताः ॥ १९ ॥
मया ह्यत्राहितं ब्रह्म तप आस्थाय दारुणम्।
पुत्रार्थं तव राजर्षे महाबलपराक्रम ॥ २० ॥

तब भगवान् च्यवनने कहा—'महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न राजर्षि युवनाश्व! यह तुमने ठीक नहीं किया। इस कलशमें मैंने तुम्हें ही पुत्र प्रदान करनेके लिये तपस्यासे संस्कारयुक्त किया हुआ जल रखा था और कठोर तपस्या करके उसमें ब्रह्मतेजकी स्थापना की थी ॥ १९-२० ॥

महाबलो महावीर्यस्तपोबलसमन्वितः।
यः शक्रमपि वीर्येण गमयेद् यमसादनम् ॥ २१ ॥
अनेन विधिना राजन् मयैतदुपपादितम्।
अब्भक्षणं त्वया राजन् न युक्तं कृतमद्य वै ॥ २२ ॥

'राजन्! उक्त विधिसे इस जलको मैंने ऐसा शक्ति-सम्पन्न कर दिया था कि इसको पीनेसे एक महाबली, महा-पराक्रमी और तपोबल सम्पन्न पुत्र उत्पन्न हो, जो अपने बल-पराक्रमसे देवराज इन्द्रको भी यमलोक पहुँचा सके; उसी जलको तुमने आज पी लिया, यह अच्छा नहीं किया ॥ २१-२२ ॥

न त्वद्य शक्यमस्माभिरेतत् कर्तुमतोऽन्यथा।
नूनं दैवकृतं ह्येतद् यदेवं कृतवानसि ॥ २३ ॥

'अब हमलोग इसके प्रभावको टालने या बदलनेमें असमर्थ हैं। तुमने जो ऐसा कार्य कर डाला है, इसमें निश्चय ही दैवकी प्रेरणा है ॥ २३ ॥

पिपासितेन याः पीता विधिमन्त्रपुरस्कृताः।
आपस्त्वया महाराज मत्तपोवीर्यसम्भृताः ॥ २४ ॥
ताभ्यस्त्वमात्मना पुत्रमीदृशं जनयिष्यसि।
विधास्यामो वयं तत्र तवेष्टिं परमाद्भुताम् ॥ २५ ॥
यथा शक्रसमं पुत्रं जनयिष्यसि वीर्यवान्।
गर्भधारणजं वापि न खेदं समवाप्स्यसि ॥ २६ ॥

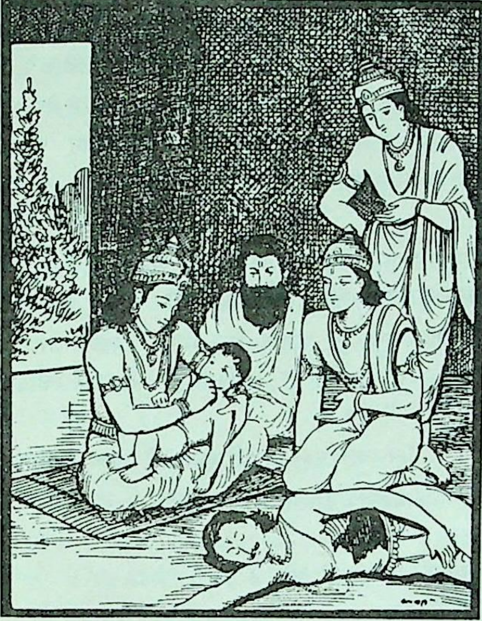
'महाराज! तुमने प्याससे व्याकुल होकर जो मेरे तपोबलसे संचित तथा विधिपूर्वक मन्त्रसे अभिमन्त्रित जलको पी लिया है, उसके कारण तुम अपने ही पेटसे तथाकथित इन्द्र-विजयी पुत्रको जन्म दोगे। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये हम तुम्हारी इच्छाके अनुरूप अत्यन्त अद्भुत यज्ञ करायेंगे, जिससे तुम स्वयं भी शक्तिशाली रहकर इन्द्रके समान पराक्रमी पुत्र उत्पन्न कर सकोगे और गर्भधारणजनित कष्टका भी तुम्हें अनुभव न होगा' ॥ २४–२६ ॥

ततो वर्षशते पूर्णे तस्य राज्ञो महात्मनः।
वामं पार्श्वं विनिर्भिद्य सुतः सूर्य इव स्थितः ॥ २७ ॥
निश्चक्राम महातेजा न च तं मृत्युराविशत्।
युवनाश्वं नरपतिं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २८ ॥

तदनन्तर पूरे सौ वर्ष बीतनेपर उन महात्मा राजा युवनाश्वकी बायीं कोख फाड़कर एक सूर्यके समान महातेजस्वी बालक बाहर निकला तथा राजाकी मृत्यु भी नहीं हुई। यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ २७-२८ ॥

ततः शक्रो महातेजास्तं दिदृक्षुरुपागमत्।
ततो देवा महेन्द्रं तमपृच्छन् धास्यतीति किम् ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी इन्द्र उस बालकको देखनेके लिये वहाँ आये । उस समय देवताओंने महेन्द्रसे पूछा—'यह बालक क्या पीयेगा ?' ॥ २९ ॥



प्रदेशिनीं ततोऽस्यास्ये शक्रः समभिसंदधे ।
मामयं धास्यतीत्येवं भाषिते चैव वज्रिणा ॥ ३० ॥
मान्धातेति च नामास्य चक्रुः सेन्द्रा दिवौकसः ॥ ३१ ॥
प्रदेशिनीं शक्रदत्तामास्वाद्य स शिशुस्तदा ।
अवर्धत महातेजाः किष्कून् राजंस्त्रयोदश ॥ ३२ ॥

तब इन्द्रने अपनी तर्जनी अंगुली बालकके मुँहमें डाल दी और कहा—'माम् अयं धाता ।' 'अर्थात् यह मुझे ही पीयेगा' वज्रधारी इन्द्रके ऐसा कहनेपर इन्द्र आदि सब देवताओंने मिलकर उस बालकका नाम 'मान्धाता' रख दिया । राजन् ! इन्द्रकी दी हुई प्रदेशिनी (तर्जनी) अङ्गुलि-का रसास्वादन करके वह महातेजस्वी शिशु तेरह बित्ता बढ़ गया ॥ ३०-३२ ॥

वेदास्तं सधनुर्वेदा दिव्यान्यस्त्राणि चेश्वरम् ।
उपतस्थुर्महाराज ध्यातमात्रस्य सर्वशः ॥ ३३ ॥

महाराज ! उस समय शक्तिशाली मान्धाताके चिन्तन करने मात्रसे ही धनुर्वेदसहित सम्पूर्ण वेद और दिव्य अस्त्र (ईश्वरकी कृपासे) उपस्थित हो गये ॥ ३३ ॥

आजगवं नाम धनुः शराः शृङ्गोद्भवाश्च ये ।
अभेद्यं कवचं चैव सद्यस्तमुपशिश्रियुः ॥ ३४ ॥

आजगव नामक धनुष, सींगके बने हुए बाण और अभेद्य कवच—सभी तत्काल उनकी सेवामें आ गये ॥ ३४ ॥

सोऽभिषिक्तो मघवता स्वयं शक्रेण भारत ।
धर्मेण व्यजयल्लोकांस्त्रीन् विष्णुरिव विक्रमैः ॥ ३५ ॥

भारत ! साक्षात् देवराज इन्द्रने मान्धाताका राज्या-भिषेक किया । भगवान् विष्णुने जैसे तीन पगोंद्वारा त्रिलोकीको नाप लिया था, उसी प्रकार मान्धाताने भी धर्मके द्वारा तीनों लोकोंको जीत लिया ॥ ३५ ॥

तस्याप्रतिहतं चक्रं प्रावर्तत महात्मनः ।
रत्नानि चैव राजर्षिं स्वयमेवोपतस्थिरे ॥ ३६ ॥

उन महात्मा नरेशका शासनचक्र सर्वत्र बेरोक-टोक चलने लगा । सारे रत्न राजर्षि मान्धाताके यहाँ स्वयं उपस्थित हो जाते थे ॥ ३६ ॥

तस्यैवं वसुसम्पूर्णा वसुधा वसुधाधिप ।
तेनेष्टं विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार उनके लिये यह सारी पृथ्वी धन-रत्नोंसे परिपूर्ण थी । उन्होंने पर्याप्त दक्षिणावाले नाना प्रकारके बहुसंख्यक यज्ञोंद्वारा भगवान्‌की समाराधना की । ३७ ।

चितचैत्यो महातेजा धर्मान् प्राप्य च पुष्कलान् ।
शक्रस्यार्धासनं राजँल्लब्धवानमितद्युतिः ॥ ३८ ॥

राजन् ! महातेजस्वी एवं परम कान्तिमान् राजा मान्धाताने यज्ञमण्डलोंका निर्माण करके पर्याप्त धर्मका सम्पादन किया और उसीके फलसे स्वर्गलोकमें इन्द्रका आधा सिंहासन प्राप्त कर लिया ॥ ३८ ॥

एकाह्नात् पृथिवी तेन धर्मनित्येन धीमता ।
विजिता शासनादेव सरत्नाकरपत्तना ॥ ३९ ॥

उन धर्मपरायण बुद्धिमान् नरेशने केवल शासनमात्रसे एक ही दिनमें समुद्र, खान और नगरोंसहित सारी पृथ्वी-पर विजय प्राप्त कर ली ॥ ३९ ॥

तस्य चैत्यैर्महाराज क्रतूनां दक्षिणावताम् ।
चतुरन्ता मही व्याप्ता नासीत् किंचिदनावृतम् ॥ ४० ॥

महाराज ! उनके दक्षिणायुक्त यज्ञोंके चैत्यों (यज्ञ-मण्डपों) से चारों ओरकी पृथ्वी भर गयी थी, कहीं कोई भी स्थान ऐसा नहीं था, जो उनके यज्ञमण्डपोंसे घिरा न हो ॥ ४० ॥

तेन पद्मसहस्राणि गवां दश महात्मना ।
ब्राह्मणानां महाराज दत्तानीति प्रचक्षते ॥ ४१ ॥

महाराज ! महात्मा राजा मान्धाताने दस हजार पद्म गौएँ ब्राह्मणोंको दानमें दी थीं, ऐसा जानकारलोग कहते हैं ॥ ४१ ॥

तेन द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां महात्मना ।
वृष्टं सस्यविवृद्ध्यर्थं मिषतो वज्रपाणिनः ॥ ४२ ॥

उन महामना नरेशने बारह वर्षोंतक होनेवाली अना-वृष्टिके समय वज्रधारी इन्द्रके देखते-देखते खेतीकी उन्नतिके लिये स्वयं पानीकी वर्षा की थी ॥ ४२ ॥

तेन सोमकुलोत्पन्नो गान्धाराधिपतिर्महान् ।
गर्जन्निव महामेघः प्रमथ्य निहतः शरैः ॥ ४३ ॥

उन्होंने महामेघके समान गर्जते हुए महापराक्रमी चन्द्रवंशी गान्धारराजको बाणोंसे घायल करके मार डाला था ॥ ४३ ॥

प्रजाश्चतुर्विधास्तेन त्राता राजन् कृतात्मना ।
तेनात्मतपसा लोकास्तापिताश्चातितेजसा ॥ ४४ ॥

युधिष्ठिर ! वे अपने मनको वशमें रखते थे । उन्होंने अपने तपोबलसे देवता, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावर--चार प्रकारकी प्रजाकी रक्षा की थी; साथ ही अपने अत्यन्त तेजसे सम्पूर्ण लोकोंको संतप्त कर दिया था ॥ ४४ ॥

तस्यैतद् देवयजनं स्थानमादित्यवर्चसः ।
पश्य पुण्यतमे देशे कुरुक्षेत्रस्य मध्यतः ॥ ४५ ॥
(तथा त्वमपि राजेन्द्र मान्धातेव महीपतिः ।
धर्मं कृत्वा महीं रक्षन् स्वर्गलोकमवाप्स्यसि ॥)

सूर्यके समान तेजस्वी उन्हीं महाराज मान्धाताके देवयज्ञका यह स्थान है, जो कुरुक्षेत्रकी सीमाके भीतर परम पवित्र प्रदेशमें स्थित है, इसका दर्शन करो । राजेन्द्र ! महाराज मान्धाताकी भाँति तुम भी धर्मपूर्वक पृथ्वीकी रक्षा करते रहनेपर अक्षय स्वर्गलोक प्राप्त कर लोगे ॥ ४५ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं मान्धातुश्चरितं महत् ।
जन्म चाग्र्यं महीपाल यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ४६ ॥

भूपाल ! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रहे थे, वह मान्धाताका उत्तम जन्म-वृत्तान्त और उनका महान् चरित्र सब कुछ तुम्हें सुना दिया ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स कौन्तेयो लोमशेन महर्षिणा ।
पप्रच्छानन्तरं भूयः सोमकं प्रति भारत ॥ ४७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! महर्षि लोमशके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने पुनः सोमकके विषयमें प्रश्न किया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां मान्धातोपाख्याने षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें मान्धातोपाख्यानविषयक एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४८½ श्लोक हैं)

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सोमक और जन्तुका उपाख्यान

युधिष्ठिर उवाच

कथंवीर्यः स राजाभूत् सोमको वदतां वर ।
कर्माण्यस्य प्रभावं च श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे ! राजा सोमकका बल-पराक्रम कैसा था ? मैं उनके कर्म और प्रभावका यथार्थ वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

लोमश उवाच

युधिष्ठिरासीन्नृपतिः सोमको नाम धार्मिकः ।
तस्य भार्याशतं राजन् सदृशीनामभूत् तदा ॥ २ ॥

लोमशजीने कहा—युधिष्ठिर ! सोमक नामसे प्रसिद्ध एक धर्मात्मा राजा राज्य करते थे । उनकी सौ रानियाँ थीं । वे सभी रूप-अवस्था आदिमें प्रायः एक समान थीं ॥ २ ॥

स वै यत्नेन महता तासु पुत्रं महीपतिः ।
कंचिन्नासादयामास कालेन महता ह्यपि ॥ ३ ॥

परंतु दीर्घकालतक महान् प्रयत्न करते रहनेपर भी वे अपनी उन रानियोंके गर्भसे कोई पुत्र न प्राप्त कर सके ॥ ३ ॥

कदाचित् तस्य वृद्धस्य यतमानस्य यत्नतः ।
जन्तुर्नाम सुतस्तस्मिन् स्त्रीशते समजायत ॥ ४ ॥

राजा सोमक वृद्धावस्थामें भी इसके लिये निरन्तर यत्नशील थे; अतः किसी समय उनकी सौ स्त्रियोंमेंसे किसी एकके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम था जन्तु ॥ ४ ॥

तं जातं मातरः सर्वाः परिवार्य समासत ।
सततं पृष्ठतः कृत्वा कामभोगान् विशाम्पते ॥ ५ ॥

राजन् ! उसके जन्म लेनेके पश्चात् सभी माताएँ कामभोगकी ओरसे मुँह मोड़कर सदा उसी बच्चेके पास उसे सब ओरसे घेरकर बैठी रहती थीं ॥ ५ ॥

ततः पिपीलिका जन्तुं कदाचिददशत् स्फिचि ।
स दष्टो व्यनदच्चार्तं तेन दुःखेन बालकः ॥ ६ ॥

एक दिन एक चींटीने जन्तुके कटिभागमें डँस लिया । चींटीके काटनेपर उसकी पीड़ासे विकल हो जन्तु सहसा रोने लगा ॥ ६ ॥

ततस्ता मातरः सर्वाः प्राक्रोशन् भृशदुःखिताः ।
प्रवार्य जन्तुं सहसा स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ ७ ॥

इससे उसकी सब माताएँ भी सहसा जन्तुके शरीरसे चींटीको हटाकर अत्यन्त दुःखी हो जोर-जोरसे रोने लगीं । उनके रोदनकी वह सम्मिलित ध्वनि बड़ी भयंकर प्रतीत हुई ॥

तमार्तनादं सहसा शुश्राव स महीपतिः।
अमात्यपर्षदो मध्ये उपविष्टः सहर्त्विजा ॥ ८ ॥

उस समय राजा सोमक पुरोहितके साथ मन्त्रियोंकी सभामें बैठे थे। उन्होंने अकस्मात् वह आर्तनाद सुना ॥८॥

ततः प्रस्थापयामास किमेतदिति पार्थिवः।
तस्मै क्षत्ता यथावृत्तमाचचक्षे सुतं प्रति ॥ ९ ॥

सुनकर राजाने 'यह क्या हो गया ?' इस बातका पता लगानेके लिये द्वारपालको भेजा। द्वारपालने लौटकर राजकुमारसे सम्बन्ध रखनेवाली पूर्वोक्त घटनाका यथावत् वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ९ ॥

त्वरमाणः स चोत्थाय सोमकः सह मन्त्रिभिः।
प्रविश्यान्तःपुरं पुत्रमाश्वासयदरिंदमः ॥ १० ॥

तब शत्रुदमन राजा सोमकने मन्त्रियोंसहित उठकर बड़ी उतावलीके साथ अन्तःपुरमें प्रवेश किया और पुत्रको आश्वासन दिया ॥ १० ॥

सान्त्वयित्वा तु तं पुत्रं निष्क्रम्यान्तःपुरान्नृपः।
ऋत्विजा सहितो राजन् सहामात्य उपाविशत्॥ ११ ॥

बेटेको सान्त्वना देकर राजा अन्तःपुरसे बाहर निकले और पुरोहित तथा मन्त्रियोंके साथ पुनः मन्त्रणागृहमें जा बैठे ॥

सोमक उवाच

धिगस्त्विहैकपुत्रत्वमपुत्रत्वं वरं भवेत्।
नित्यातुरत्वाद् भूतानां शोक एवैकपुत्रता ॥ १२ ॥

उस समय सोमकने कहा—इस संसारमें किसी पुरुषके एक ही पुत्रका होना धिक्कारका विषय है। एक पुत्र होनेकी अपेक्षा तो पुत्रहीन रह जाना ही अच्छा है। एक ही संतान हो तो सब प्राणी उसके लिये सदा आकुल-व्याकुल रहते हैं, अतः एक पुत्रका होना शोक ही है ॥१२॥

इदं भार्याशतं ब्रह्मन् परीक्ष्य सदृशं प्रभो।
पुत्रार्थिना मया वोढं न तासां विद्यते प्रजा ॥ १३ ॥

ब्रह्मन्! मैंने अच्छी तरह जाँच-बूझकर पुत्रकी इच्छासे अपने योग्य सौ स्त्रियोंके साथ विवाह किया, किंतु उनके कोई संतान नहीं हुई ॥ १३ ॥

एकः कथंचिदुत्पन्नः पुत्रो जन्तुरयं मम।
यतमानासु सर्वासु किं नु दुःखमतः परम् ॥ १४ ॥

यद्यपि मेरी सभी रानियाँ संतानके लिये यत्नशील थीं, तथापि किसी तरह मेरे यही एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम जन्तु है। इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है?॥

वयश्च समतीतं मे सभार्यस्य द्विजोत्तम।
आसां प्राणाः समायत्ता मम चात्रैकपुत्रके ॥ १५ ॥

द्विजश्रेष्ठ! मेरी तथा इन रानियोंकी अधिक अवस्था बीत गयी, किंतु अभीतक मेरे और उन पत्नियोंके प्राण केवल इस एक पुत्रमें ही बसते हैं ॥ १५ ॥

स्यात्तु कर्म तथा युक्तं येन पुत्रशतं भवेत्।
महता लघुना वापि कर्मणा दुष्करेण वा ॥ १६ ॥

क्या कोई ऐसा उपयोगी कर्म हो सकता है, जिससे मेरे सौ पुत्र हो जायँ। भले ही वह कर्म महान् हो, लघु हो अथवा अत्यन्त दुष्कर हो ॥ १६ ॥

ऋत्विगुवाच

अस्ति चैतादृशं कर्म येन पुत्रशतं भवेत्।
यदि शक्नोषि तत् कर्तुमथ वक्ष्यामि सोमक ॥ १७ ॥

पुरोहितने कहा—सोमक! ऐसा कर्म है, जिससे तुम्हें सौ पुत्र हो सकते हैं। यदि तुम उसे कर सको तो बताऊँगा॥

सोमक उवाच

कार्यं वा यदि वाकार्यं येन पुत्रशतं भवेत्।
कृतमेवेति तद् विद्धि भगवान् प्रब्रवीतु मे ॥ १८ ॥

सोमकने कहा—भगवन्! आप वह कर्म मुझे बताइये, जिससे सौ पुत्र हो सकते हैं। वह करने योग्य हो या न हो, मेरेद्वारा उसे किया हुआ ही जानिये ॥ १८ ॥

ऋत्विगुवाच

यजस्व जन्तुना राजंस्त्वं मया वितते क्रतौ।
ततः पुत्रशतं श्रीमद् भविष्यत्यचिरेण ते ॥ १९ ॥

पुरोहितने कहा—राजन्! मैं एक यज्ञ आरम्भ करवाऊँगा, उसमें तुम अपने पुत्र जन्तुकी आहुति देकर यजन करो। इससे शीघ्र ही तुम्हें सौ परम सुन्दर पुत्र प्राप्त होंगे ॥ १९ ॥

वपायां हूयमानायां धूममाघ्राय मातरः।
ततस्ताः सुमहावीर्याञ्जनयिष्यन्ति ते सुतान् ॥ २० ॥

जिस समय उसकी चर्बीकी आहुति दी जायगी, उस समय उसके धूएँको सूँघ लेनेपर सब माताएँ (गर्भवती हो) आपके लिये अत्यन्त पराक्रमी पुत्रोंको जन्म देंगी ॥ २० ॥

तस्यामेव तु ते जन्तुर्भविता पुनरात्मजः।
उत्तरे चास्य सौवर्णं लक्ष्म पार्श्वे भविष्यति ॥ २१ ॥

आपका पुत्र जन्तु पुनः अपनी माताके ही पेटसे उत्पन्न होगा। उस समय उसकी बायीं पसलीमें एक सुनहरा चिह्न होगा ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां जन्तूपाख्याने सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें जन्तूपाख्यानविषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सोमकको सौ पुत्रोंकी प्राप्ति तथा सोमक और पुरोहितका समानरूपसे नरक और पुण्यलोकोंका उपभोग करना

सोमक उवाच

ब्रह्मन् यद् यद् यथा कार्यं तत् कुरुष्व तथा तथा।
पुत्रकामतया सर्वं करिष्यामि वचस्तव ॥ १ ॥

सोमकने कहा—ब्रह्मन्! जो-जो कार्य जैसे-जैसे करना हो, वह उसी प्रकार कीजिये। मैं पुत्रकी कामनासे आपकी समस्त आज्ञाओंका पालन करूँगा ॥ १ ॥

लोमश उवाच

ततः स याजयामास सोमकं तेन जन्तुना।
मातरस्तु बलात् पुत्रमपाकर्षुः कृपान्विताः ॥ २ ॥
हा हताः स्मेति वाशन्त्यस्तीव्रशोकसमाहताः।
रुदन्त्यः करुणं चापि गृहीत्वा दक्षिणे करे ॥ ३ ॥
सव्ये पाणौ गृहीत्वा तु याजकोऽपि स्म कर्षति।
कुररीणामिवार्तानां समाकृष्य तु तं सुतम् ॥ ४ ॥
विशस्य चैनं विधिवद् वपामस्य जुहाव सः।
वपायां ह्रूयमानायां गन्धमाघ्राय मातरः ॥ ५ ॥
आर्ता निपेतुः सहसा पृथिव्यां कुरुनन्दन।
सर्वाश्च गर्भानलभंस्ततस्ताः परमाङ्गनाः ॥ ६ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब पुरोहितने राजा सोमकसे जन्तुकी बलि देकर किये जानेवाले यज्ञको प्रारम्भ करवाया। उस समय करुणामयी माताएँ अत्यन्त शोकसे व्याकुल हो 'हाय! हम मारी गयीं' ऐसा कहकर रोती हुई अपने पुत्र जन्तुको बलपूर्वक अपनी ओर खींच रही थीं। वे करुण स्वरमें रोती हुई बालकके दाहिने हाथको पकड़कर खींचती थीं और पुरोहितजी उसके बायें हाथको पकड़कर अपनी ओर खींच रहे थे। सब रानियाँ शोकसे आतुर हो कुररी पक्षीकी भाँति विलाप कर रही थीं और पुरोहितने उस बालकको छीनकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले तथा विधिपूर्वक उसकी चर्बियोंकी आहुति दी। कुरुनन्दन! चर्बीकी आहुतिके समय बालककी माताएँ धूमकी गन्ध सूँघकर सहसा शोकपीडित हो पृथ्वीपर गिर पड़ीं। तदनन्तर वे सब सुन्दरी रानियाँ गर्भवती हो गयीं ॥ २-६ ॥

ततो दशसु मासेषु सोमकस्य विशाम्पते।
जज्ञे पुत्रशतं पूर्णं तासु सर्वासु भारत ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर! तदनन्तर दस मास बीतनेपर उन सबके गर्भसे राजा सोमकके सौ पुत्र हुए ॥ ७ ॥

जन्तुर्ज्येष्ठः समभवज्जनित्र्यामेव पार्थिव।
स तासामिष्ट एवासीन्न तथा ते निजाः सुताः ॥ ८ ॥

राजन्! सोमकका ज्येष्ठ पुत्र जन्तु अपनी माताके ही गर्भसे प्रकट हुआ, वही उन सब रानियोंको विशेष प्रिय था। उन्हें अपने पुत्र उतने प्यारे नहीं लगते थे ॥ ८ ॥

तच्च लक्षणमस्यासीत् सौवर्णं पार्श्व उत्तरे।
तस्मिन् पुत्रशते चाग्र्यः स बभूव गुणैरपि ॥ ९ ॥

उसकी दाहिनी पसलीमें पूर्वोक्त सुनहरा चिह्न स्पष्ट दिखायी देता था। राजाके सौ पुत्रोंमें अवस्था और गुणोंकी दृष्टिसे भी वही श्रेष्ठ था ॥ ९ ॥

ततः स लोकमगमत् सोमकस्य गुरुः परम्।
अथ काले व्यतीते तु सोमकोऽप्यगमत् परम् ॥ १० ॥
अथ तं नरके घोरे पच्यमानं ददर्श सः।
तमपृच्छत् किमर्थं त्वं नरके पच्यसे द्विज ॥ ११ ॥

तदनन्तर कुछ कालके पश्चात् सोमकके पुरोहित परलोकवासी हो गये। थोड़े दिनोंके बाद राजा सोमक भी परलोकवासी हो गये। यमलोकमें जानेपर सोमकने देखा, पुरोहितजी घोर नरककी आगमें पकाये जा रहे हैं। उन्हें उस अवस्थामें देखकर सोमकने पूछा—'ब्रह्मन्! आप नकरकी आगमें कैसे पकाये जा रहे हैं?' ॥ १०-११ ॥

तमब्रवीद् गुरुः सोऽथ पच्यमानोऽग्निना भृशम्।
त्वं मया याजितो राजंस्तस्येदं कर्मणः फलम् ॥ १२ ॥
एतच्छ्रुत्वा स राजर्षिर्धर्मराजमथाब्रवीत्।
अहमत्र प्रवेक्ष्यामि मुच्यतां मम याजकः ॥ १३ ॥
मत्कृते हि महाभागः पच्यते नरकाग्निना।
(सोऽहमात्मानमाधास्ये नरकान्मुच्यतां गुरुः।)

तब नरकाग्निसे अधिक संतप्त होते हुए पुरोहितने कहा—'राजन्! मैंने तुम्हें जो (तुम्हारे पुत्रकी आहुति देकर) यज्ञ करवाया था, उसी कर्मका यह फल है।' यह सुनकर राजर्षि सोमकने धर्मराजसे कहा—'भगवन्! मैं इस नरकमें प्रवेश करूँगा। आप मेरे पुरोहितको छोड़ दीजिये। वे महाभाग मेरे ही कारण नरकाग्निमें पक रहे हैं। अतः मैं अपने आपको नरकमें रखूँगा, परंतु मेरे गुरुजीको उससे छुटकारा मिल जाना चाहिये' ॥ १२-१३½ ॥

धर्म उवाच

नान्यः कर्तुः फलं राजन्नुपभुङ्क्ते कदाचन।
इमानि तव दृश्यन्ते फलानि वदतां वर ॥ १४ ॥

धर्मने कहा—राजन्! कर्ताके सिवा दूसरा कोई उसके किये हुए कर्मोंका फल कभी नहीं भोगता है। वक्ताओंमें

श्रेष्ठ महाराज ! तुम्हें अपने पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप जो ये पुण्य लोक प्राप्त हुए हैं, प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं ॥ १४ ॥

सोमक उवाच

पुण्यान्न कामये लोकानृतेऽहं ब्रह्मवादिनम् ।
इच्छाम्यहमनेनैव सह वस्तुं सुरालये ॥ १५ ॥
नरके वा धर्मराज कर्मणास्य समो ह्यहम् ।
पुण्यापुण्यफलं देव सममस्त्वावयोरिदम् ॥ १६ ॥

सोमक बोले—धर्मराज ! मैं अपने वेदवेत्ता पुरोहितके बिना पुण्यलोकोंमें जानेकी इच्छा नहीं रखता । स्वर्गलोक हो या नरक—मैं कहीं भी इन्हींके साथ रहना चाहता हूँ । देव ! मेरे पुण्यकर्मोंपर इनका मेरे समान ही अधिकार है । हम दोनोंको यह पुण्य और पापका फल समानरूपसे मिलना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

धर्मराज उवाच

यद्येवमीप्सितं राजन् भुङ्क्ष्वास्य सहितः फलम् ।
तुल्यकालं सहानेन पश्चात् प्राप्स्यसि सद्गतिम् ॥ १७ ॥

धर्मराज बोले—राजन् ! यदि तुम्हारी ऐसी इच्छा है तो इनके साथ रहकर उतने ही समयतक तुम भी पापकर्मोंका फल भोगो, इसके बाद तुम्हें उत्तम गति प्राप्त होगी । १७ ।

लोमश उवाच

स चकार तथा सर्वं राजा राजीवलोचनः ।
क्षीणपापश्च तस्मात् स विमुक्तो गुरुणा सह ॥ १८ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब कमलनयन राजा सोमकने धर्मराजके कथनानुसार सब कार्य किया और भोगद्वारा पाप नष्ट हो जानेपर वे पुरोहितके साथ ही नरकसे छूट गये ॥ १८ ॥

लेभे कामाञ्शुभान् राजन् कर्मणा निर्जितान् स्वयम् ।
सह तेनैव विप्रेण गुरुणा स गुरुप्रियः ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् उन गुरुप्रेमी नरेशने अपने गुरुके साथ ही पुण्यकर्मोंद्वारा स्वयं प्राप्त किये हुए पुण्य-लोकके शुभ भोगोंका उपभोग किया ॥ १९ ॥

एष तस्याश्रमः पुण्यो य एषोऽग्रे विराजते ।
क्षान्त उष्यात्र षड्रात्रं प्राप्नोति सुगतिं नरः ॥ २० ॥

यह उन्हीं राजा सोमकका पवित्र आश्रम है, जो सामने ही सुशोभित हो रहा है । यहाँ क्षमाशील होकर छः रात निवास करनेसे मनुष्य उत्तम गति प्राप्त कर लेता है ॥२०॥

एतस्मिन्नपि राजेन्द्र वत्स्यामो विगतज्वराः ।
षड्रात्रं नियतात्मानः सज्जीभव कुरूद्वह ॥ २१ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! हम सब लोग इस आश्रममें छः राततक मन और इन्द्रियोंपर संयम रखते हुए निश्चिन्त होकर निवास करेंगे । तुम इसके लिये तैयार हो जाओ ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां जन्तूपाख्याने अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें जन्तूपाख्यानविषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २१½ श्लोक हैं)

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रके द्वारभूत प्लक्षप्रस्रवण नामक यमुनातीर्थ एवं सरस्वतीतीर्थकी महिमा

लोमश उवाच

अस्मिन् किल स्वयं राजन्निष्टवान् वै प्रजापतिः ।
सत्रमिष्टीकृतं नाम पुरा वर्षसहस्रिकम् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! पूर्वकालमें यहाँ साक्षात् प्रजापतिने इष्टीकृत नामक सत्रका एक सहस्र वर्षोंतक चालू रहनेवाला अनुष्ठान किया था ॥ १ ॥

अम्बरीषश्च नाभाग इष्टवान् यमुनामनु ।
यत्रेष्ट्वा दश पद्मानि सदस्येभ्योऽभिसृष्टवान् ॥ २ ॥
यज्ञैश्च तपसा चैव परां सिद्धिमवाप सः ।

यहीं यमुनाके तटपर नाभाग-पुत्र अम्बरीषने भी यज्ञ किया था और यज्ञ पूर्ण होनेके पश्चात् सदस्योंको दस पद्म मुद्राएँ दान की थीं तथा यज्ञों और तपस्याद्वारा परम सिद्धि प्राप्त कर ली थी ॥ २½ ॥

देशश्च नाहुषस्यायं यज्वनः पुण्यकर्मणः ॥ ३ ॥
सार्वभौमस्य कौन्तेय ययातेरमितौजसः ।
स्पर्धमानस्य शक्रेण तस्येदं यज्ञवास्त्विह ॥ ४ ॥

कुन्तीनन्दन ! यह नहुषकुमार ययातिका देश है, जो पुण्यकर्मा, याज्ञिक, महातेजस्वी और सार्वभौम सम्राट् थे । वे सदा इन्द्रके साथ ईर्ष्या रखते थे । यहाँ यह उन्हींकी यज्ञभूमि है ॥ ३-४ ॥

पश्य नानाविधाकारैरग्निभिर्निचितां महीम् ।
मज्जन्तीमिव चाक्रान्तां ययातेर्यज्ञकर्मभिः ॥ ५ ॥

देखो, यहाँ अग्नियोंसे युक्त नाना प्रकारकी वेदियाँ हैं, जिनसे यह सारी भूमि व्याप्त हो रही है; मानो पृथ्वी ययातिके यज्ञ-कर्मोंसे आक्रान्त हो उनकी पुण्य-धारामें डूबी जा रही है ॥ ५ ॥

एषा शम्येकपत्रा सा शरकं चैतदुत्तमम् ।

पश्य रामह्रदानेतान् पश्य नारायणाश्रमम् ॥ ६ ॥

यह एक पत्तेवाली शमीका अवशेष अंश है तथा यह उत्तम सरोवर है। देखो, ये परशुरामजीके कुण्ड हैं और यह नारायणाश्रम है ॥ ६ ॥

एतच्चर्चीकपुत्रस्य योगैर्विचरतो महीम् ।
प्रसर्पणं महीपाल रौप्यायाममितौजसः ॥ ७ ॥

महाराज ! योगशक्तिसे सारी पृथ्वीपर विचरनेवाले महातेजस्वी ऋचीकनन्दन जमदग्निका प्रसर्पण (घूमने-फिरने-का स्थान) तीर्थ है, जो रौप्या नामक नदीके समीप सुशोभित है ॥ ७ ॥

अत्रानुवंशं पठतः शृणु मे कुरुनन्दन ।
उलूखलैराभरणैः पिशाची यदभाषत ॥ ८ ॥

कुरुनन्दन ! इस तीर्थके विषयमें एक परम्परा-प्राप्त कथा-को सूचित करनेवाले कुछ श्लोक हैं, जिन्हें मैं पढ़ता हूँ, तुम मेरे मुखसे सुनो—(प्राचीन कालकी बात है, कोई स्त्री अपने पुत्रके साथ इस तीर्थमें निवास करनेके लिये आयी थी, उससे) एक भयंकर पिशाचीने, जिसने ओखली-जैसे आभूषण पहन रक्खे थे, उन श्लोकोंको कहा था—॥ ८ ॥

युगन्धरे दधि प्राश्य उषित्वा चाच्युतस्थले ।
तद्वद् भूतलये स्नात्वा सपुत्रा वस्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

श्लोक (का भाव) इस प्रकार है—'अरी ! तू युगन्धर-में दही खाकर* अच्युतस्थलमें निवास करके† और भूतलय-में नहाकर‡ यहाँ पुत्रसहित निवास करनेकी अधिकारिणी कैसे हो सकती है ? ॥ ९ ॥

एकरात्रमुषित्वेह द्वितीयं यदि वत्स्यसि ।
एतद् वै ते दिवावृत्तं रात्रौ वृत्तमतोऽन्यथा ॥ १० ॥

'(अच्छा, आयी है तो एक रात रह ले;) यदि एक रात यहाँ रह लेनेके पश्चात् दूसरी रातमें भी रहेगी तो दिनमें तो तेरा यह हाल है (आज दिनमें तो तुमको यह कष्ट दिया गया है) और रातमें तेरे साथ अन्यथा बर्ताव होगा (विशेष कष्ट दिया जायगा)' ॥ १० ॥

अद्य चात्र निवत्स्यामः क्षपां भरतसत्तम ।
द्वारमेतत् तु कौन्तेय कुरुक्षेत्रस्य भारत ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! (इस किंवदन्तीके अनुसार किसीको भी यहाँ एक ही रात रहना चाहिये) अतः हमलोग केवल आजकी रातमें ही यहाँ निवास करेंगे। युधिष्ठिर ! यह तीर्थ कुरुक्षेत्रका द्वार बताया गया है ॥ ११ ॥

अत्रैव नाहुषो राजा राजन् क्रतुभिरिष्टवान् ।
ययातिर्बहुरत्नौघैर्यत्रेन्द्रो मुदमभ्यगात् ॥ १२ ॥

राजन् ! नहुषनन्दन राजा ययातिने यहीं प्रचुर रत्नराशि-की दक्षिणासे युक्त अनेक यज्ञोंद्वारा भगवान्का यजन किया था। उन यज्ञोंमें इन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई थी ॥ १२ ॥

एतत् प्लक्षावतरणं यमुनातीर्थमुत्तमम् ।
एतद् वै नाकपृष्ठस्य द्वारमाहुर्मनीषिणः ॥ १३ ॥

यह यमुनाजीका प्लक्षावतरण नामक उत्तम तीर्थ है। मनीषी पुरुष इसे स्वर्गलोकका द्वार बताते हैं ॥ १३ ॥

अत्र सारस्वतैर्यज्ञैरीजानाः परमर्षयः ।
यूपोलूखलिकास्तात गच्छन्त्यवभृथप्लवम् ॥ १४ ॥

यहीं यूप और ओखली आदि यज्ञ-साधनोंका संग्रह करनेवाले महर्षियोंने सारस्वत यज्ञोंका अनुष्ठान करके अवभृथ स्नान किया था ॥ १४ ॥

अत्र वै भरतो राजा राजन् क्रतुभिरिष्टवान् ।
हयमेधेन यज्ञेन मेध्यमश्वमवासृजत् ॥ १५ ॥
असकृत् कृष्णसारङ्गं धर्मेणाप्य च मेदिनीम् ।
अत्रैव पुरुषव्याघ्र मरुत्तः सत्रमुत्तमम् ॥ १६ ॥
प्राप चैवर्षिमुख्येन संवर्तेनाभिपालितः ।
अत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र सर्वाँल्लोकान् प्रपश्यति ।
पूयते दुष्कृताच्चैव अत्रापि समुपस्पृश ॥ १७ ॥

राजन् ! राजा भरतने धर्मपूर्वक वसुधाका राज्य पाकर यहीं बहुत-से यज्ञ किये थे और यहीं अश्वमेध यज्ञके उद्देश्यसे उन्होंने अनेक बार कृष्णमृगके समान रंगवाले यज्ञसम्बन्धी श्यामकर्ण अश्वको भूतलपर भ्रमणके लिये छोड़ा था। नरश्रेष्ठ ! इसी तीर्थमें ऋषिप्रवर संवर्तसे सुरक्षित हो महाराज [illegible] ! यहाँ स्नान

* युगन्धर एक पर्वत या प्रदेशका नाम है, जहाँके लोग ऊँटनी और गदहीतकके दूधका दही जमा लेते हैं। उस स्त्रीने कभी वहाँ जाकर दही खाया था। धर्म-शास्त्रमें ऊँट और एक खुरवाले पशुओंके दूधको मदिराके तुल्य बताया गया है—'औष्ट्रमेकशफं क्षीरं सुरातुल्यम् ।' इति ।

† प्राचीन कालमें अच्युतस्थल नामक गाँव वर्णसंकरजातीय अन्त्यजों एवं चाण्डालोंका निवासस्थान था। उस स्त्रीने उस गाँवमें किसी समय निवास किया था। धर्म-शास्त्रके अनुसार वर्णसंकरोंके संसर्गमें आनेपर प्रायश्चित्तरूपसे प्राजापत्य व्रतका अनुष्ठान करना चाहिये—'संसृज्य संकरैः सार्धं प्राजापत्यं व्रतं चरेत् ।' इति ।

‡ 'भूतलय' नामक गाँव चोरों और डाकुओंका अड्डा था। वहाँ एक नदी थी, जिसमें मुर्दे बहाये जाते थे। उस स्त्रीने उसी दूषित जलमें स्नान किया था। धर्म-शास्त्रके अनुसार उस गाँवमें रहनेमात्रसे प्राजापत्य व्रत करनेकी आवश्यकता है—'प्रोष्य भूत-लये विप्रः प्राजापत्यं व्रतं चरेत् ।' इति ॥ इन तीनों दोषोंसे युक्त होनेके कारण [illegible]

करके शुद्ध हुआ मनुष्य सम्पूर्ण लोकोंको प्रत्यक्ष देखता है और पापसे मुक्त हो पवित्र हो जाता है; अतः तुम इसमें भी स्नान करो ॥ १५-१७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत्र सभ्रातृकः स्नात्वा स्तूयमानो महर्षिभिः ।
लोमशं पाण्डवश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भाइयोंसहित स्नान करके महर्षियोंद्वारा प्रशंसित हो पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरने लोमशजीसे इस प्रकार कहा—॥ १८ ॥

सर्वाँल्लोकान् प्रपश्यामि तपसा सत्यविक्रम ।
इहस्थः पाण्डवश्रेष्ठं पश्यामि श्वेतवाहनम् ॥ १९ ॥

'मुनीश्वर ! तपोबलसे सम्पन्न होनेके कारण वस्तुतः आप ही यथार्थ पराक्रमी हैं । आपकी कृपासे आज मैं इस प्लक्षावतरणके जलमें स्थित होकर सब लोकोंको प्रत्यक्ष देख रहा हूँ । यहींसे मुझे पाण्डवश्रेष्ठ श्वेतवाहन अर्जुन भी दिखायी देते हैं' ॥ १९ ॥

लोमश उवाच

एवमेतन्महाबाहो पश्यन्ति परमर्षयः ।
(इह स्नात्वा तपोयुक्तांस्त्रीँल्लोकान् सचराचरान्)
सरस्वतीमिमां पुण्यां पुण्यैकशरणावृताम् ॥ २० ॥

लोमशजीने कहा—महाबाहो ! तुम ठीक कहते हो । यहाँ स्नान करके तपःशक्तिसम्पन्न श्रेष्ठ ऋषिगण इसी प्रकार चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंका दर्शन करते हैं । अब इस पुण्यसलिला सरस्वतीका दर्शन करो, जो एकमात्र पुण्यका ही आश्रय लेनेवाले पुरुषोंसे घिरी हुई है ॥ २० ॥

यत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ धूतपाप्मा भविष्यसि ।
इह सारस्वतैर्यज्ञैरिष्टवन्तः सुरर्षयः ।
ऋषयश्चैव कौन्तेय तथा राजर्षयोऽपि च ॥ २१ ॥

नरश्रेष्ठ ! इसमें स्नान करनेसे तुम्हारे सारे पाप धुल जायँगे । कुन्तीनन्दन ! यहाँ अनेक देवर्षि, ब्रह्मर्षि तथा राजर्षियोंने सारस्वत यज्ञोंका अनुष्ठान किया है ॥ २१ ॥

वेदी प्रजापतेरेषा समन्तात् पञ्चयोजना ।
कुरोर्वै यज्ञशीलस्य क्षेत्रमेतन्महात्मनः ॥ २२ ॥

यह सब ओर पाँच योजन फैली हुई प्रजापतिकी यज्ञ-वेदी है । यही यज्ञपरायण महात्मा राजा कुरुका क्षेत्र है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामेकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राविषयक एक सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २२½ श्लोक हैं)

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विभिन्न तीर्थोंकी महिमा और राजा उशीनरकी कथाका आरम्भ

लोमश उवाच

इह मर्त्यास्तनूस्त्यक्त्वा स्वर्गं गच्छन्ति भारत ।
मर्तुकामा नरा राजन्निहायान्ति सहस्रशः ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—भारत ! यहाँ शरीर छूट जानेपर मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं; इसलिये हजारों इस तीर्थमें मरनेके लिये आकर निवास करते हैं ॥ १ ॥

एवमाशीः प्रयुक्ता हि दक्षेण यजता पुरा ।
इह ये वै मरिष्यन्ति ते वै स्वर्गजितो नराः ॥ २ ॥
एषा सरस्वती रम्या दिव्या चौघवती नदी ।
एतद् विनशनं नाम सरस्वत्या विशाम्पते ॥ ३ ॥

प्राचीन कालमें प्रजापति दक्षने यज्ञ करते समय यह आशीर्वाद दिया था कि जो मनुष्य यहाँ मरेंगे, वे स्वर्गलोकपर अधिकार प्राप्त कर लेंगे । यह रमणीय, दिव्य और तीव्र प्रवाहवाली सरस्वती नदी है और यह सरस्वतीका विनशन नामक तीर्थ है ॥ २-३ ॥

द्वारं निषादराष्ट्रस्य येषां दोषात् सरस्वती ।
प्रविष्टा पृथिवीं वीर मा निषादा हि मां विदुः ॥ ४ ॥
एष वै चमसोद्भेदो यत्र दृश्या सरस्वती ।
यत्रैनामभ्यवर्तन्त सर्वाः पुण्याः समुद्रगाः ॥ ५ ॥

यह निषादराजका द्वार है । वीर युधिष्ठिर ! उन निषादोंके ही संसर्गदोषसे सरस्वती नदी यहाँ इसलिये पृथ्वीके भीतर प्रविष्ट हो गयी कि निषाद मुझे जान न सकें । यह चमसोद्भेदतीर्थ है; जहाँ सरस्वती पुनः प्रकट हो गयी है । यहाँ समुद्रमें मिलनेवाली सम्पूर्ण पवित्र नदियाँ इसके सम्मुख आयी हैं ॥ ४-५ ॥

एतत् सिन्धोर्महत् तीर्थं यत्रागस्त्यमरिंदम ।
लोपामुद्रा समागम्य भर्तारमवृणीत वै ॥ ६ ॥

शत्रुदमन ! यह सिन्धुका महान् तीर्थ है; जहाँ जाकर लोपामुद्राने अपने पति अगस्त्यमुनिका वरण किया था ॥ ६ ॥

एतत् प्रकाशते तीर्थं प्रभासं भास्करद्युते ।
इन्द्रस्य दयितं पुण्यं पवित्रं पापनाशनम् ॥ ७ ॥

सूर्यके समान तेजस्वी नरेश ! यह प्रभासतीर्थ* प्रकाशित

* 'प्रभास' की जगह 'हाटक' पाठभेद भी मिलता है ।

हो रहा है, जो इन्द्रको बहुत प्रिय है। यह पुण्यमय क्षेत्र सब पापोंका नाश करनेवाला और परम पवित्र है ॥ ७ ॥

एतद् विष्णुपदं नाम दृश्यते तीर्थमुत्तमम् ।
एषा रम्या विपाशा च नदी परमपावनी ॥ ८ ॥
अत्र वै पुत्रशोकेन वसिष्ठो भगवानृषिः ।
बद्ध्वाऽऽत्मानं निपतितो विपाशः पुनरुत्थितः ॥ ९ ॥

यह विष्णुपद नामवाला उत्तम तीर्थ दिखायी देता है तथा वह परम पावन और मनोरम विपाशा (व्यास) नदी है। यहीं भगवान् वसिष्ठ मुनि पुत्रशोकसे पीड़ित हो अपने शरीरको पाशोंसे बाँधकर कूद पड़े थे, परंतु पुनः विपाश (पाशमुक्त) होकर जलसे बाहर निकल आये ॥ ८-९ ॥

काश्मीरमण्डलं चैतत् सर्वपुण्यमरिंदम ।
महर्षिभिश्चाध्युषितं पश्येदं भ्रातृभिः सह ॥ १० ॥
यत्रोत्तराणां सर्वेषामृषीणां नाहुषस्य च ।
अग्नेश्चैवात्र संवादः काश्यपस्य च भारत ॥ ११ ॥

शत्रुदमन ! यह पुण्यमय काश्मीरमण्डल है, जहाँ बहुत-से महर्षि निवास करते हैं। तुम भाइयोंसहित इसका दर्शन करो। भारत ! यह वही स्थान है, जहाँ उत्तरके समस्त ऋषि, नहुषकुमार ययाति, अग्नि और काश्यपका संवाद हुआ था ॥ १०-११ ॥

एतद् द्वारं महाराज मानसस्य प्रकाशते ।
वर्षमस्य गिरेर्मध्ये रामेण श्रीमता कृतम् ॥ १२ ॥

महाराज ! यह मानससरोवरका द्वार प्रकाशित हो रहा है। इस पर्वतके मध्यभागमें परशुरामजीने अपना आश्रम बनाया था ॥ १२ ॥

एष वातिकषण्डो वै प्रख्यातः सत्यविक्रमः ।
नात्यवर्तत यद्द्वारं विदेहादुत्तरं च यः ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर ! परशुरामजी सर्वत्र विख्यात हैं। वे सत्यपराक्रमी हैं। उनके इस आश्रमका द्वार विदेह देशसे उत्तर है। यह बवंडर (वायुका तूफान) भी उनके इस द्वारका कभी उल्लङ्घन नहीं कर सकता है (फिर औरोंकी तो बात ही क्या है) ॥ १३ ॥

इदमाश्चर्यमपरं देशेऽस्मिन् पुरुषर्षभ ।
क्षीणे युगे तु कौन्तेय शर्वस्य सह पार्षदैः ॥ १४ ॥
सहोमया च भवति दर्शनं कामरूपिणः ।
अस्मिन् सरसि सत्रैर्वै चैत्रे मासि पिनाकिनम् ॥ १५ ॥
यजन्ते याजकाः सम्यक् परिवारं शुभार्थिनः ।
अत्रोपस्पृश्य सरसि श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ॥ १६ ॥
क्षीणपापः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुते नात्र संशयः ।
एष उज्जानको नाम पावकिर्यत्र शान्तवान् ।
अरुन्धतीसहायश्च वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ ! इस देशमें दूसरी आश्चर्यकी बात यह है कि यहाँ निवास करनेवाले साधकको युगके अन्तमें पार्षदों तथा पार्वतीसहित इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले भगवान् शंकरका प्रत्यक्ष दर्शन होता है। इस सरोवरके तटपर चैत्र मासमें कल्याणकामी याजक पुरुष अनेक प्रकारके यज्ञोंद्वारा परिवारसहित पिनाकधारी भगवान् शिवकी आराधना करते हैं। इस तालाबमें श्रद्धापूर्वक स्नान एवं आचमन करके पापमुक्त हुआ जितेन्द्रिय पुरुष शुभ लोकोंमें जाता है; इसमें संशय नहीं है। यह सरोवर उज्जानक नामसे प्रसिद्ध है। यहाँ भगवान् स्कन्द तथा अरुन्धतीसहित महर्षि वसिष्ठने साधना करके सिद्धि एवं शान्ति प्राप्त की है ॥ १४–१७ ॥

ह्रदश्च कुशवानेष यत्र पद्मं कुशेशयम् ।
आश्रमश्चैव रुक्मिण्या यत्राशाम्यदकोपना ॥ १८ ॥

यह कुशवान् नामक ह्रद है, जिसमें कुशेशय नामवाले कमल खिले रहते हैं। यहीं रुक्मिणीदेवीका आश्रम है, जहाँ उन्होंने क्रोधको जीतकर शान्तिका लाभ किया था ॥ १८ ॥

समाधीनां समासस्तु पाण्डवेय श्रुतस्त्वया ।
तं द्रक्ष्यसि महाराज भृगुतुङ्गं महागिरिम् ॥ १९ ॥

पाण्डुनन्दन ! महाराज ! तुमने जिसके विषयमें यह सुन रखा है कि वह योग-सिद्धिका संक्षिप्त स्वरूप है—जिसके दर्शनमात्रसे समाधिरूप फलकी प्राप्ति हो जाती है, उस भृगुतुङ्ग नामक महान् पर्वतका अब तुम दर्शन करोगे ॥ १९ ॥

वितस्तां पश्य राजेन्द्र सर्वपापप्रमोचनीम् ।
महर्षिभिश्चाध्युषितां शीततोयां सुनिर्मलाम् ॥ २० ॥

राजेन्द्र ! वितस्ता (झेलम) नदीका दर्शन करो, जो सब पापोंसे मुक्त करनेवाली है। इसका जल बहुत शीतल और अत्यन्त निर्मल है। इसके तटपर बहुत-से महर्षिगण निवास करते हैं ॥ २० ॥

जलां चोपजलां चैव यमुनामभितो नदीम् ।
उशीनरो वै यत्रेष्ट्वा वासवादत्यरिच्यत ॥ २१ ॥

यमुना नदीके दोनों पार्श्वमें जला और उपजला नामकी दो नदियोंका दर्शन करो, जहाँ राजा उशीनरने यज्ञ करके इन्द्रसे भी ऊँचा स्थान प्राप्त किया था ॥ २१ ॥

तां देवसमितिं तस्य वासवश्च विशाम्पते ।
अभ्यागच्छन्नृपवरं ज्ञातुमग्निश्च भारत ॥ २२ ॥

महाराज भरतनन्दन ! नृपश्रेष्ठ उशीनरके महत्त्वको समझनेके लिये किसी समय इन्द्र और अग्नि उनकी राजसभामें गये ॥ २२ ॥

जिज्ञासमानौ वरदौ महात्मानमुशीनरम् ।
इन्द्रः श्येनः कपोतोऽग्निर्भूत्वा यज्ञेऽभिजग्मतुः ॥ २३ ॥

वे दोनों वरदायक महात्मा उस समय उशीनरकी परीक्षा लेना चाहते थे; अतः इन्द्रने बाज पक्षीका रूप धारण किया और अग्निने कबूतरका। इस प्रकार वे राजाके यज्ञमण्डपमें गये ॥ २३ ॥

ऊरू राज्ञः समासाद्य कपोतः श्येनजाद् भयात्।
शरणार्थी तदा राजन् निलिल्ये भयपीडितः ॥ २४ ॥

अपनी रक्षाके लिये आश्रय चाहनेवाला कबूतर बाजके भयसे डरकर राजाकी गोदीमें जा छिपा ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां श्येनकपोतीये त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें श्येनकपोतीयोपाख्यानविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३० ॥

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

राजा उशीनरद्वारा बाजको अपने शरीरका मांस देकर शरणमें आये हुए कबूतरके प्राणोंकी रक्षा करना

श्येन उवाच

धर्मात्मानं त्वाहुरेकं सर्वे राजन् महीक्षितः।
सर्वधर्मविरुद्धं त्वं कस्मात् कर्म चिकीर्षसि ॥ १ ॥
विहितं भक्षणं राजन् पीड्यमानस्य मे क्षुधा।
मा रक्षीर्धर्मलोभेन धर्ममुत्सृष्टवानसि ॥ २ ॥

तब बाजने कहा—राजन्! समस्त भूपाल केवल आपको ही धर्मात्मा बताते हैं। फिर आप यह सम्पूर्ण धर्मोंसे विरुद्ध कर्म कैसे करना चाहते हैं। महाराज! मैं भूखसे कष्ट पा रहा हूँ और कबूतर मेरा आहार नियत किया गया है। आप धर्मके लोभसे इसकी रक्षा न करें। वास्तवमें इसे आश्रय देकर आपने धर्मका परित्याग ही किया है ॥ १-२ ॥

राजोवाच

संत्रस्तरूपस्त्राणार्थी त्वत्तो भीतो महाद्विज।
मत्सकाशमनुप्राप्तः प्राणगृध्नुरयं द्विजः ॥ ३ ॥
एवमभ्यागतस्येह कपोतस्याभयार्थिनः।
अप्रदाने परं धर्मं कथं श्येन न पश्यसि ॥ ४ ॥

राजा बोले—पक्षिराज! यह कबूतर तुमसे डरकर घबराया हुआ है और अपने प्राण बचानेकी इच्छासे मेरे समीप आया है। यह अपनी रक्षा चाहता है। बाज! इस प्रकार अभय चाहनेवाले इस कबूतरको यदि मैं तुमको नहीं सौंप रहा हूँ, यह तो परम धर्म है। इसे तुम कैसे नहीं देख रहे हो? ॥

प्रस्पन्दमानः सम्भ्रान्तः कपोतः श्येन लक्ष्यते।
मत्सकाशं जीवितार्थी तस्य त्यागो विगर्हितः ॥ ५ ॥
यो हि कश्चिद् द्विजान् हन्याद् गां वा लोकस्य मातरम्।
शरणागतं च त्यजते तुल्यं तेषां हि पातकम् ॥ ६ ॥

बाज! देखो तो यह बेचारा कबूतर किस प्रकार भयसे व्याकुल हो थर-थर काँप रहा है। इसने अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये ही मेरी शरण ली है। ऐसी दशामें इसे त्याग देना बड़ी ही निन्दाकी बात है। जो मनुष्य ब्राह्मणोंकी हत्या करता है, जो जगन्माता गौका वध करता है तथा जो शरणमें आये हुए-को त्याग देता है, इन तीनोंको समान पाप लगता है ॥ ५-६ ॥

श्येन उवाच

आहारात् सर्वभूतानि सम्भवन्ति महीपते।
आहारेण विवर्धन्ते तेन जीवन्ति जन्तवः ॥ ७ ॥

बाजने कहा—महाराज! सब प्राणी आहारसे ही उत्पन्न होते हैं, आहारसे ही उनकी वृद्धि होती है और आहारसे ही जीवित रहते हैं ॥ ७ ॥

शक्यते दुस्त्यजेऽप्यर्थे चिररात्राय जीवितुम्।
न तु भोजनमुत्सृज्य शक्यं वर्तयितुं चिरम् ॥ ८ ॥

जिसको त्यागना बहुत कठिन है, उस अर्थके बिना भी मनुष्य बहुत दिनोंतक जीवित रह सकता है, परंतु भोजन छोड़ देनेपर कोई भी अधिक समयतक जीवन धारण नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

भक्ष्याद् वियोजितस्याद्य मम प्राणा विशाम्पते।
विसृज्य कायमेष्यन्ति पन्थानमकुतोभयम् ॥ ९ ॥
प्रमृते मयि धर्मात्मन् पुत्रदारादि नङ्क्ष्यति।
रक्षमाणः कपोतं त्वं बहून् प्राणान् न रक्षसि ॥ १० ॥

प्रजानाथ! आज आपने मुझे भोजनसे वंचित कर दिया है, इसलिये मेरे प्राण इस शरीरको छोड़कर अकुतोभय-पथ (मृत्यु) को प्राप्त हो जायँगे। धर्मात्मन्! इस प्रकार मेरी मृत्यु हो जानेपर मेरे स्त्री-पुत्र आदि भी (असहाय होनेके कारण) नष्ट हो जायँगे। इस तरह आप एक कबूतरकी रक्षा करके बहुत-से प्राणियोंकी रक्षा नहीं कर रहे हैं ॥

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधात् तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥ ११ ॥

सत्यपराक्रमी नरेश! जो धर्म दूसरे धर्मका बाधक हो वह धर्म नहीं, कुधर्म है। जो दूसरे किसी धर्मका विरोध न करके प्रतिष्ठित होता है, वही वास्तविक धर्म है ॥ ११ ॥

विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम्।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत् ॥ १२ ॥

परस्परविरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मोंमें गौरव-लाघवका विचार करके, जिसमें दूसरोंके लिये बाधा न हो, उसी धर्मका आचरण करना चाहिये ॥ १२ ॥

गुरुलाघवमादाय धर्माधर्मविनिश्चये ।
यतो भूयांस्ततो राजन् कुरुष्व धर्मनिश्चयम् ॥ १३ ॥

राजन् ! धर्म और अधर्मका निर्णय करते समय पुण्य और पापके गौरव-लाघवपर ही दृष्टि रखकर विचार कीजिये तथा जिसमें अधिक पुण्य हो, उसीको आचरणमें लाने योग्य धर्म ठहराइये ॥ १३ ॥

राजोवाच

बहुकल्याणसंयुक्तं भाषसे विहगोत्तम ।
सुपर्णः पक्षिराट् किं त्वं धर्मज्ञश्चास्यसंशयम् ॥ १४ ॥

राजाने कहा—पक्षिश्रेष्ठ ! तुम्हारी बातें अत्यन्त कल्याणमय गुणोंसे युक्त हैं । तुम साक्षात् पक्षिराज गरुड़ तो नहीं हो ? इसमें संदेह नहीं कि तुम धर्मके ज्ञाता हो ॥ १४ ॥

तथा हि धर्मसंयुक्तं बहु चित्रं च भाषसे ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचिदिति त्वां लक्षयाम्यहम् ॥ १५ ॥

तुम जो बातें कह रहे हो, वे बड़ी ही विचित्र और धर्मसंगत हैं । मुझे लक्षणोंसे ऐसा जान पड़ता है कि ऐसी कोई बात नहीं है, जो तुम्हें ज्ञात न हो ॥ १५ ॥

शरणैषिपरित्यागं कथं साध्विति मन्यसे ।
आहारार्थं समारम्भस्तव चायं विहंगम ॥ १६ ॥

तो भी तुम शरणागतके त्यागको कैसे अच्छा मानते हो ? यह मेरी समझमें नहीं आता। विहङ्गम ! वास्तवमें तुम्हारा यह उद्योग केवल भोजन प्राप्त करनेके लिये है ॥ १६ ॥

शक्यश्चाप्यन्यथा कर्तुमाहारोऽप्यधिकस्त्वया ।
गोवृषो वा वराहो वा मृगो वा महिषोऽपि वा ।
त्वदर्थमद्य क्रियतां यच्चान्यदिह काङ्क्षसि ॥ १७ ॥

परंतु तुम्हारे लिये आहारका प्रबन्ध तो दूसरे प्रकारसे भी किया जा सकता है और वह इस कबूतरकी अपेक्षा अधिक हो सकता है । सूअर, हिरन, भैंसा या कोई उत्तम पशु अथवा अन्य जो कोई भी वस्तु तुम्हें अभीष्ट हो, वह तुम्हारे लिये प्रस्तुत की जा सकती है ॥ १७ ॥

श्येन उवाच

न वराहं न चोक्षाणं न मृगान् विविधांस्तथा ।
भक्षयामि महाराज किं ममान्येन केनचित् ॥ १८ ॥

बाज बोला—महाराज ! मैं न सूअर खाऊँगा, न कोई उत्तम पशु और न भाँति-भाँतिके मृगोंका ही आहार करूँगा। दूसरी किसी वस्तुसे भी मुझे क्या लेना है ? ॥ १८ ॥

यस्तु मे देवविहितो भक्षः क्षत्रियपुङ्गव ।
तमुत्सृज महीपाल कपोतमिममेव मे ॥ १९ ॥

क्षत्रियशिरोमणे ! विधाताने मेरे लिये जो भोजन नियत किया है, वह तो यह कबूतर ही है; अतः भूपाल ! इसीको मेरे लिये छोड़ दीजिये ॥ १९ ॥

श्येनः कपोतानत्तीति स्थितिरेषा सनातनी ।
मा राजन् सारमज्ञात्वा कदलीस्कन्धमाश्रय ॥ २० ॥

यह सनातन कालसे चला आ रहा है कि बाज कबूतरोंको खाता है । राजन् ! धर्मके सारभूत तत्त्वको न जानकर आप केलेके खम्भे (-जैसे सारहीन धर्म) का आश्रय न लीजिये ॥ २० ॥

राजोवाच

राष्ट्रं शिबीनामृद्धं वै ददानि तव खेचर ।
यं वा कामयसे कामं श्येन सर्वं ददानि ते ॥ २१ ॥

राजाने कहा—विहङ्गम ! मैं शिबिदेशका समृद्धिशाली राज्य तुम्हें सौंप दूँगा, और भी जिस वस्तुकी तुम्हें इच्छा होगी, वह सब दे सकता हूँ ॥ २१ ॥

विनेमं पक्षिणं श्येन शरणार्थिनमागतम् ।
येनेमं वर्जयेथास्त्वं कर्मणा पक्षिसत्तम ।
तदाचक्ष्व करिष्यामि न हि दास्ये कपोतकम् ॥ २२ ॥

किंतु शरण लेनेकी इच्छासे आये हुए इस पक्षीको नहीं त्याग सकता । पक्षिश्रेष्ठ श्येन ! जिस कामके करनेसे तुम इसे छोड़ सको, वह मुझे बताओ; मैं वही करूँगा, किंतु इस कबूतरको तो नहीं दूँगा ॥ २२ ॥

श्येन उवाच

उशीनर कपोते ते यदि स्नेहो नराधिप ।
आत्मनो मांसमुत्कृत्य कपोततुलया धृतम् ॥ २३ ॥
यदा समं कपोतेन तव मांसं नृपोत्तम ।
तदा देयं तु तन्मह्यं सा मे तुष्टिर्भविष्यति ॥ २४ ॥

बाज बोला—महाराज उशीनर ! यदि आपका इस कबूतरपर स्नेह है तो इसीके बराबर अपना मांस काटकर तराजूमें रखिये। नृपश्रेष्ठ ! जब वह तौलमें इस कबूतरके बराबर हो जाय तब वही मुझे दे दीजियेगा, उससे मेरी तृप्ति हो जायगी ॥ २३-२४ ॥

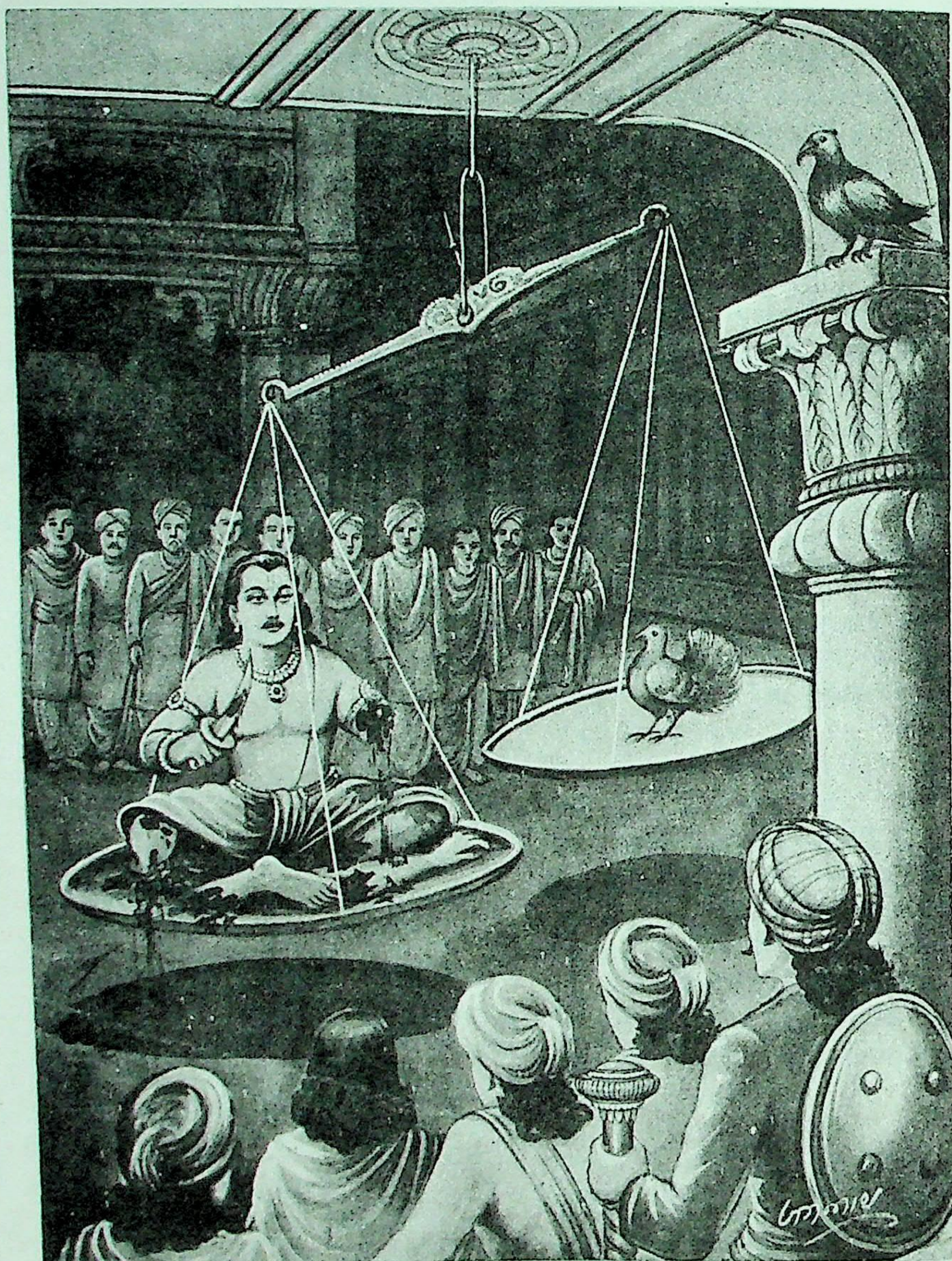
राजोवाच

अनुग्रहमिमं मन्ये श्येन यन्माभियाचसे ।
तस्मात् तेऽद्य प्रदास्यामि स्वमांसं तुलया धृतम् ॥ २५ ॥

राजाने कहा—बाज ! तुम जो मेरा मांस माँग रहे हो, इसे मैं अपने ऊपर तुम्हारी बहुत बड़ी कृपा मानता हूँ, अतः मैं अभी अपना मांस तराजूपर रखकर तुम्हें दिये देता हूँ ॥ २५ ॥

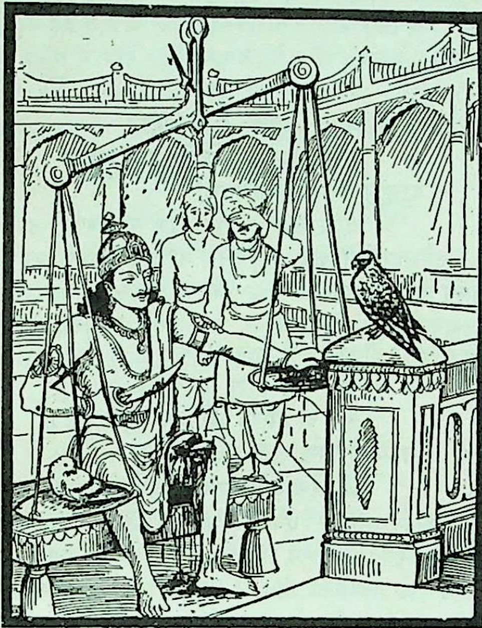
लोमश उवाच

उत्कृत्य स स्वयं मांसं राजा परमधर्मवित् ।
तोलयामास कौन्तेय कपोतेन समं विभो ॥ २६ ॥



राजा शिबिका कबूतरकी रक्षाके लिये बाजको अपने शरीरका मांस काटकर देना

लोमशजी कहते हैं--कुन्तीनन्दन ! तत्पश्चात् परम धर्मज्ञ राजा उशीनरने स्वयं अपना मांस काटकर उस कबूतरके साथ तौलना आरम्भ किया ॥ २६ ॥



ध्रियमाणः कपोतस्तु मांसेनात्यतिरिच्यते ।
पुनश्चोत्कृत्य मांसानि राजा प्रादादुशीनरः ॥ २७ ॥
न विद्यते यदा मांसं कपोतेन समं धृतम् ।
तत उत्कृत्तमांसोऽसावारुरोह स्वयं तुलाम् ॥ २८ ॥

किंतु दूसरे पलड़ेमें रखा हुआ कबूतर उस मांसकी अपेक्षा अधिक भारी निकला, तब महाराज उशीनरने पुनः अपना मांस काटकर चढ़ाया । इस प्रकार बार-बार करनेपर भी जब वह मांस कबूतरके बराबर न हुआ, तब सारा मांस काट लेनेके पश्चात् वे स्वयं ही तराजूपर चढ़ गये ॥ २७-२८ ॥

श्येन उवाच

इन्द्रोऽहमस्मि धर्मज्ञ कपोतो हव्यवाडयम् ।
जिज्ञासमानौ धर्मे त्वां यज्ञवाटमुपागतौ ॥ २९ ॥

बाज बोला—धर्मज्ञ नरेश ! मैं इन्द्र हूँ और यह कबूतर साक्षात् अग्निदेव हैं । हम दोनों आपके धर्मकी परीक्षा लेनेके लिये इस यज्ञशालामें आपके निकट आये थे ॥ २९ ॥

यत् ते मांसानि गात्रेभ्य उत्कृत्तानि विशाम्पते ।
एषा ते भास्वती कीर्तिर्लोकानभिभविष्यति ॥ ३० ॥

प्रजानाथ ! आपने अपने अङ्गोंसे जो मांस काटकर चढ़ाये हैं, उससे फैली हुई आपकी प्रकाशमान कीर्ति सम्पूर्ण लोगोंसे बढ़कर होगी ॥ ३० ॥

यावल्लोके मनुष्यास्त्वां कथयिष्यन्ति पार्थिव ।
तावत् कीर्तिश्च लोकाश्च स्थास्यन्ति तव शाश्वताः ॥ ३१ ॥

राजन् ! संसारके मनुष्य इस जगत्‌में जबतक आपकी चर्चा करेंगे, तबतक आपकी कीर्ति और सनातन लोक स्थिर रहेंगे ॥ ३१ ॥

इत्येवमुक्त्वा राजानमारुरोह दिवं पुनः ।
उशीनरोऽपि धर्मात्मा धर्मेणावृत्य रोदसी ॥ ३२ ॥
विभ्राजमानो वपुषाप्यारुरोह त्रिविष्टपम् ।
तदेतत् सदनं राजन् राज्ञस्तस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥
पश्यस्वैतन्मया सार्धं पुण्यं पापप्रमोचनम् ।
तत्र वै सततं देवा मुनयश्च सनातनाः ।
दृश्यन्ते ब्राह्मणै राजन् पुण्यवद्भिर्महात्मभिः ॥ ३४ ॥

राजासे ऐसा कहकर इन्द्र फिर देवलोकमें चले गये तथा धर्मात्मा राजा उशीनर भी अपने धर्मसे पृथ्वी और आकाशको व्याप्त कर देदीप्यमान शरीर धारण करके स्वर्गलोकमें चले गये । राजन् ! यही उन महात्मा राजा उशीनरका आश्रम है, जो पुण्यजनक होनेके साथ ही समस्त पापोंसे छुटकारा दिलानेवाला है । तुम मेरे साथ इस पवित्र आश्रमका दर्शन करो । महाराज ! वहाँ पुण्यात्मा महात्मा ब्राह्मणोंको सदा सनातन देवता तथा मुनियोंका दर्शन होता रहता है ॥ ३२-३४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां श्येनकपोतीये एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें श्येनकपोतीयोपाख्यानविषयक एक सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अष्टावक्रके जन्मका वृत्तान्त और उनका राजा जनकके दरबारमें जाना

लोमश उवाच

यः कथ्यते मन्त्रविदग्र्यबुद्धि-
रौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम् ।
तस्याश्रमं पश्य नरेन्द्र पुण्यं
सदाफलैरुपपन्नं महीजैः ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उद्दालकके पुत्र श्वेतकेतु हो गये हैं, जो इस भूतलपर मन्त्र-शास्त्रमें अत्यन्त

निपुण कहे जाते थे, देखो यह पवित्र आश्रम उन्हींका है। जो सदा फल देनेवाले वृक्षोंसे हरा-भरा दिखायी देता है ॥ १॥

साक्षादत्र श्वेतकेतुर्ददर्श
सरस्वतीं मानुषदेहरूपाम् ।
वेत्स्यामि वाणीमिति सम्प्रवृत्तां
सरस्वतीं श्वेतकेतुर्बभाषे ॥ २ ॥

इस आश्रममें श्वेतकेतुने मानवरूपधारिणी सरस्वती देवीका प्रत्यक्ष दर्शन किया था और अपने निकट आयी हुई उन सरस्वतीसे यह कहा था कि 'मैं वाणीस्वरूपा आपके तत्त्वको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ' ॥ २ ॥

तस्मिन् युगे ब्रह्मकृतां वरिष्ठा-
वास्तां मुनी मातुलभागिनेयौ ।
अष्टावक्रश्चैव कहोडसूनु-
रौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम् ॥ ३ ॥

उस युगमें कहोड मुनिके पुत्र अष्टावक्र और उद्दालक-नन्दन श्वेतकेतु ये दोनों महर्षि समस्त भूमण्डलके वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे। वे आपसमें मामा और भानजा लगते थे (इनमें श्वेतकेतु ही मामा था) ॥ ३ ॥

विदेहराजस्य महीपतेस्तौ
विप्रावुभौ मातुलभागिनेयौ ।
प्रविश्य यज्ञायतनं विवादे
बन्दिं निजग्राहतुरप्रमेयौ ॥ ४ ॥

एक समय वे दोनों मामा-भानजे विदेहराजके यज्ञमण्डपमें गये। दोनों ही ब्राह्मण अनुपम विद्वान् थे। वहाँ शास्त्रार्थ होनेपर उन दोनोंने अपने (विपक्षी) बन्दीको जीत लिया ॥ ४ ॥

उपास्स्व कौन्तेय सहानुजस्त्वं
तस्याश्रमं पुण्यतमं प्रविश्य ।
अष्टावक्रं यस्य दौहित्रमाहु-
र्योऽसौ बन्दिं जनकस्याथ यज्ञे ॥ ५ ॥
वादी विप्राग्र्यो बाल एवाभिगम्य
वादे भङ्क्त्वा मज्जयामास नद्याम् ॥६॥

कुन्तीनन्दन ! विप्रशिरोमणि अष्टावक्र वाद-विवादमें बड़े निपुण थे। उन्होंने बाल्यावस्थामें ही महाराज जनकके यज्ञ-मण्डपमें पधारकर अपने प्रतिवादी बन्दीको पराजित करके नदीमें डलवा दिया था। वे अष्टावक्र मुनि जिन महात्मा उद्दालक-के दौहित्र (नाती) बताये जाते हैं, उन्हींका यह परम पवित्र आश्रम है। तुम अपने भाइयोंसहित इसमें प्रवेश करके कुछ देरतक उपासना (भगवच्चिन्तन) करो ॥ ५-६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथंप्रभावः स बभूव विप्र-
स्तथाभूतं यो निजग्राह बन्दिम् ।
अष्टावक्रः केन चासौ बभूव
तत् सर्वं मे लोमश शंस तत्त्वम् ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—लोमशजी ! उन ब्रह्मर्षिका कैसा प्रभाव था, जिन्होंने बन्दी-जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान्को भी जीत लिया। वे किस कारणसे अष्टावक्र (आठों अङ्गोंसे टेढ़े मेढ़े) हो गये। ये सब बातें मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥ ७ ॥

लोमश उवाच

उद्दालकस्य नियतः शिष्य एको
नाम्ना कहोड इति विश्रुतोऽभूत् ।
शुश्रूषुराचार्यवशानुवर्ती
दीर्घं कालं सोऽध्ययनं चकार ॥ ८ ॥

लोमशजीने कहा—राजन् ! महर्षि उद्दालकका कहोड नामसे विख्यात एक शिष्य था, जो बड़े संयम-नियमसे रहकर आचार्यकी सेवा किया करता था। उसने गुरुकी आज्ञाके अंदर रहकर दीर्घकालतक अध्ययन किया ॥ ८ ॥

तं वै विप्रः पर्यचरत् सशिष्य-
स्तां च ज्ञात्वा परिचर्यां गुरुः सः ।
तस्मै प्रादात् सद्य एव श्रुतं च
भार्यां च वै दुहितरं स्वां सुजाताम् ॥ ९ ॥

विप्रवर 'कहोड' एक विनीत शिष्यकी भाँति उद्दालक मुनिकी परिचर्यामें संलग्न रहते थे। गुरुने शिष्यकी उस सेवा-के महत्त्वको समझकर शीघ्र ही उन्हें सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोंका ज्ञान करा दिया और अपनी पुत्री सुजाताको भी उन्हें पत्नी-रूपसे समर्पित कर दिया ॥ ९ ॥

तस्या गर्भः समभवदग्निकल्पः
सोऽधीयानं पितरं चाप्युवाच ।
सर्वां रात्रिमध्ययनं करोषि
नेदं पितः सम्यगिवोपवर्तते ॥ १० ॥*

कुछ कालके बाद सुजाता गर्भवती हुई, उसका वह गर्भ अग्निके समान तेजस्वी था। एक दिन स्वाध्यायमें लगे हुए अपने पिता कहोड मुनिसे उस गर्भस्थ बालकने कहा, 'पिताजी ! आप रातभर वेदपाठ करते हैं तो भी आपका वह अध्ययन अच्छी प्रकारसे शुद्ध उच्चारणपूर्वक नहीं हो पाता' ॥ १० ॥

उपालब्धः शिष्यमध्ये महर्षिः
स तं कोपादुदरस्थं शशाप ।
यस्मात् कुक्षौ वर्तमानो ब्रवीषि
तस्माद् वक्रो भवितास्यष्टकृत्वः ॥ ११ ॥

शिष्योंके बीचमें बैठे हुए महर्षि कहोड इस प्रकार उलाहना सुनकर अपमानका अनुभव करते हुए कुपित हो उठे और उस गर्भस्थ बालकको शाप देते हुए बोले, 'अरे ! तू अभी पेटमें रहकर ऐसी टेढ़ी बातें बोलता है, अतः तू आठों अङ्गोंसे टेढ़ा हो जायगा' ॥ ११ ॥

---

* किसी-किसी पुस्तकमें यहाँ एक श्लोक अधिक मिलता है, जो इस प्रकार है—

वेदान् साङ्गान् सर्वशास्त्रैरुपेतानधीतवानस्मि तव प्रसादात् ।
इहैव गर्भे तेन पितर्ब्रवीमि नेदं त्वत्तः सम्यगिवोपवर्तते ॥

स वै तथा वक्र एवाभ्यजाय-
दष्टावक्रः प्रथितो वै महर्षिः।
अस्यासीद् वै मातुलः श्वेतकेतुः
स तेन तुल्यो वयसा बभूव ॥ १२ ॥

उस शापके अनुसार वे महर्षि आठों अङ्गोंसे टेढ़े होकर पैदा हुए। इसलिये अष्टावक्र नामसे उनकी प्रसिद्धि हुई। श्वेतकेतु उनके मामा थे, परंतु अवस्थामें उन्हींके बराबर थे ॥

सम्पीड्यमाना तु तदा सुजाता
सा वर्धमानेन सुतेन कुक्षौ।
उवाच भर्तारमिदं रहोगता
प्रसाद्य हीनं वसुना धनार्थिनी ॥ १३ ॥

जब पेटमें गर्भ बढ़ रहा था, उस समय सुजाताने उससे पीड़ित होकर एकान्तमें अपने निर्धन पतिसे धनकी इच्छा रखकर कहा— ॥ १३ ॥

कथं करिष्याम्यधुना महर्षे
मासश्चायं दशमो वर्तते मे।
नैवास्ति ते वसु किंचित् प्रजाता
येनाहमेतामापदं निस्तरेयम् ॥ १४ ॥

'महर्षे! यह मेरे गर्भका दसवाँ महीना चल रहा है। मैं धनहीन नारी खर्चकी कैसे व्यवस्था करूँगी। आपके पास थोड़ा-सा भी धन नहीं है, जिससे मैं प्रसवकालके इस संकटसे पार हो सकूँ' ॥ १४ ॥

उक्तस्त्वेवं भार्यया वै कहोडो
वित्तस्यार्थे जनकमथाभ्यगच्छत्।
स वै तदा वादविदा निगृह्य
निमज्जितो वन्दिनेहाप्सु विप्रः ॥ १५ ॥

पत्नीके ऐसा कहनेपर कहोड मुनि धनके लिये राजा जनकके दरबारमें गये। उस समय शास्त्रार्थी पण्डित बन्दीने उन ब्रह्मर्षिको विवादमें हराकर जलमें डुबो दिया ॥ १५ ॥

उद्दालकस्तं तु तदा निशम्य
सूतेन वादेऽप्सु निमज्जितं तथा।
उवाच तां तत्र ततः सुजाता-
मष्टावक्रे गूहितव्योऽयमर्थः ॥ १६ ॥

जब उद्दालकको यह समाचार मिला कि 'कहोड मुनि शास्त्रार्थमें पराजित होनेपर सूत (बन्दी) के द्वारा जलमें डुबो दिये गये।' तब उन्होंने सुजातासे सब कुछ बता दिया और कहा, 'बेटी! अपने बच्चेसे इस वृत्तान्तको सदा ही गुप्त रखना' ॥ १६ ॥

ररक्ष सा चापि तमस्य मन्त्रं
जातोऽप्यसौ नैव शुश्राव विप्रः।
उद्दालकं पितृवच्चापि मेने
तथाष्टावक्रो भ्रातृवच्छ्वेतकेतुम् ॥ १७ ॥

सुजाताने भी अपने पुत्रसे उस गोपनीय समाचारको गुप्त ही रक्खा। इसीसे जन्म लेनेके बाद भी उस ब्राह्मण-बालकको इसके विषयमें कुछ भी पता न लगा। अष्टावक्र अपने नाना उद्दालकको ही पिताके समान मानते थे और श्वेतकेतुको अपने भाईके समान समझते थे ॥ १७ ॥

ततो वर्षे द्वादशे श्वेतकेतु-
रष्टावक्रं पितुरङ्के निषण्णम्।
अपाकर्षद् गृह्य पाणौ रुदन्तं
नायं तवाङ्कः पितुरित्युक्तवांश्च ॥ १८ ॥

तदनन्तर एक दिन, जब अष्टावक्रकी आयु बारह वर्षकी थी और वे पितृतुल्य उद्दालक मुनिकी गोदमें बैठे हुए थे, उसी समय श्वेतकेतु वहाँ आये और रोते हुए अष्टावक्रका हाथ पकड़कर उन्हें दूर खींच ले गये। इस प्रकार अष्टावक्रको दूर हटाकर श्वेतकेतुने कहा—'यह तेरे बापकी गोदी नहीं है' ॥ १८ ॥

यत् तेनोक्तं दुरुक्तं तत् तदानीं
हृदि स्थितं तस्य सुदुःखमासीत्।
गृहं गत्वा मातरं सोऽभिगम्य
पप्रच्छेदं क्व नु तातो ममेति ॥ १९ ॥

श्वेतकेतुकी उस कटूक्तिने उस समय अष्टावक्रके हृदयमें गहरी चोट पहुँचायी। इससे उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने घरमें माताके पास जाकर पूछा—'माँ! मेरे पिताजी कहाँ हैं?' ॥ १९ ॥

ततः सुजाता परमार्तरूपा
शापाद् भीता सर्वमेवाचचक्षे।
तद् वै तत्त्वं सर्वमाज्ञाय रात्रा-
वित्यब्रवीच्छ्वेतकेतुं स विप्रः ॥ २० ॥

गच्छाव यज्ञं जनकस्य राज्ञो
बह्वाश्चर्यः श्रूयते तस्य यज्ञः।
श्रोष्यावोऽत्र ब्राह्मणानां विवाद-
मत्स्यं चाग्र्यं तत्र भोक्ष्यावहे च ॥ २१ ॥

बालकके इस प्रश्नसे सुजाताके मनमें बड़ी व्यथा हुई, उसने शापके भयसे घबराकर सब बात बता दी। यह सब रहस्य जानकर उन्होंने रातमें श्वेतकेतुसे इस प्रकार कहा—'हम दोनों राजा जनकके यज्ञमें चलें। सुना जाता है, उस यज्ञमें बड़े आश्चर्यकी बातें देखनेमें आती हैं। हम दोनों वहाँ विद्वान् ब्राह्मणोंका शास्त्रार्थ सुनेंगे और वहीं उत्तम पदार्थ भोजन करेंगे ॥ २०-२१ ॥

विचक्षणत्वं च भविष्यते नौ
शिवश्च सौम्यश्च हि ब्रह्मघोषः ॥ २२ ॥

'वहाँ जानेसे हमलोगोंकी प्रवचनशक्ति एवं जानकारी बढ़ेगी और हमें सुमधुर स्वरमें वेद-मन्त्रोंका कल्याणकारी घोष सुननेका अवसर मिलेगा' ॥ २२ ॥

तौ जग्मतुर्मातुलभागिनेयौ
यज्ञं समृद्धं जनकस्य राज्ञः।
अष्टावक्रः पथि राज्ञा समेत्य
प्रोत्सार्यमाणो वाक्यमिदं जगाद ॥ २३ ॥

ऐसा निश्चय करके वे दोनों मामा-भानजे राजा जनकके समृद्धिशाली यज्ञमें गये। अष्टावक्रकी यज्ञमण्डपके मार्गमें ही राजासे भेंट हो गयी। उस समय राजसेवक उन्हें रास्तेसे दूर हटाने लगे, तब वे इस प्रकार बोले ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अष्टावक्रीयोपाख्यानविषयक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अष्टावक्रका द्वारपाल तथा राजा जनकसे वार्तालाप

अष्टावक्र उवाच

अन्धस्य पन्था बधिरस्य पन्थाः
स्त्रियः पन्था भारवाहस्य पन्थाः।
राज्ञः पन्था ब्राह्मणेनासमेत्य
समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पन्थाः ॥ १ ॥

अष्टावक्र बोले—राजन्! जबतक ब्राह्मणसे सामना न हो, तबतक अंधेका मार्ग, बहरेका मार्ग, स्त्रीका मार्ग, बोझ ढोनेवालेका मार्ग तथा राजाका मार्ग उस-उसके जानेके लिये छोड़ देना चाहिये; परंतु यदि ब्राह्मण सामने मिल जाय तो सबसे पहले उसीको मार्ग देना चाहिये ॥ १ ॥

राजोवाच

पन्था अयं तेऽद्य मयातिदिष्टो
येनेच्छसि तेन कामं व्रजस्व।
न पावको विद्यते वै लघीया-
निन्द्रोऽपि नित्यं नमते ब्राह्मणानाम् ॥ २ ॥

राजाने कहा—ब्राह्मणकुमार! लो मैंने तुम्हारे लिये आज यह मार्ग दे दिया है। तुम जिससे जाना चाहो उसी मार्गसे इच्छानुसार चले जाओ। आग कभी छोटी नहीं होती। देवराज इन्द्र भी सदा ब्राह्मणोंके आगे मस्तक झुकाते हैं ॥ २ ॥

अष्टावक्र उवाच

प्राप्तौ स्व यज्ञं नृप संदिदृक्षू
कौतूहलं नौ बलवन्नरेन्द्र।
प्राप्ताविहावामतिथी प्रवेशं
काङ्क्षावहे द्वारपतेस्तवाज्ञाम् ॥ ३ ॥

अष्टावक्र बोले—राजन्! हम दोनों आपका यज्ञ देखनेके लिये आये हैं। नरेन्द्र! इसके लिये हम दोनोंके हृदयमें प्रबल उत्कण्ठा है। हम दोनों यहाँ अतिथिके रूपमें उपस्थित हैं और इस यज्ञमें प्रवेश करनेके लिये हम तुम्हारे द्वारपालकी आज्ञा चाहते हैं ॥ ३ ॥

ऐन्द्रद्युम्ने यज्ञमिहाभिवीक्षितुं
विवक्षू वै जनकेन्द्रं दिदृक्षू।
तौ वै क्रोधव्याधिना दह्यमाना-
वयं च नौ द्वारपालो रुणद्धि ॥ ४ ॥

इन्द्रद्युम्नकुमार जनक! हम दोनों यहाँ यज्ञ देखनेके लिये आये हैं और आप जनकराजसे मिलना तथा बात करना चाहते हैं, परंतु यह द्वारपाल हमें रोकता है; अतः हम क्रोध-रूप व्याधिसे दग्ध हो रहे हैं ॥ ४ ॥

द्वारपाल उवाच

बन्देः समादेशकरा वयं स्म
निबोध वाक्यं च मयेर्यमाणम्।
न वै बालाः प्रविशन्त्यत्र विप्रा
वृद्धा विदग्धाः प्रविशन्त्यत्र विप्राः ॥ ५ ॥

द्वारपाल बोला—ब्राह्मणकुमार! सुनो, हम बंदीके आज्ञापालक हैं। आप हमारी कही हुई बात सुनिये। इस यज्ञशालामें बालक ब्राह्मण नहीं प्रवेश करने पाते हैं। जो बूढ़े और बुद्धिमान् ब्राह्मण हैं, उन्हींका यहाँ प्रवेश होता है ॥ ५ ॥

अष्टावक्र उवाच

यद्यत्र वृद्धेषु कृतः प्रवेशो
युक्तं प्रवेष्टुं मम द्वारपाल।
वयं हि वृद्धाश्चरितव्रताश्च
वेदप्रभावेण समन्विताश्च ॥ ६ ॥

अष्टावक्र बोले—द्वारपाल! यदि यहाँ वृद्ध ब्राह्मणोंके लिये प्रवेशका द्वार खुला है, तब तो हमारा प्रवेश होना भी उचित ही है; क्योंकि हमलोग वृद्ध ही हैं, हमने ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया है तथा हम वेदके प्रभावसे भी सम्पन्न हैं ॥ ६ ॥

शुश्रूषवश्चापि जितेन्द्रियाश्च
ज्ञानागमे चापि गताः स्म निष्ठाम्।
न बाल इत्यवमन्तव्यमाहु-
र्बालोऽप्यग्निर्दहति स्पृश्यमानः ॥ ७ ॥

साथ ही हम गुरुजनोंके सेवक, जितेन्द्रिय तथा ज्ञानशास्त्रमें परिनिष्ठित भी हैं। अवस्थामें बालक होनेके कारण ही किसी

ब्राह्मणको अपमानित करना उचित नहीं बताया गया है; क्योंकि आगकी छोटी-सी चिनगारी भी यदि छू जाय तो वह जला डालती है ॥ ७ ॥

द्वारपाल उवाच

सरस्वतीमीरय वेदजुष्टा-
मेकाक्षरां बहुरूपां विराजम् ।
अङ्गात्मानं समवेक्षस्व बालं
किं श्लाघसे दुर्लभो वै मनीषी ॥ ८ ॥

द्वारपालने कहा—ब्राह्मणकुमार ! तुम वेदप्रतिपादित, एकाक्षरब्रह्मका बोध करानेवाली, अनेक रूपवाली, सुन्दर वाणीका उच्चारण करो और अपने आपको बालक ही समझो, स्वयं ही अपनी प्रशंसा क्यों करते हो ? इस जगत्‌में ज्ञानी दुर्लभ हैं ॥

अष्टावक्र उवाच

न ज्ञायते कायवृद्ध्या विवृद्धि-
र्यथाष्ठीला शाल्मलेः सम्प्रवृद्धा ।
ह्रस्वोऽल्पकायः फलितो विवृद्धो
यश्चाफलस्तस्य न वृद्धभावः ॥ ९ ॥

अष्टावक्र बोले—द्वारपाल ! केवल शरीर बढ़ जानेसे किसीकी बढ़ती नहीं समझी जाती है । जैसे सेमलके फलकी गाँठ बढ़नेपर भी सारहीन होनेके कारण वह व्यर्थ ही है । छोटा और दुबला-पतला वृक्ष भी यदि फलोंके भारसे लदा है तो उसे ही वृद्ध (बड़ा) जानना चाहिये । जिसमें फल नहीं लगते, उस वृक्षका बढ़ना भी नहींके बराबर है ॥ ९ ॥

द्वारपाल उवाच

वृद्धेभ्य एवेह मतिं स्म बाला
गृह्णन्ति कालेन भवन्ति वृद्धाः ।
न हि ज्ञानमल्पकालेन शक्यं
कस्माद् बालः स्थविर इव प्रभाषसे॥१०॥

द्वारपालने कहा—बालक बड़े-बूढ़ोंसे ही ज्ञान प्राप्त करते हैं और समयानुसार वे भी वृद्ध होते हैं । थोड़े समयमें ज्ञानकी प्राप्ति असम्भव है, अतः तुम बालक होकर भी क्यों वृद्धकी-सी बातें करते हो ? ॥ १० ॥

अष्टावक्र उवाच

न तेन स्थविरो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
बालोऽपि यः प्रजानाति तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ ११ ॥

अष्टावक्र बोले—अमुक व्यक्तिके सिरके बाल पक गये हैं, इतने ही मात्रसे वह बूढ़ा नहीं होता है, अवस्थामें बालक होनेपर भी जो ज्ञानमें बढ़ा-चढ़ा है, उसीको देवगण वृद्ध मानते हैं ॥ ११ ॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ १२ ॥

अधिक वर्षोंकी अवस्था होनेसे, बाल पकनेसे, धन बढ़ जानेसे और अधिक भाई-बन्धु हो जानेसे भी कोई बड़ा हो नहीं सकता; ऋषियोंने ऐसा नियम बनाया है कि हम ब्राह्मणोंमें जो अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका स्वाध्याय करनेवाला तथा वक्ता है, वही बड़ा है ॥ १२ ॥

दिदृक्षुरस्मि सम्प्राप्तो बन्दिनं राजसंसदि ।
निवेदयस्व मां द्वाःस्थ राज्ञे पुष्करमालिने ॥ १३ ॥

द्वारपाल ! मैं राजसभामें बन्दीसे मिलनेके लिये आया हूँ । तुम कमलपुष्पकी माला धारण किये हुए महाराज जनकको मेरे आगमनकी सूचना दे दो ॥ १३ ॥

द्रष्टास्यद्य वदतोऽस्मान् द्वारपाल मनीषिभिः ।
सह वादे विवृद्धे तु बन्दिनं चापि निर्जितम् ॥ १४ ॥

द्वारपाल ! आज तुम हमें विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ करते देखोगे, साथ ही विवाद बढ़ जानेपर बंदीको परास्त हुआ पाओगे ॥ १४ ॥

पश्यन्तु विप्राः परिपूर्णविद्याः
सहैव राज्ञा सपुरोधमुख्याः ।
उताहो वाप्युच्चतां नीचतां वा
तूष्णींभूतेष्वेव सर्वेष्वथाद्य ॥ १५ ॥

आज सम्पूर्ण सभासद् चुपचाप बैठे रहें तथा राजा और उनके प्रधान पुरोहितोंके साथ पूर्णतः विद्वान् ब्राह्मण मेरी लघुता अथवा श्रेष्ठताको प्रत्यक्ष देखें ॥ १५ ॥

द्वारपाल उवाच

कथं यज्ञं दशवर्षो विशेस्त्वं
विनीतानां विदुषां सम्प्रवेशम् ।
उपायतः प्रयतिष्ये तवाहं
प्रवेशने कुरु यत्नं यथावत् ॥ १६ ॥

द्वारपालने कहा—जहाँ सुशिक्षित विद्वानोंका प्रवेश होता है; उस यज्ञमण्डपमें तुम-जैसे दस वर्षके बालकका प्रवेश होना कैसे सम्भव है । तथापि मैं किसी उपायसे तुम्हें उसके भीतर प्रवेश करानेका प्रयत्न करूँगा, तुम भी भीतर जानेके लिये यथोचित प्रयत्न करो ॥ १६ ॥

(एष राजा संश्रवणे स्थितस्ते
स्तुह्येनं त्वं वचसा संस्कृतेन ।
स चानुज्ञां दास्यति प्रीतियुक्तः
प्रवेशने यच्च किंचित् तवेष्टम् ॥)

ये नरेश तुम्हारी बात सुन सकें, इतनी ही दूरीपर यज्ञमण्डपमें स्थित हैं, तुम अपने शुद्ध वचनोंद्वारा इनकी स्तुति करो । इससे ये प्रसन्न होकर तुम्हें प्रवेश करनेकी आज्ञा दे देंगे तथा तुम्हारी और भी कोई कामना हो तो वे पूरी करेंगे ॥

अष्टावक्र उवाच

भो भो राजञ्जनकानां वरिष्ठ
त्वं वै सम्राट् त्वयि सर्वं समृद्धम्।
त्वं वा कर्ता कर्मणां यज्ञियानां
ययातिरेको नृपतिर्वा पुरस्तात्॥ १७॥

अष्टावक्र बोले—राजन्! आप जनकवंशके श्रेष्ठ पुरुष हैं, सम्राट् हैं। आपके यहाँ सभी प्रकारके ऐश्वर्य परिपूर्ण हैं, वर्तमान समयमें केवल आप ही उत्तम यज्ञकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले हैं अथवा पूर्वकालमें एकमात्र राजा ययाति ऐसे हो चुके हैं॥ १७॥

वृद्धान् बन्दी वादविदो निगृह्य
वादे भग्नानप्रतिशङ्कमानः।
त्वयाभिसृष्टैः पुरुषैराप्तकृद्भि-
र्जले सर्वान् मज्जयतीति नः श्रुतम्॥ १८॥

हमने सुना है कि आपके यहाँ बन्दी नामसे प्रसिद्ध कोई विद्वान् हैं, जो वाद-विवादके मर्मको जाननेवाले कितने ही वृद्ध ब्राह्मणोंको शास्त्रार्थमें हराकर वशमें कर लेते हैं और फिर आपके ही दिये हुए विश्वसनीय पुरुषोंद्वारा उन सबको निःशंक होकर पानीमें डुबवा देते हैं॥ १८॥

सोऽहं श्रुत्वा ब्राह्मणानां सकाशाद्
ब्रह्माद्वैतं कथयितुमागतोऽस्मि।
क्वासौ बन्दी यावदेनं समेत्य
नक्षत्राणीव सविता नाशयामि॥ १९॥

मैं ब्राह्मणोंके समीप यह समाचार सुनकर अद्वैत ब्रह्मके विषयमें वर्णन करनेके लिये यहाँ आया हूँ। वे बन्दी कहाँ हैं? मैं उनसे मिलकर उनके तेजको उसी प्रकार शान्त कर दूँगा, जैसे सूर्य ताराओंकी ज्योतिको विलुप्त कर देते हैं॥ १९॥

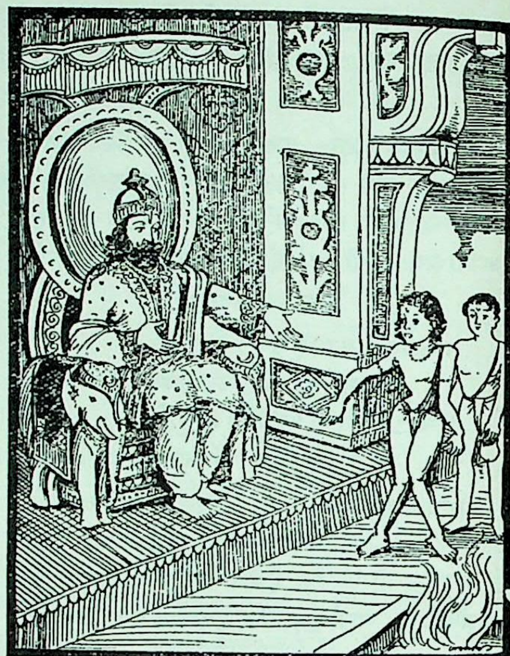
राजोवाच

नाशंससे बन्दिनं वै विजेतु-
मविज्ञाय त्वं वाक्यबलं परस्य।
विज्ञातवीर्यैः शक्यमेवं प्रवक्तुं
दृष्टश्चासौ ब्राह्मणैर्वेदशीलैः॥ २०॥

राजा बोले—ब्राह्मणकुमार! तुम अपने विपक्षीकी प्रवचन-शक्तिको जाने बिना ही बन्दीको जीतनेकी इच्छा रखते हो। जो प्रतिवादीके बलको जानते हों, वे ही ऐसी बातें कह सकते हैं। वेदोंका अनुशीलन करनेवाले बहुत-से ब्राह्मण बन्दीका प्रभाव देख चुके हैं॥ २०॥

आशंससे त्वं बन्दिनं वै विजेतु-
मविज्ञाय तु बलं बन्दिनोऽस्य।
समागता ब्राह्मणास्तेन पूर्वं
न शोभन्ते भास्करेणेव ताराः॥ २१॥

तुम्हें इस बन्दीकी शक्तिका कुछ भी ज्ञान नहीं है। इसीलिये उसे जीतनेकी इच्छा कर रहे हो। आजसे पहले कितने ही विद्वान् ब्राह्मण बन्दीसे मिले हैं और जैसे सूर्यके सामने ताराओंका प्रकाश फीका पड़ जाता है, उसी प्रकार वे बन्दीके सामने हतप्रभ हो गये हैं॥ २१॥



आशंसन्तो बन्दिनं जेतुकामा-
स्तस्यान्तिकं प्राप्य विलुप्तशोभाः।
विज्ञानमत्ता निःसृताश्चैव तात
कथं सदस्यैर्वचनं विस्तरेयुः॥ २२॥

तात! कितने ही ज्ञानोन्मत्त ब्राह्मण बन्दीको जीतनेकी अभिलाषा रखकर शास्त्रार्थकी घोषणा करते हुए आये हैं; किंतु उनके निकट पहुँचते ही उनका प्रभाव नष्ट हो गया है। इतना ही नहीं, वे पराजित एवं तिरस्कृत हो चुपचाप राजसभासे निकल गये हैं। फिर वे अन्य सदस्योंके साथ वार्तालाप ही कैसे कर सकते हैं॥ २२॥

अष्टावक्र उवाच

विवादितोऽसौ न हि मादृशैर्हि
सिंहीकृतस्तेन वदत्यभीतः।
समेत्य मां निहतः शेष्यतेऽद्य
मार्गे भग्नं शकटमिवाचलाक्षम्॥ २३॥

अष्टावक्र बोले—महाराज! अभी बन्दीको हम-जैसोंके साथ शास्त्रार्थ करनेका अवसर नहीं मिला है, इसीलिये वह सिंह बना हुआ है और निडर होकर बातें करता है। आज मुझसे जब उसकी भेंट होगी, उस समय वह पराजित होकर

मुर्देकी भाँति सो जायगा। ठीक उसी तरह, जैसे रास्तेमें टूटा हुआ छकड़ा जहाँ-का-तहाँ पड़ा रह जाता है—उसका पहिया एक पग भी आगे नहीं बढ़ता है ॥ २३ ॥

राजोवाच

त्रिंशकद्द्वादशांशस्य चतुर्विंशतिपर्वणः ।
यस्त्रिषष्टिशतारस्य वेदार्थं स परः कविः ॥ २४ ॥

तब राजाने परीक्षा लेनेके लिये कहा—जो पुरुष तीस अवयव, बारह अंश, चौबीस पर्व और तीन सौ साठ अरोंवाले पदार्थको जानता है—उसके प्रयोजनको समझता है, वह उच्चकोटिका ज्ञानी है ॥ २४ ॥

अष्टावक्र उवाच

चतुर्विंशतिपर्व त्वां षण्नाभि द्वादशप्रधि ।
तत् त्रिषष्टिशतारं वै चक्रं पातु सदागति ॥ २५ ॥

अष्टावक्र बोले—राजन्! जिसमें बारह अमावास्या और बारह पूर्णिमारूपी चौबीस पर्व, ऋतुरूप छः नाभि, मासरूप बारह अंश और दिनरूप तीन सौ साठ अरे हैं, वह निरन्तर घूमनेवाला संवत्सररूप कालचक्र आपकी रक्षा करे ॥

राजोवाच

वडवे इव संयुक्ते श्येनपाते दिवौकसाम् ।
कस्तयोर्गर्भमाधत्ते गर्भं सुषुवतुश्च कम् ॥ २६ ॥

राजाने पूछा—जो दो घोड़ियोंकी भाँति संयुक्त रहती हैं एवं जो बाज पक्षीकी भाँति हठात् गिरनेवाली हैं, उन दोनों-के गर्भको देवताओंमेंसे कौन धारण करता है तथा वे दोनों किस गर्भको उत्पन्न करती हैं ? ॥ २६ ॥

अष्टावक्र उवाच

मा स्म ते ते गृहे राजञ्छात्रवाणामपि ध्रुवम् ।
वातसारथिरागन्ता गर्भं सुषुवतुश्च तम् ॥ २७ ॥

अष्टावक्र बोले—राजन्! वे दोनों तुम्हारे शत्रुओंके घरपर भी कभी न गिरें। वायु जिसका सारथि है, वह मेघरूप देव ही इन दोनोंके गर्भको धारण करनेवाला है और ये दोनों उस मेघरूप गर्भको उत्पन्न करनेवाले हैं* ॥ २७ ॥

राजोवाच

किंस्वित् सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति ।
कस्य स्विद्धृदयं नास्ति किं स्विद् वेगेन वर्धते ॥ २८ ॥

राजाने पूछा—सोते समय कौन नेत्र नहीं मूँदता, जन्म लेनेके बाद किसमें गति नहीं होती, किसके हृदय नहीं होता और कौन वेगसे बढ़ता है ? ॥ २८ ॥

अष्टावक्र उवाच

मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ॥ २९ ॥

अष्टावक्र बोले—मछली सोते समय भी आँख नहीं मूँदती, अण्डा उत्पन्न होनेपर चेष्टा नहीं करता, पत्थरके हृदय नहीं होता और नदी वेगसे बढ़ती है ॥ २९ ॥

राजोवाच

न त्वां मन्ये मानुषं देवसत्त्वं
न त्वं बालः स्थविरः सम्मतो मे ।
न ते तुल्यो विद्यते वाक्प्रलापे
तस्माद् द्वारं वितराम्येष बन्दी ॥ ३० ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन्! आपकी शक्ति तो देवताओंके समान है, मैं आपको मनुष्य नहीं मानता; आप बालक भी नहीं हैं। मैं तो आपको वृद्ध ही समझता हूँ। वाद-विवाद करनेमें आपके समान दूसरा कोई नहीं है, अतः आपको यज्ञ-मण्डपमें जानेके लिये द्वार प्रदान करता हूँ। यही बन्दी हैं (जिनसे आप मिलना चाहते थे) ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें अष्टावक्रीयोपाख्यानविषयक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३१ श्लोक हैं)

---

* यहाँ अष्टावक्रजीने परोक्षरूपमें ही प्रश्नका उत्तर दिया है। भाव यह है कि दो तत्त्व, जिनको वैदिक भाषामें रयि और प्राणके नामसे कहा है (देखिये प्रश्नोपनिषद् १। ४) एवं अंग्रेजीमें जिनको पोजिटिव (अनुलोम) और निगेटिव (प्रतिलोम) कहते हैं, स्वभावसे ही संयुक्त रहनेवाले हैं। इनका ही व्यक्त रूप विद्युत्-शक्ति है। उसे गर्भकी भाँति मेघ धारण किये रहता है। संघर्षसे वह प्रकट होती है और आकर्षण होनेपर बाजकी भाँति गिरती है। जहाँ गिरती है वहाँ सबको भस्म कर देती है; इसलिये यह कहा गया कि वह कभी आपके शत्रुओंके घरपर भी न पड़े। इन दो तत्त्वोंकी संयुक्त शक्तिसे ही मेघकी उत्पत्ति होती है। इसलिये यह कहा गया कि उस मेघरूप गर्भको ये उत्पन्न करते हैं।

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

बन्दी और अष्टावक्रका शास्त्रार्थ, बन्दीकी पराजय तथा समङ्गामें स्नानसे अष्टावक्रके अङ्गोंका सीधा होना

अष्टावक्र उवाच

अत्रोग्रसेन समितेषु राजन्
समागतेष्वप्रतिमेषु राजसु ।
नावैमि बन्दिं वरमत्र वादिनां
महाजले हंसमिवाददामि ॥ १ ॥

अष्टावक्र बोले--भयंकर सेनाओंसे युक्त महाराज जनक ! इस सभामें सब ओरसे अप्रतिम प्रभावशाली राजा आकर एकत्र हुए हैं; परंतु मैं इन सबके बीचमें वादियोंमें प्रधान बन्दीको नहीं पहचान पाता हूँ । यदि पहचान लूँ तो अगाध जलमें हंसकी भाँति उन्हें अवश्य पकड़ लूँगा ॥ १ ॥

न मेऽद्य वक्ष्यस्यतिवादिमानिन्
ग्लहं प्रपन्नः सरितामिवागमः ।
हुताशनस्येव समिद्धतेजसः
स्थिरो भवस्वेह ममाद्य बन्दिन् ॥ २ ॥

अपनेको अतिवादी माननेवाले बन्दी ! तुमने पराजित हुए पण्डितोंको पानीमें डुबवा देनेका नियम कर रखा है, किंतु आज मेरे सामने तुम्हारी बोली बंद हो जायगी । जैसे प्रलयकालके प्रज्वलित अग्निके समीप नदियोंका प्रवाह सूख जाता है, उसी प्रकार मेरे सामने आनेपर तुम भी सूख जाओगे--तुम्हारी वादशक्ति नष्ट हो जायगी । बन्दी ! आज मेरे सामने स्थिर होकर बैठो ॥ २ ॥

बन्द्युवाच

व्याघ्रं शयानं प्रति मा प्रबोधय
आशीविषं सृक्किणी लेलिहानम् ।
पदाहतस्येह शिरोऽभिहत्य
नादष्टो वै मोक्ष्यसे तन्निबोध ॥ ३ ॥

बन्दीने कहा--मुझे सोता हुआ सिंह समझकर न जगाओ (न छेड़ो), अपने जबड़ोंको चाटता हुआ विषैला सर्प मानो। तुमने पैरोंसे ठोकर मारकर मेरे मस्तकको कुचल दिया है । अब जबतक तुम डँस लिये नहीं जाते तबतक तुम्हें छुटकारा नहीं मिल सकता, इस बातको अच्छी तरह समझ लो ॥ ३ ॥

यो वै दर्पात् संहननोपपन्नः
सुदुर्बलः पर्वतमाविहन्ति ।
तस्यैव पाणिः सनखो विदीर्यते
न चैव शैलस्य हि दृश्यते व्रणः ॥ ४ ॥

जो देहधारी अत्यन्त दुर्बल होकर भी अहंकारवश अपने हाथसे पर्वतपर चोट करता है, उसीके हाथ और नख विदीर्ण हो जाते हैं, उस चोटसे पर्वतमें घाव होता नहीं देखा जाता है ॥ ४ ॥

अष्टावक्र उवाच

सर्वे राज्ञो मैथिलस्य मैनाकस्येव पर्वताः ।
निकृष्टभूता राजानो वत्सा अनडुहो यथा ॥ ५ ॥

अष्टावक्र बोले--जैसे सब पर्वत मैनाकसे छोटे हैं, सारे बछड़े बैलोंसे लघुतर हैं, उसी प्रकार भूमण्डलके समस्त राजा मिथिलानरेश महाराज जनककी अपेक्षा निम्न श्रेणीमें हैं ॥५॥

यथा महेन्द्रः प्रवरः सुराणां
नदीषु गङ्गा प्रवरा यथैव ।
तथा नृपाणां प्रवरस्त्वमेको
बन्दिं समभ्यानय मत्सकाशम् ॥ ६ ॥

राजन् ! जैसे देवताओंमें महेन्द्र श्रेष्ठ हैं और नदियोंमें गङ्गा श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार सब राजाओंमें एकमात्र आप ही उत्तम हैं । अब बन्दीको मेरे निकट बुलवाइये ॥ ६ ॥

लोमश उवाच

एवमष्टावक्रः समितौ हि गर्ज-
ञ्जातक्रोधो बन्दिनमाह राजन् ।
उक्ते वाक्ये चोत्तरं मे ब्रवीहि
वाक्यस्य चाप्युत्तरं ते ब्रवीमि ॥ ७ ॥

लोमशजी कहते हैं--युधिष्ठिर ! (बन्दीके सामने आ जानेपर) राजसभामें गर्जते हुए अष्टावक्रने बन्दीसे कुपित होकर इस प्रकार कहा--'मेरी पूछी हुई बातका उत्तर तुम दो और तुम्हारी बातका उत्तर मैं देता हूँ' ॥ ७ ॥

बन्द्युवाच

एक एवाग्निर्बहुधा समिध्यते
एकः सूर्यः सर्वमिदं विभाति ।
एको वीरो देवराजोऽरिहन्ता
यमः पितृणामीश्वरश्चैक एव ॥ ८ ॥

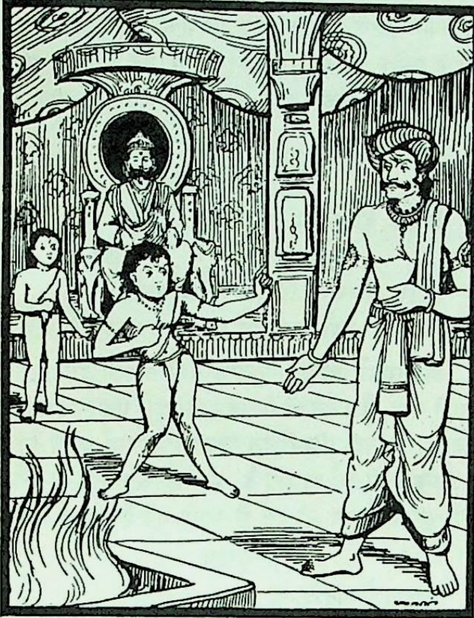
तब बन्दीने कहा--अष्टावक्र ! एक ही अग्नि अनेक प्रकारसे प्रकाशित होती है, एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है । शत्रुओंका नाश करनेवाला देवराज इन्द्र एक ही वीर है तथा पितरोंका स्वामी यमराज भी एक ही है ॥ ८ ॥

अष्टावक्र उवाच

द्वाविन्द्राग्नी चरतो वै सखायौ
द्वौ देवर्षी नारदपर्वतौ च ।
द्वावश्विनौ द्वे रथस्यापि चक्रे
भार्यापती द्वौ विहितौ विधात्रा ॥ ९ ॥

अष्टावक्र बोले--जो दो मित्रोंकी भाँति सदा साथ विचरते हैं, वे इन्द्र और अग्नि दो देवता हैं । परस्पर मित्रभाव

रखनेवाले देवर्षि नारद और पर्वत भी दो ही हैं। अश्विनी-कुमारोंकी भी संख्या दो ही है, रथके पहिये भी दो ही होते हैं तथा विधाताने (एक दूसरेके जीवनसंगी) पति और पत्नी भी दो ही बनाये हैं ॥ ९ ॥



बन्द्युवाच

त्रिः सूयते कर्मणा वै प्रजेयं
त्रयो युक्ता वाजपेयं वहन्ति ।
अध्वर्यवस्त्रिसवनानि तन्वते
त्रयो लोकास्त्रीणि ज्योतींषि चाहुः॥ १०॥

बन्दीने कहा--यह सम्पूर्ण प्रजा कर्मवश देवता, मनुष्य और तिर्यक्‌रूप तीन प्रकारका जन्म धारण करती है, ऋक्, साम, और यजु--ये तीन वेद ही परस्पर संयुक्त हो वाजपेय आदि यज्ञ-कर्मोंका निर्वाह करते हैं। अध्वर्युलोग भी प्रातःसवन, मध्याह्नसवन और सायंसवनके भेदसे तीन सवनों (यज्ञों) का ही अनुष्ठान करते हैं। (कर्मानुसार प्राप्त होनेवाले भोगोंके लिये) स्वर्ग, मृत्यु और नरक-ये लोक भी तीन ही बताये गये हैं और मुनियोंने सूर्य, चन्द्र और अग्निरूप तीन ही प्रकारकी ज्योतियाँ बतलायी हैं ॥ १० ॥

अष्टावक्र उवाच

चतुष्टयं ब्राह्मणानां निकेतं
चत्वारो वर्णा यज्ञमिमं वहन्ति ।
दिशश्चतस्रो वर्णचतुष्टयं च
चतुष्पदा गौरपि शश्वदुक्ता ॥ ११ ॥

अष्टावक्र बोले--ब्राह्मणोंके लिये आश्रम[1] चार हैं। वर्ण[2] भी चार ही हैं, जो इस यज्ञका भार वहन करते हैं। मुख्य दिशाएँ[3] भी चार ही हैं। वर्ण[4] भी चार ही हैं तथा गो अर्थात् वाणी भी सदा चार ही चरणों[5]से युक्त बतायी गयी है ॥

बन्द्युवाच

पञ्चाग्नयः पञ्चपदा च पङ्क्ति-
र्यज्ञाः पञ्चैवाप्यथ पञ्चेन्द्रियाणि ।
दृष्टा वेदे पञ्चचूडाप्सराश्च
लोके ख्यातं पञ्चनदं च पुण्यम् ॥ १२ ॥

बन्दीने कहा--यज्ञकी अग्नि गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्यके भेदसे पाँच प्रकारकी कही गयी हैं। पंक्ति छन्द भी पाँच पादोंसे ही बनता है[6], यज्ञ भी पाँच ही हैं—देवयज्ञ, पितृयज्ञ, ऋषियज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ। इसी प्रकार इन्द्रियोंकी संख्या भी पाँच ही है[7]। वेदमें पाँच वेणीवाली (पञ्चचूड़ा) अप्सराका वर्णन देखा गया है[8] तथा लोकमें पाँच नदियोंसे[9] विशिष्ट पुण्यमय पञ्चनद प्रदेश विख्यात है ॥ १२ ॥

अष्टावक्र उवाच

षडाधाने दक्षिणामाहुरेके
षट् चैवेमे ऋतवः कालचक्रम् ।
षडिन्द्रियाण्युत षट् कृत्तिकाश्च
षट् साद्यस्काः सर्ववेदेषु दृष्टाः ॥ १३ ॥

अष्टावक्र बोले--कुछ विद्वानोंका मत है कि अग्निकी स्थापनाके समय दक्षिणामें छः गौ ही देनी चाहिये। ये छः ऋतुएँ ही संवत्सररूप कालचक्रकी सिद्धि करती हैं। मन-सहित ज्ञानेन्द्रियाँ भी छः ही हैं। कृत्तिकाओंकी संख्या छः ही है तथा सम्पूर्ण वेदोंमें साद्यस्क नामक यज्ञ भी छः ही देखे गये हैं ॥ १३ ॥

बन्द्युवाच

सप्त ग्राम्याः पशवः सप्त वन्याः
सप्तच्छन्दांसि क्रतुमेकं वहन्ति ।

१–ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। २–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ३–पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर। ४–ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और हल्। ५–परा, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी—ये वाणीके चार पैर हैं। ६–आठ-आठ अक्षरके पाँच पादोंसे पंक्तिछन्दकी सिद्धि होती है। ७–त्वचा, श्रोत्र, नेत्र, रसना और नासिका–ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ८–पञ्चचूडा अप्सराका उल्लेख महाभारतके अनुशासनपर्वमें ३८ वें अध्यायमें भी आया है। ९–विपाशा (व्यास), इरावती (रावी), वितस्ता (झेलम), चन्द्रभागा (चनाव) और शतद्रु (शतलज) ये ही पञ्चनद प्रदेशकी पाँच नदियाँ हैं।

सप्तर्षयः सप्त चाप्यर्हणानि
सप्ततन्त्री प्रथिता चैव वीणा ॥ १४ ॥

बन्दीने कहा—ग्राम्य पशु सात हैं (जिनके नाम इस प्रकार हैं)—गाय, भैंस, बकरी, भेंड़, घोड़ा, कुत्ता और गदहा। जंगली पशु भी सात हैं (यथा—सिंह, बाघ, भेड़िया, हाथी, वानर, भालू और मृग[1])। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती—ये सात ही छन्द एक-एक यज्ञका निर्वाह करते हैं। सप्तर्षि नामसे प्रसिद्ध ऋषियोंकी[2] संख्या भी सात ही है (यथा—मरीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, अङ्गिरा और वसिष्ठ), पूजनके संक्षिप्त उपचार भी सात हैं (यथा—गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन और ताम्बूल) तथा वीणाके भी सात ही तार विख्यात हैं ॥ १४ ॥

अष्टावक्र उवाच

अष्टौ शाणाः शतमानं वहन्ति
तथाष्टपादः शरभः सिंहघाती।
अष्टौ वसूञ्शुश्रुम देवतासु
यूपश्चाष्टास्त्रिर्विहितः सर्वयज्ञे ॥ १५ ॥

अष्टावक्र बोले—तराजूमें लगी हुई सनकी डोरियाँ भी आठ ही होती हैं, जो सैकड़ोंका मान(तौल) करती हैं। सिंहको भी मार गिरानेवाले शरभके आठ ही पैर होते हैं। देवताओंमें वसुओंकी* संख्या भी आठ ही सुनी गयी है और सम्पूर्ण यज्ञोंमें आठ कोणके ही यूपका निर्माण किया जाता है ॥ १५ ॥

बन्द्युवाच

नवैवोक्ताः सामिधेन्यः पितॄणां
तथा प्राहुर्नवयोगं विसर्गम् ।
नवाक्षरा बृहती सम्प्रदिष्टा
नवयोगो गणनामेति शश्वत् ॥ १६ ॥

बन्दीने कहा—पितृयज्ञमें समिधा देकर अग्निको उद्दीप्त करनेके लिये जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, उन्हें सामिधेनी ऋचा कहते हैं, उनकी संख्या नौ ही बतायी गयी है। यह जो नाना प्रकारकी सृष्टि दिखायी देती है, इसमें प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रा—इन नौ पदार्थोंका संयोग कारण है, ऐसा विज्ञ पुरुषोंका कथन है। बृहती-छन्दके प्रत्येक चरणमें नौ अक्षर बताये गये हैं और एकसे लेकर नौ अङ्कोंका योग ही सदा गणनाके उपयोगमें आता है ॥ १६ ॥

अष्टावक्र उवाच

दिशो दशोक्ताः पुरुषस्य लोके
सहस्रमाहुर्दशपूर्णं शतानि ।
दशैव मासान् बिभ्रति गर्भवत्यो
दशैरका दश दाशा दशार्हाः ॥ १७ ॥

अष्टावक्रने कहा—पुरुषके लिये संसारमें दस दिशाएँ बतायी गयीं हैं। दस सौ मिलकर ही पूरा एक सहस्र कहा जाता है, गर्भवती स्त्रियाँ दस मासतक ही गर्भ धारण करती हैं, निन्दक भी दस[1] ही होते हैं, शरीरकी अवस्थाएँ भी दस[2] हैं तथा पूजनीय पुरुष भी दस[3] ही बताये गये हैं ॥ १७ ॥

बन्द्युवाच

एकादशैकादशिनः पशूना-
मेकादशैवात्र भवन्ति यूपाः ।
एकादश प्राणभृतां विकारा
एकादशोक्ता दिवि देवेषु रुद्राः ॥ १८ ॥

बन्दीने कहा—प्राणधारी पशुओं (जीवों) के लिये ग्यारह विषय[4] हैं। उन्हें प्रकाशित करनेवाली इन्द्रियाँ भी

१–हिरन, शूकर, खरगोश, गीदड़ आदि जन्तुओंका ग्रहण मृग नामसे ही हो जाता है। २–सप्तर्षि ये हैं—

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ॥
(महा० शान्ति० ३४० । ६९)

'(भगवान्ने स्वयं ब्रह्माजीसे कहा है कि) मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों महर्षि तुम्हारे (ब्रह्माजीके) द्वारा ही अपने मनसे रचे हुए हैं।'

* धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥
(महा० आदि० ६६ । १८)

'धर, ध्रुव, सोम, अह, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—ये आठ वसु कहे गये हैं।'

१–यथा रोगी, दरिद्र, शोकार्त्त, राजदण्डित, शठ, खल, वृत्तिसे वञ्चित, उन्मत्त, ईर्ष्यापरायण और कामी—ये दस निन्दक होते हैं। जैसा कि निम्नाङ्कित श्लोकसे सिद्ध होता है—'आमयी दुर्मतः शोकी दण्डितश्च शठः खलः । नष्टवृत्तिर्मदी चेर्ष्यी कामी च दश निन्दकाः ॥' (इति नीतिशास्त्रोक्तिः) २–उन दसों अवस्थाओंके नाम इस प्रकार हैं—गर्भवास, जन्म, बाल्य, कौमार, पौगण्ड, कैशोर, यौवन, प्रौढ़, वार्द्धक्य तथा मृत्यु। ३–अध्यापक, पिता, ज्येष्ठ भ्राता, राजा, मामा, श्वसुर, नाना, दादा अपनेसे बड़ी अवस्थावाले कुटुम्बी तथा पितृव्य (चाचा-ताऊ)—ये दस पूजनीय पुरुष माने गये हैं। जैसा कि कूर्मपुराणका वचन है—उपाध्यायः पिता ज्येष्ठभ्राता चैव महीपतिः । मातुलः श्वसुरश्चैव मातामहपितामहौ ॥ बन्धुर्ज्येष्ठः पितृव्यश्च पुंस्येते गुरवो मताः ॥ ४–वाक्य बोलना, ग्रहण करना, चलना-फिरना, मलत्याग करना और मैथुनजनित सुखका अनुभव करना—ये पाँच कर्मेन्द्रियोंके विषय हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय हैं और इन सबका मनन—मनका विषय है। इस प्रकार कुल मिलाकर ग्यारह विषय हैं।

ग्यारह ही हैं, यज्ञ, याग आदिमें यूप भी ग्यारह ही होते हैं, प्राणियोंके विकार[1] भी ग्यारह हैं, तथा स्वर्गीय देवताओंमें जो रुद्र[2] कहलाते हैं; उनकी संख्या भी ग्यारह ही है ॥ १८ ॥

अष्टावक्र उवाच

संवत्सरं द्वादशमासमाहु-
र्जगत्याः पादो द्वादशैवाक्षराणि ।
द्वादशाहः प्राकृतो यज्ञ उक्तो
द्वादशादित्यान् कथयन्तीह धीराः ॥ १९ ॥

अष्टावक्र बोले—एक संवत्सरमें बारह महीने बताये गये हैं, जगती छन्दका प्रत्येक पाद बारह अक्षरोंका होता है, प्राकृत यज्ञ बारह दिनोंका माना गया है, ज्ञानी पुरुष यहाँ बारह आदित्योंका[3] वर्णन करते हैं ॥ १९ ॥

बन्द्युवाच

त्रयोदशी तिथिरुक्ता प्रशस्ता
त्रयोदशद्वीपवती मही च ।

बन्दीने कहा—त्रयोदशी तिथि उत्तम बतायी गयी है तथा यह पृथ्वी तेरह द्वीपोंसे युक्त है ।

लोमश उवाच

एतावदुक्त्वा विरराम बन्दी
श्लोकस्यार्धं व्याजहाराष्टवक्रः ।

लोमशजी कहते हैं—इतना कहकर बन्दी चुप हो गया। तब शेष आधे श्लोककी पूर्ति अष्टावक्रने इस प्रकार की ।

अष्टावक्र उवाच

त्रयोदशाहानि ससार केशी
त्रयोदशादीन्यतिच्छन्दांसि चाहुः ॥ २० ॥

अष्टावक्र बोले—केशी नामक दानवने भगवान् विष्णुके साथ तेरह दिनोंतक युद्ध किया था[1] । वेदमें जो अतिशब्द-विशिष्ट छन्द बताये गये हैं, उनका एक-एक पाद तेरह आदि अक्षरोंसे सम्पन्न होता है (अर्थात् अतिजगती छन्दका एक पाद तेरह अक्षरोंका, अतिशक्करीका एक पाद पन्द्रह अक्षरोंका, अत्यष्टिका प्रत्येक पाद सत्रह अक्षरोंका तथा अतिधृतिका हर-एक पाद उन्नीस अक्षरोंका होता है) ॥

ततो महानुदतिष्ठन्निनाद-
स्तूष्णींभूतं सूतपुत्रं निशम्य ।
अधोमुखं ध्यानपरं तदानी-
मष्टावक्रं चाप्युदीर्यन्तमेव ॥ २१ ॥

लोमशजी कहते हैं—इतना सुनते ही सूतपुत्र बन्दी चुप हो गया और मुँह नीचा किये किसी भारी सोच-विचारमें पड़ गया । इधर अष्टावक्र बोलते ही रहे, यह सब देख दर्शकों और श्रोताओंमें महान् कोलाहल मच गया ॥ २१ ॥

तस्मिंस्तथा संकुले वर्तमाने
स्फीते यज्ञे जनकस्योत राज्ञः ।
अष्टावक्रं पूजयन्तोऽभ्युपेयु-
र्विप्राः सर्वे प्राञ्जलयः प्रतीताः ॥ २२ ॥

महाराज जनकके उस समृद्धिशाली यज्ञमें जब कि चारों ओर कोलाहल व्याप्त हो रहा था, सब ब्राह्मण हाथ जोड़े हुए श्रद्धापूर्वक अष्टावक्रके समीप आये और उनका आदर-सत्कारपूर्वक पूजन किया ॥ २२ ॥

अष्टावक्र उवाच

अनेनैव ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो
वादे जित्वा सलिले मज्जिताः प्राक् ।
तानेव धर्मानयमद्य बन्दी
प्राप्नोतु गृह्याप्सु निमज्जयैनम् ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् अष्टावक्रने कहा—महाराज ! इसी बन्दीने पहले बहुत-से शास्त्रज्ञ (विद्वान्) ब्राह्मणोंको शास्त्रार्थमें पराजित करके पानीमें डुबवाया है, अतः इसकी भी वही गति होनी चाहिये, जो इसके द्वारा दूसरोंकी हुई । इसलिये इसे पकड़कर शीघ्र पानीमें डुबवा दीजिये ॥ २३ ॥

१–काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, हर्ष-शोक, राग-द्वेष और अहंकार—ये ग्यारह विकार होते हैं ।

२—एकादश रुद्र ये हैं—

मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः ।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परंतपः ॥
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः ।
स्थाणुर्भवश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः ॥

(महाभारत० आदि० ६६ । २–३)

'मृगव्याध, सर्प, महायशस्वी निर्ऋति, अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, शत्रु-संतापन पिनाकी, दहन, ईश्वर, परमकान्तिमान् कपाली, स्थाणु और भगवान् भव—ये ग्यारह रुद्र माने गये हैं ।

३—द्वादश आदित्य ये हैं—

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च ।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते ।

(महा० आदि० ६५ । १५–१६)

'धाता, मित्र, अर्यमा, इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, दसवें सविता, ग्यारहवें त्वष्टा और बारहवें विष्णु कहे गये हैं ।'

१–नृसिंहपुराणमें यही बात कही गयी है—'युयुधे विष्णुना सार्धं त्रयोदश दिनान्यसौ ।'

बन्दिरुवाच

अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञ-
स्तत्रास सत्रं द्वादशवार्षिकं वै।
सत्रेण ते जनक तुल्यकालं
तदर्थं ते प्रहिता मे द्विजाग्र्याः ॥ २४ ॥

बन्दी बोला—महाराज जनक ! मैं राजा वरुणका पुत्र हूँ। मेरे पिताके यहाँ भी आपके इस यज्ञके समान ही बारह वर्षोंमें पूर्ण होनेवाला यज्ञ हो रहा था। उस यज्ञके अनुष्ठानके लिये ही (जलमें डुबानेके बहाने) कुछ चुने हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको मैंने वरुणलोकमें भेज दिया था।२४।

ते तु सर्वे वरुणस्योत यज्ञं
द्रष्टुं गता इह आयान्ति भूयः।
अष्टावक्रं पूजये पूजनीयं
यस्य हेतोर्जनितारं समेष्ये ॥ २५ ॥

वे सब-के-सब वरुणका यज्ञ देखनेके लिये गये हैं और अब पुनः लौटकर आ रहे हैं। मैं पूजनीय ब्राह्मण अष्टावक्र-जीका सत्कार करता हूँ; जिनके कारण मेरा अपने पिताजीसे मिलना होगा ॥ २५ ॥

अष्टावक्र उवाच

विप्राः समुद्राम्भसि मज्जिता ये
वाचा जिता मेधया वा विदानाः।
तां मेधया वाचमथोज्जहार
यथा वाचमवचिन्वन्ति सन्तः ॥ २६ ॥

अष्टावक्र बोले—राजन् ! बन्दीने अपनी जिस वाणी (प्रवचनपटुता अथवा मेधा—बुद्धिबल) से विद्वान् ब्राह्मणों-को भी परास्त किया और समुद्रके जलमें डुबोया है, उसकी उस वाक्शक्तिको मैंने अपनी बुद्धिसे किस प्रकार उखाड़ फेंका है, यह सब इस सभामें बैठे हुए विद्वान् पुरुष मेरी बातें सुनकर ही जान गये होंगे ॥ २६ ॥

अग्निर्दहञ्जातवेदाः सतां गृहान्
विसर्जयंस्तेजसा न स्म धाक्षीत्।
बालेषु पुत्रेषु कृपणं वदत्सु
तथा वाचमवचिन्वन्ति सन्तः ॥ २७ ॥

अग्नि स्वभावसे ही दहन करनेवाला है तो भी वह ज्ञेय विषयको तत्काल जाननेमें समर्थ है। इस कारण परीक्षाके समय जो सदाचारी और सत्यवादी होते हैं, उनके घरोंको (शरीरोंको) छोड़ देता है, जलाता नहीं। वैसे ही संत लोग भी विनम्रभावसे बोलनेवाले बालक पुत्रोंके वचनोंमेंसे जो सत्य और हितकर बात होती है, उसे चुन लेते हैं— (उसे मान लेते हैं, उनकी अवहेलना नहीं करते)। भाव यह कि तुमको मेरे वचनोंका भाव समझकर उन्हें ग्रहण करना चाहिये ॥ २७ ॥

श्लेष्मातकी क्षीणवर्चाः शृणोषि
उताहो त्वां स्तुतयो मादयन्ति।
हस्तीव त्वं जनक वितुद्यमानो
न मामिकां वाचमिमां शृणोषि ॥ २८ ॥

राजन् ! जान पड़ता है, तुमने लसोड़ेके पत्तोंपर भोजन किया है या उसका फल खा लिया है, इसीसे तुम्हारा तेज क्षीण हो गया है; अतः तुम बन्दीकी बात सुन रहे हो, अथवा इस बन्दीद्वारा की गयी स्तुतियाँ तुम्हें उन्मत्त कर रही हैं, यही कारण है कि अंकुशकी मार खाकर भी न माननेवाले मतवाले हाथीकी भाँति तुम मेरी इन बातोंको नहीं सुन रहे हो ॥ २८ ॥

जनक उवाच

शृणोमि वाचं तव दिव्यरूपा-
ममानुषीं दिव्यरूपोऽसि साक्षात्।
अजैषीर्यद् बन्दिनं त्वं विवादे
निसृष्ट एष तव कामोऽद्य बन्दी ॥ २९॥

जनकने कहा—ब्रह्मन् ! मैं आपकी दिव्य एवं अलौकिक वाणी सुन रहा हूँ, आप साक्षात् दिव्यस्वरूप हैं, आपने शास्त्रार्थमें बन्दीको जीत लिया है। आपकी इच्छा अभी पूरी की जा रही है। देखिये यह है आपके द्वारा जीता हुआ बन्दी ॥ २९ ॥

अष्टावक्र उवाच

नानेन जीवता कश्चिदर्थो मे बन्दिना नृप।
पिता यद्यस्य वरुणो मज्जयैनं जलाशये ॥ ३० ॥

अष्टावक्र बोले—महाराज ! इस बन्दीके जीवित रहनेसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। यदि इसके पिता वरुणदेव हैं तो उनके पास जानेके लिये इसे निश्चय ही जलाशयमें डुबो दीजिये ॥ ३० ॥

बन्दिरुवाच

अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञो
न मे भयं विद्यते मज्जितस्य।
इमं मुहूर्तं पितरं द्रक्ष्यतेऽय-
मष्टावक्रश्चिरनष्टं कहोडम् ॥ ३१ ॥

बन्दीने कहा—राजन् ! मैं वास्तवमें राजा वरुणका पुत्र हूँ, अतः जलमें डुबाये जानेका मुझे कोई भय नहीं है। ये अष्टावक्र दीर्घकालसे नष्ट हुए अपने पिता कहोडको इसी समय देखेंगे ॥ ३१ ॥

लोमश उवाच

ततस्ते पूजिता विप्रा वरुणेन महात्मना।
उदतिष्ठंस्ततः सर्वे जनकस्य समीपतः ॥ ३२ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर महामना वरुणद्वारा पूजित हुए वे समस्त ब्राह्मण (जो बन्दीद्वारा जलमें डुबोये गये थे,) सहसा राजा जनकके समीप प्रकट हो गये ॥ ३२ ॥

कहोड उवाच

इत्यर्थमिच्छन्ति सुताञ्जना जनक कर्मणा।
यदहं नाशकं कर्तुं तत् पुत्रः कृतवान् मम ॥ ३३ ॥

उस समय कहोडने कहा—जनकराज ! लोग इसीलिये अच्छे कर्मोंद्वारा पुत्र पानेकी इच्छा रखते हैं, क्योंकि जो कार्य मैं नहीं कर सका, उसे मेरे पुत्रने कर दिखाया॥

उताबलस्य बलवानुत बालस्य पण्डितः।
उत वाविदुषो विद्वान् पुत्रो जनक जायते ॥ ३४ ॥

जनकराज ! कभी-कभी निर्बलके भी बलवान्, मूर्खके भी पण्डित तथा अज्ञानीके भी ज्ञानी पुत्र उत्पन्न हो जाता है ॥

शितेन ते परशुना स्वयमेवान्तको नृप।
शिरांस्यपाहरत्वाजौ रिपूणां भद्रमस्तु ते ॥ ३५ ॥

राजन् ! आपका कल्याण हो, युद्धमें स्वयं ही यमराज तीखे फरसेसे आपके शत्रुओंके मस्तक काटते रहें ॥ ३५ ॥

महदौक्थ्यं गीयते साम चाग्र्यं
सम्यक् सोमः पीयते चात्र सत्रे।
शुचीन् भागान् प्रतिजगृहुश्च हृष्टाः
साक्षाद् देवा जनकस्योत राज्ञः ॥ ३६ ॥

महाराज जनकके इस यज्ञमें उत्तम एवं महत्त्वपूर्ण और औक्थ्य[1] सामकागान किया जाता है, विधिपूर्वक सोमरसका पान हो रहा है, देवगण प्रत्यक्ष दर्शन देकर बड़े हर्षके साथ अपने-अपने पवित्र भाग ग्रहण कर रहे हैं ॥ ३६ ॥

लोमश उवाच

समुत्थितेष्वथ सर्वेषु राजन्
विप्रेषु तेष्वधिकं सुप्रभेषु।
अनुज्ञातो जनकेनाथ राज्ञा
विवेश तोयं सागरस्योत बन्दी ॥ ३७ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! बन्दीद्वारा जलमें डुबोये हुए वे सभी ब्राह्मण जब वहाँ अधिक तेजस्वी रूपसे प्रकट हो गये, तब राजाकी आज्ञा लेकर बन्दी स्वयं ही समुद्रके जलमें समा गया ॥ ३७ ॥

अष्टावक्रः पितरं पूजयित्वा
सम्पूजितो ब्राह्मणैस्तैर्यथावत्।
प्रत्याजगामाश्रममेव चाग्र्यं
जित्वा सौतिं सहितो मातुलेन ॥ ३८ ॥

अष्टावक्र अपने पिताकी पूजा करके स्वयं भी दूसरे ब्राह्मणोंद्वारा यथोचित रूपसे सम्मानित हुए और इस प्रकार बन्दीपर विजय पाकर पिता एवं मामाके साथ अपने श्रेष्ठ आश्रमपर ही लौट आये ॥ ३८ ॥

ततोऽष्टावक्रमातुरथान्तिके पिता
नदीं समङ्गां शीघ्रमिमां विशस्व।
प्रोवाच चैनं स तथा विवेश
समैरङ्गैश्चापि बभूव सद्यः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर पिता कहोडने अष्टावक्रकी माता सुजाताके निकट पुत्र अष्टावक्रसे कहा—'बेटा ! तुम शीघ्र ही इस 'समङ्गा' नदीमें स्नानके लिये प्रवेश करो।' पिताकी आज्ञाके अनुसार उन्होंने उस नदीमें स्नानके लिये प्रवेश किया। उसके जलका स्पर्श होनेपर तत्काल ही उनके सब अङ्ग सीधे हो गये ॥ ३९ ॥

नदी समङ्गा च बभूव पुण्या
यस्यां स्नातो मुच्यते किल्बिषाद्धि।
त्वमप्येनां स्नानपानावगाहैः
सभ्रातृकः सहभार्यो विशस्व ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर ! इसीसे समङ्गा नदी पुण्यमयी हो गयी। इसमें स्नान करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। तुम भी स्नान, पान (आचमन) और अवगाहनके लिये अपनी पत्नी और भाइयोंके साथ इस नदीमें प्रवेश करो ॥ ४० ॥

अत्र कौन्तेय सहितो भ्रातृभिस्त्वं
सुखोषितः सह विप्रैः प्रतीतः।
पुण्यान्यन्यानि शुचिकर्मैकभक्ति-
र्मया सार्धं चरितस्याजमीढ ॥ ४१ ॥

अजमीढकुलभूषण कुन्तीनन्दन ! तुम विश्वासपूर्वक अपने भाइयों और ब्राह्मणोंके साथ यहाँ एक रात सुखसे रहकर कलसे पुनः मेरे साथ पवित्र कर्मोंमें अविचल श्रद्धा-भक्ति रखते हुए दूसरे-दूसरे पुण्यतीर्थोंकी यात्रा करना ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अष्टावक्रीयोपाख्यानविषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३४ ॥

१—उक्थ नाम यज्ञविशेषमें गाये जाने योग्य सामको औक्थ्य कहते हैं।

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्दमिलक्षेत्र आदि तीर्थोंकी महिमा, रैभ्य एवं भरद्वाजपुत्र यवक्रीत मुनिकी कथा तथा ऋषियोंका अनिष्ट करनेके कारण मेधावीकी मृत्यु

लोमश उवाच

एषा मधुविला राजन् समङ्गा सम्प्रकाशते।
एतत् कर्दमिलं नाम भरतस्याभिषेचनम्॥ १॥

लोमशजी कहते हैं—राजन्! यह मधुविला नदी प्रकाशित हो रही है। इसीका दूसरा नाम समङ्गा है और यह कर्दमिल नामक क्षेत्र है, जहाँ राजा भरतका अभिषेक किया गया था॥ १॥

अलक्ष्म्या किल संयुक्तो वृत्रं हत्वा शचीपतिः।
आप्लुतः सर्वपापेभ्यः समङ्गायां व्यमुच्यत॥ २॥

कहते हैं, वृत्रासुरका वध करके जब शचीपति इन्द्र श्रीहीन हो गये थे, उस समय उस समङ्गा नदीमें गोता लगाकर ही वे अपने सब पापोंसे छुटकारा पा सके थे॥ २॥

एतद् विनशनं कुक्षौ मैनाकस्य नरर्षभ।
अदितिर्यत्र पुत्रार्थं तदन्नमपचत् पुरा॥ ३॥

नरश्रेष्ठ! मैनाक पर्वतके कुक्षि-भागमें यह विनशन नामक तीर्थ है, जहाँ पूर्वकालमें अदिति देवीने पुत्र-प्राप्तिके लिये साध्य देवताओंके उद्देश्यसे अन्न[1] तैयार किया था॥ ३॥

एनं पर्वतराजानमारुह्य भरतर्षभाः।
अयशस्यामसंशब्द्यामलक्ष्मीं व्यपनोत्स्यथ॥ ४॥

भरतवंशके श्रेष्ठ पुरुषो! इस पर्वतराज हिमालयपर आरूढ़ होकर तुम सब अयश फैलानेवाली और नाम लेनेके अयोग्य अपनी श्रीहीनताको शीघ्र ही दूर भगा दोगे॥ ४॥

एते कनखला राजन्नृषीणां दयिता नगाः।
एषा प्रकाशते गङ्गा युधिष्ठिर महानदी॥ ५॥

युधिष्ठिर! ये कनखलकी पर्वत-मालाएँ हैं, जो ऋषियोंको बहुत प्रिय लगती हैं। ये महानदी गङ्गा सुशोभित हो रही हैं॥

सनत्कुमारो भगवानत्र सिद्धिमगात् पुरा।
आजमीढावगाह्यैनां सर्वपापैः प्रमोक्ष्यसे॥ ६॥

यहीं पूर्वकालमें भगवान् सनत्कुमारने सिद्धि प्राप्त की थी। अजमीढनन्दन! इस गङ्गामें स्नान करके तुम सब पापोंसे छुटकारा पा जाओगे॥ ६॥

अपां ह्रदं च पुण्याख्यं भृगुतुङ्गं च पर्वतम्।
उष्णीगङ्गे च कौन्तेय सामात्यः समुपस्पृश॥ ७॥

कुन्तीकुमार! जलके इस पुण्य सरोवर, भृगुतुङ्ग पर्वतपर तथा 'उष्णीगङ्ग' नामक तीर्थमें जाकर तुम अपने मन्त्रियोंसहित स्नान और आचमन करो॥ ७॥

आश्रमः स्थूलशिरसो रमणीयः प्रकाशते।
अत्र मानं च कौन्तेय क्रोधं चैव विवर्जय॥ ८॥

यह स्थूलशिरा मुनिका रमणीय आश्रम शोभा पा रहा है। कुन्तीनन्दन! यहाँ अहंकार और क्रोधको त्याग दो॥८॥

एष रैभ्याश्रमः श्रीमान् पाण्डवेय प्रकाशते।
भारद्वाजो यत्र कविर्यवक्रीतो व्यनश्यत॥ ९॥

पाण्डुनन्दन! यह रैभ्यका सुन्दर आश्रम प्रकाशित हो रहा है, जहाँ विद्वान् भरद्वाजपुत्र यवक्रीत नष्ट हो गये थे॥९॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं युक्तोऽभवदृषिर्भरद्वाजः प्रतापवान्।
किमर्थं च यवक्रीतः पुत्रोऽनश्यत वै मुनेः॥ १०॥

युधिष्ठिरने पूछा—ब्रह्मन्! प्रतापी भरद्वाज मुनि कैसे योगयुक्त हुए थे और उनके पुत्र यवक्रीत किसलिये नष्ट हो गये थे?॥ १०॥

एतत् सर्वं यथावृत्तं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
कर्मभिर्देवकल्पानां कीर्त्यमानैर्भृशं रमे॥ ११॥

ये सब बातें मैं यथार्थरूपसे ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ। उन देवोपम मुनियोंके चरित्रोंका वर्णन सुनकर मेरे मनको बड़ा सुख मिलता है॥ ११॥

लोमश उवाच

भरद्वाजश्च रैभ्यश्च सखायौ सम्बभूवतुः।
तावूषतुरिहात्यन्तं प्रीयमाणावनन्तरम्॥ १२॥

लोमशजीने कहा—राजन्! भरद्वाज तथा रैभ्य दोनों एक दूसरेके सखा थे और निरन्तर इसी आश्रममें बड़े प्रेमसे रहा करते थे॥ १२॥

रैभ्यस्य तु सुतावास्तामर्वावसुपरावसू।
आसीद् यवक्रीः पुत्रस्तु भरद्वाजस्य भारत॥ १३॥

रैभ्यके दो पुत्र थे—अर्वावसु और परावसु। भारत! भरद्वाजके पुत्रका नाम 'यवक्री' अथवा 'यवक्रीत' था॥ १३॥

रैभ्यो विद्वान् सहापत्यस्तपस्वी चेतरोऽभवत्।
तयोश्चाप्यतुला कीर्तिर्बाल्यात् प्रभृति भारत॥ १४॥

भारत! पुत्रोंसहित रैभ्य बड़े विद्वान् थे।

1. इस अन्नको ब्रह्मौदन कहते हैं, जैसा कि श्रुतिका कथन है—'साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनमपचत्' इति।

परंतु भरद्वाज केवल तपस्यामें संलग्न रहते थे । युधिष्ठिर ! बाल्यावस्थासे ही इन दोनों महात्माओंकी अनुपम कीर्ति सब ओर फैल रही थी ॥ १४ ॥

यवक्रीः पितरं दृष्ट्वा तपस्विनमसत्कृतम् ।
दृष्ट्वा च सत्कृतं विप्रै रैभ्यं पुत्रैः सहानघ ॥ १५ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! यवक्रीतने देखा, मेरे तपस्वी पिताका लोग सत्कार नहीं करते हैं; परंतु पुत्रोंसहित रैभ्यका ब्राह्मणोंद्वारा बड़ा आदर होता है ॥ १५ ॥

पर्यतप्यत तेजस्वी मन्युनाभिपरिप्लुतः ।
तपस्तेपे ततो घोरं वेदज्ञानाय पाण्डव ॥ १६ ॥

यह देख तेजस्वी यवक्रीतको बड़ा संताप हुआ । पाण्डुनन्दन ! वे क्रोधसे आविष्ट हो वेदोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये घोर तपस्यामें लग गये ॥ १६ ॥

स समिद्धे महत्यग्नौ शरीरमुपतापयन् ।
जनयामास संतापमिन्द्रस्य सुमहातपाः ॥ १७ ॥

उन महातपस्वीने अत्यन्त प्रज्वलित अग्निमें अपने शरीरको तपाते हुए इन्द्रके मनमें संताप उत्पन्न कर दिया ॥

तत इन्द्रो यवक्रीतमुपगम्य युधिष्ठिर ।
अब्रवीत् कस्य हेतोस्त्वमास्थितस्तप उत्तमम् ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर ! तब इन्द्र यवक्रीतके पास आकर बोले—'तुम किसलिये यह उच्चकोटिकी तपस्या कर रहे हो ?' ॥ १८ ॥

यवक्रीत उवाच

द्विजानामनधीता वै वेदाः सुरगणार्चित ।
प्रतिभान्त्विति तप्येऽहमिदं परमकं तपः ॥ १९ ॥

यवक्रीतने कहा—देववृन्दपूजित महेन्द्र ! मैं यह उच्चकोटिकी तपस्या इसलिये करता हूँ कि द्विजातियोंको बिना पढ़े ही सब वेदोंका ज्ञान हो जाय ॥ १९ ॥

स्वाध्यायार्थे समारम्भो ममायं पाकशासन ।
तपसा ज्ञातुमिच्छामि सर्वज्ञानानि कौशिक ॥ २० ॥

पाकशासन ! मेरा यह आयोजन स्वाध्यायके लिये ही है । कौशिक ! मैं तपस्याद्वारा सब बातोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ ॥ २० ॥

कालेन महता वेदाः शक्या गुरुमुखाद् विभो ।
प्राप्तुं तस्मादयं यत्नः परमो मे समास्थितः ॥ २१ ॥

प्रभो ! गुरुके मुखसे दीर्घकालके पश्चात् वेदोंका ज्ञान हो सकता है । अतः मेरा यह महान् प्रयत्न शीघ्र ही सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये है ॥ २१ ॥

इन्द्र उवाच

अमार्ग एष विप्रर्षे येन त्वं यातुमिच्छसि ।
किं विघातेन ते विप्र गच्छाधीहि गुरोर्मुखात् ॥ २२ ॥

इन्द्र बोले—विप्रर्षे ! तुम जिस राहसे जाना चाहते हो, वह अध्ययनका मार्ग नहीं है । स्वाध्यायके समुचित मार्गको नष्ट करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? अतः जाओ गुरुके मुखसे ही अध्ययन करो ॥ २२ ॥

लोमश उवाच

एवमुक्त्वा गतः शक्रो यवक्रीरपि भारत ।
भूय एवाकरोद् यत्नं तपस्यमितविक्रमः ॥ २३ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर इन्द्र चले गये; तब अत्यन्त पराक्रमी यवक्रीतने भी पुनः तपस्याके लिये ही घोर प्रयास आरम्भ कर दिया ॥ २३ ॥

घोरेण तपसा राजंस्तप्यमानो महत् तपः ।
संतापयामास भृशं देवेन्द्रमिति नः श्रुतम् ॥ २४ ॥

राजन् ! उसने घोर तपस्याद्वारा महान् तपका संचय करते हुए देवराज इन्द्रको अत्यन्त संतप्त कर दिया; यह बात हमारे सुननेमें आयी है ॥ २४ ॥

तं तथा तप्यमानं तु तपस्तीव्रं महामुनिम् ।
उपेत्य बलभिद् देवो वारयामास वै पुनः ॥ २५ ॥
अशक्योऽर्थः समारब्धो नैतद् बुद्धिकृतं तव ।
प्रतिभास्यन्ति वै वेदास्तव चैव पितुश्च ते ॥ २६ ॥

महामुनि यवक्रीतको इस प्रकार तपस्या करते देख इन्द्रने उनके पास जाकर पुनः मना किया और कहा—'मुने ! तुमने ऐसे कार्यका आरम्भ किया है, जिसकी सिद्धि होनी असम्भव है । तुम्हारा यह (द्विजमात्रके लिये बिना पढ़े वेदका ज्ञान होनेका) आयोजन बुद्धि-संगत नहीं है; किंतु केवल तुमको और तुम्हारे पिताको ही वेदोंका ज्ञान होगा' ॥ २५-२६ ॥

यवक्रीत उवाच

न चैतदेवं क्रियते देवराज ममेप्सितम् ।
महता नियमेनाहं तप्स्ये घोरतरं तपः ॥ २७ ॥

यवक्रीतने कहा—देवराज ! यदि इस प्रकार आप मेरे इष्ट मनोरथकी सिद्धि नहीं करते हैं, तो मैं और भी कठोर नियम लेकर अत्यन्त भयंकर तपस्यामें लग जाऊँगा ॥ २७ ॥

समिद्धेऽग्नावुपकृत्याङ्गमङ्गं
होष्यामि वा मघवंस्तन्निबोध ।
यद्येतदेवं न करोषि कामं
ममेप्सितं देवराजेह सर्वम् ॥ २८ ॥

देवराज इन्द्र ! यदि आप यहाँ मेरी सारी मनोवाञ्छित कामना पूरी नहीं करते हैं, तो मैं प्रज्वलित अग्निमें अपने एक-एक अङ्गको होम दूँगा । इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें ॥ २८ ॥

लोमश उवाच

निश्चयं तमभिज्ञाय मुनेस्तस्य महात्मनः ।
प्रतिवारणहेत्वर्थं बुद्ध्या संचिन्त्य बुद्धिमान् ॥ २९ ॥

तत इन्द्रोऽकरोद् रूपं ब्राह्मणस्य तपस्विनः।
अनेकशतवर्षस्य दुर्बलस्य सयक्ष्मणः ॥ ३० ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उन महामुनिके उस निश्चयको जानकर बुद्धिमान् इन्द्रने उन्हें रोकनेके लिये बुद्धिपूर्वक कुछ विचार किया और एक ऐसे तपस्वी ब्राह्मणका रूप धारण कर लिया, जिसकी उम्र कई सौ वर्षोंकी थी तथा जो यक्ष्माका रोगी और दुर्बल दिखायी देता था ॥ २९-३० ॥

यवक्रीतस्य यत् तीर्थमुचितं शौचकर्मणि।
भागीरथ्यां तत्र सेतुं वालुकाभिश्चकार सः ॥ ३१ ॥

गङ्गाके जिस तीर्थमें यवक्रीत मुनि स्नान आदि किया करते थे, उसीमें वे ब्राह्मण देवता बालूद्वारा पुल बनाने लगे ॥ ३१ ॥

यदास्य वदतो वाक्यं न स चक्रे द्विजोत्तमः।
वालुकाभिस्ततः शक्रो गङ्गां समभिपूरयन् ॥ ३२ ॥

द्विजश्रेष्ठ यवक्रीतने जब इन्द्रका कहना नहीं माना, तब वे बालूसे गङ्गाजीको भरने लगे ॥ ३२ ॥

वालुकामुष्टिमनिशं भागीरथ्यां व्यसर्जयत्।
सेतुमभ्यारभच्छक्रो यवक्रीतं निदर्शयन् ॥ ३३ ॥

वे निरन्तर एक-एक मुट्ठी बालू गङ्गाजीमें छोड़ते थे और इस प्रकार उन्होंने यवक्रीतको दिखाकर पुल बाँधनेका कार्य आरम्भ कर दिया ॥ ३३ ॥

तं ददर्श यवक्रीतो यत्नवन्तं निबन्धने।
प्रहसंश्चाब्रवीद् वाक्यमिदं स मुनिपुङ्गवः ॥ ३४ ॥

मुनिवर यवक्रीतने देखा, ब्राह्मण देवता पुल बाँधनेके लिये बड़े यत्नशील हैं, तब उन्होंने हँसते हुए इस प्रकार कहा— ॥ ३४ ॥

किमिदं वर्तते ब्रह्मन् किं च ते ह चिकीर्षितम्।
अतीव हि महान् यत्नः क्रियतेऽयं निरर्थकः ॥ ३५ ॥

'ब्रह्मन् ! यह क्या है ? आप क्या करना चाहते हैं ? आप प्रयत्न तो महान् कर रहे हैं, परंतु यह व्यर्थ है' ॥ ३५ ॥

इन्द्र उवाच

बन्धिष्ये सेतुना गङ्गां सुखः पन्था भविष्यति।
क्लिश्यते हि जनस्तात तरमाणः पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

इन्द्र बोले—तात ! मैं गङ्गाजीपर पुल बाँधूँगा। इससे पार जानेके लिये सुखद मार्ग बन जायगा; क्योंकि पुलके न होनेसे इधर आने-जानेवाले लोगोंको बार-बार तैरनेका कष्ट उठाना पड़ता है ॥ ३६ ॥

यवक्रीत उवाच

नायं शक्यस्त्वया बद्धुं महानोघस्तपोधन।
अशक्याद् विनिवर्तस्व शक्यमर्थं समारभ ॥ ३७ ॥

यवक्रीतने कहा—तपोधन ! यहाँ अगाध जलराशि भरी है; अतः तुम पुल बाँधनेमें सफल नहीं हो सकोगे। इसलिये इस असम्भव कार्यसे मुँह मोड़ लो और ऐसे कार्यमें हाथ डालो, जो तुमसे हो सके ॥ ३७ ॥

इन्द्र उवाच

यथैव भवता चेदं तपो वेदार्थमुद्यतम्।
अशक्यं तद्वदस्माभिरयं भारः समाहितः ॥ ३८ ॥

इन्द्र बोले—मुने ! जैसे आपने बिना पढ़े वेदोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये यह तपस्या प्रारम्भ की है, जिसकी सफलता असम्भव है, उसी प्रकार मैंने भी यह पुल बाँधनेका भार उठाया है ॥ ३८ ॥

यवक्रीत उवाच

यथा तव निरर्थोऽयमारम्भस्त्रिदशेश्वर।
तथा यदि ममापीदं मन्यसे पाकशासन ॥ ३९ ॥
क्रियतां यद् भवेच्छक्यं त्वया सुरगणेश्वर।
वरांश्च मे प्रयच्छान्यान् यैरन्यान् भवितास्म्यति ॥ ४० ॥

यवक्रीतने कहा—देवेश्वर पाकशासन ! जैसे आपका वह पुल बाँधनेका आयोजन व्यर्थ है, उसी प्रकार यदि मेरी इस तपस्याको भी आप निरर्थक मानते हैं तो वही कार्य कीजिये जो सम्भव हो, मुझे ऐसे उत्तम वर प्रदान कीजिये, जिनके द्वारा मैं दूसरोंसे बढ़-चढ़कर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकूँ ॥

लोमश उवाच

तस्मै प्रादाद् वरानिन्द्र उक्तवान् यान् महातपाः।
प्रतिभास्यन्ति ते वेदाः पित्रा सह यथेप्सिताः ॥ ४१ ॥
यच्चान्यत् काङ्क्षसे कामं यवक्रीर्गम्यतामिति।
स लब्धकामः पितरं समेत्याथेदमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! तब इन्द्रने महातपस्वी यवक्रीतके कथनानुसार उन्हें वर देते हुए कहा—'यवक्रीत ! तुम्हारे पितासहित तुम्हें वेदोंका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त हो जायगा। साथ ही और भी जो तुम्हारी कामना हो, वह पूर्ण हो जायगी। अब तुम तपस्या छोड़कर अपने आश्रमको लौट जाओ।'

इस प्रकार पूर्णकाम होकर, यवक्रीत अपने पिताके पास गये और इस प्रकार बोले ॥ ४१-४२ ॥

यवक्रीत उवाच

प्रतिभास्यन्ति वै वेदा मम तातस्य चोभयोः।
अति चान्यान् भविष्यावो वरा लब्धास्तदा मया ॥ ४३ ॥

यवक्रीतने कहा—पिताजी ! आपको और मुझे दोनोंको ही सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान हो जायगा। साथ ही हम दोनों दूसरोंसे ऊँची स्थितिमें हो जायँगे—ऐसा वर मैंने प्राप्त किया है ॥ ४३ ॥

भरद्वाज उवाच

दपस्ते भविता तात वराँल्लब्ध्वा यथेप्सितान् ।
स दर्पपूर्णः कृपणः क्षिप्रमेव विनङ्क्ष्यसि ॥ ४४ ॥

भरद्वाज बोले—तात ! इस तरह मनोवाञ्छित वर प्राप्त करनेके कारण तुम्हारे मनमें अहंकार उत्पन्न हो जायगा और अहंकारसे युक्त होनेपर तुम कृपण होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाओगे ॥ ४४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा देवैरुदाहृताः ।
मुनिरासीत् पुरा पुत्र बालधिर्नाम वीर्यवान् ॥ ४५ ॥

इस विषयमें विज्ञजन देवताओंकी कही हुई यह गाथा सुनाया करते हैं—प्राचीनकालमें बालधि नामसे प्रसिद्ध एक शक्तिशाली मुनि थे ॥ ४५ ॥

स पुत्रशोकादुद्विग्नस्तपस्तेपे सुदुष्करम् ।
भवेन्मम सुतोऽमर्त्य इति तं लब्धवांश्च सः ॥ ४६ ॥

उन्होंने पुत्र-शोकसे संतप्त होकर अत्यन्त कठोर तपस्या की । तपस्याका उद्देश्य यह था कि मुझे देवोपम पुत्र प्राप्त हो । अपनी उस अभिलाषाके अनुसार बालधिको एक पुत्र प्राप्त हुआ ॥ ४६ ॥

तस्य प्रसादो वै देवैः कृतो न त्वमरैः समः ।
नामर्त्यो विद्यते मर्त्यो निमित्तायुर्भविष्यति ॥ ४७ ॥

देवताओंने उनपर कृपा अवश्य की, परंतु उनके पुत्रको देवतुल्य नहीं बनाया और वरदान देते हुए यह कहा 'कि मरणधर्मा मनुष्य कभी देवताके समान अमर नहीं हो सकता । अतः उसकी आयु निमित्त (कारण) के अधीन होगी' ॥

बालधिरुवाच

यथेमे पर्वताः शश्वत् तिष्ठन्ति सुरसत्तमाः ।
अक्षयास्तन्निमित्तं मे सुतस्यायुर्भविष्यति ॥ ४८ ॥

बालधि बोले—देववरो ! जैसे ये पर्वत सदा अक्षय भावसे खड़े रहते हैं, वैसे ही मेरा पुत्र भी सदा अक्षय बना रहे । ये पर्वत ही उसकी आयुके निमित्त होंगे । अर्थात् जबतक ये पर्वत यहाँ बने रहें तबतक मेरा पुत्र भी जीवित रहे ॥ ४८ ॥

भरद्वाज उवाच

तस्य पुत्रस्तदा जज्ञे मेधावी क्रोधनस्तदा ।
स तच्छ्रुत्वाकरोद् दर्पमृषींश्चैवावमन्यत ॥ ४९ ॥

भरद्वाज कहते हैं—यवक्रीत ! तदनन्तर बालधिके पुत्रका जन्म हुआ, जो मेधायुक्त होनेके कारण मेधावी नामसे विख्यात था । वह स्वभावका बड़ा क्रोधी था । अपनी आयुके विषयमें देवताओंके वरदानकी बात सुनकर मेधावी घमण्डमें भर गया और ऋषियोंका अपमान करने लगा ॥ ४९ ॥

विकुर्वाणो मुनीनां च व्यचरत् स महीमिमाम् ।
आससाद महावीर्यं धनुषाक्षं मनीषिणम् ॥ ५० ॥

इतना ही नहीं, वह ऋषि-मुनियोंको सतानेके उद्देश्यसे ही इस पृथ्वीपर सब ओर विचरा करता था । एक दिन मेधावी महान् शक्तिशाली एवं मनीषी धनुषाक्षके पास जा पहुँचा ॥ ५० ॥

तस्यापचक्रे मेधावी तं शशाप स वीर्यवान् ।
भव भस्मेति चोक्तः स न भस्म समपद्यत ॥ ५१ ॥

और उनका तिरस्कार करने लगा । तब तपोबलसम्पन्न ऋषि धनुषाक्षने उसे शाप देते हुए कहा—'अरे तू जलकर भस्म हो जा ।' परंतु उनके कहनेपर भी वह भस्म नहीं हुआ ॥

धनुषाक्षस्तु तं दृष्ट्वा मेधाविनमनामयम् ।
निमित्तमस्य महिषैर्भेदयामास वीर्यवान् ॥ ५२ ॥

शक्तिशाली धनुषाक्षने ध्यानमें देखा कि मेधावी रोग एवं मृत्युसे रहित है । तब उसकी आयुके निमित्तभूत पर्वतोंको उन्होंने भैंसोंद्वारा विदीर्ण करा दिया ॥ ५२ ॥

स निमित्ते विनष्टे तु ममार सहसा शिशुः ।
तं मृतं पुत्रमादाय विललाप ततः पिता ॥ ५३ ॥

निमित्तका नाश होते ही उस मुनिकुमारकी सहसा मृत्यु हो गयी । तदनन्तर पिता उस मरे हुए पुत्रको लेकर अत्यन्त विलाप करने लगे ॥ ५३ ॥

लालप्यमानं तं दृष्ट्वा मुनयः परमार्तवत् ।
ऊचुर्वेदविदः सर्वे गाथां यां तां निबोध मे ॥ ५४ ॥

अधिक पीड़ित मनुष्योंकी भाँति उन्हें विलाप करते देख वहाँके समस्त वेदवेत्ता मुनिगण एकत्र हो जिस गाथाको गाने लगे, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ५४ ॥

न दिष्टमर्थमत्येतुमीशो मर्त्यः कथंचन ।
महिषैर्भेदयामास धनुषाक्षो महीधरान् ॥ ५५ ॥

'मरणधर्मा मनुष्य किसी तरह दैवके विधानका उल्लङ्घन नहीं कर सकता, तभी तो धनुषाक्षने उस बालककी आयुके निमित्तभूत पर्वतोंका भैंसोंद्वारा भेदन करा दिया' ॥ ५५ ॥

एवं लब्ध्वा वरान् बाला दर्पपूर्णास्तपस्विनः ।
क्षिप्रमेव विनश्यन्ति यथा न स्यात् तथा भवान् ॥ ५६ ॥

इस प्रकार बालक तपस्वी वर पाकर घमण्डमें भर जाते हैं और (अपने दुर्व्यवहारोंके कारण) शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं । तुम्हारी भी यही अवस्था न हो (इसलिये सावधान किये देता हूँ) ॥ ५६ ॥

एष रैभ्यो महावीर्यः पुत्रौ चास्य तथाविधौ ।
तं यथा पुत्र नाभ्येषि तथा कुर्यास्त्वतन्द्रितः ॥ ५७ ॥

ये रैभ्य मुनि महान् शक्तिशाली हैं । इनके दोनों पुत्र

भी इन्हींके समान हैं। बेटा! तुम उन रैभ्यमुनिके पास कदापि न जाना और आलस्य छोड़कर इसके लिये सदा प्रयत्नशील रहना ॥ ५७ ॥

स हि क्रुद्धः समर्थस्त्वां पुत्र पीडयितुं रुषा।
रैभ्यश्चापि तपस्वी च कोपनश्च महानृषिः ॥ ५८ ॥

बेटा! तुम्हें सावधान करनेका कारण यह है कि शक्तिशाली तपस्वी महर्षि रैभ्य बड़े क्रोधी हैं। वे कुपित होकर रोषसे तुम्हें पीड़ा दे सकते हैं ॥ ५८ ॥

यवक्रीत उवाच

एवं करिष्ये मा तापं तात कार्षीः कथंचन।
यथा हि मे भवान् मान्यस्तथा रैभ्यः पिता मम ॥ ५९ ॥

यवक्रीत बोले—पिताजी! मैं ऐसा ही करूँगा, आप किसी तरह मनमें संताप न करें। जैसे आप मेरे माननीय हैं, वैसे रैभ्यमुनि मेरे लिये पिताके समान हैं ॥ ५९ ॥

लोमश उवाच

उक्त्वा स पितरं श्लक्ष्णं यवक्रीरकुतोभयः।
विप्रकुर्वन्नृषीनन्यानतुष्यत् परया मुदा ॥ ६० ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! पितासे यह मीठी बातें कहकर यवक्रीत निर्भय विचरने लगे। दूसरे ऋषियोंको सतानेमें उन्हें अधिक सुख मिलता था। वैसा करके वे बहुत संतुष्ट रहते थे ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें यवक्रीतोपाख्यानविषयक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३५ ॥

षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

यवक्रीतका रैभ्यमुनिकी पुत्रवधूके साथ व्यभिचार और रैभ्यमुनिके क्रोधसे उत्पन्न राक्षसके द्वारा उसकी मृत्यु

लोमश उवाच

चङ्क्रम्यमाणः स तदा यवक्रीरकुतोभयः।
जगाम माधवे मासि रैभ्याश्रमपदं प्रति ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उन दिनों यवक्रीत सर्वथा भयशून्य होकर चारों ओर चक्कर लगाता था। एक दिन वैशाखमासमें वह रैभ्यमुनिके आश्रममें गया ॥ १ ॥

स ददर्शाश्रमे रम्ये पुष्पितद्रुमभूषिते।
विचरन्तीं स्नुषां तस्य किन्नरीमिव भारत ॥ २ ॥

भारत! वह आश्रम खिले हुए वृक्षोंकी श्रेणियोंसे सुशोभित हो अत्यन्त रमणीय प्रतीत होता था। उस आश्रममें रैभ्य मुनिकी पुत्रवधू किन्नरीके समान विचर रही थी। यवक्रीतने उसे देखा ॥ २ ॥

यवक्रीस्तामुवाचेदमुपातिष्ठस्व मामिति।
निर्लज्जो लज्जया युक्तां कामेन हृतचेतनः ॥ ३ ॥

देखते ही वह कामदेवके वशीभूत हो अपनी विचार-शक्ति खो बैठा और लजाती हुई उस मुनिवधूसे निर्लज्ज होकर बोला—'सुन्दरी! तू मेरी सेवामें उपस्थित हो' ॥ ३ ॥

सा तस्य शीलमाज्ञाय तस्माच्छापाच्च बिभ्यती।
तेजस्वितां च रैभ्यस्य तथेत्युक्त्वाऽऽजगाम ह ॥ ४ ॥

वह यवक्रीतके शील-स्वभावको जानकर भी उसके शापसे डरती थी। साथ ही उसे रैभ्य मुनिकी तेजस्विताका भी स्मरण था। अतः 'बहुत अच्छा' कहकर उसके पास चली आयी ॥ ४ ॥

तत एकान्तमुन्नीय मज्जयामास भारत।
आजगाम तदा रैभ्यः स्वमाश्रममरिंदम ॥ ५ ॥

शत्रुविनाशन भारत! तब यवक्रीतने उसे एकान्तमें ले जाकर पापके समुद्रमें डुबो दिया। (उसके साथ रमण किया)। इतनेहीमें रैभ्य मुनि अपने आश्रममें आ गये ॥ ५ ॥

रुदतीं च स्नुषां दृष्ट्वा भार्यामार्तां परावसोः।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा पर्यपृच्छद् युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

सा तस्मै सर्वमाचष्ट यवक्रीभाषितं शुभा।
प्रत्युक्तं च यवक्रीतं प्रेक्षापूर्वं तथाऽऽत्मना ॥ ७ ॥

आकर उन्होंने देखा कि मेरी पुत्रवधू एवं परावसुकी पत्नी आर्तभावसे रो रही है। युधिष्ठिर! यह देखकर रैभ्यने मधुर वाणीद्वारा उसे सान्त्वना दी तथा रोनेका कारण पूछा। उस शुभलक्षणा बहूने यवक्रीतकी कही हुई सारी बातें श्वशुरके सामने कह सुनायीं एवं स्वयं उसने भलीभाँति सोच-विचारकर यवक्रीतकी बातें माननेसे जो अस्वीकार कर दिया था, वह सारा वृत्तान्त भी बता दिया ॥ ६-७ ॥

शृण्वानस्यैव रैभ्यस्य यवक्रीत विचेष्टितम्।
दहन्निव तदा चेतः क्रोधः समभवन्महान् ॥ ८ ॥

यवक्रीतकी यह कुचेष्टा सुनते ही रैभ्यके हृदयमें क्रोधकी प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो उठी, जो उनके अन्तःकरणको मानो भस्म किये दे रही थी ॥ ८ ॥

स तदा मन्युनाऽऽविष्टस्तपस्वी कोपनो भृशम्।
अवलुच्य जटामेकां जुहावाग्नौ सुसंस्कृते ॥ ९ ॥

तपस्वी रैभ्य स्वभावसे ही बड़े क्रोधी थे, तिसपर भी उस समय उनके ऊपर क्रोधका आवेश छा रहा था। अतः उन्होंने अपनी एक जटा उखाड़कर संस्कारपूर्वक स्थापित की हुई अग्निमें होम दी ॥ ९ ॥

ततः समभवन्नारी तस्या रूपेण सम्मिता।
अवलुच्यापरां चापि जुहावाग्नौ जटां पुनः ॥ १० ॥

उससे एक नारीके रूपमें कृत्या प्रकट हुई, जो रूपमें उनकी पुत्रवधूके ही समान थी। तत्पश्चात् एक दूसरी जटा उखाड़कर उन्होंने पुनः उसी अग्निमें डाल दी ॥ १० ॥

ततः समभवद् रक्षो घोराक्षं भीमदर्शनम्।
अब्रूतां तौ तदा रैभ्यं किं कार्यं करवावहै ॥ ११ ॥

उससे एक राक्षस प्रकट हुआ, जिसकी आँखें बड़ी डरावनी थीं। वह देखनेमें बड़ा भयानक प्रतीत होता था। उस समय उन दोनोंने रैभ्य मुनिसे पूछा—'हम आपकी किस आज्ञाका पालन करें?' ॥ ११ ॥

तावब्रवीदृषिः क्रुद्धो यवक्रीर्वध्यतामिति।
जग्मतुस्तौ तथेत्युक्त्वा यवक्रीतजिघांसया ॥ १२ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए महर्षिने कहा—'यवक्रीतको मार डालो।' उस समय 'बहुत अच्छा' कहकर वे दोनों यवक्रीतके वधकी इच्छासे उसका पीछा करने लगे ॥ १२ ॥

ततस्तं समुपास्थाय कृत्या सृष्टा महात्मना।
कमण्डलुं जहारास्य मोहयित्वेव भारत ॥ १३ ॥

भारत! महामना रैभ्यकी रची हुई कृत्यारूप सुन्दरी नारीने पहले यवक्रीतके पास उपस्थित हो उसे मोहमें डालकर उसका कमण्डलु हर लिया ॥ १३ ॥

उच्छिष्टं तु यवक्रीतमपकृष्टकमण्डलुम्।
तत उद्यतशूलः स राक्षसः समुपाद्रवत् ॥ १४ ॥

कमण्डलु खो जानेसे यवक्रीतका शरीर उच्छिष्ट (जूठा या अपवित्र) रहने लगा। उस दशामें वह राक्षस हाथमें त्रिशूल उठाये यवक्रीतकी ओर दौड़ा ॥ १४ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य शूलहस्तं जिघांसया।
यवक्रीः सहसोत्थाय प्राद्रवद् येन वै सरः ॥ १५ ॥

राक्षस शूल हाथमें लिये मुझे मार डालनेकी इच्छासे मेरी ओर दौड़ा आ रहा है, यह देखकर यवक्रीत सहसा उठे और उस मार्गसे भागे, जो एक सरोवरकी ओर जाता था ॥

जलहीनं सरो दृष्ट्वा यवक्रीस्त्वरितः पुनः।
जगाम सरितः सर्वास्ताश्चाप्यासन् विशोषिताः ॥ १६ ॥

इसके जाते ही सरोवरका पानी सूख गया। सरोवरको जलहीन हुआ देख यवक्रीत फिर तुरंत ही समस्त सरिताओंके पास गया; परंतु इसके जानेपर वे सब भी सूख गयीं ॥ १६ ॥

स काल्यमानो घोरेण शूलहस्तेन रक्षसा।
अग्निहोत्रं पितुर्भीतः सहसा प्रविवेश ह ॥ १७ ॥

तब हाथमें शूल लिये उस भयानक राक्षसके खदेड़नेपर यवक्रीत अत्यन्त भयभीत हो सहसा अपने पिताके अग्निहोत्र-गृहमें घुसने लगा ॥ १७ ॥

स वै प्रविशमानस्तु शूद्रेणान्धेन रक्षिणा।
निगृहीतो बलाद् द्वारि सोऽवातिष्ठत पार्थिव ॥ १८ ॥

राजन्! उस समय अग्निहोत्रगृहके अंदर एक शूद्र-जातीय रक्षक नियुक्त था, जिसकी दोनों आँखें अंधी थीं। उसने दरवाजेके भीतर घुसते ही यवक्रीतको बलपूर्वक पकड़ लिया और यवक्रीत वहीं खड़ा हो गया ॥ १८ ॥

निगृहीतं तु शूद्रेण यवक्रीतं स राक्षसः।
ताडयामास शूलेन स भिन्नहृदयोऽपतत् ॥ १९ ॥

शूद्रके द्वारा पकड़े गये यवक्रीतपर उस राक्षसने शूलसे प्रहार किया। इससे उसकी छाती फट गयी और वह प्राण-शून्य होकर वहीं गिर पड़ा ॥ १९ ॥

यवक्रीतं स हत्वा तु राक्षसो रैभ्यमागमत्।
अनुज्ञातस्तु रैभ्येण तया नार्या सहावसत् ॥ २० ॥

इस प्रकार यवक्रीतको मारकर राक्षस रैभ्यके पास लौट आया और उनकी आज्ञा ले उस कृत्यास्वरूपा रमणीके साथ उनकी सेवामें रहने लगा ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें यवक्रीतोपाख्यानविषयक एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भरद्वाजका पुत्रशोकसे विलाप करना, रैभ्यमुनिको शाप देना एवं स्वयं अग्निमें प्रवेश करना

लोमश उवाच

भरद्वाजस्तु कौन्तेय कृत्वा स्वाध्यायमाह्निकम्।
समित्कलापमादाय प्रविवेश स्वमाश्रमम् ॥ १ ॥

तं स्म दृष्ट्वा पुरा सर्वे प्रत्युत्तिष्ठन्ति पावकाः।
न त्वेनमुपतिष्ठन्ति हतपुत्रं तदाग्नयः ॥ २ ॥

लोमशजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन! भरद्वाज मुनि

प्रतिदिनका स्वध्याय पूरा करके बहुत-सी समिधाएँ लिये आश्रममें आये। उस दिनसे पहले सभी अग्नियाँ उनको देखते ही उठकर स्वागत करती थीं, परंतु उस समय उनका पुत्र मारा गया था, इसलिये अशौचयुक्त होनेके कारण उनका अग्नियोंने पूर्ववत् खड़े होकर स्वागत नहीं किया ॥ १-२॥

वैकृतं त्वग्निहोत्रे स लक्षयित्वा महातपाः।
तमन्धं शूद्रमासीनं गृहपालमथाब्रवीत्॥ ३ ॥

अग्निहोत्रगृहमें यह विकृति देखकर उन महातपस्वी भरद्वाजने वहाँ बैठे हुए अन्धे गृहरक्षक शूद्रसे पूछा—॥३॥

किं नु मे नाग्नयः शूद्र प्रतिनन्दन्ति दर्शनम्।
त्वं चापि न यथापूर्वं कच्चित् क्षेममिहाश्रमे ॥ ४ ॥
कच्चिन्न रैभ्यं पुत्रो मे गतवानल्पचेतनः।
एतदाचक्ष्व मे शीघ्रं न हि शुद्ध्यति मे मनः॥ ५ ॥

'दास! क्या कारण है कि आज अग्नियाँ पूर्ववत् मेरा दर्शन करके प्रसन्नता नहीं प्रकट करती हैं। इधर तुम भी पहले-जैसे समादरका भाव नहीं दिखाते हो। इस आश्रममें कुशल तो है न? कहीं मेरा मन्दबुद्धि पुत्र रैभ्यके पास तो नहीं चला गया? यह बात मुझे शीघ्र बताओ; क्योंकि मेरा मन शान्त नहीं हो रहा है' ॥ ४-५ ॥

शूद्र उवाच

रैभ्यं यातो नूनमयं पुत्रस्ते मन्दचेतनः।
तथा हि निहतः शेते राक्षसेन बलीयसा॥ ६ ॥

शूद्र बोला—भगवन्! अवश्य ही आपका यह मन्दमति पुत्र रैभ्यके यहाँ गया था। उसीका यह फल है कि एक महाबली राक्षसके द्वारा मारा जाकर पृथ्वीपर पड़ा है ॥ ६ ॥

प्रकाल्यमानस्तेनायं शूलहस्तेन रक्षसा।
अग्न्यागारं प्रति द्वारि मया दोर्भ्यां निवारितः॥ ७ ॥

राक्षस अपने हाथमें शूल लेकर इसका पीछा कर रहा था और यह अग्निशालामें घुसा जा रहा था। उस समय मैंने दोनों हाथोंसे पकड़कर इसे द्वारपर ही रोक लिया ॥ ७ ॥

ततः स विहताशोऽत्र जलकामोऽशुचिर्ध्रुवम्।
निहतः सोऽतिवेगेन शूलहस्तेन रक्षसा॥ ८ ॥

निश्चय ही अपवित्र होनेके कारण यह शुद्धिके लिये जल लेनेकी इच्छा रखकर यहाँ आया था, परंतु मेरे रोक देनेसे यह हताश हो गया। उस दशामें उस शूलधारी राक्षसने इसके ऊपर बड़े वेगसे प्रहार करके इसे मार डाला ॥ ८ ॥

भरद्वाजस्तु तच्छ्रुत्वा शूद्रस्य विप्रियं महत्।
गतासुं पुत्रमादाय विललाप सुदुःखितः॥ ९ ॥

शूद्रका कहा हुआ यह अत्यन्त अप्रिय वचन सुनकर भरद्वाज बड़े दुखी हो गये और अपने प्राणशून्य पुत्रको लेकर विलाप करने लगे ॥ ९॥

भरद्वाज उवाच

ब्राह्मणानां किलार्थाय ननु त्वं तप्तवांस्तपः।
द्विजानामनधीता वै वेदाः सम्प्रतिभान्त्विति॥ १० ॥

भरद्वाजने कहा—बेटा! तुमने ब्राह्मणोंके हितके लिये भारी तपस्या की थी। तुम्हारी तपस्याका यह उद्देश्य था कि द्विजोंको बिना पढ़े ही सब वेदोंका ज्ञान हो जाय ॥१०॥

तथा कल्याणशीलस्त्वं ब्राह्मणेषु महात्मसु।
अनागाः सर्वभूतेषु कर्कशत्वमुपेयिवान्॥ ११ ॥

इस प्रकार महात्मा ब्राह्मणोंके प्रति तुम्हारा स्वभाव अत्यन्त कल्याणकारी था। किसी भी प्राणीके प्रति तुम कोई अपराध नहीं करते थे। फिर भी तुम्हारा स्वभाव कुछ कठोर हो गया था ॥११॥

प्रतिषिद्धो मया तात रैभ्यावसथदर्शनात्।
गतवानेव तं द्रष्टुं कालान्तकयमोपमम्॥ १२ ॥
यः स जानन् महातेजा वृद्धस्यैकं ममात्मजम्।
गतवानेव कोपस्य वशं परमदुर्मतिः॥ १३ ॥

तात! मैंने तुम्हें बार-बार मना किया था कि तुम रैभ्यके आश्रमकी ओर न देखना, परंतु तुम उसे देखने चले ही गये और वह तुम्हारे लिये काल, अन्तक एवं यमराजके समान हो गया। महान् तेजस्वी होनेपर भी उसकी बुद्धि बड़ी खोटी है। वह जानता था कि मुझ बूढ़ेके तुम एक ही पुत्र हो तो भी वह दुष्ट क्रोधके वशीभूत हो ही गया ॥१२-१३॥

पुत्रशोकमनुप्राप्त एष रैभ्यस्य कर्मणा।
त्यक्ष्यामि त्वामृते पुत्र प्राणानिष्टतमान् भुवि॥ १४ ॥

बेटा! आज रैभ्यके इस कठोर कर्मसे मुझे पुत्रशोक प्राप्त हुआ है। तुम्हारे बिना मैं इस पृथ्वीपर अपने परम प्रिय प्राणोंका भी परित्याग कर दूँगा ॥१४॥

यथाहं पुत्रशोकेन देहं त्यक्ष्यामि किल्बिषी।
तथा ज्येष्ठः सुतो रैभ्यं हिंस्याच्छीघ्रमनागसम्॥ १५ ॥

जैसे मैं पापी अपने पुत्रके शोकसे व्याकुल हो अपने शरीरका त्याग कर रहा हूँ, उसी प्रकार रैभ्यका ज्येष्ठ पुत्र अपने निरपराध पिताकी शीघ्र हत्या कर डालेगा ॥१५॥

सुखिनो वै नरा येषां जात्या पुत्रो न विद्यते।
ते पुत्रशोकमप्राप्य विचरन्ति यथासुखम्॥ १६ ॥

संसारमें वे मनुष्य सुखी हैं, जिन्हें पुत्र पैदा ही नहीं हुआ है; क्योंकि वे पुत्रशोकका अनुभव न करके सदा सुखपूर्वक विचरते हैं ॥१६॥

ये तु पुत्रकृताच्छोकाद् भृशं व्याकुलचेतसः।
शपन्तीष्टान् सखीनार्तास्तेभ्यः पापतरो नु कः॥ १७ ॥

जो पुत्र[illegible] गहरी व्यथाका

अनुभव करते हुए अपने प्रिय मित्रोंको भी शाप दे डालते हैं, उनसे बढ़कर महापापी दूसरा कौन हो सकता है ? ॥१७॥

परासुश्च सुतो दृष्टः शप्तश्चेष्टः सखा मया ।
ईदृशीमापदं कोऽत्र द्वितीयोऽनुभविष्यति ॥ १८ ॥

मैंने अपने पुत्रकी मृत्यु देखी और प्रिय मित्रको शाप दे दिया । मेरे सिवा संसारमें दूसरा कौन-सा मनुष्य है, जो ऐसी विपत्तिका अनुभव करेगा ॥१८॥

लोमश उवाच

विलप्यैवं बहुविधं भरद्वाजोऽदहत् सुतम् ।
सुसमिद्धं ततः पश्चात् प्रविवेश हुताशनम् ॥ १९ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस तरह भाँति-भाँतिके विलाप करके भरद्वाजने अपने पुत्रका दाह-संस्कार किया तत्पश्चात् स्वयं भी वे जलती आगमें प्रवेश कर गये ॥१९॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें यवक्रीतोपाख्यानविषयक एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३७ ॥

अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अर्वावसुकी तपस्याके प्रभावसे परावसुका ब्रह्महत्यासे मुक्त होना और रैभ्य, भरद्वाज तथा यवक्रीत आदिका पुनर्जीवित होना

लोमश उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु बृहद्द्युम्नो महीपतिः ।
सत्रं तेने महाभागो रैभ्ययाज्यः प्रतापवान् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्हीं दिनों महान् सौभाग्यशाली एवं प्रतापी नरेश बृहद्द्युम्नने एक यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ किया । वे रैभ्यके यजमान थे ॥१॥

तेन रैभ्यस्य वै पुत्रावर्वावसुपरावसू ।
वृतौ सहायौ सत्रार्थे बृहद्द्युम्नेन धीमता ॥ २ ॥

बुद्धिमान् बृहद्द्युम्नने यज्ञकी पूर्तिके लिये रैभ्यके दोनों पुत्र अर्वावसु तथा परावसुको सहयोगी बनाया ॥२॥

तत्र तौ समनुज्ञातौ पित्रा कौन्तेय जग्मतुः ।
आश्रमे त्वभवद् रैभ्यो भार्या चैव परावसोः ॥ ३ ॥
अथावलोकको ऽगच्छद् गृहानेकः परावसुः ।
कृष्णाजिनेन संवीतं ददर्श पितरं वने ॥ ४ ॥

कुन्तीनन्दन ! पिताकी आज्ञा पाकर वे दोनों भाई राजाके यज्ञमें चले गये । आश्रममें केवल रैभ्य मुनि तथा उनके पुत्र परावसुकी पत्नी रह गयी । एक दिन घरकी देख-भाल करनेके लिये परावसु अकेले ही आश्रमपर आये । उस समय उन्होंने काले मृगचर्मसे ढके हुए अपने पिताको वनमें देखा ॥ ३-४ ॥

जघन्यरात्रे निद्रान्धः सावशेषे तमस्यपि ।
चरन्तं गहनेऽरण्ये मेने स पितरं मृगम् ॥ ५ ॥

रातका पिछला पहर बीत रहा था और अभी अन्धकार शेष था । परावसु नींदसे अन्धे हो रहे थे; अतः उन्होंने गहन वनमें विचरते हुए अपने पिताको हिंसक पशु ही समझा ॥५॥

मृगं तु मन्यमानेन पिता वै तेन हिंसितः ।
अकामयानेन तदा शरीरत्राणमिच्छता ॥ ६ ॥

और उसे हिंसक पशु समझकर धोखेसे ही उन्होंने अपने पिताकी हत्या कर डाली । यद्यपि वे ऐसा करना नहीं चाहते थे, तथापि हिंसक पशुसे अपने शरीरकी रक्षाके लिये उनके द्वारा यह क्रूरतापूर्ण कार्य बन गया ॥६॥

तस्य स प्रेतकार्याणि कृत्वा सर्वाणि भारत ।
पुनरागम्य तत् सत्रमब्रवीद् भ्रातरं वचः ॥ ७ ॥
इदं कर्म न शक्तस्त्वं वोढुमेकः कथंचन ।
मया तु हिंसितस्तातो मन्यमानेन तं मृगम् ॥ ८ ॥
सोऽस्मदर्थे व्रतं तात चर त्वं ब्रह्महिंसनम् ।
समर्थोऽप्यहमेकाकी कर्म कर्तुमिदं मुने ॥ ९ ॥

भारत ! उसने पिताके समस्त प्रेत-कर्म करके पुनः यज्ञमण्डपमें आकर अपने भाई अर्वावसुसे कहा—'भैया ! वह यज्ञकर्म तुम अकेले किसी प्रकार निभा नहीं सकते । इधर मैंने हिंसक पशु समझकर धोखेसे पिताजीकी हत्या कर डाली है; इसलिये तात ! तुम तो मेरे लिये ब्रह्महत्यानिवारणके हेतु व्रत करो और मैं राजाका यज्ञ कराऊँगा । मुने ! मैं अकेला भी इस कार्यका सम्पादन करनेमें समर्थ हूँ' ॥७—९॥

अर्वावसुरुवाच

करोतु वै भवान् सत्रं बृहद्द्युम्नस्य धीमतः ।
ब्रह्मवध्यां चरिष्येऽहं त्वदर्थे नियतेन्द्रियः ॥ १० ॥

अर्वावसु बोले—भाई ! आप परम बुद्धिमान् राजा

बृहद्द्युम्नका यज्ञकार्य सम्पन्न करें और मैं आपके लिये इन्द्रियसंयमपूर्वक ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त करूँगा ॥१०॥

लोमश उवाच

स तस्य ब्रह्मवध्यायाः पारं गत्वा युधिष्ठिर ।
अर्वावसुस्तदा सत्रमाजगाम पुनर्मुनिः ॥ ११ ॥
ततः परावसुर्दृष्ट्वा भ्रातरं समुपस्थितम् ।
बृहद्द्युम्नमुवाचेदं वचनं हर्षगद्गदम् ॥ १२ ॥
एष ते ब्रह्महा यज्ञं मा द्रष्टुं प्रविशेदिति ।
ब्रह्महा प्रेक्षितेनापि पीडयेत् त्वामसंशयम् ॥ १३ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! अर्वावसु मुनि भाईके लिये ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त पूरा करके पुनः उस यज्ञमें आये । परावसुने अपने भाईको वहाँ उपस्थित देखकर राजा बृहद्द्युम्नसे हर्षगद्गद वाणीमें कहा—'राजन् ! यह ब्रह्महत्यारा है । अतः इसे आपका यज्ञ देखनेके लिये इस मण्डपमें प्रवेश नहीं करना चाहिये । ब्रह्मघाती मनुष्य अपनी दृष्टिमात्रसे भी आपको महान् कष्टमें डाल सकता है, इसमें संशय नहीं हैं' ॥ ११–१३ ॥

लोमश उवाच

तच्छ्रुत्वैव तदा राजा प्रेष्यानाह स विट्पते ।
प्रेष्यैरुत्सार्यमाणस्तु राजन्नर्वावसुस्तदा ॥ १४ ॥
न मया ब्रह्महत्येयं कृतेत्याह पुनः पुनः ।
उच्यमानोऽसकृत्प्रेष्यैर्ब्रह्महन्निति भारत ॥ १५ ॥

लोमशजी कहते हैं—प्रजानाथ ! परावसुकी यह बात सुनते ही राजाने अपने सेवकोंको यह आज्ञा दी कि 'अर्वावसुको भीतर न आने दो ।' राजन् ! उस समय सेवकोंद्वारा हटाये जानेपर अर्वावसुने बार-बार यह कहा कि 'मैंने ब्रह्महत्या नहीं की है ।' भारत ! तो भी राजाके सेवक उन्हें ब्रह्महत्यारा कहकर ही सम्बोधित करते थे ॥१४-१५॥

नैव स प्रतिजानाति ब्रह्मवध्यां स्वयंकृताम् ।
मम भ्रात्रा कृतमिदं मया स परिमोक्षितः ॥ १६ ॥

अर्वावसु किसी तरह उस ब्रह्महत्याको अपनी की हुई स्वीकार नहीं करते थे । उन्होंने बार-बार यही बतानेकी चेष्टा की कि 'मेरे भाईने ब्रह्महत्या की है । मैंने तो प्रायश्चित्त करके उन्हें पापसे छुड़ाया है' ॥१६॥

स तथा प्रवदन् क्रोधात् तैश्च प्रेष्यैः प्रभाषितः ।
तूष्णीं जगाम ब्रह्मर्षिर्वनमेव महातपाः ॥ १७ ॥

उनके ऐसा कहनेपर भी राजाके सेवकोंने उन्हें क्रोधपूर्वक फटकार दिया । तब वे महातपस्वी ब्रह्मर्षि चुपचाप वनको ही चले गये ॥१७॥

उग्रं तपः समास्थाय दिवाकरमथाश्रितः ।
रहस्यवेदं कृतवान् सूर्यस्य द्विजसत्तमः ॥ १८ ॥
मूर्तिमांस्तं ददर्शाथ स्वयमग्रभुगव्ययः ।

वहाँ जाकर उन्होंने भगवान् सूर्यकी शरण ली और बड़ी उग्र तपस्या करके उन ब्राह्मणशिरोमणिने सूर्यसम्बन्धी रहस्यमय वैदिक मन्त्रका अनुष्ठान किया । तदनन्तर अग्रभोजी एवं अविनाशी साक्षात् भगवान् सूर्यने साकाररूपमें प्रकट हो अर्वावसुको दर्शन दिया ॥ १८½ ॥

लोमश उवाच

प्रीतास्तस्याभवन् देवाः कर्मणार्वावसोर्नृप ॥ १९ ॥
तं ते प्रवरयामासुर्निरासुश्च परावसुम् ।
ततो देवा वरं तस्मै ददुरग्निपुरोगमाः ॥ २० ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! अर्वावसुके उस कार्यसे सूर्य आदि सब देवता उसपर प्रसन्न हो गये । उन्होंने अर्वावसुका यज्ञमें वरण कराया एवं परावसुको निकलवा दिया । तत्पश्चात् अग्नि-सूर्य आदि देवताओंने उन्हें वर देनेकी इच्छा प्रकट की ॥ १९–२० ॥

स चापि वरयामास पितुरुत्थानमात्मनः ।
अनागस्त्वं ततो भ्रातुः पितुश्चास्मरणं वधे ॥ २१ ॥

तब अर्वावसुने यह वर माँगा कि 'मेरे पिताजी जीवित हो जायँ । मेरे भाई निर्दोष हों और उन्हें पिताके वधकी बात भूल जाय' ॥ २१ ॥

भरद्वाजस्य चोत्थानं यवक्रीतस्य चोभयोः ।
प्रतिष्ठां चापि वेदस्य सौरस्य द्विजसत्तमः ।
एवमस्त्विति तं देवाः प्रोचुश्चापि वरान् ददुः ॥ २२ ॥

साथ ही उन्होंने यह भी माँगा कि 'भरद्वाज तथा यवक्रीत दोनों जी उठें और इस सूर्यदेवतासम्बन्धी रहस्यमय वेदमन्त्रकी प्रतिष्ठा हो ।' द्विजश्रेष्ठ अर्वावसुके इस प्रकार वर माँगनेपर देवता बोले—'ऐसा ही हो ।' इस प्रकार उन्होंने पूर्वोक्त सभी वर दे दिये ॥ २२ ॥

ततः प्रादुर्बभूवुस्ते सर्व एव युधिष्ठिर ।
अथाब्रवीद् यवक्रीतो देवानग्निपुरोगमान् ॥ २३ ॥
समधीतं मया ब्रह्म व्रतानि चरितानि च ।
कथं च रैभ्यः शक्तो मामधीयानं तपस्विनम् ॥ २४ ॥
तथायुक्तेन विधिना निहन्तुममरोत्तमाः ।

युधिष्ठिर ! इसके बाद पूर्वोक्त सभी मुनि जीवित हो गये । उस समय यवक्रीतने अग्नि आदि सम्पूर्ण देवताओंसे पूछा—'देवेश्वरो ! मैंने वेदका अध्ययन किया है, वेदोक्त व्रतोंका अनुष्ठान भी किया है । मैं स्वाध्यायशील और तपस्वी भी हूँ, तो भी रैभ्यमुनि इस प्रकार अनुचित रीतिसे मेरा वध करनेमें कैसे समर्थ हो सके' ॥ २३-२४½ ॥

देवा ऊचुः

मैवं कृथा यवक्रीत यथा वदसि वै मुने ।
ऋते गुरुमधीता हि सुखं वेदास्त्वया पुरा ॥ २५ ॥

अनेन तु गुरून् दुःखात् तोषयित्वाऽऽत्मकर्मणा।
कालेन महता क्लेशाद् ब्रह्माधिगतमुत्तमम् ॥ २६ ॥

देवताओंने कहा—मुनि यवक्रीत! तुम जैसी बात कहते हो, वैसा न समझो। तुमने पूर्वकालमें बिना गुरुके ही सुखपूर्वक सब वेद पढ़े हैं और इन रैभ्यमुनिने बड़े क्लेश उठाकर अपने व्यवहारसे गुरुजनोंको संतुष्ट करके दीर्घकाल तक कष्टसहनपूर्वक उत्तम वेदोंका ज्ञान प्राप्त किया है। २५-२६।

लोमश उवाच

यवक्रीतमथोक्त्वैवं देवाः साग्निपुरोगमाः।
संजीवयित्वा तान् सर्वान् पुनर्जग्मुस्त्रिविष्टपम्॥ २७ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन्! अग्नि आदि देवताओंने यवक्रीतसे ऐसा कहकर उन सबको नूतन जीवन प्रदान करके पुनः स्वर्गलोकको प्रस्थान किया ॥ २७ ॥

आश्रमस्तस्य पुण्योऽयं सदापुष्पफलद्रुमः।
अत्रोष्य राजशार्दूल सर्वं पापं प्रमोक्ष्यसि ॥ २८ ॥

नृपश्रेष्ठ! यह उन्हीं रैभ्यमुनिका पवित्र आश्रम है। यहाँके वृक्ष सदा फूल और फलोंसे लदे रहते हैं। यहाँ एक रात निवास करके तुम सब पापोंसे छूट जाओगे ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः १३८

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें यवक्रीतोपाख्यानविषयक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी उत्तराखण्ड-यात्रा और लोमशजीद्वारा उसकी दुर्गमताका कथन

लोमश उवाच

उशीरबीजं मैनाकं गिरिं श्वेतं च भारत।
समतीतोऽसि कौन्तेय कालशैलं च पार्थिव ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—भरतनन्दन युधिष्ठिर! अब तुम उशीरबीज, मैनाक, श्वेत और कालशैल नामक पहाड़ोंको लाँघकर आगे बढ़ आये ॥ १ ॥

एषा गङ्गा सप्तविधा राजते भरतर्षभ।
स्थानं विरजसं पुण्यं यत्राग्निर्नित्यमिध्यते ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ! यह देखो गङ्गाजी सात धाराओंसे सुशोभित हो रही हैं। यह रजोगुणरहित पुण्यतीर्थ है, जहाँ सदा अग्निदेव प्रज्वलित रहते हैं ॥ २ ॥

एतद् वै मानुषेणाद्य न शक्यं द्रष्टुमद्भुतम्।
समाधिं कुरुताव्यग्रास्तीर्थान्येतानि द्रक्ष्यथ ॥ ३ ॥

यह अद्भुत तीर्थ कोई मनुष्य नहीं देख सकता, अतः तुम सब लोग एकाग्रचित्त हो जाओ। व्यग्रताशून्य हृदयसे तुम इन सब तीर्थोंका दर्शन कर सकोगे ॥ ३ ॥

एतद् द्रक्ष्यसि देवानामाक्रीडं चरणाङ्कितम्।
अतिक्रान्तोऽसि कौन्तेय कालशैलं च पर्वतम्॥ ४ ॥
श्वेतं गिरिं प्रवेक्ष्यामो मन्दरं चैव पर्वतम्।
यत्र माणिवरो यक्षः कुबेरश्चैव यक्षराट् ॥ ५ ॥

यह देवताओंकी क्रीडास्थली है, जो उनके चरणचिह्नोंसे अंकित है। एकाग्रचित्त होनेपर तुम्हें इसका भी दर्शन होगा। कुन्तीकुमार! अब तुम कालशैल पर्वतको लाँघकर आगे बढ़ आये। इसके बाद हम श्वेतगिरि (कैलास) तथा मन्दराचल पर्वतमें प्रवेश करेंगे, जहाँ माणिवर यक्ष और यक्षराज कुबेर निवास करते हैं ॥ ४-५ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि गन्धर्वाः शीघ्रगामिनः।
तथा किंपुरुषा राजन् यक्षाश्चैव चतुर्गुणाः ॥ ६ ॥
अनेकरूपसंस्थाना नानाप्रहरणाश्च ते।
यक्षेन्द्रं मनुजश्रेष्ठ माणिभद्रमुपासते ॥ ७ ॥

राजन्! वहाँ तीव्रगतिसे चलनेवाले अट्ठासी हजार गन्धर्व और उनसे चौगुने किन्नर तथा यक्ष रहते हैं। उनके रूप एवं आकृति अनेक प्रकारकी हैं। वे भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र धारण करते हैं और यक्षराज माणिभद्रकी उपासनामें संलग्न रहते हैं ॥ ६-७ ॥

तेषामृद्धिरतीवात्र गतौ वायुसमाश्च ते।
स्थानात् प्रच्यावयेयुर्ये देवराजमपि ध्रुवम् ॥ ८ ॥

यहाँ उनकी समृद्धि अतिशय बढ़ी हुई है। तीव्रगतिमें वे वायुकी समानता करते हैं। वे चाहें तो देवराज इन्द्रको भी निश्चय ही अपने स्थानसे हटा सकते हैं ॥ ८ ॥

तैस्तात बलिभिर्गुप्ता यातुधानैश्च रक्षिताः।
दुर्गमाः पर्वताः पार्थ समाधिं परमं कुरु ॥ ९ ॥

तात युधिष्ठिर! उन बलवान् यक्ष और राक्षसोंसे सुरक्षित रहनेके कारण ये पर्वत बड़े दुर्गम हैं। अतः तुम विशेषरूपसे एकाग्रचित हो जाओ ॥ ९ ॥

कुबेरसचिवाश्चान्ये रौद्रा मैत्राश्च राक्षसाः।
तैः समेष्याम कौन्तेय संयत्ता विक्रमेण च ॥ १० ॥

कुबेरके सचिवगण तथा अन्य रौद्र और मैत्रनामक राक्षसोंका हमें सामना करना पड़ेगा; अतः तुम पराक्रमके लिये तैयार रहो ॥ १० ॥

कैलासः पर्वतो राजन् षड्योजनसमुच्छ्रितः।
यत्र देवा समायान्ति विशाला यत्र भारत ॥ ११ ॥

राजन्! उधर छः योजन ऊँचा कैलासपर्वत दिखायी देता है, जहाँ देवता आया करते हैं। भारत! उसीके निकट विशालापुरी (बदरिकाश्रम तीर्थ) है ॥ ११ ॥

असंख्येयास्तु कौन्तेय यक्षराक्षसकिंनराः।
नागाः सुपर्णा गन्धर्वाः कुबेरसदनं प्रति ॥ १२ ॥

कुन्तीनन्दन! कुबेरके भवनमें अनेक यक्ष, राक्षस, किंनर, नाग, सुपर्ण तथा गन्धर्व निवास करते हैं ॥ १२ ॥

तान् विगाहस्व पार्थाद्य तपसा च दमेन च।
रक्ष्यमाणो मया राजन् भीमसेनबलेन च ॥ १३ ॥

महाराज कुन्तीनन्दन! तुम भीमसेनके बल और मेरी तपस्यासे सुरक्षित हो तप एवं इन्द्रियसंयमपूर्वक रहते हुए आज उन तीर्थोंमें स्नान करो ॥ १३ ॥

स्वस्ति ते वरुणो राजा यमश्च समितिंजयः।
गङ्गा च यमुना चैव पर्वतश्च दधातु ते ॥ १४ ॥

राजा वरुण, युद्धविजयी यमराज, गङ्गा-यमुना तथा यह पर्वत तुम्हें कल्याण प्रदान करें ॥ १४ ॥

मरुतश्च सहाश्विभ्यां सरितश्च सरांसि च।
स्वस्ति देवासुरेभ्यश्च वसुभ्यश्च महाद्युते ॥ १५ ॥

महाद्युते! मरुद्गण, अश्विनीकुमार, सरिताएँ और सरोवर भी तुम्हारा मङ्गल करें। देवताओं, असुरों तथा वसुओंसे भी तुम्हें कल्याणकी प्राप्ति हो ॥ १५ ॥

इन्द्रस्य जाम्बूनदपर्वताद् वै
शृणोमि घोषं तव देवि गङ्गे।
गोपायैनं त्वं सुभगे गिरिभ्यः
सर्वाजमीढापचितं नरेन्द्रम् ॥ १६ ॥

देवि गङ्गे! मैं इन्द्रके सुवर्णमय मेरुपर्वतसे तुम्हारा कल-कलनाद सुन रहा हूँ। सौभाग्यशालिनि! ये राजा युधिष्ठिर अजमीढवंशी क्षत्रियोंके लिये आदरणीय हैं। तुम पर्वतोंसे इनकी रक्षा कराओ ॥ १६ ॥

दत्स्व शर्म प्रविविक्षतोऽस्य
शैलानिमाञ्छैलसुते नृपस्य।
उक्त्वा तथा सागरगां स विप्रो
यत्तो भवस्वेति शशास पार्थम् ॥ १७ ॥

'शैलपुत्रि! ये इन पर्वतमालाओंमें प्रवेश करना चाहते हैं। तुम इन्हें कल्याण प्रदान करो।' समुद्रगामिनी गङ्गानदीसे ऐसा कहकर विप्रवर लोमशने कुन्तीकुमार युधिष्ठिरको यह आदेश दिया कि 'अब तुम एकाग्रचित्त हो जाओ' ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अपूर्वोऽयं सम्भ्रमो लोमशस्य
कृष्णां च सर्वे रक्षत मा प्रमादम्।
देशो ह्ययं दुर्गतमो मतोऽस्य
तस्मात् परं शौचमिहाचरध्वम् ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर बोले—बन्धुओ! आज महर्षि लोमशको बड़ी घबराहट हो रही है। यह एक अभूतपूर्व घटना है। अतः तुम सब लोग सावधान होकर द्रौपदीकी रक्षा करो। प्रमाद न करना। लोमशजीका मत है कि यह प्रदेश अत्यन्त दुर्गम है। अतः यहाँ अत्यन्त शुद्ध आचार-विचारसे रहो ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीद् भीममुदारवीर्यं
कृष्णां यत्तः पालय भीमसेन।
शून्येऽर्जुनेऽसंनिहिते च तात
त्वामेव कृष्णा भजते भयेषु ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा युधिष्ठिर महाबली भीमसे इस प्रकार बोले—'भैया भीमसेन! तुम सावधान रहकर द्रौपदीकी रक्षा करो। तात! किसी निर्जन प्रदेशमें जब कि अर्जुन हमारे समीप नहीं हैं, भयका अवसर उपस्थित होनेपर द्रौपदी तुम्हारा ही आश्रय लेती है' ॥ १९ ॥

ततो महात्मा स यमौ समेत्य
मूर्धन्युपाघ्राय विमृज्य गात्रे।
उवाच तौ बाष्पकलं स राजा
मा भैष्टमागच्छतमप्रमत्तौ ॥ २० ॥

तत्पश्चात् महात्मा राजा युधिष्ठिरने नकुल-सहदेवके पास जाकर उनका मस्तक सूँघा और शरीरपर हाथ फेरा। फिर नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए कहा—'भैया! तुम दोनों भय न करो और सावधान होकर आगे बढ़ो' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कैलासादिगिरिप्रवेशे एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें पाण्डवोंका कैलास आदि पर्वतमालाओंमें प्रवेशविषयक एक सौ उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३९ ॥

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका उत्साह तथा पाण्डवोंका कुलिन्दराज सुबाहुके राज्यमें होते हुए गन्धमादन और हिमालय पर्वतको प्रस्थान

युधिष्ठिर उवाच

अन्तर्हितानि भूतानि बलवन्ति महान्ति च।
अग्निना तपसा चैव शक्यं गन्तुं वृकोदर॥ १॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन! यहाँ बहुत से बलवान् और विशालकाय राक्षस छिपे रहते हैं; अतः अग्निहोत्र एवं तपस्याके प्रभावसे ही हमलोग यहाँसे आगे बढ़ सकते हैं॥१॥

संनिवर्तय कौन्तेय क्षुत्पिपासे बलाश्रयात्।
ततो बलं च दाक्ष्यं च संश्रयस्व वृकोदर॥ २॥

वृकोदर! तुम बलका आश्रय लेकर अपनी भूख-प्यास मिटा दो। फिर शारीरिक शक्ति और चतुरताका सहारा लो॥२॥

ऋषेस्त्वया श्रुतं वाक्यं कैलासं पर्वतं प्रति।
बुद्ध्या प्रपश्य कौन्तेय कथं कृष्णा गमिष्यति॥ ३॥

भैया! कैलास पर्वतके विषयमें महर्षिने जो बात कही है, वह तुमने भी सुना ही है; अब स्वयं अपनी बुद्धिसे विचार करके देखो, द्रौपदी इस दुर्गम प्रदेशमें कैसे चल सकेगी?॥३॥

अथवा सहदेवेन धौम्येन च समं विभो।
सूतैः पौरोगवैश्चैव सर्वैश्च परिचारकैः॥ ४॥
रथैरश्वैश्च ये चान्ये विप्राः क्लेशासहाः पथि।
सर्वैस्त्वं सहितो भीम निवर्तस्वायतेक्षण॥ ५॥

अथवा विशालनेत्रोंवाले भीम! तुम सहदेव, धौम्य, सारथि, रसोइये, समस्त सेवकगण, रथ, घोड़े तथा मार्गके कष्टको सहन न कर सकनेवाले जो अन्य ब्राह्मण हैं, उन सबके साथ यहींसे लौट जाओ॥ ४-५॥

त्रयो वयं गमिष्यामो लघ्वाहारा यतव्रताः।
अहं च नकुलश्चैव लोमशश्च महातपाः॥ ६॥
ममागमनमाकाङ्क्षन् गङ्गाद्वारे समाहितः।
वसेह द्रौपदीं रक्षन् यावदागमनं मम॥ ७॥

केवल मैं, नकुल तथा महातपस्वी लोमशजी—ये तीन व्यक्ति ही संयम और व्रतका पालन करते हुए यहाँसे आगेकी यात्रा करेंगे। हम तीनों ही स्वल्पाहारसे जीवन-निर्वाह करेंगे। तुम गङ्गाद्वार (हरिद्वार) में एकाग्रचित्त हो मेरे आगमनकी प्रतीक्षा करो और जबतक मैं लौटकर न आऊँ, तबतक द्रौपदीकी रक्षा करते हुए वहीं निवास करो॥६-७॥

भीम उवाच

राजपुत्री श्रमेणार्ता दुःखार्ता चैव भारत।
व्रजत्येव हि कल्याणी श्वेतवाहदिदृक्षया॥ ८॥

भीमसेनने कहा—भारत! राजकुमारी द्रौपदी यद्यपि रास्तेकी थकावटसे और मानसिक दुःखसे भी पीड़ित है तो भी यह कल्याणमयी देवी अर्जुनको देखनेकी इच्छासे उत्साहपूर्वक हमारे साथ चल ही रही है॥ ८॥

तव चाप्यरतिस्तीव्रा वर्तते तमपश्यतः।
गुडाकेशं महात्मानं संग्रामेष्वपलायिनम्॥ ९॥

संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले निद्राविजयी महात्मा अर्जुनको न देखनेके कारण आपके मनमें भी अत्यन्त खिन्नता हो रही है॥ ९॥

किं पुनः सहदेवं च मां च कृष्णां च भारत।
द्विजाः कामं निवर्तन्तां सर्वे च परिचारकाः॥ १०॥
सूताः पौरोगवाश्चैव यं च मन्येत नो भवान्।
न ह्यहं हातुमिच्छामि भवन्तमिह कर्हिचित्॥ ११॥
शैलेऽस्मिन् राक्षसाकीर्णे दुर्गेषु विषमेषु च।
इयं चापि महाभागा राजपुत्री पतिव्रता॥ १२॥
त्वामृते पुरुषव्याघ्र नोत्सहेद् विनिवर्तितुम्।
तथैव सहदेवोऽयं सततं त्वामनुव्रतः॥ १३॥
न जातु विनिवर्तेत मनोज्ञो ह्यहमस्य वै।
अपि चात्र महाराज सव्यसाचिदिदृक्षया॥ १४॥
सर्वे लालसभूताः स्म तस्माद् यास्यामहे सह।
यद्यशक्यो रथैर्गन्तुं शैलोऽयं बहुकन्दरः॥ १५॥
पद्भिरेव गमिष्यामो मा राजन् विमना भव।
अहं वहिष्ये पाञ्चालीं यत्र यत्र न शक्ष्यति॥ १६॥

फिर सहदेवके, मेरे तथा द्रौपदीके लिये तो कहना ही क्या है? भारत! ये ब्राह्मणलोग चाहें तो यहाँसे लौट सकते हैं। समस्त सेवक, सारथि, रसोइये तथा हममेंसे और जिस-जिसको आप लौटाना उचित समझें—वे सभी जा सकते हैं। राक्षसोंसे भरे हुए इस पर्वतपर तथा ऊँचे-नीचे दुर्गम प्रदेशोंमें मैं आपको कदापि अकेला छोड़ना नहीं चाहता। नरश्रेष्ठ! यह परम सौभाग्यवती पतिव्रता राजकुमारी कृष्णा भी आपको छोड़कर लौटनेको कभी तैयार न होंगी। इसी प्रकार यह सहदेव भी आपमें सदा अनुराग रखनेवाला है, आपको छोड़कर कभी नहीं लौटेगा। मैं इसके मनकी बात जानता हूँ। महाराज! सव्यसाची अर्जुनको देखनेकी इच्छासे हम सभी लालायित हो रहे हैं; अतः सब साथ ही चलेंगे। राजन्! अनेक कन्दराओंसे युक्त इस पर्वतपर यदि रथोंके द्वारा यात्रा सम्भव न हो तो हम पैदल ही चलेंगे। आप इसके लिये उदास न हों। जहाँ-जहाँ द्रौपदी

नहीं चल सकेगी, वहाँ-वहाँ मैं स्वयं इसे कंधेपर चढ़ाकर ले जाऊँगा ॥ १०-१६ ॥

इति मे वर्तते बुद्धिर्मा राजन् विमना भव ।
सुकुमारौ तथा वीरौ माद्रीनन्दिकरावुभौ ।
दुर्गे संतारयिष्यामि यत्राशक्तौ भविष्यतः ॥ १७ ॥

राजन्! मेरा ऐसा ही विचार है, आप उदास न हों। वीर माद्रीकुमार नकुल और सहदेव दोनों सुकुमार हैं। जहाँ कहीं दुर्गम स्थानमें ये असमर्थ हो जायँगे, वहाँ मैं इन्हें पार लगाऊँगा ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवं ते भाषमाणस्य बलं भीमाभिवर्धताम् ।
यत् त्वमुत्सहसे वोढुं पाञ्चालीं च यशस्विनीम् ॥ १८ ॥
यमजौ चापि भद्रं ते नैतदन्यत्र विद्यते ।
बलं तव यशश्चैव धर्मः कीर्तिश्च वर्धताम् ॥ १९ ॥
यत् त्वमुत्सहसे नेतुं भ्रातरौ सह कृष्णया ।
मा ते ग्लानिर्महाबाहो मा च तेऽस्तु पराभवः ॥ २० ॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन! इस प्रकार (उत्साहपूर्ण) बातें करते हुए तुम्हारा बल बढ़े, क्योंकि तुम यशस्विनी द्रौपदी तथा नकुल-सहदेवको भी वहन करके ले चलनेका उत्साह रखते हो। तुम्हारा कल्याण हो। यह साहस तुम्हारे सिवा और किसीमें नहीं है। तुम्हारे बल, यश, धर्म और कीर्तिका विस्तार हो। महाबाहो! तुम द्रौपदीसहित दोनों भाई नकुल-सहदेवको भी स्वयं ही ले चलनेकी शक्ति रखते हो, इसलिये कभी तुम्हें ग्लानि न हो तथा किसीसे भी तुम्हें तिरस्कृत न होना पड़े ॥ १८-२० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कृष्णाब्रवीद् वाक्यं प्रहसन्ती मनोरमा ।
गमिष्यामि न संतापः कार्यो मां प्रति भारत ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब सुन्दरी द्रौपदीने हँसते हुए कहा—'भारत! मैं आपके साथ ही चलूँगी; आप मेरे लिये चिन्ता न करें' ॥ २१ ॥

लोमश उवाच

तपसा शक्यते गन्तुं पर्वतो गन्धमादनः ।
तपसा चैव कौन्तेय सर्वे योक्ष्यामहे वयम् ॥ २२ ॥
नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पार्थिव ।
अहं च त्वं च कौन्तेय द्रक्ष्यामः श्वेतवाहनम् ॥ २३ ॥

लोमशजीने कहा—कुन्तीनन्दन! गन्धमादन पर्वतपर तपस्याके बलसे ही जाया जा सकता है। हम सब लोगोंको तपःशक्तिका संचय करना होगा। महाराज! नकुल, सहदेव, भीमसेन, मैं और तुम सभी लोग तपोबलसे ही अर्जुनको देख सकेंगे ॥ २२-२३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाषमाणास्ते सुबाहुविषयं महत् ।
ददृशुर्मुदिता राजन् प्रभूतगजवाजिमत् ॥ २४ ॥
किराततङ्गणाकीर्णं पुलिन्दशतसंकुलम् ।
हिमवत्यमरैर्जुष्टं बह्वाश्चर्यसमाकुलम् ।
सुबाहुश्चापि तान् दृष्ट्वा पूजया प्रत्यगृह्णत ॥ २५ ॥
विषयान्ते कुलिन्दानामीश्वरः प्रीतिपूर्वकम् ।
ततस्ते पूजितास्तेन सर्व एव सुखोषिताः ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार बातचीत करते हुए वे सब लोग आगे बढ़े। कुछ दूर जानेपर उन्हें कुलिन्दराज सुबाहुका विशाल राज्य दिखायी दिया, जहाँ हाथी-घोड़ोंकी बहुतायत थी और सैकड़ों किरात, तङ्गण एवं कुलिन्द आदि जंगली जातियोंके लोग निवास करते थे। वह देवताओंसे सेवित देश हिमालयके अत्यन्त समीप था। वहाँ अनेक प्रकारकी आश्चर्यजनक वस्तुएँ दिखायी देती थीं। सुबाहुका वह राज्य देखकर उन सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। कुलिन्दोंके राजा सुबाहुको जब यह पता लगा कि मेरे राज्यमें पाण्डव आये हैं, तब उसने राज्यकी सीमापर जाकर बड़े आदर-सत्कारके साथ उन्हें अपनाया। उसके द्वारा प्रेमसे पूजित होकर वे सब लोग बड़े सुखसे वहाँ रहे ॥ २४-२६ ॥

प्रतस्थुर्विमले सूर्ये हिमवन्तं गिरिं प्रति ।
इन्द्रसेनमुखांश्चापि भृत्यान् पौरोगवांस्तथा ॥ २७ ॥
सूदांश्च पारिबर्हांश्च द्रौपद्याः सर्वशो नृप ।
राज्ञः कुलिन्दाधिपतेः परिदाय महारथाः ॥ २८ ॥
पद्भिरेव महावीर्या ययुः कौरवनन्दनाः ।
ते शनैः प्राद्रवन् सर्वे कृष्णया सह पाण्डवाः ।
तस्माद् देशात् सुसंहृष्टा द्रष्टुकामा धनंजयम् ॥ २९ ॥

दूसरे दिन निर्मल प्रभातकालमें सूर्योदय होनेपर उन सबने हिमालय पर्वतकी ओर प्रस्थान किया। जनमेजय! इन्द्रसेन आदि सेवकों, रसोइयों और पाकशालाके अध्यक्षको तथा द्रौपदीके सारे सामानोंको कुलिन्दराज सुबाहुके यहाँ सौंपकर वे महापराक्रमी महारथी कुरुकुलनन्दन पाण्डव द्रौपदीके साथ धीरे-धीरे पैदल ही चल दिये। उनके मनमें अर्जुनको देखनेकी बड़ी उत्कण्ठा थी। अतः वे बड़े हर्ष और उल्लासके साथ उस देशसे प्रस्थित हुए ॥ २७-२९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनसे अर्जुनको न देखनेके कारण मानसिक चिन्ता प्रकट करना एवं उनके गुणोंका स्मरण करते हुए गन्धमादन पर्वतपर जानेका दृढ़ निश्चय करना

युधिष्ठिर उवाच

भीमसेन यमौ चोभौ पाञ्चालि च निबोधत।
नास्ति भूतस्य नाशो वै पश्यतास्मान् वनेचरान्॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन, नकुल-सहदेव और द्रौपदी ! तुम सब लोग ध्यान देकर सुनो। यह निश्चय है कि पूर्वकृत कर्मोंका बिना भोगे कभी नाश नहीं होता। देखो, उन्हींके कारण आज हम राजकुमार होकर भी वन-वनमें भटक रहे हैं॥ १ ॥

दुर्बलाः क्लेशिताः स्मेति यद् ब्रुवामेतरेतरम्।
अशक्येऽपि व्रजामो यद् धनंजयदिदृक्षया॥ २ ॥

यद्यपि हमलोग दुर्बल हैं, क्लेशमें पड़े हुए हैं, तथापि जो एक-दूसरेसे उत्साहपूर्वक बातें करते हैं और जहाँ जाना सम्भव नहीं, उस मार्गपर भी आगे बढ़ते जा रहे हैं, उसमें एक ही कारण है, हम सबके हृदयमें अर्जुनको देखनेके लिये प्रबल उत्कण्ठा है॥ २ ॥

तन्मे दहति गात्राणि तूलराशिमिवानलः।
यच्च वीरं न पश्यामि धनंजयमुपान्तिकात्॥ ३ ॥

इतना प्रयास करनेपर भी मैं वीर धनंजयको जो अबतक अपने समीप नहीं देख पा रहा हूँ, इसकी चिन्ता मेरे सम्पूर्ण अङ्गोंको उसी प्रकार दग्ध कर रही है, जैसे आग रूईके ढेरको जलाती रहती है॥ ३ ॥

तस्य दर्शनतृष्णं मां सानुजं वनमास्थितम्।
याज्ञसेन्याः परामर्शः स च वीर दहत्युत॥ ४ ॥

उसीके दर्शनकी प्यास लेकर मैं भाइयोंसहित इस वनमें आया हूँ। वीर भीमसेन ! दुःशासनने जो द्रौपदीके केश पकड़ लिये थे, वह घटना याद आकर मुझे और भी शोकसे दग्ध कर देती है॥ ४ ॥

नकुलात् पूर्वजं पार्थं न पश्याम्यमितौजसम्।
अजेयमुग्रधन्वानं तेन तप्ये वृकोदर॥ ५ ॥

वृकोदर ! भयंकर धनुष धारण करनेवाले अजेय वीर अमित तेजस्वी अर्जुनको, जो नकुलसे पहले उत्पन्न हुआ है, मैं अबतक नहीं देख रहा हूँ, इसके कारण मुझे बड़ा संताप हो रहा है॥ ५ ॥

तीर्थानि चैव रम्याणि वनानि च सरांसि च।
चरामि सह युष्माभिस्तस्य दर्शनकाङ्क्षया॥ ६ ॥

अर्जुनको देखनेकी ही अभिलाषासे मैं तुमलोगोंके साथ विभिन्न तीर्थोंमें, रमणीय वनोंमें और सुन्दर सरोवरोंके तटपर विचर रहा हूँ॥ ६ ॥

पञ्चवर्षाण्यहं वीरं सत्यसंधं धनंजयम्।
यन्न पश्यामि बीभत्सुं तेन तप्ये वृकोदर॥ ७ ॥

भीमसेन ! आज पाँच वर्ष हो गये, मैं अपने वीर भाई सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनके दर्शनसे वञ्चित हो गया हूँ। इसके कारण मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है॥ ७ ॥

तं वै श्यामं गुडाकेशं सिंहविक्रान्तगामिनम्।
न पश्यामि महाबाहुं तेन तप्ये वृकोदर॥ ८ ॥

वृकोदर ! सिंहके समान मस्तानी चालसे चलनेवाले, निद्राविजयी, श्यामवर्ण, महाबाहु अर्जुनको नहीं देख पा रहा हूँ, इसलिये मेरे मनमें बड़ा संताप हो रहा है॥ ८ ॥

कृतास्त्रं निपुणं युद्धेऽप्रतिमानं धनुष्मताम्।
न पश्यामि कुरुश्रेष्ठ तेन तप्ये वृकोदर॥ ९ ॥

कुरुश्रेष्ठ भीमसेन ! अस्त्रविद्यामें प्रवीण, युद्धकुशल और अनुपम धनुर्धर उस अर्जुनको नहीं देखता हूँ, इस कारण मुझे बड़ा कष्ट होता है॥ ९ ॥

चरन्तमरिसंघेषु काले क्रुद्धमिवान्तकम्।
प्रभिन्नमिव मातङ्गं सिंहस्कन्धं धनंजयम्॥ १० ॥

जो युद्धके समय शत्रुओंके समूहमें कुपित यमराजकी भाँति विचरता है, जिसके कंधे सिंहके समान हैं तथा जो मदकी धारा बहानेवाले मत्त गजराजके समान शोभा पाता है, उस वीर धनंजयसे अबतक भेंट न हो सकी; इसका मुझे बड़ा दुःख है॥ १० ॥

यः स शक्रादनवरो वीर्येण द्रविणेन च।
यमयोः पूर्वजः पार्थः श्वेताश्वोऽमितविक्रमः॥ ११ ॥
दुःखेन महताविष्टस्तं न पश्यामि फाल्गुनम्।
अजेयमुग्रधन्वानं तेन तप्ये वृकोदर॥ १२ ॥

वृकोदर ! जो पराक्रम और सम्पत्तिमें देवराज इन्द्रसे तनिक भी कम नहीं है, जिसके रथके घोड़े श्वेत रंगके हैं, जो नकुल-सहदेवसे अवस्थामें बड़ा है, जिसके पराक्रमकी कोई सीमा नहीं है तथा जो उग्र धनुर्धर एवं अजेय है, उस वीरवर अर्जुनके दर्शनसे मैं वञ्चित हूँ; इसके लिये मुझे महान् कष्ट हो रहा है। मैं चिन्ताकी आगमें जला जा रहा हूँ॥ ११-१२ ॥

सततं यः क्षमाशीलः क्षिप्यमाणोऽप्यणीयसा।
ऋजुमार्गप्रपन्नस्य शर्मदाताभयस्य च॥ १३ ॥
स तु जिह्मप्रवृत्तस्य माययाभिजिघांसतः।
अपि वज्रधरस्यापि भवेत् कालविषोपमः॥ १४ ॥

जो छोटे लोगोंके आक्षेप करनेपर भी सदा क्षमाशील होनेके कारण उस आक्षेपको सह लेता है तथा सरल मार्गसे

अपनी शरणमें आनेवाले लोगोंको सुख पहुँचाकर उन्हें अभयदान देता है, वही अर्जुन, जब कोई कुटिल मार्गका आश्रय ले छल-कपटसे उसपर आघात करना चाहता है, तब वह वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो, उसके लिये काल और विषके समान भयंकर हो जाता है ॥ १३-१४ ॥

शत्रोरपि प्रपन्नस्य सोऽनृशंसः प्रतापवान्।
दाताभयस्य बीभत्सुरमितात्मा महाबलः ॥ १५ ॥
सर्वेषामाश्रयोऽस्माकं रणेऽरीणां प्रमर्दिता।
आहर्ता सर्वरत्नानां सर्वेषां नः सुखावहः ॥ १६ ॥

यदि शत्रु भी शरणमें आ जाय तो वह प्रतापी वीर उसके प्रति दयालु हो जाता और उसे निर्भय कर देता है। वह महाबली महामना अर्जुन ही हमलोगोंका सहारा है। वही समराङ्गणमें हमारे शत्रुओंको रौंद डालनेकी शक्ति रखता है। उसीने हमारे लिये सब प्रकारके रत्न लाकर सुलभ किये थे और वही हम सबको सदा सुख पहुँचानेवाला है ॥ १५-१६ ॥

रत्नानि यस्य वीर्येण दिव्यान्यासन् पुरा मम।
बहूनि बहुजातीनि यानि प्राप्तः सुयोधनः ॥ १७ ॥

जिसके पराक्रमसे हमारे पास पहले अनेक प्रकारकी असंख्य रत्नराशि संचित हो गयी थी, जिसे सुयोधनने ले लिया ॥ १७ ॥

यस्य बाहुबलाद् वीर सभा चासीत् पुरा मम।
सर्वरत्नमयी ख्याता त्रिषु लोकेषु पाण्डव ॥ १८ ॥

वीर भीमसेन ! जिसके बाहुबलसे पहले मेरे अधिकारमें सम्पूर्ण रत्नोंकी बनी हुई त्रिभुवनविख्यात सभा थी ॥ १८ ॥

वासुदेवसमं वीर्ये कार्तवीर्यसमं युधि।
अजेयममितं युद्धे तं न पश्यामि फाल्गुनम् ॥ १९ ॥

जो पराक्रममें भगवान् श्रीकृष्ण और युद्धमें कार्तवीर्य अर्जुनके समान है तथा जो समरभूमिमें एक होकर भी असंख्य-सा प्रतीत होता है, उस अजेय वीर अर्जुनको मैं बहुत दिनोंसे नहीं देख पाता हूँ ॥ १९ ॥

संकर्षणं महावीर्यं त्वां च भीमापराजितम्।
अनुयातः स्ववीर्येण वासुदेवं च शत्रुहा ॥ २० ॥

भीमसेन ! शत्रुनाशक अर्जुन अपने पराक्रमसे महाबली बलरामकी, तुझ अपराजित वीरकी और वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णकी समानता कर सकता है ॥ २० ॥

यस्य बाहुबले तुल्यः प्रभावे च पुरंदरः।
जवे वायुर्मुखे सोमः क्रोधे मृत्युः सनातनः ॥ २१ ॥
ते वयं तं नरव्याघ्रं सर्वे वीर दिदृक्षवः।
प्रवेक्ष्यामो महाबाहो पर्वतं गन्धमादनम् ॥ २२ ॥

महाबाहो ! जो बाहुबल और प्रभावमें देवराज इन्द्रके समान है, जिसके वेगमें वायु, मुखमें चन्द्रमा और क्रोधमें सनातन मृत्युका निवास है, उसी नरश्रेष्ठ अर्जुनको देखनेके लिये उत्सुक होकर हम सब लोग आज गन्धमादन पर्वतकी घाटियोंमें प्रवेश करेंगे ॥ २१-२२ ॥

विशाला बदरी यत्र नरनारायणाश्रमः।
तं सदाध्युषितं यक्षैर्द्रक्ष्यामो गिरिमुत्तमम् ॥ २३ ॥
कुबेरनलिनीं रम्यां राक्षसैरभिसेविताम्।
पद्भिरेव गमिष्यामस्तप्यमाना महत् तपः ॥ २४ ॥

गन्धमादन वही है, जहाँ विशाल बदरीका वृक्ष और भगवान् नर-नारायणका आश्रम है; उस उत्तम पर्वतपर सदा यक्षगण निवास करते हैं; हमलोग उसका दर्शन करेंगे। इसके सिवा, राक्षसोंद्वारा सेवित कुबेरकी सुरम्य पुष्करिणी भी है, जहाँ हमलोग भारी तपस्या करते हुए पैदल ही चलेंगे ॥ २३-२४ ॥

न च यानवता शक्यो गन्तुं देशो वृकोदर।
न नृशंसेन लुब्धेन नाप्रशान्तेन भारत ॥ २५ ॥

भरतनन्दन! वृकोदर! उस प्रदेशमें किसी सवारीसे नहीं जाया जा सकता तथा जो क्रूर, लोभी और अशान्त है, ऐसे मनुष्यके लिये श्रद्धाकी कमीके कारण उस स्थानपर जाना असम्भव है ॥

तत्र सर्वे गमिष्यामो भीमार्जुनगवेषिणः।
सायुधा बद्धनिस्त्रिंशाः सार्धं विप्रैर्महाव्रतैः ॥ २६ ॥

भीमसेन ! हम सब लोग अर्जुनकी खोज करते हुए तलवार बाँधकर अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो इन महान् व्रतधारी ब्राह्मणोंके साथ वहाँ चलेंगे ॥ २६ ॥

मक्षिकादंशमशकान् सिंहान् व्याघ्रान् सरीसृपान्।
प्राप्नोत्यनियतः पार्थ नियतस्तान् न पश्यति ॥ २७ ॥

भीमसेन ! जो अपने मन और इन्द्रियोंपर संयम नहीं रखता, ऐसे मनुष्यको वहाँ जानेपर मक्खी, डाँस, मच्छर, सिंह, व्याघ्र और सर्पोंका सामना करना पड़ता है, परंतु जो संयम-नियमसे रहनेवाला है, उसे उन जन्तुओंका दर्शन तक नहीं होता ॥ २७ ॥

ते वयं नियतात्मानः पर्वतं गन्धमादनम्।
प्रवेक्ष्यामो मिताहारा धनंजयदिदृक्षवः ॥ २८ ॥

अतः हमलोग भी अर्जुनको देखनेकी इच्छासे अपने मनको संयममें रखकर स्वल्पाहार करते हुए गन्धमादनकी पर्वतमालाओंमें प्रवेश करेंगे ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गततीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंद्वारा गङ्गाजीकी वन्दना, लोमशजीका नरकासुरके वध और भगवान् वाराहद्वारा वसुधाके उद्धारकी कथा कहना

लोमश उवाच

द्रष्टारः पर्वताः सर्वे नद्यः सपुरकाननाः।
तीर्थानि चैव श्रीमन्ति स्पृष्टं च सलिलं करैः॥ १॥

लोमशजीने कहा--तीर्थदर्शी पाण्डुकुमारो! तुमने सब पर्वतोंके दर्शन कर लिये। नगरों और वनोंसहित नदियोंका भी अवलोकन किया। शोभाशाली तीर्थोंके भी दर्शन किये और उन सबके जलका अपने हाथोंसे स्पर्श भी कर लिया॥ १॥

पर्वतं मन्दरं दिव्यमेष पन्थाः प्रयास्यति।
समाहिता निरुद्विग्नाः सर्वे भवत पाण्डवाः॥ २॥
अयं देवनिवासो वै गन्तव्यो वो भविष्यति।
ऋषीणां चैव दिव्यानां निवासः पुण्यकर्मणाम्॥ ३॥

पाण्डवो! यह मार्ग दिव्य मन्दराचलकी ओर जायगा। अब तुम सब लोग उद्वेगशून्य और एकाग्रचित्त हो जाओ। यह देवताओंका निवासस्थान है, जिसपर तुम्हें चलना होगा। यहाँ पुण्यकर्म करनेवाले दिव्य ऋषियोंका भी निवास है॥ २-३॥

एषा शिवजला पुण्या याति सौम्य महानदी।
बदरीप्रभवा राजन् देवर्षिगणसेविता॥ ४॥

सौम्य स्वभाववाले नरेश! यह कल्याणमय जलसे भरी हुई पुण्यस्वरूपा महानदी अलकनन्दा (गङ्गा) प्रवाहित होती है, जो देवर्षियोंके समुदायसे सेवित है। इसका प्रादुर्भाव बदरिकाश्रमसे ही हुआ है॥ ४॥

एषा वैहायसैर्नित्यं वालखिल्यैर्महात्मभिः।
अर्चिता चोपयाता च गन्धर्वैश्च महात्मभिः॥ ५॥

आकाशचारी महात्मा बालखिल्य तथा महामना गन्धर्वगण भी नित्य इसके तटपर आते-जाते हैं और इसकी पूजा करते हैं॥ ५॥

अत्र साम स्म गायन्ति सामगाः पुण्यनिःस्वनाः।
मरीचिः पुलहश्चैव भृगुश्चैवाङ्गिरास्तथा॥ ६॥

सामगान करनेवाले विद्वान् वेदमन्त्रोंकी पुण्यमयी ध्वनि फैलाते हुए यहाँ सामवेदकी ऋचाओंका गान करते हैं। मरीचि, पुलह, भृगु तथा अङ्गिरा भी यहाँ जप एवं स्वाध्याय करते हैं॥ ६॥

अत्राह्निकं सुरश्रेष्ठो जपते समरुद्गणः।
साध्याश्चैवाश्विनौ चैव परिधावन्ति तं तदा॥ ७॥

देवश्रेष्ठ इन्द्र भी मरुद्गणोंके साथ यहाँ आकर प्रतिदिन नियमपूर्वक जप करते हैं। उस समय साध्य तथा अश्विनीकुमार भी उनकी परिचर्यामें रहते हैं॥ ७॥

चन्द्रमाः सह सूर्येण ज्योतींषि च ग्रहैः सह।
अहोरात्रविभागेन नदीमेनामनुव्रजन्॥ ८॥

चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह और नक्षत्र भी दिन-रातके विभागपूर्वक इस पुण्य नदीकी यात्रा करते हैं॥ ८॥

एतस्याः सलिलं मूर्ध्नि वृषाङ्कः पर्यधारयत्।
गङ्गाद्वारे महाभाग येन लोकस्थितिर्भवेत्॥ ९॥

महाभाग! गङ्गाद्वार (हरिद्वार) में साक्षात् भगवान् शंकरने इसके पावन जलको अपने मस्तकपर धारण किया है, जिससे जगत्की रक्षा हो॥ ९॥

एतां भगवतीं देवीं भवन्तः सर्व एव हि।
प्रयतेनात्मना तात प्रतिगम्याभिवादत॥ १०॥

तात! तुम सब लोग मनको संयममें रखते हुए इस ऐश्वर्यशालिनी दिव्य नदीके तटपर चलकर इसे सादर प्रणाम करो॥ १०॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा लोमशस्य महात्मनः।
आकाशगङ्गां प्रयताः पाण्डवास्तेऽभ्यवादयन्॥ ११॥

महात्मा लोमशका यह वचन सुनकर सब पाण्डवोंने संयतचित्तसे भगवती आकाशगङ्गा (अलकनन्दा) को प्रणाम किया॥ ११॥

अभिवाद्य च ते सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः।
पुनः प्रयाताः संहृष्टाः सर्वैर्ऋषिगणैः सह॥ १२॥

प्रणाम करके धर्मका आचरण करनेवाले वे समस्त पाण्डव पुनः सम्पूर्ण ऋषि-मुनियोंके साथ हर्षपूर्वक आगे बढ़े॥ १२॥

ततो दूरात् प्रकाशन्तं पाण्डुरं मेरुसंनिभम्।
ददृशुस्ते नरश्रेष्ठा विकीर्णं सर्वतोदिशम्॥ १३॥

तदनन्तर उन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने एक श्वेत पर्वत-सा देखा, जो मेरुगिरिके समान दूरसे ही प्रकाशित हो रहा था। वह सम्पूर्ण दिशाओंमें बिखरा जान पड़ता था॥ १३॥

तान् प्रष्टुकामान् विज्ञाय पाण्डवान् स तु लोमशः।
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः शृणुध्वं पाण्डुनन्दनाः॥ १४॥

लोमशजी ताड़ गये कि पाण्डवलोग उस श्वेत पर्वताकार

वस्तुके विषयमें कुछ पूछना चाहते हैं, तब प्रवचनकी कला जाननेवाले उन महर्षिने कहा—'पाण्डवो ! सुनो ॥ १४ ॥

एतद् विकीर्णं सुश्रीमत् कैलासशिखरोपमम् ।
यत् पश्यसि नरश्रेष्ठ पर्वतप्रतिमं स्थितम् ॥ १५ ॥
एतान्यस्थीनि दैत्यस्य नरकस्य महात्मनः ।
पर्वतप्रतिमं भाति पर्वतप्रस्तराश्रितम् ॥ १६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! यह जो सब ओर बिखरी हुई कैलास-शिखरके समान सुन्दर प्रकाशयुक्त पर्वताकार वस्तु देख रहे हो, ये सब विशालकाय नरकासुरकी हड्डियाँ हैं। पर्वत और शिलाखण्डोंपर स्थित होनेके कारण ये भी पर्वतके समान ही प्रतीत होती हैं ॥ १५-१६ ॥

पुरातनेन देवेन विष्णुना परमात्मना ।
दैत्यो विनिहतस्तेन सुरराजहितैषिणा ॥ १७ ॥

'पुरातन परमात्मा श्रीविष्णुदेवने देवराज इन्द्रका हित करनेकी इच्छासे उस दैत्यका वध किया था ॥ १७ ॥

दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्यन् महामनाः ।
ऐन्द्रं प्रार्थयते स्थानं तपःस्वाध्यायविक्रमात् ॥ १८ ॥

'वह महामना दैत्य दस हजार वर्षोंतक कठोर तपस्या करके तप, स्वाध्याय और पराक्रमसे इन्द्रका स्थान लेना चाहता था ॥ १८ ॥

तपोबलेन महता बाहुवेगबलेन च ।
नित्यमेव दुराधर्षो धर्षयन् स दितेः सुतः ॥ १९ ॥

'अपने महान् तपोबल तथा वेगयुक्त बाहुबलसे वह देवताओंके लिये सदा अजेय बना रहता था और स्वयं सब देवताओंको सताया करता था ॥ १९ ॥

स तु तस्य बलं ज्ञात्वा धर्मे च चरितव्रतम् ।
भयाभिभूतः संविग्नः शक्र आसीत् तदानघ ॥ २० ॥

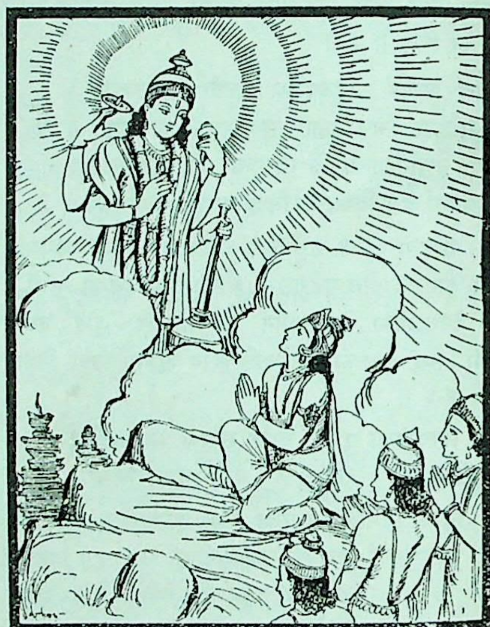
'निष्पाप युधिष्ठिर ! नरकासुर बलवान् तो था ही, धर्मके लिये भी उसने कितने ही उत्तम व्रतोंका आचरण किया था, यह सब जानकर इन्द्रको बड़ा भय हुआ, वे घबरा उठे ॥ २० ॥

तेन संचिन्तितो देवो मनसा विष्णुरव्ययः ।
सर्वत्रगः प्रभुः श्रीमानागतश्च स्थितो बभौ ॥ २१ ॥

'तब उन्होंने मन-ही-मन अविनाशी भगवान् विष्णुका चिन्तन किया, उनके स्मरण करते ही सर्वव्यापी भगवान् श्रीपति वहाँ उपस्थित हो प्रकाशित हुए ॥ २१ ॥

ऋषयश्चापि तं सर्वे तुष्टुवुश्च दिवौकसः ।
तं दृष्ट्वा ज्वलमानश्रीर्भगवान् हव्यवाहनः ॥ २२ ॥
नष्टतेजाः समभवत् तस्य तेजोऽभिभर्त्सितः ।
तं दृष्ट्वा वरदं देवं विष्णुं देवगणेश्वरम् ॥ २३ ॥
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा नमस्कृत्य च वज्रभृत् ।
प्राह वाक्यं ततस्तत्त्वं यतस्तस्य भयं भवेत् ॥ २४ ॥

'उस समय सभी देवताओं तथा ऋषियोंने उनकी स्तुति की। उन्हें देखते ही प्रज्वलित कान्तिसे सुशोभित भगवान् अग्निदेवका तेज नष्ट-सा हो गया। वे श्रीहरिके तेजसे तिरस्कृत हो गये। समस्त देवसमुदायके स्वामी एवं वरदायक भगवान् विष्णुका दर्शन करके वज्रधारी इन्द्रने उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और बार-बार मस्तक झुकाया। तदनन्तर वे सारी बातें भगवान्से कह सुनायीं, जिनके कारण उन्हें उस दैत्यसे भय हो रहा था' ॥ २२-२४ ॥



विष्णुरुवाच

जानामि ते भयं शक्र दैत्येन्द्रान्नरकात् ततः ।
ऐन्द्रं प्रार्थयते स्थानं तपःसिद्धेन कर्मणा ॥ २५ ॥

तब भगवान् विष्णुने कहा—इन्द्र ! मैं जानता हूँ, तुम्हें दैत्यराज नरकासुरसे भय प्राप्त हुआ है। वह अपने तपःसिद्ध कर्मोंद्वारा इन्द्रपदको लेना चाहता है ॥ २५ ॥

सोऽहमेनं तव प्रीत्या तपःसिद्धमपि ध्रुवम् ।
वियुनज्मि देहाद् देवेन्द्र मुहूर्तं प्रतिपालय ॥ २६ ॥

देवेन्द्र ! यद्यपि तपस्याद्वारा उसे सिद्धि प्राप्त हो चुकी है तो भी मैं तुम्हारे प्रेमवश निश्चय ही उस दैत्यको मार डालूँगा, तुम थोड़ी देर और प्रतीक्षा करो ॥ २६ ॥

तस्य विष्णुर्महातेजाः पाणिना चेतनां हरत् ।
स पपात ततो भूमौ गिरिराज इवाहतः ॥ २७ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी भगवान् विष्णुने हाथसे मारकर उस दैत्यके प्राण हर लिये और वह वज्रके मारे हुए गिरिराजकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २७ ॥

तस्यैतदस्थिसंघातं मायाविनिहतस्य वै।
इदं द्वितीयमपरं विष्णोः कर्म प्रकाशते ॥ २८ ॥

इस प्रकार मायाद्वारा मारे गये उस दैत्यकी हड्डियोंका यह समूह दिखायी देता है। अब मैं भगवान् विष्णुका यह दूसरा पराक्रम बता रहा हूँ, जो सर्वत्र प्रकाशमान है ॥ २८ ॥

नष्टा वसुमती कृत्स्ना पाताले चैव मज्जिता।
पुनरुद्धरिता तेन वाराहेणैकशृङ्गिणा ॥ २९ ॥

एक समय सारी पृथ्वी एकार्णवके जलमें डूबकर अदृश्य हो गयी, पातालमें डूब गयी। उस समय भगवान् विष्णुने पर्वतशिखरके सदृश एक दाँतवाले वाराहका रूप धारण करके पुनः इसका उद्धार किया था ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् विस्तरेणेमां कथां कथय तत्त्वतः।
कथं तेन सुरेशेन नष्टा वसुमती तदा ॥ ३० ॥
योजनानां शतं ब्रह्मन् पुनरुद्धरिता तदा।
केन चैव प्रकारेण जगतो धरणी ध्रुवा ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! देवेश्वर भगवान् विष्णुने पातालमें सैकड़ों योजन नीचे डूबी हुई इस पृथ्वीका पुनरुद्धार किस प्रकार किया? आप इस कथाको यथार्थरूपसे और विस्तारपूर्वक कहिये। जगत्का भार धारण करनेवाली इस अचला पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये उन्होंने किस उपायका अवलम्बन किया? ॥ ३०-३१ ॥

शिवा देवी महाभागा सर्वसस्यप्ररोहिणी।
कस्य चैव प्रभावाद्धि योजनानां शतं गता ॥ ३२ ॥

सम्पूर्ण शस्योंका उत्पादन करनेवाली यह कल्याणमयी महाभागा वसुधादेवी किसके प्रभावसे सैकड़ों योजन नीचे धँस गयी थी ॥ ३२ ॥

केन तद् वीर्यसर्वस्वं दर्शितं परमात्मनः।
एतत् सर्वं यथातत्त्वमिच्छामि द्विजसत्तम।
श्रोतुं विस्तरशः सर्वं त्वं हि तस्य प्रतिश्रयः ॥ ३३ ॥

परमात्माके उस अद्भुत पराक्रमका दर्शन (ज्ञान) किसने कराया था? द्विजश्रेष्ठ! यह सब मैं यथार्थरूपसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। आप इस वृत्तान्तके आश्रय (ज्ञाता) हैं ॥ ३३ ॥

लोमश उवाच

यत् तेऽहं परिपृष्टोऽस्मि कथामेतां युधिष्ठिर।
तत् सर्वमखिलेनेह श्रूयतां मम भाषतः ॥ ३४ ॥

लोमशजीने कहा—युधिष्ठिर! तुमने जिसके विषयमें मुझसे प्रश्न किया है, वह कथा—वह सारा वृत्तान्त मैं बता रहा हूँ, सुनो ॥ ३४ ॥

पुरा कृतयुगे तात वर्तमाने भयंकरे।
यमत्वं कारयामास आदिदेवः पुरातनः ॥ ३५ ॥

तात! इस कल्पके प्रथम सत्ययुगकी बात है, एक समय बड़ी भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी। उस समय आदिदेव पुरातन पुरुष भगवान् श्रीहरि ही यमराजका भी कार्य सम्पन्न करते थे ॥ ३५ ॥

यमत्वं कुर्वतस्तस्य देवदेवस्य धीमतः।
न तत्र म्रियते कश्चिज्जायते वा तथाप्युत ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर! परम बुद्धिमान् देवदेव भगवान् श्रीहरिके यमराजका कार्य सँभालते समय किसी भी प्राणीकी मृत्यु नहीं होती थी; परंतु उत्पत्तिका कार्य पूर्ववत् चलता रहा ॥ ३६ ॥

वर्धन्ते पक्षिसंघाश्च तथा पशुगवेडकम्।
गवाश्वं च मृगाश्चैव सर्वे ते पिशिताशनाः ॥ ३७ ॥

फिर तो पक्षियोंके समूह बढ़ने लगे। गाय, बैल, भेड़-बकरे आदि पशु, घोड़े, मृग तथा मांसाहारी जीव सभी बढ़ने लगे ॥ ३७ ॥

तथा पुरुषशार्दूल मानुषाश्च परंतप।
सहस्रशो ह्ययुतशो वर्धन्ते सलिलं यथा ॥ ३८ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरश्रेष्ठ! जैसे बरसातमें पानी बढ़ता है, उसी प्रकार मनुष्य भी हजार एवं दस हजार गुनी संख्यामें बढ़ने लगे ॥ ३८ ॥

एतस्मिन् संकुले तात वर्तमाने भयंकरे।
अतिभाराद् वसुमती योजनानां शतं गता ॥ ३९ ॥

तात! इस प्रकार सब प्राणियोंकी वृद्धि होनेसे जब बड़ी भयंकर अवस्था आ गयी, तब अत्यन्त भारसे दबकर यह पृथ्वी सैकड़ों योजन नीचे चली गयी ॥ ३९ ॥

सा वै व्यथितसर्वाङ्गी भारेणाक्रान्तचेतना।
नारायणं वरं देवं प्रपन्ना शरणं गता ॥ ४० ॥

भारी भारके कारण पृथ्वी देवीके सम्पूर्ण अङ्गोंमें बड़ी पीड़ा हो रही थी। उसकी चेतना लुप्त होती जा रही थी। अतः वह सर्वश्रेष्ठ देवता भगवान् नारायणकी शरणमें गयी ॥

पृथिव्युवाच

भगवंस्त्वत्प्रसादाद्धि तिष्ठेयं सुचिरं त्विह।
भारेणास्मि समाक्रान्ता न शक्नोमि स्म वर्तितुम् ॥ ४१ ॥

पृथ्वी बोली—भगवन्! आप ऐसी कृपा करें, जिससे मैं दीर्घ कालतक यहाँ स्थिर रह सकूँ। इस समय मैं भारसे इतनी दब गयी हूँ कि जीवन धारण नहीं कर सकती ॥ ४१ ॥

ममेमं भगवन् भारं व्यपनेतुं त्वमर्हसि ।
शरणागतास्मि ते देव प्रसादं कुरु मे विभो ॥ ४२ ॥

भगवन् ! मेरे इस भारको आप दूर करनेकी कृपा करें । देव ! मैं आपकी शरणमें आयी हूँ । विभो ! मुझपर कृपाप्रसाद कीजिये ॥ ४२ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा भगवानक्षरः प्रभुः ।
प्रोवाच वचनं हृष्टः श्रव्याक्षरसमीरितम् ॥ ४३ ॥

पृथ्वीका यह वचन सुनकर अविनाशी भगवान् नारायणने प्रसन्न होकर श्रवणमधुर अक्षरोंसे युक्त मीठी वाणीमें कहा ॥

विष्णुरुवाच

न ते महि भयं कार्यं भारार्ते वसुधारिणि ।
अहमेवं तथा कुर्मि यथा लघ्वी भविष्यसि ॥ ४४ ॥

भगवान् विष्णु बोले—वसुधे ! तू भारसे पीडित है; किंतु अब उसके लिये भय न कर । मैं अभी ऐसा उपाय करता हूँ, जिससे तू हल्की हो जायगी ॥ ४४ ॥

लोमश उवाच

स तां विसर्जयित्वा तु वसुधां शैलकुण्डलाम् ।
ततो वराहः संवृत्त एकशृङ्गो महाद्युतिः ॥ ४५ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! पर्वतरूपी कुण्डलोंसे विभूषित वसुधादेवीको विदा करके महातेजस्वी भगवान् विष्णुने वाराहका रूप धारण कर लिया । उस समय उनके एक ही दाँत था, जो पर्वत-शिखरके समान सुशोभित होता था॥

रक्ताभ्यां नयनाभ्यां तु भयमुत्पादयन्निव ।
धूमं च ज्वलयँल्लक्ष्म्या तत्र देशे व्यवर्धत ॥ ४६ ॥

वे अपने लाल-लाल नेत्रोंसे मानो भय उत्पन्न कर रहे थे और अपनी अङ्गकान्तिसे धूम प्रकट करते हुए उस स्थानपर बढ़ने लगे ॥ ४६ ॥

स गृहीत्वा वसुमतीं शृङ्गेणैकेन भास्वता ।
योजनानां शतं वीर समुद्धरति सोऽक्षरः ॥ ४७ ॥

वीर युधिष्ठिर ! अविनाशी भगवान् विष्णुने अपने एक ही तेजस्वी दाँतके द्वारा पृथ्वीको थामकर उसे सौ योजन ऊपर उठा दिया ॥ ४७ ॥

तस्यां चोद्धार्यमाणायां संक्षोभः समजायत ।
देवाः संक्षुभिताः सर्वे ऋषयश्च तपोधनाः ॥ ४८ ॥

पृथ्वीको उठाते समय सब ओर भारी हलचल मच गयी । सम्पूर्ण देवता तथा तपस्वी ऋषि क्षुब्ध हो उठे ॥४८॥

हाहाभूतमभूत् सर्वं त्रिदिवं व्योम भूस्तथा ।
न पर्यवस्थितः कश्चिद् देवो वा मानुषोऽपि वा ॥ ४९ ॥
ततो ब्रह्माणमासीनं ज्वलमानमिव श्रिया ।
देवाः सर्षिगणाश्चैव उपतस्थुरनेकशः ॥ ५० ॥

स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा भूलोक सबमें अत्यन्त हाहाकार मच गया । कोई भी देवता या मनुष्य स्थिर नहीं रह सका । तब अनेक देवता और ऋषि ब्रह्माजीके समीप गये । उस समय वे अपने आसनपर बैठकर दिव्य कान्तिसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ ४९-५० ॥

उपसर्प्य च देवेशं ब्रह्माणं लोकसाक्षिकम् ।
भूत्वा प्राञ्जलयः सर्वे वाक्यमुच्चारयंस्तदा ॥ ५१ ॥

लोकसाक्षी देवेश्वर ब्रह्माके निकट पहुँचकर सबने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कहा—॥ ५१ ॥

लोकाः संक्षुभिताः सर्वे व्याकुलं च चराचरम् ।
समुद्राणां च संक्षोभस्त्रिदशेश प्रकाशते ॥ ५२ ॥

'देवेश्वर ! सम्पूर्ण लोकोंमें हलचल मच गयी है । चर और अचर सभी प्राणी व्याकुल हैं । समुद्रोंमें बड़ा भारी क्षोभ दिखायी दे रहा है॥ ५२ ॥

सैषा वसुमती कृत्स्ना योजनानां शतं गता ।
किमेतद् किं प्रभावेण येनेदं व्याकुलं जगत् ।
आख्यातु नो भवाञ्शीघ्रं विसंज्ञाः स्मेह सर्वशः ॥ ५३ ॥

'यह सारी पृथ्वी सैकड़ों योजन नीचे चली गयी थी, अब यह किसके प्रभावसे कौन-सी अद्भुत घटना घटित हो रही है, जिससे सारा संसार व्याकुल हो उठा है । आप शीघ्र हमें इसका कारण बताइये । हम सब लोग अचेत-से हो रहे हैं' ॥ ५३ ॥

ब्रह्मोवाच

असुरेभ्यो भयं नास्ति युष्माकं कुत्रचित् क्वचित् ।
श्रूयतां यत्कृतेष्वेष संक्षोभो जायतेऽमराः ॥ ५४ ॥
योऽसौ सर्वत्रगः श्रीमानक्षरात्मा व्यवस्थितः ।
तस्य प्रभावात् संक्षोभस्त्रिदिवस्य प्रकाशते ॥ ५५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ ! तुम्हें असुरोंसे कभी और कोई भय नहीं है । यह जो चारों ओर क्षोभ फैल रहा है, इसका क्या कारण है ? वह सुनो । वे जो सर्वव्यापी अक्षरस्वरूप श्रीमान् भगवान् नारायण हैं, उन्हींके प्रभावसे यह स्वर्गलोकमें क्षोभ प्रकट हो रहा है ॥ ५४-५५ ॥

यैषा वसुमती कृत्स्ना योजनानां शतं गता ।
समुद्धृता पुनस्तेन विष्णुना परमात्मना ॥ ५६ ॥

यह सारी पृथ्वी, जो सैकड़ों योजन नीचे चली गयी थी, इसे परमात्मा श्रीविष्णुने पुनः ऊपर उठाया है ॥ ५६ ॥

तस्यामुद्धार्यमाणायां संक्षोभः समजायत ।
एवं भवन्तो जानन्तु छिद्यतां संशयश्च वः ॥ ५७ ॥

इस पृथ्वीका उद्धार करते समय ही सब ओर यह महान् क्षोभ प्रकट हुआ है । इस प्रकार तुम्हें इस विश्वव्यापी हलचलका यथार्थ कारण ज्ञात होना और तुम्हारा आन्तरिक संशय दूर हो जाना चाहिये ॥ ५७ ॥

देवा ऊचुः

क्व तद् भूतं वसुमतीं समुद्धरति हृष्टवत् ।
तं देशं भगवन् ब्रूहि तत्र यास्यामहे वयम् ॥ ५८ ॥

देवता बोले—भगवन् ! वे वराहरूपधारी भगवान् प्रसन्न-से होकर कहाँ पृथ्वीका उद्धार कर रहे हैं, उस प्रदेशका पता हमें बताइये; हम सब लोग वहाँ जायँगे ।५८।

ब्रह्मोवाच

हन्त गच्छत भद्रं वो नन्दने पश्यत स्थितम् ।
एषोऽत्र भगवाञ्श्रीमान् सुपर्णः सम्प्रकाशते ॥ ५९ ॥
वाराहेणैव रूपेण भगवाँल्लोकभावनः ।
कालानल इवाभाति पृथिवीतलमुद्धरन् ॥ ६० ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ ! बड़े हर्षकी बात है, जाओ । तुम्हारा कल्याण हो । भगवान् नन्दनवनमें विराजमान हैं । वहीं उनका दर्शन करो । उस वनके निकट ये स्वर्णके समान सुन्दर रोमवाले परम कान्तिमान् विश्वभावन भगवान् श्रीविष्णु वाराहरूपसे प्रकाशित हो रहे हैं । भूतलका उद्धार करते हुए वे प्रलयकालीन अग्निके समान उद्भासित होते हैं ॥

एतस्योरसि सुव्यक्तं श्रीवत्समभिराजते ।
पश्यध्वं विबुधाः सर्वे भूतमेतदनामयम् ॥ ६१ ॥

इनके वक्षःस्थलमें स्पष्टरूपसे श्रीवत्सचिह्न प्रकाशित हो रहा है । देवताओ ! ये रोग-शोकसे रहित साक्षात् भगवान् ही वाराहरूपसे प्रकट हुए हैं, तुम सब लोग इनका दर्शन करो ॥

लोमश उवाच

ततो दृष्ट्वा महात्मानं श्रुत्वा चामन्त्र्य चामराः ।
पितामहं पुरस्कृत्य जग्मुर्देवा यथागतम् ॥ ६२ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर देवताओंने जाकर वाराहरूपधारी परमात्मा श्रीविष्णुका दर्शन किया, उनकी महिमा सुनी और उनकी आज्ञा लेकर वे ब्रह्माजीको आगे करके जैसे आये थे, वैसे लौट गये ॥ ६२ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु तां कथां सर्वे पाण्डवा जनमेजय ।
लोमशादेशितेनाशु पथा जग्मुः प्रहृष्टवत् ॥ ६३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह कथा सुनकर सब पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए और लोमशजीके बताये हुए मार्गसे शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ गये ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४२ ॥

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

गन्धमादनकी यात्राके समय पाण्डवोंका आँधी-पानीसे सामना

वैशम्पायन उवाच

ते शूरास्ततधन्वानस्तूणवन्तः समार्गणाः ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणाः खड्गवन्तोऽमितौजसः ॥ १ ॥
परिगृह्य द्विजश्रेष्ठाञ्ज्येष्ठाः सर्वधनुष्मताम् ।
पाञ्चालीसहिता राजन् प्रययुर्गन्धमादनम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें अग्रगण्य वे अमिततेजस्वी शूरवीर पाण्डव धनुष, बाण, तरकश, ढाल और तलवार लिये, हाथोंमें गोहके चमड़ेके बने दस्ताने पहने और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको आगे किये द्रौपदीके साथ गन्धमादन पर्वतकी ओर प्रस्थित हुए ॥१-२॥

सरांसि सरितश्चैव पर्वतांश्च वनानि च ।
वृक्षांश्च बहुलच्छायान् ददृशुर्गिरिमूर्धनि ॥ ३ ॥

पर्वतके शिखरपर उन्होंने बहुत-से सरोवर, सरिताएँ, पर्वत, वन तथा घनी छायावाले वृक्ष देखे ॥ ३ ॥

नित्यपुष्पफलान् देशान् देवर्षिगणसेवितान् ।
आत्मन्यात्मानमाधाय वीरा मूलफलाशिनः ॥ ४ ॥
चेरुरुच्चावचाकारान् देशान् विषमसंकटान् ।
पश्यन्तो मृगजातानि बहूनि विविधानि च ॥ ५ ॥

उन्हें कितने ही ऐसे स्थान दृष्टिगोचर हुए, जहाँ सदा फल और फूलोंकी बहुतायत रहती थी । उन प्रदेशोंमें देवर्षियोंके समुदाय निवास करते थे । वीर पाण्डव अपने मनको परमात्माके चिन्तनमें लगाकर फल-मूलका आहार करते हुए ऊँचे-नीचे विषम-संकटपूर्ण स्थानोंमें विचर रहे थे । मार्गमें उन्हें नाना प्रकारके मृगसमूह दिखायी देते थे, जिनकी संख्या बहुत थी ॥ ४-५ ॥

ऋषिसिद्धामरयुतं गन्धर्वाप्सरसां प्रियम् ।
विविशुस्ते महात्मानः किन्नराचरितं गिरिम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार उन महात्मा पाण्डवोंने गन्धर्वों और अप्सराओंकी प्रिय भूमि, किन्नरोंकी क्रीडास्थली तथा ऋषियों, सिद्धों और देवताओंके निवासस्थान गन्धमादन पर्वतकी घाटीमें प्रवेश किया ॥ ६ ॥

प्रविशत्स्वथ वीरेषु पर्वतं गन्धमादनम् ।
चण्डवातं महद् वर्षं प्रादुरासीत् विशाम्पते ॥ ७ ॥

राजन् ! वीर पाण्डवोंके गन्धमादन पर्वतपर पदार्पण करते ही प्रचण्ड आँधीके साथ बड़े जोरकी वर्षा होने लगी ॥

ततो रेणुः समुद्भूतः सपत्रबहुलो महान् ।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च द्यां चैव सहसाऽऽवृणोत् ॥ ८ ॥

फिर धूल और पत्तोंसे भरा हुआ बड़ा भारी बवंडर (आँधी) उठा, जिसने पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गको भी सहसा आच्छादित कर दिया ॥ ८ ॥

न स्म प्रज्ञायते किंचिदावृते व्योम्नि रेणुना ।
न चापि शेकुस्तत् कर्तुमन्योन्यस्याभिभाषणम् ॥ ९ ॥
न चापश्यंस्ततोऽन्योन्यं तमसावृतचक्षुषः ।
आकृष्यमाणा वातेन साश्मचूर्णेन भारत ॥ १० ॥

धूलसे आकाशके ढक जानेसे कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था; इसीलिये वे एक दूसरेसे बातचीत भी नहीं कर पाते थे; अन्धकारने आँखोंपर पर्दा डाल दिया था। जिससे पाण्डवलोग एक दूसरेके दर्शनसे भी वञ्चित हो गये थे। भारत ! पत्थरोंका चूर्ण बिखेरती हुई वायु उन्हें कहीं-से-कहीं खींच लिये जाती थी ॥ ९-१० ॥

द्रुमाणां वातभग्नानां पततां भूतलेऽनिशम् ।
अन्येषां च महीजानां शब्दः समभवन्महान् ॥ ११ ॥

प्रचण्ड वायुके वेगसे टूटकर निरन्तर धरतीपर गिरनेवाले वृक्षों तथा अन्य झाड़ोंका भयंकर शब्द सुनायी पड़ता था ॥ ११ ॥

द्यौः स्वित् पतति किं भूमिर्दीर्यते पर्वतो नु किम्।
इति ते मेनिरे सर्वे पवनेनापि मोहिताः ॥ १२ ॥

हवाके झोंकेसे मोहित होकर वे सब-के-सब मन-ही-मन सोचने लगे कि आकाश तो नहीं फट पड़ा है। पृथ्वी तो नहीं विदीर्ण हो रही है अथवा कोई पर्वत तो नहीं फटा जा रहा है ॥ १२ ॥

ते पथानन्तरान् वृक्षान् वल्मीकान् विषमाणि च ।
पाणिभिः परिमार्गन्तो भीता वायोर्निलिल्यिरे ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् वे रास्तेके आस-पासके वृक्षों, मिट्टीके ढेरों और ऊँचे-नीचे स्थानोंको हाथोंसे टटोलते हुए हवासे डरकर यत्र-तत्र छिपने लगे ॥ १३ ॥

ततः कार्मुकमादाय भीमसेनो महाबलः ।
कृष्णामादाय संगम्य तस्थावाश्रित्य पादपम् ॥ १४ ॥

उस समय महाबली भीमसेन हाथमें धनुष लिये द्रौपदीको अपने साथ रखकर एक वृक्षके सहारे खड़े हो गये ॥ १४ ॥

धर्मराजश्च धौम्यश्च निलिल्याते महावने ।
अग्निहोत्राण्युपादाय सहदेवस्तु पर्वते ॥ १५ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर और पुरोहित धौम्य अग्निहोत्रकी सामग्री लिये उस महान् वनमें कहीं जा छिपे। सहदेव पर्वतपर ही (कहीं सुरक्षित स्थानमें) छिप गये ॥ १५ ॥

नकुलो ब्राह्मणाश्चान्ये लोमशश्च महातपाः ।
वृक्षानासाद्य संत्रस्तास्तत्र तत्र निलिल्यिरे ॥ १६ ॥

नकुल, अन्यान्य ब्राह्मणलोग तथा महातपस्वी लोमशजी भी भयभीत होकर जहाँ-तहाँ वृक्षोंकी आड़ लेकर छिपे रहे ॥

मन्दीभूते तु पवने तस्मिन् रजसि शाम्यति ।
महद्भिर्जलधारौघैर्वर्षमभ्याजगाम ह ॥ १७ ॥
भृशं चटचटाशब्दो वज्राणां क्षिप्यतामिव ।
ततस्ताश्चञ्चलाभासश्चेरुरभ्रेषु विद्युतः ॥ १८ ॥

थोड़ी देरमें जब वायुका वेग कुछ कम हुआ और धूल उड़नी बंद हो गयी, उस समय बड़ी भारी जलधारा बरसने लगी। तदनन्तर वज्रपातके समान मेघोंकी गड़गड़ाहट होने लगी और मेघमालाओंमें चारों ओर चञ्चल चमकवाली बिजलियाँ संचरण करने लगीं ॥ १७-१८ ॥

ततोऽश्मसहिता धाराः संवृण्वन्त्यः समन्ततः।
प्रपेतुरनिशं तत्र शीघ्रवातसमीरिताः ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् तीव्र वायुसे प्रेरित हो समस्त दिशाओंको आच्छादित करती हुई ओलोंसहित जलकी धाराएँ अविराम गतिसे गिरने लगीं ॥ १९ ॥

तत्र सागरगा ह्यापः कीर्यमाणाः समन्ततः ।
प्रादुरासन् सकलुषाः फेनवत्यो विशाम्पते ॥ २० ॥

महाराज ! वहाँ चारों ओर बिखरी हुई जलराशि समुद्रगामिनी नदियोंके रूपमें प्रकट हो गयी, जो मिट्टी मिल जानेसे मलिन दीख पड़ती थी। उसमें झाग उठ रहे थे ॥ २० ॥

वहन्त्यो वारि बहुलं फेनोडुपपरिप्लुतम् ।
परिसस्रुर्महाशब्दाः प्रकर्षन्त्यो महीरुहान् ॥ २१ ॥

फेनरूपी नौकासे व्याप्त अगाध जलसमूहको बहाती हुई सरिताएँ टूटकर गिरे हुए वृक्षोंको अपनी लहरोंसे समेटकर जोर-जोरसे 'हर हर' ध्वनि करती हुई बह रही थीं ॥ २१ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे वाते च समतां गते ।
गते ह्यम्भसि निम्नानि प्रादुर्भूते दिवाकरे ॥ २२ ॥
निर्जग्मुस्ते शनैः सर्वे समाजग्मुश्च भारत ।
प्रतस्थिरे पुनर्वीराः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ २३ ॥

भारत ! थोड़ी देर बाद जब तूफानका कोलाहल शान्त हुआ, वायुका वेग कम एवं सम हो गया, पर्वतका सारा जल बहकर नीचे चला गया और बादलोंका आवरण दूर हो जानेसे सूर्यदेव प्रकाशित हो उठे, उस समय वे समस्त वीर पाण्डव धीरे-धीरे अपने स्थानसे निकले और गन्धमादन पर्वतकी ओर प्रस्थित हो गये ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रौपदीकी मूर्छा, पाण्डवोंके उपचारसे उसका सचेत होना तथा भीमसेनके स्मरण करनेपर घटोत्कचका आगमन

वैशम्पायन उवाच

क्रोशमात्रं प्रयातेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
पद्भ्यामनुचिता गन्तुं द्रौपदी समुपाविशत् ॥ १ ॥
श्रान्ता दुःखपरीता च वातवर्षेण तेन च ।
सौकुमार्याच्च पाञ्चाली सम्मुमोह तपस्विनी ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा पाण्डव अभी कोसभर ही गये होंगे कि पाञ्चालराजकुमारी तपस्विनी द्रौपदी सुकुमारताके कारण थककर बैठ गयी । वह पैदल चलने योग्य कदापि नहीं थी । उस भयानक वायु और वर्षासे पीडित हो दुःखमग्न होकर वह मूर्छित होने लगी थी ॥ १-२ ॥

सा कम्पमाना मोहेन बाहुभ्यामसितेक्षणा ।
वृत्ताभ्यामनुरूपाभ्यामूरू समवलम्बत ॥ ३ ॥

घबराहटसे काँपती हुई कजरारे नेत्रोंवाली कृष्णाने अपने गोल-गोल और सुन्दर हाथोंसे दोनों जाँघोंको थाम लिया ॥

आलम्बमाना सहितावूरू गजकरोपमौ ।
पपात सहसा भूमौ वेपन्ती कदली यथा ॥ ४ ॥
तां पतन्तीं वरारोहां भज्यमानां लतामिव ।
नकुलः समभिद्रुत्य परिजग्राह वीर्यवान् ॥ ५ ॥

हाथीकी सूँड़के समान चढ़ाव-उतारवाली परस्पर सटी हुई जाँघोंका सहारा ले केलेके वृक्षकी भाँति काँपती हुई वह सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी । सुन्दर अङ्गोंवाली द्रौपदीको टूटी हुई लताकी भाँति गिरती देख बलशाली नकुलने दौड़कर थाम लिया ॥ ४-५ ॥

नकुल उवाच

राजन् पञ्चालराजस्य सुतेयमसितेक्षणा ।
श्रान्ता निपतिता भूमौ तामवेक्षस्व भारत ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् नकुलने कहा—भरतकुलभूषण महाराज! यह श्याम नेत्रवाली पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी थककर धरतीपर गिर पड़ी है, आप आकर इसे देखिये ॥ ६ ॥

अदुःखार्हा परं दुःखं प्राप्तेयं मृदुगामिनी ।
आश्वासय महाराज तामिमां श्रमकर्शिताम् ॥ ७ ॥

राजन् ! यह मन्दगतिसे चलनेवाली देवी दुःख सहन करनेके योग्य नहीं है; तो भी इसपर महान् दुःख आ पड़ा है । रास्तेके परिश्रमसे यह दुर्बल हो गयी है । आप आकर इसे सान्त्वना दें ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

राजा तु वचनात् तस्य भृशं दुःखसमन्वितः ।
भीमश्च सहदेवश्च सहसा समुपाद्रवन् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! नकुलकी यह बात सुनकर राजा युधिष्ठिर अत्यन्त दुखी हो गये और भीम तथा सहदेवके साथ सहसा वहाँ दौड़े आये ॥ ८ ॥

तामवेक्ष्य तु कौन्तेयो विवर्णवदनां कृशाम् ।
अङ्कमानीय धर्मात्मा पर्यदेवयदातुरः ॥ ९ ॥

धर्मात्मा कुन्तीनन्दनने देखा--द्रौपदीके मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी है और उसका शरीर कृश हो गया है । तब वे उसे अङ्कमें लेकर शोकातुर हो विलाप करने लगे ॥ ९ ॥



युधिष्ठिर उवाच

कथं वेश्मसु गुप्तेषु स्वास्तीर्णशयनोचिता ।
भूमौ निपतिता शेते सुखार्हा वरवर्णिनी ॥ १० ॥

युधिष्ठिर बोले--अहो ! जो सुरक्षित सदनोंमें सुसज्जित सुकोमल शय्यापर शयन करने योग्य है, वह सुख भोगनेकी अधिकारिणी परम सुन्दरी कृष्णा आज पृथ्वीपर कैसे सो रही है ? ॥

सुकुमारौ कथं पादौ मुखं च कमलप्रभम् ।
मत्कृतेऽद्य वरार्हायाः श्यामतां समुपागतम् ॥ ११ ॥

जो सुखके श्रेष्ठ साधनोंका उपभोग करने योग्य है, उसी द्रौपदीके ये दोनों सुकुमार चरण और कमलकी कान्ति-से सुशोभित मुख आज मेरे कारण कैसे काले पड़ गये हैं ? ११

किमिदं द्यूतकामेन मया कृतमबुद्धिना ।
आदाय कृष्णां चरता वने मृगगणायुते ॥ १२ ॥

मुझ मूर्खने द्यूतक्रीड़ाकी कामनामें फँसकर यह क्या कर डाला ! अहो ! सहस्रों मृगसमूहोंसे भरे हुए इस भयानक वनमें द्रौपदीको साथ लेकर हमें विचरना पड़ा है ॥ १२ ॥

सुखं प्राप्स्यसि कल्याणि पाण्डवान् प्राप्य वै पतीन् ।
इति द्रुपदराजेन पित्रा दत्ताऽऽयतेक्षणा ॥ १३ ॥
तत् सर्वमनवाप्येयं श्रमशोकाध्वकर्शिता ।
शेते निपतिता भूमौ पापस्य मम कर्मभिः ॥ १४ ॥

इसके पिता राजा द्रुपदने इस विशाललोचना द्रौपदीको यह कहकर हमें प्रदान किया था कि 'कल्याणि ! तुम पाण्डवों-को पतिरूपमें पाकर सुखी होगी ।' परंतु मुझ पापीकी करतूतोंसे यह सब न पाकर यह परिश्रम, शोक और मार्गके कष्टसे कृश होकर आज पृथ्वीपर पड़ी सो रही है ॥ १३-१४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा लालप्यमाने तु धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
धौम्यप्रभृतयः सर्वे तत्राजग्मुर्द्विजोत्तमाः ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिर जब इस प्रकार विलाप कर रहे थे, उसी समय धौम्य आदि समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मण भी वहाँ आ पहुँचे ॥ १५ ॥

ते समाश्वासयामासुराशीर्भिश्चाप्यपूजयन् ।
रक्षोघ्नांश्च तथा मन्त्राञ्जेपुश्चक्रुश्च ते क्रियाः ॥ १६ ॥

उन्होंने महाराजको आश्वासन दिया और अनेक प्रकारके आशीर्वाद देकर उन्हें सम्मानित किया । तत्पश्चात् वे राक्षसों-का विनाश करनेवाले मन्त्रोंका जप तथा शान्तिकर्म करने लगे ॥ १६ ॥

पठ्यमानेषु मन्त्रेषु शान्त्यर्थं परमर्षिभिः ।
स्पृश्यमाना करैः शीतैः पाण्डवैश्च मुहुर्मुहुः ॥ १७ ॥

महर्षियोंद्वारा शान्तिके लिये मन्त्रपाठ होते समय पाण्डवोंने अपने शीतल हाथोंसे बार-बार द्रौपदीके अङ्गोंको सहलाया ॥ १७ ॥

सेव्यमाना च शीतेन जलमिश्रेण वायुना ।
पाञ्चाली सुखमासाद्य लेभे चेतः शनैः शनैः ॥ १८ ॥

जलका स्पर्श करके बहती हुई शीतल वायुने भी उसे सुख पहुँचाया । इस प्रकार कुछ आराम मिलनेपर पाञ्चाल-राजकुमारी द्रौपदीको धीरे-धीरे चेत हुआ ॥ १८ ॥

परिगृह्य च तां दीनां कृष्णामजिनसंस्तरे ।
पार्थास्तां विश्रामयामासुर्लब्धसंज्ञां तपस्विनीम् ॥ १९ ॥

तस्या यमौ रक्ततलौ पादौ पूजितलक्षणौ ।
कराभ्यां किणजाताभ्यां शनकैः संववाहतुः ॥ २० ॥

होशमें आनेपर दीनावस्थामें पड़ी हुई तपस्विनी द्रौपदीको पकड़कर पाण्डवोंने मृगचर्मके विस्तरपर सुलाया और उसे विश्राम कराया । नकुल और सहदेवने धनुषकी रगड़के चिह्नसे सुशोभित दोनों हाथोंद्वारा उसके लाल तलवोंसे युक्त और उत्तम लक्षणोंसे अलङ्कृत दोनों चरणोंको धीरे-धीरे दबाया ॥ १९-२० ॥

पर्याश्वासयदप्येनां धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उवाच च कुरुश्रेष्ठो भीमसेनमिदं वचः ॥ २१ ॥

फिर कुरुश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने भी द्रौपदीको बहुत आश्वासन दिया और भीमसेनसे इस प्रकार कहा—॥ २१ ॥

बहवः पर्वता भीम विषमा हिमदुर्गमाः ।
तेषु कृष्णा महाबाहो कथं नु विचरिष्यति ॥ २२ ॥

'महाबाहु भीम ! यहाँ बहुत-से ऊँचे-नीचे पर्वत हैं, जिनपर चलना बर्फके कारण अत्यन्त कठिन है । उनपर द्रौपदी कैसे जा सकेगी ?' ॥ २२ ॥

भीमसेन उवाच

त्वां राजन् राजपुत्रीं च यमौ च पुरुषर्षभ ।
स्वयं नेष्यामि राजेन्द्र मा विषादे मनः कृथाः ॥ २३ ॥

भीमसेनने कहा—पुरुषरत्न ! महाराज ! आप मनमें खेद न करें । मैं स्वयं राजकुमारी द्रौपदी, नकुल-सहदेव और आपको भी ले चलूँगा ॥ २३ ॥

हैडिम्बश्च महावीर्यो विहगो मद्बलोपमः ।
वहेदनघ सर्वान्नो वचनात् ते घटोत्कचः ॥ २४ ॥

हिडिम्बाका पुत्र घटोत्कच भी महान् पराक्रमी है । वह मेरे ही समान बलवान् है और आकाशमें चल-फिर सकता है । अनघ ! आपकी आज्ञा होनेपर वह हम सबको अपनी पीठपर बिठाकर ले चलेगा ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातो धर्मराज्ञा पुत्रं सस्मार राक्षसम् ।
घटोत्कचस्तु धर्मात्मा स्मृतमात्रः पितुस्तदा ॥ २५ ॥
कृताञ्जलिरुपातिष्ठदभिवाद्याथ पाण्डवान् ।
ब्राह्मणांश्च महाबाहुः स च तैरभिनन्दितः ॥ २६ ॥
उवाच भीमसेनं स पितरं भीमविक्रमम् ।
स्मृतोऽस्मि भवता शीघ्रं शुश्रूषुरहमागतः ॥ २७ ॥
आज्ञापय महाबाहो सर्वं कर्तास्म्यसंशयम् ।
तच्छ्रुत्वा भीमसेनस्तु राक्षसं परिषस्वजे ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर धर्मराज-की आज्ञा पाकर भीमसेनने अपने राक्षसपुत्रका स्मरण किया ।

पिताके स्मरण करते ही धर्मात्मा घटोत्कच हाथ जोड़े हुए वहाँ उपस्थित हुआ। उस महाबाहु वीरने पाण्डवों तथा ब्राह्मणोंको प्रणाम करके उनके द्वारा सम्मानित हो अपने भयंकर पराक्रमी पिता भीमसेनसे कहा—'महाबाहो ! आपने मेरा स्मरण किया है और मैं शीघ्र ही सेवाकी भावनासे आया हूँ, आज्ञा कीजिये; मैं आपका सब कार्य अवश्य ही पूर्ण करूँगा।' यह सुनकर भीमसेनने राक्षस घटोत्कचको हृदयसे लगा लिया ॥ २५–२८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः १४४

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

घटोत्कच और उसके साथियोंकी सहायतासे पाण्डवोंका गन्धमादन पर्वत एवं बदरिकाश्रममें प्रवेश तथा बदरीवृक्ष, नरनारायणाश्रम और गङ्गाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

धर्मज्ञो बलवाञ्शूरः सत्यो राक्षसपुङ्गवः।
भक्तोऽस्मानौरसः पुत्रो भीम गृह्णातु माचिरम् ॥ १ ॥
तव भीम सुतेनाहमतिभीमपराक्रम।
अक्षतः सह पाञ्चाल्या गच्छेयं गन्धमादनम् ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—अत्यन्त भयानक पराक्रम दिखानेवाले भीम ! तुम्हारा औरस पुत्र राक्षसश्रेष्ठ घटोत्कच धर्मज्ञ, बलवान्, शूरवीर, सत्यवादी तथा हमलोगोंका भक्त है। यह हमें शीघ्र उठा ले चले। जिससे भीमसेन ! तुम्हारे पुत्र घटोत्कचद्वारा शरीरसे किसी प्रकारकी क्षति उठाये बिना ही मैं द्रौपदीसहित गन्धमादन पर्वतपर पहुँच जाऊँ ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय भीमसेनो घटोत्कचम्।
आदिदेश नरव्याघ्रस्तनयं शत्रुकर्शनम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भाईकी इस आज्ञाको शिरोधार्य करके नरश्रेष्ठ भीमसेनने अपने पुत्र शत्रुसूदन घटोत्कचको इस प्रकार आज्ञा दी ॥ ३ ॥

भीमसेन उवाच

हैडिम्बेय परिश्रान्ता तव मातापराजित।
त्वं च कामगमस्तात बलवान् वह तां खग ॥ ४ ॥

भीमसेन बोले—अपराजित और आकाशचारी हिडिम्बानन्दन ! तुम्हारी माता द्रौपदी बहुत थक गयी है। तुम बलवान् एवं इच्छानुसार सर्वत्र जानेमें समर्थ हो; अतः इसे (आकाशमार्गसे) ले चलो ॥ ४ ॥

स्कन्धमारोप्य भद्रं ते मध्येऽस्माकं विहायसा।
गच्छ नीचिकया गत्या यथा चैनां न पीडयेः ॥ ५ ॥

बेटा ! तुम्हारा कल्याण हो। इसे कंधेपर बैठाकर हम लोगोंके बीच रहते हुए आकाशमार्गसे इस प्रकार धीरे-धीरे ले चलो, जिससे इसे तनिक भी कष्ट न हो ॥ ५ ॥

घटोत्कच उवाच

धर्मराजं च धौम्यं च कृष्णां च यमजौ तथा।
एकोऽप्यहमलं वोढुं किमुताद्य सहायवान् ॥ ६ ॥
अन्ये च शतशः शूरा विहङ्गाः कामरूपिणः।
सर्वान् वो ब्राह्मणैः सार्धं वक्ष्यन्ति सहितानघ ॥ ७ ॥

घटोत्कच बोला—अनघ ! मैं अकेला रहूँ तो भी धर्मराज युधिष्ठिर, पुरोहित धौम्य, माता द्रौपदी और चाचा नकुल-सहदेवको भी वहन कर सकता हूँ; फिर आज तो मेरे और भी बहुत-से संगी-साथी मौजूद हैं। इस दशामें आप लोगोंको ले चलना कौन बड़ी बात है ? मेरे सिवा दूसरे भी सैकड़ों शूरवीर, आकाशचारी और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षस मेरे साथ हैं। वे ब्राह्मणोंसहित आप सब लोगोंको एक साथ वहन करेंगे ॥ ६-७ ॥



एवमुक्त्वा ततः कृष्णामुवाह स घटोत्कचः।
पाण्डूनां मध्यगो वीरः पाण्डवानपि चापरे ॥ ८ ॥

ऐसा कहकर वीर घटोत्कच तो द्रौपदीको लेकर

पाण्डवोंके बीचमें चलने लगा और दूसरे राक्षस पाण्डवोंको भी (अपने-अपने कंधेपर बिठाकर) ले चले ॥ ८ ॥

लोमशः सिद्धमार्गेण जगामानुपमद्युतिः ।
स्वेनैव स प्रभावेण द्वितीय इव भास्करः ॥ ९ ॥

अनुपम तेजस्वी महर्षि लोमश अपने ही प्रभावसे दूसरे सूर्यकी भाँति सिद्धमार्ग अर्थात् आकाशमार्गसे चलने लगे ॥

ब्राह्मणांश्चापि तान् सर्वान् समुपादाय राक्षसाः ।
नियोगाद् राक्षसेन्द्रस्य जग्मुर्भीमपराक्रमाः ॥ १० ॥

राक्षसराज घटोत्कचकी आज्ञासे अन्य सब ब्राह्मणोंको भी अपने-अपने कंधेपर चढ़ाकर वे भयंकर पराक्रमी राक्षस साथ-साथ चलने लगे ॥ १० ॥

एवं सुरमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
आलोकयन्तस्ते जग्मुर्विशालां बदरीं प्रति ॥ ११ ॥

इस प्रकार अत्यन्त रमणीय वन और उपवनोंका अवलोकन करते हुए वे सब लोग विशाला बदरी (बदरिकाश्रम तीर्थ) की ओर प्रस्थित हुए ॥ ११ ॥

ते त्वाशुगतिभिर्वीरा राक्षसैस्तैर्महाजवैः ।
उह्यमाना ययुः शीघ्रं दीर्घमध्वानमल्पवत् ॥ १२ ॥

उन महावेगशाली और तीव्र गतिसे चलनेवाले राक्षसोंपर सवार हो वीर पाण्डवोंने उस विशाल मार्गको इतनी शीघ्रतासे तय कर लिया, मानो वह बहुत छोटा हो ॥ १२ ॥

देशान् म्लेच्छजनाकीर्णान् नानारत्नाकरायुतान् ।
ददृशुर्गिरिपादांश्च नानाधातुसमाचितान् ॥ १३ ॥
विद्याधरसमाकीर्णान् युतान् वानरकिंनरैः ।
तथा किंपुरुषैश्चैव गन्धर्वैश्च समन्ततः ॥ १४ ॥

उस यात्रामें उन्होंने म्लेच्छोंसे भरे हुए बहुत-से ऐसे देश देखे, जो नाना प्रकारकी रत्नोंकी खानोंसे युक्त थे । वहाँ उन्हें नाना प्रकारके धातुओंसे व्याप्त कितने ही शाखापर्वत दृष्टिगोचर हुए । उन पर्वतीय शिखरोंपर बहुत-से विद्याधर, वानर, किन्नर, किम्पुरुष और गन्धर्व चारों ओर निवास करते थे ॥ १३-१४ ॥

मयूरैश्चमरैश्चैव वानरै रुरुभिस्तथा ।
वराहैर्गवयैश्चैव महिषैश्च समावृतान् ॥ १५ ॥

मोर, चमरी गाय, बंदर, रुरुमृग, सूअर, गवय* और भैंस आदि पशु वहाँ विचर रहे थे ॥ १५ ॥

नदीजालसमाकीर्णान् नानापक्षियुतान् बहून् ।
नानाविधमृगैर्जुष्टान् वानरैश्चोपशोभितान् ॥ १६ ॥

वहाँ सब ओर बहुत-सी नदियाँ बह रही थीं । अनेक प्रकारके असंख्य पक्षी विचर रहे थे । वह स्थान नाना प्रकारके मृगोंसे सेवित और वानरोंसे सुशोभित था ॥ १६ ॥

समदैश्चापि विहगैः पादपैरन्वितास्तथा ।
तेऽवतीर्य बहून् देशानुत्तमर्द्धिसमन्वितान् ॥ १७ ॥
ददृशुर्विविधाश्चर्यं कैलासं पर्वतोत्तमम् ।
तस्याभ्याशे तु ददृशुर्नरनारायणाश्रमम् ॥ १८ ॥
उपेतं पादपैर्दिव्यैः सदापुष्पफलोपगैः ।
ददृशुस्तां च बदरीं वृत्तस्कन्धां मनोरमाम् ॥ १९ ॥
स्निग्धामविरलच्छायां श्रिया परमया युताम् ।
पत्रैः स्निग्धैरविरलैरुपेतां मृदुभिः शुभाम् ॥ २० ॥

वह पर्वतीय प्रदेश मतवाले विहंगों और अगणित वृक्षोंसे युक्त था । पाण्डवोंने उत्तम समृद्धिसे सम्पन्न बहुत-से देशोंको लाँघकर भाँति-भाँतिके आश्चर्यजनक दृश्योंसे सुशोभित पर्वतश्रेष्ठ कैलासका दर्शन किया । उसीके निकट उन्हें भगवान् नर-नारायणका आश्रम दिखायी दिया, जो नित्य फल-फूल देनेवाले दिव्य वृक्षोंसे अलंकृत था । वहीं वह विशाल एवं मनोरम बदरी भी दिखायी दी, जिसका स्कन्ध (तना) गोल था । वह वृक्ष बहुत ही चिकना, घनी छायासे युक्त और उत्तम शोभासे सम्पन्न था । उस शुभ वृक्षके सघन कोमल पत्ते भी बहुत चिकने थे ॥ १७–२० ॥

विशालशाखां विस्तीर्णामतिद्युतिसमन्विताम् ।
फलैरुपचितैर्दिव्यैराचितां स्वादुभिर्भृशम् ॥ २१ ॥
मधुस्रवैः सदा दिव्यां महर्षिगणसेविताम् ।
मदप्रमुदितैर्नित्यं नानाद्विजगणैर्युताम् ॥ २२ ॥

उसकी डालियाँ बहुत बड़ी और बहुत दूरतक फैली हुई थीं । वह वृक्ष अत्यन्त कान्तिसे सम्पन्न था । उसमें अत्यन्त स्वादिष्ठ दिव्य फल अधिक मात्रामें लगे हुए थे । उन फलोंसे मधुकी धारा बहती रहती थी । उस दिव्य वृक्षके नीचे महर्षियोंका समुदाय निवास करता था । वह वृक्ष सदा मदोन्मत्त एवं आनन्दविभोर पक्षियोंसे परिपूर्ण रहता था ॥

अदंशमशके देशे बहुमूलफलोदके ।
नीलशाद्वलसंच्छन्ने देवगन्धर्वसेविते ॥ २३ ॥
सुसमीकृतभूभागे स्वभावविहिते शुभे ।
जातां हिममृदुस्पर्शे देशेऽपहतकण्टके ॥ २४ ॥

उस प्रदेशमें डाँस और मच्छरोंका नाम नहीं था । फल-मूल और जलकी बहुतायत थी । वहाँकी भूमि हरी-हरी घाससे ढकी हुई थी । देवता और गन्धर्व वहाँ वास करते थे । उस प्रदेशका भूभाग स्वभावतः समतल और मङ्गलमय था । उस हिमाच्छादित भूमिका स्पर्श अत्यन्त मृदु था । उस देशमें काँटोंका कहीं नाम नहीं था । ऐसे पावन प्रदेशमें वह विशाल बदरी वृक्ष उत्पन्न हुआ था ॥ २३-२४ ॥

तामुपेत्य महात्मानः सह तैर्ब्राह्मणर्षभैः ।
अवतेरुस्ततः सर्वे राक्षसस्कन्धतः शनैः ॥ २५ ॥

उसके पास पहुँचकर वे सब महात्मा पाण्डव उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ राक्षसोंके कंधोंसे धीरे-धीरे उतरे ॥ २५ ॥

* गौके समान एक प्रकारका जंगली पशु, जिसके गलकंबल नहीं होता ।

ततस्तमाश्रमं रम्यं नरनारायणाश्रितम्।
ददृशुः पाण्डवा राजन् सहिता द्विजपुङ्गवैः ॥ २६ ॥

राजन्! तदनन्तर ब्राह्मणोंसहित पाण्डवोंने एक साथ भगवान् नर-नारायणके उस रमणीय स्थानका दर्शन किया ॥

तमसा रहितं पुण्यमनामृष्टं रवेः करैः।
क्षुत्तृट्शीतोष्णदोषैश्च वर्जितं शोकनाशनम् ॥ २७ ॥

जो अन्धकार एवं तमोगुणसे रहित तथा पुण्यमय था। (वृक्षोंकी सघनताके कारण) सूर्यकी किरणें उसका स्पर्श नहीं कर पाती थीं। वह आश्रम भूख, प्यास, सर्दी और गर्मी आदि दोषोंसे रहित और सम्पूर्ण शोकोंका नाश करनेवाला था॥

महर्षिगणसम्बाधं ब्राह्मया लक्ष्म्या समन्वितम्।
दुष्प्रवेशं महाराज नरैर्धर्मबहिष्कृतैः ॥ २८ ॥

महाराज! वह पावन तीर्थ महर्षियोंके समुदायसे भरा हुआ और ब्राह्मी श्रीसे सुशोभित था। धर्महीन मनुष्योंका वहाँ प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन था ॥ २८ ॥

बलिहोमार्चितं दिव्यं सुसम्मृष्टानुलेपनम्।
दिव्यपुष्पोपहारैश्च सर्वतोऽभिविराजितम् ॥ २९ ॥

वह दिव्य आश्रम देव-पूजा और होमसे अर्चित था। उसे झाड़-बुहारकर अच्छी तरह लीपा गया था। दिव्य पुष्पोंके उपहार सब ओरसे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ २९ ॥

विशालैरग्निशरणैः स्रुग्भाण्डैराचितं शुभैः।
महद्भिस्तोयकलशैः कठिनैश्चोपशोभितम् ॥ ३० ॥

विशाल अग्निहोत्रगृहों और स्रुक्, स्रुवा आदि सुन्दर यज्ञ-पात्रोंसे व्याप्त वह पावन आश्रम जलसे भरे हुए बड़े-बड़े कलशों और वर्तनोंसे सुशोभित था ॥ ३० ॥

शरण्यं सर्वभूतानां ब्रह्मघोषनिनादितम्।
दिव्यमाश्रयणीयं तमाश्रमं श्रमनाशनम् ॥ ३१ ॥

वह सब प्राणियोंके शरण लेने योग्य था। वहाँ वेद-मन्त्रोंकी ध्वनि गूँजती रहती थी। वह दिव्य आश्रम सबके रहने योग्य और थकावटको दूर करनेवाला था ॥ ३१ ॥

श्रिया युतमनिर्देश्यं देवचर्योपशोभितम्।
फलमूलाशनैर्दान्तैश्चारुकृष्णाजिनाम्बरैः ॥ ३२ ॥
सूर्यवैश्वानरसमैस्तपसा भावितात्मभिः।
महर्षिभिर्मोक्षपरैर्यतिभिर्नियतेन्द्रियैः ॥ ३३ ॥
ब्रह्मभूतैर्महाभागैरुपेतं ब्रह्मवादिभिः।
सोऽभ्यगच्छन्महातेजास्तानृषीन् प्रयतः शुचिः ॥ ३४ ॥
भ्रातृभिः सहितो धीमान् धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते दृष्ट्वा प्राप्तं युधिष्ठिरम् ॥ ३५ ॥
अभ्यगच्छन्त सुप्रीताः सर्व एव महर्षयः।
आशीर्वादान् प्रयुञ्जानाः स्वाध्यायनिरता भृशम् ॥ ३६ ॥
प्रीतास्ते तस्य सत्कारं विधिना पावकोपमाः।
उपाजह्रुश्च सलिलं पुष्पमूलफलं शुचि ॥ ३७ ॥

वह शोभासम्पन्न आश्रम अवर्णनीय था। देवोचित कार्योंका अनुष्ठान उसकी शोभा बढ़ाता था। उस आश्रममें फल-मूल खाकर रहनेवाले, कृष्णमृगचर्मधारी, जितेन्द्रिय, अग्नि तथा सूर्यके समान तेजस्वी और तपःपूत अन्तःकरणवाले महर्षि, मोक्षपरायण, इन्द्रिय-संयमी संन्यासी तथा महान् सौभाग्यशाली ब्रह्मवादी ब्रह्मभूत महात्मा निवास करते थे। महातेजस्वी, बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिर पवित्र और एकाग्र-चित्त होकर भाइयोंके साथ उन आश्रमवासी महर्षियोंके पास गये। युधिष्ठिरको आश्रममें आया देख वे दिव्यज्ञानसम्पन्न सब महर्षि अत्यन्त प्रसन्न होकर उनसे मिले और उन्हें अनेक प्रकारके आशीर्वाद देने लगे। सदा वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहनेवाले उन अग्नितुल्य तेजस्वी महात्माओंने प्रसन्न होकर युधिष्ठिरका विधिपूर्वक सत्कार किया और उनके लिये पवित्र फल-मूल, पुष्प और जल आदि सामग्री प्रस्तुत की ॥ ३२–३७ ॥

स तैः प्रीत्याथ सत्कारमुपनीतं महर्षिभिः।
प्रयतः प्रतिगृह्याथ धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३८ ॥

महर्षियोंद्वारा प्रेमपूर्वक प्रस्तुत किये हुए उस आतिथ्य-सत्कारको शुद्ध हृदयसे ग्रहण करके धर्मराज युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३८ ॥

तं शक्रसदनप्रख्यं दिव्यगन्धं मनोरमम्।
प्रीतः स्वर्गोपमं पुण्यं पाण्डवः सह कृष्णया ॥ ३९ ॥
विवेश शोभया युक्तं भ्रातृभिश्च सहानघ।
ब्राह्मणैर्वेदवेदाङ्गपारगैश्च सहस्रशः ॥ ४० ॥

उन्होंने भाइयों तथा द्रौपदीके साथ इन्द्रभवनके समान मनोरम और दिव्य सुगन्धसे परिपूर्ण उस स्वर्गसदृश शोभा-शाली पुण्यमय नर-नारायण आश्रममें प्रवेश किया। अनघ! उनके साथ ही वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् सहस्रों ब्राह्मण भी प्रविष्ट हुए ॥ ३९-४० ॥

तत्रापश्यत धर्मात्मा देवदेवर्षिपूजितम्।
नरनारायणस्थानं भागीरथ्योपशोभितम् ॥ ४१ ॥

धर्मात्मा युधिष्ठिरने वहाँ भगवान् नर-नारायणका स्थान देखा, जो देवताओं और देवर्षियोंसे पूजित तथा भागीरथी* गङ्गासे सुशोभित था ॥ ४१ ॥

* हिमालयपर गिरनेके बाद भागीरथी गङ्गा अनेक धाराओंमें विभक्त होकर बहने लगीं। उनकी सीधी धारा तो गङ्गोत्तरीसे देवप्रयाग होती हुई हरिद्वार आयी है और अन्य धाराएँ अन्य मार्गोंसे प्रवाहित होकर पुनः गङ्गामें ही मिल गयी हैं। उन्हींकी जो धारा कैलास और बदरिकाश्रमके मार्गसे बहती आयी है, उसका नाम अलकनन्दा है, वह देवप्रयागमें आकर सीधी धारामें मिल गयी है। इस प्रकार यद्यपि नर-नारायणका स्थान अलकनन्दाके ही तटपर है, तथापि वह मूलतः भागीरथीसे अभिन्न ही है; इसीलिये यहाँ मूलमें 'भागीरथी' नामसे ही उसका उल्लेख किया गया है।

पश्यन्तस्ते नरव्याघ्रा रेमिरे तत्र पाण्डवाः ।
मधुस्रवफलं दिव्यं ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥ ४२ ॥
तदुपेत्य महात्मानस्तेऽवसन् ब्राह्मणैः सह ।
मुदा युक्ता महात्मानो रेमिरे तत्र ते तदा ॥ ४३ ॥

नरश्रेष्ठ पाण्डव उस स्थानका दर्शन करते हुए वहाँ सब ओर सुखपूर्वक घूमने-फिरने लगे । ब्रह्मर्षियोंद्वारा सेवित जो अपने फलोंसे मधुकी धारा बहानेवाला दिव्य वृक्ष था, उसके निकट जाकर महात्मा पाण्डव ब्राह्मणोंके साथ वहाँ निवास करने लगे । उस समय वे सब महात्मा बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे ॥ ४२-४३ ॥

आलोकयन्तो मैनाकं नानाद्विजगणायुतम् ।
हिरण्यशिखरं चैव तच्च बिन्दुसरः शिवम् ॥ ४४ ॥
तस्मिन् विहरमाणाश्च पाण्डवाः सह कृष्णया ।
मनोज्ञे काननवरे सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वले ॥ ४५ ॥

वहाँ सुवर्णमय शिखरोंसे सुशोभित और अनेक प्रकारके पक्षियोंसे युक्त मैनाक पर्वत था । वहीं शीतल जलसे सुशोभित बिन्दुसर नामक तालाब था । वह सब देखते हुए पाण्डव द्रौपदीके साथ उस मनोहर उत्तम वनमें विचरने लगे, जो सभी ऋतुओंके फूलोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ ४४-४५ ॥

पादपैः पुष्पविकचैः फलभारावनामिभिः ।
शोभिते सर्वतो रम्यैः पुंस्कोकिलगणायुतैः ॥ ४६ ॥

उस वनमें सब ओर सुरम्य वृक्ष दिखायी देते थे, जो विकसित फूलोंसे युक्त थे । उनकी शाखाएँ फलोंके बोझसे झुकी हुई थीं । कोकिल पक्षियोंसे युक्त बहुसंख्यक वृक्षोंके कारण उस वनकी बड़ी शोभा होती थी ॥ ४६ ॥

स्निग्धपत्रैरविरलैः शीतच्छायैर्मनोरमैः ।
सरांसि च विचित्राणि प्रसन्नसलिलानि च ॥ ४७ ॥

उपर्युक्त वृक्षोंके पत्ते चिकने और सघन थे । उनकी छाया शीतल थी । वे मनको बड़े ही रमणीय लगते थे । उस वनमें कितने ही विचित्र सरोवर भी थे, जो स्वच्छ जलसे भरे हुए थे ॥ ४७ ॥

कमलैः सोत्पलैश्चैव भ्राजमानानि सर्वशः ।
पश्यन्तश्चारुरूपाणि रेमिरे तत्र पाण्डवाः ॥ ४८ ॥

खिले हुए उत्पल और कमल सब ओरसे उनकी शोभाका विस्तार करते थे । उन मनोहर सरोवरोंका दर्शन करते हुए पाण्डव वहाँ सानन्द विचरने लगे ॥ ४८ ॥

पुण्यगन्धः सुखस्पर्शो ववौ तत्र समीरणः ।
ह्लादयन् पाण्डवान् सर्वान् द्रौपद्या सहितान् प्रभो ॥ ४९ ॥

जनमेजय ! गन्धमादन पर्वतपर पवित्र सुगन्धसे वासित सुखदायिनी वायु चल रही थी, जो द्रौपदीसहित पाण्डवोंको आनन्द-निमग्न किये देती थी ॥ ४९ ॥

भागीरथीं सुतीर्थां च शीतां विमलपङ्कजाम् ।
मणिप्रवालप्रस्तारां पादपैरुपशोभिताम् ॥ ५० ॥
दिव्यपुष्पसमाकीर्णां मनःप्रीतिविवर्धिनीम् ।
वीक्षमाणा महात्मानो विशालां बदरीमनु ॥ ५१ ॥
तस्मिन् देवर्षिचरिते देशे परमदुर्गमे ।
भागीरथीपुण्यजले तर्पयांचक्रिरे तदा ॥ ५२ ॥
देवानृषींश्च कौन्तेयाः परमं शौचमास्थिताः ।
तत्र ते तर्पयन्तश्च जपन्तश्च कुरूद्वहाः ॥ ५३ ॥
ब्राह्मणैः सहिता वीरा ह्यवसन् पुरुषर्षभाः ।
कृष्णायास्तत्र पश्यन्तः क्रीडितान्यमरप्रभाः ।
विचित्राणि नरव्याघ्रा रेमिरे तत्र पाण्डवाः ॥ ५४ ॥

पूर्वोक्त विशाल बदरीवृक्षके समीप उत्तम तीर्थोंसे सुशोभित शीतल जलवाली भागीरथी गङ्गा बह रही थी, उसमें सुन्दर कमल खिले हुए थे । उसके घाट मणियों और मूँगोंसे आबद्ध थे । अनेक प्रकारके वृक्ष उसके तटप्रान्तकी शोभा बढ़ा रहे थे । वह दिव्य पुष्पोंसे आच्छादित हो हृदयके हर्षोल्लासकी वृद्धि कर रही थी । उसका दर्शन करके महात्मा पाण्डवोंने उस अत्यन्त दुर्गम देवर्षिसेवित प्रदेशमें भागीरथीके पवित्र जलमें स्थित हो परम पवित्रताके साथ देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण किया । इस प्रकार प्रतिदिन तर्पण और जप आदि करते हुए वे पुरुषश्रेष्ठ कुरुकुलशिरोमणि वीर पाण्डव वहाँ ब्राह्मणोंके साथ रहने लगे । देवताओंके समान कान्तिमान् नरश्रेष्ठ पाण्डव वहाँ द्रौपदीकी विचित्र क्रीड़ाएँ देखते हुए सुखपूर्वक रमण करने लगे ॥ ५०-५४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४५ ॥



द्रौपदीका भीमसेनको सौगन्धिक पुष्प भेंट करके वैसे ही और पुष्प लानेका आग्रह

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका सौगन्धिक कमल लानेके लिये जाना और कदलीवनमें उनकी हनुमान्‌जीसे भेंट

वैशम्पायन उवाच

तत्र ते पुरुषव्याघ्राः परमं शौचमास्थिताः ।
षड्रात्रमवसन् वीरा धनंजयदिदृक्षवः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे पुरुषसिंह वीर पाण्डव अर्जुनके दर्शनके लिये उत्सुक हो वहाँ परम पवित्रताके साथ छः रात रहे ॥ १ ॥

ततः पूर्वोत्तरे वायुः प्लवमानो यदृच्छया ।
सहस्रपत्रमर्काभं दिव्यं पद्ममुपाहरत् ॥ २ ॥

तदनन्तर ईशानकोणकी ओरसे अकस्मात् वायु चली । उसने सूर्यके समान तेजस्वी एक दिव्य सहस्रदल कमल लाकर वहाँ डाल दिया ॥ २ ॥

तदवैक्षत पाञ्चाली दिव्यगन्धं मनोरमम् ।
अनिलेनाहृतं भूमौ पतितं जलजं शुचि ॥ ३ ॥
तच्छुभा शुभमासाद्य सौगन्धिकमनुत्तमम् ।
अतीव मुदिता राजन् भीमसेनमथाब्रवीत् ॥ ४ ॥

जनमेजय ! वह कमल बड़ा मनोरम था, उससे दिव्य सुगन्ध फैल रही थी । शुभलक्षणा द्रौपदीने उसे देखा और वायुके द्वारा लाकर पृथ्वीपर डाले हुए उस पवित्र, शुभ एवं परम उत्तम सौगन्धिक कमलके पास पहुँचकर अत्यन्त प्रसन्न हो भीमसेनसे इस प्रकार कहा—॥ ३-४ ॥

पश्य दिव्यं सुरुचिरं भीम पुष्पमनुत्तमम् ।
गन्धसंस्थानसम्पन्नं मनसो मम नन्दनम् ॥ ५ ॥
इदं च धर्मराजाय प्रदास्यामि परंतप ।
हरेदं मम कामाय काम्यके पुनराश्रमे ॥ ६ ॥

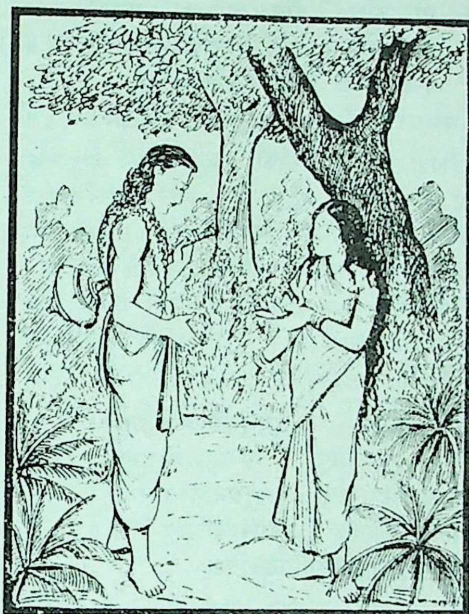
'भीम ! देखो तो, यह दिव्य पुष्प कितना अच्छा और कैसा सुन्दर है ! मानो सुगन्ध ही इसका स्वरूप है । यह मेरे मनको आनन्द प्रदान कर रहा है । परंतप ! मैं इसे धर्मराजको भेंट करूँगी । तुम मेरी इच्छाकी पूर्तिके लिये काम्यकवनके आश्रममें इसे ले चलो ॥ ५-६ ॥

यदि तेऽहं प्रिया पार्थ बहूनीमान्युपाहर ।
तान्यहं नेतुमिच्छामि काम्यकं पुनराश्रमम् ॥ ७ ॥

'कुन्तीनन्दन ! यदि मेरे ऊपर तुम्हारा (विशेष) प्रेम है, तो मेरे लिये ऐसे ही बहुत-से फूल ले आओ । मैं इन्हें काम्यक वनमें अपने आश्रमपर ले चलना चाहती हूँ' ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा शुभापाङ्गी भीमसेनमनिन्दिता ।
जगाम पुष्पमादाय धर्मराजाय तत् तदा ॥ ८ ॥

उस समय मनोहर नेत्रप्रान्तवाली अनिन्द्य सुन्दरी (सती-साध्वी) द्रौपदी भीमसेनसे ऐसा कहकर और वह पुष्प लेकर धर्मराज युधिष्ठिरको देनेके लिये चली गयी ॥ ८ ॥



अभिप्रायं तु विज्ञाय महिष्याः पुरुषर्षभः ।
प्रियायाः प्रियकामः स प्रायाद् भीमो महाबलः ॥ ९ ॥

पुरुषशिरोमणि महाबली भीम अपनी प्यारी रानीके मनोभावको जानकर उसका प्रिय करनेकी इच्छासे वहाँसे चल दिये ॥ ९ ॥

वातं तमेवाभिमुखो यतस्तत् पुष्पमागतम् ।
आजिहीर्षुर्जगामाशु स पुष्पाण्यपराण्यपि ॥ १० ॥

वे उसी तरहके और भी फूल ले आनेकी अभिलाषासे तुरंत पूर्वोक्त वायुकी ओर मुख करके उसी ईशान कोणमें आगे बढ़े, जिधरसे वह फूल आया था ॥ १० ॥

रुक्मपृष्ठं धनुर्गृह्य शरांश्चाशीविषोपमान् ।
मृगराडिव संक्रुद्धः प्रभिन्न इव कुञ्जरः ॥ ११ ॥

उन्होंने हाथमें वह अपना धनुष ले लिया, जिसके पृष्ठ-भागमें सुवर्ण जड़ा हुआ था । साथ ही विषधर सर्पोंके समान भयंकर बाण भी तरकसमें रख लिये । फिर क्रोधमें भरे हुए सिंह तथा मदकी धारा बहानेवाले मतवाले गजराजकी भाँति निर्भय होकर आगे बढ़े ॥ ११ ॥

ददृशुः सर्वभूतानि महाबाणधनुर्धरम् ।
न ग्लानिर्न च वैक्लव्यं न भयं न च सम्भ्रमः ॥ १२ ॥
कदाचिज्जुषते पार्थमात्मजं मातरिश्वनः ।

महान् धनुष-बाण लेकर जाते हुए भीमसेनको उस समय सब प्राणियोंने देखा। उन वायुपुत्र कुन्तीकुमारको कभी ग्लानि, विकलता, भय अथवा घबराहट नहीं होती थी ॥ १२½ ॥

द्रौपद्याः प्रियमन्विच्छन् स बाहुबलमाश्रितः ॥ १३ ॥
व्यपेतभयसम्मोहः शैलमभ्यपतद् बली ।
स ते द्रुमलतागुल्मच्छन्नं नीलशिलातलम् ॥ १४ ॥
गिरिं चचारारिहरः किन्नराचरितं शुभम् ।
नानावर्णधरैश्चित्रं धातुद्रुममृगाण्डजैः ॥ १५ ॥

द्रौपदीका प्रिय करनेकी इच्छासे अपने बाहुबलका भरोसा करके भय और मोहसे रहित बलवान् भीमसेन सामनेके शैल-शिखरपर चढ़ गये। वह पर्वत वृक्षों, लताओं और झाड़ियोंसे आच्छादित था। उसकी शिलाएँ नीले रंगकी थीं। वहाँ किन्नरलोग भ्रमण करते थे। शत्रुसंहारी भीमसेन उस सुन्दर पर्वतपर विचरने लगे। बहुरंगे धातुओं, वृक्षों, मृगों और पक्षियोंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी ॥ १३–१५ ॥

सर्वभूषणसम्पूर्णं भूमेर्भुजमिवोच्छ्रितम् ।
सर्वत्र रमणीयेषु गन्धमादनसानुषु ॥ १६ ॥
सक्तचक्षुरभिप्रायान् हृदयेनानुचिन्तयन् ।
पुंस्कोकिलनिनादेषु षट्पदाचरितेषु च ॥ १७ ॥
बद्धश्रोत्रमनश्चक्षुर्जगामामितविक्रमः ।

वह देखनेमें ऐसा जान पड़ता था, मानो पृथिवीके समस्त आभूषणोंसे विभूषित ऊँचे उठी हुई भुजा हो। गन्धमादनके शिखर सब ओरसे रमणीय थे। वहाँ कोयल पक्षियोंकी शब्दध्वनि हो रही थी और झुंड-के-झुंड भौंरे मड़रा रहे थे। भीमसेन उन्हींमें आँखें गड़ाये मन-ही-मन अभिलषित कार्यका चिन्तन करते जाते थे। अमितपराक्रमी भीमके कान, नेत्र और मन उन्हीं शिखरोंमें अटके रहे अर्थात् उनके कान वहाँके विचित्र शब्दोंको सुननेमें लग गये; आँखें वहाँके अद्भुत दृश्योंको निहारने लगीं और मन वहाँकी अलौकिक विशेषताके विषयमें सोचने लगा और वे अपने गन्तव्य स्थानकी ओर अग्रसर होते चले गये ॥ १६-१७½ ॥

आजिघ्रन् स महातेजाः सर्वर्तुकुसुमोद्भवम् ॥ १८ ॥
गन्धमुद्दतमुद्दामो वने मत्त इव द्विपः ।
वीज्यमानः सुपुण्येन नानाकुसुमगन्धिना ॥ १९ ॥
पितुः संस्पर्शशीतेन गन्धमादनवायुना ।
ह्रियमाणश्रमः पित्रा सम्प्रहृष्टतनूरुहः ॥ २० ॥

वे महातेजस्वी कुन्तीकुमार सभी ऋतुओंके फूलोंके उत्कट सुगन्धका आस्वादन करते हुए वनमें उद्दामगतिसे विचरनेवाले मदोन्मत्त गजराजकी भाँति चले जा रहे थे। नाना प्रकारके कुसुमोंसे सुवासित गन्धमादनकी परम पवित्र वायु उन्हें पंखा झल रही थी। जैसे पिताको पुत्रका स्पर्श शीतल एवं सुखद जान पड़ता है, वैसा ही सुख भीमसेनको उस पर्वतीय वायुके स्पर्शसे मिल रहा था। उनके पिता पवनदेव उनकी सारी थकावट हर लेते थे। उस समय हर्षातिरेकसे भीमके शरीरमें रोमाञ्च हो रहा था ॥ १८–२० ॥

स यक्षगन्धर्वसुरब्रह्मर्षिगणसेवितम् ।
विलोकयामास तदा पुष्पहेतोररिंदमः ॥ २१ ॥

शत्रुदमन भीमसेनने उस समय (पूर्वोक्त पुष्पकी प्राप्तिके लिये एक बार) यक्ष, गन्धर्व, देवता और ब्रह्मर्षियोंसे सेवित उस विशाल पर्वतपर (सब ओर) दृष्टिपात किया ॥ २१ ॥

विषमच्छदैरचितैरनुलिप्त इवाङ्गुलैः ।
बलिभिर्धातुविच्छेदैः काञ्चनाञ्जनराजतैः ।
सपक्षमिव नृत्यन्तं पार्श्वलग्नैः पयोधरैः ॥ २२ ॥

उस समय अनेक धातुओंसे रँगे हुए सप्तपर्ण (छितवन) के पत्तोंद्वारा उनके ललाटमें विभिन्न धातुओंके काले, पीले और सफेद रंग लग गये थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था, मानो अंगुलियोंद्वारा त्रिपुण्ड्र चन्दन लगाया गया हो। उस पर्वत-शिखरके उभय पार्श्वमें लगे हुए मेघोंसे उसकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो वह पुनः पंखधारी होकर नृत्य कर रहा है ॥ २२ ॥

मुक्ताहारैरिव चितं च्युतैः प्रस्रवणोदकैः ।
अभिरामदरीकुञ्जनिर्झरोदककन्दरम् ॥ २३ ॥

निरन्तर झरनेवाले झरनोंके जल उस पहाड़के कण्ठदेशमें अवलम्बित मोतियोंके हार-से प्रतीत हो रहे थे। उस पर्वतकी गुफा, कुञ्ज, निर्झर, सलिल और कन्दराएँ सभी मनोहर थे ॥ २३ ॥

अप्सरोनूपुररवैः प्रनृत्तवरबर्हिणम् ।
दिग्वारणविषाणाग्रैर्घृष्टोपलशिलातलम् ॥ २४ ॥

वहाँ अप्सराओंके नूपुरोंकी मधुर ध्वनिके साथ सुन्दर मोर नाच रहे थे। उस पर्वतके एक-एक रत्न और शिलाखण्डपर दिग्गजोंके दाँतोंकी रगड़का चिह्न अङ्कित था ॥ २४ ॥

स्रस्तांशुकमिवाक्षोभ्यैर्निम्नगानिःसृतैर्जलैः ।
सशष्पकवलैः स्वस्थैरदूरपरिवर्तिभिः ॥ २५ ॥
भयानभिज्ञैर्हरिणैः कौतूहलनिरीक्षितः ।
चालयन्नुरुवेगेन लताजालान्यनेकशः ॥ २६ ॥
आक्रीडमानो हृष्टात्मा श्रीमान् वायुसुतो ययौ ।
प्रियामनोरथं कर्तुमुद्यतश्चारुलोचनः ॥ २७ ॥

निम्नगामिनी नदियोंसे निकला हुआ क्षोभरहित जल नीचेकी ओर इस प्रकार बह रहा था, मानो उस पर्वतका वस्त्र

खिसककर गिरा जाता हो। भयसे अपरिचित और स्वस्थ हरिण मुँहमें हरे घासका कौर लिये पास ही खड़े होकर भीमसेनकी ओर कौतूहलभरी दृष्टिसे देख रहे थे। उस समय मनोहर नेत्रोंवाले शोभाशाली वायुपुत्र भीम अपने महान् वेगसे अनेक लतासमूहोंको विचलित करते हुए हर्षपूर्ण हृदयसे खेल-सा करते जा रहे थे। वे अपनी प्रिया द्रौपदीका प्रिय मनोरथ पूर्ण करनेको सर्वथा उद्यत थे॥ २५-२७॥

प्रांशुः कनकवर्णाभः सिंहसंहननो युवा।
मत्तवारणविक्रान्तो मत्तवारणवेगवान्॥ २८॥

उनकी कद बहुत ऊँची थी। शरीरका रङ्ग स्वर्ण-सा दमक रहा था। उनके सम्पूर्ण अङ्ग सिंहके समान सुदृढ़ थे। उन्होंने युवावस्थामें पदार्पण किया था। वे मतवाले हाथीके समान मस्तानी चालसे चलते थे। उनका वेग मदोन्मत्त गजराजके समान था॥ २८॥

मत्तवारणताम्राक्षो मत्तवारणवारणः।
प्रियपार्श्वोपविष्टाभिर्व्यावृत्ताभिर्विचेष्टितैः॥ २९॥
यक्षगन्धर्वयोषाभिरदृश्याभिर्निरीक्षितः।
नवावतारो रूपस्य विक्रीडन्निव पाण्डवः॥ ३०॥
चचार रमणीयेषु गन्धमादनसानुषु।
संस्मरन् विविधान् क्लेशान् दुर्योधनकृतान् बहून्॥ ३१॥
द्रौपद्या वनवासिन्याः प्रियं कर्तुं समुद्यतः।
सोऽचिन्तयद् गते स्वर्गमर्जुने मयि चागते॥ ३२॥
पुष्पहेतोः कथं त्वार्यः करिष्यति युधिष्ठिरः।
स्नेहान्नरवरो नूनमविश्वासाद् बलस्य च॥ ३३॥
नकुलं सहदेवं च न मोक्ष्यति युधिष्ठिरः।
कथं तु कुसुमावाप्तिः स्याच्छीघ्रमिति चिन्तयन्॥ ३४॥
प्रतस्थे नरशार्दूलः पक्षिराडिव वेगितः।
सज्जमानमनोदृष्टिः फुल्लेषु गिरिसानुषु॥ ३५॥

मतवाले हाथीके समान ही उनकी लाल-लाल आँखें थीं। वे समरभूमिमें मदोन्मत्त हाथियोंको भी पीछे हटानेमें समर्थ थे। अपने प्रियतमके पार्श्वभागमें बैठी हुई यक्ष और गन्धर्वोंकी युवतियाँ सब प्रकारकी चेष्टाओंसे निवृत्त हो स्वयं अलक्षित रहकर भीमसेनकी ओर देख रही थीं। वे उन्हें सौन्दर्यके नूतन अवतार-से प्रतीत होते थे। इस प्रकार पाण्डुनन्दन भीम गन्धमादनके रमणीय शिखरोंपर खेल-सा करते हुए विचरने लगे। वे दुर्योधनद्वारा दिये गये नाना प्रकारके असंख्य क्लेशोंका स्मरण करते हुए वनवासिनी द्रौपदीका प्रिय करनेके लिये उद्यत हुए थे। उन्होंने मन-ही-मन सोचा—'अर्जुन स्वर्गलोकमें चले गये हैं और मैं फूल लेनेके लिये इधर चला आया हूँ। ऐसी दशामें आर्य युधिष्ठिर कोई कार्य कैसे करेंगे? नरश्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर नकुल और सहदेवपर अत्यन्त स्नेह रखते हैं। उन दोनोंके बलपर उन्हें विश्वास नहीं है। अतः वे निश्चय ही उन्हें नहीं छोड़ेंगे, अर्थात् कहीं नहीं भेजेंगे। अब कैसे मुझे शीघ्र वह फूल प्राप्त हो जाय'—यह चिन्ता करते हुए नरश्रेष्ठ भीम पक्षिराज गरुड़के समान वेगसे आगे बढ़े। उनके मन और नेत्र फूलोंसे भरे हुए पर्वतीय शिखरोंपर लगे हुए थे॥ २९-३५॥

द्रौपदीवाक्यपाथेयो भीमः शीघ्रतरं ययौ।
कम्पयन् मेदिनीं पद्भ्यां निर्घात इव पर्वसु॥ ३६॥
त्रासयन् गजयूथानि वातरंहा वृकोदरः।
सिंहव्याघ्रमृगांश्चैव मर्दयानो महाबलः॥ ३७॥
उन्मूलयन् महावृक्षान् पोथयंस्तरसा बली।
लतावल्लीश्च वेगेन विकर्षन् पाण्डुनन्दनः।
उपर्युपरि शैलाग्रमारुरुक्षुरिव द्विपः॥ ३८॥

द्रौपदीका अनुरोधपूर्ण वचन ही उनका पाथेय (मार्गका कलेवा) था, वे उसीको लेकर शीघ्रतापूर्वक चले जा रहे थे। वायुके समान वेगशाली वृकोदर पर्वकालमें होनेवाले उत्पात (भूकम्प और बिजली गिरने) के समान अपने पैरोंकी धमकसे पृथ्वीको कम्पित और हाथियोंके समूहोंको आतङ्कित करते हुए चलने लगे। वे महाबली कुन्तीकुमार सिंहों, व्याघ्रों और मृगोंको कुचलते तथा अपने वेगसे बड़े-बड़े वृक्षोंको जड़से उखाड़ते और विनाश करते हुए आगे बढ़ने लगे। पाण्डुनन्दन भीम अपने वेगसे लताओं और वल्लरियोंको खींचे लिये जाते थे। वे ऊपर-ऊपर जाते हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानो कोई गजराज पर्वतकी सबसे ऊँची चोटीपर चढ़ना चाहता हो॥ ३६-३८॥

विनर्दमानोऽतिभृशं सविद्युदिव तोयदः।
तेन शब्देन महता भीमस्य प्रतिबोधिताः॥ ३९॥
गुहां संतत्यजुर्व्याघ्रा निलिल्युर्वनवासिनः।
समुत्पेतुः खगास्त्रस्ता मृगयूथानि दुद्रुवुः॥ ४०॥

वे बिजलियोंसे सुशोभित मेघकी भाँति बड़े जोरसे गर्जना करने लगे। भीमसेनकी उस भयंकर गर्जनासे जगे हुए व्याघ्र अपनी गुफा छोड़कर भाग गये, वनवासी प्राणी वनमें ही छिप गये, डरे हुए पक्षी आकाशमें उड़ गये और मृगोंके झुंड दूरतक भागते चले गये॥ ३९-४०॥

ऋक्षाश्चोत्ससृजुर्वृक्षांस्तत्यजुर्हरयो गुहाम्।
व्यजृम्भन्त महासिंहा महिषाश्चावलोकयन्॥ ४१॥

रीछोंने वृक्षोंका आश्रय छोड़ दिया, सिंहोंने गुफाएँ त्याग दीं, बड़े-बड़े सिंह जँभाई लेने लगे और जंगली भैंसे दूरसे ही उनकी ओर देखने लगे॥ ४१॥

तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः।
तद् वनं स परित्यज्य जग्मुरन्यन्महावनम्॥ ४२॥

भीमसेनकी उस गर्जनासे डरे हुए हाथी उस वनको छोड़कर हथिनियोंसे घिरे हुए दूसरे विशाल वनमें चले गये ॥ ४२ ॥

वराहमृगसंघाश्च महिषाश्च वनेचराः ।
व्याघ्रगोमायुसंघाश्च प्रणेदुर्गवयैः सह ॥ ४३ ॥
रथाङ्गसाह्वदात्यूहा हंसकारण्डवप्लवाः ।
शुकाः पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः ॥४४॥

सूअर, मृगसमूह, जंगली भैंसे, बाघों तथा गीदड़ोंके समुदाय और गवय—ये सब-के-सब एक साथ चीत्कार करने लगे । चक्रवाक, चातक, हंस, कारण्डव, प्लव, शुक, कोकिल और क्रौञ्च आदि पक्षियोंने अचेत होकर भिन्न-भिन्न दिशाओंकी शरण ली ॥ ४३-४४ ॥

तथान्ये दर्पिता नागाः करेणुशरपीडिताः ।
सिंहव्याघ्रांश्च संक्रुद्धा भीमसेनमथाद्रवन् ॥ ४५ ॥
शकृन्मूत्रं च मुञ्चाना भयविभ्रान्तमानसाः ।
व्यादितास्या महारौद्रा व्यनदन् भीषणान् रवान् ॥ ४६ ॥

तथा हथिनियोंके कटाक्ष-बाणसे पीड़ित हुए दूसरे बलोन्मत्त गजराज, सिंह और व्याघ्र क्रोधमें भरकर भीमसेनपर टूट पड़े । वे मल-मूत्र छोड़ते हुए मन-ही-मन भयसे घबरा रहे थे और मुँह बाये हुए अत्यन्त भयानक रूपसे भैरव-गर्जना कर रहे थे ॥ ४५-४६ ॥

ततो वायुसुतः क्रोधात् स्वबाहुबलमाश्रितः ।
गजेनान्यान् गजाञ्छ्रीमान् सिंहं सिंहेन वा विभुः ॥४७॥
तलप्रहारैरन्यांश्च व्यहनत् पाण्डवो बली ।
ते वध्यमाना भीमेन सिंहव्याघ्रतरक्षवः ॥ ४८ ॥
भयाद् विससृजुर्भीमं शकृन्मूत्रं च सुस्रुवुः ।
प्रविवेश ततः क्षिप्रं तानपास्य महाबलः ॥ ४९ ॥
वनं पाण्डुसुतः श्रीमाञ्छब्देनापूरयन् दिशः ।

तब अपने बाहु-बलका भरोसा रखनेवाले श्रीमान् वायुपुत्र भीमने कुपित हो एक हाथीसे दूसरे हाथियोंको और एक सिंहसे दूसरे सिंहोंको मार भगाया तथा उन महाबली पाण्डुकुमारने कितनोंको तमाचोंके प्रहारसे मार डाला । भीमसेनकी मार खाकर सिंह, व्याघ्र और चीते (बघेरे) भयसे उन्हें छोड़कर भाग चले तथा घबराकर मल-मूत्र करने लगे । तदनन्तर महान् शक्तिशाली पाण्डुनन्दन भीमसेनने शीघ्र उन सबको छोड़कर अपनी गर्जनासे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते हुए एक वनमें प्रवेश किया ॥ ४७-४९½ ॥

अथापश्यन्महाबाहुर्गन्धमादनसानुषु ॥ ५० ॥
सुरम्यं कदलीषण्डं बहुयोजनविस्तृतम् ।
तमभ्यगच्छद् वेगेन क्षोभयिष्यन् महाबलः ॥ ५१ ॥
महागज इवास्रावी प्रमञ्जन् विविधान् द्रुमान् ।
उत्पाट्य कदलीस्तम्भान् बहुतालसमुच्छ्रयान् ॥ ५२ ॥
चिक्षेप तरसा भीमः समन्ताद् बलिनां वरः ।
विनदन् सुमहातेजा नृसिंह इव दर्पितः ॥ ५३ ॥
ततः सत्त्वान्युपाक्रामद् बहूनि सुमहान्ति च ।
रुरुवानरसिंहांश्च महिषांश्च जलाशयान् ॥ ५४ ॥
तेन शब्देन चैवाथ भीमसेनरवेण च ।
वनान्तरगताश्चापि वित्रेसुर्मृगपक्षिणः ॥ ५५ ॥

इसी समय गन्धमादनके शिखरोंपर महाबाहु भीमने एक परम सुन्दर केलेका बगीचा देखा, जो कई योजन दूर-तक फैला हुआ था । मदकी धारा बहानेवाले महाबली गजराजकी भाँति उस कदलीवनमें हल-चल मचाते और भाँति-भाँतिके वृक्षोंको तोड़ते हुए वे बड़े वेगसे वहाँ गये । वहाँके केलेके वृक्ष खम्भोंके समान मोटे थे । उनकी ऊँचाई कई ताड़ोंके बराबर थी । बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमने बड़े वेगसे उन्हें उखाड़-उखाड़कर सब ओर फेंकना आरम्भ किया । वे महान् तेजस्वी तो थे ही, अपने बल और पराक्रमपर गर्व भी रखते थे; अतः भगवान् नृसिंहकी भाँति विकट गर्जना करने लगे । तत्पश्चात् और भी बहुत से बड़े-बड़े जन्तुओंपर आक्रमण किया । रुरु, वानर, सिंह, भैंसे तथा जल-जन्तुओं-पर भी धावा किया । उन पशु-पक्षियोंके एवं भीमसेनके उस भयंकर शब्दसे दूसरे वनमें रहनेवाले मृग और पक्षी भी थर्रा उठे ॥ ५०—५५ ॥

तं शब्दं सहसा श्रुत्वा मृगपक्षिसमीरितम् ।
जलार्द्रपक्षा विहगाः समुत्पेतुः सहस्रशः ॥ ५६ ॥

मृगों और पक्षियोंके उस भयसूचक शब्दको सहसा सुनकर सहस्रों पक्षी आकाशमें उड़ने लगे । उन सबकी पाँखें जलसे भीगी हुई थीं ॥ ५६ ॥

तानौदकान् पक्षिगणान् निरीक्ष्य भरतर्षभः ।
तानेवानुसरन् रम्यं ददर्श सुमहत् सरः ॥ ५७ ॥

भरतश्रेष्ठ भीमने यह देखकर कि ये तो जलके पक्षी हैं, उन्हींके पीछे चलने लगे और आगे जानेपर एक अत्यन्त रमणीय विशाल सरोवर देखा ॥ ५७ ॥

काञ्चनैः कदलीषण्डैर्मन्दमारुतकम्पितैः ।
वीज्यमानमिवाक्षोभ्यं तीरात् तीरविसर्पिभिः ॥ ५८ ॥

उस सरोवरके एक तीरसे लेकर दूसरे तीरतक फैले हुए सुवर्णमय केलेके वृक्ष मन्द वायुसे विकम्पित होकर मानो उस अगाध जलाशयको पंखा झल रहे थे ॥ ५८ ॥

तत् सरोऽथावतीर्याशु प्रभूतनलिनोत्पलम् ।
महागज इवोद्दामश्चिक्रीड बलवद् बली ॥ ५९ ॥

उसमें प्रचुर कमल और उत्पल खिले हुए थे । बन्धन-रहित महान् गजके समान बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन सहसा उस सरोवरमें उतरकर जल-क्रीड़ा करने लगे ॥ ५९ ॥

विक्रीड्य तस्मिन् सुचिरमुत्ततारामितद्युतिः।
ततोऽध्यगन्तुं वेगेन तद् वनं बहुपादपम्॥ ६०॥

दीर्घ कालतक उस सरोवरमें क्रीडा करनेके पश्चात् अमित तेजस्वी भीम जलसे बाहर निकले और असंख्य वृक्षोंसे सुशोभित उस कदलीवनमें वेगपूर्वक जानेको उद्यत हुए॥ ६०॥

दध्मौ च शङ्खं स्वनवत् सर्वप्राणेन पाण्डवः।
आस्फोटयच्च बलवान् भीमः संनादयन् दिशः॥ ६१॥
तस्य शङ्खस्य शब्देन भीमसेनरवेण च।
बाहुशब्देन चोग्रेण नदन्तीव गिरेर्गुहाः॥ ६२॥

उस समय बलवान् पाण्डुनन्दन भीमने अपनी सारी शक्ति लगाकर बड़े जोरसे शङ्ख बजाया और सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए ताल ठोंका। उस शङ्खकी ध्वनि, भीमसेनकी गर्जना और उनके ताल ठोंकनेके भयंकर शब्दसे मानो पर्वतोंकी कन्दराएँ गूँज उठीं॥ ६१-६२॥

तं वज्रनिष्पेषसममास्फोटितमहारवम्।
श्रुत्वा शैलगुहासुप्तैः सिंहैर्मुक्तो महास्वनः॥ ६३॥

पर्वतोंपर वज्रपात होनेके समान उस ताल ठोंकनेके भयानक शब्दको सुनकर गुफाओंमें सोये हुए सिंहोंने भी जोर-जोरसे दहाड़ना आरम्भ किया॥ ६३॥

सिंहनादभयत्रस्तैः कुञ्जरैरपि भारत।
मुक्तो विरावः सुमहान् पर्वतो येन पूरितः॥ ६४॥

भारत! उन सिंहोंका दहाड़ना सुनकर भयसे डरे हुए हाथी भी चीत्कार करने लगे, जिससे वह विशाल पर्वत शब्दायमान हो उठा॥ ६४॥

तं तु नादं ततः श्रुत्वा मुक्तं वारणपुङ्गवैः।
भ्रातरं भीमसेनं तु विज्ञाय हनुमान् कपिः॥ ६५॥

बड़े-बड़े गजराजोंका वह चीत्कार सुनकर कपिप्रवर हनुमान्‌जी, जो उस समय कदलीवनमें ही रहते थे, यह समझ गये कि मेरे भाई भीमसेन इधर आये हैं॥ ६५॥

दिवंगमं रुरोधाथ मार्गं भीमस्य कारणात्।
अनेन हि पथा मा वै गच्छेदिति विचार्य सः॥ ६६॥
आस्त एकायने मार्गे कदलीषण्डमण्डिते।
भ्रातुर्भीमस्य रक्षार्थं तं मार्गमवरुध्य वै॥ ६७॥

तब उन्होंने भीमसेनके हितके लिये स्वर्गकी ओर जानेवाला मार्ग रोक दिया। हनुमान्‌जीने यह सोचकर कि भीमसेन इसी मार्गसे स्वर्गलोककी ओर न चले जायँ, एक मनुष्यके आने-जाने योग्य उस संकुचित मार्गपर बैठ गये। वह मार्ग केलेके वृक्षोंसे घिरा होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहा था। उन्होंने अपने भाई भीमकी रक्षाके लिये ही यह राह रोकी थी॥ ६६-६७॥

मात्र प्राप्स्यति शापं वा धर्षणां वेति पाण्डवः।
कदलीषण्डमध्यस्थो ह्येवं संचिन्त्य वानरः॥ ६८॥
प्राजृम्भत महाकायो हनूमान् नाम वानरः।
कदलीषण्डमध्यस्थो निद्रावशगतस्तदा॥ ६९॥
जृम्भमाणः सुविपुलं शक्रध्वजमिवोच्छ्रितम्।
आस्फोटयच्च लाङ्गूलमिन्द्राशनिसमस्वनम्॥ ७०॥

कदलीवनमें आये हुए पाण्डुनन्दन भीमसेनको इस मार्गपर आनेके कारण किसीसे शाप या तिरस्कार न प्राप्त हो जाय, यह विचारकर ही कपिप्रवर हनुमान्‌जी उस वनके भीतर स्वर्गका रास्ता रोककर सो गये। उस समय उन्होंने अपने शरीरको बड़ा कर लिया था। निद्राके वशीभूत होकर जब वे जँभाई लेते और इन्द्रकी ध्वजाके समान ऊँचे तथा विशाल लंगूरको फटकारते, उस समय वज्रकी गड़गड़ाहटके समान आवाज होती थी॥ ६८—७०॥

तस्य लाङ्गूलनिनदं पर्वतः सुगुहामुखैः।
उद्गारमिव गौर्नर्दन्नुत्ससर्ज समन्ततः॥ ७१॥

वह पर्वत उनकी पूँछकी फटकारके उस महान् शब्दको सुन्दर कन्दरारूपी मुखोंद्वारा सब ओर प्रतिध्वनिके रूपमें दुहराता था, मानो कोई साँड़ जोर-जोरसे गर्जना कर रहा हो॥ ७१॥

लाङ्गूलास्फोटशब्दाच्च चलितः स महागिरिः।
विघूर्णमानशिखरः समन्तात् पर्यशीर्यत॥ ७२॥
स लाङ्गूलरवस्तस्य मत्तवारणनिःस्वनम्।
अन्तर्धाय विचित्रेषु चचार गिरिसानुषु॥ ७३॥

पूँछके फटकारनेकी आवाजसे वह महान् पर्वत हिल उठा। उसके शिखर झूमते-से जान पड़े और वह सब ओरसे टूट-फूटकर बिखरने लगा। वह शब्द मतवाले हाथीके चिग्घाड़नेकी आवाजको भी दबाकर विचित्र पर्वत-शिखरोंपर चारों ओर फैल गया॥ ७२-७३॥

स भीमसेनस्तच्छ्रुत्वा सम्प्रहृष्टतनूरुहः।
शब्दप्रभवमन्विच्छंश्चचार कदलीवनम्॥ ७४॥

उसे सुनकर भीमसेनके रोंगटे खड़े हो गये और उसके कारणको ढूँढ़नेके लिये वे उस केलेके बगीचेमें घूमने लगे॥

कदलीवनमध्यस्थमथ पीने शिलातले।
ददर्श सुमहाबाहुर्वानराधिपतिं तदा॥ ७५॥

उस समय विशाल भुजाओंवाले भीमसेनने कदली-वनके भीतर ही एक मोटे शिलाखण्डपर लेटे हुए वानरराज हनुमान्‌जीको देखा॥ ७५॥

विद्युत्सम्पातदुष्प्रेक्षं विद्युत्सम्पातपिङ्गलम् ।
विद्युत्सम्पातनिनदं विद्युत्सम्पातचञ्चलम् ॥ ७६ ॥

विद्युत्पातके समान चकाचौंध पैदा करनेके कारण उनकी ओर देखना अत्यन्त कठिन हो रहा था। उनकी अङ्गकान्ति गिरती हुई बिजलीके समान पिङ्गल-वर्णकी थी। उनका गर्जन-तर्जन वज्रपातकी गड़-गड़ाहटके समान था। वे विद्युत्पात-के सदृश चञ्चल प्रतीत होते थे ॥ ७६ ॥

बाहुस्वस्तिकविन्यस्तपीनह्रस्वशिरोधरम् ।
स्कन्धभूयिष्ठकायत्वात् तनुमध्यकटीतटम् ॥ ७७ ॥
किंचिच्चाभुग्नशीर्षेण दीर्घरोमाञ्चितेन च ।
लाङ्गूलेनोर्ध्वगतिना ध्वजेनेव विराजितम् ॥ ७८ ॥

उनके कंधे चौड़े और पुष्ट थे। अतः उन्होंने बाँहके मूल-भागको तकिया बनाकर उसीपर अपनी मोटी और छोटी ग्रीवाको रख छोड़ा था और उनके शरीरका मध्यभाग एवं कटिप्रदेश पतला था। उनकी लंबी पूँछका अग्रभाग कुछ मुड़ा हुआ था। उसकी रोमावलि घनी थी तथा वह पूँछ ऊपरकी ओर उठकर फहराती हुई ध्वजा-सी सुशोभित होती थी ॥ ७७-७८ ॥

ह्रस्वौष्ठं ताम्रजिह्वास्यं रक्तकर्णं चलद्भ्रुवम् ।
विवृत्तदंष्ट्रादशनं शुक्लतीक्ष्णाग्रशोभितम् ॥ ७९ ॥
अपश्यद् वदनं तस्य रश्मिवन्तमिवोडुपम् ।
वदनाभ्यन्तरगतैः शुक्लैर्दन्तैरलंकृतम् ॥ ८० ॥

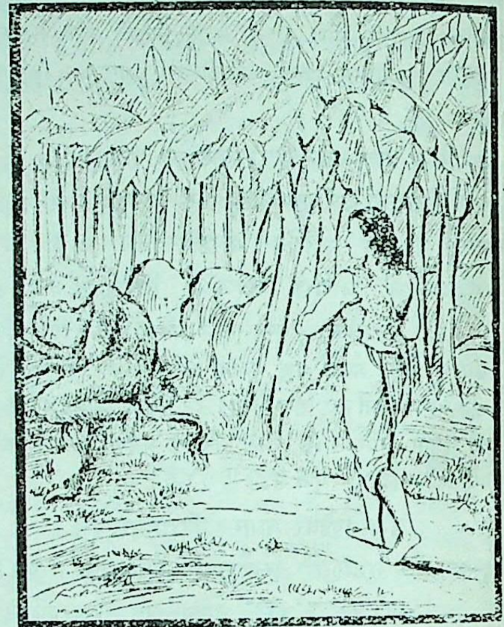
उनके ओठ छोटे थे। जीभ और मुखका रंग ताँबेके समान था। कान भी लाल रंगके ही थे और भौंहें चञ्चल हो रही थीं। उनके खुले हुए मुखमें श्वेत चमकते हुए दाँत और दाढ़ें अपने सफेद और तीखे अग्रभागके द्वारा अत्यन्त शोभा पा रही थीं। इन सबके कारण उनका मुख किरणोंसे प्रकाशित चन्द्रमाके समान दिखायी देता था। मुखके भीतर-की श्वेत दन्तावलि उसकी शोभा बढ़ानेके लिये आभूषणका काम दे रही थी ॥ ७९-८० ॥

केसरोत्करसम्मिश्रमशोकानामिवोत्करम् ।
हिरण्मयीनां मध्यस्थं कदलीनां महाद्युतिम् ॥ ८१ ॥

सुवर्णमय कदली-वृक्षोंके बीच विराजमान महातेजस्वी हनुमान्‌जी ऐसे जान पड़ते थे, मानो केसरोंकी क्यारीमें अशोकपुष्पोंका गुच्छ रख दिया गया हो ॥ ८१ ॥

दीप्यमानेन वपुषा स्वर्चिष्मन्तमिवानलम् ।
निरीक्षन्तममित्रघ्नं लोचनैर्मधुपिङ्गलैः ॥ ८२ ॥

प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ते थे और अपनी मधुके समान पीली आँखोंसे इधर-उधर देख रहे थे ॥ ८२ ॥



तं वानरवरं धीमानतिकायं महाबलम् ।
स्वर्गपन्थानमावृत्य हिमवन्तमिव स्थितम् ॥ ८३ ॥
दृष्ट्वा चैनं महाबाहुरेकं तस्मिन् महावने ।
अथोपसृत्य तरसा विभीर्भीमस्ततो बली ॥ ८४ ॥
सिंहनादं चकारोग्रं वज्राशनिसमं बली ।
तेन शब्देन भीमस्य वित्रेसुर्मृगपक्षिणः ॥ ८५ ॥

परम बुद्धिमान् बलवान् महाबाहु भीमसेन उस महान् वनमें विशालकाय महाबली वानरराज हनुमान्‌जीको अकेले ही स्वर्ग-का मार्ग रोककर हिमालयके समान स्थित देख निर्भय होकर वेगपूर्वक उनके पास गये और वज्र-गर्जनाके समान भयंकर सिंहनाद करने लगे। भीमसेनके उस सिंहनादसे वहाँके मृग और पक्षी थर्रा उठे ॥ ८३-८५ ॥

हनूमांश्च महासत्त्व ईषदुन्मील्य लोचने ।
दृष्ट्वा तमथ सावज्ञं लोचनैर्मधुपिङ्गलैः ।
स्मितेन चैनमासाद्य हनूमानिदमब्रवीत् ॥ ८६ ॥

तब महान् धैर्यशाली हनुमान्‌जीने आँखें कुछ खोलकर अपने मधुपिंगल नेत्रोंद्वारा अवहेलनापूर्वक उनकी ओर देखा और उन्हें निकट पाकर उनसे मुसकराते हुए इस प्रकार कहा—॥ ८६ ॥

हनूमानुवाच

किमर्थं सरुजस्तेऽहं सुखसुप्तः प्रबोधितः ।

हनुमान्‌जी बोले—भाई! मैं तो रोगी हूँ और यहाँ सुखसे सो रहा था। तुमने क्यों मुझे जगा दिया? तुम समझदार हो। तुम्हें सब प्राणियोंपर दया करनी चाहिये॥ ८७॥

वयं धर्मं न जानीमस्तिर्यग्योनिमुपाश्रिताः।
नरास्तु बुद्धिसम्पन्ना दयां कुर्वन्ति जन्तुषु॥ ८८॥

हमलोग तो पशु-योनिके प्राणी हैं, अतः धर्मकी बात नहीं जानते; परंतु मनुष्य बुद्धिमान् होते हैं, अतः वे सब जीवोंपर दया करते हैं॥ ८८॥

क्रूरेषु कर्मसु कथं देहवाक्चित्तदूषिषु।
धर्मघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः॥ ८९॥

किंतु पता नहीं, तुम्हारे-जैसे बुद्धिमान्‌लोग धर्मका नाश करनेवाले तथा मन, वाणी और शरीरको भी दूषित कर देनेवाले क्रूर कर्मोंमें कैसे प्रवृत्त होते हैं?॥ ८९॥

न त्वं धर्मं विजानासि वृद्धा नोपासितास्त्वया।
अल्पबुद्धितया बाल्यादुत्सादयसि यन्मृगान्॥ ९०॥

तुम्हें धर्मका बिल्कुल ज्ञान नहीं है। मालूम होता है, तुमने विद्वानोंकी सेवा नहीं की है। मन्दबुद्धि होनेके कारण अज्ञानवश तुम यहाँके मृगोंको कष्ट पहुँचाते हो॥ ९०॥

ब्रूहि कस्त्वं किमर्थं वा किमिदं वनमागतः।
वर्जितं मानुषैर्भावैस्तथैव पुरुषैरपि॥ ९१॥

बोलो तो, तुम कौन हो? इस वनमें तुम क्यों और किस लिये आये हो? यहाँ तो न कोई मानवीय भाव हैं और न मनुष्योंका ही प्रवेश है॥ ९१॥

क च त्वयाद्य गन्तव्यं प्रब्रूहि पुरुषर्षभ।
अतः परमगम्योऽयं पर्वतः सुदुरारुहः॥ ९२॥

पुरुषश्रेष्ठ! ठीक-ठीक बतलाओ, तुम्हें आज इधर कहाँतक जाना है? यहाँसे आगे तो यह पर्वत अगम्य है। इसपर चढ़ना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है॥ ९२॥

विना सिद्धगतिं वीर गतिरत्र न विद्यते।
देवलोकस्य मार्गोऽयमगम्यो मानुषैः सदा॥ ९३॥

वीर! सिद्ध पुरुषोंके सिवा और किसीकी यहाँ गति नहीं है। यह देवलोकका मार्ग है, जो मनुष्योंके लिये सदा अगम्य है॥ ९३॥

कारुण्यात् त्वामहं वीर वारयामि निबोध मे।
नातः परं त्वया शक्यं गन्तुमाश्वसिहि प्रभो॥ ९४॥

वीरवर! मैं दयावश ही तुम्हें आगे जानेसे रोकता हूँ। मेरी बात सुनो। प्रभो! यहाँसे आगे तुम किसी प्रकार जा नहीं सकते। इसपर विश्वास करो॥ ९४॥

स्वागतं सर्वथैवेह तवाद्य मनुजर्षभ।
इमान्यमृतकल्पानि मूलानि च फलानि च॥ ९५॥
भक्षयित्वा निवर्तस्व मा वृथा प्राप्स्यसे वधम्।
ग्राह्यं यदि वचो मह्यं हितं मनुजपुङ्गव॥ ९६॥

मानवशिरोमणे! आज यहाँ सब प्रकारसे तुम्हारा स्वागत है। ये अमृतके समान मीठे फल-मूल खाकर यहींसे लौट जाओ, अन्यथा व्यर्थ ही तुम्हारे प्राण संकटमें पड़ जायँगे। नरपुङ्गव! यदि मेरा कथन हितकर जान पड़े, तो इसे अवश्य मानो॥ ९५-९६॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां भीमकदलीषण्डप्रवेशे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें भीमसेनका कदलीवनमें प्रवेशविषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४६॥

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीहनुमान् और भीमसेनका संवाद

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य वानरेन्द्रस्य धीमतः।
भीमसेनस्तदा वीरः प्रोवाचामित्रकर्षणः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय परम बुद्धिमान् वानरराज हनुमान्‌जीका यह वचन सुनकर शत्रुसूदन वीरवर भीमसेनने इस प्रकार कहा॥ १॥

भीम उवाच

को भवान् किं निमित्तं वा वानरं वपुरास्थितः।
ब्राह्मणानन्तरो वर्णः क्षत्रियस्त्वां तु पृच्छति॥ २॥

भीमसेनने पूछा—आप कौन हैं? और किसलिये वानरका रूप धारण कर रक्खा है? मैं ब्राह्मणके बादका वर्ण—क्षत्रिय हूँ और मैं आपसे आपका परिचय पूछता हूँ॥

कौरवः सोमवंशीयः कुन्त्या गर्भेण धारितः।
पाण्डवो वायुतनयो भीमसेन इति श्रुतः॥ ३॥

मेरा परिचय इस प्रकार है—मैं चन्द्रवंशी क्षत्रिय हूँ। मेरा जन्म कुरुकुलमें हुआ है। माता कुन्तीने मुझे गर्भमें धारण किया था। मैं वायुपुत्र पाण्डव हूँ। मेरा नाम भीमसेन है॥ ३॥

स वाक्यं कुरुवीरस्य स्मितेन प्रतिगृह्य तत् ।
हनूमान् वायुतनयो वायुपुत्रमभाषत ॥ ४ ॥

कुरुवीर भीमसेनका वह वचन मन्द मुसकानके साथ सुनकर वायुपुत्र हनुमान्‌जीने वायुके ही पुत्र भीमसेनसे इस प्रकार कहा ॥ ४ ॥

हनूमानुवाच

वानरोऽहं न ते मार्गं प्रदास्यामि यथेप्सितम् ।
साधु गच्छ निवर्तस्व मा त्वं प्राप्स्यसि वैशसम्॥ ५ ॥

हनुमान्‌जी बोले—भैया ! मैं वानर हूँ । तुम्हें तुम्हारी इच्छाके अनुसार मार्ग नहीं दूँगा । अच्छा तो यह होगा कि तुम यहींसे लौट जाओ, नहीं तो तुम्हारे प्राण संकटमें पड़ जायँगे ॥ ५ ॥

भीमसेन उवाच

वैशसं वास्तु यद्वान्यन्न त्वां पृच्छामि वानर ।
प्रयच्छ मार्गमुत्तिष्ठ मा मत्तः प्राप्स्यसे व्यथाम्॥ ६ ॥

भीमसेनने कहा—वानर ! मेरे प्राण संकटमें पड़ें या और कोई दुष्परिणाम भोगना पड़े, इसके विषयमें तुमसे कुछ नहीं पूछता हूँ । उठो और मुझे आगे जानेके लिये रास्ता दो । ऐसा होनेपर तुमको मेरे हाथोंसे किसी प्रकारका कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा ॥ ६ ॥

हनूमानुवाच

नास्ति शक्तिर्ममोत्थातुं व्याधिना क्लेशितो ह्यहम् ।
यद्यवश्यं प्रयातव्यं लङ्घयित्वा प्रयाहि माम् ॥ ७ ॥

हनुमान्‌जी बोले—भाई ! मैं रोगसे कष्ट पा रहा हूँ । मुझमें उठनेकी शक्ति नहीं है । यदि तुम्हें जाना अवश्य है, तो मुझे लाँघकर चले जाओ ॥ ७ ॥

भीम उवाच

निर्गुणः परमात्मा तु देहं व्याप्यावतिष्ठते ।
तमहं ज्ञानविज्ञेयं नावमन्ये न लङ्घये ॥ ८ ॥

भीमसेनने कहा—निर्गुण परमात्मा समस्त प्राणियोंके शरीरमें व्याप्त होकर स्थित हैं । वे ज्ञानसे ही जाननेमें आते हैं । मैं उनका अपमान या उल्लङ्घन नहीं करूँगा ॥ ८ ॥

यद्यागमैर्न विद्यां च तमहं भूतभावनम् ।
क्रमेयं त्वां गिरिं चैव हनूमानिव सागरम् ॥ ९ ॥

यदि शास्त्रोंके द्वारा मुझे उन भूतभावन भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान न होता, तो मैं तुम्हींको क्या इस पर्वतको भी उसी प्रकार लाँघ जाता, जैसे हनुमान्‌जी समुद्रको लाँघ गये थे ॥ ९ ॥

हनूमानुवाच

क एष हनुमान् नाम सागरो येन लङ्घितः ।
पृच्छामि त्वां कुरुश्रेष्ठ कथ्यतां यदि शक्यते ॥ १० ॥

हनुमान्‌जी बोले—नरश्रेष्ठ ! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ, वह हनुमान् कौन था ? जो समुद्रको लाँघ गया था । उसके विषयमें यदि तुम कुछ कह सको तो कहो ॥ १० ॥

भीम उवाच

भ्राता मम गुणश्लाघ्यो बुद्धिसत्त्वबलान्वितः ।
रामायणेऽतिविख्यातः श्रीमान् वानरपुङ्गवः ॥ ११ ॥

भीमसेनने कहा—वानरप्रवर श्रीहनुमान्‌जी मेरे बड़े भाई हैं । वे अपने सद्गुणोंके कारण सबके लिये प्रशंसनीय हैं। वे बुद्धि, बल, धैर्य एवं उत्साहसे युक्त हैं । रामायणमें उनकी बड़ी ख्याति है ॥ ११ ॥

रामपत्नीकृते येन शतयोजनविस्तृतः ।
सागरः प्लवगेन्द्रेण क्रमेणैकेन लङ्घितः ॥ १२ ॥

वे वानरश्रेष्ठ हनुमान् श्रीरामचन्द्रजीकी पत्नी सीताजीकी खोज करनेके लिये सौ योजन विस्तृत समुद्रको एक ही छलाँगमें लाँघ गये थे ॥ १२ ॥

स मे भ्राता महावीर्यस्तुल्योऽहं तस्य तेजसा।
बले पराक्रमे युद्धे शक्तोऽहं तव निग्रहे ॥ १३ ॥

वे महापराक्रमी वानरवीर मेरे भाई लगते हैं । मैं भी उन्हींके समान तेजस्वी, बलवान् और पराक्रमी हूँ तथा युद्धमें तुम्हें परास्त कर सकता हूँ ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठ देहि मे मार्गं पश्य मे चाद्य पौरुषम् ।
मच्छासनमकुर्वाणं त्वां वा नेष्ये यमक्षयम् ॥ १४ ॥

उठो और मुझे रास्ता दो तथा आज मेरा पराक्रम अपनी आँखों देख लो । यदि मेरी आज्ञा नहीं मानोगे, तो तुम्हें यमलोक भेज दूँगा ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

विज्ञाय तं बलोन्मत्तं बाहुवीर्येण दर्पितम् ।
हृदयेनावहस्यैनं हनूमान् वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमसेनको बलके अभिमानसे उन्मत्त तथा अपनी भुजाओंके पराक्रमसे घमंडमें भरा हुआ जान हनुमान्‌जीने मन-ही-मन उनका उपहास करते हुए उनसे इस प्रकार कहा—॥ १५ ॥

हनूमानुवाच

प्रसीद नास्ति मे शक्तिरुत्थातुं जरयानघ ।
ममानुकम्पया त्वेतत् पुच्छमुत्सार्य गम्यताम् ॥ १६ ॥

हनुमान्‌जी बोले—अनघ ! मुझपर कृपा करो । बुढ़ापेके कारण मुझमें उठनेकी शक्ति नहीं रह गयी है । इसलिये मेरे ऊपर दया करके इस पूँछको हटा दो और निकल जाओ ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते हनुमता हीनवीर्यपराक्रमम् ।
मनसाचिन्तयद् भीमः स्वबाहुबलदर्पितः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर अपने बाहुबलका घमंड रखनेवाले भीमने मन-ही-मन उन्हें बल और पराक्रमसे हीन समझा ॥ १७ ॥

पुच्छे प्रगृह्य तरसा हीनवीर्यपराक्रमम् ।
सालोक्यमन्तकस्यैनं नयाम्यद्येह वानरम् ॥ १८ ॥

और भीतर-ही-भीतर यह संकल्प किया कि 'आज मैं इस बल और पराक्रमसे शून्य वानरको वेगपूर्वक इसकी पूँछ पकड़कर यमराजके लोकमें भेज देता हूँ' ॥ १८ ॥

सावज्ञमथ वामेन स्मयञ्जग्राह पाणिना ।
न चाशकच्चालयितुं भीमः पुच्छं महाकपेः ॥ १९ ॥

ऐसा सोचकर उन्होंने बड़ी लापरवाही दिखाते और मुसकराते हुए अपने बायें हाथसे उस महाकपिकी पूँछ पकड़ी, किंतु वे उसे हिला-डुला भी न सके ॥ १९ ॥

उच्चिक्षेप पुनर्दोर्भ्यामिन्द्रायुधमिवोच्छ्रितम् ।
नोद्धर्तुमशकद् भीमो दोर्भ्यामपि महाबलः ॥ २० ॥

तब महाबली भीमसेनने उनकी इन्द्र-धनुषके समान ऊँची पूँछको दोनों हाथोंसे उठानेका पुनः प्रयत्न किया, परंतु दोनों हाथ लगा देनेपर भी वे उसे उठा न सके ॥ २० ॥

उत्क्षिप्तभ्रूर्विवृत्ताक्षः संहतभ्रुकुटीमुखः ।
स्विन्नगात्रोऽभवद् भीमो न चोद्धर्तुं शशाक तम् ॥ २१ ॥

फिर तो उनकी भौंहें तन गयीं, आँखें फटी-सी रह गयीं, मुखमण्डलमें भ्रुकुटी स्पष्ट दिखायी देने लगी और उनके सारे अङ्ग पसीनेसे तर हो गये । फिर भी भीमसेन हनुमान्‌जीकी पूँछको किञ्चित् भी हिला न सके ॥ २१ ॥

यत्नवानपि तु श्रीमाँल्लाङ्गूलोद्धरणोद्धुरः ।
कपेः पार्श्वगतो भीमस्तस्थौ व्रीडानताननः ॥ २२ ॥
प्रणिपत्य च कौन्तेयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
प्रसीद कपिशार्दूल दुरुक्तं क्षम्यतां मम ॥ २३ ॥

यद्यपि श्रीमान् भीमसेन उस पूँछको उठानेमें सर्वथा समर्थ थे और उसके लिये उन्होंने बहुत प्रयत्न भी किया, तथापि सफल न हो सके । इससे उनका मुँह लज्जासे झुक गया और वे कुन्तीकुमार भीम हनुमान्‌जीके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए खड़े होकर बोले—'कपिप्रवर ! मैंने जो कठोर बातें कही हों, उन्हें क्षमा कीजिये और मुझपर प्रसन्न होइये ॥ २२–२३ ॥

सिद्धो वा यदि वा देवो गन्धर्वो वाथ गुह्यकः ।
पृष्टः सन् कामया ब्रूहि कस्त्वं वानररूपधृक् ॥ २४ ॥

'आप कोई सिद्ध हैं या देवता ? गन्धर्व हैं या गुह्यक ? मैं परिचय जाननेकी इच्छासे पूछ रहा हूँ । बतलाइये, इस प्रकार वानरका रूप धारण करनेवाले आप कौन हैं ? ॥ २४ ॥

न चेद् गुह्यं महाबाहो श्रोतव्यं चेद् भवेन्मम ।
शिष्यवत् त्वां तु पृच्छामि उपपन्नोऽस्मि तेऽनघ ॥ २५ ॥

'महाबाहो ! यदि कोई गुप्त बात न हो और वह मेरे सुनने-योग्य हो, तो बताइये । अनघ ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ और शिष्यभावसे पूछता हूँ । अतः अवश्य बतानेकी कृपा करें' ॥ २५ ॥

हनुमानुवाच

यत् ते मम परिज्ञाने कौतूहलमरिंदम ।
तत् सर्वमखिलेन त्वं शृणु पाण्डवनन्दन ॥ २६ ॥

हनुमान्‌जी बोले—शत्रुदमन पाण्डुनन्दन ! तुम्हारे मनमें मेरा परिचय प्राप्त करनेके लिये जो कौतूहल हो रहा है, उसकी शान्तिके लिये सब बातें विस्तारपूर्वक सुनो ॥ २६ ॥

अहं केसरिणः क्षेत्रे वायुना जगदायुषा ।
जातः कमलपत्राक्ष हनूमान् नाम वानरः ॥ २७ ॥

कमलनयन भीम ! मैं वानरश्रेष्ठ केसरीके क्षेत्रमें जगत्‌के प्राणस्वरूप वायुदेवसे उत्पन्न हुआ हूँ । मेरा नाम हनुमान् वानर है ॥ २७ ॥

सूर्यपुत्रं च सुग्रीवं शक्रपुत्रं च वालिनम् ।
सर्वे वानरराजानस्तथा वानरयूथपाः ॥ २८ ॥
उपतस्थुर्महावीर्या मम चामित्रकर्षण ।
सुग्रीवेणाभवत् प्रीतिरनिलस्याग्निना यथा ॥ २९ ॥

पूर्वकालमें सभी वानरराज और वानरयूथपति, जो महान् पराक्रमी थे, सूर्यनन्दन सुग्रीव तथा इन्द्रकुमार वाली-की सेवामें उपस्थित रहते थे । शत्रुसूदन भीम ! उन दिनों सुग्रीवके साथ मेरी वैसी ही प्रेमपूर्ण मित्रता थी, जैसी वायुकी अग्निके साथ मानी गयी है ॥ २८–२९ ॥

निकृतः स ततो भ्रात्रा कस्मिंश्चित् कारणान्तरे ।
ऋष्यमूके मया सार्धं सुग्रीवो न्यवसच्चिरम् ॥ ३० ॥

किसी कारणान्तरसे वालीने अपने भाई सुग्रीवको घरसे निकाल दिया, तब बहुत दिनोंतक वे मेरे साथ ऋष्यमूक पर्वतपर रहे ॥ ३० ॥

अथ दाशरथिर्वीरो रामो नाम महाबलः ।
विष्णुर्मानुषरूपेण चचार वसुधातलम् ॥ ३१ ॥

उस समय महाबली वीर दशरथनन्दन श्रीराम, जो साक्षात् भगवान् विष्णु ही थे, मनुष्यरूप धारण करके इस भूतलपर विचर रहे थे ॥ ३१ ॥

स पितुः प्रियमन्विच्छन् सहभार्यः सहानुजः ।
सधनुर्धन्विनां श्रेष्ठो दण्डकारण्यमाश्रितः ॥ ३२ ॥

वे अपने पिताकी आज्ञा पालन करनेके लिये पत्नी सीता

और छोटे भाई लक्ष्मणके साथ दण्डकारण्यमें चले आये। धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ रघुनाथजी सदा धनुष-बाण लिये रहते थे॥

तस्य भार्या जनस्थानाच्छलेनापहृता बलात्।
राक्षसेन्द्रेण बलिना रावणेन दुरात्मना॥ ३३॥
सुवर्णरत्नचित्रेण मृगरूपेण रक्षसा।
वञ्चयित्वा नरव्याघ्रं मारीचेन तदानघ॥ ३४॥

अनघ! दण्डकारण्यमें आकर वे जनस्थानमें रहा करते थे। एक दिन अत्यन्त बलवान् दुरात्मा राक्षसराज रावण मायासे सुवर्ण-रत्नमय विचित्र मृगका रूप धारण करनेवाले मारीच नामक राक्षसके द्वारा नरश्रेष्ठ श्रीरामको धोखेमें डालकर उनकी पत्नी सीताको छल-बलपूर्वक हर ले गया॥ ३३-३४॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनुमद्भीमसंवादे सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें हनुमान्‌जी और भीमसेनका संवाद-विषयक एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४७॥

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

हनुमान्‌जीका भीमसेनको संक्षेपसे श्रीरामका चरित्र सुनाना

हनूमानुवाच

हृतदारः सह भ्रात्रा पत्नीं मार्गन् स राघवः।
दृष्टवाञ्शैलशिखरे सुग्रीवं वानरर्षभम्॥ १॥

हनुमान्‌जी कहते हैं—भीमसेन! इस प्रकार स्त्रीका अपहरण हो जानेपर अपने भाईके साथ उसकी खोज करते हुए श्रीरघुनाथजी जनस्थानसे आगे बढ़े। उन्होंने ऋष्यमूक पर्वतके शिखरपर रहनेवाले वानरराज सुग्रीवसे भेंट की॥

तेन तस्याभवत् सख्यं राघवस्य महात्मनः।
स हत्वा वालिनं राज्ये सुग्रीवमभिषिक्तवान्॥ २॥

वहाँ सुग्रीवके साथ महात्मा श्रीरघुनाथजीकी मित्रता हो गयी। तब उन्होंने वालीको मारकर किष्किन्धाके राज्यपर सुग्रीवका अभिषेक कर दिया॥ २॥

स राज्यं प्राप्य सुग्रीवः सीतायाः परिमार्गणे।
वानरान् प्रेषयामास शतशोऽथ सहस्रशः॥ ३॥

राज्य पाकर सुग्रीवने सीताजीकी खोजके लिये सौ-सौ तथा हजार-हजार वानरोंकी टोली इधर-उधर भेजी॥ ३॥

ततो वानरकोटीभिः सहितोऽहं नरर्षभ।
सीतां मार्गन् महाबाहो प्रयातो दक्षिणां दिशम्॥ ४॥

नरश्रेष्ठ! महाबाहो! उस समय करोड़ों वानरोंके साथ मैं भी सीताजीका पता लगाता हुआ दक्षिण दिशाकी ओर गया॥ ४॥

ततः प्रवृत्तिः सीताया गृध्रेण सुमहात्मना।
सम्पातिना समाख्याता रावणस्य निवेशने॥ ५॥

तदनन्तर गृध्रजातीय महाबुद्धिमान् सम्पातिने सीताजीके सम्बन्धमें यह समाचार दिया कि वे रावणके नगरमें विद्यमान हैं॥ ५॥

ततोऽहं कार्यसिद्ध्यर्थं रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
शतयोजनविस्तीर्णमर्णवं सहसाऽप्लुतः॥ ६॥

तब मैं अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरघुनाथजीकी कार्यसिद्धिके लिये सहसा सौ योजन विस्तृत समुद्रको लाँघ गया॥ ६॥

अहं स्ववीर्यादुत्तीर्य सागरं मकरालयम्।
सुतां जनकराजस्य सीतां सुरसुतोपमाम्॥ ७॥
दृष्टवान् भरतश्रेष्ठ रावणस्य निवेशने।
समेत्य तामहं देवीं वैदेहीं राघवप्रियाम्॥ ८॥
दग्ध्वा लङ्कामशेषेण साट्टप्राकारतोरणाम्।
प्रत्यागतश्चास्य पुनर्नाम तत्र प्रकाश्य वै॥ ९॥

भरतश्रेष्ठ! मगर और ग्राह आदिसे भरे हुए उस समुद्रको अपने पराक्रमसे पार करके मैं रावणके नगरमें देवकन्याके समान तेजस्विनी जनकराजनन्दिनी सीतासे मिला। रघुनाथजीकी प्रियतमा विदेहराजकुमारी सीतादेवीसे भेंट करके अट्टालिका, चहारदिवारी और नगरद्वारसहित समूची लङ्कापुरीको जलाकर वहाँ श्रीराम-नामकी घोषणा करके मैं पुनः लौट आया॥ ७-९॥

मद्वाक्यं चावधार्याशु रामो राजीवलोचनः।
स बुद्धिपूर्वं सैन्यस्य बद्ध्वा सेतुं महोदधौ॥ १०॥
वृतो वानरकोटीभिः समुत्तीर्णो महार्णवम्।
ततो रामेण वीरेण हत्वा तान् सर्वराक्षसान्॥ ११॥
रणे तु राक्षसगणं रावणं लोकरावणम्।
निशाचरेन्द्रं हत्वा तु सभ्रातृसुतबान्धवम्॥ १२॥

मेरी बात मानकर कमलनयन-भगवान् श्रीरामने बुद्धिपूर्वक विचार करके सैनिकोंकी सलाहसे महासागरपर पुल बँधवाया और करोड़ों वानरोंसे घिरे हुए वे महासमुद्रको पार करके लङ्कापर जा चढ़े। तदनन्तर वीरवर श्रीरामने उन समस्त राक्षसोंको मारकर युद्धमें समस्त लोकोंको रुलानेवाले राक्षसराज रावणको भी भाई, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित मार डाला॥ १०-१२॥

राज्येऽभिषिच्य लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम्।
धार्मिकं भक्तिमन्तं च भक्तानुगतवत्सलम् ॥ १३ ॥
ततः प्रत्याहृता भार्या नष्टा वेदश्रुतिर्यथा ।
तयैव सहितः साध्व्या पत्न्या रामो महायशाः ॥ १४ ॥
गत्वा ततोऽतित्वरितः स्वां पुरीं रघुनन्दनः ।
अध्यावसत् ततोऽयोध्यामयोध्यां द्विषतां प्रभुः ॥ १५ ॥
ततः प्रतिष्ठितो राज्ये रामो नृपतिसत्तमः ।
वरं मया याचितोऽसौ रामो राजीवलोचनः ॥ १६ ॥
यावद् राम कथेयं ते भवेल्लोकेषु शत्रुहन् ।
तावज्जीवेयमित्येवं तथास्त्विति च सोऽब्रवीत् ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् धर्मात्मा, भक्तिमान् तथा भक्तों और सेवकोंपर स्नेह रखनेवाले राक्षसराज विभीषणको लङ्काके राज्यपर अभिषिक्त किया और खोयी हुई वैदिकी श्रुतिकी भाँति अपनी पत्नीका वहाँसे उद्धार करके महायशस्वी रघुनन्दन श्रीराम अपनी उस साध्वी पत्नीके साथ ही बड़ी उतावलीके साथ अपनी अयोध्यापुरीमें लौट आये। इसके बाद शत्रुओं-को भी वशमें करनेवाले नृपश्रेष्ठ भगवान् श्रीराम अवधके राज्यसिंहासनपर आसीन हो उस अजेय अयोध्यापुरीमें रहने लगे। उस समय मैंने कमलनयन श्रीरामसे यह वर माँगा कि 'शत्रुसूदन! जबतक आपकी यह कथा संसारमें प्रचलित रहे, तबतक मैं अवश्य जीवित रहूँ'। भगवान्ने 'तथास्तु' कहकर मेरी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली ॥ १३–१७ ॥

सीताप्रसादाच्च सदा मामिहस्थमरिंदम ।
उपतिष्ठन्ति दिव्या हि भोगा भीम यथेप्सिताः ॥ १८ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले भीमसेन! श्रीसीताजीकी कृपासे यहाँ रहते हुए ही मुझे इच्छानुसार सदा दिव्य भोग प्राप्त हो जाते हैं ॥ १८ ॥

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
राज्यं कारितवान् रामस्ततः स्वभवनं गतः ॥ १९ ॥

श्रीरामजीने ग्यारह हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीपर राज्य किया, फिर वे अपने परम धामको चले गये ॥ १९ ॥

तदिहाप्सरसस्तात गन्धर्वाश्च सदानघ ।
तस्य वीरस्य चरितं गायन्तो रमयन्ति माम् ॥ २० ॥

निष्पाप भीम! इस स्थानपर गन्धर्व और अप्सराएँ वीरवर रघुनाथजीके चरित्रोंको गाकर मुझे आनन्दित करते रहते हैं ॥ २० ॥

अयं च मार्गो मर्त्यानामगम्यः कुरुनन्दन ।
ततोऽहं रुद्धवान् मार्गं तवेमं देवसेवितम् ॥ २१ ॥
धर्षयेद् वा शपेद् वापि मा कश्चिदिति भारत ।
दिव्यो देवपथो ह्येष नात्र गच्छन्ति मानुषाः ।
यदर्थमागतश्चासि अत एव सरश्च तत् ॥ २२ ॥

कुरुनन्दन! यह मार्ग मनुष्योंके लिये अगम्य है। अतः इस देवसेवित पथको मैंने इसीलिये तुम्हारे लिये रोक दिया था, कि इस मार्गसे जानेपर कोई तुम्हारा तिरस्कार न कर दे या शाप न दे दे; क्योंकि यह दिव्य देवमार्ग है। इसपर मनुष्य नहीं जाते हैं। भारत! तुम जहाँ जानेके लिये आये हो, वह सरोवर तो यहीं है ॥ २१-२२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनुमद्भीमसंवादे अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें हनुमान्जी और भीमसेनका संवादनामक एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हनुमान्जीके द्वारा चारों युगोंके धर्मोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो महाबाहुर्भीमसेनः प्रतापवान् ।
प्रणिपत्य ततः प्रीत्या भ्रातरं हृष्टमानसः ॥ १ ॥
उवाच श्लक्ष्णया वाचा हनूमन्तं कपीश्वरम् ।
मया धन्यतरो नास्ति यदार्यं दृष्टवानहम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हनुमान्जीके ऐसा कहनेपर प्रतापी वीर महाबाहु भीमसेनके मनमें बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने बड़े प्रेमसे अपने भाई वानरराज हनुमान्-को प्रणाम करके मधुर वाणीमें कहा—'अहा! आज मेरे समान बड़भागी दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि आज मुझे अपने ज्येष्ठ भ्राताका दर्शन हुआ है ॥ १-२ ॥

अनुग्रहो मे सुमहांस्तृप्तिश्च तव दर्शनात् ।
एकं तु कृतमिच्छामि त्वयाद्य प्रियमात्मनः ॥ ३ ॥

'आर्य! आपने मुझपर बड़ी कृपा की है। आपके दर्शनसे मुझे बड़ा सुख मिला है। अब मैं पुनः आपके द्वारा अपना एक और प्रिय कार्य पूर्ण करना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

यत् ते तदाऽऽसीत् प्लवतः सागरं मकरालयम् ।
रूपमप्रतिमं वीर तदिच्छामि निरीक्षितुम् ॥ ४ ॥

एवं तुष्टो भविष्यामि श्रद्धास्यामि च ते वचः ।
एवमुक्तः स तेजस्वी प्रहस्य हरिरब्रवीत् ॥ ५ ॥

'वीरवर ! मकरालय समुद्रको लाँघते समय आपने जो अनुपम रूप धारण किया था, उसका दर्शन करनेकी मुझे बड़ी इच्छा हो रही है। उसे देखनेसे मुझे संतोष तो होगा ही, आपकी बातपर श्रद्धा भी हो जायगी।' भीमसेनके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी हनुमान्‌जीने हँसकर कहा—॥ ४-५ ॥

न तच्छक्यं त्वया द्रष्टुं रूपं नान्येन केनचित् ।
कालावस्था तदा ह्यन्या वर्तते सा न साम्प्रतम्॥ ६ ॥

'भैया ! तुम उस स्वरूपको नहीं देख सकते, कोई दूसरा मनुष्य भी उसे नहीं देख सकता। उस समयकी अवस्था कुछ और ही थी; अब वह नहीं है ॥ ६ ॥

अन्यः कृतयुगे कालस्त्रेतायां द्वापरे परः ।
अयं प्रध्वंसनः कालो नाद्य तद् रूपमस्ति मे ॥ ७ ॥
भूमिर्नद्यो नगाः शैलाः सिद्धा देवा महर्षयः ।
कालं समनुवर्तन्ते यथा भावा युगे युगे ॥ ८ ॥
बलवर्ष्मप्रभावा हि प्रहीयन्त्युद्भवन्ति च ।
तदलं बत तद् रूपं द्रष्टुं कुरुकुलोद्वह ।
युगं समनुवर्तामि कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ९ ॥

'सत्ययुगका समय दूसरा था तथा त्रेता और द्वापरका दूसरा ही है। यह काल सभी वस्तुओंको नष्ट करनेवाला है। अब मेरा वह रूप है ही नहीं। पृथ्वी, नदी, वृक्ष, पर्वत, सिद्ध, देवता और महर्षि—ये सभी कालका अनुसरण करते हैं। प्रत्येक युगके अनुसार सभी वस्तुओंके शरीर, बल और प्रभावमें न्यूनाधिकता होती रहती है। अतः कुरुश्रेष्ठ ! तुम उस स्वरूपको देखनेका आग्रह न करो। मैं भी युगका अनुसरण करता हूँ; क्योंकि कालका उल्लङ्घन करना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है' ॥ ७-९ ॥

भीम उवाच

युगसंख्यां समाचक्ष्व आचारं च युगे युगे ।
धर्मकामार्थभावांश्च कर्मवीर्यं भवाभवौ ॥ १० ॥

भीमसेनने कहा—कपिप्रवर ! आप मुझे युगोंकी संख्या बताइये और प्रत्येक युगमें जो आचार, धर्म, अर्थ एवं कामके तत्त्व, शुभाशुभ कर्म, उन कर्मोंकी शक्ति तथा उत्पत्ति और विनाशादि भाव होते हैं, उनका भी वर्णन कीजिये॥

हनूमानुवाच

कृतं नाम युगं तात यत्र धर्मः सनातनः ।
कृतमेव न कर्तव्यं तस्मिन् काले युगोत्तमे ॥ ११ ॥

हनुमान्‌जी बोले—तात ! सबसे पहला कृतयुग है। उसमें सनातन धर्मकी पूर्ण स्थिति रहती है। उसका कृतयुग नाम इसलिये पड़ा है कि उस उत्तम युगके लोग अपना कर्तव्य कर्म सम्पन्न ही कर लेते थे। उनके लिये कुछ करना शेष नहीं रहता था (अतः 'कृतम् एव सर्वं शुभं यस्मिन् युगे' इस व्युत्पत्तिके अनुसार वह 'कृतयुग' कहलाया)॥ ११॥

न तत्र धर्माः सीदन्ति क्षीयन्ते न च वै प्रजाः ।
ततः कृतयुगं नाम कालेन गुणतां गतम् ॥ १२ ॥

उस समय धर्मका ह्रास नहीं होता था। प्रजाका अर्थात् (माता-पिताके रहते हुए) संतानका नाश नहीं होता था। तदनन्तर कालक्रमसे उसमें गौणता आ गयी ॥ १२ ॥

देवदानवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः ।
नासन् कृतयुगे तात तदा न क्रयविक्रयः ॥ १३ ॥

तात ! कृतयुगमें देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग नहीं थे अर्थात् ये परस्पर भेद-भाव नहीं रखते थे। उस समय क्रय-विक्रयका व्यवहार भी नहीं था ॥ १३ ॥

न सामऋग्यजुर्वर्णाः क्रिया नासीच्च मानवी ।
अभिध्याय फलं तत्र धर्मः संन्यास एव च ॥ १४ ॥

ऋक्, साम और यजुर्वेदके मन्त्रवर्णोंका पृथक्-पृथक् विभाग नहीं था। कोई मानवी क्रिया (कृषि आदि) भी नहीं होती थी। उस समय चिन्तन करनेमात्रसे सबको अभीष्ट फलकी प्राप्ति हो जाती थी। सत्ययुगमें एक ही धर्म था, स्वार्थका त्याग ॥ १४ ॥

न तस्मिन् युगसंसर्गे व्याधयो नेन्द्रियक्षयः ।
नासूया नापि रुदितं न दर्पो नापि वैकृतम् ॥ १५ ॥

उस युगमें बीमारी नहीं होती थी। इन्द्रियोंमें भी क्षीणता नहीं आने पाती थी। कोई किसीके गुणोंमें दोष-दर्शन नहीं करता था। किसीको दुःखसे रोना नहीं पड़ता था और न किसीमें घमंड था तथा न कोई अन्य विकार ही होता था ॥

न विग्रहः कुतस्तन्द्री न द्वेषो न च पैशुनम् ।
न भयं नापि संतापो न चेर्ष्या न च मत्सरः ॥ १६ ॥

कहीं लड़ाई-झगड़ा नहीं था, आलसी भी नहीं थे। द्वेष, चुगली, भय, संताप, ईर्ष्या और मात्सर्य भी नहीं था* ॥

ततः परमकं ब्रह्म सा गतिर्योगिनां परा ।
आत्मा च सर्वभूतानां शुक्लो नारायणस्तदा ॥ १७ ॥

उस समय योगियोंके परम आश्रय और सम्पूर्ण भूतोंकी अन्तरात्मा परब्रह्मस्वरूप भगवान् नारायणका वर्ण शुक्ल था॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च कृतलक्षणाः ।
कृते युगे समभवन् स्वकर्मनिरताः प्रजाः ॥ १८ ॥

* सत्ययुगके मनुष्य आदि प्राणियोंमें दोषोंका अभाव बतलाया है, उसका यह अभिप्राय समझना चाहिये कि अधिकांशमें उनमें ये दोष नहीं थे।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी शम-दम आदि स्वभावसिद्ध शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न थे। सत्ययुगमें समस्त प्रजा अपने-अपने कर्तव्यकर्मोंमें तत्पर रहती थी ॥ १८ ॥

समाश्रयं समाचारं समज्ञानं च केवलम्।
तदा हि समकर्माणो वर्णा धर्मानवाप्नुवन् ॥ १९ ॥

उस समय परब्रह्म परमात्मा ही सबके एकमात्र आश्रय थे। उन्हींकी प्राप्तिके लिये सदाचारका पालन किया जाता था। सब लोग एक परमात्माका ही ज्ञान प्राप्त करते थे। सभी वर्णोंके मनुष्य परब्रह्म परमात्माके उद्देश्यसे ही समस्त सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते थे और इस प्रकार उन्हें उत्तम धर्म-फलकी प्राप्ति होती थी ॥ १९ ॥

एकदेवसदायुक्ता एकमन्त्रविधिक्रियाः।
पृथग्धर्मास्त्वेकवेदा धर्ममेकमनुव्रताः ॥ २० ॥

सब लोग सदा एक परमात्मदेवमें ही चित्त लगाये रहते थे। सब लोग एक परमात्माके ही नामका जप और उन्हींकी सेवा-पूजा किया करते थे। सबके वर्णाश्रमानुसार पृथक्-पृथक् धर्म होनेपर भी वे एकमात्र वेदको ही माननेवाले थे और एक ही सनातनधर्मके अनुयायी थे ॥ २० ॥

चातुराश्रम्ययुक्तेन कर्मणा कालयोगिना।
अकामफलसंयोगात् प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ॥ २१ ॥

सत्ययुगके लोग समय-समयपर किये जानेवाले चार आश्रमसम्बन्धी सत्कर्मोंका अनुष्ठान करके कर्मफलकी कामना और आसक्ति न होनेके कारण परम गति प्राप्त कर लेते थे ॥

आत्मयोगसमायुक्तो धर्मोऽयं कृतलक्षणः।
कृते युगे चतुष्पादश्चातुर्वर्ण्यस्य शाश्वतः ॥ २२ ॥

चित्तवृत्तियोंको परमात्मामें स्थापित करके उनके साथ एकताकी प्राप्ति करानेवाला यह योग नामक धर्म सत्ययुगका सूचक है। सत्ययुगमें चारों वर्णोंका यह सनातन धर्म चारों चरणोंसे सम्पन्न—सम्पूर्ण रूपसे विद्यमान था ॥ २२ ॥

एतत् कृतयुगं नाम त्रैगुण्यपरिवर्जितम्।
त्रेतामपि निबोध त्वं यस्मिन् सत्रं प्रवर्तते ॥ २३ ॥

यह तीनों गुणोंसे रहित सत्ययुगका वर्णन हुआ। अब त्रेताका वर्णन सुनो, जिसमें यज्ञ-कर्मका आरम्भ होता है ॥ २३॥

पादेन ह्रसते धर्मो रक्ततां याति चाच्युतः।
सत्यप्रवृत्ताश्च नराः क्रियाधर्मपरायणाः ॥ २४ ॥

उस समय धर्मके एक चरणका ह्रास हो जाता है और भगवान् अच्युतका स्वरूप लाल वर्णका हो जाता है। लोग सत्यमें तत्पर रहते हैं। शास्त्रोक्त यज्ञक्रिया तथा धर्मके पालनमें परायण रहते हैं ॥ २४ ॥

ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते धर्माश्च विविधाः क्रियाः।
त्रेतायां भावसंकल्पाः क्रियादानफलोपगाः ॥ २५ ॥

त्रेतायुगमें ही यज्ञ, धर्म तथा नाना प्रकारके सत्कर्म आरम्भ होते हैं। लोगोंको अपनी भावना तथा संकल्पके अनुसार वेदोक्त कर्म तथा दान आदिके द्वारा अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥

प्रचलन्ति न वै धर्मात् तपोदानपरायणाः।
स्वधर्मस्थाः क्रियावन्तो नरास्त्रेतायुगेऽभवन् ॥ २६ ॥

त्रेतायुगके मनुष्य तप और दानमें तत्पर रहकर अपने धर्मसे कभी विचलित नहीं होते थे। सभी स्वधर्मपरायण तथा क्रियावान् थे ॥ २६ ॥

द्वापरे च युगे धर्मो द्विभागोनः प्रवर्तते।
विष्णुर्वै पीततां याति चतुर्धा वेद एव च ॥ २७ ॥

द्वापरमें हमारे धर्मके दो ही चरण रह जाते हैं, उस समय भगवान् विष्णुका स्वरूप पीले वर्णका हो जाता है और वेद (ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन) चार भागोंमें बँट जाता है ॥ २७ ॥

ततोऽन्ये च चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथापरे।
द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाप्यनृचश्च तथापरे ॥ २८ ॥

उस समय कुछ द्विज चार वेदोंके ज्ञाता, कुछ तीन वेदोंके विद्वान्, कुछ दो ही वेदोंके जानकार, कुछ एक ही वेदके पण्डित और कुछ वेदकी ऋचाओंके ज्ञानसे सर्वथा शून्य होते हैं ॥ २८ ॥

एवं शास्त्रेषु भिन्नेषु बहुधा नीयते क्रिया।
तपोदानप्रवृत्ता च राजसी भवति प्रजा ॥ २९ ॥

इस प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रोंके होनेसे उनके बताये हुए कर्मोंमें भी अनेक भेद हो जाते हैं तथा प्रजा तप और दान—इन दो ही धर्मोंमें प्रवृत्त होकर राजसी हो जाती है ॥ २९ ॥

एकवेदस्य चाज्ञानाद् वेदास्ते बहवः कृताः।
सत्त्वस्य चेह विभ्रंशात् सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥ ३० ॥

द्वापरमें सम्पूर्ण एक वेदका भी ज्ञान न होनेसे वेदके बहुत-से विभाग कर लिये गये हैं। इस युगमें सात्त्विक बुद्धिका क्षय होनेसे कोई विरला ही सत्यमें स्थित होता है ॥ ३० ॥

सत्यात् प्रच्यवमानानां व्याधयो बहवोऽभवन्।
कामाश्चोपद्रवाश्चैव तदा वै दैवकारिताः ॥ ३१ ॥

सत्यसे भ्रष्ट होनेके कारण द्वापरके लोगोंमें अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उनके मनमें अनेक प्रकारकी कामनाएँ पैदा होती हैं और वे बहुत-से दैवी उपद्रवोंसे भी पीड़ित हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

यैरर्द्यमानाः सुभृशं तपस्तप्यन्ति मानवाः।
कामकामाः स्वर्गकामा यज्ञांस्तन्वन्ति चापरे ॥ ३२ ॥

उन सबसे अत्यन्त पीड़ित होकर लोग तप करने लगते हैं। कुछ लोग भोग और स्वर्गकी कामनासे यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं ॥ ३२ ॥

एवं द्वापरमासाद्य प्रजाः क्षीयन्त्यधर्मतः।
पादेनैकेन कौन्तेय धर्मः कलियुगे स्थितः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार द्वापरयुगके आनेपर अधर्मके कारण प्रजा क्षीण होने लगती है। (तत्पश्चात् कलियुगका आगमन होता है।) कुन्तीनन्दन ! कलियुगमें धर्म एक ही चरणसे स्थित होता है ॥ ३३ ॥

तामसं युगमासाद्य कृष्णो भवति केशवः।
वेदाचाराः प्रशाम्यन्ति धर्मयज्ञक्रियास्तथा ॥ ३४ ॥

इस तमोगुणी युगको पाकर भगवान् विष्णुके श्रीविग्रहका रंग काला हो जाता है। वैदिक सदाचार, धर्म तथा यज्ञ-कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

ईतयो व्याधयस्तन्द्री दोषाः क्रोधादयस्तथा।
उपद्रवाः प्रवर्तन्ते आधयः क्षुद्भयं तथा ॥ ३५ ॥

ईति, व्याधि, आलस्य, क्रोध आदि दोष, मानसिक रोग तथा भूख-प्यासका भय—ये सभी उपद्रव बढ़ जाते हैं ॥३५॥

युगेष्वावर्तमानेषु धर्मो व्यावर्तते पुनः।
धर्मे व्यावर्तमाने तु लोको व्यावर्तते पुनः ॥ ३६ ॥

युगोंके परिवर्तन होनेपर आनेवाले युगोंके अनुसार धर्मका भी ह्रास होता जाता है। इस प्रकार धर्मके क्षीण होनेसे लोक (की सुख-सुविधा) का भी क्षय होने लगता है ॥ ३६ ॥

लोके क्षीणे क्षयं यान्ति भावा लोकप्रवर्तकाः।
युगक्षयकृता धर्माः प्रार्थनानि विकुर्वते ॥ ३७ ॥

लोकके क्षीण होनेपर उसके प्रवर्तक भावोंका भी क्षय हो जाता है। युग-क्षयजनित धर्म मनुष्यकी अभीष्ट कामनाओंके विपरीत फल देते हैं ॥ ३७ ॥

एतत् कलियुगं नाम अचिराद् यत् प्रवर्तते।
युगानुवर्तनं त्वेतत् कुर्वन्ति चिरजीविनः ॥ ३८ ॥

यह कलियुगका वर्णन किया गया, जो शीघ्र ही आनेवाला है। चिरजीवीलोग भी इस प्रकार युगका अनुसरण करते हैं ॥ ३८ ॥

यच्च ते मत्परिज्ञाने कौतूहलमरिंदम।
अनर्थकेषु को भावः पुरुषस्य विजानतः ॥ ३९ ॥

शत्रुदमन ! तुम्हें मेरे पुरातन स्वरूपको देखने या जाननेके लिये जो कौतूहल हुआ है, वह ठीक नहीं है। किसी भी समझदार मनुष्यका निरर्थक विषयोंके लिये आग्रह क्यों होना चाहिये ? ॥ ३९ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
युगसंख्यां महाबाहो स्वस्ति प्राप्नुहि गम्यताम् ॥ ४० ॥

महाबाहो ! तुमने युगोंकी संख्याके विषयमें मुझसे जो प्रश्न किया है, उसके उत्तरमें मैंने यह सब बातें बतायी हैं। तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम लौट जाओ ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कदलीषण्डे हनुमद्भीमसंवादे एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें कदलीवनके भीतर हनुमान्‌जी और भीमसेनका संवादविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४९ ॥

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हनुमान्‌जीके द्वारा भीमसेनको अपने विशाल रूपका प्रदर्शन और चारों वर्णोंके धर्मोंका प्रतिपादन

भीमसेन उवाच

पूर्वरूपमदृष्ट्वा ते न यास्यामि कथंचन।
यदि तेऽहमनुग्राह्यो दर्शयात्मानमात्मना ॥ १ ॥

भीमसेनने कहा—कपिप्रवर ! मैं आपका वह पूर्वरूप देखे बिना किसी प्रकार नहीं जाऊँगा। यदि मैं आपका कृपापात्र होऊँ, तो आप स्वयं ही अपने आपको मेरे सामने प्रकट कर दीजिये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु भीमेन स्मितं कृत्वा प्लवंगमः।
तद् रूपं दर्शयामास यद् वै सागरलङ्घने ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमसेनके ऐसा कहनेपर हनुमान्‌जीने मुसकराकर उन्हें अपना वह रूप दिखाया, जो उन्होंने समुद्र-लङ्घनके समय धारण किया था ॥

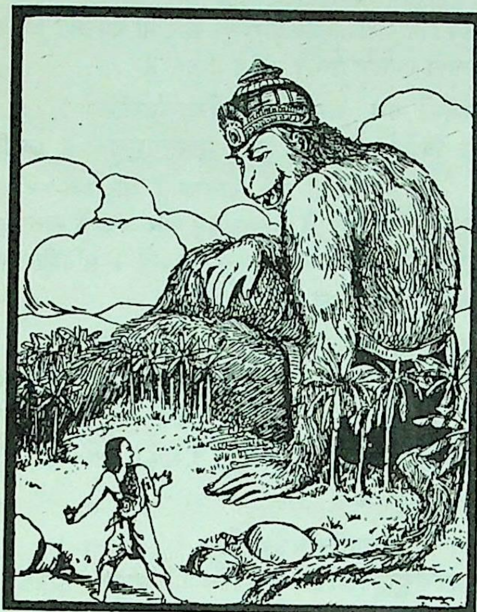
भ्रातुः प्रियमभीप्सन् वै चकार सुमहद् वपुः।
देहस्तस्य ततोऽतीव वर्धत्यायामविस्तरैः ॥ ३ ॥
सद्रुमं कदलीषण्डं छादयन्नमितद्युतिः।
गिरेश्चोच्छ्रयमाक्रम्य तस्थौ तत्र च वानरः ॥ ४ ॥

उन्होंने अपने भाईका प्रिय करनेकी इच्छासे अत्यन्त विशाल शरीर धारण किया। उनका शरीर लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाईमें बहुत बड़ा हो गया। वे अमित तेजस्वी वानरवीर वृक्षोंसहित समूचे कदलीवनको आच्छादित करते हुए गन्धमादन पर्वतकी ऊँचाईको भी लाँघकर वहाँ खड़े हो गये ॥ ३-४ ॥

समुच्छ्रितमहाकायो द्वितीय इव पर्वतः।
ताम्रेक्षणस्तीक्ष्णदंष्ट्रो भृकुटीकुटिलाननः ॥ ५ ॥

उनका वह उन्नत विशाल शरीर दूसरे पर्वतके समान

प्रतीत होता था। लाल आँखों, तीखी दाढ़ों और टेढ़ी भौंहोंसे युक्त उनका मुख था ॥ ५ ॥



दीर्घलाङ्गूलमाविध्य दिशो व्याप्य स्थितः कपिः।
तद् रूपं महदालक्ष्य भ्रातुः कौरवनन्दनः ॥ ६ ॥
विसिष्मिये तदा भीमो जहृषे च पुनः पुनः।
तमर्कमिव तेजोभिः सौवर्णमिव पर्वतम् ॥ ७ ॥
प्रदीप्तमिव चाकाशं दृष्ट्वा भीमो न्यमीलयत्।
आबभाषे च हनुमान् भीमसेनं स्मयन्निव ॥ ८ ॥

वे वानरवीर अपनी विशाल पूँछको हिलाते हुए सम्पूर्ण दिशाओंको घेरकर खड़े थे । भाईके उस विराट् रूपको देखकर कौरवनन्दन भीमको बड़ा आश्चर्य हुआ । उनके शरीरमें बार-बार हर्षसे रोमाञ्च होने लगा । हनुमान्‌जी तेजमें सूर्यके समान दिखायी देते थे । उनका शरीर सुवर्णमय मेरुपर्वतके समान था और उनकी प्रभासे सारा आकाशमण्डल प्रज्वलित-सा जान पड़ता था । उनकी ओर देखकर भीमसेनने दोनों आँखें बंद कर लीं । तब हनुमान्‌जी उनसे मुसकराते हुए-से बोले—॥ ६–८ ॥

एतावदिह शक्तस्त्वं द्रष्टुं रूपं ममानघ।
वर्धेऽहं चाप्यतो भूयो यावन्मे मनसि स्थितम्।
भीमशत्रुषु चात्यर्थं वर्धते मूर्तिरोजसा ॥ ९ ॥

'अनघ ! तुम यहाँ मेरे इतने ही बड़े रूपको देख सकते हो, परंतु मैं इससे भी बड़ा हो सकता हूँ । मेरे मनमें जितने बड़े स्वरूपकी भावना होती है, उतना ही मैं बढ़ सकता हूँ । भयानक शत्रुओंके समीप मेरी मूर्ति अत्यन्त ओजके साथ बढ़ती है' ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तदद्भुतं महारौद्रं विन्ध्यपर्वतसंनिभम्।
दृष्ट्वा हनूमतो वर्ष्म सम्भ्रान्तः पवनात्मजः ॥ १० ॥
प्रत्युवाच ततो भीमः सम्प्रहृष्टतनूरुहः।
कृताञ्जलिरदीनात्मा हनूमन्तमवस्थितम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! हनुमान्‌जीका वह विन्ध्य पर्वतके समान अत्यन्त भयंकर और अद्भुत शरीर देखकर वायुपुत्र भीमसेन घबरा गये । उनके शरीरमें रोंगटे खड़े होने लगे । उस समय उदारहृदय भीमने हाथ जोड़कर अपने सामने खड़े हुए हनुमान्‌जीसे कहा—॥

दृष्टं प्रमाणं विपुलं शरीरस्यास्य ते विभो।
संहरस्व महावीर्य स्वयमात्मानमात्मना ॥ १२ ॥

'प्रभो ! आपके इस शरीरका विशाल प्रमाण प्रत्यक्ष देख लिया । महापराक्रमी वीर ! अब आप स्वयं ही अपने शरीरको समेट लीजिये ॥ १२ ॥

न हि शक्नोमि त्वां द्रष्टुं दिवाकरमिवोदितम्।
अप्रमेयमनाधृष्यं मैनाकमिव पर्वतम् ॥ १३ ॥

'आप तो सूर्यके समान उदित हो रहे हैं । मैं आपकी ओर देख नहीं सकता । आप अप्रमेय तथा दुर्धर्ष मैनाक पर्वतके समान खड़े हैं ॥ १३ ॥

विस्मयश्चैव मे वीर सुमहान् मनसोऽद्य वै।
यद् रामस्त्वयि पार्श्वस्थे स्वयं रावणमभ्यगात् ॥ १४ ॥

'वीर ! आज मेरे मनमें इस बातको लेकर बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि आपके निकट रहते हुए भी भगवान् श्रीरामने स्वयं ही रावणका सामना किया ॥ १४ ॥

त्वमेव शक्तस्तां लङ्कां सयोधां सहवाहनाम्।
स्वबाहुबलमाश्रित्य विनाशयितुमञ्जसा ॥ १५ ॥

'आप तो अकेले ही अपने बाहुबलका आश्रय लेकर योद्धाओं और वाहनोंसहित समूची लङ्काको अनायास नष्ट कर सकते थे ॥ १५ ॥

न हि ते किंचिदप्राप्यं मारुतात्मज विद्यते।
तव नैकस्य पर्याप्तो रावणः सगणो युधि ॥ १६ ॥

'मारुतनन्दन ! आपके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है । समर-भूमिमें अपने सैनिकोंसहित रावण अकेले आपका ही सामना करनेमें समर्थ नहीं था' ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु भीमेन हनुमान् प्लवगोत्तमः।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं स्निग्धगम्भीरया गिरा ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमके ऐसा कहनेपर कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीने स्नेहयुक्त गम्भीर वाणीमें इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १७ ॥

हनूमानुवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत।
भीमसेन न पर्याप्तो ममासौ राक्षसाधमः॥ १८॥

हनुमान्‌जी बोले--भारत! महाबाहु भीमसेन! तुम जैसा कहते हो, ठीक ही है। वह अधम राक्षस वास्तवमें मेरा सामना नहीं कर सकता था॥ १८॥

मया तु निहते तस्मिन् रावणे लोककण्टके।
कीर्तिर्नश्येद् राघवस्य तत एतदुपेक्षितम्॥ १९॥

किंतु सम्पूर्ण लोकोंको काँटेके समान कष्ट देनेवाला रावण यदि मेरे ही हाथों मारा जाता, तो भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी कीर्ति नष्ट हो जाती। इसीलिये मैंने उसकी उपेक्षा कर दी॥ १९॥

तेन वीरेण तं हत्वा सगणं राक्षसाधमम्।
आनीता स्वपुरं सीता कीर्तिश्चाख्यापिता नृषु॥ २०॥

वीरवर श्रीरामचन्द्रजी सेनासहित उस अधम राक्षसका वध करके सीताजीको अपनी अयोध्यापुरीमें ले आये। इससे मनुष्योंमें उनकी कीर्तिका भी विस्तार हुआ॥ २०॥

तद् गच्छ विपुलप्रज्ञ भ्रातुः प्रियहिते रतः।
अरिष्टं क्षेममध्वानं वायुना परिरक्षितः॥ २१॥

अच्छा, महाप्राज्ञ! अब तुम अपने भाईके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहकर वायुदेवतासे सुरक्षित हो क्लेशरहित मार्गसे कुशलपूर्वक जाओ॥ २१॥

एष पन्थाः कुरुश्रेष्ठ सौगन्धिकवनाय ते।
द्रक्ष्यसे धनदोद्यानं रक्षितं यक्षराक्षसैः॥ २२॥

कुरुश्रेष्ठ! यह मार्ग सौगन्धिक वनको जाता है। इससे जानेपर तुम्हें कुबेरका बगीचा दिखायी देगा, जो यक्षों तथा राक्षसोंसे सुरक्षित है॥ २२॥

न च ते तरसा कार्यः कुसुमावचयः स्वयम्।
दैवतानि हि मान्यानि पुरुषेण विशेषतः॥ २३॥

वहाँ जाकर तुम जल्दीसे स्वयं ही उसके फूल न तोड़ने लगना। मनुष्योंको तो विशेषरूपसे देवताओंका सम्मान ही करना चाहिये॥ २३॥

बलिहोमनमस्कारैर्मन्त्रैश्च भरतर्षभ।
दैवतानि प्रसादं हि भक्त्या कुर्वन्ति भारत॥ २४॥

भरतश्रेष्ठ! पूजा, होम, नमस्कार, मन्त्रजप तथा भक्तिभावसे देवता प्रसन्न होकर कृपा करते हैं॥ २४॥

मा तात साहसं कार्षीः स्वधर्मं परिपालय।
स्वधर्मस्थः परं धर्मं बुध्यस्व गमयस्व च॥ २५॥

तात! तुम दुःसाहस न कर बैठना, अपने धर्मका पालन करना, स्वधर्ममें स्थित रहकर तुम श्रेष्ठ धर्मको समझो और उसका पालन करो॥ २५॥

न हि धर्ममविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य च।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि॥ २६॥

क्योंकि धर्मको जाने बिना और वृद्ध पुरुषोंकी सेवा किये बिना बृहस्पति-जैसे विद्वानोंके लिये भी धर्म और अर्थके तत्त्वको समझना सम्भव नहीं है॥ २६॥

अधर्मो यत्र धर्माख्यो धर्मश्चाधर्मसंज्ञितः।
स विज्ञेयो विभागेन यत्र मुह्यन्त्यबुद्धयः॥ २७॥

कहीं अधर्म ही धर्म कहलाता है और कहीं धर्म भी अधर्म कहा जाता है। अतः धर्म और अधर्मके स्वरूपका पृथक्-पृथक् ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। बुद्धिहीनलोग इसमें मोहित हो जाते हैं॥ २७॥

आचारसम्भवो धर्मो धर्मे वेदाः प्रतिष्ठिताः।
वेदैर्यज्ञाः समुत्पन्ना यज्ञैर्देवाः प्रतिष्ठिताः॥ २८॥

आचारसे धर्मकी उत्पत्ति होती है। धर्ममें वेदोंकी प्रतिष्ठा है। वेदोंसे यज्ञ प्रकट हुए हैं और यज्ञोंसे देवताओंकी स्थिति है॥ २८॥

वेदाचारविधानोक्तैर्यज्ञैर्धार्यन्ति देवताः।
बृहस्पत्युशनःप्रोक्तैर्नयैर्धार्यन्ति मानवाः॥ २९॥

वेदोक्त आचारके विधानसे बतलाये हुए यज्ञोंद्वारा देवताओंकी आजीविका चलती है और बृहस्पति तथा शुक्राचार्यकी कही हुई नीतियाँ मनुष्योंके जीवन-निर्वाहकी आधारभूमि हैं॥ २९॥

पण्याकरवणिज्याभिः कृष्यागोजाविपोषणैः।
विद्यया धार्यते सर्वं धर्मैरेतैर्द्विजातिभिः॥ ३०॥

हाट-बाजार करना, कर (लगान या टैक्स) लेना, व्यापार, खेती, गोपालन, भेड़ और बकरोंका पोषण तथा विद्या पढ़ना-पढ़ाना—इन धर्मानुकूल वृत्तियोंद्वारा द्विजगण सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षा करते हैं॥ ३०॥

त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तिस्रो विद्या विजानताम्।
ताभिः सम्यक् प्रयुक्ताभिर्लोकयात्रा विधीयते॥ ३१॥

वेदत्रयी, वार्ता (कृषि-वाणिज्य आदि) और दण्डनीति—ये तीन विद्याएँ हैं (इनमें वेदाध्ययन ब्राह्मणकी, वार्ता वैश्यकी और दण्डनीति क्षत्रियकी जीविकावृत्ति है)। विज्ञ पुरुषोंद्वारा इन वृत्तियोंका ठीक-ठीक प्रयोग होनेसे लोकयात्राका निर्वाह होता है॥ ३१॥

सा चेद् धर्मकृता न स्यात् त्रयीधर्ममृते भुवि।
दण्डनीतिमृते चापि निर्मर्यादमिदं भवेत्॥ ३२॥

यदि लोकयात्रा धर्मपूर्वक न चलायी जाय, इस पृथ्वीपर वेदोक्त धर्मका पालन न हो और दण्डनीति भी उठा दी जाय तो यह सारा जगत् मर्यादाहीन हो जाय॥ ३२॥

वार्ताधर्मे ह्यवर्तिन्यो विनश्येयुरिमाः प्रजाः।
सुप्रवृत्तैस्त्रिभिर्ह्येतैर्धर्मं सूयन्ति वै प्रजाः॥ ३३॥

यदि यह प्रजा वार्ता-धर्म (कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य) में प्रवृत्त न हो तो नष्ट हो जायगी। इन तीनोंकी सम्यक् प्रवृत्ति होनेसे प्रजा धर्मका सम्पादन करती है॥ ३३॥

द्विजातीनामृतं धर्मो ह्येकश्चैवैकलक्षणः।
यज्ञाध्ययनदानानि त्रयः साधारणाः स्मृताः॥ ३४॥

द्विजातियोंका मुख्य धर्म है सत्य (सत्य-भाषण, सत्य-व्यवहार, सद्भाव)। यह धर्मका एक प्रधान लक्षण है। यज्ञ, स्वाध्याय और दान—ये तीन धर्म द्विजमात्रके सामान्य धर्म माने गये हैं॥ ३४॥

याजनाध्यापनं विप्रे धर्मश्चैव प्रतिग्रहः।
पालनं क्षत्रियाणां वै वैश्यधर्मश्च पोषणम्॥ ३५॥

यज्ञ कराना, वेद और शास्त्रोंको पढ़ाना तथा दान ग्रहण करना—यह ब्राह्मणका ही आजीविकाप्रधान धर्म है। प्रजा-पालन क्षत्रियोंका और पशु-पालन वैश्योंका धर्म है॥ ३५॥

शुश्रूषा च द्विजातीनां शूद्राणां धर्म उच्यते।
भैक्ष्यहोमव्रतैर्हीनास्तथैव गुरुवासिताः॥ ३६॥

ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रोंका धर्म बताया गया है। तीनों वर्णोंकी सेवामें रहनेवाले शूद्रोंके लिये भिक्षा, होम और व्रत मना है॥ ३६॥

क्षत्रधर्मोऽत्र कौन्तेय तव धर्मोऽत्र रक्षणम्।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व विनीतो नियतेन्द्रियः॥ ३७॥

कुन्तीनन्दन! सबकी रक्षा करना क्षत्रियका धर्म है, अतः तुम्हारा धर्म भी यही है। अपने धर्मका पालन करो। विनयशील बने रहो और इन्द्रियोंको वशमें रक्खो॥ ३७॥

वृद्धैः सम्मन्त्र्य सद्भिश्च बुद्धिमद्भिः श्रुतान्वितैः।
आस्थितः शास्ति दण्डेन व्यसनी परिभूयते॥ ३८॥

वेद-शास्त्रोंके विद्वान्, बुद्धिमान् तथा बड़े-बूढ़े श्रेष्ठ पुरुषोंसे सलाह करके उनका कृपापात्र बना हुआ राजा ही दण्डनीतिके द्वारा शासन कर सकता है। जो राजा दुर्व्यसनोंमें आसक्त होता है, उसका पराभव हो जाता है॥ ३८॥

निग्रहानुग्रहैः सम्यग् यदा राजा प्रवर्तते।
तदा भवन्ति लोकस्य मर्यादाः सुव्यवस्थिताः॥ ३९॥

जब राजा निग्रह और अनुग्रहके द्वारा प्रजावर्गके साथ यथोचित बर्ताव करता है, तभी लोककी सम्पूर्ण मर्यादाएँ सुरक्षित होती हैं॥ ३९॥

तस्माद् देशे च दुर्गे च शत्रुमित्रबलेषु च।
नित्यं चारेण बोद्धव्यं स्थानं वृद्धिः क्षयस्तथा॥ ४०॥

इसलिये राजाको उचित है कि वह देश और दुर्गमें अपने शत्रु और मित्रोंके सैनिकोंकी स्थिति, वृद्धि और क्षयका गुप्तचरोंद्वारा सदा पता लगाता रहे॥ ४०॥

राज्ञामुपायाश्चारश्च बुद्धिमन्त्रपराक्रमाः।
निग्रहप्रग्रहौ चैव दाक्ष्यं वै कार्यसाधकम्॥ ४१॥

साम, दान, दण्ड, भेद—ये चार उपाय, गुप्तचर, उत्तम बुद्धि, सुरक्षित मन्त्रणा, पराक्रम, निग्रह, अनुग्रह और चतुरता—ये राजाओंके लिये कार्य-सिद्धिके साधन हैं॥ ४१॥

साम्ना दानेन भेदेन दण्डेनोपेक्षणेन च।
साधनीयानि कर्माणि समासव्यासयोगतः॥ ४२॥

साम, दान, भेद, दण्ड और उपेक्षा—इन नीतियोंमेंसे एक-दोके द्वारा या सबके एक साथ प्रयोगद्वारा राजाओंको अपने कार्य सिद्ध करने चाहिये॥ ४२॥

मन्त्रमूला नयाः सर्वे चाराश्च भरतर्षभ।
सुमन्त्रितेन या सिद्धिस्तां द्विजैः सह मन्त्रयेत्॥ ४३॥

भरतश्रेष्ठ! सारी नीतियों और गुप्तचरोंका मूल आधार है मन्त्रणाको गुप्त रखना। उत्तम मन्त्रणा या विचारसे जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसके लिये द्विजोंके साथ गुप्त परामर्श करना चाहिये॥ ४३॥

स्त्रिया मूढेन बालेन लुब्धेन लघुनापि वा।
न मन्त्रयीत गुह्यानि येषु चोन्मादलक्षणम्॥ ४४॥

स्त्री, मूर्ख, बालक, लोभी और नीच पुरुषोंके साथ तथा जिसमें उन्मादका लक्षण दिखायी दे, उसके साथ भी गुप्त परामर्श न करे॥ ४४॥

मन्त्रयेत् सह विद्वद्भिः शक्तैः कर्माणि कारयेत्।
स्निग्धैश्च नीतिविन्यासान् मूर्खान् सर्वत्र वर्जयेत्॥ ४५॥

विद्वानोंके साथ ही गुप्त मन्त्रणा करनी चाहिये। जो शक्तिशाली हों, उन्हींसे कार्य कराने चाहिये। जो स्नेही (सुहृद्) हों उन्हींके द्वारा नीतिके प्रयोगका काम कराना चाहिये। मूर्खोंको तो सभी कार्योंसे अलग रखना चाहिये॥ ४५॥

धार्मिकान् धर्मकार्येषु अर्थकार्येषु पण्डितान्।
स्त्रीषु क्लीबान् नियुञ्जीत क्रूरान् क्रूरेषु कर्मसु॥ ४६॥

राजाको चाहिये कि वह धर्मके कार्योंमें धार्मिक पुरुषोंको, अर्थसम्बन्धी कार्योंमें अर्थ-शास्त्रके पण्डितोंको, स्त्रियोंकी देख-भालके लिये नपुंसकोंको और कठोर कार्योंमें क्रूर स्वभावके मनुष्योंको लगावे॥ ४६॥

स्वेभ्यश्चैव परेभ्यश्च कार्याकार्यसमुद्भवा।
बुद्धिः कर्मसु विज्ञेया रिपूणां च बलाबलम्॥ ४७॥

बहुत-से कार्योंको आरम्भ करते समय अपने तथा शत्रुपक्षके लोगोंसे भी यह सलाह लेनी चाहिये कि अमुक काम करने योग्य है या नहीं। साथ ही, शत्रुकी प्रबलता और दुर्बलताको भी जाननेका प्रयत्न करना चाहिये॥ ४७॥

बुद्ध्या स्वप्रतिपन्नेषु कुर्यात् साधुष्वनुग्रहम्।
निग्रहं चाप्यशिष्टेषु निर्मर्यादेषु कारयेत् ॥ ४८ ॥

बुद्धिसे सोच-विचारकर अपनी शरणमें आये हुए श्रेष्ठ कर्म करनेवाले पुरुषोंपर अनुग्रह करना चाहिये और मर्यादा भङ्ग करनेवाले दुष्ट पुरुषोंको दण्ड देना चाहिये ॥ ४८ ॥

निग्रहे प्रग्रहे सम्यग् यदा राजा प्रवर्तते।
तदा भवति लोकस्य मर्यादा सुव्यवस्थिता ॥ ४९ ॥

जब राजा निग्रह और अनुग्रहमें ठीक तौरसे प्रवृत्त होता है, तभी लोककी मर्यादा सुरक्षित रहती है ॥ ४९ ॥

एष तेऽभिहितः पार्थ घोरो धर्मो दुरन्वयः।
तं स्वधर्मविभागेन विनयस्थोऽनुपालय ॥ ५० ॥

कुन्तीनन्दन ! यह मैंने तुम्हें कठोर राज्य-धर्मका उपदेश दिया है। इसके मर्मको समझना अत्यन्त कठिन है। तुम अपने धर्मके विभागानुसार विनीत भावसे इसका पालन करो॥

तपोधर्मदमेज्याभिर्विप्रा यान्ति यथा दिवम्।
दानातिथ्यक्रियाधर्मैर्यान्ति वैश्याश्च सद्गतिम् ॥ ५१ ॥
क्षत्रं याति तथा स्वर्गं भुवि निग्रहपालनैः।
सम्यक् प्रणीतदण्डा हि कामद्वेषविवर्जिताः।
अलुब्धा विगतक्रोधाः सतां यान्ति सलोकताम्॥ ५२॥

जैसे तपस्या, धर्म, इन्द्रिय-संयम और यज्ञानुष्ठानके द्वारा ब्राह्मण उत्तम लोकमें जाते हैं तथा जिस प्रकार वैश्य दान और आतिथ्यरूप धर्मोंसे उत्तम गति प्राप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार इस लोकमें निग्रह और अनुग्रहके यथोचित प्रयोगसे क्षत्रिय स्वर्गलोकमें जाता है। जिनके द्वारा दण्डनीतिका उचित रीतिसे प्रयोग किया गया है, जो राग-द्वेषसे रहित, लोभशून्य तथा क्रोधहीन है; वे क्षत्रिय सत्पुरुषोंको प्राप्त होनेवाले लोकोंमें जाते हैं ॥ ५१-५२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनुमद्भीमसेनसंवादे पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें हनुमानजी और भीमसेनका संवादविषयक एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५० ॥

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हनुमानजीका भीमसेनको आश्वासन और विदा देकर अन्तर्धान होना

वैशम्पायन उवाच

ततः संहृत्य विपुलं तद् वपुः कामतः कृतम्।
भीमसेनं पुनर्दोर्भ्यां पर्यष्वजत वानरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर अपनी इच्छासे बढ़ाये हुए उस विशाल शरीरका उपसंहार कर वानरराज हनुमान्‌जीने अपनी दोनों भुजाओंद्वारा भीमसेनको हृदयसे लगा लिया ॥ १ ॥

परिष्वक्तस्य तस्याशु भ्रात्रा भीमस्य भारत।
श्रमो नाशमुपागच्छत् सर्वं चासीत् प्रदक्षिणम्॥ २ ॥

भारत ! भाईका आलिङ्गन प्राप्त होनेपर भीमसेनकी सारी थकावट तत्काल नष्ट हो गयी और सब कुछ उन्हें अनुकूल प्रतीत होने लगा ॥ २ ॥

बलं चातिबलो मेने न मेऽस्ति सदृशो महान्।
ततः पुनरथोवाच पर्यश्रुनयनो हरिः ॥ ३ ॥
भीममाभाष्य सौहार्दाद् वाष्पगद्गदया गिरा।
गच्छ वीर स्वमावासं स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरे ॥ ४ ॥

अत्यन्त बलशाली भीमसेनको यह अनुभव हुआ कि मेरा बल बहुत बढ़ गया। अब मेरे समान दूसरा कोई महान् नहीं है। फिर हनुमान्‌जीने अपने नेत्रोंमें आँसू भरकर सौहार्द-



'वीर ! अब तुम अपने निवासस्थानपर जाओ। बातचीतके प्रसङ्गमें कभी मेरा भी स्मरण करते रहना ॥ ३-४ ॥

धनदस्यालयाच्चापि विसृष्टानां महाबल ॥ ५ ॥
देशकाल इहायातुं देवगन्धर्वयोषिताम् ।
ममापि सफलं चक्षुः स्मारितश्चास्मि राघवम् ॥ ६ ॥
रामाभिधानं विष्णुं हि जगद्धृदयनन्दनम् ।
सीतावक्त्रारविन्दार्कं दशास्यध्वान्तभास्करम्॥ ७ ॥
मानुषं गात्रसंस्पर्शं गत्वा भीम त्वया सह ।
तदस्मद्दर्शनं वीर कौन्तेयामोघमस्तु ते ॥ ८ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! मैं इस स्थानपर रहता हूँ, यह बात कभी किसीसे न कहना । महाबली वीर ! अब कुबेरके भवनसे भेजी हुई देवाङ्गनाओं तथा गन्धर्व-सुन्दरियोंके यहाँ आनेका समय हो गया है । भीम ! तुम्हें देखकर मेरी भी आँखें सफल हो गयीं । तुम्हारे साथ मिलकर तुम्हारे मानवशरीरका स्पर्श करके मुझे उन भगवान् रामचन्द्रजीका स्मरण हो आया है, जो श्रीराम-नामसे प्रसिद्ध साक्षात् विष्णु हैं । जगत्‌के हृदयको आनन्द प्रदान करनेवाले, मिथिलेश-नन्दिनी सीताके मुखारविन्दको विकसित करनेके लिये सूर्यके समान तेजस्वी तथा दशमुख रावणरूपी अन्धकारराशिको नष्ट करनेके लिये साक्षात् भुवन-भास्कररूप हैं । वीर कुन्तीकुमार ! तुमने जो मेरा दर्शन किया है, वह व्यर्थ नहीं जाना चाहिये ॥ ५—८ ॥

भ्रातृत्वं त्वं पुरस्कृत्य वरं वरय भारत ।
यदि तावन्मया क्षुद्रा गत्वा वारणसाह्वयम् ॥ ९ ॥
धार्तराष्ट्रा निहन्तव्या यावदेतत् करोम्यहम् ।
शिलया नगरं वापि मर्दितव्यं मया यदि ॥ १० ॥
बद्ध्वा दुर्योधनं चाद्य आनयामि तवान्तिकम् ।
यावदेतत् करोम्यद्य कामं तव महाबल ॥ ११ ॥

'भारत ! तुम मुझे अपना बड़ा भाई समझकर कोई वर माँगो । यदि तुम्हारी इच्छा हो कि मैं हस्तिनापुरमें जाकर तुच्छ धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मार डालूँ तो मैं यह भी कर सकता हूँ अथवा यदि तुम चाहो कि मैं पत्थरोंकी वर्षासे सारे नगरको रौंदकर धूलमें मिला दूँ अथवा दुर्योधनको बाँधकर अभी तुम्हारे पास ला दूँ तो यह भी कर सकता हूँ । महाबली वीर ! तुम्हारी जो इच्छा हो, वही पूर्ण कर दूँगा' ॥

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्तु तद् वाक्यं श्रुत्वा तस्य महात्मनः ।
प्रत्युवाच हनूमन्तं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १२ ॥

कृतमेव त्वया सर्वं मम वानरपुङ्गव ।
स्वस्ति तेऽस्तु महाबाहो कामये त्वां प्रसीद मे ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा हनुमान्‌जीका यह वचन सुनकर भीमसेनने हर्षोल्लासपूर्ण हृदयसे हनुमान्‌जीको इस प्रकार उत्तर दिया—'वानरशिरोमणे ! आपने मेरा यह सब कार्य कर दिया । आपका कल्याण हो । महाबाहो ! अब आपसे मेरी इतनी ही कामना है कि आप मुझपर प्रसन्न रहिये—मुझपर आपकी कृपा बनी रहे ॥

सनाथाः पाण्डवाः सर्वे त्वया नाथेन वीर्यवन् ।
तवैव तेजसा सर्वान् विजेष्यामो वयं परान् ॥ १४ ॥

'शक्तिशाली वीर ! आप-जैसे नाथ (संरक्षक) को पाकर सब पाण्डव सनाथ हो गये । आपके ही प्रभावसे हमलोग अपने सब शत्रुओंको जीत लेंगे' ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु हनुमान् भीमसेनमभाषत ।
भ्रातृत्वात् सौहृदाच्चैव करिष्यामि प्रियं तव ॥ १५ ॥

भीमसेनके ऐसा कहनेपर हनुमान्‌जीने उनसे कहा—'तुम मेरे भाई और सुहृद् हो, इसलिये मैं तुम्हारा प्रिय अवश्य करूँगा ॥ १५ ॥

चमूं विगाह्य शत्रूणां शरशक्तिसमाकुलाम् ।
यदा सिंहरवं वीर करिष्यसि महाबल ॥ १६ ॥
तदाहं बृंहयिष्यामि स्वरवेण रवं तव ।
विजयस्य ध्वजस्थश्च नादान् मोक्ष्यामि दारुणान्॥ १७॥
शत्रूणां ये प्राणहराः सुखं येन हनिष्यथ ।
एवमाभाष्य हनुमांस्तदा पाण्डवनन्दनम् ॥ १८ ॥
मार्गमाख्याय भीमाय तत्रैवान्तरधीयत॥ १९ ॥

'महाबली वीर ! जब तुम बाण और शक्तिके आघातसे व्याकुल हुई शत्रुओंकी सेनामें घुसकर सिंहनाद करोगे, उस समय मैं अपनी गर्जनासे तुम्हारे उस सिंहनादको और बढ़ा दूँगा । उसके सिवा अर्जुनकी ध्वजापर बैठकर मैं ऐसी भीषण गर्जना करूँगा, जो शत्रुओंके प्राणोंको हरनेवाली होगी, जिससे तुमलोग उन्हें सुगमतासे मार सकोगे ।' पाण्डवोंका आनन्द बढ़ानेवाले भीमसेनसे ऐसा कहकर हनुमान्‌जीने उन्हें जानेके लिये मार्ग बता दिया और स्वयं वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १६—१९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे हनुमद्भीमसंवादे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें गन्धमादन पर्वतपर हनुमान्‌जी और भीमसेनका संवाद विषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका सौगन्धिक वनमें पहुँचना

वैशम्पायन उवाच

गते तस्मिन् हरिवरे भीमोऽपि बलिनां वरः।
तेन मार्गेण विपुलं व्यचरद् गन्धमादनम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन कपिप्रवर हनुमान्‌जीके चले जानेपर बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन भी उनके बताये हुए मार्गसे विशाल गन्धमादन पर्वतपर विचरने लगे॥

अनुस्मरन् वपुस्तस्य श्रियं चाप्रतिमां भुवि।
माहात्म्यमनुभावं च स्मरन् दाशरथेर्ययौ॥ २॥

मार्गमें वे हनुमान्‌जीके उस अद्भुत विशाल विग्रह और अनुपम शोभाका तथा दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीके अलौकिक माहात्म्य एवं प्रभावका बारंबार स्मरण करते जाते थे॥२॥

स तानि रमणीयानि वनान्युपवनानि च।
विलोकयामास तदा सौगन्धिकवनेप्सया॥ ३॥
फुल्लद्रुमविचित्राणि सरांसि सरितस्तथा।
नानाकुसुमचित्राणि पुष्पितानि वनानि च॥ ४॥

सौगन्धिक वनको प्राप्त करनेकी इच्छासे उन्होंने उस समय वहाँके सभी रमणीय वनों और उपवनोंका अवलोकन किया। विकसित वृक्षोंके कारण विचित्र शोभा धारण करनेवाले कितने ही सरोवर और सरिताओंपर दृष्टिपात किया तथा अनेक प्रकारके कुसुमोंसे अद्भुत प्रतीत होनेवाले खिले फूलोंसे युक्त काननोंका भी निरीक्षण किया॥ ३-४॥

मत्तवारणयूथानि पङ्कक्लिन्नानि भारत।
वर्षतामिव मेघानां वृन्दानि ददृशे तदा॥ ५॥

भारत! उस समय बहते हुए मदके पङ्कसे भीगे मतवाले गजराजोंके अनेकानेक यूथ वर्षा करनेवाले मेघोंके समूहके समान दिखलायी देते थे॥ ५॥

हरिणैश्चपलापाङ्गैर्हरिणीसहितैर्वनम्।
सशष्पकवलैः श्रीमान् पथि दृष्ट्वा द्रुतं ययौ॥ ६॥

शोभाशाली भीमसेन मुँहमें हरी घासका कौर लिये हुए चञ्चल नेत्रोंवाले हरिणों और हरिणियोंसे युक्त उस वनकी शोभा देखते हुए बड़े वेगसे चले जा रहे थे॥ ६॥

महिषैश्च वराहैश्च शार्दूलैश्च निषेवितम्।
व्यपेतभीर्गिरिं शौर्याद् भीमसेनो व्यगाहत॥ ७॥

उन्होंने अपनी अद्भुत शूरतासे निर्भय होकर भैंसों, वराहों और सिंहोंसे सेवित गहन वनमें प्रवेश किया॥ ७॥

कुसुमानन्तगन्धैश्च ताम्रपल्लवकोमलैः।
याच्यमान इवारण्ये द्रुमैर्मारुतकम्पितैः॥ ८॥

फूलोंकी अनन्त सुगन्धसे वासित तथा लाल-लाल पल्लवोंके कारण कोमल प्रतीत होनेवाले वृक्ष हवाके वेगसे हिल-हिलकर मानो उस वनमें भीमसेनसे याचना कर रहे थे॥८॥

कृतपद्माञ्जलिपुटा मत्तषट्पदसेविताः।
प्रियतीर्थवना मार्गे पद्मिनीः समतिक्रमन्॥ ९॥

मार्गमें उन्हें अनेक ऐसी पुष्करिणियोंको लाँघना पड़ा, जिनके घाट और वन देखनेमें बहुत प्रिय लगते थे। मतवाले भ्रमर उनका सेवन करते थे तथा वे सम्पुटित कमलकोषोंसे अलंकृत हो ऐसी जान पड़ती थीं, मानो उन्होंने कमलोंकी अञ्जलि बाँध रक्खी थी॥ ९॥

मज्जमानमनोदृष्टिः फुल्लेषु गिरिसानुषु।
द्रौपदीवाक्यपाथेयो भीमः शीघ्रतरं ययौ॥ १०॥

भीमसेनका मन और उनके नेत्र कुसुमोंसे अलंकृत पर्वतीय शिखरोंपर लगे थे। द्रौपदीका अनुरोधपूर्ण वचन ही उनके लिये पाथेय था और इस अवस्थामें वे अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक चले जा रहे थे॥ १०॥

परिवृत्तेऽहनि ततः प्रकीर्णहरिणे वने।
काञ्चनैर्विमलैः पद्मैर्ददर्श विपुलां नदीम्॥ ११॥

दिन बीतते-बीतते भीमसेनने एक वनमें, जहाँ चारों ओर बहुतसे हरिण विचर रहे थे, सुन्दर सुवर्णमय कमलोंसे सुशोभित विशाल नदी देखी॥ ११॥

हंसकारण्डवयुतां चक्रवाकोपशोभिताम्।
रचितामिव तस्याद्रेर्मालां विमलपङ्कजाम्॥ १२॥

उसमें हंस और कारण्डव आदि जलपक्षी निवास करते थे। चक्रवाक उसकी शोभा बढ़ाते थे। वह नदी क्या थी उस पर्वतके लिये स्वच्छ सुन्दर कमलोंकी माला-सी रची गयी थी॥ १२॥

तस्यां नद्यां महासत्त्वः सौगन्धिकवनं महत्।
अपश्यत् प्रीतिजननं बालार्कसदृशद्युति॥ १३॥

महान् धैर्य और उत्साहसे सम्पन्न वीरवर भीमसेनने उसी नदीमें विशाल सौगन्धिक वन देखा, जो उनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाला था। उस वनसे प्रभातकालीन सूर्यकी भाँति प्रभा फैल रही थी॥ १३॥

तद् दृष्ट्वा लब्धकामः स मनसा पाण्डुनन्दनः।
वनवासपरिक्लिष्टां जगाम मनसा प्रियाम्॥ १४॥

उस वनको देखकर पाण्डुनन्दन भीमने मन-ही-मन यह अनुभव किया कि मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया। फिर उन्हें वनवासके क्लेशोंसे पीड़ित अपनी प्रियतमा द्रौपदीकी याद आ गयी ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थ-यात्रा पर्वमें लोमश-तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सौगन्धिक कमलको लानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

क्रोधवश नामक राक्षसोंका भीमसेनसे सरोवरके निकट आनेका कारण पूछना

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा नलिनीं रम्यां राक्षसैरभिरक्षिताम्।
कैलासशिखराभ्याशे ददर्श शुभकाननाम् ॥ १ ॥
कुबेरभवनाभ्याशे जातां पर्वतनिर्झरैः।
सुरम्यां विपुलच्छायां नानाद्रुमलताकुलाम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार आगे बढ़नेपर भीमसेनने कैलास पर्वतके निकट कुबेरभवनके समीप एक रमणीय सरोवर देखा, जिसके आस-पास सुन्दर वनस्थली शोभा पा रही थी। बहुतसे राक्षस उसकी रक्षाके लिये नियुक्त थे। वह सरोवर पर्वतीय झरनोंके जलसे भरा था। वह देखनेमें बहुत ही सुन्दर, घनी छायासे सुशोभित तथा अनेक प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त था ॥१-२॥

हरिताम्बुजसंच्छन्नां दिव्यां कनकपुष्कराम्।
नानापक्षिजनाकीर्णां सूपतीर्थामकर्दमाम् ॥ ३ ॥

हरे रङ्गके कमलोंसे वह दिव्य सरोवर ढका हुआ था। उसमें सुवर्णमय कमल खिले थे। वह नाना प्रकारके पक्षियों-से युक्त था। उसका किनारा बहुत सुन्दर था और उसमें कीचड़ नहीं था ॥ ३ ॥

अतीवरम्यां सुजलां जातां पर्वतसानुषु।
विचित्रभूतां लोकस्य शुभामद्भुतदर्शनाम् ॥ ४ ॥

वह सरोवर अत्यन्त रमणीय, सुन्दर जलसे परिपूर्ण, पर्वतीय शिखरोंके झरनोंसे उत्पन्न, देखनेमें विचित्र, लोकके लिये मङ्गलकारक तथा अद्भुत दृश्यसे सुशोभित था ॥ ४ ॥

तत्रामृतरसं शीतं लघु कुन्तीसुतः शुभम्।
ददर्श विमलं तोयं पिबंश्च बहु पाण्डवः ॥ ५ ॥

उस सरोवरमें कुन्तीकुमार पाण्डुपुत्र भीमने अमृतके समान स्वादिष्ट, शीतल, हल्का, शुभकारक और निर्मल जल देखा तथा उसे भरपेट पीया ॥ ५ ॥

तां तु पुष्करिणीं रम्यां दिव्यसौगन्धिकावृताम्।
जातरूपमयैः पद्मैश्छन्नां परमगन्धिभिः ॥ ६ ॥
वैदूर्यवरनालैश्च बहुचित्रैर्मनोरमैः।
हंसकारण्डवोद्धूतैः सृजद्भिरमलं रजः ॥ ७ ॥

वह सरोवर दिव्य सौगन्धिक कमलोंसे आवृत तथा रमणीय था। परम सुगन्धित सुवर्णमय कमल उसे ढँके हुए थे। उन कमलोंकी नाल उत्तम वैदूर्यमणिमय थी। वे कमल देखनेमें अत्यन्त विचित्र और मनोरम थे। हंस और कारण्डव आदि पक्षी उन कमलोंको हिलाते रहते थे, जिससे वे निर्मल पराग प्रकट किया करते थे ॥ ६-७ ॥

आक्रीडं राजराजस्य कुबेरस्य महात्मनः।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च देवैश्च परमार्चिताम् ॥ ८ ॥

वह सरोवर राजाधिराज महाबुद्धिमान् कुबेरका क्रीडा-स्थल था। गन्धर्व, अप्सरा और देवता भी उसकी बड़ी प्रशंसा करते थे ॥ ८ ॥

सेवितामृषिभिर्दिव्यैर्यक्षैः किम्पुरुषैस्तथा।
राक्षसैः किन्नरैश्चापि गुप्तां वैश्रवणेन च ॥ ९ ॥

दिव्य ऋषि-मुनि, यक्ष, किम्पुरुष, राक्षस और किन्नर उसका सेवन करते थे तथा साक्षात् कुबेरके द्वारा उसके संरक्षणकी व्यवस्था की जाती थी ॥ ९ ॥

तां च दृष्ट्वैव कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः।
बभूव परमप्रीतो दिव्यं सम्प्रेक्ष्य तत् सरः ॥ १० ॥

कुन्तीनन्दन महाबली भीमसेन उस दिव्य सरोवरको देखते ही अत्यन्त प्रसन्न हो गये ॥ १० ॥

तच्च क्रोधवशा नाम राक्षसा राजशासनात्।
रक्षन्ति शतसाहस्राश्चित्रायुधपरिच्छदाः ॥ ११ ॥

महाराज कुबेरके आदेशसे क्रोधवश नामक राक्षस, जिनकी संख्या एक लाख थी, विचित्र आयुध और वेश-भूषासे सुसज्जित हो उसकी रक्षा करते थे ॥ ११ ॥

ते तु दृष्ट्वैव कौन्तेयमजिनैः प्रतिवासितम्।
रुक्माङ्गदधरं वीरं भीमं भीमपराक्रमम् ॥ १२ ॥
सायुधं बद्धनिस्त्रिंशमशङ्कितमरिंदमम्।
पुष्करेप्सुमुपायान्तमन्योन्यमभिचुक्रुशुः ॥ १३ ॥

उस समय भयानक पराक्रमी कुन्तीकुमार वीरवर भीम

अपने अङ्गोंमें मृगचर्म लपेटे हुए थे। भुजाओंमें सोनेके अङ्गद (बाजूबंद) पहन रक्खे थे। वे धनुष और गदा आदि आयुधोंसे युक्त थे। उन्होंने कमरमें तलवार बाँध रक्खी थी। वे शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ और निर्भीक थे। उन्हें कमल लेनेकी इच्छासे वहाँ आते देख वे पहरा देनेवाले राक्षस आपसमें कोलाहल करने लगे ॥ १२-१३ ॥

अयं पुरुषशार्दूलः सायुधोऽजिनसंवृतः।
यच्चिकीर्षुरिह प्राप्तस्तत् सम्प्रष्टुमिहार्हथ ॥ १४ ॥

उनमें परस्पर इस प्रकार बातचीत हुई—'देखो यह नरश्रेष्ठ मृगचर्मसे आच्छादित होनेपर भी हाथमें आयुध लिये हुए है। यह यहाँ जिस कार्यके लिये आया है, उसे पूछो' ॥ १४ ॥

ततः सर्वे महाबाहुं समासाद्य वृकोदरम्।
तेजोयुक्तमपृच्छन्त कस्त्वमाख्यातुमर्हसि ॥ १५ ॥

तब वे सब राक्षस परम तेजस्वी महाबाहु भीमसेनके पास आकर पूछने लगे—'तुम कौन हो?' यह बताओ ॥१५॥

मुनिवेषधरश्चैव सायुधश्चैव लक्ष्यसे।
यदर्थमभिसम्प्राप्तस्तदाचक्ष्व महामते ॥ १६ ॥

'महामते! तुमने वेष तो मुनियोंका-सा धारण कर रक्खा है; परंतु आयुधोंसे सम्पन्न दिखायी देते हो। तुम किसलिये यहाँ आये हो?' बताओ ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सौगन्धिकाहरणविषयक एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५३ ॥

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा क्रोधवश नामक राक्षसोंकी पराजय और द्रौपदीके लिये सौगन्धिक कमलोंका संग्रह करना

भीम उवाच

पाण्डवो भीमसेनोऽहं धर्मराजादनन्तरः।
विशालां बदरीं प्राप्तो भ्रातृभिः सह राक्षसाः ॥ १ ॥
अपश्यत् तत्र पाञ्चाली सौगन्धिकमनुत्तमम्।
अनिलोढमितो नूनं सा बहूनि परीप्सति ॥ २ ॥

भीमसेन बोले—राक्षसो! मैं धर्मराज युधिष्ठिरका छोटा भाई पाण्डुपुत्र भीमसेन हूँ और भाइयोंके साथ विशाला बदरी नामक तीर्थमें आकर ठहरा हूँ। वहाँ पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीने सौगन्धिक नामक एक परम उत्तम कमल देखा। उसे देखकर वह उसी तरहके और भी बहुत-से पुष्प प्राप्त करना चाहती है, जो निश्चय ही यहींसे हवामें उड़कर वहाँ पहुँचा होगा ॥ १-२ ॥

तस्या मामनवद्याङ्ग्या धर्मपत्न्याः प्रिये स्थितम्।
पुष्पाहारमिह प्राप्तं निबोधत निशाचराः ॥ ३ ॥

निशाचरो! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि मैं उसी अनिन्द्य सुन्दरी धर्मपत्नीका प्रिय मनोरथ पूर्ण करनेके लिये उद्यत हो बहुत-से सौगन्धिक पुष्पोंका अपहरण करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ ॥ ३ ॥

राक्षसा ऊचुः

आक्रीडोऽयं कुबेरस्य दयितः पुरुषर्षभ।
नेह शक्यं मनुष्येण विहर्तुं मर्त्यधर्मणा ॥ ४ ॥

राक्षसोंने कहा—नरश्रेष्ठ! यह सरोवर कुबेरकी परम प्रिय क्रीडास्थली है। इसमें मरणधर्मा मनुष्य विहार नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

देवर्षयस्तथा यक्षा देवाश्चात्र वृकोदर।
आमन्त्र्य यक्षप्रवरं पिबन्ति रमयन्ति च।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव विहरन्त्यत्र पाण्डव ॥ ५ ॥

वृकोदर! देवर्षि, यक्ष तथा देवता भी यक्षराज कुबेरकी अनुमति लेकर ही यहाँका जल पीते और इसमें विहार करते हैं। पाण्डुनन्दन! गन्धर्व और अप्सराएँ भी इसी नियमके अनुसार यहाँ विहार करती हैं ॥ ५ ॥

अन्यायेनेह यः कश्चिदवमन्य धनेश्वरम्।
विहर्तुमिच्छेद् दुर्वृत्तः स विनश्येन्न संशयः ॥ ६ ॥

जो कोई दुराचारी पुरुष धनाध्यक्ष कुबेरकी अवहेलना करके अन्यायपूर्वक यहाँ विहार करना चाहेगा, वह नष्ट हो जायगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

तमनादृत्य पद्मानि जिहीर्षसि बलादितः।
धर्मराजस्य चात्मानं ब्रवीषि भ्रातरं कथम् ॥ ७ ॥

भीमसेन! तुम अपने बलके घमंडमें आकर कुबेरकी अवहेलना करके यहाँसे कमलपुष्पोंका अपहरण करना चाहते हो। ऐसी दशामें अपने-आपको धर्मराजका भाई कैसे बता रहे हो? ॥ ७ ॥

आमन्त्र्य यक्षराजं वै ततः पिब हरस्व च।
नातोऽन्यथा त्वया शक्यं किंचित् पुष्करमीक्षितुम् ॥

पहले यक्षराजकी आज्ञा ले लो, उसके बाद इस सरोवरका जल पीओ और यहाँसे कमलके फूल ले जाओ। ऐसा किये बिना तुम यहाँके किसी कमलकी ओर देख भी नहीं सकते ॥

भीमसेन उवाच

राक्षसास्तं न पश्यामि धनेश्वरमिहान्तिके ।
दृष्ट्वापि च महाराजं नाहं याचितुमुत्सहे ॥ ९ ॥
न हि याचन्ति राजान एष धर्मः सनातनः ।
न चाहं हातुमिच्छामि क्षात्रधर्मं कथंचन ॥ १० ॥

भीमसेन बोले—राक्षसो ! प्रथम तो मैं यहाँ आस-पास कहीं भी धनाध्यक्ष कुबेरको देख नहीं रहा हूँ, दूसरे यदि मैं उन महाराजको देख भी लूँ तो भी उनसे याचना नहीं कर सकता, क्योंकि क्षत्रिय किसीसे कुछ माँगते नहीं हैं, यही उनका सनातन धर्म है। मैं किसी तरह क्षात्र-धर्मको छोड़ना नहीं चाहता ॥ ९-१० ॥

इयं च नलिनी रम्या जाता पर्वतनिर्झरे ।
नेयं भवनमासाद्य कुबेरस्य महात्मनः ॥ ११ ॥

यह रमणीय सरोवर पर्वतीय झरनोंसे प्रकट हुआ है, यह महामना कुबेरके घरमें नहीं है ॥ ११ ॥

तुल्या हि सर्वभूतानामियं वैश्रवणस्य च ।
एवं गतेषु द्रव्येषु कः कं याचितुमर्हति ॥ १२ ॥

अतः इसपर अन्य सब प्राणियोंका और कुबेरका भी समान अधिकार है। ऐसी सार्वजनिक वस्तुओंके लिये कौन किससे याचना करेगा ? ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा राक्षसान् सर्वान् भीमसेनो ह्यमर्षणः ।
व्यगाहत महाबाहुर्नलिनीं तां महाबलः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सभी राक्षसोंसे ऐसा कहकर अमर्षमें भरे हुए महाबली महाबाहु भीमसेन उस सरोवरमें प्रवेश करने लगे ॥ १३ ॥

ततः स राक्षसैर्वाचा प्रतिषिद्धः प्रतापवान् ।
मा मैवमिति सक्रोधैर्भर्त्सयद्भिः समन्ततः ॥ १४ ॥

उस समय क्रोधमें भरे राक्षस चारों ओरसे प्रतापी भीमको फटकारते हुए वाणीद्वारा रोकने लगे—'नहीं-नहीं, ऐसा न करो' ॥ १४ ॥

कदर्थीकृत्य तु स तान् राक्षसान् भीमविक्रमः ।
व्यगाहत महातेजास्ते तं सर्वे न्यवारयन् ॥ १५ ॥

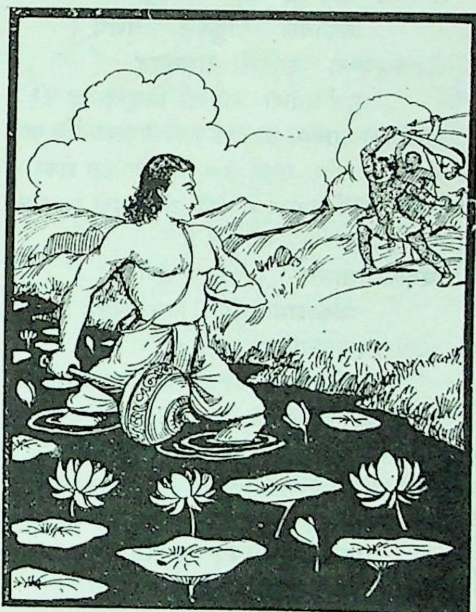
परंतु भयंकर पराक्रमी महातेजस्वी भीम उन सब राक्षसोंकी अवहेलना करके उस जलाशयमें उतर ही गये। यह देख सब राक्षस उन्हें रोकनेकी चेष्टा करते हुए चिल्ला उठे—॥ १५ ॥

गृह्णीत बध्नीत निकृन्ततेमं
पचाम खादाम च भीमसेनम् ।
क्रुद्धा ब्रुवन्तोऽभिययुर्द्रुतं ते
शस्त्राणि चोद्यम्य विवृत्तनेत्राः ॥ १६ ॥

'अरे ! इसे पकड़ो, बाँध लो, काट डालो, हम सब लोग इस भीमको पकायेंगे और खा जायँगे।' क्रोधपूर्वक उपर्युक्त बातें कहते और आँखें फाड़-फाड़कर देखते हुए वे सभी राक्षस शस्त्र उठाकर तुरंत उनकी ओर दौड़े ॥ १६ ॥

ततः स गुर्वीं यमदण्डकल्पां
महागदां काञ्चनपट्टनद्धाम् ।
प्रगृह्य तानभ्यपतत् तरस्वी
ततोऽब्रवीत् तिष्ठत तिष्ठतेति ॥ १७ ॥

तब भीमसेनने यमदण्डके समान विशाल और भारी गदा उठा ली, जिसपर सोनेका पत्र मढ़ा हुआ था। उसे लेकर वे बड़े वेगसे उन राक्षसोंपर टूट पड़े और ललकारते हुए बोले—'खड़े रहो, खड़े रहो' ॥ १७ ॥



ते तं तदा तोमरपट्टिशाद्यै-
र्व्याविद्धशस्त्रैः सहसा निपेतुः ।
जिघांसवः क्रोधवशाः सुभीमा
भीमं समन्तात् परिवव्रुरुग्राः ॥ १८ ॥
वातेन कुन्त्यां बलवान् सुजातः
शूरस्तरस्वी द्विषतां निहन्ता ।
सत्ये च धर्मे च रतः सदैव
पराक्रमे शत्रुभिरप्रधृष्यः ॥ १९ ॥

यह देख वे भयंकर क्रोधवश नामक राक्षस भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे शत्रुओंके शस्त्रोंको नष्ट कर देनेवाले तोमर, पट्टिश आदि आयुधोंको लेकर सहसा उनकी ओर दौड़े और उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। वे सब-के-सब

बड़े उग्र स्वभावके थे । इधर भीमसेन कुन्तीदेवीके गर्भसे वायु देवताके द्वारा उत्पन्न होनेके कारण बड़े बलवान्, शूर-वीर, वेगशाली एवं शत्रुओंका वध करनेमें समर्थ थे । वे सदा ही सत्य एवं धर्ममें रत थे । पराक्रमी तो वे ऐसे थे कि अनेक शत्रु मिलकर भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते थे ॥१८-१९॥

तेषां स मार्गान् विविधान् महात्मा
विहत्य शस्त्राणि च शात्रवाणाम् ।
यथा प्रवीरान् निजघान भीमः
परं शतं पुष्करिणीसमीपे ॥ २० ॥

महामना भीमने शत्रुओंके भाँति-भाँतिके पैंतरो तथा अस्त्र-शस्त्रोंको विफल करके उनके सौसे भी अधिक प्रमुख वीरोंको उस सरोवरके समीप मार गिराया ॥ २० ॥

ते तस्य वीर्यं च बलं च दृष्ट्वा
विद्याबलं बाहुबलं तथैव ।
अशक्नुवन्तः सहितं समन्ताद्
द्रुतं प्रवीराः सहसा निवृत्ताः ॥ २१ ॥

भीमसेनका पराक्रम, शारीरिक बल, विद्याबल और बाहु-बल देखकर वे वीर राक्षस एक साथ संगठित होकर भी उनका वेग सहनेमें असमर्थ हो गये और सहसा सब ओरसे युद्ध छोड़कर निवृत्त हो गये ॥ २१ ॥

विदीर्यमाणास्तत एव तूर्ण-
माकाशमास्थाय विमूढसंज्ञाः ।
कैलासशृङ्गाण्यभिदुद्रुवुस्ते
भीमार्दिताः क्रोधवशाः प्रभग्नाः ॥ २२ ॥

भीमसेनकी मारसे क्षत-विक्षत एवं पीड़ित हो वे क्रोधवश नामक राक्षस अपनी सुध-बुध खो बैठे थे । अतः उनके पाँव उखड़ गये और वे तुरंत वहाँसे आकाशमें उड़कर कैलासके शिखरोंपर भाग गये ॥ २२ ॥

स शक्रवद् दानवदैत्यसङ्घान्
विक्रम्य जित्वा च रणेऽरिसङ्घान् ।
विगाह्य तां पुष्करिणीं जितारिः
कामाय जग्राह ततोऽम्बुजानि ॥ २३ ॥

शत्रुविजयी भीम इन्द्रकी भाँति पराक्रम करके दानव और दैत्योंके दलको युद्धमें हराकर उस सरोवरमें प्रविष्ट हो इच्छानुसार कमलोंका संग्रह करने लगे ॥ २३ ॥

ततः स पीत्वामृतकल्पमम्भो
भूयो बभूवोत्तमवीर्यतेजाः ।
उत्पाट्य जग्राह च सोऽम्बुजानि
सौगन्धिकान्युत्तमगन्धवन्ति ॥ २४ ॥

तदनन्तर उस सरोवरका अमृतके समान मधुर जल पीकर वे पुनः उत्तम बल और तेजसे सम्पन्न हो गये और श्रेष्ठ सुगन्धसे युक्त सौगन्धिक कमलोंको उखाड़-उखाड़कर संगृहीत करने लगे ॥ २४ ॥

ततस्तु ते क्रोधवशाः समेत्य
धनेश्वरं भीमबलप्रणुन्नाः ।
भीमस्य वीर्यं च बलं च संख्ये
यथावदाचख्युरतीव भीताः ॥ २५ ॥

तब भीमसेनके बलसे पीड़ित और अत्यन्त भयभीत हुए क्रोधवशोंने धनाध्यक्ष कुबेरके पास जाकर युद्धमें भीमके बल और पराक्रमका यथावत् वृत्तान्त कह सुनाया ॥ २५ ॥

तेषां वचस्तत् तु निशम्य देवः
प्रहस्य रक्षांसि ततोऽभ्युवाच ।
गृह्णातु भीमो जलजानि कामात्
कृष्णानिमित्तं विदितं ममैतत् ॥ २६ ॥

उनकी बातें सुनकर देवप्रवर कुबेरने हँसकर उन राक्षसोंसे कहा—'मुझे यह मालूम है । भीमसेनको द्रौपदीके लिये इच्छानुसार कमल ले लेने दो' ॥ २६ ॥

ततोऽभ्यनुज्ञाप्य धनेश्वरं ते
जग्मुः कुरूणां प्रवरं विरोषाः ।
भीमं च तस्यां ददृशुर्नलिन्यां
यथोपजोषं विहरन्तमेकम् ॥ २७ ॥

तब धनाध्यक्षकी आज्ञा पाकर वे राक्षस रोषरहित हो कुरुप्रवर भीमके पास गये और उन्हें अकेले ही उस सरोवरमें इच्छानुसार विहार करते देखा ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सौगन्धिकाहरणविषयक एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

भयंकर उत्पात देखकर युधिष्ठिर आदिकी चिन्ता और सबका गन्धमादनपर्वतपर सौगन्धिकवनमें भीमसेनके पास पहुँचना

वैशम्पायन उवाच

ततस्तानि महार्हाणि दिव्यानि भरतर्षभ ।
बहूनि बहुरूपाणि विरजांसि समाददे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर भीमसेनने अनेक प्रकारके बहुमूल्य, दिव्य और निर्मल बहुत-से सौगन्धिक कमल संगृहीत कर लिये ॥ १ ॥

ततो वायुर्महाञ्शीघ्रो नीचैः शर्करकर्षणः ।
प्रादुरासीद् खरस्पर्शः संग्राममभिचोदयन् ॥ २ ॥

इसी समय गन्धमादन पर्वतपर तीव्र वेगसे बड़े जोरकी आँधी उठी, जो नीचे कंकड़-बालूकी वर्षा करनेवाली थी। उसका स्पर्श तीक्ष्ण था। वह किसी भारी संग्रामकी सूचना देनेवाली थी ॥ २ ॥

पपात महती चोल्का सनिर्घाता महाभया ।
निष्प्रभश्चाभवत् सूर्यश्छन्नरश्मिस्तमोवृतः ॥ ३ ॥

वज्रकी गड़गड़ाहटके साथ अत्यन्त भयदायक भारी उल्कापात होने लगा। सूर्य अन्धकारसे आवृत्त हो प्रभा-शून्य हो गये। उनकी किरणें आच्छादित हो गयीं ॥ ३ ॥

निर्घातश्चाभवद् भीमो भीमे विक्रममास्थिते ।
चचाल पृथिवी चापि पांसुवर्षं पपात च ॥ ४ ॥

जिस समय भीम राक्षसोंके साथ युद्धमें भारी पराक्रम दिखा रहे थे, उस समय पृथ्वी हिलने लगी, आकाशमें भीषण गर्जना होने लगी और धूलकी वर्षा आरम्भ हो गयी ॥ ४ ॥

सलोहिता दिशश्चासन् खरवाचो मृगद्विजाः ।
तमोवृतमभूत् सर्वं न प्राज्ञायत किंचन ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण दिशाएँ लाल हो गयीं, मृग और पक्षी कठोर शब्द करने लगे, सारा जगत् अन्धकारसे आच्छन्न हो गया और किसीको कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ ५ ॥

अन्ये च बहवो भीमा उत्पातास्तत्र जज्ञिरे ।
तदद्भुतमभिप्रेक्ष्य धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥
उवाच वदतां श्रेष्ठः कोऽस्मानभिभविष्यति ।
सज्जीभवत भद्रं वः पाण्डवा युद्धदुर्मदाः ॥ ७ ॥
यथारूपाणि पश्यामि स्वभ्यग्रो नः पराक्रमः ।
एवमुक्त्वा ततो राजा वीक्षांश्चक्रे समन्ततः ॥ ८ ॥

इसके सिवा और भी बहुत-से भयानक उत्पात वहाँ प्रकट होने लगे। यह अद्भुत घटना देखकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ धर्मपुत्र युधिष्ठिरने कहा—'कौन हम लोगोंको पराजित कर सकेगा ? रणोन्मत्त पाण्डवो ! तुम्हारा भला हो, तुम युद्धके लिये तैयार हो जाओ। मैं जैसे लक्षण देख रहा हूँ, उससे पता लगता है कि हमारे लिये पराक्रम दिखानेका समय अत्यन्त निकट आ गया है।' ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिरने चारों ओर दृष्टिपात किया ॥ ६—८ ॥

अपश्यमानो भीमं तु धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
ततः कृष्णां यमौ चापि समीपस्थावरिंदमः ॥ ९ ॥
पप्रच्छ भ्रातरं भीमं भीमकर्माणमाहवे ।
कच्चित् क भीमः पाञ्चालि किंचित् कृत्यं चिकीर्षति ।१०।

तब भीम नहीं दिखायी दिये, तब शत्रुदमन धर्मनन्दन युधिष्ठिरने द्रौपदी तथा पास ही बैठे हुए नकुल सहदेवसे अपने भाई भीमके सम्बन्धमें, जो रण-भूमिमें भयानक कर्म करनेवाले थे, पूछा—'पाञ्चालराजकुमारी ! भीमसेन कहाँ है ? क्या वे कोई काम करना चाहते हैं ? ॥ ९—१० ॥

कृतवानपि वा वीरः साहसं साहसप्रियः ।
इमे ह्यकस्मादुत्पाता महासमरदर्शनाः ॥ ११ ॥

'अथवा साहसप्रेमी वीरवर भीमने कोई साहसका कार्य तो नहीं कर डाला ? यह अकस्मात प्रकट हुए उत्पात महान् युद्धके सूचक हैं ॥ ११ ॥

दर्शयन्तो भयं तीव्रं प्रादुर्भूताः समन्ततः ।
तं तथावादिनं कृष्णा प्रत्युवाच मनस्विनी ।
प्रिया प्रियं चिकीर्षन्ती महिषी चारुहासिनी ॥ १२ ॥

'ये चारों ओर तीव्र भयका प्रदर्शन करते हुए प्रकट हो रहे हैं।' धर्मराज युधिष्ठिरको ऐसी बातें करते देख मनोहर मुस्कानवाली मनस्विनी महारानी पतिप्रिया द्रौपदीने उनका प्रिय करनेकी इच्छासे इस प्रकार उत्तर दिया—॥१२॥

द्रौपद्युवाच

यत् तत् सौगन्धिकं राजन्नाहृतं मातरिश्वना ।
तन्मया भीमसेनस्य प्रीतयाद्योपपादितम् ॥ १३ ॥
अपि चोक्तो मया वीरो यदि पश्येर्बहून्यपि ।
तानि सर्वाण्युपादाय शीघ्रमागम्यतामिति ॥ १४ ॥

द्रौपदी बोली—राजन् ! आज जो सौगन्धिक पुष्प वायु उड़ा लायी थी, उसे मैंने प्रसन्नतापूर्वक भीमसेनको दिया और उन वीर-शिरोमणिसे यह भी कहा कि 'यदि इसी तरहके बहुत-से पुष्प तुम्हें दिखायी दें, तो उन सबको लेकर शीघ्र यहाँ लौट आना' ॥ १३—१४ ॥

स तु नूनं महाबाहुः प्रियार्थं मम पाण्डवः ।
प्रागुदीचीं दिशं राजंस्तान्याहर्तुमितो गतः ॥ १५ ॥

महाराज ! मालूम होता है कि वे महाबाहु पाण्डुकुमार निश्चय ही मेरा प्रिय करनेके लिये उन्हीं फूलोंको लानेके निमित्त यहाँसे पूर्वोत्तर दिशाको गये हैं ॥ १५ ॥

उक्तस्त्वेवं तया राजा यमाविदमथाब्रवीत् ।
गच्छाम सहितास्तूर्णं येन यातो वृकोदरः ॥ १६ ॥

द्रौपदीके ऐसा कहनेपर राजा युधिष्ठिरने नकुल-सहदेवसे इस प्रकार कहा—'अब हम लोग भी एक साथ शीघ्र ही उसी मार्गपर चलें' जिससे भीमसेन गये हैं ॥ १६ ॥

वहन्तु राक्षसा विप्रान् यथाश्रान्तान् यथाकृशान् ।
त्वमप्यमरसंकाश वह कृष्णां घटोत्कच ॥ १७ ॥

'देवताओंके समान तेजस्वी घटोत्कच ! तुम्हारे साथी राक्षस लोग उन ब्राह्मणोंको, जो जैसे थके और दुर्बल हों,

उसके अनुसार कंधेपर बिठाकर ले चले और तुम भी द्रौपदीको ले चलो ॥ १७ ॥

व्यक्तं दूरमितो भीमः प्रविष्ट इति मे मतिः ।
चिरं च तस्य कालोऽयं स च वायुसमो जवे ॥ १८ ॥
तरस्वी वैनतेयस्य सदृशो भुवि लङ्घने ।
उत्पतेदपि चाकाशं निपतेच्च यथेच्छकम् ॥ १९ ॥

'यह स्पष्ट जान पड़ता है कि भीमसेन यहाँसे बहुत दूर चले गये हैं, मेरा यही विश्वास है । क्योंकि उनको गये बहुत समय हो गया है तथा वे वेगमें वायुके समान हैं और इस पृथ्वीको लाँघनेमें गरुड़के समान शीघ्रगामी हैं । वे आकाशमें छलाँग मार सकते हैं और इच्छानुसार कहीं भी कूद सकते हैं ॥ १८-१९ ॥

तमन्वियाम भवतां प्रभावाद् रजनीचराः ।
पुरा स नापराध्नोति सिद्धानां ब्रह्मवादिनाम् ॥ २० ॥

'निशाचरो ! भीमसेन ब्रह्मवादी सिद्धोंका कुछ अपराध न कर दें इसके पहले ही तुम्हारे प्रभावसे हम उन्हें ढूँढ़ निकालें' ॥ २० ॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे हैडिम्बप्रमुखास्तदा ।
उद्देशज्ञाः कुबेरस्य नलिन्या भरतर्षभ ॥ २१ ॥
आदाय पाण्डवांश्चैव तांश्च विप्राननेकशः ।
लोमशेनैव सहिताः प्रययुः प्रीतमानसाः ॥ २२ ॥

जनमेजय ! तब कुबेरके उस सरोवरका पता जाननेवाले उन घटोत्कच आदि सब राक्षसोंने 'तथास्तु' कहकर पाण्डवों तथा उन अनेकानेक ब्राह्मणोंको कंधेपर बैठाकर लोमशजीके साथ वहाँसे प्रसन्नतापूर्वक प्रस्थान किया ॥ २१-२२ ॥

ते सर्वे त्वरिता गत्वा ददृशुः शुभकाननाम् ।
पद्मसौगन्धिकवतीं नलिनीं सुमनोरमाम् ॥ २३ ॥

उन सबने शीघ्रतापूर्वक जाकर सुन्दर वनस्थलीसे सुशोभित वह अत्यन्त मनोरम सरोवर देखा, जिसमें सौगन्धिक कमल थे ॥ २३ ॥

तं च भीमं महात्मानं तस्यास्तीरे मनस्विनम् ।
ददृशुर्निहतांश्चैव यक्षांश्च विपुलेक्षणान् ॥ २४ ॥
भिन्नकायाक्षिबाहूरून् संचूर्णितशिरोधरान् ।
तं च भीमं महात्मानं तस्यास्तीरे व्यवस्थितम् ॥ २५ ॥

उसके तटपर मनस्वी महामना भीमको तथा उनके द्वारा मारे गये बड़े-बड़े नेत्रोंवाले यक्षोंको भी देखा,—जिनके शरीर, नेत्र, भुजाएँ और जाँघें छिन्न-भिन्न हो गयी थीं, गर्दन कुचल दी गयी थी; महात्मा भीम उस सरोवरके तटपर खड़े थे ॥ २४-२५ ॥

सक्रोधं स्तब्धनयनं संदष्टदशनच्छदम् ।
उद्यम्य च गदां दोर्भ्यां नदीतीरेष्ववस्थितम् ॥ २६ ॥

उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ था । उनकी आँखें स्तब्ध हो रही थीं । वे दोनों हाथोंसे गदा उठाये और दाँतोंसे ओठ दबाये नदीके तटपर खड़े थे ॥ २६ ॥

प्रजासंक्षेपसमये दण्डहस्तमिवान्तकम् ।
तं दृष्ट्वा धर्मराजस्तु परिष्वज्य पुनः पुनः ॥ २७ ॥

उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो प्रजाके संहार-कालमें दण्ड हाथमें लिये यमराज खड़े हों । भीमसेनको उस अवस्थामें देखकर धर्मराजने उन्हें बार-बार हृदयसे लगाया ॥

उवाच श्लक्ष्णया वाचा कौन्तेय किमिदं कृतम् ।
साहसं बत भद्रं ते देवानामथ चाप्रियम् ॥ २८ ॥

और मधुर वाणीमें कहा—'कुन्तीनन्दन ! यह तुमने क्या कर डाला ? तुम्हारा कल्याण हो । खेदके साथ कहना पड़ता है कि तुम्हारा यह कार्य साहसपूर्ण है और देवताओं-के लिये अप्रिय है ॥ २८ ॥

पुनरेवं न कर्तव्यं मम चेदिच्छसि प्रियम् ।
अनुशिष्य तु कौन्तेयं पद्मानि परिगृह्य च ॥ २९ ॥
तस्यामेव नलिन्यां तु विजह्रुरमरोपमाः ।
एतस्मिन्नेव काले तु प्रगृहीतशिलायुधाः ॥ ३० ॥
प्रादुरासन् महाकायास्तस्योद्यानस्य रक्षिणः ।
ते दृष्ट्वा धर्मराजानं महर्षिं चापि लोमशम् ॥ ३१ ॥
नकुलं सहदेवं च तथान्यान् ब्राह्मणर्षभान् ।
विनयेन नताः सर्वे प्रणिपत्य च भारत ॥ ३२ ॥
सान्त्विता धर्मराजेन प्रसेदुः क्षणदाचराः ।
विदिताश्च कुबेरस्य तत्र ते कुरुपुङ्गवाः ॥ ३३ ॥
ऊषुर्नातिचिरं कालं रममाणाः कुरूद्वहाः ।
प्रतीक्षमाणा बीभत्सुं गन्धमादनसानुषु ॥ ३४ ॥

'यदि मेरा प्रिय करना चाहते हो तो फिर ऐसा काम न करना ।' भीमसेनको ऐसा उपदेश देकर उन्होंने पूर्वोक्त सौगन्धिक कमल ले लिये और वे देवोपम पाण्डव उसी सरोवरके तटपर इधर-उधर भ्रमण करने लगे । इसी समय शिलाओंको आयुधरूपमें ग्रहण किये, बहुत-से विशालकाय उद्यानरक्षक वहाँ प्रकट हो गये। भारत! उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर, महर्षि लोमश, नकुल-सहदेव तथा अन्यान्य श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको विनयपूर्वक नतमस्तक होकर प्रणाम किया । फिर धर्मराज युधिष्ठिरने उन्हें सान्त्वना दी । इससे वे निशाचर (राक्षस) प्रसन्न हो गये । तदनन्तर वे कुरु-प्रवर पाण्डव धनाध्यक्ष कुबेरकी जानकारीमें कुछ कालतक वहाँ आनन्दपूर्वक टिके रहे और गन्धमादन पर्वतके शिखरोंपर अर्जुनके आगमनकी प्रतीक्षा करते रहे ॥ २९-३४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सौगन्धिकाहरणविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका आकाशवाणीके आदेशसे पुनः नरनारायणाश्रममें लौटना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् निवसमानोऽथ धर्मराजो युधिष्ठिरः।
कृष्णया सहितान् भ्रातॄनित्युवाच सहद्विजान्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस सौगन्धिक सरोवरके तटपर निवास करते हुए धर्मराज युधिष्ठिरने एक दिन ब्राह्मणों तथा द्रौपदीसहित अपने भाइयोंसे इस प्रकार कहा—॥

दृष्टानि तीर्थान्यस्माभिः पुण्यानि च शिवानि च।
मनसो ह्लादनीयानि वनानि च पृथक् पृथक्॥ २ ॥

'हम लोगोंने अनेक पुण्य-दायक एवं कल्याणस्वरूप तीर्थोंके दर्शन किये। मनको आह्लाद प्रदान करनेवाले भिन्न-भिन्न वनोंका भी अवलोकन किया॥ २॥

देवैः पूर्वं विचीर्णानि मुनिभिश्च महात्मभिः।
यथाक्रमविशेषेण द्विजैः सम्पूजितानि च॥ ४ ॥

'वे तीर्थ और वन ऐसे थे, जहाँ पूर्वकालमें देवता और महात्मा, मुनि विचरण कर चुके हैं तथा क्रमशः अनेक द्विजोंने उनका समादर किया है॥ ३॥

ऋषीणां पूर्वचरितं तथा कर्म विचेष्टितम्।
राजर्षीणां च चरितं कथाश्च विविधाः शुभाः॥ ३ ॥
शृण्वानास्तत्र तत्र स्म आश्रमेषु शिवेषु च।
अभिषेकं द्विजैः सार्धं कृतवन्तो विशेषतः॥ ५ ॥

'हमने ऋषियोंके पूर्वचरित्र, कर्म और चेष्टाओंकी कथा सुनी है। राजर्षियोंके भी चरित्र और भाँति-भाँतिकी शुभ कथाएँ सुनते हुए मङ्गलमय आश्रमोंमें विशेषतः ब्राह्मणोंके साथ तीर्थस्नान किया है॥ ४-५॥

अर्चिताः सततं देवाः पुष्पैरद्भिः सदा च वः।
यथालब्धैर्मूलफलैः पितरश्चापि तर्पिताः॥ ६ ॥

'हमने सदा फूल और जलसे देवताओंकी पूजा की है और यथाप्राप्त फल-मूलसे पितरोंको भी तृप्त किया है॥६॥

पर्वतेषु च रम्येषु सर्वेषु च सरस्सु च।
उदधौ च महापुण्ये सूपस्पृष्टं महात्मभिः॥ ७ ॥

'रमणीय पर्वतों और समस्त सरोवरोंमें विशेषतः परम पुण्यमय समुद्रके जलमें इन महात्माओंके साथ भली-भाँति स्नान एवं आचमन किया है॥ ७॥

इला सरस्वती सिन्धुर्यमुना नर्मदा तथा।
नानातीर्थेषु रम्येषु सूपस्पृष्टं सह द्विजैः॥ ८ ॥

'इला, सरस्वती, सिंधु, यमुना तथा नर्मदा आदि नाना रमणीय तीर्थोंमें भी ब्राह्मणोंके साथ विधिवत् स्नान और आचमन किया है॥ ८॥

गङ्गाद्वारमतिक्रम्य बहवः पर्वताः शुभाः।
हिमवान् पर्वतश्चैव नानाद्विजगणायुतः॥ ९ ॥

'गङ्गाद्वार (हरिद्वार) को लाँघकर बहुत-से मङ्गलमय पर्वत देखे तथा बहुसंख्यक ब्राह्मणोंसे युक्त हिमालय पर्वतका भी दर्शन किया॥ ९॥

विशाला बदरी दृष्टा नरनारायणाश्रमः।
दिव्या पुष्करिणी दृष्टा सिद्धदेवर्षिपूजिता॥ १० ॥

'विशाल बदरीतीर्थ, भगवान् नर-नारायणके आश्रम तथा सिद्धों और देवर्षियोंसे पूजित इस दिव्य सरोवरका भी दर्शन किया॥ १०॥

यथाक्रमविशेषेण सर्वाण्यायतनानि च।
दर्शितानि द्विजश्रेष्ठा लोमशेन महात्मना॥ ११ ॥

'विप्रवरो! महात्मा लोमशजीने हमें सभी पुण्यस्थानोंके क्रमशः दर्शन कराये हैं॥ ११॥

इमं वैश्रवणावासं पुण्यं सिद्धनिषेवितम्।
कथं भीम गमिष्यामो गतिरन्तरधीयताम्॥ १२ ॥

'भीमसेन! यह सिद्धसेवित पुण्य-प्रदेश कुबेरका निवासस्थान है। अब हम कुबेरके भवनमें कैसे प्रवेश करेंगे? इसका उपाय सोचो'॥ १२॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति राजेन्द्रे वागुवाचाशरीरिणी।
न शक्यो दुर्गमो गन्तुमितो वैश्रवणाश्रमात्॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज युधिष्ठिरके ऐसा कहते ही आकाशवाणी बोल उठी—'कुबेरके इस आश्रमसे आगे जाना सम्भव नहीं है। यह मार्ग अत्यन्त दुर्गम है॥

अनेनैव पथा राजन् प्रतिगच्छ यथागतम्।
नरनारायणस्थानं बदरीत्यभिविश्रुतम्॥ १४ ॥

'राजन्! जिससे तुम आये हो, उसी मार्गसे विशाला बदरीके नामसे विख्यात भगवान् नर-नारायणके स्थानको लौट जाओ॥ १४॥

तस्माद् यास्यसि कौन्तेय सिद्धचारणसेवितम्।
बहुपुष्पफलं रम्यमाश्रमं वृषपर्वणः॥ १५ ॥

'कुन्तीकुमार! वहाँसे तुम प्रचुर फल-फूलसे सम्पन्न वृषपर्वाके रमणीय आश्रमपर जाओ, जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते हैं॥ १५॥

अतिक्रम्य च तं पार्थ त्वार्ष्टिषेणाश्रमे वसेः।
ततो द्रक्ष्यसि कौन्तेय निवेशं धनदस्य च॥ १६ ॥

'उस आश्रमको भी लाँघकर आर्ष्टिषेणके आश्रमपर जाना और वहीं निवास करना। तदनन्तर तुम्हें धनदाता कुबेरके निवासस्थानका दर्शन होगा' ॥ १६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वायुर्दिव्यगन्धवहः शुचिः।
सुखप्रह्लादनः शीतः पुष्पवर्षं ववर्ष च ॥ १७ ॥

इसी समय दिव्य सुगन्धसे परिपूर्ण पवित्र वायु चलने लगी, जो शीतल तथा सुख और आह्लाद देनेवाली थी। साथ ही वहाँ फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ १७ ॥

श्रुत्वा तु दिव्यामाकाशाद् वाचं सर्वे विसिस्मियुः।
ऋषीणां ब्राह्मणानां च पार्थिवानां विशेषतः ॥ १८ ॥

वह दिव्य आकाशवाणी सुनकर सबको बड़ा विस्मय हुआ। ऋषियों, ब्राह्मणों और विशेषतः राजर्षियोंको अधिक आश्चर्य हुआ ॥ १८ ॥

श्रुत्वा तन्महदाश्चर्यं द्विजो धौम्योऽब्रवीत् तदा।
न शक्यमुत्तरं वक्तुमेवं भवतु भारत ॥ १९ ॥

वह महान् आश्चर्यजनक बात सुनकर विप्रर्षि धौम्यने कहा—'भारत! इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। ऐसा ही होना चाहिये' ॥ १९ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा प्रतिजग्राह तद् वचः।
प्रत्यागम्य पुनस्तं तु नरनारायणाश्रमम् ॥ २० ॥
भीमसेनादिभिः सर्वैर्भ्रातृभिः परिवारितः।
पाञ्चाल्या ब्राह्मणाश्चैव न्यवसन्त सुखं तदा ॥ २१ ॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने वह आकाशवाणी स्वीकार कर ली और पुनः नर-नारायणके आश्रममें लौटकर भीमसेन आदि सब भाइयों और द्रौपदीके साथ वहीं रहने लगे। उस समय साथ आये हुए ब्राह्मण लोग भी वहीं सुखपूर्वक निवास करने लगे ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां पुनर्नरनारायणाश्रमागमने षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें पाण्डवोंका पुनः नर-नारायणके आश्रममें आगमनविषयक एकसौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५६ ॥

(जटासुरवधपर्व)

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

जटासुरके द्वारा द्रौपदीसहित युधिष्ठिर, नकुल, सहदेवका हरण तथा भीमसेनद्वारा जटासुरका वध

वैशम्पायन उवाच

ततस्तान् परिविश्वस्तान् वसतस्तत्र पाण्डवान्।
पर्वतेन्द्रे द्विजैः सार्धं पार्थागमनकाङ्क्षया ॥ १ ॥
गतेषु तेषु रक्षःसु भीमसेनात्मजेऽपि च।
रहितान् भीमसेनेन कदाचित् तान् यदृच्छया ॥ २ ॥
जहार धर्मराजानं यमौ कृष्णां च राक्षसः।
ब्राह्मणो मन्त्रकुशलः सर्वशास्त्रविदुत्तमः ॥ ३ ॥
इति ब्रुवन् पाण्डवेयान् पर्युपास्ते स्म नित्यदा।
परीप्समानः पार्थानां कलापानि धनूंषि च ॥ ४ ॥
अन्तरं सम्परिप्रेप्सुर्द्रौपद्या हरणं प्रति।
दुष्टात्मा पापबुद्धिः स नाम्ना ख्यातो जटासुरः॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पर्वतराज गन्धमादनपर सब पाण्डव अर्जुनके आनेकी प्रतीक्षा करते हुए ब्राह्मणोंके साथ निःशङ्क रहने लगे। उन्हें पहुँचानेके लिये आये हुए राक्षस चले गये। भीमसेनका पुत्र घटोत्कच भी विदा हो गया। तत्पश्चात् एक दिनकी बात है, भीमसेनकी अनुपस्थितिमें अकस्मात् एक राक्षसने धर्मराज युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव तथा द्रौपदीको हर लिया। वह ब्राह्मणके [illegible] रहता था और सब पाण्डवोंसे कहता था कि 'मैं सम्पूर्ण शास्त्रज्ञोंमें श्रेष्ठ और मन्त्र-कुशल ब्राह्मण हूँ।' वह कुन्ती-कुमारोंके तरकस और धनुषको भी हर लेना चाहता था और द्रौपदीका अपहरण करनेके लिये सदा अवसर ढूँढ़ता रहता था। उस दुष्टात्मा एवं पापबुद्धि राक्षसका नाम जटासुर था ॥ १-५ ॥

पोषणं तस्य राजेन्द्र चक्रे पाण्डवनन्दनः।
बुबुधे न च तं पापं भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ ६ ॥

जनमेजय! पाण्डवोंको आनन्द प्रदान करनेवाले युधिष्ठिर अन्य ब्राह्मणोंकी तरह उसका भी पालन-पोषण करते थे। परंतु राखमें छिपी हुई आगकी भाँति उस पापीके असली स्वरूपको वे नहीं जानते थे ॥ ६ ॥

स भीमसेने निष्क्रान्ते मृगयार्थमरिन्दम।
घटोत्कचं सानुचरं दृष्ट्वा विप्रद्रुतं दिशः ॥ ७ ॥
लोमशप्रभृतींस्तांस्तु महर्षींश्च समाहितान्।
स्नातुं विनिर्गतान् दृष्ट्वा पुष्पार्थं च तपोधनान्॥ ८ ॥
रूपमन्यत् समास्थाय विकृतं भैरवं महत्।
गृहीत्वा सर्वशस्त्राणि द्रौपदीं परिगृह्य च ॥ ९ ॥
प्रातिष्ठत स दुष्टात्मा त्रीन् गृहीत्वा च पाण्डवान्।
सहदेवस्तु [illegible] पाण्डवः ॥ १० ॥

विक्रम्य कौशिकं खड्गं मोक्षयित्वा ग्रहं रिपोः ।
आक्रन्दद् भीमसेनं वै येन यातो महाबलः ॥ ११ ॥

शत्रुसूदन ! हिंसक पशुओंको मारनेके लिये भीमसेनके आश्रमसे बाहर चले जानेपर उस राक्षसने देखा कि घटोत्कच अपने सेवकोंसहित किसी अज्ञात दिशाको चला गया, लोमश आदि महर्षि ध्यान लगाये बैठे हैं तथा दूसरे तपोधन स्नान करने और फूल लानेके लिये कुटियासे बाहर निकल गये हैं, तब उस दुष्टात्माने विशाल, विकराल एवं भयंकर दूसरा रूप धारण करके पाण्डवोंके सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र, द्रौपदी तथा तीनों पाण्डवोंको भी लेकर वहाँसे प्रस्थान कर दिया ।



उस समय पाण्डु-कुमार सहदेव प्रयत्न करके उस राक्षसकी पकड़से छूट गये और पराक्रम करके म्यानसे निकली हुई अपनी तलवारको भी उससे छुड़ा लिया । फिर वे महाबली भीमसेन जिस मार्गसे गये थे, उधर ही जाकर उन्हें जोर-जोरसे पुकारने लगे ॥ ७-११ ॥

तमब्रवीद् धर्मराजो ह्रियमाणो युधिष्ठिरः ।
धर्मस्ते हीयते मूढ न तत्त्वं समवेक्षसे ॥ १२ ॥

इधर जिन्हें वह जटासुर हरकर लिये जा रहा था 'वे धर्मराज युधिष्ठिर उससे इस प्रकार बोले—'अरे मूर्ख ! इस प्रकार (विश्वासघात करनेसे) तो तेरे धर्मका ही नाश हो रहा है । किंतु उधर तेरी दृष्टि नहीं जाती है ॥ १२ ॥

येऽन्ये क्वचिन्मनुष्येषु तिर्यग्योनिगताश्च ये ।
धर्मं ते समवेक्षन्ते रक्षांसि च विशेषतः ॥ १३ ॥

'दूसरे भी जहाँ कहीं मनुष्य अथवा पशु-पक्षीकी योनिमें स्थित प्राणी हैं, वे सभी धर्मपर दृष्टि रखते हैं । राक्षस तो (पशु-पक्षीकी अपेक्षा भी) विशेषरूपसे धर्मका विचार करते हैं ।

धर्मस्य राक्षसा मूलं धर्मं ते विदुरुत्तमम् ।
एतत् परीक्ष्य सर्वं त्वं समीपे स्थातुमर्हसि ॥ १४ ॥
देवाश्च ऋषयः सिद्धाः पितरश्चापि राक्षस ।
गन्धर्वोरगरक्षांसि वयांसि पशवस्तथा ॥ १५ ॥
तिर्यग्योनिगताश्चैव अपि कीटपिपीलिकाः ।
मनुष्यानुपजीवन्ति ततस्त्वमपि जीवसि ॥ १६ ॥

'राक्षस धर्मके मूल हैं । वे उत्तम धर्मका ज्ञान रखते हैं । इन सब बातोंका विचार करके तुझे हमलोगोंके समीप ही रहना चाहिये । राक्षस ! देवता, ऋषि, सिद्ध, पितर, गन्धर्व, नाग, राक्षस, पशु, पक्षी, तिर्यग्योनिके सभी प्राणी और कीड़े-मकोड़े, चींटी आदि भी मनुष्योंके आश्रित हो जीवन-निर्वाह करते हैं । इस दृष्टिसे तू भी मनुष्योंसे ही जीविका चलाता है ॥ १४–१६ ॥

समृद्ध्या ह्यस्य लोकस्य लोको युष्माकमृध्यति ।
इमं च लोकं शोचन्तमनुशोचन्ति देवताः ॥ १७ ॥

'इस मनुष्यलोककी समृद्धिसे ही तुम सब लोगोंका लोक समृद्धिशाली होता है । यदि इस लोककी दशा शोचनीय हो तो देवता भी शोकमें पड़ जाते हैं ॥ १७ ॥

पूज्यमानाश्च वर्धन्ते हव्यकव्यैर्यथाविधि ।
वयं राष्ट्रस्य गोप्तारो रक्षितारश्च राक्षस ॥ १८ ॥

'क्योंकि मनुष्यद्वारा हव्य और कव्यसे विधिपूर्वक पूजित होनेपर उनकी वृद्धि होती है । राक्षस ! हमलोग राष्ट्रके पालक और संरक्षक हैं ॥ १८ ॥

राष्ट्रस्यारक्ष्यमाणस्य कुतो भूतिः कुतः सुखम् ।
न च राजावमन्तव्यो रक्षसा जात्वनागसि ॥ १९ ॥

'हमारे द्वारा रक्षित न होनेपर राष्ट्रको कैसे समृद्धि प्राप्त होगी और कैसे उसे सुख मिलेगा ? राक्षसको भी उचित है कि वह बिना अपराधके कभी किसी राजाका अपमान न करे ॥ १९ ॥

अणुरप्यपचारश्च नास्त्यस्माकं नराशन ।
विघसाशान् यथाशक्त्या कुर्महे देवतादिषु ॥ २० ॥

'नरभक्षी निशाचर ! तेरे प्रति हमलोगोंकी ओरसे थोड़ा-सा भी अपराध नहीं हुआ है । हम देवता आदिको समर्पित करके बचे हुए प्रसादस्वरूप अन्नका यथाशक्ति गुरुजनों और ब्राह्मणोंको भोजन कराते हैं ॥ २० ॥

गुरूंश्च ब्राह्मणांश्चैव प्रणामप्रवणाः सदा ।
द्रोग्धव्यं न च मित्रेषु न विश्वस्तेषु कर्हिचित् ॥ २१ ॥

'गुरुजनों तथा ब्राह्मणोंके सम्मुख हमारा मस्तक सदा

झुका रहता है । किसी भी पुरुषको कभी अपने मित्रों और विश्वासी पुरुषोंके साथ द्रोह नहीं करना चाहिये ॥ २१ ॥

येषां चान्नानि भुञ्जीत यत्र च स्यात् प्रतिश्रयः।
स त्वं प्रतिश्रयेऽस्माकं पूज्यमानः सुखोषितः ॥ २२ ॥

'जिनका अन्न खाये और जहाँ अपनेको आश्रय मिला हो, उनके साथ भी द्रोह या विश्वासघात करना उचित नहीं है । तू हमारे आश्रयमें हमलोगोंसे सम्मानित होकर सुख-पूर्वक रहा है ॥ २२ ॥

भुक्त्वा चान्नानि दुष्प्रज्ञ कथमस्मान् जिहीर्षसि।
एवमेव वृथाचारो वृथावृद्धो वृथामतिः ॥ २३ ॥

'खोटी बुद्धिवाले राक्षस ! तू हमारा अन्न खाकर हमें ही हर ले जानेकी इच्छा कैसे करता है ? इस प्रकार तो अबतक तूने ब्राह्मणरूपसे जो आचार दिखाया था, वह सब व्यर्थ ही था । तेरा बढ़ना या वृद्ध होना भी व्यर्थ ही है । तेरी बुद्धि भी व्यर्थ है ॥ २३ ॥

वृथामरणमर्हश्च वृथाद्य न भविष्यसि ।
अथ चेद् दुष्टबुद्धिस्त्वं सर्वैर्धर्मैर्विवर्जितः ॥ २४ ॥
प्रदाय शस्त्राण्यस्माकं युद्धेन द्रौपदीं हर ।
अथ चेत् त्वमविज्ञानादिदं कर्म करिष्यसि ॥ २५ ॥
अधर्मं चाप्यकीर्तिं च लोके प्राप्स्यसि केवलम्।
एतामद्य परामृश्य स्त्रियं राक्षस मानुषीम् ॥ २६ ॥
विषमेतत् समालोड्य कुम्भेन प्राशितं त्वया ।
ततो युधिष्ठिरस्तस्य गुरुकः समपद्यत ॥ २७ ॥

'ऐसी दशामें तू व्यर्थ मृत्युका ही अधिकारी है और आज व्यर्थ ही तुम्हारे प्राण नष्ट हो जायँगे । यदि तेरी बुद्धि दुष्टतापर ही उतर आयी है और तू सम्पूर्ण धर्मोंको भी छोड़ बैठा है, तो हमें हमारे अस्त्र देकर युद्ध कर तथा उसमें विजयी होनेपर द्रौपदीको ले जा । यदि तू अज्ञानवश यह विश्वासघात या अपहरण कर्म करेगा, तो संसारमें तुझे केवल अधर्म और अकीर्ति ही प्राप्त होगी । निशाचर ! आज तूने इस मानव-जातिकी स्त्रीका स्पर्श करके जो पाप किया है, यह भयंकर विष है, जिसे तूने घड़ेमें घोलकर पी लिया है।' इतना कहकर युधिष्ठिर उसके लिये बहुत भारी हो गये ॥

स तु भाराभिभूतात्मा न तथा शीघ्रगोऽभवत्।
अथाब्रवीद् द्रौपदीं च नकुलं च युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥

भारसे उसका शरीर दबने लगा, इसलिये अब वह पहले-की तरह शीघ्रतापूर्वक न चल सका । तब युधिष्ठिरने नकुल और द्रौपदीसे कहा—॥ २८ ॥

मा भैष्ट राक्षसान्मूढाद् गतिरस्य मया हृता ।
नातिदूरे महाबाहुर्भविता पवनात्मजः ॥ २९ ॥

'तुमलोग इस मूढ़ राक्षससे डरना मत । मैंने इसकी गति कुण्ठित कर दी है । वायुपुत्र महाबाहु भीमसेन यहाँसे अधिक दूर नहीं होंगे ॥ २९ ॥

अस्मिन् मुहूर्ते सम्प्राप्ते न भविष्यति राक्षसः ।
सहदेवस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं मूढचेतनम् ॥ ३० ॥
उवाच वचनं राजन् कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
राजन् किंनाम सत्कृत्यं क्षत्रियस्यास्त्यतोऽधिकम्॥ ३१॥
यद् युद्धेऽभिमुखः प्राणांस्त्यजेच्छत्रुं जयेत वा।
एष चास्मान् वयं चैनं युद्ध्यमानाः परंतप ॥ ३२ ॥
सूदयेम महाबाहो देशकालो ह्ययं नृप ।
क्षत्रधर्मस्य सम्प्राप्तः कालः सत्यपराक्रमः ॥ ३३ ॥

'इस आगामी मुहूर्तके आते ही इस राक्षसके प्राण नहीं रहेंगे ।' इधर सहदेवने उस मूढ़ राक्षसकी ओर देखते हुए कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे कहा—'राजन् ! क्षत्रियके लिये इससे अधिक सत्कर्म क्या होगा कि वह युद्धमें शत्रुका सामना करते हुए प्राणोंका त्याग कर दे अथवा शत्रुको ही जीत ले । राजन् ! इस प्रकार यह हमें अथवा हम इसे युद्ध करते हुए मार डालें । परंतप महाबाहु नरेश ! यह क्षत्रिय धर्मके अनुकूल देश-काल प्राप्त हुआ है । यह समय यथार्थ पराक्रम प्रकट करनेके लिये है ॥ ३०–३३ ॥

जयन्तो हन्यमाना वा प्राप्तुमर्हाम सद्गतिम् ।
राक्षसे जीवमानेऽद्य रविरस्तमियाद् यदि ॥ ३४ ॥
नाहं ब्रूयां पुनर्जातु क्षत्रियोऽस्मीति भारत ।
भो भो राक्षस तिष्ठस्व सहदेवोऽस्मि पाण्डवः ॥ ३५ ॥
हत्वा वा मां नयस्वैनां हतो वाद्येह स्वप्स्यसि ।
तदा ब्रुवति माद्रेये भीमसेनो यदृच्छया ॥ ३६ ॥
प्रत्यदृश्यद् गदाहस्तः सवज्र इव वासवः ।
सोऽपश्यद् भ्रातरौ तत्र द्रौपदीं च यशस्विनीम्॥ ३७ ॥

'भारत ! हम विजयी हों या मारे जायँ, सभी दशाओंमें उत्तम गति प्राप्त कर सकते हैं । यदि इस राक्षसके जीते-जी सूर्य डूब गये, तो मैं फिर कभी अपनेको क्षत्रिय नहीं कहूँगा । अरे ओ निशाचर ! खड़ा रहा, मैं पाण्डुकुमार सहदेव हूँ, या तो तू मुझे मारकर द्रौपदीको ले जा या स्वयं मेरे हाथों मारा जाकर आज यहीं सदाके लिये सो जा ।' माद्री-नन्दन सहदेव जब ऐसी बात कह रहे थे, उसी समय अकस्मात् गदा हाथमें लिये भीमसेन दिखायी दिये, मानो वज्रधारी इन्द्र आ पहुँचे हों । उन्होंने वहाँ (राक्षसके अधिकारमें पड़े हुए) अपने दोनों भाइयों तथा यशस्विनी द्रौपदीको देखा ॥ ३४–३७ ॥

क्षितिस्थं सहदेवं च क्षिपन्तं राक्षसं तदा ।
मार्गाच्च राक्षसं मूढं कालोपहतचेतसम् ॥ ३८ ॥
भ्रमन्तं तत्र तत्रैव दैवेन विनिवारितम् ।
आवृत्तान् [illegible] द्रौपदीं च महाबलः ॥ ३९ ॥

क्रोधमाहारयद् भीमो राक्षसं चेदमब्रवीत् ।
विज्ञातोऽसि मया पूर्वं पाप शस्त्रपरीक्षणे ॥ ४० ॥

उस समय सहदेव धरतीपर खड़े होकर राक्षसपर आक्षेप कर रहे थे और वह मूढ़ राक्षस मार्गसे भ्रष्ट होकर वहीं चक्कर काट रहा था। कालसे उसकी बुद्धि मारी गयी थी। दैवने ही उसे वहाँ रोक रक्खा था। भाइयों और द्रौपदीका अपहरण होता देख महाबली भीमसेन कुपित हो उठे और जटासुरसे बोले—'ओ पापी! पहले जब तू शस्त्रोंकी परीक्षा कर रहा था, तभी मैंने तुझे पहचान लिया था ॥ ३८–४० ॥

आस्था तु त्वयि मे नास्ति यतोऽसि न हतस्तदा।
ब्रह्मरूपप्रतिच्छन्नो न नो वदसि चाप्रियम् ॥ ४१ ॥

'तुझपर मेरा विश्वास नहीं रह गया था। तो भी तू ब्राह्मणके रूपमें अपने असली स्वरूपको छिपाये हुए था और हमलोगोंसे कोई अप्रिय बात नहीं कहता था। इसीलिये मैंने तुम्हें तत्काल नहीं मार डाला ॥ ४१ ॥

प्रियेषु रममाणं त्वां न चैवाप्रियकारिणम् ।
अतिथिं ब्रह्मरूपं च कथं हन्यामनागसम् ॥ ४२ ॥
राक्षसं जानमानोऽपि यो हन्यान्नरकं व्रजेत् ।
अपक्वस्य च कालेन वधस्तव न विद्यते ॥ ४३ ॥

'तू हमारे प्रिय कार्योंमें मन लगाता था। जो हमें प्रिय न लगे, ऐसा काम नहीं करता था। ब्राह्मण अतिथिके रूपमें आया था और कभी कोई अपराध नहीं किया था। ऐसी दशामें मैं तुझे कैसे मारता? जो राक्षसको राक्षस जानते हुए भी विना किसी अपराधके उसका वध करता है, वह नरकमें जाता है। अभी तेरा समय पूरा नहीं हुआ था, इसलिये भी आजसे पहले तेरा वध नहीं किया जा सकता था ॥४२-४३॥

नूनमद्यासि सम्पक्को यथा ते मतिरीदृशी।
दत्ता कृष्णापहरणे कालेनाद्भुतकर्मणा ॥ ४४ ॥

'आज निश्चय ही तेरी आयु पूरी हो चुकी है, तभी तो अद्भुत कर्म करनेवाले कालने तुझे इस प्रकार द्रौपदीके अपहरणकी बुद्धि दी है ॥ ४४ ॥

बडिशोऽयं त्वया ग्रस्तः कालसूत्रेण लम्बितः ।
मत्स्योऽम्भसीव स्यूतास्यः कथमद्य भविष्यसि ॥ ४५ ॥

'कालरूपी डोरेसे लटकाया हुआ वंशीका काँटा तूने निगल लिया है। तेरा मुँह जलकी मछलीके समान उस काँटेमें गुँथ गया है, अतः अब तू कैसे जीवन धारण करेगा?

यं चासि प्रस्थितो देशं मनः पूर्वं गतं च ते ।
न तं गन्तासि गन्तासि मार्गं बकहिडिम्बयोः ॥ ४६ ॥

'जिस देशकी ओर तू प्रस्थित हुआ है और जहाँ तेरा मन पहलेसे ही जा पहुँचा है, वहाँ अब तू न जा सकेगा। तुझे तो बक और हिडिम्बके मार्गपर जाना है' ॥ ४६ ॥

एवमुक्तस्तु भीमेन राक्षसः कालचोदितः ।
भीत उत्सृज्य तान् सर्वान् युद्धाय समुपस्थितः ॥ ४७ ॥

भीमसेनके ऐसा कहनेपर वह राक्षस भयभीत हो उन सबको छोड़कर कालकी प्रेरणासे युद्धके लिये उद्यत हो गया॥

अब्रवीच्च पुनर्भीमं रोषात् प्रस्फुरिताधरः ।
न मे मूढा दिशः पाप त्वदर्थं मे विलम्बितम् ॥ ४८ ॥

उस समय रोषसे उसके ओठ फड़क रहे थे। उसने भीमसेनको उत्तर देते हुए कहा—'ओ पापी! मुझे दिग्भ्रम नहीं हुआ था। मैंने तेरे ही लिये विलम्ब किया था ॥४८॥

श्रुता मे राक्षसा ये ये त्वया विनिहता रणे ।
तेषामद्य करिष्यामि तवास्रेणोदकक्रियाम् ॥ ४९ ॥

'तूने जिन-जिन राक्षसोंको युद्धमें मारा है, उन सबके नाम मैंने सुने हैं। आज तेरे रक्तसे ही मैं उनका तर्पण करूँगा' ॥ ४९ ॥

एवमुक्तस्ततो भीमः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
स्मयमान इव क्रोधात् साक्षात् कालान्तकोपमः ॥ ५० ॥
(ब्रुवन् वै तिष्ठ तिष्ठेति क्रोधसंरक्तलोचनः ।)
बाहुसंरम्भमेवैक्षन्नभिदुद्राव राक्षसम् ।
राक्षसोऽपि तदा भीमं युद्धार्थिनमवस्थितम् ॥ ५१ ॥
मुहुर्मुहुर्व्याददानः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
अभिदुद्राव संरब्धो बलिर्वज्रधरं यथा ॥ ५२ ॥

राक्षसके ऐसा कहनेपर भीमसेन अपने मुखके दोनों कोने चाटते हुए कुछ मुस्कराते-से प्रतीत हुए फिर क्रोधसे साक्षात् काल और यमराजके समान जान पड़ने लगे। रोषसे उनकी आँखें लाल हो गयी थीं और 'खड़ा रह, खड़ा रह' कहते हुए ताल ठोंककर राक्षसकी ओर दृष्टि गड़ाये उसपर टूट पड़े। राक्षस भी उस समय भीमसेनको युद्धके लिये उपस्थित देख बार-बार मुँह फैलाकर मुँहके दोनों कोने चाटने लगा और जैसे बलिराजा वज्रधारी इन्द्रपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार कुपित हो उसने भीमसेनपर धावा किया ॥५०–५२॥

(भीमसेनोऽप्यवष्टब्धो नियुद्धायाभवत् स्थितः ।
राक्षसोऽपि च विस्रब्धो बाहुयुद्धमकाङ्क्षत) ॥
वर्तमाने तदा ताभ्यां बाहुयुद्धे सुदारुणे।
माद्रीपुत्रावतिक्रुद्धावुभावप्यभ्यधावताम् ॥ ५३ ॥

भीमसेन भी स्थिर होकर उससे युद्धके लिये खड़े हो गये और वह राक्षस भी निश्चिन्त हो उनके साथ बाहु-युद्धकी इच्छा करने लगा। उस समय उन दोनोंमें बड़ा भयंकर बाहु-युद्ध होने लगा। यह देख माद्री-पुत्र नकुल और सहदेव अत्यन्त क्रोधमें भरकर उसकी ओर दौड़े ॥ ५३ ॥

न्यवारयत् तौ प्रहसन् कुन्तीपुत्रो वृकोदरः।
शक्तोऽहं राक्षसस्येति प्रेक्षध्वमिति चाब्रवीत् ॥ ५४ ॥

परंतु कुन्तीकुमार भीमसेनने हँसकर उन दोनोंको रोक दिया और कहा—'मैं अकेला ही इस राक्षसके लिये पर्याप्त हूँ। तुमलोग चुप-चाप देखते रहो' ॥ ५४ ॥

आत्मना भ्रातृभिश्चैव धर्मेण सुकृतेन च।
इष्टेन च शपे राजन् सूदयिष्यामि राक्षसम् ॥ ५५ ॥

फिर वे युधिष्ठिरसे बोले—'महाराज ! मैं अपनी, सब भाइयोंकी, धर्मकी, पुण्य कर्मोंकी तथा यज्ञकी शपथ खाकर कहता हूँ, इस राक्षसको अवश्य मार डालूँगा' ॥ ५५ ॥

इत्येवमुक्त्वा तौ वीरौ स्पर्धमानौ परस्परम्।
बाहुभ्यां समसज्जेतामुभौ रक्षोवृकोदरौ ॥ ५६ ॥

ऐसा कहकर वे दोनों वीर राक्षस और भीम एक दूसरेसे स्पर्धा रखते हुए बाहोंसे बाहें मिलाकर गुथ गये ॥ ५६ ॥

तयोरासीत् सम्प्रहारः क्रुद्धयोर्भीमरक्षसोः।
अमृष्यमाणयोः सङ्ख्ये देवदानवयोरिव ॥ ५७ ॥

भीमसेन तथा राक्षस दोनोंमें देवताओं और दानवोंके समान युद्ध होने लगा। दोनों ही रोष और अमर्षमें भरकर एक दूसरेपर प्रहार करने लगे ॥ ५७ ॥

आरुज्यारुज्य तौ वृक्षानन्योन्यमभिजघ्नतुः।
जीमूताविव गर्जन्तौ निनदन्तौ महाबलौ ॥ ५८ ॥

दोनोंका बल महान् था। वे गर्जते हुए दो मेघोंकी भाँति सिंहनाद करके वृक्षोंको तोड़-तोड़कर परस्पर चोट करते थे ॥ ५८ ॥

बभञ्जतुर्महावृक्षानूरुभिर्बलिनां वरौ।
अन्योन्येनाभिसंरब्धौ परस्परवधैषिणौ ॥ ५९ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ वे दोनों वीर अपनी जाँघोंके धक्केसे बड़े-बड़े वृक्षोंको तोड़ डालते थे और परस्पर कुपित हो एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छा रखते थे ॥ ५९ ॥

तद् वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम्।
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोः पुरा स्त्रीकाङ्क्षिणोर्यथा ॥ ६० ॥

जैसे पूर्वकालमें स्त्रीकी इच्छावाले दो भाई बालि और सुग्रीवमें भयंकर संग्राम हुआ था, उसी प्रकार भीमसेन और राक्षसमें होने लगा। उन दोनोंका वह वृक्षयुद्ध उस वनके वृक्षसमूहोंके लिये महान् विनाशकारी सिद्ध हुआ ॥ ६० ॥

आविध्याविध्य तौ वृक्षान् मुहूर्तमितरेतरम्।
ताडयामासतुरुभौ विनदन्तौ मुहुर्मुहुः ॥ ६१ ॥

वे दोनों बड़े-बड़े वृक्षोंको हिला-हिलाकर बार-बार विकट गर्जना करते हुए दो घड़ीतक एक दूसरेपर प्रहार करते रहे ॥ ६१ ॥

तस्मिन् देशे यदा वृक्षाः सर्व एव निपातिताः।
पुञ्जीकृताश्च शतशः परस्परवधेप्सया ॥ ६२ ॥
ततः शिलाः समादाय मुहूर्तमिव भारत।
महाभ्रैरिव शैलेन्द्रौ युयुधाते महाबलौ ॥ ६३ ॥
शिलाभिरुग्ररूपाभिर्बृहतीभिः परस्परम्।
वज्रैरिव महावेगैराजघ्नतुरमर्षणौ ॥ ६४ ॥

भारत ! जब उस प्रदेशके सारे वृक्ष गिरा दिये गये, तब एक दूसरेका वध करनेकी इच्छासे उन महाबली वीरोंने वहाँ ढेर-की-ढेर पड़ी हुई सैकड़ों शिलाएँ लेकर दो घड़ीतक इस प्रकार युद्ध किया, मानो दो पर्वतराज बड़े-बड़े मेघ खण्डोंद्वारा परस्पर युद्ध कर रहे हों। वहाँकी शिलाएँ विशाल और अत्यन्त भयंकर थीं। वे देखनेमें महान् वेगशाली वज्रोंके समान जान पड़ती थीं। अमर्षमें भरे हुए वे दोनों योद्धा उन्हीं शिलाओंद्वारा एक दूसरेको मारने लगे ॥ ६२-६४ ॥

अभिद्रुत्य च भूयस्तावन्योन्यं बलदर्पितौ।
भुजाभ्यां परिगृह्याथ चकर्षाते गजाविव ॥ ६५ ॥

तत्पश्चात् अपने-अपने बलके घमंडमें भरे हुए वे दोनों वीर एक दूसरेकी ओर झपटकर पुनः अपनी भुजाओंसे कसते हुए विपक्षीको उसी प्रकार खींचने लगे, जैसे दो गजराज परस्पर भिड़कर एक-दूसरेको खींच रहे हों ॥ ६५ ॥

मुष्टिभिश्च महाघोरैरन्योन्यमभिजघ्नतुः।
ततः कटकटाशब्दो बभूव सुमहात्मनोः ॥ ६६ ॥

अपने अत्यन्त भयानक मुक्कोंद्वारा वे परस्पर चोट करने लगे। तब उन दोनों महाकाय वीरोंमें जोर-जोरसे कटकटानेकी आवाज होने लगी ॥ ६६ ॥

ततः संहृत्य मुष्टिं तु पञ्चशीर्षमिवोरगम्।
वेगेनाभ्यहनद् भीमो राक्षसस्य शिरोधराम् ॥ ६७ ॥

तदनन्तर भीमसेनने पाँच सिरवाले सर्पकी भाँति अपने

पाँच अङ्गुलियोंसे युक्त हाथकी मुट्ठी बाँधकर उसे राक्षसकी गर्दनपर बड़े वेगसे दे मारा ॥ ६७ ॥

ततः श्रान्तं तु तद् रक्षो भीमसेनभुजाहतम् ।
सुपरिश्रान्तमालक्ष्य भीमसेनोऽभ्यवर्तत ॥ ६८ ॥

भीमसेनकी भुजाओंके आघातसे वह राक्षस थक गया था । तदनन्तर उसे अधिक थका हुआ देख भीमसेन आगे बढ़ते गये ॥ ६८ ॥



तत एनं महाबाहुर्बाहुभ्याममरोपमः ।
समुत्क्षिप्य बलाद् भीमो विनिष्पिष्य महीतले ॥ ६९ ॥

तत्पश्चात् देवताओंके समान तेजस्वी महाबाहु भीमसेनने उस राक्षसको दोनों भुजाओंसे बलपूर्वक उठा लिया और उसे पृथ्वीपर पटककर पीस डाला ॥ ६९ ॥

तस्य गात्राणि सर्वाणि चूर्णयामास पाण्डवः ।
अरत्निना चाभिहत्य शिरः कायादपाहरत् ॥ ७० ॥

उस समय पाण्डुनन्दन भीमने उसके सारे अङ्गोंको दबाकर चूर-चूर कर दिया और थप्पड़ मारकर उसके सिरको धड़से अलग कर दिया ॥ ७० ॥

संदष्टौष्ठं विवृत्ताक्षं फलं वृक्षादिव च्युतम् ।
जटासुरस्य तु शिरो भीमसेनबलाद्धतम् ॥ ७१ ॥

भीमसेनके बलसे कटकर अलग हुआ जटासुरका वह सिर वृक्षसे टूटकर गिरे हुए फलके समान जान पड़ता था। उसका ओठ दाँतोंसे दबा हुआ था और आँखें बहुत फैली हुई थीं ॥ ७१ ॥

पपात रुधिरादिग्धं संदष्टदशनच्छदम् ।
तं निहत्य महेष्वासो युधिष्ठिरमुपागमत् ।
स्तूयमानो द्विजाग्र्यैस्तु मरुद्भिरिव वासवः ॥ ७२ ॥

दाँतोंसे दबे हुए ओठवाला वह मस्तक खूनसे लथपथ होकर गिर पड़ा था । इस प्रकार जटासुरको मारकर महान् धनुर्धर भीमसेन युधिष्ठिरके पास आये । उस समय श्रेष्ठ द्विज उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे, मानो मरुद्गण देवराज इन्द्रके गुण गा रहे हों ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि जटासुरवधपर्वणि सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत जटासुरवधपर्वमें एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५७ ॥

॥ समाप्तं जटासुरवधपर्व ॥

(यक्षयुद्धपर्व)

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

नर-नारायण-आश्रमसे वृषपर्वाके यहाँ होते हुए राजर्षि आर्ष्टिषेणके आश्रमपर जाना

वैशम्पायन उवाच

निहते राक्षसे तस्मिन् पुनर्नारायणाश्रमम् ।
अभ्येत्य राजा कौन्तेयो निवासमकरोत् प्रभुः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—उस राक्षसके मारे जानेपर कुन्तीकुमार शक्तिशाली राजा युधिष्ठिर पुनः नर-नारायण-आश्रममें आकर रहने लगे ॥ १ ॥

स समानीय तान् सर्वान् भ्रातॄनित्यब्रवीद् वचः।
द्रौपद्या सहितान् काले संस्मरन् भ्रातरं जयम्॥ २ ॥

एक दिन उन्होंने द्रौपदीसहित सब भाइयोंको एकत्र करके अपने प्रियबन्धु अर्जुनका स्मरण करते हुए कहा— ॥ २ ॥

समाश्वतस्त्रोऽभिगताः शिवेन चरतां वने।
कृतोद्देशः स बीभत्सुः पञ्चमीमभितः समाम्॥ ३ ॥

'हमलोगोंको कुशलपूर्वक वनमें विचरते हुए चार वर्ष हो गये। अर्जुनने यह संकेत किया था कि मैं पाँचवें वर्षमें लौट आऊँगा ॥ ३ ॥

प्राप्य पर्वतराजानं श्वेतं शिखरिणां वरम्।
पुष्पितैर्द्रुमषण्डैश्च मत्तकोकिलषट्पदैः ॥ ४ ॥
मयूरैश्चातकैश्चापि नित्योत्सवविभूषितम्।
व्याघ्रैर्वराहैर्महिषैर्गवयैर्हरिणैस्तथा ॥ ५ ॥
श्वापदैर्व्यालरूपैश्च रुरुभिश्च निषेवितम्।
फुल्लैः सहस्रपत्रैश्च शतपत्रैस्तथोत्पलैः ॥ ६ ॥
प्रफुल्लैः कमलैश्चैव तथा नीलोत्पलैरपि।
महापुण्यं पवित्रं च सुरासुरनिषेवितम्॥ ७ ॥

'पर्वतोंमें श्रेष्ठ गिरिराज कैलासपर आकर अर्जुनसे मिलनेके शुभ अवसरकी प्रतीक्षामें हमने यहाँ डेरा डाला है। (क्योंकि वहीं मिलनेका उनकी ओरसे संकेत प्राप्त हुआ था।) वह श्वेत कैलास-शिखर पुष्पित वृक्षावलियोंसे सुशोभित है। वहाँ मतवाले कोकिलोंकी काकली, भ्रमरोंके गुञ्जारव तथा मोर और पपीहोंकी मीठी वाणीसे नित्य उत्सव-सा होता रहता है, जो उस पर्वतकी शोभाको बढ़ा देता है। वहाँ व्याघ्र, वराह, महिष, गवय, हरिण, हिंसक जन्तु, सर्प तथा रुरुमृग निवास करते हैं। खिले हुए सहस्रदल, शतदल, उत्पल, प्रफुल्ल कमल तथा नीलोत्पल आदिसे उस पर्वतकी रमणीयता और भी बढ़ गयी है। वह परम पुण्यमय और पवित्र है। देवता और असुर दोनों ही उसका सेवन करते हैं ॥ ४—७ ॥

तत्रापि च कृतोद्देशः समागमदिदृक्षुभिः।
कृतश्च समयस्तेन पार्थेनामिततेजसा ॥ ८ ॥
पञ्चवर्षाणि वत्स्यामि विद्यार्थीति पुरा मयि।

अमिततेजस्वी अर्जुनने वहाँ भी अपना आगमन देखनेके लिये उत्सुक हुए हमलोगोंके साथ संकेतपूर्वक यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं अस्त्रविद्याका अध्ययन करनेके लिये पाँच वर्षोंतक देवलोकमें निवास करूँगा ॥ ८½ ॥

अत्र गाण्डीवधन्वानमवाप्तास्त्रमरिन्दमम् ॥ ९ ॥
देवलोकादिमं लोकं द्रक्ष्यामः पुनरागतम्।
इत्युक्त्वा ब्राह्मणान् सर्वानामन्त्रयत पाण्डवः ॥ १० ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले गाण्डीवधारी अर्जुन अस्त्र-विद्या प्राप्त करके पुनः देवलोकसे इस मनुष्यलोकमें आनेवाले हैं। हमलोग शीघ्र ही उनसे मिलेंगे' ऐसा कहकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने सब ब्राह्मणोंको आमन्त्रित किया ॥ ९-१० ॥

कारणं चैव तत् तेषामाचचक्षे तपस्विनाम्।
तानुग्रतपसः प्रीतान् कृत्वा पार्थाः प्रदक्षिणाम् ॥ ११ ॥

और उन तपस्वियोंके सामने उन्हें बुला भेजनेका कारण बताया। उन कठोर तपस्वियोंको प्रसन्न करके कुन्तीकुमारोंने उनकी परिक्रमा की ॥ ११ ॥

ब्राह्मणास्तेऽन्वमोदन्त शिवेन कुशलेन च।
सुखोदर्कमिमं क्लेशमचिराद् भरतर्षभ ॥ १२ ॥

तब उन ब्राह्मणोंने कुशल-मङ्गलके साथ उन सबके अभीष्ट मनोरथकी पूर्तिका अनुमोदन किया और कहा— 'भरतश्रेष्ठ! आजका यह क्लेश शीघ्र ही सुखद भविष्यके रूपमें परिणत हो जायगा ॥ १२ ॥

क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ तीर्त्वा गां पालयिष्यसि।
तत् तु राजा वचस्तेषां प्रतिगृह्य तपस्विनाम् ॥ १३ ॥
प्रतस्थे सह विप्रैस्तैर्भ्रातृभिश्च परन्तपः।
राक्षसैरनुयातो वै लोमशेनाभिरक्षितः ॥ १४ ॥

'धर्मज्ञ! तुम क्षत्रियधर्मके अनुसार इस संकटसे पार होकर सारी पृथ्वीका पालन करोगे।' राजा युधिष्ठिरने उन तपस्वी ब्राह्मणोंका यह आशीर्वाद शिरोधार्य किया और वे परंतप नरेश उन ब्राह्मणों तथा भाइयोंके साथ वहाँसे प्रस्थित हुए। घटोत्कच आदि राक्षस भी उनकी सेवाके लिये पीछे-पीछे चले। राजा युधिष्ठिर महर्षि लोमशके द्वारा सर्वथा सुरक्षित थे। १३-१४।

क्वचित् पद्भ्यां ततोऽगच्छद् राक्षसैरुह्यते क्वचित्।
तत्र तत्र महातेजा भ्रातृभिः सह सुव्रतः ॥ १५ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वे महातेजस्वी भूपाल कहीं तो भाइयोंसहित पैदल चलते और कहीं राक्षसलोग उन्हें पीठपर बैठाकर ले जाते थे। इस प्रकार वे अनेक स्थानोंमें गये॥

ततो युधिष्ठिरो राजा बहून् क्लेशान् विचिन्तयन्।
सिंहव्याघ्रगजाकीर्णामुदीचीं प्रययौ दिशम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिर अनेक क्लेशोंका चिन्तन करते

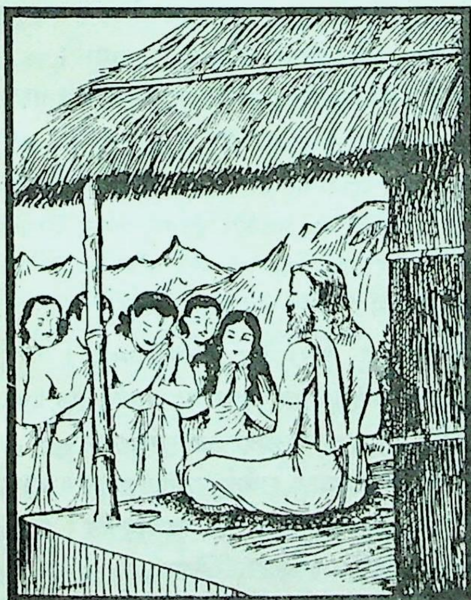
हुए सिंह, व्याघ्र और हाथियोंसे भरी हुई उत्तर दिशाकी ओर चल दिये ॥ १६ ॥

अवेक्षमाणः कैलासं मैनाकं चैव पर्वतम् ।
गन्धमादनपादांश्च श्वेतं चापि शिलोच्चयम् ॥ १७ ॥
उपर्युपरि शैलस्य बह्वीश्च सरितः शिवाः ।
पृष्ठं हिमवतः पुण्यं ययौ सप्तदशेऽहनि ॥ १८ ॥

कैलास, मैनाकपर्वत, गन्धमादनकी घाटियों और श्वेत (हिमालय) पर्वतका दर्शन करते हुए उन्होंने पर्वतमालाओंके ऊपर-ऊपर बहुत-सी कल्याणमयी सरिताएँ देखीं तथा सत्रहवें दिन वे हिमालयके एक पावन पृष्ठभागपर जा पहुँचे ॥ १७-१८ ॥

ददृशुः पाण्डवा राजन् गन्धमादनमन्तिकात् ।
पृष्ठे हिमवतः पुण्ये नानाद्रुमलतावृते ॥ १९ ॥
सलिलावर्तसंजातैः पुष्पितैश्च महीरुहैः ।
समावृतं पुण्यतममाश्रमं वृषपर्वणः ॥ २० ॥
तमुपागम्य राजर्षिं धर्मात्मानमरिन्दमाः ।
पाण्डवा वृषपर्वाणमवन्दन्त गतक्लमाः ॥ २१ ॥

राजन्! वहाँ पाण्डवोंने गन्धमादन पर्वतका निकटसे दर्शन किया। हिमालयका वह पावन पृष्ठभाग नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे आवृत था। वहाँ जलके आवर्तोंसे सींचकर उत्पन्न हुए फूलवाले वृक्षोंसे घिरा हुआ वृषपर्वाका परम पवित्र आश्रम था। शत्रुदमन पाण्डवोंने उन धर्मात्मा राजर्षि वृषपर्वाके पास जाकर क्लेशरहित हो उन्हें प्रणाम किया ॥ १९-२१ ॥



अभ्यनन्दत् स राजर्षिः पुत्रवद् भरतर्षभान् ।
पूजितास्चावसंस्तत्र सप्तरात्रमरिन्दमाः ॥ २२ ॥

उन राजर्षिने भरतकुलभूषण पाण्डवोंका पुत्रके समान अभिनन्दन किया और उनसे सम्मानित होकर वे शत्रुदमन पाण्डव वहाँ सात रात ठहरे रहे ॥ २२ ॥

अष्टमेऽहनि सम्प्राप्ते तमृषिं लोकविश्रुतम् ।
आमन्त्र्य वृषपर्वाणं प्रस्थानं प्रत्यरोचयन् ॥ २३ ॥

आठवें दिन उन विश्वविख्यात राजर्षि वृषपर्वाकी आज्ञा ले उन्होंने वहाँसे प्रस्थान करनेका विचार किया ॥ २३ ॥

एकैकशश्च तान् विप्रान् निवेद्य वृषपर्वणि ।
न्यासभूतान् यथाकालं बन्धूनिव सुसत्कृतान् ॥ २४ ॥
पारिबर्हं च तं शेषं परिदाय महात्मने ।
ततस्ते यज्ञपात्राणि रत्नान्याभरणानि च ॥ २५ ॥
न्यदधुः पाण्डवा राजन्नाश्रमे वृषपर्वणः ।

अपने साथ आये हुए ब्राह्मणोंको उन्होंने एक-एक करके वृषपर्वाके यहाँ धरोहरकी भाँति सौंपा। उन सबका पाण्डवोंने समय-समयपर सगे बन्धुकी भाँति सत्कार किया था। ब्राह्मणोंको सौंपनेके पश्चात् पाण्डवोंने अपनी शेष सामग्री भी उन्हीं महामनाको दे दी। तदनन्तर पाण्डुपुत्रोंने वृषपर्वाके ही आश्रममें अपने यज्ञपात्र तथा रत्नमय आभूषण भी रख दिये ॥ २४-२५½ ॥

अतीतानागते विद्वान् कुशलः सर्वधर्मवित् ॥ २६ ॥
अन्वशासत् स धर्मज्ञः पुत्रवद्भरतर्षभान् ।
तेऽनुज्ञाता महात्मानः प्रययुर्दिशमुत्तराम् ॥ २७ ॥

वृषपर्वा भूत और भविष्यके ज्ञाता, कार्यकुशल और सम्पूर्ण धर्मोंके मर्मज्ञ थे। उन धर्मज्ञ नरेशने भरतश्रेष्ठ पाण्डवोंको पुत्रकी भाँति उपदेश दिया। उनकी आज्ञा पाकर महामना पाण्डव उत्तरदिशाकी ओर चले ॥ २६-२७ ॥

तान् प्रस्थितानभ्यगच्छद् वृषपर्वा महीपतिः ।
उपन्यस्य महातेजा विप्रेभ्यः पाण्डवांस्तदा ॥ २८ ॥
अनुसंसार्य कौन्तेयानाशीर्भिरभिनन्द्य च ।
वृषपर्वा निववृते पन्थानमुपदिश्य च ॥ २९ ॥

उस समय उनके प्रस्थान करनेपर महातेजस्वी राजर्षि वृषपर्वाने पाण्डवोंको (उस देशके जानकार अन्य) ब्राह्मणों-

के सुपुर्द कर दिया और कुछ दूर पीछे-पीछे जाकर उन कुन्तीकुमारोंको आशीर्वाद देकर प्रसन्न किया। तत्पश्चात् उन्हें रास्ता बताकर वृषपर्वा लौट आये ॥ २८-२९ ॥

नानामृगगणैर्जुष्टं कौन्तेयः सत्यविक्रमः।
पदातिर्भ्रातृभिः सार्धं प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ॥ ३० ॥

फिर सत्यपराक्रमी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अपने भाइयों-के साथ पैदल ही (वृषपर्वाके बताये हुए मार्गपर) चले, जो अनेक जातिके मृगोंके झुंडोंसे भरा हुआ था ॥ ३० ॥

नानाद्रुमनिरोधेषु वसन्तः शैलसानुषु।
पर्वतं विविशुः श्वेतं चतुर्थेऽहनि पाण्डवाः ॥ ३१ ॥
महाभ्रघनसंकाशं सलिलोपहितं शुभम्।
मणिकाञ्चनरूप्यस्य शिलानां च समुच्चयम् ॥ ३२ ॥
(रूपं हिमवतः प्रस्थं बहुकन्दरनिर्झरम्।
शिलाविभङ्गविकटं लतापादपसंकुलम् ॥)
ते समासाद्य पन्थानं यथोक्तं वृषपर्वणा।
अनुसस्रुर्यथोद्देशं पश्यन्तो विविधान्नगान् ॥ ३३ ॥

वे सभी पाण्डव नाना प्रकारके वृक्षोंसे हरे-भरे पर्वतीय शिखरोंपर डेरा डालते हुए चौथे दिन श्वेत (हिमालय) पर्वतपर जा पहुँचे, जो महामेघके समान शोभा पाता था। वह सुन्दर शैल शीतल सलिलराशिसे सम्पन्न था और मणि, सुवर्ण, रजत तथा शिलाखण्डोंका समुदायरूप था। हिमालयका वह रमणीय प्रदेश अनेकानेक कन्दराओं और निर्झरोंसे सुशोभित शिलाखण्डोंके कारण दुर्गम तथा लताओं और वृक्षोंसे व्याप्त था। पाण्डव वृषपर्वाके बताये हुए मार्गका आश्रय ले नाना प्रकारके वृक्षोंका अवलोकन करते हुए अपने अभीष्ट स्थानकी ओर अग्रसर हो रहे थे ॥ ३१-३३ ॥

उपर्युपरि शैलस्य गुहाः परमदुर्गमाः।
सुदुर्गमांस्ते सुबहून् सुखेनैवाभिचक्रमुः ॥ ३४ ॥
धौम्यः कृष्णा च पार्थाश्च लोमशश्च महानृषिः।
अगच्छन् सहितास्तत्र न कश्चिदवहीयते ॥ ३५ ॥

उस पर्वतके ऊपर बहुत-सी अत्यन्त दुर्गम गुफाएँ थीं और अनेक दुर्गम्य प्रदेश थे। पाण्डव उन सबको सुखपूर्वक लाँघकर आगे बढ़ गये। पुरोहित धौम्य, द्रौपदी, चारों पाण्डव तथा महर्षि लोमश—ये सब लोग एक साथ चल रहे थे। कोई पीछे नहीं छूटता था ॥ ३४-३५ ॥

ते मृगद्विजसंघुष्टं नानाद्रुमलतायुतम्।
शाखामृगगणैश्चैव सेवितं सुमनोरमम् ॥ ३६ ॥
पुण्यं पद्मसरोयुक्तं सपल्वलमहावनम्।
उपतस्थुर्महाभागा माल्यवन्तं महागिरिम् ॥ ३७ ॥

आगे बढ़ते हुए वे महाभाग पाण्डव पुण्यमय माल्यवान् नामक महान् पर्वतपर जा पहुँचे, जो अनेक प्रकारके वृक्षों और लताओंसे सुशोभित तथा अत्यन्त मनोरम था। वहाँ मृगोंके झुंड विचरते और भाँति-भाँतिके पक्षी कलरव कर रहे थे। बहुतसे वानर भी उस पर्वतका सेवन करते थे। उसके शिखरपर कमलमण्डित सरोवर, छोटे-छोटे जलकुण्ड और विशाल वन थे ॥ ३६-३७ ॥

ततः किम्पुरुषावासं सिद्धचारणसेवितम्।
ददृशुर्हृष्टरोमाणः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ ३८ ॥

वहाँसे उन्हें गन्धमादन पर्वत दिखायी दिया, जो किम्पुरुषों-का निवासस्थान है। सिद्ध और चारण उसका सेवन करते हैं। उसे देखकर पाण्डवोंका रोम-रोम हर्षसे खिल उठा ॥ ३८ ॥

विद्याधरानुचरितं किन्नरीभिस्तथैव च।
गजसङ्घसमावासं सिंहव्याघ्रगणायुतम् ॥ ३९ ॥

उस पर्वतपर विद्याधर विहार करते थे। किन्नरियाँ क्रीड़ा करती थीं। झुंड-के-झुंड हाथी, सिंह और व्याघ्र निवास करते थे ॥ ३९ ॥

शरभोन्नादसंघुष्टं नानामृगनिषेवितम्।
ते गन्धमादनवनं तन्नन्दनवनोपमम् ॥ ४० ॥
मुदिताः पाण्डुतनया मनोहृदयनन्दनम्।
विविशुः क्रमशो वीराः शरण्यं शुभकाननम् ॥ ४१ ॥

शरभोंके सिंहनादसे वह पर्वत गूँजता रहता था। नाना प्रकारके मृग वहाँ निवास करते थे। गन्धमादन पर्वतका वह वन नन्दनवनके समान मन और हृदयको आनन्द देनेवाला था। वे वीर पाण्डुकुमार बड़े प्रसन्न होकर क्रमशः उस सुन्दर काननमें प्रविष्ट हुए, जो सबको शरण देनेवाला था। ४०-४१।

द्रौपदीसहिता वीरास्तैश्च विप्रैर्महात्मभिः।
शृण्वन्तः प्रीतिजननान् वल्गून् मदकलाञ्छुभान् ॥ ४२ ॥
श्रोत्ररम्यान् सुमधुराञ्छब्दान् खगमुखेरितान्।
सर्वर्तुफलभाराढ्यान् सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वलान् ॥ ४३ ॥
पश्यन्तः पादपांश्चापि फलभारावनामितान्।
आम्रानाम्रातकान् भव्यान् नारिकेलान् सतिन्दुकान् ॥
मुञ्जातकांस्तथाजीरान् दाडिमान् बीजपूरकान्।

पनसाँल्लकुचान् मोचान् खर्जूरानम्लवेतसान् ॥ ४५ ॥
पारावतांस्तथा क्षौद्रान् नीपांश्चापि मनोरमान् ।
बिल्वान् कपित्थाञ्जम्बूंश्च काश्मरीर्बदरीस्तथा ॥ ४६ ॥
प्लक्षानुदुम्बरवटानश्वत्थान् क्षीरिकांस्तथा ।
भल्लातकानामलकीर्हरीतकबिभीतकान् ॥ ४७ ॥
इङ्गुदान् करमर्दांश्च तिन्दुकांश्च महाफलान् ।
एतानन्यांश्च विविधान् गन्धमादनसानुषु ॥ ४८ ॥
फलैरमृतकल्पैस्तानाचितान् स्वादुभिस्तरून् ।
तथैव चम्पकाशोकान् केतकान् बकुलांस्तथा ॥ ४९ ॥
पुन्नागान् सप्तपर्णांश्च कर्णिकारान् सकेतकान् ।
पाटलान् कुटजान् रम्यान् मन्दारेन्दीवरांस्तथा ॥ ५० ॥
पारिजातान् कोविदारान् देवदारुद्रुमांस्तथा ।
शालांस्तालांस्तमालांश्च पिप्पलान् हिङ्गुकांस्तथा ॥ ५१ ॥
शाल्मलीः किंशुकाशोकाञ्छिंशपाः सरलांस्तथा ।

उनके साथ द्रौपदी तथा पूर्वोक्त महामना ब्राह्मण भी थे । वे सब लोग विहंगोंके मुखसे निकले हुए अत्यन्त मधुर सुन्दर, श्रवण-सुखद मादक एवं मोदजनक शुभ शब्द सुनते हुए तथा सभी ऋतुओंके पुष्पों और फलोंसे सुशोभित एवं उनके भारसे झुके वृक्षोंको देखते हुए आगे बढ़ रहे थे । आम, आमड़ा, भव्य नारियल, तेंदू, मुञ्जातक, अञ्जीर, अनार, नीबू, कटहल, लकुच (बड़हर), मोच (केला), खजूर, अम्लवेंत, पारावत, क्षौद्र, सुन्दर कदम्ब, बेल, कैथ, जामुन, गम्भारी, बेर, पाकड़, गूलर, बरगद, पीपल, पिंड खजूर, भिलावा, आँवला, हर्रें, बहेड़ा, इङ्गुद, करौंदा तथा बड़े-बड़े फलवाले तिंदुक—ये और दूसरे भी नाना प्रकारके वृक्ष गन्धमादनके शिखरोंपर लहलहा रहे थे, जो अमृतके समान स्वादिष्ट फलोंसे लदे हुए थे । (इन सबको देखते हुए पाण्डव लोग आगे बढ़ने लगे ।) इसी प्रकार चम्पा, अशोक, केतकी, बकुल (मौलसिरी), पुन्नाग (सुल्ताना चंपा), सप्तपर्ण (छितवन), कनेर, केवड़ा, पाटल (पाड़रि या गुलाब) कुटज, सुन्दर मन्दार, इन्दीवर (नीलकमल), पारिजात, कोविदार, देवदारु, शाल, ताल, तमाल, पिप्पल, हिङ्गुक (हींगका वृक्ष), सेमल, पलाश, अशोक, शीशम तथा सरल आदि वृक्षोंको देखते हुए पाण्डव-लोग अग्रसर हो रहे थे ॥ ४२–५१½ ॥

चकोरैः शतपत्रैश्च भृङ्गराजैस्तथा शुकैः ॥ ५२ ॥
कोकिलैः कलविङ्कैश्च हारितैर्जीवजीविकैः ।
प्रियकैश्चातकैश्चैव तथान्यैर्विविधैः खगैः ॥ ५३ ॥
श्रोत्ररम्यं सुमधुरं कूजद्भिश्चाप्यधिष्ठितान् ।
सरांसि च मनोज्ञानि समन्ताज्जलचारिभिः ॥ ५४ ॥
कुमुदैः पुण्डरीकैश्च तथा कोकनदोत्पलैः ।
कह्लारैः कमलैश्चैव आचितानि समन्ततः ॥ ५५ ॥
कादम्बैश्चक्रवाकैश्च कुररैर्जलकुक्कुटैः ।
कारण्डवैः प्लवैर्हंसैर्बकैर्मद्गुभिरेव च ॥ ५६ ॥
एतैश्चान्यैश्च कीर्णानि समन्ताज्जलचारिभिः ।
हृष्टैस्तथा तामरसरसासवमदालसैः ॥ ५७ ॥

इन वृक्षोंपर निवास करनेवाले चकोर, मोर, भृङ्गराज, तोते, कोयल, कलविङ्क (गौरैया-चिड़िया), हारीत (हारिल), चकवा, प्रियक, चातक तथा दूसरे नाना प्रकारके पक्षी, श्रवणसुखद मधुर शब्द बोल रहे थे । वहाँ चारों ओर जलचर जन्तुओंसे भरे हुए मनोहर सरोवर दृष्टिगोचर होते थे । जिनमें कुमुद, पुण्डरीक, कोकनद, उत्पल, कह्लार और कमल सब ओर व्याप्त थे । कादम्ब, चक्रवाक, कुरर, जल-कुक्कुट, कारण्डव, प्लव, हंस, बक, मद्गु तथा अन्य कितने ही जलचर पक्षी कमलोंके मकरन्दका पान करके मदसे मतवाले और हर्षसे मुग्ध हुए उन सरोवरोंमें सब ओर फैले थे ॥ ५२–५७ ॥

पद्मोदरच्युतरजःकिंजल्कारुणरञ्जितैः ।
मञ्जुस्वरैर्मधुकरैर्विरुतान् कमलाकरान् ॥ ५८ ॥

कमलोंसे भरे हुए तालाबोंमें मीठे स्वरसे बोलनेवाले भ्रमरोंके शब्द गूँज रहे थे । वे भ्रमर कमलके भीतरसे निकली हुई रज तथा केसरोंसे लाल रंगमें रँगे-से जान पड़ते थे ॥ ५८ ॥

अपश्यंस्ते नरव्याघ्रा गन्धमादनसानुषु ।
तथैव पद्मषण्डैश्च मण्डितांश्च समन्ततः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार वे नरश्रेष्ठ गन्धमादनके शिखरोंपर पद्मषण्ड-मण्डित तालाबोंको सब ओर देखते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ५९ ॥

शिखण्डिनीभिः सहिताँल्लतामण्डलकेषु च ।
मेघतूर्यरवोद्दामदनाकुलितान् भृशम् ॥ ६० ॥
कृत्वैव केकामधुरं संगीतं मधुरस्वरम् ।
चित्रान् कलापान् विस्तीर्य सविलासान् मदालसान् ६१
मयूरान् ददृशुर्हृष्टान् नृत्यतो वनलालसान् ।
कांश्चित् प्रियाभिः सहितान् रममाणान् कलापिनः ॥ ६२ ॥
वल्लीलतासंकटेषु कुटजेषु स्थितांस्तथा ।
कांश्चिच्च कुटजानां तु विटपेषूत्कटानिव ॥ ६३ ॥
कलापरुचिराटोपनिचितान् मुकुटानिव ।

विवरेषु तरूणां च रुचिरान् ददृशुश्च ते ॥ ६४ ॥

वहाँ लता-मण्डपोंमें मोरिनियोंके साथ नाचते हुए मोर दिखायी देते थे। जो मेघोंकी मृदङ्गतुल्य गम्भीर गर्जना सुनकर उद्दाम कामसे अत्यन्त उन्मत्त हो रहे थे। वे अपनी मधुर केकाध्वनिका विस्तार करके मीठे स्वरमें संगीतकी रचना करते थे और अपनी विचित्र पाँखें फैलाकर विलासयुक्त मदालस भावसे वनविहारके लिये उत्सुक हो प्रसन्नताके साथ नाच रहे थे। कुछ मोर लतावल्लरियोंसे व्याप्त कुटज वृक्षोंके कुञ्जोंमें स्थित हो अपनी प्यारी मोरिनियोंके साथ रमण करते थे और कुछ कुटजोंकी डालियोंपर मदमत्त होकर बैठे थे तथा अपनी सुन्दर पाँखोंके घटाटोपसे युक्त हो मुकुटके समान जान पड़ते थे। कितने ही सुन्दर मोर वृक्षोंके कोटरोंमें बैठे थे। पाण्डवोंने उन सबको देखा ॥ ६०-६४ ॥

सिन्धुवारांस्तथोदारान् मन्मथस्येव तोमरान्।
सुवर्णवर्णकुसुमान् गिरीणां शिखरेषु च ॥ ६५ ॥

पर्वतोंके शिखरोंपर अधिकाधिक संख्यामें सुनहरे कुसुमोंसे सुशोभित सुन्दर शेफालिकाके पौधे दिखायी देते थे, जो कामदेवके तोमर नामक बाण-से प्रतीत होते थे ॥ ६५ ॥

कर्णिकारान् विकसितान् कर्णपूरानिवोत्तमान्।
तथापश्यन् कुरबकान् वनराजिषु पुष्पितान् ॥ ६६ ॥
कामवश्यौत्सुक्यकरान् कामस्येव शरोत्करान्।
तथैव वनराजीनामुदारान् रचितानिव ॥ ६७ ॥
विराजमानांस्तेऽपश्यंस्तिलकांस्तिलकानिव ।
तथानङ्गशराकारान् सहकारान् मनोरमान् ॥ ६८ ॥
अपश्यन् भ्रमरारावान् मञ्जरीभिर्विराजितान्।
हिरण्यसदृशैः पुष्पैर्दावाग्निसदृशैरपि ॥ ६९ ॥
लोहितैरञ्जनाभैश्च वैदूर्यसदृशैरपि ।
अतीव वृक्षा राजन्ते पुष्पिताः शैलसानुषु ॥ ७० ॥

खिले हुए कनेरके फूल उत्तम कर्णपूरके समान प्रतीत होते थे। इसी प्रकार वन-श्रेणियोंमें विकसित कुरबक नामक वृक्ष भी उन्होंने देखे, जो कामासक्त पुरुषोंको उत्कण्ठित करनेवाले कामदेवके बाण-समूहोंके समान जान पड़ते थे। इसी प्रकार उन्हें तिलकके वृक्ष दृष्टिगोचर हुए, जो वन-श्रेणियोंके ललाटमें रचित सुन्दर तिलकके समान शोभा पा रहे थे। कहीं मनोहर मञ्जरियोंसे विभूषित मनोरम आम्र वृक्ष दीख पड़ते थे, जो कामदेवके बाणोंकी-सी आकृति धारण करते थे। उनकी डालियोंपर भौंरोंकी भीड़ गूँजती रहती थी। उन पर्वतोंके शिखरोंपर कितने ही ऐसे वृक्ष थे, जिनमें सुवर्णके समान सुन्दर पुष्प खिले थे। कुछ वृक्षोंके पुष्प देखनेमें दावानलका भ्रम उत्पन्न करते थे। किन्हीं वृक्षोंके फूल लाल, काले तथा वैदूर्य-मणिके सदृश धूमिल थे। इस प्रकार पर्वतीय शिखरोंपर विभिन्न प्रकारके पुष्पोंसे विभूषित वृक्ष बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ६६-७० ॥

तथा शालांस्तमालांश्च पाटलान् बकुलानपि।
माला इव समासक्ताः शैलानां शिखरेषु च ॥ ७१ ॥

इसी तरह शाल, तमाल, पाटल और बकुल आदि वृक्ष उन शैल-शिखरोंपर धारण की हुई मालाकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ७१ ॥

विमलस्फाटिकाभानि पाण्डुरच्छदनैर्द्विजैः।
कलहंसैरुपेतानि सारसाभिरुतानि च ॥ ७२ ॥
सरांसि बहुशः पार्थाः पश्यन्तः शैलसानुषु।
पद्मोत्पलविमिश्राणि सुखशीतजलानि च ॥ ७३ ॥

पाण्डवोंने पर्वतीय शिखरोंपर बहुत-से ऐसे सरोवर देखे, जो निर्मल स्फटिकमणिके समान सुशोभित थे। उनमें सफेद पाँखवाले पक्षी कलहंस आदि विचरते तथा सारस कलरव करते थे। कमल और उत्पल पुष्पोंसे संयुक्त उन सरोवरोंमें सुखद एवं शीतल जल भरा था ॥ ७२-७३ ॥

एवं क्रमेण ते वीरा वीक्षमाणाः समन्ततः।
गन्धवन्त्यथ माल्यानि रसवन्ति फलानि च ॥ ७४ ॥
सरांसि च मनोज्ञानि वृक्षांश्चातिमनोरमान्।
विविशुः पाण्डवाः सर्वे विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार वे वीर पाण्डव चारों ओर सुगन्धित पुष्प-मालाएँ, सरस फल, मनोहर सरोवर और मनोरम वृक्षावलियोंको क्रमशः देखते हुए गन्धमादन पर्वतके वनमें प्रविष्ट हुए। वहाँ पहुँचनेपर उन सबकी आँखें आश्चर्यसे खिल उठीं ॥ ७४-७५ ॥

१. सिन्धुवार शब्दका अर्थ आचार्य नीलकण्ठने कमल माना है। आधुनिक कोषकारोंने 'सिन्धुवार' को शेफालिका या निर्गुण्डीका पर्याय माना है। उसके फूल मञ्जरीके आकारमें केसरिया रङ्गके होते हैं, अतः तोमरसे उनकी उपमा ठीक बैठती है। इसीलिये यहाँ शेफालिका अर्थ लिया गया।

कमलोत्पलकह्लारपुण्डरीकसुगन्धिना ।
सेव्यमाना वने तस्मिन् सुखस्पर्शेन वायुना ॥ ७६ ॥

उस समय कमल, उत्पल, कह्लार और पुण्डरीककी सुन्दर गन्ध लिये मन्द मधुर वायु उस वनमें मानो उन्हें व्यजन डुलाती थी ॥ ७६ ॥

ततो युधिष्ठिरो भीममहेदं प्रीतिमद् वचः ।
अहो श्रीमदिदं भीम गन्धमादनकाननम् ॥ ७७ ॥

तदनन्तर युधिष्ठिरने भीमसेनसे प्रसन्नतापूर्ण यह बात कही—'भीम ! यह मन्धमादन-कानन कितना सुन्दर और कैसा अद्भुत है ! ॥ ७७ ॥

वने ह्यस्मिन् मनोरम्ये दिव्याः काननजा द्रुमाः ।
लताश्च विविधाकाराः पत्रपुष्पफलोपगाः ॥ ७८ ॥

'इस मनोरम वनके वृक्ष और नाना प्रकारकी लताएँ दिव्य हैं । इन सबमें पत्र, पुष्प और फलोंकी बहुतायत है ॥ ७८ ॥

भान्त्येते पुष्पविकचाः पुंस्कोकिलकुलाकुलाः ।
नात्र कण्टकिनः केचिन्न च विद्यन्त्यपुष्पिताः ॥ ७९ ॥

'ये सभी वृक्ष फूलोंसे लदे हैं । कोकिल-कुलसे अलंकृत हैं । इस वनमें कोई भी वृक्ष ऐसे नहीं हैं, जिनमें काँटे हों और जो खिले न हों ॥ ७९ ॥

स्निग्धपत्रफला वृक्षा गन्धमादनसानुषु ।
भ्रमरारावमधुरां नलिनीः फुल्लपङ्कजाः ॥ ८० ॥

गन्धमादनके शिखरोंपर जितने वृक्ष हैं, उन सबके पत्र और फल चिकने हैं । सभी भ्रमरोंके मधुर गुञ्जारवसे मनोहर जान पड़ते हैं । यहाँके सरोवरोंमें कमल खिले हुए हैं ॥८०॥

विलोड्यमानाः पश्येमाः करिभिः सकरेणुभिः ।
पश्येमां नलिनीं चान्यां कमलोत्पलमालिनीम् ॥ ८१ ॥
स्रग्धरां विग्रहवतीं साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ।
नानाकुसुमगन्धाढ्यास्तस्येमाः काननोत्तमे ॥ ८२ ॥
उपगीयमाना भ्रमरै राजन्ते वनराजयः ।
पश्य भीम शुभान् देशान् देवाक्रीडान् समन्ततः॥८३॥

'देखो, हथिनियोंसहित हाथी इन तालाबोंमें घुसकर इन्हें मथे डालते हैं और इस दूसरी पुष्करिणीपर दृष्टिपात करो, जो कमल और उत्पलकी मालाओंसे अलंकृत है । यह कमलमालाधारिणी साक्षात् दूसरी लक्ष्मीके समान मानो साकार विग्रह धारण करके प्रकट हुई है । गन्धमादनके इस उत्तम वनमें नाना प्रकारके कुसुमोंकी सुगन्धसे सुवासित ये छोटी-छोटी वनश्रेणियाँ भ्रमरोंके गीतोंसे मुखरित हो कैसी शोभा पा रही हैं ? भीमसेन ! देखो, यहाँके सुन्दर प्रदेशोंमें चारों ओर देवताओंकी क्रीडास्थली है ॥ ८१–८३ ॥

अमानुषगतिं प्राप्ताः संसिद्धाः स्म वृकोदर ।
लताभिः पुष्पिताग्राभिः पुष्पिताः पादपोत्तमाः ॥ ८४ ॥
संश्लिष्टाः पार्थ शोभन्ते गन्धमादनसानुषु ।

'वृकोदर ! हमलोग ऐसे स्थानपर आ गये हैं, जो मानवोंके लिये अगम्य है । जान पड़ता है, हम सिद्ध हो गये हैं । कुन्ती-नन्दन ! गन्धमादनके शिखरोंपर ये फूलोंसे भरे हुए उत्तम वृक्ष इन पुष्पित लताओंसे अलंकृत होकर कैसी शोभा पा रहे हैं ! ॥ ८४½ ॥

शिखण्डिनीभिश्चरतां सहितानां शिखण्डिनाम् ॥८५॥
नदतां शृणु निर्घोषं भीम पर्वतसानुषु ।

'भीम ! इन पर्वत-शिखरोंपर मोरिनियोंके साथ विचरते बोलते हुए मोरोंका यह मधुर केकारव तो सुनो ॥ ८५½ ॥

चकोराः शतपत्राश्च मत्तकोकिलसारिकाः ॥ ८६ ॥
पत्रिणः पुष्पितानेतान् संपतन्ति महाद्रुमान् ।

'ये चकोर, शतपत्र, मदोन्मत्त कोकिल और सारिका आदि पक्षी इन पुष्पमण्डित विशाल वृक्षोंकी ओर कैसे उड़े जा रहे हैं ? ॥ ८६½ ॥

रक्तपीतारुणाः पार्थ पादपाग्रगताः खगाः ॥ ८७ ॥
परस्परमुदीक्षन्ते बहवो जीवजीवकाः ।

'पार्थ ! वृक्षोंकी ऊँची शिखाओंपर बैठे हुए लाल, गुलाबी और पीले रङ्गके चकोर पक्षी एक दूसरेकी ओर देख रहे हैं॥८७½॥

हरितारुणवर्णानां शाद्वलानां समीपतः ॥ ८८ ॥
सारसाः प्रतिदृश्यन्ते शैलप्रस्रवणेष्वपि ।

'उधर हरी और लाल घासोंके समीप पर्वतीय झरनोंके पास सारस दिखायी देते हैं ॥ ८८½ ॥

वदन्ति मधुरा वाचः सर्वभूतमनोरमाः ॥ ८९ ॥
भृङ्गराजोपचक्राश्च लोहपृष्ठाः पतत्रिणः ।

'भृङ्गराज, उपचक्र (चक्रवाक) और लोहपृष्ठ (कङ्क) नामक पक्षी ऐसी मीठी बोली बोलते हैं, जो समस्त प्राणियोंके मनको मोह लेती है ॥ ८९½ ॥

चतुर्विषाणाः पद्माभाः कुञ्जराः सकरेणवः ॥ ९० ॥
एते वैदूर्यवर्णाभं क्षोभयन्ति महत् सरः ।

'इधर देखो, ये कमलके समान कान्तिवाले गजराज, जिनके चार दाँत शोभा पा रहे हैं, हथिनियोंके साथ आकर वैदूर्यमणि-के समान सुशोभित इस महान् सरोवरको मथे डालते हैं ॥ ९०½ ॥

बहुतालसमुत्सेधाः शैलशृङ्गपरिच्युताः ॥ ९१ ॥
नानाप्रस्रवणेभ्यश्च वारिधाराः पतन्ति च ।

'अनेक झरनोंसे जलकी धाराएँ गिर रही हैं। जिनकी ऊँचाई कई ताड़के बराबर है और ये पर्वतके सर्वोच्च शिखरसे नीचे गिरती हैं ॥ ९१½ ॥

भास्कराभाः प्रभाभिश्च शारदाभ्रघनोपमाः ॥ ९२ ॥
शोभयन्ति महाशैलं नानारजतधातवः ।
क्वचिदञ्जनवर्णाभाः क्वचित् काञ्चनसंनिभाः ॥ ९३ ॥

'नाना प्रकारके रजतमय धातु इस महान् पर्वतकी शोभा बढ़ा रहे हैं। इनमेंसे कुछ तो अपनी प्रभाओंसे भगवान् भास्करके समान प्रकाशित होते हैं और कुछ शरद् ऋतुके श्वेत बादलोंके समान सुशोभित हो रहे हैं। कहीं काजलके समान काले और सुवर्णके समान पीले रङ्गके धातु दीख पड़ते हैं ॥९२-९३॥

धातवो हरितालस्य क्वचिद्धिङ्गुलकस्य च ।
मनःशिलागुहाश्चैव सन्ध्याभ्रनिकरोपमाः ॥ ९४ ॥

'कहीं हरितालसम्बन्धी धातु हैं और कहीं हिङ्गुलसम्बन्धी। कहीं मैनसिलकी गुफाएँ हैं, जो संध्याकालीन लाल बादलोंके समान जान पड़ती हैं ॥ ९४ ॥

शशलोहितवर्णाभाः क्वचिद्गैरिकधातवः ।
सितासिताभ्रप्रतिमा बालसूर्यसमप्रभाः ॥ ९५ ॥

'कहीं गेरु नामक धातु हैं, जिनकी कान्ति लाल खरगोशके समान दिखायी देती है। कोई धातु श्वेत बादलोंके समान हैं, तो कोई काले मेघोंके समान। कोई प्रातःकालके सूर्यकी भाँति लाल रङ्गके हैं ॥ ९५ ॥

एते बहुविधाः शैलं शोभयन्ति महाप्रभाः ।
गन्धर्वाः सह कान्ताभिर्यथोक्तं वृषपर्वणा ॥९६॥
दृश्यन्ते शैलशृङ्गेषु पार्थ किम्पुरुषैः सह ।

'ये नाना प्रकारकी परम कान्तिमान् धातु समूचे शैलकी शोभा बढ़ाती हैं। पार्थ ! जिस प्रकार वृषपर्वाने कहा था उसी प्रकार इन पर्वतीय शिखरोंपर अपनी प्रेयसी अप्सराओं तथा किम्पुरुषोंके साथ गन्धर्व दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ९६½ ॥

गीतानां समतालानां तथा साम्नां च निःस्वनः ॥९७॥
श्रूयते बहुधा भीम सर्वभूतमनोहरः ।
महागङ्गामुदीक्षस्व पुण्यां देवनदीं शुभाम् ॥९८॥

'भीमसेन ! यहाँ सम तालसे गाते हुए गीतों तथा साममन्त्रोंका विविध स्वर सुनायी पड़ता है, जो सम्पूर्ण भूतोंके चित्तको आकर्षित करनेवाला है। यह परम पवित्र एवं कल्याणमयी देवनदी महागङ्गा हैं, इनका दर्शन करो ॥ ९७-९८ ॥

कलहंसगणैर्जुष्टामृषिकिन्नरसेविताम् ।
धातुभिश्च सरिद्भिश्च किन्नरैर्मृगपक्षिभिः ॥९९॥
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च काननैश्च मनोरमैः ।
व्यालैश्च विविधाकारैः शतशीर्षैः समन्ततः ॥१००॥
उपेतं पश्य कौन्तेय शैलराजमरिन्दम ।

'यहाँ हंसोंके समुदाय निवास करते हैं तथा ऋषि एवं किन्नरगण सदा इन (गङ्गाजी)का सेवन करते हैं। शत्रुदमन भीम ! भाँति-भाँतिके धातुओं, नदियों, किन्नरों, मृगों, पक्षियों, गन्धर्वों, अप्सराओं, मनोरम काननों तथा सौ मस्तकवाले भाँति-भाँतिके सर्पोंसे सम्पन्न इस पर्वतराजका दर्शन करो' ॥ ९९-१००½ ॥

वैशम्पायन उवाच

ते प्रीतमनसः शूराः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ॥१०१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार वे शूरवीर पाण्डव हर्षपूर्ण हृदयसे अपने परम उत्तम लक्ष्य स्थानको पहुँच गये ॥ १०१ ॥

नातृप्यन् पर्वतेन्द्रस्य दर्शनेन परन्तपाः ।
उपेतमथ माल्यैश्च फलवद्भिश्च पादपैः ॥१०२॥
आर्ष्टिषेणस्य राजर्षेराश्रमं ददृशुस्तदा ।

गिरिराज गन्धमादनका दर्शन करनेसे उन्हें तृप्ति नहीं होती थी। तदनन्तर परंतप पाण्डवोंने पुष्पमालाओं तथा फलवान् वृक्षोंसे सम्पन्न राजर्षि आर्ष्टिषेणका आश्रम देखा ॥ १०२½ ॥

ततस्ते तिग्मतपसं कृशं धमनिसंततम् ।
पारगं सर्वधर्माणामार्ष्टिषेणमुपागमन् ॥१०३॥

फिर वे कठोर तपस्वी दुर्बलकाय तथा नस नाड़ियोंसे ही व्याप्त राजर्षि आर्ष्टिषेणके समीप गये, जो सम्पूर्ण धर्मोंके पारङ्गत विद्वान् थे ॥ १०३ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि गन्धमादनप्रवेशे अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रश्नके रूपमें आर्ष्टिषेणका युधिष्ठिरके प्रति उपदेश

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तमासाद्य तपसा दग्धकिल्बिषम्।
अभ्यवादयत प्रीतः शिरसा नाम कीर्तयन्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजर्षि आर्ष्टिषेणने तपस्याद्वारा अपने सारे पाप दग्ध कर दिये थे। राजा युधिष्ठिरने उनके पास जाकर बड़ी प्रसन्नताके साथ अपना नाम बताते हुए उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया॥ १॥

ततः कृष्णा च भीमश्च यमौ च सुतपस्विनौ।
शिरोभिः प्राप्य राजर्षिं परिवार्योपतस्थिरे॥ २॥

तदनन्तर द्रौपदी, भीमसेन और परम तपस्वी नकुल-सहदेव—ये सभी मस्तक झुकाकर उन राजर्षिको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये॥ २॥

तथैव धौम्यो धर्मज्ञः पाण्डवानां पुरोहितः।
यथान्यायमुपाक्रान्तस्तमृषिं संशितव्रतम्॥ ३॥

उसी प्रकार पाण्डवोंके पुरोहित धर्मज्ञ धौम्यजी कठोर व्रतका पालन करनेवाले राजर्षि आर्ष्टिषेणके पास यथोचित शिष्टाचारके साथ उपस्थित हुए॥ ३॥

अन्वजानात् स धर्मज्ञो मुनिर्दिव्येन चक्षुषा।
पाण्डोः पुत्रान् कुरुश्रेष्ठानास्यतामिति चाब्रवीत्॥ ४॥

उन धर्मज्ञ मुनि आर्ष्टिषेणने अपनी दिव्यदृष्टिसे कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंको जान लिया और कहा, 'आप सब लोग बैठें'॥४॥

कुरूणामृषभं पार्थं पूजयित्वा महातपाः।
सह भ्रातृभिरासीनं पर्यपृच्छदनामयम्॥ ५॥

महातपस्वी आर्ष्टिषेणने भाइयोंसहित कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर-का यथोचित आदर-सत्कार किया और जब वे बैठ गये, तब उनसे कुशल-समाचार पूछा—॥ ५॥

नानृते कुरुषे भावं कच्चिद् धर्मे प्रवर्तसे।
मातापित्रोश्च ते वृत्तिः कच्चित् पार्थ न सीदति॥ ६॥

'कुन्तीनन्दन! कभी झूठकी ओर तो तुम्हारा मन नहीं जाता? तुम धर्ममें लगे रहते हो न? माता-पिताके प्रति जो तुम्हारी सेवा-वृत्ति होनी चाहिये, वह है न? उसमें शिथिलता तो नहीं आयी है?॥ ६॥

कच्चित् ते गुरवः सर्वे वृद्धा वैद्याश्च पूजिताः।
कच्चिन्न कुरुषे भावं पार्थ पापेषु कर्मसु॥ ७॥

'क्या तुमने समस्त गुरुजनों, बड़े-बूढ़ों और विद्वानोंका सदा समादर किया है? पार्थ! कभी पापकर्मोंमें तो तुम्हारी रुचि नहीं होती?॥ ७॥

सुकृतं प्रतिकर्तुं च कच्चिद्धातुं च दुष्कृतम्।
यथान्यायं कुरुश्रेष्ठ जानासि न विकत्थसे॥ ८॥

'कुरुश्रेष्ठ! क्या तुम अपने उपकारीको उसके उपकारका यथोचित बदला देना जानते हो? क्या तुम्हें अपना अपकार करनेवाले मनुष्यकी उपेक्षा कर देनेकी कलाका ज्ञान है? तुम अपनी बड़ाई तो नहीं करते?॥ ८॥

यथार्हं मानिताः कच्चित् त्वया नन्दन्ति साधवः।
वनेष्वपि वसन् कच्चिद् धर्ममेवानुवर्तसे॥ ९॥

'क्या तुमसे यथायोग्य सम्मानित होकर साधु पुरुष तुमपर प्रसन्न रहते हैं? क्या तुम वनमें रहते हुए भी सदा धर्मका ही अनुसरण करते हो?॥ ९॥

कच्चिद् धौम्यस्त्वदाचारैर्न पार्थ परितप्यते।
दानधर्मतपःशौचैरार्जवेन तितिक्षया॥१०॥
पितृपैतामहं वृत्तं कच्चित् पार्थानुवर्तसे।
कच्चिद् राजर्षियातेन पथा गच्छसि पाण्डव॥११॥

'पार्थ! तुम्हारे आचार-व्यवहारसे पुरोहित धौम्यजीको क्लेश तो नहीं पहुँचता है? कुन्तीनन्दन! क्या तुम दान, धर्म, तप, शौच, सरलता और क्षमा आदिके द्वारा अपने बाप-दादोंके आचार-व्यवहारका अनुसरण करते हो? पाण्डु-नन्दन! प्राचीन राजर्षि जिस मार्गसे गये हैं, उसीपर तुम भी चलते हो न?॥ १०-११॥

स्वे स्वे किल कुले जाते पुत्रे नप्तरि वा पुनः।
पितरः पितृलोकस्थाः शोचन्ति च हसन्ति च॥१२॥
किं तस्य दुष्कृतेऽस्माभिः सम्प्राप्तव्यं भविष्यति।
किं चास्य सुकृतेऽस्माभिः प्राप्तव्यमिति शोभनम्॥१३॥

'कहते हैं, जब-जब अपने-अपने कुलमें पुत्र अथवा नाती-का जन्म होता है, तब-तब पितृलोकमें रहनेवाले पितर शोक-मग्न होते हैं और हँसते भी हैं। शोक तो उन्हें यह सोचकर होता है कि 'क्या हमें इसके पापमें हिस्सा बँटाना पड़ेगा?' और हँसते इसलिये हैं कि 'क्या हमें इसके पुण्यका कुछ भाग मिलेगा? यदि ऐसा हो तो बड़ी अच्छी बात है'॥१२-१३॥

पिता माता तथैवाग्निर्गुरुरात्मा च पञ्चमः।
यस्यैते पूजिताः पार्थ तस्य लोकावुभौ जितौ॥१४॥

'पार्थ! जिसके द्वारा पिता, माता, अग्नि, गुरु और आत्मा—इन पाँचोंका आदर होता है, वह यह लोक और परलोक दोनोंको जीत लेता है'॥ १४॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन्नार्य माहैतद् यथावद् धर्मनिश्चयम्।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियते विधिवन्मया॥१५॥

युधिष्ठिरने कहा—भगवन् ! आर्यचरण ! आपने मुझे यह धर्मका निचोड़ बताया है। मैं अपनी शक्तिके अनुसार यथोचित रीतिसे विधिपूर्वक इसका पालन करता हूँ ॥ १५ ॥

आर्ष्टिषेण उवाच

अब्भक्षा वायुभक्षाश्च प्लवमाना विहायसा।
जुषन्ते पर्वतश्रेष्ठमृषयः पर्वसंधिषु ॥१६॥

आर्ष्टिषेण बोले—पार्थ ! पर्वोंकी संधिवेलामें (पूर्णिमा तथा प्रतिपदाकी संधिमें) बहुत-से ऋषिगण आकाश-मार्गसे उड़ते हुए आते हैं और इस श्रेष्ठ पर्वतका सेवन करते हैं। उनमेंसे कितने तो केवल जल पीकर जीवन-निर्वाह करते हैं और कितने केवल वायु पीकर रहते हैं ॥ १६ ॥

कामिनः सह कान्ताभिः परस्परमनुव्रताः।
दृश्यन्ते शैलशृङ्गस्था यथा किम्पुरुषा नृप ॥१७॥

राजन् ! कितने ही किम्पुरुष जातिके कामी अपनी कामिनियोंके साथ परस्पर अनुरक्तभावसे यहाँ क्रीडाके लिये आते हैं और पर्वतके शिखरोंपर घूमते दिखायी देते हैं ॥१७॥

अरजांसि च वासांसि वसानाः कौशिकानि च।
दृश्यन्ते बहवः पार्थ गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥१८॥

कुन्तीकुमार ! गन्धर्वों और अप्सराओंके बहुत-से गण यहाँ देखनेमें आते हैं, उनमेंसे कितने ही स्वच्छ वस्त्र धारण करते हैं और कितने ही रेशमी वस्त्रोंसे सुशोभित होते हैं ॥ १८ ॥

विद्याधरगणाश्चैव स्रग्विणः प्रियदर्शनाः।
महोरगगणाश्चैव सुपर्णाश्चोरगादयः ॥१९॥

विद्याधरोंके गण भी सुन्दर फूलोंके हार पहने अत्यन्त मनोहर दिखायी देते हैं। इनके सिवा बड़े-बड़े नागगण, सुवर्णजातीय पक्षी तथा सर्प आदि भी दृष्टिगोचर होते हैं ॥१९॥

अस्य चोपरि शैलस्य श्रूयते पर्वसंधिषु।
भेरीपणवशङ्खानां मृदङ्गानां च निःस्वनः ॥२०॥

पर्वोंकी संधि-वेलामें इस पर्वतके ऊपर भेरी, पणव, शङ्ख और मृदङ्गोंकी ध्वनि सुनायी देती है ॥ २० ॥

इहस्थैरेव तत् सर्वं श्रोतव्यं भरतर्षभाः।
न कार्या वः कथंचित् स्यात् तत्राभिगमने मतिः ॥२१॥

भरतकुलभूषण पाण्डवो ! तुम्हें यहीं रहकर वह सब कुछ देखना या सुनना चाहिये। वहाँ पर्वतके ऊपर जानेका विचार तुम्हें किसी प्रकार भी नहीं करना चाहिये ॥ २१ ॥

न चाप्यतः परं शक्यं गन्तुं भरतसत्तमाः।
विहारो ह्यत्र देवानाममानुषगतिस्तु सा ॥२२॥

भरतश्रेष्ठ ! इससे आगे जाना असम्भव है। वहाँ देवताओं-की विहारस्थली है। वहाँ मनुष्योंकी गति नहीं हो सकती ॥२२॥

ईषच्चपलकर्माणं मनुष्यमिह भारत।
द्विषन्ति सर्वभूतानि ताडयन्ति च राक्षसाः ॥२३॥

भारत ! यहाँ थोड़ी-सी भी चपलता करनेवाले मनुष्यसे सब प्राणी द्वेष करते हैं तथा राक्षसलोग उसपर प्रहार कर बैठते हैं ॥ २३ ॥

अस्यातिक्रम्य शिखरं कैलासस्य युधिष्ठिर।
गतिः परमसिद्धानां देवर्षीणां प्रकाशते ॥२४॥

युधिष्ठिर ! इस कैलासके शिखरको लाँघ जानेपर परम सिद्ध देवर्षियोंकी गति प्रकाशित होती है ॥ २४ ॥

चापलादिह गच्छन्तं पार्थ यानमितः परम्।
अयःशूलादिभिर्घ्नन्ति राक्षसाः शत्रुसूदन ॥२५॥

शत्रुसूदन पार्थ ! चपलतावश इससे आगेके मार्गपर जाने-वाले मनुष्यको राक्षसगण लोहेके शूल आदिसे मारते हैं ॥ २५ ॥

अप्सरोभिः परिवृतः समृद्ध्या नरवाहनः।
इह वैश्रवणस्तात पर्वसंधिषु दृश्यते ॥२६॥

तात ! पर्वोंकी संधिके समय यहाँ मनुष्योंपर सवार होने-वाले कुबेर अप्सराओंसे घिरकर अपने अतुल वैभवके साथ दिखायी देते हैं ॥ २६ ॥

शिखरस्थं समासीनमधिपं यक्षरक्षसाम्।
प्रेक्षन्ते सर्वभूतानि भानुमन्तमिवोदितम् ॥२७॥

यक्षों तथा राक्षसोंके अधिपति कुबेर जब इस कैलाश-शिखरपर विराजमान होते हैं, उस समय उदित हुए सूर्यकी भाँति शोभा पाते हैं। उस अवसरपर सब प्राणी उनका दर्शन करते हैं ॥ २७ ॥

देवदानवसिद्धानां तथा वैश्रवणस्य च।
गिरेः शिखरमुद्यानमिदं भरतसत्तम ॥२८॥

भरतश्रेष्ठ ! पर्वतका यह शिखर देवताओं, दानवों, सिद्धों तथा कुबेरका क्रीड़ा-कानन है ॥ २८ ॥

उपासीनस्य धनदं तुम्बुरोः पर्वसंधिषु।
गीतसामस्वनस्तात श्रूयते गन्धमादने ॥२९॥

तात ! पर्व-संधिके समय गन्धमादन पर्वतपर कुबेरकी सेवामें उपस्थित हुए तुम्बुरु गन्धर्वके साम-गानका स्वर स्पष्ट सुनायी पड़ता है ॥२९॥

एतदेवंविधं चित्रमिह तात युधिष्ठिर।
प्रेक्षन्ते सर्वभूतानि बहुशः पर्वसंधिषु ॥३०॥

तात युधिष्ठिर ! इस प्रकार पर्वसंधिकालमें सब प्राणी यहाँ अनेक बार ऐसे-ऐसे अद्भुत दृश्योंका दर्शन करते हैं ॥ ३० ॥

भुञ्जाना मुनिभोज्यानि रसवन्ति फलानि च।
वसध्वं पाण्डवश्रेष्ठा यावदर्जुनदर्शनात् ॥३१॥

श्रेष्ठ पाण्डवो! जबतक तुम्हारी अर्जुनसे भेंट न हो, तबतक मुनियोंके भोजन करनेयोग्य सरस फलोंका उपभोग करते हुए तुम सब लोग यहाँ (सानन्द) निवास करो ॥ ३१ ॥

न तात चपलैर्भाव्यमिह प्राप्तैः कथंचन।
उषित्वेह यथाकामं यथाश्रद्धं विहृत्य च।
ततः शस्त्रजितां तात पृथिवीं पालयिष्यसि ॥३२॥

तात ! यहाँ आनेवाले लोगोंको किसी प्रकार चपल नहीं होना चाहिये। तुम यहाँ अपनी इच्छाके अनुसार रहकर और श्रद्धाके अनुसार घूम-फिरकर लौट जाओगे और शस्त्रोंद्वारा जीती हुई पृथ्वीका पालन करोगे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि आर्ष्टिषेणयुधिष्ठिरसंवादे एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें आर्ष्टिषेण-युधिष्ठिरसंवादविषयक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५९ ॥

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका आर्ष्टिषेणके आश्रमपर निवास, द्रौपदीके अनुरोधसे भीमसेनका पर्वतके शिखरपर जाना और यक्षों तथा राक्षसोंसे युद्ध करके मणिमान्‌का वध करना

जनमेजय उवाच

आर्ष्टिषेणाश्रमे तस्मिन् मम पूर्वपितामहाः।
पाण्डोः पुत्रा महात्मानः सर्वे दिव्यपराक्रमाः ॥ १ ॥
कियन्तं कालमवसन् पर्वते गन्धमादने।
किं च चक्रुर्महावीर्याः सर्वेऽतिबलपौरुषाः ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! गन्धमादन पर्वतपर आर्ष्टिषेणके आश्रममें मेरे समस्त पूर्वपितामह दिव्य पराक्रमी महामना पाण्डव कितने समयतक रहे ? वे सभी महान् पराक्रमी और अत्यन्त बल-पौरुषसे सम्पन्न थे। वहाँ रहकर उन्होंने क्या किया ? ॥ १-२ ॥

कानि चाभ्यवहार्याणि तत्र तेषां महात्मनाम्।
वसतां लोकवीराणामासंस्तद् ब्रूहि सत्तम ॥ ३ ॥

साधुशिरोमणे ! वहाँ निवास करते समय विश्वविख्यात वीर महामना पाण्डवोंके भोज्य पदार्थ क्या थे ? यह बतानेकी कृपा करें ॥ ३ ॥

विस्तरेण च मे शंस भीमसेनपराक्रमम्।
यद् यच्चक्रे महाबाहुस्तस्मिन् हैमवते गिरौ ॥ ४ ॥

आप मुझसे भीमसेनका पराक्रम विस्तारपूर्वक बतावें। उन महाबाहुने हिमालय पर्वतके शिखरपर रहते समय कौन-कौन-सा कार्य किया था ?॥ ४ ॥

न खल्वासीत् पुनर्युद्धं तस्य यक्षैर्द्विजोत्तम।
कच्चित् समागमस्तेषामासीद् वैश्रवणस्य च ॥ ५ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! उनका यक्षोंके साथ फिर कोई युद्ध हुआ था या नहीं। क्या कुबेरके साथ कभी उनकी भेंट हुई थी ? ॥ ५ ॥

तत्र ह्यायाति धनद आर्ष्टिषेणो यथाब्रवीत्।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ॥ ६ ॥
न हि मे शृण्वतस्तृप्तिरस्ति तेषां विचेष्टितम्।

क्योंकि आर्ष्टिषेणने जैसा बताया था, उसके अनुसार वहाँ कुबेर अवश्य आते रहे होंगे। तपोधन ! मैं यह सब विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ; क्योंकि पाण्डवोंका चरित्र सुननेसे मुझे तृप्ति नहीं होती ॥ ६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतदात्महितं श्रुत्वा तस्याप्रतिमतेजसः ॥ ७ ॥
शासनं सततं चक्रुस्तथैव भरतर्षभाः।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! अप्रतिम तेजस्वी आर्ष्टिषेणका यह अपने लिये हितकर वचन सुनकर भरत-कुल-भूषण पाण्डवोंने सदा उनके आदेशका उसी प्रकार पालन किया ॥ ७½ ॥

भुञ्जाना मुनिभोज्यानि रसवन्ति फलानि च ॥ ८ ॥
मेध्यानि हिमवत्पृष्ठे मधूनि विविधानि च।
एवं ते न्यवसंस्तत्र पाण्डवा भरतर्षभाः ॥ ९ ॥

वे हिमालयके शिखरपर निवास करते हुए मुनियोंके खाने योग्य सरस फलोंका और नाना प्रकारके पवित्र (बिना हिंसाके प्राप्त) मधुका भी भोजन करते थे। इस प्रकार भरतश्रेष्ठ पाण्डव वहाँ निवास करते थे ॥ ८-९ ॥

तथा निवसतां तेषां पञ्चमं वर्षमभ्यगात्।
शृण्वतां लोमशोक्तानि वाक्यानि विविधान्युत ॥ १० ॥

वहाँ निवास करते हुए उनका पाँचवाँ वर्ष बीत गया। उन दिनों वे लोमशजीकी कही हुई नाना प्रकारकी कथाएँ सुना करते थे ॥ १० ॥

कृत्यकाल उपस्थास्य इति चोक्त्वा घटोत्कचः।
राक्षसैः सह सर्वैश्च पूर्वमेव गतः प्रभो ॥ ११ ॥

राजन् ! घटोत्कच यह कहकर कि 'मैं आवश्यकताके

समय स्वयं उपस्थित हो जाऊँगा' सब राक्षसोंके साथ पहले ही चला गया था ॥ ११ ॥

आर्ष्टिषेणाश्रमे तेषां वसतां वै महात्मनाम् ।
अगच्छन् बहवो मासाः पश्यतां महदद्भुतम् ॥ १२ ॥

आर्ष्टिषेणके आश्रममें रहकर अत्यन्त अद्भुत दृश्योंका अवलोकन करते हुए महामना पाण्डवोंके अनेक मास व्यतीत हो गये ॥ १२ ॥

तैस्तत्र विहरद्भिश्च रममाणैश्च पाण्डवैः ।
प्रीतिमन्तो महाभागा मुनयश्चारणास्तथा ॥ १३ ॥

वहाँ रहकर क्रीडा-विहार करते हुए उन पाण्डवोंसे महाभाग मुनि और चारण बहुत प्रसन्न थे ॥ १३ ॥

आजग्मुः पाण्डवान् द्रष्टुं शुद्धात्मानो यतव्रताः ।
ते तैः सह कथां चक्रुर्दिव्यां भरतसत्तमाः ॥ १४ ॥

उनका अन्तःकरण शुद्ध था और वे संयम-नियमके साथ उत्तम व्रतका पालन करनेवाले थे । एक दिन वे सभी पाण्डवोंसे मिलनेके लिये आये । भरतशिरोमणि पाण्डवोंने उनके साथ दिव्य चर्चाएँ कीं ॥ १४ ॥

ततः कतिपयाहस्य महाह्रदनिवासिनम् ।
ऋद्धिमन्तं महानागं सुपर्णः सहसाऽऽहरत् ॥ १५ ॥

तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद एक महान् जलाशयमें निवास करनेवाले महानाग ऋद्धिमान्‌को गरुडने सहसा झपाटा मारकर पकड़ लिया ॥ १५ ॥

प्राकम्पत महाशैलः प्रामृद्यन्त महाद्रुमाः ।
ददृशुः सर्वभूतानि पाण्डवाश्च तदद्भुतम् ॥ १६ ॥

उस समय वह महान् पर्वत हिलने लगा । बड़े-बड़े वृक्ष मिट्टीमें मिल गये । वहाँके समस्त प्राणियों तथा पाण्डवोंने उस अद्भुत घटनाको प्रत्यक्ष देखा ॥ १६ ॥

ततः शैलोत्तमस्याग्रात् पाण्डवान् प्रति मारुतः ।
अवहत् सर्वमाल्यानि गन्धवन्ति शुभानि च ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् उस उत्तम पर्वतके शिखरसे पाण्डवोंकी ओर हवाका एक झोंका आया, जिसने वहाँ सब प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंकी बनी हुई बहुत-सी सुन्दर मालाएँ लाकर बिखेर दीं ॥ १७ ॥

तत्र पुष्पाणि दिव्यानि सुहृद्भिः सह पाण्डवाः ।
ददृशुः पञ्चवर्णानि द्रौपदी च यशस्विनी ॥ १८ ॥

पाण्डवोंने अपने सुहृदोंके साथ जाकर उन मालाओंमें गूँथे हुए दिव्य पुष्प देखे, जो पाँच रंगके थे । यशस्विनी द्रौपदीने भी उन फूलोंको देखा था ॥ १८ ॥

भीमसेनं ततः कृष्णा काले वचनमब्रवीत् ।
विविक्ते पर्वतोद्देशे सुखासीनं महाभुजम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर उसने समय पाकर पर्वतके एकान्त प्रदेशमें सुखपूर्वक बैठे हुए महाबाहु भीमसेनसे कहा— ॥ १९ ॥

सुपर्णानिलवेगेन श्वसनेन महाचलात् ।
पञ्चवर्णानि पात्यन्ते पुष्पाणि भरतर्षभ ॥ २० ॥
प्रत्यक्षं सर्वभूतानां नदीमश्वरथां प्रति ।
खाण्डवे सत्यसंधेन भ्रात्रा तव महात्मना ॥ २१ ॥
गन्धर्वोरगरक्षांसि वासवश्च निवारितः ।
हता मायाविनश्चोग्रा धनुः प्राप्तं च गाण्डिवम् ॥ २२ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! गरुडके पङ्खसे उठी हुई वायुके वेगसे उस दिन उस महान् पर्वतसे जो पाँच रंगके फूल अश्वरथा नदीके तटपर गिराये गये थे, उन्हें सब प्राणियोंने प्रत्यक्ष देखा । मुझे याद है, खाण्डव वनमें तुम्हारे महामना भाई सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनने गन्धर्वों, नागों, राक्षसों तथा देवराज इन्द्रको भी युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दिया था । बहुत-से भयंकर मायावी राक्षस उनके हाथों मारे गये और उन्होंने गाण्डीव नामक धनुष भी प्राप्त कर लिया ॥ २०-२२ ॥

तवापि सुमहत् तेजो महद् बाहुबलं च ते ।
अविषह्यमनाधृष्यं शक्रतुल्यपराक्रम ॥ २३ ॥

'आर्यपुत्र ! तुम्हारा पराक्रम भी इन्द्रके ही समान है । तुम्हारा तेज और बाहुबल भी महान् है । वह दूसरोंके लिये दुःसह एवं दुर्धर्ष है ॥ २३ ॥

त्वद्बाहुबलवेगेन त्रासिताः सर्वराक्षसाः ।
हित्वा शैलं प्रपद्यन्तां भीमसेन दिशो दश ॥ २४ ॥

'भीमसेन ! मैं चाहती हूँ कि तुम्हारे बाहुबलके वेगसे थर्राकर सम्पूर्ण राक्षस इस पर्वतको छोड़ दें और दसों दिशाओंकी शरण लें ॥ २४ ॥

ततः शैलोत्तमस्याग्रं चित्रमाल्यधरं शिवम् ।
व्यपेतभयसम्मोहाः पश्यन्तु सुहृदस्तव ॥ २५ ॥
एवं प्रणिहितं भीम चिरात् प्रभृति मे मनः ।
द्रष्टुमिच्छामि शैलाग्रं त्वद्बाहुबलपालिता ॥ २६ ॥

'तत्पश्चात् विचित्र मालाधारी एवं शिवस्वरूप इस उत्तम शैल शिखरको तुम्हारे सब सुहृद् भय और मोहसे रहित होकर देखें । भीम ! दीर्घकालसे मैं अपने मनमें यही सोच रही हूँ । मैं तुम्हारे बाहुबलसे सुरक्षित हो इस शैल-शिखरका दर्शन करना चाहती हूँ' ॥ २५-२६ ॥

ततः क्षिप्तमिवात्मानं द्रौपद्या स परंतपः ।
नामृष्यत महाबाहुः प्रहारमिव सद्गवः ॥ २७ ॥

द्रौपदीकी यह बात सुनकर परंतप महाबाहु भीमसेनने इसे अपने ऊपर आक्षेप हुआ-सा समझा । जैसे अच्छा बैल अपने ऊपर चाबुककी मार नहीं सह सकता, उसी प्रकार यह आक्षेप उनसे नहीं सहा गया ॥ २७ ॥

सिंहर्षभगतिः श्रीमानुदारः कनकप्रभः ।
मनस्वी बलवान् दृप्तो मानी शूरश्च पाण्डवः ॥ २८ ॥

उनकी चाल श्रेष्ठ सिंहके समान थी। वे सुन्दर, उदार और कनकके समान कान्तिमान् थे। पाण्डुनन्दन भीम मनस्वी, बलवान्, अभिमानी, मानी और शूर-वीर थे ॥ २८ ॥

लोहिताक्षः पृथुव्यंसो मत्तवारणविक्रमः।
सिंहदंष्ट्रो बृहत्स्कन्धः शालपोत इवोद्गतः ॥ २९ ॥

उनकी आँखें लाल थीं। दोनों कंधे हृष्ट-पुष्ट थे। उनका पराक्रम मतवाले गजराजके समान था। दाँत सिंहकी दाढ़ोंकी समानता करते थे। कंधे विशाल थे। वे शालवृक्षकी भाँति ऊँचे जान पड़ते थे ॥ २९ ॥

महात्मा चारुसर्वाङ्गः कम्बुग्रीवो महाभुजः।
रुक्मपृष्ठं धनुः खड्गं तूणांश्चापि परामृशत् ॥ ३० ॥

उनका हृदय महान् था, सभी अङ्ग मनोहर जान पड़ते थे, ग्रीवा शङ्खके समान थी और भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं। वे सुवर्णकी पीठवाले धनुष, खड्ग तथा तरकसपर बार-बार हाथ फेरते थे ॥ ३० ॥

स केसरीव चोत्सिक्तः प्रभिन्न इव वारणः।
व्यपेतभयसम्मोहः शैलमभ्यपतद् बली ॥ ३१ ॥

बलवान् भीमसेन मदोन्मत्त सिंह और मदकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति भय और मोहसे रहित हो उस पर्वतपर चढ़ने लगे ॥ ३१ ॥

तं मृगेन्द्रमिवायान्तं प्रभिन्नमिव वारणम्।
ददृशुः सर्वभूतानि बाणकार्मुकधारिणम् ॥ ३२ ॥

मदवर्षी कुञ्जर और मृगराजकी भाँति आते हुए धनुष-बाणधारी भीमसेनको उस समय सब भूतोंने देखा ॥ ३२ ॥

द्रौपद्या वर्धयन् हर्षं गदामादाय पाण्डवः।
व्यपेतभयसम्मोहः शैलराजं समाश्रितः ॥ ३३ ॥

पाण्डुनन्दन भीम गदा हाथमें लेकर द्रौपदीका हर्ष बढ़ाते हुए भय और घबराहट छोड़कर उस पर्वतराजपर चढ़ गये ॥ ३३ ॥

न ग्लानिर्न च कातर्यं न वैक्लव्यं न मत्सरः।
कदाचिज्जुषते पार्थमात्मजं मातरिश्वनः ॥ ३४ ॥

वायु-पुत्र कुन्तीकुमार भीमसेनको कभी ग्लानि, कातरता, व्याकुलता और मत्सरता आदि भाव नहीं छूते थे ॥ ३४ ॥

तदेकायनमासाद्य विषमं भीमदर्शनम्।
बहुतालोच्छ्रयं शृङ्गमारुरोह महाबलः ॥ ३५ ॥

वह पर्वत ऊँची-नीची भूमियोंसे युक्त और देखनेमें भयंकर था। उसकी ऊँचाई कई ताड़ोंके बराबर थी और उसपर चढ़नेके लिये एक ही मार्ग था, तो भी महाबली भीमसेन उसके शिखरपर चढ़ गये ॥ ३५ ॥

सकिन्नरमहानागमुनिगन्धर्वराक्षसान्।
हर्षयन् पर्वतस्याग्रमारुह्य स महाबलः ॥ ३६ ॥

पर्वतके शिखरपर आरूढ़ हो महाबली भीम किन्नर, महानाग, मुनि, गन्धर्व तथा राक्षसोंका हर्ष बढ़ाने लगे ॥ ३६ ॥

ततो वैश्रवणावासं ददर्श भरतर्षभः।
काञ्चनैः स्फाटिकैश्चैव वेश्मभिः समलंकृतम् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर भरतश्रेष्ठ भीमसेनने कुबेरका निवासस्थान देखा, जो सुवर्ण और स्फटिक मणिके बने हुए भवनोंसे विभूषित था ॥ ३७ ॥

प्राकारेण परिक्षिप्तं सौवर्णेन समन्ततः।
सर्वरत्नद्युतिमता सर्वोद्यानवता तथा ॥ ३८ ॥
शैलादभ्युच्छ्रयवता चयाट्टालकशोभिना।
द्वारतोरणनिर्व्यूहध्वजसंवाहशोभिना ॥ ३९ ॥

उसके चारों ओर सोनेकी चहारदीवारी बनी थी। उसमें सब प्रकारके रत्न जड़े होनेसे उनकी प्रभा फैलती रहती थी। चहारदीवारीके सब ओर सुन्दर बगीचे थे। उस चहारदीवारीकी ऊँचाई पर्वतसे भी अधिक थी। बहुत-से भवनों और अट्टालिकाओंसे उसकी बड़ी शोभा हो रही थी। द्वार, तोरण (गोपुर), बुर्ज और ध्वजसमुदाय उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ३८-३९ ॥

विलासिनीभिरत्यर्थं नृत्यन्तीभिः समन्ततः।
वायुना धूयमानाभिः पताकाभिरलंकृतम् ॥ ४० ॥

उस भवनमें सब ओर कितनी ही विलासिनी अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं और हवासे फहराती हुई पताकाएँ उस भवनका अलंकार बनी हुई थीं ॥ ४० ॥

धनुष्कोटिमवष्टभ्य वक्रभावेन बाहुना।
पश्यमानः स खेदेन द्रविणाधिपतेः पुरम् ॥ ४१ ॥

अपनी तिरछी की हुई बाहुसे धनुषकी नोकको स्थिर करके भीमसेन उस धनाध्यक्ष कुबेरके नगरको बड़े खेदके साथ देख रहे थे ॥ ४१ ॥

मोदयन् सर्वभूतानि गन्धमादनसम्भवः।
सर्वगन्धवहस्तत्र मारुतः सुसुखो ववौ ॥ ४२ ॥

गन्धमादनसे उठी हुई वायु सम्पूर्ण सुगन्धकी राशि लेकर समस्त प्राणियोंको आनन्दित करती हुई सुखद मन्द गतिसे बह रही थी ॥ ४२ ॥

चित्रा विविधवर्णाभाश्चित्रमञ्जरिधारिणः।
अचिन्त्या विविधास्तत्र द्रुमाः परमशोभिनः ॥ ४३ ॥
रत्नजालपरिक्षिप्तं चित्रमाल्यविभूषितम्।
राक्षसाधिपतेः स्थानं ददर्श भरतर्षभः ॥ ४४ ॥

वहाँके अत्यन्त शोभाशाली विविध वृक्ष नाना प्रकारकी कान्तिसे प्रकाशित हो रहे थे। उनकी मञ्जरियाँ विचित्र दिखायी देती थीं। वे सब-के-सब अद्भुत और अकथनीय जान पड़ते थे। भरतश्रेष्ठ भीमने राक्षसराज कुबेरके उस

स्थानको रत्नोंके समुदायसे सुशोभित तथा विचित्र मालाओंसे विभूषित देखा ॥ ४३-४४ ॥

गदाखड्गधनुष्पाणिः समभित्यक्तजीवितः ।
भीमसेनो महाबाहुस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ ४५ ॥
ततः शङ्खमुपाध्मासीद् द्विषतां लोमहर्षणम् ।
ज्याघोषतलशब्दं च कृत्वा भूतान्यमोहयत् ॥ ४६ ॥

उनके हाथमें गदा, खड्ग और धनुष शोभा पा रहे थे। उन्होंने अपने जीवनका मोह सर्वथा छोड़ दिया था। वे महाबाहु भीमसेन वहाँ पर्वतकी भाँति अविचल भावसे कुछ देर खड़े रहे। तत्पश्चात् उन्होंने बड़े जोरसे शङ्ख बजाया, जिसकी आवाज शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी। फिर धनुषकी टंकार करके समस्त प्राणियोंको मोहित कर दिया ॥ ४५-४६ ॥

ततः प्रहृष्टरोमाणस्तं शब्दमभिदुद्रुवुः ।
यक्षराक्षसगन्धर्वाः पाण्डवस्य समीपतः ॥ ४७ ॥

तब यक्ष, राक्षस और गन्धर्व रोमाञ्चित होकर उस शब्दको लक्ष्य करके पाण्डुनन्दन भीमसेनके समीप दौड़े आये ॥ ४७ ॥

गदापरिघनिस्त्रिंशशूलशक्तिपरश्वधाः ।
प्रगृहीता व्यरोचन्त यक्षराक्षसबाहुभिः ॥ ४८ ॥

उस समय गदा, परिघ, खड्ग, शूल, शक्ति और फरसे आदि अस्त्र-शस्त्र उन यक्षों तथा राक्षसोंके हाथोंमें आकर बड़ी चमक पैदा कर रहे थे ॥ ४८ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तेषां तस्य च भारत ।
तैः प्रयुक्तान् महामायैः शूलशक्तिपरश्वधान् ॥ ४९ ॥
भल्लैर्भीमः प्रचिच्छेद भीमवेगतरैस्ततः ।
अन्तरिक्षगतानां च भूमिष्ठानां च गर्जताम् ॥ ५० ॥
शरैर्विव्याध गात्राणि राक्षसानां महाबलः ।
सा लोहितमहावृष्टिरभ्यवर्षन्महाबलम् ॥ ५१ ॥
गदापरिघपाणीनां रक्षसां कायसम्भवाः ।
कायेभ्यः प्रच्युता धारा राक्षसानां समन्ततः ॥ ५२ ॥

भारत ! तदनन्तर उन यक्षों और गन्धर्वोंका भीमसेनके साथ युद्ध प्रारम्भ हो गया। वे यक्ष और राक्षस बड़े मायावी थे। उनके चलाये हुए शूल, शक्ति और फरसोंको भीमसेनने भयानक वेगशाली भल्ल नामक बाणोंद्वारा काट गिराया। वे राक्षस आकाशमें उड़कर तथा भूतलपर खड़े होकर जोर-जोरसे गर्जना कर रहे थे। महाबली भीमने बाणोंकी झड़ी लगाकर उनके शरीरोंको अच्छी प्रकार छेद डाला। गदा और परिघ हाथमें लिये हुए राक्षसोंके शरीरसे महाबली भीमपर खूनकी बड़ी भारी वर्षा होने लगी तथा चारों ओर राक्षसोंके शरीरसे रक्तकी कितनी ही धाराएँ बह चलीं ॥ ४९-५२ ॥

भीमबाहुबलोत्सृष्टैरायुधैर्यक्षरक्षसाम् ।
विनिकृत्तानि दृश्यन्त शरीराणि शिरांसि च ॥ ५३ ॥

भीमके बाहुबलसे छूटे हुए अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा यक्षों तथा राक्षसोंके शरीर और सिर कटे दिखायी दे रहे थे ॥ ५३ ॥

प्रच्छाद्यमानं रक्षोभिः पाण्डवं प्रियदर्शनम् ।
ददृशुः सर्वभूतानि सूर्यमभ्रगणैरिव ॥ ५४ ॥

जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार प्रियदर्शन पाण्डुपुत्र भीमको राक्षस ढके लेते हैं, यह सब प्राणियोंने प्रत्यक्ष देखा ॥ ५४ ॥

स रश्मिभिरिवादित्यः शरैररिनिघातिभिः ।
सर्वानार्च्छन्महाबाहुर्बलवान् सत्यविक्रमः ॥ ५५ ॥

तब सत्यपराक्रमी बलवान् महाबाहु भीमसेनने अपने शत्रुनाशक बाणोंद्वारा समस्त शत्रुओंको उसी प्रकार ढक लिया, जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे संसारको ढक लेते हैं ॥ ५५ ॥

अभितर्जयमानाश्च रुवन्तश्च महारवान् ।
न मोहं भीमसेनस्य ददृशुः सर्वराक्षसाः ॥ ५६ ॥

सब ओरसे गर्जन-तर्जन करते हुए तथा बड़ी भयानक आवाजसे चिग्घाड़ते हुए सब राक्षसोंने भीमसेनके चित्तमें तनिक भी घबराहट नहीं देखी ॥ ५६ ॥

यक्षा विकृतसर्वाङ्गा भीमसेनभयार्दिताः ।
भीममार्तस्वरं चक्रुर्विप्रकीर्णमहायुधाः ॥ ५७ ॥

जिनके सारे अङ्ग विकृत एवं विकराल थे, वे यक्ष भीमसेनके भयसे पीड़ित हो अपने बड़े-बड़े आयुधोंको इधर-उधर फेंककर भयंकर आर्तनाद करने लगे ॥ ५७ ॥

उत्सृज्य ते गदाशूलानसिशक्तिपरश्वधान् ।
दक्षिणां दिशमाजग्मुस्त्रासिता दृढधन्वना ॥ ५८ ॥

सुदृढ़ धनुषवाले भीमसेनसे आतङ्कित हो वे यक्ष-राक्षस आदि योद्धा गदा, शूल, खड्ग, शक्ति तथा परशु आदि अस्त्रोंको वहीं छोड़कर दक्षिण दिशाकी ओर भाग गये ॥ ५८ ॥

तत्र शूलगदापाणिर्व्यूढोरस्को महाभुजः ।
सखा वैश्रवणस्यासीन्मणिमान्नाम राक्षसः ॥ ५९ ॥

वहाँ कुबेरके सखा राक्षसप्रवर मणिमान् भी मौजूद थे। उनके हाथोंमें त्रिशूल और गदा शोभा पा रही थी उनकी छाती चौड़ी और बाँहें विशाल थीं ॥ ५९ ॥

अदर्शयदधीकारं पौरुषं च महाबलः ।
स तान् दृष्ट्वा परावृत्तान् स्मयमान इवाब्रवीत् ॥ ६० ॥

उन महाबली वीरने वहाँ अपने अधिकार और पौरुष दोनोंको प्रकट किया। उस समय अपने सैनिकोंको रणसे विमुख होते देख वे मुसकराते हुए उनसे बोले—॥ ६० ॥

एकेन बहवः सङ्ख्ये मानुषेण पराजिताः ।
प्राप्य वैश्रवणावासं किं वक्ष्यथ धनेश्वरम् ॥ ६१ ॥

'अरे ! तुम बहुत बड़ी संख्यामें होकर भी आज एक मनुष्यद्वारा युद्धमें पराजित हो गये। कुबेर-भवनमें धनाध्यक्षके पास जाकर क्या कहोगे ?' ॥ ६१ ॥

एवमाभाष्य तान् सर्वानभ्यवर्तत राक्षसः।
शक्तिशूलगदापाणिरभ्यधावत् स पाण्डवम् ॥ ६२ ॥

ऐसा कहकर राक्षस मणिमान्ने उन सबको लौटाया और हाथोंमें शक्ति, शूल तथा गदा लेकर भीमसेनपर धावा किया ॥ ६२ ॥

तमापतन्तं वेगेन प्रभिन्नमिव वारणम्।
वत्सदन्तैस्त्रिभिः पार्श्वे भीमसेनः समार्दयत् ॥ ६३ ॥

मदकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति मणिमान्को बड़े वेगसे आता देख भीमसेनने वत्सदन्त नामक तीन बाणोंद्वारा उनकी पसलीमें प्रहार किया ॥ ६३ ॥

मणिमानपि संक्रुद्धः प्रगृह्य महतीं गदाम्।
प्राहिणोद् भीमसेनाय परिगृह्य महाबलः ॥ ६४ ॥

यह देख महाबली मणिमान् भी रोषसे आगबबूला हो उठे और बहुत बड़ी गदा लेकर उन्होंने भीमसेनपर चलायी ॥

विद्युद्रूपां महाघोरामाकाशे महतीं गदाम्।
शरैर्बहुभिरभ्यार्च्छद् भीमसेनः शिलाशितैः ॥ ६५ ॥

वह विशाल एवं महा भयंकर गदा आकाशमें विद्युत्की भाँति चमक उठी। यह देख भीमसेनने पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए बहुत-से बाणोंद्वारा उसपर आघात किया ॥

प्रत्यहन्यन्त ते सर्वे गदामासाद्य सायकाः।
न वेगं धारयामासुर्गदावेगस्य वेगिताः ॥ ६६ ॥

परंतु वे सभी बाण मणिमान्की गदासे टकराकर नष्ट हो गये। यद्यपि वे बड़े वेगसे छूटे थे, तथापि गदा चलानेके अभ्यासी मणिमान्की गदाके वेगको न सह सके ॥

गदायुद्धसमाचारं बुद्ध्यमानः स वीर्यवान्।
व्यंसयामास तं तस्य प्रहारं भीमविक्रमः ॥ ६७ ॥

भयंकर पराक्रमी महाबली भीमसेन गदायुद्धकी कलाको जानते थे। अतः उन्होंने शत्रुके उस प्रहारको व्यर्थ कर दिया ॥ ६७ ॥

ततः शक्तिं महाघोरां रुक्मदण्डामयस्मयीम्।
तस्मिन्नेवान्तरे धीमान् प्रजहाराथ राक्षसः ॥ ६८ ॥

तदनन्तर बुद्धिमान् राक्षसने उसी समय स्वर्णमय दण्डसे विभूषित एवं लोहेकी बनी हुई बड़ी भयानक शक्तिका प्रहार किया ॥ ६८ ॥

सा भुजं भीमनिर्ह्रादा भित्त्वा भीमस्य दक्षिणम्।
साग्निज्वाला महारौद्रा पपात सहसा भुवि ॥ ६९ ॥

वह अग्निकी ज्वालाके समान अत्यन्त भयंकर शक्ति भयानक गड़गड़ाहटके साथ भीमकी दाहिनी भुजाको छेदकर सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ६९ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासः शक्त्यामितपराक्रमः।
गदां जग्राह कौन्तेयः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥ ७० ॥

रुक्मपट्टपिनद्धां तां शत्रूणां भयवर्धिनीम्।
प्रगृह्याथ नदन् भीमः शैक्यां सर्वायसीं गदाम्॥ ७१ ॥
तरसा चाभिदुद्राव मणिमन्तं महाबलम्।

शक्तिकी गहरी चोट लगनेसे महान् धनुर्धर एवं अत्यन्त पराक्रमी कुन्तीकुमार भीमके नेत्र क्रोधसे व्याकुल हो उठे और उन्होंने एक ऐसी गदा हाथमें ली, जो शत्रुओंका भय बढ़ानेवाली थी। उसके ऊपर सोनेके पत्र जड़े थे। वह सारी-की-सारी लोहेकी बनी हुई और शत्रुओंको नष्ट करनेमें समर्थ थी। उसे लेकर भीमसेन विकट गर्जना करते हुए बड़े वेगसे महाबली मणिमान्की ओर दौड़े ॥ ७०-७१½ ॥

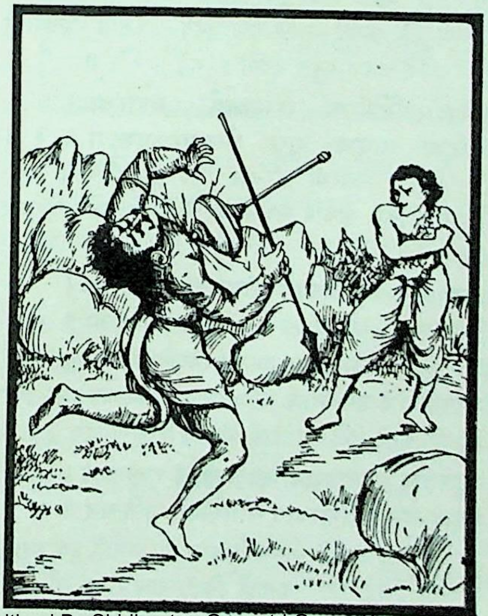
दीप्यमानं महाशूलं प्रगृह्य मणिमानपि ॥ ७२ ॥
प्राहिणोद् भीमसेनाय वेगेन महता नदन्।

उधर मणिमान्ने भी सिंहनाद करते हुए एक चमचमाता हुआ महान् त्रिशूल हाथमें लिया और बड़े वेगसे भीमसेनपर चलाया ॥ ७२½ ॥

भङ्क्त्वा शूलं गदाग्रेण गदायुद्धविशारदः ॥ ७३ ॥
अभिदुद्राव तं हन्तुं गरुत्मानिव पन्नगम्।

परंतु गदा-युद्धमें कुशल भीमने गदाके अग्रभागसे उस त्रिशूलके टुकड़े-टुकड़े करके मणिमान्को मारनेके लिये उसी प्रकार धावा किया, जैसे किसी सर्पके प्राण लेनेके लिये गरुड उसपर टूट पड़ते हैं ॥ ७३½ ॥

सोऽन्तरिक्षमवप्लुत्य विधूय सहसा गदाम् ॥ ७४ ॥



प्रचिक्षेप महाबाहुर्विनद्य रणमूर्धनि ।
सेन्द्राशनिरिवेन्द्रेण विसृष्टा वातरंहसा ॥ ७५ ॥

महाबाहु भीमने युद्धके मुहानेपर गर्जना करते हुए सहसा आकाशमें उछलकर गदा घुमायी और उसे वायुके समान वेगसे मणिमान्‌पर दे मारा, मानो देवराज इन्द्रने किसी दैत्यपर वज्रका प्रहार किया हो ॥ ७४ ॥

हत्वा रक्षः क्षितिं प्राप्य कृत्येव निपपात ह ।
तं राक्षसं भीमबलं भीमसेनेन पातितम् ॥ ७६ ॥

ददृशुः सर्वभूतानि सिंहेनेव गवां पतिम् ।
तं प्रेक्ष्य निहतं भूमौ हतशेषा निशाचराः ।
भीममार्तस्वरं कृत्वा जग्मुः प्राचीं दिशं प्रति ॥ ७७ ॥

वह गदा उस राक्षसके प्राण लेकर भूमिपर मूर्तिमती कृत्याके समान गिर पड़ी । भीमसेनके द्वारा मारे गये उस भयानक शक्तिशाली राक्षसको सब प्राणियोंने प्रत्यक्ष देखा, मानो सिंहने किसी साँड़को मार गिराया हो । उसे मरकर पृथ्वीपर गिरा देख मरनेसे बचे हुए निशाचर भयंकर आर्तनाद करते हुए पूर्व दिशाकी ओर भाग चले ॥ ७६-७७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि मणिमद्वधे षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें मणिमान्-वधसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६० ॥

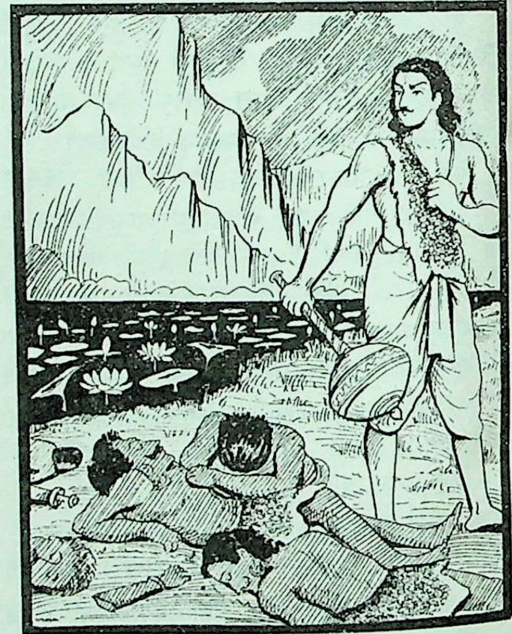
एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुबेरका गन्धमादन पर्वतपर आगमन और युधिष्ठिरसे उनकी भेंट

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा बहुविधैः शब्दैर्नाद्यमानां गिरेर्गुहाम् ।
अजातशत्रुः कौन्तेयो माद्रीपुत्रावुभावपि ॥ १ ॥
धौम्यः कृष्णा च विप्राश्च सर्वे च सुहृदस्तथा ।
भीमसेनमपश्यन्तः सर्वे विमनसोऽभवन् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय उस पर्वतकी गुफा नाना प्रकारके शब्दोंसे प्रतिध्वनित हो रही थी । वह प्रतिध्वनि सुनकर अजातशत्रु कुन्ती-कुमार युधिष्ठिर, दोनों माद्री-पुत्र नकुल-सहदेव, पुरोहित धौम्य, द्रौपदी और समस्त ब्राह्मण तथा सुहृद्—ये सभी भीमसेनको न देखनेके कारण बहुत उदास हो गये ॥ १-२ ॥



द्रौपदीमार्ष्टिषेणाय सम्प्रधार्य महारथाः ।
सहिताः सायुधाः शूराः शैलमारुरुहुस्तदा ॥ ३ ॥

तब वे महारथी शूर-वीर द्रौपदीको आर्ष्टिषेणकी देख-रेखमें सौंपकर हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये एक साथ पर्वतपर चढ़ गये ॥ ३ ॥

ततः सम्प्राप्य शैलाग्रं वीक्षमाणा महारथाः ।
ददृशुस्ते महेष्वासा भीमसेनमरिंदमाः ॥ ४ ॥

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले वे महाधनुर्धर एवं महारथी वीर उस पर्वतके शिखरपर पहुँचकर जब इधर-उधर दृष्टिपात करने लगे, तब उन्हें भीमसेन दिखायी दिये ॥ ४ ॥

स्फुरतश्च महाकायान् गतसत्त्वांश्च राक्षसान् ।
महाबलान् महासत्त्वान् भीमसेनेन पातितान् ॥ ५ ॥

साथ ही उन्होंने भीमसेनके द्वारा मार गिराये हुए महान् शक्तिशाली [illegible] राक्षस भी देखे, जिनमेंसे कुछ छटपटा रहे थे और कुछ मरे पड़े थे ॥ ५ ॥

शुशुभे स महाबाहुर्गदाखड्गधनुर्धरः ।
निहत्य समरे सर्वान् दानवान् मघवानिव ॥ ६ ॥

उस समय गदा, खड्ग और धनुष धारण किये महाबाहु भीमसेन समरभूमिमें सम्पूर्ण दानवोंका संहार करके खड़े हुए देवराज इन्द्रके समान शोभा पा रहे थे ॥ ६ ॥

ततस्ते भ्रातरं दृष्ट्वा परिष्वज्य महारथाः ।
तत्रोपविविशुः पार्थाः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ॥ ७ ॥

तब वे उत्तम आश्रयको प्राप्त हुए महारथी पाण्डव भाई भीमसेनको हृदयसे लगाकर उनके पास ही बैठ गये ॥

तैश्चतुर्भिर्महेष्वासैर्गिरिश्शृङ्गमशोभत ।
लोकपालैर्महाभागैर्दिवं देववरैरिव ॥ ८ ॥

जैसे महान् भाग्यशाली देवश्रेष्ठ इन्द्र आदि लोकपालोंके द्वारा स्वर्गलोककी शोभा होती है, उसी प्रकार उन चार महाधनुर्धर बन्धुओंसे उस समय वह पर्वत-शिखर सुशोभित हो रहा था ॥ ८ ॥

कुबेरसदनं दृष्ट्वा राक्षसांश्च निपातितान् ।
भ्राता भ्रातरमासीनमब्रवीत् पृथिवीपतिः ॥ ९ ॥

राजा युधिष्ठिरने कुबेरका भवन देखकर और मारे गये राक्षसोंकी ओर दृष्टिपात करके अपने पास बैठे हुए भाई भीमसेनसे कहा ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

साहसाद् यदि वा मोहाद् भीम पापमिदं कृतम् ।
नैतत् ते सदृशं वीर मुनेरिव मृषा वधः ॥ १० ॥

युधिष्ठिर बोले—वीर भीमसेन ! तुमने दुःसाहसवश अथवा मोहके कारण जो यह पापकर्म किया है, वह मुनिवृत्तिसे रहनेवाले तुम्हारे अनुरूप नहीं है । राक्षसोंका यह संहार व्यर्थ ही किया गया है ॥ १० ॥

राजद्विष्टं न कर्तव्यमिति धर्मविदो विदुः ।
त्रिदशानामिदं द्विष्टं भीमसेन त्वया कृतम् ॥ ११ ॥

भीमसेन ! धर्मज्ञ पुरुष यह जानते और मानते हैं कि राजद्रोहका कार्य नहीं करना चाहिये; परंतु तुमने तो न केवल राजद्रोहका अपितु देवताओंके भी द्रोहका कार्य किया है ॥

अर्थधर्मावनादृत्य यः पापे कुरुते मनः ।
कर्मणां पार्थ पापानां स फलं विन्दते ध्रुवम् ।
पुनरेवं न कर्तव्यं मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ १२ ॥

पार्थ ! जो अर्थ और धर्मका अनादर करके पापमें मन लगाता है, उसे अपने पापकर्मोंका फल अवश्य प्राप्त होता है । यदि तुम वही कार्य करना चाहते हो जो मुझे प्रिय लगे, तो आजसे फिर कभी ऐसा काम तुम्हें नहीं करना चाहिये ॥१२॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा भ्राता भ्रातरमच्युतम् ।
अर्थतत्त्वविभागज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥
विरराम महातेजास्तमेवार्थं विचिन्तयन् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मात्मा भाई महातेजस्वी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अर्थतत्त्वके विभागको ठीक-ठीक जाननेवाले थे । वे धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले अपने भाई भीमसेनसे उपर्युक्त बातें कहकर चुप हो गये और उसी विषयपर बार-बार विचार करने लगे ॥ १३½ ॥

ततस्ते हतशिष्टा ये भीमसेनेन राक्षसाः ॥ १४ ॥
सहिताः प्रत्यपद्यन्त कुबेरसदनं प्रति ।

उधर भीमसेनकी मारसे बचे हुए राक्षस एक साथ हो कुबेरके भवनमें गये ॥ १४½ ॥

ते जवेन महावेगाः प्राप्य वैश्रवणालयम् ॥ १५ ॥
भीममार्तस्वरं चक्रुर्भीमसेनभयार्दिताः ।
न्यस्तशस्त्रायुधाः क्लान्ताः शोणिताक्ततनुच्छदाः ॥ १६ ॥

वे महान् वेगशाली तो थे ही, तीव्र गतिसे धनाध्यक्षके महलमें पहुँचकर भयंकर आर्तनाद करने लगे । भीमसेनका भय उस समय भी उन्हें पीड़ा दे रहा था । वे अपने अस्त्र-शस्त्र छोड़ चुके थे एवं थके हुए थे । उनके कवच खूनसे लथपथ हो गये थे ॥ १५-१६ ॥



प्रकीर्णमूर्धजा राजन् यक्षाधिपतिमब्रुवन् ।
गदापरिघनिस्त्रिंशतोमरप्रासयोधिनः ॥ १७ ॥
राक्षसा निहताः सर्वे तव देव पुरःसराः ।

राजन् ! अपने सिरके बाल बिखेरे हुए वे राक्षस यक्षराज कुबेरसे इस प्रकार बोले—'देव ! आपके भी सभी राक्षस, जो युद्धमें सदा आगे रहते और गदा, परिघ, खड्ग, तोमर तथा प्रास आदिके युद्धमें कुशल थे, मार डाले गये ॥१७½॥

प्रमृद्य तरसा शैलं मानुषेण धनेश्वर ॥ १८ ॥
एकेन सहिताः सङ्ख्ये रणे क्रोधवशा गणाः ।

'धनेश्वर ! एक मनुष्यने बलपूर्वक इस पर्वतको रौंद डाला है और युद्धमें क्रोधवश नामक राक्षसगणोंको मार भगाया है ॥ १८½ ॥

प्रवरा राक्षसेन्द्राणां यक्षाणां च नराधिप ॥ १९ ॥
शेरते निहता देव गतसत्त्वाः परासवः ।
लब्धशेषा वयं मुक्ता मणिमांस्ते सखा हतः ॥ २० ॥

'नरेश्वर ! राक्षसों और यक्षोंमें जो प्रमुख वीर थे, वे आज उत्साहशून्य तथा निष्प्राण होकर रणभूमिमें सो रहे हैं । हमलोग उसके कृपा-प्रसादसे छूट गये हैं; परंतु आपके सखा राक्षस मणिमान् मार डाले गये हैं ॥ १९-२० ॥

मानुषेण कृतं कर्म विधत्स्व यदनन्तरम् ।
स तच्छ्रुत्वा तु संक्रुद्धः सर्वयक्षगणाधिपः ॥ २१ ॥
कोपसंरक्तनयनः कथमित्यब्रवीद् वचः ।

'यह सब कार्य एक मनुष्यने किया है । इसके बाद जो करना उचित हो, वह कीजिये ।' राक्षसोंकी यह बात सुनकर समस्त यक्षगणोंके स्वामी कुबेर कुपित हो उठे क्रोधसे उनकी आँखें लाल हो गयीं । वे सहसा बोल उठे 'यह कैसे सम्भव हुआ ?' ॥ २१½ ॥

द्वितीयमपराध्यन्तं भीमं श्रुत्वा धनेश्वरः ॥ २२ ॥
चुक्रोध यक्षाधिपतिर्युज्यतामिति चाब्रवीत् ।

भीमने यह दूसरा अपराध किया है, यह सुनकर धनाध्यक्ष यक्षराजके क्रोधकी सीमा न रही । उन्होंने तुरंत आज्ञा दी, 'रथ जोतकर ले आओ' ॥ २२½ ॥

अथाभ्रघनसंकाशं गिरिशृङ्गमिवोच्छ्रितम् ॥ २३ ॥
रथं संयोजयामासुर्गन्धर्वैर्हेममालिभिः ।
तस्य सर्वगुणोपेता विमलाक्षा हयोत्तमाः ॥ २४ ॥
तेजोबलगुणोपेता नानारत्नविभूषिताः ।
शोभमाना रथे युक्तास्तरिष्यन्त इवाशुगाः ॥ २५ ॥

फिर तो सेवकोंने सुनहरे बादलोंकी घटाके सदृश विशाल पर्वत-शिखरके समान ऊँचा रथ जोतकर तैयार किया । उसमें सुवर्णमालाओंसे विभूषित गन्धर्वदेशीय घोड़े जुते हुए थे । वे सर्वगुणसम्पन्न उत्तम अश्व तेजस्वी, बलवान् और अश्वोचित गुणोंसे युक्त थे । उनकी आँखें निर्मल थीं और उन्हें नाना प्रकारके रत्नमय आभूषण पहनाये गये थे । रथमें जुते हुए वे शोभाशाली अश्व शीघ्रगामी थे । उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो वे अभी सब कुछ लाँघ जायँगे ॥

हेषयामासुरन्योन्यं हेषितैर्विजयावहैः ।
स तमास्थाय भगवान् राजराजो महारथम् ॥ २६ ॥
प्रययौ देवगन्धर्वैः स्तूयमानो महाद्युतिः ।

उन अश्वोंके हिनहिनानेकी आवाज विजयकी सूचना देनेवाली थी । उनमेंसे प्रत्येक अश्व स्वयं हिनहिनाकर दूसरेको भी इसके लिये प्रेरणा देता था । उस विशाल रथपर आरूढ़ हो महातेजस्वी राजाधिराज भगवान् कुबेर देवताओं और गन्धर्वोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए चले ॥ २६½ ॥

तं प्रयान्तं महात्मानं सर्वे यक्षा धनाधिपम् ॥ २७ ॥

धनाध्यक्ष महामना कुबेरके प्रस्थान करनेपर समस्त यक्ष भी उनके साथ चले ॥ २७ ॥

रक्ताक्षा हेमसंकाशा महाकाया महाबलाः ।
सायुधा बद्धनिस्त्रिंशा यक्षा दशशतावराः ॥ २८ ॥

उन सबके नेत्र लाल थे । शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान थी । वे सभी महाकाय और महाबली थे । वे सब तलवार बाँधे अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित थे । उनकी संख्या एक हजारसे कम नहीं थी ॥ २८ ॥

ते जवेन महावेगाः प्लवमाना विहायसा ।
गन्धमादनमाजग्मुः प्रकर्षन्त इवाम्बरम् ॥ २९ ॥

वे महान् वेगशाली यक्ष आकाशमें उड़ते हुए गन्धमादन पर्वतपर आये, मानो समूचे आकाश-मण्डलको खींचे ले रहे हों ॥

तत् केसरिमहाजालं धनाधिपतिपालितम् ।
कुबेरं च महात्मानं यक्षरक्षोगणावृतम् ॥ ३० ॥
ददृशुर्हृष्टरोमाणः पाण्डवाः प्रियदर्शनम् ।
कुबेरस्तु महासत्त्वान् पाण्डोः पुत्रान् महारथान् ॥ ३१ ॥
आत्तकार्मुकनिस्त्रिंशान् दृष्ट्वा प्रीतोऽभवत् तदा ।
देवकार्यं चिकीर्षन् स हृदयेन तुतोष ह ॥ ३२ ॥

धनाध्यक्ष कुबेरके द्वारा पालित घोड़ोंके उस महासमुदायको तथा यक्ष-राक्षसोंसे घिरे हुए प्रियदर्शन महामना कुबेरको भी पाण्डवोंने देखा । देखकर उनके अङ्गोंमें रोमाञ्च हो आया । इधर कुबेर भी धनुष और तलवार लिये शक्तिशाली महारथी पाण्डु-पुत्रोंको देखकर बड़े प्रसन्न हुए । कुबेर देवताओंका कार्य सिद्ध करना चाहते थे, इसलिये मन-ही-मन पाण्डवोंसे बहुत संतुष्ट हुए ॥ ३०–३२ ॥

ते पक्षिण इवापेतुर्गिरिशृङ्गं महाजवाः ।
तस्थुस्तेषां समभ्याशे धनेश्वरपुरःसराः ॥ ३३ ॥

वे कुबेर आदि तीव्र वेगशाली यक्ष-राक्षस पक्षीकी तरह उड़कर गन्धमादन पर्वतके शिखरपर आये और पाण्डवोंके समीप खड़े हो गये ॥ ३३ ॥

ततस्तं हृष्टमनसं पाण्डवान् प्रति भारत ।
समीक्ष्य यक्षगन्धर्वा निर्विकारमवस्थिताः ॥ ३४ ॥

जनमेजय ! पाण्डवोंके प्रति कुबेरका मन प्रसन्न देखकर यक्ष और गन्धर्व निर्विकार-भावसे खड़े रहे ॥ ३४ ॥

पाण्डवाश्च महात्मानः प्रणम्य धनदं प्रभुम् ।
नकुलः सहदेवश्च धर्मपुत्रश्च धर्मवित् ॥ ३५ ॥
अपराद्धमिवात्मानं मन्यमाना महारथाः ।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे परिवार्य धनेश्वरम् ॥ ३६ ॥

धर्मज्ञ धर्मपुत्र युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव—ये महारथी महामना पाण्डव भगवान् कुबेरको प्रणाम करके अपनेको

अपराधी-सा मानते हुए उन्हें सब ओरसे घेरकर हाथ जोड़े खड़े रहे ॥ ३५-३६ ॥

स ह्यासनवरं श्रीमत् पुष्पकं विश्वकर्मणा।
विहितं चित्रपर्यन्तमातिष्ठत धनाधिपः ॥ ३७ ॥

धनाध्यक्ष कुबेर विश्वकर्माके बनाये हुए सुन्दर एवं श्रेष्ठ विमान पुष्पकपर विराजमान थे। वह विमान विचित्र निर्माणकौशलकी पराकाष्ठा था ॥ ३७ ॥

तमासीनं महाकायाः शङ्कुकर्णा महाजवाः।
उपोपविविशुर्यक्षा राक्षसाश्च सहस्रशः ॥ ३८ ॥
शतशश्चापि गन्धर्वास्तथैवाप्सरसां गणाः।
परिवार्योपतिष्ठन्त यथा देवाः शतक्रतुम् ॥ ३९ ॥

विमानपर बैठे हुए कुबेरके पास कील-जैसी कानवाले तीव्र वेगशाली विशालकाय सहस्रों यक्ष-राक्षस भी बैठे थे। जैसे देवता इन्द्रको घेरकर खड़े होते हैं, उसी प्रकार सैकड़ों गन्धर्व और अप्सराओंके गण कुबेरको सब ओरसे घेरकर खड़े थे ॥ ३८-३९ ॥

काञ्चनीं शिरसा बिभ्रद् भीमसेनः स्रजं शुभाम्।
पाशखड्गधनुष्पाणिरुदैक्षत धनाधिपम् ॥ ४० ॥

अपने मस्तकपर सुवर्णकी सुन्दर माला धारण किये और हाथोंमें खड्ग, पाश तथा धनुष लिये भीमसेन धनाध्यक्ष कुबेरकी ओर देख रहे थे ॥ ४० ॥

भीमसेनस्य न ग्लानिर्विक्षतस्यापि राक्षसैः।
आसीत् तस्यामवस्थायां कुबेरमपि पश्यतः ॥ ४१ ॥

भीमसेनको राक्षसोंने बहुत घायल कर दिया था। उस अवस्थामें भी कुबेरको देखकर उनके मनमें तनिक भी ग्लानि नहीं होती थी ॥ ४१ ॥

आददानं शितान् बाणान् योद्धुकाममवस्थितम्।
दृष्ट्वा भीमं धर्मसुतमब्रवीन्नरवाहनः ॥ ४२ ॥

भीमसेन हाथोंमें तीखे बाण लिये उस समय भी युद्धके लिये तैयार खड़े थे। यह देख नरवाहन कुबेरने धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे कहा—॥ ४२ ॥

विदुस्त्वां सर्वभूतानि पार्थ भूतहिते रतम्।
निर्भयश्चापि शैलाग्रे वस त्वं भ्रातृभिः सह ॥ ४३ ॥

'कुन्तीनन्दन! तुम सदा सब प्राणियोंके हितमें तत्पर रहते हो, यह बात सब प्राणी जानते हैं। अतः तुम अपने भाइयोंके साथ इस शैल-शिखरपर निर्भय होकर रहो॥

न च मन्युस्त्वया कार्यो भीमसेनस्य पाण्डव।
कालेनैते हताः पूर्वं निमित्तमनुजस्तव ॥ ४४ ॥

'पाण्डुनन्दन! तुम्हें भीमसेनपर क्रोध नहीं करना चाहिये। ये यक्ष और राक्षस कालके द्वारा पहले ही मारे गये थे। तुम्हारे भाई तो इसमें निमित्तमात्र हुए हैं ॥ ४४ ॥

व्रीडा चात्र न कर्तव्या साहसं यदिदं कृतम्।
दृष्टश्चापि सुरैः पूर्वं विनाशो यक्षरक्षसाम् ॥ ४५ ॥

'भीमसेनने जो यह दुःसाहसका कार्य किया है, इसके लिये तुम्हें लज्जित नहीं होना चाहिये; क्योंकि यक्ष तथा राक्षसोंका यह विनाश देवताओंको पहले ही प्रत्यक्ष हो चुका था ॥

न भीमसेने कोपो मे प्रीतोऽस्मि भरतर्षभ।
कर्मणा भीमसेनस्य मम तुष्टिरभूत् पुरा ॥ ४६ ॥

'भरतश्रेष्ठ! भीमसेनपर मेरा क्रोध नहीं है। मैं इनपर प्रसन्न हूँ। भीमसेनके कार्यसे मुझे पहले भी प्रसन्नता प्राप्त हो चुकी है' ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु राजानं भीमसेनमभाषत।
नैतन्मनसि मे तात वर्तते कुरुसत्तम ॥ ४७ ॥
यदिदं साहसं भीम कृष्णार्थे कृतवानसि।
मामनादृत्य देवांश्च विनाशं यक्षरक्षसाम् ॥ ४८ ॥
स्वबाहुबलमाश्रित्य तेनाहं प्रीतिमांस्त्वयि।
शापादद्य विनिर्मुक्तो घोरादस्मि वृकोदर ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर कुबेरने भीमसेनसे कहा—'तात! कुरुश्रेष्ठ भीम! तुमने द्रौपदीके लिये जो यह साहसपूर्ण कार्य किया है, इसके लिये मेरे मनमें कोई विचार नहीं है। तुमने मेरी तथा देवताओंकी अवहेलना करके अपने बाहुबलके भरोसे यक्षों तथा राक्षसोंका विनाश किया है, इससे तुमपर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। वृकोदर! आज मैं एक भयंकर शापसे छूट गया हूँ ॥

अहं पूर्वमगस्त्येन क्रुद्धेन परमर्षिणा।
शप्तोऽपराधे कस्मिंश्चित् तस्यैषा निष्कृतिः कृता ॥ ५० ॥
दृष्टो हि मम संक्लेशः पुरा पाण्डवनन्दन।
न तवात्रापराधोऽस्ति कथंचिदपि पाण्डव ॥ ५१ ॥

'पूर्वकालकी बात है, महर्षि अगस्त्यने किसी अपराधपर कुपित हो मुझे शाप दे दिया था; उसका तुम्हारेद्वारा निराकरण हुआ। पाण्डव-नन्दन! मुझे पूर्वकालसे ही यह दुःख देखना बदा था। इसमें तुम्हारा किसी तरह भी कोई अपराध नहीं है' ॥ ५०-५१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं शप्तोऽसि भगवन्नगस्त्येन महात्मना।
श्रोतुमिच्छाम्यहं देव तवैतच्छापकारणम् ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! महात्मा अगस्त्यने आपको कैसे शाप दे दिया? देव! आपको शाप मिलनेका क्या कारण है? यह मैं सुनना चाहता हूँ ॥ ५२ ॥

इदं चाश्चर्यभूतं मे यत् क्रोधात् तस्य धीमतः।
तदैव त्वं न निर्दग्धः सबलः सपदानुगः ॥ ५३ ॥

मुझे इस बातके लिये बड़ा आश्चर्य होता है कि उन बुद्धिमान् महर्षिके क्रोधसे आप उसी समय अपने सेवकों और सैनिकोंसहित जलकर भस्म क्यों नहीं हो गये ? ॥ ५३ ॥

धनेश्वर उवाच

देवतानामभून्मन्त्रः कुशवत्यां नरेश्वर ।
वृतस्तत्राहमगमं महापद्मशतैस्त्रिभिः ॥ ५४ ॥

कुबेर बोले--नरेश्वर ! प्राचीन कालमें कुशवतीमें देवताओंकी मन्त्रणा-सभा बैठी थी । उसमें मुझे भी बुलाया गया था । मैं तीन सौ महापद्म यक्षोंके साथ वहाँ गया ॥५४॥

यक्षाणां घोररूपाणां विविधायुधधारिणाम् ।
अध्वन्यहमथापश्यमगस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ ५५ ॥
उग्रं तपस्तप्यमानं यमुनातीरमाश्रितम् ।
नानापक्षिगणाकीर्णे पुष्पितद्रुमशोभितम् ॥ ५६ ॥

वे भयानक यक्ष नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये हुए थे । रास्तेमें मुझे मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी दिखायी दिये, जो यमुनाके तटपर कठोर तपस्या कर रहे थे । वह प्रदेश भाँति-भाँतिके पक्षियोंसे व्याप्त और विकसित वृक्षावलियोंसे सुशोभित था ॥

तमूर्ध्वबाहुं दृष्ट्वैव सूर्यस्याभिमुखे स्थितम् ।
तेजोराशिं दीप्यमानं हुताशनमिवैधितम् ॥ ५७ ॥

महर्षि अगस्त्य अपनी दोनों बाँहें ऊपर उठाये सूर्यकी ओर मुँह करके खड़े थे । वे तेजोराशि महात्मा प्रज्वलित अग्निके समान उद्दीप्त हो रहे थे ॥ ५७ ॥

राक्षसाधिपतिः श्रीमान् मणिमान्नाम मे सखा ।
मौर्ख्यादज्ञानभावाच्च दर्पान्मोहाच्च पार्थिव ॥ ५८ ॥
न्यष्ठीवदाकाशगतो महर्षेस्तस्य मूर्धनि ।
स कोपान्मामुवाचेदं दिशः सर्वा दहन्निव ॥ ५९ ॥

राजन् ! उन्हें देखकर ही मेरे एक मित्र राक्षसराज श्रीमणिमान्ने मूर्खता, अज्ञान, अभिमान एवं मोहके कारण आकाशसे उन महर्षिके मस्तकपर थूक दिया । तब वे क्रोधसे मानो सारी दिशाओंको दग्ध करते हुए मुझसे इस प्रकार बोले—॥५८-५९॥

मामवज्ञाय दुष्टात्मा यस्मादेष सखा तव ।
धर्षणां कृतवानेतां पश्यतस्ते धनेश्वर ॥ ६० ॥
तस्मात् सहैभिः सैन्यैस्ते वधं प्राप्स्यति मानुषात् ।
त्वं चाप्येभिर्हतैः सैन्यैः क्लेशं प्राप्येह दुर्मतिः ।
तमेव मानुषं दृष्ट्वा किल्बिषाद् विप्रमोक्ष्यसे ॥ ६१ ॥

'धनेश्वर ! तुम्हारे इस दुष्टात्मा सखाने मेरी अवहेलना करके तुम्हारे देखते-देखते जो मेरा इस प्रकार तिरस्कार किया है, उसके फल-स्वरूप इन समस्त सैनिकोंके साथ यह एक मनुष्यके हाथसे मारा जायगा । तुम्हारी बुद्धि खोटी हो गयी है, अतः इन सब सैनिकोंके मारे जानेपर उनके लिये दुःख उठानेके पश्चात् तुम फिर उसी मनुष्यका दर्शन करके मेरे शाप एवं पापसे छुटकारा पा सकोगे ॥ ६०-६१ ॥

सैन्यानां तु तवैतेषां पुत्रपौत्रबलान्वितम् ।
न शापं प्राप्स्यते घोरं तत् तवाज्ञां करिष्यति ॥ ६२ ॥

'इन सैनिकोंमेंसे जो तुम्हारी आज्ञाका पालन करेगा, वह पुत्र, पौत्र तथा सेनापर लागू होनेवाले इस भयंकर शापके प्रभावसे अलग रहेगा' ॥ ६२ ॥

एष शापो मया प्राप्तः प्राक् तस्मादृषिसत्तमात् ।
स भीमेन महाराज भ्रात्रा तव विमोक्षितः ॥ ६३ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! पूर्व कालमें उन मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यसे यही शाप मुझे प्राप्त हुआ था, जिससे तुम्हारे भाई भीमसेनने छुटकारा दिलाया है ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि कुबेरदर्शने एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें कुबेर-दर्शनविषयक एक सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६१ ॥

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुबेरका युधिष्ठिर आदिको उपदेश और सान्त्वना देकर अपने भवनको प्रस्थान

धनद उवाच

युधिष्ठिर धृतिर्दाक्ष्यं देशकालपराक्रमाः ।
लोकतन्त्रविधानानामेष पञ्चविधो विधिः ॥ १ ॥

कुबेर बोले—युधिष्ठिर ! धैर्य, दक्षता, देश, काल और पराक्रम—ये पाँच लौकिक कार्योंकी सिद्धिके हेतु हैं ॥ १ ॥

धृतिमन्तश्च दक्षाश्च स्वे स्वे कर्मणि भारत ।
पराक्रमविधानज्ञा नरा कृतयुगेऽभवन् ॥ २ ॥

भारत ! सत्ययुगमें सब मनुष्य धैर्यवान्, अपने-अपने कार्यमें कुशल तथा पराक्रम-विधिके ज्ञाता थे ॥ २ ॥

धृतिमान् देशकालज्ञः सर्वधर्मविधानवित् ।
क्षत्रियः क्षत्रियश्रेष्ठ प्रशास्ति पृथिवीं चिरम् ॥ ३ ॥

क्षत्रियश्रेष्ठ ! जो क्षत्रिय धैर्यवान्, देश-कालको समझनेवाला तथा सम्पूर्ण धर्मोंके विधानका ज्ञाता है, वह दीर्घकालतक इस पृथ्वीका शासन कर सकता है ॥ ३ ॥

य एवं वर्तते पार्थ पुरुषः सर्वकर्मसु ।
स लोके लभते वीर यशः प्रेत्य च सद्गतिम् ॥ ४ ॥
देशकालान्तरप्रेप्सुः कृत्वा शक्रः पराक्रमम् ।
सम्प्राप्तस्त्रिदिवे राज्यं वृत्रहा वसुभिः सह ॥ ५ ॥

वीर पार्थ ! जो पुरुष इसी प्रकार सब कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, वह लोकमें सुयश और परलोकमें उत्तम गति पाता है। देश-कालके अन्तरपर दृष्टि रखनेवाले वृत्रासुरविनाशक इन्द्रने वसुओंसहित पराक्रम करके स्वर्गका राज्य प्राप्त किया है ॥ ४-५ ॥

यस्तु केवलसंरम्भात् प्रपातं न निरीक्षते ।
पापात्मा पापबुद्धिर्यः पापमेवानुवर्तते ॥ ६ ॥

जो केवल क्रोधके वशीभूत हो अपने पतनको नहीं देखता है, वह पापबुद्धि पापात्मा पुरुष पापका ही अनुसरण करता है ॥ ६ ॥

कर्मणामविभागज्ञः प्रेत्य चेह विनश्यति ।
अकालज्ञः सुदुर्मेधाः कार्याणामविशेषवित् ॥ ७ ॥

जो कर्मोंके विभागको नहीं जानता, समयको नहीं पहचानता और कार्योंके वैशिष्ट्यको नहीं समझता है, वह खोटी बुद्धिवाला मनुष्य इह लोक तथा परलोकमें भी नष्ट ही होता है ॥ ७ ॥

वृथाऽऽचारसमारम्भः प्रेत्य चेह विनश्यति ।
साहसे वर्तमानानां निकृतीनां दुरात्मनाम् ॥ ८ ॥

साहसके कार्योंमें लगे हुए ठग एवं दुरात्मा पुरुषोंके उत्तम कर्मोंका अनुष्ठान इस लोक और परलोकमें भी व्यर्थ नष्टप्राय ही है ॥ ८ ॥

सर्वसामर्थ्यलिप्सूनां पापो भवति निश्चयः ।
अधर्मज्ञोऽवलिप्तश्च बालबुद्धिरमर्षणः ॥ ९ ॥
निर्भयो भीमसेनोऽयं तं शाधि पुरुषर्षभ ।

सब प्रकारकी (सांसारिक) सामर्थ्यके इच्छुक मनुष्योंका निश्चय पापपूर्ण होता है । पुरुषरत्न युधिष्ठिर ! ये भीमसेन धर्मको नहीं जानते, इन्हें अपने बलका बड़ा अभिमान है, इनकी बुद्धि अभी बालकोंकी-सी है तथा ये अत्यन्त क्रोधी और निर्भय हैं, अतः तुम इन्हें उपदेश देकर काबूमें रक्खो ॥ ९½ ॥

आर्ष्टिषेणस्य राजर्षेः प्राप्य भूयस्त्वमाश्रमम् ॥ १० ॥
तामिस्रं प्रथमं पक्षं वीतशोकभयो वस ।

नरेश्वर ! अब पुनः तुम यहाँसे राजर्षि आर्ष्टिषेणके आश्रमपर जाकर कृष्णपक्ष भर शोक और भयसे रहित होकर रहो ॥ १०½ ॥

अलकाः सह गन्धर्वैर्यक्षाश्च सह किन्नरैः ॥ ११ ॥
मन्नियुक्ता मनुष्येन्द्र सर्वे च गिरिवासिनः ।
रक्षिष्यन्ति महाबाहो सहितं द्विजसत्तमैः ॥ १२ ॥

महाबाहु नरश्रेष्ठ ! वहाँ अलकानिवासी यक्ष तथा इस पर्वतपर रहनेवाले सभी प्राणी मेरी आज्ञाके अनुसार गन्धर्वों और किन्नरोंके साथ सदा इन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसहित तुम्हारी रक्षा करेंगे ॥ ११-१२ ॥

साहसादनुसम्प्राप्तः प्रतिबुध्य वृकोदरः ।
वार्यतां साध्वयं राजंस्त्वया धर्मभृतां वर ॥ १३ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश ! भीमसेन यहाँ दुःसाहसपूर्वक आये हैं, यह बात समझाकर इन्हें अच्छी तरह मना कर दो, (जिससे ये पुनः कोई अपराध न कर बैठें) ॥ १३ ॥

अतः परं च वो राजन् द्रक्ष्यन्ति वनगोचराः ।
उपस्थास्यन्ति वो राजन् रक्षिष्यन्ते च वः सदा ॥ १४ ॥

राजन् ! अबसे इस वनमें रहनेवाले सब यक्ष तुमलोगोंकी देख-भाल करेंगे, तुम्हारी सेवामें उपस्थित होंगे और सदा तुम सब लोगोंके संरक्षणमें तत्पर रहेंगे ॥ १४ ॥

तथैव चान्नपानानि स्वादूनि च बहूनि च ।
आहरिष्यन्ति मत्प्रेष्याः सदा वः पुरुषर्षभाः ॥ १५ ॥

पुरुषरत्न पाण्डवो ! इसी प्रकार हमारे सेवक तुम्हारे लिये वहाँ सदा स्वादिष्ठ अन्न-पान प्रचुर मात्रामें प्रस्तुत करते रहेंगे ॥

यथा जिष्णुर्महेन्द्रस्य यथा वायोर्वृकोदरः ।
धर्मस्य त्वं यथा तात योगोत्पन्नो निजः सुतः ॥ १६ ॥
आत्मजावात्मसम्पन्नौ यमौ चोभौ यथाश्विनोः ।
रक्ष्यास्तद्वन्ममापीह यूयं सर्वे युधिष्ठिर ॥ १७ ॥

तात युधिष्ठिर ! जैसे अर्जुन देवराज इन्द्रके, भीमसेन वायुदेवके और तुम धर्मराजके योगबलसे उत्पन्न किये हुए निजी पुत्र होनेके कारण उनके द्वारा रक्षणीय हो तथा ये दोनों आत्मबलसम्पन्न नकुल-सहदेव जैसे दोनों अश्विनीकुमारोंसे उत्पन्न होनेके कारण उनके पालनीय हैं, उसी प्रकार यहाँ मेरे लिये भी तुम सब लोग रक्षणीय हो ॥ १६-१७ ॥

अर्थतत्त्वविधानज्ञः सर्वधर्मविधानवित् ।
भीमसेनादवरजः फाल्गुनः कुशली दिवि ॥ १८ ॥

अर्थतत्त्वकी विधिके ज्ञाता और सम्पूर्ण धर्मोंके विधानमें कुशल अर्जुन, जो भीमसेनसे छोटे हैं, इस समय कुशलपूर्वक स्वर्गलोकमें विराज रहे हैं ॥ १८ ॥

याः काश्चन मता लोके स्वर्ग्याः परमसम्पदः ।
जन्मप्रभृति ताः सर्वाः स्थितास्तात धनंजये ॥ १९ ॥

तात ! संसारमें जो कोई भी स्वर्गीय श्रेष्ठ सम्पत्तियाँ मानी गयी हैं, वे सब अर्जुनमें जन्म-कालसे ही स्थित हैं ॥

दमो दानं बलं बुद्धिर्ह्रीर्धृतिस्तेज उत्तमम् ।
एतान्यपि महासत्त्वे स्थितान्यमिततेजसि ॥ २० ॥

अमित तेजस्वी और महान् सत्त्वशाली अर्जुनमें दम (इन्द्रिय-संयम), दान, बल, बुद्धि, लज्जा, धैर्य तथा उत्तम तेज —ये सभी सद्गुण विद्यमान हैं ॥ २० ॥

न मोहात् कुरुते जिष्णुः कर्म पाण्डव गर्हितम् ।
न पार्थस्य मृषोक्तानि कथयन्ति नरा नृषु ॥ २१ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम्हारे भाई अर्जुन कभी मोहवश निन्दित कर्म नहीं करते। मनुष्य आपसमें कभी अर्जुनके मिथ्या-भाषणकी चर्चा नहीं करते हैं ॥ २१ ॥

स देवपितृगन्धर्वैः कुरूणां कीर्तिवर्धनः।
मानितः कुरुतेऽस्त्राणि शक्रसद्मनि भारत ॥ २२ ॥

भारत ! कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले अर्जुन इन्द्रभवन-में देवताओं, पितरों तथा गन्धर्वोंसे सम्मानित हो अस्त्र-विद्याका अभ्यास करते हैं ॥ २२ ॥

योऽसौ सर्वान् महीपालान् धर्मेण वशमानयत्।
स शान्तनुर्महातेजाः पितुस्तव पितामहः ॥ २३ ॥
प्रीयते पार्थ पार्थेन दिवि गाण्डीवधन्वना।
सम्यक् चासौ महावीर्यः कुलधुर्येण पार्थिवः ॥ २४ ॥

पार्थ ! जिन्होंने सब राजाओंको धर्मपूर्वक अपने अधीन कर लिया था, वे महातेजस्वी, महापराक्रमी तथा सदाचारपरायण महाराज शान्तनु, जो तुम्हारे पिताके पितामह थे, स्वर्गलोकमें कुरुकुलधुरीण गाण्डीवधारी अर्जुनसे बहुत प्रसन्न रहते हैं ॥ २३-२४ ॥

पितॄन् देवानृषीन् विप्रान् पूजयित्वा महातपाः।
सप्त मुख्यान् महामेधानाहरद् यमुनां प्रति ॥ २५ ॥
अधिराजः स राजंस्त्वां शान्तनुः प्रपितामहः।
स्वर्गजिच्छक्रलोकस्थः कुशलं परिपृच्छति ॥ २६ ॥

महातपस्वी शान्तनुने देवताओं, पितरों, ऋषियों तथा ब्राह्मणोंकी पूजा करके यमुना-तटपर सात बड़े-बड़े अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। राजन् ! वे तुम्हारे प्रपितामह राजाधिराज शान्तनु स्वर्गलोकको जीतकर उसीमें निवास करते हैं। उन्होंने मुझसे तुम्हारी कुशल पूछी थी ॥ २५-२६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं धनदेन प्रभाषितम्।
पाण्डवाश्च ततस्तेन बभूवुः सम्प्रहर्षिताः ॥ २७ ॥
ततः शक्तिं गदां खड्गं धनुश्च भरतर्षभः।
प्राध्वं कृत्वा नमश्चक्रे कुबेराय वृकोदरः ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुबेरकी कही हुई ये बातें सुनकर पाण्डवोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। तदनन्तर भरतकुल-भूषण भीमसेनने उठायी हुई शक्ति, गदा, खड्ग और धनुषको नीचे करके कुबेरको नमस्कार किया ॥ २७-२८ ॥

ततोऽब्रवीद् धनाध्यक्षः शरण्यः शरणागतम्।
मानहा भव शत्रूणां सुहृदां नन्दिवर्धनः ॥ २९ ॥

तब शरण देनेवाले धनाध्यक्ष कुबेरने अपनी शरणमें आये हुए भीमसेनसे कहा—'पाण्डु-नन्दन ! तुम शत्रुओंका मान मर्दन और सुहृदोंका आनन्द वर्धन करनेवाले बनो' ॥ २९ ॥



स्वेषु वेश्मसु रम्येषु वसतामित्रतापनाः।
कामान्न परिहास्यन्ति यक्षा वो भरतर्षभाः ॥ ३० ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतकुलभूषण पाण्डवो ! तुम सब लोग अपने रमणीय आश्रमोंमें निवास करो। यक्ष लोग तुम्हारी अभीष्ट वस्तुओंकी प्राप्तिमें बाधा नहीं डालेंगे ॥

शीघ्रमेव गुडाकेशः कृतास्त्रः पुनरेष्यति।
साक्षान्मघवता सृष्टः सम्प्राप्स्यति धनंजयः ॥ ३१ ॥

'निद्राविजयी अर्जुन अस्त्र-विद्या सीखकर साक्षात् इन्द्रके भेजनेपर शीघ्र ही यहाँ आवेंगे और तुम सब लोगोंसे मिलेंगे' ॥

एवमुक्त्वोत्तमकर्माणमनुशिष्य युधिष्ठिरम्।
श्वेतं गिरिवरश्रेष्ठं प्रययौ गुह्यकाधिपः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार उत्तम कर्म करनेवाले युधिष्ठिरको उपदेश देकर यक्षराज कुबेर गिरिश्रेष्ठ कैलासको चले गये ॥ ३२ ॥

तं परिस्तोमसंकीर्णैर्नानारत्नविभूषितैः।
यानैरनुययुर्यक्षा राक्षसाश्च सहस्रशः ॥ ३३ ॥

उनके पीछे सहस्रों यक्ष और राक्षस भी अपने-अपने वाहनोंपर आरूढ़ हो चल दिये। उनके वे वाहन नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित थे और उनकी पीठपर बहुरंगे कम्बल आदि कसे हुए थे ॥ ३३ ॥

पक्षिणामिव निर्घोषः कुबेरसदनं प्रति।
बभूव परमाश्वानामैरावतपथे यथा ॥ ३४ ॥

जैसे इन्द्रपुरीके मार्गपर चलनेवाले विविध वाहनोंका कोलाहल सुनायी पड़ता है, उसी प्रकार कुबेरभवनके प्रति यात्रा करनेवाले उत्तम अश्वोंका शब्द ऐसा जान पड़ता था, मानो पक्षी उड़ रहे हों ॥ ३४ ॥

ते जग्मुस्तूर्णमाकाशं धनाधिपतिवाजिनः ।
प्रकर्षन्त इवाभ्राणि पिबन्त इव मारुतम् ॥ ३५ ॥

धनाध्यक्ष कुबेरके वे घोड़े अपने साथ बादलोंको खींचते और वायुको पीते हुए-से तीव्र गतिसे आकाशमें उड़ चले ॥

ततस्तानि शरीराणि गतसत्त्वानि रक्षसाम् ।
अपाकृष्यन्त शैलाग्राद् धनाधिपतिशासनात् ॥ ३६ ॥

तदनन्तर कुबेरकी आज्ञासे राक्षसोंके वे निर्जीव शरीर उस पर्वत-शिखरसे दूर हटा दिये गये ॥ ३६ ॥

तेषां हि शापकालः स कृतोऽगस्त्येन धीमता ।
समरे निहतास्तस्माच्छापस्यान्तोऽभवत् तदा ॥ ३७ ॥
पाण्डवाश्च महात्मानस्तेषु वेश्मसु तां क्षपाम् ।
सुखमूषुर्गतोद्वेगाः पूजिताः सर्वराक्षसैः ॥ ३८ ॥

बुद्धिमान् अगस्त्यने यक्षोंके लिये शापकी वही अवधि निश्चित की थी । जब वे युद्धमें मारे गये, तब उनके शापका अन्त हो गया । महामना पाण्डव अपने उन आश्रमोंमें सम्पूर्ण राक्षसोंसे पूजित एवं उद्वेग-शून्य होकर सुखसे रात्रि व्यतीत करने लगे ॥ ३७-३८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि कुबेरवाक्ये द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें कुबेरवाक्य-विषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६२ ॥

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

धौम्यका युधिष्ठिरको मेरु पर्वत तथा उसके शिखरोंपर स्थित ब्रह्मा, विष्णु आदिके स्थानोंका लक्ष्य कराना और सूर्य-चन्द्रमाकी गति एवं प्रभावका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततः सूर्योदये धौम्यः कृत्वाऽऽह्निकमरिंदम ।
आर्ष्टिषेणेन सहितः पाण्डवानभ्यवर्तत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुदमन नरेश ! तदनन्तर सूर्योदय होनेपर आर्ष्टिषेणसहित धौम्यजी नित्यकर्म पूरा करके पाण्डवोंके पास आये ॥ १ ॥

तेऽभिवाद्यार्ष्टिषेणस्य पादौ धौम्यस्य चैव ह ।
ततः प्राञ्जलयः सर्वे ब्राह्मणांस्तानपूजयन् ॥ २ ॥

तब समस्त पाण्डवोंने आर्ष्टिषेण तथा धौम्यके चरणोंमें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर सब ब्राह्मणोंका पूजन किया ॥ २ ॥

ततो युधिष्ठिरं धौम्यो गृहीत्वा दक्षिणे करे ।
प्राचीं दिशमभिप्रेक्ष्य महर्षिरिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

तदनन्तर महर्षि धौम्यने युधिष्ठिरका दाहिना हाथ पकड़कर पूर्व दिशाकी ओर देखते हुए कहा—॥ ३ ॥

असौ सागरपर्यन्तां भूमिमावृत्य तिष्ठति ।
शैलराजो महाराज मन्दरोऽति विराजते ॥ ४ ॥

'महाराज ! वह पर्वतराज मन्दराचल प्रकाशित हो रहा है, जो समुद्रतककी भूमिको घेरकर खड़ा है ॥ ४ ॥

इन्द्रवैश्रवणावेतां दिशं पाण्डव रक्षतः ।
पर्वतैश्च वनान्तैश्च काननैश्चैव शोभिताम् ॥ ५ ॥

'पाण्डुनन्दन ! पर्वतों, वनान्त प्रदेशों और काननोंसे सुशोभित इस पूर्व दिशाकी रक्षा इन्द्र और कुबेर करते हैं ॥ ५ ॥

एतदाहुर्महेन्द्रस्य राज्ञो वैश्रवणस्य च ।
ऋषयः सर्वधर्मज्ञाः सद्म तात मनीषिणः ॥ ६ ॥
अतश्चोद्यन्तमादित्यमुपतिष्ठन्ति वै प्रजाः ।
ऋषयश्चापि धर्मज्ञाः सिद्धाः साध्याश्च देवताः ॥ ७ ॥

'तात ! सब धर्मोंके ज्ञाता मनीषी महर्षि इस दिशाको देवराज इन्द्र तथा कुबेरका निवासस्थान कहते हैं । इधरसे ही उदित होनेवाले सूर्यदेवकी समस्त प्रजा, धर्मज्ञ ऋषि, सिद्ध महात्मा तथा साध्य देवता उपासना करते हैं ॥ ६-७ ॥

यमस्तु राजा धर्मज्ञः सर्वप्राणभृतां प्रभुः ।
प्रेतसत्त्वगतिं ह्येनां दक्षिणामाश्रितो दिशम् ॥ ८ ॥

'समस्त प्राणियोंके ऊपर प्रभुत्व रखनेवाले धर्मज्ञ राजा यम इस दक्षिण दिशाका आश्रय लेकर रहते हैं । इसमें मरे हुए प्राणी ही जा सकते हैं ॥ ८ ॥

एतत् संयमनं पुण्यमतीवाद्भुतदर्शनम् ।
प्रेतराजस्य भवनमृद्ध्या परमया युतम् ॥ ९ ॥

'प्रेतराजका यह निवासस्थान अत्यन्त समृद्धिशाली, परम पवित्र, तथा देखनेमें अद्भुत है । राजन् ! इसका नाम संयमन (या संयमनीपुरी) है ॥ ९ ॥

यं प्राप्य सविता राजन् सत्येन प्रतितिष्ठति ।
अस्तं पर्वतराजानमेतमाहुर्मनीषिणः ॥ १० ॥
एतं पर्वतराजानं समुद्रं च महोदधिम् ।
आवसन् वरुणो राजा भूतानि परिरक्षति ॥ ११ ॥

'राजन् ! जहाँ जाकर भगवान् सूर्य सत्यसे प्रतिष्ठित होते हैं, उस पर्वतराजको मनीषी पुरुष अस्ताचल कहते हैं । गिरि-

राज अस्ताचल और महान् जलराशिसे भरे हुए समुद्रमें रहकर राजा वरुण समस्त प्राणियोंकी रक्षा करते हैं ॥ १०-११ ॥

उदीचीं दीपयन्नेष दिशं तिष्ठति वीर्यवान्।
महामेरुर्महाभाग शिवो ब्रह्मविदां गतिः ॥१२॥

'महाभाग ! यह अत्यन्त प्रकाशमान महामेरु पर्वत दिखायी देता है, जो उत्तर दिशाको उद्भासित करता हुआ खड़ा है। इस कल्याणकारी पर्वतपर ब्रह्मवेत्ताओंकी ही पहुँच हो सकती है ॥ १२ ॥

यस्मिन् ब्रह्मसदश्चैव भूतात्मा चावतिष्ठते।
प्रजापतिः सृजन् सर्वं यत् किञ्चिज्जङ्गमागमम् ॥१३॥

'इसीपर ब्रह्माजीकी सभा है, जहाँ समस्त प्राणियोंके आत्मा ब्रह्मा स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करते हुए नित्य निवास करते हैं ॥ १३ ॥

यानाहुर्ब्रह्मणः पुत्रान् मानसान् दक्षसप्तमान्।
तेषामपि महामेरुः शिवं स्थानमनामयम् ॥१४॥

'जिन्हें ब्रह्माजीका मानसपुत्र बताया जाता है और जिनमें दक्षप्रजापतिका स्थान सातवाँ है। उन समस्त प्रजापतियोंका भी यह महामेरु पर्वत ही रोग-शोकसे रहित सुखद स्थान है ॥ १४ ॥

अत्रैव प्रतितिष्ठन्ति पुनरेवोदयन्ति च।
सप्त देवर्षयस्तात वसिष्ठप्रमुखाः सदा ॥१५॥

'तात ! वसिष्ठ आदि सात देवर्षि इन्हीं प्रजापतिमें लीन होते और पुनः इन्हींसे प्रकट होते हैं ॥ १५ ॥

देशं विरजसं पश्य मेरोः शिखरमुत्तमम्।
यत्रात्मतृप्तैरध्यास्ते देवैः सह पितामहः ॥१६॥

'युधिष्ठिर ! मेरुका वह उत्तम शिखर देखो, जो रजोगुण-रहित प्रदेश है, वहाँ अपने आपमें तृप्त रहनेवाले देवताओंके साथ पितामह ब्रह्मा निवास करते हैं ॥ १६ ॥

यमाहुः सर्वभूतानां प्रकृतेः प्रकृतिं ध्रुवम्।
अनादिनिधनं देवं प्रभुं नारायणं परम् ॥१७॥
ब्रह्मणः सदनात् तस्य परं स्थानं प्रकाशते।
देवा अपि न पश्यन्ति सर्वतेजोमयं शुभम् ॥१८॥
अत्यर्कानलदीप्तं तत् स्थानं विष्णोर्महात्मनः।
स्वयैव प्रभया राजन् दुष्प्रेक्ष्यं देवदानवैः ॥१९॥

'जो समस्त प्राणियोंकी पञ्चभूतमयी प्रकृतिके अक्षय उपादान हैं, जिन्हें ज्ञानी पुरुष अनादि अनन्त दिव्य-स्वरूप परम प्रभु नारायण कहते हैं, उनका उत्तम स्थान उस ब्रह्मलोकसे भी ऊपर प्रकाशित हो रहा है। देवता भी उन सर्वतेजोमय शुभस्वरूप भगवान्‌का सहज ही दर्शन नहीं कर पाते। राजन् ! परमात्मा विष्णुका वह स्थान सूर्य और अग्निसे भी अधिक तेजस्वी है और अपनी ही प्रभासे प्रकाशित होता है। देवताओं और दानवोंके लिये उसका दर्शन अत्यन्त कठिन है ॥ १७—१९ ॥

प्राच्यां नारायणस्थानं मेरावतिविराजते।
यत्र भूतेश्वरस्तात सर्वप्रकृतिरात्मभूः ॥२०॥
भासयन् सर्वभूतानि सुश्रियाभिविराजते।
नात्र ब्रह्मर्षयस्तात कुत एव महर्षयः ॥२१॥
प्राप्नुवन्ति गतिं ह्येतां यतीनां भावितात्मनाम्।
न तं ज्योतींषि सर्वाणि प्राप्य भासन्ति पाण्डव ॥२२॥

'तात ! पूर्व दिशामें मेरुपर ही भगवान् नारायणका स्थान सुशोभित हो रहा है, जहाँ सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी तथा सबके उपादान कारण स्वयंभू भगवान् विष्णु अपने उत्कृष्ट तेजसे सम्पूर्ण भूतोंको प्रकाशित करते हुए विराजमान होते हैं। वहाँ यत्नशील ज्ञानी महात्माओंकी ही पहुँच हो सकती है। उस नारायण धाममें ब्रह्मर्षियोंकी भी गति नहीं है। फिर महर्षि तो वहाँ जा ही कैसे सकते हैं। पाण्डुनन्दन ! सम्पूर्ण ज्योतिर्मय पदार्थ भगवान्‌के निकट जाकर अपना तेज खो बैठते हैं—उनमें पूर्ववत् प्रकाश नहीं रह जाता है ॥ २०—२२ ॥

स्वयं प्रभुरचिन्त्यात्मा तत्र ह्यतिविराजते।
यतयस्तत्र गच्छन्ति भक्त्या नारायणं हरिम् ॥२३॥

'साक्षात् अचिन्त्यस्वरूप भगवान् विष्णु ही वहाँ विराजित होते हैं। यत्नशील महात्मा भक्तिके प्रभावसे वहाँ भगवान् नारायणको प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

परेण तपसा युक्ता भाविताः कर्मभिः शुभैः।
योगसिद्धा महात्मानस्तमोमोहविवर्जिताः ॥२४॥
तत्र गत्वा पुनर्नेमं लोकमायान्ति भारत।
स्वयम्भुवं महात्मानं देवदेवं सनातनम् ॥२५॥

'भारत ! जो उत्तम तपस्यासे युक्त हैं और पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानसे पवित्र हो गये हैं, वे अज्ञान और मोहसे रहित योग-सिद्ध महात्मा उस नारायण-धाममें जाकर फिर इस संसारमें नहीं लौटते हैं। अपि तु स्वयंभू एवं सनातन परमात्मा देवदेव विष्णुमें लीन हो जाते हैं ॥ २४-२५ ॥

स्थानमेतन्महाभाग ध्रुवमक्षयमव्ययम्।
ईश्वरस्य सदा ह्येतत् प्रणमात्र युधिष्ठिर ॥२६॥

'महाभाग युधिष्ठिर ! यह परमेश्वरका नित्य, अविनाशी और अविकारी स्थान है। तुम यहींसे इसको प्रणाम करो ॥

एनं त्वहरहर्मेरुं सूर्याचन्द्रमसौ ध्रुवम्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य कुरुतः कुरुनन्दन ॥२७॥
ज्योतींषि चाप्यशेषेण सर्वाण्यनघ सर्वतः।
परियान्ति महाराज गिरिराजं प्रदक्षिणम् ॥२८॥

'कुरुनन्दन ! सूर्य और चन्द्रमा प्रतिदिन इस निश्चल मेरुगिरिकी प्रदक्षिणा करते रहते हैं। पापशून्य महाराज ! सम्पूर्ण नक्षत्र भी गिरिराज मेरुकी सर्वतोभावेन परिक्रमा करते हैं ॥ २७-२८ ॥

एतं ज्योतींषि सर्वाणि प्रकर्षन् भगवानपि।
कुरुते वितमस्कर्मा आदित्योऽभिप्रदक्षिणम् ॥२९॥

'अन्धकारका निवारण करना ही जिनका मुख्य कर्म है, वे भगवान् सूर्य भी सम्पूर्ण ज्योतियोंको अपनी ओर खींचते हुए इस मेरुगिरिकी प्रदक्षिणा करते हैं ॥ २९ ॥

अस्तं प्राप्य ततः संध्यामतिक्रम्य दिवाकरः।
उदीचीं भजते काष्ठां दिशमेष विभावसुः ॥३०॥
स मेरुमनुवृत्तः सन् पुनर्गच्छति पाण्डव।
प्राङ्मुखः सविता देवः सर्वभूतहिते रतः ॥३१॥

'तदनन्तर अस्ताचलको पहुँचकर संध्याकालकी सीमाको लाँघकर ये भगवान् सूर्य उत्तर दिशाका आश्रय लेते हैं। पाण्डुनन्दन ! मेरु पर्वतका अनुसरण करके उत्तर दिशाकी सीमातक पहुँचकर ये समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले भगवान् सूर्य पुनः पूर्वाभिमुख होकर चलते हैं ॥ ३०-३१ ॥

स मासान् विभजन् काले बहुधा पर्वसंधिषु।
तथैव भगवान् सोमो नक्षत्रैः सह गच्छति ॥३२॥

'उसी प्रकार भगवान् चन्द्रमा भी नक्षत्रोंके साथ मेरु पर्वतकी परिक्रमा करते हैं और पर्वसंधिके समय विभिन्न मासोंका विभाग करते रहते हैं ॥ ३२ ॥

एवमेतं त्वतिक्रम्य महामेरुमतन्द्रितः।
भावयन् सर्वभूतानि पुनर्गच्छति मन्दरम् ॥३३॥
तथा तमिस्रहा देवो मयूखैर्भावयञ्जगत्।
मार्गमेतदसम्बाधमादित्यः परिवर्तते ॥३४॥

'इस तरह आलस्यरहित हो इस महामेरुका उल्लङ्घन करके समस्त प्राणियोंका पोषण करते हुए वे पुनः मन्दराचलको चले जाते हैं। उसी प्रकार अन्धकारनाशक भगवान् सूर्य अपनी किरणोंसे सम्पूर्ण जगत्का पालन करते हुए इस बाधारहित मार्गपर सदा चक्कर लगाते रहते हैं ॥ ३३-३४ ॥

सिसृक्षुः शिशिराण्येव दक्षिणां भजते दिशम्।
ततः सर्वाणि भूतानि कालोऽभ्यर्च्छति शैशिरः ॥३५॥
स्थावराणां च भूतानां जङ्गमानां च तेजसा।
तेजांसि समुपादत्ते निवृत्तः स विभावसुः ॥३६॥
ततः स्वेदक्लमौ तन्द्री ग्लानिश्च भजते नरान्।
प्राणिभिः सततं स्वप्नो ह्यभीक्ष्णं च निषेव्यते ॥३७॥
एवमेतदनिर्देश्यं मार्गमावृत्य भानुमान्।
पुनः सृजति वर्षाणि भगवान् भावयन् प्रजाः ॥३८॥

'शीतकी सृष्टि करनेकी इच्छासे ही सूर्यदेव दक्षिण दिशाका आश्रय लेते हैं, इसलिये समस्त प्राणियोंपर शीतकालका प्रभाव पड़ने लगता है। दक्षिणायनसे निवृत्त होनेपर वे भगवान् सूर्य स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंका तेज अपने तेजसे हर लेते हैं,-यही कारण है कि मनुष्योंको पसीना, थकावट, आलस्य और ग्लानिका अनुभव होता है तथा प्राणी सदा निद्राका ही बार-बार सेवन करते हैं। इस प्रकार इस अन्तरिक्ष मार्गको आवृत करके समस्त प्रजाकी पुष्टि करते हुए भगवान् सूर्य पुनः वर्षाकी सृष्टि करते हैं ॥ ३५—३८ ॥

वृष्टिमारुतसंतापैः सुखैः स्थावरजङ्गमान्।
वर्धयन् सुमहातेजाः पुनः प्रतिनिवर्तते ॥३९॥

'महातेजस्वी सूर्यदेव वृष्टि, वायु और तापद्वारा सुखपूर्वक चराचर जीवोंकी पुष्टि करते हुए पुनः अपने स्थानपर लौट आते हैं ॥ ३९ ॥

एवमेष चरन् पार्थ कालचक्रमतन्द्रितः।
प्रकर्षन् सर्वभूतानि सविता परिवर्तते ॥४०॥

'कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार ये भगवान् सूर्य सावधान हो समस्त प्राणियोंका आकर्षण और पोषण करते हुए विचरते और कालचक्रका संचालन करते हैं ॥ ४० ॥

संतता गतिरेतस्य नैष तिष्ठति पाण्डव।
आदायैव तु भूतानां तेजो विसृजते पुनः ॥४१॥
विभजन् सर्वभूतानामायुः कर्म च भारत।
अहोरात्रं कलाः काष्ठाः सृजत्येष सदा विभुः ॥४२॥

'युधिष्ठिर ! यह सूर्यदेवकी निरन्तर चलनेवाली गति है। सूर्य कभी एक क्षणके लिये भी रुकते नहीं हैं। वे सम्पूर्ण भूतोंके रसमय तेजको ग्रहण करके पुनः उसे वर्षाकालमें बरसा देते हैं। भारत ! ये भगवान् सविता सम्पूर्ण भूतोंकी आयु और कर्मका विभाग करते हुए दिन-रात, कला-काष्ठा आदि समयकी निरन्तर सृष्टि करते रहते हैं' ॥ ४१-४२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि मेरुदर्शने त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें मेरुदर्शनविषयक एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी अर्जुनके लिये उत्कण्ठा और अर्जुनका आगमन

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् नगेन्द्रे वसतां तु तेषां
महात्मनां सद्व्रतमास्थितानाम्।
रतिः प्रमोदश्च बभूव तेषा-
माकाङ्क्षतां दर्शनमर्जुनस्य ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस पर्वतराज गन्धमादनपर उत्तम व्रतका आश्रय ले निवास करते हुए अर्जुनके दर्शनकी इच्छा रखनेवाले महामना पाण्डवोंके मनमें अत्यन्त प्रेम और आनन्दका प्रादुर्भाव हुआ ॥ १ ॥

तान् वीर्ययुक्तान् सुविशुद्धकामां-
स्तेजस्विनः सत्यधृतिप्रधानान् ।
सम्प्रीयमाणा बहवोऽभिजग्मु-
र्गन्धर्वसङ्घाश्च महर्षयश्च ॥ २ ॥

वे सब-के-सब बड़े पराक्रमी थे। उनकी कामनाएँ अत्यन्त विशुद्ध थीं। वे तेजस्वी तो थे ही, सत्य और धैर्य उनके प्रधान गुण थे; अतः बहुत-से गन्धर्व तथा महर्षिगण उनसे प्रेमपूर्वक मिलने-जुलनेके लिये आने लगे ॥ २ ॥

तं पादपैः पुष्पधरैरुपेतं
नगोत्तमं प्राप्य महारथानाम् ।
मनःप्रसादः परमो बभूव
यथा दिवं प्राप्य मरुद्गणानाम् ॥ ३ ॥

वह श्रेष्ठ पर्वत विकसित वृक्षावलियोंसे विभूषित था। वहाँ पहुँच जानेसे महारथी पाण्डवोंके मनमें बड़ी प्रसन्नता रहने लगी। ठीक उसी तरह, जैसे मरुद्गणोंको स्वर्गलोकमें पहुँचनेपर प्रसन्नता होती है ॥ ३ ॥

मयूरहंसस्वननादितानि
पुष्पोपकीर्णानि महाचलस्य ।
शृङ्गाणि सानूनि च पश्यमाना
गिरेः परं हर्षमवाप्य तस्थुः ॥ ४ ॥

उस महान् पर्वतके शिखर मयूरों और हंसोंके कलनादसे गूँजते रहते थे। वहाँ सब ओर सुन्दर पुष्प व्याप्त हो रहे थे। उन मनोहर शिखरोंको देखते हुए पाण्डवलोग बड़े हर्षके साथ वहाँ रहने लगे ॥ ४ ॥

साक्षात् कुबेरेण कृताश्च तस्मिन्
नगोत्तमे संवृतकूलरोधसः ।
कादम्बकारण्डवहंसजुष्टाः
पद्माकुलाः पुष्करिणीरपश्यन् ॥ ५ ॥

उस श्रेष्ठ शैलपर साक्षात् भगवान् कुबेरने अनेक सुन्दर सरोवर बनवाये थे, जो कमल-समूहसे आच्छादित रहते थे। उनके जल शैवाल आदिसे ढके होते थे और उन सबमें हंस, कारण्डव आदि पक्षी सानन्द निवास करते थे पाण्डवोंने उन सरोवरोंको देखा ॥ ५ ॥

क्रीडाप्रदेशांश्च समृद्धरूपान्
सुचित्रमाल्यावृतजातशोभान् ।
मणिप्रकीर्णांश्च मनोरमांश्च
यथा भवेयुर्धनदस्य राज्ञः ॥ ६ ॥

धनाध्यक्ष राजा कुबेरके लिये जैसे होने चाहिये, वैसे ही समृद्धिशाली क्रीडा-प्रदेश वहाँ बने हुए थे। विचित्र मालाओंसे समावृत होनेके कारण उनकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी। उनको मणि तथा रत्नोंसे अलंकृत किया गया था, जिससे वे क्रीडा-स्थल मनको मोहे लेते थे ॥ ६ ॥

अनेकवर्णैश्च सुगन्धिभिश्च
महाद्रुमैः संततमभ्रजालैः ।
तपःप्रधानाः सततं चरन्तः
शृङ्गं गिरेश्चिन्तयितुं न शेकुः ॥ ७ ॥

अनेक वर्णवाले विशाल सुगन्धित वृक्षों तथा मेघसमूहोंसे व्याप्त उस पर्वत-शिखरपर विचरते हुए सदा तपस्यामें ही संलग्न रहनेवाले पाण्डव उस पर्वतकी महत्ताका चिन्तन नहीं कर पाते थे ॥ ७ ॥

स्वतेजसा तस्य नगोत्तमस्य
महौषधीनां च तथा प्रभावात् ।
विभक्तभावो न बभूव कश्चि-
दहोनिशानां पुरुषप्रवीर ॥ ८ ॥

वीरवर जनमेजय ! पर्वतराज गन्धमादनके अपने तेजसे तथा वहाँकी तेजस्विनी महौषधियोंके प्रभावसे वहाँ सदा प्रकाश व्याप्त रहनेके कारण दिन-रातका कोई विभाग नहीं हो पाता था ॥ ८ ॥

यमास्थितः स्थावरजङ्गमानि
विभावसुर्भावयतेऽमितौजाः ।
तस्योदयं चास्तमनं च वीरा-
स्तत्र स्थितास्ते ददृशुर्नृसिंहाः ॥ ९ ॥

जिन भगवान् सूर्यका आश्रय लेकर अमित तेजस्वी अग्निदेव सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम प्राणियोंका पोषण करते हैं, उनके उदय और अस्तकी लीलाको पुरुषसिंह वीर पाण्डव वहाँ रहकर स्पष्ट देखते थे ॥ ९ ॥

रवेस्तमिस्रागमनिर्गमांस्ते
तथोदयं चास्तमनं च वीराः ।
समावृताः प्रेक्ष्य तमोनुदस्य
गभस्तिजालैः प्रदिशो दिशश्च ॥ १० ॥
स्वाध्यायवन्तः सततक्रियाश्च
धर्मप्रधानाश्च शुचिव्रताश्च ।
सत्ये स्थितास्तस्य महारथस्य
सत्यव्रतस्यागमनप्रतीक्षाः ॥ ११ ॥

वे वीर पाण्डव वहाँसे अन्धकारके आगमन और निर्गमन-को, अन्धकारविनाशक भगवान् सूर्यके उदय और अस्तकी लीलाको तथा उनके किरणसमूहोंसे व्याप्त हुई सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओंको देखकर स्वाध्यायमें संलग्न रहते थे। सदा शुभ-कर्मोंके अनुष्ठानमें तत्पर रहकर प्रधानरूपसे धर्मका ही आश्रय लेते थे। उनका आचार-व्यवहार अत्यन्त पवित्र था। वे सत्यमें स्थित होकर सत्यव्रतपरायण महारथी अर्जुनके आगमनकी प्रतीक्षा करते थे॥ १०-११ ॥

इहैव हर्षोऽस्तु समागतानां
क्षिप्रं कृतास्त्रेण धनंजयेन ।
इति ब्रुवन्तः परमाशिषस्ते
पार्थास्तपोयोगपरा बभूवुः ॥ १२ ॥

'इस पर्वतपर आये हुए हम सब लोगोंको यहीं अस्त्र-विद्या सीखकर पधारे हुए अर्जुनके दर्शनसे शीघ्र ही अत्यन्त हर्षकी प्राप्ति हो;' इस प्रकार परस्पर शुभ-कामना प्रकट करते हुए वे सभी कुन्तीपुत्र तप और योगके साधनमें संलग्न रहते थे ॥

दृष्ट्वा विचित्राणि गिरौ वनानि
किरीटिनं चिन्तयतामभीक्ष्णम् ।
बभूव रात्रिर्दिवसश्च तेषां
संवत्सरेणैव समानरूपः ॥ १३ ॥

उस पर्वतपर विचित्र वन-कुञ्जोंकी शोभा देखते और निरन्तर अर्जुनका चिन्तन करते हुए पाण्डवोंको एक दिन-रातका समय एक वर्षके समान प्रतीत होता था ॥ १३ ॥

यदैव धौम्यानुमते महात्मा
कृत्वा जटां प्रव्रजितः स जिष्णुः ।
तदैव तेषां न बभूव हर्षः
कुतो रतिस्तद्गतमानसानाम् ॥ १४ ॥

जबसे धौम्य मुनिकी आज्ञा लेकर महामना अर्जुन सिरपर जटा धारण करके तपस्याके लिये प्रस्थित हुए थे, तभीसे उन पाण्डवोंके मनमें रञ्चमात्र भी हर्ष नहीं रह गया था। उनका मन निरन्तर अर्जुनमें ही लगा रहता था। ऐसी दशामें उन्हें सुख कैसे प्राप्त हो सकता था ?॥ १४ ॥

भ्रातुर्नियोगात् तु युधिष्ठिरस्य
वनादसौ वारणमत्तगामी ।
यत् काम्यकात् प्रव्रजितः स जिष्णु-
स्तदैव ते शोकहता बभूवुः ॥ १५ ॥

गजराजके समान मस्तानी चालसे चलनेवाले वे अर्जुन जब बड़े भाई युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर काम्यक वनसे प्रस्थित हुए थे, तभी समस्त पाण्डव शोकसे पीडित हो गये थे ॥१५॥

तथैव तं चिन्तयतां सिताश्व-
मस्त्रार्थिनं वासवमभ्युपेतम् ॥
मासोऽथ कृच्छ्रेण तदा व्यतीत-
स्तस्मिन् नगे भारत भारतानाम् ॥ १६ ॥

जनमेजय ! अस्त्र-विद्याकी अभिलाषासे देवराज इन्द्रके समीप गये हुए श्वेतवाहन अर्जुनका चिन्तन करनेवाले पाण्डवोंका एक मास उस पर्वतपर बड़ी कठिनाईसे व्यतीत हुआ ॥ १६ ॥

उषित्वा पञ्च वर्षाणि सहस्राक्षनिवेशने ।
अवाप्य दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणि विबुधेश्वरात् ॥ १७ ॥
आग्नेयं वारुणं सौम्यं वायव्यमथ वैष्णवम् ।
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं पारमेष्ठ्यं प्रजापतेः ॥ १८ ॥
यमस्य धातुः सवितुस्त्वष्टुर्वैश्रवणस्य च ।
तानि प्राप्य सहस्राक्षादभिवाद्य शतक्रतुम् ॥ १९ ॥
अनुज्ञातस्तदा तेन कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
आगच्छदर्जुनः प्रीतः प्रहृष्टो गन्धमादनम् ॥ २० ॥

इधर अर्जुनने इन्द्र-भवनमें पाँच वर्ष रहकर देवेश्वर इन्द्रसे सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिये। इस प्रकार अग्नि, वरुण, सोम, वायु, विष्णु, इन्द्र, पशुपति, ब्रह्मा, परमेष्ठी, प्रजापति, यम, धाता, सविता, त्वष्टा तथा कुबेरसम्बन्धी अस्त्रोंको भी देवेन्द्रसे ही प्राप्त करके उन्हें प्रणाम किया। तदनन्तर उनसे अपने भाइयोंके पास लौटनेकी आज्ञा पाकर उनकी परिक्रमा करके अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए और हर्षोल्लासमें भरकर गन्धमादनपर आये ॥ १७–२० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वण्यर्जुनाभिगमने चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें अर्जुनाभिगमनविषयक एक सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६४ ॥

(निवातकवचयुद्धपर्व)

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका गन्धमादनपर्वतपर आकर अपने भाइयोंसे मिलना

वैशम्पायन उवाच

ततः कदाचिद्धरिसम्प्रयुक्तं
महेन्द्रवाहं सहसोपयातम् ।
विद्युत्प्रभं प्रेक्ष्य महारथानां
हर्षोऽर्जुनं चिन्तयतां बभूव ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर किसी समय हरे रंगके घोड़ोंसे जुता हुआ देवराज इन्द्रका रथ सहसा आकाशमें प्रकट हुआ, मानो बिजली चमक उठी हो । उसे देखकर अर्जुनका चिन्तन करते हुए महारथी पाण्डवोंको बड़ा हर्ष हुआ ॥ १ ॥

स दीप्यमानः सहसान्तरिक्षं
प्रकाशयन् मातलिसंगृहीतः ।
बभौ महोल्केव घनान्तरस्था
शिखेव चाग्नेर्ज्वलिता विधूमा ॥ २ ॥

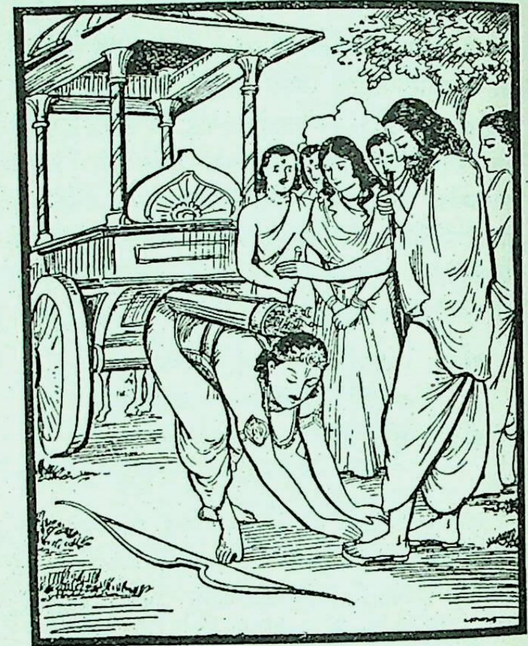
उस रथका संचालन मातलि कर रहे थे । वह दीप्तिमान् रथ सहसा अन्तरिक्षलोकको प्रकाशित करता हुआ इस प्रकार सुशोभित होने लगा, मानो बादलोंके भीतर बड़ी भारी उल्का प्रकट हुई हो अथवा अग्निकी धूमरहित ज्वाला प्रज्वलित हो उठी हो ॥ २ ॥

तमास्थितः संददृशे किरीटी
स्रग्वी नवान्याभरणानि बिभ्रत् ।
धनंजयो वज्रधरप्रभावः
श्रिया ज्वलन् पर्वतमाजगाम ॥ ३ ॥

उस दिव्य रथपर बैठे हुए किरीटधारी अर्जुन स्पष्ट दिखायी देने लगे । उनके कण्ठमें दिव्य हार शोभा पा रहा था और उन्होंने स्वर्गलोकके नूतन आभूषण धारण कर रक्खे थे । उस समय धनंजयका प्रभाव वज्रधारी इन्द्रके समान जान पड़ता था । वे अपनी दिव्य कान्तिसे प्रकाशित होते हुए गन्धमादन पर्वतपर आ पहुँचे ॥ ३ ॥

स शैलमासाद्य किरीटमाली
महेन्द्रवाहादवरुह्य तस्मात् ।
धौम्यस्य पादावभिवाद्य धीमा-
नजातशत्रोस्तदनन्तरं च ॥ ४ ॥
वृकोदरस्यापि च वन्द्यपादौ
माद्रीसुताभ्यामभिवादितश्च ।
समेत्य कृष्णां परिसान्त्व्य चैनां
प्रह्वोऽभवद् भ्रातुरुपह्वरे सः ॥ ५ ॥

पर्वतपर पहुँचकर बुद्धिमान् किरीटधारी अर्जुन देवराज इन्द्रके उस दिव्य रथसे उतर पड़े । उस समय सबसे पहले उन्होंने



महर्षि धौम्यके दोनों चरणोंमें मस्तक झुकाया । तदनन्तर अजातशत्रु युधिष्ठिर तथा भीमसेनके चरणोंमें प्रणाम किया । इसके बाद नकुल और सहदेवने आकर अर्जुनको प्रणाम किया । तत्पश्चात् द्रौपदीसे मिलकर अर्जुनने उसे बहुत आश्वासन दिया और अपने भाई युधिष्ठिरके समीप आकर वे विनीत भावसे खड़े हो गये ॥ ४-५ ॥

बभूव तेषां परमः प्रहर्ष-
स्तेनाप्रमेयेण समागतानाम् ।
स चापि तान् प्रेक्ष्य किरीटमाली
ननन्द राजानमभिप्रशंसन् ॥ ६ ॥

अप्रमेय वीर अर्जुनसे मिलकर सब पाण्डवोंको बड़ा हर्ष हुआ । अर्जुन भी उन सबसे मिलकर बड़े प्रसन्न हुए तथा राजा युधिष्ठिरकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ६ ॥

यमास्थितः सप्त जघान पूगान्
दितेः सुतानां नमुचेर्निहन्ता ।
तमिन्द्रवाहं समुपेत्य पार्थाः
प्रदक्षिणं चक्रुरदीनसत्त्वाः ॥ ७ ॥



स्वर्गसे लौटकर अर्जुन धर्मराजको प्रणाम कर रहे हैं

नमुचिनाशक इन्द्रने जिसपर बैठकर दैत्योंके सात यूथोंका संहार किया था, उस इन्द्ररथके समीप जाकर उदार हृदयवाले कुन्तीपुत्रोंने उसकी परिक्रमा की ॥ ७ ॥

ते मातलेश्चक्रुरतीव हृष्टाः
सत्कारमग्र्यं सुरराजतुल्यम् ।
सर्वान् यथावच्च दिवौकसस्ते
पप्रच्छुरेनं कुरुराजपुत्राः ॥ ८ ॥

साथ ही, उन्होंने अत्यन्त हर्षमें भरकर मातलिका देवराज इन्द्रके समान सर्वोत्तम विधिसे सत्कार किया । इसके बाद उन पाण्डवोंने मातलिसे सम्पूर्ण देवताओंका यथावत् कुशल-समाचार पूछा ॥ ८ ॥

तानप्यसौ मातलिरभ्यनन्दत्
पितेव पुत्राननुशिष्य पार्थान् ।
ययौ रथेनाप्रतिमप्रभेण
पुनः सकाशं त्रिदिवेश्वरस्य ॥ ९ ॥

मातलिने भी पाण्डवोंका अभिनन्दन किया और जैसे पिता पुत्रको उपदेश देता है, उसी प्रकार पाण्डवोंको कर्तव्यकी शिक्षा देकर वे पुनः अपने अनुपम कान्तिशाली रथके द्वारा स्वर्गलोकके स्वामी इन्द्रके समीप चले गये ॥ ९ ॥

गते तु तस्मिन् नरदेववर्यः
शक्रात्मजः शक्ररिपुप्रमाथी ।
(साक्षात् सहस्राक्ष इव प्रतीतः
श्रीमान् स्वदेहादवमुच्य जिष्णुः ।)
शक्रेण दत्तानि ददौ महात्मा
महाधनान्युत्तमरूपवन्ति ॥ १० ॥
दिवाकराभाणि विभूषणानि
प्रियः प्रियायै सुतसोममात्रे ।

मातलिके चले जानेपर इन्द्रशत्रुओंका संहार करनेवाले देवेन्द्रकुमार नृपश्रेष्ठ महात्मा श्रीमान् अर्जुनने, जो साक्षात् सहस्रलोचन इन्द्रके समान प्रतीत होते थे, अपने शरीरसे उतारकर इन्द्रके दिये हुए बहुमूल्य, उत्तम तथा सूर्यके समान देदीप्यमान दिव्य आभूषण अपनी प्रियतमा सुतसोमकी माता द्रौपदीको समर्पित कर दिये ॥ १०½ ॥

ततः स तेषां कुरुपुङ्गवानां
तेषां च सूर्याग्निसमप्रभाणाम् ॥ ११ ॥
विप्रर्षभाणामुपविश्य मध्ये
सर्वं यथावत् कथयांबभूव ।
एवं मयास्त्राण्युपशिक्षितानि
शक्राच्च वाताच्च शिवाच्च साक्षात् ॥ १२ ॥

तदनन्तर उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवों तथा सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी ब्रह्मर्षियोंके बीचमें बैठकर अर्जुनने अपना सब समाचार यथावत् रूपसे कह सुनाया । 'मैंने अमुक प्रकारसे इन्द्र, वायु और साक्षात् शिवसे दिव्यास्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की है ॥ ११-१२ ॥

तथैव शीलेन समाधिनाथ
प्रीताः सुरा मे सहिताः सहेन्द्राः ।
संक्षेपतो वै स विशुद्धकर्मा
तेभ्यः समाख्याय दिवि प्रवासम् ॥ १३ ॥
माद्रीसुताभ्यां सहितः किरीटी
सुष्वाप तामावसतिं प्रतीतः ॥ १४ ॥

'मेरे शील-स्वभाव तथा चित्तकी एकाग्रतासे इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता मुझपर बहुत प्रसन्न रहते थे ।' निर्दोष कर्म करनेवाले अर्जुनने अपने स्वर्गीय प्रवासका सब समाचार उन सबको संक्षेपसे बताकर नकुल-सहदेवके साथ निश्चिन्त होकर उस आश्रममें शयन किया ॥ १३-१४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वण्यर्जुनसमागमे पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें अर्जुनसमागमविषयक एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर १४½ श्लोक हैं)

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्रका पाण्डवोंके पास आना और युधिष्ठिरको सान्त्वना देकर स्वर्गको लौटना

वैशम्पायन उवाच

ततो रजन्यां व्युष्टायां धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरवन्दत धनंजयः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर रात बीतनेपर प्रातःकाल उठकर समस्त भाइयोंसहित अर्जुनने धर्मराज युधिष्ठिरको प्रणाम किया ॥ १ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सर्ववादित्रनिःस्वनः ।
बभूव तुमुलः शब्दस्त्वन्तरिक्षे दिवौकसाम् ॥ २ ॥

इसी समय अन्तरिक्षमें देवताओंके सम्पूर्ण वाद्योंकी तुमुल ध्वनि गूँज उठी ॥ २ ॥

रथनेमिस्वनश्चैव घण्टाशब्दश्च भारत ।
पृथग् व्यालमृगाणां च पक्षिणामिव सर्वशः ॥ ३ ॥

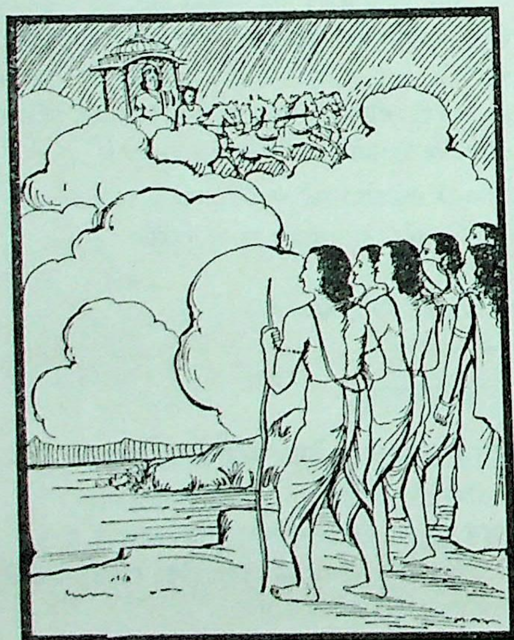
भारत ! रथके पहियोंकी घर्घराहट, घंटानाद तथा सर्प, मृग एवं पक्षियोंके कोलाहल सब ओर पृथक्-पृथक् सुनायी दे रहे थे ॥ ३ ॥

(रवोन्मुखास्ते ददृशुः प्रीयमाणाः कुरूद्वहाः ।
मरुद्भिरन्वितं शक्रमापतन्तं विहायसा ॥)
ते समन्तादनुययुर्गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
विमानैः सूर्यसंकाशैर्देवराजमरिंदमम् ॥ ४ ॥

पाण्डवोंने प्रसन्नतापूर्वक उस ध्वनिकी ओर आँख उठाकर देखा, तो उन्हें देवराज इन्द्र दृष्टिगोचर हुए जो सम्पूर्ण मरुद्गण आदि देवताओंके साथ आकाशमार्गसे आ रहे थे। गन्धर्वों और अप्सराओंके समूह सूर्यके समान तेजस्वी विमानोंद्वारा शत्रुदमन देवराजको चारों ओरसे घेरकर उन्हींके पथका अनुसरण कर रहे थे ॥ ४ ॥

ततः स हरिभिर्युक्तं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।
मेघनादिनमारुह्य श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ५ ॥
पार्थानभ्याजगामाथ देवराजः पुरंदरः ।

थोड़ी ही देरमें हरे रंगके घोड़ोंसे जुते हुए, मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर घोष करनेवाले, जाम्बूनद नामक सुवर्णसे अलंकृत रथपर आरूढ़ देवराज इन्द्र पाण्डवोंके पास आ पहुँचे। उस समय वे अपनी उत्कृष्ट प्रभासे अत्यन्त उद्भासित हो रहे थे ॥ ५½ ॥



आगत्य च सहस्राक्षो रथादवरुरोह वै ॥ ६ ॥

तं दृष्ट्वैव महात्मानं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् देवराजमुपागमत् ॥ ७ ॥

निकट आनेपर सहस्रलोचन इन्द्र रथसे उतर गये। उन महामना देवराजको देखते ही भाइयोंसहित श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर उनके पास गये ॥ ६-७ ॥

पूजयामास चैवाथ विधिवद् भूरिदक्षिणः ।
यथार्हममितात्मानं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ८ ॥

यज्ञोंमें प्रचुर दक्षिणा देनेवाले युधिष्ठिरने शास्त्रवर्णित पद्धतिसे अमितबुद्धि इन्द्रका विधिवत् स्वागत-सत्कार किया ॥

धनंजयश्च तेजस्वी प्रणिपत्य पुरंदरम् ।
भृत्यवत् प्रणतस्तस्थौ देवराजसमीपतः ॥ ९ ॥

तेजस्वी अर्जुन भी इन्द्रको प्रणाम करके उनके समीप सेवककी भाँति विनीत भावसे खड़े हो गये ॥ ९ ॥

आप्यायत महातेजाः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
धनंजयमभिप्रेक्ष्य विनीतं स्थितमन्तिके ॥ १० ॥
जटिलं देवराजस्य तपोयुक्तमकल्मषम् ।
हर्षेण महताऽऽविष्टः फाल्गुनस्याथ दर्शनात् ॥ ११ ॥

महातेजस्वी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अर्जुनको देवराजके समीप विनीतभावसे स्थित देख बड़े प्रसन्न हुए। अर्जुनके सिरपर जटा बँध गयी थी। वे देवराजके आदेशके अनुसार तपस्यामें लगे रहते थे; अतः सर्वथा निष्पाप हो गये थे। अर्जुनको देखनेसे उन्हें महान् हर्ष हुआ था ॥ १०-११ ॥

बभूव परमप्रीतो देवराजं च पूजयन् ।
तं तथादीनमनसं राजानं हर्षसम्प्लुतम् ॥ १२ ॥
उवाच वचनं धीमान् देवराजः पुरंदरः ।
त्वमिमां पृथिवीं राजन् प्रशासिष्यसि पाण्डव ।
स्वस्ति प्राप्नुहि कौन्तेय काम्यकं पुनराश्रमम् ॥ १३ ॥

अतः देवराजका पूजन करके वे बड़े प्रसन्न हुए। उदारचित्त राजा युधिष्ठिरको इस प्रकार हर्षमें मग्न देखकर परम बुद्धिमान् देवराज इन्द्रने कहा—'पाण्डुनन्दन ! तुम इस पृथ्वीका शासन करोगे। कुन्तीकुमार ! अब तुम पुनः काम्यक वनके कल्याणकारी आश्रममें चले जाओ ॥ १२-१३ ॥

अस्त्राणि लब्धानि च पाण्डवेन
सर्वाणि मत्तः प्रयतेन राजन् ।
कृतप्रियश्चास्मि धनंजयेन
जेतुं न शक्यस्त्रिभिरेष लोकैः ॥ १४ ॥

'राजन् ! पाण्डुनन्दन अर्जुनने एकाग्रचित्त होकर मुझसे सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिये हैं। साथ ही इन्होंने मेरा बड़ा प्रिय कार्य सम्पन्न किया है। तीनों लोकोंके समस्त प्राणी इन्हें युद्धमें परास्त नहीं कर सकते' ॥ १४ ॥

एवमुक्त्वा सहस्राक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
जगाम त्रिदिवं हृष्टः स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर इन्द्र महर्षियोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए सानन्द स्वर्गलोकको चले गये ॥ १५ ॥

धनेश्वरगृहस्थानां पाण्डवानां समागमम्।
शक्रेण य इदं विद्वानधीयीत समाहितः ॥ १६ ॥

संवत्सरं ब्रह्मचारी नियतः संशितव्रतः।
स जीवेद्धि निराबाधः स सुखी शरदां शतम् ॥ १७ ॥

धनाध्यक्ष कुबेरके घरमें टिके हुए पाण्डवोंका जो इन्द्रके साथ समागम हुआ था, उस प्रसङ्गको जो विद्वान् एकाग्रचित्त होकर प्रतिदिन पढ़ता है और संयम-नियमसे रहकर कठोर व्रतका आश्रय ले एक वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन करता है, वह सब प्रकारकी बाधाओंसे रहित हो सौ वर्षोंतक सुखपूर्वक जीवन धारण करता है ॥ १६-१७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि इन्द्रागमने षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें इन्द्रागमनविषयक एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १८ श्लोक हैं)

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा अपनी तपस्या-यात्राके वृत्तान्तका वर्णन, भगवान् शिवके साथ संग्राम और पाशुपतास्त्र-प्राप्तिकी कथा

वैशम्पायन उवाच

यथागतं गते शक्रे भ्रातृभिः सह सङ्गतः।
कृष्णया चैव बीभत्सुर्धर्मपुत्रमपूजयत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवराज इन्द्रके चले जानेपर भाइयों तथा द्रौपदीके साथ मिलकर अर्जुनने धर्मपुत्र युधिष्ठिरको प्रणाम किया ॥ १ ॥

अभिवादयमानं तं मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डवम्।
हर्षगद्गदया वाचा प्रहृष्टोऽर्जुनमब्रवीत् ॥ २ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनको प्रणाम करते देख युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए एवं उनका मस्तक सूँघकर हर्षगद्गद वाणीमें इस प्रकार बोले—॥ २ ॥

कथमर्जुन कालोऽयं स्वर्गे व्यतिगतस्तव।
कथं चास्त्राण्यवाप्तानि देवराजश्च तोषितः ॥ ३ ॥

'अर्जुन ! स्वर्गमें तुम्हारा यह समय किस प्रकार बीता ? कैसे तुमने दिव्यास्त्र प्राप्त किये और कैसे देवराज इन्द्रको संतुष्ट किया ? ॥ ३ ॥

सम्यग् वा ते गृहीतानि कच्चिदस्त्राणि पाण्डव।
कच्चित् सुराधिपः प्रीतो रुद्रो वास्त्राण्यदाद् तव ॥ ४ ॥

'पाण्डुनन्दन ! क्या तुमने सभी अस्त्र अच्छी तरह सीख लिये ? क्या देवराज इन्द्र अथवा भगवान् रुद्रने प्रसन्न होकर तुम्हें अस्त्र प्रदान किये हैं ? ॥ ४ ॥

यथा दृष्टश्च ते शक्रो भगवान् वा पिनाकधृक्।
यथैवास्त्राण्यवाप्तानि यथैवाराधितश्च ते ॥ ५ ॥

यथोक्तवांस्त्वां भगवान् शतक्रतुररिंदम।
कृतप्रियस्त्वयासीति तस्य ते किं प्रियं कृतम् ॥ ६ ॥

'शत्रुदमन ! तुमने जिस प्रकार देवराज इन्द्रका दर्शन किया है अथवा जैसे पिनाकधारी भगवान् शिवको देखा है, जिस प्रकार तुमने सब अस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की है और जैसे तुम्हारेद्वारा देवाराधनका कार्य सम्पादित हुआ है, वह सब बताओ। भगवान् इन्द्रने अभी-अभी कहा था कि 'अर्जुनने मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य सम्पन्न किया है' सो वह उनका कौन-सा प्रिय कार्य था, जिसे तुमने सम्पन्न किया है ? ॥ ५-६ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महाद्युते।
यथा तुष्टो महादेवो देवराजस्तथानघ ॥ ७ ॥
यच्चापि वज्रपाणेस्तु प्रियं कृतमरिंदम।
एतदाख्याहि मे सर्वमखिलेन धनंजय ॥ ८ ॥

'महातेजस्वी वीर ! मैं ये सब बातें विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। शत्रुओंका दमन करनेवाले निष्पाप अर्जुन ! जिस प्रकार तुम्हारे ऊपर महादेवजी तथा देवराज इन्द्र संतुष्ट हुए और वज्रधारी इन्द्रका जो प्रिय कार्य तुमने सम्पन्न किया है, वह सब पूर्णरूपसे बताओ' ॥ ७-८ ॥

अर्जुन उवाच

शृणु हन्त महाराज विधिना येन दृष्टवान्।
शतक्रतुमहं देवं भगवन्तं च शङ्करम् ॥ ९ ॥
विद्यामधीत्य तां राजस्त्वयोक्तामरिमर्दन।
भवता च समादिष्टस्तपसे प्रस्थितो वनम् ॥ १० ॥

अर्जुन बोले—महाराज ! मैंने जिस विधिसे देवराज इन्द्र तथा भगवान् शङ्करका दर्शन किया था, वह सब बतलाता हूँ, सुनिये ! शत्रुओंका मर्दन करनेवाले नरेश ! आपकी बतायी हुई विद्याको ग्रहण करके आपहीके आदेशसे मैं तपस्या करनेके लिये वनकी ओर प्रस्थित हुआ ॥ ९-१० ॥

भृगुतुङ्गमथो गत्वा काम्यकादास्थितस्तपः।
एकरात्रोषितः कश्चिदपश्यं ब्राह्मणं पथि ॥ ११ ॥

काम्यक वनसे चलकर तपस्यामें पूरी आशा रखकर मैं भृगुतुङ्ग पर्वतपर पहुँचा और वहाँ एक रात रहकर जब आगे बढ़ा, तब मार्गमें किसी ब्राह्मणदेवताका मुझे दर्शन हुआ॥

स मामपृच्छत् कौन्तेय कासि गन्ता ब्रवीहि मे।
तस्मा अवितथं सर्वमब्रुवं कुरुनन्दन ॥ १२ ॥

उन्होंने मुझसे कहा—'कुन्तीनन्दन ! कहाँ जाते हो ? मुझे ठीक-ठीक बताओ।' कुरुनन्दन ! तब मैंने उनसे सब कुछ सच-सच बता दिया ॥ १२ ॥

स तथ्यं मम तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणो राजसत्तम।
अपूजयत मां राजन् प्रीतिमांश्चाभवन्मयि ॥ १३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! ब्राह्मणदेवताने मेरी यथार्थ बातें सुनकर मेरी प्रशंसा की और मुझपर बड़े प्रसन्न हुए ॥ १३ ॥

ततो मामब्रवीत् प्रीतस्तप आतिष्ठ भारत।
तपस्वी नचिरेण त्वं द्रक्ष्यसे विबुधाधिपम् ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक कहा—'भारत ! तुम तपस्याका आश्रय लो ! तपमें प्रवृत्त होनेपर तुम्हें शीघ्र ही देवराज इन्द्रका दर्शन होगा ।' १४ ॥

ततोऽहं वचनात् तस्य गिरिमारुह्य शैशिरम्।
तपोऽतप्यं महाराज मासं मूलफलाशनः ॥ १५ ॥

महाराज ! उनके इस आदेशको मानकर मैं हिमालय पर्वतपर आरूढ़ हो तपस्यामें संलग्न हो गया और एक मासतक केवल फल-फूल खाकर रहा ॥ १५ ॥

द्वितीयश्चापि मे मासो जलं भक्षयतो गतः।
निराहारस्तृतीयेऽथ मासे पाण्डवनन्दन ॥ १६ ॥
ऊर्ध्वबाहुश्चतुर्थं तु मासमस्मि स्थितस्तदा।
न च मे हीयते प्राणस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १७ ॥

इसी प्रकार मैंने दूसरा महीना भी केवल जल पीकर बिताया। पाण्डवनन्दन ! तीसरे महीनेमें मैं पूर्णतः निराहार रहा। चौथे महीनेमें मैं ऊपरको हाथ उठाये खड़ा रहा। इतनेपर भी मेरा बल क्षीण नहीं हुआ, यह एक आश्चर्यकी-सी बात हुई ॥ १६-१७ ॥

पञ्चमे त्वथ सम्प्राप्ते प्रथमे दिवसे गते।
वराहसंस्थितं भूतं मत्समीपं समागमत् ॥ १८ ॥

पाँचवाँ महीना प्रारम्भ होनेपर जब एक दिन बीत गया, तब दूसरे दिन एक शूकररूपधारी जीव मेरे निकट आया ॥ १८॥

निघ्नन् प्रोथेन पृथिवीं विलिखंश्चरणैरपि।
सम्मार्जञ्जठरेणोर्वीं विवर्तंश्च मुहुर्मुहुः ॥ १९ ॥

वह अपनी थूथुनसे पृथ्वीपर चोट करता और पैरोंसे धरती खोदता था। बार-बार लेटकर वह अपने पेटसे वहाँकी भूमिको ऐसी स्वच्छ कर देता था, मानो उसपर झाड़ दिया गया हो ॥ १९ ॥

अनु तस्यापरं भूतं महत् कैरातसंस्थितम्।
धनुर्बाणासिमत् प्राप्तं स्त्रीगणानुगतं तदा ॥ २० ॥

उसके पीछे किरात-जैसी आकृतिमें एक महान् पुरुषका दर्शन हुआ। उसने धनुष-बाण और खड्ग ले रखे थे। उसके साथ स्त्रियोंका एक समुदाय भी था ॥ २० ॥

ततोऽहं धनुरादाय तथाक्षय्ये महेषुधी।
अताडयं शरेणाथ तद् भूतं लोमहर्षणम् ॥ २१ ॥

तब मैंने धनुष तथा अक्षय तरकस लेकर एक बाणके द्वारा उस रोमाञ्चकारी सूकरपर आघात किया ॥ २१ ॥

युगपत् तं किरातस्तु विकृष्य बलवद् धनुः।
अभ्याजघ्ने दृढतरं कम्पयन्निव मे मनः ॥ २२ ॥

साथ ही किरातने भी अपने सुदृढ़ धनुषको खींचकर उसपर गहरी चोट की, जिससे मेरा हृदय कम्पित-सा हो उठा॥

स तु मामब्रवीद् राजन् मम पूर्वपरिग्रहः।
मृगयाधर्ममुत्सृज्य किमर्थं ताडितस्त्वया ॥ २३ ॥

राजन् ! फिर वह किरात मुझसे बोला—'यह सूअर तो पहले मेरा निशाना बन चुका था, फिर तुमने आखेटके नियमको छोड़कर उसपर प्रहार क्यों किया ?' ॥ २३ ॥

एष ते निशितैर्बाणैर्दर्पं हन्मि स्थिरो भव।
स धनुष्मान् महाकायस्ततो मामभ्यभाषत ॥ २४ ॥

इतना ही नहीं उस विशालकाय एवं धनुर्धर किरातने उस समय मुझसे यह भी कहा—'अच्छा, ठहर जाओ। मैं अपने पैने बाणोंसे अभी तुम्हारा घमंड चूर-चूर किये देता हूँ' ॥ २४ ॥

ततो गिरिमिवात्यर्थमावृणोन्मां महाशरैः।
तं चाहं शरवर्षेण महता समवाकिरम् ॥ २५ ॥

ऐसा कहकर उस भीलने जैसे पर्वतपर वर्षा हो, उस प्रकार महान् बाणोंकी बौछार करके मुझे सब ओरसे ढक दिया; तब मैंने भी भारी बाणवर्षा करके उसे सब ओरसे आच्छादित कर दिया ॥ २५ ॥

ततः शरैर्दीप्तमुखैर्यन्त्रितैरनुमन्त्रितैः।
प्रत्यविध्यमहं तं तु वज्रैरिव शिलोच्चयम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर, जैसे वज्रसे पर्वतपर आघात किया जाय, उसी

प्रकार प्रज्वलित मुखवाले अभिमन्त्रित और खूब खींचकर छोड़े हुए बाणोंद्वारा मैंने उसे बार-बार घायल किया ॥ २६ ॥

तस्य तच्छतधा रूपमभवच्च सहस्रधा ।
तानि चास्य शरीराणि शरैरहमताडयम् ॥ २७ ॥

उस समय उसके सैकड़ों और सहस्रों रूप प्रकट हुए और मैंने उसके सभी शरीरोंपर बाणोंसे गहरी चोट पहुँचायी ॥

पुनस्तानि शरीराणि एकीभूतानि भारत ।
अदृश्यन्त महाराज तान्यहं व्यधमं पुनः ॥ २८ ॥

भारत ! फिर उसके वे सारे शरीर एकरूप दिखायी दिये । महाराज ! उस एकरूपमें भी मैंने उसे पुनः अच्छी तरह घायल किया ॥ २८ ॥

अणुर्बृहच्छिरा भूत्वा बृहच्चाणुशिराः पुनः ।
एकीभूतस्तदा राजन् सोऽभ्यवर्तत मां युधि ॥ २९ ॥
यदाभिभवितुं बाणैर्न च शक्नोमि तं रणे ।
ततो महास्त्रमातिष्ठं वायव्यं भरतर्षभ ॥ ३० ॥

कभी उसका शरीर तो बहुत छोटा हो जाता, परंतु मस्तक बहुत बड़ा दिखायी देता था । फिर वह विशाल शरीर धारण कर लेता और मस्तक बहुत छोटा बना लेता था । राजन् ! अन्तमें वह एक ही रूपमें प्रकट होकर युद्धमें मेरा सामना करने लगा । भरतर्षभ ! जब मैं बाणोंकी वर्षा करके भी युद्धमें उसे परास्त न कर सका, तब मैंने महान् वायव्यास्त्र-का प्रयोग किया ॥ २९-३० ॥

न चैनमशकं हन्तुं तदद्भुतमिवाभवत् ।
तस्मिन् प्रतिहते चास्त्रे विस्मयो मे महानभूत् ॥ ३१ ॥

किंतु उससे भी उसका वध न कर सका । यह एक अद्भुत-सी घटना हुई । वायव्यास्त्रके निष्फल हो जानेपर मुझे महान् आश्चर्य हुआ ॥ ३१ ॥

भूय एव महाराज सविशेषमहं ततः ।
अस्त्रपूगेन महता रणे भूतमवाकिरम् ॥ ३२ ॥

महाराज ! तब मैंने पुनः विशेष प्रयत्न करके रणभूमिमें किरातरूपधारी उस अद्भुत पुरुषपर महान् अस्त्रसमूहकी वर्षा की ॥ ३२ ॥

स्थूणाकर्णमथो जालं शरवर्षमथोल्वणम् ।
शलभास्त्रमश्मवर्षं समास्थायाहमभ्ययाम् ॥ ३३ ॥

स्थूणाकर्ण[1], वारुणास्त्र[2], भयंकर शरवर्षास्त्र[3], शलभास्त्र[4] तथा अश्मवर्ष[5] इन अस्त्रोंका सहारा ले मैं उस किरातपर टूट पड़ा ॥ ३३ ॥

जग्रास प्रसभं तानि सर्वाण्यस्त्राणि मे नृप ।
तेषु सर्वेषु जग्धेषु ब्रह्मास्त्रं महदादिशम् ॥ ३४ ॥

राजन् ! उसने मेरे उन सभी अस्त्रोंको बलपूर्वक अपना ग्रास बना लिया । उन सबके भक्षण कर लिये जानेपर मैंने महान् ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया ॥ ३४ ॥

ततः प्रज्वलितैर्बाणैः सर्वतः सोपचीयते ।
उपचीयमानश्च मया महास्त्रेण व्यवर्धत ॥ ३५ ॥

तब प्रज्वलित बाणोंद्वारा वह अस्त्र सब ओर बढ़ने लगा । मेरे महान् अस्त्रसे बढ़नेकी प्रेरणा पाकर वह ब्रह्मास्त्र अधिक वेगसे बढ़ चला ॥ ३५ ॥

ततः संतापिता लोका मत्प्रसूतेन तेजसा ।
क्षणेन हि दिशः खं च सर्वतो हि विदीपितम् ॥ ३६ ॥

तदनन्तर मेरेद्वारा प्रकट किये हुए ब्रह्मास्त्रके तेजसे वहाँके सब लोग संतप्त हो उठे । एक ही क्षणमें सम्पूर्ण दिशाएँ और आकाश सब ओरसे आगकी लपटोंसे उद्दीप्त हो उठे ॥ ३६ ॥

तदप्यस्त्रं महातेजाः क्षणेनैव व्यशातयत् ।
ब्रह्मास्त्रे तु हते राजन् भयं मां महदाविशत् ॥ ३७ ॥

परंतु उस महान् तेजस्वी वीरने क्षणभरमें ही मेरे उस ब्रह्मास्त्रको भी शान्त कर दिया । राजन् ! उस ब्रह्मास्त्रके नष्ट होनेपर मेरे मनमें महान् भय समा गया ॥ ३७ ॥

ततोऽहं धनुरादाय तथाक्षय्ये महेषुधी ।
सहसाभ्यहनं भूतं तान्यप्यस्त्राण्यभक्षयत् ॥ ३८ ॥

तब मैं धनुष और दोनों अक्षय तरकस लेकर सहसा उस दिव्य पुरुषपर आघात करने लगा, किंतु उसने उन सबको भी अपना आहार बना लिया ॥ ३८ ॥

हतेष्वस्त्रेषु सर्वेषु भक्षितेष्वायुधेषु च ।
मम तस्य च भूतस्य बाहुयुद्धमवर्तत ॥ ३९ ॥

जब मेरे सारे अस्त्र-शस्त्र नष्ट होकर उसके आहार बन गये, तब मेरा उस अलौकिक प्राणीके साथ मल्लयुद्ध प्रारम्भ हो गया ॥ ३९ ॥

व्यायामं मुष्टिभिः कृत्वा तलैरपि समागतैः ।
अपारयंश्च तद् भूतं निश्चेष्टमगमं महीम् ॥ ४० ॥

---

१. आचार्य नीलकण्ठके मतसे स्थूणाकर्ण नाम है शङ्कुकर्णका, जो भगवान् रुद्रके एक अवतार हैं । वे जिस अस्त्रके देवता हैं, उसका नाम भी स्थूणाकर्ण है ।

२. मूलमें जाल शब्द आया है, जिसका अर्थ है, जालसम्बन्धी । यह जलवर्षक अस्त्र ही वारुणास्त्र है ।

३. जैसे बादल पानीकी वर्षा करता है, उसी प्रकार निरन्तर बाणवर्षा करनेवाला अस्त्र शरवर्ष कहलाता है ।

४. जैसे असंख्य टिड्डियाँ आकाशमें मँडराती और पौदोंपर टूट पड़ती हैं, उसी प्रकार जिस अस्त्रसे असंख्य बाण आकाशको आच्छादित करते और शत्रुको अपना लक्ष्य बनाते हैं, उसीका नाम शलभास्त्र है ।

५. पत्थरोंकी वर्षा करनेवाले अस्त्रको अश्मवर्ष कहते हैं ।

ततः प्रहस्य तद् भूतं तत्रैवान्तरधीयत ।
सह स्त्रीभिर्महाराज पश्यतो मेऽद्भुतोपमम् ॥ ४१ ॥

पहले मुक्कों और थप्पड़ोंसे मैंने उससे टक्कर लेनेकी चेष्टा की, परंतु उसपर मेरा कोई वश नहीं चला और मैं निश्चेष्ट होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । महाराज ! तब वह अलौकिक प्राणी हँसकर मेरे देखते-देखते स्त्रियोंसहित वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ ४०-४१ ॥

एवं कृत्वा स भगवांस्ततोऽन्यद् रूपमास्थितः ।
दिव्यमेव महाराज वसानोऽद्भुतमम्बरम् ॥ ४२ ॥
हित्वा किरातरूपं च भगवांस्त्रिदशेश्वरः ।
स्वरूपं दिव्यमास्थाय तस्थौ तत्र महेश्वरः ॥ ४३ ॥

राजन् ! वास्तवमें वे भगवान् शङ्कर थे । उन्होंने पूर्वोक्त बर्ताव करके दूसरा रूप धारण कर लिया । देवताओंके स्वामी भगवान् महेश्वर किरातरूप छोड़कर दिव्य स्वरूपका आश्रय ले अलौकिक एवं अद्भुत वस्त्र धारण किये वहाँ खड़े हो गये ॥ ४२-४३ ॥

अदृश्यत ततः साक्षाद् भगवान् गोवृषध्वजः ।
उमासहायो व्यालधृग् बहुरूपः पिनाकधृक् ॥ ४४ ॥
स मामभ्येत्य समरे तथैवाभिमुखं स्थितम् ।
शूलपाणिरथोवाच तुष्टोऽस्मीति परंतप ॥ ४५ ॥

इस प्रकार उमासहित साक्षात् भगवान् वृषभध्वजका दर्शन हुआ । उन्होंने अपने अङ्गोंमें सर्प और हाथमें पिनाक धारण कर रक्खे थे । अनेक रूपधारी भगवान् शूलपाणि उस रणभूमिमें मेरे निकट आकर पूर्ववत् सामने खड़े हो गये और बोले—'परंतप ! मैं तुमपर संतुष्ट हूँ' ॥ ४४-४५ ॥

ततस्तद् धनुरादाय तूणौ चाक्षय्यसायकौ ।
प्रादान्ममैव भगवान् धारयस्वेति चाब्रवीत् ॥ ४६ ॥
तुष्टोऽस्मि तव कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यत् ते मनोगतं वीर तद् ब्रूहि वितराम्यहम् ॥ ४७ ॥
अमरत्वमपाहाय ब्रूहि यत् ते मनोगतम् ।

तदनन्तर मेरे धनुष और अक्षय बाणोंसे भरे हुए दोनों तरकस लेकर भगवान् शिवने मुझे ही दे दिये और कहा—'परंतप ! ये अपने अस्त्र ग्रहण करो ।' कुन्तीकुमार ! मैं तुमसे संतुष्ट हूँ । बोलो, तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ ? वीर ! तुम्हारे मनमें जो कामना हो, बताओ । मैं उसे पूर्ण कर दूँगा । अमरत्वको छोड़कर और तुम्हारे मनमें जो भी कामना हो, बताओ' ॥ ४६-४७½ ॥

ततः प्राञ्जलिरेवाहमस्त्रेषु गतमानसः ॥ ४८ ॥
प्रणम्य मनसा शर्वं ततो वचनमाददे ।
भगवान् मे प्रसन्नश्चेदीप्सितोऽयं वरो मम ॥ ४९ ॥
अस्त्राणीच्छाम्यहं ज्ञातुं यानि देवेषु कानिचित् ।
ददानीत्येव भगवानब्रवीत् त्र्यम्बकश्च माम् ॥ ५० ॥

मेरा मन तो अस्त्र-शस्त्रोंमें लगा हुआ था । उस समय मैंने हाथ जोड़कर मन-ही-मन भगवान् शङ्करको प्रणाम किया और यह बात कही—'यदि मुझपर भगवान् प्रसन्न हैं, तो मेरा मनोवाञ्छित वर इस प्रकार है—देवताओंके पास जो कोई भी दिव्यास्त्र हैं, उन्हें मैं जानना चाहता हूँ ।' यह सुनकर भगवान् शङ्करने मुझसे कहा—'पाण्डुनन्दन ! मैं तुम्हें सम्पूर्ण दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिका वर देता हूँ ॥ ४८-५० ॥

रौद्रमस्त्रं मदीयं त्वामुपस्थास्यति पाण्डव ।
प्रददौ च मम प्रीतः सोऽस्त्रं पाशुपतं महत् ॥ ५१ ॥

'पाण्डुकुमार ! मेरा रौद्रास्त्र स्वयं तुम्हें प्राप्त हो जायगा ।' यह कहकर भगवान् पशुपतिने बड़ी प्रसन्नताके साथ मुझे अपना महान् पाशुपतास्त्र प्रदान किया ॥ ५१ ॥

उवाच च महादेवो दत्त्वा मेऽस्त्रं सनातनम् ।
न प्रयोज्यं भवेदेतन्मानुषेषु कथञ्चन ॥ ५२ ॥

अपना सनातन अस्त्र मुझे देकर महादेवजी फिर बोले—'तुम्हें मनुष्योंपर किसी प्रकार इस अस्त्रका प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ ५२ ॥

जगद् विनिर्दहेदेवमल्पतेजसि पातितम् ।
पीड्यमानेन बलवत् प्रयोज्यं स्याद् धनंजय ॥ ५३ ॥
अस्त्राणां प्रतिघाते च सर्वथैव प्रयोजयेत् ।

'अपनेसे अल्पशक्तिवाले विपक्षीपर यदि इसका प्रहार किया जाय, तो यह सम्पूर्ण विश्वको दग्ध कर देगा । धनंजय ! जब शत्रुके द्वारा अपनेको बहुत पीड़ा प्राप्त होने लगे, उस दशामें आत्मरक्षाके लिये इसका प्रयोग करना चाहिये । शत्रुके अस्त्रोंका विनाश करनेके लिये सर्वथा इसका प्रयोग उचित है' ॥

तदप्रतिहतं दिव्यं सर्वास्त्रप्रतिषेधनम् ॥ ५४ ॥
मूर्तिमन्मे स्थितं पार्श्वे प्रसन्ने गोवृषध्वजे ।

इस प्रकार भगवान् वृषभध्वजके प्रसन्न होनेपर सम्पूर्ण अस्त्रोंका निवारण करनेवाला और कहीं भी कुण्ठित न होनेवाला दिव्य पाशुपतास्त्र मूर्तिमान् हो मेरे पास आकर खड़ा हो गया ॥ ५४½ ॥

उत्सादनममित्राणां परसेनानिकर्तनम् ॥ ५५ ॥
दुरासदं दुष्प्रसहं सुरदानवराक्षसैः ।
अनुज्ञातस्त्वहं तेन तत्रैव समुपाविशम् ॥ ५६ ॥
प्रेक्षतश्चैव मे देवस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ५७ ॥

वह शत्रुओंका संहारक और विपक्षियोंकी सेनाका

विध्वंसक है । उसकी प्राप्ति बहुत कठिन है । देवता, दानव तथा राक्षस किसीके लिये भी उसका वेग सहन करना अत्यन्त कठिन है । फिर भगवान् शिवकी आज्ञा होनेपर मैं वहीं बैठ गया और वे मेरे देखते-देखते अन्तर्धान हो गये ॥५५-५७॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि गन्धमादनवासे युधिष्ठिरार्जुनसंवादे सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें गन्धमादननिवासकालिक युधिष्ठिर-अर्जुन-संवादविषयक एक सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६७ ॥

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा स्वर्गलोकमें अपनी अस्त्रशिक्षा और निवातकवच दानवोंके साथ युद्धकी तैयारीका कथन

अर्जुन उवाच

ततस्तामवसं प्रीतो रजनीं तत्र भारत ।
प्रसादाद् देवदेवस्य त्र्यम्बकस्य महात्मनः ॥ १ ॥

अर्जुन कहते हैं—भारत ! देवाधिदेव परमात्मा भगवान् त्रिलोचनके कृपाप्रसादसे मैंने प्रसन्नतापूर्वक वह रात वहीं व्यतीत की ॥ १ ॥

व्युषितो रजनीं चाहं कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः ।
अपश्यं तं द्विजश्रेष्ठं दृष्टवानस्मि यं पुरा ॥ २ ॥

सबेरा होनेपर पूर्वाह्नकालकी क्रिया पूरी करके मैंने पुनः उन्हीं श्रेष्ठ ब्राह्मणको अपने समक्ष पाया, जिनका दर्शन मुझे पहले भी हो चुका था ॥ २ ॥

तस्मै चाहं यथावृत्तं सर्वमेव न्यवेदयम् ।
भगवन्तं महादेवं समेतोऽस्मीति भारत ॥ ३ ॥

भरतकुलभूषण ! उनसे मैंने अपना सारा वृत्तान्त यथावत् कह सुनाया और बताया कि 'मैं भगवान् महादेवजीसे मिल चुका हूँ' ॥

स मामुवाच राजेन्द्र प्रीयमाणो द्विजोत्तमः ।
दृष्टस्त्वया महादेवो यथा नान्येन केनचित् ॥ ४ ॥

राजेन्द्र ! तब वे विप्रवर बड़े प्रसन्न होकर मुझसे बोले— 'कुन्तीकुमार ! जिस प्रकार तुमने महादेवजीका दर्शन किया है, वैसा दर्शन और किसीने नहीं किया है ॥ ४ ॥

समेत्य लोकपालैस्तु सर्वैर्वैवस्वतादिभिः ।
द्रष्टास्यनघ देवेन्द्रं स च तेऽस्त्राणि दास्यति ॥ ५ ॥

'अनघ ! अब तुम यम आदि सम्पूर्ण लोकपालोंके साथ देवराज इन्द्रका दर्शन करोगे और वे भी तुम्हें अस्त्र प्रदान करेंगे' ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा स मां राजन्नाश्लिष्य च पुनः पुनः ।
अगच्छत् स यथाकामं ब्राह्मणः सूर्यसंनिभः ॥ ६ ॥

राजन् ! ऐसा कहकर सूर्यके समान तेजस्वी ब्राह्मण देवताने मुझे बार-बार हृदयसे लगाया और फिर वे इच्छानुसार अपने अभीष्ट स्थानको चले गये ॥ ६ ॥

अथापराह्णे तस्याह्नः प्रावात् पुण्यः समीरणः ।
पुनर्नवमिमं लोकं कुर्वन्निव सपत्नहन् ॥ ७ ॥
दिव्यानि चैव माल्यानि सुगन्धीनि नवानि च ।
शैशिरस्य गिरेः पादे प्रादुरासन् समीपतः ॥ ८ ॥

शत्रुविजयी नरेश ! तदनन्तर जब वह दिन ढलने लगा, तब पुनः इस जगत्में नूतन जीवनका संचार-सा करती हुई पवित्र वायु चलने लगी और उस हिमालयके पार्श्ववर्ती प्रदेशमें दिव्य, नवीन और सुगन्धित पुष्पोंकी वर्षा होने लगी ॥ ७-८ ॥

वादित्राणि च दिव्यानि सुघोराणि समन्ततः ।
स्तुतयश्चेन्द्रसंयुक्ता अश्रूयन्त मनोहराः ॥ ९ ॥

चारों ओर अत्यन्त भयंकर प्रतीत होनेवाले दिव्य वाद्यों और इन्द्रसम्बन्धी स्तोत्रोंके मनोहर शब्द सुनायी देने लगे ॥

गणाश्चाप्सरसां तत्र गन्धर्वाणां तथैव च ।
पुरस्ताद् देवदेवस्य जगुर्गीतानि सर्वशः ॥ १० ॥

सब गन्धर्वों और अप्सराओंके समूह वहाँ देवराज इन्द्रके आगे रहकर गीत गा रहे थे ॥ १० ॥

मरुतां च गणास्तत्र देवयानैरुपागमन् ।
महेन्द्रानुचरा ये च ये च सद्मनिवासिनः ॥ ११ ॥

देवताओंके अनेक गण भी दिव्य विमानोंपर बैठकर वहाँ आये थे । जो महेन्द्रके सेवक थे और जो इन्द्रभवनमें ही निवास करते थे, वे भी वहाँ पधारे ॥ ११ ॥

ततो मरुत्वान् हरिभिर्युक्तैर्वाहैः स्वलङ्कृतैः ।
शचीसहायस्तत्रायात् सह सर्वैस्तदामरैः ॥ १२ ॥

तदनन्तर थोड़ी ही देरमें विविध आभूषणोंसे विभूषित हरे रंगके घोड़ोंसे जुते हुए एक सुन्दर रथके द्वारा शचीसहित इन्द्रने सम्पूर्ण देवताओंके साथ वहाँ पदार्पण किया ॥ १२ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु कुबेरो नरवाहनः ।
दर्शयामास मां राजँल्लक्ष्म्या परमया युतः ॥ १३ ॥

राजन् ! इसी समय सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य-लक्ष्मीसे सम्पन्न नरवाहन कुबेरने भी मुझे दर्शन दिया ॥ १३ ॥

दक्षिणस्यां दिशि यमं प्रत्यपश्यं व्यवस्थितम् ।
वरुणं देवराजं च यथास्थानमवस्थितम् ॥ १४ ॥

दक्षिण दिशाकी ओर दृष्टिपात करनेपर मुझे साक्षात् यमराज खड़े दिखायी दिये । वरुण और देवराज इन्द्र भी क्रमशः पश्चिम और पूर्व दिशामें यथास्थान खड़े हो गये ॥

ते मामूचुर्महाराज सान्त्वयित्वा नरर्षभ ।
सव्यसाचिन् निरीक्षास्माँल्लोकपालानवस्थितान् ॥ १५ ॥

महाराज ! नरश्रेष्ठ ! उन सब लोकपालोंने मुझे सान्त्वना देकर कहा—'सव्यसाची अर्जुन ! देखो, हम सब लोकपाल यहाँ खड़े हैं ॥ १५ ॥

सुरकार्यार्थसिद्ध्यर्थं दृष्टवानसि शङ्करम् ।
अस्मत्तोऽपि गृहाण त्वमस्त्राणीति समन्ततः ॥ १६ ॥

'देवताओंके कार्यकी सिद्धिके लिये ही तुम्हें भगवान् शंकरका दर्शन प्राप्त हुआ था । अब तुम चारों ओर घूमकर हमलोगोंसे भी दिव्यास्त्र ग्रहण करो' ॥ १६ ॥

ततोऽहं प्रयतो भूत्वा प्रणिपत्य सुरर्षभान् ।
प्रत्यगृह्णं तदास्त्राणि महान्ति विधिवद् विभो ॥ १७ ॥

प्रभो ! तब मैंने एकाग्रचित्त हो उन उत्तम देवताओंको प्रणाम करके उन सबसे विधिपूर्वक महान् दिव्यास्त्र प्राप्त किये ॥ १७ ॥

गृहीतास्त्रस्ततो देवैरनुज्ञातोऽस्मि भारत ।
अथ देवा ययुः सर्वे यथागतमरिंदम ॥ १८ ॥

भारत ! जब मैं अस्त्र ग्रहण कर चुका, तब देवताओंने मुझे जानेकी आज्ञा दी । शत्रुदमन ! तदनन्तर सब देवता जैसे आये थे, वैसे अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ १८ ॥

मघवानपि देवेशो रथमारुह्य सुप्रभम् ।
उवाच भगवान् स्वर्गं गन्तव्यं फाल्गुन त्वया ॥ १९ ॥

देवेश्वर भगवान् इन्द्रने भी अपने अत्यन्त प्रकाशपूर्ण रथपर आरूढ़ हो मुझसे कहा—'अर्जुन ! तुम्हें स्वर्गलोककी यात्रा करनी होगी ॥ १९ ॥

पुरैवागमनादस्माद् वेदाहं त्वां धनंजय ।
अतः परं त्वहं वै त्वां दर्शये भरतर्षभ ॥ २० ॥

'भरतश्रेष्ठ धनंजय ! यहाँ आनेसे पहले ही मुझे तुम्हारे विषयमें सब कुछ ज्ञात हो गया था । इसके बाद मैंने तुम्हें दर्शन दिया है ॥ २० ॥

त्वया हि तीर्थेषु पुरा समाप्लावः कृतोऽसकृत् ।
तपश्चेदं महत् तप्तं स्वर्गं गन्तासि पाण्डव ॥ २१ ॥

'पाण्डुनन्दन ! तुमने पहले अनेक बार बहुत-से तीर्थोंमें स्नान किया है और इस समय इस महान् तपका भी अनुष्ठान कर लिया है, अतः तुम स्वर्गलोकमें सशरीर जानेके अधिकारी हो गये हो ॥ २१ ॥

भूयश्चैव च तप्तव्यं तपश्चरणमुत्तमम् ।
स्वर्गे त्ववश्यं गन्तव्यं त्वया शत्रुनिषूदन ॥ २२ ॥

'शत्रुसूदन ! अभी तुम्हें और भी उत्तम तपस्या करनी है और स्वर्गलोकमें अवश्य पदार्पण करना है ॥ २२ ॥

मातलिर्मन्नियोगात् त्वां त्रिदिवं प्रापयिष्यति ।
विदितस्त्वं हि देवानां मुनीनां च महात्मनाम् ॥ २३ ॥
इहस्थः पाण्डवश्रेष्ठ तपः कुर्वन् सुदुष्करम् ।

'मेरी आज्ञासे मातलि तुम्हें स्वर्गमें पहुँचा देगा । पाण्डवश्रेष्ठ ! यहाँ रहकर जो तुम अत्यन्त दुष्कर तप कर रहे हो, इसके कारण देवताओं तथा महात्मा मुनियोंमें तुम्हारी ख्याति बहुत बढ़ गयी है' ॥ २३½ ॥

ततोऽहमब्रुवं शक्रं प्रसीद भगवन् मम ।
आचार्यं वरयेयं त्वामस्त्रार्थं त्रिदशेश्वर ॥ २४ ॥

तब मैंने देवराज इन्द्रसे कहा—'भगवन् ! आप मुझपर प्रसन्न होइये । देवेश्वर ! मैं अस्त्रविद्याकी प्राप्तिके लिये आपको अपना आचार्य बनाता हूँ' ॥ २४ ॥

इन्द्र उवाच

क्रूरकर्मास्त्रवित् तात भविष्यसि परंतप ।
यदर्थमस्त्राणीप्सुस्त्वं तं कामं पाण्डवाप्नुहि ॥ २५ ॥

इन्द्रने कहा—परंतप तात अर्जुन ! दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर तुम भयंकर कर्म करने लगोगे । अतः पाण्डुनन्दन ! मेरी इच्छा है कि तुम जिसके लिये अस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त करना चाहते हो, तुम्हारा वह उद्देश्य पूर्ण हो ॥ २५ ॥

ततोऽहमब्रुवं नाहं दिव्यान्यस्त्राणि शत्रुहन् ।
मानुषेषु प्रयोक्ष्यामि विनास्त्रप्रतिघातनात् ॥ २६ ॥

यह सुनकर मैंने उत्तर दिया—'शत्रुघाती देवेश्वर ! मैं शत्रुओंद्वारा प्रयुक्त दिव्यास्त्रोंका निवारण करनेके सिवा अन्य किसी अवसरपर मनुष्योंके ऊपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग नहीं करूँगा ॥ २६ ॥

तानि दिव्यानि मेऽस्त्राणि प्रयच्छ विबुधाधिप ।
लोकांश्चास्त्रजितान् पश्चाल्लभेयं सुरपुङ्गव ॥ २७ ॥

'देवराज ! सुरश्रेष्ठ ! आप मुझे वे दिव्य अस्त्र प्रदान करें । अस्त्रविद्या सीखनेके पश्चात् मैं उन्हीं अस्त्रोंके द्वारा जीते हुए लोकोंपर अधिकार प्राप्त करना चाहता हूँ' ॥ २७ ॥

इन्द्र उवाच

परीक्षार्थं मयैतत् ते वाक्यमुक्तं धनंजय ।
ममात्मजस्य वचनं सूपपन्नमिदं तव ॥ २८ ॥

इन्द्र बोले—धनंजय ! मैंने तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये उपर्युक्त बात कही थी। तुमने जो अस्त्रविद्याके प्रति अत्यन्त उत्सुकता प्रकट की है, वह तुम्हारे-जैसे मेरे पुत्रके अनुरूप ही है ॥ २८ ॥

शिक्ष मे भवनं गत्वा सर्वाण्यस्त्राणि भारत।
वायोरग्नेर्वसुभ्योऽपि वरुणात् समरुद्गणात् ॥ २९ ॥
साध्यं पैतामहं चैव गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
वैष्णवानि च सर्वाणि नैर्ऋतानि तथैव च ॥ ३० ॥
मद्गतानि च जानीहि सर्वास्त्राणि कुरूद्वह।
एवमुक्त्वा तु मां शक्रस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३१ ॥

भारत ! तुम मेरे भवनमें चलकर सम्पूर्ण अस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त करो। कुरुश्रेष्ठ ! वायु, अग्नि, वसु, वरुण, मरुद्गण, साध्यगण, ब्रह्मा, गन्धर्वगण, नाग, राक्षस, विष्णु तथा निर्ऋतिके और स्वयं मेरे भी सम्पूर्ण अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करो, मुझसे ऐसा कहकर इन्द्र वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २९—३१ ॥

अथापश्यं हरियुतं रथमैन्द्रमुपस्थितम्।
दिव्यं मायामयं पुण्यं यत्तं मातलिना नृप ॥ ३२ ॥

तदनन्तर थोड़ी ही देरमें मुझे हरे रंगके घोड़ोंसे जुता हुआ देवराज इन्द्रका रथ वहाँ उपस्थित दिखायी दिया। राजन् ! वह दिव्य मायामय पवित्र रथ मातलिके द्वारा नियन्त्रित था ॥ ३२ ॥

लोकपालेषु यातेषु मामुवाचाथ मातलिः।
द्रष्टुमिच्छति शक्रस्त्वां देवराजो महाद्युते ॥ ३३ ॥

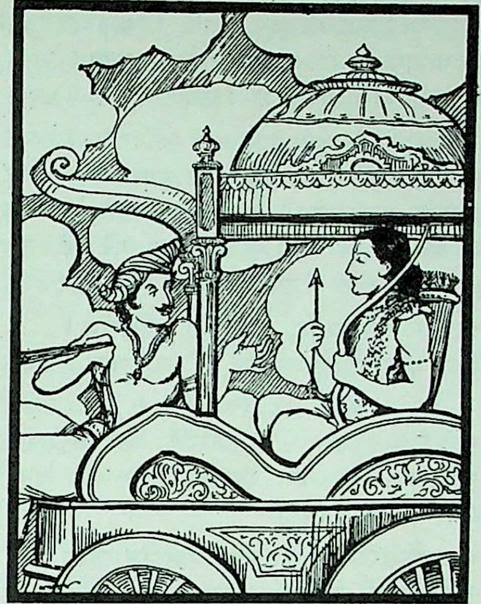
जब सभी लोकपाल चले गये, तब मातलिने मुझसे कहा—'महातेजस्वी वीर ! देवराज इन्द्र तुमसे मिलना चाहते हैं ॥ ३३ ॥

संसिद्धयस्व महाबाहो कुरु कार्यमनन्तरम्।
पश्य पुण्यकृतॉंल्लोकान् सशरीरो दिवं व्रज ॥ ३४ ॥

'महाबाहो ! तुम उनसे मिलकर कृतार्थ होओ और अब आवश्यक कार्य करो। इसी शरीरसे देवलोकमें चलो तथा पुण्यात्मा पुरुषोंके लोकोंका दर्शन करो ॥ ३४ ॥

देवराजः सहस्राक्षस्त्वां दिदृक्षति भारत।
इत्युक्तोऽहं मातलिना गिरिमामन्त्र्य शैशिरम् ॥ ३५ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य समारोहं रथोत्तमम्।

'भरतनन्दन ! सहस्र नेत्रोंवाले देवराज इन्द्र तुम्हें देखना चाहते हैं।' मातलिके ऐसा कहनेपर मैं हिमालयसे आज्ञा ले रथकी परिक्रमा करके उस श्रेष्ठ रथमें सवार हुआ ॥ ३५½ ॥



चोदयामास स हयान् मनोमारुतरंहसः ॥ ३६ ॥
मातलिर्हयतत्त्वज्ञो यथावद् भूरिदक्षिणः।

मातलि अश्वसंचालनकी कलाके मर्मज्ञ थे। सारथिके कार्यमें अत्यन्त कुशल थे। उन्होंने मन तथा वायुके समान वेगशाली अश्वोंको यथोचित रीतिसे आगे बढ़ाया ॥ ३६½ ॥

अवैक्षत च मे वक्त्रं स्थितस्याथ स सारथिः ॥ ३७ ॥
तथा भ्रान्ते रथे राजन् विस्मितश्चेदमब्रवीत्।

राजन् ! उस समय देवसारथि मातलिने आकाशमें चक्कर लगाते हुए रथपर स्थिरतापूर्वक बैठे हुए मेरे मुखकी ओर दृष्टिपात किया और आश्चर्यचकित होकर कहा— ॥ ३७½ ॥

अत्यद्भुतमिदं त्वद्य विचित्रं प्रतिभाति मे ॥ ३८ ॥
यदास्थितो रथं दिव्यं पदात्र चलितः पदम्।

'भरतश्रेष्ठ ! आज मुझे यह बड़ी विचित्र और अद्भुत बात दिखायी दे रही है कि इस दिव्य रथपर बैठकर तुम अपने स्थानसे तनिक भी हिल-डुल नहीं रहे हो ॥ ३८½ ॥

देवराजोऽपि हि मया नित्यमत्रोपलक्षितः ॥ ३९ ॥
विचलन् प्रथमोत्पाते हयानां भरतर्षभ।
त्वं पुनः स्थित एवात्र रथे भ्रान्ते कुरूद्वह ॥ ४० ॥

'कुरुकुलभूषण भरतश्रेष्ठ ! जब घोड़े पहली बार उड़ान भरते हैं' उस समय मैंने सदा यह देखा है कि देवराज इन्द्र भी विचलित हुए बिना नहीं रह पाते, परंतु तुम चक्कर काटते हुए रथपर भी स्थिर भावसे बैठे हो ॥ ३९-४० ॥

अतिशक्रमिदं सर्वं तवेति प्रतिभाति मे ।
इत्युक्त्वाऽऽकाशमाविश्य मातलिर्विबुधालयान् ॥ ४१ ॥
दर्शयामास मे राजन् विमानानि च भारत ।
स रथो हरिभिर्युक्तो ह्यूर्ध्वमाचक्रमे ततः ॥ ४२ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! तुम्हारी ये सब बातें मुझे इन्द्रसे भी बढ़कर प्रतीत हो रही हैं ।' भरतकुलभूषण नरेश ! ऐसा कहकर मातलिने अन्तरिक्षलोकमें प्रविष्ट होकर मुझे देवताओंके घरों और विमानोंका दर्शन कराया, फिर हरे रंगके घोड़ोंसे जुता हुआ वह रथ वहाँसे भी ऊपरकी ओर बढ़ चला ॥ ४१-४२ ॥

ऋषयो देवताश्चैव पूजयन्ति नरोत्तम ।
ततः कामगमाँल्लोकानपश्यं वै सुरर्षिणाम् ॥ ४३ ॥

नरश्रेष्ठ ! ऋषि और देवता भी उस रथका समादर करते थे । तदनन्तर मैंने देवर्षियोंके अनेक समुदायोंका दर्शन किया, जो अपनी इच्छाके अनुसार सर्वत्र जानेकी शक्ति रखते हैं ॥ ४३ ॥

गन्धर्वाप्सरसां चैव प्रभावममितौजसाम् ।
नन्दनादीनि देवानां वनान्युपवनानि च ॥ ४४ ॥
दर्शयामास मे शीघ्रं मातलिः शक्रसारथिः ।
ततः शक्रस्य भवनमपश्यममरावतीम् ॥ ४५ ॥
दिव्यैः कामफलैर्वृक्षै रत्नैश्च समलङ्कृताम् ।
न तत्र सूर्यस्तपति न शीतोष्णे न च क्लमः ॥ ४६ ॥

अमित तेजस्वी गन्धर्वों और अप्सराओंका प्रभाव भी मुझे प्रत्यक्ष दिखायी दिया । फिर इन्द्रसारथि मातलिने मुझे शीघ्र ही देवताओंके नन्दन आदि वन और उपवन दिखाये । तत्पश्चात् मैंने अमरावती पुरी तथा इन्द्रभवनका दर्शन किया । वह पुरी इच्छानुसार फल देनेवाले दिव्य वृक्षों तथा रत्नोंसे सुशोभित थी । वहाँ सूर्यका ताप नहीं होता, सर्दी या गर्मीका कष्ट नहीं रहता और न किसीको थकावट ही होती है ॥ ४४–४६ ॥

न बाधते तत्र रजस्तत्रास्ति न जरा नृप ।
न तत्र शोको दैन्यं वा दौर्बल्यं चोपलक्ष्यते ॥ ४७ ॥

नरेश्वर ! वहाँ रजोगुणजनित विकार नहीं सताते, बुढ़ापा नहीं आता; शोक, दीनता और दुर्बलताका दर्शन नहीं होता ॥ ४७ ॥

दिवौकसां महाराज न ग्लानिररिमर्दन ।
न क्रोधलोभौ तत्रास्तां सुरादीनां विशाम्पते ॥ ४८ ॥

महाराज ! शत्रुसूदन ! स्वर्गवासी देवताओंको कभी ग्लानि नहीं होती । उनमें क्रोध और लोभका भी अभाव होता है ॥४८॥

नित्यतुष्टाश्च ते राजन् प्राणिनः सुरवेश्मनि ।
नित्यपुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः ॥ ४९ ॥

राजन् ! स्वर्गमें निवास करनेवाले प्राणी सदा संतुष्ट रहते हैं । वहाँके वृक्ष सर्वदा फल-फूलसे सम्पन्न और हरे पत्तोंसे सुशोभित रहते हैं ॥ ४९ ॥

पुष्करिण्यश्च विविधाः पद्मसौगन्धिकायुताः ।
शीतस्तत्र ववौ वायुः सुगन्धी जीवनः शुचिः ॥ ५० ॥

वहाँ सहस्रों सौगन्धिक कमलोंसे अलङ्कृत नाना प्रकारके सरोवर शोभा पाते हैं और शीतल, पवित्र, सुगन्धित एवं नवजीवनदायक वायु सदा बहती रहती है ॥ ५० ॥

सर्वरत्नविचित्रा च भूमिः पुष्पविभूषिता ।
मृगद्विजाश्च बहवो रुचिरा मधुरस्वराः ॥ ५१ ॥
विमानगामिनश्चात्र दृश्यन्ते बहवोऽम्बरे ।
ततोऽपश्यं वसून् रुद्रान् साध्यांश्च समरुद्गणान् ॥ ५२ ॥
आदित्यानश्विनौ चैव तान् सर्वान् प्रत्यपूजयम् ।
ते मां वीर्येण यशसा तेजसा च बलेन च ॥ ५३ ॥
अस्त्रैश्चाप्यन्वजानन्त संग्रामे विजयेन च ।

वहाँकी भूमि सब प्रकारके रत्नोंसे विचित्र शोभा धारण करती है और (सब ओर बिखरे हुए) पुष्प उस भूमिके लिये आभूषणका काम देते हैं । स्वर्गलोकमें बहुत-से मनोहर पशु और पक्षी देखे जाते हैं, जिनकी बोली बड़ी मधुर प्रतीत होती है । वहाँ अनेक देवता आकाशमें विमानोंपर विचरते दिखायी देते हैं । तदनन्तर मुझे वसु, रुद्र, साध्य, मरुद्गण, आदित्य और अश्विनीकुमारोंके दर्शन हुए । मैंने उन सबके आगे मस्तक झुकाकर उनका सम्मान किया । उन सबने मुझे पराक्रमी, यशस्वी, तेजस्वी, बलवान्, अस्त्रवेत्ता और संग्राम-विजयी होनेका आशीर्वाद दिया ॥ ५१–५३½ ॥

प्रविश्य तां पुरीं दिव्यां देवगन्धर्वपूजिताम् ॥ ५४ ॥
देवराजं सहस्राक्षमुपातिष्ठं कृताञ्जलिः ।
ददावर्धासनं प्रीतः शक्रो मे ददतां वरः ॥ ५५ ॥

तत्पश्चात् देवगन्धर्वपूजित दिव्य अमरावतीपुरीमें प्रवेश करके मैंने हाथ जोड़कर सहस्र नेत्रोंवाले देवराज इन्द्रको प्रणाम किया । दाताओंमें श्रेष्ठ देवराज इन्द्रने प्रसन्न होकर मुझे अपने आधे सिंहासनपर स्थान दिया ॥ ५४–५५ ॥

बहुमानाच्च गात्राणि पस्पर्श मम वासवः ।
तत्राहं देवगन्धर्वैः सहितो भूरिदक्षिण ॥ ५६ ॥
अस्त्रार्थमवसं स्वर्गे शिक्षाणोऽस्त्राणि भारत ।
विश्वावसोश्च वै पुत्रश्चित्रसेनोऽभवत् सखा ॥ ५७ ॥

इतना ही नहीं, उन्होंने बड़े आदरके साथ मेरे अङ्गोंपर हाथ फेरा । यज्ञोंमें पूरी दक्षिणा देनेवाले भरतश्रेष्ठ ! उस स्वर्गलोकमें मैं देवताओं और गन्धर्वोंके साथ अस्त्रविद्याकी प्राप्तिके लिये रहने लगा और प्रतिदिन अस्त्रोंका अभ्यास करने लगा । उस समय गन्धर्वराज विश्वावसुके पुत्र चित्रसेनके साथ मेरी मैत्री हो गयी थी ॥ ५६–५७ ॥

स च गान्धर्वमखिलं ग्राहयामास मां नृप ।
तत्राहमवसं राजन् गृहीतास्त्रः सुपूजितः ॥ ५८ ॥
सुखं शक्रस्य भवने सर्वकामसमन्वितः ।
शृण्वन् वै गीतशब्दं च तूर्यशब्दं च पुष्कलम् ।
पश्यंश्चाप्सरसः श्रेष्ठा नृत्यन्तीर्भरतर्षभ ॥ ५९ ॥

नरेश्वर ! उन्होंने मुझे सम्पूर्ण गान्धर्ववेद (संगीत-विद्या) का अध्ययन कराया । राजन् ! वहाँ इन्द्रभवनमें अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा ग्रहण करते हुए मैं बड़े सम्मान और सुखसे रहने लगा। वहाँ सभी मनोवाञ्छित पदार्थ मेरे लिये सुलभ थे। भरतश्रेष्ठ! मैं वहाँ कभी मनोहर गीत सुनता, कभी पर्याप्त रूपसे दिव्य वाद्योंका आनन्द लेता और कभी-कभी श्रेष्ठ अप्सराओंका नृत्य भी देख लेता था ॥ ५८-५९ ॥

तत् सर्वमनवज्ञाय तथ्यं विज्ञाय भारत।
अत्यर्थं प्रतिगृह्याहमस्त्रेष्वेव व्यवस्थितः ॥ ६० ॥

भारत ! इन समस्त सुख-सुविधाओंकी अवहेलना न करते हुए उन्हें स्वीकार करके भी मैं इनके असली रूपको जानकर– इनकी निःसारताको भलीभाँति समझकर अधिकतर अस्त्रोंके अभ्यासमें ही संलग्न रहता था । (गीत आदिमें कभी आसक्त नहीं हुआ) ॥ ६० ॥

ततोऽतुष्यत् सहस्राक्षस्तेन कामेन मे विभुः ।
एवं मे वसतो राजन्नेष कालोऽत्यगाद् दिवि ॥ ६१ ॥

अस्त्र-विद्याकी ओर मेरी ऐसी अभिरुचि होनेसे सहस्र नेत्रधारी भगवान् इन्द्र मुझपर बहुत संतुष्ट रहते थे । राजन् ! इस प्रकार स्वर्गमें रहकर मेरा यह समय सुखपूर्वक बीतने लगा॥

कृतास्त्रमतिविश्वस्तमथ मां हरिवाहनः ।
संस्पृश्य मूर्ध्नि पाणिभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६२ ॥

धीरे-धीरे मैं अस्त्र-विद्यामें निपुण हो गया । मेरी विज्ञतापर सबको अधिक विश्वास था । एक दिन भगवान् इन्द्रने अपने दोनों हाथोंसे मेरे मस्तकका स्पर्श करते हुए मुझसे इस प्रकार कहा–॥

न त्वमद्य युधा जेतुं शक्यः सुरगणैरपि ।
किं पुनर्मानुषे लोके मानुषैरकृतात्मभिः ॥ ६३ ॥

'अर्जुन ! अब तुम्हें युद्धमें देवता भी परास्त नहीं कर सकते । फिर मर्त्यलोकमें रहनेवाले बेचारे असंयमी मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ६३ ॥

अप्रमेयोऽप्रधृष्यश्च युद्धेष्वप्रतिमस्तथा ।
अजेयस्त्वं हि संग्रामे सर्वैरपि सुरासुरैः ।
अथाब्रवीत् पुनर्देवः सम्प्रहृष्टतनूरुहः ॥ ६४ ॥

'तुम युद्धमें अप्रमेय, अजेय और अनुपम हो । संग्राम-भूमिमें सम्पूर्ण देवता और असुर भी तुम्हें पराजित नहीं कर सकते ।' इतना कहते-कहते देवराजके शरीरमें रोमाञ्च हो आया । तदनन्तर वे फिर बोले—॥ ६४ ॥

अस्त्रयुद्धे समो वीर न ते कश्चिद् भविष्यति ।
अप्रमत्तः सदा दक्षः सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥ ६५ ॥
ब्रह्मण्यश्चास्त्रविच्चासि शूरश्चासि कुरूद्वह ।
अस्त्राणि समवाप्तानि त्वया दश च पञ्च च ॥ ६६ ॥
पञ्चभिर्विधिभिः पार्थ विद्यते न त्वया समः ।
प्रयोगमुपसंहारमावृत्तिं च धनंजय ॥ ६७ ॥
प्रायश्चित्तं च वेत्थ त्वं प्रतीघातं च सर्वशः ।
ततो गुर्वर्थकालोऽयं समुत्पन्नः परंतप ॥ ६८ ॥

'वीर ! अस्त्र-युद्धमें तुम्हारा सामना कर सके, ऐसा कोई योद्धा नहीं होगा । कुरुश्रेष्ठ ! तुम सर्वदा सावधान रहते हो, प्रत्येक कार्यमें कुशल हो, जितेन्द्रिय, सत्यवादी और ब्राह्मण-भक्त हो; तुम्हें अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान है और तुम अद्भुत शौर्यसे सम्पन्न हो । पार्थ ! तुमने पाँच विधियोंसहित पंद्रह अस्त्र प्राप्त किये हैं, अतः इस भूतलपर तुम्हारे-जैसा शूर दूसरा कोई नहीं है । परंतप धनंजय ! प्रयोग, उपसंहार, आवृत्ति, प्रायश्चित्त[1] और प्रतिघात[2]—ये अस्त्रोंकी पाँच विधियाँ हैं; तुम इन सबका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुके हो । अतः अब गुरुदक्षिणा देनेका समय आ गया है ॥ ६५-६८ ॥

प्रतिजानीष्व तं कर्तुं ततो वेत्स्याम्यहं परम् ।
ततोऽहमब्रुवं राजन् देवराजमिदं वचः ॥ ६९ ॥
विषह्यं यन्मया कर्तुं कृतमेव निबोध तत् ।
ततो मामब्रवीद् राजन् प्रहसन् बलवृत्रहा ॥ ७० ॥

'तुम उसे देनेकी प्रतिज्ञा करो, तब मैं अपने महान् कार्यको तुम्हें बताऊँगा ।' राजन् ! यह सुनकर मैंने देवराजसे कहा—'भगवन् ! जो कुछ मैं कर सकता हूँ, उसे किया हुआ ही समझिये ।' नरेश्वर ! तब बल और वृत्रासुरके शत्रु इन्द्रने मुझसे हँसते हुए कहा—॥ ६९-७० ॥

नाविषह्यं तवाद्यास्ति त्रिषु लोकेषु किंचन ।
निवातकवचा नाम दानवा मम शत्रवः ॥ ७१ ॥

'वीरवर ! तीनों लोकोंमें ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो तुम्हारे लिये असाध्य हो । निवातकवच नामक दानव मेरे शत्रु हैं ॥ ७१ ॥

समुद्रकुक्षिमाश्रित्य दुर्गे प्रतिवसन्त्युत ।
तिस्रः कोट्यः समाख्यातास्तुल्यरूपबलप्रभाः ॥ ७२ ॥
तांस्तत्र जहि कौन्तेय गुर्वर्थस्ते भविष्यति ।
ततो मातलिसंयुक्तं मयूरसमरोमभिः ॥ ७३ ॥
हयैरुपेतं प्रादान्मे रथं दिव्यं महाप्रभम् ।
बबन्ध चैव मे मूर्ध्नि किरीटमिदमुत्तमम् ॥ ७४ ॥

'वे समुद्रके भीतर दुर्गम स्थानका आश्रय लेकर रहते हैं । उनकी संख्या तीन करोड़ बतायी जाती है और उन सभीके रूप, बल और तेज एक समान हैं । कुन्तीनन्दन ! तुम उन दानवोंका संहार कर डालो । इतनेसे ही तुम्हारी

१. निर्दोष प्राणीका वध हो जाय, तो उसे पुनः संजीवित करनेकी विद्याको प्रायश्चित्त कहते हैं ।

२. शत्रुके अस्त्रसे पराभवको प्राप्त हुए अपने अस्त्रको पुनः शक्तिशाली बनाना प्रतिघात कहलाता है ।

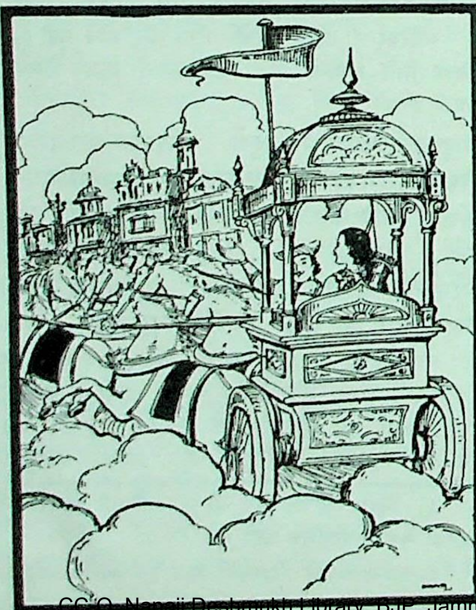
गुरु-दक्षिणा पूरी हो जायगी।' ऐसा कहकर इन्द्रने मुझे एक अत्यन्त कान्तिमान् दिव्य रथ प्रदान किया, जिसे मातलि जोतकर लाये थे। उसमें मयूरोंके समान रोमवाले घोड़े जुते हुए थे। रथ आ जानेपर देवराजने यह उत्तम किरीट मेरे मस्तकपर बाँध दिया ॥ ७२-७४ ॥

स्वरूपसदृशं चैव प्रादादङ्गविभूषणम्।
अभेद्यं कवचं चेदं स्पर्शरूपवदुत्तमम् ॥ ७५ ॥

फिर उन्होंने मेरे स्वरूपके अनुरूप प्रत्येक अङ्गमें आभूषण पहना दिये। इसके बाद यह अभेद्य उत्तम कवच धारण कराया, जिसका स्पर्श तथा रूप मनोहर है ॥ ७५ ॥

अजरां ज्यामिमां चापि गाण्डीवे समयोजयत्।
ततः प्रायामहं तेन स्यन्दनेन विराजता ॥ ७६ ॥
येनाजयद् देवपतिर्बलिं वैरोचनिं पुरा।
ततो देवाः सर्व एव तेन घोषेण बोधिताः ॥ ७७ ॥
मन्वाना देवराजं मां समाजग्मुर्विशाम्पते।
दृष्ट्वा च मामपृच्छन्त किं करिष्यसि फाल्गुन ॥ ७८ ॥

तत्पश्चात् मेरे गाण्डीव धनुपमें उन्होंने यह अटूट प्रत्यञ्चा जोड़ दी। इस प्रकार युद्धकी सामग्रियोंसे सम्पन्न होकर उस तेजस्वी रथके द्वारा मैं संग्रामके लिये प्रस्थित हुआ, जिसपर आरूढ़ होकर पूर्वकालमें देवराजने विरोचनकुमार बलिको परास्त किया था। महाराज! तब उस रथकी घर्घराहटसे सजग हो सब देवता मुझे देवराज समझकर मेरे पास आये और मुझे देखकर पूछने लगे--'अर्जुन! तुम क्या करनेकी तैयारीमें हो?' ॥ ७६-७८ ॥



तानब्रुवं यथाभूतमिदं कर्तास्मि संयुगे।
निवातकवचानां तु प्रस्थितं मां वधैषिणम् ॥ ७९ ॥
निबोधत महाभागाः शिवं चाशास्त मेऽनघाः।
ततो वाग्भिः प्रशस्ताभिस्त्रिदशाः पृथिवीपते।
तुष्टुवुर्मां प्रसन्नास्ते यथा देवं पुरंदरम् ॥ ८० ॥

तब मैंने उनसे सब बातें बताकर कहा--'मैं युद्धमें यही करने जा रहा हूँ। आपको यह ज्ञात होना चाहिये कि मैं निवातकवच नामक दानवोंके वधकी इच्छासे प्रस्थित हुआ हूँ। अतः निष्पाप एवं महाभाग देवताओ! आप मुझे ऐसा आशीर्वाद दें, जिससे मेरा मङ्गल हो।' राजन्! तब वे देवता-लोग प्रसन्न हो देवराज इन्द्रकी भाँति श्रेष्ठ एवं मधुर वाणीद्वारा मेरी स्तुति करते हुए बोले--॥ ७९-८० ॥

रथेनानेन मघवा जितवान् शम्बरं युधि।
नमुचिं बलवृत्रौ च प्रह्लादनरकावपि ॥ ८१ ॥

इस रथके द्वारा इन्द्रने युद्धमें शम्बरासुरपर विजय पायी है। नमुचि, बल, वृत्र, प्रह्लाद और नरकासुरको परास्त किया है ॥ ८१ ॥

बहूनि च सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदान्यपि।
रथेनानेन दैत्यानां जितवान् मघवा युधि ॥ ८२ ॥

'इनके सिवा अन्य बहुत-से दैत्योंको भी इस रथके द्वारा पराजित किया है, जिनकी संख्या सहस्रों, लाखों और अरबों-तक पहुँच गयी है ॥ ८२ ॥

त्वमप्यनेन कौन्तेय निवातकवचान् रणे।
विजेता युधि विक्रम्य पुरेव मघवा वशी ॥ ८३ ॥

'कुन्तीनन्दन! जैसे पूर्वकालमें सबको वशमें करनेवाले इन्द्रने असुरोंपर विजय पायी थी, उसी प्रकार तुम भी इस रथके द्वारा युद्धमें पराक्रम करके निवातकवचोंको परास्त करोगे ॥ ८३ ॥

अयं च शङ्खप्रवरो येन जेतासि दानवान्।
अनेन विजिता लोकाः शक्रेणापि महात्मना ॥ ८४ ॥

'यह श्रेष्ठ शङ्ख है, जिसे बजानेसे तुम्हें दानवोंपर विजय प्राप्त हो सकती है। महामना इन्द्रने भी इसके द्वारा सम्पूर्ण लोकोंपर विजय पायी है' ॥ ८४ ॥

प्रदीयमानं देवैस्तं देवदत्तं जलोद्भवम्।
प्रत्यगृह्णं जयायैनं स्तूयमानस्तदामरैः ॥ ८५ ॥
स शङ्खी कवची बाणी प्रगृहीतशरासनः।
दानवालयमत्युग्रं प्रयातोऽस्मि युयुत्सया ॥ ८६ ॥

वही यह शङ्ख है, जिसे मैंने अपनी विजयके लिये ग्रहण किया था। देवताओंने उसे दिया था, इसीलिये इसका नाम

देवदत्त है । शङ्ख लेकर देवताओंके मुखसे अपनी स्तुति सुनता हुआ मैं कवच, बाण तथा धनुषसे सज्जित हो युद्धकी इच्छासे अत्यन्त भयंकर दानवोंके नगरकी ओर चल दिया ॥ ८५-८६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वण्यर्जुनवाक्ये अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवाक्यविषयक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६८ ॥

एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका पातालमें प्रवेश और निवातकवचोंके साथ युद्धारम्भ

अर्जुन उवाच

ततोऽहं स्तूयमानस्तु तत्र तत्र महर्षिभिः ।
अपश्यमुदधिं भीममपां पतिमथाव्ययम् ॥ १ ॥
फेनवत्यः प्रकीर्णाश्च संहताश्च समुत्थिताः ।
ऊर्मयश्चात्र दृश्यन्ते वल्गन्त इव पर्वताः ॥ २ ॥

अर्जुन बोले—राजन् ! तदनन्तर मार्गमें जहाँ-तहाँ महर्षियोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए मैंने जलके स्वामी समुद्रके पास पहुँचकर उसका निरीक्षण किया । वह देखनेमें अत्यन्त भयंकर था । उसका पानी कभी घटता-बढ़ता नहीं है । उसमें फेनसे मिली हुई पहाड़ोंके समान ऊँची-ऊँची लहरें उठकर नृत्य करती-सी दिखायी दे रही थीं । वे कभी इधर-उधर फैल जाती थीं और कभी आपसमें टकरा जाती थीं ॥ १-२ ॥

नावः सहस्रशस्तत्र रत्नपूर्णाः समन्ततः ।
नभसीव विमानानि विचरन्त्यो विरेजिरे ।
तिमिङ्गिलाः कच्छपाश्च तथा तिमितिमिङ्गिलाः ॥ ३ ॥
मकराश्चात्र दृश्यन्ते जले मग्ना इवाद्रयः ।
शङ्खानां च सहस्राणि मग्नान्यप्सु समन्ततः ॥ ४ ॥

वहाँ सब ओर रत्नोंसे भरी हुई हजारों नावें चल रही थीं, जो आकाशमें विचरते हुए विमानोंकी-सी शोभा पाती थीं तथा तिमिङ्गिल[1], तिमितिमिङ्गिल[2], कछुए और मगर पानीमें डूबे हुए पर्वतोंके समान दृष्टिगोचर होते थे । सहस्रों शङ्ख सब ओर जलमें निमग्न थे ॥ ३-४ ॥

दृश्यन्ते स्म यथा रात्रौ तारास्तन्वभ्रसंवृताः ।
तथा सहस्रशस्तत्र रत्नसङ्घाः प्लवन्त्युत ॥ ५ ॥

जैसे रातमें झीने बादलोंके आवरणसे सहस्रों तारे चमकते दिखायी देते हैं, उसी प्रकार समुद्रके जलमें स्थित हजारों रत्नसमूह तैरते हुए-से प्रतीत हो रहे थे ॥ ५ ॥

वायुश्च घूर्णते भीमस्तदद्भुतमिवाभवत् ।
तमुदीक्ष्य महावेगं सर्वाम्भोनिधिमुत्तमम् ॥ ६ ॥
अपश्यं दानवाकीर्णं तद् दैत्यपुरमन्तिकात् ।
तत्रैव मातलिस्तूर्णं निपत्य पृथिवीतले ॥ ७ ॥
रथं तं तु समाश्लिष्य* प्राद्रवद् रथयोगवित् ।
त्रासयन् रथघोषेण तत् पुरं समुपाद्रवत् ॥ ८ ॥

औरोंकी तो बात ही क्या है, वहाँ भयानक वायु भी पथ-भ्रान्तकी भाँति भटकने लगती है । वायुका वह चक्कर काटना अद्भुत-सा प्रतीत हो रहा था । इस प्रकार अत्यन्त वेगशाली जलराशि महासागरको देखकर उसके पास ही मैंने दानवोंसे भरा हुआ वह दैत्यनगर भी देखा । रथ-संचालनमें कुशल सारथि मातलि तुरंत वहाँ पहुँचकर पातालमें उतरे तथा रथपर सावधानीसे बैठकर आगे बढ़े । उन्होंने रथकी घर्घराहटसे सबको भयभीत करते हुए उस दैत्यपुरकी ओर धावा किया ॥ ६–८ ॥

रथघोषं तु तं श्रुत्वा स्तनयित्नोरिवाम्बरे ।
मन्वाना देवराजं मामाविग्ना दानवाभवन् ॥ ९ ॥

आकाशमें होनेवाली मेघ-गर्जनाके समान उस रथका शब्द सुनकर दानवलोग मुझे देवराज इन्द्र समझकर भयसे अत्यन्त व्याकुल हो उठे ॥ ९ ॥

सर्वे सम्भ्रान्तमनसः शरचापधराः स्थिताः ।
तथासिशूलपरशुगदामुसलपाणयः ॥ १० ॥

सभी मन-ही-मन घबरा गये । सभी अपने हाथोंमें धनुष-बाण, तलवार, शूल, फरसा, गदा और मुसल आदि अस्त्र-शस्त्र लेकर खड़े हो गये ॥ १० ॥

ततो द्वाराणि पिदधुर्दानवास्त्रस्तचेतसः ।
संविधाय पुरे रक्षां न स्म कश्चन दृश्यते ॥ ११ ॥

दानवोंके मनमें आतंक छा गया था । इसलिये उन्होंने नगरकी रक्षाका प्रबन्ध करके सारे दरवाजे बंद कर लिये । नगरके बाहर कोई भी दिखायी नहीं देता था ॥ ११ ॥

---

१. एक विशेष प्रकारके मत्स्यका नाम 'तिमि' है, जो उसे निगल जाता है, उस महामत्स्यको 'तिमिङ्गिल' कहते हैं ।

२. जो तिमिङ्गिलको भी निगल जाता है, उस महामहामत्स्यका नाम 'तिमितिमिङ्गिल' है ।

* नीलकण्ठी टीकामें लिखा है कि पृथ्वीमें उतरकर निम्न-स्थलमें गये हुए रथके चक्केको दृढ़तापूर्वक पकड़कर ऊँचा किया ।

ततः शङ्खमुपादाय देवदत्तं महास्वनम्।
परमां मुदमाश्रित्य प्राधमं तं शनैरहम् ॥१२॥

तब मैंने बड़ी भयंकर ध्वनि करनेवाले देवदत्त नामक शङ्खको हाथमें लेकर अत्यन्त प्रसन्न हो धीरे-धीरे उसे बजाया॥

स तु शब्दो दिवं स्तब्ध्वा प्रतिशब्दमजीजनत्।
वित्रेसुश्च निलिल्युश्च भूतानि सुमहान्त्यपि ॥१३॥

वह शङ्ख-नाद स्वर्गलोकसे टकराकर प्रतिध्वनि उत्पन्न करने लगा। उसकी आवाज सुनकर बड़े-बड़े प्राणी भी भयभीत हो इधर-उधर छिप गये ॥ १३ ॥

ततो निवातकवचाः सर्व एव स्वलंकृताः।
दंशिता विविधैस्त्राणैर्विचित्रायुधपाणयः ॥१४॥
आयसैश्च महाशूलैर्गदाभिर्मुसलैरपि।
पट्टिशैः करवालैश्च रथचक्रैश्च भारत ॥१५॥
शतघ्नीभिर्भुशुण्डीभिः खड्गैश्चित्रैः स्वलंकृतैः।
प्रगृहीतैर्दितेः पुत्राः प्रादुरासन् सहस्रशः ॥१६॥

भारत! तदनन्तर निवातकवचनामक सभी दैत्य आभूषणोंसे विभूषित हो भाँति-भाँतिके कवच धारण किये, हाथोंमें विचित्र आयुध लिये, लोहेके बने हुए बड़े-बड़े शूल, गदा, मुसल, पट्टिश, करवाल, रथ-चक्र, शतघ्नी (तोप), भुशुण्डि (बंदूक) तथा रत्नजटित विचित्र खड्ग आदि लेकर सहस्रोंकी संख्यामें नगरसे बाहर आये ॥ १४—१६ ॥

ततो विचार्य बहुशो रथमार्गेषु तान् हयान्।
प्राचोदयत् समे देशे मातलिर्भरतर्षभ ॥१७॥
तेन तेषां प्रणुन्नानामाशुत्वाच्छीघ्रगामिनाम्।
नान्वपश्यं तदा किंचित् तन्मेऽद्भुतमिवाभवत् ॥१८॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय मातलिने बहुत सोच-विचारकर समतल प्रदेशमें रथ जाने योग्य मार्गोंपर अपने उन घोड़ोंको हाँका। उनके हाँकनेपर उन शीघ्रगामी अश्वोंकी चाल इतनी तेज हो गयी कि मुझे उस समय कुछ भी दिखायी नहीं देता था। यह एक अद्भुत बात थी ॥ १७-१८ ॥

ततस्ते दानवास्तत्र वादित्राणि सहस्रशः।
विकृतस्वररूपाणि भृशं सर्वाण्यनादयन् ॥१९॥

तदनन्तर उन दानवोंने वहाँ भीषण स्वर और विकराल आकृतिवाले विभिन्न प्रकारके सहस्रों बाजे जोर-जोरसे बजाने आरम्भ किये ॥ १९ ॥

तेन शब्देन सहसा समुद्रे पर्वतोपमाः।
आप्लवन्त गतैः सत्त्वैर्मत्स्याः शतसहस्रशः ॥२०॥

वाद्योंकी उस तुमुल-ध्वनिसे सहसा समुद्रके लाखों बड़े-बड़े पर्वताकार मत्स्य मर गये और उनकी लाशें पानीके ऊपर तैरने लगीं ॥ २० ॥

ततो वेगेन महता दानवा मामुपाद्रवन्।
विमुञ्चन्तः शितान् बाणान् शतशोऽथ सहस्रशः २१

तत्पश्चात् उन सब दानवोंने सैकड़ों और हजारों तीखे बाणोंकी वर्षा करते हुए बड़े वेगसे मुझपर आक्रमण किया ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलस्तेषां च मम भारत।
अवर्तत महाघोरो निवातकवचान्तकः ॥२२॥

भारत! तब उन दानवोंका और मेरा महाभयंकर तुमुल संग्राम आरम्भ हो गया, जो निवातकवचोंके लिये विनाशकारी सिद्ध हुआ ॥ २२ ॥

ततो देवर्षयश्चैव तथान्ये च महर्षयः।
ब्रह्मर्षयश्च सिद्धाश्च समाजग्मुर्महामृधे ॥२३॥
ते वै मामनुरूपाभिर्मधुराभिर्जयैषिणः।
अस्तुवन् मुनयो वाग्भिर्यथेन्द्रं तारकामये ॥२४॥

उस समय बहुत-से देवर्षि तथा अन्य महर्षि एवं ब्रह्मर्षि और सिद्धगण उस महायुद्धमें (देखनेके लिये) आये। वे सब-के-सब मेरी विजय चाहते थे। अतः उन्होंने जैसे तारकामय संग्रामके अवसरपर इन्द्रकी स्तुति की थी, उसी प्रकार अनुकूल एवं मधुर वचनोंद्वारा मेरा भी स्तवन किया ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि युद्धारम्भे एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें युद्धारम्भविषयक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६९ ॥

सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुन और निवातकवचोंका युद्ध

अर्जुन उवाच

ततो निवातकवचाः सर्वे वेगेन भारत।
अभ्यद्रवन् मां सहिताः प्रगृहीतायुधा रणे ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—भारत! तदनन्तर सारे निवातकवच संगठित हो हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये युद्धभूमिमें, वेगपूर्वक मेरे ऊपर टूट पड़े ॥ १ ॥

आच्छाद्य रथपन्थानमुत्क्रोशन्तो महारथाः।
आवृत्य सर्वतस्ते मां शरवर्षैरवाकिरन् ॥ २ ॥

ततोऽपरे महावीर्याः शूलपट्टिशपाणयः ।
शूलानि च भुशुण्डीश्च मुमुचुर्दानवा मयि ॥ ३ ॥

उन महारथी दानवोंने मेरे रथका मार्ग रोककर भीषण गर्जना करते हुए मुझे सब ओरसे घेर लिया और मुझपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी। फिर कुछ अन्य महापराक्रमी दानव शूल और पट्टिश आदि हाथोंमें लिये मेरे सामने आये और मुझपर शूल तथा भुशुण्डियोंका प्रहार करने लगे ॥ २-३ ॥

तच्छूलवर्षं सुमहद् गदाशक्तिसमाकुलम् ।
अनिशं सृज्यमानं तैरपतन्मद्रथोपरि ॥ ४ ॥
अन्ये मामभ्यधावन्त निवातकवचा युधि ।
शितशस्त्रायुधा रौद्राः कालरूपाः प्रहारिणः ॥ ५ ॥

दानवोंद्वारा की गयी वह शूलोंकी बड़ी भारी वर्षा निरन्तर मेरे रथपर होने लगी। उसके साथ ही गदा और शक्तियोंका भी प्रहार हो रहा था। कुछ दूसरे निवातकवच हाथोंमें तीखे अस्त्र-शस्त्र लिये उस युद्धके मैदानमें मेरी ओर दौड़े। वे प्रहार करनेमें कुशल थे। उनकी आकृति बड़ी भयंकर थी और देखनेमें वे कालरूप जान पड़ते थे ॥ ४-५ ॥

तानहं विविधैर्बाणैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः ।
गाण्डीवमुक्तैरभ्यघ्नमेकैकं दशभिर्मृधे ॥ ६ ॥

तब मैंने उनमेंसे एक-एकको युद्धमें गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए सीधे जानेवाले विविध प्रकारके दस-दस वेगवान् बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ ६ ॥

ते कृता विमुखाः सर्वे मत्प्रयुक्तैः शिलाशितैः ।
ततो मातलिना तूर्णं हयास्ते सम्प्रचोदिताः ॥ ७ ॥

मेरे छोड़े हुए बाण पत्थरपर तेज किये हुए थे। उनकी मार खाकर सभी दानव युद्धभूमिसे भाग चले। तब मातलि उस रथके घोड़ोंको तुरंत ही तीव्र वेगसे हाँका ॥ ७ ॥

मार्गान् बहुविधांस्तत्र विचेरुर्वातरंहसः ।
सुसंयता मातलिना प्रामथ्नन्त दितेः सुतान् ॥ ८ ॥

सारथिसे प्रेरित होकर वे अश्व नाना प्रकारकी चालें दिखाते हुए वायुके समान वेगसे चलने लगे। मातलिने उन्हें अच्छी तरह काबूमें कर रक्खा था। उन सबने वहाँ दितिके पुत्रोंको रौंद डाला ॥ ८ ॥

शतं शतास्ते हरयस्तस्मिन् युक्ता महारथे ।
शान्ता मातलिना यत्ता व्यचरन्नल्पका इव ॥ ९ ॥

अर्जुनके उस विशाल रथमें दस हजार घोड़े जुते हुए थे, तो भी मातलिने उन्हें इस प्रकार वशमें कर रखा था कि वे अल्पसंख्यक अश्वोंकी भाँति शान्त-भावसे विचरते थे ॥

तेषां चरणपातेन रथनेमिस्वनेन च ।
मम बाणनिपातैश्च हतास्ते शतशोऽसुराः ॥ १० ॥

उन घोड़ोंके पैरोंकी मार पड़नेसे, रथके पहियेकी घर्घराहट होनेसे तथा मेरे बाणोंकी चोट खानेसे सैकड़ों दैत्य मर गये ॥ १० ॥

गतासवस्तथैवान्ये प्रगृहीतशरासनाः ।
हतसारथयस्तत्र व्यकृष्यन्त तुरंगमैः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार वहाँ दूसरे बहुत-से असुर हाथमें धनुष-बाण लिये प्राणरहित हो गये थे और उनके सारथि भी मारे गये थे, उस दशामें सारथिशून्य घोड़े उनके निर्जीव शरीरको खींचे लिये जाते थे ॥ ११ ॥

ते दिशो विदिशः सर्वे प्रतिरुध्य प्रहारिणः ।
अभ्यघ्नन् विविधैः शस्त्रैस्ततो मे व्यथितं मनः ॥ १२ ॥

तब वे समस्त दानव सारी दिशाओं और विदिशाओंको रोककर भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा मुझपर घातक प्रहार करने लगे। इससे मेरे मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ १२ ॥

ततोऽहं मातलेर्वीर्यमपश्यं परमाद्भुतम् ।
अश्वांस्तथा वेगवतो यदयत्नादधारयत् ॥ १३ ॥

उस समय मैंने मातलिकी अत्यन्त अद्भुत शक्ति देखी। उन्होंने वैसे वेगशाली अश्वोंको बिना किसी प्रयासके ही काबूमें कर लिया ॥ १३ ॥

ततोऽहं लघुभिश्चित्रैरस्त्रैस्तानसुरान् रणे ।
चिच्छेद सायुधान् राजन् शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १४ ॥
एवं मे चरतस्तत्र सर्वयत्नेन शत्रुहन् ।
प्रीतिमानभवद् वीरो मातलिः शक्रसारथिः ॥ १५ ॥

राजन्! तब मैंने उस रणभूमिमें अस्त्र-शस्त्रधारी सैकड़ों तथा सहस्रों असुरोंको विचित्र एवं शीघ्रगामी बाणोंद्वारा मार गिराया। शत्रुदमन नरेश ! इस प्रकार पूर्ण प्रयत्नपूर्वक युद्धमें विचरते हुए मेरे ऊपर इन्द्रसारथि वीरवर मातलि बड़े प्रसन्न हुए ॥

वध्यमानास्ततस्तैस्तु हयैस्तेन रथेन च ।
अगमन् प्रक्षयं केचिन्न्यवर्तन्त तथा परे ॥ १६ ॥

मेरे उन घोड़ों तथा उस दिव्य रथसे कुचल जानेके कारण भी कितने ही दानव मारे गये और बहुत-से युद्ध छोड़कर भाग गये

स्पर्धमाना इवास्माभिर्निवातकवचा रणे ।
शरवर्षैः शरार्तं मां महद्भिः प्रत्यवारयन् ॥ १७ ॥
ततोऽहं लघुभिश्चित्रैर्ब्रह्मास्त्रपरिमन्त्रितैः ।
व्यधमं सायकैराशु शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १८ ॥

निवातकवचोंने संग्राममें हमलोगोंसे होड़-सी लगा रखी थी। मैं बाणोंके आघातसे पीड़ित था, तो भी उन्होंने बड़ी भारी बाणवर्षा करके मेरी प्रगतिको रोकनेकी चेष्टा की। तब मैंने अद्भुत और शीघ्रगामी बाणोंको ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्त्रित करके चलाया और उनके द्वारा शीघ्र ही सैकड़ों तथा हजारों दानवोंका संहार करने लगा ॥ १७-१८ ॥

ततः सम्पीड्यमानास्ते क्रोधाविष्टा महारथाः ।
अपीडयन् मां सहिताः शरशूलासिवृष्टिभिः ॥१९॥

तदनन्तर मेरे बाणोंसे पीड़ित होकर वे महारथी दैत्य क्रोधसे आग-बबूला हो उठे और एक साथ संगठित हो खड्ग, शूल तथा बाणोंकी वर्षाद्वारा मुझे घायल करने लगे ॥ १९ ॥

ततोऽहमस्त्रमातिष्ठं परमं तिग्मतैजसम् ।
दयितं देवराजस्य माधवं नाम भारत ॥२०॥

भारत ! वह देख मैंने देवराज इन्द्रके परम प्रिय माधव नामक प्रचण्ड तेजस्वी अस्त्रका आश्रय लिया ॥ २० ॥

ततः खड्गांस्त्रिशूलांश्च तोमरांश्च सहस्रशः ।
अस्त्रवीर्येण शतधा तैर्मुक्तानहमच्छिदम् ॥२१॥

तब उस अस्त्रके प्रभावसे मैंने दैत्योंके चलाये हुए सहस्रों खड्ग, त्रिशूल और तोमरोंके सौ-सौ टुकड़े कर डाले ॥ २१ ॥

छित्त्वा प्रहरणान्येषां ततस्तानपि सर्वशः ।
प्रत्यविध्यमहं रोषाद् दशभिर्दशभिः शरैः ॥२२॥

तत्पश्चात् उन दानवोंके समस्त अस्त्र-शस्त्रोंका उच्छेद करके मैंने रोषवश उन सबको भी दस-दस बाणोंसे घायल करके बदला चुकाया ॥ २२ ॥

गाण्डीवाद्धि तदा संख्ये यथा भ्रमरपङ्क्तयः ।
निष्पतन्ति महाबाणास्तन्मातलिरपूजयत् ॥२३॥

उस समय मेरे गाण्डीव धनुषसे बड़े-बड़े बाण उस युद्ध-भूमिमें इस प्रकार छूटते थे, मानो वृक्षसे झुंड-के-झुंड भौंरे उड़ रहे हों । मातलिने मेरे इस कार्यकी बड़ी प्रशंसा की ॥

तेषामपि तु बाणास्ते तन्मातलिरपूजयत् ।
अवाकिरन् मां बलवत् तानहं व्यधमं शरैः ॥२४॥

तदनन्तर उन दानवोंके भी बाण मेरे ऊपर जोर-जोरसे गिरने लगे । मातलिने उनकी उस बाण-वर्षाकी भी सराहना की । फिर मैंने अपने बाणोंद्वारा शत्रुओंके उन सब बाणोंको छिन्न-भिन्न कर डाला ॥ २४ ॥

वध्यमानास्ततस्ते तु निवातकवचाः पुनः ।
शरवर्षैर्महद्भिर्मां समन्तात् पर्यवारयन् ॥२५॥

इस प्रकार मार खाते और मरते रहनेपर भी निवातकवचोंने पुनः भारी बाण-वर्षाके द्वारा मुझे सब ओरसे घेर लिया ॥ २५ ॥

शरवेगान्निहत्याहमस्त्रैरस्त्रविघातिभिः ।
ज्वलद्भिः परमैः शीघ्रैस्तानविध्यं सहस्रशः ॥२६॥

तब मैंने अस्त्र-विनाशक अस्त्रोंद्वारा उनकी बाण-वर्षाके वेगको शान्त करके अत्यन्त शीघ्रगामी एवं प्रज्वलित बाणोंद्वारा सहस्रों दैत्योंको घायल कर दिया ॥ २६ ॥

तेषां छिन्नानि गात्राणि विसृजन्ति स्म शोणितम् ।
प्रावृषीवाभिवृष्टानि शृङ्गाण्यथ धराभृताम् ॥२७॥

उनके कटे हुए अङ्ग उसी प्रकार रक्तकी धारा बहाते थे, जैसे वर्षा-ऋतुमें वृष्टिके जलसे भीगे हुए पर्वतोंके शिखर (गेरू आदि धातुओंसे मिश्रित) जलकी धारा बहाते हैं ॥२७॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः ।
मद्बाणैर्वध्यमानास्ते समुद्विग्नाः स्म दानवाः ॥२८॥

मेरे बाणोंका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान था । वे बड़े वेगसे छूटते और सीधे जाकर शत्रुको अपना निशाना बनाते थे । उनकी चोट खाकर वे समस्त दानव भयसे व्याकुल हो उठे ॥ २८ ॥

शतधा भिन्नदेहास्ते क्षीणप्रहरणौजसः ।
ततो निवातकवचा मामयुध्यन्त मायया ॥२९॥

उन दैत्योंके शरीरके सौ-सौ टुकड़े हो गये थे । उनके अस्त्र-शस्त्र कट गये और उत्साह नष्ट हो गया था । ऐसी अवस्थामें निवातकवचोंने मेरे साथ माया-युद्ध आरम्भ कर दिया ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें एक सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७० ॥

एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

दानवोंके मायामय युद्धका वर्णन

अर्जुन उवाच

ततोऽश्मवर्षं सुमहत् प्रादुरासीत् समन्ततः ।
नगमात्रैः शिलाखण्डैस्तन्मां दृढमपीडयत् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—महाराज ! तदनन्तर चारों ओरसे पत्थरोंकी [illegible] आरम्भ हो गयी । [illegible] बराबर ऊँचे शिलाखण्ड रणभूमिमें गिरने लगे, इससे मुझे बड़ी पीड़ा हुई ॥ १ ॥

तदहं वज्रसंकाशैर्माहेन्द्रास्त्रप्रचोदितैः ।
अचूर्णयं वेगवद्भिः शरजालैर्महाहवे ॥ २ ॥

तब मैंने [illegible] वेगवान्

बाणोंद्वारा उस महासमरमें गिरनेवाले समस्त शिलाखण्डोंको चूर-चूर कर दिया ॥ २ ॥

चूर्ण्यमानेऽश्मवर्षे तु पावकः समजायत ।
तत्राश्मचूर्णान्यपतन् पावकप्रकरा इव ॥ ३ ॥

पत्थरोंकी वर्षाके चूर्ण होते ही सब ओर आग प्रकट हो गयी । फिर तो वहाँ आगकी चिनगारियोंके समूहकी भाँति पत्थरका चूर्ण पड़ने लगा ॥ ३ ॥

ततोऽश्मवर्षे विहते जलवर्षं महत्तरम् ।
धाराभिरक्षमात्राभिः प्रादुरासीन्ममान्तिके ॥ ४ ॥

तदनन्तर मेरे बाणोंसे वह पत्थरोंकी वर्षा शान्त होनेपर महत्तर जल-वृष्टि आरम्भ हो गयी। मेरे पास ही सर्पोंके समान मोटी जलधाराएँ गिरने लगीं ॥ ४ ॥

नभसः प्रच्युता धारास्तिग्मवीर्याः सहस्रशः ।
आवृण्वन् सर्वतो व्योम दिशश्चोपदिशस्तथा ॥ ५ ॥

आकाशसे प्रचण्ड शक्तिशालिनी सहस्रों धाराएँ बरसने लगीं, जिन्होंने न केवल आकाशको ही, अपितु सम्पूर्ण दिशाओं और उपदिशाओंको भी सब ओरसे ढक लिया ॥ ५ ॥

धाराणां च निपातेन वायोर्विस्फूर्जितेन च ।
गर्जितेन च दैत्यानां न प्राज्ञायत किंचन ॥ ६ ॥

धाराओंकी वर्षा, हवाके झकोरों और दैत्योंकी गर्जनासे कुछ भी जान नहीं पड़ता था ॥ ६ ॥

धारा दिवि च सम्बद्धा वसुधायां च सर्वशः ।
व्यामोहयन्त मां तत्र निपतन्त्योऽनिशं भुवि ॥ ७ ॥

स्वर्गसे लेकर पृथ्वीतक एक सूत्रमें आबद्ध-सी होकर पृथ्वीपर सब ओर जलकी धाराएँ लगातार गिर रही थीं, जिन्होंने वहाँ मुझे मोहमें डाल दिया था ॥ ७ ॥

तत्रोपदिष्टमिन्द्रेण दिव्यमस्त्रं विशोषणम् ।
दीप्तं प्राहिणवं घोरमशुष्यत् तेन तज्जलम् ॥ ८ ॥

तब मैंने वहाँ देवराज इन्द्रके द्वारा प्राप्त हुए दिव्य विशोषणास्त्रका प्रयोग किया, जो अत्यन्त तेजस्वी और भयंकर था । उससे वर्षाका वह सारा जल सूख गया ॥ ८ ॥

हतेऽश्मवर्षे च मया जलवर्षे च शोषिते ।
मुमुचुर्दानवा मायामग्निं वायुं च भारत ॥ ९ ॥

भारत ! जब मैंने पत्थरोंकी वर्षा शान्त कर दी और पानीकी वर्षाको भी सोख लिया, तब दानवलोग मुझपर मायामय अग्नि और वायुका प्रयोग करने लगे ॥ ९ ॥

ततोऽहमग्निं व्यधमं सलिलास्त्रेण सर्वशः ।
शैलेन च महास्त्रेण वायोर्वेगमधारयम् ॥ १० ॥

फिर तो मैंने वारुणास्त्रसे वह सारी आग बुझा दी और महान् शैलास्त्रका प्रयोग करके मायामय वायुका वेग कुण्ठित कर दिया ॥ १० ॥

तस्यां प्रतिहतायां ते दानवा युद्धदुर्मदाः ।
प्राकुर्वन् विविधां मायां यौगपद्येन भारत ॥ ११ ॥

भारत ! उस मायाका निवारण हो जानेपर वे रणोन्मत्त दानव एक ही समय अनेक प्रकारकी मायाका प्रयोग करने लगे ॥ ११ ॥

ततो वर्षं प्रादुरभूत् सुमहल्लोमहर्षणम् ।
अस्त्राणां घोररूपाणामग्नेर्वायोस्तथाश्मनाम् ॥ १२ ॥

फिर तो भयानक अस्त्रोंकी तथा अग्नि, वायु और पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा होने लगी, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी ॥ १२ ॥

सा तु मायामयी वृष्टिः पीडयामास मां युधि ।
अथ घोरं तमस्तीव्रं प्रादुरासीत् समन्ततः ॥ १३ ॥

उस मायामयी वर्षाने युद्धमें मुझे बड़ी पीड़ा दी । तदनन्तर चारों ओर महाभयानक अन्धकार छा गया ॥ १३ ॥

तमसा संवृते लोके घोरेण परुषेण च ।
हरयो विमुखाश्चासन् प्रास्खलच्चापि मातलिः ॥ १४ ॥

घोर एवं दुःसह तिमिरराशिसे सम्पूर्ण लोकोंके आच्छादित हो जानेपर मेरे रथके घोड़े युद्धसे विमुख हो गये और मातलि भी लड़खड़ाने लगे ॥ १४ ॥

हस्ताद्धि रश्मयश्चास्य प्रतोदः प्रापतद् भुवि ।
असकृच्चाह मां भीतः क्वासीति भरतर्षभ ॥ १५ ॥

उनके हाथसे घोड़ोंके लगाम और चाबुक पृथ्वीपर गिर पड़े और वे भयभीत होकर बार-बार मुझसे पूछने लगे—'भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! तुम कहाँ हो ?' ॥ १५ ॥

मां च भीराविशत् तीव्रा तस्मिन् विगतचेतसि ।
स च मां विगतज्ञानः संत्रस्तमिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

मातलिके बेसुध होनेपर मेरे मनमें भी अत्यन्त भय समा गया । तब सुध-बुध खोये हुए मातलिने मुझ भयभीत योद्धासे इस प्रकार कहा—॥ १६ ॥

सुराणामसुराणां च संग्रामः सुमहानभूत् ।
अमृतार्थे पुरा पार्थ स च दृष्टो मयानघ ॥ १७ ॥

'निष्पाप कुन्तीकुमार ! प्राचीन कालमें अमृतकी प्राप्तिके लिये देवताओं और दैत्योंमें अत्यन्त घोर संग्राम हुआ था, जिसे मैंने अपनी आँखों देखा है ॥ १७ ॥

शम्बरस्य वधे घोरः संग्रामः सुमहानभूत् ।
सारथ्यं देवराजस्य तत्रापि कृतवानहम् ॥ १८ ॥

'शम्बरासुरके वधके समय भी अत्यन्त भयानक युद्ध

१. कोषोंमें 'अक्ष' शब्दका अर्थ 'सर्प' भी मिलता है ।

हुआ था। उसमें भी मैंने देवराज इन्द्रके सारथिका कार्य सँभाला था ॥ १८ ॥

तथैव वृत्रस्य वधे संगृहीता हया मया।
वैरोचनेर्महायुद्धं दृष्टं चापि सुदारुणम् ॥ १९ ॥

'इसी प्रकार वृत्रासुरके वधके समय भी मैंने ही घोड़ोंकी बागडोर हाथमें ली थी। विरोचनकुमार बलिका अत्यन्त भयंकर महासंग्राम भी मेरा देखा हुआ है ॥ १९ ॥

एते मया महाघोराः संग्रामाः पर्युपासिताः।
न चापि विगतज्ञानोऽभूतपूर्वोऽस्मि पाण्डव ॥ २० ॥

'ये बड़े-बड़े भयानक युद्ध मैंने देखे हैं, उनमें भाग लिया है, परंतु पाण्डुनन्दन! आजसे पहले कभी भी मैं इस प्रकार अचेत नहीं हुआ था ॥ २० ॥

पितामहेन संहारः प्रजानां विहितो ध्रुवम्।
न हि युद्धमिदं युक्तमन्यत्र जगतः क्षयात् ॥ २१ ॥

'जान पड़ता है, विधाताने आज समस्त प्रजाका संहार निश्चित किया है, अवश्य ऐसी ही बात है। जगत्के संहारके अतिरिक्त अन्य समयमें ऐसे भयानक युद्धका होना सम्भव नहीं है' ॥ २१ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
मोहयिष्यन् दानवानामहं मायाबलं महत् ॥ २२ ॥
अब्रुवं मातलिं भीतं पश्य मे भुजयोर्बलम्।
अस्त्राणां च प्रभावं वै धनुषो गाण्डिवस्य च ॥ २३ ॥
अद्यास्त्रमाययैतेषां मायामेतां सुदारुणाम्।
विनिहन्मि तमश्चोग्रं मा भैः सूत स्थिरो भव ॥ २४ ॥

मातलिका यह वचन सुनकर मैंने स्वयं ही अपने-आपको सम्हाला और दानवोंके उस महान् मायाबलका निवारण करते हुए भयभीत मातलिसे कहा—'सूत! आप डरें मत। स्थिरतापूर्वक रथपर बैठे रहें और देखें, मेरी इन भुजाओंमें कितना बल है? मेरे गाण्डीव धनुष तथा अस्त्रोंका कैसा प्रभाव है? आज मैं अपने अस्त्रोंकी मायासे इन दानवोंकी इस भयंकर माया तथा घोर अन्धकार-का विनाश किये देता हूँ' ॥ २२—२४ ॥

एवमुक्त्वाहमसृजमस्त्रमायां नराधिप।
मोहनीं सर्वभूतानां हिताय त्रिदिवौकसाम् ॥ २५ ॥

नरेश्वर! ऐसा कहकर मैंने देवताओंके हितके लिये अस्त्रसम्बन्धिनी मायाकी सृष्टि की, जो समस्त प्राणियोंको मोहमें डालनेवाली थी ॥ २५ ॥

पीड्यमानासु मायासु तासु तास्वसुरोत्तमाः।
पुनर्बहुविधा मायाः प्राकुर्वन्नमितौजसः ॥ २६ ॥

उससे असुरोंकी वे सारी मायाएँ नष्ट हो गयीं। तब उन अमित तेजस्वी दानवराजाओंने पुनः नाना प्रकारकी मायाएँ प्रकट कीं ॥ २६ ॥

पुनः प्रकाशमभवत् तमसा ग्रस्यते पुनः।
भवत्यदर्शनो लोकः पुनरप्सु निमज्जति ॥ २७ ॥

इससे कभी तो प्रकाश छा जाता था और कभी सब कुछ अन्धकारमें विलीन हो जाता था। कभी सम्पूर्ण जगत् अदृश्य हो जाता और कभी जलमें डूब जाता था ॥ २७ ॥

सुसंगृहीतैर्हरिभिः प्रकाशे सति मातलिः।
व्यचरत् स्यन्दनाग्र्येण संग्रामे लोमहर्षणे ॥ २८ ॥

तदनन्तर प्रकाश होनेपर मातलिने घोड़ोंको काबूमें करके अपने श्रेष्ठ रथके द्वारा उस रोमाञ्चकारी संग्राममें विचरना प्रारम्भ किया ॥ २८ ॥

ततः पर्यपतन्नुग्रा निवातकवचा मयि।
तानहं विवरं दृष्ट्वा प्राहिण्वं यमसादनम् ॥ २९ ॥

तब भयानक निवातकवच चारों ओरसे मेरे ऊपर टूट पड़े। उस समय मैंने अवसर देख-देखकर उन सबको यमलोक भेज दिया ॥ २९ ॥

वर्तमाने तथा युद्धे निवातकवचान्तके।
नापश्यं सहसा सर्वान् दानवान् माययाऽऽवृतान् ॥ ३० ॥

वह युद्ध निवातकवचोंके लिये विनाशकारी था। अभी युद्ध हो ही रहा था कि सहसा सारे दानव अन्तर्धानी मायासे छिप गये। अतः मैं किसीको भी देख न सका ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि मायायुद्धे एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें मायायुद्धविषयक एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७१ ॥

द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

निवातकवचोंका संहार

अर्जुन उवाच

अदृश्यमानास्ते दैत्या योधयन्ति स्म मायया।
अदृश्येनास्त्रवीर्येण तानप्यहमयोधयम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—राजन्! इस प्रकार अदृश्य रहकर ही वे दैत्य मायाद्वारा युद्ध करने लगे तथा मैं भी अपने अस्त्रोंकी अदृश्य शक्तिके द्वारा ही उनका सामना करने लगा ॥ १ ॥

गाण्डीवमुक्ता विशिखाः सम्यगस्त्रप्रचोदिताः ।
अच्छिन्दन्नुत्तमाङ्गानि यत्र यत्र स्म तेऽभवन् ॥ २ ॥

मेरे गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाण विधिवत् प्रयुक्त दिव्यास्त्रोंसे प्रेरित हो जहाँ-जहाँ वे दैत्य थे, वहीं जाकर उनके सिर काटने लगे ॥ २ ॥

ततो निवातकवचा वध्यमाना मया युधि ।
संहृत्य मायां सहसा प्राविशन् पुरमात्मनः ॥ ३ ॥

जब मैं इस प्रकार युद्धक्षेत्रमें उनका संहार करने लगा, तब वे निवातकवच दानव अपनी मायाको समेटकर सहसा नगरमें घुस गये ॥ ३ ॥

व्यपयातेषु दैत्येषु प्रादुर्भूते च दर्शने ।
अपश्यं दानवांस्तत्र हतान् शतसहस्रशः ॥ ४ ॥

दैत्योंके भाग जानेसे जब वहाँ सब कुछ स्पष्ट दिखायी देने लगा, तब मैंने देखा, लाखों दानव वहाँ मरे पड़े थे ॥ ४ ॥

विनिष्पिष्टानि तत्रैषां शस्त्राण्याभरणानि च ।
शतशः स्म प्रदृश्यन्ते गात्राणि कवचानि च ॥ ५ ॥
हयानां नान्तरं ह्यासीत् पदाद् विचलितुं पदम् ।
उत्पत्य सहसा तस्थुरन्तरिक्षगमास्ततः ॥ ६ ॥

उनके अस्त्र-शस्त्र और आभूषण भी पिसकर चूर्ण हो गये थे। दानवोंके शरीरों और कवचोंके सौ-सौ टुकड़े दिखायी देते थे। वहाँ दैत्योंकी इतनी लाशें पड़ी थीं कि घोड़ोंके लिये एकके बाद दूसरा पैर रखनेके लिये कोई स्थान नहीं रह गया था। अतः वे अन्तरिक्षचारी अश्व वहाँसे सहसा उछलकर आकाशमें खड़े हो गये ॥ ५-६ ॥

ततो निवातकवचा व्योम संछाद्य केवलम् ।
अदृश्या ह्यत्यवर्तन्त विसृजन्तः शिलोच्चयान् ॥ ७ ॥

तदनन्तर निवातकवचोंने अदृश्यरूपसे ही आक्रमण किया और केवल आकाशको आच्छादित करके पत्थरोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ७ ॥

अन्तर्भूमिगताश्चान्ये हयानां चरणान्यथ ।
व्यगृह्णन् दानवा घोरा रथचक्रे च भारत ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! कुछ भयंकर दानवोंने, जो पृथ्वीके भीतर घुसे हुए थे, मेरे घोड़ोंके पैर तथा रथके पहिये पकड़ लिये ॥ ८ ॥

विनिगृह्य हरीनश्वान् रथं च मम युध्यतः ।
सर्वतो मामविध्यन्त सरथं धरणीधरैः ॥ ९ ॥

इस प्रकार युद्ध करते समय मेरे हरे रङ्गके घोड़ों तथा रथको पकड़कर उन दानवोंने रथसहित मेरे ऊपर सब ओरसे शिला-खण्डोंद्वारा प्रहार आरम्भ किया ॥ ९ ॥

पर्वतैरुपचीयद्भिः पतमानैस्तथापरैः ।
स देशो यत्र वर्ताम गुहेव समपद्यत ॥ १० ॥

नीचे पर्वतोंके ढेर लग रहे थे और ऊपरसे नयी-नयी चट्टानें पड़ रही थीं। इससे वह प्रदेश जहाँ हमलोग मौजूद थे, एक गुफाके समान बन गया ॥ १० ॥

पर्वतैश्छाद्यमानोऽहं निगृहीतैश्च वाजिभिः ।
अगच्छं परमामार्तिं मातलिस्तदलक्षयत् ॥ ११ ॥

एक ओर तो मैं शिला-खण्डोंसे आच्छादित हो रहा था, दूसरी ओर मेरे घोड़े पकड़ लिये जानेसे रथकी गति कुण्ठित हो गयी थी। इस विवशताकी दशामें मुझे बड़ी पीड़ा होने लगी, जिसे मातलिने जान लिया ॥ ११ ॥

लक्षयित्वा च मां भीतमिदं वचनमब्रवीत् ।
अर्जुनार्जुन मा भैस्त्वं वज्रमस्त्रमुदीरय ॥ १२ ॥

इस प्रकार मुझे भयभीत हुआ देख मातलिने कहा— 'अर्जुन ! अर्जुन ! तुम डरो मत। इस समय वज्रास्त्रका प्रयोग करो' ॥ १२ ॥

ततोऽहं तस्य तद् वाक्यं श्रुत्वा वज्रमुदीरयम् ।
देवराजस्य दयितं भीममस्त्रं नराधिप ॥ १३ ॥

महाराज ! मातलिका वह वचन सुनकर मैंने देवराजके परम प्रिय तथा भयंकर अस्त्र वज्रका प्रयोग किया ॥ १३ ॥

अचलं स्थानमासाद्य गाण्डीवमनुमन्त्र्य च ।
अमुञ्चं वज्रसंस्पर्शानायसान् निशितान् शरान् ॥ १४ ॥

अविचल स्थानका आश्रय ले गाण्डीव धनुषको वज्रास्त्रसे अभिमन्त्रित करके मैंने लोहेके तीखे बाण छोड़े, जिनका स्पर्श वज्रके समान कठोर था ॥ १४ ॥

ततो मायाश्च ताः सर्वा निवातकवचांश्च तान् ।
ते वज्रचोदिता बाणा वज्रभूताः समाविशन् ॥ १५ ॥

तदनन्तर वज्रास्त्रसे प्रेरित हुए वे वज्रस्वरूप बाण पूर्वोक्त सारी मायाओं तथा निवातकवच दानवोंके भीतर घुस गये ॥ १५ ॥

ते वज्रवेगविहता दानवाः पर्वतोपमाः ।
इतरेतरमाश्लिष्य न्यपतन् पृथिवीतले ॥ १६ ॥

फिर तो वज्रके वेगसे मारे गये वे पर्वताकार दानव एक दूसरेका आलिङ्गन करते हुए धराशायी हो गये ॥ १६ ॥

अन्तर्भूमौ च येऽगृह्णन् दानवा रथवाजिनः ।
अनुप्रविश्य तान् बाणाः प्राहिण्वन् यमसादनम् ॥ १७ ॥

पृथ्वीके भीतर घुसकर जिन दानवोंने मेरे रथके घोड़ोंको पकड़ रक्खा था, उनके शरीरमें भी घुसकर मेरे बाणोंने उन सबको यमलोक भेज दिया ॥ १७ ॥

हतैर्निवातकवचैर्निरस्तैः पर्वतोपमैः ।
समाच्छाद्यत देशः स विकीर्णैरिव पर्वतैः ॥ १८ ॥

वहाँ मरकर गिरे हुए पर्वताकार निवातकवच इधर-उधर बिखरे हुए पर्वतोंके समान जान पड़ते थे। वहाँका सारा प्रदेश उनकी लाशोंसे पट गया था ॥ १८ ॥

न हयानां क्षतिः काचिन्न रथस्य न मातलेः ।
मम चादृश्यत तदा तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १९ ॥

उस समयके युद्धमें न तो घोड़ोंको कोई हानि पहुँची, न रथका ही कोई सामान टूटा, न मातलिको ही चोट लगी और न मेरे ही शरीरमें कोई आघात दिखायी दिया, यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ १९ ॥

ततो मां प्रहसन् राजन् मातलिः प्रत्यभाषत ।
नैतदर्जुन देवेषु त्वयि वीर्यं यदीक्ष्यते ॥ २० ॥

तब मातलिने हँसते हुए मुझसे कहा—'अर्जुन ! तुममें जो पराक्रम दिखायी देता है, वह देवताओंमें भी नहीं है' ॥

हतेष्वसुरसंघेषु दारास्तेषां तु सर्वशः ।
प्राक्रोशन् नगरे तस्मिन् यथा शरदि सारसाः ॥ २१ ॥

उन असुरसमूहोंके मारे जानेपर उनकी सारी स्त्रियाँ उस नगरमें जोर-जोरसे करुण-क्रन्दन करने लगीं, मानो शरत्कालमें सारस पक्षी बोल रहे हों ॥ २१ ॥

ततो मातलिना सार्धमहं तत् पुरमभ्ययाम् ।
त्रासयन् रथघोषेण निवातकवचस्त्रियः ॥ २२ ॥

तब मैं मातलिके साथ रथकी घर्घराहटसे निवातकवचोंकी स्त्रियोंको भयभीत करता हुआ उस दैत्य-नगरमें गया ॥२२॥

तान् दृष्ट्वा दशसाहस्रान् मयूरसदृशान् हयान् ।
रथं च रविसंकाशं प्राद्रवन् गणशः स्त्रियः ॥ २३ ॥

मोरके समान सुन्दर उन दस हजार घोड़ोंको तथा सूर्यके समान तेजस्वी उस दिव्य रथको देखते ही झुंड-की-झुंड दानव-स्त्रियाँ इधर-उधर भाग चलीं ॥ २३ ॥

ताभिराभरणैः शब्दस्त्रासिताभिः समीरितः ।
शिलानामिव शैलेषु पतन्तीनामभूत् तदा ॥ २४ ॥

उन डरी हुई निशाचरियोंके आभूषणोंके द्वारा उत्पन्न हुआ शब्द पर्वतोंपर पड़ती हुई शिलाओंके समान जान पड़ता था ॥

वित्रस्ता दैत्यनार्यस्ताः स्वानि वेश्मान्यथाविशन् ।
बहुरत्नविचित्राणि शातकुम्भमयानि च ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् वे भयभीत हुई दैत्यनारियाँ अपने-अपने घरोंमें घुस गयीं। उनके महल सोनेके बने हुए थे और अनेक प्रकारके रत्नोंसे उनकी विचित्र शोभा होती थी ॥ २५ ॥

तदद्भुताकारमहं दृष्ट्वा नगरमुत्तमम् ।
विशिष्टं देवनगरादपृच्छं मातलिं ततः ॥ २६ ॥

वह उत्तम एवं अद्भुत नगर देवपुरीसे भी श्रेष्ठ दिखायी देता था । तब उसे देखकर मैंने मातलिसे पूछा—॥ २६ ॥

इदमेवंविधं कस्माद् देवा नावासयन्त्युत ।
पुरंदरपुराद्धीदं विशिष्टमिति लक्षये ॥ २७ ॥

'सारथे ! [illegible] क्यों नहीं [illegible] हैं ? यह नगर तो मुझे इन्द्रपुरीसे भी बढ़कर दिखायी देता है'' ॥ २७ ॥

मातलिरुवाच

आसीदिदं पुरा पार्थ देवराजस्य नः पुरम् ।
ततो निवातकवचैरितः प्रच्याविताः सुराः ॥ २८ ॥

मातलि बोले—पार्थ ! पूर्वकालमें यह नगर हमारे देवराजके ही अधिकारमें था । फिर निवातकवचोंने आकर देवताओंको यहाँसे निकाल दिया ॥ २८ ॥

तपस्तप्त्वा महत् तीव्रं प्रसाद्य च पितामहम् ।
इदं वृतं निवासाय देवेभ्यश्चाभयं युधि ॥ २९ ॥

उन्होंने अत्यन्त तीव्र तपस्या करके पितामह ब्रह्माजीको प्रसन्न किया और उनसे अपने रहनेके लिये यही नगर माँग लिया । साथ ही यह भी माँगा कि 'हमें युद्धमें देवताओं-से भय न हो' ॥ २९ ॥

ततः शक्रेण भगवान् स्वयंभूरिति चोदितः ।
विधत्तां भगवानन्तमात्मनो हितकाम्यया ॥ ३० ॥

तब इन्द्रने भगवान् ब्रह्माजीसे इस प्रकार निवेदन किया—'प्रभो ! अपने (और हमारे) हितके लिये आप ही इन दानवोंका अन्त कीजिये' ॥ ३० ॥

तत उक्तो भगवता दिष्टमत्रेति भारत ।
भवितान्तस्त्वमप्येषां देहेनान्येन शत्रुहन् ॥ ३१ ॥

भरत-नन्दन ! उनके ऐसा कहनेपर भगवान् ब्रह्माने कहा—'शत्रुदमन देवराज ! इसमें दैवका यही विधान है कि तुम्हीं दूसरा शरीर धारण करके इन दानवोंका अन्त कर सकोगे' ॥ ३१ ॥

तत एषां वधार्थाय शक्रोऽस्त्राणि ददौ तव ।
न हि शक्याः सुरैर्हन्तुं य एते निहतास्त्वया ॥ ३२ ॥

(अर्जुन ! तुम्हीं इन्द्रके दूसरे स्वरूप हो ।) इन दैत्योंके वधके लिये ही इन्द्रने तुम्हें दिव्यास्त्र प्रदान किये हैं । आज जो ये दानव तुम्हारे हाथों मारे गये हैं, इन्हें देवता नहीं मार सकते थे ॥ ३२ ॥

कालस्य परिणामेन ततस्त्वमिह भारत ।
एषामन्तकरः प्राप्तस्तत् त्वया च कृतं तथा ॥ ३३ ॥

भारत ! समयके फेरसे ही तुम इनका विनाश करनेके लिये यहाँ आ पहुँचे हो और तुमने जैसा दैवका विधान था, उसके अनुसार इनका संहार कर डाला है ॥ ३३ ॥

दानवानां विनाशाय अस्त्राणां परमं बलम् ।
ग्राहितस्त्वं महेन्द्रेण पुरुषेन्द्र तदुत्तमम् ॥ ३४ ॥

पुरुषोत्तम ! देवराज इन्द्रने इन दानवोंके विनाशके उद्देश्य [illegible] उत्तम अस्त्र-बलकी प्राप्ति करायी है ॥ ३४ ॥

अर्जुन उवाच

ततः प्रशाम्य नगरं दानवांश्च निहत्य तान्।
पुनर्मातलिना सार्धमगच्छं देवसद्म तत् ॥ ३५ ॥

अर्जुन कहते हैं—महाराज ! इस प्रकार उन दानवोंका संहार करके नगरमें शान्ति स्थापित करनेके पश्चात् मैं मातलिके साथ पुनः उस देवलोकको लौट आया ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि निवातकवचयुद्धे द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें निवातकवचयुद्धविषयक एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७२ ॥

त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा हिरण्यपुरवासी पौलोम तथा कालकेयोंका वध और इन्द्रद्वारा अर्जुनका अभिनन्दन

अर्जुन उवाच

निवर्तमानेन मया महद् दृष्टं ततोऽपरम्।
पुरं कामचरं दिव्यं पावकार्कसमप्रभम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—राजन् ! तत्पश्चात् लौटते समय मार्गमें मैंने एक दूसरा दिव्य एवं विशाल नगर देखा, जो अग्नि और सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था। वह अपने निवासियोंकी इच्छाके अनुसार सर्वत्र आ-जा सकता था ॥ १ ॥

रत्नद्रुममयैश्चित्रैः सुस्वरैश्च पतत्त्रिभिः।
पौलोमैः कालकञ्जैश्च नित्यहृष्टैरधिष्ठितम् ॥ २ ॥

विचित्र रत्नमय वृक्ष और मधुर स्वरमें बोलनेवाले पक्षी उस नगरकी शोभा बढ़ाते थे। पौलोम और कालकञ्ज नामक दानव सदा प्रसन्नतापूर्वक वहाँ निवास करते थे ॥ २ ॥

गोपुराट्टालकोपेतं चतुर्द्वारं दुरासदम्।
सर्वरत्नमयं दिव्यमद्भुतोपमदर्शनम् ॥ ३ ॥

उस नगरमें ऊँचे-ऊँचे गोपुरोंसहित सुन्दर अट्टालिकाएँ सुशोभित थीं। उसमें चारों दिशाओंमें एक-एक करके चार फाटक लगे थे। शत्रुओंके लिये उस नगरमें प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन था। सब प्रकारके रत्नोंसे निर्मित वह दिव्य नगर अद्भुत दिखायी देता था ॥ ३ ॥

द्रुमैः पुष्पफलोपेतैः सर्वरत्नमयैर्वृतम्।
तथा पतत्त्रिभिर्दिव्यैरुपेतं सुमनोहरैः ॥ ४ ॥

फल और फूलोंसे भरे हुए सर्वरत्नमय वृक्ष उस नगरको सब ओरसे घेरे हुए थे तथा वह नगर दिव्य एवं अत्यन्त मनोहर पक्षियोंसे युक्त था ॥ ४ ॥

असुरैर्नित्यमुदितैः शूलर्ष्टिमुसलायुधैः।
चापमुद्गरहस्तैश्च स्रग्विभिः सर्वतो वृतम् ॥ ५ ॥

सदा प्रसन्न रहनेवाले बहुतसे असुर गलेमें सुन्दर माला धारण किये और हाथोंमें शूल, ऋष्टि, मूसल, धनुष तथा मुद्गर आदि अस्त्र-शस्त्र लिये सब ओरसे घेरकर उस नगरकी रक्षा करते थे ॥ ५ ॥

तदहं प्रेक्ष्य दैत्यानां पुरमद्भुतदर्शनम्।
अपृच्छं मातलिं राजन् किमिदं वर्ततेऽद्भुतम् ॥ ६ ॥

राजन् ! दैत्योंके उस अद्भुत दिखायी देनेवाले नगरको देखकर मैंने मातलिसे पूछा—'सारथे ! यह कौन-सा अद्भुत नगर है ?' ॥ ६ ॥

मातलिरुवाच

पुलोमा नाम दैतेयी कालका च महासुरी।
दिव्यं वर्षसहस्रं ते चेरतुः परमं तपः ॥ ७ ॥
तपसोऽन्ते ततस्ताभ्यां स्वयम्भूरदद् वरम्।
अगृह्णीतां वरं ते तु सुतानामल्पदुःखताम् ॥ ८ ॥

मातलिने कहा—पार्थ! दैत्यकुलकी कन्या पुलोमा तथा महान् असुरवंशकी कन्या कालका—उन दोनोंने एक हजार दिव्य वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की। तदनन्तर तपस्या पूर्ण होनेपर भगवान् ब्रह्माजीने उन दोनोंको वर दिया। उन्होंने यही वर माँगा कि 'हमारे पुत्रोंका दुःख दूर हो जाय' ॥ ७-८ ॥

अवध्यतां च राजेन्द्र सुरराक्षसपन्नगैः।
पुरं सुरमणीयं च खचरं सुमहाप्रभम् ॥ ९ ॥
सर्वरत्नैः समुदितं दुर्धर्षममरैरपि।
महर्षियक्षगन्धर्वपन्नगासुरराक्षसैः ॥ १० ॥
सर्वकामगुणोपेतं वीतशोकमनामयम्।
ब्रह्मणा भरतश्रेष्ठ कालकेयकृते कृतम् ॥ ११ ॥
तदेतत् खपुरं दिव्यं चरत्यमरवर्जितम्।
पौलोमाध्युषितं वीर कालकञ्जैश्च दानवैः ॥ १२ ॥

राजेन्द्र ! उन दोनोंने यह भी प्रार्थना की कि 'हमारे पुत्र देवता, राक्षस तथा नागोंके लिये भी अवध्य हों। इनके रहनेके लिये एक सुन्दर नगर होना चाहिये, जो अपने [illegible] विमानकी

भाँति आकाशमें विचरनेवाला होना चाहिये, उसमें सब प्रकारके रत्नोंका संचय रहना चाहिये, देवता, महर्षि, यक्ष, गन्धर्व, नाग, असुर तथा राक्षस कोई भी उसका विध्वंस न कर सके। वह नगर समस्त मनोवाञ्छित गुणोंसे सम्पन्न, शोकशून्य तथा रोग आदिसे रहित होना चाहिये ।' भरतश्रेष्ठ ! ब्रह्माजीने कालकेयोंके लिये वैसे ही नगरका निर्माण किया था। यह वही आकाशचारी दिव्य नगर है, जो सर्वत्र विचरता है। इसमें देवताओंका प्रवेश नहीं है। वीरवर ! इसमें पौलोम और कालकञ्ज नामक दानव ही निवास करते हैं ॥ ९-१२ ॥

हिरण्यपुरमित्येवं ख्यायते नगरं महत्।
रक्षितं कालकेयैश्च पौलोमैश्च महासुरैः ॥ १३ ॥

यह विशाल नगर हिरण्यपुरके नामसे विख्यात है। कालकेय तथा पौलोम नामक महान् असुर इसकी रक्षा करते हैं ॥ १३ ॥

त एते मुदिता राजन्नवध्याः सर्वदैवतैः।
निवसन्त्यत्र राजेन्द्र गतोद्वेगा निरुत्सुकाः ॥ १४ ॥

राजन् ! ये वे ही दानव हैं, जो सम्पूर्ण देवताओंसे अवध्य रहकर उद्वेग तथा उत्कण्ठासे रहित हो यहाँ प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं ॥ १४ ॥

मानुषान्मृत्युरेतेषां निर्दिष्टो ब्रह्मणा पुरा।
एतानपि रणे पार्थ कालकञ्जान् दुरासदान्।
वज्रास्त्रेण नयस्वाशु विनाशं सुमहाबलान् ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें ब्रह्माजीने मनुष्यके हाथसे इनकी मृत्यु निश्चित की थी। कुन्तीकुमार ! ये कालकञ्ज और पौलोम अत्यन्त बलवान् तथा दुर्धर्ष हैं। तुम युद्धमें वज्रास्त्रके द्वारा इनका भी शीघ्र ही संहार कर डालो ॥ १५ ॥

अर्जुन उवाच

सुरासुरैरवध्यं तदहं ज्ञात्वा विशाम्पते।
अब्रुवं मातलिं हृष्टो याह्येतत् पुरमञ्जसा ॥ १६ ॥

अर्जुन बोले--राजन् ! उस हिरण्यपुरको देवताओं और असुरोंके लिये अवध्य जानकर मैंने मातलिसे प्रसन्नतापूर्वक कहा--'आप यथाशीघ्र इस नगरमें अपना रथ ले चलिये ॥१६॥

त्रिदशेशद्विषो यावत् क्षयमस्त्रैर्नयाम्यहम्।
न कथञ्चिद्धि मे पापा न वध्या ये सुरद्विषः ॥ १७ ॥

'जिससे देवराजके द्रोहियोंको मैं अपने अस्त्रोंद्वारा नष्ट कर डालूँ ? जो देवताओंसे द्वेष रखते हैं, उन पापियोंको मैं किसी प्रकार मारे बिना नहीं छोड़ सकता' ॥ १७ ॥

उवाह मां ततः शीघ्रं हिरण्यपुरमन्तिकात्।
रथेन तेन दिव्येन हरियुक्तेन मातलिः ॥ १८ ॥

मेरे ऐसा कहनेपर मातलिने घोड़ोंसे युक्त उस दिव्य रथके द्वारा मुझे शीघ्र ही हिरण्यपुरके निकट पहुँचा दिया ॥

ते मामालक्ष्य दैतेया विचित्राभरणाम्बराः।
समुत्पेतुर्महावेगा रथानास्थाय दंशिताः ॥ १९ ॥

मुझे देखते ही विचित्र वस्त्राभूषणोंसे विभूषित वे दैत्य कवच पहनकर अपने रथोंपर जा बैठे और बड़े वेगसे मेरे ऊपर टूट पड़े ॥ १९ ॥

ततो नालीकनाराचैर्भल्लैः शक्त्यृष्टितोमरैः।
प्रत्यघ्नन् दानवेन्द्रा मां क्रुद्धास्तीव्रपराक्रमाः ॥ २० ॥

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए उन प्रचण्ड पराक्रमी दानवेन्द्रोंने नालीक, नाराच, भल्ल, शक्ति, ऋष्टि तथा तोमर आदि अस्त्रोंद्वारा मुझे मारना आरम्भ किया ॥ २० ॥

तदहं शरवर्षेण महता प्रत्यवारयम्।
शस्त्रवर्षं महद् राजन् विद्याबलमुपाश्रितः ॥ २१ ॥
व्यामोहयं च तान् सर्वान् रथमार्गैश्चरन् रणे।
तेऽन्योन्यमभिसम्मूढाः पातयन्ति स्म दानवान् ॥ २२ ॥

राजन् ! उस समय मैंने विद्या-बलका आश्रय लेकर महती बाण-वर्षाके द्वारा उनके अस्त्र-शस्त्रोंकी भारी बौछारको रोका और युद्ध-भूमिमें रथके विभिन्न पैंतरें बदलकर विचरते हुए उन सबको मोहमें डाल दिया। वे ऐसे किंकर्तव्यविमूढ हो रहे थे कि आपसमें ही लड़कर एक-दूसरे दानवोंको धराशायी करने लगे ॥ २१-२२ ॥

तेषामेवं विमूढानामन्योन्यमभिधावताम्।
शिरांसि विशिखैर्दीप्तैर्न्यहनं शतसङ्घशः ॥ २३ ॥

इस प्रकार मूढ़चित्त हो आपसमें ही एक-दूसरेपर धावा करनेवाले उन दानवोंके सौ-सौ मस्तकोंको मैं अपने प्रज्वलित बाणोंद्वारा काट-काटकर गिराने लगा ॥ २३ ॥

ते वध्यमाना दैतेयाः पुरमास्थाय तत् पुनः।
खमुत्पेतुः सनगरा मायामास्थाय दानवीम् ॥ २४ ॥

वे दैत्य जब इस प्रकार मारे जाने लगे, तब पुनः अपने उस नगरमें ही घुस गये और दानवी मायाका सहारा ले नगरसहित आकाशमें ऊँचे उड़ गये ॥ २४ ॥

ततोऽहं शरवर्षेण महता कुरुनन्दन।
मार्गमावृत्य दैत्यानां गतिं चैषामवारयम् ॥ २५ ॥

कुरुनन्दन ! तब मैंने बाणोंकी भारी बौछार करके दैत्योंका मार्ग रोक लिया और उनकी गति कुण्ठित कर दी ॥

तत् पुरं खचरं दिव्यं कामगं सूर्यसप्रभम्।
दैतेयैर्वरदानेन धार्यते स्म यथासुखम् ॥ २६ ॥

सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाला दैत्योंका वह आकाशचारी दिव्य नगर उनकी इच्छाके अनुसार चलने-

वाला था और दैत्यलोग वरदानके प्रभावसे उसे सुखपूर्वक आकाशमें धारण करते थे ॥ २६ ॥

अन्तर्भूमौ निपतति पुनरूर्ध्वं प्रतिष्ठते ।
पुनस्तिर्यक् प्रयात्याशु पुनरप्सु निमज्जति ॥ २७ ॥

वह दिव्य पुर कभी पृथ्वीपर अथवा पातालमें चला जाता, कभी ऊपर उड़ जाता, कभी तिरछी दिशाओंमें चलता और कभी शीघ्र ही जलमें डूब जाता था ॥ २७ ॥

अमरावतिसंकाशं तत् पुरं कामगं महत् ।
अहमस्त्रैर्बहुविधैः प्रत्यगृह्णं परंतप ॥ २८ ॥

परंतप ! इच्छानुसार विचरनेवाला वह विशाल नगर अमरावतीके ही तुल्य था; परंतु मैंने नाना प्रकारके अस्त्रोंद्वारा उसे सब ओरसे रोक लिया ॥ २८ ॥

ततोऽहं शरजालेन दिव्यास्त्रनुदितेन च ।
व्यगृह्णं सह दैतेयैस्तत् पुरं पुरुषर्षभ ॥ २९ ॥

नरश्रेष्ठ ! फिर दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणसमूहोंकी वृष्टि करते हुए मैंने दैत्योंसहित उस नगरको क्षत-विक्षत करना आरम्भ किया ॥ २९ ॥

विक्षतं चायसैर्बाणैर्मत्प्रयुक्तैरजिह्मगैः ।
महीमभ्यपतद् राजन् प्रभग्नं पुरमासुरम् ॥ ३० ॥

राजन् ! मेरे चलाये हुए लोहनिर्मित बाण सीधे लक्ष्यतक पहुँचनेवाले थे । उनसे क्षतिग्रस्त हुआ वह दैत्य-नगर तहस-नहस होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३० ॥

ते वध्यमाना मद्बाणैर्वज्रवेगैरयस्मयैः ।
पर्यभ्रमन्त वै राजन्नसुराः कालचोदिताः ॥ ३१ ॥

महाराज ! लोहेके बने हुए मेरे बाणोंका वेग वज्रके समान था । उनकी मार खाकर वे कालप्रेरित असुर चारों ओर चक्कर काटने लगते थे ॥ ३१ ॥

ततो मातलिरारुह्य पुरस्तान्निपतन्निव ।
महीमवातरत् क्षिप्रं रथेनादित्यवर्चसा ॥ ३२ ॥

तदनन्तर मातलि आकाशमें ऊँचे चढ़कर सूर्यके समान तेजस्वी रथद्वारा उन राक्षसोंके सामने गिरते हुए-से शीघ्र ही पृथ्वीपर उतरे ॥ ३२ ॥

ततो रथसहस्राणि षष्टिस्तेषाममर्षिणाम् ।
युयुत्सूनां मया सार्धं पर्यवर्तन्त भारत ।
तान्यहं निशितैर्बाणैर्व्यधमं गार्ध्रराजितैः ॥ ३३ ॥

भरतनन्दन ! उस समय युद्धकी इच्छासे अमर्षमें भरे हुए उन दानवोंके साठ हजार रथ मेरे साथ लड़नेके लिये डट गये । यह देख मैंने गृद्धपङ्खसे सुशोभित तीखे बाणोंद्वारा उन दानवोंको घायल करना आरम्भ किया ॥ ३३ ॥

ते युद्धे सन्न्यवर्तन्त समुद्रस्य यथोर्मयः ।
नेमे शक्या मानुषेण युद्धेनेति प्रचिन्त्य तत् ॥ ३४ ॥
ततोऽहमानुपूर्व्येण दिव्यान्यस्त्राण्ययोजयम् ।

परंतु वे दानव युद्धके लिये इस प्रकार मेरी ओर चढ़े आ रहे थे, मानो समुद्रकी लहरें उठ रही हों । तब मैंने यह सोचकर कि मानवोचित युद्धके द्वारा इनपर विजय नहीं पायी जा सकती, क्रमशः दिव्यास्त्रोंका प्रयोग आरम्भ किया ॥ ३४½ ॥

ततस्तानि सहस्राणि रथिनां चित्रयोधिनाम् ॥ ३५ ॥
अस्त्राणि मम दिव्यानि प्रत्यघ्नन् शनकैरिव ।

परंतु विचित्र युद्ध करनेवाले वे सहस्रों रथारूढ़ दानव धीरे-धीरे मेरे दिव्यास्त्रोंका भी निवारण करने लगे ॥ ३५½ ॥

रथमार्गान् विचित्रांस्ते विचरन्तो महाबलाः ॥ ३६ ॥
प्रत्यदृश्यन्त संग्रामे शतशोऽथ सहस्रशः ।

वे महान् बलवान् तो थे ही, रथके विचित्र पैंतरे बदलकर रण-भूमिमें विचर रहे थे । उस युद्धके मैदानमें उनके सौ-सौ और हजार-हजारके झुंड दिखायी देते थे ॥ ३६½ ॥

विचित्रमुकुटापीडा विचित्रकवचध्वजाः ॥ ३७ ॥
विचित्राभरणाश्चैव नन्दयन्तीव मे मनः ।

उनके मस्तकोंपर विचित्र मुकुट और पगड़ी देखी जाती थी । उनके कवच और ध्वज भी विचित्र ही थे । वे अद्भुत आभूषणोंसे विभूषित हो मेरे लिये मनोरञ्जनकी-सी वस्तु बन गये थे ॥ ३७½ ॥

अहं तु शरवर्षैस्तानस्त्रप्रचुदितै रणे ॥ ३८ ॥
नाशक्नुवं पीडयितुं ते तु मां प्रत्यपीडयन् ।

उस युद्धमें दिव्यास्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित बाणोंकी वर्षा करके भी मैं उन्हें पीड़ित न कर सका; परंतु वे मुझे बहुत पीड़ा देने लगे ॥ ३८½ ॥

तैः पीड्यमानो बहुभिः कृतास्त्रैः कुशलैर्युधि ॥ ३९ ॥
व्यथितोऽस्मि महायुद्धे भयं चागान्महन्मम ।

वे अस्त्रोंके ज्ञाता तथा युद्धकुशल थे, उनकी संख्या भी बहुत थी । उस महान् संग्राममें उन दानवोंसे पीड़ित होनेपर मेरे मनमें महान् भय समा गया ॥ ३९½ ॥

ततोऽहं देवदेवाय रुद्राय प्रयतो रणे ॥ ४० ॥
(प्रयतः प्रणतो भूत्वा नमस्कृत्य महात्मने ।)
स्वस्ति भूतेभ्य इत्युक्त्वा महास्त्रं समचोदयम् ।

तब मैंने एकाग्रचित्त हो मस्तक झुकाकर देवाधिदेव महात्मा रुद्रको प्रणाम किया और 'समस्त भूतोंका कल्याण हो' ऐसा कहकर उनके महान् पाशुपतास्त्रका प्रयोग किया ॥

यत् तद् रौद्रमिति ख्यातं सर्वामित्रविनाशनम् ॥ ४१ ॥

(महत् पाशुपतं दिव्यं सर्वलोकनमस्कृतम् ।)
ततोऽपश्यं त्रिशिरसं पुरुषं नवलोचनम् ।
त्रिमुखं षड्भुजं दीप्तमर्कज्वलनमूर्धजम् ॥ ४२ ॥

उसीको 'रौद्रास्त्र' भी कहते हैं । वह समस्त शत्रुओंका विनाश करनेवाला है । वह महान् एवं दिव्य पाशुपतास्त्र सम्पूर्ण विश्वके लिये वन्दनीय है । उसका प्रयोग करते ही मुझे एक दिव्य पुरुषका दर्शन हुआ, जिनके तीन मस्तक, तीन मुख, नौ नेत्र तथा छः भुजाएँ थीं । उनका स्वरूप बड़ा तेजस्वी था । उनके मस्तकके बाल सूर्यके समान प्रज्वलित हो रहे थे ॥ ४१-४२ ॥

लेलिहानैर्महानागैः कृतचीरममित्रहन् ।
(भक्तानुकम्पिनं देवं नागयज्ञोपवीतिनम् ।)
विभीस्ततस्तदस्त्रं तु घोरं रौद्रं सनातनम् ॥ ४३ ॥
दृष्ट्वा गाण्डीवसंयोगमानीय भरतर्षभ ।
नमस्कृत्वा त्रिनेत्राय शर्वायामिततेजसे ॥ ४४ ॥
मुक्तवान् दानवेन्द्राणां पराभावाय भारत ।
मुक्तमात्रे ततस्तस्मिन् रूपाण्यासन् सहस्रशः ॥४५॥

शत्रुदमन नरेश ! लपलपाती जीभवाले बड़े-बड़े नाग उन दिव्य पुरुषके लिये चीर (वस्त्र) बने हुए थे । भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले उन महादेवजीने सर्पोंका ही यज्ञोपवीत धारण कर रक्खा था । उनके दर्शनसे मेरा सारा भय जाता रहा । भरतश्रेष्ठ ! फिर तो मैंने उस भयंकर एवं सनातन पाशुपतास्त्रको गाण्डीव धनुषपर संयोजित करके अमित तेजस्वी त्रिनेत्रधारी भगवान् शङ्करको नमस्कार किया और उन दानवेन्द्रोंके विनाशके लिये उनपर चला दिया । उस अस्त्रके छूटते ही उससे सहस्रों रूप प्रकट हो गये ४३—४५

मृगाणामथ सिंहानां व्याघ्राणां च विशाम्पते ।
ऋक्षाणां महिषाणां च पन्नगानां तथा गवाम् ॥ ४६ ॥
शरभाणां गजानां च वानराणां च सङ्घशः ।
ऋषभाणां वराहाणां मार्जाराणां तथैव च ॥ ४७ ॥
शालावृकाणां प्रेतानां भुरुण्डानां च सर्वशः ।
गृध्राणां गरुडानां च चमराणां तथैव च ॥ ४८ ॥
देवानां च ऋषीणां च गन्धर्वाणां च सर्वशः ।
पिशाचानां सयक्षाणां तथैव च सुरद्विषाम् ॥ ४९ ॥
गुह्यकानां च संग्रामे नैर्ऋतानां तथैव च ।
झषाणां गजवक्त्राणामुलूकानां तथैव च ॥ ५० ॥
मीनवाजिसरूपाणां नानाशस्त्रासिपाणिनाम् ।
तथैव यातुधानानां गदामुद्गरधारिणाम् ॥ ५१ ॥

महाराज ! मृग, सिंह, व्याघ्र, रीछ, भैंस, नाग, गौ, शरभ, हाथी, वानर, बैल, सूअर, बिलाव, भेड़िये, प्रेत, भुरुण्ड, गिद्ध, गरुड, चमरी गाय, देवता, ऋषि, गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, देवद्रोही राक्षस, गुह्यक, निशाचर, मत्स्य, गजमुख, उल्लू, मीन तथा अश्व-जैसे रूपवाले नाना प्रकारके जीवोंका प्रादुर्भाव हुआ । उन सबके हाथमें भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र एवं खड्ग थे । इसी प्रकार गदा और मुद्गर धारण किये बहुत-से यातुधान भी प्रकट हुए ॥ ४६—५१ ॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्नानारूपधरैस्तथा ।
सर्वमासीज्जगद् व्याप्तं तस्मिन्नस्त्रे विसर्जिते ॥ ५२ ॥
त्रिशिरोभिश्चतुर्दंष्ट्रैश्चतुरास्यैश्चतुर्भुजैः ।
अनेकरूपसंयुक्तैर्मांसमेदोवसास्थिभिः ॥ ५३ ॥

इन सबके साथ दूसरे भी बहुत-से जीवोंका प्राकट्य हुआ, जिन्होंने नाना प्रकारके रूप धारण कर रक्खे थे । उन सबके द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त-सा हो गया था । पाशुपतास्त्रका प्रयोग होते ही कोई तीन मस्तक, कोई चार दाढ़ें, कोई चार मुख और कोई चार भुजावाले अनेक रूपधारी प्राणी प्रकट हुए, जो मांस, मेदा, वसा और हड्डियोंसे संयुक्त थे ॥

अभीक्ष्णं वध्यमानास्ते दानवा नाशमागताः ।
अर्कज्वलनतेजोभिर्वज्राशनिसमप्रभैः ॥ ५४ ॥
अद्रिसारमयैश्चान्यैर्बाणैररिनिबर्हणैः ।
न्यहनं दानवान् सर्वान् मुहूर्तेनैव भारत ॥ ५५ ॥

उन सबके द्वारा गहरी मार पड़नेसे वे सारे दानव नष्ट हो गये । भारत ! उस समय सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी तथा वज्र और अशनिके समान प्रकाशित होनेवाले शत्रु-विनाशक लोहमय बाणोंद्वारा भी मैंने दो ही घड़ीमें सम्पूर्ण दानवोंका संहार कर डाला ॥ ५४-५५ ॥

गाण्डीवास्त्रप्रणुन्नांस्तान् गतासून् नभसश्च्युतान् ।
दृष्ट्वाहं प्रणमं भूयस्त्रिपुरघ्नाय वेधसे ॥ ५६ ॥

गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए अस्त्रोंद्वारा क्षत-विक्षत हो समस्त दानव प्राण त्यागकर आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़े हैं । यह देखकर मैंने पुनः त्रिपुरनाशक भगवान् शङ्करको प्रणाम किया ॥ ५६ ॥

तथा रौद्रास्त्रनिष्पिष्टान् दिव्याभरणभूषितान् ।
निशाम्य परमं हर्षमगमद् देवसारथिः ॥ ५७ ॥

दिव्य आभूषणोंसे विभूषित दानव पाशुपतास्त्रसे पिस गये हैं, यह देखकर देवसारथि मातलिको बड़ा हर्ष हुआ ॥

तदसह्यं कृतं कर्म देवैरपि दुरासदम् ।
दृष्ट्वा मां पूजयामास मातलिः शक्रसारथिः ॥ ५८ ॥

जो कार्य देवताओंके लिये भी दुष्कर और असह्य था, वह मेरेद्वारा पूरा हुआ देख इन्द्रसारथि मातलिने मेरा बड़ा सम्मान किया ॥ ५८ ॥

उवाच वचनं चेदं प्रीयमाणः कृताञ्जलिः ।
सुरासुरैरसह्यं हि कर्म यत् साधितं त्वया ॥ ५९ ॥

और अत्यन्त प्रसन्न हो हाथ जोड़कर कहा—'अर्जुन !

आज तुमने वह कार्य कर दिखाया है, जो देवताओं और असुरोंके लिये भी असाध्य था ॥ ५९ ॥

न ह्येतत् संयुगे कर्तुमपि शक्तः सुरेश्वरः ।
(ध्रुवं धनंजय प्रीतस्त्वयि शक्रः पुरार्दन ।)
सुरासुरैरवध्यं हि पुरमेतत् खगं महत् ॥ ६० ॥
त्वया विमथितं वीर स्ववीर्यतपसो बलात् ।

'साक्षात् देवराज इन्द्र भी युद्धमें यह सब कार्य करनेकी शक्ति नहीं रखते हैं । हिरण्यपुरका विनाश करनेवाले वीरवर धनंजय ! निश्चय ही देवराज इन्द्र आज तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न होंगे । वीर ! तुमने अपने पराक्रम और तपस्याके बलसे इस आकाशचारी विशाल नगरको तहस-नहस कर डाला, जिसे सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी नष्ट नहीं कर सकते थे' ॥ ६०½ ॥

विध्वस्ते खपुरे तस्मिन् दानवेषु हतेषु च ॥ ६१ ॥
विनदन्त्यः स्त्रियः सर्वा निष्पेतुर्नगराद् बहिः ।
प्रकीर्णकेश्यो व्यथिताः कुरर्य इव दुःखिताः ॥ ६२ ॥

उस आकाशवर्ती नगरका विध्वंस और दानवोंका संहार हो जानेपर वहाँकी सारी स्त्रियाँ विलाप करती हुई नगरसे बाहर निकल आयीं । उनके केश बिखरे हुए थे । वे दुःख और व्यथामें डूबी हुई कुररीकी भाँति करुण-क्रन्दन करती थीं ॥ ६१-६२ ॥

पेतुः पुत्रान् पितॄन् भ्रातॄन् शोचमाना महीतले ।
रुदत्यो दीनकण्ठ्यस्तु निनदन्त्यो हतेश्वराः ॥ ६३ ॥
उरांसि परिनिघ्नन्त्यो विस्रस्तस्रग्विभूषणाः ।

अपने पुत्र, पिता और भाइयोंके लिये शोक करती हुई वे सब-की-सब पृथ्वीपर गिर पड़ीं । जिनके पति मारे गये थे, वे अनाथ अबलाएँ दीनतापूर्ण कण्ठसे रोती-चिल्लाती हुई छाती पीट रही थीं । उनके हार और आभूषण इधर-उधर गिर पड़े थे ॥ ६३½ ॥

तच्छोकयुक्तमश्रीकं दुःखदैन्यसमाहतम् ॥ ६४ ॥
न बभौ दानवपुरं हतत्विट्कं हतेश्वरम् ।
गन्धर्वनगराकारं हतनागमिव ह्रदम् ॥ ६५ ॥
शुष्कवृक्षमिवारण्यमदृश्यमभवत् पुरम् ।

दानवोंका वह नगर शोकमग्न हो अपनी सारी शोभा खो चुका था । वहाँ दुःख और दीनता व्याप्त हो रही थी । अपने प्रभुओंके मारे जानेसे वह दानव-नगर निष्प्रभ और अशोभनीय हो गया था । गन्धर्व-नगरकी भाँति उसका अस्तित्व अयथार्थ जान पड़ता था । जिसका हाथी मर गया हो, उस सरोवर और जहाँके वृक्ष सूख गये हों, उस वनके समान वह नगर अदर्शनीय हो गया था ॥ ६४-६५½ ॥

मां तु संहृष्टमनसं क्षिप्रं मातलिरानयत् ॥ ६६ ॥
देवराजस्य भवनं कृतकर्माणमाहवात् ।

मेरे मनमें तो हर्ष और उत्साह भरा हुआ था । मैंने देवताओंका कार्य पूरा कर दिया था । अतः मातलि उस रण-भूमिसे मुझे शीघ्र ही देवराज इन्द्रके भवनमें ले आये ॥

हिरण्यपुरमुत्सृज्य निहत्य च महासुरान् ॥ ६७ ॥
निवातकवचांश्चैव ततोऽहं शक्रमागमम् ।

इस प्रकार मैं निवातकवच नामक महादानवोंको (तथा पौलोम और कालिकेयोंको) मारकर तथा उजड़े हुए हिरण्यपुरको उसी अवस्थामें छोड़कर वहाँसे इन्द्रके पास आया ॥

मम कर्म च देवेन्द्रं मातलिर्विस्तरेण तत् ॥ ६८ ॥
सर्वं विश्रावयामास यथाभूतं महाद्युते ।

महाद्युते ! मातलिने मेरा सारा कार्य, जो कुछ जैसे हुआ था, देवराज इन्द्रसे विस्तारपूर्वक कह सुनाया ॥ ६८½ ॥

हिरण्यपुरघातं च मायानां च निवारणम् ॥ ६९ ॥
निवातकवचानां च वधं संख्ये महौजसाम् ।
तच्छ्रुत्वा भगवान् प्रीतः सहस्राक्षः पुरंदरः ॥ ७० ॥
मरुद्भिः सहितः श्रीमान् साधु साध्वित्यथाब्रवीत् ।
(परिष्वज्य च मां प्रेम्णा मूर्ध्नि चाघ्राय सस्मितम् ।)
ततो मां देवराजो वै समाश्वास्य पुनः पुनः ॥ ७१ ॥
अब्रवीद् विबुधैः सार्धमिदं स मधुरं वचः ।
अतिदेवासुरं कर्म कृतमेव त्वया रणे ॥ ७२ ॥

हिरण्यपुरका विध्वंस, दानवी मायाका निवारण तथा महाबलवान् निवातकवचोंका युद्धमें वध सुनकर मरुत् आदि देवताओंसहित भगवान् सहस्रलोचन इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हो मुझे साधुवाद देने लगे और मुझे प्रेमपूर्वक हृदयसे लगाकर मुसकराते हुए मेरा मस्तक सूँघा । तत्पश्चात् देवराजने बार-बार मुझे सान्त्वना देते हुए देवताओंके साथ यह मधुर वचन कहा—'पार्थ ! तुमने युद्धमें वह कार्य किया है, जो देवताओं और असुरोंके लिये भी असम्भव है ॥ ६९—७२ ॥

गुर्वर्थश्च कृतः पार्थ महाशत्रून् घ्नता मम ।
एवमेव सदा भाव्यं स्थिरेणाजौ धनंजय ॥ ७३ ॥
असम्मूढेन चास्त्राणां कर्तव्यं प्रतिपादनम् ।
अविषह्यो रणे हि त्वं देवदानवराक्षसैः ॥ ७४ ॥

'आज तुमने मेरे महान् शत्रुओंका संहार करके गुरु-दक्षिणा चुका दी है । धनंजय ! इसी प्रकार तुम्हें सदा युद्धभूमिमें अविचल रहना चाहिये और मोहशून्य होकर अस्त्रोंका प्रयोग करना चाहिये । देवता, दानव तथा राक्षस कोई भी युद्धमें तुम्हारा सामना नहीं कर सकता ॥ ७३-७४ ॥

सयक्षासुरगन्धर्वैः सपक्षिगणपन्नगैः ।
वसुधां चापि कौन्तेय त्वद्बाहुबलनिर्जिताम् ।
पालयिष्यति धर्मात्मा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ७५ ॥

'यक्ष, असुर, गन्धर्व, पक्षी तथा नाग भी तुम्हारे सामने नहीं टिक सकते। कुन्तीकुमार ! धर्मात्मा कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर तुम्हारे बाहु-बलसे जीती हुई पृथ्वीका पालन करेंगे' ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि हिरण्यपुरदैत्यवधे त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें हिरण्यपुरवासी दैत्योंके वधसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका २½ श्लोक मिलाकर कुल ७७½ श्लोक हैं)

चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके मुखसे यात्राका वृत्तान्त सुनकर युधिष्ठिरद्वारा उनका अभिनन्दन और दिव्यास्त्रदर्शनकी इच्छा प्रकट करना

अर्जुन उवाच

ततो मामतिविश्वस्तं संरूढशरविक्षतम् ।
देवराजो विगृह्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

अर्जुन कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर मैं देवराजका अत्यन्त विश्वासपात्र बन गया । धीरे-धीरे मेरे शरीरके सब घाव भर गये । तब एक दिन देवराज इन्द्रने मेरा हाथ पकड़कर कहा,—॥ १ ॥

दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणि त्वयि तिष्ठन्ति भारत ।
न त्वाभिभवितुं शक्तो मानुषो भुवि कश्चन ॥ २ ॥

'भरतनन्दन ! तुममें सब दिव्यास्त्र विद्यमान हैं । भूमण्डलका कोई भी मनुष्य तुम्हें पराजित नहीं कर सकता ॥

भीष्मो द्रोणः कृपः कर्णः शकुनिः सह राजभिः ।
संग्रामस्थस्य ते पुत्र कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ३ ॥

'बेटा ! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण तथा राजाओंसहित शकुनि—ये सब-के-सब संग्राममें खड़े होनेपर तुम्हारी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते' ॥ ३ ॥

इदं च मे तनुत्राणं प्रायच्छन्मघवान् प्रभुः ।
अभेद्यं कवचं दिव्यं स्रजं चैव हिरण्मयीम् ॥ ४ ॥

महाराज ! उन देवेश्वर इन्द्रने स्वयं मेरे शरीरकी रक्षा करनेवाला यह अभेद्य दिव्य कवच और यह सुवर्णमयी माला मुझे दी ॥ ४ ॥

देवदत्तं च मे शङ्खं पुनः प्रादान्महारवम् ।
दिव्यं चेदं किरीटं मे स्वयमिन्द्रो युयोज ह ॥ ५ ॥

फिर उन्होंने बड़े जोरकी आवाज करनेवाला यह देवदत्त नामक शङ्ख प्रदान किया । स्वयं देवराज इन्द्रने ही यह दिव्य किरीट मेरे मस्तकपर रक्खा था ॥ ५ ॥

ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च ।
प्रादाच्छक्रो ममैतानि रुचिराणि बृहन्ति च ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् देवराजने मुझे ये मनोहर एवं विशाल दिव्य वस्त्र तथा दिव्य आभूषण दिये ॥ ६ ॥

एवं सम्पूजितस्तत्र सुखमस्म्युषितो नृप ।
इन्द्रस्य भवने पुण्ये गन्धर्वशिशुभिः सह ॥ ७ ॥

महाराज ! इस प्रकार सम्मानित होकर मैं उस पवित्र इन्द्र-भवनमें गन्धर्वकुमारोंके साथ सुखपूर्वक रहने लगा ॥

ततो मामब्रवीच्छक्रः प्रीतिमानमरैः सह ।
समयोऽर्जुन गन्तुं ते भ्रातरो हि स्मरन्ति ते ॥ ८ ॥

तदनन्तर देवताओंसहित इन्द्रने प्रसन्न होकर मुझसे कहा—'अर्जुन ! अब तुम्हारे जानेका समय आ गया है; क्योंकि तुम्हारे भाई तुम्हें बहुत याद करते हैं' ॥ ८ ॥

एवमिन्द्रस्य भवने पञ्च वर्षाणि भारत ।
उषितानि मया राजन् स्मरता द्यूतजं कलिम् ॥ ९ ॥

भारत ! इस प्रकार द्यूतजनित कलहका स्मरण करते हुए मैंने इन्द्र-भवनमें पाँच वर्ष व्यतीत किये हैं ॥ ९ ॥

ततो भवन्तमद्राक्षं भ्रातृभिः परिवारितम् ।
गन्धमादनपादस्य पर्वतस्यास्य मूर्धनि ॥ १० ॥

इसके बाद इस गन्धमादनकी शाखाभूत इस पर्वतके शिखरपर भाइयोंसहित आपका दर्शन किया है ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

दिष्ट्या धनंजयास्त्राणि त्वया प्राप्तानि भारत ।
दिष्ट्या चाराधितो राजा देवानामीश्वरः प्रभुः ॥ ११ ॥
दिष्ट्या च भगवान् स्थाणुर्देव्या सह परंतप ।
साक्षाद् दृष्टः स्वयुद्धेन तोषितश्च त्वयानघ ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले—धनंजय ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुमने दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिये । भारत ! यह भी भाग्यकी ही बात है कि तुमने देवताओंके स्वामी राजराजेश्वर इन्द्रको आराधनाद्वारा प्रसन्न कर लिया । निष्पाप परंतप ! सबसे बड़ी सौभाग्यकी बात तो यह है कि तुमने देवी पार्वतीके साथ

साक्षात् भगवान् शंकरका दर्शन किया और उन्हें अपनी युद्धकलासे संतुष्ट कर लिया ॥ ११-१२ ॥

दिष्ट्या च लोकपालैस्त्वं समेतो भरतर्षभ ।
दिष्ट्या वर्धामहे पार्थ दिष्ट्यासि पुनरागतः ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! समस्त लोकपालोंके साथ तुम्हारी भेंट हुई; यह भी हमारे लिये सौभाग्यका सूचक है । हमारा अहोभाग्य है कि हम उन्नतिके पथपर अग्रसर हो रहे हैं । अर्जुन! हमारे भाग्यसे ही तुम पुनः हमारे पास लौट आये ॥ १३ ॥

अद्य कृत्स्नां महीं देवीं विजितां पुरमालिनीम् ।
मन्ये च धृतराष्ट्रस्य पुत्रानपि वशीकृतान् ॥ १४ ॥

आज मुझे यह विश्वास हो गया कि हम नगरोंसे सुशोभित समूची वसुधादेवीको जीत लेंगे । अब हम धृतराष्ट्रके पुत्रोंको भी अपने वशमें पड़ा हुआ ही मानते हैं ॥ १४ ॥

इच्छामि तानि चास्त्राणि द्रष्टुं दिव्यानि भारत ।
यैस्तथा वीर्यवन्तस्ते निवातकवचा हताः ॥ १५ ॥

भारत ! अब मेरी इच्छा उन दिव्यास्त्रोंको देखनेकी हो रही है, जिनके द्वारा तुमने उस प्रकारके उन महापराक्रमी निवातकवचोंका विनाश किया है ॥ १५ ॥

अर्जुन उवाच

श्वः प्रभाते भवान् द्रष्टा दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः ।
निवातकवचा घोरा यैर्मया विनिपातिताः ॥ १६ ॥

अर्जुन बोले—महाराज ! कल सबेरे आप उन सब दिव्यास्त्रोंको देखियेगा, जिनके द्वारा मैंने भयानक निवात कवचोंको मार गिराया है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमागमनं तत्र कथयित्वा धनंजयः ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वै रजनीं तामुवास ह ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार अपने आगमनका वृत्तान्त सुनाकर सब भाइयोंसहित अर्जुनने वहाँ वह रात व्यतीत की ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि अस्त्रदर्शनसंकेते चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें अस्त्रदर्शनके लिये संकेतविषयक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७४ ॥

पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

नारद आदिका अर्जुनको दिव्यास्त्रोंके प्रदर्शनसे रोकना

वैशम्पायन उवाच

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उत्थायावश्यकार्याणि कृतवान् भ्रातृभिः सह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब वह रात बीत गयी, तब धर्मराज युधिष्ठिरने भाइयोंसहित उठकर आवश्यक नित्य-कर्म पूरे किये ॥ १ ॥

ततः संचोदयामास सोऽर्जुनं भ्रातृनन्दनम् ।
दर्शयास्त्राणि कौन्तेय यैर्जिता दानवास्त्वया ॥ २ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने भाइयोंको सुख पहुँचानेवाले अर्जुनको आज्ञा दी—'कुन्तीनन्दन ! अब तुम उन दिव्यास्त्रोंका दर्शन कराओ, जिनसे तुमने दानवोंपर विजय पायी है' ॥ २ ॥

ततो धनंजयो राजन् देवैर्दत्तानि पाण्डवः ।
अस्त्राणि तानि दिव्यानि दर्शयामास भारत ॥ ३ ॥

राजन् ! तब पाण्डुनन्दन अर्जुनने देवताओंके दिये हुए उन दिव्य अस्त्रोंको दिखानेका आयोजन किया ॥ ३ ॥

यथान्यायं महातेजाः शौचं परममास्थितः ।
(नमस्कृत्य त्रिनेत्राय वासवाय च पाण्डवः ।)
गिरिकूबरपादाक्षं शुभवेणुं त्रिवेणुमत् ॥ ४ ॥

पार्थिवं रथमास्थाय शोभमानो धनंजयः ।
दिव्येन संवृतस्तेन कवचेन सुवर्चसा ॥ ५ ॥
धनुरादाय गाण्डीवं देवदत्तं स वारिजम् ।
शोशुभ्यमानः कौन्तेय आनुपूर्व्यान्महाभुजः ॥ ६ ॥
अस्त्राणि तानि दिव्यानि दर्शनायोपचक्रमे ।
अथ प्रयोक्ष्यमाणेषु दिव्येष्वस्त्रेषु तेषु वै ॥ ७ ॥
समाक्रान्ता मही पद्भ्यां समकम्पत सद्रुमा ।
क्षुभिताः सरितश्चैव तथैव च महोदधिः ॥ ८ ॥

महातेजस्वी अर्जुन पहले तो विधिपूर्वक स्नान करके शुद्ध हुए। फिर त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकर और इन्द्रको नमस्कार करके उन्होंने वह अत्यन्त तेजस्वी दिव्य कवच धारण किया। तत्पश्चात् वे पृथ्वीरूपी रथपर आरूढ़ हो बड़ी शोभा पाने लगे। पर्वत ही उस रथका कूबर था, दोनों पैर ही पहिये थे और सुन्दर बाँसोंका वन ही त्रिवेणु (रथके अङ्गविशेष) का काम देता था। तदनन्तर महाबाहु कुन्तीनन्दन अर्जुनने एक हाथमें गाण्डीव धनुष और दूसरेमें देवदत्त शङ्ख ले लिया। इस प्रकार वीरोचित वेशसे सुशोभित हो उन्होंने क्रमशः उन दिव्यास्त्रोंको दिखाना आरम्भ किया। जिस समय उन

दिव्यास्त्रोंका प्रयोग प्रारम्भ होने जा रहा था, उसी समय अर्जुनके पैरोंसे दबी हुई पृथ्वी वृक्षोंसहित काँपने लगी। नदियों और समुद्रोंमें उफान आ गया ॥ ४-८ ॥

शैलाश्चापि व्यदीर्यन्त न ववौ च समीरणः।
न बभासे सहस्रांशुर्न जज्वाल च पावकः ॥ ९ ॥

पर्वत विदीर्ण होने लगे और हवाकी गति रुक गयी। सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी और आगका जलना बंद हो गया ॥ ९ ॥

न वेदाः प्रतिभान्ति स्म द्विजातीनां कथंचन।
अन्तर्भूमिगता ये च प्राणिनो जनमेजय ॥ १० ॥
पीड्यमानाः समुत्थाय पाण्डवं पर्यवारयन्।
वेपमानाः प्राञ्जलयस्ते सर्वे विकृताननाः ॥ ११ ॥
दह्यमानास्तदास्त्रैस्ते याचन्ति स्म धनंजयम्।
ततो ब्रह्मर्षयश्चैव सिद्धा ये च महर्षयः ॥ १२ ॥
जङ्गमानि च भूतानि सर्वाण्येवावतस्थिरे ।
देवर्षयश्च प्रवरास्तथैव च दिवौकसः ॥ १३ ॥
यक्षराक्षसगन्धर्वास्तथैव च पतत्त्रिणः।
खेचराणि च भूतानि सर्वाण्येवावतस्थिरे ॥ १४ ॥

द्विजातियोंको किसी प्रकार भी वेदोंका भान नहीं हो पाता था। जनमेजय! भूमिके भीतर जो प्राणी निवास करते थे, वे भी पीड़ित हो उठे और अर्जुनको सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये। उन सबके मुखपर विकृति आ गयी थी। वे हाथ जोड़े हुए थर-थर काँप रहे थे और अस्त्रोंके तेजसे संतप्त हो धनंजयसे प्राणोंकी भिक्षा माँग रहे थे। इसी समय ब्रह्मर्षि, सिद्ध महर्षि, समस्त जङ्गम प्राणी, श्रेष्ठ देवर्षि, देवता, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, पक्षी तथा आकाशचारी प्राणी सभी वहाँ आकर उपस्थित हो गये ॥ १०-१४ ॥

ततः पितामहश्चैव लोकपालाश्च सर्वशः।
भगवांश्च महादेवः सगणोऽभ्याययौ तदा ॥ १५ ॥

इसके बाद ब्रह्माजी, समस्त लोकपाल तथा भगवान् महादेव अपने गणोंसहित वहाँ आये ॥ १५ ॥

ततो वायुर्महाराज दिव्यैर्माल्यैः सुगन्धिभिः।
अभितः पाण्डवं चित्रैरवचक्रे समन्ततः ॥ १६ ॥

महाराज! तदनन्तर वायुदेव पाण्डुनन्दन अर्जुनपर सब ओरसे विचित्र सुगन्धित दिव्य मालाओंकी वृष्टि करने लगे ॥ १६ ॥

जगुश्च गाथा विविधा गन्धर्वाः सुरचोदिताः।
ननृतुः सङ्घशश्चैव राजन्नप्सरसां गणाः ॥ १७ ॥

राजन्! देवप्रेरित गन्धर्व नाना प्रकारकी गाथाएँ गाने लगे और झुंड-की-झुंड अप्सराएँ नृत्य करने लगीं ॥ १७ ॥

तस्मिंश्च तादृशे काले नारदश्चोदितः सुरैः।
आगम्याह वचः पार्थं श्रवणीयमिदं नृप ॥ १८ ॥

अर्जुनार्जुन मा युङ्क्ष्व दिव्यान्यस्त्राणि भारत।
नैतानि निरधिष्ठाने प्रयुज्यन्ते कथंचन ॥ १९ ॥

नराधिप! उस समय देवताओंके कहनेसे देवर्षि नारद अर्जुनके पास आये और उनसे यह सुनने योग्य बात कहने लगे—'अर्जुन! अर्जुन! इस समय दिव्यास्त्रोंका प्रयोग न



करो। भारत! ये दिव्य अस्त्र किसी लक्ष्यके बिना कदापि नहीं छोड़े जाते ॥ १८-१९ ॥

अधिष्ठाने न वा॒ ्नार्तः प्रयुञ्जीत कदाचन।
प्रयोगेषु महान् दोषो ह्यस्त्राणां कुरुनन्दन ॥ २० ॥

'कोई लक्ष्य मिल जाय तो भी ऐसा मनुष्य कभी इनका प्रयोग न करे, जो स्वयं संकटमें न पड़ा हो। कुरुनन्दन! इन दिव्यास्त्रोंका अनुचितरूपमें प्रयोग करनेपर महान् दोष प्राप्त होता है ॥ २० ॥

एतानि रक्ष्यमाणानि धनंजय यथागमम्।
बलवन्ति सुखार्हाणि भविष्यन्ति न संशयः ॥ २१ ॥

'धनंजय! शास्त्रके अनुसार सुरक्षित रखे जानेपर ही ये अस्त्र सबल और सुखदायक होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥

अरक्ष्यमाणान्येतानि त्रैलोक्यस्यापि पाण्डव।
भवन्ति स्म विनाशाय मैवं भूयः कृथाः क्वचित् ॥ २२ ॥
अजातशत्रो त्वं चैव द्रक्ष्यसे तानि संयुगे।
योज्यमानानि पार्थेन द्विषतामवमर्दने ॥ २३ ॥

'पाण्डुपुत्र! इनकी समुचित रक्षा न होनेपर ये दिव्यास्त्र तीनों लोकोंके विनाशके कारण बन जाते हैं। अतः फिर कभी इस तरह इनके प्रदर्शनका साहस न करना।

अजातशत्रु युधिष्ठिर ! (आप भी इस समय इन्हें देखनेका आग्रह छोड़ दें ।) जब रणक्षेत्रमें शत्रुओंके संहारका अवसर आयगा, उस समय अर्जुनके द्वारा प्रयोगमें लाये जानेपर इन दिव्यास्त्रोंका दर्शन कीजियेगा' ॥ २२-२३ ॥

वैशम्पायन उवाच

निवार्याथ ततः पार्थं सर्वे देवा यथागतम् ।
जग्मुरन्ये च ये तत्र समाजग्मुर्नरर्षभ ॥२४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ ! इस प्रकार अर्जुनको दिव्यास्त्रोंके प्रदर्शनसे रोककर सम्पूर्ण देवता तथा अन्य सभी प्राणी जैसे आये थे, वैसे लौट गये ॥ २४ ॥

तेषु सर्वेषु कौरव्य प्रतियातेषु पाण्डवाः ।
तस्मिन्नेव वने हृष्टास्त ऊषुः सह कृष्णया ॥२५॥

कुरुनन्दन ! उन सबके चले जानेपर सब पाण्डव द्रौपदीके साथ बड़े हर्षपूर्वक उसी वनमें रहने लगे ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि अस्त्रदर्शने पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें अस्त्रदर्शनविषयक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१७५॥

(आजगरपर्व)

षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनकी युधिष्ठिरसे बातचीत और पाण्डवोंका गन्धमादनसे प्रस्थान

जनमेजय उवाच

तस्मिन् कृतास्त्रे रथिनां प्रवीरे
प्रत्यागते भवनाद् वृत्रहन्तुः ।
अतः परं किमकुर्वन्त पार्थाः
समेत्य शूरेण धनंजयेन ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! रथियोंमें श्रेष्ठ महावीर अर्जुन जब इन्द्रभवनसे दिव्यास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करके लौट आये, तब उनसे मिलकर कुन्तीकुमारोंने पुनः कौन-सा कार्य किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

वनेषु तेष्वेव तु ते नरेन्द्राः
सहार्जुनेनेन्द्रसमेन वीराः ।
तस्मिंश्च शैलप्रवरे सुरम्ये
धनेश्वराक्रीडगता विजह्रुः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! वे नरश्रेष्ठ वीर पाण्डव इन्द्रतुल्य पराक्रमी अर्जुनके साथ उस परम रमणीय शैल-शिखरपर कुबेरकी क्रीडाभूमिके अन्तर्गत उन्हीं वनोंमें सुखसे विहार करने लगे ॥ २ ॥

वेश्मानि तान्यप्रतिमानि पश्यन्
क्रीडाश्च नानाद्रुमसंनिबद्धाः ।
चचार धन्वी बहुधा नरेन्द्रः
सोऽस्त्रेषु यत्तः सततं किरीटी ॥ ३ ॥

वहाँ कुबेरके अनुपम भवन बने हुए थे । नानाप्रकारके वृक्षोंके निकट अनेक प्रकारके खेल होते रहते थे । उन सबको देखते हुए किरीटधारी अर्जुन बहुधा वहाँ विचरा करते और हाथमें धनुष लेकर सदा अस्त्रोंके अभ्यासमें संलग्न रहते थे ॥ ३ ॥

अवाप्य वासं नरदेवपुत्राः
प्रसादजं वैश्रवणस्य राज्ञः ।
न प्राणिनां ते स्पृहयन्ति राजन्
शिवश्च कालः स बभूव तेषाम् ॥ ४ ॥

राजन् ! राजकुमार पाण्डवोंको राजाधिराज कुबेरकी कृपासे वहाँका निवास प्राप्त हुआ था । वे वहाँ रहकर भूतलके अन्य प्राणियोंके ऐश्वर्य-सुखकी अभिलाषा नहीं रखते थे । उनका वह समय बड़े सुखसे बीत रहा था ॥ ४ ॥

समेत्य पार्थेन यथैकरात्र-
मूषुः समास्तत्र तदा चतस्रः ।
पूर्वाश्च षट् ता दश पाण्डवानां
शिवा बभूवुर्वसतां वनेषु ॥ ५ ॥

वे अर्जुनके साथ वहाँ चार वर्षोंतक रहे, परंतु उनको वह समय एक रातके समान ही प्रतीत हुआ । पहलेके छः वर्ष तथा वहाँके चार वर्ष इस प्रकार सब मिलाकर पाण्डवोंके वनवासके दस वर्ष आनन्दपूर्वक बीत गये ॥ ५ ॥

ततोऽब्रवीद् वायुसुतस्तरस्वी
जिष्णुश्च राजानमुपोपविश्य ।
यमौ च वीरौ सुरराजकल्पा-
वेकान्तमास्थाय हितं प्रियं च ॥ ६ ॥

तदनन्तर एक दिन अर्जुन तथा वीरवर नकुल-सहदेव, जो देवराजके समान पराक्रमी थे, एकान्तमें राजा युधिष्ठिरके पास बैठे थे । उस समय वेगशाली वायुपुत्र भीमसेन यह हितकर एवं प्रिय वचन बोले—॥ ६ ॥

तव प्रतिज्ञां कुरुराज सत्यां
चिकीर्षमाणास्तदनु प्रियं च ।
ततो न गच्छाम वनान्यपास्य
सुयोधनं सानुचरं निहन्तुम् ॥ ७ ॥

'कुरुराज ! आपकी प्रतिज्ञाको सत्य करनेकी इच्छासे और आपका प्रिय करनेकी अभिलाषा रखनेके कारण हमलोग यह वनवास छोड़कर दुर्योधनका अनुचरोंसहित वध करने नहीं जा रहे हैं ॥ ७ ॥

एकादशं वर्षमिदं वसामः
सुयोधनेनात्तसुखाः सुखार्हाः ।
तं वञ्चयित्वाधमबुद्धिशील-
मज्ञातवासं सुखमाप्नुयाम ॥ ८ ॥

'अब हमारे निवासका यह ग्यारहवाँ वर्ष चल रहा है । हमलोग सुख भोगनेके अधिकारी थे परंतु दुर्योधनने हमारा सुख छीन लिया । उसकी बुद्धि तथा स्वभाव अत्यन्त अधम है । उस दुष्टको धोखा देकर हम अपने अज्ञातवासका समय भी सुखपूर्वक बिता लेंगे ॥ ८ ॥

तवाज्ञया पार्थिव निर्विशङ्का
विहाय मानं विचरन् वनानि ।
समीपवासेन विलोभितास्ते
ज्ञास्यन्ति नास्मानपकृष्टदेशान् ॥ ९ ॥

'भूपशिरोमणे ! आपकी आज्ञासे हम मानापमानका विचार छोड़कर निःशङ्क हो वनमें विचरते रहेंगे । पहले किसी निकटवर्ती स्थानमें रहकर दुर्योधन आदिके मनमें वहीं खोज करनेका लोभ उत्पन्न करेंगे और फिर वहाँसे दूर देशमें चले जायँगे, जिससे उन्हें हमारा पता न लग सकेगा ॥ ९ ॥

संवत्सरं तत्र विहृत्य गूढं
नराधमं तं सुखमुद्धरेम ।
निर्यात्य वैरं सफलं सपुष्पं
तस्मै नरेन्द्राधमपूरुषाय ॥ १० ॥
सुयोधनायानुचरैर्वृताय
ततो महीमावस धर्मराज ।
स्वर्गोपमं देशमिमं चरद्भिः
शक्यो विहन्तुं नरदेव शोकः ॥ ११ ॥

'वहाँ एक वर्षतक गुप्तरूपसे निवास करके जब हम लौटेंगे, तब अनायास ही उस नराधम दुर्योधनकी जड़ उखाड़ देंगे । नरेन्द्र ! नीच दुर्योधन आज अपने अनुचरोंसे घिरकर सुखी हो रहा है । उसने जो वैरका वृक्ष लगा रखा है, उसे हम फूल-फलसहित उखाड़ फेंकेंगे और उससे वैरका बदला लेंगे। अतः धर्मराज ! आप यहाँसे चलकर पृथ्वीपर निवास करें। नरदेव ! इसमें संदेह नहीं कि हमलोग इस स्वर्गतुल्य प्रदेशमें विचरते रहनेपर भी अपना सारा शोक अनायास ही निवृत्त कर सकते हैं ॥ १०-११ ॥

कीर्तिस्तु ते भारत पुण्यगन्धा
नश्येद्धि लोकेषु चराचरेषु ।
तत् प्राप्य राज्यं कुरुपुङ्गवानां
शक्यं महत् प्राप्तुमथ क्रियाश्च ॥ १२ ॥
इदं तु शक्यं सततं नरेन्द्र
प्राप्तुं त्वया यल्लभसे कुबेरात् ।
कुरुष्व बुद्धिं द्विषतां वधाय
कृतागसां भारत निग्रहे च ॥ १३ ॥

'परंतु ऐसा होनेपर चराचर जगत्में आपकी पुण्यमयी कीर्ति नष्ट हो जायगी । इसलिये कुरुवंशशिरोमणि अपने पूर्वजोंके उस महान् राज्यको प्राप्त करके ही हम और कोई सत्कर्म करने योग्य हो सकते हैं । भरतकुलभूषण महाराज ! आप कुबेरसे जो सम्मान या अनुग्रह प्राप्त कर रहे हैं, इसे तो सदा ही प्राप्त कर सकते हैं । इस समय तो अपराधी शत्रुओंको मारने और दण्ड देनेका निश्चय कीजिये ॥ १२-१३ ॥

तेजस्तवोग्रं न सहेत राजन्
समेत्य साक्षादपि वज्रपाणिः ।
न हि व्यथां जातु करिष्यतस्तौ
समेत्य देवैरपि धर्मराज ॥ १४ ॥
तवार्थसिद्ध्यर्थमपि प्रवृत्तौ
सुपर्णकेतुश्च शिनेश्च नप्ता ।
तथैव कृष्णोऽप्रतिमो बलेन
तथैव चाहं नरदेववर्य ॥ १५ ॥
तवार्थसिद्ध्यर्थमभिप्रपन्नो
यथैव कृष्णः सह यादवैस्तैः ।
तथैव चाहं नरदेववर्य
यमौ च वीरौ कृतिनौ प्रयोगे ॥ १६ ॥

'राजन् ! साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी आपसे भिड़कर आपके भयंकर तेजको नहीं सह सकते । धर्मराज ! आपका कार्य सिद्ध करनेके लिये दो वीर सदा प्रयत्न करते हैं ! गरुडध्वज भगवान् श्रीकृष्ण और शिनिके नाती वीरवर सात्यकि । ये दोनों आपके लिये देवताओंसे भी युद्ध करनेमें कभी कष्टका अनुभव नहीं करेंगे । नरदेवशिरोमणे ! इन्हीं दोनोंके समान अर्जुन भी बल और पराक्रममें अपना सानी नहीं रखते । इसी प्रकार मैं भी बलमें किसीसे कम नहीं हूँ । जैसे भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण यादवोंके साथ आपके प्रत्येक कार्यकी सिद्धिके लिये उद्यत रहते हैं, उसी प्रकार मैं, अर्जुन तथा अस्त्रोंके प्रयोगमें कुशल वीर नकुल-सहदेव भी आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सदा संनद्ध रहा करते हैं ॥

त्वदर्थयोगप्रभवप्रधानाः
शमं करिष्याम परान् समेत्य । १६½ ।

आपको धनकी प्राप्ति हो और आपका ऐश्वर्य बढ़े, यही हमारा प्रधान लक्ष्य है । अतः हमलोग शत्रुओंसे भिड़कर वैरकी शान्ति करेंगे ॥ १६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तदाज्ञाय मतं महात्मा
तेषां च धर्मस्य सुतो वरिष्ठः ॥१७॥
प्रदक्षिणं वैश्रवणाधिवासं
चकार धर्मार्थविदुत्तमौजाः ।
आमन्त्र्य वेश्मानि नदीः सरांसि
सर्वाणि रक्षांसि च धर्मराजः ॥१८॥
यथागतं मार्गमवेक्षमाणः
पुनर्गिरिं चैव निरीक्षमाणः ।
ततो महात्मा स विशुद्धबुद्धिः
सम्प्रार्थयामास नगेन्द्रवर्यम् ॥१९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले उत्तम ओजसे सम्पन्न श्रेष्ठ महात्मा धर्मपुत्र युधिष्ठिरने उस समय उन सबके अभिप्रायको जानकर कुबेरके निवास-स्थान उस गन्धमादन पर्वतकी प्रदक्षिणा की । फिर उन्होंने वहाँके भवनों, नदियों, सरोवरों तथा समस्त राक्षसोंसे विदा ली । इसके बाद वे जिस मार्गसे आये थे, उसकी ओर देखने लगे । तदनन्तर उन विशुद्ध-बुद्धि महात्मा युधिष्ठिरने पुनः गन्धमादन पर्वतकी ओर देखते हुए उस श्रेष्ठ गिरिराजसे इस प्रकार प्रार्थना की ॥ १७–१९ ॥

समाप्तकर्मा सहितः सुहृद्भि-
र्जित्वा सपत्नान् प्रतिलभ्य राज्यम् ।
शैलेन्द्र भूयस्तपसे जितात्मा
द्रष्टा तवास्मीति मतिं चकार ॥२०॥

'शैलेन्द्र ! अब अपने मन और बुद्धिको संयममें रखने-वाला मैं शत्रुओंको जीतकर अपना खोया हुआ राज्य पानेके बाद सुहृदोंके साथ अपना सब कार्य सम्पन्न करके पुनः तपस्याके लिये लौटनेपर आपका दर्शन करूँगा' । इस प्रकार युधिष्ठिरने निश्चय किया ॥ २० ॥

वृतश्च सर्वैरनुजैर्द्विजैश्च
तेनैव मार्गेण पतिः कुरूणाम् ।
उवाह चैतान् गणशस्तथैव
घटोत्कचः पर्वतनिर्झरेषु ॥२१॥

तत्पश्चात् समस्त भाइयों और ब्राह्मणोंसे घिरे हुए कुरुराज युधिष्ठिर उसी मार्गसे नीचे उतरने लगे । जहाँ दुर्गम पर्वत और झरने पड़ते थे, वहाँ घटोत्कच अपने गणों-सहित आकर पहलेकी तरह इन सबको पीठपर बिठा वहाँसे पार कर देता था ॥ २१ ॥

तान् प्रस्थितान् प्रीतमना महर्षिः
पितेव पुत्राननुशिष्य सर्वान् ।
स लोमशः प्रीतमना जगाम
दिवौकसां पुण्यतमं निवासम् ॥२२॥

महर्षि लोमशने जब पाण्डवोंको वहाँसे प्रस्थान करते देखा, तब जिस प्रकार दयालु पिता अपने पुत्रोंको उपदेश देता है, वैसे ही उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर सबको उत्तम उपदेश दिया । फिर मन-ही-मन प्रसन्नताका अनुभव करते हुए वे देवताओंके परम पवित्र स्थानको चले गये ॥ २२ ॥

तेनार्ष्टिषेणेन तथानुशिष्टा-
स्तीर्थानि रम्याणि तपोवनानि ।
महान्ति चान्यानि सरांसि पार्थाः
सम्पश्यमानाः प्रययुर्नराग्र्याः ॥२३॥

इसी प्रकार राजर्षि आर्ष्टिषेणने भी उन सबको उपदेश दिया । तत्पश्चात् वे नरश्रेष्ठ पाण्डव पवित्र तीर्थों, मनोहर तपोवनों और अन्य बड़े-बड़े सरोवरोंका दर्शन करते हुए आगे बढ़े ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि गन्धमादनप्रस्थाने षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें गन्धमादनसे प्रस्थानविषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७६ ॥

सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका गन्धमादनसे बदरिकाश्रम, सुबाहुनगर और विशाखयूप वनमें होते हुए सरस्वती-तटवर्ती द्वैतवनमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

नगोत्तमं प्रस्रवणैरुपेतं
दिशां गजैः किन्नरपक्षिभिश्च ।
सुखं निवासं जहतां हि तेषां
न प्रीतिरासीद् भरतर्षभाणाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पर्वतश्रेष्ठ

गन्धमादन अनेकानेक निर्झरोंसे सुशोभित तथा दिग्गजों, किन्नरों और पक्षियोंसे सुसेवित होनेके कारण भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ पाण्डवोंके लिये एक सुखदायक निवास था, उसे छोड़ते समय उनका मन प्रसन्न नहीं था ॥ १ ॥

ततस्तु तेषां पुनरेव हर्षः
कैलासमालोक्य महान् बभूव ।
कुबेरकान्तं भरतर्षभाणां
महीधरं वारिधरप्रकाशम् ॥ २ ॥

तत्पश्चात् कुबेरके प्रिय भूधर कैलासको, जो श्वेत बादलोंके समान प्रकाशित हो रहा था, देखकर भरत-कुलभूषण पाण्डु-पुत्रोंको पुनः महान् हर्ष प्राप्त हुआ ॥ २ ॥

समुच्छ्रयान् पर्वतसंनिरोधान्
गोष्ठान् हरीणां गिरिसेतुमालाः ।
बहून् प्रपातांश्च समीक्ष्य वीराः
स्थलानि निम्नानि च तत्र तत्र ॥ ३ ॥
तथैव चान्यानि महावनानि
मृगद्विजानेकपसेवितानि ।
आलोकयन्तोऽभिययुः प्रतीता-
स्ते धन्विनः खड्गधरा नराग्र्याः ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ पाण्डव अपने हाथोंमें खड्ग और धनुष लिये हुए थे । वे ऊँचाई, पर्वतोंके सकरे स्थान, सिंहोंकी मादें, पर्वतीय नदियोंको पार करनेके लिये बने हुए पुल, बहुत-से झरने और नीची भूमियोंको जहाँ-तहाँ देखते हुए तथा मृग, पक्षी एवं हाथियोंसे सेवित दूसरे-दूसरे विशाल वनोंका अवलोकन करते हुए विश्वासपूर्वक आगे बढ़ने लगे ॥ ३-४ ॥

वनानि रम्याणि नद्यो सरांसि
गुहा गिरीणां गिरिगह्वराणि ।
एते निवासाः सततं बभूवु-
र्दिवानिशं प्राप्य नरर्षभाणाम् ॥ ५ ॥

पुरुषरत्न पाण्डव कभी रमणीय वनोंमें, कभी सरोवरोंके किनारे, कभी नदियोंके तटपर और कभी पर्वतोंकी छोटी-बड़ी गुफाओंमें दिन या रातके समय ठहरते जाते थे । सदा ऐसे ही स्थानोंमें उनका निवास होता था ॥ ५ ॥

ते दुर्गवासं बहुधा निरुष्य
व्यतीत्य कैलासमचिन्त्यरूपम् ।
आसेदुरत्यर्थमनोरमं ते
तमाश्रमाग्र्यं वृषपर्वणस्तु ॥ ६ ॥

अनेक बार दुर्गम स्थानोंमें निवास करके अचिन्त्यरूप कैलासपर्वतको पीछे छोड़कर वे पुनः वृषपर्वाके अत्यन्त मनोरम उस श्रेष्ठ आश्रममें जा पहुँचे ॥ ६ ॥

समेत्य राज्ञा वृषपर्वणा ते
प्रत्यर्चितास्तेन च वीतमोहाः ।
शशंसिरे विस्तरशः प्रवासं
गिरौ यथावद् वृषपर्वणस्ते ॥ ७ ॥

वहाँ राजा वृषपर्वासे मिलकर और उनसे भलीभाँति पूजित होकर उन सबका शोक-मोह दूर हो गया । फिर उन्होंने वृषपर्वासे गन्धमादन पर्वतपर अपने रहनेके वृत्तान्त-का यथार्थरूपसे एवं विस्तारपूर्वक वर्णन किया ॥ ७ ॥

सुखोषितास्तस्य त एकरात्रं
पुण्याश्रमे देवमहर्षिजुष्टे ।
अभ्याययुस्ते बदरीं विशालां
सुखेन वीराः पुनरेव वासम् ॥ ८ ॥

उस पवित्र आश्रममें देवता और महर्षि निवास किया करते थे । वहाँ एक रात सुखपूर्वक रहकर वे वीर पाण्डव फिर विशालापुरीके बदरिकाश्रमतीर्थमें चले आये और वहाँ बड़े आनन्दसे रहे ॥ ८ ॥

ऊषुस्ततस्तत्र महानुभावा
नारायणस्थानगताः समग्राः ।
कुबेरकान्तां नलिनीं विशोकाः
सम्पश्यमानाः सुरसिद्धजुष्टाम् ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् वहाँ भगवान् नर-नारायणके क्षेत्रमें आकर सभी महानुभाव पाण्डवोंने सुखपूर्वक निवास किया और शोकरहित हो कुबेरकी उस प्रिय पुष्करिणीका दर्शन किया, जिसका सेवन देवता और सिद्ध पुरुष किया करते हैं ॥ ९ ॥

तां चाथ दृष्ट्वा नलिनीं विशोकाः
पाण्डोः सुताः सर्वनरप्रधानाः ।
ते रेमिरे नन्दनवासमेत्य
द्विजर्षयो वीतमला यथैव ॥ १० ॥

सम्पूर्ण मनुष्योंमें श्रेष्ठ वे पाण्डु-पुत्र उस पुष्करिणीका दर्शन करके शोकरहित हो वहाँ इस प्रकार आनन्दका अनुभव करने लगे, मानो निर्मल ब्रह्मर्षिगण इन्द्रके नन्दन-वनमें सानन्द विचर रहे हों ॥ १० ॥

ततः क्रमेणोपययुर्नृवीरा
यथागतेनैव पथा समग्राः ।
विहृत्य मासं सुखिनो बदर्यां
किरातराज्ञो विषयं सुबाहोः ॥ ११ ॥

इसके बाद वे सारे नरवीर जिस मार्गसे आये थे, क्रमशः उसी मार्गसे चल दिये । बदरिकाश्रममें एक मासतक सुख-पूर्वक विहार करके उन्होंने किरातनरेश सुबाहुके राज्यकी ओर प्रस्थान किया ॥ ११ ॥

चीनांस्तुषारान् दरदांश्च सर्वान्
देशान् कुणिन्दस्य च भूरिरत्नान् ।

अतीत्य दुर्गं हिमवत्प्रदेशं
पुरं सुबाहोर्ददृशुर्नृवीराः ॥ १२ ॥

कुलिन्दके तुषार, दरद आदि धनधान्यसे युक्त और प्रचुर रत्नोंसे सम्पन्न देशोंको लाँघते हुए हिमालयके दुर्गम स्थानोंको पार करके उन नरवीरोंने राजा सुबाहुका नगर देखा ॥ १२ ॥

श्रुत्वा च तान् पार्थिवपुत्रपौत्रान्
प्राप्तान् सुबाहुर्विषये समग्रान् ।
प्रत्युद्ययौ प्रीतियुतः स राजा
तं चाभ्यनन्दन् वृषभाः कुरूणाम् ॥ १३ ॥

राजा सुबाहुने जब सुना कि मेरे राज्यमें राजपुत्र पाण्डवगण पधारे हुए हैं, तब बहुत प्रसन्न होकर नगरसे बाहर आ उसने उन सबकी अगवानी की। फिर कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर आदिने भी उनका बड़ा समादर किया ॥ १३ ॥

समेत्य राज्ञा तु सुबाहुना ते
सूतैर्विशोकप्रमुखैश्च सर्वे ।
सहेन्द्रसेनैः परिचारिकैश्च
पौरोगवैर्ये च महानसस्थाः ॥ १४ ॥

राजा सुबाहुसे मिलकर वे विशोक आदि अपने सारथियों, इन्द्रसेन आदि परिचारकों, अग्रगामी सेवकों तथा रसोइयोंसे भी मिले ॥ १४ ॥

सुखोषितास्तत्र त एकरात्रं
सूतान् समादाय रथांश्च सर्वान् ।
घटोत्कचं सानुचरं विसृज्य
ततोऽभ्ययुर्यामुनमद्रिराजम् ॥ १५ ॥

वहाँ उन सबने एक रात बड़े सुखसे निवास किया। पाण्डवोंने अपने सारे सारथियों तथा रथोंको साथ ले लिया और अनुचरोंसहित घटोत्कचको विदा करके वहाँसे पर्वतराजको प्रस्थान किया, जहाँ यमुनाका उद्गम-स्थान है ॥ १५ ॥

तस्मिन् गिरौ प्रस्रवणोपपन्न-
हिमोत्तरीयारुणपाण्डुसानौ ।
विशाखयूपं समुपेत्य चक्रु-
स्तदा निवासं पुरुषप्रवीराः ॥ १६ ॥

झरनोंसे युक्त हिमराशि उस पर्वतरूपी पुरुषके लिये उत्तरीयका काम करती थी और उसका अरुण एवं श्वेत रंगका शिखर बालसूर्यकी किरणें पड़नेसे सफेद एवं लाल पगड़ीके समान शोभा पाता था। उसके ऊपर विशाखयूप नामक वनमें पहुँचकर नरवीर पाण्डवोंने उस समय निवास किया ॥ १६ ॥

वराहनानामृगपक्षिजुष्टं
महा[illegible]

शिवेन पार्था मृगयाप्रधानाः
संवत्सरं तत्र वने विजह्रुः ॥ १७ ॥

वह विशाल वन चैत्ररथ वनके समान शोभायमान था। वहाँ सूअर, नाना प्रकारके मृग तथा पक्षी निवास करते थे। उन दिनों पाण्डवोंका वहाँ हिंस्र जीवोंको मारना ही प्रधान काम था। वहाँ वे एक वर्षतक बड़े सुखसे विचरते रहे ॥

तत्राससादातिबलं भुजङ्गं
क्षुधार्दितं मृत्युमिवोग्ररूपम् ।
वृकोदरः पर्वतकन्दरायां
विषादमोहव्यथितान्तरात्मा ॥ १८ ॥

उसी यात्रामें भीमसेन एक दिन पर्वतकी कन्दरामें भूखसे पीड़ित एक अजगरके पास जा पहुँचे, जो अत्यन्त बलवान् होनेके साथ ही मृत्युके समान भयानक था। उस समय उनकी अन्तरात्मा विषाद एवं मोहसे व्यथित हो उठी ॥ १८ ॥

द्वीपोऽभवद् यत्र वृकोदरस्य
युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
अमोक्षयद् यस्तमनन्ततेजा
ग्राहेण संवेष्टितसर्वगात्रम् ॥ १९ ॥

उस अवसरपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ अत्यन्त तेजस्वी युधिष्ठिर भीमसेनके लिये द्वीपकी भाँति अवलम्ब हो गये। अजगरने भीमसेनके सम्पूर्ण शरीरको लपेट लिया था, परंतु युधिष्ठिरने (अजगरको उसके प्रश्नोंके उत्तरद्वारा संतुष्ट करके) उन्हें छुड़ा दिया॥

ते द्वादशं वर्षमुपोपयातं
वने विहर्तुं कुरवः प्रतीताः ।
तस्माद् वनाच्चैत्ररथप्रकाशात
श्रिया ज्वलन्तस्तपसा च युक्ताः ॥ २० ॥
ततश्च यात्वा मरुधन्वपार्श्वं
सदा धनुर्वेदरतिप्रधानाः ।
सरस्वतीमेत्य निवासकामाः
सरस्ततो द्वैतवनं प्रतीयुः ॥ २१ ॥

अब इन पाण्डवोंके वनवासका बारहवाँ वर्ष आ पहुँचा था। उसे भी वनमें सानन्द व्यतीत करनेके लिये उनके मनमें बड़ा उत्साह था। अपनी अद्भुत कान्तिसे प्रकाशित होते हुए तपस्वी पाण्डव चैत्ररथ वनके समान शोभा पानेवाले उस वनसे निकलकर मरुभूमिके पास सरस्वतीके तटपर गये और वहीं निवास करनेकी इच्छासे द्वैतवनके द्वैत सरोवरके समीप गये। उस समय पाण्डवोंका विशेष प्रेम सदा धनुर्वेदमें ही लक्षित होता था ॥ २०-२१ ॥

समीक्ष्य तान् द्वैतवने निविष्टान्
निवासिनस्तत्र ततोऽभिजग्मुः ।
तपोदमाचारसमाधियुक्ता-
[illegible] ॥ २२ ॥

उन्हें द्वैतवनमें आया देख वहाँके निवासी उनके दर्शनके लिये निकट आये। वे सब-के-सब तपस्या, इन्द्रिय-संयम, सदाचार और समाधिमें तत्पर रहनेवाले थे। तिनकेकी चटाई, जलपात्र, ओढ़नेका कपड़ा और सिल-लोढ़े—यही उनके पास सामग्री थी ॥ २२ ॥

प्लक्षाक्षरौहीतकवेतसाश्च
तथा बदर्यः खदिराः शिरीषाः।
बिल्वेङ्गुदाः पीलुशमीकरीराः
सरस्वतीतीररुहा बभूवुः ॥ २३ ॥

तां यक्षगन्धर्वमहर्षिकान्ता-
मागारभूतामिव देवतानाम्।
सरस्वतीं प्रीतियुताश्चरन्तः
सुखं धिजह्रुर्नरदेवपुत्राः ॥ २४ ॥

सरस्वतीके तटपर पाकड़, बहेड़ा, रोहितक, बेंत, बेर, खैर, सिरस, बेल, इङ्गुदी, पीलु, शमी और करीर आदिके वृक्ष खड़े थे। वह नदी यक्ष, गन्धर्व और महर्षियोंको प्रिय थी। देवताओंकी तो वह मानो बस्ती ही थी। राजपुत्र पाण्डव बड़ी प्रसन्नता और सुखसे वहाँ विचरने और निवास करने लगे ॥ २३-२४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि पुनर्द्वैतवनप्रवेशे सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें पाण्डवोंका पुनः द्वैतवनमें प्रवेशविषयक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७७ ॥

अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

महाबली भीमसेनका हिंसक पशुओंको मारना और अजगरद्वारा पकड़ा जाना

जनमेजय उवाच

कथं नागायुतप्राणो भीमो भीमपराक्रमः।
भयमाहारयत् तीव्रं तस्मादजगरान्मुने ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने! भयानक पराक्रमी भीमसेनमें तो दस हजार हाथियोंका बल था। फिर उन्हें उस अजगरसे इतना तीव्र भय कैसे प्राप्त हुआ? ॥ १ ॥

पौलस्त्यं धनदं युद्धे य आह्वयति दर्पितः।
नलिन्यां कदनं कृत्वा निहन्ता यक्षरक्षसाम् ॥ २ ॥
तं शंससि भयाविष्टमापन्नमरिसूदनम्।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ॥ ३ ॥

जो बलके घमंडमें आकर पुलस्त्यनन्दन कुबेरको भी युद्धके लिये ललकारते थे, जिन्होंने कुबेरकी पुष्करिणीके तटपर कितने ही यक्षों तथा राक्षसोंका संहार कर डाला था, उन्हीं शत्रुसूदन भीमसेनको आप भयभीत (और विपत्तिग्रस्त) बताते हैं। अतः मैं इस प्रसङ्गको विस्तारसे सुनना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥ २-३ ॥

वैशम्पायन उवाच

बह्वाश्चर्ये वने तेषां वसतामुग्रधन्विनाम्।
प्राप्तानामाश्रमाद् राजन् राजर्षेर्वृषपर्वणः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! राजर्षि वृषपर्वाके आश्रमसे आकर उग्र धनुर्धर पाण्डव अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए उस द्वैतवनमें निवास करते थे ॥ ४ ॥

यदृच्छया धनुष्पाणिर्बद्धखड्गो वृकोदरः।
ददर्श तद् वनं रम्यं देवगन्धर्वसेवितम् ॥ ५ ॥

भीमसेन तलवार बाँधकर हाथमें धनुष लिये अकस्मात् घूमने निकल जाते और देवताओं तथा गन्धर्वोंसे सेवित उस रमणीय वनकी शोभा निहारते थे ॥ ५ ॥

स ददर्श शुभान् देशान् गिरेर्हिमवतस्तदा।
देवर्षिसिद्धचरितानप्सरोगणसेवितान् ॥ ६ ॥

उन्होंने हिमालय पर्वतके उन शुभ प्रदेशोंका अवलोकन किया, जहाँ देवर्षि और सिद्ध पुरुष विचरण करते थे तथा अप्सराएँ जिनका सदा सेवन करती थीं ॥ ६ ॥

चकोरैरुपचक्रैश्च पक्षिभिर्जीवजीवकैः।
कोकिलैर्भृङ्गराजैश्च तत्र तत्र निनादितान् ॥ ७ ॥

वहाँ भिन्न-भिन्न स्थानोंमें चकोर, उपचक्र, जीवजीवक, कोकिल और भृङ्गराज आदि पक्षी कलरव करते थे ॥ ७ ॥

नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्हिमसंस्पर्शकोमलैः।
उपेतान् बहुलच्छायैर्मनोनयननन्दनैः ॥ ८ ॥

वहाँके वृक्ष सदा फूल और फल देते थे। हिमके स्पर्शसे उनमें कोमलता आ गयी थी। उनकी छाया बहुत घनी थी और वे दर्शनमात्रसे मन एवं नेत्रोंको आनन्द प्रदान करते थे॥

स सम्पश्यन् गिरिनदीर्वैदूर्यमणिसंनिभैः।
सलिलैर्हिमसंकाशैर्हंसकारण्डवायुतैः ॥ ९ ॥

उन वृक्षोंसे सुशोभित प्रदेशों तथा वैदूर्यमणिके समान रंगवाले, हिमसदृश स्वच्छ, शीतल सलिलसमूहसे संयुक्त पर्वतीय नदियोंकी शोभा निहारते हुए वे सब ओर घूमते थे। नदियोंकी उस जलराशिमें हंस और कारण्डव आदि सहस्रों पक्षी किलोल करते थे ॥ ९ ॥

वनानि देवदारूणां मेघानामिव वागुराः।
हरिचन्दनमिश्राणि तुङ्गकालीयकान्यपि ॥१०॥

हरिचन्दन, तुङ्ग और कालीयक आदि वृक्षोंसे युक्त ऊँचे-ऊँचे देवदारुके वन ऐसे जान पड़ते थे, मानो बादलोंको फँसानेके लिये फंदे हों ॥ १० ॥

मृगयां परिधावन् स समेषु मरुधन्वसु।
विध्यन् मृगान् शरैः शुद्धैश्चचार स महाबलः ॥११॥

महाबली भीम सारे मरु-प्रदेशमें शिकारके लिये दौड़ते और केवल बाणोंद्वारा हिंसक पशुओंको घायल करते हुए विचरा करते थे ॥ ११ ॥

भीमसेनस्तु विख्यातो महान्तं दंष्ट्रिणं बलात्।
निघ्नन् नागशतप्राणो वने तस्मिन् महाबलः ॥१२॥

भीमसेन अपने महान् बलके लिये विख्यात थे। उनमें सैकड़ों हाथियोंकी शक्ति थी। वे उस वनमें विकराल दाढ़ोंवाले बड़े-से-बड़े सिंहको भी पछाड़ देते थे ॥ १२ ॥

मृगाणां स वराहाणां महिषाणां महाभुजः।
विनिघ्नंस्तत्र तत्रैव भीमो भीमपराक्रमः ॥१३॥

भीमसेनका पराक्रम भी उनके नामके अनुसार ही भयानक था। उनकी भुजाएँ विशाल थीं। वे मृगयामें प्रवृत्त होकर जहाँ-तहाँ हिंसक पशुओं, वराहों और भैंसोंको भी मारा करते थे ॥ १३ ॥

स मातङ्गशतप्राणो मनुष्यशतवारणः।
सिंहशार्दूलविक्रान्तो वने तस्मिन् महाबलः ॥१४॥
वृक्षानुत्पाटयामास तरसा वै बभञ्ज च।
पृथिव्याश्च प्रदेशान् वै नादयंस्तु वनानि च ॥१५॥

उनमें सैकड़ों मतवाले गजराजोंके समान बल था। वे एक साथ सौ-सौ मनुष्योंका वेग रोक सकते थे। उनका पराक्रम सिंह और शार्दूलके समान था। महाबली भीम उस वनमें वृक्षोंको उखाड़ते और उन्हें वेगपूर्वक पुनः तोड़ डालते थे। वे अपनी गर्जनासे उस वन्य भूमिके प्रदेशों तथा समूचे वनको गुँजाते रहते थे ॥ १४-१५ ॥

पर्वताग्राणि वै मृद्नन् नादयानश्च विज्वरः।
प्रक्षिपन् पादपांश्चापि नादेनापूरयन् महीम् ॥१६॥

वे पर्वतशिखरोंको रौंदते, वृक्षोंको तोड़कर इधर-उधर बिखेरते और निश्चिन्त होकर अपने सिंहनादसे भूमण्डलको प्रतिध्वनित किया करते थे ॥ १६ ॥

वेगेन न्यपतद् भीमो निर्भयश्च पुनः पुनः।
आस्फोटयन् क्ष्वेडयंश्च तलतालांश्च वादयन् ॥१७॥

वे निर्भय होकर बार-बार वेगपूर्वक कूदते-फाँदते, ताल ठोंकते, सिंहनाद करते और तालियाँ बजाते थे ॥ १७ ॥

चिरसम्बद्धदर्पस्तु भीमसेनो वने तदा।
गजेन्द्राश्च महासत्त्वा मृगेन्द्राश्च महाबलाः ॥१८॥
भीमसेनस्य नादेन व्यमुञ्चन्त गुहा भयात्।

वनमें घूमते हुए भीमसेनका बलाभिमान दीर्घकालसे बहुत बढ़ा हुआ था। उस समय उनकी सिंहगर्जनासे महान् बलशाली गजराज और मृगराज भी भयसे अपना स्थान छोड़कर भाग गये ॥ १८½ ॥

क्वचित् प्रधावंस्तिष्ठंश्च क्वचिच्चोपविशंस्तथा ॥१९॥
मृगप्रेप्सुर्महारौद्रे वने चरति निर्भयः।
स तत्र मनुजव्याघ्रो वने वनचरोपमः ॥२०॥
पद्भ्यामभिसमापेदे भीमसेनो महाबलः।
स प्रविष्टो महारण्ये नादान् नदति चाद्भुतान् ॥२१॥
त्रासयन् सर्वभूतानि महासत्त्वपराक्रमः।

वे कहीं दौड़ते, कहीं खड़े होते और कहीं बैठते हुए शिकार पानेकी अभिलाषासे उस महाभयंकर वनमें निर्भय विचरते रहते थे। वे नरश्रेष्ठ महाबली भीम उस वनमें वनचर भीलोंकी भाँति पैदल ही चलते थे, उनका साहस और पराक्रम महान् था। वे गहन वनमें प्रवेश करके समस्त प्राणियोंको डराते हुए अद्भुत गर्जना करते थे ॥ १९–२१½ ॥

ततो भीमस्य शब्देन भीताः सर्पा गुहाशयाः ॥२२॥
अतिक्रान्तास्तु वेगेन जगामानुसृतः शनैः।
ततोऽमरवरप्रख्यो भीमसेनो महाबलः ॥२३॥
स ददर्श महाकायं भुजङ्गं लोमहर्षणम्।
गिरिदुर्गे समापन्नं कायेनावृत्य कन्दरम् ॥२४॥

तदनन्तर एक दिनकी बात है, भीमसेनके सिंहनादसे भयभीत हो गुफाओंमें रहनेवाले सारे सर्प बड़े वेगसे भागने लगे और भीमसेन धीरे-धीरे उन्हींका पीछा करने लगे। श्रेष्ठ देवताओंके समान कान्तिमान् महाबली भीमसेनने आगे जाकर एक विशालकाय अजगर देखा, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। वह अपने शरीरसे एक (विशाल) कन्दराको घेरकर पर्वतके एक दुर्गम स्थानमें रहता था ॥ २२–२४ ॥

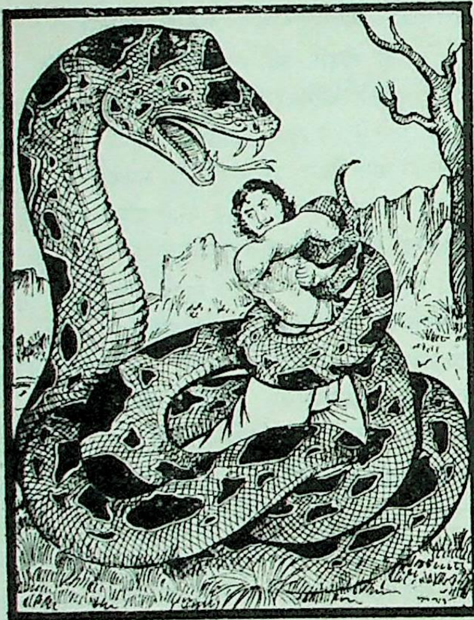
पर्वताभोगवर्ष्माणमतिकायं महाबलम्।
चित्राङ्गमङ्गजैश्चित्रैर्हरिद्रासदृशच्छविम् ॥२५॥
गुहाकारेण वक्त्रेण चतुर्दंष्ट्रेण राजता।
दीप्ताक्षेणातिताम्रेण लिहानं सृक्किणी मुहुः ॥२६॥
त्रासनं सर्वभूतानां कालान्तकयमोपमम्।
निःश्वासक्ष्वेडनादेन भर्त्सयन्तमिव स्थितम् ॥२७॥

उसका शरीर पर्वतके समान विशाल था। वह महाकाय होनेके साथ ही अत्यन्त बलवान् भी था। उसका प्रत्येक अङ्ग शारीरिक विचित्र चिह्नोंसे चिह्नित होनेके कारण विचित्र दिखायी देता था। उसका रंग हल्दीके समान पीला था।

प्रकाशमान चारों दाढ़ोंसे युक्त उसका मुख गुफा-सा जान पड़ता था। उसकी आँखें अत्यन्त लाल और आग उगलती-सी प्रतीत होती थीं। वह बार-बार अपने दोनों गलफरोंको चाट रहा था। कालान्तक तथा यमके समान समस्त प्राणियोंको भयभीत करनेवाला वह भयानक भुजङ्ग अपने उच्छ्वास और सिंहनाद-से दूसरोंकी भर्त्सना करता-सा प्रतीत होता था ॥ २५-२७ ॥

स भीमं सहसाभ्येत्य पृदाकुः कुपितो भृशम्।
जग्राहाजगरो ग्राहो भुजयोरुभयोर्बलात् ॥२८॥

वह अजगर अत्यन्त क्रोधमें भरा हुआ था। (मनुष्योंको) जकड़नेवाले उस सर्पने सहसा भीमसेनके निकट पहुँचकर उनकी दोनों बाँहोंको बलपूर्वक जकड़ लिया ॥ २८ ॥



तेन संस्पृष्टगात्रस्य भीमसेनस्य वै तदा।
संज्ञा मुमोह सहसा वरदानेन तस्य हि ॥२९॥

उस समय भीमसेनके शरीरका उससे स्पर्श होते ही वे भीमसेन सहसा अचेत हो गये। ऐसा इसलिये हुआ कि उस सर्पको वैसा ही वरदान मिला था ॥ २९ ॥

दशनागसहस्राणि धारयन्ति हि यद् बलम्।
तद् बलं भीमसेनस्य भुजयोरसमं परैः ॥३०॥

दस हजार गजराज जितना बल धारण करते हैं, उतना ही बल भीमसेनकी भुजाओंमें विद्यमान था। उनके बलकी और कहीं समता नहीं थी ॥ ३० ॥

स तेजस्वी तथा तेन भुजगेन वशीकृतः।
विस्फुरन् शनकैर्भीमो न शशाक विचेष्टितुम् ॥३१॥

ऐसे तेजस्वी भीम भी उस अजगरके वशमें पड़ गये। वे धीरे-धीरे छटपटाते रहे, परंतु छूटनेकी अधिक चेष्टा करनेमें सफल न हो सके ॥ ३१ ॥

नागायुतसमप्राणः सिंहस्कन्धो महाभुजः।
गृहीतो व्यजहात् सत्त्वं वरदानविमोहितः ॥३२॥

उनकी प्राणशक्ति दस सहस्र हाथियोंके समान थी। दोनों कंधे सिंहके कंधोंके समान थे और भुजाएँ बहुत बड़ी थीं। फिर भी सर्पको मिले हुए वरदानके प्रभावसे मोहित हो जानेके कारण सर्पकी पकड़में आकर वे अपना साहस खो बैठे ॥ ३२ ॥

स हि प्रयत्नमकरोत् तीव्रमात्मविमोक्षणे।
न चैनमशकद् वीरः कथंचित् प्रतिबाधितुम् ॥३३॥

उन्होंने अपनेको छुड़ानेके लिये घोर प्रयत्न किया, किंतु वीरवर भीमसेन किसी प्रकार भी उस सर्पको पराजित करनेमें सफलता नहीं प्राप्त कर सके ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि अजगरग्रहणे अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें भीमसेनका अजगरद्वारा ग्रहणसम्बन्धी एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७८ ॥

एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेन और सर्परूपधारी नहुषकी बातचीत, भीमसेनकी चिन्ता तथा युधिष्ठिरद्वारा भीमकी खोज

वैशम्पायन उवाच

स भीमसेनस्तेजस्वी तथा सर्पवशं गतः।
चिन्तयामास सर्पस्य वीर्यमत्यद्भुतं महत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार सर्पके वशमें पड़े हुए वे तेजस्वी भीमसेन उस अजगरकी अत्यन्त अद्भुत शक्तिके विषयमें विचार करने लग गये ॥ १ ॥

उवाच च महासर्पं कामया ब्रूहि पन्नग।
कस्त्वं भो भुजगश्रेष्ठ किं मया च करिष्यसि ॥ २ ॥

पाण्डवो भीमसेनोऽहं धर्मराजादनन्तरः ।
नागायुतसमप्राणस्त्वया नीतः कथं वशम् ॥ ३ ॥
सिंहाः केसरिणो व्याघ्रा महिषा वारणास्तथा ।
समागताश्च शतशो निहताश्च मया युधि ॥ ४ ॥
राक्षसाश्च पिशाचाश्च पन्नगाश्च महाबलाः ।
भुजवेगमशक्ता मे सोढुं पन्नगसत्तम ॥ ५ ॥
किं नु विद्याबलं किं नु वरदानमथो तव ।
उद्योगमपि कुर्वाणो वशगोऽस्मि कृतस्त्वया ॥ ६ ॥
असत्यो विक्रमो नृणामिति मे धीयते मतिः ।
यथेदं मे त्वया नाग बलं प्रतिहतं महत् ॥ ७ ॥

फिर उन्होंने उस महान् सर्पसे कहा—'भुजङ्गप्रवर ! आप स्वेच्छापूर्वक बताइये । आप कौन हैं ? और मुझे पकड़कर क्या करेंगे ? मैं धर्मराज युधिष्ठिरका छोटा भाई पाण्डुपुत्र भीमसेन हूँ । मुझमें दस हजार हाथियोंका बल है, फिर भी न जाने कैसे आपने मुझे अपने वशमें कर लिया ? मेरे सामने सैकड़ों केसरी, सिंह, व्याघ्र, महिष और गजराज आये, किंतु मैंने सबको युद्धमें मार गिराया । पन्नगश्रेष्ठ ! राक्षस, पिशाच और महाबली नाग भी मेरी (इन) भुजाओंका वेग नहीं सह सकते थे। परंतु छूटनेके लिये मेरे उद्योग करनेपर भी आपने मुझे वशमें कर लिया, इसका क्या कारण है ? क्या आपमें किसी विद्याका बल है अथवा आपको कोई अद्भुत वरदान मिला है ? नागराज ! आज मेरी बुद्धिमें यही सिद्धान्त स्थिर हो रहा है कि मनुष्योंका पराक्रम झूठा है । जैसा कि इस समय आपने मेरे इस महान् बलको कुण्ठित कर दिया है' ॥ २–७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवंवादिनं वीरं भीममक्लिष्टकारिणम् ।
भोगेन महता गृह्य समन्तात् पर्यवेष्टयत् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसी बातें करनेवाले वीरवर भीमसेनको, जो अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले थे, उस अजगरने अपने विशाल शरीरसे जकड़कर चारों ओरसे लपेट लिया ॥ ८ ॥

निगृह्यैनं महाबाहुं ततः स भुजगस्तदा ।
विमुच्यास्य भुजौ पीनाविदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

तब इस प्रकार महाबाहु भीमसेनको अपने वशमें करके उस भुजङ्गमने उनकी दोनों मोटी-मोटी भुजाओंको छोड़ दिया और इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

दिष्ट्या त्वं क्षुधितस्याद्य देवैर्भक्षो महाभुज ।
दिष्ट्या कालस्य महतः प्रियाः प्राणा हि देहिनाम् १०

'महाबाहो ! मैं दीर्घकालसे भूखा बैठा था, आज सौभाग्यवश देवताओंने तुम्हें ही मेरे लिये भोजनके रूपमें भेज दिया है । सभी देहधारियोंको अपने-अपने प्राण प्रिय होते हैं ॥ १० ॥

यथा त्विदं मया प्राप्तं सर्परूपमरिंदम ।
तथावश्यं मया ख्याप्यं तवाद्य शृणु सत्तम ॥ ११ ॥

'शत्रुदमन ! जिस प्रकार मुझे यह सर्पका शरीर प्राप्त हुआ है, वह आज अवश्य तुमसे बतलाना है । सज्जन-शिरोमणे ! तुम ध्यान देकर सुनो ॥ ११ ॥

इमामवस्थां सम्प्राप्तो ह्यहं कोपान्मनीषिणाम् ।
शापस्यान्तं परिप्रेप्सुः सर्वं तत् कथयामि ते ॥ १२ ॥

'मैं मनीषी महात्माओंके कोपसे इस दुर्दशाको प्राप्त हुआ हूँ और इस शापके निवारणकी प्रतीक्षा करते हुए यहाँ रहता हूँ । शापका क्या कारण है ? यह सब तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ १२ ॥

नहुषो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः ।
तवैव पूर्वः पूर्वेषामायोर्वंशधरः सुतः ॥ १३ ॥

'मैं राजर्षि नहुष हूँ, अवश्य ही यह मेरा नाम तुम्हारे कानोंमें पड़ा होगा । मैं तुम्हारे पूर्वजोंका भी पूर्वज हूँ । महाराज आयुका वंशप्रवर्तक पुत्र हूँ ॥ १३ ॥

सोऽहं शापादगस्त्यस्य ब्राह्मणानवमन्य च ।
इमामवस्थामापन्नः पश्य दैवमिदं मम ॥ १४ ॥

'मैं ब्राह्मणोंका अनादर करके महर्षि अगस्त्यके शापसे इस अवस्थाको प्राप्त हुआ हूँ । मेरे इस दुर्भाग्यको अपने आँखों देख लो ॥ १४ ॥

त्वां चेदवध्यं दायादमतीव प्रियदर्शनम् ।
अहमद्योपयोक्ष्यामि विधानं पश्य यादृशम् ॥ १५ ॥

'तुम यद्यपि अवध्य हो; क्योंकि मेरे ही वंशज हो । देखनेमें अत्यन्त प्रिय लगते हो तथापि आज तुम्हें अपना आहार बनाऊँगा । देखो, विधाताका कैसा विधान है ? ॥ १५ ॥

न हि मे मुच्यते कश्चित् कथंचित् प्रग्रहं गतः ।
गजो वा महिषो वापि षष्ठे काले नरोत्तम ॥ १६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! दिनके छठे भागमें कोई भैंसा अथवा हाथी ही क्यों न हो, मेरी पकड़में आ जानेपर किसी तरह छूट नहीं सकता ॥ १६ ॥

नासि केवलसर्पेण तिर्यग्योनिषु वर्तता ।
गृहीतः कौरवश्रेष्ठ वरदानमिदं मम ॥ १७ ॥

'कौरवश्रेष्ठ ! तुम तिर्यग् योनिमें पड़े हुए किसी साधारण सर्पकी पकड़में नहीं आये हो । किंतु मुझे ऐसा ही वरदान मिला है (इसीलिये मैं तुम्हें पकड़ सका हूँ) ॥ १७ ॥

पतता हि विमानाग्र्यान्मया शक्रासनाद् द्रुतम् ।
कुरु शापान्तमित्युक्तो भगवान् मुनिसत्तमः ॥ १८ ॥

'जब मैं इन्द्रके सिंहासनसे भ्रष्ट हो शीघ्रतापूर्वक श्रेष्ठ विमानसे नीचे गिरने लगा, उस समय मैंने मुनिश्रेष्ठ भगवान् अगस्त्यसे प्रार्थना की कि प्रभो ! मेरे शापका अन्त नियत कर दीजिये ॥ १८ ॥

स मामुवाच तेजस्वी कृपयाभिपरिप्लुतः ।
मोक्षस्ते भविता राजन् कस्माच्चित् कालपर्ययात् ॥१९॥

'उस समय उन तेजस्वी महर्षिने दयासे द्रवित होकर मुझसे कहा—'राजन् ! कुछ कालके पश्चात् तुम इस शापसे मुक्त हो जाओगे' ॥ १९ ॥

ततोऽस्मि पतितो भूमौ न च मामजहात् स्मृतिः।
स्मार्तमस्ति पुराणं मे यथैवाधिगतं तथा ॥२०॥

'उनके इतना कहते ही मैं पृथ्वीपर गिर पड़ा । परंतु आज भी वह पुरानी स्मरण-शक्ति मुझे छोड़ नहीं सकी है । यद्यपि यह वृत्तान्त बहुत पुराना हो चुका है तथापि जो कुछ जैसे हुआ था; वह सब मुझे ज्यों-का-त्यों स्मरण है ॥ २० ॥

यस्तु ते व्याहृतान् प्रश्नान् प्रतिब्रूयाद् विभागवित्।
स त्वां मोक्षयिता शापादिति मामब्रवीदृषिः ॥२१॥

'महर्षिने मुझसे कहा था कि 'जो तुम्हारे पूछे हुए प्रश्नोंका विभागपूर्वक उत्तर दे दे, वही तुम्हें शापसे छुड़ा सकता है ॥ २१ ॥

गृहीतस्य त्वया राजन् प्राणिनोऽपि बलीयसः ।
सत्त्वभ्रंशोऽधिकस्यापि सर्वस्याशु भविष्यति ॥२२॥

'राजन् ! जिसे तुम पकड़ लोगे, वह बलवान्-से-बलवान् प्राणी क्यों न हो; उसका भी धैर्य छूट जायगा । एवं तुमसे अधिक शक्तिशाली पुरुष क्यों न हो, सबका साहस शीघ्र ही खो जायगा' ॥ २२ ॥

इति चाप्यहमश्रौषं वचस्तेषां दयावताम् ।
मयि संजातहार्दानामथ तेऽन्तर्हिता द्विजाः ॥२३॥

'इस प्रकार मेरे प्रति हार्दिक दयाभाव उत्पन्न हो जानेके कारण उन दयालु महर्षियोंने जो बात कही थी, वह भी मैंने स्पष्ट सुनी । तत्पश्चात् वे सारे ब्रह्मर्षि अन्तर्धान हो गये ॥ २३ ॥

सोऽहं परमदुष्कर्मा वसामि निरयेऽशुचौ ।
सर्पयोनिमिमां प्राप्य कालाकाङ्क्षी महाद्युते ॥२४॥

'महाद्युते ! इस प्रकार मैं अत्यन्त दुष्कर्मी होनेके कारण इस अपवित्र नरकमें निवास करता हूँ । इस सर्पयोनिमें पड़कर इससे छूटनेके अवसरकी प्रतीक्षा करता हूँ' ॥ २४ ॥

तमुवाच महाबाहुर्भीमसेनो भुजङ्गमम् ।
न च कुप्ये महासर्प न चात्मानं विगर्हये ॥२५॥

तब महाबाहु भीमने उस अजगरसे कहा—'महासर्प ! न तो मैं आपपर क्रोध करता हूँ और न अपनी ही निन्दा करता हूँ ॥ २५ ॥

यस्मादभावी भावी वा मनुष्यः सुखदुःखयोः ।
आगमे यदि वापाये न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥२६॥

'क्योंकि मनुष्य सुख-दुःखकी प्राप्ति अथवा निवृत्तिमें कभी असमर्थ होता है और कभी समर्थ । अतः किसी भी दशा-में अपने मनमें ग्लानि नहीं आने देनी चाहिये ॥ २६ ॥

दैवं पुरुषकारेण को वञ्चयितुमर्हति ।
दैवमेव परं मन्ये पुरुषार्थो निरर्थकः ॥२७॥

'कौन ऐसा मनुष्य है, जो पुरुषार्थके बलसे दैवको वञ्चित कर सके । मैं तो दैवको ही बड़ा मानता हूँ, पुरुषार्थ व्यर्थ है ॥ २७ ॥

पश्य दैवोपघाताद्धि भुजवीर्यव्यपाश्रयम् ।
इमामवस्थां सम्प्राप्तमनिमित्तमिहाद्य माम् ॥२८॥

'देखिये, दैवके आघातसे आज मैं अकारण ही यहाँ इस दशाको प्राप्त हो गया हूँ । नहीं तो मुझे अपने बाहुबलका बड़ा भरोसा था ॥ २८ ॥

किंतु नाद्यानुशोचामि तथाऽऽत्मानं विनाशितम् ।
यथा तु विपिने न्यस्तान् भ्रातॄन् राज्यपरिच्युतान् ॥

'परंतु आज मैं अपनी मृत्युके लिये उतना शोक नहीं करता हूँ, जितना कि राज्यसे वञ्चित हो वनमें पड़े हुए अपने भाइयोंके लिये मुझे शोक हो रहा है ॥ २९ ॥

हिमवांश्च सुदुर्गोऽयं यक्षराक्षससंकुलः ।
मां समुद्वीक्षमाणास्ते प्रपतिष्यन्ति विह्वलाः ॥३०॥

'यक्षों तथा राक्षसोंसे भरा हुआ यह हिमालय अत्यन्त दुर्गम है, मेरे भाई व्याकुल होकर जब मुझे खोजेंगे, तब अवश्य कहीं खंदकमें गिर पड़ेंगे ॥ ३० ॥

विनष्टमथ मां श्रुत्वा भविष्यन्ति निरुद्यमाः ।
धर्मशीला मया ते हि बाध्यन्ते राज्यगृद्धिना ॥३१॥

'मेरी मृत्यु हुई सुनकर वे राज्य-प्राप्तिका सारा उद्योग छोड़ बैठेंगे । मेरे सभी भाई स्वभावतः धर्मात्मा हैं । मैं ही राज्यके लोभसे उन्हें युद्धके लिये बाध्य करता रहता हूँ ॥ ३१ ॥

अथवा नार्जुनो धीमान् विषादमुपयास्यति ।
सर्वास्त्रविदनाधृष्यो देवगन्धर्वराक्षसैः ॥३२॥

'अथवा बुद्धिमान् अर्जुन विषादमें नहीं पड़ेंगे; क्योंकि वे सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता हैं । देवता, गन्धर्व तथा राक्षस भी उन्हें पराजित नहीं कर सकते ॥ ३२ ॥

समर्थः स महाबाहुरेकोऽपि सुमहाबलः ।
देवराजमपि स्थानात् प्रच्यावयितुमञ्जसा ॥३३॥

'महाबली महाबाहु अर्जुन अकेले ही देवराज इन्द्रको भी अनायास ही अपने स्थानसे हटा देनेमें समर्थ हैं ॥ ३३ ॥

किं पुनर्धृतराष्ट्रस्य पुत्रं दुर्द्यूतदेविनम् ।
विद्विष्टं सर्वलोकस्य दम्भमोहपरायणम् ॥३४॥

'फिर कपटद्यूत खेलनेवाले दुर्योधनको जीतना उनके लिये

कौन बड़ी बात है, जो कपटद्यूतका सेवन करनेवाला, लोकद्रोही, दम्भी तथा मोहमें डूबा हुआ है ॥ ३४ ॥

मातरं चैव शोचामि कृपणां पुत्रगृद्धिनीम् ।
यास्माकं नित्यमाशास्ते महत्त्वमधिकं परैः ॥ ३५ ॥

'मैं पुत्रोंके प्रति स्नेह रखनेवाली अपनी उस दीन माताके लिये शोक करता हूँ, जो सदा यह आशा रखती है कि हम सभी भाइयोंका महत्त्व शत्रुओंसे बढ़-चढ़कर हो ॥ ३५ ॥

तस्याः कथं त्वनाथाया मद्विनाशाद् भुजङ्गम ।
सफलास्ते भविष्यन्ति मयि सर्वे मनोरथाः ॥ ३६ ॥

'भुजङ्गम ! मेरे मरनेसे मेरी अनाथ माताके वे सभी मनोरथ जो मुझपर अवलम्बित थे, कैसे सफल हो सकेंगे ?॥ ३६॥

नकुलः सहदेवश्च यमौ च गुरुवर्तिनौ ।
मद्बाहुबलसंगुप्तौ नित्यं पुरुषमानिनौ ॥ ३७ ॥

'एक साथ जन्म लेनेवाले नकुल और सहदेव सदा गुरुजनोंकी आज्ञाके पालनमें लगे रहते हैं । मेरे बाहुबलसे सुरक्षित हो वे दोनों भाई सर्वदा अपने पौरुषपर अभिमान रखते हैं ॥ ३७ ॥

भविष्यतो निरुत्साहौ भ्रष्टवीर्यपराक्रमौ ।
मद्विनाशात् परिद्यूनाविति मे वर्तते मतिः ॥ ३८ ॥

'वे मेरे विनाशसे उत्साहशून्य हो जायँगे, अपने बल और पराक्रम खो बैठेंगे और सर्वथा शक्तिहीन हो जायँगे, ऐसा मेरा विश्वास है' ॥ ३८ ॥

एवंविधं बहु तदा विललाप वृकोदरः ।
भुजङ्गभोगसंरुद्धो नाशकच्च विचेष्टितुम् ॥ ३९ ॥

जनमेजय ! उस समय भीमसेनने इस तरहकी बहुत-सी बातें कहकर देरतक विलाप किया । वे सर्पके शरीरसे इस प्रकार जकड़ गये थे कि हिल-डुल भी नहीं सकते थे ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो बभूवास्वस्थचेतनः ।
अनिष्टदर्शनान् घोरानुत्पातान् परिचिन्तयन् ॥ ४० ॥

उधर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अनिष्टसूचक भयंकर उत्पातोंको देखकर बड़ी चिन्तामें पड़े । वे व्याकुल हो गये ॥ ४० ॥

दारुणं ह्यशिवं नादं शिवा दक्षिणतः स्थिता ।
दीप्तायां दिशि वित्रस्ता रौति तस्याश्रमस्य ह ॥ ४१ ॥

उनके आश्रमसे दक्षिण दिशामें, जहाँ आग लगी हुई थी, एक डरी हुई सियारिन खड़ी हो दारुण अमङ्गलसूचक आर्तनाद करने लगी ॥ ४१ ॥

एकपक्षाक्षिचरणा वर्तिका घोरदर्शना ।
रक्तं वमन्ती ददृशे प्रत्यादित्यमभासुरा ॥ ४२ ॥

एक पाँख, एक आँख तथा एक पैरवाली भयंकर और मलिन वर्तिका (बटेर चिड़ियाँ) सूर्यकी ओर रक्त उगलती हुई दिखायी दी ॥ ४२ ॥

प्रववौ चानिलो रूक्षश्चण्डः शर्करकर्षणः ।
अपसव्यानि सर्वाणि मृगपक्षिरुतानि च ॥ ४३ ॥

उस समय कंकड़ बरसानेवाली रूखी और प्रचण्ड वायु बह रही थी और पशु-पक्षियोंके सम्पूर्ण शब्द दाहिनी ओर हो रहे थे ॥ ४३ ॥

पृष्ठतो वायसः कृष्णो याहि याहीति शंसति ।
मुहुर्मुहुः स्फुरति च दक्षिणोऽस्य भुजस्तथा ॥ ४४ ॥

पीछेकी ओरसे काला कौवा 'जाओ-जाओ' की रट लगा रहा था और उनकी दाहिनी बाँह बार-बार फड़क उठती थी ॥ ४४ ॥

हृदयं चरणश्चापि वामोऽस्य परितप्यति ।
सव्यस्याक्ष्णो विकारश्चाप्यनिष्टः समपद्यत ॥ ४५ ॥

उनके हृदय तथा बायें पैरमें पीड़ा होने लगी । बायीं आँखमें अनिष्टसूचक विकार उत्पन्न हो गया ॥ ४५ ॥

धर्मराजोऽपि मेधावी मन्यमानो महद् भयम् ।
द्रौपदीं परिपप्रच्छ क्व भीम इति भारत ॥ ४६ ॥

भारत ! परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरने भी अपने मनमें महान् भय मानते हुए द्रौपदीसे पूछा--'भीमसेन कहाँ है ?' ॥ ४६ ॥

शशंस तस्मै पाञ्चाली चिरयातं वृकोदरम् ।
स प्रतस्थे महाबाहुर्धौम्येन सहितो नृपः ॥ ४७ ॥

द्रौपदीने उत्तर दिया--'उनको यहाँसे गये बहुत देर हो गयी'--यह सुनकर महाबाहु महाराज युधिष्ठिर महर्षि धौम्यके साथ उनकी खोजके लिये चल दिये ॥ ४७ ॥

द्रौपद्या रक्षणं कार्यमित्युवाच धनंजयम् ।
नकुलं सहदेवं च व्यादिदेश द्विजान् प्रति ॥ ४८ ॥

जाते समय उन्होंने अर्जुनसे कहा--'द्रौपदीकी रक्षा करना ।' फिर उन्होंने नकुल और सहदेवको ब्राह्मणोंकी रक्षा एवं सेवाके लिये आज्ञा दी ॥ ४८ ॥

स तस्य पदमुन्नीय तस्मादेवाश्रमात् प्रभुः ।
मृगयामास कौन्तेयो भीमसेनं महावने ॥ ४९ ॥

शक्तिशाली कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने उस महान् वनमें भीमसेनके पदचिह्न देखते हुए उस आश्रमसे निकलकर सब ओर खोजा ॥ ४९ ॥

स प्राचीं दिशमास्थाय महतो गजयूथपान् ।
ददर्श पृथिवीं चिह्नैर्भीमस्य परिचिह्नितां ॥ ५० ॥

पहले पूर्व दिशामें जाकर हाथियोंके बड़े-बड़े यूथपतियोंको देखा । वहाँकी भूमि भीमसेनके पद-चिह्नोंसे चिह्नित थी ॥ ५० ॥

ततो मृगसहस्राणि मृगेन्द्राणां शतानि च।
पतितानि वने दृष्ट्वा मार्गं तस्याविशन्नृपः ॥ ५१ ॥

वहाँसे आगे बढ़नेपर उन्होंने वनमें सैकड़ों सिंह और हजारों अन्य हिंसक पशु पृथ्वीपर पड़े देखे। देखकर भीमसेनके मार्गका अनुसरण करते हुए राजाने उसी वनमें प्रवेश किया ॥ ५१ ॥

धावतस्तस्य वीरस्य मृगार्थं वातरंहसः।
ऊरुवातविनिर्भग्ना द्रुमा व्यावर्जिताः पथि ॥ ५२ ॥

वायुके समान वेगशाली वीरवर भीमसेनके शिकारके लिये दौड़नेपर मार्गमें उनकी जाँघोंके आघातसे टूटकर पड़े हुए बहुत-से वृक्ष दिखायी दिये ॥ ५२ ॥

स गत्वा तैस्तदा चिह्नैर्ददर्श गिरिगह्वरे।
रूक्षमारुतभूयिष्ठे निष्पत्रद्रुमसंकुले ॥ ५३ ॥

ईरिणे निर्जले देशे कण्टकिद्रुमसंकुले।
अश्मस्थाणुक्षुपाकीर्णे सुदुर्गे विषमोत्कटे।
गृहीतं भुजगेन्द्रेण निश्चेष्टमनुजं तदा ॥ ५४ ॥

तब उन्हीं पद-चिह्नोंके सहारे जाकर उन्होंने पर्वतकी कन्दरामें अपने भाई भीमसेनको देखा, जो अजगरकी पकड़में आकर चेष्टाशून्य हो गये थे। उक्त पर्वतकी कन्दरामें विशेष रूपसे रूक्ष वायु चलती थी। वह गुफा ऐसे वृक्षोंसे ढकी थी, जिनमें नाममात्रके लिये भी पत्ते नहीं थे। इतना ही नहीं, वह स्थान ऊसर, निर्जल, काँटेदार वृक्षोंसे भरा हुआ, पत्थर, ठूँठ और छोटे वृक्षोंसे व्याप्त, अत्यन्त दुर्गम और ऊँचा-नीचा था ॥ ५३-५४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि युधिष्ठिरभीमदर्शने एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें युधिष्ठिरको भीमसेनके दर्शनसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७९ ॥

अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनके पास पहुँचना और सर्परूपधारी नहुषके प्रश्नोंका उत्तर देना

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तमासाद्य सर्पभोगेन वेष्टितम्।
दयितं भ्रातरं धीमानिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सर्पके शरीरसे बँधे हुए अपने प्रिय भाई भीमसेनके पास पहुँचकर परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरने इस प्रकार पूछा—॥ १ ॥

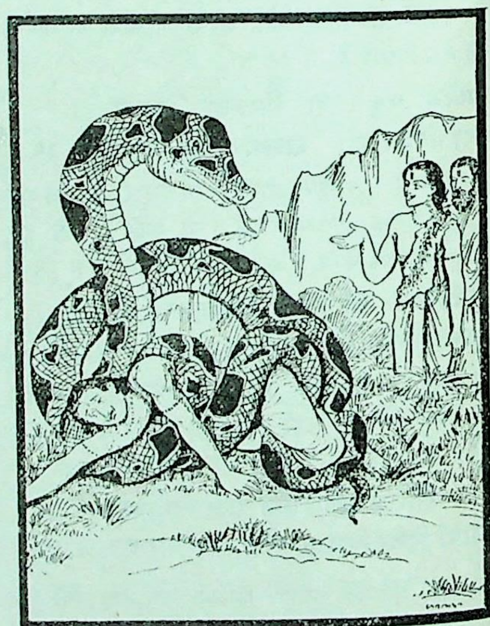
कुन्तीमातः कथमिमामापदं त्वमवाप्तवान्।
कश्चायं पर्वताभोगप्रतिमः पन्नगोत्तमः ॥ २ ॥
स धर्मराजमालक्ष्य भ्राता भ्रातरमग्रजम्।
कथयामास तत् सर्वं ग्रहणादि विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

'कुन्तीनन्दन! तुम कैसे इस विपत्तिमें फँस गये? और यह पर्वतके समान लम्बा-चौड़ा श्रेष्ठ नाग कौन है?' अपने बड़े भ्राता धर्मराज युधिष्ठिरको वहाँ उपस्थित देख भाई भीमसेनने अपने पकड़े जाने आदिकी सारी चेष्टाएँ कह सुनायीं ॥ २-३ ॥

भीम उवाच

अयमार्य महासत्त्वो भक्षार्थं मां गृहीतवान्।
नहुषो नाम राजर्षिः प्राणवानिव संस्थितः ॥ ४ ॥

भीम बोले—आर्य! ये वायुभक्षी सर्पके रूपमें बैठे हुए महान् शक्तिशाली साक्षात् राजर्षि नहुष हैं, इन्होंने मुझे अपना आहार [illegible] ॥ ४ ॥



युधिष्ठिर उवाच

मुच्यतामयमायुष्मन् भ्राता मेऽमितविक्रमः।
[illegible] क्षुधानिवारणम् ॥ ५ ॥

तब युधिष्ठिरने सर्पसे कहा—आयुष्मन् ! आप मेरे इस अनन्त पराक्रमी भाईको छोड़ दें । हमलोग आपकी भूख मिटानेके लिये दूसरा भोजन देंगे ॥ ५ ॥

सर्प उवाच

आहारो राजपुत्रोऽयं मया प्राप्तो मुखागतः ।
गम्यतां नेह स्थातव्यं श्वो भवानपि मे भवेत् ॥ ६ ॥

सर्प बोला—राजन् ! यह राजकुमार मेरे मुखके पास स्वयं आकर मुझे आहाररूपमें प्राप्त हुआ है । तुम जाओ, यहाँ ठहरना उचित नहीं है; अन्यथा कलतक तुम भी मेरे आहार बन जाओगे ॥ ६ ॥

व्रतमेतन्महाबाहो विषयं मम यो व्रजेत् ।
स मे भक्षो भवेत् तात त्वं चापि विषये मम ॥ ७ ॥

महाबाहो ! मेरा यह नियम है कि मेरी अधिकृत भूमिके भीतर जो भी आ जायगा, वह मेरा भक्ष्य बन जायगा । तात ! इस समय तुम भी मेरे अधिकारकी सीमामें ही आ गये हो ॥ ७ ॥

चिरेणाद्य मयाऽऽहारः प्राप्तोऽयमनुजस्तव ।
नाहमेनं विमोक्ष्यामि न चान्यमभिकाङ्क्षये ॥ ८ ॥

दीर्घकालतक उपवास करनेके बाद आज यह तुम्हारा छोटा भाई मुझे आहाररूपमें प्राप्त हुआ है, अतः न तो मैं इसे छोड़ूँगा और न इसके बदलेमें दूसरा आहार ही लेना चाहता हूँ ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

देवो वा यदि वा दैत्य उरगो वा भवान् यदि ।
सत्यं सर्प वचो ब्रूहि पृच्छति त्वां युधिष्ठिरः ।
किमर्थं च त्वया ग्रस्तो भीमसेनो भुजङ्गम ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सर्प ! तुम कोई देवता हो या दैत्य, अथवा वास्तवमें सर्प ही हो ? सच बताओ, तुमसे युधिष्ठिर प्रश्न कर रहा है । भुजङ्गम ! किस लिये तुमने भीमसेनको ही अपना ग्रास बनाया है ? ॥ ९ ॥

किमाहृत्य विदित्वा वा प्रीतिस्ते स्याद् भुजङ्गम ।
किमाहारं प्रयच्छामि कथं मुञ्चेद् भवानिमम् ॥ १० ॥

बोलो, तुम्हारे लिये क्या ला दिया जाय ? अथवा तुम्हें किस बातका ज्ञान करा दिया जाय ? जिससे तुम प्रसन्न होओगे । मैं कौन-सा आहार दे दूँ अथवा किस उपायका अवलम्बन करूँ, जिससे तुम इन्हें छोड़ सकते हो ! ॥ १० ॥

सर्प उवाच

नहुषो नाम राजाहमासं पूर्वस्तवानघ ।
प्रथितः पञ्चमः सोमादायोः पुत्रो नराधिप ॥ ११ ॥

सर्प बोला—निष्पाप नरेश ! मैं पूर्वजन्ममें तुम्हारा विख्यात पूर्वज नहुष नामका राजा था । चन्द्रमासे पाँचवीं पीढ़ीमें जो आयु नामक राजा हुए थे, उन्हींका मैं पुत्र हूँ ॥ ११ ॥

क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेन च ।
त्रैलोक्यैश्वर्यमव्यग्रं प्राप्तोऽहं विक्रमेण च ॥ १२ ॥

मैंने अनेक यज्ञ किये, तपस्या की, स्वाध्याय किया तथा अपने मन और इन्द्रियोंके संयमरूप योगका अभ्यास किया । इन सत्कर्मोंसे तथा अपने पराक्रमसे भी मुझे तीनों लोकोंका निष्कण्टक साम्राज्य प्राप्त हुआ था ॥ १२ ॥

तदैश्वर्यं समासाद्य दर्पो मामगमत् तदा ।
सहस्रं हि द्विजातीनामुवाह शिबिकां मम ॥ १३ ॥
ऐश्वर्यमदमत्तोऽहमवमन्य ततो द्विजान् ।
इमामगस्त्येन दशामानीतः पृथिवीपते ॥ १४ ॥
न तु मामजहात् प्रज्ञा यावदद्येति पाण्डव ।
तस्यैवानुग्रहाद् राजन्नगस्त्यस्य महात्मनः ॥ १५ ॥

तब उस ऐश्वर्यको पाकर मेरा अहङ्कार बढ़ गया । मैंने सहस्रों ब्राह्मणोंसे अपनी पालकी ढुलवायी । तदनन्तर ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो मैंने बहुत-से ब्राह्मणोंका अपमान किया । पृथ्वीपते ! इससे कुपित हुए महर्षि अगस्त्यने मुझे इस अवस्थाको पहुँचा दिया । पाण्डुनन्दन नरेश ! उन्हीं महात्मा अगस्त्यकी कृपासे आजतक मेरी स्मरणशक्ति मुझे छोड़ नहीं सकी है । (मेरी स्मृति ज्यों-की-त्यों बनी हुई है) ॥ १३–१५ ॥

षष्ठे काले मयाऽऽहारः प्राप्तोऽयमनुजस्तव ।
नाहमेनं विमोक्ष्यामि न चान्यदपि कामये ॥ १६ ॥

महर्षिके शापके अनुसार दिनके छठे भागमें तुम्हारा यह छोटा भाई मुझे भोजनके रूपमें प्राप्त हुआ है । अतः मैं न तो इसे छोड़ूँगा और न इसके बदले दूसरा आहार लेना चाहता हूँ ॥ १६ ॥

प्रश्नानुच्चारितानद्य व्याहरिष्यसि चेन्मम ।
अथ पश्चाद् विमोक्ष्यामि भ्रातरं ते वृकोदरम् ॥ १७ ॥

परंतु एक बात है, यदि तुम मेरे पूछे हुए कुछ प्रश्नोंका अभी उत्तर दे दोगे, तो उसके बाद मैं तुम्हारे भाई भीमसेनको छोड़ दूँगा ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्रूहि सर्प यथाकामं प्रतिवक्ष्यामि ते वचः ।
अपि चेच्छक्नुयां प्रीतिमाहर्तुं ते भुजङ्गम ॥ १८ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सर्प ! तुम इच्छानुसार प्रश्न करो । मैं तुम्हारी बातका उत्तर दूँगा । भुजङ्गम ! यदि हो सका, तो तुम्हें प्रसन्न करनेका प्रयत्न करूँगा ॥ १८ ॥

वेद्यं च ब्राह्मणेनेह तद् भवान् वेत्ति केवलम् ।
सर्पराज ततः श्रुत्वा प्रतिवक्ष्यामि ते वचः ॥ १९ ॥

सर्पराज ! ब्राह्मणको इस जीवनमें जो कुछ जानना चाहिये, वह केवल तत्त्व तुम जानते हो या नहीं । यह सुनकर मैं तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दूँगा ॥ १९ ॥

सर्प उवाच

ब्राह्मणः को भवेद् राजन् वेद्यं किं च युधिष्ठिर ।
ब्रवीह्यतिमतिं त्वां हि वाक्यैरनुमिमीमहे ॥ २० ॥

सर्प बोला—राजा युधिष्ठिर ! यह बताओ कि ब्राह्मण कौन है और उसके लिये जानने योग्य तत्त्व क्या है ? तुम्हारी बातें सुननेसे मुझे ऐसा अनुमान होता है कि तुम अतिशय बुद्धिमान् हो ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा ।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ २१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—नागराज ! जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, क्रूरताका अभाव, तपस्या और दया— ये सद्गुण दिखायी देते हों, वही ब्राह्मण कहा गया है ॥ २१ ॥

वेद्यं सर्प परं ब्रह्म निर्दुःखमसुखं च यत् ।
यत्र गत्वा न शोचन्ति भवतः किं विवक्षितम् ॥ २२ ॥

सर्प ! जानने योग्य तत्त्व तो परम ब्रह्म ही है, जो दुःख और सुखसे परे है तथा जहाँ पहुँचकर अथवा जिसे जानकर मनुष्य शोकके पार हो जाता है । बताओ, तुम्हें अब इस विषयमें क्या कहना है ? ॥ २२ ॥

सर्प उवाच

चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव हि ।
शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च ।
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर ॥ २३ ॥

सर्प बोला—युधिष्ठिर ! सत्य एवं प्रमाणभूत ब्रह्म तो चारों वर्णोंके लिये हितकर है । सत्य, दान, अक्रोध, क्रूरताका अभाव, अहिंसा और दया आदि सद्गुण तो शूद्रोंमें भी रहते हैं ॥ २३ ॥

वेद्यं यच्चात्र निर्दुःखमसुखं च नराधिप ।
ताभ्यां हीनं पदं चान्यन्न तदस्तीति लक्षये ॥ २४ ॥

नरेश्वर ! तुमने यहाँ जो जानने योग्य तत्त्वको दुःख और सुखसे परे बताया है, सो दुःख और सुखसे रहित किसी दूसरी वस्तुकी सत्ता ही मैं नहीं देखता हूँ ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते ।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥ २५ ॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥ २६ ॥

युधिष्ठिरने कहा—यदि शूद्रमें सत्य आदि उपर्युक्त लक्षण हैं और ब्राह्मणमें नहीं हैं तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है । सर्प ! जिसमें ये सत्य आदि लक्षण मौजूद हों, वह ब्राह्मण माना गया है और जिसमें इन लक्षणोंका अभाव हो, उसे शूद्र कहना चाहिये ॥

यत् पुनर्भवता प्रोक्तं न वेद्यं विद्यतीति च ।
ताभ्यां हीनमतोऽन्यत्र पदमस्तीति चेदपि ॥ २७ ॥
एवमेतन्मतं सर्प ताभ्यां हीनं न विद्यते ।
यथा शीतोष्णयोर्मध्ये भवेन्नोष्णं न शीतता ॥ २८ ॥
एवं वै सुखदुःखाभ्यां हीनमस्ति पदं क्वचित् ।
एषा मम मतिः सर्प यथा वा मन्यते भवान् ॥ २९ ॥

अब तुमने जो यह कहा कि सुख-दुःखसे रहित कोई दूसरा वेद्य तत्त्व है ही नहीं, सो तुम्हारा यह मत ठीक है । सुख-दुःखसे शून्य कोई पदार्थ नहीं है । किंतु एक ऐसा पद है भी । जिस प्रकार बर्फमें उष्णता और अग्निमें शीतलता कहीं नहीं रहती, उसी प्रकार जो वेद्य-पद है, वह वास्तवमें सुख-दुःखसे रहित ही है । नागराज ! मेरा तो यही विचार है, फिर आप जैसा मानें ॥ २७–२९ ॥

सर्प उवाच

यदि ते वृत्ततो राजन् ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः ।
वृथा जातिस्तदाऽऽयुष्मन् कृतिर्यावन्न विद्यते ॥ ३० ॥

सर्प बोला—आयुष्मन् नरेश ! यदि आचारसे ही ब्राह्मणकी परीक्षा की जाय, तब तो जबतक उसके अनुसार कर्म न हो जाति व्यर्थ ही है ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर उवाच

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते ।
संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महासर्प ! महामते ! मनुष्योंमें जातिकी परीक्षा करना बहुत ही कठिन है; क्योंकि इस समय सभी वर्णोंका परस्पर संकर (सम्मिश्रण) हो रहा है, ऐसा मेरा विचार है ॥ ३१ ॥

सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः ।
वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणं च समं नृणाम् ॥ ३२ ॥
इदमार्षं प्रमाणं च ये यजामह इत्यपि ।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः ॥ ३३ ॥

सभी मनुष्य सदा सब जातियोंकी स्त्रियोंसे संतान उत्पन्न कर रहे हैं । वाणी, मैथुन तथा जन्म और मरण—ये सब मनुष्योंमें एक-से देखे जाते हैं । इस विषयमें यह आर्षप्रमाण भी मिलता है—'ये यजामहे' यह श्रुति जातिका निश्चय न होनेके कारण ही जो हमलोग यज्ञ कर रहे हैं, ऐसा सामान्यरूपसे निर्देश करती है । इसलिये जो तत्त्वदर्शी विद्वान् हैं, वे शीलको ही प्रधानता देते हैं और उसे ही अभीष्ट मानते हैं ॥ ३२-३३ ॥

प्राङ्‌नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ ३४ ॥

जब बालकका जन्म होता है, तब नालच्छेदनके पूर्व उसका जातकर्म-संस्कार किया जाता है । उसमें उसकी माता सावित्री कहलाती है और पिता आचार्य ॥ ३४ ॥

तावच्छूद्रसमो ह्येष यावद् वेदे न जायते ।
तस्मिन्नेवं मतिद्वैधे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ३५ ॥
कृतकृत्याः पुनर्वर्णा यदि वृत्तं न विद्यते ।
संकरस्त्वत्र नागेन्द्र बलवान् प्रसमीक्षितः ॥ ३६ ॥

जबतक बालकका संस्कार करके उसे वेदका स्वाध्याय न कराया जाय, तबतक वह शूद्रहीके समान है । जाति-विषयक संदेह होनेपर स्वायम्भुव मनुने यही निर्णय दिया है । नागराज ! यदि वैदिक संस्कार करके वेदाध्ययन करने-पर भी ब्राह्मणादि वर्णोंमें अपेक्षित शील और सदाचारका उदय नहीं हुआ तो उसमें प्रबल वर्णसंकरता है, ऐसा विचार-पूर्वक निश्चय किया गया है ॥ ३५-३६ ॥

यत्रेदानीं महासर्प संस्कृतं वृत्तमिष्यते ।
तं ब्राह्मणमहं पूर्वमुक्तवान् भुजगोत्तम ॥ ३७ ॥

महासर्प ! भुजङ्गमप्रवर ! इस समय जिसमें संस्कारके साथ-साथ सदाचारकी उपलब्धि हो, वही ब्राह्मण है । यह बात मैं पहले ही बता चुका हूँ ॥ ३७ ॥

सर्प उवाच

श्रुतं विदितवेद्यस्य तव वाक्यं युधिष्ठिर ।
भक्षयेयमहं कस्माद् भ्रातरं ते वृकोदरम् ॥ ३८ ॥

सर्प बोला--युधिष्ठिर ! तुम जानने योग्य सभी बातें जानते हो । मैंने तुम्हारी बात अच्छी तरह सुन ली । अब मैं तुम्हारे भाई भीमसेनको कैसे खा सकता हूँ ? ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि युधिष्ठिरसर्पसंवादे अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें युधिष्ठिरसर्पसंवादविषयक एक सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८० ॥

एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा अपने प्रश्नोंका उचित उत्तर पाकर संतुष्ट हुए सर्परूपधारी नहुषका भीमसेनको छोड़ देना तथा युधिष्ठिरके साथ वार्तालाप करनेके प्रभावसे सर्पयोनिसे मुक्त होकर स्वर्ग जाना

युधिष्ठिर उवाच

भवानेतादृशो लोके वेदवेदाङ्गपारगः ।
ब्रूहि किं कुर्वतः कर्म भवेद् गतिरनुत्तमा ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तुम सम्पूर्ण वेद-वेदाङ्गोंके पारगामी हो । लोकमें तुम्हारी ऐसी ही ख्याति है । बताओ, किस कर्मके आचरणसे सर्वोत्तम गति प्राप्त हो सकती है ? ॥ १ ॥

सर्प उवाच

पात्रे दत्त्वा प्रियाण्युक्त्वा सत्यमुक्त्वा च भारत ।
अहिंसानिरतः स्वर्गं गच्छेदिति मतिर्मम ॥ २ ॥

सर्पने कहा—भारत ! इस विषयमें मेरा विचार यह है कि मनुष्य सत्पात्रको दान देनेसे, सत्य और प्रिय वचन बोलनेसे तथा अहिंसा-धर्ममें तत्पर रहनेसे स्वर्ग (उत्तम गति) पा सकता है ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

दानाद् वा सर्प सत्याद् वा किमतो गुरु दृश्यते ।
अहिंसाप्रिययोश्चैव गुरुलाघवमुच्यताम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—नागराज ! दान और सत्यमें किसका पलड़ा भारी देखा जाता है ? अहिंसा और प्रिय-भाषण—इनमेंसे किसका महत्त्व अधिक है और किसका कम ? यह बताओ ॥ ३ ॥

सर्प उवाच

दानं च सत्यं तत्त्वं वा अहिंसा प्रियमेव च ।
एषां कार्यगरीयस्त्वाद् दृश्यते गुरुलाघवम् ॥ ४ ॥

सर्पने कहा—महाराज ! दान, सत्य-तत्त्व, अहिंसा और प्रियभाषण--इनकी गुरुता और लघुता कार्यकी महत्ताके अनुसार देखी जाती है ॥ ४ ॥

कस्माच्चिद् दानयोगाद्धि सत्यमेव विशिष्यते ।
सत्यवाक्याच्च राजेन्द्र किंचिद् दानं विशिष्यते ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! किसी दानसे सत्यका ही महत्त्व बढ़ जाता है और कोई-कोई दान ही सत्यभाषणसे अधिक महत्त्व रखता है ॥ ५ ॥

एवमेव महेष्वास प्रियवाक्यान्महीपते ।
अहिंसा दृश्यते गुर्वी ततश्च प्रियमिष्यते ॥ ६ ॥

महान् धनुर्धर भूपाल ! इसी प्रकार कहीं तो प्रिय वचनकी अपेक्षा अहिंसाका गौरव अधिक देखा जाता है और कहीं अहिंसासे भी बढ़कर प्रियभाषणका महत्त्व दृष्टिगोचर होता है ॥

एवमेतद् भवेद् राजन् कार्यापेक्षमनन्तरम् ।
यदभिप्रेतमन्यत् ते ब्रूहि यावद् ब्रवीम्यहम् ॥ ७ ॥

राजन् ! इस प्रकार इनके गौरव-लाघवका निश्चय कार्यकी अपेक्षासे ही होता है ! अब और जो कुछ भी प्रश्न तुम्हें अभीष्ट हो, वह पूछो । मैं यथासाध्य उत्तर देता हूँ ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं स्वर्गे गतिः सर्प कर्मणां च फलं ध्रुवम् ।
अशरीरस्य दृश्येत प्रब्रूहि विषयांश्च मे ॥ ८ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सर्प ! मनुष्यको स्वर्गकी प्राप्ति और कर्मोंका निश्चयरूपसे मिलनेवाला फल किस प्रकार देखनेमें आता है एवं देहाभिमानसे रहित पुरुषकी गति किस प्रकार होती है ? इन विषयोंको मुझसे भलीभाँति कहिये ॥८॥

सर्प उवाच

तिस्रो वै गतयो राजन् परिदृष्टाः स्वकर्मभिः ।
मानुषं स्वर्गवासश्च तिर्यग्योनिश्च तत् त्रिधा ॥ ९ ॥

सर्पने कहा—राजन् ! अपने-अपने कर्मोंके अनुसार जीवोंकी तीन प्रकारकी गतियाँ देखी जाती हैं—स्वर्गलोककी प्राप्ति, मनुष्ययोनिमें जन्म लेना और पशु-पक्षी आदि योनियोंमें (तथा नरकोंमें) उत्पन्न होना ।* बस, ये ही तीन योनियाँ हैं ॥ ९ ॥

तत्र वै मानुषाल्लोकाद् दानादिभिरतन्द्रितः ।
अहिंसार्थसमायुक्तैः कारणैः स्वर्गमश्नुते ॥ १० ॥

इनमेंसे जो जीव मनुष्य-योनिमें उत्पन्न होता है, पर यदि आलस्य और प्रमादका त्याग करके अहिंसाका पालन करते हुए दान आदि शुभ कर्म करता है, तो उसे इन पुण्य कर्मोंके कारण स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

विपरीतैश्च राजेन्द्र कारणैर्मानुषो भवेत् ।
तिर्यग्योनिस्तथा तात विशेषश्चात्र वक्ष्यते ॥ ११ ॥
कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वितः ।
मनुष्यत्वात् परिभ्रष्टस्तिर्यग्योनौ प्रसूयते ॥ १२ ॥

राजेन्द्र ! इसके विपरीत कारण उपस्थित होनेपर मनुष्य-योनिमें तथा पशु-पक्षी आदि योनिमें जन्म लेना पड़ता है । तात ! पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जन्म लेनेका जो विशेष करण है, उसे भी यहाँ बतलाया जाता है । जो काम, क्रोध, लोभ और हिंसामें तत्पर होकर मानवतासे भ्रष्ट हो जाता है, अपनी मनुष्य होनेकी योग्यताको भी खो देता है, वही पशु-पक्षी आदि योनिमें जन्म पाता है ॥ ११-१२ ॥

तिर्यग्योन्याः पृथग्भावो मनुष्यार्थे विधीयते ।
गवादिभ्यस्तथाश्वेभ्यो देवत्वमपि दृश्यते ॥ १३ ॥

फिर मनुष्य-जन्मकी प्राप्तिके लिये उसका तिर्यक्-योनिसे उद्धार होता है । गौओं तथा अश्वोंको भी उस योनिसे छुटकारा मिलकर देवत्वकी प्राप्ति होती है, यह बात देखी जाती है ॥

सोऽयमेता गतीस्तात जन्तुश्चरति कार्यवान् ।
नित्ये महति चात्मानमवस्थापयते द्विजः ॥ १४ ॥
जातो जातश्च बलवद् भुङ्क्ते चात्मा स देहवान् ।
फलार्थस्तात निष्पृक्तः प्रजापालनभावनः ॥ १५ ॥

तात ! प्रयोजनवश वही यह जीव इन्हीं तीन गतियोंमें भटकता रहता है । कर्मफलको चाहनेवाला देहाभिमानी जीव परवशतासे बार-बार जन्म लेता और दुःख-सुखका उपभोग करता है । किंतु तात ! जो कर्म-फलमें आसक्त नहीं है, वह प्रजाजनोंके पालनकी भावनावाला द्विज अपने आत्माको नित्य परब्रह्म परमात्मामें भलीभाँति स्थित कर देता है ॥ १४-१५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शब्दे स्पर्शे च रूपे च तथैव रसगन्धयोः ।
तस्याधिष्ठानमव्यग्रो ब्रूहि सर्प यथातथम् ॥ १६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सर्प ! शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—इनका आधार क्या है ? आप शान्तचित्त होकर इसे यथार्थरूपसे बताइये ॥ १६ ॥

किं न गृह्णाति विषयान् युगपच्च महामते ।
एतावदुच्यतां चोक्तं सर्वं पन्नगसत्तम ॥ १७ ॥

महामते ! पन्नगश्रेष्ठ ! मन विषयोंका एक ही साथ ग्रहण क्यों नहीं करता ? इन उपर्युक्त सब बातोंको बताइये ॥१७॥

सर्प उवाच

यदात्मद्रव्यमायुष्मन् देहसंश्रयणान्वितम् ।
करणाधिष्ठितं भोगानुपभुङ्क्ते यथाविधि ॥ १८ ॥

सर्पने कहा—आयुष्मन् ! स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंका आश्रय लेनेवाला और इन्द्रियोंसे युक्त जो आत्मा नामक द्रव्य है, वही विधिपूर्वक नाना प्रकारके भोगोंको भोगता है ॥ १८ ॥

ज्ञानं चैवात्र बुद्धिश्च मनश्च भरतर्षभ ।
तस्य भोगाधिकरणे करणानि निबोध मे ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ज्ञान, बुद्धि और मन—ये ही शरीरमें उसके करण समझो ॥ १९ ॥

मनसा तात पर्येति क्रमशो विषयानिमान् ।
विषयायतनस्थो हि [illegible] स्थितः ॥ २० ॥

* ये ही क्रमशः ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगतिके नामसे प्रसिद्ध हैं ।

तात ! पाँचों विषयोंके आधारभूत पञ्चभूतोंसे बने हुए शरीरमें स्थित जीवात्मा इस शरीरमें स्थित हुआ ही मनके द्वारा क्रमशः इन पाँचों विषयोंका उपभोग करता है ॥ २० ॥

तत्र चापि नरव्याघ्र मनो जन्तोर्विधीयते।
तस्माद् युगपदत्रास्य ग्रहणं नोपपद्यते ॥ २१ ॥

नरश्रेष्ठ ! विषयोंके उपभोगके समय (बुद्धिके द्वारा) इस जीवात्माका मन किसी एक ही विषयमें नियन्त्रित कर दिया जाता है। इसीलिये उसके द्वारा एक ही साथ अनेक विषयोंका ग्रहण सम्भव नहीं हो पाता है ॥ २१ ॥

स आत्मा पुरुषव्याघ्र भ्रुवोरन्तरमाश्रितः।
बुद्धिं द्रव्येषु सृजति विविधेषु परावराम् ॥ २२ ॥

पुरुषसिंह ! वही आत्मा दोनों भौंहोंके बीच स्थित होकर उत्तम-अधम बुद्धिको भिन्न-भिन्न द्रव्योंकी ओर प्रेरित करता है ॥

बुद्धेरुत्तरकाला च वेदना दृश्यते बुधैः।
एष वै राजशार्दूल विधिः क्षेत्रज्ञभावनः ॥ २३ ॥

बुद्धिकी क्रियाके उत्तर-कालमें भी विद्वान् पुरुषोंको एक अनुभूति दिखायी देती है । नृपश्रेष्ठ ! यही क्षेत्रज्ञ आत्माको प्रकाशित करनेवाली विधि है ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मनसश्चापि बुद्धेश्च ब्रूहि मे लक्षणं परम्।
एतदध्यात्मविदुषां परं कार्यं विधीयते ॥ २४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सर्प ! मुझे मन और बुद्धिका उत्तम लक्षण बतलाओ। अध्यात्म-शास्त्रके विद्वानोंके लिये इनको जानना परम कर्तव्य कहा गया है ॥ २४ ॥

सर्प उवाच

बुद्धिरात्मानुगा तात उत्पातेन विधीयते।
तदाश्रिता हि संज्ञैषा बुद्धिस्तस्यैषिणी भवेत् ॥ २५ ॥
बुद्धिरुत्पद्यते कार्यान्मनस्तूत्पन्नमेव हि।
बुद्धेर्गुणविधानेन मनस्तद्गुणवद् भवेत् ॥ २६ ॥

तात ! आत्माके भोग और मोक्षका सम्पादन करना ही बुद्धिका प्रयोजन है तथा आत्माका आश्रय लेकर ही बुद्धि विषयोंकी ओर जाती है। इस कारण वह आत्माका अनुसरण करनेवाली मानी जाती है। वह भी आत्माकी चेतनशक्तिके सम्बन्धसे ही है तथा बुद्धिके गुणविधानसे अर्थात् उसकी ज्ञानशक्तिके प्रभावसे ही मन उस गुणसे सम्पन्न होता है यानी इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ हो जाता है। अतः बुद्धि तो कार्यके आरम्भसे प्रकट होती है और मन सदैव प्रकट रहता है। (कार्यको देखकर ही कारणकी सत्ता व्यक्त होती है—यह न्याय है) ॥ २५-२६ ॥

एतद् विशेषणं तात मनोबुद्ध्योर्यदन्तरम्।
त्वमप्यत्राभिसम्बुद्धः कथं वा मन्यते भवान् ॥ २७ ॥

तात ! मन और बुद्धिकी यह विशेषता ही उन दोनोंका अन्तर है। तुम भी तो इस विषयके अच्छे ज्ञाता हो, अतः बताओ, तुम्हारी कैसी मान्यता है ? ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अहो बुद्धिमतां श्रेष्ठ शुभा बुद्धिरियं तव।
विदितं वेदितव्यं ते कस्मात् समनुपृच्छसि ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर बोले—बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ ! तुम्हारी यह बुद्धि बड़ी उत्तम है। तुम तो जाननेयोग्य वस्तुको जान चुके हो। फिर मुझसे क्यों पूछते हो ? ॥ २८ ॥

सर्वज्ञं त्वां कथं मोह आविशत् स्वर्गवासिनम्।
एवमद्भुतकर्माणमिति मे संशयो महान् ॥ २९ ॥

तुम तो सर्वज्ञ तथा स्वर्गके निवासी थे। तुमने बड़े अद्भुत कर्म किये थे। भला, तुम्हें कैसे मोह हो गया ? (अर्थात् ब्राह्मणोंका अपमान कैसे कर बैठे ?) इस बातको लेकर मेरे मनमें बड़ा संशय हो रहा है ॥ २९ ॥

सर्प उवाच

सुप्रज्ञमपि चेच्छूरमृद्धिर्मोहयते नरम्।
वर्तमानः सुखे सर्वो मुह्यतीति मतिर्मम ॥ ३० ॥

सर्पने कहा—राजन् ! यह धन-सम्पत्ति बड़े-बड़े बुद्धिमान् और शूरवीर मनुष्यको भी मोहमें डाल देती है। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि सुख-विलासमें डूबे हुए सभी लोग मोहित हो जाते हैं ॥ ३० ॥

सोऽहमैश्वर्यमोहेन मदाविष्टो युधिष्ठिर।
पतितः प्रतिसम्बुद्धस्त्वां तु सम्बोधयाम्यहम् ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर ! इसी तरह मैं भी ऐश्वर्यके मोहसे मदोन्मत्त हो गया और मुझे उस समय चेत हुआ, जब कि मेरा अधःपतन हो चुका। अतः अब तुम्हें सचेत कर रहा हूँ ॥ ३१ ॥

कृतं कार्यं महाराज त्वया मम परंतप।
क्षीणः शापः सुकृच्छ्रो मे त्वया सम्भाष्य साधुना ॥ ३२ ॥

परंतप महाराज ! आज तुमने मेरा बहुत बड़ा कार्य किया। इस समय तुम-जैसे श्रेष्ठ पुरुषसे वार्तालाप करनेके कारण मेरा वह अत्यन्त कष्टदायक शाप निवृत्त हो गया ॥ ३२ ॥

अहं हि दिवि दिव्येन विमानेन चरन् पुरा।
अभिमानेन मत्तः सन् कंचिन्नान्यमचिन्तयम् ॥ ३३ ॥

पूर्वकालमें (जब मैं स्वर्गका राजा था,) दिव्य विमानपर चढ़कर आकाशमें विचरता रहता था। उस समय अभिमानसे मत्त होकर मैं दूसरे किसीको कुछ नहीं समझता था ॥ ३३ ॥

ब्रह्मर्षिदेवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः।
करान् मम प्रयच्छन्ति सर्वे त्रैलोक्यवासिनः ॥ ३४ ॥

ब्रह्मर्षि, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग आदि, जो भी इस त्रिलोकीमें निवास करनेवाले प्राणी थे, वे सब मुझे कर देते थे ॥ ३४ ॥

चक्षुषा यं प्रपश्यामि प्राणिनं पृथिवीपते ।
तस्य तेजो हराम्याशु तद्धि दृष्टेर्बलं मम ॥ ३५ ॥

राजन् ! उन दिनों मैं जिस प्राणीकी ओर आँख उठाकर देखता था, उसका तेज तत्काल हर लेता था । यह थी मेरी दृष्टिकी शक्ति ॥ ३५ ॥

ब्रह्मर्षीणां सहस्रं हि उवाह शिबिकां मम ।
स मामपनयो राजन् भ्रंशयामास वै श्रियः ॥ ३६ ॥

हजारों ही ब्रह्मर्षि मेरी पालकी ढोते थे । महाराज ! मेरे इसी अत्याचारने मुझे स्वर्गकी राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट कर दिया ॥

तत्र ह्यगस्त्यः पादेन वहन् स्पृष्टो मया मुनिः ।
अगस्त्येन ततोऽस्म्युक्तः सर्पस्त्वं च भवेति ह ॥ ३७ ॥

स्वर्गमें मुनिवर अगस्त्य जब मेरी पालकी ढो रहे थे, तब मैंने उन्हें लात मारी, इसलिये उन्होंने मुझे ऐसा कहा कि 'तू निश्चय ही सर्प हो जा' ॥ ३७ ॥

ततस्तस्माद् विमानाग्र्यात् प्रच्युतश्च्युतलक्षणः ।
प्रपतन् बुबुधेऽऽत्मानं व्यालीभूतमधोमुखम् ।
अयाचं तमहं विप्रं शापस्यान्तो भवेदिति ॥ ३८ ॥

उनके इतना कहते ही मेरे सभी राज-चिह्न लुप्त हो गये । मैं (सर्प होकर) उस उत्तम विमानसे नीचे गिरा । उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि मैं सर्प होकर नीचे मुँह किये गिर रहा हूँ; तब मैंने शापका अन्त होनेके उद्देश्यसे उन ब्रह्मर्षिसे याचना करते हुए कहा ॥ ३८ ॥

सर्प उवाच

प्रमादात् सम्प्रमूढस्य भगवन् क्षन्तुमर्हसि ।
ततः स मामुवाचेदं प्रपतन्तं कृपान्वितः ॥ ३९ ॥

सर्पने कहा—भगवन् ! मैं प्रमादवश विवेकशून्य हो गया था । इसीलिये मुझसे यह घोर अपराध हुआ है । आप कृपया क्षमा करें । तब मुझे गिरते देख वे महर्षि दयासे द्रवित होकर बोले—॥ ३९ ॥

युधिष्ठिरो धर्मराजः शापात् त्वां मोक्षयिष्यति ।
अभिमानस्य घोरस्य पापस्य च नराधिप ॥ ४० ॥
फले क्षीणे महाराज फलं पुण्यमवाप्स्यसि ।
ततो मे विस्मयो जातस्तद् दृष्ट्वा तपसो बलम् ॥ ४१ ॥

'राजन् ! धर्मराज युधिष्ठिर तुम्हें इस शापसे मुक्त करेंगे । महाराज ! जब तुम्हारे इस अभिमान और घोर पाप-का फल क्षीण हो जायगा, तब तुम्हें फिर तुम्हारे पुण्योंका फल प्राप्त होगा' । उस समय मुझे उनकी तपस्याका महान् बल देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ४०-४१ ॥

ब्रह्म च ब्राह्मणत्वं च येन त्वाहमचूचुदम् ।
सत्यं दमस्तपो दानमहिंसा धर्मनित्यता ॥ ४२ ॥
साधकानि सदा पुंसां न जातिर्न कुलं नृप ।
अरिष्टं च ते भ्राता भीमसेनो महाबलः ।
स्वस्ति तेऽस्तु महाराज गमिष्यामि दिवं पुनः ॥ ४३ ॥

राजन् ! उनका ब्रह्म-ज्ञान और ब्राह्मणत्व देखकर भी मुझे बड़ा विस्मय हुआ । इसीलिये इस विषयमें मैंने तुमसे पहले प्रश्न किया था । राजन् ! सत्य, इन्द्रियसंयम, तपस्या, दान, अहिंसा और धर्मपरायणता—ये सद्गुण ही सदा मनुष्योंको सिद्धिकी प्राप्ति करानेवाले हैं, जाति और कुल नहीं । ये रहे तुम्हारे भाई महाबली भीमसेन, जो सर्वथा सकुशल हैं । महाराज ! तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं पुनः स्वर्गलोकको जाऊँगा ॥ ४२-४३ ॥

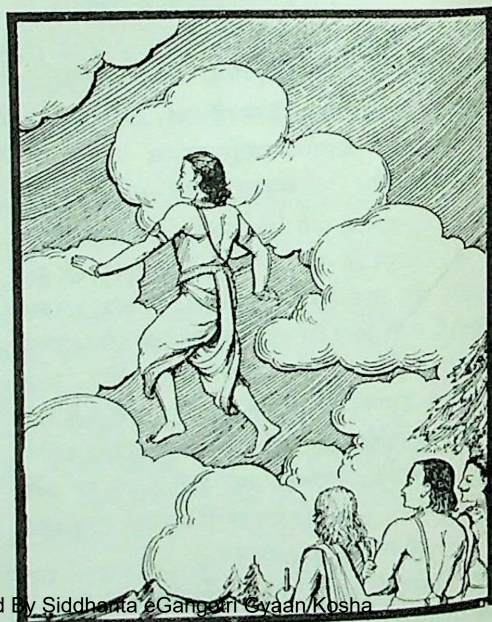
(स चायं पुरुषव्याघ्र कालः पुण्य उपागतः ।
तदस्मात् कारणात् पार्थ कार्यं मम महत् कृतम् ॥)

पुरुषसिंह ! पार्थ ! तुम्हारे शुभागमनसे ही यह पुण्य-काल प्राप्त हुआ है, इस कारण तुमने मेरा बहुत बड़ा कार्य सिद्ध कर दिया ॥

वैशम्पायन उवाच

(ततस्तस्मिन् मुहूर्ते तु विमानं कामगामि वै ।
अवपातेन महता तत्रावाप तदुत्तमम् ॥)
इत्युक्त्वाऽऽजगरं देहं मुक्त्वा स नहुषो नृपः ।
दिव्यं वपुः समास्थाय गतस्त्रिदिवमेव ह ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर उसी मुहूर्तमें एक इच्छानुसार चलनेवाला उत्तम विमान बड़े जोरकी उड़ानके साथ वहाँ आ पहुँचा । युधिष्ठिरसे पूर्वोक्त बातें कहकर राजा नहुषने अजगरका शरीर त्याग दिया और दिव्य शरीर धारण करके वे पुनः स्वर्गलोक-को चले गये ॥ ४४ ॥



युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा भ्रात्रा भीमेन संगतः ।
धौम्येन सहितः श्रीमानाश्रमं पुनरागमत् ॥ ४५ ॥

धर्मात्मा युधिष्ठिर भी भाई भीमसेनसे मिलकर उनके और धौम्यमुनिके साथ फिर अपने आश्रमपर लौट आये ॥

ततो द्विजेभ्यः सर्वेभ्यः समेतेभ्यो यथातथम् ।
कथयामास तत् सर्वं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४६ ॥

तब धर्मराज युधिष्ठिरने वहाँ एकत्र हुए सब ब्राह्मणोंको भीमसेनके सर्पके चंगुलसे छूटनेका वह सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ४६ ॥

तच्छ्रुत्वा ते द्विजाः सर्वे भ्रातरश्चास्य ते त्रयः ।
आसन् सुव्रीडिता राजन् द्रौपदी च यशस्विनी ॥ ४७ ॥

राजन्! यह सुनकर सब ब्राह्मण, उनके तीनों भाई और यशस्विनी द्रौपदी सब-के-सब बड़े लज्जित हुए ॥ ४७ ॥

ते तु सर्वे द्विजश्रेष्ठाः पाण्डवानां हितेप्सया ।
मैवमित्यब्रुवन् भीमं गर्हयन्तोऽस्य साहसम् ॥ ४८ ॥

तब पाण्डवोंके हितकी इच्छासे वे सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण भीमसेनको उनके दुःसाहसकी निन्दा करते हुए बोले—'अब कभी ऐसा न करना' ॥ ४८ ॥

पाण्डवास्तु भयान्मुक्तं प्रेक्ष्य भीमं महाबलम् ।
हर्षमाहारयांचक्रुर्विजह्रुश्च मुदा युताः ॥ ४९ ॥

पाण्डवलोग महाबली भीमसेनको भयसे मुक्त हुआ देख हर्षसे उल्लसित हो उठे और प्रसन्नतापूर्वक वहाँ विचरने लगे ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि भीममोचने एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें भीमसेनके सर्पके भयसे छूटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५१ श्लोक हैं)

(मार्कण्डेयसमास्यापर्व)

द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

वर्षा और शरद्-ऋतुका वर्णन एवं युधिष्ठिर आदिका पुनः द्वैतवनसे काम्यकवनमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

निदाघान्तकरः कालः सर्वभूतसुखावहः ।
तत्रैव वसतां तेषां प्रावृट् समभिपद्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर ग्रीष्म ऋतुकी समाप्ति सूचित करनेवाला वर्षाकाल आया, जो समस्त प्राणियोंको सुख पहुँचानेवाला था । पाण्डव अभी द्वैतवनमें ही थे, उसी समय वर्षा ऋतु आ गयी ॥ १ ॥

छादयन्तो महाघोषाः खं दिशश्च बलाहकाः ।
प्रववर्षुर्दिवारात्रमसिताः सततं तदा ॥ २ ॥

तब काले-काले मेघ जोर-जोरसे गर्जना करते हुए आकाश और दिशाओंमें छा गये और दिन-रात निरन्तर जलकी वर्षा करने लगे ॥ २ ॥

तपात्ययनिकेताश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।
अपेतार्कप्रभाजालाः सविद्युद्विमलप्रभाः ॥ ३ ॥

वे वर्षामें तम्बूके समान जान पड़ते थे । उनकी संख्या सैकड़ों और हजारोंतक पहुँच गयी थी । उन्होंने सूर्यके प्रभापुञ्जको तो ढँक दिया था और विद्युत्की निर्मल प्रभा धारण कर ली थी ॥ ३ ॥

विरूढशष्पा धरणी मत्तदंशसरीसृपा ।
बभूव पयसा सिक्ता शान्ता सर्वमनोरमा ॥ ४ ॥

धरतीपर घास जम गयी । मतवाले डाँस और सर्प आदि विचरने लगे । पृथ्वी जलसे अभिषिक्त होकर शान्त और सबके लिये मनोरम हो गयी ॥ ४ ॥

न स्म प्रज्ञायते किंचिदम्भसा समवस्तृते ।
समं वा विषमं वापि नद्यो वा स्थावराणि च ॥ ५ ॥

सब ओर इतना पानी भर गया कि ऊँचा-नीचा, समतल, नदी अथवा पेड़-पौधे आदिका पता नहीं चलता था ॥ ५ ॥

क्षुब्धतोया महावेगाः श्वसमाना इवाशुगाः ।
सिन्धवः शोभयांचक्रुः काननानि तपात्यये ॥ ६ ॥

वर्षा ऋतुकी नदियाँ बड़े वेगसे छूटनेवाले शीघ्रगामी बाणोंकी भाँति सन-सनाती हुई चलती थीं । उनके जलमें हिलोरें उठती रहती थीं और वे कितने ही काननोंकी शोभा बढ़ाती थीं ॥ ६ ॥

नदतां काननान्तेषु श्रूयन्ते विविधाः स्वनाः ।
वृष्टिभिश्छाद्यमानानां वराहमृगपक्षिणाम् ॥ ७ ॥

वनके भीतर वर्षाकी बौछारोंसे भीगते और बोलते हुए वराह, मृग और पक्षियोंकी भाँति-भाँतिकी बोलियाँ सुनायी देती थीं ॥

स्तोककाः शिखिनश्चैव पुंस्कोकिलगणैः सह ।
मत्ताः परिपतन्ति स्म दर्दुराश्चैव दर्पिताः ॥ ८ ॥

पपीहा और मोर नर-कोकिलोंके साथ आनन्दोन्मत्त होकर इधर-उधर उड़ने लगे और मेढक भी घमण्डमें आकर इधर-उधर कूदते और टर्र-टर्र करते थे ॥ ८ ॥

तथा बहुविधाकारा प्रावृण्मेघानुनादिता ।
अभ्यतीता शिवा तेषां चरतां मरुधन्वसु ॥ ९ ॥

पाण्डव अभी मरु-प्रदेशमें ही विचरते थे, तभी मेघोंकी गर्जनासे गूँजती तथा अनेक प्रकारके रूप-रंग लिये प्रकट हुई मङ्गलमयी वर्षा ऋतु भी बीत गयी ॥ ९ ॥

क्रौञ्चहंससमाकीर्णा शरत् प्रमुदिताभवत् ।
रूढकक्षवनप्रस्था प्रसन्नजलनिम्नगा ॥ १० ॥
विमलाकाशनक्षत्रा शरत् तेषां शिवाभवत् ।
मृगद्विजसमाकीर्णा पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् आनन्दमयी शरद्-ऋतुका शुभागमन हुआ । क्रौञ्च और हंस आदि पक्षी चारों ओर विचरने लगे । वनोंमें और पर्वतीय शिखरोंपर कास, कुश आदि बहुत बढ़ गये थे । नदियोंका जल स्वच्छ हो गया । आकाश निर्मल होनेसे नक्षत्रोंका आलोक और उज्ज्वल हो उठा । सब ओर मृग और पक्षी किलोल करने लगे । महात्मा पाण्डवोंके लिये यह शरद्-ऋतु अत्यन्त सुखदायिनी थी ॥ १०-११ ॥

दृश्यन्ते शान्तरजसः क्षपा जलदशीतलाः ।
ग्रहनक्षत्रसङ्घैश्च सोमेन च विराजिताः ॥ १२ ॥

उस समयकी रातें धूलरहित एवं निर्मल दिखायी देती थीं । बादलोंके समान उनमें शीतलता थी । ग्रहों और नक्षत्रोंके समुदाय तथा चन्द्रमा उनकी शोभा बढ़ाते थे ॥ १२ ॥

कुमुदैः पुण्डरीकैश्च शीतवारिधराः शिवाः ।
नदीः पुष्करिणीश्चैव ददृशुः समलंकृताः ॥ १३ ॥

पाण्डवोंने देखा, नदियाँ और पोखरियाँ कुमुदों तथा कमल-पुष्पोंसे अलंकृत हैं । उनमें शीतल जल भरा हुआ है और वे सबके लिये सुखदायिनी प्रतीत होती हैं ॥ १३ ॥

आकाशनीकाशतटां तीरवानीरसंकुलाम् ।
बभूव चरतां हर्षः पुण्यतीर्थां सरस्वतीम् ॥ १४ ॥

पावन तीर्थोंसे विभूषित सरस्वती नदीका तट आकाशके समान निर्मल दिखायी देता था । उसके दोनों किनारे बेंतकी लहलहाती हुई लताओंसे आच्छादित थे । वहाँ विचरते हुए पाण्डवोंको बड़ा आनन्द मिलता था ॥ १४ ॥

ते वै मुमुदिरे वीराः प्रसन्नसलिलां शिवाम् ।
पश्यन्तो दृढधन्वानः परिपूर्णां सरस्वतीम् ॥ १५ ॥

वीर पाण्डव सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले थे । उन्होंने स्वच्छ जलसे भरी हुई कल्याणमयी सरस्वतीका दर्शन करके बड़े आनन्दका अनुभव किया ॥ १५ ॥

तेषां पुण्यतमा रात्रिः पर्वसंधौ स्म शारदी ।
तत्रैव वसतामासीत् कार्तिकी जनमेजय ॥ १६ ॥

जनमेजय ! उनके वहाँ रहते समय पर्वकी संधि-वेलामें कार्तिककी शरत्-पूर्णिमाकी परम पुण्यमयी रात्रि आयी ॥ १६ ॥

पुण्यकृद्भिर्महासत्त्वैस्तापसैः सह पाण्डवाः ।
तत् सर्वं भरतश्रेष्ठाः समूहुर्योगमुत्तमम् ॥ १७ ॥

उस समय भरतश्रेष्ठ पाण्डवोंने महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न, पुण्यात्मा, तपस्वी मुनियोंके साथ स्नान-दानादिके द्वारा उस उत्तम योगको पूर्णतः सफल बनाया ॥ १७ ॥

तमिस्राभ्युदये तस्मिन् धौम्येन सह पाण्डवाः ।
सूतैः पौरोगवैश्चैव काम्यकं प्रययुर्वनम् ॥ १८ ॥

फिर कृष्ण-पक्षका उदय होनेपर पाण्डवलोग धौम्यमुनि, सारथिगण तथा पाकशालाध्यक्षके साथ काम्यकवनकी ओर चल दिये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि काम्यकवनप्रवेशे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें काम्यकवनगमनविषयक एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८२ ॥



त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

काम्यकवनमें पाण्डवोंके पास भगवान् श्रीकृष्ण, मुनिवर मार्कण्डेय तथा नारदजीका आगमन एवं युधिष्ठिरके पूछनेपर मार्कण्डेयजीके द्वारा कर्मफल-भोगका विवेचन

वैशम्पायन उवाच

काम्यकं प्राप्य कौरव्य युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
कृतातिथ्या मुनिगणैर्निषेदुः सह कृष्णया ॥ १ ॥

ततस्तान् परिविश्वस्तान् वसतः पाण्डुनन्दनान् ।
ब्राह्मणा बहवस्तत्र समन्तात् पर्यवारयन् ॥ २ ॥
[illegible] र्जुनस्य प्रियः सखा ।
स पश्यति महाबाहुर्वंशी शौरिरुदारधीः ॥ ३ ॥



वनमें पाण्डवोंसे श्रीकृष्ण-सत्यभामाका मिलना

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन जनमेजय ! काम्यकवनमें पहुँचनेपर वहाँके मुनियोंने युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंका यथोचित आदर-सत्कार किया। फिर वे द्रौपदीके साथ वहाँ रहने लगे। जब वे विश्वासपात्र पाण्डव वहाँ निवास करने लगे, तब बहुत-से ब्राह्मणोंने आकर सब ओरसे उन्हें घेर लिया (और उन्हींके साथ रहने लगे)। तदनन्तर एक दिन एक ब्राह्मण आया। उसने यह सूचना दी कि सबको वशमें रखनेवाले उदारबुद्धि महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण, जो अर्जुनके प्रिय सखा हैं, अभी यहाँ पधारेंगे ॥ १–३ ॥

विदिता हि हरेर्यूयमिहायाताः कुरूद्वहाः ।
सदा हि दर्शनाकाङ्क्षी श्रेयोऽन्वेषी च वो हरिः ॥ ४ ॥

कुरुश्रेष्ठ पाण्डवो ! आपलोगोंका यहाँ आना भगवान् श्रीकृष्णको ज्ञात हो चुका है। वे सदा आपलोगोंको देखनेके लिये उत्सुक रहते हैं और आपके कल्याणकी बात सोचते रहते हैं ॥ ४ ॥

बहुवत्सरजीवी च मार्कण्डेयो महातपाः ।
स्वाध्यायतपसा युक्तः क्षिप्रं युष्मान् समेष्यति ॥ ५ ॥

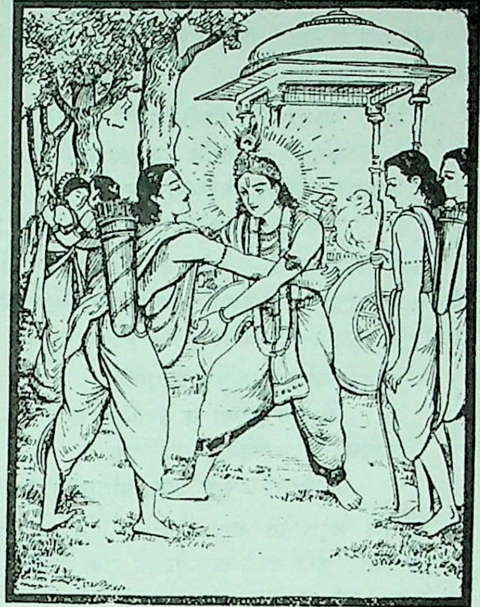
एक शुभ समाचार और है, चिरंजीवी महातपस्वी मार्कण्डेयमुनि, जो स्वाध्याय और तपस्यामें संलग्न रहा करते हैं, शीघ्र ही आपलोगोंसे मिलेंगे ॥ ५ ॥

तथैव ब्रुवतस्तस्य प्रत्यदृश्यत केशवः ।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेन रथिनां वरः ॥ ६ ॥
मघवानिव पौलोम्या सहितः सत्यभामया ।
उपायाद् देवकीपुत्रो दिदृक्षुः कुरुसत्तमान् ॥ ७ ॥

ब्राह्मण इस प्रकारकी बातें कह ही रहा था कि शैब्य और सुग्रीव नामक अश्वोंसे जुते हुए रथद्वारा रथियोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण आते हुए दिखायी दिये। जैसे शचीके साथ इन्द्र आये हों, उसी प्रकार सत्यभामाके साथ देवकीनन्दन श्रीहरि उन कुरुकुलशिरोमणि पाण्डवोंसे मिलने वहाँ आये ॥ ६–७ ॥

अवतीर्य रथात् कृष्णो धर्मराजं यथाविधि ।
ववन्दे मुदितो धीमान् भीमं च बलिनां वरम् ॥ ८ ॥

परम बुद्धिमान् श्रीकृष्णने रथसे उतरकर बड़ी प्रसन्नताके साथ धर्मराज युधिष्ठिर तथा बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमको विधिपूर्वक प्रणाम किया ॥ ८ ॥



पूजयामास धौम्यं च यमाभ्यामभिवादितः ।
परिष्वज्य गुडाकेशं द्रौपदीं पर्यसान्त्वयत् ॥ ९ ॥
स दृष्ट्वा फाल्गुनं वीरं चिरस्य प्रियमागतम् ।
पर्यष्वजत दाशार्हः पुनः पुनररिंदमः ॥ १० ॥

फिर धौम्यमुनिका पूजन किया। तत्पश्चात् नकुल-सहदेवने आकर उनके चरणोंमें मस्तक झुकाये। इसके बाद निद्राविजयी अर्जुनको हृदयसे लगाकर श्रीकृष्णने द्रौपदीको भलीभाँति सान्त्वना दी। परमप्रिय वीरवर अर्जुनको दीर्घ-कालके बाद आया देख शत्रुदमन श्रीकृष्णने उन्हें बार-बार हृदयसे लगाया ॥ ९–१० ॥

तथैव सत्यभामापि द्रौपदीं परिषस्वजे ।
पाण्डवानां प्रियां भार्यां कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥ ११ ॥

इसी प्रकार श्रीकृष्णकी प्यारी रानी सत्यभामाने भी पाण्डवोंकी प्रियपत्नी पाञ्चालीका आलिङ्गन किया ॥ ११ ॥

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सभार्याः सपुरोहिताः ।
आनर्चुः पुण्डरीकाक्षं परिवव्रुश्च सर्वशः ॥ १२ ॥

तदनन्तर पत्नी और पुरोहितसहित समस्त पाण्डवोंने कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णका पूजन किया और सब-के-सब उन्हें घेरकर बैठ गये ॥ १२ ॥

कृष्णस्तु पार्थेन समेत्य विद्वान्
धनंजयेनासुरतर्जनेन ।
बभौ यथा भूतपतिर्महात्मा
समेत्य साक्षाद् भगवान् गुहेन ॥ १३ ॥

सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण असुरोंको भयभीत करनेवाले

कुन्तीनन्दन अर्जुनसे मिलकर उसी प्रकार सुशोभित हुए, जैसे परम महात्मा साक्षात् भगवान् भूतनाथ शङ्कर कार्तिकेयसे मिलकर शोभा पाते हैं ॥ १३ ॥

ततः समस्तानि किरीटमाली
वनेषु वृत्तानि गदाग्रजाय ।
उक्त्वा यथावत् पुनरन्वपृच्छत्
कथं सुभद्रा च स चाभिमन्युः ॥ १४ ॥

तदनन्तर किरीटधारी अर्जुनने गदके बड़े भाई भगवान् श्रीकृष्णको वनवासके सारे वृत्तान्त यथार्थरूपसे बताकर पुनः उनसे पूछा—'सुभद्रा और अभिमन्यु कैसे हैं ?' ॥ १४ ॥

स पूजयित्वा मधुहा यथावत्
पार्थं च कृष्णां च पुरोहितं च ।
उवाच राजानमभिप्रशंसन्
युधिष्ठिरं तत्र सहोपविश्य ॥ १५ ॥

भगवान् मधुसूदनने अर्जुन, द्रौपदी तथा पुरोहित धौम्यका सम्मान करके सबके साथ बैठकर राजा युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए कहा—॥ १५ ॥

धर्मः परः पाण्डव राज्यलाभात्
तस्यार्थमाहुस्तप एव राजन् ।
सत्यार्जवाभ्यां चरता स्वधर्मं
जितस्त्वयायं च परश्च लोकः ॥ १६ ॥

'राजन् ! पाण्डुनन्दन ! राज्यलाभकी अपेक्षा धर्म महान् है । धर्मकी वृद्धिके लिये तपको ही प्रधान साधन बताया गया है । आप सत्य और सरलता आदि सद्गुणोंके साथ-साथ स्वधर्मका पालन करते हैं, अतः आपने इस लोक और परलोक दोनोंको जीत लिया है ॥ १६ ॥

अधीतमग्रे चरता व्रतानि
सम्यग् धनुर्वेदमवाप्य कृत्स्नम् ।
क्षात्रेण धर्मेण वसूनि लब्ध्वा
सर्वे ह्यवाप्ताः क्रतवः पुराणाः ॥ १७ ॥
न ग्राम्यधर्मेषु रतिस्तवास्ति
कामान्न किंचित् कुरुषे नरेन्द्र ।
न चार्थलोभात् प्रजहासि धर्मं
तस्मात् प्रभावादसि धर्मराजः ॥ १८ ॥

'आपने सबसे पहले ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका पालन करते हुए सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन किया है । तत्पश्चात् सम्पूर्ण धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की है । इसके बाद क्षत्रिय-धर्मके अनुसार धनका उपार्जन करके समस्त प्राचीन यज्ञोंका अनुष्ठान किया है । नरेश्वर ! जिसमें गँवारोंकी आसक्ति हुआ करती है, उस स्त्री-सम्बन्धी भोगमें आपका अनुराग नहीं है । आप कामनासे प्रेरित होकर कुछ नहीं करते हैं और धनके

लोभसे धर्मका त्याग नहीं करते हैं । इसी प्रभावसे धर्मराज कहलाते हैं ॥ १७ १८ ॥

दानं च सत्यं च तपश्च राजन्
श्रद्धा च बुद्धिश्च क्षमा धृतिश्च ।
अवाप्य राष्ट्राणि वसूनि भोगा-
नेषा परा पार्थ सदा रतिस्ते ॥ १९ ॥

'राजन् ! आपने राज्य, धन और भोगोंको पाकर भी सदा दान, सत्य, तप, श्रद्धा, बुद्धि, क्षमा तथा धृति—इन सद्गुणोंसे ही प्रेम किया है ॥ १९ ॥

यदा जनौघः कुरुजाङ्गलानां
कृष्णां सभायामवशामपश्यत् ।
अपेतधर्मव्यवहारवृत्तं
सहेत तत् पाण्डव कस्त्वदन्यः ॥ २० ॥

'पाण्डुनन्दन ! कुरुजाङ्गल देशकी जनताने द्यूतसभामें द्रौपदीको जिस विवश-अवस्थामें देखा था और उस समय उसके साथ जो पापपूर्ण बर्ताव किया गया था, उसे आपके सिवा दूसरा कौन सह सकता था ? ॥ २० ॥

असंशयं सर्वसमृद्धकामः
क्षिप्रं प्रजाः पालयितासि सम्यक् ।
इमे वयं निग्रहणे कुरूणां
यदि प्रतिज्ञा भवतः समाप्ता ॥ २१ ॥

धर्मराज ! अब शीघ्र ही आपके सारे मनोरथ पूर्ण होंगे और आप राजसिंहासनपर आरूढ़ होकर न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करेंगे, इसमें तनिक भी संशय नहीं है । यदि आपकी वनवासविषयक प्रतिज्ञा पूरी हो जाय, तो हम सब लोग आपके विरोधी कौरवोंको दण्ड देनेके लिये उद्यत हैं' ॥ २१ ॥

धौम्यं च भीमं च युधिष्ठिरं च
यमौ च कृष्णां च दशार्हसिंहः ।
उवाच दिष्ट्या भवतां शिवेन
प्राप्तः किरीटी मुदितः कृतास्त्रः ॥ २२ ॥

तदनन्तर यदुकुलसिंह भगवान् श्रीकृष्णने धौम्य, युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल, सहदेव और द्रौपदीकी ओर देखते हुए कहा—'सौभाग्यकी बात है कि आपलोगोंद्वारा की हुई मङ्गलकामनासे किरीटधारी अर्जुन अस्त्रविद्याके पारंगत विद्वान् होकर सानन्द लौट आये हैं' ॥ २२ ॥

प्रोवाच कृष्णामपि याज्ञसेनीं
दशार्हभर्ता सहितः सुहृद्भिः ।
दिष्ट्या समग्रासि धनंजयेन
समागतेत्येवमुवाच कृष्णः ॥ २३ ॥
कृष्णे धनुर्वेदरतिप्रधाना-
सत्यव्रतास्ते शिशवः सुशीलाः ।

सद्भिः सदैवाचरितं सुहृद्भि-
श्चरन्ति पुत्रास्तव याज्ञसेनि ॥ २४ ॥

इसके बाद दशार्हकुलके स्वामी श्रीकृष्ण, जो अपने सुहृदोंसे घिरे हुए थे, यज्ञसेनकुमारी द्रौपदीसे बोले—'कृष्णे! अर्जुनसे मिलकर तेरी सारी कामना सफल हो गयी, यह बड़े आनन्दकी बात है। तेरे पुत्र बड़े सुशील हैं। धनुर्वेदमें उनका विशेष अनुराग है। वे अपने सुहृदोंसहित सत्पुरुषोंद्वारा आचरित सदाचार और धर्मका पालन करते हैं ॥ २३-२४ ॥

राज्येन राष्ट्रैश्च निमन्त्र्यमाणाः
पित्रा च कृष्णे तव सोदरैश्च ।
न यज्ञसेनस्य न मातुलानां
गृहेषु बाला रतिमाप्नुवन्ति ॥ २५ ॥

'कृष्णे! तुम्हारे पिता और भाइयोंने राज्य तथा राजकीय उपकरणों—यान-वाहन आदिकी सुविधा दिखाकर अनेक बार आमन्त्रित किया, तो भी तुम्हारे बच्चे अपने नाना यज्ञसेन और मामा धृष्टद्युम्न आदिके घरोंमें रहना पसंद नहीं करते हैं—वहाँ उनका मन नहीं लगता है ॥ २५ ॥

आनर्तमेवाभिमुखाः शिवेन
गत्वा धनुर्वेदरतिप्रधानाः ।
तवात्मजा वृष्णिपुरं प्रविश्य
न दैवतेभ्यः स्पृहयन्ति कृष्णे ॥ २६ ॥

'कृष्णे! उनका धनुर्वेदमें विशेष प्रेम है। वे आनर्त देशमें ही कुशलपूर्वक जाकर वृष्णिपुरी द्वारिकामें रहते हैं। वहाँ रहकर उन्हें देवताओंके लोकमें भी जानेकी इच्छा नहीं होती ॥ २६ ॥

यथा त्वमेवार्हसि तेषु वृत्तं
प्रयोक्तुमार्या च तथैव कुन्ती ।
तेष्वप्रमादेन तथा करोति
तथैव भूयश्च तथा सुभद्रा ॥ २७ ॥

'उन बालकोंको तुम सदाचारकी जैसी शिक्षा दे सकती हो, आर्या कुन्ती भी उन्हें जैसा सदाचार सिखा सकती हैं, वैसी शिक्षा देनेकी योग्यता सुभद्रामें भी है। वह बड़ी सावधानीके साथ वैसी ही शिक्षा देकर उन सब बालकोंको सदाचारमें प्रतिष्ठित करती है ॥ २७ ॥

यथानिरुद्धस्य यथाभिमन्यो-
र्यथा सुनीथस्य यथैव भानोः ।
तथा विनेता च गतिश्च कृष्णे
तवात्मजानामपि रौक्मिणेयः ॥ २८ ॥

'कृष्णे। रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न जिस प्रकार अनिरुद्ध, अभिमन्यु, सुनीथ और भानुको धनुर्वेदकी शिक्षा देते हैं, उसी प्रकार वे तुम्हारे पुत्रोंको भी शिक्षा और संरक्षण देते हैं ॥ २८ ॥

गदासिचर्मग्रहणेषु शूरा-
नस्त्रेषु शिक्षासु रथाश्वयाने ।
सम्यग् विनेता विनयत्यतन्द्र-
स्तांश्चाभिमन्युः सततं कुमारः ॥ २९ ॥

'शिक्षा देनेमें निपुण और आलस्यरहित कुमार अभिमन्यु तुम्हारे शूर-वीर पुत्रोंको गदा और ढाल-तलवारके दाँव-पेंच सिखाते हैं। अन्यान्य अस्त्रोंकी भी शिक्षा देते हैं। साथ ही रथ चलाने और घोड़े हाँकनेकी कला भी सिखाते हैं। वे सदा उनकी शिक्षा-दीक्षामें संलग्न रहते हैं ॥ २९ ॥

स चापि सम्यक् प्रणिधाय शिक्षां
शस्त्राणि चैषां विधिवत् प्रदाय ।
तवात्मजानां च तथाभिमन्योः
पराक्रमैस्तुष्यति रौक्मिणेयः ॥ ३० ॥

'अस्त्र-शस्त्रोंके प्रयोगकी उत्तम शिक्षा दे उनके लिये उन्होंने विधिपूर्वक नाना प्रकारके शस्त्र भी दे रक्खे हैं। तुम्हारे पुत्रों और अभिमन्युके पराक्रम देखकर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न बहुत संतुष्ट रहते हैं ॥ ३० ॥

यदा विहारं प्रसमीक्षमाणाः
प्रयान्ति पुत्रास्तव याज्ञसेनि ।
एकैकमेषामनुयान्ति तत्र
रथाश्च यानानि च दन्तिनश्च ॥ ३१ ॥

'याज्ञसेनी! तुम्हारे पुत्र जब नगरकी शोभा देखनेके लिये घूमने निकलते हैं, उस समय उनमेंसे प्रत्येकके लिये रथ, घोड़े, हाथी और पालकी आदि सवारियाँ पीछे-पीछे जाती हैं' ॥ ३१ ॥

अथाब्रवीद् धर्मराजं तु कृष्णो
दशार्हयोधाः कुकुरान्धकाश्च ।
एते निदेशं तव पालयन्त-
स्तिष्ठन्तु यत्रेच्छसि तत्र राजन् ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'राजन्! दशार्ह, कुकुर और अंधकवंशके योद्धा जहाँ आप चाहें, वहीं आपकी आज्ञाका पालन करते हुए खड़े रह सकते हैं ॥ ३२ ॥

आवर्ततां कार्मुकवेगवाता
हलायुधप्रग्रहणा मधूनाम् ।
सेना तवार्थेषु नरेन्द्र यत्ता
ससादिपत्त्यश्वरथा सनागा ॥ ३३ ॥

'नरेन्द्र! जिसके धनुषका वेग वायु-वेगके समान है, हल धारण करनेवाले बलरामजी जिसके सेनापति हैं, वह सवारोंसहित हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंसे भरी हुई मथुरा-प्रान्तवासी गोपोंकी चतुरङ्गिणी सेना सदा युद्धके लिये संनद्ध हो आपकी आज्ञापालनके लिये निरन्तर तत्पर रहती है ॥ ३३ ॥

प्रस्थाप्यतां पाण्डव धार्तराष्ट्रः
सुयोधनः पापकृतां वरिष्ठः ।
स सानुबन्धः ससुहृद्गणश्च
भौमस्य सौभाधिपतेश्च मार्गम् ॥ ३४ ॥

पाण्डुनन्दन ! अब आप पापात्माओंके शिरोमणि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको उसके सुहृदों और सम्बन्धियों-सहित उसी मार्गपर भेज दीजिये; जहाँ भौमासुर और शाल्व गये हैं ॥ ३४ ॥

कामं तथा तिष्ठ नरेन्द्र तस्मिन्
यथा कृतस्ते समयः सभायाम् ।
दाशार्हयोधैस्तु हतारियोधं
प्रतीक्षतां नागपुरं भवन्तम् ॥ ३५ ॥

'महाराज ! आप चाहें तो सभामें जो प्रतिज्ञा आपने की है, उसीके पालनमें लगे रहें। यदि आपकी आज्ञा हो तो यदुवंशी योद्धा आपके समस्त शत्रुओंको मार डालें और हस्तिनापुर नगर आपके शुभागमनकी प्रतीक्षा करता रहे ॥ ३५ ॥

व्यपेतमन्युर्व्यपनीतपाप्मा
विहृत्य यत्रेच्छसि तत्र कामम् ।
ततः प्रसिद्धं प्रथमं विशोकः
प्रपत्स्यसे नागपुरं सुराष्ट्रम् ॥ ३६ ॥

'राजन् ! आप क्रोध, दीनता और दुःखसे दूर रहकर जहाँ-जहाँ आपकी इच्छा हो वहाँ-वहाँ घूम लीजिये। तत्पश्चात् शोकरहित हो अपनी प्रसिद्ध, और उत्तम राजधानी हस्तिना-पुरमें प्रवेश कीजियेगा' ॥ ३६ ॥

ततस्तदाज्ञाय मतं महात्मा
यथावदुक्तं पुरुषोत्तमेन ।
प्रशस्य विप्रेक्ष्य च धर्मराजः
कृताञ्जलिः केशवमित्युवाच ॥ ३७ ॥

पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने अपना मत अच्छी तरह व्यक्त कर दिया था। उसे जानकर महात्मा धर्मराजने भगवान् केशवकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और हाथ जोड़कर उनकी ओर देखते हुए कहा—॥ ३७ ॥

असंशयं केशव पाण्डवानां
भवान् गतिस्त्वच्छरणा हि पार्थाः ।
कालोदये तच्च ततश्च भूयः
कर्ता भवान् कर्म न संशयोऽस्ति॥ ३८ ॥

'केशव ! इसमें संदेह नहीं कि आप ही पाण्डवोंके अवलम्ब हैं। कुन्तीके हम सभी पुत्र आपकी ही शरणमें हैं। जब समय आयेगा, तब आप पुनः अपने इस कथनके अनुसार सब कार्य करेंगे, इसमें संदेह नहीं है ॥ ३८ ॥

यथाप्रतिज्ञं विहृतश्च कालः
सर्वाः समा द्वादश निर्जनेषु ।
अज्ञातचर्यां विधिवत् समाप्य
भवद्गताः केशव पाण्डवेयाः ॥ ३९ ॥
एषैव बुद्धिर्जुषतां सदा त्वां
सत्ये स्थिताः केशव पाण्डवेयाः ।
सदानधर्माः सजनाः सदाराः
सबान्धवास्त्वच्छरणा हि पार्थाः ॥ ४० ॥

'भगवन् ! हमने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार बारह वर्षोंका सारा समय निर्जन वनोंमें घूमकर बिता दिया है। अब अज्ञातवास-की अवधि भी विधिपूर्वक पूर्ण कर लेनेपर हम समस्त पाण्डव आपकी आज्ञाके अधीन हो जायँगे। नाथ ! आपकी भी बुद्धि सदा ऐसी ही बनी रहे। ये पाण्डव सदा सत्यके पालनमें संलग्न रहे हैं। प्रभो ! दान-धर्मसे युक्त हम सभी कुन्ती-पुत्र सेवक, परिजन, स्त्री, पुत्र तथा बन्धु-बान्धवोंसहित केवल आपकी ही शरणमें हैं' ॥ ३९-४० ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा वदति वार्ष्णेये धर्मराजे च भारत ।
अथ पश्चात् तपोवृद्धो बहुवर्षसहस्रधृक् ॥ ४१ ॥
प्रत्यदृश्यत धर्मात्मा मार्कण्डेयो महातपाः ।
अजरश्चामरश्चैव रूपौदार्यगुणान्वितः ॥ ४२ ॥
व्यदृश्यत तथा युक्तो यथा स्यात् पञ्चविंशकः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! भगवान् श्रीकृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिर जब इस प्रकार बातें कर रहे थे, उसी समय अनेक सहस्र वर्षोंकी अवस्थावाले तपोवृद्ध धर्मात्मा महातपस्वी मार्कण्डेय मुनि आते दिखायी दिये। वे रूप और उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न तथा अजर-अमर थे। वैसे बड़े बूढ़े होनेपर भी वे ऐसे दिखायी दे रहे थे, मानो पच्चीस वर्षकी अवस्थाके तरुण हों ॥ ४१-४२½ ॥

तमागतमृषिं वृद्धं बहुवर्षसहस्रिणम् ॥ ४३ ॥
आनर्चुर्ब्राह्मणाः सर्वे कृष्णश्च सह पाण्डवैः ।
तमर्चितं सुविश्वस्तमासीनमृषिसत्तमम् ।
ब्राह्मणानां मतेनाह पाण्डवानां च केशवः ॥ ४४ ॥

हजारों वर्षोंकी अवस्थावाले उन वृद्ध महर्षिके पधारनेपर पाण्डवोंसहित भगवान् श्रीकृष्ण तथा समस्त ब्राह्मणोंने उनका पूजन किया। पूजित होनेपर जब वे अत्यन्त विश्वास करने योग्य मुनिश्रेष्ठ आसनपर विराजमान हो गये, तब वहाँ आये हुए ब्राह्मणों और पाण्डवोंकी सम्मतिसे भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा ॥ ४३-४४ ॥

कृष्ण उवाच

शुश्रूषवः पाण्डवास्ते ब्राह्मणाश्च समागताः ।
द्रौपदी सत्यभामा च तथाहं परमं वचः ॥ ४५ ॥

पुरावृत्ताः कथाः पुण्याः सदाचारान् सनातनान्।
राज्ञां स्त्रीणामृषीणां च मार्कण्डेय विचक्ष्व नः ॥ ४६ ॥

श्रीकृष्ण बोले--मार्कण्डेयजी ! आपके उपदेश सुननेकी इच्छासे यहाँ पाण्डवोंके साथ-साथ बहुत-से ब्राह्मण भी पधारे हुए हैं। द्रौपदी, सत्यभामा तथा मैं, सब लोग आपकी उत्तम वाणीका रसास्वादन करना चाहते हैं। आप प्राचीन कालके नरेशों, नारियों तथा महर्षियोंकी पुरातन पुण्य कथाएँ सुनाइये और हमलोगोंसे सनातन सदाचारका वर्णन कीजिये ॥ ४५-४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तेषु तत्रोपविष्टेषु देवर्षिरपि नारदः।
आजगाम विशुद्धात्मा पाण्डवानवलोककः ॥ ४७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे सब लोग वहाँ बैठे ही थे कि विशुद्ध अन्तःकरणवाले देवर्षि नारद भी पाण्डवोंसे मिलनेके लिये वहाँ आये ॥ ४७ ॥

तमप्यथ महात्मानं सर्वे ते पुरुषर्षभाः।
पाद्यार्घ्याभ्यां यथान्यायमुपतस्थुर्मनीषिणः ॥ ४८ ॥

तब उन सभी श्रेष्ठ मनीषी पुरुषोंने और उन महात्मा नारदजीको भी पाद्य और अर्घ्य आदि देकर उनका यथायोग्य सत्कार किया ॥ ४८ ॥



नारदस्त्वथ देवर्षिर्ज्ञात्वा तांस्तु कृतक्षणान्।
मार्कण्डेयस्य वदतस्तां कथामन्वमोदत ॥ ४९ ॥

तब देवर्षि नारदने उन सबको कथा सुननेके लिये अवसर निकालकर तैयार हुआ जान वक्ता मार्कण्डेय मुनिकी उस कथा-सुननेके विचारका अनुमोदन किया ॥ ४९ ॥

उवाच चैनं कालज्ञः स्मयन्निव सनातनः।
ब्रह्मर्षे कथ्यतां यत् ते पाण्डवेषु विवक्षितम् ॥ ५० ॥

उस समय उपर्युक्त अवसरके ज्ञाता सनातन भगवान् श्रीकृष्णने मार्कण्डेयजीसे मुसकराते हुए कहा—'महर्षे ! आप पाण्डवोंसे जो कुछ कहना चाहते थे, वह कहिये' ॥ ५० ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच मार्कण्डेयो महातपाः।
क्षणं कुरुध्वं विपुलमाख्यातव्यं भविष्यति ॥ ५१ ॥

उनके ऐसा कहनेपर महातपस्वी मार्कण्डेय मुनिने कहा—'पाण्डवो ! तुम सब लोग क्षण भरके लिये चुप हो जाओ; क्योंकि मुझे तुमसे बहुत कुछ कहना है' ॥५१॥

एवमुक्ताः क्षणं चक्रुः पाण्डवाः सह तैर्द्विजैः।
मध्यन्दिने यथाऽऽदित्यं प्रेक्षन्तस्ते महामुनिम् ॥ ५२ ॥

उनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर उन ब्राह्मणोंसहित पाण्डव मध्याह्नकालके सूर्यकी भाँति तेजस्वी उन महामुनिको देखते हुए उनके वक्तव्यको सुननेके लिये चुप हो गये ॥५२॥

वैशम्पायन उवाच

तं विवक्षन्तमालक्ष्य कुरुराजो महामुनिम्।
कथासंजननार्थाय चोदयामास पाण्डवः ॥ ५३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महामुनि मार्कण्डेयजीको बोलनेके लिये उद्यत देख कुरुराज पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिरने कथा प्रारम्भ करनेके लिये इस प्रकार प्रेरित किया—॥

भवान् दैवतदैत्यानामृषीणां च महात्मनाम्।
राजर्षीणां च सर्वेषां चरितज्ञः पुरातनः ॥ ५४ ॥

'महामुने ! आप देवताओं, दैत्यों, ऋषियों, महात्माओं तथा समस्त राजर्षियोंके चरित्रोंको जाननेवाले प्राचीन महर्षि हैं ॥ ५४ ॥

सेव्यश्चोपासितव्यश्च मतो नः काङ्क्षितश्चिरम्।
अयं च देवकीपुत्रः प्राप्तोऽस्मानवलोककः ॥ ५५ ॥

'हमारे मनमें दीर्घकालसे यह इच्छा थी कि हमें आपकी सेवा और सत्सङ्गका शुभ अवसर मिले। ये देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण भी हमसे मिलनेके लिये यहाँ पधारे हैं ॥ ५५ ॥

भवत्येव हि मे बुद्धिर्दृष्ट्वाऽऽत्मानं सुखाच्च्युतम्।
धार्तराष्ट्रांश्च दुर्वृत्तानृध्यतः प्रेक्ष्य सर्वशः ॥ ५६ ॥

'ब्रह्मन् ! जब मैं अपनेको सुखसे वञ्चित पाता हूँ और दुराचारी धृतराष्ट्रपुत्रोंको सब प्रकारसे समृद्धिशाली होते देखता हूँ, तब स्वभावतः ही मेरे मनमें एक विचार उठता है ॥

कर्मणः पुरुषः कर्ता शुभस्याप्यशुभस्य वा।
स फलं तदुपाश्नाति कथं कर्ता स्विदीश्वरः ॥ ५७ ॥

कुतो वा सुखदुःखेषु नृणां ब्रह्मविदां वर।
इह वा कृतमन्वेति परदेहेऽथ वा पुनः ॥ ५८ ॥

'मैं सोचता हूँ, शुभ और अशुभ कर्म करनेवाला जो पुरुष है, वह अपने उन कर्मोंका फल कैसे भोगता है तथा ईश्वर उन कर्मफलोंका रचयिता कैसे होता है ? ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ मुनीश्वर ! सुख और दुखकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंमें मनुष्योंकी प्रवृत्ति कैसे होती है ? मनुष्यका किया कर्म इस लोकमें ही उसका अनुसरण करता है अथवा पारलौकिक शरीरमें भी ? ॥ ५७-५८ ॥

देही च देहं संत्यज्य मृग्यमाणः शुभाशुभैः ।
कथं संयुज्यते प्रेत्य इह वा द्विजसत्तम ॥ ५९ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! देहधारी जीव अपने शरीरका त्याग करके जब परलोकमें चला जाता है, तब उसके शुभ और अशुभ कर्म उसको कैसे प्राप्त करते हैं और इहलोक और परलोकमें जीवका उन कर्मोंके फलसे किस प्रकार संयोग होता है ? ॥

ऐहलौकिकमेवेह उताहो पारलौकिकम् ।
क्व च कर्माणि तिष्ठन्ति जन्तोः प्रेतस्य भार्गव ॥ ६० ॥

'भृगुनन्दन ! कर्मोंका फल इसी लोकमें प्राप्त होता है या परलोकमें ? प्राणीकी मृत्यु हो जानेपर उसके कर्म कहाँ रहते हैं ?' ॥ ६० ॥

मार्कण्डेय उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो यथावद् वदतां वर ।
विदितं वेदितव्यं ते स्थित्यर्थं त्वं तु पृच्छसि ॥ ६१ ॥

मार्कण्डेयजी बोले--वक्ताओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुम्हारा यह प्रश्न यथार्थ और युक्तिसंगत है । तुम्हें जाननेयोग्य सभी बातोंका ज्ञान है, तो भी तुम केवल लोक-मर्यादाकी रक्षाके लिये यह प्रश्न उपस्थित करते हो ॥ ६१ ॥

अत्र ते कथयिष्यामि तदिहैकमनाः शृणु ।
यथेहामुत्र च नरः सुखदुःखमुपाश्नुते ॥ ६२ ॥

मनुष्य इहलोक या परलोकमें जिस प्रकार सुख और दुःख भोगता है, इसके विषयमें तुम्हें अपना विचार बताऊँगा। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ६२ ॥

निर्मलानि शरीराणि विशुद्धानि शरीरिणाम् ।
ससर्ज धर्मतन्त्राणि पूर्वोत्पन्नः प्रजापतिः ॥ ६३ ॥

सर्वप्रथम प्रजापति ब्रह्माजी उत्पन्न हुए । उन्होंने जीवोंके लिये निर्मल तथा विशुद्ध शरीर बनाये । साथ ही धर्मका ज्ञान करानेवाले धर्मशास्त्रोंको प्रकट किया ॥ ६३ ॥

अमोघफलसंकल्पाः सुव्रताः सत्यवादिनः ।
ब्रह्मभूता नराः पुण्याः पुराणाः कुरुसत्तम ॥ ६४ ॥

उस समयके सब मनुष्य उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तथा सत्यवादी थे । उनका अभीष्ट-फलविषयक संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होता था । कुरुश्रेष्ठ ! वे सभी मनुष्य ब्रह्मस्वरूप, पुण्यात्मा और चिरजीवी थे ॥ ६४ ॥

सर्वे देवैः समायान्ति स्वच्छन्देन नभस्तलम् ।
ततश्च पुनरायान्ति सर्वे स्वच्छन्दचारिणः ॥ ६५ ॥
स्वच्छन्दमरणाश्चासन् नराः स्वच्छन्दचारिणः ।
अल्पबाधा निरातङ्काः सिद्धार्था निरुपद्रवाः ॥ ६६ ॥

सभी स्वच्छन्दतापूर्वक आकाशमार्गसे उड़कर देवताओंसे मिलने जाते और स्वच्छन्दचारी होनेके कारण इच्छा होते ही पुनः वहाँसे लौट आते थे । वे अपनी इच्छा होनेपर ही मरते और इच्छाके अनुसार ही जीवित रहते थे । स्वतन्त्रतापूर्वक सर्वत्र विचरण करते थे । उनके मार्गमें बाधाएँ बहुत कम आती थीं । उन्हें कोई भय नहीं होता था । वे उपद्रवशून्य तथा पूर्णकाम थे ॥ ६५-६६ ॥

द्रष्टारो देवसङ्घानामृषीणां च महात्मनाम् ।
प्रत्यक्षाः सर्वधर्माणां दान्ता विगतमत्सराः ॥ ६७ ॥

देवताओं तथा महात्मा ऋषियोंके समुदायका उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन होता था । वे सभी धर्मोंको प्रत्यक्ष करनेवाले, जितेन्द्रिय तथा ईर्ष्यासे रहित होते थे ॥ ६७ ॥

आसन् वर्षसहस्रीयास्तथा पुत्रसहस्रिणः ।

उनकी आयु हजारों वर्षोंकी होती थी और वे हजार-हजार पुत्र उत्पन्न करते थे ॥ ६७½ ॥

ततः कालान्तरेऽन्यस्मिन् पृथिवीतलचारिणः ॥ ६८ ॥
कामक्रोधाभिभूतास्ते मायाव्याजोपजीविनः ।
लोभमोहाभिभूताश्च त्यक्ता देहैस्ततो नराः ॥ ६९ ॥

तदनन्तर कुछ कालके पश्चात् भूतलपर विचरनेवाले मनुष्य काम और क्रोधके वशीभूत हो गये । वे छल-कपट और दम्भसे जीविका चलाने लगे । उनके मनको लोभ और मोहने दबा लिया । इन दोषोंके कारण उन्हें इच्छा न होते हुए भी अपना शरीर त्यागनेके लिये विवश होना पड़ा ॥

अशुभैः कर्मभिः पापास्तिर्यङ्निरयगामिनः ।
संसारेषु विचित्रेषु पच्यमानाः पुनः पुनः ॥ ७० ॥

वे पापपरायण हो अपने अशुभ कर्मोंके फलस्वरूप पशु-पक्षी आदिकी योनियोंमें जाने और नरकमें गिरने लगे । विचित्र सांसारिक योनियोंमें बारंबार जन्म लेकर दुःखसे संतप्त होने लगे ॥ ७० ॥

मोघेष्टा मोघसंकल्पा मोघज्ञाना विचेतसः ।
सर्वाभिशङ्किनश्चैव संवृत्ताः क्लेशदायिनः ॥ ७१ ॥

उनकी कामनाएँ, उनके संकल्प और उनके ज्ञान सभी निष्फल थे । उनकी स्मरण-शक्ति क्षीण हो गयी थी । वे सभी परस्पर संदेह करते हुए एक दूसरेके लिये क्लेशदायक बन गये ॥ ७१ ॥

अशुभैः कर्मभिश्चापि प्रायशः परिचिह्निताः ।
[illegible] व्याधिबहुला दुरात्मानोऽप्रतापिनः ॥ ७२ ॥

उनके शरीरमें प्रायः उनके अशुभ कर्मोंके चिह्न (कोढ़ आदि) प्रकट होने लगे । कोई अधम-कुलमें जन्म लेते, कोई बहुत-से रोगोंके शिकार बने रहते और कोई दुष्ट स्वभावके हो जाते थे । उनमेंसे कोई भी प्रतापी नहीं होता था ॥ ७२ ॥

भवन्त्यल्पायुषः पापा रौद्रकर्मफलोदयाः ।
नाथन्तः सर्वकामानां नास्तिका भिन्नचेतसः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार पापकर्मोंमें प्रवृत्त होनेवाले पापियोंकी आयु उनके कर्मानुसार बहुत कम हो गयी । उनके पापकर्मोंके भयंकर फल प्रकट होने लगे । वे अपनी सभी अभीष्ट वस्तुओंके लिये दूसरोंके सामने हाथ फैलाकर याचना करने लगे । कितने ही नास्तिक और विचलितचित्त हो गये ॥ ७३ ॥

जन्तोः प्रेतस्य कौन्तेय गतिः स्वैरिह कर्मभिः ।
प्राज्ञस्य हीनबुद्धेश्च कर्मकोशः क्व तिष्ठति ॥ ७४ ॥
क्वस्थस्तत् समुपाश्नाति सुकृतं यदि वेतरत् ।
इति ते दर्शनं यच्च तत्राप्यनुनयं शृणु ॥ ७५ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस संसारमें मृत्युके पश्चात् जीवकी गति उनके अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही होती है । परंतु मरनेके बाद ज्ञानी और अज्ञानीकी कर्मराशि कहाँ रहती है ? कहाँ रहकर वह पुण्य अथवा पापका फल भोगता है ? इस दृष्टिसे जो तुमने प्रश्न किया है, उसके उत्तरमें मैं सिद्धान्त बता रहा हूँ, सुनो ॥ ७४-७५ ॥

अयमादिशरीरेण देवसृष्टेन मानवः ।
शुभानामशुभानां च कुरुते संचयं महत् ॥ ७६ ॥
आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम् ।
सम्भवत्येव युगपद् योनौ नास्त्यन्तराभवः ॥ ७७ ॥

यह मनुष्य ईश्वरके रचे हुए पूर्व शरीरके द्वारा (अन्तःकरणमें) शुभ और अशुभ कर्मोंकी बहुत बड़ी राशि संचित कर लेता है । फिर आयु पूरी होनेपर वह इस जरा-जर्जर स्थूल शरीरका त्याग करके उसी क्षण किसी दूसरी योनि (शरीर) में प्रकट होता है । एक शरीरको छोड़ने और दूसरेको ग्रहण करनेके बीचमें क्षणभरके लिये भी वह असंसारी नहीं होता ॥ ७६-७७ ॥

तत्रास्य स्वकृतं कर्म छायेवानुगतं सदा ।
फलत्यथ सुखार्हो वा दुःखार्हो वाथ जायते ॥ ७८ ॥
कृतान्तविधिसंयुक्तः स जन्तुर्लक्षणैः शुभैः ।
अशुभैर्वा निरादानो लक्ष्यते ज्ञानदृष्टिभिः ॥ ७९ ॥

वहाँ दूसरे स्थूल शरीरमें उसके पूर्वजन्मका किया हुआ कर्म छायाकी भाँति सदा उसके पीछे लगा रहता और यथा-समय अपना फल देता है । इसलिये जीव सुख अथवा दुःख भोगनेके योग्य होकर जन्म लेता है । यमराजके विधान (पुण्य और [illegible] अपने [illegible] अथवा अशुभ लक्षणोंद्वारा अपनेको मिले हुए सुख अथवा दुःखका निवारण करनेमें असमर्थ है । यह बात ज्ञान-दृष्टिवाले महात्मा पुरुषोंद्वारा देखी जाती है ॥ ७८-७९ ॥

एषा तावदबुद्धीनां गतिरुक्ता युधिष्ठिर ।
अतः परं ज्ञानवतां निबोध गतिमुत्तमाम् ॥ ८० ॥

युधिष्ठिर ! यह तत्त्वज्ञानशून्य मूढ़ मनुष्योंकी स्वर्ग-नरकरूप गति बतायी गयी है । अब इसके बाद विवेकी पुरुषोंको प्राप्त होनेवाली उत्तम गतिका वर्णन सुनो ॥ ८० ॥

मनुष्यास्तप्ततपसः सर्वागमपरायणाः ।
स्थिरव्रताः सत्यपरा गुरुशुश्रूषणे रताः ॥ ८१ ॥
सुशीलाः शुक्लजातीयाः क्षान्ता दान्ताः सुतेजसः ।
शुचियोन्यन्तरगताः प्रायशः शुभलक्षणाः ॥ ८२ ॥

ज्ञानी मनुष्य तपस्वी, सम्पूर्ण शास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर, स्थिरतापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले, सत्यपरायण, गुरुसेवामें संलग्न, सुशील, शुक्लजातीय (सात्त्विक), क्षमाशील, जितेन्द्रिय और अत्यन्त तेजस्वी होते हैं । वे शुद्ध योनिमें जन्म लेते और प्रायः शुभ लक्षणोंसे सुशोभित होते हैं ॥ ८१-८२ ॥

जितेन्द्रियत्वाद् वशिनः शुक्लत्वान्मन्दरोगिणः ।
अल्पाबाधपरित्रासाद् भवन्ति निरुपद्रवाः ॥ ८३ ॥
च्यवन्तं जायमानं च गर्भस्थं चैव सर्वशः ।
स्वमात्मानं परं चैव बुध्यन्ते ज्ञानचक्षुषा ॥ ८४ ॥

जितेन्द्रिय होनेके कारण वे मनको वशमें रखते हैं और सात्त्विक अन्तःकरणके होनेके कारण नीरोग होते हैं । दुःख और त्रासके क्षीण होनेके कारण वे उपद्रवरहित होते हैं । विवेकी पुरुष गर्भसे गिरते, जन्म लेते अथवा गर्भमें ही रहते समय भी ज्ञान-दृष्टिसे अपने-आपका और परमात्माका सर्वथा यथार्थ अनुभव करते हैं ॥ ८३-८४ ॥

ऋषयस्ते महात्मानः प्रत्यक्षागमबुद्धयः ।
कर्मभूमिमिमां प्राप्य पुनर्यान्ति सुरालयम् ॥ ८५ ॥

लौकिक तथा शास्त्रीय ज्ञानको प्रत्यक्ष करनेवाले वे महामना ऋषि इस कर्मभूमिमें आकर फिर देवलोकमें चले जाते हैं ॥ ८५ ॥

किंचिद् दैवाद्धठात् किंचित् किंचिदेव स्वकर्मभिः ।
प्राप्नुवन्ति नरा राजन् मा तेऽस्त्वन्या विचारणा ॥ ८६ ॥

राजन् ! विवेकी मनुष्य कर्मोंका कुछ फल प्रारब्धवश प्राप्त करते हैं, कुछ कर्मोंका फल हठात् प्राप्त होता है और कुछ कर्मोंका फल अपने उद्योगसे ही प्राप्त होता है । इस विषयमें तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ८६ ॥

इमामत्रोपमां चापि निबोध वदतां वर ।
मनुष्यलोके यच्छ्रेयः परं मन्ये युधिष्ठिर ॥ ८७ ॥

इह वैकस्य नामुत्र अमुत्रैकस्य नो इह ।
इह चामुत्र चैकस्य नामुत्रैकस्य नो इह ॥ ८८ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! मनुष्यलोकमें मैं जिसे परम कल्याणकी बात समझता हूँ, उसके विषयमें यह उदाहरण सुनो । कोई मनुष्य इस लोकमें ही परम सुख पाता है, परलोकमें नहीं । किसीको परलोकमें ही परम कल्याणकी प्राप्ति होती है, इस लोकमें नहीं । किसीको इहलोक और परलोक दोनोंमें परम श्रेयकी प्राप्ति होती है तथा किसीको न तो परलोकमें उत्तम सुख मिलता है और न इस लोकमें ही ॥

धनानि येषां विपुलानि सन्ति
नित्यं रमन्ते सुविभूषिताङ्गाः ।
तेषामयं शत्रुवरघ्न लोको
नासौ सदा देहसुखे रतानाम् ॥ ८९ ॥

जिनके पास बहुत धन होता है, वे अपने शरीरको हर तरहसे सजाकर नित्य विषयोंमें रमण करते अर्थात् विषय-सुख भोगते हैं । शत्रुसूदन ! सदा अपने शरीरके ही सुखमें आसक्त हुए उन मनुष्योंको केवल इसी लोकमें सुख मिलता है; परलोकमें उनके लिये सुखका सर्वथा अभाव है ॥ ८९ ॥

ये योगयुक्तास्तपसि प्रसक्ताः
स्वाध्यायशीला जरयन्ति देहान् ।
जितेन्द्रियाः प्राणिवधे निवृत्ता-
स्तेषामसौ नायमरिघ्न लोकः ॥ ९० ॥

शत्रुसूदन ! जो लोग इस लोकमें योगसाधन करते हैं, तपस्यामें संलग्न होते हैं और स्वाध्यायमें तत्पर रहते हैं तथा इस प्रकार प्राणियोंकी हिंसासे दूर रहकर इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए (तपस्याद्वारा) अपने शरीरको दुर्बल कर देते हैं, उनके लिये इस लोकमें सुख नहीं है । वे परलोकमें ही परम कल्याणके भागी होते हैं ॥ ९० ॥

ये धर्ममेव प्रथमं चरन्ति
धर्मेण लब्ध्वा च धनानि काले ।
दारानवाप्य क्रतुभिर्यजन्ते
तेषामयं चैव परश्च लोकः ॥ ९१ ॥

जो लोग कर्तव्य-बुद्धिसे पहले धर्मका ही आचरण करते हैं और उस धर्मसे ही (न्याययुक्त) धनका उपार्जन कर यथासमय स्त्रीसे विवाह करके उसके साथ यज्ञ-याग और ईश्वरभक्ति आदिका अनुष्ठान करते हैं, उनके लिये इहलोक और परलोक दोनों ही सुखद हैं ॥ ९१ ॥

ये नैव विद्यां न तपो न दानं
न चापि मूढाः प्रजने यतन्ति ।
न चानुगच्छन्ति सुखानि भोगां-
स्तेषामयं नैव परश्च लोकः ॥ ९२ ॥

जो मूढ़ न विद्याके लिये, न तपके लिये और न दानके लिये ही प्रयत्न करते हैं एवं न धर्मपूर्वक संतानोत्पादनके लिये ही यत्नशील होते हैं, वे न तो सुख पाते हैं और न भोग ही भोगते हैं । उनके लिये न तो इस लोकमें सुख है और न परलोकमें ॥ ९२ ॥

सर्वे भवन्तस्त्वतिवीर्यसत्त्वा
दिव्यौजसः संहननोपपन्नाः ।
लोकादमुष्मादवनिं प्रपन्नाः
स्वधीतविद्याः सुरकार्यहेतोः ॥ ९३ ॥

राजा युधिष्ठिर ! तुम सब लोग बड़े पराक्रमी और धैर्यवान् हो । तुममें अलौकिक ओज भरा है । तुम सुदृढ़ शरीरसे सम्पन्न हो और देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये परलोकसे इस पृथिवीपर अवतीर्ण हुए हो । यही कारण है कि तुमने सभी उत्तम विद्याएँ सीख ली हैं ॥ ९३ ॥

कृत्वैव कर्माणि महान्ति शूरा-
स्तपोदमाचारविहारशीलाः ।
देवानृषीन् प्रेतगणांश्च सर्वान्
संतर्पयित्वा विधिना परेण ॥ ९४ ॥
स्वर्गं परं पुण्यकृतो निवासं
क्रमेण सम्प्राप्स्यथ कर्मभिः स्वैः ।
मा भूद् विशङ्का तव कौरवेन्द्र
दृष्ट्वाऽऽत्मनः क्लेशमिमं सुखार्हम् ।९५।

तुम सभी शूर-वीर तथा तपस्या, इन्द्रियसंयम और उत्तम आचार-व्यवहारमें सदा ही तत्पर रहनेवाले हो । अतः (इस संसारमें बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य करके) देवताओं, ऋषियों और समस्त पितरोंको उत्तम विधिसे तृप्त करोगे । तत्पश्चात् अपने सत्कर्मोंके फलस्वरूप तुम सब लोग क्रमसे पुण्यात्माओंके निवास-स्थान परम स्वर्गलोकको चले जाओगे । इसलिये कौरवराज ! तुम (अपने वर्तमान कष्टको देखकर) मनमें किसी प्रकारकी शंकाको स्थान न दो । यह क्लेश तो तुम्हारे भावी सुखका ही सूचक है ॥ ९४-९५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्यापर्वमें एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८३ ॥

चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

तपस्वी तथा स्वधर्मपरायण ब्राह्मणोंका माहात्म्य

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयं महात्मानमूचुः पाण्डुसुतास्तदा।
माहात्म्यं द्विजमुख्यानां श्रोतुमिच्छाम कथ्यताम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय पाण्डुपुत्रोंने महात्मा मार्कण्डेयजीसे कहा—'मुने ! हम श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका माहात्म्य सुनना चाहते हैं, आप उसका वर्णन कीजिये' ॥ १ ॥

एवमुक्तः स भगवान् मार्कण्डेयो महातपाः।
उवाच सुमहातेजाः सर्वशास्त्रविशारदः ॥ २ ॥

उनके ऐसा कहनेपर महातपस्वी, महान् तेजस्वी और सम्पूर्ण शास्त्रोंके निपुण विद्वान् भगवान् मार्कण्डेयने इस प्रकार कहा ॥ २ ॥

मार्कण्डेय उवाच

हैहयानां कुलकरो राजा परपुरंजयः।
कुमारो रूपसम्पन्नो मृगयां व्यचरद् बली ॥ ३ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—हैहयवंशी क्षत्रियोंकी वंशपरम्परा-को बढ़ानेवाला राजा परपुरंजय, जो अभी कुमारावस्थामें था, बड़ा ही सुन्दर और बलवान् था, एक दिन वनमें हिंसक पशुओंको मारनेके लिये गया ॥ ३ ॥

चरमाणस्तु सोऽरण्ये तृणवीरुत्समावृते।
कृष्णाजिनोत्तरासङ्गं ददर्श मुनिमन्तिके ॥ ४ ॥

तृण और लताओंसे भरे हुए उस वनमें घूमते-घूमते उस राजकुमारने एक मुनिको देखा, जो काले हिंसक-पशुके चर्मकी ओढ़नी ओढ़े थोड़ी ही दूरपर बैठे थे ॥ ४ ॥

स तेन निहतोऽरण्ये मन्यमानेन वै मृगम्।
व्यथितः कर्म तत् कृत्वा शोकोपहतचेतनः ॥ ५ ॥

राजकुमारने उन्हें हिंसक पशु ही समझा और उस वनमें अपने बाणोंसे उन्हें मार डाला। अज्ञानवश यह पाप-कर्म करके वह राजकुमार व्यथित हो शोकसे मूर्च्छित हो गया ॥ ५ ॥

जगाम हैहयानां वै सकाशं प्रथितात्मनाम्।
राज्ञां राजीवनेत्रोऽसौ कुमारः पृथिवीपतिः।
तेषां च तद् यथावृत्तं कथयामास वै तदा ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् होशमें आकर वह सुविख्यात हैहयवंशी राजा-ओंके पास गया। वहाँ पृथ्वीका पालन करनेवाले उस कमल-नयन राजकुमारने उन सबके सामने इस दुर्घटनाका यथावत् समाचार [illegible]

तं चापि हिंसितं तात मुनिं मूलफलाशिनम्।
श्रुत्वा दृष्ट्वा च ते तत्र बभूवुर्दीनमानसाः ॥ ७ ॥

तात ! फल-मूलका आहार करनेवाले एक मुनिकी हिंसा हो गयी, यह सुनकर और देखकर वे सभी क्षत्रिय मन-ही-मन बहुत दुखी हुए ॥ ७ ॥

कस्यायमिति ते सर्वे मार्गमाणास्ततस्ततः।
जग्मुश्चारिष्टनेम्नोऽथ तार्क्ष्यस्याश्रममञ्जसा ॥ ८ ॥

फिर वे सब-के-सब जहाँ-तहाँ यह पता लगाते हुए कि ये मुनि किसके पुत्र हैं, शीघ्र ही कश्यप-नन्दन अरिष्टनेमिके आश्रमपर गये ॥ ८ ॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं तं मुनिं नियतव्रतम्।
तस्थुः सर्वे स तु मुनिस्तेषां पूजामथाहरत् ॥ ९ ॥

वहाँ नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले उन महात्मा मुनिको प्रणाम करके वे सब खड़े हो गये। तब मुनिने उनके लिये अर्घ्य आदि पूजन-सामग्री अर्पित की ॥ ९ ॥

ते तमूचुर्महात्मानं न वयं सत्क्रियां मुने।
त्वत्तोऽर्हाः कर्मदोषेण ब्राह्मणो हिंसितो हि नः ॥ १० ॥

यह देखकर उन्होंने उन महात्मासे कहा—'मुने ! हम अपने दूषित कर्मके कारण आपसे सत्कार पानेयोग्य नहीं रह गये हैं। हमसे एक ब्राह्मणकी हत्या हो गयी है' ॥ १० ॥

तानब्रवीत् स विप्रर्षिः कथं वो ब्राह्मणो हतः।
क चासौ ब्रूत सहिताः पश्यध्वं मे तपोबलम् ॥ ११ ॥

यह सुनकर उन ब्रह्मर्षिने कहा—'आपलोगोंसे ब्राह्मण-की हत्या कैसे हुई ? और वह मरा हुआ ब्राह्मण कहाँ है ? बताइये। फिर सब लोग एक साथ मेरी तपस्याका बल देखियेगा' ॥ ११ ॥

ते तु तत् सर्वमखिलमाख्यायास्मै यथातथम्।
नापश्यंस्तमृषिं तत्र गतासुं ते समागताः ॥ १२ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर क्षत्रियोंने मुनिके वधका सारा समाचार उनसे ठीक-ठीक कह सुनाया और उन्हें साथ लेकर सभी उस स्थानपर आये, जहाँ मुनिकी हत्या हुई थी। किंतु उन्होंने वहाँ मरे हुए मुनिकी लाश नहीं देखी ॥ १२ ॥

अन्वेषमाणाः सव्रीडाः स्वप्नवद्गतचेतनाः।
तानब्रवीत् तत्र मुनिस्तार्क्ष्यः परपुरंजय ॥ १३ ॥
स्यादयं ब्राह्मणः सोऽथ युष्माभिर्यो विनाशितः।
[illegible] ॥ १४ ॥

फिर तो वे लज्जित होकर इधर-उधर उसकी खोज करने लगे। स्वप्नकी भाँति उनकी चेतना लुप्त-सी हो गयी। तब मुनिवर अरिष्टनेमिने उनसे कहा—'परपुरंजय ! तुम लोगोंने जिसे मार डाला था, वह यही ब्राह्मण तो नहीं है ? राजाओ ! यह मेरा तपोबलसम्पन्न पुत्र है' ॥ १३-१४ ॥



ते च दृष्ट्वैव तमृषिं विस्मयं परमं गताः ।
महदाश्चर्यमिति वै ते ब्रुवाणा महीपते ॥ १५ ॥

राजन् ! उन महर्षिको जीवित हुआ देख वे सभी क्षत्रिय बड़े विस्मित हुए और कहने लगे 'यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ १५ ॥

मृतो ह्ययमुपानीतः कथं जीवितमाप्तवान् ।
किमेतत् तपसो वीर्यं येनायं जीवितः पुनः ॥ १६ ॥

'ये मरे हुए मुनि यहाँ कैसे लाये गये और किस प्रकार इन्हें जीवन मिला ? क्या यह तपस्याकी ही शक्ति है, जिससे फिर ये जीवित हो गये ? ॥ १६ ॥

श्रोतुमिच्छामहे विप्र यदि श्रोतव्यमित्युत ।
स तानुवाच नास्माकं मृत्युः प्रभवते नृपाः ॥ १७ ॥

'ब्रह्मन् ! हम यह सब रहस्य सुनना चाहते हैं । यदि सुनने योग्य हो तो कहिये' । तब महर्षिने उन क्षत्रियों-से कहा—'राजाओ ! हम- लोगोंपर मृत्युका वश नहीं चलता ॥ १७ ॥

कारणं वः प्रवक्ष्यामि हेतुयोगसमासतः ।
(मृत्युः प्रभवते येन नास्माकं नृपसत्तमाः ।
शुद्धाचारा अनलसाः सन्ध्योपासनतत्पराः ॥
शुद्धान्नाः शुद्धसुधना ब्रह्मचर्यव्रतान्विताः ।)
सत्यमेवाभिजानीमो नानृते कुर्महे मनः ।
स्वधर्ममनुतिष्ठामस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ १८ ॥

'इसका क्या कारण है ? यह मैं तर्क और युक्तिके साथ संक्षेपसे बता रहा हूँ । श्रेष्ठ नृपतिगण ! हमलोगोंपर मृत्युका प्रभाव क्यों नहीं पड़ता—यह बताते हैं, सुनिये— हम शुद्ध आचार-विचारसे रहते हैं, आलस्यसे रहित हैं, प्रतिदिन संध्योपासनके परायण रहते हैं, शुद्ध अन्न खाते हैं और शुद्ध रीतिसे न्यायपूर्वक धनोपार्जन करते हैं; यही नहीं हमलोग सदा ब्रह्मचर्यव्रतके पालनमें लगे रहते हैं । हम- लोग केवल सत्यको ही जानते हैं । कभी झूठमें मन नहीं लगाते और सदा अपने धर्मका पालन करते रहते हैं । इसलिये हमें मृत्युसे भय नहीं है ॥ १८ ॥

यद् ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां कथयामहे ।
नैषां दुश्चरितं ब्रूमस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ १९ ॥
अतिथीनन्नपानेन भृत्यानत्यशनेन च ।
सम्भोज्य शेषमश्नीमस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ २० ॥

'ब्राह्मणोंके जो शुभ कर्म हैं, उन्हींकी हम चर्चा करते हैं । उनके दोषोंका बखान नहीं करते हैं । इसलिये हमें मृत्युसे भय नहीं है । हम अतिथियोंको अन्न और जलसे तृप्त करते हैं । हमारे ऊपर जिनके भरण-पोषणका भार है, उन्हें हम पूरा भोजन देते हैं और उन्हें भोजन करानेसे बचा हुआ अन्न हम स्वयं भोजन करते हैं, अतः हमें मृत्युसे भय नहीं है ॥ १९-२० ॥

शान्ता दान्ताः क्षमाशीलास्तीर्थदानपरायणाः ।
पुण्यदेशनिवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः ।
तेजस्विदेशवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ २१ ॥

'हम सदा शम, दम, क्षमा, तीर्थ-सेवन और दानमें तत्पर रहनेवाले हैं तथा पवित्र देशमें निवास करते हैं । इसलिये भी हमें मृत्युसे भय नहीं है । इतना ही नहीं, हमलोग तेजस्वी पुरुषोंके देशमें निवास करते हैं अर्थात् सत्पुरुषोंके समीप रहा करते हैं । इस कारणसे भी हमें मृत्युसे भय नहीं होता है ॥ २१ ॥

एतद् वै लेशमात्रं वः समाख्यातं विमत्सराः ।
गच्छध्वं सहिताः सर्वे न पापाद् भयमस्ति वः॥ २२ ॥

'ईर्ष्यारहित राजाओ ! ये सब बातें मैंने तुम्हें संक्षेपसे सुनायी हैं । अब तुम सब लोग एक साथ यहाँसे जाओ, तुम्हें ब्राह्मणोंसे पापका भय नहीं रहा' ॥ २२ ॥

एवमस्त्विति ते सर्वे प्रतिपूज्य महामुनिम्।
स्वदेशमगमन् हृष्टा राजानो भरतर्षभ ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह सुनकर उन हैहयवंशी क्षत्रियोंने 'एवमस्तु' कहकर महामुनि अरिष्टनेमिका सम्मान एवं पूजन किया और प्रसन्न होकर अपने स्थानको चले गये ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमाहात्म्यकथने चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणमाहात्म्य-वर्णनविषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल २४½ श्लोक हैं)

पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणकी महिमाके विषयमें अत्रिमुनि तथा राजा पृथुकी प्रशंसा

मार्कण्डेय उवाच

भूय एव महाभाग्यं ब्राह्मणानां निबोध मे।
वैन्यो नामेह राजर्षिरश्वमेधाय दीक्षितः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! ब्राह्मणोंका और भी माहात्म्य मुझसे सुनो । पूर्वकालमें वेनके पुत्र राजर्षि पृथुने, जो यहाँ वैन्यके नामसे प्रसिद्ध थे, किसी समय अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा ली ॥ १ ॥

तमत्रिर्गन्तुमारेभे वित्तार्थमिति नः श्रुतम्।
भूयोऽर्थं नानुरुध्यत् स धर्मव्यक्तिनिदर्शनात् ॥ २ ॥

उन दिनों महात्मा अत्रिने धन माँगनेकी इच्छासे उनके पास जानेका विचार किया, यह बात हमारे सुननेमें आयी है; परंतु ऐसा करनेसे उनको अपना धर्मात्मापन प्रकट करना पड़ता । इसलिये फिर उन्होंने धनके लिये अनुरोध नहीं किया ॥ २ ॥

स विचिन्त्य महातेजा वनमेवान्वरोचयत्।
धर्मपत्नीं समाहूय पुत्रांश्चेदमुवाच ह ॥ ३ ॥

महातेजस्वी अत्रिने मन-ही-मन कुछ सोच-विचारकर (तपस्याके लिये) वनमें ही जानेका निश्चय किया और अपनी धर्मपत्नी तथा पुत्रोंको बुलाकर इस प्रकार कहा—॥३॥

प्राप्स्यामः फलमत्यन्तं बहुलं निरुपद्रवम्।
अरण्यगमनं क्षिप्रं रोचतां वो गुणाधिकम् ॥ ४ ॥

'हमलोग वनमें रहकर (तपद्वारा) धर्मका बहुत अधिक उपद्रवशून्य फल पा सकते हैं। अतः शीघ्र वनमें चलनेका विचार तुम सब लोगोंको रुचिकर होना चाहिये; क्योंकि ग्राम्य-जीवनकी अपेक्षा वनमें रहना अधिक लाभप्रद है' ॥ ४ ॥

तं भार्या प्रत्युवाचाथ धर्ममेवानुतन्वती।
वैन्यं गत्वा महात्मानमर्थयस्व धनं बहु ॥ ५ ॥

अत्रिकी पत्नी भी धर्मका ही अनुसरण करनेवाली थी। उसने यज्ञयागादिके रूपमें धर्मको ही विस्तारपर दृष्टि रखकर पतिको उत्तर दिया—'प्राणनाथ ! आप धर्मात्मा राजा वैन्यके पास जाकर अधिक धनकी याचना कीजिये ॥ ५ ॥

स ते दास्यति राजर्षिर्यजमानोऽर्थितो धनम्।
तत आदाय विप्रर्षे प्रतिगृह्य धनं बहु ॥ ६ ॥
भृत्यान् सुतान् संविभज्य ततो व्रज यथेप्सितम्।
एष वै परमो धर्मो धर्मविद्भिरुदाहृतः ॥ ७ ॥

'वे राजर्षि इन दिनों यज्ञ कर रहे हैं, अतः इस अवसरपर यदि आप उनसे माँगेंगे तो वे आपको अधिक धन देंगे । ब्रह्मर्षे ! वहाँसे प्रचुर धन लाकर भरण-पोषण करने योग्य इन पुत्रोंको बाँट दीजिये; फिर इच्छानुसार वनको चलिये । धर्मज्ञ महात्माओंने यही परम धर्म बताया है' । ६-७ ।

अत्रिरुवाच

कथितो मे महाभागे गौतमेन महात्मना।
वैन्यो धर्मार्थसंयुक्तः सत्यव्रतसमन्वितः ॥ ८ ॥

अत्रि बोले—महाभागे ! महात्मा गौतमने मुझसे कहा है कि 'वेनपुत्र राजा पृथु धर्म और अर्थके साधनमें संलग्न रहते हैं । वे सत्यव्रती हैं' ॥ ८ ॥

द्वेष्टारः किंतु नः सन्ति वसन्तस्तत्र वै द्विजाः।
यथा मे गौतमः प्राह ततो न व्यवसाम्यहम् ॥ ९ ॥

परंतु एक बात विचारणीय है । वहाँ उनके यज्ञमें जितने ब्राह्मण रहते हैं, वे सभी मुझसे द्वेष रखते हैं, यही बात गौतमने भी कही है । इसीलिये मैं वहाँ जानेका विचार नहीं कर रहा हूँ ॥ ९ ॥

तत्र स्म वाचं कल्याणीं धर्मकामार्थसंहिताम्।
मयोक्तामन्यथा ब्रूयुस्ततस्ते वै निरर्थिकाम् ॥ १० ॥

यदि मैं वहाँ जाकर धर्म, अर्थ और कामसे युक्त कल्याणमयी वाणी भी बोलूँगा तो वे उसे धर्म और अर्थके विपरीत ही बतायेंगे; निरर्थक सिद्ध करेंगे ॥ १० ॥

गमिष्यामि महाप्राज्ञे रोचते मे वचस्तव।
गाश्च मे दास्यते वैन्यः प्रभूतं चार्थसंचयम् ॥ ११ ॥

तथापि महाप्राज्ञे ! मैं वहाँ अवश्य जाऊँगा, मुझे तुम्हारी बात ठीक जँचती है। राजा पृथु मुझे बहुत-सी गौएँ तो देंगे ही, पर्याप्त धन भी देंगे ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा जगामाशु वैन्ययज्ञं महातपाः ।
गत्वा च यज्ञायतनमत्रिस्तुष्टाव तं नृपम् ॥ १२ ॥
वाक्यैर्मङ्गलसंयुक्तैः पूजयानोऽब्रवीद् वचः ।

ऐसा कहकर महातपस्वी अत्रि शीघ्र ही राजा पृथुके यज्ञमें गये। यज्ञमण्डपमें पहुँचकर उन्होंने उस राजाका माङ्गलिक वचनोंद्वारा स्तवन किया और उनका समादर करते हुए इस प्रकार कहा ॥ १२½ ॥

अत्रिरुवाच

राजन् धन्यस्त्वमीशश्च भुवि त्वं प्रथमो नृपः ॥ १३ ॥

अत्रि बोले—राजन् ! तुम इस भूतलके सर्वप्रथम राजा हो; अतः धन्य हो, सब प्रकारके ऐश्वर्यसे सम्पन्न हो ॥ १३ ॥

स्तुवन्ति त्वां मुनिगणास्त्वदन्यो नास्ति धर्मवित्।
तमब्रवीदृषिः क्रुद्धो वचनं वै महातपाः ॥ १४ ॥

महर्षिगण तुम्हारी स्तुति करते हैं। तुम्हारे सिवा दूसरा कोई नरेश धर्मका ज्ञाता नहीं है।

उनकी यह बात सुनकर महातपस्वी गौतम मुनिने कुपित होकर कहा ॥ १४ ॥

गौतम उवाच

मैवमत्रे पुनर्ब्रूया न ते प्रज्ञा समाहिता।
अत्र नः प्रथमं स्थाता महेन्द्रो वै प्रजापतिः ॥ १५ ॥

गौतम बोले—अत्रे ! फिर कभी ऐसी बात मुँहसे न निकालना। तुम्हारी बुद्धि एकाग्र नहीं है। यहाँ हमारे प्रथम प्रजापतिके रूपमें साक्षात् इन्द्र उपस्थित हैं ॥ १५ ॥

अथात्रिरपि राजेन्द्र गौतमं प्रत्यभाषत।
अयमेव विधाता हि यथैवेन्द्रः प्रजापतिः।
त्वमेव मुह्यसे मोहान्न प्रज्ञानं तवास्ति ह ॥ १६ ॥

राजेन्द्र ! तब अत्रिने भी गौतमको उत्तर देते हुए कहा—'मुने ! ये पृथु ही विधाता हैं, ये ही प्रजापति इन्द्र-के समान हैं। तुम्हीं मोहसे मोहित हो रहे हो; तुम्हें उत्तम बुद्धि नहीं प्राप्त है' ॥ १६ ॥

गौतम उवाच

जानामि नाहं मुह्यामि त्वमेवात्र विमुह्यसे।
स्तौषि त्वं दर्शनप्रेप्सू राजानं जनसंसदि ॥ १७ ॥

गौतम बोले—मैं नहीं मोहमें पड़ा हूँ, तुम्हीं यहाँ आकर मोहित हो रहे हो। मैं खूब समझता हूँ, तुम राजा-से मिलनेकी इच्छा लेकर ही भरी सभामें स्वार्थवश उनकी स्तुति कर रहे हो ॥ १७ ॥

न वेत्थ परमं धर्मं न चावैषि प्रयोजनम्।
बालस्त्वमसि मूढश्च वृद्धः केनापि हेतुना ॥ १८ ॥

उत्तम धर्मका तुम्हें बिल्कुल ज्ञान नहीं है। तुम धर्मका प्रयोजन भी नहीं समझते हो। मेरी दृष्टिमें तुम मूढ हो, बालक हो; किसी विशेष कारणसे बूढ़े बने हुए हो अर्थात् केवल अवस्थासे बूढ़े हो ॥ १८ ॥

विवदन्तौ तथा तौ तु मुनीनां दर्शने स्थितौ।
ये तस्य यज्ञे संवृत्तास्तेऽपृच्छन्त कथं त्विमौ ॥ १९ ॥

मुनियोंके सामने खड़े होकर जब वे दोनों इस प्रकार विवाद कर रहे थे, उस समय उन्हें देखकर जिनका यज्ञमें पहलेसे वरण हो चुका था, वे ब्राह्मण पूछने लगे—'ये दोनों कैसे लड़ रहे हैं ?' ॥ १९ ॥

प्रवेशः केन दत्तोऽयमुभयोर्वैन्यसंसदि।
उच्चैः समभिभाषन्तौ केन कार्येण धिष्ठितौ ॥ २० ॥
ततः परमधर्मात्मा काश्यपः सर्वधर्मवित्।
विवादिनावनुप्राप्तौ तावुभौ प्रत्यवेदयत् ॥ २१ ॥

'किसने इन दोनोंको महाराज पृथुके यज्ञमण्डपमें घुसने दिया है ? ये दोनों जोर-जोरसे बातें करते और झगड़ते यहाँ किस कामसे खड़े हैं ?' उस समय परम धर्मात्मा एवं सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता कणादने सब सदस्योंको बताया कि ये दोनों किसी विषयको लेकर परस्पर विवाद कर रहे हैं और उसीके निर्णयके लिये यहाँ आये हैं' ॥ २०-२१ ॥

अथाब्रवीत् सदस्यांस्तु गौतमो मुनिसत्तमान्।
आवयोर्व्याहृतं प्रश्नं शृणुत द्विजसत्तमाः ॥ २२ ॥
वैन्यं विधातेत्याहात्रिरत्र नौ संशयो महान्।
श्रुत्वैव तु महात्मानो मुनयोऽभ्यद्रवन् द्रुतम् ॥ २३ ॥
सनत्कुमारं धर्मज्ञं संशयच्छेदनाय वै।
स च तेषां वचः श्रुत्वा यथातत्त्वं महातपाः।
प्रत्युवाचाथ तानेवं धर्मार्थसहितं वचः ॥ २४ ॥

तब गौतमने सदस्यरूपसे बैठे हुए उन श्रेष्ठ मुनियोंसे कहा—'श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! हम दोनोंके प्रश्नको आपलोग सुनें। अत्रिने राजा पृथुको विधाता कहा है। इस बातको लेकर हम दोनोंमें महान् संशय एवं विवाद उपस्थित हो गया है।' यह सुनकर वे महात्मा मुनि उक्त संशयका निवारण करनेके लिये तुरंत ही धर्मज्ञ सनत्कुमारजीके पास दौड़े गये। उन महातपस्वीने इनकी सब बातें यथार्थरूपसे सुनकर उनसे यह धर्म एवं अर्थयुक्त वचन कहा ॥ २२-२४ ॥

सनत्कुमार उवाच

ब्रह्म क्षत्रेण सहितं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह।
संयुक्तौ दहतः शत्रून् वनानीवाग्निमारुतौ ॥ २५ ॥
राजा वै प्रथितो धर्मः प्रजानां पतिरेव च।
स एव शक्रः शुक्रश्च स धाता च बृहस्पतिः ॥ २६ ॥

सनत्कुमार बोले—ब्राह्मण क्षत्रियसे और क्षत्रिय ब्राह्मणसे संयुक्त हो जायँ तो वे दोनों मिलकर शत्रुओंको उसी प्रकार दग्ध कर डालते हैं, जैसे अग्नि और वायु परस्पर सहयोगी होकर कितने ही वनोंको भस्म कर डालते हैं। राजा धर्मरूपसे विख्यात है। वही प्रजापति, इन्द्र, शुक्राचार्य, धाता और बृहस्पति भी है ॥ २५-२६ ॥

प्रजापतिर्विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः ।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति ॥ २७ ॥
पुरायोनिर्युधाजिच्च अभिया मुदितो भवः ।
स्वर्णेता सहजिद् बभ्रुरिति राजाभिधीयते ॥ २८ ॥
सत्ययोनिः पुराविच्च सत्यधर्मप्रवर्तकः ।
अधर्माद‍ृषयो भीता बलं क्षत्रे समादधन् ॥ २९ ॥

जिस राजाकी प्रजापति, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति, नृप आदि शब्दोंद्वारा स्तुति की जाती है, उसकी पूजा कौन नहीं करेगा ? पुरायोनि (प्रथम कारण), युधाजित् (संग्रामविजयी), अभिया (रक्षाके लिये सर्वत्र गमन करनेवाला), मुदित (प्रसन्न), भव (ईश्वर), स्वर्णेता (स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला), सहजित् (तत्काल विजय करनेवाला) तथा बभ्रु (विष्णु)—इन नामोंद्वारा राजाका वर्णन किया जाता है। राजा सत्यका कारण, प्राचीन बातोंको जाननेवाला तथा सत्यधर्ममें प्रवृत्ति करानेवाला है। अधर्मसे डरे हुए ऋषियोंने अपना ब्राह्मबल भी क्षत्रियोंमें स्थापित कर दिया था ॥ २७-२९ ॥

आदित्यो दिवि देवेषु तमो नुदति तेजसा ।
तथैव नृपतिर्भूमावधर्मान्नुदते भृशम् ॥ ३० ॥

जैसे देवलोकमें सूर्य अपने तेजसे सम्पूर्ण अन्धकारका नाश करता है, उसी प्रकार राजा इस पृथ्वीपर रहकर अधर्मोंको सर्वथा हटा देता है ॥ ३० ॥

ततो राज्ञः प्रधानत्वं शास्त्रप्रामाण्यदर्शनात् ।
उत्तरः सिद्ध्यते पक्षो येन राजेति भाषितम् ॥ ३१ ॥

अतः शास्त्र-प्रमाणपर दृष्टिपात करनेसे राजाकी प्रधानता सूचित होती है। इसलिये जिसने राजाको प्रजापति बतलाया है, उसीका पक्ष उत्कृष्ट सिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ततः स राजा संहृष्टः सिद्धे पक्षे महामनाः ।
तमत्रिमब्रवीत् प्रीतः पूर्वं येनाभिसंस्तुतः ॥ ३२ ॥
यस्मात् पूर्वं मनुष्येषु ज्यायांसं मामिहाब्रवीः ।
सर्वदेवैश्च विप्रर्षे सम्मितं श्रेष्ठमेव च ॥ ३३ ॥
तस्मात् तेऽहं प्रदास्यामि विविधं वसु भूरि च ।
दासीसहस्रं श्यामानां सुवस्त्राणामलंकृतम् ॥ ३४ ॥
दशकोटीर्हिरण्यस्य रुक्मभारांस्तथा दश ।
एतद् ददामि विप्रर्षे सर्वज्ञस्त्वं मतो हि मे ॥ ३५ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तदनन्तर एक पक्षकी उत्कृष्टता सिद्ध हो जानेपर महामना राजा पृथु बड़े प्रसन्न हुए और जिन्होंने उनकी पहले स्तुति की थी, उन अत्रि मुनिसे इस प्रकार बोले—'ब्रह्मर्षे ! आपने यहाँ मुझे मनुष्योंमें प्रथम (भूपाल,) श्रेष्ठ, ज्येष्ठ तथा सम्पूर्ण देवताओंके समान बताया है, इसलिये मैं आपको प्रचुरमात्रामें नाना प्रकारके रत्न और धन दूँगा, सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित, सहस्रों युवती दासियाँ अर्पित करूँगा तथा दस करोड़ स्वर्णमुद्रा और दस भार सोना भी दूँगा। विप्रर्षे ! ये सब वस्तुएँ आपको अभी दे रहा हूँ, मैं समझता हूँ, आप सर्वज्ञ हैं' ॥ ३२-३५ ॥

तदत्रिर्न्यायतः सर्वं प्रतिगृह्याभिसत्कृतः ।
प्रत्युज्जगाम तेजस्वी गृहानेव महातपाः ॥ ३६ ॥

तब महान् तपस्वी और तेजस्वी अत्रि मुनि राजासे समादृत हो न्यायपूर्वक मिले हुए उस सम्पूर्ण धनको लेकर अपने घरको चले गये ॥ ३६ ॥

प्रदाय च धनं प्रीतः पुत्रेभ्यः प्रयतात्मवान् ।
तपः समभिसंधाय वनमेवान्वपद्यत ॥ ३७ ॥

फिर मनपर संयम रखनेवाले वे महामुनि पुत्रोंको प्रसन्नतापूर्वक वह सारा धन बाँटकर तपस्याका शुभ संकल्प मनमें लेकर वनमें ही चले गये ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमाहात्म्ये पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणमाहात्म्यविषयक एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८५ ॥

षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

तार्क्ष्यमुनि और सरस्वतीका संवाद

मार्कण्डेय उवाच

अत्रैव च सरस्वत्या गीतं परपुरंजय ।
पृष्टया मुनिना वीर शृणु तार्क्ष्येण धीमता ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले पाण्डुनन्दन ! इसी विषयमें परम बुद्धिमान् तार्क्ष्य मुनिने सरस्वतीदेवीसे कुछ प्रश्न किया था, उसके

उत्तरमें सरस्वतीदेवीने जो कुछ कहा था, वह तुम्हें सुनाता हूँ, सुनो ॥ १ ॥

तार्क्ष्य उवाच

किं नु श्रेयः पुरुषस्येह भद्रे
कथं कुर्वन् न च्यवते स्वधर्मात् ।
आचक्ष्व मे चारुसर्वाङ्गि कुर्यां
त्वया शिष्टो न च्यवेयं स्वधर्मात् ॥ २ ॥

तार्क्ष्यने पूछा—भद्रे ! इस संसारमें मनुष्यका कल्याण करनेवाली वस्तु क्या है ? किस प्रकार आचरण करनेवाला पुरुष अपने धर्मसे भ्रष्ट नहीं होता है ? सर्वाङ्ग-सुन्दरी देवि ! तुम मुझसे इसका वर्णन करो । मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगा । मुझे विश्वास है कि तुमसे उपदेश ग्रहण करके मैं अपने धर्मसे गिर नहीं सकता ॥ २ ॥

कथं वाग्निं जुहुयां पूजये वा
कस्मिन् काले केन धर्मो न नश्येत् ।
एतत् सर्वं सुभगे प्रब्रवीहि
यथा लोकान् विरजाः संचरेयम् ॥ ३ ॥

मैं कैसे और किस समय अग्निमें हवन अथवा उसका पूजन करूँ ? क्या करनेसे धर्मका नाश नहीं होता है ? सुभगे ! तुम ये सारी बातें मुझसे बताओ । जिससे मैं रजोगुणरहित होकर सम्पूर्ण लोकोंमें विचरण करूँ ॥ ३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवं पृष्टा प्रीतियुक्तेन तेन
शुश्रूषुमीक्ष्योत्तमबुद्धियुक्तम् ।
तार्क्ष्यं विप्रं धर्मयुक्तं हितं च
सरस्वती वाक्यमिदं बभाषे ॥ ४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! उनके इस प्रकार प्रेमपूर्वक पूछनेपर सरस्वतीदेवीने ब्रह्मर्षि तार्क्ष्यको धर्मात्मा, उत्तम बुद्धिसे युक्त एवं श्रवणके लिये उत्सुक देखकर उनसे यह हितकर वचन कहा ॥ ४ ॥

सरस्वत्युवाच

यो ब्रह्म जानाति यथाप्रदेशं
स्वाध्यायनित्यः शुचिरप्रमत्तः ।
स वै परं देवलोकस्य गन्ता
सहामरैः प्राप्नुयात् प्रीतियोगम् ॥ ५ ॥

सरस्वती बोली—मुने ! जो प्रमाद छोड़कर पवित्र भावसे नित्य स्वाध्याय करता है और अर्चि आदि मार्गोंसे प्राप्त होने योग्य सगुण ब्रह्मको जान लेता है, वह देवलोकसे ऊपर उठकर ब्रह्मलोकमें जाता है और देवताओंके साथ प्रेमसम्बन्ध स्थापित कर लेता है ॥ ५ ॥

तत्र स्म रम्या विपुला विशोकाः
सुपुष्पिताः पुष्करिण्यः सुपुण्याः ।
अकर्दमा मीनवत्यः सुतीर्था
हिरण्मयैरावृताः पुण्डरीकैः ॥ ६ ॥

वहाँ सुन्दर, विशाल, शोकरहित, अत्यन्त पवित्र तथा सुन्दर पुष्पोंसे सुशोभित छोटे-छोटे सरोवर हैं । उनमें कीचड़का नाम नहीं है । उनमें मछलियाँ निवास करती हैं । उन सरोवरोंमें उतरनेके लिये मनोहर सीढ़ियाँ बनी हुई हैं और वे सभी सरोवर सुवर्णमय कमल-पुष्पोंसे आच्छादित रहते हैं ॥ ६ ॥

तासां तीरेष्वासते पुण्यभाजो
महीयमानाः पृथगप्सरोभिः ।
सुपुण्यगन्धाभिरलंकृताभि-
र्हिरण्यवर्णाभिरतीव हृष्टाः ॥ ७ ॥

उनके तटोंपर पूजनीय पुण्यात्मा पुरुष पृथक्-पृथक् अप्सराओंके साथ सानन्द प्रतिष्ठित होते हैं । वे अप्सराएँ अत्यन्त पवित्र सुगन्धसे सुवासित, विविध आभूषणोंसे विभूषित तथा स्वर्णकी-सी कान्तिसे प्रकाशित होती हैं ॥ ७ ॥

परं लोकं गोप्रदास्त्वाप्नुवन्ति
दत्त्वानड्वाहं सूर्यलोकं व्रजन्ति ।
वासो दत्त्वा चान्द्रमसं तु लोकं
दत्त्वा हिरण्यममरत्वमेति ॥ ८ ॥

गोदान करनेवाले मनुष्य उत्तम लोकमें जाते हैं । छकड़े ढोनेवाले बलवान् बैलोंका दान करनेसे दाताओंको सूर्यलोककी प्राप्ति होती है । वस्त्रदानसे चन्द्रलोक और सुवर्णदानसे अमरत्वकी प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

धेनुं दत्त्वा सुप्रभां सुप्रदोहां
कल्याणवत्सामपलायिनीं च ।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्या-
स्तावद् वर्षाण्यासते देवलोके ॥ ९ ॥

जो अच्छे रंगकी हो, सुगमतासे दूध दुहा लेती हो, सुन्दर बछड़े देनेवाली हो और बन्धन तुड़ाकर भागनेवाली न हो, ऐसी गौका जो लोग दान करते हैं, वे गौके शरीरमें जितने रोएँ हों, उतने वर्षतक देवलोकमें निवास करते हैं ॥ ९ ॥

अनड्वाहं सुव्रतं यो ददाति
हलस्य वोढारमनन्तवीर्यम् ।
धुरन्धरं बलवन्तं युवानं
प्राप्नोति लोकान् दश धेनुदस्य ॥ १० ॥

जो मनुष्य अच्छे स्वभाववाले, अत्यन्त शक्तिशाली, हल खींचनेवाले, गाड़ीका बोझ ढोनेमें समर्थ, बलवान् और तरुण अवस्थावाले बैलका दान करता है, वह धेनुदान करनेवाले पुरुषसे दसगुने पुण्यलोक प्राप्त करता है ॥ १० ॥



तार्क्ष्यको सरस्वतीका उपदेश

ददाति यो वै कपिलां सचैलां
कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः ।
तैस्तैर्गुणैः कामदुहाथ भूत्वा
नरं प्रदातारमुपैति सा गौः ॥११॥

जो काँसेकी दोहनी, वस्त्र, उत्तर कालिक दक्षिणाद्रव्यके साथ कपिला गौका दान करता है, उसकी दी हुई वह गौ उन-उन गुणोंके साथ कामधेनु बनकर परलोकमें दाताके पास पहुँच जाती है ॥ ११ ॥

यावन्ति रोमाणि भवन्ति धेन्वा-
स्तावत् फलं भवति गोप्रदाने ।
पुत्रांश्च पौत्रांश्च कुलं च सर्व-
मासप्तमं तारयते परत्र ॥१२॥

उस धेनुके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक दाता गोदानके पुण्य-फलका उपभोग करता है। साथ ही वह गौ परलोकमें दाताके पुत्रों, पौत्रों एवं सात पीढ़ीतकके समूचे कुलका उद्धार करती है ॥ १२ ॥

सदक्षिणां काञ्चनचारुशृङ्गीं
कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः ।
धेनुं तिलानां ददतो द्विजाय
लोका वसूनां सुलभा भवन्ति ॥१३॥
स्वकर्मभिर्दानवसंनिरुद्धे
तीव्रान्धकारे नरके सम्पतन्तम् ।
महार्णवे नौरिव वातयुक्ता
दानं गवां तारयते परत्र ॥१४॥

जो सोनेके बने हुए सुन्दर सींग, काँसके दुग्धपात्र, द्रव्य तथा ओढ़नेके वस्त्र और दक्षिणासहित तिलकी धेनुका ब्राह्मणको दान करता है, उसके लिये वसुओंके लोक सुलभ हो जाते हैं। जैसे महासागरमें डूबते हुए मनुष्यको अनुकूल वायुके सहयोगसे चलनेवाली नाव बचा लेती है, उसी प्रकार जो अपने कर्मोंद्वारा काम, क्रोध आदि दानवोंसे घिरे हुए घोर अज्ञानान्धकारसे परिपूर्ण नरकमें गिर रहा है, उसे गोदानजनित पुण्य परलोकमें उबार लेता है ॥१३–१४॥

यो ब्राह्मदेयां तु ददाति कन्यां
भूमिप्रदानं च करोति विप्रे ।
ददाति दानं विधिना च यश्च
स लोकमाप्नोति पुरंदरस्य ॥१५॥

जो ब्राह्म विवाहकी विधिसे दान करने योग्य कन्याका (श्रेष्ठ वरको) दान करता है, ब्राह्मणको भूदान देता है और विधिपूर्वक अन्यान्य वस्तुओंका दान सम्पन्न करता है, वह इन्द्रलोकमें जाता है ॥ १५ ॥

यः सप्त वर्षाणि जुहोति तार्क्ष्य
हव्यं [illegible] साधुशील-

सप्तावरान् सप्त पूर्वान् पुनाति
पितामहानात्मना कर्मभिः स्वैः ॥१६॥

तार्क्ष्य ! जो सदाचारी पुरुष संयम—नियमका पालन करते हुए सात वर्षोंतक अग्निमें आहुति देता है, वह अपने सत्कर्मोंद्वारा अपने साथ ही सात पीढ़ीतककी भावी संतानोंको और सात पीढ़ी पूर्वतकके पितामहोंको भी पवित्र कर देता है ॥ १६ ॥

तार्क्ष्य उवाच

किमग्निहोत्रस्य व्रतं पुराण-
माचक्ष्व मे पृच्छतश्चानुरूपे ।
त्वयानुशिष्टोऽहमिहाद्य विद्यां
यदग्निहोत्रस्य व्रतं पुराणम् ॥१७॥

तार्क्ष्यने पूछा—मनोहर रूपवाली देवि ! मैं पूछता हूँ कि अग्निहोत्रका प्राचीन नियम क्या है ? यह बताओ। तुम्हारे उपदेश करनेपर आज मुझे यहाँ अग्निहोत्रके प्राचीन नियमका ज्ञान हो जाय ॥ १७ ॥



सरस्वत्युवाच

न चाशुचिर्नाप्यनिर्णिक्तपाणि-
र्नाब्रह्मविज्जुहुयान्नाविपश्चित् ।
बुभुक्षवः शुचिकामा हि देवा
नाश्रद्दधानाद्धि हविर्जुषन्ति ॥१८॥

सरस्वतीने कहा—मुने ! जो अपवित्र है, जिसने हाथ-पैर (भी) नहीं धोये हैं, जो वेदके ज्ञानसे वञ्चित है, जिसे [illegible] अनुमति नहीं है, ऐसे पुरुषको अग्निमें आहुति

नहीं देनी चाहिये । देवता दूसरोंके मनोभावको जाननेकी इच्छा रखते हैं, वे पवित्रता चाहते हैं, अतः श्रद्धाहीन मनुष्यके दिये हुए हविष्यको ग्रहण नहीं करते हैं ॥ १८ ॥

नाश्रोत्रियं देवहव्ये नियुञ्ज्या-
न्मोघं पुरा सिञ्चति तादृशो हि।
अपूर्वमश्रोत्रियमाह ताक्ष्र्य
न वै तादृग् जुहुयादग्निहोत्रम् ॥१९॥

वेद-मन्त्रोंका ज्ञान न रखनेवाले पुरुषको देवताओंके लिये हविष्य प्रदान करनेके कार्यमें नियुक्त न करे; क्योंकि वैसा मनुष्य जो हवन करता है, वह व्यर्थ हो जाता है । ताक्ष्र्य ! अश्रोत्रिय पुरुषको वेदमें अपूर्व (कुल-शीलसे अपरिचित) कहा गया है * । अतः वैसा पुरुष अग्निहोत्रका अधिकारी नहीं है ॥ १९ ॥

कृशाश्च ये जुह्वति श्रद्दधानाः
सत्यव्रता हुतशिष्टाशिनश्च ।
गवां लोकं प्राप्य ते पुण्यगन्धं
पश्यन्ति देवं परमं चापि सत्यम् ॥२०॥

जो तपसे कृश हो सत्य व्रतका पालन करते हुए प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक हवन करते हैं और हवनसे बचे हुए अन्नका भोजन करते हैं, वे पवित्र सुगन्धसे भरे हुए गौओंके लोकमें जाते हैं और वहाँ परम सत्य परमात्माका दर्शन करते हैं ॥ २० ॥

ताक्ष्र्य उवाच

क्षेत्रज्ञभूतां परलोकभावे
कर्मोदये बुद्धिमतिप्रविष्टाम् ।
प्रज्ञां च देवीं सुभगे विमृश्य
पृच्छामि त्वां का ह्यसि चारुरूपे ॥२१॥

ताक्ष्र्यने पूछा—सुन्दर रूपवाली सौभाग्यशालिनी देवि ! तुम आत्मस्वरूपा हो तथा परलोकके विषयमें एवं कर्म-फलके विचारमें प्रविष्ट हुई अत्यन्त उत्कृष्ट बुद्धि हो । प्रज्ञा देवी भी तुम्हीं हो । तुम्हींको इन दोनों रूपोंमें जानकर मैं पूछता हूँ, बताओ, वास्तवमें तुम क्या हो ? ॥ २१ ॥

सरस्वत्युवाच

अग्निहोत्रादहमभ्यागतास्मि
विप्रर्षभाणां संशयच्छेदनाय ।
त्वत्संयोगादहमेतमब्रुवं
भावे स्थिता तथ्यमर्थं यथावत् ॥२२॥

सरस्वती बोली—मुने ! मैं [विद्यारूपा सरस्वती हूँ और] श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके अग्निहोत्रसे यहाँ तुम्हारे संशयका निवारण करनेके लिये आयी हूँ । (तुम श्रद्धालु हो) तुम्हारा सांनिध्य पाकर ही मैंने यहाँ ये पूर्वोक्त सत्य बातें यथार्थरूपसे बतायी हैं; क्योंकि आन्तरिक श्रद्धाभावमें ही मेरी स्थिति है ॥ २२ ॥

ताक्ष्र्य उवाच

न हि त्वया सदृशी काचिदस्ति
विभ्राजसे ह्यतिमात्रं यथा श्रीः ।
रूपं च ते दिव्यमनन्तकान्ति
प्रज्ञां च देवीं सुभगे बिभर्षि ॥२३॥

ताक्ष्र्यने पूछा—सुभगे ! तुम्हारी-जैसी दूसरी कोई नारी नहीं है । तुम साक्षात् लक्ष्मीजीकी भाँति अत्यन्त प्रकाशमान दिखायी देती हो । तुम्हारा यह परम कान्तिमान् स्वरूप अत्यन्त दिव्य है । साथ ही तुम दिव्य प्रज्ञा भी धारण करती हो (इसका क्या कारण है ?) ॥ २३ ॥

सरस्वत्युवाच

श्रेष्ठानि यानि द्विपदां वरिष्ठ
यज्ञेषु विद्वन्नुपपादयन्ति ।
तैरेव चाहं सम्प्रवृद्धा भवामि
चाप्यायिता रूपवती च विप्र ॥२४॥

सरस्वती बोली—नरश्रेष्ठ ! विद्वन् ! याज्ञिकलोग यज्ञोंमें जो श्रेष्ठ कार्य करते हैं अथवा श्रेष्ठ वस्तुओंका संकलन करते हैं, उन्हींसे मेरी पुष्टि तथा तृप्ति होती है और विप्रवर ! उन्हींसे मैं रूपवती होती हूँ ॥ २४ ॥

यच्चापि द्रव्यमुपयुज्यते ह
वानस्पत्यमायसं पार्थिवं वा ।
दिव्येन रूपेण च प्रज्ञया च
तेनैव सिद्धिरिति विद्धि विद्वन् ॥२५॥

विद्वन् ! उन यज्ञोंमें जो समिधा-स्रुवा आदि वृक्षसे उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ, सुवर्ण आदि तैजस वस्तुएँ तथा व्रीहि आदि पार्थिव वस्तुएँ उपयोगमें लायी जाती हैं, उन्हींके द्वारा दिव्य रूप तथा प्रज्ञासे सम्पन्न मेरे स्वरूपकी पुष्टि होती है, यह बात तुम अच्छी तरह समझ लो ॥ २५ ॥

ताक्ष्र्य उवाच

इदं श्रेयः परमं मन्यमाना
व्यायच्छन्ते मुनयः सम्प्रतीताः।
आचक्ष्व मे तं परमं विशोकं
मोक्षं परं यं प्रविशन्ति धीराः ।
सांख्या योगा परमं यं विदन्ति
परं पुराणं तमहं न वेद्मि ॥२६॥

ताक्ष्र्यने पूछा—देवि ! जिसे परम कल्याणस्वरूप मानते हुए मुनिजन अत्यन्त विश्वासपूर्वक इन्द्रियों आदिका निग्रह करते हैं तथा जिस परम मोक्षस्वरूपमें धीर पुरुष

* जैसे मनुष्य अपरिचित पुरुषका दिया हुआ अन्न नहीं खाता, उसी प्रकार अश्रोत्रियका दिया हुआ हविष्य देवता नहीं स्वीकार करते हैं ।

प्रवेश करते हैं, उस शोकरहित परम मोक्ष पदका वर्णन करो; क्योंकि जिस परम मोक्ष पदको सांख्ययोगी और कर्मयोगी जानते हैं, उस सनातन मोक्ष-तत्त्वको मैं नहीं जानता ॥ २६ ॥

सरस्वत्युवाच

तं वै परं वेदविदः प्रपन्नाः
परं परेभ्यः प्रथितं पुराणम् ।
स्वाध्यायवन्तो व्रतपुण्ययोगै-
स्तपोधना वीतशोका विमुक्ताः ॥२७॥

सरस्वती बोली--स्वाध्यायरूप योगमें लगे हुए तथा तपको ही धन माननेवाले योगी व्रत-पुण्य और योगके साधनोंसे जिस प्रख्यात, परात्पर एवं पुरातन पदको प्राप्तकर शोकरहित तथा मुक्त हो जाते हैं, वही सनातन ब्रह्मपद है। वेदवेत्ता उसी परमपदका आश्रय लेते हैं ॥ २७ ॥

तस्याथ मध्ये वेतसः पुण्यगन्धः
सहस्रशाखो विपुलो विभाति ।
तस्य मूलात् सरितः प्रस्रवन्ति
मधूदकप्रस्रवणाः सुपुण्याः ॥२८॥

उस परब्रह्ममें ब्रह्माण्डरूपी एक विशाल बेंतका वृक्ष है, जो भोग-स्थानरूपी अनन्त शाखाओंसे युक्त तथा शब्दादि विषयरूपी पवित्र सुगन्धसे सम्पन्न है। (उस ब्रह्माण्डरूपी वृक्ष-का मूल अविद्या है।) उस अविद्यारूपी मूलसे भोगवासनामयी निरन्तर बहनेवाली अनन्त नदियाँ उत्पन्न होती हैं। वे नदियाँ ऊपरसे तो रमणीय और पवित्र सुवाससे युक्त प्रतीत होती हैं तथा मधुके समान मधुर एवं जलके समान तृप्ति-कारक विषयोंको बहाया करती हैं ॥ २८ ॥

शाखां शाखां महानद्यः संयान्ति सिकताशयाः ।
धानापूपा मांसशाकाः सदा पायसकर्दमाः ॥२९॥

परंतु वास्तवमें वे सब भूने हुए जौके समान फल देनेमें असमर्थ, पूओंके समान अनेक छिद्रोंवाली, हिंसासे मिल सकनेवाली अर्थात् मांसके समान अपवित्र, सूखे शाकके समान सारशून्य और खीरके समान रुचिकर लगनेवाली होनेपर भी कीचड़के समान चित्तमें मलिनता उत्पन्न करनेवाली हैं। बालूके कणोंके समान परस्पर विलग एवं ब्रह्माण्डरूपी बेंतके वृक्षकी शाखाओंमें बहनेवाली हैं ॥ २९ ॥

यस्मिन्नग्निमुखा देवाः सेन्द्राः सहमरुद्गणाः ।
ईजिरे क्रतुभिः श्रेष्ठैस्तत् पदं परमं मम ॥३०॥

मुने! इन्द्र, अग्नि और पवन आदि मरुद्गणोंके साथ देवता लोग जिस ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिये श्रेष्ठ यज्ञोंद्वारा उसका पूजन करते हैं, वह मेरा परमपद है ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि सरस्वतीतार्क्ष्यसंवादे षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें सरस्वती-तार्क्ष्यसंवादविषयक एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८६ ॥

सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

वैवस्वत मनुका चरित्र तथा मत्स्यावतारकी कथा

वैशम्पायन उवाच

ततः स पाण्डवो विप्रं मार्कण्डेयमुवाच ह ।
कथयस्वेति चरितं मनोर्वैवस्वतस्य च ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय! इसके बाद पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने मार्कण्डेयजीसे कहा--'अब आप हमसे वैवस्वत मनुके चरित्र कहिये' ॥ १ ॥

मार्कण्डेय उवाच

विवस्वतः सुतो राजन् महर्षिः सुप्रतापवान् ।
बभूव नरशार्दूल प्रजापतिसमद्युतिः ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी बोले--नरश्रेष्ठ नरेश! विवस्वान् (सूर्य) के एक अत्यन्त प्रतापी पुत्र हुआ, जो प्रजापतिके समान कान्तिमान् और महान् ऋषि था ॥ २ ॥

ओजसा तेजसा लक्ष्म्या तपसा च विशेषतः ।
अतिचक्राम पितरं मनुः स्वं च पितामहम् ॥ ३ ॥

वह बालक मनु ओज, तेज, कान्ति और विशेषतः तपस्या-द्वारा अपने पिता भगवान् सूर्य तथा पितामह महर्षि कश्यपसे भी आगे बढ़ गया ॥ ३ ॥

ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्यां स नराधिप ।
एकपादस्थितस्तीव्रं चकार सुमहत् तपः ॥ ४ ॥
अवाक्शिरास्तथा चापि नेत्रैरनिमिषैर्दृढम् ।
सोऽतप्यत तपो घोरं वर्षाणामयुतं तदा ॥ ५ ॥

महाराज! उसने बदरिकाश्रममें जाकर दोनों बाँहें ऊपर उठाये एक पैरसे खड़ा हो दस हजार वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की। उस समय उसका सिर नीचेकी ओर झुका हुआ था और वह एकटक नेत्रोंसे निरन्तर देखता रहता था। इस प्रकार बड़ी दृढ़ताके साथ उस बालकने घोर तप किया ॥ ४-५ ॥

तं कदाचित् तपस्यन्तमार्द्रचीरजटाधरम् ।
चीरिणीतीरमागम्य मत्स्यो वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

(वही बालक वैवस्वत मनुके नामसे प्रसिद्ध हुआ ।) एक दिनकी बात है, मनु भीगे चीर और जटा धारण किये चीरिणी नदीके तटपर तपस्या कर रहे थे । उस समय एक मत्स्य आकर इस प्रकार बोला—॥ ६ ॥

भगवन् क्षुद्रमत्स्योऽस्मि बलवद्भ्यो भयं मम ।
मत्स्येभ्यो हि ततो मां त्वं त्रातुमर्हसि सुव्रत ॥ ७ ॥

'भगवन् ! मैं एक छोटा-सा मत्स्य हूँ । मुझे (अपनी जातिके) बलवान् मत्स्योंसे बराबर भय बना रहता है । अतः उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे ! आप उससे मेरी रक्षा करें ॥

दुर्बलं बलवन्तो हि मत्स्या मत्स्यं विशेषतः ।
आस्वदन्ति सदा वृत्तिर्विहिता नः सनातनी ॥ ८ ॥

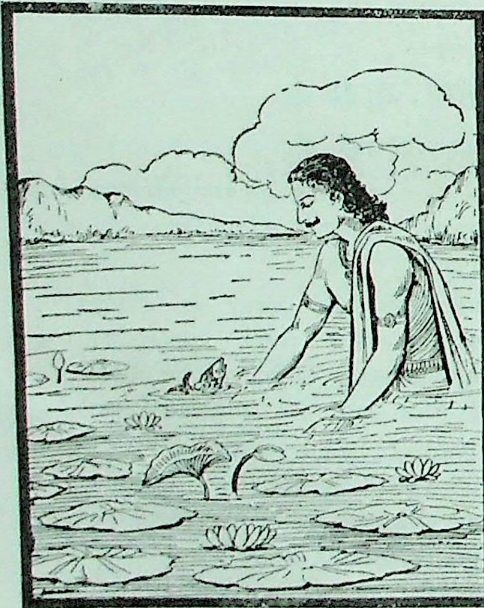
'बलवान् मत्स्य विशेषतः दुर्बल मत्स्यको अपना आहार बना लेते हैं, यह सदासे हमारी मत्स्य जातिकी नियत वृत्ति है ॥

तस्माद् भयौघान्महतो मज्जन्तं मां विशेषतः ।
त्रातुमर्हसि कर्तास्मि कृते प्रतिकृतं तव ॥ ९ ॥

'इसलिये भयके महान् समुद्रमें मैं डूब रहा हूँ। आप विशेष प्रयत्न करके मुझे बचानेका कष्ट करें । आपके इस उपकारके बदले मैं भी प्रत्युपकार करूँगा' ॥ ९ ॥

स मत्स्यवचनं श्रुत्वा कृपयाभिपरिप्लुतः ।
मनुर्वैवस्वतोऽगृह्णात् तं मत्स्यं पाणिना स्वयम् ॥ १० ॥
उदकान्तमुपानीय मत्स्यं वैवस्वतो मनुः ।
अलिञ्जरे प्राक्षिपत् तं चन्द्रांशुसदृशप्रभम् ॥ ११ ॥

मत्स्यकी यह बात सुनकर वैवस्वत मनुको बड़ी दया आयी । उन्होंने स्वयं अपने हाथसे चन्द्रमाकी किरणोंके समान



श्वेत रंगवाले उस मत्स्यको उठा लिया और पानीके बाहर लाकर मटकेमें डाल दिया ॥ १०-११ ॥

स तत्र ववृधे राजन् मत्स्यः परमसत्कृतः ।
पुत्रवत् स्वीकरोत् तस्मै मनुर्भावं विशेषतः ॥ १२ ॥
अथ कालेन महता स मत्स्यः सुमहानभूत् ।
अलिञ्जरे यथा चैव नासौ समभवत् किल ॥ १३ ॥

राजन् ! वहाँ उन्होंने बड़े आदरके साथ उसका पालन-पोषण किया और वह दिन-दिन बढ़ने लगा । मनुने उसके प्रति पुत्रके समान विशेष वात्सल्य भाव प्रकट किया । तदनन्तर दीर्घकाल बीतनेपर वह मत्स्य इतना बड़ा हो गया कि मटकेमें उसका रहना असम्भव हो गया ॥ १२-१३ ॥

अथ मत्स्यो मनुं दृष्ट्वा पुनरेवाभ्यभाषत ।
भगवन् साधु मेऽद्यान्यत् स्थानं सम्प्रतिपादय ॥ १४ ॥

तब एक दिन मत्स्यने मनुको देखकर फिर कहा—'भगवन् ! अब आप मेरे लिये इससे अच्छा कोई दूसरा स्थान दीजिये' ॥ १४ ॥

उद्धृत्यालिञ्जरात् तस्मात् ततः स भगवान् मनुः ।
तं मत्स्यमनयद् वापीं महतीं स मनुस्तदा ॥ १५ ॥

तब वे भगवान् मनु उस मत्स्यको उस मटकेसे निकालकर एक बहुत बड़ी बावलीके पास ले गये ॥ १५ ॥

तत्र तं प्राक्षिपच्चापि मनुः परपुरंजय ।
अथावर्धत मत्स्यः स पुनर्वर्षगणान् बहून् ॥ १६ ॥

शत्रुविजयी युधिष्ठिर ! मनुने उसे वहीं डाल दिया । अब वह मत्स्य अनेक वर्षोंतक उसीमें क्रमशः बढ़ता रहा ॥ १६ ॥

द्वियोजनायता वापी विस्तृता चापि योजनम् ।
तस्यां नासौ समभवन्मत्स्यो राजीवलोचन ॥ १७ ॥

कमलनयन ! उस बावलीकी लम्बाई दो योजन और चौड़ाई एक योजनकी थी; परंतु उसमें भी उस मत्स्यका रहना कठिन हो गया ॥ १७ ॥

विचेष्टितुं च कौन्तेय मत्स्यो वाप्यां विशाम्पते ।
मनुं मत्स्यस्ततो दृष्ट्वा पुनरेवाभ्यभाषत ॥ १८ ॥

नराधिप कुन्तीनन्दन ! वह उस बावलीमें हिल-डुल भी नहीं पाता था । अतः मनुको देखकर वह पुनः बोला ॥ १८ ॥

नय मां भगवन् साधो समुद्रमहिषीं प्रियाम् ।
गङ्गां तत्र निवत्स्यामि यथा वा तात मन्यसे ॥ १९ ॥
निदेशे हि मया तुभ्यं स्थातव्यमनसूयता ।
वृद्धिर्हि परमा प्राप्ता त्वत्कृते हि मयानघ ॥ २० ॥

'भगवन् ! साधुबाबा ! अब आप मुझे समुद्रकी प्यारी पटरानी गङ्गाजीमें ले चलिये । मैं वहीं निवास करूँगा । अथवा तात ! आप जहाँ उचित समझें, ले चलें । अनघ ! मुझे दोषदृष्टिका परित्याग करके सदा आपके आज्ञापालनमें स्थिर रहना है; क्योंकि आपके कारण ही मैं भलीभाँति पुष्ट होकर इतना बड़ा हुआ हूँ' ॥ १९-२० ॥

एवमुक्तो मनुर्मत्स्यमनयद् भगवान् वशी ।
नदीं गङ्गां तत्र चैनं स्वयं प्राक्षिपदच्युतः ॥२१॥

मत्स्यके ऐसा कहनेपर जितेन्द्रिय, अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले भगवान् मनुने उसे स्वयं ले जाकर गङ्गामें डाल दिया ॥ २१ ॥

स तत्र ववृधे मत्स्यः किंचित्कालमरिंदम ।
ततः पुनर्मनुं दृष्ट्वा मत्स्यो वचनमब्रवीत् ॥२२॥
गङ्गायां हि न शक्नोमि बृहत्त्वाच्चेष्टितुं प्रभो ।
समुद्रं नय मामाशु प्रसीद भगवन्निति ॥२३॥
उद्धृत्य गङ्गासलिलात् ततो मत्स्यं मनुः स्वयम् ।
समुद्रमनयत् पार्थ तत्र चैनमवासृजत् ॥२४॥

शत्रुदमन ! फिर वह मत्स्य वहाँ कुछ कालतक बढ़ता रहा । फिर एक दिन मनुको देखकर उसने कहा—'प्रभो ! मेरा शरीर अब इतना बड़ा हो गया है कि मैं गङ्गाजीमें हिल-डुल नहीं सकता । अतः मुझे शीघ्र ही समुद्रमें ले चलिये । भगवन् ! आप प्रसन्न होकर मुझपर इतनी कृपा अवश्य कीजिये ।' कुन्तीनन्दन ! तब मनुने स्वयं उस मत्स्यको गङ्गाजीके जलसे निकालकर समुद्रतक पहुँचाया और उसमें छोड़ दिया ॥ २२–२४ ॥

सुमहानपि मत्स्यस्तु स मनोर्नयतस्तदा ।
आसीद् यथेष्टहार्यश्च स्पर्शगन्धसुखस्य वै ॥२५॥

राजन् ! यद्यपि वह मत्स्य बहुत विशाल था, तो भी जब मनु उसे ले जाने लगे, तब वह ऐसा बन गया, जिससे आसानीसे ले जाया जा सके । उसका स्पर्श और गन्ध दोनों मनुके लिये बड़े सुखकर थे ॥ २५ ॥

यदा समुद्रे प्रक्षिप्तः स मत्स्यो मनुना तदा ।
तत एनमिदं वाक्यं स्मयमान इवाब्रवीत् ॥२६॥

जब मनुने उस मत्स्यको समुद्रमें डाल दिया, तब इसने उनसे मुसकराते हुए-से कहा—॥ २६ ॥

भगवन् हि कृता रक्षा त्वया सर्वा विशेषतः ।
प्राप्तकालं तु यत् कार्यं त्वया तच्छ्रूयतां मम ॥२७॥

'भगवन् ! आपने विशेष मनोयोगके साथ सब प्रकारसे मेरी रक्षा की है, अब आपके लिये जिस कार्यका अवसर प्राप्त हुआ है, वह बताता हूँ, सुनिये—॥ २७ ॥

अचिराद् भगवन् भौममिदं स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वमेव महाभाग प्रलयं वै गमिष्यति ॥२८॥

'भगवन् ! यह सारा-का-सारा चराचर पार्थिव जगत् शीघ्र ही नष्ट होनेवाला है । महाभाग ! सम्पूर्ण जगत्का प्रलय हो जायगा ॥ २८ ॥

सम्प्रक्षालनकालोऽयं लोकानां समुपस्थितः ।
तस्मात् त्वां बोधयाम्यद्य यत् ते हितमनुत्तमम् ॥२९॥

'यह सब लोकोंके सम्प्रक्षालन (एकार्णवके जलसे धुलकर नष्ट होने) का समय आ गया है । इसलिये मैं आपको सचेत करता हूँ और आपके लिये जो परम उत्तम हितकी बात है, उसे बताता हूँ ॥ २९ ॥

त्रसानां स्थावराणां च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ।
तस्य सर्वस्य सम्प्राप्तः कालः परमदारुणः ॥३०॥

'सम्पूर्ण जङ्गमों तथा स्थावर पदार्थोंमें जो हिल-डुल सकते हैं और जो हिलने-डुलनेवाले नहीं हैं, उन सबके लिये अत्यन्त भयंकर समय आ पहुँचा है ॥ ३० ॥

नौश्च कारयितव्या ते दृढा युक्तवटारका ।
तत्र सप्तर्षिभिः सार्धमारुहेथा महामुने ॥३१॥

'आपको एक मजबूत नाव बनवानी चाहिये, जिसमें (मजबूत) रस्सी जुटी हो । महामुने ! फिर आप सप्तर्षियोंके साथ उस नावपर बैठ जाइये ॥ ३१ ॥

बीजानि चैव सर्वाणि यथोक्तानि द्विजैः पुरा ।
तस्यामारोहयेर्नावि सुसंगुप्तानि भागशः ॥३२॥

'पूर्वकालमें ब्राह्मणोंने जो सब प्रकारके बीज बताये हैं, उनका पृथक्-पृथक् संग्रह करके उन्हें सुरक्षितरूपसे उस नावपर रख लें ॥ ३२ ॥

नौस्थश्च मां प्रतीक्षेथास्ततो मुनिजनप्रिय ।
आगमिष्याम्यहं शृङ्गी विज्ञेयस्तेन तापस ॥३३॥
एवमेतत् त्वया कार्यमापृष्टोऽसि व्रजाम्यहम् ।
ता न शक्या महत्यो वै आपस्तर्तुं मया विना ॥३४॥

'मुनिजनोंके प्रेमी तपस्वी नरेश ! उस नावमें बैठे रहकर आप मेरी प्रतीक्षा कीजियेगा । मैं आपके पास अपने मस्तकमें सींग धारण किये आऊँगा । उसीसे आप मुझे पहचान लेंगे । इस प्रकार यह सब कार्य आपको करना है । अब मैं आपसे आज्ञा चाहता हूँ और यहाँसे जाता हूँ । उस महान् जलराशिको आपलोग मेरी सहायताके बिना पार नहीं कर सकेंगे ॥ ३३-३४ ॥

नाभिशङ्क्यमिदं चापि वचनं मे त्वया विभो ।
एवं करिष्य इति तं स मत्स्यं प्रत्यभाषत ॥३५॥

'प्रभो ! आप मेरी इस बातमें तनिक भी संदेह न करें ।' तब राजाने उस मत्स्यसे कहा—'बहुत अच्छा ! मैं ऐसा ही करूँगा' ॥ ३५ ॥

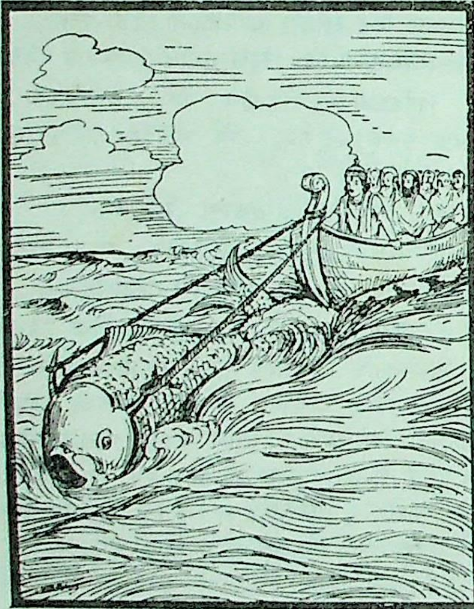
जग्मतुश्च यथाकाममनुज्ञाप्य परस्परम् ।
ततो मनुर्महाराज यथोक्तं मत्स्यकेन ह ॥३६॥
बीजान्यादाय सर्वाणि सागरं पुप्लुवे तदा ।
नौकया शुभया वीर महोर्मिणमरिंदम ॥३७॥

शत्रुदमन ! वे दोनों एक दूसरेसे विदा लेकर इच्छानुसार वहाँसे चले गये । महाराज ! तदनन्तर मनु मत्स्यभगवान्के

कथनानुसार सम्पूर्ण बीज लेकर एक सुन्दर नौकाद्वारा उत्ताल तरङ्गोंसे भरे हुए महासागरमें तैरने लगे ॥ ३६-३७ ॥

चिन्तयामास च मनुस्तं मत्स्यं पृथिवीपते।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा मत्स्यः परपुरंजय ॥३८॥
शृङ्गी तत्राजगामाशु तदा भरतसत्तम।
तं दृष्ट्वा मनुजव्याघ्र मनुर्मत्स्यं जलार्णवे ॥३९॥
शृङ्गिणं तं यथोक्तेन रूपेणाद्रिमिवोच्छ्रितम्।
वटारकमयं पाशमथ मत्स्यस्य मूर्धनि ॥४०॥

शत्रुनगरविजयी नरेश्वर! तदनन्तर मनुने भगवान् मत्स्यका चिन्तन किया। यह जानकर शृङ्गधारी भगवान् मत्स्य वहाँ शीघ्र आ पहुँचे। नरश्रेष्ठ भरतकुलशिरोमणे! समुद्रमें अपने पूर्वकथित रूपसे ऊँचे पर्वतकी भाँति शृङ्गधारी मत्स्य भगवान्‌को आया देख उनके मस्तकवर्ती सींगमें उन्होंने बँटी हुई रस्सी बाँध दी ॥ ३८—४० ॥



मनुर्मनुजशार्दूल तस्मिन् शृङ्गे न्यवेशयत्।
संयतस्तेन पाशेन मत्स्यः परपुरंजय ॥४१॥
वेगेन महता नावं प्राकर्षल्लवणाम्भसि।
स च तांस्तारयन् नावा समुद्रं मनुजेश्वर ॥४२॥
नृत्यमानमिवोर्मीभिर्गर्जमानमिवाम्भसा।
क्षोभ्यमाणा महावातैः सा नौस्तस्मिन् महोदधौ॥४३॥
घूर्णते चपलेव स्त्री मत्ता परपुरंजय।
नैव भूमिर्न च दिशः प्रदिशो वा चकाशिरे ॥४४॥

शत्रुकी राजधानीपर विजय पानेवाले पुरुषसिंह! मनुने वह नाव उस सींगमें अटका दी। रस्सीसे बँधे हुए मत्स्यभगवान् [illegible]

समुद्रमें बड़े वेगसे नाव खींचने लगे। मनुजेश्वर! उस समय समुद्र अपनी लहरोंसे नृत्य करता-सा जान पड़ता था। पानीके हिलोरोंसे भयंकर गर्जना-सी कर रहा था। शत्रुविजयी नरेश्वर! उस महासागरमें प्रचण्ड वायुके झोंकोंसे विक्षुब्ध होकर हिलती-डुलती हुई वह नौका चञ्चल चित्तवाली मतवाली स्त्रीके समान झूम रही थी। उस समय न तो भूमिका पता लगता था और न दिशाओं तथा विदिशाओंका ही भान होता था ॥ ४१—४४ ॥

सर्वमाम्भसमेवासीत् खं द्यौश्च नरपुङ्गव।
एवंभूते तदा लोके संकुले भरतर्षभ ॥४५॥
अदृश्यन्तर्षयः सप्त मनुर्मत्स्यस्तथैव च।
एवं बहून् वर्षगणांस्तां नावं सोऽथ मत्स्यकः ॥४६॥
चकर्षातन्द्रितो राजंस्तस्मिन् सलिलसंचये।
ततो हिमवतः शृङ्गं यत् परं भरतर्षभ ॥४७॥
तत्राकर्षत् ततो नावं स मत्स्यः कुरुनन्दन।
अथाब्रवीत् तदा मत्स्यस्तानृषीन् प्रहसन् शनैः ॥४८॥
अस्मिन् हिमवतः शृङ्गे नावं बध्नीत मा चिरम्।
सा बद्धा तत्र तैस्तूर्णमृषिभिर्भरतर्षभ ॥४९॥
नौर्मत्स्यस्य वचः श्रुत्वा शृङ्गे हिमवतस्तदा।
तच्च नौबन्धनं नाम शृङ्गं हिमवतः परम् ॥५०॥

भरतकुलभूषण नरेश्वर! आकाश और द्युलोक सब कुछ जलमय ही प्रतीत होता था। इस प्रकार जब सारा विश्व एकार्णवके जलमें डूबा हुआ था, उस समय केवल सप्तर्षि, मनु और मत्स्य भगवान्—ये ही नौ व्यक्ति दृष्टिगोचर होते थे। राजन्! इस तरह बहुत वर्षोंतक भगवान् मत्स्य आलस्यरहित होकर उस अगाध जल-राशिमें उस नौकाको खींचते रहे। भरतकुलतिलक! तदनन्तर हिमालयका जो सर्वोच्च शिखर था, वहाँ मत्स्य भगवान् उस नावको खींचकर ले गये। कुरुनन्दन! तब वे धीरे-धीरे हँसते हुए उन समस्त ऋषियोंसे बोले—'आपलोग हिमालयके इस शिखरमें इस नावको शीघ्र बाँध दें।' भरतश्रेष्ठ! मत्स्यका वह वचन सुनकर उन महर्षियोंने तुरंत वहाँ हिमालयके शिखरमें वह नौका बाँध दी। तभीसे हिमालयका वह उत्तम शिखर 'नौका-बन्धन' के नामसे विख्यात हुआ ॥ ४५—५० ॥

ख्यातमद्यापि कौन्तेय तद् विद्धि भरतर्षभ।
अथाब्रवीदनिमिषस्तानृषीन् सहितस्तदा ॥५१॥

भरतश्रेष्ठ कुन्तीनन्दन! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि वह शिखर आज भी उसी नामसे प्रसिद्ध है। तदनन्तर एकटक दृष्टिवाले भगवान् मत्स्य एक साथ उन सब ऋषियोंसे बोले—॥

अहं प्रजापतिर्ब्रह्मा मत्परं नाधिगम्यते।
मत्स्यरूपेण यूयं च मयास्मान्मोक्षिता भयात् ॥५२॥
मनुना च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानुषाः।
[illegible] यच्च नेङ्गति ॥५३॥



महाप्रलयके समय भगवान मत्स्यके सींगमें बँधी हुई मनु और सप्तर्षियोंसहित नौका

'मैं प्रजापति ब्रह्मा हूँ। मुझसे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं उपलब्ध होती। मैंने ही मत्स्यरूप धारण करके इस महान् भयसे तुमलोगोंकी रक्षा की है। अब मनुको चाहिये कि ये देवता, असुर और मनुष्य आदि समस्त प्रजाकी, सब लोकोंकी और सम्पूर्ण चराचरकी सृष्टि करें ॥५२-५३॥

तपसा चापि तीव्रेण प्रतिभास्य भविष्यति।
मत्प्रसादात् प्रजासर्गे न च मोहं गमिष्यति ॥५४॥

'इन्हें तीव्र तपस्याके द्वारा जगत्की सृष्टि करनेकी प्रतिभा प्राप्त हो जायगी। मेरी कृपासे प्रजाकी सृष्टि करते समय इन्हें मोह नहीं होगा' ॥ ५४ ॥

इत्युक्त्वा वचनं मत्स्यः क्षणेनादर्शनं गतः।
स्रष्टुकामः प्रजाश्चापि मनुर्वैवस्वतः स्वयम् ॥५५॥
प्रमूढोऽभूत् प्रजासर्गे तपस्तेपे महत् ततः।
तपसा महता युक्तः सोऽथ स्रष्टुं प्रचक्रमे ॥५६॥

ऐसा कहकर भगवान् मत्स्य क्षणभरमें अदृश्य हो गये। तदनन्तर स्वयं वैवस्वत मनुको प्रजाओंकी सृष्टि करनेकी इच्छा हुई, किंतु प्रजाकी सृष्टि करनेमें उनकी बुद्धि मोहाच्छन्न हो गयी थी। तब उन्होंने बड़ी भारी तपस्या की और महान् तपोबलसे सम्पन्न होकर उन्होंने सृष्टिका कार्य प्रारम्भ किया ॥ ५५-५६ ॥

सर्वाः प्रजा मनुः साक्षाद् यथावद् भरतर्षभ।
इत्येतन्मात्स्यकं नाम पुराणं परिकीर्तितम् ॥५७॥

भरतकुलभूषण ! फिर वे पूर्वकल्पके अनुसार सारी प्रजाकी यथावत् सृष्टि करने लगे। इस प्रकार यह संक्षेपसे मत्स्य पुराणका वृत्तान्त बताया गया है ॥ ५७ ॥

आख्यानमिदमाख्यातं सर्वपापहरं मया।
य इदं शृणुयान्नित्यं मनोश्चरितमादितः।
स सुखी सर्वपूर्णार्थः सर्वलोकमियान्नरः ॥५८॥

मेरे द्वारा वर्णित यह उपाख्यान सब पापोंको नष्ट करनेवाला है। जो मनुष्य प्रतिदिन प्रारम्भसे ही मनुके इस चरित्रको सुनता है, वह सुखी हो सम्पूर्ण मनोरथोंको पा लेता और सब लोकोंमें जा सकता है ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि मत्स्योपाख्याने सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेय-समास्यापर्वमें मत्स्योपाख्यानविषयक एक सौ सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८७ ॥

अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

चारों युगोंकी वर्ष-संख्या एवं कलियुगके प्रभावका वर्णन, प्रलयकालका दृश्य और मार्कण्डेयजीको बालमुकुन्दजीके दर्शन, मार्कण्डेयजीका भगवान्‌के उदरमें प्रवेशकर ब्रह्माण्डदर्शन करना और फिर बाहर निकलकर उनसे वार्तालाप करना

वैशम्पायन उवाच

ततः स पुनरेवाथ मार्कण्डेयं यशस्विनम्।
पप्रच्छ विनयोपेतो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर विनयशील धर्मराज युधिष्ठिरने यशस्वी मार्कण्डेय मुनिसे पुनः इस प्रकार प्रश्न किया—॥ १ ॥

नैके युगसहस्रान्तास्त्वया दृष्टा महामुने।
न चापीह समः कश्चिदायुष्मान् दृश्यते तव ॥ २ ॥

'महामुने ! आपने हजार-हजार युगोंके अन्तमें होनेवाले अनेक महाप्रलयके दृश्य देखे हैं। इस संसारमें आपके समान बड़ी आयुवाला दूसरा कोई पुरुष नहीं दिखायी देता ॥२॥

वर्जयित्वा महात्मानं ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्।
न तेऽस्ति सदृशः कश्चिदायुषा ब्रह्मवित्तम ॥ ३ ॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे ! परमेष्ठी महात्मा ब्रह्माजीको छोड़कर दूसरा कोई आपके समान दीर्घायु नहीं है ॥ ३ ॥

अनन्तरिक्षे लोकेऽस्मिन् देवदानववर्जिते।
त्वमेव प्रलये विप्र ब्रह्माणमुपतिष्ठसे ॥ ४ ॥

ब्रह्मन् ! जब यह संसार देवता, दानव तथा अन्तरिक्ष आदि लोकोंसे शून्य हो जाता है उस प्रलयकालमें केवल आप ही ब्रह्माजीके पास रहकर उनकी उपासना करते हैं ॥ ४ ॥

प्रलये चापि निर्वृत्ते प्रबुद्धे च पितामहे।
त्वमेकः सृज्यमानानि भूतानीह प्रपश्यसि ॥ ५ ॥
चतुर्विधानि विप्रर्षे यथावत् परमेष्ठिना।
वायुभूता दिशः कृत्वा विक्षिप्यापस्ततस्ततः ॥ ६ ॥

ब्रह्मर्षे ! फिर प्रलयकाल व्यतीत होनेपर जब पितामह ब्रह्मा जागते हैं, तब सम्पूर्ण दिशाओंमें वायुको फैलाकर उसके द्वारा समस्त जलराशिको इधर-उधर छितराकर (सूखे स्थानोंमें) ब्रह्माजीके द्वारा जो जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज नामक चार प्रकारके प्राणी रचे जाते हैं, उन्हें एकमात्र आप ही (सबसे पहले) अच्छी तरह देख पाते हैं ॥

त्वया लोकगुरुः साक्षात् सर्वलोकपितामहः ।
आराधितो द्विजश्रेष्ठ तत्परेण समाधिना ॥ ७ ॥
स्वप्रमाणमथो विप्र त्वया कृतमनेकशः ।
घोरेणाविश्य तपसा वेधसो निर्जितास्त्वया ॥ ८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! आपने तत्परतापूर्वक चित्तवृत्तियोंका निरोध करके सम्पूर्ण लोकोंके पितामह साक्षात् लोकगुरु ब्रह्माजीकी आराधना की है । विप्रवर ! आपने अनेक बार इस जगत्‌की प्रारम्भिक सृष्टिको प्रत्यक्ष किया है और घोर तपस्याद्वारा (मरीचि आदि) प्रजापतियोंको भी जीत लिया है ॥ ७-८ ॥

नारायणाङ्कप्रख्यस्त्वं साम्पराये‌ऽतिपठ्यसे ।
भगवाननेकशः कृत्वा त्वया विष्णोश्च विश्वकृत् । ९ ।
कर्णिकोद्धरणं दिव्यं ब्रह्मणः कामरूपिणः ।
रत्नालंकारयोगाभ्यां दृग्भ्यां दृष्टस्त्वया पुरा ॥१०॥

आप भगवान् नारायणके समीप रहनेवाले भक्तोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं। परलोकमें आपकी महिमाका सर्वत्र गान होता है। आपने पहले स्वेच्छासे प्रकट होनेवाले सर्वव्यापक ब्रह्मकी उपलब्धिके स्थानभूत हृदयकमलकी कर्णिकाका (योगकी कलासे) अलौकिक उद्घाटन कर वैराग्य और अभ्याससे प्राप्त हुई दिव्यदृष्टिद्वारा विश्वरचयिता भगवान्‌का अनेक बार साक्षात्कार किया है ॥ ९-१० ॥

तस्मात् त्वामन्तको मृत्युर्जरा वा देहनाशिनी ।
न त्वां विशति विप्रर्षे प्रसादात् परमेष्ठिनः ॥११॥

इसीलिये सबको मारनेवाली मृत्यु तथा शरीरको जर्जर बना देनेवाली जरा आपका स्पर्श नहीं करती है। ब्रह्मर्षे ! इसमें भगवान् परमेष्ठीका कृपाप्रसाद ही कारण है ॥ ११ ॥

यदा नैव रविर्नाग्निर्न वायुर्न च चन्द्रमाः ।
नैवान्तरिक्षं नैवोर्वी शेषं भवति किंचन ॥१२॥
तस्मिन्नेकार्णवे लोके नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टे देवासुरगणे समुत्सन्नमहोरगे ॥१३॥
शयानममितात्मानं पद्मोत्पलनिकेतनम् ।
त्वमेकः सर्वभूतेशं ब्रह्माणमुपतिष्ठसि ॥१४॥

(महाप्रलयके समय) जब सूर्य, अग्नि, वायु, चन्द्रमा, अन्तरिक्ष और पृथ्वी आदिमेंसे कोई भी शेष नहीं रह जाता, समस्त चराचर जगत् उस एकार्णवके जलमें डूबकर अदृश्य हो जाता है, देवता और असुर नष्ट हो जाते हैं तथा बड़े-बड़े नागोंका संहार हो जाता है, उस समय कमल और उत्पलमें निवास तथा शयन करनेवाले सर्वभूतेश्वर अमितात्मा ब्रह्माजीके पास रहकर केवल आप ही उनकी उपासना करते हैं॥ १२-१४॥

एतत् प्रत्यक्षतः सर्वं पूर्वं वृत्तं द्विजोत्तम ।
तस्मादिच्छाम्यहं श्रोतुं [illegible] कथाम् ॥१५॥

द्विजोत्तम ! यह सारा पुरातन इतिहास आपका प्रत्यक्ष देखा हुआ है । इसलिये मैं आपके मुखसे सबके हेतुभूत कालका निरूपण करनेवाली कथा सुनना चाहता हूँ ॥१५॥

अनुभूतं हि बहुशस्त्वयैकेन द्विजोत्तम ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित् सर्वलोकेषु नित्यदा॥१६॥

विप्रवर ! केवल आपने ही अनेक कल्पोंकी श्रेष्ठ रचनाका बहुत बार अनुभव किया है । सम्पूर्ण लोकोंमें कभी कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो' ॥ १६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

हन्त ते वर्णयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयम्भुवे ।
पुरुषाय पुराणाय शाश्वतायाव्ययाय च ॥१७॥
अव्यक्ताय सुसूक्ष्माय निर्गुणाय गुणात्मने ।
स एष पुरुषव्याघ्र पीतवासा जनार्दनः ॥१८॥
एष कर्ता विकर्ता च भूतात्मा भूतकृत् प्रभुः ।
अचिन्त्यं महदाश्चर्यं पवित्रमिति चोच्यते ॥१९॥

मार्कण्डेयजी बोले--राजन् ! मैं स्वयं प्रकट होनेवाले सनातन, अविनाशी, अव्यक्त, सूक्ष्म, निर्गुण एवं गुणस्वरूप पुराणपुरुषको नमस्कार करके तुम्हें वह कथा अभी सुनाता हूँ । पुरुषसिंह ! ये जो हमलोगोंके पास बैठे हुए पीताम्बरधारी भगवान् जनार्दन हैं, ये ही संसारकी सृष्टि और संहार करनेवाले हैं । ये ही भगवान् समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी आत्मा और उनके रचयिता हैं । ये पवित्र, अचिन्त्य एवं महान्-आश्चर्यमय तत्त्व कहे जाते हैं ॥ १७-१९ ॥

अनादिनिधनं भूतं विश्वमव्ययमक्षयम् ।
एष कर्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे ॥२०॥

इनका न आदि है, न अन्त । ये सर्वभूतस्वरूप, अव्यय और अक्षय हैं । ये ही सबके कर्ता हैं, इनका कोई कर्ता नहीं है । पुरुषार्थकी प्राप्तिमें भी ये ही कारण हैं ॥ २० ॥

यद्येष पुरुषो वेद वेदा अपि न तं विदुः ।
सर्वमाश्चर्यमेवैतन्निर्वृत्तं राजसत्तम ॥२१॥
आदितो मनुजव्याघ्र कृत्स्नस्य जगतः क्षये ।

ये अन्तर्यामी आत्मा होनेसे सबको जानते हैं, परंतु इन्हें वेद भी नहीं जानते हैं। नृपशिरोमणे ! नरश्रेष्ठ ! सम्पूर्ण जगत्‌का प्रलय होनेके पश्चात् इन आदिभूत परमेश्वरसे ही यह सम्पूर्ण आश्चर्यमय जगत् पुनः उत्पन्न हो जाता है ॥ २१½ ॥

[illegible] ॥ २२ ॥

तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः।

चार हजार दिव्य वर्षोंका एक सत्ययुग बताया गया है, उतने ही सौ वर्ष उसकी संध्या और संध्यांशके होते हैं (इस प्रकार कुल अड़तालीस सौ दिव्य वर्ष सत्ययुग-के हैं) ॥ २२½ ॥

त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगमिहोच्यते ॥ २३ ॥
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च ततः परम्।

तीन हजार दिव्य वर्षोंका त्रेतायुग बताया जाता है, उसकी संध्या और संध्यांशके भी उतने ही (तीन-तीन) सौ दिव्य वर्ष होते हैं (इस तरह यह युग छत्तीस सौ दिव्य वर्षोंका होता है) ॥ २३½ ॥

तथा वर्षसहस्रे द्वे द्वापरं परिमाणतः ॥ २४ ॥
तस्यापि द्विशती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः।

द्वापरका मान दो हजार दिव्य वर्ष है तथा उतने ही सौ दिव्य वर्ष उसकी संध्या और संध्यांशके हैं (अतः सब मिलकर चौबीस सौ दिव्य वर्ष द्वापरके हैं) ॥ २४½ ॥

सहस्रमेकं वर्षाणां ततः कलियुगं स्मृतम् ॥ २५ ॥
तस्य वर्षशतं संधिः संध्यांशश्च ततः परम्।
संधिसंध्यांशयोस्तुल्यं प्रमाणमुपधारय ॥ २६ ॥

तदनन्तर एक हजार दिव्य वर्ष कलियुगका मान कहा गया है, सौ वर्ष उसकी संध्याके और सौ वर्ष संध्यांशके बताये गये हैं (इस प्रकार कलियुग बारह सौ दिव्य वर्षोंका होता है) । संध्या और संध्यांशका मान बराबर-बराबर ही समझो ॥ २५-२६ ॥

क्षीणे कलियुगे चैव प्रवर्तेत कृतं युगम्।
एषा द्वादशसाहस्री युगाख्या परिकीर्त्तिता ॥ २७ ॥

कलियुगके क्षीण हो जानेपर पुनः सत्ययुगका आरम्भ होता है। इस तरह बारह हजार दिव्य वर्षोंकी एक चतुर्युगी बतायी गयी है ॥ २७ ॥

एतत् सहस्रपर्यन्तमहो ब्राह्ममुदाहृतम्।
विश्वं हि ब्रह्मभवने सर्वतः परिवर्त्तते ॥ २८ ॥
लोकानां मनुजव्याघ्र प्रलयं तं विदुर्बुधाः।

नरश्रेष्ठ ! एक हजार चतुर्युग बीतनेपर ब्रह्माजीका एक दिन होता है। यह सारा जगत् ब्रह्माके दिनभर ही रहता है (और वह दिन समाप्त होते ही नष्ट हो जाता है।) इसीको विद्वान् पुरुष लोकोंका प्रलय मानते हैं ॥ २८½ ॥

अल्पावशिष्टे तु तदा युगान्ते भरतर्षभ ॥ २९ ॥
सहस्रान्ते नराः सर्वे प्रायशोऽनृतवादिनः।
यज्ञप्रतिनिधिः पार्थ दानप्रतिनिधिस्तथा ॥ ३० ॥
व्रतप्रतिनिधिश्चैव तस्मिन् काले प्रवर्तते।

भरतश्रेष्ठ ! सहस्र युगकी समाप्तिमें जब थोड़ा-सा ही समय शेष रह जाता है, उस समय कलियुगके अन्तिम भागमें प्रायः सभी मनुष्य मिथ्यावादी हो जाते हैं। पार्थ ! उस समय यज्ञ, दान और व्रतके प्रतिनिधि कर्म चालू हो जाते हैं अर्थात् यज्ञ, दान, तप मुख्य विधिसे न होकर गौण विधिसे नाममात्र होने लगते हैं ॥ २९-३०½ ॥

ब्राह्मणाः शूद्रकर्माणस्तथा शूद्रा धनार्जकाः ॥ ३१ ॥
क्षत्रधर्मेण वाप्यत्र वर्तयन्ति गते युगे।

युगकी समाप्तिके समय ब्राह्मण शूद्रोंके कर्म करते हैं और शूद्र वैश्योंकी भाँति धनोपार्जन करने लगते हैं अथवा क्षत्रियोंके कर्मसे जीविका चलाने लगते हैं ॥ ३१½ ॥

निवृत्तयज्ञस्वाध्याया दण्डाजिनविवर्जिताः ॥ ३२ ॥
ब्राह्मणाः सर्वभक्षाश्च भविष्यन्ति कलौ युगे।
अजपा ब्राह्मणास्तात शूद्रा जपपरायणाः ॥ ३३ ॥

(सहस्र चतुर्युगके अन्तिम) कलियुगके अन्तिम भागमें ब्राह्मण यज्ञ, स्वाध्याय, दण्ड और मृगचर्मका त्याग कर देंगे और (भक्ष्याभक्ष्यका विचार छोड़कर) सब कुछ खाने-पीने-वाले हो जायँगे। तात ! ब्राह्मण तो जपसे दूर भागेंगे और शूद्र वैदिक मन्त्रोंके जपमें संलग्न होंगे ॥ ३२-३३ ॥

विपरीते तदा लोके पूर्वरूपं क्षयस्य तत्।
बहवो म्लेच्छराजानः पृथिव्यां मनुजाधिप ॥ ३४ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार जब लोगोंके विचार और व्यवहार विपरीत हो जाते हैं, तब प्रलयका पूर्वरूप आरम्भ हो जाता है। उस समय इस पृथ्वीपर बहुत-से म्लेच्छ राजा राज्य करने लगते हैं ॥ ३४ ॥

मृषानुशासिनः पापा मृषावादपरायणाः।
आन्ध्राः शकाः पुलिन्दाश्च यवनाश्च नराधिपाः ॥ ३५ ॥
काम्बोजा बाह्लिकाः शूरास्तथाऽऽभीरा नरोत्तम।
न तदा ब्राह्मणः कश्चित् स्वधर्ममुपजीवति ॥ ३६ ॥

छलसे शासन करनेवाले, पापी और असत्यवादी आन्ध्र, शक, पुलिन्द, यवन, काम्बोज, बाह्लीक तथा शौर्यसम्पन्न आभीर इस देशके राजा होंगे। नरश्रेष्ठ ! उस समय कोई ब्राह्मण अपने धर्मके अनुसार जीविका चलानेवाला न होगा ॥ ३५-३६ ॥

क्षत्रियाश्चापि वैश्याश्च विकर्मस्था नराधिप।
अल्पायुषः स्वल्पबलाः स्वल्पवीर्यपराक्रमाः ॥ ३७ ॥

नरेश्वर ! क्षत्रिय और वैश्य भी अपना-अपना धर्म छोड़कर दूसरे वर्णोंके कर्म करने लगेंगे। सबकी आयु कम होगी, सबके बल, वीर्य और पराक्रम घट जायँगे ॥ ३७ ॥

अल्पसाराल्पदेहाश्च तथा सत्याल्पभाषिणः।
बहुशून्या जनपदा मृगव्यालावृता दिशः ॥ ३८ ॥

युगान्ते समनुप्राप्ते वृथा च ब्रह्मवादिनः ।
भोवादिनस्तथा शूद्रा ब्राह्मणाश्चार्यवादिनः ॥ ३९ ॥

मनुष्य नाटे कदके होंगे । उनकी शारीरिक शक्ति बहुत कम हो जायगी और उनकी बातोंमें सत्यका अंश बहुत कम होगा । बहुधा सारे जनपद जनशून्य होंगे । सम्पूर्ण दिशाएँ पशुओं और सर्पोंसे भरी होंगी । युगान्तकाल उपस्थित होनेपर अधिकांश मनुष्य (अनुभव न होते हुए भी) वृथा ही ब्रह्मज्ञानकी बातें कहेंगे । शूद्र द्विजातियोंको भो (ऐ) कहकर पुकारेंगे और ब्राह्मणलोग शूद्रोंको आर्य अर्थात् आप कहकर सम्बोधन करेंगे ॥ ३८-३९ ॥

युगान्ते मनुजव्याघ्र भवन्ति बहुजन्तवः ।
न तथा घ्राणयुक्ताश्च सर्वगन्धा विशाम्पते ॥ ४० ॥

पुरुषसिंह राजन् ! युगान्तकालमें बहुतसे जीव-जन्तु उत्पन्न हो जायँगे । सब प्रकारके सुगन्धित पदार्थ नासिकाको उतने गन्धयुक्त नहीं प्रतीत होंगे ॥ ४० ॥

रसाश्च मनुजव्याघ्र न तथा स्वादुयोगिनः ।
बहुप्रजा ह्रस्वदेहाः शीलाचारविवर्जिताः ।
मुखे भगाः स्त्रियो राजन् भविष्यन्ति युगक्षये ॥ ४१ ॥
अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः ।
केशशूलाः स्त्रियो राजन् भविष्यन्ति युगक्षये ॥ ४२ ॥

नरव्याघ्र ! इसी प्रकार रसीले पदार्थ भी जैसे चाहिये वैसे स्वादिष्ट नहीं होंगे । राजन् ! उस समयकी स्त्रियाँ नाटे कदकी और बहुत संतान (बच्चा) पैदा करनेवाली होंगी । उनमें शील और सदाचारका अभाव होगा । युगान्तकालमें स्त्रियाँ मुखसे भगसम्बन्धी यानी व्यभिचारकी ही बातें करनेवाली होंगी । राजन् ! युगान्तकालमें हर देशके लोग अन्न बेचनेवाले होंगे । ब्राह्मण वेद बेचनेवाले तथा (प्रायः) स्त्रियाँ वेश्यावृत्तिको अपनानेवाली होंगी* ॥ ४१-४२ ॥

अल्पक्षीरास्तथा गावो भविष्यन्ति जनाधिप ।
अल्पपुष्पफलाश्चापि पादपा बहुवायसाः ॥ ४३ ॥
ब्रह्मवध्यानुलिप्तानां तथा मिथ्याभिशंसिनाम् ।
नृपाणां पृथिवीपाल प्रतिगृह्णन्ति वै द्विजाः ॥ ४४ ॥

जनेश्वर ! युगान्तकालमें गायोंके थनोंमें बहुत कम दूध होगा । वृक्षपर फल और फूल बहुत कम होंगे और उनपर (अच्छे पक्षियोंकी अपेक्षा) कौए ही अधिक बसेरे लेंगे । भूपाल ! ब्राह्मणलोग (लोभवश) ब्रह्महत्या-जैसे पापोंसे लिप्त और मिथ्यावादी नरेशोंसे ही दान-दक्षिणा लेंगे ॥ ४३-४४ ॥

लोभमोहपरीताश्च मिथ्याधर्मध्वजावृताः ।
भिक्षार्थं पृथिवीपाल चञ्चूर्यन्ते द्विजैर्दिशः ॥ ४५ ॥

राजन् ! वे ब्राह्मण लोभ और मोहमें फँसकर झूठे धर्मका ढोंग रचनेवाले होंगे, इतना ही नहीं, वे भिक्षाके लिये सारी दिशाओंके लोगोंको पीड़ित करते रहेंगे ॥ ४५ ॥

करभारभयाद् भीता गृहस्थाः परिमोषकाः ।
मुनिच्छद्माकृतिच्छन्ना वाणिज्यमुपजीविनः ॥ ४६ ॥
मिथ्या च नखरोमाणि धारयन्ति तदा द्विजाः ।

गृहस्थलोग करके भारसे डरकर लुटेरे बन जायँगे । ब्राह्मण मुनियों-जैसी कपटपूर्ण आकृति धारण किये वैश्यवृत्तिसे जीविका चलायेंगे और झूठे दिखावेके लिये नख तथा दाढ़ी-मूछ धारण करेंगे ॥ ४६½ ॥

अर्थलोभान्नरव्याघ्र तथा च ब्रह्मचारिणः ॥ ४७ ॥
आश्रमेषु वृथाचाराः पानपा गुरुतल्पगाः ।
इह लौकिकमीहन्ते मांसशोणितवर्धनम् ॥ ४८ ॥

नरश्रेष्ठ ! धनके लोभसे ब्रह्मचारी भी आश्रमोंमें दम्भपूर्ण आचारको अपनायेंगे और मद्यपान करके गुरुपत्नीगमन करेंगे । लोग अपने शरीरके मांस और रक्त बढ़ानेवाले इहलौकिक कर्मोंमें ही लगे रहेंगे ॥ ४७-४८ ॥

बहुपाषण्डसंकीर्णाः परान्नगुणवादिनः ।
आश्रमा मनुजव्याघ्र भविष्यन्ति युगक्षये ॥ ४९ ॥

नरश्रेष्ठ ! युगान्तकालमें सभी आश्रम अनेक प्रकारके पाखण्डोंसे व्याप्त और दूसरोंसे मिले हुए भोजनका ही गुणगान करनेवाले होंगे ॥ ४९ ॥

यथर्तुवर्षी भगवान् न तथा पाकशासनः ।
न चापि सर्वबीजानि सम्यग् रोहन्ति भारत ॥ ५० ॥

भगवान् इन्द्र भी ठीक वर्षाऋतुके समय जलकी वर्षा नहीं करेंगे । भारत ! भूमिमें बोये हुए सभी बीज ठीकसे नहीं जमेंगे ॥ ५० ॥

हिंसाभिरामश्च जनस्तथा सम्पद्यतेऽशुचिः ।
अधर्मफलमत्यर्थं तदा भवति चानघ ॥ ५१ ॥

कलियुगमें सब लोग हिंसामें ही सुख माननेवाले तथा अपवित्र रहेंगे । निष्पाप ! उस समय अधर्मका फल बहुत अधिक मात्रामें मिलेगा ॥ ५१ ॥

तदा च पृथिवीपाल यो भवेद् धर्मसंयुतः ।
अल्पायुः स हि मन्तव्यो न हि धर्मोऽस्ति कश्चन ॥ ५२ ॥

भूपाल ! उस समय जो भी धर्ममें तत्पर रहेगा, उसकी आयु बहुत थोड़ी देखनेमें आयेगी; क्योंकि उस समय कोई भी धर्म टिक नहीं सकेगा ॥ ५२ ॥

भूयिष्ठं कूटमानैश्च पण्यं विक्रीणते जनाः ।
वणिजश्च नरव्याघ्र बहुमाया भवन्त्युत ॥ ५३ ॥

लोग बाजारमें झूठे माप-तौल बनाकर बहुत-सा माल बेचते रहेंगे । नरश्रेष्ठ ! उस समयके बनिये भी बहुत माया जाननेवाले (धूर्त) होंगे ॥ ५३ ॥

---

* अट्टमन्नं शिवो वेदो ब्राह्मणाश्च चतुष्पथाः ।
केशो भगं समाख्यातं शूलं तद्विक्रयं विदुः ॥ (नीलकण्ठकृत टीका)

धर्मिष्ठाः परिहीयन्ते पापीयान् वर्धते जनः ।
धर्मस्य बलहानिः स्यादधर्मश्च बली तथा ॥ ५४ ॥

धर्मात्मा पुरुष हानि उठाते दीखेंगे और बड़े-बड़े पापी लौकिक दृष्टिसे उन्नतिशील होंगे । धर्मका बल घटेगा और अधर्म बलवान् होगा ॥ ५४ ॥

अल्पायुषो दरिद्राश्च धर्मिष्ठा मानवास्तथा ।
दीर्घायुषः समृद्धाश्च विधर्माणो युगक्षये ॥ ५५ ॥

युगान्तकालमें धर्मिष्ठ मानव अल्पायु तथा दरिद्र देखे जायँगे और अधर्मी मनुष्य दीर्घायु तथा समृद्धिशाली देखे जायँगे ॥ ५५ ॥

नगराणां विहारेषु विधर्माणो युगक्षये ।
अधर्मिष्ठैरुपायैश्च प्रजा व्यवहरन्त्युत ॥ ५६ ॥

युगान्तके समय नगरोंके उद्यानोंमें पापी पुरुष अड्डा जमायेंगे और पापपूर्ण उपायोंद्वारा प्रजाके साथ दुर्व्यवहार करेंगे ॥ ५६ ॥

संचयेन तथाल्पेन भवन्त्याढ्यमदान्विताः ।
धनं विश्वासतो न्यस्तं मिथो भूयिष्ठशो नराः ॥ ५७ ॥
हर्तुं व्यवसिता राजन् पापाचारसमन्विताः ।
नैतदस्तीति मनुजा वर्तन्ते निरपत्रपाः ॥ ५८ ॥

राजन् ! थोड़ेसे धनका संग्रह हो जानेपर लोग धनाढ्यताके मदसे उन्मत्त हो उठेंगे । यदि किसीने विश्वास करके अपने धनको धरोहरके रूपमें रख दिया तो अधिकांश पापाचारी और निर्लज्ज मनुष्य उस धरोहरको हड़प लेनेकी चेष्टा करेंगे और उससे साफ कह देंगे कि हमारे यहाँ तुम्हारा कुछ भी नहीं है ॥ ५७-५८ ॥

पुरुषादानि सत्त्वानि पक्षिणोऽथ मृगास्तथा ।
नगराणां विहारेषु चैत्येष्वपि च शेरते ॥ ५९ ॥

मनुष्यका मांस खानेवाले हिंसक जीव तथा पशु-पक्षी नागरिकोंके बगीचों और देवालयोंमें भी शयन करेंगे ॥ ५९ ॥

सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च स्त्रियो गर्भधरा नृप ।
दशद्वादशवर्षाणां पुंसां पुत्रः प्रजायते ॥ ६० ॥

राजन् ! युगान्तकालमें सात-आठ वर्षकी स्त्रियाँ गर्भ धारण करेंगी और दस-बारह वर्षकी अवस्थावाले पुरुषोंके भी पुत्र होंगे ॥ ६० ॥

भवन्ति षोडशे वर्षे नराः पलितिनस्तथा ।
आयुःक्षयो मनुष्याणां क्षिप्रमेव प्रपद्यते ॥ ६१ ॥

सोलहवें वर्षमें मनुष्योंके बाल पक जायँगे और उनकी आयु शीघ्र ही समाप्त हो जायगी ॥ ६१ ॥

क्षीणायुषो महाराज तरुणा वृद्धशीलिनः ।
तरुणानां च यच्छीलं तद् वृद्धेषु प्रजायते ॥ ६२ ॥

महाराज ! उस समयके तरुणोंकी आयु क्षीण होगी और उनका शील-स्वभाव बूढ़ोंका-सा हो जायगा और तरुणोंका जो शील-स्वभाव होना चाहिये, वह बूढ़ोंमें प्रकट होगा । ६२ ।

विपरीतास्तदा नार्यो वञ्चयित्वाऽर्हतः पतीन् ।
व्युच्चरन्त्यपि दुःशीला दासैः पशुभिरेव च ॥ ६३ ॥

उस समयकी विपरीत स्वभाववाली स्त्रियाँ अपने योग्य पतियोंको भी धोखा देकर बुरे शील-स्वभावकी हो जायँगी और सेवकों तथा पशुओंके साथ भी व्यभिचार करेंगी । ६३ ।

वीरपत्न्यस्तथा नार्यः संश्रयन्ति नरान् नृप ।
भर्तारमपि जीवन्तमन्यान् व्यभिचरन्त्युत ॥ ६४ ॥

राजन् ! वीर पुरुषोंकी पत्नियाँ भी परपुरुषोंका आश्रय लेंगी और पतिके जीते हुए भी दूसरोंसे व्यभिचार करेंगी ॥ ६४ ॥

तस्मिन् युगसहस्रान्ते सम्प्राप्ते चायुषः क्षये ।
अनावृष्टिर्महाराज जायते बहुवार्षिकी ॥ ६५ ॥

महाराज ! इस प्रकार आयुको क्षीण करनेवाले सहस्र युगोंके अन्तिम भागकी समाप्ति होनेपर बहुत वर्षोंतक वृष्टि बंद हो जाती है ॥ ६५ ॥

ततस्तान्यल्पसाराणि सत्त्वानि क्षुधितानि वै ।
प्रलयं यान्ति भूयिष्ठं पृथिव्यां पृथिवीपते ॥ ६६ ॥

पृथ्वीपते ! इससे भूतलके थोड़ी शक्तिवाले अधिकांश प्राणी भूखसे व्याकुल होकर मर जाते हैं ॥ ६६ ॥

ततो दिनकरैर्दीप्तैः सप्तभिर्मनुजाधिप ।
पीयते सलिलं सर्वं समुद्रेषु सरित्सु च ॥ ६७ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर प्रचण्ड तेजवाले सात सूर्य उदित होकर सरिताओं और समुद्रोंका सारा जल सोख लेते हैं । ६७ ।

यच्च काष्ठं तृणं चापि शुष्कं चार्द्रं च भारत ।
सर्वं तद् भस्मसाद् भूतं दृश्यते भरतर्षभ ॥ ६८ ॥

भरतकुलभूषण ! उस समय जो भी तृण-काष्ठ अथवा सूखे-गीले पदार्थ होते हैं, वे सभी भस्मीभूत दिखायी देने लगते हैं ॥ ६८ ॥

ततः संवर्तको वह्निर्वायुना सह भारत ।
लोकमाविशते पूर्वमादित्यैरुपशोषितम् ॥ ६९ ॥

भारत ! इसके बाद 'संवर्तक' नामकी प्रलयकालीन अग्नि वायुके साथ उन सम्पूर्ण लोकोंमें फैल जाती है, जहाँका जल पहले सात सूर्योंद्वारा सोख लिया गया है ॥ ६९ ॥

ततः स पृथिवीं भित्त्वा प्रविश्य च रसातलम् ।
देवदानवयक्षाणां भयं जनयते महत् ॥ ७० ॥

तत्पश्चात् पृथ्वीका भेदन कर वह अग्नि रसातलतक पहुँच जाती है तथा देवता, दानव और यक्षोंके लिये महान् भय उपस्थित कर देती है ॥ ७० ॥

निर्दहन्नागलोकं च यच्च किञ्चित् क्षिताविह ।
अधस्तात् पृथिवीपाल सर्वं नाशयते क्षणात् ॥ ७१ ॥

राजन् ! वह नागलोकको जलाती हुई इस पृथ्वीके नीचे जो कुछ भी है, उस सबको क्षणभरमें नष्ट कर देती है ॥ ७१ ॥

ततो योजनविंशानां सहस्राणि शतानि च ।
निर्दहत्यशिवो वायुः स च संवर्तकोऽनलः ॥ ७२ ॥

इसके बाद वह अमङ्गलकारी प्रचण्ड वायु और वह संवर्तक अग्नि बाईस हजार योजन तकके लोगोंको भस्म कर डालती है ॥ ७२ ॥

सदेवासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम् ।
ततो दहति दीप्तः स सर्वमेव जगद् विभुः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार सर्वत्र फैली हुई वह प्रज्वलित अग्नि देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग तथा राक्षसोंसहित सम्पूर्ण विश्वको भस्म कर डालती है ॥ ७३ ॥

ततो गजकुलप्रख्यास्तडिन्मालाविभूषिताः ।
उत्तिष्ठन्ति महामेघा नभस्यद्भुतदर्शनाः ॥ ७४ ॥

इसके बाद आकाशमें महान् मेघोंकी घोर घटा घिर आती है, जो अद्भुत दिखायी देती है । उनमेंसे प्रत्येक मेघ-समूह हाथियोंके झुंडकी भाँति विशालकाय और श्यामवर्ण तथा बिजलीकी मालाओंसे विभूषित होता है ॥ ७४ ॥

केचिन्नीलोत्पलश्यामाः केचित् कुमुदसंनिभाः ।
केचित् किञ्जल्कसंकाशाः केचित् पीताः पयोधराः ॥ ७५ ॥
केचिद्धारिद्रसंकाशाः कारण्डवनिभास्तथा ।
केचित् कमलपत्राभाः केचिद्धिङ्गुलसप्रभाः ॥ ७६ ॥

कुछ बादल नील कमलके समान श्याम और कुछ कुमुद-कुसुमके समान सफेद होते हैं । कुछ जलधरोंकी कान्ति केसरोंके समान दिखायी देती है । कुछ मेघ हल्दीके सदृश पीले और कुछ कारण्डव पक्षीके समान दृष्टिगोचर होते हैं । कोई-कोई कमलदलके समान और कुछ हिङ्गुल-जैसे जान पड़ते हैं ॥ ७५-७६ ॥

केचित् पुरवराकाराः केचिद् गजकुलोपमाः ।
केचिदञ्जनसंकाशाः केचिन्मकरसंनिभाः ॥ ७७ ॥

कुछ श्रेष्ठ नगरोंके समान, कुछ हाथियोंके झुंड-जैसे, कुछ काजलके रंगवाले और कुछ मगरोंकी-सी आकृतिवाले होते हैं ॥ ७७ ॥

विद्युन्मालापिनद्धाङ्गाः समुत्तिष्ठन्ति वै घनाः ।
घोररूपा महाराज घोरस्वननिनादिताः ।
ततो जलधराः सर्वे व्याप्नुवन्ति नभस्तलम् ॥ ७८ ॥

वे सभी बादल विद्युन्मालाओंसे अलंकृत होकर घोर रूपमें आते हैं । महाराज ! भयंकर गर्जना करनेके कारण उनका स्वरूप बड़ा भयानक जान पड़ता है । धीरे-धीरे वे सभी जलधर समूचे आकाशमण्डलको ढक लेते हैं ॥ ७८ ॥

तैरियं पृथिवी सर्वा सपर्वतवनाकरा ।
आपूर्यते महाराज सलिलौघपरिप्लुता ॥ ७९ ॥

महाराज ! उनके वर्षा करनेपर पर्वत, वन और खानों-सहित यह सारी पृथ्वी अगाध जल-राशिमें डूबकर सब ओरसे भर जाती है ॥ ७९ ॥

ततस्ते जलदा घोरा राविणः पुरुषर्षभ ।
सर्वतः प्लावयन्त्याशु चोदिताः परमेष्ठिना ॥ ८० ॥

पुरुषरत्न ! तदनन्तर विधातासे प्रेरित हो गर्जन-तर्जन करनेवाले वे भयंकर मेघ शीघ्र सब ओर वर्षा करके सबको जलसे आप्लावित कर देते हैं ॥ ८० ॥

वर्षमाणा महत् तोयं पूरयन्तो वसुंधराम् ।
सुघोरमशिवं रौद्रं नाशयन्ति च पावकम् ॥ ८१ ॥

महान् जल-समूहकी वर्षा करके वसुन्धराको जलमें डुबोनेवाले वे समस्त मेघ उस अत्यन्त घोर, अमङ्गलकारी और भयानक अग्निको बुझा देते हैं ॥ ८१ ॥

ततो द्वादशवर्षाणि पयोदास्त उपप्लवे ।
धाराभिः पूरयन्तो वै चोद्यमाना महात्मना ॥ ८२ ॥

तदनन्तर प्रलयकालके वे पयोधर महात्मा ब्रह्माजीकी प्रेरणा पाकर पृथ्वीको परिपूर्ण करनेके लिये बारह वर्षोंतक धारावाहिक वृष्टि करते हैं ॥ ८२ ॥

ततः समुद्रः स्वां वेलामतिक्रामति भारत ।
पर्वताश्च विदीर्यन्ते मही चाप्सु निमज्जति ॥ ८३ ॥

भारत ! तदनन्तर समुद्र अपनी सीमाको लाँघ जाता है, पर्वत फट जाते और पृथ्वी पानीमें डूब जाती है ॥ ८३ ॥

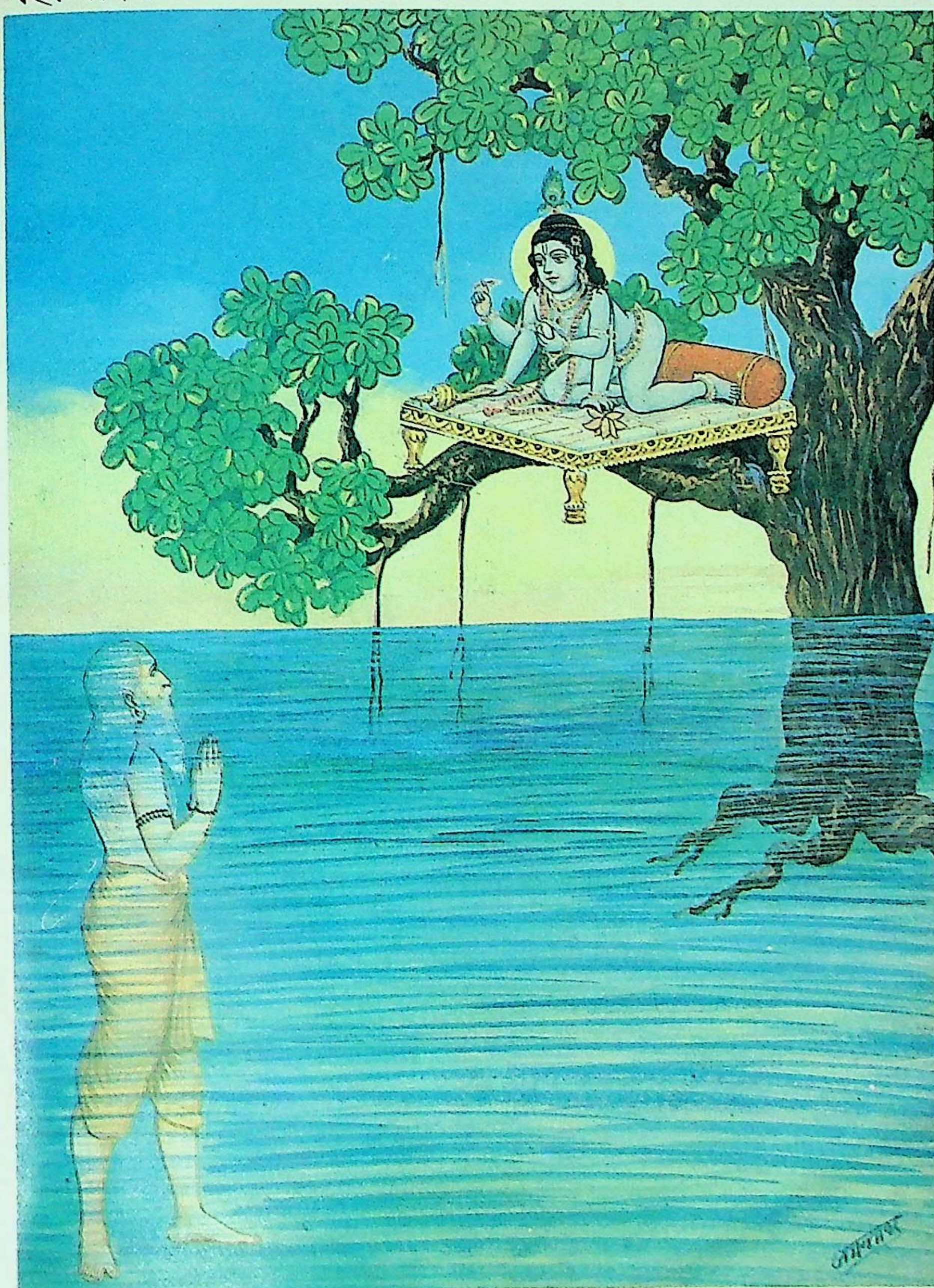
सर्वतः सहसा भ्रान्तास्ते पयोदा नभस्तलम् ।
संवेष्टयित्वा नश्यन्ति वायुवेगपराहताः ॥ ८४ ॥

तत्पश्चात् समस्त आकाशको घेरकर सब ओर फैले हुए वे मेघ वायुके प्रचण्ड वेगसे छिन्न-भिन्न होकर सहसा अदृश्य हो जाते हैं ॥ ८४ ॥

ततस्तं मारुतं घोरं स्वयम्भूर्मनुजाधिप ।
आदिः पद्मालयो देवः पीत्वा स्वपिति भारत ॥ ८५ ॥

नरेश्वर ! इसके बाद कमलमें निवास करनेवाले आदिदेव स्वयं ब्रह्माजी उस भयंकर वायुको पीकर सो जाते हैं । ८५ ।

तस्मिन्नेकार्णवे घोरे नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टे देवासुरगणे यक्षराक्षसवर्जिते ॥ ८६ ॥
निर्मनुष्ये महीपाल निःश्वापदमहीरुहे ।
अनन्तरिक्षे लोकेऽस्मिन् भ्रमाम्येकोऽहमाहतः ॥ ८७ ॥



मार्कण्डेय मुनिको अक्षयवटकी शाखापर बालमुकुन्दका दर्शन

इस प्रकार चराचर प्राणियों, देवताओं तथा असुर आदिके नष्ट हो जानेपर यक्ष, राक्षस, मनुष्य, हिंसक जीव, वृक्ष तथा अन्तरिक्षसे शून्य उस घोर एकार्णवमय जगत्‌में मैं अकेला ही इधर-उधर मारा-मारा फिरता हूँ ॥ ८६-८७ ॥

एकार्णवे जले घोरे विचरन् पार्थिवोत्तम ।
अपश्यन् सर्वभूतानि वैक्लव्यमगमं ततः ॥ ८८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! एकार्णवके उस भयंकर जलमें विचरते हुए जब मैंने किसी भी प्राणीको नहीं देखा, तब मुझे बड़ी व्याकुलता हुई ॥ ८८ ॥

ततः सुदीर्घं गत्वाहं प्लवमानो नराधिप ।
श्रान्तः क्वचिन्न शरणं लभाम्यहमतन्द्रितः ॥ ८९ ॥

नरेश्वर! उस समय आलस्यशून्य होकर सुदीर्घकाल तक तैरता हुआ मैं दूर जाकर बहुत थक गया। परंतु कहीं भी मुझे कोई आश्रय नहीं मिला ॥ ८९ ॥

ततः कदाचित् पश्यामि तस्मिन् सलिलसंचये ।
न्यग्रोधं सुमहान्तं वै विशालं पृथिवीपते ॥ ९० ॥

राजन् ! तदनन्तर एक दिन एकार्णवकी उस अगाध जलराशिमें मैंने एक बहुत विशाल बरगदका वृक्ष देखा ॥९०॥

शाखायां तस्य वृक्षस्य विस्तीर्णायां नराधिप ।
पर्यङ्के पृथिवीपाल दिव्यास्तरणसंस्तृते ॥ ९१ ॥
उपविष्टं महाराज पूर्णेन्दुसदृशाननम् ।
फुल्लपद्मविशालाक्षं बालं पश्यामि भारत ॥ ९२ ॥

नराधिप! उस वृक्षकी चौड़ी शाखापर एक पलंग था, जिसके ऊपर दिव्य बिछौने बिछे हुए थे। महाराज ! उस पलंगपर एक सुन्दर बालक बैठा दिखायी दिया, जिसका मुख कमलके समान कमनीय शोभा धारण करनेवाला तथा चन्द्रमाके समान नेत्रोंको आनन्द देनेवाला था। उसके नेत्र प्रफुल्ल पद्मदलके समान विशाल थे ॥ ९१-९२ ॥

ततो मे पृथिवीपाल विस्मयः सुमहानभूत् ।
कथं त्वयं शिशुः शेते लोके नाशमुपागते ॥ ९३ ॥

पृथ्वीनाथ ! उसे देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ । मैं सोचने लगा—'सारे संसारके नष्ट हो जानेपर भी यह बालक यहाँ कैसे सो रहा है ?' ॥ ९३ ॥

तपसा चिन्तयंश्चापि तं शिशुं नोपलक्षये ।
भूतं भव्यं भविष्यं च जानन्नपि नराधिप ॥ ९४ ॥

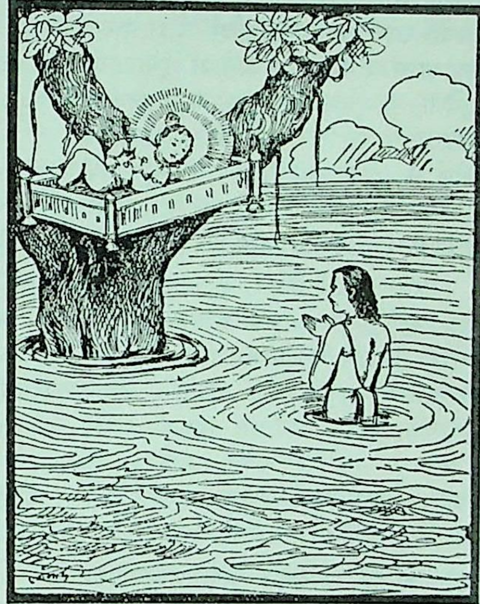
नरेश्वर ! मैं भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंका ज्ञाता होनेपर भी तपस्यासे भलीभाँति चिन्तन करता (ध्यान लगाता) रहा, तो भी उस शिशुके विषयमें कुछ न जान सका ॥ ९४ ॥

अतसीपुष्पवर्णाभः श्रीवत्सकृतभूषणः ।
साक्षाल्लक्ष्म्या इवावासः स तदा प्रतिभाति मे ॥ ९५ ॥

उसकी अङ्ग-कान्ति अलसीके फूलकी भाँति श्याम थी । उसका वक्षःस्थल श्रीवत्स-चिह्नसे विभूषित था । वह उस समय मुझे साक्षात् लक्ष्मीका निवासस्थान-सा प्रतीत होता था ॥ ९५॥

ततो मामब्रवीद् बालः स पद्मनिभलोचनः ।
श्रीवत्सधारी द्युतिमान् वाक्यं श्रुतिसुखावहम् ॥ ९६ ॥
जानामि त्वां परिश्रान्तं ततो विश्रामकाङ्क्षिणम् ।
मार्कण्डेय इहास्स्व त्वं यावदिच्छसि भार्गव ॥ ९७ ॥

मुझे विस्मयमें पड़ा देख कमलके समान नेत्रवाले उस श्रीवत्सधारी कान्तिमान् बालकने मुझसे इस प्रकार श्रवण-



सुखद वचन कहा—'भृगुवंशी मार्कण्डेय ! मैं तुम्हें जानता हूँ। तुम बहुत थक गये हो और विश्राम चाहते हो । तुम्हारी जबतक इच्छा हो यहाँ बैठो ॥ ९६-९७ ॥

अभ्यन्तरं शरीरे मे प्रविश्य मुनिसत्तम ।
आस्स्व भो विहितो वासः प्रसादस्ते कृतो मया ॥ ९८ ॥

'मुनिश्रेष्ठ ! मैंने तुमपर कृपा की है । तुम मेरे शरीरके भीतर प्रवेश करके विश्राम करो । वहाँ तुम्हारे रहनेके लिये व्यवस्था की गयी है' ॥ ९८ ॥

ततो बालेन तेनैवमुक्तस्यासीत् तदा मम ।
निर्वेदो जीविते दीर्घे मनुष्यत्वे च भारत ॥ ९९ ॥

उस बालकके ऐसा कहनेपर उस समय मुझे अपने दीर्घ-जीवन और मानव-शरीरपर बड़ा खेद और वैराग्य हुआ॥९९॥

ततो बालेन तेनास्यं सहसा विवृतं कृतम् ।
तस्याहमवशो वक्त्रं दैवयोगात् प्रवेशितः ॥१००॥

तदनन्तर उस बालकने सहसा अपना मुख खोला और मैं दैवयोगसे परवशकी भाँति उसमें प्रवेश कर गया ॥ १०० ॥

ततः प्रविष्टस्तत्कुक्षिं सहसा मनुजाधिप ।
सराष्ट्रनगराकीर्णां कृत्स्नां पश्यामि मेदिनीम् ॥ १०१ ॥

राजन् ! उसमें प्रवेश करते ही मैं सहसा उस बालकके उदरमें जा पहुँचा । वहाँ मुझे समस्त राष्ट्रों और नगरोंसे भरी हुई यह सारी पृथ्वी दिखायी दी ॥ १०१ ॥

गङ्गां शतद्रुं सीतां च यमुनामथ कौशिकीम् ।
चर्मण्वतीं वेत्रवतीं चन्द्रभागां सरस्वतीम् ॥ १०२ ॥
सिन्धुं चैव विपाशां च नदीं गोदावरीमपि ।
वस्वोकसारां नलिनीं नर्मदां चैव भारत ॥ १०३ ॥
नदीं ताम्रां च वेणां च पुण्यतोयां शुभावहाम् ।
सुवेणां कृष्णवेणां च इरामां च महानदीम् ॥ १०४ ॥
वितस्तां च महाराज कावेरीं च महानदीम् ।
शोणं च पुरुषव्याघ्र विशल्यां किम्पुनामपि ॥ १०५ ॥
एताश्चान्याश्च नद्योऽहं पृथिव्यां या नरोत्तम ।
परिक्रामन् प्रपश्यामि तस्य कुक्षौ महात्मनः ॥ १०६ ॥

नरश्रेष्ठ ! फिर तो मैं उस महात्मा बालकके उदरमें घूमने लगा । घूमते हुए मैंने वहाँ गङ्गा, सतलज, सीता, यमुना, कोसी, चम्बल, वेत्रवती, चिनाव, सरस्वती, सिन्धु, व्यास, गोदावरी, वस्वोकसारा, नलिनी, नर्मदा, ताम्रपर्णी, वेणा, शुभदायिनी पुण्यतोया, सुवेणा, कृष्णवेणा, महानदी इरामा, वितस्ता, (झेलम), महानदी कावेरी, शोणभद्र, विशल्या तथा किम्पुना—इन सबको तथा इस पृथ्वीपर जो अन्य नदियाँ हैं, उनको भी देखा ॥ १०२—१०६ ॥

ततः समुद्रं पश्यामि यादोगणनिषेवितम् ।
रत्नाकरममित्रघ्न पयसो निधिमुत्तमम् ॥ १०७ ॥

शत्रुसूदन ! इसके बाद जलजन्तुओंसे भरे हुए अगाध जलके भण्डार परम उत्तम रत्नाकर समुद्रको भी देखा ॥ १०७ ॥

तत्र पश्यामि गगनं चन्द्रसूर्यविराजितम् ।
जाज्वल्यमानं तेजोभिः पावकार्कसमप्रभम् ॥ १०८ ॥

वहीं मुझे चन्द्रमा और सूर्यसे सुशोभित आकाशमण्डल दिखायी दिया, जो अनन्त तेजसे प्रज्वलित तथा अग्नि एवं सूर्यके समान देदीप्यमान था ॥ १०८ ॥

पश्यामि च महीं राजन् काननैरुपशोभिताम् ।
(सपर्वतवनद्वीपां निम्नगाशतसङ्कुलाम् ।)
यजन्ते हि तदा राजन् ब्राह्मणा बहुभिर्मखैः ॥ १०९ ॥

राजन् ! वहाँकी भूमि विविध काननोंसे सुशोभित, पर्वत, वन और द्वीपोंसे उपलक्षित तथा सैकड़ों सरिताओंसे संयुक्त दिखायी देती थी । ब्राह्मणलोग नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करते थे ॥ १०९ ॥

क्षत्रियाश्च प्रवर्तन्ते सर्ववर्णानुरंजनैः ।
वैश्याः कृषिं यथान्यायं कारयन्ति नराधिप ॥ ११० ॥

नरेश्वर ! क्षत्रिय राजा सब वर्णोंकी प्रजाका अनुरञ्जन करते—सबको सुखी और प्रसन्न रखते थे । वैश्य न्यायपूर्वक खेतीका काम और व्यापार करते थे ॥ ११० ॥

शुश्रूषायां च निरता द्विजानां वृषलास्तदा ।
ततः परिपतन् राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः ॥ १११ ॥
हिमवन्तं च पश्यामि हेमकूटं च पर्वतम् ।
निषधं चापि पश्यामि श्वेतं च रजतान्वितम् ॥ ११२ ॥
पश्यामि च महीपाल पर्वतं गन्धमादनम् ।
मन्दरं मनुजव्याघ्र नीलं चापि महागिरिम् ॥ ११३ ॥
पश्यामि च महाराज मेरुं कनकपर्वतम् ।
महेन्द्रं चैव पश्यामि विन्ध्यं च गिरिमुत्तमम् ॥ ११४ ॥
मलयं चापि पश्यामि पारियात्रं च पर्वतम् ।
एते चान्ये च बहवो यावन्तः पृथिवीधराः ॥ ११५ ॥
तस्योदरे मया दृष्टाः सर्वे रत्नविभूषिताः ।
सिंहान् व्याघ्रान् वराहांश्च पश्यामि मनुजाधिप ॥ ११६ ॥

शूद्र तीनों द्विजातियोंकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहते थे । राजन् ! यह सब देखते हुए जब मैं उस महात्मा बालकके उदरमें भ्रमण करता आगे बढ़ा, तब हिमवान्, हेमकूट, निषध, रजतयुक्त श्वेतगिरि, गन्धमादन, मन्दराचल, महागिरि नील, सुवर्णमय पर्वत मेरु, महेन्द्र, उत्तम विन्ध्यगिरि, मलय तथा पारियात्र पर्वत देखे । ये तथा और भी बहुत-से पर्वत मुझे उस बालकके उदरमें दिखायी दिये । वे सब-के-सब नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित थे । राजन् ! वहाँ घूमते हुए मैंने सिंह, व्याघ्र और वाराह आदि पशु भी देखे ॥ १११—११६ ॥

पृथिव्यां यानि चान्यानि सत्त्वानि जगतीपते ।
तानि सर्वाण्यहं तत्र पश्यन् पर्यचरं तदा ॥ ११७ ॥

पृथ्वीपते ! भूमण्डलमें जितने प्राणी हैं, उन सबको देखते हुए मैं उस समय उस बालकके उदरमें विचरता रहा ॥

कुक्षौ तस्य नरव्याघ्र प्रविष्टः संचरन् दिशः ।
शक्रादींश्चापि पश्यामि कृत्स्नान् देवगणानहम् ॥ ११८ ॥

नरश्रेष्ठ ! उस शिशुके उदरमें प्रविष्ट हो सम्पूर्ण दिशाओंमें भ्रमण करते हुए मुझे इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंके भी दर्शन हुए ॥ ११८ ॥

साध्यान् रुद्रांस्तथाऽऽदित्यान् गुह्यकान् पितरस्तदा ।
सर्पान् नागान् सुपर्णांश्च वसूनप्यश्विनावपि ॥ ११९ ॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षानृषींश्चैव महीपते ।
दैत्यदानवसङ्घांश्च नागांश्च मनुजाधिप ॥ १२० ॥
सिंहिकातनयांश्चापि ये चान्ये सुरशत्रवः ।
यच्च किंचिन्मया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥ १२१ ॥

सर्वं पश्याम्यहं राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः ।
चरमाणः फलाहारः कृत्स्नं जगदिदं विभो ॥१२२॥

पृथ्वीपते ! साध्य, रुद्र, आदित्य, गुह्यक, पितर, सर्प, नाग, सुपर्ण, वसु, अश्विनीकुमार, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष तथा ऋषियोंका भी मैंने दर्शन किया। दैत्य-दानवसमूह, नाग, सिंहिकाके पुत्र (राहु आदि) तथा अन्य देवशत्रुओंको भी देखा। राजन् ! इस लोकमें मैंने जो कुछ भी स्थावर-जंगम पदार्थ देखे थे, वे सब मुझे उस महात्माकी कुक्षिमें दृष्टिगोचर हुए। महाराज ! मैं प्रतिदिन फलाहार करता और इस सम्पूर्ण जगत्में घूमता रहता ॥ ११९–१२२ ॥

अन्तःशरीरे तस्याहं वर्षाणामधिकं शतम् ।
न च पश्यामि तस्याहं देहस्यान्तं कदाचन ॥१२३॥

उस बालकके शरीरके भीतर मैं सौ वर्षसे अधिक कालतक घूमता रहा, तो भी कभी उसके शरीरका अन्त नहीं दिखायी दिया ॥ १२३ ॥

सततं धावमानश्च चिन्तयानो विशाम्पते ।
(भ्रमंस्तत्र महीपाल यदा वर्षगणान् बहून् ।)
आसादयामि नैवान्तं तस्य राजन् महात्मनः॥१२४॥
ततस्तमेव शरणं गतोऽस्मि विधिवत् तदा ।
वरेण्यं वरदं देवं मनसा कर्मणैव च ॥१२५॥

युधिष्ठिर ! मैं निरन्तर दौड़ लगाता और चिन्तामें पड़ा रहता था। महाराज ! जब बहुत वर्षोंतक भ्रमण करनेपर भी उस महात्माके शरीरका अन्त नहीं मिला, तब मैंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा उन वरदायक एवं वरेण्य देवताकी ही विधिपूर्वक शरण ली ॥ १२४-१२५ ॥

ततोऽहं सहसा राजन् वायुवेगेन निःसृतः ।
महात्मनो मुखात् तस्य विवृतात् पुरुषोत्तम॥१२६॥

पुरुषरत्न युधिष्ठिर ! उनकी शरण लेते ही मैं वायुके समान वेगसे उक्त महात्मा बालकके खुले हुए मुखकी राहसे सहसा बाहर निकल आया ॥ १२६ ॥

ततस्तस्यैव शाखायां न्यग्रोधस्य विशाम्पते ।
आस्ते मनुजशार्दूल कृत्स्नमादाय वै जगत् ॥१२७॥
तेनैव बालवेषेण श्रीवत्सकृतलक्षणम् ।
आसीनं तं नरव्याघ्र पश्याम्यमिततेजसम् ॥१२८॥

नरश्रेष्ठ राजन् ! बाहर आकर देखा तो उसी बरगदकी शाखापर उसी बाल वेषसे सम्पूर्ण जगत्‌को अपने उदरमें लेकर श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित वह अमित तेजस्वी बालक पूर्ववत् बैठा हुआ है ॥ १२७-१२८ ॥

ततो मामब्रवीद् बालः स प्रीतः प्रहसन्निव ।
श्रीवत्सधारी द्युतिमान् पीतवासा महाद्युतिः॥१२९॥

तब महातेजस्वी पीताम्बरधारी श्रीवत्सभूषित कान्तिमान् उस बालकने प्रसन्न होकर हँसते हुए-से मुझसे कहा—॥१२९॥

अपीदानीं शरीरेऽस्मिन् मामके मुनिसत्तम ।
उषितस्त्वं सुविश्रान्तो मार्कण्डेय ब्रवीहि मे ॥१३०॥

'मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय ! क्या तुम मेरे इस शरीरमें रहकर विश्राम कर चुके ? मुझे बताओ' ॥ १३० ॥

मुहूर्तादथ मे दृष्टिः प्रादुर्भूता पुनर्नवा ।
यया निर्मुक्तमात्मानमपश्यं लब्धचेतसम् ॥१३१॥

फिर दो ही घड़ीमें मुझे एक नवीन दृष्टि प्राप्त हुई, जिससे मैं अपने आपको मायासे मुक्त और सचेत अनुभव करने लगा ॥

तस्य ताम्रतलौ तात चरणौ सुप्रतिष्ठितौ ।
सुजातौ मृदुरक्ताभिरङ्गुलीभिर्विराजितौ ॥१३२॥
प्रयत्नेन मया मूर्ध्ना गृहीत्वा ह्यभिवन्दितौ ।

तात ! तदनन्तर मैंने कोमल और लाल रंगकी अँगुलियोंसे सुशोभित लाल-लाल तलवेवाले उस बालकके सुन्दर एवं सुप्रतिष्ठित चरणोंको प्रयत्नपूर्वक पकड़कर उन्हें अपने मस्तकसे प्रणाम किया ॥ १३२½ ॥

दृष्ट्वा परिमितं तस्य प्रभावममितौजसः ॥१३३॥
विनयेनाञ्जलिं कृत्वा प्रयत्नेनोपगम्य ह ।
दृष्टो मया स भूतात्मा देवः कमललोचनः ॥१३४॥

उस अमित तेजस्वी शिशुका अनन्त प्रभाव देखकर मैं यत्नपूर्वक उसके समीप गया और विनीत भावसे हाथ जोड़कर सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा उस कमलनयन देवताका दर्शन किया ॥ १३३-१३४ ॥

तमहं प्राञ्जलिर्भूत्वा नमस्कृत्येदमब्रुवम् ।
ज्ञातुमिच्छामि देव त्वां मायां चैतां तवोत्तमाम्॥१३५॥

फिर हाथ जोड़े नमस्कार करके मैंने उससे इस प्रकार कहा—देव ! मैं आपको और आपकी इस उत्तम मायाको जानना चाहता हूँ ॥१३५॥

आस्येनानुप्रविष्टोऽहं शरीरे भगवंस्तव ।
दृष्टवानखिलान् सर्वान् समस्तान् जठरे हि ते ॥१३६॥

'भगवन् ! मैंने आपके मुखकी राहसे शरीरमें प्रवेश करके आपके उदरमें समस्त सांसारिक पदार्थोंका अवलोकन किया है ॥ १३६ ॥

तव देव शरीरस्था देवदानवराक्षसाः ।
यक्षगन्धर्वनागाश्च जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥१३७॥

'देव ! आपके शरीरमें देवता, दानव, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, नाग तथा समस्त स्थावर-जङ्गमरूप जगत् विद्यमान है ॥ १३७ ॥

त्वत्प्रसादाच्च मे देव स्मृतिर्न परिहीयते ।
द्रुतमन्तःशरीरे ते सततं परिवर्तिनः ॥१३८॥

'प्रभो ! आपकी कृपासे आपके शरीरके भीतर निरन्तर शीघ्र गतिसे घूमते रहनेपर भी मेरी स्मरणशक्ति नष्ट नहीं हुई है ॥

निर्गतोऽहमकामस्तु इच्छया ते महाप्रभो ।
इच्छामि पुण्डरीकाक्ष ज्ञातुं त्वाहमनिन्दितम् ॥१३९॥

'महाप्रभो ! मैं अपनी अभिलाषा न रहनेपर भी केवल आपकी इच्छासे बाहर निकल आया हूँ । कमलनयन ! आप सर्वोत्कृष्ट देवताको मैं जानना चाहता हूँ ॥ १३९ ॥

इह भूत्वा शिशुः साक्षात् किं भवानवतिष्ठते ।
पीत्वा जगदिदं सर्वमेतदाख्यातुमर्हसि ॥१४०॥

'आप इस सम्पूर्ण जगत्‌को पी करके यहाँ साक्षात् बालकवेषमें क्यों विराजमान हैं ? यह सब बतानेकी कृपा करें ॥ १४० ॥

किमर्थं च जगत् सर्वं शरीरस्थं तवानघ ।
कियन्तं च त्वया कालमिह स्थेयमरिंदम ॥१४१॥

'अनघ ! यह सारा संसार आपके शरीरमें किसलिये स्थित है ? शत्रुदमन ! आप कितने समयतक यहाँ इस रूपमें रहेंगे ? ॥ १४१ ॥

एतदिच्छामि देवेश श्रोतुं ब्राह्मणकाम्यया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष विस्तरेण यथातथम् ॥१४२॥

'देवेश्वर ! कमलनयन ! ब्राह्मणमें जो सहज जिज्ञासा होती है, उससे प्रेरित होकर मैं आपसे यह सब बातें यथाविधि विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥ १४२ ॥

महद् ध्येतदचिन्त्यं च यदहं दृष्टवान् प्रभो ।
इत्युक्तः स मया श्रीमान् देवदेवो महाद्युतिः ।
सान्त्वयन् मामिदं वाक्यमुवाच वदतां वरः ॥१४३॥

'प्रभो ! मैंने जो कुछ देखा है, यह अगाध और अचिन्त्य है ।' मेरे इस प्रकार पूछनेपर वे वक्ताओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी देवाधिदेव श्रीभगवान् मुझे सान्त्वना देते हुए इस प्रकार बोले ॥ १४३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १४४ श्लोक हैं)

एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् बालमुकुन्दका मार्कण्डेयको अपने स्वरूपका परिचय देना तथा मार्कण्डेयद्वारा श्रीकृष्णकी महिमाका प्रतिपादन और पाण्डवोंका श्रीकृष्णकी शरणमें जाना

देव उवाच

कामं देवा अपि न मां विप्र जानन्ति तत्त्वतः ।
त्वत्प्रीत्या तु प्रवक्ष्यामि यथेदं विसृजाम्यहम् ॥ १ ॥

भगवान् बोले—विप्रवर ! देवता भी मेरे स्वरूपको यथेष्ट और यथार्थरूपसे नहीं जानते । मैं जिस प्रकार इस जगत्‌की रचना करता हूँ, वह तुम्हारे प्रेमके कारण तुम्हें बताऊँगा ॥

पितृभक्तोऽसि विप्रर्षे मां चैव शरणं गतः ।
ततो दृष्टोऽसि ते साक्षाद् ब्रह्मचर्यं च ते महत् ॥ २ ॥

ब्रह्मर्षे ! तुम पितृभक्त हो, मेरी शरणमें आये हो और तुमने महान् ब्रह्मचर्यका पालन किया है । इन्हीं सब कारणोंसे तुम्हें मेरे साक्षात् स्वरूपका दर्शन हुआ ॥ २ ॥

आपो नारा इति पुरा संज्ञाकर्म कृतं मया ।
तेन नारायणोऽप्युक्तो मम तत् त्वयनं सदा ॥ ३ ॥

पूर्वकालमें मैंने ही जलका 'नारा' नाम रक्खा था । वह 'नारा' मेरा सदा अयन (वासस्थान) है, इसलिये मैं 'नारायण' नामसे विख्यात हूँ ॥ ३ ॥

अहं नारायणो नाम प्रभवः शाश्वतोऽव्ययः ।
विधाता सर्वभूतानां संहर्ता च द्विजोत्तम ॥ ४ ॥
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रश्चाहं सुराधिपः ।
अहं वैश्रवणो राजा यमः प्रेताधिपस्तथा ॥ ५ ॥

मैं नारायण ही सबकी उत्पत्तिका कारण, सनातन और अविनाशी हूँ । द्विजश्रेष्ठ ! सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि और संहार करनेवाला भी मैं ही हूँ । मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही ब्रह्मा हूँ, मैं ही देवराज इन्द्र हूँ और मैं ही राजा कुबेर तथा प्रेतराज यम हूँ ॥ ४-५ ॥

अहं शिवश्च सोमश्च कश्यपोऽथ प्रजापतिः ।
अहं धाता विधाता च यज्ञश्चाहं द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

विप्रवर ! मैं ही शिव, चन्द्रमा, प्रजापति कश्यप, धाता, विधाता और यज्ञ हूँ ॥ ६ ॥

अग्निरास्यं क्षितिः पादौ चन्द्रादित्यौ च लोचने ।
द्यौर्मूर्धा खं दिशः श्रोत्रे तथाऽपः स्वेदसम्भवाः ॥ ७ ॥
सदिशं च नभः कायो वायुर्मनसि मे स्थितः ।
मया क्रतुशतैरिष्टं बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ॥ ८ ॥

अग्नि मेरा मुख है, पृथ्वी चरण है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं । द्युलोक मेरा मस्तक है । आकाश और दिशाएँ मेरे कान हैं तथा जल मेरे शरीरके पसीनेसे प्रकट हुआ है । दिशाओंसहित आकाश मेरा शरीर है । वायु मेरे मनमें स्थित है । मैंने पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त अनेक शत यज्ञोंद्वारा यजन किया है ॥ ७-८ ॥

यजन्ते वेदविदुषो मां देवयजने स्थितम् ।
[illegible] ॥ ९ ॥

यजन्ते मां तथा वैश्याः स्वर्गलोकजिगीषया ।
चतुःसमुद्रपर्यन्तां मेरुमन्दरभूषणाम् ॥ १० ॥
शेषो भूत्वाहमेवैतां धारयामि वसुन्धराम् ।

वेदवेत्ता ब्राह्मण देवयज्ञमें स्थित मुझ यज्ञपुरुषका यजन करते हैं । पृथ्वीका पालन करनेवाले क्षत्रियनरेश स्वर्गप्राप्तिकी अभिलाषासे इस भूतलपर यज्ञोंद्वारा मेरा यजन करते हैं । इसी प्रकार वैश्य भी स्वर्गलोकपर विजय पानेकी इच्छासे मेरी सेवा-पूजा करते हैं । मैं ही शेषनाग होकर मेरुमन्दरसे विभूषित तथा चारों समुद्रोंसे घिरी हुई इस वसुन्धराको अपने सिरपर धारण करता हूँ ॥ ९-१०½ ॥

वाराहं रूपमास्थाय मयेयं जगती पुरा ॥ ११ ॥
मज्जमाना जले विप्र वीर्येणासीत् समुद्धृता ।
अग्निश्च वडवावक्त्रो भूत्वाहं द्विजसत्तम ॥ १२ ॥
पिबाम्यपः सदा विद्वंस्ताश्चैवं विसृजाम्यहम् ।
ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रमूरू मे संस्थिता विशः ॥ १३ ॥

विप्रवर ! पूर्वकालमें जब यह पृथ्वी जलमें डूब गयी थी, उस समय मैंने ही वाराहरूप धारण करके इसे बलपूर्वक जलसे बाहर निकाला था । विद्वन् ! मैं ही वड़वामुख अग्नि होकर सदा समुद्रके जलको पीता हूँ और फिर उस जलको बरसा देता हूँ । ब्राह्मण मेरा मुख है, क्षत्रिय दोनों भुजाएँ हैं और वैश्य मेरी दोनों जाँघोंके रूपमें स्थित हैं ॥ ११-१३ ॥

पादौ शूद्रा भवन्तीमे विक्रमेण क्रमेण च ।
ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदोऽप्यथर्वणः ॥ १४ ॥
मत्तः प्रादुर्भवन्त्येते मामेव प्रविशन्ति च ।

ये शूद्र मेरे दोनों चरण हैं । मेरी शक्तिसे क्रमशः इनका प्रादुर्भाव हुआ है । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये मुझसे ही प्रकट होते और मुझमें ही लीन हो जाते हैं ॥ १४½ ॥

यतयः शान्तिपरमा यतात्मानो बुभुत्सवः ॥ १५ ॥
कामक्रोधद्वेषमुक्ता निःसंगा वीतकल्मषाः ।
सत्त्वस्था निरहङ्कारा नित्यमध्यात्मकोविदाः ॥ १६ ॥
मामेव सततं विप्राश्चिन्तयन्त उपासते ।

शान्तिपरायण, संयमी, जिज्ञासु, काम-क्रोध-द्वेषरहित आसक्तिशून्य, निष्पाप, सात्त्विक, नित्य अहंकारशून्य तथा अध्यात्मज्ञानकुशल यति एवं ब्राह्मण सदा मेरा ही चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं ॥ १५-१६½ ॥

अहं संवर्तको वह्निरहं संवर्तकोऽनलः ॥ १७ ॥
अहं संवर्तकः सूर्यस्त्वहं संवर्तकोऽनिलः ।
तारारूपाणि दृश्यन्ते यान्येतानि नभस्तले ॥ १८ ॥
मम वै रोमकूपाणि विद्धि त्वं द्विजसत्तम ।
रत्नाकराः समुद्राश्च सर्वे एव चतुर्दिशम् ॥ १९ ॥
वसनं शयनं चैव विलयं चैव विद्धि मे ।
मयैव [illegible] देवकार्यार्थसिद्धये ॥ २० ॥

मैं ही संवर्तक (प्रलयका कारण) वह्नि हूँ । मैं ही संवर्तक अनल हूँ । मैं ही संवर्तक सूर्य हूँ और मैं ही संवर्तक वायु हूँ । द्विजश्रेष्ठ ! आकाशमें जो ये तारे दिखायी देते हैं, उन सबको मेरे ही रोमकूप समझो । रत्नाकर समुद्र और चारों दिशाओं-को मेरे वस्त्र, शय्या और निवासस्थान जानो । मैंने ही देवताओंके कार्यकी सिद्धिके लिये इनकी पृथक्-पृथक् रचना की है ॥ १७-२० ॥

कामं क्रोधं च हर्षं च भयं मोहं तथैव च ।
ममैव विद्धि रोमाणि सर्वाण्येतानि सत्तम ॥ २१ ॥

साधुशिरोमणे ! काम, क्रोध, हर्ष, भय और मोह—इन सभी विकारोंको मेरी ही रोमावली समझो ॥ २१ ॥

प्राप्नुवन्ति नरा विप्र यत् कृत्वा कर्म शोभनम् ।
सत्यं दानं तपश्चोग्रमहिंसा चैव जन्तुषु ॥ २२ ॥
मद्विधानेन विहिता मम देहविहारिणः ।
मयाऽऽविर्भूतविज्ञाना विचेष्टन्ते न कामतः ॥ २३ ॥

ब्रह्मन् ! जिन शुभ कर्मोंके आचरणसे मनुष्यको कल्याण-की प्राप्ति होती है, वे सत्य, दान, उग्र तपस्या और किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनेका स्वभाव—ये सब मेरे ही विधानसे निर्मित हुए हैं और मेरे ही शरीरमें विहार करते हैं । मैं समस्त प्राणियोंके ज्ञानको जब प्रकट कर देता हूँ, तभी वे चेष्टाशील होते हैं, अन्यथा अपनी इच्छासे वे कुछ नहीं कर सकते ॥ २२-२३ ॥

सम्यग् वेदमधीयाना यजन्ते विविधैर्मखैः ।
शान्तात्मानो जितक्रोधाः प्राप्नुवन्ति द्विजातयः ॥ २४ ॥

जो द्विजाति अच्छी तरह वेदोंका अध्ययन करके शान्त-चित्त और क्रोधशून्य होकर नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा मेरी आराधना करते हैं, उन्हें ही मेरी प्राप्ति होती है ॥ २४ ॥

प्राप्तुं न शक्यो यो विद्वन् नरैर्दुष्कृतकर्मभिः ।
लोभाभिभूतैः कृपणैरनार्यैरकृतात्मभिः ॥ २५ ॥
तं मां महाफलं विद्धि नराणां भावितात्मनाम् ।
सुदुष्प्रापं विमूढानां मार्गं योगैर्निषेवितम् ॥ २६ ॥

विद्वन् ! पापकर्मा, लोभी, कृपण, अनार्य और अजितात्मा मनुष्य जिसे कभी नहीं पा सकते, वह महान् फल मुझे ही समझो । मैं ही शुद्ध अन्तःकरणवाले मानवोंको सुलभ होनेवाला योगसेवित मार्ग हूँ । मूढ़ मनुष्योंके लिये मैं सर्वथा दुर्लभ हूँ ॥ २५-२६ ॥

यदा यदा च धर्मस्य ग्लानिर्भवति सत्तम ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ २७ ॥
दैत्या हिंसानुरक्ताश्च अवध्याः सुरसत्तमैः ।
राक्षसाश्चापि लोकेऽस्मिन् यदोत्पत्स्यन्ति दारुणाः ॥ २८ ॥
तदाहं सम्प्रसूयामि गृहेषु शुभकर्मणाम् ।
प्रविष्टो मानुषं देहं सर्वं प्रशमयाम्यहम् ॥ २९ ॥

[illegible]

होता है, तब-तब मैं अपने आपको प्रकट करता हूँ। जब हिंसाप्रेमी दैत्य श्रेष्ठ देवताओंके लिये अवध्य हो जाते हैं तथा भयानक राक्षस जब इस संसारमें उत्पन्न हो अत्याचार करने लगते हैं, तब मैं पुण्यात्मा पुरुषोंके घरोंपर मानव-शरीरमें प्रविष्ट होकर प्रकट होता हूँ और उन दैत्यों एवं राक्षसोंका सारा उपद्रव शान्त कर देता हूँ ॥ २७–२९ ॥

सृष्ट्वा देवमनुष्यांस्तु गन्धर्वोरगराक्षसान्।
स्थावराणि च भूतानि संहराम्यात्ममायया ॥ ३०॥

मैं ही अपनी मायासे देवता, मनुष्य, गन्धर्व, नाग, राक्षस तथा स्थावर प्राणियोंकी सृष्टि करके समय आनेपर पुनः उनका संहार कर डालता हूँ ॥ ३० ॥

कर्मकाले पुनर्देहमविचिन्त्यं सृजाम्यहम्।
आविश्य मानुषं देहं मर्यादाबन्धकारणात् ॥ ३१॥

फिर सृष्टि-रचनाके समय मैं अचिन्त्यस्वरूप धारण करता हूँ तथा मर्यादाकी स्थापना एवं रक्षाके लिये मानव-शरीरसे अवतार लेता हूँ ॥ ३१ ॥

श्वेतः कृतयुगे वर्णः पीतस्त्रेतायुगे मम।
रक्तो द्वापरमासाद्य कृष्णः कलियुगे तथा ॥ ३२॥

सत्ययुगमें मेरे शरीरका रंग श्वेत, त्रेतामें पीला, द्वापरमें लाल और कलियुगमें काला होता है ॥ ३२ ॥

त्रयो भागा ह्यधर्मस्य तस्मिन् काले भवन्ति च।
अन्तकाले च सम्प्राप्ते कालो भूत्वातिदारुणः ॥ ३३ ॥
त्रैलोक्यं नाशयाम्येकः कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम्।

उस कलिकालमें तीन हिस्सा अधर्म और एक ही हिस्सा धर्म रहता है। प्रलयकाल आनेपर मैं ही अत्यन्त दारुण कालरूप होकर अकेला ही सम्पूर्ण चराचर त्रिलोकीका नाश करता हूँ।' ३३½ ॥

अहं त्रिवर्त्मा विश्वात्मा सर्वलोकसुखावहः ॥ ३४ ॥
आविर्भूः सर्वगोऽनन्तो हृषीकेश उरुक्रमः।
कालचक्रं नयाम्येको ब्रह्मन्नहमरूपकम् ॥ ३५ ॥
शमनं सर्वभूतानां सर्वलोककृतोद्यमम्।
एवं प्रणिहितः सम्यङ् ममात्मा मुनिसत्तम।
सर्वभूतेषु विप्रेन्द्र न च मां वेत्ति कश्चन ॥ ३६ ॥

मैं तीनों लोकोंमें व्याप्त, सम्पूर्ण विश्वका आत्मा, सब लोगोंको सुख पहुँचानेवाला, सबकी उत्पत्तिका कारण, सर्वव्यापी, अनन्त, इन्द्रियोंका नियन्ता और महान् विक्रमशाली हूँ। ब्रह्मन्! यह जो सम्पूर्ण भूतोंका संहार करनेवाला और सबको उद्योगशील बनानेवाला अव्यक्त कालचक्र है, इसका संचालन केवल मैं ही करता हूँ। मुनिश्रेष्ठ! इस प्रकार मेरा स्वरूपभूत आत्मा ही सर्वत्र सब प्राणियोंके भीतर भलीभाँति स्थित है। विप्रवर! इतनेपर भी मुझे कोई जानता नहीं है। ॥ ३४–३६॥

सर्वलोके च मां भक्ताः पूजयन्ति च सर्वशः।
यच्च किंचित् त्वया प्राप्तं मयि क्लेशात्मकं द्विज ॥ ३७ ॥
सुखोदयाय तत् सर्वं श्रेयसे च तवानघ।
यच्च किंचित् त्वया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥ ३८ ॥
विहितः सर्वथैवासौ ममात्मा भूतभावनः।
अर्धं मम शरीरस्य सर्वलोकपितामहः ॥ ३९ ॥

समस्त जगत्‌में भक्त पुरुष सब प्रकारसे मेरी आराधना करते हैं। तुमने मेरे निकट आकर जो कुछ भी क्लेश उठाया है, ब्रह्मन्! वह सब तुम्हारे भावी कल्याण और सुखका साधक है। अनघ! लोकमें तुमने जो कोई भी स्थावर-जंगम पदार्थ देखा है, उसके रूपमें सर्वथा मेरा भूत-भावन आत्मा ही प्रकट हुआ है। सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्मा मेरा आधा अङ्ग है ॥ ३७–३९॥

अहं नारायणो नाम शङ्खचक्रगदाधरः।
यावद्युगानां विप्रर्षे सहस्रपरिवर्तनात् ॥ ४० ॥
तावत् स्वपिमि विश्वात्मा सर्वभूतानि मोहयन्।
एवं सर्वमहं कालमिहास्से मुनिसत्तम ॥ ४१ ॥
अशिशुः शिशुरूपेण यावद्ब्रह्मा न बुध्यते।

ब्रह्मर्षे! मैं शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाला विश्वात्मा नारायण हूँ, सहस्र युगके अन्तमें जो प्रलय होता है वह जबतक रहता है, तबतक सब प्राणियोंको (महानिद्रारूप मायासे) मोहित करके मैं (जलमें) शयन करता हूँ। मुनिश्रेष्ठ! यद्यपि मैं बालक नहीं हूँ, तो भी जबतक ब्रह्मा नहीं जागते, तबतक सदा इसी प्रकार बालकरूप धारण करके यहाँ रहता हूँ ॥ ४०-४१½ ॥

मया च दत्तो विप्राग्र्य वरस्ते ब्रह्मरूपिणा ॥ ४२ ॥
असकृत् परितुष्टेन विप्रर्षिगणपूजित।
सर्वमेकार्णवं दृष्ट्वा नष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥४३॥
विक्लवोऽसि मया ज्ञातस्ततस्ते दर्शितं जगत्।
अभ्यन्तरं शरीरस्य प्रविष्टोऽसि यदा मम ॥४४॥
दृष्ट्वा लोकं समस्तं च विस्मितो नावबुध्यसे।
ततोऽसि वक्त्राद् विप्रर्षे द्रुतं निःसारितो मया ॥४५॥

विप्रशिरोमणे! तुम ब्रह्मर्षियोंद्वारा पूजित हो। मैंने ही ब्रह्मारूपसे तुम्हारे ऊपर बार-बार संतुष्ट हो तुम्हें अभीष्ट वर प्रदान किया है। मैंने समझ लिया था कि तुम सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को नष्ट तथा एकार्णवमें निमग्न हुआ देखकर व्याकुल हो रहे हो। इसीलिये तुम्हें पुनः जगत्‌का दर्शन कराया है। ब्रह्मर्षे! जब तुम मेरे शरीरके भीतर प्रविष्ट हुए थे और समस्त संसारको देखकर विस्मय-विमुग्ध हो फिर सचेत नहीं हो पा रहे थे, तब मैंने तुरंत तुम्हें मुखसे बाहर निकाल दिया था ॥ ४२—४५ ॥

आख्यातस्ते मया चात्मा दुर्ज्ञेयो हि सुरासुरैः ॥४६॥

यावत् स भगवान् ब्रह्मा न बुध्येत महातपाः ।
तावत् त्वमिह विप्रर्षे विश्रब्धश्चर वै सुखम् ॥४७॥

ब्रह्मर्षे ! इस प्रकार मैंने तुम्हें अपने स्वरूपका उपदेश किया है, जिसका जानना देवता और असुरोंके लिये भी कठिन है । जबतक महातपस्वी भगवान् ब्रह्माका जागरण न हो, तबतक तुम श्रद्धा और विश्वासपूर्वक सुखसे विचरते रहो ॥ ४६-४७ ॥

ततो विबुद्धे तस्मिंस्तु सर्वलोकपितामहे ।
एकीभूतो हि स्रक्ष्यामि शरीराणि द्विजोत्तम ॥४८॥

द्विजश्रेष्ठ ! सर्वलोकपितामह ब्रह्माके जागनेपर मैं उनसे एकीभूत हो समस्त शरीरोंकी सृष्टि करूँगा ॥ ४८ ॥

आकाशं पृथिवीं ज्योतिर्वायुं सलिलमेव च ।
लोके यच्च भवेच्छेषमिह स्थावरजङ्गमम् ॥४९॥

आकाश, पृथ्वी, अग्नि, वायु और जलका तथा इस संसारमें जो अन्य चराचर वस्तुएँ अवशिष्ट हैं, उन सबका निर्माण करूँगा ॥ ४९ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वान्तर्हितस्तात स देवः परमाद्भुतः ।
प्रजाश्चेमाः प्रपश्यामि विचित्रा विविधाः कृताः ॥५०॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तात युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर वे परम अद्भुत देवता भगवान् बालमुकुन्द अन्तर्धान हो गये । उनके अन्तर्धान होते ही मैंने देखा कि यह नाना प्रकारकी विचित्र प्रजा ज्यों-की-त्यों उत्पन्न हो गयी है ॥ ५० ॥

एवं दृष्टं मया राजंस्तस्मिन् प्राप्ते युगक्षये ।
आश्चर्यं भरतश्रेष्ठ सर्वधर्मभृतां वर ॥५१॥

सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भरत-कुल-तिलक युधिष्ठिर ! इस प्रकार उस प्रलयकालके आनेपर मुझे यह आश्चर्यजनक अनुभव हुआ था ॥ ५१ ॥

यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः ।
स एष पुरुषव्याघ्र सम्बन्धी ते जनार्दनः ॥५२॥

नरश्रेष्ठ ! पुरातन प्रलयके समय मुझे जिन कमलदल-लोचन देवता भगवान् बालमुकुन्दका दर्शन हुआ था, तुम्हारे सम्बन्धी ये भगवान् श्रीकृष्ण वे ही हैं ॥ ५२ ॥

अस्यैव वरदानाद्धि स्मृतिर्न प्रजहाति माम् ।
दीर्घमायुश्च कौन्तेय स्वच्छन्दमरणं मम ॥५३॥

कुन्तीनन्दन ! इन्हींके वरदानसे मुझे पूर्व जन्मकी स्मृति भूलती नहीं है । मेरी दीर्घकालीन आयु और स्वच्छन्द-मृत्यु भी इन्हींकी कृपाका प्रसाद है ॥ ५३ ॥

स एष कृष्णो वार्ष्णेयः पुराणपुरुषो विभुः ।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा क्रीडन्निव महाभुजः ॥५४॥

ये वृष्णिकुल-भूषण महाबाहु श्रीकृष्ण ही वे सर्वव्यापी, अचिन्त्यस्वरूप, पुराण-पुरुष श्रीहरि हैं, जो पहले बालरूपमें मुझे दिखायी दिये थे । वे ही यहाँ अवतीर्ण हो भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करते हुए-से दीख रहे हैं ॥ ५४ ॥

एष धाता विधाता च संहर्ता चैव शाश्वतः ।
श्रीवत्सवक्षा गोविन्दः प्रजापतिपतिः प्रभुः ॥५५॥

श्रीवत्सचिह्न जिनके वक्षःस्थलकी शोभा बढ़ाता है, वे भगवान् गोविन्द ही इस विश्वकी सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले, सनातन प्रभु और प्रजापतियोंके भी पति हैं ॥ ५५ ॥

दृष्ट्वेमं वृष्णिप्रवरं स्मृतिर्मामियमागता ।
आदिदेवमयं जिष्णुं पुरुषं पीतवाससम् ॥५६॥

इन आदिदेवस्वरूप, विजयशील, पीताम्बरधारी पुरुष, वृष्णि-कुल-भूषण श्रीकृष्णको देखकर मुझे इस पुरातन घटनाकी स्मृति हो आयी है ॥ ५६ ॥

सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः ।
गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः ॥५७॥

कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डवो ! ये माधव ही समस्त प्राणियोंके पिता और माता हैं । ये ही सबको शरण देनेवाले हैं । अतः तुम सब लोग इन्हींकी शरणमें जाओ ॥ ५७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ताश्च ते पार्था यमौ च पुरुषर्षभौ ।
द्रौपद्या सहिताः सर्वे नमश्चक्रुर्जनार्दनम् ॥५८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मार्कण्डेय मुनिके ऐसा कहनेपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तथा पुरुषरत्न नकुल-सहदेव—इन सबने द्रौपदीसहित उठकर भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ५८ ॥

स चैतान् पुरुषव्याघ्र साम्ना परमवल्गुना ।
सान्त्वयामास मानार्हो मन्यमानो यथाविधि ॥५९॥

नरश्रेष्ठ ! फिर सम्माननीय श्रीकृष्णने भी इन सबका विधिपूर्वक समादर करते हुए परम मधुर सान्त्वनापूर्ण वचनोंद्वारा इन्हें सब प्रकारसे आश्वासन दिया ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि भविष्यकथने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें भविष्यकथनविषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८९ ॥

नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

युगान्तकालिक कलियुगके समयके बर्तावका तथा कल्कि-अवतारका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो मार्कण्डेयं महामुनिम्।
पुनः पप्रच्छ साम्राज्ये भविष्यां जगतो गतिम्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने महामुनि मार्कण्डेयसे अपने साम्राज्यमें जगत्‌की भावी गतिविधिके विषयमें पुनः इस प्रकार प्रश्न किया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आश्चर्यभूतं भवतः श्रुतं नो वदतां वर।
मुने भार्गव यद् वृत्तं युगादौ प्रभवात्ययम्॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! भृगुवंशविभूषण महर्षे ! हमने आपके मुखसे युगके आदिमें संघटित हुई उत्पत्ति और प्रलयके सम्बन्धमें बड़े आश्चर्यकी बातें सुनी हैं ॥ २ ॥

अस्मिन् कलियुगे त्वस्ति पुनः कौतूहलं मम।
समाकुलेषु धर्मेषु किं नु शेषं भविष्यति॥ ३ ॥

अब मुझे इस कलियुगके विषयमें पुनः विशेषरूपसे सुननेका कुतूहल हो रहा है। जब सारे धर्मोंका उच्छेद हो जायगा, उस समय क्या शेष रह जायगा ? ॥ ३ ॥

किंवीर्या मानवास्तत्र किमाहारविहारिणः।
किमायुषः किंवसना भविष्यन्ति युगक्षये॥ ४ ॥

युगान्तकालमें कलियुगके मनुष्योंका बल-पराक्रम कैसा होगा ? उनके आहार-विहार कैसे होंगे ? उनकी आयु कितनी होगी और उनके परिधान—वस्त्राभूषण कैसे होंगे ॥ ४ ॥

कां च काष्ठांसमासाद्य पुनः सम्पत्स्यते कृतम्।
विस्तरेण मुने ब्रूहि विचित्राणीह भाषसे॥ ५ ॥

कलियुगके किस सीमातक पहुँच जानेपर पुनः सत्ययुग आरम्भ हो जायगा ? मुने ! इन सब बातोंका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये; क्योंकि आपकी कथा बड़ी विचित्र होती है ॥५॥

इत्युक्तः स मुनिश्रेष्ठः पुनरेवाभ्यभाषत।
रमयन् वृष्णिशार्दूलं पाण्डवांश्च महानृषिः॥ ६ ॥

युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर मुनिश्रेष्ठ महर्षि मार्कण्डेयने वृष्णिप्रवर श्रीकृष्ण तथा पाण्डवोंको आनन्दित करते हुए पुनः इस प्रकार कहा ॥ ६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

शृणु राजन् मया दृष्टं यत् पुरा श्रुतमेव च।
अनुभूतं च राजेन्द्र देवदेवप्रसादजम्॥ ७ ॥
भविष्यं सर्वलोकस्य वृत्तान्तं भरतर्षभ।
कलुषं कालमासाद्य कथ्यमानं निबोध मे॥ ८ ॥

मार्कण्डेय बोले—भरतश्रेष्ठ राजन् ! मैंने देवाधिदेव भगवान् बालमुकुन्दकी कृपासे पूर्वकालमें, निकृष्ट कलिकालके प्राप्त होनेपर सम्पूर्ण लोकोंके भावी वृत्तान्तके विषयमें जो कुछ देखा-सुना या अनुभव किया है, वह बताता हूँ, सुनो और समझो ॥ ७-८ ॥

कृते चतुष्पात् सकलो निर्व्याजोपाधिवर्जितः।
वृषः प्रतिष्ठितो धर्मो मनुष्ये भरतर्षभ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! सत्ययुगमें मनुष्योंके भीतर वृषरूप धर्म अपने चारों पादोंसे युक्त होनेके कारण सम्पूर्ण रूपमें प्रतिष्ठित होता है। उसमें छल-कपट या दम्भ नहीं होता ॥ ९ ॥

अधर्मपादविद्धस्तु त्रिभिरंशैः प्रतिष्ठितः।
त्रेतायां द्वापरेऽर्धेन व्यामिश्रो धर्म उच्यते॥१०॥

किंतु त्रेतामें वह धर्म अधर्मके एक पादसे अभिभूत होकर अपने तीन अंशोंसे ही प्रतिष्ठित होता है। द्वापरमें धर्म आधा ही रह जाता है । आधेमें अधर्म आकर मिल जाता है ॥ १० ॥

त्रिभिरंशैरधर्मस्तु लोकानाक्रम्य तिष्ठति।
तामसं युगमासाद्य तदा भरतसत्तम॥११॥
चतुर्थांशेन धर्मस्तु मनुष्यानुपतिष्ठति।
आयुर्वीर्यमथो बुद्धिर्बलं तेजश्च पाण्डव॥१२॥
मनुष्याणामनुयुगं ह्रसतीति निबोध मे।
राजानो ब्राह्मणा वैश्याः शूद्राश्चैव युधिष्ठिर॥१३॥
व्याजैर्धर्मं चरिष्यन्ति धर्मवैतंसिका नराः।
सत्यं संक्षेप्स्यते लोके नरैः पण्डितमानिभिः॥१४॥

परंतु भरतश्रेष्ठ ! कलियुग आनेपर अधर्म अपने तीन अंशोंद्वारा सम्पूर्ण लोकोंको आक्रान्त करके स्थित होता है और धर्म केवल एक पादसे मनुष्योंमें प्रतिष्ठित होता है। पाण्डुनन्दन ! प्रत्येक युगमें मनुष्योंकी आयु, वीर्य, बुद्धि, बल तथा तेज क्रमशः घटते जाते हैं। युधिष्ठिर ! अब कलियुगके समयका वर्णन सुनो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी जातियोंके लोग कपटपूर्वक धर्मका आचरण करेंगे और धर्मका जाल बिछाकर दूसरे लोगोंको ठगते रहेंगे। अपनेको पण्डित माननेवाले लोग सत्यका त्याग कर देंगे ॥ ११–१४ ॥

सत्यहान्या ततस्तेषामायुरल्पं भविष्यति।
आयुषः प्रक्षयाद् विद्यां न शक्ष्यन्त्युपजीवितुम्॥१५॥

सत्यकी हानि होनेसे उनकी आयु थोड़ी हो जायगी।

और आयुकी कमी होनेके कारण वे अपने जीवन-निर्वाहके योग्य विद्या प्राप्त नहीं कर सकेंगे ॥ १५ ॥

विद्याहीनानविज्ञानाल्लोभोऽप्यभिभविष्यति ।
लोभक्रोधपरा मूढाः कामासक्ताश्च मानवाः ॥१६॥
वैरबद्धा भविष्यन्ति परस्परवधैषिणः ।

विद्याके बिना ज्ञान न होनेसे उन सबको लोभ दबा लेगा। फिर लोभ और क्रोधके वशीभूत हुए मूढ़ मनुष्य कामनाओंमें फँसकर आपसमें वैर बाँध लेंगे और एक दूसरेके प्राण लेनेकी घातमें लगे रहेंगे ॥ १६½ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः संकीर्यन्तः परस्परम् ॥१७॥
शूद्रतुल्या भविष्यन्ति तपःसत्यविवर्जिताः ।
अन्त्या मध्या भविष्यन्ति मध्याश्चान्त्या न संशयः ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये आपसमें संतानोत्पादन करके वर्णसंकर हो जायँगे। वे सभी तपस्या और सत्यसे रहित हो शूद्रोंके समान हो जायँगे। अन्त्यज (चाण्डाल आदि) क्षत्रिय-वैश्य आदिके कर्म करेंगे और क्षत्रिय-वैश्य आदि चाण्डालोंके कर्म अपना लेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १७-१८ ॥

ईदृशो भविता लोको युगान्ते पर्युपस्थिते ।
वस्त्राणां प्रवरा शाणी धान्यानां कोरदूषकाः ॥१९॥

युगान्तकाल आनेपर लोगोंकी ऐसी ही दशा होगी। वस्त्रोंमें सनके बने हुए वस्त्र अच्छे समझे जायँगे। धानोंमें कोदोंका आदर होगा ॥ १९ ॥

भार्यामित्राश्च पुरुषा भविष्यन्ति युगक्षये ।
मत्स्यामिषेण जीवन्तो दुहन्तश्चाप्यजैडकम् ॥२०॥
गोषु नष्टासु पुरुषा येऽपि नित्यं धृतव्रताः ।
तेऽपि लोभसमायुक्ता भविष्यन्ति युगक्षये ॥२१॥

उस युगक्षयके समय पुरुष केवल स्त्रियोंसे ही मित्रता करनेवाले होंगे। कितने ही लोग मछलीके मांससे जीविका चलायेंगे। गायोंके नष्ट हो जानेके कारण मनुष्य भेड़ और बकरीका भी दूध दुहकर पीयेंगे। जो लोग सदा व्रत धारण करके रहनेवाले हैं, वे भी युगान्त कालमें लोभी हो जायँगे ॥ २०-२१ ॥

अन्योन्यं परिमुष्णन्तो हिंसयन्तश्च मानवाः ।
अजपा नास्तिकाः स्तेना भविष्यन्ति युगक्षये ॥२२॥

लोग एक दूसरेको लूटेंगे और मारेंगे। युगान्तकालके मनुष्य जपरहित, नास्तिक और चोरी करनेवाले होंगे ॥२२॥

सरित्तीरेषु कुद्दालैर्वापयिष्यन्ति चौषधीः ।
ताश्चाप्यल्पफलास्तेषां भविष्यन्ति युगक्षये ॥२३॥

नदियोंके किनारेकी भूमिको कुदालोंसे खोदकर लोग वहाँ अनाज बोयेंगे। उन अनाजोंमें भी युगान्तकालके प्रभावसे बहुत कम फल लगेंगे ॥ २३ ॥

श्राद्धे दैवे च पुरुषा येऽपि नित्यं धृतव्रताः ।
तेऽपि लोभसमायुक्ता भोक्ष्यन्तीह परस्परम् ॥२४॥

जो सदा (परान्नका त्याग करके) व्रतका पालन करनेवाले लोग हैं, वे भी उस समय लोभवश देवयज्ञ तथा श्राद्धमें एक दूसरेके यहाँ भोजन करेंगे ॥ २४ ॥

पिता पुत्रस्य भोक्ता च पितुः पुत्रस्तथैव च ।
अतिक्रान्तानि भोज्यानि भविष्यन्ति युगक्षये ॥२५॥

कलियुगके अन्तिम भागमें पिता पुत्रकी और पुत्र पिताकी शय्या आदिका उपभोग करने लगेंगे। उस समय त्याज्य (अभक्ष्य) पदार्थ भी भोजनके योग्य समझे जायँगे ॥ २५ ॥

न व्रतानि चरिष्यन्ति ब्राह्मणा वेदनिन्दकाः ।
न यक्ष्यन्ति न होष्यन्ति हेतुवादविमोहिताः ।
निम्नेष्वीहां करिष्यन्ति हेतुवादविमोहिताः ॥२६॥

ब्राह्मणलोग व्रत और नियमोंका पालन तो करेंगे नहीं, उलटे वेदोंकी निन्दा करने लग जायँगे। कोरे तर्कवादसे मोहित होकर वे यज्ञ और होम छोड़ बैठेंगे। वे केवल तर्कवादसे मोहित होकर नीच-से-नीच कर्म करनेके लिये प्रयत्नशील रहेंगे ॥ २६ ॥

निम्ने कृषिं करिष्यन्ति योक्ष्यन्ति धुरि धेनुकाः ।
एकहायनवत्सांश्च योजयिष्यन्ति मानवाः ॥२७॥

मनुष्य नीची भूमिमें (अर्थात् गायोंके जल पीने और चरनेकी जगहमें) खेती करेंगे। दूध देनेवाली गायोंको भी बोझ ढोनेके काममें लगा देंगे और सालभरके बछड़ोंको भी हलमें जोतेंगे ॥ २७ ॥

पुत्रः पितृवधं कृत्वा पिता पुत्रवधं तथा ।
निरुद्वेगो बृहद्वादी न निन्दामुपलप्स्यते ॥२८॥

पुत्र पिताका और पिता पुत्रका वध करके भी उद्विग्न नहीं होंगे। अपनी प्रशंसाके लिये लोग बड़ी-बड़ी बातें बनायेंगे, किंतु समाजमें उनकी निन्दा नहीं होगी ॥२८॥

म्लेच्छभूतं जगत् सर्वं निष्क्रियं यज्ञवर्जितम् ।
भविष्यति निरानन्दमनुत्सवमथो तथा ॥२९॥

सारा संसार म्लेच्छोंकी भाँति शुभ कर्म और यज्ञ-यागादि छोड़ देगा तथा आनन्दशून्य और उत्सवरहित हो जायगा ॥ २९ ॥

प्रायशः कृपणानां हि तथाबन्धुमतामपि ।
विधवानां च वित्तानि हरिष्यन्तीह मानवाः ॥३०॥

लोग प्रायः दीनों, असहायों तथा विधवाओंका भी धन हड़प लेंगे ॥ ३० ॥

स्वल्पवीर्यबलाः स्तब्धा लोभमोहपरायणाः ।
तत्कथादानसंतुष्टा दुष्टानामपि मानवाः ॥३१॥

परिग्रहं करिष्यन्ति मायाचारपरिग्रहाः ।
समाह्वयन्तः कौन्तेय राजानः पापबुद्धयः ॥३२॥
परस्परवधोद्युक्ता मूर्खाः पण्डितमानिनः ।
भविष्यन्ति युगस्यान्ते क्षत्रिया लोककण्टकाः ॥३३॥

उनके शारीरिक बल और पराक्रम क्षीण हो जायँगे । वे उद्दण्ड होकर लोभ और मोहमें डूबे रहेंगे । वैसे ही लोगोंकी चर्चा करने और उनसे दान लेनेमें प्रसन्नताका अनुभव करेंगे । कपटपूर्ण आचारको अपनाकर वे दुष्टोंके दिये हुए दानको भी ग्रहण कर लेंगे । कुन्तीनन्दन ! पाप-बुद्धि राजा एक दूसरेको युद्धके लिये ललकारते हुए परस्पर एक दूसरेके प्राण लेनेको उतारू रहेंगे और मूर्ख होते हुए अपनेको पण्डित मानेंगे । इस प्रकार युगान्तकालके सभी क्षत्रिय जगत्के लिये काँटे बन जायँगे ॥ ३१—३३ ॥

अरक्षितारो लुब्धाश्च मानाहङ्कारदर्पिताः ।
केवलं दण्डरुचयो भविष्यन्ति युगक्षये ॥३४॥

कलियुगकी समाप्तिके समय वे प्रजाकी रक्षा तो करेंगे नहीं, उनसे रुपये ऐंठनेके लिये लोभ अधिक रक्खेंगे । सदा मान और अहंकारके मदमें चूर रहेंगे । वे केवल प्रजाको दण्ड देनेके कार्यमें ही रुचि रक्खेंगे ॥ ३४ ॥

आक्रम्याक्रम्य साधूनां दारांश्चापि धनानि च ।
भोक्ष्यन्ते निरनुक्रोशा रुदतामपि भारत ॥३५॥

भारत ! लोग इतने निर्दयी हो जायँगे कि सज्जन पुरुषों-पर भी बार-बार आक्रमण करके उनके धन और स्त्रियोंका बलपूर्वक उपभोग करेंगे तथा उनके रोने-बिलखनेपर भी दया नहीं करेंगे ॥ ३५ ॥

न कन्यां याचते कश्चिन्नापि कन्या प्रदीयते ।
स्वयंग्राहा भविष्यन्ति युगान्ते समुपस्थिते ॥३६॥

कलियुगका अन्त आनेपर न तो कोई किसीसे कन्याकी याचना करेगा और न कोई कन्यादान ही करेगा । उस समयके वर-कन्या स्वयं ही एक दूसरेको चुन लेंगे ॥ ३६ ॥

राजानश्चाप्यसंतुष्टाः परार्थान् मूढचेतसः ।
सर्वोपायैर्हरिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ॥३७॥

कलियुगकी समाप्तिके समय असंतोषी तथा मूढ़-चित्त राजा भी सब तरहके उपायोंसे दूसरोंके धनका अपहरण करेंगे ।३७।

म्लेच्छीभूतं जगत् सर्वं भविष्यति न संशयः ।
हस्तो हस्तं परिमुषेद् युगान्ते समुपस्थिते ॥३८॥

उस समय सारा जगत् म्लेच्छ हो जायगा—इसमें संशय नहीं । एक हाथ दूसरे हाथको लूटेगा—सगा भाई भी भाईके धनको हड़प लेगा ॥ ३८ ॥

सत्यं संक्षिप्यते लोके नरैः पण्डितमानिभिः ।
स्थविरा बालमतयो बालाः स्थविरबुद्धयः ॥३९॥

अपनेको पण्डित माननेवाले मनुष्य संसारमें सत्यको मिटा देंगे । बूढ़ोंकी बुद्धि बालकों-जैसी होगी और बालकोंकी बूढ़ों-जैसी ॥ ३९ ॥

भीरुस्तथा शूरमानी शूरा भीरुविषादिनः ।
न विश्वसन्ति चान्योन्यं युगान्ते पर्युपस्थिते ॥४०॥

युगान्तकाल उपस्थित होनेपर कायर अपनेको शूर-वीर मानेंगे और शूर-वीर कायरोंकी भाँति विषादमें डूबे रहेंगे । कोई एक दूसरेका विश्वास नहीं करेंगे ॥ ४० ॥

एकाहार्यं युगं सर्वं लोभमोहव्यवस्थितम् ।
अधर्मो वर्द्धते तत्र न तु धर्मः प्रवर्तते ॥४१॥

युगके सब लोग लोभ और मोहमें फँसकर भक्ष्याभक्ष्य-का विचार किये बिना ही एक साथ सम्मिलित होकर भोजन करने लगेंगे । अधर्म बढ़ेगा और धर्म विदा हो जायगा ।४१।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या न शिष्यन्ति जनाधिप ।
एकवर्णस्तदा लोको भविष्यति युगक्षये ॥४२॥

नरेश्वर ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका नाम भी नहीं रह जायगा । युगान्तकालमें सारा विश्व एक वर्ण, एक जातिका हो जायगा ॥ ४२ ॥

न क्षंस्यति पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ।
भार्याश्च पतिशुश्रूषां न करिष्यन्ति संक्षये ॥४३॥

युगक्षय-कालमें पिता पुत्रके अपराधको क्षमा नहीं करेंगे और पुत्र भी पिताकी बात नहीं सहेगा । स्त्रियाँ अपने पतियोंकी सेवा छोड़ देंगी ॥ ४३ ॥

ये यवान्ना जनपदा गोधूमान्नास्तथैव च ।
तान् देशान् संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ॥४४॥

युगान्तकाल आनेपर (लोग) उन प्रदेशोंमें चले जायँगे जहाँ जौ और गेहूँ आदि अनाज अधिक पैदा होते हैं (चाहे वह देश निषिद्ध ही क्यों न हो) ॥ ४४ ॥

स्वैराचाराश्च पुरुषा योषितश्च विशाम्पते ।
अन्योन्यं न सहिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ॥४५॥

महाराज ! युगान्तकाल आनेपर पुरुष और स्त्रियाँ स्वेच्छाचारी होकर एक दूसरेके कार्य और विचारको नहीं सहेंगे ॥ ४५ ॥

म्लेच्छभूतं जगत् सर्वं भविष्यति युधिष्ठिर ।
न श्राद्धैस्तर्पयिष्यन्ति दैवतानीह मानवाः ॥४६॥

युधिष्ठिर ! उस समय सारा जगत् म्लेच्छ हो जायगा । मनुष्य श्राद्ध और यज्ञ-कर्मोंद्वारा पितरों और देवताओंको संतुष्ट नहीं करेंगे ॥ ४६ ॥

न कश्चित् कस्यचिच्छ्रोता न कश्चित् कस्यचिद् गुरुः ।
तमोग्रस्तस्तदा लोको भविष्यति जनाधिप ॥४७॥

राजन् ! उस समय कोई किसीका उपदेश नहीं सुनेगा और न कोई किसीका गुरु ही होगा। सारा जगत् अज्ञानमय अन्धकारसे आच्छादित हो जायगा ॥ ४७ ॥

परमायुश्च भविता तदा वर्षाणि षोडश।
ततः प्राणान् विमोक्ष्यन्ति युगान्ते समुपस्थिते ॥४८॥
पञ्चमे वाथ षष्ठे वा वर्षे कन्या प्रसूयते।
सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च प्रजास्यन्ति नरास्तदा ॥४९॥

उस समय युगान्तकाल उपस्थित होनेपर लोगोंकी आयु अधिक-से-अधिक सोलह वर्षकी होगी, उसके बाद वे प्राणत्याग कर देंगे। पाँचवें या छठे वर्षमें स्त्रियाँ बच्चे पैदा करने लगेंगी और सात-आठ वर्षके पुरुष संतानोत्पादनमें प्रवृत्त हो जायँगे॥

पत्यौ स्त्री तु तदा राजन् पुरुषो वा स्त्रियं प्रति।
युगान्ते राजशार्दूल न तोषमुपयास्यति ॥५०॥

नृपश्रेष्ठ ! युगान्तकाल आनेपर स्त्री अपने पतिसे और पति अपनी स्त्रीसे संतुष्ट नहीं होंगे ॥ ५० ॥

अल्पद्रव्या वृथालिङ्गा हिंसा च प्रभविष्यति।
न कश्चित् कस्यचिद् दाता भविष्यति युगक्षये ॥५१॥

कलियुगके अन्तभागमें लोगोंके पास धन थोड़ा रहेगा और लोग दिखावेके लिये साधुवेष धारण करेंगे। हिंसाका जोर बढ़ेगा और कोई किसीको कुछ देनेवाला नहीं रहेगा॥

अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः।
केशशूलाः स्त्रियश्चापि भविष्यन्ति युगक्षये ॥५२॥

युगक्षयकालमें सभी देशोंके लोग अन्न बेचेंगे। ब्राह्मण वेदविक्रय करेंगे और स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति अपना लेंगी ॥५२॥

म्लेच्छाचाराः सर्वभक्षा दारुणाः सर्वकर्मसु।
भाविनः पश्चिमे काले मनुष्या नात्र संशयः ॥५३॥

युगान्तकालके मनुष्य म्लेच्छों-जैसे आचारवाले और सर्वभक्षी यानी अभक्ष्यका भी भक्षण करनेवाले हो जायँगे। वे प्रत्येक कर्ममें अपनी क्रूरताका परिचय देंगे, इसमें संशय नहीं है॥

क्रयविक्रयकाले च सर्वः सर्वस्य वञ्चनम्।
युगान्ते भरतश्रेष्ठ वित्तलोभात् करिष्यति ॥५४॥

भरतश्रेष्ठ ! युगान्तकालमें धनके लोभसे क्रय-विक्रयके समय सभी सबको ठगेंगे ॥ ५४ ॥

ज्ञानानि चाप्यविज्ञाय करिष्यन्ति क्रियास्तथा।
आत्मच्छन्देन वर्तन्ते युगान्ते समुपस्थिते ॥५५॥

क्रियाके तत्त्वको न जानकर भी लोग उसे करनेमें प्रवृत्त होंगे। युगान्तकालके सभी मानव स्वेच्छाचारी हो जायँगे॥

स्वभावात् क्रूरकर्माणश्चान्योन्यमभिशंसिनः।
भवितारो जनाः सर्वे सम्प्राप्ते तु युगक्षये ॥५६॥
आरामांश्चैव वृक्षांश्च नाशयिष्यन्ति निर्व्यथाः।
भविता संशयो लोके जीवितस्य हि देहिनाम् ॥५७॥

सभी स्वभावतः क्रूर और एक दूसरेपर मिथ्या कलङ्क लगानेवाले होंगे। युगान्तकाल उपस्थित होनेपर सब लोग बगीचों और वृक्षोंको कटवा देंगे और ऐसा करते समय उनके मनमें पीड़ा नहीं होगी। प्रत्येक मनुष्यके जीवन-धारणमें भी शंका हो जायगी। अर्थात् प्रत्येक मनुष्यका जीवन धारण करना कठिन हो जायगा ॥ ५६-५७ ॥

तथा लोभाभिभूताश्च भविष्यन्ति नरा नृप।
ब्राह्मणांश्च हनिष्यन्ति ब्राह्मणस्वोपभोगिनः ॥५८॥

राजन् ! सब लोग लोभके वशीभूत होंगे और ब्राह्मणोंका धन उपभोग करनेका जिनका स्वभाव पड़ गया है, वे धनके लिये ब्राह्मणोंको मार भी डालेंगे ॥ ५८ ॥

हाहाकृता द्विजाश्चैव भयार्ता वृषलार्दिताः।
त्रातारमलभन्तो वै भ्रमिष्यन्ति महीमिमाम् ॥५९॥

शूद्रोंके सताये हुए ब्राह्मण भयसे पीड़ित हो हाहाकार करने लगेंगे और अपने लिये कोई रक्षक न मिलनेके कारण सारी पृथ्वीपर निश्चय ही भटकते फिरेंगे ॥ ५९ ॥

जीवितान्तकराः क्रूरा रौद्राः प्राणिविहिंसकाः।
यदा भविष्यन्ति नरास्तदा संक्षेप्स्यते युगम् ॥६०॥

जब दूसरोंके जीवनका विनाश करनेवाले क्रूर, भयंकर तथा जीवहिंसक मनुष्य पैदा होने लगें, तब समझ लेना चाहिये कि युगान्तकाल उपस्थित हो गया ॥ ६० ॥

आश्रयिष्यन्ति च नदीः पर्वतान् विषमाणि च।
प्रधावमाना वित्रस्ता द्विजाः कुरुकुलोद्वह ॥६१॥

कुरुकुलतिलक युधिष्ठिर ! अत्याचारियोंसे डरे हुए ब्राह्मण इधर-उधर भागकर नदियों, पर्वतों तथा दुर्गम स्थानोंका आश्रय लेंगे ॥ ६१ ॥

दस्युभिः पीडिता राजन् काका इव द्विजोत्तमाः।
कुराजभिश्च सततं करभारप्रपीडिताः ॥६२॥
धैर्यं त्यक्त्वा महीपाल दारुणे युगसंक्षये।
विकर्माणि करिष्यन्ति शूद्राणां परिचारकाः ॥६३॥

राजन् ! श्रेष्ठ ब्राह्मण भी लुटेरोंसे पीड़ित होकर कौओंकी तरह काँव-काँव करते फिरेंगे। दुष्ट राजाओंके लगाये हुए करोंके भारसे सदा पीड़ित होनेके कारण वे धैर्य छोड़कर चल देंगे और शूद्रोंकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहकर धर्मविरुद्ध कार्य करेंगे। भूपाल ! भयंकर कलियुगके अन्तमें जगत्की यही दशा होगी ॥ ६२-६३ ॥

शूद्रा धर्मं प्रवक्ष्यन्ति ब्राह्मणाः पर्युपासकाः।
श्रोतारश्च भविष्यन्ति प्रामाण्येन व्यवस्थिताः ॥६४॥
विपरीतश्च लोकोऽयं भविष्यत्यधरोत्तरः।
एडूकान् पूजयिष्यन्ति वर्जयिष्यन्ति देवताः ॥६५॥

शूद्र धर्मोपदेश करेंगे और ब्राह्मणलोग उनकी सेवामें तत्पर रह उसे सुनेंगे तथा उसीको प्रामाणिक मानकर उसका

पालन करेंगे । समस्त लोकका व्यवहार विपरीत और उलट-पुलट हो जायगा । ऊँच नीच और नीच ऊँच हो जायँगे । लोग हड्डी जड़ी हुई दीवारोंकी तो पूजा करेंगे और देवविग्रहोंको त्याग देंगे ॥ ६४-६५ ॥

शूद्राः परिचरिष्यन्ति न द्विजान् युगसंक्षये ।
आश्रमेषु महर्षीणां ब्राह्मणावसथेषु च ॥६६॥
देवस्थानेषु चैत्येषु नागानामालयेषु च ।
एडूकचिह्ना पृथिवी न देवगृहभूषिता ॥६७॥

युगान्तकालमें शूद्र द्विजातियोंकी सेवा नहीं करेंगे । वह समय आनेपर महर्षियोंके आश्रमोंमें, ब्राह्मणोंके घरोंमें, देवस्थानोंमें, चैत्यवृक्षोंके आस-पास और नागालयोंमें जो भूमि होगी, उसपर हड्डी जड़ी हुई दीवारोंका चिह्न तो उपलब्ध होगा; परंतु देवमन्दिर उस भूमिकी शोभा नहीं बढ़ायेंगे ॥

भविष्यति युगे क्षीणे तद् युगान्तस्य लक्षणम् ।
यदा रौद्रा धर्महीना मांसादाः पानपास्तथा ॥६८॥
भविष्यन्ति नरा नित्यं तदा संक्षेप्स्यते युगम् ।

यह सब युगान्तका लक्षण समझना चाहिये । जब सब मानव सदा भयंकर स्वभाववाले, धर्महीन, मांसखोर और शराबी हो जायँगे, उस समय युगका संहार होगा ॥ ६८½ ॥

पुष्पं पुष्पे यदा राजन् फले वा फलमाश्रितम् ॥६९॥
प्रजास्यति महाराज तदा संक्षेप्स्यते युगम् ।
अकालवर्षी पर्जन्यो भविष्यति गते युगे ॥७०॥

महाराज ! जब फूल-में-फूल फल-में-फल लगने लगेगा, उस समय युगका संहार होगा । युगान्तकालमें मेघ असमयमें ही वर्षा करेंगे ॥ ६९-७० ॥

अक्रमेण मनुष्याणां भविष्यन्ति तदा क्रियाः ।
विरोधमथ यास्यन्ति वृषला ब्राह्मणैः सह ॥७१॥

मनुष्योंकी सारी क्रियाएँ क्रमसे विपरीत होंगी । शूद्र ब्राह्मणोंके साथ विरोध करेंगे ॥ ७१ ॥

मही म्लेच्छजनाकीर्णा भविष्यति ततोऽचिरात् ।
करभारभयाद् विप्रा भंजिष्यन्ति दिशो दश ॥७२॥

सारी पृथ्वी थोड़े ही समयमें म्लेच्छोंसे भर जायगी । ब्राह्मणलोग करोंके भारसे भयभीत होकर दसों दिशाओंकी शरण लेंगे ॥ ७२ ॥

निर्विशेषा जनपदास्तथा विष्टिकरार्दिताः ।
आश्रमानुपलप्स्यन्ति फलमूलोपजीविनः ॥७३॥

सारे जनपद एक-जैसे आचार और वेशभूषा बना लेंगे । लोग बेगार लेनेवालों और कर लेनेवालोंसे पीड़ित हो एकान्त आश्रमोंमें चले जायँगे और फल-मूल खाकर जीवन-निर्वाह करेंगे ॥ ७३ ॥

एवं पर्याकुले लोके मर्यादा न भविष्यति ।
न स्थास्यन्त्युपदेशे च शिष्या विप्रियकारिणः ॥७४॥

इस तरह उथल-पुथल मच जानेपर संसारमें कोई मर्यादा नहीं रह जायगी । शिष्य गुरुके उपदेशपर नहीं चलेंगे । वे उल्टे उनका अहित करेंगे ॥ ७४ ॥

आचार्योऽपनिधिश्चैव भर्त्स्यते तदनन्तरम् ।
अर्थयुक्त्या प्रवत्स्यन्ति मित्रसम्बन्धिबान्धवाः ॥७५॥

अपने कुलका आचार्य भी यदि निर्धन हो तो उसे निरन्तर शिष्योंकी डाट-फटकार सुननी पड़ेगी । मित्र, सम्बन्धी या भाई-बन्धु धनके लालचसे ही अपने पास रहेंगे ॥ ७५ ॥

अभावः सर्वभूतानां युगान्ते सम्भविष्यति ।
दिशः प्रज्वलिताः सर्वा नक्षत्राण्यप्रभाणि च ॥७६॥

युगान्तकाल आनेपर समस्त प्राणियोंका अभाव हो जायगा । सारी दिशाएँ प्रज्वलित हो उठेंगी और नक्षत्रोंकी प्रभा विलुप्त हो जायगी ॥ ७६ ॥

ज्योतींषि प्रतिकूलानि वाताः पर्याकुलास्तथा ।
उल्कापाताश्च बहवो महाभयनिदर्शकाः ॥७७॥

ग्रह उल्टी गतिसे चलने लगेंगे । हवा इतनी जोरसे चलेगी कि लोग व्याकुल हो उठेंगे । महान् भयकी सूचना देनेवाले उल्कापात बार-बार होते रहेंगे ॥ ७७ ॥

षड्भिरन्यैश्च सहितो भास्करः प्रतपिष्यति ।
तुमुलाश्चापि निर्ह्रादा दिग्दाहाश्चापि सर्वशः ॥७८॥

एक सूर्य तो है ही, छः और उदय होंगे और सातों एक साथ तपेंगे । सब ओर बिजलीकी भयानक गड़गड़ाहट होगी, सब दिशाओंमें आग लगेगी ॥ ७८ ॥

कबन्धान्तर्हितो भानुरुदयास्तमने तदा ।
अकालवर्षी भगवान् भविष्यति सहस्रदृक् ॥७९॥

उदय और अस्तके समय सूर्य राहुसे ग्रस्त दिखायी देगा । भगवान् इन्द्र समयपर वर्षा नहीं करेंगे ॥ ७९ ॥

सस्यानि च न रोक्ष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ।
अभीक्ष्णं क्रूरवादिन्यः परुषा रुदितप्रियाः ॥८०॥

युगान्तकाल उपस्थित होनेपर बोयी हुई खेती उगेगी ही नहीं; स्त्रियाँ कठोर स्वभाववाली और सदा कटुवादिनी होंगी । उन्हें रोना ही अधिक पसंद होगा ॥ ८० ॥

भर्तॄणां वचने चैव न स्थास्यन्ति ततः स्त्रियः ।
पुत्राश्च मातापितरौ हनिष्यन्ति युगक्षये ॥८१॥

वे पतिकी आज्ञामें नहीं रहेंगी । युगान्तकालमें पुत्र माता-पिताकी हत्या करेंगे ॥ ८१ ॥

सूदयिष्यन्ति च पतीन् स्त्रियः पुत्रानपाश्रिताः ।
अपर्वणि महाराज सूर्यं राहुरुपैष्यति ॥८२॥

नारियाँ अपने बेटोंसे मिलकर पतिकी हत्या करा देंगी । महाराज ! अमावस्याके बिना ही राहु सूर्यपर ग्रहण लगायेगा ॥

युगान्ते हुतभुक् चापि सर्वतः प्रज्वलिष्यति ।
पानीयं भोजनं चापि याचमानास्तदाध्वगाः ॥८३॥
न लप्स्यन्ते निवासं च निरस्ताः पथि शेरते ।

युगान्तिकाल आनेपर सब ओर आग भी जल उठेगी । उस समय पथिकोंको माँगनेपर कहीं अन्न, जल या ठहरनेके लिये स्थान नहीं मिलेगा । वे सब ओरसे कोरा जवाब पाकर निराश हो सड़कोंपर ही सो रहेंगे ॥ ८३½ ॥

निर्घातवायसा नागाः शकुनाः समृगद्विजाः ॥८४॥
रूक्षा वाचो विमोक्ष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ।
मित्रसम्बन्धिनश्चापि संत्यक्ष्यन्ति नरास्तदा ॥८५॥
जनं परिजनं चापि युगान्ते पर्युपस्थिते ।

युगान्तकाल उपस्थित होनेपर बिजलीकी कड़कके समान कड़वी बोली बोलनेवाले कौवे, हाथी, शकुन, पशु और पक्षी आदि बड़ी कठोर वाणी बोलेंगे । उस समयके मनुष्य अपने मित्रों, सम्बन्धियों, सेवकों तथा कुटुम्बीजनोंको भी अकारण त्याग देंगे ॥ ८४-८५½ ॥

अथ देशान् दिशश्चापि पत्तनानि पुराणि च ॥८६॥
क्रमशः संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ।
हा तात हा सुतेत्येवं तदा वाचः सुदारुणाः ॥८७॥
विक्रोशमानश्चान्योन्यं जनो गां पर्यटिष्यति ।
ततस्तुमुलसङ्घाते वर्तमाने युगक्षये ॥८८॥

प्रायः लोग स्वदेश छोड़कर दूसरे देशों, दिशाओं, नगरों और गाँवोंका आश्रय लेंगे और हा तात ! हा पुत्र ! इत्यादि रूपसे अत्यन्त दुःखद वाणीमें एक-दूसरेको पुकारते हुए इस पृथ्वीपर विचरेंगे । युगान्तकालमें संसारकी यही दशा होगी । उस समय एक ही साथ समस्त लोकोंका भयंकर संहार होगा ॥ ८६--८८ ॥

द्विजातिपूर्वको लोकः क्रमेण प्रभविष्यति ।
ततः कालान्तरेऽन्यस्मिन् पुनर्लोकविवृद्धये ॥८९॥
भविष्यति पुनर्दैवमनुकूलं यदृच्छया ।
यदा सूर्यश्च चन्द्रश्च तथा तिष्यबृहस्पती ॥९०॥
एकराशौ समेष्यन्ति प्रपत्स्यति तदा कृतम् ।
कालवर्षी च पर्जन्यो नक्षत्राणि शुभानि च ॥९१॥

तदनन्तर कालान्तरमें सत्ययुगका आरम्भ होगा और फिर क्रमशः ब्राह्मण आदि वर्ण प्रकट होकर अपने प्रभावका विस्तार करेंगे । उस समय लोकके अभ्युदयके लिये पुनः अनायास दैव अनुकूल होगा । जब सूर्य, चन्द्रमा और बृहस्पति एक साथ पुष्य नक्षत्र एवं तदनुरूप एक राशि कर्कमें पदार्पण करेंगे, तब सत्ययुगका प्रारम्भ होगा । उस समय मेघ समयपर वर्षा करेगा । नक्षत्र शुभ एवं तेजस्वी हो जायँगे ॥ ८९-९१ ॥

प्रदक्षिणा ग्रहाश्चापि भविष्यन्त्यनुलोमगाः ।
क्षेमं सुभिक्षमारोग्यं भविष्यति निरामयम् ॥९२॥

ग्रह प्रदक्षिणाभावसे अनुकूल गतिका आश्रय ले अपने पथपर अग्रसर होंगे । उस समय सबका मङ्गल होगा । देशमें सुकाल आ जायगा । आरोग्यका विस्तार होगा तथा रोग-व्याधिका नाम भी नहीं रहेगा ॥ ९२ ॥

कल्की विष्णुयशा नाम द्विजः कालप्रचोदितः ।
उत्पत्स्यते महावीर्यो महाबुद्धिपराक्रमः ॥९३॥
सम्भूतः सम्भलग्रामे ब्राह्मणावसथे शुभे ।
(महात्मा वृत्तसम्पन्नः प्रजानां हितकृन्नृप ।)

राजन् ! युगान्तके समय कालकी प्रेरणासे सम्भल नामक ग्राममें किसी ब्राह्मणके मङ्गलमय गृहमें एक महान् शक्तिशाली बालक प्रकट होगा, जिसका नाम होगा विष्णुयशा कल्की । वह महान् बुद्धि एवं पराक्रमसे सम्पन्न महात्मा, सदाचारी तथा प्रजावर्गका हितैषी होगा । (वह बालक ही भगवान्का कल्की अवतार कहलायेगा) ॥ ९३½ ॥

मनसा तस्य सर्वाणि वाहनान्यायुधानि च ॥९४॥
उपस्थास्यन्ति योधाश्च शस्त्राणि कवचानि च ।
स धर्मविजयी राजा चक्रवर्ती भविष्यति ॥९५॥

मनके द्वारा चिन्तन करते ही उसके पास इच्छानुसार वाहन, अस्त्र-शस्त्र, योद्धा और कवच उपस्थित हो जायँगे । वह धर्म-विजयी चक्रवर्ती राजा होगा ॥ ९४-९५ ॥

स चेमं संकुलं लोकं प्रसादमुपनेष्यति ।
उत्थितो ब्राह्मणो दीप्तः क्षयान्तकृदुदारधीः ॥९६॥

वह उदारबुद्धि, तेजस्वी ब्राह्मण, दुःखसे व्याप्त हुए इस जगत्को आनन्द प्रदान करेगा । कलियुगका अन्त करनेके लिये ही उसका प्रादुर्भाव होगा ॥ ९६ ॥

संक्षेपको हि सर्वस्य युगस्य परिवर्तकः ।
स सर्वत्र गतान् क्षुद्रान् ब्राह्मणैः परिवारितः ।
उत्सादयिष्यति तदा सर्वम्लेच्छगणान् द्विजः ॥९७॥

वही सम्पूर्ण कलियुगका संहार करके नूतन सत्ययुगका प्रवर्तक होगा । वह ब्राह्मणोंसे घिरा हुआ सर्वत्र विचरेगा और भूमण्डलमें सर्वत्र फैले हुए नीच स्वभाववाले सम्पूर्ण म्लेच्छोंका संहार कर डालेगा ॥ ९७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि भविष्यकथने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें भविष्यवर्णनविषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ९७½ श्लोक हैं)

एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् कल्कीके द्वारा सत्ययुगकी स्थापना और मार्कण्डेयजीका युधिष्ठिरके लिये धर्मोपदेश

मार्कण्डेय उवाच

ततश्चोरक्षयं कृत्वा द्विजेभ्यः पृथिवीमिमाम्।
वाजिमेधे महायज्ञे विधिवत् कल्पयिष्यति ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं--युधिष्ठिर ! उस समय चोर-डाकुओं एवं म्लेच्छोंका विनाश करके भगवान् कल्की अश्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान करेंगे और उसमें यह सारी पृथ्वी विधिपूर्वक ब्राह्मणोंको दे डालेंगे ॥ १ ॥

स्थापयित्वा च मर्यादाः स्वयम्भुविहिताः शुभाः।
वनं पुण्ययशःकर्मा रमणीयं प्रवेक्ष्यति ॥ २ ॥

उनका यश तथा कर्म सभी परम पावन होंगे। वे ब्रह्माजीकी चलायी हुई मङ्गलमयी मर्यादाओंकी स्थापना करके (तपस्याके लिये) रमणीय वनमें प्रवेश करेंगे ॥ २ ॥

तच्छीलमनुवर्त्स्यन्ति मनुष्या लोकवासिनः।
विप्रैश्चोरक्षये चैव कृते क्षेमं भविष्यति ॥ ३ ॥

फिर इस जगत्के निवासी मनुष्य उनके शील-स्वभावका अनुकरण करेंगे । इस प्रकार सत्ययुगमें ब्राह्मणोंद्वारा दस्यु-दलका विनाश हो जानेपर संसारका मङ्गल होगा ॥ ३ ॥

कृष्णाजिनानि शक्तीश्च त्रिशूलान्यायुधानि च।
स्थापयन् द्विजशार्दूलो देशेषु विजितेषु च ॥ ४ ॥
संस्तूयमानो विप्रेन्द्रैर्मानयानो द्विजोत्तमान्।
कल्की चरिष्यति महीं सदा दस्युवधे रतः ॥ ५ ॥

द्विजश्रेष्ठ कल्की सदा दस्युवधमें तत्पर रहकर समस्त भूतलपर विचरते रहेंगे और अपनेद्वारा जीते हुए देशोंमें काले मृगचर्म, शक्ति, त्रिशूल तथा अन्य अस्त्र-शस्त्रोंकी स्थापना करते हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा अपनी स्तुति सुनेंगे और स्वयं भी उन ब्राह्मणशिरोमणियोंको यथोचित सम्मान देंगे ॥ ४-५ ॥

हा मातस्तात पुत्रेति तास्ता वाचः सुदारुणाः।
विक्रोशमानान् सुभृशं दस्यून् नेष्यति संक्षयम् ॥ ६ ॥
ततोऽधर्मविनाशो वै धर्मवृद्धिश्च भारत।
भविष्यति कृते प्राप्ते क्रियावांश्च जनस्तथा ॥ ७ ॥

उस समय चोर और लुटेरे दर्दभरी वाणीमें 'हाय मैया' 'हाय बप्पा' और 'हाय बेटा' इत्यादि कहकर जोर-जोरसे चीत्कार करेंगे और उन सबका भगवान् कल्की विनाश कर डालेंगे । भारत ! दस्युओंके नष्ट हो जानेपर अधर्मका भी नाश हो जायगा और धर्मकी वृद्धि होने लगेगी । इस प्रकार सत्ययुग आ जानेपर सब मनुष्य सत्यकर्मपरायण होंगे ॥ ६-७ ॥

आरामाश्चैव चैत्याश्च तटाकावसथास्तथा।
पुष्करिण्यश्च विविधा देवतायतनानि च ॥ ८ ॥
यज्ञक्रियाश्च विविधा भविष्यन्ति कृते युगे।
ब्राह्मणाः साधवश्चैव मुनयश्च तपस्विनः ॥ ९ ॥

उस युगमें नये-नये बगीचे लगाये जायँगे । चैत्यवृक्षोंकी स्थापना होगी । पोखरों और धर्मशालाओंका निर्माण होगा । भाँति-भाँतिकी पोखरियाँ तैयार होंगी । कितने ही देवमन्दिर बनेंगे और नाना प्रकारके यज्ञकर्मोंका अनुष्ठान होगा । ब्राह्मण साधु-स्वभावके होंगे । मुनिलोग तपस्यामें तत्पर रहेंगे ॥ ८-९ ॥

आश्रमा हतपाखण्डाः स्थिताः सत्यरताः प्रजाः।
जनिष्यन्ते च बीजानि रोप्यमाणानि चैव ह ॥ १० ॥

आश्रम पाखण्डियोंसे रहित होंगे और सारी प्रजा सत्य-परायण होगी । खेतोंमें बोये जानेवाले सब प्रकारके बीज अच्छी तरह उगेंगे ॥ १० ॥

सर्वेष्वृतुषु राजेन्द्र सर्वं सस्यं भविष्यति।
नरा दानेषु निरता व्रतेषु नियमेषु च ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! सभी ऋतुओंमें सभी प्रकारके अनाज पैदा होंगे । सब लोग दान, व्रत और नियमोंमें लगे रहेंगे ॥ ११ ॥

जपयज्ञपरा विप्रा धर्मकामा मुदा युताः।
पालयिष्यन्ति राजानो धर्मेणेमां वसुन्धराम् ॥ १२ ॥

ब्राह्मण प्रसन्नतापूर्वक जपयज्ञमें तत्पर रहेंगे और धर्ममें ही उनकी रुचि होगी । क्षत्रियनरेश धर्मपूर्वक इस पृथ्वीका पालन करेंगे ॥ १२ ॥

व्यवहाररता वैश्या भविष्यन्ति कृते युगे।
षट्कर्मनिरता विप्राः क्षत्रिया विक्रमे रताः ॥ १३ ॥
शुश्रूषायां रताः शूद्रास्तथा वर्णत्रयस्य च।

सत्ययुगके वैश्य सदा न्यायपूर्वक व्यापार करनेवाले होंगे । ब्राह्मण यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंमें तत्पर रहेंगे । क्षत्रिय बल-पराक्रममें अनुराग रखेंगे तथा शूद्र ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंकी सेवामें लगे रहेंगे ॥ १३½ ॥

एष धर्मः कृतयुगे त्रेतायां द्वापरे तथा ॥ १४ ॥
पश्चिमे युगकाले च यः स ते सम्प्रकीर्तितः।
सर्वलोकस्य विदिता युगसंख्या च पाण्डव ॥ १५ ॥

धर्मका यह स्वरूप सत्ययुगमें अक्षुण्ण रहेगा । त्रेता, द्वापर तथा कलियुगमें धर्मकी जैसी स्थिति रहेगी, उसका वर्णन तुमसे किया जा चुका है । पाण्डुनन्दन ! तुम्हें सम्पूर्ण लोककी युग-संख्याका ज्ञान भी हो चुका है ॥ १४-१५ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं तथा।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुतम् ॥ १६ ॥

राजन् ! ऋषियोंद्वारा प्रशंसित तथा वायुदेवद्वारा वर्णित पुराणकी बातोंका स्मरण करके मैंने तुमसे यह भूत-भविष्यका सारा वृत्तान्त बताया है ॥ १६ ॥

एवं संसारमार्गा मे बहुशश्चिरजीविना।
दृष्टाश्चैवानुभूताश्च तांस्ते कथितवानहम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार चिरजीवी होनेके कारण मैंने संसारके मार्गोंका अनेक बार दर्शन और अनुभव किया है, जिनका तुम्हारे समक्ष वर्णन कर दिया है ॥ १७ ॥

इदं चैवापरं भूयः सह भ्रातृभिरच्युत।
धर्मसंशयमोक्षार्थं निबोध वचनं मम ॥ १८ ॥

धर्ममर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले युधिष्ठिर ! तुम अपने भाइयोंसहित यह मेरी एक बात और सुनो । धर्म-विषयक संदेहका निवारण करनेके लिये मेरे वचनको ध्यान देकर सुनो ॥ १८ ॥

धर्मे त्वयाऽऽत्मा संयोज्यो नित्यं धर्मभृतां वर।
धर्मात्मा हि सुखं राजन् प्रेत्य चेह च नन्दति ॥ १९ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाराज ! तुम्हें अपने आपको सदा धर्ममें ही लगाये रखना चाहिये; क्योंकि धर्मात्मा मनुष्य इस लोक और परलोकमें भी बड़े सुखसे रहता है ॥ १९ ॥

निबोध च शुभां वाणीं यां प्रवक्ष्यामि तेऽनघ।
न ब्राह्मणे परिभवः कर्तव्यस्ते कदाचन ॥ २० ॥
ब्राह्मणः कुपितो हन्यादपि लोकान् प्रतिज्ञया।

निष्पाप नरेश ! मेरी इस कल्याणमयी वाणीको समझो, जिसे मैं अभी तुम्हें सुना रहा हूँ । युधिष्ठिर ! तुम्हें कभी किसी ब्राह्मणका तिरस्कार नहीं करना चाहिये; क्योंकि यदि ब्राह्मण कुपित हो जाय और किसी बातकी प्रतिज्ञा कर ले, तो वह उस प्रतिज्ञाके अनुसार सम्पूर्ण लोकोंका विनाश कर सकता है ॥ २०½ ॥

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयवचः श्रुत्वा कुरूणां प्रवरो नृपः ॥ २१ ॥
उवाच वचनं धीमान् परमं परमद्युतिः।

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! मार्कण्डेयजीकी यह बात सुनकर परम तेजस्वी और बुद्धिमान् कुरुकुलरत्न राजा युधिष्ठिरने यह उत्तम वचन कहा-॥ २१½ ॥

कस्मिन् धर्मे मया स्थेयं प्रजाः संरक्षता मुने ॥ २२ ॥
कथं च वर्तमानो वै न च्यवेयं स्वधर्मतः।

'मुने ! प्रजाकी रक्षा करते हुए किस धर्ममें स्थित रहना चाहिये । मेरा व्यवहार और बर्ताव कैसा हो, जिससे मैं स्वधर्मसे कभी च्युत न होऊँ ?' ॥ २२½ ॥

मार्कण्डेय उवाच

दयावान् सर्वभूतेषु हितो रक्तोऽनसूयकः ॥ २३ ॥

सत्यवादी मृदुर्दान्तः प्रजानां रक्षणे रतः।
चर धर्मं त्यजाधर्मं पितॄन् देवांश्च पूजय ॥ २४ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन् ! तुम सब प्राणियोंपर दया करो । सबके हितैषी बने रहो । सबपर प्रेमभाव रखो और किसीमें दोषदृष्टि मत करो । सत्यवादी, कोमलस्वभाव, जितेन्द्रिय और प्रजापालनमें तत्पर रहकर धर्मका आचरण करो । अधर्मको दूरसे ही त्याग दो तथा देवता और पितरोंकी आराधना करते रहो ॥ २३-२४ ॥

प्रमादाद् यत् कृतं तेऽभूत् सम्यग् दानेन तज्जय।
अलं ते मानमाश्रित्य सततं परवान् भव ॥ २५ ॥

यदि प्रमादवश तुम्हारेद्वारा किसीके प्रति कोई अनुचित व्यवहार हो गया हो तो उसे अच्छी प्रकार दानसे संतुष्ट करके वशमें करो । मैं सबका स्वामी हूँ, ऐसे अहंकार-को कभी पासमें न आने दो । तुम अपनेको सदा पराधीन समझते रहो ॥ २५ ॥

विजित्य पृथिवीं सर्वां मोदमानः सुखी भव।
एष भूतो भविष्यश्च धर्मस्ते समुदीरितः ॥ २६ ॥
न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिदतीतानागतं भुवि।
तस्मादिमं परिक्लेशं त्वं तात हृदि मा कृथाः ॥ २७ ॥

सारी पृथ्वीको जीतकर सदा सानन्द और सुखी रहो । तात युधिष्ठिर ! मैंने तुम्हें जो यह धर्म बताया है, इसका पालन भूतकालमें भी हुआ है और भविष्यकालमें भी इसका पालन होना चाहिये । भूत और भविष्यकी ऐसी कोई बात नहीं है, जो तुम्हें ज्ञात न हो; अतः इस समय जो यह क्लेश तुम्हें प्राप्त हुआ है, इसके लिये हृदयमें कोई विचार न करो ॥ २६-२७ ॥

प्राज्ञास्तात न मुह्यन्ति कालेनापि प्रपीडिताः।
एष कालो महाबाहो अपि सर्वदिवौकसाम् ॥ २८ ॥

तात ! विद्वान् पुरुष कालसे पीड़ित होनेपर भी कभी मोहमें नहीं पड़ते । महाबाहो ! यह काल सम्पूर्ण देवताओंपर भी अपना प्रभाव डालता है ॥ २८ ॥

मुह्यन्ति हि प्रजास्तात कालेनापि प्रचोदिताः।
मा च तत्र विशङ्काभूद् यन्मयोक्तं तवानघ ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर ! कालसे प्रेरित होकर ही यह सारी प्रजा मोह-ग्रस्त होती है । अनघ ! मैंने तुम्हारे सामने जो कुछ भी कहा है उसमें तुम्हें किसी प्रकारकी शङ्का नहीं होनी चाहिये ॥ २९ ॥

आशङ्क्य मद्वचो ह्येतद् धर्मलोपो भवेत् तव।
जातोऽसि प्रथिते वंशे कुरूणां भरतर्षभ ॥ ३० ॥
कर्मणा मनसा वाचा सर्वमेतत् समाचर।

मेरे इस वचनमें संदेह करनेपर तुम्हारे धर्मका लोप होगा । भरतकुलभूषण ! तुम कौरवोंके प्रख्यात कुलमें उत्पन्न हुए हो; अतः मन, वाणी और क्रियाद्वारा इन सब बातोंका पालन करो ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर उवाच

यत् त्वयोक्तं द्विजश्रेष्ठ वाक्यं श्रुतिमनोहरम् ॥ ३१ ॥
तथा करिष्ये यत्नेन भवतः शासनं विभो ।
न मे लोभोऽस्ति विप्रेन्द्र न भयं न च मत्सरः ॥ ३२ ॥
करिष्यामि हि तत् सर्वमुक्तं यत् ते मयि प्रभो ।

युधिष्ठिरने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! आपने मुझे जो उपदेश दिया है, वह मेरे कानोंको मधुर एवं मनको प्रिय लगा है । विभो ! मैं आपकी आज्ञाका यत्नपूर्वक पालन करूँगा । ब्राह्मणश्रेष्ठ ! मेरे मनमें लोभ, भय और ईर्ष्या नहीं है । प्रभो ! आपने मेरे लिये जो कहा है, इसका अवश्य पालन करूँगा ॥ ३१-३२½ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु वचनं तस्य मार्कण्डेयस्य धीमतः ॥ ३३ ॥
संहृष्टाः पाण्डवा राजन् सहिताः शार्ङ्गधन्वना ।
विप्रर्षभाश्च ते सर्वे ये तत्रासन् समागताः ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उन परम बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीका वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्णसहित पाँचों पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए । साथ ही जो श्रेष्ठ ब्राह्मण वहाँ पधारे थे, उन सबको भी बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३३-३४ ॥

तथा कथां शुभां श्रुत्वा मार्कण्डेयस्य धीमतः ।
विस्मिताः समपद्यन्त पुराणस्य निवेदनात् ॥ ३५ ॥

बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीके मुखसे वह मङ्गलमयी कथा सुनकर पुराणोक्त बातोंका ज्ञान हो जानेसे सब लोग बड़े ही विस्मित और प्रसन्न हुए ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि युधिष्ठिरानुशासने एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें युधिष्ठिरके लिये उपदेशविषयक एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९१ ॥

द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

इक्ष्वाकुवंशी परीक्षित्‌का मण्डूकराजकी कन्यासे विवाह, शल और दलके चरित्र तथा वामदेव मुनिकी महत्ता

वैशम्पायन उवाच

भूय एव ब्राह्मणमहाभाग्यं वक्तुमर्हसीत्यब्रवीत् पाण्डवेयो मार्कण्डेयम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने मुनिवर मार्कण्डेयसे कहा—'ब्रह्मन् ! पुनः ब्राह्मणोंकी महिमाका वर्णन कीजिये' ॥ १ ॥

अथाचष्ट मार्कण्डेयोऽपूर्वमिदं श्रूयतां ब्राह्मणानां चरितम् ॥ २ ॥

तब मार्कण्डेयजीने कहा—'राजन् ! ब्राह्मणोंके इस अद्भुत चरित्रका श्रवण करो ॥ २ ॥

अयोध्यायामिक्ष्वाकुकुलोद्वहः पार्थिवः परिक्षिन्नाम मृगयामगमत् ॥ ३ ॥

'अयोध्यापुरीमें इक्ष्वाकुकुलके धुरंधर वीर राजा परीक्षित् रहते थे । वे एक दिन शिकार खेलनेके लिये गये ॥ ३ ॥

तमेकाश्वेन मृगमनुसरन्तं मृगो दूरमपाहरत् ॥ ४ ॥

'उन्होंने एकमात्र अश्वकी सहायतासे एक हिंसक पशुका पीछा किया । वह पशु उन्हें बहुत दूर हटा ले गया ॥ ४ ॥

अध्वनि जातश्रमः क्षुत्तृष्णाभिभूतश्चैकस्मिन् देशे नीलं गहनं वनखण्डमपश्यत् ॥ ५ ॥

'मार्गमें उन्हें बड़ी थकावट हुई और वे भूख-प्याससे व्याकुल हो गये । उसी समय उन्हें एक ओर नीले रंगका एक दूसरा वन दिखायी दिया, जो और भी घना था ॥ ५ ॥

तच्च विवेश ततस्तस्य वनखण्डस्य मध्येऽतीव रमणीयं सरो दृष्ट्वा साश्व एव व्यगाहत ॥ ६ ॥

'तत्पश्चात् राजाने उसके भीतर प्रवेश किया । उस वनस्थलीके मध्यभागमें एक अत्यन्त रमणीय सरोवर था । उसे देखकर राजा घोड़ेसहित सरोवरके जलमें घुस गये ॥ ६ ॥

अथाश्वस्तः स बिसमृणालमश्वायाग्रतो निक्षिप्य पुष्करिणीतीरे संविवेश । ततः शयानो मधुरं गीतमशृणोत् ॥ ७ ॥

'जल पीकर जब वे कुछ आश्वस्त हुए, तब घोड़ेके आगे कुछ कमलकी नालें डालकर स्वयं उस सरोवरके तटपर लेट गये । लेटे-ही-लेटे उनके कानोंमें कहींसे मधुर गीतकी ध्वनि सुनायी पड़ी ॥ ७ ॥

स श्रुत्वाचिन्तयन्नेह मनुष्यगतिं पश्यामि कस्य खल्वयं गीतशब्द इति ॥ ८ ॥

'उसे सुनकर राजा सोचने लगे कि 'यहाँ मनुष्योंकी गति तो नहीं दिखायी देती । फिर यह किसके गीतका शब्द सुनायी देता है' ॥ ८ ॥

अथापश्यत् कन्यां परमरूपदर्शनीयां पुष्पाण्यवचिन्वन्तीं गायन्तीं च । अथ सा राज्ञः समीपे पर्यक्रामत् ॥ ९ ॥

'इतनेहीमें उनकी दृष्टि एक कन्यापर पड़ी, जो अपने परम सुन्दर रूपके कारण देखने ही योग्य थी । वह वनके फूल चुनती हुई गीत गा रही थी। धीरे-धीरे भ्रमण करती हुई वह राजाके समीप आ गयी ॥ ९ ॥

तामब्रवीद् राजा कस्यासि भद्रे का वा त्वमिति । सा प्रत्युवाच कन्या स्मीति तां राजोवाचार्थी त्वयाहमिति ॥ १० ॥

'तब राजाने उससे पूछा--'कल्याणी ! तुम कौन और किसकी हो ?' उसने उत्तर दिया-'मैं कन्या हूँ-अभी मेरा विवाह नहीं हुआ है ।' तब राजाने उससे कहा-'भद्रे ! मैं तुझे चाहता हूँ' ॥ १० ॥

अथोवाच कन्या समयेनाहं शक्या त्वया लब्धुं नान्यथेति राजा तां समयमपृच्छत् । कन्योवाच नोदकं मे दर्शयितव्यमिति ॥ ११ ॥

'कन्या बोली' तुम मुझे एक शर्तके साथ पा सकते हो अन्यथा नहीं।' राजाने उससे वह शर्त पूछी। कन्याने कहा— 'मुझे कभी जलका दर्शन न कराना' ॥ ११ ॥

स राजा तां बाढमित्युक्त्वा तामुपयेमे कृतोद्वाहश्च राजा परिक्षित् क्रीडमानो मुदा परमया युक्तस्तूष्णीं सङ्गम्य तया सहास्ते ॥ १२ ॥

'तब राजाने उससे 'बहुत अच्छा' कहकर उससे (गान्धर्व) विवाह किया । विवाहके पश्चात् राजा परीक्षित् अत्यन्त आनन्दपूर्वक उसके साथ क्रीड़ा-विहार करने लगे और एकान्तमें मिलकर उसके साथ चुपचाप बैठे रहे ॥ २२ ॥

ततस्तत्रैवासीने राजनि सेनान्वगच्छत् ॥ १३ ॥

'राजा अभी वहीं बैठे थे, इतनेहीमें उनकी सेना आ पहुँची ॥ १३ ॥

सा सेनोपविष्टं राजानं परिवार्यातिष्ठत् । पर्याश्वस्तश्च राजा तयैव सह शिबिकया प्रायादवघोटितया स स्वं नगरमनुप्राप्य रहसि तया सहास्ते ॥ १४ ॥

'वह सेना अपने बैठे हुए राजाको चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयी । अच्छी तरह सुस्ता लेनेके पश्चात् राजा एक साफ-सुथरी चिकनी पालकीमें उसीके साथ बैठकर अपने नगरको चल दिये और वहाँ पहुँचकर उस नवविवाहिता सुन्दरीके साथ एकान्तवास करने लगे ॥ १४ ॥

तत्राभ्याशस्थोऽपि कश्चिन्नापश्यदथ प्रधानामात्योऽभ्याशचरास्तस्य स्त्रियोऽपृच्छत् ॥ १५ ॥

'वहाँ निकट होते हुए भी कोई उनका दर्शन नहीं कर पाता था । तब एक दिन प्रधान मन्त्रीने राजाके पास रहनेवाली स्त्रियोंसे पूछा—॥ १५ ॥

किमत्र प्रयोजनं वर्तते इत्यथाब्रुवंस्ताः स्त्रियः ॥ १६ ॥

'यहाँ तुम्हारा क्या काम है ?' उनके ऐसा पूछनेपर उन स्त्रियोंने कहा-॥ १६ ॥

अपूर्वमिव पश्याम उदकं नात्र नीयत इत्यथामात्योऽनुदकं वनं कारयित्वोदारवृक्षं बहुपुष्पफलमूलं तस्य मध्ये मुक्ताजालमयीं पार्श्वे वापीं गूढां सुधासलिललिप्तां स रहस्युपगम्य राजानमब्रवीत् ॥ १७ ॥

'हमें यहाँ एक अद्भुत-सी बात दिखायी देती है । महाराजके अन्तःपुरमें पानी नहीं जाने पाता है । (हमलोग इसीकी चौकसी करती हैं ।)' उनकी यह बात सुनकर प्रधान मन्त्रीने एक बाग लगवाया, जिसमें प्रत्यक्षरूपसे कोई जलाशय नहीं था । उसमें बड़े सुन्दर और ऊँचे-ऊँचे वृक्ष लगवाये गये थे । वहाँ फल-फूल और कन्द-मूलकी भी बहुतायत थी । उस उपवनके मध्यभागमें एक किनारेकी ओर सुधाके समान स्वच्छ जलसे भरी हुई एक बावली भी बनवायी थी, जो मोतियोंके जालसे निर्मित थी । उस बावलीको (लताओंद्वारा) बाहरसे ढक दिया गया था । उस उद्यानके तैयार हो जानेपर मन्त्रीने किसी दिन राजासे मिलकर कहा—॥ १७ ॥

वनमिदमुदारकं साध्वत्र रम्यतामिति ॥ १८ ॥

'महाराज ! यह वन बहुत सुन्दर है, आप इसमें भलीभाँति विहार करें' ॥ १८ ॥

स तस्य वचनात् तयैव सह देव्या तद् वनं प्राविशत् । स कदाचित् तस्मिन् कानने रम्ये तयैव सह व्यवाहरदथ क्षुत्तृष्णार्दितः श्रान्तोऽतिमुक्तकागारमपश्यत् ॥ १९ ॥

'मन्त्रीके कहनेसे राजाने उसी नवविवाहिता रानीके साथ उस वनमें प्रवेश किया । एक दिन महाराज परीक्षित् उस रमणीय उद्यानमें अपनी उसी प्रियतमाके साथ विहार कर रहे थे । विहार करते-करते जब वे थक गये और भूख-प्याससे बहुत पीड़ित हो गये, तब उन्हें वासन्ती लताद्वारा निर्मित एक मनोहर मण्डप दिखायी दिया ॥ १९ ॥

तत् प्रविश्य राजा सह प्रियया सुधाकृतां विमलां सलिलपूर्णां वापीमपश्यत् ॥ २० ॥

'उस मण्डपमें प्रियासहित प्रवेश करके राजाने सुधाके समान स्वच्छ जलसे परिपूर्ण वह बावली देखी ॥ २० ॥

दृष्ट्वैव च तां तस्याश्च तीरे सहैव तया देव्या-व्यतिष्ठत् ॥ २१ ॥

'उसे देखकर वे अपनी रानीके साथ उसीके तटपर खड़े हुए ॥ २१ ॥

अथ तां देवीं स राजाब्रवीत् साध्ववतर वापीसलिलमिति । सा तद्वचः श्रुत्वावतीर्य वापीं न्यमज्जन्न पुनरुदमज्जत् ॥ २२ ॥

'उस समय राजाने उस रानीसे कहा—'देवि ! सावधानीके साथ इस बावलीके जलमें उतरो ।' राजाकी यह बात सुनकर उसने बावलीमें घुसकर गोता लगाया और फिर बाहर नहीं निकली ॥ २२ ॥

तां स मृगयमाणो राजा नापश्यद् वापीमथ निःस्राव्य मण्डूकं श्वभ्रमुखे दृष्ट्वा क्रुद्ध आज्ञापयामास स राजा ॥ २३ ॥

सर्वत्र मण्डूकवधः क्रियतामिति यो मयार्थी स मां मृतमण्डूकोपायनमादायोपतिष्ठेदिति ॥ २४ ॥

'राजाने उस वापीमें रानीकी बहुत खोज की, परंतु वह कहीं दिखायी न दी । तब उन्होंने बावलीका सारा जल निकलवा दिया । इसके बाद एक बिलके मुँहपर कोई मेढक दीख पड़ा । इससे राजाको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने आज्ञा दे दी कि 'सर्वत्र मेढकोंका वध किया जाय । जो मुझसे मिलना चाहे, वह मरे हुए मेढकका ही उपहार लेकर मेरे पास आवे' ॥ २३-२४ ॥

अथ मण्डूकवधे घोरे क्रियमाणे दिक्षु सर्वासु मण्डूकान् भयमाविवेश । ते भीता मण्डूकराज्ञे यथावृत्तं न्यवेदयन् ॥ २५ ॥

'इस आज्ञाके अनुसार चारों ओर मेढकोंका भयंकर संहार आरम्भ हो गया । इससे सब दिशाओंके मेढकोंके मनमें भय समा गया । वे डरकर मण्डूकराजके पास गये और उनसे सब वृत्तान्त ठीक-ठीक बता दिया ॥ २५ ॥

ततो मण्डूकराट् तापसवेषधारी राजानमभ्यगच्छदुपेत्य चैनमुवाच ॥ २६ ॥

'तब मण्डूकराज तपस्वीका वेष धारण करके राजाके पास गया और निकट पहुँचकर उससे इस प्रकार बोला—॥२६॥

मा राजन् क्रोधवशं गमः प्रसादं कुरु नार्हसि मण्डूकानामनपराधिनां वधं कर्तुमिति । श्लोकौ चात्र भवतः—॥ २७ ॥

'राजन् ! आप क्रोधके वशीभूत न हों । हमपर कृपा करें । निरपराध मेढकोंका वध न करावें ।' इस विषयमें ये दो श्लोक भी प्रसिद्ध हैं— ॥ २७ ॥

मा मण्डूकान् जिघांस त्वं कोपं संधारयाच्युत ।
प्रक्षीयते धनोद्रेको जनानामविजानताम् ॥ २८ ॥

अच्युत ! आप मेढकोंको मारनेकी इच्छा न करें । अपने क्रोधको रोकें; क्योंकि अविवेकसे काम लेनेवाले मनुष्योंके धनकी वृद्धि नष्ट हो जाती है ॥ २८ ॥

प्रतिजानीहि नैतांस्त्वं प्राप्य क्रोधं विमोक्ष्यसि ।
अलं कृत्वा तवाधर्मं मण्डूकैः किं हतैर्हि ते ॥ २९ ॥

'प्रतिज्ञा करें कि इन मेढकोंको पाकर आप क्रोध नहीं करेंगे; यह अधर्म करनेसे आपको क्या लाभ है ? मण्डूकोंकी हत्यासे आपको क्या मिलेगा ?' ॥ २९ ॥

तमेवंवादिनमिष्टजनशोकपरीतात्मा राजाथोवाच ॥ ३० ॥

राजाका हृदय अपनी प्यारी रानीके विनाशके शोकसे दग्ध हो रहा था । उन्होंने उपर्युक्त बातें कहनेवाले मण्डूकराजसे कहा—॥ ३० ॥

न हि क्षम्यते तन्मया हनिष्याम्येतानेतैर्दुरात्मभिः प्रिया मे भक्षिता सर्वथैव मे वध्या मण्डूका नार्हसि विद्वन् मामुपरोद्धुमिति ॥ ३१ ॥

'मैं क्षमा नहीं कर सकता । इन मेढकोंको अवश्य मारूँगा । इन दुरात्माओंने मेरी प्रियतमाको खा लिया है । अतः ये मेढक मेरे लिये सर्वथा वध्य ही हैं । विद्वन् ! आप मुझे उनके वधसे न रोकें' ॥ ३१ ॥

स तद् वाक्यमुपलभ्य व्यथितेन्द्रियमनाः प्रोवाच प्रसीद राजन्नहमायुर्नाम मण्डूकराजो मम सा दुहिता सुशोभना नाम । तस्या हि दौःशील्यमेतद् बहवस्तया राजानो विप्रलब्धाः पूर्वा इति ॥ ३२ ॥

'राजाकी बात सुनकर मण्डूकराजका मन और इन्द्रियाँ व्यथित हो उठीं । वह बोला—'महाराज ! प्रसन्न होइये । मेरा नाम आयु है । मैं मेढकोंका राजा हूँ । जिसे आप अपनी प्रियतमा कहते हैं, वह मेरी ही पुत्री है । उसका नाम सुशोभना है । वह आपको छोड़कर चली गयी, यह उसकी दुष्टता है । उसने पहले भी बहुतसे राजाओंको धोखा दिया है' ॥३२॥

तमब्रवीद् राजा तया समर्थी सा मे दीयतामिति ॥

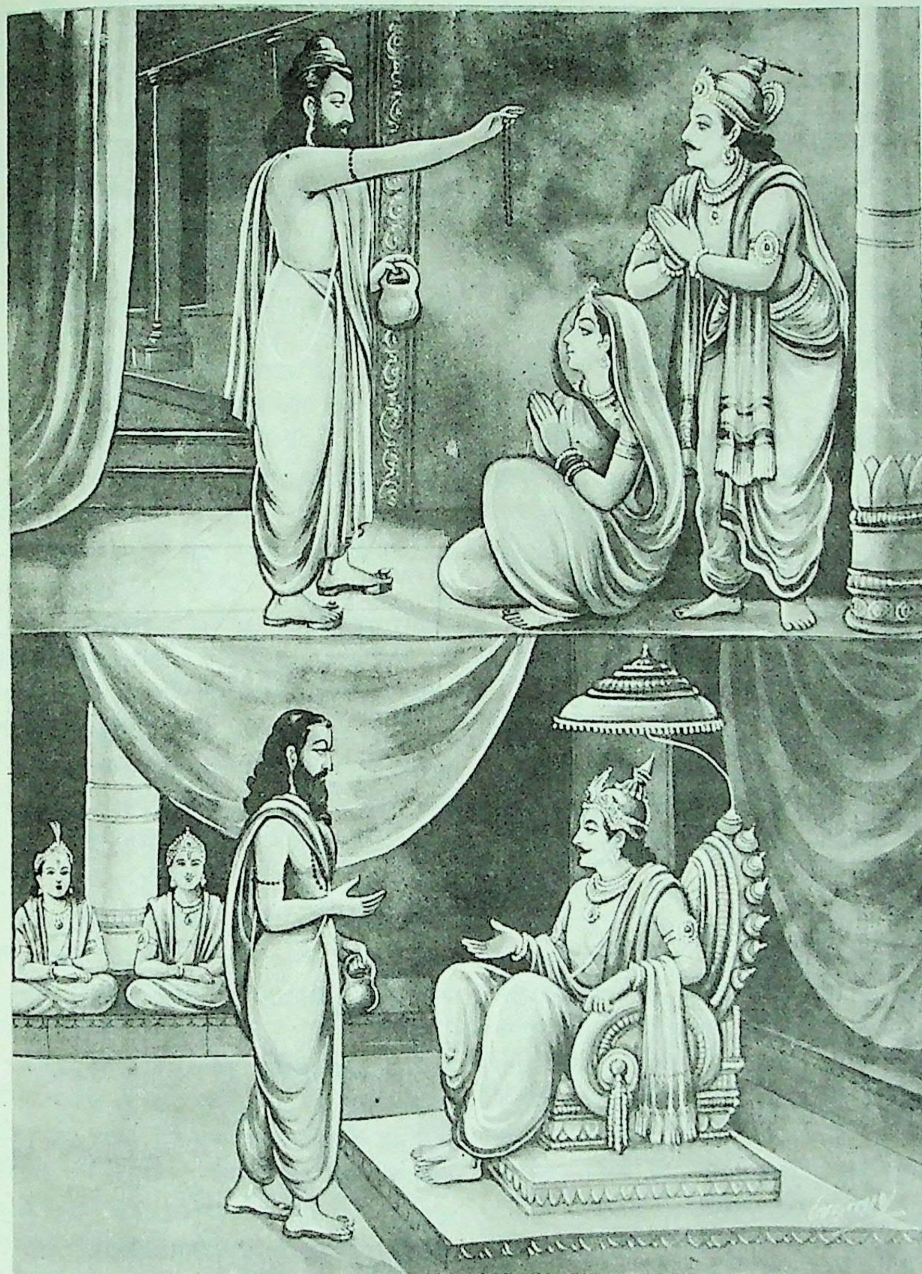
तब राजाने मण्डूकराजसे कहा—'मैं तुम्हारी उस पुत्रीको चाहता हूँ, उसे मुझे समर्पित कर दो' ॥ ३३ ॥

अथैनां राज्ञे पितादादब्रवीच्चैनामेनं राजानं शुश्रूषस्वेति ॥ ३४ ॥

स एवमुक्त्वा दुहितरं क्रुद्धः शशाप यस्मात् त्वया राजानो विप्रलब्धा बहवस्तस्मादब्रह्मण्यानि तवापत्यानि भविष्यन्त्यानृतिकत्वात् तवेति ॥ ३५ ॥

'तब पिता मण्डूकराजने अपनी पुत्री सुशोभना महाराज परीक्षित्‌को समर्पित कर दी और उससे कहा—'बेटी ! सदा

तपस्वीके वेशमें मण्डूकराजका राजाको आश्वासन



ययातिसे ब्राह्मणकी याचना

राजाकी सेवा करती रहना।' ऐसा कहकर मण्डूकराजने जब अपनी पुत्रीके अपराधको याद किया, तब उसे क्रोध हो आया और उसने उसे शाप देते हुए कहा—'अरी! तूने बहुत-से राजाओंको धोखा दिया है, इसलिये तेरी संतानें ब्राह्मण-विरोधी होंगी; क्योंकि तू बड़ी झूठी है' ॥ ३४-३५॥

स च राजा तामुपलभ्य तस्यां सुरतगुणनिबद्धहृदयो लोकत्रयैश्वर्यमिवोपलभ्य हर्षेण बाष्पकलया वाचा प्रणिपत्याभिपूज्य मण्डूकराजमब्रवीदनुगृहीतोऽस्मीति ॥ ३६ ॥

'सुशोभनाके रतिकलासम्बन्धी गुणोंने राजाके मनको बाँध लिया था। वे उसे पाकर ऐसे प्रसन्न हुए, मानो उन्हें तीनों लोकोंका राज्य मिल गया हो। उन्होंने आनन्दके आँसू बहाते हुए मण्डूकराजको प्रणाम किया और उसका यथोचित सत्कार करते हुए हर्षगद्गद वाणीमें कहा—'मण्डूकराज! तुमने मुझपर बड़ी कृपा की है' ॥ ३६ ॥

स च मण्डूकराजो दुहितरमनुज्ञाप्य यथागतमगच्छत् ॥ ३७ ॥

'तत्पश्चात् कन्यासे विदा लेकर मण्डूकराज जैसे आया था, वैसे ही अपने स्थानको चला गया ॥ ३७ ॥

अथ कस्यचित् कालस्य तस्यां कुमारास्त्रयस्तस्य राज्ञः सम्बभूवुः शलो दलो बलश्चेति। ततस्तेषां ज्येष्ठं शलं समये पिता राज्येऽभिषिच्य तपसि धृतात्मा वनं जगाम ॥ ३८ ॥

'कुछ कालके पश्चात् सुशोभनाके गर्भसे राजा परीक्षित्के तीन पुत्र हुए—शल, दल और बल। इनमें शल सबसे बड़ा था। समय आनेपर पिताने शलका राज्याभिषेक करके स्वयं तपस्यामें मन लगाये तपोवनको प्रस्थान किया ॥ ३८ ॥

अथ कदाचिच्छलो मृगयामनुचरन् मृगमासाद्य रथेनान्वधावत् ॥ ३९ ॥

सूतं चोवाच शीघ्रं मां वहस्वेति स तथोक्तः सूतो राजानमब्रवीत् ॥ ४० ॥

न क्रियतामनुबन्धो नैष शक्यस्त्वया मृगोऽयं ग्रहीतुं यद्यपि ते रथे युक्तौ वाम्यौ स्यातामिति। ततोऽब्रवीद् राजा सूतमाचक्ष्व मे वाम्यौ हन्मि च त्वामिति। स एवमुक्तो राजभयभीतः सूतो वामदेवशापभीतश्च सन्नाचख्यौ राज्ञे। ततः पुनः स राजा खड्गमुद्यम्य शीघ्रं कथयस्वेति तमाह हनिष्ये त्वामिति। स तदाऽऽह राजभयभीतः सूतो वामदेवस्याश्वौ वाम्यौ मनोजवाविति ॥ ४१ ॥

'तदनन्तर एक दिन महाराज शल शिकार खेलनेके लिये वनको गये। वहाँ उन्होंने एक हिंसक पशुको सामने पाकर रथके द्वारा ही उसका पीछा किया और सारथिसे कहा—'शीघ्र मुझे मृगके निकट पहुँचाओ'। उनके ऐसा कहनेपर सारथि बोला—'महाराज! आप इस पशुको पकड़नेका आग्रह न करें। यह आपकी पकड़में नहीं आ सकता। यदि आपके रथमें दोनों वाम्य घोड़े जुते होते, तब आप इसे पकड़ लेते।' यह सुनकर राजाने सूतसे पूछा—'सारथे! बताओ, वाम्य घोड़े कौन हैं, अन्यथा मैं तुम्हें अभी मार डालूँगा।' राजाके ऐसा कहनेपर सारथि भयसे काँप उठा। उधर घोड़ोंका परिचय देनेपर उसे वामदेव ऋषिके शापका भी डर था। अतः उसने राजासे कुछ नहीं कहा। तब राजाने पुनः तलवार उठाकर कहा—'अरे! शीघ्र बता, नहीं तो तुझे अभी मार डालूँगा।' तब उसने राजाके भयसे त्रस्त होकर कहा—'महाराज! वामदेव मुनिके पास दो घोड़े हैं जिन्हें 'वाम्य' कहते हैं। वे मनके समान वेगशाली हैं' ॥ ३९—४१ ॥

अथैनमेवं ब्रुवाणमब्रवीद् राजा वामदेवाश्रमं प्रयाहीति स गत्वा वामदेवाश्रमं तमृषिमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

'सारथिके ऐसा कहनेपर राजाने उसे आज्ञा दी, 'चलो वामदेवके आश्रमपर।' वामदेवके आश्रमपर पहुँचकर राजाने उन महर्षिसे कहा—॥ ४२ ॥

भगवन् मृगो मे विद्धः पलायते सम्भावयितुमर्हसि वाम्यौ दातुमिति। तमब्रवीदृषिर्ददानि ते वाम्यौ कृतकार्येण भवता ममैव वाम्यौ निर्यात्यौ क्षिप्रमिति। स च तावश्वौ प्रतिगृह्यानुज्ञाप्य ऋषिं प्रायाद् वामीप्रयुक्तेन रथेन मृगं प्रतिगच्छंश्चाब्रवीत् सूतमश्वरत्नाविमावयोग्यौ ब्राह्मणानां नैतौ प्रतिदेयौ वामदेवायेत्युक्त्वा मृगमवाप्य स्वनगरमेत्याश्वावन्तःपुरेऽस्थापयत् ॥ ४३ ॥

'भगवन्! मेरे बाणोंसे घायल हुआ हिंसक पशु भागा जा रहा है। आप अपने वाम्य अश्व मुझे देनेकी कृपा करें।' तब महर्षिने कहा—'मैं तुम्हें वाम्य अश्व दिये देता हूँ। परंतु जब तुम्हारा कार्य सिद्ध हो जाय, तब तुम शीघ्र ही ये दोनों अश्व मुझे ही लौटा देना।' राजाने दोनों अश्व पाकर ऋषिकी आज्ञा ले वहाँसे प्रस्थान किया। वामी घोड़ोंसे जुते हुए रथके द्वारा हिंसक पशुका पीछा करते हुए वे सारथिसे बोले—'सूत! ये दोनों अश्वरत्न ब्राह्मणोंके पास रहने योग्य नहीं। अतः इन्हें वामदेवके पास लौटानेकी आवश्यकता नहीं है।' ऐसा कहकर राजा हिंसक पशुको साथ ले अपनी राजधानीको चल दिये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने उन दोनों अश्वोंको अन्तःपुरमें बाँध दिया ॥ ४३ ॥

अथर्षिश्चिन्तयामास तरुणो राजपुत्रः कल्याणं पत्रमासाद्य रमते न प्रतिनिर्यातयत्यहो कष्टमिति ॥ ४४ ॥

उधर वामदेव मुनि मन-ही-मन इस प्रकार चिन्ता करने लगे—'अहो ! वह तरुण राजकुमार मेरे अच्छे घोड़ोंको लेकर मौज कर रहा है, उन्हें लौटानेका नाम ही नहीं लेता है। यह तो बड़े कष्टकी बात है !' ॥ ४४ ॥

स मनसा विचिन्त्य मासि पूर्णे शिष्यमब्रवीत् ॥ ४५ ॥

गच्छात्रेय राजानं ब्रूहि यदि पर्याप्तं निर्यातयोपाध्यायवाम्याविति । स गत्वैवं तं राजानमब्रवीत् तं राजा प्रत्युवाच राज्ञामेतद्वाहनमनर्हा ब्राह्मणा रत्नानामेवंविधानां किं ब्राह्मणानामश्वैः कार्यं साधु गम्यताम् ॥ ४६ ॥

'मन-ही-मन सोच-विचार करते हुए जब एक मास पूरा हो गया, तब वे अपने शिष्यसे बोले—'आत्रेय ! जाकर राजासे कहो कि यदि काम पूरा हो गया हो तो गुरुजीके दोनों वाम्य अश्व लौटा दीजिये।' शिष्यने जाकर राजासे यही बात दुहरायी। तब राजाने उसे उत्तर देते हुए कहा—'यह सवारी राजाओंके योग्य है। ब्राह्मणोंको ऐसे रत्न रखनेका अधिकार नहीं है। भला, ब्राह्मणोंको घोड़े लेकर क्या करना है ? अब आप सकुशल पधारिये' ॥ ४५-४६ ॥

स गत्वैतदुपाध्यायायाचष्ट तच्छ्रुत्वा वचनमप्रियं वामदेवः क्रोधपरीतात्मा स्वयमेव राजानमभिगम्याश्वार्थमचोदयन्न चाददद् राजा ॥ ४७ ॥

'शिष्यने लौटकर ये सारी बातें उपाध्यायसे कहीं। वह अप्रिय वचन सुनकर वामदेव मन-ही-मन क्रोधसे जल उठे और स्वयं ही उस राजाके पास जाकर उन्हें घोड़े लौटा देनेके लिये कहा। परंतु राजाने वे घोड़े नहीं दिये' ॥ ४७ ॥

वामदेव उवाच

प्रयच्छ वाम्यौ मम पार्थिव त्वं
कृतं हि ते कार्यमाभ्यामशक्यम्।
मा त्वा वधीद् वरुणो घोरपाशै-
र्ब्रह्मक्षत्रस्यान्तरे वर्तमानम् ॥ ४८ ॥

'तब वामदेवने कहा—राजन् ! मेरे वाम्य अश्वोंको अब मुझे लौटा दो। निश्चय ही उन घोड़ोंद्वारा तुम्हारा असाध्य कार्य पूरा हो गया है। इस समय तुम ब्राह्मण और क्षत्रियके बीचमें विद्यमान हो। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारी असत्यवादिताके कारण राजा वरुण तुम्हें अपने भयंकर पाशोंसे बाँध ले ॥ ४८ ॥

राजोवाच

अनड्वाहौ सुव्रतौ साधु दान्ता-
वेतद् विप्राणां वाहनं वामदेव।
ताभ्यां याहि त्वं तत्र कामो महर्षे
छन्दांसि वै त्वादृशं संवहन्ति ॥ ४९ ॥

राजा बोले—वामदेवजी ! ये दो अच्छे स्वभावके सीखे-सिखाये हृष्ट-पुष्ट बैल हैं, जो गाड़ी खींच सकते हैं; ये ही ब्राह्मणोंके लिये उचित वाहन हो सकते हैं। अतः महर्षे ! इन्हींको गाड़ीमें जोतकर आप जहाँ चाहें जायँ। आप-जैसे महात्माका भार तो वेद-मन्त्र ही वहन करते हैं ॥ ४९ ॥

वामदेव उवाच

छन्दांसि वै मादृशं संवहन्ति
लोकेऽमुष्मिन् पार्थिव यानि सन्ति।
अस्मिंस्तु लोके मम यानमेत-
दस्मद्विधानामपरेषां च राजन् ॥ ५० ॥

वामदेवने कहा—राजन् ! इसमें संदेह नहीं कि हम-जैसे लोगोंके लिये वेदके मन्त्र ही वाहनका काम देते हैं। परंतु वे परलोकमें ही उपलब्ध होते हैं। इस लोकमें तो हम-जैसे लोगोंके तथा दूसरोंके लिये भी ये अश्व ही वाहन होते हैं ॥ ५० ॥

राजोवाच

चत्वारस्त्वां वा गर्दभाः संवहन्तु
श्रेष्ठाश्वतर्यो हरयो वातरंहाः।
तैस्त्वं याहि क्षत्रियस्यैष वाहो
ममैव वाम्यौ न तवैतौ हि विद्धि ॥ ५१ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! तब चार गधे, अच्छी जातिकी खच्चरियाँ या वायुके समान वेगशाली दूसरे घोड़े आपकी सवारीके लिये प्रस्तुत हो सकते हैं। इन्हीं वाहनोंद्वारा आप यात्रा करें। यह वाहन, जिसे आप माँगने आये हैं, क्षत्रिय नरेशके ही योग्य है। इसलिये आप यह समझ लें कि ये वाम्य अश्व मेरे ही हैं, आपके नहीं हैं ॥ ५१ ॥

वामदेव उवाच

घोरं व्रतं ब्राह्मणस्यैतदाहु-
रेतद् राजन् यदिहाजीवमानः।
अयस्मया घोररूपा महान्त-
श्चत्वारो वा यातुधानाः सुरौद्राः।
मया प्रयुक्तास्त्वद्वधमीप्समाना
वहन्तु त्वां शितशूलाश्चतुर्धा ॥ ५२ ॥

वामदेव बोले—राजन् ! तुम ब्राह्मणोंके इस धनको हड़पकर जो अपने उपयोगमें लाना चाहते हो, यह बड़ा भयंकर कर्म कहा गया है। यदि मेरे घोड़े वापस न दोगे तो मेरी आज्ञा पाकर विकराल रूपधारी तथा लौह-शरीरवाले अत्यन्त भयंकर चार बड़े-बड़े राक्षस हाथोंमें तीखे त्रिशूल लिये तुम्हारे वधकी इच्छासे टूट पड़ेंगे और तुम्हारे शरीरके चार टुकड़े करके उठा ले जायँगे ॥ ५२ ॥

राजोवाच

ये त्वां विदुर्ब्राह्मणं वामदेव
वाचा हन्तुं मनसा कर्मणा वा।
ते त्वां सशिष्यमिह पातयन्तु
मद्वाक्यनुन्नाः शितशूलासिहस्ताः॥५३॥

राजाने कहा—वामदेवजी ! आप ब्राह्मण हैं तो भी मन, वाणी एवं क्रियाद्वारा मुझे मारनेको उद्यत हैं, इसका पता हमारे जिन सेवकोंको चल गया है, वे मेरी आज्ञा पाते ही हाथोंमें तीखे त्रिशूल तथा तलवार लेकर शिष्योंसहित आपको पहले ही यहाँ मार गिरावेंगे ॥ ५३ ॥

वामदेव उवाच

ममैतौ वाम्यौ प्रतिगृह्य राजन्
पुनर्ददानीति प्रपद्य मे त्वम्।
प्रयच्छ शीघ्रं मम वाम्यौ त्वमश्वौ
यद्यात्मानं जीवितुं ते क्षमं स्यात्॥ ५४ ॥

वामदेव बोले—राजन् ! तुमने जब ये मेरे दोनों घोड़े लिये थे, उस समय यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं इन्हें पुनः लौटा दूँगा। ऐसी दशामें यदि अपने आपको तुम जीवित रखना चाहते हो, तो मेरे दोनों वाम्यसंज्ञक घोड़े वापस दे दो ॥ ५४ ॥

राजोवाच

न ब्राह्मणेभ्यो मृगया प्रसूता
न त्वानुशास्म्यद्यप्रभृति ह्यसत्यम्।
तवैवाज्ञां सम्प्रणिधाय सर्वां
तथा ब्रह्मन् पुण्यलोकं लभेयम्॥ ५५ ॥

राजा बोले—ब्रह्मन् ! (ये घोड़े शिकारके उपयोगमें आने योग्य हैं और) ब्राह्मणोंके लिये शिकार खेलनेकी विधि नहीं है। यद्यपि आप मिथ्यावादी हैं, तो भी मैं आपको दण्ड नहीं दूँगा और आजसे आपके सारे आदेशोंका पालन करूँगा, जिससे मुझे पुण्यलोककी प्राप्ति हो (परंतु ये घोड़े आपको नहीं मिल सकते) ॥ ५५ ॥

वामदेव उवाच

नानुयोगा ब्राह्मणानां भवन्ति
वाचा राजन् मनसा कर्मणा वा।
यस्त्वेवं ब्रह्म तपसान्वेति विद्वां-
स्तेन श्रेष्ठो भवति हि जीवमानः॥ ५६ ॥

वामदेवने कहा—राजन् ! मन, वाणी अथवा क्रियाद्वारा कोई भी अनुशासन या दण्ड ब्राह्मणोंपर लागू नहीं हो सकता। जो इस प्रकार जानकर कष्टसहनपूर्वक ब्राह्मणकी सेवा करता है; वह उस ब्राह्मण-सेवारूप कर्मसे ही श्रेष्ठ होता और जीवित रहता है ॥ ५६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्ते वामदेवेन राजन्
समुत्तस्थू राक्षसा घोररूपाः।
तैः शूलहस्तैर्वध्यमानः स राजा
प्रोवाचेदं वाक्यमुच्चैस्तदानीम्॥ ५७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! वामदेवकी यह बात पूर्ण होते ही विकराल रूपधारी चार राक्षस वहाँ प्रकट हो गये। उनके हाथमें त्रिशूल थे। जब वे राजापर चोट करने लगे, तब राजाने उच्च स्वरसे यह बात कही—॥ ५७ ॥

इक्ष्वाकवो यदि वा मां त्यजेयु-
र्विधेया मे यदि चेमे विशोऽपि।
नोत्स्रक्ष्येऽहं वामदेवस्य वाम्यौ
नैवंविधा धर्मशीला भवन्ति॥ ५८ ॥

'यदि ये इक्ष्वाकुवंशके लोग तथा मेरे आज्ञापालक प्रजावर्गके मनुष्य भी मेरा त्याग कर दें, तो भी मैं वामदेवके इन वाम्य संज्ञक घोड़ोंको कदापि नहीं दूँगा; क्योंकि इनके-जैसे लोग धर्मात्मा नहीं होते हैं' ॥ ५८ ॥

एवं ब्रुवन्नेव स यातुधानै-
र्हतो जगामाशु महीं क्षितीशः।
ततो विदित्वा नृपतिं निपातित-
मिक्ष्वाकवो वै दलमभ्यषिञ्चन्॥ ५९ ॥

ऐसा कहते ही राजा शल उन राक्षसोंसे मारे जाकर तुरंत धराशायी हो गये। इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियोंको जब यह मालूम हुआ कि राजा मार गिराये गये, तब उन्होंने उनके छोटे भाई दलका राज्याभिषेक कर दिया ॥ ५९ ॥

राज्ये तदा तत्र गत्वा स विप्रः
प्रोवाचेदं वचनं वामदेवः।
दलं राजानं ब्राह्मणानां हि देय-
मेवं राजन् सर्वधर्मेषु दृष्टम्॥ ६० ॥

तब पुनः उस राज्यमें जाकर विप्रवर वामदेवने राजा दलसे यह बात कही—'महाराज ! ब्राह्मणोंकी वस्तु उन्हें दे दी जाय, यह बात सभी धर्मोंमें देखी गयी है ॥ ६० ॥

बिभेषि चेत् त्वमधर्मान्नरेन्द्र
प्रयच्छ मे शीघ्रमेवाद्य वाम्यौ।
एतच्छ्रुत्वा वामदेवस्य वाक्यं
स पार्थिवः सूतमुवाच रोषात्॥ ६१ ॥

'नरेन्द्र ! यदि तुम अधर्मसे डरते हो तो मुझे अभी शीघ्रतापूर्वक मेरे वाम्य अश्वोंको लौटा दो।' वामदेवकी यह बात सुनकर राजाने रोषपूर्वक अपने सारथिसे कहा—॥ ६१ ॥

एकं हि मे सायकं चित्ररूपं
दिग्धं विषेणाहर संगृहीतम् ।
येन विद्धो वामदेवः शयीत
संदश्यमानः श्वभिरार्तरूपः ॥ ६२ ॥

'सूत ! एक अद्भुत बाण ले आओ, जो विषमें बुझाकर रखा गया हो, जिससे घायल होकर यह वामदेव धरतीपर लोट जाय । इसे कुत्ते नोच-नोचकर खायँ और यह पृथ्वीपर पड़ा-पड़ा पीड़ासे छटपटाता रहे' ॥ ६२ ॥

वामदेव उवाच

जानामि पुत्रं दशवर्षं तवाहं
जातं महिष्यां श्येनजितं नरेन्द्र ।
तं जहि त्वं मद्वचनात् प्रणुन्न-
स्तूर्णं प्रियं सायकैर्घोररूपैः ॥ ६३ ॥

वामदेवने कहा—नरेन्द्र ! मैं जानता हूँ, तुम्हारी रानीके गर्भसे श्येनजित् नामक एक पुत्र पैदा हुआ है, जो तुम्हें बहुत प्रिय है और जिसकी अवस्था दस वर्षकी हो गयी है । तुम मेरी आज्ञासे प्रेरित होकर इन भयंकर बाणोंद्वारा अपने उसी पुत्रका शीघ्र वध करोगे ॥ ६३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तो वामदेवेन राज-
न्नन्तःपुरे राजपुत्रं जघान ।
स सायकस्तिग्मतेजा विसृष्टः
श्रुत्वा दलस्तत्र वाक्यं बभाषे ॥ ६४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! वामदेवके ऐसा कहते ही उस प्रचण्ड तेजस्वी बाणने धनुषसे छूटकर रनवासके भीतर जा राजकुमारका वध कर डाला । यह समाचार सुनकर दलने वहाँ पुनः इस प्रकार कहा ॥ ६४ ॥

राजोवाच

इक्ष्वाकवो हन्त चरामि वः प्रियं
निहन्मीमं विप्रमद्य प्रमथ्य ।
आनीयतामपरस्तिग्मतेजाः
पश्यध्वं मे वीर्यमद्य क्षितीशाः ॥ ६५ ॥

राजाने कहा—इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियो ! मैं अभी तुम्हारा प्रिय करता हूँ । आज इस ब्राह्मणको रौंदकर मार डालूँगा । एक दूसरा तेजस्वी बाण ले आओ और आज मेरा पराक्रम देखो ॥ ६५ ॥

वामदेव उवाच

यत् त्वमेनं सायकं घोररूपं
विषेण दिग्धं मम संदधासि ।
न त्वेतं त्वं शरवर्यं विमोक्तुं
[illegible] नरेन्द्र ॥ ६६ ॥

वामदेवजीने कहा—नरेश्वर ! तुम विषके बुझाये हुए इस विकराल बाणको मुझे मारनेके लिये धनुषपर चढ़ा रहे हो, परंतु मैं कहे देता हूँ 'इस बाणको न तो तुम धनुषपर रख सकोगे और न छोड़ ही सकोगे' ॥ ६६ ॥

राजोवाच

इक्ष्वाकवः पश्यत मां गृहीतं
न वै शक्नोम्येष शरं विमोक्तुम् ।
न चास्य कर्तुं नाशमभ्युत्सहामि
आयुष्मान् वै जीवतु वामदेवः ॥ ६७ ॥

राजा बोले—इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियो ! देखो, मैं फँस गया । अब यह बाण नहीं छोड़ सकूँगा । इसलिये वामदेवको नष्ट करनेका उत्साह जाता रहा । अतः यह महर्षि दीर्घायु होकर जीवित रहे ॥ ६७ ॥

वामदेव उवाच

संस्पृश्यैनां महिषीं सायकेन
ततस्तस्मादेनसो मोक्ष्यसे त्वम् ।
ततस्तथा कृतवान् पार्थिवस्तु
ततो मुनिं राजपुत्री बभाषे ॥ ६८ ॥

वामदेवजीने कहा—राजन् ! तुम इस बाणसे अपनी रानीका स्पर्श कर लेनेपर ब्रह्महत्याके पापसे छूट जाओगे ।

तब राजाने ऐसा ही किया । तदनन्तर राजपुत्रीने मुनिसे कहा ॥ ६८ ॥

राजपुत्र्युवाच

यथा युक्ता वामदेवाहमेनं
दिने दिने संदिशन्ती नृशंसम् ।
ब्राह्मणेभ्यो मृगयती सूनृतानि
तथा ब्रह्मन् पुण्यलोकं लभेयम् ॥ ६९ ॥

राजपुत्री बोली—वामदेवजी ! मैं इन कठोर स्वभाववाले अपने स्वामीको प्रतिदिन सावधान रहकर मीठे वचन बोलनेकी सलाह देती रहती हूँ और स्वयं ब्राह्मणोंकी सेवाका अवसर ढूँढ़ती हूँ । ब्रह्मन् ! इन सत्कर्मोंके कारण मुझे पुण्यलोककी प्राप्ति हो ॥

वामदेव उवाच

त्वया त्रातं राजकुलं शुभेक्षणे
वरं वृणीष्वाप्रतिमं ददानि ते ।
प्रशाधीमं स्वजनं राजपुत्रि
इक्ष्वाकुराज्यं सुमहच्चाप्यनिन्द्ये ॥ ७० ॥

वामदेवने कहा—शुभ दृष्टिवाली अनिन्द्य राजकुमारी ! तुमने इस राजकुलको ब्राह्मणके कोपसे बचा लिया । इसके [illegible] दूँगा । तुम

इन स्वजनोंके हृदय और विशाल इक्ष्वाकु-राज्यपर शासन करो ॥ ७० ॥

राजपुत्र्युवाच

वरं वृणे भगवंस्त्वेवमेष
विमुच्यतां किल्बिषादद्य भर्ता ।
शिवेन चाध्याहि सपुत्रबान्धवं
वरो वृतो ह्येष मया द्विजाग्र्य ॥ ७१ ॥

राजकुमारी बोली—भगवन् ! मैं यही चाहती हूँ कि मेरे ये पति आज सब पापोंसे छुटकारा पा जायँ । आप यह आशीर्वाद दें कि ये पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित सुखसे रहें। विप्रवर ! मैंने आपसे यही वर माँगा है ॥ ७१ ॥

मार्कण्डेय उवाच

श्रुत्वा वचः स मुनी राजपुत्र्या-
स्तथास्त्विति प्राह कुरुप्रवीर ।
ततः स राजा मुदितो बभूव
वाम्यौ चास्मै प्रददौ सम्प्रणम्य ॥ ७२ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—कुरुकुलके प्रमुख वीर युधिष्ठिर ! राजपुत्रीकी यह बात सुनकर वामदेव मुनिने कहा—'ऐसा ही होगा ।' तब राजा दल बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने महर्षिको प्रणाम करके वे दोनों वाम्य अश्व उन्हें लौटा दिये ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि मण्डूकोपाख्याने द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें मण्डूकोपाख्यानविषयक एक सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९२ ॥

त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्र और बक मुनिका संवाद

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयमृषयो ब्राह्मणा युधिष्ठिरश्च पर्यपृच्छन्नृषिः केन दीर्घायुरासीद् बको मार्कण्डेयस्तु तान् सर्वानुवाच ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! एक दिन ऋषियों, ब्राह्मणों तथा युधिष्ठिरने मार्कण्डेय मुनिसे पूछा—'ब्रह्मन् ! महर्षि बक कैसे दीर्घायु हुए थे ?' तब मार्कण्डेयजीने उन सबसे कहा—॥ १ ॥

महातपा दीर्घायुश्च बको राजन् नात्र कार्या विचारणा ॥ २ ॥

'राजन् ! बक महान् तपस्वी होनेके कारण दीर्घायु हुए थे । इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये' ॥

एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेयो भ्रातृभिः सह भारत ।
मार्कण्डेयं पर्यपृच्छद् धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥

भरतनन्दन जनमेजय ! मार्कण्डेयजीका यह कथन सुनकर भाइयोंसहित कुन्तीकुमार धर्मराज युधिष्ठिरने मार्कण्डेयजीसे पुनः पूछा—॥ ३ ॥

श्रूयते हि महाभाग बको दाल्भ्यो महातपाः ।
प्रियः सखा च शक्रस्य चिरजीवी च सत्तम ॥ ४ ॥

महाभाग मुनिश्रेष्ठ ! दल्भके पुत्र महातपस्वी बक ऋषि चिरजीवी तथा देवराज इन्द्रके प्रिय मित्र सुने जाते हैं ॥ ४ ॥

एतदिच्छामि भगवन् बकशक्रसमागमम् ।
सुखदुःखसमायुक्तं तत्त्वेन कथयस्व मे ॥ ५ ॥

'भगवन् ! बक और इन्द्रका यह समागम (चिरजीवी पुरुषोंके) सुख और दुःखकी वार्तासे युक्त कहा गया है । मैं इसे सुनना चाहता हूँ; आप यथार्थरूपसे इसका वर्णन करें' ॥

मार्कण्डेय उवाच

वृत्ते देवासुरे राजन् संग्रामे लोमहर्षणे ।
त्रयाणामपि लोकानामिन्द्रो लोकाधिपोऽभवत् ॥ ६ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—राजन् ! जब रोंगटे खड़े कर देनेवाला देवासुर-संग्राम समाप्त हो गया, उस समय लोकपाल इन्द्र तीनों लोकोंके अधिपति बना दिये गये ॥ ६ ॥

सम्यग् वर्षति पर्जन्ये सस्यसम्पद उत्तमाः ।
निरामयाः सुधर्मिष्ठाः प्रजा धर्मपरायणाः ॥ ७ ॥

इन्द्रके शासनकालमें मेघ ठीक समयपर अच्छी वर्षा करते और खेतीकी उपज अच्छी होती थी । सारी प्रजा रोग-व्याधिसे रहित, धर्ममें स्थित तथा धर्मको ही अपना परम आश्रय माननेवाली थी ॥ ७ ॥

मुदितश्च जनः सर्वः स्वधर्मेषु व्यवस्थितः ।
ताः प्रजा मुदिताः सर्वा दृष्ट्वा बलनिषूदनः ॥ ८ ॥
ततस्तु मुदितो राजन् देवराजः शतक्रतुः ।
ऐरावतं समास्थाय ताः पश्यन् मुदिताः प्रजाः ॥ ९ ॥

सब लोग बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने-अपने धर्मोंमें स्थित रहते थे। अपनी उन सारी प्रजाको आनन्दित देखकर बलासुरके शत्रु देवराज इन्द्र बड़ी प्रसन्नताका अनुभव करते थे। एक दिनकी बात है, इन्द्र ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हो चैनसे दिन विताती हुई अपनी प्रजाको देखनेके लिये भ्रमण करने लगे ॥ ८-९ ॥

आश्रमांश्च विचित्रांश्च नदीश्च विविधाः शुभाः ।
नगराणि समृद्धानि खेटान् जनपदांस्तथा ॥ १० ॥
प्रजापालनदक्षांश्च नरेन्द्रान् धर्मचारिणः ।
उदपानं प्रपा वापी तडागानि सरांसि च ॥ ११ ॥
नाना ब्रह्मसमाचारैः सेवितानि द्विजोत्तमैः ।
ततोऽवतीर्य रम्यायां पृथ्व्यां राजञ्छतक्रतुः ॥ १२ ॥

राजन्! विचित्र आश्रमों, नाना प्रकारकी कल्याणकारिणी नदियों, समृद्धिशाली नगरों, गाँवों, जनपदों, प्रजापालनकुशल धर्मात्मा नरेशों, कुओं, पौंसलों, बावलियों, तालाबों तथा ब्रह्मचर्य-परायण श्रेष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा सेवित अनेकानेक सरोवरोंका अवलोकन करते हुए शतक्रतु इन्द्र एक रमणीय भूभागमें उतरे ॥ १०—१२ ॥

तत्र रम्ये शिवे देशे बहुवृक्षसमाकुले ।
पूर्वस्यां दिशि रम्यायां समुद्राभ्याशतो नृप ॥ १३ ॥
तत्राश्रमपदं रम्यं मृगद्विजनिषेवितम् ।
तत्राश्रमपदे रम्ये बकं पश्यति देवराट् ॥ १४ ॥

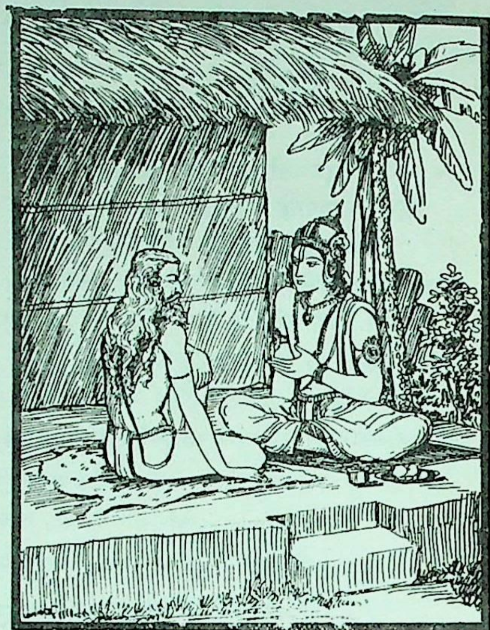
राजन्! परम सुन्दर पूर्वदिशामें समुद्रके निकट एक मनोहर एवं सुखद स्थानमें, जो बहुत-से वृक्षोंसे घिरा हुआ था, एक रमणीय आश्रम दिखायी दिया, जहाँ बहुत-से पशु और पक्षी निवास करते थे। देवराज इन्द्रने उस रमणीय आश्रममें जाकर बक मुनिका दर्शन किया ॥ १३-१४ ॥

बकस्तु दृष्ट्वा देवेन्द्रं दृढं प्रीतमनाभवत् ।
पाद्यासनार्घ्यदानेन फलमूलैरथार्चयत् ॥ १५ ॥

देवराज इन्द्रको उपस्थित देख बकके हृदयमें दृढ़ प्रेम उत्पन्न हुआ। उन्होंने पाद्य, आसन, अर्घ्य और फल-मूलादि देकर देवराजका पूजन किया ॥ १५ ॥

सुखोपविष्टो वरदस्ततस्तु बलसूदनः ।
ततः प्रश्नं बकं देव उवाच त्रिदशेश्वरः ॥ १६ ॥

सबको वर देनेवाले बलनिषूदन देवेश्वर इन्द्र जब सुखपूर्वक आसनपर बैठ गये, तब वे मुनिवर बकसे इस प्रकार बोले— ॥ १६ ॥



शतं वर्षसहस्राणि मुने जातस्य तेऽनघ ।
समाख्याहि मम ब्रह्मन् किं दुःखं चिरजीविनाम् ॥ १७ ॥

'निष्पाप मुने! आपकी अवस्था एक लाख वर्षकी हो गयी। ब्रह्मन्! आप अपने अनुभवके आधारपर यह बताइये कि चिरजीवी मनुष्योंको क्या दुःख होता है'? ॥ १७ ॥

बक उवाच

अप्रियैः सह संवासः प्रियैश्चापि विनाभवः ।
असद्भिः सम्प्रयोगश्च तद् दुःखं चिरजीविनाम् ॥ १८ ॥

बकने कहा—देवेश्वर! अप्रिय मनुष्योंके साथ रहना पड़ता है। प्रिय जनोंकी मृत्यु हो जानेसे उनके वियोगका दुःख सहते हुए जीवन व्यतीत करना पड़ता है और दुष्ट मनुष्योंका संग प्राप्त होता है। चिरजीवी मनुष्योंके लिये यही महान् दुःख है ॥ १८ ॥

पुत्रदारविनाशोऽत्र ज्ञातीनां सुहृदामपि ।
परेष्वायत्तताकृच्छ्रं किं नु दुःखतरं ततः ॥ १९ ॥

अपनी आँखोंके सामने स्त्री और पुत्रोंकी मृत्यु होती है। भाई-बन्धु आदि जातिके लोगों और सुहृदोंका सदाके लिये वियोग हो जाता है तथा जीवन-निर्वाहके लिये दूसरोंके अधीन रहकर उनके तिरस्कारका कष्ट भोगना पड़ता है। इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या हो सकता है? ॥ १९ ॥

नान्यद् दुःखतरं किञ्चिल्लोकेषु प्रतिभाति मे ।
अर्थैर्विहीनः पुरुषः परैः सम्परिभूयते ॥ २० ॥

निर्धन मनुष्यको जो दूसरोंसे तिरस्कृत होना पड़ता है, इससे बढ़कर महान् कष्टकी बात संसारमें मुझे और कोई नहीं जान पड़ती है ॥ २० ॥

अकुलानां कुले भावं कुलीनानां कुलक्षयम् ।
संयोगं विप्रयोगं च पश्यन्ति चिरजीविनः ॥ २१ ॥

चिरजीवी मनुष्य अकुलीनोंके कुलकी उन्नति, कुलीनोंके कुलका संहार तथा संयोग और वियोग देखते रहते हैं ॥२१॥

अपि प्रत्यक्षमेवैतत् तव देव शतक्रतो ।
अकुलानां समृद्धानां कथं कुलविपर्ययः ॥ २२ ॥

देव शतक्रतो ! आप भी तो यह प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं कि किस प्रकार समृद्धिशाली अकुलीन मनुष्योंके कुलमें उलट-फेर हो जाता है ॥ २२ ॥

देवदानवगन्धर्वमनुष्योरगराक्षसाः ।
प्राप्नुवन्ति विपर्यासं किं नु दुःखतरं ततः ॥ २३ ॥

देवता, दानव, गन्धर्व, मनुष्य, नाग तथा राक्षस—ये सभी विपरीत अवस्थामें पहुँचकर क्यासे क्या हो जाते हैं ! इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या होगा ? ॥ २३ ॥

कुले जाताश्च क्लिश्यन्ते दौष्कुलेयवशानुगाः ।
आढ्यैर्दरिद्राश्चाक्रान्ताः किं नु दुःखतरं ततः ॥ २४ ॥

कुलीन मनुष्य भी नीच कुलके लोगोंके वशमें पड़कर क्लेश उठा रहे हैं और धनीलोग दरिद्रोंको सताते हैं । इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है ? ॥

लोके वैधर्म्यमेतत् तु दृश्यते बहुविस्तरम् ।
हीनज्ञानाश्च हृष्यन्ते क्लिश्यन्ते प्राज्ञकोविदाः ॥ २५ ॥
बहुदुःखपरिक्लेशं मानुष्यमिह दृश्यते ।

लोकमें यह विपरीत अवस्था बहुत अधिक दिखायी देती है । ज्ञानहीन मूढ़ मनुष्य तो मौज करते हैं और श्रेष्ठ ज्ञानी मनुष्य क्लेश भोग रहे हैं । यहाँ मानवयोनिमें दुःख और क्लेशकी अधिकता ही दृष्टिगोचर होती है ॥ २५½ ॥

इन्द्र उवाच

पुनरेव महाभाग देवर्षिगणसेवित ॥ २६ ॥
समाख्याहि मम ब्रह्मन् किं सुखं चिरजीविनाम् ।

इन्द्रने पूछा—महाभाग ! देवता तथा ऋषियोंके समुदाय आपकी सेवामें उपस्थित रहते हैं । ब्रह्मन् ! अब मुझसे फिर यह बताइये कि चिरजीवी मनुष्योंको क्या सुख मिलता है ? ॥ २६½ ॥

बक उवाच

अष्टमे द्वादशे वापि शाकं यः पचते गृहे ॥ २७ ॥
कुमित्राण्यनपाश्रित्य किं वै सुखतरं ततः ।
यत्राहानि न गण्यन्ते नैनमाहुर्महाशिनम् ॥ २८ ॥

बकने कहा—जो दिनके आठवें या बारहवें भागमें अपने घरपर भोजनके लिये केवल शाक पका लेता है परंतु कुमित्रोंकी शरणमें नहीं जाता, उस पुरुषको जो सुख प्राप्त है, उससे बढ़कर सुख और क्या हो सकता है ? जहाँ दिन नहीं गिने जाते—जहाँ प्रतिदिन अन्नकी प्राप्तिके लिये चिन्ता नहीं करनी पड़ती है; वही सुखी है । उसे लोग अधिक खानेवाला अथवा पेटू नहीं कहते हैं ॥ २७–२८ ॥

अपि शाकं पचानस्य सुखं वै मघवन् गृहे ।
अर्जितं स्वेन वीर्येण नाप्यपाश्रित्य कञ्चन ॥ २९ ॥

इन्द्र ! जो अपने पराक्रमसे उपार्जन करके घरमें केवल शाक बनाकर खाता है, परंतु दूसरे किसीका सहारा नहीं लेता, उसे ही सुख है ॥ २९ ॥

फलशाकमपि श्रेयो भोक्तुं ह्यकृपणं गृहे ।
परस्य तु गृहे भोक्तुः परिभूतस्य नित्यशः ॥ ३० ॥
सुमृष्टमपि न श्रेयो विकल्पोऽयमतः सताम् ।
श्ववत् कीलालपो यस्तु परान्नं भोक्तुमिच्छति ॥ ३१ ॥
धिगस्तु तस्य तद् भुक्तं कृपणस्य दुरात्मनः ।

दूसरेके सामने दीनता न दिखाकर अपने घरमें फल और शाक खाकर रहना अच्छा है । परंतु दूसरेके घरमें सदा तिरस्कार सहकर मीठे पकवान खाना भी अच्छा नहीं है; अतः दूसरेके आश्रित रहकर जीवन-निर्वाह करनेके सम्बन्धमें साधु पुरुषोंका सदासे ही विरोध रहा है । जो पराया अन्न खाना चाहता है, वह कुत्तेकी भाँति खून चाटता है । उस दुरात्मा और कृपणके वैसे भोजन-को धिक्कार है ॥ ३०-३१½ ॥

यो दत्त्वातिथिभूतेभ्यः पितृभ्यश्च द्विजोत्तमः ॥ ३२ ॥
शिष्टान्यन्नानि यो भुङ्क्ते किं वै सुखतरं ततः ।
अतो मृष्टतरं नान्यत् पूतं किञ्चिच्छतक्रतो ॥ ३३ ॥

जो श्रेष्ठ द्विज सदा अतिथियों, भूत-प्राणियों तथा पितरोंको अर्पण करके अर्थात् बलि-वैश्वदेव करके शेष अन्न स्वयं भोजन करता है, उससे बढ़कर महान् सुख और क्या हो सकता है ? देवेन्द्र ! इस यज्ञशेष अन्नसे बढ़कर अत्यन्त मधुर और पवित्र दूसरा कोई भोजन नहीं है ॥३२-३३॥

दत्त्वा यस्त्वतिथिभ्यो वै भुङ्क्ते तेनैव नित्यशः ।
यावतो ह्यन्धसः पिण्डानश्नाति सततं द्विजः ॥ ३४ ॥
तावतां गोसहस्राणां फलं प्राप्नोति दायकः ।
यदेनो यौवनकृतं तत् सर्वं नश्यते ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

जो प्रतिदिन अतिथियोंको देकर शेष अन्नसे ही भोजनका काम चलाता है, उसके अन्नके जितने ग्रास अतिथि ब्राह्मण नित्य भोजन करता है, उतने ही हजार गौओंके [illegible] द्वारा

युवावस्थामें जो पाप हुए होते हैं, वे सब निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ३४-३५ ॥

सदक्षिणस्य भुक्तस्य द्विजस्य तु करे गतम्।
यद् वारि वारिणा सिञ्चेत् तद्धत्येनस्तरते क्षणात्॥३६॥

ब्राह्मणके भोजन कर लेनेपर जो उसे दक्षिणा दी जाती है, उस समय उसके हाथमें जो प्रतिग्रहका जल रहता है, उसे दाता पुनः उत्सर्गके जलसे सींचे। ऐसा करनेसे वह तत्काल सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ३६ ॥

एताश्चान्याश्च वै बह्वीः कथयित्वा कथाः शुभाः।
बकेन सह देवेन्द्र आपृच्छय त्रिदिवं गतः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार देवराज इन्द्र बकके साथ ये तथा और बहुत-सी उत्तम कथा-वार्ताएँ करके उनसे आज्ञा लेकर स्वर्गलोकको चले गये ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमहाभाग्ये बकशक्रसंवादे त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्यापर्वमें ब्राह्मणोंके माहात्म्यके सम्बन्धमें बक-इन्द्रसंवादविषयक एक सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९३ ॥

चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

क्षत्रिय राजाओंका महत्त्व—सुहोत्र और शिविकी प्रशंसा

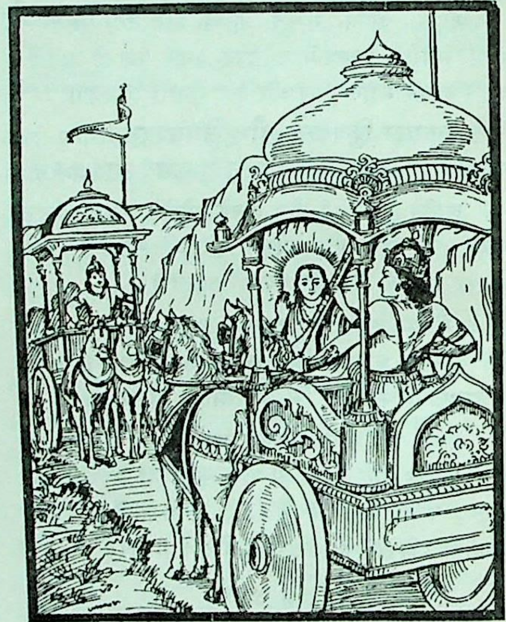
वैशम्पायन उवाच

ततः पाण्डवाः पुनर्मार्कण्डेयमूचुः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पाण्डवोंने पुनः मार्कण्डेयजीसे प्रश्न किया— ॥ १ ॥

कथितं ब्राह्मणमहाभाग्यं राजन्यमहाभाग्यमिदानीं शुश्रूषामह इति तानुवाच मार्कण्डेयो महर्षिः श्रूयतामिति इदानीं राजन्यानां महाभाग्यमिति। कुरूणामन्यतमः सुहोत्रो नाम राजा महर्षीनभिगम्य निवृत्य रथस्थमेव राजानमौशीनरं शिबिं ददर्शाभिमुखं तौ समेत्य परस्परेण यथावयः पूजां प्रयुज्य गुणसाम्येन परस्परेण तुल्यात्मानौ विदित्वान्योन्यस्य पन्थानं न ददतुस्तत्र नारदः प्रादुरासीत् किमिदं भवन्तौ परस्परस्य पन्थानमावृत्य तिष्ठत इति ॥ २ ॥

'मुनिवर ! आपने ब्राह्मणोंके माहात्म्यका तो वर्णन किया, अब हम क्षत्रियोंकी महत्ताके विषयमें इस समय कुछ सुनना चाहते हैं।' यह बात सुनकर महर्षि मार्कण्डेयने कहा—'अच्छा सुनो। अब मैं क्षत्रियोंके माहात्म्यका वर्णन करता हूँ। कुरुवंशी क्षत्रियोंमें सुहोत्र नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। एक दिन वे महर्षियोंका सत्संग करके जब वहाँसे लौट रहे थे, उस समय उन्होंने अपने सामने ही रथपर बैठे हुए उशीनरपुत्र राजा शिबिको देखा। निकट आनेपर उन दोनोंने अवस्थाके अनुसार एक दूसरेका सम्मान किया। परंतु गुणमें अपनेको बराबर समझकर एकने दूसरेके लिये राह नहीं दी। इतनेहीमें वहाँ देवर्षि नारदजी प्रकट हो गये और पूछ बैठे 'यह क्या बात है, जो कि तुम दोनों इस तरह एक दूसरेका मार्ग रोककर खड़े हो ?' ॥ २ ॥



तावूचतुर्नारदं नैतद् भगवन् पूर्वकर्मकर्त्रादिभिर्विशिष्टस्य पन्था उपदिश्यते समर्थाय वा आवां च सख्यं परस्परेणोपगतौ तच्चावधानतोऽत्युत्कृष्टमधरोत्तरंपरिभ्रष्टं नारदस्त्वेवमुक्तः श्लोकत्रयमपठत्—॥३॥

'तब उन दोनोंने नारदजीसे कहा—'भगवन् ! ऐसी बात नहीं है। पहलेके कर्म-कर्ताओं (धर्म-व्यवस्थापकों) ने यह उपदेश दिया है कि जो अपनेसे सभी बातोंमें बढ़ा-चढ़ा हो या अधिक शक्तिशाली हो, उसीको मार्ग देना चाहिये। हम दोनों एक दूसरेसे मित्रभाव रखकर मिले हैं। विचार करनेपर हम यह निर्णय नहीं कर पाते कि हम दोनोंमेंसे कौन अत्यन्त श्रेष्ठ है

और कौन उसकी अपेक्षा अधिक छोटा है ?' उनके ऐसा कहनेपर नारदजीने तीन श्लोक पढ़े ॥ ३ ॥

क्रूरः कौरव्य मृदवे मृदुः क्रूरे च कौरव।
साधुश्चासाधवे साधुः साधवे नाप्नुयात् कथम् ॥ ४ ॥

'उनका सारांश इस प्रकार है—कौरव ! अपने साथ कोमलताका बर्ताव करनेवालेके लिये क्रूर मनुष्य भी कोमल बन जाता है। क्रूरतापूर्ण बर्ताव तो वह क्रूर मनुष्योंके प्रति ही करता है। परंतु साधु पुरुष दुष्टोंके प्रति भी साधुताका ही बर्ताव करता है। फिर वह साधु पुरुषोंके साथ साधुताका बर्ताव कैसे नहीं अपनायेगा ? ॥ ४ ॥

कृतं शतगुणं कुर्या-न्नास्ति देवेषु निर्णयः।
औशीनरः साधुशीलो भवतो वै महीपतिः ॥ ५ ॥

'मनुष्य भी चाहे तो वह अपने ऊपर किये हुए उपकारका बदला सौगुना करके चुका सकता है। देवताओंमें ही यह प्रत्युपकारका भाव होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। सुहोत्र ! उशीनरपुत्र राजा शिबिका शील-स्वभाव तुमसे कहीं अच्छा है ॥ ५ ॥

जयेत् कदर्यं दानेन सत्येनानृतवादिनम्।
क्षमया क्रूरकर्माण-मसाधुं साधुना जयेत् ॥ ६ ॥

'नीच प्रकृतिवाले मनुष्यको दान देकर वशमें करे। असत्यवादीको सत्य भाषणसे जीते। क्रूरको क्षमासे और दुष्टको उत्तम व्यवहारसे अपने वशमें करे ॥ ६ ॥

तदुभावेव भवन्तावुदारौ य इदानीं भवद्भ्यामन्यतमः सोऽपसर्पतु एतद् वै निदर्शनमित्युक्त्वा तूष्णीं नारदो बभूव। एतच्छ्रुत्वा तु कौरव्यः शिबिं प्रदक्षिणं कृत्वा पन्थानं दत्त्वा बहुकर्मभिः प्रशस्य प्रययौ ॥ ७ ॥

'अतः तुम दोनों ही उदार हो; इस समय तुम दोनोंमेंसे एक, जो अधिक उदार हो, वह मार्ग छोड़कर हट जाय; यही उदारताका आदर्श है।' ऐसा कहकर नारदजी चुप हो गये। यह सुनकर कुरुवंशी राजा सुहोत्रने शिबिको अपनी दायीं ओर करके मार्ग दे दिया और उनके अनेक सत्कर्मोंका उल्लेख करके उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए वे अपनी राजधानीको चले गये ॥ ७ ॥

तदेतद् राज्ञो महाभाग्यमप्युक्तवान् नारदः ॥ ८ ॥

'इस प्रकार साक्षात् नारदजीने राजा शिबिकी महत्ताका अपने मुखसे वर्णन किया' ॥ ८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि शिबिचरिते चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें शिबिचरितविषयक एक सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९४ ॥

पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा ययातिद्वारा ब्राह्मणको सहस्र गौओंका दान

मार्कण्डेय उवाच

इदमन्यच्छ्रूयतां ययातिर्नाहुषो राजा राज्यस्थः पौरजनावृत आसांचक्रे गुर्वर्थी ब्राह्मण उपेत्याब्रवीद् भो राजन् गुर्वर्थं भिक्षेयं समयादिति ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! अब एक दूसरे क्षत्रिय नरेशका महत्त्व सुनो—नहुषके पुत्र राजा ययाति जब पुरवासी मनुष्योंसे घिरे हुए राजसिंहासनपर विराजमान थे, उन्हीं दिनोंकी बात है, एक ब्राह्मण गुरु-दक्षिणा देनेके लिये भिक्षा माँगनेकी इच्छासे उनके पास आकर बोला—'राजन् ! मैं गुरु-दक्षिणा देनेके लिये भिक्षा चाहता हूँ, किंतु उसके साथ एक शर्त है' ॥ १ ॥

राजोवाच

ब्रवीतु भगवान् समयमिति ॥ २ ॥

राजाने कहा—भगवन् ! आप अपनी शर्त बताइये ॥ २ ॥

ब्राह्मण उवाच

विद्वेषणं परमं जीवलोके कुर्यान्नरः पार्थिव याच्यमानः।
तं त्वां पृच्छामि कथं तु राजन् दद्याद् भवान् दयितं च मेऽद्य ॥ ३ ॥

ब्राह्मण बोला—भूपाल ! इस संसारमें प्रायः देखा जाता है कि जब किसी मनुष्यसे कोई वस्तु माँगी जाती है, तब वह उस माँगनेवालेसे अत्यन्त द्वेष करने लगता है। अतः राजन् ! मैं आपसे पूछता हूँ कि आज आप मुझे मेरी प्रिय वस्तु कैसे दे सकते हैं ? ॥ ३ ॥

राजोवाच

न चानुकीर्तयेदद्य दत्त्वा अयाच्यमर्थं न च संशृणोमि।

प्राप्यमर्थं च संश्रुत्य
तं चापि दत्त्वा सुसुखी भवामि ॥ ४ ॥

राजाने कहा—दान लेनेके अधिकारी ब्राह्मणदेव ! मैं कोई वस्तु देकर उसकी बार-बार चर्चा नहीं करता और यह प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आपके माँगने योग्य न हो। जो वस्तु प्राप्त हो सकती है, उसे देनेकी प्रतिज्ञा कर लेनेपर मैं उसे देकर ही अधिक सुखी होता हूँ ॥ ४ ॥

ददामि ते रोहिणीनां सहस्रं
प्रियो हि मे ब्राह्मणो याचमानः ।
न मे मनः कुप्यति याचमाने
दत्तं न शोचामि कदाचिदर्थम् ॥ ५ ॥

मैं आपको लाल रंगकी एक हजार गौएँ देता हूँ; क्योंकि न्याययुक्त याचना करनेवाला ब्राह्मण मुझे बहुत प्रिय है। मेरे मनमें याचकपर कभी क्रोध नहीं आता है और न मैं कभी दिये हुए धनके लिये पश्चात्ताप ही करता हूँ॥

इत्युक्त्वा ब्राह्मणाय राजा गोसहस्रं ददौ ।
प्राप्तवांश्च गवां सहस्रं ब्राह्मण इति ॥ ६ ॥

ऐसा कहकर राजाने ब्राह्मणको एक हजार गौएँ दे दीं और ब्राह्मणने उन सहस्रों गौओंको ग्रहण कर लिया ॥ ६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि नाहुषचरिते पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ययातिचरितविषयक एक सौ पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९५॥

षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

सेदुक और वृषदर्भका चरित्र

वैशम्पायन उवाच

भूय एव महाभाग्यं कथ्यतामित्यब्रवीत् पाण्डवः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने मार्कण्डेयजीसे पुनः यह अनुरोध किया—'भगवन् ! फिर मुझे क्षत्रियोंका माहात्म्य सुनाइये' ॥ १ ॥

अथाचष्ट मार्कण्डेयो महाराज वृषदर्भसेदुकनामानौ राजानौ नीतिमार्गरतावस्त्रोपास्त्रकृतिनौ ॥ २ ॥

तब मार्कण्डेयजीने कहा—'महाराज ! पूर्वकालमें वृषदर्भ और सेदुक ये दो राजा थे। दोनों ही नीतिके मार्गपर चलनेवाले और अस्त्र तथा उपास्त्रोंकी विद्यामें निपुण थे॥

सेदुको वृषदर्भस्य बालस्यैव उपांशुव्रतमभ्यजानात् कुप्यमदेयं ब्राह्मणस्य ॥ ३ ॥

'वृषदर्भने बचपनसे ही एक गुप्त व्रत ले रक्खा था कि 'ब्राह्मणको सोना-चाँदीके सिवा और कुछ नहीं देना चाहिये (तात्पर्य यह कि उसे सुवर्ण तथा रजत ही प्रदान करना चाहिये)'। उनके इस व्रतको सेदुक जानते थे ॥ ३ ॥

अथ तं सेदुकं ब्राह्मणः कश्चिद् वेदाध्ययनसम्पन्न आशिषं दत्त्वा गुर्वर्थी भिक्षितवान् ॥ ४ ॥

अश्वसहस्रं मे भवान् ददात्विति तं सेदुको ब्राह्मणमब्रवीत् ॥ ५ ॥

नास्ति सम्भवो गुर्वर्थं दातुमिति ॥ ६ ॥

'एक दिन कोई वेदाध्ययनसम्पन्न ब्राह्मण राजा सेदुकके पास आया और उन्हें आशीर्वाद देकर गुरु-दक्षिणाके लिये भिक्षा माँगता हुआ बोला—'राजन् ! आप मुझे एक हजार घोड़े दीजिये।' तब सेदुकने उस ब्राह्मणसे कहा—'ब्रह्मन् ! आपकी अभीष्ट गुरु-दक्षिणा देना मेरे लिये सम्भव नहीं है ॥ ४–६ ॥

स त्वं गच्छ वृषदर्भसकाशम्। राजा परमधर्मज्ञो ब्राह्मण तं भिक्षस्व। स ते दास्यति तस्यैतदुपांशुव्रतमिति ॥ ७ ॥

'अतः आप वृषदर्भके पास चले जाइये। ब्राह्मण ! राजा वृषदर्भ बड़े धर्मज्ञ हैं। आप उन्हींसे याचना कीजिये। वे आपकी अभीष्ट वस्तु अवश्य दे देंगे। यह उनका गुप्त नियम है' ॥ ७ ॥

अथ ब्राह्मणो वृषदर्भसकाशं गत्वा अश्वसहस्रमयाचत्। स राजा तं कशेनाताडयत् ॥ ८ ॥

'तब ब्राह्मण देवताने वृषदर्भके पास जाकर एक हजार घोड़े माँगे। यह सुनकर राजा उन्हें कोड़ेसे पीटने लगे ॥८॥

तं ब्राह्मणोऽब्रवीत्। किं हिंस्यनागसं मामिति ॥ ९ ॥

'यह देख ब्राह्मणने उनसे पूछा—'राजन् ! मुझ निरपराधको आप क्यों मार रहे हैं' ॥ ९ ॥

एवमुक्त्वा तं शपन्तं राजाऽऽह। विप्र किं यो न ददाति तुभ्यमुताहोस्विद् ब्राह्मण्यमेतत् ॥ १० ॥

'ऐसा कहकर ब्राह्मण देवता शाप देनेको उद्यत हो गये। तब राजाने उनसे कहा—'विप्रवर ! क्या जो आपको अपना धन न दे, उसको शाप देना ही उचित है ? अथवा यही ब्राह्मणोचित कर्म है ?' ॥ १० ॥

ब्राह्मण उवाच

राजाधिराज तव समीपं सेदुकेन प्रेषितो भिक्षितुमागतः। तेनानुशिष्टेन मया त्वं भिक्षितोऽसि ॥ ११ ॥

ब्राह्मणने कहा—'राजाधिराज ! आपके पास राजा सेदुकने मुझे भेजा है, तभी आपसे गुरु-दक्षिणा माँगने आया हूँ। उनके उपदेशके अनुसार ही मैंने आपसे याचना की है'॥

राजोवाच

पूर्वाह्णे ते दास्यामि यो मेऽद्य बलिरागमिष्यति। यो हन्यते कशया कथं मोघं क्षेपणं तस्य स्यात् ॥ १२ ॥

राजा बोले—ब्रह्मन् ! आज जो भी राजकीय कर मेरे पास आयेगा, उसे कल पूर्वाह्णमें ही आपको दे दूँगा। जिसे कोड़ेसे पीटा जाय, उसे खाली हाथ कैसे लौटाया जा सकता है ? ॥ १२ ॥

इत्युक्त्वा ब्राह्मणाय दैवसिकामुत्पत्तिं प्रादात्। अधिकस्याश्वसहस्रस्य मूल्यमेवाददिति ॥ १३ ॥

ऐसा कहकर राजाने ब्राह्मणको एक दिनकी आय दे दी। इस प्रकार उन्होंने एक हजारसे अधिक घोड़ोंका मूल्य ही दिया* ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि सेदुकवृषदर्भचरिते षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें सेदुकवृषदर्भचरितविषयक एक सौ छियानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९६ ॥

सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्र और अग्निद्वारा राजा शिविकी परीक्षा

मार्कण्डेय उवाच

देवानां कथा संजाता महीतलं गत्वा महीपतिं शिबिमौशीनरं साध्वेनं शिबिं जिज्ञास्याम इति। एवं भो इत्युक्त्वा अग्नीन्द्रावुपतिष्ठेताम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! एक समय देवताओंमें परस्पर यह बातचीत हुई कि 'पृथ्वीपर चलकर हम उशीनरके पुत्र राजा शिविकी श्रेष्ठताकी परीक्षा करें।' 'ऐसा ही हो' यह कहकर अग्नि और इन्द्र वहाँ जानेके लिये उद्यत हुए॥

अग्निः कपोतरूपेण तमभ्यधावदामिषार्थमिन्द्रः श्येनरूपेण ॥ २ ॥

अग्निदेव कबूतरका रूप धारण करके मानो अपने प्राण बचानेके लिये राजाके पास भागते हुए गये और इन्द्रने बाज पक्षीका रूप धारणकर मांसके लिये उस कबूतरका पीछा किया॥

अथ कपोतो राज्ञो दिव्यासनासीनस्योत्सङ्गं न्यपतत् ॥ ३ ॥

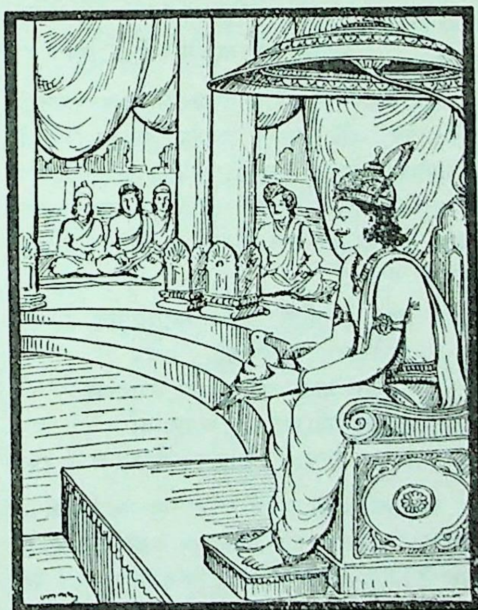
राजा शिवि अपने दिव्य सिंहासनपर बैठे हुए थे। कबूतर उनकी गोदमें जा गिरा ॥ ३ ॥

अथ पुरोहितो राजानमब्रवीत्। प्राणरक्षार्थं श्येनाद् भीतो भवन्तं प्राणार्थी प्रपद्यते ॥ ४ ॥

यह देखकर पुरोहितने राजासे कहा—'महाराज ! यह कबूतर बाजके डरसे अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये आपकी शरणमें आया है। किसी तरह प्राण बच जायँ—यही इसका प्रयोजन है ॥ ४ ॥

वसु ददातु अन्तवान् पार्थिवोऽस्य निष्कृतिं कुर्याद् घोरं कपोतस्य निपातमाहुः ॥ ५ ॥

'परंतु विद्वान् पुरुष कहते हैं कि 'इस तरह कबूतरका आकर गिरना भयंकर अनिष्टका सूचक है।' आपकी मृत्यु निकट जान



* राजाका यह कठोर नियम था कि वे सोना-चाँदीके सिवा और कुछ ब्राह्मणको नहीं देते थे, जो उनसे ये ही वस्तुएँ माँगता, उसे प्रसन्नतापूर्वक देते थे। जो दूसरी कोई चीज माँगता, उसे यह समझकर कि यह मेरा नियम भङ्ग करना चाहता है, दण्ड देते थे। ब्राह्मण देवता दूसरेके भेजनेसे आये थे, इसलिये राजाने [illegible]

पड़ती है; अतः आपको इस उत्पातकी शान्ति करनी चाहिये। आप धन दान करें' ॥ ५ ॥

अथ कपोतो राजानमब्रवीत्। प्राणरक्षार्थं श्येनाद् भीतो भवन्तं प्राणार्थी प्रपद्ये अङ्गैरङ्गानि प्राप्यार्थी मुनिर्भूत्वा प्राणांस्त्वां प्रपद्ये ॥ ६ ॥

तदनन्तर कबूतरने राजासे कहा—'महाराज! मैं बाजके डरसे प्राण बचानेके लिये प्राणार्थी होकर आपकी शरणमें आया हूँ। मैं वास्तवमें कबूतर नहीं, ऋषि हूँ। मैंने स्वेच्छासे पूर्व शरीरसे यह शरीर बदल लिया है। प्राणरक्षक होनेके कारण आप ही मेरे प्राण हैं। मैं आपकी शरणमें हूँ, मुझे बचाइये ॥ ६ ॥

स्वाध्यायेन कर्शितं ब्रह्मचारिणं मां विद्धि। तपसा दमेन युक्तमाचार्यस्याप्रतिकूलभाषिणम्। एवं युक्तमपापं मां विद्धि ॥ ७ ॥

'मुझे ब्रह्मचारी समझिये। मैंने वेदोंका स्वाध्याय करते हुए अपने शरीरको दुर्बल किया है। मैं तपस्वी और जितेन्द्रिय हूँ। आचार्यके प्रतिकूल कभी कोई बात नहीं करता। इस प्रकार मुझे योगयुक्त और निष्पाप जानिये ॥ ७ ॥

गदामि वेदान् विचिनोमि छन्दः
सर्वे वेदा अक्षरशो मे अधीताः।
न साधु दानं श्रोत्रियस्य प्रदानं
मा प्रादाः श्येनाय न कपोतोऽस्मि ॥ ८ ॥

'मैं वेदोंका प्रवचन और छन्दोंका संग्रह करता हूँ। मैंने सम्पूर्ण वेदोंके एक-एक अक्षरका अध्ययन किया है। मैं श्रोत्रिय विद्वान् हूँ। मुझ-जैसे व्यक्तिको किसी भूखे प्राणीकी भूख बुझानेके लिये उसके हवाले कर देना उत्तम दान नहीं है। अतः आप मुझे बाजको न सौंपिये। मैं कबूतर नहीं हूँ' ॥ ८ ॥

अथ श्येनो राजानमब्रवीत् ॥ ९ ॥
पर्यायेण वसतिर्वा भवेषु
सर्गे जातः पूर्वमस्मात् कपोतात्।
त्वमाददानोऽथ कपोतमेनं
मा त्वं राजन् विघ्नकर्ता भवेथाः ॥ १० ॥

तदनन्तर बाजने राजासे कहा—'महाराज! प्रायः सभी जीवोंको बारी-बारीसे विभिन्न योनियोंमें जन्म लेकर रहना पड़ता है। मालूम होता है, आप इस सृष्टि-परम्परामें पहले कभी इस कबूतरसे जन्म ग्रहण कर चुके हैं; तभी तो इसे अपने आश्रयमें ले रहे हैं! राजन्! मैं आग्रहपूर्वक कहता हूँ, आप इस कबूतरको लेकर मेरे भोजनके कार्यमें विघ्न न डालें' ॥ ९-१० ॥

राजोवाच

केनेदृशी जातु परा हि दृष्टा
वागुच्यमाना शकुनेन संस्कृता।
यां वै कपोतो वदते यां च श्येन
उभौ विदित्वा कथमस्तु साधु ॥ ११ ॥

राजा बोले—अहो! आजसे पहले किसने कभी भी किसी पक्षीके मुखसे ऐसी उत्तम संस्कृत भाषाका उच्चारण देखा या सुना है, जैसी कि ये कबूतर और बाज बोल रहे हैं? किस प्रकार इन दोनोंका स्वरूप जानकर इनके प्रति न्यायोचित बर्ताव किया जा सकता है? ॥ ११ ॥

नास्य वर्षं वर्षति वर्षकाले
नास्य बीजं रोहति काल उत्तम्।
भीतं प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे
न त्राणं लभेत् त्राणमिच्छन् स काले ॥ १२ ॥

जो राजा अपनी शरणमें आये हुए भयभीत प्राणीको उसके शत्रुके हाथमें दे देता है, उसके देशमें समयपर वर्षा नहीं होती। उसके बोये हुए बीज भी समयपर नहीं उगते हैं। वह कभी संकटके समय जब अपनी रक्षा चाहता है, तब उसे कोई रक्षक नहीं मिलता है ॥ १२ ॥

जाता ह्रस्वा प्रजा प्रमीयते
सदा न वासं पितरोऽस्य कुर्वते।
भीतं प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे
नास्य देवाः प्रतिगृह्णन्ति हव्यम् ॥ १३ ॥

जो राजा अपनी शरणमें आये हुए भयभीत प्राणीको उसके शत्रुके हाथमें दे देता है, उसकी पैदा हुई संतान छोटी अवस्थामें ही मर जाती है। उसके पितरोंको कभी पितृलोकमें रहनेके लिये स्थान नहीं मिलता और देवता उसका दिया हुआ हविष्य नहीं ग्रहण करते हैं ॥ १३ ॥

मोघमन्नं विन्दति चाप्रचेताः
स्वर्गाल्लोकाद् भ्रश्यति शीघ्रमेव।
भीतं प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे
सेन्द्रा देवाः प्रहरन्त्यस्य वज्रम् ॥ १४ ॥

जो राजा अपनी शरणमें आये हुए भयभीत प्राणीको उसके शत्रुके हाथमें दे देता है, उसका खाना-पीना निष्फल है। वह अनुदार हृदयका मनुष्य शीघ्र ही स्वर्गलोकसे भ्रष्ट हो जाता है और इन्द्र आदि देवता उसके ऊपर वज्रका प्रहार करते हैं ॥ १४ ॥

उक्षाणं पक्त्वा सह ओदनेन
अस्मात् कपोतात् प्रति ते नयन्तु।
यस्मिन् देशे रमसेऽतीव श्येन
तत्र मांसं शिबयस्ते वहन्तु ॥ १५ ॥

'अतः बाज ! इस कबूतरके बदले मेरे सेवक ले जायँ तुम्हारी पुष्टिके लिये भातके साथ ऋषभकन्द पकाकर दूँगा। तुम जिस स्थानपर प्रसन्नतापूर्वक रह सको, वहीं चलकर रहो। ये शिबिवंशी क्षत्रिय वहीं तुम्हारे लिये भात और ऋषभकन्दका गूदा पहुँचा दें ॥ १५ ॥

श्येन उवाच

नोक्षाणं राजन् प्रार्थयेयं न चान्य-
दस्मान्मांसमधिकं वा कपोतात्।
देवैर्दत्तः सोऽद्य ममैष भक्ष-
स्तन्मे ददस्व शकुनानामभावात् ॥ १६ ॥

बाज बोला—राजन् ! मैं आपसे ऋषभकन्द नहीं माँगता और न मुझे इस कबूतरसे अधिक कोई दूसरा मांस ही चाहिये। आज दूसरे पक्षियोंके अभावमें यह कबूतर ही मेरे लिये देवताओंका दिया हुआ भोजन है। अतः यही मेरा आहार होगा। इसे ही मुझे दे दीजिये ॥ १६ ॥

राजोवाच

उक्षाणं वेहतमनूनं नयन्तु
ते पश्यन्तु पुरुषा ममैव।
भयाहितस्य ह्यायं ममान्तिकात् त्वां
प्रत्याम्नायं तु त्वं ह्येनं मा हिंसीः ॥ १७ ॥

राजाने कहा—बाज ! उक्षा (ऋषभकन्द) अथवा वेहत नामक ओषधियाँ बड़ी पुष्टिकारक होती हैं। मेरे सेवक जाकर उनकी खोज करें और पर्याप्त मात्रामें भातके साथ उन्हें पकाकर तुम्हारे पास पहुँचा दें। भयभीत कपोतके बदलेमें मेरे पाससे मिलनेवाला यह उचित मूल्य होगा। इसे ले लो, किंतु इस कबूतरको न मारो ॥ १७ ॥

त्यजे प्राणान् नैव दद्यां कपोतं
सौम्यो ह्ययं किं न जानासि श्येन।
यथा क्लेशं मा कुरुष्वेह सौम्य
नाहं कपोतमर्पयिष्ये कथंचित् ॥ १८ ॥

मैं अपने प्राण दे दूँगा, किंतु इस कबूतरको नहीं दूँगा। बाज ! क्या तुम नहीं जानते, यह कितना सुन्दर स्वयं कैसा भोला-भाला है ? सौम्य ! अब तुम यहाँ व्यर्थ कष्ट न उठाओ। मैं इस कबूतरको किसी तरह तुम्हारे हाथमें नहीं दूँगा ॥ १८ ॥

यथा मां वै साधुवादैः प्रसन्नाः
प्रशंसेयुः शिबयः कर्मणा तु।
यथा श्येन प्रियमेव कुर्यां
प्रशाधि मां यद् वदेस्तत् करोमि ॥ १९ ॥

बाज ! जिस कर्मसे शिबिदेशके लोग प्रसन्न होकर मुझे साधुवाद देते हुए मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा करें और जिससे मेरेद्वारा तुम्हारा भी प्रिय कार्य बन सके, वह बताओ। उसीके लिये मुझे आज्ञा दो। मैं वही करूँगा ॥ १९ ॥

श्येन उवाच

ऊरोर्दक्षिणादुत्कृत्य स्वपिशितं तावद् राजन् यावन्मांसं कपोतेन समम्। तथा तस्मात् साधु त्रातः कपोतः प्रशंसेयुश्च शिबयः कृतं च प्रियं स्यान्ममेति ॥ २० ॥

बाज बोला—राजन् ! अपनी दायीं जाँघसे उतना ही मांस काटकर दो, जितना इस कबूतरके बराबर हो सके। ऐसा करनेसे कबूतरकी भली-भाँति रक्षा हो सकती है। इसीसे शिबि देशकी प्रजा आपकी भूरि-भूरि प्रशंसा करेगी और मेरा भी प्रिय कार्य सम्पन्न हो जायगा ॥ २० ॥

अथ स दक्षिणादूरोरुत्कृत्य स्वमांसपेशीं तुलयाऽऽधारयत्। गुरुतर एव कपोत आसीत् ॥ २१ ॥

तब राजाने अपनी दायीं जाँघसे मांस काटकर उसे तराजूके एक पलड़ेपर रक्खा। किंतु कबूतरके साथ तौलनेपर वही अधिक भारी निकला ॥ २१ ॥

पुनरन्यमुच्चकर्त गुरुतर एव कपोतः। एवं सर्वं समधिकृत्य शरीरं तुलायामारोपयामास। तत् तथापि गुरुतर एव कपोत आसीत् ॥ २२ ॥

राजाने फिर दूसरी बार अपने शरीरका मांस काटकर रक्खा, तो भी कबूतरका ही पलड़ा भारी रहा। इस प्रकार क्रमशः उन्होंने अपने सभी अङ्गोंका मांस काट-काटकर तराजूपर चढ़ाया तो भी कबूतर ही भारी रहा ॥ २२ ॥

अथ राजा स्वयमेव तुलामारुरोह। न च व्यलीकमासीद् राज्ञ एतद् वृत्तान्तं दृष्ट्वा त्रात इत्युक्त्वा प्रालीयत श्येनोऽथ राजा अब्रवीत् ॥ २३ ॥

तब राजा स्वयं ही तराजूपर चढ़ गये। ऐसा करते समय उनके मनमें क्लेश नहीं हुआ। यह घटना देखकर बाज बोल उठा—'हो गयी कबूतरकी प्राणरक्षा।' ऐसा कहकर वह वहीं अन्तर्धान हो गया। अब राजा शिबि कबूतरसे बोले—॥ २३ ॥

कपोतं विद्युः शिबयस्त्वां कपोत
पृच्छामि ते शकुने को नु श्येनः।
नानीश्वर ईदृशं जातु कुर्या-
देतं प्रश्नं भगवन् मे विचक्ष्व ॥ २४ ॥

'कपोत ! ये शिबिलोग तो तुम्हें कबूतर ही समझते थे। पक्षिप्रवर ! मैं तुमसे पूछता हूँ, बताओ, यह बाज कौन था ? ईश्वरके सिवा दूसरा कोई कभी ऐसा चमत्कारपूर्ण कार्य नहीं कर सकता। भगवन् ! मेरे इस प्रश्नका यथावत् उत्तर दो' ॥ २४ ॥

कपोत उवाच

वैश्वानरोऽहं ज्वलनो धूमकेतु-
रथैष श्येनो वज्रहस्तः शचीपतिः।

साधु ज्ञातुं त्वामृषभं सौरथेय
नौ जिज्ञासया त्वत्सकाशं प्रपन्नौ ॥ २५ ॥

कबूतर बोला—राजन् ! मैं धूममयी ध्वजासे विभूषित वैश्वानर अग्नि हूँ और उस बाजके रूपमें साक्षात् वज्रधारी शचीपति इन्द्र थे । सुरथानन्दन ! तुम एक श्रेष्ठ पुरुष हो। हम दोनों तुम्हारी श्रेष्ठताकी परीक्षाके लिये यहाँ आये थे ॥ २५ ॥

यामेतां पेशीं मम निष्क्रयाय
प्रादाद् भवानसिनोत्कृत्य राजन् ।
एतद् वो लक्ष्म शिवं करोमि
हिरण्यवर्णं रुचिरं पुण्यगन्धम् ॥ २६ ॥

राजन् ! तुमने मेरी रक्षाके लिये जो तलवारसे काटकर अपना यह मांस दिया है, इसके घावको मैं अभी अच्छा कर देता हूँ । यहाँकी चमड़ीका रंग सुन्दर और सुनहला हो जायगा तथा इससे बड़ी पवित्र सुगन्ध फैलती रहेगी, यह तुम्हारा राजचिह्न होगा ॥ २६ ॥

एतासां प्रजानां पालयिता यशस्वी
सुरर्षीणामथ सम्मतो भृशम् ।
एतस्मात् पार्श्वात् पुरुषो जनिष्यति
कपोतरोमेति च तस्य नाम ॥ २७ ॥

तुम्हारे इस दक्षिण पार्श्वसे एक पुत्र उत्पन्न होगा, जो इन प्रजाओंका पालक और यशस्वी होनेके साथ ही देवर्षियोंके अत्यन्त आदरका पात्र होगा । उसका नाम होगा, 'कपोतरोमा' ॥ २७ ॥

कपोतरोमाणं शिबिनौद्भिदं पुत्रं प्राप्स्यसि नृप वृषसंहननं यशोदीप्यमानं द्रष्टासि शूरमृषभं सौरथानाम् ॥ २८ ॥

राजन् ! तुम्हारे द्वारा उत्पन्न किया हुआ वह पुत्र, जिसे तुम भविष्यमें प्राप्त करोगे, तुम्हारी जाँघका भेदन करके प्रकट होगा; इसीलिये औद्भिद कहलायेगा । उसके शरीरके रोएँ कबूतरके समान होंगे । उसका शरीर साँड़के समान हृष्ट-पुष्ट होगा । तुम देखोगे कि वह सुयशसे प्रकाशित हो रहा है । सुरथाके वंशजोंमें वह सर्वश्रेष्ठ शूरवीर होगा ॥ २८ ॥

(इतना कहकर अग्निदेव अन्तर्धान हो गये ।)

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि शिबिचरिते सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें शिबिचरित्रविषयक एक सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९७ ॥

अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

देवर्षि नारदद्वारा शिबिकी महत्ताका प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

भूय एव महाभाग्यं कथ्यतामित्यब्रवीत् पाण्डवो मार्कण्डेयम् । अथाचष्ट मार्कण्डेयः । अष्टकस्य वैश्वामित्रेरश्वमेधे सर्वे राजानः प्रागच्छन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने मार्कण्डेयजीसे पुनः प्रार्थना की—'मुने ! क्षत्रिय नरेशोंके माहात्म्यका पुनः वर्णन कीजिये ।' तब मार्कण्डेयजीने कहा—'धर्मराज ! विश्वामित्रके पुत्र अष्टकके अश्वमेधयज्ञमें सब राजा पधारे थे ॥ १ ॥

भ्रातरश्चास्य प्रतर्दनो वसुमनाः शिबिरौशीनर इति । स च समाप्तयज्ञो भ्रातृभिः सह रथेन प्रायात् । ते च नारदमागच्छन्तमभिवाद्यारोहतु भवान् रथमित्यब्रुवन् ॥ २ ॥

'अष्टकके तीन भाई प्रतर्दन, वसुमना तथा उशीनरपुत्र शिबि भी उस यज्ञमें आये थे। यज्ञ समाप्त होनेपर एक दिन अष्टक अपने भाइयोंके साथ रथपर आरूढ़ हो (स्वर्गकी ओर) जा रहे थे । इसी समय रास्तेमें देवर्षि नारदजी आते दिखायी दिये। तब उन सबने उन्हें प्रणाम करके कहा—'भगवन्! आप भी रथपर आ जाइये' ॥ २ ॥

तांस्तथेत्युक्त्वा रथमारुरोह । अथ तेषामेकः सुरर्षिं नारदमब्रवीत् । प्रसाद्य भगवन्तं किंचिदिच्छेयं प्रष्टुमिति ॥ ३ ॥

'तब नारदजी 'तथास्तु' कहकर उस रथपर बैठ गये । तदनन्तर उनमेंसे एकने देवर्षि नारदसे कहा—'भगवन् ! मैं आपको प्रसन्न करके कुछ पूछना चाहता हूँ' ॥ ३ ॥

पृच्छेत्यब्रवीदृषिः । सोऽब्रवीदायुष्मन्तः सर्वगुणप्रमुदिताः । अथायुष्मन्तं स्वर्गस्थानं चतुर्भिर्यातव्यं स्यात् कोऽवतरेत् । अयमष्टकोऽवतरेदित्यब्रवीदृषिः ॥ ४ ॥

'देवर्षिने कहा—'पूछो' तब उसने इस प्रकार कहा—'भगवन् ! हम सब लोग दीर्घायु तथा सर्वगुणसम्पन्न होनेके कारण सदा प्रसन्न रहते हैं । हम चारोंको दीर्घकालतक उपभोगमें आनेवाले स्वर्गलोकमें जाना है, किंतु वहाँसे सर्वप्रथम कौन इस भूतलपर उतर आयेगा ?' देवर्षिने कहा—'सबसे पहले अष्टक उतरेगा' ॥ ४ ॥

किं कारणमित्यपृच्छत् । अथाचष्टाष्टकस्य गृहे मया उषितं स मां रथेनानुप्रावहत्तथापश्यमनेकानि

गोसहस्राणि वर्णशो विविक्तानि तमहमपृच्छं कस्येमा गाव इति सोऽब्रवीत् । मया निसृष्टा इत्येतास्तेनैव स्वयं श्लाघति कथितेन । एषोऽवतरेदथ त्रिभिर्यातव्यं साम्प्रतं कोऽवतरेत् ॥

'फिर-उसने पूछा—'क्या कारण है कि अष्टक ही उतरेगा ?' तब नारदजीने कहा—'एक दिन मैं अष्टकके घर ही ठहरा था । उस दिन अष्टक मुझे रथपर बिठाकर भ्रमणके लिये ले जा रहे थे । मैंने रास्तेमें देखा, भिन्न-भिन्न रंगकी कई हजार गौएँ पृथक्-पृथक् चर रही हैं । उन्हें देखकर मैंने अष्टकसे पूछा—'ये किसकी गौएँ हैं ?' इन्होंने उत्तर दिया—'ये मेरी दान की हुई गौएँ हैं ।' इस प्रकार ये स्वयं अपने किये हुए दानका बखान करके आत्मश्लाघा करते हैं । इसीलिये इन्हें स्वर्गसे पहले उतरना पड़ेगा ।' तत्पश्चात् उन लोगोंने पुनः प्रश्न किया—'यदि हम शेष तीनों भाई स्वर्गमें जायँ, तो सबसे पहले किसको उतरना पड़ेगा ?' ॥ ५ ॥

प्रतर्दन इत्यब्रवीदृषिः । तत्र किं कारणं प्रतर्दनस्यापि गृहे मयोषितं स मां रथेनानुप्रावहत् ॥६॥

अथैनं ब्राह्मणोऽभिक्षेताश्वं मे ददातु भवान् निवृत्तो दास्यामीत्यब्रवीद् ब्राह्मणं त्वरितमेव दीयतामित्यब्रवीद् ब्राह्मणस्त्वरितमेव स ब्राह्मणस्यैवमुक्त्वा दक्षिणं पार्श्वमददत् ॥ ७ ॥

'देवर्षिने उत्तर दिया—'प्रतर्दनको ।' 'इसमें क्या कारण है ?' ऐसा प्रश्न होनेपर देवर्षिने उत्तर दिया—'एक दिन मैं प्रतर्दनके घर भी ठहरा था । ये मुझे रथसे ले जा रहे थे । उस समय एक ब्राह्मणने आकर इनसे याचना की—'आप मुझे एक अश्व दे दीजिये ।' तब उन्होंने ब्राह्मणको उत्तर दिया—'लौटनेपर दे दूँगा ।' ब्राह्मणने कहा—'नहीं, तुरंत दे दीजिये ।' 'अच्छा तो तुरंत ही लीजिये' यों कहकर इन्होंने रथके दाहिने पार्श्वका घोड़ा खोलकर उसे दे दिया' ॥ ६-७ ॥

अथान्योऽप्यश्वार्थी ब्राह्मण आगच्छत् । तथैव चैनमुक्त्वा वामपार्ष्णिमभ्यदादथ प्रायात् पुनरपि चान्योऽप्यश्वार्थी ब्राह्मण आगच्छत् त्वरितोऽथ तस्मै अपनह्य वामं धुर्यमददत् ॥ ८ ॥

'इतनेहीमें एक दूसरा ब्राह्मण आया । उसे भी घोड़ेकी ही आवश्यकता थी । जब उसने याचना की, तब राजाने पूर्ववत् उससे भी यही कहा—'लौटनेपर दूँगा ।' परंतु उसके आग्रह करनेपर उन्होंने रथके वाम पार्श्वका एक घोड़ा दिया । फिर वे आगे बढ़ गये । तदनन्तर एक घोड़ा माँगनेवाला दूसरा ब्राह्मण आया । उसने भी जल्दी ही माँगा । तब राजाने उसे बायें धुरेका बोझ ढोनेवाला अश्व खोल करके दे दिया ॥

अथ प्रायात् पुनरन्य आगच्छदश्वार्थी ब्राह्मणस्तमब्रवीदभियातो दास्यामि त्वरितमेव मे दीयतामित्यब्रवीद् ब्राह्मणस्तस्मै दत्त्वाश्वं रथधुरं गृह्णता व्याहृतं ब्राह्मणानां साम्प्रतं नास्ति किंचिदिति ॥

'तत्पश्चात् जब वे आगे बढ़े, तब फिर एक अश्वका इच्छुक ब्राह्मण आ पहुँचा । उसके माँगनेपर राजाने कहा—'मैं शीघ्र ही अपने लक्ष्यतक पहुँचकर घोड़ा दे दूँगा ।' ब्राह्मण बोला—'मुझे तुरंत दीजिये ।' तब उन्होंने ब्राह्मणको अश्व देकर स्वयं रथका धुरा पकड़ लिया और कहा—'ब्राह्मणोंके लिये ऐसा करना सर्वथा उचित नहीं है' ॥ ९ ॥

य एष ददाति चासूयति च तेन व्याहृतेन तथावतरेत् । अथ द्वाभ्यां यातव्यमिति कोऽवतरेत् ॥ १० ॥

'ये प्रतर्दन दान देते हैं और ब्राह्मणकी निन्दा भी करते हैं, अतः वह निन्दायुक्त वचन बोलनेके कारण पहले इन्हींको स्वर्गसे उतरना पड़ेगा । तब पुनः प्रश्न किया गया, 'हम शेष दो भाई जा रहे हैं, उनमेंसे कौन पहले स्वर्गसे नीचे उतरेगा ?'

वसुमना अवतरेदित्यब्रवीदृषिः ॥ ११ ॥

'देवर्षिने उत्तर दिया—'वसुमना पहले उतरेंगे' ॥ ११ ॥

किं कारणमित्यपृच्छदथाचष्ट नारदः । अहं परिभ्रमन् वसुमनसो गृहमुपस्थितः ॥ १२ ॥

'तब उन्होंने पूछा—'इसका क्या कारण है ?' नारदजी बोले—'एक दिन मैं घूमता-घामता वसुमनाके घरपर जा पहुँचा ॥ १२ ॥

स्वस्तिवचनमासीत् पुष्परथस्य प्रयोजनेन तमहमन्वगच्छं स्वस्तिवाचितेषु ब्राह्मणेषु रथो ब्राह्मणानां दर्शितः ॥ १३ ॥

'उस दिन उनके यहाँ स्वस्तिवाचन हो रहा था । राजाके यहाँ एक ऐसा रथ था, जो पर्वत, आकाश और समुद्र आदि दुर्गम स्थानोंपर भी सुगमतासे आ-जा सकता था । उसका नाम था 'पुष्परथ' । मैं उसीके प्रयोजनसे राजाके यहाँ गया था । जब ब्राह्मणलोग स्वस्तिवाचन कर चुके, तब राजाने ब्राह्मणोंको अपना वह रथ दिखाया ॥ १३ ॥

तमहं रथं प्राशंसमथ राजाब्रवीद् भगवता रथः प्रशस्तः । एष भगवतो रथ इति ॥ १४ ॥

'उस समय मैंने उस रथकी बड़ी प्रशंसा की ।' राजा बोले—'भगवन् ! आपने इस रथकी प्रशंसा की है । अतः यह रथ आपहीका है' ॥ १४ ॥

अथ कदाचित् पुनरप्यहमुपस्थितः पुनरेव च रथप्रयोजनमासीत् । सम्यगयमेष भगवत इत्येवं राजाब्रवीदिति पुनरेव तृतीयं स्वस्तिवाचनं समभावयमथ राजा ब्राह्मणानां दर्शयन् मामभि-

प्रेक्ष्याब्रवीत् । अथो भगवता पुष्परथस्य स्वस्तिवाचनानि सुष्ठु सम्भावितानि एतेन द्रोहवचनेनावतरेत् ॥ १५ ॥'

'तदनन्तर एक दिन और मैं राजाके यहाँ उपस्थित हुआ। पुनः मेरे जानेका उद्देश्य पुष्परथको प्राप्त करना ही था। उस दिन भी राजाने बड़ी आवभगतके साथ कहा—'भगवन्! यह रथ आपका ही है।' फिर तीसरी बार मैंने उनके यहाँ जाकर स्वस्तिवाचनका कार्य सम्पन्न किया। राजाने ब्राह्मणोंको उस रथका दर्शन कराते हुए मेरी ओर देखकर कहा—'भगवन्! आपने पुष्परथके लिये अच्छे स्वस्तिवाचन किये।' (ऐसा कहकर भी उन्होंने रथ नहीं दिया।) इस (छलयुक्त) वचनसे वसुमना ही पहले स्वर्गसे पृथ्वीपर उतरेंगे' ॥

अथैकेन यातव्यं स्यात् कोऽवतरेत् पुनर्नारद आह शिबिर्यायादहमवतरेयमत्र किं कारणमित्यब्रवीत् । असावहं शिबिना समो नास्मि यतो ब्राह्मणः कश्चिदेनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

शिबे अन्नार्थ्यस्मीति तमब्रवीच्छिबिः किं क्रियतामाज्ञापयतु भवानिति ॥ १७ ॥

'यदि आपके साथ हममेंसे एकमात्र शिबिको ही स्वर्गलोकमें जाना हो, तो वहाँसे पहले कौन उतरेगा?' ऐसा प्रश्न होनेपर नारदजीने फिर कहा—'शिबि जायँगे और मैं उतरूँगा।' 'इसमें क्या कारण है?' यह पूछे जानेपर देवर्षि नारदने कहा—'मैं राजा शिबिके समान नहीं हूँ, क्योंकि एक दिन एक ब्राह्मणने शिबिसे कहा—'शिबे! मैं भोजन करना चाहता हूँ।' राजाने पूछा—'आपके लिये क्या रसोई बनायी जाय, आज्ञा कीजिये' ॥ १६-१७ ॥

अथैनं ब्राह्मणोऽब्रवीद् य एष ते पुत्रो बृहद्गर्भो नाम एष प्रमातव्य इति तमेनं संस्कुरु अन्नं चोपपादय ततोऽहं प्रतीक्ष्य इति । ततः पुत्रं प्रमाथ्य संस्कृत्य विधिना साधयित्वा पात्र्यामर्पयित्वा शिरसा प्रतिगृह्य ब्राह्मणममृगयत् ॥ १८ ॥

'तब इनसे ब्राह्मणने कहा—'यह जो तुम्हारा पुत्र बृहद्गर्भ है, इसे मार डालो। फिर उसका दाह-संस्कार करो। तत्पश्चात् अन्न तैयार करो और मेरी प्रतीक्षा करो।' तब राजाने पुत्रको मारकर उसका दाह-संस्कार कर दिया और फिर विधिपूर्वक अन्न तैयार करके उसे बटलोईमें डालकर (और ढक्कनसे ढककर) अपने सिरपर रख लिया, फिर वे उस ब्राह्मणकी खोज करने लगे ॥ १८ ॥

अथास्य मृगयमाणस्य कश्चिदाचष्ट एष ते ब्राह्मणो नगरं प्रविश्य दहति ते गृहं कोशागारमायुधागारं स्त्र्यगारमश्वशालां हस्तिशालां च क्रुद्ध इति ॥१९॥

'खोज करते समय किसी मनुष्यने उनके पास आकर कहा—'राजन! आपका ब्राह्मण इधर है। यह नगरमें प्रवेश करके आपके भवन, कोषागार, शस्त्रागार, अन्तःपुर, अश्वशाला और गजशाला सबमें कुपित होकर आग लगा रहा है।'

अथ शिबिस्तथैवाविकृतमुखवर्णो नगरं प्रविश्य ब्राह्मणं तमब्रवीत् सिद्धं भगवन्नन्नमिति ब्राह्मणो न किंचिद् व्याजहार विस्मयादधोमुखश्चासीत् ॥ २० ॥

'यह सब सुनकर भी राजा शिबिके मुखकी कान्ति पूर्ववत् बनी रही। उसमें तनिक भी विकार न आया। वे नगरमें घुसकर ब्राह्मणसे बोले—'भगवन्! आपका भोजन तैयार है।' ब्राह्मण कुछ न बोला। वह आश्चर्यसे मुँह नीचा किये देखता रहा ॥ २० ॥

ततः प्रासादयद् ब्राह्मणं भगवन् भुज्यतामिति । मुहूर्तादुद्वीक्ष्य शिबिमब्रवीत् ॥ २१ ॥

'तब राजाने ब्राह्मणको मनाते हुए कहा—'भगवन्! भोजन कर लीजिये।' ब्राह्मणने दो घड़ीतक ऊपरकी ओर देखनेके पश्चात् शिबिसे कहा— ॥ २१ ॥

त्वमेवैतदशानेति तत्राह तथेति शिबिस्तथैवाविमना महित्वा कपालमभ्युद्धार्य भोक्तुमैच्छत् ॥२२॥

'तुम्हीं यह सब खा जाओ।' शिबिने उसी प्रकार मनको प्रसन्न रखते हुए 'बहुत अच्छा' कहकर ब्राह्मणकी आज्ञा स्वीकार की और उनका पूजन करके (सिरपर रखे हुए) ढक्कनको उघाड़कर वह सब खानेकी इच्छा की ॥ २२ ॥

अथास्य ब्राह्मणो हस्तमगृह्णात् । अब्रवीच्चैनं जितक्रोधोऽसि न ते किञ्चिदपरित्याज्यं ब्राह्मणार्थे ब्राह्मणोऽपि तं महाभागं सभाजयत् ॥ २३ ॥

'तब ब्राह्मणने उनका हाथ पकड़ लिया और कहा—'राजन्! तुमने क्रोधको जीत लिया है। तुम्हारे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे तुम ब्राह्मणके लिये न दे सको।' ऐसा कहकर ब्राह्मणने भी उन महाभाग नरेशका समादर किया ॥

स ह्युद्वीक्षमाणः पुत्रमपश्यदग्रे तिष्ठन्तं देवकुमारमिव पुण्यगन्धान्वितमलङ्कृतं सर्वं च तमर्थं विधाय ब्राह्मणोऽन्तरधीयत ॥ २४ ॥

'राजाने जब आँख उठाकर देखा, तब उनका पुत्र आगे खड़ा था। वह देवकुमारकी भाँति दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित था। उसके शरीरसे पवित्र सुगन्ध निकल रही थी। ब्राह्मणदेवता सब वस्तुओंको पूर्ववत् ठीक करके अन्तर्धान हो गये ॥

तस्य राजर्षेर्विधाता तेनैव वेषेण परीक्षार्थमागत इति तस्मिन्नन्तर्हिते अमात्या राजानमूचुः । किं प्रेप्सुना भवता इदमेवं जानता कृतमिति ॥ २५ ॥

साक्षात् विधाता ब्राह्मणके वेशमें राजर्षि शिबिकी परीक्षा

लेने आये थे। उनके अन्तर्धान हो जानेपर राजाके मन्त्रियोंने उनसे पूछा—'महाराज! आप क्या चाहते हैं? जिसके लिये सब कुछ जानते हुए भी ऐसा दुःसाहसपूर्ण कार्य किया है?'॥

शिबिरुवाच

नैवाहमेतद् यशसे ददानि
न चार्थहेतोर्न च भोगतृष्णया।
पापैरनासेवित एष मार्ग
इत्येवमेतत् सकलं करोमि॥ २६॥

शिबि बोले—मैं यशके लिये यह दान नहीं देता। धनके लिये अथवा भोगकी लिप्सासे भी दान नहीं करता। यह धर्मात्माओंका मार्ग है। पापी मनुष्य इसपर नहीं चल सकते। ऐसा समझकर ही मैं यह सब कुछ करता रहता हूँ॥ २६॥

सद्भिः सदाध्यासितं तु प्रशस्तं
तस्मात् प्रशस्तं श्रयते मतिर्मे।
एतन्महाभाग्यवरं शिबेस्तु
तस्मादहं वेद यथावदेतत्॥ २७॥

श्रेष्ठ पुरुष सदा जिस मार्गसे चले हैं, वही उत्तम मार्ग है। इसीलिये मेरी बुद्धि सदा उस उत्तम पथका ही आश्रय लेती है। यह है राजा शिबिकी सर्वश्रेष्ठ महिमा, जिसे मैं (अच्छी तरह) जानता हूँ। इसीलिये इन सब बातोंका यथावत् वर्णन किया है॥ २७॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि राजन्यमहाभाग्ये शिबिचरिते अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१९८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें क्षत्रियमाहात्म्यके प्रकरणमें शिबिचरित्रविषयक एक सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १९८॥

नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा इन्द्रद्युम्न तथा अन्य चिरजीवी प्राणियोंकी कथा

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयमृषयः पाण्डवाः पर्यपृच्छन्नस्ति कश्चिद् भवतश्चिरजाततर इति॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऋषियों तथा पाण्डवोंने मार्कण्डेयजीसे पूछा—'भगवन्! कोई आपसे भी पहलेका उत्पन्न चिरजीवी इस जगत्में है या नहीं?'॥ १॥

स तानुवाचास्ति खलु राजर्षिरिन्द्रद्युम्नो नाम क्षीणपुण्यस्त्रिदिवात् प्रच्युतः कीर्तिस्ते व्युच्छिन्नेति स मामुपातिष्ठदथ प्रत्यभिजानाति मां भवानिति॥

मार्कण्डेयजीने कहा—'है क्यों नहीं, सुनो। एक समय राजर्षि इन्द्रद्युम्न अपना पुण्य क्षीण हो जानेके कारण यह कहकर स्वर्गलोकसे नीचे गिरा दिये गये थे कि 'जगत्में तुम्हारी कीर्ति नष्ट हो गयी है।' स्वर्गसे गिरनेपर वे मेरे पास आये और बोले—'क्या आप मुझे पहचानते हैं?'॥ २॥

तमहमब्रुवं कार्यचेष्टाकुलत्वान्न वयं वासायनिका ग्रामैकरात्रवासिनो न प्रत्यभिजानीमोऽप्यात्मनोऽर्थानामनुष्ठानं न शरीरोपतापेनात्मनः समारम्भामोऽर्थानामनुष्ठानम्॥ ३॥

'मैंने उनसे कहा—'हमलोग तीर्थयात्रा आदि भिन्न-भिन्न पुण्य कार्योंकी चेष्टाओंमें व्यग्र रहते हैं, अतः किसी एक स्थानपर सदा नहीं रहते। एक गाँवमें केवल एक रात निवास करते हैं। अपने कार्योंका अनुष्ठान भी हमें भूल जाता है। सदा उपवास आदिके द्वारा रहनेसे अपने शरीरको सदा कष्ट पहुँचानेके कारण आवश्यक कार्योंका आरम्भ भी हमसे नहीं हो पाता है, ऐसी दशामें हम आपको कैसे जान सकते हैं?'॥ ३॥

(एवमुक्तो राजर्षिरिन्द्रद्युम्नः पुनर्मामब्रवीद् अथास्ति कश्चित् त्वत्तश्चिरं जाततर इति॥)

'मेरे ऐसा कहनेपर राजर्षि इन्द्रद्युम्नने पुनः मुझसे पूछा—'क्या आपसे भी पहलेका पैदा हुआ कोई पुरातन प्राणी है?'॥

(तं पुनः प्रत्यब्रवम्) अस्ति खलु हिमवति प्रावारकर्णो नामोलूकः प्रतिवसति। स मत्तश्चिरजातो भवन्तं यदि जानीयादितः प्रकृष्टे चाध्वनि हिमवांस्तत्रासौ प्रतिवसतीति॥ ४॥

'तब मैंने उन्हें पुनः उत्तर दिया—'हिमालय पर्वतपर प्रावारकर्ण नामसे प्रसिद्ध एक उलूक निवास करता है। वह मुझसे भी पहलेका उत्पन्न हुआ है। सम्भव है, वह आपको जानता हो। यहाँसे बहुत दूरकी यात्रा करनेपर हिमालय पर्वत मिलेगा। वहीं वह रहता है'॥ ४॥

ततः स मामश्वो भूत्वा तत्रावहद् यत्र बभूवोलूकः। अथैनं स राजा पप्रच्छ प्रतिजानाति मां भवानिति॥

'तब इन्द्रद्युम्न अश्व बनकर मुझे वहाँतक ले गये, जहाँ उलूक रहता था। वहाँ जाकर राजाने उससे पूछा—'क्या आप मुझे जानते हैं?'॥ ५॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वाब्रवीदेनं नाभिजानामि भवन्तमिति स एवमुक्त इन्द्रद्युम्नः पुनस्तमुलूकमब्रवीद् राजर्षिः ॥ ६ ॥

'उसने दो घड़ीतक सोच-विचारकर उनसे कहा—'मैं आपको नहीं जानता हूँ।' उलूकके ऐसा कहनेपर राजर्षि इन्द्रद्युम्नने पुनः उससे पूछा—॥ ६ ॥

अथास्ति कश्चिद् भवतः सकाशाच्चिरजात इति स एवमुक्तोऽब्रवीदस्ति खल्विन्द्रद्युम्नं नाम सरस्तस्मिन् नाडीजङ्घो नाम बकः प्रतिवसति सोऽस्मत्तश्चिरजाततरस्तं पृच्छेति तत इन्द्रद्युम्नो मां चोलूकमादाय तत् सरोऽगच्छद् यत्रासौ नाडीजङ्घो नाम बको बभूव ॥ ७ ॥

'क्या आपसे भी पहलेका उत्पन्न हुआ कोई चिरजीवी प्राणी है?' उनके ऐसा पूछनेपर उलूकने कहा—'इन्द्रद्युम्न नामसे प्रसिद्ध एक सरोवर है। वहाँ नाडीजङ्घ नामसे प्रसिद्ध एक बक निवास करता है। वह हमसे बहुत पहलेका उत्पन्न हुआ है। उससे पूछिये।' तब इन्द्रद्युम्न मुझको और उलूकको भी साथ लेकर उस सरोवरपर गये, जहाँ नाडीजङ्घ बक निवास करता था ॥ ७ ॥

सोऽस्माभिः पृष्टो भवानिममिन्द्रद्युम्नं राजानमभिजानातीति स एवं मुहूर्तं ध्यात्वाब्रवीन्नाभिजानाम्यहमिन्द्रद्युम्नं राजानमिति । ततः सोऽस्माभिः पृष्टः कश्चिद् भवतोऽन्यश्चिरजाततरोऽस्तीति। स नोऽब्रवीदस्ति खल्वस्मिन्नेव सरस्यकूपारो नाम कच्छपः प्रतिवसति। स मत्तश्चिरजाततरः। स यदि कथंचिदभिजानीयादिमं राजानं तमकूपारं पृच्छध्वमिति ॥ ८ ॥

'हमलोगोंने उस बकसे पूछा—'क्या आप राजा इन्द्रद्युम्नको जानते हैं?' उसने दो घड़ीतक सोचकर उत्तर दिया—'मैं राजा इन्द्रद्युम्नको नहीं जानता हूँ।' तब हमलोगोंने उनसे पूछा—'क्या दूसरा कोई प्राणी ऐसा है? जिसका जन्म आपसे भी पहले हुआ हो?' उसने हमसे कहा—'है; इसी सरोवरमें अकूपार नामक एक कछुआ रहता है। वह मुझसे भी पहले उत्पन्न हुआ है। आपलोग उस अकूपारसे ही पूछिये। सम्भव है, वह इन राजर्षिको किसी तरह जानता हो' ॥ ८ ॥

ततः स बकस्तमकूपारं कच्छपं विज्ञापयामास। अस्माकमभिप्रेतं भवन्तं किञ्चिदर्थमभिप्रष्टुं साध्वागम्यतां तावदिति तच्छ्रुत्वा कच्छपस्तस्मात् सरस उत्थायाभ्यगच्छद् यत्र तिष्ठामो वयं तस्य सरसस्तीरे आगतं चैनं वयमपृच्छाम भवानिन्द्रद्युम्नं राजानमभिजानातीति ॥ ९ ॥

'तब उस बकने अकूपार नामक कछुएको यह सूचना दी कि 'हमलोग आपसे कुछ अभीष्ट प्रश्न पूछना चाहते हैं। कृपया आइये।' यह संदेश सुनकर वह कछुआ उस सरोवरसे निकलकर वहीं आया, जहाँ हमलोग तटपर खड़े थे। आनेपर उससे हमलोगोंने पूछा—'क्या आप राजा इन्द्रद्युम्नको जानते हैं?' ॥ ९ ॥

स मुहूर्तं ध्यात्वा बाष्पसम्पूर्णनयन उद्विग्नहृदयो वेपमानो विसंज्ञकल्पः प्राञ्जलिरब्रवीत्। किमहमेनं न प्रत्यभिज्ञास्यामीह ह्यनेन सहस्रकृत्वश्चितिषु यूपा आहिताः ॥ १० ॥

'उसने दो घड़ीतक ध्यान करके नेत्रोंमें आँसू भरकर उद्विग्न हृदयसे काँपते हुए अचेतकी-सी दशामें हाथ जोड़कर कहा—'मैं इन्हें क्यों नहीं पहचानूँगा। इन्होंने एक हजार बार अग्निस्थापनके समय यज्ञ-यूपोंकी स्थापना की है ॥ १० ॥

सरश्चेदमस्य दक्षिणाभिर्दत्ताभिर्गोभिरतिक्रममाणाभिः कृतम्। अत्र चाहं प्रतिवसामीति ॥ ११ ॥

'इनके द्वारा दक्षिणामें दी हुई गौओंके आने-जानेसे यह सरोवर बन गया है, जिसमें मैं निवास कर रहा हूँ' ॥ ११ ॥

अथैतत् सकलं कच्छपेनोदाहृतं श्रुत्वा तदनन्तरं देवलोकाद् देवरथः प्रादुरासीद् वाचश्चाश्रूयन्तेन्द्रद्युम्नं प्रति प्रस्तुतस्ते स्वर्गो यथोचितं स्थानं प्रतिपद्यस्व कीर्तिमानस्यव्यग्रो याहीति ॥ १२ ॥

'कच्छपके मुँहसे ये सारी बातें सुन लेनेके पश्चात् देवलोकसे एक दिव्य रथ आकर प्रकट हुआ और उसमेंसे इन्द्रद्युम्नके प्रति कही हुई कुछ बातें सुनायी देने लगीं—'राजन्! आपके लिये स्वर्गलोक प्रस्तुत है। वहाँ चलकर यथोचित स्थान ग्रहण करें। आप कीर्तिमान् हैं। अतः निश्चिन्त होकर स्वर्गलोककी यात्रा करें' ॥ १२ ॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्यस्य कर्मणः।
यावत् स शब्दो भवति तावत् पुरुष उच्यते ॥ १३ ॥

'इस विषयमें ये श्लोक हैं—'जबतक मनुष्यके पुण्यकर्मका शब्द भूलोक और देवलोकका स्पर्श करता है, जबतक दोनों लोकोंमें उसकी कीर्ति बनी रहती है, तभीतक वह पुरुष स्वर्गलोकका निवासी बताया जाता है ॥ १३ ॥

अकीर्तिः कीर्त्यते लोके यस्य भूतस्य कस्यचित्।
स पतत्यधमाँल्लोकान् यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते ॥ १४ ॥

'संसारमें जिस किसी प्राणीकी अपकीर्ति कही जाती है—

जबतक उसके अपयशका शब्द गूँजता रहता है, तबतकके लिये वह नीचेके लोकोंमें गिर जाता है ॥ १४ ॥

तस्मात् कल्याणवृत्तः स्या-
दनन्ताय नरः सदा ।
विहाय चित्तं पापिष्ठं
धर्ममेव समाश्रयेत् ॥ १५ ॥

'इसलिये मनुष्यको सदा कल्याणकारी सत्कर्मोंमें ही लगे रहना चाहिये । इससे अनन्त फलकी प्राप्ति होती है । पापपूर्ण चित्त (चिन्तन या विचार) का परित्याग करके सदा धर्मका ही आश्रय लेना चाहिये' ॥ १५ ॥

इत्येतच्छ्रुत्वा स राजाब्रवीत् तिष्ठ तावद् यावदिमौ वृद्धौ यथास्थानं प्रतिपादयामीति ॥ १६ ॥

'देवदूतकी यह बात सुनकर राजाने कहा—'जबतक इन दोनों वृद्धोंको इनके स्थानपर पहुँचा न दूँ । तबतक ठहरे रहो' ॥ १६ ॥

स मां प्रावारकर्णं चोलूकं यथोचिते स्थाने प्रतिपाद्य तेनैव यानेन संस्थितो यथोचितं स्थानं प्रतिपेदे । तन्मयानुभूतं चिरजीविनेदृशमिति पाण्डवानुवाच मार्कण्डेयः ॥ १७ ॥

'यह कहकर राजाने मुझे तथा प्रावारकर्ण नामक उल्लूको यथोचित स्थानपर पहुँचा दिया और उसी रथसे स्वर्गकी ओर प्रस्थान करके वहाँ यथोचित स्थान प्राप्त कर लिया । इस प्रकार मैंने चिरजीवी होकर अनुभव किया है'—यह बात पाण्डवोंसे मार्कण्डेयजीने कही ॥ १७ ॥

पाण्डवाश्चोचुः साधु शोभनं भवता कृतं राजानमिन्द्रद्युम्नं स्वर्गलोकाच्च्युतं स्वे स्थाने प्रतिपादयतेत्यथैतानब्रवीदसौ ननु देवकीपुत्रेणापि कृष्णेन नरके मज्जमानो राजर्षिर्नृगस्तस्मात् कृच्छ्रात् पुनः समुद्धृत्य स्वर्गं प्रापित इति ॥ १८ ॥

पाण्डव बोले—आपने यह बहुत अच्छा किया कि स्वर्गलोकसे भ्रष्ट हुए राजा इन्द्रद्युम्नको पुनः अपने स्थानकी प्राप्ति करवा दी ।' तब इनसे मार्कण्डेयजीने कहा—'देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने भी नरकमें डूबते हुए राजर्षि नृगको उस भारी संकटसे छुड़ाकर फिर स्वर्गमें पहुँचा दिया' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि इन्द्रद्युम्नोपाख्याने नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें इन्द्रद्युम्नोपाख्यानविषयक एक सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९९ ॥

द्विशततमोऽध्यायः

निन्दित दान, निन्दित जन्म, योग्य दानपात्र, श्राद्धमें ग्राह्य और अग्राह्य ब्राह्मण, दानपात्रके लक्षण, अतिथि-सत्कार, विविध दानोंका महत्त्व, वाणीकी शुद्धि, गायत्रीजप, चित्तशुद्धि तथा इन्द्रिय-निग्रह आदि विविध विषयोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा स राजा राजर्षेरिन्द्रद्युम्नस्य तत् तदा ।
मार्कण्डेयान्महाभागात् स्वर्गस्य प्रतिपादनम् ॥ १ ॥
युधिष्ठिरो महाराज पुनः पप्रच्छ तं मुनिम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाभाग मार्कण्डेयजीके मुखसे राजर्षि इन्द्रद्युम्नको पुनः स्वर्गकी प्राप्तिका वृत्तान्त सुनकर राजा युधिष्ठिरने उन मुनीश्वरसे फिर प्रश्न किया ॥ १½ ॥

कीदृशीषु ह्यवस्थासु दत्त्वा दानं महामुने ॥ २ ॥
इन्द्रलोकं त्वनुभवेत् पुरुषस्तद् ब्रवीहि मे ।

'महामुने ! किन अवस्थाओंमें दान देकर मनुष्य इन्द्रलोकका सुख भोगता है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें' ॥ २½ ॥

गार्हस्थ्येऽप्यथवा बाल्ये यौवने स्थविरेऽपि वा ।
यथा फलं समाप्नोति तथा त्वं कथयस्व मे ॥ ३ ॥

'मनुष्य बाल्यावस्था या गृहस्थाश्रममें, जवानीमें अथवा बुढ़ापेमें दान देनेसे जैसा फल पाता है ? उसका मुझसे वर्णन कीजिये' ॥ ३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

वृथा जन्मानि चत्वारि वृथा दानानि षोडश ।
वृथा जन्म ह्यपुत्रस्य ये च धर्मबहिष्कृताः ॥ ४ ॥
परपाकेषु येऽश्नन्ति आत्मार्थं च पचेत् तु यः ।
पर्यश्नन्ति वृथा ये च तदसत्यं प्रकीर्त्यते ॥ ५ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—(नीचे लिखे अनुसार) चार प्रकारके जीवन व्यर्थ हैं और सोलह प्रकारके दान व्यर्थ हैं । जो पुत्र-हीन हैं, जो धर्मसे बहिष्कृत (भ्रष्ट) हैं, जो सदा दूसरोंकी ही रसोईमें भोजन किया करते हैं तथा जो केवल अपने लिये ही भोजन बनाते एवं देवता और अतिथियोंको न देकर अकेले ही भोजन कर लेते हैं, उनका वह भोजन असत् कहा गया है । अतः उनका

जन्म वृथा है। (इस प्रकार इन चार प्रकारके मनुष्योंका जन्म व्यर्थ है) ॥ ४-५ ॥

आरूढपतिते दत्तमन्यायोपहृतं च यत्।
व्यर्थं तु पतिते दानं ब्राह्मणे तस्करे तथा ॥ ६ ॥

जो वानप्रस्थ या संन्यास-आश्रमसे पुनः गृहस्थ-आश्रममें लौट आया हो, उसे 'आरूढ़-पतित' कहते हैं। उसको दिया हुआ दान व्यर्थ होता है। अन्यायसे कमाये हुए धनका दान भी व्यर्थ ही है। पतित ब्राह्मण तथा चोरको दिया हुआ दान भी व्यर्थ होता है ॥ ६ ॥

गुरौ चानृतिके पापे कृतघ्ने ग्रामयाजके।
वेदविक्रयिणे दत्तं तथा वृषलयाजके ॥ ७ ॥
ब्रह्मबन्धुषु यद् दत्तं यद् दत्तं वृषलीपतौ।
स्त्रीजनेषु च यद् दत्तं व्यालग्राहे तथैव च ॥ ८ ॥
परिचारकेषु यद् दत्तं वृथा दानानि षोडश।

पिता आदि गुरुजन, मिथ्यावादी, पापी, कृतघ्न, ग्राम-पुरोहित, वेदविक्रय करनेवाले, शूद्रसे यज्ञ करानेवाले, नीच ब्राह्मण, शूद्राके पति ब्राह्मण, साँपको पकड़कर व्यवसाय करनेवाले तथा सेवकों और स्त्री-समूहको दिया हुआ दान व्यर्थ है* इस प्रकार ये सोलह दान निष्फल बताये गये हैं ॥ ७-८½ ॥

तमोवृतस्तु यो दद्याद् भयात् क्रोधात् तथैव च ॥ ९ ॥
भुङ्क्ते च दानं तत् सर्वं गर्भस्थस्तु नरः सदा।
ददद् दानं द्विजातिभ्यो वृद्धभावेन मानवः ॥ १० ॥

जो तमोगुणसे आवृत हो भय और क्रोधपूर्वक दान देता है, वह मनुष्य वैसे सब प्रकारके दानोंका फल भावी जन्ममें गर्भावस्थामें भोगता है, अर्थात् तामसी दान करनेके कारण वह उसका फल दुःखके रूपमें भोगता है तथा (श्रेष्ठ) ब्राह्मणोंको दान देनेवाला मानव उस दानका फल बड़ा होनेपर (कामनाके अनुसार) भोगता है ॥ ९-१० ॥

तस्मात् सर्वास्ववस्थासु सर्वदानानि पार्थिव।
दातव्यानि द्विजातिभ्यः स्वर्गमार्गजिगीषया ॥ ११ ॥

राजन्! इसीलिये मनुष्यको चाहिये कि वह स्वर्ग-मार्गपर अधिकार पानेकी इच्छासे सभी अवस्थाओंमें (श्रेष्ठ) ब्राह्मणोंको ही सब प्रकारके दान दे ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

चातुर्वर्ण्यस्य सर्वस्य वर्तमानाः प्रतिग्रहे।
केन विप्रा विशेषेण तारयन्ति तरन्ति च ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महामुने! जो ब्राह्मण चारों वर्णोंमेंसे सभीके दान ग्रहण करते हैं, वे किस विशेष धर्मका पालन करनेसे दूसरोंको तारते और स्वयं भी तरते हैं? ॥ १२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

जपैर्मन्त्रैश्च होमैश्च स्वाध्यायाध्ययनेन च।
नावं वेदमयीं कृत्वा तारयन्ति तरन्ति च ॥ १३ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन्! ब्राह्मण जप, मन्त्र, (पाठ,) होम, स्वाध्याय और वेदाध्ययनके द्वारा वेदमयी नौकाका निर्माण करके दूसरोंको भी तारते हैं और स्वयं भी तर जाते हैं ॥ १३ ॥

ब्राह्मणांस्तोषयेद् यस्तु तुष्यन्ते तस्य देवताः।
वचनाच्चापि विप्राणां स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ॥ १४ ॥

जो ब्राह्मणोंको संतुष्ट करता है, उसपर सब देवता संतुष्ट रहते हैं। ब्राह्मणोंके वचनसे अर्थात् आशीर्वादसे भी मनुष्य स्वर्गलोक पा सकता है ॥ १४ ॥

पितृदैवतपूजाभिर्ब्राह्मणाभ्यर्चनेन च।
अनन्तं पुण्यलोकं तु गन्तासि त्वं न संशयः ॥ १५ ॥

राजन्! तुम पितरों और देवताओंकी पूजासे तथा ब्राह्मणोंका आदर-सत्कार करनेसे अक्षय पुण्यलोकमें जाओगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १५ ॥

श्लेष्मादिभिर्व्याप्ततनुर्म्रियमाणो विचेतनः।
ब्राह्मणा एव सम्पूज्याः पुण्यं स्वर्गमभीप्सता ॥ १६ ॥

जिसका शरीर कफ आदिसे भर गया हो, जो मर रहा हो और अचेत हो गया हो, उसे पुण्यमय स्वर्गलोककी प्राप्ति अभीष्ट हो तो ब्राह्मणोंकी पूजा भी करनी चाहिये ॥

श्राद्धकाले तु यत्नेन भोक्तव्या ह्यजुगुप्सिताः।
दुर्वर्णः कुनखी कुष्ठी मायावी कुण्डगोलकौ ॥ १७ ॥
वर्जनीयाः प्रयत्नेन काण्डपृष्ठाश्च देहिनः।
जुगुप्सितं हि यच्छ्राद्धं दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥ १८ ॥

श्राद्धकालमें प्रयत्न करके उत्तम ब्राह्मणोंको ही भोजन कराना चाहिये। जिनके शरीरका रंग घृणाजनक हो, नख काले पड़ गये हों, जो कोढ़ी और धूर्त हो, पिताकी जीवित-अवस्थामें ही माताके व्यभिचारसे जिनका जन्म हुआ हो अथवा जो विधवा माताके पेटसे पैदा हुए हों और जो पीठपर तरकस बाँधे क्षत्रियवृत्तिसे जीविका चलाते हों, ऐसे ब्राह्मणोंको श्राद्धमें प्रयत्नपूर्वक त्याग दे, क्योंकि उनको भोजन करानेसे श्राद्ध निन्दित हो जाता है और निन्दित श्राद्ध यजमानको उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे अग्नि काष्ठको जला डालती है ॥ १७-१८ ॥

ये ये श्राद्धे न युज्यन्ते मूकान्धबधिरादयः।
तेऽपि सर्वे नियोक्तव्या मिश्रिता वेदपारगैः ॥ १९ ॥

* यहाँ जो पिता आदि गुरुजन, सेवक और स्त्रियोंको दिया दान व्यर्थ कहा है, इसका अभिप्राय यह है कि माता-पिता आदि गुरुजनोंकी सेवा करना तथा स्त्री और नौकरोंका पालन-पोषण करना तो मनुष्यका कर्तव्य ही है। अतः उनको देना तो अपने कर्तव्यका ही पालन है, इसलिये वह उनको देना दानकी श्रेणीमें नहीं है।

किंतु अंधे, गूँगे, बहरे आदि जिन-जिन ब्राह्मणोंको श्राद्धमें वर्जित बताया गया है, उन सबको वेद-पारंगत ब्राह्मणोंके साथ श्राद्धमें सम्मिलित किया जा सकता है ॥१९॥

प्रतिग्रहश्च वै देयः शृणु यस्य युधिष्ठिर ।
प्रदातारं तथाऽऽत्मानं यस्तारयति शक्तिमान् ॥ २० ॥

युधिष्ठिर ! अब मैं तुम्हें यह बताता हूँ कि कैसे व्यक्तिको दान देना चाहिये । जो दाताको और अपने-आपको भी तारनेकी शक्ति रखता हो ॥ २० ॥

तस्मिन् देयं द्विजे दानं सर्वागमविजानता ।
प्रदातारं यथाऽऽत्मानं तारयेद् यः स शक्तिमान् ॥२१ ॥

सम्पूर्ण शास्त्रोंका ज्ञाता मानव उसी ब्राह्मणको दान दे, जो दाताका तथा अपना भी संसारसागरसे उद्धार कर सके । वही शक्तिशाली ब्राह्मण है ॥ २१ ॥

न तथा हविषो होमैर्न पुष्पैर्नानुलेपनैः ।
अग्नयः पार्थ तुष्यन्ति यथा ह्यतिथिभोजने ॥ २२ ॥

कुन्तीनन्दन ! अतिथियोंको भोजन करानेसे अग्निदेव जितने संतुष्ट होते हैं, उतना संतोष उन्हें हविष्यका हवन करने तथा पुष्प और चन्दन चढ़ानेसे भी नहीं होता ॥

तस्मात् त्वं सर्वयत्नेन यतस्वातिथिभोजने ।
पाद्योदकं पादघृतं दीपमन्नं प्रतिश्रयम् ॥ २३ ॥
प्रयच्छन्ति तु ये राजन् नोपसर्पन्ति ते यमम् ।

इसलिये तुम सभी उपायोंसे अतिथियोंको भोजन देनेका प्रयत्न करो । राजन् ! जो लोग अतिथिको चरण धोनेके लिये जल, पैरमें मलनेके लिये तेल, उजालेके लिये दीपक, भोजनके लिये अन्न तथा रहनेके लिये स्थान देते हैं, वे कभी यमराजके यहाँ नहीं जाते ॥ २३½ ॥

देवमाल्यापनयनं द्विजोच्छिष्टावमार्जनम् ॥ २४ ॥
आकल्पः परिचर्या च गात्रसंवाहनानि च ।
अत्रैकैकं नृपश्रेष्ठ गोदानाद्व्यतिरिच्यते ॥ २५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! देवविग्रहोंपर चढ़े हुए चन्दन-पुष्प आदिको यथासमय उतारना, ब्राह्मणोंकी जूठन साफ करना, उन्हें चन्दन-माला आदिसे अलंकृत करना, उनकी सेवा-पूजा करना और उनके पैर आदि अङ्गोंको दबाना, इनमेंसे एक-एक कार्य गोदानसे भी अधिक महत्त्व रखता है ॥

कपिलायाः प्रदानात् तु मुच्यते नात्र संशयः ।
तस्मादलंकृतां दद्यात् कपिलां तु द्विजातये ॥ २६॥

कपिला गौका दान करनेसे मनुष्य निः संदेह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । इसलिये कपिला गौको अलंकृत करके ब्राह्मणको दान करना चाहिये ॥ २६ ॥

श्रोत्रियाय दरिद्राय गृहस्थायाग्निहोत्रिणे ।
पुत्रदारैरभिभूताय तथा ह्यनुपकारिणे ॥ २७ ॥

दान लेनेवाला ब्राह्मण श्रोत्रिय हो, निर्धन हो, गृहस्थ हो, नित्य अग्निहोत्र करता हो, दरिद्रताके कारण जिसे स्त्री और पुत्रोंके तिरस्कार सहने पड़ते हों तथा दाताने न तो जिससे प्रत्युपकार प्राप्त किया हो और न आगे प्रत्युपकार प्राप्त होनेकी सम्भावना ही हो ॥ २७ ॥

एवंविधेषु दातव्या न समृद्धेषु भारत ।
को गुणो भरतश्रेष्ठ समृद्धेष्वभिवर्जितम् ॥ २८ ॥

भारत ! ऐसे ही लोगोंको गोदान करना चाहिये, धनवानोंको नहीं । भरतश्रेष्ठ ! धनवानोंको देनेसे क्या लाभ है ? ॥ २८ ॥

एकस्यैका प्रदातव्या न बहूनां कदाचन ।
सा गौर्विक्रयमापन्ना हन्यात् त्रिपुरुषं कुलम् ॥ २९ ॥
न तारयति दातारं ब्राह्मणं नैव नैव तु ।

एक गौ एक ही ब्राह्मणको देनी चाहिये; बहुतोंको कभी नहीं (क्योंकि एक ही गौ यदि बहुतोंको दी गयी, तो वे उसे बेचकर उसकी कीमत बाँट लेंगे) । दान की हुई गौ यदि बेच दी गयी, तो वह दाताकी तीन पीढ़ियोंको हानि पहुँचाती है । वह न तो दाताको ही पार उतारती है न ब्राह्मणको ही ॥ २९½ ॥

सुवर्णस्य विशुद्धस्य सुवर्णं यः प्रयच्छति ॥ ३० ॥
सुवर्णानां शतं तेन दत्तं भवति शाश्वतम् ।

जो उत्तम वर्णवाले विशुद्ध ब्राह्मणको सुवर्ण-दान करता है उसे निरन्तर सौ स्वर्णमुद्राओंके दानका फल प्राप्त होता है ॥ ३०½ ॥

अनड्वाहं तु यो दद्याद् बलवन्तं धुरंधरम् ॥ ३१ ॥
स निस्तरति दुर्गाणि स्वर्गलोकं च गच्छति ।

जो लोग कंधेपर जुआ उठानेमें समर्थ बलवान् बैल ब्राह्मणोंको दान करते हैं, वे दुःख और संकटोंसे पार होकर स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ३१½ ॥

वसुन्धरां तु यो दद्याद् द्विजाय विदुरात्मने ॥ ३२ ॥
दातारं ह्यनुगच्छन्ति सर्वे कामाभिवाञ्छिताः ।

जो विद्वान् ब्राह्मणको भूमिदान करता है, उस दाताके पास सभी मनोवाञ्छित भोग स्वतः आ जाते हैं ॥ ३२½ ॥

पृच्छन्ति चात्र दातारं वदन्ति पुरुषा भुवि ॥ ३३ ॥
अध्वनि क्षीणगात्राश्च पांसुपादावगुण्ठिताः ।
तेषामेव श्रमार्तानां यो ह्यन्नं कथयेद् बुधः ॥ ३४ ॥
अन्नदातृसमः सोऽपि कीर्त्यते नात्र संशयः ।

यदि कोई रास्तेके थके-माँदे, दुबले-पतले पथिक धूलभरे पैरोंसे भूखे-प्यासे आ जायँ और पूछें कि क्या यहाँ

कोई भोजन देनेवाला है ? उस समय उन्हें जो विद्वान् अन्न मिलनेका पता बता देता है, वह भी अन्नदाताके समान ही कहा जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ३३-३४½ ॥

तस्मात् त्वं सर्वदानानि हित्वान्नं सम्प्रयच्छ ह ॥३५॥
न हीदृशं पुण्यफलं विचित्रमिह विद्यते ।

अतः युधिष्ठिर ! तुम सारे दानोंको छोड़कर केवल अन्नदान करते रहो । इस संसारमें अन्नदानके समान विचित्र एवं पुण्यदायक दूसरा कोई दान नहीं है ॥ ३५½ ॥

यथाशक्ति च यो दद्यादन्नं विप्रेषु संस्कृतम् ॥ ३६ ॥
स तेन कर्मणाऽऽप्नोति प्रजापतिसलोकताम् ।

जो अपनी शक्तिके अनुसार अच्छे ढंगसे तैयार किया हुआ भोजन ब्राह्मणोंको अर्पित करता है, वह उस पुण्यकर्मके प्रभावसे प्रजापतिके लोकमें जाता है ॥ ३६½ ॥

अन्नमेव विशिष्टं हि तस्मात् परतरं न च ॥ ३७ ॥
अन्नं प्रजापतिश्चोक्तः स च संवत्सरो मतः ।
संवत्सरस्तु यज्ञोऽसौ सर्वं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ ३८ ॥

अतः अन्न ही सबसे महत्त्वकी वस्तु है । उससे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है । वेदोंमें अन्नको प्रजापति कहा गया है । प्रजापति संवत्सर माना गया है । संवत्सर यज्ञरूप है और यज्ञमें सबकी स्थिति है ॥ ३७-३८ ॥

तस्मात् सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
तस्मादन्नं विशिष्टं हि सर्वेभ्य इति विश्रुतम् ॥ ३९ ॥

यज्ञसे समस्त चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं । अतः अन्न ही सब पदार्थोंसे श्रेष्ठ है । यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥ ३९ ॥

येषां तटाकानि महोदकानि
वाप्यश्च कूपाश्च प्रतिश्रयाश्च ।
अन्नस्य दानं मधुरा च वाणी
यमस्य ते निर्वचना भवन्ति ॥ ४० ॥

जो लोग अगाध जलसे भरे हुए तालाब और पोखरे खुदवाते हैं, बावली, कुएँ तथा धर्मशालाएँ तैयार कराते हैं, अन्नका दान करते और मीठी बातें बोलते हैं, उन्हें यमराजकी बात भी नहीं सुननी पड़ती है अर्थात् यमराज उसे वचनमात्रसे भी दण्ड नहीं दे सकते ॥ ४० ॥

धान्यं श्रमेणार्जितवित्तसंचितं
विप्रे सुशीले च प्रयच्छते यः ।
वसुन्धरा तस्य भवेत् सुतुष्टा
धारां वसूनां प्रतिमुञ्चतीव ॥ ४१ ॥

जो अपने परिश्रमसे उपार्जित और संचित किया हुआ धन-धान्य सुशील ब्राह्मणको दान करता है, उसके ऊपर वसुधा देवी अत्यन्त संतुष्ट होती और उसके लिये धनकी धारा-सी [illegible]

अन्नदाः प्रथमं यान्ति सत्यवाक् तदनन्तरम् ।
अयाचितप्रदाता च समं यान्ति त्रयो जनाः ॥ ४२ ॥

अन्न-दान करनेवाले पुरुष पहले स्वर्गमें प्रवेश करते हैं । उसके बाद सत्यवादी जाता है । फिर विना माँगे ही दान करनेवाला पुरुष जाता है । इस प्रकार ये तीनों पुण्यात्मा मानव समान गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥

वैशम्पायन उवाच

कौतूहलसमुत्पन्नः पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ।
मार्कण्डेयं महात्मानं पुनरेव सहानुजः ॥ ४३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भाइयोंसहित धर्मराज युधिष्ठिरके मनमें बड़ा कौतूहल हुआ और उन्होंने महात्मा मार्कण्डेयजीसे पुनः इस प्रकार प्रश्न किया—॥ ४३ ॥

यमलोकस्य चाध्वानमन्तरं मानुषस्य च ।
कीदृशं किम्प्रमाणं वा कथं वा तन्महामुने ।
तरन्ति पुरुषाश्चैव केनोपायेन शंस मे ॥ ४४ ॥

'महामुने ! इस मनुष्य-लोकसे यमलोक कितनी दूर है, कैसा है, कितना बड़ा है ? और किस उपायसे मनुष्य वहाँके संकटोंसे पार हो सकते हैं ? ये मुझे बतलाइये' ॥ ४४ ॥

मार्कण्डेय उवाच

सर्वगुह्यतमं प्रश्नं पवित्रमृषिसंस्तुतम् ।
कथयिष्यामि ते राजन् धर्म्यं धर्मभृतां वर ॥ ४५ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुमने ऐसे विषयके लिये प्रश्न किया है, जो सबसे अधिक गोपनीय, पवित्र, धर्मसम्मत तथा ऋषियोंके लिये भी आदरणीय है । सुनो, मैं इस विषयका वर्णन करता हूँ ॥ ४५ ॥

षडशीतिसहस्राणि योजनानां नराधिप ।
यमलोकस्य चाध्वानमन्तरं मानुषस्य च ॥ ४६ ॥

महाराज ! मनुष्यलोक और यमलोकके मार्गमें छियासी हजार योजनोंका अन्तर है ॥ ४६ ॥

आकाशं तदपानीयं घोरं कान्तारदर्शनम् ।
न तत्र वृक्षच्छाया वा पानीयं केतनानि च ॥ ४७ ॥
विश्रमेद् यत्र वै श्रान्तः पुरुषोऽध्वनि कर्शितः ।

उसके मार्गमें जलरहित शून्य आकाशमात्र है । वह देखनेमें बड़ा भयानक और दुर्गम है । वहाँ न तो वृक्षोंकी छाया है, न पानी है और न कोई ऐसा स्थान ही है, जहाँ रास्तेका थका-माँदा जीव क्षणभर भी विश्राम कर सके ॥ ४७½ ॥

नीयते यमदूतैस्तु यमस्याज्ञाकरैर्बलात् ॥ ४८ ॥
नराः स्त्रियस्तथैवान्ये पृथिव्यां जीवसंज्ञिताः ।

[illegible] इस पृथ्वी-

पर आकर यहाँके पुरुषों, स्त्रियों तथा अन्य जीवोंको बलपूर्वक पकड़ ले जाते हैं ॥ ४८½ ॥

ब्राह्मणेभ्यः प्रदानानि नानारूपाणि पार्थिव ॥ ४९ ॥
हयादीनां प्रकृष्टानि तेऽध्वानं यान्ति वै नराः ।
संनिवार्यातपं यान्ति छत्रेणैव हि छत्रदाः ॥ ५० ॥

राजन् ! जिनके द्वारा यहाँ ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके अश्व आदि वाहनोंका उत्कृष्ट दान किया गया है, वे उस मार्गपर (उन्हीं वाहनोंद्वारा सुखसे) यात्रा करते हैं । छत्र-दान करनेवाले मनुष्य वहाँ प्राप्त हुए छत्रके द्वारा ही धूपका निवारण करते हुए चलते हैं ॥ ४९-५० ॥

तृप्ताश्चैवान्नदातारो ह्यतृप्ताश्चाप्यनन्नदाः ।
वस्त्रिणो वस्त्रदा यान्ति अवस्त्रा यान्त्यवस्त्रदाः ॥ ५१ ॥

अन्न-दान करनेवाले जीव वहाँ भोजनसे तृप्त होकर यात्रा करते हैं; किंतु जिन्होंने अन्नदान नहीं किया है, वे भूखका कष्ट सहते हुए चलते हैं । वस्त्र देनेवाले लोग कपड़े पहनकर जाते हैं और जिन्होंने वस्त्रदान नहीं किया है, उन्हें नंगे होकर जाना पड़ता है ॥ ५१ ॥

हिरण्यदाः सुखं यान्ति पुरुषास्त्वभ्यलंकृताः ।
भूमिदास्तु सुखं यान्ति सर्वैः कामैः सुतर्पिताः ॥ ५२ ॥

सुवर्णका दान करनेवाले मनुष्य उस मार्गपर नाना प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हो बड़े सुखसे यात्रा करते हैं । भूमिका दान करनेवाले दाता सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे तृप्त हो वहाँ बड़े आनन्दसे जाते हैं ॥ ५२ ॥

यान्ति चैवापरिक्लिष्टा नराः सस्यप्रदायकाः ।
नराः सुखतरं यान्ति विमानेषु गृहप्रदाः ॥ ५३ ॥

खेतमें लगी हुई खेती दान करनेवाले मनुष्य बिना किसी कष्टके जाते हैं । गृहदान करनेवाले मानव विमानोंपर बैठकर अत्यन्त सुख-सुविधाके साथ जाते हैं ॥ ५३ ॥

पानीयदा ह्यतृषिताः प्रहृष्टमनसो नराः ।
पन्थानं द्योतयन्तश्च यान्ति दीपप्रदाः सुखम् ॥ ५४ ॥

जिन्होंने जल-दान किया है, उन्हें प्यासका कष्ट नहीं भोगना पड़ता, वे लोग प्रसन्नचित्त होकर वहाँ जाते हैं । दीपदान करनेवाले मनुष्य उस मार्गको प्रकाशित करते हुए सुखसे यात्रा करते हैं ॥ ५४ ॥

गोप्रदास्तु सुखं यान्ति निर्मुक्ताः सर्वपातकैः ।
विमानैर्हंससंयुक्तैर्यान्ति मासोपवासिनः ॥ ५५ ॥

गोदान करनेवाले मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो सुखपूर्वक जाते हैं । एक मासतक उपवास व्रत करनेवाले लोग हंस जुते हुए विमानोंद्वारा यात्रा करते हैं ॥ ५५ ॥

तथा बर्हिप्रयुक्तैश्च षष्ठरात्रोपवासिनः ।
त्रिरात्रं क्षपते यस्तु एकभक्तेन पाण्डव ॥ ५६ ॥
अन्तरा चैव नाश्नाति तस्य लोका ह्यनामयाः ।

जो लोग छठी राततक उपवास करते हैं, वे मोर जुते हुए विमानोंद्वारा जाते हैं । पाण्डुनन्दन ! जो लोग एक बार भोजन करके उसीपर तीन रात काट ले जाते हैं और बीचमें भोजन नहीं करते, उन्हें रोग-शोकसे रहित पुण्यलोक प्राप्त होते हैं ॥ ५६½ ॥

पानीयस्य गुणा दिव्याः प्रेतलोकसुखावहाः ॥ ५७ ॥
तत्र पुष्पोदका नाम नदी तेषां विधीयते ।
शीतलं सलिलं तत्र पिबन्ति ह्यमृतोपमम् ॥ ५८ ॥

जलदान करनेका प्रभाव अत्यन्त अलौकिक है । वह परलोकमें सुख पहुँचानेवाला है । जो जलदान करते हैं, उन पुण्यात्माओंके लिये उस मार्गमें पुष्पोदका नामवाली नदी प्राप्त होती है । वे उसका शीतल और अमृतके समान मधुर जल पीते हैं ॥ ५७-५८ ॥

ये च दुष्कृतकर्माणः पूयं तेषां विधीयते ।
एवं नदी महाराज सर्वकामप्रदा हि सा ॥ ५९ ॥

महाराज ! इस प्रकार वह नदी सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाली है; किंतु जो पापी जीव हैं, उनके लिये उस नदीका जल पीब बन जाता है ॥ ५९ ॥

तस्मात् त्वमपि राजेन्द्र पूजयैनान् यथाविधि ।
अध्वनि क्षीणगात्रश्च पथि पांसुसमन्वितः ॥ ६० ॥
पृच्छते ह्यन्नदातारं गृहमायाति चाशया ।
तं पूजयाथ यत्नेन सोऽतिथिर्ब्राह्मणश्च सः ॥ ६१ ॥

अतः राजेन्द्र ! तुम भी इन ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजन करो । जो रास्ता चलनेसे थककर दुबला हो गया है, जिसका शरीर धूलसे भरा है और जो अन्नदाताका पता पूछता हुआ भोजनकी आशासे घरपर आ जाता है, उसका तुम यत्नपूर्वक सत्कार करो; क्योंकि वह अतिथि है, इसलिये ब्राह्मण ही है अर्थात् ब्राह्मणके ही तुल्य है ॥ ६०-६१ ॥

तं यान्तमनुगच्छन्ति देवाः सर्वे सवासवाः ।
तस्मिन् सम्पूजिते प्रीता निराशा यान्त्यपूजिते ॥ ६२ ॥

ऐसा अतिथि जब किसीके घरपर जाता है, तब उसके पीछे इन्द्रादि सम्पूर्ण देवता भी वहाँतक जाते हैं । यदि वहाँ उस अतिथिका आदर होता है, तो वे देवता भी प्रसन्न होते हैं और यदि आदर नहीं होता, तो वे देवगण भी निराश लौट जाते हैं ॥ ६२ ॥

तस्मात् त्वमपि राजेन्द्र पूजयैनं यथाविधि ।
एतत् ते शतशः प्रोक्तं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ६३ ॥

अतः राजेन्द्र ! तुम भी अतिथिका विधिपूर्वक सत्कार करते रहो । यह बात मैं तुमसे कई बार कह चुका हूँ, अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ ६३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पुनः पुनरहं श्रोतुं कथां धर्मसमाश्रयाम् ।
पुण्यामिच्छामि धर्मज्ञ कथ्यमानां त्वया विभो ॥ ६४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—धर्मज्ञ विभो ! आपके द्वारा कही हुई पुण्यमय धर्मकी चर्चा मैं बारंबार सुनना चाहता हूँ ॥ ६४ ॥

मार्कण्डेय उवाच

धर्मान्तरं प्रति कथां कथ्यमानां मया नृप ।
सर्वपापहरां नित्यं शृणुष्वावहितो मम ॥ ६५ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—राजन् ! अब मैं धर्मसम्बन्धी दूसरी बातें बता रहा हूँ, जो सदा सब पापोंका नाश करनेवाली हैं । तुम सावधान होकर सुनो ॥ ६५ ॥

कपिलायां तु दत्तायां यत् फलं ज्येष्ठपुष्करे ।
तत् फलं भरतश्रेष्ठ विप्राणां पादधावने ॥ ६६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ज्येष्ठपुष्करतीर्थमें कपिला गौ दान करनेसे जो फल मिलता है, वही ब्राह्मणोंका चरण धोनेसे प्राप्त होता है ॥ ६६ ॥

द्विजपादोदकक्लिन्ना यावत् तिष्ठति मेदिनी ।
तावत् पुष्करपर्णेन पिबन्ति पितरो जलम् ॥ ६७ ॥

ब्राह्मणोंके चरण पखारनेके जलसे जबतक पृथ्वी भीगी रहती है, तबतक पितर लोग कमलके पत्तेसे जल पीते हैं ॥ ६७ ॥

स्वागतेनाग्नयस्तृप्ता आसनेन शतक्रतुः ।
पितरः पादशौचेन अन्नाद्येन प्रजापतिः ॥ ६८ ॥

ब्राह्मणका स्वागत करनेसे अग्नि, उसे आसन देनेसे इन्द्र, उसके पैर धोनेसे पितर और उसको भोजनके योग्य अन्न प्रदान करनेसे ब्रह्माजी तृप्त होते हैं ॥ ६८ ॥

यावद् वत्सस्य वै पादौ शिरश्चैव प्रदृश्यते ।
तस्मिन् काले प्रदातव्या प्रयत्नेनान्तरात्मना ॥ ६९ ॥

गर्भिणी गौ जिस समय बच्चा दे रही हो और उस बछड़ेका केवल मुख तथा दो पैर ही बाहर निकले दिखायी देते हों, उसी समय पवित्र भावसे प्रयत्नपूर्वक उस गौका दान कर देना चाहिये ॥ ६९ ॥

अन्तरिक्षगतो वत्सो यावद् योन्यां प्रदृश्यते ।
तावद् गौ पृथिवी ज्ञेया यावद् गर्भं न मुञ्चति ॥ ७० ॥

जबतक बछड़ा योनिसे निकलते समय आकाशमें ही लटकता दिखायी दे, जबतक गाय अपने बछड़ेको पूर्णतः योनिसे अलग न कर दे, तबतक उस गौको पृथ्वीरूप ही समझना चाहिये ॥ ७० ॥

यावन्ति तस्या रोमाणि वत्सस्य च युधिष्ठिर ।
तावद् युगसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥ ७१ ॥

युधिष्ठिर ! उसका दान करनेसे उस गौ तथा बछड़ेके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने हजार युगोंतक दाता स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ७१ ॥

सुवर्णनासां यः कृत्वा सुखुरां कृष्णधेनुकाम् ।
तिलैः प्रच्छादितां दद्यात् सर्वरत्नैरलंकृताम् ॥ ७२ ॥
प्रतिग्रहं गृहीत्वा यः पुनर्ददति साधवे ।
फलानां फलमश्नाति तदा दत्त्वा च भारत ॥ ७३ ॥

भारत ! जो सोनेकी नाक और सुन्दर चाँदीके खुरोंसे विभूषित, सब प्रकारके रत्नोंसे अलंकृत, काली गौको तिलोंसे प्रच्छादित करके उसका दान करता है और जो उस दानको लेकर पुनः किसी दूसरे श्रेष्ठ पुरुषको अर्पित कर देता है, वह सर्वोत्तम फलका भागी होता है ॥ ७२-७३ ॥

ससमुद्रगुहा तेन सशैलवनकानना ।
चतुरन्ता भवेद् दत्ता पृथिवी नात्र संशयः ॥ ७४ ॥

उस गौके दानसे समुद्र, गुफा, पर्वत, वन और काननों-सहित चारों दिशाओंकी भूमिके दानका पुण्य प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ७४ ॥

अन्तर्जानुशयो यस्तु भुङ्क्ते संसक्तभाजनः ।
यो द्विजः शब्दरहितं स क्षमस्तारणाय वै ॥ ७५ ॥

जो द्विज अपने हाथोंको घुटनोंके भीतर किये मौनभावसे पात्रमें एक हाथ लगाये रखकर भोजन करता है, वह अपने-को और दूसरोंको तारनेमें समर्थ होता है ॥ ७५ ॥

अपानपा न गदितास्तथान्ये ये द्विजातयः ।
जपन्ति संहितां सम्यक् ते नित्यं तारणक्षमाः ॥ ७६ ॥

जो मदिरा नहीं पीते, जिनपर किसी प्रकारका दोष नहीं लगाया गया है तथा जो अन्य द्विज विधिपूर्वक वेदोंकी संहिताका पाठ करते हैं, वे सदा दूसरोंको तारनेमें समर्थ होते हैं ॥ ७६ ॥

हव्यं कव्यं च यत् किंचित् सर्वं तच्छ्रोत्रियोऽर्हति ।
दत्तं हि श्रोत्रिये साधौ ज्वलितेऽग्नौ यथा हुतम् ॥ ७७ ॥

हव्य (यज्ञ) और कव्य (श्राद्ध) की जितनी भी वस्तुएँ हैं, श्रोत्रिय ब्राह्मण उन सबको पानेका अधिकारी है । श्रेष्ठ श्रोत्रियको दिया हुआ दान उतना ही सफल होता है, जैसे प्रज्वलित अग्निमें दी हुई आहुति ॥ ७७ ॥

मन्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रयोधिनः ।
निहन्युर्मन्युना विप्रा वज्रपाणिरिवासुरान् ॥ ७८ ॥

ब्राह्मणोंका क्रोध ही अस्त्र-शस्त्र है । ब्राह्मण लोहेके हथियारोंसे नहीं लड़ा करते हैं । जैसे हाथमें वज्र लिये हुए इन्द्र असुरोंका संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण क्रोधसे ही अपराधीको नष्ट कर देते हैं ॥ ७८ ॥

धर्माश्रितेयं तु कथा कथितेयं तवानघ ।
यां श्रुत्वा मुनयः प्रीता नैमिषारण्यवासिनः ॥ ७९ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! यह मैंने धर्मयुक्त कथा कही है । इसे सुनकर नैमिषारण्यनिवासी मुनि बड़े प्रसन्न हुए थे ॥

वीतशोकभयक्रोधा विपाप्मानस्तथैव च ।
श्रुत्वेमां तु कथां राजन् न भवन्तीह मानवाः ॥ ८० ॥

राजन् ! इस कथाको सुनकर मनुष्य शोक, भय, क्रोध और पापसे रहित हो फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेते हैं ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं तच्छौचं भवेद् येन विप्रः शुद्धः सदा भवेत् ।
तदिच्छामि महाप्राज्ञ श्रोतुं धर्मभृतां वर ॥ ८१ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाप्राज्ञ महर्षे ! वह शौच क्या है ? जिससे ब्राह्मण सदा शुद्ध बना रहता है। मैं उसे सुनना चाहता हूँ ॥ ८१ ॥

मार्कण्डेय उवाच

वाक्शौचं कर्मशौचं च यच्च शौचं जलात्मकम् ।
त्रिभिः शौचैरुपेतो यः स स्वर्गी नात्र संशयः ॥ ८२ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन् ! शौच तीन प्रकारका होता है—वाक्शौच (वाणीकी पवित्रता), कर्मशौच (क्रिया-की पवित्रता) तथा जलशौच (जलसे शरीरकी शुद्धि) । जो इस तीन प्रकारके शौचसे सम्पन्न है, वह स्वर्गलोकका अधिकारी है, इसमें संशय नहीं ॥ ८२ ॥

सायं प्रातश्च संध्यां यो ब्राह्मणोऽभ्युपसेवते ।
प्रजपन् पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ॥ ८३ ॥
स तया पावितो देव्या ब्राह्मणो नष्टकिल्बिषः ।
न सीदेत् प्रतिगृह्णानो महीमपि ससागराम् ॥ ८४ ॥

जो ब्राह्मण प्रातः और सायं—इन दोनों समयकी संध्या और सबको पवित्र करनेवाली वेदमाता गायत्री देवीके मन्त्रका जप करता है; वह ब्राह्मण उन्हीं गायत्री देवीकी कृपासे परम पवित्र और निष्पाप हो जाता है । वह समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीका भी दान ग्रहण कर ले, तो भी किसी संकटमें नहीं पड़ता ॥ ८३-८४ ॥

ये चास्य दारुणाः केचिद् ग्रहाः सूर्यादयो दिवि ।
ते चास्य सौम्या जायन्ते शिवाः शिवतराः सदा ॥ ८५ ॥

इतना ही नहीं, आकाशके सूर्य आदि ग्रहोंमेंसे जो कोई भी उसके लिये भयंकर होते हैं, वे उपर्युक्त गायत्री-जपके प्रभावसे उसके लिये सदा सौम्य, सुखद एवं परम मङ्गलकारी हो जाते हैं ॥ ८५ ॥

सर्वे नानुगतं चैनं दारुणाः पिशिताशनाः ।
घोररूपा महाकाया धर्षयन्ति द्विजोत्तमम् ॥ ८६ ॥

भयंकर रूप और विशाल शरीरवाले, समस्त क्रूरकर्मा, मांसभक्षी राक्षस भी गायत्रीजपपरायण उस श्रेष्ठ द्विजपर आक्रमण नहीं कर सकते ॥ ८६ ॥

नाध्यापनाद् याजनाद् वा अन्यस्माद् वा प्रतिग्रहात् ।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलिताग्निसमा द्विजाः ॥ ८७ ॥

वे संध्योपासक ब्राह्मण प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी होते हैं । पढ़ाने, यज्ञ कराने अथवा दूसरेसे दान लेनेके कारण भी उन्हें दोष नहीं छू सकता (क्योंकि वे उनकी जीविकाके कर्म हैं) ॥ ८७ ॥

दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः संस्कृतास्तथा ।
ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्मच्छन्ना इवाग्नयः ॥ ८८ ॥

ब्राह्मण अच्छी तरह वेद पढ़े हों या न पढ़े हों, उत्तम संस्कारोंसे युक्त हों या प्राकृत मनुष्योंकी भाँति संस्कारशून्य हों, उनका अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे राखमें छिपी हुई आगके समान हैं ॥ ८८ ॥

यथा श्मशाने दीप्तौजाः पावको नैव दुष्यति ।
एवं विद्वानविद्वान् वा ब्राह्मणो दैवतं महत् ॥ ८९ ॥

जैसे प्रज्वलित अग्नि श्मशानमें भी दूषित नहीं होती, उसी प्रकार ब्राह्मण विद्वान् हो या अविद्वान्, उसे महान् देवता ही मानना चाहिये ॥ ८९ ॥

प्राकारैश्च पुरद्वारैः प्रासादैश्च पृथग्विधैः ।
नगराणि न शोभन्ते हीनानि ब्राह्मणोत्तमैः ॥ ९० ॥

चहारदीवारियों, नगरद्वारों और भिन्न-भिन्न महलोंसे भी नगरोंकी तबतक शोभा नहीं होती, जबतक वहाँ श्रेष्ठ ब्राह्मण न रहें ॥ ९० ॥

वेदाढ्या वृत्तसम्पन्ना ज्ञानवन्तस्तपस्विनः ।
यत्र तिष्ठन्ति वै विप्रास्तन्नाम नगरं नृप ॥ ९१ ॥

राजन् ! वेदज्ञ, सदाचारी, ज्ञानी और तपस्वी ब्राह्मण जहाँ निवास करते हों, उसीका नाम नगर है ॥ ९१ ॥

व्रजे वाप्यथवारण्ये यत्र सन्ति बहुश्रुताः ।
तत् तन्नगरमित्याहुः पार्थ तीर्थं च तद् भवेत् ॥ ९२ ॥

कुन्तीनन्दन ! व्रज (गौओंके रहनेका स्थान) हो या वन, जहाँ बहुश्रुत विद्वान् रहते हों, उसे 'नगर' कहा गया है, वह तीर्थ भी माना गया है ॥ ९२ ॥

रक्षितारं च राजानं ब्राह्मणं च तपस्विनम् ।
अभिगम्याभिपूज्याथ सद्यः पापात् प्रमुच्यते ॥ ९३ ॥

प्रजाकी रक्षा करनेवाले राजा और तपस्वी ब्राह्मणके पास जाकर उनकी सेवा-पूजा करके मनुष्य तत्काल सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ९३ ॥

पुण्यतीर्थाभिषेकं च पवित्राणां च कीर्तनम् ।
सद्भिः सम्भाषणं चैव प्रशस्तं कीर्त्यते बुधैः ॥ ९४ ॥

पुण्यतीर्थोंमें स्नान, पवित्र मन्त्रोंका कीर्तन और श्रेष्ठ पुरुषोंसे वार्तालाप—इन सबको विद्वान् पुरुषोंने उत्तम बताया है ॥ ९४ ॥

साधुसङ्गमपूतेन वाक्सुभाषितवारिणा ।
पवित्री[illegible]मानं [illegible] नित्यशः ॥ ९५ ॥

सत्सङ्गसे पवित्र किये हुए वाणीके सुन्दर सम्भाषणरूप जलसे अभिषिक्त श्रेष्ठ पुरुष अपनेको सदा पवित्र हुआ मानते हैं ॥ ९५ ॥

त्रिदण्डधारणं मौनं जटाभारोऽथ मुण्डनम् ।
वल्कलाजिनसंवेष्टं व्रतचर्याभिषेचनम् ॥ ९६ ॥
अग्निहोत्रं वने वासः शरीरपरिशोषणम् ।
सर्वाण्येतानि मिथ्या स्युर्यदि भावो न निर्मलः ॥ ९७ ॥

त्रिदण्ड धारण करना, मौन रहना, सिरपर जटाका बोझ ढोना, मूँड़ मुँड़ाना, शरीरमें वल्कल और मृगचर्म लपेटे रहना, व्रतका आचरण करना, नहाना, अग्निहोत्र करना, वनमें रहना और शरीरको सुखा देना—ये सभी यदि भाव शुद्ध न हो तो व्यर्थ हैं ॥ ९६-९७ ॥

न दुष्करमनाशित्वं सुकरं ह्यशनं विना ।
विशुद्धिं चक्षुरादीनां षण्णामिन्द्रियगामिनाम् ॥ ९८ ॥
विकारि तेषां राजेन्द्र सुदुष्करकरं मनः ।

राजेन्द्र ! चक्षु आदि इन्द्रियोंके आहारको छोड़ देना कठिन नहीं है; क्योंकि इन्द्रियोंके छहों विषयोंका उपभोग न करनेसे वह अपने-आप सुगमतासे हो जाता है, परंतु उनमेंसे मन बड़ा विकारी है, इस कारण भावकी शुद्धिके बिना उसको वशमें करना अत्यन्त दुष्कर है ॥ ९८½ ॥

ये पापानि न कुर्वन्ति मनोवाक्कर्मबुद्धिभिः ।
ते तपन्ति महात्मानो न शरीरस्य शोषणम् ॥ ९९ ॥

जो मन, वाणी, क्रिया और बुद्धिके द्वारा कभी पाप नहीं करते हैं, वे ही महात्मा तपस्वी हैं । शरीरको सुखा देना ही तपस्या नहीं है ॥ ९९ ॥

न ज्ञातिभ्यो दया यस्य शुक्लदेहोऽविकल्मषः ।
हिंसा सा तपसस्तस्य नानाशित्वं तपः स्मृतम् ॥१००॥

जिसने व्रत, उपवास आदिके द्वारा शरीरको तो शुद्ध कर लिया और जो नाना प्रकारके पापकर्म भी नहीं करता, किंतु जिसके मनमें अपने कुटुम्बी जनोंके प्रति दया नहीं आती, उसकी वह निर्दयता उसके तपका नाश करनेवाली है; केवल भोजन छोड़ देनेका ही नाम तपस्या नहीं है ॥ १०० ॥

तिष्ठन् गृहे चैव मुनिर्नित्यं शुचिरलंकृतः ।
यावज्जीवं दयावांश्च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१०१॥

जो निरन्तर घरपर रहकर भी पवित्रभावसे रहता है, सद्गुणोंसे विभूषित होता है और जीवनभर सब प्राणियोंपर दया रखता है, उसे मुनि ही समझना चाहिये; वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १०१ ॥

न हि पापानि कर्माणि शुद्ध्यन्त्यनशनादिभिः ।
सीदत्यनशनादेव मांसशोणितलेपनः ॥१०२॥

भोजन [illegible] हो जाते, ऐसी बात नहीं है । हाँ, भोजन त्याग देनेसे यह रक्त-मांससे लिपा हुआ शरीर अवश्य क्षीण हो जाता है ॥ १०२ ॥

अज्ञातं कर्म कृत्वा च क्लेशो नान्यत् प्रहीयते ।
नाग्निर्दहति कर्माणि भावशून्यस्य देहिनः ॥१०३॥

शास्त्रोंद्वारा जिनका विधान नहीं किया गया है, ऐसे कार्य करनेसे केवल क्लेश ही हाथ लगता है, उनसे पाप नष्ट नहीं किये जा सकते । अग्निहोत्र आदि शुभ कर्म भावशून्य अर्थात् श्रद्धारहित मनुष्यके पापकर्मोंको दग्ध नहीं कर सकते ।१०३।

पुण्यादेव प्रव्रजन्ति शुद्ध्यन्त्यनशनानि च ।
न मूलफलभक्षित्वान्न मौनान्नानिलाशनात् ॥१०४॥
शिरसो मुण्डनाद् वापि न स्थानकुटिकासनात् ।
न जटाधारणाद् वापि न तु स्थण्डिलशय्यया ॥१०५॥
नित्यं ह्यनशनाद् वापि नाग्निशुश्रूषणादपि ।
न चोदकप्रवेशेन न च क्ष्माशयनादपि ॥१०६॥

मनुष्य पुण्यके प्रभावसे ही उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं । उपवास भी पुण्यसे अर्थात् निष्कामभावसे ही शुद्धिका कारण होता है । (बिना शुद्धभावके) केवल फल-मूल खाने, मौन रहने, हवा पीने, सिर मुँड़ाने, एक स्थानपर कुटी बनाकर रहने, सिरपर जटा रखाने, वेदीपर सोने, नित्य उपवास, अग्निसेवन, जलप्रवेश तथा भूमिशयन करनेसे भी शुद्धि नहीं होती है ॥ १०४–१०६ ॥

ज्ञानेन कर्मणा वापि जरामरणमेव च ।
व्याधयश्च प्रहीयन्ते प्राप्यते चोत्तमं पदम् ॥१०७॥

तत्त्वज्ञान या सत्कर्मसे ही जरा, मृत्यु तथा रोगोंका नाश होता है और उत्तम पद (मुक्ति) की प्राप्ति होती है ॥

बीजानि ह्यग्निदग्धानि न रोहन्ति पुनर्यथा ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संयुज्यते पुनः ॥१०८॥

जैसे आगमें जले हुए बीज फिर नहीं उगते हैं, उसी प्रकार ज्ञानके द्वारा अविद्या आदि क्लेशोंके नष्ट हो जानेपर आत्माका पुनः उनसे संयोग नहीं होता ॥ १०८ ॥

आत्मना विप्रहीणानि काष्ठकुड्योपमानि च ।
विनश्यन्ति न संदेहः फेनानीव महार्णवे ॥१०९॥

जीवात्मासे परित्यक्त होनेपर सारे शरीर काठ और दीवारकी भाँति जडवत् होकर महासागरमें उठे हुए फेनोंकी तरह नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १०९ ॥

आत्मानं विन्दते येन सर्वभूतगुहाशयम् ।
श्लोकेन यदि वार्धेन क्षीणं तस्य प्रयोजनम् ॥११०॥

एक या आधे श्लोकसे भी यदि सम्पूर्ण भूतोंके हृदयदेशमें शयन करनेवाले परमात्माका ज्ञान हो जाय, तो उसके [illegible] जाता है॥

द्व्यक्षरपदमभिसंधाय केचिच्छ्लोकपदाङ्कितैः ।
शतैरन्यैः सहस्रैश्च प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् ॥१११॥

कोई 'तत्त्वम्' अथवा राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि दो अक्षरोंसे ही परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। कोई श्लोक और पदोंसे अङ्कित अन्य सैकड़ों तथा सहस्रों शास्त्र-वाक्योंसे परमात्माके स्वरूपको जानते हैं। जैसे भी हो, बोध ही मोक्षका लक्षण है ॥ १११ ॥

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।
ऊचुर्ज्ञानविदो वृद्धाः प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् ॥११२॥

जिसके मनमें संशय भरा हुआ है, उसके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है। 'ज्ञान ही मोक्षका लक्षण है'—यह वृद्ध, ज्ञानी पुरुषोंका कथन है ॥ ११२ ॥

विदितार्थस्तु वेदानां परिवेद प्रयोजनम् ।
उद्विजेत् स तु वेदेभ्यो दावाग्नेरिव मानवः ॥११३॥

जब मनुष्य वेदोंके वास्तविक प्रयोजनको जान जाता है, तब वह वेदवेत्ता मानव (कर्मविधायक) समस्त वेदोंसे उसी प्रकार उपरत हो जाता है, जैसे मनुष्य दावानलसे हट जाते हैं। ११३।

शुष्कं तर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिं स्मृतिम् ।
एकाक्षराभिसम्बद्धं तत्त्वं हेतुभिरिच्छसि ।
बुद्धिर्न तस्य सिद्ध्येत साधनस्य विपर्ययात् ॥११४॥

प्रणवसे सम्बन्ध रखनेवाले परमात्मतत्त्वको यदि तुम युक्तिपूर्वक अर्थात् निःसंदेहभावसे समझना चाहते हो, तो कोरा तर्कवाद छोड़कर श्रुति तथा स्मृतिके वचनोंका आश्रय लो; क्योंकि जो उपर्युक्त साधनका आश्रय नहीं लेता, उसकी बुद्धि तत्त्वका निश्चय करनेमें समर्थ नहीं हो सकती ॥११४॥

वेदपूर्वं वेदितव्यं प्रयत्नात्
तद् वै वेदस्तस्य वेदः शरीरम् ।
वेदस्तत्त्वं तत्समासोपलब्धौ
क्लीबस्त्वात्मा तत् स वेद्यस्य वेद्यम् ॥११५॥

इसलिये जाननेयोग्य परमात्मतत्त्वका ज्ञान वेदोंके द्वारा ही यत्नपूर्वक प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि वह परमात्मतत्त्व वेदस्वरूप है। वेद उसका शरीर है। उस परमात्मतत्त्वको सहजभावसे प्राप्त करानेमें वेद हेतु है। यह जीवात्मा स्वयं समर्थ नहीं है; क्योंकि वह तत्त्व वेद्यका भी वेद्य है अर्थात् जाननेमें बड़ा ही गहन है ॥ ११५ ॥

वेदोक्तमायुर्देवानामाशिषश्चैव कर्मणाम् ।
फलत्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥११६॥

देवताओंकी आयु और कर्मोंका शुभाशुभ फल आदि बातें वेदमें कही गयी हैं। उनके अनुसार ही देहधारियोंका प्रभाव संसारमें प्रत्येक युगमें फलित होता है ॥ ११६ ॥

इन्द्रियाणां प्रसादेन तदेतत् परिवर्जयेत् ।
तस्मादनशनं दिव्यं निरुद्धेन्द्रियगोचरम् ॥११७॥

अतः मनुष्यको इन्द्रियोंकी शुद्धिके द्वारा इन विषय-भोगोंको त्याग देना चाहिये। यह इन्द्रियोंकी निर्मलता और निरोधसे होनेवाला अनशन (विषयोंका अग्रहण) दिव्य होता है ॥ ११७ ॥

तपसा स्वर्गगमनं भोगो दानेन जायते ।
ज्ञानेन मोक्षो विज्ञेयस्तीर्थस्नानादघक्षयः ॥ ११८॥

तपसे स्वर्गलोकमें जानेका सौभाग्य प्राप्त होता है। दानसे भोगोंकी प्राप्ति होती है। ज्ञानसे मोक्ष मिलता है, यह जानना चाहिये तथा तीर्थस्नानसे पापोंका क्षय हो जाता है ॥ ११८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राजेन्द्र प्रत्युवाच महायशाः ।
भगवन् श्रोतुमिच्छामि प्रधानविधिमुत्तमम् ॥ ११९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मार्कण्डेयजीके ऐसा कहनेपर महायशस्वी युधिष्ठिर बोले—'भगवन् ! अब मैं (दानकी) उत्तम एवं प्रधान विधि सुनना चाहता हूँ' ॥११९॥

मार्कण्डेय उवाच

यत् त्वमिच्छसि राजेन्द्र दानधर्मं युधिष्ठिर ।
इष्टं चेदं सदा मह्यं राजन् गौरवतस्तथा ॥१२०॥

मार्कण्डेयजीने कहा—महाराज युधिष्ठिर ! तुम मुझसे जिस दान-धर्मको सुनना चाहते हो, वह गौरवयुक्त होनेके कारण मुझे सदा ही प्रिय है ॥ १२० ॥

शृणु दानरहस्यानि श्रुतिस्मृत्युदितानि च ।
छायायां करिणः श्राद्धं तत् कर्णपरिवीजिते ।
दश कल्पायुतानीह न क्षीयेत युधिष्ठिर ॥१२१॥

श्रुतियों और स्मृतियोंमें जो दानके रहस्य बताये गये हैं, उनका वर्णन सुनो—युधिष्ठिर ! गुरुवारको अमावस्याके योगमें पीपलके वृक्षकी छायाको गजच्छाया-पर्व कहते हैं। गजच्छायामें जहाँ पीपलके पत्तोंकी हवा लगती हो, उस प्रदेशमें जलके समीप जो श्राद्ध किया जाता है, वह एक लाख कल्पों तक नष्ट नहीं होता ॥ १२१ ॥

जीवनाय समाक्लिन्नं वसु दत्त्वा महीयते ।
वैश्यं तु वासयेद् यस्तु सर्वयज्ञैः स इष्टवान् ॥१२२॥

जो जीविकाके लिये गूँधा हुआ अन्नका दान करता है, वह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो आश्रयकी खोज करनेवाले राहगीर–अतिथिको ठहरनेके लिये जगह दे वह सम्पूर्ण यज्ञोंका अनुष्ठान पूर्ण कर लेता है ॥ १२२ ॥

प्रतिस्रोतश्चित्रवाहाः पर्जन्योऽन्नानुसंचरन् ।
महार्णवे यथा नावा महापापैः प्रमुच्यते ॥१२३॥
विप्लवे विप्रदत्तानि दधिमस्त्वक्षयाणि च ।

पूर्वकी ओर बहनेवाली नदीका प्रवाह जहाँ पश्चिमकी ओर मुड़ गया हो, वह प्रतिस्रोत तीर्थ कहलाता है, उसमें किया हुआ उत्तम अश्वोंका दान अक्षय पुण्यको देनेवाला होता है। अन्नके लिये विचरनेवाले अतिथिरूपी इन्द्रको यदि भोजनसे संतुष्ट किया जाय तो वह भी अक्षयपुण्यका जनक होता है। नदियोंके महान् प्रवाहमें ग्रहणके समय ब्राह्मणोंको दिये हुए दधिमण्ड तथा पूर्वोक्त पदार्थ भी अक्षय पुण्यकी प्राप्ति करानेवाले होते हैं। इसी प्रकार नदियोंके महान् प्रवाहमें स्नान करनेवाला पुरुष बड़े-बड़े पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ १२३½ ॥

पर्वसु द्विगुणं दानमृतौ दशगुणं भवेत् ॥१२४॥
अयने विषुवे चैव षडशीतिमुखेषु च।
चन्द्रसूर्योपरागे च दत्तमक्षयमुच्यते ॥१२५॥

पर्वके अवसरपर दिया हुआ दान दुगुना तथा ऋतु आरम्भ होनेके समय दिया हुआ दान दस गुना पुण्यदायक होता है। उत्तरायण या दक्षिणायन आरम्भ होनेके दिन, विषुव-योग (तुला और मेषकी संक्रान्ति) में, मिथुन, कन्या, धनु और मीनकी संक्रान्तियोंमें तथा चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके अवसरपर दिया हुआ दान अक्षय बताया गया है ॥ १२४-१२५ ॥

ऋतुषु दशगुणं वदन्ति दत्तं
शतगुणमृत्वयनादिषु ध्रुवम्।
भवति सहस्रगुणं दिनस्य राहो-
र्विषुवति चाक्षयमश्नुते फलम् ॥१२६॥

विद्वान् पुरुष ऋतु प्रारम्भ होनेके दिन दिये हुए दानको दस गुना तथा अयन आदिके दिन सौ गुना बताते हैं। इसी प्रकार ग्रहणके दिन दिये हुए दानका फल सहस्रगुना होता है और विषुवयोगमें दान करनेसे मनुष्य उसके अक्षय पुण्य-फलका उपभोग करता है ॥ १२६ ॥

नाभूमिदो भूमिमश्नाति राजन्
नायानदो यानमारुह्य याति।
यान् यान् कामान् ब्राह्मणेभ्यो ददाति
तांस्तान् कामान् जायमानः स भुङ्क्ते॥१२७॥

राजन्! जिसने भूमिदान नहीं किया है, वह परलोकमें पृथ्वीका उपभोग नहीं कर सकता। जिसने सवारीका दान नहीं किया है, वह सवारीपर चढ़कर नहीं जा सकता। इस जन्ममें मनुष्य जिन-जिन पदार्थोंका ब्राह्मणोंको दान करता है, भावी जन्ममें वह उन-उन पदार्थोंको उपभोगके लिये पाता है।१२७।

अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णं
भूर्वैष्णवी सूर्यसुताश्च गावः।
लोकास्त्रयस्तेन भवन्ति दत्ता
यः काञ्चनं गाश्च महीं च दद्यात् ॥१२८॥

सुवर्ण अग्निकी प्रथम संतान है। भूमि भगवान् विष्णुकी पत्नी है तथा गौएँ भगवान् सूर्यकी कन्याएँ हैं, अतः जो कोई सुवर्ण, गौ और पृथ्वीका दान करता है, उसके द्वारा तीनों लोकोंका दान सम्पन्न हो जाता है ॥ १२८॥

परं हि दानान्न बभूव शाश्वतं
भव्यं त्रिलोके भवते कुतः पुनः।
तस्मात् प्रधानं परमं हि दानं
वदन्ति लोकेषु विशिष्टबुद्धयः ॥१२९॥

त्रिलोकीमें दानसे बढ़कर शाश्वत पुण्यदायक कर्म दूसरा पहले कभी नहीं हुआ, अब कैसे हो सकता है? इसीलिये उत्तम बुद्धिवाले पुरुष संसारमें दानको ही सर्वोत्कृष्ट पुण्यकर्म बताते हैं ॥ १२९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि दानमाहात्म्ये द्विशततमोऽध्यायः ॥ २०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें दानमाहात्म्य-विषयक दो सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२००॥

एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः

उत्तङ्ककी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्‌का उन्हें वरदान देना तथा इक्ष्वाकुवंशी राजा कुवलाश्वका धुन्धुमार नाम पड़नेका कारण बताना

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु राजा राजर्षेरिन्द्रद्युम्नस्य तत् तथा।
मार्कण्डेयान्महाभागात् स्वर्गस्य प्रतिपादनम् ॥ १ ॥
युधिष्ठिरो महाराज पप्रच्छ भरतर्षभ।
मार्कण्डेयं तपोवृद्धं दीर्घायुषमकल्मषम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ महाराज जनमेजय! महाभाग मार्कण्डेय मुनिके मुखसे राजर्षि इन्द्रद्युम्नको पुनः स्वर्गप्राप्ति होनेका वृत्तान्त (तथा दानमाहात्म्य) सुनकर राजा युधिष्ठिरने पापरहित, दीर्घायु तथा तपोवृद्ध महात्मा मार्कण्डेयसे इस प्रकार पूछा— ॥ १-२ ॥

विदितास्तव धर्मज्ञ देवदानवराक्षसाः।
राजवंशाश्च विविधा ऋषिवंशाश्च शाश्वताः ॥ ३ ॥

धर्मज्ञ मुने! आप देवता, दानव तथा राक्षसोंको भी अच्छी तरह जानते हैं। आपको नाना प्रकारके राजवंशों तथा

ऋषियोंकी सनातन वंशपरम्पराका भी ज्ञान है ॥ ३ ॥

न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिदस्मिँल्लोके द्विजोत्तम।
कथां वेत्सि मुने दिव्यां मनुष्योरगरक्षसाम् ॥ ४ ॥
देवगन्धर्वयक्षाणां किन्नराप्सरसां तथा।

'द्विजश्रेष्ठ ! इस लोकमें कोई ऐसी वस्तु नहीं जो आपसे अज्ञात हो। मुने ! आप मनुष्य, नाग, राक्षस, देवता, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर तथा अप्सराओंकी भी दिव्य कथाएँ जानते हैं ॥४½॥

इदमिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन द्विजसत्तम ॥ ५ ॥
कुवलाश्व इति ख्यात इक्ष्वाकुरपराजितः।
कथं नामविपर्यासाद् धुन्धुमारत्वमागतः ॥ ६ ॥

'विप्रवर ! अब मैं यथार्थरूपसे यह सुनना चाहता हूँ कि इक्ष्वाकुवंशमें जो कुवलाश्व नामसे विख्यात विजयी राजा हो गये हैं, वे क्यों नाम बदलकर 'धुन्धुमार' कहलाने लगे ?॥

एतदिच्छामि तत्त्वेन ज्ञातुं भार्गवसत्तम।
विपर्यस्तं यथा नाम कुवलाश्वस्य धीमतः ॥ ७ ॥

'भृगुश्रेष्ठ ! बुद्धिमान् राजा कुवलाश्वके इस नाम-परिवर्तनका यथार्थ कारण मैं जानना चाहता हूँ' ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरेणैवमुक्तो मार्कण्डेयो महामुनिः।
धौन्धुमारमुपाख्यानं कथयामास भारत ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भारत ! धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर महामुनि मार्कण्डेयने धुन्धुमारकी कथा प्रारम्भ की॥

मार्कण्डेय उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु राजन् युधिष्ठिर।
धर्मिष्ठमिदमाख्यानं धुन्धुमारस्य तच्छृणु ॥ ९ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—राजा युधिष्ठिर ! सुनो। धुन्धुमारका आख्यान धर्ममय है। अब इसका वर्णन करता हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥ ९ ॥

यथा स राजा इक्ष्वाकुः कुवलाश्वो महीपतिः।
धुन्धुमारत्वमगमत् तच्छृणुष्व महीपते ॥ १० ॥

महाराज ! इक्ष्वाकुवंशी राजा कुवलाश्व जिस प्रकार धुन्धुमार नामसे विख्यात हुए, वह सब श्रवण करो ॥ १० ॥

महर्षिर्विश्रुतस्तात उत्तङ्क इति भारत।
मरुधन्वसु रम्येषु आश्रमस्तस्य कौरव ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! कुरुकुलरत्न ! महर्षि उत्तङ्कका नाम बहुत प्रसिद्ध है। तात ! मरुके रमणीय प्रदेशमें उनका आश्रम है ॥

उत्तङ्कस्तु महाराज तपोऽतप्यत् सुदुश्चरम्।
आरिराधयिषुर्विष्णुं बहून् वर्षगणान् विभुः ॥ १२ ॥

महाराज ! प्रभावशाली उत्तङ्कने भगवान् विष्णुकी आराधनाकी इच्छासे बहुत वर्षोंतक अत्यन्त दुष्कर तपस्या की थी॥१२॥

तस्य प्रीतः स भगवान् साक्षाद् दर्शनमेयिवान्।
दृष्ट्वैव चर्षिः प्रह्वस्तं तुष्टाव विविधैः स्तवैः ॥ १३ ॥

उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्ने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। उनका दर्शन पाते ही महर्षि नम्रतासे झुक गये और नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति करने लगे ॥



उत्तङ्क उवाच

त्वया देव प्रजाः सर्वाः ससुरासुरमानवाः।
स्थावराणि च भूतानि जङ्गमानि तथैव च ॥ १४ ॥

उत्तङ्क बोले—देव ! देवता, असुर, मनुष्य आदि सारी प्रजा आपसे ही उत्पन्न हुई है। समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियोंकी सृष्टि भी आपने ही की है ॥ १४ ॥

ब्रह्म वेदाश्च वेद्यं च त्वया सृष्टं महाद्युते।
शिरस्ते गगनं देव नेत्रे शशिदिवाकरौ ॥ १५ ॥
निःश्वासः पवनश्चापि तेजोऽग्निश्च तवाच्युत।
बाहवस्ते दिशः सर्वाः कुक्षिश्चापि महार्णवः ॥ १६ ॥
ऊरू ते पर्वता देव खं नाभिर्मधुसूदन।
पादौ ते पृथिवी देवी रोमाण्योषधयस्तथा ॥ १७ ॥

महातेजस्वी परमेश्वर ! ब्रह्मा, वेद और जाननेयोग्य सभी वस्तुएँ आपने ही उत्पन्न की हैं। देव ! आकाश आपका मस्तक है। चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं। वायु श्वास है तथा अग्नि आपका तेज है। अच्युत ! सम्पूर्ण दिशाएँ आपकी भुजाएँ और महासागर आपका कुक्षिस्थान है। देव ! मधुसूदन ! पर्वत आपके ऊरु और अन्तरिक्ष लोक आपकी नाभि है। पृथ्वीदेवी आपके चरण तथा ओषधियाँ रोएँ हैं ॥१५—१७॥

इन्द्रसोमाग्निवरुणा देवासुरमहोरगाः ।
प्रह्वास्त्वामुपतिष्ठन्ति स्तुवन्तो विविधैः स्तवैः ॥ १८ ॥

भगवन् ! इन्द्र, सोम, अग्नि, वरुण देवता, असुर और बड़े-बड़े नाग—ये सब आपके सामने नतमस्तक हो, नाना प्रकारके स्तोत्र पढ़कर आपकी स्तुति करते हुए आपको हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं ॥ १८ ॥

त्वया व्याप्तानि सर्वाणि भूतानि भुवनेश्वर ।
योगिनः सुमहावीर्याः स्तुवन्ति त्वां महर्षयः ॥ १९ ॥

भुवनेश्वर ! आपने सम्पूर्ण भूतोंको व्याप्त कर रक्खा है। महान् शक्तिशाली योगी और महर्षि आपका स्तवन करते हैं ॥

त्वयि तुष्टे जगत् स्वास्थ्यं त्वयि क्रुद्धे महद् भयम् ।
भयानामपनेतासि त्वमेकः पुरुषोत्तम ॥ २० ॥

पुरुषोत्तम ! आपके संतुष्ट होनेपर ही संसार स्वस्थ एवं सुखी होता है और आपके कुपित होनेपर इसे महान् भयका सामना करना पड़ता है। एकमात्र आप ही सम्पूर्ण भयका निवारण करनेवाले हैं ॥ २० ॥

देवानां मानुषाणां च सर्वभूतसुखावहः ।
त्रिभिर्विक्रमणैर्देव त्रयो लोकास्त्वया हृताः ॥ २१ ॥

देव ! आप देवताओं, मनुष्यों तथा सम्पूर्ण भूतोंको सुख पहुँचानेवाले हैं। आपने तीन पगोंद्वारा ही (बलिके हाथसे) तीनों लोक (दानद्वारा) हरण कर लिये थे ॥ २१ ॥

असुराणां समृद्धानां विनाशश्च त्वया कृतः ।
तव विक्रमणैर्देवा निर्वाणमगमन् परम् ॥ २२ ॥

आपने समृद्धिशाली असुरोंका संहार किया है। आपके ही पराक्रमसे देवता परम सुख-शान्तिके भागी हुए हैं ॥२२॥

पराभूताश्च दैत्येन्द्रास्त्वयि क्रुद्धे महाद्युते ।
त्वं हि कर्ता विकर्ता च भूतानामिह सर्वशः ॥ २३ ॥
आराधयित्वा त्वां देवाः सुखमेधन्ति सर्वशः ।

महाद्युते ! आपके रुष्ट होनेसे ही दैत्यराज देवताओंके सामने पराजित हो जाते हैं। आप इस जगत्‌के सम्पूर्ण प्राणियोंकी सृष्टि तथा संहार करनेवाले हैं। प्रभो ! आपकी आराधना करके ही सम्पूर्ण देवता सुख एवं समृद्धि-लाभ करते हैं ॥

एवं स्तुतो हृषीकेश उत्तङ्केन महात्मना ॥ २४ ॥
उत्तङ्कमब्रवीद् विष्णुः प्रीतस्तेऽहं वरं वृणु ।

महात्मा उत्तङ्कके इस प्रकार स्तुति करनेपर सम्पूर्ण इन्द्रियोंके प्रेरक भगवान् विष्णुने उनसे कहा—'महर्षे ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम कोई वर माँगो' ॥ २४½ ॥

उत्तङ्क उवाच

पर्याप्तो मे वरो ह्येष यदहं दृष्टवान् हरिम् ॥ २५ ॥
पुरुषं शाश्वतं दिव्यं स्रष्टारं जगतः प्रभुम् ।

उत्तङ्कने कहा—भगवन् ! समस्त संसारकी सृष्टि करनेवाले दिव्य सनातन पुरुष आप सर्वशक्तिमान् श्रीहरिका जो मुझे दर्शन मिला, यही मेरे लिये सबसे महान् वर है ॥ २५½ ॥

विष्णुरुवाच

प्रीतस्तेऽहमलौल्येन भक्त्या तव च सत्तम ॥ २६ ॥
अवश्यं हि त्वया ब्रह्मन् मत्तो ग्राह्यो वरो द्विज ।

भगवान् विष्णु बोले—सज्जनशिरोमणे ! मैं तुम्हारी लोभशून्यता एवं उत्तम भक्तिसे तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। ब्रह्मन् ! तुम्हें मुझसे कोई वर अवश्य लेना चाहिये ॥ २६½ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवं स छन्द्यमानस्तु वरेण हरिणा तदा ॥ २७ ॥
उत्तङ्कः प्राञ्जलिर्वव्रे वरं भरतसत्तम ।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार भगवान् विष्णुके द्वारा वर लेनेके लिये आग्रह होनेपर उत्तङ्कने हाथ जोड़कर इस प्रकार वर माँगा ॥ २७½ ॥

यदि मे भगवन् प्रीतः पुण्डरीकनिभेक्षण ॥ २८ ॥
धर्मे सत्ये दमे चैव बुद्धिर्भवतु मे सदा ।
अभ्यासश्च भवेद् भक्त्या त्वयि नित्यं ममेश्वर॥ २९ ॥

'भगवन् ! कमलनयन ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मेरी बुद्धि सदा धर्म, सत्य और इन्द्रियनिग्रहमें लगी रहे। मेरे स्वामी ! आपके भजनका मेरा अभ्यास सदा बना रहे' ॥२८-२९॥

श्रीभगवानुवाच

सर्वमेतद्धि भविता मत्प्रसादात् तव द्विज ।
प्रतिभास्यति योगश्च येन युक्तो दिवौकसाम् ॥ ३० ॥
त्रयाणामपि लोकानां महत् कार्यं करिष्यसि ।

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मन् ! मेरी कृपासे यह सब कुछ तुम्हें प्राप्त हो जायगा। इसके सिवा तुम्हारे हृदयमें उस योगविद्याका प्रकाश होगा, जिससे युक्त होकर तुम देवताओं तथा तीनों लोकोंका महान् कार्य सिद्ध कर सकोगे ॥ ३०½ ॥

उत्सादनार्थं लोकानां धुन्धुर्नाम महासुरः ॥ ३१ ॥
तपस्यति तपो घोरं शृणु यस्तं हनिष्यति ।

विप्रवर ! धुन्धु नामसे प्रसिद्ध एक महान् असुर है, जो तीनों लोकोंका संहार करनेके लिये घोर तपस्या कर रहा है। जो वीर उस महान् असुरका वध करेगा, उसका परिचय देता हूँ, सुनो ॥ ३१½ ॥

राजा हि वीर्यवांस्तात इक्ष्वाकुरपराजितः ॥ ३२ ॥
बृहदश्व इति ख्यातो भविष्यति महीपतिः ।
तस्य पुत्रः शुचिर्दान्तः कुवलाश्व इति श्रुतः ॥ ३३ ॥

तात ! इक्ष्वाकुकुलमें बृहदश्व नामसे प्रसिद्ध एक महापराक्रमी और किसीसे पराजित न होनेवाले राजा उत्पन्न होंगे। उनका पवित्र और जितेन्द्रिय पुत्र कुवलाश्वके नामसे विख्यात होगा ॥ ३२-३३ ॥

स योगबलमास्थाय मामकं पार्थिवोत्तमः।
शासनात् तव विप्रर्षे धुन्धुमारो भविष्यति।
एवमुक्त्वा तु तं विप्रं विष्णुरन्तरधीयत ॥ ३४ ॥

ब्रह्मर्षे ! तुम्हारे आदेशसे वे नृपश्रेष्ठ कुवलाश्व ही मेरे योगबलका आश्रय लेकर धुन्धु राक्षसका वध करेंगे और लोकमें धुन्धुमार नामसे विख्यात होंगे। उत्तङ्कसे ऐसा कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें धुन्धुमारोपाख्यानविषयक दो सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०१ ॥

द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

उत्तङ्कका राजा बृहदश्वसे धुन्धुका वध करनेके लिये आग्रह

मार्कण्डेय उवाच

इक्ष्वाकौ संस्थिते राजन् शशादः पृथिवीमिमाम्।
प्राप्तः परमधर्मात्मा सोऽयोध्यायां नृपोऽभवत् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! महाराज इक्ष्वाकुके देहावसानके पश्चात् उनके परम धर्मात्मा पुत्र शशाद इस पृथ्वीपर राज्य करने लगे। वे अयोध्यामें रहते थे ॥ १ ॥

शशादस्य तु दायादः ककुत्स्थो नाम वीर्यवान्।
अनेनाश्चापि काकुत्स्थः पृथुश्चानेनसः सुतः ॥ २ ॥

शशादके पुत्र पराक्रमी ककुत्स्थ हुए। ककुत्स्थके पुत्र अनेना और अनेनाके पृथु हुए ॥ २ ॥

विष्वगश्वः पृथोः पुत्रस्तस्मादद्रिश्च जज्ञिवान्।
अद्रेश्च युवनाश्वस्तु श्रावस्तस्यात्मजोऽभवत् ॥ ३ ॥

पृथुके विष्वगश्व और उनके पुत्र अद्रि हुए। अद्रिके पुत्रका नाम युवनाश्व था। युवनाश्वका पुत्र श्राव नामसे विख्यात हुआ ॥ ३ ॥

तस्य श्रावस्तको ज्ञेयः श्रावस्ती येन निर्मिता।
श्रावस्तकस्य दायादो बृहदश्वो महाबलः ॥ ४ ॥

श्रावका पुत्र श्रावस्त हुआ, जिसने श्रावस्तीपुरी बसायी थी। श्रावस्तके ही पुत्र महाबली बृहदश्व थे ॥ ४ ॥

बृहदश्वस्य दायादः कुवलाश्व इति स्मृतः।
कुवलाश्वस्य पुत्राणां सहस्राण्येकविंशतिः ॥ ५ ॥

बृहदश्वके ही पुत्रका नाम कुवलाश्व था। कुवलाश्वके इक्कीस हजार पुत्र हुए ॥ ५ ॥

सर्वे विद्यासु निष्णाता बलवन्तो दुरासदाः।
कुवलाश्वश्च पितृतो गुणैरभ्यधिकोऽभवत् ॥ ६ ॥

वे सब-के-सब सम्पूर्ण विद्याओंमें पारंगत, बलवान् और दुर्धर्ष वीर थे। कुवलाश्व उत्तम गुणोंमें अपने पितासे बढ़कर निकले ॥ ६ ॥

समये तं पिता राज्ये बृहदश्वोऽभ्यषेचयत्।
कुवलाश्वं महाराज शूरमुत्तमधार्मिकम् ॥ ७ ॥

महाराज ! राजा बृहदश्वने यथासमय अपने उत्तम धर्मात्मा शूरवीर पुत्र कुवलाश्वको राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥

पुत्रसंक्रामितश्रीस्तु बृहदश्वो महीपतिः।
जगाम तपसे धीमांस्तपोवनममित्रहा ॥ ८ ॥

शत्रुओंका संहार करनेवाले बुद्धिमान् राजा बृहदश्व राजलक्ष्मीका भार पुत्रपर छोड़कर स्वयं तपस्याके लिये तपोवनमें चले गये ॥ ८ ॥

अथ शुश्राव राजर्षिं तमुत्तङ्को नराधिप।
वनं सम्प्रस्थितं राजन् बृहदश्वं द्विजोत्तमः ॥ ९ ॥

राजन् ! तदनन्तर द्विजश्रेष्ठ उत्तङ्कने यह सुना कि राजर्षि बृहदश्व वनको चले जा रहे हैं ॥ ९ ॥

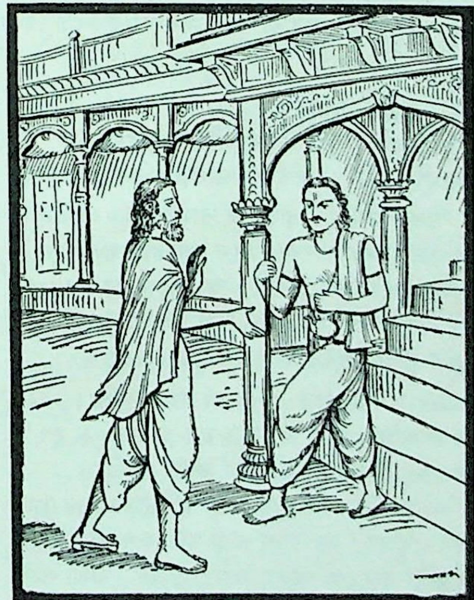
तमुत्तङ्को महातेजाः सर्वास्त्रविदुषां वरम्।
न्यवारयदमेयात्मा समासाद्य नरोत्तमम् ॥ १० ॥

वे नरश्रेष्ठ नरेश सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वानोंमें सर्वोत्तम थे। विशाल हृदयवाले महातेजस्वी उत्तङ्कने उनके पास जाकर उन्हें वनमें जानेसे रोका और इस प्रकार कहा ॥ १० ॥

उत्तङ्क उवाच

भवता रक्षणं कार्यं तत् तावत् कर्तुमर्हसि।
निरुद्विग्ना वयं राजंस्त्वत्प्रसादाद् भवेमहि ॥ ११ ॥

उत्तङ्क बोले—महाराज ! प्रजाकी रक्षा करना आपका कर्तव्य है। अतः पहले वही आपको करना चाहिये, जिससे आपके कृपाप्रसादसे हमलोग निर्भय हो जायँ ॥ ११ ॥



त्वया हि पृथिवी राजन् रक्ष्यमाणा महात्मना।
भविष्यति निरुद्विग्ना नारण्यं गन्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

राजन् ! आप-जैसे महात्मा राजासे सुरक्षित होकर ही यह पृथ्वी सर्वथा भयशून्य हो जायगी। अतः आप वनमें न जाइये ॥ १२ ॥

पालने हि महान् धर्मः प्रजानामिह दृश्यते।
न तथा दृश्यतेऽरण्ये माभूत् ते बुद्धिरीदृशी ॥ १३ ॥

क्योंकि आपके लिये यहाँ रहकर प्रजाओंका पालन करनेमें जो महान् धर्म देखा जाता है, वैसा वनमें रहकर तपस्या करनेमें नहीं दिखायी देता। अतः आपकी ऐसी समझ नहीं होनी चाहिये ॥ १३ ॥

ईदृशो न हि राजेन्द्र धर्मः क्वचन दृश्यते।
प्रजानां पालने यो वै पुरा राजर्षिभिः कृतः ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! पूर्वकालके राजर्षियोंने जिस धर्मका पालन किया है, वह प्रजाजनोंके पालनमें ही सुलभ है ऐसा धर्म और किसी कार्यमें नहीं दिखायी देता ॥ १४ ॥

रक्षितव्याः प्रजा राज्ञा तास्त्वं रक्षितुमर्हसि।
निरुद्विग्नस्तपश्चर्तुं न हि शक्नोमि पार्थिव ॥ १५ ॥

राजाके लिये प्रजाजनोंका पालन करना ही धर्म है। अतः आपको प्रजावर्गकी रक्षा ही करनी चाहिये। भूपाल ! मैं शान्तिपूर्वक तपस्या नहीं कर पा रहा हूँ ॥ १५ ॥

ममाश्रमसमीपे वै समेषु मरुधन्वसु।
समुद्रो वालुकापूर्ण उज्जालक इति स्मृतः ॥ १६ ॥

मेरे आश्रमके समीप समस्त मरुप्रदेशमें एक बालूसे पूर्ण अर्थात् बालुकामय समुद्र है, उसका नाम है उज्जालक ॥ १६ ॥

बहुयोजनविस्तीर्णो बहुयोजनमायतः।
तत्र रौद्रो दानवेन्द्रो महावीर्यपराक्रमः ॥ १७ ॥
मधुकैटभयोः पुत्रो धुन्धुर्नाम सुदारुणः।
अन्तर्भूमिगतो राजन् वसत्यमितविक्रमः ॥ १८ ॥

उसकी लम्बाई-चौड़ाई कई योजनकी है। वहाँ महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न एक भयंकर दानवराज रहता है, जो मधु और कैटभका पुत्र है। वह क्रूर-स्वभाववाला राक्षस धुन्धु नामसे प्रसिद्ध है। राजन् ! वह अमित पराक्रमी दानव धरतीके भीतर छिपकर रहा करता है ॥ १७-१८ ॥

तं निहत्य महाराज वनं त्वं गन्तुमर्हसि।
शेते लोकविनाशाय तप आस्थाय दारुणम् ॥ १९ ॥
त्रिदशानां विनाशाय लोकानां चापि पार्थिव।

महाराज ! उसका नाश करके ही आपको वनमें जाना चाहिये। भूपाल ! वह सम्पूर्ण लोकों और देवताओंके विनाशके लिये कठोर तपस्याका आश्रय लेकर (पृथ्वीमें) शयन करता है ॥ १९½ ॥

अवध्यो दैवतानां हि दैत्यानामथ रक्षसाम् ॥ २० ॥
नागानामथ यक्षाणां गन्धर्वाणां च सर्वशः।
अवाप्य स वरं राजन् सर्वलोकपितामहात् ॥ २१ ॥

राजन् ! वह सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीसे वर पाकर देवताओं, दैत्यों, राक्षसों, नागों, यक्षों और समस्त गन्धर्वोंके लिये अवध्य हो गया है ॥ २०-२१ ॥

तं विनाशय भद्रं ते मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा।
प्राप्स्यसे महतीं कीर्तिं शाश्वतीमव्ययां ध्रुवाम् ॥ २२ ॥

महाराज ! आपका कल्याण हो। आप उस दैत्यका विनाश कीजिये। इसके विपरीत आपको कोई विचार नहीं करना चाहिये। उसका वध करके आप सदा बनी रहनेवाली अक्षय एवं महान् कीर्ति प्राप्त करेंगे ॥ २२ ॥

क्रूरस्य तस्य स्वपतो वालुकान्तर्हितस्य च।
संवत्सरस्य पर्यन्ते निःश्वासः सम्प्रवर्तते ॥ २३ ॥

बालूके भीतर छिपकर रहनेवाला वह क्रूर राक्षस एक वर्षमें एक ही बार साँस लेता है ॥ २३ ॥

यदा तदा भूश्चलति सशैलवनकानना।
तस्य निःश्वासवातेन रज उद्धूयते महत् ॥ २४ ॥
आदित्यपथमाश्रित्य सप्ताहं भूमिकम्पनम्।
सविस्फुलिङ्गं सज्वालं धूममिश्रं सुदारुणम् ॥ २५ ॥

जिस समय वह साँस लेता है, उस समय पर्वत, वन और काननोंसहित यह सारी पृथ्वी डोलने लगती है। उसके साँसकी आँधीसे धूलका इतना ऊँचा बवंडर उठता है कि वह सूर्यके मार्गको भी ढक लेता है और सात दिनोंतक वहाँ भूकम्प होता रहता है। आगकी चिनगारियाँ, ज्वालाएँ और धूआँ उठकर अत्यन्त भयंकर दृश्य उपस्थित करते हैं ॥

तेन राजन् न शक्नोमि तस्मिन् स्थातुं स्व आश्रमे।
तं विनाशय राजेन्द्र लोकानां हितकाम्यया ॥ २६ ॥

राजन् ! इस कारण मेरा अपने आश्रममें रहना कठिन हो गया है। महाराज ! सब लोगोंके हितके लिये आप उस राक्षसको नष्ट कीजिये ॥ २६ ॥

लोकाः स्वस्था भविष्यन्ति तस्मिन् विनिहतेऽसुरे।
त्वं हि तस्य विनाशाय पर्याप्त इति मे मतिः ॥ २७ ॥

उस असुरके मारे जानेपर सब लोग स्वस्थ एवं सुखी हो जायँगे। मेरा विश्वास है कि आप अकेले ही उसका नाश करनेके लिये पर्याप्त हैं ॥ २७ ॥

तेजसा तव तेजश्च विष्णुराप्याययिष्यति।
विष्णुना च वरो दत्तः पूर्वं मम महीपते ॥ २८ ॥
यस्तं महासुरं रौद्रं वधिष्यति महीपतिः।
तेजस्तद् वैष्णवमिति प्रवक्ष्यति दुरासदम् ॥ २९ ॥

भूपाल ! भगवान् विष्णु अपने तेजसे आपके तेजको बढ़ायेंगे। उन्होंने पूर्वकालमें मुझे यह वर दिया था कि जो राजा उस भयानक एवं महान् असुरका वध करनेको उद्यत होगा, उस दुर्धर्ष वीरके भीतर मेरा वैष्णव तेज प्रवेश करेगा ॥ २८-२९ ॥

तत् तेजस्त्वं समाधाय राजेन्द्र भुवि दुःसहम् ।
तं निषूदय राजेन्द्र दैत्यं रौद्रपराक्रमम् ॥ ३० ॥

महाराज ! अतः आप भगवान्का दुःसह तेज धारण करके पृथ्वीपर रहनेवाले उस भयानक पराक्रमी दैत्यको नष्ट कीजिये ॥ ३० ॥

न हि धुन्धुर्महातेजास्तेजसाल्पेन शक्यते ।
निर्दग्धुं पृथिवीपाल स हि वर्षशतैरपि ॥ ३१ ॥

राजन् ! धुन्धु महातेजस्वी असुर है । साधारण तेजसे सौ वर्षोंमें भी कोई उसे नष्ट नहीं कर सकता ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें धुन्धुमारोपाख्यानविषयक दो सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०२ ॥

त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी उत्पत्ति और भगवान् विष्णुके द्वारा मधु-कैटभका वध

मार्कण्डेय उवाच

स एवमुक्तो राजर्षिरुत्तङ्केनापराजितः ।
उत्तङ्कं कौरवश्रेष्ठ कृताञ्जलिरथाब्रवीत् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—कौरवश्रेष्ठ ! उत्तङ्कके इस प्रकार आग्रह करनेपर अपराजित वीर राजर्षि बृहदश्वने उनसे हाथ जोड़कर कहा— ॥ १ ॥

न तेऽभिगमनं ब्रह्मन् मोघमेतद् भविष्यति ।
पुत्रो ममायं भगवन् कुवलाश्व इति स्मृतः ॥ २ ॥
धृतिमान् क्षिप्रकारी च वीर्येणाप्रतिमो भुवि ।

'ब्रह्मन् ! आपका यह आगमन निष्फल नहीं होगा । भगवन् ! मेरा यह पुत्र कुवलाश्व भूमण्डलमें अनुपम वीर है । यह धैर्यवान् और फुर्तीला है ॥ २½ ॥

प्रियं च ते सर्वमेतत् करिष्यति न संशयः ॥ ३ ॥
पुत्रैः परिवृतः सर्वैः शूरैः परिघबाहुभिः ।
विसर्जयस्व मां ब्रह्मन् न्यस्तशस्त्रोऽस्मि साम्प्रतम् ॥ ४ ॥

परिघ-जैसी मोटी भुजाओंवाले अपने समस्त शूरवीर पुत्रोंके साथ जाकर यह आपका सारा अभीष्ट कार्य सिद्ध करेगा, इसमें संशय नहीं है । ब्रह्मन् ! आप मुझे छोड़ दीजिये । मैंने अब अस्त्र-शस्त्रोंको त्याग दिया है ॥ ३-४ ॥

तथास्त्विति च तेनोक्तो मुनिनामिततेजसा ।
स तमादिश्य तनयमुत्तङ्काय महात्मने ॥ ५ ॥
क्रियतामिति राजर्षिर्जगाम वनमुत्तमम् ।

तब अमित तेजस्वी उत्तङ्क मुनिने '"तथास्तु' कहकर राजाको वनमें जानेकी आज्ञा दे दी । तत्पश्चात् राजर्षि बृहदश्वने महात्मा उत्तङ्कको अपना वह पुत्र सौंप दिया और धुन्धुका वध करनेकी आज्ञा दे उत्तम तपोवनकी ओर प्रस्थान किया ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

क एष भगवन् दैत्यो महावीर्यस्तपोधन ॥ ६ ॥
कस्य पुत्रोऽथ नप्ता वा एतदिच्छामि वेदितुम् ।

युधिष्ठिरने पूछा—तपोधन ! भगवन् ! यह पराक्रमी दैत्य कौन था ? किसका पुत्र और नाती था ? मैं यह सब जानना चाहता हूँ ॥ ६½ ॥

एवं महाबलो दैत्यो न श्रुतो मे तपोधन ॥ ७ ॥
एतदिच्छामि भगवन् याथातथ्येन वेदितुम् ।
सर्वमेव महाप्राज्ञ विस्तरेण तपोधन ॥ ८ ॥

तपस्याके धनी मुनीश्वर ! ऐसा महाबली दैत्य तो मैंने कभी नहीं सुना था, अतः भगवन् ! मैं इसके विषयमें यथार्थ बातें जानना चाहता हूँ । महामते ! आप यह सारी कथा विस्तारपूर्वक बताइये ॥ ७-८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

शृणु राजन्निदं सर्वं यथावृत्तं नराधिप ।
कथ्यमानं महाप्राज्ञ विस्तरेण यथातथम् ॥ ९ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! तुम बड़े बुद्धिमान् हो । यह सारा वृत्तान्त मैं यथार्थरूपसे विस्तारपूर्वक कह रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥ ९ ॥

एकार्णवे तदा लोके नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
प्रणष्टेषु च भूतेषु सर्वेषु भरतर्षभ ॥ १० ॥

भरतश्रेष्ठ ! बात उस समयकी है, जब सम्पूर्ण चराचर जगत् एकार्णवके जलमें डूबकर नष्ट हो चुका था । समस्त प्राणी कालके गालमें चले गये थे ॥ १० ॥

प्रभवं लोककर्तारं विष्णुं शाश्वतमव्ययम् ।
यमाहुर्मुनयः सिद्धाः सर्वलोकमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

सुष्वाप भगवान् विष्णुरप्सु योगत एव सः ।
नागस्य भोगे महति शेषस्यामिततेजसः ॥ १२ ॥

उस समय वे भगवान् विष्णु एकार्णवके जलमें अमिततेजस्वी शेषनागके विशाल शरीरकी शय्यापर योगनिद्राका आश्रय लेकर शयन करते थे । उन्हीं भगवान्‌को सिद्ध, मुनिगण सबकी उत्पत्तिका कारण, लोकस्रष्टा, सर्वव्यापी, सनातन, अविनाशी तथा सर्वलोकमहेश्वर कहते हैं ॥ ११-१२ ॥

लोककर्ता महाभाग भगवानच्युतो हरिः ।
नागभोगेन महता परिरभ्य महीमिमाम् ॥ १३ ॥
स्वपतस्तस्य देवस्य पद्मं सूर्यसमप्रभम् ।
नाभ्यां विनिःसृतं दिव्यं तत्रोत्पन्नः पितामहः ॥ १४ ॥
साक्षाल्लोकगुरुर्ब्रह्मा पद्मे सूर्यसमप्रभः ।

महाभाग ! अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले लोककर्ता भगवान् श्रीहरि नागके विशाल फणके द्वारा धारण की हुई इस पृथ्वीका सहारा लेकर (शेषनागपर) सो रहे थे, उस समय उन दिव्यस्वरूप नारायणकी नाभिसे एक दिव्य कमल प्रकट हुआ, जो सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था । उसीमें सम्पूर्ण लोकोंके गुरु साक्षात् पितामह ब्रह्माजी प्रकट हुए, जो सूर्यके समान तेजस्वी थे ॥ १३-१४½ ॥

चतुर्वेदश्चतुर्मूर्तिस्तथैव च चतुर्मुखः ॥ १५ ॥
स्वप्रभावाद् दुराधर्षो महाबलपराक्रमः ।

वे चारों वेदोंके विद्वान् हैं । जरायुज आदि चतुर्विध जीव उन्हींके स्वरूप हैं । उनके चार मुख हैं । उनके बल और पराक्रम महान् हैं । वे अपने प्रभावसे दुर्धर्ष हैं ॥१५½॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य दानवौ वीर्यवत्तमौ ॥ १६ ॥
मधुश्च कैटभश्चैव दृष्टवन्तौ हरिं प्रभुम् ।

ब्रह्माजीके प्रकट होनेके कुछ काल बाद मधु और कैटभ नामक दो पराक्रमी दानवोंने सर्वसामर्थ्यवान् भगवान् श्रीहरिको देखा ॥ १६½ ॥

शयानं शयने दिव्ये नागभोगे महाद्युतिम् ॥ १७ ॥
बहुयोजनविस्तीर्णे बहुयोजनमायते ।
किरीटकौस्तुभधरं पीतकौशेयवाससम् ॥ १८ ॥

वे शेषनागके शरीरकी दिव्यशय्यापर शयन किये हुए थे । उनका तेज महान् है । वे जिस शय्यापर शयन करते हैं, उसकी लंबाई-चौड़ाई कई योजनोंकी है । भगवान्‌के मस्तकपर किरीट और कण्ठमें कौस्तुभमणिकी शोभा हो रही थी । उन्होंने रेशमी-पीताम्बर धारण कर रखा था ॥ १७-१८ ॥

दीप्यमानं श्रिया राजंस्तेजसा वपुषा तथा ।
सहस्रसूर्यप्रतिममद्भुतोपमदर्शनम् ॥ १९ ॥

राजन् ! वे अपनी कान्ति और तेजसे उद्दीप्त हो रहे थे । शरीरसे वे सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशित होते थे । उनकी झाँकी अद्भुत और अनुपम थी ॥ १९ ॥

विस्मयः सुमहानासीन्मधुकैटभयोस्तथा ।
दृष्ट्वा पितामहं चापि पद्मे पद्मनिभेक्षणम् ॥ २० ॥
वित्रासयेतामथ तौ ब्रह्माणममितौजसम् ।
वित्रस्यमानो बहुशो ब्रह्मा ताभ्यां महायशाः ॥ २१ ॥
अकम्पयत् पद्मनालं ततोऽबुध्यत केशवः ।
अथापश्यत गोविन्दो दानवौ वीर्यवत्तरौ ॥ २२ ॥

भगवान्‌को देखकर मधु और कैटभ दोनोंको बड़ा आश्चर्य हुआ । तत्पश्चात् उनकी दृष्टि कमलमें बैठे हुए कमलनयन पितामह ब्रह्माजीपर पड़ी । उन्हें देखकर वे दोनों दैत्य उन अमित तेजस्वी ब्रह्माजीको डराने लगे । उन दोनोंके द्वारा बार-बार डराये जानेपर महायशस्वी ब्रह्माजीने उस कमलकी नालको हिलाया । इससे भगवान् गोविन्द जाग उठे । जागनेपर उन्होंने उन दोनों महापराक्रमी दानवोंको देखा ॥ २०—२२ ॥

दृष्ट्वा तावब्रवीद् देवः स्वागतं वां महाबलौ ।
ददामि वां वरं श्रेष्ठं प्रीतिर्हि मम जायते ॥ २३ ॥

उन महाबली दानवोंको देखकर भगवान् विष्णुने कहा—'तुम दोनों बड़े बलवान् हो । तुम्हारा स्वागत है । मैं तुम दोनोंको उत्तम वर दे रहा हूँ; क्योंकि तुम्हें देखकर मुझे प्रसन्नता होती है' ॥ २३ ॥

तौ प्रहस्य हृषीकेशं महादर्पौ महाबलौ ।
प्रत्यब्रूतां महाराज सहितौ मधुसूदनम् ॥ २४ ॥

महाराज ! वे दोनों महाबली दानव बड़े अभिमानी थे । उन्होंने हँसकर इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् मधुसूदनसे एक साथ कहा—॥ २४ ॥

आवां वरय देव त्वं वरदौ स्वः सुरोत्तम ।
दातारौ स्वो वरं तुभ्यं तद् ब्रवीह्यविचारयन् ॥ २५ ॥

'सुरश्रेष्ठ ! हम दोनों तुम्हें वर देते हैं । देव ! तुम्हीं हमलोगोंसे वर माँगो ! हम दोनों तुम्हें तुम्हारी इच्छाके अनुसार वर देंगे । तुम बिना सोचे-विचारे जो चाहो, माँग लो' ॥ २५ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रतिगृह्णे वरं वीरावीप्सितश्च वरो मम ।
युवां हि वीर्यसम्पन्नौ न वामस्ति समः पुमान् ॥ २६ ॥

श्रीभगवान् बोले—वीरो ! मैं तुमसे अवश्य वर लूँगा । मुझे तुमसे वर प्राप्त करना अभीष्ट है; क्योंकि तुम दोनों बड़े पराक्रमी हो । तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई पुरुष नहीं है ॥ २६ ॥

वध्यत्वमुपगच्छेतां मम सत्यपराक्रमौ ।
एतदिच्छाम्यहं कामं प्राप्तुं लोकहिताय वै ॥ २७ ॥

सत्यपराक्रमी वीरो ! तुम दोनों मेरे हाथसे मारे जाओ ।



भगवान् विष्णुके द्वारा मधुकैटभका जाँघोंपर वध

मैं सम्पूर्ण जगत्‌के हितके लिये तुमसे यही मनोरथ प्राप्त करना चाहता हूँ ॥ २७ ॥

मधुकैटभावूचतुः

अनृतं नोक्तपूर्वं नौ स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ।
सत्ये धर्मे च निरतौ विद्ध्यावां पुरुषोत्तम ॥ २८॥

मधु और कैटभने कहा—पुरुषोत्तम ! हमलोगोंने पहले कभी स्वच्छन्द (मर्यादारहित) बर्तावमें भी झूठ नहीं कहा है, फिर और समयमें तो हम झूठ बोल ही कैसे सकते हैं ? आप हम दोनोंको सत्य और धर्ममें अनुरक्त मानिये ॥ २८॥

बले रूपे च शौर्ये च न शमे च समोऽस्ति नौ ।
धर्मे तपसि दाने च शीलसत्त्वदमेषु च ॥ २९ ॥

बल, रूप, शौर्य और मनोनिग्रहमें हमारी समता करनेवाला कोई नहीं है । धर्म, तपस्या, दान, शील, सत्त्व तथा इन्द्रियसंयममें भी हमारी कहीं तुलना नहीं है ॥ २९ ॥

उपप्लवो महानस्मानुपावर्तत केशव ।
उक्तं प्रतिकुरुष्व त्वं कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ३० ॥

किंतु केशव ! हमलोगोंपर यह महान् संकट आ पहुँचा है । अब आप भी अपनी कही हुई बात पूर्ण कीजिये । कालका उल्लङ्घन करना बहुत ही कठिन है ॥ ३० ॥

आवामिच्छावहे देव कृतमेकं त्वया विभो ।
अनावृतेऽस्मिन्नाकाशे वधं सुरवरोत्तम ॥ ३१ ॥

देव ! सुरश्रेष्ठ ! विभो ! हम दोनों आपके द्वारा एक ही सुविधा चाहते हैं । वह यह है कि आप इस खुले आकाशमें ही हमारा वध कीजिये ॥ ३१ ॥

पुत्रत्वमधिगच्छाव तव चापि सुलोचन ।
वर एष वृतो देव तद् विद्धि सुरसत्तम ॥ ३२ ॥
अनृतं मा भवेद् देव यद्धि नौ संश्रुतं तदा ।

सुन्दर नेत्रोंवाले देवेश्वर ! हम दोनों आपके पुत्र हों । हमने आपसे यही वर माँगा है । आप इसे अच्छी तरह समझ लें । सुरश्रेष्ठ देव ! हमने जो प्रतिज्ञा की है, वह असत्य नहीं होनी चाहिये ॥ ३२½ ॥

श्रीभगवानुवाच

बाढमेवं करिष्यामि सर्वमेतद् भविष्यति ॥ ३३ ॥

श्रीभगवान् बोले—बहुत अच्छा, मैं ऐसा ही करूँगा । यह सब कुछ (तुम्हारी इच्छाके अनुसार) होगा ॥ ३३ ॥

स विचिन्त्याथ गोविन्दो नापश्यद् यदनावृतम् ।
अवकाशं पृथिव्यां वा दिवि वा मधुसूदनः ॥ ३४ ॥
स्वकावनावृतावूरू दृष्ट्वा देववरस्तदा ।
मधुकैटभयो राजन् शिरसी मधुसूदनः ।
चक्रेण शितधारेण न्यकृन्तत महायशाः ॥ ३५ ॥

भगवान् विष्णुने बहुत सोचनेपर जब कहीं खुला आकाश न देखा और स्वर्ग अथवा पृथ्वीपर भी जब उन्हें कोई खुली जगह न दिखायी दी, तब महायशस्वी देवेश्वर मधुसूदनने अपनी दोनों जाँघोंको अनावृत (वस्त्ररहित) देखकर मधु और कैटभके मस्तकोंको उन्हींपर रखकर तीखी धारवाले चक्रसे काट डाला ॥ ३४-३५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें धुन्धुमारोपाख्यानविषयक दो सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०३ ॥

चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः

धुन्धुकी तपस्या और वरप्राप्ति, कुवलाश्वद्वारा धुन्धुका वध और देवताओंका कुवलाश्वको वर देना

मार्कण्डेय उवाच

धुन्धुर्नाम महाराज तयोः पुत्रो महाद्युतिः ।
स तपोऽतप्यत महन्महावीर्यपराक्रमः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—महाराज ! उन्हीं दोनों मधु और कैटभका पुत्र धुन्धु है, जो बड़ा तेजस्वी और महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न है । उसने बड़ी भारी तपस्या की ॥ १ ॥

अतिष्ठदेकपादेन कृशो धमनिसंततः ।
तस्मै ब्रह्मा ददौ प्रीतो वरं वव्रे स च प्रभुम् ॥ २ ॥

वह दीर्घकालतक एक पैरसे खड़ा रहा । उसका शरीर इतना दुर्बल हो गया कि नस-नाड़ियोंका जाल दिखायी देने लगा । ब्रह्माजीने उसकी तपस्यासे संतुष्ट होकर उसे वर दिया । धुन्धुने भगवान् ब्रह्मासे इस प्रकार वर माँगा— ॥ २ ॥

देवदानवयक्षाणां सर्पगन्धर्वरक्षसाम् ।
अवध्योऽहं भवेयं वै वर एष वृतो मया ॥ ३ ॥

'भगवन् ! मैं देवता, दानव, यक्ष, सर्प, गन्धर्व और राक्षस किसीके हाथसे न मारा जाऊँ । मैंने आपसे यही वर माँगा है' ॥ ३ ॥

एवं भवतु गच्छेति तमुवाच पितामहः ।
स एवमुक्तस्तत्पादौ मूर्ध्ना स्पृश्य जगाम ह ॥ ४ ॥

तब ब्रह्माजीने उससे कहा—'ऐसा ही होगा । जाओ ।'

उनके ऐसा कहनेपर धुन्धुने मस्तक झुकाकर उनके चरणोंका स्पर्श किया और वहाँसे चला गया ॥ ४ ॥

स तु धुन्धुर्वरं लब्ध्वा महावीर्यपराक्रमः ।
अनुस्मरन् पितृवधं द्रुतं विष्णुमुपागमत् ॥ ५ ॥

जब धुन्धु वर पाकर महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न हो गया, तब उसे अपने पिता मधु और कैटभके वधका स्मरण हो आया और वह शीघ्रतापूर्वक भगवान् विष्णुके पास गया ॥ ५ ॥

स तु देवान् सगन्धर्वान् जित्वा धुन्धुरमर्षणः ।
बबाध सर्वानसकृद् विष्णुं देवांश्च वै भृशम् ॥ ६ ॥

धुन्धु अमर्षमें भरा हुआ था । उसने गन्धर्वसहित सम्पूर्ण देवताओंको जीतकर भगवान् विष्णु तथा अन्य देवताओंको बार-बार महान् कष्ट देना प्रारम्भ किया ॥ ६ ॥

समुद्रे वालुकापूर्णे उज्जालक इति स्मृते ।
आगम्य च स दुष्टात्मा तं देशं भरतर्षभ ॥ ७ ॥
बाधते स्म परं शक्त्या तमुत्तङ्काश्रमं विभो ।
अन्तर्भूमिगतस्तत्र वालुकान्तर्हितस्तथा ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वह दुष्टात्मा वालुकामय प्रसिद्ध उज्जालक समुद्रमें आकर रहने और उस देशके निवासियोंको सताने लगा । राजन् ! वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर धरतीके भीतर बालूमें छिपकर वहाँ उत्तङ्कके आश्रममें भी उपद्रव करने लगा ॥

मधुकैटभयोः पुत्रो धुन्धुर्भीमपराक्रमः ।
शेते लोकविनाशाय तपोबलमुपाश्रितः ॥ ९ ॥
उत्तङ्कस्याश्रमाभ्याशे निःश्वसन् पावकार्चिषः ।

मधु और कैटभका वह भयंकर पराक्रमी पुत्र धुन्धु तपोबलका आश्रय ले सम्पूर्ण लोकोंका विनाश करनेके लिये वहाँ मरुप्रदेशमें शयन करता था । उत्तङ्कके आश्रमके पास साँस ले-लेकर वह आगकी चिनगारियाँ फैलाता था ॥९½॥

एतस्मिन्नेव काले तु राजा सबलवाहनः ॥ १० ॥
उत्तङ्कविप्रसहितः कुवलाश्वो महीपतिः ।
पुत्रैः सह महीपालः प्रययौ भरतर्षभ ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इसी समय राजा कुवलाश्वने अपनी सेना, सवारी तथा पुत्रोंके साथ प्रस्थान किया । उनके साथ विप्रवर उत्तङ्क भी थे ॥ १०-११ ॥

सहस्रैरेकविंशत्या पुत्राणामरिमर्दनः ।
कुवलाश्वो नरपतिरन्वितो बलशालिनाम् ॥ १२ ॥

शत्रुमर्दन महाराज कुवलाश्व अपने इक्कीस हजार बलवान् पुत्रोंको साथ लेकर (सेनासहित) चले थे ॥१२॥

तमाविशत्ततो विष्णुर्भगवांस्तेजसा प्रभुः ।
उत्तङ्कस्य नियोगेन लोकानां हितकाम्यया ॥ १३ ॥

तदनन्तर उत्तङ्कके अनुरोधसे सम्पूर्ण जगत्का हित करनेके लिये सर्वसमर्थ भगवान् विष्णुने अपने तेजोमय स्वरूपसे कुवलाश्वमें प्रवेश किया ॥ १३ ॥



तस्मिन् प्रयाते दुर्धर्षे दिवि शब्दो महानभूत् ।
एष श्रीमानवध्योऽद्य धुन्धुमारो भविष्यति ॥ १४ ॥

उन दुर्धर्षवीर कुवलाश्वके यात्रा करनेपर देवलोकमें अत्यन्त हर्षपूर्ण कोलाहल होने लगा । देवता कहने लगे—'ये श्रीमान् नरेश अवध्य हैं, आज धुन्धुको मारकर ये 'धुन्धु-मार' नाम धारण करेंगे ॥ १४ ॥

दिव्यैश्च पुष्पैस्तं देवाः समन्तात् पर्यवारयन् ।
देवदुन्दुभयश्चापि नेदुः स्वयमनीरिताः ॥ १५ ॥

देवतालोग चारों ओरसे उनपर दिव्य फूलोंकी वर्षा करने लगे । देवताओंकी दुन्दुभियाँ स्वयं बिना किसी प्रेरणाके बज उठीं ॥ १५ ॥

शीतश्च वायुः प्रववौ प्रयाणे तस्य धीमतः ।
विपांसुलां महीं कुर्वन् ववर्ष च सुरेश्वरः ॥ १६ ॥

उन बुद्धिमान् राजा कुवलाश्वके यात्राकालमें शीतल वायु चलने लगी । देवराज इन्द्र धरतीकी धूल शान्त करनेके लिये वर्षा करने लगे ॥ १६ ॥

अन्तरिक्षे विमानादि देवतानां युधिष्ठिर ।
तत्रैव समदृश्यन्त धुन्धुर्यत्र महासुरः ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर ! जहाँ महान् असुर धुन्धु रहता था, वहीं आकाशमें देवताओंके विमान आदि दिखायी देने लगे ॥१७॥

कुवलाश्वस्य धुन्धोश्च युद्धकौतूहलान्विताः ।
देवगन्धर्वसहिताः समवैक्षन् महर्षयः ॥ १८ ॥

कुवलाश्व और धुन्धुका युद्ध देखनेके लिये उत्सुक हो देवताओं और गन्धर्वोंके साथ महर्षि भी आकर डट गये और वहाँकी सारी बातोंपर दृष्टिपात करने लगे ॥ १८ ॥

नारायणेन कौरव्य तेजसाऽऽप्यायितस्तदा ।
स गतो नृपतिः क्षिप्रं पुत्रैस्तैः सर्वतो दिशम् ॥ १९ ॥
अर्णवं खानयामास कुवलाश्वो महीपतिः ।

कुरुनन्दन ! उस समय भगवान् नारायणके तेजसे परिपुष्ट हो राजा कुवलाश्व अपने उन पुत्रोंके साथ वहाँ जा पहुँचे और शीघ्र ही चारों ओरसे उस बालुकामय समुद्रको खुदवाने लगे ॥ १९½ ॥

कुवलाश्वस्य पुत्रैश्च तस्मिन् वै बालुकार्णवे ॥ २० ॥
सप्तभिर्दिवसैः खात्वा दृष्टो धुन्धुर्महाबलः ।

कुवलाश्वके पुत्रोंने सात दिनोंतक खुदाई करनेके बाद उस बालुकामय समुद्रमें (छिपे हुए) महाबली धुन्धुको देखा ॥ २०½ ॥

आसीद् घोरं वपुस्तस्य बालुकान्तर्हितं महत् ॥ २१ ॥
दीप्यमानं यथा सूर्यस्तेजसा भरतर्षभ ।

बालूके भीतर छिपा हुआ उसका शरीर विशाल एवं भयंकर था । भरतश्रेष्ठ ! वह अपने तेजसे सूर्यके समान उद्दीप्त हो रहा था ॥ २१½ ॥

ततो धुन्धुर्महाराज दिशमावृत्य पश्चिमाम् ॥ २२ ॥
सुप्तोऽभूद् राजशार्दूल कालानलसमद्युतिः ।

महाराज ! तदनन्तर धुन्धु पश्चिम दिशाको घेरकर सो गया । नृपश्रेष्ठ ! उसकी कान्ति प्रलयकालीन अग्निके समान जान पड़ती थी ॥ २२½ ॥

कुवलाश्वस्य पुत्रैस्तु सर्वतः परिवारितः ॥ २३ ॥
अभिद्रुतः शरैस्तीक्ष्णैर्गदाभिर्मुसलैरपि ।
पट्टिशैः परिघैः प्रासैः खड्गैश्च विमलैः शितैः ॥ २४ ॥
स वध्यमानः संक्रुद्धः समुत्तस्थौ महाबलः ।
क्रुद्धश्चाभक्षयत् तेषां शस्त्राणि विविधानि च ॥ २५ ॥

उस समय राजा कुवलाश्वके पुत्रोंने सब ओरसे घेरकर उसपर आक्रमण किया । तीखे बाण, गदा, मुसल, पट्टिश, परिघ, प्रास और चमचमाते हुए तेज धारवाले खड्ग—इन सबके द्वारा चोट खाकर महाबली धुन्धु क्रोधित हो गया और उनके चलाये हुए नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको वह क्रोधी असुर खा गया ॥ २३—२५ ॥

आस्याद् वमन् पावकं स संवर्तकसमं तदा ।
तान् सर्वान् नृपतेः पुत्रानदहत् स्वेन तेजसा ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् उसने अपने मुँहसे प्रलयकालीन अग्निके समान आगकी चिनगारियाँ उगलना आरम्भ किया और उन समस्त राजकुमारोंको अपने तेजसे जलाकर भस्म कर दिया ॥२६॥

मुखजेनाग्निना क्रुद्धो लोकानुद्वर्तयन्निव ।
क्षणेन राजशार्दूल पुरेव कपिलः प्रभुः ॥ २७ ॥
सगरस्यात्मजान् क्रुद्धस्तदद्भुतमिवाभवत् ।

नृपश्रेष्ठ ! जैसे पूर्वकालमें भगवान् कपिलने कुपित होकर राजा सगरके सभी पुत्रोंको क्षणभरमें दग्ध कर दिया था, उसी प्रकार क्रोधमें भरे हुए धुन्धुने, मानो वह सम्पूर्ण लोकोंको नष्ट कर देना चाहता हो, अपने मुखसे आग प्रकट करके कुवलाश्वके पुत्रोंको जला दिया । यह एक अद्भुत-सी घटना घटित हुई ॥ २७½ ॥

तेषु क्रोधाग्निदग्धेषु तदा भरतसत्तम ॥ २८ ॥
तं प्रबुद्धं महात्मानं कुम्भकर्णमिवापरम् ।
आससाद महातेजाः कुवलाश्वो महीपतिः ॥ २९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जब सभी राजकुमार धुन्धुकी क्रोधाग्निसे दग्ध हो गये, तब महातेजस्वी राजा कुवलाश्वने दूसरे कुम्भकर्णके समान जगे हुए उस महाकाय दानवपर आक्रमण किया ॥

तस्य वारि महाराज सुस्राव बहु देहतः ।
तदापीय ततस्तेजो राजा वारिमयं नृप ॥ ३० ॥
योगी योगेन वह्निं च शमयामास वारिणा ।

महाराज ! उस समय धुन्धुके शरीरसे बहुत-सा जल प्रवाहित होने लगा, किंतु राजा कुवलाश्वने योगी होनेके कारण योगबलसे उस जलमय तेजको पी लिया और जल प्रकट करके धुन्धुकी मुखाग्निको बुझा दिया ॥ ३०½ ॥

ब्रह्मास्त्रेण च राजेन्द्र दैत्यं क्रूरपराक्रमम् ॥ ३१ ॥
ददाह भरतश्रेष्ठ सर्वलोकभवाय वै ।
सोऽस्त्रेण दग्ध्वा राजर्षिः कुवलाश्वो महासुरम् ॥ ३२ ॥
सुरशत्रुममित्रघ्नं त्रैलोक्येश इवापरः ।

राजेन्द्र ! भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् सम्पूर्ण लोकोंके कल्याणके लिये राजर्षि कुवलाश्वने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करके उस क्रूर पराक्रमी दैत्य धुन्धुको दग्ध कर दिया । इस प्रकार ब्रह्मास्त्र-द्वारा शत्रुनाशक, देववैरी महान् असुर धुन्धुको दग्ध करके राजा कुवलाश्व दूसरे इन्द्रकी भाँति शोभा पाने लगे ॥३१-३२½॥

धुन्धोर्वधात् तदा राजा कुवलाश्वो महामनाः ॥ ३३ ॥
धुन्धुमार इति ख्यातो नाम्नाप्रतिरथोऽभवत् ।

उस समय महामना राजा कुवलाश्व धुन्धुको मारनेके कारण 'धुन्धुमार' नामसे विख्यात हो गये । उनका सामना करनेवाला वीर कोई नहीं रह गया था ॥ ३३½ ॥

---

१. यह मार्कण्डेयजीका युधिष्ठिरके प्रति द्वापरके समय कहा हुआ वचन है । उन्होंने त्रेतामें हुए कुम्भकर्णकी उपमा दी है ।

प्रीतैश्च त्रिदशैः सर्वैर्महर्षिसहितैस्तदा ॥ ३४ ॥
वरं वृणीष्वेत्युक्तः स प्राञ्जलिः प्रणतस्तदा ।
अतीव मुदितो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर महर्षियोंसहित सम्पूर्ण देवता प्रसन्न होकर वहाँ आये और राजासे वर माँगनेका अनुरोध करने लगे । राजन् ! उनकी बात सुनकर कुवलाश्व अत्यन्त प्रसन्न हुए और हाथ जोड़ मस्तक झुकाकर इस प्रकार बोले— ॥ ३४-३५ ॥

दद्यां वित्तं द्विजाग्र्येभ्यः शत्रूणां चापि दुर्जयः ।
सख्यं च विष्णुना मे स्याद् भूतेष्वद्रोह एव च ॥ ३६ ॥

'देवताओ ! मै श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको धन दान करूँ, शत्रुओंके लिये दुर्जय बना रहूँ, भगवान् विष्णुके साथ सख्य-भावसे मेरा प्रेम हो और किसी भी प्राणीके प्रति मेरे मनमें द्रोह न रह जाय ॥ ३६ ॥

धर्मे रतिश्च सततं स्वर्गे वासस्तथाक्षयः ।
तथास्त्विति ततो देवैः प्रीतैरुक्तः स पार्थिवः ॥ ३७ ॥

'धर्ममें मेरा सदा अनुराग हो और अन्तमें मेरा स्वर्गलोकमें नित्य निवास हो ।' यह सुनकर देवताओंने बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा कुवलाश्वसे कहा—'महाराज ! ऐसा ही होगा' ॥ ३७ ॥

ऋषिभिश्च सगन्धर्वैरुत्तङ्केन च धीमता ।
सम्भाष्य चैनं विविधैराशीर्वादैस्ततो नृप ॥ ३८ ॥

राजन् ! तदनन्तर ऋषियों, गन्धर्वों और बुद्धिमान् महर्षि उत्तङ्कने भी नाना प्रकारके आशीर्वाद देते हुए राजासे वार्तालाप किया ॥ ३८ ॥

देवा महर्षयश्चापि स्वानि स्थानानि भेजिरे ।
तस्य पुत्रास्त्रयः शिष्टा युधिष्ठिर तदाभवन् ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिर ! इसके बाद देवता और महर्षि अपने-अपने स्थानको चले गये । उस युद्धमें राजा कुवलाश्वके तीन ही पुत्र शेष रह गये थे ॥ ३९ ॥

दृढाश्वः कपिलाश्वश्च चन्द्राश्वश्चैव भारत ।
तेभ्यः परम्परा राजन्निक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ॥ ४० ॥
वंशस्य सुमहाभाग राज्ञाममिततेजसाम् ।

भारत ! उनके नाम थे—दृढाश्व, कपिलाश्व और चन्द्राश्व । राजन् ! महाभाग ! उन्हींसे अमित तेजस्वी इक्ष्वाकुवंशी महामना नरेशोंकी वंश-परम्परा चालू हुई ॥ ४०½ ॥

एवं स निहतस्तेन कुवलाश्वेन सत्तम ॥ ४१ ॥
धुन्धुर्नाम महादैत्यो मधुकैटभयोः सुतः ।
कुवलाश्वश्च नृपतिर्धुन्धुमार इति स्मृतः ॥ ४२ ॥

सज्जनशिरोमणे ! इस प्रकार मधुकैटभ-कुमार महादैत्य धुन्धु कुवलाश्वके हाथसे मारा गया और राजा कुवलाश्वकी धुन्धुमार नामसे प्रसिद्धि हुई ॥ ४१-४२ ॥

नाम्ना च गुणसंयुक्तस्तदाप्रभृति सोऽभवत् ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ४३ ॥
धौन्धुमारमुपाख्यानं प्रथितं यस्य कर्मणा ।

तभीसे वे नरेश अपने नामके अनुसार वीरता आदि गुणोंसे युक्त हो भूमण्डलमें विख्यात हो गये । युधिष्ठिर ! तुमने मुझसे जो पूछा था, वह सारा धुन्धुमारोपाख्यान मैंने तुमसे कह सुनाया । जिनके पराक्रमसे इस उपाख्यानकी प्रसिद्धि हुई है, उन नरेशका भी परिचय दे दिया ॥ ४३½ ॥

इदं तु पुण्यमाख्यानं विष्णोः समनुकीर्तनम् ॥ ४४ ॥
शृणुयाद् यः स धर्मात्मा पुत्रवांश्च भवेन्नरः ।
आयुष्मान् भूतिमांश्चैव श्रुत्वा भवति पर्वसु ।
न च व्याधिभयं किंचित् प्राप्नोति विगतज्वरः ॥ ४५ ॥

जो मनुष्य भगवान् विष्णुके कीर्तनरूप इस पवित्र उपाख्यानको सुनता है, वह धर्मात्मा और पुत्रवान् होता है । जो पर्वोंपर इस कथाको सुनता है, वह दीर्घायु तथा ऐश्वर्यशाली होता है । उसे रोग आदिका कुछ भी भय नहीं होता । उसकी सारी चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं ॥ ४४-४५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें धुन्धुमारोपाख्यानविषयक दो सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०४ ॥

पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः

पतिव्रता स्त्री तथा पिता-माताकी सेवाका माहात्म्य

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा मार्कण्डेयं महाद्युतिम् ।
पप्रच्छ भरतश्रेष्ठ धर्मप्रश्नं सुदुर्विदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने महातेजस्वी मार्कण्डेय मुनिसे धर्मविषयक प्रश्न किया, जो समझनेमें अत्यन्त कठिन था ॥ १ ॥

श्रोतुमिच्छामि भगवन् स्त्रीणां माहात्म्यमुत्तमम् ।
कथ्यमानं त्वया विप्र सूक्ष्मं धर्म्यं च तत्त्वतः ॥ २ ॥

वे बोले—'भगवन् ! मैं आपके मुखसे (पतिव्रता) स्त्रियोंके सूक्ष्म, धर्मसम्मत एवं उत्तम माहात्म्यका यथार्थ वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

प्रत्यक्षमिह विप्रर्षे देवा दृश्यन्ति सत्तम ।
सूर्याचन्द्रमसौ वायुः पृथिवी वह्निरेव च ॥ ३ ॥
पिता माता च भगवन् गुरुरेव च सत्तम ।
यच्चान्यद् देवविहितं तच्चापि भृगुनन्दन ॥ ४ ॥

'भगवन् ! श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे ! इस जगत्‌में सूर्य, चन्द्रमा, वायु, पृथिवी, अग्नि, पिता, माता और गुरु—ये प्रत्यक्ष देवता दिखायी देते हैं। भृगुनन्दन ! इसके सिवा अन्य जो देवतारूपसे स्थापित देवविग्रह हैं, वे भी प्रत्यक्ष देवताओंकी ही कोटिमें हैं' ॥ ३-४ ॥

मान्या हि गुरवः सर्वे एकपत्न्यस्तथा स्त्रियः ।
पतिव्रतानां शुश्रूषा दुष्करा प्रतिभाति मे ॥ ५ ॥

'समस्त गुरुजन और पतिव्रता नारियाँ भी समादरके योग्य हैं। पतिव्रता स्त्रियाँ अपने पतिकी जैसी सेवा-शुश्रूषा करती हैं; वह दूसरे किसीके लिये मुझे अत्यन्त कठिन प्रतीत होती है ॥ ५ ॥

पतिव्रतानां माहात्म्यं वक्तुमर्हसि नः प्रभो ।
निरुद्ध्य चेन्द्रियग्रामं मनः संरुध्य चानघ ॥ ६ ॥
पतिं दैवतवच्चापि चिन्तयन्त्यः स्थिता हि याः ।
भगवन् दुष्करं त्वेतत् प्रतिभाति मम प्रभो ॥ ७ ॥

'प्रभो ! आप अब हमें पतिव्रता स्त्रियोंकी महिमा सुनावें। निष्पाप महर्षे ! जो अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखती हुई मनको वशमें करके अपने पतिका देवताके समान ही चिन्तन करती रहती हैं, वे नारियाँ धन्य हैं। प्रभो ! भगवन् ! उनका वह त्याग और सेवाभाव मुझे तो अत्यन्त कठिन जान पड़ता है ॥ ६-७ ॥

मातापित्रोश्च शुश्रूषा स्त्रीणां भर्तरि च द्विज ।
स्त्रीणां धर्मात् सुघोराद्धि नान्यं पश्यामि दुष्करम् ॥

'ब्रह्मन् ! पुत्रोंद्वारा माता-पिताकी सेवा तथा स्त्रियोंद्वारा की हुई पतिकी सेवा बहुत कठिन है। स्त्रियोंके इस कठोर धर्मसे बढ़कर और कोई दुष्कर कार्य मुझे नहीं दिखायी देता है ॥ ८ ॥

साध्वाचाराः स्त्रियो ब्रह्मन् यत् कुर्वन्ति सदाऽऽदृताः ।
दुष्करं खलु कुर्वन्ति पितरं मातरं च वै ॥ ९ ॥
एकपत्न्यश्च या नार्यो याश्च सत्यं वदन्त्युत ।

'ब्रह्मन् ! समाजमें सदा आदर पानेवाली सदाचारिणी स्त्रियाँ जो महान् कार्य करती हैं, वह अत्यन्त कठिन है। जो लोग पिता-माताकी सेवा करते हैं, उनका कर्म भी बहुत कठिन है। पतिव्रता तथा सत्यवादिनी स्त्रियाँ अत्यन्त कठोर धर्मका पालन करती हैं ॥ ९½ ॥

कुक्षिणा दश मासांश्च गर्भं संधारयन्ति याः ॥ १० ॥
नार्यः कालेन सम्भूय किमद्भुततरं ततः ।

'स्त्रियाँ अपने उदरमें दस महीनेतक जो गर्भ धारण करती हैं और यथासमय उसको जन्म देती हैं, इससे अद्भुत कार्य और कौन होगा ? ॥ १०½ ॥

संशयं परमं प्राप्य वेदनामतुलामपि ॥ ११ ॥
प्रजायन्ते सुतान् नार्यो दुःखेन महता विभो ।
पुष्णन्ति चापि महता स्नेहेन द्विजपुङ्गव ॥ १२ ॥

'भगवन् ! अपनेको भारी प्राणसंकटमें डालकर और अतुल वेदनाको सहकर नारियाँ बड़े कष्टसे संतान उत्पन्न करती हैं ! विप्रवर ! फिर बड़े स्नेहसे उनका पालन भी करती हैं ॥ ११-१२ ॥

याश्च क्रूरेषु सत्त्वेषु वर्तमाना जुगुप्सिताः ।
स्वकर्म कुर्वन्ति सदा दुष्करं तच्च मे मतम् ॥ १३ ॥

'जो सती-साध्वी स्त्रियाँ क्रूर स्वभावके पतियोंकी सेवामें रहकर उनके तिरस्कारका पात्र बनकर भी सदा अपने सती-धर्मका पालन करती रहती हैं, वह तो मुझे और भी अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है ॥ १३ ॥

क्षत्रधर्मसमाचारतत्त्वं व्याख्याहि मे द्विज ।
धर्मः सुदुर्लभो विप्र नृशंसेन महात्मनाम् ॥ १४ ॥

'ब्रह्मन् ! आप मुझे क्षत्रियोंके धर्म और आचारका तत्त्व भी विस्तारपूर्वक बताइये। विप्रवर ! जो क्रूर स्वभावके मनुष्य हैं, उनके लिये महात्माओंका धर्म अत्यन्त दुर्लभ है ॥

एतदिच्छामि भगवन् प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।
श्रोतुं भृगुकुलश्रेष्ठ शुश्रूषे तव सुव्रत ॥ १५ ॥

भगवन् ! भृगुकुलशिरोमणे ! आप उत्तम व्रतके पालक और प्रश्नका समाधान करनेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ हैं। मैंने जो प्रश्न आपके सम्मुख उपस्थित किया है, उसीका उत्तर मैं आपसे सुनना चाहता हूँ' ॥ १५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

हन्त तेऽहं समाख्यास्ये प्रश्नमेतं सुदुर्वचम् ।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ गदतस्तन्निबोध मे ॥ १६ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे इस प्रश्नका विवेचन करना यद्यपि बहुत कठिन है, तो भी मैं अब इसका यथावत् समाधान करूँगा। तुम मेरे मुखसे सुनो ॥ १६ ॥

मातॄस्तु गौरवादन्ये पितॄनन्ये तु मेनिरे ।
दुष्करं कुरुते माता विवर्धयति या प्रजाः ॥ १७ ॥

कुछ लोग माताओंको गौरवकी दृष्टिसे बड़ी मानते हैं। दूसरे लोग पिताको महत्त्व देते हैं। परंतु माता जो अपनी संतानोंको पाल-पोसकर बड़ा बनाती है, वह उसका कठिन कार्य है ॥ १७ ॥

तपसा देवतेज्याभिवन्दनेन तितिक्षया ।
सुप्रशस्तैरुपायैश्चाप्यीहन्ते पितरः सुतान् ॥ १८ ॥

माता-पिता तपस्या, देवपूजा, वन्दना, तितिक्षा तथा अन्य श्रेष्ठ उपायोंद्वारा भी पुत्रोंको प्राप्त करना चाहते हैं ॥ १८ ॥

एवं कृच्छ्रेण महता पुत्रं प्राप्य सुदुर्लभम् ।
चिन्तयन्ति सदा वीर कीदृशोऽयं भविष्यति ॥ १९ ॥

वीर ! इस प्रकार बड़ी कठिनाईसे परम दुर्लभ पुत्रको पाकर लोग सदा इस चिन्तामें डूबे रहते हैं कि न जाने यह किस तरहका होगा ॥ १९ ॥

आशंसते हि पुत्रेषु पिता माता च भारत ।
यशः कीर्तिमथैश्वर्यं प्रजा धर्मं तथैव च ॥ २० ॥

भारत ! पिता और माता अपने पुत्रोंके लिये यश, कीर्ति और ऐश्वर्य, संतान तथा धर्मकी शुभकामना करते हैं ॥ २० ॥

तयोराशां तु सफलां यः करोति स धर्मवित् ।
पिता माता च राजेन्द्र तुष्यतो यस्य नित्यशः ॥ २१ ॥
इह प्रेत्य च तस्याथ कीर्तिर्धर्मश्च शाश्वतः ।

राजेन्द्र ! जो उन दोनोंकी आशाको सफल करता है, वही पुत्र धर्मज्ञ है। जिसके माता-पिता उससे सदा संतुष्ट रहते हैं, उसे इहलोक और परलोकमें भी अक्षय कीर्ति और शाश्वत धर्मकी प्राप्ति होती है ॥ २१½ ॥

नैव यज्ञक्रियाः काश्चिन्न श्राद्धं नोपवासकम् ॥ २२ ॥
या तु भर्तरि शुश्रूषा तया स्वर्गं जयत्युत ।

नारीके लिये किसी यज्ञकर्म, श्राद्ध और उपवासकी आवश्यकता नहीं है । वह जो पतिकी सेवा करती है, उसीके द्वारा स्वर्गलोकपर विजय प्राप्त कर लेती है ॥ २२½ ॥

एतत् प्रकरणं राजन्नधिकृत्य युधिष्ठिर ॥ २३ ॥
पतिव्रतानां नियतं धर्मं चावहितः शृणु ॥ २४ ॥

राजा युधिष्ठिर ! इसी प्रकरणमें पतिव्रताओंके नियत धर्मका वर्णन किया जायगा। तुम सावधान होकर सुनो ॥२३-२४॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें पतिव्रतोपाख्यानविषयक दो सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०५ ॥

षडधिकद्विशततमोऽध्यायः

कौशिक ब्राह्मण और पतिव्रताके उपाख्यानके अन्तर्गत ब्राह्मणोंके धर्मका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

कश्चिद् द्विजातिप्रवरो वेदाध्यायी तपोधनः ।
तपस्वी धर्मशीलश्च कौशिको नाम भारत ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतनन्दन ! कौशिक नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण था । जो वेदका अध्ययन करनेवाला, तपस्याका धनी और धर्मात्मा था । वह तपस्वी ब्राह्मण सम्पूर्ण द्विजातियोंमें श्रेष्ठ समझा जाता था ॥ १ ॥

साङ्गोपनिषदो वेदानधीते द्विजसत्तमः ।
स वृक्षमूले कस्मिंश्चिद् वेदानुच्चारयन् स्थितः ॥ २ ॥

द्विजश्रेष्ठ कौशिकने सम्पूर्ण अङ्गोंसहित वेदों और उपनिषदोंका अध्ययन किया था । एक दिनकी बात है, वह किसी वृक्षके नीचे बैठकर वेदपाठ कर रहा था ॥ २ ॥

उपरिष्टाच्च वृक्षस्य बलाका संन्यलीयत ।
तया पुरीषमुत्सृष्टं ब्राह्मणस्य तदोपरि ॥ ३ ॥

उस समय उस वृक्षके ऊपर एक बगुली छिपी बैठी थी । उसने ब्राह्मण देवताके ऊपर बीट कर दी ॥ ३ ॥

तामवेक्ष्य ततः क्रुद्धः समपध्यायत द्विजः ।
भृशं क्रोधाभिभूतेन बलाका सा निरीक्षिता ॥ ४ ॥
अपध्याता च विप्रेण न्यपतद् धरणीतले ।

यह देख ब्राह्मण क्रोधित हो गया और उस पक्षीकी ओर दृष्टि डालकर उसका अनिष्टचिन्तन करने लगा । उसने अत्यन्त कुपित होकर उस बगुलीको देखा और उसका



अनिष्टचिन्तन किया था, अतः वह पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ४½ ॥

बलाकां पतितां दृष्ट्वा गतसत्त्वामचेतनाम् ॥ ५ ॥
कारुण्यादभिसंतप्तः पर्यशोचत तां द्विजः।
अकार्यं कृतवानस्मि रोषरागबलात्कृतः ॥ ६ ॥

उस बगुलीको अचेत एवं निष्प्राण होकर पड़ी देख ब्राह्मणका हृदय दयासे द्रवित हो उठा। उसे अपने इस कुकृत्यपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह इस प्रकार शोक प्रकट करता हुआ बोला—'ओह! आज क्रोध और आसक्तिके वशीभूत होकर मैंने यह अनुचित कार्य कर डाला' ॥ ५-६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वा बहुशो विद्वान् ग्रामं भैक्ष्याय संश्रितः।
ग्रामे शुचीनि प्रचरन् कुलानि भरतर्षभ ॥ ७ ॥
प्रविष्टस्तत् कुलं यत्र पूर्वं चरितवांस्तु सः।
देहीति याचमानोऽसौ तिष्ठेत्युक्तः स्त्रिया ततः ॥ ८ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार बार-बार पछताकर वह विद्वान् ब्राह्मण गाँवमें भिक्षाके लिये गया। उस गाँवमें जो लोग शुद्ध और पवित्र आचरणवाले थे, उन्हींके घरोंपर भिक्षा माँगता हुआ वह एक ऐसे घरपर जा पहुँचा, जहाँ पहले भी कभी भिक्षा प्राप्त कर चुका था। दरवाजेपर पहुँचकर ब्राह्मण बोला—'भिक्षा दें!' भीतरसे किसी स्त्रीने उत्तर दिया—'ठहरो! (अभी लाती हूँ)' ॥ ७-८ ॥

शौचं तु यावत् कुरुते भाजनस्य कुटुम्बिनी।
एतस्मिन्नन्तरे राजन् क्षुधासम्पीडितो भृशम् ॥ ९ ॥
भर्ता प्रविष्टः सहसा तस्या भरतसत्तम।

राजन्! वह घरकी मालकिन थी, जो जूँठे बर्तन माँज रही थी। ज्यों ही वह बर्तन साफ करके उधरसे निवृत्त हुई, त्यों ही उसके पतिदेव सहसा घरपर आ गये। भरतश्रेष्ठ! वे भूखसे अत्यन्त पीडित थे ॥ ९½ ॥

सा तु दृष्ट्वा पतिं साध्वी ब्राह्मणं व्यवहाय तम् ॥ १० ॥
पाद्यमाचमनीयं वै ददौ भर्तुस्तथाऽऽसनम्।
प्रह्वा पर्यचरच्चापि भर्तारमसितेक्षणा ॥ ११ ॥

पतिको आया देख उस श्याम नेत्रोंवाली पतिव्रताने ब्राह्मणको तो उसी दशामें छोड़ दिया और अत्यन्त विनीत भावसे वह पतिकी सेवामें लग गयी। पानी लाकर उसने पतिके पैर धोये, हाथ-मुँह धुलाये और बैठनेको आसन दिया ॥ १०-११ ॥

आहारेणाथ भक्ष्यैश्च भोज्यैः सुमधुरैस्तथा।
उच्छिष्टं भाविता भर्तुर्भुङ्क्ते नित्यं युधिष्ठिर ॥ १२ ॥

फिर सुन्दर स्वादिष्ट भक्ष्य-भोज्य पदार्थ परोसकर वह पतिको भोजन कराने लगी। युधिष्ठिर! वह सती स्त्री प्रतिदिन पतिको भोजन कराकर उनके उच्छिष्टको प्रसाद मानकर बड़े आदर और प्रेमसे भोजन करती थी ॥ १२ ॥

दैवतं च पतिं मेने भर्तुश्चित्तानुसारिणी।
कर्मणा मनसा वाचा नान्यचित्ताभ्यगात् पतिम् ॥ १३ ॥

वह पतिको देवता मानती और उनके विचारके अनुकूल ही चलती थी। उसका मन कभी परपुरुषकी ओर नहीं जाता था। वह मन, वाणी और क्रियासे पतिपरायणा थी ॥ १३ ॥

तं सर्वभावोपगता पतिशुश्रूषणे रता।
साध्वाचारा शुचिर्दक्षा कुटुम्बस्य हितैषिणी ॥ १४ ॥

अपने हृदयकी समस्त भावनाएँ, सम्पूर्ण प्रेम पतिके चरणोंमें चढ़ाकर वह अनन्य-भावसे उन्हींकी सेवामें लगी रहती थी। सदाचारका पालन करती, बाहर-भीतरसे शुद्ध-पवित्र रहती, घरके काम-काजको कुशलतापूर्वक करती और कुटुम्बके सभी लोगोंका हित चाहती थी ॥ १४ ॥

भर्तुश्चापि हितं यत् तत् सततं सानुवर्तते।
देवतातिथिभृत्यानां श्वश्रूश्वशुरयोस्तथा ॥ १५ ॥
शुश्रूषणपरा नित्यं सततं संयतेन्द्रिया।

पतिके लिये जो हितकर कार्य जान पड़ता, उसमें भी वह सदा संलग्न रहती थी। देवताओंकी पूजा, अतिथियोंके सत्कार, भृत्योंके भरण-पोषण और सास-ससुरकी सेवामें भी वह सर्वदा तत्पर रहती थी। अपने मन और इन्द्रियोंपर वह निरन्तर पूर्ण संयम रखती थी ॥ १५½ ॥

सा ब्राह्मणं तदा दृष्ट्वा संस्थितं भैक्ष्यकाङ्क्षिणम्।
कुर्वती पतिशुश्रूषां सस्माराथ शुभेक्षणा ॥ १६ ॥

पतिकी सेवा करते-करते उस मङ्गलमयी दृष्टिवाली देवीको भिक्षाके लिये खड़े हुए ब्राह्मणकी याद आयी ॥ १६ ॥

व्रीडिता साभवत् साध्वी तदा भरतसत्तम।
भिक्षामादाय विप्राय निर्जगाम यशस्विनी ॥ १७ ॥

भरतवंशविभूषण! अपनी भूलके कारण वह यशस्विनी साध्वी स्त्री बहुत लज्जित हुई और ब्राह्मणके लिये भिक्षा लेकर घरसे बाहर निकली ॥ १७ ॥

ब्राह्मण उवाच

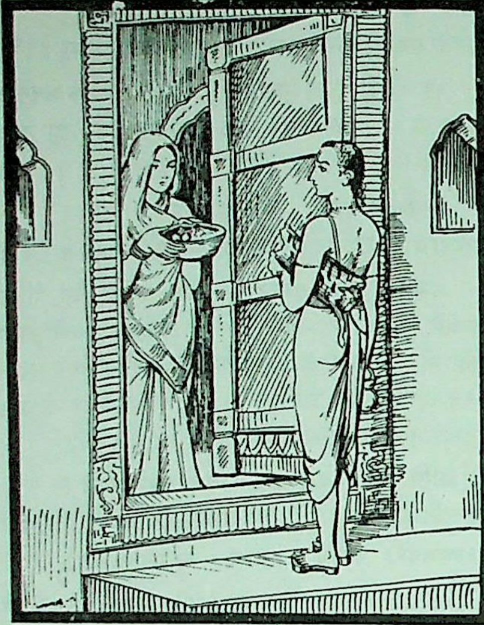
किमिदं भवति त्वं मां तिष्ठेत्युक्त्वा वराङ्गने।
उपरोधं कृतवती न विसर्जितवत्यसि ॥ १८ ॥

उसे देखकर ब्राह्मणने कहा—सुन्दरी! तुम्हारा यह कैसा बर्ताव है? देख! तुम्हें इतना विलम्ब करना था तो 'ठहरो' कहकर मुझे रोक क्यों लिया? मुझे जाने क्यों नहीं दिया? ॥ १८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ब्राह्मणं क्रोधसंतप्तं ज्वलन्तमिव तेजसा।
दृष्ट्वा साध्वी मनुष्येन्द्र सान्त्वपूर्वं वचोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ब्राह्मण क्रोधसे



संतप्त हो अपने तेजसे जलता-सा प्रतीत होता था। उसे देखकर उस पतिव्रता देवीने बड़ी शान्तिसे उत्तर दिया ॥ १९ ॥

स्त्र्युवाच

क्षन्तुमर्हसि मे विद्वन् भर्ता मे दैवतं महत्।
स चापि क्षुधितः श्रान्तः प्राप्तः शुश्रूषितो मया ॥ २० ॥

स्त्री बोली—विद्वन्! क्षमा करें। मेरे लिये सबसे बड़े देवता पति हैं। वे भूखे और थके हुए घरपर आये थे। (उन्हें छोड़कर कैसे आती ?) उन्हींकी सेवामें लग गयी ॥ २० ॥

ब्राह्मण उवाच

ब्राह्मणा न गरीयांसो गरीयांस्ते पतिः कृतः।
गृहस्थधर्मे वर्तन्ती ब्राह्मणानवमन्यसे ॥ २१ ॥

तब ब्राह्मण बोला—क्या ब्राह्मण बड़े नहीं हैं; तुमने पतिको ही सबसे बड़ा बना दिया ? गृहस्थधर्ममें रहकर भी तुम ब्राह्मणोंका अपमान करती हो ? ॥ २१ ॥

इन्द्रोऽप्येषां प्रणमते किं पुनर्मानवो भुवि।
अवलिप्ते न जानीषे वृद्धानां न श्रुतं त्वया ॥ २२ ॥
ब्राह्मणा ह्यग्निसदृशा दहेयुः पृथिवीमपि।

अरी! (स्वर्गलोकके स्वामी) इन्द्र भी इन ब्राह्मणोंके आगे सिर झुकाते हैं, फिर भूतलके मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? घमंडमें भरी हुई स्त्री! क्या तुम ब्राह्मणोंका प्रभाव नहीं जानती ? कभी बड़े-बूढ़ोंके मुखसे भी नहीं सुना ? अरी! ब्राह्मण अग्निके समान तेजस्वी होते हैं। वे चाहें तो इस पृथ्वीको भी जलाकर भस्म कर सकते हैं ॥ २२½ ॥

स्त्र्युवाच

नाहं बलाका विप्रर्षे त्यज क्रोधं तपोधन ॥ २३ ॥
अनया क्रुद्धया दृष्ट्या क्रुद्धः किं मां करिष्यसि।
नावजानाम्यहं विप्रान् देवैस्तुल्यान् मनस्विनः ॥ २४ ॥

स्त्री बोली—तपोधन! क्रोध न करो। ब्रह्मर्षे! मैं बगुली नहीं हूँ, जो तुम्हारी इस क्रोधभरी दृष्टिसे जल जाऊँगी। तुम इस तरह कुपित होकर मेरा क्या करोगे ? मैं ब्राह्मणोंका अपमान नहीं करती। मनस्वी ब्राह्मण तो देवताके समान होते हैं ॥ २३-२४ ॥

अपराधमिमं विप्र क्षन्तुमर्हसि मेऽनघ।
जानामि तेजो विप्राणां महाभाग्यं च धीमताम् ॥ २५ ॥

निष्पाप ब्राह्मण! तुम मेरे इस अपराधको क्षमा करो। मैं बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके तेज और महत्त्वको जानती हूँ ॥ २५ ॥

अपेयः सागरः क्रोधात् कृतो हि लवणोदकः।
तथैव दीप्ततपसां मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ २६ ॥
येषां क्रोधाग्निरद्यापि दण्डके नोपशाम्यति।

ब्राह्मणोंके ही क्रोधका फल है कि समुद्रका पानी खारा एवं पीनेके अयोग्य बना दिया गया। इसी प्रकार जिनकी तपस्या बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और जिनका अन्तःकरण परम पवित्र हो चुका था, ऐसे मुनियोंने भी जो क्रोधकी आग प्रज्वलित की थी, वह आज भी दण्डकारण्यमें बुझ नहीं पा रही है ॥ २६½ ॥

ब्राह्मणानां परिभवाद् वातापिः सुदुरात्मवान् ॥ २७ ॥
अगस्त्यमृषिमासाद्य जीर्णः क्रूरो महासुरः।

ब्राह्मणोंका तिरस्कार करनेसे ही क्रूर स्वभाववाला महान् असुर अत्यन्त दुरात्मा वातापि अगस्त्य मुनिके पेटमें जाकर पच गया ॥ २७½ ॥

बहुप्रभावाः श्रूयन्ते ब्राह्मणानां महात्मनाम् ॥ २८ ॥
क्रोधः सुविपुलो ब्रह्मन् प्रसादश्च महात्मनाम्।
अस्मिंस्त्वतिक्रमे ब्रह्मन् क्षन्तुमर्हसि मेऽनघ ॥ २९ ॥

ब्रह्मन्! महात्मा ब्राह्मणोंके प्रभावको बतानेवाले बहुत-से चरित्र सुने जाते हैं। उन महात्माओंका क्रोध और कृपा दोनों ही महान् होते हैं। निष्पाप ब्रह्मन्! मेरेद्वारा जो तुम्हारा अपराध बन गया है, उसे क्षमा करो ॥ २८-२९ ॥

पतिशुश्रूषया धर्मो यः स मे रोचते द्विज।
दैवतेष्वपि सर्वेषु भर्ता मे दैवतं परम् ॥ ३० ॥

विप्रवर! मुझे तो पतिकी सेवासे जो धर्म प्राप्त होता है, वही अधिक पसंद है। सम्पूर्ण देवताओंमें भी पति ही मेरे सबसे बड़े देवता हैं ॥ ३० ॥

अविशेषेण तस्याहं कुर्यां धर्मं द्विजोत्तम ।
शुश्रूषायाः फलं पश्य पत्युर्ब्राह्मण यादृशम् ॥ ३१ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मैं साधारणरूपसे ही पतिसेवारूप धर्मका पालन करती हूँ । ब्राह्मणदेवता ! इस पतिसेवाका जैसा फल है, उसे प्रत्यक्ष देख लो ॥ ३१ ॥

बलाका हि त्वया दग्धा रोषात् तद् विदितं मया ।
क्रोधः शत्रुः शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम ॥ ३२ ॥

तुमने क्रोध करके जो एक बगुलीको जला दिया था, वह बात मुझे मालूम हो गयी । द्विजश्रेष्ठ ! मनुष्योंका एक बहुत बड़ा शत्रु है । वह उनके शरीरमें ही रहता है । उसका नाम है 'क्रोध' ॥ ३२ ॥

यः क्रोधमोहौ त्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।
यो वदेदिह सत्यानि गुरुं संतोषयेत च ॥ ३३ ॥
हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।

जो क्रोध और मोहको त्याग देता है, उसीको देवतागण ब्राह्मण मानते हैं । जो यहाँ सत्य बोले, गुरुको संतुष्ट रक्खे, किसीके द्वारा मार खाकर भी बदलेमें उसे न मारे, उसको देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं ॥ ३३½ ॥

जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ॥ ३४ ॥
कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।

जो जितेन्द्रिय, धर्मपरायण, स्वाध्यायतत्पर और पवित्र है तथा काम और क्रोध जिसके वशमें है, उसे देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं ॥ ३४½ ॥

यस्य चात्मसमो लोको धर्मज्ञस्य मनस्विनः ॥ ३५ ॥
सर्वधर्मेषु च रतस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।

जिस धर्मज्ञ एवं मनस्वी पुरुषका सम्पूर्ण जगत्के प्रति आत्मभाव है तथा सभी धर्मोंपर जिसका समान अनुराग है, उसे देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं ॥ ३५½ ॥

योऽध्यापयेदधीयीत यजेद् वा याजयीत वा ॥ ३६ ॥
दद्याद् वापि यथाशक्ति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।

जो पढ़े और पढ़ाये, यज्ञ करे और कराये तथा यथाशक्ति दान दे, उसे देवतालोग ब्राह्मण कहते हैं ॥ ३६½ ॥

ब्रह्मचारी वदान्यो योऽधीयीत द्विजपुङ्गवः ॥ ३७ ॥
स्वाध्यायवानमत्तो वै तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।

जो द्विजश्रेष्ठ ब्रह्मचर्यका पालन करे, उदार बने, वेदोंका अध्ययन करे और सतत सावधान रहकर स्वाध्यायमें ही लगा रहे, उसे देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं ॥ ३७½ ॥

यद् ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां परिकीर्तयेत् ॥ ३८ ॥
सत्यं तथा व्याहरतां नानृते रमते मनः ।

ब्राह्मणके लिये जो हितकर कर्म हो, उसीका उनके सामने वर्णन करना चाहिये । सत्य बोलनेवाले लोगोंका मन कभी असत्यमें नहीं लगता ॥ ३८½ ॥

धर्मं तु ब्राह्मणस्याहुः स्वाध्यायं दममार्जवम् ॥ ३९ ॥
इन्द्रियाणां निग्रहं च शाश्वतं द्विजसत्तम ।

द्विजश्रेष्ठ ! स्वाध्याय, मनोनिग्रह, सरलता और इन्द्रिय-निग्रह—ये ब्राह्मणके लिये सनातनधर्म कहे गये हैं ॥ ३९½ ॥

सत्यार्जवे धर्ममाहुः परं धर्मविदो जनाः ॥ ४० ॥
दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः ।
श्रुतिप्रमाणो धर्मः स्यादिति वृद्धानुशासनम् ॥ ४१ ॥

धर्मज्ञ पुरुष सत्य और सरलताको सर्वोत्तम धर्म बताते हैं । सनातनधर्मके स्वरूपको जानना तो अत्यन्त कठिन है, परंतु वह सत्यमें प्रतिष्ठित है । जो वेदोंके द्वारा प्रमाणित हो, वही धर्म है—यह वृद्ध पुरुषोंका उपदेश है ॥ ४०-४१ ॥

बहुधा दृश्यते धर्मः सूक्ष्म एव द्विजोत्तम ।
भवानपि च धर्मज्ञः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ॥ ४२ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! बहुधा धर्मका स्वरूप सूक्ष्म ही देखा जाता है । तुम भी धर्मज्ञ, स्वाध्यायपरायण और पवित्र हो ॥४२॥

न तु तत्त्वेन भगवन् धर्मं वेत्सीति मे मतिः ।
यदि विप्र न जानीषे धर्मं परमकं द्विज ॥ ४३ ॥
धर्मव्याधं ततः पृच्छ गत्वा तु मिथिलां पुरीम् ।

भगवन् ! तो भी मेरा विचार यह है कि तुम्हें धर्मका यथार्थ ज्ञान नहीं है । विप्रवर ! यदि तुम परम धर्म क्या है, यह नहीं जानते तो मिथिलापुरीमें धर्मव्याधके पास जाकर पूछो ॥ ४३½ ॥

मातापितृभ्यां शुश्रूषुः सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥ ४४ ॥
मिथिलायां वसेद् व्याधः स ते धर्मान् प्रवक्ष्यति ।
तत्र गच्छस्व भद्रं ते यथाकामं द्विजोत्तम ॥ ४५ ॥

मिथिलामें एक व्याध रहता है, जो माता-पिताका सेवक, सत्यवादी और जितेन्द्रिय है, वह तुम्हें धर्मका उपदेश करेगा । द्विजश्रेष्ठ ! तुम अपनी रुचिके अनुसार वहीं जाओ, तुम्हारा मङ्गल हो ॥ ४४-४५ ॥

अत्युक्तमपि मे सर्वं क्षन्तुमर्हस्यनिन्दित ।
स्त्रियो ह्यवध्याः सर्वेषां ये च धर्मविदो जनाः ॥ ४६ ॥

अनिन्दनीय ब्राह्मण ! यदि मेरे मुखसे कोई अनुचित बातें निकल गयी हों तो उन सबके लिये मुझे क्षमा करें; क्योंकि जो धर्मज्ञ पुरुष हैं, उन सबकी दृष्टिमें स्त्रियाँ अदण्डनीय हैं ॥४६॥

ब्राह्मण उवाच

प्रीतोऽस्मि तव भद्रं ते गतः क्रोधश्च शोभने ।
उपालम्भस्त्वयात्युक्तो मम निःश्रेयसं परम् ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि साधयिष्यामि शोभने ॥ ४७ ॥
(धन्या त्वमसि कल्याणि यस्यास्ते वृत्तमीदृशम् ।)

ब्राह्मण बोला—शुभे ! तुम्हारा भला हो । मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ । मेरा सारा क्रोध दूर हो गया । तुमने जो उलाहना दिया है, वह अनुचित वचन नहीं, मेरे लिये परम कल्याणकारी है । शोभने ! तुम्हारा कल्याण हो । अब मैं जाऊँगा और अपना कार्यसाधन करूँगा । कल्याणि ! तुम धन्य हो, जिसका सदाचार इतनी उच्चकोटिका है ॥ ४७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तया विसृष्टो निर्गम्य स्वमेव भवनं ययौ ।
विनिन्दन् स स्वमात्मानं कौशिको द्विजसत्तमः ॥ ४८ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस साध्वी स्त्रीसे विदा लेकर वह द्विजश्रेष्ठ कौशिक अपने आत्माकी निन्दा करता हुआ अपने घरको लौट गया ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें पतिव्रतोपाख्यानविषयक दो सौ छवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२०६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल ४८$\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः

कौशिकका धर्मव्याधके पास जाना, धर्मव्याधके द्वारा पतिव्रतासे प्रेषित जान लेनेपर कौशिकको आश्चर्य होना, धर्मव्याधके द्वारा वर्णधर्मका वर्णन, जनकराज्यकी प्रशंसा और शिष्टाचारका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

चिन्तयित्वा तदाश्चर्यं स्त्रिया प्रोक्तमशेषतः ।
विनिन्दन् स स्वमात्मानमागस्कृत इवाबभौ ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस पतिव्रता देवीकी कही हुई सारी बातोंपर विचार करके कौशिक ब्राह्मणको बड़ा आश्चर्य हुआ । वह अपने-आपको धिक्कारता हुआ अपराधी-सा जान पड़ने लगा ॥ १ ॥

चिन्तयानः स्वधर्मस्य सूक्ष्मां गतिमथाब्रवीत् ।
श्रद्दधानेन वै भाव्यं गच्छामि मिथिलामहम् ॥ २ ॥

फिर अपने धर्मकी सूक्ष्म गतिपर विचार करके वह मन-ही-मन बोला—'मुझे (उस सतीके कथनपर) श्रद्धा और विश्वास करना चाहिये; अतः मैं अवश्य मिथिला जाऊँगा ॥ २ ॥

कृतात्मा धर्मवित् तस्यां व्याधो निवसते किल ।
तं गच्छाम्यहमद्यैव धर्मं प्रष्टुं तपोधनम् ॥ ३ ॥

'कहते हैं, वहाँ एक पुण्यात्मा धर्मज्ञ व्याध निवास करता है । मैं उस तपोधन व्याधसे धर्मकी बात पूछनेके लिये आज ही उसके पास जाऊँगा' ॥ ३ ॥

इति संचित्य मनसा श्रद्दधानः स्त्रिया वचः ।
बलाकाप्रत्ययेनासौ धर्म्यैश्च वचनैः शुभैः ॥ ४ ॥
सम्प्रतस्थे स मिथिलां कौतूहलसमन्वितः ।

मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके वह कौतूहलवश मिथिलापुरीकी ओर चल दिया । पतिव्रता स्त्री बगुली पक्षीवाली घटना स्वयं जान गयी थी और उसने धर्मानुकूल शुभ वचनोंद्वारा उपदेश दिया था, इन कारणोंसे उसकी बातोंपर कौशिक ब्राह्मणकी बड़ी श्रद्धा हो गयी थी ॥ ४$\frac{1}{2}$ ॥

अतिक्रामन्नरण्यानि ग्रामांश्च नगराणि च ॥ ५ ॥
ततो जगाम मिथिलां जनकेन सुरक्षिताम् ।
धर्मसेतुसमाकीर्णां यज्ञोत्सववतीं शुभाम् ॥ ६ ॥

वह अनेकानेक जङ्गलों, गाँवों तथा नगरोंको पार करता हुआ राजा जनकके द्वारा सुरक्षित, धर्मकी मर्यादासे व्याप्त तथा यज्ञसम्बन्धी उत्सवोंसे सुशोभित सुन्दर मिथिलापुरीमें जा पहुँचा ॥ ५-६ ॥

गोपुराट्टालकवतीं हर्म्यप्राकारशोभनाम् ।
प्रविश्य नगरीं रम्यां विमानैर्बहुभिर्युताम् ॥ ७ ॥
पण्यैश्च बहुभिर्युक्तां सुविभक्तमहापथाम् ।
अश्वै रथैस्तथा नागैर्योधैश्च बहुभिर्युताम् ॥ ८ ॥
हृष्टपुष्टजनाकीर्णां नित्योत्सवसमाकुलाम् ।
सोऽपश्यद् बहुवृत्तान्तां ब्राह्मणः समतिक्रमन् ॥ ९ ॥

बहुत-से गोपुर, अट्टालिकाएँ, महल और चहारदीवारियाँ उस नगरकी शोभा बढ़ा रही थीं । वह रमणीय पुरी बहुत-से विमानोंसे युक्त थी तथा बहुत-सी दुकानें उस पुरीका सौन्दर्य बढ़ाती थीं । सुन्दर ढंगसे बनायी हुई बड़ी-बड़ी सड़कें शोभा पा रही थीं । बहुसंख्यक घोड़े, रथ, हाथी और सैनिकोंसे संयुक्त मिथिलापुरी हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरी हुई थी । वहाँ नित्य नाना प्रकारके उत्सव होते रहते थे और अनेक प्रकारकी घटनाएँ घटित होती थीं । ब्राह्मणने उस पुरीमें प्रवेश करके सब ओर घूम-घामकर उसे अच्छी तरह देखा ॥७-९॥

धर्मव्याधमपृच्छच्च स चास्य कथितो द्विजैः ।
अपश्यत् तत्र गत्वा तं सूनामध्ये व्यवस्थितम् ॥ १० ॥
मार्गमाहिषमांसानि विक्रीणन्तं तपस्विनम् ।
आकुलत्वाच्च क्रेतृणामेकान्ते संस्थितो द्विजः ॥ ११ ॥

वहाँ उसने लोगोंसे धर्मव्याधका पता पूछा और ब्राह्मणोंने उसे उसका स्थान बता दिया । कौशिकने वहाँ जाकर देखा कि तपस्वी धर्मव्याध कसाईखानेमें बैठकर सूअर, भैंसे आदि पशुओंका मांस बेच रहा है । वहाँ ग्राहकोंकी भीड़ लगी हुई थी, इसलिये कौशिक एकान्तमें जाकर खड़ा हो गया ॥१०-११॥

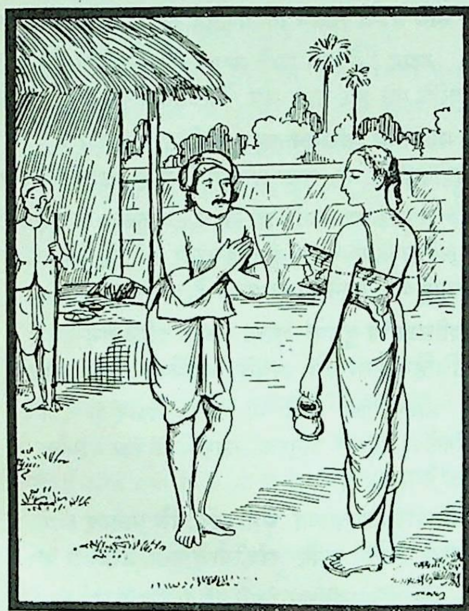
स तु ज्ञात्वा द्विजं प्राप्तं सहसा सम्भ्रमोत्थितः ।
आजगाम यतो विप्रः स्थित एकान्तदर्शने ॥ १२ ॥

ब्राह्मणको आया हुआ जानकर व्याध सहसा शीघ्रतापूर्वक उठ खड़ा हुआ और उस स्थानपर आ गया, जहाँ ब्राह्मण एकान्त स्थानमें खड़ा था ॥ १२ ॥

व्याध उवाच

अभिवादये त्वां भगवन् स्वागतं ते द्विजोत्तम ।
अहं व्याधो हि भद्रं ते किं करोमि प्रशाधि माम् ॥ १३ ॥

व्याध बोला—भगवन् ! मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ । द्विजश्रेष्ठ ! आपका स्वागत है ! मैं ही वह व्याध हूँ (जिसकी खोजमें आपने यहाँतक आनेका कष्ट किया है)। आपका भला हो, आज्ञा दीजिये, मैं क्या सेवा करूँ ? ॥ १३ ॥



एकपत्न्या यदुक्तोऽसि गच्छ त्वं मिथिलामिति ।
जानाम्येतदहं सर्वं यदर्थं त्वमिहागतः ॥ १४ ॥

उस पतिव्रता देवीने जो आपसे यह कहकर भेजा है कि 'तुम मिथिलापुरीको जाओ ।' वह सब मैं जानता हूँ । आप जिस उद्देश्यसे यहाँ पधारे हैं, वह भी मुझे मालूम है ॥ १४ ॥

श्रुत्वा च तस्य तद् वाक्यं स विप्रो भृशविस्मितः ।
द्वितीयमिदमाश्चर्यमित्यचिन्तयत द्विजः ॥ १५ ॥

व्याधकी वह बात सुनकर ब्राह्मणको बड़ा विस्मय हुआ । वह मन-ही-मन सोचने लगा—'यह दूसरा आश्चर्य दृष्टिगोचर हुआ है' ॥ १५ ॥

अदेशस्थं हि ते स्थानमिति व्याधोऽब्रवीदिदम् ।
गृहं गच्छाव भगवन् यदि ते रोचतेऽनघ ॥ १६ ॥

इसके बाद व्याधने कहा—'भगवन् ! यह स्थान आपके ठहरनेयोग्य नहीं है । अनघ ! यदि आपकी रुचि हो तो हम दोनों हमारे घरपर चलें' ॥ १६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

बाढमित्येव तं विप्रो हृष्टो वचनमब्रवीत् ।
अग्रतस्तु द्विजं कृत्वा स जगाम गृहं प्रति ॥ १७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यह सुनकर ब्राह्मणको बड़ा हर्ष हुआ । उसने व्याधसे कहा—'बहुत अच्छा, ऐसा ही करो ।' तब व्याध ब्राह्मणको आगे करके घरकी ओर चला ॥ १७ ॥

प्रविश्य च गृहं रम्यमासनेनाभिपूजितः ।
अर्घ्येण च स वै तेन व्याधेन द्विजसत्तमः ॥ १८ ॥

व्याधका घर बहुत सुन्दर था । वहाँ पहुँचकर उस व्याधने ब्राह्मणको बैठनेके लिये आसन दिया और अर्घ्य देकर उस श्रेष्ठ ब्राह्मणकी आदरसहित पूजा की ॥ १८ ॥

ततः सुखोपविष्टस्तं व्याधं वचनमब्रवीत् ।
कर्मैतद् वै न सदृशं भवतः प्रतिभाति मे ।
अनुतप्ये भृशं तात तव घोरेण कर्मणा ॥ १९ ॥

सुखपूर्वक बैठ जानेपर ब्राह्मणने व्याधसे कहा—'तात ! यह मांस बेचनेका काम निश्चय ही तुम्हारे योग्य नहीं है । मुझे तो तुम्हारे इस घोर कर्मसे बहुत संताप हो रहा है' ॥

व्याध उवाच

कुलोचितमिदं कर्म पितृपैतामहं परम् ।
वर्तमानस्य मे धर्मे स्वे मन्युं मा कृथा द्विज ॥ २० ॥

व्याध बोला—ब्रह्मन् ! यह काम मेरे बाप-दादोंके समयसे होता चला आ रहा है । मेरे कुलके लिये जो उचित है, वही धंधा मैंने भी अपनाया है । मैं अपने धर्मका ही पालन कर रहा हूँ; अतः आप मुझपर क्रोध न करें ॥ २० ॥

विधात्रा विहितं पूर्वं कर्म स्वमनुपालयन् ।
प्रयत्नाच्च गुरू वृद्धौ शुश्रूषेऽहं द्विजोत्तम ॥ २१ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! विधाताने इस कुलमें जन्म देकर मेरे लिये जो कार्य प्रस्तुत किया है, उसका पालन करता हुआ मैं अपने बूढ़े माता-पिताकी बड़े यत्नसे सेवा करता रहता हूँ ॥ २१ ॥

सत्यं वदे नाभ्यसूये यथाशक्ति ददामि च ।
देवतातिथिभृत्यानामवशिष्टेन वर्तये ॥ २२ ॥

सत्य बोलता हूँ । किसीकी निन्दा नहीं करता और अपनी शक्तिके अनुसार दान भी करता हूँ । देवताओं, अतिथियों और भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजनों तथा सेवकोंको भोजन देकर जो बचता है, उसीसे शरीरका निर्वाह करता हूँ ॥ २२ ॥

न कुत्सयाम्यहं किंचिन्न गर्हे बलवत्तरम् ।
कृतमन्वेति कर्तारं पुरा कर्म द्विजोत्तम ॥ २३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! किसीके दोषोंकी चर्चा नहीं करता और अपनेसे बलिष्ठ पुरुषकी निन्दा नहीं करता, क्योंकि पहलेके किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका परिणाम स्वयं कर्ताको ही भोगना पड़ता है ॥ २३ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यमिह लोकस्य जीवनम् ।
दण्डनीतिस्त्रयी विद्या तेन लोको भवत्युत ॥ २४ ॥

कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, दण्डनीति और त्रयीविद्या—ऋक्, यजु, सामके अनुसार यज्ञादिका अनुष्ठान करना और कराना ये लोगोंकी जीविकाके साधन हैं। इनसे ही लौकिक और पारलौकिक उन्नति सम्भव होती है ॥ २४ ॥

कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये संग्रामः क्षत्रिये स्मृतः ।
ब्रह्मचर्यं तपो मन्त्राः सत्यं च ब्राह्मणे सदा ॥ २५ ॥

शूद्रका कर्तव्य है सेवा कर्म, वैश्यका कार्य है खेती और युद्ध करना क्षत्रियका कर्म माना गया है। ब्रह्मचर्य, तपस्या, मन्त्र-जप, वेदाध्ययन तथा सत्यभाषण—ये सदा ब्राह्मणके पालन करनेयोग्य धर्म हैं ॥ २५ ॥

राजा प्रशास्ति धर्मेण स्वकर्मनिरताः प्रजाः ।
विकर्माणश्च ये केचित् तान् युनक्ति स्वकर्मसु ॥ २६ ॥

राजा अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्ममें लगी हुई प्रजाका धर्मपूर्वक शासन करता है और जो कोई अपने कर्मोंसे गिरकर विपरीत दिशामें जा रहे हों, उन्हें पुनः अपने कर्तव्यके पालन-में लगाता है ॥ २६ ॥

भेतव्यं हि सदा राज्ञः प्रजानामधिपा हि ते ।
वारयन्ति विकर्मस्थं नृपा मृगमिवेषुभिः ॥ २७ ॥

इसलिये राजाओंसे सदा डरते रहना चाहिये; क्योंकि वे प्रजाके स्वामी हैं। जो लोग धर्मके विपरीत कार्य करते हैं, उन्हें राजा दण्डद्वारा उसी प्रकार पापसे रोकते हैं, जैसे बाणोंद्वारा वे हिंसक पशुओंको हिंसासे रोकते हैं ॥ २७ ॥

जनकस्येह विप्रर्षे विकर्मस्थो न विद्यते ।
स्वकर्मनिरता वर्णाश्चत्वारोऽपि द्विजोत्तम ॥ २८ ॥

ब्रह्मर्षे ! यह राजा जनकका नगर है; यहाँ कोई भी ऐसा नहीं है, जो वर्ण-धर्मके विरुद्ध आचरण करे। द्विजश्रेष्ठ ! यहाँ चारों वर्णोंके लोग अपना-अपना कर्म करते हैं ॥ २८ ॥

स एष जनको राजा दुर्वृत्तमपि चेत् सुतम् ।
दण्ड्यं दण्डे निक्षिपति तथा न ग्लाति धार्मिकम् ॥ २९ ॥

ये राजा जनक दुराचारीको, वह अपना पुत्र ही क्यों न हो, दण्डनीय मानकर दण्ड देते ही हैं तथा किसी भी धर्मात्माको कष्ट नहीं पहुँचने देते हैं ॥ २९ ॥

सुयुक्तचारो नृपतिः सर्वं धर्मेण पश्यति ।
श्रीश्च राज्यं च दण्डश्च क्षत्रियाणां द्विजोत्तम ॥ ३० ॥

विप्रवर ! राजा जनकने सब ओर गुप्तचर लगा रक्खे हैं, अतः उनके द्वारा वे धर्मानुसार सबपर दृष्टि रखते हैं। सम्पत्तिका उपार्जन, राज्यकी रक्षा तथा अपराधियोंको दण्ड देना—ये क्षत्रियोंके कर्तव्य हैं ॥ ३० ॥

राजानो हि स्वधर्मेण श्रियमिच्छन्ति भूयसीम् ।
सर्वेषामेव वर्णानां त्राता राजा भवत्युत ॥ ३१ ॥

राजालोग अपने धर्मका पालन करते हुए ही प्रचुर सम्पत्ति पानेकी इच्छा रखते हैं और राजा सभी वर्णोंका रक्षक होता है ॥ ३१ ॥

परेण हि हतान् ब्रह्मन् वराहमहिषानहम् ।
न स्वयं हन्मि विप्रर्षे विक्रीणामि सदा त्वहम् ॥ ३२ ॥

ब्रह्मन् ! मैं स्वयं किसी जीवकी हिंसा नहीं करता। सदा दूसरोंके मारे हुए सूअर और भैंसोंका मांस बेचता हूँ ॥ ३२ ॥

न भक्षयामि मांसानि ऋतुगामी तथा ह्यहम् ।
सदोपवासी च तथा नक्तभोजी सदा द्विज ॥ ३३ ॥

मैं स्वयं मांस कभी नहीं खाता। ऋतुकाल प्राप्त होनेपर ही पत्नी-समागम करता हूँ। द्विजप्रवर ! मैं दिनमें सदा ही उपवास और रातमें भोजन करता हूँ ॥ ३३ ॥

अशीलश्चापि पुरुषो भूत्वा भवति शीलवान् ।
प्राणिहिंसारतश्चापि भवते धार्मिकः पुनः ॥ ३४ ॥

शीलसे रहित पुरुष भी कभी शीलवान् हो जाता है। प्राणियोंकी हिंसामें अनुरक्त मनुष्य भी फिर धर्मात्मा हो जाता है ॥ ३४ ॥

व्यभिचारान्नरेन्द्राणां धर्मः संकीर्यते महान् ।
अधर्मो वर्धते चापि संकीर्यन्ते ततः प्रजाः ॥ ३५ ॥

राजाओंके व्यभिचार-दोषसे धर्म अत्यन्त संकीर्ण हो जाता है और अधर्म बढ़ जाता है, इससे प्रजामें वर्णसंकरता आ जाती है ॥ ३५ ॥

भेरुण्डा वामनाः कुब्जाः स्थूलशीर्षास्तथैव च ।
क्लीबाश्चान्धाश्च बधिरा जायन्तेऽत्युच्चलोचनाः ॥ ३६ ॥

उस दशामें भयंकर आकृतिवाले, बौने, कुबड़े, मोटे मस्तकवाले, नपुंसक, अंधे, बहरे और अधिक ऊँचे नेत्रों-वाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं ॥ ३६ ॥

पार्थिवानामधर्मत्वात् प्रजानामभवः सदा ।
स एष राजा जनकः प्रजा धर्मेण पश्यति ॥ ३७ ॥

राजाओंके अधर्मपरायण होनेसे प्रजाकी सदा अवनति होती है। हमारे ये राजा जनक समस्त प्रजाको धर्मपूर्ण दृष्टिसे ही देखते हैं ॥ ३७ ॥

अनुगृह्णन् प्रजाः सर्वाः स्वधर्मनिरताः सदा।
(पात्येव राजा जनकः पितृवज्जनसत्तम।)
ये चैव मां प्रशंसन्ति ये च निन्दन्ति मानवाः॥ ३८॥
सर्वान् सुपरिणीतेन कर्मणा तोषयाम्यहम्।

नरश्रेष्ठ! राजा जनक सदा स्वधर्ममें तत्पर रहनेवाली सम्पूर्ण प्रजापर अनुग्रह रखते हुए उसका पिताकी भाँति सदा पालन करते हैं। जो लोग मेरी प्रशंसा करते हैं और जो निन्दा करते हैं, उन सबको अपने सद्‌व्यवहारसे संतुष्ट रखता हूँ॥

ये जीवन्ति स्वधर्मेण संयुञ्जन्ति च पार्थिवाः॥ ३९॥
न किंचिदुपजीवन्ति दान्ता उत्थानशीलिनः।

जो राजा अपने धर्मका पालन करते हुए जीवननिर्वाह करते हैं, धर्ममें ही संयुक्त रहते हैं, किसी दूसरेकी कोई वस्तु अपने उपयोगमें नहीं लाते तथा सदा अपनी इन्द्रियोंपर संयम रखते हैं, वे ही उन्नतिशील होते हैं॥ ३९½॥

शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षा धर्मनित्यता॥ ४०॥
यथार्हं प्रति पूजा च सर्वभूतेषु वै सदा।
त्यागान्नान्यत्र मर्त्यानां गुणास्तिष्ठन्ति पूरुषे॥ ४१॥

अपनी शक्तिके अनुसार सदा दूसरोंको अन्न देना, दूसरोंके अपराध तथा शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंको सहन करना, सदा धर्ममें दृढ़तापूर्वक लगे रहना तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें सभी पूजनीय पुरुषोंका यथायोग्य पूजन करना—ये मनुष्योंके सद्गुण पुरुषमें स्वार्थत्यागके बिना नहीं रह पाते हैं॥ ४०-४१॥

मृषा वादं परिहरेत् कुर्यात् प्रियमयाचितः।
न च कामान्न संरम्भान्न द्वेषाद् धर्ममुत्सृजेत्॥ ४२॥

झूठ बोलना छोड़ दे, बिना कहे ही दूसरोंका प्रिय करे, काम, क्रोध तथा द्वेषसे भी कभी धर्मका परित्याग न करे॥

प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत्।
न मुह्येदर्थकृच्छ्रेषु न च धर्मं परित्यजेत्॥ ४३॥

प्रिय वस्तुकी प्राप्ति होनेपर हर्षसे फूल न उठे, अपने मनके विपरीत कोई बात हो जाय तो दुःख न माने—चिन्तित न हो, अर्थसंकट आ जाय तो भी मोहके वशीभूत हो घबराये नहीं और किसी भी अवस्थामें अपना धर्म न छोड़े॥ ४३॥

कर्म चेत्किंचिदन्यत् स्यादितरन्न तदाचरेत्।
यत् कल्याणमभिध्यायेत् तत्रात्मानं नियोजयेत्॥ ४४॥

यदि भूलसे कभी कोई निन्दित कर्म बन जाय, तो फिर दुबारा वैसा काम न करे। अपने मन और बुद्धिसे विचार करनेपर जो कल्याणकारी प्रतीत हो, उसी कार्यमें अपनेको लगावे॥ ४४॥

न पापे प्रतिपापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत्।
आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्तुमिच्छति॥ ४५॥

यदि कोई अपने साथ बुराई करे, तो भी स्वयं भी बदलेमें उसके साथ बुराई न करे। सबके साथ सदा सद्‌व्यवहार ही करे। जो पापी दूसरोंका अहित करना चाहता है, वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है॥ ४५॥

कर्म चैतदसाधूनां वृजिनानामसाधुवत्।
न धर्मोऽस्तीति मन्वानाः शुचीनवहसन्ति ये॥ ४६॥
अश्रद्दधाना धर्मस्य ते नश्यन्ति न संशयः।
महादृतिरिवाध्मातः पापो भवति नित्यदा॥ ४७॥

यह (दूसरोंका अहित करना) तो दुराचारीकी भाँति दुर्व्यसनोंमें आसक्त हुए पापी पुरुषोंका ही कार्य है। 'धर्म कोई चीज नहीं है' ऐसा मानकर जो शुद्ध आचार-विचारवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी हँसी उड़ाते हैं, वे धर्मपर अश्रद्धा रखनेवाले मनुष्य निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं। पापी मनुष्य लुहारकी बड़ी धौंकनीके समान सदा ऊपरसे फूले दिखायी देते हैं (परंतु वास्तवमें सारहीन होते हैं)॥ ४६-४७॥

(साधुः सन्नतिमानेव सर्वत्र द्विजसत्तम।)
मूढानामवलिप्तानामसारं भाषितं भवेत्।
दर्शयत्यन्तरात्मा तं दिवा रूपमिवांशुमान्॥ ४८॥

द्विजश्रेष्ठ! उत्तम पुरुष सर्वत्र विनयशील ही होता है। अहंकारी मूढ़ मनुष्योंकी सोची हुई प्रत्येक बात निःसार होती है। जैसे सूर्य दिनके रूपको प्रकट कर देता है, उसी प्रकार मूर्खोंकी अन्तरात्मा ही उनके यथार्थ स्वरूपका दर्शन करा देती है॥ ४८॥

न लोके राजते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया।
अपि चेह श्रिया हीनः कृतविद्यः प्रकाशते॥ ४९॥

मूर्ख मनुष्य केवल अपनी प्रशंसाके बलसे जगत्‌में प्रतिष्ठा नहीं पाता है, विद्वान् पुरुष कान्तिहीन हो, तो भी संसारमें उसकी ख्याति बढ़ जाती है॥ ४९॥

अब्रुवन् कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन्।
न कश्चिद् गुणसम्पन्नः प्रकाशो भुवि दृश्यते॥ ५०॥

किसी दूसरेकी निन्दा न करे, अपनी मान-प्रतिष्ठाकी प्रशंसा न करे, कोई भी गुणवान् पुरुष परनिन्दा और आत्म-प्रशंसाका त्याग किये बिना इस भूमण्डलमें सम्मानित हुआ हो, यह नहीं देखा जाता है॥ ५०॥

विकर्मणा तप्यमानः पापाद् विपरिमुच्यते।
न तत् कुर्यां पुनरिति द्वितीयात् परिमुच्यते॥ ५१॥

जो मनुष्य पापकर्म बन जानेपर सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप करता है, वह उस पापसे छूट जाता है तथा 'फिर कभी ऐसा कर्म नहीं करूँगा' ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेनेपर वह भविष्यमें होनेवाले दूसरे पापसे भी बच जाता है॥ ५१॥

कर्मणा येन तेनेह पापाद् द्विजवरोत्तम।
एवं श्रुतिरियं ब्रह्मन् धर्मेषु प्रतिदृश्यते॥ ५२॥

विप्रवर ! शास्त्रविहित (जप, तप, यज्ञ, दान आदि) किसी भी कर्मका निष्कामभावसे आचरण करनेपर पापसे छुटकारा मिल सकता है। ब्रह्मन् ! धर्मके विषयमें ऐसी श्रुति देखी जाती है ॥ ५२ ॥

पापान्यबुद्ध्वेह पुरा कृतानि
प्राग् धर्मशीलोऽपि विहन्ति पश्चात् ।
धर्मो राजन् नुदते पूरुषाणां
यत् कुर्वते पापमिह प्रमादात् ॥ ५३ ॥

पहलेका धर्मशील पुरुष भी यदि अनजानमें यहाँ कोई पाप कर बैठे तो वह पीछे (निष्काम पुण्यकर्मद्वारा) उस पापको नष्ट कर देता है। राजन् ! मनुष्योंका धर्म ही यहाँ प्रमादवश किये हुए उनके पापोंको दूर कर देता है ॥ ५३ ॥

पापं कृत्वा हि मन्येत नाहमस्मीति पूरुषः ।
तं तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥ ५४ ॥

जो मनुष्य पाप करके भी यह मानता है कि 'मैं पापी नहीं हूँ।' वह भूल करता है; क्योंकि देवता उसे और उसके पापको देखते हैं तथा उसीके भीतर बैठा हुआ परमात्मा भी देखता ही है ॥ ५४ ॥

चिकीर्षेदेव कल्याणं श्रद्दधानोऽनसूयकः ।
वसनस्येव छिद्राणि साधूनां विवृणोति यः ॥ ५५ ॥
(अपश्यन्नात्मनो दोषान् स पापः प्रेत्य नश्यति ॥)

श्रद्धालु मनुष्य दूसरोंके दोष देखना छोड़कर सदा सबके हितकी ही इच्छा करे। जो पापी अपने दोषोंकी ओरसे आँखें बंद करके सदा दूसरे श्रेष्ठ पुरुषोंके दोषोंको ही कपड़ेके छेदोंकी भाँति अधिकाधिक प्रकट करता और बढ़ाता है, वह मृत्युके पश्चात् नष्ट हो जाता है—परलोकमें उसे कोई सुख नहीं मिलता है ॥ ५५ ॥

पापं चेत् पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महाभ्रेणेव चन्द्रमाः ॥ ५६ ॥

यदि मनुष्य पाप करके भी कल्याणकारी कर्ममें लग जाता है, तो वह महामेघसे मुक्त हुए चन्द्रमाकी भाँति सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ५६ ॥

यथाऽऽदित्यः समुद्यन् वै तमः पूर्वं व्यपोहति ।
एवं कल्याणमातिष्ठन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५७ ॥

जैसे सूर्य उदय होनेपर पहलेके अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार कल्याणकारी शुभ कर्मका निष्काम भावसे अनुष्ठान करनेवाला पुरुष सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥

पापानां विद्ध्यधिष्ठानं लोभमेव द्विजोत्तम ।
लुब्धाः पापं व्यवस्यन्ति नरा नातिबहुश्रुताः ॥ ५८ ॥

विप्रवर ! लोभको ही पापोंका [illegible] समझो। जिन्होंने अधिकतर शास्त्रोंका श्रवण नहीं किया है, वे लोभी मनुष्य ही पाप करनेका विचार रखते हैं ॥ ५८ ॥

अधर्मा धर्मरूपेण तृणैः कूपा इवावृताः ।
तेषां दमः पवित्राणि प्रलापा धर्मसंश्रिताः ।
सर्वं हि विद्यते तेषु शिष्टाचारः सुदुर्लभः ॥ ५९ ॥

तिनकेसे ढके हुए कुओंकी भाँति धर्मकी आड़में कितने ही अधर्म चल रहे हैं। धर्मात्माके वेशमें रहनेवाले इन अधार्मिक मनुष्योंमें इन्द्रिय-संयम, पवित्रता और धर्मसम्बन्धी चर्चा आदि सभी गुण तो होते हैं, परंतु उनमें शिष्टाचार (श्रेष्ठ पुरुषोंका-सा आचार-व्यवहार) अत्यन्त दुर्लभ है ॥

मार्कण्डेय उवाच

स तु विप्रो महाप्राज्ञो धर्मव्याधमपृच्छत ।
शिष्टाचारं कथमहं विद्यामिति नरोत्तम ॥ ६० ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर परम बुद्धिमान् कौशिकने धर्मव्याधसे पूछा—'नरश्रेष्ठ ! मुझे शिष्टाचारका ज्ञान कैसे हो ? ॥ ६० ॥

एतदिच्छामि भद्रं ते श्रोतुं धर्मभृतां वर ।
त्वत्तो महामते व्याध तद् ब्रवीहि यथातथम् ॥ ६१ ॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महामते व्याध ! तुम्हारा भला हो, मैं ये सब बातें तुमसे सुनना चाहता हूँ। अतः यथार्थ रूपसे इनका वर्णन करो' ॥ ६१ ॥

व्याध उवाच

यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्यं च द्विजसत्तम ।
पञ्चैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु सर्वदा ॥ ६२॥

व्याधने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! यज्ञ, दान, तपस्या, वेदोंका स्वाध्याय और सत्यभाषण— ये पाँच पवित्र वस्तुएँ शिष्ट पुरुषोंके आचार-व्यवहारमें सदा देखी गयी हैं ॥ ६२ ॥

कामक्रोधौ वशे कृत्वा दम्भं लोभमनार्जवम् ।
धर्ममित्येव संतुष्टास्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ॥ ६३ ॥

जो काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और कुटिलताको वशमें करके केवल धर्मको ही अपनाकर संतुष्ट रहते हैं, वे शिष्ट कहलाते हैं और उन्हींका शिष्ट पुरुष आदर करते हैं ॥६३॥

न तेषां विद्यतेऽवृत्तं यज्ञस्वाध्यायशीलिनाम् ।
आचारपालनं चैव द्वितीयं शिष्टलक्षणम् ॥ ६४ ॥

वे निरन्तर यज्ञ और स्वाध्यायमें लगे रहते हैं। उनमें स्वेच्छाचार नहीं होता। सदाचारका पालन शिष्ट पुरुषोंका दूसरा लक्षण है ॥ ६४ ॥

गुरुशुश्रूषणं सत्यमक्रोधो दानमेव च ।
एतच्चतुष्टयं ब्रह्मन् शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥ ६५ ॥

ब्रह्मन् ! शिष्टाचारी पुरुषोंमें गुरुकी सेवा, सत्यभाषण, क्रोधका अभाव तथा दान—ये चार सद्गुण सदा रहते हैं ॥

शिष्टाचारे मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः।
यामयं लभते वृत्तिं सा न शक्या ह्यतोऽन्यथा ॥ ६६ ॥

मनुष्य शिष्ट पुरुषोंके उपर्युक्त आचारमें मनको सब प्रकारसे स्थापित करके जिस उत्तम स्थितिको प्राप्त करता है, उसकी उपलब्धि और किसी प्रकारसे नहीं हो सकती ॥ ६६ ॥

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषत् त्यागः शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥ ६७ ॥

वेदका सार है सत्य, सत्यका सार है इन्द्रिय-संयम और इन्द्रिय-संयमका सार है त्याग। यह त्याग शिष्ट पुरुषोंके आचारमें सदा विद्यमान रहता है ॥ ६७ ॥

ये तु धर्मानसूयन्ते बुद्धिमोहान्विता नराः।
अपथा गच्छतां तेषामनुयाता च पीड्यते ॥ ६८ ॥

जो मनुष्य बुद्धिमोहसे युक्त होकर धर्ममें दोष देखते हैं, वे स्वयं तो कुमार्गगामी होते ही हैं, उनके पीछे चलनेवाला मनुष्य भी कष्ट पाता है ॥ ६८ ॥

ये तु शिष्टाः सुनियताः श्रुतित्यागपरायणाः।
धर्मपन्थानमारूढाः सत्यधर्मपरायणाः ॥ ६९ ॥

जो शिष्ट हैं, वे सदा ही नियमित जीवन व्यतीत करते हैं, वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर और त्यागी होते हैं। धर्मके मार्गपर ही चलते हैं और सत्यधर्मको ही अपना परम आश्रय मानते हैं ॥ ६९ ॥

नियच्छन्ति परां बुद्धिं शिष्टाचारान्विता जनाः।
उपाध्यायमते युक्ताः स्थित्या धर्मार्थदर्शिनः ॥ ७० ॥

शिष्टाचारपरायण मनुष्य अपनी उत्तम बुद्धिको भी संयममें रखते हैं, गुरुके सिद्धान्तके अनुसार चलते हैं और मर्यादामें स्थित होकर धर्म और अर्थपर दृष्टि रखते हैं ॥ ७० ॥

नास्तिकान् भिन्नमर्यादान् क्रूरान् पापमतौ स्थितान्।
त्यज तान् ज्ञानमाश्रित्य धार्मिकानुपसेव्य च ॥ ७१ ॥

इसलिये तुम नास्तिक, धर्मकी मर्यादा भङ्ग करनेवाले, क्रूर तथा पापपूर्ण विचार रखनेवाले पुरुषोंका साथ छोड़ दो और ज्ञानका आश्रय लेकर धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवामें रहो।

कामलोभग्रहाकीर्णां पञ्चेन्द्रियजलां नदीम्।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥ ७२ ॥

यह शरीर एक नदी है। पाँच इन्द्रियाँ इसमें जल हैं। काम और लोभरूपी मगर इसके भीतर भरे पड़े हैं। जन्म और मृत्युके दुर्गम प्रदेशमें यह नदी बह रही है। तुम धैर्यकी नावपर बैठो और इसके दुर्गम स्थानों—जन्म आदि क्लेशोंको पार कर जाओ ॥ ७२ ॥

क्रमेण संचितो धर्मो बुद्धियोगमयो महान्।
शिष्टाचारे भवेत् साधु रागः शुक्लेव वाससि ॥ ७३ ॥

जैसे कोई भी रंग सफेद कपड़ेपर ही अच्छी तरह खिलता है, उसी प्रकार शिष्टाचारका पालन करनेवाले पुरुषमें ही क्रमशः संचित किया हुआ बुद्धियोगमय महान् धर्म भली-भाँति प्रकाशित होता है ॥ ७३ ॥

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतहितं परम्।
अहिंसा परमो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः।
सत्ये कृत्वा प्रतिष्ठां तु प्रवर्तन्ते प्रवृत्तयः ॥ ७४ ॥

अहिंसा और सत्यभाषण—ये समस्त प्राणियोंके लिये अत्यन्त हितकर हैं। अहिंसा सबसे महान् धर्म है, परंतु वह सत्यमें ही प्रतिष्ठित है। सत्यके ही आधारपर श्रेष्ठ पुरुषोंके सभी कार्य आरम्भ होते हैं ॥ ७४ ॥

सत्यमेव गरीयस्तु शिष्टाचारनिषेवितम्।
आचारश्च सतां धर्मः संतश्चाचारलक्षणाः ॥ ७५ ॥

अतः शिष्ट पुरुषोंके आचारमें गृहीत सत्य ही सबसे अधिक गौरवकी वस्तु है। सदाचार ही श्रेष्ठ पुरुषोंका धर्म है। सदाचारसे ही संतोंकी पहचान होती है ॥ ७५ ॥

यो यथाप्रकृतिर्जन्तुः स स्वां प्रकृतिमश्नुते।
पापात्मा क्रोधकामादीन् दोषानाप्नोत्यनात्मवान् ॥ ७६ ॥

जिस जीवकी जैसी प्रकृति होती है, वह अपनी प्रकृतिका ही अनुसरण करता है। अपने मनको वशमें न रखनेवाला पापात्मा पुरुष ही काम, क्रोध आदि दोषोंको प्राप्त होता है ॥ ७६ ॥

आरम्भो न्याययुक्तो यः स हि धर्म इति स्मृतः।
अनाचारस्त्वधर्मेति एतच्छिष्टानुशासनम् ॥ ७७ ॥

'जो आरम्भ न्याययुक्त हो, वही धर्म कहा गया है। इसके विपरीत जो अनाचार है, वह अधर्म है'—ऐसा शिष्ट पुरुषोंका कथन है ॥ ७७ ॥

अक्रुद्ध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहङ्कारमत्सराः।
ऋजवः शमसम्पन्नाः शिष्टाचारा भवन्ति ते ॥ ७८ ॥

जिनमें क्रोधका अभाव है, जो दूसरोंके दोष नहीं देखते, जिनमें अहङ्कार और ईर्ष्याका अभाव है, जो सरल तथा मनोनिग्रहसे सम्पन्न हैं, वे शिष्टाचारी कहलाते हैं ॥ ७८ ॥

त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो मनस्विनः।
गुरुशुश्रूषवो दान्ताः शिष्टाचारा भवन्त्युत ॥ ७९ ॥

'जो तीनों वेदोंके विद्वानोंमें श्रेष्ठ, पवित्र, सदाचारी, मनस्वी, गुरुसेवक और जितेन्द्रिय हैं, वे शिष्टाचारी कहे जाते हैं ॥ ७९ ॥

तेषामहीनसत्त्वानां दुष्कराचारकर्मणाम्।
स्वैः कर्मभिः सत्कृतानां घोरत्वं सम्प्रणश्यति ॥ ८० ॥

जो सत्त्वगुणसे सम्पन्न हैं, जिनके आचार और कर्म

पापियोंके लिये कठिन हैं तथा जो संसारमें अपने सत्कर्मोंके द्वारा सत्कृत हैं, उनके हिंसा आदि दोष स्वतः नष्ट हो जाते हैं॥

तं सदाचारमाश्चर्यं पुराणं शाश्वतं ध्रुवम्।
धर्मं धर्मेण पश्यन्तः स्वर्गं यान्ति मनीषिणः ॥ ८१ ॥

जिसका श्रेष्ठ पुरुषोंने पालन किया है, जो अनादि, सनातन और नित्य है, उस धर्मको धर्मदृष्टिसे ही देखनेवाले मनीषी पुरुष स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ८१ ॥

आस्तिका मानहीनाश्च द्विजातिजनपूजकाः।
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नाः सन्तः स्वर्गनिवासिनः ॥ ८२ ॥

जो आस्तिक, अहंकारशून्य, ब्राह्मणोंका समादर करनेवाले, विद्वान् और सदाचारसे सम्पन्न हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष स्वर्गमें निवास करते हैं ॥ ८२ ॥

वेदोक्तः परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चापरः।
शिष्टाचारश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम्।

जिसका वेदोंमें वर्णन है, वह धर्मका पहला लक्षण है। धर्मशास्त्रोंमें जिसका प्रतिपादन किया गया है, वह धर्मका दूसरा लक्षण है और शिष्टाचार धर्मका तीसरा लक्षण है। इस प्रकार शिष्ट पुरुषोंने धर्मके तीन लक्षण स्वीकार किये हैं ॥ ८२½ ॥

धारणं चापि विद्यानां तीर्थानामवगाहनम् ॥ ८३ ॥
क्षमा सत्यार्जवं शौचं सतामाचारदर्शनम्।

सब विद्याओंका अध्ययन, सब तीर्थोंमें स्नान, क्षमा, सत्य, सरलता और शौच (पवित्रता)—ये श्रेष्ठ पुरुषोंके आचारको लक्षित करानेवाले हैं ॥ ८३½ ॥

सर्वभूतदयावन्तो अहिंसानिरताः सदा ॥ ८४ ॥
परुषं च न भाषन्ते सदा सन्तो द्विजप्रियाः।

जो समस्त प्राणियोंपर दया करते, सदा अहिंसा-धर्मके पालनमें तत्पर रहते और कभी किसीसे कटु वचन नहीं बोलते, ऐसे संत सदा समस्त द्विजोंके प्रिय होते हैं ॥८४½॥

शुभानामशुभानां च कर्मणां फलसंचये ॥ ८५ ॥
विपाकमभिजानन्ति ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः।

जो शुभ और अशुभ कर्मोंके फलसंचयमें सम्बन्ध रखनेवाले परिणामको जानते हैं, वे शिष्ट कहे गये हैं और शिष्ट पुरुषोंमें उनका समादर होता है ॥ ८५½ ॥

न्यायोपेता गुणोपेताः सर्वलोकहितैषिणः ॥ ८६ ॥
सन्तः स्वर्गजितः शुक्लाः संनिविष्टाश्च सत्पथे।

जो न्यायपरायण, सद्गुणसम्पन्न, सब लोगोंका हित चाहनेवाले, हिंसारहित और सन्मार्गपर चलनेवाले हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष स्वर्गलोकपर विजय पाते हैं ॥ ८६½ ॥

दातारः संविभक्तारो दीनानुग्रहकारिणः ॥ ८७ ॥
सर्वपूज्याः श्रुतधनास्तथैव च तपस्विनः।
सर्वभूतदयावन्तस्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ॥ ८८ ॥

जो सबको दान देनेवाले, अपने कुटुम्बीजनोंमें प्रत्येक वस्तुको समानरूपसे बाँटकर उसका उपयोग करनेवाले, दीनजनोंपर कृपाभाव बनाये रखनेवाले, शास्त्रज्ञानके धनी, सबके लिये समादरणीय, तपस्वी और समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु हैं, वे श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सम्मानित शिष्ट कहे गये हैं ॥

दानशिष्टाः सुखाँल्लोकानाप्नुवन्तीह च श्रियम्।
पीडया च कलत्रस्य भृत्यानां च समाहिताः ॥ ८९ ॥
अतिशक्त्या प्रयच्छन्ति सन्तः सद्भिः समागताः।
लोकयात्रां च पश्यन्तो धर्ममात्महितानि च ॥ ९० ॥

जो दानसे अवशिष्ट वस्तुका उपयोग करनेवाले हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष इस लोकमें सम्पत्ति और परलोकमें सुखमय लोक प्राप्त करते हैं। शिष्ट पुरुषोंके पास जब उत्तम पुरुष कुछ माँगनेके लिये पधारते हैं, उस समय वे अपनी स्त्री तथा कुटुम्बी जनोंको कष्ट देकर भी मनोयोगपूर्वक अपनी शक्तिसे अधिक दान देते हैं। न्यायपूर्वक लोकयात्राका निर्वाह कैसे हो? धर्मकी रक्षा और आत्माका कल्याण किस प्रकार हो? इन्हीं बातोंकी ओर उनकी दृष्टि रहती है ॥ ८९-९० ॥

एवं सन्तो वर्तमानास्त्वेधन्ते शाश्वतीः समाः।
अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यमथार्जवम् ॥ ९१ ॥
अद्रोहो नाभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः।
धीमन्तो धृतिमन्तश्च भूतानामनुकम्पकाः ॥ ९२ ॥
अकामद्वेषसंयुक्तास्ते सन्तो लोकसाक्षिणः।

ऐसा बर्ताव करनेवाले संत पुरुष अनन्त कालतक उन्नतिकी ओर अग्रसर होते रहते हैं। जो अहिंसा, सत्यभाषण, कोमलता, सरलता, अद्रोह, अहङ्कारका त्याग, लज्जा, क्षमा, शम, दम—इन गुणोंसे युक्त बुद्धिमान्, धैर्यवान्, समस्त प्राणियोंपर अनुग्रह करनेवाले तथा राग-द्वेषसे रहित हैं, वे संत सम्पूर्ण लोकोंके लिये प्रमाणभूत हैं ॥९१-९२½॥

त्रीण्येव तु पदान्याहुः सतां व्रतमनुत्तमम् ॥ ९३ ॥
न चैव द्रुह्येद् दद्याच्च सत्यं चैव सदा वदेत्।

श्रेष्ठ पुरुष तीन ही पद बताते हैं—किसीसे द्रोह न करे, दान करे और सदा सत्य ही बोले। यह श्रेष्ठ पुरुषोंका सर्वोत्तम व्रत है ॥ ९३½ ॥

सर्वत्र च दयावन्तः सन्तः करुणवेदिनः ॥ ९४ ॥
गच्छन्तीह सुसंतुष्टा धर्मपन्थानमुत्तमम्।
शिष्टाचारा महात्मानो येषां धर्मः सुनिश्चितः ॥ ९५ ॥

जो सर्वत्र दया करते हैं, जिनके हृदयमें करुणाकी अनुभूति होती है, वे श्रेष्ठ पुरुष इस लोकमें अत्यन्त संतुष्ट रहकर धर्मके उत्तम पथपर चलते हैं। जिन्होंने धर्मको अपनाये रखनेका दृढ़ निश्चय कर लिया है, वे ही महात्मा सदाचारी हैं॥

अनसूया क्षमा शान्तिः संतोषः प्रियवादिता।
कामक्रोधपरित्यागः शिष्टाचारनिषेवणम् ॥ ९६ ॥
कर्मणा श्रुतसम्पन्नं सतां मार्गमनुत्तमम्।

दोषदृष्टिका अभाव, क्षमा, शान्ति, संतोष, प्रियभाषण और काम-क्रोधका त्याग, शिष्टाचारका सेवन और शास्त्रके अनुकूल कर्म करना—यह श्रेष्ठ पुरुषोंका अति उत्तम मार्ग है ॥ ९६½ ॥

शिष्टाचारं निषेवन्ते नित्यं धर्मनुव्रताः ॥ ९७ ॥
प्रज्ञाप्रासादमारुह्य मुच्यन्ते महतो भयात् ।
प्रेक्षन्तो लोकवृत्तानि विविधानि द्विजोत्तम ॥ ९८ ॥
अतिपुण्यानि पापानि तानि द्विजवरोत्तम ।

द्विजश्रेष्ठ ! जो धर्मात्मा पुरुष सदा शिष्टाचारका सेवन करते हैं और प्रज्ञारूपी प्रासादपर आरूढ़ हो भाँति-भाँतिके लोकचरित्रोंका निरीक्षण तथा अत्यन्त पुण्य एवं पापकर्मोंकी समीक्षा करते हैं, वे महान् भयसे मुक्त हो जाते हैं॥९७-९८½॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् ।
शिष्टाचारगुणं ब्रह्मन् पुरस्कृत्य द्विजर्षभ ॥ ९९ ॥

ब्रह्मन् ! विप्रवर ! इस प्रकार शिष्टाचारके गुणोंके सम्बन्धमें मैंने जैसा जाना और सुना है, वह सब आपसे कह सुनाया है ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणव्याधसंवादविषयक दो सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२०७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १००½ श्लोक हैं)

अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्मव्याधद्वारा हिंसा और अहिंसाका विवेचन

मार्कण्डेय उवाच

स तु विप्रमथोवाच धर्मव्याधो युधिष्ठिर ।
यदहमाचरे कर्म घोरमेतदसंशयम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर धर्मव्याधने कौशिक ब्राह्मणसे कहा—'मैं जो यह मांस बेचनेका व्यवसाय कर रहा हूँ, वास्तवमें यह अत्यन्त घोर कर्म है, इसमें संशय नहीं है ॥ १ ॥

विधिस्तु बलवान् ब्रह्मन् दुस्तरं हि पुरा कृतम् ।
पुरा कृतस्य पापस्य कर्मदोषो भवत्ययम् ॥ २ ॥
दोषस्यैतस्य वै ब्रह्मन् विघाते यत्नवानहम् ।

'किंतु ब्रह्मन् ! दैव बलवान् है । पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मका ही नाम दैव है । उससे पार पाना बहुत कठिन है। यह जो कर्मदोषजनित व्याधके घर जन्म हुआ है, यह मेरे पूर्वजन्ममें किये हुए पापका ही फल है । ब्रह्मन् ! मैं इस दोषके निवारणके लिये प्रयत्नशील हूँ ॥ २½ ॥

विधिना हि हते पूर्वं निमित्तं घातको भवेत् ॥ ३ ॥

'क्योंकि विधाताके द्वारा पहलेसे ही जीवकी मृत्यु निश्चित की जाती है; किंतु घातक (कसाई अथवा व्याध) उसमें निमित्त बन जाता है अर्थात् जो स्वेच्छासे ज्ञानपूर्वक जीवहिंसा करता है, वह घातक व्यर्थ ही निमित्त बनकर दोषका भागी होता है ॥ ३ ॥

निमित्तभूता हि वयं कर्मणोऽस्य द्विजोत्तम ।
येषां हतानां मांसानि विक्रीणामीह वै द्विज ॥ ४ ॥
तेषामपि भवेद् धर्म उपयोगे न भक्षणे ।
देवतातिथिभृत्यानां पितॄणां चापि पूजनम् ॥ ५ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! इस कार्यमें हम निमित्तमात्र हैं । ब्रह्मन् ! मैं जिन मारे गये प्राणियोंका मांस बेचता हूँ, उनके जीते-जी यदि उनका सदुपयोग किया जाता तो बड़ा धर्म होता । मांस-भक्षणमें तो धर्मका नाम भी नहीं है (उलटे महान् अधर्म होता है) । देवता, अतिथि, भरणीय कुटुम्बीजन और पितरोंका पूजन (आदर-सत्कार) अवश्य धर्म है ॥ ४-५ ॥

ओषध्यो वीरुधश्चैव पशवो मृगपक्षिणः ।
अनादिभूता भूतानामित्यपि श्रूयते श्रुतिः ॥ ६ ॥

'ओषधियाँ, अन्न, तृण, लता, पशु, मृग और पक्षी आदि सभी वस्तुएँ सम्पूर्ण प्राणियोंके अनादिकालसे उपयोगमें आती रहती हैं—ऐसी श्रुति भी सुनी जाती है ॥ ६ ॥

आत्ममांसप्रसादेन शिबिरौशीनरो नृपः ।
स्वर्गं सुदुर्गमं प्राप्तः क्षमावान् द्विजसत्तम ॥ ७ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! उशीनरके पुत्र क्षमाशील (और दयालु) राजा शिबिने (एक भूखे बाजको कबूतरके बदले) अपने शरीरका मांस अर्पित कर दिया था और उसीके प्रसादसे उन्हें परम दुर्लभ स्वर्गलोककी प्राप्ति हुई थी ॥ ७ ॥

स्वधर्म इति कृत्वा तु न त्यजामि द्विजोत्तम ।
पुरा कृतमिति ज्ञात्वा जीवाम्येतेन कर्मणा ॥ ८ ॥

'विप्रवर ! मैं अपना स्वधर्म समझकर यह धंधा नहीं छोड़ रहा हूँ । पहलेसे मेरे पूर्वज यही करते आये हैं, ऐसा समझकर मैं इसी कर्मसे जीवन-निर्वाह करता हूँ ॥ ८ ॥

स्वकर्म त्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इह दृश्यते ।
स्वकर्मनिरतो यस्तु धर्मः स इति निश्चयः ॥ ९ ॥

'ब्रह्मन् ! अपने कर्मका परित्याग करनेवालेको यहाँ अधर्मकी प्राप्ति देखी जाती है । जो अपने कर्ममें तत्पर है, उसीका बर्ताव धर्मपूर्ण है, ऐसा सिद्धान्त है ॥ ९ ॥

पूर्वं हि विहितं कर्म देहिनं न विमुञ्चति।
धात्रा विधिरयं दृष्टो बहुधा कर्मनिर्णये ॥ १० ॥

'पहलेका किया हुआ कर्म देहधारी मनुष्यको नहीं छोड़ता है। बहुधा कर्मका निर्णय करते समय विधाताने इसी विधिको अपने सामने रक्खा है ॥ १० ॥

द्रष्टव्या तु भवेत् प्रज्ञा क्रूरे कर्मणि वर्तता।
कथं कर्म शुभं कुर्यां कथं मुच्ये पराभवात् ॥ ११ ॥

'जो क्रूर कर्ममें लगा हुआ है, उसे सदा यह सोचते रहना चाहिये कि 'मैं कैसे शुभ कर्म करूँ और किस प्रकार इस निन्दित कर्मसे छुटकारा पाऊँ' ॥ ११ ॥

कर्मणस्तस्य घोरस्य बहुधा निर्णयो भवेत्।
दाने च सत्यवाक्ये च गुरुशुश्रूषणे तथा ॥ १२ ॥
द्विजातिपूजने चाहं धर्मे च निरतः सदा।
अभिमानातिवादाभ्यां निवृत्तोऽस्मि द्विजोत्तम॥ १३ ॥

'बार-बार ऐसा करनेसे उस घोर कर्मसे छूटनेके विषयमें कोई निश्चित उपाय प्राप्त हो जाता है। द्विजश्रेष्ठ! मैं दान, सत्यभाषण, गुरुसेवा, ब्राह्मणपूजन तथा धर्मपालनमें सदा तत्पर रहकर अभिमान और अतिवादसे दूर रहता हूँ॥ १२-१३॥

कृषिं साध्विति मन्यन्ते तत्र हिंसा परा स्मृता।
कर्षन्तो लाङ्गलैः पुंसो घ्नन्ति भूमिशयान् बहून्।
जीवानन्यांश्च बहुशस्तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ १४ ॥

'कुछ लोग खेतीको उत्तम मानते हैं, परंतु उसमें भी बहुत बड़ी हिंसा होती है। हल चलानेवाले मनुष्य धरतीके भीतर शयन करनेवाले बहुत-से प्राणियोंकी हत्या कर डालते हैं। इनके सिवा और भी बहुत-से जीवोंका वध वे करते रहते हैं। इस विषयमें आप क्या समझते हैं?॥ १४ ॥

धान्यबीजानि यान्याहुर्व्रीह्यादीनि द्विजोत्तम।
सर्वाण्येतानि जीवानि तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ १५ ॥

'द्विजश्रेष्ठ! धान आदि जितने अन्नके बीज हैं, वे सब-के-सब जीव ही हैं; अतः इस विषयमें आप क्या समझते हैं?॥

अध्याक्रम्य पशूंश्चापि घ्नन्ति वै भक्षयन्ति च।
वृक्षांस्तथौषधीश्चापि छिन्दन्ति पुरुषा द्विज ॥ १६ ॥
जीवा हि बहवो ब्रह्मन् वृक्षेषु च फलेषु च।
उदके बहवश्चापि तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ १७ ॥

'विप्रवर! कितने ही मनुष्य पशुओंपर आक्रमण करके उन्हें मारते और खाते हैं। वृक्षों तथा ओषधियों (अन्नके पौधों) को काटते हैं। वृक्षों और फलोंमें भी बहुत-से जीव रहते हैं। जलमें भी नाना प्रकारके जीव रहते हैं। ब्रह्मन्! उनके विषयमें आप क्या समझते हैं?॥ १६-१७ ॥

सर्वं व्याप्तमिदं ब्रह्मन् प्राणिभिः प्राणिजीवनैः।
मत्स्यान् ग्रसन्ते मत्स्याश्च तत्र किं प्रतिभाति ते॥ १८ ॥

'जीवोंसे ही जीवन-निर्वाह करनेवाले जीवोंद्वारा यह सारा जगत् व्याप्त है। मत्स्य मत्स्योंतकको अपना ग्रास बना लेते हैं। उनके विषयमें आप क्या समझते हैं?॥ १८ ॥

सत्त्वैः सत्त्वानि जीवन्ति बहुधा द्विजसत्तम।
प्राणिनोऽन्योन्यभक्षाश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ १९ ॥

'द्विजश्रेष्ठ! बहुधा जीव जीवोंसे ही जीवन धारण करते हैं और प्राणी स्वयं ही एक-दूसरेको अपना आहार बना लेते हैं। उनके विषयमें आप क्या समझते हैं?॥ १९ ॥

चङ्क्रम्यमाणा जीवांश्च धरणीसंश्रितान् बहून्।
पद्भ्यां घ्नन्ति नरा विप्र तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ २० ॥

'मनुष्य चलते-फिरते समय धरतीके बहुत-से जीव-जन्तुओंको (असावधानीपूर्वक) पैरोंसे मार देते हैं। ब्रह्मन्! उनके विषयमें आप क्या समझते हैं?॥ २० ॥

उपविष्टाः शयानाश्च घ्नन्ति जीवाननेकशः।
ज्ञानविज्ञानवन्तश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ २१ ॥

'ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न पुरुष भी (अनजानमें) बैठते-सोते समय अनेक जीवोंकी हिंसा कर बैठते हैं। उनके विषयमें आप क्या समझते हैं?॥ २१ ॥

जीवैर्ग्रस्तमिदं सर्वमाकाशं पृथिवी तथा।
अविज्ञानाच्च हिंसन्ति तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ २२ ॥

'आकाशसे लेकर पृथ्वीतक यह सारा जगत् जीवोंसे भरा हुआ है। कितने ही मनुष्य अनजानमें भी जीवहिंसा करते हैं। इस विषयमें आप क्या समझते हैं?॥ २२ ॥

अहिंसेति यदुक्तं हि पुरुषैर्विस्मितैः पुरा।
के न हिंसन्ति जीवान् वै लोकेऽस्मिन् द्विजसत्तम।
बहु संचिन्त्य इति वै नास्ति कश्चिदहिंसकः ॥ २३ ॥

'पूर्वकालके अभिमानशून्य श्रेष्ठ पुरुषोंने जो अहिंसाका उपदेश किया है (उसका तत्त्व समझना चाहिये; क्योंकि) द्विजश्रेष्ठ! (स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो) इस संसारमें कौन जीवहिंसा नहीं करते हैं? बहुत सोच-विचारकर मैं इस निश्चयपर पहुँचा हूँ कि कोई भी (क्रियाशील मनुष्य) अहिंसक नहीं है॥ २३ ॥

अहिंसायां तु निरता यतयो द्विजसत्तम।
कुर्वन्त्येव हि हिंसां ते यत्नादल्पतरा भवेत् ॥ २४ ॥

'द्विजश्रेष्ठ! यतिलोग अहिंसा-धर्मके पालनमें तत्पर होते हैं, परंतु वे भी हिंसा कर ही डालते हैं (अर्थात् उनके द्वारा भी हिंसा हो ही जाती है)। अवश्य ही यत्नपूर्वक चेष्टा करनेसे हिंसाकी मात्रा बहुत कम हो सकती है॥ २४ ॥

आलक्ष्याश्चैव पुरुषाः कुले जाता महागुणाः।
महाघोराणि कर्माणि कृत्वा लज्जन्ति वै द्विज॥ २५ ॥

'ब्रह्मन् ! उत्तम कुलमें उत्पन्न, परम सद्गुणसम्पन्न और श्रेष्ठ माने जानेवाले पुरुष भी अत्यन्त भयानक कर्म करके लज्जाका अनुभव करते ही हैं ॥ २५ ॥

सुहृदः सुहृदोऽन्यांश्च दुर्हृदश्चापि दुर्हृदः।
सम्यक् प्रवृत्तान् पुरुषान् न सम्यगनुपश्यतः ॥ २६ ॥

'मित्र दूसरे मित्रोंको और शत्रु अपने शत्रुओंको, वे अच्छे कर्ममें लगे हुए हों तो भी अच्छी दृष्टिसे नहीं देखते ॥

समृद्धैश्च न नन्दन्ति बान्धवा बान्धवैरपि।
गुरूंश्चैव विनिन्दन्ति मूढाः पण्डितमानिनः ॥ २७ ॥

'बन्धु-बान्धव अपने समृद्धिशाली बान्धवोंसे भी प्रसन्न नहीं रहते। अपनेको पण्डित माननेवाले मूढ़ मनुष्य गुरुजनोंकी भी निन्दा करते हैं ॥ २७ ॥

बहु लोके विपर्यस्तं दृश्यते द्विजसत्तम।
धर्मयुक्तमधर्मं च तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ २८ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! इस प्रकार जगत्में अनेक उल्टी बातें दिखायी देती हैं। अधर्म भी धर्मसे युक्त प्रतीत होता है। इस विषयमें आप क्या समझते हैं ? ॥ २८ ॥

वक्तुं बहुविधं शक्यं धर्माधर्मेषु कर्मसु।
स्वकर्मनिरतो यो हि स यशः प्राप्नुयान्महत् ॥ २९ ॥

'धर्म और अधर्मसम्बन्धी कार्योंके विषयमें और भी बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं। अतएव जो अपने कुलोचित कर्ममें लगा हुआ है, वही महान् यशका भागी होता है' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने ब्राह्मणव्याध-संवादे अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें पतिव्रतोपाख्यानके प्रसङ्गमें ब्राह्मणव्याधसंवादविषयक दो सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०८ ॥

नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्मकी सूक्ष्मता, शुभाशुभ कर्म और उनके फल तथा ब्रह्मकी प्राप्तिके उपायोंका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

धर्मव्याधस्तु निपुणं पुनरेव युधिष्ठिर।
विप्रर्षभमुवाचेदं सर्वधर्मभृतां वर ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तदनन्तर धर्मव्याधने विप्रवर कौशिकसे पुनः कुशलतापूर्वक कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

व्याध उवाच

श्रुतिप्रमाणो धर्मोऽयमिति वृद्धानुशासनम्।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य बहुशाखा ह्यनन्तिका ॥ २ ॥

व्याध बोला—वृद्ध पुरुषोंका कहना है कि 'धर्मके विषयमें केवल वेद ही प्रमाण है।' यह ठीक है, तो भी धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म है। उसके अनन्त भेद और अनेक शाखाएँ हैं ॥ २ ॥

प्राणान्तिके विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत्।
अनृतेन भवेत् सत्यं सत्येनैवानृतं भवेत् ॥ ३ ॥

(वेदके अनुसार सत्य धर्म और असत्य अधर्म हैं, परंतु) यदि किसीके प्राणोंपर संकट आ जाय अथवा कन्या आदिका विवाह तै करना हो तो ऐसे अवसरोंपर प्राणरक्षा आदिके लिये झूठ बोलनेकी आवश्यकता पड़ जाय, तो वहाँ असत्यसे ही सत्यका फल होता है और इसके विपरीत (यदि सत्यभाषणसे किसीके प्राणोंपर संकट आ गया, तो वहाँ) सत्यसे ही असत्यका फल प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा।
विपर्ययकृतोऽधर्मः पश्य धर्मस्य सूक्ष्मताम् ॥ ४ ॥

जिससे परिणाममें प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो, वह वास्तवमें सत्य है। इसके विपरीत जिससे किसीका अहित होता हो या दूसरोंके प्राण जाते हों, वह देखनेमें सत्य होनेपर भी वास्तवमें असत्य एवं अधर्म है।* इस प्रकार विचार करके देखिये, धर्मकी गति कितनी सूक्ष्म है ॥ ४ ॥

यत् करोत्यशुभं कर्म शुभं वा यदि सत्तम।
अवश्यं तत् समाप्नोति पुरुषो नात्र संशयः ॥ ५ ॥

* कर्णपर्वके उनहत्तरवें अध्यायमें छियालीसवेंसे तिरपनवें श्लोकोंमें एक कथा आती है। कौशिक नामका एक तपस्वी ब्राह्मण था। उसने यह व्रत ले लिया कि 'मैं सदा सत्य बोलूँगा।' एक दिन कुछ लोग लुटेरोंके भयसे छिपनेके लिये उसके आश्रमके पासके वनमें घुस गये। खोज करते हुए लुटेरोंने सत्यवादी कौशिकसे पूछा। उनके पूछनेपर कौशिकने सच्ची बात कह दी। पता लग जानेपर उन निर्दयी डाकुओंने उन लोगोंको पकड़कर मार डाला। इस प्रकार सत्य बोलनेके कारण लोगोंकी हिंसा हो जानेसे उस पापके फलस्वरूप कौशिकको नरक जाना पड़ा।

सज्जनशिरोमणे ! मनुष्य जो शुभ या अशुभ कार्य करता है, उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ५ ॥

विषमां च दशां प्राप्तो देवान् गर्हति वै भृशम्।
आत्मनः कर्मदोषाणि न विजानात्यपण्डितः ॥ ६ ॥

मूर्ख मानव संकटकी दशामें पड़नेपर देवताओंको बहुत कोसता है, उनकी भरपेट निन्दा करता है; किंतु वह वह नहीं समझता कि यह अपने ही कर्मोंका दोषावह परिणाम है ॥ ६ ॥

मूढो नैकृतिकश्चापि चपलश्च द्विजोत्तम।
सुखदुःखविपर्यासान् सदा समुपपद्यते ॥ ७ ॥
नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नैव पौरुषम्।

द्विजश्रेष्ठ ! मूर्ख, शठ और चञ्चल चित्तवाला मनुष्य सदा ही भ्रमवश सुखमें दुःख और दुःखमें सुखबुद्धि कर लेता है। उस समय बुद्धि, उत्तम नीति (शिक्षा) तथा पुरुषार्थ भी उसकी रक्षा नहीं कर पाते ॥ ७½ ॥

योऽयमिच्छेद् यथा कामं तं तं कामं स आप्नुयात्॥ ८ ॥
यदि स्यादपराधीनं पौरुषस्य क्रियाफलम्।

यदि पुरुषार्थजनित कर्मका फल पराधीन न होता, तो जिसकी जो इच्छा होती, उसीको वह प्राप्त कर लेता ॥ ८½ ॥

संयताश्चापि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः ॥ ९ ॥
दृश्यन्ते निष्फलाः सन्तः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः।

किंतु बड़े-बड़े संयमी, कार्यकुशल और बुद्धिमान् मनुष्य भी अपना काम करते-करते थक जाते हैं, तो भी वे इच्छानुसार फलकी प्राप्तिसे वञ्चित ही देखे जाते हैं ॥ ९½ ॥

भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः ॥ १० ॥
वञ्चनायां च लोकस्य स सुखी जीवते सदा।

तथा दूसरा मनुष्य, जो निरन्तर जीवोंकी हिंसाके लिये उद्यत रहता है और सदा लोगोंको ठगनेमें ही लगा रहता है, वह सुखपूर्वक जीवन बिताता देखा जाता है ॥ १०½ ॥

अचेष्टमपि चासीनं श्रीः कंचिदुपतिष्ठति ॥ ११ ॥
कश्चित् कर्माणि कुर्वन् हि न प्राप्यमधिगच्छति।

कोई बिना उद्योग किये चुपचाप बैठा रहता है और लक्ष्मी उसकी सेवामें उपस्थित हो जाती है और कोई सदा काम करते रहनेपर भी अपने उचित वेतनसे भी वञ्चित रह जाता है (ऐसा देखा जाता है) ॥ ११½ ॥

देवानिष्ट्वा तपस्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः ॥ १२ ॥
दशमासधृता गर्भे जायन्ते कुलपांसनाः।

कितने ही दीन मनुष्य पुत्रकी कामना रखकर देवताओंको पूजते और कठिन तपस्या करते हैं, तो भी उनके द्वारा [illegible] होकर जो पुत्र पैदा होते हैं, वे कुलाङ्गार निकल जाते हैं* ॥ १२½ ॥

अपरे धनधान्यैश्च भोगैश्च पितृसंचितैः ॥ १३ ॥
विपुलैरभिजायन्ते लब्धास्तैरेव मङ्गलैः।

और दूसरे बहुत-से ऐसे भी हैं, जो अपने पिताके द्वारा जोड़कर रक्खे हुए धन-धान्य तथा भोग-विलासके प्रचुर साधनोंके साथ पैदा होते हैं और उनकी प्राप्ति भी उन्हीं माङ्गलिक कृत्योंके अनुष्ठानसे होती है ॥ १३½ ॥

कर्मजा हि मनुष्याणां रोगा नास्त्यत्र संशयः ॥ १४ ॥
आधिभिश्चैव बाध्यन्ते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव।

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्योंके जो रोग होते हैं, वे उनके कर्मोंके ही फल हैं। जैसे बहेलिये छोटे मृगोंको पीडा देते हैं, उसी प्रकार वे रोग और आधि-व्याधियाँ जीवोंको पीडा देती रहती हैं ॥ १४½ ॥

ते चापि कुशलैर्वैद्यैर्निपुणैः सम्भृतौषधैः ॥ १५ ॥
व्याधयो विनिवार्यन्ते मृगा व्याधैरिव द्विज।

ब्रह्मन् ! (उनका भोग पूरा होनेपर) ओषधियोंका संग्रह करनेवाले चिकित्साकुशल चतुर चिकित्सक उन रोगव्याधियोंका उसी प्रकार निवारण कर देते हैं, जैसे व्याध मृगोंको भगा देते हैं ॥ १५½ ॥

येषामस्ति च भोक्तव्यं ग्रहणीदोषपीडिताः ॥ १६ ॥
न शक्नुवन्ति ते भोक्तुं पश्य धर्मभृतां वर।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ कौशिक ! देखो, जिनके यहाँ भोजनका भण्डार भरा पड़ा है, उन्हें प्रायः संग्रहणी सता रही है, वे उसका उपभोग नहीं कर पाते ॥ १६½ ॥

अपरे बाहुबलिनः क्लिश्यन्ते बहवो जनाः ॥ १७ ॥
दुःखेन चाधिगच्छन्ति भोजनं द्विजसत्तम।

विप्रवर ! दूसरे बहुत-से ऐसे मनुष्य हैं, जिनकी भुजाओंमें बल है—जो स्वस्थ और अन्नको पचानेमें समर्थ हैं, परंतु उन्हें बड़ी कठिनाईसे भोजन मिल पाता है—वे सदा ही अन्नका कष्ट भोगते रहते हैं ॥ १७½ ॥

इति लोकमनाक्रन्दं मोहशोकपरिप्लुतम् ॥ १८ ॥
स्रोतसासकृदाक्षिप्तं ह्रियमाणं बलीयसा।

इस प्रकार यह संसार असहाय तथा मोह, शोकमें डूबा हुआ है। कर्मोंके अत्यन्त प्रबल प्रवाहमें पड़कर बार-बार उसकी आधि-व्याधिरूपी तरङ्गोंके थपेड़े सहता और विवश होकर इधर-उधर बहता रहता है ॥ १८½ ॥

*धर्मकी गति सूक्ष्म होनेके कारण देखनेमें विपरीतता दीखती [illegible]

न म्रियेयुर्न जीर्येयुः सर्वे स्युः सार्वकामिकाः ॥ १९ ॥
नाप्रियं प्रतिपश्येयुर्वशित्वं यदि वै भवेत्।

यदि जीव अपने वशमें होते तो वे न मरते और न बूढ़े ही होते। सभी सब तरहकी मनचाही वस्तुओंको प्राप्त कर लेते। किसीको अप्रिय घटना नहीं देखनी पड़ती ॥ १९½ ॥

उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गन्तुं समीहते।
यतते च यथाशक्ति न च तद् वर्तते तथा ॥ २० ॥

सब लोग सारे जगत्के ऊपर-ऊपर जानेकी इच्छा रखते हैं—सभी सबसे ऊँचा होना चाहते हैं और उसके लिये वे यथाशक्ति प्रयत्न भी करते हैं, परंतु (सभी जगह) वैसा होता नहीं है ॥ २० ॥

बहवः सम्प्रदृश्यन्ते तुल्यनक्षत्रमङ्गलाः।
महच्च फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसंधिषु ॥ २१ ॥

बहुत-से ऐसे मनुष्य देखे जाते हैं, जिनका जन्म एक ही नक्षत्रमें हुआ है और जिनके लिये मङ्गल कृत्य भी समानरूपसे ही किये गये हैं, परंतु विभिन्न प्रकारके कर्मोंका संग्रह होनेके कारण उन्हें प्राप्त होनेवाले फलमें महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है ॥ २१ ॥

न केचिदीशते ब्रह्मन् स्वयंग्राह्यस्य सत्तम।
कर्मणां प्राक् कृतानां वै इह सिद्धिः प्रदृश्यते ॥ २२ ॥

ब्रह्मन्! साधुशिरोमणे! कोई अपने हाथमें आयी हुई वस्तुका भी उपयोग करनेमें समर्थ नहीं है। इस जगत्में पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंके ही फलकी प्राप्ति देखी जाती है ॥ २२ ॥

यथाश्रुतिरियं ब्रह्मन् जीवः किल सनातनः।
शरीरमध्रुवं लोके सर्वेषां प्राणिनामिह ॥ २३ ॥

विप्रवर! श्रुतिके अनुसार यह जीवात्मा निश्चय ही सनातन है और इस संसारमें समस्त प्राणियोंका शरीर नश्वर है ॥ २३ ॥

वध्यमाने शरीरे तु देहनाशो भवत्युत।
जीवः सङ्क्रमतेऽन्यत्र कर्मबन्धनिबन्धनः ॥ २४ ॥

शरीरपर आघात करनेसे उस शरीरका नाश तो हो जाता है; किंतु अविनाशी जीव नहीं मरता। वह कर्मोंके बन्धनमें बँधकर फिर दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाता है ॥ २४ ॥

ब्राह्मण उवाच

कथं धर्मविदां श्रेष्ठ जीवो भवति शाश्वतः।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्त्वेन वदतां वर ॥ २५ ॥

ब्राह्मणने पूछा—धर्मज्ञों तथा वक्ताओंमें श्रेष्ठ व्याध! जीव सनातन कैसे है? मैं इस विषयको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ ॥ २५ ॥

व्याध उवाच

न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे
मिथ्यैतदाहुर्म्रियते किलेति।
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति
दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ॥ २६ ॥

धर्मव्याधने कहा—ब्रह्मन्! देहका नाश होनेपर जीवका नाश नहीं होता। मनुष्योंका यह कथन कि 'जीव मरता है' मिथ्या ही है, किंतु जीव तो इस शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें चला जाता है। शरीरके पाँचों तत्त्वोंका पृथक्-पृथक् पाँच भूतोंमें मिल जाना ही उसका नाश कहलाता है ॥ २६ ॥

अन्यो हि नाश्नाति कृतं हि कर्म
मनुष्यलोके मनुजस्य कश्चित्।
यत् तेन किंचिद्धि कृतं हि कर्म
तदश्नुते नास्ति कृतस्य नाशः ॥ २७ ॥

इस मानवलोकमें मनुष्यके किये हुए कर्मको (उस कर्ताके सिवा) दूसरा कोई नहीं भोगता है। उसके द्वारा जो कुछ ही कर्म किया गया है, उसे वह स्वयं ही भोगेगा। किये हुए कर्मोंका कभी नाश नहीं होता ॥ २७ ॥

सुपुण्यशीला हि भवन्ति पुण्या
नराधमाः पापकृतो भवन्ति।
नरोऽनुयातस्त्विह कर्मभिः स्वै-
स्ततः समुत्पद्यति भावितस्तैः ॥ २८ ॥

पुण्यात्मा मनुष्य पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करते हैं और नीच मनुष्य पापमें प्रवृत्त होते हैं। यहाँ अपने किये हुए कर्म मनुष्यका अनुसरण करते हैं और उनसे प्रभावित होकर वह दूसरा जन्म धारण करता है ॥ २८ ॥

ब्राह्मण उवाच

कथं सम्भवते योनौ कथं वा पुण्यपापयोः।
जातीः पुण्यास्त्वपुण्याश्च कथं गच्छति सत्तम ॥ २९ ॥

ब्राह्मणने पूछा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ! जीव दूसरी योनिमें कैसे जन्म लेता है, पाप और पुण्यसे उसका सम्बन्ध किस प्रकार होता है तथा उसे पुण्ययोनि और पापयोनिकी प्राप्ति कैसे होती है? ॥ २९ ॥

व्याध उवाच

गर्भाधानसमायुक्तं कर्मेदं सम्प्रदृश्यते।
समासेन तु ते क्षिप्रं प्रवक्ष्यामि द्विजोत्तम ॥ ३० ॥

व्याधने कहा—विप्रवर! गर्भाधान आदि संस्कारसम्बन्धी ग्रन्थोंद्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि यह जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, सब कर्मोंका ही परिणाम है।' अतः किस कर्मसे कहाँ जन्म होता है? इस विषयका मैं तुमसे संक्षेपसे वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ३० ॥

यथा सम्भृतसम्भारः पुनरेव प्रजायते ।
शुभकृच्छुभयोनीषु पापकृत् पापयोनिषु ॥ ३१ ॥

जीव कर्मबीजोंका संग्रह करके जिस प्रकार पुनः जन्म ग्रहण करता है, वह बताया जा रहा है। शुभ कर्म करनेवाला मनुष्य शुभ योनियोंमें और पापकर्म करनेवाला पापयोनियोंमें जन्म लेता है ॥ ३१ ॥

शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत् ।
मोहनीयैर्वियोनीषु त्वधोगामी च किल्बिषी ॥ ३२ ॥

शुभकर्मोंके संयोगसे जीवको देवत्वकी प्राप्ति होती है। शुभ और अशुभ दोनोंके सम्मिश्रणसे उसका मनुष्ययोनिमें जन्म होता है। मोहमें डालनेवाले तामस कर्मोंके आचरणसे जीव पशु, पक्षी आदिकी योनिमें जन्म ग्रहण करता है और जिसने केवल पापका ही संचय किया है, वह नरकगामी होता है ॥ ३२ ॥

जातिमृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः ।
संसारे पच्यमानश्च दोषैरात्मकृतैर्नरः ॥ ३३ ॥

मनुष्य अपने ही किये हुए अपराधोंके कारण जन्म-मृत्यु और जरासम्बन्धी दुःखोंसे सदा पीडित हो बारंबार संसारमें पचता रहता है ॥ ३३ ॥

तिर्यग्योनिसहस्राणि गत्वा नरकमेव च ।
जीवाः सम्परिवर्तन्ते कर्मबन्धनिबन्धनाः ॥ ३४ ॥

कर्मबन्धनमें बँधे हुए (पापी) जीव सहस्रों प्रकारकी तिर्यक् योनियों तथा नरकोंमें चक्कर लगाया करते हैं ॥ ३४ ॥

जन्तुस्तु कर्मभिस्तैस्तैः स्वकृतैः प्रेत्य दुःखितः ।
तद्दुःखप्रतिघातार्थमपुण्यां योनिमाप्नुते ॥ ३५ ॥

प्रत्येक जीव अपने किये हुए कर्मोंसे ही मृत्युके पश्चात् दुःख भोगता है और उस दुःखका भोग करनेके लिये ही वह (चाण्डालादि) पापयोनिमें जन्म लेता है ॥ ३५ ॥

ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यं नवं बहु ।
पच्यते तु पुनस्तेन भुक्त्वापथ्यमिवातुरः ॥ ३६ ॥

वहाँ फिर नये-नये बहुत-से पापकर्म कर डालता है, जिसके कारण कुपथ्य खा लेनेवाले रोगीकी भाँति उसे नाना प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं ॥ ३६ ॥

अजस्रमेव दुःखार्तोऽदुःखितः सुखसंज्ञितः ।
ततोऽनिवृत्तबन्धत्वात् कर्मणामुदयादपि ॥ ३७ ॥
परिक्रामति संसारे चक्रवद् बहुवेदनः ।

इस प्रकार वह यद्यपि निरन्तर दुःख ही भोगता रहता है, तथापि अपनेको दुखी नहीं मानता। इस दुःखको ही वह सुखकी संज्ञा दे देता है। जबतक बन्धनमें डालनेवाले कर्मोंका भोग पूरा नहीं होता और नये-नये कर्म बनते रहते हैं, तबतक अनेक प्रकारके कष्टोंको सहन करता हुआ वह चक्रकी तरह इस संसारमें चक्कर लगाता रहता है ॥ ३७½ ॥

स चेन्निवृत्तबन्धस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः ॥ ३८ ॥
तपोयोगसमारम्भं कुरुते द्विजसत्तम ।
कर्मभिर्बहुभिश्चापि लोकानश्नाति मानवः ॥ ३९ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! जब बन्धनकारक कर्मोंका भोग पूरा हो जाता है और सत्कर्मोंके द्वारा मनुष्यमें शुद्धि आ जाती है, तब वह तप और योगका आरम्भ करता है। अतः बहुत-से शुभकर्मोंके फलस्वरूप उसे उत्तम लोकोंका भोग प्राप्त होता है ॥ ३८-३९ ॥

स चेन्निवृत्तबन्धस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः ।
प्राप्नोति सुकृताँल्लोकान् यत्र गत्वा न शोचति ॥ ४० ॥

इस प्रकार बन्धनरहित तथा शुद्ध हुआ मनुष्य अपने पुण्य कर्मोंके प्रभावसे पुण्यलोक प्राप्त करता है, जहाँ जाकर कोई भी शोक नहीं करता है ॥ ४० ॥

पापं कुर्वन् पापवृत्तः पापस्यान्तं न गच्छति ।
तस्मात् पुण्यं यतेत् कर्तुं वर्जयीत च पापकम् ॥ ४१ ॥

पाप करनेवाले मनुष्यको पापकी आदत हो जाती है, फिर उसके पापका अन्त नहीं होता; अतः मनुष्यको चाहिये कि वह पुण्य कर्म करनेका ही प्रयत्न करे और पापको सर्वथा त्याग दे ॥ ४१ ॥

अनसूयुः कृतज्ञश्च कल्याणानि च सेवते ।
सुखानि धर्ममर्थं च स्वर्गं च लभते नरः ॥ ४२ ॥

पुण्यात्मा मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और कृतज्ञ होकर कल्याणकारी कर्मोंका सेवन करता है तथा उसे सुख, धर्म, अर्थ एवं स्वर्गकी प्राप्ति होती है ॥ ४२ ॥

संस्कृतस्य च दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः ।
प्राज्ञस्यानन्तरा वृत्तिरिह लोके परत्र च ॥ ४३ ॥

जो संस्कारसम्पन्न, जितेन्द्रिय, शौचाचारपरायण और मनको काबूमें रखनेवाला है, उस बुद्धिमान् पुरुषको इहलोक और परलोकमें भी सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ४३ ॥

सतां धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत् ।
असंक्लेशेन लोकस्य वृत्तिं लिप्सेत वै द्विज ॥ ४४ ॥

ब्रह्मन् ! अतः मनुष्यको चाहिये कि वह सत्पुरुषोंके धर्मका पालन करे, शिष्ट पुरुषोंके समान बर्ताव करे और जगत्में किसी भी प्राणीको कष्ट दिये बिना जिससे जीवन-निर्वाह हो सके, ऐसी आजीविका प्राप्त करनेकी इच्छा करे ॥ ४४ ॥

सन्ति ह्यागमविज्ञानाः शिष्टाः शास्त्रे विचक्षणाः ।
स्वधर्मेण क्रिया लोके कर्मणः सोऽप्यसंकरः ॥ ४५ ॥

संसारमें बहुत-से वेदवेत्ता और शास्त्रविचक्षण शिष्ट पुरुष विद्यमान हैं; उनके उपदेशके अनुसार स्वधर्मके पालनपूर्वक

प्रत्येक कार्य करना चाहिये, इससे कर्मोंका संकर नहीं हो पाता ॥ ४५ ॥

प्राज्ञो धर्मेण रमते धर्मं चैवोपजीवति ।
तस्माद् धर्मादवाप्तेन धनेन द्विजसत्तम ॥ ४६ ॥
तस्यैव सिञ्चते मूलं गुणान् पश्यति तत्र वै ।

द्विजश्रेष्ठ ! बुद्धिमान् पुरुष धर्मसे ही आनन्द मानता है, धर्मका ही आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करता है और धर्मसे ही उपलब्ध किये हुए धनसे धनका ही मूल सींचता है अर्थात् धर्मका पालन करता है। वह धर्ममें ही गुण देखता है ॥ ४६½ ॥

धर्मात्मा भवति ह्येवं चित्तं चास्य प्रसीदति ॥ ४७ ॥
स मित्रजनसंतुष्ट इह प्रेत्य च नन्दति ।

इस प्रकार वह धर्मात्मा होता है, उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है तथा मित्रजनोंसे संतुष्ट होकर वह इहलोक और परलोकमें भी आनन्दित होता है ॥ ४७½ ॥

शब्दं स्पर्शं तथा रूपं गन्धानिष्टांश्च सत्तम ॥ ४८ ॥
प्रभुत्वं लभते चापि धर्मस्यैतत् फलं विदुः ।

सज्जनशिरोमणे ! धर्मात्मा पुरुष शब्द, स्पर्श, रूप और प्रिय गन्ध—सभी प्रकारके विषय तथा प्रभुत्व भी प्राप्त करता है। उसकी यह स्थिति धर्मका ही फल मानी गयी है ॥ ४८½ ॥

धर्मस्य च फलं लब्ध्वा न तृप्यति महाद्विज ॥ ४९ ॥
अतृप्यमाणो निर्वेदमापेदे ज्ञानचक्षुषा ।

द्विजोत्तम ! कोई-कोई धर्मके फलरूपसे सांसारिक सुखको पाकर संतुष्ट नहीं होता। वह ज्ञानदृष्टिके कारण विषयभोगके सुखसे तृप्ति-लाभ न करके निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त होता है ॥ ४९½ ॥

प्रज्ञाचक्षुर्नर इह दोषं नैवानुरुध्यते ॥ ५० ॥
विरज्यति यथाकामं न च धर्मं विमुञ्चति ।

इस जगत्‌में ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न पुरुष राग-द्वेष आदि दोषोंका अनुसरण नहीं करता। उसे यथेष्ट वैराग्य होता है तथा वह कभी धर्मका त्याग नहीं करता है ॥ ५०½ ॥

सर्वत्यागे च यतते दृष्ट्वा लोकं क्षयात्मकम् ॥ ५१ ॥
ततो मोक्षे प्रयतते नानुपायादुपायतः ।

सम्पूर्ण जगत्‌को नश्वर समझकर वह सबको त्यागनेका प्रयत्न करता है। तत्पश्चात् उचित उपायसे मोक्षके लिये सचेष्ट होता है। अनुपाय (प्रारब्ध आदि) का अवलम्बन करके बैठ नहीं रहता ॥ ५१½ ॥

एवं निर्वेदमादत्ते पापं कर्म जहाति च ॥ ५२ ॥
धार्मिकश्चापि भवति मोक्षं च लभते परम् ।

इस प्रकार वह वैराग्यको अपनाता और पापकर्मको छोड़ता जाता है। फिर सर्वथा धर्मात्मा हो जाता और अन्तमें परम मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ५२½ ॥

तपो निःश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः ॥ ५३ ॥
तेन सर्वानवाप्नोति कामान् यान् मनसेच्छति ।

जीवके कल्याणका साधन है तप और उसका मूल है शम (मनोनिग्रह) तथा दम (इन्द्रियसंयम)। मनुष्य मनके द्वारा जिन-जिन अभीष्ट पदार्थोंको पाना चाहता है, उन सबको वह उस तपके द्वारा प्राप्त कर लेता है ॥ ५३½ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन सत्येन च दमेन च ।
ब्रह्मणः पदमाप्नोति यत् परं द्विजसत्तम ॥ ५४ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! इन्द्रियसंयम, सत्यभाषण और मनोनिग्रह—इनके द्वारा मनुष्य ब्रह्मके परमपदको प्राप्त कर लेता है ॥ ५४ ॥

ब्राह्मण उवाच

इन्द्रियाणि तु यान्याहुः कानि तानि यतव्रत ।
निग्रहश्च कथं कार्यो निग्रहस्य च किं फलम् ॥ ५५ ॥

ब्राह्मणने पूछा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले व्याध ! जिन्हें इन्द्रिय कहते हैं, वे कौन-कौन हैं ? उनका निग्रह कैसे करना चाहिये ? और उस निग्रहका फल क्या है ? ॥ ५५ ॥

कथं च फलमाप्नोति तेषां धर्मभृतां वर ।
एतदिच्छामि तत्त्वेन धर्मं ज्ञातुं निबोध मे ॥ ५६ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ व्याध ! उन इन्द्रियोंके निग्रहका फल कैसे प्राप्त होता है ? मैं इस इन्द्रिय-निग्रहरूपी धर्मको यथार्थ रूपसे जानना चाहता हूँ। तुम मुझे समझाओ ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ नौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०९ ॥

दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

विषयसेवनसे हानि, सत्सङ्गसे लाभ और ब्राह्मी विद्याका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तस्तु विप्रेण धर्मव्याधो युधिष्ठिर ।
प्रत्युवाच यथा विप्रं तच्छृणुष्व नराधिप ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजा युधिष्ठिर ! ब्राह्मणके इस प्रकार पूछनेपर धर्मव्याधने उसे जैसा उत्तर दिया था, वह सब सुनाता हूँ, सुनो ॥ १ ॥

व्याध उवाच

विज्ञानार्थं मनुष्याणां मनः पूर्वं प्रवर्तते ।
तत् प्राप्य कामं भजते क्रोधं च द्विजसत्तम ॥ २ ॥

धर्मव्याधने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! इन्द्रियोंद्वारा किसी विषयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सबसे पहले मनुष्योंका मन प्रवृत्त होता है । उस विषयको प्राप्त कर लेनेपर मनका उसके प्रति राग या द्वेष हो जाता है ॥ २ ॥

ततस्तदर्थं यतते कर्म चारभते महत् ।
इष्टानां रूपगन्धानामभ्यासं च निषेवते ॥ ३ ॥

जब किसी विषयमें राग होता है, तब मनुष्य उसे पानेके लिये प्रयत्नशील होता है और उसके लिये बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ करता है । जब वे अभीष्ट रूप, गन्ध आदि विषय प्राप्त हो जाते हैं, तब वह उनका बारंबार सेवन करता है ॥

ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदनन्तरम् ।
ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनन्तरम् ॥ ४ ॥

उनके सेवनसे विषयोंके प्रति उत्कट राग प्रकट होता है । फिर उसकी प्रतिकूलतामें द्वेष होता है; द्वेषके अनन्तर अभीष्ट वस्तुके प्रति लोभका प्रादुर्भाव होता है । तत्पश्चात् बुद्धिपर मोह छा जाता है ॥ ४ ॥

ततो लोभाभिभूतस्य रागद्वेषहतस्य च ।
न धर्मे जायते बुद्धिर्व्याजाद् धर्मं करोति च ॥ ५ ॥

इस प्रकार लोभसे आक्रान्त और राग-द्वेषसे पीड़ित मनुष्यकी बुद्धि धर्ममें नहीं लगती । यदि वह धर्म करता भी है, तो कोई बहाना लेकर ॥ ५ ॥

व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते ।
व्याजेन सिध्यमानेषु धनेषु द्विजसत्तम ॥ ६ ॥
तत्रैव रमते बुद्धिस्ततः पापं चिकीर्षति ।

जो किसी बहानेसे धर्माचरण करता है, वह वास्तवमें धर्मकी आड़ लेकर धन चाहता है । द्विजश्रेष्ठ ! जब धर्मके बहानेसे धनकी प्राप्ति होने लगती है, तब उसकी बुद्धि उसीमें रम जाती है और उसके मनमें पापकी इच्छा जाग उठती है ॥

सुहृद्भिर्वार्यमाणश्च पण्डितैश्च द्विजोत्तम ॥ ७ ॥
उत्तरं श्रुतिसम्बद्धं ब्रवीत्यश्रुतियोजितम् ।

विप्रवर ! जब उसे हितैषी मित्र तथा विद्वान् पुरुष ऐसा करनेसे रोकते हैं, तब वह उसके समर्थनमें अशास्त्रीय उत्तर देते हुए भी उसे वेद-प्रतिपादित बताता है ॥ ७½ ॥

अधर्मस्त्रिविधस्तस्य वर्तते रागदोषजः ॥ ८ ॥
पापं चिन्तयते चैव ब्रवीति च करोति च ।
तस्याधर्मप्रवृत्तस्य गुणा नश्यन्ति साधवः ॥ ९ ॥

रागरूपी दोषके कारण उसके द्वारा तीन प्रकारके अधर्म होने लगते हैं—१. वह मनसे पापका चिन्तन करता है, २. वाणीसे पापकी ही बात बोलता है और ३. क्रियाद्वारा भी पापका ही आचरण करता है । इस प्रकार अधर्ममें लग जानेपर उसके सभी अच्छे गुण नष्ट हो जाते हैं ॥ ८-९ ॥

एकशीलैश्च मित्रत्वं भजन्ते पापकर्मिणः ।
स तेन दुःखमाप्नोति परत्र च विपद्यते ॥ १० ॥

वह अपने ही-जैसे स्वभाववाले पापपरायण मनुष्योंसे मित्रता स्थापित कर लेता है । उस पापसे इस लोकमें तो दुःख होता ही है, परलोकमें भी उसे बड़ी विपत्ति भोगनी पड़ती है ॥ १० ॥

पापात्मा भवति ह्येवं धर्मलाभं तु मे शृणु ।
यस्त्वेतान् प्रज्ञया दोषान् पूर्वमेवानुपश्यति ॥ ११ ॥
कुशलः सुखदुःखेषु साधूंश्चाप्युपसेवते ।
तस्य साधुसमारम्भाद् बुद्धिर्धर्मेषु राजते ॥ १२ ॥

इस प्रकार मनुष्य पापात्मा हो जाता है । अब धर्मकी प्राप्ति कैसे होती है, इसको मुझसे सुनो । जो दुःख और सुखके विवेचनमें कुशल है, वह अपनी बुद्धिसे इन विषयसम्बन्धी दोषोंको पहले ही समझ लेता है । अतः उनसे दूर हटकर श्रेष्ठ पुरुषोंका सङ्ग करता है और उस श्रेष्ठसङ्गसे उसकी बुद्धि धर्ममें लग जाती है ॥ ११-१२ ॥

ब्राह्मण उवाच

ब्रवीषि सूनृतं धर्म्यं यस्य वक्ता न विद्यते ।
दिव्यप्रभावः सुमहानृषिरेव मतोऽसि मे ॥ १३ ॥

ब्राह्मण बोला—धर्मव्याध ! तुम धर्मके विषयमें बड़ी मधुर और प्रिय बातें कह रहे हो । इन बातोंको बतानेवाला दूसरा कोई नहीं है । मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम कोई दिव्य प्रभावसे सम्पन्न महान् ऋषि ही हो ॥ १३ ॥

व्याध उवाच

ब्राह्मणा वै महाभागाः पितरोऽग्रभुजः सदा ।
तेषां सर्वात्मना कार्यं प्रियं लोके मनीषिणा ॥ १४ ॥

धर्मव्याधने कहा—ब्रह्मन् ! महाभाग ब्राह्मण और पितर ये सदा प्रथम भोजनके अधिकारी माने गये हैं । अतः बुद्धिमान् पुरुषको इस लोकमें सब प्रकारसे उनका प्रिय करना चाहिये ॥ १४ ॥

यत् तेषां च प्रियं तत् ते वक्ष्यामि द्विजसत्तम ।
नमस्कृत्वा ब्राह्मणेभ्यो ब्राह्मीं विद्यां निबोध मे ॥ १५ ॥

विप्रवर ! उन ब्राह्मणोंको नमस्कार करके उनके लिये जो प्रिय वस्तु है, उसका वर्णन करता हूँ । तुम मुझसे ब्राह्मी विद्या श्रवण करो ॥ १५ ॥

इदं विश्वं जगत् सर्वमजय्यं चापि सर्वशः ।
महाभूतात्मकं ब्रह्म नातः परतरं भवेत् ॥ १६ ॥

पञ्चमहाभूतोंसे बना हुआ यह सम्पूर्ण चराचर जगत् सब प्रकारसे अजेय ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मसे उत्कृष्ट दूसरी कोई वस्तु नहीं है ॥ १६ ॥

महाभूतानि खं वायुरग्निरापस्तथा च भूः।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥ १७ ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी—ये पाँच महाभूत हैं तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये क्रमशः उनके विशेष गुण हैं ॥ १७ ॥

तेषामपि गुणाः सर्वे गुणवृत्तिः परस्परम्।
पूर्वपूर्वगुणाः सर्वे क्रमशो गुणिषु त्रिषु ॥ १८ ॥

उन शब्द आदि गुणोंके भी अनेक गुण-भेद हैं, क्योंकि इन गुणोंका परस्पर संक्रमण भी देखा जाता है। पहले-पहलेके सभी गुण क्रमशः बादवाले तीन गुणवान् भूतों (अग्नि, जल और पृथ्वी) में उपलब्ध होते हैं अर्थात् अग्निमें शब्द, स्पर्श और रूप; जलमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाये जाते हैं ॥ १८ ॥

षष्ठस्तु चेतना नाम मन इत्यभिधीयते।
सप्तमी तु भवेद् बुद्धिरहंकारस्ततः परम् ॥ १९ ॥

इन पाँच भूतोंके अतिरिक्त छठा तत्त्व है चित्त, इसीको मन कहते हैं। सातवाँ तत्त्व बुद्धि है और उसके बाद आठवाँ अहंकार है ॥ १९ ॥

इन्द्रियाणि च पञ्चात्मा रजः सत्त्वं तमस्तथा।
इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः ॥ २० ॥

इनके सिवा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण और सत्त्व, रज, तम—इन सत्रह तत्त्वोंका समूह अव्यक्त कहलाता है ॥ २० ॥

सर्वैरिहेन्द्रियार्थैस्तु व्यक्ताव्यक्तैः सुसंवृतैः।
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गुणः।
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २१ ॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन और बुद्धिके जो व्यक्त और अव्यक्त विषय हैं, जो बुद्धिरूपी गुहामें छिपे रहते हैं, उन्हें सम्मिलित करनेसे चौबीस तत्त्व होते हैं। इन तत्त्वोंका समुदाय ही व्यक्त और अव्यक्तरूप गुण है। (यह सब-का-सब ब्रह्मस्वरूप है।) ब्राह्मण! इस प्रकार ये सब बातें मैंने तुम्हें बतायी हैं, अब और क्या सुनना चाहते हो? ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमाहात्म्ये दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणमाहात्म्यविषयक दो सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१० ॥

एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

पञ्चमहाभूतोंके गुणोंका और इन्द्रियनिग्रहका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तः स विप्रस्तु धर्मव्याधेन भारत।
कथामकथयद् भूयो मनसः प्रीतिवर्धनीम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतनन्दन! धर्मव्याधके इस प्रकार उपदेश देनेपर कौशिक ब्राह्मणने पुनः मनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाली वार्ता प्रारम्भ की ॥ १ ॥

ब्राह्मण उवाच

महाभूतानि यान्याहुः पञ्च धर्मभृतां वर।
एकैकस्य गुणान् सम्यक् पञ्चानामपि मे वद ॥ २ ॥

ब्राह्मण बोला—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ व्याध! जो पाँच महाभूत कहे जाते हैं, उन पाँचोंमेंसे प्रत्येकके गुणोंका मुझसे भलीभाँति वर्णन करो ॥ २ ॥

व्याध उवाच

भूमिरापस्तथा ज्योतिर्वायुराकाशमेव च।
गुणोत्तराणि सर्वाणि तेषां वक्ष्यामि ते गुणान् ॥ ३ ॥

धर्मव्याधने कहा—ब्रह्मन्! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये सब पूर्व-पूर्ववाले तत्त्व अपनेसे उत्तर-उत्तरवालोंके गुणोंसे युक्त हैं। मैं उनके गुणोंका वर्णन करता हूँ ॥ ३ ॥

भूमिः पञ्चगुणा ब्रह्मन्नुदकं च चतुर्गुणम्।
गुणास्त्रयस्तेजसि च त्रयश्चाकाशवातयोः ॥ ४ ॥

विप्रवर! पृथ्वीमें पाँच गुण हैं, जल चार गुणोंसे युक्त है, तेजमें तीन गुण होते हैं, वायुमें दो और आकाशमें एक गुण है ॥ ४ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
एते गुणाः पञ्च भूमेः सर्वेभ्यो गुणवत्तरा ॥ ५ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये भूमिके पाँच गुण हैं। इस प्रकार भूमि अन्य सब भूतोंकी अपेक्षा अधिक गुणवती है ॥ ५ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसश्चापि द्विजोत्तम।
अपामेते गुणा ब्रह्मन् कीर्तितास्तव सुव्रत ॥ ६ ॥

द्विजश्रेष्ठ! शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये चार जलके गुण हैं। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण! इनका वर्णन पहले भी आपसे किया गया है ॥ ६ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः।
शब्दः स्पर्शश्च वायौ तु शब्दश्चाकाश एव तु ॥ ७ ॥

शब्द, स्पर्श तथा रूप—ये तेजके तीन गुण हैं, शब्द और स्पर्श—ये दो गुण वायुके हैं तथा आकाशमें एक ही गुण है—शब्द ॥ ७ ॥

एते पञ्चदश ब्रह्मन् गुणा भूतेषु पञ्चसु।
वर्तन्ते सर्वभूतेषु येषु लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ८ ॥

ब्रह्मन्! इस प्रकार पाँचों भूतोंमें ये पंद्रह गुण बताये गये हैं। इन्हींमें सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं ॥ ८ ॥

अन्योन्यं नातिवर्तन्ते सम्यक् च भवति द्विज।
यदा तु विषमं भावमाचरन्ति चराचराः ॥ ९ ॥
तदा देही देहमन्यं व्यतिरोहति कालतः।
आनुपूर्व्या विनश्यन्ति जायन्ते चानुपूर्वशः ॥ १० ॥

विप्रवर! ये पाँच भूत एक दूसरेके बिना नहीं रह सकते। परस्पर मिलकर ही भलीभाँति प्रकाशित होते हैं। जिस समय व्यक्त और अव्यक्त पाँचों भूत विषम-भावको प्राप्त होते हैं, उस समय यह जीव कालकी प्रेरणासे अपने संकल्पानुसार दूसरे शरीरको प्राप्त हो जाता है। ये पाँचों भूत मृत्युकालमें प्रतिलोमक्रमसे विलीन हो जाते हैं और उत्पत्तिकालमें अनुलोमक्रमसे उत्पन्न होते हैं ॥ ९-१० ॥

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते धातवः पाञ्चभौतिकाः।
यैरावृतमिदं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥ ११ ॥

विभिन्न शरीरोंमें जितने रक्त आदि धातु दिखायी देते हैं, वे सब पाँच भूतोंके ही परिणाम हैं, जिनसे यह समस्त चराचर जगत् व्याप्त है ॥ ११ ॥

इन्द्रियैः सृज्यते यद् यत् तत् तद् व्यक्तमिति स्मृतम्।
तदव्यक्तमिति ज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ १२ ॥

बाह्य इन्द्रियोंसे जिस-जिसका संसर्ग होता है, वह-वह व्यक्त माना गया है; परंतु जो विषय इन्द्रियग्राह्य नहीं है, केवल अनुमानसे जाना जाता है, उसे अव्यक्त समझना चाहिये। १२।

यथास्वं ग्राहकाण्येषां शब्दादीनामिमानि तु।
इन्द्रियाणि यदा देही धारयन्निव तप्यते ॥ १३ ॥

अपने-अपने विषयोंका अतिक्रमण न करके इन शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन इन्द्रियोंको जब आत्मा अपने वशमें करता है, तब मानो वह तपस्या करता है ॥ १३ ॥

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यति।
परावरज्ञो यः शक्तः स तु भूतानि पश्यति ॥ १४ ॥

वह सम्पूर्ण लोकोंमें अपनेको व्याप्त और अपनेमें सम्पूर्ण लोकोंको स्थित देखता है। इस प्रकार जो निर्गुण ब्रह्मको जाननेवाला समर्थ ज्ञानी पुरुष है, वह सम्पूर्ण भूतोंको आत्मरूपसे देखता है ॥ १४ ॥

पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते ॥ १५ ॥

सब अवस्थाओंमें सदा समस्त भूतोंको आत्मरूपसे देखनेवाले उस ब्रह्मस्वरूप ज्ञानीका कभी भी अशुभ कर्मोंसे सम्पर्क होना सम्भव नहीं है ॥ १५ ॥

अज्ञानमूलं तं क्लेशमतिवृत्तस्य पौरुषम्।
लोकवृत्तिप्रकाशेन ज्ञानमार्गेण गम्यते ॥ १६ ॥

उस (पूर्वोक्त) अज्ञानजनित क्लेशसे जो पार हो गया है, उस महापुरुषका प्रभाव उसके द्वारा की जानेवाली लौकिक चेष्टाओंसे ज्ञानमार्गके द्वारा जाना जा सकता है ॥ १६ ॥

अनादिनिधनं जन्तुमात्मयोनिं सदाव्ययम्।
अनौपम्यममूर्तं च भगवानाह बुद्धिमान् ॥ १७ ॥

बुद्धिमान् भगवान् ब्रह्माने (अपने निःश्वासभूत वेदोंके द्वारा) मुक्त जीवको आदि-अन्तसे रहित, स्वयम्भू, अविकारी, अनुपम तथा निराकार बताया है ॥ १७ ॥

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां विप्रानुपृच्छसि।
इन्द्रियाण्येव संयम्य तपो भवति नान्यथा ॥ १८ ॥

विप्रवर! आप मुझसे जो कुछ पूछते हैं, उसके उत्तरमें मैं यह बता रहा हूँ कि इस सबका मूल तप है। इन्द्रियोंका संयम करनेसे ही वह तपस्या सम्पन्न होती है, और किसी प्रकारसे नहीं ॥ १८ ॥

इन्द्रियाण्येव तत् सर्वं यत् स्वर्गनरकावुभौ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च ॥ १९ ॥

स्वर्ग और नरक आदि जो कुछ भी है, वह सब इन्द्रियाँ ही हैं अर्थात् इन्द्रियाँ ही उनकी कारण हैं। वशमें की हुई इन्द्रियाँ स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली हैं और जिन्हें विषयोंकी ओर खुला छोड़ दिया गया है, वे इन्द्रियाँ नरकमें डालनेवाली हैं ॥ १९ ॥

एष योगविधिः कृत्स्नो यावदिन्द्रियधारणम्।
एतन्मूलं हि तपसः कृत्स्नस्य नरकस्य च ॥ २० ॥

योगका सम्पूर्णरूपसे अनुष्ठान यही है कि मनसहित समस्त इन्द्रियोंको काबूमें रक्खा जाय। यही सारी तपस्याका मूल है और इन्द्रियोंको वशमें न रखना ही नरकका हेतु है ॥ २० ॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमार्च्छन्त्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं समाप्नुयात् ॥ २१ ॥

इन्द्रियोंके संसर्गसे ही मनुष्य निःसंदेह दुर्गुण-दुराचार आदि दोषोंको प्राप्त होते हैं। उन्हीं इन्द्रियोंको अच्छी तरह वशमें कर लेनेपर उन्हें सर्वथा सिद्धि प्राप्त हो सकती है ॥ २१ ॥

षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ॥ २२ ॥

जो अपने शरीरमें ही सदा विद्यमान रहनेवाले मन-सहित छहों इन्द्रियोंपर अधिकार पा लेता है, वह जितेन्द्रिय पुरुष पापोंमें नहीं लगता, फिर पापजनित अनर्थोंसे तो उसका संयोग ही कैसे हो सकता है ? ॥ २२ ॥

रथः शरीरं पुरुषस्य दृष्ट-
मात्मा नियन्तेन्द्रियाण्याहुरश्वान् ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-
र्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥ २३ ॥

पुरुषका यह प्रत्यक्ष देखनेमें आनेवाला स्थूल शरीर रथ है । आत्मा (बुद्धि) सारथि है और इन्द्रियोंको अश्व बताया गया है । जैसे कुशल, सावधान एवं धीर रथी उत्तम घोड़ोंको अपने वशमें रखकर उनके द्वारा सुखपूर्वक मार्ग तै करता है, उसी प्रकार सावधान, धीर एवं साधन-कुशल पुरुष इन्द्रियोंको वशमें करके सुखसे जीवन-यात्रा पूर्ण करता है २३

षण्णामात्मनि युक्तानामिन्द्रियाणां प्रमाथिनाम् ।
यो धीरो धारयेद् रश्मीन् स स्यात् परमसारथिः ॥ २४ ॥

जो धीर पुरुष अपने शरीरमें नित्य विद्यमान छः प्रमथन-शील इन्द्रियरूपी अश्वोंकी बागडोर सँभालता है, वही उत्तम सारथि हो सकता है ॥ २४ ॥

इन्द्रियाणां प्रसृष्टानां हयानामिव वर्त्मसु ।
धृतिं कुर्वीत सारथ्ये धृत्या तानि जयेद् ध्रुवम् ॥ २५ ॥

सड़कपर दौड़नेवाले घोड़ोंकी तरह विषयोंमें विचरनेवाली इन इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये धैर्यपूर्वक प्रयत्न करे । धैर्यपूर्वक उद्योग करनेवालेको उनपर अवश्य विजय प्राप्त होती है ॥ २५ ॥

इन्द्रियाणां विचरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरते बुद्धिं नावं वायुरिवाम्भसि ॥ २६ ॥

जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है ॥ २६ ॥

येषु विप्रतिपद्यन्ते षट्सु मोहात् फलागमम् ।
तेष्वध्यवसिताध्यायी विन्दते ध्यानजं फलम् ॥ २७ ॥

सभी मनुष्य इन छः इन्द्रियोंके शब्द आदि विषयोंमें उनसे प्राप्त होनेवाले सुखरूप फल पानेके सम्बन्धमें मोहसे संशयमें पड़ जाते हैं । परंतु जो उनके दोषोंका अनुसंधान करनेवाला वीतराग पुरुष है, वह उनका निग्रह करके ध्यानजनित आनन्दका अनुभव करता है ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २११ ॥

द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

तीनों गुणोंके स्वरूप और फलका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

एवं तु सूक्ष्मे कथिते धर्मव्याधेन भारत ।
ब्राह्मणः स पुनः सूक्ष्मं पप्रच्छ सुसमाहितः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भारत ! इस प्रकार धर्म-व्याधके द्वारा सूक्ष्म तत्त्वका निरूपण होनेपर कौशिक ब्राह्मणने एकाग्रचित्त होकर पुनः एक सूक्ष्म प्रश्न उपस्थित किया ॥ १ ॥

ब्राह्मण उवाच

सत्त्वस्य रजसश्चैव तमसश्च यथातथम् ।
गुणांस्तत्त्वेन मे ब्रूहि यथावदिह पृच्छतः ॥ २ ॥

ब्राह्मण बोला—व्याध ! मैं यहाँ यथोचितरूपसे एक प्रश्न उपस्थित करता हूँ । वह यह है कि सत्त्व, रज और तमका गुण (स्वरूप) क्या है ? यह मुझे यथार्थरूपसे बताओ ॥ २ ॥

व्याध उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
एषां गुणान् पृथक्त्वेन निबोध गदतो मम ॥ ३ ॥

धर्मव्याधने कहा—ब्रह्मन् ! आप मुझसे जो बात पूछ रहे हैं, मैं अब उसे कहूँगा । सत्त्व, रज और तम—इन तीनोंके गुणोंका पृथक्-पृथक् वर्णन करता हूँ, सुनिये ॥ ३ ॥

मोहात्मकं तमस्तेषां रज एषां प्रवर्तकम् ।
प्रकाशबहुलत्वाच्च सत्त्वं ज्याय इहोच्यते ॥ ४ ॥

इन तीनों गुणोंमें जो तमोगुण है, वह मोहात्मक—मोह उत्पन्न करनेवाला है । रजोगुण कर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाला है । परंतु सत्त्वगुणमें प्रकाशकी बहुलता है, इसलिये वह सबसे श्रेष्ठ कहा जाता है ॥ ४ ॥

अविद्याबहुलो मूढः स्वप्नशीलो विचेतनः ।
दुर्हृषीकस्तमोध्वस्तः सक्रोधस्तामसोऽलसः ॥ ५ ॥

जिसमें अज्ञानकी बहुलता है, जो मूढ़ (मोहग्रस्त) और अचेत होकर सदा नींद लेता रहता है, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें न होनेके कारण दूषित हैं, जो अविवेकी, क्रोधी और आलसी है, ऐसे मनुष्यको तामसी जानना चाहिये ॥ ५ ॥

प्रवृत्तवाक्यो मन्त्री च यो नराग्र्योऽनसूयकः।
विधित्समानो विप्रर्षे स्तब्धो मानी स राजसः॥ ६ ॥

ब्रह्मर्षे ! जो प्रवृत्तिमार्गकी ही बातें करनेवाला, सलाह देनेमें कुशल और दूसरोंके गुणोंमें दोष न देखनेवाला है; जो सदा कुछ-न-कुछ करनेकी इच्छा रखता है, जिसमें कठोरता और अभिमानकी अधिकता है, वह मनुष्योंपर रोब जमानेवाला पुरुष रजोगुणी कहा गया है॥ ६॥

प्रकाशबहुलो धीरो निर्विधित्सोऽनसूयकः।
अक्रोधनो नरो धीमान् दान्तश्चैव स सात्त्विकः॥ ७ ॥

जिसमें प्रकाश (ज्ञान) की बहुलता है, जो धीर और नये-नये कार्य आरम्भ करनेकी उत्सुकतासे रहित है, जिसमें दूसरोंके दोष देखनेकी प्रवृत्तिका अभाव है, जो क्रोधशून्य, बुद्धिमान् और जितेन्द्रिय है, वह मनुष्य सात्त्विक माना जाता है॥ ७॥

सात्त्विकस्त्वथ सम्बुद्धो लोकवृत्तेन क्लिश्यते।
यदा बुध्यति बोद्धव्यं लोकवृत्तं जुगुप्सते॥ ८ ॥

सात्त्विक पुरुष ज्ञानसम्पन्न हो रजोगुण और तमोगुणके कार्यभूत लौकिक व्यवहारमें पड़नेका कष्ट नहीं उठाता। वह जब जाननेयोग्य तत्त्वको जान लेता है, तब उसे सांसारिक व्यवहारसे ग्लानि हो जाती है॥ ८॥

वैराग्यस्य च रूपं तु पूर्वमेव प्रवर्तते।
मृदुर्भवत्यहङ्कारः प्रसीदत्यार्जवं च यत्॥ ९ ॥

सात्त्विक पुरुषमें वैराग्यका लक्षण पहले ही प्रकट हो जाता है। उसका अहंकार ढीला पड़ जाता है और सरलता प्रकाशमें आने लगती है॥ ९॥

ततोऽस्य सर्वद्वन्द्वानि प्रशाम्यन्ति परस्परम्।
न चास्य संशयो नाम कचिद् भवति कश्चन॥ १० ॥

तदनन्तर इसके राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण द्वन्द्व परस्पर शान्त हो जाते हैं। इसके हृदयमें कभी कोई संशय नहीं उठता॥ १०॥

शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः।
वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन् क्षत्रियत्वं तथैव च॥ ११ ॥

ब्रह्मन् ! शूद्रयोनिमें उत्पन्न मनुष्य भी यदि उत्तम गुणोंका आश्रय ले, तो वह वैश्य तथा क्षत्रियभावको प्राप्त कर लेता है॥ ११॥

आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते।
गुणास्ते कीर्तिताः सर्वे किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ १२ ॥

जो 'सरलता' नामक गुणमें प्रतिष्ठित है, उसे ब्राह्मणत्व प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मन् ! इस प्रकार मैंने आपसे सम्पूर्ण गुणोंका वर्णन किया है, अब और क्या सुनना चाहते हैं?।१२।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २१२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमा-स्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१२॥

त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

प्राणवायुकी स्थितिका वर्णन तथा परमात्म-साक्षात्कारके उपाय

ब्राह्मण उवाच

पार्थिवं धातुमासाद्य शारीरोऽग्निः कथं भवेत्।
अवकाशविशेषेण कथं वर्तयतेऽनिलः॥ १ ॥

ब्राह्मणने पूछा—व्याध ! शरीरमें रहनेवाला अग्निस्वरूप प्राण पार्थिव धातुका अवलम्बन करके कैसे रहता है? और प्राणवायु नाड़ियोंके मार्गविशेषके द्वारा किस प्रकार (रस-रक्तादिका) संचालन करता है?॥ १॥

मार्कण्डेय उवाच

प्रश्नमेतं समुद्दिष्टं ब्राह्मणेन युधिष्ठिर।
व्याधस्तु कथयामास ब्राह्मणाय महात्मने॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ब्राह्मणके द्वारा उपस्थित किये गये इस प्रश्नको सुनकर धर्मव्याधने उन महात्मा ब्राह्मणसे इस प्रकार कहा—॥ २॥

व्याध उवाच

मूर्धानमाश्रितो वह्निः शरीरं परिपालयन्।
प्राणो मूर्धनि चाग्नौ च वर्तमानो विचेष्टते॥ ३ ॥

धर्मव्याध बोला—ब्रह्मन् ! प्राणीके शरीरको सुरक्षित रखता हुआ अग्निस्वरूप उदान वायु मस्तकका आश्रय लेकर शरीरमें रहता है एवं मुख्य प्राण मस्तक और उदानवायु—इन दोनोंमें स्थित हुआ समस्त शरीरमें जीवनका संचार करता है *॥ ३॥

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितम्।
श्रेष्ठं तदेव भूतानां ब्रह्मयोनिमुपास्महे॥ ४ ॥

भूत, वर्तमान और भविष्य—सब कुछ प्राणके ही

* देखिये प्रश्नोपनिषद् प्रश्न ३ मन्त्र ९।

आश्रित है, वह प्राण ही समस्त भूतोंमें श्रेष्ठ है।* अतः परब्रह्मसे उत्पन्न होनेवाले प्राणकी हम सब उपासना करते हैं † ॥ ४ ॥

स जन्तुः सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः।
महान् बुद्धिरहङ्कारो भूतानां विषयश्च सः ॥ ५ ॥

वह प्राण ही जीव है, वही समस्त प्राणियोंका आत्मा है, वही सनातन पुरुष है, महत्तत्त्व, बुद्धि और अहंकार तथा पाँचों भूतोंके कार्यरूप इन्द्रियाँ और उनके विषय सब कुछ वही है (क्योंकि इस शरीरमें सबकी स्थिति उसीके आश्रित है और भविष्यमें मिलनेवाले शरीरमें जाना-आना भी इसीके आश्रित रहकर होता है। इसलिये यह प्राणकी स्तुति की गयी है) ‡॥ ५ ॥

(अव्यक्तं सत्त्वसंज्ञं च जीवः कालः स चैव हि ।
प्रकृतिः पुरुषश्चैव प्राण एव द्विजोत्तम ॥
जागर्ति स्वप्नकाले च स्वप्ने स्वप्नायते च सः ।

द्विजश्रेष्ठ ! प्राण ही अव्यक्त, सत्त्व, जीव, काल, प्रकृति और पुरुष है । वही जाग्रत्-अवस्थामें जागता है। वही स्वप्नकालमें स्वप्न-जगत्का निर्माण करके स्वप्नावस्थाकी सारी चेष्टाएँ करता है ॥

जाग्रत्सु बलमाधत्ते चेष्टत्सु चेष्टयत्यपि ॥
तस्मिन् निरुद्धे विप्रेन्द्र मृत इत्यभिधीयते ।
त्यक्त्वा शरीरं भूतात्मा पुनरन्यत् प्रपद्यते ॥)

वही जाग्रत्कालमें बलका आधान करता है और चेष्टाशील प्राणियोंमें चेष्टा उत्पन्न करता है। विप्रवर ! उस प्राणका निरोध हो जानेपर ही प्रत्येक जीव मरा हुआ कहलाता है। भूतात्माप्राण एक शरीरको छोड़कर फिर दूसरे शरीरमें प्रविष्ट हो जाता है ॥

एवं त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिपाल्यते ।
पृष्ठतस्तु समानेन स्वां स्वां गतिमुपाश्रितः ॥ ६ ॥

इस प्रकार इस जगत्में सर्वत्र प्राणकी स्थिति है । प्राणके द्वारा ही सबका पालन होता है । पीछे वही प्राण जब समानवायुभावको प्राप्त होता है, तब अपनी-अपनी पृथक् गतिका आश्रय लेता है ॥ ६ ॥

बस्तिमूलं गुदं चैव पावकं समुपाश्रितः ।
वहन् मूत्रं पुरीषं वाप्यपानः परिवर्तते ॥ ७ ॥

समानवायुके रूपमें जठराग्निका आश्रय ले वह प्राण जब मूत्राशय और गुदामें स्थित होता है, उस समय मल और मूत्रका भार वहन करनेके कारण वह अपानवायुके नामसे विख्यात हो संचरण करता है ॥ ७ ॥

प्रयत्ने कर्मणि बले स एष त्रिषु वर्तते ।
उदानमिति तं प्राहुरध्यात्मविदुषो जनाः ॥ ८ ॥

वही प्राण जब प्रयत्न (काम करनेकी चेष्टा), कर्म (उत्क्षेपण और गमन आदि) तथा बल (बोझ उठानेकी शक्ति)—इन तीन विषयोंमें प्रवृत्त होता है, तब अध्यात्मवेत्ता मनुष्य उसे उदान कहते हैं ॥ ८ ॥

संधौ संधौ संनिविष्टः सर्वेष्वपि तथानिलः ।
शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते ॥ ९ ॥

वही जब मनुष्य-शरीरके प्रत्येक संधिस्थलमें व्याप्त होकर रहता है, तब उसे व्यान कहते हैं ॥ ९ ॥

धातुष्वग्निस्तु विततः स तु वायुसमीरितः ।
रसान् धातूंश्च दोषांश्च वर्तयन् परिधावति ॥ १० ॥

त्वचा आदि सब धातुओंमें जठरानल व्याप्त है। वह प्राण आदि वायुओंसे प्रेरित होकर अन्न आदि रसों, त्वचा आदि धातुओं तथा पित्त आदि दोषोंको परिपक्व करता हुआ समूचे शरीरमें दौड़ा करता है ॥ १० ॥

प्राणानां संनिपातात् तु संनिपातः प्रजायते ।
ऊष्मा चाग्निरिति ज्ञेयो योऽन्नं पचति देहिनाम् ॥ ११ ॥

प्राण आदि वायुओंके परस्पर मिलनेसे एक संघर्ष उत्पन्न होता है, उससे प्रकट होनेवाले उत्तापको ही जठरानल समझना चाहिये । वही देहधारियोंके खाये हुए अन्नको पचाता है ॥ ११ ॥

समानोदानयोर्मध्ये प्राणापानौ समाहितौ ।
समर्थितस्त्वधिष्ठानं सम्यक् पचति पावकः ॥ १२ ॥

समान और उदान वायुओंके बीचमें प्राण और अपान वायुकी स्थिति है । उनके संघर्षसे उत्पन्न जठरानल अन्नको पचाता है और उसके रससे इस शरीरको भलीभाँति पुष्ट करता है * ॥ १२ ॥

अस्यापि पायुपयन्तस्तथा स्याद् गुदसंज्ञितः ।
स्रोतांसि तस्माज्जायन्ते सर्वप्राणेषु देहिनाम् ॥ १३ ॥

इस जठरानलका स्थान नाभिसे लेकर पायुतक है। इसीको 'गुदा' कहते हैं। उस गुदासे देहधारियोंके समस्त प्राणोंमें स्रोत (नाडीमार्ग) प्रकट होते हैं ॥ १३ ॥

---

* देखिये प्रश्नोपनिषद् २ । २, ३ और उसके आगेका प्रकरण ।

† देखिये प्रश्नोपनिषद् ३ । ३तथा २ । ७ ।

‡ प्राणकी स्तुतिका वर्णन अथर्ववेदमें और प्रश्नोपनिषद्में बहुत आया है ।

* तात्पर्य यह है कि हृदयमें रहनेवाला प्राण, नाभिमें रहनेवाले समानसे जाकर मिलता है । इसी तरह गुदामें रहनेवाला अपान कंठवर्ती उदानसे जा मिलता है, इस दशामें प्राण, अपान और समानका नाभिमें संघर्ष होनेसे जो अग्नि उत्पन्न होती है, उसे ही 'जठरानल' नाम दिया गया है । वही इस शरीरमें [illegible]

अग्निवेगवहः प्राणो गुदान्ते प्रतिहन्यते ।
स ऊर्ध्वमागम्य पुनः समुत्क्षिपति पावकम् ॥ १४ ॥

गुदासे प्राण अग्निके वेगको लेकर गुदान्तमें टकराता है, फिर वहाँसे ऊपरको उठकर वह जठराग्निको भी ऊपर उठाता है ॥ १४ ॥

पक्वाशयस्त्वधो नाभ्यामूर्ध्वमामाशयः स्थितः ।
नाभिमध्ये शरीरस्य प्राणाः सर्वे प्रतिष्ठिताः ॥ १५ ॥

नाभिके नीचे पक्वाशय (पके हुए भोजनका स्थान) है और ऊपर आमाशय (कच्चे भोजनका स्थान) है। शरीरमें स्थित समस्त प्राण नाभिमें ही प्रतिष्ठित हैं—वही उनका केन्द्र-स्थान है ॥ १५ ॥

प्रवृत्ता हृदयात् सर्वे तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
वहन्त्यन्नरसान् नाड्यो दशप्राणप्रचोदिताः ॥ १६ ॥

नाड़ियाँ हृदयसे नीचे-ऊपर और इधर-उधर फैली हुई हैं। वे दस प्राणवायुओंसे प्रेरित हो शरीरके सब भागोंमें अन्नके रसोंको पहुँचाती रहती हैं ॥ १६ ॥

योगिनामेष मार्गस्तु येन गच्छन्ति तत् परम् ।
जितक्लमाः समा धीरा मूर्धन्यात्मानमादधुः ।
एवं सर्वेषु विततौ प्राणापानौ हि देहिषु ॥ १७ ॥

जिन्होंने समस्त क्लेशोंको जीत लिया है, जो समदर्शी और धीर हैं, जिन्होंने (सुषुम्णा नाड़ीके द्वारा) अपने प्राण-मय आत्माको मस्तक (वर्ती सहस्रारचक्र) में ले जाकर स्थापित किया है, उन योगियोंके लिये यह (मस्तकसे लेकर पायुतकका सुषुम्णामय) मार्ग है, जिससे वे उस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार समस्त जीवात्माओंके शरीरोंमें ये प्राणवायु और अपानवायु व्याप्त हैं ॥ १७ ॥

(तावग्निसहितौ ब्रह्मन् विद्धि वै प्राणमात्मनि ।)
एकादशविकारात्मा कलासम्भारसम्भृतः ।
मूर्तिमन्तं हि तं विद्धि नित्यं योगजितात्मकम् ॥ १८ ॥

ब्रह्मन् ! वे प्राण और अपान जठरानलके साथ रहते हैं। प्राणको आत्मामें स्थित जानिये। आत्मा एकादश इन्द्रियरूप विकारोंसे युक्त, षोडश[१] कलाओंके समूहसे सम्पन्न, शरीरको धारण करनेवाला तथा नित्य है। उसने योगबलसे मन-बुद्धिको अपने अधीन कर रक्खा है। इस प्रकार आत्माके सम्बन्धमें आपको जानना चाहिये ॥ १८ ॥

तस्मिन् यः संस्थितो ह्यग्निर्नित्यं स्थाल्यामिवाहितः ।
आत्मानं तं विजानीहि नित्यं योगजितात्मकम् ॥ १९ ॥

जैसे बटलोईमें आग रक्खी गयी हो, उसी प्रकार पूर्वोक्त कला-समूहरूप शरीरमें प्रकाशस्वरूप आत्मा सदा विद्यमान रहता है। आप उसे जानिये। वह नित्य तथा योग-शक्तिसे मन-बुद्धिको अपने अधीन रखनेवाला है ॥ १९ ॥

देवो यः संस्थितस्तस्मिन्नब्बिन्दुरिव पुष्करे ।
क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं योगजितात्मकम् ॥ २० ॥

जैसे कमलके पत्तेपर पड़ी हुई जलकी बूँद निर्लिप्त होती है, उसी प्रकार ये आत्मदेव कलात्मक शरीरमें असङ्गभावसे स्थित हैं। वे ही क्षेत्रज्ञ हैं, आप उन्हें जानिये। वे योगसे अपने मन और बुद्धिपर अधिकार प्राप्त करनेवाले तथा नित्य हैं ॥ २० ॥

जीवात्मकानि जानीहि रजः सत्त्वं तमस्तथा ।
जीवमात्मगुणं विद्धि तथाऽऽत्मानं परात्मकम् ॥ २१ ॥

ब्रह्मन् ! आप यह जान लें कि सत्त्वगुण (प्रकाश), रजोगुण (प्रवृत्ति) और तमोगुण (मोह)—ये जीवात्मक हैं अर्थात् जीवात्माके अन्तःकरणके विकार हैं, जीव आत्माका गुण (सेवक) है और आत्मा परमात्मस्वरूप है। भाव यह कि परमात्माको ही यहाँ आत्मा कहा गया है ॥ २१ ॥

अचेतनं जीवगुणं वदन्ति
स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम् ।
ततः परं क्षेत्रविदो वदन्ति
प्राकल्पयद् यो भुवनानि सप्त ॥ २२ ॥

शरीर-तत्त्वके ज्ञाता महात्मा पुरुष जड शरीर आदिको जीवका भोग्य बताते हैं। वह जीव शरीरके भीतर रहकर स्वयं चेष्टाशील होता है तथा शरीर और इन्द्रिय आदि सबको चेष्टाओंमें लगाता है। जिन्होंने सातों भुवनोंका निर्माण किया है, उन परमात्माको ज्ञानी पुरुष जीवात्मासे उत्कृष्ट बताते हैं ॥ २२ ॥

एवं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मा सम्प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया ज्ञानवेदिभिः ॥ २३ ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा परमेश्वर समस्त प्राणियोंके भीतर प्रकाशित हो रहे हैं। ज्ञानी महात्मा अपनी श्रेष्ठ एवं सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा उन्हें देख पाते हैं ॥ २३ ॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते ॥ २४ ॥

मनुष्य अपने चित्तकी पवित्रताके द्वारा ही समस्त शुभा-शुभ कर्मोंको नष्ट (फल देनेमें असमर्थ) कर देता है। जिसका अन्तःकरण प्रसन्न (पवित्र) है, वह अपने आपमें ही स्थित होकर अक्षय सुख (मोक्ष) का भागी होता है ॥ २४ ॥

लक्षणं तु प्रसादस्य यथा तृप्तः सुखं स्वपेत् ।
निवाते वा यथा दीपो दीप्येत् कुशलदीपितः ॥ २५ ॥

जैसे भोजन आदिसे तृप्त हुआ मनुष्य सुखसे सोता है

[१] —प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक तथा नाम—ये सोलह कलाएँ हैं (देखिये प्रश्नोपनिषद् ६ । ४) ।

और जैसे वायुरहित स्थानमें चतुर मनुष्यके द्वारा जलाया हुआ दीप निश्चलभावसे प्रकाशित होता है; ऐसा ही लक्षण चित्तकी पवित्रताका भी है ॥ २५ ॥

पूर्वरात्रे परे चैव युञ्जानः सततं मनः।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥ २६ ॥
प्रदीप्तेनेव दीपेन मनोदीपेन पश्यति।
दृष्ट्वाऽऽत्मानं निरात्मानं स तदा विप्रमुच्यते ॥ २७ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह हल्का भोजन करे और अन्तः-करणको शुद्ध रखे। रातके पहले और पिछले पहरमें सदा अपना मन परमात्माके चिन्तनमें लगावे। जो इस प्रकार निरन्तर अपने हृदयमें परमात्माके साक्षात्कारका अभ्यास करता है, वह प्रज्वलित दीपकके समान प्रकाशित होनेवाले अपने मनोमय प्रदीपके द्वारा निराकार परमेश्वरका साक्षात्कार करके तत्काल मुक्त हो जाता है ॥ २६-२७ ॥

सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः।
एतत् पवित्रं लोकानां तपो वै संक्रमो मतः ॥ २८ ॥

सम्पूर्ण उपायोंसे लोभ और क्रोधकी वृत्तियोंको दबाना चाहिये। संसारमें यही पवित्र तप है और यही सबके लिये भवसागरसे पार उतारनेवाला सेतु माना गया है ॥ २८ ॥

नित्यं क्रोधात् तपो रक्षेद् धर्मं रक्षेच्च मत्सरात्।
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ॥ २९ ॥

सदा तपको क्रोधसे, धर्मको द्वेषसे, विद्याको मान-अपमानसे और अपने आपको प्रमादसे बचाना चाहिये ॥ २९ ॥

आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं सत्यं व्रतपरं व्रतम् ॥ ३० ॥

क्रूरताका अभाव (दया) सबसे महान् धर्म है, क्षमा सबसे बड़ा बल है, सत्य सबसे उत्तम व्रत है और परमात्माके तत्त्वका ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है ॥ ३० ॥

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यं ज्ञानं हितं भवेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तं तद् वै सत्यं परं मतम् ॥ ३१ ॥

सत्य बोलना सदा कल्याणकारी है। यथार्थ ज्ञान ही हितकारक होता है। जिससे प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो, उसे ही उत्तम सत्य माना गया है ॥ ३१ ॥

यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धनाः सदा।
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी स च बुद्धिमान् ॥ ३२ ॥

जिसके सम्पूर्ण आयोजन कभी कामनाओंसे बँधे हुए नहीं होते तथा जिसने त्यागकी आगमें अपना सर्वस्व होम दिया है, वही त्यागी और बुद्धिमान् है ॥ ३२ ॥

यतो न गुरुरप्येनं श्रावयेदुपपादयेत्।
तं विद्याद् ब्रह्मणो योगं वियोगं योगसंज्ञितम् ॥ ३३ ॥

इसलिये दृश्य संसारसे वियोग करानेवाले और योग नामसे कहे जानेवाले इस ब्रह्मयोगको स्वयं जानना और सम्पादन करना चाहिये। गुरुको भी उचित है कि वह इसे अपात्र शिष्यके प्रति न सुनावे ॥ ३३ ॥

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ३४

किसी प्राणीकी हिंसा न करे। सबमें मित्रभाव रखते हुए विचरे। इस दुर्लभ मनुष्य-जीवनको पाकर किसीके साथ वैर न करे ॥ ३४ ॥

आकिञ्चन्यं सुसंतोषो निराशित्वमचापलम्।
एतदेव परं ज्ञानं सदात्मज्ञानमुत्तमम् ॥ ३५ ॥

कुछ भी संग्रह न रखना, सभी दशाओंमें अत्यन्त संतुष्ट रहना तथा कामना और लोलुपताको त्याग देना—यही परम ज्ञान है और यही सत्यस्वरूप उत्तम आत्मज्ञान है ॥ ३५ ॥

परिग्रहं परित्यज्य भवेद् बुद्ध्या यतव्रतः।
अशोकं स्थानमाश्रित्य निश्चलं प्रेत्य चेह च ॥ ३६ ॥

इहलोक और परलोकके समस्त भोगोंका एवं सब प्रकारके संग्रहका त्याग करके शोकरहित निश्चल परमधामको लक्ष्य बनाकर बुद्धिके द्वारा मन और इन्द्रियोंका संयम करे ॥ ३६ ॥

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ॥ ३७ ॥

जो जितेन्द्रिय है, जिसने मनपर अधिकार प्राप्त कर लिया है तथा जो अजित पदको जीतनेकी इच्छा करता है, नित्य तपस्यामें संलग्न रहनेवाले उस मुनिको आसक्तिजनक भोगोंसे अलग—अनासक्त रहना चाहिये ॥ ३७ ॥

गुणागुणमनासङ्गमेककार्यमनन्तरम्।
एतत् तद् ब्रह्मणो वृत्तमाहुरेकपदं सुखम् ॥ ३८ ॥

जो गुणमें रहता हुआ भी गुणोंसे रहित है, जो सर्वथा सङ्गसे रहित है तथा जो एकमात्र अन्तरात्माके द्वारा ही साध्य है, जिसकी उपलब्धिमें अविद्याके सिवा और कोई व्यवधान नहीं है, वही ब्रह्मका अद्वितीय नित्य सिद्ध पद है और वही (निरतिशय) सुख है ॥ ३८ ॥

परित्यजति यो दुःखं सुखं चाप्युभयं नरः।
ब्रह्म प्राप्नोति सोऽत्यन्तमसङ्गेन च गच्छति ॥ ३९ ॥

जो मनुष्य दुःख और सुख दोनोंको त्याग देता है, वही अनन्त ब्रह्मपदको प्राप्त होता है। अनासक्तिके द्वारा भी उसी पदकी प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

यथाश्रुतमिदं सर्वं समासेन द्विजोत्तम।
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ४० ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मैंने यह सब जैसा सुना है, वैसा सब-का-सब थोड़ेमें आपसे कह सुनाया है। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ? ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणव्याधसंवादविषयक दो सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२१३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ४३½ श्लोक हैं)

चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

माता-पिताकी सेवाका दिग्दर्शन

मार्कण्डेय उवाच

एवं संकथिते कृत्स्ने मोक्षधर्मे युधिष्ठिर।
दृढप्रीतमना विप्रो धर्मव्याधमुवाच ह ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! धर्मव्याधने जब इस प्रकार पूर्णरूपसे मोक्ष-धर्मका वर्णन किया, तब कौशिक ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न होकर उससे यों बोला ॥ १ ॥

न्याययुक्तमिदं सर्वं भवता परिकीर्तितम्।
न तेऽस्त्यविदितं किंचिद् धर्मेष्विह हि दृश्यते॥ २ ॥

'तात ! तुमने मुझसे जो कुछ कहा, यह सब न्याययुक्त है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ धर्मके विषयमें कोई ऐसी बात नहीं दिखायी देती, जो तुम्हें ज्ञात न हो' ॥ २ ॥

व्याध उवाच

प्रत्यक्षं मम यो धर्मस्तं च पश्य द्विजोत्तम।
येन सिद्धिरियं प्राप्ता मया ब्राह्मणपुङ्गव ॥ ३ ॥

धर्मव्याधने कहा—विप्रवर ! अब मेरा जो प्रत्यक्ष धर्म है, जिसके प्रभावसे मुझे यह सिद्धि प्राप्त हुई है, ब्राह्मणश्रेष्ठ ! उसका भी दर्शन कर लीजिये ॥ ३ ॥

उत्तिष्ठ भगवन् क्षिप्रं प्रविश्याभ्यन्तरं गृहम्।
द्रष्टुमर्हसि धर्मज्ञ मातरं पितरं च मे ॥ ४ ॥

भगवन् ! आप धर्मके ज्ञाता हैं, उठिये और शीघ्र घरके भीतर चलकर मेरे माता-पिताका दर्शन कीजिये ॥ ४ ॥

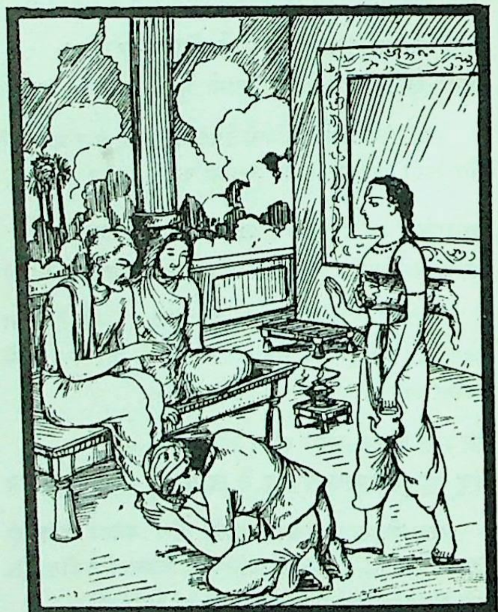
मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्तः स प्रविश्याथ ददर्श परमार्चितम्।
सौधं हृद्यं चतुःशालमतीव च मनोरमम् ॥ ५ ॥
देवतागृहसंकाशं दैवतैश्च सुपूजितम्।
शयनासनसम्बाधं गन्धैश्च परमैर्युतम् ॥ ६ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—धर्मव्याधके ऐसा कहनेपर कौशिक ब्राह्मणने भीतर प्रवेश करके देखा—एक बहुत सुन्दर साफ-सुथरा घर था, उसकी दीवारोंपर चूनेसे सफेदी की हुई थी। उसमें चार कमरे थे, वह भवन बहुत प्रिय और मनको लुभा लेनेवाला था, ऐसा जान पड़ता था, मानो देवताओंका निवासस्थान हो। देवता भी उसका आदर करते थे। एक ओर सोनेके लिये शय्या बिछी थी और दूसरी ओर बैठनेके लिये आसन रखे गये थे। वहाँ धूप और चन्दन, केसर आदिकी उत्तम गन्ध फैल रही थी ॥ ५-६ ॥

तत्र शुक्लाम्बरधरौ पितरावस्य पूजितौ।
कृताहारौ तु संतुष्टावुपविष्टौ वरासने।
धर्मव्याधस्तु तौ दृष्ट्वा पादेषु शिरसापतत् ॥ ७ ॥

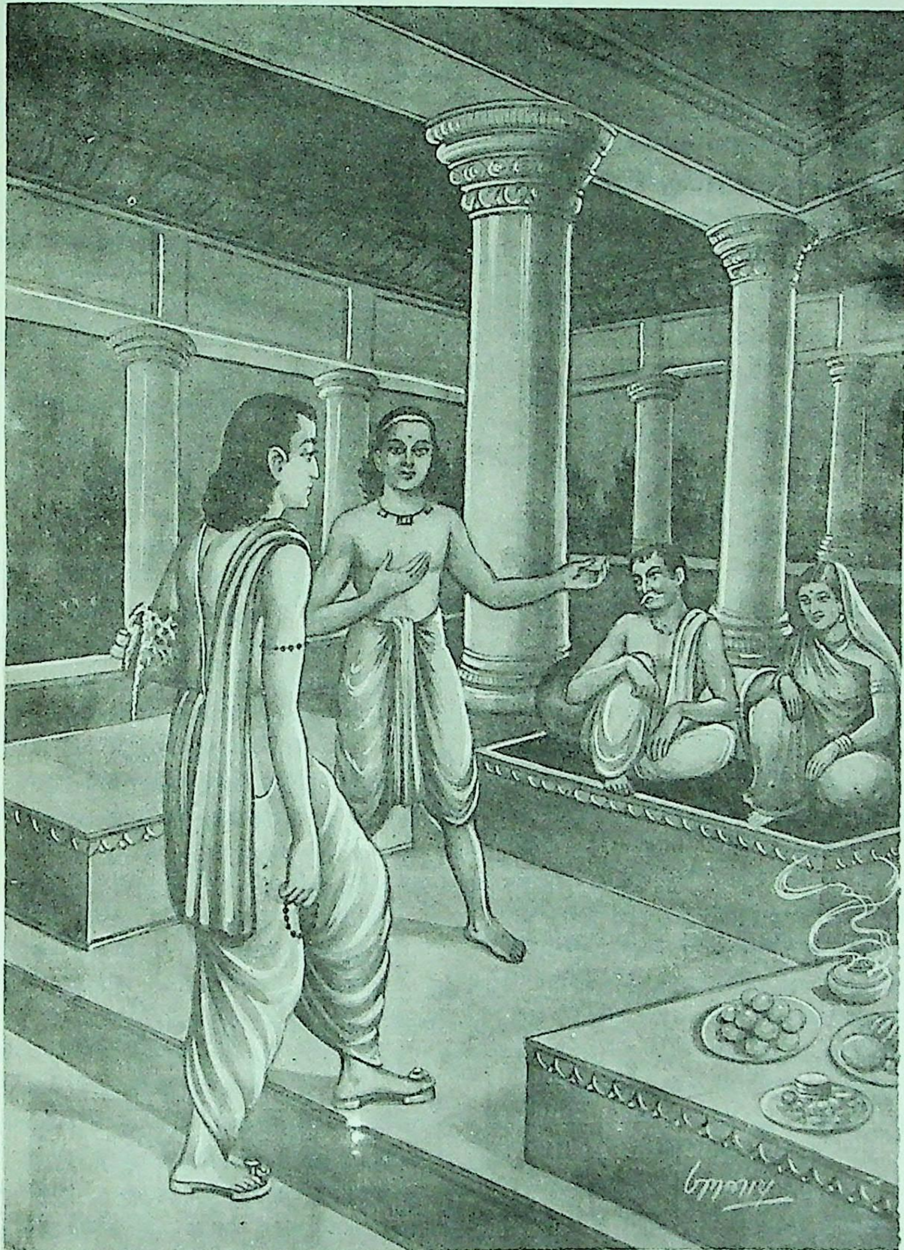
एक सुन्दर आसनपर धर्मव्याधके माता-पिता भोजन करके संतुष्ट हो बैठे हुए थे। उन दोनोंके शरीरपर श्वेत वस्त्र शोभा पा रहे थे और पुष्प, चन्दन आदिसे उनकी पूजा की गयी थी। धर्मव्याधने उन दोनोंको देखते ही चरणोंमें मस्तक रख दिया और पृथ्वीपर पड़कर साष्टाङ्ग प्रणाम किया ॥ ७ ॥



वृद्धावूचतुः

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ धर्मज्ञ धर्मस्त्वामभिरक्षतु।
प्रीतौ स्वस्तव शौचेन दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥ ८ ॥

तब बूढ़े माता-पिताने (स्नेहपूर्वक) कहा—बेटा ! उठो ! उठो ! तुम धर्मके जानकार हो, धर्म तुम्हारी सब ओरसे



माता-पिताके भक्त धर्मव्याध और कौशिक ब्राह्मण

रक्षा करे। हम दोनों तुम्हारे शुद्ध आचार-विचार तथा सेवासे बहुत प्रसन्न हैं। तुम्हारी आयु बड़ी हो ॥ ८ ॥

गतिमिष्टां तपो ज्ञानं मेधां च परमां गतः।
सत्पुत्रेण त्वया पुत्र नित्यं काले सुपूजितौ ॥ ९ ॥

तुमने उत्तम गति, तप, ज्ञान और श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त की है, बेटा! तुम सुपुत्र हो। तुमने नित्य नियमपूर्वक समयानुसार हमारा पूजन—आदर-सत्कार किया है ॥ ९ ॥

(सुखमावां वसावोऽत्र देवलोकगताविव)
न तेऽन्यद् दैवतं किंचिद् दैवतेष्वपि वर्तते।
प्रयतत्वाद् द्विजातीनां दमेनासि समन्वितः ॥ १० ॥

हम इस घरमें इस प्रकार सुखसे रहते हैं मानो देवलोकमें पहुँच गये हों। देवताओंमें भी तुम्हारे लिये हम दोनोंके सिवा और कोई देवता नहीं है। तुम हमें ही देवता मानते हो। अपने मनको पवित्र एवं संयममें रखनेके कारण तुम द्विजोचित शम-दमसे सम्पन्न हो ॥ १० ॥

पितुः पितामहा ये च तथैव प्रपितामहाः।
प्रीतास्ते सततं पुत्र दमेनावां च पूजया ॥ ११ ॥

वत्स! मेरे पिताके पितामह और प्रपितामह आदि सभी तुम्हारे इन्द्रियसंयमसे सदा प्रसन्न रहते हैं। हम दोनों भी तुम्हारे द्वारा की हुई पूजा-सेवासे बहुत संतुष्ट हैं ॥ ११ ॥

मनसा कर्मणा वाचा शुश्रूषा नैव हीयते।
न चान्या हि तथा बुद्धिर्दृश्यते साम्प्रतं तव ॥ १२ ॥

तुम मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी हम दोनोंकी सेवा नहीं छोड़ते। इस समय भी तुम्हारा विचार इसके प्रतिकूल नहीं दिखायी देता ॥ १२ ॥

जामदग्न्येन रामेण यथा वृद्धौ सुपूजितौ।
तथा त्वया कृतं सर्वं तद्विशिष्टं च पुत्रक ॥ १३ ॥

बेटा! जमदग्निनन्दन परशुरामने जिस प्रकार अपने वृद्ध माता-पिताकी सेवा-पूजा की थी, उसी प्रकार तथा उससे भी बढ़कर तुमने हमारी सब सेवाएँ की हैं ॥ १३ ॥

ततस्तं ब्राह्मणं ताभ्यां धर्मव्याधो न्यवेदयत्।
तौ स्वागतेन तं विप्रमर्चयामासतुस्तदा ॥ १४ ॥

तदनन्तर धर्मव्याधने अपने माता-पिताको उस कौशिक ब्राह्मणका परिचय दिया। तब उन दोनोंने भी स्वागतपूर्वक ब्राह्मणका पूजन किया ॥ १४ ॥

प्रतिपूज्य च तां पूजां द्विजः पप्रच्छ तावुभौ।
सुपुत्राभ्यां सभृत्याभ्यां कच्चिद् वां कुशलं गृहे ॥ १५ ॥
अनामयं च वां कच्चित् सदैवेह शरीरयोः।

ब्राह्मणने उनके द्वारा की हुई पूजाको स्वीकार करके कृतज्ञता प्रकट की और उनसे पूछा—'आप दोनों इस घरमें अपने सुयोग्य पुत्र तथा सेवकोंके साथ सकुशल तो हैं न? आप दोनों शरीरसे भी सदा नीरोग रहते हैं न?' ॥ १५½ ॥

वृद्धावूचतुः

कुशलं नौ गृहे विप्र भृत्यवर्गे च सर्वशः।
कच्चित् त्वमप्यविघ्नेन सम्प्राप्तो भगवन्निति ॥ १६ ॥

उन वृद्धोंने उत्तर दिया—ब्रह्मन्! इस घरमें हम दोनों सकुशल हैं। हमारे सेवक तथा कुटुम्बके लोग भी कुशलसे हैं। भगवन्! अपना समाचार कहें, आप यहाँ सकुशल पहुँच गये न? किसी विघ्न-बाधाका सामना तो नहीं करना पड़ा? ॥ १६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

बाढमित्येव तौ विप्रः प्रत्युवाच मुदान्वितः।
धर्मव्याधो निरीक्ष्याथ ततस्तं वाक्यमब्रवीत् ॥ १७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तब कौशिक ब्राह्मणने उन्हे प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया—'हाँ, मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ।' तदनन्तर धर्मव्याधने अपने पिता-माताकी ओर देखते हुए कौशिक ब्राह्मणसे कहा ॥ १७ ॥

व्याध उवाच

पिता माता च भगवन्नेतौ मद्दैवतं परम्।
यद् दैवतेभ्यः कर्तव्यं तदेताभ्यां करोम्यहम् ॥ १८ ॥

धर्मव्याध बोला—भगवन्! ये माता-पिता ही मेरे प्रधान देवता हैं। जो कुछ देवताओंके लिये करना चाहिये, वह मैं इन्हीं दोनोंके लिये करता हूँ ॥ १८ ॥

त्रयस्त्रिंशद् यथा देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः।
सम्पूज्याः सर्वलोकस्य तथा वृद्धाविमौ मम ॥ १९ ॥

जैसे समस्त संसारके लिये इन्द्र आदि तैंतीस* देवता पूजनीय हैं, उसी प्रकार मेरे लिये ये दोनों बूढ़े माता-पिता ही आराधनीय हैं ॥ १९ ॥

उपाहारानाहरन्तो देवतानां यथा द्विजाः।
कुर्वन्ति तद्वदेताभ्यां करोम्यहमतन्द्रितः ॥ २० ॥

द्विजलोग देवताओंके लिये जैसे नाना प्रकारके उपहार समर्पण करते हैं, उसी प्रकार मैं इनके लिये करता हूँ। इनकी सेवामें मुझे आलस्य नहीं होता ॥ २० ॥

एतौ मे परमं ब्रह्मन् पिता माता च दैवतम्।
एतौ पुष्पैः फलै रत्नैस्तोषयामि सदा द्विज ॥ २१ ॥

ब्रह्मन्! ये माता-पिता ही मेरे सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। मैं सदा फूल, फल तथा रत्नोंसे इन्हींको संतुष्ट करता हूँ ॥ २१ ॥

एतावेवाग्नयो मह्यं यान् वदन्ति मनीषिणः।
यज्ञा वेदाश्च चत्वारः सर्वमेतौ मम द्विज ॥ २२ ॥

विप्रवर! जिन्हें विद्वान् लोग 'अग्नि' कहते हैं, वे मेरे लिये ये ही हैं। चारों वेद और यज्ञ सब कुछ मेरे लिये ये माता-पिता ही हैं ॥ २२ ॥

एतदर्थं मम प्राणा भार्या पुत्राः सुहृज्जनः।
सपुत्रदारः शुश्रूषां नित्यमेव करोम्यहम् ॥ २३ ॥

मेरे प्राण, स्त्री, पुत्र और सुहृद् सब इन्हींकी सेवाके लिये हैं। मैं स्त्री और पुत्रोंके साथ प्रतिदिन इन्हींकी शुश्रूषामें लगा रहता हूँ ॥ २३ ॥

---

* आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति—ये तैंतीस देवता हैं।

स्वयं च स्नापयाम्येतौ तथा पादौ प्रधावये।
आहारं च प्रयच्छामि स्वयं च द्विजसत्तम ॥ २४ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मैं स्वयं ही इन्हें नहलाता हूँ, इनके चरण धोता हूँ और स्वयं ही भोजन परोसकर इन्हें जिमाता हूँ ॥

अनुकूलं तथा वच्मि विप्रियं परिवर्जये।
अधर्मेणापि संयुक्तं प्रियमाभ्यां करोम्यहम् ॥ २५ ॥

मैं वही बात बोलता हूँ, जो इनके मनके अनुकूल हो, जो इन्हें प्रिय न लगे, ऐसी बात मुँहसे कभी नहीं निकालता। इनको पसंद हो, तो मैं अधर्मयुक्त कार्य भी कर सकता हूँ ॥

धर्ममेव गुरुं ज्ञात्वा करोमि द्विजसत्तम।
अतन्द्रितः सदा विप्र शुश्रूषां वै करोम्यहम ॥ २६ ॥

विप्रवर ! इस प्रकार माता-पिताकी सेवारूप धर्मको ही महान् मानकर मैं उसका पालन करता हूँ । ब्रह्मन् ! आलस्य छोड़कर मैं सदा इन्हीं दोनोंकी सेवामें लगा रहता हूँ ॥२६॥

पञ्चैव गुरवो ब्रह्मन् पुरुषस्य बुभूषतः।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च द्विजसत्तम ॥ २७ ॥

ब्राह्मणश्रेष्ठ ! उन्नति चाहनेवाले पुरुषके पाँच ही गुरु हैं—पिता, माता, अग्नि, परमात्मा तथा गुरु ॥ २७ ॥

एतेषु यस्तु वर्तेत सम्यगेव द्विजोत्तम।
भवेयुरग्नयस्तस्य परिचीर्णास्तु नित्यशः।
गार्हस्थ्ये वर्तमानस्य एष धर्मः सनातनः ॥ २८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! जो इन सबके प्रति उत्तम बर्ताव करेगा, उस गृहस्थ-धर्मका पालन करनेवालेके द्वारा सदा सब अग्नियोंकी सेवा सम्पन्न होती रहेगी। यही सनातन धर्म है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१४ ॥

पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्मव्याधका कौशिक ब्राह्मणको माता-पिताकी सेवाका उपदेश देकर अपने पूर्वजन्मकी कथा कहते हुए व्याध होनेका कारण बताना

मार्कण्डेय उवाच

गुरुं निवेद्य विप्राय तौ मातापितरावुभौ।
पुनरेव स धर्मात्मा व्याधो ब्राह्मणमब्रवीत् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार धर्मात्मा व्याधने कौशिक ब्राह्मणको अपने माता-पितारूप दोनों गुरुजनोंका दर्शन कराकर पुनः उससे इस प्रकार कहा—॥

प्रवृत्तचक्षुर्जातोऽसि सम्पश्य तपसो बलम्।
यदर्थमुक्तोऽसि तया गच्छ त्वं मिथिलामिति ॥ २ ॥
पतिशुश्रूषपरया दान्तया सत्यशीलया।
मिथिलायां वसेद् व्याधः स ते धर्मान् प्रवक्ष्यति ॥३॥

'ब्राह्मण ! माता-पिताकी सेवा ही मेरी तपस्या है। इस तपस्याका प्रभाव देखिये। मुझे दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो गयी है, जिसके कारण उस पतिव्रता देवीने, जो सदा पतिकी ही सेवामें संलग्न रहनेवाली, जितेन्द्रिय तथा सत्य एवं सदाचारमें तत्पर है, आपको यह कहकर यहाँ भेजा था कि 'आप मिथिलापुरीको जाइये। वहाँ एक व्याध रहता है। वह आपको सब धर्मोंका उपदेश करेगा' ॥ २-३ ॥

ब्राह्मण उवाच

पतिव्रतायाः सत्यायाः शीलाढ्याया यतव्रत।
संस्मृत्य वाक्यं धर्मज्ञ गुणवानसि मे मतः ॥ ४ ॥

ब्राह्मण बोला—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले धर्मज्ञ व्याध ! उस सत्यपरायणा और सुशीला पतिव्रता देवीके वचनों-का स्मरण करके मुझे यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि तुम उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हो ॥ ४ ॥

व्याध उवाच

यत् तदा त्वं द्विजश्रेष्ठ तयोक्तो मां प्रति प्रभो।
दृष्टमेव तया सम्यगेकपत्न्या न संशयः ॥ ५ ॥

धर्मव्याधने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! प्रभो ! उस पतिव्रता देवीने पहले आपसे मेरे विषयमें जो कुछ कहा है, वह सब ठीक है। इसमें संदेह नहीं कि उसने पातिव्रत्यके प्रभावसे सब कुछ प्रत्यक्ष देखा है ॥ ५ ॥

त्वदनुग्रहबुद्ध्या तु विप्रैतद् दर्शितं मया।
वाक्यं च शृणु मे तात यत् ते वक्ष्ये हितं द्विज ॥ ६ ॥

विप्रवर ! आपपर अनुग्रह करनेके विचारसे ही मैंने ये सब बातें आपके सामने रक्खी हैं। तात ! आप मेरी बात सुनिये। ब्रह्मन् ! आपके लिये जो हितकर है, वही बात बताऊँगा ॥ ६ ॥

त्वया विनिकृता माता पिता च द्विजसत्तम।
अनिसृष्टोऽसि निष्क्रान्तो गृहात् ताभ्यामनिन्दित ॥७॥
वेदोच्चारणकार्यार्थमयुक्तं तत् त्वया कृतम्।
तव शोकेन वृद्धौ तावन्धीभूतौ तपस्विनौ ॥ ८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! आपने माता-पिताकी उपेक्षा की है। वेदाध्ययन करनेके लिये उन दोनोंकी आज्ञा लिये बिना ही आप घरसे निकल पड़े हैं। अनिन्द्य ब्राह्मण ! यह आपके द्वारा अनुचित कार्य हुआ है। आपके शोकसे वे दोनों बूढ़े एवं तपस्वी माता-पिता अन्धे हो गये हैं ॥ ७-८ ॥

तौ प्रसादयितुं गच्छ मा त्वां धर्मोऽत्यगादयम्।
तपस्वी त्वं महात्मा च धर्मे च निरतः सदा ॥ ९ ॥

आप उन्हें प्रसन्न करनेके लिये घर जाइये। ऐसा करनेसे आपका धर्म नष्ट नहीं होगा। आप तपस्वी, महात्मा तथा निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं ॥ ९ ॥

सर्वमेतदपार्थं ते क्षिप्रं तौ सम्प्रसादय।
श्रद्दधस्व मम ब्रह्मन् नान्यथा कर्तुमर्हसि।
गम्यतामद्य विप्रर्षे श्रेयस्ते कथयाम्यहम् ॥ १० ॥

परंतु माता-पिताको संतुष्ट न करनेके कारण आपका यह सारा धर्म और व्रत व्यर्थ हो गया है। अतः शीघ्र जाकर उन दोनोंको प्रसन्न कीजिये। ब्रह्मन्! मेरी बातपर श्रद्धा कीजिये। इसके विपरीत कुछ न कीजिये। ब्रह्मर्षे! आप अपने घर जाइये और माता-पिताकी सेवा कीजिये। यह मैं आपके लिये परम कल्याणकी बात बता रहा हूँ ॥ १० ॥

ब्राह्मण उवाच

यदेतदुक्तं भवता सर्वं सत्यमसंशयम्।
प्रीतोऽस्मि तव भद्रं ते धर्माचारगुणान्वित ॥ ११ ॥

ब्राह्मण बोला—धर्म, सदाचार और सद्गुणोंसे सम्पन्न व्याध! आपका भला हो। आपने यह जो कुछ बताया है, सब निःसंदेह सत्य है। मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ ॥ ११ ॥

व्याध उवाच

दैवतप्रतिमो हि त्वं यस्त्वं धर्ममनुव्रतः।
पुराणं शाश्वतं दिव्यं दुष्प्राप्यमकृतात्मभिः ॥ १२ ॥

धर्मव्याधने कहा—विप्रवर! आप देवताओंके समान हैं; क्योंकि आपने उस धर्ममें मन लगाया है, जो पुरातन, सनातन, दिव्य तथा मनको न जीतनेवाले पुरुषोंके लिये दुर्लभ है ॥

मातापित्रोः सकाशं हि गत्वा त्वं द्विजसत्तम।
अतन्द्रितः कुरु क्षिप्रं मातापित्रोर्हि पूजनम्।
अतः परमहं धर्मं नान्यं पश्यामि कंचन ॥ १३ ॥

द्विजश्रेष्ठ! आप माता-पिताके पास जाकर आलस्य-रहित हो शीघ्र ही उनकी सेवामें लग जाइये। मैं इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं देखता ॥ १३ ॥

ब्राह्मण उवाच

इहाहमागतो दिष्ट्या दिष्ट्या मे सङ्गतं त्वया।
ईदृशा दुर्लभा लोके नरा धर्मप्रदर्शकाः ॥ १४ ॥

ब्राह्मण बोला—नरश्रेष्ठ! मेरा बड़ा भाग्य था, जो यहाँ आया और सौभाग्यसे ही मुझे आपका सङ्ग प्राप्त हो गया। संसारमें आप-जैसे धर्मका मार्ग दिखानेवाले मनुष्य दुर्लभ हैं ॥ १४ ॥

एको नरसहस्रेषु धर्मविद् विद्यते न वा।
प्रीतोऽस्मि तव सत्येन भद्रं ते पुरुषर्षभ ॥ १५ ॥

हजारों मनुष्योंमेंसे कोई एक भी धर्मके तत्त्वको जाननेवाला है या नहीं—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पुरुषर्षभ! आपका कल्याण हो। आज मैं आपके सत्यके कारण आपपर बहुत प्रसन्न हूँ ॥ १५ ॥

पतमानोऽद्य नरके भवतास्मि समुद्धृतः।
भवितव्यमथैवं च यद् दृष्टोऽसि मयानघ ॥ १६ ॥

अनघ! मैं नरकमें गिर रहा था। आज आपने मेरा उद्धार कर दिया। इस प्रकार जब मुझे आपका दर्शन मिल गया, तब निश्चय ही आपके उपदेशके अनुसार भविष्यमें सब कुछ होगा ॥ १६ ॥

राजा ययातिर्दौहित्रैः पतितस्तारितो यथा।
सद्भिः पुरुषशार्दूल तथाहं भवता द्विजः ॥ १७ ॥

राजा ययाति स्वर्गसे गिर गये थे; परंतु उनके उत्तम स्वभाववाले दौहित्रों (पुत्रीके पुत्रों) ने पुनः उनका उद्धार कर दिया—वे पूर्ववत् स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित हो गये। पुरुषसिंह! इसी प्रकार आपने भी आज मुझ ब्राह्मणको नरकमें गिरनेसे बचाया है ॥ १७ ॥

मातापितृभ्यां शुश्रूषां करिष्ये वचनात् तव।
नाकृतात्मा वेदयति धर्माधर्मविनिश्चयम् ॥ १८ ॥

मैं आपके कहनेके अनुसार माता-पिताकी सेवा करूँगा। जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, वह धर्म-अधर्मके निर्णयको बतला नहीं सकता ॥ १८ ॥

दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः शूद्रयोनौ हि वर्तते।
न त्वां शूद्रमहं मन्ये भवितव्यं हि कारणम् ॥ १९ ॥

आश्चर्य है कि यह सनातन धर्म, जिसके स्वरूपको समझना अत्यन्त कठिन है, शूद्रयोनिके मनुष्यमें भी विद्यमान है। मैं आपको शूद्र नहीं मानता। आपका जो शूद्रयोनिमें जन्म हो गया है, इसका कोई विशेष कारण होना चाहिये ॥

येन कर्मविशेषेण प्राप्तेयं शूद्रता त्वया।
एतदिच्छामि विज्ञातुं तत्त्वेन हि महामते।
कामया ब्रूहि मे सर्वं सत्येन प्रयतात्मना ॥ २० ॥

महामते! जिस विशेष कर्मके कारण आपको यह शूद्र-योनि प्राप्त हुई है, उसे मैं यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ। आप सत्य और पवित्र अन्तःकरणके विश्वासके अनुसार स्वेच्छापूर्वक मुझे सब कुछ बताइये ॥ २० ॥

व्याध उवाच

अनतिक्रमणीया वै ब्राह्मणा मे द्विजोत्तम।
शृणु सर्वमिदं वृत्तं पूर्वदेहे ममानघ ॥ २१ ॥

धर्मव्याधने कहा—विप्रवर! मुझे ब्राह्मणोंका अपराध कभी नहीं करना चाहिये। अनघ! मेरे पूर्वजन्मके शरीर-द्वारा जो घटना घटित हुई है, वह सब बताता हूँ, सुनिये ॥

अहं हि ब्राह्मणः पूर्वमासं द्विजवरात्मजः।
वेदाध्यायी सुकुशलो वेदाङ्गानां च पारगः ॥ २२ ॥

मैं पूर्वजन्ममें एक श्रेष्ठ ब्राह्मणका पुत्र और वेदाध्ययन-परायण ब्राह्मण था। वेदाङ्गोंका पारङ्गत विद्वान् माना जाता था। मैं विद्याध्ययनमें अत्यन्त कुशल था ॥ २२ ॥

आत्मदोषकृतैर्ब्रह्मन्नवस्थामाप्तवानिमाम्।
कश्चिद् राजा मम सखा धनुर्वेदपरायणः ॥ २३ ॥
संसर्गाद् धनुषि श्रेष्ठस्ततोऽहमभवं द्विज।

ब्राह्मण! अपने ही दोषोंके कारण मुझे इस दुरवस्थामें आना पड़ा है। पूर्वजन्ममें जब मैं ब्राह्मण था, एक धनुर्वेद-परायण राजाके साथ मेरी मित्रता हो गयी थी। उनके संसर्गसे मैं धनुर्वेदकी शिक्षा लेने लगा और धनुष चलानेकी कलामें मैंने श्रेष्ठ योग्यता प्राप्त कर ली ॥ २३½ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु मृगयां निर्गतो नृपः ॥ २४ ॥
सहितो योधमुख्यैश्च मन्त्रिभिश्च सुसंवृतः।
ततोऽभ्यहन् मृगांस्तत्र सुबहूनाश्रमं प्रति ॥ २५ ॥

ब्रह्मन्! इसी समय राजा अपने मन्त्रियों तथा प्रधान योद्धाओंके साथ शिकार खेलनेके लिये निकले। उन्होंने एक ऋषिके आश्रमके निकट बहुत-से हिंसक पशुओंका वध किया ॥ २४-२५ ॥

अथ क्षिप्तः शरो घोरो मयापि द्विजसत्तम।
ताडितश्च ऋषिस्तेन शरेणानतपर्वणा ॥ २६ ॥

द्विजश्रेष्ठ! तदनन्तर मैंने भी एक भयानक बाण छोड़ा। उसकी गाँठ कुछ झुकी हुई थी। उस बाणसे एक ऋषि मारे गये ॥ २६ ॥

भूमौ निपतितो ब्रह्मन्नुवाच प्रतिनादयन्।
नापराध्याम्यहं किंचित् केन पापमिदं कृतम् ॥ २७ ॥

ब्रह्मन्! बाण लगते ही वे मुनि पृथिवीपर गिर पड़े और अपने आर्तनादसे उस वन्य प्रदेशको गुँजाते हुए बोले, 'आह! मैं तो किसीका कोई अपराध नहीं करता हूँ। फिर किसने यह पापकर्म कर डाला?' ॥ २७ ॥

मन्वानस्तं मृगं चाहं सम्प्राप्तः सहसा प्रभो।
अपश्यं तमृषिं विद्धं शरेणानतपर्वणा ॥ २८ ॥

प्रभो! मैंने उन्हें हिंसक पशु समझकर बाण मारा था। अतः सहसा उनके पास जा पहुँचा। वहाँ जाकर देखा कि झुकी हुई गाँठवाले उस बाणसे एक ऋषि घायल होकर धरतीपर पड़े हैं ॥ २८ ॥

अकार्यकरणाच्चापि भृशं मे व्यथितं मनः।
तमुग्रतपसं विप्रं निष्टनन्तं महीतले ॥ २९ ॥

यह न करने योग्य पाप कर डालनेके कारण मेरे मनमें उस समय बड़ी पीड़ा हुई। वे उग्र तपस्वी ब्राह्मण उस समय धरतीपर पड़े-पड़े कराह रहे थे ॥ २९ ॥

अजानता कृतमिदं मयेत्यहमथाब्रुवम्।
क्षन्तुमर्हसि मे सर्वमिति चोक्तो मया मुनिः ॥ ३० ॥

मैंने साहस करके उन मुनीश्वरसे कहा—'भगवन्! अनजानमें मेरेद्वारा यह अपराध बन गया है। अतः आप यह सब क्षमा कर दें' ॥ ३० ॥

ततः प्रत्यब्रवीद् वाक्यमृषिर्मां क्रोधमूर्च्छितः।
व्याधस्त्वं भविता क्रूर शूद्रयोनाविति द्विज ॥ ३१ ॥

मेरी बात सुनकर ऋषि क्रोधसे व्याकुल हो गये और उत्तर देते हुए बोले—'निर्दयी ब्राह्मण! तू शूद्रयोनिमें जन्म लेकर व्याध होगा' ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याधसंवादविषयक दो सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१५ ॥

षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

कौशिक-धर्मव्याध-संवादका उपसंहार तथा कौशिकका अपने घरको प्रस्थान

व्याध उवाच

एवं शप्तोऽहमृषिणा तदा द्विजवरोत्तम।
अभिप्रसादयमृषिं गिरा त्राहीति मां तदा ॥ १ ॥
अजानता मयाकार्यमिदमद्य कृतं मुने।
क्षन्तुमर्हसि तत् सर्वं प्रसीद भगवन्निति ॥ २ ॥

धर्मव्याध कहता है—विप्रवर! जब इस प्रकार ऋषिने मुझे शाप दे दिया, तब मैंने कहा—'भगवन्! मेरी रक्षा कीजिये—मुझे उबारिये। मुने! मैंने अनजानमें यह आज अनुचित काम कर डाला है। मेरा सब अपराध क्षमा कीजिये और मुझपर प्रसन्न हो जाइये।' ऐसा कहकर उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा की ॥ १-२ ॥

ऋषिरुवाच

नान्यथा भविता शाप एवमेतदसंशयम्।
आनृशंस्यात् त्वहं किञ्चित् कर्तानुग्रहमद्य ते ॥ ३ ॥

ऋषिने कहा—यह शाप टल नहीं सकता। ऐसा होकर ही रहेगा, इसमें संशय नहीं है। परंतु मेरा स्वभाव क्रूर नहीं है, इसलिये मैं तुझपर आज कुछ अनुग्रह करता हूँ ॥ ३ ॥

शूद्रयोन्यां वर्तमानो धर्मज्ञो हि भविष्यसि।
मातापित्रोश्च शुश्रूषां करिष्यसि न संशयः ॥ ४ ॥

तू शूद्रयोनिमें रहकर धर्मज्ञ होगा और माता-पिताकी सेवा करेगा। इसमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है॥

तया शुश्रूषया सिद्धिं महत्त्वं समवाप्स्यसि।
जातिस्मरश्च भविता स्वर्गं चैव गमिष्यसि ॥ ५ ॥

उस सेवासे तुझे सिद्धि और महत्ता प्राप्त होगी। तू पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण रखनेवाला होगा और अन्तमें स्वर्गलोकमें जायगा ॥ ५ ॥

शापक्षये तु निर्वृत्ते भवितासि पुनर्द्विजः।
एवं शप्तः पुरा तेन ऋषिणास्म्युग्रतेजसा ॥ ६ ॥

शापका निवारण हो जानेपर तू फिर ब्राह्मण होगा। इस प्रकार उन उग्र तेजस्वी महर्षिने पूर्वकालमें मुझे शाप दिया था ॥ ६ ॥

प्रसादश्च कृतस्तेन ममैव द्विपदां वर।
शरं चोद्धृतवानस्मि तस्य वै द्विजसत्तम ॥ ७ ॥
आश्रमं च मया नीतो न च प्राणैर्व्ययुज्यत।

नरश्रेष्ठ! फिर उन्होंने ही मेरे ऊपर अनुग्रह किया। द्विजश्रेष्ठ! तदनन्तर मैंने उनके शरीरसे बाण निकाला और उन्हें उनके आश्रमपर पहुँचा दिया। परंतु उनके प्राण नहीं गये ॥ ७½ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथा मम पुराभवत् ॥ ८ ॥
अभितश्चापि गन्तव्यं मया स्वर्गं द्विजोत्तम ॥ ९ ॥

विप्रवर! पूर्वजन्ममें मेरे ऊपर जो कुछ बीता था, वह सब मैंने आपसे कह सुनाया। अब इस जीवनके पश्चात् मुझे स्वर्गलोकमें जाना है ॥ ८-९ ॥

ब्राह्मण उवाच

एवमेतानि पुरुषा दुःखानि च सुखानि च।
आप्नुवन्ति महाबुद्धे नोत्कण्ठां कर्तुमर्हसि ॥ १० ॥

ब्राह्मण बोला—महामते! मनुष्य इसी प्रकार दुःख और सुख पाते रहते हैं। इसके लिये आपको चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ १० ॥

दुष्करं हि कृतं कर्म जानता जातिमात्मनः।
लोकवृत्तान्ततत्त्वज्ञ नित्यं धर्मपरायण ॥ ११ ॥

जिसके फलस्वरूप आपको अपने पूर्वजन्मकी बातोंका ज्ञान बना हुआ है, वह पिता-माताकी सेवारूप कर्म दूसरोंके लिये दुष्कर है; किंतु आपने उसे सम्पन्न कर लिया है। आप लोकवृत्तान्तका तत्त्व जानते हैं और सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं ॥ ११ ॥

कर्मदोषश्च वै विद्वन्नात्मजातिकृतेन ते।
कश्चित् कालमुष्यतां वै ततोऽसि भविता द्विजः ॥ १२ ॥

विद्वन्! आपको जो यह कर्मदोष (दूषित कर्म) प्राप्त हुआ है, वह आपके पूर्वजन्मके कर्मका फल है। इस जन्मके नहीं। अतः कुछ कालतक और इसी रूपमें रहें। फिर आप ब्राह्मण हो जायँगे ॥ १२ ॥

साम्प्रतं च मतो मेऽसि ब्राह्मणो नात्र संशयः।
ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्तमानो विकर्मसु ॥ १३ ॥
दाम्भिको दुष्कृतः प्रायः शूद्रेण सदृशो भवेत्।

मैं तो अभी आपको ब्राह्मण मानता हूँ। आपके ब्राह्मण होनेमें संदेह नहीं है। जो ब्राह्मण होकर भी पतनके गर्तमें गिरानेवाले पापकर्मोंमें फँसा हुआ है और प्रायः दुष्कर्म-परायण तथा पाखंडी है, वह शूद्रके समान है ॥ १३½ ॥

यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः ॥ १४ ॥
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः।

इसके विपरीत जो शूद्र होकर भी (शम,) दम, सत्य तथा धर्मका पालन करनेके लिये सदा उद्यत रहता है, उसे मैं ब्राह्मण ही मानता हूँ; क्योंकि मनुष्य सदाचारसे ही द्विज होता है ॥ १४½ ॥

कर्मदोषेण विषमां गतिमाप्नोति दारुणाम् ॥ १५ ॥
क्षीणदोषमहं मन्ये चाभितस्त्वां नरोत्तम।

कर्मदोषसे ही मनुष्य विषम एवं भयंकर दुर्गतिमें पड़ जाता है। परंतु नरश्रेष्ठ! मैं तो समझता हूँ कि आपके सारे कर्मदोष सर्वथा नष्ट हो गये हैं ॥ १५½ ॥

कर्तुमर्हसि नोत्कण्ठां त्वद्विधा ह्यविषादिनः।
लोकवृत्तानुवृत्तज्ञा नित्यं धर्मपरायणाः ॥ १६ ॥

अतः आपको अपने विषयमें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। आपके-जैसे ज्ञानी पुरुष, जो लोकवृत्तान्तके अनुवर्तनका रहस्य जाननेवाले तथा नित्य धर्मपरायण हैं, कभी विषादग्रस्त नहीं होते हैं ॥ १६ ॥

व्याध उवाच

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ १७ ॥

धर्मव्याधने कहा—ज्ञानी पुरुष शारीरिक कष्टका औषधसेवनद्वारा नाश करे और विवेकशील बुद्धिद्वारा मानसिक दुःखको नष्ट करे। यही ज्ञानकी शक्ति है। बुद्धिमान् मनुष्यको बालकोंके समान शोक या विलाप नहीं करना चाहिये ॥ १७ ॥

अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च।
मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते चाल्पबुद्धयः ॥ १८ ॥

मन्दबुद्धि मनुष्य ही अप्रिय वस्तुके संयोग और प्रिय

वस्तुके वियोगमें मानसिक दुःखसे दुखी होते हैं ॥ १८ ॥

गुणैर्भूतानि युज्यन्ते वियुज्यन्ते तथैव च ।
सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते ॥ १९ ॥

सभी प्राणी तीनों गुणोंके कार्यभूत विभिन्न वस्तु आदिसे जिस प्रकार संयुक्त होते हैं, वैसे ही वियुक्त भी होते रहते हैं। अतः किसी एकका संयोग और किसी एकका वियोग वास्तवमें शोकका कारण नहीं है ॥ १९ ॥

अनिष्टं चान्वितं पश्यंस्तथा क्षिप्रं विरज्यते ।
ततश्च प्रतिकुर्वन्ति यदि पश्यन्त्युपक्रमात् ॥ २० ॥

यदि किसी कार्यमें अनिष्टका संयोग दिखायी देता है, तो मनुष्य शीघ्र ही उससे निवृत्त हो जाता है और यदि आरम्भ होनेसे पहले ही उस अनिष्टका पता लग जाता है, तो लोग उसके प्रतीकारका उपाय करने लगते हैं ॥ २० ॥

शोचतो न भवेत् किंचित् केवलं परितप्यते ।
परित्यजन्ति ये दुःखं सुखं वाप्युभयं नराः ॥ २१ ॥
त एव सुखमेधन्ते ज्ञानतृप्ता मनीषिणः ।
असंतोषपरा मूढाः संतोषं यान्ति पण्डिताः ॥ २२ ॥

केवल शोक करनेसे कुछ नहीं होता, संतापमात्र ही हाथ लगता है। जो ज्ञानतृप्त मनीषी मानव सुख और दुःख दोनोंका परित्याग कर देते हैं, वे ही सुखी होते हैं। मूढ़ मनुष्य असंतोषी होते हैं और ज्ञानवानोंको संतोष प्राप्त होता है ॥ २१-२२ ॥

असंतोषस्य नास्त्यन्तस्तुष्टिस्तु परमं सुखम् ।
न शोचन्ति गताध्वानः पश्यन्तः परमां गतिम् ॥ २३ ॥

असंतोषका अन्त नहीं है, अतः संतोष ही परम सुख है। जिन्होंने ज्ञानमार्गको पार करके परमात्माका साक्षात्कार कर लिया है, वे कभी शोकमें नहीं पड़ते हैं ॥ २३ ॥

न विषादे मनः कार्यं विषादो विषमुत्तमम् ।
मारयत्यकृतप्रज्ञं बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥ २४ ॥

मनको विषादकी ओर न जाने दे। विषाद उग्र विष है। वह क्रोधमें भरे हुए सर्पकी भाँति विवेकहीन अज्ञानी मनुष्यको मार डालता है ॥ २४ ॥

यं विषादोऽभिभवति विक्रमे समुपस्थिते ।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न विद्यते ॥ २५ ॥

पराक्रमका अवसर उपस्थित होनेपर जिसे विषाद घेर लेता है, उस तेजोहीन पुरुषका कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता ॥ २५ ॥

अवश्यं क्रियमाणस्य कर्मणो दृश्यते फलम् ।
न हि निर्वेदमागम्य किंचित्प्राप्नोति शोभनम् ॥ २६ ॥

किये जानेवाले कर्मका फल अवश्य दृष्टिगोचर होता है। केवल खिन्न होकर बैठ रहनेसे कोई अच्छा परिणाम हाथ नहीं लगता ॥ २६ ॥

अथाप्युपायं पश्येत दुःखस्य परिमोक्षणे ।
अशोचन्नारभेतैवं मुक्तश्चाव्यसनी भवेत् ॥ २७ ॥

अतः दुःखसे छूटनेके उपायको अवश्य देखे। शोक और विषादमें न पड़कर आवश्यक कार्य आरम्भ कर दे। इस प्रकार प्रयत्न करनेसे मनुष्य निश्चय ही दुःखसे छूट जाता है और फिर किसी संकट या व्यसनमें नहीं फँसता ॥ २७ ॥

भूतेष्वभावं संचिन्त्य ये तु बुद्धेः परं गताः ।
न शोचन्ति कृतप्रज्ञाः पश्यन्तः परमां गतिम् ॥ २८ ॥

संसारके सभी पदार्थ अनित्य हैं, ऐसा सोचकर जो बुद्धिसे पार होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो गये हैं, वे ज्ञानी महापुरुष परमात्माका साक्षात्कार करते हुए कभी शोकमें नहीं पड़ते ॥ २८ ॥

न शोचामि च वै विद्वन् कालाकाङ्क्षी स्थितो ह्यहम् ।
एतैर्निदर्शनैर्ब्रह्मन् नावसीदामि सत्तम ॥ २९ ॥

विद्वन्! मैं अन्तकालकी प्रतीक्षा करता हूँ। अतः कभी शोकमग्न नहीं होता। सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण! उपर्युक्त विचारोंका मनन करते रहनेसे मुझे कभी दुःख या अनुत्साह नहीं होता ॥ २९ ॥

ब्राह्मण उवाच

कृतप्रज्ञोऽसि मेधावी बुद्धिर्हि विपुला तव ।
नाहं भवन्तं शोचामि ज्ञानतृप्तोऽसि धर्मवित् ॥ ३० ॥

ब्राह्मण बोला—धर्मव्याध! आप ज्ञानी और बुद्धिमान् हैं। आपकी बुद्धि विशाल है। आप धर्मके तत्त्वको जानते हैं और ज्ञानानन्दसे तृप्त रहते हैं। अतः मैं आपके लिये शोक नहीं करता ॥ ३० ॥

आपृच्छे त्वां स्वस्ति तेऽस्तु धर्मस्त्वां परिरक्षतु ।
अप्रमादस्तु कर्तव्यो धर्मे धर्मभृतां वर ॥ ३१ ॥

अब मैं जानेके लिये आपकी अनुमति चाहता हूँ। आपका कल्याण हो और धर्म सदा आपकी रक्षा करे। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ व्याध! आप धर्माचरणमें कभी प्रमाद न करें ॥ ३१ ॥

मार्कण्डेय उवाच

बाढमित्येव तं व्याधः कृताञ्जलिरुवाच ह ।
प्रदक्षिणमथो कृत्वा प्रस्थितो द्विजसत्तमः ॥ ३२ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! कौशिक ब्राह्मणकी बात सुनकर धर्मव्याधने हाथ जोड़कर कहा—'बहुत अच्छा! अब आप अपने घरको पधारें।' तदनन्तर विप्रवर कौशिक धर्मव्याधकी परिक्रमा करके वहाँसे चल दिया ॥ ३२ ॥

स तु गत्वा द्विजः सर्वां शुश्रूषां कृतवांस्तदा ।
मातापितृभ्यां वृद्धाभ्यां यथान्यायं सुशंसितः ॥ ३३ ॥

घर जाकर उस ब्राह्मणने अपने माता-पिताकी सब प्रकारकी सेवा-शुश्रूषा की और उन बूढ़े माता-पिताने प्रसन्न होकर उसकी यथायोग्य प्रशंसा की ॥ ३३ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं निखिलेन युधिष्ठिर ।
पृष्टवानसि यं तात धर्मं धर्मभृतां वर ॥ ३४ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तात युधिष्ठिर ! तुमने जो प्रश्न किया था, उसके अनुसार मैंने ये सब बातें कह सुनायीं ॥ ३४ ॥

पतिव्रताया माहात्म्यं ब्राह्मणस्य च सत्तम ।
मातापित्रोश्च शुश्रूषा धर्मव्याधेन कीर्तिता ॥ ३५ ॥

साधुश्रेष्ठ ! पतिव्रताका माहात्म्य और धर्मव्याधके द्वारा ब्राह्मणसे कही हुई माता-पिताकी सेवा आदिकी बातें बता दीं॥ ३५॥

युधिष्ठिर उवाच

अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन् धर्माख्यानमनुत्तमम् ।
सर्वधर्मविदां श्रेष्ठ कथितं मुनिसत्तम ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन् ! आपने धर्मके विषयमें यह अत्यन्त अद्भुत और उत्तम उपाख्यान सुनाया है । मुनिवर ! आप समस्त धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ ३६ ॥

सुखश्रव्यतया विद्वन् मुहूर्त इव मे गतः ।
न हि तृप्तोऽस्मि भगवन् शृण्वानो धर्ममुत्तमम् ॥ ३७ ॥

विद्वन् ! यह कथा सुननेमें इतनी सुखद थी कि मेरा बहुत-सा समय भी दो घड़ीके समान बीत गया । भगवन् ! आपके मुखसे यह धर्मकी उत्तम कथा सुनते-सुनते मुझे तृप्ति ही नहीं हो रही है ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१६ ॥

सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अग्निका अङ्गिराको अपना प्रथम पुत्र स्वीकार करना तथा अङ्गिरासे बृहस्पतिकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वेमां धर्मसंयुक्तां धर्मराजः कथां शुभाम् ।
पुनः पप्रच्छ तमृषिं मार्कण्डेयमिदं तदा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह धर्मयुक्त शुभ कथा सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने उन मार्कण्डेयमुनिसे पुनः इस प्रकार प्रश्न किया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथमग्निर्वनं यातः कथं चाप्यङ्गिराः पुरा ।
नष्टेऽग्नौ हव्यमवहदग्निर्भूत्वा महाद्युतिः ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मुने ! पूर्वकालमें अग्निदेवने किस कारणसे जलमें प्रवेश किया था ? और अग्निके अदृश्य हो जानेपर महातेजस्वी अङ्गिरा ऋषिने किस प्रकार अग्नि होकर देवताओंके लिये हविष्य पहुँचानेका कार्य किया ? ॥ २ ॥

अग्निर्यदा त्वेक एव बहुत्वं चास्य कर्मसु ।
दृश्यते भगवन् सर्वमेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

भगवन् ! जब अग्निदेव एक ही हैं, तब विभिन्न कर्मोंमें उनके अनेक रूप क्यों दिखायी देते हैं ? मैं यह सब कुछ जानना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

कुमारश्च यथोत्पन्नो यथा चाग्नेः सुतोऽभवत् ।
यथा रुद्राच्च सम्भूतो गङ्गायां कृत्तिकासु च ॥ ४ ॥

कुमार कार्तिकेयकी उत्पत्ति कैसे हुई ? वे अग्निके पुत्र कैसे हुए ? भगवान् शङ्करसे तथा गङ्गादेवी और कृत्तिकाओंसे उनका जन्म कैसे सम्भव हुआ ? ॥ ४॥

एतदिच्छाम्यहं त्वत्तः श्रोतुं भार्गवसत्तम ।
कौतूहलसमाविष्टो याथातथ्यं महामुने ॥ ५ ॥

भृगुकुलतिलक महामुने ! मैं आपके मुखसे यह सब वृत्तान्त यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ, इसके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यथा क्रुद्धो हुतवहस्तपस्तप्तुं वनं गतः ॥ ६ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें जानकार लोग उस प्राचीन इतिहासको दुहराया करते हैं, जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार अग्निदेव कुपित हो तपस्याके लिये जलमें प्रविष्ट हुए थे ? ॥ ६ ॥

यथा च भगवानग्निः स्वयमेवाङ्गिराऽभवत् ।
संतापयंश्च प्रभया नाशयंस्तिमिराणि च ॥ ७ ॥

कैसे स्वयं महर्षि अङ्गिरा ही भगवान् अग्नि बन गये और अपनी प्रभासे अन्धकारका निवारण करते हुए जगत्को ताप देने लगे ? ॥ ७ ॥

पुराङ्गिरा महाबाहो चचार तप उत्तमम् ।
आश्रमस्थो महाभागो हव्यवाहं विशेषयन् ।
[illegible] ॥ ८ ॥

महाबाहो ! प्राचीन कालकी बात है, महाभाग अङ्गिरा ऋषि अपने आश्रममें ही रहकर उत्तम तपस्या करने लगे । वे अग्निसे भी अधिक तेजस्वी होनेके लिये यत्नशील थे । अपने उद्देश्यमें सफल होकर वे सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करने लगे ॥ ८ ॥

तपश्चरंस्तु हुतभुक् संतप्तस्तस्य तेजसा ।
भृशं ग्लानश्च तेजस्वी न च किंचित् प्रजज्ञिवान् ॥ ९ ॥

उन्हीं दिनों अग्निदेव भी तपस्या कर रहे थे । वे तेजस्वी होकर भी अङ्गिराके तेजसे संतप्त हो अत्यन्त मलिन पड़ गये । परंतु इसका कारण क्या है ? यह कुछ भी उनकी समझमें नहीं आया ॥ ९ ॥

अथ संचिन्तयामास भगवान् हव्यवाहनः ।
अन्योऽग्निरिह लोकानां ब्रह्मणा सम्प्रकल्पितः ॥ १० ॥

तब भगवान् अग्निने यह सोचा—'हो-न हो, ब्रह्माजीने इस जगत्‌के लिये किसी दूसरे अग्निदेवताका निर्माण कर लिया है' ॥ १० ॥

अग्नित्वं विप्रणष्टं हि तप्यमानस्य मे तपः ।
कथमग्निः पुनरहं भवेयमिति चिन्त्य सः ॥ ११ ॥
अपश्यदग्निवल्लोकांस्तापयन्तं महामुनिम् ।

'जान पड़ता है, तपस्यामें लग जानेसे मेरा अग्नित्व नष्ट हो गया । अब मैं पुनः किस प्रकार अग्नि हो सकता हूँ ?' यह विचार करते हुए उन्होंने देखा कि महामुनि अङ्गिरा अग्निकी ही भाँति प्रकाशित हो सम्पूर्ण जगत्‌को ताप दे रहे हैं ॥ ११½ ॥

सोपासर्पच्छनैर्भीतस्तमुवाच तदाङ्गिराः ॥ १२ ॥
शीघ्रमेव भवस्वाग्निस्त्वं पुनर्लोकभावनः ।
विज्ञातश्चासि लोकेषु त्रिषु संस्थानचारिषु ॥ १३ ॥

यह देख वे डरते-डरते धीरेसे उनके पास गये । उस समय उनसे अङ्गिरा मुनिने कहा—'देव ! आप पुनः शीघ्र ही लोकभावन अग्निके पदपर प्रतिष्ठित हो जाइये; क्योंकि तीनों लोकों तथा स्थावर-जङ्गम प्राणियोंमें आपकी प्रसिद्धि है ॥ १२-१३ ॥

त्वमग्निः प्रथमं सृष्टो ब्रह्मणा तिमिरापहः ।
स्वस्थानं प्रतिपद्यस्व शीघ्रमेव तमोनुद ॥ १४ ॥

'ब्रह्माजीने आपको ही अन्धकारनाशक प्रथम अग्निके रूपमें उत्पन्न किया है । तिमिरपुञ्जको दूर भगानेवाले देवता ! आप शीघ्र ही अपना स्थान ग्रहण कीजिये' ॥ १४ ॥

अग्निरुवाच

नष्टकीर्तिरहं लोके भवान् जातो हुताशनः ।
भवन्तमेव ज्ञास्यन्ति पावकं न तु मां जनाः ॥ १५ ॥

अग्निदेव बोले— मुने ! संसारमें मेरी कीर्ति नष्ट हो गयी है । अब आप ही अग्निके पदपर प्रतिष्ठित हैं । आपको ही लोग अग्नि समझेंगे, आपके सामने मुझे कोई अग्नि नहीं मानेगा ॥ १५ ॥

निक्षिपाम्यहमग्नित्वं त्वमग्निः प्रथमो भव ।
भविष्यामि द्वितीयोऽहं प्राजापत्यक एव च ॥ १६ ॥

मैं अपना अग्नित्व आपमें ही रख देता हूँ, आप ही प्रथम अग्निके पदपर प्रतिष्ठित होइये । मैं द्वितीय प्राजापत्य नामक अग्नि होऊँगा ॥ १६ ॥

अङ्गिरा उवाच

कुरु पुण्यं प्रजास्वर्ग्यं भवाग्निस्तिमिरापहः ।
मां च देव कुरुष्वाग्ने प्रथमं पुत्रमञ्जसा ॥ १७ ॥

अङ्गिराने कहा—अग्निदेव ! आप प्रजाको स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेवाला पुण्यकर्म (देवताओंके पास हविष्य पहुँचानेका कार्य) सम्पन्न कीजिये और स्वयं ही अन्धकार-निवारक अग्निपदपर प्रतिष्ठित होइये; साथ ही मुझे अपना पहला पुत्र स्वीकार कर लीजिये ॥ १७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तच्छ्रुत्वाङ्गिरसो वाक्यं जातवेदास्तथाकरोत् ।
राजन् बृहस्पतिर्नाम तस्याप्यङ्गिरसः सुतः ॥ १८ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! अङ्गिराका यह वचन सुनकर अग्निदेवने वैसा ही किया । उन्हें अपना प्रथम पुत्र मान लिया । फिर अङ्गिराके भी बृहस्पति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १८ ॥

ज्ञात्वा प्रथमजं तं तु वह्नेराङ्गिरसं सुतम् ।
उपेत्य देवाः पप्रच्छुः कारणं तत्र भारत ॥ १९ ॥

भरतनन्दन ! अङ्गिराको अग्निदेवका प्रथम पुत्र जानकर सब देवता उनके पास आये और इसका कारण पूछने लगे ॥ १९ ॥

स तु पृष्टस्तदा देवैस्ततः कारणमब्रवीत् ।
प्रत्यगृह्णंस्तु देवाश्च तद् वचोऽङ्गिरसस्तदा ॥ २० ॥

देवताओंके पूछनेपर अङ्गिराने उन्हें कारण बताया और देवताओंने अङ्गिराके उस कथनपर विश्वास करके उसे यथार्थ माना ॥ २० ॥

तत्र नानाविधानग्नीन् प्रवक्ष्यामि महाप्रभान् ।
कर्मभिर्बहुभिः ख्यातान् नानार्थान् ब्राह्मणेष्विह ॥ २१ ॥

अब मैं महान् कान्तिमान् विविध अग्नियोंका, जो ब्राह्मण-ग्रन्थोक्त विधि-वाक्योंमें अनेक कर्मोंद्वारा विभिन्न प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये विख्यात हैं, वर्णन करूँगा ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसके प्रसङ्गमें दो सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१७ ॥

अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अङ्गिराकी संततिका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

ब्रह्मणो यस्तृतीयस्तु पुत्रः कुरुकुलोद्वह ।
तस्याभवत् सुभा भार्या प्रजास्तस्यां च मे शृणु ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—कुरुकुलधुरन्धर युधिष्ठिर ! ब्रह्माजीके जो तीसरे पुत्र अङ्गिरा हैं, उनकी पत्नीका नाम सुभा है । उसके गर्भसे जो संतानें उत्पन्न हुईं, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ १ ॥

बृहत्कीर्तिर्बृहज्ज्योतिर्बृहद्ब्रह्मा बृहन्मनाः ।
बृहन्मन्त्रो बृहद्भासस्तथा राजन् बृहस्पतिः ॥ २ ॥

राजन् ! बृहत्कीर्ति, बृहज्ज्योति, बृहद्ब्रह्मा, बृहन्मना, बृहन्मन्त्र, बृहद्भास तथा बृहस्पति (ये अङ्गिरासे सुभाके सात पुत्र हुए) ॥ २ ॥

प्रजासु तासु सर्वासु रूपेणाप्रतिमाभवत् ।
देवी भानुमती नाम प्रथमाङ्गिरसः सुता ॥ ३ ॥

अङ्गिराकी प्रथम पुत्रीका नाम देवी भानुमती है । वह उनकी संतानोंमें सबसे अधिक रूपवती है; उसके रूपकी कहीं तुलना ही नहीं है (भानु अर्थात् सूर्यसे युक्त होनेके कारण यह दिनकी अभिमानिनी है) ॥ ३ ॥

भूतानामेव सर्वेषां यस्यां रागस्तदाभवत् ।
रागाद्रागेति यामाहुर्द्वितीयाङ्गिरसः सुता ॥ ४ ॥

अङ्गिरा मुनिकी दूसरी कन्या 'रागा' नामसे विख्यात है । उसपर समस्त प्राणियोंका विशेष अनुराग प्रकट हुआ था । इसीलिये उसका ऐसा नाम प्रसिद्ध हुआ । (यह रात्रिकी अभिमानिनी है) ॥ ४ ॥

यां कपर्दिसुतामाहुर्दृश्यादृश्येति देहिनः ।
तनुत्वात् सा सिनीवाली तृतीयाङ्गिरसः सुता ॥ ५ ॥

अङ्गिराकी तीसरी पुत्री 'सिनीवाली' (चतुर्दशीयुक्ता अमावास्या) है, जो अत्यन्त कृश होनेके कारण कभी दीखती है और कभी नहीं दीखती है; इसीलिये लोग उसे 'दृश्यादृश्या' कहते हैं । भगवान् रुद्र उसे ललाटमें धारण करते हैं, इस कारण उसे सब लोग 'रुद्रसुता' भी कहते हैं ॥५॥

पश्यत्यर्चिष्मती भाभिर्हविर्भिश्च हविष्मती ।
षष्ठीमङ्गिरसः कन्यां पुण्यामाहुर्महिष्मतीम् ॥ ६ ॥

उनकी चौथी पुत्री 'अर्चिष्मती' है, (यही पूर्ण चन्द्रमासे युक्त होनेके कारण शुद्ध पौर्णमासी कही जाती है) इसकी प्रभासे लोग रातमें भी सब वस्तुओंको स्पष्ट देखते हैं । पाँचवीं कन्या 'हविष्मती' (प्रतिपद्युक्ता पूर्णिमा 'राका') है, जिसके सांनिध्यमें हविष्यद्वारा देवताओंका यजन किया जाता है । अङ्गिरा मुनिकी जो छठी पुण्यात्मा कन्या है, उसे 'महिष्मती' कहते हैं (यही चतुर्दशीयुक्ता पूर्णिमा है, जिसे 'अनुमति' भी कहते हैं) ॥ ६ ॥

महामखेष्वाङ्गिरसी दीप्तिमत्सु महामते ।
महामतीति विख्याता सप्तमी कथ्यते सुता ॥ ७ ॥

महामते ! जो दीप्तिशाली सोमयाग आदि महायज्ञोंमें प्रकाशित होनेके कारण 'महामती' नामसे विख्यात है, वह (प्रतिपद्युक्त अमावास्या) अङ्गिरा मुनिकी सातवीं पुत्री कहलाती है ॥ ७ ॥

यां तु दृष्ट्वा भगवतीं जनः कुहुकुहायते ।
एकानंशेति तामाहुः कुहूमङ्गिरसः सुताम् ॥ ८ ॥

जिस भगवती अमाको देखकर लोग 'कुहु-कुहु' ध्वनि कर उठते (चकित हो जाते) हैं, अङ्गिरा मुनिकी वह आठवीं पुत्री 'कुहू' नामसे विख्यात है । उसमें चन्द्रमाकी एकमात्र कला अत्यन्त सूक्ष्म अंशसे शेष रहती है । (यही शुद्ध अमावस्या है) ॥ ८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि अङ्गिरसोपाख्याने अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानविषयक दो सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१८ ॥

एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

बृहस्पतिकी संततिका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

बृहस्पतेश्चान्द्रमसी भार्याऽऽसीद् या यशस्विनी ।
अग्नीन् साजनयत् पुण्यान् षडेकां चापि पुत्रिकाम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! बृहस्पतिजीकी जो यशस्विनी पत्नी चान्द्रमसी (तारा) नामसे विख्यात थी, उसने [illegible] अग्नियोंको तथा एक पुत्रीको भी जन्म दिया ॥ १ ॥

आहुतिष्वेव यस्याग्नेर्हविषाज्यं विधीयते।
सोऽग्निर्बृहस्पतेः पुत्रः शंयुर्नाम महाव्रतः॥ २॥

(दर्श-पौर्णमास आदिमें) प्रधान आहुतियोंको देते समय जिस अग्निके लिये सर्वप्रथम घीकी आहुति दी जाती है, वह महान् व्रतधारी अग्नि ही बृहस्पतिका 'शंयु' नामसे विख्यात (प्रथम) पुत्र है॥ २॥

चातुर्मास्येषु यस्येष्टमश्वमेधेऽग्रजः प्रभुः।
दीप्तो ज्वालैरनेकाभैरग्निरेकोऽथ वीर्यवान्॥ ३॥

चातुर्मास्य-सम्बन्धी यज्ञोंमें तथा अश्वमेध-यज्ञमें जिसका पूजन होता है, जो सर्वप्रथम उत्पन्न होनेवाला और सर्वसमर्थ है तथा जो अनेक वर्णकी ज्वालाओंसे प्रज्वलित होता है, वह अद्वितीय शक्तिशाली अग्नि ही शंयु है॥ ३॥

शंयोरप्रतिमा भार्या सत्या सत्याथ धर्मजा।
अग्निस्तस्य सुतो दीप्तस्तिस्रः कन्याश्च सुव्रताः॥ ४॥

शंयुकी पत्नीका नाम था सत्या। वह धर्मकी पुत्री थी। उसके रूप और गुणोंकी कहीं तुलना नहीं थी। वह सदा सत्यके पालनमें तत्पर रहती थी। उसके गर्भसे शंयुके एक अग्निस्वरूप पुत्र तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाली तीन कन्याएँ हुईं॥ ४॥

प्रथमेनाज्यभागेन पूज्यते योऽग्निरध्वरे।
अग्निस्तस्य भरद्वाजः प्रथमः पुत्र उच्यते॥ ५॥

यज्ञमें प्रथम आज्यभागके द्वारा जिस अग्निकी पूजा की जाती है, वही शंयुका ज्येष्ठ पुत्र 'भरद्वाज' नामक अग्नि बताया जाता है॥ ५॥

पौर्णमासेषु सर्वेषु हविषाऽऽज्यं स्रुवोद्यतम्।
भरतो नामतः सोऽग्निर्द्वितीयः शंयुतः सुतः॥ ६॥

समस्त पौर्णमास यागोंमें स्रुवासे हविष्यके साथ घी उठाकर जिसके लिये 'प्रथम आघार' अर्पित किया जाता है, वह 'भरत' (ऊर्ज) नामक अग्नि शंयुका द्वितीय पुत्र है (इसका जन्म शंयुकी दूसरी स्त्रीके गर्भसे हुआ था)॥ ६॥

तिस्रः कन्या भवन्त्यन्या यासां स भरतः पतिः।
भरतस्तु सुतस्तस्य भरत्येका च पुत्रिका॥ ७॥

शंयुके तीन कन्याएँ और हुईं, जिनका बड़ा भाई भरत ही पालन करता था। भरत (ऊर्ज) के 'भरत' नामवाला ही एक पुत्र तथा 'भरती' नामकी एक कन्या हुई॥ ७॥

भरतो भरतस्याग्नेः पावकस्तु प्रजापतेः।
महानत्यर्थमहितस्तथा भरतसत्तम॥ ८॥

सबका भरण-पोषण करनेवाले प्रजापति भरत नामक अग्निसे 'पावक' की उत्पत्ति हुई। भरतश्रेष्ठ! वह अत्यन्त महनीय (पूज्य) होनेके कारण 'महान्' कहा गया है॥ ८॥

भरद्वाजस्य भार्या तु वीरा वीरस्य पिण्डदा।
प्राहुराज्येन तस्येज्यां सोमस्येव द्विजाः शनैः॥ ९॥

शंयुके पहले पुत्र भरद्वाजकी पत्नीका नाम 'वीरा' था, जिसने वीर नामक पुत्रको शरीर प्रदान किया। ब्राह्मणोंने सोमकी ही भाँति वीरकी भी आज्यभागसे पूजा बतायी है*। इनके लिये आहुति देते समय मन्त्रका उपांशु उच्चारण किया जाता है॥ ९॥

हविषा यो द्वितीयेन सोमेन सह युज्यते।
रथप्रभू रथध्वानः कुम्भरेताः स उच्यते॥ १०॥

सोमदेवताके साथ इन्हींको द्वितीय आज्यभाग प्राप्त होता है। इन्हें 'रथप्रभु', 'रथध्वान' और 'कुम्भरेता' भी कहते हैं॥

सरय्वां जनयत् सिद्धिं भानुं भाभिः समावृणोत्।
आग्नेयमानयन् नित्यमाह्वाने ह्येष सूयते॥ ११॥

वीरने 'सरयू' नामवाली पत्नीके गर्भसे 'सिद्धि' नामक पुत्रको जन्म दिया। सिद्धिने अपनी प्रभासे सूर्यको भी आच्छादित कर लिया। सूर्यके आच्छादित हो जानेपर उसने अग्निदेवता-सम्बन्धी यज्ञका अनुष्ठान किया। आह्वान-मन्त्र (अग्निमग्न आवह इत्यादि) में इस सिद्धि नामक अग्निकी ही स्तुति की जाती है॥ ११॥

यस्तु न च्यवते नित्यं यशसा वर्चसा श्रिया।
अग्निर्निश्च्यवनो नाम पृथिवीं स्तौति केवलम्॥ १२॥

बृहस्पतिके (दूसरे) पुत्रका नाम 'निश्च्यवन' है। ये यश, वर्चस् (तेज) और कान्तिसे कभी च्युत नहीं होते हैं। निश्च्यवन अग्नि केवल पृथ्वीकी स्तुति करते हैं†॥ १२॥

विपाप्मा कलुषैर्मुक्तो विशुद्धश्चार्चिषा ज्वलन्।
विपापोऽग्निः सुतस्तस्य सत्यः समयधर्मकृत्॥ १३॥

वे निष्पाप, निर्मल, विशुद्ध तथा तेजःपुञ्जसे प्रकाशित हैं। उनका पुत्र 'सत्य' नामक अग्नि है; सत्य भी निष्पाप तथा कालधर्मके प्रवर्तक हैं॥ १३॥

आक्रोशतां हि भूतानां यः करोति हि निष्कृतिम्।
अग्निः स निष्कृतिर्नाम शोभयत्यभिसेविते॥ १४॥

वे वेदनासे पीडित होकर आर्तनाद करनेवाले प्राणियोंको उस कष्टसे निष्कृति (छुटकारा) दिलाते हैं, इसीलिये उन

* 'अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यावजामित्वाय' इस श्रुतिमें अग्नि और सोमको उपांशु मन्त्रोच्चारणपूर्वक आज्यभाग अर्पण करनेका विधान है। यहाँ सोमके साथ जिस अग्निको आज्यभागका अधिकारी बताया गया है, वह 'वीर' नामक अग्नि ही है।

† ये वाक्के अभिमानी देवता हैं। 'तस्य वाचा सृष्टौ पृथिवी चाग्निश्च' इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है।

अग्निका एक नाम निष्कृति भी है। वे ही प्राणियोंद्वारा सेवित गृह और उद्यान आदिमें शोभाकी सृष्टि करते हैं ॥

अनुकूजन्ति येनेह वेदनार्ताः स्वयं जनाः।
तस्य पुत्रः स्वनो नाम पावकः स रुजस्करः ॥ १५ ॥

सत्यके पुत्रका नाम 'स्वन' है, जिनसे पीडित होकर लोग वेदनासे स्वयं कराह उठते हैं। इसीलिये उनका यह नाम पड़ा है। वे रोगकारक अग्नि हैं ॥ १५ ॥

यस्तु विश्वस्य जगतो बुद्धिमाक्रम्य तिष्ठति।
तं प्राहुरध्यात्मविदो विश्वजिन्नाम पावकम् ॥ १६ ॥

(बृहस्पतिके तीसरे पुत्रका नाम 'विश्वजित्' है) वे सम्पूर्ण विश्वकी बुद्धिको अपने वशमें करके स्थित हैं, इसीलिये अध्यात्मशास्त्रके विद्वानोंने उन्हें 'विश्वजित्' अग्नि कहा है ॥

अन्तराग्निः स्मृतो यस्तु भुक्तं पचति देहिनाम्।
स जज्ञे विश्वभुङ्नाम सर्वलोकेषु भारत ॥ १७ ॥

भरतनन्दन ! जो समस्त प्राणियोंके उदरमें स्थित हो उनके खाये हुए पदार्थोंको पचाते हैं, वे सम्पूर्ण लोकोंमें 'विश्वभुक्' नामसे प्रसिद्ध अग्नि बृहस्पतिके (चौथे) पुत्रके रूपमें प्रकट हुए हैं ॥ १७ ॥

ब्रह्मचारी यतात्मा च सततं विपुलव्रतः।
ब्राह्मणाः पूजयन्त्येनं पाकयज्ञेषु पावकम् ॥ १८ ॥

ये विश्वभुक् अग्नि ब्रह्मचारी, जितात्मा तथा सदा प्रचुर व्रतोंका पालन करनेवाले हैं। ब्राह्मणलोग पाकयज्ञोंमें इन्हींकी पूजा करते हैं ॥ १८ ॥

पवित्रा गोमती नाम नदी यस्याभवत् प्रिया।
तस्मिन् कर्माणि सर्वाणि क्रियन्ते धर्मकर्तृभिः ॥ १९ ॥

पवित्र गोमती नदी इनकी प्रिय पत्नी हुई। धर्माचरण करनेवाले द्विजलोग विश्वभुक् अग्निमें ही सम्पूर्ण कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं ॥ १९ ॥

वडवाग्निः पिबत्यम्भो योऽसौ परमदारुणः।
ऊर्ध्वभागूर्ध्वभाङ्नाम कविः प्राणाश्रितस्तु यः॥ २० ॥

जो अत्यन्त भयंकर वडवानलरूपसे समुद्रका जल सोखते रहते हैं, वे ही शरीरके भीतर ऊर्ध्वगति—'उदान' नामसे प्रसिद्ध हैं। ऊपरकी ओर गतिशील होनेसे ही उनका नाम 'ऊर्ध्वभाक्' है। वे प्राणवायुके आश्रित एवं त्रिकालदर्शी हैं। (उन्हें बृहस्पतिका पाँचवाँ पुत्र माना गया है) ॥ २० ॥

उदग्द्वारं हविर्यस्य गृहे नित्यं प्रदीयते।
ततः स्विष्टं भवेदाज्यं स्विष्टकृत् परमः स्मृतः ॥ २१ ॥

प्रत्येक गृह्यकर्ममें जिस अग्निके लिये सदा घीकी ऐसी धारा दी जाती है, जिसका प्रवाह उत्तराभिमुख हो और इस प्रकार दी हुई वह घृतकी आहुति अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि करती है। इसीलिये उस उत्कृष्ट अग्निका नाम 'स्विष्टकृत्' है (उसे बृहस्पतिका छठा पुत्र समझना चाहिये) ॥ २१ ॥

यः प्रशान्तेषु भूतेषु मन्युर्भवति पावकः।
क्रुद्धस्य तु रसो जज्ञे मन्युतीव्रा च पुत्रिका।
स्वाहेति दारुणा क्रूरा सर्वभूतेषु तिष्ठति ॥ २२ ॥

जिस समय अग्निस्वरूप बृहस्पतिका क्रोध प्रशान्त प्राणियों-पर प्रकट हुआ, उस समय उनके शरीरसे जो पसीना निकला, वही उनकी पुत्रीके रूपमें परिणत हो गया। वह पुत्री अधिक क्रोधवाली थी। वह 'स्वाहा' नामसे प्रसिद्ध हुई। वह दारुण एवं क्रूर कन्या सम्पूर्ण भूतोंमें निवास करती है ॥ २२ ॥

त्रिदिवे यस्य सदृशो नास्ति रूपेण कश्चन।
अतुलत्वात् कृतो देवैर्नाम्ना कामस्तु पावकः ॥ २३ ॥

स्वर्गमें भी कहीं तुलना न होनेके कारण जिसके समान रूपवान् दूसरा कोई नहीं है, उस स्वाहा-पुत्रको देवताओंने 'काम' नामक अग्नि कहा है ॥ २३ ॥

संहर्षाद् धारयन् क्रोधं धन्वी स्रग्वी रथे स्थितः।
समरे नाशयेच्छत्रूनमोघो नाम पावकः ॥ २४ ॥

जो हृदयमें क्रोध धारण किये धनुष और मालासे विभूषित हो रथपर बैठकर हर्ष और उत्साहके साथ युद्धमें शत्रुओंका नाश करते हैं, उसका नाम है 'अमोघ' अग्नि ॥ २४ ॥

उक्थो नाम महाभाग त्रिभिरुक्थैरभिष्टुतः।
महावाचं त्वजनयत् समाश्वासं हि यं विदुः ॥ २५ ॥

महाभाग ! ब्राह्मणलोग त्रिविध उक्थ मन्त्रोंद्वारा जिसकी स्तुति करते हैं, जिसने महावाणी (परा) का आविष्कार किया है तथा ज्ञानी पुरुष जिसे आश्वासन देनेवाला समझते हैं; उस अग्निका नाम 'उक्थ' है ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसोपाख्याने एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानविषयक दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२१९॥

विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाञ्चजन्य अग्निकी उत्पत्ति तथा उसकी संततिका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

काश्यपो ह्यथ वासिष्ठः प्राणश्च प्राणपुत्रकः।
अग्निराङ्गिरसश्चैव च्यवनस्त्रिषु वर्चकः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! कश्यपपुत्र

काश्यप, वसिष्ठपुत्र वासिष्ठ, प्राणपुत्र प्राणक, अङ्गिराके पुत्र च्यवन तथा त्रिवर्चा—ये पाँच अग्नि हैं ॥ १ ॥

अचरन्त तपस्तीव्रं पुत्रार्थे बहुवार्षिकम् ।
पुत्रं लभेम धर्मिष्ठं यशसा ब्रह्मणा समम् ॥ २ ॥

इन्होंने पुत्रकी प्राप्तिके लिये बहुत वर्षोंतक तीव्र तपस्या की । उनकी तपस्याका उद्देश्य यह था कि हम ब्रह्माजीके समान यशस्वी और धर्मिष्ठ पुत्र प्राप्त करें ॥ २ ॥

महाव्याहृतिभिर्ध्यातः पञ्चभिस्तैस्तदा त्वथ ।
जज्ञे तेजो महार्चिष्मान् पञ्चवर्णः प्रभावनः ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त पाँच अग्निस्वरूप ऋषियोंने महाव्याहृतिसंज्ञक पाँच मन्त्रोंद्वारा* परमात्माका ध्यान किया, तब उनके समक्ष अत्यन्त तेजोमय, पाँच वर्णोंसे विभूषित एक पुरुष प्रकट हुआ, जो ज्वालाओंसे प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित होता था । वह सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करनेमें समर्थ था ॥ ३ ॥

समिद्धोऽग्निः शिरस्तस्य बाहू सूर्यनिभौ तथा ।
त्वङ्नेत्रे च सुवर्णाभे कृष्णे जङ्घे च भारत ॥ ४ ॥

भारत ! उसका मस्तक प्रज्वलित अग्निके समान जगमगा रहा था, दोनों भुजाएँ प्रभाकरकी प्रभाके समान थीं, दोनों आँखें तथा त्वचा—सुवर्णके समान देदीप्यमान हो रही थीं और उस पुरुषकी पिण्डलियाँ काले रंगकी दिखायी देती थीं॥

पञ्चवर्णः स तपसा कृतस्तैः पञ्चभिर्जनैः ।
पाञ्चजन्यः श्रुतो देवः पञ्चवंशकरस्तु सः ॥ ५ ॥

उपर्युक्त पाँच मुनिजनोंने अपनी तपस्याके प्रभावसे उस पाँच वर्णवाले पुरुषको प्रकट किया था, इसलिये उस देवोपम पुरुषका नाम पाञ्चजन्य हो गया । वह उन पाँचों ऋषियोंके वंशका प्रवर्तक हुआ ॥ ५ ॥

दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महातपाः ।
जनयत् पावकं घोरं पितॄणां स प्रजाः सृजन् ॥ ६ ॥

फिर महातपस्वी पाञ्चजन्यने अपने पितरोंका वंश चलानेके लिये दस हजार वर्षोंतक घोर तपस्या करके भयंकर दक्षिणाग्निको उत्पन्न किया ॥ ६ ॥

बृहद् रथन्तरं मूर्ध्नो वक्त्राद् वा तरसाहरौ ।
शिवं नाभ्यां बलादिन्द्रं वाय्वग्नी प्राणतोऽसृजत् ॥ ७ ॥

उन्होंने मस्तकसे बृहत् तथा मुखसे रथन्तर सामको प्रकट किया । ये दोनों वेगपूर्वक आयु आदिको हर लेते हैं, इसलिये 'तरसाहर' कहलाते हैं । फिर उन्होंने नाभिसे रुद्रको, बलसे इन्द्रको तथा प्राणसे वायु और अग्निको उत्पन्न किया ॥

बाहुभ्यामनुदात्तौ च विश्वे भूतानि चैव ह ।
एतान् सृष्ट्वा ततः पञ्च पितॄणामसृजत् सुतान् ॥ ८ ॥

दोनों भुजाओंसे प्राकृत और वैकृत भेदवाले दोनों अनुदात्तोंको मन और ज्ञानेन्द्रियोंके समस्त (छहों) देवताओंको तथा पाँच महाभूतोंको उत्पन्न किया । इन सबकी सृष्टि करनेके पश्चात् उन्होंने पाँचों पितरोंके लिये पाँच पुत्र और उत्पन्न किये ॥ ८ ॥

बृहद्रथस्य प्रणिधिः काश्यपस्य महत्तरः ।
भानुरङ्गिरसो धीरः पुत्रो वर्चस्य सौभरः ॥ ९ ॥

(जिनके नाम इस प्रकार हैं—) वासिष्ठ बृहद्रथके अंशसे प्रणिधि, काश्यपके अंशसे महत्तर, अङ्गिरस च्यवनके अंशसे भानु तथा वर्चके अंशसे सौभर नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई ॥

प्राणस्य चानुदात्तस्तु व्याख्याताः पञ्चविंशतिः।
देवान् यज्ञमुषश्चान्यान् सृजत् पञ्चदशोत्तरान् ॥ १० ॥
सुभीममतिभीमं च भीमं भीमबलाबलम् ।
एतान् यज्ञमुषः पञ्च देवानां ह्यसृजत् तपः ॥ ११ ॥

प्राणके अंशसे अनुदात्तकी उत्पत्ति हुई । इस प्रकार पचीस पुत्रोंके नाम बताये गये । तत्पश्चात् 'तप' नामधारी पाञ्चजन्यने यज्ञमें विघ्न डालनेवाले अन्य पंद्रह उत्तर देवों (विनायकों) की सृष्टि की । उनका विवरण इस प्रकार है— सुभीम, अतिभीम, भीम, भीमबल और अबल—इन पाँच विनायकोंकी उत्पत्ति उन्होंने पहले की, जो देवताओंके यज्ञका विनाश करनेवाले हैं ॥ १०-११ ॥

सुमित्रं मित्रवन्तं च मित्रज्ञं मित्रवर्धनम् ।
मित्रधर्माणमित्येतान् देवानभ्यसृजत् तपः ॥ १२ ॥

इनके बाद पाञ्चजन्यने सुमित्र, मित्रवान्, मित्रज्ञ, मित्रवर्धन और मित्रधर्मा—इन पाँच देवरूपी विनायकोंको उत्पन्न किया ॥ १२ ॥

सुरप्रवीरं वीरं च सुरेशं च सुवर्चसम् ।
सुराणामपि हन्तारं पञ्चैतानसृजत् तपः ॥ १३ ॥

तदनन्तर पाञ्चजन्यने सुरप्रवीर, वीर, सुरेश, सुवर्चा तथा सुरहन्ता—इन पाँचोंको प्रकट किया ॥ १३ ॥

त्रिविधं संस्थिता ह्येते पञ्च पञ्च पृथक् पृथक्।
मुष्णन्त्यत्र स्थिता ह्येते स्वर्गतो यज्ञयाजिनः ॥ १४ ॥

इस प्रकार ये पंद्रह देवोपम प्रभावशाली विनायक पृथक्-पृथक् पाँच-पाँच व्यक्तियोंके तीन दलोंमें विभक्त हैं । इस पृथ्वीपर ही रहकर स्वर्गलोकसे भी यज्ञकर्ता पुरुषोंकी यज्ञ-सामग्रीका अपहरण कर लेते हैं ॥ १४ ॥

तेषामिष्टं हरन्त्येते निघ्नन्ति च महद्भुवि ।
स्पर्धया हव्यवाहानां निघ्नन्त्येते हरन्ति च ॥ १५ ॥

* भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः—ये पाँच महाव्याहृतियाँ हैं । ध्यानके लिये मन्त्रप्रयोग इस प्रकार है—ॐ भूरग्नये पृथिव्यै स्वाहा इत्यादि ।

ये विनायकगण अग्नियोंके लिये अभीष्ट महान् हविष्यका अपहरण तो करते ही हैं, उसे नष्ट भी कर डालते हैं। अग्नि-गणोंके साथ लाग-डाँट रखनेके कारण ही ये हविष्यका अपहरण और विध्वंस करते हैं ॥ १५ ॥

बहिर्वेद्यां तदादानं कुशलैः सम्प्रवर्तितम्।
तदेते नोपसर्पन्ति यत्र चाग्निः स्थितो भवेत् ॥ १६ ॥

इसीलिये यज्ञनिपुण विद्वानोंने यज्ञशालाकी बाह्य वेदीपर इन विनायकोंके लिये देयभाग रख देनेका नियम चालू किया है; क्योंकि जहाँ अग्निकी स्थापना हुई हो, उस स्थानके निकट ये विनायक नहीं जाते हैं ॥ १६ ॥

चितोऽग्निरुद्वहन् यज्ञं पक्षाभ्यां तान् प्रबाधते।
मन्त्रैः प्रशमिता ह्येते नेष्टं मुष्णन्ति यज्ञियम् ॥ १७ ॥

मन्त्रद्वारा संस्कार करनेके पश्चात् प्रज्वलित अग्निदेव जिस समय आहुति ग्रहण करते हुए यज्ञका सम्पादन करते हैं, उस समय वे अपने दोनों पङ्खों (पार्श्ववर्ती शिखाओं) द्वारा उन विनायकोंको कष्ट पहुँचाते हैं, (इसीलिये वे उनके पास नहीं फटकते)। मन्त्रोंद्वारा शान्त कर देनेपर वे विनायक यज्ञसम्बन्धी हविष्यका अपहरण नहीं कर पाते हैं ॥

बृहदुक्थस्तपस्यैव पुत्रो भूमिमुपाश्रितः।
अग्निहोत्रे हूयमाने पृथिव्यां सद्भिरिज्यते ॥ १८ ॥

इस पृथ्वीपर जब अग्निहोत्र होने लगता है, उस समय तप (पाञ्चजन्य) के ही पुत्र बृहदुक्थ इस भूतलपर स्थित हो श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा पूजित होते हैं ॥ १८ ॥

रथन्तरश्च तपसः पुत्रोऽग्निः परिपठ्यते।
मित्रविन्दाय वै तस्य हविरध्वर्यवो विदुः ॥ १९ ॥
मुमुदे परमप्रीतः सह पुत्रैर्महायशाः ॥ २० ॥

तपके पुत्र जो रथन्तर नामक अग्नि कहे जाते हैं, उनको दी हुई हवि मित्रविन्द देवताका भाग है, ऐसा यजुर्वेदी विद्वान् मानते हैं। महायशस्वी तप (पाञ्चजन्य) अपने इन सभी पुत्रोंके सहित अत्यन्त प्रसन्न हो आनन्दमग्न रहते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसोपाख्याने विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानविषयक दो सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२० ॥

एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अग्निस्वरूप तप एवं भानु (मनु)की संततिका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

गुरुभिर्नियमैर्युक्तो भरतो नाम पावकः।
अग्निः पुष्टिमतिर्नाम तुष्टः पुष्टिं प्रयच्छति।
भरत्येष प्रजाः सर्वास्ततो भरत उच्यते ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! पूर्वोक्त भरत नामक अग्नि (जो शंयुके पौत्र और ऊर्जके पुत्र हैं) गुरुतर नियमोंसे युक्त हैं। वे संतुष्ट होनेपर पुष्टि प्रदान करते हैं, इसलिये उनका एक नाम 'पुष्टिमति' भी है। समस्त प्रजाका भरण-पोषण करते हैं, इसलिये उन्हें भरत कहते हैं ॥ १ ॥

अग्निर्यश्च शिवो नाम शक्तिपूजापरश्च सः।
दुःखार्तानां च सर्वेषां शिवकृत् सततं शिवः ॥ २ ॥

'शिव' नामसे प्रसिद्ध जो अग्नि हैं, वे शक्तिकी आराधनामें लगे रहते हैं। समस्त दुःखातुर मनुष्योंका सदा ही शिव (कल्याण) करते हैं, इसलिये उन्हें 'शिव' कहते हैं ॥

तपसस्तु फलं दृष्ट्वा सम्प्रवृद्धं तपो महत्।
उद्धर्तुकामो मतिमान् पुत्रो जज्ञे पुरंदरः ॥ ३ ॥

तप (पाञ्चजन्य) का तपस्याजनित फल (ऐश्वर्य) बढ़कर महान् हो गया है, यह देख उसे प्राप्त करनेकी इच्छासे मानो बुद्धिमान् इन्द्र ही पुरंदर नामसे उनके पुत्र होकर प्रकट हुए ॥ ३ ॥*

ऊष्मा चैवोष्मणो जज्ञे सोऽग्निर्भूतस्य लक्ष्यते।
अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत् ॥ ४ ॥

उन्हीं पाञ्चजन्यसे 'ऊष्मा' नामक अग्निका प्रादुर्भाव हुआ। जो समस्त प्राणियोंके शरीरमें ऊष्मा (गर्मी) के द्वारा परिलक्षित होते हैं तथा तपके जो 'मनु' नामक अग्निस्वरूप पुत्र हैं, उन्होंने 'प्राजापत्य' यज्ञ सम्पन्न कराया था ॥ ४ ॥

शम्भुमग्निमथ प्राहुर्ब्राह्मणा वेदपारगाः।
आवसथ्यं द्विजाः प्राहुर्दीप्तमग्निं महाप्रभम् ॥ ५ ॥

वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण 'शम्भु' तथा 'आवसथ्य'

---

* तप अर्थात् पाञ्चजन्यके जो पूर्वोक्त चालीस पुत्र बताये गये हैं, उनके सिवा, पाँच पुत्र और भी उन्होंने उत्पन्न किये थे। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—पुरंदर, ऊष्मा, मनु, शम्भु और [illegible] है।

नामक अग्निको देदीप्यमान तथा महान् तेजःपुञ्जसे सम्पन्न बताते हैं ॥ ५ ॥

ऊर्जस्करान् हव्यवाहान् सुवर्णसदृशप्रभान् ।
ततस्तपो ह्यजनयत् पञ्च यज्ञसुतानिह ॥ ६ ॥

इस प्रकार जिन्हें यज्ञमें सोमकी आहुति दी जाती है, ऐसे पाँच पुत्रोंको तपने पैदा किया । वे सब-के-सब सुवर्ण-सदृश कान्तिमान्, बल और तेजकी प्राप्ति करानेवाले तथा देवताओंके लिये हविष्य पहुँचानेवाले हैं ॥ ६ ॥

प्रशान्तेऽग्निर्महाभाग परिश्रान्तो गवां पतिः ।
असुरान् जनयन् घोरान् मर्त्यांश्चैव पृथग्विधान्॥ ७ ॥

महाभाग ! अस्तकालमें परिश्रमसे थके-माँदे सूर्यदेव (अग्निमें प्रविष्ट होनेके कारण) अग्निस्वरूप हो जाते हैं । * भयंकर असुरों तथा नाना प्रकारके मरणधर्मा मनुष्योंको उत्पन्न करते हैं । (उन्हें भी तपकी ही संततिके अन्तर्गत माना गया है) ॥ ७ ॥

तपसश्च मनुं पुत्रं भानुं चाप्यङ्गिराः सृजत् ।
बृहद्भानुं तु तं प्राहुर्ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ ८ ॥

तपके मनु (प्रजापति) स्वरूप पुत्र भानु नामक अग्निको अङ्गिराने भी (अपना प्रभाव, अर्पित करके) नूतन जीवन प्रदान किया है । वेदोंके पारगामी विद्वान् ब्राह्मण भानुको ही 'बृहद्भानु' कहते हैं ॥ ८ ॥

भानोर्भार्या सुप्रजा तु बृहद्भासा तु सूर्यजा ।
असृजेतां तु षट् पुत्रान् शृणु तासां प्रजाविधिम् ॥ ९ ॥

भानुकी दो पत्नियाँ हुईं—सुप्रजा और बृहद्भासा । इनमें बृहद्भासा सूर्यकी कन्या थी । इन दोनोंने छः पुत्रोंको जन्म दिया । इनके द्वारा जो संतानोंकी सृष्टि हुई, उसका वर्णन सुनो ॥ ९ ॥

दुर्बलानां तु भूतानामसून् यः सम्प्रयच्छति ।
तमग्निं बलदं प्राहुः प्रथमं भानुतः सुतम् ॥ १० ॥

जो दुर्बल प्राणियोंको प्राण एवं बल प्रदान करते हैं, उन्हें 'बलद' नामक अग्नि बताया जाता है । ये भानुके प्रथम पुत्र हैं ॥ १० ॥

यः प्रशान्तेषु भूतेषु मन्युर्भवति दारुणः ।
अग्निः स मन्युमान्नाम द्वितीयो भानुतः सुतः॥ ११ ॥

जो शान्त प्राणियोंमें भयंकर 'क्रोध' बनकर प्रकट होते हैं, वे 'मन्युमान्' नामक अग्नि भानुके द्वितीय पुत्र हैं ॥

दर्शे च पौर्णमासे च यस्येह हविरुच्यते ।
विष्णुर्नामेह योऽग्निस्तु धृतिमान्नाम सोऽङ्गिराः॥ १२ ॥

यहाँ जिनके लिये दर्श तथा पौर्णमास यागोंमें हविष्य-समर्पणका विधान पाया जाता है, उन अग्निका नाम 'विष्णु' है । वे 'अङ्गिरा' गोत्रीय माने गये हैं । उन्हींका दूसरा नाम 'धृतिमान्' अग्नि है (ये भानुके तीसरे पुत्र हैं) ॥ १२ ॥ *

इन्द्रेण सहितं यस्य हविराग्रयणं स्मृतम् ।
अग्निराग्रयणो नाम भानोरेवान्वयस्तु सः ॥ १३ ॥

इन्द्रसहित जिनके लिये आग्रयण (नूतन अन्नद्वारा सम्पन्न होनेवाले यज्ञ) कर्ममें हविष्य-अर्पणका विधान है, वे 'आग्रयण' नामक अग्नि भानुके ही (चौथे) पुत्र हैं ॥१३॥

चातुर्मास्येषु नित्यानां हविषां योनिरग्रहः ।
चतुर्भिः सहितः पुत्रैर्भानोरेवान्वयः स्तुभः ॥ १४ ॥

चातुर्मास्य यज्ञोंमें नित्य विहित आग्नेय आदि आठ हविष्योंके जो उद्भवस्थान हैं, उनका नाम 'अग्रह' है । (वे ही वैश्वदेव पर्वमें प्रधान विश्वदेव नामक अग्नि हैं— ये भानुके पाँचवें पुत्र हैं) 'स्तुभ' नामक अग्नि भी भानुके ही पुत्र हैं । पहले कहे हुए चार पुत्रोंके साथ जो ये अग्रह (वैश्वदेव) और स्तुभ हैं, इन्हें मिलाकर भानुके छः पुत्र हैं ॥ १४ ॥

निशा त्वजनयत् कन्यामग्नीषोमावुभौ तथा ।
मनोरेवाभवद् भार्या सुषुवे पञ्च पावकान् ॥ १५ ॥

मनु (भानु) की ही एक तीसरी पत्नी थी, जिसका नाम था निशा । उसने एक कन्या और दो पुत्रोंको जन्म दिया । (कन्याका नाम 'रोहिणी' तथा) पुत्रोंके नाम थे अग्नि और सोम, इनके सिवा, निशाने पाँच अग्निस्वरूप पुत्र और भी उत्पन्न किये । (जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—वैश्वानर, विश्वपति, सन्निहित, कपिल और अग्रणी) ॥ १५॥

पूज्यते हविषाग्र्येण चातुर्मास्येषु पावकः ।
पर्जन्यसहितः श्रीमानग्निर्वैश्वानरस्तु सः ॥ १६ ॥

चातुर्मास्य यज्ञोंमें प्रधान हविष्यद्वारा पर्जन्यसहित जिसकी पूजा की जाती है, वे कान्तिमान् वैश्वानर नामक अग्नि (मनुके प्रथम पुत्र) हैं ॥ १६ ॥

अस्य लोकस्य सर्वस्य यः प्रभुः परिपठ्यते ।
सोऽग्निर्विश्वपतिर्नाम द्वितीयो वै मनोः सुतः ॥ १७ ॥
ततः स्विष्टं भवेदाज्यं स्विष्टकृत् परमस्तु सः ।

जो वेदोंमें 'सम्पूर्ण जगत्के पति' कहे गये हैं, वे विश्वपति नामक अग्नि मनुके द्वितीय पुत्र हैं । उन्हींके प्रभावसे हविष्यकी सुन्दर भावसे आहुति-क्रिया सम्पन्न होती है; अतः वे परम स्विष्टकृत् (उत्तम अभीष्टकी पूर्ति करनेवाले) कहे जाते हैं॥१७½॥

---

* श्रुति भी कहती है—'आदित्यो वा अस्तं यन्नग्निमनुप्रविशति ।'

* बलद, मन्युमान् तथा विष्णु नामक अग्नि भानुकी भार्या-सुप्रजासे उत्पन्न हैं । इसी प्रकार 'आग्रयण' 'अग्रह' और 'स्तुभ'—ये तीन अग्नि बृहद्भासाकी संतान हैं ।

कन्या सा रोहिणी नाम हिरण्यकशिपोः सुता ॥ १८ ॥
कर्मणासौ बभौ भार्या स वह्निः स प्रजापतिः ।

मनुकी कन्या भी 'स्विष्टकृत्' ही मानी गयी है। उसका नाम रोहिणी वह मनुकी कुमारी पुत्री किसी अशुभ कर्मके कारण हिरण्यकशिपुकी पत्नी हुई थी। वास्तवमें 'मनु' ही वह्नि है और वे ही 'प्रजापति' कहे गये हैं ॥ १८½ ॥

प्राणानाश्रित्य यो देहं प्रवर्तयति देहिनाम् ।
तस्य संनिहितो नाम शब्दरूपस्य साधनः ॥ १९ ॥

जो देहधारियोंके प्राणोंका आश्रय लेकर उनके शरीरको कार्यमें प्रवृत्त करते हैं, उनका नाम है, 'संनिहित' अग्नि। ये मनुके तीसरे पुत्र हैं। इनके द्वारा शब्द तथा रूपको ग्रहण करनेमें सहायता मिलती है ॥ १९ ॥

शुक्लकृष्णगतिर्देवो यो बिभर्ति हुताशनम् ।
अकल्मषः कल्मषाणां कर्ता क्रोधाश्रितस्तु सः ॥ २० ॥
कपिलं परमर्षिं च यं प्राहुर्यतयः सदा ।
अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्तकः ॥ २१ ॥

जो दीप्तिमान् महापुरुष, शुक्ल और कृष्ण गतिके आधार हैं, जो अग्निका धारण-पोषण करते हैं, जिनमें किसी प्रकारका कल्मष अर्थात् विकार नहीं है तथापि जो समस्त विकारस्वरूप जगत्के कर्ता हैं, यति लोग जिनको सदा महर्षि कपिलके नामसे कहा करते हैं, जो सांख्ययोगके प्रवर्तक हैं वे क्रोधस्वरूप अग्निके आश्रय कपिल नामक अग्नि हैं। (ये मनुके चौथे पुत्र हैं) ॥ २०-२१ ॥

अग्रं यच्छन्ति भूतानां येन भूतानि नित्यदा ।
कर्मस्विह विचित्रेषु सोऽग्रणीर्वह्निरुच्यते ॥ २२ ॥

मनुष्य आदि समस्त भूत-प्राणी सर्वदा भाँति-भाँतिके कर्मोंमें जिनके द्वारा सब भूतोंके लिये अन्नका अग्रभाग अर्पण करते हैं, वे अग्रणी नामक अग्नि (मनुके पाँचवें पुत्र) कहलाते हैं ॥ २२ ॥

इमानन्यान् समसृजत् पावकान् प्रथितान् भुवि ।
अग्निहोत्रस्य दुष्टस्य प्रायश्चित्तार्थमुल्वणान् ॥ २३ ॥

मनुने अग्निहोत्र कर्ममें की हुई त्रुटिके प्रायश्चित्त (समाधान) के लिये इन लोकविख्यात तेजस्वी अग्नियोंकी सृष्टि की, जो पूर्वोक्त अग्नियोंसे भिन्न हैं ॥ २३ ॥

संस्पृशेयुर्यदान्योन्यं कथञ्चिद् वायुनाग्नयः ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वै शुचयेऽग्नये ॥ २४ ॥

यदि किसी प्रकार हवाके चलनेसे अग्नियोंका परस्पर स्पर्श हो जाय, तो अष्टाकपाल (आठ कपालोंमें[१] संस्कारपूर्वक तैयार किये हुए) पुरोडाशके द्वारा शुचि नामक अग्निके लिये इष्टि करनी (आहुति देनी) चाहिये ॥ २४ ॥

दक्षिणाग्निर्यदा द्वाभ्यां संसृजेत तदा किल ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वै वीतयेऽग्नये ॥ २५ ॥

जब दक्षिणाग्निका गार्हपत्य तथा आहवनीय नामक दो अग्नियोंसे संसर्ग हो जाय, तब मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कारपूर्वक तैयार किये हुए पुरोडाशद्वारा 'वीति' नामक अग्निके लिये आहुति देनी चाहिये ॥ २५ ॥

यद्यग्नयो हि स्पृश्येयुर्निवेशस्था दवाग्निना ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या तु शुचयेऽग्नये ॥ २६ ॥

यदि गृहस्थित अग्नियोंका दावानलसे संसर्ग हो जाय, तो मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत चरुद्वारा शुचि नामक अग्निको आहुति देनी चाहिये ॥ २६ ॥

अग्निं रजस्वला वै स्त्री संस्पृशेदग्निहोत्रिकम् ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वसुमतेऽग्नये ॥ २७ ॥

यदि अग्निहोत्रसम्बन्धी अग्निको कोई रजस्वला स्त्री छू दे, तो वसुमान् अग्निके लिये मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत चरुद्वारा आहुति देनी चाहिये ॥ २७ ॥

मृतः श्रूयेत यो जीवः परेयुः पशवो यदा ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या सुरभिमतेऽग्नये ॥ २८ ॥

यदि किसी प्राणीका मृत्युसूचक विलाप आदि सुनायी दे अथवा कुक्कुर आदि पशु उस अग्निका स्पर्श कर लें, उस दशामें मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत पुरोडाशद्वारा सुरभिमान् नामक अग्निको प्रसन्नताके लिये होम करना चाहिये ॥ २८ ॥

आर्तो न जुहुयादग्निं त्रिरात्रं यस्तु ब्राह्मणः ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या स्यादुत्तराग्नये ॥ २९ ॥

जो ब्राह्मण किसी पीड़ासे आतुर होकर तीन राततक अग्निहोत्र न करे, उसे मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत चरुके द्वारा 'उत्तर' नामक अग्निको आहुति देनी चाहिये ॥ २९ ॥

दर्शं च पौर्णमासं च यस्य तिष्ठेत् प्रतिष्ठितम् ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या पथिकृतेऽग्नये ॥ ३० ॥

जिसका चालू किया हुआ दर्श और पौर्णमास याग बीचमें ही बंद हो जाय अथवा बिना आहुति किये ही रह जाय, उसे 'पथिकृत्' नामक अग्निके लिये मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत चरुके द्वारा होम करना चाहिये ॥ ३० ॥

सूतिकाग्निर्यदा चाग्निं संस्पृशेदग्निहोत्रिकम् ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या चाग्निमतेऽग्नये ॥ ३१ ॥

जब सूतिकागृहकी अग्नि, अग्निहोत्रकी अग्निका स्पर्श कर ले, तब मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत पुरोडाशद्वारा 'अग्निमान्' नामक अग्निको आहुति देनी चाहिये ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानविषयक दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२१ ॥

१ मिट्टीके प्याले या पुरवेका नाम कपाल है।

द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सह नामक अग्निका जलमें प्रवेश और अथर्वा अङ्गिराद्वारा पुनः उनका प्राकट्य

मार्कण्डेय उवाच

आपस्य मुदिता भार्या सहस्य परमा प्रिया ।
भूपतिर्भुवभर्ता च जनयत् पावकं परम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! जलमें निवासके कारण प्रसिद्ध हुए 'सह' नामक अग्निके एक परम प्रिय पत्नी थी जिसका नाम था मुदिता । उसके गर्भसे भूलोक और भुवर्लोकके स्वामी सहने 'अद्भुत'[1] नामक उत्कृष्ट अग्निको उत्पन्न किया ॥ १ ॥

भूतानां चापि सर्वेषां यं प्राहुः पावकं पतिम् ।
आत्मा भुवनभर्तेति सान्वयेषु द्विजातिषु ॥ २ ॥

ब्राह्मणलोगोंमें वंशपरम्पराके क्रमसे सभी यह मानते और कहते हैं कि 'अद्भुत' नामक अग्नि सम्पूर्ण भूतोंके अधिपति हैं । वे ही सबके आत्मा और भुवन-भर्ता हैं ॥ २ ॥

महतां चैव भूतानां सर्वेषामिह यः पतिः ।
भगवान् स महातेजा नित्यं चरति पावकः ॥ ३ ॥

'वे ही इस जगत्के सम्पूर्ण महाभूतोंके पति हैं । उनमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य सुशोभित हैं । वे महातेजस्वी अग्निदेव सदा सर्वत्र विचरण करते हैं ॥ ३ ॥

अग्निर्गृहपतिर्नाम नित्यं यज्ञेषु पूज्यते ।
हुतं वहति यो हव्यमस्य लोकस्य पावकः ॥ ४ ॥

'जो अग्नि गृहपति नामसे सदा यज्ञमें पूजित होते हैं तथा हवन किये गये हविष्यको देवताओंके पास पहुँचाते हैं, वे अद्भुत अग्नि ही इस जगत्को पवित्र करनेवाले हैं ॥ ४ ॥

अपां गर्भो महाभागः सत्त्वभुग् यो महाद्भुतः ।
भूपतिर्भुवभर्ता च महतः पतिरुच्यते ॥ ५ ॥

'जो 'आप' नामवाले सहके पुत्र हैं, जो महाभाग, सत्त्व-भोक्ता, भूलोकके पालक और भुवर्लोकके स्वामी हैं, वे अद्भुत नामक महान् अग्नि बुद्धितत्त्वके अधिपति बताये जाते हैं' ॥ ५ ॥

दहन् मृतानि भूतानि तस्याग्निर्भरतोऽभवत् ।
अग्निष्टोमे च नियतः क्रतुश्रेष्ठो भरस्य तु ॥ ६ ॥

'उन्हीं 'अद्भुत' या गृहपतिके एक अग्निस्वरूप पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'भरत' है । ये मरे हुए प्राणियोंके शवका दाह करते हैं । भरतका अग्निष्टोम यज्ञमें नित्य निवास है, इसलिये उन्हें 'नियत' भी कहते हैं । नियतका संकल्प उत्तम है ॥ ६ ॥

स वह्निः प्रथमो नित्यं देवैरन्विष्यते प्रभुः ।
आयान्तं नियतं दृष्ट्वा प्रविवेशार्णवं भयात् ॥ ७ ॥

'प्रथम अग्नि 'सह' बड़े प्रभावशाली हैं । एक समय देवतालोग उनको ढूँढ़ रहे थे । उनके साथ अपने पौत्र नियतको भी आता देख (उससे छू जानेके) भयसे वे समुद्रके भीतर घुस गये ॥ ७ ॥

देवास्तत्रापि गच्छन्ति मार्गमाणा यथादिशम् ।
दृष्ट्वा त्वग्निरथर्वाणं ततो वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

तब देवतालोग सब दिशाओंमें उनकी खोज करते हुए वहाँ भी पहुँचने लगे । एक दिन अथर्वा (अङ्गिरा) को देखकर अग्निने उनसे कहा— ॥ ८ ॥

देवानां वह हव्यं त्वमहं बीर सुदुर्बलः ।
अथ त्वं गच्छ मध्वक्षं प्रियमेतत् कुरुष्व मे ॥ ९ ॥

'वीर ! तुम देवताओंके पास उनका हविष्य पहुँचाओ । मैं अत्यन्त दुर्बल हो गया हूँ । अब केवल तुम्हीं अग्निपदपर प्रतिष्ठित हो जाओ और मेरा यह प्रिय कार्य सम्पन्न करो' ॥ ९ ॥

प्रेष्य चाग्निरथर्वाणमन्यं देशं ततोऽगमत् ।
मत्स्यास्तस्य समाचख्युः क्रुद्धस्तानग्निरब्रवीत् ।
भक्ष्या वै विविधैर्भावैर्भविष्यथ शरीरिणाम् ॥ १० ॥

इस प्रकार अथर्वाको भेजकर अग्निदेव दूसरे स्थानमें चले गये । किंतु मत्स्योंने अथर्वासे उनकी स्थिति कहाँ है, यह बता दिया । इससे कुपित होकर अग्निने उन्हें शाप देते हुए कहा—'तुमलोग नाना प्रकारसे जीवोंके भक्ष्य बनोगे' ॥ १० ॥

अथर्वाणं तथा चापि हव्यवाहोऽब्रवीद् वचः ॥ ११ ॥
अनुनीयमानो हि भृशं देववाक्याद्धि तेन सः ।
नैच्छद् वोढुं हविः सोढुं शरीरं चापि सोऽत्यजत् ॥ १२ ॥

तदनन्तर अग्निने अथर्वासे फिर वही बात कही उस समय देवताओंके कहनेसे अथर्वा मुनिने सह नामक अग्निदेवसे अत्यन्त अनुनय-विनय की; परंतु उन्होंने न तो हविष्य ढोनेका भार लेनेकी इच्छा की और न वे अपने उस जीर्ण शरीरका ही भार सह सके । अन्ततोगत्वा उन्होंने शरीर त्याग दिया ॥ ११-१२ ॥

स तच्छरीरं संत्यज्य प्रविवेश धरां तदा ।
भूमिं स्पृष्ट्वासृजद् धातून् पृथक् पृथगतीव हि ॥ १३ ॥

उस समय अपने उस शरीरको त्यागकर वे धरतीमें समा गये । भूमिका स्पर्श करके उन्होंने पृथक्-पृथक् बहुत-से धातुओंकी सृष्टि की ॥ १३ ॥

पूयात् स गन्धं तेजश्च अस्थिभ्यो देवदारु च ।
श्लेष्मणः स्फाटिकं तस्य पित्तान्मारकतं तथा ॥ १४ ॥

१. 'सहसः पुत्रोऽद्भुतः' इति मन्त्रवर्णः ।

'सह' नामक अग्निने अपने पीब तथा रक्तसे गन्धक एवं तैजस धातुओंको उत्पन्न किया। उनकी हड्डियोंसे देवदारु-के वृक्ष प्रकट हुए। कफसे स्फटिक तथा पित्तसे मरकत-मणिका प्रादुर्भाव हुआ ॥ १४ ॥

यकृत् कृष्णायसं तस्य त्रिभिरेव बभुः प्रजाः।
नखास्तस्याभ्रपटलं शिराजालानि विद्रुमम् ॥ १५ ॥

और उनका यकृत् (जिगर) ही काले रंगका लोहा बनकर प्रकट हुआ। काष्ठ, पाषाण और लोहा—इन तीनों-से ही प्रजाजनोंकी शोभा होती है। उनके नख मेघसमूहका रूप धारण करते हैं। नाडियाँ मूँगा बनकर प्रकट हुई हैं ॥

शरीराद् विविधाश्चान्ये धातवोऽस्याभवन् नृप।
एवं त्यक्त्वा शरीरं च परमे तपसि स्थितः ॥ १६ ॥

राजन्! सह अग्निके शरीरसे अन्य नाना प्रकारके धातु उत्पन्न हुए। इस प्रकार शरीर त्यागकर वे बड़ी भारी तपस्यामें लग गये ॥ १६ ॥

भृग्वङ्गिरादिभिर्भूयस्तपसोत्थापितस्तदा।
भृशं जज्वाल तेजस्वी तपसाऽऽप्यायितः शिखी ॥ १७ ॥

जब भृगु और अङ्गिरा आदि ऋषियोंने पुनः उनको तपस्यासे उपरत कर दिया, तब वे तपस्यासे पुष्ट हुए तेजस्वी अग्निदेव अत्यन्त प्रज्वलित हो उठे ॥ १७ ॥

दृष्ट्वा ऋषिं भयाच्चापि प्रविवेश महार्णवम्।
तस्मिन् नष्टे जगद् भीतमथर्वाणमथाश्रितम्।
अर्चयामासुरेवैनमथर्वाणं सुरादयः ॥ १८ ॥

महर्षि अङ्गिराको सामने देख वे अग्नि भयके मारे पुनः महासागरके भीतर प्रविष्ट हो गये। इस प्रकार अग्निके अदृश्य हो जानेपर सारा संसार भयभीत हो अथर्वा—अङ्गिराकी शरणमें आया तथा देवताओंने इन अथर्वाकी पूजा की ॥ १८ ॥

अथर्वा त्वसृजल्लोकानात्मनाऽऽलोक्य पावकम्।
मिषतां सर्वभूतानामुन्ममाथ महार्णवम् ॥ १९ ॥

अथर्वाने सब प्राणियोंके देखते-देखते समुद्रको मथ डाला और अग्निदेवका दर्शन करके स्वयं ही सम्पूर्ण लोकों-की सृष्टि की ॥ १९ ॥

एवमग्निर्भगवता नष्टः पूर्वमथर्वणा।
आहूतः सर्वभूतानां हव्यं वहति सर्वदा ॥ २० ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें अदृश्य हुए अग्निको भगवान् अङ्गिराने फिर बुलाया। जिससे प्रकट होकर वे सदा सम्पूर्ण प्राणियोंका हविष्य वहन करते हैं ॥ २० ॥

एवं त्वजनयद् धिष्ण्यान् वेदोक्तान् विबुधान् बहून्।
विचरन् विविधान् देशान् भ्रममाणस्तु तत्र वै ॥ २१ ॥

उस समुद्रके भीतर नाना स्थानोंमें विचरते, भ्रमण करते हुए सह अग्निने इसी प्रकार विविध भाँतिके बहुत-से वेदोक्त अग्निदेवों तथा उनके स्थानोंको उत्पन्न किया ॥ २१ ॥

सिन्धुनदं पञ्चनदं देविकाथ सरस्वती।
गङ्गा च शतकुम्भा च सरयूर्गण्डसाह्वया ॥ २२ ॥
चर्मण्वती मही चैव मेध्या मेधातिथिस्तदा।
ताम्रवती वेत्रवती नद्यस्तिस्रोऽथ कौशिकी ॥ २३ ॥
तमसा नर्मदा चैव नदी गोदावरी तथा।
वेणोपवेणा भीमा च वडवा चैव भारत ॥ २४ ॥
भारती सुप्रयोगा च कावेरी मुर्मुरा तथा।
तुङ्गवेणा कृष्णवेणा कपिला शोण एव च ॥ २५ ॥
एता नद्यस्तु धिष्ण्यानां मातरो याः प्रकीर्तिताः।

सिन्धुनद, पञ्चनद, देविका, सरस्वती, गङ्गा, शत-कुम्भा, सरयू, गण्डकी, चर्मण्वती, मही, मेध्या, मेधातिथि, ताम्रवती, वेत्रवती, कौशिकी, तमसा, नर्मदा, गोदावरी, वेणा, उपवेणा, भीमा, वडवा, भारती, सुप्रयोगा, कावेरी, मुर्मुरा, तुङ्गवेणा, कृष्णवेणा, कपिला तथा शोणभद्र—ये सब नदियाँ और नद हैं, जो अग्नियोंके उत्पत्ति-स्थान कहे गये हैं। २२—२५½ ।

अद्भुतस्य प्रिया भार्या तस्य पुत्रो विभूरसिः ॥ २६ ॥
यावन्तः पावकाः प्रोक्ताः सोमास्तावन्त एव तु
अत्रेश्चाप्यन्वये जाता ब्रह्मणो मानसाः प्रजाः ॥ २७ ॥

अद्भुतकी जो प्रियतमा पत्नी है, उसके गर्भसे उनके 'विभूरसि' नामक पुत्र हुआ। अग्नियोंकी जितनी संख्या बतायी गयी है, सोमयागोंकी भी उतनी ही है। वे सब अग्नि ब्रह्माजीके मानसिक संकल्पसे अत्रिके वंशमें उनकी संतानरूपसे उत्पन्न हुए हैं ॥ २६—२७ ॥

अत्रिः पुत्रान् स्रष्टुकामस्तानेवात्मन्यधारयत् ॥ २८ ॥
तस्य तद्ब्रह्मणः कार्यान्निर्हरन्ति हुताशनाः।

अत्रिको जब प्रजाकी सृष्टि करनेकी इच्छा हुई, तब उन्होंने उन अग्नियोंको ही अपने हृदयमें धारण किया। फिर उन ब्रह्मर्षिके शरीरसे विभिन्न अग्नियोंका प्रादुर्भाव हुआ ॥ २८½ ॥

एवमेते महात्मानः कीर्तितास्तेऽग्नयो मया ॥ २९ ॥
अप्रमेया यथोत्पन्नाः श्रीमन्तस्तिमिरापहाः।

राजन्! इस प्रकार मैंने इन अप्रमेय, अन्धकारनिवारक तथा दीप्तिमान् महामना अग्नियोंकी जिस क्रमसे उत्पत्ति हुई है, उसका तुमसे वर्णन किया ॥ २९½ ॥

अद्भुतस्य तु माहात्म्यं यथा वेदेषु कीर्तितम् ॥ ३० ॥
तादृशं विद्धि सर्वेषामेको ह्येषु हुताशनः।

वेदोंमें 'अद्भुत' नामक अग्निके माहात्म्यका जैसा वर्णन है, वैसा ही सब अग्नियोंका समझना चाहिये; क्योंकि इन सबमें एक ही अग्नि विद्यमान है ॥ ३०½ ॥

एक एवैष भगवान् विज्ञेयः प्रथमोऽङ्गिराः ॥ ३१ ॥
बहुधा निःसृतः कायाज्ज्योतिष्टोमः क्रतुर्यथा ।

ये प्रथम भगवान् अग्नि, जिन्हें अङ्गिरा भी कहते हैं, एक ही हैं, ऐसा जानना चाहिये । जैसे ज्योतिष्टोम यज्ञ उद्भिद् आदि अनेक रूपोंमें प्रकट हुआ है, उसी प्रकार एक ही अग्नितत्त्व प्रजापतिके शरीरसे विविध रूपोंमें उत्पन्न हुआ है ॥ ३१½ ॥

इत्येष वंशः सुमहानग्नीनां कीर्तितो मया ।
योऽर्चितो विविधैर्मन्त्रैर्हव्यं वहति देहिनाम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार मेरेद्वारा अग्निदेवके महान् वंशका प्रतिपादन किया गया । वे भगवान् अग्नि विविध वेदमन्त्रोंद्वारा पूजित होकर देहधारियोंके दिये हुए हविष्यको देवताओंके पास पहुँचाते हैं ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसोपाख्यानेऽग्निसमुद्भवे द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानविषयक अग्निप्रादुर्भावसम्बन्धी दो सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२२ ॥

त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्रके द्वारा केशीके हाथसे देवसेनाका उद्धार

(वैशम्पायन उवाच

(श्रुत्वेमां धर्मसंयुक्तां धर्मराजः कथां शुभाम् ।
पुनः पप्रच्छ तमृषिं मार्कण्डेयं तपस्विनम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह धर्मयुक्त कल्याणमयी कथा सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने पुनः उन तपस्वी मुनि मार्कण्डेयजीसे पूछा ॥

युधिष्ठिर उवाच

कुमारस्तु यथा जातो यथा चाग्नेः सुतोऽभवत् ।
यथा रुद्राच्च सम्भूतो गङ्गायां कृत्तिकासु च ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं कौतूहलमतीव मे ॥)

युधिष्ठिर बोले—मुने ! कुमार (स्कन्द) का जन्म कैसे हुआ ? वे अग्निके पुत्र किस प्रकार हुए ? भगवान् शिवसे उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? तथा वे गङ्गा और छहों कृत्तिकाओंके गर्भसे कैसे प्रकट हुए ? मैं यह सुनना चाहता हूँ । इसके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल है ॥

मार्कण्डेय उवाच

अग्नीनां विविधा वंशाः कीर्तितास्ते मयानघ ।
शृणु जन्म तु कौरव्य कार्तिकेयस्य धीमतः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—निष्पाप युधिष्ठिर ! मैंने तुमसे अग्नियोंके विविध वंशोंका वर्णन किया । अब तुम परम बुद्धिमान् कार्तिकेयके जन्मका वृत्तान्त सुनो ॥ १ ॥

अद्भुतस्याद्भुतं पुत्रं प्रवक्ष्याम्यमितौजसम् ।
जातं ब्रह्मर्षिभार्याभिर्ब्रह्मण्यं कीर्तिवर्धनम् ॥ २ ॥

अद्भुत अग्निके अद्भुत पुत्र कार्तिकेयके बल और तेज असीम हैं । उनका जन्म ब्रह्मर्षियोंकी पत्नियोंके गर्भसे हुआ है । वे अपने उत्तम यशको बढ़ानेवाले तथा ब्राह्मणभक्त हैं । मैं उनके जन्मका वृत्तान्त बता रहा हूँ, सुनो ॥ २ ॥

देवासुराः पुरा यत्ता विनिघ्नन्तः परस्परम् ।
तत्राजयन् सदा देवान् दानवा घोररूपिणः ॥ ३ ॥

पूर्वकालकी बात है, देवता और असुर युद्धके लिये उद्यत हो एक-दूसरेको अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा चोट पहुँचाया करते थे । उस संघर्षके समय भयंकर रूपवाले दानव सदा ही देवताओंपर विजय पाते थे ॥ ३ ॥

वध्यमानं बलं दृष्ट्वा बहुशस्तैः पुरंदरः ।
स सैन्यनायकार्थाय चिन्तामाप भृशं तदा ॥ ४ ॥

जब इन्द्रने देखा कि दानव बार-बार देवताओंकी सेनाका वध कर रहे हैं, तब उन्हें एक सुयोग्य सेनापतिकी आवश्यकता हुई । इसके लिये वे बहुत चिन्तित हुए ॥४॥

देवसेनां दानवैर्हि भग्नां दृष्ट्वा महाबलः ।
पालयेद् वीर्यमाश्रित्य स ज्ञेयः पुरुषो मया ॥ ५ ॥

उन्होंने सोचा 'मुझे ऐसे पुरुषका पता लगाना चाहिये, जो महान् बलवान् हो और अपने पराक्रमका आश्रय ले देवताओंकी उस सेनाका, जिसका दानव नाश कर देते हैं, संरक्षण करे' ॥ ५ ॥

स शैलं मानसं गत्वा ध्यायन्नर्थमिदं भृशम् ।
शुश्रावार्तस्वरं घोरमथ मुक्तं स्त्रिया तदा ॥ ६ ॥

इसी बातका बार-बार विचार करते हुए इन्द्र मानसपर्वतपर गये । वहाँ उन्हें एक स्त्रीके मुखसे निकला हुआ भयंकर आर्तनाद सुनायी दिया ॥ ६ ॥

अभिधावतु मां कश्चित् पुरुषस्त्रातु चैव ह ।
पतिं च मे प्रदिशतु स्वयं वा पतिरस्तु मे ॥ ७ ॥

वह कह रही थी 'कोई वीर पुरुष दौड़कर आये और मेरी रक्षा करे । वह मेरे लिये पति प्रदान करे या स्वयं ही मेरा पति हो जाय' ॥ ७ ॥



पुरंदरस्तु तामाह मा भैर्नास्ति भयं तव।
एवमुक्त्वा ततोऽपश्यत् केशिनं स्थितमग्रतः ॥ ८ ॥

यह सुनकर इन्द्रने उससे कहा—'भद्रे ! डरो मत, अब तुम्हें कोई भय नहीं है ।' ऐसा कहकर जब उन्होंने उधर दृष्टि डाली, तब केशी दानव सामने खड़ा दिखायी दिया॥

किरीटिनं गदापाणिं धातुमन्तमिवाचलम्।
हस्ते गृहीत्वा कन्यां तामथैनं वासवोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

उसने मस्तकपर किरीट धारण कर रक्खा था । उसके हाथमें गदा थी और वह एक कन्याका हाथ पकड़े विविध धातुओंसे विभूषित पर्वत-सा जान पड़ता था। यह देख इन्द्रने उससे कहा—॥ ९ ॥

अनार्यकर्मन् कस्मात् त्वमिमां कन्यां जिहीर्षसि।
वज्रिणं मां विजानीहि विरमास्याः प्रबाधनात् ॥ १० ॥

'रे नीच कर्म करनेवाले दानव ! तू कैसे इस कन्याका अपहरण करना चाहता है ? समझ ले, मैं वज्रधारी इन्द्र हूँ। अब इस अबलाको सताना छोड़ दे ॥ १० ॥

केश्युवाच

विसृजस्व त्वमेवैनां शक्रैषा प्रार्थिता मया।
क्षमं ते जीवतो गन्तुं स्वपुरं पाकशासन ॥ ११ ॥

केशी बोला—इन्द्र ! तू ही इसे छोड़ दे । मैंने इसका वरण कर लिया है । पाकशासन ! ऐसा करनेपर ही तू जीता-जागता अपनी अमरावती पुरीको लौट सकता है॥ ११॥

एवमुक्त्वा गदां केशी चिक्षेपेन्द्रवधाय वै।
तामापतन्तीं चिच्छेद मध्ये वज्रेण वासवः ॥ १२ ॥

ऐसा कहकर केशीने इन्द्रका वध करनेके लिये अपनी गदा चलायी । परंतु इन्द्रने अपने वज्रद्वारा उस आती हुई गदाको बीचसे ही काट डाला ॥ १२ ॥

अथास्य शैलशिखरं केशी क्रुद्धो व्यवासृजत्।
तदा पतन्तं सम्प्रेक्ष्य शैलशृङ्गं शतक्रतुः ॥ १३ ॥
बिभेद राजन् वज्रेण भुवि तन्निपपात ह।
पतता तु तदा केशी तेन शृङ्गेण ताडितः ॥ १४ ॥

तब केशीने कुपित होकर इन्द्रपर पर्वतकी एक चट्टान फेंकी । राजन् ! उस शैलशिखरको अपने ऊपर गिरता देख इन्द्रने वज्रसे उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये और वह चूर-चूर होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । उस समय गिरते हुए उस शिलाखण्डने केशीको ही भारी चोट पहुँचायी ॥ १३-१४॥

हित्वा कन्यां महाभागां प्राद्रवद् भृशपीडितः।
अपयातेऽसुरे तस्मिंस्तां कन्यां वासवोऽब्रवीत्।
कासि कस्यासि किञ्चेह कुरुषे त्वं शुभानने ॥ १५ ॥

उस आघातसे अत्यन्त पीडित हो वह दानव उस परम सौभाग्यशालिनी कन्याको छोड़कर भाग गया । उस असुरके भाग जानेपर इन्द्रने उस कन्यासे पूछा—'सुमुखि ! तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो ? और यहाँ क्या करती हो ?'॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसोपाख्याने स्कन्दोत्पत्तौ केशिपराभवे त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानप्रकरणमें स्कन्दकी उत्पत्तिके विषयमें केशिपराभवविषयक दो सौ तेईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २२३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल १७½ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्रका देवसेनाके साथ ब्रह्माजीके पास तथा ब्रह्मर्षियोंके आश्रमपर जाना, अग्निका मोह और वनगमन

कन्योवाच

अहं प्रजापतेः कन्या देवसेनेति विश्रुता।
भगिनी दैत्यसेना मे सा पूर्वं केशिना हृता ॥ १ ॥

कन्या बोली—देवेन्द्र ! मैं प्रजापतिकी पुत्री हूँ । मेरा नाम देवसेना है । मेरी बहिनका नाम दैत्यसेना है, जिसे इस केशीने पहले ही हर लिया था ॥ १ ॥

सदैवावां भगिन्यौ तु सखीभिः सह मानसम्।
आगच्छावेह रत्यर्थमनुज्ञाप्य प्रजापतिम् ॥ २ ॥

हम दोनों बहिनें अपनी सखियोंके साथ प्रजापतिकी आज्ञा लेकर सदा क्रीडाविहारके लिये इस मानस पर्वतपर आया करती थीं ॥ २ ॥

नित्यं चावां प्रार्थयते हर्तुं केशी महासुरः।
इच्छत्येनं दैत्यसेना न चाहं पाकशासन ॥ ३ ॥

पाकशासन ! महान् असुर केशी प्रतिदिन यहाँ आकर हम दोनोंको हर ले जानेके लिये फुसलाया करता था । दैत्यसेना इसे चाहती थी । परंतु मेरा इसपर प्रेम नहीं था।३।

सा हृतानेन भगवन् मुक्ताहं त्वद्बलेन तु।
त्वया देवेन्द्र निर्दिष्टं पतिमिच्छामि दुर्जयम् ॥ ४ ॥

अतः दैत्यसेनाको तो यह हर ले गया, परंतु मैं आपके पराक्रमसे बच गयी। भगवन्! देवेन्द्र! अब मैं आपके आदेशके अनुसार किसी दुर्जय वीरको अपना पति बनाना चाहती हूँ॥

इन्द्र उवाच

मम मातृष्वसेयी त्वं माता दाक्षायणी मम।
आख्यातुं त्वहमिच्छामि स्वयमात्मबलं त्वया ॥ ५ ॥

इन्द्र बोले—शुभे ! तुम मेरी मौसेरी बहिन हो । मेरी माता भी दक्षकी ही पुत्री हैं। मेरी इच्छा है कि तुम स्वयं ही अपने बलका परिचय दो ॥ ५ ॥

कन्योवाच

अबलाहं महाबाहो पतिस्तु बलवान् मम।
वरदानात् पितुर्भावी सुरासुरनमस्कृतः ॥ ६ ॥

कन्या बोली—महाबाहो! मैं तो अबला हूँ। पिताजीके वरदानसे मेरे भावी पति बलवान् तथा देवदानववन्दित होंगे ॥६॥

इन्द्र उवाच

कीदृशं तु बलं देवि पत्युस्तव भविष्यति।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तव वाक्यमनिन्दिते ॥ ७ ॥

इन्द्रने पूछा—देवि! तुम्हारे पतिका बल कैसा होगा ? अनिन्दिते ! यह बात मैं तुम्हारे ही मुँहसे सुनना चाहता हूँ ॥७॥

कन्योवाच

देवदानवयक्षाणां किन्नरोरगरक्षसाम्।
जेता यो दुष्टदैत्यानां महावीर्यो महाबलः ॥ ८ ॥
यस्तु सर्वाणि भूतानि त्वया सह विजेष्यति।
स हि मे भविता भर्ता ब्रह्मण्यः कीर्तिवर्धनः ॥ ९ ॥

कन्या बोली—देवराज ! जो देवता, दानव, यक्ष, किन्नर, नाग, राक्षस तथा दुष्ट दैत्योंको जीतनेवाला हो; जिसका पराक्रम महान् और बल असाधारण हो तथा जो तुम्हारे साथ रहकर समस्त प्राणियोंपर विजय प्राप्त कर सके, वह ब्राह्मणहितैषी तथा अपने यशकी वृद्धि करनेवाला वीर पुरुष मेरा पति होगा ॥ ८-९ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इन्द्रस्तस्या वचः श्रुत्वा दुःखितोऽचिन्तयद् भृशम्।
अस्या देव्याः पतिर्नास्ति यादृशीं सम्प्रभाषते ॥१०॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! देवसेनाकी बात सुनकर इन्द्र अत्यन्त दुखी हो सोचने लगे 'इस देवीको जैसा यह बता रही है, वैसा पति मिलना सम्भव नहीं जान पड़ता' ॥ १० ॥

अथापश्यत् स उदये भास्करं भास्करद्युतिः।
सोमं चैव महाभागं विशमानं दिवाकरम् ॥११॥

तदनन्तर सूर्यके समान तेजस्वी इन्द्रने देखा, सूर्य उदयाचलपर आ गये हैं। महाभाग चन्द्रमा भी सूर्यमें ही प्रवेश कर रहे हैं ॥ ११ ॥

अमावास्यां प्रवृत्तायां मुहूर्ते रौद्र एव तु।
देवासुरं च संग्रामं सोऽपश्यदुदये गिरौ ॥१२॥

अमावस्या आरम्भ हो गयी थी। उस रौद्र (भयंकर) मुहूर्तमें ही उदयगिरिके शिखरपर उन्हें देवासुर-संग्रामका लक्षण दिखायी दिया ॥ १२ ॥

लोहितैश्च घनैर्युक्तां पूर्वां संध्यां शतक्रतुः।
अपश्यल्लोहितोदं च भगवान् वरुणालयम् ॥१३॥

ऐश्वर्यशाली इन्द्रने देखा, पूर्वसंध्या (प्रभात) का समय है, प्राचीके आकाशमें लाल रंगके घने बादल घिर आये हैं और समुद्रका जल भी लाल ही दृष्टिगोचर हो रहा है ॥ १३ ॥

भृगुभिश्चाङ्गिरोभ्यश्च हुतं मन्त्रैः पृथग्विधैः।
हव्यं गृहीत्वा वह्निं च प्रविशन्तं दिवाकरम् ॥१४॥

भृगु तथा अङ्गिरा गोत्रके ऋषियोंद्वारा पृथक्-पृथक् मन्त्र पढ़कर हवन किये हुए हविष्यको ग्रहण करके अग्निदेव भी सूर्यमें ही प्रवेश करते हैं ॥ १४ ॥

पर्व चैव चतुर्विंशं तदा सूर्यमुपस्थितम्।
तथा धर्मगतं रौद्रं सोमं सूर्यगतं च तम् ॥ १५ ॥

उस समय भगवान् सूर्यके निकट चौबीसवाँ पर्व उपस्थित था अर्थात् पहले जिस अमावस्यापर्वमें देवासुर-संग्राम हुआ था उससे पूरे एक वर्षके बाद पुनः वैसा अवसर आया था। धर्मकी अर्थात् होम और संध्याकी वेलामें वह रौद्र मुहूर्त उपस्थित था और चन्द्रमा सूर्यकी राशिमें स्थित हो गये थे ॥ १५ ॥

समालोक्यैकतामेव शशिनो भास्करस्य च।
समवायं तु तं रौद्रं दृष्ट्वा शक्रोऽन्वचिन्तयत् ॥ १६ ॥

इस प्रकार चन्द्रमा और सूर्यकी एकता (एक राशिपर स्थिति) तथा रौद्र मुहूर्तका संयोग देखकर इन्द्र मन-ही-मन इस प्रकार चिन्तन करने लगे—॥ १६ ॥

सूर्याचन्द्रमसोर्घोरं दृश्यते परिवेषणम्।
एतस्मिन्नेव रात्र्यन्ते महद् युद्धं तु शंसति ॥ १७ ॥

'अहो ! इस समय चन्द्रमा और सूर्यपर यह भयंकर घेरा दिखायी दे रहा है । इससे सूचित होता है कि रात बीतते-बीतते भारी युद्ध छिड़ जायगा ॥ १७ ॥

सरित्सिन्धुरपीयं तु प्रत्यसृग्वाहिनी भृशम् ।
शृगालिन्यग्निवक्त्रा च प्रत्यादित्यं विराविणी ॥ १८ ॥

'यह सिन्धु नदी भी उल्टी धारामें बहकर रक्तके स्रोत बहा रही है । सियारिन मुँहसे आग उगलती हुई-सी सूर्यकी ओर देखकर रोती है ॥ १८ ॥

एष रौद्रश्च सङ्घातो महान् युक्तश्च तेजसा ।
सोमस्य वह्निसूर्याभ्यामद्भुतोऽयं समागमः ॥ १९ ॥

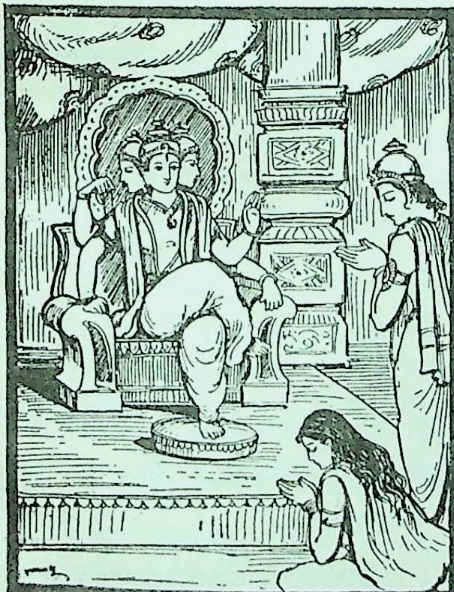
'अनेक योगोंका यह भयंकर तथा महान् संघात (सम्मेलन) तेजसे आलोकित हो रहा है। अग्नि और सूर्यके साथ चन्द्रमाका यह अद्भुत समागम दृष्टिगोचर होता है।१९।

जनयेद् यं सुतं सोमः सोऽस्या देव्याः पतिर्भवेत्।
अग्निश्चैतैर्गुणैर्युक्तः सर्वैरग्निश्च देवता ॥ २० ॥

'जान पड़ता है, इस समय चन्द्रमा जिस पुत्रको जन्म देंगे, वही इस देवीका पति होगा अथवा अग्नि भी इन सभी अभीष्ट गुणोंसे युक्त हैं । वे भी देवकोटिमें ही हैं।२०।

एष चेज्जनयेद् गर्भं सोऽस्या देव्याः पतिर्भवेत् ।
एवं संचिन्त्य भगवान् ब्रह्मलोकं तदा गतः ॥ २१ ॥
गृहीत्वा देवसेनां तामवदत् स पितामहम् ।
उवाच चास्या देव्यास्त्वं साधुशूरं पतिं दिश ॥ २२ ॥

'अतः ये यदि किसी बालकको उत्पन्न करें, तो वही इस देवीका पति होगा ।' ऐसा सोच-विचारकर ऐश्वर्यशाली इन्द्र उस समय उस देवसेनाको साथ ले ब्रह्मलोकमें गये और ब्रह्माजीसे इस प्रकार बोले—'भगवन् ! आप इस देवीके लिये कोई अच्छे स्वभावका शूरवीर पति प्रदान कीजिये' ।२१-२२।



ब्रह्मोवाच

मयैतच्चिन्तितं कार्यं त्वया दानवसूदन ।
तथा स भविता गर्भो बलवानुरुविक्रमः ॥ २३ ॥

ब्रह्माजीने कहा—दानवसूदन ! इस विषयमें तुमने जो विचार किया है, वही मैंने भी सोचा है । वैसा होनेपर ही एक महान् पराक्रमी बलवान् वीरका प्रादुर्भाव होगा ।२३।

स भविष्यति सेनानीस्त्वया सह शतक्रतो ।
अस्या देव्याः पतिश्चैव स भविष्यति वीर्यवान् ॥ २४ ॥

शतक्रतो ! वही तुम्हारे साथ रहकर देवसेनाका पराक्रमी सेनापति होगा और वही इस देवीका भी पति होगा ॥२४॥

एतच्छ्रुत्वा नमस्तस्मै कृत्वासौ सह कन्यया ।
तत्राभ्यगच्छद् देवेन्द्रो यत्र देवर्षयोऽभवन् ॥ २५ ॥
वसिष्ठप्रमुखा मुख्या विप्रेन्द्राः सुमहाबलाः ।

यह सुनकर देवराज इन्द्र ब्रह्माजीको नमस्कार करके उस कन्याको साथ ले जहाँ महान् शक्तिशाली वसिष्ठ आदि श्रेष्ठ ब्राह्मण एवं देवर्षि थे, वहाँ उनके आश्रमपर आये।२५½।

भागार्थं तपसो धातुं तेषां सोमं तथाध्वरे ॥ २६ ॥
पिपासवो ययुर्देवाः शतक्रतुपुरोगमाः ।

उन दिनों वे महर्षिगण जो यज्ञ कर रहे थे, उसमें भाग लेनेके लिये तथा सोमपान करनेके लिये इन्द्र आदि सभी देवता वहाँ पधारे थे । उन सबके मनमें सोमपानकी इच्छा थी ॥२६½॥

इष्टिं कृत्वा यथान्यायं सुसमिद्धे हुताशने ॥ २७ ॥
जुहुवुस्ते महात्मानो हव्यं सर्वदिवौकसाम् ।

उन महात्मा ऋषियोंने प्रज्वलित अग्निमें शास्त्रीय विधिसे इष्टिका सम्पादन करके सम्पूर्ण देवताओंके लिये हविष्यकी आहुति दी ॥ २७½ ॥

समाहूतो हुतवहः सोऽद्भुतः सूर्यमण्डलात् ॥ २८ ॥
विनिःसृत्य ययौ वह्निर्वाग्यतो विधिवत् प्रभुः ।
आगम्याहवनीयं वै तैर्द्विजैर्मन्त्रतो हुतम् ॥ २९ ॥
स तत्र विविधं हव्यं प्रतिगृह्य हुताशनः ।
ऋषिभ्यो भरतश्रेष्ठ प्रायच्छत दिवौकसाम् ॥ ३० ॥

भरतश्रेष्ठ ! मन्त्रोंद्वारा आवाहन होनेपर वे अद्भुत नामक अग्नि सूर्यमण्डलसे निकलकर मौनभावसे वहाँ आये और ब्रह्मर्षियोंद्वारा मन्त्रोच्चारणपूर्वक विधिवत् हवन किये हुए भाँति-भाँतिके हवनीय पदार्थोंको उन महर्षियोंसे प्राप्त करके उन्होंने सम्पूर्ण देवताओंकी सेवामें अर्पित किया ॥ २८–३० ॥

निष्क्रामंश्चाप्यपश्यत् स पत्नीस्तेषां महात्मनाम् ।
स्वेष्वासनेषूपविष्टाः स्वपन्तीश्च तथा सुखम् ॥ ३१ ॥

देवताओंको हविष्य पहुँचाकर जब अग्निदेव वहाँसे जाने लगे, तब उनकी दृष्टि उन महात्मा सप्तर्षियोंकी पत्नियों-पर पड़ी। उनमेंसे कुछ तो अपने आसनोंपर बैठी थीं और कुछ सुखपूर्वक सो रही थीं ॥ ३१ ॥

रुक्मवेदिनिभास्तास्तु चन्द्रलेखा इवामलाः।
हुताशनार्चिप्रतिमाः सर्वास्तारा इवाद्भुताः ॥ ३२ ॥

उनकी अङ्गकान्ति सुवर्णमयी वेदीके समान गौर थी, वे चन्द्रमाकी कलाके समान निर्मल थीं, अग्निकी लपटोंके समान प्रभा बिखेर रही थीं और तारिकाओंके समान अद्भुत सौन्दर्यसे प्रकाशित हो रही थीं ॥ ३२ ॥

स तत्र तेन मनसा बभूव क्षुभितेन्द्रियः।
पत्नीर्दृष्ट्वा द्विजेन्द्राणां वह्निः कामवशं ययौ ॥ ३३ ॥

इस प्रकार वहाँ (आसक्तियुक्त) मनसे उन ब्रह्मर्षियों-की पत्नियोंको देखकर अग्निदेवकी सारी इन्द्रियाँ क्षोभसे चञ्चल हो उठीं। वे सर्वथा कामके अधीन हो गये ॥ ३३ ॥

भूयः संचिन्तयामास न न्याय्यं क्षुभितो ह्यहम्।
साध्व्यः पत्न्यो द्विजेन्द्राणामकामाः कामयाम्यहम् ॥

फिर उन्होंने मन-ही-मन विचार किया कि 'मेरा यह कार्य कदापि उचित नहीं है। मेरे मनमें विकार आ गया है। इन ब्रह्मर्षियोंकी पत्नियाँ पतिव्रता हैं। ये मुझे बिल्कुल नहीं चाहतीं, तो भी मैं इनकी कामना करता हूँ ॥ ३४ ॥

नैताः शक्या मया द्रष्टुं स्प्रष्टुं वाप्यनिमित्ततः।
गार्हपत्यं समाविश्य तस्मात् पश्याम्यभीक्ष्णशः ॥ ३५ ॥

'मैं अकारण न तो इन्हें देख सकता हूँ और न इनका स्पर्श ही कर सकता हूँ। ऐसी दशामें यदि मैं गार्हपत्य अग्निमें प्रविष्ट हो जाऊँ, तो बार-बार इनके दर्शनका अवसर पा सकता हूँ' ॥ ३५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

संस्पृशन्निव सर्वास्ताः शिखाभिः काञ्चनप्रभाः।
पश्यमानश्च मुमुदे गार्हपत्यं समाश्रितः ॥ ३६ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ऐसा निश्चय करके अग्निदेवने गार्हपत्य अग्निका आश्रय लिया और अपनी लपटोंसे स्वर्णकी-सी कान्तिवाली उन ऋषि-पत्नियोंका स्पर्श तथा दर्शन-सा करते हुए वे बड़ी प्रसन्नताका अनुभव करने लगे॥

निरुष्य तत्र सुचिरमेवं वह्निर्वशं गतः।
मनस्तासु विनिक्षिप्य कामयानो वराङ्गनाः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार बहुत देरतक वहाँ टिके रहकर अग्निदेव कामके वशमें हो गये। वे अपना हृदय उन सुन्दरियोंपर निछावर करके उनसे मिलनेकी कामना कर रहे थे ॥ ३७ ॥

कामसंतप्तहृदयो देहत्यागविनिश्चितः।
अलाभे ब्राह्मणस्त्रीणामग्निर्वनमुपागमत् ॥ ३८ ॥

उनका हृदय कामाग्निसे संतप्त हो रहा था। वे उन ब्रह्मर्षियोंकी पत्नियोंके न मिलनेसे अपने शरीरको त्याग देनेका निश्चय कर चुके थे। अतः वनमें चले गये ॥ ३८ ॥

स्वाहा तं दक्षदुहिता प्रथमं कामयत् तदा।
सा तस्य छिद्रमन्वैच्छच्चिरात्प्रभृति भाविनी ॥ ३९ ॥

प्रजापति दक्षकी पुत्री स्वाहा पहलेसे ही अग्निदेवको अपना पति बनाना चाहती थी और इसके लिये बहुत दिनोंसे वह अग्निका छिद्र ढूँढ़ रही थी ॥ ३९ ॥

अप्रमत्तस्य देवस्य न च पश्यत्यनिन्दिता।
सा तं ज्ञात्वा यथावत् तु वह्निं वनमुपागतम् ॥ ४० ॥
तत्त्वतः कामसंतप्तं चिन्तयामास भाविनी।

परंतु अग्निदेवके सदा सावधान रहनेके कारण साध्वी स्वाहा उनका कोई दोष नहीं देख पाती थी। जब उसे अच्छी तरह मालूम हो गया कि अग्नि कामसंतप्त होकर वनमें चले गये हैं, तब उसने मन-ही-मन इस प्रकार विचार किया ॥ ४०½ ॥

अहं सप्तर्षिपत्नीनां कृत्वा रूपाणि पावकम् ॥ ४१ ॥
कामयिष्यामि कामार्तं तासां रूपेण मोहितम्।
एवं कृते प्रीतिरस्य कामावाप्तिश्च मे भवेत् ॥ ४२ ॥

'मैं अग्निके प्रति कामभावसे पीड़ित हूँ। अतः स्वयं ही सप्तर्षिपत्नियोंके रूप धारण करके अग्निदेवकी कामना करूँगी; क्योंकि वे उनके रूपसे मोहित हो रहे हैं। ऐसा करनेसे उन्हें प्रसन्नता होगी और मेरी कामना भी पूर्ण हो जायगी' ॥ ४१-४२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसोपाख्याने स्कन्दोत्पत्तौ चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसङ्गमें स्कन्दकी उत्पत्तिविषयक दो सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२४ ॥

पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्वाहाका मुनिपत्नियोंके रूपोंमें अग्निके साथ समागम, स्कन्दकी उत्पत्ति तथा उनके द्वारा क्रौञ्च आदि पर्वतोंका विदारण

मार्कण्डेय उवाच

शिवा भार्या त्वङ्गिरसः शीलरूपगुणान्विता।
तस्याः सा प्रथमं रूपं कृत्वा देवी जनाधिप ॥ १ ॥
जगाम पावकाभ्याशं तं चोवाच वराङ्गना।
मामग्ने कामसंतप्तां त्वं कामयितुमर्हसि ॥ २ ॥
करिष्यसि न चेदेवं मृतां मामुपधारय।
अहमङ्गिरसो भार्या शिवा नाम हुताशन।
शिष्टाभिः प्रहिता प्राप्ता मन्त्रयित्वा विनिश्चयम् ॥ ३ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—नरेश्वर! अङ्गिराकी पत्नी शिवा शील, रूप और सद्गुणोंसे सम्पन्न थी। सुन्दरी स्वाहादेवी पहले उसीका रूप धारण करके अग्निदेवके निकट गयी और उनसे इस प्रकार बोली—'अग्ने! मैं कामवेदनासे संतप्त हूँ, तुम मुझे अपने हृदयमें स्थान दो। यदि ऐसा नहीं करोगे, तो यह निश्चय जान लो, मैं अपने प्राण त्याग दूँगी। हुताशन! मैं अङ्गिराकी पत्नी हूँ। मेरा नाम शिवा है। दूसरी ऋषि-पत्नियोंने सलाह करके एक निश्चयपर पहुँचकर मुझे यहाँ भेजा है' ॥ १-३ ॥

अग्निरुवाच

कथं मां त्वं विजानीषे कामार्तमितराः कथम्।
यास्त्वया कीर्तिताः सर्वाः सप्तर्षीणां प्रियाः स्त्रियः ॥

अग्निने पूछा—देवि! तुम तथा दूसरी सप्तर्षियोंकी सभी प्यारी स्त्रियाँ, जिनके विषयमें अभी तुमने चर्चा की है, कैसे जानती हैं कि मैं तुमलोगोंके प्रति कामभावसे पीड़ित हूँ॥

शिवोवाच

अस्माकं त्वं प्रियो नित्यं बिभीमस्तु वयं तव।
त्वच्चित्तमिङ्गितैर्ज्ञात्वा प्रेषितास्मि तवान्तिकम् ॥ ५ ॥
मैथुनायेह सम्प्राप्ता कामं प्राप्तं द्रुतं चर।
जामयो मां प्रतीक्षन्ते गमिष्यामि हुताशन ॥ ६ ॥

शिवा बोली—अग्निदेव! तुम हमें सदा ही प्रिय रहे हो; परंतु हमलोग तुमसे सदा डरती आ रही हैं। इन दिनों तुम्हारी चेष्टाओंसे मनकी बात जानकर मेरी सखियोंने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। मैं समागमकी इच्छासे यहाँ आयी हूँ। तुम स्वतः प्राप्त हुए काम-सुखका शीघ्र उपभोग करो। हुताशन! वे भगिनीस्वरूपा सखियाँ मेरी राह देख रही हैं, अतः मैं शीघ्र चली जाऊँगी ॥ ५-६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ततोऽग्निरुपयेमे तां शिवां प्रीतिमुदायुतः।
प्रीत्या देव्या समायुक्तः शुक्रं जग्राह पाणिना ॥ ७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तब अग्निदेवने प्रेम और प्रसन्नताके साथ उस शिवाको हृदयसे लगाया। (शिवाके रूपमें) 'स्वाहा' देवीने प्रेमपूर्वक अग्निदेवसे समागम करके उनके वीर्यको हाथमें ले लिया ॥ ७ ॥

अचिन्तयन्ममेदं ये रूपं द्रक्ष्यन्ति कानने।
ते ब्राह्मणीनामनृतं दोषं वक्ष्यन्ति पावक ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् उसने कुछ सोचकर कहा—'अग्निकुलनन्दन! जो लोग वनमें मेरे इस रूपको देखेंगे, वे ब्राह्मण-पत्नियोंको झूठा दोष लगायेंगे ॥ ८ ॥

तस्मादेतद् रक्ष्यमाणा गरुडी सम्भवाम्यहम्।
वनान्निर्गमनं चैव सुखं मम भविष्यति ॥ ९ ॥

'अतः मैं इस रहस्यको गुप्त रखनेके लिये 'गरुडी' पक्षिणीका रूप धारण कर लेती हूँ। इस प्रकार मेरा इस वनसे, सुखपूर्वक निकलना सम्भव हो सकेगा' ॥ ९ ॥

मार्कण्डेय उवाच

सुपर्णी सा तदा भूत्वा निर्जगाम महावनात्।
अपश्यत् पर्वतं श्वेतं शरस्तम्बैः सुसंवृतम् ॥ १० ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर वह तत्काल गरुडीका रूप धारण करके उस महान् वनसे बाहर निकल गयी। आगे जानेपर उसने सरकंडोंके समूहसे आच्छादित श्वेतपर्वतके शिखरको देखा ॥ १० ॥

दृष्टीविषैः सप्तशीर्षैर्गुप्तं भोगिभिरद्भुतैः।
रक्षोभिश्च पिशाचैश्च रौद्रैर्भूतगणैस्तथा ॥ ११ ॥
राक्षसीभिश्च सम्पूर्णमनेकैश्च मृगद्विजैः।

सात सिरोंवाले अद्भुत नाग, जिनकी दृष्टिमें ही विष भरा था, उस पर्वतकी रक्षा करते थे। इनके सिवा राक्षस, पिशाच, भयानक भूतगण, राक्षसी-समुदाय तथा अनेक पशु-पक्षियोंसे भी वह पर्वत भरा हुआ था ॥ ११½ ॥

(नदीप्रस्रवणोपेतं नानातरुसमाचितम्।)
सा तत्र सहसा गत्वा शैलपृष्ठं सुदुर्गमम् ॥ १२ ॥
प्राक्षिपत् काञ्चने कुण्डे शुक्रं सा त्वरिता शुभा।

अनेकानेक नदी और झरने वहाँ बहते थे तथा नाना प्रकारके वृक्ष उस पर्वतकी शोभा बढ़ाते थे। शुभस्वरूपा स्वाहा देवीने सहसा उस दुर्गम शैलशिखरपर जाकर एक सुवर्णमय कुण्डमें शीघ्रतापूर्वक उस शुक्र (वीर्य) को डाल दिया ॥ १२½ ॥

शिष्टानामपि सा देवी सप्तर्षीणां महात्मनाम् ॥ १३ ॥

पत्नीसरूपतां कृत्वा कामयामास पावकम् ।
दिव्यरूपमरुन्धत्याः कर्तुं न शकितं तया ॥ १४ ॥
तस्यास्तपःप्रभावेण भर्तृशुश्रूषणेन च ।
षट्कृत्वस्तत् तु निक्षिप्तमग्ने रेतः कुरूत्तम ॥ १५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! उस देवीने सातों महात्मा सप्तर्षियोंकी पत्नियों-के समान रूप धारण करके अग्निदेवके साथ समागमकी इच्छा की थी; किंतु अरुन्धतीकी तपस्या तथा पति-शुश्रूषाके प्रभाव-से वह उनका दिव्य रूप धारण न कर सकी; इसलिये छः बार ही अग्निके वीर्यको वहाँ डालनेमें सफल हुई ॥ १३–१५ ॥

तस्मिन् कुण्डे प्रतिपदि कामिन्या स्वाहया तदा ।
तत् स्कन्नं तेजसा तत्र संवृतं जनयत् सुतम् ॥ १६ ॥
ऋषिभिः पूजितं स्कन्नमनयत् स्कन्दतां ततः ।
षट्शिरा द्विगुणश्रोत्रो द्वादशाक्षिभुजक्रमः ॥ १७ ॥

अग्निदेवकी कामना रखनेवाली स्वाहाने प्रतिपदाको उस कुण्डमें उनका वीर्य डाला था । स्कन्दित (स्खलित) हुए उस वीर्यने वहाँ एक तेजस्वी पुत्रको जन्म दिया । ऋषियोंने उसका बड़ा सम्मान किया । वह स्कन्दित होनेके कारण स्कन्द कहलाया । उसके छः सिर, बारह कान, बारह नेत्र और बारह भुजाएँ थीं ॥ १६-१७ ॥

एकग्रीवैकजठरः कुमारः समपद्यत ।
द्वितीयायामभिव्यक्तस्तृतीयायां शिशुर्बभौ ॥ १८ ॥

परंतु उस कुमारका कण्ठ और पेट एक-एक ही था । वह द्वितीयाको अभिव्यक्त हुआ और तृतीयाको शिशुरूपमें सुशोभित होने लगा ॥ १८ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गसम्भूतश्चतुर्थ्यामभवद् गुहः ।
लोहिताभ्रेण महता संवृतः सह विद्युता ॥ १९ ॥
लोहिताभ्रे सुमहति भाति सूर्य इवोदितः ।

चतुर्थीको वे कुमार स्कन्द सभी अङ्ग-उपाङ्गोंसे सम्पन्न हो गये । उस समय कुमार लाल रंगके विशाल बिजलीयुक्त बादलसे आच्छादित थे । अतः अरुण रंगके मेघोंकी विशाल घटाके भीतर उदित हुए सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे थे ॥

गृहीतं तु धनुस्तेन विपुलं लोमहर्षणम् ॥ २० ॥
न्यस्तं यत् त्रिपुरघ्नेन सुरारिविनिकृन्तनम् ।
तद् गृहीत्वा धनुः श्रेष्ठं ननाद बलवांस्तदा ॥ २१ ॥

त्रिपुरनाशक भगवान् शिवने देवशत्रुओंका विनाश करनेवाले जिस विशाल तथा रोमाञ्चकारी श्रेष्ठ धनुषको रख छोड़ा था, उसे बलवान् स्कन्दने उठा लिया और बड़े जोरसे गर्जना की ॥ २०-२१ ॥

सम्मोहयन्निवेमान् स त्रींल्लोकान् सचराचरान् ।
तस्य तं निनदं श्रुत्वा महामेघौघनिःस्वनम् ॥ २२ ॥
उत्पेततुर्महानागौ चित्रश्चैरावतश्च ह ।
तावापतन्तौ सम्प्रेक्ष्य स बालोऽर्कसमद्युतिः ॥ २३ ॥
द्वाभ्यां गृहीत्वा पाणिभ्यां शक्तिं चान्येन पाणिना ।
अपरेणाग्निदायादस्ताम्रचूडं भुजेन सः ॥ २४ ॥
महाकायमुपश्लिष्टं कुक्कुटं बलिनां वरम् ।
गृहीत्वा व्यनदद् भीमं चिक्रीड च महाभुजः ॥ २५ ॥

ये उस गर्जनाद्वारा चराचर प्राणियोंसहित इन तीनों लोकोंको मूर्छित-सा कर रहे थे । महान् मेघोंकी गम्भीर ध्वनि-के समान उनकी उस गर्जनाको सुनकर चित्र और ऐरावत नामक दो महागज वहाँ दौड़े आये । कुमार स्कन्द सूर्यकी कान्तिके समान उद्भासित हो रहे थे । उन दोनों हाथियोंको आते देख उन अग्निकुमारने उन्हें दो हाथोंसे पकड़ लिया तथा एक हाथमें शक्ति और दूसरेमें अरुण शिखासे विभूषित और बलवानोंमें श्रेष्ठ एवं विशाल शरीरवाले एक समीपवर्ती कुक्कुट (मुर्गे) को पकड़कर उन महाबाहु कुमारने भयंकर गर्जना की और (उन हाथी-मुर्गे आदिको लिये हुए) क्रीडा करने लगे ॥ २२–२५ ॥

द्वाभ्यां भुजाभ्यां बलवान् गृहीत्वा शङ्खमुत्तमम् ।
प्राध्मापयत भूतानां त्रासनं बलिनामपि ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् उन बलवान् वीरने दोनों हाथोंमें उत्तम शंख लेकर बजाया; जो बलवान् प्राणियोंको भी भयभीत कर देनेवाला था ॥ २६ ॥

द्वाभ्यां भुजाभ्यामाकाशं बहुशो निजघान ह ।
क्रीडन् भाति महासेनस्त्रींल्लोकान् वदनैः पिबन् ॥

[illegible] आकाशको बार-बार पीटने लगे ।

इस प्रकार क्रीडा करते हुए कुमार महासेन ऐसे जान पड़ते थे, मानो वे अपने मुखोंसे तीनों लोकोंको पी जायँगे ॥ २७ ॥

पर्वताग्रेऽप्रमेयात्मा रश्मिमानुदये यथा।
स तस्य पर्वतस्याग्रे निषण्णोऽद्भुतविक्रमः ॥ २८ ॥
व्यलोकयदमेयात्मा मुखैर्नानाविधैर्दिशः।
स पश्यन् विविधान् भावांश्चकार निनदं पुनः ॥ २९ ॥
तस्य तं निनदं श्रुत्वा न्यपतन् बहुधा जनाः।
भीताश्चोद्विग्नमनसस्तमेव शरणं ययुः ॥ ३० ॥

अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न और अद्भुत पराक्रमी स्कन्द पर्वतके शिखरपर उदयकालमें अंशुमाली सूर्यकी भाँति शोभा पा रहे थे। फिर वे उस पर्वतकी चोटीपर बैठ गये और अपने अनेक मुखोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखने लगे। भाँति-भाँतिकी वस्तुओंको देखकर वे अमेयात्मा स्कन्द पुनः बालोचित कोलाहल करने लगे। उनकी इस गर्जनाको सुनकर बहुत-से प्राणी पृथ्वीपर गिर गये। फिर भयभीत और उद्विग्नचित्त होकर उन सबने उन्हींकी शरण ली॥ २८—३० ॥

ये तु तं संश्रिता देवं नानावर्णास्तदा जनाः।
तानप्याहुः पारिषदान् ब्राह्मणाः सुमहाबलान् ॥ ३१ ॥

उस समय जिन-जिन नाना वर्णवाले जीवोंने उन स्कन्द-देवकी शरण ली, उन सबको ब्राह्मणोंने उनका महाबलवान् पार्षद बताया है ॥ ३१ ॥

स तूत्थाय महाबाहुरुपसान्त्व्य च तान् जनान्।
धनुर्विकृष्य व्यसृजद् बाणान् श्वेते महागिरौ ॥ ३२ ॥

उन महाबाहुने उठकर उन सब प्राणियोंको सान्त्वना दी और महापर्वत श्वेतपर खड़े-खड़े धनुष खींचकर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ३२ ॥

बिभेद स शरैः शैलं क्रौञ्चं हिमवतः सुतम्।
तेन हंसाश्च गृध्राश्च मेरुं गच्छन्ति पर्वतम् ॥ ३३ ॥

उन बाणोंद्वारा उन्होंने हिमालयके पुत्र क्रौञ्च पर्वतको विदीर्ण कर दिया। उसी छिद्रमें होकर हंस और गृध्र पक्षी मेरु पर्वतको जाते हैं ॥ ३३ ॥

स विशीर्णोऽपतच्छैलो भृशमार्तस्वरान् रुवन्।
तस्मिन् निपतिते त्वन्ये नेदुः शैला भृशं तदा ॥ ३४ ॥

स्कन्दके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो वह क्रौञ्च पर्वत अत्यन्त आर्तनाद करता हुआ गिर पड़ा। उस समय उसके गिरनेपर दूसरे पर्वत भी जोर-जोरसे चीत्कार करने लगे ॥ ३४ ॥

स तं नादं भृशार्तानां श्रुत्वापि बलिनां वरः।
न प्राव्यथदमेयात्मा शक्तिमुद्यम्य चानदत् ॥ ३५ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ और अमित आत्मबलसे सम्पन्न कुमार उन अत्यन्त आर्त पर्वतोंके उस चीत्कारको सुनकर भी विचलित नहीं हुए, अपितु हाथसे शक्तिको उठाकर सिंहनाद करने लगे ॥ ३५ ॥

सा तदा विमला शक्तिः क्षिप्ता तेन महात्मना।
बिभेद शिखरं घोरं श्वेतस्य तरसा गिरेः ॥ ३६ ॥

उन महात्माने उस समय अपनी चमचमाती हुई शक्ति चलायी और उसके द्वारा श्वेत गिरिके भयानक शिखरको बड़े वेगसे विदीर्ण कर डाला ॥ ३६ ॥

स तेनाभिहतो दीर्णो गिरिः श्वेतोऽचलैः सह।
उत्पपात महीं त्यक्त्वा भीतस्तस्मान्महात्मनः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार कार्तिकेयद्वारा शक्तिके आघातसे विदीर्ण होकर श्वेत पर्वत उन महात्माके भयसे डर गया और (दूसरे) पर्वतोंके साथ इस पृथ्वीको छोड़कर आकाशमें उड़ गया ॥ ३७ ॥

ततः प्रव्यथिता भूमिर्व्यशीर्यत समन्ततः।
आर्ता स्कन्दं समासाद्य पुनर्बलवती बभौ ॥ ३८ ॥

इससे पृथ्वीको बड़ी पीड़ा हुई। वह सब ओरसे फट गयी और पीड़ित हो कार्तिकेयजीकी ही शरणमें जानेपर पुनः बलवती हो शोभा पाने लगी ॥ ३८ ॥

पर्वताश्च नमस्कृत्य तमेव पृथिवीं गताः।
अथैनमभजल्लोकः स्कन्दं शुक्लस्य पञ्चमीम् ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् पर्वतोंने भी उन्हींके चरणोंमें मस्तक झुकाया और वे फिर पृथ्वीपर आ गये। तभीसे लोग प्रत्येक मासके शुक्लपक्षकी पञ्चमीको स्कन्ददेवका पूजन करने लगे ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे कुमारोत्पत्तौ पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसङ्गमें कुमारोत्पत्तिविषयक दो सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

विश्वामित्रका स्कन्दके जातकर्मादि तेरह संस्कार करना और विश्वामित्रके समझानेपर भी ऋषियोंका अपनी पत्नियोंको स्वीकार न करना तथा अग्निदेव आदिके द्वारा बालक स्कन्दकी रक्षा करना

मार्कण्डेय उवाच

तस्मिञ्जाते महासत्त्वे महासेने महाबले।
समुत्तस्थुर्महोत्पाता घोररूपाः पृथग्विधाः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! उन महान् धैर्यशाली और महाबली महासेनके जन्म लेनेपर भाँति-भाँतिके बड़े भयंकर उत्पात प्रकट होने लगे ॥ १ ॥

स्त्रीपुंसोर्विपरीतं च तथा द्वन्द्वानि यानि च ।
ग्रहा दीप्ता दिशः खं च ररास च मही भृशम् ॥ २ ॥

स्त्री-पुरुषोंका स्वभाव विपरीत हो गया । सर्दी आदि द्वन्द्वोंमें भी (अद्भुत) परिवर्तन दिखायी देने लगा । ग्रह, दिशाएँ और आकाश ये सब मानो जलने लगे और पृथ्वी जोर-जोरसे गर्जना-सी करने लगी ॥ २ ॥

ऋषयश्च महाघोरान् दृष्ट्वोत्पातान् समन्ततः ।
अकुर्वञ्छान्तिमुद्विग्ना लोकानां लोकभावनाः ॥ ३ ॥

लोकहितकी भावना रखनेवाले महर्षि चारों ओर अत्यन्त भयंकर उत्पात देखकर उद्विग्न हो उठे और जगत्में शान्ति बनाये रखनेके लिये शास्त्रीय कर्मोंका अनुष्ठान करने लगे ॥ ३ ॥

निवसन्ति वने ये तु तस्मिंश्चैत्ररथे जनाः ।
तेऽब्रुवन्नेष नोऽनर्थः पावकेनाहितो महान् ॥ ४ ॥
संगम्य षड्भिः पत्नीभिः सप्तर्षीणामिति स्म ह ।

उस चैत्ररथ नामक वनमें जो लोग निवास करते थे, वे कहने लगे, 'अग्निने सप्तर्षियोंकी छः पत्नियोंके साथ समागम करके हमलोगोंपर यह बहुत बड़ा अनर्थ लाद दिया है' ।४½।

अपरे गरुडीमाहुस्त्वयानर्थोऽयमाहृतः ॥ ५ ॥
यैर्दृष्टा सा तदा देवी तस्या रूपेण गच्छती ।
न तु तत् स्वाहया कर्म कृतं जानाति वै जनः ॥ ६ ॥

दूसरे लोगोंने उस गरुडी पक्षिणीसे कहा—'तूने ही यह अनर्थ उपस्थित किया है ।' यह उन लोगोंका विचार था, जिन्होंने स्वाहादेवीको गरुडीके रूपमें जाते देखा था। लोग यह नहीं जानते थे कि यह सारा कार्य स्वाहाने किया है ॥

सुपर्णी तु वचः श्रुत्वा ममायं तनयस्त्विति ।
उपगम्य शनैः स्कन्दमाहाहं जननी तव ॥ ७ ॥

गरुडीने लोगोंकी बातें सुनकर कहा—'यह मेरा पुत्र है ।' फिर उसने धीरेसे स्कन्दके पास जाकर कहा—'बेटा ! मैं तुम्हें जन्म देनेवाली माता हूँ' ॥ ७ ॥

अथ सप्तर्षयः श्रुत्वा जातं पुत्रं महौजसम् ।
तत्यजुः षट् तदा पत्नीर्विना देवीमरुन्धतीम् ॥ ८ ॥

इधर सप्तर्षियोंने जब यह सुना कि हमारी छः पत्नियोंके सङ्गसे अग्निदेवके एक महातेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ है, तब उन्होंने अरुन्धती देवीके सिवा अन्य छः पत्नियोंको त्याग दिया ॥ ८ ॥

षड्भिरेव तदा जातमाहुस्तद्वनवासिनः ।
सप्तर्षीनाह च स्वाहा मम पुत्रोऽयमित्युत ॥ ९ ॥
अहं जाने नैतदेवमिति राजन् पुनः पुनः ।

क्योंकि उस वनके निवासियोंने उस समय छः पत्नियोंके गर्भसे ही उस बालककी उत्पत्ति बतायी थी । राजन् ! यद्यपि स्वाहाने सप्तर्षियोंसे बार-बार कहा कि 'यह मेरा पुत्र है । मैं इसके जन्मका रहस्य जानती हूँ; लोग जैसी बात उड़ा रहे हैं, वैसी नहीं है ।' (तो भी वे सहसा उसकी बातपर विश्वास न कर सके) ॥ ९½ ॥

विश्वामित्रस्तु कृत्वेष्टिं सप्तर्षीणां महामुनिः ॥ १० ॥
पावकं कामसंतप्तमदृष्टः पृष्ठतोऽन्वगात् ।
तत् तेन निखिलं सर्वमवबुद्धं यथातथम् ॥ ११ ॥

महामुनि विश्वामित्र जब सप्तर्षियोंकी इष्टि पूर्ण कर चुके, तब वे भी कामपीड़ित अग्निके पीछे-पीछे गुप्तरूपसे चल दिये थे, उस समय कोई उन्हें देख नहीं पाता था। अतः उन्होंने यह सारा वृत्तान्त यथार्थ रूपसे जान लिया ॥ १०-११ ॥

विश्वामित्रस्तु प्रथमं कुमारं शरणं गतः ।
स्तवं दिव्यं सम्प्रचक्रे महासेनस्य चापि सः ॥ १२ ॥

विश्वामित्रजी सबसे पहले कुमार कार्तिकेयकी शरणमें गये तथा उन्होंने महासेनकी दिव्य स्तोत्रोंद्वारा स्तुति भी की॥

मङ्गलानि च सर्वाणि कौमाराणि त्रयोदश ।
जातकर्मादिकास्तस्य क्रियाश्चक्रे महामुनिः ॥ १३ ॥

उन महामुनिने कुमारके सारे माङ्गलिक कृत्य सम्पन्न किये । जातकर्म आदि तेरह क्रियाओंका भी अनुष्ठान किया ॥ १३ ॥

षड्वक्त्रस्य तु माहात्म्यं कुक्कुटस्य तु साधनम् ।
शक्त्या देव्याः साधनं च तथा पारिषदामपि ॥ १४ ॥
विश्वामित्रश्चकारैतत् कर्म लोकहिताय वै ।
तस्मादृषिः कुमारस्य विश्वामित्रोऽभवत् प्रियः ॥ १५ ॥

स्कन्दकी महिमा, उनके द्वारा कुक्कुट पक्षीका धारण, देवीके समान प्रभावशालिनी शक्तिका ग्रहण तथा पार्षदोंका वरण आदि कुमारके सभी कार्योंको विश्वामित्रने लोकहितके लिये आवश्यक सिद्ध किया । अतः विश्वामित्र मुनि कुमारके अधिक प्रिय हो गये ॥ १४-१५ ॥

अन्वजानाच्च स्वाहाया रूपान्यत्वं महामुनिः ।
अब्रवीच्च मुनीन् सर्वान् नापराध्यन्ति वै स्त्रियः ॥ १६ ॥
श्रुत्वा तु तत्त्वतस्तस्मात् ते पत्नीः सर्वतोऽत्यजन् ।

महामुनि विश्वामित्रने यह जान लिया था कि स्वाहाने अन्य ऋषिपत्नियोंके रूप धारण करके अग्निदेवसे सम्बन्ध स्थापित किया था; इसलिये उन्होंने सब ऋषियोंसे कहा—'आपकी स्त्रियोंका कोई अपराध नहीं है' उनके मुखसे यथार्थ बात जानकर भी ऋषियोंने अपनी पत्नियोंको सर्वथा त्याग ही दिया ॥ १६½ ॥

मार्कण्डेय उवाच

स्कन्दं श्रुत्वा तदा देवा वासवं सहिताऽब्रुवन् ॥ १७ ॥
अविषह्यबलं स्कन्दं जहि शक्राशु माचिरम् ।
यदि वा न निहंस्येनं देवेन्द्रोऽयं भविष्यति ॥ १८ ॥
त्रैलोक्यं संनिगृह्यास्मांस्त्वां च शक्र महाबल ।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! उस समय स्कन्दके जन्म और बल-पराक्रमका समाचार सुनकर सब देवताओंने एकत्र हो इन्द्रसे कहा—'देवेश्वर ! स्कन्दका बल असह्य है। शीघ्र उन्हें मार डालिये; विलम्ब न कीजिये । महाबली इन्द्र ! यदि आप इन्हें अभी नहीं मारते हैं, तो ये त्रिलोकीको, हम सबको तथा आपको भी अपने वशमें करके 'देवेन्द्र' बन बैठेंगे' ॥ १७-१८½ ॥

स तानुवाच व्यथितो बालोऽयं सुमहाबलः ॥ १९ ॥
स्रष्टारमपि लोकानां युधि विक्रम्य नाशयेत् ।
न बालमुत्सहे हन्तुमिति शक्रः प्रभाषते ॥ २० ॥

तब इन्द्रने व्यथित होकर उन देवताओंसे कहा—'देवताओ ! यह बालक बड़ा बलवान् है। यह लोकस्रष्टा ब्रह्माको भी युद्धमें पराक्रम करके मार सकता है। अतः मुझमें इस बालकको मारनेका साहस नहीं है।' इन्द्र बार-बार यही बात दुहराने लगे ॥ १९-२० ॥

तेऽब्रुवन् नास्ति ते वीर्यं यत एवं प्रभाषसे ।
सर्वास्त्वद्याभिगच्छन्तु स्कन्दं लोकस्य मातरः ॥ २१ ॥
कामवीर्या घ्नन्तु चैनं तथेत्युक्त्वा च ता ययुः ।

यह सुनकर देवता बोले—'आपमें अब बल और पराक्रम नहीं रह गया है, इसीलिये ऐसी बातें कहते हैं। हमारी राय है कि सम्पूर्ण लोकमातृकाएँ स्कन्दके पास जायँ । ये इच्छानुसार पराक्रम प्रकट कर सकती हैं; अतः स्कन्दको मार डालें ।' तब 'बहुत अच्छा' कहकर वे मातृकाएँ वहाँसे चल दीं ॥ २१½ ॥

तमप्रतिबलं दृष्ट्वा विषण्णवदनास्तु ताः ॥ २२ ॥
अशक्योऽयं विचिन्त्यैवं तमेव शरणं ययुः ।
ऊचुश्चैनं त्वमस्माकं पुत्रो भव महाबल ॥ २३ ॥

परंतु स्कन्दका अप्रतिम बल देखकर उनके मुखपर उदासी छा गयी । वे सोचने लगीं—'इस वीरको पराजित करना असम्भव है।' ऐसा निश्चय होनेपर वे उन्हींकी शरणमें गयीं और बोलीं—'महाबली कुमार ! तुम हमारे पुत्र हो जाओ, हमें माता मान लो ॥ २२-२३ ॥

अभिनन्दस्व नः सर्वाः प्रस्नुताः स्नेहविक्लवाः ।
तासां तद् वचनं श्रुत्वा पातुकामः स्तनान् प्रभुः ॥२४॥

'देखो, हम पुत्र-स्नेहसे विकल हो रही हैं, हमारे स्तनोंसे दूध झर रहा है, इसे पीकर हम सबको सम्मानित और आनन्दित करो ।' मातृकाओंकी यह बात सुनकर समर्थ स्कन्दके मनमें उनके स्तनपानकी इच्छा जाग्रत् हो गयी ॥

ताः सम्पूज्य महासेनः कामांश्चासां प्रदाय सः ।
अपश्यदग्निमायान्तं पितरं बलिनां बली ॥ २५ ॥

फिर महासेनने उन सबका समादर करके उनकी मनोवाञ्छा पूर्ण की । तदनन्तर बलवानोंमें बलिष्ठ वीर स्कन्दने अपने पिता अग्निदेवको आते देखा ॥ २५ ॥

स तु सम्पूजितस्तेन सह मातृगणेन ह ।
परिवार्य महासेनं रक्षमाणः स्थितः शिवः ॥ २६ ॥

कुमार महासेनके द्वारा पूजित हो मङ्गलकारी अग्निदेव मातृकागणोंके साथ उन्हें घेरकर खड़े हो गये और उनकी रक्षा करने लगे ॥ २६ ॥

सर्वासां या तु मातॄणां नारी क्रोधसमुद्भवा ।
धात्री स्वपुत्रवत् स्कन्दं शूलहस्ताभ्यरक्षत ॥ २७ ॥

उस समय सम्पूर्ण मातृकाओंके क्रोधसे जो एक नारी-मूर्ति प्रकट हुई थी, वह हाथमें त्रिशूल ले धायकी भाँति अपने पुत्रके समान प्रिय स्कन्दकी सब ओरसे रक्षा करने लगी ॥ २७ ॥

लोहितस्योदधेः कन्या क्रूरा लोहितभोजना ।
परिष्वज्य महासेनं पुत्रवत् पर्यरक्षत ॥ २८ ॥

लाल सागरकी एक क्रूर स्वभाववाली कन्या थी, जिसका रक्त ही भोजन था। वह महासेनको पुत्रकी भाँति हृदयसे लगाकर सर्वतोभावेन उनकी रक्षा करने लगी ॥२८॥

अग्निर्भूत्वा नैगमेयश्छागवक्त्रो बहुप्रजः ।
रमयामास शैलस्थं बालं क्रीडनकैरिव ॥ २९ ॥

वेदप्रतिपादित अग्नि बकरेका-सा मुख बनाकर अनेक संतानोंके साथ उपस्थित हो पर्वतशिखरपर निवास करनेवाले बालक स्कन्दका इस प्रकार मन बहलाने लगे, मानो उन्हें खिलौनोंसे खेला रहे हों ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे स्कन्दोत्पत्तौ षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसंगमें स्कन्दकी उत्पत्तिविषयक दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराजित होकर शरणमें आये हुए इन्द्रसहित देवताओंको स्कन्दका अभयदान

मार्कण्डेय उवाच

ग्रहाः सोपग्रहाश्चैव ऋषयो मातरस्तथा।
हुताशनमुखाश्चैव दृप्ताः पारिषदां गणाः ॥ १ ॥
एते चान्ये च बहवो घोरास्त्रिदिववासिनः।
परिवार्य महासेनं स्थिता मातृगणैः सह ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ग्रह, उपग्रह, ऋषि, मातृकागण और मुखसे आग उगलनेवाले दर्पयुक्त पार्षदगण—ये तथा दूसरे बहुत-से भयंकर स्वर्गवासी प्राणी मातृकागणोंके साथ रहकर महासेनको सब ओरसे घेरे हुए उनकी रक्षाके लिये खड़े थे ॥ १-२ ॥

संदिग्धं विजयं दृष्ट्वा विजयेप्सुः सुरेश्वरः।
आरुह्यैरावतस्कन्धं प्रययौ दैवतैः सह ॥ ३ ॥

देवेश्वर इन्द्रको अपनी विजयके विषयमें संदेह ही दिखायी देता था, तो भी वे विजयकी अभिलाषासे ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हो देवताओंके साथ आगे बढ़े ॥ ३ ॥

आदाय वज्रं बलवान् सर्वैर्देवगणैर्वृतः।
विजिघांसुर्महासेनमिन्द्रस्तूर्णतरं ययौ ॥ ४ ॥

सब देवताओंसे घिरे हुए बलवान् इन्द्र महासेनको मार डालनेकी इच्छासे हाथमें वज्र ले बड़े वेगसे अग्रसर हो रहे थे ॥ ४ ॥

उग्रं तं च महानादं देवानीकं महाप्रभम्।
विचित्रध्वजसंनाहं नानावाहनकार्मुकम् ॥ ५ ॥
प्रवराम्बरसंवीतं श्रिया जुष्टमलङ्कृतम्।
विजिघांसुं तमायान्तं कुमारः शक्रमन्वयात् ॥ ६ ॥

देवताओंकी सेना बड़ी भयानक थी। उसमें जोर-जोरसे विकट गर्जना हो रही थी। उसकी प्रभाका विस्तार महान् था। उसके ध्वज और संनाह (कवच) विचित्र थे। सभी सैनिकोंके वाहन और धनुष नाना प्रकारके दिखायी देते थे। सबने श्रेष्ठ वस्त्रोंसे अपने शरीरको आच्छादित कर रक्खा था। सभी लोग श्रीसम्पन्न तथा विविध आभूषणोंसे विभूषित दिखायी देते थे। इन्द्रको अपने वधके लिये आते देख कुमारने भी उनपर धावा बोल दिया ॥ ५-६ ॥

विनदन् पार्थ देवेशो द्रुतं याति महाबलः।
संहर्षयन् देवसेनां जिघांसुः पावकात्मजम् ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर! महाबली देवराज इन्द्र अग्निनन्दन स्कन्दको मार डालनेकी इच्छासे देवताओंकी सेनाका हर्ष बढ़ाते हुए तीव्र गतिसे विकट गर्जनाके साथ आगे बढ़ रहे थे ॥ ७ ॥

सम्पूज्यमानस्त्रिदशैस्तथैव परमर्षिभिः।
समीपमथ सम्प्राप्तः कार्तिकेयस्य वासवः ॥ ८ ॥
सिंहनादं ततश्चक्रे देवेशः सहितः सुरैः।
गुहोऽपि शब्दं तं श्रुत्वा व्यनदत् सागरो यथा ॥ ९ ॥

उस समय सम्पूर्ण देवता और महर्षि उनका बड़ा सम्मान कर रहे थे। जब देवराज इन्द्र कुमार कार्तिकेयके निकट पहुँचे, तब उन्होंने देवताओंके साथ सिंहके समान गर्जना की। उनका वह सिंहनाद सुनकर कुमार कार्तिकेय भी समुद्रके समान भयंकर गर्जना करने लगे ॥ ८-९ ॥

तस्य शब्देन महता समुद्धूतोदधिप्रभम्।
बभ्राम तत्र तत्रैव देवसैन्यमचेतनम् ॥ १० ॥

देवताओंकी सेना उमड़ते हुए समुद्रके समान जान पड़ती थी। परंतु स्कन्दकी भारी गर्जनासे अचेत-सी होकर वहीं चक्कर काटने लगी ॥ १० ॥

जिघांसूनुपसम्प्राप्तान् देवान् दृष्ट्वा स पावकिः।
विससर्ज मुखात् क्रुद्धः प्रवृद्धाः पावकार्चिषः ॥ ११ ॥

अग्निकुमार स्कन्द यह देखकर कि देवतालोग मेरा वध करनेकी इच्छासे यहाँ एकत्र हुए हैं, कुपित हो उठे और अपने मुँहसे आगकी बढ़ती हुई लपटें छोड़ने लगे ॥

अदहद् देवसैन्यानि वेपमानानि भूतले।
ते प्रदीप्तशिरोदेहाः प्रदीप्तायुधवाहनाः ॥ १२ ॥

इस प्रकार उन्होंने देवताओंकी सेनाको जलाना प्रारम्भ किया। सारे सैनिक पृथ्वीपर गिरकर छटपटाने लगे। किसीका शरीर जल गया, किसीका सिर, किसीके आयुध जल गये और किसीके वाहन ॥ १२ ॥

प्रच्युताः सहसा भान्ति व्यस्तास्तारागणा इव।
दह्यमानाः प्रपन्नास्ते शरणं पावकात्मजम् ॥ १३ ॥
देवा वज्रधरं त्यक्त्वा ततः शान्तिमुपागताः।
त्यक्तो देवैस्ततः स्कन्दे वज्रं शक्रो न्यपातयत् ॥ १४ ॥

वे सब-के-सब सहसा तितर-बितर हो आकाशमें बिखरे हुए तारोंके समान जान पड़ते थे। इस तरह जलते हुए देवता वज्रधारी इन्द्रका साथ छोड़कर अग्निनन्दन स्कन्दकी ही शरणमें आये, तब उन्हें शान्ति मिली। देवताओंके त्याग देनेपर इन्द्रने स्कन्दपर अपने वज्रका प्रहार किया ॥ १३-१४ ॥

तद्विसृष्टं जघानाशु पार्श्वं स्कन्दस्य दक्षिणम्।
बिभेद च महाराज पार्श्वं तस्य महात्मनः ॥ १५ ॥

महाराज ! इन्द्रके छोड़े हुए उस वज्रने शीघ्र ही कुमार कार्तिकेयकी दायीं पसलीपर गहरी चोट पहुँचायी और उन महामना स्कन्दके पार्श्वभागको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ १५ ॥

वज्रप्रहारात् स्कन्दस्य संजातः पुरुषोऽपरः ।
युवा काञ्चनसंनाहः शक्तिधृग् दिव्यकुण्डलः ॥ १६ ॥

वज्रका प्रहार होनेपर स्कन्दके (उस दक्षिण पार्श्वसे) एक दूसरा वीर पुरुष प्रकट हुआ, जिसकी युवावस्था थी । उसने सुवर्णमय कवच धारण कर रक्खा था । उसके एक हाथमें शक्ति चमक रही थी और कानोंमें दिव्य कुण्डल झलमला रहे थे ॥ १६ ॥

यद्वज्रविशनाज्जातो विशाखस्तेन सोऽभवत् ।
संजातमपरं दृष्ट्वा कालानलसमद्युतिम् ॥ १७ ॥
भयादिन्द्रस्तु तं स्कन्दं प्राञ्जलिः शरणं गतः ।

वज्रके प्रविष्ट होनेसे उसकी उत्पत्ति हुई थी, इसलिये वह विशाख नामसे प्रसिद्ध हुआ । प्रलयकालकी अग्निके समान अत्यन्त तेजस्वी उस द्वितीय वीरको प्रकट हुआ देख इन्द्र भयसे थर्रा उठे और हाथ जोड़कर उन स्कन्ददेवकी शरणमें आये ॥ १७½ ॥

तस्याभयं ददौ स्कन्दः सह सैन्यस्य सत्तमः ।
ततः प्रहृष्टास्त्रिदशा वादित्राण्यभ्यवादयन् ॥ १८ ॥

तब सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ कुमार स्कन्दने सेनासहित इन्द्रको अभयदान दिया । इससे प्रसन्न होकर सब देवता (हर्षसूचक) बाजे बजाने लगे ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे इन्द्रस्कन्दसमागमे सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसङ्गमें इन्द्र-स्कन्दसमागमविषयक दो सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्कन्दके पार्षदोंका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

स्कन्दपारिषदान् घोराञ्शृणुष्वाद्भुतदर्शनान् ।
वज्रप्रहारात् स्कन्दस्य जज्ञुस्तत्र कुमारकाः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! अब तुम स्कन्दके भयंकर पार्षदोंका वर्णन सुनो, जो देखनेमें बड़े अद्भुत हैं। वज्रका प्रहार होनेपर स्कन्दके शरीरसे वहाँ बहुत-से कुमार ग्रह उत्पन्न हुए ॥ १ ॥

ये हरन्ति शिशूञ्जातान् गर्भस्थांश्चैव दारुणाः ।
वज्रप्रहारात् कन्याश्च जज्ञिरेऽस्य महाबलाः ॥ २ ॥

वे क्रूर स्वभाववाले कुमारग्रह नवजात तथा गर्भस्थ शिशुओंको भी हर ले जाते हैं । इन्द्रके वज्र-प्रहारसे स्कन्दके शरीरसे वहाँ अत्यन्त बलशालिनी कन्याएँ भी उत्पन्न हुई थीं ॥ २ ॥

कुमारास्ते विशाखं च पितृत्वे समकल्पयन् ।
स भूत्वा भगवान् संख्ये रक्षंश्छागमुखस्तदा ॥ ३ ॥
वृतः कन्यागणैः सर्वैरात्मीयैः सह पुत्रकैः ।
मातॄणां प्रेक्षमाणानां भद्रशाखश्च कौसलः ॥ ४ ॥

पूर्वोक्त कुमार-ग्रहोंने विशाख (स्कन्द) को अपना पिता माना । भगवान् स्कन्द बकरेके समान मुख धारण करके समस्त कन्यागणों और अपने पुत्रोंसे घिरकर मातृकाओंके देखते-देखते युद्धमें अपने पक्षकी रक्षा करते हैं । वे ही 'भद्रशाख' तथा 'कौसल' नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ३-४ ॥

ततः कुमारपितरं स्कन्दमाहुर्जना भुवि ।
रुद्रमग्निमुमां स्वाहां प्रदेशेषु महाबलाम् ॥ ५ ॥
यजन्ति पुत्रकामाश्च पुत्रिणश्च सदा जनाः ।

इसीलिये भूतलके मनुष्य स्कन्दको कुमार-ग्रहोंका पिता कहते हैं । भिन्न-भिन्न स्थानोंमें पुत्रवान् तथा पुत्रकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य अग्निस्वरूप रुद्र और स्वाहास्वरूपा महाबलवती उमाकी सदा आराधना करते हैं ॥ ५½ ॥

यास्तास्त्वजनयत् कन्यास्तपो नाम हुताशनः ॥ ६ ॥
किं करोमीति ताः स्कन्दं सम्प्राप्ताः समभाषयन् ।

तप नामक अग्निने जिन कन्याओंको जन्म दिया, वे सब स्कन्दके पास आयीं और पूछने लगीं—'हम क्या करें ?' ॥ ६½ ॥

कुमार्य ऊचुः

भवेम सर्वलोकस्य मातरो वयमुत्तमाः ॥ ७ ॥
प्रसादात् तव पूज्याश्च प्रियमेतत् कुरुष्व नः ।

कुमारियाँ बोलीं—हम सब लोग सम्पूर्ण जगत्की श्रेष्ठ माताएँ हों और आपकी कृपासे हम सदा पूजनीय मानी जायँ, यही हमारा प्रिय मनोरथ है, आप इसे पूर्ण कीजिये ॥ ७½ ॥

सोऽब्रवीद् बाढमित्येवं भविष्यध्वं पृथग्विधाः ॥ ८ ॥
शिवाश्चैवाशिवाश्चैव पुनः पुनरुदारधीः ।
ततः संकल्प्य पुत्रत्वे स्कन्दं मातृगणोऽगमत् ॥ ९ ॥

तब उन सबसे स्कन्दने बार-बार कहा—'बहुत अच्छा,

तुम सब लोग पृथक्-पृथक् पूजनीया माता मानी जाओगी। तुम्हारे दो भेद होंगे—शिवा और अशिवा।' तदनन्तर स्कन्दको अपना पुत्र मानकर मातृकाएँ वहाँसे विदा हो गयीं ॥८-९॥

काकी च हलिमा चैव मालिनी बृंहता तथा।
आर्या पलाला वैमित्रा सप्तैताः शिशुमातरः ॥ १० ॥

काकी, हलिमा, मालिनी, बृंहता, आर्या, पलाला और वैमित्रा—ये सातों शिशुकी माताएँ हैं ॥ १० ॥

एतासां वीर्यसम्पन्नः शिशुर्नामातिदारुणः।
स्कन्दप्रसादजः पुत्रो लोहिताक्षो भयंकरः ॥ ११ ॥

भगवान् स्कन्दकी कृपासे इन्हें शिशु नामक एक अत्यन्त पराक्रमी पुत्र प्राप्त हुआ, जो अत्यन्त दारुण और भयंकर था। उसकी आँखें रक्तवर्णकी थीं ॥ ११ ॥

एष वीराष्टकः प्रोक्तः स्कन्दमातृगणोद्भवः।
छागवक्त्रेण सहितो नवकः परिकीर्त्यते ॥ १२ ॥

शिशु और मातृगणोंको लेकर जो आठ व्यक्ति होते हैं, उन्हें 'वीराष्टक' कहा गया है। बकरेके-से मुखसे युक्त स्कन्द-को सम्मिलित करनेसे यह समुदाय वीर-नवक कहा जाता है ॥ १२ ॥

षष्ठं छागमयं वक्त्रं स्कन्दस्यैवेति विद्धि तत्।
षट्शिरोऽभ्यन्तरं राजन् नित्यं मातृगणार्चितम् ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर! स्कन्दका ही छठा मुख छागमय है, यह जान लो। राजन्! वह छः सिरोंके बीचमें स्थित है और मातृकाएँ सदा उसकी पूजा करती हैं ॥ १३ ॥

षण्णां तु प्रवरं तस्य शीर्षाणामिह शब्द्यते।
शक्तिं येनासृजद् दिव्यां भद्रशाख इति स्म ह ॥ १४ ॥

स्कन्दके छहों मस्तकोंमें वही सर्वश्रेष्ठ बताया जाता है। उन्होंने दिव्यशक्तिका प्रयोग किया था; इसलिये उनका नाम भद्रशाख हुआ ॥ १४ ॥

इत्येतद् विविधाकारं वृत्तं शुक्लस्य पञ्चमीम्।
तत्र युद्धं महाघोरं वृत्तं षष्ठ्यां जनाधिप ॥ १५ ॥

नरेश्वर! इस प्रकार शुक्लपक्षकी पञ्चमी तिथिको विविध आकारवाले पार्षदोंकी सृष्टि हुई और षष्ठीको वहाँ अत्यन्त भयंकर युद्ध हुआ ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे कुमारोत्पत्तौ अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसंगमें कुमारोत्पत्तिविषयक दो सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२८ ॥

एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्कन्दका इन्द्रके साथ वार्तालाप, देवसेनापतिके पदपर अभिषेक तथा देवसेनाके साथ उनका विवाह

मार्कण्डेय उवाच

उपविष्टं तु तं स्कन्दं हिरण्यकवचस्रजम्।
हिरण्यचूडमुकुटं हिरण्याक्षं महाप्रभम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! स्कन्द सोनेका कवच, सोनेकी माला और सोनेकी कलँगीसे सुशोभित मुकुट धारण किये (सुन्दर आसनपर) बैठे थे। उनके नेत्रोंसे सुवर्ण-की-सी ज्योति छिटक रही थी और उनके शरीरसे महान् तेजःपुञ्ज प्रकट हो रहा था ॥ १ ॥

लोहिताम्बरसंवीतं तीक्ष्णदंष्ट्रं मनोरमम्।
सर्वलक्षणसम्पन्नं त्रैलोक्यस्यापि सुप्रियम् ॥ २ ॥

उन्होंने लाल रंगके वस्त्रसे अपने अङ्गोंको आच्छादित कर रक्खा था। उनके दाँत बड़े तीखे थे और उनकी आकृति मनको लुभा लेनेवाली थी। वे समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न तथा तीनों लोकोंके लिये अत्यन्त प्रिय थे ॥ २ ॥

ततस्तं वरदं शूरं युवानं मृष्टकुण्डलम्।
अभजत् पद्मरूपा श्रीः स्वयमेव शरीरिणी ॥ ३ ॥

तदनन्तर वर देनेमें समर्थ, शौर्य-सम्पन्न, युवा अवस्थासे सुशोभित तथा सुन्दर कुण्डलोंसे अलंकृत कुमार कार्तिकेयका कमलके समान कान्तिवाली मूर्तिमती शोभाने स्वयं ही सेवन किया ॥ ३ ॥

श्रिया जुष्टः पृथुयशाः स कुमारवरस्तदा।
निषण्णो दृश्यते भूतैः पौर्णमास्यां यथा शशी ॥ ४ ॥

मूर्तिमती शोभासे सेवित हो वहाँ बैठे हुए महायशस्वी सुन्दरकुमारको उस समय सब प्राणी पूर्णमासीके चन्द्रमाकी भाँति देखते थे ॥ ४ ॥

अपूजयन् महात्मानो ब्राह्मणास्तं महाबलम्।
इदमाहुस्तदा चैव स्कन्दं तत्र महर्षयः ॥ ५ ॥

महामना ब्राह्मणोंने महाबली स्कन्दकी पूजा की और सब महर्षियोंने वहाँ आकर उनका इस प्रकार स्तवन किया ॥५॥

ऋषय ऊचुः

हिरण्यगर्भ भद्रं ते लोकानां शङ्करो भव।
त्वया षड्रात्रजातेन सर्वे लोका वशीकृताः ॥ ६ ॥

ऋषि बोले—हिरण्यगर्भ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम समस्त जगत्‌के लिये कल्याणकारी बनो। तुम्हारे पैदा हुए अभी



इन्द्रके द्वारा देवसेनाका स्कन्दको समर्पण

छः रातें ही बीती होंगी । इतनेमें ही तुमने समस्त लोकोंको अपने वशमें कर लिया है ॥ ६ ॥

अभयं च पुनर्दत्तं त्वयैवैषां सुरोत्तम।
तस्मादिन्द्रो भवानस्तु त्रैलोक्यस्याभयंकरः ॥ ७ ॥

सुरश्रेष्ठ ! फिर तुम्हींने इन सब लोकोंको अभय दान दिया है । अतः आजसे तुम इन्द्र होकर रहो और तीनों लोकोंके भयका निवारण करो ॥ ७ ॥

स्कन्द उवाच

किमिन्द्रः सर्वलोकानां करोतीह तपोधनाः ।
कथं देवगणांश्चैव पाति नित्यं सुरेश्वरः ॥ ८ ॥

स्कन्द बोले—तपोधनो ! इन्द्र इस पदपर रहकर सम्पूर्ण लोकोंके लिये क्या करते हैं तथा वे देवेश्वर सदा समस्त देवताओंकी किस प्रकार रक्षा करते हैं ? ॥ ८ ॥

ऋषय ऊचुः

इन्द्रो दधाति भूतानां बलं तेजः प्रजाः सुखम् ।
तुष्टः प्रयच्छति तथा सर्वान् कामान् सुरेश्वरः ॥ ९ ॥

ऋषि बोले—देवराज इन्द्र संतुष्ट होनेपर सम्पूर्ण प्राणियोंको बल, तेज, संतान और सुखकी प्राप्ति कराते हैं तथा उनकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करते हैं ॥ ९ ॥

दुर्वृत्तानां संहरति व्रतस्थानां प्रयच्छति ।
अनुशास्ति च भूतानि कार्येषु बलसूदनः ॥ १० ॥

वे दुष्टोंका संहार करते और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले सत्पुरुषोंको जीवन दान देते हैं। बल नामक दैत्यका विनाश करनेवाले इन्द्र सभी प्राणियोंको आवश्यक कार्योंमें लगनेका आदेश देते हैं ॥ १० ॥

असूर्ये च भवेत् सूर्यस्तथाचन्द्रे च चन्द्रमाः ।
भवत्यग्निश्च वायुश्च पृथिव्यापश्च कारणैः ॥ ११ ॥

सूर्यके अभावमें वे स्वयं ही सूर्य होते हैं और चन्द्रमाके न रहनेपर स्वयं ही चन्द्रमा बनकर उनका कार्य सम्पादन करते हैं । आवश्यकता पड़नेपर वे ही अग्नि, वायु, पृथिवी और जलका स्वरूप धारण कर लेते हैं ॥ ११ ॥

एतदिन्द्रेण कर्तव्यमिन्द्रे हि विपुलं बलम् ।
त्वं च वीर बली श्रेष्ठस्तस्मादिन्द्रो भवस्व नः ॥ १२ ॥

यह सब इन्द्रका कार्य है । इन्द्रमें अपरिमित बल होता है । वीर ! तुम भी श्रेष्ठ बलवान् हो । अतः तुम्हीं हमारे इन्द्र हो जाओ ॥ १२ ॥

शक्र उवाच

भवस्वेन्द्रो महाबाहो सर्वेषां नः सुखावहः ।
अभिषिच्यस्व चैवाद्य प्राप्तरूपोऽसि सत्तम ॥ १३ ॥

इन्द्रने कहा—महाबाहो ! तुम्हीं इन्द्र बनो और हम सबको सुख पहुँचाओ । सज्जनशिरोमणे ! तुम इस पदके सर्वथा योग्य हो । अतः आज ही इस पद-पर अपना अभिषेक करा लो ॥ १३ ॥

स्कन्द उवाच

शाधि त्वमेव त्रैलोक्यमव्यग्रो विजये रतः ।
अहं ते किङ्करः शक्र न ममेन्द्रत्वमीप्सितम् ॥ १४ ॥

स्कन्द बोले—इन्द्रदेव ! आप ही स्वस्थचित्त होकर तीनों लोकोंका शासन कीजिये और विजयप्राप्तिके कार्यमें संलग्न रहिये । मैं तो आपका सेवक हूँ । मुझे इन्द्र बननेकी इच्छा नहीं है ॥ १४ ॥

शक्र उवाच

बलं तवाद्भुतं वीर त्वं देवानामरीन् जहि ।
अवज्ञास्यन्ति मां लोका वीर्येण तव विस्मिताः ॥ १५ ॥
इन्द्रत्वे तु स्थितं वीर बलहीनं पराजितम् ।
आवयोश्च मिथो भेदे प्रयतिष्यन्त्यतन्द्रिताः ॥ १६ ॥

इन्द्रने कहा—वीर ! तुम्हारा बल अद्भुत है, अतः तुम्हीं देव-शत्रुओंका संहार करो । वीरवर ! मैं तुम्हारे सामने पराजित होकर बलहीन सिद्ध हो गया हूँ । अतः तुम्हारे पराक्रमसे चकित होकर लोग मेरी अवहेलना करेंगे । यदि मैं इन्द्र पदपर स्थित रहूँ, तो भी सब लोग मेरा उपहास करेंगे और आलस्य छोड़कर हम दोनोंमें परस्पर फूट डालनेका प्रयत्न करेंगे ॥ १५-१६ ॥

भेदिते च त्वयि विभो लोको द्वैधमुपेष्यति ।
द्विधाभूतेषु लोकेषु निश्चितेष्वावयोस्तथा ॥ १७ ॥
विग्रहः सम्प्रवर्तेत भूतभेदान्महाबल ।
तत्र त्वं मां रणे तात यथाश्रद्धं विजेष्यसि ॥ १८ ॥
तस्मादिन्द्रो भवानेव भविता मा विचारय ।

प्रभो ! यदि तुम फूट जाओगे, तो जगत्‌के प्राणी दो भागोंमें बट जायँगे । महाबलवान् वीर ! सम्पूर्ण लोकोंके निश्चय ही दो दलोंमें बट जाने तथा लोगोंके द्वारा भेदबुद्धि उत्पन्न किये जानेपर हम लोगोंमें युद्ध प्रारम्भ हो सकता है । तात ! उस युद्धमें जैसा कि मेरा विश्वास है, तुम्हीं विजयी होओगे । अतः तुम्हीं इन्द्र हो जाओ । इस विषयमें कोई दूसरी बात मत सोचो ॥ १७-१८½ ॥

स्कन्द उवाच

त्वमेव राजा भद्रं ते त्रैलोक्यस्य ममैव च ॥ १९ ॥
करोमि किं च ते शक्र शासनं तद् ब्रवीहि मे ।

स्कन्द बोले—देवेन्द्र ! आप ही देवराजके पदपर प्रतिष्ठित रहें । आपका कल्याण हो । आप ही तीनों लोकोंके तथा मेरे भी स्वामी हैं । आपकी किस आज्ञाका पालन करूँ ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १९½ ॥

इन्द्र उवाच

अहमिन्द्रो भविष्यामि तव वाक्यान्महाबल ॥ २० ॥
यदि सत्यमिदं वाक्यं निश्चयाद् भाषितं त्वया ।
यदि वा शासनं स्कन्द कर्तुमिच्छसि मे शृणु ॥ २१ ॥
अभिषिच्यस्व देवानां सैनापत्ये महाबल ।

इन्द्रने कहा—महाबलवान् स्कन्द ! मैं तुम्हारे कहनेसे इन्द्र-पदपर प्रतिष्ठित रहूँगा । यदि वास्तवमें तुम मेरी आज्ञाका पालन करना चाहते हो, यदि तुमने यह निश्चित बात कही है अथवा यदि तुम्हारा यह कथन सत्य है, तो मेरी यह बात सुनो—महावीर ! तुम देवताओंके सेनापतिके पदपर अपना अभिषेक करा लो ॥ २०-२१½ ॥

स्कन्द उवाच

दानवानां विनाशाय देवानामर्थसिद्धये ॥ २२ ॥
गोब्राह्मणहितार्थाय सैनापत्येऽभिषिञ्च माम् ।

स्कन्द बोले—देवराज ! दानवोंके विनाश, देवताओंके कार्यकी सिद्धि तथा गौओं और ब्राह्मणोंके हितके लिये आप सेनापतिके पदपर मेरा अभिषेक कीजिये ।२२½।

मार्कण्डेय उवाच

सोऽभिषिक्तो मघवता सर्वैर्देवगणैः सह ॥ २३ ॥
अतीव शुशुभे तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।
तत्र तत् काञ्चनं छत्रं ध्रियमाणं व्यरोचत ॥ २४ ॥
यथैव सुसमिद्धस्य पावकस्यात्ममण्डलम् ।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर समस्त देवताओंसहित इन्द्रने कुमारका देवसेनापतिके पदपर अभिषेक कर दिया । उस समय वहाँ महर्षियोंद्वारा पूजित होकर स्कन्दकी बड़ी शोभा हुई । उनके ऊपर तना हुआ वह सुवर्णमय छत्र उद्भासित हो रहा था, मानो प्रज्वलित अग्निका अपना ही मण्डल प्रकाशित होता हो ।२३-२४½।

विश्वकर्मकृता चास्य दिव्या माला हिरण्मयी ॥ २५ ॥
आबद्धा त्रिपुरघ्नेन स्वयमेव यशस्विना ।
आगम्य मनुजव्याघ्र सह देव्या परंतप ॥ २६ ॥

नरश्रेष्ठ परंतप युधिष्ठिर ! साक्षात् त्रिपुरनाशक यशस्वी भगवान् शिव तथा देवी पार्वतीने वहाँ पधारकर स्कन्दके गलेमें विश्वकर्माकी बनायी हुई सोनेकी दिव्य माला पहनायी ॥ २५-२६ ॥

अर्चयामास सुप्रीतो भगवान् गोवृषध्वजः ।
रुद्रमग्निं द्विजाः प्राहू रुद्रसूनुस्ततस्तु सः ॥ २७ ॥

भगवान् वृषध्वज (शिव) ने अत्यन्त प्रसन्न होकर स्कन्दका समादर किया । ब्राह्मणलोग अग्निको रुद्रका स्वरूप बताते हैं, इसलिये स्कन्द [illegible] रुद्रके पुत्र हैं ॥ २७ ॥

रुद्रेण शुक्रमुत्सृष्टं तच्छ्वेतः पर्वतोऽभवत् ।
पावकस्येन्द्रियं श्वेते कृत्तिकाभिः कृतं नगे ॥ २८ ॥

रुद्रने जिस वीर्यका त्याग किया था, वही श्वेत पर्वतके रूपमें परिणत हो गया । फिर कृत्तिकाओंने अग्निके वीर्यको श्वेत पर्वतपर पहुँचाया था ॥ २८ ॥

पूज्यमानं तु रुद्रेण दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः ।
रुद्रसूनुं ततः प्राहुर्गुहं गुणवतां वरम् ॥ २९ ॥

भगवान् रुद्रके द्वारा गुणवानोंमें श्रेष्ठ कुमार कार्तिकेयका सम्मान होता देख सब देवता कहने लगे, 'ये रुद्रके ही पुत्र हैं ॥ २९ ॥

अनुप्रविश्य रुद्रेण वह्निं जातो ह्ययं शिशुः ।
तत्र जातस्ततः स्कन्दो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ॥ ३० ॥

'रुद्रने अग्निमें प्रवेश करके इस शिशुको जन्म दिया है । रुद्रस्वरूप अग्निसे उत्पन्न होनेके कारण स्कन्द रुद्रके ही पुत्र कहलाये' ॥ ३० ॥

रुद्रस्य वह्नेः स्वाहायाः षण्णां स्त्रीणां च भारत ।
जातः स्कन्दः सुरश्रेष्ठो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ॥ ३१ ॥

भारत ! सुरश्रेष्ठ स्कन्दका जन्म रुद्रस्वरूप अग्निसे, स्वाहासे तथा छः स्त्रियोंसे हुआ था । इसलिये वे भगवान् रुद्रके पुत्र हुए ॥ ३१ ॥

अरजे वाससी रक्ते वसानः पावकात्मजः ।
भाति दीप्तवपुः श्रीमान् रक्ताभ्राभ्यामिवांशुमान् ॥ ३२ ॥

अग्निनन्दन स्कन्द लाल रंगके दो स्वच्छ वस्त्र धारण किये कान्तिमान् एवं तेजस्वी शरीरसे ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो दो लाल बादलोंके साथ भगवान् अंशुमाली (सूर्य) सुशोभित हो रहे हों ॥ ३२ ॥

कुक्कुटश्चाग्निना दत्तस्तस्य केतुरलंकृतः ।
रथे समुच्छ्रितो भाति कालाग्निरिव लोहितः ॥ ३३ ॥

अग्निदेवने स्कन्दके लिये कुक्कुटके चिह्नसे अलंकृत ऊँचा ध्वज प्रदान किया था, जो रथपर अपनी अरुण प्रभासे प्रलयाग्निके समान उद्भासित होता था ॥ ३३ ॥

या चेष्टा सर्वभूतानां प्रभा शान्तिर्बलं तथा ।
अग्रतस्तस्य सा शक्तिर्देवानां जयवर्धिनी ॥ ३४ ॥

सम्पूर्ण भूतोंमें जो चेष्टा, प्रभा, शान्ति और बल है, वही कुमार कार्तिकेयके सम्मुख शक्ति रूपमें उपस्थित है । वह देवताओंकी विजयश्रीको बढ़ानेवाली है ॥ ३४ ॥

विवेश कवचं चास्य शरीरे सहजं तथा ।
युध्यमानस्य देवस्य प्रादुर्भवति तत् सदा ॥ ३५ ॥

तथा उन स्कन्ददेवके शरीरमें सहज (स्वाभाविक)

कवचका प्रवेश हो गया, जो सदा उनके युद्ध करते समय प्रकट होता था ॥ ३५ ॥

शक्तिर्धर्मो बलं तेजः कान्तत्वं सत्यमुन्नतिः ।
ब्रह्मण्यत्वमसम्मोहो भक्तानां परिरक्षणम् ॥ ३६ ॥
निकृन्तनं च शत्रूणां लोकानां चाभिरक्षणम् ।
स्कन्देन सह जातानि सर्वाण्येव जनाधिप ॥ ३७ ॥

राजन् ! शक्ति, धर्म, बल, तेज, कान्ति, सत्य, उन्नति, ब्राह्मणभक्ति, असम्मोह (विवेक), भक्तजनोंकी रक्षा, शत्रुओंका संहार और समस्त लोकोंका पालन—ये सारे गुण स्कन्दके साथ ही उत्पन्न हुए थे ॥ ३६-३७ ॥

एवं देवगणैः सर्वैः सोऽभिषिक्तः-स्वलंकृतः ।
बभौ प्रतीतः सुमनाः परिपूर्णेन्दुमण्डलः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार समस्त देवताओंद्वारा सेनापतिके पदपर अभिषिक्त होकर विविध आभूषणोंसे विभूषित, विशुद्ध एवं प्रसन्न हृदयवाले स्कन्द पूर्ण चन्द्रमण्डलके समान सुशोभित हुए ॥ ३८ ॥

इष्टैः स्वाध्यायघोषैश्च देवतूर्यवरैरपि ।
देवगन्धर्वगीतैश्च सर्वैरप्सरसां गणैः ॥ ३९ ॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिस्तुष्टैर्हृष्टैः स्वलंकृतैः ।
सुसंवृतः पिशाचानां गणैर्देवगणैस्तथा ॥ ४० ॥

उस समय अत्यन्त प्रिय लगनेवाले वेदमन्त्रोंकी ध्वनि सब ओर गूँज उठी, देवताओंके उत्तम वाद्य भी बजने लगे, देव और गन्धर्व गीत गाने लगे और समस्त अप्सराएँ नृत्य करने लगीं । ये तथा और भी बहुत-से देवगण एवं पिशाचसमूह विविध अलंकारोंसे अलंकृत, हर्षोत्फुल्ल और संतुष्ट हो स्कन्दको घेरकर खड़े थे ॥ ३९-४० ॥

क्रीडन् भाति तदा देवैरभिषिक्तश्च पावकिः ।
अभिषिक्तं महासेनमपश्यन्त दिवौकसः ॥ ४१ ॥
विनिहत्य तमः सूर्यं यथेहाभ्युदितं तथा ।

उस समय इन सबसे घिरे हुए अग्निनन्दन कार्तिकेय देवताओंद्वारा अभिषिक्त हो भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे । देवताओंने सेनापति पदपर अभिषिक्त हुए कुमार महासेनको इस प्रकार देखा, मानो सूर्यदेव अन्धकारका नाश करके उदित हुए हों ॥ ४१½ ॥

अथैनमभ्ययुः सर्वा देवसेनाः सहस्रशः ॥ ४२ ॥
अस्माकं त्वं पतिरिति ब्रुवाणाः सर्वतो दिशः ।

तदनन्तर सारी देवसेनाएँ सहस्रोंकी संख्यामें सब दिशाओंसे उनके पास आयीं और कहने लगीं—'आप ही हमारे पति हैं' ॥ ४२½ ॥

ताः समासाद्य भगवान् सर्वभूतगणैर्वृतः ॥ ४३ ॥
अर्चितस्तु स्तुतश्चैव सान्त्वयामास ता अपि ।

समस्त भूतगणोंसे घिरे हुए भगवान् स्कन्दने उन देवसेनाओंको अपने समीप पाकर उन्हें सान्त्वना दी और स्वयं भी उनके द्वारा पूजित तथा प्रशंसित हुए ॥ ४३½ ॥

शतक्रतुश्चाभिषिच्य स्कन्दं सेनापतिं तदा ॥ ४४ ॥
सस्मार तां देवसेनां या सा तेन विमोक्षिता ।

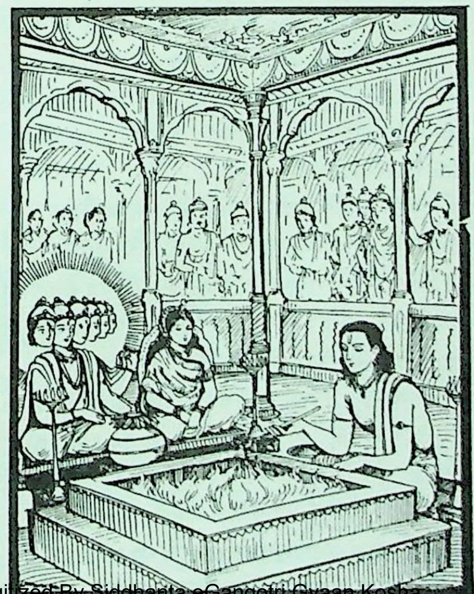
उस समय इन्द्रने स्कन्दको सेनापतिके पदपर अभिषिक्त करनेके पश्चात् उस कुमारी देवसेनाका स्मरण किया, जिसका उन्होंने केशीके हाथसे उद्धार किया था ॥ ४४½ ॥

अयं तस्याः पतिर्नूनं विहितो ब्रह्मणा स्वयम् ॥ ४५ ॥
विचिन्त्येत्यानयामास देवसेनां स्वलंकृताम् ।

उन्होंने सोचा, स्वयं ब्रह्माजीने निश्चय ही कुमार कार्तिकेयको ही उसका पति नियत किया है । यह सोचकर वे देवसेनाको वस्त्राभूषणोंसे भूषित करके ले आये ॥ ४५½ ॥

स्कन्दं प्रोवाच बलभिदियं कन्या सुरोत्तम ॥ ४६ ॥
अजाते त्वयि निर्दिष्टा तव पत्नी स्वयम्भुवा ।
तस्मात् त्वमस्या विधिवत् पाणिं मन्त्रपुरस्कृतम् ॥
गृहाण दक्षिणं देव्याः पाणिना पद्मवर्चसा ।
एवमुक्तः स जग्राह तस्याः पाणिं यथाविधि ॥ ४८ ॥

फिर बलसंहारक इन्द्रने स्कन्दसे कहा—'सुरश्रेष्ठ ! तुम्हारे जन्म लेनेके पहलेसे ही ब्रह्माजीने इस कन्याको तुम्हारी पत्नी नियत की है, अतः तुम वेदमन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक इसका विधिवत् पाणिग्रहण करो । अपने कमलकी-सी कान्तिवाले हाथसे इस देवीका दायाँ हाथ पकड़ो ।' इन्द्रके ऐसा कहनेपर स्कन्दने विधिपूर्वक देवसेनाका पाणिग्रहण किया ॥



बृहस्पतिर्मन्त्रविद्धि जजाप च जुहाव च ।
एवं स्कन्दस्य महिषीं देवसेनां विदुर्जनाः ॥ ४९ ॥

उस समय मन्त्रवेत्ता बृहस्पतिजीने वेदमन्त्रोंका जप और होम किया । इस प्रकार सब लोग यह जान गये कि देवसेना कुमार कार्तिकेयकी पटरानी है ॥ ४९ ॥

षष्ठीं यां ब्राह्मणाः प्राहुर्लक्ष्मीमाशां सुखप्रदाम् ।
सिनीवालीं कुहूं चैव सद्वृत्तिमपराजिताम् ॥ ५० ॥

उसीको ब्राह्मणलोग षष्ठी, लक्ष्मी, आशा, सुखप्रदा, सिनीवाली, कुहू, सद्वृत्ति तथा अपराजिता कहते हैं ॥५०॥

यदा स्कन्दः पतिर्लब्धः शाश्वतो देवसेनया ।
तदा तमाश्रयल्लक्ष्मीः स्वयं देवी शरीरिणी ॥ ५१ ॥

जब देवसेनाने स्कन्दको अपने सनातन पतिके रूपमें प्राप्त कर लिया, तब (शोभास्वरूपा) लक्ष्मीदेवीने स्वयं मूर्तिमती होकर उनका आश्रय लिया ॥ ५१ ॥

श्रीजुष्टः पञ्चमीं स्कन्दस्तस्माच्छ्रीपञ्चमी स्मृता ।
षष्ठ्यां कृतार्थोऽभूद् यस्मात् तस्मात् षष्ठी महातिथिः ॥

पञ्चमी तिथिको स्कन्ददेव श्री अर्थात् शोभासे सेवित हुए, इसलिये उस तिथिको श्रीपञ्चमी कहते हैं और षष्ठीको कृतार्थ हुए थे, इसलिये षष्ठी महातिथि मानी गयी है ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे स्कन्दोपाख्याने एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसंगमें स्कन्दोपाख्यानसम्बन्धी दो सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२९ ॥

त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कृत्तिकाओंको नक्षत्रमण्डलमें स्थानकी प्राप्ति तथा मनुष्योंको कष्ट देनेवाले विविध ग्रहोंका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

श्रिया जुष्टं महासेनं देवसेनापतिं कृतम् ।
सप्तर्षिपत्न्यः षड् देव्यस्तत्सकाशमथागमन् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! कुमार महासेनको श्रीसम्पन्न और देवताओंका सेनापति हुआ देख सप्तर्षियोंमेंसे छःकी पत्नियाँ उनके पास आयीं ॥ १ ॥

ऋषिभिः सम्परित्यक्ता धर्मयुक्ता महाव्रताः ।
द्रुतमागम्य चोचुस्ता देवसेनापतिं प्रभुम् ॥ २ ॥

वे धर्मपरायणा तथा महान् पातिव्रत्यका पालन करनेवाली थीं, तो भी ऋषियोंने उन्हें त्याग दिया था । अतः उन्होंने देवसेनाके स्वामी भगवान् स्कन्दके पास शीघ्रतापूर्वक आकर कहा—॥ २ ॥

वयं पुत्र परित्यक्ता भर्तृभिर्देवसम्मितैः ।
अकारणाद् रुषा तैस्तु पुण्यस्थानात् परिच्युताः ॥ ३ ॥

'बेटा ! हमारे देवतुल्य पतियोंने अकारण रुष्ट होकर हमें त्याग दिया है, इसलिये (हम) पुण्यलोकसे च्युत हो गयी हैं ॥ ३ ॥

अस्माभिः किल जातस्त्वमिति केनाप्युदाहृतम् ।
तत् सत्यमेतत् संश्रुत्य तस्मात्त्रातुमर्हसि ॥ ४ ॥

'उन्हें किसीने यह बता दिया है कि तुम हमारे गर्भसे उत्पन्न हुए हो, (परंतु ऐसी बात नहीं है ।) अतः हमारे सत्य कथनको सुनकर तुम इस संकटसे हमारी रक्षा करो ॥ ४ ॥

अक्षयश्च भवेत् स्वर्गस्त्वत्प्रसादाद्धि नः प्रभो ।
त्वां पुत्रं चाप्यभीप्सामः कृत्वैतदनृणो भव ॥ ५ ॥

'प्रभो ! तुम्हारी कृपासे हमें अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है । इसके सिवा हम तुम्हें अपना पुत्र भी बनाये रखना चाहती हैं । यह सब कार्य सम्पन्न करके तुम हमसे उऋण हो जाओ' ॥ ५ ॥



स्कन्द उवाच

मातरो हि भवत्यो मे सुतो वोऽहमनिन्दिताः ।

यद्वापीच्छत तत् सर्वं सम्भविष्यति वस्तथा ॥ ६ ॥

स्कन्द बोले—वन्दनीय सतियो ! आपलोग मेरी माताएँ हैं और मैं आप सबका पुत्र हूँ। इसके सिवा यदि आप लोगोंकी और कोई इच्छा हो, तो वह भी पूर्ण हो जायगी ॥६॥

मार्कण्डेय उवाच

विवक्षन्तं ततः शक्रं किं कार्यमिति सोऽब्रवीत् ।
उक्तः स्कन्देन ब्रूहीति सोऽब्रवीद् वासवस्ततः ॥ ७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर इन्द्रको कुछ कहनेके लिये उत्सुक देख स्कन्दने पूछा—'क्या काम है, कहिये ।' स्कन्दके इस प्रकार आदेश देनेपर इन्द्र बोले— ॥ ७ ॥

अभिजित् स्पर्धमाना तु रोहिण्या अनुजा स्वसा ।
इच्छन्ती ज्येष्ठतां देवी तपस्तप्तुं वनं गता ॥ ८ ॥

'रोहिणीकी छोटी बहिन अभिजित् देवी स्पर्धाके कारण ज्येष्ठता पानेकी इच्छासे तपस्या करनेके लिये वनमें चली गयी है ॥ ८ ॥

तत्र मूढोऽस्मि भद्रं ते नक्षत्रं गगनाच्च्युतम् ।
कालं त्विमं परं स्कन्द ब्रह्मणा सह चिन्तय ॥ ९ ॥

'तुम्हारा कल्याण हो, आकाशसे यह एक नक्षत्र च्युत हो गया है; (इसकी पूर्ति कैसे हो ?) इस प्रश्नको लेकर मैं किंकर्तव्यविमूढ हो गया हूँ । स्कन्द ! तुम ब्रह्माजीके साथ मिलकर इस उत्तम काल (मुहूर्त या नक्षत्र) की पूर्तिके उपायका विचार करो ॥ ९ ॥

धनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिकल्पितः ।
रोहिणी ह्यभवत् पूर्वमेवं संख्या समाभवत् ॥ १० ॥

'अभिजित्का पतन होनेसे ब्रह्माजीने धनिष्ठासे ही (सत्ययुग आदि) कालकी गणनाका क्रम निश्चित किया (क्योंकि वही उस समय युगादि नक्षत्र था) । इसके पूर्व रोहिणीको ही युगादि नक्षत्र माना जाता था (क्योंकि उसीके प्रारम्भ-कालमें चन्द्रमा, सूर्य तथा गुरुका योग होता था)—इस प्रकार नाक्षत्र मासकी दिन-संख्या उन दिनों सम थी' ॥ १० ॥

एवमुक्ते तु शक्रेण त्रिदिवं कृत्तिका गताः ।
नक्षत्रं सप्तशीर्षाभं भाति तद् वह्निदैवतम् ॥ ११ ॥

इन्द्रके उपर्युक्त प्रस्ताव करनेपर उनका आशय समझकर छहों कृत्तिकाएँ अभिजित्के स्थानकी पूर्ति करनेके लिये आकाशमें चली गयीं । वह अग्निदेवतासम्बन्धी कृत्तिका नक्षत्र सात सिरोंकी आकृतिमें प्रकाशित हो रहा है ॥ ११ ॥

विनता चाब्रवीत् स्कन्दं मम त्वं पिण्डदः सुतः ।
इच्छामि नित्यमेवाह त्वया पुत्र सहासितुम् ॥ १२ ॥

गरुड़जातीय विनताने स्कन्दसे कहा—'बेटा ! तुम मेरे पिण्डदाता पुत्र हो । मैं सदा तुम्हारे साथ रहना चाहती हूँ' ॥ १२ ॥

स्कन्द उवाच

एवमस्तु नमस्तेऽस्तु पुत्रस्नेहात् प्रशाधि माम् ।
स्नुषया पूज्यमाना वै देवि वत्स्यसि नित्यदा ॥ १३ ॥

स्कन्दने कहा—एवमस्तु (ऐसा ही हो), मा ! तुम्हें नमस्कार है । तुम मेरे ऊपर पुत्रोचित स्नेह रखकर कर्तव्यका आदेश देती रहो । देवि ! तुम यहाँ सदा अपनी पुत्रवधू देवसेनाद्वारा सम्मानित होकर रहोगी ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

अथ मातृगणः सर्वः स्कन्दं वचनमब्रवीत् ।
वयं सर्वस्य लोकस्य मातरः कविभिः स्तुताः ।
इच्छामो मातरस्तुभ्यं भवितुं पूजयस्व नः ॥ १४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर समस्त मातृगणोंने आकर स्कन्दसे कहा—'बेटा ! विद्वानोंने हमें सम्पूर्ण लोकोंकी माताएँ कहकर हमारी स्तुति की है । अब हम तुम्हारी माता होना चाहती हैं । तुम मातृभावसे हमारा पूजन करो' ॥ १४ ॥

स्कन्द उवाच

मातरो हि भवत्यो मे भवतीनामहं सुतः ।
उच्यतां यन्मया कार्यं भवतीनामथेप्सितम् ॥ १५ ॥

स्कन्दने कहा—आप मेरी माताएँ हैं । मैं आपलोगोंका पुत्र हूँ । मुझसे सिद्ध होने योग्य जो आपका अभीष्ट कार्य हो, उसे बताइये ॥ १५ ॥

मातर ऊचुः

यास्तु ता मातरः पूर्वं लोकस्यास्य प्रकल्पिताः ।
अस्माकं तु भवेत् स्थानं तासां चैव न तद् भवेत् ॥ १६ ॥

माताओंने कहा—(ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि) सुप्रसिद्ध लोकमाताएँ जो पहलेसे इस सम्पूर्ण जगत्की माताओंके स्थानपर प्रतिष्ठित हों, (वे अपना पद छोड़ दें ।) उनके उस स्थानपर अब हमारा अधिकार हो जाय । उनका उसपर कोई अधिकार न रहे ॥ १६ ॥

भवेम पूज्या लोकस्य न ताः पूज्याः सुरर्षभ ।
प्रजाऽस्माकं हृतास्ताभिस्त्वत्कृते ताः प्रयच्छ नः ॥१७॥

सुरश्रेष्ठ ! हम सम्पूर्ण जगत्की पूजनीया हों । जो पहले मातृकाएँ थीं, उनकी अब पूजा न हो । उन्होंने तुम्हारे लिये हमपर मिथ्या अपवाद लगाकर हमारे पतियोंको कुपित करके हमारे संतानसुखको छीन लिया है । अतः तुम हमें संतान प्रदान करो (हमारे पतियोंको अनुकूल करके हमें संतानसुखसे सम्पन्न करो) ॥ १७ ॥

स्कन्द उवाच

वृत्ताः प्रजा न ताः शक्या भवतीभिर्निषेवितुम् ।
अन्यां वः कां प्रयच्छामि प्रजां यां मनसेच्छथ ॥ १८ ॥

स्कन्द बोले—माताओ ! जिन प्रजाओंकी उत्पत्तिका अवसर बीत गया, उन्हें आपलोग अब नहीं पा सकतीं । यदि दूसरी कोई प्रजा पानेकी आपके मनमें इच्छा हो, तो कहिये, मैं उसे प्रदान करूँगा ॥ १८ ॥

मातर ऊचुः

इच्छाम तासां मातॄणां प्रजा भोक्तुं प्रयच्छ नः ।
त्वया सह पृथग्भूता ये च तासामथेश्वराः ॥ १९ ॥

माताओंने कहा—यदि ऐसी बात है, तो हमें इन लोकमाताओंकी संतानें सौंप दो । हम उन्हें खाना चाहती हैं । तुमसे पृथक् जो उन संतानोंके पिता आदि अभिभावक हैं, उन्हें भी हम खाना चाहती हैं ॥ १९ ॥

स्कन्द उवाच

प्रजा वो दद्मि कष्टं तु भवतीभिरुदाहृतम् ।
परिरक्षत भद्रं वः प्रजाः साधु नमस्कृताः ॥ २० ॥

स्कन्द बोले—देवियो ! आपलोगोंने यह दुःखकी बात कही है, तो भी मैं आपको पहलेकी मातृकाओंकी संतानोंको अर्पित कर देता हूँ; परंतु आपलोग उन सबकी रक्षा करें; इसीसे आपका भला होगा । मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ ॥ २० ॥

मातर ऊचुः

परिरक्षाम भद्रं ते प्रजाः स्कन्द यथेच्छसि ।
त्वया नो रोचते स्कन्द सहवासश्चिरं प्रभो ॥ २१ ॥

माताओंने कहा—स्कन्द ! जैसी तुम्हारी इच्छा है, उसके अनुसार हम उन संतानोंकी रक्षा अवश्य करेंगी । शक्तिशाली कुमार ! हमें दीर्घकालतक तुम्हारे साथ रहनेकी इच्छा है ॥ २१ ॥

स्कन्द उवाच

यावत् षोडश वर्षाणि भवन्ति तरुणाः प्रजाः ।
प्रबाधत मनुष्याणां तावद्रूपैः पृथग्विधैः ॥ २२ ॥

स्कन्द बोले—संसारके मनुष्य जबतक सोलह वर्षके तरुण न हो जायँ, तबतक आप मानव-प्रजाको पृथक्-पृथक् उतने ही रूप धारण करके संताप दे सकती हैं ॥ २२ ॥

अहं च वः प्रदास्यामि रौद्रमात्मानमव्ययम् ।
परमं तेन सहिताः सुखं वत्स्यथ पूजिताः ॥ २३ ॥

मैं आपलोगोंको एक भयंकर एवं अविनाशी पुरुष प्रदान करूँगा, जो मेरा अभिन्न स्वरूप होगा । उसके साथ [illegible] आपलोग परम सुखकी भागिनी होंगी ॥ २३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ततः शरीरात् स्कन्दस्य पुरुषः पावकप्रभः ।
भोक्तुं प्रजाः स मर्त्यानां निष्पपात महाप्रभः ॥ २४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर स्कन्दके शरीरसे अग्निके समान तेजस्वी तथा परम कान्तिमान् एक पुरुष प्रकट हुआ, जो समस्त मानव-प्रजाको खा जानेकी इच्छा रखता था ॥ २४ ॥

अपतत् सहसा भूमौ विसंज्ञोऽथ क्षुधार्दितः ।
स्कन्देन सोऽभ्यनुज्ञातो रौद्ररूपोऽभवद् ग्रहः ॥ २५ ॥

वह पैदा होते ही भूखसे पीडित हो सहसा अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । फिर स्कन्दकी आज्ञासे वह भयंकर रूपधारी ग्रह हो गया ॥ २५ ॥

स्कन्दापस्मारमित्याहुर्ग्रहं तं द्विजसत्तमाः ।
विनता तु महारौद्रा कथ्यते शकुनिग्रहः ॥ २६ ॥

श्रेष्ठ द्विज ! इस ग्रहको 'स्कन्दापस्मार' कहते हैं । इसी प्रकार अत्यन्त रौद्र रूप धारण करनेवाली विनताको 'शकुनि-ग्रह' बताया जाता है ॥ २६ ॥

पूतनां राक्षसीं प्राहुस्तं विद्यात् पूतनाग्रहम् ।
कष्टा दारुणरूपेण घोररूपा निशाचरी ॥ २७ ॥

पूतनाको राक्षसी बताया गया है, उसे 'पूतनाग्रह' समझना चाहिये । वह भयंकर रूप धारण करनेवाली निशाचरी बड़ी क्रूरताके साथ बालकोंको कष्ट पहुँचाती है ॥ २७ ॥

पिशाची दारुणाकारा कथ्यते शीतपूतना ।
गर्भान् सा मानुषीणां तु हरते घोरदर्शना ॥ २८ ॥

इसके सिवा भयानक आकारवाली एक पिशाची है, जिसे 'शीतपूतना' कहते हैं, वह देखनेमें बड़ी डरावनी है । वह मानवी स्त्रियोंका गर्भ हर ले जाती है ॥ २८ ॥

अदितिं रेवतीं प्राहुर्ग्रहस्तस्यास्तु रैवतः ।
सोऽपि बालान् महाघोरो बाधते वै महाग्रहः ॥ २९ ॥

लोग अदिति देवीको रेवती कहते हैं । रेवतीके ग्रहका नाम रैवत है । वह महाभयंकर महान् ग्रह भी बालकोंको बड़ा कष्ट देता है ॥ २९ ॥

दैत्यानां या दितिर्माता तामाहुर्मुखमण्डिकाम् ।
अत्यर्थं शिशुमांसेन सम्प्रहृष्टा दुरासदा ॥ ३० ॥

दैत्योंकी माता जो दिति है, उसे 'मुखमण्डिका' कहते हैं । वह छोटे बच्चोंके मांससे अधिक प्रसन्न होती है । उसे पराजित करना अत्यन्त कठिन है ॥ ३० ॥

कुमाराश्च कुमार्यश्च ये प्रोक्ताः स्कन्दसम्भवाः ।
तेऽपि गर्भभुजः सर्वे कौरव्य सुमहाग्रहाः ॥ ३१ ॥

कुरुनन्दन ! स्कन्दके शरीरसे उत्पन्न हुए जिन कुमार एवं कुमारियोंका वर्णन किया गया है, वे सभी गर्भस्थ बालकोंका भक्षण करनेवाले महान् ग्रह हैं ॥ ३१ ॥

तासामेव तु पत्नीनां पतयस्ते प्रकीर्तिताः ।
आजायमानान् गृह्णन्ति बालकान् रौद्रकर्मिणः ॥ ३२ ॥

वे कुमार उन्हीं पत्नीस्वरूपा कुमारियोंके पति कहे गये हैं। उनके कर्म बड़े भयंकर हैं। वे जन्म लेनेके पहले ही बच्चोंको पकड़ ले जाते हैं ॥ ३२ ॥

गवां माता तु या प्राज्ञैः कथ्यते सुरभिर्नृप ।
शकुनिस्तामथारुह्य सह भुङ्क्ते शिशून् भुवि ॥ ३३ ॥

राजन् ! विद्वान् पुरुष जिसे गोमाता सुरभि कहते हैं, उसीपर आरूढ़ होकर शकुनिग्रह–विनता अन्य ग्रहोंके साथ भूमण्डलके बालकोंका भक्षण करती है ॥ ३३ ॥

सरमा नाम या माता शुनां देवी जनाधिप ।
सापि गर्भान् समादत्ते मानुषीणां सदैव हि ॥ ३४ ॥

नरेश्वर ! कुत्तोंकी माता जो देवजातीय सरमा है, वह भी सदैव मानवीय स्त्रियोंके गर्भस्थ बालकोंका अपहरण करती रहती है ॥ ३४ ॥

पादपानां च या माता करञ्जनिलया हि सा ।
वरदा सा हि सौम्या च नित्यं भूतानुकम्पिनी ॥ ३५ ॥

जो वृक्षोंकी माता है, वह करञ्ज वृक्षपर निवास किया करती है। वह वर देनेवाली तथा सौम्य है और सदा समस्त प्राणियोंपर कृपा करती है ॥ ३५ ॥

करञ्जे तां नमस्यन्ति तस्मात् पुत्रार्थिनो नराः ।
इमे त्वष्टादशान्ये वै ग्रहा मांसमधुप्रियाः ॥ ३६ ॥
द्विपञ्चरात्रं तिष्ठन्ति सततं सूतिकागृहे ।
कद्रूः सूक्ष्मवपुर्भूत्वा गर्भिणीं प्रविशत्यथ ॥ ३७ ॥
भुङ्क्ते सा तत्र तं गर्भं सा तु नागं प्रसूयते ।

इसीलिये पुत्रार्थी मनुष्य करञ्ज वृक्षपर रहनेवाली उस देवीको नमस्कार करते हैं। ये तथा दूसरे अठारह ग्रह मांस और मधुके प्रेमी हैं और दस राततक सूतिका-गृहमें निरन्तर टिके रहते हैं। कद्रू सूक्ष्म शरीर धारण करके गर्भिणी स्त्रीके शरीरके भीतर प्रवेश कर जाती है और वहाँ उस गर्भको खा जाती है। इससे वह गर्भिणी स्त्री सर्प पैदा करती है। ३६-३७½ ।

गन्धर्वाणां तु या माता सा गर्भं गृह्य गच्छति ॥ ३८ ॥
ततो विलीनगर्भा सा मानुषी भुवि दृश्यते ।

जो गन्धर्वोंकी माता है, वह गर्भिणी स्त्रीके गर्भको लेकर चल देती है, जिससे उस मानवी स्त्रीका गर्भ विलीन हुआ देखा जाता है ॥ ३८½ ॥

या जनित्री त्वप्सरसां गर्भमास्ते प्रगृह्य सा ॥ ३९ ॥
उपलब्धं ततो गर्भं कथयन्ति मनीषिणः ।

जो अप्सराओंकी माता है, वह भी गर्भको पकड़ लेती है, जिससे बुद्धिमान् मनुष्य कहते हैं कि अमुक स्त्रीका गर्भ नष्ट हो गया ॥ ३९½ ॥

लोहितस्योदधेः कन्या धात्री स्कन्दस्य सा स्मृता ॥ ४० ॥
लोहितायनिरित्येवं कदम्बे सा हि पूज्यते ।

लालसागरकी कन्याका नाम लोहितायनि है, जिसे स्कन्दकी धाय बताया गया है। उसकी कदम्ब वृक्षोंमें पूजा की जाती है ॥ ४०½ ॥

पुरुषेषु यथा रुद्रस्तथाऽऽर्या प्रमदास्वपि ॥ ४१ ॥
आर्या माता कुमारस्य पृथक् कामार्थमिज्यते ।
एवमेते कुमाराणां मया प्रोक्ता महाग्रहाः ॥ ४२ ॥
यावत् षोडश वर्षाणि शिशूनां ह्यशिवास्ततः ।

जैसे पुरुषोंमें भगवान् रुद्र श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार स्त्रियोंमें आर्या उत्तम मानी गयी हैं। आर्या कुमार कार्तिकेयकी जननी हैं। लोग अपने अभीष्टकी सिद्धिके लिये उनका उपर्युक्त ग्रहोंसे पृथक् पूजन करते हैं। इस प्रकार मैंने ये कुमारसम्बन्धी महान् ग्रह बताये हैं। जबतक सोलह वर्षकी अवस्था न हो जाय, तबतक ये बालकोंका अमङ्गल करनेवाले होते हैं ॥ ४१-४२½ ॥

ये च मातृगणाः प्रोक्ताः पुरुषाश्चैव ये ग्रहाः ॥ ४३ ॥
सर्वे स्कन्दग्रहा नाम ज्ञेया नित्यं शरीरिभिः ।

जो मातृगण और पुरुषग्रह बताये गये हैं, इन सबको समस्त देहधारी मनुष्य सदा 'स्कन्दग्रह'के नामसे जाने* ।४३½।

तेषां प्रशमनं कार्यं स्नानं धूपमथाञ्जनम् ।
बलिकर्मोपहाराश्च स्कन्दस्येज्याविशेषतः ॥ ४४ ॥

स्नान, धूप, अञ्जन, बलिकर्म, उपहार अर्पण तथा स्कन्ददेवकी विशेष पूजा करके इन स्कन्दग्रहोंकी शान्ति करनी चाहिये ॥ ४४ ॥

एवमभ्यर्चिताः सर्वे प्रयच्छन्ति शुभं नृणाम् ।
आयुर्वीर्यं च राजेन्द्र सम्यक्पूजानमस्कृताः ॥ ४५ ॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार पूजित तथा विधिवत् पूजनद्वारा अभिवन्दित होनेपर वे सभी ग्रह मनुष्योंका मङ्गल करते हैं और उन्हें आयु तथा बल देते हैं ॥ ४५ ॥

ऊर्ध्वं तु षोडशाद् वर्षाद् ये भवन्ति ग्रहा नृणाम् ।
तानहं सम्प्रवक्ष्यामि नमस्कृत्य महेश्वरम् ॥ ४६ ॥

---

* मनुष्योंको कष्ट देनेवाले ये तामस स्कन्दग्रह भगवान् रुद्रके भूतप्रेतादि गणोंकी भाँति कुमार स्कन्दके शरीरसे उत्पन्न तमोमय कुमारके साथी माने जाते हैं। इन ग्रहोंसे रक्षा पानेके लिये भगवान् महेश्वरकी भक्ति करनी चाहिये। भय दिखाकर भी भगवान्‌की भक्ति करानेमें हेतुभूत होनेके कारण इन ग्रहोंका वर्णन यहाँ किया गया है। भगवान्‌के भक्तोंको ये ग्रह छू भी नहीं सकते। तमोगुणी मनुष्यपर ही सब तामस ग्रहोंका बल काम करता है। और वही इनकी पूजा-अर्चना किया करते हैं।

अब मैं भगवान् महेश्वरको नमस्कार करके उन ग्रहोंका परिचय दूँगा, जो सोलह वर्षकी अवस्थाके बाद मनुष्योंके लिये अनिष्टकारक होते हैं ॥ ४६ ॥

यः पश्यति नरो देवान् जाग्रद् वा शयितोऽपि वा।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं तं तु देवग्रहं विदुः ॥ ४७ ॥

जो मनुष्य जागते या सोतेमें देवताओंको देखता और तुरंत पागल हो जाता है, उस कष्ट देनेवाले ग्रहको 'देवग्रह' कहते हैं ॥ ४७ ॥

आसीनश्च शयानश्च यः पश्यति नरः पितॄन्।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयस्तु पितृग्रहः ॥ ४८ ॥

जो मनुष्य बैठे-बैठे या सोते समय पितरोंको देखता और शीघ्र पागल हो जाता है, उस बाधा देनेवाले ग्रहको 'पितृग्रह' जानना चाहिये ॥ ४८ ॥

अवमन्यति यः सिद्धान् क्रुद्धाश्चापि शपन्ति यम्।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं ज्ञेयः सिद्धग्रहस्तु सः ॥ ४९ ॥

जो सिद्ध पुरुषोंका अनादर करता है और क्रोधमें आकर वे सिद्ध पुरुष जिसे शाप दे देते हैं, जिसके कारण वह तुरंत पागल हो जाता है, उसे 'सिद्धग्रह'की बाधा प्राप्त हुई है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ४९ ॥

उपाघ्राति च यो गन्धान् रसांश्चापि पृथग्विधान्।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयो राक्षसो ग्रहः ॥ ५० ॥

जो विभिन्न सुगन्धोंको सूँघता तथा रसोंका आस्वादन करता है एवं तत्काल ही उन्मत्त हो उठता है, उसपर प्रभाव डालनेवाले ग्रहको 'राक्षसग्रह' जानना चाहिये ॥ ५० ॥

गन्धर्वाश्चापि यं दिव्याः संविशन्ति नरं भुवि।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं ग्रहो गान्धर्व एव सः ॥ ५१ ॥

भूतलपर जिस मनुष्यमें दिव्य गन्धर्वोंका आवेश होता है, वह भी शीघ्र ही उन्मादग्रस्त हो जाता है। इसे 'गान्धर्व-ग्रह'की ही बाधा समझनी चाहिये ॥ ५१ ॥

अधिरोहन्ति यं नित्यं पिशाचाः पुरुषं प्रति।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं ग्रहः पैशाच एव सः ॥ ५२ ॥

जिस पुरुषपर सदा पिशाच चढ़े रहते हैं, वह भी शीघ्र पागल हो जाता है। अतः वह 'पिशाचग्रह'की ही बाधा है ॥

आविशन्ति च यं यक्षाः पुरुषं कालपर्यये।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं ज्ञेयो यक्षग्रहस्तु सः ॥ ५३ ॥

कालक्रमसे जिस पुरुषमें यक्षोंका आवेश होता है, उसे भी पागल होते देर नहीं लगती। इसे 'यक्षग्रह'की बाधा जाननी चाहिये ॥ ५३ ॥

यस्य दोषैः प्रकुपितं चित्तं मुह्यति देहिनः।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं साधनं तस्य शास्त्रतः ॥ ५४ ॥

जिस देहधारी मनुष्यका चित्त वात, पित्त और कफ नामक दोषोंके कुपित होनेसे अपनी संज्ञा खो बैठता है, वह शीघ्र ही विक्षिप्त हो जाता है। उसकी वैद्यक शास्त्रके अनुसार चिकित्सा करानी चाहिये ॥ ५४ ॥

वैक्लव्याच्च भयाच्चैव घोराणां चापि दर्शनात्।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं सान्त्वं तस्य तु साधनम् ॥ ५५ ॥

जो घबराहट, भय तथा घोर वस्तुओंके दर्शनसे ही तत्काल पागल हो जाता है, उसके अच्छे होनेका उपाय केवल उसे सान्त्वना देना है ॥ ५५ ॥

कश्चित् क्रीडितुकामो वै भोक्तुकामस्तथापरः।
अभिकामस्तथैवान्य इत्येष त्रिविधो ग्रहः ॥ ५६ ॥

कोई ग्रह क्रीडा-विनोदकी, कोई भोजनकी और कोई कामोपभोगकी इच्छा रखता है, इस प्रकार ग्रहोंकी प्रकृति तीन प्रकारकी है ॥ ५६ ॥

यावत् सप्ततिवर्षाणि भवन्त्येते ग्रहा नृणाम्।
अतः परं देहिनां तु ग्रहतुल्यो भवेज्ज्वरः ॥ ५७ ॥

जबतक सत्तर वर्षकी अवस्था पूरी होती है, तबतक ये ग्रह मनुष्योंको सताते हैं। उसके बाद तो सभी देहधारियोंको ज्वर आदि रोग ही ग्रहोंके समान सताने लगते हैं ॥ ५७ ॥

अप्रकीर्णेन्द्रियं दान्तं शुचिं नित्यमतन्द्रितम्।
आस्तिकं श्रद्दधानं च वर्जयन्ति सदा ग्रहाः ॥ ५८ ॥

जिसने अपनी इन्द्रियोंको सब ओरसे समेट लिया है, जो जितेन्द्रिय, पवित्र, नित्य आलस्यरहित, आस्तिक तथा श्रद्धालु है, उस पुरुषको ग्रह कभी नहीं छेड़ते हैं—उसे दूरसे ही त्याग देते हैं ॥ ५८ ॥

इत्येष ते ग्रहोद्देशो मानुषाणां प्रकीर्तितः।
न स्पृशन्ति ग्रहा भक्तान् नरान् देवं महेश्वरम् ॥ ५९ ॥

राजन्! इस प्रकार मैंने मनुष्योंको जो ग्रहोंकी बाधा प्राप्त होती है, उसका संक्षेपसे वर्णन किया है। जो भगवान् महेश्वरके भक्त हैं, उन मनुष्योंको भी ये ग्रह नहीं छूते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे मनुष्यग्रहकथने त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसङ्गमें मनुष्योंको कष्ट देनेवाले [illegible] पूरा हुआ ॥ २३० ॥

एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्कन्दद्वारा स्वाहादेवीका सत्कार, रुद्रदेवके साथ स्कन्द और देवताओंकी भद्रवट-यात्रा, देवासुर-संग्राम, महिषासुर-वध तथा स्कन्दकी प्रशंसा

मार्कण्डेय उवाच

यदा स्कन्देन मातॄणामेवमेतत् प्रियं कृतम्।
अथैनमब्रवीत् स्वाहा मम पुत्रस्त्वमौरसः॥ १॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब स्कन्दने इस प्रकार मातृगणोंका यह प्रिय मनोरथ पूर्ण किया, तब स्वाहाने आकर उनसे कहा—'तुम मेरे औरस पुत्र हो ॥१॥

इच्छाम्यहं त्वया दत्तां प्रीतिं परमदुर्लभाम्।
तामब्रवीत् ततः स्कन्दः प्रीतिमिच्छसि कीदृशीम्॥२॥

'अतः मैं चाहती हूँ कि तुम मुझे परम दुर्लभ प्रीति प्रदान करो।' तब स्कन्दने पूछा—'माँ तुम कैसी प्रीति पानेकी अभिलाषा रखती हो ?' ॥ २ ॥

स्वाहोवाच

दक्षस्याहं प्रिया कन्या स्वाहा नाम महाभुज।
बाल्यात्प्रभृति नित्यं च जातकामा हुताशने॥ ३॥

स्वाहा बोली—महाबाहो ! मैं प्रजापति दक्षकी प्रिय पुत्री हूँ, मेरा नाम स्वाहा है। मैं बचपनसे ही सदा अग्निदेवके प्रति अनुराग रखती आयी हूँ ॥ ३ ॥

न स मां कामिनीं पुत्र सम्यक् जानाति पावकः।
इच्छामि शाश्वतं वासं वस्तुं पुत्र सहाग्निना॥ ४॥

पुत्र ! परंतु अग्निदेवको इस बातका अच्छी तरह पता नहीं है कि मैं उन्हें चाहती हूँ। बेटा ! मेरी यह हार्दिक अभिलाषा है कि मैं नित्य निरन्तर अग्निदेवके ही साथ निवास करूँ ॥ ४ ॥

स्कन्द उवाच

हव्यं कव्यं च यत्किंचिद् द्विजानां मन्त्रसंस्तुतम्।
होष्यन्त्यग्नौ सदा देवि स्वाहेत्युक्त्वा समुद्धृतम्॥ ५॥
अद्यप्रभृति दास्यन्ति सुवृत्ताः सत्पथे स्थिताः।
एवमग्निस्त्वया सार्धं सदा वत्स्यति शोभने॥ ६॥

स्कन्द बोले—देवि ! आजसे सन्मार्गपर चलनेवाले सदाचारी धर्मात्मा मनुष्य देवताओं तथा पितरोंके लिये हव्य और कव्यके रूपमें उठाकर ब्राह्मणोंद्वारा उच्चारित वेदमन्त्रोंके साथ अग्निमें जो कुछ आहुति देंगे, वह सब स्वाहाका नाम लेकर ही अर्पण करेंगे। शोभने ! इस प्रकार तुम्हारे साथ निरन्तर अग्निदेवका निवास बना रहेगा ॥ ५-६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्ता ततः स्वाहा तुष्टा स्कन्देन पूजिता।
पावकेन समायुक्ता भर्त्रा स्कन्दमपूजयत्॥ ७॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! स्कन्दके इस प्रकार कहने और आदर देनेपर स्वाहा बहुत संतुष्ट हुई। अपने स्वामी अग्निदेवका संयोग पाकर उसने भी स्कन्दका पूजन किया ॥ ७ ॥

ततो ब्रह्मा महासेनं प्रजापतिरथाब्रवीत्।
अभिगच्छ महादेवं पितरं त्रिपुरार्दनम्॥ ८॥

तदनन्तर प्रजापति ब्रह्माजीने महासेनसे कहा—'वत्स ! अब तुम अपने पिता त्रिपुरविनाशक महादेवजीसे मिलो ॥८॥

रुद्रेणाग्निं समाविश्य स्वाहामाविश्य चोमया।
हितार्थं सर्वलोकानां जातस्त्वमपराजितः॥ ९॥

'भगवान् रुद्रने अग्निमें और भगवती उमाने स्वाहामें प्रवेश करके समस्त लोकोंके हितके लिये तुम-जैसे अपराजित वीरको उत्पन्न किया है ॥ ९ ॥

उमायोन्यां च रुद्रेण शुक्रं सिक्तं महात्मना।
अस्मिन् गिरौ निपतितं मिञ्जिकामिञ्जिकं यतः॥ १०॥
सम्भूतं लोहितोदे तु शुक्रशेषमवापतत्।
सूर्यरश्मिषु चाप्यन्यदन्यच्चैवापतद् भुवि॥ ११॥
आसक्तमन्यद् वृक्षेषु तदेवं पञ्चधापतत्।
तत्र ते विविधाकारा गणा ज्ञेया मनीषिभिः।
तव पारिषदा घोरा य एते पिशिताशिनः॥ १२॥

'महात्मा रुद्रने उमाके गर्भमें जिस वीर्यकी स्थापना की थी, उसका कुछ भाग इसी पर्वतपर गिर पड़ा था, जिससे मिञ्जिका-मिञ्जिक नामक जोड़ेकी उत्पत्ति हुई। शेष शुक्रका कुछ अंश लोहित-सागरमें, कुछ सूर्यकी किरणोंमें, कुछ पृथ्वीपर और कुछ वृक्षोंपर गिर पड़ा। इस प्रकार वह पाँच भागोंमें विभक्त होकर गिरा था। उसीसे ये तुम्हारे विभिन्न आकृतिवाले, मांस-भक्षी एवं भयंकर पार्षद प्रकट हुए हैं; जिन्हें मनीषी पुरुष ही जान पाते हैं' ॥ १०–१२ ॥

एवमस्त्विति चाप्युक्त्वा महासेनो महेश्वरम्।
अपूजयदमेयात्मा पितरं पितृवत्सलः॥ १३॥

तब अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न एवं पितृभक्त कुमार महासेनने 'एवमस्तु' कहकर अपने पिता भगवान् महेश्वरका पूजन किया ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

अर्कपुष्पैस्तु ते पञ्च गणाः पूज्या धनार्थिभिः।
व्याधिप्रशमनार्थं च तेषां पूजां समाचरेत्॥ १४॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! धनार्थी पुरुषोंको आकके फूलोंसे उन पाँचों गणोंकी सेवा करनी चाहिये । रोगोंकी शान्तिके लिये भी उनका पूजन करना उचित है ॥

मिञ्जिकामिञ्जिकं चैव मिथुनं रुद्रसम्भवम् ।
नमस्कार्यं सदैवेह बालानां हितमिच्छता ॥ १५ ॥

मिञ्जिका-मिञ्जकका जोड़ा भी भगवान् शंकरसे उत्पन्न हुआ है । अतः बालकोंके हितकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि वे सदा इस जोड़ेको नमस्कार करें ॥ १५ ॥

स्त्रियो मानुषमांसादा वृद्धिका नाम नामतः ।
वृक्षेषु जातास्ता देव्यो नमस्कार्याः प्रजार्थिभिः ॥ १६ ॥

वृक्षोंपरसे गिरे हुए शुक्रसे 'वृद्धिका' नामवाली स्त्रियाँ उत्पन्न हुई हैं, जो मनुष्यका मांस भक्षण करनेवाली हैं । संतानकी इच्छा रखनेवाले लोगोंको इन देवियोंके आगे मस्तक झुकाना चाहिये ॥ १६ ॥

एवमेते पिशाचानामसंख्येया गणाः स्मृताः ।
घण्टायाः सपताकायाः शृणु मे सम्भवं नृप ॥ १७ ॥

इस प्रकार ये पिशाचोंके असंख्य गण बताये गये हैं । राजन् ! अब तुम मुझसे स्कन्दके घण्टे और पताकाकी उत्पत्तिका वृत्तान्त सुनो ॥ १७ ॥

ऐरावतस्य घण्टे द्वे वैजयन्त्याविति श्रुते ।
गुहस्य ते स्वयं दत्ते क्रमेणानाय्य धीमता ॥ १८ ॥

इन्द्रके ऐरावत हाथीके उपयोगमें आनेवाले जो दो 'वैजयन्ती' नामसे विख्यात घण्टे थे, उन्हें बुद्धिमान् इन्द्रने क्रमशः ले आकर स्वयं कुमार कार्तिकेयको अर्पण कर दिया ॥

एका तत्र विशाखस्य घण्टा स्कन्दस्य चापरा ।
पताका कार्तिकेयस्य विशाखस्य च लोहिता ॥ १९ ॥

उनमेंसे एक घण्टा विशाखने ले लिया और दूसरा स्कन्दके पास रह गया । कार्तिकेय और विशाख दोनोंकी पताकाएँ लाल रंगकी हैं ॥ १९ ॥

यानि क्रीडनकान्यस्य देवैर्दत्तानि वै तदा ।
तैरेव रमते देवो महासेनो महाबलः ॥ २० ॥

उस समय देवताओंने जो खिलौने इन्हें दिये थे, उन्हींसे महाबली महासेन खेलते और मन बहलाते हैं ॥ २० ॥

स संवृतः पिशाचानां गणैर्देवगणैस्तथा ।
शुशुभे काञ्चने शैले दीप्यमानः श्रिया वृतः ॥ २१ ॥

राजन् ! अद्भुत शोभासे सम्पन्न और कान्तिमान् कुमार कार्तिकेय उस समय उस स्वर्णमय शिखरपर पिशाचों और देवताओंके समूहसे घिरकर बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ २१ ॥

तेन वीरेण शुशुभे स शैलः शुभकाननः ।
आदित्येनेवांशुमता मन्दरश्चारुकन्दरः ॥ २२ ॥

जैसे अंशुमाली सूर्यके उदयसे मनोहर कन्दरावाले मन्दराचलकी शोभा होती है, उसी प्रकार वीरवर स्कन्दके निवाससे सुन्दर वनवाले उस श्वेतगिरिकी शोभा बढ़ गयी थी ॥ २२ ॥

संतानकवनैः फुल्लैः करवीरवनैरपि ।
पारिजातवनैश्चैव जपाशोकवनैस्तथा ॥ २३ ॥
कदम्बतरुषण्डैश्च दिव्यैर्मृगगणैरपि ।
दिव्यैः पक्षिगणैश्चैव शुशुभे श्वेतपर्वतः ॥ २४ ॥

वहाँ कहीं फूलोंसे भरे हुए कल्पवृक्षके वन और कहीं कनेरके कानन सुशोभित होते थे । कहीं पारिजातके वन थे, तो कहीं जपा और अशोकके उपवन शोभा पाते थे । कहीं कदम्ब नामक वृक्षोंके समूह लहलहा रहे थे, तो कहीं दिव्य मृगगण विचर रहे थे । सब ओर दिव्य पक्षियोंके समुदाय कलरव कर रहे थे । इन सबसे उस श्वेत पर्वतकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी ॥ २३-२४ ॥

तत्र देवगणाः सर्वे सर्वे देवर्षयस्तथा ।
मेघतूर्यरवाश्चैव क्षुब्धोदधिसमस्वनाः ॥ २५ ॥

वहाँ सम्पूर्ण देवता तथा देवर्षिगण आकर विराजमान हो गये । क्षुब्ध महासागरकी गम्भीर गर्जनाके समान मेघों और दिव्य वाद्योंका तुमुल घोष सब ओर गूँजने लगा ॥ २५ ॥

तत्र दिव्याश्च गन्धर्वा नृत्यन्तेऽप्सरसस्तथा ।
हृष्टानां तत्र भूतानां श्रूयते निनदो महान् ॥ २६ ॥

वहाँ दिव्य गन्धर्व और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं । हर्षमें भरे हुए प्राणियोंका महान् कोलाहल सुनायी देने लगा ॥२६॥

एवं सेन्द्रं जगत् सर्वं श्वेतपर्वतसंस्थितम् ।
प्रहृष्टं प्रेक्षते स्कन्दं न च ग्लायति दर्शनात् ॥ २७ ॥

इस प्रकार इन्द्रसहित सम्पूर्ण जगत् बड़ी प्रसन्नताके साथ श्वेत पर्वतपर विराजमान कुमार कार्तिकेयका दर्शन करने लगा । उनके दर्शनसे किसीका जी नहीं भरता था ॥ २७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

यदाभिषिक्तो भगवान् सैनापत्येन पावकिः ।
तदा सम्प्रस्थितः श्रीमान् हृष्टो भद्रवटं हरः ॥ २८ ॥
रथेनादित्यवर्णेन पार्वत्या सहितः प्रभुः ।
(अनुयातः सुरैः सर्वैः सहस्राक्षपुरोगमैः)
सहस्रं तस्य सिंहानां तस्मिन् युक्तं रथोत्तमे ॥ २९ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! जब अग्निनन्दन भगवान् स्कन्दका सेनापतिके पदपर अभिषेक हो गया, तब श्रीमान् भगवान् शिव देवी पार्वतीके साथ सूर्यके समान रथपर आरूढ हो प्रसन्नतापूर्वक भद्रवटकी ओर प्रस्थित हुए । उस समय इन्द्र आदि सब देवता उनके पीछे-पीछे चले ।

भगवान् शिवके उस उत्तम रथमें एक हजार सिंह जुते हुए थे ॥ २८-२९ ॥

उत्पपात दिवं शुभ्रं कालेनाभिप्रचोदितम् ।
ते पिबन्त इवाकाशं त्रासयन्तश्चराचरान् ॥ ३० ॥
सिंहा नभस्यगच्छन्त नदन्तश्चारुकेसराः ।

साक्षात् काल उस रथका संचालन कर रहा था। उसकी प्रेरणासे वह शुभ्र रथ आकाशमें उड़ चला। मनोहर केसरोंसे सुशोभित वे सिंह चराचर प्राणियोंको भयभीत करते और दहाड़ते हुए आकाशमें इस प्रकार चलने लगे, मानो उसे पी जायँगे ॥ ३०½ ॥

तस्मिन् रथे पशुपतिः स्थितो भात्युमया सह ॥ ३१ ॥
विद्युता सहितः सूर्यः सेन्द्रचापे घने यथा ।

उस रथपर भगवती उमाके साथ बैठे हुए भगवान् शिव इस प्रकार शोभित हो रहे थे, मानो इन्द्रधनुषयुक्त मेघोंकी घटामें विद्युत्के साथ भगवान् सूर्य प्रकाशित हो रहे हों ॥

अग्रतस्तस्य भगवान् धनेशो गुह्यकैः सह ॥ ३२ ॥
आस्थाय रुचिरं याति पुष्पकं नरवाहनः ।

उनके आगे-आगे गुह्यकोंसहित नरवाहन धनाध्यक्ष भगवान् कुबेर मनोहर पुष्पक विमानपर बैठकर जा रहे थे ॥ ३२½ ॥

ऐरावतं समास्थाय शक्रश्चापि सुरैः सह ॥ ३३ ॥
पृष्ठतोऽनुययौ यान्तं वरदं वृषभध्वजम् ।

देवताओंसहित इन्द्र भी ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हो (भद्रवटको) जाते हुए वरदायक भगवान् वृषभध्वजके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥ ३३½ ॥

जृम्भकैर्यक्षरक्षोभिः स्रग्विभिः समलङ्कृतः ॥ ३४ ॥
यात्यमोघो महायक्षो दक्षिणं पक्षमास्थितः ।

मालाधारी जृम्भकगण, यक्ष तथा राक्षसोंसे सुशोभित महायक्ष अमोघ भगवान् शंकरके दाहिने भागमें रहकर चल रहा था ॥ ३४½ ॥

तस्य दक्षिणतो देवा बहवश्चित्रयोधिनः ॥ ३५ ॥
गच्छन्ति वसुभिः सार्धं रुद्रैश्च सह सङ्गताः ।

उसके दाहिने भागमें विचित्र प्रकारके युद्ध करनेवाले बहुत-से देवता वसुओं तथा रुद्रोंके साथ संगठित होकर चल रहे थे ॥ ३५½ ॥

यमश्च मृत्युना सार्धं सर्वतः परिवारितः ॥ ३६ ॥
घोरैर्व्याधिशतैर्याति घोररूपवपुस्तथा ।

मृत्युसहित यमराज अत्यन्त भयंकर रूप धारण करके देवताओंके साथ यात्रा कर रहे थे। उन्हें सैकड़ों भयानक रोगोंने मूर्तिमान् होकर चारों ओरसे घेर रक्खा था ॥ ३६½ ॥

यमस्य पृष्ठतश्चैव घोरस्त्रिशिखरः शितः ॥ ३७ ॥
विजयो नाम रुद्रस्य याति शूलः स्वलङ्कृतः ।

यमराजके पीछे-पीछे भगवान् शंकरका विजय नामक भयंकर त्रिशूल जा रहा था, जो तीन शिखरोंसे सुशोभित और तीक्ष्ण था। उस त्रिशूलको सिन्दूर आदिसे भली-भाँति सजाया गया था ॥ ३७½ ॥

तमुग्रपाशो वरुणो भगवान् सलिलेश्वरः ॥ ३८ ॥
परिवार्य शनैर्याति यादोभिर्विविधैर्वृतः ।

जलके स्वामी भगवान् वरुण हाथमें भयंकर पाश लिये उस त्रिशूलको सब ओरसे घेरकर धीरे-धीरे चल रहे थे। उनके साथ नाना प्रकारकी आकृतिवाले जलजन्तु भी थे ॥

पृष्ठतो विजयस्यापि याति रुद्रस्य पट्टिशः ॥ ३९ ॥
गदामुसलशक्त्याद्यैर्वृतः प्रहरणोत्तमैः ।

विजयके पीछे भगवान् रुद्रका पट्टिश नामक शस्त्र जा रहा था, जिसे गदा, मुसल और शक्ति आदि उत्तम आयुधोंने घेर रक्खा था ॥ ३९½ ॥

पट्टिशं त्वन्वगाद् राजञ्छत्रं रौद्रं महाप्रभम् ॥ ४० ॥
कमण्डलुश्चाप्यनु तं महर्षिगणसेवितः ।

राजन्! पट्टिशके पीछे भगवान् रुद्रका अत्यन्त प्रभापूर्ण छत्र जा रहा था और उसके पीछे महर्षियोंद्वारा सेवित कमण्डलु यात्रा कर रहा था ॥ ४०½ ॥

तस्य दक्षिणतो भाति दण्डो गच्छन् श्रिया वृतः ॥ ४१ ॥
भृग्वङ्गिरोभिः सहितो दैवतैश्चानुपूजितः ।

कमण्डलुके दाहिने भागमें जाते हुए तेजस्वी दण्डकी बड़ी शोभा हो रही थी। उसके साथ भृगु और अङ्गिरा आदि महर्षि थे और देवता भी बार-बार उसका पूजन करते थे ॥

एषां तु पृष्ठतो रुद्रो विमले स्यन्दने स्थितः ॥ ४२ ॥
याति संहर्षयन् सर्वांस्तेजसा त्रिदिवौकसः ।

इन सबके पीछे उज्ज्वल रथपर आरूढ़ हो रुद्रदेव यात्रा करते थे, जो अपने तेजसे सम्पूर्ण देवताओंका हर्ष बढ़ा रहे थे ॥ ४२½ ॥

ऋषयश्चापि देवाश्च गन्धर्वा भुजगास्तथा ॥ ४३ ॥
नद्यो ह्रदाः समुद्राश्च तथैवाप्सरसां गणाः ।
नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव देवानां शिशवश्च ये ॥ ४४ ॥

रुद्रदेवके पीछे ऋषि, देवता, गन्धर्व, नाग, नदियाँ, गहरे जलाशय, समुद्र, अप्सराएँ, नक्षत्र, ग्रह तथा देवकुमार चल रहे थे ॥ ४३-४४ ॥

स्त्रियश्च विविधाकारा यान्ति रुद्रस्य पृष्ठतः ।
सृजन्त्यः पुष्पवर्षाणि चारुरूपा वराङ्गनाः ॥ ४५ ॥

मनोहर रूप और भाँति-भाँतिकी आकृति धारण करनेवाली बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियाँ फूलोंकी वर्षा करती हुई भगवान् रुद्रके पीछे-पीछे जा रही थीं ॥ ४५ ॥

पर्जन्यश्चाप्यनुययौ नमस्कृत्य पिनाकिनम् ।
छत्रं च पाण्डुरं सोमस्तस्य मूर्धन्यधारयत् ॥ ४६ ॥

पिनाकधारी भगवान् शंकरको नमस्कार करके पर्जन्यदेव भी उनके पीछे-पीछे चले। चन्द्रमाने उनके मस्तकपर श्वेत छत्र लगा रक्खा था ॥ ४६ ॥

चामरे चापि वायुश्च गृहीत्वाग्निश्च धिष्ठितौ ।
शक्रश्च पृष्ठतस्तस्य याति राजञ्छ्रिया वृतः ॥ ४७ ॥
सह राजर्षिभिः सर्वैः स्तुवानो वृषकेतनम् ।

राजन् ! वायु और अग्नि चँवर लेकर दोनों ओर खड़े थे। तेजस्वी इन्द्र समस्त राजर्षियोंके साथ भगवान् वृषभध्वजकी स्तुति करते हुए उनके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ ४७½ ॥

गौरी विद्याथ गान्धारी केशिनी मित्रसाह्वया ॥ ४८ ॥
सावित्र्या सह सर्वास्ताः पार्वत्या यान्ति पृष्ठतः ।
तत्र विद्यागणाः सर्वे ये केचित् कविभिः कृताः ॥ ४९ ॥

गौरी, विद्या, गान्धारी, केशिनी, मित्रा और सावित्री—ये सब पार्वतीदेवीके पीछे-पीछे चल रही थीं। विद्वानोंद्वारा प्रकाशित सम्पूर्ण विद्याएँ भी उन्हींके साथ थीं ॥ ४८-४९ ॥

तस्य कुर्वन्ति वचनं सेन्द्रा देवाश्चमूमुखे ।
गृहीत्वा तु पताकां वै यात्यग्रे राक्षसो ग्रहः ॥ ५० ॥

इन्द्र आदि देवता सेनाके मुहानेपर उपस्थित हो भगवान् शिवके आदेशका पालन करते थे। एक राक्षस ग्रह सेनाका झंडा लेकर आगे-आगे चलता था ॥ ५० ॥

व्यापृतस्तु श्मशाने यो नित्यं रुद्रस्य वै सखा ।
पिङ्गलो नाम यक्षेन्द्रो लोकस्यानन्ददायकः ॥ ५१ ॥

भगवान् रुद्रका सखा यक्षराज पिङ्गलदेव जो सदा श्मशानमें ही (उसकी रक्षाके लिये) निवास करता और सम्पूर्ण जगत्को आनन्द देनेवाला था, उस यात्रामें भगवान् शिवके साथ था ॥ ५१ ॥

एभिश्च सहितो देवस्तत्र याति यथासुखम् ।
अग्रतः पृष्ठतश्चैव न हि तस्य गतिर्ध्रुवा ॥ ५२ ॥

इन सबके साथ महादेवजी सुखपूर्वक भद्रवटकी यात्रा कर रहे थे। वे कभी सेनाके आगे रहते और कभी पीछे। उनकी कोई निश्चित गति नहीं थी ॥ ५२ ॥

रुद्रं सत्कर्मभिर्मर्त्याः पूजयन्तीह दैवतम् ।
शिवमित्येव यं प्राहुरीशं रुद्रं पितामहम् ॥ ५३ ॥
भावैस्तु विविधाकारैः पूजयन्ति महेश्वरम् ।

मरणधर्मा मनुष्य इस संसारमें सत्कर्मोंद्वारा रुद्रदेवकी ही पूजा करते हैं। इन्हींको शिव, ईश, रुद्र और पितामह कहते हैं। लोग नाना प्रकारके भावोंसे भगवान् महेश्वरकी पूजा करते हैं ॥ ५३½ ॥

देवसेनापतिस्त्वेवं देवसेनाभिरावृतः ।
अनुगच्छति देवेशं ब्रह्मण्यः कृत्तिकासुतः ॥ ५४ ॥

इसी प्रकार ब्राह्मणहितैषी, देवसेनापति, कृत्तिकानन्दन स्कन्द भी देवताओंकी सेनासे घिरे हुए देवेश्वर भगवान् शिवके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ ५४ ॥

अथाब्रवीन्महासेनं महादेवो बृहद् वचः ।
सप्तमं मारुतस्कन्धं रक्ष नित्यमतन्द्रितः ॥ ५५ ॥

तदनन्तर महादेवजीने कुमार महासेनसे यह उत्तम बात कही—'बेटा ! तुम सदा सावधानीके साथ मारुतस्कन्ध नामक देवताओंके सातवें व्यूहकी रक्षा करना' ॥ ५५ ॥

स्कन्द उवाच

सप्तमं मारुतस्कन्धं पालयिष्याम्यहं प्रभो ।
यदन्यदपि मे कार्यं देव तद् वद माचिरम् ॥ ५६ ॥

स्कन्द बोले—प्रभो ! मैं सातवें व्यूह मारुतस्कन्धकी अवश्य रक्षा करूँगा। देव ! इसके सिवा और भी मेरा जो कुछ कर्तव्य हो, उसके लिये आप शीघ्र आज्ञा दीजिये ॥ ५६ ॥

रुद्र उवाच

कार्येष्वहं त्वया पुत्र संद्रष्टव्यः सदैव हि ।
दर्शनान्मम भक्त्या च श्रेयः परमवाप्स्यसि ॥ ५७ ॥

रुद्रने कहा—पुत्र ! काम पड़नेपर तुम सदा मुझसे मिलते रहना। मेरे दर्शनसे तथा मुझमें भक्ति करनेसे तुम्हारा परम कल्याण होगा ॥ ५७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वा विससर्जैनं परिष्वज्य महेश्वरः ।
विसर्जिते ततः स्कन्दे बभूवौत्पातिकं महत् ॥ ५८ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर भगवान् महेश्वरने कार्तिकेयको हृदयसे लगाकर बिदा किया। स्कन्दके बिदा



होते ही बड़ा भारी उत्पात होने लगा ॥ ५८ ॥

सहसैव महाराज देवान् सर्वान् प्रमोहयत्।
जज्वाल खं सनक्षत्रं प्रमूढं भुवनं भृशम् ॥ ५९ ॥

महाराज ! सहसा समस्त देवताओंको मोहमें डालता हुआ नक्षत्रोंसहित आकाश प्रज्वलित हो उठा । समस्त संसार अत्यन्त मूढ़-सा हो गया ॥ ५९ ॥

चचाल व्यनदच्चोर्वी तमोभूतं जगद् बभौ ।
ततस्तद् दारुणं दृष्ट्वा क्षुभितः शङ्करस्तदा ॥ ६० ॥
उमा चैव महाभागा देवाश्च समहर्षयः ।

पृथ्वी हिलने लगी । उसमें गड़गड़ाहट पैदा हो गयी । सारा जगत् अन्धकारमें मग्न-सा जान पड़ता था । उस समय यह दारुण उत्पात देखकर भगवान् शंकर, महाभागा उमा, देवगण तथा महर्षिगण क्षुब्ध हो उठे ॥ ६०½ ॥

ततस्तेषु प्रमूढेषु पर्वताम्बुदसंनिभम् ॥ ६१ ॥
नानाप्रहरणं घोरमदृश्यत महद् बलम् ।
तद् वै घोरमसंख्येयं गर्जच्च विविधा गिरः ॥ ६२ ॥

जिस समय वे सब लोग मोह-ग्रस्त हो रहे थे, उसी समय पर्वतों और मेघमालाओंके समान दैत्योंकी विशाल एवं भयंकर सेना दिखायी दी । वह नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित थी । उसके सैनिकोंकी संख्या गिनी नहीं जा सकती थी । वह भयंकर वाहिनी अनेक प्रकारकी बोली बोलती हुई भीषण गर्जना कर रही थी ॥ ६१-६२ ॥

अभ्यद्रवद् रणे देवान् भगवन्तं च शङ्करम् ।
तैर्विसृष्टान्यनीकेषु बाणजालान्यनेकशः ॥ ६३ ॥

उसने रण-भूमिमें आकर देवताओं तथा भगवान् शंकर-पर धावा बोल दिया । दैत्योंने देवताओंके सैनिकोंपर कई बार बाण-वर्षा की ॥ ६३ ॥

पर्वताश्च शतघ्न्यश्च प्रासासिपरिघा गदाः ।
निपतद्भिश्च तैर्घोरैर्देवानीकं महायुधैः ॥ ६४ ॥
क्षणेन व्यद्रवत् सर्वं विमुखं चाप्यदृश्यत ।

शिलाखण्ड, शतघ्नी (तोप), प्रास, खड्ग, परिघ और गदाओंके लगातार प्रहार हो रहे थे । इन भयंकर महान् अस्त्रोंकी मारसे देवताओंकी सारी सेना क्षणभरमें (पीठ दिखाकर) भाग चली । सारे सैनिक युद्धसे विमुख दिखायी देते थे ॥ ६४½ ॥

निकृत्तयोधनागाश्वं कृत्तायुधमहारथम् ॥ ६५ ॥
दानवैरर्दितं सैन्यं देवानां विमुखं बभौ ।

बहुत-से योद्धा, हाथी और घोड़े काट डाले गये । असंख्य आयुध और बड़े-बड़े रथ टूक-टूक कर दिये गये । इस प्रकार दानवोंद्वारा पीड़ित हुई देवताओंकी सेना युद्धसे विमुख हो गयी ॥ ६५½ ॥

असुरैर्वध्यमानं तत् पावकैरिव काननम् ॥ ६६ ॥
अपतद् दग्धभूयिष्ठं महाद्रुमवनं यथा ।

जैसे आग समूचे वनको जला देती है, उसी प्रकार असुरोंने देवताओंकी सेनामें भारी मार-काट मचा दी । बड़े-बड़े वृक्षोंसे भरे हुए वनका अधिकांश भाग जल जानेपर उसकी जैसी दुरवस्था दिखायी देती है, उसी प्रकार दैत्योंकी अस्त्राग्निमें अधिकांश सैनिकोंके दग्ध हो जानेके कारण वह देव-सेना धराशायिनी हो रही थी ॥ ६६½ ॥

ते विभिन्नशिरोदेहाः प्राद्रवन्तो दिवौकसः ॥ ६७ ॥
न नाथमधिगच्छन्ति वध्यमाना महारणे।

उस महासमरमें असुरोंकी मार खाकर वे सब देवता भागते हुए कहीं कोई रक्षक नहीं पा रहे थे । किन्हींके सिर फट गये थे, तो किन्हींके सब अङ्गोंमें गहरे घाव हो गये थे ॥ ६७½ ॥

अथ तद् विद्रुतं सैन्यं दृष्ट्वा देवः पुरंदरः ॥ ६८ ॥
आश्वासयन्नुवाचेदं बलभिद् दानवार्दितम् ।
भयं त्यजत भद्रं वः शूराः शस्त्राणि गृह्णत ॥ ६९ ॥
कुरुध्वं विक्रमे बुद्धिं मा वः काचिद् व्यथा भवेत्।
जयतैनान् सुदुर्वृत्तान् दानवान् घोरदर्शनान् ॥ ७० ॥
अभिद्रवत भद्रं वो मया सह महासुरान् ।
शक्रस्य वचनं श्रुत्वा समाश्वस्ता दिवौकसः ॥ ७१ ॥

तदनन्तर बलासुरविनाशक देवराज इन्द्रने अपनी उस सेनाको दानवोंसे पीड़ित होकर भागती देख उसे आश्वासन देते हुए कहा—'शूरवीरो ! भय त्याग दो, इससे तुम्हारा मङ्गल होगा । हथियार उठाओ और पराक्रममें मन लगाओ । तुम्हें किसी प्रकार व्यथित नहीं होना चाहिये । इन भयंकर दिखायी देनेवाले दुराचारी दानवोंको जीतो । तुम्हारा कल्याण हो । तुम सब लोग मेरे साथ इन महाकाय दैत्योंपर टूट पड़ो ।' इन्द्रकी यह बात सुनकर देवताओंको बड़ी सान्त्वना मिली ॥ ६८–७१ ॥

दानवान् प्रत्ययुध्यन्त शक्रं कृत्वा व्यपाश्रयम् ।
ततस्ते त्रिदशाः सर्वे मरुतश्च महाबलाः ॥ ७२ ॥
प्रत्युद्ययुर्महाभागाः साध्याश्च वसुभिः सह ।

उन्होंने इन्द्रको अपना आश्रय बनाकर दानवोंके साथ पुनः युद्ध प्रारम्भ किया । तत्पश्चात् वे सभी देवता महाबली मरुद्गण तथा वसुओं एवं महाभाग साध्यगणसहित युद्धभूमिमें आगे बढ़ने लगे ॥ ७२½ ॥

तैर्विसृष्टान्यनीकेषु क्रुद्धैः शस्त्राणि संयुगे ॥ ७३ ॥
शराश्च दैत्यकायेषु पिबन्ति रुधिरं बहु ।

उन्होंने संग्राममें कुपित होकर दैत्योंकी सेनाओंके ऊपर जो अस्त्र-शस्त्र और बाण चलाये, वे उनके शरीरोंमें घुसकर प्रचुर मात्रामें रक्त पीने लगे ॥ ७३½ ॥

तेषां देहान् विनिर्भिद्य शरास्ते निशितास्तदा ॥ ७४ ॥

निपतन्तोऽभ्यदृश्यन्त नगेभ्य इव पन्नगाः ।

वे तीखे बाण उस समय दैत्योंके शरीरोंको विदीर्णकर रण-भूमिमें इस प्रकार गिरते दिखायी देते थे, मानो वृक्षोंसे सर्प गिर रहे हों ॥ ७४½ ॥

तानि दैत्यशरीराणि निर्भिन्नानि स्म सायकैः ॥ ७५ ॥
अपतन् भूतले राजंश्छिन्नाभ्राणीव सर्वशः ।

राजन् ! देवताओंके बाणोंसे विदीर्ण हुए वे दैत्योंके शरीर सब प्रकारसे छिन्न-भिन्न हुए बादलोंके समान धरतीपर गिरने लगे ॥ ७५½ ॥

ततस्तद् दानवं सैन्यं सर्वैर्देवगणैर्युधि ॥ ७६ ॥
त्रासितं विविधैर्बाणैः कृतं चैव पराङ्मुखम् ।

तदनन्तर समस्त देवताओंने उस युद्धमें दानवसेनाको अपने विविध बाणोंके प्रहारसे भयभीत करके रणभूमिसे विमुख कर दिया ॥ ७६½ ॥

अथोत्क्रुष्टं तदा हृष्टैः सर्वैर्देवैरुदायुधैः ॥ ७७ ॥
संहतानि च तूर्याणि प्रावाद्यन्त ह्यनेकशः ।

फिर तो उस समय हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र उठाये सम्पूर्ण देवता हर्षमें भरकर कोलाहल करने लगे और अनेक प्रकारके विजय वाद्य एक साथ बज उठे ॥ ७७½ ॥

एवमन्योन्यसंयुक्तं युद्धमासीत् सुदारुणम् ॥ ७८ ॥
देवानां दानवानां च मांसशोणितकर्दमम् ।
अनयो देवलोकस्य सहसैवाभ्यदृश्यत ॥ ७९ ॥
तथा हि दानवा घोरा विनिघ्नन्ति दिवौकसः ।

इस प्रकार देवताओं और दानवोंमें परस्पर अत्यन्त भयंकर युद्ध हो रहा था । रक्त और मांससे वहाँकी भूमिपर कीचड़ जम गयी थी । फिर सहसा बाजी पलट गयी । देवलोककी पराजय दिखायी देने लगी । भयंकर दानव देवताओंको मारने लगे ॥ ७८-७९½ ॥

ततस्तूर्यप्रणादाश्च भेरीणां च महास्वनः ॥ ८० ॥
बभूवुर्दानवेन्द्राणां सिंहनादाश्च दारुणाः ।

उस समय दानवेन्द्रोंके भयंकर सिंहनाद सुनायी पड़ते थे । उनके रणवाद्यों तथा भेरियोंका गम्भीर घोष सब ओर गूँज उठा ॥ ८०½ ॥

अथ दैत्यबलाद् घोरान्निष्पपात महाबलः ॥ ८१ ॥
दानवो महिषो नाम प्रगृह्य विपुलं गिरिम् ।

इतनेहीमें दैत्योंकी भयंकर सेनासे महाबली दानव 'महिष' हाथोंमें एक विशाल पर्वत लिये निकला और देवताओंपर टूट पड़ा ॥ ८१½ ॥

ते तं घनैरिवादित्यं दृष्ट्वा सम्परिवारितम् ॥ ८२ ॥
तमुद्यतगिरिं राजन् व्यद्रवन्त दिवौकसः ।

राजन् ! बादलोंसे घिरे हुए सूर्यकी भाँति पर्वत उठाये हुए उस दानवको देखकर सब देवता भाग चले ॥ ८२½ ॥

अथाभिद्रुत्य महिषो देवांश्चिक्षेप तं गिरिम् ॥ ८३ ॥
पतता तेन गिरिणा देवसैन्यस्य पार्थिव ।
भीमरूपेण निहतमयुतं प्रापतद् भुवि ॥ ८४ ॥

परंतु महिषासुरने देवताओंका पीछा करके उनके ऊपर वह पहाड़ पटक दिया । युधिष्ठिर ! उस भयानक पर्वतके गिरनेसे देवसेनाके दस हजार योद्धा कुचलकर धरतीपर गिर पड़े ॥ ८३-८४ ॥

अथ तैर्दानवैः सार्धं महिषस्त्रासयन् सुरान् ।
अभ्यद्रवद् रणे तूर्णं सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ ८५ ॥

तदनन्तर जैसे सिंह छोटे मृगोंको डराता हुआ उनपर टूट पड़ता है, उसी प्रकार महिषासुरने अपने दानव-सैनिकोंके साथ रणभूमिमें समस्त देवताओंको भयभीत करते हुए उनपर शीघ्र ही प्रबल आक्रमण किया ॥ ८५ ॥

तमापतन्तं महिषं दृष्ट्वा सेन्द्रा दिवौकसः ।
व्यद्रवन्त रणे भीता विकीर्णायुधकेतनाः ॥ ८६ ॥

उस महिषासुरको आते देख इन्द्र आदि सब देवता भयभीत हो अपने अस्त्र-शस्त्र और ध्वजा फेंककर युद्धभूमिसे भागने लगे ॥ ८६ ॥

ततः स महिषः क्रुद्धस्तूर्णं रुद्ररथं ययौ ।
अभिद्रुत्य च जग्राह रुद्रस्य रथकूबरम् ॥ ८७ ॥

तब क्रोधमें भरा हुआ महिषासुर तुरंत ही भगवान् रुद्रके रथकी ओर दौड़ा और पास जाकर उनके रथका कूबर[1] पकड़ लिया ॥ ८७ ॥

यदा रुद्ररथं क्रुद्धो महिषः सहसा गतः ।
रेसतू रोदसी गाढं मुमुहुश्च महर्षयः ॥ ८८ ॥

जब क्रोधमें भरे हुए महिषासुरने सहसा भगवान् रुद्रके रथपर आक्रमण किया, उस समय पृथ्वी और आकाशमें भारी कोलाहल मच गया और महर्षिगण भी घबरा गये ॥ ८८ ॥

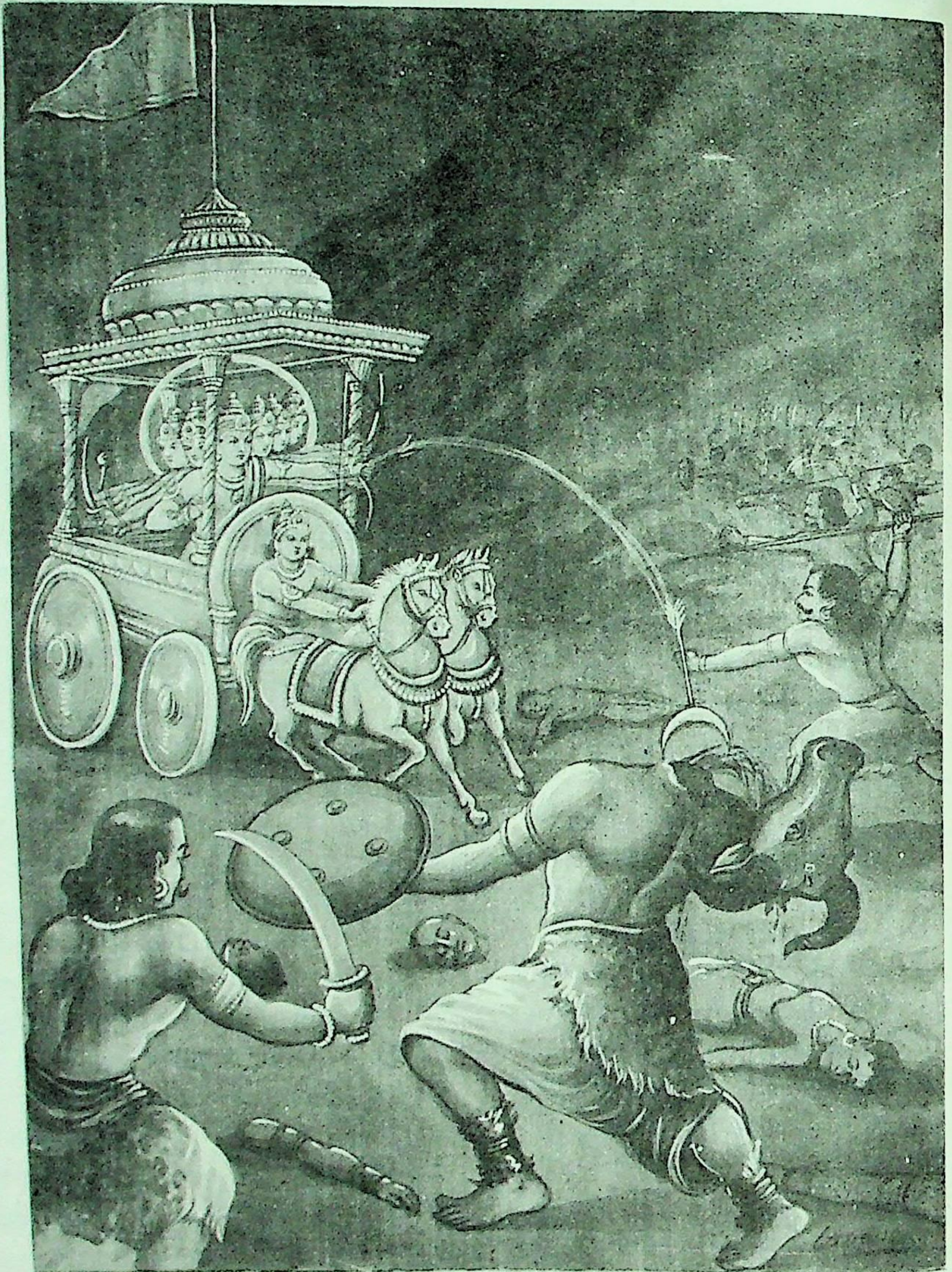
अनदंश्च महाकाया दैत्या जलधरोपमाः ।
आसीच्च निश्चितं तेषां जितमस्माभिरित्युत ॥ ८९ ॥

इधर विशालकाय दैत्य मेघोंके समान गम्भीर गर्जना करने लगे । उन्हें यह निश्चय हो गया कि 'हमारी जीत होगी' ॥ ८९ ॥

तथाभूते तु भगवान् नावधीन्महिषं रणे ।
सस्मार च तदा स्कन्दं मृत्युं तस्य दुरात्मनः ॥ ९० ॥

उस अवस्थामें भी भगवान् रुद्रने युद्धमें महिषासुरको

१. रथका वह अग्रभाग जहाँ जुआ बाँधा जाता है, कूबर कहलाता है । ग्राम्य भाषामें उसे 'नकेला' या 'सघुनी' कहते हैं ।



कार्तिकेयके द्वारा महिषासुरका वध

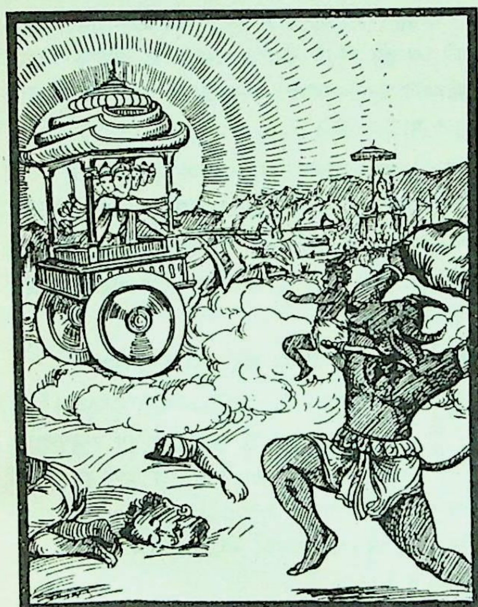
स्वयं नहीं मारा किंतु उस दुरात्मा दानवकी मृत्यु जिनके हाथोंसे होनेवाली थी, उन कुमार कार्तिकेयका स्मरण किया ॥ ९० ॥

महिषोऽपि रथं दृष्ट्वा रौद्रोरुद्रस्य चानदत् ।
देवान् संत्रासयंश्चापि दैत्यांश्चापि प्रहर्षयन् ॥ ९१ ॥

भयानक महिषासुर रुद्रके रथको देखकर देवताओंको त्रास और दैत्योंको हर्ष प्रदान करता हुआ बार-बार सिंहनाद करने लगा ॥ ९१ ॥

ततस्तस्मिन् भये घोरे देवानां समुपस्थिते ।
आजगाम महासेनः क्रोधात् सूर्य इव ज्वलन् ॥ ९२ ॥

देवताओंके लिये वह घोर भयका अवसर उपस्थित था । इसी समय जगमगाते हुए सूर्यकी भाँति कुमार महासेन क्रोधमें भरे हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ ९२ ॥



लोहिताम्बरसंवीतो लोहितस्रग्विभूषणः ।
लोहिताश्वो महाबाहुर्हिरण्यकवचः प्रभुः ॥ ९३ ॥

उन्होंने अपने शरीरको लाल वस्त्रोंसे आच्छादित कर रक्खा था । उनके हार और आभूषण भी लाल रंगके ही थे । उनके घोड़ेका रंग भी लाल था । उन महाबाहु भगवान् स्कन्दने सुवर्णमय कवच धारण किया था ॥ ९३ ॥

रथमादित्यसंकाशमास्थितः कनकप्रभम् ।
तं दृष्ट्वा दैत्यसेना सा व्यद्रवत् सहसा रणे ॥ ९४ ॥

वे सूर्यके समान तेजस्वी रथपर विराजमान थे । उनकी अङ्गकान्ति भी सुवर्णके समान ही उद्भासित हो रही थी । उन्हें सहसा संग्राममें उपस्थित देख दैत्योंकी सेना रणभूमिसे भाग चली ॥ ९४ ॥

स चापि तां प्रज्वलितां महिषस्य विदारिणीम् ।
मुमोच शक्तिं राजेन्द्र महासेनो महाबलः ॥ ९५ ॥

राजेन्द्र ! महाबली महासेनने महिषासुरपर एक प्रज्वलित शक्ति चलायी, जो उसके शरीरको विदीर्ण करनेवाली थी ॥ ९५ ॥

सा मुक्ताभ्यहरत् तस्य महिषस्य शिरो महत् ।
पपात भिन्ने शिरसि महिषस्त्यक्तजीवितः ॥ ९६ ॥

कुमारके हाथसे छूटते ही उस शक्तिने महिषासुरके महान् मस्तकको काट गिराया । सिर कट जानेपर महिषासुर प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ९६ ॥

पतता शिरसा तेन द्वारं षोडशयोजनम् ।
पर्वताभेन पिहितं तदागम्यं ततोऽभवत् ॥ ९७ ॥

उसके पर्वत-सदृश विशाल मस्तकने गिरकर (उत्तर-पूर्व देशके) सोलह योजन लम्बे द्वारको बंद कर दिया । अतः वह देश सर्वसाधारणके लिये अगम्य हो गया ॥ ९७ ॥

उत्तराः कुरवस्तेन गच्छन्त्यद्य यथासुखम् ।
क्षिप्ताक्षिप्ता तु सा शक्तिर्हत्वा शत्रून् सहस्रशः ॥ ९८ ॥
स्कन्दहस्तमनुप्राप्ता दृश्यते देवदानवैः ।

उत्तर कुरुके निवासी अब उस मार्गसे सुखपूर्वक आते-जाते हैं । देवताओं और दानवोंने देखा, कुमार कार्तिकेय बार-बार शत्रुओंपर शक्तिका प्रहार करते हैं और वह सहस्रों योद्धाओंको मारकर पुनः उनके हाथमें लौट आती है ॥ ९८½ ॥

प्रायः शरैर्विनिहता महासेनेन धीमता ॥ ९९ ॥
शेषा दैत्यगणा घोरा भीतास्त्रस्ता दुरासदैः ।
स्कन्दपारिषदैर्हत्वा भक्षिताश्च सहस्रशः ॥ १०० ॥

परम बुद्धिमान् महासेनने अपने बाणोंद्वारा अधिकांश दैत्योंको समाप्त कर दिया, बचे-खुचे भयंकर दैत्य भी भयभीत हो साहस खो चुके थे । स्कन्ददेवके दुर्धर्ष पार्षद उन सहस्रों दैत्योंको मारकर खा गये ॥ ९९-१०० ॥

दानवान् भक्षयन्तस्ते प्रपिबन्तश्च शोणितम् ।
क्षणान्निर्दानवं सर्वमकार्षुर्भृशहर्षिताः ॥ १०१ ॥

उन सबने अत्यन्त हर्षमें भरकर दानवोंको खाते और उनके रक्त पीते हुए क्षणभरमें सारी रणभूमिको दानवोंसे खाली कर दिया ॥ १०१ ॥

तमांसीव यथा सूर्यो वृक्षानग्निर्घनान् खगः ।
तथा स्कन्दोऽजयच्छत्रून् स्वेन वीर्येण कीर्तिमान् ॥ १०२ ॥

जैसे सूर्य अन्धकार मिटा देते हैं, आग वृक्षोंको जला डालती है और आकाशचारी वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, वैसे ही कीर्तिशाली कुमार कार्तिकेयने अपने पराक्रमद्वारा समस्त शत्रुओंको नष्ट करके उनपर विजय पायी ॥ १०२ ॥

सम्पूज्यमानस्त्रिदशैरभिवाद्य महेश्वरम्।
शुशुभे कृत्तिकापुत्रः प्रकीर्णांशुरिवांशुमान् ॥१०३॥

उस समय देवतालोग कृत्तिकानन्दन स्कन्ददेवकी स्तुति और पूजा करने लगे। कुमार स्कन्द अपने पिता महेश्वरको प्रणाम करके सब ओर किरणें बिखेरनेवाले अंशुमाली सूर्यकी भाँति शोभा पाने लगे॥ १०३॥

नष्टशत्रुर्यदा स्कन्दः प्रयातस्तु महेश्वरम्।
तदाब्रवीन्महासेनं परिष्वज्य पुरंदरः ॥१०४॥

शत्रुओंका नाश करके जब कुमार कार्तिकेय भगवान् महेश्वरके पास पहुँचे, उस समय इन्द्रने उनको हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा—॥ १०४॥

ब्रह्मदत्तवरः स्कन्द त्वयायं महिषो हतः।
देवास्तृणसमा यस्य बभूवुर्जयतां वर ॥१०५॥
सोऽयं त्वया महाबाहो शमितो देवकण्टकः।
शतं महिषतुल्यानां दानवानां त्वया रणे ॥१०६॥
निहतं देवशत्रूणां यैर्वयं पूर्वतापिताः।
तावकैर्भक्षिताश्चान्ये दानवाः शतसङ्घशः ॥१०७॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ स्कन्द! इस महिषासुरको ब्रह्माजीने वरदान दिया था, जिसके कारण इसके सामने सब देवता तिनकोंके समान हो गये थे। आज तुमने इसे मार गिराया है। महाबाहो! यह देवताओंके लिये बड़ा भारी काँटा था, जिसे तुमने निकाल फेंका है। यही नहीं, आज रणभूमिमें इस महिषके समान पराक्रमी एक सौ देवद्रोही दानव और तुम्हारे हाथसे मारे गये हैं, जो पहले हमें बहुत कष्ट दे चुके हैं। तुम्हारे पार्षद भी सैकड़ों दानवोंको खा गये हैं। १०५-१०७।

अजेयस्त्वं रणेऽरीणामुमापतिरिव प्रभुः।
एतत् ते प्रथमं देव ख्यातं कर्म भविष्यति ॥१०८॥
त्रिषु लोकेषु कीर्तिश्च तवाक्षय्या भविष्यति।
वशगाश्च भविष्यन्ति सुरास्तव महाभुज ॥१०९॥

'देव! तुम भगवान् शंकरके समान ही युद्धमें शत्रुओंके लिये अजेय हो। यह तुम्हारा प्रथम पराक्रम सर्वत्र विख्यात होगा। तुम्हारी अक्षय कीर्ति तीनों लोकोंमें फैल जायगी। महाबाहो! सब देवता तुम्हारे वशमें रहेंगे'॥ १०८-१०९॥

एवमुक्त्वा महासेनं निवृत्तः सह दैवतैः।
अनुज्ञातो भगवता त्र्यम्बकेण शचीपतिः ॥११०॥

महासेनसे ऐसा कहकर शचीपति इन्द्र भगवान् शंकरकी आज्ञा ले देवताओंके साथ स्वर्गलोकको लौट गये॥११०॥

गतो भद्रवटं रुद्रो निवृत्ताश्च दिवौकसः।
उक्ताश्च देवा रुद्रेण स्कन्दं पश्यत मामिव ॥१११॥

भगवान् रुद्र भद्रवटके समीप गये और देवता अपने-अपने स्थानको लौटने लगे। उस समय भगवान् शङ्करने देवताओंसे कहा—'तुम सब लोग कुमार कार्तिकेयको मेरे ही समान मानना'॥ १११॥

स हत्वा दानवगणान् पूज्यमानो महर्षिभिः।
एकाह्नैवाजयत् सर्वं त्रैलोक्यं वह्निनन्दनः ॥११२॥

अग्निनन्दन स्कन्दने सब दानवोंको मारकर महर्षियोंसे पूजित हो एक ही दिनमें समूची त्रिलोकीको जीत लिया॥ ११२॥

स्कन्दस्य य इदं विप्रः पठेज्जन्म समाहितः।
स पुष्टिमिह सम्प्राप्य स्कन्दसालोक्यमाप्नुयात् ॥११३॥

जो ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो स्कन्ददेवके इस जन्मवृत्तान्तका पाठ करता है, वह संसारमें पुष्टिको प्राप्त हो अन्तमें भगवान् स्कन्दके लोकमें जाता है॥ ११३॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे स्कन्दोत्पत्तौ महिषासुरवधे एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २३१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसङ्गमें स्कन्दकी उत्पत्ति तथा महिषासुरवधविषयक दो सौ एकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ। २३१।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ११३½ श्लोक हैं)

द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कार्तिकेयके प्रसिद्ध नामोंका वर्णन तथा उनका स्तवन

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् श्रोतुमिच्छामि नामान्यस्य महात्मनः।
त्रिषु लोकेषु यान्यस्य विख्यातानि द्विजोत्तम ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन्! विप्रवर! तीनों लोकोंमें महात्मा स्कन्दके जो-जो नाम विख्यात हैं, उन्हें मैं सुनना चाहता हूँ॥ १॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः पाण्डवेयेन महात्मा ऋषिसंनिधौ।
उवाच भगवांस्तत्र मार्कण्डेयो महातपाः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके इस प्रकार कहनेपर महातपस्वी महात्मा भगवान् मार्कण्डेयने ऋषियोंके समीप इस प्रकार कहा—॥ २॥

मार्कण्डेय उवाच

आग्नेयश्चैव स्कन्दश्च दीप्तकीर्तिरनामयः।
मयूरकेतुर्धर्मात्मा भूतेशो महिषार्दनः॥ ३॥
कामजित् कामदः कान्तः सत्यवाग् भुवनेश्वरः।
शिशुः शीघ्रः शुचिश्चण्डो दीप्तवर्णः शुभाननः॥ ४॥
अमोघस्त्वनघो रौद्रः प्रियश्चन्द्राननस्तथा।
दीप्तशक्तिः प्रशान्तात्मा भद्रकृत् कूटमोहनः॥ ५॥
षष्ठीप्रियश्च धर्मात्मा पवित्रो मातृवत्सलः।
कन्याभर्ता विभक्तश्च स्वाहेयो रेवतीसुतः॥ ६॥
प्रभुर्नेता विशाखश्च नैगमेयः सुदुश्चरः।
सुव्रतो ललितश्चैव बालक्रीडनकप्रियः॥ ७॥
खचारी ब्रह्मचारी च शूरः शरवणोद्भवः।
विश्वामित्रप्रियश्चैव देवसेनाप्रियस्तथा॥ ८॥
वासुदेवप्रियश्चैव प्रियः प्रियकृदेव तु।
नामान्येतानि दिव्यानि कार्तिकेयस्य यः पठेत्।
स्वर्गं कीर्तिं धनं चैव स लभेन्नात्र संशयः॥ ९॥

मार्कण्डेयजी बोले— राजन्! आग्नेय, स्कन्द, दीप्तकीर्ति, अनामय, मयूरकेतु धर्मात्मा, भूतेश, महिषमर्दन, कामजित्, कामद, कान्त, सत्यवाक्, भुवनेश्वर, शिशु, शीघ्र, शुचि, चण्ड, दीप्तवर्ण, शुभानन, अमोघ, अनघ, रौद्र, प्रिय, चन्द्रानन, दीप्तशक्ति, प्रशान्तात्मा, भद्रकृत्, कूटमोहन, षष्ठीप्रिय, धर्मात्मा, पवित्र, मातृवत्सल, कन्याभर्ता, विभक्त, स्वाहेय, रेवतीसुत, प्रभु, नेता, विशाख, नैगमेय, सुदुश्चर, सुव्रत, ललित, बालक्रीडनकप्रिय, आकाशचारी, ब्रह्मचारी, शूर, शरवणोद्भव, विश्वामित्रप्रिय, देवसेनाप्रिय, वासुदेव-प्रिय, प्रिय और प्रियकृत्—ये कार्तिकेयजीके दिव्य नाम हैं। जो इनका पाठ करता है, वह धन, कीर्ति तथा स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है; इसमें संशय नहीं है॥ ३-९॥

स्तोष्यामि देवैर्ऋषिभिश्च जुष्टं
शक्त्या गुहं नामभिरप्रमेयम्।
षडाननं शक्तिधरं सुवीरं
निबोध चैतानि कुरुप्रवीर॥ १०॥

कुरुकुलके प्रमुख वीर युधिष्ठिर! अब मैं देवताओं तथा ऋषियोंसे सेवित, असंख्य नामों तथा अनन्त शक्तिसे सम्पन्न, शक्ति नामक अस्त्र धारण करनेवाले वीरवर षडानन गुहकी स्तुति करता हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो॥ १०॥

ब्रह्मण्यो वै ब्रह्मजो ब्रह्मविच्च
ब्रह्मेशयो ब्रह्मवतां वरिष्ठः।
ब्रह्मप्रियो ब्राह्मणसव्रती त्वं
ब्रह्मज्ञो वै ब्राह्मणानां च नेता॥ ११॥

स्कन्ददेव! आप ब्राह्मणहितैषी, ब्रह्मात्मज, ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ, ब्राह्मणप्रिय, ब्राह्मणोंके समान व्रतधारी, ब्रह्मज्ञ तथा ब्राह्मणोंके नेता हैं॥ ११॥

स्वाहा स्वधा त्वं परमं पवित्रं
मन्त्रस्तुतस्त्वं प्रथितः षडर्चिः।
संवत्सरस्त्वमृतवश्च षड् वै
मासार्धमासावयनं दिशश्च॥ १२॥

आप स्वाहा, स्वधा, परम पवित्र, मन्त्रोंद्वारा प्रशंसित और सुप्रसिद्ध षडर्चि (छः ज्वालाओंसे युक्त) अग्नि हैं। आप ही संवत्सर, छः ऋतुएँ, पक्ष, मास, अयन और दिशाएँ हैं॥ १२॥

त्वं पुष्कराक्षस्त्वरविन्दवक्त्रः
सहस्रवक्त्रोऽसि सहस्रबाहुः।
त्वं लोकपालः परमं हविश्च
त्वं भावनः सर्वसुरासुराणाम्॥ १३॥

आप कमलनयन, कमलमुख, सहस्रवदन और सहस्र-बाहु हैं। आप ही लोकपाल, सर्वोत्तम हविष्य तथा सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंके पालक हैं॥ १३॥

त्वमेव सेनाधिपतिः प्रचण्डः
प्रभुर्विभुश्चाप्यथ शत्रुजेता।
सहस्रभूस्त्वं धरणी त्वमेव
सहस्रतुष्टिश्च सहस्रभुक् च॥ १४॥

आप ही सेनापति, अत्यन्त कोपवान्, प्रभु, विभु और शत्रुविजयी हैं। आप ही सहस्रभू और पृथ्वी हैं। आप ही सहस्रों प्राणियोंको संतोष देनेवाले तथा सहस्रभोक्ता हैं॥

सहस्रशीर्षस्त्वमनन्तरूपः
सहस्रपात् त्वं गुह शक्तिधारी।
गङ्गासुतस्त्वं स्वमतेन देव
स्वाहामहीकृत्तिकानां तथैव॥ १५॥

आपके सहस्रों मस्तक हैं। आपके रूपका कहीं अन्त नहीं है। आपके सहस्रों चरण हैं। गुह! आप शक्ति धारण करते हैं। देव! आप अपने इच्छानुसार गङ्गा, स्वाहा, पृथ्वी तथा कृत्तिकाओंके पुत्ररूपसे प्रकट हुए हैं॥ १५॥

त्वं क्रीडसे षण्मुख कुक्कुटेन
यथेष्टनानाविधकामरूपी।
दीक्षासि सोमो मरुतः सदैव
धर्मोऽसि वायुरचलेन्द्र इन्द्रः॥ १६॥

षडानन! आप मुर्गेसे खेलते हैं तथा इच्छानुसार नाना प्रकारके कमनीय रूप धारण करते हैं। आप सदा ही दीक्षा, सोम, मरुद्गण, धर्म, वायु, गिरिराज तथा इन्द्र हैं॥१६॥

सनातनानामपि शाश्वतस्त्वं
प्रभुः प्रभूणामपि चोग्रधन्वा।
ऋतस्य कर्ता दितिजान्तकस्त्वं
जेता रिपूणां प्रवरः सुराणाम्॥ १७॥

आप सनातनोंमें भी सनातन हैं। प्रभुओंके भी प्रभु हैं। आपका धनुष भयंकर है। आप सत्यके प्रवर्तक, दैत्योंका संहार करनेवाले, शत्रुविजयी तथा देवताओंमें श्रेष्ठ हैं ॥१७॥

सूक्ष्मं तपस्तत् परमं त्वमेव
परावरज्ञोऽसि परावरस्त्वम्।
धर्मस्य कामस्य परस्य चैव
त्वत्तेजसा कृत्स्नमिदं महात्मन्॥ १८॥

जो सर्वोत्कृष्ट सूक्ष्म तप है, वह आप ही हैं। आप ही कार्य-कारण-तत्त्वके ज्ञाता तथा कार्यकारणस्वरूप हैं। धर्म, काम तथा इन दोनोंसे परे जो मोक्षतत्त्व है, उसके भी आप ही ज्ञाता हैं। महात्मन्! यह सम्पूर्ण जगत् आपके तेजसे प्रकाशित होता है॥ १८॥

व्याप्तं जगत् सर्वसुरप्रवीर
शक्त्या मया संस्तुत लोकनाथ।
नमोऽस्तु ते द्वादशनेत्रबाहो
अतः परं वेद्मि गतिं न तेऽहम्॥ १९॥

समस्त देवताओंके प्रमुख वीर! आपकी शक्तिसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। लोकनाथ! मैंने यथाशक्ति आपका स्तवन किया है। बारह नेत्रों और भुजाओंसे सुशोभित देव! आपको नमस्कार है। इससे परे आपका जो स्वरूप है, उसे मैं नहीं जानता॥ १९॥

स्कन्दस्य य इदं विप्रः पठेज्जन्म समाहितः।
श्रावयेद् ब्राह्मणेभ्यो यः शृणुयाद् वा द्विजेरितम्॥२०॥
धनमायुर्यशो दीप्तं पुत्राञ्छत्रुजयं तथा।
स पुष्टितुष्टी सम्प्राप्य स्कन्दसालोक्यमाप्नुयात्॥२१॥

जो ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो स्कन्ददेवके इस जन्म-वृत्तान्तको पढ़ता है, ब्राह्मणोंको सुनाता है अथवा स्वयं ब्राह्मणके मुखसे सुनता है, वह धन, आयु, उज्ज्वल यश, पुत्र, शत्रुविजय तथा तुष्टि-पुष्टि पाकर अन्तमें स्कन्दके लोकमें जाता है॥ २०-२१॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे कार्तिकेयस्तवे द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २३२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसङ्गमें कार्तिकेयस्तुतिविषयक दो सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३२॥

(द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व)

त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रौपदीका सत्यभामाको सती स्त्रीके कर्तव्यकी शिक्षा देना

वैशम्पायन उवाच

उपासीनेषु विप्रेषु पाण्डवेषु महात्मसु।
द्रौपदी सत्यभामा च विविशाते तदा समम्॥ १॥
जाहस्यमाने सुप्रीते सुखं तत्र निषीदतुः।
चिरस्य दृष्ट्वा राजेन्द्र तेऽन्योन्यस्य प्रियंवदे॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब महात्मा पाण्डव तथा ब्राह्मणलोग आसपास बैठकर धर्मचर्चा कर रहे थे, उसी समय द्रौपदी और सत्यभामा भी एक ओर जाकर एक ही साथ सुखपूर्वक बैठीं और अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक परस्पर हास्य-विनोद करने लगीं। राजेन्द्र! दोनोंने एक दूसरीको बहुत दिनों बाद देखा था, इसलिये परस्पर प्रिय लगनेवाली बातें करती हुई वहाँ सुखपूर्वक बैठी रहीं॥१-२॥

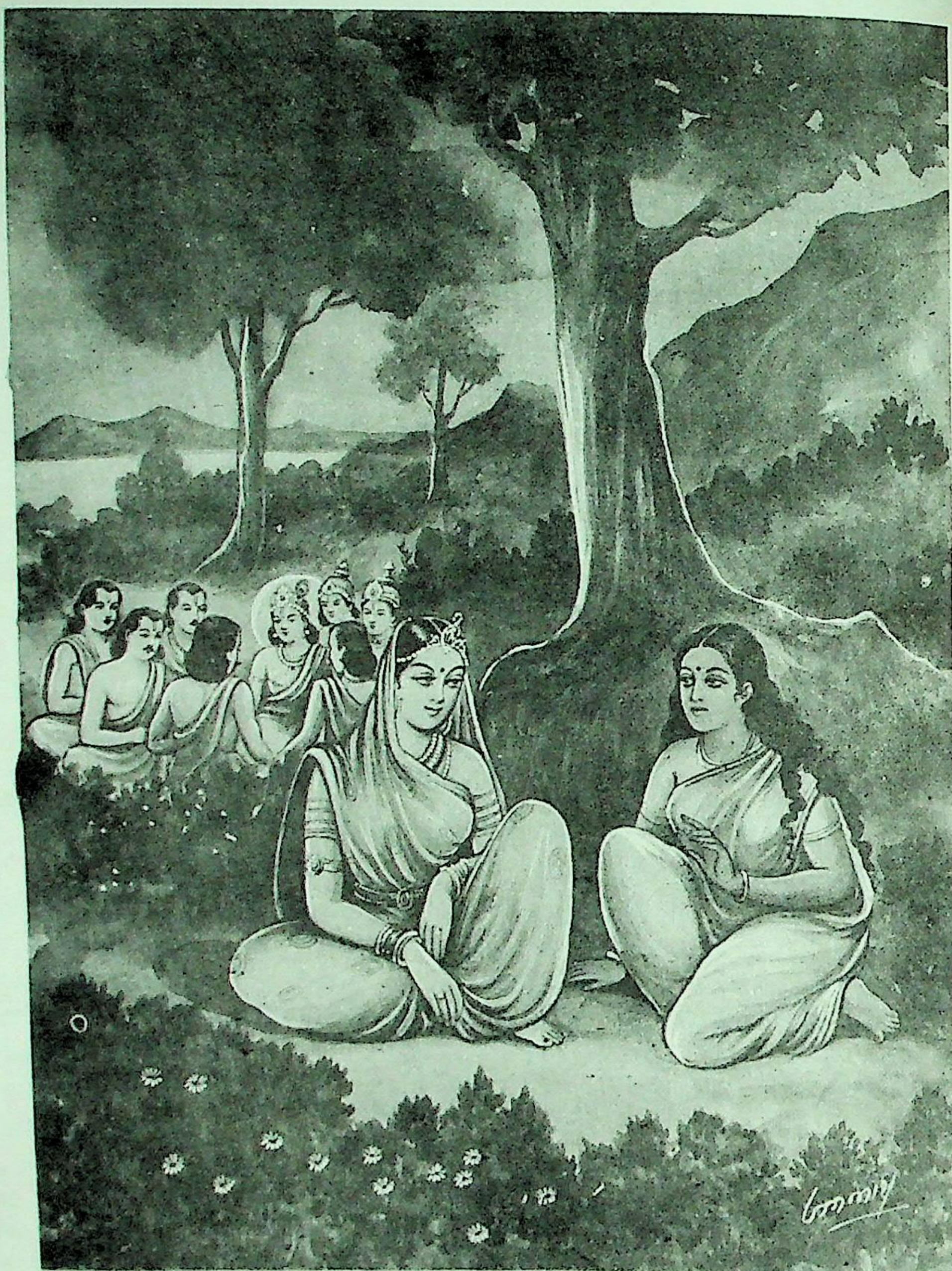
कथयामासतुश्चित्राः कथाः कुरुयदूत्थिताः।
अथाब्रवीत् सत्यभामा कृष्णस्य महिषी प्रिया॥ ३॥
सात्राजिती याज्ञसेनीं रहसीदं सुमध्यमा।
केन द्रौपदि वृत्तेन पाण्डवानधितिष्ठसि॥ ४॥
लोकपालोपमानेतान् वीरान् पुनः परमसंहतान्।
कथं च वशगास्तुभ्यं न कुप्यन्ति च ते शुभे॥ ५॥

कुरुकुल और यदुकुलसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक विचित्र बातें उनकी चर्चाकी विषय थीं। भगवान् श्रीकृष्ण-की प्यारी पटरानी सत्राजित्‌कुमारी सुन्दरी सत्यभामाने एकान्तमें द्रौपदीसे इस प्रकार पूछा—'शुभे! द्रुपदकुमारि! किस बर्तावसे तुम हृष्ट-पुष्ट अङ्गोंवाले तथा लोकपालोंके समान वीर पाण्डवोंके हृदयपर अधिकार रखती हो? किस प्रकार तुम्हारे वशमें रहते हुए वे कभी तुमपर कुपित नहीं होते?॥ ३-५॥

तव वश्या हि सततं पाण्डवाः प्रियदर्शने।
मुखप्रेक्षाश्च ते सर्वे तत्त्वमेतद् ब्रवीहि मे॥ ६॥

'प्रियदर्शने! क्या कारण है कि पाण्डव सदा तुम्हारे अधीन रहते हैं और सबके सब तुम्हारे मुँहकी ओर देखते रहते हैं? इसका यथार्थ रहस्य मुझे बताओ॥ ६॥

व्रतचर्या तपो वापि स्नानमन्त्रौषधानि वा।
विद्यावीर्यं मूलवीर्यं जपहोमागदास्तथा॥ ७॥
ममाद्याचक्ष्व पाञ्चालि यशस्यं भगदैवतम्।
येन कृष्णे भवेन्नित्यं मम कृष्णो वशानुगः॥ ८॥

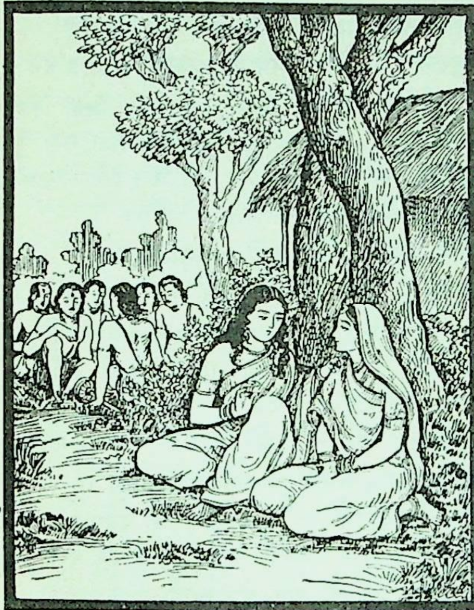


द्रौपदी-सत्यभामा-संवाद

'पाञ्चालकुमारी कृष्णे ! आज मुझे भी कोई ऐसा व्रत, तप, स्नान, मन्त्र, औषध, विद्या-शक्ति, मूल-शक्ति (जड़ी-बूटीका प्रभाव) जप, होम या दवा बताओ, जो यश और सौभाग्यकी वृद्धि करनेवाला हो तथा जिससे श्यामसुन्दर सदा मेरे अधीन रहें' ॥ ७-८ ॥

एवमुक्त्वा सत्यभामा विरराम यशस्विनी ।
पतिव्रता महाभागा द्रौपदी प्रत्युवाच ताम् ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर यशस्विनी सत्यभामा चुप हो गयी । तब पतिपरायणा महाभागा द्रौपदीने उसे इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ९ ॥



असत्स्त्रीणां समाचारं सत्ये मामनुपृच्छसि ।
असदाचरिते मार्गे कथं स्यादनुकीर्तनम् ॥ १० ॥

'सत्ये ! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रही हो, वह साध्वी स्त्रियोंका नहीं, दुराचारिणी और कुलटा स्त्रियोंका आचरण है ! जिस मार्गका दुराचारिणी स्त्रियोंने अवलम्बन किया है, उसके विषयमें हमलोग कोई चर्चा कैसे कर सकती हैं ? ॥ १० ॥

अनुप्रश्नः संशयो वा नैतत् त्वय्युपपद्यते ।
तथा ह्युपेता बुद्ध्या त्वं कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥ ११ ॥

'इस प्रकारका प्रश्न अथवा स्वामीके स्नेहमें संदेह करना तुम्हारे-जैसी साध्वी स्त्रीके लिये कदापि उचित नहीं है; चूँकि तुम बुद्धिमती होनेके साथ ही श्यामसुन्दरकी प्रियतमा पटरानी हो ॥ ११ ॥

यदैव भर्ता जानीयान्मन्त्रमूलपरां स्त्रियम् ।
उद्विजेत तदैवास्याः सर्पाद् वेश्मगतादिव ॥ १२ ॥

'जब पतिको यह मालूम हो जाय कि उसकी पत्नी उसे वशमें करनेके लिये किसी मन्त्र-तन्त्र अथवा जड़ी-बूटीका प्रयोग कर रही है, तो वह उससे उसी प्रकार उद्विग्न हो उठता है, जैसे अपने घरमें घुसे हुए सर्पसे लोग शङ्कित रहते हैं ॥ १२ ॥

उद्विग्नस्य कुतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।
न जातु वशगो भर्ता स्त्रियाः स्यान्मन्त्रकर्मणा ॥ १३ ॥

'उद्विग्नको शान्ति कैसी ? और अशान्तको सुख कहाँ ? अतः मन्त्र-तन्त्र करनेसे पति अपनी पत्नीके वशमें कदापि नहीं हो सकता ॥ १३ ॥

अमित्रप्रहितांश्चापि गदान् परमदारुणान् ।
मूलप्रचारैर्हि विषं प्रयच्छन्ति जिघांसवः ॥ १४ ॥

'इसके सिवा, ऐसे अवसरोंपर धोखेसे शत्रुओंद्वारा भेजी हुई ओषधियोंको खिलाकर कितनी ही स्त्रियाँ अपने पतियोंको अत्यन्त भयंकर रोगोंका शिकार बना देती हैं । किसीको मारनेकी इच्छावाले मनुष्य उसकी स्त्रीके हाथमें यह प्रचार करते हुए विष दे देते हैं कि 'यह पतिको वशमें करनेवाली जड़ी-बूटी है' ॥ १४ ॥

जिह्वया यानि पुरुषस्त्वचा वाप्युपसेवते ।
तत्र चूर्णानि दत्तानि हन्युः क्षिप्रमसंशयम् ॥ १५ ॥

'उनके दिये हुए चूर्ण ऐसे होते हैं कि उन्हें पति यदि जिह्वा अथवा त्वचासे भी स्पर्श कर ले, तो वे निःसंदेह उसी क्षण उसके प्राण ले लें ॥ १५ ॥

जलोदरसमायुक्ताः श्वित्रिणः पलितास्तथा ।
अपुमांसः कृताः स्त्रीभिर्जडान्धबधिरास्तथा ॥ १६ ॥

'कितनी ही स्त्रियोंने अपने पतियोंको (वशमें करनेकी आशासे हानिकारक दवाएँ खिलाकर उन्हें) जलोदर और कोढ़का रोगी, असमयमें ही वृद्ध, नपुंसक, अंधा, गूँगा और बहरा बना दिया है ॥ १६ ॥

पापानुगास्तु पापास्ताः पतीनुपसृजन्त्युत ।
न जातु विप्रियं भर्तुः स्त्रिया कार्यं कथंचन ॥ १७ ॥

'इस प्रकार पापियोंका अनुसरण करनेवाली वे पापिनी स्त्रियाँ अपने पतियोंको अनेक प्रकारकी विपत्तियोंमें डाल देती हैं । अतः साध्वी स्त्रीको चाहिये कि वह कभी किसी प्रकार भी पतिका अप्रिय न करे ॥ १७ ॥

वर्ताम्यहं तु यां वृत्तिं पाण्डवेषु महात्मसु ।
तां सर्वां शृणु मे सत्यां सत्यभामे यशस्विनि ॥ १८ ॥

'यशस्विनी सत्यभामे ! मैं स्वयं महात्मा पाण्डवोंके

साथ जैसा बर्ताव करती हूँ, वह सब सच-सच सुनाती हूँ; सुनो ॥ १८ ॥

अहंकारं विहायाहं कामक्रोधौ च सर्वदा।
सदारान् पाण्डवान् नित्यं प्रयतोपचराम्यहम् ॥ १९ ॥

'मैं अहंकार और काम-क्रोधको छोड़कर सदा पूरी सावधानीके साथ सब पाण्डवोंकी और उनकी अन्यान्य स्त्रियोंकी भी सेवा करती हूँ ॥ १९ ॥

प्रणयं प्रतिसंहृत्य निधायात्मानमात्मनि।
शुश्रूषुर्निरहंमाना पतीनां चित्तरक्षिणी ॥ २० ॥

अपनी इच्छाओंका दमन करके मनको अपने आपमें ही समेटे हुए केवल सेवाकी इच्छासे ही अपने पतियोंका मन रखती हूँ। अहंकार और अभिमानको अपने पास नहीं फटकने देती ॥

दुर्व्याहृताच्छङ्कमाना दुःस्थिताद् दुरवेक्षितात्।
दुरासिताद् दुर्व्रजितादिङ्गिताध्यासितादपि ॥ २१ ॥

'कभी मेरे मुखसे कोई बुरी बात न निकल जाय, इसकी आशङ्कासे सदा सावधान रहती हूँ। असभ्यकी भाँति कहीं खड़ी नहीं होती। निर्लज्जकी तरह सब ओर दृष्टि नहीं डालती। बुरी जगहपर नहीं बैठती। दुराचारसे बचती तथा चलने-फिरनेमें भी असभ्यता न हो जाय, इसके लिये सतत सावधान रहती हूँ। पतियोंके अभिप्रायपूर्ण संकेतका सदैव अनुसरण करती हूँ ॥ २१ ॥

सूर्यवैश्वानरसमान् सोमकल्पान् महारथान्।
सेवे चक्षुर्हणः पार्थानुग्रवीर्यप्रतापिनः ॥ २२ ॥

'कुन्तीदेवीके पाँचों पुत्र ही मेरे पति हैं। वे सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी, चन्द्रमाके समान आह्लाद प्रदान करनेवाले, महारथी, दृष्टिमात्रसे ही शत्रुओंको मारनेकी शक्ति रखनेवाले तथा भयंकर बल-पराक्रम एवं प्रतापसे युक्त हैं। मैं सदा उन्हींकी सेवामें लगी रहती हूँ ॥ २२ ॥

देवो मनुष्यो गन्धर्वो युवा चापि स्वलंकृतः।
द्रव्यवानभिरूपो वा न मेऽन्यः पुरुषो मतः ॥ २३ ॥

'देवता, मनुष्य, गन्धर्व, युवक, बड़ी सजधजवाला धनवान् अथवा परम सुन्दर कैसा ही पुरुष क्यों न हो, मेरा मन पाण्डवोंके सिवा और कहीं नहीं जाता ॥ २३ ॥

नाभुक्तवति नास्नाते नासंविष्टे च भर्तरि।
न संविशामि नाश्नामि सदा कर्मकरेष्वपि ॥ २४ ॥

'पतियों और उनके सेवकोंको भोजन कराये बिना मैं कभी भोजन नहीं करती, उन्हें नहलाये बिना कभी नहाती नहीं हूँ तथा पतिदेव जबतक शयन न करें, तबतक मैं सोती भी नहीं हूँ ॥ २४ ॥

क्षेत्राद् वनाद् वा ग्रामाद् वा भर्तारं गृहमागतम्।
अभ्युत्थायाभिनन्दामि आसनेनोदकेन च ॥ २५ ॥

'खेतसे, वनसे अथवा गाँवसे जब कभी मेरे पति घर पधारते हैं, उस समय मैं खड़ी होकर उनका अभिनन्दन करती हूँ तथा आसन और जल अर्पण करके उनके स्वागत-सत्कारमें लग जाती हूँ ॥ २५ ॥

प्रमृष्टभाण्डा मृष्टान्ना काले भोजनदायिनी।
संयता गुप्तधान्या च सुसम्मृष्टनिवेशना ॥ २६ ॥

'मैं घरके वर्तनोंको माँज-धोकर साफ रखती हूँ। शुद्ध एवं स्वादिष्ट रसोई तैयार करके सबको ठीक समयपर भोजन कराती हूँ। मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर घरमें गुप्त-रूपसे अनाजका संचय रखती हूँ और घरको झाड़-बुहार, लीप-पोतकर सदा स्वच्छ एवं पवित्र बनाये रखती हूँ ।२६।

अतिरस्कृतसम्भाषा दुःस्त्रियो नानुसेवती।
अनुकूलवती नित्यं भवाम्यनलसा सदा ॥ २७ ॥

'मैं कोई ऐसी बात मुँहसे नहीं निकालती, जिससे किसी-का तिरस्कार होता हो। दुष्ट स्त्रियोंके सम्पर्कसे सदा दूर रहती हूँ। आलस्यको कभी पास नहीं आने देती और सदा पतियोंके अनुकूल बर्ताव करती हूँ ॥ २७ ॥

अनर्मे चापि हसितं द्वारि स्थानमभीक्ष्णशः।
अवस्करे चिरस्थानं निष्कुटेषु च वर्जये ॥ २८ ॥

'पतिके किये हुए परिहासके सिवा अन्य समयमें मैं नहीं हँसा करती, दरवाजेपर बारबार नहीं खड़ी होती, जहाँ कूड़े-करकट फेंके जाते हों, ऐसे गंदे स्थानोंमें देरतक नहीं ठहरती और बगीचोंमें भी बहुत देरतक अकेली नहीं घूमती हूँ॥

(अन्त्यालापमसंतोषं परव्यापारसंकथाम्)।
अतिहासातिरोषौ च क्रोधस्थानं च वर्जये।
निरताहं सदा सत्ये भर्तॄणामुपसेवने ॥ २९ ॥

'नीच पुरुषोंसे बात नहीं करती, मनमें असंतोषको स्थान नहीं देती और परायी चर्चासे दूर रहती हूँ। न अधिक हँसती हूँ और न अधिक क्रोध करती हूँ। क्रोधका अवसर ही नहीं आने देती। सदा सत्य बोलती और पतियों-की सेवामें लगी रहती हूँ ॥ २९ ॥

सर्वथा भर्तृरहितं न ममेष्टं कथंचन।
यदा प्रवसते भर्ता कुटुम्बार्थेन केनचित् ॥ ३० ॥
सुमनोवर्णकापेता भवामि व्रतचारिणी।

'पतिदेवके बिना किसी भी स्थानमें अकेली रहना मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है। मेरे स्वामी जब कभी कुटुम्बके कार्यसे कभी परदेश चले जाते हैं, उन दिनों मैं फूलोंका शृङ्गार नहीं धारण करती, अङ्गराग नहीं लगाती और निरन्तर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करती हूँ ॥ ३०½ ॥

यच्च भर्ता न पिबति यच्च भर्ता न सेवते ॥ ३१ ॥
यच्च नाश्नाति मे भर्ता सर्वं तद् वर्जयाम्यहम्।

'मेरे पतिदेव जिस चीजको नहीं खाते, नहीं पीते अथवा नहीं सेवन करते, वह सब मैं भी त्याग देती हूँ ॥ ३१½ ॥

यथोपदेशं नियता वर्तमाना वराङ्गने ॥ ३२ ॥
स्वलंकृता सुप्रयता भर्तुः प्रियहिते रता ।
ये च धर्माः कुटुम्बेषु श्वश्वा मे कथिताः पुरा ॥ ३३ ॥
(अनुतिष्ठामि तत् सर्वं नित्यकालमतन्द्रिता ॥)

'सुन्दरी ! शास्त्रोंमें स्त्रियोंके लिये जिन कर्तव्योंका उपदेश किया गया है, उन सबका मैं नियमपूर्वक पालन करती हूँ । अपने अङ्गोंको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित रखकर पूरी सावधानीके साथ मैं पतिके प्रिय एवं हित-साधनमें संलग्न रहती हूँ । मेरी सासने अपने परिवारके लोगोंके साथ बर्तावमें लाने योग्य जो धर्म पहले मुझे बताये थे, उन सबका मैं निरन्तर आलस्यरहित होकर पालन करती हूँ ॥ ३२-३३ ॥

भिक्षाबलिश्राद्धमिति स्थालीपाकाश्च पर्वसु ।
मान्यानां मानसत्कारा ये चान्ये विदिता मम ॥ ३४ ॥
तान् सर्वाननुवर्तेऽहं दिवारात्रमतन्द्रिता ।
विनयान् नियमांश्चैव सदा सर्वात्मना श्रिता ॥ ३५ ॥

'मैं दिन-रात आलस्य त्यागकर भिक्षा-दान, बलिवैश्व-देव, श्राद्ध, पर्वकालोचित स्थालीपाकयज्ञ, मान्य पुरुषोंका आदर-सत्कार, विनय, नियम तथा अन्य जो-जो धर्म मुझे ज्ञात हैं, उन सबका सब प्रकारसे उद्यत होकर पालन करती हूँ ॥ ३४-३५ ॥

मृदून् सतः सत्यशीलान् सत्यधर्मानुपालिनः ।
आशीविषानिव क्रुद्धान् पतीन् परिचराम्यहम् ॥ ३६ ॥

'मेरे पति बड़े ही सज्जन और मृदुल स्वभावके हैं । सत्यवादी तथा सत्यधर्मका निरन्तर पालन करनेवाले हैं; तथापि क्रोधमें भरे हुए विषैले सर्पोंसे जिस प्रकार लोग डरते हैं, उसी प्रकार मैं अपने पतियोंसे डरती हुई उनकी सेवा करती हूँ ॥ ३६

पत्याश्रयो हि मे धर्मो मतः स्त्रीणां सनातनः ।
स देवः सा गतिर्नान्या तस्य का विप्रियं चरेत् ॥ ३७ ॥

'मैं यह मानती हूँ कि पतिके आश्रयमें रहना ही स्त्रियोंका सनातन धर्म है । पति ही उनका देवता है और पति ही उनकी गति है । पतिके सिवा नारीका दूसरा कोई सहारा नहीं है, ऐसे पतिदेवताका भला कौन स्त्री अप्रिय करेगी ? ॥

अहं पतीन् नातिशये नात्यश्ने नातिभूषये ।
नापि श्वश्रूं परिवदे सर्वदा परियन्त्रिता ॥ ३८ ॥

'पतियोंके शयन करनेसे पहले मैं कभी शयन नहीं करती, उनसे पहले भोजन नहीं करती, उनकी इच्छाके विरुद्ध कोई आभूषण नहीं पहनती, अपनी सासकी कभी निन्दा नहीं करती और अपने-आपको सदा नियन्त्रणमें रखती हूँ ।३८।

अवधानेन सुभगे नित्योत्थिततयैव च ।
भर्तारो वशगा मह्यं गुरुशुश्रूषयैव च ॥ ३९ ॥

'सौभाग्यशालिनी सत्यभामे ! मैं सावधानीसे सर्वदा सबेरे उठकर समुचित सेवाके लिये सन्नद्ध रहती हूँ । गुरुजनों-की सेवा-शुश्रूषासे ही मेरे पति मेरे अनुकूल रहते हैं ॥ ३९ ॥

नित्यमार्यामहं कुन्तीं वीरसूं सत्यवादिनीम् ।
स्वयं परिचराम्येतां पानाच्छादनभोजनैः ॥ ४० ॥

'मैं वीरजननी सत्यवादिनी आर्या कुन्तीदेवीकी भोजन, वस्त्र और जल आदिसे सदा स्वयं सेवा करती रहती हूँ ॥४०॥

नैतामतिशये जातु वस्त्रभूषणभोजनैः ।
नापि परिवदे चाहं तां पृथां पृथिवीसमाम् ॥ ४१ ॥

'वस्त्र, आभूषण और भोजन आदिमें मैं कभी सासकी अपेक्षा अपने लिये कोई विशेषता नहीं रखती । मेरी सास कुन्तीदेवी पृथ्वीके समान क्षमाशील हैं । मैं कभी उनकी निन्दा नहीं करती ॥ ४१ ॥

अष्टावग्रे ब्राह्मणानां सहस्राणि स्म नित्यदा ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीषु युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ४२ ॥

'पहले महाराज युधिष्ठिरके महलमें प्रतिदिन आठ हजार ब्राह्मण सोनेकी थालियोंमें भोजन किया करते थे ॥ ४२ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ ४३ ॥

'महाराज युधिष्ठिरके यहाँ अट्ठासी हजार ऐसे स्नातक गृहस्थ थे, जिनका वे भरण-पोषण करते थे । उनमेंसे प्रत्येककी सेवामें तीस-तीस दासियाँ रहती थीं ॥ ४३ ॥

दशान्यानि सहस्राणि येषामन्नं सुसंस्कृतम् ।
ह्रियते रुक्मपात्रीभिर्यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ४४ ॥

'इनके सिवा दूसरे दस हजार और ऊर्ध्वरेता यति उनके यहाँ रहते थे, जिनके लिये सुन्दर ढंगसे तैयार किया हुआ अन्न सोनेकी थालियोंमें परोसकर पहुँचाया जाता था ॥४४॥

तान् सर्वानग्रहारेण ब्राह्मणान् वेदवादिनः ।
यथार्हं पूजयामि स्म पानाच्छादनभोजनैः ॥ ४५ ॥

'मैं उन सब वेदवादी ब्राह्मणोंको अग्रहार (बलिवैश्वदेवके अन्तमें अतिथिको दिये जानेवाले प्रथम अन्न) का अर्पण करके भोजन, वस्त्र और जलके द्वारा उनकी यथायोग्य पूजा करती थी ॥ ४५ ॥

शतं दासीसहस्राणि कौन्तेयस्य महात्मनः ।
कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः स्वलङ्कृताः॥ ४६ ॥

'कुन्तीनन्दन महात्मा युधिष्ठिरके एक लाख दासियाँ थीं, जो हाथोंमें शंखकी चूड़ियाँ, भुजाओंमें बाजूबंद और कण्ठमें सुवर्णके हार पहनकर बड़ी सजधजके साथ रहती थीं ॥४६॥

महार्हमाल्याभरणाः सुवर्णाश्चन्दनोक्षिताः ।
मणीन् हेम च बिभ्रत्यो नृत्यगीतविशारदाः ॥ ४७ ॥

'उनकी मालाएँ तथा आभूषण बहुमूल्य थे, अङ्गकान्ति बड़ी सुन्दर थी । वे चन्दनमिश्रित जलसे स्नान करती और चन्दनका ही अङ्गराग लगाती थीं, मणि तथा सुवर्णके गहने पहना करती थीं । नृत्य और गीतकी कलामें उनका कौशल देखने ही योग्य था ॥ ४७ ॥

तासां नाम च रूपं च भोजनाच्छादनानि च ।
सर्वासामेव वेदाहं कर्म चैव कृताकृतम् ॥ ४८ ॥

'उन सबके नाम, रूप तथा भोजन-आच्छादन आदि सभी बातोंकी मुझे जानकारी रहती थी । किसने क्या काम किया और क्या नहीं किया ? यह बात भी मुझसे छिपी नहीं रहती थी ॥ ४८ ॥

शतं दासीसहस्राणि कुन्तीपुत्रस्य धीमतः ।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत ॥ ४९ ॥

'बुद्धिमान् कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी पूर्वोक्त एक लाख दासियाँ हाथोंमें (भोजनसे भरी हुई) थाली लिये दिन-रात अतिथियोंको भोजन कराती रहती थीं ॥ ४९ ॥

शतमश्वसहस्राणि दशनागायुतानि च ।
युधिष्ठिरस्यानुयात्रमिन्द्रप्रस्थनिवासिनः ॥ ५० ॥
एतदासीत् तदा राज्ञो यन्महीं पर्यपालयत् ।
येषां संख्याविधिं चैव प्रदिशामि शृणोमि च ॥ ५१ ॥

'जिन दिनों महाराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थमें रहकर इस पृथ्वीका पालन करते थे, उस समय प्रत्येक यात्रामें उनके साथ एक लाख घोड़े और एक लाख हाथी चलते थे । मैं ही उनकी गणना करती, आवश्यक वस्तुएँ देती और उनकी आवश्यकताएँ सुनती थी ॥ ५०-५१ ॥

अन्तःपुराणां सर्वेषां भृत्यानां चैव सर्वशः ।
आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ॥ ५२ ॥

'अन्तःपुरके, नौकरोंके तथा ग्वालों और गड़रियोंसे लेकर समस्त सेवकोंके सभी कार्योंकी देखभाल मैं ही करती थी और किसने क्या काम किया अथवा कौन काम अधूरा रह गया—इन सब बातोंकी जानकारी भी रखती थी ॥ ५२ ॥

सर्वं राज्ञः समुदयमायं च व्ययमेव च ।
एकाहं वेद्मि कल्याणि पाण्डवानां यशस्विनि ॥ ५३ ॥

'कल्याणी एवं यशस्विनी सत्यभामे ! महाराज तथा अन्य पाण्डवोंको जो कुछ आय, व्यय और बचत होती थी, उस सबका हिसाब मैं अकेली ही रखती और जानती थी ॥

मयि सर्वं समासज्य कुटुम्बं भरतर्षभाः ।
उपासनरताः सर्वे घटयन्ति वरानने ॥ ५४ ॥

'वरानने ! भरतश्रेष्ठ पाण्डव कुटुम्बका सारा भार मुझपर ही रखकर उपासनामें लगे रहते और तदनुरूप चेष्टा करते थे ॥ ५४ ॥

तमहं भारमासक्तमनाधृष्यं दुरात्मभिः ।
सुखं सर्वं परित्यज्य रात्र्यहानि घटामि वै ॥ ५५ ॥

'मुझपर जो भार रक्खा गया था, उसे दुष्ट स्वभावके स्त्री-पुरुष नहीं उठा सकते थे । परंतु मैं सब प्रकारका सुख-भोग छोड़कर रात-दिन उस दुर्वह भारको वहन करनेकी चेष्टा किया करती थी ॥ ५५ ॥

अधृष्यं वरुणस्येव निधिपूर्णमिवोदधिम् ।
एकाहं वेद्मि कोशं वै पतीनां धर्मचारिणाम् ॥ ५६ ॥

'मेरे धर्मात्मा पतियोंका भरा-पूरा खजाना वरुणके भण्डार और परिपूर्ण महासागरके समान अक्षय एवं अगम्य था । केवल मैं ही उसके विषयकी ठीक जानकारी रखती थी ॥ ५६ ॥

अनिशायां निशायां च सहा या क्षुत्पिपासयोः ।
आराधयन्त्याः कौरव्यांस्तुल्या रात्रिरहश्च मे ॥ ५७ ॥

'रात हो या दिन, मैं सदा भूख-प्यासके कष्ट सहन करके निरन्तर कुरुकुलरत्न पाण्डवोंकी आराधनामें लगी रहती थी । इससे मेरे लिये दिन और रात समान हो गये थे ॥ ५७ ॥

प्रथमं प्रतिबुध्यामि चरमं संविशामि च ।
नित्यकालमहं सत्ये एतत् संवननं मम ॥ ५८ ॥

'सत्ये ! मैं प्रतिदिन सबसे पहले उठती और सबसे पीछे सोती थी । यह पतिभक्ति और सेवा ही मेरा वशीकरण मन्त्र है ॥ ५८ ॥

एतज्जानाम्यहं कर्तुं भर्तृसंवननं महत् ।
असत्स्त्रीणां समाचारं नाहं कुर्यां न कामये ॥ ५९ ॥

'पतिको वशमें करनेका यही सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय मैं जानती हूँ । दुराचारिणी स्त्रियाँ जिन उपायोंका अवलम्बन करती हैं, उन्हें न तो मैं करती हूँ और न चाहती ही हूँ' ॥ ५९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा धर्मसहितं व्याहृतं कृष्णया तदा ।
उवाच सत्या सत्कृत्य पाञ्चालीं धर्मचारिणीम् ॥ ६० ॥
अभिपन्नास्मि पाञ्चालि याज्ञसेनि क्षमस्व मे ।
कामकारः सखीनां हि सोपहासं प्रभाषितम् ॥ ६१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! द्रौपदीकी ये धर्मयुक्त बातें सुनकर सत्यभामाने उस धर्मपरायणा पाञ्चालीका समादर करते हुए कहा—'पाञ्चालराजकुमारी ! याज्ञसेनी ! मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ; (मैंने जो अनुचित प्रश्न किया है), उसके लिये मुझे क्षमा कर दो । सखियोंमें परस्पर स्वेच्छा-पूर्वक ऐसी हास-परिहासकी बातें हो जाया करती हैं' ॥६०-६१॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीसत्यभामा-संवादपर्वमें दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक [illegible] श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पतिदेवको अनुकूल करनेका उपाय—पतिकी अनन्यभावसे सेवा

द्रौपद्युवाच

इमं तु ते मार्गमपेतमोहं
वक्ष्यामि चित्तग्रहणाय भर्तुः।
अस्मिन् यथावत् सखि वर्तमाना
भर्तारमाच्छेत्स्यसि कामिनीभ्यः ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली—सखी ! मैं स्वामीके मनका आकर्षण करनेके लिये तुम्हें एक ऐसा मार्ग बता रही हूँ, जिसमें भ्रम अथवा छल-कपटके लिये तनिक भी स्थान नहीं है। यदि तुम यथावत्‌रूपसे इसी पथपर चलती रहोगी, तो स्वामीके चित्तको अपनी सौतोंसे हटाकर अपनी ओर अवश्य खींच सकोगी ॥ १ ॥

नैतादृशं दैवतमस्ति सत्ये
सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु।
यथा पतिस्तस्य तु सर्वकामा
लभ्याः प्रसादात् कुपितश्च हन्यात् ॥ २॥

सत्ये ! स्त्रियोंके लिये देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंमें पतिके समान दूसरा कोई देवता नहीं है। पतिके प्रसादसे नारीकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण हो सकती हैं और यदि पति ही कुपित हो जाय, तो वह नारीकी सभी आशाओंको नष्ट कर सकता है ॥ २ ॥

तस्मादपत्यं विविधाश्च भोगाः
शय्यासनान्युत्तमदर्शनानि ।
वस्त्राणि माल्यानि तथैव गन्धाः
स्वर्गश्च लोको विपुला च कीर्तिः ॥ ३ ॥

सेवाद्वारा प्रसन्न किये हुए पतिसे स्त्रियोंको (उत्तम) संतान, भाँति-भाँतिके भोग, शय्या, आसन, सुन्दर दिखायी देनेवाले वस्त्र, माला, सुगन्धित पदार्थ, स्वर्गलोक तथा महान् यशकी प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥

सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं
दुःखेन साध्वी लभते सुखानि।
सा कृष्णमाराधय सौहृदेन
प्रेम्णा च नित्यं प्रतिकर्मणा च ॥ ४ ॥
तथाऽऽसनैश्चारुभिरग्र्यमाल्यै-
र्दाक्षिण्ययोगैर्विविधैश्च गन्धैः।
अस्याः प्रियोऽस्मीति यथा विदित्वा
त्वामेव संश्लिष्यति तद् विधत्स्व ॥ ५ ॥

सखी! [illegible] सुखके द्वारा सुख नहीं मिलता। पतिव्रता स्त्री दुःख उठाकर ही सुख पाती है। तुम सौहार्द, प्रेम, सुन्दर वेश-भूषा-धारण, सुन्दर आसन-समर्पण, मनोहर पुष्पमाला, उदारता, सुगन्धित द्रव्य एवं व्यवहारकुशलतासे श्यामसुन्दरकी निरन्तर आराधना करती रहो। उनके साथ ऐसा बर्ताव करो, जिससे वे यह समझकर 'कि सत्यभामाको मैं ही अधिक प्रिय हूँ' तुम्हें ही हृदयसे लगाया करें ॥ ४-५ ॥

श्रुत्वा स्वरं द्वारगतस्य भर्तुः
प्रत्युत्थिता तिष्ठ गृहस्य मध्ये।
दृष्ट्वा प्रविष्टं त्वरिताऽऽसनेन
पाद्येन चैनं प्रतिपूजयस्व ॥ ६ ॥

जब महलके द्वारपर पधारे हुए प्राणवल्लभका स्वर सुनायी पड़े, तब तुम उठकर घरके आँगनमें आ जाओ और उनकी प्रतीक्षामें खड़ी रहो। जब देखो कि वे भीतर आ गये, तब तुरंत आसन और पाद्यके द्वारा उनका यथावत् पूजन करो ॥ ६ ॥

सम्प्रेषितायामथ चैव दास्या-
मुत्थाय सर्वं स्वयमेव कार्यम्।
जानातु कृष्णस्तव भावमेतं
सर्वात्मना मां भजतीति सत्ये ॥ ७ ॥

सत्ये ! यदि श्यामसुन्दर किसी कार्यके लिये दासीको भेजते हों, तो तुम्हें स्वयं उठकर वह सब काम कर लेना चाहिये; जिससे श्रीकृष्णको तुम्हारे इस सेवा-भावका अनुभव हो जाय कि सत्यभामा सम्पूर्ण हृदयसे मेरी सेवा करती है॥ ७ ॥

त्वत्संनिधौ यत् कथयेत् पतिस्ते
यद्यप्यगुह्यं परिरक्षितव्यम्।
काचित् सपत्नी तव वासुदेवं
प्रत्यादिशेत् तेन भवेद् विरागः ॥ ८ ॥

तुम्हारे पति तुम्हारे निकट जो भी बात कहें, वह छिपाने योग्य न हो, तो भी तुम्हें उसे गुप्त ही रखना चाहिये। अन्यथा तुम्हारे मुखसे उस बातको सुनकर यदि कोई सौत उसे श्यामसुन्दरके सामने कह दे, तो इससे उनके मनमें तुम्हारी ओरसे विरक्ति हो सकती है ॥ ८ ॥

प्रियांश्च रक्तांश्च हितांश्च भर्तु-
स्तान् भोजयेथा विविधैरुपायैः।
द्वेष्यैरुपेक्ष्यैरहितैश्च तस्य
भिद्यस्व नित्यं कुहकोद्यतैश्च ॥ ९ ॥

पतिके जो [illegible] सुहृद् हों, उन्हें तरह-तरहके उपायोंसे खिलाओ-पिलाओ तथा जो

उनके शत्रु, उपेक्षणीय और अहितकारक हों अथवा जो उनसे छल-कपट करनेके लिये उद्यत रहते हों; उनसे सदा दूर रहो ॥ ९ ॥

मदं प्रमादं पुरुषेषु हित्वा
संयच्छ भावं प्रतिगृह्य मौनम् ।
प्रद्युम्नसाम्बावपि ते कुमारौ
नोपासितव्यौ रहिते कदाचित् ॥ १० ॥

दूसरे पुरुषोंके समीप घमंड और प्रमादका परित्याग करके मौन रहकर अपने मनोभावको प्रकट न होने दो । कुमार प्रद्युम्न और साम्ब यद्यपि तुम्हारे पुत्र हैं, तथापि तुम्हें एकान्तमें कभी उनके पास भी नहीं बैठना चाहिये ॥१०॥

महाकुलीनाभिरपापिकाभिः
स्त्रीभिः सतीभिस्तव सख्यमस्तु ।
चण्डाश्च शौण्डाश्च महाशनाश्च
चौराश्च दुष्टाश्चपलाश्च वर्ज्याः ॥ ११ ॥

अत्यन्त ऊँचे कुलमें उत्पन्न और पापाचारसे दूर रहनेवाली सती स्त्रियोंके साथ ही तुम्हें सखीभाव स्थापित करना चाहिये । जो अत्यन्त क्रोधी, नशेमें चूर रहनेवाली, अधिक खानेवाली, चोरीकी लत रखनेवाली, दुष्ट और चञ्चल स्वभावकी स्त्रियाँ हों, उन्हें दूरसे ही त्याग देना चाहिये ॥११॥

एतद् यशस्यं भगदैवतं च
स्वार्ग्यं तथा शत्रुनिबर्हणं च ।
महार्हमाल्याभरणाङ्गरागा
भर्तारमाराधय पुण्यगन्धा ॥ १२ ॥

तुम बहुमूल्य हार, आभूषण और अङ्गराग धारण करके पवित्र सुगन्धित वस्तुओंसे सुवासित हो अपने प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी आराधना करो । इससे तुम्हारे यश और सौभाग्यकी वृद्धि होगी । तुम्हारे मनोरथकी सिद्धि तथा शत्रुओंका नाश होगा ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि द्रौपदीकर्तव्यकथने चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वमें द्रौपदीद्वारा स्त्रीकर्तव्यकथनविषयक दो सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३४ ॥

पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

सत्यभामाका द्रौपदीको आश्वासन देकर श्रीकृष्णके साथ द्वारिकाको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयादिभिर्विप्रैः पाण्डवैश्च महात्मभिः ।
कथाभिरनुकूलाभिः सह स्थित्वा जनार्दनः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय भगवान् श्रीकृष्ण मार्कण्डेय आदि ब्रह्मर्षियों तथा महात्मा पाण्डवोंके साथ अनुकूल बातें करते हुए कुछ कालतक वहाँ रहकर (द्वारिका जानेको उद्यत हुए) ॥ १ ॥

ततस्तैः संविदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः ।
आरुरुक्षू रथं सत्यामाह्वयामास केशवः ॥ २ ॥

मधुसूदन केशवने उन सबसे यथावत् वार्तालापके अनन्तर विदा लेकर रथपर चढ़नेकी इच्छासे सत्यभामाको बुलाया ॥ २ ॥

सत्यभामा ततस्तत्र स्वजित्वा द्रुपदात्मजाम् ।
उवाच वचनं हृद्यं यथाभावं समाहितम् ॥ ३ ॥

तब सत्यभामा वहाँ द्रुपदकुमारीसे गले मिलकर अपने हार्दिक भावके अनुसार एकाग्रतापूर्वक मधुर वचन बोली—॥३॥



कृष्णे मा भूत् तवोत्कण्ठा मा व्यथा मा प्रजागरः ।
भर्तृभिर्देवसंकाशैर्जितां प्राप्स्यसि मेदिनीम् ॥ ४ ॥

'सखी कृष्णे ! तुम्हें उत्कण्ठित (राज्यके लिये चिन्तित) और व्यथित नहीं होना चाहिये । तुम इस प्रकार रात-रातभर जागना छोड़ दो । तुम्हारे देवतुल्य पतियोंद्वारा जीती हुई इस पृथ्वीका राज्य तुम्हें अवश्य प्राप्त होगा ॥ ४ ॥

न ह्येवं शीलसम्पन्ना नैवं पूजितलक्षणाः ।
प्राप्नुवन्ति चिरं क्लेशं यथा त्वमसितेक्षणे ॥ ५ ॥

'श्यामलोचने ! तुम्हें जैसा क्लेश सहन करना पड़ा है, वैसा कष्ट तुम्हारे-जैसी सुशीला तथा श्रेष्ठ लक्षणोंवाली देवियाँ अधिक दिनोंतक नहीं भोगा करती हैं ॥ ५ ॥

अवश्यं च त्वया भूमिरियं निहतकण्टका ।
भर्तृभिः सह भोक्तव्या निर्द्वन्द्वेति श्रुतं मया ॥ ६ ॥

'मैंने (महात्माओंसे) सुना है कि तुम अपने पतियोंके साथ निश्चय ही इस पृथ्वीका निर्द्वन्द्व तथा निष्कण्टक राज्य भोगोगी ॥ ६ ॥

धार्तराष्ट्रवधं कृत्वा वैराणि प्रतियात्य च ।
युधिष्ठिरस्थां पृथिवीं द्रक्ष्यसि द्रुपदात्मजे ॥ ७ ॥

'द्रुपदकुमारी ! तुम शीघ्र ही देखोगी कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर और पहलेके वैरका भरपूर बदला चुकाकर तुम्हारे पतियोंने विजय पायी है और इस पृथ्वीपर महाराज युधिष्ठिरका अधिकार हो गया है ॥ ७ ॥

यास्ताः प्रव्रजमानां त्वां प्राहसन् दर्पमोहिताः ।
ताः क्षिप्रं हतसंकल्पा द्रक्ष्यसि त्वं कुरुस्त्रियः ॥ ८ ॥

'तुम्हारे वन जाते समय अभिमानसे मोहित हो कुरुकुलकी जिन स्त्रियोंने तुम्हारी हँसी उड़ायी थी, उनकी आशाओंपर पानी फिर जायगा और तुम उन्हें शीघ्र ही दुरवस्थामें पड़ी हुई देखोगी ॥ ८ ॥

तव दुःखोपपन्नाया यैराचरितमप्रियम् ।
विद्धि सम्प्रस्थितान् सर्वांस्तान् कृष्णे यमसादनम् ॥ ९ ॥

'कृष्णे ! तुम दुःखमें पड़ी हुई थी, उस दशामें जिन लोगोंने तुम्हारा अप्रिय किया है, उन सबको तुम यमलोकमें गया हुआ ही समझो ॥ ९ ॥

पुत्रस्ते प्रतिविन्ध्यश्च सुतसोमस्तथाविधः ।
श्रुतकर्मार्जुनिश्चैव शतानीकश्च नाकुलिः ॥ १० ॥
सहदेवाच्च यो जातः श्रुतसेनस्तवात्मजः ।
सर्वे कुशलिनो वीराः कृतास्त्राश्च सुतास्तव ॥ ११ ॥

'युधिष्ठिरकुमार प्रतिविन्ध्य, भीमसेननन्दन सुतसोम, अर्जुनकुमार श्रुतकर्मा, नकुलनन्दन शतानीक तथा सहदेव-कुमार श्रुतसेन—तुम्हारे ये सभी वीर पुत्र शस्त्रविद्यामें निपुण हो गये हैं और कुशलपूर्वक द्वारिकापुरीमें रहते हैं ॥ १०-११ ॥

अभिमन्युरिव प्रीता द्वारवत्यां रता भृशम् ।
त्वमिवैषां सुभद्रा च प्रीत्या सर्वात्मना स्थिता ॥ १२ ॥

'वे सबके सब अभिमन्युकी भाँति बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ रहते हैं । द्वारिकामें उनका मन बहुत लगता है । सुभद्रादेवी तुम्हारी ही तरह उन सबके साथ सब प्रकारसे प्रेमपूर्ण बर्ताव करती हैं ॥ १२ ॥

प्रीयते तव निर्द्वन्द्वा तेभ्यश्च विगतज्वरा ।
दुःखिता तेन दुःखेन सुखेन सुखिता तथा ॥ १३ ॥

'वे किसीके प्रति भेदभाव न रखकर उन सबके प्रति निश्छल स्नेह रखती हैं । वे उन बालकोंके दुःखसे ही दुखी और उन्हींके सुखसे सुखी होती हैं ॥ १३ ॥

भजेत् सर्वात्मना चैव प्रद्युम्नजननी तथा ।
भानुप्रभृतिभिश्चैनान् विशिनष्टि च केशवः ॥ १४ ॥

'प्रद्युम्नकी माताजी भी उनकी सब प्रकारसे सेवा और देखभाल करती हैं । श्यामसुन्दर अपने भानु आदि पुत्रोंसे भी बढ़कर तुम्हारे पुत्रोंको मानते हैं ॥ १४ ॥

भोजनाच्छादने चैषां नित्यं मे श्वशुरः स्थितः ।
रामप्रभृतयः सर्वे भजन्त्यन्धकवृष्णयः ॥ १५ ॥

'मेरे श्वशुरजी प्रतिदिन इनके भोजन-वस्त्र आदिकी समुचित व्यवस्थापर दृष्टि रखते हैं । बलरामजी आदि सभी अन्धकवंशी तथा वृष्णिवंशी यादव उनकी सुख-सुविधाका ध्यान रखते हैं ॥ १५ ॥

तुल्यो हि प्रणयस्तेषां प्रद्युम्नस्य च भाविनि ।
एवमादि प्रियं सत्यं हृद्यमुक्त्वा मनोऽनुगम् ॥ १६ ॥
गमनाय मनश्चक्रे वासुदेवरथं प्रति ।
तां कृष्णां कृष्णमहिषी चकाराभिप्रदक्षिणम् ॥ १७ ॥

'भामिनि ! उन सबका और प्रद्युम्नका भी तुम्हारे पुत्रोंपर समान प्रेम है ।' इस प्रकार हृदयको प्रिय लगनेवाले, सत्य एवं मनके अनुकूल वचन कहकर श्रीकृष्णमहिषी सत्यभामाने अपने स्वामीके रथकी ओर जानेका विचार किया और द्रौपदीकी परिक्रमा की ॥ १६-१७ ॥

आरुरोह रथं शौरेः सत्यभामाथ भाविनी ।
स्मयित्वा तु यदुश्रेष्ठा द्रौपदीं परिसान्त्व्य च ।
उपावर्त्य ततः शीघ्रैर्हयैः प्रायात् पुरं स्वकम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर भामिनी सत्यभामा श्रीकृष्णके रथपर आरूढ़ हो गयी। यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने मुसकराकर द्रौपदीको सान्त्वना दी और उसे लौटाकर शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा अपनी पुरी द्वारिकाको प्रस्थान किया ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि कृष्णगमने पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वमें श्रीकृष्णका द्वारिकाको प्रस्थानविषयक दो सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३५ ॥



(घोषयात्रापर्व)

षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका समाचार सुनकर धृतराष्ट्रका खेद और चिन्तापूर्ण उद्गार

जनमेजय उवाच

एवं वने वर्तमाना नराग्र्याः
शीतोष्णवातातपकर्शिताङ्गाः ।
सरस्तदासाद्य वनं च पुण्यं
ततः परं किमकुर्वन्त पार्थाः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! इस प्रकार वनमें रहकर सर्दी, गर्मी, हवा और धूपका कष्ट सहनेके कारण जिनके शरीर अत्यन्त कृश हो गये थे, उन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने पवित्र द्वैतवनमें पूर्वोक्त सरोवरके पास पहुँचकर फिर कौन-सा कार्य किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

सरस्तदासाद्य तु पाण्डुपुत्रा
जनं समुत्सृज्य विधाय वेश्म ।
वनानि रम्याण्यथ पर्वतांश्च
नदीप्रदेशांश्च तदा विचेरुः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! उस (रमणीय) सरोवरपर आकर पाण्डवोंने वहाँ आये हुए जनसमुदायको विदा कर दिया और अपने रहनेके लिये कुटी बनाकर वे आस-पासके रमणीय वनों, पर्वतों तथा नदीके तटप्रदेशोंमें विचरने लगे ॥ २ ॥

तथा वने तान् वसतः प्रवीरान्
स्वाध्यायवन्तश्च तपोधनाश्च ।
अभ्याययुर्वेदविदः पुराणा-
स्तान् पूजयामासुरथो नराग्र्याः ॥ ३ ॥

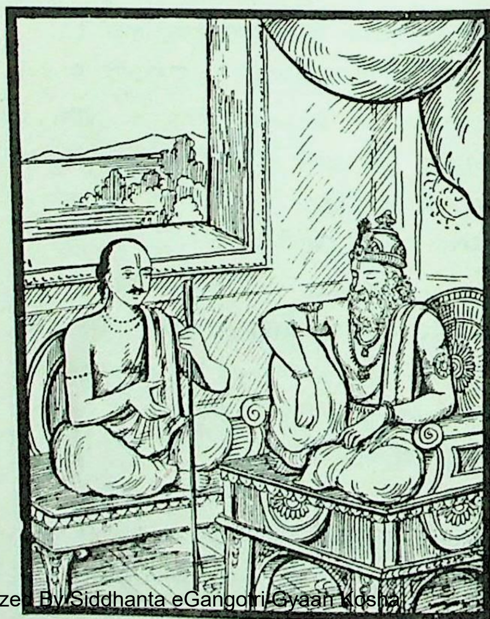
इस तरह वनमें रहते हुए उन वीरशिरोमणि पाण्डवोंके पास बहुत-से स्वाध्यायशील, वेदवेत्ता एवं पुरातन तपस्वी ब्राह्मण आते थे और वे नरश्रेष्ठ पाण्डव उनकी यथोचित सेवा-पूजा करते थे ॥ ३ ॥

ततः कदाचित् कुशलः कथासु
विप्रोऽभ्यगच्छद् भुवि कौरवेयान् ।
स तैः समेत्याथ यदृच्छयैव
वैचित्रवीर्यं नृपमभ्यगच्छत् ॥ ४ ॥

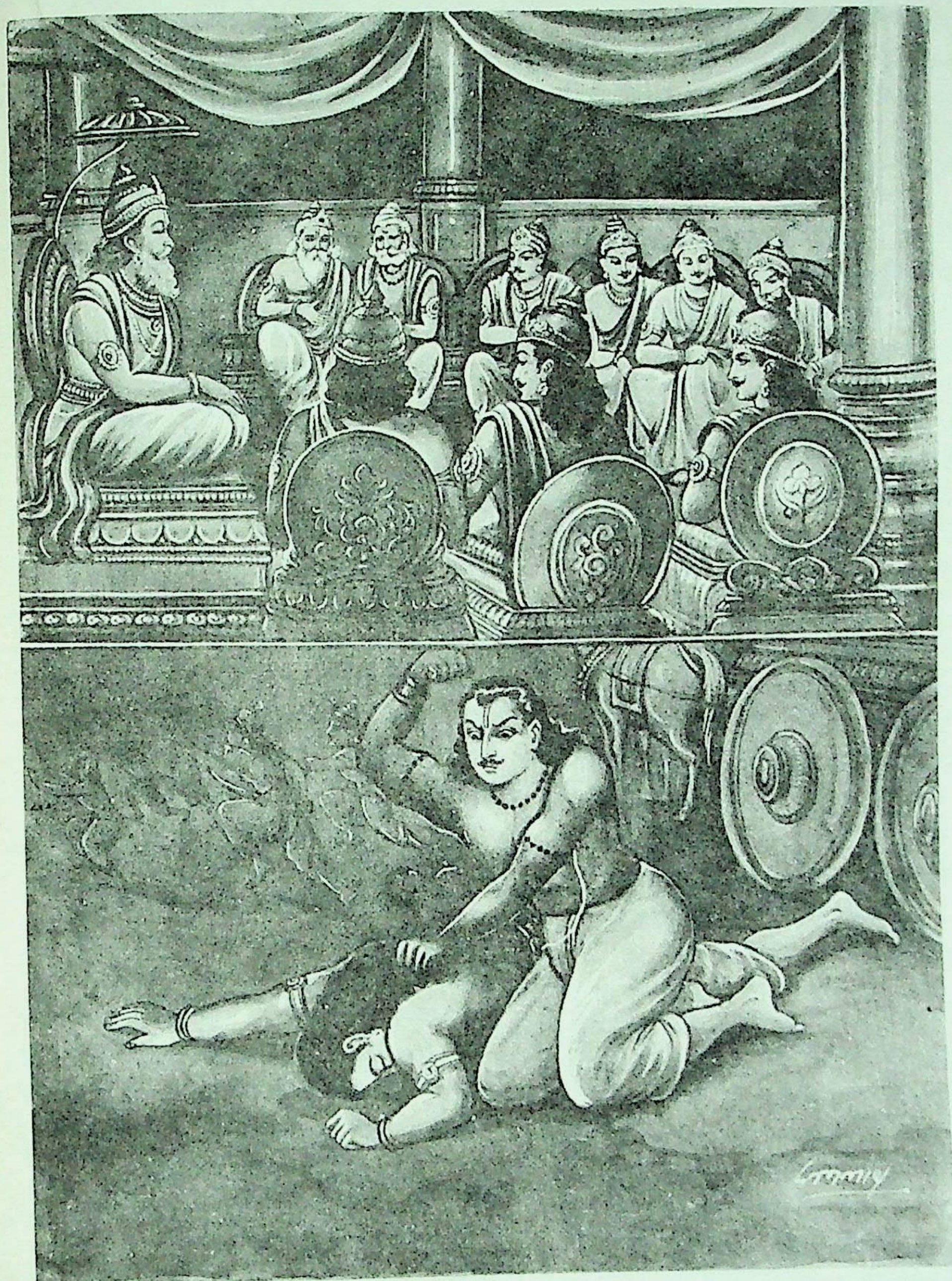
तदनन्तर किसी समय कथावार्तामें कुशल एक ब्राह्मण उस वन्यभूमिमें पाण्डवोंके पास आया और उनसे मिलकर वह घूमता-घामता अकस्मात् राजा धृतराष्ट्रके दरबारमें जा पहुँचा ॥ ४ ॥

अथोपविष्टः प्रतिसत्कृतश्च
वृद्धेन राज्ञा कुरुसत्तमेन ।
प्रचोदितः संकथयाम्बभूव
धर्मानिलेन्द्रप्रभवान् यमौ च ॥ ५ ॥

कुरुकुलमें श्रेष्ठ एवं वयोवृद्ध राजा धृतराष्ट्रने उसका बहुत आदर-सत्कार किया । जब वह आसनपर बैठ गया, तब महाराजके पूछनेपर युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवके समाचार सुनाने लगा ॥ ५ ॥



पाण्डवोंके अन्वेषणके विषयमें भीष्मकी सम्मति



सुशर्मापर भीमसेनका प्रहार

कृशांश्च वातातपकर्शिताङ्गान्
दुःखस्य चोग्रस्य मुखे प्रपन्नान्।
तां चाप्यनाथामिव वीरनाथां
कृष्णां परिक्लेशगुणेन युक्ताम्॥ ६ ॥

उसने बताया—'इस समय पाण्डव हवा और गर्मी आदिका कष्ट सहन करनेके कारण अत्यन्त कृश हो गये हैं। भयंकर दुःखके मुँहमें पड़ गये हैं और वीरपत्नी द्रौपदी भी अनाथकी भाँति सब ओरसे क्लेश-ही-क्लेश भोग रही है' ॥ ६ ॥

ततः कथास्तस्य निशम्य राजा
वैचित्रवीर्यः कृपयाभितप्तः।
वने तथा पार्थिवपुत्रपौत्रान्
श्रुत्वा तथा दुःखनदीं प्रपन्नान्॥ ७ ॥
प्रोवाच दैन्याभिहतान्तरात्मा
निःश्वासवातोपहतस्तदानीम् ।
वाचं कथंचित् स्थिरतामुपेत्य
तत् सर्वमात्मप्रभवं विचिन्त्य ॥ ८ ॥

ब्राह्मणकी ये बातें सुनकर विचित्रवीर्यनन्दन राजा धृतराष्ट्र दयासे द्रवित हो बहुत दुखी हो गये। जब उन्होंने सुना कि राजाके पुत्र और पौत्र होकर भी पाण्डव इस प्रकार दुःखकी नदीमें डूबे हुए हैं, तब उनका हृदय करुणासे भर आया और वे लंबी-लंबी साँसें खींचते हुए किसी प्रकार धैर्य धारण करके सब कुछ अपनी ही करतूतका परिणाम समझकर यों बोले—॥ ७-८ ॥

कथं नु सत्यः शुचिरार्यवृत्तो
ज्येष्ठः सुतानां मम धर्मराजः।
अजातशत्रुः पृथिवीतले स्म
शेते पुरा राङ्कवकूटशायी ॥ ९ ॥

'अहा! जो मेरे सभी पुत्रोंमें बड़े तथा सत्यवादी, पवित्र और सदाचारी हैं तथा जो पहले रङ्कु मृगके (नरम) रोओंसे बने हुए बिछौनोंपर सोया करते थे, वे अजातशत्रु धर्मराज युधिष्ठिर आजकल भूमिपर कैसे शयन करते होंगे ? ॥ ९ ॥

प्रबोध्यते मागधसूतपूगै-
र्नित्यं स्तुवद्भिः स्वयमिन्द्रकल्पः।
पतत्त्रिसङ्घैः स जघन्यरात्रे
प्रबोध्यते नूनमिडातलस्थः ॥ १० ॥

'जिन्हें कभी मागधों और सूतोंका समुदाय प्रतिदिन स्तुति-पाठ करके जगाता था, जो साक्षात् इन्द्रके समान तेजस्वी और पराक्रमी हैं, वे ही राजा युधिष्ठिर निश्चय ही अब भूमिपर सोते और पक्षियोंके कलरव सुनकर रातके पिछले पहरमें जागते होंगे ॥ १० ॥

कथं नु वातातपकर्शिताङ्गो
वृकोदरः कोपपरिप्लुताङ्गः।
शेते पृथिव्यामतथोचिताङ्गः
कृष्णासमक्षं वसुधातलस्थः ॥ ११ ॥

'भीमसेनका शरीर हवा और धूपका कष्ट सहन करनेसे अत्यन्त दुर्बल हो गया होगा। उनका अङ्ग-अङ्ग क्रोधसे काँपता और फड़कता होगा । वे द्रौपदीके सामने कैसे धरतीपर शयन करते होंगे ? उनका शरीर ऐसा कष्ट भोगने योग्य नहीं है ॥ ११ ॥

तथार्जुनः सुकुमारो मनस्वी
वशे स्थितो धर्मसुतस्य राज्ञः।
विदूयमानैरिव सर्वगात्रै-
र्ध्रुवं न शेते वसतीरमर्षात् ॥ १२ ॥

'इसी प्रकार सुकुमार एवं मनस्वी अर्जुन, जो सदा धर्मराज युधिष्ठिरके अधीन रहते हैं, अमर्षके कारण उनके सारे अङ्गोंमें संताप हो रहा होगा और निश्चय ही उन्हें अपनी कुटियामें अच्छी तरह नींद नहीं आती होगी ॥१२॥

यमौ च कृष्णां च युधिष्ठिरं च
भीमं च दृष्ट्वा सुखविप्रयुक्तम्।
विनिःश्वसन् सर्प इवोग्रतेजा
ध्रुवं न शेते वसतीरमर्षात् ॥ १३ ॥

'अर्जुनका तेज बड़ा ही भयंकर है। वे नकुल, सहदेव, द्रौपदी, युधिष्ठिर तथा भीमसेनको सुखसे वञ्चित देखकर सर्पके समान फुफकारते होंगे और अमर्षके कारण निश्चय ही उन्हें नींद नहीं आती होगी ॥ १३ ॥

तथा यमौ चाप्यसुखौ सुखार्हौ
समृद्धरूपावमरौ दिवीव।
प्रजागरस्थौ ध्रुवमप्रशान्तौ
धर्मेण सत्येन च वार्यमाणौ ॥ १४ ॥

'इसी प्रकार सुख भोगनेके योग्य नकुल और सहदेवका भी सुख छिन गया है। वे दोनों भाई स्वर्गके देवता अश्विनीकुमारोंकी भाँति रूपवान् हैं। वे भी निश्चय ही अशान्त भावसे सारी रात जागते हुए भूमिपर सोते होंगे। धर्म और सत्य ही उन्हें तत्काल आक्रमण करनेसे रोके हुए हैं ॥१४॥

समीरणेनाथ समो बलेन
समीरणस्यैव सुतो बलीयान्।
स धर्मपाशेन सितोऽग्रजेन
ध्रुवं विनिःश्वस्य सहत्यमर्षम् ॥ १५ ॥

'जो बलमें वायुके समान हैं, वायुदेवताके ही अत्यन्त बलवान् पुत्र हैं, वे भीमसेन भी अपने बड़े भाईके द्वारा धर्मके बन्धनमें बाँध लिये गये हैं। निश्चय ही इसीलिये चुपचाप लम्बी साँसें खींचते हुए वे अमर्षको सहन करते हैं ॥ १५ ॥

स चापि भूमौ परिवर्तमानो
वधं सुतानां मम काङ्क्षमाणः।
सत्येन धर्मेण च वार्यमाणः
कालं प्रतीक्षत्यधिको रणेऽन्यैः॥ १६ ॥

'रणभूमिमें भीमसेन दूसरोंकी अपेक्षा सदा अधिक पराक्रमी सिद्ध होते हैं। वे मेरे पुत्रोंके वधकी कामना करते हुए धरतीपर करवटें बदल रहे होंगे। सत्य और धर्मने ही उन्हें रोक रक्खा है; अतः वे भी अवसरकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं॥ १६॥

अजातशत्रौ तु जिते निकृत्या
दुःशासनो यत्परुषाण्यवोचत्।
तानि प्रविष्टानि वृकोदराङ्गं
दहन्ति कक्षाग्निरिवेन्धनानि॥ १७ ॥

'अजातशत्रु युधिष्ठिरको जूएमें छलपूर्वक हरा दिये जानेपर दुःशासनने जो कड़वी बातें कही थीं, वे भीमसेनके शरीरमें घुसकर जैसे आग तृण और काष्ठके समूहको जला डालती है, उसी प्रकार उन्हें दग्ध कर रही होंगी॥ १७॥

न पापकं ध्यास्यति धर्मपुत्रो
धनंजयश्चाप्यनुवर्त्स्यते तम्।
अरण्यवासेन विवर्धते तु
भीमस्य कोपोऽग्निरिवानिलेन॥ १८ ॥

'धर्मपुत्र युधिष्ठिर मेरे अपराधपर ध्यान नहीं देंगे। अर्जुन भी उन्हींका अनुसरण करेंगे। परंतु इस वनवाससे भीमसेनका क्रोध तो उसी प्रकार बढ़ रहा होगा, जैसे हवा लगनेसे आग धधक उठती है॥ १८॥

स तेन कोपेन विदह्यमानः
करं करेणाभिनिपीड्य वीरः।
विनिःश्वसत्युष्णमतीव घोरं
दहन्निवेमान् मम पुत्रपौत्रान्॥ १९ ॥

'उस क्रोधसे जलते हुए वीरवर भीमसेन हाथसे हाथ मलकर इस प्रकार अत्यन्त भयंकर गर्म-गर्म साँस खींच रहे होंगे, मानो मेरे इन पुत्रों और पौत्रोंको अभी भस्म कर डालेंगे॥ १९॥

गाण्डीवधन्वा च वृकोदरश्च
संरम्भिणावन्तककालकल्पौ।
न शेषयेतां युधि शत्रुसेनां
शरान् किरन्तावशनिप्रकाशान्॥ २० ॥

'गाण्डीवधारी अर्जुन तथा भीमसेन जब क्रोधमें भर जायँगे, उस समय यमराज और कालके समान हो जायँगे। वे रणभूमिमें विद्युत्के समान चमकनेवाले बाणोंकी वर्षा करके शत्रुसेनामेंसे किसीको भी जीवित नहीं छोड़ेंगे॥ २०॥

दुर्योधनः शकुनिः सूतपुत्रो
दुःशासनश्चापि सुमन्दचेताः।
मधु प्रपश्यन्ति न तु प्रपातं
यद् द्यूतमालम्ब्य हरन्ति राज्यम्॥ २१ ॥

'दुर्योधन, शकुनि, सूतपुत्र कर्ण तथा दुःशासन-ये बड़े ही मूढ़बुद्धि हैं, क्योंकि जूएके सहारे दूसरेके राज्यका अपहरण कर रहे हैं। (ये अपने ऊपर आनेवाले संकटको नहीं देखते हैं) इन्हें वृक्षकी शाखासे टपकता हुआ केवल मधु ही दिखायी देता है, वहाँसे गिरनेका जो भारी भय है, उधर उनकी दृष्टि नहीं है॥ २१॥

शुभाशुभं कर्म नरो हि कृत्वा
प्रतीक्षते तस्य फलं स कर्ता।
स तेन मुह्यत्यवशः फलेन
मोक्षः कथं स्यात् पुरुषस्य तस्मात्॥ २२ ॥

मनुष्य शुभ और अशुभ कर्म करके उसके स्वर्ग-नरकरूप फलकी प्रतीक्षा करता है। वह उस फलसे विवश होकर मोहित होता है। ऐसी दशामें मूढ़ पुरुषका उस मोहसे कैसे छुटकारा हो सकता है?॥ २२॥

क्षेत्रे सुकृष्टे ह्युपिते च बीजे
देवे च वर्षत्यृतुकालयुक्तम्।
न स्यात् फलं तस्य कुतः प्रसिद्धि-
रन्यत्र दैवादिति चिन्तयामि॥ २३ ॥

'मैं सोचता हूँ कि अच्छी तरह जोते हुए खेतमें बीज बोया जाय तथा ऋतुके अनुसार ठीक समयपर वर्षा भी हो, फिर भी उसमें फल न लगे, तो इसमें प्रारब्धके अतिरिक्त अन्य किसी कारणकी सिद्धि कैसे की जा सकती है?॥ २३॥

कृतं मताक्षेण यथा न साधु
साधुप्रवृत्तेन च पाण्डवेन।
मया च दुष्पुत्रवशानुगेन
तथा कुरूणामयमन्तकालः॥ २४ ॥

'द्यूतप्रेमी शकुनिने जूआ खेलकर कदापि अच्छा नहीं किया। साधुतामें लगे हुए युधिष्ठिरने भी जो उसे तत्काल नहीं मार डाला, यह भी अच्छा नहीं किया। इसी प्रकार कुपुत्रके वशमें पड़कर मैंने भी कोई अच्छा काम नहीं किया है। इसीका फल है कि यह कौरवोंका अन्तकाल आ पहुँचा है॥ २४॥

ध्रुवं प्रवास्यत्यसमीरितोऽपि
ध्रुवं प्रजास्यत्युत गर्भिणी या।
ध्रुवं दिनादौ रजनीप्रणाश-
स्तथा क्षपादौ च दिनप्रणाशः॥ २५ ॥

'निश्चय ही विना किसी प्रेरणाके भी हवा चलेगी ही, जो गर्भिणी है, वह समयपर अवश्य ही बच्चा जनेगी। दिनके आदिमें रजनीका नाश अवश्यम्भावी है तथा रात्रिके प्रारम्भमें दिनका भी अन्त होना निश्चित है। (इसी प्रकार पापका फल भी किसीके टाले नहीं टल सकता)॥ २५॥

क्रियेत कस्मादपरे च कुर्यु-
र्वित्तं न दद्युः पुरुषाः कथंचित्।
प्राप्यार्थकालं च भवेदनर्थः
कथं न तत् स्यादिति तत् कुतः स्यात्॥२६॥

'यदि यह विश्वास हो जाय, तो हम लोभके वश होकर न करने योग्य काम क्यों करें और दूसरे भी क्यों करें एवं बुद्धिमान् मनुष्य भी उपार्जित धनका दान क्यों न करें?' अर्थके उपयोगका समय प्राप्त होनेपर यदि उसका सदुपयोग न किया जाय तो वह अनर्थका हेतु हो जाता है। अतः विचार करना चाहिये कि वह धनका सदुपयोग क्यों नहीं होता और कैसे हो?॥ २६॥

कथं न भिद्येत न च स्रवेत
न च प्रसिच्येदिति रक्षितव्यम्।
अरक्ष्यमाणं शतधा प्रकीर्येद्
ध्रुवं न नाशोऽस्ति कृतस्य लोके॥ २७॥

'यदि प्राप्त हुए धनका यथावत् वितरण न किया जायगा, तो वह कच्चे घड़ेमें रखे हुए जलकी भाँति चूकर व्यर्थ नष्ट क्यों न होगा? यह सोचकर उसकी रक्षा करना ही कर्तव्य है। यदि यथायोग्य विभाजनके द्वारा धनकी रक्षा न की जायगी तो वह सैकड़ों प्रकारसे बिखर जायगा। जगत्में किये हुए कर्म-फलका नाश नहीं होता--यह निश्चित है। (इससे यही सिद्ध होता है कि उसका यथायोग्य वितरण कर देना ही उचित है)॥ २७॥

गतो ह्यरण्यादपि शक्रलोकं
धनंजयः पश्यत वीर्यमस्य।
अस्त्राणि दिव्यानि चतुर्विधानि
ज्ञात्वा पुनर्लोकमिमं प्रपन्नः॥ २८॥

'देखो, अर्जुनमें कितनी शक्ति है! वे वनसे भी इन्द्रलोकको चले गये और वहाँसे चारों प्रकारके दिव्यास्त्र सीखकर पुनः इस लोकमें लौट आये॥ २८॥

स्वर्गं हि गत्वा सशरीर एव
को मानुषः पुनरागन्तुमिच्छेत्।
अन्यत्र कालोपहताननेकान्
समीक्षमाणस्तु कुरून् मुमूर्षून्॥ २९॥

'सदेह स्वर्गमें जाकर कौन मनुष्य इस संसारमें पुनः लौटना चाहेगा। अर्जुनके पुनः मर्त्यलोकमें लौटनेका कारण इसके सिवा दूसरा नहीं है कि ये बहुसंख्यक कौरव कालके वशीभूत हो मृत्युके निकट पहुँच गये हैं और अर्जुन इनकी इस अवस्थाको अच्छी तरह देख रहे हैं॥ २९॥

धनुर्ग्राहश्चार्जुनः सव्यसाची
धनुश्च तद् गाण्डिवं भीमवेगम्।
अस्त्राणि दिव्यानि च तानि तस्य
त्रयस्य तेजः प्रसहेत कोऽत्र॥ ३०॥

'सव्यसाची अर्जुन अद्वितीय धनुर्धर हैं। उनके उस गाण्डीव धनुषका वेग भी बड़ा भयानक है और अब तो अर्जुनको वे दिव्यास्त्र भी प्राप्त हो गये हैं। इस समय इन तीनोंके सम्मिलित तेजको यहाँ कौन सह सकता है?'॥३०॥

निशम्य तद् वचनं पार्थिवस्य
दुर्योधनं रहिते सौबलोऽथ।
अबोधयत् कर्णमुपेत्य सर्वं
स चाप्यहृष्टोऽभवदल्पचेताः॥ ३१॥

एकान्तमें कही हुई राजा धृतराष्ट्रकी उपर्युक्त सारी बातें सुनकर सुबलपुत्र शकुनिने दुर्योधन और कर्णके पास जाकर ज्योंकी त्यों कह सुनायी। इससे मन्दमति दुर्योधन उदास एवं चिन्तित हो गया॥ ३१॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि धृतराष्ट्रखेदवाक्ये षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २३६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें धृतराष्ट्रके खेदयुक्त वचनसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३६॥

सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शकुनि और कर्णका दुर्योधनकी प्रशंसा करते हुए उसे वनमें पाण्डवोंके पास चलनेके लिये उभाड़ना

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्य तद् वाक्यं निशम्य शकुनिस्तदा।
दुर्योधनमिदं काले कर्णेन सहितोऽब्रवीत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धृतराष्ट्रके पूर्वोक्त वचन सुनकर उस समय कर्णसहित शकुनिने अवसर देखकर दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ १॥

प्रव्राज्य पाण्डवान् वीरान् स्वेन वीर्येण भारत।
भुङ्क्ष्वेमां पृथिवीमेको दिवि शम्बरहा यथा॥ २॥

'भरतनन्दन ! तुमने अपने पराक्रमसे पाण्डववीरोंको देशनिकाला देकर वनवासी बना दिया है। अब तुम स्वर्गमें इन्द्रकी भाँति अकेले ही इस पृथ्वीका राज्य भोगो ॥ २ ॥

(तवाद्य पृथिवी राजन्नखिला सागराम्बरा।
सपर्वतवनारामा सह स्थावरजङ्गमा ॥)

'राजन् ! पर्वत, वन, उद्यान एवं स्थावर-जङ्गमोंसहित यह सारी समुद्रपर्यन्त पृथ्वी आज तुम्हारे अधिकारमें है ॥

प्राच्याश्च दाक्षिणात्याश्च प्रतीच्योदीच्यवासिनः।
कृताः करप्रदाः सर्वे राजानस्ते नराधिप ॥ ३ ॥

'नरेश्वर ! पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाके सभी राजाओंको तुम्हारे लिये करदाता बना दिया गया है ॥ ३ ॥

या हि सा दीप्यमानेव पाण्डवानभजत् पुरा।
साद्य लक्ष्मीस्त्वया राजन्नवाप्ता भ्रातृभिः सह॥ ४ ॥

'राजन् ! जो दीप्तिमती श्री पहले पाण्डवोंकी सेवा करती थी, वही आज भाइयोंसहित तुम्हारे अधिकारमें आ गयी है ॥



इन्द्रप्रस्थगते यां तां दीप्यमानां युधिष्ठिरे।
अपश्याम श्रियं राजन् दृश्यते सा तवाद्य वै ॥ ५ ॥

'महाराज ! इन्द्रप्रस्थमें जानेपर युधिष्ठिरके यहाँ हम लोग जिस राजलक्ष्मीको प्रकाशित होते देखते थे, वही आज तुम्हारे यहाँ उद्भासित होती दिखायी देती है ॥ ५ ॥

शात्रवास्तव राजेन्द्र न चिरं शोककर्शिताः।
सा तु बुद्धिबलेनेयं राजस्तस्माद् युधिष्ठिरात् ॥ ६ ॥
त्वयाऽऽक्षिप्ता महाबाहो दीप्यमानेव दृश्यते।

'राजेन्द्र ! तुम्हारे शत्रु शीघ्र ही शोकसे दीन-दुर्बल हो गये हैं। महाबाहो ! तुमने राजा युधिष्ठिरसे इस लक्ष्मीको अपने बुद्धिबलसे छीन लिया है। अतः अब तुम्हारे यहाँ यह प्रकाशित होती-सी दिखायी दे रही है ॥ ६½ ॥

तथैव तव राजेन्द्र राजानः परवीरहन् ॥ ७ ॥
शासनेऽधिष्ठिताः सर्वे किं कुर्म इति वादिनः।

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले महाराज ! इसी प्रकार सब राजा अपनेको किंकर बताते हुए आपकी आज्ञाके अधीन रहते हैं ॥ ७½ ॥

तवेयं पृथिवी राजन् निखिला सागराम्बरा ॥ ८ ॥
सपर्वतवना देवी सग्रामनगराकरा।
नानावनोद्देशवती पर्वतैरुपशोभिता ॥ ९ ॥

'राजन् ! इस समय यह सारी समुद्रवसना पृथ्वीदेवी पर्वत, वन, ग्राम, नगर तथा खानोंके साथ तुम्हारे अधिकारमें आ गयी है। यह नाना प्रकारके प्रदेशोंसे युक्त तथा पर्वतोंसे सुशोभित है ॥ ८-९ ॥

(नानाध्वजपताकाङ्का स्फीतराष्ट्रा महाबला)

'नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे चिह्नित इस भूतलपर कितने ही समृद्धिशाली राष्ट्र हैं और वहाँ बहुत-सी विशाल सेनाएँ संगठित हैं ॥

वन्द्यमानो द्विजै राजन् पूज्यमानश्च राजभिः।
पौरुषाद् दिवि देवेषु भ्राजसे रश्मिवानिव ॥ १० ॥

'राजन् ! तुम अपने पुरुषार्थसे द्विजोंद्वारा सम्मानित तथा राजाओंद्वारा पूजित होकर स्वर्ग एवं देवताओंमें अंशुमाली सूर्यकी भाँति इस भूतलपर प्रकाशित हो रहे हो ॥

रुद्रैरिव यमो राजा मरुद्भिरिव वासवः।
कुरुभिस्त्वं वृतो राजन् भासि नक्षत्रराडिव ॥ ११ ॥

'महाराज ! जिस प्रकार रुद्रोंसे यमराज, मरुद्गणोंसे इन्द्र तथा नक्षत्रोंसे उनके स्वामी चन्द्रमाकी शोभा होती है, उसी प्रकार कौरवोंसे घिरे हुए तुम शोभा पा रहे हो ॥ ११ ॥

यैः स्म ते नाद्रियेताज्ञा न च ये शासने स्थिताः।
पश्यामस्तान् श्रिया हीनान् पाण्डवान् वनवासिनः॥ १२॥

'जिन्होंने तुम्हारी आज्ञाका आदर नहीं किया था और जो तुम्हारे शासनमें नहीं थे, उन पाण्डवोंकी दशा हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। वे राजलक्ष्मीसे वञ्चित हो वनमें निवास करते हैं ॥१२॥

श्रूयते हि महाराज सरो द्वैतवनं प्रति।
वसन्तः पाण्डवाः सार्धं ब्राह्मणैर्वनवासिभिः ॥ १३ ॥

'महाराज ! सुननेमें आया है कि पाण्डवलोग द्वैतवनमें सरोवरके तटपर वनवासी ब्राह्मणोंके साथ रहते हैं ॥ १३ ॥

स प्रयाहि महाराज श्रिया परमया युतः ।
तापयन् पाण्डुपुत्रांस्त्वं रश्मिवानिव तेजसा ॥ १४ ॥

'महाराज! तुम उत्कृष्ट राजलक्ष्मीसे सुशोभित होकर वहाँ चलो और जैसे सूर्य अपने तेजसे जगत्‌को संतप्त करते हैं, उसी प्रकार पाण्डुपुत्रोंको संताप दो ॥ १४ ॥

स्थितो राज्ये च्युतान् राज्याच्छ्रिया हीनाञ्छ्रिया वृतः ।
असमृद्धान् समृद्धार्थः पश्य पाण्डुसुतान् नृप ॥ १५ ॥

'इस समय तुम राजाके पदपर प्रतिष्ठित हो और पाण्डव राज्यसे भ्रष्ट हो गये हैं। तुम श्रीसम्पन्न हो और वे श्रीहीन हैं। तुम समृद्धिशाली हो और वे निर्धन हो गये हैं। नरेश्वर! तुम इसी दशामें चलकर पाण्डवोंको देखो ॥ १५ ॥

महाभिजनसम्पन्नं भद्रे महति संस्थितम् ।
पाण्डवास्त्वाभिवीक्षन्तां ययातिमिव नाहुषम् ॥१६॥

'पाण्डव तुम्हें नहुषनन्दन ययातिकी भाँति महान् वंशमें उत्पन्न तथा परम मङ्गलमयी स्थितिमें प्रतिष्ठित देखें ॥१६॥

यां श्रियं सुहृदश्चैव दुर्हृदश्च विशाम्पते ।
पश्यन्ति पुरुषे दीप्तां सा समर्था भवत्युत ॥ १७ ॥

'प्रजापालक नरेश! पुरुषमें प्रकाशित होनेवाली जिस लक्ष्मीको उसके सुहृद् और शत्रु दोनों देखते हैं, वही सबल होती है ॥ १७ ॥

समस्थो विषमस्थान् हि दुर्हृदो योऽभिवीक्षते ।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थः किमतः परमं सुखम् ॥ १८ ॥

'जैसे पर्वतकी चोटीपर खड़ा हुआ मनुष्य भूतलपर स्थित हुई सभी वस्तुओंको नीची और छोटी देखता है, उसी प्रकार जो पुरुष स्वयं सुखमें रहकर शत्रुओंको संकटमें पड़ा हुआ देखता है, उसके लिये इससे बढ़कर सुखकी बात और क्या होगी? ॥ १८ ॥

न पुत्रधनलाभेन न राज्येनापि विन्दति ।
प्रीतिं नृपतिशार्दूल याममित्राघदर्शनात् ॥ १९ ॥
किं नु तस्य सुखं न स्यादाश्रमे यो धनंजयम् ।
अभिवीक्षेत सिद्धार्थो वल्कलाजिनवाससम् ॥ २० ॥

'नृपश्रेष्ठ! मनुष्यको अपने शत्रुओंकी दुर्दशा देखनेसे जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, वह धन, पुत्र तथा राज्य मिलनेसे भी नहीं होती। हमलोगोंमेंसे जो भी स्वयं सिद्धमनोरथ होकर आश्रममें अर्जुनको वल्कल और मृगछाला पहने देखेगा, उसे कौन-सा सुख नहीं मिल जायगा? ॥ १९-२० ॥

सुवाससो हि ते भार्या वल्कलाजिनसंवृताम् ।
पश्यन्तु दुःखितां कृष्णां सा च निर्विद्यतां पुनः ॥ २१ ॥

'तुम्हारी रानियाँ सुन्दर साड़ियाँ पहनकर चलें और वनमें वल्कल एवं मृगचर्म लपेटकर दुःखमें डूबी हुई द्रुपदकुमारी कृष्णाको देखें तथा द्रौपदी भी इन्हें देखकर बार-बार संताप करे ॥ २१ ॥

विनिन्दतां तथाऽऽत्मानं जीवितं च धनच्युतम् ।
न तथा हि सभामध्ये तस्या भवितुमर्हति ।
वैमनस्यं यथा दृष्ट्वा तव भार्याः स्वलंकृताः ॥ २२ ॥

'वह धनसे वञ्चित हुए अपने आत्मा तथा जीवनकी निन्दा करे—उन्हें बार-बार धिक्कारे। सभामें उसके साथ जो बर्ताव किया गया था, उससे उसके हृदयमें इतना दुःख नहीं हुआ होगा, जितना कि तुम्हारी रानियोंको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित देखकर हो सकता है' ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु राजानं कर्णः शकुनिना सह ।
तूष्णीम्बभूवतुरुभौ वाक्यान्ते जनमेजय ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शकुनि और कर्ण दोनों राजा दुर्योधनसे ऐसा कहकर (अपनी बात पूरी होनेपर) चुप हो गये ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णशकुनिवाक्ये सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्ण और शकुनिके वचनविषयक दो सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल २४½ श्लोक हैं)

अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा कर्ण और शकुनिकी मन्त्रणा स्वीकार करना तथा कर्ण आदिका घोषयात्राको निमित्त बनाकर द्वैतवनमें जानेके लिये धृतराष्ट्रसे आज्ञा लेने जाना

वैशम्पायन उवाच

कर्णस्य वचनं श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्ततः ।
हृष्टो भूत्वा पुनर्दीन इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णकी बात सुनकर राजा दुर्योधनको पहले तो बड़ी प्रसन्नता हुई; फिर वह दीन होकर इस प्रकार बोला— ॥ १ ॥

ब्रवीषि यदिदं कर्ण सर्वं मनसि मे स्थितम् ।
न त्वभ्यनुज्ञां लप्स्यामि गमने यत्र पाण्डवाः ॥ २ ॥

'कर्ण ! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह सब मेरे मनमें भी है। परंतु जहाँ पाण्डव रहते हैं, वहाँ जानेके लिये मैं पिताजीकी आज्ञा नहीं पा सकूँगा ॥ २ ॥

परिदेवति तान् वीरान् धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
मन्यतेऽभ्यधिकांश्चापि तपोयोगेन पाण्डवान्॥ ३ ॥

'महाराज धृतराष्ट्र उन वीर पाण्डवोंके लिये सदा विलाप करते रहते हैं। वे तपःशक्तिके संयोगसे पाण्डवोंको हमसे अधिक बलशाली भी मानते हैं ॥ ३ ॥

अथवाप्यनुबुध्येत नृपोऽस्माकं चिकीर्षितम् ।
एवमप्यायतिं रक्षन् नाभ्यनुज्ञातुमर्हति ॥ ४ ॥

'अथवा यदि उन्हें इस बातका पता लग जाय कि हमलोग वहाँ जाकर क्या करना चाहते हैं, तब वे भावी संकटसे हमारी रक्षाके लिये ही हमें वहाँ जानेकी अनुमति नहीं देंगे ॥ ४ ॥

न हि द्वैतवने किंचिद् विद्यतेऽन्यत् प्रयोजनम् ।
उत्सादनमृते तेषां वनस्थानां महाद्युते ॥ ५ ॥

'महातेजस्वी कर्ण ! (पिताजीको यह समझते देर नहीं लगेगी कि) वनमें रहनेवाले पाण्डवोंको उखाड़ फेंकनेके अतिरिक्त हमलोगोंके द्वैतवनमें जानेका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ५ ॥

जानासि हि यथा क्षत्ता द्यूतकाल उपस्थिते ।
अब्रवीद् यच्च मां त्वां च सौबलं वचनं तदा ॥ ६ ॥

'जूएका अवसर उपस्थित होनेपर विदुरजीने मुझसे, तुमसे तथा (मामा) शकुनिसे जैसी बातें कही थीं, उन्हें तो तुम जानते ही हो ॥ ६ ॥

तानि सर्वाणि वाक्यानि यच्चान्यत् परिदेवितम् ।
विचिन्त्य नाधिगच्छामि गमनायेतराय वा ॥ ७ ॥

'उन सब बातोंपर तथा और भी पाण्डवोंके लिये जो विलाप किया गया है, उसपर विचार करके मैं किसी निश्चय-पर नहीं पहुँच पाता कि द्वैतवनमें चलूँ या न चलूँ ॥ ७ ॥

ममापि हि महान् हर्षो यदहं भीमफाल्गुनौ ।
क्लिष्टावरण्ये पश्येयं कृष्णया सहिताविति ॥ ८ ॥

'यदि मैं भीमसेन तथा अर्जुनको द्रौपदीके साथ वनमें क्लेश उठाते देख सकूँ, तो मुझे भी बड़ी प्रसन्नता होगी ॥८॥

न तथा प्राप्नुयां प्रीतिमवाप्य वसुधामिमाम् ।
दृष्ट्वा यथा पाण्डुसुतान् वल्कलाजिनवाससः ॥ ९ ॥

'पाण्डवोंको वल्कल वस्त्र पहने और मृगचर्म ओढ़े देखकर मुझे जितनी खुशी होगी, उतनी इस समूची पृथ्वीका राज्य पाकर भी नहीं होगी ॥ ९ ॥

किं नु स्यादधिकं तस्माद् यदहं द्रुपदात्मजाम् ।
द्रौपदीं कर्ण पश्येयं काषायवसनां वने ॥ १० ॥

'कर्ण ! मैं द्रुपदकुमारी कृष्णाको वनमें गेरुए कपड़े पहने देखूँ, इससे बढ़कर प्रसन्नताकी बात मेरे लिये और क्या हो सकती है ? ॥ १० ॥

यदि मां धर्मराजश्च भीमसेनश्च पाण्डवः ।
युक्तं परमया लक्ष्म्या पश्येतां जीवितं भवेत् ॥ ११ ॥

'यदि धर्मराज युधिष्ठिर तथा पाण्डुनन्दन भीमसेन मुझे परमोत्कृष्ट राजलक्ष्मीसे सम्पन्न देख लें, तो मेरा जीवन सफल हो जाय ॥ ११ ॥

उपायं न तु पश्यामि येन गच्छेम तद् वनम् ।
यथा चाभ्यनुजानीयाद् गच्छन्तं मां महीपतिः ॥ १२ ॥

'परंतु मुझे कोई ऐसा उपाय नहीं दिखायी देता, जिससे हमलोग द्वैतवनमें जा सकें अथवा महाराज मुझे वहाँ जानेकी आज्ञा दे दें ॥ १२ ॥

स सौबलेन सहितस्तथा दुःशासनेन च ।
उपायं पश्य निपुणं येन गच्छेम तद् वनम् ॥१३॥

'अतः तुम मामा शकुनि तथा भाई दुःशासनके साथ सलाह करके कोई अच्छा-सा उपाय ढूँढ़ निकालो, जिससे हम-लोग द्वैतवनमें चल सकें ॥ १३ ॥

अहमप्यद्य निश्चित्य गमनायेतराय च ।
कल्यमेव गमिष्यामि समीपं पार्थिवस्य ह ॥ १४ ॥

'मैं भी आज ही जाने या न जानेके विषयमें कोई निश्चय करके कल सबेरा होते ही महाराजके पास जाऊँगा ॥

मयि तत्रोपविष्टे तु भीष्मे च कुरुसत्तमे ।
उपायो यो भवेद् दृष्टस्तं ब्रूयाः सहसौबलः ॥ १५ ॥

'जब मैं वहाँ बैठ जाऊँ और कुरुश्रेष्ठ भीष्मजी भी उपस्थित रहें, उस समय जो उपाय दिखायी दे, उसे तुम और शकुनि—दोनों बतलाना ॥ १५ ॥

वचो भीष्मस्य राज्ञश्च निशम्य गमनं प्रति ।
व्यवसायं करिष्येऽहमनुनीय पितामहम् ॥ १६ ॥

'पितामह भीष्मजीकी तथा महाराजकी वहाँ जानेके विषयमें क्या सम्मति है; यह सुन लेनेपर पितामहको अनुनय-विनयसे राजी करके (उनकी आज्ञा लेकर ही) द्वैतवनमें चलनेका निश्चय करूँगा' ॥ १६ ॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे जग्मुरावसथान् प्रति ।
व्युषितायां रजन्यां तु कर्णो राजानमभ्ययात् ॥ १७ ॥

'बहुत अच्छा, ऐसा ही हो' यह कहकर सब अपने-अपने विश्रामगृहमें चले गये। जब रात बीती और सबेरा हुआ, तब कर्ण राजा दुर्योधनके पास गया ॥ १७ ॥

ततो दुर्योधनं कर्णः प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
उपायः परिदृष्टोऽयं तं निबोध जनेश्वर ॥ १८ ॥

वहाँ कर्णने हँसकर दुर्योधनसे कहा—'जनेश्वर ! मुझे जो उपाय सूझा है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ १८ ॥

घोषा द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप ।
घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः ॥ १९ ॥

'नरेश्वर ! गौओंके रहनेके सभी स्थान इस समय द्वैतवनमें ही हैं और वहाँ आपके पधारनेकी सदा प्रतीक्षा की जाती है, अतः घोषयात्रा (उन स्थानोंको देखने)के बहाने हम वहाँ निःसन्देह चल सकेंगे ॥ १९ ॥

उचितं हि सदा गन्तुं घोषयात्रां विशाम्पते ।
एवं च त्वां पिता राजन् समनुज्ञातुमर्हति ॥ २० ॥

'राजन् ! अपनी गौओंको देखनेके लिये यात्रा करना सदा उचित ही है; ऐसा बहाना लेनेपर पिताजी तुम्हें अवश्य वहाँ जानेकी आज्ञा दे सकते हैं' ॥ २० ॥

तथा कथयमानौ तौ घोषयात्राविनिश्चयम् ।
गान्धारराजः शकुनिः प्रत्युवाच हसन्निव ॥ २१ ॥

घोषयात्राका निश्चय करनेके लिये इस प्रकारकी बातें करते हुए उन दोनों सुहृदोंसे गान्धारराज शकुनिने हँसते हुए-से कहा—॥ २१ ॥

उपायोऽयं मया दृष्टो गमनाय निरामयः ।
अनुज्ञास्यति नो राजा बोधयिष्यति चाप्युत ॥ २२ ॥

'द्वैतवनमें जानेका यह उपाय मुझे सर्वथा निर्दोष दिखायी दिया है । इसके लिये राजा धृतराष्ट्र हमें अवश्य आज्ञा दे देंगे और वहाँ जाकर हमें क्या-क्या करना चाहिये—इसके विषयमें कुछ समझायेंगे भी ॥ २२ ॥

घोषा द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप ।
घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः ॥ २३ ॥

'नरेश्वर ! गौओंके रहनेके सभी स्थान इस समय द्वैतवनमें ही हैं और वहाँ तुम्हारे पधारनेकी सदा प्रतीक्षा की जाती है; अतः घोषयात्राके बहाने हम वहाँ निःसंदेह चल सकेंगे' ॥ २३ ॥

ततः प्रहसिताः सर्वे तेऽन्योन्यस्य तलान् ददुः ।
तदेव च विनिश्चित्य ददृशुः कुरुसत्तमम् ॥ २४ ॥

तदनन्तर वे सबके सब अपनी योजनाको सफल होती देख हँसने और एक-दूसरेके हाथपर प्रसन्नतासे ताली देने लगे । फिर यही निश्चय करके वे तीनों कुरुश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रसे मिले ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि घोषयात्रामन्त्रणे अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें घोषयात्राके सम्बन्धमें परामर्शविषयक दो सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्ण आदिके द्वारा द्वैतवनमें जानेका प्रस्ताव, राजा धृतराष्ट्रकी अस्वीकृति, शकुनिका समझाना, धृतराष्ट्रका अनुमति देना तथा दुर्योधनका प्रस्थान



वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रं ततः सर्वे ददृशुर्जनमेजय ।
पृष्ट्वा सुखमथो राज्ञः पृष्टा राज्ञा च भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन जनमेजय ! तदनन्तर वे सब लोग राजा धृतराष्ट्रसे मिले । उन्होंने राजाकी कुशल पूछी तथा राजाने उनकी ॥ १ ॥

ततस्तैर्विहितः पूर्वं समङ्गो नाम बल्लवः ।
समीपस्थास्तदा गावो धृतराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥ २ ॥

उन लोगोंने समङ्ग नामक एक ग्वालेको पहलेसे ही सिखा-पढ़ाकर ठीक कर लिया था । उसने राजा धृतराष्ट्रकी सेवामें निवेदन किया कि 'महाराज ! आजकल आपकी गौएँ समीप ही आयी हुई हैं' ॥ २ ॥

अनन्तरं च राधेयः शकुनिश्च विशाम्पते ।
आहतुः पार्थिवश्रेष्ठं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ॥ ३ ॥

जनमेजय ! इसके बाद कर्ण और शकुनिने राजाओंमें श्रेष्ठ जननायक धृतराष्ट्रसे कहा—॥ ३ ॥

रमणीयेषु देशेषु घोषाः सम्प्रति कौरव।
स्मारणे समयः प्राप्तो वत्सानामपि चाङ्कनम् ॥ ४ ॥

'कुरुराज ! इस समय हमारी गौओंके स्थान रमणीय प्रदेशोंमें हैं। यह समय गौओं और बछड़ोंकी गणना करने तथा उनकी आयु, रंग, जाति एवं नामका ब्यौरा लिखनेके लिये भी अत्यन्त उपयोगी है ॥ ४ ॥

मृगया चोचिता राजन्नस्मिन् काले सुतस्य ते।
दुर्योधनस्य गमनं समनुज्ञातुमर्हसि ॥ ५ ॥

'राजन् ! इस समय आपके पुत्र दुर्योधनके लिये हिंसक पशुओंके शिकार करनेका भी उपयुक्त अवसर है। अतः आप इन्हें द्वैतवनमें जानेकी आज्ञा दीजिये' ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

मृगया शोभना तात गवां हि समवेक्षणम्।
विश्रम्भस्तु न गन्तव्यो वल्लवानामिति स्मरे ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—तात ! हिंसक पशुओंका शिकार खेलनेका प्रस्ताव सुन्दर है। गौओंकी देख-भालका काम भी अच्छा ही है; परंतु ग्वालोंकी बातोंपर विश्वास नहीं करना चाहिये· यह नीतिका वचन है, जिसका मुझे स्मरण हो आया है ॥ ६ ॥

ते तु तत्र नरव्याघ्राः समीप इति नः श्रुतम्।
अतो नाभ्यनुजानामि गमनं तत्र वः स्वयम् ॥ ७ ॥

मैंने सुना है कि नरश्रेष्ठ पाण्डव भी इन दिनों वहीं कहीं आसपास ठहरे हुए हैं; अतः तुमलोगोंको मैं स्वयं वहाँ जानेकी आज्ञा नहीं दे सकता ॥ ७ ॥

छद्मना निर्जितास्ते तु कर्शिताश्च महावने।
तपोनित्याश्च राधेय समर्थाश्च महारथाः ॥ ८ ॥

राधानन्दन ! पाण्डव छलपूर्वक हराये गये हैं। महान् वनमें रहकर उन्हें बड़ा कष्ट भोगना पड़ा है। वे निरन्तर तपस्या करते रहे हैं और अब विशेष शक्तिसम्पन्न हो गये हैं। महारथी तो वे हैं ही ॥ ८ ॥

धर्मराजो न संक्रुद्ध्येद् भीमसेनस्त्वमर्षणः।
यज्ञसेनस्य दुहिता तेज एव तु केवलम् ॥ ९ ॥

माना कि धर्मराज युधिष्ठिर क्रोध नहीं करेंगे, परंतु भीमसेन तो सदा ही अमर्षमें भरे रहते हैं और राजा द्रुपदकी पुत्री कृष्णा भी साक्षात् अग्निकी ही मूर्ति है ॥ ९ ॥

यूयं चाप्यपराध्येयुर्दर्पमोहसमन्विताः।
ततो विनिर्दहेयुस्ते तपसा हि समन्विताः ॥ १० ॥

तुमलोग तो अहंकार और मोहमें चूर रहते ही हो; अतः उनका अपराध अवश्य करोगे। उस दशामें वे तुम्हें भस्म किये बिना नहीं छोड़ेंगे। क्योंकि उनमें तपःशक्ति विद्यमान है ॥ १० ॥

अथवा सायुधा वीरा मन्युनाभिपरिप्लुताः।
सहिता बद्धनिस्त्रिंशा दहेयुः शस्त्रतेजसा ॥ ११ ॥

अथवा, उन वीरोंके पास अस्त्र-शस्त्रोंकी भी कमी नहीं है। तुम्हारे प्रति उनका क्रोध सदा ही बना रहता है। वे तलवार बाँधे सदा एक साथ रहते हैं; अतः वे अपने शस्त्रोंके तेजसे भी तुम्हें दग्ध कर सकते हैं ॥ ११ ॥

अथ यूयं बहुत्वात् तानभियात कथंचन।
अनार्यं परमं तत् स्यादशक्यं तच्च वै मतम् ॥ १२ ॥

यदि संख्यासे अधिक होनेके कारण तुमने ही किसी प्रकार उनपर चढ़ाई कर दी, तो यह भी तुम्हारी बड़ी भारी नीचता ही समझी जायगी। मेरी समझमें तो तुमलोगोंका पाण्डवोंपर विजय पाना असम्भव ही है ॥ १२ ॥

उषितो हि महाबाहुरिन्द्रलोके धनंजयः।
दिव्यान्यस्त्राण्यवाप्याथ ततः प्रत्यागतो वनम् ॥ १३ ॥

महाबाहु धनंजय इन्द्रलोकमें रह चुके हैं और वहाँसे दिव्यास्त्रोंकी शिक्षा लेकर वनमें लौटे हैं ॥ १३ ॥

अकृतास्त्रेण पृथिवी जिता बीभत्सुना पुरा।
किं पुनः स कृतास्त्रोऽद्य न हन्याद् वो महारथः॥ १४ ॥

पहले जब अर्जुनको दिव्यास्त्र नहीं प्राप्त हुए थे, तभी उन्होंने सारी पृथ्वीको जीत लिया था। अब तो महारथी अर्जुन दिव्यास्त्रोंके विद्वान् हैं, ऐसी दशामें वे तुम्हें मार डालें, यह कौन बड़ी बात है ? ॥ १४ ॥

अथवा मद्वचः श्रुत्वा तत्र यत्ता भविष्यथ।
उद्विग्नवासो विश्रम्भाद् दुःखं तत्र भविष्यति ॥ १५ ॥

अथवा मेरी बात सुनकर तुमलोग वहाँ यदि अपनेको काबूमें रखते हुए सावधानीके साथ रह सको, तो भी यह विश्वास करके कि ये लोग सत्यवादी होनेके कारण हमें कष्ट नहीं देंगे, वनवाससे उद्विग्न हुए पाण्डवोंके बीचमें निवास करना तुम्हारे लिये दुःखदायी ही होगा ॥ १५ ॥

अथवा सैनिकाः केचिदपकुर्युर्युधिष्ठिरम्।
तदबुद्धिकृतं कर्म दोषमुत्पादयेच्च वः ॥ १६ ॥

अथवा यह भी सम्भव है कि तुमलोगोंके कुछ सैनिक युधिष्ठिरका अपमान कर बैठें और तुम्हारे अनजानमें किया गया यह अपराध तुमलोगोंके लिये हानिकारक हो जाय ॥ १६ ॥

तस्माद् गच्छन्तु पुरुषाः स्मारणायाप्तकारिणः।
न स्वयं तत्र गमनं रोचये तव भारत ॥ १७ ॥

अतः भरतनन्दन ! दूसरे विश्वसनीय पुरुष गौओंकी गणना करनेके लिये वहाँ चले जायँगे। स्वयं तुम्हारा वहाँ जाना मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ॥ १७ ॥

शकुनिरुवाच

धर्मज्ञः पाण्डवो ज्येष्ठः प्रतिज्ञातं च संसदि।
तेन द्वादश वर्षाणि वस्तव्यानीति भारत ॥ १८ ॥

शकुनि बोला—भारत ! ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं। उन्होंने भरी सभामें यह प्रतिज्ञा की है कि 'हमें बारह वर्षोंतक वनमें रहना है' ॥ १८ ॥

अनुवृत्ताश्च ते सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः।
युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो न नः कोपं करिष्यति ॥ १९ ॥

अन्य पाण्डव भी धर्मपर ही चलनेवाले हैं; अतः वे सबके सब युधिष्ठिरका ही अनुसरण करते हैं। कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर हमलोगोंपर कदापि क्रोध नहीं करेंगे ॥ १९ ॥

मृगयां चैव नो गन्तुमिच्छा संवर्तते भृशम्।
स्मारणं तु चिकीर्षामो न तु पाण्डवदर्शनम् ॥ २० ॥

हमारी विशेष इच्छा केवल हिंसक पशुओंका शिकार खेलनेकी है। हमलोग वहाँ स्मरणके लिये केवल गौओंकी गणना करना चाहते हैं। पाण्डवोंसे मिलनेकी हमारी इच्छा बिल्कुल नहीं है ॥ २० ॥

न चानार्यसमाचारः कश्चित् तत्र भविष्यति।
न च तत्र गमिष्यामो यत्र तेषां प्रतिश्रयः ॥ २१ ॥

हमारी ओरसे वहाँ कोई भी नीचतापूर्ण व्यवहार नहीं होगा। जहाँ पाण्डवोंका निवास होगा, उधर हमलोग जायँगे ही नहीं ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः शकुनिना धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
दुर्योधनं सहामात्यमनुजज्ञे न कामतः ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शकुनिके ऐसा कहनेपर राजा धृतराष्ट्रने इच्छा न होते हुए भी मन्त्रियोंसहित दुर्योधनको वहाँ जानेकी आज्ञा दे दी ॥ २२ ॥

अनुज्ञातस्तु गान्धारिः कर्णेन सहितस्तदा।
निर्ययौ भरतश्रेष्ठो बलेन महता वृतः ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्रकी आज्ञा पाकर गान्धारीपुत्र भरतश्रेष्ठ दुर्योधन कर्ण और विशाल सेनाके साथ नगरसे बाहर निकला ॥ २३ ॥

दुःशासनेन च तथा सौबलेन च धीमता।
संवृतो भ्रातृभिश्चान्यैः स्त्रीभिश्चापि सहस्रशः ॥ २४ ॥

दुःशासन, बुद्धिमान् शकुनि, अन्यान्य भाइयों तथा सहस्रों स्त्रियोंसे घिरे हुए दुर्योधनने वहाँसे प्रस्थान किया ॥ २४ ॥

तं निर्यान्तं महाबाहुं द्रष्टुं द्वैतवनं सरः।
पौराश्चानुययुः सर्वे सहदारा वनं च तत् ॥ २५ ॥

द्वैतवन नामक सरोवर तथा वनको देखनेके लिये यात्रा करनेवाले महाबाहु दुर्योधनके पीछे समस्त पुरवासी भी अपनी स्त्रियोंको साथ लेकर गये ॥ २५ ॥

अष्टौ रथसहस्राणि त्रीणि नागायुतानि च।
पत्तयो बहुसाहस्रा हयाश्च नवतिः शताः ॥ २६ ॥

दुर्योधनके साथ आठ हजार रथ, तीस हजार हाथी, कई हजार पैदल और नौ हजार घोड़े गये ॥ २६ ॥

शकटापणवेशाश्च वणिजो वन्दिनस्तथा।
नराश्च मृगयाशीलाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २७ ॥

बोझ ढोनेके लिये सैकड़ों छकड़े, दुकानें तथा वेष-भूषाकी सामग्रियाँ भी साथ चलीं। वणिक्, वंदीजन तथा आखेटप्रिय मनुष्य सैकड़ों-हजारोंकी संख्यामें साथ गये ॥ २७ ॥

ततः प्रयाणे नृपतेः सुमहानभवत् स्वनः।
प्रावृषीव महावायोरुद्धतस्य विशाम्पते ॥ २८ ॥

राजन् ! राजा दुर्योधनके प्रस्थानकालमें बड़े जोरका कोलाहल हुआ, मानो वर्षाकालमें प्रचण्ड वायुका भयंकर शब्द सुनायी दे रहा हो ॥ २८ ॥

गव्यूतिमात्रे न्यवसद् राजा दुर्योधनस्तदा।
प्रयातो वाहनैः सर्वैस्ततो द्वैतवनं सरः ॥ २९ ॥

नगरसे दो कोस दूर जाकर राजा दुर्योधनने पड़ाव डाल दिया। फिर वहाँसे समस्त वाहनोंके साथ द्वैतवन एवं सरोवरकी ओर प्रस्थान किया ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रस्थाने एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनप्रस्थानविषयक दो सौ उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३९ ॥

चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका सेनासहित वनमें जाकर गौओंकी देखभाल करना और उसके सैनिकों एवं गन्धर्वोंमें परस्पर कटु संवाद

वैशम्पायन उवाच

अथ दुर्योधनो राजा तत्र तत्र वने वसन्।
जगाम घोषानभितस्तत्र चक्रे निवेशनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा दुर्योधन जहाँ-तहाँ वनमें पड़ाव डालता हुआ उन घोषों (गोशालाओं) के पास पहुँच गया और वहाँ उसने अपनी छावनी डाली ॥ १ ॥

रमणीये समाज्ञाते सोदके समहीरुहे।

देशे सर्वगुणोपेते चक्रुरावसथान् पराः ॥ २ ॥

उसके साथ गये हुए लोगोंने भी उस सर्वगुणसम्पन्न, रमणीय, सुपरिचित, सजल तथा सघन वृक्षावलियोंसे युक्त प्रदेशमें अपने डेरे डाल दिये ॥ २ ॥

तथैव तत्समीपस्थान् पृथगावसथान् बहून् ।
कर्णस्य शकुनेश्चैव भ्रातॄणां चैव सर्वशः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार दुर्योधनके डेरेके पास ही कर्ण, शकुनि तथा दुःशासन आदि सब भाइयोंके लिये पृथक्-पृथक् बहुत-से खेमे पड़ गये ॥ ३ ॥

ददर्श स तदा गावः शतशोऽथ सहस्रशः ।
अङ्कैर्लक्षैश्च ताः सर्वा लक्षयामास पार्थिवः ॥ ४ ॥

(रहनेकी व्यवस्था ठीक हो जानेपर) राजा दुर्योधनने अपनी सैकड़ों एवं हजारों गौओंका निरीक्षण करना आरम्भ किया । उन सबपर संख्या और निशानी डलवा दी ॥ ४ ॥

अङ्कयामास वत्सांश्च जज्ञे चोपसृतांस्त्वपि ।
बालवत्साश्च या गावः कालयामास ता अपि ॥ ५ ॥

फिर बछड़ोंपर भी संख्या और निशानी डलवायी और उनमेंसे जो नाथने योग्य थे, उन सबकी गणना कराकर उनपर पहचान डाल दी । जिन गौओंके बछड़े बहुत छोटे थे, उनकी भी अलग गणना करवायी ॥ ५ ॥

अथ स स्मारणं कृत्वा लक्षयित्वा त्रिहायनान् ।
वृतो गोपालकैः प्रीतो व्यहरत् कुरुनन्दनः ॥ ६ ॥

इस प्रकार जाँच-पड़तालका काम पूरा करके कुरुनन्दन दुर्योधनने तीन सालके बछड़ोंकी पृथक् गणना करवायी और स्मरणके लिये सब कुछ लिखकर वह बड़ी प्रसन्नताके साथ ग्वालोंसे घिरकर उस वनमें विहार करने लगा ॥ ६ ॥

स च पौरजनः सर्वः सैनिकाश्च सहस्रशः ।
यथोपजोषं चिक्रीडुर्वने तस्मिन् यथामराः ॥ ७ ॥

वे समस्त पुरवासी और सहस्रोंकी संख्यामें आये हुए सैनिक उस वनमें अपनी-अपनी रुचिके अनुसार देवताओंके समान क्रीड़ा करने लगे ॥ ७ ॥

ततो गोपाः प्रगातारः कुशला नृत्यवादने ।
धार्तराष्ट्रमुपातिष्ठन् कन्याश्चैव स्वलंकृताः ॥ ८ ॥

तदनन्तर नृत्य और वादनकी कलामें कुशल कुछ गवैये गोप तथा गहने-कपड़ोंसे सजी हुई उनकी कन्याएँ दुर्योधनके समीप आयीं ॥ ८ ॥

स स्त्रीगणावृतो राजा प्रहृष्टः प्रददौ वसु ।
तेभ्यो यथार्हमन्नानि पानानि विविधानि च ॥ ९ ॥

अपनी स्त्रियोंके साथ राजा दुर्योधन उनको देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उन्हें बहुत-सा धन दिया तथा यथायोग्य नाना प्रकारकी खाने-पीनेकी वस्तुएँ अर्पित कीं ॥ ९ ॥

ततस्ते सहिताः सर्वे तरक्षून् महिषान् मृगान् ।
गवयर्क्षवराहांश्च समन्तात् पर्यकालयन् ॥ १० ॥

तदनन्तर वे सब लोग तरक्षुओं (जरखों), जंगली भैंसों, गवयों, रीछों और शूकरों एवं अन्य जंगली हिंसक पशुओंका सब ओरसे शिकार करने लगे ॥ १० ॥

स ताञ्छरैर्विनिर्भिद्य गजांश्च सुबहून् वने ।
रमणीयेषु देशेषु ग्राहयामास वै मृगान् ॥ ११ ॥

उन्होंने वनके रमणीय प्रदेशोंमें बहुत-से हाथियोंको अपने बाणोंसे विदीर्ण करके अनेकानेक हिंस्र पशुओंको पकड़ लिया ॥ ११ ॥

गोरसानुपयुञ्जान उपभोगांश्च भारत ।
पश्यन् स रमणीयानि वनान्युपवनानि च ॥ १२ ॥
मत्तभ्रमरजुष्टानि बर्हिणाभिरुतानि च ।
अगच्छदानुपूर्व्येण पुण्यं द्वैतवनं सरः ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! दुर्योधन अपने साथियोंसहित दूध आदि गोरसोंका उपयोग करता और भाँति-भाँतिके भोग भोगता हुआ वहाँके रमणीय वनों और उपवनोंकी शोभा देखने लगा । उनमें मतवाले भ्रमर गुंजार करते थे और मयूरोंकी मधुर वाणी सब ओर गूँज रही थी । इस प्रकार क्रमशः आगे बढ़ता हुआ वह परम पवित्र द्वैतवन-नामक सरोवरके समीप जा पहुँचा ॥ १२-१३ ॥

मत्तभ्रमरसंजुष्टं नीलकण्ठरवाकुलम् ।
सप्तच्छदसमाकीर्णं पुंनागबकुलैर्युतम् ॥ १४ ॥

वहाँ मधुमत्त भ्रमर कमलपुष्पोंका रस ले रहे थे । मयूरोंकी मधुर वाणीसे वह सारा प्रदेश व्याप्त हो रहा था । सप्तच्छद (छितवन) के वृक्षोंसे वह सरोवर आच्छादित-सा जान पड़ता था । उसके तटोंपर मौलसिरी और नागकेसरके वृक्ष शोभा पा रहे थे ॥ १४ ॥

ऋद्ध्या परमया युक्तो महेन्द्र इव वज्रभृत् ।
यदृच्छया च तत्रस्थो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥
ईजे राजर्षियज्ञेन साद्यस्केन विशाम्पते ।
दिव्येन विधिना चैव वन्येन कुरुसत्तम ॥ १६ ॥
(विद्वद्भिः सहितो धीमान् ब्राह्मणैर्वनवासिभिः ।)
कृत्वा निवेशमभितः सरसस्तस्य कौरव ।
द्रौपद्या सहिता धीमान् धर्मपत्न्या नराधिपः ॥ १७ ॥

उसी सरोवरके तटपर वज्रधारी इन्द्रके समान उत्तम ऐश्वर्यसे सम्पन्न बुद्धिमान् धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर अपनी धर्मपत्नी महारानी द्रौपदीके साथ साद्यस्क (एक दिनमें

पूर्ण होनेवाले) राजर्षियज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे। कुरुश्रेष्ठ जनमेजय ! उस यज्ञमें उनके साथ बहुत-से वनवासी विद्वान् ब्राह्मण भी थे। राजा वनमें सुलभ होनेवाली सामग्री-द्वारा दिव्य विधिसे यज्ञ कर रहे थे। वे उसी सरोवरके आस-पास कुटी बनाकर रहते थे ॥ १५-१७ ॥

ततो दुर्योधनः प्रेष्यानादिदेश सहस्रशः।
आक्रीडावसथाः क्षिप्रं क्रियन्तामिति भारत ॥ १८ ॥

भारत ! तदनन्तर दुर्योधनने अपने सहस्रों सेवकोंको आज्ञा दी—'तुमलोग बहुत से क्रीडामण्डप तैयार करो'॥ १८॥

ते तथेत्येव कौरव्यमुक्त्वा वचनकारिणः।
चिकीर्षन्तस्तदाऽऽक्रीडाञ्जग्मुर्द्वैतवनं सरः ॥ १९ ॥

आज्ञाकारी सेवक दुर्योधनसे 'तथास्तु' कहकर क्रीडाभवन बनानेकी इच्छासे द्वैतवनके सरोवरके निकट गये ॥ १९ ॥

प्रविशन्तं वनद्वारि गन्धर्वाः समवारयन्।
सेनाग्र्यं धार्तराष्ट्रस्य प्राप्तं द्वैतवनं सरः ॥ २० ॥

दुर्योधनका सेनानायक द्वैतवन सरोवरके अत्यन्त निकटतक पहुँच गया था, उस वनके द्वारपर पैर रखते ही उसको गन्धर्वोंने रोक दिया ॥ २० ॥

तत्र गन्धर्वराजो वै पूर्वमेव विशाम्पते।
कुबेरभवनाद् राजन्नाजगाम गणावृतः ॥ २१ ॥

राजन् ! वहाँ गन्धर्वराज चित्रसेन पहलेसे ही अपने सेवकगणोंके साथ कुबेरभवनसे आये हुए थे ॥ २१ ॥

गणैरप्सरसां चैव त्रिदशानां तथाऽऽत्मजैः।
विहारशीलः क्रीडार्थं तेन तत् संवृतं सरः ॥ २२ ॥

वे उन दिनों अप्सराओं तथा देवकुमारोंके साथ विभिन्न स्थानोंमें भ्रमण करते थे। उन्होंने स्वयं ही क्रीड़ाविहारके लिये उस सरोवरको सब ओरसे घेर लिया था ॥ २२ ॥

तेन तत् संवृतं दृष्ट्वा ते राजपरिचारकाः।
प्रतिजग्मुस्ततो राजन् यत्र दुर्योधनो नृपः ॥ २३ ॥
स तु तेषां वचः श्रुत्वा सैनिकान् युद्धदुर्मदान्।
प्रेषयामास कौरव्य उत्सारयत तानिति ॥ २४ ॥

राजन् ! उस सरोवरको गन्धर्वराजने घेर रक्खा है, यह देखकर वे राजसेवक जहाँ राजा दुर्योधन था, वहाँ लौट गये। जनमेजय ! अपने सेवकोंका कथन सुनकर राजा दुर्योधनने युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाले सैनिकोंको यह आदेश देकर भेजा कि 'गन्धर्वोंको वहाँसे मार भगाओ' ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राज्ञः सेनाग्रयायिनः।
सरो द्वैतवनं गत्वा गन्धर्वानिदमब्रुवन् ॥ २५ ॥

राजाका यह आदेश सुनकर उसकी सेनाके नायक द्वैतवन सरोवरके समीप जाकर गन्धर्वोंसे इस प्रकार बोले—॥ २५ ॥

राजा दुर्योधनो नाम धृतराष्ट्रसुतो बली।
विजिहीर्षुरिहायाति तदर्थमपसर्पत ॥ २६ ॥

'गन्धर्वो ! महाराज धृतराष्ट्रके बलवान् पुत्र राजा दुर्योधन यहाँ विहार करनेकी इच्छासे पधारु रहे हैं। तुमलोग उनके लिये यह स्थान खाली करके दूर चले जाओ' ॥ २६ ॥

एवमुक्तास्तु गन्धर्वाः प्रहसन्तो विशाम्पते।
प्रत्यब्रुवंस्तान् पुरुषानिदं हि परुषं वचः ॥ २७ ॥

राजन् ! उनके ऐसा कहनेपर गन्धर्व जोर-जोरसे हँसने लगे और उन राजसेवकोंको उत्तर देते हुए उनसे इस प्रकार कठोर वाणीमें बोले—॥ २७ ॥

न चेतयति वो राजा मन्दबुद्धिः सुयोधनः।
योऽस्मानाज्ञापयत्येवं वैश्यानिव दिवौकसः ॥ २८ ॥

'तुम्हारा राजा दुर्योधन मूर्ख है। उसे तनिक भी चेत नहीं है; क्योंकि वह हम देवलोकवासी गन्धर्वको भी बनियों-के समान समझकर इस प्रकार आज्ञा दे रहा है ॥२८॥

यूयं मुमूर्षवश्चापि मन्दप्रज्ञा न संशयः।
ये तस्य वचनादेवमस्मान् ब्रूत विचेतसः ॥ २९ ॥

'तुमलोगोंकी भी बुद्धि मारी गयी है। इसमें संदेह नहीं कि तुम सबके सब मरना चाहते हो। तभी तो उस दुर्योधन-के कहनेसे तुम इस प्रकार हमसे विचारहीन होकर बातें कर रहे हो ॥ २९ ॥

गच्छध्वं त्वरिताः सर्वे यत्र राजा स कौरवः।
न चेदद्यैव गच्छध्वं धर्मराजनिवेशनम् ॥ ३० ॥

'या तो तुम सब लोग तुरंत वहीं लौट जाओ, जहाँ तुम्हारा राजा दुर्योधन रहता है। या यदि ऐसा नहीं करना है, तो अभी धर्मराजके नगर (यमलोक) की राह लो' ॥ ३० ॥

एवमुक्तास्तु गन्धर्वै राज्ञः सेनाग्रयायिनः।
सम्प्राद्रवन् यतो राजा धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ॥ ३१ ॥

गन्धर्वोंके ऐसा कहनेपर राजाके सेनानायक योद्धा वहीं भाग गये, जहाँ धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन स्वयं विराजमान था ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि गन्धर्वदुर्योधनसेनासंवादे चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें गन्धर्वदुर्योधनसेनासंवादविषयक दो सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३१½ श्लोक हैं)

एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कौरवोंका गन्धर्वोंके साथ युद्ध और कर्णकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते सहिताः सर्वे दुर्योधनमुपागमन्।
अब्रुवंश्च महाराज यदूचुः कौरवं प्रति॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! तदनन्तर वे सब लोग एक साथ कुरुराज दुर्योधनके पास गये और गन्धर्वोंने राजासे कहनेके लिये जो-जो बातें कही थीं, उन्हें कह सुनाया॥ १॥

गन्धर्वैर्वारिते सैन्ये धार्तराष्ट्रः प्रतापवान्।
अमर्षपूर्णः सैन्यानि प्रत्यभाषत भारत॥ २॥

भारत! गन्धर्वोंद्वारा अपनी सेनाके रोक दिये जानेपर प्रतापी राजा दुर्योधनने अमर्षमें भरकर समस्त सैनिकोंसे कहा—॥ २॥

शासतैनानधर्मज्ञान् मम विप्रियकारिणः।
यदि प्रक्रीडते सर्वैर्देवैः सह शतक्रतुः॥ ३॥

'अरे! यदि समस्त देवताओंके साथ इन्द्र भी यहाँ आकर क्रीडा करते हों, तो वे भी मेरा अप्रिय करनेवाले हैं। तुमलोग इन सब पापात्माओंको दण्ड दो'॥ ३॥

दुर्योधनवचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रा महाबलाः।
सर्व एवाभिसंनद्धा योधाश्चापि सहस्रशः॥ ४॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर महाबली कौरव और उनके सहस्रों योद्धा सबके सब युद्धके लिये कमर कसकर तैयार हो गये॥ ४॥

ततः प्रमथ्य सर्वांस्तांस्तद् वनं विविशुर्बलात्।
सिंहनादेन महता पूरयन्तो दिशो दश॥ ५॥

तदनन्तर वे अपने महान् सिंहनादसे दसों दिशाओंको गुँजाते हुए उन समस्त गन्धर्वोंको रौंदकर बलपूर्वक द्वैतवनमें घुस गये॥ ५॥

ततोऽपरैरवार्यन्त गन्धर्वैः कुरुसैनिकाः।
ते वार्यमाणा गन्धर्वैः साम्नैव वसुधाधिप॥ ६॥
ताननादृत्य गन्धर्वांस्तद् वनं विविशुर्महत्।
यदा वाचा न तिष्ठन्ति धार्तराष्ट्राः सराजकाः॥ ७॥
ततस्ते खेचराः सर्वे चित्रसेने न्यवेदयन्।

राजन्! उस समय दूसरे-दूसरे गन्धर्वोंने शान्तिपूर्ण वचनोंद्वारा ही कौरव सैनिकोंको रोका। रोकनेपर भी उन गन्धर्वोंकी अवहेलना करके वे समस्त सैनिक उस महान् वनके भीतर प्रविष्ट हो गये। जब राजा दुर्योधनसहित समस्त कौरव वाणीद्वारा मना करनेपर भी न रुके, तब आकाशमें विचरनेवाले उन सभी गन्धर्वोंने राजा चित्रसेनसे यह सारा समाचार निवेदन किया॥ ६-७½॥

गन्धर्वराजस्तान् सर्वानब्रवीत् कौरवान् प्रति॥ ८॥
अनार्याञ्छासतेत्येतांश्चित्रसेनोऽत्यमर्षणः।

यह सुनकर गन्धर्वराज चित्रसेनको बड़ा अमर्ष हुआ। उन्होंने कौरवोंको लक्ष्य करके समस्त गन्धर्वोंको आज्ञा दी, 'अरे! इन दुष्टोंका दमन करो'॥ ८½॥

अनुज्ञाताश्च गन्धर्वाश्चित्रसेनेन भारत॥ ९॥
प्रगृहीतायुधाः सर्वे धार्तराष्ट्रानभिद्रवन्।

भारत! चित्रसेनकी आज्ञा पाते ही सब गन्धर्व अस्त्र-शस्त्र लेकर कौरवोंकी ओर दौड़े॥ ९½॥

तान् दृष्ट्वा पततः शीघ्रान् गन्धर्वानुद्यतायुधान्॥ १०॥
प्राद्रवंस्ते दिशः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः।

गन्धर्वोंको अस्त्र-शस्त्र लिये तीव्र वेगसे अपनी ओर आते देख वे सभी कौरव सैनिक दुर्योधनके देखते-देखते चारों ओर भागने लगे॥ १०½॥

तान् दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान् धार्तराष्ट्रान् पराङ्मुखान्॥ ११॥
राधेयस्तु तदा वीरो नासीत् तत्र पराङ्मुखः।

धृतराष्ट्रके सब पुत्रोंको युद्धसे विमुख हो भागते देखकर भी राधानन्दन वीर कर्णने वहाँ पीठ नहीं दिखायी॥ ११½॥

आपतन्तीं तु सम्प्रेक्ष्य गन्धर्वाणां महाचमूम्॥ १२॥
महता शरवर्षेण राधेयः प्रत्यवारयत्।

गन्धर्वोंकी उस विशाल सेनाको अपनी ओर आती देख कर्णने भारी बाणवर्षा करके उसे आगे बढ़नेसे रोक दिया॥ १२½॥

क्षुरप्रैर्विशिखैर्भल्लैर्वत्सदन्तैस्तथाऽऽयसैः॥ १३॥
गन्धर्वाञ्छतशोऽभ्यघ्नँल्लघुत्वात् सूतनन्दनः।

सूतपुत्र कर्णने अपने हाथोंकी फुर्तीके कारण लोहेके क्षुरप्र, विशिख, भल्ल और वत्सदन्त नामक बाणोंकी वर्षा करके सैकड़ों गन्धर्वोंको घायल कर दिया॥ १३½॥

पातयन्नुत्तमाङ्गानि गन्धर्वाणां महारथः॥ १४॥
क्षणेन व्यधमत् सर्वां चित्रसेनस्य वाहिनीम्।

गन्धर्वोंके मस्तक काटकर गिराते हुए महारथी कर्णने चित्रसेनकी सारी सेनाको क्षणभरमें छिन्न-भिन्न कर डाला॥ १४½॥

ते वध्यमाना गन्धर्वाः सूतपुत्रेण धीमता॥ १५॥
भूय एवाभ्यवर्तन्त शतशोऽथ सहस्रशः।
गन्धर्वभूता पृथिवी क्षणेन समपद्यत॥ १६॥

आपतद्भिर्महावेगैश्चित्रसेनस्य सैनिकैः ।

परम बुद्धिमान् सूतपुत्र कर्णके द्वारा ज्यों-ज्यों गन्धर्वोंपर मार पड़ने लगी, त्यों-ही-त्यों वे सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें वहाँ आ-आकर एकत्र होने लगे । इस प्रकार चित्रसेनके अत्यन्त वेगशाली सैनिकोंके आनेसे क्षणभरमें वहाँकी सारी पृथ्वी गन्धर्वमयी हो गयी ॥ १५–१६½ ॥

अथ दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः ॥ १७ ॥
दुःशासनो विकर्णश्च ये चान्ये धृतराष्ट्रजाः ।
न्यहनंस्तत् तदा सैन्यं रथैर्गरुडनिःस्वनैः ॥ १८ ॥

तदनन्तर राजा दुर्योधन, सुबलपुत्र शकुनि, दुःशासन, विकर्ण तथा अन्य जो धृतराष्ट्रपुत्र वहाँ आये थे, उन सबने गरुड़के समान भयंकर शब्द करनेवाले रथोंपर आरूढ़ हो गन्धर्वोंकी उस सेनाका संहार आरम्भ किया ॥ १७-१८ ॥

भूयश्च योधयामासुः कृत्वा कर्णमथाग्रतः ।
महता रथसङ्घेन रथचारेण चाप्युत ॥ १९ ॥
वैकर्तनं परीप्सन्तो गन्धर्वान् समवाकिरन् ।

उन्होंने कर्णको आगे करके पुनः बड़े वेगसे गन्धर्वोंका सामना किया । उनके साथ रथोंका विशाल समूह था । वे रथोंको विचित्र गतियोंसे चलाते हुए कर्णकी रक्षा करने और गन्धर्वोंपर बाण बरसाने लगे ॥ १९½ ॥

ततः संन्यपतन् सर्वे गन्धर्वाः कौरवैः सह ॥ २० ॥
तदा सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
ततस्ते मृदवोऽभूवन् गन्धर्वाः शरपीडिताः ॥ २१ ॥
उच्चुक्रुशुश्च कौरव्या गन्धर्वान् प्रेक्ष्य पीडितान् ।

तत्पश्चात् सारे गन्धर्व संगठित हो कौरवोंके साथ भिड़ गये । उस समय उनमें घमासान युद्ध होने लगा, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था । तदनन्तर कौरवोंके बाणोंसे पीड़ित हो गन्धर्व कुछ ढीले पड़ने लगे और उन्हें कष्ट पाते देख कौरव-योद्धा जोर-जोरसे गरजने लगे ॥ २०-२१½ ॥

गन्धर्वांस्त्रासितान् दृष्ट्वा चित्रसेनो ह्यमर्षणः ॥ २२ ॥
उत्पपातासनात् क्रुद्धो वधे तेषां समाहितः ।

गन्धर्वोंको भयभीत देखकर गन्धर्वराज चित्रसेनको बड़ा क्रोध हुआ । वे शत्रुओंके वधका दृढ़ संकल्प लेकर अपने आसनसे उछल पड़े ॥ २२½ ॥

ततो मायास्त्रमास्थाय युयुधे चित्रमार्गवित् ।
तयामुह्यन्त कौरव्याश्चित्रसेनस्य मायया ॥ २३ ॥

वे युद्धकी विचित्र पद्धतियोंके ज्ञाता थे । उन्होंने मायामय अस्त्रका आश्रय लेकर युद्ध आरम्भ किया । चित्रसेनकी उस मायासे समस्त कौरवोंपर मोह छा गया ॥ २३ ॥

एकैको हि तदा योधो धार्तराष्ट्रस्य भारत ।
पर्यवर्तत गन्धर्वैर्दशभिर्दशभिः सह ॥ २४ ॥

भारत ! उस समय दुर्योधनका एक-एक सैनिक दस-दस गन्धर्वोंके साथ लोहा ले रहा था ॥ २४ ॥

ततः सम्पीड्यमानास्ते बलेन महता तदा ।
प्राद्रवन्त रणे भीता ये च राजञ्जिगीषवः ॥ २५ ॥

राजन् ! तदनन्तर गन्धर्वोंकी विशाल सेनासे पीड़ित हो वे सभी योद्धा, जो पहले जीतनेका हौसला रखते थे, भयभीत हो युद्धसे भाग चले ॥ २५ ॥

भज्यमानेष्वनीकेषु धार्तराष्ट्रेषु सर्वशः ।
कर्णो वैकर्तनो राजंस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ २६ ॥

जनमेजय ! जब कौरवोंके सभी सैनिक युद्ध छोड़कर भागने लगे, उस समय भी सूर्यपुत्र कर्ण पर्वतकी भाँति अविचलभावसे उस युद्धभूमिमें डटा रहा ॥ २६ ॥

दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः ।
गन्धर्वान् योधयामासुः समरे भृशविक्षताः ॥ २७ ॥

दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि—ये उस समराङ्गणमें यद्यपि बहुत घायल हो गये थे, तथापि गन्धर्वोंसे युद्ध करते रहे ॥ २७ ॥

सर्व एव तु गन्धर्वाः शतशोऽथ सहस्रशः ।
जिघांसमानाः सहिताः कर्णमभ्यद्रवन् रणे ॥ २८ ॥

इसपर सभी गन्धर्व एक साथ संगठित हो कर्णको मार डालनेकी इच्छासे सौ-सौ तथा हजार-हजारका दल बाँधकर रणभूमिमें कर्णके ऊपर टूट पड़े ॥ २८ ॥

असिभिः पट्टिशैः शूलैर्गदाभिश्च महाबलाः ।
सूतपुत्रं जिघांसन्तः समन्तात् पर्यवाकिरन् ॥ २९ ॥

उन महाबली वीरोंने सूतपुत्र कर्णके वधकी इच्छा रखकर उसके ऊपर चारों ओरसे तलवार, पट्टिश, शूल और गदाओंद्वारा प्रहार आरम्भ किया ॥ २९ ॥

अन्येऽस्य युगमच्छिन्दन् ध्वजमन्ये न्यपातयन् ।
ईषामन्ये हयानन्ये सूतमन्ये न्यपातयन् ॥ ३० ॥

किन्हींने उसके रथका जुआ काट दिया, दूसरोंने ध्वजा काटकर गिरा दी । कुछ लोगोंने ईषादण्डके टुकड़े-टुकड़े कर दिये । कुछ गन्धर्वोंने कर्णके घोड़ोंको यमलोक पहुँचा दिया तथा दूसरोंने सारथिको मार गिराया ॥ ३० ॥

अन्ये छत्रं वरूथं च बन्धुरं च तथापरे ।
गन्धर्वा बहुसाहस्रास्तिलशो व्यधमन् रथम् ॥ ३१ ॥

किसी एकने छत्र, दूसरोंने वरूथ[1] और अन्य सैनिकोंने रथके बन्धन काट डाले । गन्धर्वोंकी संख्या कई हजार थी ।

१. लोहेकी चद्दर या सीकड़ोंका बना हुआ आवरण वरूथ कहलाता है । पहले यह शत्रुके आघातसे रथको रक्षित रखनेके लिये उसके ऊपर डाला जाता था ।

उन्होंने कर्णके रथको तिल-तिल करके काट दिया ॥ ३१ ॥

ततो रथादवप्लुत्य सूतपुत्रोऽसिचर्मभृत् ।
विकर्णरथमास्थाय मोक्षायाश्वानचोदयत् ॥ ३२ ॥

तब सूतपुत्र कर्ण हाथमें तलवार और ढाल लिये अपने रथसे कूद पड़ा और विकर्णके रथपर बैठकर अपने प्राण बचानेके लिये उसके घोड़ोंको जोर-जोरसे हाँकने लगा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णपराभवे एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्णपराजयविषयक दो सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।२४१।

द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

गन्धर्वोंद्वारा दुर्योधन आदिकी पराजय और उनका अपहरण

वैशम्पायन उवाच

गन्धर्वैस्तु महाराज भग्ने कर्णे महारथे ।
सम्प्राद्रवच्चमूः सर्वा धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! गन्धर्वोंने जब महारथी कर्णको भगा दिया, तब दुर्योधनके देखते-देखते उसकी सारी सेना भी भाग चली ॥ १ ॥

तान् दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान् धार्तराष्ट्रान् पराङ्मुखान् ।
दुर्योधनो महाराजो नासीत् तत्र पराङ्मुखः ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको युद्धसे पीठ दिखाकर भागते देखकर भी राजा दुर्योधन स्वयं वहीं डटा रहा । उसने पीठ नहीं दिखायी ॥ २ ॥

तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य गन्धर्वाणां महाचमूम् ।
महता शरवर्षेण सोऽभ्यवर्षदरिंदमः ॥ ३ ॥

गन्धर्वोंकी उस विशाल सेनाको अपनी ओर आती देख शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर दुर्योधनने उसपर बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ३ ॥

अचिन्त्य शरवर्षं तु गन्धर्वास्तस्य तं रथम् ।
दुर्योधनं जिघांसन्तः समन्तात् पर्यवारयन् ॥ ४ ॥

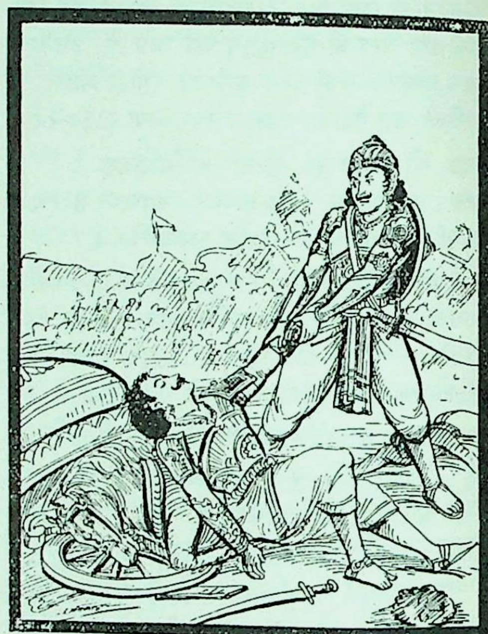
परंतु गन्धर्वोंने उस बाणवर्षाकी कुछ भी परवाह नहीं की । उन्होंने दुर्योधनको मार डालनेकी इच्छासे उसके रथको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ४ ॥

युगमीषां वरूथं च तथैव ध्वजसारथी ।
अश्वांस्त्रिवेणुं तल्पं च तिलशो व्यधमञ्छरैः ॥ ५ ॥

और उसके युग, ईषादण्ड, वरूथ, ध्वजा, सारथि, घोड़ों, तीन वेणुदण्डवाले छत्र और तल्प (बैठनेके स्थान) को बाणोंद्वारा तिल-तिल करके काट डाला ॥ ५ ॥

दुर्योधनं चित्रसेनो विरथं पतितं भुवि ।
अभिद्रुत्य महाबाहुर्जीवग्राहमथाग्रहीत् ॥ ६ ॥

उस समय दुर्योधन रथहीन होकर धरतीपर गिर पड़ा । यह देख महाबाहु चित्रसेनने झटपट जाकर उसे जीते-जी ही बंदी बना लिया ॥ ६ ॥



तस्मिन् गृहीते राजेन्द्र स्थितं दुःशासनं रथे ।
पर्यगृह्णन्त गन्धर्वाः परिवार्य समन्ततः ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! दुर्योधनके कैद हो जानेपर गन्धर्वोंने रथपर बैठे हुए दुःशासनको भी सब ओरसे घेरकर पकड़ लिया ॥ ७ ॥

विविंशतिं चित्रसेनमादायान्ये विदुद्रुवुः ।
विन्दानुविन्दावपरे राजदारांश्च सर्वशः ॥ ८ ॥

अन्य कितने ही गन्धर्व धृतराष्ट्रके पुत्र चित्रसेन और विविंशतिको बंदी बनाकर ले चले । कुछ अन्य गन्धर्वोंने विन्द और अनुविन्दको तथा राजकुलकी समस्त महिलाओंको भी अपने अधिकारमें ले लिया ॥ ८ ॥

सैन्यं तद् धार्तराष्ट्रस्य गन्धर्वैः समभिद्रुतम् ।
पूर्वं प्रभग्नाः सहिताः पाण्डवानभ्ययुस्तदा ॥ ९ ॥

गन्धर्वोंने दुर्योधनकी सारी सेनाको मार भगाया था । वह सेना तथा उसके वे सैनिक, जो पहलेसे ही मैदान

छोड़कर भाग गये थे, सब एक साथ पाण्डवोंकी शरणमें गये ॥ ९ ॥

शकटापणवेशाश्च यानयुग्यं च सर्वशः ।
शरणं पाण्डवाञ्जग्मुर्ह्रियमाणे महीपतौ ॥ १० ॥

गन्धर्व जब राजा दुर्योधनको बंदी बनाकर ले जाने लगे, उस समय छकड़े, रसदकी दूकान, वेष-भूषा, सवारी ढोने तथा कंधोंपर जुआ रखकर चलनेमें समर्थ बैल आदि सब उपकरणोंको साथ ले कौरव सैनिक पाण्डवोंकी शरणमें गये ॥ १० ॥

सैनिका ऊचुः

प्रियदर्शी महाबाहुर्धार्तराष्ट्रो महाबलः ।
गन्धर्वैर्ह्रियते राजा पार्थास्तमनुधावत ॥ ११ ॥
दुःशासनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुर्जयस्तथा ।
बद्ध्वा ह्रियन्ते गन्धर्वै राजदाराश्च सर्वशः ॥ १२ ॥

सैनिक बोले—कुन्तीकुमारो ! हमारे प्रियदर्शी महाबाहु महाबली धृतराष्ट्रकुमार राजा दुर्योधनको गन्धर्व (बाँधकर) लिये जाते हैं । आपलोग उनकी रक्षाके लिये दौड़िये । वे दुःशासन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुर्जय तथा कुरुकुलकी सब स्त्रियोंको भी कैद करके लिये जा रहे हैं ॥ ११-१२ ॥

इति दुर्योधनामात्याः क्रोशन्तो राजगृद्धिनः ।
आर्ता दीनास्ततः सर्वे युधिष्ठिरमुपागमन् ॥ १३ ॥

राजाको हृदयसे चाहनेवाले दुर्योधनके सब मन्त्री आर्त एवं दीन होकर उपर्युक्त बातें जोर-जोरसे कहते हुए युधिष्ठिरके समीप गये ॥ १३ ॥

तांस्तथा व्यथितान् दीनान् भिक्षमाणान् युधिष्ठिरम् ।
वृद्धान् दुर्योधनामात्यान् भीमसेनोऽभ्यभाषत ॥ १४ ॥

दुर्योधनके उन बूढ़े मन्त्रियोंको इस प्रकार दीन एवं दुखी होकर युधिष्ठिरसे सहायताकी भीख माँगते देख भीमसेनने कहा—॥ १४ ॥

महता हि प्रयत्नेन संनह्य गजवाजिभिः ।
अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम् ॥ १५ ॥

'हमें हाथी-घोड़ों आदिके द्वारा बहुत प्रयत्न करके कमर कसकर जो काम करना चाहिये था, उसे गन्धर्वोंने ही पूरा कर दिया ॥ १५ ॥

अन्यथा वर्तमानानामर्थो जातोऽयमन्यथा ।
दुर्मन्त्रितमिदं तावद् राज्ञो दुर्द्यूतदेविनः ॥ १६ ॥

'ये कौरव कुछ और ही करना चाहते थे; परंतु इन्हें उलटा परिणाम देखना पड़ा । कपटद्यूत खेलनेवाले राजा दुर्योधनका यह दुर्मन्त्रणापूर्ण षड्यन्त्र था, जो सफल न हो सका ॥ १६ ॥

द्वेष्टारमन्ये क्लीबस्य पातयन्तीति नः श्रुतम् ।
इदं कृतं नः प्रत्यक्षं गन्धर्वैरतिमानुषम् ॥ १७ ॥

'हमने सुना है, जो लोग असमर्थ पुरुषोंसे द्वेष करते हैं, उन्हें दूसरे ही लोग नीचा दिखा देते हैं । गन्धर्वोंने आज अलौकिक पराक्रम करके हमारी इस सुनी हुई बातको प्रत्यक्ष कर दिखाया ॥ १७ ॥

दिष्ट्या लोके पुमानस्ति कश्चिदस्मत्प्रिये स्थितः ।
येनास्माकं हृतो भार आसीनानां सुखावहः ॥ १८ ॥

'सौभाग्यकी बात है कि संसारमें कोई ऐसा भी पुरुष है, जो हमलोगोंके प्रिय एवं हितसाधनमें लगा हुआ है । उसने हमलोगोंका भार उतार दिया और हमें बैठे-ही-बैठे सुख पहुँचाया है ॥ १८ ॥

शीतवातातपसहांस्तपसा चैव कर्शितान् ।
समस्थो विषमस्थान् हि द्रष्टुमिच्छति दुर्मतिः ॥ १९ ॥

'हम सर्दी, गर्मी और हवाका कष्ट सहते हैं, तपस्यासे दुर्बल हो गये हैं और विषम परिस्थितिमें पड़े हैं, तो भी वह दुर्बुद्धि दुर्योधन, जो इस समय राजगद्दीपर बैठकर मौज उड़ा रहा है, हमें इस दुर्दशामें देखनेकी इच्छा रखता है ।१९।

अधर्मचारिणस्तस्य कौरव्यस्य दुरात्मनः ।
ये शीलमनुवर्तन्ते ते पश्यन्ति पराभवम् ॥ २० ॥

'उस पापाचारी दुरात्मा कौरवके स्वभावका जो लोग अनुसरण करते हैं, वे भी अपनी पराजय देखते हैं ॥ २० ॥

अधर्मो हि कृतस्तेन येनैतदुपशिक्षितम् ।
अनृशंसास्तु कौन्तेयास्तत् प्रत्यक्षं ब्रवीमि वः ॥ २१ ॥

'जिसने दुर्योधनको यह सलाह दी है कि वह वनमें पाण्डवोंसे मिलकर उनकी हँसी उड़ावे, उसने बड़ा भारी पाप किया है । कुन्तीके पुत्र कभी क्रूरतापूर्ण बर्ताव नहीं करते, मैं यह बात आपलोगोंके सामने कह रहा हूँ' ॥२१॥

एवं ब्रुवाणं कौन्तेयं भीमसेनमपस्वरम् ।
न कालः परुषस्यायमिति राजाभ्यभाषत ॥ २२ ॥

कुन्तीनन्दन भीमसेनको इस प्रकार विकृत स्वरमें बात करते देख राजा युधिष्ठिरने कहा—'भैया ! यह कड़वी बातें कहनेका समय नहीं है' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनादिहरणे द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधन आदिका अपहरणविषयक दो सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ

त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनको गन्धर्वोंके हाथसे कौरवोंको छुड़ानेका आदेश और इसके लिये अर्जुनकी प्रतिज्ञा

युधिष्ठिर उवाच

अस्मानभिगतांस्तात भयार्ताञ्छरणैषिणः ।
कौरवान् विषमप्राप्तान् कथं ब्रूयास्त्वमीदृशम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—तात ! ये लोग भयसे पीड़ित हो शरण लेनेकी इच्छासे हमारे पास आये हैं । इस समय कौरव भारी संकटमें पड़ गये हैं । फिर तुम ऐसी कड़वी बात कैसे बोल रहे हो ? ॥ १ ॥

भवन्ति भेदा ज्ञातीनां कलहाश्च वृकोदर ।
प्रसक्तानि च वैराणि कुलधर्मो न नश्यति ॥ २ ॥

भीमसेन ! ज्ञाति अर्थात् भाई-बन्धुओंमें मतभेद और लड़ाई-झगड़े होते ही रहते हैं । कभी-कभी उनमें वैर भी बँध जाते हैं; परंतु इससे कुलका धर्म यानी अपनापन नष्ट नहीं होता ॥ २ ॥

यदा तु कश्चिज्ज्ञातीनां बाह्यः प्रोथयते कुलम् ।
न मर्षयन्ति तत् सन्तो बाह्येनाभिप्रधर्षणम् ॥ ३ ॥

जब कोई बाहरका मनुष्य उनके कुलपर आक्रमण करता है, तब श्रेष्ठ पुरुष उस बाहरी मनुष्यके द्वारा होनेवाले अपने कुलके तिरस्कारको नहीं सहन करते हैं ॥ ३ ॥

(परैः परिभवे प्राप्ते वयं पञ्चोत्तरं शतम् ।
परस्परविरोधे तु वयं पञ्च शतं तु ते ॥)
जानात्येष हि दुर्बुद्धिरस्मानिह चिरोषितान् ।
स एवं परिभूयास्मानकार्षीदिदमप्रियम् ॥ ४ ॥

दूसरोंके द्वारा पराभव प्राप्त होनेपर उसका सामना करनेके लिये हमलोग एक सौ पाँच भाई हैं । आपसमें विरोध होनेपर ही हम पाँच भाई अलग हैं और वे सौ भाई अलग हैं । यह खोटी बुद्धिवाला गन्धर्व जानता है कि हम (पाण्डव) दीर्घकालसे यहाँ रह रहे हैं, तो भी इस प्रकार हमारा तिरस्कार करके इस चित्रसेन गन्धर्वने यह अप्रिय कार्य किया है ॥४॥

दुर्योधनस्य ग्रहणाद् गन्धर्वेण बलात् प्रभो ।
स्त्रीणां बाह्याभिमर्शाच्च हतं भवति नः कुलम् ॥ ५ ॥

शक्तिशाली भीम ! गन्धर्वके द्वारा बलपूर्वक दुर्योधनके पकड़े जानेसे और एक बाहरी पुरुषके द्वारा कुरुकुलकी स्त्रियोंका अपहरण होनेसे हमारे कुलका जो तिरस्कार हुआ है, वह कुलके लिये मृत्युके तुल्य है ॥ ५ ॥

शरणं च प्रपन्नानां त्राणार्थं च कुलस्य च ।
उत्तिष्ठत नरव्याघ्राः सज्जीभवत मा चिरम् ॥ ६ ॥

नरश्रेष्ठ वीरो ! शरणागतोंकी रक्षा करने और कुलकी लाज बचानेके लिये तुमलोग शीघ्र उठो और युद्धके लिये तैयार हो जाओ, विलम्ब न करो ॥ ६ ॥

अर्जुनश्च यमौ चैव त्वं च वीरापराजितः ।
मोक्षयध्वं नरव्याघ्रा ह्रियमाणं सुयोधनम् ॥ ७ ॥

वीर ! अर्जुन, नकुल, सहदेव और तुम किसीसे परास्त होनेवाले नहीं हो । नरवीरो ! गन्धर्वोंद्वारा अपहृत होनेवाले दुर्योधनको छुड़ा लाओ ॥ ७ ॥

एते रथा नरव्याघ्राः सर्वशस्त्रसमन्विताः ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां विमलाः काञ्चनध्वजाः ॥ ८ ॥
सस्वनानधिरोहध्वं नित्यसज्जानिमान् रथान् ।
इन्द्रसेनादिभिः सूतैः कृतशस्त्रैरधिष्ठितान् ॥ ९ ॥
एतानास्थाय वै यत्ता गन्धर्वान् योद्धुमाहवे ।
सुयोधनस्य मोक्षाय प्रयतध्वमतन्द्रिताः ॥ १० ॥

नरसिंहो ! कौरवोंके ये सुनहरी ध्वजावाले निर्मल रथ सामने खड़े हैं । इनमें सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र मौजूद हैं । इनके चलनेपर भारी आवाज होती है । ये रथ सदा सुसज्जित रहते हैं । शस्त्रविद्यामें निपुण इन्द्रसेन आदि सारथि इनपर बैठे हुए हैं । तुमलोग इन रथोंपर आरूढ़ हो गन्धर्वोंसे युद्ध करनेके लिये तैयार हो जाओ और सावधान होकर दुर्योधनको छुड़ानेका प्रयत्न करो ॥ ८–१० ॥

य एव कश्चिद् राजन्यः शरणार्थमिहागतम् ।
परं शक्त्याभिरक्षेत किं पुनस्त्वं वृकोदर ॥ ११ ॥

भीमसेन ! जो कोई साधारण क्षत्रिय भी क्यों न हो, शरण लेनेके लिये आये हुए मनुष्यकी यथाशक्ति रक्षा करता है । फिर तुम-जैसे वीर पुरुष शरणागतकी रक्षा करें, इसके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ ११ ॥

(वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयः पुनर्वाक्यमभाषत ।
कोपसंरक्तनयनः पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार भीमसेन पहलेके वैरका स्मरण करते हुए क्रोधसे आँखें लाल करके फिर इस प्रकार बोले ॥

भीम उवाच

पुरा जतुगृहेऽनेन दग्धुमस्मान् युधिष्ठिर ।
दुर्बुद्धिर्हि कृता वीर भृशं दैवेन रक्षिताः ॥

भीमसेन बोले—वीरवर भैया युधिष्ठिर ! आपको याद होगा, पहले इसी दुर्योधनने लाक्षागृहमें हमलोगोंको जलाकर भस्म कर देनेका घृणित विचार किया था; परंतु दैवने हमारी रक्षा की ॥

कालकूटं विषं तीक्ष्णं भोजने मम भारत ।
उप्त्वा गङ्गां लतापाशैर्बद्ध्वा च प्राक्षिपत् प्रभो ॥

भरतकुलभूषण प्रभो ! इसीने मेरे भोजनमें तीव्र कालकूट विष मिला दिया और मुझे लतापाशसे बाँधकर गङ्गाजीमें फेंक दिया था ।

द्यूतकाले हि कौन्तेय वृजिनानि कृतानि वै ।
द्रौपद्याश्च परामर्शः केशग्रहणमेव च ॥
वस्त्रापहरणं चैव सभामध्ये कृतानि वै ।
पुरा कृतानां पापानां फलं भुङ्क्ते सुयोधनः ॥

कुन्तीनन्दन ! जूएके समय इसने बड़े-बड़े पाप किये हैं। द्रौपदीका स्पर्श, उसके केशोंको पकड़कर खींचना और भरी सभामें उसे नग्नी करनेके लिये उसके वस्त्रोंका अपहरण करना—ये सब दुर्योधनके कुकृत्य हैं । पहलेके किये हुए पापोंका फल आज दुर्योधन भोग रहा है ॥

अस्माभिरेव कर्तव्यो धार्तराष्ट्रस्य निग्रहः ।
अन्येन तु कृतं तच्च मैत्र्यमस्माभिरिच्छता ॥
उपकारी तु गन्धर्वो मा राजन् विमना भव ॥

इस धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको पकड़कर दण्ड देनेका काम तो हमलोगोंको ही करना चाहिये था; परंतु किसी दूसरेने हमारे साथ मैत्रीकी इच्छा रखकर स्वयं ही वह कार्य पूरा कर दिया । राजन् ! आप उदास न हों; गन्धर्व हमलोगोंका उपकारी ही है ॥

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नन्तरे राजंश्चित्रसेनेन वै हृतः ।
विललाप सुदुःखार्तो ह्रियमाणः सुयोधनः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय चित्रसेनद्वारा अपहृत होता हुआ दुर्योधन अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो जोर-जोरसे विलाप करने लगा ॥

दुर्योधन उवाच

पाण्डुपुत्र महाबाहो पौरवाणां यशस्कर ।
सर्वधर्मभृतां श्रेष्ठ गन्धर्वेण हृतं बलात् ॥
रक्षस्व पुरुषव्याघ्र युधिष्ठिर महायशः ॥
भ्रातरं ते महाबाहो बद्ध्वा नयति मामयम् ।
दुःशासनं दुर्विषहं दुर्मुखं दुर्जयं तथा ॥
बद्ध्वा हरन्ति गन्धर्वा अस्मद्दारांश्च सर्वशः ।
अनुधावत मां क्षिप्रं रक्षध्वं पुरुषोत्तमाः ॥
वृकोदर महाबाहो धनंजय महायशः ।

यमौ मामनुधावेतां रक्षार्थं मम सायुधौ ॥
कुरुवंशस्य तु महदयशः प्राप्तमीदृशम् ।
व्यपोहयध्वं गन्धर्वाञ्जित्वा वीर्येण पाण्डवाः ॥

दुर्योधन बोला—पूरुवंशका यश बढ़ानेवाले समस्त धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महायशस्वी पुरुषसिंह महाबाहु पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! मुझे गन्धर्व बलपूर्वक हरकर लिये जा रहा है। मेरी रक्षा करो । महाबाहो ! यह शत्रु तुम्हारे भाई मुझ दुर्योधनको बाँधे लिये जाता है । साथ ही ये सारे गन्धर्व दुःशासन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुर्जय तथा हमारी रानियोंको भी बंदी बनाकर लिये जा रहे हैं । पुरुषोत्तम पाण्डवो ! शीघ्र इनका पीछा करो और मेरे प्राण बचाओ। महाबाहु वृकोदर और महायशस्वी धनंजय ! मेरी रक्षा करो । दोनों भाई नकुल और सहदेव भी अस्त्र-शस्त्र लिये मेरी रक्षाके लिये दौड़े आवें । पाण्डवो ! कुरुवंशके लिये यह बड़ा भारी अयश प्राप्त हो रहा है । तुम अपने पराक्रमसे इन गन्धर्वोंको जीतकर मार भगाओ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विलपमानस्य कौरवस्यार्तया गिरा ।
श्रुत्वा विलापं सम्भ्रान्तो घृणयाभिपरिप्लुतः ॥
युधिष्ठिरः पुनर्वाक्यं भीमसेनमथाब्रवीत् ।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार आर्त वाणीमें विलाप करते हुए दुर्योधनका करुण क्रन्दन सुनकर माननीय युधिष्ठिर दयासे द्रवित हो गये । उन्होंने पुनः भीमसेनसे कहा—॥

क इहार्यो भवेत् त्राणमभिधावेति नोदितः ।
प्राञ्जलिं शरणापन्नं दृष्ट्वा शत्रुमपि ध्रुवम् ॥ १२ ॥

'इस जगत्‌में कौन ऐसा श्रेष्ठ पुरुष है, जो हाथ जोड़कर शरणमें आये हुए शत्रुको भी देखकर और उसके द्वारा की हुई 'दौड़ो-बचाओ' की पुकार सुनकर उसकी रक्षाके लिये दौड़ नहीं पड़ेगा ? ॥ १२ ॥

वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च पाण्डवाः ।
शत्रोश्च मोक्षणं क्लेशात् त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥ १३ ॥

'पाण्डवो ! वरदान, राज्यप्रदान, पुत्रकी प्राप्ति कराना तथा शत्रुका संकटसे उद्धार करना—इन चार वस्तुओंमेंसे प्रारम्भके तीन और अन्तका एक समान हैं ॥ १३ ॥

किं चाप्यधिकमेतस्माद् यदापन्नः सुयोधनः ।
त्वद्बाहुबलमाश्रित्य जीवितं परिमार्गते ॥ १४ ॥

'तुम्हारे लिये इससे बढ़कर आनन्दकी बात और क्या होगी कि दुर्योधन विपत्तिमें पड़कर तुम्हारे बाहुबलके भरोसे अपने जीवनकी रक्षा करना चाहता है ? ॥ १४ ॥

[illegible] वृकोदर ।
विततो मे क्रतुर्वीर न हि मेऽत्र विचारणा ॥ १५ ॥

'वीर भीमसेन ! यदि मेरा यह यज्ञ प्रारम्भ न हो गया होता, तो मैं स्वयं ही दुर्योधनको छुड़ानेके लिये दौड़ा जाता। इस विषयमें मेरे लिये कोई दूसरा विचार करना उचित नहीं है ॥ १५ ॥

साम्नैव तु यथा भीम मोक्षयेथाः सुयोधनम् ।
तथा सर्वैरुपायैस्त्वं यतेथाः कुरुनन्दन ॥ १६ ॥

'कुरुनन्दन भीम ! शान्तिपूर्ण ढंगसे समझा-बुझाकर जिस तरह भी दुर्योधनको छुड़ा सको, सभी उपायोंसे वैसा ही प्रयत्न करना ॥ १६ ॥

न साम्ना प्रतिपद्येत यदि गन्धर्वराडसौ ।
पराक्रमेण मृदुना मोक्षयेथाः सुयोधनम् ॥ १७ ॥

'यदि समझाने-बुझानेसे वह गन्धर्वराज चित्रसेन तुम्हारी बात न माने, तो कोमलतापूर्ण पराक्रमके द्वारा दुर्योधनको छुड़ानेकी चेष्टा करना ॥ १७ ॥

अथासौ मृदुयुद्धेन न मुञ्चेद् भीम कौरवान् ।
सर्वोपायैर्विमोच्यास्ते निगृह्य परिपन्थिनः ॥ १८ ॥

'भीम ! यदि कोमलतापूर्ण युद्धसे भी वह कौरवोंको न छोड़े, तो तुम सभी उपायोंसे उन लुटेरे गन्धर्वोंको कैद करके कौरवोंको छुड़ाना ॥ १८ ॥

एतावद्धि मया शक्यं संदेष्टुं वै वृकोदर ।
वैताने कर्मणि तते वर्तमाने च भारत ॥ १९ ॥

'भरतनन्दन वृकोदर ! इस समय मेरा यह यज्ञकर्म चालू है; अतः ऐसी स्थितिमें मैं तुम्हें इतना ही संदेश दे सकता हूँ' ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अजातशत्रोर्वचनं तच्छ्रुत्वा तु धनंजयः ।
प्रतिजज्ञे गुरोर्वाक्यं कौरवाणां विमोक्षणम् ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अजातशत्रु युधिष्ठिरका उपर्युक्त वचन सुनकर अर्जुनने अपने बड़े भाईकी आज्ञाके अनुसार कौरवोंको छुड़ानेकी प्रतिज्ञा की ॥ २० ॥



अर्जुन उवाच

यदि साम्ना न मोक्ष्यन्ति गन्धर्वा धृतराष्ट्रजान् ।
अद्य गन्धर्वराजस्य भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ २१ ॥

अर्जुन बोले—यदि गन्धर्वलोग समझाने-बुझानेसे कौरवोंको नहीं छोड़ेंगे, तो यह पृथ्वी आज गन्धर्वराजका रक्त पीयेगी ॥ २१ ॥

अर्जुनस्य तु तां श्रुत्वा प्रतिज्ञां सत्यवादिनः ।
कौरवाणां तदा राजन् पुनः प्रत्यागतं मनः ॥ २२ ॥

राजन् ! सत्यवादी अर्जुनकी वह प्रतिज्ञा सुनकर कौरवोंके जीमें जी आया ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनमोचनानुज्ञायां त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनको छुड़ानेकी आज्ञाविषयक दो सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५½ श्लोक मिलाकर कुल ३७½ श्लोक हैं)

चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका गन्धर्वोंके साथ युद्ध

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरवचः श्रुत्वा भीमसेनपुरोगमाः ।
प्रहृष्टवदनाः सर्वे समुत्तस्थुर्नरर्षभाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरकी बात सुनकर भीमसेन आदि सभी नरश्रेष्ठ पाण्डव युद्धके लिये उठ खड़े हुए । उन सबके मुखपर प्रसन्नता छा रही थी ॥ १ ॥

[illegible] ततः सर्वे समनह्यन्त भारत ।
जाम्बूनदविचित्राणि कवचानि महारथाः ॥ २ ॥

भारत ! तदनन्तर उन समस्त महारथियोंने जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित एवं विचित्र शोभा धारण करनेवाले अभेद्य कवच धारण किये ॥ २ ॥

आयुधानि च दिव्यानि विविधानि समादधुः ।
ते दंशिता रथैः सर्वे ध्वजिनः सशरासनाः ॥ ३ ॥
पाण्डवाः प्रत्यदृश्यन्त ज्वलिता इव पावकाः ।

फिर नाना प्रकारके दिव्य आयुध हाथमें लिये, कवच धारण करके रथोंपर आरूढ़ हो ध्वज और धनुषसे सुशोभित वे समस्त पाण्डव प्रज्वलित अग्नियोंके समान दिखायी देने लगे ॥ ३½ ॥

तान् रथान् साधुसम्पन्नान् संयुक्ताञ्जवनैर्हयैः॥ ४ ॥
आस्थाय रथशार्दूलाः शीघ्रमेव ययुस्ततः ।

उन रथोंमें तेज चलनेवाले घोड़े जुते हुए थे । वे सभी रथ युद्धकी आवश्यक सामग्रियोंसे पूर्णतः सम्पन्न थे । रथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डव उनपर आरूढ़ हो शीघ्र ही वहाँसे चल दिये ॥ ४½ ॥

ततः कौरवसैन्यानां प्रादुरासीन्महास्वनः ॥ ५ ॥
प्रयातान् सहितान् दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रान् महारथान्।
जितकाशिनश्च खचरास्त्वरिताश्च महारथाः ॥ ६ ॥
क्षणेनैव वने तस्मिन् समाजग्मुरभीतवत् ।
न्यवर्तन्त ततः सर्वे गन्धर्वा जितकाशिनः ॥ ७ ॥

फिर तो कौरव सैनिकोंकी बड़ी भयंकर गर्जना सुनायी देने लगी । महारथी पाण्डवोंको एक साथ धावा बोलते देख विजयश्रीसे सुशोभित होनेवाले आकाशचारी महारथी गन्धर्व बड़ी उतावलीके साथ क्षणभरमें उस वनके भीतर ऐसे एकत्र हो गये, मानो उन्हें किसीका भय न हो । तदनन्तर अपनी विजयसे उल्लसित होते हुए सारे गन्धर्व शत्रुओंका सामना करनेके लिये लौट पड़े ॥ ५–७ ॥

दृष्ट्वा रथागतान् वीरान् पाण्डवांश्चतुरो रणे ।
तांस्तु विभ्राजितान् दृष्ट्वा लोकपालानिवोद्यतान्॥ ८ ॥
व्यूढानीका व्यतिष्ठन्त गन्धमादनवासिनः ।

उन्होंने देखा, चारों वीर पाण्डव युद्धके लिये उद्यत हो रथपर बैठे हुए आ रहे हैं और अपनी कान्तिसे लोकपालोंके समान उद्भासित हो रहे हैं । यह देखकर गन्धमादननिवासी गन्धर्व अपनी सेनाकी व्यूहरचना करके खड़े हो गये ॥८½॥

राज्ञस्तु वचनं स्मृत्वा धर्मपुत्रस्य धीमतः ॥ ९ ॥
क्रमेण मृदुना युद्धमुपक्रान्तं च भारत ।

भारत ! परम बुद्धिमान् धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके पूर्वोक्त वचनोंको स्मरण करके पाण्डवोंने कोमलतापूर्वक ही युद्ध आरम्भ किया ॥ ९½ ॥

न तु गन्धर्वराजस्य सैनिका मन्दचेतसः ॥ १० ॥
शक्यन्ते मृदुना श्रेयः प्रतिपादयितुं तदा ।

परंतु गन्धर्वराज चित्रसेनके मूढ़ सैनिक ऐसे नहीं थे, जिन्हें कोमलतापूर्ण बर्तावके द्वारा कल्याणके पथपर लाया जा सके ॥ १०½ ॥

ततस्तान् युधि दुर्धर्षान् सव्यसाची परंतपः ॥ ११ ॥
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यमुवाच खचरान् रणे ।
विसर्जयत राजानं भ्रातरं मे सुयोधनम् ॥ १२ ॥

तो भी उस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने रणदुर्जय आकाशचारी गन्धर्वोंको समझाते हुए इस प्रकार कहा—'तुम सब लोग मेरे भाई राजा दुर्योधनको छोड़ दो' ॥ ११-१२ ॥

त एवमुक्ता गन्धर्वाः पाण्डवेन यशस्विना ।
उत्स्मयन्तस्तदा पार्थमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १३ ॥

यशस्वी पाण्डुनन्दन अर्जुनके ऐसा कहनेपर गन्धर्वोंने मुसकराकर उनसे इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

एकस्यैव वयं तात कुर्याम वचनं भुवि ।
यस्य शासनमाज्ञाय चरामो विगतज्वराः ॥ १४ ॥
तेनैकेन यथाऽऽदिष्टं तथा वर्ताम भारत ।
न शास्ता विद्यतेऽस्माकमन्यस्तस्मात् सुरेश्वरात्॥ १५॥

'तात ! हम भूमण्डलमें केवल एक व्यक्तिकी ही आज्ञाका पालन करते हैं । भारत ! जिनके शासनको शिरोधार्य करके हम निश्चिन्त हो सर्वत्र विचरते हैं, हमारे उन्हीं एकमात्र स्वामीने जैसी आज्ञा दी है, वैसा बर्ताव हम कर रहे हैं । अतः इन देवेश्वरके सिवा दूसरा कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो हमलोगोंपर शासन कर सके' ॥ १४-१५ ॥

एवमुक्तः स गन्धर्वैः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
गन्धर्वान् पुनरेवेदं वचनं प्रत्यभाषत ॥ १६ ॥

गन्धर्वोंके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन अर्जुनने पुनः उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १६ ॥

न तद् गन्धर्वराजस्य युक्तं कर्म जुगुप्सितम् ।
परदाराभिमर्शश्च मानुषैश्च समागमः ॥ १७ ॥

'गन्धर्वो ! परायी स्त्रियोंका अपहरण और मनुष्योंके साथ युद्ध—ये घृणित कर्म गन्धर्वराज चित्रसेनको शोभा नहीं देते हैं ॥ १७ ॥

उत्सृजध्वं महावीर्यान् धृतराष्ट्रसुतानिमान् ।
दारांश्चैषां विमुञ्चध्वं धर्मराजस्य शासनात् ॥ १८ ॥

'अतः तुमलोग धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे इन महापराक्रमी धृतराष्ट्रके पुत्रों तथा इनकी स्त्रियोंको छोड़ दो ॥ १८ ॥

यदा साम्ना न मुञ्चध्वं गन्धर्वा धृतराष्ट्रजान् ।
मोक्षयिष्यामि विक्रम्य स्वयमेव सुयोधनम् ॥ १९ ॥

'गन्धर्वो ! यदि इस प्रकार समझाने-बुझानेसे तुमलोग धृतराष्ट्रके पुत्रोंको नहीं छोड़ोगे, तो मैं स्वयं ही पराक्रम करके दुर्योधनको छुड़ा लूँगा' ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा ततः पार्थः सव्यसाची धनंजयः ।
ससर्ज निशितान् बाणान् खचरान् खचरान् प्रति॥२०॥

ऐसा कहकर सव्यसाची अर्जुनने गन्धर्वोंके एक-एक दलपर अपने तीखे आकाशगामी बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥

तथैव शरवर्षेण गन्धर्वास्ते बलोत्कटाः ।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त पाण्डवाश्च दिवौकसः ॥ २१ ॥

इसी प्रकार बलोन्मत्त गन्धर्व भी बाणोंकी बौछार करते हुए पाण्डवोंसे भिड़ गये । इधरसे पाण्डव भी गन्धर्वोंका डटकर सामना करने लगे ॥ २१ ॥

ततः सुतुमुलं युद्धं गन्धर्वाणां तरस्विनाम् ।
बभूव भीमवेगानां पाण्डवानां च भारत ॥ २२ ॥

भारत ! तदनन्तर बलशाली गन्धर्वों तथा भयानक वेगवाले पाण्डवोंमें अत्यन्त भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया ॥२२॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि पाण्डवगन्धर्वयुद्धे चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें पाण्डव-गन्धर्वयुद्धविषयक दो सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके द्वारा गन्धर्वोंकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

ततो दिव्यास्त्रसम्पन्ना गन्धर्वा हेममालिनः ।
विसृजन्तः शरान् दीप्तान् समन्तात् पर्यवारयन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर दिव्यास्त्रोंसे सम्पन्न सुवर्णमालाधारी गन्धर्वोंने तेजोमय बाणोंकी वर्षा करते हुए चारों ओरसे पाण्डवोंको घेर लिया ॥

चत्वारः पाण्डवा वीरा गन्धर्वाश्च सहस्रशः ।
रणे संन्यपतन् राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २ ॥

राजन् ! वीर पाण्डव केवल चार थे, परंतु उस रणभूमिमें हजारों गन्धर्व उनपर एक साथ टूट पड़े थे । यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ २ ॥

यथा कर्णस्य च रथो धार्तराष्ट्रस्य चोभयोः ।
गन्धर्वैः शतशश्छिन्नौ तथा तेषां प्रचक्रिरे ॥ ३ ॥

गन्धर्वोंने जैसे कर्ण तथा दुर्योधन दोनोंके रथोंको छिन्न-भिन्न करके उनके सैकड़ों टुकड़े कर दिये थे, उसी प्रकार वे पाण्डवोंके रथोंको भी टूक-टूक कर देनेकी चेष्टामें लग गये ॥ ३ ॥

तान् समापततो राजन् गन्धर्वाञ्छतशो रणे ।
प्रत्यगृह्णन् नरव्याघ्राः शरवर्षैरनेकशः ॥ ४ ॥

राजन् ! रणभूमिमें सैकड़ों गन्धर्वोंको अपने ऊपर आक्रमण करते देख नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने बारंबार बाणोंकी झड़ी लगाकर उन सबको रोक दिया ॥ ४ ॥

ते कीर्यमाणाः खगमाः शरवर्षैः समन्ततः ।
न शेकुः पाण्डुपुत्राणां समीपे परिवर्तितुम् ॥ ५ ॥

[illegible]

आकाशचारी गन्धर्व पाण्डवोंके समीप जानेका साहस न कर सके ॥ ५ ॥

अभिक्रुद्धानभिक्रुद्धो गन्धर्वानर्जुनस्तदा ।
लक्षयित्वाथ दिव्यानि महास्त्राण्युपचक्रमे ॥ ६ ॥

उस समय गन्धर्वोंको क्रोधमें भरे हुए देख अर्जुनने भी कुपित होकर महान् दिव्यास्त्रोंका प्रयोग आरम्भ किया ॥६॥

सहस्राणां सहस्राणि प्राहिणोद् यमसादनम् ।
आग्नेयेनार्जुनः संख्ये गन्धर्वाणां बलोत्कटः ॥ ७ ॥

वे अत्यन्त बलवान् थे । उन्होंने उस युद्धमें आग्नेयास्त्र-का प्रयोग करके दस लाख गन्धर्वोंको यमलोक पहुँचा दिया ॥

तथा भीमो महेष्वासः संयुगे बलिनां वरः ।
गन्धर्वाञ्छतशो राजञ्जघान निशितैः शरैः ॥ ८ ॥

राजन् ! इसी प्रकार बलवानोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर भीमसेनने अपने तीक्ष्ण सायकोंद्वारा सैकड़ों गन्धर्वोंको मार गिराया ॥

माद्रीपुत्रावपि तथा युध्यमानौ बलोत्कटौ ।
परिगृह्याग्रतो राजञ्जघ्नतुः शतशः परान् ॥ ९ ॥

उत्कट बलशाली माद्रीकुमार नकुल और सहदेवने भी युद्धमें तत्पर हो सैकड़ों शत्रुओंको आगेसे पकड़कर मार डाला ॥ ९ ॥

ते वध्यमाना गन्धर्वा दिव्यैरस्त्रैर्महारथैः ।
उत्पेतुः खमुपादाय धृतराष्ट्रसुतांस्ततः ॥ १० ॥

महारथी पाण्डवोंके चलाये दिव्यास्त्रोंकी मार खाकर गन्धर्व धृतराष्ट्रके पुत्रोंको लिये-दिये आकाशमें उड़ गये ॥ १० ॥

स तानुत्पतितान् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
महता शरजालेन समन्तात् पर्यवारयत् ॥ ११ ॥



अर्जुन-चित्रसेन-युद्ध

कुन्तीनन्दन अर्जुनने उन्हें आकाशमें उड़ते देख चारों ओर बाणोंका विस्तृत जाल-सा फैलाकर गन्धर्वोंको घेरेमें डाल दिया ॥ ११ ॥

ते बद्धाः शरजालेन शकुन्ता इव पञ्जरे ।
ववर्षुरर्जुनं क्रोधाद् गदाशक्त्यृष्टिवृष्टिभिः ॥ १२ ॥

उस जालमें वे उसी प्रकार बँध गये, जैसे पिंजड़ेमें पक्षी । अतः वे अत्यन्त कुपित होकर अर्जुनपर गदा, शक्ति और ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ १२ ॥

गदाशक्त्यृष्टिवृष्टीस्ता निहत्य परमास्त्रवित् ।
गात्राणि चाहनद् भल्लैर्गन्धर्वाणां धनंजयः ॥ १३ ॥

तब उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता अर्जुनने उनकी गदा, शक्ति तथा ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षाका निवारण करके भल्ल नामक बाणोंद्वारा गन्धर्वोंके अङ्गोंपर आघात करने लगे ॥

शिरोभिः प्रपतद्भिश्च चरणैर्बाहुभिस्तथा ।
अश्मवृष्टिरिवाभाति परेषामभवद् भयम् ॥ १४ ॥

गन्धर्वोंके मस्तक, बाहु तथा पैर कट-कटकर इस प्रकार गिरने लगे, मानो पत्थरोंकी वर्षा हो रही हो । इससे शत्रुओं-को बड़ा भय होने लगा ॥ १४ ॥

ते वध्यमाना गन्धर्वाः पाण्डवेन महात्मना ।
भूमिष्ठमन्तरिक्षस्थाः शरवर्षैरवाकिरन् ॥ १५ ॥

महात्मा पाण्डुनन्दन अर्जुनके बाणोंसे घायल होकर आकाशमें स्थित हुए गन्धर्वोंने पृथ्वीपर खड़े हुए अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की ॥ १५ ॥

तेषां तु शरवर्षाणि सव्यसाची परंतपः ।
अस्त्रैः संवार्य तेजस्वी गन्धर्वान् प्रत्यविध्यत ॥ १६ ॥

तेजस्वी परंतप सव्यसाचीने अपने अस्त्रोंद्वारा गन्धर्वोंकी बाणवर्षाका निवारण करके उन्हें फिरसे घायल कर दिया ॥

स्थूणाकर्णेन्द्रजालं च सौरं चापि तथार्जुनः ।
आग्नेयं चापि सौम्यं च ससर्ज कुरुनन्दनः ॥ १७ ॥

कुरुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले अर्जुनने स्थूणाकर्ण, इन्द्रजाल, सौर, आग्नेय तथा सौम्य नामक दिव्यास्त्रोंका प्रयोग किया ॥ १७ ॥

ते दह्यमाना गन्धर्वाः कुन्तीपुत्रस्य सायकैः ।
दैतेया इव शक्रेण विषादमगमन् परम् ॥ १८ ॥

कुन्तीकुमारके उन सायकोंसे गन्धर्व उसी प्रकार दग्ध होने लगे, जैसे इन्द्रके बाणोंद्वारा दैत्य । इससे उनको बड़ा विषाद हुआ ॥ १८ ॥

ऊर्ध्वमाक्रममाणाश्च शरजालेन वारिताः ।
विसर्पमाणा भल्लैश्च वार्यन्ते सव्यसाचिना ॥ १९ ॥

जब वे ऊपरकी ओर उड़ने लगते, तब अर्जुनके बाणोंके जालसे उनकी गति रुक जाती थी और जब इधर-उधर भागने लगते, तब सव्यसाची अर्जुनके भल्ल नामक बाण उन्हें आगे बढ़नेसे रोकते थे ॥ १९ ॥

गन्धर्वांस्त्रासितान् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रेण भारत ।
चित्रसेनो गदां गृह्य सव्यसाचिनमाद्रवत् ॥ २० ॥

भारत ! इस प्रकार कुन्तीकुमारके द्वारा गन्धर्वोंको त्रस्त हुआ देख गन्धर्वराज चित्रसेनने गदा लेकर सव्यसाची अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ २० ॥

तस्याभिपततस्तूर्णं गदाहस्तस्य संयुगे ।
गदां सर्वायसीं पार्थः शरैश्चिच्छेद सप्तधा ॥ २१ ॥

हाथमें गदा लिये बड़े वेगसे युद्धके लिये आते हुए चित्रसेनकी उस गदाके, जो सबकी सब लोहेकी बनी हुई थी, अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा सात टुकड़े कर दिये ॥ २१ ॥

स गदां बहुधा दृष्ट्वा कृत्तां बाणैस्तरस्विना ।
संवृत्य विद्यया ऽऽत्मानं योधयामास पाण्डवम् ॥ २२ ॥

वेगशाली अर्जुनके बाणोंसे अपनी गदाके अनेक टुकड़े हुए देख चित्रसेन अन्तर्धानविद्याद्वारा अपने आपको छिपा-कर उन पाण्डुकुमारके साथ युद्ध करने लगे ॥ २२ ॥

अस्त्राणि तस्य दिव्यानि सम्प्रयुक्तानि सर्वशः ।
दिव्यैरस्त्रैस्तदा वीरः पर्यवारयदर्जुनः ॥ २३ ॥

उस समय उन्होंने जिन-जिन दिव्यास्त्रोंका प्रयोग किया, उन सबको वीर अर्जुनने अपने दिव्य अस्त्रोंद्वारा शान्त कर दिया ॥ २३ ॥

स वार्यमाणस्तैरस्त्रैरर्जुनेन महात्मना ।
गन्धर्वराजो बलवान् माययान्तर्हितस्तदा ॥ २४ ॥

महात्मा अर्जुनके उन अस्त्रोंसे रोके जानेपर बलवान् गन्धर्वराज मायासे अदृश्य हो गये ॥ २४ ॥

अन्तर्हितं तमालक्ष्य प्रहरन्तमथार्जुनः ।
ताडयामास खचरैर्दिव्यास्त्रप्रतिमन्त्रितैः ॥ २५ ॥

उन्हें अदृश्य होकर प्रहार करते देख अर्जुनने दिव्यास्त्रों-द्वारा अभिमन्त्रित किये हुए आकाशचारी बाणोंसे बींध डाला ॥ २५ ॥

अन्तर्धानवधं चास्य चक्रे क्रुद्धोऽर्जुनस्तदा ।
शब्दवेधं समाश्रित्य बहुरूपो धनंजयः ॥ २६ ॥

(रणभूमिमें सब ओर विचरनेके कारण) उस समय अर्जुन अनेक रूप धारण किये हुए जान पड़ते थे । उन्होंने कुपित होकर शब्दवेधका सहारा ले चित्रसेनकी अन्तर्धानरूप मायाको भी नष्ट कर दिया ॥ २६ ॥

स वध्यमानस्तैरस्त्रैरर्जुनेन महात्मना ।
ततोऽस्य दर्शयामास तदाऽऽत्मानं प्रियः सखा ॥ २७ ॥

चित्रसेन अर्जुनके प्यारे सखा थे । उन्होंने महात्मा अर्जुनके बाणोंसे अत्यन्त घायल होनेपर अपने-आपको उनके सामने प्रकट कर दिया ॥ २७ ॥

चित्रसेनस्तथोवाच सखायं युधि विद्धि माम् ।
चित्रसेनमथालक्ष्य सखायं युधि दुर्बलम् ॥ २८ ॥
संजहारास्त्रमथ तत् प्रसृष्टं पाण्डवर्षभः ।
दृष्ट्वा तु पाण्डवाः सर्वे संहृतास्त्रं धनंजयम् ॥ २९ ॥
संजह्रुः प्रद्रुतानश्वाञ्छरवेगान् धनूंषि च ।

चित्रसेनने उनसे कहा—'कुन्तीनन्दन ! इस युद्धमें मुझे तुम अपना सखा चित्रसेन समझो।' यह सुनकर अर्जुनने चित्रसेनकी ओर दृष्टिपात किया। अपने सखाको युद्धमें अत्यन्त दुर्बल हुआ देख पाण्डवप्रवर अर्जुनने अपने धनुषपर प्रकट किये हुए उस दिव्यास्त्रका उपसंहार कर दिया। अर्जुनको अपना अस्त्र समेटते देख सब पाण्डवोंने भी दौड़ते हुए घोड़ोंको रोक लिया तथा वेगपूर्वक छूटनेवाले बाणों और धनुषोंका संचालन भी बंद कर दिया ॥ २८-२९½ ॥

चित्रसेनश्च भीमश्च सव्यसाची यमावपि ।
पृष्ट्वा कौशलमन्योन्यं रथेष्वेवावतस्थिरे ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् गन्धर्वराज चित्रसेन, भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेव सब लोग परस्पर कुशल-समाचार पूछकर अपने रथोंमें ही बैठे रहे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि गन्धर्वपराभवे पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें गन्धर्वपराजयविषयक दो सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४५ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

चित्रसेन, अर्जुन तथा युधिष्ठिरका संवाद और दुर्योधनका छुटकारा

वैशम्पायन उवाच

ततोऽर्जुनश्चित्रसेनं प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
मध्ये गन्धर्वसैन्यानां महेष्वासो महाद्युतिः ॥ १ ॥
किं ते व्यवसितं वीर कौरवाणां विनिग्रहे ।
किमर्थं च सदारोऽयं निगृहीतः सुयोधनः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर परम कान्तिमान् महाधनुर्धर अर्जुनने गन्धर्वोंकी सेनाके बीच चित्रसेनसे हँसते हुए पूछा—'वीर ! कौरवोंको बंदी बनानेमें तुम्हारा क्या उद्देश्य था ? स्त्रियोंसहित दुर्योधनको तुमने किसलिये कैद किया ?' ॥ १-२ ॥

चित्रसेन उवाच

विदितोऽयमभिप्रायस्तत्रस्थेन दुरात्मनः ।
दुर्योधनस्य पापस्य कर्णस्य च धनंजय ॥ ३ ॥
वनस्थान् भवतो ज्ञात्वा क्लिश्यमानाननाथवत् ।
समस्थो विषमस्थांस्तान् द्रक्ष्यामीत्यनवस्थितान् ॥ ४ ॥
इमेऽवहसितुं प्राप्ता द्रौपदीं च यशस्विनीम् ।
ज्ञात्वा चिकीर्षितं चैषां मामुवाच सुरेश्वरः ॥ ५ ॥

में बैठे-ही-बैठे दुरात्मा दुर्योधन और पापी कर्णका यह अभिप्राय मालूम हो गया था कि ये आपलोगोंको वनमें रहकर अनाथकी भाँति क्लेश उठाते और विषम परिस्थितिमें पड़कर अस्थिरभावसे रहते हुए जानकर भी उस अवस्थामें आपको देखने और दुखी करनेका निश्चय कर चुके हैं। ये स्वयं सम (सुखपूर्ण) अवस्थामें स्थित हैं, फिर भी आप पाण्डवों तथा यशस्विनी द्रौपदीकी हँसी उड़ानेके लिये वनमें आये हैं। इस प्रकार इनकी (आपलोगोंका अनिष्ट करनेकी) इच्छा जानकर देवेश्वर इन्द्रने मुझसे इस प्रकार कहा—॥ ३—५ ॥

गच्छ दुर्योधनं बद्ध्वा सहामात्यमिहानय ।
धनंजयश्च ते रक्ष्यः सह भ्रातृभिराहवे ॥ ६ ॥
स च प्रियः सखा तुभ्यं शिष्यश्च तव पाण्डवः ।

'चित्रसेन ! तुम जाओ और दुर्योधनको उसके मन्त्रियोंसहित बाँधकर यहाँ ले आओ। युद्धमें तुम्हें भाइयोंसहित अर्जुनकी रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि पाण्डुनन्दन अर्जुन तुम्हारे प्रिय सखा तथा शिष्य हैं' ॥ ६½ ॥

[illegible] द्रुतम् ॥ ७ ॥

अयं दुरात्मा बद्धश्च गमिष्यामि सुरालयम् ।
नेष्याम्येनं दुरात्मानं पाकशासनशासनात् ॥ ८ ॥

वहाँसे देवराजकी यह आज्ञा मानकर मैं तुरंत यहाँ चला आया । यह दुरात्मा दुर्योधन मेरी कैदमें आ गया है; अतः अब मैं देवलोकको जाऊँगा और पाकशासन इन्द्रकी आज्ञासे इस दुरात्माको भी वहीं ले जाऊँगा ॥ ७-८ ॥

अर्जुन उवाच

उत्सृज्यतां चित्रसेन भ्रातास्माकं सुयोधनः ।
धर्मराजस्य संदेशान्मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ ९ ॥

अर्जुन बोले—चित्रसेन ! दुर्योधन हमलोगोंका भाई है । यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो, तो धर्मराजके आदेशसे इसे छोड़ दो ॥ ९ ॥

चित्रसेन उवाच

पापोऽयं नित्यसंतुष्टो न विमोक्षणमर्हति ।
प्रलब्धा धर्मराजस्य कृष्णायाश्च धनंजय ॥ १० ॥

चित्रसेनने कहा—धनंजय ! यह पापी सदा राज्य-सुख भोगनेके कारण हर्षसे मतवाला हो उठा है; अतः इसे छोड़ना उचित नहीं है । इसने धर्मराज युधिष्ठिर तथा द्रौपदीको धोखा दिया है ॥ १० ॥

नेदं चिकीर्षितं तस्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
जानाति धर्मराजो हि श्रुत्वा कुरु यथेच्छसि ॥ ११ ॥

कुन्तीनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर इसके इस कुटिल अभिप्रायको नहीं जानते हैं; अतः यह सब सुनकर तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

ते सर्व एव राजानमभिजग्मुर्युधिष्ठिरम् ।
अभिगम्य च तत् सर्वं शशंसुस्तस्य चेष्टितम् ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर वे सब लोग राजा युधिष्ठिरके पास गये । वहाँ जाकर गन्धर्वोंने दुर्योधनकी सारी कुचेष्टा कह सुनायी ॥ १२ ॥

अजातशत्रुस्तच्छ्रुत्वा गन्धर्वस्य वचस्तदा ।
मोक्षयामास तान् सर्वान् गन्धर्वान् प्रशशंस च ॥ १३ ॥

गन्धर्वोंका यह कथन सुनकर अजातशत्रु युधिष्ठिरने उस समय समस्त कौरवोंको बन्धनसे छुड़ा दिया और गन्धर्वोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की—॥ १३ ॥

दिष्ट्या भवद्भिर्बलिभिः शक्तैः सर्वैर्न हिंसितः ।
दुर्वृत्तो धार्तराष्ट्रोऽयं सामात्यज्ञातिबान्धवः ॥ १४ ॥

'आप सब लोग बलवान् और सामर्थ्यशाली हैं । आपने मन्त्रियों तथा जातिभाइयोंसहित इस दुराचारी दुर्योधनका वध नहीं किया, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ १४ ॥

उपकारो महांस्तात कृतोऽयं मम खेचरैः ।
कुलं न परिभूतं मे मोक्षणेऽस्य दुरात्मनः ॥ १५ ॥

'तात ! आकाशचारी गन्धर्वोंने यह मेरा बहुत बड़ा उपकार किया कि इस दुरात्माको छोड़ दिया, इसलिये मेरे कुलका अपमान नहीं हुआ ॥ १५ ॥

आज्ञापयध्वमिष्टानि प्रीयामो दर्शनेन वः ।
प्राप्य सर्वानभिप्रायांस्ततो व्रजत मा चिरम् ॥ १६ ॥

'गन्धर्वो ! अपनी अभीष्ट सेवाके लिये हमें आज्ञा दीजिये । हम सब लोग आपके दर्शनसे बहुत प्रसन्न हैं । अपनी समस्त मनोवाञ्छित वस्तुओंको प्राप्त करनेके पश्चात् यहाँसे शीघ्रता-पूर्वक प्रस्थान कीजियेगा ॥ १६ ॥

अनुज्ञातास्तु गन्धर्वाः पाण्डुपुत्रेण धीमता ।
सहाप्सरोभिः संहृष्टाश्चित्रसेनमुखा ययुः ॥ १७ ॥

बुद्धिमान् पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरसे आज्ञा लेकर चित्रसेन आदि सब गन्धर्व अप्सराओंके साथ प्रसन्नतापूर्वक वहाँसे विदा हुए ॥ १७ ॥

(देवलोकं ततो गत्वा गन्धर्वैः सहितस्तदा ।
न्यवेदयच्च तत् सर्वं चित्रसेनः शतक्रतोः ॥)
देवराडपि गन्धर्वान् मृतांस्तान् समजीवयत् ।
दिव्येनामृतवर्षेण ये हताः कौरवैर्युधि ॥ १८ ॥

तदनन्तर गन्धर्वोंसहित चित्रसेनने देवलोकमें पहुँचकर देवराज इन्द्रके समक्ष सब समाचार निवेदन किया । युद्धमें कौरवोंद्वारा जो गन्धर्व मारे गये थे, उन सबको देवराज इन्द्रने दिव्य अमृतकी वर्षा करके जिला दिया ।१८।

ज्ञातींस्तानवमुच्याथ राजदारांश्च सर्वशः ।
कृत्वा च दुष्करं कर्म प्रीतियुक्ताश्च पाण्डवाः ॥ १९ ॥
सस्त्रीकुमारैः कुरुभिः पूज्यमाना महारथाः ।
बभ्राजिरे महात्मानः क्रतुमध्ये यथाग्नयः ॥ २० ॥

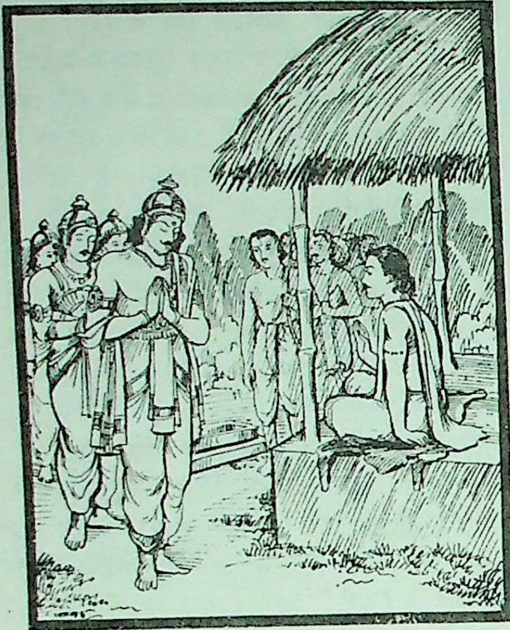
इस प्रकार उन सब भाई-बंधुओं एवं राजकुलकी महिलाओंको गन्धर्वोंसे छुड़ाकर एवं दुष्कर पराक्रम करके प्रसन्न हुए महा-रथी महामना पाण्डव स्त्री-बालकोंसहित कौरवोंद्वारा पूजित एवं प्रशंसित हो यज्ञमण्डपमें प्रज्वलित अग्नियोंके समान देदीप्यमान हो रहे थे ॥ १९–२० ॥

ततो दुर्योधनं मुक्तं भ्रातृभिः सहितस्तदा ।
युधिष्ठिरस्तु प्रणयादिदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

तदनन्तर बन्धनमुक्त हुए दुर्योधनसे भाइयोंसहित युधिष्ठिरने प्रेमपूर्वक यह बात कही—॥ २१ ॥

मा स्म तात पुनः कार्षीरीदृशं साहसं क्वचित् ।
न हि साहसकर्तारः सुखमेधन्ति भारत ॥ २२ ॥

'तात ! फिर कभी ऐसा दुःसाहस न करना । भारत !



दुःसाहस करनेवाले मनुष्य कभी सुखी नहीं होते ॥ २२ ॥

स्वस्तिमान् सहितः सर्वैर्भ्रातृभिः कुरुनन्दन ।
गृहान् व्रज यथाकामं वैमनस्यं च मा कृथाः ॥ २३ ॥

'कुरुनन्दन ! अब तुम अपने सब भाइयोंके साथ कुशलपूर्वक इच्छानुसार घर जाओ । हमलोगोंके प्रति मनमें वैमनस्य न रखना ।' ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवेनाभ्यनुज्ञातो राजा दुर्योधनस्तदा ।
प्रणम्य धर्मपुत्रं तु गतेन्द्रिय इवातुरः ॥ २४ ॥
विदीर्यमाणो व्रीडावाञ्जगाम नगरं प्रति ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर राजा दुर्योधनने उन धर्मपुत्र अजातशत्रुको प्रणाम करके अपने नगरकी ओर प्रस्थान किया । उस समय जिसकी इन्द्रियाँ काम न देती हों उस रोगीकी भाँति उसका हृदय व्यथासे विदीर्ण हो रहा था । उसे अपने कुकृत्यपर बड़ी लज्जा हो रही थी ॥ २४½ ॥

तस्मिन् गते कौरवेये कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥
भ्रातृभिः सहितो वीरः पूज्यमानो द्विजातिभिः ।
तपोधनैश्च तैः सर्वैर्वृतः शक्र इवामरैः ॥ २६ ॥
तथा द्वैतवने तस्मिन् विजहार मुदा युतः ॥ २७ ॥

दुर्योधनके चले जानेपर द्विजातियोंसे प्रशंसित होते हुए भाइयोंसहित वीर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर वहाँके समस्त तपस्वी मुनियोंसे घिरे रहकर देवताओंके बीचमें बैठे हुए इन्द्रकी भाँति शोभा पाने और प्रसन्नतापूर्वक द्वैतवनमें विहार करने लगे ॥ २५–२७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनमोक्षणे षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनको छुड़ानेसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २८ श्लोक हैं)

सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

सेनासहित दुर्योधनका मार्गमें ठहरना और कर्णके द्वारा उसका अभिनन्दन

जनमेजय उवाच

शत्रुभिर्जितबद्धस्य पाण्डवैश्च महात्मभिः ।
मोक्षितस्य युधा पश्चान्मानिनः सुदुरात्मनः ॥ १ ॥
कत्थनस्यावलिप्तस्य गर्वितस्य च नित्यशः ।
सदा च पौरुषौदार्यैः पाण्डवानवमन्यतः ॥ २ ॥
दुर्योधनस्य पापस्य नित्याहंकारवादिनः ।
प्रवेशो हास्तिनपुरे दुष्करः प्रतिभाति मे ॥ ३ ॥
तस्य लज्जान्वितस्यैव शोकव्याकुलचेतसः ।
प्रवेशं विस्तरेण त्वं वैशम्पायन कीर्तय ॥ ४ ॥

जनमेजय बोले—मुने ! दुर्योधनको शत्रुओंने जीता और बाँध लिया । फिर महात्मा पाण्डवोंने गन्धर्वोंके साथ युद्ध करके उसे छुड़ाया । ऐसी दशामें उस अभिमानी और दुरात्मा दुर्योधनका हस्तिनापुरमें प्रवेश करना मुझे तो अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है; क्योंकि वह अपने शौर्यके विषयमें बहुत डींग हाँका करता था, घमंडमें भरा रहता था और सदा गर्वके नशेमें चूर रहा करता था । उसने अपने पौरुष और उदारताद्वारा सदा पाण्डवोंका अपमान ही किया था । पापी दुर्योधन सदा अहंकारकी ही बातें करता था । पाण्डवोंकी सहायतासे मेरे जीवनकी रक्षा हुई, यह सोचकर तो वह लज्जित हो गया होगा; उसका हृदय शोकसे व्याकुल हो उठा होगा । वैशम्पायनजी ! ऐसी स्थितिमें उसने अपनी राजधानीमें कैसे प्रवेश किया ? यह विस्तारपूर्वक कहिये ॥ १–४ ॥

वैशम्पायन उवाच

धर्मराजनिसृष्टस्तु धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ।
लज्जयाधोमुखः सीदन्नुपासर्पत् सुदुःखितः ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन्! धर्मराजसे विदा होकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन लज्जासे मुँह नीचे किये अत्यन्त दुखी और खिन्न होकर वहाँसे चल दिया ॥ ५ ॥

स्वपुरं प्रययौ राजा चतुरङ्गबलानुगः।
शोकोपहतया बुद्ध्या चिन्तयानः पराभवम् ॥ ६ ॥

राजा दुर्योधनकी बुद्धि शोकसे मारी गयी थी। वह अपने अपमानपर विचार करता हुआ चतुरङ्गिणी सेनाके साथ नगरकी ओर चल पड़ा ॥ ६ ॥

विमुच्य पथि यानानि देशे सुयवसोदके।
संनिविष्टः शुभे रम्ये भूमिभागे यथेप्सितम् ॥ ७ ॥
हस्त्यश्वरथपादातं यथास्थानं न्यवेशयत्।

रास्तेमें एक ऐसा स्थान मिला, जहाँ घास और जलकी सुविधा थी। दुर्योधन अपने वाहनोंको वहीं छोड़कर एक सुन्दर एवं रमणीय भूभागमें अपनी रुचिके अनुसार ठहर गया। हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंको भी उसने यथास्थान ठहरनेकी आज्ञा दे दी ॥ ७½ ॥

अथोपविष्टं राजानं पर्यङ्के ज्वलनप्रभे ॥ ८ ॥
उपप्लुतं यथा सोमं राहुणा रात्रिसंक्षये।

राजा दुर्योधन अग्निके समान उद्दीप्त होनेवाले (सोनेके) पलंगपर बैठा हुआ था। रात्रिके अन्तमें चन्द्रमापर राहुद्वारा ग्रहण लग जानेपर जैसे उसकी शोभा नष्ट हो जाती है, वही दशा उस समय दुर्योधनकी भी थी ॥ ८½ ॥

उपागम्याब्रवीत् कर्णो दुर्योधनमिदं तदा ॥ ९ ॥
दिष्ट्या जीवसि गान्धारे दिष्ट्या नः सङ्गमः पुनः।
दिष्ट्या त्वया जिताश्चैव गन्धर्वाः कामरूपिणः ॥ १० ॥

उस समय कर्णने समीप आकर दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—'गान्धारीनन्दन! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम जीवित हो। सौभाग्यवश हमलोग पुनः एक दूसरेसे मिल गये। भाग्यसे तुमने इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले गन्धर्वोंपर विजय पायी, यह और भी प्रसन्नताकी बात है ॥ ९-१० ॥

दिष्ट्या समग्रान् पश्यामि भ्रातॄंस्ते कुरुनन्दन।
विजिगीषून् रणे युक्तान् निर्जितारीन् महारथान् ॥ ११ ॥

'कुरुनन्दन! मैं तुम्हारे सम्पूर्ण महारथी भाइयोंको, जो शत्रुओंपर विजय पा चुके हैं, युद्धके लिये उद्यत तथा पुनः विजयकी अभिलाषासे युक्त देख रहा हूँ, यह भी सौभाग्यका ही सूचक है ॥ ११ ॥

अहं त्वभिद्रुतः सर्वैर्गन्धर्वैः पश्यतस्तव।
नाशक्नुवं स्थापयितुं दीर्यमाणां च वाहिनीम् ॥ १२ ॥

'मैं तो तुम्हारे देखते-देखते ही समस्त गन्धर्वोंसे पराजित होकर भाग गया था। तितर-बितर होकर भागती हुई सेनाको स्थिर न रख सका ॥ १२ ॥

शरक्षताङ्गश्च भृशं व्यपयातोऽभिपीडितः।
इदं त्वत्यद्भुतं मन्ये यद् युष्मानिह भारत ॥ १३ ॥
अरिष्टानक्षतांश्चापि सदारबलवाहनान्।
विमुक्तान् सम्प्रपश्यामि युद्धात् तस्मादमानुषात् ॥ १४ ॥

'बाणोंके आघातसे मेरा सारा शरीर क्षत-विक्षत हो गया था। समस्त अङ्गोंमें बड़ी वेदना हो रही थी; इसीलिये मुझे भागना पड़ा। भारत! तुमलोग, जो उस अमानुषिक युद्धसे छूटकर यहाँ स्त्री, सेना और वाहनोंसहित सकुशल तथा क्षतिसे रहित दिखायी देते हो; यह बात मुझे बड़ी अद्भुत जान पड़ती है ॥ १३-१४ ॥

नैतस्य कर्ता लोकेऽस्मिन् पुमान् भारत विद्यते।
यत् कृतं ते महाराज सह भ्रातृभिराहवे ॥ १५ ॥

'भरतनन्दन महाराज! इस युद्धमें भाइयोंसहित तुमने जो पराक्रम कर दिखाया है, उसे करनेवाला दूसरा कोई पुरुष इस संसारमें नहीं है' ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा।
उवाच चाङ्गराजानं बाष्पगद्गदया गिरा ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कर्णके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधन उस समय अश्रुगद्गद वाणीद्वारा अङ्गराज (कर्ण) से इस प्रकार बोला ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदुर्योधनसंवादे सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्णदुर्योधनसंवादविषयक दो सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका कर्णको अपनी पराजयका समाचार बताना

दुर्योधन उवाच

अजानतस्ते राधेय नाभ्यसूयाम्यहं वचः।
जानासि त्वं जिताञ्छत्रून् गन्धर्वांस्तेजसा मया ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—राधानन्दन! तुम सब बातें जानते नहीं हो, इसीलिये मैं तुम्हारी इस बातको बुरा नहीं मानता। तुम समझते हो कि मैंने अपने शत्रुभूत गन्धर्वोंको अपने ही

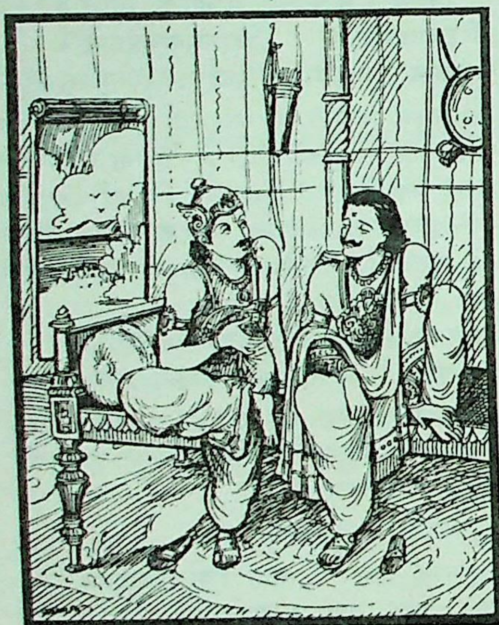
परात्रमसे हराया है; परंतु ऐसी बात नहीं है ॥ १ ॥

आयोधितास्तु गन्धर्वाः सुचिरं सोदरैर्मम ।
मया सह महाबाहो कृतश्चोभयतः क्षयः ॥ २ ॥

महाबाहो ! मेरे भाइयोंने मेरे साथ रहकर गन्धर्वोंके साथ बहुत देरतक युद्ध किया और उसमें दोनों पक्षके बहुत-से सैनिक मारे गये ॥ २ ॥

मायाधिकास्त्वयुध्यन्त यदा शूरा वियद्गताः ।
तदा नो न समं युद्धमभवत् खेचरैः सह ॥ ३ ॥

परंतु जब मायाके कारण अधिक शक्तिशाली शूरवीर गन्धर्व आकाशमें खड़े होकर युद्ध करने लगे, तब उनके साथ हमलोगोंका युद्ध समान स्थितिमें नहीं रह सका ॥ ३ ॥



पराजयं च प्राप्ताः स्मो रणे बन्धनमेव च ।
सभृत्यामात्यपुत्राश्च सदारबलवाहनाः ॥ ४ ॥

युद्धमें हमारी पराजय हुई और हम सेवक, सचिव, पुत्र, स्त्री, सेना तथा सवारियोंसहित बंदी बना लिये गये ॥

उच्चैराकाशमार्गेण हृताःस्मस्तैः सुदुःखिताः ।
अथ नः सैनिकाः केचिदमात्याश्च महारथाः ॥ ५ ॥
उपगम्याब्रुवन् दीनाः पाण्डवाञ्छरणप्रदान् ।

फिर गन्धर्व हमें ऊँचे आकाशमार्गसे ले चले । उस समय हमलोग अत्यन्त दुखी हो रहे थे । तदनन्तर हमारे कुछ सैनिकों और महारथी मन्त्रियोंने अत्यन्त दीन हो शरण-दाता पाण्डवोंके पास आकर कहा— ॥ ५½ ॥

एष दुर्योधनो राजा धार्तराष्ट्रः सहानुजः ॥ ६ ॥
सामात्यदारो ह्रियते गन्धर्वैर्दिवमाश्रितैः ।

'कुन्तीकुमारो ! ये धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन अपने भाइयों, मन्त्रियों तथा स्त्रियोंके साथ यहाँ आये थे । इन्हें गन्धर्वगण आकाशमार्गसे हरकर लिये जाते हैं ॥ ६½ ॥

तं मोक्षयत भद्रं वः सहदारं नराधिपम् ॥ ७ ॥
पराभवो मा भविष्यत् कुरुदारेषु सर्वशः ।

'आपलोगोंका कल्याण हो । रानियोंसहित महाराजको छुड़ाइये । कहीं ऐसा न हो कि कुरुकुलकी स्त्रियोंका तिरस्कार हो जाय' ॥ ७½ ॥

एवमुक्ते तु धर्मात्मा ज्येष्ठः पाण्डुसुतस्तदा ॥ ८ ॥
प्रसाद्य पाण्डवान् सर्वानाज्ञापयत मोक्षणे ।

उनके ऐसा कहनेपर ज्येष्ठ पाण्डुपुत्र धर्मात्मा युधिष्ठिरने अन्य सब पाण्डवोंको राजी करके हम सब लोगोंको छुड़ानेके लिये आज्ञा दी ॥ ८½ ॥

अथागम्य तमुद्देशं पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ॥ ९ ॥
सान्त्वपूर्वमयाचन्त शक्ताः सन्तो महारथाः ।

तदनन्तर पुरुषसिंह महारथी पाण्डव उस स्थानपर आकर समर्थ होते हुए भी गन्धर्वोंसे सान्त्वनापूर्ण शब्दोंमें (हमें छोड़ देनेके लिये) याचना करने लगे ॥ ९½ ॥

यदा चास्मान् न मुमुचुर्गन्धर्वाः सान्त्विता अपि ॥ १० ॥
(आकाशचारिणो वीरा नदन्तो जलदा इव) ।
ततोऽर्जुनश्च भीमश्च यमजौ च बलोत्कटौ ।
मुमुचुः शरवर्षाणि गन्धर्वान् प्रत्यनेकशः ॥ ११ ॥

उनके समझाने-बुझानेपर भी जब आकाशचारी वीर गन्धर्व हमें न छोड़ सके और बादलोंकी भाँति गर्जने लगे, तब अर्जुन, भीम तथा उत्कट बलशाली नकुल-सहदेवने उन असंख्य गन्धर्वोंकी ओर लक्ष्य करके बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १०-११ ॥

अथ सर्वे रणं मुक्त्वा प्रयाताः खेचरा दिवम् ।
अस्मानेवाभिकर्षन्तो दीनान् मुदितमानसाः ॥ १२ ॥

फिर तो सारे गन्धर्व रणभूमि छोड़कर आकाशमें उड़ गये और मन-ही-मन आनन्दका अनुभव करते हुए हम दीन-दुःखियोंको अपनी ओर घसीटने लगे ॥ १२ ॥

ततः समन्तात् पश्यामः शरजालेन वेष्टितम् ।
अमानुषाणि चास्त्राणि प्रमुञ्चन्तं धनंजयम् ॥ १३ ॥

इसी समय हमने देखा, चारों ओर बाणोंका जाल-सा बन गया है और उससे वेष्टित हो अर्जुन अलौकिक अस्त्रोंकी वर्षा कर रहे हैं ॥

समावृता दिशो दृष्ट्वा पाण्डवेन शितैः शरैः ।
धनंजयसखाऽऽत्मानं दर्शयामास वै तदा ॥ १४ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने अपने तीखे बाणोंसे समस्त

दिशाओंको आच्छादित कर दिया है, यह देखकर उनके सखा चित्रसेनने अपने आपको उनके सामने प्रकट कर दिया ॥

चित्रसेनः पाण्डवेन समाश्लिष्य परस्परम् ।
कुशलं परिपप्रच्छ तैः पृष्टश्चाप्यनामयम् ॥ १५ ॥

फिर तो चित्रसेन और अर्जुन दोनों एक-दूसरेसे मिले और कुशल-मङ्गल तथा स्वास्थ्यका समाचार पूछने लगे ॥

ते समेत्य तथान्योन्यं सन्नाहान् विप्रमुच्य च ।
एकीभूतास्ततो वीरा गन्धर्वाः सह पाण्डवैः ।
अपूजयेतामन्योन्यं चित्रसेनधनंजयौ ॥ १६ ॥

दोनोंने एक दूसरेसे मिलकर अपना कवच उतार दिया। फिर समस्त वीर गन्धर्व पाण्डवोंके साथ मिलकर एक हो गये। तत्पश्चात् चित्रसेन और धनंजयने एक दूसरेका आदर-सत्कार किया ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनवाक्ये अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक दो सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२४८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १६½ श्लोक हैं)

एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका कर्णसे अपनी ग्लानिका वर्णन करते हुए आमरण अनशनका निश्चय, दुःशासनको राजा बननेका आदेश, दुःशासनका दुःख और कर्णका दुर्योधनको समझाना

दुर्योधन उवाच

चित्रसेनं समागम्य प्रहसन्नर्जुनस्तदा ।
इदं वचनमक्लीबमब्रवीत् परवीरहा ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—कर्ण ! चित्रसेनसे मिलकर उस समय शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने हँसते हुए-से यह शूरोचित वचन कहा—॥ १ ॥

भ्रातॄनर्हसि मे वीर मोक्तुं गन्धर्वसत्तम ।
अनर्हधर्षणा हीमे जीवमानेषु पाण्डुषु ॥ २ ॥

'वीर गन्धर्वश्रेष्ठ ! तुम्हें मेरे इन भाइयोंको मुक्त कर देना चाहिये । पाण्डवोंके जीते-जी ये इस प्रकार अपमान सहन करने योग्य नहीं हैं' ॥ २ ॥

एवमुक्तस्तु गन्धर्वः पाण्डवेन महात्मना ।
उवाच यत् कर्ण वयं मन्त्रयन्तो विनिर्गताः ॥ ३ ॥
द्रष्टारः स्म सुखाद्धीनान् सदारान् पाण्डवानिति ।

कर्ण ! महात्मा पाण्डुनन्दन अर्जुनके ऐसा कहनेपर गन्धर्वने वह बात कह दी, जिसके लिये सलाह करके हमलोग घरसे चले थे । उसने बताया कि 'ये कौरव सुखसे वञ्चित हुए पाण्डवों तथा द्रौपदीकी दुर्दशा देखनेके लिये आये हैं' ॥ ३½ ॥

तस्मिन्नुच्चार्यमाणे तु गन्धर्वेण वचस्तथा ॥ ४ ॥
भूमेर्विवरमन्वैच्छं प्रवेष्टुं व्रीडयान्वितः ।

जिस समय गन्धर्व उपर्युक्त बात कह रहा था, उस समय मैं (अत्यन्त) लज्जित हो गया । मेरी इच्छा हुई कि धरती फटे और मैं उसमें समा जाऊँ ॥ ४½ ॥

युधिष्ठिरमथागम्य गन्धर्वाः सह पाण्डवैः ॥ ५ ॥
अस्मद्दुर्मन्त्रितं तस्मै बद्धांश्चास्मान् न्यवेदयन् ।

तत्पश्चात् गन्धर्वोंने पाण्डवोंके साथ युधिष्ठिरके पास आकर हमलोगोंकी दुर्मन्त्रणा उन्हें बतायी और हमें उनके सुपुर्द कर दिया । उस समय हम सब लोग बँधे हुए थे ।५½।

स्त्रीसमक्षमहं दीनो बद्धः शत्रुवशं गतः ॥ ६ ॥
युधिष्ठिरस्योपहृतः किं नु दुःखमतः परम् ।

स्त्रियोंके सामने मैं दीनभावसे बँधकर शत्रुओंके वशमें पड़ गया और उसी दशामें युधिष्ठिरको अर्पित किया गया । इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है ? ।६½।

ये मे निराकृता नित्यं रिपुर्येषामहं सदा ॥ ७ ॥
तैर्मोक्षितोऽहं दुर्बुद्धिर्दत्तं तैरेव जीवितम् ।

जिनका मैंने सदा तिरस्कार किया और जिनका मैं सर्वदा शत्रु बना रहा, उन्हीं लोगोंने मुझ दुर्बुद्धिको शत्रुओंके बन्धनसे छुड़ाया है और उन्होंने ही मुझे जीवनदान दिया है ॥ ७½ ॥

प्राप्तः स्यां यद्यहं वीर वधं तस्मिन् महारणे ॥ ८ ॥
श्रेयस्तद् भविता मह्यं नैवंभूतस्य जीवितम् ।

वीर ! यदि मैं उस महायुद्धमें मारा गया होता, तो यह मेरे लिये कल्याणकारी होता; परंतु इस दशामें जीवित रहना कदापि अच्छा नहीं है ॥ ८½ ॥

भवेद् यशः पृथिव्यां मे ख्यातं गन्धर्वतो वधात् ॥ ९ ॥
प्राप्ताश्च पुण्यलोकाः स्युर्महेन्द्रसदनेऽक्षयाः ।

गन्धर्वके हाथसे मारे जानेपर इस भूमण्डलमें मेरा यश विख्यात हो जाता और इन्द्रलोकमें मुझे अक्षय पुण्यधाम प्राप्त होते ॥ ९½ ॥

यत् त्वद्य मे व्यवसितं तच्छृणुध्वं नरर्षभाः ॥ १० ॥
इह प्रायमुपासिष्ये यूयं व्रजत वै गृहान् ।

नरश्रेष्ठ वीरो ! अब मैंने जो निश्चय किया है, उसे सुनो। मैं यहाँ आमरण अनशन करूँगा। तुम सब लोग घर लौट जाओ ॥ १०½ ॥

भ्रातरश्चैव मे सर्वे यान्त्वद्य स्वपुरं प्रति ॥ ११ ॥
कर्णप्रभृतयश्चैव सुहृदो बान्धवाश्च ये।
दुःशासनं पुरस्कृत्य प्रयान्त्वद्य पुरं प्रति ॥ १२ ॥

मेरे सब भाई आज अपनी राजधानीको चले जायँ। कर्ण आदि मेरे मित्र तथा बान्धवगण भी दुःशासनको आगे करके आज ही हस्तिनापुरको लौट जायँ ॥ ११-१२ ॥

न ह्यहं सम्प्रयास्यामि पुरं शत्रुनिराकृतः।
शत्रुमानापहो भूत्वा सुहृदां मानकृत् तथा ॥ १३ ॥

शत्रुओंसे अपमानित होकर अब मैं अपने नगरको नहीं जाऊँगा। अबतक मैंने शत्रुओंका मानमर्दन किया है और सुहृदोंको सम्मान दिया है ॥ १३ ॥

स सुहृच्छोकदो जातः शत्रूणां हर्षवर्धनः।
वारणाह्वयमासाद्य किं वक्ष्यामि जनाधिपम् ॥ १४ ॥

परंतु आज मैं अपने सुहृदोंके लिये शोकदायक और शत्रुओंका हर्ष बढ़ानेवाला हो गया। हस्तिनापुर जाकर मैं राजासे क्या कहूँगा ? ॥ १४ ॥

भीष्मद्रोणौ कृपद्रौणी विदुरः संजयस्तथा।
बाह्लीकः सौमदत्तिश्च ये चान्ये वृद्धसम्मताः ॥ १५ ॥
ब्राह्मणाः श्रेणिमुख्याश्च तथोदासीनवृत्तयः।
किं मां वक्ष्यन्ति किं चापि प्रतिवक्ष्यामि तानहम् ॥ १६ ॥

भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विदुर, संजय, बाह्लीक, भूरिश्रवा तथा अन्य जो वृद्ध पुरुषोंके लिये आदरणीय महानुभाव हैं, वे तथा ब्राह्मण, प्रमुख वैश्यगण और उदासीन वृत्तिवाले लोग मुझसे क्या कहेंगे और मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा ? ॥ १५-१६ ॥

रिपूणां शिरसि स्थित्वा तथा विक्रम्य चोरसि।
आत्मदोषात् परिभ्रष्टः कथं वक्ष्यामि तानहम् ॥ १७ ॥

मैं पराक्रम करके शत्रुओंके मस्तक तथा छातीपर खड़ा हो गया था; परंतु अब अपने ही दोषसे नीचे गिर गया। ऐसी दशामें उन आदरणीय पुरुषोंसे मैं किस प्रकार वार्तालाप करूँगा ? ॥ १७ ॥

दुर्विनीताः श्रियं प्राप्य विद्यामैश्वर्यमेव च।
तिष्ठन्ति न चिरं भद्रे यथाहं मदगर्वितः ॥ १८ ॥

उद्दण्ड मनुष्य लक्ष्मी, विद्या तथा ऐश्वर्यको पाकर भी दीर्घकालतक कल्याणमय पदपर प्रतिष्ठित नहीं रह पाते हैं। जैसे मैं मद और अहंकारमें चूर होकर अपनी प्रतिष्ठा खो बैठा हूँ ॥ १८ ॥

अहो नार्हमिदं कर्म कष्टं दुश्चरितं कृतम्।
स्वयं दुर्बुद्धिना मोहाद् येन प्राप्तोऽस्मि संशयम् ॥ १९ ॥

अहो ! यह कुकर्म मेरे योग्य नहीं था। मुझ दुर्बुद्धिने स्वयं ही मोहवश दुःखदायक दुष्कर्म कर डाला; जिससे (गन्धर्वोंका बंदी हो जानेके कारण) मेरा जीवन संदिग्ध हो गया ॥ १९ ॥

तस्मात् प्रायमुपासिष्ये न हि शक्ष्यामि जीवितुम्।
चेतयानो हि को जीवेत् कृच्छ्राच्छत्रुभिरुद्धृतः ॥ २० ॥

इसलिये मैं(अवश्य)आमरण उपवास करूँगा। अब जीवित नहीं रह सकूँगा। जिसका शत्रुओंने संकटसे उद्धार किया हो, ऐसा कौन विचारशील पुरुष जीवित रहना चाहेगा ? ॥ २० ॥

शत्रुभिश्चावहसितो मानी पौरुषवर्जितः।
पाण्डवैर्विक्रमाढ्यैश्च सावमानमवेक्षितः ॥ २१ ॥

शत्रुओंने मेरी हँसी उड़ायी है। मुझे अपने पौरुषका अभिमान था; किंतु यहाँ मैं कोई पुरुषार्थ न दिखा सका। पराक्रमी पाण्डवोंने अवहेलनापूर्ण दृष्टिसे मुझे देखा है। (ऐसी दशामें मुझे इस जीवनसे विरक्ति हो गयी है) ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं चिन्तापरिगतो दुःशासनमथाब्रवीत्।
दुःशासन निबोधेदं वचनं मम भारत ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार चिन्तामग्न हुए दुर्योधनने दुःशासनसे कहा—'भरतनन्दन दुःशासन ! मेरी यह बात सुनो— ॥ २२ ॥

प्रतीच्छ त्वं मया दत्तमभिषेकं नृपो भव।
प्रशाधि पृथिवीं स्फीतां कर्णसौबलपालिताम् ॥ २३ ॥

'मैं तुम्हारा राज्याभिषेक करता हूँ। तुम मेरे दिये हुए इस राज्यको ग्रहण करो और राजा बनो। कर्ण और शकुनिकी सहायतासे सुरक्षित एवं धन-धान्यसे समृद्ध इस पृथ्वीका शासन करो ॥ २३ ॥

भ्रातॄन् पालय विस्रब्धं मरुतो वृत्रहा यथा।
बान्धवाश्चोपजीवन्तु देवा इव शतक्रतुम् ॥ २४ ॥

'जैसे इन्द्र मरुद्गणोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार तुम अपने अन्य भाइयोंका विश्वासपूर्वक पालन करना। जैसे देवता इन्द्रके आश्रित रहकर जीवननिर्वाह करते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे बान्धवजन भी तुम्हारा आश्रय लेकर जीविका चलावें ॥ २४ ॥

ब्राह्मणेषु सदा वृत्तिं कुर्वीथाश्चाप्रमादतः।
बन्धूनां सुहृदां चैव भवेथास्त्वं गतिः सदा ॥ २५ ॥

'प्रमाद छोड़कर सदा ब्राह्मणोंकी जीविकाकी व्यवस्था एवं रक्षा करना। बन्धुओं तथा सुहृदोंको सदैव सहारा देते रहना ॥ २५ ॥

ज्ञातींश्चाप्यनुपश्येथा विष्णुर्देवगणान् यथा।
गुरवः पालनीयास्ते गच्छ पालय मेदिनीम् ॥ २६ ॥
नन्दयन् सुहृदः सर्वान् शात्रवांश्चावभर्त्सयन्।
कण्ठे चैनं परिष्वज्य गम्यतामित्युवाच ह ॥ २७ ॥

'जैसे भगवान् विष्णु देवताओंपर कृपादृष्टि रखते हैं, उसी प्रकार तुम भी अपने कुटुम्बीजनोंकी देखभाल करते रहना और गुरुजनोंका सदैव पालन करना। अच्छा, अब जाओ और समस्त सुहृदोंका आनन्द बढ़ाते तथा शत्रुओंकी भर्त्सना करते हुए अपनी अधिकृत भूमिकी रक्षा करो।' ऐसा कहकर दुर्योधनने दुःशासनको गलेसे लगा लिया और गद्गद कण्ठसे कहा—'जाओ' ॥ २६-२७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा दीनो दुःशासनोऽब्रवीत्।
अश्रुकण्ठः सुदुःखार्तः प्राञ्जलिः प्रणिपत्य च ॥ २८ ॥
सगद्गदमिदं वाक्यं भ्रातरं ज्येष्ठमात्मनः।
प्रसीदेत्यपतद् भूमौ दूयमानेन चेतसा ॥ २९ ॥
दुःखितः पादयोस्तस्य नेत्रजं जलमुत्सृजन्।
उक्तवांश्च नरव्याघ्रो नैतदेवं भविष्यति ॥ ३० ॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर दुःशासनका गला भर आया। वह अत्यन्त दुःखसे आतुर हो दीनभावसे हाथ जोड़कर अपने बड़े भाईके चरणोंमें गिर पड़ा और गद्गद वाणीमें व्यथित चित्तसे इस प्रकार बोला—'भैया! आप प्रसन्न हों!' ऐसा कहकर वह धरतीपर लोट गया और दुःखसे कातर हो दुर्योधनके दोनों चरणोंमें अपने नेत्रोंका अश्रुजल चढ़ाता हुआ नरश्रेष्ठ दुःशासन यों बोला—'नहीं, ऐसा नहीं होगा ॥

विदीर्येत् सकला भूमिर्द्यौश्चापि शकलीभवेत्।
रविरात्मप्रभां जह्यात् सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ॥ ३१ ॥
वायुः शैघ्र्यमथो जह्याद्धिमवांश्च परिव्रजेत्।
शुष्येत् तोयं समुद्रेषु वह्निरप्युष्णतां त्यजेत् ॥ ३२ ॥
न चाहं त्वदृते राजन् प्रशासेयं वसुन्धराम्।
पुनः पुनः प्रसीदेति वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ३३ ॥

'चाहे सारी पृथ्वी फट जाय, आकाशके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ, सूर्य अपनी प्रभा और चन्द्रमा अपनी शीतलता त्याग दें, वायु अपनी तीव्र गति छोड़ दें, हिमालय अपना स्थान छोड़कर इधर-उधर घूमने लगे, समुद्रका जल सूख जाय तथा अग्नि अपनी उष्णता त्याग दे; परंतु मैं आपके बिना इस पृथ्वीका शासन नहीं करूँगा। राजन्! अब आप प्रसन्न हो जाइये, प्रसन्न हो जाइये।' इस अन्तिम वाक्यको दुःशासनने बार-बार दुहराया और इस प्रकार कहा—॥ ३१—३३ ॥

त्वमेव नः कुले राजा भविष्यसि शतं समाः।
एवमुक्त्वा स राजानं सुस्वरं प्ररुरोद ह ॥ ३४ ॥
पादौ संस्पृश्य मानार्हौ भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भारत।

'भैया! आप ही हमारे कुलमें सौ वर्षोंतक राजा बने रहेंगे।' जनमेजय! ऐसा कहकर दुःशासन अपने बड़े भाईके माननीय चरणोंको पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगा ॥ ३४½ ॥

तथा तौ दुःखितौ दृष्ट्वा दुःशासनसुयोधनौ ॥ ३५ ॥
अधिगम्य व्यथाविष्टः कर्णस्तौ प्रत्यभाषत।

दुःशासन और दुर्योधनको इस प्रकार दुखी होते देख कर्णके मनमें बड़ी व्यथा हुई। उसने निकट जाकर उन दोनोंसे कहा—॥ ३५½ ॥

विषीदथः किं कौरव्यौ बालिश्यात् प्राकृताविव ॥ ३६ ॥
न शोकः शोचमानस्य विनिवर्तेत कर्हिचित्।

'कुरुकुलके श्रेष्ठ वीरो! तुम दोनों गँवारोंकी तरह नासमझीके कारण इतना विषाद क्यों कर रहे हो? शोकमें डूबे रहनेसे किसी मनुष्यका शोक कभी निवृत्त नहीं होता ॥ ३६½ ॥

यदा च शोचतः शोको व्यसनं नापकर्षति ॥ ३७ ॥
सामर्थ्यं किं ततः शोके शोचमानौ प्रपश्यथः।
धृतिं गृह्णीतमा शत्रून् शोचन्तौ नन्दयिष्यथः ॥ ३८ ॥

जब शोक करनेवालेका शोक उसपर आये हुए संकटको टाल नहीं सकता है, तब उसमें क्या सामर्थ्य है? यह तुम दोनों भाई शोक करके प्रत्यक्ष देख रहे हो। अतः धैर्य धारण करो। शोक करके तो शत्रुओंका हर्ष ही बढ़ाओगे ॥ ३७-३८ ॥

कर्तव्यं हि कृतं राजन् पाण्डवैस्तव मोक्षणम्।
नित्यमेव प्रियं कार्यं राज्ञो विषयवासिभिः ॥ ३९ ॥

'राजन्! पाण्डवोंने गन्धर्वोंके हाथसे तुम्हें छुड़ाकर अपने कर्तव्यका ही पालन किया है। राजाके राज्यमें रहनेवालोंको सदा ही उसका प्रिय करना चाहिये ॥ ३९ ॥

पाल्यमानास्त्वया ते हि निवसन्ति गतज्वराः।
नार्हस्येवंगते मन्युं कर्तुं प्राकृतवद् यथा ॥ ४० ॥

'तुमसे सुरक्षित होकर वे यहाँ निश्चिन्ततापूर्वक निवास कर रहे हैं। ऐसी दशामें तुम्हें निम्न कोटिके मनुष्योंकी तरह दीनतापूर्ण खेद नहीं करना चाहिये ॥ ४० ॥

विषण्णास्तव सोदर्यास्त्वयि प्रायं समास्थिते।
(तदलं दुःखितानेतान् कर्तुं सर्वान् नराधिप ॥)
उत्तिष्ठ व्रज भद्रं ते समाश्वासय सोदरान् ॥ ४१ ॥

'राजन्! तुम आमरण उपवासका व्रत लेकर बैठे हो और इधर तुम्हारे सगे भाई शोक एवं विषादमें डूबे हुए हैं। बस, इन सबको दुखी करनेसे कोई लाभ नहीं है। तुम्हारा भला हो। उठो, चलो और अपने भाइयोंको आश्वासन दो'॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेशे एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनप्रायोपवेशनविषयक दो सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४१½ श्लोक हैं)

पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्णके समझानेपर भी दुर्योधनका आमरण अनशन करनेका ही निश्चय

कर्ण उवाच

राजन्नाद्यावगच्छामि तवेह लघुसत्त्वताम्।
किमत्र चित्रं यद् वीर मोक्षितः पाण्डवैरसि ॥ १ ॥
सद्यो वशं समापन्नः शत्रूणां शत्रुकर्शन।

कर्ण बोला—राजन्! आज तुम जो यहाँ इतनी लघुताका अनुभव कर रहे हो, इसका कोई कारण मेरी समझमें नहीं आता। शत्रुनाशक वीर! यदि एक बार शत्रुओंके वशमें पड़ जानेपर पाण्डवोंने तुम्हें छुड़ाया है, तो इसमें कौन अद्भुत बात हो गयी? ॥ १½ ॥

सेनाजीवैश्च कौरव्य तथा विषयवासिभिः ॥ २ ॥
अज्ञातैर्यदि वा ज्ञातैः कर्तव्यं नृपतेः प्रियम्।

कुरुश्रेष्ठ! जो राजकीय सेनामें रहकर जीविका चलाते हैं तथा राजाके राज्यमें निवास करते हैं, वे ज्ञात हों या अज्ञात; उनका कर्तव्य है कि वे सदा राजाका प्रिय करें ॥ २½ ॥

प्रायः प्रधानाः पुरुषाः क्षोभयन्त्यरिवाहिनीम् ॥ ३ ॥
निगृह्यन्ते च युद्धेषु मोक्ष्यन्ते चैव सैनिकैः।

प्रायः देखा जाता है कि प्रधान पुरुष लड़ते-लड़ते शत्रुओंकी सेनाको व्याकुल कर देते हैं। फिर उसी युद्धमें वे बंदी बना लिये जाते हैं और साधारण सैनिकोंकी सहायतासे छूट भी जाते हैं ॥ ३½ ॥

सेनाजीवाश्च ये राज्ञां विषये सन्ति मानवाः ॥ ४ ॥
तैः सङ्गम्य नृपार्थाय यतितव्यं यथातथम्।

जो मनुष्य सेनाजीवी हैं अथवा राजाके राज्यमें निवास करते हैं, उन सबको मिलकर अपने राजाके हितके लिये यथोचित प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४½ ॥

यद्येवं पाण्डवै राजन् भवद्विषयवासिभिः ॥ ५ ॥
यदृच्छया मोक्षितोऽसि तत्र का परिदेवना।

राजन्! यदि तुम्हारे राज्यमें निवास करनेवाले पाण्डवोंने इसी नीतिके अनुसार दैववश तुम्हें शत्रुओंके हाथसे छुड़ा दिया है, तो इसमें खेद करनेकी क्या बात है? ॥ ५½ ॥

न चैतत् साधु यद् राजन् पाण्डवास्त्वां नृपोत्तमम् ॥
स्वसेनया सम्प्रयान्तं नानुयान्ति स्म पृष्ठतः।

राजन्! आप श्रेष्ठ नरेश हैं और अपनी सेनाके साथ वनमें पधारे हैं, ऐसी दशामें यहाँ रहनेवाले पाण्डव यदि आपके पीछे-पीछे न चलते—आपकी सहायता न करते, तो यह उनके लिये अच्छी बात न होती ॥ ६½ ॥

शूराश्च बलवन्तश्च संयुगेष्वपलायिनः ॥ ७ ॥
भवतस्ते सहाया वै प्रेष्यतां पूर्वमागताः।

पाण्डव शौर्यसम्पन्न, बलवान् तथा युद्धमें पीठ न दिखानेवाले हैं। वे आपके दास तो बहुत पहले ही हो चुके हैं, अतः उन्हें आपका सहायक होना ही चाहिये ॥ ७½ ॥

पाण्डवेयानि रत्नानि त्वमद्याप्युपभुञ्जसे ॥ ८ ॥
सत्त्वस्थान् पाण्डवान् पश्य न ते प्रायमुपाविशन्।
(तदलं ते महाबाहो विषादं कर्तुमीदृशम्।)
उत्तिष्ठ राजन् भद्रं ते न चिरं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

पाण्डवोंके पास जितने रत्न थे, उन सबका उपभोग आज तुम्हीं कर रहे हो; तथापि देखो, पाण्डव कितने धैर्यवान् हैं कि उन्होंने कभी आमरण अनशन नहीं किया। अतः महाबाहो! तुम्हारे इस प्रकार विषाद करनेसे कोई लाभ नहीं है। राजन्! उठो, तुम्हारा कल्याण हो। अब यहाँ अधिक विलम्ब नहीं करना चाहिये ॥ ८-९ ॥

अवश्यमेव नृपते राज्ञो विषयवासिभिः।
प्रियाण्याचरितव्यानि तत्र का परिदेवना ॥ १० ॥

नरेश्वर! राजाके राज्यमें निवास करनेवाले लोगोंको अवश्य ही उसके प्रिय कार्य करने चाहिये। अतः इसके लिये पछताने या विलाप करनेकी क्या बात है? ॥ १० ॥

मद्वाक्यमेतद् राजेन्द्र यद्येवं न करिष्यसि।
स्थास्यामीह भवत्पादौ शुश्रूषन्नरिमर्दन ॥ ११ ॥

शत्रुओंका मान मर्दन करनेवाले महाराज! यदि तुम मेरी यह बात नहीं मानोगे, तो मैं भी तुम्हारे चरणोंकी सेवा करता हुआ यहीं रह जाऊँगा ॥ ११ ॥

नोत्सहे जीवितुमहं त्वद्विहीनो नरर्षभ।
प्रायोपविष्टस्तु नृप राज्ञां हास्यो भविष्यसि ॥ १२ ॥

नरश्रेष्ठ! तुमसे अलग होकर मैं जीवित नहीं रहना चाहता राजन्! आमरण अनशनके लिये बैठ जानेपर तुम समस्त राजाओंके उपहासपात्र हो जाओगे ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा।
नैवोत्थातुं मनश्चक्रे स्वर्गाय कृतनिश्चयः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कर्णके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने स्वर्गलोकमें ही जानेका निश्चय करके उस समय उठनेका विचार नहीं किया ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेशे कर्णवाक्ये पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनप्रायोपवेशनके प्रसङ्गमें कर्णवाक्यसम्बन्धी दो सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १३½ श्लोक हैं)

एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शकुनिके समझानेपर भी दुर्योधनको प्रायोपवेशनसे विचलित होते न देखकर दैत्योंका कृत्याद्वारा उसे रसातलमें बुलाना

वैशम्पायन उवाच

प्रायोपविष्टं राजानं दुर्योधनममर्षणम् ।
उवाच सान्त्वयन् राजञ्छकुनिः सौबलस्तदा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अमर्षमें भरकर आमरण उपवासके लिये बैठे हुए राजा दुर्योधनको सान्त्वना देते हुए सुबलपुत्र शकुनिने कहा ॥ १ ॥

शकुनिरुवाच

सम्यगुक्तं हि कर्णेन तच्छ्रुतं कौरव त्वया ।
मया हृतां श्रियं स्फीतां तां मोहादपहाय किम् ॥ २ ॥

शकुनि बोला—कुरुनन्दन ! कर्णने बहुत अच्छी बात कही है, जो तुमने सुनी ही है । मैंने पाण्डवोंसे तुम्हारे लिये जिस समृद्धशालिनी राजलक्ष्मीका अपहरण किया है, तुम उसे मोहवश क्यों त्याग रहे हो ? ॥ २ ॥

त्वमल्पबुद्ध्या नृपते प्राणानुत्स्रष्टुमर्हसि ।
अथवाप्यवगच्छामि न वृद्धाः सेवितास्त्वया ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! तुम अपनी अल्पबुद्धिके कारण ही आज प्राण-त्याग करनेको उतारू हो गये हो अथवा मैं समझता हूँ कि तुमने कभी वृद्धपुरुषोंका सेवन नहीं किया है ॥ ३ ॥

यः समुत्पतितं हर्षं दैन्यं वा न नियच्छति ।
स नश्यति श्रियं प्राप्य पात्रमामभिवाम्भसि ॥ ४ ॥

जो मनुष्य सहसा उत्पन्न हुए हर्ष अथवा शोकपर नियन्त्रण नहीं रखता, वह राजलक्ष्मीको पाकर भी उसी प्रकार नष्ट हो जाता है; जैसे मिट्टीका कच्चा बर्तन पानीमें गल जाता है॥४॥

अतिभीरुमतिक्लीबं दीर्घसूत्रं प्रमादिनम् ।
व्यसनाद् विषयाक्रान्तं न भजन्ति नृपं प्रजाः ॥ ५ ॥

जो राजा अत्यन्त डरपोक, बहुत कायर, दीर्घसूत्री (आलसी), प्रमादी और दुर्व्यसनवश विषयोंमें फँसा होता है, उसे प्रजा अपना स्वामी नहीं स्वीकार करती है ॥५॥

सत्कृतस्य हि ते शोको विपरीते कथं भवेत् ।
मा कृतं शोभनं पार्थैः शोकमालम्ब्य नाशय ॥ ६ ॥

पाण्डवोंने तुम्हारा सत्कार किया है, तो तुम्हें शोक हो रहा है । इसके विपरीत यदि उन्होंने तिरस्कार किया होता, तो न जाने तुम्हारी कैसी दशा हो जाती ? कुन्तीकुमारोंने जो सद्व्यवहार किया है, उसे तुम शोकका आश्रय लेकर नष्ट न कर दो ॥ ६ ॥

यत्र हर्षस्त्वया कार्यः सत्कर्तव्याश्च पाण्डवाः ।
तत्र शोचसि राजेन्द्र विपरीतमिदं तव ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! जहाँ तुम्हें हर्ष मनाना और पाण्डवोंका सत्कार करना चाहिये था, वहाँ तुम शोक कर रहे हो । तुम्हारा यह व्यवहार तो उल्टा ही है ॥ ७ ॥

प्रसीद मा त्यजात्मानं तुष्टश्च सुकृतं स्मर ।
प्रयच्छ राज्यं पार्थानां यशो धर्ममवाप्नुहि ॥ ८ ॥

अतः मनमें प्रसन्नता लाओ । शरीरका त्याग न करो । पाण्डवोंने तुम्हारे साथ जो सद्व्यवहार किया है, उसे स्मरण करो और संतुष्ट होकर उनका राज्य उन्हें लौटा दो । ऐसा करके यश और धर्मके भागी बनो ॥ ८ ॥

क्रियामेतां समाज्ञाय कृतज्ञस्त्वं भविष्यसि ।
सौभ्रात्रं पाण्डवैः कृत्वा समवस्थाप्य चैव तान् ॥ ९ ॥
पित्र्यं राज्यं प्रयच्छैषां ततः सुखमवाप्स्यसि ।

मेरे इस प्रस्तावको समझकर ऐसा ही करो । इससे तुम कृतज्ञ माने जाओगे । पाण्डवोंके साथ उत्तम भाईचारेका बर्ताव करके उन्हें राज्यसिंहासनपर बिठा दो और उनका पैतृक राज्य उन्हें समर्पित कर दो । इससे तुम्हें सुख प्राप्त होगा ॥ ९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

शकुनेस्तु वचः श्रुत्वा दुःशासनमवेक्ष्य च ॥ १० ॥
पादयोः पतितं वीरं विकृतं भ्रातृसौहृदम् ।
बाहुभ्यां साधुजाताभ्यां दुःशासनमरिंदमम् ॥ ११ ॥
उत्थाप्य सम्परिष्वज्य प्रीत्याजिघ्रत मूर्धनि ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! शकुनिका यह वचन सुनकर दुर्योधनने अपने चरणोंमें पड़े हुए म्लान मुखवाले भ्रातृभक्त शत्रुदमन वीर दुःशासनकी ओर देखकर अपनी सुन्दर बाँहोंद्वारा उसे उठाया और प्रेमपूर्वक हृदयसे लगाकर उसका मस्तक सूँघा ॥ १०-११½ ॥

कर्णसौबलयोश्चापि संश्रुत्य वचनान्यसौ ॥ १२ ॥
निर्वेदं परमं गत्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
व्रीडयाभिपरीतात्मा नैराश्यमगमत् परम् ॥ १३ ॥

कर्ण और शकुनिकी भी बातें सुनकर राजा दुर्योधन अत्यन्त उदास हो गया तथा मन-ही-मन लज्जासे अभिभूत हो उसने बड़ी निराशाका अनुभव किया ॥ १२-१३ ॥

तच्छ्रुत्वा सुहृदश्चैव समन्युरिदमब्रवीत् ।
न धर्मधनसौख्येन न धैर्येण न चाज्ञया ॥ १४ ॥

नैव भोगैश्च मे कार्यं मा विहन्यत गच्छत।
निश्चितेयं मम मतिः स्थिता प्रायोपवेशने ॥ १५ ॥
गच्छध्वं नगरं सर्वे पूज्याश्च गुरवो मम।

सब सुहृदोंके वचन सुनकर दुर्योधनने उनसे कुपित हो इस प्रकार कहा—'मुझे धर्म, धन, सुख, ऐश्वर्य, शासन और भोग किसीकी भी आवश्यकता नहीं है। तुमलोग मेरे निश्चयमें बाधा न डालो। यहाँसे चले जाओ। आमरण अनशन करनेके सम्बन्धमें मेरी बुद्धिका निश्चय अटल है। तुम सब लोग नगरको जाओ और वहाँ मेरे गुरुजनोंका सदा आदर-सत्कार करो' ॥ १४-१५½ ॥

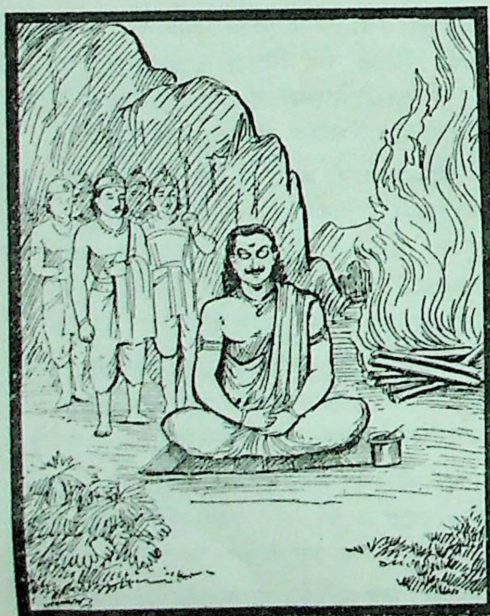
त एवमुक्ताः प्रत्यूचू राजानमरिमर्दनम् ॥ १६ ॥
या गतिस्तव राजेन्द्र सास्माकमपि भारत।
कथं वा सम्प्रवेक्ष्यामस्त्वद्विहीनाः पुरं वयम् ॥ १७ ॥

ऐसा उत्तर पाकर सब सुहृदोंने शत्रुदमन राजा दुर्योधन-से कहा—'राजेन्द्र! तुम्हारी जो गति होगी, वही हमारी भी होगी। भारत! हम तुम्हारे बिना हस्तिनापुरमें कैसे प्रवेश करेंगे?' ॥ १६-१७ ॥

वैशम्पायन उवाच

स सुहृद्भिरमात्यैश्च भ्रातृभिः स्वजनेन च।
बहुप्रकारमप्युक्तो निश्चयान्न विचाल्यते ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दुर्योधनको उसके सुहृद्, मन्त्री, भाई तथा स्वजनोंने बहुतेरा समझाया, परंतु कोई भी उसे अपने निश्चयसे विचलित न कर सका ॥ १८ ॥



दर्भास्तरणमास्तीर्य निश्चयाद् धृतराष्ट्रजः।
संस्पृश्यापः शुचिर्भूत्वा भूतले समुपस्थितः ॥ १९ ॥
कुशचीराम्बरधरः परं नियममास्थितः।
वाग्यतो राजशार्दूलः स स्वर्गगतिकाम्यया ॥ २० ॥
मनसोपचितिं कृत्वा निरस्य च बहिःक्रियाः।

धृतराष्ट्रपुत्र नृपश्रेष्ठ दुर्योधन अपने निश्चयपर अटल रह-कर आचमन करके पवित्र हो पृथ्वीपर कुशका आसन बिछा कुश और वल्कलके वस्त्र धारण करके बैठा और स्वर्ग-प्राप्तिकी इच्छासे वाणीका संयम करके उपवासके उत्तम नियमोंका पालन करने लगा। उस समय उसने मनके द्वारा मरनेका ही निश्चय करके स्नान-भोजन आदि बाह्य क्रिया-ओंको सर्वथा त्याग दिया था ॥ १९-२०½ ॥

अथ तं निश्चयं तस्य बुद्ध्वा दैतेयदानवाः ॥ २१ ॥
पातालवासिनो रौद्राः पूर्वं देवैर्विनिर्जिताः।
ते स्वपक्षक्षयं तं तु ज्ञात्वा दुर्योधनस्य वै ॥ २२ ॥
आह्वानाय तदा चक्रुः कर्म वैतानसम्भवम्।
बृहस्पत्युशनोक्तैश्च मन्त्रैर्मन्त्रविशारदाः ॥ २३ ॥
अथर्ववेदप्रोक्तैश्च याश्चोपनिषदि क्रियाः।
मन्त्रजप्यसमायुक्तास्तास्तदा समवर्तयन् ॥ २४ ॥

दुर्योधनके इस निश्चयको जानकर पातालवासी भयंकर दैत्यों और दानवोंने, जो पूर्वकालमें देवताओंसे पराजित हो चुके थे, मन-ही-मन विचार किया कि इस प्रकार दुर्योधनका प्राणान्त होनेसे तो हमारा पक्ष ही नष्ट हो जायगा; अतः उसे अपने पास बुलानेके लिये मन्त्रविद्यामें निपुण दैत्योंने उस समय बृहस्पति और शुक्राचार्यके द्वारा वर्णित तथा अथर्ववेदमें प्रतिपादित मन्त्रोंद्वारा अग्निविस्तारसाध्य यज्ञ-कर्मका अनुष्ठान आरम्भ किया और उपनिषद् (आरण्यक) में जो मन्त्रजपसे युक्त हवनादि क्रियाएँ बतायी गयी हैं, उनका भी सम्पादन किया ॥ २१–२४ ॥

जुह्वत्यग्नौ हविः क्षीरं मन्त्रवत् सुसमाहिताः।
ब्राह्मणा वेदवेदाङ्गपारगाः सुदृढव्रताः ॥ २५ ॥

तब दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले, वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो मन्त्रोच्चारणपूर्वक प्रज्वलित अग्निमें घृत और खीरकी आहुति देने लगे ॥ २५ ॥

कर्मसिद्धौ तदा तत्र जृम्भमाणा महाद्भुता।
कृत्या समुत्थिता राजन् किं करोमीति चाब्रवीत् ॥ २६ ॥

राजन्! कर्मकी सिद्धि होनेपर वहाँ यज्ञकुण्डसे उस समय एक अत्यन्त अद्भुत कृत्या जँभाई लेती हुई प्रकट हुई और बोली—'मैं क्या करूँ?' ॥ २६ ॥

आहुर्दैत्याश्च तां तत्र सुप्रीतेनान्तरात्मना।
प्रायोपविष्टं राजानं धार्तराष्ट्रमिहानय ॥ २७ ॥

तब दैत्योंने प्रसन्नचित्त होकर उससे कहा—'तू प्रायोपवेशन करते हुए धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनको वहाँ ले आ' ॥ २७ ॥

तथेति च प्रतिश्रुत्य सा कृत्या प्रययौ तदा।
निमेषादगमच्चापि यत्र राजा सुयोधनः ॥ २८ ॥

'जो आज्ञा' कहकर वह कृत्या तत्काल वहाँसे प्रस्थित हुई और पलक मारते-मारते जहाँ राजा दुर्योधन था, वहाँ पहुँच गयी ॥ २८ ॥

समादाय च राजानं प्रविवेश रसातलम्।
दानवानां मुहूर्ताच्च तमानीतं न्यवेदयत्।
तमानीतं नृपं दृष्ट्वा रात्रौ संगत्य दानवाः ॥ २९ ॥
प्रहृष्टमनसः सर्वे किंचिदुत्फुल्ललोचनाः।
साभिमानमिदं वाक्यं दुर्योधनमथाब्रुवन् ॥ ३० ॥

फिर राजाको साथ ले दो ही घड़ीमें रसातल आ पहुँची और दानवोंको उसके लाये जानेकी सूचना दे दी। राजा दुर्योधनको लाया गया देख सब दानव रातमें एकत्र हुए। उनके मनमें प्रसन्नता भरी थी और नेत्र हर्षातिरेकसे कुछ खिल उठे थे। उन्होंने दुर्योधनसे अभिमानपूर्वक यह बात कही ॥ २९-३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेशे एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनप्रायोपवेशनविषयक दो सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दानवोंका दुर्योधनको समझाना और कर्णके अनुरोध करनेपर दुर्योधनका अनशन त्याग करके हस्तिनापुरको प्रस्थान

दानवा ऊचुः

भोः सुयोधन राजेन्द्र भरतानां कुलोद्वह।
शूरैः परिवृतो नित्यं तथैव च महात्मभिः ॥ १ ॥
अकार्षीः साहसमिदं कस्मात् प्रायोपवेशनम्।
आत्मत्यागी ह्यधो याति वाच्यतां चायशस्करीम् ॥ २ ॥

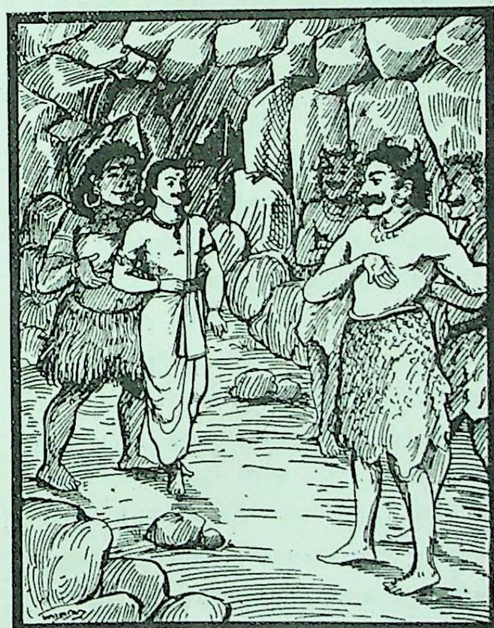
दानव बोले—भरतवंशका भार वहन करनेवाले महाराज सुयोधन! आप सदा शूरवीरों तथा महामना पुरुषोंसे घिरे रहते हैं, फिर आपने यह आमरण उपवास करनेका साहस क्यों किया है? आत्महत्या करनेवाला पुरुष तो अधोगतिको प्राप्त होता है और लोकमें उसकी निन्दा होती है, जो अयश फैलानेवाली है ॥ १-२ ॥

न हि कार्यविरुद्धेषु बहुपापेषु कर्मसु।
मूलघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ ३ ॥

जो अभीष्ट कार्यके विरुद्ध पड़ते हों, जिनमें बहुत पाप भरे हों तथा जो जड़मूलसहित अपना विनाश करनेवाले हों, ऐसे आत्महत्या आदि अशुभ कर्मोंमें आप-जैसे बुद्धिमान् पुरुष नहीं प्रवृत्त होते हैं ॥ ३ ॥

नियच्छैनां मतिं राजन् धर्मार्थसुखनाशिनीम्।
यशःप्रतापवीर्यघ्नीं शत्रूणां हर्षवर्धनीम् ॥ ४ ॥

राजन्! आपका यह आत्महत्यासम्बन्धी विचार धर्म, अर्थ तथा सुख, यश, प्रताप और पराक्रमका नाश करनेवाला तथा शत्रुओंका हर्ष बढ़ानेवाला है, अतः इसे रोकिये ॥ ४ ॥



श्रूयतां तु प्रभो तत्त्वं दिव्यतां चात्मनो नृप।
निर्माणं च शरीरस्य ततो धैर्यमवाप्नुहि ॥ ५ ॥

प्रभो! एक रहस्यकी बात सुनिये। नरेश्वर! आपका स्वरूप दिव्य है तथा आपके शरीरका निर्माण भी अद्भुत प्रकारसे हुआ है। यह हमलोगोंसे सुनकर धैर्य धारण कीजिये ॥ ५ ॥

पुरा त्वं तपसास्माभिर्लब्धो राजन् महेश्वरात्।

पूर्वकायश्च पूर्वस्ते निर्मितो वज्रसंचयैः ॥ ६ ॥

राजन् ! पूर्वकालमें हमलोगोंने तपस्याद्वारा भगवान् शंकरकी आराधना करके आपको प्राप्त किया था । आपके शरीरका पूर्वभाग—जो नाभिसे ऊपर है, वज्रसमूहसे बना हुआ है ॥ ६ ॥

अस्त्रैरभेद्यः शस्त्रैश्चाप्यधः कायश्च तेऽनघ ।
कृतः पुष्पमयो देव्या रूपतः स्त्रीमनोहरः ॥ ७ ॥

वह किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे विदीर्ण नहीं हो सकता । अनघ ! उसी प्रकार आपका नाभिसे नीचेका शरीर पार्वती-देवीने पुष्पमय बनाया है, जो अपने रूप-सौन्दर्यसे स्त्रियोंके मनको मोहनेवाला है ॥ ७ ॥

एवमीश्वरसंयुक्तस्तव देहो नृपोत्तम ।
देव्या च राजशार्दूल दिव्यस्त्वं हि न मानुषः ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार आपका शरीर देवी पार्वतीके साथ साक्षात् भगवान् महेश्वरने संघटित किया है । अतः राजसिंह ! आप मनुष्य नहीं, दिव्य पुरुष हैं ॥ ८ ॥

क्षत्रियाश्च महावीर्या भगदत्तपुरोगमाः ।
दिव्यास्त्रविदुषः शूराः क्षपयिष्यन्ति ते रिपून् ॥ ९ ॥

भगदत्त आदि महापराक्रमी क्षत्रिय दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता तथा शौर्यसम्पन्न हैं । वे आपके शत्रुओंका संहार करेंगे ॥ ९ ॥

तदलं ते विषादेन भयं तव न विद्यते ।
साहाय्यार्थं च ते वीराः सम्भूता भुवि दानवाः ॥ १० ॥

अतः आपको शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है । आपको कोई भय नहीं है । आपकी सहायताके लिये बहुत-से वीर दानव भूतलपर प्रकट हो चुके हैं ॥ १० ॥

भीष्मद्रोणकृपादींश्च प्रवेक्ष्यन्त्यपरेऽसुराः ।
यैराविष्टा घृणां त्यक्त्वा योत्स्यन्ते तव वैरिभिः ॥ ११ ॥

दूसरे भी अनेक असुर भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य आदिके शरीरोंमें प्रवेश करेंगे, जिनसे आविष्ट होकर वे लोग दयाको त्यागकर आपके शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ।११।

नैव पुत्रान् न च भ्रातॄन् न पितॄन् न च बान्धवान् ।
नैव शिष्यान् न च ज्ञातीन् न बालान् स्थविरान् न च १२
युधि सम्प्रहरिष्यन्तो मोक्ष्यन्ति कुरुसत्तम ।
निःस्नेहा दानवाविष्टाः समाक्रान्तेऽन्तरात्मनि ॥ १३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! दानवोंका आवेश होनेपर भीष्म, द्रोण आदिकी अन्तरात्मापर भी उन दानवोंका ही अधिकार हो जायगा । उस दशामें युद्धमें स्नेहरहित हो प्रहार करते हुए वे लोग पुत्रों, भाइयों, पिताओं, बान्धवों, शिष्यों, कुटुम्बीजनों, बालकों तथा बूढ़ोंको भी नहीं छोड़ेंगे ॥ १२-१३ ॥

प्रहरिष्यन्ति विवशाः स्नेहमुत्सृज्य दूरतः ।
हृष्टाः पुरुषशार्दूलाः कलुषीकृतमानसाः ।
अविज्ञानविमूढाश्च दैवाच्च विधिनिर्मितात् ॥ १४ ॥

वे पुरुषसिंह भीष्म आदि वीर (दानवोंके आवेशके कारण) विवश होकर अज्ञानसे मोहित हो जायँगे । उनके मनमें मलिनता आ जायगी और वे स्नेहको दूर छोड़कर प्रसन्नतापूर्वक अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा प्रहार करेंगे । इसमें विधिनिर्मित होनहार ही कारण है ॥ १४ ॥

व्याभाषमाणाश्चान्योन्यं न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ।
सर्वे शस्त्रास्त्रमोक्षेण पौरुषे समवस्थिताः ॥ १५ ॥
श्लाघमानाः कुरुश्रेष्ठ करिष्यन्ति जनक्षयम् ।

एक दूसरेके विरुद्ध भाषण करते हुए वे सब योद्धा कहेंगे—'आज तू मेरे हाथोंसे जीवित नहीं बच सकता ।' कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार सभी अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए पराक्रमपर डटे रहेंगे और परस्पर होड़ लगाकर जनसंहार करेंगे ।१५½।

तेऽपि पञ्च महात्मानः प्रतियोत्स्यन्ति पाण्डवाः ॥ १६ ॥
वधं चैषां करिष्यन्ति दैवयुक्ता महाबलाः ।

वे दैवप्रेरित महाबली महात्मा पाँचों पाण्डव भी इन भीष्म आदिका सामना करते हुए इनका वध करेंगे ॥ १६½ ॥

दैत्यरक्षोगणाश्चैव सम्भूताः क्षत्रयोनिषु ॥ १७ ॥
योत्स्यन्ति युधि विक्रम्य शत्रुभिस्तव पार्थिव ।
गदाभिर्मुसलैः शूलैः शस्त्रैरुच्चावचैस्तथा ॥ १८ ॥
(प्रहरिष्यन्ति ते वीरास्तवारिषु महाबलाः ।)

राजन् ! दैत्यों तथा राक्षसोंके समुदाय क्षत्रिययोनिमें उत्पन्न हुए हैं, जो आपके शत्रुओंके साथ पराक्रमपूर्वक युद्ध करेंगे । वे महाबली वीर दैत्य आपके शत्रुओंपर गदा, मुसल, शूल तथा अन्य छोटे-बड़े अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा प्रहार करेंगे ॥

यच्च तेऽन्तर्गतं वीर भयमर्जुनसम्भवम् ।
तत्रापि विहितोऽस्माभिर्वधोपायोऽर्जुनस्य वै ॥ १९ ॥

वीर ! आपके भीतर जो अर्जुनका भय समाया हुआ है, वह भी निकाल देना चाहिये; क्योंकि हमलोगोंने अर्जुनके वधका उपाय भी कर लिया है ॥ १९ ॥

हतस्य नरकस्यात्मा कर्णमूर्तिमुपाश्रितः ।
तद् वैरं संस्मरन् वीर योत्स्यते केशवार्जुनौ ॥ २० ॥

श्रीकृष्णके हाथों जो नरकासुर मारा गया है, उसकी आत्मा कर्णके शरीरमें घुस गयी है । वीरवर ! वह (नरकासुर) उस वैरको याद करके श्रीकृष्ण और अर्जुनसे युद्ध करेगा ॥

स ते विक्रमशौटीरो रणे पार्थं विजेष्यति ।
कर्णः प्रहरतां श्रेष्ठः सर्वांश्चारीन् महारथः ॥ २१ ॥

महारथी कर्ण योद्धाओंमें श्रेष्ठ और अपने पराक्रमपर

गर्व रखनेवाला है। वह रणभूमिमें अर्जुन तथा आपके अन्य सब शत्रुओंपर अवश्य विजयी होगा ॥ २१ ॥

ज्ञात्वैतच्छद्मना वज्री रक्षार्थं सव्यसाचिनः ।
कुण्डले कवचं चैव कर्णस्यापहरिष्यति ॥ २२ ॥

इस बातको समझकर वज्रधारी इन्द्र अर्जुनकी रक्षाके लिये छल करके कर्णके कुण्डल और कवचका अपहरण कर लेंगे ॥ २२ ॥

तस्मादस्माभिरप्यत्र दैत्याः शतसहस्रशः ।
नियुक्ता राक्षसाश्चैव ये ते संशप्तका इति ॥ २३ ॥
प्रख्यातास्तेऽर्जुनं वीरं हनिष्यन्ति च मा शुचः ।
असपत्ना त्वया हीयं भोक्तव्या वसुधा नृप ॥ २४ ॥

इसीलिये हमलोगोंने भी एक लाख दैत्यों तथा राक्षसोंको इस काममें लगा रक्खा है, जो संशप्तक नामसे विख्यात हैं। वे वीर अर्जुनको मार डालेंगे। अतः आप शोक न करें। नरेश्वर ! आपको इस पृथ्वीका निष्कंटक राज्य भोगना है ॥

मा विषादं गमस्तस्मान्नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
विनष्टे त्वयि चास्माकं पक्षो हीयेत कौरव ॥ २५ ॥

अतः कुरुनन्दन ! आप विषाद न करें। यह आपको शोभा नहीं देता है। आपके नष्ट हो जानेपर तो हमारे पक्षका ही नाश हो जायगा ॥ २५ ॥

गच्छ वीर न ते बुद्धिरन्या कार्या कथञ्चन ।
त्वमस्माकं गतिर्नित्यं देवतानां च पाण्डवाः ॥ २६ ॥

वीरवर ! जाइये। अब आपको किसी तरह भी अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। देखिये, देवताओंने पाण्डवोंका आश्रय ले रक्खा है; परंतु हमारी गति तो सदा आप ही हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा परिष्वज्य दैत्यास्तं राजकुञ्जरम् ।
समाश्वास्य च दुर्धर्षं पुत्रवद् दानवर्षभाः ॥ २७ ॥
स्थिरां कृत्वा बुद्धिमस्य प्रियाण्युक्त्वा च भारत ।
गम्यतामित्यनुज्ञाय जयमाप्नुहि चेत्यथ ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! दुर्धर्ष वीर नृपशिरोमणि दुर्योधनसे ऐसा कहकर दैत्यों तथा दानवेश्वरोंने उसे पुत्रकी भाँति हृदयसे लगाया और आश्वासन देकर उसकी बुद्धिको स्थिर किया। भारत ! तत्पश्चात् प्रिय वचन बोलकर उन्होंने दुर्योधनको जानेके लिये आज्ञा देते हुए कहा—'अब आप जाइये और शत्रुओंपर विजय प्राप्त कीजिये' ॥ २७-२८ ॥

तैर्विसृष्टं महाबाहुं कृत्या सैवानयत् पुनः ।
तमेव देशं यत्रासौ तदा प्रायमुपाविशत् ॥ २९ ॥

दैत्योंके विदा करनेपर उसी कृत्याने महाबाहु दुर्योधनको पुनः उसी स्थानपर पहुँचा दिया, जहाँ वह पहले आमरण [illegible] ॥ २९ ॥

प्रतिनिक्षिप्य तं वीरं कृत्या समभिपूज्य च ।
अनुज्ञाता च राज्ञा सा तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३० ॥

वीर राजा दुर्योधनको वहाँ रखकर कृत्याने उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया और उससे आज्ञा लेकर जैसे आयी थी, वैसे ही अदृश्य हो गयी ॥ ३० ॥

गतायामथ तस्यां तु राजा दुर्योधनस्तदा ।
स्वप्नभूतमिदं सर्वमचिन्तयत भारत ॥ ३१ ॥
(सम्पृश्य तानि वाक्यानि दानवोक्तानि दुर्मतिः ।)
विजेष्यामि रणे पाण्डूनिति चास्याभवन्मतिः ।

भारत ! कृत्याके चले जानेपर राजा दुर्योधनने इन सारी बातोंको स्वप्न समझा। दैत्योंके कहे हुए वचनोंपर विचार करके दुर्बुद्धि दुर्योधनके मनमें यह संकल्प उदित हुआ कि 'मैं युद्धमें पाण्डवोंको जीत लूँगा' ॥ ३१½ ॥

कर्णं संशप्तकांश्चैव पार्थस्यामित्रघातिनः ॥ ३२ ॥
अमन्यत वधे युक्तान् समर्थांश्च सुयोधनः ।

दुर्योधनने यह मान लिया कि संशप्तकगण तथा कर्ण ये शत्रुघाती अर्जुनके वधमें लगे हुए हैं और इसके लिये वे समर्थ हैं ॥ ३२½ ॥

एवमाशा दृढा तस्य धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ ३३ ॥
विनिर्जये पाण्डवानामभवद् भरतर्षभ ।

जनमेजय ! इस प्रकार उस खोटी बुद्धिवाले धृतराष्ट्र-पुत्रके मनमें पाण्डवोंपर विजय पानेकी दृढ़ आशा हो गयी ॥ ३३½ ॥

कर्णोऽप्याविष्टचित्तात्मा नरकस्यान्तरात्मना ॥ ३४ ॥
अर्जुनस्य वधे क्रूरां करोति स्म तदा मतिम् ।

इधर कर्ण भी नरकासुरकी अन्तरात्मासे आविष्टचित्त होनेके कारण अर्जुनका वध करनेके लिये क्रूरतापूर्ण संकल्प करने लगा ॥ ३४½ ॥

संशप्तकाश्च ते वीरा राक्षसाविष्टचेतसः ॥ ३५ ॥
रजस्तमोभ्यामाक्रान्ताः फाल्गुनस्य वधैषिणः ।

इसी प्रकार राक्षसोंसे आविष्टचित्त होकर वे संशप्तक वीर भी रजोगुण और तमोगुणसे आक्रान्त हो अर्जुनको मार डालनेकी इच्छा रखने लगे ॥ ३५½ ॥

भीष्मद्रोणकृपाद्याश्च दानवाक्रान्तचेतसः ॥ ३६ ॥
न तथा पाण्डुपुत्राणां स्नेहवन्तो विशाम्पते ।

राजन् ! भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिके मनपर भी दानवोंने अधिकार कर लिया था। अतः पाण्डवोंके पति उनका भी वैसा स्नेह नहीं रह गया ॥ ३६½ ॥

(कृत्ययाऽऽनाय्यकथितं यत् तस्यां निशि दानवैः ।)
[illegible] राजा सुयोधनः ॥ ३७ ॥

दानवोंने रातमें कृत्याद्वारा अपने यहाँ बुलाकर जो बातें कही थीं, उन्हें राजा दुर्योधनने किसीपर भी प्रकट नहीं किया ॥

दुर्योधनं निशान्ते च कर्णो वैकर्तनोऽब्रवीत्।
स्मयन्निवाञ्जलिं कृत्वा पार्थिवं हेतुमद् वचः ॥ ३८ ॥

वह रात बीतनेपर सूर्यपुत्र कर्णने आकर राजा दुर्योधनसे हाथ जोड़ मुसकराते हुए यह युक्तियुक्त वचन कहा—॥३८॥

न मृतो जयते शत्रूञ्जीवन् भद्राणि पश्यति।
मृतस्य भद्राणि कुतः कौरवेय कुतो जयः ॥ ३९ ॥

'कुरुनन्दन ! मरा हुआ मनुष्य कभी शत्रुओंपर विजय नहीं पाता। जो जीवित रहता है, वह कभी सुखके दिन भी देखता है। मरे हुएको कहाँ सुख और कहाँ विजय ? ॥

न कालोऽद्य विषादस्य भयस्य मरणस्य वा।
परिष्वज्याब्रवीच्चैनं भुजाभ्यां स महाभुजः ॥ ४० ॥

'यह समय शोक मनाने, भयभीत होने अथवा मरनेका नहीं है', यह कहकर महाबाहु कर्णने दोनों भुजाओंसे खींचकर दुर्योधनको हृदयसे लगा लिया और कहा—॥ ४० ॥

उत्तिष्ठ राजन् किं शेषे कस्माच्छोचसि शत्रुहन्।
शत्रून् प्रताप्य वीर्येण स कथं मृत्युमिच्छसि ॥ ४१ ॥

'शत्रुघाती नरेश ! उठो, क्यों सो रहे हो ? किसलिये शोक करते हो ? अपने पराक्रमसे शत्रुओंको संतप्त करके अब मृत्युकी इच्छा क्यों करते हो ? ॥ ४१ ॥

अथवा ते भयं जातं दृष्ट्वार्जुनपराक्रमम्।
सत्यं ते प्रतिजानामि वधिष्यामि रणेऽर्जुनम् ॥ ४२ ॥

'अथवा यदि तुम्हें अर्जुनका पराक्रम देखकर भय हो गया हो, तो मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि मैं युद्धमें अर्जुनको अवश्य मार डालूँगा ॥ ४२ ॥

गते त्रयोदशे वर्षे सत्येनायुधमालभे।
आनयिष्याम्यहं पार्थान् वशं तव जनाधिप ॥ ४३ ॥

'महाराज ! मैं धनुष छूकर सचाईके साथ यह शपथ ग्रहण करता हूँ कि तेरहवाँ वर्ष व्यतीत होते ही पाण्डवोंको तुम्हारे वशमें ला दूँगा' ॥ ४३ ॥

एवमुक्तस्तु कर्णेन दैत्यानां वचनात् तथा।
प्रणिपातेन चाप्येषामुदतिष्ठत् सुयोधनः ॥ ४४ ॥

कर्णके ऐसा कहनेपर और इन दुःशासन आदि भाइयों-के प्रणामपूर्वक अनुनय-विनय करनेपर दैत्योंके वचनोंका स्मरण करके दुर्योधन अपने आसनसे उठ खड़ा हुआ ।४४।

दैत्यानां तद् वचः श्रुत्वा हृदि कृत्वा स्थिरां मतिम्।
ततो मनुजशार्दूलो योजयामास वाहिनीम् ॥ ४५ ॥
रथनागाश्वकलिलां पदातिजनसंकुलाम्।
गङ्गौघप्रतिमा राजन् सा प्रयाता महाचमूः ॥ ४६ ॥

दैत्योंके पूर्वोक्त कथनको याद करके नरश्रेष्ठ दुर्योधनने पाण्डवोंसे युद्ध करनेका पक्का विचार कर लिया और फिर हस्तिनापुर जानेके लिये रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सैनिकों-से युक्त अपनी चतुरंगिणी सेनाको तैयार होनेकी आज्ञा दी। राजन् ! वह विशाल वाहिनी गङ्गाके प्रवाहके समान चलने लगी ॥ ४५-४६ ॥

श्वेतच्छत्रैः पताकाभिश्चामरैश्च सुपाण्डुरैः।
रथैर्नागैः पदातैश्च शुशुभेऽतीव संकुला ॥ ४७ ॥
व्यपेताभ्रघने काले द्यौरिवाव्यक्तशारदी।

श्वेत छत्र, पताका, शुभ्र चँवर, रथ, हाथी और पैदल योद्धाओंसे भरी हुई वह कौरव-सेना शरत्कालमें कुछ-कुछ व्यक्त शारदीय सुषमासे सुशोभित आकाशकी भाँति शोभा पा रही थी ॥ ४७½ ॥

जयाशीर्भिर्द्विजेन्द्रैः स स्तूयमानोऽधिराजवत् ॥४८॥
गृह्णन्नञ्जलिमालाश्च धार्तराष्ट्रो जनाधिपः।
सुयोधनो ययावग्रे श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ४९ ॥

धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन सम्राट्की भाँति श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके मुखसे विजयसूचक आशीर्वादोंके साथ अपनी स्तुति सुनता तथा लोगोंकी प्रणामाञ्जलियोंको ग्रहण करता हुआ उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित हो आगे-आगे चला ॥ ४८-४९ ॥

कर्णेन सार्धं राजेन्द्र सौबलेन च देविना।
दुःशासनादयश्चास्य भ्रातरः सर्व एव ते ॥ ५० ॥
भूरिश्रवाः सोमदत्तो महाराजश्च बाह्लिकः।
रथैर्नानाविधाकारैर्हयैर्गजवरैस्तथा ॥ ५१ ॥
प्रयान्तं नृपसिंहं तमनुजग्मुः कुरूद्वहाः।
कालेनाल्पेन राजेन्द्र स्वपुरं विविशुस्तदा ॥ ५२ ॥

राजेन्द्र ! कर्ण तथा द्यूतकुशल शकुनिके साथ दुःशासन आदि सब भाई, भूरिश्रवा, सोमदत्त तथा महाराज बाह्लीक—ये सभी कुरुकुलरत्न नाना प्रकारके रथों, गजराजों तथा घोड़ोंपर बैठकर राजसिंह दुर्योधनके पीछे-पीछे चल रहे थे। जनमेजय ! थोड़े समयमें उन सबने अपनी राजधानी हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ ५०-५२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनपुरप्रवेशे द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनका नगरमें प्रवेशविषयक दो सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १½ श्लोक मिलाकर कुल ५३½ श्लोक हैं)

त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

भीष्मका कर्णकी निन्दा करते हुए दुर्योधनको पाण्डवोंसे संधि करनेका परामर्श देना, कर्णके क्षोभपूर्ण वचन और दिग्विजयके लिये प्रस्थान

जनमेजय उवाच

वसमानेषु पार्थेषु वने तस्मिन् महात्मसु ।
धार्तराष्ट्रा महेष्वासाः किमकुर्वत सत्तमाः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—मुने ! जब महात्मा पाण्डव उस वनमें निवास करते थे, उन दिनों महान् धनुर्धर नरश्रेष्ठ धृतराष्ट्र-पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

कर्णो वैकर्तनश्चैव शकुनिश्च महाबलः ।
भीष्मद्रोणकृपाश्चैव तन्मे शंसितुमर्हसि ॥ २ ॥

सूर्यपुत्र कर्ण, महाबली शकुनि, भीष्म, द्रोण तथा कृपाचार्य—इन सबने कौन-सा कार्य किया ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं गतेषु पार्थेषु विसृष्टे च सुयोधने ।
आगते हास्तिनपुरं मोक्षिते पाण्डुनन्दनैः ॥ ३ ॥
भीष्मोऽब्रवीन्महाराज धार्तराष्ट्रमिदं वचः ।

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज ! पाण्डवोंद्वारा गन्धर्वोंसे छुटकारा मिल जानेपर जब दुर्योधन विदा होकर हस्तिनापुर पहुँच गया और पाण्डव जाकर पूर्ववत् वनमें ही रहने लगे, तब भीष्मजीने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे यह बात कही—॥ ३½ ॥



उक्तं तात यथा पूर्वं गच्छतस्ते तपोवनम् ॥ ४ ॥
गमनं मे न रुचितं तव तत्र कृतं च ते ।

'तात ! तुम्हारे तपोवन जाते समय जैसा कि मैंने पहले ही कह दिया था, वही आज भी कह रहा हूँ । मुझे तुम्हारा वहाँ जाना अच्छा नहीं लगा और वहाँ जाकर तुमने जो कुछ किया, वह भी पसंद नहीं आया ॥ ४½ ॥

ततः प्राप्तं त्वया वीर ग्रहणं शत्रुभिर्बलात् ॥ ५ ॥
मोक्षितश्चासि धर्मज्ञैः पाण्डवैर्न च लज्जसे ।

'वीर ! शत्रुओंने तुम्हें वहाँ बलपूर्वक बंदी बना लिया और धर्मज्ञ पाण्डवोंने तुम्हें उस संकटसे छुड़ाया है । क्या अब भी तुम्हें लज्जा नहीं आती ? ॥ ५½ ॥

प्रत्यक्षं तव गान्धारे ससैन्यस्य विशाम्पते ॥ ६ ॥
सूतपुत्रोऽपयाद् भीतो गन्धर्वाणां तदा रणात् ।

'गान्धारीनन्दन ! सेनासहित तुम्हारे सामने ही सूतपुत्र कर्ण गन्धर्वोंसे भयभीत हो युद्धभूमिसे भाग निकला ॥ ६½ ॥

क्रोशतस्तव राजेन्द्र ससैन्यस्य नृपात्मज ॥ ७ ॥
दृष्टस्ते विक्रमश्चैव पाण्डवानां महात्मनाम् ।

राजेन्द्र ! राजकुमार ! जब सेनासहित तुम चीखते-चिल्लाते रहे उस समय महात्मा पाण्डवोंने जो पराक्रम कर दिखाया था वह भी तुमने प्रत्यक्ष देखा है ॥ ७½ ॥

कर्णस्य च महाबाहो सूतपुत्रस्य दुर्मतेः ॥ ८ ॥
न चापि पादभाक् कर्णः पाण्डवानां नृपोत्तम ।
धनुर्वेदे च शौर्ये च धर्मे वा धर्मवत्सल ॥ ९ ॥

महाबाहो ! उस समय खोटी बुद्धिवाले सूतपुत्र कर्णका पराक्रम भी तुमसे छिपा नहीं था । नृपश्रेष्ठ ! धर्मवत्सल ! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि धनुर्वेद, शौर्य और धर्माचरणमें कर्ण पाण्डवोंकी अपेक्षा चौथाई योग्यता भी नहीं रखता है ॥ ८-९ ॥

तस्मादहं क्षमं मन्ये पाण्डवैस्तैर्महात्मभिः ।
संधिं संधिविदां श्रेष्ठ कुलस्यास्य विवृद्धये ॥ १० ॥

'अतः संधिवेत्ताओंमें श्रेष्ठ नरेश ! मैं तो इस कुलके अभ्युदयके लिये उन महात्मा पाण्डवोंके साथ संधि कर लेना ही उचित समझता हूँ' ॥ १० ॥

एवमुक्तस्तु भीष्मेण धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः ।
प्रहस्य सहसा राजन् विप्रतस्थे ससौबलः ॥ ११ ॥

राजन् ! भीष्मके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधन हँस पड़ा

और शकुनिके साथ सहसा वहाँसे अन्यत्र चला गया ॥११॥

तं तु प्रस्थितमाज्ञाय कर्णदुःशासनादयः।
अनुजग्मुर्महेष्वासा धार्तराष्ट्रं महाबलम् ॥ १२ ॥

महाबली दुर्योधनको अन्यत्र गया ज्ञान कर्ण और दुःशासन आदि महान् धनुर्धरोंने उसका अनुसरण किया ॥१२॥

तांस्तु सम्प्रस्थितान् दृष्ट्वा भीष्मः कुरुपितामहः।
लज्जया व्रीडितो राजञ्जगाम स्वं निवेशनम् ॥ १३ ॥

राजन् ! उन सबको वहाँसे प्रस्थान करते देख कुरुकुल-पितामह भीष्म लज्जित होकर अपने आवासस्थानको चले गये ॥ १३ ॥

गते भीष्मे महाराज धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः।
पुनरागम्य तं देशममन्त्रयत मन्त्रिभिः ॥ १४ ॥

महाराज ! भीष्मके चले जानेपर राजा दुर्योधन फिर उसी स्थानपर लौट आया और अपने मन्त्रियोंके साथ गुप्त मन्त्रणा करने लगा—॥ १४ ॥

किमस्माकं भवेच्छ्रेयः किं कार्यमवशिष्यते।
कथं च सुकृतं तत् स्यान्मन्त्रयामोऽद्य यद्धितम् ॥ १५ ॥

'मित्रो ! क्या करनेसे हमलोगोंकी भलाई होगी ? हमारे लिये कौन-सा कार्य शेष रह गया है ? कैसे करनेसे हमारा कार्य शुभ परिणामजनक होगा ? क्या करनेमें हमारा हित है ? आज इसी विषयपर हमलोगोंको विचार करना है' ॥ १५ ॥

कर्ण उवाच

दुर्योधन निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव।
भीष्मोऽस्मान् निन्दति सदा पाण्डवांश्च प्रशंसति॥१६॥

कर्ण बोला—कुरुकुलरत्न दुर्योधन ! मैं तुमसे जो कुछ कह रहा हूँ, उसपर ध्यान दो। भीष्म सदा हमारी निन्दा और पाण्डवोंकी प्रशंसा करते रहते हैं ॥ १६ ॥

त्वद् द्वेषाच्च महाबाहो ममापि द्वेष्टुमर्हति।
विगर्हते च मां नित्यं त्वत्समीपे नरेश्वर ॥ १७ ॥

महाबाहो ! वे तुम्हारे प्रति द्वेष होनेसे मुझसे भी द्वेष रखते हैं। नरेश्वर ! तुम्हारे सामने वे सदा मेरी निन्दा ही किया करते हैं ॥ १७ ॥

सोऽहं भीष्मवचस्तद् वै न मृष्यामीह भारत।
त्वत्समक्षं यदुक्तं च भीष्मेणामित्रकर्षण ॥१८॥
पाण्डवानां यशो राजंस्तव निन्दां च भारत।
अनुजानीहि मां राजन् सभृत्यबलवाहनम् ॥ १९ ॥

भारत ! तुम्हारे सामने भीष्मने जो कुछ कहा है, उसे मैं सहन नहीं कर सकता। शत्रुदमन ! भरतकुलनन्दन ! उन्होंने जो पाण्डवोंका यश गाया और तुम्हारी निन्दा की है, यह मेरे लिये असह्य है। अतः तुम मुझे सेवक, सेना तथा सवारियोंके साथ दिग्विजय करनेकी आज्ञा दो ॥ १८-१९ ॥

जेष्यामि पृथिवीं राजन् सशैलवनकाननाम्।
जिता च पाण्डवैर्भूमिश्चतुर्भिर्बलशालिभिः ॥ २० ॥
तामहं ते विजेष्यामि एक एव न संशयः।
सम्पश्यतु सुदुर्बुद्धिर्भीष्मः कुरुकुलाधमः ॥ २१ ॥

राजन् ! मैं पर्वत, वन और काननोंसहित सारी पृथ्वीको जीत लूँगा। जिस भूमिपर चार बलशाली पाण्डवोंने मिलकर विजय पायी है, उसे मैं तुम्हारे लिये अकेला ही जीत लूँगा, इसमें संशय नहीं है। खोटी बुद्धिवाला कुरुकुलाधम भीष्म मेरे इस पराक्रमको अपनी आँखों देखे ॥ २०-२१ ॥

अनिन्द्यं निन्दते यो हि अप्रशंस्यं प्रशंसति।
स पश्यतु बलं मेऽद्य आत्मानं तु विगर्हतु ॥ २२ ॥

जो अनिन्दनीयकी निन्दा और अप्रशंसनीयकी प्रशंसा करता है, वह भीष्म आज मेरा बल देख ले और अपने आपको धिक्कारे ॥ २२ ॥

अनुजानीहि मां राजन् ध्रुवो हि विजयस्तव।
प्रतिजानामि ते सत्यं राजन्नायुधमालभे ॥ २३ ॥

राजन् ! मुझे आज्ञा दो। तुम्हारी विजय निश्चित है। यह मैं तुमसे प्रतिज्ञापूर्वक सत्य कहता हूँ और शस्त्र छूकर शपथ करता हूँ ॥ २३ ॥

तच्छ्रुत्वा तु वचो राजन् कर्णस्य भरतर्षभ।
प्रीत्या परमया युक्तः कर्णमाह नराधिपः ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ राजन् ! कर्णकी यह बात सुनकर राजा दुर्योधनने बड़ी प्रसन्नताके साथ उससे कहा—॥ २४ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे त्वं महाबलः।
हितेषु वर्तसे नित्यं सफलं जन्म चाद्य मे ॥ २५ ॥

'वीर ! मैं धन्य हूँ, तुम्हारे अनुग्रहका पात्र हूँ; क्योंकि तुम-जैसे महाबली सुहृद् सदा मेरे हितसाधनमें लगे रहते हैं। आज मेरा जन्म सफल हो गया ॥ २५ ॥

यदा च मन्यसे वीर सर्वशत्रुनिबर्हणम्।
तदा निर्गच्छ भद्रं ते ह्यनुशाधि च मामिति ॥ २६ ॥

'वीरवर ! जब तुम्हें विश्वास है कि तुम्हारे द्वारा सब शत्रुओंका संहार हो सकता है, तब तुम दिग्विजयके लिये यात्रा करो। तुम्हारा कल्याण हो। मुझे आवश्यक व्यवस्थाके लिये आज्ञा दो ॥ २६ ॥

एवमुक्तस्तदा कर्णो धार्तराष्ट्रेण धीमता।
सर्वमाज्ञापयामास प्रायात्रिकमरिंदम ॥ २७ ॥

जनमेजय ! बुद्धिमान् दुर्योधनके ऐसा कहनेपर कर्णने यात्रासम्बन्धी सारी आवश्यक तैयारीके लिये आज्ञा दे दी ॥२७॥

प्रययौ च महेष्वासो नक्षत्रे शुभदैवते।
शुभे तिथौ मुहूर्ते च पूज्यमानो द्विजातिभिः॥ २८॥
मङ्गलैश्च शुभैः स्नातो वाग्भिश्चापि प्रपूजितः।
नादयन् रथघोषेण त्रैलोक्यं सचराचरम्॥ २९॥

तदनन्तर महान् धनुर्धर कर्णने माङ्गलिक शुभ पदार्थोंसे जलके द्वारा स्नान करके द्विजातियोंकी आशीर्वादमय वाणीसे सम्मानित एवं प्रशंसित हो शुभ नक्षत्र, शुभ तिथि और शुभ मुहूर्तमें यात्रा की। उस समय वह अपने रथकी घर्घराहटसे चराचर भूतोंसहित समस्त त्रिलोकीको प्रतिध्वनित कर रहा था॥ २८-२९॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदिग्विजये त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २५३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्णदिग्विजयविषयक दो सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५३॥

चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्णके द्वारा सारी पृथ्वीपर दिग्विजय और हस्तिनापुरमें उसका सत्कार

वैशम्पायन उवाच

ततः कर्णो महेष्वासो बलेन महता वृतः।
द्रुपदस्य पुरं रम्यं रुरोध भरतर्षभ॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय! तदनन्तर महाधनुर्धर कर्णने अपनी विशाल सेनाके साथ जाकर राजा द्रुपदके रमणीय नगरको चारों ओरसे घेर लिया॥ १॥

युद्धेन महता चैनं चक्रे वीरं वशानुगम्।
सुवर्णं रजतं चापि रत्नानि विविधानि च॥ २॥
करं च दापयामास द्रुपदं नृपसत्तम।
तं विनिर्जित्य राजेन्द्र राजानस्तस्य येऽनुगाः॥ ३॥
तान् सर्वान् वशगांश्चक्रे करं चैनानदापयत्।

फिर महान् युद्ध करके उसने वीर द्रुपदको अपने वशमें कर लिया और उन्हें सोना, चाँदी, भाँति-भाँतिके रत्न एवं कर देनेके लिये विवश किया। नृपश्रेष्ठ महाराज जनमेजय! इस प्रकार द्रुपदको जीतकर कर्णने उनके अनुयायी नरेशों-को भी अपने अधीन कर लिया और उन सबसे भी कर वसूल किया॥ २-३½॥

अथोत्तरां दिशं गत्वा वशे चक्रे नराधिपान्॥ ४॥
भगदत्तं च निर्जित्य राधेयो गिरिमारुहत्।
हिमवन्तं महाशैलं युध्यमानश्च शत्रुभिः॥ ५॥
प्रययौ च दिशः सर्वान् नृपतीन् वशमानयत्।
स हैमवतिकाञ्जित्वा करं सर्वानदापयत्॥ ६॥

तत्पश्चात् उसने उत्तर दिशामें जाकर वहाँके राजाओंको अपने वशमें कर लिया। भगदत्तको जीतकर राधानन्दन कर्ण शत्रुओंसे युद्ध करता हुआ महान् पर्वत हिमालयपर आरूढ़ हुआ। वहाँसे सब दिशाओंमें जाकर उसने समस्त राजाओंको अपने अधीन किया और हिमालयप्रदेशके समस्त भूपालोंको जीतकर उनसे कर लिया॥ ४-६॥

नेपालविषये ये च राजानस्तानवाजयत्।
अवतीर्य ततः शैलात् पूर्वां दिशमभिद्रुतः॥ ७॥

तदनन्तर नेपालदेशमें जो राजा थे, उनपर भी विजय प्राप्त की, फिर हिमालय पर्वतसे उतरकर उसने पूर्व दिशाकी ओर धावा किया॥ ७॥

अङ्गान् वङ्गान् कलिंगांश्च शुण्डिकान् मिथिलानथ।
मागधान् कर्कखण्डांश्च निवेश्य विषयेऽऽत्मनः॥ ८॥
आवशीरांश्च योध्यांश्च अहिक्षत्रं च निर्जयत्।
पूर्वां दिशं विनिर्जित्य वत्सभूमिं तथागमत्॥ ९॥

अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, शुण्डिक, मिथिला, मगध और कर्कखण्ड—इन सब देशोंको अपने राज्यमें मिलाकर कर्णने आवशीर, योध्य और अहिक्षत्र देशको भी जीत लिया। इस प्रकार पूर्व दिशापर विजय प्राप्त करके उसने वत्सभूमि-में पदार्पण किया॥ ८-९॥

वत्सभूमिं विनिर्जित्य केवलां मृत्तिकावतीम्।
मोहनं पत्तनं चैव त्रिपुरीं कोसलां तथा॥ १०॥
एतान् सर्वान् विनिर्जित्य करमादाय सर्वशः।

वत्सभूमिको जीतकर कर्णने केवला, मृत्तिकावती, मोहन, पत्तन, त्रिपुरी तथा कोसला-इन सब देशोंको अपने अधिकारमें किया और सबसे कर लेकर (दक्षिण दिशाकी ओर) प्रस्थान किया॥ १०½॥

दक्षिणां दिशमास्थाय कर्णो जित्वा महारथान्॥ ११॥
रुक्मिणं दाक्षिणात्येषु योधयामास सूतजः।
स युद्धं तुमुलं कृत्वा रुक्मी प्रोवाच सूतजम्॥ १२॥

दक्षिण दिशामें पहुँचकर कर्णने बड़े-बड़े महारथियोंको जीता। दाक्षिणात्योंमें रुक्मीके साथ कर्णने युद्ध किया। रुक्मीने पहले तो बड़ा भयंकर युद्ध किया, फिर उसने सूतपुत्र कर्णसे कहा॥

प्रीतोऽस्मि तव राजेन्द्र विक्रमेण बलेन च।
न ते विघ्नं करिष्यामि प्रतिज्ञां समपालयम्॥ १३॥

'राजेन्द्र! मैं तुम्हारे बल और पराक्रमसे बहुत प्रसन्न हूँ। अतः तुम्हारे कार्यमें विघ्न नहीं डालूँगा। थोड़ी देर युद्ध करके मैंने केवल क्षत्रियधर्मका पालन किया है॥ १३॥

प्रीत्या चाहं प्रयच्छामि हिरण्यं यावदिच्छसि ।
समेत्य रुक्मिणा कर्णः पाण्ड्यं शैलं च सोऽगमत् ॥ १४ ॥

'तुम जितना सोना ले जाना चाहो, उतना मैं प्रसन्नतापूर्वक दे रहा हूँ ।' इस प्रकार रुक्मीसे मिलकर कर्णने पाण्ड्यदेश तथा श्रीशैलकी ओर प्रस्थान किया ॥ १४ ॥

स केरलं रणे चैव नीलं चापि महीपतिम् ।
वेणुदारिसुतं चैव ये चान्ये नृपसत्तमाः ॥ १५ ॥
दक्षिणस्यां दिशि नृपान् करान् सर्वानदापयत् ।

उसने रणभूमिमें केरल नरेश, राजा नील तथा वेणुदारिपुत्रको हराया और दक्षिण दिशामें अन्य जितने प्रमुख भूपाल थे, उन सबको जीतकर उनसे कर वसूल किया ॥ १५½ ॥

शैशुपालिं ततो गत्वा विजिग्ये सूतनन्दनः ॥ १६ ॥
पार्श्वस्थांश्चापि नृपतीन् वशे चक्रे महाबलः ।

इसके बाद सूतपुत्र महाबली कर्णने चेदिदेशमें जाकर शिशुपालके पुत्रको हराया और उसके पार्श्ववर्ती नरेशोंको भी अपने अधीन कर लिया ॥ १६½ ॥

आवन्त्यांश्च वशे कृत्वा साम्ना च भरतर्षभ ।
वृष्णिभिः सह संगम्य पश्चिमामपि निर्जयत् ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर उसने सामनीतिके द्वारा अवन्तीदेशके राजाओंको वशमें करके वृष्णिवंशी यादवोंसे हिल-मिलकर पश्चिम दिशापर भी विजय प्राप्त की ॥ १७ ॥

वारुणीं दिशमागम्य यवनान् बर्बरांस्तथा ।
नृपान् पश्चिमभूमिस्थान् दापयामास वै करान् ॥ १८ ॥

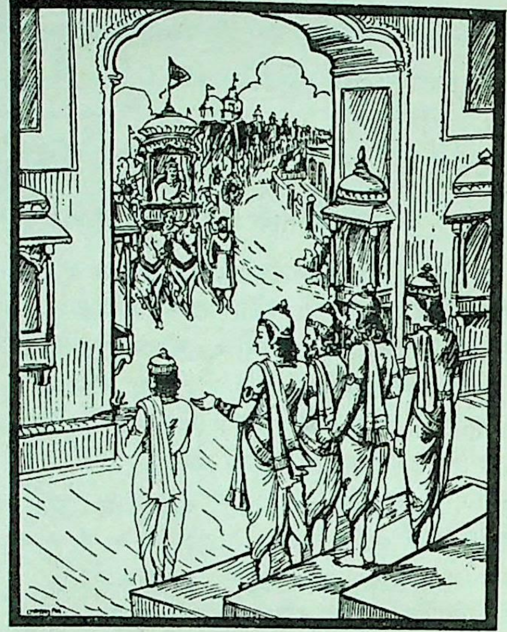
इसके बाद पश्चिम दिशामें जाकर यवन तथा बर्बर राजाओंको, जो पश्चिम देशके ही निवासी थे, पराजित करके उनसे कर लिया ॥ १८ ॥

विजित्य पृथिवीं सर्वां स पूर्वापरदक्षिणाम् ।
सम्लेच्छाटविकान् वीरः सपर्वतनिवासिनः ॥ १९ ॥
भद्रान् रोहितकांश्चैव आग्नेयान् मालवानपि ।
गणान् सर्वान् विनिर्जित्य नीतिकृत् प्रहसन्निव ॥ २० ॥
शशकान् यवनांश्चैव विजिग्ये सूतनन्दनः ।

इस प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सब दिशाओंकी समूची पृथ्वीको जीतकर म्लेच्छ, वनवासी, पर्वतीय, भद्र, रोहितक, आग्नेय तथा मालव आदि समस्त गणराज्योंको परास्त किया । इसके बाद नीतिके अनुसार काम करनेवाले सूतनन्दन कर्णने हँसते-हँसते शशक और यवन राजाओंको भी जीत लिया ॥ १९-२०½ ॥

नग्नजित्प्रमुखांश्चैव गणाञ्जित्वा महारथान् ॥ २१ ॥
एवं स पृथिवीं सर्वां वशे कृत्वा महायशाः ।
विजित्य पुरुषव्याघ्रो नागसाह्वयमागमत् ॥ २२ ॥

इस प्रकार पुरुषसिंह महारथी कर्ण नग्नजित् आदि महारथी नरेशसमुदायोंको जीतकर सारी पृथ्वीको पराजित करके अपने वशमें कर लेनेके पश्चात् हस्तिनापुरको लौट आया ॥ २१-२२ ॥



तमागतं महेष्वासं धार्तराष्ट्रो जनाधिपः ।
प्रत्युद्गम्य महाराज सभ्रातृपितृबान्धवः ॥ २३ ॥
अर्चयामास विधिना कर्णमाहवशोभिनम् ।
आश्रावयच्च तत् कर्म प्रीयमाणो जनेश्वरः ॥ २४ ॥

महाराज ! रणमें शोभा पानेवाले महाधनुर्धर कर्णको आया हुआ जान भाई, पिता तथा बन्धु-बान्धवोंसहित राजा दुर्योधनने उसकी अगवानी की और विधिपूर्वक उसका स्वागत-सत्कार किया । तत्पश्चात् दुर्योधनने अत्यन्त प्रसन्न होकर कर्णके दिग्विजयकी सब ओर घोषणा करा दी ।२३-२४।

यन्न भीष्मान्न च द्रोणान्न कृपान्न च बाह्लिकात् ।
प्राप्तवानस्मि भद्रं ते त्वत्तः प्राप्तं मया हि तत् ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् उसने कर्णसे कहा—'वीरवर ! तुम्हारा कल्याण हो । मुझे भीष्मजीसे, आचार्य द्रोणसे, कृपाचार्यसे तथा बाह्लिकसे भी जो वस्तु नहीं मिली थी, वह तुमसे प्राप्त हो गयी ॥ २५ ॥

बहुना च किमुक्तेन शृणु कर्ण वचो मम ।
सनाथोऽस्मि महाबाहो त्वया नाथेन सत्तम ॥ २६ ॥

'महाबाहु कर्ण ! अधिक कहनेसे क्या लाभ ? तुम मेरी बात सुनो । सत्पुरुषरत्न ! तुम्हें अपना नाथ (सहायक) पाकर ही मैं सनाथ हूँ ॥ २६ ॥

न हि ते पाण्डवाः सर्वे कलामर्हन्ति षोडशीम्।
अन्ये वा पुरुषव्याघ्र राजानोऽभ्युदितोदिताः ॥ २७ ॥

'पुरुषसिंह! वे समस्त पाण्डव अथवा अन्य श्रेष्ठतम नरेश तुम्हारी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते ॥ २७ ॥

स भवान् धृतराष्ट्रं तं गान्धारीं च यशस्विनीम्।
पश्य कर्ण महेष्वास अदितिं वज्रभृद् यथा ॥ २८ ॥

'महाधनुर्धर कर्ण! अब तुम मेरे पूज्य पिता धृतराष्ट्र तथा यशस्विनी माता गान्धारीका उसी प्रकार दर्शन करो, जैसे वज्रधारी इन्द्र माता अदितिका दर्शन करते हैं' ॥२८॥

ततो हलहलाशब्दः प्रादुरासीद् विशाम्पते।
हाहाकाराश्च बहवो नगरे नागसाह्वये ॥ २९ ॥

जनमेजय! तदनन्तर हस्तिनापुर नगरमें सब ओर बड़ा भारी कोलाहल मच गया। अनेक प्रकारके हाहाकार सुनायी देने लगे ॥ २९ ॥

केचिदेनं प्रशंसन्ति निन्दन्ति स्म तथापरे।
तूष्णीमासंस्तथा चान्ये नृपास्तत्र जनाधिप ॥ ३० ॥

राजन्! कोई तो कर्णकी प्रशंसा करते थे और दूसरे उसकी निन्दा करते थे। अन्य कितने ही राजा निन्दा और प्रशंसा कुछ भी न करके मौन थे ॥ ३० ॥

एवं विजित्य राजेन्द्र कर्णः शस्त्रभृतां वरः।
सपर्वतवनाकाशां ससमुद्रां सनिष्कुटाम् ॥ ३१ ॥

देशैरुच्चावचैः पूर्णां पत्तनैर्नगरैरपि।
द्वीपैश्चानूपसम्पूर्णैः पृथिवीं पृथिवीपते ॥ ३२ ॥

कालेन नातिदीर्घेण वशे कृत्वा तु पार्थिवान्।
अक्षयं धनमादाय सूतजो नृपमभ्ययात् ॥ ३३ ॥

महाराज! इस प्रकार शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ सूतपुत्र कर्णने पर्वत, वन, खुले स्थान, समुद्र, उद्यान, ऊँचे-नीचे देश, पुर और नगर, द्वीप और जलयुक्त प्रदेशोंसे युक्त सारी पृथ्वीको जीतकर थोड़े ही समयमें समस्त राजाओंको वशमें कर लिया और उनसे अटूट धनराशि लेकर वह राजा धृतराष्ट्रके समीप आया॥

प्रविश्य च गृहं राजन्नभ्यन्तरमरिंदम।
गान्धारीसहितं वीरो धृतराष्ट्रं ददर्श सः ॥ ३४ ॥

पुत्रवच्च नरव्याघ्र पादौ जग्राह धर्मवित्।
धृतराष्ट्रेण चाश्लिष्य प्रेम्णा चापि विसर्जितः ॥ ३५ ॥

शत्रुसूदन जनमेजय! धर्मज्ञ वीर कर्णने अन्तःपुरमें प्रवेश करके गान्धारीसहित धृतराष्ट्रका दर्शन किया और पुत्रकी भाँति उसने उनके दोनों चरण पकड़ लिये। धृतराष्ट्रने भी उसे प्रेमपूर्वक हृदयसे लगाकर विदा किया ॥ ३४—३५ ॥

तदा प्रभृति राजा च शकुनिश्चापि सौबलः।
जानते निर्जितान् पार्थान् कर्णेन युधि भारत ॥ ३६ ॥

भारत! तबसे राजा दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि युद्धमें कर्णद्वारा पाण्डवोंको पराजित हुआ ही समझने लगे॥३६॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदिग्विजये चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्णदिग्विजयसम्बन्धी दो सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२५४॥

पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्ण और पुरोहितकी सलाहसे दुर्योधनकी वैष्णवयज्ञके लिये तैयारी

वैशम्पायन उवाच

जित्वा तु पृथिवीं राजन् सूतपुत्रो जनाधिप।
अब्रवीत् परवीरघ्नो दुर्योधनमिदं वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सूतपुत्र कर्णने सारी पृथ्वीको जीतकर दुर्योधनसे इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

कर्ण उवाच

दुर्योधन निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव।
श्रुत्वा वाचं तथा सर्वं कर्तुमर्हस्यरिंदम ॥ २ ॥

कर्ण बोला—कुरुनन्दन दुर्योधन! मैं जो कहता हूँ, उसे सुनो। शत्रुदमन! मेरी बात सुनकर उसके अनुसार सब कुछ करो ॥ २ ॥

तवाद्य पृथिवी वीर निःसपत्ना नृपोत्तम।
तां पालय यथा शक्रो हतशत्रुर्महामनाः ॥ ३ ॥

वीर! नृपश्रेष्ठ! आज सारी पृथ्वी तुम्हारे लिये निष्कण्टक हो गयी है। जैसे महामना इन्द्र अपने शत्रुओंका संहार करके त्रिलोकीका पालन करते हैं, उसी प्रकार तुम भी इस पृथ्वीका पालन करो ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन कर्णं राजाब्रवीत् पुनः।
न किंचिद् दुर्लभं तस्य यस्य त्वं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥

सहायश्चानुरक्तश्च मदर्थं च समुद्यतः।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित् तं वै शृणु यथातथम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने ... पुरुषश्रेष्ठ!

जिसके सहायक तुम हो एवं जिसपर तुम्हारा अनुराग है, उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। तुम सदा मेरे हितके लिये उद्यत रहते हो। मेरा एक मनोरथ है, जिसे यथार्थरूपसे बतलाता हूँ, सुनो ॥ ४-५ ॥

राजसूयं पाण्डवस्य दृष्ट्वा क्रतुवरं महत्।
मम स्पृहा समुत्पन्ना तां सम्पादय सूतज ॥ ६ ॥

सूतनन्दन! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके उस क्रतुश्रेष्ठ महान् राजसूय-यज्ञको देखकर मेरे मनमें भी उसे करनेकी इच्छा जाग उठी है। तुम इस इच्छाको पूर्ण करो' ॥ ६ ॥

एवमुक्तस्ततः कर्णो राजानमिदमब्रवीत्।
तवाद्य पृथिवीपाला वश्याः सर्वे नृपोत्तम ॥ ७ ॥
आहूयन्तां द्विजवराः सम्भाराश्च यथाविधि।
सम्भ्रियन्तां कुरुश्रेष्ठ यज्ञोपकरणानि च ॥ ८ ॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर कर्णने उससे यह कहा— 'नृपश्रेष्ठ! इस समय भूपाल तुम्हारे वशमें हैं। कुरुकुलश्रेष्ठ! उत्तम ब्राह्मणोंको बुलाओ और विधिपूर्वक यज्ञकी सामग्रियों तथा उपकरणोंको जुटाओ ॥ ७-८ ॥

ऋत्विजश्च समाहूता यथोक्ता वेदपारगाः।
क्रियां कुर्वन्तु ते राजन् यथाशास्त्रमरिंदम ॥ ९ ॥

'शत्रुदमन नरेश! तुम्हारे द्वारा आमन्त्रित शास्त्रोक्त योग्यतासे सम्पन्न वेदज्ञ ऋत्विक् विधिके अनुसार सब कार्य करें ॥ ९ ॥

बह्वन्नपानसंयुक्तः सुसमृद्धगुणान्वितः।
प्रवर्ततां महायज्ञस्तवापि भरतर्षभ ॥ १० ॥

'भरतश्रेष्ठ! तुम्हारा महायज्ञ भी प्रचुर अन्नपानकी सामग्रीसे युक्त और अत्यन्त समृद्धिशाली गुणोंसे सम्पन्न हो' ॥

एवमुक्तस्तु कर्णेन धार्तराष्ट्रो विशाम्पते।
पुरोहितं समानाय्य वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं समाप्तवरदक्षिणम्।
आहर त्वं मम कृते यथान्यायं यथाक्रमम् ॥ १२ ॥

राजन्! कर्णके इस प्रकार अनुमोदन करनेपर दुर्योधनने अपने पुरोहितको बुलाकर यह बात कही—'ब्रह्मन्! आप मेरे लिये उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका यथोचित रीतिसे विधिपूर्वक अनुष्ठान करवाइये' ॥ ११-१२ ॥

स एवमुक्तो नृपतिमुवाच द्विजसत्तमः।
(ब्राह्मणैः सहितो राजन् ये तत्रासन् समागताः)
न स शक्यः क्रतुश्रेष्ठो जीवमाने युधिष्ठिरे ॥ १३ ॥
आहर्तुं कौरवश्रेष्ठ कुले तव नृपोत्तम।
दीर्घायुर्जीवति च ते धृतराष्ट्रः पिता नृप ॥ १४ ॥
अतश्चापि विरुद्धस्ते क्रतुरेष नृपोत्तम।

नरेश्वर! राजाके इस प्रकार आदेश देनेपर विप्रवर पुरोहितने वहाँ आये हुए अन्य ब्राह्मणोंके साथ इस प्रकार उत्तर दिया।—

'कौरवश्रेष्ठ! नृपशिरोमणे! राजा युधिष्ठिरके जीते आपके कुलमें इस उत्तम क्रतु राजसूयका अनुष्ठान नहीं किया जा सकता। महाराज! अभी आपके दीर्घायु पिता धृतराष्ट्र भी जीवित हैं, इसलिये भी यह यज्ञ आपके लिये अनुकूल नहीं पड़ता ॥ १३-१४½ ॥

अस्ति त्वन्यन्महत् सत्रं राजसूयसमं प्रभो ॥ १५ ॥

प्रभो! एक दूसरा महान् यज्ञ है, जो राजसूयकी समानता रखता है ॥ १५ ॥

तेन त्वं यज राजेन्द्र शृणु चेदं वचो मम।
य इमे पृथिवीपालाः करदास्तव पार्थिव ॥ १६ ॥
ते करान् सम्प्रयच्छन्तु सुवर्णं च कृताकृतम्।
तेन ते क्रियतामद्य लाङ्गलं नृपसत्तम ॥ १७ ॥

'राजेन्द्र! आप उसीके द्वारा भगवान्का यजन कीजिये और इसके सम्बन्धमें मेरी यह बात सुनिये। पृथ्वीनाथ! ये जो सब भूपाल आपको कर देते हैं, इन्हें आज्ञा दीजिये—ये लोग आपको सुवर्णके बने हुए आभूषण तथा सुवर्ण 'कर'के रूपमें अर्पण करें। नृपश्रेष्ठ! उसी सुवर्णसे आप एक हल तैयार करवाइये ॥ १६-१७ ॥

यज्ञवाटस्य ते भूमिः कृष्यतां तेन भारत।
तत्र यज्ञो नृपश्रेष्ठ प्रभूतान्नः सुसंस्कृतः ॥ १८ ॥
प्रवर्ततां यथान्यायं सर्वतो ह्यनिवारितः।

'भारत! उसी हलसे आपके यज्ञमण्डपकी भूमि जोती जाय। नृपश्रेष्ठ! उस जोती हुई भूमिमें ही उत्तम संस्कारसे सम्पन्न, प्रचुर अन्नपानसे युक्त और सबके लिये खुला हुआ यज्ञ यथोचित रूपसे प्रारम्भ किया जाय ॥ १८½ ॥

एष ते वैष्णवो नाम यज्ञः सत्पुरुषोचितः ॥ १९ ॥
एतेन नेष्टवान् कश्चिदृते विष्णुं पुरातनम्।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं स्पर्धत्येष महाक्रतुः ॥ २० ॥

'यह मैंने आपको वैष्णव नामक यज्ञ बताया है जिसका अनुष्ठान सत्पुरुषोंके लिये सर्वथा उचित है। पुरातन पुरुष भगवान् विष्णुके सिवा और किसीने अबतक इस यज्ञका अनुष्ठान नहीं किया है। यह महायज्ञ क्रतुश्रेष्ठ राजसूयसे टक्कर लेनेवाला है ॥ १९-२० ॥

अस्माकं रोचते चैव श्रेयश्च तव भारत।
निर्विघ्नश्च भवत्येष सफला स्यात् स्पृहा तव ॥ २१ ॥

'भारत! हमलोगोंको तो यही यज्ञ पसंद है और यही आपके लिये कल्याणकारी होगा। यह यज्ञ बिना किसी विघ्नबाधाके सम्पन्न हो जाता है; अतः तुम्हारी यह यज्ञविषयक अभिलाषा भी इसीसे सफल होगी ॥ २१ ॥

(तस्मादेष महाबाहो तव यज्ञः प्रवर्तताम्।)
एवमुक्तस्तु तैर्विप्रैर्धार्तराष्ट्रो महीपतिः।
कर्णं च सौबलं चैव भ्रातृंश्चैवेदमब्रवीत् ॥ २२ ॥

'इसलिये महाबाहो ! तुम्हारा यह यज्ञ आरम्भ होना चाहिये ।' उन ब्राह्मणोंके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने कर्ण, शकुनि तथा अपने भाइयोंसे इस प्रकार कहा—॥ २२ ॥

रोचते मे वचः कृत्स्नं ब्राह्मणानां न संशयः ।
रोचते यदि युष्माकं तस्मात् प्रब्रूत मा चिरम् ॥ २३ ॥

'बन्धुओ ! मुझे तो इन ब्राह्मणोंकी सारी बातें रुचिकर जान पड़ती हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है । यदि तुमलोगोंको भी यह बात अच्छी लगे, तो शीघ्र अपनी सम्मति प्रकट करो' ॥ २३ ॥

एवमुक्तास्तु ते सर्वे तथेत्यूचुर्नराधिपम् ।
संदिदेश ततो राजा व्यापारस्थान् यथाक्रमम् ॥ २४ ॥
हलस्य करणे चापि व्यादिष्टाः सर्वशिल्पिनः ।
यथोक्तं च नृपश्रेष्ठ कृतं सर्वं यथाक्रमम् ॥ २५ ॥

यह सुनकर उन सबने राजासे 'तथास्तु' कहकर उसकी हाँमें हाँ मिला दी । तदनन्तर राजा दुर्योधनने काममें लगे हुए सब शिल्पियोंको क्रमशः हल बनानेकी आज्ञा दी । नृपश्रेष्ठ ! राजाकी आज्ञा पाकर सब शिल्पियोंने तदनुसार सारा कार्य क्रमशः सम्पन्न किया ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनयज्ञसमारम्भे पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनयज्ञसमारम्भविषयक दो सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके यज्ञका आरम्भ एवं समाप्ति

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु शिल्पिनः सर्वे अमात्यप्रवराश्च ये ।
विदुरश्च महाप्राज्ञो धार्तराष्ट्रे न्यवेदयन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर समस्त शिल्पियों, श्रेष्ठ मन्त्रियों तथा परम बुद्धिमान् विदुरजीने दुर्योधनको सूचना दी—॥ १ ॥

सज्जं क्रतुवरं राजन् प्राप्तकालं च भारत ।
सौवर्णं च कृतं सर्वं लाङ्गलं च महाधनम् ॥ २ ॥

'भारत ! क्रतुश्रेष्ठ वैष्णवयज्ञकी सारी सामग्री जुट गयी है । यज्ञका नियत समय भी आ पहुँचा है और सोनेका बहुमूल्य हल भी पूर्णरूपसे बन गया है' ॥ २ ॥

एतच्छ्रुत्वा नृपश्रेष्ठो धार्तराष्ट्रो विशाम्पते ।
आज्ञापयामास नृपः क्रतुराजप्रवर्तनम् ॥ ३ ॥

राजन् ! यह सुनकर नृपश्रेष्ठ दुर्योधनने उस क्रतुराजको प्रारम्भ करनेकी आज्ञा दी ॥ ३ ॥

ततः प्रववृते यज्ञः प्रभूतान्नः सुसंस्कृतः ।
दीक्षितश्चापि गान्धारिर्यथाशास्त्रं यथाक्रमम् ॥ ४ ॥

फिर तो उत्तम संस्कारसे युक्त और प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न वह वैष्णवयज्ञ आरम्भ हुआ । गान्धारीनन्दन दुर्योधनने शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार विधिपूर्वक उस यज्ञकी दीक्षा ली ॥

प्रहृष्टो धृतराष्ट्रश्च विदुरश्च महायशाः ।
भीष्मो द्रोणः कृपः कर्णो गान्धारी च यशस्विनी ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र, महायशस्वी विदुर, भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण तथा यशस्विनी गान्धारीको इस यज्ञसे बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ५ ॥

निमन्त्रणार्थं दूतांश्च प्रेषयामास शीघ्रगान् ।
पार्थिवानां च राजेन्द्र ब्राह्मणानां तथैव च ॥ ६ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर समस्त भूपालों तथा ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करनेके लिये बहुत-से शीघ्रगामी दूत भेजे ॥ ६ ॥

ते प्रयाता यथोद्दिष्टा दूतास्त्वरितवाहनाः ।
तत्र कंचित् प्रयातं तु दूतं दुःशासनोऽब्रवीत् ॥ ७ ॥

दूतगण तेज चलनेवाले वाहनोंपर सवार हो जिन्हें जैसी आज्ञा मिली थी, उसके अनुसार कर्तव्यपालनके लिये प्रस्थित हुए । उन्हींमेंसे एक जाते हुए दूतसे दुःशासनने कहा—॥ ७ ॥

गच्छ द्वैतवनं शीघ्रं पाण्डवान् पापपूरुषान् ।
निमन्त्रय यथान्यायं विप्रांस्तस्मिन् वने तदा ॥ ८ ॥

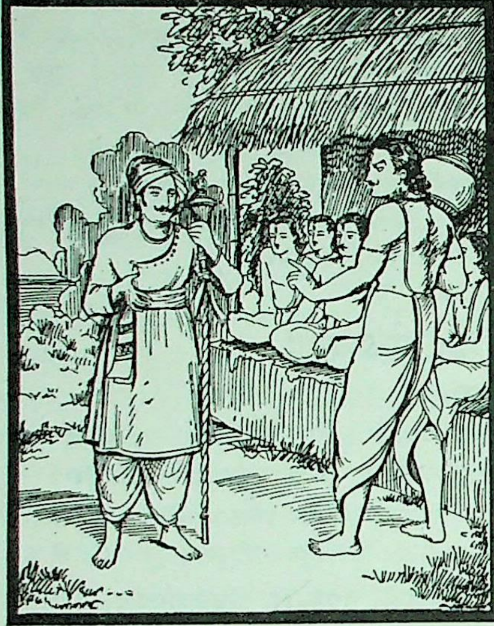
'तुम शीघ्रतापूर्वक द्वैतवनमें जाओ और पापात्मा पाण्डवों तथा उस वनमें रहनेवाले ब्राह्मणोंको यथोचित रीतिसे निमन्त्रण दे आओ' ॥ ८ ॥

स गत्वा पाण्डवान् सर्वानुवाचाभिप्रणम्य च ।
दुर्योधनो महाराज यजते नृपसत्तमः ॥ ९ ॥
स्ववीर्यार्जितमर्थौघमवाप्य कुरुसत्तमः ।
तत्र गच्छन्ति राजानो ब्राह्मणाश्च ततस्ततः ॥ १० ॥

उस दूतने समस्त पाण्डवोंके पास जाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'महाराज ! कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष नृपतिशिरोमणि दुर्योधन अपने पराक्रमसे अतुल धनराशि प्राप्तकर एक यज्ञ कर रहे हैं । उसमें (विभिन्न स्थानोंसे) बहुत-से राजा और ब्राह्मण पधार रहे हैं ॥ ९-१० ॥

अहं तु प्रेषितो राजन् कौरवेण महात्मना ।
आमन्त्रयति वो राजा धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः ॥ ११ ॥
मनोऽभिलषितं राज्ञस्तं क्रतुं द्रष्टुमर्हथ ।

'राजन्! महामना दुःशासनने मुझे आपके पास भेजा है। जननायक महाराज दुर्योधन आपलोगोंको उस यज्ञमें बुला रहे हैं। आपलोग चलकर राजाके मनोवाञ्छित उस यज्ञका दर्शन कीजिये' ॥ ११½ ॥



ततो युधिष्ठिरो राजा तच्छ्रुत्वा दूतभाषितम् ॥ १२ ॥
अब्रवीन्नृपशार्दूलो दिष्ट्या राजा सुयोधनः।
यजते क्रतुमुख्येन पूर्वेषां कीर्तिवर्धनः ॥ १३ ॥

दूतका यह कथन सुनकर राजाओंमें सिंहके समान महाराज युधिष्ठिरने इस प्रकार उत्तर दिया—'सौभाग्यकी बात है कि पूर्वजोंकी कीर्ति बढ़ानेवाले राजा दुर्योधन श्रेष्ठ यज्ञके द्वारा भगवान्‌का यजन कर रहे हैं ॥ १२-१३ ॥

वयमप्युपयास्यामो न त्विदानीं कथंचन।
समयः परिपाल्यो नो यावद् वर्षं त्रयोदशम् ॥ १४ ॥

'हम भी उस यज्ञमें चलते; परंतु इस समय यह किसी तरह सम्भव नहीं है। हमें तेरह वर्षतक वनमें रहनेकी अपनी प्रतिज्ञाका पालन करना है' ॥ १४ ॥

श्रुत्वैतद् धर्मराजस्य भीमो वचनमब्रवीत्।
तदा तु नृपतिर्गन्ता धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥
अस्त्रशस्त्रप्रदीप्तेऽग्नौ यदा तं पातयिष्यति।
वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं रणसत्रे नराधिपः ॥ १६ ॥
यदा क्रोधहविर्मोक्ता धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवः।
आगन्ताहं तदास्मीति वाच्यस्ते स सुयोधनः ॥ १७ ॥

धर्मराजकी यह बात सुनकर भीमसेनने दूतसे इस प्रकार कहा—'दूत ! तुम राजा दुर्योधनसे जाकर यह कह देना कि सम्राट् धर्मराज युधिष्ठिर तेरह वर्ष बीतनेके पश्चात् उस समय वहाँ पधारेंगे, जब कि रणयज्ञमें अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा प्रज्वलित की हुई रोषाग्निमें वे तुम्हारी आहुति देंगे। जब रोषकी आगमें जलते हुए धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर पाण्डव अपने क्रोधरूपी घीकी आहुति डालनेको उद्यत होंगे, उस समय मैं (भीमसेन) वहाँ पदार्पण करूँगा' ॥ १५–१७ ॥

शेषास्तु पाण्डवा राजन् नैवोचुः किंचिदप्रियम्।
दूतश्चापि यथावृत्तं धार्तराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥ १८ ॥

राजन्! शेष पाण्डवोंने कोई अप्रिय वचन नहीं कहा। दूतने भी लौटकर दुर्योधनसे सब समाचार ठीक-ठीक बता दिया ॥

अथाजग्मुर्नरश्रेष्ठा नानाजनपदेश्वराः।
ब्राह्मणाश्च महाभाग धार्तराष्ट्रपुरं प्रति ॥ १९ ॥

महाभाग ! तदनन्तर विभिन्न देशोंके अधिपति नरश्रेष्ठ भूपाल तथा ब्राह्मण दुर्योधनकी राजधानी हस्तिनापुरमें आये ॥१९॥

ते त्वर्चिता यथाशास्त्रं यथाविधि यथाक्रमम्।
मुदा परमया युक्ताः प्रीताश्चापि नरेश्वराः ॥ २० ॥

उन सबकी शास्त्रीय विधिसे यथोचित सेवा-पूजा की गयी। इससे वे नरेशगण अत्यन्त प्रसन्न हो मन-ही-मन आनन्दका अनुभव करने लगे ॥ २० ॥

धृतराष्ट्रोऽपि राजेन्द्र संवृतः सर्वकौरवैः।
हर्षेण महता युक्तो विदुरं प्रत्यभाषत ॥ २१ ॥

राजेन्द्र ! समस्त कौरवोंसे घिरे हुए धृतराष्ट्रको भी बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने विदुरसे कहा—॥ २१ ॥

यथा सुखी जनः सर्वः क्षत्तः स्यादन्नसंयुतः।
तुष्येत् तु यज्ञसदने तथा क्षिप्रं विधीयताम् ॥ २२ ॥

'भैया ! शीघ्र ऐसी व्यवस्था करो, जिससे इस यज्ञमण्डपमें पधारे हुए सभी लोग खानपानसे संतुष्ट एवं सुखी हों' ॥२२॥

विदुरस्तु तदाज्ञाय सर्ववर्णानरिंदम।
यथा प्रमाणतो विद्वान् पूजयामास धर्मवित् ॥ २३ ॥

शत्रुदमन जनमेजय ! धर्मज्ञ एवं विद्वान् विदुरजीने सब मनुष्योंकी ठीक-ठीक संख्याका ज्ञान करके उन सबका यथोचित स्वागत-सत्कार किया ॥ २३ ॥

भक्ष्यपेयान्नपानेन माल्यैश्चापि सुगन्धिभिः।
वासोभिर्विविधैश्चैव योजयामास हृष्टवत् ॥ २४ ॥

वे बड़े हर्षके साथ सभी अतिथियोंको उत्तम भक्ष्य, पेय अन्न-पान, सुगन्धित पुष्पहार तथा नाना प्रकारके वस्त्र देने लगे ॥ २४ ॥

कृत्वा ह्यावसथान् वीरो यथाशास्त्रं यथाक्रमम्।
[illegible] विविधं वसु ॥ २५ ॥

विसर्जयामास नृपान् ब्राह्मणांश्च सहस्रशः ।

वीर राजा दुर्योधनने सभीको शास्त्रानुसार यथायोग्य निवासगृह बनवाकर उनमें ठहराया था । उसने सब प्रकारसे आश्वासन तथा भाँति-भाँतिके रत्न देकर सहस्रों राजाओं तथा ब्राह्मणोंको विदा किया ॥ २५½ ॥

विसृज्य च नृपान् सर्वान् भ्रातृभिः परिवारितः ॥ २६ ॥
विवेश हास्तिनपुरं सहितः कर्णसौबलैः ॥ २७ ॥

इस प्रकार सब राजाओंको विदा देकर भाइयोंसे घिरे हुए दुर्योधनने कर्ण और शकुनिके साथ हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ २६-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनयज्ञे षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनका यज्ञविषयक दो सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२५६॥

सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके यज्ञके विषयमें लोगोंका मत, कर्णद्वारा अर्जुनके वधकी प्रतिज्ञा, युधिष्ठिरकी चिन्ता तथा दुर्योधनकी शासननीति

वैशम्पायन उवाच

प्रविशन्तं महाराज सूतास्तुष्टुवुरच्युतम् ।
जनाश्चापि महेष्वासं तुष्टुवू राजसत्तम ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! राजश्रेष्ठ ! नगरमें प्रवेश करते समय सूतों तथा अन्य लोगोंने भी अटल निश्चयी और महान् धनुर्धर राजा दुर्योधनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ १ ॥

लाजैश्चन्दनचूर्णैश्च विकीर्य च जनास्ततः ।
ऊचुर्दिष्ट्या नृपाविघ्नः समाप्तोऽयं क्रतुस्तव ॥ २ ॥

तत्पश्चात् सब लोग लावा और चन्दनचूर्ण बिखेरकर कहने लगे—'महाराज ! आपका यह यज्ञ बिना किसी विघ्न-बाधाके पूर्ण हो गया, यह बड़े सौभाग्यकी बात है' ॥ २ ॥

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र वातिकास्तं महीपतिम् ।
युधिष्ठिरस्य यज्ञेन न समो ह्येष ते क्रतुः ॥ ३ ॥

वहीं कुछ ऐसे लोग भी थे, जिनका मस्तिष्क वातरोगसे विकृत था—कब क्या कहना उचित है, इसको वे नहीं जानते थे, अतः राजा दुर्योधनको सम्बोधित करके कहने लगे—'राजन् ! आपका यह यज्ञ युधिष्ठिरके यज्ञके समान नहीं था' ॥ ३ ॥

नैव तस्य क्रतोरेष कलामर्हति षोडशीम् ।
एवं तत्राब्रुवन् केचिद् वातिकास्तं जनेश्वरम् ॥ ४ ॥

कुछ अन्य वायुरोगग्रस्त लोग राजा दुर्योधनसे इस प्रकार कहने लगे—'यह यज्ञ तो युधिष्ठिरके यज्ञकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं है' ॥ ४ ॥

सुहृदस्त्वब्रुवंस्तत्र अति सर्वानयं क्रतुः ।
ययातिर्नहुषश्चापि मान्धाता भरतस्तथा ॥ ५ ॥
क्रतुमेनं समाहृत्य पूताः सर्वे दिवं गताः ।

जो [illegible] यज्ञ पिछले सब यज्ञोंसे बढ़कर हुआ है । ययाति, नहुष, मांधाता और भरत भी इस यज्ञ-कर्मका अनुष्ठान करके पवित्र हो सब-के-सब स्वर्गलोकमें गये हैं' ॥ ५½ ॥

एता वाचः शुभाः शृण्वन् सुहृदां भरतर्षभ ॥ ६ ॥
प्रविवेश पुरं हृष्टः स्ववेश्म च नराधिपः ।

भरतश्रेष्ठ ! सुहृदोंकी ये सुन्दर बातें सुनता हुआ राजा दुर्योधन प्रसन्नतापूर्वक नगरमें प्रवेश करके अपने राजभवनमें गया ॥ ६½ ॥

अभिवाद्य ततः पादौ मातापित्रोर्विशाम्पते ॥ ७ ॥
भीष्मद्रोणकृपादीनां विदुरस्य च धीमतः ।
अभिवादितः कनीयोभिर्भ्रातृभिर्भ्रातृनन्दनः ॥ ८ ॥

महाराज ! उसने सबसे पहले अपने माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया । तत्पश्चात् क्रमशः भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिको तथा बुद्धिमान् विदुरजीको भी मस्तक झुकाया । तदनन्तर छोटे भाइयोंने आकर भ्राताओंका आनन्द बढ़ानेवाले दुर्योधनको प्रणाम किया ॥ ७-८ ॥

निषसादासने मुख्ये भ्रातृभिः परिवारितः ।
तमुत्थाय महाराजं सूतपुत्रोऽब्रवीद् वचः ॥ ९ ॥

इसके बाद वह भाइयोंसे घिरा हुआ अपने प्रमुख राजसिंहासनपर विराजमान हुआ । उस समय सूतपुत्र कर्णने उठकर महाराज दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

दिष्ट्या ते भरतश्रेष्ठ समाप्तोऽयं महाक्रतुः ।
हतेषु युधि पार्थेषु राजसूये तथा त्वया ॥ १० ॥
आहृतेऽहं नरश्रेष्ठ त्वां सभाजयिता पुनः ।

'भरतश्रेष्ठ ! सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा यह महान् यज्ञ सकुशल समाप्त हुआ । नरश्रेष्ठ ! जब युद्धमें पाण्डव मारे जायँगे, उस समय तुम्हारे द्वारा आयोजित राजसूययज्ञकी समाप्तिपर मैं पुनः इसी प्रकार तुम्हारा अभिनन्दन [illegible]

तमब्रवीन्महाराजो धार्तराष्ट्रो महायशाः ॥ ११ ॥
सत्यमेतत् त्वयोक्तं हि पाण्डवेषु दुरात्मसु ।
निहतेषु नरश्रेष्ठ प्राप्ते चापि महाक्रतौ ॥ १२ ॥
राजसूये पुनर्वीर त्वमेवं वर्धयिष्यसि ।

तब महायशस्वी महाराज दुर्योधनने उससे इस प्रकार कहा—'वीर ! तुम्हारा यह कथन सत्य है । नरश्रेष्ठ ! जब दुरात्मा पाण्डव मारे जायँगे, उस समय महायज्ञ राजसूयके समाप्त होनेपर तुम पुनः इसी प्रकार मेरा अभिनन्दन करोगे' ॥ ११-१२½ ॥

एवमुक्त्वा महाराज कर्णमाश्लिष्य भारत ॥ १३ ॥
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास कौरवः ।

भरतकुलभूषण ! महाराज ! ऐसा कहकर दुर्योधनने कर्णको छातीसे लगा लिया और क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका चिन्तन करने लगा ॥ १३½ ॥

सोऽब्रवीत् कौरवांश्चापि पार्श्वस्थान् नृपसत्तमः॥१४॥
कदा तु तं क्रतुवरं राजसूयं महाधनम् ।
निहत्य पाण्डवान् सर्वानाहरिष्यामि कौरवाः ॥ १५ ॥

नृपश्रेष्ठ दुर्योधनने अपने पास खड़े हुए कौरवोंको सम्बोधित करके कहा—'कुरुकुलके राजकुमारो ! कब ऐसा समय आयगा, जब मैं समस्त पाण्डवोंको मारकर प्रचुर धनसे सम्पन्न होनेवाले उस क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका अनुष्ठान करूँगा' ॥ १४-१५ ॥

तमब्रवीत् तदा कर्णः शृणु मे राजकुञ्जर ।
पादौ न धावये तावद् यावन्न निहतोऽर्जुनः ॥ १६ ॥
कीलालजं न खादेयं करिष्ये चासुरव्रतम् ।
नास्तीति नैव वक्ष्यामि याचितो येन केनचित् ॥ १७ ॥

उस समय कर्णने दुर्योधनसे कहा—'नृपश्रेष्ठ ! मेरी यह प्रतिज्ञा सुन लो—'जबतक अर्जुन मेरे हाथसे मारा नहीं जाता, तबतक मैं दूसरोंसे पैर नहीं धुलवाऊँगा, केवल जलसे उत्पन्न पदार्थ नहीं खाऊँगा और आसुरव्रत (क्रूरता आदि) नहीं धारण करूँगा । किसीके भी कुछ माँगनेपर 'नहीं है', ऐसी बात नहीं कहूँगा' ॥ १६-१७ ॥

अथोत्क्रुष्टं महेष्वासैर्धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
प्रतिज्ञाते फाल्गुनस्य वधे कर्णेन संयुगे ॥ १८ ॥

कर्णके द्वारा युद्धमें अर्जुनके वधकी प्रतिज्ञा करनेपर महान् धनुर्धर महारथी धृतराष्ट्रपुत्रोंने बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ १८ ॥

विजितांश्चाप्यमन्यन्त पाण्डवान् धृतराष्ट्रजाः ।
दुर्योधनोऽपि राजेन्द्र विसृज्य नरपुङ्गवान् ॥ १९ ॥
प्रविवेश स्वकं श्रीमान् यथा चैत्ररथं प्रभुः ।
तेऽपि सर्वे महेष्वासा जग्मुर्वेश्मानि भारत ॥ २० ॥

उस दिनसे कौरव पाण्डवोंको पराजित ही मानने लगे । राजेन्द्र ! तदनन्तर जैसे देवराज इन्द्र चैत्ररथ नामक उद्यानमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार श्रीमान् राजा दुर्योधनने उन नरपुङ्गवोंको विदा करके अपने महलमें प्रवेश किया । भारत ! तदनन्तर वे सभी महाधनुर्धर वीर अपने-अपने भवनमें चले गये ॥ १९-२० ॥

पाण्डवाश्च महेष्वासा दूतवाक्यप्रचोदिताः ।
चिन्तयन्तस्तमेवार्थं नालभन्त सुखं क्वचित् ॥ २१ ॥

इधर महाधनुर्धर पाण्डव इनके वाक्यसे प्रेरित हो उसी विषयका चिन्तन करते हुए कभी चैन नहीं पाते थे ।२१।

भूयश्च चारै राजेन्द्र प्रवृत्तिरुपपादिता ।
प्रतिज्ञा सूतपुत्रस्य विजयस्य वधं प्रति ॥ २२ ॥

महाराज ! फिर उन्होंने गुप्तचरोंद्वारा वह समाचार भी प्राप्त कर लिया, जिसमें अर्जुनके वधके लिये सूतपुत्र कर्णकी प्रतिज्ञा दुहरायी गयी थी ॥ २२ ॥

एतच्छ्रुत्वा धर्मसुतः समुद्विग्नो नराधिप ।
अभेद्यकवचं मत्वा कर्णमद्भुतविक्रमम् ॥ २३ ॥
अनुस्मरंश्च संक्लेशान् न शान्तिमुपयाति सः ।

राजन् ! यह सब सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर उद्विग्न हो उठे । वे विचारने लगे,—'कर्णका कवच अभेद्य है और उसका पराक्रम भी अद्भुत है ।' यह मानकर तथा वनके क्लेशोंका स्मरण करके उन्हें शान्ति नहीं प्राप्त होती थी ।२३½।

तस्य चिन्तापरीतस्य बुद्धिर्जज्ञे महात्मनः ॥ २४ ॥
बहुव्यालमृगाकीर्णं त्यक्तुं द्वैतवनं वनम् ।

इस प्रकार चिन्तासे घिरे हुए महात्मा युधिष्ठिरके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'अनेक प्रकारके सर्पों तथा मृगोंसे भरे हुए इस द्वैतवनको छोड़कर हम कहीं अन्यत्र चले चलें' ॥ २४½ ॥

धार्तराष्ट्रोऽपि नृपतिः प्रशशास वसुन्धराम् ॥ २५ ॥
भ्रातृभिः सहितो वीरैर्भीष्मद्रोणकृपैस्तथा ।
सङ्गम्य सूतपुत्रेण कर्णेनाहवशोभिना ॥ २६ ॥
(सततं प्रीयमाणो वै देविना सौबलेन च ।)

इधर राजा दुर्योधन भी अपने वीर भाइयोंके साथ रहकर भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, युद्धमें शोभा पानेवाले सूतपुत्र कर्ण तथा द्यूतकुशल शकुनिसे मिलकर निरन्तर प्रसन्नताका अनुभव करता हुआ इस पृथ्वीका शासन करने लगा ।२५-२६।

दुर्योधनः प्रिये नित्यं वर्तमानो महीभृताम् ।
पूजयामास विप्रेन्द्रान् क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २७ ॥

दुर्योधन सदा अपने अधीन रहनेवाले राजाओंका प्रिय करने लगा और प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका भी स्वागत-सत्कार करता रहा ॥ २७ ॥

भ्रातॄणां च प्रियं राजन् स चकार परंतपः ।
निश्चित्य मनसा वीरो दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ २८ ॥

राजन् ! शत्रुओंको संताप देनेवाला वीर दुर्योधन निरन्तर अपने भाइयोंका प्रिय कार्य किया करता था। 'धनके दो ही फल हैं—दान और भोग' ऐसा मन-ही-मन निश्चय करके वह इन्हींमें धनका उपयोग करता था ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि युधिष्ठिरचिन्तायां सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें युधिष्ठिरकी चिन्तासे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२५७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २८½ श्लोक हैं)

(मृगस्वप्नोद्भवपर्व)

अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका काम्यकवनमें गमन

जनमेजय उवाच

दुर्योधनं मोक्षयित्वा पाण्डुपुत्रा महाबलाः ।
किमकार्षुर्वने तस्मिंस्तन्ममाख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—दुर्योधनको गन्धर्वोंके बन्धनसे छुड़ाकर महाबली पाण्डवोंने उस वनमें कौन-सा कार्य किया ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः शयानं कौन्तेयं रात्रौ द्वैतवने मृगाः ।
स्वप्नान्ते दर्शयामासुर्बाष्पकण्ठा युधिष्ठिरम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—तदनन्तर एक रातमें जब कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर सो रहे थे, स्वप्नमें द्वैतवनके सिंह-बाघ आदि हिंस्र पशुओंने उन्हें दर्शन दिया। उन सबके कण्ठ आँसुओंसे रुँधे हुए थे ॥ २ ॥

तानब्रवीत् स राजेन्द्रो वेपमानान् कृताञ्जलीन् ।
ब्रूत यद् वक्तुकामाः स्थ के भवन्तः किमिष्यते ॥ ३ ॥

वे थरथर काँपते हुए हाथ जोड़कर खड़े थे। महाराज युधिष्ठिरने उनसे पूछा—'आपलोग कौन हैं ? क्या कहना चाहते हैं ? आपकी क्या इच्छा है ? बताइये' ॥ ३ ॥

एवमुक्ताः पाण्डवेन कौन्तेयेन यशस्विना ।
प्रत्यब्रुवन् मृगास्तत्र हतशेषा युधिष्ठिरम् ॥ ४ ॥

यशस्वी पाण्डव कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर मरनेसे बचे हुए हिंसक पशुओंने उनसे कहा— ॥४॥

वयं मृगा द्वैतवने हतशिष्टास्तु भारत ।
नोत्सीदेम महाराज क्रियतां वासपर्ययः ॥ ५ ॥

'भारत ! हम द्वैतवनके पशु हैं। आपलोगोंके मारनेसे हमारी इतनी ही संख्या शेष रह गयी है। महाराज ! हमारा सर्वथा संहार न हो जाय, इसके लिये आप अपना निवासस्थान बदल दीजिये ॥ ५ ॥

भवतो भ्रातरः शूराः सर्व एवास्त्रकोविदाः ।
कुलान्यल्पावशिष्टानि कृतवन्तो वनौकसाम् ॥ ६ ॥

'आपके सभी भाई शूरवीर एवं अस्त्रविद्याके पण्डित हैं। इन्होंने हम वनवासी हिंसक पशुओंके कुलोंको थोड़ी ही संख्यामें जीवित छोड़ा है ॥ ६ ॥

बीजभूता वयं केचिदवशिष्टा महामते ।
विवर्धेमहि राजेन्द्र प्रसादात् ते युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

'महामते ! हम सिंह, बाघ आदि पशु थोड़ी-सी संख्यामें अपने वंशके बीजमात्र शेष रह गये हैं। महाराज युधिष्ठिर ! आपकी कृपासे हमारे वंशकी वृद्धि हो, यही हम निवेदन करते हैं' ॥ ७ ॥

तान् वेपमानान् वित्रस्तान् बीजमात्रावशेषितान् ।
मृगान् दृष्ट्वा सुदुःखार्तो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ८ ॥

वे सिंह-बाघ आदि पशु त्रस्त होकर थरथर काँप रहे थे और बीजमात्र ही शेष रह गये थे। उनकी यह दयनीय दशा देखकर धर्मराज युधिष्ठिर अत्यन्त दुःखसे व्याकुल हो गये।८।

तांस्तथेत्यब्रवीद् राजा सर्वभूतहिते रतः ।
यथा भवन्तो ब्रुवते करिष्यामि च तत् तथा ॥ ९ ॥

समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले राजा युधिष्ठिरने उनसे कहा—'बहुत अच्छा, तुमलोग जैसा कहते हो, वैसा ही करूँगा' ॥ ९ ॥

इत्येवं प्रतिबुद्धः स रात्र्यन्ते राजसत्तमः ।
अब्रवीत् सहितान् भ्रातॄन् दयापन्नो मृगान् प्रति ॥ १० ॥
उक्तो रात्रौ मृगैरस्मि स्वप्नान्ते हतशेषितैः ।
तन्तुभूताः स्म भद्रं ते दया नः क्रियतामिति ॥ ११ ॥

इस प्रकार रात बीतनेपर जब सबेरे उनकी नींद खुली, तब वे नृपतिशिरोमणि हिंसक पशुओंके प्रति दयाभावसे द्रवित हो अपने सब भाइयोंसे बोले—'बन्धुओ ! रातको सपनेमें मरनेसे बचे हुए इस वनके पशुओंने मुझसे कहा

है—'राजन् ! आपका भला हो। हम अपनी वंशपरम्पराके एक-एक तन्तुमात्र शेष रह गये हैं। अब हमलोगोंपर दया कीजिये' ॥ १०-११ ॥

ते सत्यमाहुः कर्तव्या दयास्माभिर्वनौकसाम्।
साष्टमासं हि नो वर्षं यदेतदुपयुङ्क्ष्महे ॥ १२ ॥

'मेरी समझमें वे पशु ठीक कहते हैं। हमलोगोंको वनवासी हिंस्र जीवोंपर भी दया करनी चाहिये। अबतक हमलोगोंको इस द्वैतवनमें रहते हुए एक वर्ष आठ महीने बीत चुके हैं ॥ १२ ॥

पुनर्बहुमृगं रम्यं काम्यकं काननोत्तमम्।
मरुभूमेः शिरःस्थानं तृणबिन्दुसरः प्रति ॥ १३ ॥
तत्रेमां वसतिं शिष्टां विहरन्तो रमेमहि।

'अतः अब हम पुनः असंख्य मृगोंसे युक्त, रमणीय तथा उत्तम काम्यक वनमें तृणबिन्दु नामक सरोवरके पास चलें। काम्यकवन मरुभूमिके शीर्षक स्थानमें पड़ता है। वहीं विहार करते हुए हम वनवासके शेष दिन सुखपूर्वक बितायेंगे' ॥ १३½ ॥

ततस्ते पाण्डवाः शीघ्रं प्रययुर्धर्मकोविदाः ॥ १४ ॥
ब्राह्मणैः सहिता राजन् ये च तत्र सहोषिताः।
इन्द्रसेनादिभिश्चैव प्रेष्यैरनुगतास्तदा ॥ १५ ॥

राजन् ! तदनन्तर उन धर्मज्ञ पाण्डवोंने वहाँ रहनेवाले ब्राह्मणोंके साथ शीघ्र ही उस वनसे प्रस्थान कर दिया। इन्द्रसेन आदि सेवक भी उस समय उन्हींके साथ चल दिये ॥ १४-१५ ॥

ते यात्वानुसृतैर्मार्गैः स्वन्नैः शुचिजलान्वितैः।
ददृशुः काम्यकं पुण्यमाश्रमं तापसायुतम् ॥ १६ ॥

वे सब लोग उत्तम अन्न और पवित्र जलकी सुविधासे सम्पन्न तथा सदा चालू रहनेवाले मार्गोंसे यात्रा करते हुए पुण्य एवं बहुतेरे तपस्वी जनोंसे युक्त काम्यक वनके आश्रममें पहुँचकर वहाँकी शोभा देखने लगे ॥ १६ ॥

विविशुस्ते स्म कौरव्या वृता विप्रर्षभैस्तदा।
तद् वनं भरतश्रेष्ठाः स्वर्गं सुकृतिनो यथा ॥ १७ ॥

जैसे पुण्यात्मा पुरुष स्वर्गमें जाते हैं, उसी प्रकार उन भरतश्रेष्ठ पाण्डवोंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ काम्यक वनमें प्रवेश किया ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मृगस्वप्नोद्भवपर्वणि काम्यकप्रवेशे अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मृगस्वप्नोद्भवपर्वमें काम्यकवनप्रवेशविषयक दो सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५८ ॥

(व्रीहिद्रौणिकपर्व)

एकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता, व्यासजीका पाण्डवोंके पास आगमन और दानकी महत्ताका प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

वने निवसतां तेषां पाण्डवानां महात्मनाम्।
वर्षाण्येकादशातीयुः कृच्छ्रेण भरतर्षभ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! इस प्रकार वनमें रहते हुए उन महात्मा पाण्डवोंके ग्यारह वर्ष बड़े कष्टसे बीते ॥ १ ॥

फलमूलाशनास्ते हि सुखार्हा दुःखमुत्तमम्।
प्राप्तकालमनुध्यान्तः सेहिरे वरपूरुषाः ॥ २ ॥

वे फल-मूल खाकर रहते थे। सुख भोगनेके योग्य होकर भी महान् कष्ट भोगते थे और यह सोचकर कि यह हमारे कष्टका समय है, इसे धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये, चुपचाप सब दुःख झेलते थे। उनमें ऐसा विवेक इसलिये था कि वे सबके सब श्रेष्ठ पुरुष थे ॥ २ ॥

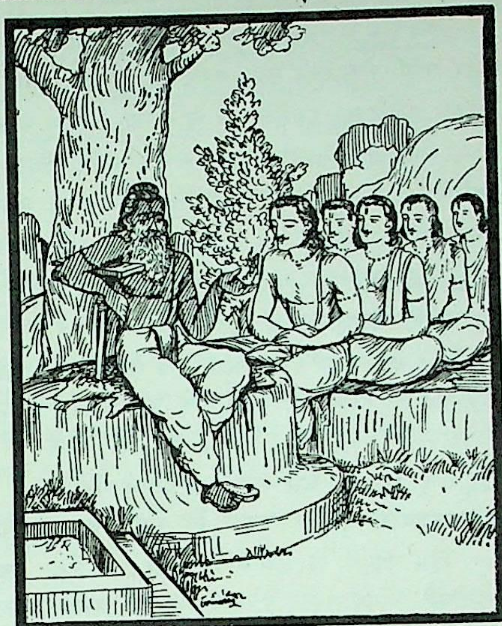
युधिष्ठिरस्तु राजर्षिरात्मकर्मापराधजम्।
चिन्तयन् स महाबाहुर्भ्रातॄणां दुःखमुत्तमम् ॥ ३ ॥

महाबाहु राजर्षि युधिष्ठिर सदा यही सोचते रहते थे कि 'मेरे भाइयोंपर जो यह महान् दुःख आ पड़ा है, मेरी ही करनीका फल है। मेरे ही अपराधसे इन्हें कष्ट भोगना पड़ रहा है' ॥ ३ ॥

न सुष्वाप सुखं राजा हृदि शल्यैरिवार्पितैः।
दौरात्म्यमनुपश्यंस्तत् काले द्यूतोद्भवस्य हि ॥ ४ ॥
संस्मरन् परुषा वाचः सूतपुत्रस्य पाण्डवः।
निःश्वासपरमो दीनो बिभ्रत् कोपविषं महत् ॥ ५ ॥

इसी चिन्तामें पड़े-पड़े राजा युधिष्ठिर रातमें सुखकी नींद नहीं सो पाते थे। ये बातें उनके हृदयमें चुभे हुए काँटोंके समान दुःख दिया करती थीं। जूआ खेलनेके कारण-भूत शकुनि आदिकी दुष्टतापर दृष्टिपात करके तथा सूतपुत्र कर्णकी कठोर बातोंको स्मरण करके पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर दीनभावसे लंबी साँसें लेते रहते और महान् क्रोधरूपी विषको अपने हृदयमें धारण करते थे ॥ ४-५ ॥

अर्जुनो यमजौ चोभौ द्रौपदी च यशस्विनी।



स च भीमो महातेजाः सर्वेषामुत्तमो बली ॥ ६ ॥
युधिष्ठिरमुदीक्षन्तः सेहुर्दुःखमनुत्तमम् ।

अर्जुन, दोनों भाई नकुल-सहदेव, यशस्विनी द्रौपदी तथा सर्वश्रेष्ठ बलवान् महातेजस्वी भीमसेन भी राजा युधिष्ठिर-की ओर देखते हुए महान्-से-महान् दुःखको चुपचाप सहते रहे ॥ ६½ ॥

अवशिष्टमल्पकालं मन्वानाः पुरुषर्षभाः ॥ ७ ॥
वपुरन्यदिवाकार्षुरुत्साहामर्षचेष्टितैः ।

'अब तो वनवासका थोड़ा-सा ही समय शेष रह गया है, ऐसा समझकर नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने उत्साह एवं अमर्षयुक्त चेष्टाओंसे अपने शरीरको किसी और ही प्रकारका बना लिया था ॥ ७½ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ ८ ॥
आजगाम महायोगी पाण्डवानवलोककः ।
तमागतमभिप्रेक्ष्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
प्रत्युद्गम्य महात्मानं प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ।

तदनन्तर किसी समय महायोगी सत्यवतीनन्दन व्यास पाण्डवोंको देखनेके लिये वहाँ आये । उन महात्माको आया देख कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर उनकी अगवानीके लिये कुछ दूर आगे बढ़ गये और विधिपूर्वक स्वागत-सत्कारके साथ उन्हें अपने साथ लिवा लाये ॥ ८–९½ ॥

तमासीनमुपासीनः शुश्रूषुर्नियतेन्द्रियः ॥ १० ॥
तोषयन् प्रणिपातेन व्यासं पाण्डवनन्दनः ।

जब वे आसनपर बैठ गये, तब पाण्डवोंका आनन्द बढ़ानेवाले युधिष्ठिर अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए सेवाकी इच्छासे व्यासजीके पास ही बैठ गये और उनके चरणोंमें प्रणाम करके उन्होंने महर्षिको संतुष्ट किया ।१०½।

तानवेक्ष्य कृशान् पौत्रान् वने वन्येन जीवतः ॥ ११ ॥
महर्षिरनुकम्पार्थमब्रवीद्बाष्पगद्गदम् ।

अपने पौत्रोंको वनवासके कष्टसे दुर्बल तथा जङ्गली फल-मूल खाकर जीवननिर्वाह करते देख महर्षि व्यासको बड़ी दया आयी । वे उनपर कृपा करनेके लिये नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए गद्गद कण्ठसे बोले—॥ ११½ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो शृणु धर्मभृतां वर ॥ १२ ॥
नातप्ततपसो लोके प्राप्नुवन्ति महासुखम् ।
सुखदुःखे हि पुरुषः पर्यायेणोपसेवते ॥ १३ ॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाबाहु युधिष्ठिर ! मेरी बात सुनो, संसारमें जिन्होंने तपस्या नहीं की है, वे महान् सुखकी उपलब्धि नहीं कर पाते हैं । मनुष्य बारी-बारीसे सुख और दुःख दोनोंका सेवन करता है ॥ १२–१३ ॥

न ह्यनन्तं सुखं कश्चित् प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
प्रज्ञावांस्त्वेव पुरुषः संयुक्तः परया धिया ॥ १४ ॥
उदयास्तमनज्ञो हि न हृष्यति न शोचति ।

'नरश्रेष्ठ ! कोई भी इस जगत्में ऐसा सुख नहीं पाता, जिसका कभी अन्त न हो । उत्तम बुद्धिसे युक्त ज्ञानवान् पुरुष ही उत्पत्ति, स्थिति और लयके अधिष्ठानरूप परमात्माको जानकर कभी हर्ष और शोक नहीं करता है ॥ १४½ ॥

सुखमापतितं सेवेद् दुःखमापतितं वहेत् ॥ १५ ॥
कालप्राप्तमुपासीत सस्यानामिव कर्षकः ।

'अतः विवेकी पुरुषको उचित है कि प्राप्त हुए सुखका (त्यागपूर्वक) सेवन करे और स्वतः आये हुए दुःखका भार भी (धैर्यपूर्वक) वहन करे । जैसे किसान बीज बोकर समयके अनुसार प्रारब्धवश जितना अन्न मिलता है, उसे ग्रहण करता है; उसी प्रकार मनुष्य समय-समयपर दैववश प्राप्त हुए सुख तथा दुःखको स्वीकार करे ॥ १५½ ॥

तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ॥ १६ ॥
नासाध्यं तपसः किंचिदिति बुद्ध्यस्व भारत ।

'भारत ! तपसे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है । तपसे मनुष्य महत्पद (परमात्मा) को प्राप्त कर लेता है । तुम इस बातको अच्छी तरह जान लो कि तपस्यासे कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ १६½ ॥

सत्यमार्जवमक्रोधः संविभागो दमः शमः ॥ १७ ॥
अनसूयाविहिंसा च शौचमिन्द्रियसंयमः ।
पावनानि महाराज नराणां पुण्यकर्मणाम् ॥ १८ ॥

'महाराज ! सत्य, सरलता, क्रोधका अभाव, देवता और अतिथियोंको देकर अन्न आदि ग्रहण करना, इन्द्रिय-संयम, मनोनिग्रह, दूसरोंके दोष न देखना, हिंसा न करना, बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना तथा सम्पूर्ण इन्द्रियोंको काबूमें रखना—ये पुण्यात्मा पुरुषोंके सद्गुण सबको पवित्र करनेवाले हैं ॥ १७–१८ ॥

अधर्मरुचयो मूढास्तिर्यग्गतिपरायणाः ।
कृच्छ्रां योनिमनुप्राप्ता न सुखं विन्दते जनाः ॥ १९ ॥

'जो लोग अधर्ममें रुचि रखनेवाले हैं, वे मूढ़ मानव पशु-पक्षी आदि तिर्यग् योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं । उन कष्टदायक योनियोंमें पड़कर वे कभी सुख नहीं पाते हैं ।१९।

इह यत् क्रियते कर्म तत् परत्रोपयुज्यते ।
तस्माच्छरीरं युञ्जीत तपसा नियमेन च ॥ २० ॥

'इस लोकमें जो कर्म किया जाता है, उसका फल परलोकमें भोगना पड़ता है । इसलिये अपने शरीरको तप और नियमोंके पालनमें लगावे ॥ २० ॥

यथाशक्ति प्रयच्छेत सम्पूज्याभिप्रणम्य च ।
काले प्राप्ते च हृष्टात्मा राजन् विगतमत्सरः ॥ २१ ॥

'राजन् ! समयपर यदि कोई अतिथि आ जाय, तो क्रोधरहित और प्रसन्नचित्त होकर अपनी शक्तिके अनुसार उसे दान दे और विधिवत् पूजन करके उसे प्रणाम करे ॥

सत्यवादी लभेतायुरनायासमथार्जवम् ।
अक्रोधनोऽनसूयश्च निर्वृतिं लभते पराम् ॥ २२ ॥

'सत्यवादी मनुष्य दीर्घ आयु, क्लेशशून्यता (सुख) तथा सरलता प्राप्त करता है । जो क्रोध नहीं करता और दूसरोंके दोष नहीं देखता है, उसे परमानन्दपदकी प्राप्ति होती है ॥ २२ ॥

दान्तः शमपरः शश्वत् परिक्लेशं न विन्दति ।
न च तप्यति दान्तात्मा दृष्ट्वा परगतां श्रियम् ॥ २३ ॥

'जो सदा अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर मनका निग्रह करता है, उसे कभी क्लेशका सामना नहीं करना पड़ता । जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, वह दूसरोंकी सम्पत्तिको देखकर संतप्त नहीं होता है ॥ २३ ॥

संविभक्ता च दाता च भोगवान् सुखवान् नरः ।
भवत्यहिंसकश्चैव परमारोग्यमश्नुते ॥ २४ ॥

'जो देवताओं और अतिथियोंको उनका भाग समर्पित करता है, वह भोग-सामग्रीसे सम्पन्न होता है । दान करनेवाला मनुष्य सुखी होता है । जो किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करता, उसे उत्तम आरोग्यकी प्राप्ति होती है ॥ २४ ॥

मान्यमानयिता जन्म कुले महति विन्दति ।
व्यसनैर्न तु संयोगं प्राप्नोति विजितेन्द्रियः ॥ २५ ॥
(विन्दते सुखमत्यन्तमिह लोके परत्र च ।)

'जो माननीय पुरुषोंका सम्मान करता है, वह महान् कुलमें जन्म पाता है । जितेन्द्रिय पुरुष कभी दुर्व्यसनोंमें नहीं फँसता है उसे इस लोक और परलोकमें भी अत्यन्त सुखकी प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥

शुभानुशयबुद्धिर्हि संयुक्तः कालधर्मणा ।
प्रादुर्भवति तद्योगात् कल्याणमतिरेव सः ॥ २६ ॥

'जिसकी बुद्धि शुभमें ही आसक्त होती है, वह मनुष्य मृत्युको प्राप्त होनेपर उस शुभके संयोगसे कल्याणबुद्धि होकर ही उत्पन्न होता है' ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् दानधर्माणां तपसो वा महामुने ।
किंस्विद् बहुगुणं प्रेत्य किं वा दुष्करमुच्यते ॥ २७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! महामुने ! दानधर्म एवं तपस्या-इनमेंसे किसका फल परलोकमें अधिक माना गया है ? और इन दोनोंमें कौन दुष्कर बताया जाता है ? ॥

व्यास उवाच

दानान्न दुष्करं तात पृथिव्यामस्ति किंचन ।
अर्थे च महती तृष्णा स च दुःखेन लभ्यते ॥ २८ ॥

व्यासजीने कहा—तात ! दानसे बढ़कर दुष्कर कार्य इस पृथ्वीपर दूसरा कोई नहीं है । लोगोंको धनका लोभ अधिक होता है और धन मिलता भी बड़े कष्टसे है ॥ २८ ॥

परित्यज्य प्रियान् प्राणान् धनार्थं हि महामते ।
प्रविशन्ति नरा वीराः समुद्रमटवीं तथा ॥ २९ ॥

महामते ! कितने ही साहसी मनुष्य रत्नोंके लिये अपने प्यारे प्राणोंका मोह छोड़कर समुद्रमें गोते लगाते हैं और धनके लिये घोर जंगलोंमें भटकते फिरते हैं ॥ २९ ॥

कृषिगोरक्ष्यमित्येके प्रतिपद्यन्ति मानवाः ।
पुरुषाः प्रेष्यतामेके निर्गच्छन्ति धनार्थिनः ॥ ३० ॥

कुछ मनुष्य कृषि तथा गोरक्षाको अपनी जीविकाका साधन बनाते हैं, कुछ लोग धनकी इच्छासे नौकरी करनेके लिये दूर निकल जाते हैं ॥ ३० ॥

तस्माद् दुःखार्जितस्यैव परित्यागः सुदुष्करः ।
न दुष्करतरं दानात् तस्माद् दानं मतं मम ॥ ३१ ॥

अतः दुःख सहकर कमाये हुए धनका परित्याग करना अत्यन्त कठिन है । दानसे बढ़कर दूसरा कोई दुष्कर कार्य नहीं है । इसलिये मेरे मतमें दान ही सबश्रेष्ठ है ॥ ३१ ॥

विशेषस्त्वत्र विज्ञेयो न्यायेनोपार्जितं धनम्।
पात्रे काले च देशे च साधुभ्यः प्रतिपादयेत् ॥ ३२ ॥

यहाँ विशेष बात यह जाननी चाहिये कि मनुष्य न्यायसे कमाये गये धनको उत्तम देश, काल और पात्रका विचार करते हुए श्रेष्ठ पुरुषोंको दे ॥ ३२ ॥

अन्यायात् समुपात्तेन दानधर्मो धनेन यः।
क्रियते न स कर्तारं त्रायते महतो भयात् ॥ ३३ ॥

अन्यायसे प्राप्त किये हुए धनके द्वारा जो दानधर्म किया जाता है, वह कर्ताकी महान् भयसे रक्षा नहीं कर पाता ॥ ३३ ॥

पात्रे दानं स्वल्पमपि काले दत्तं युधिष्ठिर।
मनसा हि विशुद्धेन प्रेत्यानन्तफलं स्मृतम् ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर ! यदि विशुद्ध मनसे उत्तम समयपर सत्पात्रको थोड़ा-सा भी दान दिया गया हो, तो वह परलोकमें अनन्त फल देनेवाला माना गया है ॥ ३४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
व्रीहिद्रोणपरित्यागाद् यत् फलं प्राप मुद्गलः ॥ ३५ ॥

इस विषयमें जानकार लोग इस पुराने इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं कि मुद्गल ऋषिने एक द्रोण धानका दान करके महान् फल प्राप्त किया था ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि दानदुष्करत्वकथने एकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत व्रीहिद्रौणिकपर्वमें दानकी दुष्करताका प्रतिपादनविषयक दो सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३५½ श्लोक हैं)

षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्वासाद्वारा महर्षि मुद्गलके दानधर्म एवं धैर्यकी परीक्षा तथा मुद्गलका देवदूतसे कुछ प्रश्न करना

युधिष्ठिर उवाच

व्रीहिद्रोणः परित्यक्तः कथं तेन महात्मना।
कस्मै दत्तश्च भगवन् विधिना केन चात्थ मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! महात्मा मुद्गलने एक द्रोण[1] धानका दान कैसे और किस विधिसे किया था तथा वह दान किसको दिया गया था ? यह सब मुझे बताइये ॥ १ ॥

प्रत्यक्षधर्मा भगवान् यस्य तुष्टो हि कर्मभिः।
सफलं तस्य जन्माहं मन्ये सद्धर्मचारिणः ॥ २ ॥

मनुष्योंके धर्मको प्रत्यक्ष देखने और जाननेवाले भगवान् जिसके कर्मोंसे संतुष्ट होते हैं, उसी श्रेष्ठ धर्मात्मा पुरुषका जन्म सफल है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ २ ॥

व्यास उवाच

शिलोञ्छवृत्तिर्धर्मात्मा मुद्गलः संयतेन्द्रियः।
आसीद् राजन् कुरुक्षेत्रे सत्यवागनसूयकः ॥ ३ ॥

व्यासजी बोले—राजन् ! कुरुक्षेत्रमें मुद्गलनामक एक ऋषि रहते थे। वे बड़े धर्मात्मा और जितेन्द्रिय थे। शिल[2] तथा उञ्छवृत्तिसे ही वे जीविका चलाते थे तथा सदा सत्य बोलते और किसीकी भी निन्दा नहीं करते थे ॥ ३ ॥

अतिथिव्रती क्रियावांश्च कापोतीं वृत्तिमास्थितः।
सत्रमिष्टीकृतं नाम समुपास्ते महातपाः ॥ ४ ॥
सपुत्रदारो हि मुनिः पक्षाहारो बभूव ह।
कपोतवृत्त्या पक्षेण व्रीहिद्रोणमुपार्जयत् ॥ ५ ॥

उन्होंने अतिथियोंकी सेवाका व्रत ले रक्खा था। वे बड़े कर्मनिष्ठ और तपस्वी थे तथा कापोती वृत्तिका आश्रय ले आवश्यकताके अनुरूप थोड़े-से ही अन्नका संग्रह करते थे। वे मुनि स्त्री और पुत्रके साथ रहकर पंद्रह दिनमें जैसे कबूतर दाने चुगता है, उसी प्रकार चुनकर एक द्रोण धानका संग्रह कर पाते थे और उसके द्वारा इष्टीकृत नामक यज्ञका अनुष्ठान करते थे। इस प्रकार परिवारसहित उन्हें पंद्रह दिनपर भोजन प्राप्त होता था ॥ ४-५ ॥

दर्शं च पौर्णमासं च कुर्वन् विगतमत्सरः।
देवतातिथिशेषेण कुरुते देहयापनम् ॥ ६ ॥

उनके मनमें किसीके प्रति ईर्ष्याका भाव नहीं था। वे प्रत्येक पक्षमें दर्श एवं पौर्णमास यज्ञ करते हुए देवताओं और अतिथियोंको उनका भाग अर्पित करके शेष अन्नसे जीवन-यापन करते थे ॥ ६ ॥

तस्येन्द्रः सहितो देवैः साक्षात् त्रिभुवनेश्वरः।
प्रत्यगृह्णान्महाराज भागं पर्वणि पर्वणि ॥ ७ ॥

महाराज ! प्रत्येक पर्वपर तीनों लोकोंके स्वामी साक्षात् इन्द्र देवताओंसहित पधारकर उनके यज्ञमें भाग ग्रहण करते थे ॥ ७ ॥

१. कुछ विद्वानोंके मतसे यह सोलह सेरका होता है।

२. 'उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्।' इस कोषवाक्यके अनुसार बाजार उठ जानेपर या खेत कटनेपर वहाँ बिखरे हुए अन्नके दाने बीनना 'उञ्छ' कहलाता है और खेत कट जानेपर वहाँ गिरी हुई गेहूँ-धान आदिकी बालें बीनना 'शिल' कहा गया है।

स पर्वकालं कृत्वा तु मुनिवृत्त्या समन्वितः।
अतिथिभ्यो ददावन्नं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ८ ॥

मुद्गल ऋषि मुनिवृत्तिसे रहते हुए पर्वकालोचित कर्म-दर्श और पौर्णमास यज्ञ करके हर्षोल्लासपूर्ण हृदयसे अतिथियोंको भोजन देते थे ॥ ८ ॥

व्रीहिद्रोणस्य तद्धास्य ददतोऽन्नं महात्मनः।
शिष्टं मात्सर्यहीनस्य वर्धतेऽतिथिदर्शनात् ॥ ९ ॥

ईर्ष्यासे रहित महात्मा मुद्गल एक द्रोण धानसे तैयार किये हुए अन्नमेंसे जब-जब दान करते थे, तब-तब देनेसे बचा हुआ अन्न मुद्गलके द्वारा दूसरे अतिथियोंका दर्शन करनेसे बढ़ जाया करता था ॥ ९ ॥

तच्छतान्यपि भुञ्जन्ति ब्राह्मणानां मनीषिणाम्।
मुनेस्त्यागविशुद्धया तु तदन्नं वृद्धिमृच्छति ॥ १० ॥

इस प्रकार उसमें सैकड़ों मनीषी ब्राह्मण एक साथ भोजन कर लेते थे। मुद्गल मुनिके विशुद्ध त्यागके प्रभावसे वह अन्न निश्चय ही बढ़ जाता था ॥ १० ॥

तं तु शुश्राव धर्मिष्ठं मुद्गलं संशितव्रतम्।
दुर्वासा नृप दिग्वासास्तमथाभ्याजगाम ह ॥ ११ ॥

राजन्! एक दिन दिगम्बर वेषमें भ्रमण करनेवाले महर्षि दुर्वासाने उत्तम व्रतका पालन करनेवाले धर्मिष्ठ महात्मा मुद्गलका नाम सुना। उनके व्रतकी ख्याति सुनकर वे वहाँ आ पहुँचे ॥ ११ ॥

बिभ्रच्चानियतं वेषमुन्मत्त इव पाण्डव।
विकचः परुषा वाचो व्याहरन् विविधा मुनिः ॥ १२ ॥

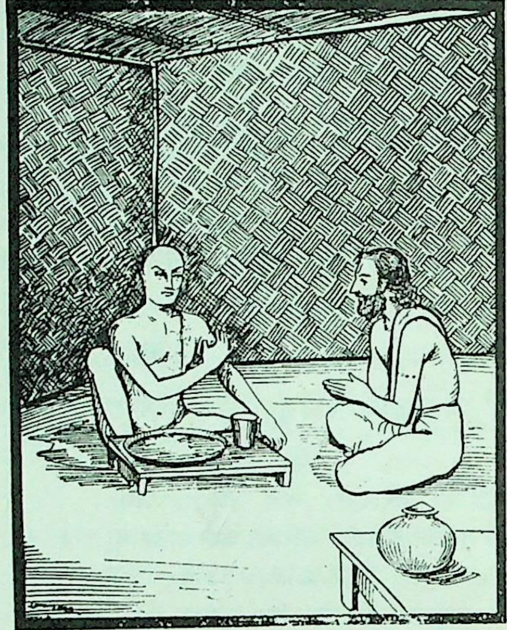
पाण्डुनन्दन! दुर्वासा मुनि पागलोंकी तरह अटपटा वेष धारण किये, मूँड़ मुड़ाये और नाना प्रकारके कटु वचन बोलते हुए उस आश्रममें पधारे ॥ १२ ॥

अभिगम्याथ तं विप्रमुवाच मुनिसत्तमः।
अन्नार्थिनमनुप्राप्तं विद्धि मां द्विजसत्तम ॥ १३ ॥

ब्रह्मर्षि मुद्गलके पास पहुँचकर मुनिश्रेष्ठ दुर्वासाने कहा—'विप्रवर! तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि मैं भोजनकी इच्छासे यहाँ आया हूँ' ॥ १३ ॥

स्वागतं तेऽस्त्विति मुनिं मुद्गलः प्रत्यभाषत।
पाद्यमाचमनीयं च प्रतिपाद्यार्घ्यमुत्तमम् ॥ १४ ॥
प्रादात् स तापसायान्नं क्षुधितायातिथिव्रती।
उन्मत्ताय परां श्रद्धामास्थाय स धृतव्रतः ॥ १५ ॥
ततस्तदन्नं रसवत् स एव क्षुधयान्वितः।
बुभुजे कृत्स्नमुन्मत्तः प्रादात् तस्मै च मुद्गलः ॥ १६ ॥

मुद्गलने उनसे कहा—'महर्षे! आपका स्वागत है।' ऐसा कहकर उन्होंने पाद्य, उत्तम अर्घ्य तथा आचमनीय आदि पूजनकी सामग्री भेंट की। तत्पश्चात् उन व्रतधारी अतिथिसेवी महर्षि मुद्गलने बड़ी श्रद्धाके साथ उन्मत्तवेशधारी भूखे तपस्वी दुर्वासाको भोजन अर्पित किया। वह अन्न बड़ा स्वादिष्ट था। वे उन्मत्त मुनि भूखे तो थे ही, परोसी हुई सारी रसोई खा गये। तब महर्षि मुद्गलने उन्हें और भोजन दिया ॥ १४–१६ ॥



भुक्त्वा चान्नं ततः सर्वमुच्छिष्टेनात्मनस्ततः।
अथाङ्गं लिलिपेऽन्नेन यथागतमगाच्च सः ॥ १७ ॥

इस तरह सारा भोजन उदरस्थ करके दुर्वासाजीने जूठन लेकर अपने सारे अङ्गोंमें लपेट ली और फिर जैसे आये थे, वैसे ही चल दिये ॥ १७ ॥

एवं द्वितीये सम्प्राप्ते यथाकाले मनीषिणः।
आगम्य बुभुजे सर्वमन्नमुञ्छोपजीविनः ॥ १८ ॥

इसी प्रकार दूसरा पर्वकाल आनेपर दुर्वासा ऋषिने पुनः आकर उञ्छवृत्तिसे जीवननिर्वाह करनेवाले उन मनीषी महात्मा मुद्गलके यहाँका सारा अन्न खा लिया ॥ १८ ॥

निराहारस्तु स मुनिरुञ्छमार्जयते पुनः।
न चैनं विक्रियां नेतुमशकन्मुद्गलं क्षुधा ॥ १९ ॥

मुनि निराहार रहकर पुनः अन्नके दाने बीनने लगे। भूखका कष्ट उनके मनमें विकार उत्पन्न करनेमें समर्थ न हो सका ॥ १९ ॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं नावमानो न सम्भ्रमः।
सपुत्रदारमुञ्छन्तमाविवेश द्विजोत्तमम् ॥ २० ॥

स्त्री-पुत्रसहित अन्नके दाने चुनते हुए विप्रवर मुद्गलके

हृदयमें क्रोध, द्वेष, घबराहट तथा अपमान प्रवेश नहीं कर सके ॥ २० ॥

तथा तमुञ्छधर्माणं दुर्वासा मुनिसत्तमम्।
उपतस्थे यथाकालं षट्कृत्वः कृतनिश्चयः ॥ २१ ॥

इस प्रकार उञ्छधर्मका पालन करनेवाले मुनिश्रेष्ठ मुद्गलके घरपर महर्षि दुर्वासा उनका धैर्य छुड़ानेका दृढ़ निश्चय लेकर लगातार छः बार ठीक पर्वके समय उपस्थित हुए ॥ २१ ॥

न चास्य मनसा कंचिद् विकारं ददृशे मुनिः।
शुद्धसत्त्वस्य शुद्धं स ददृशे निर्मलं मनः ॥ २२ ॥

किंतु उन्होंने उनके मनमें कभी कोई विकार नहीं देखा। शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षि मुद्गलके मनको दुर्वासाने सदा शुद्ध और निर्मल ही पाया ॥ २२ ॥

तमुवाच ततः प्रीतः स मुनिर्मुद्गलं ततः।
त्वत्समो नास्ति लोकेऽस्मिन् दाता मात्सर्यवर्जितः ॥ २३ ॥

तब वे प्रसन्न होकर मुद्गलसे बोले—'ब्रह्मन्! इस संसारमें ईर्ष्यासे रहित होकर दान देनेवाला मनुष्य तुम्हारे समान दूसरा कोई नहीं है ॥ २३ ॥

क्षुद् धर्मसंज्ञां प्रणुदत्यादत्ते धैर्यमेव च।
रसानुसारिणी जिह्वा कर्षत्येव रसान् प्रति ॥ २४ ॥

'भूख (बड़े-बड़े लोगोंके) धर्मज्ञानको विलुप्त कर देती है, धैर्य हर लेती है तथा रसका अनुसरण करनेवाली रसना सदा रसीले पदार्थोंकी ओर मनुष्यको खींचती रहती है॥२४॥

आहारप्रभवाः प्राणा मनो दुर्निग्रहं चलम्।
मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं निश्चितं तपः ॥ २५ ॥

'भोजनसे ही प्राणोंकी रक्षा होती है। चञ्चल मनको रोकना अत्यन्त कठिन होता है। मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रताको ही निश्चित रूपसे तप कहा गया है ॥ २५ ॥

श्रमेणोपार्जितं त्यक्तुं दुःखं शुद्धेन चेतसा।
तत् सर्वं भवता साधो यथावदुपपादितम् ॥ २६ ॥

'परिश्रमसे उपार्जित किये हुए धनका शुद्ध हृदयसे दान करना अत्यन्त दुष्कर है। परंतु श्रेष्ठ पुरुष! तुमने यह सब कुछ यथार्थरूपसे सिद्ध कर लिया है ॥ २६ ॥

प्रीताः स्मोऽनुगृहीताश्च समेत्य भवता सह।
इन्द्रियाभिजयो धैर्यं संविभागो दमः शमः ॥ २७ ॥
दया सत्यं च धर्मश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
(विशुद्धसत्त्वसम्पन्नो न त्वदन्योऽस्ति कश्चन।)
जितास्ते कर्मभिर्लोकाः प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ॥ २८ ॥

'तुमसे मिलकर हम बहुत प्रसन्न हैं और अपने ऊपर तुम्हारा अनुग्रह मानते हैं। इन्द्रियसंयम, धैर्य, संविभाग (दान), शम, दम, दया, सत्य और धर्म—ये सब गुण तुममें पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। तुम्हारे-जैसा पवित्र अन्तःकरणवाला दूसरा कोई नहीं है। तुमने अपने शुभ कर्मोंसे सब लोकोंको जीत लिया; परमपदको प्राप्त कर लिया ॥ २७-२८ ॥

अहो दानं विघुष्टं ते सुमहत् स्वर्गवासिभिः।
सशरीरो भवान् गन्ता स्वर्गं सुचरितव्रत ॥ २९ ॥

'अहो! स्वर्गवासी देवताओंने भी तुम्हारे महान् दानकी सर्वत्र घोषणा की है। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे! तुम सदेह स्वर्गलोकको जाओगे' ॥ २९ ॥

इत्येवं वदतस्तस्य तदा दुर्वाससो मुनेः।
देवदूतो विमानेन मुद्गलं प्रत्युपस्थितः ॥ ३० ॥

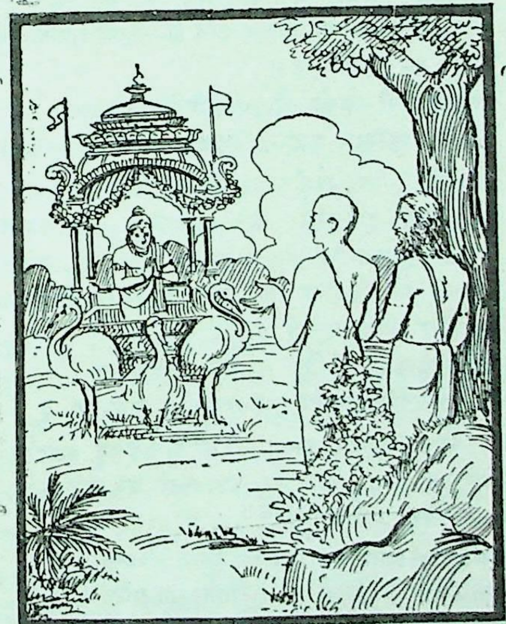
दुर्वासा मुनि इस प्रकार कह ही रहे थे कि एक देवदूत विमानके साथ मुद्गल ऋषिके पास आ पहुँचा ॥ ३० ॥

हंससारसयुक्तेन किङ्किणीजालमालिना।
कामगेन विचित्रेण दिव्यगन्धवता तथा ॥ ३१ ॥

उस विमानमें हंस एवं सारस जुते हुए थे। क्षुद्रघण्टिकाओंकी जालीसे उसे सुसज्जित किया गया था तथा उससे दिव्य सुगन्ध फैल रही थी। वह विमान देखनेमें बड़ा विचित्र और इच्छानुसार चलनेवाला था ॥ ३१ ॥

उवाच चैनं विप्रर्षिं विमानं कर्मभिर्जितम्।
समुपारोह संसिद्धिं प्राप्तोऽसि परमां मुने ॥ ३२ ॥

देवदूतने ब्रह्मर्षि मुद्गलसे कहा—'मुने! यह विमान आपको शुभ कर्मोंसे प्राप्त हुआ है। इसपर बैठिये। आप परम सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं' ॥ ३२ ॥



तमेवंवादिनमृषिर्देवदूतमुवाच ह।
[illegible]नाम् ॥ ३३ ॥

के गुणास्तत्र वसतां किं तपः कश्च निश्चयः ।
स्वर्गे तत्र सुखं किं च दोषो वा देवदूतक ॥ ३४ ॥

देवदूतके ऐसा कहनेपर महर्षि मुद्गलने उससे कहा—'देवदूत ! मैं तुम्हारे मुखसे स्वर्गवासियोंके गुण सुनना चाहता हूँ । वहाँ रहनेवालोंमें कौन-कौनसे गुण होते हैं ? कैसी तपस्या होती है ? और उनका निश्चित विचार कैसा होता है ? स्वर्गमें क्या सुख है और वहाँ क्या दोष है ? ॥ ३३-३४ ॥

सतां साप्तपदं मैत्रमाहुः सन्तः कुलोचिताः ।
मित्रतां च पुरस्कृत्य पृच्छामि त्वामहं विभो ॥ ३५ ॥

'प्रभो ! सत्पुरुषोंमें सात पग एक साथ चलनेसे ही मित्रता हो जाती है, ऐसा कुलीन सत्पुरुषोंका कथन है । मैं उसी मैत्रीको सामने रखकर तुमसे उपर्युक्त प्रश्न पूछ रहा हूँ ॥ ३५ ॥

यदत्र तथ्यं पथ्यं च तद् ब्रवीह्यविचारयन् ।
श्रुत्वा तथा करिष्यामि व्यवसायं गिरा तव ॥ ३६ ॥

'इसके उत्तरमें जो सत्य एवं हितकर बात हो, उसे बिना किसी हिचकिचाहटके कहो । तुम्हारी बात सुनकर उसीके द्वारा मैं अपने कर्तव्यका निश्चय करूँगा' ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि मुद्गलोपाख्याने षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत व्रीहिद्रौणिकपर्वमें मुद्गलोपाख्यानसम्बन्धी दो सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२६०॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३६½ श्लोक हैं)

एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

देवदूतद्वारा स्वर्गलोकके गुण-दोषोंका तथा दोषरहित विष्णुधामका वर्णन सुनकर मुद्गलका देवदूतको लौटा देना एवं व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाकर अपने आश्रमको लौट जाना

देवदूत उवाच

महर्षे आर्यबुद्धिस्त्वं यः स्वर्गसुखमुत्तमम् ।
सम्प्राप्तं बहु मन्तव्यं विमृशस्यबुधो यथा ॥ १ ॥

देवदूत बोला—महर्षे ! तुम्हारी बुद्धि बड़ी उत्तम है । जिस उत्तम स्वर्गीय सुखको दूसरे लोग बहुत बड़ी चीज समझते हैं, वह तुम्हें प्राप्त ही है, फिर भी तुम अनजान-से बनकर इसके सम्बन्धमें विचार करते हो—इसके गुण-दोषकी समीक्षा कर रहे हो ॥ १ ॥

उपरिष्टादसौ लोको योऽयं स्वरिति संज्ञितः ।
ऊर्ध्वगः सत्पथः शश्वद् देवयानचरो मुने ॥ २ ॥

मुने ! जिसे स्वर्लोक कहते हैं, वह यहाँसे बहुत ऊपर है । वहाँ पहुँचनेके लिये ऊपरको जाया जाता है, इसलिये उसका एक नाम ऊर्ध्वग भी है । वहाँ जानेके लिये जो मार्ग है, वह बहुत उत्तम है । वहाँके लोग सदा विमानोंपर विचरा करते हैं ॥ २ ॥

नातप्ततपसः पुंसो नामहायज्ञयाजिनः ।
नानृता नास्तिकाश्चैव तत्र गच्छन्ति मुद्गल ॥ ३ ॥

मुद्गल ! जिन्होंने तपस्या नहीं की है, बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा यजन नहीं किया है तथा जो असत्यवादी एवं नास्तिक हैं, वे उस लोकमें नहीं जा पाते हैं ॥ ३ ॥

धर्मात्मानो जितात्मानः शान्ता दान्ता विमत्सराः ।
दानधर्मरता मर्त्याः शूराश्चाहवलक्षणाः ॥ ४ ॥
तत्र गच्छन्ति धर्माग्र्यं कृत्वा शमदमात्मकम् ।
लोकान् पुण्यकृतां ब्रह्मन् सद्भिराचरितान् नृभिः ॥ ५ ॥

ब्रह्मन् ! धर्मात्मा, मनको वशमें रखनेवाले, शम-दमसे सम्पन्न, ईर्ष्यारहित, दानधर्मपरायण तथा युद्धकलामें प्रसिद्ध शूरवीर मनुष्य ही वहाँ सब धर्मोंमें श्रेष्ठ इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रहरूपी योगको अपनाकर सत्पुरुषोंद्वारा सेवित पुण्यवानोंके लोकोंमें जाते हैं ॥ ४-५ ॥

देवाः साध्यास्तथा विश्वे तथैव च महर्षयः ।
यामा धामाश्च मौद्गल्य* गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ६ ॥
एषां देवनिकायानां पृथक् पृथगनेकशः ।
भास्वन्तः कामसम्पन्ना लोकास्तेजोमयाः शुभाः ॥ ७ ॥

मुद्गल ! वहाँ देवता, साध्य, विश्वेदेव, महर्षिगण, याम, धाम, गन्धर्व तथा अप्सरा—इन सब देवसमूहोंके अलग-अलग अनेक प्रकाशमान लोक हैं, जो इच्छानुसार प्राप्त होनेवाले भोगोंसे सम्पन्न, तेजस्वी तथा मङ्गलकारी हैं ।६-७।

त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि योजनानि हिरण्मयः ।
मेरुः पर्वतराड् यत्र देवोद्यानानि मुद्गल ॥ ८ ॥
नन्दनादीनि पुण्यानि विहाराः पुण्यकर्मणाम् ।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिर्न शीतोष्णे भयं तथा ॥ ९ ॥

स्वर्गमें तैंतीस हजार योजनका सुवर्णमय एक बहुत ऊँचा पर्वत है, जो मेरुगिरिके नामसे विख्यात है । मुद्गल ! वहीं देवताओंके नन्दन आदि पवित्र उद्यान तथा पुण्यात्मा पुरुषोंके विहारस्थल हैं । वहाँ किसीको भूख-प्यास नहीं लगती, मनमें कभी ग्लानि नहीं होती, गर्मी और जाड़ेका कष्ट भी नहीं होता और न कोई भय ही होता है ॥ ८-९ ॥

बीभत्समशुभं वापि तत्र किंचिन्न विद्यते ।
मनोज्ञाः सर्वतो गन्धाः सुखस्पर्शाश्च सर्वशः ॥ १० ॥

* मुद्गल ऋषिका ही 'मौद्गल्य' भी कहा है ।

शब्दाः श्रुतिमनोग्राह्याः सर्वतस्तत्र वै मुने।
न शोको न जरा तत्र नायासपरिदेवने ॥ ११ ॥

वहाँ कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो घृणा करने योग्य एवं अशुभ हो। वहाँ सब ओर मनोरम सुगन्ध, सुखदायक स्पर्श तथा कानों और मनको प्रिय लगनेवाले मधुर शब्द सुननेमें आते हैं। मुने! स्वर्गलोकमें न शोक होता है, न बुढ़ापा। वहाँ थकावट तथा करुणाजनक विलाप भी श्रवण-गोचर नहीं होते ॥ १०-११ ॥

ईदृशः स मुने लोकः स्वकर्मफलहेतुकः।
सुकृतैस्तत्र पुरुषाः सम्भवन्त्यात्मकर्मभिः ॥ १२ ॥

महर्षे! स्वर्गलोक ऐसा ही है। अपने सत्कर्मोंके फल-रूप ही उसकी प्राप्ति होती है। मनुष्य वहाँ अपने किये हुए पुण्यकर्मोंसे ही रह पाते हैं ॥ १२ ॥

तैजसानि शरीराणि भवन्त्यत्रोपपद्यताम्।
कर्मजान्येव मौद्गल्य न मातृपितृजान्युत ॥ १३ ॥

मुद्गल! स्वर्गवासियोंके शरीरमें तैजस तत्त्वकी प्रधानता होती है। वे शरीर पुण्यकर्मोंसे ही उपलब्ध होते हैं। माता-पिताके रजोवीर्यसे उनकी उत्पत्ति नहीं होती है ॥ १३ ॥

न संस्वेदो न दौर्गन्ध्यं पुरीषं मूत्रमेव च।
तेषां न च रजो वस्त्रं बाधते तत्र वै मुने ॥ १४ ॥

उन शरीरोंमें कभी पसीना नहीं निकलता, दुर्गन्ध नहीं आती तथा मल-मूत्रका भी अभाव होता है। मुने! उनके कपड़ोंमें कभी मैल नहीं बैठती है ॥ १४ ॥

न म्लायन्ति स्रजस्तेषां दिव्यगन्धा मनोरमाः।
संयुज्यन्ते विमानैश्च ब्रह्मन्नेवंविधैश्च ते ॥ १५ ॥

स्वर्गवासियोंकी जो (दिव्य कुसुमोंकी) मालाएँ होती हैं, वे कभी कुम्हलाती नहीं हैं। उनसे निरन्तर दिव्य सुगन्ध फैलती रहती है तथा वे देखनेमें भी बड़ी मनोरम होती हैं। ब्रह्मन्! स्वर्गके सभी निवासी ऐसे ही विमानोंसे सम्पन्न होते हैं ॥ १५ ॥

ईर्ष्याशोकक्लमापेता मोहमात्सर्यवर्जिताः।
सुखं स्वर्गजितस्तत्र वर्तयन्ते महामुने ॥ १६ ॥

महामुने! जो अपने सत्कर्मोंद्वारा स्वर्गलोकपर विजय पा चुके हैं, वे वहाँ बड़े सुखसे जीवन बिताते हैं। उनमें किसीके प्रति ईर्ष्या नहीं होती, वे कभी शोक तथा थकावटका अनुभव नहीं करते एवं मोह तथा मात्सर्य (द्वेषभाव) से सदा दूर रहते हैं ॥ १६ ॥

तेषां तथाविधानां तु लोकानां मुनिपुङ्गव।
उपर्युपरि लोकस्य लोका दिव्या गुणान्विताः ॥ १७ ॥

मुनिश्रेष्ठ! देवताओंके जो पूर्वोक्त प्रकारके लोक हैं, उन सबसे ऊपर अन्य कितने ही विविध गुणसम्पन्न दिव्य लोक हैं ॥ १७ ॥

पुरस्ताद् ब्राह्मणास्तत्र लोकास्तेजोमयाः शुभाः।
यत्र यान्त्यृषयो ब्रह्मन् पूताः स्वैः कर्मभिः शुभैः ॥ १८ ॥

उन सबसे ऊपर ब्रह्माजीके लोक हैं, जो अत्यन्त तेजस्वी एवं मङ्गलकारी हैं। ब्रह्मन्! वहाँ अपने शुभ कर्मोंसे पवित्र ऋषि, मुनि जाते हैं ॥ १८ ॥

ऋभवो नाम तत्रान्ये देवानामपि देवताः।
तेषां लोकात् परतरे यान् यजन्तीह देवताः ॥ १९ ॥

वहीं ऋभु नामक दूसरे देवता रहते हैं, जो देवगणोंके भी आराध्यदेव हैं। देवताओंके लोकोंसे उनका स्थान उत्कृष्ट है। देवतालोग भी यज्ञोंद्वारा उनका यजन करते हैं ॥ १९ ॥

स्वयंप्रभास्ते भास्वन्तो लोकाः कामदुघाः परे।
न तेषां स्त्रीकृतस्तापो न लोकैश्वर्यमत्सरः ॥ २० ॥

उनके उत्तम लोक स्वयंप्रकाश, तेजस्वी और सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले हैं। उन्हें स्त्रियोंके लिये संताप नहीं होता। लोकोंके ऐश्वर्यके लिये उनके मनमें कभी ईर्ष्या नहीं होती ॥ २० ॥

न वर्तयन्त्याहुतिभिस्ते नाप्यमृतभोजनाः।
तथा दिव्यशरीरास्ते न च विग्रहमूर्तयः ॥ २१ ॥

वे देवताओंकी तरह आहुतियोंसे जीविका नहीं चलाते। उन्हें अमृत पीनेकी भी आवश्यकता नहीं होती। उनके शरीर दिव्य ज्योतिर्मय हैं। उनकी कोई विशेष आकृति नहीं होती ॥ २१ ॥

न सुखे सुखकामास्ते देवदेवाः सनातनाः।
न कल्पपरिवर्तेषु परिवर्तन्ति ते तथा ॥ २२ ॥

वे सुखमें प्रतिष्ठित हैं, परंतु सुखकी कामना नहीं रखते। वे देवताओंके भी देवता और सनातन हैं। कल्पका अन्त होनेपर भी उनकी स्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं होता—वे ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं ॥ २२ ॥

जरा मृत्युः कुतस्तेषां हर्षः प्रीतिः सुखं न च।
न दुःखं न सुखं चापि रागद्वेषौ कुतो मुने ॥ २३ ॥

मुने! उनमें जरा-मृत्युकी सम्भावना तो हो ही कैसे सकती है? हर्ष, प्रीति तथा सुख आदि विकारोंका भी उनमें सर्वथा अभाव ही है। ऐसी स्थितिमें उनके भीतर दुःख-सुख तथा राग-द्वेषादि कैसे रह सकते हैं? ॥ २३ ॥

देवानामपि मौद्गल्य काङ्क्षिता सा गतिः परा।
दुष्प्रापा परमा सिद्धिरगम्या कामगोचरैः ॥ २४ ॥

मौद्गल्य! स्वर्गवासी देवता भी उस (ऋभु नामक देवताओंकी) परमगतिको प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं।

वह परा सिद्धिकी अवस्था है, जो अत्यन्त दुर्लभ है। विषय-भोगोंकी इच्छा रखनेवाले लोगोंकी वहाँतक पहुँच नहीं होती॥

त्रयस्त्रिंशदिमे देवा येषां लोका मनीषिभिः।
गम्यन्ते नियमैः श्रेष्ठैर्दानैर्वा विधिपूर्वकैः॥ २५॥

ये जो तैंतीस देवता हैं, उन्हींके लोकोंको मनीषी पुरुष उत्तम नियमोंके आचरणसे अथवा विधिपूर्वक दिये हुए दानोंसे प्राप्त करते हैं॥ २५॥

सेयं दानकृता व्युष्टिरनुप्राप्ता सुखं त्वया।
तां भुङ्क्ष्व सुकृतैर्लब्धां तपसा द्योतितप्रभः॥ २६॥

ब्रह्मन्! तुमने अपने दानके प्रभावसे अनायास ही वह स्वर्गीय सुख-सम्पत्ति प्राप्त कर ली है। अपनी तपस्याके तेजसे देदीप्यमान होकर अब तुम अपने पुण्यसे प्राप्त हुए उस दिव्य वैभवका उपभोग करो॥ २६॥

एतत् स्वर्गसुखं विप्र लोका नानाविधास्तथा।
गुणाः स्वर्गस्य प्रोक्तास्ते दोषानपि निबोध मे॥ २७॥

विप्रवर! यही स्वर्गका सुख है और ऐसे ही वहाँ भाँति-भाँतिके लोक हैं। यहाँतक मैंने तुम्हें स्वर्गके गुण बताये हैं; अब वहाँके दोष भी मुझसे सुन लो॥ २७॥

कृतस्य कर्मणस्तत्र भुज्यते यत् फलं दिवि।
न चान्यत् क्रियते कर्म मूलच्छेदेन भुज्यते॥ २८॥

अपने किये हुए सत्कर्मोंका जो फल होता है, वही स्वर्गमें भोगा जाता है। वहाँ कोई नया कर्म नहीं किया जाता। अपना पुण्यरूप मूलधन गँवानेसे ही वहाँके भोग प्राप्त होते हैं॥ २८॥

सोऽत्र दोषो मम मतस्तस्यान्ते पतनं च यत्।
सुखव्याप्तमनस्कानां पतनं यच्च मुद्गल॥ २९॥

मुद्गल! स्वर्गमें सबसे बड़ा दोष मुझे यह जान पड़ता है कि कर्मोंका भोग समाप्त होनेपर एक दिन वहाँसे पतन हो ही जाता है। जिनका मन सुखभोगमें लगा हुआ है, उनको सहसा पतन कितना दुःखदायी होता है॥ २९॥

असंतोषः परीतापो दृष्ट्वा दीप्ततराः श्रियः।
यद् भवत्यवरे स्थाने स्थितानां तत् सुदुष्करम्॥ ३०॥

स्वर्गमें भी जो लोग नीचेके स्थानोंमें स्थित हैं, उन्हें अपनेसे ऊपरके लोकोंकी समुज्ज्वल श्रीसम्पत्ति देखकर जो असंतोष और संताप होता है, उसका वर्णन करना अत्यन्त कठिन है॥ ३०॥

संज्ञामोहश्च पततां रजसा च प्रधर्षणम्।
प्रम्लानेषु च माल्येषु ततः पिपतिषोर्भयम्॥ ३१॥

स्वर्गलोकसे गिरते समय वहाँके निवासियोंकी चेतना लुप्त हो जाती है। रजोगुणके आक्रमणसे उनकी बुद्धि बिगड़ जाती है। पहले उनके गलेकी मालाएँ कुम्हला जाती हैं; इससे उन्हें पतनकी सूचना मिल जानेसे उनके मनमें बड़ा भारी भय समा जाता है॥ ३१॥

आब्रह्मभवनादेते दोषा मौद्गल्य दारुणाः।
नाकलोके सुकृतिनां गुणास्त्वयुतशो नृणाम्॥ ३२॥

मौद्गल्य! ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने लोक हैं, उन सबमें ये भयंकर दोष देखे जाते हैं। स्वर्गलोकमें रहते समय तो पुण्यात्मा पुरुषोंमें सहस्रों गुण होते हैं॥ ३२॥

अयं त्वन्यो गुणः श्रेष्ठश्च्युतानां स्वर्गतो मुने।
शुभानुशययोगेन मनुष्येषूपजायते॥ ३३॥

मुने! परंतु वहाँसे भ्रष्ट हुए जीवोंका भी यह एक अन्य श्रेष्ठ गुण देखा जाता है कि वे अपने शुभ कर्मोंके संस्कारसे युक्त होनेके कारण मनुष्ययोनिमें ही जन्म पाते हैं॥ ३३॥

तत्रापि स महाभागः सुखभागभिजायते।
न चेत् सम्बुध्यते तत्र गच्छत्यधमतां ततः॥ ३४॥

वहाँ भी वह महाभाग मानव सुखके साधनोंसे सम्पन्न होकर ही उत्पन्न होता है। परंतु यदि मानवयोनिमें वह अपने कर्तव्यको न समझे, तो उससे भी नीची योनिमें चला जाता है॥ ३४॥

इह यत् क्रियते कर्म तत् परत्रोपभुज्यते।
कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमिरसौ मता॥ ३५॥

इस मनुष्यलोकमें मानव शरीरद्वारा जो कर्म किया जाता है, उसीको परलोकमें भोगा जाता है। ब्रह्मन्! यह कर्म-भूमि और वह फलभोगकी भूमि मानी गयी है॥ ३५॥

मुद्गल उवाच

महान्तस्तु अमी दोषास्त्वया स्वर्गस्य कीर्तिताः।
निर्दोष एव यस्त्वन्यो लोकं तं प्रवदस्व मे॥ ३६॥

मुद्गल बोले—देवदूत! तुमने स्वर्गके महान् दोष बताये, परंतु स्वर्गकी अपेक्षा यदि कोई दूसरा लोक इन दोषोंसे सर्वथा रहित हो, तो मुझसे उसीका वर्णन करो॥

देवदूत उवाच

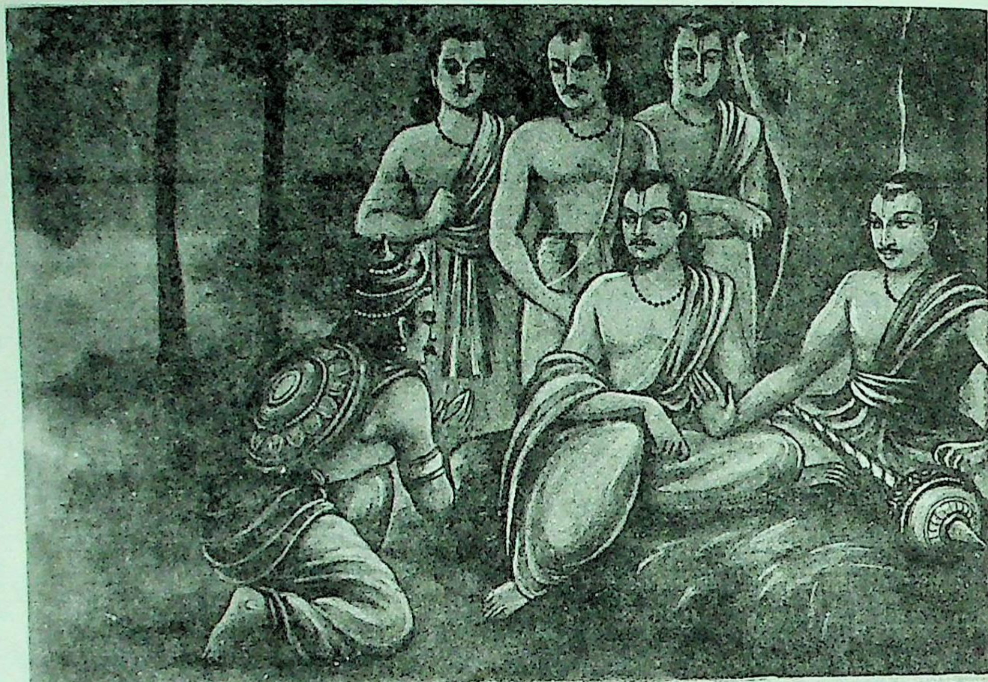
ब्रह्मणः सदनादूर्ध्वं तद् विष्णोः परमं पदम्।
शुद्धं सनातनं ज्योतिः परं ब्रह्मेति यद् विदुः॥ ३७॥

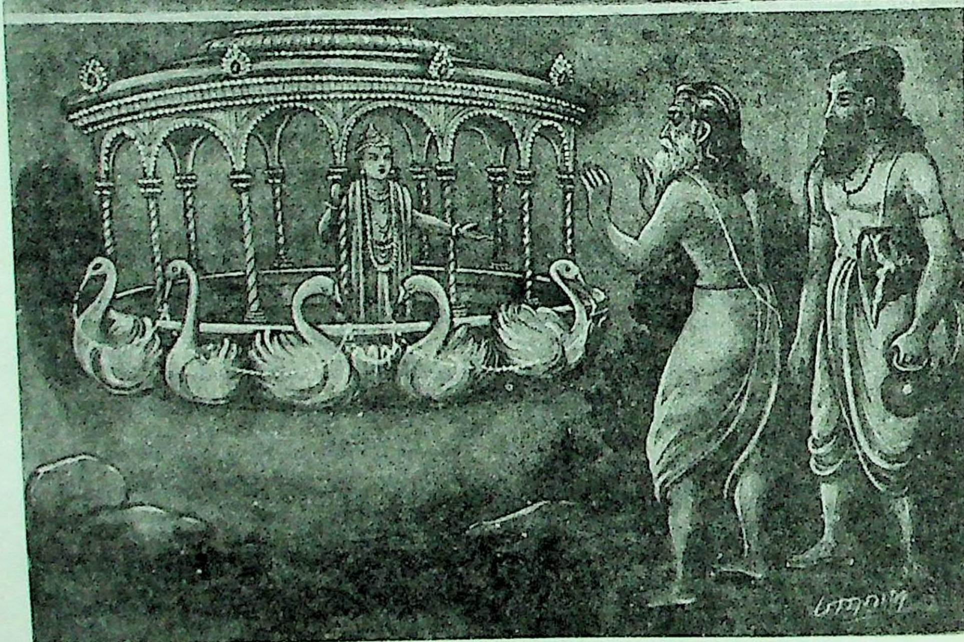
देवदूतने कहा—ब्रह्माजीके भी लोकसे ऊपर भगवान् विष्णुका परम धाम है। वह शुद्ध सनातन ज्योतिर्मय लोक है। उसे परब्रह्म भी कहते हैं॥ ३७॥

न तत्र विप्र गच्छन्ति पुरुषा विषयात्मकाः।
दम्भलोभमहाक्रोधमोहद्रोहैरभिद्रुताः॥ ३८॥

विप्रवर! जिनका मन विषयोंमें रचा-पचा रहता है, वे लोग वहाँ नहीं जा सकते। दम्भ, लोभ, महाक्रोध, मोह और

पाण्डवोंके पास दुर्योधनका दूत





मुद्गलका स्वर्ग जानेसे इन्कार

द्रोहसे युक्त मनुष्य भी वहाँ नहीं पहुँच सकते ॥ ३८ ॥

निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वाः संयतेन्द्रियाः।
ध्यानयोगपराश्चैव तत्र गच्छन्ति मानवाः ॥ ३९ ॥

जो ममता और अहंकारसे रहित, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे ऊपर उठे हुए, जितेन्द्रिय तथा ध्यानयोगमें तत्पर हैं, वे मनुष्य ही उस लोकमें जा सकते हैं ॥ ३९ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां पृच्छसि मुद्गल।
तवानुकम्पया साधो साधु गच्छाम माचिरम् ॥ ४० ॥

मुद्गल ! तुमने जो कुछ मुझसे पूछा था, वह सब मैंने कह सुनाया। साधो ! अब आपकी कृपासे हमलोग सुखपूर्वक स्वर्गकी यात्रा करें, विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥ ४० ॥

व्यास उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु मौद्गल्यो वाक्यं विममृशे धिया।
विमृश्य च मुनिश्रेष्ठो देवदूतमुवाच ह ॥ ४१ ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन्! देवदूतकी यह बात सुनकर मुनिश्रेष्ठ मुद्गलने उसपर बुद्धिपूर्वक विचार किया। विचार करके उन्होंने देवदूतसे कहा—॥ ४१ ॥

देवदूत नमस्तेऽस्तु गच्छ तात यथासुखम्।
महादोषेण मे कार्यं न स्वर्गेण सुखेन वा ॥ ४२ ॥

'देवदूत ! तुम्हें नमस्कार है। तात ! तुम सुखपूर्वक पधारो। स्वर्ग अथवा वहाँका सुख महान् दोषसे युक्त है; इसलिये मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४२ ॥

पतनान्ते महद् दुःखं परितापः सुदारुणः।
स्वर्गभाजश्चरन्तीह तस्मात् स्वर्गं न कामये ॥ ४३ ॥

'ओह ! पतनके बाद तो स्वर्गवासी मनुष्योंको अत्यन्त भयंकर महान् दुःख और अनुताप होता है और फिर वे इसी लोकमें विचरते रहते हैं; इसलिये मुझे स्वर्गमें जानेकी इच्छा नहीं है ॥ ४३ ॥

यत्र गत्वा न शोचन्ति न व्यथन्ति चलन्ति वा।
तदहं स्थानमत्यन्तं मार्गयिष्यामि केवलम् ॥ ४४ ॥

'जहाँ जाकर मनुष्य कभी शोक नहीं करते, व्यथित नहीं होते तथा जहाँसे विचलित नहीं होते हैं, केवल उसी अक्षय धामका मैं अनुसंधान करूँगा' ॥ ४४ ॥

इत्युक्त्वा स मुनिर्वाक्यं देवदूतं विसृज्य तम्।
शिलोञ्छवृत्तिर्धर्मात्मा शममातिष्ठदुत्तमम् ॥ ४५ ॥

ऐसा कहकर मुद्गल मुनिने उस देवदूतको विदा कर दिया और शिल एवं उञ्छवृत्तिसे जीवन निर्वाह करनेवाले वे धर्मात्मा महर्षि उत्तम रीतिसे शम-दम आदि नियमोंका पालन करने लगे ॥ ४५ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्भूत्वा समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
ज्ञानयोगेन शुद्धेन ध्याननित्यो बभूव ह ॥ ४६ ॥

उनकी दृष्टिमें निन्दा और स्तुति समान हो गयी। वे मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझने लगे और विशुद्ध ज्ञानयोगके द्वारा नित्य ध्यानमें तत्पर रहने लगे ॥ ४६ ॥

ध्यानयोगाद् बलं लब्ध्वा प्राप्य बुद्धिमनुत्तमाम्।
जगाम शाश्वतीं सिद्धिं परां निर्वाणलक्षणाम् ॥ ४७ ॥

ध्यानसे (परम वैराग्यका) बल पाकर उन्हें उत्तम बोध प्राप्त हुआ और उसके द्वारा उन्होंने सनातन मोक्षरूपा परम सिद्धि प्राप्त कर ली ॥ ४७ ॥

तस्मात् त्वमपि कौन्तेय न शोकं कर्तुमर्हसि।
राज्यात् स्फीतात् परिभ्रष्टस्तपसा तदवाप्स्यसि ॥ ४८ ॥

कुन्तीनन्दन ! इसलिये तुम भी समृद्धिशाली राज्यसे भ्रष्ट होनेके कारण शोक न करो; तपस्याद्वारा तुम उसे प्राप्त कर लोगे ॥ ४८ ॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
पर्यायेणोपसर्पन्ते नरं नेमिमरा इव ॥ ४९ ॥

मनुष्यपर सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख बारी-बारीसे आते रहते हैं। जैसे अरे नेमिसे जुड़े हुए ऊँचे-नीचे आते रहते हैं, वैसे ही मनुष्यका दुःख-सुखसे सम्बन्ध होता रहता है ॥ ४९ ॥

पितृपैतामहं राज्यं प्राप्स्यस्यमितविक्रम।
वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ५० ॥

अमितपराक्रमी युधिष्ठिर ! तुम तेरहवें वर्षके बाद अपने बाप-दादोंका राज्य प्राप्त कर लोगे, अतः अब तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ ५० ॥

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्त्वा भगवान् व्यासः पाण्डवनन्दनम्।
जगाम तपसे धीमान् पुनरेवाश्रमं प्रति ॥ ५१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! परम बुद्धिमान् भगवान् व्यास पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर तपस्याके लिये पुनः अपने आश्रमकी ओर चले गये ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि मुद्गलदेवदूतसंवादे एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत व्रीहिद्रौणिकपर्वमें मुद्गल-देवदूत-संवादविषयक दो सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६१ ॥

(द्रौपदीहरणपर्व)

द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका महर्षि दुर्वासाको आतिथ्यसत्कारसे संतुष्ट करके उन्हें युधिष्ठिरके पास भेजकर प्रसन्न होना

जनमेजय उवाच

वसत्स्वेवं वने तेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
रममाणेषु चित्राभिः कथाभिर्मुनिभिः सह ॥ १ ॥
सूर्यदत्ताक्षयान्नेन कृष्णाया भोजनावधि ।
ब्राह्मणांस्तर्पमाणेषु ये चान्नार्थमुपागताः ॥ २ ॥
धार्तराष्ट्रा दुरात्मानः सर्वे दुर्योधनादयः ।
कथं तेष्वन्ववर्तन्त पापाचारा महामुने ॥ ३ ॥
दुःशासनस्य कर्णस्य शकुनेश्च मते स्थिताः ।
एतदाचक्ष्व भगवन् वैशम्पायन पृच्छतः ॥ ४ ॥

जनमेजयने पूछा—महामुनि वैशम्पायनजी ! जब महात्मा पाण्डव इस प्रकार वनमें रहकर मुनियोंके साथ विचित्र कथावार्ताद्वारा मनोरञ्जन करते थे तथा जबतक द्रौपदी भोजन न कर ले, तबतक सूर्यके दिये हुए अक्षय पात्रसे प्राप्त होनेवाले अन्नसे वे उन ब्राह्मणोंको तृप्त करते थे, जो भोजनके लिये उनके पास आये होते थे; उन दिनों दुःशासन, कर्ण और शकुनिके मतके अनुसार चलनेवाले पापाचारी दुरात्मा दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रपुत्रोंने उन पाण्डवोंके साथ कैसा बर्ताव किया ? भगवन् ! मेरे प्रश्नके अनुसार ये सब बातें कहिये ॥ १–४ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तेषां तथा वृत्तिं नगरे वसतामिव ।
दुर्योधनो महाराज तेषु पापमरोचयत् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज ! जब दुर्योधनने सुना कि पाण्डवलोग तो वनमें भी उसी प्रकार दान-पुण्य करते हुए आनन्दसे रह रहे हैं, जैसे नगरके निवासी रहा करते हैं, तब उसने उनका अनिष्ट करनेका विचार किया ॥ ५ ॥

तथा तैर्निकृतिप्रज्ञैः कर्णदुःशासनादिभिः ।
नानोपायैरघं तेषु चिन्तयत्सु दुरात्मसु ॥ ६ ॥
अभ्यागच्छत् स धर्मात्मा तपस्वी सुमहायशाः ।
शिष्यायुतसमोपेतो दुर्वासा नाम कामतः ॥ ७ ॥

इस प्रकार सोचकर छल-कपटकी विद्यामें निपुण कर्ण और दुःशासन आदिके साथ जब वे दुरात्मा धृतराष्ट्र पुत्र भाँति-भाँतिके उपायोंसे पाण्डवोंको संकटमें डालनेकी युक्तिका विचार कर रहे थे, उसी समय महायशस्वी धर्मात्मा तपस्वी महर्षि दुर्वासा अपने दस हजार शिष्यों-को साथ लिये हुए वहाँ स्वेच्छासे ही आ पहुँचे ॥ ६-७ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य मुनिं परमकोपनम् ।
दुर्योधनो विनीतात्मा प्रश्रयेण दमेन च ॥ ८ ॥
सहितो भ्रातृभिः श्रीमानातिथ्येन न्यमन्त्रयत् ।

परम क्रोधी दुर्वासा मुनिको आया देख भाइयोंसहित श्रीमान् राजा दुर्योधनने अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखकर नम्रतापूर्वक विनीतभावसे उन्हें अतिथिसत्कारके रूपमें निमन्त्रित किया ॥ ८½ ॥

विधिवत् पूजयामास स्वयं किङ्करवत् स्थितः ॥ ९ ॥
अहानि कतिचित् तत्र तस्थौ स मुनिसत्तमः ।

दुर्योधनने स्वयं दासकी भाँति उनकी सेवामें खड़े रहकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की । मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा कई दिनोंतक वहाँ ठहरे रहे ॥ ९½ ॥

तं च पर्यचरद् राजा दिवारात्रमतन्द्रितः ॥ १० ॥
दुर्योधनो महाराज शापात् तस्य विशङ्कितः ।

महाराज जनमेजय ! राजा दुर्योधन (श्रद्धासे नहीं, अपितु) उनके शापसे डरता हुआ दिन-रात आलस्य छोड़कर उनकी सेवामें लगा रहा ॥ १०½ ॥

क्षुधितोऽस्मि ददस्वान्नं शीघ्रं मम नराधिप ॥ ११ ॥
इत्युक्त्वा गच्छति स्नातुं प्रत्यागच्छति वै चिरात् ।
न भोक्ष्याम्यद्य मे नास्ति क्षुधेत्युक्त्वैत्यदर्शनम् ॥ १२ ॥

वे मुनि कभी कहते कि 'राजन् ! मैं बहुत भूखा हूँ, मुझे शीघ्र भोजन दो' ऐसा कहकर वे स्नान करनेके लिये चले जाते और बहुत देरके बाद लौटते थे । लौटकर वे कह देते—'मैं नहीं खाऊँगा; आज मुझे भूख नहीं है' ऐसा कहकर अदृश्य हो जाते थे ॥ ११-१२ ॥

अकस्मादेत्य च ब्रूते भोजयास्मांस्त्वरान्वितः ।
कदाचिच्च निशीथे स उत्थाय निकृतौ स्थितः ॥ १३ ॥
पूर्ववत् कारयित्वान्नं न भुङ्क्ते गर्हयन् स सः ।

फिर कहींसे अकस्मात् आकर कहते—'हमलोगोंको जल्दी भोजन कराओ ।' कभी आधी रातमें उठकर उसे नीचा दिखानेके लिये उद्यत हो पूर्ववत् भोजन बनवाकर उस भोजनकी निन्दा करते हुए भोजन करनेसे इन्कार कर देते थे ॥ १३½ ॥

वर्तमाने तथा तस्मिन् यदा दुर्योधनो नृपः ॥ १४ ॥
विकृतिं नैति न क्रोधं तदा तुष्टोऽभवन्मुनिः ।
आह चैनं दुराधर्षो वरदोऽस्मीति भारत ॥ १५ ॥

भारत ! ऐसा उन्होंने कई बार किया, तो भी जब राजा दुर्योधनके मनमें विकार या क्रोध नहीं उत्पन्न हुआ, तब वे दुर्धर्ष मुनि उसपर बहुत प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—'मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ' ॥ १४-१५ ॥

दुर्वासा उवाच

वरं वरय भद्रं ते यत् ते मनसि वर्तते।
मयि प्रीते तु यद् धर्म्यं नालभ्यं विद्यते तव ॥ १६ ॥

दुर्वासा बोले—राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो, उसके लिये वर माँगो । मेरे प्रसन्न होनेपर जो धर्मानुकूल वस्तु होगी, वह तुम्हारे लिये अलभ्य नहीं रहेगी ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य महर्षेर्भावितात्मनः।
अमन्यत पुनर्जातमात्मानं स सुयोधनः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शुद्ध अन्तः-करणवाले महर्षि दुर्वासाका यह वचन सुनकर दुर्योधनने मन-ही-मन ऐसा समझा, मानो उसका नया जन्म हुआ हो ॥ १७ ॥

प्रागेव मन्त्रितं चासीत् कर्णदुःशासनादिभिः।
याचनीयं मुनेस्तुष्टादिति निश्चित्य दुर्मतिः ॥ १८ ॥
अतिहर्षान्वितो राजन् वरमेनमयाचत।
शिष्यैः सह मम ब्रह्मन् यथा जातोऽतिथिर्भवान् ॥१९॥
अस्मत्कुले महाराजो ज्येष्ठः श्रेष्ठो युधिष्ठिरः।
वने वसति धर्मात्मा भ्रातृभिः परिवारितः ॥ २० ॥
गुणवान् शीलसम्पन्नस्तस्य त्वमतिथिर्भव।

मुनि संतुष्ट हों, तो क्या माँगना चाहिये, इस बातके लिये कर्ण और दुःशासन आदिके साथ उसकी पहलेसे ही सलाह हो चुकी थी । राजन् ! उसी निश्चयके अनुसार दुर्बुद्धि दुर्योधनने अत्यन्त प्रसन्न होकर यह वर माँगा—'ब्रह्मन् ! हमारे कुलमें महाराज युधिष्ठिर सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं । इस समय वे धर्मात्मा पाण्डुकुमार अपने भाइयोंके साथ वनमें निवास करते हैं । युधिष्ठिर बड़े गुणवान् और सुशील हैं । जिस प्रकार आप मेरे अतिथि हुए, उसी तरह शिष्योंके सहित आप उनके भी अतिथि होइये ॥ १८–२०½ ॥

यदा च राजपुत्री सा सुकुमारी यशस्विनी ॥ २१ ॥
भोजयित्वा द्विजान् सर्वान् पतींश्च वरवर्णिनी।
विश्रान्ता च स्वयं भुक्त्वा सुखासीना भवेद् यदा ॥२२॥
तदा त्वं तत्र गच्छेथा यद्यनुग्राह्यता मयि।

'यदि आपकी मुझपर कृपा हो तो मेरी प्रार्थनासे आप वहाँ ऐसे समयमें जाइयेगा, जब परम सुन्दरी यशस्विनी सुकुमारी राजकुमारी द्रौपदी समस्त ब्राह्मणों तथा पाँचों पतियोंको भोजन कराकर स्वयं भी भोजन करनेके पश्चात् सुखपूर्वक बैठकर विश्राम कर रही हो' ॥ २१–२२½ ॥

तथा करिष्ये त्वत्प्रीत्येत्येवमुक्त्वा सुयोधनम् ॥२३॥
दुर्वासा अपि विप्रेन्द्रो यथागतमगात् ततः।
कृतार्थमपि चात्मानं तदा मेने सुयोधनः ॥ २४ ॥

'तुमपर प्रेम होनेके कारण मैं वैसा ही करूँगा', दुर्योधनसे ऐसा कहकर विप्रवर दुर्वासा जैसे आये थे, वैसे ही चले गये । उस समय दुर्योधनने अपने आपको कृतार्थ माना ॥ २३-२४ ॥

करेण च करं गृह्य कर्णस्य मुदितो भृशम्।
कर्णोऽपि भ्रातृसहितमित्युवाच नृपं मुदा ॥ २५ ॥

वह कर्णका हाथ अपने हाथमें लेकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ । कर्णने भी भाइयोंसहित राजा दुर्योधनसे बड़े हर्षके साथ इस प्रकार कहा ॥ २५ ॥

कर्ण उवाच

दिष्ट्या कामः सुसंवृत्तो दिष्ट्या कौरव वर्धसे।
दिष्ट्या ते शत्रवो मग्ना दुस्तरे व्यसनार्णवे ॥ २६ ॥

कर्ण बोला—कुरुनन्दन ! सौभाग्यसे हमारा काम बन गया । तुम्हारा अभ्युदय हो रहा है, यह भी भाग्यकी ही बात है । तुम्हारे शत्रु विपत्तिके अपार महासागरमें डूब गये, यह कितने सौभाग्यकी बात है ? ॥ २६ ॥

दुर्वासःक्रोधजे वह्नौ पतिताः पाण्डुनन्दनाः।
स्वैरेव ते महापापैर्गता वै दुस्तरं तमः ॥ २७ ॥

पाण्डव दुर्वासाकी क्रोधाग्निमें गिर गये हैं और अपने ही महापापोंके कारण वे दुस्तर नरकमें जा पड़े हैं ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्थं ते निकृतिप्रज्ञा राजन् दुर्योधनादयः।
हसन्तः प्रीतमनसो जग्मुः स्वं स्वं निकेतनम् ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! छल-कपटकी विद्यामें प्रवीण दुर्योधन आदि इस प्रकार बातें करते और हँसते हुए प्रसन्न मनसे अपने-अपने भवनोंमें गये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि दुर्वासउपाख्याने द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें दुर्वासाका उपाख्यानविषयक दो सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६२ ॥

त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्वासाका पाण्डवोंके आश्रमपर असमयमें आतिथ्यके लिये जाना, द्रौपदीके द्वारा स्मरण किये जानेपर भगवान्‌का प्रकट होना तथा पाण्डवोंको दुर्वासाके भयसे मुक्त करना और उनको आश्वासन देकर द्वारका जाना

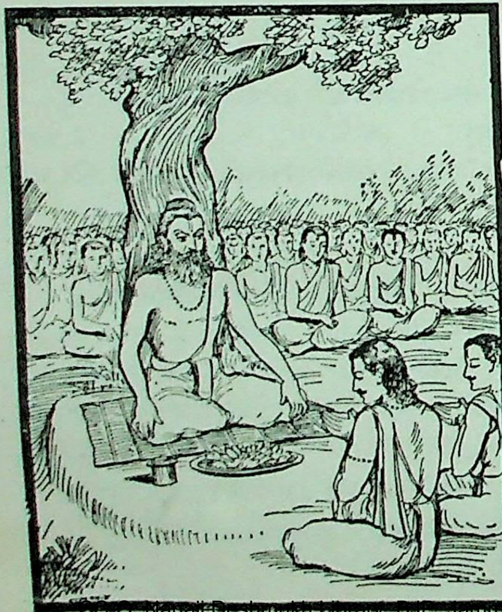
वैशम्पायन उवाच

ततः कदाचिद् दुर्वासाः सुखासीनांस्तु पाण्डवान्।
भुक्त्वा चावस्थितां कृष्णां ज्ञात्वा तस्मिन् वने मुनिः॥१॥
अभ्यागच्छत् परिवृतः शिष्यैरयुतसम्मितैः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर एक दिन महर्षि दुर्वासा इस बातका पता लगाकर कि पाण्डवलोग भोजन करके सुखपूर्वक बैठे हैं और द्रौपदी भी भोजनसे निवृत्त हो आराम कर रही है, दस हजार शिष्योंसे घिरे हुए उस वनमें आये ॥ १½ ॥

दृष्ट्वाऽऽयान्तं तमतिथिं स च राजा युधिष्ठिरः॥ २॥
जगामाभिमुखः श्रीमान् सह भ्रातृभिरच्युतः।
तस्मै बद्ध्वाञ्जलिं सम्यगुपवेश्य वरासने॥ ३॥
विधिवत् पूजयित्वा तमातिथ्येन न्यमन्त्रयत्।
आह्निकं भगवन् कृत्वा शीघ्रमेहीति चाब्रवीत्॥ ४॥

श्रीमान् राजा युधिष्ठिर अतिथिको आते देख भाइयों-सहित उनके सम्मुख गये। वे अपनी मर्यादासे कभी च्युत नहीं होते थे। उन्होंने उन अतिथिदेवताको लाकर श्रेष्ठ आसनपर आदरपूर्वक बैठाया और हाथ जोड़कर प्रणाम किया। फिर विधिपूर्वक पूजा करके उन्हें अतिथिसत्कारके रूपमें निमन्त्रित किया और कहा—'भगवन् ! अपना नित्य-नियम पूरा करके (भोजनके लिये) शीघ्र पधारिये' ॥२-४॥



जगाम च मुनिः सोऽपि स्नातुं शिष्यैः सहानघः।
भोजयेत् सहशिष्यं मां कथमित्यविचिन्तयन्॥ ५॥
न्यमज्जत् सलिले चापि मुनिसङ्घः समाहितः।

यह सुनकर वे निष्पाप मुनि अपने शिष्योंके साथ स्नान करनेके लिये चले गये। उन्होंने इस बातका तनिक भी विचार नहीं किया कि ये इस समय शिष्योंसहित मुझे भोजन कैसे दे सकेंगे। सारी मुनिमण्डलीने जलमें गोता लगाया, फिर सब लोग एकाग्रचित्त होकर ध्यान करने लगे ।५½।

एतस्मिन्नन्तरे राजन् द्रौपदी योषितां वरा॥ ६॥
चिन्तामवाप परमामन्नहेतोः पतिव्रता।

राजन् ! इसी समय युवतियोंमें श्रेष्ठ पतिव्रता द्रौपदीको अन्नके लिये बड़ी चिन्ता हुई ॥ ६½ ॥

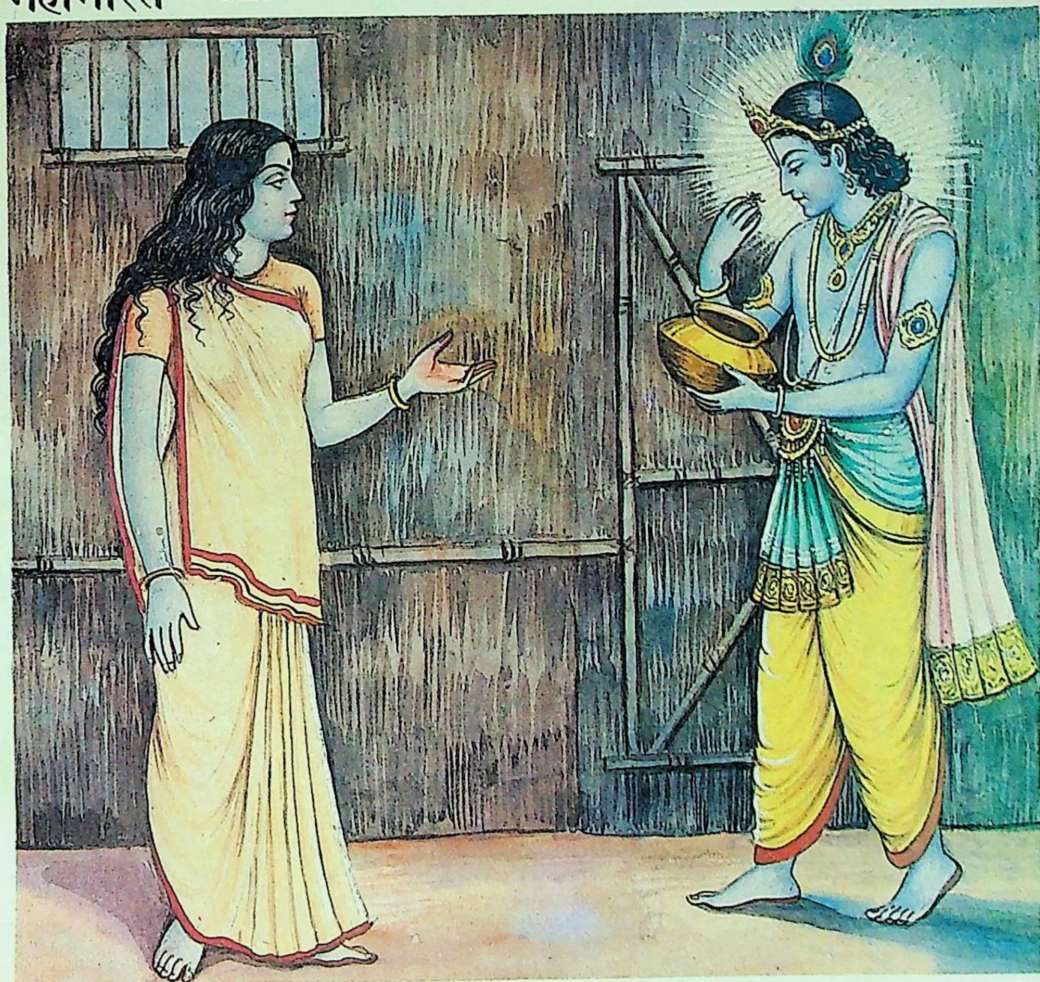
सा चिन्तयन्ती च यदा नान्नहेतुमविन्दत॥ ७॥
मनसा चिन्तयामास कृष्णं कंसनिषूदनम्।

जब बहुत सोचने-विचारनेपर भी उसे अन्न मिलनेका कोई उपाय नहीं सूझा, तब वह मन-ही-मन कंसनिकन्दन आनन्द-कन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका स्मरण करने लगी—॥ ७½ ॥

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय॥ ८॥
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन।
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय॥ ९॥
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर।
आकूतीनां च चित्तीनां प्रवर्तक नतास्मि ते॥ १०॥

'हे कृष्ण ! हे महाबाहु श्रीकृष्ण ! हे देवकीनन्दन ! हे अविनाशी वासुदेव ! चरणोंमें पड़े हुए दुखियोंका दुःख दूर करनेवाले हे जगदीश्वर ! तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्‌के आत्मा हो। अविनाशी प्रभो ! तुम्हीं इस विश्वकी उत्पत्ति और संहार करनेवाले हो। शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले गोपाल ! तुम्हीं समस्त प्रजाका पालन करनेवाले परात्पर परमेश्वर हो। आकूति (मन) और चित्ति (बुद्धि) के प्रेरक परमात्मन् ! मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ ॥ ८–१० ॥

वरेण्य वरदानन्त अगतीनां गतिर्भव।
पुराणपुरुष प्राणमनोवृत्त्याद्यगोचर॥ ११॥
सर्वाध्यक्ष पराध्यक्ष त्वामहं शरणं गता।
पाहि मां कृपया देव शरणागतवत्सल॥ १२॥



सागके एक पत्तेसे विश्वकी तृप्ति

'सबके वरण करने योग्य वरदाता अनन्त ! आओ। जिन्हें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई सहायता देनेवाला नहीं है, उन असहाय भक्तोंकी सहायता करो। पुराणपुरुष ! प्राण और मनकी वृत्ति आदि तुम्हारे पासतक नहीं पहुँच सकती। सबके साक्षी परमात्मन् ! मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ। शरणागतवत्सल देव ! कृपा करके मुझे बचाओ ॥ ११-१२॥

नीलोत्पलदलश्याम पद्मगर्भारुणेक्षण।
पीताम्बरपरीधान लसत्कौस्तुभभूषण ॥ १३ ॥
त्वमादिरन्तो भूतानां त्वमेव च परायणम्।
परात्परतरं ज्योतिर्विश्वात्मा सर्वतोमुखः ॥ १४ ॥

'नीलकमलदलके समान श्यामसुन्दर ! कमलपुष्पके भीतरी भागके समान किंचित् लाल नेत्रोंवाले पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण ! तुम्हारे वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणिमय आभूषण शोभा पाता है। प्रभो ! तुम्हीं समस्त प्राणियोंके आदि और अन्त हो। तुम्हीं सबके परम आश्रय हो। तुम्हीं परात्पर, ज्योतिर्मय, सर्वात्मा एवं सब ओर मुखवाले परमेश्वर हो॥

त्वामेवाहुः परं बीजं निधानं सर्वसम्पदाम्।
त्वया नाथेन देवेश सर्वापद्भ्यो भयं न हि ॥ १५ ॥

'ज्ञानी पुरुष तुम्हें ही इस जगत्का परम बीज और सम्पूर्ण सम्पदाओंकी निधि बतलाते हैं। देवेश्वर ! यदि तुम मेरे रक्षक हो, तो मुझपर सारी विपत्तियाँ टूट पड़ें, तो भी मुझे उनसे भय नहीं है ॥ १५ ॥

दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ॥ १६ ॥

'भगवन् ! पहले कौरव-सभामें दुःशासनके हाथसे जैसे तुमने मुझे बचाया था, उसी प्रकार इस वर्तमान संकट-से भी मेरा उद्धार करो' ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स्तुतस्तदा देवः कृष्णया भक्तवत्सलः।
द्रौपद्याः संकटं ज्ञात्वा देवदेवो जगत्पतिः ॥ १७ ॥
पार्श्वस्थां शयने त्यक्त्वा रुक्मिणीं केशवः प्रभुः।
तत्राजगाम त्वरितो ह्यचिन्त्यगतिरीश्वरः ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रौपदीके इस प्रकार स्तुति करनेपर अचिन्त्यगति परमेश्वर देवाधिदेव जगन्नाथ भक्त-वत्सल भगवान् केशवको यह मालूम हो गया कि द्रौपदीपर कोई संकट आ गया है, फिर तो शय्यापर अपने पास ही सोयी हुई रुक्मिणीको छोड़कर तुरंत वहाँ आ पहुँचे ॥

ततस्तं द्रौपदी दृष्ट्वा प्रणम्य परया मुदा।
अब्रवीद् वासुदेवाय मुनेरागमनादिकम् ॥ १९ ॥

भगवान्को आया देख द्रौपदीको बड़ा आनन्द हुआ। उसने उन्हें प्रणाम करके दुर्वासा मुनिके आने आदिका सारा समाचार कह सुनाया ॥ १९ ॥

ततस्तामब्रवीत् कृष्णः क्षुधितोऽस्मि भृशातुरः।
शीघ्रं भोजय मां कृष्णे पश्चात् सर्वं करिष्यसि ॥ २० ॥
निशम्य तद्वचः कृष्णा लज्जिता वाक्यमब्रवीत्।
स्थाल्यां भास्करदत्तायामन्नं मद्भोजनावधि ॥ २१ ॥
भुक्तवत्यस्म्यहं देव तस्मादन्नं न विद्यते।

तब भगवान् श्रीकृष्णने द्रौपदीसे कहा—'कृष्णे ! इस समय मुझे बड़ी भूख लगी है; मैं भूखसे अत्यन्त पीड़ित हो रहा हूँ। पहले मुझे जल्दी भोजन करा। फिर सारा प्रबन्ध करती रहना।' उनकी यह बात सुनकर द्रौपदीको बड़ी लज्जा हुई। वह बोली—'भगवन् ! सूर्यनारायणकी दी हुई बटलोईसें तभीतक भोजन मिलता है, जबतक मैं भोजन न कर लूँ। देव ! आज तो मैं भी भोजन कर चुकी हूँ अतः अब उसमें अन्न नहीं रह गया है' ॥ २०-२१½ ॥

ततः प्रोवाच भगवान् कृष्णां कमललोचनः ॥ २२ ॥
कृष्णे न नर्मकालोऽयं क्षुच्छ्रमेणातुरे मयि।
शीघ्रं गच्छ मम स्थालीमानीय त्वं प्रदर्शय ॥ २३ ॥
इति निर्बन्धतः स्थालीमानाय्य स यदूद्वहः।
स्थाल्याः कण्ठेऽथ संलग्नं शाकान्नं वीक्ष्य केशवः ॥ २४ ॥
उपयुज्याब्रवीदेनामनेन हरिरीश्वरः।
विश्वात्मा प्रीयतां देवस्तुष्टश्चास्त्विति यज्ञभुक् ॥ २५ ॥

यह सुनकर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने द्रौपदीसे फिर कहा—'कृष्णे ! मैं तो भूख और थकावटसे आतुर हो रहा हूँ और तुझे हँसी सूझती है। यह परिहासका समय नहीं है। जल्दी जा और बटलोई लाकर मुझे दिखा। इस प्रकार हठ करके भगवान्ने द्रौपदीसे बटलोई मँगवायी।



उसके गलेमें जरा-सा साग लगा हुआ था। उसे देखकर श्रीकृष्णने लेकर खा लिया और द्रौपदीसे कहा—'इस सागसे सम्पूर्ण विश्वके आत्मा यज्ञभोक्ता सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि तृप्त और संतुष्ट हों' ॥ २२-२५ ॥

आकारय मुनीन् शीघ्रं भोजनायेति चाब्रवीत्।
सहदेवं महाबाहुः कृष्णः क्लेशविनाशनः ॥ २६ ॥

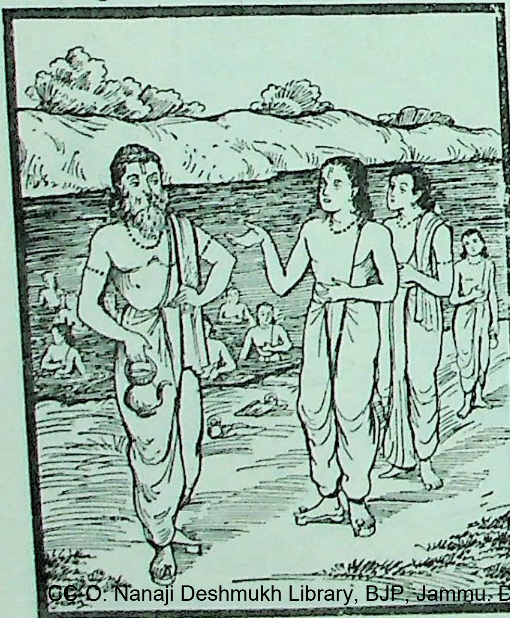
इतना कहकर सबका क्लेश दूर करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण सहदेवसे बोले—'तुम शीघ्र जाकर मुनियोंको भोजनके लिये बुला लाओ' ॥ २६ ॥

ततो जगाम त्वरितः सहदेवो महायशाः।
आकारितुं तु तान् सर्वान् भोजनार्थं नृपोत्तम ॥ २७ ॥
स्नातुं गतान् देवनद्यां दुर्वासःप्रभृतीन् मुनीन्।

नृपश्रेष्ठ ! तब महायशस्वी सहदेव देवनदीमें स्नानके लिये गये हुए उन दुर्वासा आदि सब मुनियोंको भोजनके निमित्त बुलानेके लिये तुरंत गये ॥ २७½ ॥

ते चावतीर्णाः सलिले कृतवन्तोऽघमर्षणम् ॥ २८ ॥
दृष्ट्वोद्गारान् साऽन्नरसांस्तृप्त्या परमया युताः।
उत्तीर्य सलिलात् तस्माद् दृष्टवन्तः परस्परम् ॥ २९ ॥
दुर्वाससमभिप्रेक्ष्य ते सर्वे मुनयोऽब्रुवन्।
राज्ञा हि कारयित्वान्नं वयं स्नातुं समागताः ॥ ३० ॥
आकण्ठतृप्ता विप्रर्षे किंस्विद् भुञ्जामहे वयम्।
वृथा पाकः कृतोऽस्माभिस्तत्र किं करवामहे ॥ ३१ ॥

वे मुनिलोग उस समय जलमें उतरकर अघमर्षण मन्त्रका जप कर रहे थे। सहसा उन्हें पूर्ण तृप्तिका अनुभव हुआ; बार-बार अन्नरससे युक्त डकारें आने लगीं। यह देखकर



वे जलसे बाहर निकले और आपसमें एक दूसरेकी ओर देखने लगे। (सबकी एक-सी अवस्था हो रही थी।) वे सभी मुनि दुर्वासाकी ओर देखकर बोले—'ब्रह्मर्षे ! हमलोग राजा युधिष्ठिरको रसोई बनवानेकी आज्ञा देकर स्नान करनेके लिये आये थे, परंतु इस समय इतनी तृप्ति हो रही है कि कण्ठतक अन्न भरा हुआ जान पड़ता है। अब हम कैसे भोजन करेंगे ? हमने जो रसोई तैयार करवायी है, वह व्यर्थ होगी। उसके लिये हमें क्या करना चाहिये' ॥ २८-३१ ॥

दुर्वासा उवाच

वृथा पाकेन राजर्षेरपराधः कृतो महान्।
मास्मानधाक्षुर्दृष्ट्वैव पाण्डवाः क्रूरचक्षुषा ॥ ३२ ॥
स्मृत्वानुभावं राजर्षेरम्बरीषस्य धीमतः।
बिभेमि सुतरां विप्रा हरिपादाश्रयाज्जनात् ॥ ३३ ॥
पाण्डवाश्च महात्मानः सर्वे धर्मपरायणाः।
शूराश्च कृतविद्याश्च व्रतिनस्तपसि स्थिताः ॥ ३४ ॥
सदाचाररता नित्यं वासुदेवपरायणाः।
क्रुद्धास्ते निर्दहेयुर्वै तूलराशिमिवानलः।
तत एतानपृष्ट्वैव शिष्याः शीघ्रं पलायत ॥ ३५ ॥

दुर्वासा बोले—वास्तवमें व्यर्थ ही रसोई बनवाकर हमने राजर्षि युधिष्ठिरका महान् अपराध किया है। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डव क्रूर दृष्टिसे देखकर हमें भस्म कर दें। ब्राह्मणो ! परम बुद्धिमान् राजा अम्बरीषके प्रभावको याद करके मैं उन भक्तजनोंसे सदा डरता रहता हूँ, जिन्होंने भगवान् श्रीहरिके चरणोंका आश्रय ले रखा है। सब पाण्डव महामना, धर्मपरायण, विद्वान्, शूरवीर, व्रतधारी तथा तपस्वी हैं। वे सदा सदाचारपरायण तथा भगवान् वासुदेवको अपना परम आश्रय माननेवाले हैं। पाण्डव कुपित होनेपर हमको उसी प्रकार भस्म कर सकते हैं, जैसे रूईके ढेरको आग। अतः शिष्यो ! पाण्डवोंसे बिना पूछे ही तुरंत भाग चलो ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तास्ते द्विजाः सर्वे मुनिना गुरुणा तदा।
पाण्डवेभ्यो भृशं भीता दुद्रुवुस्ते दिशो दश ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! गुरु दुर्वासा मुनिके ऐसा कहनेपर वे सब ब्राह्मण पाण्डवोंसे अत्यन्त भयभीत हो दसों दिशाओंमें भाग गये ॥ ३६ ॥

सहदेवो देवनद्याममपश्यन् मुनिसत्तमान्।
तीर्थेष्वितस्ततस्तस्या विचचार गवेषयन् ॥ ३७ ॥

सहदेवने जब देवनदीमें उन श्रेष्ठ मुनियोंको नहीं देखा, तब वे वहाँके तीर्थोंमें इधर-उधर खोजते हुए विचरने लगे ॥

तत्रस्थेभ्यस्तापसेभ्यः श्रुत्वा तांश्चैव विद्रुतान्।
युधिष्ठिरमथाभ्येत्य तं वृत्तान्तं न्यवेदयत् ॥ ३८ ॥

वहाँ रहनेवाले तपस्वी मुनियोंके मुखसे उनके भागने-

का समाचार सुनकर सहदेव युधिष्ठिरके पास लौट आये और सारा वृत्तान्त उनसे निवेदन कर दिया ॥ ३८ ॥

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे प्रत्यागमनकाङ्क्षिणः।
प्रतीक्षन्तः कियत्कालं जितात्मानोऽवतस्थिरे ॥ ३९ ॥

तदनन्तर मनको वशमें रखनेवाले सब पाण्डव उनके लौट आनेकी आशासे कुछ देरतक उनकी प्रतीक्षा करते रहे॥

निशीथेऽभ्येत्य चाकस्मादस्मान् स छलयिष्यति।
कथं च निस्तरेमास्मात् कृच्छ्राद् दैवोपसादितात्॥ ४०॥
इति चिन्तापरान् दृष्ट्वा निःश्वसन्तो मुहुर्मुहुः।
उवाच वचनं श्रीमान् कृष्णः प्रत्यक्षतां गतः ॥ ४१ ॥

पाण्डव सोचने लगे—'दुर्वासा मुनि अकस्मात् आधी रातको आकर हमें छलेंगे। दैववश प्राप्त हुए इस महान् संकटसे हमारा उद्धार कैसे होगा?' इसी चिन्तामें पड़कर वे बारंबार लंबी साँसें खींचने लगे। उनकी यह दशा देखकर भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिर आदि अन्य सब पाण्डवोंको प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा ॥ ४०-४१ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

भवतामापदं ज्ञात्वा ऋषेः परमकोपनात्।
द्रौपद्या चिन्तितः पार्था अहं सत्वरमागतः ॥ ४२ ॥
न भयं विद्यते तस्मादृषेर्दुर्वाससोऽल्पकम्।
तेजसा भवतां भीतः पूर्वमेव पलायितः ॥ ४३ ॥

श्रीकृष्ण बोले—कुन्तीकुमारो! परम क्रोधी महर्षि दुर्वासासे आपलोगोंपर संकट आता जानकर द्रौपदीने मेरा स्मरण किया था, इसीलिये मैं तुरंत यहाँ आ पहुँचा। अब आपलोगोंको दुर्वासा मुनिसे तनिक भी भय नहीं है। वे आपके तेजसे डरकर पहले ही भाग गये हैं ॥ ४२-४३ ॥

धर्मनित्यास्तु ये केचिन्न ते सीदन्ति कर्हिचित्।
आपृच्छे वो गमिष्यामि नियतं भद्रमस्तु वः ॥ ४४ ॥

जो लोग सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं, वे कभी कष्टमें नहीं पड़ते। अब मैं आपलोगोंसे जानेके लिये आज्ञा चाहता हूँ। यहाँसे द्वारकापुरीको जाऊँगा। आपलोगोंका निरन्तर कल्याण हो ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वेरितं केशवस्य बभूवुः स्वस्थमानसाः।
द्रौपद्या सहिताः पार्थास्तमूचुर्विगतज्वराः ॥ ४५ ॥
त्वया नाथेन गोविन्द दुस्तरामापदं विभो।
तीर्णाः प्लवमिवासाद्य मज्जमाना महार्णवे ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर द्रौपदीसहित पाण्डवोंका चित्त स्वस्थ हुआ। उनकी सारी चिन्ता दूर हो गयी और वे भगवान्‌से इस प्रकार बोले—'विभो! गोविन्द! तुम्हें अपना सहायक और संरक्षक पाकर हम बड़ी-बड़ी दुस्तर विपत्तियोंसे उसी प्रकार पार हुए हैं, जैसे महासागरमें डूबते हुए मनुष्य जहाजका सहारा पाकर पार हो जाते हैं ॥ ४५-४६ ॥

स्वस्ति साधय भद्रं ते इत्याज्ञातो ययौ पुरीम्।

'तुम्हारा कल्याण हो। इसी प्रकार भक्तोंका हितसाधन किया करो।' पाण्डवोंके इस प्रकार कहनेपर भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकापुरीको चले गये ॥ ४६½ ॥

पाण्डवाश्च महाभाग द्रौपद्या सहिताः प्रभो ॥ ४७ ॥
ऊषुः प्रहृष्टमनसो विहरन्तो वनाद् वनम्।

महाभाग जनमेजय! तत्पश्चात् द्रौपदीसहित पाण्डव प्रसन्नचित्त हो वहाँ एक वनसे दूसरे वनमें भ्रमण करते हुए सुखसे रहने लगे ॥ ४७½ ॥

इति तेऽभिहितं राजन् यत् पृष्टोऽहमिह त्वया ॥ ४८ ॥
एवंविधान्यलीकानि धार्तराष्ट्रैर्दुरात्मभिः।
पाण्डवेषु वनस्थेषु प्रयुक्तानि वृथाभवन् ॥ ४९ ॥

राजन्! यहाँ तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने तुम्हें बतला दिया। इस प्रकार दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंने वनवासी पाण्डवोंपर अनेक बार छल-कपटका प्रयोग किया, परंतु वह सब व्यर्थ हो गया ॥ ४८-४९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि दुर्वासउपाख्याने त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें दुर्वासाकी कथाविषयक दो सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२६३॥

चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जयद्रथका द्रौपदीको देखकर मोहित होना और उसके पास कोटिकास्यको भेजना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् बहुमृगेऽरण्ये अटमाना महारथाः।
काम्यके भरतश्रेष्ठा विजह्रुस्ते यथामराः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! काम्यकवनमें नाना प्रकारके वन्य पशु रहते थे। वहाँ भरतकुलभूषण महारथी पाण्डव सब ओर घूमते हुए देवताओंके समान विहार करते थे ॥ १ ॥

प्रेक्षमाणा बहुविधान् वनोद्देशान् समन्ततः।
यथर्तुकालरम्याश्च वनराजीः सुपुष्पिताः ॥ २ ॥

वे चारों ओर घूम-घूमकर नाना प्रकारके वन्य प्रदेशों

तथा ऋतुकालके अनुसार भलीभाँति खिले हुए फूलोंसे सुशोभित रमणीय वनश्रेणियोंकी शोभा देखते थे ॥ २ ॥

पाण्डवा मृगयाशीलाश्चरन्तस्तन्महद् वनम् ।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमाः कञ्चित् कालमरिंदम ॥ ३ ॥

शत्रुदमन जनमेजय ! पाण्डवलोग बाघ-चीते आदि हिंसक पशुओंका शिकार किया करते थे । देवराज इन्द्रके समान वे उस महान् वनमें विचरते हुए कुछ कालतक विहार करते रहे ॥ ३ ॥

ततस्ते यौगपद्येन ययुः सर्वे चतुर्दिशम् ।
मृगयां पुरुषव्याघ्रा ब्राह्मणार्थे परंतपाः ॥ ४ ॥
द्रौपदीमाश्रमे न्यस्य तृणबिन्दोरनुज्ञया ।
महर्षेर्दीप्ततपसो धौम्यस्य च पुरोधसः ॥ ५ ॥

एक दिनकी बात है, शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह पाँचों पाण्डव उद्दीप्त तपस्वी पुरोहित धौम्य तथा महर्षि तृणबिन्दुकी आज्ञासे द्रौपदीको अकेली ही आश्रममें रखकर ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये हिंसक पशुओंको मारने एक साथ चारों दिशाओंमें (अलग-अलग) चले गये ॥ ४-५ ॥

ततस्तु राजा सिन्धूनां वार्द्धक्षत्रिर्महायशाः ।
विवाहकामः शाल्वेयान् प्रयातः सोऽभवत् तदा ॥ ६ ॥
महता परिबर्हेण राजयोग्येन संवृतः ।
राजभिर्बहुभिः सार्धमुपायात् काम्यकं च सः ॥ ७ ॥

उसी समय सिंधुदेशका महायशस्वी राजा जयद्रथ, जो वृद्धक्षत्रका पुत्र था, विवाहकी इच्छासे शाल्वदेशकी ओर जा रहा था । वह बहुमूल्य राजोचित ठाट-बाटसे सुसज्जित था । अनेक राजाओंके साथ यात्रा करता हुआ वह काम्यकवनमें आ पहुँचा ॥ ६-७ ॥

तत्रापश्यत् प्रियां भार्यां पाण्डवानां यशस्विनीम् ।
तिष्ठन्तीमाश्रमद्वारि द्रौपदीं निर्जने वने ॥ ८ ॥

वहाँ उसने पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी यशस्विनी द्रौपदीको दूरसे देखा, जो निर्जन वनमें अपने आश्रमके दरवाजेपर खड़ी थी ॥ ८ ॥

विभ्राजमानां वपुषा बिभ्रतीं रूपमुत्तमम् ।
भ्राजयन्तीं वनोद्देशं नीलाभ्रमिव विद्युतम् ॥ ९ ॥

वह परम सुन्दर रूप धारण किये अपनी अनुपम कान्तिसे उद्भासित हो रही थी और जैसे विद्युत् अपनी प्रभासे नीले मेघसमूहको प्रकाशित करती है, उसी प्रकार वह सुन्दरी अपनी अङ्गच्छटासे उस वनप्रान्तको सब ओरसे देदीप्यमान कर रही थी ॥ ९ ॥

अप्सरा देवकन्या वा माया वा देवनिर्मिता ।
इति कृत्वाञ्जलिं सर्वे ददृशुस्तामनिन्दिताम् ॥ १० ॥

जयद्रथ और उसके सभी साथियोंने उस अनिन्द्य सुन्दरीकी ओर देखा और वे हाथ जोड़कर मन-ही-मन यह विचार करने लगे—'यह कोई अप्सरा है या देवकन्या है अथवा देवताओंकी रची हुई माया है ?' ॥ १० ॥

ततः स राजा सिन्धूनां वार्द्धक्षत्रिर्जयद्रथः ।
विस्मितस्त्वनवद्याङ्गीं दृष्ट्वा तां दुष्टमानसः ॥ ११ ॥

निर्दोष अङ्गोंवाली उस सुन्दरीको देखकर वृद्धक्षत्रकुमार सिन्धुराज जयद्रथ चकित रह गया । उसके मनमें दूषित भावनाका उदय हुआ ॥ ११ ॥

स कोटिकास्यं राजानमब्रवीत् काममोहितः ।
कस्य त्वेषानवद्याङ्गी यदि वापि न मानुषी ॥ १२ ॥

उसने काममोहित होकर राजा कोटिकास्यसे कहा—'कोटिक ! जरा जाकर पता तो लगाओ, यह सर्वाङ्गसुन्दरी किसकी स्त्री है ? अथवा यह मनुष्यजातिकी स्त्री है भी या नहीं ? ॥

विवाहार्थो न मे कश्चिदिमां प्राप्यातिसुन्दरीम् ।
एतामेवाहमादाय गमिष्यामि स्वमालयम् ॥ १३ ॥

'इस अत्यन्त सुन्दरी रमणीको पाकर मुझे और किसीसे विवाह करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जायगी । इसीको लेकर मैं अपने घर लौट जाऊँगा ॥ १३ ॥

गच्छ जानीहि सौम्येमां कस्य चात्र कुतोऽपि वा ।
किमर्थमागता सुभ्रूरिदं कण्टकितं वनम् ॥ १४ ॥

'सौम्य ! जाओ, पता लगाओ, यह किसकी स्त्री है और कहाँसे इस वनमें आयी है ? यह सुन्दर भौंहोंवाली युवती काँटोंसे भरे हुए इस जंगलमें किसलिये आयी है ? ॥ १४ ॥

अपि नाम वरारोहा मामेषा लोकसुन्दरी ।
भजेदद्यायतापाङ्गी सुदती तनुमध्यमा ॥ १५ ॥

'क्या यह मनोहर कटिप्रदेशवाली विश्वसुन्दरी मुझे अङ्गीकार करेगी ? इसके नेत्रप्रान्त कितने विशाल हैं, दाँत कैसे सुन्दर हैं और शरीरका मध्यभाग कितना सूक्ष्म है ?॥१५॥

अप्यहं कृतकामः स्यामिमां प्राप्य वरस्त्रियम् ।
गच्छ जानीहि को न्वस्या नाथ इत्येव कोटिक ॥ १६ ॥
स कोटिकास्यस्तच्छ्रुत्वा रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ।
उपेत्य पप्रच्छ तदा क्रोष्टा व्याघ्रवधूमिव ॥ १७ ॥

'यदि मैं इस सुन्दरीको पा जाऊँ, तो कृतार्थ हो जाऊँगा । कोटिक ! जाओ और पता लगाओ कि इसका पति कौन है ?' जयद्रथका यह वचन सुनकर कुण्डलमण्डित कोटिकास्य रथसे उतर पड़ा और जैसे गीदड़ बाघकी स्त्रीसे बात करे, उसी प्रकार उसने द्रौपदीके पास जाकर पूछा ॥ १६-१७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथागमने चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें जयद्रथका आगमनविषयक दो सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६४ ॥

पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

कोटिकास्यका द्रौपदीसे जयद्रथ और उसके साथियोंका परिचय देते हुए उसका भी परिचय पूछना

कोटिक उवाच

का त्वं कदम्बस्य विनाम्य शाखा-
मेकाऽऽश्रमे तिष्ठसि शोभमाना ।
देदीप्यमानाग्निशिखेव नक्तं
व्याधूयमाना पवनेन सुभ्रूः ॥ १ ॥

कोटिक बोला—सुन्दर भौंहोंवाली सुन्दरी ! तुम कौन हो ? जो कदम्बकी डाली झुकाकर उसके सहारे इस आश्रममें अकेली खड़ी हो, यहाँ तुम्हारी बड़ी शोभा हो रही है। जैसे रातमें वायुसे आन्दोलित अग्निकी ज्वाला देदीप्यमान दिखायी देती है, उसी प्रकार तुम भी इस आश्रममें अपनी प्रभा बिखेर रही हो ॥ १ ॥

अतीव रूपेण समन्विता त्वं
न चाप्यरण्येषु बिभेषि किं नु ।
देवी नु यक्षी यदि दानवी वा
वराप्सरा दैत्यवराङ्गना वा ॥ २ ॥

तुम बड़ी रूपवती हो। क्या इन जंगलोंमें भी तुम्हें डर नहीं लगता है ? तुम किसी देवता, यक्ष, दानव अथवा दैत्यकी स्त्री तो नहीं हो या कोई श्रेष्ठ अप्सरा हो ? ॥ २ ॥

वपुष्मती वोरगराजकन्या
वनेचरी वा क्षणदाचरस्त्री ।
यद्येव राज्ञो वरुणस्य पत्नी
यमस्य सोमस्य धनेश्वरस्य ॥ ३ ॥

क्या तुम दिव्यरूप धारण करनेवाली नागराजकुमारी हो अथवा वनमें विचरनेवाली किसी राक्षसकी पत्नी हो अथवा राजा वरुण, यमराज, चन्द्रमा एवं धनाध्यक्ष कुबेर—इनमेंसे किसीकी पत्नी हो ? ॥ ३ ॥

धातुर्विधातुः सवितुर्विभोर्वा
शक्रस्य वा त्वं सदनात् प्रपन्ना ।
नह्येव नः पृच्छसि ये वयं स्म
न चापि जानीम तवेह नाथम् ॥ ४ ॥

अथवा तुम धाता, विधाता, सविता, विभु या इन्द्रके भवनसे यहाँ आयी हो ? न तो तुम्हीं हमारा परिचय पूछती हो और न हम ही यहाँ तुम्हारे पतिके विषयमें जानते हैं ॥४॥

वयं हि मानं तव वर्धयन्तः
पृच्छाम भद्रे प्रभवं प्रभुं च ।
आचक्ष्व बन्धूंश्च पतिं कुलं च
तत्त्वेन यच्चेह करोषि कार्यम् ॥ ५ ॥

भद्रे ! हम तुम्हारा सम्मान बढ़ाते हुए तुम्हारे पिता और पतिका परिचय पूछ रहे हैं। तुम अपने बन्धु-बान्धव, पति और कुलका यथार्थ परिचय दो और यह भी बताओ कि तुम यहाँ कौन-सा कार्य करती हो ? ॥ ५ ॥

अहं तु राज्ञः सुरथस्य पुत्रो
यं कोटिकास्येति विदुर्मनुष्याः ।
असौ तु यस्तिष्ठति काञ्चनाङ्गे
रथे हुतोऽग्निश्चयने यथैव ॥ ६ ॥
त्रिगर्तराजः कमलायताक्षि
क्षेमङ्करो नाम स एष वीरः ।

कमलके समान विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदी ! मैं राजा सुरथका पुत्र हूँ, जिसे साधारण जनता कोटिकास्यके नामसे जानती है और वे जो सुवर्णमय रथमें बैठे हैं तथा वेदीपर स्थापित एवं घीकी आहुति पड़नेसे प्रज्वलित हुए अग्निके समान प्रकाशित हो रहे हैं, त्रिगर्तदेशके राजा हैं। ये वीर क्षेमङ्करके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ ६½ ॥

अस्मात् परस्त्वेष महाधनुष्मान्
पुत्रः कुलिन्दाधिपतेर्वरिष्ठः ॥ ७ ॥
निरीक्षते त्वां विपुलायताक्षः
सुपुष्पितः पर्वतवासनित्यः ।

इनके बाद जो ये महान् धनुष धारण किये सुन्दर फूलोंकी मालाएँ पहने विशाल नेत्रोंवाले वीर तुम्हें निहार रहे हैं, कुलिन्दराजके ज्येष्ठ पुत्र हैं। ये सदा पर्वतपर ही निवास करते हैं ॥ ७½ ॥

असौ तु यः पुष्करिणीसमीपे
श्यामो युवा तिष्ठति दर्शनीयः ॥ ८ ॥
इक्ष्वाकुराज्ञः सुबलस्य पुत्रः
स एव हन्ता द्विषतां सुगात्रि ।

सुन्दराङ्गि ! और वे जो पुष्करिणीके समीप श्यामवर्णके दर्शनीय नवयुवक खड़े हैं, इक्ष्वाकुवंशी राजा सुबलके पुत्र हैं। ये अकेले ही अपने शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हैं ॥

यस्यानुचक्रं ध्वजिनः प्रयान्ति
सौवीरका द्वादश राजपुत्राः ॥ ९ ॥
शोणाश्वयुक्तेषु रथेषु सर्वे
मखेषु दीप्ता इव हव्यवाहाः ।
अङ्गारकः कुञ्जरो गुप्तकश्च
शत्रुंजयः संजयसुप्रवृद्धौ ॥ १० ॥
भयंकरोऽथ भ्रमरो रविश्च
शूरः प्रतापः कुहनश्च नाम ।

यं षट् सहस्रा रथिनोऽनुयान्ति
नागा हयाश्चैव पदातिनश्च ॥ ११ ॥
जयद्रथो नाम यदि श्रुतस्ते
सौवीरराजः सुभगे स एषः ।

लाल रंगके घोड़ोंसे जुते हुए रथोंपर बैठकर यज्ञोंमें प्रज्वलित अग्निके समान सुशोभित होनेवाले अङ्गारक, कुञ्जर, गुप्तक, शत्रुञ्जय, संजय, सुप्रवृद्ध, भयंकर, भ्रमर, रवि, शूर, प्रताप तथा कुहन–सौवीरदेशके ये बारह राजकुमार जिनके रथके पीछे हाथमें ध्वजा लिये चलते हैं तथा छः हज़ार रथी, हाथी, घोड़े और पैदल जिनका अनुगमन करते हैं, उन सौवीरराज जयद्रथका नाम तुमने सुना होगा। सौभाग्य-शालिनि ! ये वे ही राजा जयद्रथ दिखायी दे रहे हैं ॥९-११½॥

तस्यापरे भ्रातरोऽदीनसत्त्वा
बलाहकानीकविदारणाद्याः ॥ १२ ॥

उनके दूसरे उदार हृदयवाले भाई बलाहक और अनीक–विदारण आदि भी उनके साथ हैं ॥ १२ ॥

सौवीरवीराः प्रवरा युवानो
राजानमेते बलिनोऽनुयान्ति ।
एतैः सहायैरुपयाति राजा
मरुद्गणैरिन्द्र इवाभिगुप्तः ॥ १३ ॥

सौवीरदेशके ये प्रमुख बलवान् नवयुवक वीर सदा राजा जयद्रथके साथ चलते हैं। राजा जयद्रथ इन सहायकोंसे सुरक्षित हो मरुद्गणोंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रकी भाँति यात्रा करते हैं ॥ १३ ॥

अजानतां ख्यापय नः सुकेशि
कस्यासि भार्या दुहिता च कस्य ॥ १४ ॥

सुकेशि ! हम तुमसे सर्वथा अनजान हैं, अतः हमें भी अपना परिचय दो; तुम किसकी पत्नी और किसकी पुत्री हो ? ॥१४॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि कोटिकास्यप्रश्ने पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें कोटिकास्यका प्रश्नविषयक दो सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२६५॥

षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रौपदीका कोटिकास्यको उत्तर

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीद् द्रौपदी राजपुत्री
पृष्टा शिबीनां प्रवरेण तेन ।
अवेक्ष्य मन्दं प्रविमुच्य शाखां
संगृह्णती कौशिकमुत्तरीयम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शिबिदेशके प्रमुख वीर कोटिकास्यके इस प्रकार पूछनेपर राजकुमारी द्रौपदी कदम्बकी वह डाली छोड़कर अपनी रेशमी ओढ़नीको सँभालती हुई संकोचपूर्वक उसकी ओर देखकर बोली— ॥१॥

बुद्ध्याभिजानामि नरेन्द्रपुत्र
न मादृशी त्वामभिभाष्टुमर्हति ।
न त्वेह वक्तास्ति तवेह वाक्य-
मन्यो नरो वाप्यथवापि नारी ॥ २ ॥

'राजकुमार ! मैं बुद्धिसे सोच-विचारकर भलीभाँति समझती हूँ कि मुझ-जैसी पतिपरायणा स्त्रीको तुम-जैसे पर-पुरुषसे वार्तालाप नहीं करना चाहिये; परंतु यहाँ कोई दूसरा ऐसा पुरुष अथवा स्त्री नहीं है, जो तुम्हारी बातका उत्तर दे सके ॥ २ ॥

एका ह्यहं सम्प्रति तेन वाचं
ददामि वै भद्र निबोध चेदम् ।
अहं ह्यरण्ये कथमेकमेका
त्वामालपेयं निरता स्वधर्मे ॥ ३ ॥

'मैं इस समय यहाँ अकेली ही हूँ। इसलिये विवश होकर तुमसे बोलना पड़ रहा है। भद्रपुरुष ! मेरी इस बातपर ध्यान दो। मैं अपने धर्मके पालनमें तत्पर रहनेवाली हूँ। इस समय इस वनमें मैं अकेली हूँ और तुम भी अकेले पुरुष हो, ऐसी दशामें मैं तुम्हारे साथ कैसे वार्तालाप कर सकती हूँ ? ॥

जानामि च त्वां सुरथस्य पुत्रं
यं कोटिकास्येति विदुर्मनुष्याः ।
तस्मादहं शैब्य तथैव तुभ्य-
माख्यामि बन्धून् प्रथितं कुलं च ॥ ४ ॥

'परंतु मैं तुम्हें पहचानती हूँ, तुम राजा सुरथके पुत्र हो, जिसे लोग कोटिकास्यके नामसे जानते हैं। शैब्य ! इसीलिये मैं तुम्हें अपने बन्धुजनों तथा विश्वविख्यात वंशका परिचय देती हूँ ॥ ४ ॥

अपत्यमस्मि द्रुपदस्य राज्ञः
कृष्णेति मां शैब्य विदुर्मनुष्याः ।
साहं वृणे पञ्च जनान् पतित्वे
ये खाण्डवप्रस्थगताः श्रुतास्ते ॥ ५ ॥

'शिबिदेशके राजकुमार ! मैं राजा द्रुपदकी पुत्री हूँ। मनुष्य मुझे कृष्णाके नामसे जानते हैं। मैंने पाँचों पाण्डवोंका पतिरूपमें वरण किया है, जो खाण्डवप्रस्थमें रहते थे। उनका नाम तुमने अवश्य सुना होगा ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च
माद्र्याश्च पुत्रौ पुरुषप्रवीरौ ।
ते मां निवेश्येह दिशश्चतस्रो
विभज्य पार्था मृगयां प्रयाताः ॥ ६ ॥

'युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा माद्रीपुत्र नरवीर नकुल-सहदेव—ये ही मेरे पति हैं। वे सब-के-सब मुझे यहाँ रखकर हिंसक पशुओंको मारनेके लिये अलग-अलग बँटकर चारों दिशाओंमें गये हैं ॥ ६ ॥

प्राचीं राजा दक्षिणां भीमसेनो
जयः प्रतीचीं यमजावुदीचीम् ।
मन्ये तु तेषां रथसत्तमानां
कालोऽभितः प्राप्त इहोपयातुम् ॥ ७ ॥

'स्वयं राजा युधिष्ठिर पूर्वदिशामें गये हैं, भीमसेन दक्षिण दिशामें, अर्जुन पश्चिम दिशामें और नकुल-सहदेव उत्तर दिशा-में गये हैं। मैं समझती हूँ, अब उन महारथियोंके सब ओरसे यहाँ पहुँचनेका समय हो गया है ॥ ७ ॥

सम्मानिता यास्यथ तैर्यथेष्टं
विमुच्य वाहानवरोहयध्वम् ।
प्रियातिथिर्धर्मसुतो महात्मा
प्रीतो भविष्यत्यभिवीक्ष्य युष्मान् ॥ ८ ॥

'अब तुमलोग अपनी सवारियोंसे उतरो और घोड़ोंको खोल-कर विश्राम करो। मेरे पतियोंका आदर-सत्कार ग्रहण करके अपने अभीष्ट देशको जाना। महात्मा धर्मपुत्र युधिष्ठिर अतिथियों-के बड़े प्रेमी हैं। वे तुमलोगोंको देखकर बहुत प्रसन्न होंगे' ॥

एतावदुक्त्वा द्रुपदात्मजा सा
शैब्यात्मजं चन्द्रमुखी प्रतीता ।
विवेश तां पर्णशालां प्रशस्तां
संचिन्त्य तेषामतिथित्वमर्थे ॥ ९ ॥

शिविदेशके राजकुमार कोटिकास्यसे ऐसा कहकर वह चन्द्र-मुखी द्रौपदी अपनी उत्तम पर्णशालाके भीतर चली गयी। 'ये लोग हमारे अतिथि हैं' ऐसा सोचकर उसे उनपर विश्वास हो गया था। अतः वह प्रसन्नतापूर्वक उनके आतिथ्यकी व्यवस्थामें लग गयी ॥ ९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि द्रौपदीवाक्ये षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक दौ सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६६॥

सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जयद्रथ और द्रौपदीका संवाद

वैशम्पायन उवाच

तथाऽऽसीनेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ।
यदुक्तं कृष्णया सार्धं तत् सर्वं प्रत्यवेदयत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! पूर्वोक्त प्रकारसे रथपर बैठे हुए उन सब राजाओंके पास जाकर कोटिकास्यने द्रौपदीके साथ उसकी जो-जो बातें हुई थीं, वे सब कह सुनायीं ॥ १ ॥

कोटिकास्यवचः श्रुत्वा शैब्यं सौवीरकोऽब्रवीत् ।
यदा वाचं व्याहरन्त्यामस्यां मे रमते मनः ॥ २ ॥
सीमन्तिनीनां मुख्यायां विनिवृत्तः कथं भवान् ।
एतां दृष्ट्वा स्त्रियो मेऽन्या यथा शाखामृगस्त्रियः ॥ ३ ॥
प्रतिभान्ति महाबाहो सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
दर्शनादेव हि मनस्तया मेऽपहृतं भृशम् ॥ ४ ॥
तां समाचक्ष्व कल्याणीं यदि स्याच्छैब्य मानुषी।

कोटिकास्यकी बात सुनकर सौवीरनरेश जयद्रथने उससे कहा—'शैब्य ! सुन्दरियोंमें सर्वश्रेष्ठ वह युवती जब तुमसे बातचीत कर रही थी, उस समय मेरा मन उसीमें लगा हुआ था। तुम उसे साथ लिये बिना कैसे लौट आये ? महाबाहो ! मैं तुमसे यह सच कहता हूँ, इसे देखकर मुझे दूसरी स्त्रियाँ ऐसी जान पड़ती हैं, मानो बंदरियाँ हों। उसने दर्शनमात्रसे ही मेरे मनको अच्छी तरह हर लिया है। शैब्य ! यदि वह मानवी हो, तो उस कल्याणीके विषयमें ठीक-ठीक बताओ' ॥ २–४½ ॥

कोटिक उवाच

एषा वै द्रौपदी कृष्णा राजपुत्री यशस्विनी ॥ ५ ॥
पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां महिषी सम्मता भृशम् ।
सर्वेषां चैव पार्थानां प्रिया बहुमता सती ॥ ६ ॥
तया समेत्य सौवीर सौवीराभिमुखो व्रज ।

कोटिक बोला—सौवीरनरेश ! यह यशस्विनी राज-कुमारी द्रुपदपुत्री कृष्णा ही है, जो पाँचों पाण्डवोंकी अत्यन्त आदरणीया महारानी है। कुन्तीके सभी पुत्र इसे प्यार करते हैं। यह सती-साध्वी देवी अपने पतियोंके लिये बड़े सम्मानकी वस्तु है। तुम उससे मिलकर सौवीरदेशकी राह लो ॥ ५–६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच पश्यामि द्रौपदीमिति ॥ ७ ॥
पतिः सौवीरसिन्धूनां दुष्टभावो जयद्रथः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कोटिकास्यके ऐसा कहनेपर सौवीर और सिन्धु आदि देशोंके स्वामी जयद्रथने मनमें दुर्भावना लेकर उसे उत्तर दिया—'अच्छा, मैं भी द्रौपदीसे मिल लेता हूँ' ॥ ७½ ॥

स प्रविश्याश्रमं पुण्यं सिंहगोष्ठं वृको यथा ॥ ८ ॥
आत्मना सप्तमः कृष्णामिदं वचनमब्रवीत्।
कुशलं ते वरारोहे भर्तारस्तेऽप्यनामयाः ॥ ९ ॥
येषां कुशलकामासि तेऽपि कच्चिदनामयाः।

उसने अपने छः भाइयोंके साथ स्वयं सातवाँ बनकर द्रौपदीके पवित्र आश्रममें प्रवेश किया, मानो कोई भेड़िया सिंहकी माँदमें घुसा हो। वहाँ जाकर उसने द्रौपदीसे इस प्रकार कहा—'वरारोहे! तुम कुशलसे हो न? तुम्हारे पति नीरोग तो हैं न? इनके सिवा और ज़िन लोगोंको तुम सकुशल देखना चाहती हो, वे सभी स्वस्थ तो हैं न? ॥८-९½॥

द्रौपद्युवाच

अपि ते कुशलं राजन् राष्ट्रे कोशे बले तथा ॥ १० ॥
कच्चिदेकः शिबीनाढ्यान् सौवीरान् सह सिन्धुभिः।
अनुतिष्ठसि धर्मेण ये चान्ये विजितास्त्वया ॥ ११ ॥

द्रौपदी बोली—राजन्! तुम स्वयं सकुशल हो न? तुम्हारे राज्य, खजाना और सैनिक तो कुशलसे हैं न? समृद्धिशाली शिबि, सौवीर, सिन्धु तथा अन्य जो-जो प्रदेश तुम्हारे अधिकारमें आ गये हैं, उन सबकी प्रजाका तुम धर्मपूर्वक पालन तो करते हो न? ॥ १०-११ ॥

कौरव्यः कुशली राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अहं च भ्रातरश्चास्य यांश्चान्यान् परिपृच्छसि ॥ १२ ॥
पाद्यं प्रतिगृहाणेदमासनं च नृपात्मज।

मेरे पति कुरुकुलरत्न कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिर सकुशल हैं। मैं, उनके चारों भाई तथा अन्य जिन लोगोंके विषयमें तुम पूछ रहे हो, वे सब कुशलसे हैं। राजकुमार! यह पैर धोनेके लिये जल है, इसे ग्रहण करो और यह आसन है, इसपर बैठो ॥ १२½ ॥

जयद्रथ उवाच

एहि मे रथमारोह सुखमाप्नुहि केवलम् ॥ १३ ॥
गतश्रीकांश्च्युतान् राज्यात् कृपणान् गतचेतसः।
अरण्यवासिनः पार्थान् नानुरोद्धुं त्वमर्हसि ॥ १४ ॥
नैव प्राज्ञा गतश्रीकं भर्तारमुपयुञ्जते।
युञ्जानमनुयुञ्जीत न श्रियः संक्षये वसेत् ॥ १५ ॥

जयद्रथने कहा—आओ चलो, मेरे रथपर बैठो और अखण्ड सुखका उपभोग करो। अब पाण्डवोंके पास धन नहीं रहा। उनका राज्य छीन लिया गया। वे दीन और उत्साह-हीन हो गये हैं। अब इन वनवासी कुन्तीपुत्रोंका अनुसरण करना तुम्हें शोभा नहीं देता। विदुषी स्त्रियाँ निर्धन पतिकी उपासना नहीं करती हैं। स्वामीके पास जबतक लक्ष्मी रहे, तभीतक उसके साथ रहना चाहिये। जब [illegible]की सम्पत्ति नष्ट हो जाय, तो वहाँ कदापि न रहे ॥ १३-१५

श्रिया विहीना राष्ट्राच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः।
अलं ते पाण्डुपुत्राणां भक्त्या क्लेशमुपासितुम् ॥ १६ ॥

पाण्डव सदाके लिये श्रीहीन तथा राज्यभ्रष्ट हो गये हैं। अब तुम्हें पाण्डवोंके प्रति भक्ति रखकर कष्ट भोगनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १६ ॥

भार्या मे भव सुश्रोणि त्यजैनान् सुखमाप्नुहि।
अखिलान् सिन्धुसौवीरानाप्नुहि त्वं मया सह ॥ १७ ॥

सुन्दरि! तुम मेरी भार्या बन जाओ। इन पाण्डवोंको छोड़ दो और मेरे साथ रहकर सुख भोगो। मेरे साथ रहनेसे तुम्हें सम्पूर्ण सिन्धु और सौवीरदेशका राज्य प्राप्त होगा, तुम महारानी बनोगी ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्ता सिन्धुराजेन वाक्यं हृदयकम्पनम्।
कृष्णा तस्मादपाक्रामद् देशात् सभ्रुकुटीमुखी ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सिन्धुराज जयद्रथके मुखसे यह हृदय कँपा देनेवाली बात सुनकर द्रुपद-कुमारी कृष्णा उस स्थानसे दूर हट गयी। उसके मुखपर रोष छा गया और उसकी भौंहें तन गयीं ॥ १८ ॥

अवमत्यास्य तद् वाक्यमाक्षिप्य च सुमध्यमा।
मैवमित्यब्रवीत् कृष्णा लज्जस्वेति च सैन्धव ॥ १९ ॥

उसके इस प्रस्तावका तिरस्कार करके सुन्दरी द्रौपदीने उसे कड़ी फटकार सुनायी और बोली—'खबरदार, फिर कभी ऐसी बात मुखसे मत निकालना। सिन्धुराज! तुम्हें लज्जा आनी चाहिये थी ॥ १९ ॥

सा काङ्क्षमाणा भर्तॄणामुपयातमनिन्दिता।
विलोभयामास परं वाक्यैर्वाक्यानि युञ्जती ॥ २० ॥

पतिव्रता द्रौपदी चाहती थी कि मेरे पति अभी यहाँ आ जायँ। अतः वह जयद्रथसे वाद-विवाद करती हुई उसे बातोंमें फँसाये रखनेकी चेष्टा करने लगी ॥ २० ॥

द्रौपद्युवाच

नैवं वद महाबाहो न्याय्यं त्वं न च बुध्यसे ॥
पाण्डूनां धार्तराष्ट्राणां स्वसा चैव कनीयसी।
दुःशला नाम तस्यास्त्वं भर्ता राजकुलोद्वह ॥
मम भ्राता च न्याय्येन त्वया रक्ष्या महारथ।
धर्मिष्ठानां कुले जातो न धर्मं त्वमवेक्षसे ॥

द्रौपदी बोली—महाबाहो! ऐसी पापकी बात न

बोलो। कौन-सा कार्य धर्मके अनुकूल और न्यायसंगत है, इसका तुम्हें ज्ञान नहीं है। तुम धृतराष्ट्रपुत्रों तथा पाण्डवोंकी छोटी बहन दुःशलाके पति हो। महारथी राजकुमार! इस नातेसे न्यायतः तुम मेरे भाई हो; अतः तुम्हें मेरी रक्षा करनी चाहिये। तुम्हारा जन्म तो धर्मात्माओंके कुलमें हुआ है, परंतु तुम्हारी दृष्टि धर्मकी ओर नहीं है॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः सिन्धुराजोऽथ वाक्यमुत्तरमब्रवीत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रौपदीके ऐसा कहनेपर सिन्धुराज जयद्रथने उसे इस प्रकार उत्तर दिया।

जयद्रथ उवाच

राज्ञां धर्मं न जानीषे स्त्रियो रत्नानि चैव हि।
साधारणानि लोकेऽस्मिन् प्रवदन्ति मनीषिणः॥)

जयद्रथ बोला—कृष्णे! तुम राजाओंका धर्म नहीं जानतीं। मनीषी पुरुषोंका कथन है कि इस संसारमें स्त्रियाँ तथा रत्न सर्वसाधारणकी वस्तुएँ हैं।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथद्रौपदीसंवादे सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २६७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें जयद्रथद्रौपदीसंवादविषयक दो सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रौपदीका जयद्रथको फटकारना और जयद्रथद्वारा उसका अपहरण

वैशम्पायन उवाच

सरोषरागोपहतेन वल्गुना
सरागनेत्रेण नतोन्नतभ्रुवा।
मुखेन विस्फूर्य सुवीरराष्ट्रपं
ततोऽब्रवीत् तं द्रुपदात्मजा पुनः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जयद्रथकी बात सुनकर द्रौपदीका सुन्दर मुख क्रोधसे तमतमा उठा, आँखें लाल हो गयीं, भौंहें टेढ़ी होकर तन गयीं और उसने सौवीरराज जयद्रथको फटकारकर पुनः इस प्रकार कहा—॥१॥

यशस्विनस्तीक्ष्णविषान् महारथा-
नभिब्रुवन् मूढ न लज्जसे कथम्।
महेन्द्रकल्पान् निरतान् स्वकर्मसु
स्थितान् समूहेष्वपि यक्षरक्षसाम्॥ २॥

'अरे मूढ़! मेरे पति पाण्डव महान् यशस्वी, सदा अपने धर्मके पालनमें स्थित, यक्षों तथा राक्षसोंके समूहमें भी युद्ध करनेमें समर्थ, देवराज इन्द्रके सदृश शक्तिशाली तथा महारथी वीर हैं। उनका क्रोध तीक्ष्ण विषवाले नागोंके समान भयंकर है। उनके सम्मानके विरुद्ध ऐसी ओछी बातें कहते हुए तुझे लज्जा कैसे नहीं आती?॥ २॥

न किंचिदीड्यं प्रवदन्ति पापं
वनेचरं वा गृहमेधिनं वा।
तपस्विनं सम्परिपूर्णविद्यं
भषन्ति हैवं श्वनराः सुवीर॥ ३॥

'अच्छे लोग पूजनीय, तपस्वी तथा पूर्ण विद्वान् पुरुषके प्रति भले ही वह वनवासी हो या गृहस्थ, कोई अनुचित बात नहीं कहते हैं। जयद्रथ! मनुष्योंमें जो तेरे-जैसे कुत्ते हैं, वे ही इस तरह भूँका करते हैं॥ ३॥



अहं तु मन्ये तव नास्ति कश्चि-
देतादृशे क्षत्रियसंनिवेशे।
यस्त्वाद्य पातालमुखे पतन्तं
पाणौ गृहीत्वा प्रतिसंहरेत॥ ४॥
नागं प्रभिन्नं गिरिकूटकल्प-
मुपत्यकां हैमवतीं चरन्तम्।
दण्डीव यूथादपसेधसि त्वं
यो जेतुमाशंससि धर्मराजम्॥ ५॥

'मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि इस क्षत्रियमण्डलीमें कोई भी तेरा ऐसा हितैषी स्वजन नहीं है, जो आज तेरा हाथ पकड़कर तुझे पातालके गहरे गर्तमें गिरनेसे बचा ले। अरे! जैसे कोई मूर्ख मनुष्य हिमालयकी उपत्यकामें विचरनेवाले पर्वतशिखरके समान ऊँचे एवं मदकी धारा बहानेवाले गजराजको हाथमें डंडा लेकर उसके यूथसे अलग हाँक लाना चाहे, उसी प्रकार तू धर्मराज युधिष्ठिरको जीतनेका हौसला रखता है॥ ४-५॥

बाल्यात् प्रसुप्तस्य महाबलस्य
सिंहस्य पक्ष्माणि मुखाल्लुनासि।
पदा समाहत्य पलायमानः
क्रुद्धं यदा द्रक्ष्यसि भीमसेनम्॥ ६॥

'तू मूर्खतावश (अपनी माँदमें) सोये हुए महाबली सिंहको लात मारकर उसके मुखके बाल नोंच रहा है। जिस समय तू क्रोधमें भरे हुए भीमसेनको देखेगा, उस समय तुरंत भाग छूटेगा॥ ६॥

महाबलं घोरतरं प्रवृद्धं
जातं हरिं पर्वतकन्दरेषु।
प्रसुप्तमुग्रं प्रपदेन हंसि
यः क्रुद्धमायोत्स्यसि जिष्णुमुग्रम्॥ ७॥

'यदि तू रोषमें भरे हुए भयंकर योद्धा अर्जुनसे जूझना चाहता है, तो समझ ले कि पर्वतकी कन्दराओंमें उत्पन्न हो वहीं पलकर बढ़े हुए अत्यन्त घोर और महाबली सोये हुए भयानक सिंहको तू पैरसे ठोकर मार रहा है॥ ७॥

कृष्णोरगौ तीक्ष्णमुखौ द्विजिह्वौ
मत्तः पदाऽऽक्रामसि पुच्छदेशे।
यः पाण्डवाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्यां
जघन्यजाभ्यां प्रयुयुत्ससे त्वम्॥ ८॥

'यदि तू पुरुषरत्न दोनों छोटे पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेकी इच्छा रखता है, तो यह मानना पड़ेगा कि मतवाला होकर तू मुखमें तीक्ष्ण विष धारण करनेवाले एवं दो जिह्वाओंसे युक्त दो काले नागोंकी पूँछको पैरसे कुचल रहा है॥ ८॥

यथा च वेणुः कदली नलो वा
फलन्त्यभावाय न भूतयेऽऽत्मनः।
तथैव मां तैः परिरक्ष्यमाणा-
मादास्यसे कर्कटकीव गर्भम्॥ ९॥

'अरे मूर्ख! जैसे बाँस, केला और नरकुल—ये अपने विनाशके लिये ही फलते हैं, समृद्धिके लिये नहीं तथा जैसे केकड़ेकी मादा अपनी मृत्युके लिये ही गर्भ धारण करती है, उसी प्रकार तू पाण्डवोंद्वारा सदा सुरक्षित मुझ द्रौपदीका अपनी मृत्युके लिये ही अपहरण करना चाहता है॥ ९॥

जयद्रथ उवाच

जानामि कृष्णे विदितं ममैतद्
यथाविधास्ते नरदेवपुत्राः।
न त्वेवमेतेन विभीषणेन
शक्या वयं त्रासयितुं त्वयाद्य॥ १०॥

जयद्रथने कहा—कृष्णे! मैं जानता हूँ कि तुम्हारे पति राजकुमार पाण्डव कैसे हैं? मुझे ये सब बातें मालूम हैं। परंतु इस समय इस विभीषिकाद्वारा तुम हमें डरा नहीं सकतीं॥ १०॥

वयं पुनः सप्तदशेषु कृष्णे
कुलेषु सर्वेऽनवमेषु जाताः।
षड्भ्यो गुणेभ्योऽभ्यधिका विहीनान्
मन्यामहे द्रौपदि पाण्डुपुत्रान्॥ ११॥

द्रुपदकुमारी कृष्णे! हम सब लोग उन श्रेष्ठ कुलोंमें उत्पन्न हुए हैं, जो सत्रह गुणोंसे सम्पन्न हैं। इसके सिवा हम छः गुणोंको पाकर पाण्डवोंसे बढ़े-चढ़े हैं; अतः उन्हें अपनेसे हीन मानते हैं॥ ११॥

सा क्षिप्रमातिष्ठ गजं रथं वा
न वाक्यमात्रेण वयं हि शक्याः।
आशंस वा त्वं कृपणं वदन्ती
सौवीरराजस्य पुनः प्रसादम्॥ १२॥

कृष्णे! तुम बड़ी-बड़ी बातें बनाकर हमें रोक नहीं सकतीं। अब तुम्हारे सामने दो ही मार्ग हैं—या तो सीधी तरहसे तुरंत चलकर मेरे हाथी या रथपर सवार हो जाओ; अथवा पाण्डवोंके हार जानेपर दीन वाणीमें विलाप करती हुई सौवीरराज जयद्रथसे कृपाकी भीख माँगो॥ १२॥

द्रौपद्युवाच

महाबला किंत्विह दुर्बलेव
सौवीरराजस्य मताहमस्मि।
नाहं प्रमाथादिह सम्प्रतीता
सौवीरराजं कृपणं वदेयम्॥ १३॥

द्रौपदीने कहा—मैं महान् बल एवं शक्तिसे सम्पन्न हूँ, तो भी सौवीरराज जयद्रथकी दृष्टिमें यहाँ दुर्बल-सी

---

१. खेती, व्यापार, दुर्ग, पुल बनाना, हाथी बाँधना, खानोंकी रक्षा, कर वसूलना और निर्जन प्रदेशोंको बसाना—ये आठ संधान-कर्म तथा प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति, प्रभुसिद्धि, मन्त्र-सिद्धि, उत्साहसिद्धि, प्रभूदय, मन्त्रोदय और उत्साहोदय—ये नौ मिलाकर सत्रह गुण होते हैं।

२. शौर्य, तेज, धृति, दाक्षिण्य, दान तथा ऐश्वर्य—ये छः गुण हैं।

प्रतीत हो रही हूँ। मुझे भगवान्‌पर विश्वास है, मैं जोर-जबर्दस्ती करनेसे यहाँ जयद्रथके सामने कभी दीन वचन नहीं बोल सकती ॥ १३ ॥

यस्या हि कृष्णौ पदवीं चरेतां
समास्थितावेकरथे समेतौ ।
इन्द्रोऽपि तां नापहरेत् कथंचि-
न्मनुष्यमात्रः कृपणः कुतोऽन्यः ॥ १४ ॥

एक रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन साथ होकर जिसकी खोजमें निकलेंगे, उस द्रौपदीको देवराज इन्द्र भी किसी तरह हरकर नहीं ले जा सकते। फिर दूसरे किसी दीन-हीन मनुष्यकी तो बिसात ही क्या है ? ॥ १४ ॥

यदा किरीटी परवीरघाती
निघ्नन् रथस्थो द्विषतां मनांसि ।
मदन्तरे त्वद्ध्वजिनीं प्रवेष्टा
कक्षं दहन्नग्निरिवोष्णगेषु ॥ १५ ॥

जब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले किरीटधारी अर्जुन शत्रुओंके मनोबलको नष्ट करते हुए मेरे लिये रथमें स्थित हो तेरी सेनामें प्रवेश करेंगे, उस समय जैसे गर्मियोंमें आग घास-फूसको जलाती है, उसी प्रकार तुझे और तेरी सेनाको भस्म कर डालेंगे ॥ १५ ॥

जनार्दनः सान्धकवृष्णिवीरो
महेष्वासाः केकयाश्चापि सर्वे ।
एते हि सर्वे मम राजपुत्राः
प्रहृष्टरूपाः पदवीं चरेयुः ॥ १६ ॥

अन्धक और वृष्णिवंशी वीरोंके साथ भगवान् श्रीकृष्ण तथा महान् धनुर्धर समस्त केकयराजकुमार मेरे रक्षक हैं। ये सभी राजपुत्र हर्ष और उत्साहमें भरकर मेरा पता लगानेके लिये निकल पड़ेंगे ॥ १६ ॥

मौर्वीविसृष्टाः स्तनयित्नुघोषा
गाण्डीवमुक्तास्त्वतिवेगवन्तः ।
हस्तं समाहत्य धनंजयस्य
भीमाः शब्दं घोरतरं नदन्ति ॥ १७ ॥

अर्जुनके गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चासे छूटे हुए अत्यन्त वेगशाली बाण मेघोंके समान गर्जना करते हैं। वे भयानक बाण अर्जुनके हाथसे टकराकर अत्यन्त घोर शब्दकी सृष्टि करते हैं ॥ १७ ॥

गाण्डीवमुक्तांश्च महाशरौघान्
पतंगसङ्घानिव शीघ्रवेगान् ।
यदा द्रष्टास्यर्जुनं वीर्यशालिनं
तदा स्वबुद्धिं प्रतिनिन्दितासि ॥ १८ ॥

जब तू गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए विशाल बाणसमूहोंको टिड्डियोंकी भाँति वेगसे उड़ते देखेगा और जब अद्भुत पराक्रमसे शोभा पानेवाले वीर अर्जुनपर तेरी दृष्टि पड़ेगी, उस समय अपने इस कुकृत्यको याद करके तू स्वयं ही अपनी बुद्धिको धिक्कारेगा ॥ १८ ॥

सशङ्खघोषः सतलत्रघोषो
गाण्डीवधन्वा मुहुरुद्वहंश्च ।
यदा शरानर्पयिता तवोरसि
तदा मनस्ते किमिवाभविष्यत् ॥ १९ ॥

जब गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुन शङ्खध्वनिके साथ दस्तानेकी आवाज फैलाते हुए बार बार बाण उठा-उठाकर तेरी छातीपर चोट करेंगे, उस समय तेरे मनकी दशा कैसी होगी ? (इसे भी सोच ले) ॥ १९ ॥

गदाहस्तं भीममभिद्रवन्तं
माद्रीपुत्रौ सम्पतन्तौ दिशश्च ।
अमर्षजं क्रोधविषं वमन्तौ
दृष्ट्वा चिरं तापमुपैष्यसेऽधम ॥ २० ॥

अरे नीच ! जब भीमसेन हाथमें गदा लिये दौड़ेंगे और माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव अमर्षजनित क्रोधरूपी विष उगलते हुए (तेरी सेनापर) सब दिशाओंसे टूट पड़ेंगे, तब उन्हें देखकर तू दीर्घकालतक संतापकी आगमें जलता रहेगा ॥ २० ॥

यथा चाहं नातिचरे कथंचित्
पतीन् महार्हान् मनसापि जातु ।
तेनाद्य सत्येन वशीकृतं त्वां
द्रष्टास्मि पार्थैः परिकृष्यमाणम् ॥ २१ ॥

यदि मैंने कभी मनसे भी अपने परम पूजनीय पतियोंका किसी तरह उल्लङ्घन नहीं किया हो, तो आज इस सत्यके प्रभावसे मैं देखूँगी कि पाण्डव तुझे जीतकर अपने वशमें करके जमीनपर घसीट रहे हैं ॥ २१ ॥

न सम्भ्रमं गन्तुमहं हि शक्ष्ये
त्वया नृशंसेन विकृष्यमाणा ।
समागताहं हि कुरुप्रवीरैः
पुनर्वनं काम्यकमागतास्मि ॥ २२ ॥

मैं जानती हूँ कि तू नृशंस है, अतः मुझे बलपूर्वक खींच-कर ले जायगा। परंतु इससे मैं सम्भ्रम (घबराहट) में नहीं पड़ सकूँगी। मैं अपने पति कुरुवंशी वीर पाण्डवोंसे शीघ्र ही मिलूँगी और उनके साथ पुनः इसी काम्यकवनमें आकर रहूँगी ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

साताननुप्रेक्ष्य विशालनेत्रा
जिघृक्षमाणानवभर्त्सयन्ती ।
प्रोवाच मा मा स्पृशतेति भीता
धौम्यं प्रचुक्रोश पुरोहितं सा ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय जयद्रथके साथी आश्रममें प्रविष्ट होकर द्रौपदीको पकड़ लेना चाहते थे। यह देख विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदी उन्हें डाँटकर बोली—'खबरदार, कोई मेरे शरीरका स्पर्श न करे।' फिर भयभीत होकर उसने अपने पुरोहित धौम्य मुनिको पुकारा ॥ २३ ॥

जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे
जयद्रथस्तं समवाक्षिपत् सा ।
तया समाक्षिप्ततनुः स पापः
पपात शाखीव निकृत्तमूलः ॥ २४ ॥

इतनेमें ही जयद्रथने आगे बढ़कर द्रौपदीकी ओढ़नीका छोर पकड़ लिया। परंतु द्रौपदीने उसे जोरका धक्का दिया। उसका धक्का लगते ही पापी जयद्रथका शरीर जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २४ ॥

प्रगृह्यमाणा तु महाजवेन
मुहुर्विनिःश्वस्य च राजपुत्री ।
सा कृष्यमाणा रथमारुरोह
धौम्यस्य पादावभिवाद्य कृष्णा ॥ २५ ॥

फिर बड़े वेगसे उठकर उसने राजकुमारी द्रौपदीको पकड़ लिया। तब बार-बार लंबी साँसें छोड़ती हुई द्रौपदीने धौम्य-मुनिके चरणोंमें प्रणाम किया, किंतु वह जयद्रथके द्वारा खींची जानेके कारण बाध्य होकर उसके रथपर बैठ गयी ॥ २५ ॥

धौम्य उवाच

नेयं शक्या त्वया नेतुमविजित्य महारथान् ।
धर्मं क्षत्रस्य पौराणमवेक्षस्व जयद्रथ ॥ २६ ॥

तब धौम्यने कहा—जयद्रथ ! तू क्षत्रियोंके प्राचीन धर्मपर दृष्टिपात कर। महारथी पाण्डवोंको परास्त किये बिना इसे ले जानेका तुझे कोई अधिकार नहीं है ॥ २६ ॥

क्षुद्रं कृत्वा फलं पापं त्वं प्राप्स्यसि न संशयः ।
आसाद्य पाण्डवान् वीरान् धर्मराजपुरोगमान् ॥ २७ ॥

तू धर्मराज आदि वीर पाण्डवोंके सामने पड़नेपर इस खोटे कर्मका बुरा फल प्राप्त करेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा ह्रियमाणां तां राजपुत्रीं यशस्विनीम् ।
अन्वगच्छत् तदा धौम्यः पदातिगणमध्यगः ॥२८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर धौम्य मुनि हरकर ले जायी जाती हुई यशस्विनी राजकुमारी द्रौपदीके पीछे-पीछे पैदल सेनाके बीचमें होकर चलने लगे ॥२८॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें दो सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६८ ॥

एकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका आश्रमपर लौटना और धात्रेयिकासे द्रौपदीहरणका वृत्तान्त जानकर जयद्रथका पीछा करना

वैशम्पायन उवाच

ततो दिशः सम्प्रविहृत्य पार्था
मृगान् वराहान् महिषांश्च हत्वा ।
धनुर्धराः श्रेष्ठतमाः पृथिव्यां
पृथक् चरन्तः सहिता बभूवुः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भूमण्डलके श्रेष्ठतम धनुर्धर पाँचों कुन्तीकुमार सब दिशाओंमें घूम-फिरकर हिंसक पशुओं, वराहों और जंगली भैंसोंको मारकर पृथक्-पृथक् विचरते हुए एक साथ हो गये ॥ १ ॥

ततो मृगव्यालगणानुकीर्णं
महावनं तद् विहगोपघुष्टम् ।
भ्रातॄंश्च तानभ्यवदद् युधिष्ठिरः
श्रुत्वा गिरो व्याहरतां मृगाणाम् ॥ २ ॥

उस समय हिंसक पशुओं और साँपोंसे भरा हुआ वह महान् वन सहसा चिड़ियोंके चीत्कारसे गूँज उठा तथा वन्य पशु भी भयभीत होकर आर्तनाद करने लगे। उन सबकी आवाज सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने अपने भाइयोंसे कहा—॥ २ ॥

आदित्यदीप्तां दिशमभ्युपेत्य
मृगा द्विजाः क्रूरमिमे वदन्ति ।
आयासमुग्रं प्रतिवेदयन्तो
महावनं शत्रुभिर्बाध्यमानम् ॥ ३ ॥

'भाइयो ! देखो, ये मृग और पक्षी सूर्यके द्वारा प्रकाशित पूर्वदिशाकी ओर दौड़ते हुए अत्यन्त कठोर शब्द बोल रहे हैं और किसी भयंकर उत्पातकी सूचना देते हैं। जान पड़ता है, यह विशाल वन हमारे शत्रुओंद्वारा पीड़ित हो रहा है ॥ ३ ॥

क्षिप्रं निवर्तध्वमलं विलम्बै-
र्मनो हि मे दूयति दह्यते च ।
बुद्धिं समाच्छाद्य च मे समन्यु-
रुद्धूयते प्राणपतिः शरीरे ॥ ४ ॥

अब शीघ्र आश्रमकी ओर लौटो। हमें बिलम्ब नहीं

करना चाहिये; क्योंकि मेरा मन बुद्धिकी विवेकशक्तिको आच्छादित करके व्यथित तथा चिन्तासे दग्ध हो रहा है तथा मेरे शरीरमें यह प्राणोंका स्वामी (जीव) भयभीत हुआ छटपटा रहा है ॥ ४ ॥

सरः सुपर्णेन हृतोरगं यथा
राष्ट्रं यथाराजकमात्तलक्ष्मि ।
एवंविधं मे प्रतिभाति काम्यकं
शौण्डैर्यथा पीतरसश्च कुम्भः ॥ ५ ॥

'जैसे गरुड़के द्वारा सरोवरमें रहनेवाले महासर्पके पकड़ लिये जानेपर वह मथित-सा हो उठता है, जैसे बिना राजाका राज्य श्रीहीन हो जाता है तथा जिस प्रकार रससे भरा हुआ घड़ा धूर्तोंद्वारा (चुपकेसे) पी लिये जानेपर सहसा खाली दिखायी देता है; उसी प्रकार शत्रुओंद्वारा काम्यकवनकी भी दुरवस्था की गयी है, ऐसा मुझे जान पड़ता है' ॥ ५ ॥

ते सैन्धवैरत्यनिलोग्रवेगै-
र्महाजवैर्वाजिभिरुह्यमानाः ।
युक्तैर्बृहद्भिः सुरथैर्नृवीरा-
स्तदाऽऽश्रमायाभिमुखा बभूवुः ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् वे नरवीर पाण्डव हवासे भी अधिक तेज चलनेवाले सिन्धुदेशके महान् वेगशाली अश्वोंसे जुते हुए सुन्दर एवं विशाल रथोंपर बैठकर आश्रमकी ओर चले ॥ ६ ॥

तेषां तु गोमायुरनल्पघोषो
निवर्ततां वाममुपेत्य पार्श्वम् ।
प्रव्याहरत् तत् प्रविमृश्य राजा
प्रोवाच भीमं च धनंजयं च ॥ ७ ॥

उस समय एक गीदड़ बड़े जोरसे रोता हुआ लौटते हुए पाण्डवोंके वामभागसे होकर निकल गया । इस अपशकुनपर विचार करके राजा युधिष्ठिरने भीमसेन और अर्जुनसे कहा—॥ ७ ॥

यथा वदत्येष विहीनयोनिः
शालावृको वाममुपेत्य पार्श्वम् ।
सुव्यक्तमस्मानवमन्य पापैः
कृतोऽभिमर्दः कुरुभिः प्रसह्य ॥ ८ ॥

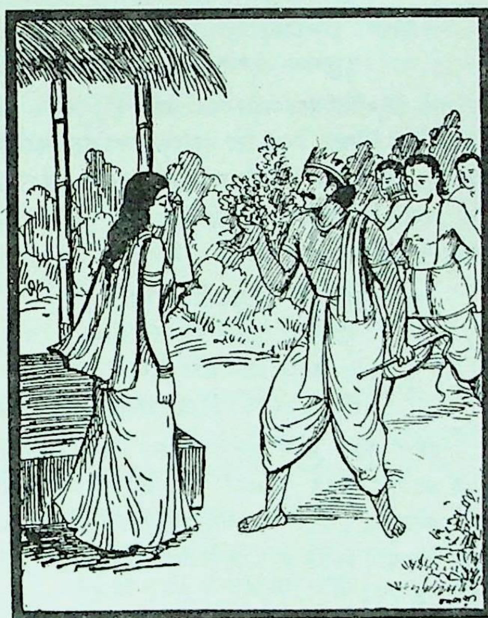
'यह नीच योनिका गीदड़, जो हमलोगोंके वामभागसे होकर निकला है, जैसा शब्द कर रहा है, उससे स्पष्ट जान पड़ता है कि पापी कौरवोंने यहाँ आकर हमारी अवहेलना करते हुए हठपूर्वक भारी संहार मचा रक्खा है' ॥ ८ ॥

इत्येव ते तद् वनमाविशन्तो
महत्यरण्ये मृगयां चरित्वा ।
बालामपश्यन्त तदा रुदन्तीं
धात्रेयिकां प्रेष्यवधूं प्रियायाः ॥ ९ ॥

इस प्रकार उस विशाल वनमें शिकार खेलकर लौटे हुए पाण्डव जब आश्रमके समीपवर्ती वनमें प्रवेश करने लगे, तब उन्होंने देखा कि उनकी प्रिया द्रौपदीकी दासी धात्रेयिका, जो उन्हींके एक सेवककी स्त्री थी, रो रही है ॥ ९ ॥

तामिन्द्रसेनस्त्वरितोऽभिसृत्य
रथादवप्लुत्य ततोऽभ्यधावत् ।
प्रोवाच चैनां वचनं नरेन्द्र
धात्रेयिकामन्तिकतरस्तदानीम् ॥ १० ॥

राजा जनमेजय ! उसे रोती देख सारथि इन्द्रसेन तुरंत रथसे कूद पड़ा और वहाँसे दौड़कर धात्रेयिकाके अत्यन्त निकट जाकर उस समय इस प्रकार बोला—॥ १० ॥



किं रोदिषि त्वं पतिता धरण्यां
किं ते मुखं शुष्यति दीनवर्णम् ।
कच्चिन्न पापैः सुनृशंसकृद्भिः
प्रमाथिता द्रौपदी राजपुत्री ॥ ११ ॥

'तू इस प्रकार धरतीपर पड़ी क्यों रो रही है ? तेरा मुँह दीन होकर क्यों सूख रहा है ? कहीं अत्यन्त निष्ठुर कर्म करनेवाले पापी कौरवोंने यहाँ आकर राजकुमारी द्रौपदीका तिरस्कार तो नहीं किया ? ॥ ११ ॥

अचिन्त्यरूपा सुविशालनेत्रा
शरीरतुल्या कुरुपुङ्गवानाम् ।
यथैव देवी पृथिवीं प्रविष्टा
दिवं प्रपन्नाप्यथवा समुद्रम् ॥ १२ ॥

तस्या गमिष्यन्ति पदे हि पार्था
यथा हि संतप्यति धर्मपुत्रः ।

'धर्मराज युधिष्ठिर महारानीके लिये जिस प्रकार संतप्त हो रहे हैं, उसे देखते हुए यह निश्चय है कि समस्त कुन्ती-कुमार उनकी खोजमें अभी जायँगे । उनका रूप अचिन्त्य है । वे सुन्दर एवं विशाल नेत्रोंसे सुशोभित होती हैं तथा कुरुप्रवर पाण्डवोंको अपने शरीरके समान प्यारी हैं । वे द्रौपदीदेवी यदि पृथ्वीके भीतर प्रविष्ट हुई हों, स्वर्गलोकमें गयी हों अथवा समुद्रमें समा गयी हों, पाण्डव उन्हें अवश्य ढूँढ़ निकालेंगे ॥ १२½ ॥

को हीदृशानामरिमर्दनानां
क्लेशक्षमानामपराजितानाम् ॥ १३ ॥
प्राणैः समामिष्टतमां जिहीर्षे-
दनुत्तमं रत्नमिव प्रमूढः ।

'जो शत्रुओंका मान मर्दन करनेवाले और किसीसे भी पराजित नहीं होनेवाले हैं, जो सब प्रकारके क्लेश सहन करनेमें समर्थ हैं, ऐसे पाण्डवोंकी सर्वोत्तम रत्नके समान स्पृहणीय तथा प्राणोंके समान प्रियतमा द्रौपदीका कौन मूर्ख अपहरण करना चाहेगा ? ॥ १३½ ॥

न बुध्यते नाथवतीमिहाद्य
बहिश्चरं हृदयं पाण्डवानाम् ॥ १४ ॥
कस्याद्य कायं प्रतिभिद्य घोरा
महीं प्रवेक्ष्यन्ति शिताः शराग्र्याः ।

'द्रौपदी बाहर प्रकट हुई पाण्डवोंकी अन्तरात्मा है । अपने पतियोंसे सनाथ महारानी द्रौपदीको यहाँ कौन मूर्ख नहीं जानता था ? आज पाण्डवोंके अत्यन्त भयंकर और तीक्ष्ण श्रेष्ठ बाण किसके शरीरको विदीर्ण करके पृथ्वीमें घुस जायँगे ? ॥ १४½ ॥

मा त्वं शुचस्तां प्रति भीरु विद्धि
यथाद्य कृष्णा पुनरेष्यतीति ॥ १५ ॥
निहत्य सर्वान् द्विषतः समग्रान्
पार्थाः समेष्यन्त्यथ याज्ञसेन्या ।

'भीरु ! तू महारानी द्रौपदीके लिये शोक न कर। तू समझ ले कि अभी वे पुनः यहाँ आ जायँगी । कुन्तीके पुत्र अपने समस्त शत्रुओंका संहार करके द्रुपदकुमारीसे अवश्य मिलेंगे' ॥ १५½ ॥

अथाब्रवीच्चारु मुखं प्रमृज्य
धात्रेयिका सारथिमिन्द्रसेनम् ॥ १६ ॥
जयद्रथेनापहृता प्रमथ्य
पञ्चेन्द्रकल्पान् परिभूय कृष्णा ।
तिष्ठन्ति वर्त्मानि नवान्यमूनि
वृक्षाश्च न म्लान्ति तथैव भग्नाः ॥ १७ ॥

तब अपने सुन्दर मुखपर बहते हुए आँसुओंको (दोनों हाथोंसे) पोंछकर धात्रेयिकाने सारथि इन्द्रसेनसे कहा— 'इन्द्रसेन ! इन्द्रके समान पराक्रमी इन पाँचों पाण्डवोंका अपमान करके जयद्रथने हठपूर्वक द्रौपदीका अपहरण किया है । देखो, उसके रथ और सैनिकोंके जानेसे जो ये नये मार्ग बन गये हैं, वे ज्यों-के-त्यों हैं, मिटे नहीं हैं तथा ये टूटे हुए वृक्ष भी अभी मुरझाये नहीं हैं ॥ १६-१७ ॥

आवर्तयध्वं ह्यनुयात शीघ्रं
न दूरयातैव हि राजपुत्री ।
संनह्यध्वं सर्व एवेन्द्रकल्पा
महान्ति चारूणि च दंशनानि ॥ १८ ॥

'इन्द्रके समान तेजस्वी समस्त पाण्डववीरो ! आपलोग अपने रथोंको लौटाइये । शीघ्र शत्रुओंका पीछा कीजिये । अभी राजकुमारी द्रौपदी दूर नहीं गयी होगी । शीघ्र ही महान् एवं मनोहर कवच धारण कर लीजिये ॥ १८ ॥

गृह्णीत चापानि महाधनानि
शरांश्च शीघ्रं पदवीं चरध्वम् ।
पुरा हि निर्भर्त्सनदण्डमोहिता
प्रमोहचित्ता वदनेन शुष्यता ॥ १९ ॥
ददाति कस्मैचिदनर्हते तनुं
वराज्यपूर्णामिव भस्मनि स्रुचम् ।
पुरा तुषाग्नाविव हूयते हविः
पुरा श्मशाने स्रगिवापविद्ध्यते॥ २० ॥
पुरा च सोमोऽध्वरगोऽवलिह्यते
शुना यथा विप्रजने प्रमोहिते ।
महत्यरण्ये मृगयां चरित्वा
पुरा शृगालो नलिनीं विगाहते ॥ २१ ॥

'बहुमूल्य धनुष और बाण ले लीजिये और शीघ्र ही शत्रुके मार्गका अनुसरण कीजिये । कहीं ऐसा न हो कि डाँट-डपट और दण्डके भयसे मोहित और व्याकुलचित्त हो अपना उदास मुख लिये द्रौपदी किसी अयोग्य पुरुषको आत्मसमर्पण कर दे । ऐसी घटना घटित होनेसे पहले ही वहाँ पहुँच जाइये । यदि राजकुमारी कृष्णा किसी पराये पुरुषके हाथमें पड़ गयी, तो समझ लीजिये, किसीने उत्तम घीसे भरी हुई स्रुवाको राखमें डाल दिया, हविष्यको भूसेकी आगमें होम दिया गया, (देवपूजाके लिये बनी हुई) सुन्दर माला श्मशानमें फेंक दी गयी, यज्ञमण्डपमें रखे हुए पवित्र सोमरसको वहाँके ब्राह्मणोंकी असावधानीसे किसी कुत्तेने चाट लिया और विशाल वनमें शिकार करके अशुद्ध हुए गीदड़ने किसी पवित्र सरोवरमें गोता लगाकर उसे अपवित्र कर दिया; अतः ऐसी अप्रिय घटना घटित होनेसे पहले ही आपलोगोंको वहाँ पहुँच जाना चाहिये ॥ १९-२१ ॥

मा वः प्रियायाः सुनसं सुलोचनं
चन्द्रप्रभाच्छं वदनं प्रसन्नम्।
स्पृश्याच्छुभं कश्चिदकृत्यकारी
श्वा वै पुरोडाशमिवाध्वरस्थम्।
एतानि वर्त्मान्यनुयात शीघ्रं
मा वः कालः क्षिप्रमिहात्यगाद् वै॥ २२॥

'कहीं ऐसा न हो कि आपलोगोंकी प्रियाके सुन्दर नेत्र तथा मनोहर नासिकासे सुशोभित चन्द्ररश्मियोंके समान स्वच्छ, प्रसन्न एवं पवित्र मुखको कोई कुकर्मकारी पापात्मा पुरुष छू दे; ठीक उसी तरह, जैसे कुत्ता यज्ञके पुरोडाशको चाट ले। अतः जितना शीघ्र सम्भव हो, इन्हीं मार्गोंसे शत्रुका पीछा कीजिये। आपलोगोंका बहुमूल्य समय यहाँ अधिक नहीं बीतना चाहिये'॥ २२॥

युधिष्ठिर उवाच

भद्रे प्रतिक्राम नियच्छ वाचं
मास्मत्सकाशे परुषाण्यवोचः।
राजानो वा यदि वा राजपुत्रा
बलेन मत्ता वञ्चनां प्राप्नुवन्ति॥ २३॥

युधिष्ठिर बोले—भद्रे! हट जाओ। अपनी जबान बंद करो। हमारे निकट द्रौपदीके सम्बन्धमें ऐसी अनुचित और कठोर बातें मुँहसे न निकालो। जिन्होंने अपने बलके घमंडमें आकर ऐसा निन्दनीय कार्य किया है, वे राजा हों या राजकुमार, उन्हें अपने प्राण एवं सम्मानसे अवश्य बञ्चित होना पड़ेगा॥ २३॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा प्रययुर्हि शीघ्रं
तान्येव वर्त्मान्यनुवर्तमानाः।
मुहुर्मुहुर्व्यालवदुच्छ्वसन्तो
ज्यां विक्षिपन्तश्च महाधनुर्भ्यः॥ २४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर समस्त पाण्डव अपने विशाल धनुषकी डोरी खींचते और बार-बार सर्पोंके समान फुफकारते हुए उन्हीं मार्गोंपर चलते हुए बड़े वेगसे आगे बढ़े॥ २४॥

ततोऽपश्यंस्तस्य सैन्यस्य रेणु-
मुद्भूतं वै वाजिखुरप्रणुन्नम्।
पदातीनां मध्यगतं च धौम्यं
विक्रोशन्तं भीममभिद्रवेति॥ २५॥

तदनन्तर उन्हें जयद्रथकी सेनाके घोड़ोंकी टापसे आहत होकर उड़ती हुई धूल दिखायी दी। उसके साथ ही पैदल सैनिकोंके बीचमें होकर चलते हुए पुरोहित धौम्य भी दृष्टिगोचर हुए, जो बार-बार पुकार रहे थे—'भीमसेन! दौड़ो'॥ २५॥

ते सान्त्व्य धौम्यं परिदीनसत्त्वाः
सुखं भवानेत्विति राजपुत्राः।
श्येना यथैवामिषसम्प्रयुक्ता
जवेन तत् सैन्यमथाभ्यधावन्॥ २६॥

तब असाधारण पराक्रमी राजकुमार पाण्डव धौम्य मुनिको सान्त्वना देते हुए बोले—'आप निश्चिन्त होकर चलिये, (हमलोग आ पहुँचे हैं।)' फिर जैसे बाज मांसकी ओर झपटते हैं, उसी प्रकार पाण्डव जयद्रथकी सेनाके पीछे बड़े वेगसे दौड़े॥ २६॥

तेषां महेन्द्रोपमविक्रमाणां
संरब्धानां धर्षणाद् याज्ञसेन्याः।
क्रोधः प्रजज्वाल जयद्रथं च
दृष्ट्वा प्रियां तस्य रथे स्थितां च॥ २७॥

इन्द्रके समान पराक्रमी पाण्डव द्रौपदीके तिरस्कारकी बात सुनकर ही क्रोधातुर हो रहे थे; जब उन्होंने जयद्रथको और उसके रथपर बैठी हुई अपनी प्रिया द्रौपदीको देखा, तब तो उनकी क्रोधाग्नि प्रबल वेगसे प्रज्वलित हो उठी॥ २७॥

प्रचुक्रुशुश्चाप्यथ सिन्धुराजं
वृकोदरश्चैव धनंजयश्च।
यमौ च राजा च महाधनुर्धरा-
स्ततो दिशः सम्मुमुहुः परेषाम्॥ २८॥

फिर तो भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा राजा युधिष्ठिर—ये सभी महाधनुर्धर वीर सिन्धुराज जयद्रथको ललकारने लगे। उस समय शत्रुओंके सैनिकोंको इतनी घबराहट हुई कि उन्हें दिशाओंतकका ज्ञान न रहा॥ २८॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि पार्थागमने एकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २६९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें पार्थागमनविषयक दो सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६९॥

सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रौपदीद्वारा जयद्रथके सामने पाण्डवोंके पराक्रमका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततो घोरतरः शब्दो वन समभवत् तदा।
भीमसेनार्जुनौ दृष्ट्वा क्षत्रियाणाममर्षिणाम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर उस वनमें भीमसेन और अर्जुनको देखकर अमर्षमें भरे हुए क्षत्रियोंका अत्यन्त घोर कोलाहल सुनायी देने लगा॥ १॥

तेषां ध्वजाग्राण्यभिवीक्ष्य राजा
स्वयं दुरात्मा नरपुङ्गवानाम् ।
जयद्रथो याज्ञसेनीमुवाच
रथे स्थितां भानुमतीं हतौजाः ॥ २ ॥

उन नरश्रेष्ठ वीरोंकी ध्वजाओंके अग्रभागोंको देखकर हतोत्साह हुए दुरात्मा राजा जयद्रथने अपने रथपर बैठी हुई तेजस्विनी द्रौपदीसे स्वयं कहा—॥ २ ॥

आयान्तीमे पञ्च रथा महान्तो
मन्ये च कृष्णे पतयस्तवैते ।
सा जानती ख्यापय नः सुकेशि
परं परं पाण्डवानां रथस्थम् ॥ ३ ॥

'सुन्दर केशोंवाली कृष्णे ! ये पाँच विशाल रथ आ रहे हैं। जान पड़ता है, इनमें तुम्हारे पति ही बैठे हैं। तुम तो सबको जानती ही हो। मुझे रथपर बैठे हुए इन पाण्डवोंमेंसे एक-एकका उत्तरोत्तर परिचय दो' ॥ ३ ॥

द्रौपद्युवाच

किं ते ज्ञातैर्मूढ महाधनुर्धरै-
रनायुष्यं कर्म कृत्वातिघोरम् ।
एते वीराः पतयो मे समेता
न वः शेषः कश्चिदिहास्ति युद्धे ॥ ४ ॥

द्रौपदी बोली—अरे मूढ़ ! आयुका नाश करनेवाला यह अत्यन्त भयंकर नीच कर्म करके अब तू इन महाधनुर्धर पाण्डव वीरोंका परिचय जानकर क्या करेगा ? ये मेरे सभी वीर पति जुट गये हैं। इनके साथ जो युद्ध होनेवाला है, उसमें तेरे पक्षका कोई भी मनुष्य जीवित नहीं बचेगा ॥ ४ ॥

आख्यातव्यं त्वेव सर्वं मुमूर्षो-
र्मया तुभ्यं पृष्टया धर्म एषः ।
न मे व्यथा विद्यते त्वद्भयं वा
सम्पश्यन्त्याः सानुजं धर्मराजम् ॥ ५ ॥

मैं भाइयोंसहित धर्मराज युधिष्ठिरको सामने देख रही हूँ; अतः अब न मुझे दुःख है और न तेरा डर ही है। अब तू शीघ्र ही मरना चाहता है; अतः ऐसे समयमें तूने मुझसे जो कुछ पूछा है, उसका उत्तर तुझे दे देना उचित है; यही धर्म है। (अतः मैं अपने पतियोंका परिचय देती हूँ) ॥ ५ ॥

यस्य ध्वजाग्रे नदतो मृदङ्गौ
नन्दोपनन्दौ मधुरौ युक्तरूपौ ।
एतं स्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञं
सदा जनाः कृत्यवन्तोऽनुयान्ति ॥ ६ ॥

य एष जाम्बूनदशुद्धगौरः

प्रचण्डघोणस्तनुरायताक्षः ।

एतं कुरुश्रेष्ठतमं वदन्ति
युधिष्ठिरं धर्मसुतं पतिं मे ॥ ७ ॥

जिनकी ध्वजाके सिरेपर बँधे हुए नन्द और उपनन्द नामक दो सुन्दर मृदङ्ग मधुर स्वरमें बज रहे हैं, जिनका शरीर जाम्बूनद सुवर्णके समान विशुद्ध गौरवर्णका है, जिनकी नासिका ऊँची और नेत्र बड़े-बड़े हैं, जो देखनेमें दुबले-पतले हैं, कुरुकुलके इन श्रेष्ठतम पुरुषको ही धर्मनन्दन युधिष्ठिर कहते हैं। ये मेरे पति हैं। ये अपने धर्म और अर्थके सिद्धान्तको अच्छी तरह जानते हैं; अतः आवश्यकता पड़नेपर लोग इनका सदा अनुसरण करते हैं ॥ ६–७ ॥

अप्येष शत्रोः शरणागतस्य
दद्यात् प्राणान् धर्मचारी नृवीरः ।
परेह्येनं मूढ जवेन भूतये
त्वमात्मनः प्राञ्जलिर्न्यस्तशस्त्रः ॥ ८ ॥

ये धर्मात्मा नरवीर अपनी शरणमें आये हुए शत्रुको भी प्राणदान दे देते हैं। अरे मूर्ख ! यदि तू अपनी भलाई चाहता है, तो हथियार नीचे डाल दे और हाथ जोड़कर शीघ्र इनकी शरणमें जा ॥ ८ ॥

अथाप्येनं पश्यसि यं रथस्थं
महाभुजं शालमिव प्रवृद्धम् ।
संदष्टौष्ठं भ्रुकुटीसंहतभ्रूं
वृकोदरो नाम पतिर्ममैषः ॥ ९ ॥
आजानेया बलिनः साधु दान्ता
महाबलाः शूरमुदावहन्ति ।
एतस्य कर्माण्यतिमानुषाणि
भीमेति शब्दोऽस्य गतः पृथिव्याम् ॥ १० ॥

ये जो शाल (साखू) के वृक्षकी तरह ऊँचे और विशाल भुजाओंसे सुशोभित वीर पुरुष तुझे रथमें बैठे दिखायी देते हैं, जो क्रोधके मारे भौंहें टेढ़ी करके दाँतोंसे अपने ओंठ चबा रहे हैं, ये मेरे दूसरे पति वृकोदर हैं। बड़े बलवान्, सुशिक्षित और शक्तिशाली आजानेय नामक अश्व इन शूरशिरोमणिके रथको खींचते हैं। इनके सभी कर्म प्रायः ऐसे होते हैं, जिन्हें मानवजगत् नहीं कर सकता। ये अपने भयंकर पराक्रमके कारण इस भूतलपर भीमके नामसे विख्यात हैं ॥ ९-१० ॥

नास्यापराद्धाः शेषमवाप्नुवन्ति
नायं वैरं विस्मरते कदाचित् ।
वैरस्यान्तं संविधायोपयाति
पश्चाच्छान्तिं न च गच्छत्यतीव ॥ ११ ॥

इनके अपराधी कभी जीवित नहीं रह सकते। ये वैरको कभी नहीं भूलते हैं और वैरका बदला लेकर ही रहते हैं। बदला लेनेके बाद भी अच्छी तरह शान्त नहीं हो पाते ॥ ११ ॥

धनुर्धराग्र्यो धृतिमान् यशस्वी
जितेन्द्रियो वृद्धसेवी नृवीरः ।
भ्राता च शिष्यश्च युधिष्ठिरस्य
धनंजयो नाम पतिर्ममैषः ॥ १२ ॥
यो वै न कामान्न भयान्न लोभात्
त्यजेद् धर्मं न नृशंसं च कुर्यात् ।
स एष वैश्वानरतुल्यतेजाः
कुन्तीसुतः शत्रुसहः प्रमाथी ॥ १३ ॥

ये जो तीसरे वीर पुरुष दिखायी दे रहे हैं, वे मेरे पति धनंजय हैं । इन्हें समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ माना गया है । ये धैर्यवान्, यशस्वी, जितेन्द्रिय, वृद्धपुरुषोंके सेवक तथा महाराज युधिष्ठिरके भाई और शिष्य हैं । अर्जुन कभी काम, भय अथवा लोभवश न तो अपना धर्म छोड़ सकते हैं और न कोई निष्ठुरतापूर्ण कार्य ही कर सकते हैं । इनका तेज अग्निके समान है । ये कुन्तीनन्दन धनंजय समस्त शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ और सभी दुष्टोंका दमन करनेमें दक्ष हैं ॥ १२-१३ ॥

यः सर्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञो
भयार्तानां भयहर्ता मनीषी ।
यस्योत्तमं रूपमाहुः पृथिव्यां
यं पाण्डवाः परिरक्षन्ति सर्वे ॥ १४ ॥
प्राणैर्गरीयांसमनुव्रतं वै
स एष वीरो नकुलः पतिर्मे ।

जो समस्त धर्म और अर्थके निश्चयको जानते हैं, भयसे पीड़ित मनुष्योंका भय दूर करते हैं, जो परम बुद्धिमान् हैं, इस भूमण्डलमें जिनका रूप सबसे सुन्दर बताया जाता है, जो अपने बड़े भाइयोंकी सेवामें तत्पर रहनेवाले और उन्हें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, समस्त पाण्डव जिनकी रक्षा करते हैं, वे ही ये मेरे वीर पति नकुल हैं ॥ १४½ ॥

यः खड्गयोधी लघुचित्रहस्तो
महांश्च धीमान् सहदेवोऽद्वितीयः ॥ १५ ॥
यस्याद्य कर्म द्रक्ष्यसे मूढसत्त्व
शतक्रतोर्वा दैत्यसेनासु संख्ये ।
शूरः कृतास्त्रो मतिमान् मनस्वी
प्रियङ्करो धर्मसुतस्य राज्ञः ॥ १६ ॥

जो खड्गद्वारा युद्ध करनेकी कलामें कुशल हैं, जिनका हाथ बड़ी फुर्तीसे अद्भुत पैंतरे दिखाता हुआ चलता है, जो परम बुद्धिमान् और अद्वितीय वीर हैं, वे सहदेव मेरे पाँचवें पति हैं । ओ मूढ़ प्राणी ! जैसे दैत्योंकी सेनामें देवराज इन्द्रका पराक्रम प्रकट होता है, उसी प्रकार युद्धमें तू आज सहदेवका महान् पौरुष देखेगा । वे शौर्यसम्पन्न, अस्त्रविद्याके विशेषज्ञ, बुद्धिमान्, मनस्वी तथा धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरका प्रिय करनेवाले हैं ॥ [illegible] ॥

य एष चन्द्रार्कसमानतेजा
जघन्यजः पाण्डवानां प्रियश्च ।
बुद्ध्या समो यस्य नरो न विद्यते
वक्ता तथा सत्सु विनिश्चयज्ञः ॥ १७ ॥

इनका तेज चन्द्रमा और सूर्यके समान है । ये पाण्डवोंमें सबसे छोटे और सबके प्रिय हैं । बुद्धिमें इनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है । ये अच्छे वक्ता और सत्पुरुषोंकी सभामें सिद्धान्तके ज्ञाता माने गये हैं ॥ १७ ॥

स एष शूरो नित्यममर्षणश्च
धीमान् प्राज्ञः सहदेवः पतिर्मे ।
त्यजेत् प्राणान् प्रविशेद्धव्यवाहं
न त्वेवैष व्याहरेद् धर्मबाह्यम् ॥ १८ ॥
सदा मनस्वी क्षत्रधर्मे रतश्च
कुन्त्याः प्राणैरिष्टतमो नृवीरः ।

मेरे पति सहदेव शूरवीर, सदा ईर्ष्यारहित, बुद्धिमान् और विद्वान् हैं । ये अपने प्राण छोड़ सकते हैं, प्रज्वलित आगमें प्रवेश कर सकते हैं, परंतु धर्मके विरुद्ध कोई बात नहीं बोल सकते । नरवीर सहदेव सदा क्षत्रियधर्मके पालनमें तत्पर रहनेवाले और मनस्वी हैं । आर्या कुन्तीको ये प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं ॥ १८½ ॥

विशीर्यन्तीं नावमिवार्णवान्ते
रत्नाभिपूर्णां मकरस्य पृष्ठे ॥ १९ ॥
सेनां तवेमां हतसर्वयोधां
विक्षोभितां द्रक्ष्यसि पाण्डुपुत्रैः ।

(ओ मूढ़ !) रत्नोंसे लदी हुई नाव जैसे समुद्रके बीचमें जाकर किसी मगरमच्छकी पीठसे टकराकर टूट जाती है, उसी प्रकार पाण्डवलोग आज तेरे समस्त सैनिकोंका संहार करके तेरी इस सारी सेनाको छिन्न-भिन्न कर डालेंगे और तू अपनी आँखोंसे यह सब कुछ देखेगा ॥ १९½ ॥

इत्येते वै कथिताः पाण्डुपुत्रा
यांस्त्वं मोहादवमन्य प्रवृत्तः ।
यद्येतेभ्यो मुच्यसेऽरिष्टदेहः
पुनर्जन्म प्राप्स्यसे जीव एव ॥ २० ॥

इस प्रकार मैंने तुझे इन पाण्डवोंका परिचय दिया है, जिनका अपमान करके तू मोहवश इस नीच कर्ममें प्रवृत्त हुआ है । यदि आज तू इनके हाथोंसे जीवित बच जाय और तेरे शरीरपर कोई आँच नहीं आये, तो तुझे जीते-जी यह दूसरा जन्म प्राप्त हो ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः पार्थाः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पा-
स्त्यक्त्वा त्रस्तान् प्राञ्जलींस्तान् पदातीन् ।
रथानीकं शरवर्षान्धकारं
[illegible] ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! द्रौपदी यह बात कह ही रही थी कि पाँच इन्द्रोंके समान पराक्रमी पाँचों पाण्डव भयभीत होकर हाथ जोड़नेवाले पैदल सैनिकोंको छोड़कर कुपित हो रथ, हाथी और घोड़ोंसे युक्त अवशिष्ट सेनाको सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये और बाणोंकी ऐसी घनघोर वर्षा करने लगे कि चारों ओर अन्धकार छा गया ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि द्रौपदीवाक्ये सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें द्रौपदीवचनविषयक दो सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७० ॥

एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंद्वारा जयद्रथकी सेनाका संहार, जयद्रथका पलायन, द्रौपदी तथा नकुल-सहदेवके साथ युधिष्ठिरका आश्रमपर लौटना तथा भीम और अर्जुनका वनमें जयद्रथका पीछा करना

वैशम्पायन उवाच

संतिष्ठत प्रहरत तूर्णं विपरिधावत ।
इति स्म सैन्धवो राजा चोदयामास तान् नृपान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तब सिन्धुराज जयद्रथ 'ठहरो, मारो, जल्दी दौड़ो' कहकर अपने साथ आये हुए राजाओंको युद्धके लिये उत्साहित करने लगा ॥ १ ॥

ततो घोरतमः शब्दो रणे समभवत् तदा ।
भीमार्जुनयमान् दृष्ट्वा सैन्यानां सयुधिष्ठिरान् ॥ २ ॥

उस समय रणभूमिमें युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवको देखकर जयद्रथके सैनिकोंमें बड़ा भयंकर कोलाहल मच गया ॥ २ ॥

शिबिसौवीरसिन्धूनां विषादश्चाप्यजायत ।
तान् दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान् व्याघ्रानिव बलोत्कटान् ॥ ३ ॥

सिंहके समान उत्कट बलवान् पुरुषसिंह पाण्डवोंको देखकर शिवि, सौवीर तथा सिन्धुदेशके राजाओंके मनमें भी अत्यन्त विषाद छा गया ॥ ३ ॥

हेमचित्रसमुत्सेधां सर्वशैक्यायसीं गदाम् ।
प्रगृह्याभ्यद्रवद् भीमः सैन्धवं कालचोदितम् ॥ ४ ॥

जिसका ऊपरी भाग स्वर्णपत्रसे जटित होनेके कारण विचित्र शोभा पाता था, जिसका सब कुछ शैक्य नामक लोहेसे बनाया गया था, उस विशाल गदाको हाथमें लेकर भीमसेन कालप्रेरित जयद्रथकी ओर दौड़े ॥ ४ ॥

तदन्तरमथावृत्य कोटिकास्योऽभ्यहारयत् ।
महता रथवंशेन परिवार्य वृकोदरम् ॥ ५ ॥

इतनेमें ही रथोंकी विशाल सेनाके द्वारा भीमसेनको सब ओरसे घेरकर कोटिकास्यने जयद्रथ और भीमसेनके बीचमें भारी व्यवधान डाल दिया ॥ ५ ॥

शक्तितोमरनाराचैर्वीरबाहुप्रचोदितैः ।
कीर्यमाणोऽपि बहुभिर्न स्म भीमोऽभ्यकम्पत ॥ ६ ॥

उस समय सब योद्धा भीमसेनपर अपनी भुजाओंके द्वारा चलाकर शक्ति, तोमर और नाराच आदि बहुत-से अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे; परंतु भीमसेन इससे तनिक भी विचलित नहीं हुए ॥ ६ ॥

गजं तु सगजारोहं पदातींश्च चतुर्दश ।
जघान गदया भीमः सैन्धवध्वजिनीमुखे ॥ ७ ॥

उन्होंने जयद्रथकी सेनाके मुहानेपर जाकर अपनी गदाकी चोटसे सवारसहित एक हाथी और चौदह पैदलोंको मार डाला ॥ ७ ॥

पार्थः पञ्च शतान् शूरान् पर्वतीयान् महारथान् ।
परीप्समानः सौवीरं जघान ध्वजिनीमुखे ॥ ८ ॥

इसी प्रकार अर्जुनने सौवीरराज जयद्रथको पकड़नेकी इच्छा रखकर सेनाके अग्रभागमें स्थित पाँच सौ शूरवीर पर्वतीय महारथियोंको मार डाला ॥ ८ ॥

राजा स्वयं सुवीराणां प्रवराणां प्रहारिणाम् ।
निमेषमात्रेण शतं जघान समरे तदा ॥ ९ ॥

स्वयं राजा युधिष्ठिरने भी उस समय अपने ऊपर प्रहार करनेवाले सौवीर क्षत्रियोंके सौ प्रमुख वीरोंको पलक मारते-मारते समराङ्गणमें मार गिराया ॥ ९ ॥

ददृशे नकुलस्तत्र रथात् प्रस्कन्द्य खड्गधृक् ।
शिरांसि पादरक्षाणां बीजवत् प्रवपन् मुहुः ॥ १० ॥

महावीर नकुल हाथमें तलवार लिये रथसे कूद पड़े और पादरक्षक सैनिकोंके मस्तक काट-काटकर बीजकी भाँति उन्हें बार-बार धरतीपर बोते दिखायी दिये ॥ १० ॥

सहदेवस्तु संयाय रथेन गजयोधिनः ।
पातयामास नाराचैर्द्रुमेभ्य इव बर्हिणः ॥ ११ ॥

सहदेव रथद्वारा आगे बढ़कर हाथीसवार योद्धाओंसे भिड़ गये और नाराच नामक बाणोंसे मार-मारकर उन्हें इस प्रकार नीचे गिराने लगे, मानो कोई व्याध वृक्षोंपरसे मोरोंको घायल करके गिरा रहा हो ॥ ११ ॥

ततस्त्रिगर्तः सधनुरवतीर्य महारथात् ।
गदया चतुरो वाहान् राज्ञस्तस्य तदावधीत् ॥ १२ ॥

तदनन्तर धनुष हाथमें लिये त्रिगर्तराजने अपने विशाल रथसे उतरकर राजा युधिष्ठिरके चारों घोड़ोंको गदासे मार डाला ॥ १२ ॥

तमभ्याशगतं राजा पदातिं कुन्तिनन्दनः ।
अर्धचन्द्रेण बाणेन विव्याधोरसि धर्मराट् ॥ १३ ॥

उसे पैदल ही पास आया देख कुन्तीनन्दन धर्मराज युधिष्ठिरने अर्धचन्द्राकार बाणसे उसकी छातीको छेद डाला ॥ १३ ॥

स भिन्नहृदयो वीरो वक्त्राच्छोणितमुद्वमन् ।
पपाताभिमुखः पार्थं छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ १४ ॥

तब हृदय विदीर्ण हो जानेके कारण वीर त्रिगर्तराज मुखसे रक्त वमन करता हुआ राजा युधिष्ठिरके सामने ही जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १४ ॥

इन्द्रसेनद्वितीयस्तु रथात् प्रस्कन्द्य धर्मराट् ।
हताश्वः सहदेवस्य प्रतिपेदे महारथम् ॥ १५ ॥

इधर धर्मराज युधिष्ठिर अपने घोड़े मारे जानेके कारण सारथि इन्द्रसेनके साथ सहदेवके विशाल रथपर जा बैठे ॥ १५ ॥

नकुलं त्वभिसंधाय क्षेमङ्करमहामुखौ ।
उभावुभयतस्तीक्ष्णैः शरवर्षैरवर्षताम् ॥ १६ ॥

दूसरी ओर क्षेमङ्कर और महामुख नामक दो वीर (राजकुमार) नकुलको लक्ष्य करके दोनों ओरसे तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १६ ॥

तोमरैरभिवर्षन्तौ जीमूताविव वार्षिकौ ।
एकैकेन विपाठेन जघ्ने माद्रवतीसुतः ॥ १७ ॥

उस समय तोमरोंकी वर्षा करते हुए वे दोनों योद्धा वर्षाऋतुके दो बादलोंके समान जान पड़ते थे । परंतु माद्रीनन्दन नकुलने एक-एक विपाठ नामक बाण मारकर उन दोनोंको धराशायी कर दिया ॥ १७ ॥

त्रिगर्तराजः सुरथस्तस्याथ रथधूर्गतः ।
रथमाक्षेपयामास गजेन गजयानवित् ॥ १८ ॥

तदनन्तर हाथीका संचालन करनेमें निपुण त्रिगर्तराज सुरथने नकुलके रथके धुरेके पास पहुँचकर अपने हाथीके द्वारा उनके रथको दूर फेंकवा दिया ॥ १८ ॥

नकुलस्त्वपभीस्तस्माद् रथाच्चर्मासिपाणिमान् ।
उद्भ्रान्तं स्थानमास्थाय तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १९ ॥

परंतु नकुलको इससे तनिक भी भय नहीं हुआ । वे हाथमें ढाल-तलवार लिये उस रथसे कूद पड़े और एक निरापद स्थानमें आकर पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़े हो गये ॥ १९ ॥

सुरथस्तं गजवरं वधाय नकुलस्य तु ।
प्रेषयामास सक्रोधमत्युच्छ्रितकरं ततः ॥ २० ॥

तब सुरथने कुपित होकर अत्यन्त ऊँचे सूँड़ उठाये हुए उस गजराजको नकुलका वध करनेके लिये प्रेरित किया ॥ २० ॥

नकुलस्तस्य नागस्य समीपपरिवर्तिनः ।
सविषाणं भुजं मूले खड्गेन निरकृन्तत ॥ २१ ॥

परंतु नकुलने खड्गद्वारा अपने निकट आये हुए उस हाथीकी सूँड़को दाँतोंसहित जड़से काट डाला ॥ २१ ॥

स विनद्य महानादं गजः किङ्किणिभूषणः ।
पतन्नवाक्शिरा भूमौ हस्त्यारोहमपोथयत् ॥ २२ ॥

फिर तो घुघुरुओंसे विभूषित वह गजराज बड़े जोरसे चीत्कार करके नीचे मस्तक किये पृथ्वीपर गिर पड़ा । गिरते-गिरते उसने महावतको भी पृथ्वीपर दे मारा ॥ २२ ॥

स तत् कर्म महत् कृत्वा शूरो माद्रवतीसुतः ।
भीमसेनरथं प्राप्य शर्म लेभे महारथः ॥ २३ ॥

यह महान् पराक्रम प्रकट करके शूरवीर माद्रीनन्दन महारथी नकुल भीमसेनके रथपर चढ़ गये और वहीं पहुँचकर उन्हें शान्ति मिली ॥ २३ ॥

भीमस्त्वापततो राज्ञः कोटिकास्यस्य सङ्गरे ।
सूतस्य नुदतो वाहान् क्षुरेणापाहरच्छिरः ॥ २४ ॥

इधर भीमसेनने युद्धमें अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले राजा कोटिकास्यके सारथिका, जो उस समय घोड़ोंका संचालन कर रहा था, छुरेसे सिर उड़ा दिया ॥ २४ ॥

न बुबोध हतं सूतं स राजा बाहुशालिना ।
तस्याश्वा व्यद्रवन् संख्ये हतसूतास्ततस्ततः ॥ २५ ॥

परंतु राजाको यह मालूम न हो सका कि बाहुशाली भीमके द्वारा मेरा सारथि मारा गया है । उसके मारे जानेसे कोटिकास्यके घोड़े रणभूमिमें इधर-उधर भागने लगे ॥ २५ ॥

विमुखं हतसूतं तं भीमः प्रहरतां वरः ।
जघान तलयुक्तेन प्रासेनाभ्येत्य पाण्डवः ॥ २६ ॥

सारथिके नष्ट हो जानेसे कोटिकास्यको रणसे विमुख हुआ देख योद्धाओंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन भीमसेनने उसके पास जाकर प्रास नामक मूठदार शस्त्रसे उसे मार डाला ॥ २६ ॥

द्वादशानां तु सर्वेषां सौवीराणां धनंजयः ।
चकर्त निशितैर्भल्लैर्धनूंषि च शिरांसि च ॥ २७ ॥

अर्जुनने सौवीरदेशके जो बारह राजकुमार थे, उन सबके धनुष और मस्तक अपने भल्ल नामक तीखे बाणोंसे काट गिराये ॥ २७ ॥

शिबीनिक्ष्वाकुमुख्यांश्च त्रिगर्तान् सैन्धवानपि ।
जघानातिरथः संख्ये बाणगोचरमागतान् ॥ २८ ॥

उन अतिरथी वीरने युद्धमें बाणोंके लक्ष्य बने हुए

शिबि, इक्ष्वाकु, त्रिगर्त और सिन्धुदेशके क्षत्रियोंको भी मार डाला ॥ २८ ॥

सादिताः प्रत्यदृश्यन्त बहवः सव्यसाचिना ।
सपताकाश्च मातङ्गाः सध्वजाश्च महारथाः ॥ २९ ॥

सव्यसाची अर्जुनके द्वारा मारे या नष्ट किये गये पताका-सहित बहुतेरे हाथी और ध्वजायुक्त अनेक विशाल रथ दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ २९ ॥

प्रच्छाद्य पृथिवीं तस्थुः सर्वमायोधनं प्रति ।
शरीराण्यशिरस्कानि विदेहानि शिरांसि च ॥ ३० ॥

उस समय बिना सिरके धड़ और बिना धड़के सिर समस्त रणभूमिको आच्छादित करके बिखरे पड़े थे ॥ ३० ॥

श्वगृध्रकङ्ककाकोलभासगोमायुवायसाः ।
अतृप्यंस्तत्र वीराणां हतानां मांसशोणितैः ॥ ३१ ॥

वहाँ मारे गये वीरोंके मांस तथा रक्तसे कुत्ते, गीध, कङ्क (सफेद चीलें), काकोल (पहाड़ी कौए), चीलें, गीदड़ और कौए तृप्त हो रहे थे ॥ ३१ ॥

हतेषु तेषु वीरेषु सिन्धुराजो जयद्रथः ।
विमुच्य कृष्णां संत्रस्तः पलायनपरोऽभवत् ॥ ३२ ॥

उन वीरोंके मारे जानेपर सिन्धुराज जयद्रथ भयसे थर्रा उठा और द्रौपदीको वहीं छोड़कर उसने भाग जानेका विचार किया ॥ ३२ ॥

स तस्मिन् संकुले सैन्ये द्रौपदीमवतार्य ताम् ।
प्राणप्रेप्सुरुपाधावद् वनं येन नराधमः ॥ ३३ ॥

उस तितर-बितर हुई सेनाके बीच उस द्रौपदीको रथसे उतारकर नराधम जयद्रथ अपने प्राण बचानेके लिये वनकी ओर भागा ॥ ३३ ॥

द्रौपदीं धर्मराजस्तु दृष्ट्वा धौम्यपुरस्कृताम् ।
माद्रीपुत्रेण वीरेण रथमारोपयत् तदा ॥ ३४ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने देखा कि 'द्रौपदी धौम्य मुनिको आगे करके आ रही है, तो उन्होंने वीरवर माद्रीनन्दन सहदेवद्वारा उसे रथपर चढ़वा लिया ॥ ३४ ॥

ततस्तद् विद्रुतं सैन्यमपयाते जयद्रथे ।
आदिश्यादिश्य नाराचैराजघान वृकोदरः ॥ ३५ ॥

जयद्रथके भाग जानेपर सारी सेना इधर-उधर भाग चली, परंतु भीमसेन अपने नाराचोंद्वारा नाम बता-बताकर उन सैनिकोंका वध करने लगे ॥ ३५ ॥

सव्यसाची तु तं दृष्ट्वा पलायन्तं जयद्रथम् ।
वारयामास निघ्नन्तं भीमं सैन्धवसैनिकान् ॥ ३६ ॥

जयद्रथको भागते देख अर्जुनने उसके सैनिकोंके संहारमें लगे हुए भीमसेनको रोका ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

यस्यापचारात् प्राप्तोऽयमस्मान् क्लेशो दुरासदः ।
तमस्मिन् समरोद्देशे न पश्यामि जयद्रथम् ॥ ३७ ॥

अर्जुन बोले—जिसके अत्याचारसे हमलोगोंको यह दुःसह क्लेश सहन करना पड़ा है, उस जयद्रथको तो मैं इस समरभूमिमें देखता ही नहीं हूँ ॥ ३७ ॥

तमेवान्विष भद्रं ते किं ते योधैर्निपातितैः ।
अनामिषमिदं कर्म कथं वा मन्यते भवान् ॥ ३८ ॥

भैया ! आपका भला हो, आप जयद्रथकी ही खोज करें, इन (निरीह) सैनिकोंको मारनेसे क्या लाभ ? यह कार्य तो निष्फल दिखायी देता है अथवा आप इसे कैसा समझते हैं ? ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तो भीमसेनस्तु गुडाकेशेन धीमता ।
युधिष्ठिरमभिप्रेक्ष्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बुद्धिमान् अर्जुनके ऐसा कहनेपर बातचीतमें कुशल भीमसेनने युधिष्ठिरकी ओर देखकर कहा—॥ ३९ ॥

हतप्रवीरा रिपवो भूयिष्ठं विद्रुता दिशः ।
गृहीत्वा द्रौपदीं राजन् निवर्ततु भवानितः ॥ ४० ॥

'राजन् ! शत्रुओंके प्रमुख वीर मारे जा चुके हैं और बहुत-से सैनिक सब दिशाओंमें भाग गये हैं । अब आप द्रौपदीको साथ लेकर यहाँसे आश्रमको लौटिये ॥ ४० ॥

यमाभ्यां सह राजेन्द्र धौम्येन च महात्मना ।
प्राप्याश्रमपदं राजन् द्रौपदीं परिसान्त्वय ॥ ४१ ॥

'महाराज ! आप नकुल, सहदेव तथा महात्मा धौम्यके साथ आश्रमपर पहुँचकर द्रौपदीको सान्त्वना दीजिये ॥ ४१ ॥

न हि मे मोक्ष्यते जीवन् मूढः सैन्धवको नृपः ।
पातालतलसंस्थोऽपि यदि शक्रोऽस्य सारथिः ॥ ४२ ॥

'मूर्ख सिन्धुराज जयद्रथ यदि पातालमें घुस जाय अथवा इन्द्र भी उसके सारथि या सहायक होकर आ जायँ, तो भी आज वह मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकता' ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न हन्तव्यो महाबाहो दुरात्मापि स सैन्धवः ।
दुःशलामभिसंस्मृत्य गान्धारीं च यशस्विनीम् ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहो ! सिन्धुराज जयद्रथ यद्यपि अत्यन्त दुरात्मा है; तथापि बहिन दुःशला और यशस्विनी माता गान्धारीको स्मरण करके उसका वध न करना ॥ ४३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा द्रौपदी भीममुवाच व्याकुलेन्द्रिया ।
[illegible] भीमार्जुनावुभौ ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर द्रौपदीकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं। वह लज्जावती और बुद्धिमती होनेपर भी भीमसेन और अर्जुन दोनों पतियोंसे कुपित होकर बोली—॥ ४४ ॥

कर्तव्यं चेत् प्रियं मह्यं वध्यः स पुरुषाधमः।
सैन्धवापसदः पापो दुर्मतिः कुलपांसनः॥ ४५॥

'यदि आप लोगोंको मेरा प्रिय करना है, तो उस नराधमको अवश्य मार डालिये। वह पापी दुर्बुद्धि जयद्रथ सिन्धुदेशका कलङ्क और कुलाङ्गार है ॥ ४५ ॥

भार्याभिहर्ता वैरी यो यश्च राज्यहरो रिपुः।
याचमानोऽपि संग्रामे न मोक्तव्यः कथंचन॥ ४६॥

'जो अपनी पत्नीका अपहरण करनेवाला तथा राज्यको हड़प लेनेवाला हो, ऐसे शत्रुको युद्धमें पाकर वह प्राणोंकी भीख माँगे, तो भी किसी तरह जीवित नहीं छोड़ना चाहिये' ॥ ४६ ॥

इत्युक्तौ तौ नरव्याघ्रौ ययतुर्यत्र सैन्धवः।
राजा निववृते कृष्णामादाय सपुरोहितः॥ ४७॥

द्रौपदीके ऐसा कहनेपर वे दोनों नरश्रेष्ठ जिस ओर जयद्रथ गया था, उसी ओर चल दिये तथा राजा युधिष्ठिर द्रौपदीको लेकर पुरोहित धौम्यके साथ आश्रमपर चल पड़े ॥ ४७ ॥

स प्रविश्याश्रमपदमपविद्धबृसीमठम्।
मार्कण्डेयादिभिर्विप्रैरनुकीर्णं ददर्श ह॥ ४८॥

उन्होंने आश्रममें प्रवेश करके देखा कि बैठनेके आसन और स्वाध्यायके लिये बनी हुई पर्णशालामें सब वस्तुएँ इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं। मार्कण्डेय आदि ब्रह्मर्षि वहाँ इकट्ठे हो रहे थे ॥ ४८ ॥

द्रौपदीमनुशोचद्भिर्ब्राह्मणैस्तैः समाहितैः।
समियाय महाप्राज्ञः सभार्यो भ्रातृमध्यगः॥ ४९॥

वे सब ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो द्रौपदीके लिये ही बार-बार शोक कर रहे थे। इतनेमें ही पत्नीसहित परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर अपने भाई नकुल और सहदेवके बीचमें होकर चलते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ ४९ ॥

ते स्म तं मुदिता दृष्ट्वा पुनः प्रत्यागतं नृपम्।
जित्वा तान् सिन्धुसौवीरान् द्रौपदीं चाहृतां पुनः॥ ५०॥

सिन्धु और सौवीरदेशके क्षत्रियोंको जीतकर महाराज लौटे हैं और द्रौपदीदेवी भी पुनः आश्रममें आ गयी हैं, यह देखकर उन ऋषियोंको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ५० ॥

स तैः परिवृतो राजा तत्रैवोपविवेश ह।
प्रविवेशाश्रमं कृष्णा यमाभ्यां सह भाविनी॥ ५१॥

उन ब्राह्मणोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिर वहीं बैठ गये और भामिनी कृष्णा नकुल-सहदेवके साथ आश्रमके भीतर चली गयी ॥ ५१ ॥

भीमसेनार्जुनौ चापि श्रुत्वा क्रोशगतं रिपुम्।
स्वयमश्वांस्तुदन्तौ तौ जवेनैवाभ्यधावताम्॥ ५२॥

इधर भीमसेन और अर्जुनने जब सुना कि हमारा शत्रु जयद्रथ एक कोस आगे निकल गया है, तब वे स्वयं अपने घोड़ोंको हाँकते हुए बड़े वेगसे उसके पीछे दौड़े ॥ ५२ ॥

इदमत्यद्भुतं चात्र चकार पुरुषोऽर्जुनः।
क्रोशमात्रगतानश्वान् सैन्धवस्य जघान यत्॥ ५३॥
स हि दिव्यास्त्रसम्पन्नः कृच्छ्रकालेऽप्यसम्भ्रमः।
अकरोद् दुष्करं कर्म शरैरस्त्रानुमन्त्रितैः॥ ५४॥

यहाँ वीर पुरुष अर्जुनने एक अद्भुत पराक्रम दिखाया। यद्यपि जयद्रथके घोड़े एक कोस आगे निकल गये थे; तो भी उन्होंने दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंद्वारा उन्हें दूरसे ही मार डाला। अर्जुन दिव्यास्त्रसे सम्पन्न थे। संकटकालमें भी घबराते नहीं थे। इसीलिये उन्होंने वह दुष्कर कर्म कर दिखाया ॥ ५३-५४ ॥

ततोऽभ्यधावतां वीरावुभौ भीमधनंजयौ।
हताश्वं सैन्धवं भीतमेकं व्याकुलचेतसम्॥ ५५॥

तत्पश्चात् वे दोनों वीर भीम और अर्जुन जयद्रथके पीछे दौड़े। वह अकेला तो था ही, घोड़ोंके मारे जानेसे अत्यन्त भयभीत भी हो गया था। उसके हृदयमें व्याकुलता छा गयी थी॥

सैन्धवस्तु हतान् दृष्ट्वा तथाश्वान् स्वान् सुदुःखितः।
अतिविक्रमकर्माणि कुर्वाणं च धनंजयम्॥ ५६॥

सिन्धुराज अपने घोड़ोंको मारा गया देख और अलौकिक पराक्रम कर दिखानेवाले अर्जुनको आता जान अत्यन्त दुखी हो गया ॥ ५६ ॥

पलायनकृतोत्साहः प्राद्रवद् येन वै वनम्।
सैन्धवं त्वभिसम्प्रेक्ष्य पराक्रान्तं पलायने॥ ५७॥
अनुयाय महाबाहुः फाल्गुनो वाक्यमब्रवीत्।

अब उसमें केवल भागनेका उत्साह रह गया था, अतः वह वनकी ओर भागा। सिन्धुराजको केवल भागनेमें ही पराक्रम दिखाता देख महाबाहु अर्जुन उसका पीछा करते हुए बोले।५७½।

अनेन वीर्येण कथं स्त्रियं प्रार्थयसे बलात्॥ ५८॥
राजपुत्र निवर्तस्व न ते युक्तं पलायनम्।
कथं ह्यनुचरान् हित्वा शत्रुमध्ये पलायसे॥ ५९॥

'राजकुमार! लौटो, तुम्हें पीठ दिखाकर भागना शोभा नहीं देता। अपने सेवकोंको शत्रुओंके बीचमें छोड़कर कैसे भागे जा रहे हो ? क्या इसी बलसे तुम दूसरेकी स्त्रीको बलपूर्वक हरकर ले जाना चाहते थे ?' ॥ ५८-५९ ॥

इत्युच्यमानः पार्थेन सैन्धवो न न्यवर्तत।

तिष्ठ तिष्ठेति तं भीमः सहसाभ्यद्रवद् बली ।
मा वधीरिति पार्थस्तं दयावान् प्रत्यभाषत ॥ ६० ॥

अर्जुनके इस प्रकार ताने देनेपर भी सिन्धुराज नहीं लौटा, तब महाबली भीम 'ठहरो, ठहरो' कहते हुए सहसा उसके पीछे दौड़े। उस समय दयालु अर्जुनने उनसे कहा—'भैया ! इसकी जान न मारना' ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथपलायने एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें जयद्रथपलायनविषयक दो सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२७१॥

(जयद्रथविमोक्षणपर्व)

द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

भीमद्वारा बंदी होकर जयद्रथका युधिष्ठिरके सामने उपस्थित होना, उनकी आज्ञासे छूटकर उसका गङ्गाद्वारमें तप करके भगवान् शिवसे वरदान पाना तथा भगवान् शिवद्वारा अर्जुनके सहायक भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

जयद्रथस्तु सम्प्रेक्ष्य भ्रातरावुद्यतावुभौ ।
प्राधावत् तूर्णमव्यग्रो जीवितेप्सुः सुदुःखितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीम और अर्जुन दोनों भाइयोंको अपने वधके लिये तुले हुए देख जयद्रथ बहुत दुखी हुआ और घबराहट छोड़कर प्राण बचानेकी इच्छासे तुरंत तीव्र गतिसे भागने लगा ॥ १ ॥

तं भीमसेनो धावन्तमवतीर्य रथाद् बली ।
अभिद्रुत्य निजग्राह - केशपक्षे ह्यमर्षणः ॥ २ ॥

उसे भागता देख अमर्षमें भरे हुए महाबली भीम भी रथसे उतर गये और बड़े वेगसे दौड़कर उन्होंने उसके केश पकड़ लिये ॥ २ ॥

समुद्यम्य च तं भीमो निष्पिपेष महीतले ।
शिरो गृहीत्वा राजानं ताडयामास चैव ह ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् भीमने उसे ऊपर उठाकर धरतीपर पटक दिया और उसे रौंदने लगे। फिर उन्होंने राजा जयद्रथका सिर पकड़कर उसे कई थप्पड़ लगाये ॥ ३ ॥

पुनः संजीवमानस्य तस्योत्पतितुमिच्छतः ।
पदा मूर्ध्नि महाबाहुः प्राहरद् विलपिष्यतः ॥ ४ ॥
तस्य जानू ददौ भीमो जघ्ने चैनमरत्निना ।
स मोहमगमद् राजा प्रहारवरपीडितः ॥ ५ ॥

इतनी मार खाकर भी वह अभी जीवित ही था और उठनेकी इच्छा कर रहा था। इसी समय महाबाहु भीमने उसके मस्तकपर एक लात मारी। इससे वह रोने-चिल्लाने लगा; तो भी भीमसेनने उसे गिराकर उसके शरीरपर अपने दोनों घुटने [illegible] घूँसे मारने लगे। इस प्रकार बड़े जोरकी मार पड़नेसे पीड़ाके मारे राजा जयद्रथ मूर्छित हो गया ॥ ४-५ ॥

सरोषं भीमसेनं तु वारयामास फाल्गुनः ।
दुःशलायाः कृते राजा यत् तदाहेति कौरव ॥ ६ ॥

इतनेपर भी भीमसेनका क्रोध कम नहीं हुआ। यह देख अर्जुनने उन्हें रोका और कहा—'कुरुनन्दन ! दुःशलाके वैधव्यका खयाल करके महाराजने जो आज्ञा दी थी, उसका भी तो विचार कीजिये' ॥ ६ ॥

भीमसेन उवाच

नायं पापसमाचारो मत्तो जीवितुमर्हति ।
कृष्णायास्तदनर्हायाः परिक्लेष्टा नराधमः ॥ ७ ॥

भीमसेनने कहा—इस नराधमने क्लेश पानेके अयोग्य द्रौपदीको कष्ट पहुँचाया है; अतः अब मेरे हाथसे इस पापाचारी जयद्रथका जीवित रहना ठीक नहीं है ॥ ७ ॥

किं नु शक्यं मया कर्तुं यद् राजा सततं घृणी ।
त्वं च बालिशया बुद्ध्या सदैवास्मान् प्रबाधसे ॥ ८ ॥

परंतु मैं क्या कर सकता हूँ ? राजा युधिष्ठिर सदा दयालु ही बने रहते हैं और तुम भी अपनी बालबुद्धिके कारण मेरे ऐसे कामोंमें सदा बाधा पहुँचाया करते हो ॥ ८ ॥

एवमुक्त्वा सटास्तस्य पञ्च चक्रे वृकोदरः ।
अर्धचन्द्रेण बाणेन किंचिदब्रुवतस्तदा ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर भीमने जयद्रथके लम्बे-लम्बे बालोंको अर्द्धचन्द्राकार बाणसे मूँड़कर पाँच चोटियाँ रख दीं। उस समय वह भयके मारे कुछ भी बोल नहीं पाता था ॥ ९ ॥

विकत्थयित्वा राजानं ततः प्राह वृकोदरः ।

जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु ॥ १० ॥

तदनन्तर कटुवचनोंसे सिन्धुराजका तिरस्कार करते हुए भीमने उससे कहा—'अरे मूढ़! यदि तू जीवित रहना चाहता है, तो जीवनरक्षाका हेतुभूत मेरा यह वचन सुन—॥

दासोऽस्मीति तथा वाच्यं संसत्सु च सभासु च ।
एवं ते जीवितं दद्यामेष युद्धजितो विधिः ॥ ११ ॥

'तू राजाओंकी सभा-समितियोंमें जाकर सदा अपनेको (महाराज युधिष्ठिरका) दास बताया कर । यह शर्त स्वीकार हो, तो तुझे जीवन-दान दे सकता हूँ । युद्धमें विजयी पुरुषकी ओरसे हारे हुएके लिये ऐसा ही विधान है' ॥ ११ ॥

एवमस्त्विति तं राजा कृष्यमाणो जयद्रथः ।
प्रोवाच पुरुषव्याघ्रं भीममाहवशोभिनम् ॥ १२ ॥

उस समय सिन्धुराज जयद्रथ धरतीपर घसीटा जा रहा था । उसने उपर्युक्त शर्त स्वीकार कर ली और युद्धमें शोभा पानेवाले पुरुषसिंह भीमसेनसे अपनी स्वीकृति स्पष्ट बता दी ॥ १२ ॥

तत एनं विचेष्टन्तं बद्ध्वा पार्थो वृकोदरः ।
रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसुगुण्ठितम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर वह उठनेकी चेष्टा करने लगा । तब कुन्ती-कुमार वृकोदरने उसे बाँधकर रथपर डाल दिया । वह बेचारा धूलसे लथपथ और अचेत हो रहा था ॥ १३ ॥

ततस्तं रथमास्थाय भीमः पार्थानुगस्तदा ।
अभ्येत्याश्रममध्यस्थमभ्यगच्छद् युधिष्ठिरम् ॥ १४ ॥

उसे रथपर चढ़ाकर आगे-आगे भीम चले और पीछे-पीछे अर्जुन । आश्रमपर आकर भीमसेन वहाँ मध्यभागमें बैठे हुए राजा युधिष्ठिरके पास गये ॥ १४ ॥

दर्शयामास भीमस्तु तदवस्थं जयद्रथम् ।
तं राजा प्राहसद् दृष्ट्वा मुच्यतामिति चाब्रवीत् ॥ १५ ॥

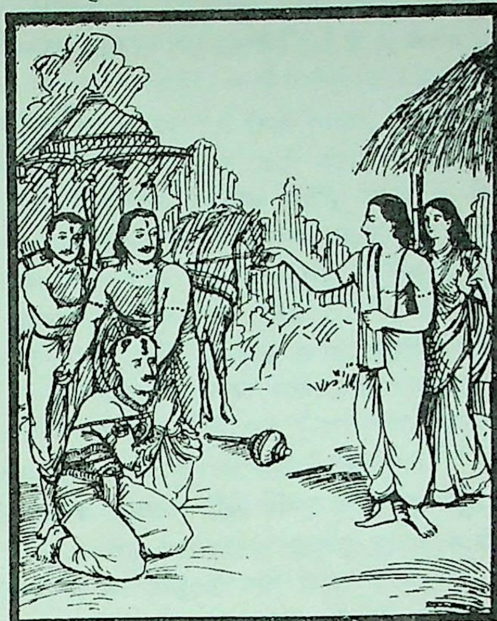
भीमने उसी अवस्थामें जयद्रथको महाराजके सामने उपस्थित किया । उसे देखकर राजा युधिष्ठिर जोर-जोरसे हँसने लगे और बोले—'अब इसे छोड़ दो' ॥ १५ ॥

राजानं चाब्रवीद् भीमो द्रौपद्याः कथ्यतामिति ।
दासभावगतो ह्येष पाण्डूनां पापचेतनः ॥ १६ ॥

तब भीमसेनने भी राजासे कहा—'आप द्रौपदीको यह सूचित कर दीजिये कि यह पापात्मा जयद्रथ पाण्डवोंका दास हो चुका है ॥'

तमुवाच ततो ज्येष्ठो भ्राता सप्रणयं वचः ।
मुञ्चैनमधमाचारं प्रमाणा यदि ते वयम् ॥ १७ ॥

तब बड़े भाई युधिष्ठिरने प्रेमपूर्वक भीमसेनसे कहा—'यदि तुम मेरी बात मानते हो, तो इस पापाचारीको छोड़ दो' ॥



द्रौपदी चाब्रवीद् भीममभिप्रेक्ष्य युधिष्ठिरम् ।
दासोऽयं मुच्यतां राज्ञस्त्वया पञ्चसटः कृतः ॥ १८ ॥

उस समय द्रौपदीने भी युधिष्ठिरकी ओर देखकर भीमसेनसे कहा—'आपने इसका सिर मूँड़कर पाँच चोटियाँ रख दी हैं तथा यह महाराजका दास हो गया है; अतः अब इसे छोड़ दीजिये' ॥ १८ ॥

स मुक्तोऽभ्येत्य राजानमभिवाद्य युधिष्ठिरम् ।
ववन्दे विह्वलो राजंस्तांश्च दृष्ट्वा मुनींस्तदा ॥ १९ ॥

राजन्! तब जयद्रथ बन्धनसे मुक्त कर दिया गया । उसने विह्वल होकर राजा युधिष्ठिरके पास जा उन्हें प्रणाम करनेके पश्चात् वहाँ बैठे हुए अन्यान्य मुनियोंको भी देखकर उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया ॥ १९ ॥

तमुवाच घृणी राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
तथा जयद्रथं दृष्ट्वा गृहीतं सव्यसाचिना ॥ २० ॥

उस समय (आदर देते हुए) अर्जुनने जयद्रथका हाथ थाम लिया । तब दयालु राजा धर्मपुत्र युधिष्ठिरने जयद्रथकी ओर देखकर कहा—॥ २० ॥

अदासो गच्छ मुक्तोऽसि मैवं कार्षीः पुनः क्वचित् ।
स्त्रीकामं वा धिगस्तु त्वां क्षुद्रः क्षुद्रसहायवान् ॥ २१ ॥
एवंविधं हि कः कुर्यात् त्वदन्यः पुरुषाधमः ।
(कर्म धर्मविरुद्धं वै लोकदुष्टं च कर्म ते ।)

'सिंधुराज! अब तू दास नहीं रहा, जा, तुझे छोड़ दिया गया है । फिर कभी ऐसा काम न करना । अरे! तू परायी स्त्रीकी इच्छा करता है, तुझे धिक्कार है! तू स्वयं तो

नीच है ही, तेरे सहायक भी अधम हैं। तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा नराधम है, जो ऐसा धर्मविरुद्ध कार्य कर सके? तेरा यह कर्म सम्पूर्ण लोकमें निन्दित है' ॥ २१½ ॥

गतसत्त्वमिव ज्ञात्वा कर्तारमशुभस्य तम् ॥ २२ ॥
सम्प्रेक्ष्य भरतश्रेष्ठः कृपां चक्रे नराधिपः।
धर्मे ते वर्धतां बुद्धिर्मा चाधर्मे मनः कृथाः ॥ २३ ॥
साश्वः सरथपादातः स्वस्ति गच्छ जयद्रथ।

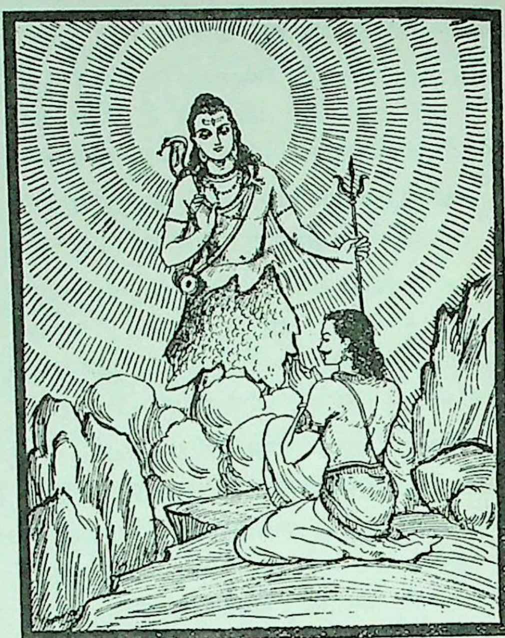
वह अशुभ कर्म करनेवाला जयद्रथ मृतप्राय-सा हो गया है, यह देख और समझकर भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उसपर कृपा की और कहा—'तेरी बुद्धि धर्ममें उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, तू कभी अधर्ममें मन न लगाना। जयद्रथ! अपने रथ, घोड़े और पैदल सबको साथ लिये कुशलपूर्वक चला जा' ॥ २२-२३½ ॥

एवमुक्तस्तु सव्रीडं तूष्णीं किंचिदवाङ्मुखः ॥ २४ ॥
जगाम राजन् दुःखार्तो गङ्गाद्वाराय भारत।
स देवं शरणं गत्वा विरूपाक्षमुमापतिम् ॥ २५ ॥
तपश्चचार विपुलं तस्य प्रीतो वृषध्वजः।
बलिं स्वयं प्रत्यगृह्णात् प्रीयमाणस्त्रिलोचनः ॥ २६ ॥

राजन्! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर जयद्रथ बहुत लज्जित हुआ और नीचा मुँह किये वहाँसे चुपचाप चला गया। जनमेजय! वह पराजित होनेके महान् दुःखसे पीड़ित था; अतः वहाँसे घर न जाकर गङ्गाद्वार (हरिद्वार) को चल दिया। वहाँ पहुँचकर उसने तीन नेत्रोंवाले भगवान् उमापतिकी शरण ले बड़ी भारी तपस्या की। इससे भगवान् शङ्कर प्रसन्न हो गये। त्रिनेत्रधारी महादेवने प्रसन्नतापूर्वक स्वयं दर्शन देकर उसकी पूजा ग्रहण की ॥ २४–२६ ॥

वरं चास्मै ददौ देवः स जग्राह च तच्छृणु।
समस्तान् सरथान् पञ्च जयेयं युधि पाण्डवान् ॥ २७ ॥
इति राजाब्रवीद् देवं नेति देवस्तमब्रवीत्।
अजय्यांश्चाप्यवध्यांश्च वारयिष्यसि तान् युधि ॥ २८ ॥
ऋतेऽर्जुनं महाबाहुं नरं नाम सुरेश्वरम्।
बदर्यां तप्ततपसं नारायणसहायकम् ॥ २९ ॥

जनमेजय! भगवान्ने उसे वर दिया और जयद्रथने उसको ग्रहण किया। वह वर क्या था? यह बताता हूँ, सुनो—'मैं रथसहित पाँचों पाण्डवोंको युद्धमें जीत लूँ', यही वर सिन्धुराजने महादेवजीसे माँगा। परंतु महादेवजीने उससे कहा—'ऐसा नहीं हो सकता। पाण्डव अजेय और अवध्य हैं। तुम केवल एक दिन युद्धमें महाबाहु अर्जुनको छोड़कर अन्य चार पाण्डवोंको आगे बढ़नेसे रोक सकते हो। देवेश्वर नर, जो बदरिकाश्रममें भगवान् नारायणके साथ रहकर तपस्या करते हैं, वे ही अर्जुन हैं ॥ २७-२९ ॥



अजितं सर्वलोकानां देवैरपि दुरासदम्।
मया दत्तं पाशुपतं दिव्यमप्रतिमं शरम्।
अवाप लोकपालेभ्यो वज्रादीन् स महाशरान् ॥ ३० ॥

'उन्हें तुम तो क्या, सम्पूर्ण लोक मिलकर भी जीत नहीं सकते। उनका सामना करना तो देवताओंके लिये भी कठिन है। मैंने उन्हें पाशुपत नामक दिव्य अस्त्र प्रदान किया है, जिसके जोड़का दूसरा कोई अस्त्र ही नहीं है। इसके सिवा अन्यान्य लोकपालोंसे भी उन्होंने वज्र आदि महान् अस्त्र प्राप्त किये हैं ॥ ३० ॥

देवदेवो ह्यनन्तात्मा विष्णुः सुरगुरुः प्रभुः।
प्रधानपुरुषोऽव्यक्तो विश्वात्मा विश्वमूर्तिमान् ॥ ३१ ॥

['अब मैं तुम्हें नरस्वरूप अर्जुनके सहायक भगवान् नारायणकी महिमा बताता हूँ, सुनो] भगवान् नारायण देवताओंके भी देवता, अनन्तस्वरूप, सर्वव्यापी, देवगुरु, सर्वसमर्थ, प्रकृति-पुरुषरूप, अव्यक्त, विश्वात्मा एवं विश्वरूप हैं ॥ ३१ ॥

युगान्तकाले सम्प्राप्ते कालाग्निर्दहते जगत्।
सपर्वतार्णवद्वीपं सशैलवनकाननम् ॥ ३२ ॥

'प्रलयकाल उपस्थित होनेपर वे भगवान् विष्णु ही कालाग्निरूपसे प्रकट हो पर्वत, समुद्र, द्वीप, शैल, वन और काननोंसहित सम्पूर्ण जगत्‌को दग्ध कर देते हैं ॥ ३२ ॥

निर्दहन् नागलोकांश्च पातालतलचारिणः।
अथान्तरिक्षे सुमहन्नानावर्णाः पयोधराः ॥ ३३ ॥

'... ... ... नागलोकोंको

भी वे भस्म कर डालते हैं। कालाग्निद्वारा सब कुछ भस्म हो जानेपर आकाशमें अनेक रंगके महान् मेघोंकी घोर घटा घिर आती है ॥ ३३ ॥

घोरस्वरा विनदिनस्तडिन्मालावलम्बिनः ।
समुत्तिष्ठन् दिशः सर्वा विवर्षन्तः समन्ततः ॥ ३४॥

'भयंकर स्वरसे गर्जना करते हुए वे बादल बिजलियोंकी मालाओंसे प्रकाशित हो सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल जाते और सब ओर वर्षा करने लग जाते हैं ॥ ३४ ॥

ततोऽग्निं नाशयामासुः संवर्ताग्निनियामकाः ।
अक्षमात्रैश्च धाराभिस्तिष्ठन्त्यापूर्य सर्वशः ॥ ३५॥

'इससे प्रलयकालीन अग्नि बुझ जाती है। संवर्तक अग्निका नियन्त्रण करनेवाले वे महामेघ लंबे सर्पोंके समान मोटी धाराओंसे जल गिराते हुए सबको डुबो देते हैं ॥ ३५ ॥

एकार्णवे तदा तस्मिन्नुपशान्तचराचरे ।
नष्टचन्द्रार्कपवने ग्रहनक्षत्रवर्जिते ॥ ३६॥

'उस समय सम्पूर्ण दिशाओंमें पानी भर जानेसे चारों ओर एकाकार जलमय समुद्र ही दृष्टिगोचर होता है। उस एकार्णवके जलमें समस्त चराचर जगत् नष्ट हो जाता है। चन्द्रमा, सूर्य और वायु भी विलीन हो जाते हैं। ग्रह और नक्षत्रोंका अभाव हो जाता है ॥ ३६ ॥

चतुर्युगसहस्रान्ते सलिलेनाप्लुता मही ।
ततो नारायणाख्यस्तु सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ ३७॥
सहस्रशीर्षा पुरुषः स्वप्तुकामस्त्वतीन्द्रियः ।
फटासहस्रविकटं शेषं पर्यङ्कभाजनम् ॥ ३८॥
सहस्रमिव तिग्मांशुसंघातममितद्युतिम् ।
कुन्देन्दुहारगोक्षीरमृणालकुमुदप्रभम् ॥ ३९ ॥
तत्रासौ भगवान् देवः स्वपञ्जलनिधौ तदा ।
नैशेन तमसा व्याप्तां स्वां रात्रिं कुरुते विभुः ॥ ४०॥

'एक हजार चतुर्युगी समाप्त होनेपर उपर्युक्त एकार्णवके जलमें यह पृथ्वी डूब जाती है। तत्पश्चात् नारायण नामसे प्रसिद्ध भगवान् श्रीहरि उस एकार्णवके जलमें शयन करनेके हेतु अपने लिये निशाकालोचित अन्धकार (तमोगुण) से व्याप्त महारात्रिका निर्माण करते हैं। उन भगवान्के सहस्रों नेत्र, सहस्रों चरण और सहस्रों मस्तक हैं। वे अन्तर्यामी पुरुष हैं और इन्द्रियातीत होनेपर भी शयन करनेकी इच्छासे उन शेषनागको अपना पर्यङ्क बनाते हैं, जो सहस्रों फणोंसे विकटाकार दिखायी देते हैं। वे शेषनाग एक सहस्र प्रचण्ड सूर्योंके समूहकी भाँति अनन्त एवं असीम प्रभा धारण करते हैं। उनकी कान्ति कुन्द पुष्प, चन्द्रमा, मुक्ताहार, गोदुग्ध, कमलनाल तथा कुमुद-कुसुमके समान उज्ज्वल है। उन्हींकी शय्या बनाकर भगवान् श्रीहरि शयन करते हैं ॥ ३७-४० ॥

सत्त्वोद्रेकात् प्रबुद्धस्तु शून्यं लोकमपश्यत ।
इमं चोदाहरन्त्यत्र श्लोकं नारायणं प्रति ॥ ४१ ॥

'तत्पश्चात् सृष्टिकालमें सत्त्वगुणके आधिक्यसे भगवान् योगनिद्रासे जाग उठे। जागनेपर उन्हें यह समस्त लोक सूना दिखायी दिया। महर्षिगण भगवान् नारायणके सम्बन्धमें यहाँ इस श्लोकका उदाहरण दिया करते हैं— ॥ ४१ ॥

आपो नारास्तत्तनव इत्यपां नाम शुश्रुम ।
अयनं तेन चैवास्ते तेन नारायणः स्मृतः ॥ ४२ ॥

'जल भगवान्का शरीर है, इसीलिये उनका नाम 'नार' सुनते आये हैं। वह नार ही उनका अयन (गृह) है अथवा उसके साथ एक होकर वे रहते हैं, इसीलिये उन भगवान्को नारायण कहा गया है' ॥ ४२ ॥

प्रध्यानसमकालं तु प्रजाहेतोः सनातनः ।
ध्यातमात्रे तु भगवन्नाभ्यां पद्मः समुत्थितः ॥ ४३॥

'तत्पश्चात् प्रजाकी सृष्टिके लिये भगवान्ने चिन्तन किया। इस चिन्तनके साथ ही भगवान्की नाभिसे सनातन कमल प्रकट हुआ ॥ ४३ ॥

ततश्चतुर्मुखो ब्रह्मा नाभिपद्माद् विनिःसृतः ।
तत्रोपविष्टः सहसा पद्मे लोकपितामहः ॥ ४४ ॥
शून्यं दृष्ट्वा जगत् कृत्स्नं मानसानात्मनः समान् ।
ततो मरीचिप्रमुखान् महर्षीनसृजन्नव ॥ ४५ ॥

'उस नाभिकमलसे चतुर्मुख ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ। उस कमलपर बैठे हुए लोकपितामह ब्रह्माजीने सहसा सम्पूर्ण जगत्को शून्य देखकर अपने मानसपुत्रके रूपमें अपने ही जैसे प्रभावशाली मरीचि आदि नौ महर्षियोंको उत्पन्न किया ॥ ४४-४५ ॥

तेऽसृजन् सर्वभूतानि त्रसानि स्थावराणि च ।
यक्षराक्षसभूतानि पिशाचोरगमानुषान् ॥ ४६ ॥

'उन महर्षियोंने स्थावर-जङ्गमरूप सम्पूर्ण भूतोंकी तथा यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, नाग और मनुष्योंकी सृष्टि की ॥ ४६ ॥

सृज्यते ब्रह्ममूर्तिस्तु रक्षते पौरुषी तनुः ।
रौद्रीभावेन शमयेत् तिस्रोऽवस्थाः प्रजापतेः ॥ ४७ ॥

'ब्रह्माजीके रूपसे भगवान् सृष्टि करते हैं। परमपुरुष नारायणरूपसे इसकी रक्षा करते हैं तथा रुद्रस्वरूपसे सबका संहार करते हैं। इस प्रकार प्रजापालक भगवान्की ये तीन अवस्थाएँ हैं ॥ ४७ ॥

न श्रुतं ते सिन्धुपते विष्णोरद्भुतकर्मणः ।
कथ्यमानानि मुनिभिर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ ४८ ॥

'सिन्धुराज! क्या तुमने वेदोंके पारङ्गत ब्रह्मर्षियोंके

मुखसे अद्भुतकर्मा भगवान् विष्णुका चरित्र नहीं सुना है ? ॥ ४८ ॥

जलेन समनुप्राप्ते सर्वतः पृथिवीतले ।
तदा त्वेकार्णवे तस्मिन्नेकाकाशे प्रभुश्चरन् ॥ ४९॥
निशायामिव खद्योतः प्रावृट्काले समन्ततः ।
प्रतिष्ठानाय पृथिवीं मार्गमाणस्तदाभवत् ॥ ५०॥

'समस्त भूमण्डल सब ओरसे जलमें डूबा हुआ था । उस समय एकार्णवसे उपलक्षित एकमात्र आकाशमें पृथ्वीका पता लगानेके लिये भगवान् इस प्रकार विचर रहे थे, जैसे वर्षाकालकी रातमें जुगनू सब ओर उड़ता फिरता है । वे पृथ्वीको कहीं स्थिररूपसे स्थापित करनेके लिये उसकी खोज कर रहे थे ॥ ४९-५० ॥

जले निमग्नां गां दृष्ट्वा चोद्धर्तुं मनसेच्छति ।
किं नु रूपमहं कृत्वा सलिलादुद्धरे महीम् ॥ ५१॥

'पृथ्वीको जलमें डूबी हुई देख भगवान्ने मन-ही-मन उसे बाहर निकालनेकी इच्छा की । वे सोचने लगे, 'कौन-सा रूप धारण करके मैं इस जलसे पृथ्वीका उद्धार करूँ' ॥ ५१ ॥

एवं संचिन्त्य मनसा दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ।
जलक्रीडाभिरुचितं वाराहं रूपमस्मरत् ॥ ५२ ॥

'इस प्रकार मन-ही-मन चिन्तन करके उन्होंने दिव्य दृष्टिसे देखा कि जलमें क्रीड़ा करनेके योग्य तो वराहरूप है; अतः उन्होंने उसी रूपका स्मरण किया ॥ ५२ ॥

कृत्वा वराहवपुषं वाङ्मयं वेदसम्मितम् ।
दशयोजनविस्तीर्णमायतं शतयोजनम् ॥ ५३ ॥
महापर्वतवर्ष्माभं तीक्ष्णदंष्ट्रं प्रदीप्तिमत् ।
महामेघौघनिर्घोषं नीलजीमूतसंनिभम् ॥ ५४ ॥

'वेदतुल्य वैदिक वाङ्मय वराहरूप धारण करके भगवान्ने जलके भीतर प्रवेश किया । उनका वह विशाल पर्वताकार शरीर सौ योजन लंबा और दस योजन चौड़ा था । उनकी दाढ़ें बड़ी तीखी थीं । उनका शरीर देदीप्यमान हो रहा था । भगवान्का कण्ठ स्वर महान् मेघोंकी गर्जनाके समान गम्भीर था । उनकी अङ्गकान्ति नील जलधरके समान श्याम थी ॥ ५३-५४ ॥

भूत्वा यज्ञवराहो वै अपः सम्प्राविशत् प्रभुः ।
दंष्ट्रेणैकेन चोद्धृत्य स्वे स्थाने न्यविशन्महीम् ॥ ५५ ॥

'इस प्रकार यज्ञवाराहरूप धारण करके भगवान्ने जलके भीतर प्रवेश किया और एक ही दाँतसे पृथ्वीको उठाकर उसे अपने स्थानपर स्थापित कर दिया ॥ ५५ ॥

पुनरेव महाबाहुरपूर्वां तनुमाश्रितः ।
नरस्य कृत्वार्धतनुं सिंहस्यार्धतनुं प्रभुः ॥ ५६ ॥
दैत्येन्द्रस्य सभां गत्वा पाणिं संस्पृश्य पाणिना ।
दैत्यानामादिपुरुषः सुरारिर्दितिनन्दनः ॥ ५७ ॥
दृष्ट्वा चापूर्वपुरुषं क्रोधात् संरक्तलोचनः ।

'तदनन्तर महाबाहु भगवान् श्रीहरिने एक अपूर्व शरीर धारण किया, जिसमें आधा अङ्ग तो मनुष्यका था और आधा सिंहका । इस प्रकार नृसिंहरूप धारण करके हाथसे हाथका स्पर्श किये हुए दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी सभामें गये । दैत्योंके आदिपुरुष और देवताओंके शत्रु दितिनन्दन हिरण्यकशिपुने उस अपूर्व पुरुषको देखकर क्रोधसे आँखें लाल कर लीं ॥ ५६-५७½ ॥

शूलोद्यतकरः स्रग्वी हिरण्यकशिपुस्तदा ॥ ५८ ॥
मेघस्तनितनिर्घोषो नीलाभ्रचयसंनिभः ।
देवारिर्दितिजो वीरो नृसिंहं समुपाद्रवत् ॥ ५९ ॥

'उसने एक हाथमें शूल उठा रक्खा था । उसके गलेमें पुष्पोंकी माला शोभा पा रही थी । उस समय वीर हिरण्यकशिपुने, जिसकी आवाज मेघकी गर्जनाके समान थी, जो नीले मेघोंके समूह-जैसा श्याम था तथा जो दितिके गर्भसे उत्पन्न होकर देवताओंका शत्रु बना हुआ था; भगवान् नृसिंहपर धावा किया ॥ ५८-५९ ॥

समुपेत्य ततस्तीक्ष्णैर्मृगेन्द्रेण बलीयसा ।
नारसिंहेन वपुषा दारितः करजैर्भृशम् ॥ ६०॥

'इसी समय अत्यन्त बलवान् मृगेन्द्रस्वरूप भगवान् नृसिंहने दैत्यके निकट जाकर उसे अपने तीखे नखोंद्वारा अत्यन्त विदीर्ण कर दिया ॥ ६० ॥

एवं निहत्य भगवान् दैत्येन्द्रं रिपुघातिनम् ।
भूयोऽन्यः पुण्डरीकाक्षः प्रभुर्लोकहिताय च ॥ ६१ ॥

'इस प्रकार शत्रुघाती दैत्यराज हिरण्यकशिपुका वध करके भगवान् कमलनयन श्रीहरि पुनः सम्पूर्ण लोकोंके हितके लिये अन्य रूपमें प्रकट हुए ॥ ६१ ॥

कश्यपस्यात्मजः श्रीमानदित्या गर्भधारितः ।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु प्रसूता गर्भमुत्तमम् ॥ ६२ ॥

'उस समय वे कश्यपजीके तेजस्वी पुत्र हुए । अदितिदेवीने उन्हें गर्भमें धारण किया था । पूरे एक हजार वर्षतक गर्भमें धारण करनेके पश्चात् अदितिने एक उत्तम बालकको जन्म दिया ॥ ६२ ॥

दुर्दिनाम्भोदसदृशो दीप्ताक्षो वामनाकृतिः ।
दण्डी कमण्डलुधरः श्रीवत्सोरसि भूषितः ॥ ६३ ॥

'वह वर्षाकालके मेघके समान श्यामवर्णका था । उसके नेत्र देदीप्यमान हो रहे थे । वे वामनाकार, दण्ड और कमण्डलु धारण किये तथा वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्नसे विभूषित थे ॥६३॥

जटी यज्ञोपवीती च भगवान् बालरूपधृक् ।
यज्ञवाटं गतः श्रीमान् दानवेन्द्रस्य वै तदा ॥ ६४ ॥

'उनके सिरपर जटा थी और गलेमें यज्ञोपवीत शोभा पाता था। उस समय वे बालरूपधारी श्रीमान् भगवान् दानवराज बलिकी यज्ञशालाके समीप गये ॥ ६४ ॥

बृहस्पतिसहायोऽसौ प्रविष्टो बलिनो मखे।
तं दृष्ट्वा वामनतनुं प्रहृष्टो बलिरब्रवीत् ॥ ६५ ॥

'बृहस्पतिजीकी सहायतासे उनका बलिके यज्ञमण्डपमें प्रवेश हुआ। वामनरूपधारी भगवान्‌को देखकर राजा बलि बहुत प्रसन्न हुए और बोले—॥ ६५ ॥

प्रीतोऽस्मि दर्शने विप्र ब्रूहि त्वं किं ददानि ते।
एवमुक्तस्तु बलिना वामनः प्रत्युवाच ह ॥ ६६ ॥
स्वस्तीत्युक्त्वा बलिं देवः स्मयमानोऽभ्यभाषत।
मेदिनीं दानवपते देहि मे विक्रमत्रयम् ॥ ६७ ॥

'ब्रह्मन्! आपका दर्शन पाकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। आज्ञा कीजिये, मैं आपकी सेवाके लिये क्या दूँ?' बलिके ऐसा कहनेपर भगवान् वामनने '(आपका) स्वस्ति (कल्याण हो)' ऐसा कहकर बलिको आशीर्वाद दिया और मुसकराते हुए कहा—'दानवराज! मुझे तीन पग पृथ्वी दे दीजिये' ॥ ६६-६७ ॥

बलिर्ददौ प्रसन्नात्मा विप्रायामिततेजसे।
ततो दिव्याद्भुततमं रूपं विक्रमतो हरेः ॥ ६८ ॥

'बलिने प्रसन्नचित्त होकर उन अमिततेजस्वी ब्राह्मणदेवताको उनकी मुँहमाँगी वस्तु दे दी। तब भूमिको नापते समय श्रीहरिका अत्यन्त अद्भुत दिव्य रूप प्रकट हुआ ॥ ६८ ॥

विक्रमैस्त्रिभिरक्षोभ्यो जहाराशु स मेदिनीम्।
ददौ शक्राय च महीं विष्णुर्देवः सनातनः ॥ ६९ ॥

'उन अक्षोभ्य सनातन विष्णुदेवने तीन पगद्वारा शीघ्र ही सारी वसुधा नाप ली और देवराज इन्द्रको समर्पित कर दी ॥ ६९ ॥

एष ते वामनो नाम प्रादुर्भावः प्रकीर्तितः।
तेन देवाः प्रादुरासन् वैष्णवं चोच्यते जगत् ॥ ७० ॥

'यह मैंने तुम्हें भगवान्‌के वामनावतारकी बात बतायी है। उन्हींसे देवताओंकी उत्पत्ति हुई है। यह जगत् भी भगवान् विष्णुसे प्रकट होनेके कारण वैष्णव कहलाता है ॥ ७० ॥

असतां निग्रहार्थाय धर्मसंरक्षणाय च।
अवतीर्णो मनुष्याणामजायत यदुक्षये ॥ ७१ ॥
स एवं भगवान् विष्णुः कृष्णेति परिकीर्त्यते।
अनाद्यन्तमजं देवं प्रभुं लोकनमस्कृतम् ॥ ७२ ॥

'राजन्! वे ही भगवान् विष्णु दुष्टोंका दमन और धर्मका संरक्षण करनेके लिये मनुष्योंके बीच यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं। उन्हींको श्रीकृष्ण कहते हैं। वे अनादि, अनन्त, अजन्मा, दिव्यस्वरूप, सर्वसमर्थ और विश्ववन्दित हैं ॥ ७१-७२ ॥

यं देवं विदुषो गान्ति तस्य कर्माणि सैन्धव।
यमाहुरजितं कृष्णं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ ७३ ॥
श्रीवत्सधारिणं देवं पीतकौशेयवाससम्।
प्रधानः सोऽस्त्रविदुषां तेन कृष्णेन रक्ष्यते ॥ ७४ ॥

'सिन्धुराज! विद्वान् पुरुष उन्हीं भगवान्‌की महिमा गाते और उन्हींके पावन चरित्रोंका वर्णन करते हैं। उन्हींको अपराजित, शङ्खचक्रगदाधारी पीतपट्टाम्बरविभूषित श्रीवत्सधारी भगवान् श्रीकृष्ण कहा गया है। अस्त्रविद्याके विद्वानोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित हैं ॥ ७३-७४ ॥

सहायः पुण्डरीकाक्षः श्रीमानतुलविक्रमः।
समानस्यन्दने पार्थमास्थाय परवीरहा ॥ ७५ ॥

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अतुलपराक्रमी श्रीमान् कमलनयन श्रीकृष्ण एक ही रथपर अर्जुनके समीप बैठकर उनकी सहायता करते हैं ॥ ७५ ॥

न शक्यते तेन जेतुं त्रिदशैरपि दुःसहः।
कः पुनर्मानुषो भावो रणे पार्थं विजेष्यति ॥ ७६ ॥

'इस कारण अर्जुनको कोई नहीं जीत सकता। उनका वेग सहन करना देवताओंके लिये भी कठिन है; फिर कौन ऐसा मनुष्य है, जो युद्धमें अर्जुनपर विजय पा सके? ॥ ७६ ॥

तमेकं वर्जयित्वा तु सर्वं यौधिष्ठिरं बलम्।
चतुरः पाण्डवान् राजन् दिनैकं जेष्यसे रिपून् ॥ ७७ ॥

'राजन्! केवल अर्जुनको छोड़कर एक दिन ही तुम युधिष्ठिरकी सारी सेनाको और अपने शत्रु चारों पाण्डवोंको भी जीत सकोगे' ॥ ७७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा नृपतिं सर्वपापहरो हरः।
उमापतिः पशुपतिर्यज्ञहा त्रिपुरार्दनः ॥ ७८ ॥
वामनैर्विकटैः कुब्जैरुग्रश्रवणदर्शनैः।
वृतः पारिषदैर्घोरैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ॥ ७९ ॥
त्र्यम्बको राजशार्दूल भगनेत्रनिपातनः।
उमासहायो भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ८० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उमापति भगवान् हर समस्त पापोंका अपहरण करनेवाले हैं। वे पशुरूपी जीवोंके पालक, दक्षयज्ञ-विध्वंसक तथा त्रिपुरविनाशक हैं। उनके तीन नेत्र हैं और उन्हींके द्वारा भगदेवताके नेत्र नष्ट किये गये हैं। भगवती उमा सदा उनके साथ रहती हैं। नृपश्रेष्ठ! भगवान् शिव सिन्धुराज जयद्रथसे पूर्वोक्त वचन कहकर भयंकर कानों और नेत्रोंवाले भाँति-भाँतिके अस्त्र उठाये रहनेवाले अपने भयंकर पार्षदोंके साथ, जिनमें बौने, कुबड़े और विकट आकृतिवाले प्राणी भी थे,

भगवती पार्वतीसहित वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ७८–८० ॥

जयद्रथोऽपि मन्दात्मा स्वमेव भवनं ययौ ।
पाण्डवाश्च वने तस्मिन् न्यवसन् काम्यके तथा ॥ ८१ ॥

तत्पश्चात् मन्दबुद्धि जयद्रथ भी अपने घर चला गया और पाण्डवगण उस काम्यकवनमें उसी प्रकार निवास करने लगे ॥ ८१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि जयद्रथविमोक्षणपर्वणि द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत जयद्रथविमोक्षणपर्वमें दो सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ८१½ श्लोक हैं)

(रामोपाख्यानपर्व)

त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अपनी दुरवस्थासे दुखी हुए युधिष्ठिरका मार्कण्डेय मुनिसे प्रश्न करना

जनमेजय उवाच

एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
अत ऊर्ध्वं नरव्याघ्राः किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—इस प्रकार द्रौपदीका अपहरण होनेपर महान् क्लेश उठानेके पश्चात् मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी पाण्डवोंने कौन-सा कार्य किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं कृष्णां मोक्षयित्वा विनिर्जित्य जयद्रथम् ।
आसांचक्रे मुनिगणैर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय ! इस प्रकार जयद्रथको जीत द्रौपदीको छुड़ाकर लेनेके पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर मुनिमण्डलीके साथ बैठे हुए थे ॥ २ ॥

तेषां मध्ये महर्षीणां शृण्वतामनुशोचताम् ।
मार्कण्डेयमिदं वाक्यमब्रवीत् पाण्डुनन्दनः ॥ ३ ॥

महर्षिलोग भी पाण्डवोंपर आये हुए संकटको सुनते और उसके लिये बारंबार शोक प्रकट करते थे । उन्हींमेंसे मार्कण्डेयजीको लक्ष्य करके पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने इस प्रकार कहा ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् देवर्षीणां त्वं ख्यातो भूतभविष्यवित् ।
संशयं परिपृच्छामि छिन्धि मे हृदि संस्थितम् ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! आप भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंके ज्ञाता हैं । देवर्षियोंमें भी आपका नाम विख्यात है । अतः आपसे मैं अपने हृदयका एक संदेह पूछता हूँ, उसका निवारण कीजिये ॥ ४ ॥

द्रुपदस्य सुता ह्येषा वेदिमध्यात् समुत्थिता ।
अयोनिजा महाभागा स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः ॥ ५ ॥

यह परम सौभाग्यशालिनी द्रुपदकुमारी यज्ञकी वेदीसे प्रकट हुई है; अतः अयोनिजा है (इसे गर्भवासका कष्ट नहीं सहन करना पड़ा है) । इसे महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू होनेका गौरव भी मिला है ॥ ५ ॥

मन्ये कालश्च भगवान् दैवं च विधिनिर्मितम् ।
भवितव्यं च भूतानां यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ६ ॥

मेरी समझमें भगवान् काल, विधिनिर्मित दैव और समस्त प्राणियोंकी भवितव्यता अर्थात् उनके लिये होनेवाली घटना—ये तीनों ही प्रबल हैं; इनको कोई टाल नहीं सकता ॥ ६ ॥

इमां हि पत्नीमस्माकं धर्मज्ञां धर्मचारिणीम् ।
संस्पृशेदीदृशो भावः शुचिं स्तैन्यमिवानृतम् ॥ ७ ॥

अन्यथा हमारी इस पत्नीको, जो धर्मको जाननेवाली तथा धर्मके पालनमें तत्पर रहनेवाली है, ऐसा भाव (अपहृत होनेका लाञ्छन) कैसे स्पर्श कर सकता था ? यह तो ठीक वैसा ही है, जैसे किसी शुद्ध आचार-विचारवाले मनुष्यपर झूठे ही चोरीका कलङ्क लग जाय ॥ ७ ॥

न हि पापं कृतं किंचित् कर्म वा निन्दितं क्वचित् ।
द्रौपद्या ब्राह्मणेष्वेव धर्मः सुचरितो महान् ॥ ८ ॥

इसने कभी कोई पाप या निन्दित कर्म नहीं किया है । द्रौपदीने ब्राह्मणोंके प्रति सेवा-सत्कार आदिके रूपमें महान् धर्मका आचरण किया है ॥ ८ ॥

तां जहार बलाद् राजा मूढबुद्धिर्जयद्रथः ।
तस्याः संहरणात् पापः शिरसः केशपातनम् ॥ ९ ॥
पराजयं च संग्रामे ससहायः समाप्तवान् ।
प्रत्याहृता तथास्माभिर्हत्वा तत् सैन्धवं बलम् ॥ १० ॥

ऐसी स्त्रीका भी मूढ़बुद्धि पापी राजा जयद्रथने बलपूर्वक अपहरण किया । इस अपहरणके ही कारण उसका सिर मूँड़ा गया, वह अपने सहायकोंसहित युद्धमें पराजित हुआ तथा हमलोग सिन्धुदेशकी सेनाका संहार करके पुनः द्रौपदीको लौटा लाये हैं ॥ ९-१० ॥

तद् दारहरणं प्राप्तमस्माभिरवितर्कितम् ।

ज्ञातिभिर्विप्रवासश्च मिथ्याव्यवसितैरियम् ॥ ११ ॥

इस प्रकार हमने जिसे कभी सोचा तक न था, वह अपनी पत्नीका अपहरणरूप अपमान हमें प्राप्त हुआ और मिथ्या व्यवसायमें लगे हुए बान्धवोंने हमें देशसे निर्वासित कर दिया है ॥ ११ ॥

अस्ति नूनं मया कश्चिदल्पभाग्यतरो नरः।
भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा भवेत् ॥ १२ ॥

अतः मैं पूछता हूँ, क्या संसारमें मेरे-जैसा मन्दभाग्य मनुष्य कोई और भी है अथवा आपने पहले कभी मुझ-जैसे भाग्यहीनको कहीं देखा या सुना है ? ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि युधिष्ठिरप्रश्ने त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें युधिष्ठिरप्रश्नविषयक दो सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७३ ॥

चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीराम आदिका जन्म तथा कुबेरकी उत्पत्ति और उन्हें ऐश्वर्यकी प्राप्ति

मार्कण्डेय उवाच

प्राप्तमप्रतिमं दुःखं रामेण भरतर्षभ।
रक्षसा जानकी तस्य हृता भार्या बलीयसा ॥ १ ॥
आश्रमाद् राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना।
मायामास्थाय तरसा हत्वा गृध्रं जटायुषम् ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! श्रीरामचन्द्रजीको भी वनवास तथा स्त्रीवियोगका अनुपम दुःख सहन करना पड़ा था। दुरात्मा राक्षसराज महाबली रावण अपना मायाजाल बिछाकर आश्रमसे उनकी पत्नी सीताको वेगपूर्वक हर ले गया था और अपने कार्यमें बाधा डालनेवाले गृध्रराज जटायुको उसने वहीं मार गिराया था ॥ १-२ ॥

प्रत्याजहार तां रामः सुग्रीवबलमाश्रितः।
बद्ध्वा सेतुं समुद्रस्य दग्ध्वा लङ्कां शितैः शरैः ॥ ३ ॥

फिर श्रीरामचन्द्रजी भी सुग्रीवकी सेनाका सहारा ले समुद्रपर पुल बाँधकर लङ्कामें गये और अपने तीखे (आग्नेय आदि) बाणोंसे उसको भस्म करके वहाँसे सीताको वापस लाये ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कस्मिन् रामः कुले जातः किंवीर्यः किम्पराक्रमः।
रावणः कस्य पुत्रो वा किं वैरं तस्य तेन ह ॥ ४ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! श्रीरामचन्द्रजी किस कुलमें प्रकट हुए थे ? उनका बल और पराक्रम कैसा था ? रावण किसका पुत्र था और उसका रामचन्द्रजीसे क्या वैर था ? ॥ ४ ॥

एतन्मे भगवन् सर्वं सम्यगाख्यातुमर्हसि।
श्रोतुमिच्छामि चरितं रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ५ ॥

भगवन् ! ये सभी बातें मुझे अच्छी प्रकार बताइये। मैं अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीरामका चरित्र सुनना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

अजो नामाभवद् राजा महानिक्ष्वाकुवंशजः।
तस्य पुत्रो दशरथः शश्वत्स्वाध्यायवाञ्छुचिः ॥ ६ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन् ! इक्ष्वाकुवंशमें अज नामसे प्रसिद्ध एक महान् राजा हो गये हैं। उनके पुत्र थे दशरथ, जो सदा स्वाध्यायमें संलग्न रहनेवाले और पवित्र थे ॥ ६ ॥

अभवंस्तस्य चत्वारः पुत्रा धर्मार्थकोविदाः।
रामलक्ष्मणशत्रुघ्ना भरतश्च महाबलः ॥ ७ ॥

उनके चार पुत्र हुए। वे सब-के-सब धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—राम, लक्ष्मण, महाबली भरत और शत्रुघ्न ॥ ७ ॥

रामस्य माता कौसल्या कैकेयी भरतस्य तु।
सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रायाः परंतपौ ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी माताका नाम कौसल्या था, भरतकी माता कैकेयी थी तथा शत्रुओंको संताप देनेवाले लक्ष्मण और शत्रुघ्न सुमित्राके पुत्र थे ॥ ८ ॥

विदेहराजो जनकः सीता तस्यात्मजा विभो।
यां चकार स्वयं त्वष्टा रामस्य महिषीं प्रियाम् ॥ ९ ॥

राजन् ! विदेहदेशके राजा जनककी एक पुत्री थी, जिसका नाम था सीता। उसे स्वयं विधाताने ही भगवान् श्रीरामकी प्यारी रानी होनेके लिये रचा था ॥ ९ ॥

एतद् रामस्य ते जन्म सीतायाश्च प्रकीर्तितम्।
रावणस्यापि ते जन्म व्याख्यास्यामि जनेश्वर ॥ १० ॥

जनेश्वर ! इस प्रकार मैंने तुम्हें श्रीराम और सीताके

जन्मका वृत्तान्त बताया है । अब रावणके भी जन्मका प्रसङ्ग सुनाऊँगा ॥ १० ॥

पितामहो रावणस्य साक्षाद् देवः प्रजापतिः ।
स्वयम्भूः सर्वलोकानां प्रभुः स्रष्टा महातपाः ॥ ११ ॥

सम्पूर्ण जगत्के स्वामी, सबकी सृष्टि करनेवाले, प्रजापालक, महातपस्वी और स्वयम्भू साक्षात् भगवान् ब्रह्माजी ही रावणके पितामह थे ॥ ११ ॥

पुलस्त्यो नाम तस्यासीन्मानसो दयितः सुतः ।
तस्य वैश्रवणो नाम गवि पुत्रोऽभवत् प्रभुः ॥ १२ ॥

ब्रह्माजीके एक परम प्रिय मानसपुत्र पुलस्त्यजी थे । उनसे उनकी गौ नामकी पत्नीके गर्भसे वैश्रवण नामक शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १२ ॥

पितरं स समुत्सृज्य पितामहमुपस्थितः ।
तस्य कोपात् पिता राजन् ससर्जात्मानमात्मना ॥ १३ ॥
स जज्ञे विश्रवा नाम तस्यात्मार्धेन वै द्विजः ।
प्रतीकाराय सक्रोधस्ततो वैश्रवणस्य वै ॥ १४ ॥

राजन् ! वैश्रवण अपने पिताको छोड़कर पितामहकी सेवामें रहने लगे । इससे उनपर क्रोध करके पिता पुलस्त्यने स्वयं अपने आपको ही दूसरे रूपमें प्रकट कर लिया । पुलस्त्यके आधे शरीरसे जो दूसरा द्विज प्रकट हुआ, उसका नाम विश्रवा था । विश्रवा वैश्रवणसे बदला लेनेके लिये उनके ऊपर सदा कुपित रहा करते थे ॥ १३-१४ ॥

पितामहस्तु प्रीतात्मा ददौ वैश्रवणस्य ह ।
अमरत्वं धनेशत्वं लोकपालत्वमेव च ॥ १५ ॥

परंतु पितामह ब्रह्माजी उनपर प्रसन्न थे; अतः उन्होंने वैश्रवणको अमरत्व प्रदान किया और धनका स्वामी तथा लोकपाल बना दिया ॥ १५ ॥

ईशानेन तथा सख्यं पुत्रं च नलकूबरम् ।
राजधानीनिवेशं च लङ्कां रक्षोगणान्विताम् ॥ १६ ॥

पितामहने उनकी महादेवजीसे मैत्री करायी, उन्हें नलकूबर नामक पुत्र दिया तथा राक्षसोंसे भरी हुई लंकाको उनकी राजधानी बनायी ॥ १६ ॥

विमानं पुष्पकं नाम कामगं च ददौ प्रभुः ।
यक्षाणामाधिपत्यं च राजराजत्वमेव च ॥ १७ ॥

साथ ही उन्हें इच्छानुसार विचरनेवाला पुष्पक नामका एक विमान दिया । इसके सिवा ब्रह्माजीने कुबेरको यक्षोंका स्वामी बना दिया और उन्हें 'राजराज' की पदवी प्रदान की ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामरावणयोर्जन्मकथने चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें राम-रावणजन्मकथनविषयक दो सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७४ ॥

पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण, खर और शूर्पणखाकी उत्पत्ति, तपस्या और वरप्राप्ति तथा कुबेरका रावणको शाप देना

मार्कण्डेय उवाच

पुलस्त्यस्य तु यः क्रोधादर्धदेहोऽभवन्मुनिः ।
विश्रवा नाम सक्रोधः स वैश्रवणमैक्षत ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! पुलस्त्यके क्रोधसे उनके आधे शरीरसे जो 'विश्रवा' नामक मुनि प्रकट हुए थे, वे कुबेरको कुपित दृष्टिसे देखने लगे ॥ १ ॥

बुबुधे तं तु सक्रोधं पितरं राक्षसेश्वरः ।
कुबेरस्तत्प्रसादार्थं यतते स सदा नृप ॥ २ ॥

युधिष्ठिर ! राक्षसोंके स्वामी कुबेरको जब यह बात मालूम हो गयी कि मेरे पिता मुझपर रुष्ट रहते हैं, तब वे उन्हें प्रसन्न रखनेका यत्न करने लगे ॥ २ ॥

स राजराजो लङ्कायां न्यवसन्नरवाहनः ।
राक्षसीः प्रददौ तिस्रः पितुर्वै परिचारिकाः ॥ ३ ॥

राजराज कुबेर स्वयं लङ्कामें ही रहते थे । वे मनुष्योंद्वारा ढोई जानेवाली पालकी आदिकी सवारीपर चलते थे, इसलिये नरवाहन कहलाते थे । उन्होंने अपने पिता विश्रवाकी सेवाके लिये तीन राक्षसकन्याओंको, परिचारिकाओंके रूपमें नियुक्त कर दिया था ॥ ३ ॥

ताः सदा तं महात्मानं संतोषयितुमुद्यताः ।
ऋषिं भरतशार्दूल नृत्यगीतविशारदाः ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे तीनों ही नाचने और गानेकी कलामें निपुण थीं तथा सदा ही उन महात्मा महर्षिको संतुष्ट रखनेके लिये सचेष्ट रहती थीं ॥ ४ ॥

पुष्पोत्कटा च राका च मालिनी च विशाम्पते ।
अन्योन्यस्पर्धया राजन् श्रेयस्कामाः सुमध्यमाः ॥ ५ ॥

महाराज ! उनके नाम थे—पुष्पोत्कटा, राका तथा मालिनी । वे तीनों सुन्दरियाँ अपना भला चाहती थीं ।

इसलिये एक दूसरीसे स्पर्धा रखकर मुनिकी सेवा करती थीं ॥

स तासां भगवांस्तुष्टो महात्मा प्रददौ वरान्।
लोकपालोपमान् पुत्रानेकैकस्या यथेप्सितान् ॥ ६ ॥

वे ऐश्वर्यशाली महात्मा उनकी सेवाओंसे प्रसन्न हो गये और उनमेंसे प्रत्येकको उनकी इच्छाके अनुसार लोकपालोंके समान पराक्रमी पुत्र होनेका वरदान दिया ॥ ६ ॥

पुष्पोत्कटायां जज्ञाते द्वौ पुत्रौ राक्षसेश्वरौ।
कुम्भकर्णदशग्रीवौ बलेनाप्रतिमौ भुवि ॥ ७ ॥

पुष्पोत्कटाके दो पुत्र हुए—रावण और कुम्भकर्ण। ये दोनों ही राक्षसोंके अधिपति थे। भूमण्डलमें इनके समान बलवान् दूसरा कोई नहीं था ॥ ७ ॥

मालिनी जनयामास पुत्रमेकं विभीषणम्।
राकायां मिथुनं जज्ञे खरः शूर्पणखा तथा ॥ ८ ॥

मालिनीने एक ही पुत्र विभीषणको जन्म दिया। राकाके गर्भसे एक पुत्र और एक पुत्री हुई। पुत्रका नाम खर था और पुत्रीका शूर्पणखा ॥ ८ ॥

विभीषणस्तु रूपेण सर्वेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत्।
स बभूव महाभागो धर्मगोप्ता क्रियारतिः ॥ ९ ॥

इन सब बालकोंमें विभीषण ही सबसे अधिक रूपवान्, सौभाग्यशाली, धर्मरक्षक तथा कर्तव्यपरायण थे ॥ ९ ॥

दशग्रीवस्तु सर्वेषां श्रेष्ठो राक्षसपुङ्गवः।
महोत्साहो महावीर्यो महासत्त्वपराक्रमः ॥ १० ॥

रावणके दस मस्तक थे। वही सबमें ज्येष्ठ तथा राक्षसोंका स्वामी था। उत्साह, बल, धैर्य और पराक्रममें भी वह महान् था ॥ १० ॥

कुम्भकर्णो बलेनासीत् सर्वेभ्योऽभ्यधिको युधि।
मायावी रणशौण्डश्च रौद्रश्च रजनीचरः ॥ ११ ॥

कुम्भकर्ण शारीरिक बलमें सबसे बढ़ा-चढ़ा था। युद्धमें भी वह सबसे बढ़कर था। मायावी और रणकुशल तो था ही, वह निशाचर बड़ा भयंकर भी था ॥ ११ ॥

खरो धनुषि विक्रान्तो ब्रह्मद्विट् पिशिताशनः।
सिद्धविघ्नकरी चापि रौद्री शूर्पणखा तथा ॥ १२ ॥

खर धनुर्विद्यामें विशेष पराक्रमी था। वह ब्राह्मणोंसे द्वेष रखनेवाला तथा मांसाहारी था। शूर्पणखाकी आकृति बड़ी भयानक थी। वह सिद्ध ऋषि-मुनियोंकी तपस्यामें विघ्न डाला करती थी ॥ १२ ॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः।
ऊषुः पित्रा सह रता गन्धमादनपर्वते ॥ १३ ॥

वे सभी बालक वेदवेत्ता, शूरवीर तथा ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले थे और अपने पिताके साथ गन्धमादन पर्वतपर सुखपूर्वक रहते थे ॥ १३ ॥

ततो वैश्रवणं तत्र ददृशुर्नरवाहनम्।
पित्रा सार्धं समासीनमृद्ध्या परमया युतम् ॥ १४ ॥

एक दिन नरवाहन कुबेर अपने महान् ऐश्वर्यसे युक्त होकर पिताके साथ बैठे थे। उसी अवस्थामें रावण आदिने उनको देखा ॥ १४ ॥

जातामर्षास्ततस्ते तु तपसे धृतनिश्चयाः।
ब्रह्माणं तोषयामासुर्घोरेण तपसा तदा ॥ १५ ॥

उनका वैभव देखकर इन बालकोंके हृदयमें डाह पैदा हो गयी। अतः उन्होंने मन-ही-मन तपस्या करनेका निश्चय किया और घोर तपस्याके द्वारा उन्होंने ब्रह्माजीको संतुष्ट कर लिया ॥ १५ ॥

अतिष्ठदेकपादेन सहस्रं परिवत्सरान्।
वायुभक्षो दशग्रीवः पञ्चाग्निः सुसमाहितः ॥ १६ ॥

रावण सहस्रों वर्षोंतक एक पैरसे खड़ा रहा। वह चित्तको एकाग्र रखकर पञ्चाग्निसेवन करता और वायु पीकर रहता था ॥ १६ ॥

अधःशायी कुम्भकर्णो यताहारो यतव्रतः।
विभीषणः शीर्णपर्णमेकमभ्यवहारयन् ॥ १७ ॥

कुम्भकर्णने भी आहारका संयम किया। वह भूमिपर सोता और कठोर नियमोंका पालन करता था। विभीषण केवल एक सूखा पत्ता खाकर रहते थे ॥ १७ ॥

उपवासरतिर्धीमान् सदा जप्यपरायणः।
तमेव कालमातिष्ठत् तीव्रं तप उदारधीः ॥ १८ ॥

उनका भी उपवासमें ही प्रेम था। बुद्धिमान् एवं उदारबुद्धि विभीषण सदा जप किया करते थे। उन्होंने भी उतने समयतक तीव्र तपस्या की ॥ १८ ॥

खरः शूर्पणखा चैव तेषां वै तप्यतां तपः।
परिचर्यां च रक्षां च चक्रतुर्हृष्टमानसौ ॥ १९ ॥

खर और शूर्पणखा ये दोनों प्रसन्न मनसे तपस्यामें लगे हुए अपने भाइयोंकी परिचर्या तथा रक्षा करते थे ॥ १९ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु शिरश्छित्त्वा दशाननः।
जुहोत्यग्नौ दुराधर्षस्तेनातुष्यज्जगत्प्रभुः ॥ २० ॥

एक हजार वर्ष पूर्ण होनेपर दुर्धर्ष दशाननने अपना मस्तक काटकर अग्निमें उसकी आहुति दे दी। उसके इस अद्भुत कर्मसे लोकेश्वर ब्रह्माजी बहुत संतुष्ट हुए ॥ २० ॥

ततो ब्रह्मा स्वयं गत्वा तपसस्तान् न्यवारयत्।
प्रलोभ्य वरदानेन सर्वानेव पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥

तदनन्तर ब्रह्माजीने स्वयं जाकर उन सबको तपस्या

करनेसे रोका और प्रत्येकको पृथक्-पृथक् वरदानका लोभ देते हुए कहा ॥ २१ ॥

ब्रह्मोवाच

प्रीतोऽस्मि वो निवर्तध्वं वरान् वृणुत पुत्रकाः।
यद् यदिष्टमृते त्वेकममरत्वं तथास्तु तत् ॥ २२ ॥

ब्रह्माजी बोले—पुत्रो ! मैं तुम सबपर प्रसन्न हूँ, वर माँगो और तपस्यासे निवृत्त हो जाओ । केवल अमरत्वको छोड़कर जिसकी जो-जो इच्छा हो, उसके अनुसार वह वर माँगे । उसका वह मनोरथ पूर्ण होगा ॥ २२ ॥

यद् यदग्नौ हुतं सर्वं शिरस्ते महदीप्सया।
तथैव तानि ते देहे भविष्यन्ति यथेप्सया ॥ २३ ॥

(तत्पश्चात् उन्होंने रावणकी ओर लक्ष्य करके कहा—) तुमने महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त करनेकी इच्छासे अपने जिन-जिन मस्तकोंकी अग्निमें आहुति दी है, वे सब-के-सब पूर्ववत् तुम्हारे शरीरमें इच्छानुसार जुड़ जायँगे ॥ २३ ॥

वैरूप्यं च न ते देहे कामरूपधरस्तथा।
भविष्यसि रणेऽरीणां विजेता न च संशयः ॥ २४ ॥

तुम्हारे शरीरमें किसी प्रकारकी कुरूपता नहीं होगी, तुम इच्छानुसार रूप धारण कर सकोगे तथा युद्धमें शत्रुओंपर विजयी होओगे, इसमें संशय नहीं है ॥ २४ ॥

रावण उवाच

गन्धर्वदेवासुरतो यक्षराक्षसतस्तथा।
सर्पकिन्नरभूतेभ्यो न मे भूयात् पराभवः ॥ २५ ॥

रावण बोला—भगवन् ! गन्धर्व, देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, सर्प, किन्नर तथा भूतोंसे कभी मेरी पराजय न हो ॥



ब्रह्मोवाच

य एते कीर्तिताः सर्वे न तेभ्योऽस्ति भयं तव।
ऋते मनुष्याद् भद्रं ते तथा तद् विहितं मया ॥ २६ ॥

ब्रह्माजीने कहा—तुमने जिन लोगोंका नाम लिया है, इनमेंसे किसीसे भी तुम्हें भय नहीं होगा । केवल मनुष्यको छोड़कर तुम सबसे निर्भय रहो । तुम्हारा भला हो । तुम्हारे लिये मनुष्यसे होनेवाले भयका विधान मैंने ही किया है ॥ २६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तो दशग्रीवस्तुष्टः समभवत् तदा।
अवमेने हि दुर्बुद्धिर्मनुष्यान् पुरुषादकः ॥ २७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर दसमुख रावण बहुत प्रसन्न हुआ । वह दुर्बुद्धि नरभक्षी राक्षस मनुष्योंकी अवहेलना करता था ॥ २७ ॥

कुम्भकर्णमथोवाच तथैव प्रपितामहः।
स वव्रे महतीं निद्रां तमसा ग्रस्तचेतनः ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजीने कुम्भकर्णसे वर माँगनेको कहा । परंतु उसकी बुद्धि तमोगुणसे ग्रस्त थी; अतः उसने अधिक कालतक नींद लेनेका वर माँगा ॥ २८ ॥

तथा भविष्यतीत्युक्त्वा विभीषणमुवाच ह।
वरं वृणीष्व पुत्र त्वं प्रीतोऽस्मीति पुनः पुनः ॥ २९ ॥

उसे 'ऐसा ही होगा' यों कहकर ब्रह्माजी विभीषणके पास गये और इस प्रकार बोले—'बेटा ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, अतः तुम भी वर माँगो ।' ब्रह्माजीने यह बात बार-बार दुहरायी ॥ २९ ॥

विभीषण उवाच

परमापद्गतस्यापि नाधर्मे मे मतिर्भवेत्।
अशिक्षितं च भगवन् ब्रह्मास्त्रं प्रतिभातु मे ॥ ३० ॥

विभीषण बोले—भगवन् ! बहुत बड़ा संकट आनेपर भी मेरे मनमें कभी पापका विचार न उठे तथा बिना सीखे ही मेरे हृदयमें ब्रह्मास्त्रके प्रयोग और उपसंहारकी विधि स्फुरित हो जाय ॥ ३० ॥

ब्रह्मोवाच

यस्माद् राक्षसयोनौ ते जातस्यामित्रकर्शन।
नाधर्मे धीयते बुद्धिरमरत्वं ददानि ते ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—शत्रुनाशन ! राक्षसयोनिमें जन्म लेकर भी तुम्हारी बुद्धि अधर्ममें नहीं लगती है; इसलिये (तुम्हारे माँगे हुए वरके अतिरिक्त) मैं तुम्हें अमरत्व भी देता हूँ॥

मार्कण्डेय उवाच

राक्षसस्तु वरं लब्ध्वा दशग्रीवो विशाम्पते।
लङ्कायाश्च्यावयामास युधि जित्वा धनेश्वरम् ॥ ३२ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! राक्षस दशाननने वर प्राप्त कर लेनेपर सबसे पहले अपने भाई कुबेरको युद्धमें परास्त किया और उन्हें लङ्काके राज्यसे बहिष्कृत कर दिया ॥

हित्वा स भगवाँल्लङ्कामाविशद् गन्धमादनम् ।
गन्धर्वयक्षानुगतो रक्षःकिम्पुरुषैः सह ॥ ३३ ॥

भगवान् कुबेर लङ्का छोड़कर गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा किम्पुरुषोंके साथ गन्धमादन पर्वतपर आकर रहने लगे ॥ ३३ ॥

विमानं पुष्पकं तस्य जहाराक्रम्य रावणः ।
शशाप तं वैश्रवणो न त्वामेतद् वहिष्यति ॥ ३४ ॥
यस्तु त्वां समरे हन्ता तमेवैतद् वहिष्यति ।
अवमन्य गुरुं मां च क्षिप्रं त्वं न भविष्यसि ॥ ३५ ॥

रावणने आक्रमण करके उनका पुष्पक विमान भी छीन लिया । तब कुबेरने कुपित होकर उसे शाप दिया—'अरे ! यह विमान तेरी सवारीमें नहीं आ सकेगा । जो युद्धमें तुझे मार डालेगा, उसीका यह वाहन होगा । मैं तेरा बड़ा भाई होनेके कारण मान्य था, परंतु तूने मेरा अपमान किया है । इससे बहुत शीघ्र तेरा नाश हो जायगा' ॥ ३४–३५ ॥



विभीषणस्तु धर्मात्मा सतां मार्गमनुस्मरन् ।
अन्वगच्छन्महाराज श्रिया परमया युतः ॥ ३६ ॥

महाराज ! विभीषण धर्मात्मा थे । उन्होंने सत्पुरुषोंके मार्गका ध्यान रखकर सदा अपने भाई कुबेरका अनुसरण किया; अतः वे उत्तम लक्ष्मीसे सम्पन्न हुए ॥ ३६ ॥

तस्मै स भगवांस्तुष्टो भ्राता भ्रात्रे धनेश्वरः ।
सैनापत्यं ददौ धीमान् यक्षराक्षससेनयोः ॥ ३७ ॥

बड़े भाई बुद्धिमान् भगवान् कुबेरने संतुष्ट होकर छोटे भाई विभीषणको यक्ष तथा राक्षसोंकी सेनाका सेनापति बना दिया ॥ ३७ ॥

राक्षसाः पुरुषादाश्च पिशाचाश्च महाबलाः ।
सर्वे समेत्य राजानमभ्यषिञ्चन् दशाननम् ॥ ३८ ॥

नरभक्षी राक्षस तथा महाबली पिशाच—सबने मिलकर दशमुख रावणको राक्षसराजके पदपर अभिषिक्त किया ॥ ३८ ॥

दशग्रीवश्च दैत्यानां देवानां च बलोत्कटः ।
आक्रम्य रत्नान्यहरत् कामरूपी विहङ्गमः ॥ ३९ ॥

बलोन्मत्त रावण इच्छानुसार रूप धारण करने और आकाशमें भी चलनेमें समर्थ था । उसने दैत्यों और देवताओंपर आक्रमण करके उनके पास जो रत्न या रत्नभूत वस्तुएँ थीं, उन सबका अपहरण कर लिया ॥ ३९ ॥

रावयामास लोकान् यत् तस्माद्रावण उच्यते ।
दशग्रीवः कामबलो देवानां भयमादधत् ॥ ४० ॥

उसने सम्पूर्ण लोकोंको रुला दिया था; इसलिये वह रावण कहलाता है । दशाननका बल उसके इच्छानुसार बढ़ जाता था; अतः वह सदा देवताओंको भयभीत किये रहता था ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रावणादिवरप्राप्तौ पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें रावण आदिको वरप्राप्तिविषयक दो सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७५ ॥

षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

देवताओंका ब्रह्माजीके पास जाकर रावणके अत्याचारसे बचानेके लिये प्रार्थना करना तथा ब्रह्माजीकी आज्ञासे देवताओंका रीछ और वानरयोनिमें संतान उत्पन्न करना एवं दुन्दुभी गन्धर्वीका मन्थरा बनकर आना

मार्कण्डेय उवाच

ततो ब्रह्मर्षयः सर्वे सिद्धा देवर्षयस्तथा ।
हव्यवाहं पुरस्कृत्य ब्रह्माणं शरणं गताः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! तत्पश्चात् रावणसे कष्ट पाये हुए ब्रह्मर्षि, देवर्षि तथा सिद्धगण अग्निदेवको आगे करके ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥ १ ॥

अग्निरुवाच

योऽसौ विश्रवसः पुत्रो दशग्रीवो महाबलः ।
अवध्यो वरदानेन कृतो भगवता पुरा ॥ २ ॥
स बाधते प्रजाः सर्वा विप्रकारैर्महाबलः ।
ततो नस्त्रातु भगवन् नान्यस्त्राता हि विद्यते ॥ ३ ॥

अग्निदेव बोले—भगवन् ! आपने पहले जो वरदान देकर विश्रवाके पुत्र महाबली रावणको अवध्य कर दिया है, वह महाबलवान् राक्षस अब संसारकी समस्त प्रजाको अनेक प्रकारसे सता रहा है; अतः आप ही उसके भयसे हमारी रक्षा कीजिये। आपके सिवा हमारा दूसरा कोई रक्षक नहीं है ॥२–३॥

ब्रह्मोवाच

न स देवासुरैः शक्यो युद्धे जेतुं विभावसो ।
विहितं तत्र यत् कार्यमभितस्तस्य निग्रहः ॥ ४ ॥

ब्रह्माजीने कहा—अग्ने ! देवता या असुर उसे युद्धमें नहीं जीत सकते । उसके विनाशके लिये जो आवश्यक कार्य था, वह कर दिया गया । अब सब प्रकारसे उस दुष्टका दमन हो जायगा ॥ ४ ॥

तदर्थमवतीर्णोऽसौ मन्नियोगाच्चतुर्भुजः ।
विष्णुः प्रहरतां श्रेष्ठः स तत् कर्म करिष्यति ॥ ५ ॥

उस राक्षसके निग्रहके लिये मैंने चतुर्भुज भगवान् विष्णुसे अनुरोध किया था । मेरी प्रार्थनासे वे भगवान् भूतलपर अवतार ले चुके हैं । वे योद्धाओंमें श्रेष्ठ हैं; अतः वे ही रावणके दमनका कार्य करेंगे ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

पितामहस्ततस्तेषां संनिधौ शक्रमब्रवीत् ।
सर्वैर्देवगणैः सार्धं सम्भव त्वं महीतले ॥ ६ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर ब्रह्माजीने उन देवताओंके समीप ही इन्द्रसे कहा—'तुम समस्त देवताओंके साथ भूतलपर जन्म ग्रहण करो ॥ ६ ॥

विष्णोः सहायानृक्षीषु वानरीषु च सर्वशः ।
जनयध्वं सुतान् वीरान् कामरूपबलान्वितान्॥ ७ ॥

'वहाँ रीछों और वानरोंकी स्त्रियोंसे ऐसे वीर पुत्रको उत्पन्न करो, जो इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ, बलवान् तथा भूतलपर अवतीर्ण हुए भगवान् विष्णुके योग्य सहायक हों' ॥ ७ ॥

ततो भागानुभागेन देवगन्धर्वपन्नगाः ।
अवतर्तुं महीं सर्वे मन्त्रयामासुरञ्जसा ॥ ८ ॥

तदनन्तर देवता, गन्धर्व और नाग अपने-अपने अंश एवं अंशांशसे इस पृथ्वीपर अवतीर्ण होनेके लिये परस्पर परामर्श करने लगे ॥ ८ ॥

तेषां समक्षं गन्धर्वीं दुन्दुभीं नाम नामतः ।
शशास वरदो देवो गच्छ कार्यार्थसिद्धये ॥ ९ ॥

फिर वरदायक देवता ब्रह्माजीने उन सबके सामने ही दुन्दुभी नामवाली गन्धर्वीको आज्ञा दी कि 'तुम भी देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये भूतलपर जाओ ॥ ९ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा गन्धर्वी दुन्दुभी ततः ।
मन्थरा मानुषे लोके कुब्जा समभवत् तदा ॥ १० ॥

पितामहकी बात सुनकर गन्धर्वी दुन्दुभी मनुष्यलोकमें आकर मन्थरा नामसे प्रसिद्ध कुबड़ी दासी हुई ॥ १० ॥

शक्रप्रभृतयश्चैव सर्वे ते सुरसत्तमाः ।
वानरर्क्षवरस्त्रीषु जनयामासुरात्मजान् ॥ ११ ॥
तेऽन्ववर्तन् पितॄन् सर्वे यशसा च बलेन च ।
भेत्तारो गिरिशृङ्गाणां शालतालशिलायुधाः ॥ १२ ॥

इन्द्र आदि समस्त श्रेष्ठ देवता भी वानरों तथा रीछोंकी उत्तम स्त्रियोंसे संतान उत्पन्न करने लगे । वे सब वानर और रीछ यश तथा बलमें अपने पिता देवताओंके समान ही हुए । वे पर्वतोंके शिखर तोड़ डालनेकी शक्ति रखते थे एवं शाल (साखू) और ताल (ताड़) के वृक्ष तथा पत्थरोंकी चट्टानें ही उनके आयुध थे ॥ ११-१२ ॥

वज्रसंहननाः सर्वे सर्वे चौघबलास्तथा ।
कामवीर्यबलाश्चैव सर्वे युद्धविशारदाः ॥ १३ ॥

उनका शरीर वज्रके समान दुर्भेद्य और सुदृढ़ था । वे सभी राशि-राशि बलके आश्रय थे । उनका बल और पराक्रम इच्छाके अनुसार प्रकट होता था । वे सबके सब युद्ध करनेकी कलामें दक्ष थे ॥ १३ ॥

नागायुतसमप्राणा वायुवेगसमा जवे ।
यत्रेच्छकनिवासाश्च केचिदत्र वनौकसः ॥ १४ ॥

उनके शरीरमें दस हजार हाथियोंके समान बल था । तेज चलनेमें वे वायुके वेगको लजा देते थे । उनका कोई घर-बार नहीं था; जहाँ इच्छा होती, वहीं रह जाते थे । उनमेंसे कुछ लोग केवल वनोंमें ही रहते थे ॥ १४ ॥

एवं विधाय तत् सर्वं भगवाँल्लोकभावनः ।
मन्थरां बोधयामास यद् यत् कार्यं यथा यथा ॥१५॥

इस प्रकार सारी व्यवस्था करके लोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्माने मन्थरा बनी हुई दुन्दुभीको जो-जो काम जैसे-जैसे करना था, वह सब समझा दिया ॥ १५ ॥

सा तद्वचः समाज्ञाय तथा चक्रे मनोजवा ।
इतश्चेतश्च गच्छन्ती वैरसन्धुक्षणे रता ॥ १६ ॥

वह मनके समान वेगसे चलनेवाली थी। उसने ब्रह्माजीकी बातको अच्छी तरह समझकर उसके अनुसार ही कार्य किया। वह इधर-उधर घूम-फिरकर वैरकी आग प्रज्वलित करनेमें लग गयी ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि वानराद्युत्पत्तौ षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें वानर आदिकी उत्पत्तिसे सम्बन्धित दो सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२७६॥

सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी, रामवनगमन, भरतकी चित्रकूटयात्रा, रामके द्वारा खर-दूषण आदि राक्षसोंका नाश तथा रावणका मारीचके पास जाना

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं भगवता जन्म रामादीनां पृथक् पृथक्।
प्रस्थानकारणं ब्रह्मञ्छ्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ॥ १ ॥
कथं दाशरथी वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
सम्प्रस्थितौ वने ब्रह्मन् मैथिली च यशस्विनी ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—ब्रह्मन्! आपने श्रीरामचन्द्रजी आदि सभी भाइयोंके जन्मकी कथा तो पृथक्-पृथक् सुना दी, अब मैं उनके वनवासका कारण सुनना चाहता हूँ; उसे कहिये। दशरथजीके वीर पुत्र दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण तथा मिथिलेशकुमारी यशस्विनी सीताको वनमें क्यों जाना पड़ा? ॥ १–२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

जातपुत्रो दशरथः प्रीतिमानभवन्नृप।
क्रियारतिर्धर्मरतः सततं वृद्धसेविता ॥ ३ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन्! अपने पुत्रोंके जन्मसे महाराज दशरथको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे सदा सत्कर्ममें तत्पर रहनेवाले, धर्मपरायण तथा बड़े-बूढ़ोंके सेवक थे ॥३॥

क्रमेण चास्य ते पुत्रा व्यवर्धन्त महौजसः।
वेदेषु सरहस्येषु धनुर्वेदेषु पारगाः ॥ ४ ॥
चरितब्रह्मचर्यास्ते कृतदाराश्च पार्थिव।
यदा तदा दशरथः प्रीतिमानभवत् सुखी ॥ ५ ॥

राजाके वे महातेजस्वी पुत्र क्रमशः बढ़ने लगे। उन्होंने (उपनयनके पश्चात्) विधिवत् ब्रह्मचर्यका पालन किया और वेदों तथा रहस्यसहित धनुर्वेदके वे पारंगत विद्वान् हुए। समयानुसार जब उनका विवाह हो गया, तब राजा दशरथ बड़े प्रसन्न तथा सुखी हुए ॥ ४–५ ॥

ज्येष्ठो रामोऽभवत् तेषां रमयामास हि प्रजाः।
मनोहरतया धीमान् पितुर्हृदयनन्दनः ॥ ६ ॥

चारों पुत्रोंमें बुद्धिमान् श्रीराम सबसे बड़े थे। वे अपने मनोहर रूप एवं सुन्दर स्वभावसे समस्त प्रजाको आनन्दित करते थे—सबका मन उन्हींमें रमता था। इसके सिवा वे पिताके मनको भी आनन्द बढ़ानेवाले थे ॥ ६ ॥

ततः स राजा मतिमान् मत्वाऽऽत्मानं वयोऽधिकम्।
मन्त्रयामास सचिवैर्धर्मज्ञैश्च पुरोहितैः ॥ ७ ॥
अभिषेकाय रामस्य यौवराज्येन भारत।

युधिष्ठिर! राजा दशरथ बड़े बुद्धिमान् थे। उन्होंने यह सोचकर कि अब मेरी अवस्था बहुत अधिक हो गयी; अतः श्रीरामको युवराजपदपर अभिषिक्त कर देना चाहिये; इस विषयमें अपने मन्त्री और धर्मज्ञ पुरोहितोंसे सलाह ली ॥ ७½ ॥

प्राप्तकालं च ते सर्वे मेनिरे मन्त्रिसत्तमाः ॥ ८ ॥
लोहिताक्षं महाबाहुं मत्तमातङ्गगामिनम्।
कम्बुग्रीवं महोरस्कं नीलकुञ्चितमूर्धजम् ॥ ९ ॥
दीप्यमानं श्रिया वीरं शक्रादनवरं रणे।
पारगं सर्वधर्माणां बृहस्पतिसमं मतौ ॥ १० ॥
सर्वानुरक्तप्रकृतिं सर्वविद्याविशारदम्।
जितेन्द्रियममित्राणामपि दृष्टिमनोहरम् ॥ ११ ॥
नियन्तारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणाम्।
धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितम् ॥ १२ ॥
पुत्रं राजा दशरथः कौसल्यानन्दवर्धनम्।
संदृश्य परमां प्रीतिमगच्छत् कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

उन सभी श्रेष्ठ मन्त्रियोंने राजाके इस समयोचित प्रस्तावका अनुमोदन किया। श्रीरामचन्द्रजीके सुन्दर नेत्र कुछ-कुछ लाल थे और भुजाएँ बड़ी एवं घुटनों तक लंबी थीं। वे मतवाले हाथीके समान मस्तानी चालसे चलते थे। उनकी ग्रीवा शङ्खके समान सुन्दर थी, उनकी छाती चौड़ी थी और उनके सिरपर काले-काले घुँघराले बाल थे। उनकी देह दिव्य दीप्तिसे दमकती रहती थी। युद्धमें उनका पराक्रम देवराज इन्द्रसे कम नहीं था। वे समस्त धर्मोंके पारंगत विद्वान् और बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् थे। सम्पूर्ण प्रजाका उनमें अनुराग था। वे सभी विद्याओंमें प्रवीण तथा जितेन्द्रिय थे। उनका अद्भुत रूप देखकर शत्रुओंके भी नेत्र और मन लुभा जाते थे। वे दुष्टोंका दमन करनेमें समर्थ, साधुओंके संरक्षक, धर्मात्मा, धैर्यवान्, दुर्धर्ष, विजयी तथा किसीसे भी परास्त न होनेवाले थे। कुरुनन्दन! कौसल्याका आनन्द

बढ़ानेवाले अपने पुत्र श्रीरामको देख-देखकर राजा दशरथको बड़ी प्रसन्नता होती थी ॥ ८-१३ ॥

चिन्तयंश्च महातेजा गुणान् रामस्य वीर्यवान् ।
अभ्यभाषत भद्रं ते प्रीयमाणः पुरोहितम् ॥ १४ ॥
अद्य पुष्यो निशि ब्रह्मन् पुण्यं योगमुपैष्यति ।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां मे रामश्चोपनिमन्त्र्यताम् ॥ १५ ॥

राजन् ! तुम्हारा भला हो । महातेजस्वी तथा परम पराक्रमी राजा दशरथ श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंका स्मरण करते हुए बड़ी प्रसन्नताके साथ पुरोहितसे बोले—'ब्रह्मन् ! आज पुष्य नक्षत्र है । रातमें इसे परम पवित्र योग प्राप्त होनेवाला है । आप राज्याभिषेककी सामग्री तैयार कीजिये और श्रीरामको भी इसकी सूचना दे दीजिये' ॥ १४-१५ ॥

इति तद् राजवचनं प्रतिश्रुत्याथ मन्थरा ।
कैकेयीमभिगम्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

राजाकी यह बात मन्थराने भी सुन ली । वह ठीक समयपर कैकेयीके पास जाकर यों बोली—॥ १६ ॥



अद्य कैकेयि दौर्भाग्यं राज्ञा ते ख्यापितं महत् ।
आशीविषस्त्वां संक्रुद्धश्चण्डो दशतु दुर्भगे ॥ १७ ॥

'केकयनन्दिनि ! आज राजाने तुम्हारे लिये महान् दुर्भाग्यकी घोषणा की है । खोटे भाग्यवाली रानी ! इससे अच्छा तो यह होता कि तुम्हें क्रोधमें भरा हुआ प्रचण्ड विषधर सर्प डँस लेता ॥ १७ ॥

सुभगा खलु कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते ।
कुतो हि तव सौभाग्यं यस्याः पुत्रो न राज्यभाक् ॥ १८ ॥

'रानी कौसल्याका भाग्य अवश्य अच्छा है, जिनके पुत्रका राज्याभिषेक होगा । तुम्हारा ऐसा सौभाग्य कहाँ ? जिसका पुत्र राज्यका अधिकारी ही नहीं है' ॥ १८ ॥

सा तद्वचनमाज्ञाय सर्वाभरणभूषिता ।
देवी विलग्नमध्येव बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ १९ ॥
विविक्ते पतिमासाद्य हसन्तीव शुचिस्मिता ।
प्रणयं व्यञ्जयन्तीव मधुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

मन्थराकी यह बात सुनकर सूक्ष्म कटिप्रदेशवाली देवी कैकेयी समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो परम सुन्दर रूप बनाकर एकान्तमें अपने पतिके पास गयी । उसकी मुसकराहटसे उसके शुद्ध भावकी सूचना मिल रही थी । वह हँसती और प्रेम जताती हुई-सी मधुर वाणीमें बोली—॥ १९-२० ॥

सत्यप्रतिज्ञ यन्मे त्वं काममेकं निसृष्टवान् ।
उपाकुरुष्व तद् राजंस्तस्मान्मुच्यस्व संकटात् ॥ २१ ॥

'सच्ची प्रतिज्ञा करनेवाले महाराज ! आपने पहले जो 'तेरा मनोरथ सफल करूँगा' ऐसा वर दिया था, उसे आज पूर्ण कीजिये और उस संकटसे मुक्त हो जाइये' ॥ २१ ॥

राजोवाच

वरं ददानि ते हन्त तद् गृहाण यदिच्छसि ।
अवध्यो बध्यतां कोऽद्य बध्यः कोऽद्य विमुच्यताम् ॥ २२ ॥
धनं ददानि कस्याद्य ह्रियतां कस्य वा पुनः ।
ब्राह्मणस्वादिहान्यत्र यत् किंचिद् वित्तमस्ति मे ॥ २३ ॥

राजाने कहा—प्रिये ! यह तो बड़े हर्षकी बात है । मैं अभी तुम्हें वर देता हूँ । तुम्हारी जो इच्छा हो, ले लो । आज मैं तुम्हारे कहनेसे किस कैद करनेके अयोग्यको कैद कर दूँ अथवा किस कैद करनेयोग्यको मुक्त कर दूँ ? किसे धन दे दूँ अथवा किसका सर्वस्व हरण कर लूँ ? ब्राह्मणधनके अतिरिक्त यहाँ अथवा अन्यत्र जो कुछ भी मेरे पास धन है, उसपर तुम्हारा अधिकार है ॥ २२-२३ ॥

पृथिव्यां राजराजोऽस्मि चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता ।
यस्तेऽभिलषितः कामो ब्रूहि कल्याणि मा चिरम् ॥ २४ ॥

मैं इस समय इस भूमण्डलका राजराजेश्वर हूँ, चारों वर्णोंकी रक्षा करनेवाला हूँ । कल्याणि ! तुम्हारा जो भी अभिलषित मनोरथ हो, उसे बताओ, देर न करो ॥ २४ ॥

सा तद्वचनमाज्ञाय परिगृह्य नराधिपम् ।
आत्मनो बलमाज्ञाय तत एनमुवाच ह ॥ २५ ॥

राजाकी बातको समझकर और उन्हें सब प्रकारसे वचनबद्ध करके अपनी शक्तिको भी ठीक-ठीक जान लेनेके बाद कैकेयीने उनसे कहा—॥ २५ ॥

आभिषेचनिकं यत् ते रामार्थमुपकल्पितम् ।
भरतस्तदवाप्नोतु वनं गच्छतु राघवः ॥ २६ ॥

'महाराज ! आपने श्रीरामके लिये जो राज्याभिषेकका सामान तैयार कराया है, वह भरतको प्राप्त हो और राम वनमें चले जायँ' ॥ २६ ॥



स तद् राजा वचः श्रुत्वा विप्रियं दारुणोदयम् ।
दुःखार्तो भरतश्रेष्ठ न किंचिद् व्याजहार ह ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कैकेयीका यह अप्रिय एवं भयानक परिणाम-वाला वचन सुनकर राजा दशरथ दुःखसे आतुर हो अपने मुँहसे कुछ भी बोल न सके ॥ २७ ॥

ततस्तथोक्तं पितरं रामो विज्ञाय वीर्यवान् ।
वनं प्रतस्थे धर्मात्मा राजा सत्यो भवत्विति ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्रजी शक्तिशाली होनेके साथ ही बड़े धर्मात्मा थे। उन्होंने पिताके पूर्वोक्त वरदानकी बात जानकर राजाके सत्यकी रक्षा हो, इस उद्देश्यसे स्वयं ही वनको प्रस्थान किया ॥ २८ ॥

तमन्वगच्छल्लक्ष्मीवान् धनुष्माँल्लक्ष्मणस्तदा ।
सीता च भार्या भद्रं ते वैदेही जनकात्मजा ॥ २९ ॥

राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो। श्रीरामचन्द्रजीके वन जाते समय उत्तम शोभासे सम्पन्न उनके भाई धनुर्धर लक्ष्मणने तथा उनकी पत्नी विदेहराजकुमारी जनकनन्दिनी सीताने भी उनका अनुसरण किया ॥ २९ ॥

ततो वनं गते रामे राजा दशरथस्तदा ।
समयुज्यत देहस्य कालपर्यायधर्मणा ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्रजीके वनमें चले जानेपर (उनके वियोगमें) राजा दशरथने शरीर त्याग दिया ॥ ३० ॥

रामं तु गतमाज्ञाय राजानं च तथागतम् ।
आनाय्य भरतं देवी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्रजी वनमें चले गये तथा राजा परलोकवासी हो गये, यह देखकर कैकेयीने भरतको ननिहालसे बुलवाया और इस प्रकार कहा—॥ ३१ ॥

गतो दशरथः स्वर्गं वनस्थौ रामलक्ष्मणौ ।
गृहाण राज्यं विपुलं क्षेमं निहतकण्टकम् ॥ ३२ ॥

'बेटा ! तुम्हारे पिता महाराज दशरथ स्वर्गलोकको सिधार गये तथा श्रीराम और लक्ष्मण वनमें निवास करते हैं। अब यह विशाल राज्य सब प्रकारसे सुखद और निष्कण्टक हो गया है। तुम इसे ग्रहण करो' ॥ ३२ ॥

तामुवाच स धर्मात्मा नृशंसं बत ते कृतम् ।
पतिं हत्वा कुलं चेदमुत्साद्य धनलुब्धया ॥ ३३ ॥
अयशः पातयित्वा मे मूर्ध्नि त्वं कुलपांसने ।
सकामा भव मे मातरित्युक्त्वा प्ररुरोद ह ॥ ३४ ॥

भरत बड़े धर्मात्मा थे। वे माताकी बात सुनकर उससे बोले—'कुलकलङ्किनी जननी ! तूने धनके लोभमें पड़कर यह कितनी बड़ी क्रूरताका काम किया है ? पतिकी हत्या की और इस कुलका विनाश कर डाला। मेरे मस्तकपर कलङ्कका टीका लगाकर तू अपना मनोरथ पूर्ण कर ले।' ऐसा कहकर भरत फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ३३-३४ ॥

स चारित्रं विशोध्याथ सर्वप्रकृतिसंनिधौ ।
अन्वयाद् भ्रातरं रामं विनिवर्तनलालसः ॥ ३५ ॥

उन्होंने सारी प्रजा और मन्त्रियों आदिके निकट अपनी सफाई दी तथा भाई श्रीरामको वनसे लौटा लानेकी लालसासे उन्हींके पथका अनुसरण किया ॥ ३५ ॥

कौसल्यां च सुमित्रां च कैकेयीं च सुदुःखितः ।
अग्रे प्रस्थाप्य यानैः स शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥ ३६ ॥

वे कौसल्या, सुमित्रा तथा कैकेयीको सवारियोंद्वारा आगे भेजकर स्वयं अत्यन्त दुखी हो शत्रुघ्नके साथ (पैदल ही) वनको चले ॥ ३६ ॥

वसिष्ठवामदेवाभ्यां विप्रैश्चान्यैः सहस्रशः ।
पौरजानपदैः सार्धं रामानयनकाङ्क्षया ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीको लौटा लानेकी अभिलाषासे उन्होंने वसिष्ठ, वामदेव और दूसरे सहस्रों ब्राह्मणों तथा नगर एवं जनपदके लोगोंको साथ लेकर यात्रा की ॥ ३७ ॥

ददर्श चित्रकूटस्थं स रामं सहलक्ष्मणम् ।
तापसानामलंकारं धारयन्तं धनुर्धरम् ॥ ३८ ॥

चित्रकूट पहुँचकर भरतने लक्ष्मणसहित श्रीरामको



धनुष हाथमें लिये तपस्वीजनोंकी वेष-भूषा धारण किये देखा ॥ ३८ ॥

(श्रीराम उवाच

गच्छ तात प्रजा रक्ष्याः सत्यं रक्षाम्यहं पितुः ।)
विसर्जितः स रामेण पितुर्वचनकारिणा ।
नन्दिग्रामेऽकरोद् राज्यं पुरस्कृत्यास्य पादुके ॥ ३९ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्रजीने कहा—तात भरत ! अयोध्याको लौट जाओ । तुम्हें प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये और मैं पिताके सत्यकी रक्षा कर रहा हूँ, ऐसा कहकर पिताकी आज्ञा पालन करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने (समझा-बुझाकर) उन्हें विदा कर दिया । तब वे (लौटकर) बड़े भाईकी चरणपादुकाओंको आगे रखकर नन्दिग्राममें ठहर गये और वहींसे राज्यकी देख-भाल करने लगे ॥ ३९ ॥

रामस्तु पुनराशङ्क्य पौरजानपदागमम् ।
प्रविवेश महारण्यं शरभङ्गाश्रमं प्रति ॥ ४० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने वहाँ नगर और जनपदके लोगोंके बराबर आने-जानेकी आशङ्कासे शरभङ्ग मुनिके आश्रमके पास विशाल वनमें प्रवेश किया ॥ ४० ॥

सत्कृत्य शरभङ्गं स दण्डकारण्यमाश्रितः ।
नदीं गोदावरीं रम्यामाश्रित्य न्यवसत् तदा ॥ ४१ ॥

वहाँ शरभङ्गमुनिका सत्कार करके वे दण्डकारण्यमें चले गये और वहाँ सुरम्य गोदावरी नदीके तटका आश्रय लेकर रहने लगे ॥ ४१ ॥

वसतस्तस्य रामस्य ततः शूर्पणखाकृतम् ।
खरेणासीन्महद् वैरं जनस्थाननिवासिना ॥ ४२ ॥

वहाँ रहते समय शूर्पणखाके (नाक, कान और ओंठ काटनेके) कारण श्रीरामचन्द्रजीका जनस्थाननिवासी खर नामके राक्षसके साथ महान् वैर हो गया ॥ ४२ ॥

रक्षार्थं तापसानां तु राघवो धर्मवत्सलः ।
चतुर्दश सहस्राणि जघान भुवि रक्षसाम् ॥ ४३ ॥
दूषणं च खरं चैव निहत्य सुमहाबलौ ।
चक्रे क्षेमं पुनर्धीमान् धर्मारण्यं स राघवः ॥ ४४ ॥

धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्रजीने तपस्वी मुनियोंकी रक्षाके लिये महाबली खर और दूषणको मारकर वहाँके चौदह हजार



राक्षसोंका संहार कर डाला तथा उन बुद्धिमान् रघुनाथजीने पुनः उस वनको क्षेमकारक धर्मारण्य बना दिया ॥ ४३-४४ ॥

हतेषु तेषु रक्षःसु ततः शूर्पणखा पुनः ।
ययौ निकृत्तनासोष्ठी लङ्कां भ्रातुर्निवेशनम् ॥ ४५ ॥

उन राक्षसोंके मारे जानेपर शूर्पणखा, जिसकी नाक और ओंठ काट लिये गये थे, पुनः लङ्कामें अपने भाई रावणके घर गयी ॥ ४५ ॥

ततो रावणमभ्येत्य राक्षसी दुःखमूर्च्छिता ।
पपात पादयोर्भ्रातुः संशुष्करुधिरानना ॥ ४६ ॥

रावणके पास पहुँचकर वह राक्षसी दुःखसे मूर्छित हो भाईके चरणोंमें गिर पड़ी । उसके मुखपर रक्त बहकर सूख गया था ॥ ४६ ॥

तां तथा विकृतां दृष्ट्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ।
उत्पपातासनात् क्रुद्धो दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन् ॥ ४७ ॥

बहिनका रूप इस प्रकार विकृत हुआ देखकर रावण क्रोधसे मूर्छित हो उठा और दाँतोंसे दाँत पीसता हुआ रोषपूर्वक आसनसे उठकर खड़ा हो गया ॥ ४७ ॥

स्वानमात्यान् विसृज्याथ विविक्ते तामुवाच सः ।
केनास्येवं कृता भद्रे मामचिन्त्यावमन्य च ॥ ४८ ॥

अपने मन्त्रियोंको विदा करके उसने एकान्तमें शूर्पणखासे पूछा—'भद्रे ! किसने मेरी परवा न करके मेरी सर्वथा अवहेलना करके तुम्हारी ऐसी दुर्दशा की है ? ॥ ४८ ॥

कः शूलं तीक्ष्णमासाद्य सर्वगात्रैर्निषेवते ।
कः शिरस्यग्निमाधाय विश्वस्तः स्वपते सुखम् ॥ ४९ ॥

'कौन तीखे शूलके पास जाकर उसे अपने सारे अङ्गोंमें चुभोना चाहता है ? कौन मूर्ख अपने सिरपर आग रखकर बेखटके सुखकी नींद सो रहा है ? ॥ ४९ ॥

आशीविषं घोरतरं पादेन स्पृशतीह कः ।
सिंहं केसरिणं कश्च दंष्ट्रायां स्पृश्य तिष्ठति ॥ ५० ॥

'कौन अत्यन्त भयंकर विषधर सर्पको पैरसे कुचल रहा है ? तथा कौन केसरी सिंहकी दाढ़ोंमें हाथ डालकर निश्चिन्त खड़ा है ?' ॥ ५० ॥

इत्येवं ब्रुवतस्तस्य स्रोतोभ्यस्तेजसोऽर्चिषः ।
निश्चेरुर्दह्यतो रात्रौ वृक्षस्येव स्वरन्ध्रतः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार बोलते हुए रावणके कान, नाक एवं आँख आदि छिद्रोंसे उसी प्रकार आगकी चिनगारियाँ निकलने लगीं, जिस प्रकार रातको जलते हुए वृक्षके छेदोंसे आगकी लपटें निकलती हैं ॥ ५१ ॥

तस्य तत् सर्वमाचख्यौ भगिनी रामविक्रमम् ।
खरदूषणसंयुक्तं राक्षसानां पराभवम् ॥ ५२ ॥

तब रावणकी बहिन शूर्पणखाने श्रीरामके उस पराक्रम और खर-दूषणसहित समस्त राक्षसोंके संहारका (सारा) वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ५२ ॥

स निश्चित्य ततः कृत्यं स्वसारमुपसान्त्व्य च ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे राजा विधाय नगरे विधिम् ॥ ५३ ॥

यह सुनकर रावणने अपने कर्तव्यका निश्चय किया और अपनी बहिनको सान्त्वना देकर नगर आदिकी रक्षाका प्रबन्ध करके वह आकाशमार्गसे उड़ चला ॥ ५३ ॥

त्रिकूटं समतिक्रम्य कालपर्वतमेव च ।
ददर्श मकरावासं गम्भीरोदं महोदधिम् ॥ ५४ ॥

त्रिकूट और कालपर्वतको लाँघकर उसने मगरोंके निवास-स्थान गहरे महासागरको देखा ॥ ५४ ॥

तमतीत्याथ गोकर्णमभ्यगच्छद् दशाननः ।
दयितं स्थानमव्यग्रं शूलपाणेर्महात्मनः ॥ ५५ ॥

उसे ऊपर-ही-ऊपर लाँघकर दशमुख रावण गोकर्णतीर्थमें गया, जो परमात्मा शूलपाणि शिवका प्रिय एवं अविचल स्थान है ॥ ५५ ॥

तत्राभ्यगच्छन्मारीचं पूर्वामात्यं दशाननः ।
पुरा रामभयादेव तापस्यं समुपाश्रितम् ॥ ५६ ॥

वहाँ रावण अपने भूतपूर्व मन्त्री मारीचसे मिला, जो श्रीरामचन्द्रजीके भयसे ही पहलेसे उस स्थानमें आकर तपस्या करता था ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामवनाभिगमने सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें श्रीरामवनगमनविषयक दो सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५६½ श्लोक हैं)

अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मृगरूपधारी मारीचका वध तथा सीताका अपहरण

मार्कण्डेय उवाच

मारीचस्त्वथ सम्भ्रान्तो दृष्ट्वा रावणमागतम् ।
पूजयामास सत्कारैः फलमूलादिभिस्ततः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! रावणको आया देख मारीच सहसा उठकर खड़ा हो गया और उसने फल-मूल आदि अतिथिसत्कारकी सामग्रियोंद्वारा उसका विधिवत् पूजन किया ॥ १ ॥

विश्रान्तं चैनमासीनमन्वासीनः स राक्षसः ।
उवाच प्रश्रितं वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥ २ ॥

जब रावण बैठकर विश्राम कर चुका, तब उसके पास बैठकर

बातचीत करनेमें कुशल राक्षस मारीचने वाक्यका मर्म समझनेमें निपुण रावणसे विनयपूर्वक कहा—॥ २ ॥

न ते प्रकृतिमान् वर्णः कच्चित् क्षेमं पुरे तव ।
कच्चित् प्रकृतयः सर्वा भजन्ते त्वां यथा पुरा ॥ ३ ॥

'लंकेश्वर ! तुम्हारे शरीरका रंग ठीक हालतमें नहीं है। तुम उदास दिखायी देते हो। तुम्हारे नगरमें कुशल तो है न ? समस्त प्रजा और मन्त्री आदि पहलेकी भाँति तुम्हारी सेवा करते हैं न ? ॥ ३ ॥

किमिहागमने चापि कार्यं ते राक्षसेश्वर ।
कृतमित्येव तद् विद्धि यद्यपि स्यात् सुदुष्करम् ॥ ४ ॥

'राक्षसराज ! कौन-सा ऐसा कार्य आ गया है, जिसके लिये तुम्हें यहाँतक आना पड़ा ? यदि वह मेरेद्वारा साध्य है, तो कितना ही कठिन क्यों न हो, उसे किया हुआ ही समझो' ॥ ४ ॥

शशंस रावणस्तस्मै तत् सर्वं रामचेष्टितम् ।
समासेनैव कार्याणि क्रोधामर्षसमन्वितः ॥ ५ ॥

रावण क्रोध और अमर्षमें भरा हुआ था । उसने एक-एक करके रामद्वारा किये हुए सब कार्य संक्षेपसे कह सुनाये ॥ ५ ॥

मारीचस्त्वब्रवीच्छ्रुत्वा समासेनैव रावणम् ।
अलं ते राममासाद्य वीर्यज्ञो ह्यस्मि तस्य वै ॥ ६ ॥

मारीचने सारी बातें सुनकर थोड़ेमें ही रावणको समझाते हुए कहा—'दशानन ! तुम श्रीरामसे भिड़नेका साहस न करो । मैं उनके पराक्रमको जानता हूँ ॥ ६ ॥

बाणवेगं हि कस्तस्य शक्तः सोढुं महात्मनः ।
प्रव्रज्यायां हि मे हेतुः स एव पुरुषर्षभः ॥ ७ ॥
विनाशमुखमेतत् ते केनाख्यातं दुरात्मना ।

'भला ! इस जगत्में कौन ऐसा वीर है, जो परमात्मा श्रीरामके बाणोंका वेग सह सके ? मैं जो यहाँ संन्यासी बना बैठा हूँ, इसमें भी वे पुरुषरत्न श्रीराम ही कारण हैं। श्रीरामसे वैर मोल लेना विनाशके मुखमें जाना है, किस दुरात्माने तुम्हें ऐसी सलाह दी है ?' ॥ ७½ ॥



तमुवाचाथ सक्रोधो रावणः परिभर्त्सयन् ॥ ८ ॥
अकुर्वतोऽस्मद्वचनं स्यान्मृत्युरपि ते ध्रुवम् ।

मारीचकी बात सुनकर रावण और भी कुपित हो उठा और उसे डाँटते हुए बोला—'मारीच ! यदि तू मेरी बात नहीं मानेगा, तो भी तेरी मृत्यु निश्चित ही है ॥ ८½ ॥

मारीचश्चिन्तयामास विशिष्टान्मरणं वरम् ॥ ९ ॥
अवश्यं मरणे प्राप्ते करिष्याम्यस्य यन्मतम् ।

मारीचने सोचा, 'यदि मृत्यु निश्चित ही है, तो श्रेष्ठ पुरुषके हाथसे ही मरना अच्छा होगा; अतः रावणका जो अभीष्ट कार्य है, उसे अवश्य करूँगा' ॥ ९½ ॥

ततस्तं प्रत्युवाचाथ मारीचो रक्षसां वरम् ॥ १० ॥
किं ते साह्यं मया कार्यं करिष्याम्यवशोऽपि तत् ।

तदनन्तर उसने राक्षसराज रावणसे कहा—'अच्छा; बताओ, मुझे तुम्हारी क्या सहायता करनी होगी ? इच्छा न होनेपर भी मैं विवश होकर उसे करूँगा' ॥ १०½ ॥

तमब्रवीद् दशग्रीवो गच्छ सीतां प्रलोभय ॥ ११ ॥
रत्नशृङ्गो मृगो भूत्वा रत्नचित्रतनूरुहः ।
ध्रुवं सीता समालक्ष्य त्वां रामं चोदयिष्यति ॥ १२ ॥

तब दशाननने उससे कहा—'तुम एक ऐसे मनोहर मृगका रूप धारण करो, जिसके सींग रत्नमय प्रतीत हों और शरीरके रोएँ भी रत्नोंके ही समान चित्र-विचित्र दिखायी दें । फिर रामके आश्रमपर जाओ और सीताको लुभाओ । सीता तुम्हें देख लेनेपर निश्चय ही रामसे यह अनुरोध करेगी कि 'आप इस मृगको पकड़ लाइये' ॥ ११-१२ ॥

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे सीता वश्या भविष्यति ।
तामादायापनेष्यामि ततः स न भविष्यति ॥ १३ ॥
भार्यावियोगाद् दुर्बुद्धिरेतत् साह्यं कुरुष्व मे ।

'तुम्हारे पीछे रामके अपने आश्रमसे दूर निकल जानेपर सीताको वशमें लाना सहज हो जायगा । मैं उसे आश्रमसे हरकर ले जाऊँगा और दुर्बुद्धि राम अपनी प्यारी पत्नीके वियोगसे व्याकुल होकर प्राण दे देगा । बस, मेरी इतनी ही सहायता कर दो' ॥ १३½ ॥

इत्येवमुक्तो मारीचः कृत्वोदकमथात्मनः ॥ १४ ॥
रावणं पुरतो यान्तमन्वगच्छत् सुदुःखितः ।

रावणके ऐसा कहनेपर मारीच स्वयं ही अपना श्राद्ध-तर्पण करके अत्यन्त दुखी होकर आगे जाते हुए रावणके पीछे-पीछे चला ॥ १४½ ॥

ततस्तस्याश्रमं गत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ १५ ॥
चक्रतुस्तद् तथा सर्वमुभौ यत् पूर्वमन्त्रितम् ।

तदनन्तर अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके आश्रमके समीप जाकर उन दोनोंने पहले जैसी सलाह कर रक्खी थी, उसके अनुसार सब कार्य किया ॥ १५½ ॥

रावणस्तु यतिर्भूत्वा मुण्डः कुण्डी त्रिदण्डधृक्॥ १६ ॥
मृगश्च भूत्वा मारीचस्तं देशमुपजग्मतुः ।
दर्शयामास मारीचो वैदेहीं मृगरूपधृक ॥ १७ ॥

रावण मूँड़ मुड़ाये, भिक्षापात्र हाथमें लिये एवं त्रिदण्डधारी संन्यासीका रूप धारण करके और मारीच मृग बनकर—दोनों उस स्थानपर गये । मारीचने विदेहनन्दिनी सीताके समक्ष अपना मृगरूप प्रकट किया ॥ १६-१७ ॥

चोदयामास तस्यार्थे सा रामं विधिचोदिता ।
रामस्तस्याः प्रियं कुर्वन् धनुरादाय सत्वरः ॥ १८ ॥
रक्षार्थे लक्ष्मणं न्यस्य प्रययौ मृगलिप्सया ।

विधिके विधानसे प्रेरित होकर सीताने उस मृगको लानेके लिये श्रीरामचन्द्रजीको भेजा । श्रीरामचन्द्रजी सीताका प्रिय करनेके लिये धनुष हाथमें ले लक्ष्मणको सीताकी रक्षाका भार सौंपकर मृगको लानेकी इच्छासे तुरंत चल दिये ॥ १८½ ॥



स धन्वी बद्धतूणीरः खड्गगोधाङ्गुलित्रवान् ॥ १९ ॥
अन्वधावन्मृगं रामो रुद्रस्तारामृगं यथा ।

वे धनुष-बाण ले, पीठपर तरकस बाँधकर, कटिमें कृपाण लटकाये तथा हाथोंमें दस्ताने पहने उस मृगके पीछे उसी प्रकार दौड़े, जैसे मृगशिरा नक्षत्रके पीछे भगवान् रुद्र दौड़े थे ॥ १९½ ॥

सोऽन्तर्हितः पुनस्तस्य दर्शनं राक्षसो व्रजन् ॥ २० ॥
चकर्ष महदध्वानं रामस्तं बुबुधे ततः ।
निशाचरं विदित्वा तं राघवः प्रतिभानवान् ॥ २१ ॥
अमोघं शरमादाय जघान मृगरूपिणम् ।

मायावी राक्षस मारीच कभी छिप जाता और कभी नेत्रोंके समक्ष प्रकट हो जाता था । इस प्रकार वह श्रीरामचन्द्रजीको आश्रमसे बहुत दूर खींच ले गया । तब श्रीरामचन्द्रजी यह ताड़ गये कि यह कोई मायावी राक्षस है । यह बात ध्यानमें आते ही प्रतिभाशाली श्रीरघुनाथजीने एक अमोघ बाण लेकर उस मृगरूपधारी निशाचरको मार डाला ॥

स रामबाणाभिहतः कृत्वा रामस्वरं तदा ॥ २२ ॥
हा सीते लक्ष्मणेत्येवं चुक्रोशार्तस्वरेण ह ।

श्रीरामचन्द्रजीके बाणसे आहत हो मरते समय मारीचने उनके ही स्वरमें 'हा सीते, हा लक्ष्मण' कहकर आर्तनाद किया ॥ २२½ ॥

शुश्राव तस्य वैदेही ततस्तां करुणां गिरम् ॥ २३ ॥
सा प्राद्रवद् यतः शब्दस्तामुवाचाथ लक्ष्मणः ।
अलं ते शङ्कया भीरु को रामं प्रहरिष्यति ॥ २४ ॥
मुहूर्ताद् द्रक्ष्यसे रामं भर्तारं त्वं शुचिस्मिते ।

विदेहनन्दिनी सीताने भी उसकी वह करुणाभरी पुकार सुनी । उसकी पुकार सुनते ही जिस ओरसे वह आवाज आयी थी, उसी ओर वे दौड़ पड़ीं । तब लक्ष्मणने उनसे कहा—'भीरु ! डरनेकी कोई बात नहीं है । भला, कौन ऐसा है, जो भगवान् रामको मार सकेगा ? शुचिस्मिते ! तुम दो ही घड़ीमें अपने पति भगवान् श्रीरामको यहाँ उपस्थित देखोगी ॥ २३-२४½ ॥

इत्युक्ता सा प्ररुदती पर्यशङ्कत लक्ष्मणम् ॥ २५ ॥
हता वै स्त्रीस्वभावेन शुक्लचारित्रभूषणा ।
सा तं परुषमारब्धा वक्तुं साध्वी पतिव्रता ॥ २६ ॥

लक्ष्मणकी यह बात सुनकर रोती हुई सीताने उन्हें संदेहकी दृष्टिसे देखा । यद्यपि शुद्ध सदाचार ही उनका आभूषण था । वे साध्वी और पतिव्रता थीं; तथापि स्त्री-स्वभाववश उस समय उनकी बुद्धि मारी गयी । उन्होंने लक्ष्मणको कठोर बातें सुनानी आरम्भ कीं—॥ २५-२६ ॥

नैष कामो भवेन्मूढ यं त्वं प्रार्थयसे हृदा ।
अप्यहं शस्त्रमादाय हन्यामात्मानमात्मना ॥ २७ ॥
पतेयं गिरिशृङ्गाद् वा विशेयं वा हुताशनम् ।
रामं भर्तारमुत्सृज्य न त्वहं त्वां कथंचन ॥ २८ ॥
निहीनमुपतिष्ठेयं शार्दूली क्रोष्टुकं यथा ।

'ओ मूढ़ ! तुम मन-ही-मन जिस वस्तुको पाना चाहते हो, तुम्हारा वह मनोरथ कभी पूर्ण न होगा । मैं स्वयं तलवार लेकर अपना गला काट लूँगी, पर्वतके शिखरसे कूद पड़ूँगी अथवा जलती हुई आगमें समा जाऊँगी; परंतु राम-जैसे स्वामीको छोड़कर तुम-जैसे नीच पुरुषका कदापि

वरण न करूँगी। जैसे सिंहिनी सियारको नहीं स्वीकार कर सकती, उसी प्रकार मैं तुम्हें नहीं ग्रहण करूँगी'॥

एतादृशं वचः श्रुत्वा लक्ष्मणः प्रियराघवः॥ २९॥
पिधाय कर्णौ सद्वृत्तः प्रस्थितो येन राघवः।
स रामस्य पदं गृह्य प्रससार धनुर्धरः॥ ३०॥
अवीक्षमाणो बिम्बोष्ठीं प्रययौ लक्ष्मणस्तदा।

लक्ष्मण सदाचारी तथा श्रीरामचन्द्रजीके प्रेमी थे। उन्होंने सीताके ये कठोर वचन सुनकर अपने दोनों कान बंद कर लिये और उसी मार्गसे चल दिये, जिससे श्रीरामचन्द्रजी गये थे। उस समय लक्ष्मणके हाथमें धनुष था। उन्होंने बिम्बफलके समान अरुण अधरोंवाली सीताकी ओर आँख उठाकर देखातक नहीं। श्रीरामके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए उन्होंने वहाँसे प्रस्थान कर दिया॥२९–३०½॥

एतस्मिन्नन्तरे रक्षो रावणः प्रत्यदृश्यत॥ ३१॥
अभव्यो भव्यरूपेण भस्मच्छन्न इवानलः।
यतिवेषप्रतिच्छन्नो जिहीर्षुस्तामनिन्दिताम्॥ ३२॥

इसी समय अवसर पाकर राक्षस रावण साध्वी सीताको हर ले जानेकी इच्छासे वहाँ दिखायी दिया। वह भयानक निशाचर सुन्दर रूप धारण करके राखमें छिपी हुई आगके समान संन्यासीके वेषमें अपने यथार्थ रूपको छिपाये हुए था॥

सा तमालक्ष्य सम्प्राप्तं धर्मज्ञा जनकात्मजा।
निमन्त्रयामास तदा फलमूलाशनादिभिः॥ ३३॥

उस समय यतिको अपने आश्रमपर आया हुआ देख धर्मको जाननेवाली जनकनन्दिनी सीता फल-मूलके भोजन आदिसे अतिथिसत्कारके लिये उसे निमन्त्रित किया॥ ३३॥

अवमन्य ततः सर्वं स्वरूपं प्रत्यपद्यत।
सान्त्वयामास वैदेहीमिति राक्षसपुङ्गवः॥ ३४॥

राक्षसराज रावण सीताकी दी हुई उन सभी वस्तुओंकी अवहेलना करके अपने असली रूपमें प्रकट हो गया और विदेहराजकुमारीको इस प्रकार सान्त्वना देने लगा—॥

सीते राक्षसराजोऽहं रावणो नाम विश्रुतः।
मम लङ्का पुरी नाम्ना रम्या पारे महोदधेः॥ ३५॥

'सीते! मैं राक्षसोंका राजा हूँ। मेरा 'रावण' नाम सर्वत्र विख्यात है। समुद्रके पार बसी हुई रमणीय लङ्कापुरी मेरी राजधानी है॥ ३५॥

तत्र त्वं नरनारीषु शोभिष्यसि मया सह।
भार्या मे भव सुश्रोणि तापसं त्यज राघवम्॥ ३६॥

'वहाँ नर-नारियोंके बीच मेरे साथ रहकर तुम बड़ी शोभा पाओगी। अतः सुन्दरी! तुम मेरी पत्नी हो जाओ और इस तपस्वी रामको छोड़ दो'॥ ३६॥

एवमादीनि वाक्यानि श्रुत्वा तस्याथ जानकी।
पिधाय कर्णौ सुश्रोणी मैवमित्यब्रवीद् वचः॥ ३७॥

प्रपतेद् द्यौः सनक्षत्रा पृथिवी शकलीभवेत्।
शैत्यमग्निरियान्नाहं त्यजेयं रघुनन्दनम्॥ ३८॥

रावणके ऐसे वचन सुनकर सुन्दरी जनककिशोरीने अपने दोनों कान बंद कर लिये और उससे इस प्रकार कहा—'बस, अब ऐसी बातें मुँहसे न निकाल। नक्षत्रोंसहित आकाश फट पड़े, पृथ्वी टूक-टूक हो जाय और अग्नि अपनी उष्णताका त्याग करके शीतल हो जाय, परंतु मैं रघुकुल-नन्दन श्रीरामचन्द्रजीको नहीं छोड़ सकती॥ ३७-३८॥

कथं हि भिन्नकरटं पद्मिनं वनगोचरम्।
उपस्थाय महानागं करेणुः सूकरं स्पृशेत्॥ ३९॥

'गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले पद्ममालामण्डित वनवासी गजराजकी सेवामें उपस्थित होकर कोई हथिनी किसी शूकरको कैसे छू सकती है?॥ ३९॥

कथं हि पीत्वा माध्वीकं पीत्वा च मधुमाधवीम्।
लोभं सौवीरके कुर्यान्नारी काचिदिति स्मरेत्॥ ४०॥

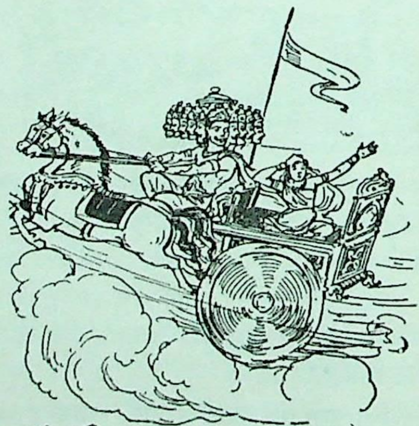
'जो फूलोंके रससे बने हुए मधुर पेय तथा मधुमक्षिकाओंद्वारा तैयार किया हुआ मधु पी चुकी हो, ऐसी कोई भी नारी काँजीके रसका लोभ कैसे कर सकती है?'॥ ४०॥

इति सा तं समाभाष्य प्रविवेशाश्रमं ततः।
क्रोधात् प्रस्फुरमाणोष्ठी विधुन्वाना करौ मुहुः॥ ४१॥

रावणसे इस प्रकार कहकर सीता अपने आश्रममें प्रवेश करने लगीं। उस समय क्रोधके मारे उनके ओंठ फड़क रहे थे और वे अपने दोनों हाथोंको बार-बार हिला रही थीं॥

तामभिद्रुत्य सुश्रोणीं रावणः प्रत्यषेधयत्।
भर्त्सयित्वा तु रूक्षेण स्वरेण गतचेतनाम्॥ ४२॥

इसी समय रावणने दौड़कर उनका मार्ग रोक लिया और कठोर स्वरसे उन्हें डराना, धमकाना आरम्भ किया। इससे वे भयके मारे मूर्छित हो गयीं॥ ४२॥



मूर्धजेषु निजग्राह ऊर्ध्वमाचक्रमे ततः ।
तां ददर्श ततो गृध्रो जटायुर्गिरिगोचरः ।
रुदतीं राम रामेति ह्रियमाणां तपस्विनीम् ॥ ४३ ॥

तब रावणने उनके केश पकड़ लिये और आकाश-मार्गसे लङ्काकी ओर प्रस्थान किया । उस समय वे तपस्विनी सीता 'हा राम-हा रामकी' रट लगाती हुई रो रही थीं और वह राक्षस उन्हें हरकर लिये जा रहा था । इसी अवस्थामें एक पर्वतकी गुफामें रहनेवाले गृध्रराज जटायुने उन्हें देखा ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि मारीचवधे सीताहरणे च अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें मारीचवध तथा सीताहरणविषयक दो सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७८ ॥

एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

रावणद्वारा जटायुका वध, श्रीरामद्वारा उसका अन्त्येष्टि-संस्कार, कबन्धका वध तथा उसके दिव्य स्वरूपसे वार्तालाप

मार्कण्डेय उवाच

**सखा दशरथस्यासीज्जटायुररुणात्मजः ।
गृध्रराजो महावीरः सम्पातिर्यस्य सोदरः ॥ १ ॥**

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! महावीर गृध्रराज जटायु (सूर्यके सारथि) अरुणके पुत्र थे । उनके बड़े भाईका नाम सम्पाति था । राजा दशरथके साथ उनकी बड़ी मित्रता थी ॥ १ ॥

**स ददर्श तदा सीतां रावणाङ्कगतां स्नुषाम् ।
सक्रोधोऽभ्यद्रवत् पक्षी रावणं राक्षसेश्वरम् ॥ २ ॥**

इसी नाते सीताको वे अपनी पुत्रवधू मानते थे । जब जटायुने उन्हें रावणकी गोदमें पराधीन होकर पड़ी हुई देखा, तब उनके क्रोधकी सीमा न रही । वे राक्षसराज रावणपर टूट पड़े ॥ २ ॥

**अथैनमब्रवीद् गृध्रो मुञ्च मुञ्चेति मैथिलीम् ।
ध्रियमाणे मयि कथं हरिष्यसि निशाचर ॥ ३ ॥**

इस प्रकार और वे बोले—'निशाचर ! मिथिलेशकुमारीको छोड़ दे, छोड़ दे । मेरे जीते-जी तू इन्हें कैसे हर ले जायगा ?॥ ३ ॥

**न हि मे मोक्ष्यसे जीवन् यदि नोत्सृजसे वधूम् ।
उक्त्वैवं राक्षसेन्द्रं तं चकर्त नखरैर्भृशम् ॥ ४ ॥**

'यदि मेरी पुत्रवधू सीताको तू नहीं छोड़ेगा, तो मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकेगा ।' ऐसा कहकर जटायुने अपने नखोंसे राक्षसराज रावणको बहुत घायल कर दिया ॥ ४ ॥

**पक्षतुण्डप्रहारैश्च शतशो जर्जरीकृतम् ।
चक्षार रुधिरं भूरि गिरिः प्रस्रवणैरिव ॥ ५ ॥**

उन्होंने पंखों और चोंचसे मार-मारकर उसके सैकड़ों घाव कर दिये । रावणका सारा शरीर जर्जर हो गया तथा देहसे रक्तकी धाराएँ बह चलीं, मानो पर्वत अनेक झरनोंसे आर्द्र हो रहा हो ॥ ५ ॥

**स वध्यमानो गृध्रेण रामप्रियहितैषिणा ।
खड्गमादाय चिच्छेद भुजौ तस्य पतत्रिणः ॥ ६ ॥**

श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय एवं हित चाहनेवाले जटायुको इस प्रकार चोट करते देख रावणने तलवार लेकर उन पक्षिराजके दोनों पंख काट डाले ॥ ६ ॥



**निहत्य गृध्रराजं स भिन्नाभ्रशिखरोपमम् ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे सीतां गृहीत्वाङ्केन राक्षसः ॥ ७ ॥**

बादलोंको भेदनेवाले पर्वत-शिखरके समान गृध्रराज जटायुको घायल करके रावण पुनः सीताको गोदमें लिये हुए आकाशमार्गसे चल दिया ॥ ७ ॥

**यत्र यत्र तु वैदेही पश्यत्याश्रममण्डलम् ।
सरो वा सरितो वापि तत्र मुञ्चति भूषणम् ॥ ८ ॥**

विदेहकुमारी सीता जहाँ-जहाँ कोई आश्रम, सरोवर या

नदी देखतीं, वहाँ-वहाँ अपना कोई-न-कोई आभूषण गिरा देती थीं ॥ ८ ॥

सा ददर्श गिरिप्रस्थे पञ्च वानरपुङ्गवान् ।
तत्र वासो महद्दिव्यमुत्ससर्ज मनस्विनी ॥ ९ ॥

आगे जानेपर उन्होंने एक पर्वतके शिखरपर बैठे हुए पाँच श्रेष्ठ वानरोंको देखा । वहाँ उन बुद्धिमती देवीने अपना एक अत्यन्त दिव्य वस्त्र गिरा दिया ॥ ९ ॥

तत् तेषां वानरेन्द्राणां पपात पवनोद्धुतम् ।
मध्ये सुपीतं पञ्चानां विद्युन्मेघान्तरे यथा ॥ १० ॥

वह सुन्दर पीले रंगका वस्त्र आकाशमें उड़ता हुआ उन पाँचों वानरोंके मध्यभागमें जा गिरा, मानो मेघोंके बीचमें विद्युत् प्रकट हो गयी हो ॥ १० ॥

अचिरेणातिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ।
ददर्शाथ पुरीं रम्यां बहुद्वारां मनोरमाम् ॥ ११ ॥

आकाशचारी पक्षीकी भाँति आकाशगामी रावण थोड़े ही समयमें अपना मार्ग तय करके लङ्काके निकट जा पहुँचा । उसने दूरसे ही अपनी रमणीय एवं मनोहर पुरीको देखा, जो अनेक दरवाजोंसे सुशोभित हो रही थी ॥ ११ ॥

प्राकारवप्रसम्बाधां निर्मितां विश्वकर्मणा ।
प्रविवेश पुरीं लङ्कां ससीतो राक्षसेश्वरः ॥ १२ ॥

साक्षात् विश्वकर्माने उस पुरीका निर्माण किया था । वह सब ओरसे चहारदीवारी तथा खाइयोंद्वारा घिरी हुई थी । राक्षसराज रावणने सीताके साथ उसी लङ्कापुरीमें प्रवेश किया ॥ १२ ॥

एवं हृतायां वैदेह्यां रामो हत्वा महामृगम् ।
निवृत्तो ददृशे धीमान् भ्रातरं लक्ष्मणं तथा ॥ १३ ॥

इस प्रकार सीताका अपहरण हो जानेपर बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजी उस महामृगरूप मारीचको मारकर लौटे; उस समय मार्गमें उन्हें लक्ष्मण दिखायी दिये ॥ १३ ॥

कथमुत्सृज्य वैदेहीं वने राक्षससेविते ।
इति तं भ्रातरं दृष्ट्वा प्राप्तोऽसीति व्यगर्हयत् ॥ १४ ॥

भाईको देखकर श्रीरामने उन्हें कोसते हुए कहा—'लक्ष्मण ! राक्षसोंसे भरे हुए इस घोर जंगलमें जानकीको अकेली छोड़कर तुम यहाँ कैसे चले आये ?' ॥ १४ ॥

मृगरूपधरेणाथ रक्षसा सोऽपकर्षणम् ।
भ्रातुरागमनं चैव चिन्तयन् पर्यतप्यत ॥ १५ ॥

'मृगरूपधारी राक्षस मुझे आश्रमसे दूर खींच लाया और भाई भी आश्रमको अरक्षित छोड़कर मेरे पास आ गया', [illegible] हो उठे ॥ १५ ॥

गर्हयन्नेव रामस्तु त्वरितस्तं समासदत् ।
अपि जीवति वैदेही नेति पश्यामि लक्ष्मण ॥ १६ ॥

उपर्युक्तरूपसे लक्ष्मणकी निन्दा करते हुए श्रीरामचन्द्रजी तुरंत उनके पास आ गये और कहने लगे—'लक्ष्मण ! मैं देखता हूँ, सीता जीवित भी है या नहीं ॥ १६ ॥

तस्य तत् सर्वमाचख्यौ सीताया लक्ष्मणो वचः ।
यदुक्तवत्यसदृशं वैदेही पश्चिमं वचः ॥ १७ ॥

तब लक्ष्मणने सीताकी वे सारी अनुचित एवं आक्षेपपूर्ण बातें, जिन्हें उन्होंने अन्तमें कहा था, कह सुनायीं ॥ १७ ॥

दह्यमानेन तु हृदा रामोऽभ्यपतदाश्रमम् ।
स ददर्श तदा गृध्रं निहतं पर्वतोपमम् ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका हृदय शोकाग्निसे दग्ध हो रहा था । वे शीघ्रतापूर्वक आश्रमकी ओर बढ़े । मार्गमें उन्हें पर्वताकार गृध्रराज जटायु दिखायी दिये, जो रावणके हाथसे घायल हुए पड़े थे ॥ १८ ॥

राक्षसं शङ्कमानस्तं विकृष्य बलवद् धनुः ।
अभ्यधावत काकुत्स्थस्ततस्तं सहलक्ष्मणः ॥ १९ ॥

लक्ष्मणसहित श्रीरामने उन्हें राक्षस समझकर अपने प्रबल धनुषको खींचा और उनपर धावा कर दिया ॥ १९ ॥

स तावुवाच तेजस्वी सहितौ रामलक्ष्मणौ ।
गृध्रराजोऽस्मि भद्रं वां सखा दशरथस्य वै ॥ २० ॥

तब तेजस्वी जटायुने साथ आये हुए श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंसे कहा—'आप दोनोंका भला हो । मैं राजा दशरथका मित्र गृध्रराज जटायु हूँ' ॥ २० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा संगृह्य धनुषी शुभे ।
कोऽयं पितरमस्माकं नाम्नाऽऽहेत्यूचतुश्च तौ ॥ २१ ॥

उनकी ये बातें सुनकर उन्होंने अपने सुन्दर धनुष उतारकर हाथमें ले लिये और परस्पर पूछने लगे कि 'यह कौन है, जो हमारे पिताका नाम लेकर परिचय दे रहा है' ॥ २१ ॥

ततो ददृशतुस्तौ तं छिन्नपक्षद्वयं खगम् ।
तयोः शशंस गृध्रस्तु सीतार्थे रावणाद् वधम् ॥ २२ ॥

तदनन्तर उन्होंने पास आकर देखा—जटायुके दोनों पंख कटे हुए हैं । गृध्रने बताया कि 'सीताको छुड़ानेके लिये युद्ध करते समय मैं रावणके हाथसे अत्यन्त घायल कर दिया गया हूँ' ॥ २२ ॥

अपृच्छद् राघवो गृध्रं रावणः कां दिशं गतः ।
[illegible] शिरःकम्पेनाचचक्षे ममार च ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने जटायुसे पूछा—'रावण किस दिशाकी



ओर गया है ?' गृध्रने सिर हिलाकर संकेतसे दक्षिण दिशा बतायी और अपने प्राण त्याग दिये ॥ २३ ॥

दक्षिणामिति काकुत्स्थो विदित्वास्य तदिङ्गितम्।
संस्कारं लम्भयामास सखायं पूजयन् पितुः ॥ २४ ॥

उनके संकेतके अनुसार दक्षिण दिशा समझ लेनेके पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने पिताके मित्र होनेके नाते जटायुको आदर देते हुए उनका विधिपूर्वक अन्त्येष्टि-संस्कार किया ॥ २४ ॥

ततो दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं व्यपविद्धबृसीमठम्।
विध्वस्तकलशं शून्यं गोमायुशतसंकुलम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर आश्रमपर पहुँचकर उन्होंने देखा, कुशकी चटाई बाहर फेंकी हुई है, कुटी उजाड़ हो गयी है, घर सूना पड़ा है, कलश फूटे पड़े हैं और सारे आश्रममें सैकड़ों गीदड़ भरे हुए हैं ॥ २५ ॥

दुःखशोकसमाविष्टौ वैदेहीहरणार्दितौ ।
जग्मतुर्दण्डकारण्यं दक्षिणेन परंतपौ ॥ २६ ॥

सीताका अपहरण हो जानेसे दोनों भाइयोंको बड़ी वेदना हुई । वे दुःख और शोकमें डूब गये । फिर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीराम और लक्ष्मण दण्डकारण्यसे दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ॥ २६ ॥

वने महति तस्मिंस्तु रामः सौमित्रिणा सह ।
ददर्श मृगयूथानि द्रवमाणानि सर्वशः ॥ २७ ॥

उस विशाल वनमें लक्ष्मणसहित श्रीरामने देखा कि मृगोंके झुंड सब ओर भाग रहे हैं ॥ २७ ॥

शब्दं च घोरं सत्त्वानां दावाग्नेरिव वर्धतः ।
अपश्येतां मुहूर्ताच्च कबन्धं घोरदर्शनम् ॥ २८ ॥

घन-जन्तुओंका भयंकर शब्द ऐसा जान पड़ता था, मानो वहाँ सब ओर दावानल फैल रहा हो और उससे भयभीत हुए प्राणी आर्तनाद कर रहे हों । दो ही घड़ीमें उन दोनों भाइयोंने देखा, सामने एक 'कबन्ध' (धड़) प्रकट हुआ है, जो देखनेमें अत्यन्त भयंकर है ॥ २८ ॥

मेघपर्वतसंकाशं शालस्कन्धं महाभुजम् ।
उरोगतविशालाक्षं महोदरमहामुखम् ॥ २९ ॥

वह मेघके समान काला और पर्वतके समान विशालकाय था । साखूकी शाखाके समान उसके कंधे और बड़ी-बड़ी भुजाएँ थीं । उसकी चौड़ी छातीमें दो बड़ी-बड़ी आँखें चमक रही थीं और लंबे-से पेटमें बहुत बड़ा मुख दिखायी दे रहा था ॥ २९ ॥

यदृच्छयाथ तद् रक्षः करे जग्राह लक्ष्मणम् ।
विषादमगमत् सद्यः सौमित्रिरथ भारत ॥ ३० ॥

वह एक राक्षस था । उसने सहसा आकर लक्ष्मणका एक हाथ पकड़ लिया । भारत ! यह देख सुमित्रानन्दन लक्ष्मण तत्काल बहुत दुखी हो गये ॥ ३० ॥

स राममभिसम्प्रेक्ष्य कृष्यते येन तन्मुखम् ।
विषण्णश्चाब्रवीद् रामं पश्यावस्थामिमां मम ॥ ३१ ॥

जिस ओर उस राक्षसका मुख था, उसी ओर वे खिंचे चले जा रहे थे । तब श्रीरामकी ओर देखकर वे अत्यन्त विषादग्रस्त होकर बोले—'भैया ! देखिये, मेरी यह क्या अवस्था हो रही है ! ॥ ३१ ॥

हरणं चैव वैदेह्या मम चायमुपप्लवः ।
राज्यभ्रंशश्च भवतस्तातस्य मरणं तथा ॥ ३२ ॥

'विदेहकुमारीका अपहरण, मेरा इस प्रकार असमयमें विपत्तिग्रस्त होना, आपका राज्यसे निर्वासन तथा पिताजीकी मृत्यु—(इस प्रकार संकटपर संकट आता जा रहा है) ॥ ३२ ॥

नाहं त्वां सह वैदेह्या समेतं कोसलागतम् ।
द्रक्ष्यामि पृथिवीराज्ये पितृपैतामहे स्थितम् ॥ ३३ ॥

'जान पड़ता है, जब आप सीताके साथ अयोध्यामें लौटकर पिता-पितामहोंकी परम्परासे प्राप्त हुए इस भूमण्डलके राज्यपर प्रतिष्ठित होंगे, उस समय मैं आपका दर्शन न कर सकूँगा ॥ ३३ ॥

द्रक्ष्यन्त्यार्यस्य धन्या ये कुशलाजशमीदलैः ।
अभिषिक्तस्य वदनं सोमं शान्तघनं यथा ॥ ३४ ॥

'जो लोग कुश, लाजा और शमीपत्र आदिके द्वारा

राज्यपर अभिषिक्त हुए आप आर्यके मेघोंके आवरणसे रहित शरत्कालीन चन्द्रमाके समान मनोहर मुखका दर्शन करेंगे, वे धन्य हैं' ॥ ३४ ॥

एवं बहुविधं धीमान् विललाप स लक्ष्मणः ।
तमुवाचाथ काकुत्स्थः सम्भ्रमेष्वप्यसम्भ्रमः ॥ ३५ ॥

बुद्धिमान् लक्ष्मण इस प्रकार भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगे । भगवान् श्रीराम घबराहटके समय भी घबराते नहीं थे । उन्होंने लक्ष्मणसे कहा— ॥ ३५ ॥

मा विषीद नरव्याघ्र नैष कश्चिन्मयि स्थिते ।
छिन्ध्यस्य दक्षिणं बाहुं छिन्नः सव्यो मया भुजः ॥ ३६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! तुम खेद न करो । मेरे रहते यह राक्षस कोई चीज नहीं है; इससे तुम्हें कोई हानि नहीं पहुँच सकती । तुम इसकी दाहिनी बाँह काट डालो । मैं बायीं भुजा काट रहा हूँ' ॥ ३६ ॥

इत्येवं वदता तस्य भुजो रामेण पातितः ।
खड्गेन भृशतीक्ष्णेन निकृत्तस्तिलकाण्डवत् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार कहते हुए श्रीरामचन्द्रजीने अत्यन्त तीखी तलवारसे उस राक्षसकी एक बाँह तिलके पौधेकी तरह काट गिरायी ॥ ३७ ॥

ततोऽस्य दक्षिणं बाहुं खड्गेनाजघ्निवान् बली ।
सौमित्रिरपि सम्प्रेक्ष्य भ्रातरं राघवं स्थितम् ॥ ३८ ॥
पुनर्जघान पार्श्वे वै तद् रक्षो लक्ष्मणो भृशम् ।
गतासुरपतद् भूमौ कबन्धः सुमहांस्ततः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर बलवान् सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने भी अपने खड्गसे उसकी दाहिनी बाँह काट डाली और अपने भाई श्रीरामको खड़ा देखकर उन्होंने उसकी पसलीपर भी बड़े जोरसे प्रहार किया । फिर तो वह महान् राक्षस कबन्ध प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३८-३९ ॥



तस्य देहाद् विनिःसृत्य पुरुषो दिव्यदर्शनः ।
ददृशे दिवमास्थाय दिवि सूर्य इव ज्वलन् ॥ ४० ॥

उसकी देहसे एक दिव्यरूपधारी पुरुष निकलकर आकाशमें खड़ा दिखायी दिया । वह सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहा था ॥ ४० ॥

पप्रच्छ रामस्तं वाग्मी कस्त्वं प्रब्रूहि पृच्छतः ।
कामया किमिदं चित्रमाश्चर्यं प्रतिभाति मे ॥ ४१ ॥

तब कुशल वक्ता भगवान् श्रीरामने उससे पूछा—'तुम कौन हो ? अपना परिचय दो । मेरे पूछनेपर अपनी इच्छाके अनुसार बताओ, यह कैसी अद्भुत एवं आश्चर्यमयी घटना प्रतीत हो रही है ? ॥ ४१ ॥

तस्याचचक्षे गन्धर्वो विश्वावसुरहं नृप ।
प्राप्तो ब्राह्मणशापेन योनिं राक्षससेविताम् ॥ ४२ ॥
रावणेन हृता सीता राज्ञा लङ्काधिवासिना ।
सुग्रीवमभिगच्छस्व स ते साह्यं करिष्यति ॥ ४३ ॥

उसने कहा—'राजन् ! मैं विश्वावसु नामक गन्धर्व हूँ । एक ब्राह्मणके शापसे इस राक्षसयोनिमें आ गया था—लङ्कावासी राक्षसराज रावणने आपकी पत्नी सीताका अपहरण किया है । आप वानरराज सुग्रीवसे मिलिये । वे आपकी सहायता करेंगे ॥ ४२-४३ ॥

एषा पम्पा शिवजला हंसकारण्डवायुता ।
ऋष्यमूकस्य शैलस्य संनिकर्षे तटाकिनी ॥ ४४ ॥

'यह थोड़ी ही दूरपर पवित्र जलसे भरा हुआ पम्पा-सरोवर है, जिसमें हंस और कारण्डव आदि पक्षी चहक रहे हैं । वह सरोवर ऋष्यमूक पर्वतसे सटा हुआ है ॥ ४४ ॥

वसते तत्र सुग्रीवश्चतुर्भिः सचिवैः सह ।
भ्राता वानरराजस्य वालिनो हेममालिनः ॥ ४५ ॥

'वहीं अपने चार मन्त्रियोंके साथ सुवर्णमालाधारी वानरराज वालीके भाई सुग्रीव निवास करते हैं ॥ ४५ ॥

तेन त्वं सह संगम्य दुःखमूलं निवेदय ।
समानशीलो भवतः साहाय्यं स करिष्यति ॥ ४६ ॥

'उनसे मिलकर आप अपने दुःखका कारण बताइये । उनका शील-स्वभाव आपके ही समान है । वे निश्चय ही आपकी सहायता करेंगे ॥ ४६ ॥

एतावच्छक्यमस्माभिर्वक्तुं द्रष्टासि जानकीम् ।
ध्रुवं वानरराजस्य विदितो रावणालयः ॥ ४७ ॥

'मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि आपकी जनकनन्दिनी सीतासे अवश्य भेंट होगी। वानरराज सुग्रीवको रावणके घरका पता निश्चय ही ज्ञात है ॥ ४७ ॥

इत्युक्त्वान्तर्हितो दिव्यः पुरुषः स महाप्रभः।
विस्मयं जग्मतुश्चोभौ प्रवीरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४८ ॥

ऐसा कहकर वह महातेजस्वी दिव्य पुरुष वहीं अन्तर्हित हो गया। वीरवर श्रीराम और लक्ष्मण दोनोंको उसके दर्शन और वार्तालापसे बड़ा विस्मय हुआ ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कबन्धहनने एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें कबन्धवधविषयक दो सौ उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७९ ॥

अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राम और सुग्रीवकी मित्रता, वाली और सुग्रीवका युद्ध, श्रीरामके द्वारा वालीका वध तथा लङ्काकी अशोकवाटिकामें राक्षसियोंद्वारा डराथी हुई सीताको त्रिजटाका आश्वासन

मार्कण्डेय उवाच

ततोऽविदूरे नलिनीं प्रभूतकमलोत्पलाम्।
सीताहरणदुःखार्तः पम्पां रामः समासदत् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर सीताहरणके दुःखसे पीड़ित हो श्रीरामचन्द्रजी पम्पासरोवरपर गये, जो वहाँसे थोड़ी ही दूरपर था। उसमें बहुत-से कमल और उत्पल खिले हुए थे ॥ १ ॥

मारुतेन सुशीतेन सुखेनामृतगन्धिना।
सेव्यमानो वने तस्मिञ्जगाम मनसा प्रियाम् ॥ २ ॥

उस वनमें अमृतकी-सी सुगन्ध लिये मन्द गतिसे प्रवाहित होनेवाली सुखद शीतल वायुका स्पर्श पाकर श्रीरामचन्द्रजी मन-ही-मन अपनी प्रिया सीताका चिन्तन करने लगे ॥ २ ॥

विललाप स राजेन्द्रस्तत्र कान्तामनुस्मरन्।
कामबाणाभिसंतप्तः सौमित्रिस्तमथाब्रवीत् ॥ ३ ॥

अपनी प्राणवल्लभाका बारंबार स्मरण करके कामबाणसे संतप्त हुए-से महाराज श्रीराम विलाप करने लगे। उस समय सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने उनसे कहा—॥ ३ ॥

न त्वामेवंविधो भावः स्प्रष्टुमर्हति मानद।
आत्मवन्तमिव व्याधिः पुरुषं वृद्धशीलिनम् ॥ ४ ॥

'मानद! मनपर काबू रखनेवाले तथा वृद्धोंके समान संयम-नियमसे रहनेवाले पुरुषको जैसे कोई रोग नहीं छू सकता, उसी प्रकार आपको ऐसे दैन्यभावका स्पर्श होना उचित नहीं जान पड़ता है ॥ ४ ॥

प्रवृत्तिरुपलब्धा ते वैदेह्या रावणस्य च।
तां त्वं पुरुषकारेण बुद्ध्या चैवोपपादय ॥ ५ ॥

'आपको सीता तथा उनका अपहरण करनेवाले रावणका समाचार मिल ही गया है। अब आप अपने पुरुषार्थ और बुद्धिबलसे जानकीको प्राप्त कीजिये ॥ ५ ॥

अभिगच्छाव सुग्रीवं शैलस्थं हरिपुङ्गवम्।
मयि शिष्ये च भृत्ये च सहाये च समाश्वस ॥ ६ ॥

'हम दोनों यहाँसे वानरराज सुग्रीवके पास चलें, जो ऋष्यमूक पर्वतके शिखरपर रहते हैं। मैं आपका शिष्य, सेवक और सहायक हूँ। मेरे रहते आपको धैर्य रखना चाहिये ॥ ६ ॥

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्लक्ष्मणेन स राघवः।
उक्तः प्रकृतिमापेदे कार्ये चानन्तरोऽभवत् ॥ ७ ॥

इस प्रकार लक्ष्मणद्वारा अनेक प्रकारके वचनोंसे धैर्य दिलाये जानेपर श्रीरामचन्द्रजी स्वस्थ हुए और आवश्यक कार्यमें लग गये ॥ ७ ॥

निषेव्य वारि पम्पायास्तर्पयित्वा पितॄनपि।
प्रतस्थतुरुभौ वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ८ ॥

उन्होंने पम्पासरोवरके जलमें स्नान करके पितरोंका तर्पण किया। फिर उन दोनों वीर भ्राता श्रीराम और लक्ष्मणने वहाँसे प्रस्थान किया ॥ ८ ॥

तावृष्यमूकमभ्येत्य बहुमूलफलद्रुमम्।
गिर्यग्रे वानरान् पञ्च वीरौ ददृशतुस्तदा ॥ ९ ॥

प्रचुर फल, मूल और वृक्षोंसे भरे हुए ऋष्यमूक पर्वतपर पहुँचकर उन दोनों वीरोंने देखा, पर्वतके शिखरपर पाँच वानर बैठे हुए हैं ॥ ९ ॥

सुग्रीवः प्रेषयामास सचिवं वानरं तयोः।
बुद्धिमन्तं हनूमन्तं हिमवन्तमिव स्थितम् ॥ १० ॥

सुग्रीवने हिमालयके समान गम्भीर भावसे बैठे हुए अपने बुद्धिमान् सचिव हनुमान्‌को उन दोनोंके पास भेजा ॥ १० ॥

तेन सम्भाष्य पूर्वं तौ सुग्रीवमभिजग्मतुः।
सख्यं वानरराजेन चक्रे रामस्तदा नृप ॥ ११ ॥

उनके साथ पहले बातचीत हो जानेपर वे दोनों भाई सुग्रीवके पास गये। राजन्! उस समय श्रीरामचन्द्रजीने वानरराज सुग्रीवके साथ मैत्री की ॥ ११ ॥

तद् वासो दर्शयामासुस्तस्य कार्ये निवेदिते ।
वानराणां तु यत् सीता ह्रियमाणा व्यपासृजत् ॥ १२ ॥

रामने सुग्रीवके समक्ष जब अपना कार्य निवेदन किया, तब उन्होंने श्रीरामको वह वस्त्र दिखाया, जिसे अपहरण-कालमें सीताने वानरोंके बीचमें डाल दिया था ॥ १२ ॥

ततः प्रत्ययकरं लब्ध्वा सुग्रीवं प्लवगाधिपम् ।
पृथिव्यां वानरैश्वर्ये स्वयं रामोऽभ्यषेचयत् ॥ १३ ॥

रावणद्वारा सीताके अपहृत होनेका यह विश्वासजनक प्रमाण पाकर श्रीरामने स्वयं ही वानरराज सुग्रीवको अखिल भूमण्डलके वानरोंके सम्राट्पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥ १३ ॥

प्रतिजज्ञे च काकुत्स्थः समरे वालिनो वधम् ।
सुग्रीवश्चापि वैदेह्याः पुनरानयनं नृप ॥ १४ ॥

साथ ही उन्होंने युद्धमें वालीके वधकी भी प्रतिज्ञा की । राजन् ! तब सुग्रीवने भी विदेहनन्दिनी सीताको पुनः ढूँढ़ लानेकी प्रतिज्ञा की ॥ १४ ॥

इत्युक्त्वा समयं कृत्वा विश्वास्य च परस्परम् ।
अभ्येत्य सर्वे किष्किन्धां तस्थुर्युद्धाभिकाङ्क्षिणः ॥ १५ ॥

इस प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक एक-दूसरेको विश्वास दिलाकर वे सबके सब किष्किन्धापुरीमें आये और युद्धकी अभिलाषासे डटकर खड़े हो गये ॥ १५ ॥

सुग्रीवः प्राप्य किष्किन्धां ननादौघनिभस्वनः ।
नास्य तन्ममृषे वाली तारा तं प्रत्यषेधयत् ॥ १६ ॥

सुग्रीवने किष्किन्धामें जाकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया, मानो बहुत बड़े जनसमूहका शब्द गूँज उठा हो । वालीको यह सहन नहीं हो सका । जब वह युद्धके लिये निकलने लगा, तब उसकी स्त्री ताराने उसे मना करते हुए कहा— ॥ १६ ॥

यथा नदति सुग्रीवो बलवानेष वानरः ।
मन्ये चाश्रयवान् प्राप्तो न त्वं निष्क्रान्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

'नाथ ! आज सुग्रीव जिस प्रकार गर्जना कर रहा है, उससे मालूम होता है, इस समय उसका बल बढ़ा हुआ है । मेरी समझमें उसे कोई बलवान् सहायक मिल गया है, तभी वह यहाँतक आ सका है । अतः आप घरसे न निकलें' ॥

हेममाली ततो वाली तारां ताराधिपाननाम् ।
प्रोवाच वचनं वाग्मी तां वानरपतिः पतिः ॥ १८ ॥

तब सुवर्णमालासे विभूषित तारापति वानरराज वाली, जो बातचीत करनेमें कुशल था, अपनी चन्द्रमुखी पत्नी तारासे इस प्रकार बोला— ॥ १८ ॥

सर्वभूतरुतज्ञा त्वं पश्य बुद्ध्या समन्विता ।
केन चाश्रयवान् प्राप्तो ममैष भ्रातृगन्धिकः ॥ १९ ॥

'प्रिये ! तुम समस्त प्राणियोंकी बोली समझती हो, साथ ही बुद्धिमती भी हो । अतः सोचो तो सही, यह मेरा नाममात्रका भाई किसका सहारा लेकर यहाँ आया है ?' ॥ १९ ॥

चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु तारा ताराधिपप्रभा ।
पतिमित्यब्रवीत् प्राज्ञा शृणु सर्वं कपीश्वर ॥ २० ॥

तारा अपनी अङ्गकान्तिसे चन्द्रमाकी ज्योत्स्नाके समान उद्दीप्त हो रही थी । उस विदुषीने दो घड़ीतक विचार करके अपने पतिसे कहा—'कपीश्वर ! मैं सब बातें बताती हूँ, सुनिये ॥ २० ॥

हतदारो महासत्त्वो रामो दशरथात्मजः ।
तुल्यारिमित्रतां प्राप्तः सुग्रीवेण धनुर्धरः ॥ २१ ॥

'दशरथनन्दन श्रीराम महान् शक्तिशाली वीर हैं । उनकी पत्नीका किसीने अपहरण कर लिया है । उसकी खोजके लिये उन्होंने सुग्रीवसे मित्रता की है और दोनोंने एक दूसरेके शत्रुको शत्रु तथा मित्रको मित्र मान लिया है । श्रीरामचन्द्रजी बड़े धनुर्धर हैं ॥ २१ ॥

भ्राता चास्य महाबाहुः सौमित्रिरपराजितः ।
लक्ष्मणो नाम मेधावी स्थितः कार्यार्थसिद्धये ॥ २२ ॥

'उनके भाई महाबाहु सुमित्रानन्दन लक्ष्मणजी भी किसीसे परास्त होनेवाले नहीं हैं । उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर है । वे श्रीरामके प्रत्येक कार्यकी सिद्धिके लिये उनके साथ रहते हैं ॥ २२ ॥

मैन्दश्च द्विविदश्चापि हनूमांश्चानिलात्मजः ।
जाम्बवानृक्षराजश्च सुग्रीवसचिवाः स्थिताः ॥ २३ ॥

'इनके सिवा, मैन्द, द्विविद, वायुपुत्र हनुमान् तथा ऋक्षराज जाम्बवान्—ये सुग्रीवके चार मन्त्री हैं ॥ २३ ॥

सर्वे एते महात्मानो बुद्धिमन्तो महाबलाः ।
अलं तव विनाशाय रामवीर्यबलाश्रयात् ॥ २४ ॥

'ये सब-के-सब महामनस्वी, बुद्धिमान् और महाबली हैं। श्रीरामचन्द्रजीके बल-पराक्रमका सहारा मिल जानेसे ये लोग आपको मार डालनेमें समर्थ हैं' ॥ २४ ॥

तस्यास्तदाक्षिप्य वचो हितमुक्तं कपीश्वरः ।
पर्यशङ्कत तामीर्षुः सुग्रीवगतमानसाम् ॥ २५ ॥

यद्यपि ताराने वालीके हितकी बात कही थी, तो भी वानरराज वालीने उसके कथनपर आक्षेप किया और ईर्ष्यावश उसके मनमें यह शङ्का हो गयी कि तारा मन-ही-मन सुग्रीवको चाहती है ॥ २५ ॥

तारां परुषमुक्त्वा तु निर्जगाम गुहामुखात् ।
स्थितं माल्यवतोऽभ्याशे सुग्रीवं सोऽभ्यभाषत ॥ २६ ॥

ताराको कठोर बातें सुनाकर वाली किष्किन्धाकी गुफाके द्वारसे बाहर निकला और माल्यवान् पर्वतके निकट खड़े हुए सुग्रीवसे इस प्रकार बोला—॥ २६ ॥

असकृत् त्वं मया पूर्वं निर्जितो जीवितप्रियः ।
मुक्तो ज्ञातिरिति ज्ञात्वा का त्वरा मरणे पुनः ॥ २७ ॥

'अरे ! तू तो पहले अनेक बार युद्धमें मेरेद्वारा परास्त हो चुका है और जीवनका अधिक लोभ होनेके कारण भागकर जान बचाता फिरा है । मैंने भी अपना भाई समझकर तुझे जीवित छोड़ दिया है। फिर आज तुझे मरनेके लिये इतनी उतावली क्यों हो गयी है !' ॥ २७ ॥

इत्युक्तः प्राह सुग्रीवो भ्रातरं हेतुमद् वचः ।
प्राप्तकालममित्रघ्नो रामं सम्बोधयन्निव ॥ २८ ॥

वालीके ऐसा कहनेपर शत्रुहन्ता सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजीको परिस्थितिका ज्ञान कराते हुए-से अपने उस भाईसे अवसरके अनुरूप युक्तियुक्त वचन बोले—॥ २८ ॥

हृतराज्यस्य मे राजन् हृतदारस्य च त्वया ।
किं मे जीवितसामर्थ्यमिति विद्धि समागतम् ॥ २९ ॥

'राजन् ! तुमने मेरा राज्य हर लिया है, मेरी स्त्रीको भी अपने अधिकारमें कर लिया है, ऐसी दशामें मुझमें जीवित रहनेकी शक्ति ही कहाँ है ! यही सोचकर मरनेके लिये चला आया हूँ । आप मेरे आगमनका यही उद्देश्य समझ लें' ॥ २९ ॥

एवमुक्त्वा बहुविधं ततस्तौ संनिपेततुः ।
समरे वालिसुग्रीवौ शालतालशिलायुधौ ॥ ३० ॥

इस प्रकार बहुत-सी बातें करके वाली और सुग्रीव दोनों एक दूसरेसे गुँथ गये । उस युद्धमें साखू और ताड़के वृक्ष तथा पत्थर ही उनके अस्त्र-शस्त्र थे ॥ ३० ॥

उभौ जघ्नतुरन्योन्यमुभौ भूमौ निपेततुः ।
उभौ ववल्गतुश्चित्रं मुष्टिभिश्च निजघ्नतुः ॥ ३१ ॥

दोनों दोनोंपर प्रहार करते, दोनों जमीनपर गिर जाते, फिर दोनों ही उछल-कूदकर विचित्र ढंगसे पैंतरे बदलते तथा मुक्कों और घूसोंसे एक दूसरेको मारते थे ॥ ३१ ॥

उभौ रुधिरसंसिक्तौ नखदन्तपरिक्षतौ ।
शुशुभाते तदा वीरौ पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ३२ ॥

दोनों नख और दाँतोंके आघातसे क्षत-विक्षत हो रक्तसे लथपथ हो रहे थे । उस समय वे दोनों वीर खिले हुए पलासके दो वृक्षोंकी भाँति शोभा पाते थे ॥ ३२ ॥

न विशेषस्तयोर्युद्धे यदा कश्चन दृश्यते ।
सुग्रीवस्य तदा मालां हनुमान् कण्ठ आसजत् ॥ ३३ ॥

जब युद्धमें उन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी दिया, तब हनुमान्‌जीने सुग्रीवकी पहचानके लिये उनके गलेमें एक माला डाल दी ॥ ३३ ॥

स मालया तदा वीरः शुशुभे कण्ठसक्तया ।
श्रीमानिव महाशैलो मलयो मेघमालया ॥ ३४ ॥

कण्ठमें पड़ी हुई उस मालासे वीर सुग्रीव उस समय मेघपंक्तिसे सुशोभित महापर्वत मलयकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ३४ ॥

कृतचिह्नं तु सुग्रीवं रामो दृष्ट्वा महाधनुः ।
विचकर्ष धनुःश्रेष्ठं वालिमुद्दिश्य लक्ष्यवत् ॥ ३५ ॥
विस्फारस्तस्य धनुषो यन्त्रस्येव तदा बभौ ।
वितत्रास तदा वाली शरेणाभिहतोरसि ॥ ३६ ॥

महाधनुर्धर श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवको चिह्न धारण किये



देख वालीको लक्ष्य बनाकर अपना महान् धनुष खींचा। उस धनुषकी टंकार मशीनकी भयंकर आवाजके समान जान पड़ती थी। उसे सुनकर वाली भयभीत हो उठा। इतनेमें ही श्रीरामके बाणने उसकी छातीपर भारी चोट की॥३५-३६॥

स भिन्नहृदयो वाली वक्त्राच्छोणितमुद्वमन्।
ददर्शावस्थितं रामं ततः सौमित्रिणा सह ॥ ३७ ॥

इससे वालीका वक्षःस्थल विदीर्ण हो गया और वह अपने मुँहसे रक्तवमन करने लगा। सामने ही उसे लक्ष्मणके साथ खड़े हुए श्रीराम दिखायी दिये ॥ ३७ ॥

गर्हयित्वा स काकुत्स्थं पपात भुवि मूर्च्छितः।
तारा ददर्श तं भूमौ तारापतिसमौजसम् ॥ ३८ ॥

तब वह (छिपकर आघात करनेके कारण) श्रीरामचन्द्रजीकी निन्दा करके पृथ्वीपर गिर पड़ा और मूर्छित हो गया। ताराने चन्द्रमाके समान तेजस्वी अपने वीर पति वालीको प्राणहीन होकर पृथ्वीपर पड़ा देखा ॥ ३८ ॥

हते वालिनि सुग्रीवः किष्किन्धां प्रत्यपद्यत।
तां च तारापतिमुखीं तारां निपतितेश्वराम् ॥ ३९ ॥

वालीके मारे जानेपर अनाथ हुई किष्किन्धापुरी तथा चन्द्रमुखी तारा सुग्रीवको प्राप्त हुई ॥ ३९ ॥

रामस्तु चतुरो मासान् पृष्ठे माल्यवतः शुभे।
निवासमकरोद् धीमान् सुग्रीवेणाभ्युपस्थितः ॥ ४० ॥

परम बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीने माल्यवान् पर्वतकी सुन्दर घाटीमें वर्षाके चार महीनोंतक निवास किया। समय-समयपर सुग्रीव भी उनकी सेवामें उपस्थित होते रहते थे ॥४०॥

रावणोऽपि पुरीं गत्वा लङ्कां कामबलात्कृतः।
सीतां निवेशयामास भवने नन्दनोपमे ॥ ४१ ॥
अशोकवनिकाभ्याशे तापसाश्रमसंनिभे।
भर्तृस्मरणतन्वङ्गी तापसीवेषधारिणी ॥ ४२ ॥

इधर कामके वशीभूत हुए रावणने भी लङ्कापुरीमें पहुँचकर सीताको अशोकवाटिकाके निकट तपस्वी मुनियोंके आश्रमकी भाँति शान्तिपूर्ण तथा नन्दनवनके समान रमणीय भवनमें ठहराया। पतिका निरन्तर चिन्तन करते-करते सीताका शरीर दुर्बल हो गया था। वे तपस्विनीवेषमें वहाँ रहती थीं ॥ ४१-४२ ॥

उपवासतपःशीला तत्रास पृथुलेक्षणा।
उवास दुःखवसतिं फलमूलकृताशना ॥ ४३ ॥

उपवास और तपस्या करनेका उनका स्वभाव-सा बन गया था। विशाल नेत्रोंवाली जानकी वहाँ फल-मूल खाकर बड़े दुःखसे दिन बिताती थीं ॥ ४३ ॥

दिदेश राक्षसीस्तत्र रक्षणे राक्षसाधिपः।
प्रासासिशूलपरशुमुद्गरालातधारिणीः ॥ ४४ ॥

राक्षसराज रावणने सीताकी रक्षाके लिये कुछ राक्षसियोंको नियुक्त कर दिया था, जो भाला, तलवार, त्रिशूल, फरसा, मुद्गर और जलती हुई लुआठी लिये वहाँ पहरा देती थीं ॥ ४४ ॥

द्व्यक्षीं त्र्यक्षीं ललाटाक्षीं दीर्घजिह्वामजिह्विकाम्।
त्रिस्तनीमेकपादां च त्रिजटामेकलोचनाम् ॥ ४५ ॥

उनमेंसे किसीके दो आँखें थीं, किसीके तीन। किसीके ललाटमें ही आँखें थीं, किसीके बहुत बड़ी जिह्वा थी। तो किसीके जीभ थी ही नहीं। किसीके तीन स्तन थे तो किसीका एक पैर। कोई अपने सिरपर तीन जटाएँ रखती थी, तो किसीके एक ही आँख थी ॥ ४५ ॥

एताश्चान्याश्च दीप्ताक्ष्यः करभोत्कटमूर्द्धजाः।
परिवार्यासते सीतां दिवारात्रमतन्द्रिताः ॥ ४६ ॥

ये तथा दूसरी बहुत-सी राक्षसियाँ निद्रा और आलस्यको छोड़कर दिन-रात सीताको घेरे रहती थीं। उनकी आँखें आगकी तरह प्रज्वलित होती थीं और सिरके बाल ऊँटोंके समान रूखे तथा भूरे थे ॥ ४६ ॥

तास्तु तामायतापाङ्गीं पिशाच्यो दारुणस्वराः।
तर्जयन्ति सदा रौद्राः परुषव्यञ्जनस्वराः ॥ ४७ ॥

वे पिशाची स्त्रियाँ देखनेमें बड़ी भयंकर थीं। उनका स्वर अत्यन्त दारुण था। उनके मुखसे जो स्वर और व्यञ्जन निकलते थे, वे बड़े कठोर होते थे। वे राक्षसियाँ निम्नाङ्कित बातें कहकर विशाल नेत्रोंवाली सीताको सदा डाँटती-फटकारती रहती थीं—॥ ४७ ॥

खादाम पाटयामैनां तिलशः प्रविभज्य ताम्।
येयं भर्तारमस्माकमवमन्येह जीवति ॥ ४८ ॥

'अरी! यह हमारे स्वामीकी अवहेलना करके अबतक यहाँ जीवित कैसे है? हम इसे चीर डालें। इसे तिल-तिल काटकर खा जायँ' ॥ ४८ ॥

इत्येवं परिभर्त्सन्तीस्त्रास्यमाना पुनः पुनः।
भर्तृशोकसमाविष्टा निःश्वस्येदमुवाच ताः ॥ ४९ ॥

इस तरह कठोर वचनोंद्वारा डराने-धमकानेवाली उन राक्षसियोंसे बार-बार डरायी जाती हुई सीता पतिवियोगके शोकसे संतप्त हो लंबी साँसें खींचती हुई बोलीं—॥ ४९ ॥

आर्याः खादत मां शीघ्रं न मे लोभोऽस्ति जीविते।
विना तं पुण्डरीकाक्षं नीलकुञ्चितमूर्धजम् ॥ ५० ॥
अप्येवाहं निराहारा जीवितप्रियवर्जिता।
शोषयिष्यामि गात्राणि व्याली तालगता यथा ॥ ५१ ॥

न त्वन्यमभिगच्छेयं पुमांसं राघवादृते ।
इति जानीत सत्यं मे क्रियतां यदनन्तरम् ॥ ५२ ॥

'बहिनो ! तुमलोग शीघ्र मुझे मारकर खा जाओ । अब इस जीवनके लिये मुझे तनिक भी लोभ नहीं है । मैं काले घुँघराले केश-कलापसे सुशोभित अपने स्वामी कमलनयन भगवान् श्रीरामके बिना जीना ही नहीं चाहती । प्राणवल्लभ रघुनाथजीके दर्शनसे वञ्चित होनेके कारण निराहार ही रहकर ताड़के पेड़पर रहनेवाली नागिनकी तरह मैं अपने शरीरको सुखा डालूँगी; परंतु श्रीरामके सिवा दूसरे किसी पुरुषका सेवन कदापि नहीं करूँगी । मेरी इस बातको सत्य समझो और इसके बाद जो कुछ करना हो, करो' ॥ ५०—५२ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा राक्षस्यस्ताः खरस्वनाः ।
आख्यातुं राक्षसेन्द्राय जग्मुस्तत् सर्वमादृताः ॥ ५३ ॥

सीताकी यह बात सुनकर कठोर बोली बोलनेवाली वे राक्षसियाँ राक्षसराज रावणको आदरपूर्वक वह सब समाचार निवेदन करनेके लिये चली गयीं ॥ ५३ ॥

गतासु तासु सर्वासु त्रिजटा नाम राक्षसी ।
सान्त्वयामास वैदेहीं धर्मज्ञा प्रियवादिनी ॥ ५४ ॥

वहाँ केवल धर्मको जाननेवाली प्रियवादिनी त्रिजटा नामकी राक्षसी रह गयी । अन्य सब राक्षसियोंके चले जानेपर उसने सीताको सान्त्वना देते हुए कहा—॥ ५४ ॥

सीते वक्ष्यामि ते किंचिद् विश्वासं कुरु मे सखि ।
भयं त्वं त्यज वामोरु शृणु चेदं वचो मम ॥ ५५ ॥

'सखी सीते ! मैं तुमसे एक बात कहूँगी । तुम मुझपर विश्वास करो । वामोरु ! तुम भय छोड़ो और मेरी यह बात सुनो ॥ ५५ ॥

अविन्ध्यो नाम मेधावी वृद्धो राक्षसपुङ्गवः ।
स रामस्य हितान्वेषी त्वदर्थे हि स मावदत् ॥ ५६ ॥

'यहाँ अविन्ध्य नामसे प्रसिद्ध एक बुद्धिमान्, वृद्ध और श्रेष्ठ राक्षस रहते हैं, जो सदा श्रीरामचन्द्रजीके हितका चिन्तन करते रहते हैं । उन्होंने तुमसे कहनेके लिये मेरेद्वारा यह संदेश भेजा है ॥ ५६ ॥

सीता मद्वचनाद् वाच्या समाश्वास्य प्रसाद्य च ।
भर्ता ते कुशली रामो लक्ष्मणानुगतो बली ॥ ५७ ॥
सख्यं वानरराजेन शक्रप्रतिमतेजसा ।
कृतवान् राघवः श्रीमांस्त्वदर्थे च समुद्यतः ॥ ५८ ॥
मा च तेऽस्तु भयं भीरु रावणाल्लोकगर्हितात् ।
नलकूबरशापेन रक्षिता ह्यसि नन्दिनि ॥ ५९ ॥
शप्तो ह्येष पुरा पापो वधूं रम्भां परामृशन् ।
न शक्नोत्यवशां नारीमुपैतुमजितेन्द्रियः ॥ ६० ॥
क्षिप्रमेष्यति ते भर्ता सुग्रीवेणाभिरक्षितः ।
सौमित्रिसहितो धीमांस्त्वां चेतो मोक्षयिष्यति ॥ ६१ ॥

'उनका कहना है कि त्रिजटे ! तुम मेरी ओरसे सीताको समझा-बुझाकर संतुष्ट करके यह कहना कि—'तुम्हारे स्वामी महाबली श्रीराम लक्ष्मणसहित सकुशल हैं । श्रीमान् रघुनाथजीने इन्द्रतुल्य तेजस्वी वानरराज सुग्रीवके साथ मैत्री की है और तुम्हें यहाँसे छुड़ानेके लिये उद्योग आरम्भ कर दिया है; अतः भीरु ! अब तुम्हें लोकनिन्दित रावणसे तनिक भी भय नहीं करना चाहिये । नन्दिनी ! नलकूबरने रावणको जो शाप दे रक्खा है, उसीसे तुम सदा सुरक्षित रहोगी । कुछ समय पहलेकी बात है, इस पापी रावणने नलकूबरकी पत्नी एवं अपनी पुत्रवधूके तुल्य रम्भाका स्पर्श किया था, इसीसे उसको शाप प्राप्त हुआ है । यद्यपि यह रावण जितेन्द्रिय नहीं है, तो भी किसी अवशा—स्वतन्त्रतापूर्वक उसे न चाहनेवाली नारीके पास नहीं जा सकता है । सुग्रीवद्वारा सुरक्षित तुम्हारे स्वामी बुद्धिमान् भगवान् श्रीराम अपने भाई लक्ष्मणके साथ शीघ्र ही यहाँ आयेंगे और तुम्हें यहाँसे छुड़ा ले जायँगे' ॥ ५७—६१ ॥

स्वप्ना हि सुमहाघोरा दृष्टा मेऽनिष्टदर्शनाः ।
विनाशायास्य दुर्बुद्धेः पौलस्त्यकुलघातिनः ॥ ६२ ॥

(अविन्ध्यका संदेश सुनाकर फिर त्रिजटाने अपनी ओरसे कहा—) 'सखी ! मैंने भी रातमें बड़े भयंकर स्वप्न देखे हैं, जो इस पुलस्त्यकुल-घातक दुर्बुद्धि रावणके विनाश एवं अनिष्टकी सूचना देनेवाले हैं ॥ ६२ ॥

दारुणो ह्येष दुष्टात्मा क्षुद्रकर्मा निशाचरः ।
स्वभावाच्छीलदोषेण सर्वेषां भयवर्धनः ॥ ६३ ॥

'यह दारुण दुष्टात्मा तथा क्षुद्रकर्म करनेवाला निशाचर अपने स्वभाव और शीलदोषसे सब लोगोंका भय बढ़ा रहा है ॥ ६३ ॥

स्पर्धते सर्वदेवैर्यः कालोपहतचेतनः ।
मया विनाशलिङ्गानि स्वप्ने दृष्टानि तस्य वै ॥ ६४ ॥

'कालसे इसकी बुद्धि मारी गयी है; अतः यह समस्त देवताओंसे ईर्ष्या रखता है । मैंने स्वप्नमें जो कुछ देखा है, वह सब इसके विनाशकी सूचना दे रहा है ॥ ६४ ॥

तैलाभिषिक्तो विकचो मज्जन् पङ्के दशाननः ।
असकृत् खरयुक्ते तु रथे नृत्यन्निव स्थितः ॥ ६५ ॥

'सपनेमें मैंने देखा है कि रावण तेलसे नहाये, मूँड़ मुँड़ाये, कीचड़में डूब रहा है । फिर कई बार देखनेमें आया कि वह गदहोंसे जुते हुए रथपर खड़ा होकर नृत्य-सा कर रहा है ॥ ६५ ॥

कुम्भकर्णादयश्चेमे नग्नाः पतितमूर्धजाः ।
गच्छन्ति दक्षिणामाशां रक्तमाल्यानुलेपनाः ॥ ६६ ॥

'उसके साथ ही ये कुम्भकर्ण आदि राक्षस भी मूँड़

मुँड़ाये, लाल चन्दन लगाये, लाल फूलोंकी माला पहने, नंगे होकर दक्षिण दिशाकी ओर जा रहे हैं ॥ ६६ ॥

श्वेतातपत्रः सोष्णीषः शुक्लमाल्यानुलेपनः ।
श्वेतपर्वतमारूढ एक एव विभीषणः ॥ ६७ ॥

'केवल विभीषण ही श्वेत छत्र धारण किये, सफेद पगड़ी पहने एवं श्वेत पुष्पोंकी मालासे अलंकृत हो श्वेत चन्दन लगाये श्वेतपर्वतपर आरूढ दिखायी दिये ॥ ६७ ॥

सचिवाश्चास्य चत्वारः शुक्लमाल्यानुलेपनाः ।
श्वेतपर्वतमारूढा मोक्ष्यन्तेऽस्मान्महाभयात् ॥ ६८ ॥

'इनके चारों मन्त्री भी श्वेत पुष्पमाला और चन्दनसे चर्चित हो श्वेत पर्वतके शिखरपर बैठे थे; अतः विभीषणके साथ वे भी आनेवाले महान् भयसे मुक्त हो जायँगे ॥ ६८ ॥

रामस्यास्त्रेण पृथिवी परिक्षिप्ता ससागरा ।
यशसा पृथिवीं कृत्स्नां पूरयिष्यति ते पतिः ॥ ६९ ॥

'स्वप्नमें मुझे यह भी दिखायी दिया है कि भगवान् श्रीरामके बाणोंसे समुद्रसहित सारी पृथ्वी आच्छादित हो गयी है; अतः यह निश्चित है कि तुम्हारे पतिदेव अपने सुयशसे समस्त भूमण्डलको परिपूर्ण कर देंगे ॥ ६९ ॥

अस्थिसंचयमारूढो भुञ्जानो मधुपायसम् ।
लक्ष्मणश्च मया दृष्टो दिधक्षुः सर्वतो दिशम् ॥ ७० ॥

'इसी तरह मैंने लक्ष्मणको भी देखा है । वे हड्डियोंके ढेरपर बैठे हुए मधुमिश्रित खीर खा रहे थे और ऐसा जान पड़ता था, मानो वे समस्त दिशाओंको दग्ध कर देना चाहते हैं ॥ ७० ॥

रुदती रुधिरार्द्राङ्गी व्याघ्रेण परिरक्षिता ।
असकृत् त्वं मया दृष्टा गच्छन्ती दिशमुत्तराम् ॥ ७१ ॥

'सपनेमें मैंने तुमको भी कई बार देखा । तुम्हारे सारे अङ्ग खूनसे तर हो रहे थे । तुम रोती हुई उत्तर दिशाकी ओर जा रही थीं और एक व्याघ्र तुम्हारी रक्षा कर रहा था ॥

हर्षमेष्यसि वैदेहि क्षिप्रं भर्त्रा समन्विता ।
राघवेण सह भ्रात्रा सीते त्वमचिरादिव ॥ ७२ ॥

'विदेहनन्दिनी सीते ! इस सपनेसे यही प्रतीत होता है कि तुम शीघ्र ही अपने स्वामीसे मिलकर हर्षका अनुभव करोगी । भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीसे तुम्हारी अवश्य भेंट होगी; इसमें अब अधिक विलम्ब नहीं है' ॥ ७२ ॥

इत्येतन्मृगशावाक्षी तच्छ्रुत्वा त्रिजटावचः ।
बभूवाशावती बाला पुनर्भर्तृसमागमे ॥ ७३ ॥

त्रिजटाकी यह बात सुनकर मृगशावक-से नेत्रोंवाली सीताको पुनः पतिदेवसे मिलनेकी आशा बँध गयी ॥ ७३ ॥

यावदभ्यागता रौद्राः पिशाच्यस्ताः सुदारुणाः ।
ददृशुस्तां त्रिजटया सहासीनां यथा पुरा ॥ ७४ ॥

इतनेमेंही अत्यन्त क्रूर स्वभाववाली वे भयंकर पिशाचिनियाँ रावणके दरबारसे वहाँ लौट आयीं । आकर उन्होंने देखा, सीता त्रिजटाके साथ पूर्ववत् अपने स्थानपर बैठी है ॥ ७४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि त्रिजटाकृतसीतासान्त्वने अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें त्रिजटाद्वारा सीताको आश्वासनविषयक दो सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८० ॥

एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

रावण और सीताका संवाद

मार्कण्डेय उवाच

ततस्तां भर्तृशोकार्तां दीनां मलिनवाससम् ।
मणिशेषाभ्यलङ्कारां रुदतीं च पतिव्रताम् ॥ १ ॥
राक्षसीभिरुपास्यन्तीं समासीनां शिलातले ।
रावणः कामबाणार्तो ददर्शोपससर्प च ॥ २ ॥
देवदानवगन्धर्वयक्षकिम्पुरुषैर्युधि ।
अजितोऽशोकवनिकां ययौ कन्दर्पपीडितः ॥ ३ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर एक दिन जब पतिव्रता सीता स्वामीके वियोगके दुःखसे पीड़ित हो मैले कपड़े पहने केवल चूडामणिमात्र आभूषण धारण किये राक्षसियोंसे घिरी हुई एक शिलापर बैठी दीनभावसे रो रही थीं, उसी समय देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष और किम्पुरुष किसीसे कभी युद्धमें परास्त न होनेवाला रावण कामबाणसे पीड़ित हो अशोकवाटिकामें गया । वहाँ उसने सीताको देखा और कामवेदनासे व्यथित होकर वह उनके समीप चला गया ॥ १-३ ॥

दिव्याम्बरधरः श्रीमान् सुमृष्टमणिकुण्डलः ।
विचित्रमाल्यमुकुटो वसन्त इव मूर्तिमान् ॥ ४ ॥

रावणने दिव्य वस्त्र धारण कर रक्खे थे । उसके कानोंमें सुन्दर मणिमय कुण्डल झलक रहे थे । वह विचित्र माला और मुकुट पहने मूर्तिमान् वसन्तके समान शोभासम्पन्न जान पड़ता था ॥ ४ ॥

न कल्पवृक्षसदृशो यत्नादपि विभूषितः ।
श्मशानचैत्यद्रुमवद् भूषितोऽपि भयंकरः ॥ ५ ॥

उसने बड़े यत्नसे अपने आपको वस्त्राभूषणोंद्वारा सजा रक्खा था, तो भी कल्पवृक्षके समान आह्लादजनक नहीं जान पड़ता था; अपितु श्मशानभूमिके चैत्यवृक्षकी भाँति भूषित होनेपर भी भयानक प्रतीत होता था ॥ ५ ॥

स तस्यास्तनुमध्यायाः समीपे रजनीचरः ।
ददृशे रोहिणीमेत्य शनैश्चर इव ग्रहः ॥ ६ ॥

सूक्ष्म कटिप्रदेशवाली सीताके समीप खड़ा हुआ वह राक्षस रोहिणी नक्षत्रके निकट पहुँचे हुए शनैश्चर ग्रहके समान भयंकर दिखायी देता था ॥ ६ ॥

स तामामन्त्र्य सुश्रोणीं पुष्पकेतुशराहतः ।
इदमित्यब्रवीद् वाक्यं त्रस्तां रौहीमिवाबलाम् ॥ ७ ॥

कामदेवके बाणोंसे घायल हुआ रावण मृगीके समान भयभीत हुई उस सुन्दरी अबलाको सम्बोधित करके इस प्रकार बोला—॥ ७ ॥

सीते पर्याप्तमेतावत् कृतो भर्तुरनुग्रहः ।
प्रसादं कुरु तन्वङ्गि क्रियतां परिकर्म ते ॥ ८ ॥

'सीते ! आजतक तुमने जो अपने पतिपर इतना अनुग्रह दिखाया, यह बहुत हुआ । तन्वङ्गि ! अब मुझपर कृपा करो, जिससे तुम्हें श्रृङ्गार धारण कराया जाय ॥ ८ ॥

भजस्व मां वरारोहे महार्हाभरणाम्बरा ।
भव मे सर्वनारीणामुत्तमा वरवर्णिनी ॥ ९ ॥

'वरारोहे ! मुझे अङ्गीकार करो और बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंसे भूषित हो मेरी सब स्त्रियोंमें श्रेष्ठ तथा सुन्दरी पटरानी बनो ॥ ९ ॥

सन्ति मे देवकन्याश्च गन्धर्वाणां च योषितः ।
सन्ति दानवकन्याश्च दैत्यानां चापि योषितः ॥ १० ॥

'मेरे महलमें देवताओंकी कन्याएँ, गन्धर्वोंकी युवती स्त्रियाँ, दानवकिशोरियाँ तथा दैत्योंकी रमणियाँ मेरी भार्याओंके रूपमें विद्यमान हैं ॥ १० ॥

चतुर्दश पिशाचानां कोट्यो मे वचने स्थिताः ।
द्विस्तावत् पुरुषादानां रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥ ११ ॥

'चौदह करोड़ पिशाच मेरी आज्ञाके अधीन रहते हैं । इनसे दूने नरभक्षी राक्षस मेरे सेवक हैं, जो अत्यन्त भयंकर कर्म करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

ततो मे त्रिगुणा यक्षा ये मद्वचनकारिणः ।
केचिदेव धनाध्यक्षं भ्रातरं मे समाश्रिताः ॥ १२ ॥

'इनकी अपेक्षा तिगुनी संख्या मेरे आज्ञापालक यक्षोंकी है । यक्षोंमेंसे कुछ ही मेरे भाई धनाध्यक्ष कुबेरकी सेवामें रहते हैं ॥ १२ ॥

गन्धर्वाप्सरसो भद्रे मामापानगतं सदा ।
उपतिष्ठन्ति वामोरु यथैव भ्रातरं मम ॥ १३ ॥

'भद्रे ! वामोरु ! जब मैं मधुपानकी गोष्ठीमें बैठता हूँ, उस समय मेरे भाईकी ही भाँति मेरी सेवामें भी गन्धर्वोंसहित अप्सराएँ उपस्थित होती हैं ॥ १३ ॥

पुत्रोऽहमपि विप्रर्षेः साक्षाद् विश्रवसो मुनेः ।
पञ्चमो लोकपालानामिति मे प्रथितं यशः ॥ १४ ॥

'मैं भी कुबेरके ही समान साक्षात् ब्रह्मर्षि विश्रवा मुनिका पुत्र हूँ । (इन्द्र, यम, वरुण और कुबेर—इन चार लोकपालोंके सिवा) पाँचवें लोकपालके रूपमें मेरा सुयश सर्वत्र फैला हुआ है ॥ १४ ॥

दिव्यानि भक्ष्यभोज्यानि पानानि विविधानि च ।
यथैव त्रिदशेशस्य तथैव मम भाविनि ॥ १५ ॥

'भामिनि ! देवराज इन्द्रकी भाँति मुझे भी दिव्य भक्ष्य-भोज्य पदार्थ तथा नाना प्रकारके पेय रस उपलब्ध होते हैं ॥ १५ ॥

क्षीयतां दुष्कृतं कर्म वनवासकृतं तव ।
भार्या मे भव सुश्रोणि यथा मन्दोदरी तथा ॥ १६ ॥

'सुश्रोणि ! वनवासका कष्ट प्रदान करनेवाले तुम्हारे पूर्वकृत दुष्कर्मकी समाप्ति हो जानी चाहिये; इसके लिये तुम मन्दोदरीकी भाँति मेरी भार्या हो जाओ' ॥ १६ ॥

इत्युक्ता तेन वैदेही परिवृत्य शुभानना ।
तृणमन्तरतः कृत्वा तमुवाच निशाचरम् ॥ १७ ॥
अशिवेनातिवामोरूरजस्रं नेत्रवारिणा ।
स्तनावपतितौ बाला संहतावभिवर्षती ॥ १८ ॥
उवाच वाक्यं तं क्षुद्रं वैदेही पतिदेवता ।

रावणके ऐसा कहनेपर परम सुन्दर जाँघोंसे सुशोभित, पतिको ही देवता माननेवाली विदेहराजकुमारी सुमुखी सीता अपना मुँह फेरकर बीचमें तिनकेकी ओट करके राक्षसोंके लिये अमङ्गलसूचक आँसुओंद्वारा अपने पीन एवं उन्नत स्तनोंको निरन्तर भिगोती हुई उस नीच निशाचरसे इस प्रकार बोलीं—॥ १७-१८½ ॥

असकृद् वदतो वाक्यमीदृशं राक्षसेश्वर ॥ १९ ॥
विषादयुक्तमेतत् ते मया श्रुतमभाग्यया ।
तद् भद्रसुख भद्रं ते मानसं विनिवर्त्यताम् ॥ २० ॥

'राक्षसराज ! तुम्हारे मुखसे ऐसी दुःखदायिनी बातें अनेक बार निकली हैं और मुझ अभागिनीको वे सारी बातें बार-बार सुननी पड़ी हैं । भद्रसुख ! तुम्हारा भला हो । तुम अपना मन मेरी ओरसे हटा लो ॥ १९-२० ॥

परदारास्म्यलभ्या च सततं च पतिव्रता ।
न चैवौपयिकी भार्या मानुषी कृपणा तव ॥ २१ ॥

'मैं परायी स्त्री हूँ, पतिव्रता हूँ। तुम कभी किसी तरह मुझे नहीं पा सकते। एक दीन मानवकन्या होनेके कारण मैं तुम-जैसे निशाचरकी भार्या होने योग्य नहीं हूँ ॥ २१ ॥

विवशां धर्षयित्वा च कां त्वं प्रीतिमवाप्स्यसि।
प्रजापतिसमो विप्रो ब्रह्मयोनिः पिता तव ॥ २२ ॥

'मुझ विवश अबलाको बलपूर्वक अपमानित करके तुम्हें क्या सुख मिलेगा? तुम्हारे पिता ब्राह्मण हैं। ब्रह्मासे उत्पन्न होनेके कारण वे ब्रह्माके ही समान हैं ॥ २२ ॥

न च पालयसे धर्मं लोकपालसमः कथम्।
भ्रातरं राजराजानं महेश्वरसखं प्रभुम् ॥ २३ ॥
धनेश्वरं व्यपदिशन् कथं त्विह न लज्जसे।

'तुम भी लोकपालोंके समान हो, फिर धर्मका पालन क्यों नहीं करते? महेश्वरके सखा राजराज धनाध्यक्ष प्रभु कुबेरको अपना भाई बता रहे हो, तो भी यहाँ ऐसा बर्ताव करते हुए तुम्हें लज्जा क्यों नहीं आती?' ॥ २३½ ॥

इत्युक्त्वा प्रारुदत् सीता कम्पयन्ती पयोधरौ ॥ २४ ॥
शिरोधरां च तन्वङ्गी मुखं प्रच्छाद्य वाससा।

ऐसा कहकर तन्वङ्गी सीता अपनी गर्दन और मुखको कपड़ेसे ढककर फूट-फूटकर रोने लगीं। उस समय छाती धड़कनेके कारण उनके स्तन काँप रहे थे ॥ २४½ ॥

तस्या रुदत्या भाविन्या दीर्घा वेणी सुसंयता ॥ २५ ॥
ददृशे स्वसिता स्निग्धा काली व्यालीव मूर्धनि।

अच्छी तरह रोती हुई भामिनी सीताके मस्तकपर बँधी हुई स्निग्ध, असित एवं विशाल वेणी काली नागिनके समान दिखायी देती थी ॥ २५½ ॥

श्रुत्वा तद् रावणो वाक्यं सीतयोक्तं सुनिष्ठुरम् ॥ २६ ॥
प्रत्याख्यातोऽपि दुर्मेधाः पुनरेवाब्रवीद् वचः।
काममङ्गानि मे सीते दुनोतु मकरध्वजः ॥ २७ ॥
न त्वामकामां सुश्रोणीं समेष्ये चारुहासिनीम्।

सीताके मुखसे यह अत्यन्त निष्ठुर वचन सुनकर और उनके द्वारा कोरा उत्तर पाकर भी दुर्बुद्धि रावण पुनः इस प्रकार कहने लगा—'सीते! भले ही कामदेव मेरे शरीरको पीड़ा देता रहे, परंतु मैं तुम-जैसी मनोहर मुसकानवाली सुन्दरी युवतीको राजी किये बिना तुम्हारे साथ समागम नहीं करूँगा ॥२६-२७½ ॥

किं नु शक्यं मया कर्तुं यत् त्वमद्यापि मानुषम् ॥ २८ ॥
आहारभूतमस्माकं राममेवानुरुध्यसे ॥ २९ ॥

'तुम आज भी उस मनुष्य रामके प्रति ही, जो हम लोगोंका आहार है, अनुराग दिखाती जा रही हो; ऐसी दशामें मैं क्या कर सकता हूँ?' ॥ २८-२९ ॥

इत्युक्त्वा तामनिन्द्याङ्गीं स राक्षसमहेश्वरः।
तत्रैवान्तर्हितो भूत्वा जगामाभिमतां दिशम् ॥ ३० ॥

अनिन्द्य अङ्गोंवाली सीतासे ऐसा कहकर राक्षसराज रावण वहीं अन्तर्धान हो अभीष्ट दिशाकी ओर चल दिया ॥ ३० ॥

राक्षसीभिः परिवृता वैदेही शोककर्शिता।
सेव्यमाना त्रिजटया तत्रैव न्यवसत् तदा ॥ ३१ ॥

इधर शोकसे दुबली हुई सीता राक्षसियोंसे घिरकर त्रिजटासे सुसेवित हो अशोकवाटिकामें ही रहने लगी ॥३१॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि सीतारावणसंवादे एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें सीतारावणसंवादविषयक दो सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८१ ॥

द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीरामका सुग्रीवपर कोप, सुग्रीवका सीताकी खोजमें वानरोंको भेजना तथा श्रीहनुमान्‌जीका लौटकर अपनी लङ्कायात्राका वृत्तान्त निवेदन करना

मार्कण्डेय उवाच

राघवः सहसौमित्रिः सुग्रीवेणाभिपालितः।
वसन् माल्यवतः पृष्ठे ददर्श विमलं नभः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इधर श्रीराम और लक्ष्मण सुग्रीवसे सुरक्षित हो माल्यवान् पर्वतके पृष्ठभाग-पर रहने लगे। कुछ कालके अनन्तर जब वर्षाऋतु बीत गयी, तब उन्हें आकाश निर्मल दिखायी दिया ॥ १ ॥

स दृष्ट्वा विमले व्योम्नि निर्मलं शशलक्षणम्।
ग्रहनक्षत्रताराभिरनुयातममित्रहा ॥ २ ॥

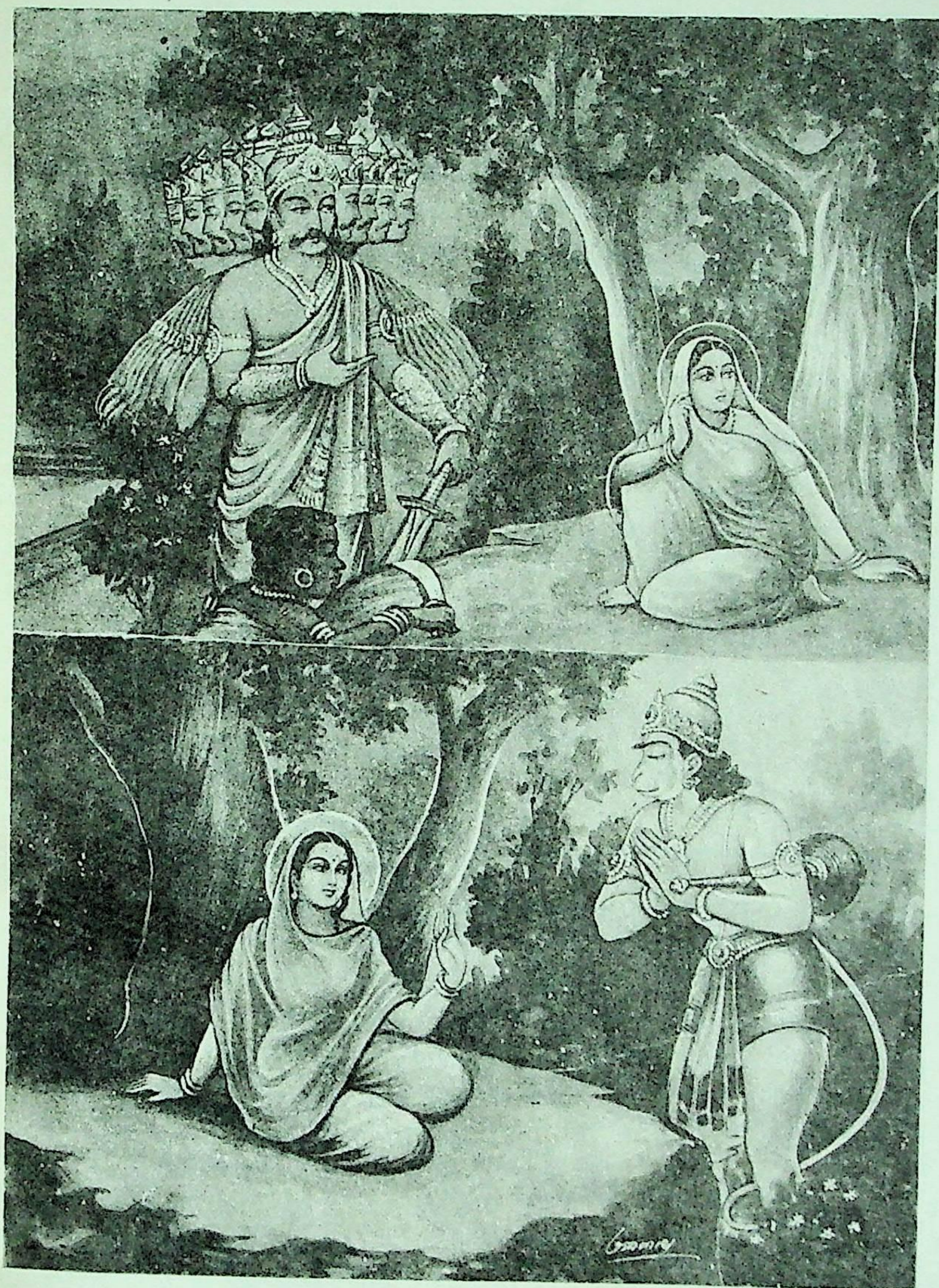
कुमुदोत्पलपद्मानां गन्धमादाय वायुना।
महीधरस्थः शीतेन सहसा प्रतिबोधितः ॥ ३ ॥

शरद्ऋतुके निर्मल आकाशमें ग्रह, नक्षत्र तथा ताराओं-सहित विमल चन्द्रमाका दर्शन करके शत्रुसंहारक श्रीराम अभी पर्वतपर सोये ही थे कि कुमुद, उत्पल और पद्मोंकी सुगन्ध लेकर बहती हुई शीतल एवं सुखद वायुने उन्हें सहसा जगा दिया ॥ २—३ ॥

प्रभाते लक्ष्मणं वीरमभ्यभाषत दुर्मनाः।
सीतां संस्मृत्य धर्मात्मा रुद्धां राक्षसवेश्मनि ॥ ४ ॥

धर्मात्मा श्रीरामको प्रातःकाल राक्षसके भवनमें कैद हुई

सीताजीका रावणको फटकारना



हनुमान्‌जीकी श्रीसीताजीसे भेंट

अपनी पत्नी सीताका स्मरण हो आया और वे खिन्नचित्त होकर वीरवर लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले—॥ ४ ॥

गच्छ लक्ष्मण जानीहि किष्किन्धायां कपीश्वरम् ।
प्रमत्तं ग्राम्यधर्मेषु कृतघ्नं स्वार्थपण्डितम् ॥ ५ ॥

'लक्ष्मण ! जाओ और पता लगाओ कि किष्किन्धामें वानरराज सुग्रीव क्या कर रहा है ? जान पड़ता है, स्वार्थ-साधनकी कलामें पण्डित कृतघ्न सुग्रीव विषयभोगोंमें आसक्त हो अपने कर्तव्यको भूल गया है ॥ ५ ॥

योऽसौ कुलाधमो मूढो मया राज्येऽभिषेचितः ।
सर्ववानरगोपुच्छा यमृक्षाश्च भजन्ति वै ॥ ६ ॥

'उस वानरकुलकलंक मूर्खको मैंने ही राज्यपर अभिषिक्त किया है । इसके कारण सम्पूर्ण वानर, लंगूर तथा रीछ उसकी सेवा करते हैं ॥ ६ ॥

यदर्थे निहतो वाली मया रघुकुलोद्वह ।
त्वया सह महाबाहो किष्किन्धोपवने तदा ॥ ७ ॥

'रघुकुलतिलक महाबाहु लक्ष्मण ! इसी सुग्रीवके लिये उन दिनों मैंने तुम्हारे साथ किष्किन्धाके उद्यानमें जाकर वालीका वध किया था ॥ ७ ॥

कृतघ्नं तमहं मन्ये वानरापसदं भुवि ।
यो मामेवंगतो मूढो न जानीतेऽद्य लक्ष्मण ॥ ८ ॥

'सुमित्रानन्दन ! मैं तो उस नीच वानरको इस भूतलपर कृतघ्न मानता हूँ, क्योंकि वह मूर्ख इस अवस्थामें पहुँचकर मुझे भूल गया है ॥ ८ ॥

असौ मन्ये न जानीते समयप्रतिपालनम् ।
कृतोपकारं मां नूनमवमन्याल्पया धिया ॥ ९ ॥

'मैं तो समझता हूँ, वह अपनी की हुई प्रतिज्ञाका पालन करना नहीं जानता और अपनी मन्दबुद्धिके कारण मुझ उपकारीकी भी वह निश्चय ही अवहेलना कर रहा है ॥ ९ ॥

यदि तावदनुद्युक्तः शेते कामसुखात्मकः ।
नेतव्यो वालिमार्गेण सर्वभूतगतिं त्वया ॥ १० ॥

'यदि वह विषयसुखमें ही आसक्त हो सीताकी खोजके लिये कुछ उद्योग न कर रहा हो, तो उसे भी तुम वालीके मार्गसे उसी लोकको पहुँचा देना, जहाँ एक-न-एक दिन सभी प्राणियोंको जाना पड़ता है ॥ १० ॥

अथापि घटतेऽस्माकमर्थे वानरपुङ्गवः ।
तमादायैव काकुत्स्थ त्वरावान् भव मा चिरम् ॥ ११ ॥

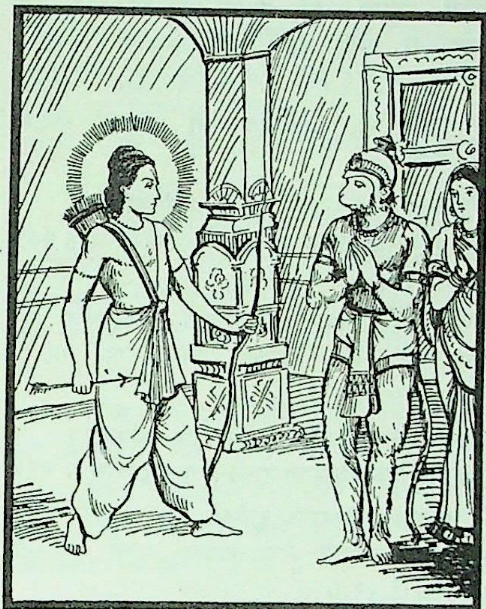
'लक्ष्मण ! यदि वानरराज हमारे कार्यके लिये कुछ चेष्टा कर रहा हो, तो उसे साथ लेकर तुरंत लौट आना, देर न लगाना' ॥

इत्युक्तो लक्ष्मणो भ्रात्रा गुरुवाक्यहिते रतः ।
प्रतस्थे रुचिरं गृह्य समार्गणगुणं धनुः ॥ १२ ॥

भाईके ऐसा कहनेपर गुरुजनोंकी आज्ञाके पालन तथा हिताचरणमें तत्पर रहनेवाले लक्ष्मण बाण और प्रत्यञ्चा-सहित सुन्दर धनुष हाथमें लेकर वहाँसे चल दिये ॥ १२ ॥

किष्किन्धाद्वारमासाद्य प्रविवेशानिवारितः ।
सक्रोध इति तं मत्वा राजा प्रत्युद्ययौ हरिः ॥ १३ ॥

किष्किन्धाके द्वारपर पहुँचकर वे बेरोक-टोक भीतर घुस गये । लक्ष्मण क्रोधमें भरे हुए आ रहे हैं, यह जानकर राजा सुग्रीव उनकी अगवानीके लिये आगे बढ़ आया ॥ १३ ॥



तं सदारो विनीतात्मा सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
पूजया प्रतिजग्राह प्रीयमाणस्तदर्हया ॥ १४ ॥
तमब्रवीद् रामवचः सौमित्रिरकुतोभयः ।

पत्नीसहित वानरराज सुग्रीव विनीतभावसे लक्ष्मणजीकी पूजा करके उन्हें साथ लिवा ले गये । किसीसे भी भय न माननेवाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने उस पूजा (आदर-सत्कार) से प्रसन्न हो उनसे श्रीरामचन्द्रजीकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं ॥ १४½ ॥

स तत् सर्वमशेषेण श्रुत्वा प्रह्वः कृताञ्जलिः ॥ १५ ॥
सभृत्यदारो राजेन्द्र सुग्रीवो वानराधिपः ।
इदमाह वचः प्रीतो लक्ष्मणं नरकुञ्जरम् ॥ १६ ॥

राजेन्द्र ! वह सब कुछ पूरा-पूरा सुनकर नम्रतापूर्वक हाथ जोड़े हुए भार्या तथा सेवकोंसहित वानरराज सुग्रीवने नरश्रेष्ठ लक्ष्मणसे सहर्ष निवेदन किया—॥ १५-१६ ॥

नास्मि लक्ष्मण दुर्मेधा नाकृतज्ञो न निर्घृणः ।
श्रूयतां यः प्रयत्नो मे सीतापर्येषणे कृतः ॥ १७ ॥

'लक्ष्मण ! मैं न तो दुर्बुद्धि हूँ, न अकृतज्ञ हूँ और न निर्दय ही हूँ । मैंने सीताकी खोजके लिये जो प्रयत्न किया है, उसे सुनिये ॥ १७ ॥

दिशः प्रस्थापिताः सर्वे विनीता हरयो मया ।
सर्वेषां च कृतः कालो मासेनागमनं पुनः ॥१८॥

'मैंने सब दिशाओंमें सभी विनयशील वानरोंको भेज दिया है और उन सबके लिये एक महीनेके अंदर ही लौट आनेका समय निश्चित कर दिया है ॥ १८ ॥

यैरियं सवना साद्रिः सपुरा सागराम्बरा ।
विचेतव्या मही वीर सग्रामनगराकरा ॥१९॥

'वीर ! वे सब लोग वन, पर्वत, पुर, ग्राम, नगर तथा आकरोंसहित समुद्रवसना इस सारी पृथ्वीपर सीताकी खोज करेंगे ॥ १९ ॥

स मासः पञ्चरात्रेण पूर्णो भवितुमर्हति ।
ततः श्रोष्यसि रामेण सहितः सुमहत् प्रियम् ॥ २०॥

'वह एक मास, जिसके समाप्त होनेतक वानरोंको लौट आना है, पाँच रातमें पूरा हो जायगा । तत्पश्चात् आप रामचन्द्रजीके साथ सीताका अत्यन्त प्रिय समाचार सुनेंगे' ॥ २० ॥

इत्युक्तो लक्ष्मणस्तेन वानरेन्द्रेण धीमता ।
त्यक्त्वा रोषमदीनात्मा सुग्रीवं प्रत्यपूजयत् ॥ २१॥

बुद्धिमान् वानरराज सुग्रीवके ऐसा कहनेपर उदार हृदयवाले लक्ष्मणने रोष त्यागकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ २१ ॥

स रामं सहसुग्रीवो माल्यवत्पृष्ठमास्थितम् ।
अभिगम्योदयं तस्य कार्यस्य प्रत्यवेदयत् ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् वे सुग्रीवको साथ लेकर माल्यवान् पर्वतके पृष्ठभागमें रहनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके पास गये। वहाँ उन्होंने बताया कि सीताका अनुसंधानकार्य आरम्भ हो गया है ॥ २२ ॥

इत्येवं वानरेन्द्रास्ते समाजग्मुः सहस्रशः ।
दिशस्तिस्रो विचित्याथ न तु ये दक्षिणां गताः ॥ २३ ॥

इसके बाद मास पूर्ण होनेपर तीन दिशाओंकी खोज करके सहस्रों वानरप्रमुख वहाँ आये। केवल वे ही नहीं आये, जो दक्षिण दिशामें पता लगाने गये थे ॥ २३ ॥

आचख्युस्तत्र रामाय महीं सागरमेखलाम् ।
विचितां न तु वैदेह्या दर्शनं रावणस्य वा ॥ २४ ॥

आये हुए वानरोंने श्रीरामचन्द्रजीसे बताया कि समुद्रसे घिरी हुई सारी पृथ्वी हमने देख डाली, परंतु कहीं भी सीता अथवा रावणका दर्शन नहीं हुआ ॥ २४ ॥

गतास्तु दक्षिणामाशां ये वै वानरपुङ्गवाः ।
आशावांस्तेषु काकुत्स्थः प्राणानार्तोऽभ्यधारयत् ॥२५॥

जो प्रमुख वानर दक्षिण दिशाकी ओर गये थे, उन्हींसे सीताका वास्तविक समाचार मिलनेकी आशा बँधी हुई थी, इसीलिये व्यथित होनेपर भी श्रीरामचन्द्रजी अपने प्राणोंको धारण किये रहे ॥ २५ ॥

द्विमासोपरमे काले व्यतीते प्लवगास्ततः ।
सुग्रीवमभिगम्येदं त्वरिता वाक्यमब्रुवन् ॥ २६ ॥

दो मास व्यतीत हो जानेपर कुछ वानर बड़ी उतावलीके साथ सुग्रीवके पास आये और इस प्रकार कहने लगे— ॥ २६ ॥

रक्षितं वालिना यत् तत् स्फीतं मधुवनं महत् ।
त्वया च प्लवगश्रेष्ठ तद् भुङ्क्ते पवनात्मजः ॥ २७ ॥

'वानरराज ! वालीने तथा आपने भी जिस समृद्धिशाली महान् मधुवनकी रक्षा की थी, उसे पवननन्दन हनुमान्‌जी (राजाज्ञाके विना ही) अपने उपभोगमें ला रहे हैं ॥ २७ ॥

वालिपुत्रोऽङ्गदश्चैव ये चान्ये प्लवगर्षभाः ।
विचेतुं दक्षिणामाशां राजन् प्रस्थापितास्त्वया ॥ २८ ॥

'राजन् ! उनके साथ वालिपुत्र अङ्गद तथा अन्य सभी श्रेष्ठ वानर इस काममें भाग ले रहे हैं, जिन्हें आपने दक्षिण दिशामें सीताजीकी खोजके लिये भेजा था' ॥ २८ ॥

तेषामपनयं श्रुत्वा मेने स कृतकृत्यताम् ।
कृतार्थानां हि भृत्यानामेतद् भवति चेष्टितम् ॥ २९ ॥

उन वानरोंके अनुचित बर्तावका समाचार सुनकर सुग्रीवको यह विश्वास हो गया कि वे सब काम पूरा करके लौटे हैं; क्योंकि ऐसी धृष्टतापूर्ण चेष्टा उन्हीं सेवकोंकी होती है, जो अपने कार्यमें सफल हो जाते हैं ॥ २९ ॥

स तद् रामाय मेधावी शशंस प्लवगर्षभः ।
रामश्चाप्यनुमानेन मेने दृष्टां तु मैथिलीम् ॥ ३० ॥

बुद्धिमान् वानरप्रवर सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रजीसे अपना निश्चय बताया । श्रीरामचन्द्रजीने भी अनुमानसे यह मान लिया कि उन वानरोंने अवश्य ही मिथिलेशकुमारी सीताका दर्शन किया होगा ॥ ३० ॥

हनुमत्प्रमुखाश्चापि विश्रान्तास्ते प्लवङ्गमाः ।
अभिजग्मुर्हरीन्द्रं तं रामलक्ष्मणसंनिधौ ॥ ३१ ॥

हनुमान् आदि श्रेष्ठ वानर विश्राम कर लेनेके पश्चात् श्रीराम और लक्ष्मणके समीप बैठे हुए उस वानरराज सुग्रीवके पास गये ॥ ३१ ॥

गतिं च मुखवर्णं च दृष्ट्वा रामो हनूमतः ।
अगमत् प्रत्ययं भूयो दृष्टा सीतेति भारत ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर ! हनुमान्‌जीकी चाल-ढाल और मुखकी कान्ति

देखकर श्रीरामचन्द्रजीको यह विश्वास हो गया कि इन्होंने सीताको देखा है ॥ ३२ ॥

हनुमत्प्रमुखास्ते तु वानराः पूर्णमानसाः ।
प्रणेमुर्विधिवद् रामं सुग्रीवं लक्ष्मणं तथा ॥ ३३ ॥

सफलमनोरथ हुए हनुमान् आदि प्रमुख वानरोंने श्रीराम, सुग्रीव तथा लक्ष्मणको विधिपूर्वक प्रणाम किया ॥ ३३ ॥

तानुवाचानतान् रामः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
अपि मां जीवयिष्यध्वमपि वः कृतकृत्यता ॥ ३४ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्रजीने धनुष-बाण लेकर उन प्रणाम करते हुए वानरोंसे पूछा—'क्या तुमलोग सीताका अमृतमय समाचार सुनाकर मुझे जीवनदान दोगे ? क्या तुम लोगोंको अपने कार्यमें सफलता मिली है ?' ॥ ३४ ॥

अपि राज्यमयोध्यायां कारयिष्याम्यहं पुनः ।
निहत्य समरे शत्रूनाहृत्य जनकात्मजाम् ॥ ३५ ॥

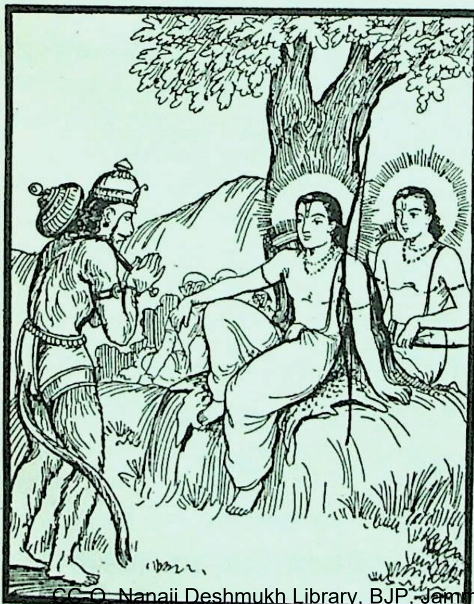
'क्या मैं युद्धमें शत्रुओंको मारकर जनकनन्दिनी सीताको साथ ले पुनः अयोध्यामें रहकर राज्य करूँगा ? ॥ ३५ ॥

अमोक्षयित्वा वैदेहीमहत्वा च रणे रिपून् ।
हृतदारोऽवधूतश्च नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ३६ ॥

'विदेहनन्दिनी सीताको बिना छुड़ाये तथा समरभूमिमें शत्रुओंका बिना संहार किये पत्नीको खोकर और अवधूत बनकर मैं जीवित नहीं रह सकता' ॥ ३६ ॥

इत्युक्तवचनं रामं प्रत्युवाचानिलात्मजः ।
प्रियमाख्यामि ते राम दृष्टा सा जानकी मया ॥ ३७॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर वायुपुत्र हनुमान्‌जीने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—'श्रीराम ! मैं आपको प्रिय समाचार सुना रहा हूँ । मैंने जनकनन्दिनी सीताका दर्शन किया है ॥ ३७ ॥



विचित्य दक्षिणामाशां सपर्वतवनाकराम् ।
श्रान्ताः काले व्यतीते स्म दृष्टवन्तो महागुहाम् ॥ ३८ ॥

'पर्वत, वन तथा आकरोंसहित सम्पूर्ण दक्षिण दिशामें श्रीसीताजीका अनुसंधान करके जब हमलोग थक गये और यहाँ लौटनेका समय व्यतीत हो गया, तब हमें एक बहुत बड़ी गुफा दिखायी दी ॥ ३८ ॥

प्रविशामो वयं तां तु बहुयोजनमायताम् ।
सान्धकारां सुविपिनां गहनां कीटसेविताम् ॥ ३९ ॥
गत्वा सुमहदध्वानमादित्यस्य प्रभां ततः ।
दृष्टवन्तः स्म तत्रैव भवनं दिव्यमन्तरा ॥ ४० ॥

'वह कई योजन लंबी थी । उसमें अन्धकार भरा हुआ था । उसके भीतर घने जंगल थे । उस गहन गुफामें बहुत-से कीड़े रहा करते थे । उसमें प्रवेश करके हमने बहुत दूरतकका रास्ता पार कर लिया । तत्पश्चात् सूर्यके प्रकाशका दर्शन हुआ । उसी गुफाके अंदर एक दिव्य भवन शोभा पा रहा था ॥ ३९-४० ॥

मयस्य किल दैत्यस्य तदासीद् वेश्म राघव ।
तत्र प्रभावती नाम तपोऽतप्यत तापसी ॥ ४१ ॥

'रघुनन्दन ! वह सुन्दर भवन दैत्यराज मयका निवासस्थान बताया जाता है । उसमें प्रभावती नामकी एक तपस्विनी तप कर रही थी ॥ ४१ ॥

तया दत्तानि भोज्यानि पानानि विविधानि च ।
भुक्त्वा लब्धबलाः सन्तस्तयोक्तेन पथा ततः ॥ ४२ ॥
निर्याय तस्मादुद्देशात् पश्यामो लवणाम्भसः ।
समीपे सह्यमलयौ दर्दुरं च महागिरिम् ॥ ४३ ॥

'उसने हमें अनेक प्रकारके भोज्य पदार्थ तथा भाँति-भाँतिके पीने योग्य रस दिये । उन्हें खाकर हमें नूतन बल प्राप्त हुआ । फिर उसीके बताये हुए मार्गसे जब हम गुफासे बाहर निकले, तब हमें लवणसमुद्रके निकटवर्ती सह्य, मलय और दर्दुर नामक महान् पर्वत दिखायी दिये ॥ ४२-४३ ॥

ततो मलयमारुह्य पश्यन्तो वरुणालयम् ।
विषण्णा व्यथिताः खिन्ना निराशा जीविते भृशम्॥४४॥

'फिर हमलोग मलयाचलपर चढ़कर समुद्रकी ओर देखने लगे । उसकी विशालता देखकर हमारा हृदय विषादसे भर गया । हम खिन्न और व्यथित हो गये । हमें जीवनकी कोई आशा न रही ॥ ४४ ॥

अनेकशतविस्तीर्णं योजनानां महोदधिम् ।

तिमिनक्रझषावासं चिन्तयन्तः सुदुःखिताः ॥ ४५ ॥

'उस महासागरका विस्तार कई सौ योजनोंमें था। उसमें तिमि, मगर और बड़े-बड़े मत्स्य निवास करते थे। उसके इस स्वरूपका स्मरण करके हम सब लोग बहुत दुखी हो गये ॥ ४५ ॥

तत्रानशनसंकल्पं कृत्वाऽऽसीना वयं तदा ।
ततः कथान्ते गृध्रस्य जटायोरभवत् कथा ॥ ४६ ॥

'अन्तमें अनशन करके प्राण त्याग देनेका संकल्प लेकर हम सब लोग वहाँ बैठ गये। फिर आपसमें बातचीत होने लगी और बीचमें जटायुका प्रसंग छिड़ गया ॥ ४६ ॥

ततः पर्वतशृङ्गाभं घोररूपं भयावहम् ।
पक्षिणं दृष्टवन्तः स्म वैनतेयमिवापरम् ॥ ४७ ॥

'इतनेमें ही हमने दूसरे गरुड़की भाँति एक भयंकर पक्षीको देखा, जो पर्वतशिखरके समान जान पड़ता था। उसका स्वरूप बड़ा डरावना था ॥ ४७ ॥

सोऽस्मानतर्कयद् भोक्तुमथाभ्येत्य वचोऽब्रवीत्।
भोः क एष मम भ्रातुर्जटायोः कुरुते कथाम् ॥ ४८ ॥
सम्पातिर्नाम तस्याहं ज्येष्ठो भ्राता खगाधिपः।
अन्योन्यस्पर्धयारूढावावामादित्यसत्पदम् ॥ ४९ ॥

'वह पक्षी हमें खा जानेकी युक्ति सोचने लगा। फिर हमारे पास आकर बोला—'अजी! कौन मेरे भाई जटायुकी बात कर रहा था। मैं उसका बड़ा भाई पक्षिराज सम्पाति हूँ। हम दोनों एक दूसरेसे होड़ लगाकर आकाशमें सूर्यमण्डलतक पहुँचनेके लिये उड़े थे ॥ ४८-४९ ॥

ततो दग्धाविमौ पक्षौ न दग्धौ तु जटायुषः ।
तदा मे चिरदृष्टः स भ्राता गृध्रपतिः प्रियः ॥ ५० ॥
निर्दग्धपक्षः पतितो ह्यहमस्मिन् महागिरौ ।

'इससे मेरी ये दोनों पाँखें जल गयीं, परंतु जटायुके पंख नहीं जले। तबसे दीर्घकाल व्यतीत हो गया। उन्हीं दिनों मैंने अपने प्रिय भाई गृध्रराज जटायुको देखा था पंख जल जानेसे मैं इसी महान् पर्वतपर गिर पड़ा' ॥ ५०½ ॥

तस्यैवं वदतोऽस्माभिर्हतो भ्राता निवेदितः ॥ ५१ ॥
व्यसनं भवतश्चेदं संक्षेपाद् वै निवेदितम् ।

'सम्पाति जब इस तरहकी बातें कर रहा था, उस समय हमलोगोंने बताया कि जटायु मारे गये। साथ ही हमने संक्षेपसे आपके ऊपर आये हुए इस संकटका समाचार भी निवेदन कर दिया ॥ ५१½ ॥

स सम्पातिस्तदा राजञ्छ्रुत्वा सुमहदप्रियम् ॥ ५२ ॥
विषण्णचेताः पप्रच्छ पुनरस्मानरिंदम ।
कः स रामः कथं सीता जटायुश्च कथं हतः ॥ ५३ ॥
इच्छामि सर्वमेवैतच्छ्रोतुं प्लवगसत्तमाः ।

'राजन्! यह अत्यन्त अप्रिय वृत्तान्त सुनकर उस सम्पातिके मनमें बड़ा खेद हुआ। शत्रुदमन! उसने पुनः हमलोगोंसे पूछा—'श्रेष्ठ वानरगण! वे श्रीराम कौन हैं, सीता कैसी है और जटायु किस प्रकार मारे गये? ये सब बातें मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ' ॥ ५२-५३½ ॥

तस्याहं सर्वमेवैतद् भवतो व्यसनागमम् ॥ ५४ ॥
प्रायोपवेशने चैव हेतुं विस्तरशोऽब्रुवम् ।

'तब मैंने सम्पातिके समक्ष आपपर संकट आनेका यह सारा वृत्तान्त और अपने आमरण अनशनका कारण विस्तारपूर्वक बताया ॥ ५४½ ॥

सोऽस्मानुत्थापयामास वाक्येनानेन पक्षिराट् ॥ ५५ ॥
रावणो विदितो मह्यं लङ्का चास्य महापुरी ।
दृष्टा पारे समुद्रस्य त्रिकूटगिरिकन्दरे ॥ ५६ ॥
भवित्री तत्र वैदेही न मेऽस्त्यत्र विचारणा ।

'तब पक्षिराज सम्पातिने अपने निम्नाङ्कित वचनद्वारा हमें उत्साहित करके उठाया। 'वानरो! मैं रावणको जानता हूँ। उसकी महापुरी लङ्का भी मैंने देखी है। वह समुद्रके उस पार त्रिकूटगिरिकी कन्दरामें बसी है। विदेहकुमारी सीता अवश्य वहीं होंगी, इस विषयमें मुझे कोई अन्यथा विचार नहीं हो रहा है' ॥ ५५-५६½ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा वयमुत्थाय सत्वराः ॥ ५७ ॥
सागरक्रमणे मन्त्रं मन्त्रयामः परंतप ।

परंतप! उसकी यह बात सुनकर हमलोग तुरंत उठे और समुद्र पार करनेके विषयमें परस्पर सलाह करने लगे ॥ ५७½ ॥

नाध्यवास्यद् यदा कश्चित् सागरस्य विलङ्घनम् ॥ ५८ ॥
ततः पितरमाविश्य पुप्लुवेऽहं महार्णवम् ।
शतयोजनविस्तीर्णं निहत्य जलराक्षसीम् ॥ ५९ ॥

'जब कोई भी समुद्रको लाँघनेका साहस न कर सका, तब मैं अपने पिता वायुके स्वरूपमें प्रविष्ट होकर वह सौ योजन विस्तृत महासागर लाँघ गया। उस समय समुद्रके जलमें एक राक्षसी रहती थी, जिसे अपने मार्गमें विघ्न डालनेपर मैंने मार डाला था ॥ ५८-५९ ॥'

तत्र सीता मया दृष्टा रावणान्तःपुरे सती ।
उपवासतपःशीला भर्तृदर्शनलालसा ॥ ६० ॥

लङ्कामें पहुँचकर रावणके अन्तःपुरमें मैंने सती सीताका दर्शन किया, जो अपने पतिदेवताके दर्शनकी लालसासे निरन्तर उपवास और तपस्या किया करती हैं ॥ ६० ॥

जटिला मलदिग्धाङ्गी कृशा दीना तपस्विनी ।
निमित्तैस्तामहं सीतामुपलभ्य पृथग्विधैः ॥ ६१ ॥

उपसृत्याब्रुवं चार्यामभिगम्य रहोगताम् ।
सीते रामस्य दूतोऽहं वानरो मारुतात्मजः ॥ ६२ ॥

'उनके केश जटाके रूपमें परिणत हो गये थे । अङ्ग-अङ्गमें मैल जम गयी थी । वे दीन, दुर्बल और तपस्विनी दिखायी देती थीं । कई भिन्न-भिन्न कारणोंसे उन्हें आर्या सीताके रूपमें पहचानकर मैं एकान्तमें उनके निकट गया और इस प्रकार बोला—'देवि सीते ! मैं श्रीरामचन्द्रजीका दूत पवनपुत्र हनुमान् नामक वानर हूँ ॥ ६१-६२ ॥

त्वद्दर्शनमभिप्रेप्सुरिह प्राप्तो विहायसा ।
राजपुत्रौ कुशलिनौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ६३॥

'आपके दर्शनके लिये मैं आकाशमार्गसे यहाँ आया हूँ । दोनों भाई राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण कुशलसे हैं ॥ ६३ ॥

सर्वशाखामृगेन्द्रेण सुग्रीवेणाभिपालितौ ।
कुशलं त्वाब्रवीद् रामः सीते सौमित्रिणा सह ॥ ६४॥

'सम्पूर्ण वानरोंके अधीश्वर सुग्रीव इस समय उनकी रक्षामें तत्पर हैं । देवि ! सुमित्रानन्दन लक्ष्मणके साथ भगवान् श्रीरामने आपको अपने सकुशल होनेका समाचार कहलाया है ॥ ६४ ॥

सखिभावाच्च सुग्रीवः कुशलं त्वानुपृच्छति ।
क्षिप्रमेष्यति ते भर्ता सर्वशाखामृगैः सह ॥ ६५॥
प्रत्ययं कुरु मे देवि वानरोऽस्मि न राक्षसः ।

'उनके मित्र होनेके नाते सुग्रीव भी आपका कुशल-मङ्गल पूछते हैं । आपके स्वामी भगवान् श्रीराम सम्पूर्ण वानरोंकी सेनाके साथ शीघ्र यहाँ पधारेंगे । देवि ! मेरा विश्वास कीजिये । मैं राक्षस नहीं, वानर हूँ' ॥ ६५½ ॥

मुहूर्तमिव च ध्यात्वा सीता मां प्रत्युवाच ह ॥ ६६ ॥
अवैमि त्वां हनूमन्तमविन्ध्यवचनादहम् ।
अविन्ध्यो हि महाबाहो राक्षसो वृद्धसम्मतः ॥ ६७ ॥

'तदनन्तर सीताने दो घड़ीतक कुछ सोचकर मुझसे इस प्रकार कहा—'महाबाहो ! मैं अविन्ध्यके कहनेसे यह विश्वास करती हूँ कि तुम हनुमान् हो । अविन्ध्य राक्षसकुलमें उत्पन्न होते हुए भी वृद्ध एवं आदरणीय हैं ॥ ६६-६७ ॥

कथितस्तेन सुग्रीवस्त्वद्विधैः सचिवैर्वृतः ।
गम्यतामिति चोक्त्वा मां सीता प्रादादिमं मणिम् ॥ ६८॥
धारिता येन वैदेही कालमेतमनिन्दिता ।
प्रत्ययार्थं कथां चेमां कथयामास जानकी ॥ ६९ ॥

'उन्होंने ही तुम्हारे-जैसे मन्त्रियोंसे युक्त सुग्रीवका परिचय दिया है । वत्स ! अब तुम भगवान् श्रीरामके पास जाओ ।' ऐसा कहकर सती साध्वी सीताने अपनी पहचानके लिये यह एक मणि दी, जिसको धारण करके वे अबतक अपने प्राणोंकी रक्षा करती आयी हैं । जानकीने विश्वास दिलानेके लिये यह एक कथा भी सुनायी थी—॥ ६८-६९ ॥

क्षिप्तामिषीकां काकाय चित्रकूटे महागिरौ ।
भवता पुरुषव्याघ्र प्रत्यभिज्ञानकारणात् ॥ ७० ॥
(एकाक्षिविकलः काकः सुदुष्टात्मा कृतश्च वै ।)

'पुरुषसिंह ! उस कथाका मुख्य विषय यह है कि आपने महापर्वत चित्रकूटपर रहते समय किसी कौएके ऊपर एक सींकका बाण चलाया था और उस दुष्टात्मा कौएको एक आँखसे वञ्चित कर दिया था । यह प्रसङ्ग उन्होंने केवल अपनी पहचान करानेके उद्देश्यसे प्रस्तुत किया था ॥ ७० ॥

ग्राहयित्वाहमात्मानं ततो दग्ध्वा च तां पुरीम् ।
सम्प्राप्त इति तं रामः प्रियवादिनमार्चयत् ॥ ७१ ॥

'तदनन्तर मैंने जान-बूझकर अपने आपको राक्षसोंद्वारा पकड़वा दिया और लङ्कापुरीको जलाकर समुद्रके इस पार आ पहुँचा ।' यह सब समाचार सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने प्रियवादी हनुमान्का अत्यन्त आदर-सत्कार किया ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि हनुमत्प्रत्यागमने द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें हनुमान्जीके लङ्कासे लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७१½ श्लोक हैं)

त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

वानर-सेनाका संगठन, सेतुका निर्माण, विभीषणका अभिषेक और लङ्काकी सीमामें सेनाका प्रवेश तथा अङ्गदको रावणके पास दूत बनाकर भेजना

मार्कण्डेय उवाच

ततस्तत्रैव रामस्य समासीनस्य तैः सह ।
समाजग्मुः कपिश्रेष्ठाः सुग्रीववचनात् तदा ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर सुग्रीवकी आज्ञाके अनुसार बड़े-बड़े वानरवीर माल्यवान् पर्वतपर लक्ष्मण सहित बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजीके पास पहुँचने लगे ॥

वृतः कोटिसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम् ।
श्वशुरो वालिनः श्रीमान् सुषेणो राममभ्ययात् ॥ २ ॥

सबसे पहले वालीके श्वसुर श्रीमान् सुषेण श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें उपस्थित हुए । उनके साथ वेगशाली वानरोंकी सहस्र कोटि (दस अरब) सेना थी ॥ २ ॥

कोटीशतवृतो वापि गजो गवय एव च ।
वानरेन्द्रौ महावीर्यौ पृथक् पृथगदृश्यताम् ॥ ३ ॥

फिर महापराक्रमी वानरराज 'गज' और 'गवय' पृथक्-पृथक् एक-एक अरब सेनाके साथ आते दिखायी दिये ॥ ३ ॥

षष्टिकोटिसहस्राणि प्रकर्षन् प्रत्यदृश्यत ।
गोलाङ्गूलो महाराज गवाक्षो भीमदर्शनः ॥ ४ ॥

महाराज ! गोलांगूल (लंगूर) जातिका वानर गवाक्ष, जो देखनेमें बड़ा भयंकर था, साठ सहस्र कोटि (छः खरब) वानर-सेना साथ लिये दृष्टिगोचर हुआ ॥ ४ ॥

गन्धमादनवासी तु प्रथितो गन्धमादनः ।
कोटीशतसहस्राणि हरीणां समकर्षत ॥ ५ ॥

गन्धमादन पर्वतपर रहनेवाला गन्धमादन नामसे विख्यात वानर वानरोंकी दस खरब सेना साथ लेकर आया ॥ ५ ॥

पनसो नाम मेधावी वानरः सुमहाबलः ।
कोटीर्दश द्वादश च त्रिंशत् पञ्च प्रकर्षति ॥ ६ ॥

पनस नामक बुद्धिमान् तथा महाबली वानर सत्तावन करोड़ सेना साथ लेकर आया ॥ ६ ॥

श्रीमान् दधिमुखो नाम हरिवृद्धोऽतिवीर्यवान् ।
प्रचकर्ष महासैन्यं हरीणां भीमतेजसाम् ॥ ७ ॥

वानरोंमें वृद्ध तथा अत्यन्त पराक्रमी श्रीमान् दधिमुख भयंकर तेजसे सम्पन्न वानरोंकी विशाल सेना साथ लेकर आये ॥ ७ ॥

कृष्णानां मुखपुण्ड्राणामृक्षाणां भीमकर्मणाम् ।
कोटीशतसहस्रेण जाम्बवान् प्रत्यदृश्यत ॥ ८ ॥

जिनके मुख (ललाट) पर तिलकका चिह्न शोभा पा रहा था तथा जो भयंकर पराक्रम करनेवाले थे, ऐसे काले रंगके शतकोटि सहस्र (दस खरब) रीछोंकी सेनाके साथ वहाँ जाम्बवान् दिखायी दिये ॥ ८ ॥

एते चान्ये च बहवो हरियूथपयूथपाः ।
असंख्येया महाराज समीयू रामकारणात् ॥ ९ ॥

महाराज ! ये तथा और भी बहुत-से वानरयूथपतियोंके भी यूथपति, जिनकी कोई संख्या नहीं थी, श्रीरामचन्द्रजीके कार्यसे वहाँ एकत्र हुए ॥ ९ ॥

गिरिकूटनिभाङ्गानां सिंहानामिव गर्जताम् ।
श्रूयते तुमुलः [illegible] ॥ १० ॥

उनके अङ्ग पर्वतोंके शिखरके सदृश जान पड़ते थे । वे सबके सब सिंहोंके समान गरजते और इधर-उधर दौड़ते थे । उन सबका सम्मिलित शब्द बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ १० ॥

गिरिकूटनिभाः केचित् केचिन्महिषसंनिभाः ।
शरदभ्रप्रतीकाशाः केचिद्धिङ्गुलकाननाः ॥ ११ ॥

कोई पर्वत-शिखरके समान ऊँचे थे, तो कोई भैंसोंके सदृश मोटे और काले । कितने ही वानर शरद् ऋतुके बादलोंकी तरह सफेद दिखायी देते थे, कितनोंके ही मुख सिन्दूरके समान लाल रंगके थे ॥ ११ ॥

उत्पतन्तः पतन्तश्च प्लवमानाश्च वानराः ।
उद्धुन्वन्तोऽपरे रेणून् समाजग्मुः समन्ततः ॥ १२ ॥

वे वानर सैनिक उछलते, गिरते-पड़ते, कूदते-फाँदते और धूल उड़ाते हुए चारों ओरसे एकत्र हो रहे थे ॥ १२ ॥

स वानरमहासैन्यः पूर्णसागरसंनिभः ।
निवेशमकरोत् तत्र सुग्रीवानुमते तदा ॥ १३ ॥

वानरोंकी वह विशाल सेना भरे-पूरे महासागरके समान दिखायी देती थी । सुग्रीवकी आज्ञासे उस समय माल्यवान् पर्वतके आस-पास ही उस समस्त सेनाका पड़ाव पड़ गया ॥ १३ ॥

ततस्तेषु हरीन्द्रेषु समावृत्तेषु सर्वशः ।
तिथौ प्रशस्ते नक्षत्रे मुहूर्ते चाभिपूजिते ॥ १४ ॥
तेन व्यूढेन सैन्येन लोकानुद्वर्तयन्निव ।
प्रययौ राघवः श्रीमान् सुग्रीवसहितस्तदा ॥ १५ ॥

तदनन्तर उन समस्त श्रेष्ठ वानरोंके सब ओरसे एकत्र हो जानेपर सुग्रीवसहित भगवान् श्रीरामने एक दिन शुभ तिथि, उत्तम नक्षत्र और शुभ मुहूर्तमें युद्धके लिये प्रस्थान किया । उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो वे उस व्यूह-रचनायुक्त सेनाके द्वारा सम्पूर्ण लोकोंका संहार करने जा रहे हैं ॥ १४-१५ ॥

मुखमासीत् तु सैन्यस्य हनूमान् मारुतात्मजः ।
जघनं पालयामास सौमित्रिरकुतोभयः ॥ १६ ॥

उस सेनाके मुहानेपर वायुपुत्र हनुमान्जी विद्यमान थे । किसीसे भी भय न माननेवाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मण उसके पृष्ठभागकी रक्षा कर रहे थे ॥ १६ ॥

बद्धगोधाङ्गुलित्राणौ राघवौ तत्र जग्मतुः ।
वृतौ हरिमहामात्रैश्चन्द्रसूर्यौ ग्रहैरिव ॥ १७ ॥

दोनों रघुवंशी वीर श्रीराम और लक्ष्मण हाथोंमें गोहके चमड़ेके बने हुए दस्ताने पहने हुए थे । वे ग्रहोंसे घिरे हुए चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति वानरजातीय मन्त्रियोंके बीचमें होकर चल रहे थे ॥ १७ ॥

प्रबभौ हरिसैन्यं तत् सालतालशिलायुधम् ।
सुमहच्छालिभवनं यथा सूर्योदयं प्रति ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके सम्मुख साल, ताल और शिलारूपी आयुध लिये वे समस्त वानर सैनिक सूर्योदयके समय पके हुए धानके विशाल खेतोंके समान जान पड़ते थे ॥ १८ ॥

नलनीलाङ्गदक्राथमैन्दद्विविदपालिता ।
ययौ सुमहती सेना राघवस्यार्थसिद्धये ॥ १९ ॥

नल, नील, अङ्गद, क्राथ, मैन्द तथा द्विविदके द्वारा सुरक्षित हुई वह विशाल वानरसेना श्रीरामचन्द्रजीका कार्य सिद्ध करनेके लिये आगे बढ़ती चली जा रही थी ॥ १९ ॥

विविधेषु प्रशस्तेषु बहुमूलफलेषु च ।
प्रभूतमधुमूलेषु वारिमत्सु शिवेषु च ॥ २० ॥
निवसन्ती निराबाधा तथैव गिरिसानुषु ।
उपायाद्धरिसेना सा क्षारोदमथ सागरम् ॥ २१ ॥

जहाँ फल-मूलकी बहुतायत होती, मधु और कन्द-मूल प्रचुरमात्रामें उपलब्ध होते तथा जलकी अधिक सुविधा होती, ऐसे कल्याणकारी और उत्तम विविध पर्वतीय शिखरोंपर डेरा डालती हुई वह वानरसेना बिना किसी विघ्न-बाधाके खारे पानीवाले समुद्रके निकट जा पहुँची ॥ २०-२१ ॥

द्वितीयसागरनिभं तद् बलं बहुलध्वजम् ।
वेलावनं समासाद्य निवासमकरोत् तदा ॥ २२ ॥

असंख्य ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित वह विशाल वाहिनी दूसरे महासागरके समान जान पड़ती थी । सागरके तटवर्ती वनमें पहुँचकर उसने अपना पड़ाव डाला ॥ २२ ॥

ततो दाशरथिः श्रीमान् सुग्रीवं प्रत्यभाषत ।
मध्ये वानरमुख्यानां प्राप्तकालमिदं वचः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् मुख्य-मुख्य वानरोंके बीचमें बैठे हुए दशरथ-नन्दन भगवान् श्रीरामने सुग्रीवसे यह समयोचित बात कही—॥ २३ ॥

उपायः को नु भवतां मतः सागरलङ्घने ।
इयं हि महती सेना सागरश्चातिदुस्तरः ॥ २४ ॥

'मित्रो ! हमारी यह सेना बहुत बड़ी है और सामने अत्यन्त दुस्तर महासागर लहरें ले रहा है । ऐसी दशामें आपलोग समुद्रके पार जानेके लिये कौन-सा उपाय ठीक समझते हैं ?' ॥ २४ ॥

तत्रान्ये व्याहरन्ति स्म वानरा बहुमानिनः ।
समर्था लङ्घने सिन्धोर्न तु तत् कृत्स्नकारकम् ॥ २५ ॥

तब वहाँ बहुत-से दूसरे-दूसरे वानर, जो बड़े अभिमानी थे, कहने लगे—'हम तो समुद्रको लाँघ जानेमें समर्थ हैं, परंतु सब नहीं लाँघ सकते' ॥ २५ ॥

केचिन्नौभिर्व्यवस्यन्ति केचिच्च विविधैः प्लवैः ।
नेति रामस्तु तान् सर्वान् सान्त्वयन् प्रत्यभाषत ॥ २६ ॥

कुछ वानर बड़ी-बड़ी नावोंके द्वारा समुद्रके पार जानेका निश्चय प्रकट करने लगे । कुछने नाव-डोंगी आदि विविध साधनोंद्वारा पार जानेकी बात बतायी । परंतु श्रीरामचन्द्र-जीने उनकी यह सलाह माननेसे इन्कार कर दिया और सबको सान्त्वना देते हुए कहा—॥ २६ ॥

शतयोजनविस्तारं न शक्ताः सर्ववानराः ।
क्रान्तुं तोयनिधिं वीरा नैषा वो नैष्ठिकी मतिः ॥ २७ ॥

'वीरो ! सभी वानरोंमें इतनी शक्ति नहीं है कि वे सौ योजन विस्तृत समुद्रको लाँघ सकें; अतः तुम लोगोंका यह निर्णय सर्वमान्य सिद्धान्तके रूपमें ग्राह्य नहीं है ॥ २७ ॥

नावो न सन्ति सेनाया बह्व्यस्तारयितुं तथा ।
वणिजामुपघातं च कथमस्मद्विधश्चरेत् ॥ २८ ॥

'इतनी बड़ी सेनाको पार उतारनेके लिये हमलोगोंके पास अधिक नौकाएँ भी नहीं हैं । (यदि कहें, व्यापारियोंके जहाजोंसे काम लिया जाय, तो) मेरे-जैसा पुरुष अपने स्वार्थके लिये व्यापारियोंके व्यवसायको हानि कैसे पहुँचा सकता है ? ॥

विस्तीर्णं चैव नः सैन्यं हन्याच्छिद्रेण वै परः ।
प्लवोडुपप्रतारश्च नैवात्र मम रोचते ॥ २९ ॥

'इसके सिवा नौका आदिसे यात्रा करनेपर हमारी सेना छिट-फुट होकर बहुत दूरतक फैल जायगी । उस दशामें अवसर पाकर शत्रु इसका नाश भी कर सकता है । इसीलिये डोंगी और नाव आदिपर बैठकर पार उतरनेकी बात मुझे ठीक नहीं जँचती है ॥ २९ ॥

अहं त्विमं जलनिधिं समारप्स्याम्युपायतः ।
प्रतिशेष्याम्युपवसन् दर्शयिष्यति मां ततः ॥ ३० ॥

'मैं तो किसी उपायसे इस समुद्रकी ही आराधना आरम्भ करूँगा। इसके तटपर अन्न-जल छोड़कर धरना दूँगा। इससे यह अवश्य मुझे दर्शन देगा तथा कोई मार्ग दिखायेगा ॥ ३० ॥

न चेद् दर्शयिता मार्गं धक्ष्याम्येनमहं ततः ।
महास्त्रैरप्रतिहतैरत्यग्निपवनोज्ज्वलैः ॥ ३१ ॥

'यदि यह स्वयं प्रकट होकर कोई मार्ग नहीं दिखायेगा, तो मैं अग्नि और वायुसे भी अधिक तेजस्वी तथा कभी न चूकनेवाले महान् दिव्यास्त्रोंद्वारा इसे जलाकर भस्म कर डालूँगा' ॥ ३१ ॥

इत्युक्त्वा सह सौमित्रिरुपस्पृश्याथ राघवः ।
प्रतिशिश्ये जलनिधिं विधिवत् कुशसंस्तरे ॥ ३२ ॥

ऐसा कहकर लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीने आचमन करके समुद्रके तटपर कुशकी चटाई बिछाकर उसपर लेटकर विधिपूर्वक धरना दे दिया ॥ ३२ ॥

सागरस्तु ततः स्वप्ने दर्शयामास राघवम् ।
देवो नदनदीभर्ता श्रीमान् यादोगणैर्वृतः ॥ ३३ ॥

तब नदों और नदियोंके स्वामी श्रीमान् समुद्रदेवने जल-जन्तुओंके साथ प्रकट होकर स्वप्नमें श्रीरामचन्द्रजीको दर्शन दिया ॥ ३३ ॥

कौसल्यामातरित्येवमाभाष्य मधुरं वचः ।
इदमित्याह रत्नानामाकरैः शतशो वृतः ॥ ३४ ॥

वह सैकड़ों रत्नके आकरोंसे घिरा हुआ था । उसने 'कौसल्यानन्दन' कहकर श्रीरामको सम्बोधित किया और मधुर वाणीमें इस प्रकार कहा—॥ ३४ ॥

ब्रूहि किं ते करोम्यत्र साहाय्यं पुरुषर्षभ ।
ऐक्ष्वाको ह्यस्मि ते ज्ञातिरिति रामस्तमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

'नरश्रेष्ठ ! कहो, मैं यहाँ तुम्हारी क्या सहायता करूँ ? सगरपुत्रोंसे संवर्धित होनेके कारण मैं भी इक्ष्वाकुवंशीय तथा तुम्हारा भाई-बन्धु हूँ'। यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने उससे कहा—॥

मार्गमिच्छामि सैन्यस्य दत्तं नदनदीपते ।
येन गत्वा दशग्रीवं हन्यां पौलस्त्यपांसनम् ॥ ३६ ॥

'नद-नदीश्वर ! मैं अपनी सेनाके लिये तुम्हारे द्वारा दिया हुआ मार्ग चाहता हूँ, जिससे जाकर पुलस्त्यकुलाङ्गार दशमुख रावणको मार सकूँ ॥ ३६ ॥

यद्येवं याचतो मार्गं न प्रदास्यति मे भवान् ।
शरैस्त्वां शोषयिष्यामि दिव्यास्त्रप्रतिमन्त्रितैः ॥ ३७ ॥

'यदि इस प्रकार याचना करनेपर तुम मुझे मार्ग न दोगे, तो मैं दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंद्वारा तुम्हें सुखा दूँगा ॥

इत्येवं ब्रुवतः श्रुत्वा रामस्य वरुणालयः ।
उवाच व्यथितो वाक्यमिति बद्धाञ्जलिः स्थितः ॥ ३८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर वरुणालय समुद्र व्यथित हो उठा और खड़े हुए हाथ जोड़कर बोला—॥ ३८ ॥

नेच्छामि प्रतिघातं ते नास्मि विघ्नकरस्तव ।
शृणु चेदं वचो राम श्रुत्वा कर्तव्यमाचर ॥ ३९ ॥

'श्रीराम ! मैं तुम्हारा सामना करना नहीं चाहता और न मैं तुम्हारे मार्गमें विघ्न डालनेकी ही इच्छा रखता हूँ । मेरी यह बात सुनो और सुनकर जो कर्तव्य हो, उसे करो ॥ ३९ ॥

यदि दास्यामि ते मार्गं सैन्यस्य व्रजतोऽऽज्ञया ।
अन्येऽप्याज्ञापयिष्यन्ति मामेवं धनुषो बलात् ॥ ४० ॥

'यदि मैं इस समय तुम्हारी आज्ञासे तुम्हें और लङ्का जाती हुई तुम्हारी सेनाको मार्ग दे दूँगा, तो दूसरे लोग भी इसी प्रकार धनुषके बलसे मुझपर हुकम चलाया करेंगे ॥ ४० ॥

अस्ति त्वत्र नलो नाम वानरः शिल्पिसम्मतः ।
त्वष्टुर्देवस्य तनयो बलवान् विश्वकर्मणः ॥ ४१ ॥

'तुम्हारी सेनामें एक नल नामक वानर है, जो शिल्पियोंके लिये भी आदरणीय है । बलवान् नल देवशिल्पी विश्वकर्माका पुत्र है ॥ ४१ ॥

स यत् काष्ठं तृणं वापि शिलां वा क्षेप्स्यते मयि ।
सर्वं तद् धारयिष्यामि स ते सेतुर्भविष्यति ॥ ४२ ॥

'वह अपने हाथसे उठाकर जो भी काठ, तिनका या पत्थर मेरे भीतर डाल देगा, वह सब मैं जलके ऊपर धारण किये रहूँगा । वही तुम्हारे लिये पुल हो जायगा' ॥ ४२ ॥

इत्युक्त्वान्तर्हिते तस्मिन् रामो नलमुवाच ह ।
कुरु सेतुं समुद्रे त्वं शक्तो ह्यसि मतो मम ॥ ४३ ॥

ऐसा कहकर समुद्र अन्तर्धान हो गया । तत्पश्चात् श्रीरामने उठकर नलसे कहा—'तुम समुद्रपर एक पुल तैयार करो । मैं जानता हूँ, तुममें यह कार्य करनेकी शक्ति है' ॥ ४३ ॥

तेनोपायेन काकुत्स्थः सेतुबन्धमकारयत् ।
दशयोजनविस्तारमायतं शतयोजनम् ॥ ४४ ॥

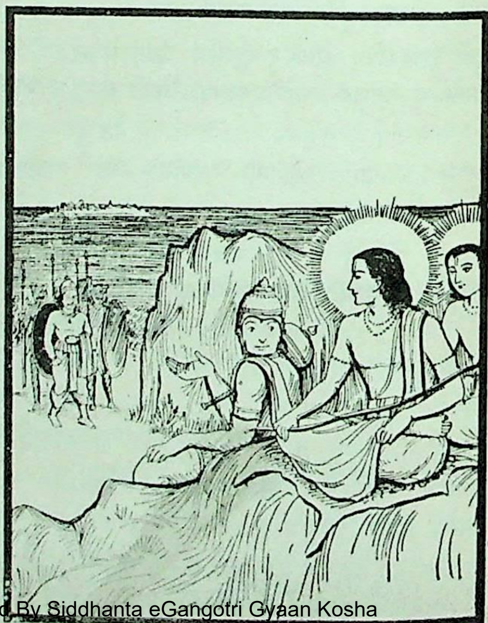
उसी उपायसे रघुनाथजीने समुद्रपर सौ योजन लंबा और दस योजन चौड़ा पुल तैयार कराया ॥ ४४ ॥

नलसेतुरिति ख्यातो योऽद्यापि प्रथितो भुवि ।
रामस्याज्ञां पुरस्कृत्य निर्यातो गिरिसंनिभः ॥ ४५ ॥

वह आज भी भूमण्डलमें 'नलसेतु' के नामसे विख्यात है। श्रीरामजीकी आज्ञा मानकर समुद्रने उस पर्वताकार पुलको अपने ऊपर धारण किया ॥ ४५ ॥

तत्रस्थं स तु धर्मात्मा समागच्छद् विभीषणः ।
भ्राता वै राक्षसेन्द्रस्य चतुर्भिः सचिवैः सह ॥ ४६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी अभी समुद्रके किनारे ही थे कि राक्षस-राज रावणके भाई धर्मात्मा विभीषण अपने चार मन्त्रियोंके साथ उनसे मिलनेके लिये आये ॥ ४६ ॥



प्रतिजग्राह रामस्तं स्वागतेन महामनाः ।
सुग्रीवस्य तु शङ्काभूत् प्रणिधिः स्यादिति स्म ह ॥ ४७॥

महामना श्रीरामने स्वागतपूर्वक उन्हें अपनाया। उस समय सुग्रीवके मनमें यह शङ्का हुई कि 'कहीं यह शत्रुका कोई गुप्तचर न हो' ॥ ४७ ॥

राघवः सत्यचेष्टाभिः सम्यक् च चरितेङ्गितैः ।
यदा तत्त्वेन तुष्टोऽभूत् तत एनमपूजयत् ॥ ४८ ॥

परंतु श्रीरामचन्द्रजीने उनकी सत्य चेष्टाओं, उत्तम आचरणों और मुख-नेत्र आदिके संकेतोंसे सूचित होनेवाले मनोभावोंकी सम्यक् समीक्षा करके जब अच्छी तरह संतोष प्राप्त कर लिया, तब विभीषणका बहुत आदर किया ॥ ४८ ॥

सर्वराक्षसराज्ये चाप्यभ्यषिञ्चद् विभीषणम् ।
चक्रे च मन्त्रसचिवं सुहृदं लक्ष्मणस्य च ॥ ४९ ॥

साथ ही उन्हें समस्त राक्षसोंके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया और लक्ष्मणका सुहृद् तथा अपना सलाहकार बना लिया॥

विभीषणमते चैव सोऽत्यक्रामन्महार्णवम् ।
ससैन्यः सेतुना तेन मासेनैव नराधिप ॥ ५० ॥

नरेश्वर ! विभीषणकी सलाहसे श्रीरामचन्द्रजीने उसी सेतुद्वारा एक ही महीनेमें सेनासहित महासागरको पार कर लिया ॥ ५० ॥

ततो गत्वा समासाद्य लङ्कोद्यानान्यनेकशः ।
भेदयामास कपिभिर्महान्ति च बहूनि च ॥ ५१ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने लङ्काकी सीमामें पहुँचकर वानरोंद्वारा वहाँके बहुत-से बड़े-बड़े उद्यानोंको छिन्न-भिन्न करा दिया ॥

ततस्तौ रावणामात्यौ मन्त्रिणौ शुकसारणौ ।
चरौ वानररूपेण तौ जग्राह विभीषणः ॥ ५२ ॥

उस सेनामें वानरोंका रूप धारण करके रावणके दो मन्त्री शुक और सारण गुप्तचरका काम करनेके लिये घुस आये थे। विभीषणने उन दोनोंको पहचानकर कैद कर लिया ॥ ५२ ॥

प्रतिपन्नौ यदा रूपं राक्षसं तौ निशाचरौ ।
दर्शयित्वा ततः सैन्यं रामः पश्चादवासृजत् ॥ ५३ ॥

जब वे दोनों निशाचर अपने राक्षसरूपमें प्रकट हुए, तब श्रीरामने उन्हें अपनी सेनाका दर्शन कराकर छोड़ दिया ॥ ५३ ॥

निवेश्योपवने सैन्यं तत् पुरः प्राज्ञवानरम् ।
प्रेषयामास दौत्येन रावणस्य ततोऽङ्गदम् ॥ ५४ ॥

लङ्कापुरीके उपवनमें वानरसेनाको ठहराकर श्रीरघुनाथजीने बुद्धिमान् वानर अङ्गदको दूतके रूपमें रावणके यहाँ भेजा ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि सेतुबन्धने त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें सेतुबन्धविषयक दो सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८३ ॥

चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अङ्गदका रावणके पास जाकर रामका संदेश सुनाकर लौटना तथा राक्षसों और वानरोंका घोर संग्राम

मार्कण्डेय उवाच

प्रभूतान्नोदके तस्मिन् बहुमूलफले वने ।
सेनां निवेश्य काकुत्स्थो विधिवत् पर्यरक्षत ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! लङ्काके उस वनमें अन्न और जलका बहुत सुभीता था। फल और मूल प्रचुर मात्रामें उपलब्ध थे; अतः वहीं सेनाकी छावनी डालकर श्रीरामचन्द्रजी विधिपूर्वक उसकी रक्षा करते रहे ॥ १ ॥

रावणः संविधं चक्रे लङ्कायां शास्त्रनिर्मिताम् ।
प्रकृत्यैव दुराधर्षा दृढप्राकारतोरणा ॥ २ ॥

इधर रावण लङ्कामें शास्त्रोक्त प्रकारसे बनी हुई युद्ध-सामग्री (मशीनगन आदि) का संग्रह करने लगा। लङ्काकी चहारदीवारी और नगर-द्वार अत्यन्त सुदृढ़ थे; अतः स्वभावसे ही वह दुर्धर्ष थी—किसी भी आक्रमणकारीका वहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन था ॥ २ ॥

अगाधतोयाः परिखा मीननक्रसमाकुलाः ।
बभूवुः सप्त दुर्धर्षाः खादिरैः शङ्कुभिश्चिताः ॥ ३ ॥

नगरके चारों ओर सात गहरी खाइयाँ थीं, जिनमें अगाध जल भरा रहता था और उनमें मत्स्य-मगर आदि जल-जन्तु निवास करते थे। इन खाइयोंमें सब ओर खैरके खूँटे गड़े हुए थे ॥ ३ ॥

कपाटयन्त्रदुर्धर्षा बभूवुः सहुडोपलाः ।
साशीविषघटायोधाः ससर्जरसपांसवः ॥ ४ ॥

'मजबूत किवाड़ लगे थे और गोला बरसानेवाले यन्त्र (मशीनें) यथास्थान लगे थे। इनके सिवा वहाँ बहुत-से शृङ्ग और गोले जमा किये गये थे। इन सब कारणोंसे इन खाइयोंको पार करना बहुत कठिन था। विषधर सर्पोंके समूह, सैनिक, सर्जरस (लाह) और धूल—इन सबसे संयुक्त और सुरक्षित होनेके कारण भी वे खाइयाँ दुर्गम थीं॥

मुसलालातनाराचतोमरासिपरश्वधैः ।
अन्विताश्च शतघ्नीभिः समधूच्छिष्टमुद्गराः ॥ ५ ॥

मुसल, अलात (बनैटी), बाण, तोमर, तलवार, फरसे, [illegible] के कारण भी वे खाइयाँ दुर्लङ्घ्य थीं ॥ ५ ॥

पुरद्वारेषु सर्वेषु गुल्माः स्थावरजङ्गमाः ।
बभूवुः पत्तिबहुलाः प्रभूतगजवाजिनः ॥ ६ ॥

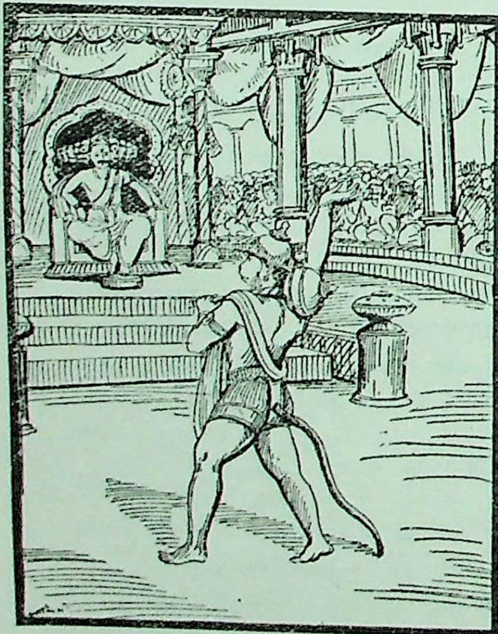
नगरके सभी दरवाजोंपर छिपकर बैठनेके लिये बुर्ज बने हुए थे । ये स्थावर गुल्म कहलाते थे और घूम-फिरकर रक्षा करनेवाले जो सैनिक नियुक्त किये गये थे वे जङ्गम गुल्म कहे जाते थे । इनमें अधिकांश पैदल और बहुत-से हाथीसवार तथा घुड़सवार भी थे ॥ ६ ॥

अङ्गदस्त्वथ लङ्काया द्वारदेशमुपागतः ।
विदितो राक्षसेन्द्रस्य प्रविवेश गतव्यथः ॥ ७ ॥
मध्ये राक्षसकोटीनां बह्वीनां सुमहाबलः ।
शुशुभे मेघमालाभिरादित्य इव संवृतः ॥ ८ ॥

(श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे) महाबली अङ्गद दूत बनकर लङ्कापुरीके द्वारपर आये । राक्षसराज रावणको उनके आगमनकी सूचना दी गयी । फिर अनुमति मिलनेपर उन्होंने निर्भय होकर पुरीमें प्रवेश किया । अनेक करोड़ राक्षसोंके बीचमें जाते हुए अङ्गद मेघोंकी घटासे घिरे हुए सूर्यदेवके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ७-८ ॥

स समासाद्य पौलस्त्यममात्यैरभिसंवृतम् ।
रामसंदेशमामन्त्र्य वाग्मी वक्तुं प्रचक्रमे ॥ ९ ॥

मन्त्रियोंसे घिरकर बैठे हुए पुलस्त्यनन्दन रावणके पास पहुँचकर कुशल वक्ता अङ्गदने रावणको सम्बोधित करके श्रीरामचन्द्रजीका संदेश इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥



आह त्वां राघवो राजन् कोसलेन्द्रो महायशाः ।
प्राप्तकालमिदं वाक्यं तदादत्स्व कुरुष्व च ॥ १० ॥

'राजन् ! कोसलदेशके महाराज महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजीने तुमसे कहनेके लिये जो समयोचित संदेश भेजा है, उसे सुनो और तदनुसार कार्य करो ॥ १० ॥

अकृतात्मानमासाद्य राजानमनये रतम् ।
विनश्यन्त्यनयाविष्टा देशाश्च नगराणि च ॥ ११ ॥

'जो राजा अपने मनको काबूमें न रखकर अन्यायमें तत्पर रहता है, उसका आश्रय लेकर उसके अधीन रहनेवाले नगर और देश भी अनीतिपरायण होकर नष्ट हो जाते हैं ॥ ११ ॥

त्वयैकेनापराद्धं मे सीतामाहरता बलात् ।
वधायानपराद्धानामन्येषां तद् भविष्यति ॥ १२ ॥

'सीताका बलपूर्वक अपहरण करके मेरा अपराध तो अकेले तुमने किया है, परंतु इसके कारण अन्य निर्दोष लोग भी मारे जायँगे ॥ १२ ॥

ये त्वया बलदर्पाभ्यामाविष्टेन वनेचराः ।
ऋषयो हिंसिताः पूर्वं देवाश्चाप्यवमानिताः ॥ १३ ॥
राजर्षयश्च निहता रुदत्यश्च हृताः स्त्रियः ।
तदिदं समनुप्राप्तं फलं तस्यानयस्य ते ॥ १४ ॥

'तुमने बल और अहंकारसे उन्मत्त होकर पहले जिन वनवासी ऋषियोंकी हत्या की, देवताओंका अपमान किया, राजर्षियोंके प्राण लिये तथा रोती-बिलखती अबलाओंका भी अपहरण किया था, उन सब अत्याचारोंका फल अब तुम्हें प्राप्त होनेवाला है ॥ १३-१४ ॥

हन्तास्मि त्वां सहामात्यैर्युध्यस्व पुरुषो भव ।
पश्य मे धनुषो वीर्यं मानुषस्य निशाचर ॥ १५ ॥

'मैं मन्त्रियोंसहित तुम्हें मार डालूँगा । साहस हो, तो युद्ध करो और पौरुषका परिचय दो । निशाचर ! यद्यपि मैं मनुष्य हूँ, तो भी मेरे धनुषका बल देखना ॥१५॥

मुच्यतां जानकी सीता न मे मोक्ष्यसि कर्हिचित् ।
अराक्षसमिमं लोकं कर्तास्मि निशितैः शरैः ॥ १६ ॥

'जनकनन्दिनी सीताको छोड़ दो, अन्यथा कभी मेरे हाथसे जीवित नहीं बचोगे । मैं अपने तीखे बाणोंद्वारा इस संसारको राक्षसोंसे सूना कर दूँगा' ॥ १६ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य दूतस्य परुषं वचः ।
श्रुत्वा न ममृषे राजा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके दूतके मुखसे ऐसी कठोर बातें सुनकर राजा रावण सहन न कर सका । वह क्रोधसे मूर्छित हो उठा ॥ १७ ॥

इङ्गितज्ञास्ततो भर्तुश्चत्वारो रजनीचराः ।
चतुर्ष्वङ्गेषु जगृहुः शार्दूलमिव पक्षिणः ॥ १८ ॥

तब स्वामीके संकेतको समझनेवाले चार निशाचर अपनी जगहसे उठे और जिस प्रकार पक्षी सिंहको पकड़े, उसी प्रकार वे अङ्गदके चार अङ्गोंको पकड़ने लगे ॥ १८ ॥

तांस्तथाङ्गेषु संसक्तानङ्गदो रजनीचरान् ।
आदायैव खमुत्पत्य प्रासादतलमाविशत् ॥ १९ ॥

अङ्गद इस प्रकार अपने अङ्गोंसे सटे हुए उन चारों राक्षसोंको लिये-दिये आकाशमें उछलकर महलकी छतपर जा चढ़े ॥ १९ ॥

वेगेनोत्पततस्तस्य पेतुस्ते रजनीचराः ।
भुवि सम्भिन्नहृदयाः प्रहारवरपीडिताः ॥ २० ॥

उछलते समय उनके वेगसे छूटकर वे चारों राक्षस पृथ्वीपर जा गिरे । उन राक्षसोंकी छाती फट गयी और अधिक चोट लगनेके कारण उन्हें बड़ी पीड़ा हुई ॥ २० ॥

संसक्तो हर्म्यशिखरात् तस्मात् पुनरवापतत् ।
लङ्घयित्वा पुरीं लङ्कां सुवेलस्य समीपतः ॥ २१ ॥

छतपर चढ़े हुए अङ्गद फिर उस महलके कँगूरेसे कूद पड़े और लङ्कापुरीको लाँघकर सुवेलपर्वतके समीप आ पहुँचे ॥ २१ ॥

कोसलेन्द्रमथागम्य सर्वमावेद्य वानरः ।
विशश्राम स तेजस्वी राघवेणाभिनन्दितः ॥ २२ ॥

फिर कोसलनरेश श्रीरामचन्द्रजीसे मिलकर तेजस्वी वानर अङ्गदने रावणके दरबारकी सारी बातें बतायीं। श्रीरामने अङ्गदकी बड़ी प्रशंसा की। फिर वे विश्राम करने लगे ॥ २२ ॥

ततः सर्वाभिसारेण हरीणां वातरंहसाम् ।
भेदयामास लङ्कायाः प्राकारं रघुनन्दनः ॥ २३ ॥

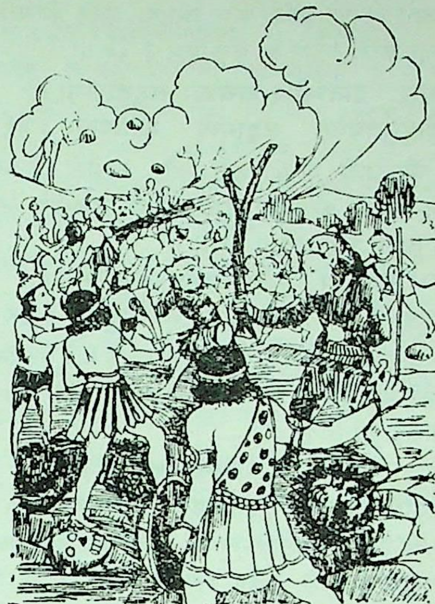
तदनन्तर भगवान् श्रीरामने वायुके समान वेगशाली वानरोंकी सम्पूर्ण सेनाके द्वारा एक साथ लङ्कापर धावा बोल दिया और उसकी चहारदीवारी तुड़वा डाली ॥ २३ ॥

विभीषणर्क्षाधिपती पुरस्कृत्याथ लक्ष्मणः ।
दक्षिणं नगरद्वारमवामृद्नाद् दुरासदम् ॥ २४ ॥

नगरके दक्षिण द्वारमें प्रवेश करना बहुत कठिन था, परंतु लक्ष्मणने विभीषण और जाम्बवान्‌को आगे करके उसे भी धूलमें मिला दिया ॥ २४ ॥

करभारुणपाण्डूनां हरीणां युद्धशालिनाम् ।
कोटीशतसहस्रेण लङ्कामभ्यपपत् तदा ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने हथेलीके समान श्वेत और लाल रंगके युद्धकुशल वानरोंकी दस खरब सेनाके साथ लङ्कामें प्रवेश किया ॥ २५ ॥



प्रलम्बबाहूरुकरजङ्घान्तरविलम्बिनाम् ।
ऋक्षाणां धूम्रवर्णानां तिस्रः कोट्यो व्यवस्थिताः ॥ २६ ॥

उनके भुजा, ऊरु, हाथ और जङ्घा (पिंडली)—ये सभी अङ्ग विशाल थे तथा अङ्गोंकी कान्ति धुएँके समान काली थी, ऐसे तीन करोड़ रीछ सैनिक भी उनके साथ लङ्कामें जाकर युद्धके लिये डटे हुए थे ॥ २६ ॥

उत्पतद्भिः पतद्भिश्च निपतद्भिश्च वानरैः ।
नादृश्यत तदा सूर्यो रजसा नाशितप्रभः ॥ २७ ॥

उस समय वानरोंके उछलने-कूदने तथा गिरने-पड़नेसे इतनी धूल उड़ी कि उससे सूर्यकी प्रभा नष्ट-सी हो गयी और उसका दीखना बंद हो गया ॥ २७ ॥

शालिप्रसूनसदृशैः शिरीषकुसुमप्रभैः ।
तरुणादित्यसदृशैः शणगौरैश्च वानरैः ॥ २८ ॥
प्राकारं ददृशुस्ते तु समन्तात् कपिलीकृतम् ।
राक्षसा विस्मिता राजन् सस्त्रीवृद्धाः समन्ततः ॥ २९ ॥

राजन् ! धानके फूल-जैसे रंगवाले, मौलसिरीके पुष्प-सदृश कान्तिवाले, प्रातःकालके सूर्यके समान अरुण प्रभावाले तथा सनईके समान सफेद रंगवाले वानरोंसे व्याप्त होनेके कारण लङ्काकी चहारदीवारी चारों ओर कपिलवर्णकी दिखायी देती थी । स्त्रियों और वृद्धोंसहित समस्त लङ्कावासी राक्षस चारों ओर आश्चर्यचकित होकर इस दृश्यको देख रहे थे ॥ २८-२९ ॥

बिभिदुस्ते मणिस्तम्भान् कर्णाट्टशिखराणि च ।
भग्नोन्मथितशृङ्गाणि यन्त्राणि च विचिक्षिपुः ॥ ३० ॥

वानर सैनिक वहाँके मणिनिर्मित खम्भों और अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे महलोंके कंगूरोंको तोड़ने-फोड़ने लगे । गोलाबारी

करनेवाले जो तोप आदि यन्त्र लगे थे, उनके शिखरोंको चूर-चूर करके उन्होंने दूर फेंक दिया ॥ ३० ॥

परिगृह्य शतघ्नीश्च सचक्राः सहुडोपलाः ।
चिक्षिपुर्भुजवेगेन लङ्कामध्ये महास्वनाः ॥ ३१ ॥

पहियोंवाली तोपों, शृङ्गों और गोलोंको ले-लेकर महान् कोलाहल करते हुए वानर अपनी भुजाओंके वेगसे उन्हें लङ्कामें फेंकने लगे ॥ ३१ ॥

प्राकारस्थाश्च ये केचिन्निशाचरगणास्तथा ।
प्रदुद्रुवुस्ते शतशः कपिभिः समभिद्रुताः ॥ ३२ ॥

जो कोई निशाचर चहारदीवारीकी रक्षाके लिये सैकड़ोंकी संख्यामें वहाँ खड़े थे, वे सब वानरोंद्वारा खदेड़े जानेपर भाग खड़े हुए ॥ ३२ ॥

ततस्तु राजवचनाद् राक्षसाः कामरूपिणः ।
निर्ययुर्विकृताकाराः सहस्रशतसङ्घशः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर राक्षसराज रावणकी आज्ञा पाकर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षस लाख-लाखकी टोली बनाकर नगरसे बाहर निकले। उन सबकी आकृति बड़ी विकराल थी ॥ ३३ ॥

शस्त्रवर्षाणि वर्षन्तो द्रावयित्वा वनौकसः ।
प्राकारं शोभयन्तस्ते परं विक्रममास्थिताः ॥ ३४ ॥

वे चहारदीवारीकी शोभा बढ़ाते हुए अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करके वनवासी वानरोंको खदेड़ने लगे और अपने उत्तम पराक्रमका परिचय देने लगे ॥ ३४ ॥

स माषराशिसदृशैर्बभूव क्षणदाचरैः ।
कृतो निर्वानरो भूयः प्राकारो भीमदर्शनैः ॥ ३५ ॥

उड़दके ढेर-जैसे काले-कलूटे उन भयंकर निशाचरोंने लड़कर पुनः उस चहारदीवारीको वानरोंसे सूनी कर दिया ॥ ३५ ॥

पेतुः शूलविभिन्नाङ्गा बहवो वानरर्षभाः ।
स्तम्भतोरणभग्नाश्च पेतुस्तत्र निशाचराः ॥ ३६ ॥

उनके शूलोंकी मारसे अङ्ग विदीर्ण हो जानेके कारण बहुत-से श्रेष्ठ वानर धराशायी हो गये। इसी प्रकार वानरोंके हाथोंसे खम्भोंकी मार खाकर कितने ही निशाचर युद्धका मैदान छोड़कर भाग गये और कितने वहीं ढेर हो गये ॥ ३६ ॥

केशाकेश्यभवद् युद्धं रक्षसां वानरैः सह ।
नखैर्दन्तैश्च वीराणां खादतां वै परस्परम् ॥ ३७ ॥

तत्पश्चात् वीर राक्षसोंका वानरोंके साथ सिरके बाल पकड़कर युद्ध होने लगा। वे नखों और दाँतोंसे भी एक-दूसरेको काट खाते थे ॥ ३७ ॥

निष्टनन्तो ह्युभयतस्तत्र वानरराक्षसाः ।
हता निपतिता भूमौ न मुञ्चन्ति परस्परम् ॥ ३८ ॥

दोनों ओरसे गर्जना करते हुए वानर तथा राक्षस इस प्रकार युद्ध करते थे कि मरकर पृथ्वीपर गिर जानेके बाद भी एक-दूसरेको छोड़ते नहीं थे ॥ ३८ ॥

रामस्तु शरजालानि ववर्ष जलदो यथा ।
तानि लङ्कां समासाद्य जघ्नुस्तान् रजनीचरान् ॥ ३९ ॥

उधर श्रीरामचन्द्रजी भी, जैसे बादल जल बरसाते हैं, उसी प्रकार बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे और वे बाण लङ्कामें घुसकर वहाँ खड़े हुए निशाचरोंके प्राण लेने लगे ॥ ३९ ॥

सौमित्रिरपि नाराचैर्दृढधन्वा जितक्लमः ।
आदिश्यादिश्य दुर्गस्थान् पातयामास राक्षसान् ॥ ४० ॥

क्लेश और थकावटपर विजय पानेवाले सुदृढ़ धनुर्धर सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी सूचना दे-देकर नाराच नामक बाणोंद्वारा दुर्गके भीतर रहनेवाले राक्षसोंको भी मार गिराने लगे ॥ ४० ॥

ततः प्रत्यवहारोऽभूत् सैन्यानां राघवाज्ञया ।
कृते विमर्दे लङ्कायां लब्धलक्ष्यो जयोत्तरः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार लङ्कामें भीषण मार-काट मचानेके बाद वानरसैनिक लक्ष्यसिद्धिपूर्वक विजय पाकर श्रीरघुनाथजीकी आज्ञासे युद्ध बंद करके शिविरकी ओर लौट गये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि लङ्काप्रवेशे चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें लङ्कामें प्रवेशविषयक दो सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८४ ॥

पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीराम और रावणकी सेनाओंका द्वन्द्वयुद्ध

मार्कण्डेय उवाच

ततो निविशमानांस्तान् सैनिकान् रावणानुगाः ।
अभिजग्मुर्गणानेके पिशाचक्षुद्ररक्षसाम् ॥ १ ॥

पर्वणः पतनो जम्भः खरः क्रोधवशो हरिः ।
प्ररुजश्चारुजश्चैव प्रघसश्चैवमादयः ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जब वानर-सैनिक

शिविरमें प्रवेश करने लगे, उस समय रावणकी सेवामें रहनेवाले पर्वण, पतन, जम्भ, खर, क्रोधवश, हरि, प्ररुज, अरुज और प्रघस आदि पिशाच तथा अधम राक्षसोंके अनेक दलोंने आकर उनपर धावा बोल दिया ॥ १-२ ॥

ततोऽभिपततां तेषामदृश्यानां दुरात्मनाम् ।
अन्तर्धानवधं तज्ज्ञश्चकार स विभीषणः ॥ ३ ॥

वे दुरात्मा निशाचर अन्तर्धानविद्यासे अदृश्य होकर आक्रमण कर रहे थे। विभीषण उस विद्याके जानकार थे, अतः उन्होंने उन राक्षसोंकी अन्तर्धानशक्तिको नष्ट कर दिया ॥

ते दृश्यमाना हरिभिर्बलिभिर्दूरपातिभिः ।
निहताः सर्वशो राजन् महीं जग्मुर्गतासवः ॥ ४ ॥

फिर तो वे सभी राक्षस वानरोंकी दृष्टिमें आ गये। राजन्! वानर बलवान् तो थे ही, वे दूरतक उछलकर जानेकी शक्ति रखते थे। वे सब ओरसे कूद-कूदकर उन्हें मारने लगे। उनकी मार खाकर वे सभी राक्षस प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ४ ॥

अमृष्यमाणः सबलो रावणो निर्ययावथ ।
राक्षसानां बलैर्घोरैः पिशाचानां च संवृतः ॥ ५ ॥

रावणके लिये यह बात असह्य हो उठी। वह पिशाचों तथा राक्षसोंकी भयंकर सेनासे घिरा हुआ दल-बलके साथ लङ्कासे बाहर निकला ॥ ५ ॥

युद्धशास्त्रविधानज्ञ उशना इव चापरः ।
व्यूह्य चौशनसं व्यूहं हरीनभ्यवहारयत् ॥ ६ ॥

वह दूसरे शुक्राचार्यके समान युद्धशास्त्रके विधानका ज्ञाता था। उसने शुक्राचार्यके मतके अनुसार व्यूह-रचना करके सब वानरोंको घेर लिया ॥ ६ ॥

राघवस्तु विनिर्यान्तं व्यूढानीकं दशाननम् ।
बार्हस्पत्यं विधिं कृत्वा प्रत्यव्यूहन्निशाचरम् ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने जब देखा कि दशमुख रावण व्यूहाकार सेनाको साथ ले नगरसे बाहर निकल रहा है, तब उन्होंने भी उस निशाचरके विरुद्ध बृहस्पतिकी बतायी हुई रीतिसे अपनी सेनाका व्यूह बनाया ॥ ७ ॥

समेत्य युयुधे तत्र ततो रामेण रावणः ।
युयुधे लक्ष्मणश्चापि तथैवेन्द्रजिता सह ॥ ८ ॥

तदनन्तर वहाँ पहुँचकर रावण श्रीरामचन्द्रजीके साथ युद्ध करने लगा। दूसरी ओर लक्ष्मणने भी इन्द्रजित्के साथ युद्ध करना प्रारम्भ किया ॥ ८ ॥

विरूपाक्षेण सुग्रीवस्तारेण च निखर्वटः ।
तुण्डेन च नलस्तत्र पटुशः पनसेन च ॥ ९ ॥

सुग्रीवने विरूपाक्षके साथ युद्ध किया। निखर्वट नामक राक्षस तार नामक वानरसे जा भिड़ा। नलने निशाचर तुण्डका सामना किया तथा पटुश नामक राक्षस पनस वानरके साथ युद्ध करने लगा ॥ ९ ॥

विषह्यं यं हि यो मेने स स तेन समेयिवान् ।
युयुधे युद्धवेलायां स्वबाहुबलमाश्रितः ॥ १० ॥

जो जिसे अपने जोड़का समझता था, उसीके साथ उसकी भिड़न्त हुई। सबलोग युद्धके समय अपने बाहुबलका आश्रय ले शत्रुका सामना करते थे ॥ १० ॥

स सम्प्रहारो ववृधे भीरूणां भयवर्धनः ।
लोमसंहर्षणो घोरः पुरा देवासुरे यथा ॥ ११ ॥

पूर्वकालमें देवताओं और असुरोंमें जैसा भयंकर तथा रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ था, उसी प्रकार वानरों और निशाचरोंका वह युद्ध भयानकरूपसे बढ़ता जा रहा था। वह संग्राम कायरोंके भयको बढ़ानेवाला था ॥ ११ ॥

रावणो राममानर्छच्छक्तिशूलासिवृष्टिभिः ।
निशितैरायसैस्तीक्ष्णै रावणं चापि राघवः ॥ १२ ॥
तथैवेन्द्रजितं यत्तं लक्ष्मणो मर्मभेदिभिः ।
इन्द्रजिच्चापि सौमित्रिं बिभेद बहुभिः शरैः ॥ १३ ॥

रावणने शक्ति, शूल और खड्गकी वर्षा करके श्रीरामचन्द्रजीको बहुत पीड़ा दी तथा श्रीरघुनाथजीने भी लोहेके बने हुए तीखे बाणोंद्वारा रावणको अत्यन्त पीड़ित किया। इसी प्रकार युद्धके लिये उद्यत रहनेवाले इन्द्रजित्को लक्ष्मणने मर्मभेदी बाणोंद्वारा घायल किया और इन्द्रजित्ने सुमित्रानन्दन लक्ष्मणको अनेक बाणोंद्वारा बींध डाला॥१२-१३॥

विभीषणः प्रहस्तं च प्रहस्तश्च विभीषणम् ।
खगपत्रैः शरैस्तीक्ष्णैरभ्यवर्षद् गतव्यथः ॥ १४ ॥

इधर विभीषण प्रहस्तपर और प्रहस्त विभीषणपर पंखयुक्त तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे। उन दोनोंमेंसे कोई भी व्यथाका अनुभव नहीं करता था ॥ १४ ॥

तेषां बलवतामासीन्महास्त्राणां समागमः ।
विव्यथुः सकला येन त्रयो लोकाश्चराचराः ॥ १५ ॥

बड़े-बड़े अस्त्र धारण करनेवाले उन बलवान् वीरोंका वह संग्राम इतना भयंकर था कि उससे तीनों लोकोंके समस्त चराचर प्राणी व्यथित हो उठे ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामरावणद्वन्द्वयुद्धे पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें रामरावणद्वन्द्वयुद्धविषयक दो सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८५ ॥

षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

प्रहस्त और धूम्राक्षके वधसे दुखी हुए रावणका कुम्भकर्णको जगाना और उसे युद्धमें भेजना

मार्कण्डेय उवाच

ततः प्रहस्तः सहसा समभ्येत्य विभीषणम्।
गदया ताडयामास विनद्य रणकर्कशः॥ १॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर युद्धमें निष्ठुर पराक्रम दिखानेवाले प्रहस्तने सहसा विभीषणके पास पहुँचकर गर्जना करते हुए उनपर गदासे आघात किया॥ १॥

स तयाभिहतो धीमान् गदया भीमवेगया।
नाकम्पत महाबाहुर्हिमवानिव सुस्थिरः॥ २॥

भयानक वेगवाली उस गदासे आहत होकर भी बुद्धिमान् महाबाहु विभीषण विचलित नहीं हुए। वे हिमालयके समान सुस्थिरभावसे खड़े रहे॥ २॥

ततः प्रगृह्य विपुलां शतघण्टां विभीषणः।
अनुमन्त्र्य महाशक्तिं चिक्षेपास्य शिरः प्रति॥ ३॥

तत्पश्चात् विभीषणने एक विशाल महाशक्ति हाथमें ली, जिसमें शोभाके लिये सौ घंटियाँ लगी हुई थीं। उसे अभिमन्त्रित करके उन्होंने प्रहस्तके मस्तकपर दे मारा॥ ३॥

पतन्त्या स तया वेगाद् राक्षसोऽशनिवेगया।
हतोत्तमाङ्गो ददृशे वातरुग्ण इव द्रुमः॥ ४॥

विद्युत्के समान वेगवाली उस महाशक्तिका वेगपूर्वक आघात होते ही राक्षस प्रहस्तका मस्तक धड़से अलग हो गया और वह आँधीके द्वारा उखाड़े हुए वृक्षकी भाँति धराशायी दिखायी देने लगा॥ ४॥

तं दृष्ट्वा निहतं संख्ये प्रहस्तं क्षणदाचरम्।
अभिदुद्राव धूम्राक्षो वेगेन महता कपीन्॥ ५॥

निशाचर प्रहस्तको युद्धमें मारा गया देख धूम्राक्ष बड़े वेगसे वानरोंकी ओर दौड़ा॥ ५॥

तस्य मेघोपमं सैन्यमापतद् भीमदर्शनम्।
दृष्ट्वैव सहसा दीर्णा रणे वानरपुङ्गवाः॥ ६॥

मेघोंकी काली घटाके समान भयानक दिखायी देनेवाली उसकी सेनाको आते देख सभी श्रेष्ठ वानर सहसा भयभीत होकर युद्धसे भाग चले॥ ६॥

ततस्तान् सहसा दीर्णान् दृष्ट्वा वानरपुङ्गवान्।
निर्ययौ कपिशार्दूलो हनूमान् मारुतात्मजः॥ ७॥

उन भयभीत प्रमुख वानरोंको सहसा पलायन करते देख कपिकेसरी मारुतनन्दन हनुमान्जी धूम्राक्षका सामना करनेके लिये आगे बढ़े॥ ७॥

तं दृष्ट्वावस्थितं संख्ये हरयः पवनात्मजम्।
महत्या त्वरया राजन् संन्यवर्तन्त सर्वशः॥ ८॥

राजन्! पवनकुमारको युद्धके लिये उपस्थित देख सभी वानर सब ओरसे बड़ी उतावलीके साथ लौट आये॥ ८॥

ततः शब्दो महानासीत् तुमुलो लोमहर्षणः।
रामरावणसैन्यानामन्योन्यमभिधावताम्॥ ९॥

फिर तो एक दूसरेपर धावा बोलती हुई श्रीराम तथा रावणकी सेनाओंका अत्यन्त भयंकर रोमाञ्चकारी कोलाहल आरम्भ हो गया॥ ९॥

तस्मिन् प्रवृत्ते संग्रामे घोरे रुधिरकर्दमे।
धूम्राक्षः कपिसैन्यं तद् द्रावयामास पत्रिभिः॥ १०॥

उस घोर संग्राममें धरतीपर रक्तकी कीच जम गयी थी। इसी समय धूम्राक्ष अपने बाणोंसे उस वानरसेनाको खदेड़ने लगा॥ १०॥

तं स रक्षोमहामात्रमापतन्तं सपत्नजित्।
प्रतिजग्राह हनुमांस्तरसा पवनात्मजः॥ ११॥

तब शत्रुविजयी पवननन्दन हनुमान्ने अपनी ओर आते हुए उस विशालकाय राक्षसको बड़े वेगसे धर दबाया॥ ११॥

तयोर्युद्धमभूद् घोरं हरिराक्षसवीरयोः।
जिगीषतोर्युधान्योन्यमिन्द्रप्रह्लादयोरिव॥ १२॥

उन दोनों वानर तथा राक्षसवीरोंमें भयंकर युद्ध छिड़ गया। वे इन्द्र और प्रह्लादकी भाँति युद्ध करके एक दूसरेको जीतना चाहते थे॥ १२॥

गदाभिः परिघैश्चैव राक्षसो जघ्निवान् कपिम्।
कपिश्च जघ्निवान् रक्षः सस्कन्धविटपैर्द्रुमैः॥ १३॥

निशाचर धूम्राक्षने गदाओं तथा परिघोंद्वारा कपिवर हनुमान्जीको चोट पहुँचायी और हनुमान्जीने उस राक्षसपर तने और डालियोंसहित वृक्षोंसे प्रहार किया॥ १३॥

ततस्तमतिकोपेन साश्वं सरथसारथिम्।
धूम्राक्षमवधीत् क्रुद्धो हनूमान् मारुतात्मजः॥ १४॥

तदनन्तर मारुतनन्दन हनुमान्जीने अत्यन्त कुपित हो घोड़े, रथ और सारथिसहित धूम्राक्षको मार डाला॥ १४॥

ततस्तं निहतं दृष्ट्वा धूम्राक्षं राक्षसोत्तमम्।
हरयो जातविस्रम्भा जघ्नुरन्ये च सैनिकान्॥ १५॥

राक्षसप्रवर धूम्राक्षको मारा गया देख अन्य वानर तथा भालुओंको अपनी शक्तिपर विश्वास हुआ और वे उत्साहपूर्वक राक्षसोंको मारने लगे॥ १५॥

ते वध्यमाना हरिभिर्बलिभिर्जितकाशिभिः।
राक्षसा भग्नसंकल्पा लङ्कामभ्यपतन् भयात् ॥ १६ ॥

विजयसे उल्लसित हुए बलवान् वानर वीरोंकी मार खाकर राक्षस हताश हो गये और भयके मारे लङ्काकी ओर भाग चले ॥ १६ ॥

तेऽभिपत्य पुरं भग्ना हतशेषा निशाचराः।
सर्वं राज्ञे यथावृत्तं रावणाय न्यवेदयन् ॥ १७ ॥

मरनेसे बचे हुए उन निशाचरोंने भग्नमनोरथ होकर लङ्कापुरीमें प्रवेश किया तथा रावणके समीप जाकर युद्धका सब समाचार ज्यों-का-त्यों निवेदन कर दिया ॥१७॥

श्रुत्वा तु रावणस्तेभ्यः प्रहस्तं निहतं युधि।
धूम्राक्षं च महेष्वासं ससैन्यं वानरर्षभैः ॥ १८ ॥
सुदीर्घमिव निःश्वस्य समुत्पत्य वरासनात्।
उवाच कुम्भकर्णस्य कर्मकालोऽयमागतः ॥ १९ ॥

उनके मुखसे श्रेष्ठ वानर वीरोंद्वारा युद्धमें सेनासहित प्रहस्त तथा महाधनुर्धर धूम्राक्षके मारे जानेका वृत्तान्त सुनकर रावण बड़ी देरतक शोकभरे उच्छ्वास लेता रहा। फिर वह अपने श्रेष्ठ सिंहासनसे उछलकर खड़ा हो गया और बोला—'अब यह कुम्भकर्णके पराक्रम दिखलानेका समय आ गया है'॥१८-१९॥

इत्येवमुक्त्वा विविधैर्वादित्रैः सुमहास्वनैः।
शयानमतिनिद्रालुं कुम्भकर्णमबोधयत् ॥ २० ॥

ऐसा कहकर रावणने अत्यन्त उच्चस्वरसे बजनेवाले भाँति-भाँतिके बाजे बजवाकर अधिक नींद लेनेवाले सोये हुए कुम्भकर्णको जगाया ॥ २० ॥

प्रबोध्य महता चैनं यत्नेनागतसाध्वसः।
स्वस्थमासीनमव्यग्रं विनिद्रं राक्षसाधिपः ॥ २१ ॥
ततोऽब्रवीद् दशग्रीवः कुम्भकर्णं महाबलम्।
धन्योऽसि यस्य ते निद्रा कुम्भकर्णेयमीदृशी ॥ २२ ॥

महान् प्रयत्नद्वारा उसे जगाकर भयभीत हुए राक्षसराज रावणने, जब महाबली कुम्भकर्ण स्वस्थ, शान्त तथा निद्रारहित होकर बैठ गया, तब उससे इस प्रकार कहा—'भैया कुम्भकर्ण ! तुम धन्य हो जिसे ऐसी नींद आती है ॥ २१-२२ ॥

य इदं दारुणाकारं न जानीषे महाभयम्।
एष तीर्त्वार्णवं रामः सेतुना हरिभिः सह ॥ २३ ॥
अवमन्येह नः सर्वान् करोति कदनं महत्।
मया ह्यपहृता भार्या सीता नामास्य जानकी ॥ २४ ॥

'हमलोगोंपर जो यह अत्यन्त दारुण एवं महान् भय उपस्थित हुआ है, इसका तुम्हें पता ही नहीं है। यह राम सेतुद्वारा समुद्रको लाँघकर हमलोगोंकी अवहेलना करके वानरोंके साथ यहाँ आ पहुँचा है और राक्षसोंका महासंहार कर रहा है। मैंने इसकी पत्नी जनककुमारी सीताका अपहरण किया था ॥ २३-२४ ॥

तां नेतुं स इहायातो बद्ध्वा सेतुं महार्णवे।
तेन चैव प्रहस्तादिर्महान् नः स्वजनो हतः ॥ २५ ॥

'उसे वापस लेनेके लिये ही राम महासागरपर पुल बाँधकर यहाँ आया है। उसने हमारे प्रहस्त आदि प्रमुख स्वजनोंको मार डाला है ॥ २५ ॥

तस्य नान्यो निहन्तास्ति त्वामृते शत्रुकर्शन।
स दंशितोऽभिनिर्याय त्वमद्य बलिनां वर ॥ २६ ॥
रामादीन् समरे सर्वाञ्जहि शत्रूनरिंदम।

'शत्रुसूदन ! तुम्हारे सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो उसको मार सके। बलवानोंमें श्रेष्ठ वीर ! तुम शत्रुओंका दमन करनेवाले हो। आज कवच धारण करके निकलो तथा राम आदि समस्त शत्रुओंका समरभूमिमें संहार कर डालो ॥ २६½ ॥

दूषणावरजौ चैव वज्रवेगप्रमाथिनौ ॥ २७ ॥
तौ त्वां बलेन महता सहितावनुयास्यतः।

'दूषणके छोटे भाई वज्रवेग और प्रमाथी अपनी विशाल सेनाके साथ तुम्हारा अनुसरण करेंगे' ॥ २७½ ॥

इत्युक्त्वा राक्षसपतिः कुम्भकर्णं तरस्विनम्।
संदिदेशेतिकर्तव्यं वज्रवेगप्रमाथिनौ ॥ २८ ॥

वेगशाली वीर कुम्भकर्णसे ऐसा कहकर राक्षसराज रावणने वज्रवेग और प्रमाथीको युद्धमें क्या-क्या करना है, इन सब बातोंको समझाया और उनके पालनका आदेश दिया ॥२८॥

तथेत्युक्त्वा तु तौ वीरौ रावणं दूषणानुजौ।
कुम्भकर्णं पुरस्कृत्य तूर्णं निर्ययतुः पुरात् ॥ २९ ॥

दूषणके वे दोनों वीर भाई रावणसे 'तथास्तु' कहकर कुम्भकर्णको आगे करके तुरंत नगरसे बाहर निकले ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कुम्भकर्णनिर्गमने षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें कुम्भकर्णका युद्धके लिये प्रस्थानविषयक दो सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८६ ॥

सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

कुम्भकर्ण, वज्रवेग और प्रमाथीका वध

मार्कण्डेय उवाच

ततो निर्याय स्वपुरात् कुम्भकर्णः सहानुगः ।
अपश्यत् कपिसैन्यं तज्जितकाश्यग्रतः स्थितम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! सेवकोंसहित अपने नगरसे निकलकर कुम्भकर्णने अपने सामने खड़ी हुई वानर-सेनाको देखा, जो विजयके उल्लाससे सुशोभित हो रही थी ॥

स वीक्षमाणस्तत् सैन्यं रामदर्शनकाङ्क्षया ।
अपश्यच्चापि सौमित्रिं धनुष्पाणिं व्यवस्थितम् ॥ २ ॥

फिर जब उसने भगवान् श्रीरामके दर्शनकी इच्छासे उस सेनामें इधर-उधर दृष्टि डाली, तब उसे हाथमें धनुष लिये सुमित्रानन्दन लक्ष्मण खड़े दिखायी दिये ॥ २ ॥



तमभ्येत्याशु हरयः परिवव्रुः समन्ततः ।
अभ्यघ्नंश्च महाकायैर्बहुभिर्जगतीरुहैः ॥ ३ ॥

इतनेमें ही वानरोंने चारों ओरसे आकर कुम्भकर्णको शीघ्रतापूर्वक घेर लिया और बहुत-से बड़े-बड़े पेड़ उखाड़कर उन्हींके द्वारा उसपर प्रहार करने लगे ॥ ३ ॥

करजैरतुदंश्चान्ये विहाय भयमुत्तमम् ।
बहुधा युध्यमानास्ते युद्धमार्गैः प्लवङ्गमाः ॥ ४ ॥
नानाप्रहरणैर्भीमै राक्षसेन्द्रमताडयन् ।

कुछ वानरोंने कुम्भकर्णसे प्राप्त होनेवाले महान् भयकी परवा न करके उसको नखोंसे पीड़ा देनी प्रारम्भ की। युद्धकी विभिन्न प्रणालियोंद्वारा अनेक प्रकारसे युद्ध करते हुए वानर-सैनिक भाँति-भाँतिके भयंकर आयुधोंद्वारा राक्षसराज कुम्भकर्ण-को चोट पहुँचाने लगे ॥ ४½ ॥

स ताड्यमानः प्रहसन् भक्षयामास वानरान् ॥ ५ ॥
बलं चण्डबलाख्यं च वज्रबाहुं च वानरम् ।

वानरोंके प्रहार करनेपर वह जोर-जोरसे हँसने और उन्हें पकड़ पकड़कर खाने लगा । देखते-देखते बल, चण्डबल और वज्रबाहु नामक वानर उसके मुखके ग्रास बन गये ॥५½॥

तद् दृष्ट्वा व्यथनं कर्म कुम्भकर्णस्य रक्षसः ॥ ६ ॥
उदक्रोशन् परित्रस्तास्तारप्रभृतयस्तदा ।

राक्षस कुम्भकर्णका यह दुःखदायी कर्म देखकर तार आदि वानर भयभीत हो जोर-जोरसे चीत्कार करने लगे ॥६½॥

तानुच्चैः क्रोशतः सैन्याञ्छ्रुत्वा स हरियूथपान् ॥ ७ ॥
अभिदुद्राव सुग्रीवः कुम्भकर्णमपेतभीः ।

अपने सैनिकों तथा वानरयूथपतियोंका वह उच्चस्वरसे किया जाता हुआ चीत्कार सुनकर सुग्रीव निर्भय हो कुम्भकर्णकी ओर दौड़े ॥ ७½ ॥

ततो निपत्य वेगेन कुम्भकर्णं महामनाः ॥ ८ ॥
शालेन जघ्निवान् मूर्ध्नि बलेन कपिकुञ्जरः ।

महामना कपिश्रेष्ठ सुग्रीवने बड़े वेगसे उछलकर एक शालवृक्षके द्वारा कुम्भकर्णके मस्तकपर बलपूर्वक प्रहार किया ॥ ८½ ॥

स महात्मा महावेगः कुम्भकर्णस्य मूर्धनि ॥ ९ ॥
बिभेद शालं सुग्रीवो न चैवाव्यथयत् कपिः ।

कपिश्रेष्ठ सुग्रीवका हृदय महान् था । उनका वेग भी महान् था । उन्होंने कुम्भकर्णके मस्तकपर पटककर उस शालवृक्षको दो टूक कर डाला; तथापि वे उसे व्यथा न पहुँचा सके ॥ ९½ ॥

ततो विनद्य सहसा शालस्पर्शविबोधितः ॥ १० ॥
दोर्भ्यामादाय सुग्रीवं कुम्भकर्णोऽहरद् बलात् ।

शालके स्पर्शसे कुम्भकर्ण कुछ सावधान हो गया । उसने सहसा गर्जना करके सुग्रीवको दोनों हाथोंसे बलपूर्वक धर दबाया और अपने साथ ले लिया ॥ १०½ ॥

ह्रियमाणं तु सुग्रीवं कुम्भकर्णेन रक्षसा ॥ ११ ॥
अवेक्ष्याभ्यद्रवद् वीरः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः ।

राक्षस कुम्भकर्णके द्वारा सुग्रीवका अपहरण होता देख मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाले सुमित्राकुमार वीरवर लक्ष्मण उसकी ओर दौड़े ॥ ११½ ॥



सोऽभिपत्य महावेगं रुक्मपुङ्खं महाशरम् ॥ १२ ॥
प्राहिणोत् कुम्भकर्णाय लक्ष्मणः परवीरहा ।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने कुम्भकर्णके सामने जाकर उसको लक्ष्य करके सुवर्णमय पंखसे सुशोभित एक महावेगशाली महान् बाण चलाया ॥ १२½ ॥

स तस्य देहावरणं भित्त्वा देहं च सायकः ॥ १३ ॥
जगाम दारयन् भूमिं रुधिरेण समुक्षितः ।

वह बाण उसके कवचको काटकर शरीरको छेदता हुआ रक्तरञ्जित हो धरतीको चीरकर उसमें समा गया ॥ १३½ ॥

तथा स भिन्नहृदयः समुत्सृज्य कपीश्वरम् ॥ १४ ॥
(वेगेन महताऽऽविष्टस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।)
कुम्भकर्णो महेष्वासः प्रगृहीतशिलायुधः ।
अभिदुद्राव सौमित्रिमुद्यम्य महतीं शिलाम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार छाती छिद जानेके कारण महाधनुर्धर कुम्भकर्णने वानरराज सुग्रीवको तो छोड़ दिया और बड़े वेगसे लक्ष्मणकी ओर घूमकर कहा—'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह' । तत्पश्चात् एक बहुत बड़ी शिला हाथमें लेकर वह सुमित्रानन्दन लक्ष्मणकी ओर दौड़ा ॥ १४-१५ ॥

तस्याभिपततस्तूर्णं क्षुराभ्यामुच्छ्रितौ करौ ।
चिच्छेद निशिताग्राभ्यां स बभूव चतुर्भुजः ॥ १६ ॥

तब लक्ष्मणने भी बड़ी शीघ्रताके साथ तीखी धारवाले दो क्षुर नामक बाण मारकर अपनी ओर आते हुए कुम्भकर्णकी ऊपर उठी हुई दोनों भुजाओंको काट डाला । उनके कटते ही वह चार भुजाओंसे युक्त हो गया ॥ १६ ॥

तानप्यस्य भुजान् सर्वान् प्रगृहीतशिलायुधान् ।
क्षुरैश्चिच्छेद लघ्वस्त्रं सौमित्रिः प्रतिदर्शयन् ॥ १७ ॥

उन चारों भुजाओंमें भी उसने आयुधके रूपमें बड़ी-बड़ी चट्टानें उठा लीं । यह देख सुमित्राकुमारने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए फिरसे पूर्वोक्त बाण मारकर उसकी उन चारों भुजाओंको भी काट दिया ॥ १७ ॥

स बभूवातिकायश्च बहुपादशिरोभुजः ।
तं ब्रह्मास्त्रेण सौमित्रिर्ददाराद्रिचयोपमम् ॥ १८ ॥

अब उसने अपना शरीर बहुत बड़ा बना लिया । उसके अनेक पैर, अनेक सिर और अनेक भुजाएँ हो गयीं । यह देख लक्ष्मणने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करके पर्वतसमूहके समान विशाल शरीरवाले उस राक्षसको चीर डाला ॥ १८ ॥

स पपात महावीर्यो दिव्यास्त्राभिहतो रणे ।
महाशनिविनिर्दग्धः पादपोऽङ्कुरवानिव ॥ १९ ॥

जैसे महान् भयंकर बिजलीके आघातसे शाखाओं और पत्तोंसहित वृक्ष दग्ध हो जाता है, उसी प्रकार लक्ष्मणके दिव्यास्त्रसे आहत होकर महापराक्रमी कुम्भकर्ण रणभूमिमें गिर पड़ा ॥ १९ ॥

तं दृष्ट्वा वृत्रसंकाशं कुम्भकर्णं तरस्विनम् ।
गतासुं पतितं भूमौ राक्षसाः प्राद्रवन् भयात् ॥ २० ॥

वृत्रासुरके समान वेगशाली कुम्भकर्णको प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर पड़ा देख सब राक्षस भयके मारे भाग चले ॥२०॥

तथा तान् द्रवतो योधान् दृष्ट्वा तौ दूषणानुजौ ।
अवस्थाप्याथ सौमित्रिं संक्रुद्धावभ्यधावताम् ॥ २१ ॥

अपने उन सैनिकोंको इस प्रकार भागते देख दूषणके दोनों भाई—वज्रवेग और प्रमाथीने किसी प्रकार उन्हें रोककर खड़ा किया और अत्यन्त कुपित हो सुमित्राकुमार लक्ष्मणपर धावा बोल दिया ॥ २१ ॥

तावाद्रवन्तौ संक्रुद्धौ वज्रवेगप्रमाथिनौ ।
अभिजग्राह सौमित्रिर्विनद्योभौ पतत्त्रिभिः ॥ २२ ॥

क्रोधमें भरे हुए वज्रवेग और प्रमाथीको अपनी ओर आते देख लक्ष्मणने बड़े जोरसे सिंहनाद किया और उन दोनोंकी गतिको बाणोंद्वारा रोक दिया ॥ २२ ॥

ततः सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
दूषणानुजयोः पार्थ लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर ! फिर तो दूषणके भाइयों तथा बुद्धिमान् लक्ष्मणमें ऐसा भयंकर युद्ध हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥

महता शरवर्षेण राक्षसौ सोऽभ्यवर्षत ।
तौ चापि वीरौ संक्रुद्धावुभौ तं समवर्षताम् ॥ २४ ॥

लक्ष्मण उन दोनों राक्षसोंपर बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा

कर रहे थे और वे दोनों वीर राक्षस भी अत्यन्त कुपित होकर लक्ष्मणपर बाणोंकी बौछार करते थे ॥ २४ ॥

मुहूर्तमेवमभवद् वज्रवेगप्रमाथिनोः ।
सौमित्रेश्च महाबाहोः सम्प्रहारः सुदारुणः ॥ २५ ॥

इस प्रकार वज्रवेग, प्रमाथी और महाबाहु लक्ष्मणका वह भयंकर संग्राम दो घड़ीतक अबाधगतिसे चलता रहा ॥ २५ ॥

अथाद्रिशृङ्गमादाय हनुमान् मारुतात्मजः ।
अभिद्रुत्याददे प्राणान् वज्रवेगस्य रक्षसः ॥ २६ ॥

इसी बीचमें वायुनन्दन हनुमान्‌जीने पर्वतका शिखर हाथमें लेकर वज्रवेग नामक राक्षसके ऊपर आक्रमण किया और उसके प्राण ले लिये ॥ २६ ॥

नीलश्च महता ग्राव्णा दूषणावरजं हरिः ।
प्रमाथिनमभिद्रुत्य प्रममाथ महाबलः ॥ २७ ॥

महाबली नील नामक वानरने एक विशाल चट्टान लेकर दूषणके छोटे भाई प्रमाथीपर हमला किया और उसका कचूमर निकाल दिया ॥ २७ ॥

ततः प्रावर्तत पुनः संग्रामः कटुकोदयः ।
रामरावणसैन्यानामन्योन्यमभिधावताम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर श्रीराम और रावणकी सेनाओंमें परस्पर आक्रमणपूर्वक भीषण संग्राम आरम्भ हो गया, जो कटु परिणामका जनक था ॥ २८ ॥

शतशो नैर्ऋतान् वन्या जघ्नुर्वन्यांश्च नैर्ऋताः ।
नैर्ऋतास्तत्र वध्यन्ते प्रायेण न तु वानराः ॥ २९ ॥

वनवासी वानरोंने सैकड़ों राक्षसोंको तथा राक्षसोंने वानरोंको घायल किया । उस युद्धमें अधिकांश राक्षस ही मारे जा रहे थे, वानर नहीं ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कुम्भकर्णादिवधे सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें कुम्भकर्ण आदिका वधविषयक दो सौ सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२८७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २९½ श्लोक हैं)

अष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्रजित्‌का मायामय युद्ध तथा श्रीराम और लक्ष्मणकी मूर्च्छा

मार्कण्डेय उवाच

ततः श्रुत्वा हतं संख्ये कुम्भकर्णं सहानुगम् ।
प्रहस्तं च महेष्वासं धूम्राक्षं चातितेजसम् ॥ १ ॥
पुत्रमिन्द्रजितं वीरं रावणः प्रत्यभाषत ।
जहि राममित्रघ्न सुग्रीवं च सलक्ष्मणम् ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर सेवकोंसहित कुम्भकर्ण, महाधनुर्धर प्रहस्त तथा अत्यन्त तेजस्वी धूम्राक्षको संग्राममें मारा गया सुनकर रावणने अपने वीर पुत्र इन्द्रजित्‌से कहा—'शत्रुसूदन ! तुम राम, लक्ष्मण तथा सुग्रीवका वध करो ॥ १-२ ॥

त्वया हि मम सत्पुत्र यशो दीप्तमुपार्जितम् ।
जित्वा वज्रधरं संख्ये सहस्राक्षं शचीपतिम् ॥ ३ ॥

'सुपुत्र ! तुमने युद्धमें सहस्र नेत्रोंवाले वज्रधारी शचीपति इन्द्रको जीतकर उज्ज्वल यशका उपार्जन किया है ॥ ३ ॥

अन्तर्हितः प्रकाशो वा दिव्यैर्दत्तवरैः शरैः ।
जहि शत्रूनमित्रघ्न मम शस्त्रभृतां वर ॥ ४ ॥

'शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ शत्रुनाशन वीर ! जिनके लिये देवताओंने तुम्हें वरदान दिया है, ऐसे दिव्यास्त्रोंद्वारा प्रकटरूपमें या अदृश्य होकर मेरे शत्रुओंका नाश करो ॥ ४ ॥

रामलक्ष्मणसुग्रीवाः शरस्पर्शं न तेऽनघ ।
समर्थाः प्रतिसोढुं च कुतस्तदनुयायिनः ॥ ५ ॥

'अनघ ! स्वयं राम, लक्ष्मण और सुग्रीव भी तुम्हारे बाणोंका आघात सहन करनेमें समर्थ नहीं हैं, फिर उनके अनुयायी तो हो ही कैसे सकते हैं ? ॥ ५ ॥

अकृता या प्रहस्तेन कुम्भकर्णेन चानघ ।
खरस्यापचितिः संख्ये तां गच्छ त्वं महाभुज ॥ ६ ॥

'निष्पाप महाबाहो ! प्रहस्त और कुम्भकर्णने भी खरके वधका जो बदला नहीं चुकाया, उसे युद्धमें तुम चुकाओ ॥ ६ ॥

त्वमद्य निशितैर्बाणैर्हत्वा शत्रून् ससैनिकान् ।
प्रतिनन्दय मां पुत्र पुरा जित्वेव वासवम् ॥ ७ ॥

'बेटा ! तुमने पूर्वकालमें इन्द्रको जीतकर जिस प्रकार मुझे आनन्दित किया था, उसी प्रकार आज तुम तीखे बाणोंसे सैनिकोंसहित शत्रुओंका संहार करके मेरा आनन्द बढ़ाओ' ॥

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा रथमास्थाय दंशितः ।
प्रययाविन्द्रजिद् राजंस्तूर्णमायोधनं प्रति ॥ ८ ॥

राजन् ! रावणके द्वारा ऐसी आज्ञा देनेपर इन्द्रजित्‌ने 'बहुत अच्छा' कहकर पिताकी आज्ञा स्वीकार की और वह कवच बाँध रथपर बैठकर तुरंत ही संग्रामभूमिकी ओर चल दिया ॥ ८ ॥

ततो विश्राव्य विस्पष्टं नाम राक्षसपुङ्गवः ।
आह्वयामास समरे लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् उस राक्षसराजने स्पष्टरूपसे अपने नामकी

घोषणा करके शुभलक्षण लक्ष्मणको युद्धके लिये ललकारा ॥

तं लक्ष्मणोऽभ्यधावच्च प्रगृह्य सशरं धनुः ।
त्रासयंस्तलघोषेण सिंहः क्षुद्रमृगान् यथा ॥ १० ॥

तब लक्ष्मण भी धनुषपर बाण चढ़ाये हुए उसकी ओर बड़े वेगसे दौड़े और सिंह जैसे छोटे मृगोंको डरा देता है, उसी प्रकार वे अपने धनुषकी टङ्कारसे सब राक्षसोंको त्रास देने लगे ॥१०॥

तयोः समभवद् युद्धं सुमहज्जयगृद्धिनोः ।
दिव्यास्त्रविदुषोस्तीव्रमन्योन्यस्पर्धिनोस्तदा ॥ ११ ॥

वे दोनों ही विजयकी अभिलाषा रखनेवाले, दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता तथा परस्पर बड़ी स्पर्धा रखनेवाले थे। उन दोनोंमें उस समय बड़ा भारी युद्ध हुआ ॥ ११ ॥

रावणिस्तु यदा नैनं विशेषयति सायकैः ।
ततो गुरुतरं यत्नमातिष्ठद् बलिनां वरः ॥ १२ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ रावणकुमार इन्द्रजित् जब बाण वर्षा करनेमें लक्ष्मणसे आगे न बढ़ सका, तब उसने गुरुतर प्रयत्न आरम्भ किया ॥ १२ ॥

तत एनं महावेगैरर्दयामास तोमरैः ।
तानागतान् स चिच्छेद सौमित्रिर्निशितैः शरैः ॥ १३ ॥

उसने अत्यन्त वेगशाली तोमरोंकी वर्षा करके लक्ष्मणको पीड़ा पहुँचानेकी चेष्टा की, परंतु लक्ष्मणने तीखे बाणोंसे उन सब तोमरोंको पास आते ही काट गिराया ॥ १३ ॥

ते निकृत्ताः शरैस्तीक्ष्णैर्न्यपतन् धरणीतले ।
तमङ्गदो वालिसुतः श्रीमानुद्यम्य पादपम् ॥ १४ ॥
अभिद्रुत्य महावेगस्ताडयामास मूर्धनि ।
तस्येन्द्रजिदसम्भ्रान्तः प्रासेनोरसि वीर्यवान् ॥ १५ ॥
प्रहर्तुमैच्छत् तं चास्य प्रासं चिच्छेद लक्ष्मणः ।

लक्ष्मणके तीखे बाणोंसे टूक-टूक होकर वे तोमर पृथ्वीपर बिखर गये। तब महावेगशाली वालिपुत्र श्रीमान् अङ्गदने एक वृक्ष उठा लिया और दौड़कर इन्द्रजित्के मस्तकपर उसे दे मारा; परंतु इन्द्रजित् इससे तनिक भी विचलित न हुआ। उस पराक्रमी वीरने प्रासद्वारा अङ्गदकी छातीमें प्रहार करनेका विचार किया; किंतु लक्ष्मणने उसे पहले ही काट गिराया ॥ १४-१५½ ॥

तमभ्याशगतं वीरमङ्गदं रावणात्मजः ॥ १६ ॥
गदयाताडयत् सव्ये पार्श्वे वानरपुङ्गवम् ।

तब रावणकुमारने अपने निकट आये हुए उस वानरश्रेष्ठ वीर अङ्गदकी बायीं पसलीमें गदासे आघात किया ॥१६½॥

तमचिन्त्य प्रहारं स बलवान् वालिनः सुतः ॥ १७ ॥
ससर्जेन्द्रजितः क्रोधाच्छालस्कन्धं तथाङ्गदः ।

बलवान् वालिनन्दन अङ्गदने इन्द्रजित्के उस गदाप्रहार-की कोई परवा न करके उसके ऊपर क्रोधपूर्वक सालूका तना उठाकर दे मारा ॥ १७½ ॥

सोऽङ्गदेन रुषोत्सृष्टो वधायेन्द्रजितस्तरुः ॥ १८ ॥
जघानेन्द्रजितः पार्थ रथं साश्वंससारथिम् ।

युधिष्ठिर ! अङ्गदके द्वारा इन्द्रजित्के वधके लिये रोषपूर्वक चलाये हुए उस वृक्षने उसके सारथि और घोड़ोंसहित रथको नष्ट कर दिया ॥ १८½ ॥

ततो हताश्वात् प्रस्कन्द्य रथात् स हतसारथिः ॥ १९ ॥
तत्रैवान्तर्दधे राजन् मायया रावणात्मजः ।

राजन् ! सारथिके मारे जानेपर रावणकुमार इन्द्रजित् उस अश्वहीन रथसे कूद पड़ा और मायाका आश्रय ले वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ १९½ ॥

अन्तर्हितं विदित्वा तं बहुमायं च राक्षसम् ॥ २० ॥
रामस्तं देशमागम्य तत् सैन्यं पर्यरक्षत ।

अनेक प्रकारकी माया जाननेवाले उस राक्षसको अदृश्य हुआ जान भगवान् श्रीराम उस स्थानपर आकर सब ओरसे अपनी सेनाकी रक्षा करने लगे ॥ २०½ ॥

स राममुद्दिश्य शरैस्ततो दत्तवरैस्तदा ॥ २१ ॥
विव्याध सर्वगात्रेषु लक्ष्मणं च महाबलम् ।

तब इन्द्रजित्ने भगवान् श्रीराम तथा महाबली लक्ष्मणके सम्पूर्ण अङ्गोंको देवताओंसे वरदानके रूपमें प्राप्त हुए बाणों-द्वारा क्षत-विक्षत कर दिया ॥ २१½ ॥

तमदृश्यं शरैः शूरौ माययान्तर्हितं तदा ॥ २२ ॥
योधयामासतुरुभौ रावणिं रामलक्ष्मणौ ।

यद्यपि रावणका पुत्र मायासे तिरोहित हो जानेके कारण दिखायी नहीं देता था, तो भी शूरवीर श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाई उसके साथ युद्ध करते ही रहे ॥ २२½ ॥

स रुषा सर्वगात्रेषु तयोः पुरुषसिंहयोः ॥ २३ ॥
व्यसृजत् सायकान् भूयः शतशोऽथ सहस्रशः ।

इन्द्रजित्ने पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी उन दोनों भाइयोंके समस्त अङ्गोंमें रोषपूर्वक सैकड़ों और हजारों बाणोंकी बारंबार वृष्टि की ॥ २३½ ॥

तमदृश्यं विचिन्वन्तः सृजन्तमनिशं शरान् ॥ २४ ॥
हरयो विविशुर्व्योम प्रगृह्य महतीः शिलाः ।

वानरोंने देखा कि वह राक्षस छिपकर निरन्तर बाणोंकी झड़ी लगा रहा है, तब वे हाथोंमें बड़ी-बड़ी शिलाएँ लिये आकाशमें उड़ गये और उसकी खोज करने लगे ॥ २४½ ॥

तांश्च तौ चाप्यदृश्यः स शरैर्विव्याध राक्षसः ॥ २५ ॥
स भृशं ताडयामास रावणिर्माययाऽऽवृतः ।

रावणकुमार अपनी मायासे आवृत होनेके कारण

स्वयं किसीकी दृष्टिमें नहीं आता था; परंतु वह उन दोनों भाइयोंको तथा सम्पूर्ण वानरोंको भी निरन्तर अपने बाणों-द्वारा घायल कर रहा था ॥ २५½ ॥

तौ शरैराचितौ वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
पेततुर्गगनाद् भूमिं सूर्याचन्द्रमसाविव ॥ २६ ॥

वे दोनों बन्धु श्रीराम और लक्ष्मण ऊपरसे नीचेतक बाणोंसे व्याप्त हो गये थे; अतः आकाशसे गिरे हुए सूर्य और चन्द्रमाकी भाँति इस पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि इन्द्रजिद्युद्धे अष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ ॥२८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें इन्द्रजित्-युद्धविषयक दो सौ अठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२८८॥

एकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीराम-लक्ष्मणका सचेत होकर कुबेरके भेजे हुए अभिमन्त्रित जलसे प्रमुख वानरोंसहित अपने नेत्र धोना, लक्ष्मणद्वारा इन्द्रजित्का वध एवं सीताको मारनेके लिये उद्यत हुए रावणका अविन्ध्यके द्वारा निवारण करना

मार्कण्डेय उवाच

तावुभौ पतितौ दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
बबन्ध रावणिर्भूयः शरैर्दत्तवरैस्तदा ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको पृथ्वीपर पड़े देख रावणकुमार इन्द्रजित्ने जिनके लिये देवताओंका वर प्राप्त था, उन बाणोंद्वारा उन्हें सब ओरसे बाँध लिया ॥ १ ॥

तौ वीरौ शरबन्धेन बद्धाविन्द्रजिता रणे ।
रेजतुः पुरुषव्याघ्रौ शकुन्ताविव पञ्जरे ॥ २ ॥

इन्द्रजित्द्वारा बाणोंके बन्धनसे बँधे हुए वे दोनों वीर पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण पिंजड़ेमें बंद हुए दो पक्षियों-की भाँति शोभा पा रहे थे ॥ २ ॥

तौ दृष्ट्वा पतितौ भूमौ शतशः सायकैश्चितौ ।
सुग्रीवः कपिभिः सार्धं परिवार्य ततः स्थितः ॥ ३ ॥

उन दोनोंको सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त एवं पृथ्वीपर पड़े देख वानरोंसहित सुग्रीव उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ३ ॥

सुषेणमैन्दद्विविदैः कुमुदेनाङ्गदेन च ।
हनुमन्नीलतारैश्च नलेन च कपीश्वरः ॥ ४ ॥

सुषेण, मैन्द, द्विविद, कुमुद, अङ्गद, हनुमान्, नील, तार तथा नलके साथ कपिराज सुग्रीव उन दोनों बन्धुओंकी रक्षा करने लगे ॥ ४ ॥

ततस्तं देशमागम्य कृतकर्मा विभीषणः ।
बोधयामास तौ वीरौ प्रज्ञास्त्रेण प्रबोधितौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर अपने कर्तव्य कर्मको पूरा करके विभीषण उस स्थानपर आये । उन्होंने प्रज्ञास्त्रद्वारा उन दोनों वीरोंको होशमें लाकर जगाया ॥ ५ ॥

विशल्यौ चापि सुग्रीवः क्षणेनैतौ चकार ह ।
विशल्यया महौषध्या दिव्यमन्त्रप्रयुक्तया ॥ ६ ॥

फिर सुग्रीवने दिव्य मन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित विशल्या नामक महौषधिद्वारा उनके अङ्गोंसे बाण निकालकर उन्हें क्षणभरमें स्वस्थ कर दिया ॥ ६ ॥

तौ लब्धसंज्ञौ नृवरौ विशल्यावुदतिष्ठताम् ।
गततन्द्रीक्लमौ चापि क्षणेनैतौ महारथौ ॥ ७ ॥

होशमें आ जानेपर वे दोनों नरश्रेष्ठ महारथी वीर बाणोंसे रहित हो आलस्य और थकावट त्यागकर क्षणभरमें उठ खड़े हुए ॥ ७ ॥

ततो विभीषणः पार्थ राममिक्ष्वाकुनन्दनम् ।
उवाच विज्वरं दृष्ट्वा कृताञ्जलिरिदं वचः ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर ! तदनन्तर विभीषणने इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीरामचन्द्रजीको नीरोग एवं स्वस्थ देख हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

इदमम्भो गृहीत्वा तु राजराजस्य शासनात् ।
गुह्यकोऽभ्यागतः श्वेतात् त्वत्सकाशमरिन्दम ॥ ९ ॥

'शत्रुदमन ! राजाधिराज कुबेरकी आज्ञासे एक गुह्यक यह जल लिये हुए श्वेतपर्वतसे चलकर आपके समीप आया है ॥ ९ ॥

इदमम्भः कुबेरस्ते महाराजः प्रयच्छति ।
अन्तर्हितानां भूतानां दर्शनार्थं परंतप ॥ १० ॥



'परंतप ! महाराज कुबेर आपको यह जल इस उद्देश्यसे समर्पित कर रहे हैं कि आप इसे नेत्रोंमें लगाकर मायासे अदृश्य हुए प्राणियोंको देख सकें ॥ १० ॥

अनेन मृष्टनयनो भूतान्यन्तर्हितान्युत ।
भवान् द्रक्ष्यति यस्मै च प्रदास्यति नरः स तु ॥ ११ ॥

'उन्होंने कहा है कि आप इस जलसे अपने दोनों नेत्र धोकर अदृश्य प्राणियोंको भी देख सकेंगे और आप जिसे यह जल अर्पित करेंगे, वह मनुष्य भी अदृश्य भूतोंको देखनेमें समर्थ होगा' ॥ ११ ॥

तथेति रामस्तद् वारि प्रतिगृह्याभिसंस्कृतम् ।
चकार नेत्रयोः शौचं लक्ष्मणश्च महामनाः ॥ १२ ॥

'बहुत अच्छा' कहकर श्रीरामचन्द्रजीने वह अभिमन्त्रित जल ले लिया। फिर उन्होंने तथा महामना लक्ष्मणने भी उससे अपने दोनों नेत्र धोये ॥ १२ ॥

सुग्रीवजाम्बवन्तौ च हनुमानङ्गदस्तथा ।
मैन्दद्विविदनीलाश्च प्रायः प्लवगसत्तमाः ॥ १३ ॥

सुग्रीव, जाम्बवान्, हनुमान्, अङ्गद, मैन्द, द्विविद तथा नील आदि प्रायः सभी प्रमुख वानरोंने उस जलसे अपनी-अपनी आँखें धोयीं ॥ १३ ॥

तथा समभवच्चापि यदुवाच विभीषणः ।
क्षणेनातीन्द्रियाण्येषां चक्षूंष्यासन् युधिष्ठिर ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर ! जैसा विभीषणने बताया था, उसका वैसा ही प्रभाव देखनेमें आया। इन सबकी आँखें क्षणभरमें अतीन्द्रिय वस्तुओंका साक्षात्कार करनेवाली हो गयीं ॥ १४ ॥

इन्द्रजित् कृतकर्मा च पित्रे कर्म तदाऽऽत्मनः ।

निवेद्य पुनरागच्छत् त्वरयाऽऽजिशिरः प्रति ॥ १५ ॥

इन्द्रजित्‌ने उस दिन युद्धमें जो पराक्रम कर दिखाया था, अपने उस वीरोचित कर्मको पितासे बताकर वह पुनः युद्धके मुहानेकी ओर लौटने लगा ॥ १५ ॥

तमापतन्तं संक्रुद्धं पुनरेव युयुत्सया ।
अभिदुद्राव सौमित्रिर्विभीषणमते स्थितः ॥ १६ ॥

उसे क्रोधमें भरकर पुनः युद्धकी इच्छासे आते देख विभीषणकी सम्मतिसे लक्ष्मणने उसपर धावा किया ॥ १६ ॥

अकृताह्निकमेवैनं जिघांसुर्जितकाशिनम् ।
शरैर्जघान संक्रुद्धः कृतसंज्ञोऽथ लक्ष्मणः ॥ १७ ॥

इन्द्रजित् विजयके उल्लाससे सुशोभित हो रहा था। अभी उसने नित्यकर्म भी नहीं किया था, उसी अवस्थामें सचेत हुए लक्ष्मणने कुपित होकर उसे मार डालनेकी इच्छासे उसपर बाणोंद्वारा प्रहार करना आरम्भ किया ॥ १७ ॥

तयोः समभवद् युद्धं तदान्योन्यं जिगीषतोः ।
अतीव चित्रमाश्चर्यं शक्रप्रह्लादयोरिव ॥ १८ ॥

वे दोनों ही एक-दूसरेको जीतनेके लिये उत्सुक थे। उस समय उनमें इन्द्र और प्रह्लादकी भाँति अत्यन्त अद्भुत तथा आश्चर्यजनक युद्ध होने लगा ॥ १८ ॥

अविध्यदिन्द्रजित् तीक्ष्णैः सौमित्रिं मर्मभेदिभिः ।
सौमित्रिश्चानलस्पर्शैरविध्यद् रावणिं शरैः ॥ १९ ॥

इन्द्रजित्‌ने तीखे तथा मर्मभेदी बाणोंद्वारा सुमित्राकुमार लक्ष्मणको बींध डाला। इसी प्रकार लक्ष्मणने भी अग्निके समान दाहक स्पर्शवाले तीखे सायकोंद्वारा रावणकुमार इन्द्रजित्‌को घायल कर दिया ॥ १९ ॥

सौमित्रिशरसंस्पर्शाद् रावणिः क्रोधमूर्च्छितः ।
असृजल्लक्ष्मणायाष्टौ शरानाशीविषोपमान् ॥ २० ॥

लक्ष्मणके बाणोंकी चोट खाकर रावणकुमार क्रोधसे मूर्च्छित हो उठा। उसने उनके ऊपर विषधर साँपोंके समान विषैले आठ बाण छोड़े ॥ २० ॥

तस्यासून् पावकस्पर्शैः सौमित्रिः पत्त्रिभिस्त्रिभिः ।
यथा निरहरद् वीरस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ २१ ॥

वीर सुमित्राकुमारने अग्निके समान दाहक तीन बाणोंद्वारा जिस प्रकार इन्द्रजित्‌के प्राण लिये, वह बताता हूँ; सुनो ॥ २१ ॥

एकेनास्य धनुष्मन्तं बाहुं देहादपातयत् ।
द्वितीयेन सनाराचं भुजं भूमौ न्यपातयत् ॥ २२ ॥

एक बाणद्वारा उन्होंने इन्द्रजित्‌की धनुष धारण करनेवाली भुजाको काटकर शरीरसे अलग कर दिया। दूसरे बाणद्वारा नाराच लिये हुए शत्रुकी दूसरी भुजाको धराशायी कर दिया ॥ २२ ॥

तृतीयेन तु बाणेन पृथुधारेण भास्वता ।
जहार सुनसं चापि शिरो भ्राजिष्णुकुण्डलम् ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् मोटी धारवाले और चमकीले तीसरे बाणसे

उन्होंने सुन्दर नासिका और शोभाशाली कुण्डलोंसे विभूषित शत्रुके मस्तकको भी धड़से अलग कर दिया ॥ २३ ॥

विनिकृत्तभुजस्कन्धं कबन्धं भीमदर्शनम् ।
तं हत्वा सूतमप्यस्त्रैर्जघान बलिनां वरः ॥ २४ ॥

भुजाओं और कंधोंके कट जानेसे उसका धड़ बड़ा भयंकर दिखायी देता था । इन्द्रजित्को मारकर बलवानोंमें श्रेष्ठ लक्ष्मणने अपने अस्त्रोंद्वारा उसके सारथिको भी मार गिराया ॥ २४ ॥

लङ्कां प्रवेशयामासुस्तं रथं वाजिनस्तदा ।
ददर्श रावणस्तं च रथं पुत्रविनाकृतम् ॥ २५ ॥
स पुत्रं निहतं ज्ञात्वा त्रासात् सम्भ्रान्तमानसः ।
रावणः शोकमोहार्तो वैदेहीं हन्तुमुद्यतः ॥ २६ ॥

उस समय घोड़ोंने उस ही खाली रथको लङ्कापुरीमें पहुँचाया । रावणने देखा, मेरे पुत्रका रथ उसके विना ही लौट आया है । तब पुत्रको मारा गया जान भयके मारे रावणका मन उद्भ्रान्त हो उठा । वह शोक और मोहसे आतुर होकर विदेहनन्दिनी सीताको मार डालनेके लिये उद्यत हो गया ॥ २५-२६ ॥

अशोकवनिकास्थां तां रामदर्शनलालसाम् ।
खड्गमादाय दुष्टात्मा जवेनाभिपपात ह ॥ २७ ॥

दुष्टात्मा दशानन हाथमें तलवार लेकर अशोकवाटिकामें श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी लालसासे बैठी हुई सीताजीके पास बड़े वेगसे दौड़ा गया ॥ २७ ॥

तं दृष्ट्वा तस्य दुर्बुद्धेरविन्ध्यः पापनिश्चयम् ।
शमयामास संक्रुद्धं श्रूयतां येन हेतुना ॥ २८ ॥

दूषित बुद्धिवाले उस निशाचरके इस पापपूर्ण निश्चयको जानकर मन्त्री अविन्ध्यने समझा-बुझाकर उसका क्रोध शान्त किया । किस युक्तिसे उसने रावणको शान्त किया, यह बताता हूँ, सुनो— ॥ २८ ॥

महाराज्ये स्थितो दीप्ते न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
हतैवैषा यदा स्त्री च बन्धनस्था च ते वशे ॥ २९ ॥

'राक्षसराज ! आप लङ्काके समुज्ज्वल सम्राट्-पदपर विराजमान होकर एक अबलाको न मारें । यह स्त्री होकर आपके वशमें पड़ी है, आपके घरमें कैद है; ऐसी दशामें यह तो मरी हुई है ॥ २९ ॥

न चैषा देहभेदेन हता स्यादिति मे मतिः ।
जहि भर्तारमेवास्या हते तस्मिन् हता भवेत् ॥ ३० ॥

'इसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर देनेसे ही इसका वध नहीं होगा, ऐसा मेरा विचार है । इसके पतिको ही मार डालिये । उसके मारे जानेपर यह स्वतः मर जायगी ॥ ३० ॥

न हि ते विक्रमे तुल्यः साक्षादपि शतक्रतुः ।
असकृद्धि त्वया सेन्द्रास्त्रासितास्त्रिदशा युधि ॥ ३१ ॥

'साक्षात् इन्द्र भी पराक्रममें आपकी समानता नहीं कर सकते । आपने अनेक बार युद्धमें इन्द्रसहित संपूर्ण देवताओं-को भयभीत (एवं पराजित) किया है' ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधैर्वाक्यैरविन्ध्यो रावणं तदा ।
क्रुद्धं संशमयामास जगृहे च स तद्वचः ॥ ३२ ॥

इस तरह अनेक प्रकारके वचनोंद्वारा अविन्ध्यने रावण-का क्रोध शान्त किया और रावणने भी उसकी बात मान ली ॥ ३२ ॥

निर्याणे स मतिं कृत्वा निधायासिं क्षपाचरः ।
आज्ञापयामास तदा रथो मे कल्प्यतामिति ॥ ३३ ॥

फिर उस निशाचरने युद्धके लिये प्रस्थान करनेका निश्चय करके तलवार रख दी और आज्ञा दी—'मेरा रथ तैयार किया जाय' ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि श्रीरामोपाख्यानपर्वणि इन्द्रजिद्वधे एकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें इन्द्रजित्-वधविषयक दो सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२८९॥

नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राम और रावणका युद्ध तथा रावणका वध

मार्कण्डेय उवाच

ततः क्रुद्धो दशग्रीवः प्रिये पुत्रे निपातिते ।
निर्ययौ रथमास्थाय हेमरत्नविभूषितम् ॥ १ ॥
स वृतो राक्षसैर्घोरैर्विविधायुधपाणिभिः ।
अभिदुद्राव रामं स योधयन् हरियूथपान् ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! अपने प्रिय पुत्र इन्द्रजित्के मारे जानेपर दशमुख रावणका क्रोध बहुत बढ़ गया । वह सुवर्ण तथा रत्नोंसे विभूषित रथपर बैठकर लङ्कापुरीसे बाहर निकला । हाथोंमें अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले भयंकर राक्षस उसे घेरकर चले । वह वानर-यूथपतियोंसे युद्ध करता हुआ श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दौड़ा ॥ १-२ ॥

तमाद्रवन्तं संक्रुद्धं मैन्दनीलनलाङ्गदाः ।
हनूमाञ्जाम्बवांश्चैव ससैन्याः पर्यवारयन् ॥ ३ ॥

उसे क्रोधपूर्वक आक्रमण करते देख मैन्द, नील, नल, अङ्गद, हनुमान् और जाम्बवान्ने सेनासहित आगे बढ़कर उसे चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३ ॥

ते दशग्रीवसैन्यं तदृक्षवानरपुङ्गवाः ।
द्रुमैर्विध्वंसयांचक्रुर्दशग्रीवस्य पश्यतः ॥ ४ ॥

उन रीछ और वानर-सेनापतियोंने दशाननके देखते-देखते वृक्षोंकी मारसे उसकी सेनाका संहार आरम्भ कर दिया ॥ ४ ॥

ततः स सैन्यमालोक्य वध्यमानमरातिभिः ।
मायावी चासृजन्मायां रावणो राक्षसाधिपः ॥ ५ ॥

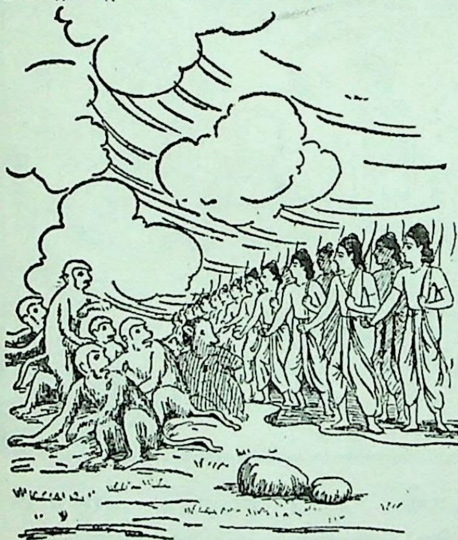
अपनी सेनाको शत्रुओंद्वारा मारी जाती देख मायावी राक्षसराज रावणने माया प्रकट की ॥ ५ ॥

तस्य देहविनिष्क्रान्ताः शतशोऽथ सहस्रशः ।
राक्षसाः प्रत्यदृश्यन्त शरशक्त्यृष्टिपाणयः ॥ ६ ॥

उसके शरीरसे सैकड़ों और हजारों राक्षस प्रकट होकर हाथोंमें बाण, शक्ति तथा ऋष्टि आदि आयुध लिये दिखायी देने लगे ॥ ६ ॥

तान् रामो जघ्निवान् सर्वान् दिव्येनास्त्रेण राक्षसान् ।
अथ भूयोऽपि मायां स व्यदधाद् राक्षसाधिपः ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने अपने दिव्य अस्त्रके द्वारा उन सब राक्षसोंको नष्ट कर दिया । तब राक्षसराजने पुनः मायाकी सृष्टि की ॥ ७ ॥



कृत्वा रामस्य रूपाणि लक्ष्मणस्य च भारत ।
अभिदुद्राव रामं च लक्ष्मणं च दशाननः ॥ ८ ॥

भारत ! दशाननने श्रीराम और लक्ष्मणके ही बहुत-से रूप धारण करके श्रीराम और लक्ष्मणपर धावा किया ॥ ८ ॥

ततस्ते राममार्च्छन्तो लक्ष्मणं च क्षपाचराः ।
अभिपेतुस्तदा रामं प्रगृहीतशरासनाः ॥ ९ ॥

तदनन्तर वे राक्षस हाथोंमें धनुष-बाण लिये श्रीराम और लक्ष्मणको पीड़ा देते हुए उनपर टूट पड़े ॥ ९ ॥

तां दृष्ट्वा राक्षसेन्द्रस्य मायामिक्ष्वाकुनन्दनः ।
उवाच रामं सौमित्रिरसम्भ्रान्तो बृहद् वचः ॥ १० ॥

राक्षसराज रावणकी उस मायाको देखकर इक्ष्वाकुकुल-का आनन्द बढ़ानेवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणको तनिक भी घबराहट नहीं हुई । उन्होंने श्रीरामसे यह महत्त्वपूर्ण बात कही—॥ १० ॥

जहीमान् राक्षसान् पापानात्मनः प्रतिरूपकान् ।
जघान रामस्तांश्चान्यानात्मनः प्रतिरूपकान् ॥ ११ ॥

'भगवन् ! अपने ही समान आकारवाले इन पापी राक्षसों-को मार डालिये ।' तब श्रीरामने रावणकी मायासे निर्मित अपने ही समान रूप धारण करनेवाले उन सबको तथा अन्य राक्षसोंको भी मार डाला ॥ ११ ॥

ततो हर्यश्वयुक्तेन रथेनादित्यवर्चसा ।
उपतस्थे रणे रामं मातलिः शक्रसारथिः ॥ १२ ॥

इसी समय इन्द्रका सारथि मातलि हरे रंगके घोड़ोंसे जुते हुए सूर्यके समान तेजस्वी रथके साथ उस रणभूमिमें श्रीरामचन्द्रजीके समीप आ पहुँचा ॥ १२ ॥

मातलिरुवाच

अयं हर्यश्वयुग् जैत्रो मघोनः स्यन्दनोत्तमः ।
अनेन शक्रः काकुत्स्थ समरे दैत्यदानवान् ॥ १३ ॥
शतशः पुरुषव्याघ्र रथोदारेण जघ्निवान् ।
तदनेन नरव्याघ्र मया यत्तेन संयुगे ॥ १४ ॥
स्यन्दनेन जहि क्षिप्रं रावणं मा चिरं कृथाः ।

मातलि बोला—पुरुषसिंह श्रीराम ! यह हरे रंगके घोड़ोंसे जुता हुआ विजयशाली उत्तम रथ देवराज इन्द्रका है । इस विशाल रथके द्वारा इन्द्रने सैकड़ों दैत्यों और दानवोंका समराङ्गणमें संहार किया है । नरश्रेष्ठ ! मेरेद्वारा संचालित इस रथपर बैठकर आप युद्धमें रावणको शीघ्र मार डालिये, विलम्ब न कीजिये ॥ १३-१४½ ॥

इत्युक्तो राघवस्तथ्यं वचोऽशङ्कत मातलेः ॥ १५ ॥
मायैषा राक्षसस्येति तमुवाच विभीषणः ।
नेयं माया नरव्याघ्र रावणस्य दुरात्मनः ॥ १६ ॥

मातलिके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उसकी बातपर इसलिये संदेह किया कि कहीं यह भी राक्षसकी माया ही न हो । तब विभीषणने उनसे कहा—'पुरुषसिंह ! यह दुरात्मा रावणकी माया नहीं है ॥ १५-१६ ॥

तदातिष्ठ रथं शीघ्रमिममैन्द्रं महाद्युते ।
ततः प्रहृष्टः काकुत्स्थस्तथेत्युक्त्वा विभीषणम् ॥ १७ ॥
रथेनाभिपपाताथ दशग्रीवं रुषान्वितः ।

'महाद्युते ! आप शीघ्र इन्द्रके इस रथपर आरूढ़ होइये ।' तब श्रीरामचन्द्रजीने प्रसन्नतापूर्वक विभीषणसे कहा—'ठीक है।' यों कहकर उन्होंने रथपर आरूढ़ हो बड़े रोषके साथ दशमुख रावणपर आक्रमण किया ॥ १७½ ॥

हाहाकृतानि भूतानि रावणे समभिद्रुते ॥ १८ ॥
सिंहनादाः सपटहा दिवि दिव्यास्तथानदन् ।
दशकन्धरराजसून्वोस्तथा युद्धमभून्महत् ॥ १९ ॥

रावणपर श्रीरामकी चढ़ाई होते ही समस्त प्राणी हाहाकार कर उठे; देवलोकमें नगारे बज उठे और जोर-जोरसे सिंहनाद होने लगा। दशकन्धर रावण तथा राजकुमार श्रीराममें उस समय महान् युद्ध छिड़ गया ॥ १८-१९ ॥

अलब्धोपममन्यत्र तयोरेव तथाभवत् ।
स रामाय महाघोरं विससर्ज निशाचरः ॥ २० ॥
शूलमिन्द्राशनिप्रख्यं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ।
तच्छूलं सत्वरं रामश्चिच्छेद निशितैः शरैः ॥ २१ ॥

उस युद्धकी संसारमें अन्यत्र कहीं उपमा नहीं थी। उनका वह संग्राम उन्हींके संग्रामके समान था । निशाचर रावणने श्रीरामपर एक त्रिशूल चलाया, जो उठे हुए इन्द्रके वज्र तथा ब्रह्मदण्डके समान अत्यन्त भयंकर था; परंतु श्रीरामने तत्काल अपने तीखे बाणोंद्वारा उस त्रिशूलके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ २०-२१ ॥

तद् दृष्ट्वा दुष्करं कर्म रावणं भयमाविशत् ।
ततः क्रुद्धः ससर्जाशु दशग्रीवः शिताञ्छरान् ॥ २२ ॥

उनका वह दुष्कर कर्म देखकर दशानन रावणके मनमें भय समा गया। फिर कुपित होकर उसने तुरंत ही तीखे सायकोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ २२ ॥

सहस्रायुतशो रामे शस्त्राणि विविधानि च ।
ततो भुशुण्डीः शूलानि मुसलानि परश्वधान् ॥ २३ ॥
शक्तीश्च विविधाकाराः शतघ्नीश्च शितान् क्षुरान् ।

उस समय श्रीरामचन्द्रजीके ऊपर भाँति-भाँतिके हजारों शस्त्र गिरने लगे तथा भुशुण्डी, शूल, मुसल, फरसे, नाना प्रकारकी शक्तियाँ, शतघ्नी और तीखी धारवाले बाणोंकी वृष्टि होने लगी ॥ २३½ ॥

तां मायां विकृतां दृष्ट्वा दशग्रीवस्य रक्षसः ॥ २४ ॥
भयात् प्रदुद्रुवुः सर्वे वानराः सर्वतोदिशम् ।

राक्षस दशाननकी उस विकराल मायाको देखकर सब वानर भयके मारे चारों दिशाओंमें भाग चले ॥ २४½ ॥

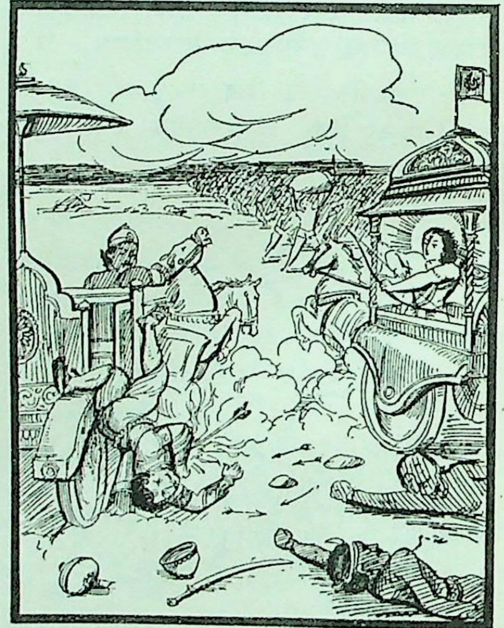
ततः [illegible]

तूणादादाय काकुत्स्थो ब्रह्मास्त्रेण युयोज ह ।
तं बाणवर्यं रामेण ब्रह्मास्त्रेणानुमन्त्रितम् ॥ २६ ॥
जहृषुर्देवगन्धर्वा दृष्ट्वा शक्रपुरोगमाः ।
अल्पावशेषमायुश्च ततोऽमन्यन्त रक्षसः ॥ २७ ॥
ब्रह्मास्त्रोदीरणाच्छत्रोर्देवदानवकिन्नराः ।

तब श्रीरामचन्द्रजीने सोनेके सुन्दर पंख तथा उत्तम अग्रभागवाले एक श्रेष्ठ बाणको तरकससे निकालकर उसे ब्रह्मास्त्रद्वारा अभिमन्त्रित किया। श्रीरामद्वारा ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्त्रित किये हुए उस उत्तम बाणको देखकर इन्द्र आदि देवताओं तथा गन्धर्वोंके हर्षकी सीमा न रही । शत्रुके प्रति श्रीरामके मुखसे ब्रह्मास्त्रका प्रयोग होता देख देवता, दानव और किन्नर यह समझ गये कि अब इस राक्षसकी आयु बहुत थोड़ी रह गयी है ॥ २५-२७½ ॥

ततः ससर्ज तं रामः शरमप्रतिमौजसम् ॥ २८ ॥
रावणान्तकरं घोरं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ।

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने उठे हुए ब्रह्मदण्डके समान भयंकर तथा अप्रतिम तेजस्वी उस रावणविनाशक बाणको छोड़ दिया ॥ २८½ ॥



मुक्तमात्रेण रामेण दूराकृष्टेन भारत ॥ २९ ॥
स तेन राक्षसश्रेष्ठः सरथः साश्वसारथिः ।
प्रजज्वाल महाज्वालेनाग्निनाभिपरिप्लुतः ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर ! श्रीरामद्वारा धनुषको दूरतक खींचकर छोड़े हुए उस बाणके लगते ही राक्षसराज रावण रथ, घोड़े और सारथिसहित इस प्रकार जलने लगा मानो भयंकर लपटोंवाली [illegible]

ततः प्रहृष्टास्त्रिदशाः सहगन्धर्वचारणाः ।
निहतं रावणं दृष्ट्वा रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ३१ ॥

इस प्रकार अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके हाथोंसे रावणको मारा गया देख देवता, गन्धर्व तथा चारण बहुत प्रसन्न हुए ॥ ३१ ॥

तत्यजुस्तं महाभागं पञ्च भूतानि रावणम् ।
भ्रंशितः सर्वलोकेभ्यः स हि ब्रह्मास्त्रतेजसा ॥ ३२ ॥

तदनन्तर पाँचों भूतोंने उस महान् भाग्यशाली रावणको त्याग दिया । ब्रह्मास्त्रके तेजसे दग्ध होकर वह सम्पूर्ण लोकोंसे भ्रष्ट हो गया ॥ ३२ ॥

शरीरधातवो ह्यस्य मांसं रुधिरमेव च ।
नेशुर्ब्रह्मास्त्रनिर्दग्धा न च भस्माप्यदृश्यत ॥ ३३ ॥

उसके शरीरके धातु, मांस तथा रक्त भी ब्रह्मास्त्रसे दग्ध होकर नष्ट हो गये । उसकी राखतक नहीं दिखायी दी ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रावणवधे नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें रावणवधविषयक दो सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९० ॥

एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीरामका सीताके प्रति संदेह, देवताओंद्वारा सीताकी शुद्धिका समर्थन, श्रीरामका दल-बलसहित लङ्कासे प्रस्थान एवं किष्किन्धा होते हुए अयोध्यामें पहुँचकर भरतसे मिलना तथा राज्यपर अभिषिक्त होना

मार्कण्डेय उवाच

स हत्वा रावणं क्षुद्रं राक्षसेन्द्रं सुरद्विषम् ।
बभूव हृष्टः ससुहृद् रामः सौमित्रिणा सह ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार नीच स्वभाववाले देवद्रोही राक्षसराज रावणका वध करके भगवान् श्रीराम अपने मित्रों तथा लक्ष्मणके साथ बड़े प्रसन्न हुए ॥ १ ॥

ततो हते दशग्रीवे देवाः सर्षिपुरोगमाः ।
आशीर्भिर्जययुक्ताभिरानर्चुस्तं महाभुजम् ॥ २ ॥

दशाननके मारे जानेपर देवता तथा महर्षिगण जययुक्त आशीर्वाद देते हुए उन महाबाहुकी पूजा एवं प्रशंसा करने लगे ॥ २ ॥

रामं कमलपत्राक्षं तुष्टुवुः सर्वदेवताः ।
गन्धर्वाः पुष्पवर्षैश्च वाग्भिश्च त्रिदशालयाः ॥ ३ ॥

स्वर्गवासी सम्पूर्ण देवताओं तथा गन्धर्वोंने फूलोंकी वर्षा करते हुए उत्तम वाणीद्वारा कमलनयन भगवान् श्रीरामका स्तवन किया ॥ ३ ॥

पूजयित्वा यथा रामं प्रतिजग्मुर्यथागतम् ।
तन्महोत्सवसंकाशमासीदाकाशमच्युत ॥ ४ ॥

श्रीरामकी भलीभाँति पूजा करके वे सब जैसे आये थे, उसी प्रकार लौट गये । युधिष्ठिर ! उस समय आकाश महान् उत्सवसमारोहसे भरा-सा जान पड़ता था ॥ ४ ॥

ततो हत्वा दशग्रीवं लङ्कां रामो महायशाः ।
विभीषणाय प्रददौ प्रभुः परपुरञ्जयः ॥ ५ ॥

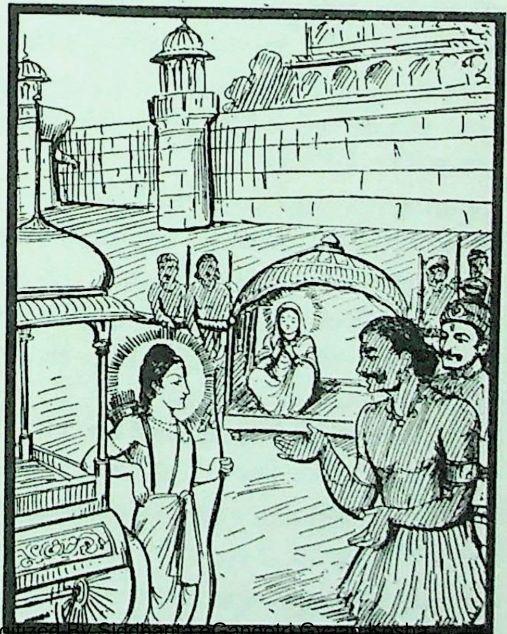
तत्पश्चात् शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले महायशस्वी भगवान् श्रीरामने दशग्रीवका वध करनेके अनन्तर लङ्काका राज्य विभीषणको दे दिया ॥ ५ ॥

ततः सीतां पुरस्कृत्य विभीषणपुरस्कृताम् ।
अविन्ध्यो नाम सुप्रज्ञो वृद्धामात्यो विनिर्ययौ ॥ ६ ॥

इसके बाद उत्तम बुद्धिसे युक्त बूढ़े मन्त्री अविन्ध्य विभीषणसहित भगवती सीताको आगे करके लङ्कापुरीसे बाहर निकले ॥ ६ ॥

उवाच च महात्मानं काकुत्स्थं दैन्यमास्थितः ।
प्रतीच्छ देवीं सद्वृत्तां महात्मञ्जानकीमिति ॥ ७ ॥

वे ककुत्स्थकुलभूषण महात्मा श्रीरामचन्द्रजीसे दीनतापूर्वक बोले—'महात्मन् ! सदाचारसे सुशोभित जनककिशोरी



महारानी सीताको ग्रहण कीजिये' ॥ ७ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्मादवतीर्य रथोत्तमात् ।
बाष्पेणापिहितां सीतां ददर्शेक्ष्वाकुनन्दनः ॥ ८ ॥

यह सुनकर इक्ष्वाकुनन्दन भगवान् श्रीरामने उस उत्तम रथसे उतरकर सीताको देखा । उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी ॥ ८ ॥

तां दृष्ट्वा चारुसर्वाङ्गीं यानस्थां शोककर्शिताम् ।
मलोपचितसर्वाङ्गीं जटिलां कृष्णवाससम् ॥ ९ ॥

शिबिकामें बैठी हुई सर्वाङ्गसुन्दरी सीता शोकसे दुबली हो गयी थीं । उनके समस्त अङ्गोंमें मैल जम गयी थी, सिरके बाल आपसमें चिपककर जटाके रूपमें परिणत हो गये थे और उनका वस्त्र काला पड़ गया था ॥ ९ ॥

उवाच रामो वैदेहीं परामर्शविशङ्कितः ।
गच्छ वैदेहि मुक्ता त्वं यत् कार्यं तन्मया कृतम् ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजीके मनमें यह संदेह हुआ कि सम्भव है, सीता परपुरुषके स्पर्शसे अपवित्र हो गयी हों; अतः उन्होंने विदेहनन्दिनी सीतासे स्पष्ट वचनोंद्वारा कहा—'विदेहकुमारी ! मैंने तुम्हें रावणकी कैदसे छुड़ा दिया । अब तुम जाओ । मेरा जो कर्तव्य था, उसे मैंने पूरा कर दिया ॥ १० ॥

मामासाद्य पतिं भद्रे न त्वं राक्षसवेश्मनि ।
जरां व्रजेथा इति मे निहतोऽसौ निशाचरः ॥ ११ ॥

'भद्रे ! मुझ-जैसे पतिको पाकर तुम्हें वृद्धावस्थातक किसी राक्षसके घरमें न रहना पड़े, यही सोचकर मैंने उस निशाचरका वध किया है ॥ ११ ॥

कथं ह्यस्मद्विधो जातु जानन् धर्मविनिश्चयम् ।
परहस्तगतां नारीं मुहूर्तमपि धारयेत् ॥ १२ ॥

'धर्मके सिद्धान्तको जाननेवाला मेरे-जैसा कोई भी पुरुष दूसरेके हाथमें पड़ी हुई नारीको मुहूर्तभरके लिये भी कैसे ग्रहण कर सकता है ! ॥ १२ ॥

सुवृत्तामसुवृत्तां वाप्यहं त्वामद्य मैथिलि ।
नोत्सहे परिभोगाय श्वावलीढं हविर्यथा ॥ १३ ॥

'मिथिलेशनन्दिनि ! तुम्हारा आचार-विचार शुद्ध रह गया हो अथवा अशुद्ध, अब मैं तुम्हें अपने उपयोगमें नहीं ला सकता—ठीक उसी तरह, जैसे कुत्तेके चाटे हुए हविष्यको कोई भी ग्रहण नहीं करता' ॥ १३ ॥

ततः सा सहसा बाला तच्छ्रुत्वा दारुणं वचः ।
पपात देवी व्यथिता निकृत्ता कदली यथा ॥ १४ ॥

सहसा यह कठोर वचन सुनकर देवीसीता व्यथित हो कटे हुए केलेके वृक्षकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ीं ॥१४॥

योऽप्यस्या हर्षसम्भूतो मुखरागस्तदाभवत् ।
क्षणेन स पुनर्नष्टो निःश्वास इव दर्पणे ॥ १५ ॥

जैसे श्वास लेनेसे दर्पणमें पड़ा हुआ मुखका प्रतिबिम्ब मलिन हो जाता है, उसी प्रकार सीताके मुखपर उस समय जो हर्षजनित कान्ति छा रही थी, वह एक ही क्षणमें फिर विलीन हो गयी ॥ १५ ॥

ततस्ते हरयः सर्वे तच्छ्रुत्वा रामभाषितम् ।
गतासुकल्पा निश्चेष्टा बभूवुः सहलक्ष्मणाः ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह कथन सुनकर समस्त वानर तथा लक्ष्मण सबके सब मरे हुएके समान निश्चेष्ट हो गये ॥ १६ ॥

ततो देवो विशुद्धात्मा विमानेन चतुर्मुखः ।
पद्मयोनिर्जगत्स्रष्टा दर्शयामास राघवम् ॥ १७ ॥

इसी समय विशुद्ध अन्तःकरणवाले कमलयोनि जगत्स्रष्टा चतुर्मुख ब्रह्माजीने विमानद्वारा वहाँ आकर श्रीरामचन्द्रजीको दर्शन दिया ॥ १७ ॥

शक्रश्चाग्निश्च वायुश्च यमो वरुण एव च ।
यक्षाधिपश्च भगवांस्तथा सप्तर्षयोऽमलाः ॥ १८ ॥

साथ ही इन्द्र, अग्नि, वायु, यम, वरुण, यक्षराज भगवान् कुबेर तथा निर्मल चित्तवाले सप्तर्षिगण भी वहाँ आ गये ॥१८॥

राजा दशरथश्चैव दिव्यभास्वरमूर्तिमान् ।
विमानेन महार्हेण हंसयुक्तेन भास्वता ॥ १९ ॥

इनके सिवा हंसोंसे युक्त एक बहुमूल्य तेजस्वी विमानद्वारा दिव्य प्रकाशमय स्वरूप धारण किये स्वयं राजा दशरथ भी वहाँ पधारे ॥ १९ ॥

ततोऽन्तरिक्षं तत् सर्वं देवगन्धर्वसंकुलम् ।
शुशुभे तारकाचित्रं शरदीव नभस्तलम् ॥ २० ॥

उस समय देवताओं और गन्धर्वोंसे भरा हुआ वह सम्पूर्ण अन्तरिक्ष इस प्रकार शोभा पाने लगा, मानो असंख्य तारागणोंसे चित्रित शरद्‌ऋतुका आकाश हो ॥ २० ॥

तत उत्थाय वैदेही तेषां मध्ये यशस्विनी ।
उवाच वाक्यं कल्याणी रामं पृथुलवक्षसम् ॥ २१ ॥

तब उन सबके बीचमें खड़ी होकर कल्याणमयी यशस्विनी सीताने चौड़ी छातीवाले भगवान् श्रीरामसे इस प्रकार कहा—॥ २१ ॥

राजपुत्र न ते दोषं करोमि विदिता हि ते ।
गतिः स्त्रीणां नराणां च शृणु चेदं वचो मम ॥ २२ ॥

'राजपुत्र ! मैं आपको दोष नहीं देती, क्योंकि आप स्त्रियों और पुरुषोंकी कैसी गति है, यह अच्छी तरह जानते हैं । केवल मेरी यह बात सुन लीजिये ॥ २२ ॥

अन्तश्चरति भूतानां मातरिश्वा सदागतिः ।
स मे विमुञ्चतु प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥ २३ ॥

'निरन्तर सचरण करनेवाले वायुदेव समस्त प्राणियोंके

भीतर विचरते हैं। यदि मैंने कोई पापाचार किया हो तो वे वायुदेवता मेरे प्राणोंका परित्याग कर दें ॥ २३ ॥

अग्निरापस्तथाऽऽकाशं पृथिवी वायुरेव च।
विमुञ्चन्तु मम प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥ २४ ॥

'यदि मैं पापका आचरण करती होऊँ तो अग्नि, जल, आकाश, पृथ्वी और वायु—ये सब मिलकर मुझसे मेरे प्राणोंका वियोग करा दें ॥ २४ ॥

यथाहं त्वदृते वीर नान्यं स्वप्नेऽप्यचिन्तयम्।
तथा मे देवनिर्दिष्टस्त्वमेव हि पतिर्भव ॥ २५ ॥

'वीर ! यदि मैंने आपके सिवा दूसरे किसी पुरुषका स्वप्नमें भी चिन्तन न किया हो तो देवताओंके दिये हुए एकमात्र आप ही मेरे पति हों' ॥ २५ ॥

ततोऽन्तरिक्षे वागासीत् सुभगा लोकसाक्षिणी।
पुण्या संहर्षणी तेषां वानराणां महात्मनाम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर आकाशमें सब लोगोंको साक्षी देती हुई एक सुन्दर वाणी उच्चरित हुई, जो परम पवित्र होनेके साथ ही उन महामना वानरोंको भी हर्ष प्रदान करनेवाली थी ॥ २६ ॥

वायुरुवाच

भो भो राघव सत्यं वै वायुरस्मि सदागतिः।
अपापा मैथिली राजन् संगच्छ सह भार्यया ॥ २७ ॥

(उस आकाशवाणीके रूपमें) वायुदेवता बोले—रघुनन्दन ! मैं सदा विचरण करनेवाला वायुदेवता हूँ। सीताने जो कुछ कहा है, वह सत्य है। राजन् ! मिथिलेशकुमारी सर्वथा पापशून्य हैं। आप अपनी इस पत्नीसे निःसंकोच होकर मिलिये ॥ २७ ॥

अग्निरुवाच

अहमन्तःशरीरस्थो भूतानां रघुनन्दन।
सुसूक्ष्ममपि काकुत्स्थ मैथिली नापराध्यति ॥ २८ ॥

अग्निदेवने कहा—रघुनन्दन ! मैं समस्त प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाला अग्नि हूँ। मुझे मालूम है कि मिथिलेशकुमारीके द्वारा कभी सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म अपराध नहीं हुआ है॥ २८॥

वरुण उवाच

रसा वै मत्प्रसूता हि भूतदेहेषु राघव।
अहं वै त्वां प्रब्रवीमि मैथिली प्रतिगृह्यताम् ॥ २९ ॥

वरुणदेवने कहा—श्रीराम ! समस्त प्राणियोंके शरीरोंमें जो जलतत्त्व है, वह मुझसे ही उत्पन्न हुआ है। अतः मैं तुमसे कहता हूँ, मिथिलेशकुमारी निष्पाप हैं, इसे ग्रहण करो ॥ २९ ॥

ब्रह्मोवाच

पुत्र नैतदिहाश्चर्यं त्वयि राजर्षिधर्मणि।
साधो सद्वृत्त काकुत्स्थ शृणु चेदं वचो मम ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजी बोले—वत्स ! तुम राजर्षियोंके धर्मपर चलनेवाले हो; अतः तुममें ऐसा सद्विचार होना आश्चर्यकी बात नहीं है। साधु सदाचारी श्रीराम ! तुम मेरी यह बात सुनो ॥ ३० ॥

शत्रुरेष त्वया वीर देवगन्धर्वभोगिनाम्।
यक्षाणां दानवानां च महर्षीणां च पातितः ॥ ३१ ॥

वीरवर ! यह रावण देवता, गन्धर्व, नाग, यक्ष, दानव तथा महर्षियोंका भी शत्रु था। इसे तुमने मार गिराया है ॥ ३१ ॥

अवध्यः सर्वभूतानां मत्प्रसादात् पुराभवत्।
कस्माच्चित् कारणात् पापः कञ्चित् कालमुपेक्षितः ॥ ३२ ॥

पूर्वकालमें मेरे ही प्रसादसे यह समस्त प्राणियोंके लिये अवध्य हो गया था। किसी कारणवश ही कुछ कालतक इस पापीकी उपेक्षा की गयी थी ॥ ३२ ॥

वधार्थमात्मनस्तेन हृता सीता दुरात्मना।
नलकूबरशापेन रक्षा चास्याः कृता मया ॥ ३३ ॥

दुरात्मा रावणने अपने वधके लिये ही सीताका अपहरण किया था। नलकूबरके शापद्वारा मैंने सीताकी रक्षाका प्रबन्ध कर दिया था ॥ ३३ ॥

यदि ह्यकामां सेवेत स्त्रियमन्यामपि ध्रुवम्।
शतधास्य फलेन्मूर्धा इत्युक्तः सोऽभवत् पुरा ॥ ३४ ॥

पूर्वकालमें रावणको यह शाप दिया गया था कि यदि यह उसे न चाहनेवाली किसी परायी स्त्रीका बलपूर्वक सेवन करेगा तो उसके मस्तकके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे ॥ ३४ ॥

नात्र शङ्का त्वया कार्या प्रतीच्छेमां महाद्युते।
कृतं त्वया महत् कार्यं देवानाममरप्रभ ॥ ३५ ॥

अतः महातेजस्वी श्रीराम ! तुम्हें सीताके विषयमें कोई शंका नहीं करनी चाहिये। इसे ग्रहण करो। देवताओंके समान तेजस्वी वीर ! तुमने रावणको मारकर देवताओंका महान् कार्य सिद्ध किया है ॥ ३५ ॥

दशरथ उवाच

प्रीतोऽस्मि वत्स भद्रं ते पिता दशरथोऽस्मि ते।
अनुजानामि राज्यं च प्रशाधि पुरुषोत्तम ॥ ३६ ॥

दशरथजी बोले—वत्स ! मैं तुम्हारा पिता दशरथ हूँ, तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हारा कल्याण हो। पुरुषोत्तम ! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि अब तुम अयोध्याका राज्य करो ॥ ३६ ॥

राम उवाच

अभिवादये त्वां राजेन्द्र यदि त्वं जनको मम ।
गमिष्यामि पुरीं रम्यामयोध्यां शासनात् तव ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—राजेन्द्र ! यदि आप मेरे पिता हैं तो मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आपकी आज्ञासे अब मैं रमणीय अयोध्यापुरीको लौट जाऊँगा ॥ ३७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तमुवाच पिता भूयः प्रहृष्टो भरतर्षभ ।
गच्छायोध्यां प्रशाधीति रामं रक्तान्तलोचनम् ॥ ३८ ॥
सम्पूर्णानीह वर्षाणि चतुर्दश महाद्युते ।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तदनन्तर पिता दशरथने अत्यन्त प्रसन्न होकर कुछ-कुछ लाल नेत्रोंवाले श्रीरामचन्द्रजीसे पुनः कहा—'महाद्युते ! तुम्हारे वनवासके चौदह वर्ष पूरे हो गये हैं। अब तुम अयोध्या जाओ और वहाँका शासन अपने हाथमें लो' ॥ ३८½ ॥

ततो देवान् नमस्कृत्य सुहृद्भिरभिनन्दितः ॥ ३९ ॥
महेन्द्र इव पौलोम्या भार्यया स समेयिवान् ।

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने देवताओंको नमस्कार किया और सुहृदोंसे अभिनन्दित हो अपनी पत्नी सीतासे मिले, मानो इन्द्रका शचीसे मिलन हुआ हो ॥ ३९½ ॥

ततो वरं ददौ तस्मै ह्यविन्ध्याय परंतपः ॥ ४० ॥
त्रिजटां चार्थमानाभ्यां योजयामास राक्षसीम् ।

इसके बाद परंतप श्रीरामने अविन्ध्यको अभीष्ट वरदान दिया तथा त्रिजटा राक्षसीको धन और सम्मानसे संतुष्ट किया ॥ ४०½ ॥

तमुवाच ततो ब्रह्मा देवैः शक्रपुरोगमैः ॥ ४१ ॥
कौसल्यामातरिष्टांस्ते वरानद्य ददानि कान् ।

यह सब हो जानेपर इन्द्र आदि देवताओंसहित ब्रह्माने भगवान् रामसे कहा—'कौसल्यानन्दन ! कहो, आज मैं तुम्हें कौन-कौनसे अभीष्ट वर प्रदान करूँ ?' ॥ ४१½ ॥

वव्रे रामः स्थितिं धर्मे शत्रुभिश्चापराजयम् ॥ ४२ ॥
राक्षसैर्निहतानां च वानराणां समुद्भवम् ।

तब श्रीरामचन्द्रजीने उनसे ये वर माँगे—'मेरी धर्ममें सदा स्थिति रहे, शत्रुओंसे कभी पराजय न हो तथा राक्षसोंके द्वारा मारे गये वानर पुनः जीवित हो जायँ' ॥ ४२½ ॥

ततस्ते ब्रह्मणा प्रोक्ते तथेति वचने तदा ॥ ४३ ॥
समुत्तस्थुर्महाराज वानरा लब्धचेतसः ।

यह सुनकर ब्रह्माजीने कहा—'ऐसा ही हो।' महाराज ! उनके इतना कहते ही सभी वानर चेतना प्राप्त करके जी उठे ॥ ४३½ ॥

सीता चापि महाभागा वरं हनुमते ददौ ॥ ४४ ॥
रामकीर्त्या समं पुत्र जीवितं ते भविष्यति ।

महासौभाग्यवती सीताने भी हनुमान्‌जीको यह वर दिया—'पुत्र ! जबतक इस धरातलपर भगवान् श्रीरामकी कीर्ति बनी रहेगी, तबतक तुम्हारा जीवन स्थिर रहेगा ॥ ४४½ ॥

दिव्यास्त्वामुपभोगाश्च मत्प्रसादकृताः सदा ॥ ४५ ॥
उपस्थास्यन्ति हनुमन्निति स्म हरिलोचन ।

'पिङ्गलनयन हनुमान् ! मेरी कृपासे तुम्हें सदा ही दिव्य भोग प्राप्त होते रहेंगे' ॥ ४५½ ॥

ततस्ते प्रेक्षमाणानां तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ॥ ४६ ॥
अन्तर्धानं ययुर्देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः ।

तदनन्तर अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले वानरोंके देखते-देखते वहाँ इन्द्र आदि सब देवता अन्तर्धान हो गये ॥ ४६½ ॥

दृष्ट्वा रामं तु जानक्या संगतं शक्रसारथिः ॥ ४७ ॥
उवाच परमप्रीतः सुहृन्मध्य इदं वचः ।
देवगन्धर्वयक्षाणां मानुषासुरभोगिनाम् ॥ ४८ ॥
अपनीतं त्वया दुःखमिदं सत्यपराक्रम ।

श्रीरामचन्द्रजीको जनकनन्दिनी सीताके साथ विराजमान देख इन्द्रसारथि मातलिको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने सब सुहृदोंके बीचमें इस प्रकार कहा—'सत्यपराक्रमी श्रीराम ! आपने देवता, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, असुर और नाग—इन सबका दुःख दूर कर दिया है ॥ ४७-४८½ ॥

सदेवासुरगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ॥ ४९ ॥
कथयिष्यन्ति लोकास्त्वां यावद् भूमिर्धरिष्यति ।

'जबतक यह पृथ्वी रहेगी, तबतक देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा नागोंसहित सम्पूर्ण जगत्‌के लोग आपकी कीर्तिकथाका गान करेंगे' ॥ ४९½ ॥

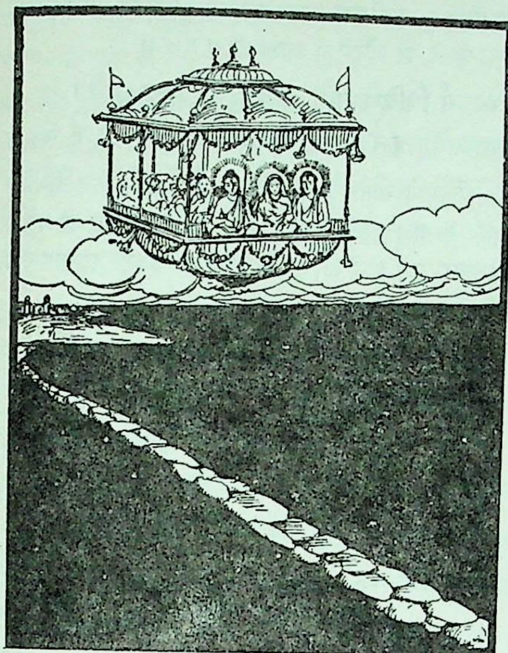
इत्येवमुक्त्वानुज्ञाप्य रामं शस्त्रभृतां वरम् ॥ ५० ॥
सम्पूज्यापाक्रमत् तेन रथेनादित्यवर्चसा ।

ऐसा कहकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा ले उनकी पूजा करके सूर्यके समान तेजस्वी उसी रथके द्वारा मातलि स्वर्गलोकको चला गया ॥ ५०½ ॥

ततः सीतां पुरस्कृत्य रामः सौमित्रिणा सह ॥ ५१ ॥
सुग्रीवप्रमुखैश्चैव सहितः सर्ववानरैः ।
विधाय रक्षां लङ्कायां विभीषणपुरस्कृतः ॥ ५२ ॥
संततार पुनस्तेन सेतुना मकरालयम् ।
पुष्पकेण विमानेन खेचरेण विराजता ॥ ५३ ॥
कामगेन यथामुख्यैरमात्यैः संवृतो वशी ।

तदनन्तर जितेन्द्रिय भगवान् श्रीरामने लङ्कापुरीकी सुरक्षाका प्रबन्ध करके लक्ष्मण, सुग्रीव आदि सभी श्रेष्ठ

वानरों, विभीषण तथा प्रधान-प्रधान सचिवोंके साथ सीताको आगे करके इच्छानुसार चलनेवाले, आकाशचारी, शोभाशाली



पुष्पकविमानपर आरूढ़ हो उसीके द्वारा पूर्वोक्त सेतुमार्गसे ऊपर-ही-ऊपर पुनः मकरालय समुद्रको पार किया॥ ५१-५३½ ॥

ततस्तीरे समुद्रस्य यत्र शिश्ये स पार्थिवः ॥ ५४॥
तत्रैवोवास धर्मात्मा सहितः सर्ववानरैः ।

समुद्रके इस पार आकर धर्मात्मा श्रीरामने पहले जहाँ शयन किया था, उसी स्थानपर सम्पूर्ण वानरोंके साथ विश्राम किया ॥ ५४½ ॥

अथैनान् राघवः काले समानीयाभिपूज्य च ॥ ५५॥
विसर्जयामास तदा रत्नैः संतोष्य सर्वशः ।

फिर श्रीरघुनाथजीने यथासमय सबको अपने पास बुलाकर सबका यथायोग्य आदर-सत्कार किया तथा रत्नोंकी भेंटसे संतुष्ट करके सभी वानरों और रीछोंको विदा किया ॥ ५५½ ॥

गतेषु वानरेन्द्रेषु गोपुच्छर्क्षेषु तेषु च ॥ ५६॥
सुग्रीवसहितो रामः किष्किन्धां पुनरागमत् ।

जब वे रीछ, श्रेष्ठ वानर और लंगूर चले गये, तब सुग्रीवसहित श्रीरामने पुनः किष्किन्धापुरीको प्रस्थान किया ॥ ५६½ ॥

विभीषणेनानुगतः सुग्रीवसहितस्तदा ॥ ५७॥
पुष्पकेण विमानेन वैदेह्या दर्शयन् वनम् ।
किष्किन्धां तु समासाद्य रामः प्रहरतां वरः ॥ ५८॥
अङ्गदं कृतकर्माणं यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ।

विभीषण और सुग्रीवके साथ पुष्पक-विमानद्वारा विदेहकुमारी सीताको वनकी शोभा दिखाते हुए योद्धाओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने किष्किन्धामें पहुँचकर अङ्गदको, जिन्होंने लंकाके युद्धमें महान् पराक्रम दिखाया था, युवराजके पदपर अभिषिक्त किया ॥ ५७-५८½ ॥

ततस्तैरेव सहितो रामः सौमित्रिणा सह ॥ ५९ ॥
यथागतेन मार्गेण प्रययौ स्वपुरं प्रति ।

इसके बाद लक्ष्मण तथा सुग्रीव आदिके साथ श्रीरामचन्द्रजी जिस मार्गसे आये थे, उसीके द्वारा अपनी राजधानी अयोध्याकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ५९½ ॥

अयोध्यां स समासाद्य पुरीं राष्ट्रपतिस्ततः ॥ ६० ॥
भरताय हनूमन्तं दूतं प्रास्थापयत् तदा ।

तत्पश्चात् अयोध्यापुरीके निकट पहुँचकर राष्ट्रपति श्रीरामने हनुमान्‌जीको दूत बनाकर भरतके पास भेजा ॥ ६०½ ॥

लक्षयित्वेङ्गितं सर्वं प्रियं तस्मै निवेद्य वै ॥ ६१ ॥
वायुपुत्रे पुनः प्राप्ते नन्दिग्राममुपागमत् ।

जब वायुपुत्र हनुमान्‌जी भरतजीकी सारी चेष्टाओंको लक्ष्य करके उन्हें श्रीरामचन्द्रजीके पुनरागमनका प्रिय समाचार सुनाकर लौट आये, तब श्रीरामचन्द्रजी नन्दिग्राममें आये ॥ ६१½ ॥

स तत्र मलदिग्धाङ्गं भरतं चीरवाससम् ॥ ६२ ॥
अग्रतः पादुके कृत्वा ददर्शासीनमासने ।

वहाँ आकर श्रीरामने देखा, भरत चीरवस्त्र पहने हुए हैं, उनका शरीर मैलसे भरा हुआ है और वे मेरी चरण-पादुकाएँ आगे रखकर कुशासनपर बैठे हैं ॥६२½ ॥

संगतो भरतेनाथ शत्रुघ्नेन च वीर्यवान् ॥ ६३ ॥
राघवः सहसौमित्रिर्मुमुदे भरतर्षभ ।

युधिष्ठिर ! लक्ष्मणसहित पराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी भरत और शत्रुघ्नसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए ॥ ६३½ ॥

ततो भरतशत्रुघ्नौ समेतौ गुरुणा तदा ॥ ६४ ॥
वैदेह्या दर्शनेनोभौ प्रहर्षं समवापतुः ।

भरत और शत्रुघ्नको भी उस समय बड़े भाईसे मिलकर तथा विदेहकुमारी सीताका दर्शन करके महान् हर्ष प्राप्त हुआ ॥ ६४½ ॥

तस्मै तद् भरतो राज्यमागतायातिसत्कृतम् ।
न्यासं निर्यातयामास युक्तः परमया मुदा ॥ ६५ ॥

फिर भरतजीने बड़ी प्रसन्नताके साथ अयोध्या पधारे हुए भगवान् श्रीरामको अपने पास धरोहरके रूपमें रखा हुआ (अयोध्याका) राज्य अत्यन्त सत्कारपूर्वक लौटा दिया ॥ ६५ ॥

ततस्तं वैष्णवे शूरं नक्षत्रेऽभिमतेऽहनि ।
वसिष्ठो वामदेवश्च सहितावभ्यषिञ्चताम् ॥ ६६ ॥

तत्पश्चात् विष्णुदेवतासम्बन्धी श्रवण नक्षत्रका पुण्य



दिवस आनेपर वसिष्ठ और वामदेव दोनों ऋषियोंने मिलकर शूरशिरोमणि भगवान् रामका राज्याभिषेक किया ॥ ६६ ॥

सोऽभिषिक्तः कपिश्रेष्ठं सुग्रीवं ससुहृज्जनम् ।
विभीषणं च पौलस्त्यमन्वजानाद् गृहान् प्रति ॥ ६७ ॥

राज्याभिषेकका कार्य सम्पन्न हो जानेपर श्रीरामचन्द्रजीने सुहृदोंसहित सुग्रीवको तथा पुलस्त्यकुलनन्दन विभीषणको अपने-अपने घर लौटनेकी आज्ञा दी ॥ ६७ ॥

अभ्यर्च्य विविधैर्भोगैः प्रीतियुक्तौ मुदा युतौ ।
समाधायेतिकर्तव्यं दुःखेन विससर्ज ह ॥ ६८ ॥

श्रीरामने भाँति-भाँतिके भोग अर्पित करके उन दोनोंका सत्कार किया । इससे वे बड़े प्रसन्न और आनन्दमग्न हो गये । तदनन्तर उन दोनोंको कर्तव्यकी शिक्षा देकर रघुनाथजीने उन्हें बड़े दुःखसे विदा किया ॥ ६८ ॥

पुष्पकं च विमानं तत् पूजयित्वा स राघवः ।
प्रादाद् वैश्रवणायैव प्रीत्या स रघुनन्दनः ॥ ६९ ॥

इसके बाद उस पुष्पकविमानकी पूजा करके रघुनन्दन श्रीरामने उसे कुबेरको ही प्रेमपूर्वक लौटा दिया ॥ ६९ ॥

ततो देवर्षिसहितः सरितं गोमतीमनु ।
दशाश्वमेधानाजह्रे जारूथ्यान् स निरर्गलान् ॥ ७० ॥

तदनन्तर देवर्षियोंसहित गोमती नदीके तटपर जाकर श्रीरघुनाथजीने दस अश्वमेध यज्ञ किये, जो स्तुतिके योग्य थे और जिनमें अन्न आदिकी इच्छासे आनेवाले याचकोंके लिये कभी द्वार बंद नहीं होता था ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि श्रीरामाभिषेके एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें श्रीरामाभिषेकविषयक दो सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९१ ॥

द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेयजीके द्वारा राजा युधिष्ठिरको आश्वासन

मार्कण्डेय उवाच

एवमेतन्महाबाहो रामेणामिततेजसा ।
प्राप्तं व्यसनमत्युग्रं वनवासकृतं पुरा ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—महाबाहु युधिष्ठिर ! इस प्रकार प्राचीन कालमें अमिततेजस्वी श्रीरामने वनवासजनित अत्यन्त भयंकर कष्ट भोगा था ॥ १ ॥

मा शुचः पुरुषव्याघ्र क्षत्रियोऽसि परंतप ।
बाहुवीर्याश्रिते मार्गे वर्तसे दीप्तनिर्णये ॥ २ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह ! तुम क्षत्रिय हो, शोक न करो । तुम तो उस मार्गपर चल रहे हो, जहाँ केवल अपने बाहुबलका भरोसा किया जाता है तथा जहाँ अभीष्ट फलकी प्राप्ति प्रत्यक्ष एवं असंदिग्ध है ॥ २ ॥

न हि ते वृजिनं किंचिद् वर्तते परमण्वपि ।
अस्मिन् मार्गे विषीदेयुः सेन्द्रा अपि सुरासुराः ॥ ३ ॥

श्रीरामके कष्टके सामने तुम्हारा कष्ट अणुमात्र भी नहीं है । इन्द्रसहित देवता तथा असुर भी इस क्षत्रियधर्मके मार्गपर चले हैं ॥ ३ ॥

संहत्य निहतो वृत्रो मरुद्भिर्वज्रपाणिना ।
नमुचिश्चैव दुर्धर्षो दीर्घजिह्वा च राक्षसी ॥ ४ ॥

वज्रपाणि इन्द्रने मरुद्गणोंके साथ मिलकर वृत्रासुर, दुर्धर्ष वीर नमुचि तथा दीर्घजिह्वा राक्षसीका वध किया था ॥

सहायवति सर्वार्थाः संतिष्ठन्तीह सर्वशः ।
किं नु तस्याजितं संख्ये यस्य भ्राता धनंजयः ॥ ५ ॥

जो सहायकोंसे सम्पन्न है, उसके सभी मनोरथ इस जगत्में सब प्रकारसे सिद्ध होते हैं । फिर जिसे धनंजय-जैसा भाई मिला हो, वह युद्धमें किसे परास्त नहीं कर सकता ॥ ५ ॥

[illegible]

युवानौ च महेष्वासौ वीरौ माद्रवतीसुतौ ॥ ६ ॥

ये भयंकर पराक्रमी भीमसेन बलवानोंमें श्रेष्ठ हैं। माद्रीनन्दन वीर नकुल-सहदेव भी महान् धनुर्धर तथा नवयुवक हैं ॥ ६ ॥

एभिः सहायैः कस्मात् त्वं विषीदसि परंतप ।
य इमे वज्रिणः सेनां जयेयुः समरुद्गणाम् ॥ ७ ॥

परंतप ! इन सब सहायकोंके होते हुए तुम विषाद क्यों करते हो ? तुम्हारे ये भाई तो मरुद्गणोंसहित वज्रधारी इन्द्रकी सेनाको भी परास्त कर सकते हैं ॥ ७ ॥

त्वमप्येभिर्महेष्वासैः सहायैर्देवरूपिभिः ।
विजेष्यसे रणे सर्वानमित्रान् भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुम भी इन देवस्वरूप महाधनुर्धर भाइयोंकी सहायतासे अपने समस्त शत्रुओंको युद्धमें जीत लोगे ॥

इतश्च त्वमिमां पश्य सैन्धवेन दुरात्मना ।
बलिना वीर्यमत्तेन हृतामेभिर्महात्मभिः ॥ ९ ॥
आनीतां द्रौपदीं कृष्णां कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
जयद्रथं च राजानं विजितं वशमागतम् ॥ १० ॥

इधर इस द्रौपदीकी ओर देखो । अपने पराक्रमके मदसे उन्मत्त महाबली दुरात्मा सिन्धुराजने इसे हर लिया था; परंतु तुम्हारे इन महात्मा बन्धुओंने अत्यन्त दुष्कर कर्म करके द्रुपदकुमारी कृष्णाको पुनः लौटा लिया तथा राजा जयद्रथको भी परास्त करके अपने अधीन कर लिया था ॥

असहायेन रामेण वैदेही पुनराहृता ।
हत्वा संख्ये दशग्रीवं राक्षसं भीमविक्रमम् ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके तो कोई स्वजातीय सहायक भी नहीं थे, तो भी उन्होंने युद्धमें भयंकर पराक्रमी राक्षस दशाननका वध करके विदेहनन्दिनी सीताको पुनः लौटा लिया ॥ ११ ॥

यस्य शाखामृगा मित्राण्यृक्षाः कालमुखास्तथा ।
जात्यन्तरगता राजन्नेतद् बुद्ध्यानुचिन्तय ॥ १२ ॥

राजन् ! दूसरी योनिके प्राणी वानर, लंगूर तथा रीछ ही उनके मित्र अथवा सहायक थे (किंतु तुम्हारे तो चार शूरवीर भाई सहायक हैं) । इस बातपर बुद्धिद्वारा विचार करो ॥ १२ ॥

तस्मात् स त्वं कुरुश्रेष्ठ मा शुचो भरतर्षभ ।
त्वद्विधा हि महात्मानो न शोचन्ति परंतप ॥ १३ ॥

अतः कुरुश्रेष्ठ ! भरतभूषण ! तुम शोक न करो । क्योंकि परंतप ! तुम्हारे-जैसे महात्मा पुरुष कभी शोक नहीं करते ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितो राजा मार्कण्डेयेन धीमता ।
त्यक्त्वा दुःखमदीनात्मा पुनरप्येनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! परम बुद्धिमान् मार्कण्डेय मुनिके इस प्रकार आश्वासन देनेपर उदार हृदयवाले राजा युधिष्ठिर दुःख-शोक छोड़कर पुनः उनसे इस प्रकार बोले ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें युधिष्ठिरको आश्वासनविषयक दो सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२९२॥

(पतिव्रतामाहात्म्यपर्व)

त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजा अश्वपतिको देवी सावित्रीके वरदानसे सावित्री नामक कन्याकी प्राप्ति तथा सावित्रीका पतिवरणके लिये विभिन्न देशोंमें भ्रमण

युधिष्ठिर उवाच

नात्मानमनुशोचामि नेमान् भ्रातॄन् महामुने ।
हरणं चापि राज्यस्य यथेमां द्रुपदात्मजाम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—महामुने ! इस द्रुपदकुमारीके लिये मुझे जैसा शोक होता है, वैसा न तो अपने लिये, न इन भाइयोंके लिये और न राज्य छिन जानेके लिये ही होता है ॥ १ ॥

द्यूते दुरात्मभिः क्लिष्टाः कृष्णया तारिता वयम् ।
जयद्रथेन च पुनर्वनाच्चापि हृता बलात् ॥ २ ॥

दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंने जूएके समय हमलोगोंको भारी संकटमें डाल दिया था, परंतु इस द्रौपदीने हमें बचा लिया । फिर जयद्रथने इस वनसे इसका बलपूर्वक अपहरण किया ॥ २ ॥

अस्ति सीमन्तिनी काचिद् दृष्टपूर्वापि वा श्रुता ।
पतिव्रता महाभागा यथेयं द्रुपदात्मजा ॥ ३ ॥

क्या आपने किसी ऐसी परम सौभाग्यवती पतिव्रता नारीको पहले कभी देखा अथवा सुना है, जैसी यह द्रौपदी है ? ॥

मार्कण्डेय उवाच

शृणु राजन् कुलस्त्रीणां महाभाग्यं युधिष्ठिर।
सर्वमेतद् यथा प्राप्तं सावित्र्या राजकन्यया॥ ४ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—राजा युधिष्ठिर! राजकन्या सावित्रीने कुलकामिनियोंके लिये परम सौभाग्यरूप यह पातिव्रत्य आदि सब सद्गुणसमूह जिस प्रकार प्राप्त किया था, वह बताता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

आसीन्मद्रेषु धर्मात्मा राजा परमधार्मिकः।
ब्रह्मण्यश्च महात्मा च सत्यसंधो जितेन्द्रियः॥ ५ ॥

प्राचीनकालकी बात है, मद्रदेशमें एक परम धर्मात्मा राजा राज्य करते थे। वे ब्राह्मण-भक्त, विशालहृदय, सत्य-प्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय थे ॥ ५ ॥

यज्वा दानपतिर्दक्षः पौरजानपदप्रियः।
पार्थिवोऽश्वपतिर्नाम सर्वभूतहिते रतः॥ ६ ॥

वे यज्ञ करनेवाले, दानाध्यक्ष, कार्य-कुशल, नगर और जनपदके लोगोंके परम प्रिय तथा सम्पूर्ण भूतोंके हितमें तत्पर रहनेवाले भूपाल थे। उनका नाम अश्वपति था ॥ ६ ॥

क्षमावाननपत्यश्च सत्यवाग् विजितेन्द्रियः।
अतिक्रान्तेन वयसा संतापमुपजग्मिवान्॥ ७ ॥

राजा अश्वपति क्षमाशील, सत्यवादी और जितेन्द्रिय होनेपर भी संतानहीन थे। बहुत अधिक अवस्था बीत जानेपर इसके कारण उनके मनमें बड़ा संताप हुआ ॥ ७ ॥

अपत्योत्पादनार्थं च तीव्रं नियममास्थितः।
काले परिमिताहारो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः॥ ८ ॥

अतः उन्होंने संतानकी उत्पत्तिके लिये बड़े कठोर नियमोंका आश्रय लिया। वे निश्चित समयपर थोड़ा-सा भोजन करते और ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए इन्द्रियोंको संयममें रखते थे ॥

हुत्वा शतसहस्रं स सावित्र्या राजसत्तमः।
षष्ठे षष्ठे तदा काले बभूव मितभोजनः॥ ९ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ अश्वपति ब्राह्मणोंके साथ प्रतिदिन गायत्री-मन्त्रसे एक लाख आहुति देकर दिनके छठे भागमें परिमित भोजन करते थे ॥ ९ ॥

एतेन नियमेनासीद् वर्षाण्यष्टादशैव तु।
पूर्णे त्वष्टादशे वर्षे सावित्री तुष्टिमभ्यगात्॥ १० ॥

उनको इस नियमसे रहते हुए अठारह वर्ष बीत गये। अठारहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर सावित्रीदेवी संतुष्ट हुईं ॥ १० ॥

रूपिणी तु तदा राजन् दर्शयामास तं नृपम्।
अग्निहोत्रात् समुत्थाय हर्षेण महतान्विता।
उवाच चैनं वरदा वचनं पार्थिवं तदा॥ ११ ॥
(सा तमश्वपतिं राजन् सावित्री नियमे स्थितम्॥)

राजन्! तब मूर्तिमती सावित्रीदेवीने अग्निहोत्रकी अग्निसे प्रकट होकर बड़े हर्षके साथ राजाको प्रत्यक्ष दर्शन दिया और वर देनेके लिये उद्यत हो अनुष्ठानके नियमोंमें स्थित उस राजा अश्वपतिसे इस प्रकार कहा ॥ ११ ॥

सावित्र्युवाच

ब्रह्मचर्येण शुद्धेन दमेन नियमेन च।
सर्वात्मना च भक्त्या च तुष्टास्मि तव पार्थिव॥ १२ ॥

सावित्री बोली—राजन्! मैं तुम्हारे विशुद्ध ब्रह्मचर्य, इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह तथा सम्पूर्ण हृदयसे की हुई भक्तिके द्वारा बहुत संतुष्ट हुई हूँ ॥ १२ ॥

वरं वृणीष्वाश्वपते मद्रराज यदीप्सितम्।
न प्रमादश्च धर्मेषु कर्तव्यस्ते कथञ्चन॥ १३ ॥

मद्रराज अश्वपते! तुम्हें जो अभीष्ट हो, वह वर माँगो। धर्मोंके पालनमें तुम्हें कभी किसी तरह भी प्रमाद नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

अश्वपतिरुवाच

अपत्यार्थः समारम्भः कृतो धर्मेप्सया मया।
पुत्रा मे बहवो देवि भवेयुः कुलभावनाः॥ १४ ॥

अश्वपतिने कहा—देवि! मैंने धर्मप्राप्तिकी इच्छासे संतानके लिये यह अनुष्ठान आरम्भ किया था। आपकी कृपासे मुझे बहुत-से वंशप्रवर्तक पुत्र प्राप्त हों ॥ १४ ॥

तुष्टासि यदि मे देवि वरमेतं वृणोम्यहम्।
संतानं परमो धर्म इत्याहुर्मां द्विजातयः॥ १५ ॥

देवि! यदि आप प्रसन्न हैं तो मैं आपसे यह संतान-सम्बन्धी वर ही माँगता हूँ; क्योंकि द्विजातिगण मुझसे बराबर यही कहते हैं कि 'न्याययुक्त संतानोत्पादन (भी) परम धर्म है' ॥ १५ ॥

सावित्र्युवाच

पूर्वमेव मया राजन्नभिप्रायमिमं तव।
ज्ञात्वा पुत्रार्थमुक्तो वै भगवांस्ते पितामहः॥ १६ ॥

सावित्री बोली—राजन्! मैंने पहले ही तुम्हारे इस अभिप्रायको जानकर पुत्रके लिये भगवान् ब्रह्माजीसे निवेदन किया था ॥ १६ ॥

प्रसादाच्चैव तस्मात् ते स्वयम्भुविहिताद् भुवि।
कन्या तेजस्विनी सौम्य क्षिप्रमेव भविष्यति॥ १७ ॥

अतः सौम्य! भगवान् ब्रह्माजीके कृपाप्रसादसे तुम्हें शीघ्र ही इस पृथ्वीपर एक तेजस्विनी कन्या प्राप्त होगी ॥ १७ ॥

उत्तरं च न ते किंचिद् व्याहर्तव्यं कथञ्चन।
पितामहनिसर्गेण तुष्टा ह्येतद् ब्रवीमि ते॥ १८ ॥

इस विषयमें तुम्हें किसी तरह भी कोई प्रतिवाद या

उत्तर नहीं देना चाहिये । मैं ब्रह्माजीकी आज्ञासे संतुष्ट होकर तुमसे यह बात कहती हूँ ॥ १८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय सावित्र्या वचनं नृपः ।
प्रसादयामास पुनः क्षिप्रमेतद् भविष्यति ॥ १९ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! सावित्रीदेवीकी बात सुनकर राजाने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञाका पालन करनेकी प्रतिज्ञा की और पुनः सावित्री-देवीको इस उद्देश्यसे प्रसन्न किया कि यह भविष्यवाणी शीघ्र सफल हो ॥ १९ ॥

अन्तर्हितायां सावित्र्यां जगाम स्वपुरं नृपः ।
स्वराज्ये चावसद् वीरः प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ २० ॥

जब सावित्रीदेवी अन्तर्धान हो गयीं, तब वीर राजा अश्वपति भी अपने नगरको चले गये और प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करते हुए अपने राज्यमें ही रहने लगे ॥ २० ॥

कस्मिंश्चित् तु गते काले स राजा नियतव्रतः ।
ज्येष्ठायां धर्मचारिण्यां महिष्यां गर्भमादधे ॥ २१ ॥

नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजा अश्वपतिने किसी समय अपनी धर्मपरायणा बड़ी रानीमें गर्भ स्थापित किया ॥ २१ ॥

राजपुत्र्यास्तु गर्भः स मालव्या भरतर्षभ ।
व्यवर्धत तदा शुक्ले तारापतिरिवाम्बरे ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अश्वपतिकी पत्नी मालवदेशकी राजकुमारी थीं । उनका वह गर्भ आकाशमें शुक्लपक्षीय चन्द्रमाकी भाँति दिनोंदिन बढ़ने लगा ॥ २२ ॥

प्राप्ते काले तु सुषुवे कन्यां राजीवलोचनाम् ।
क्रियाश्च तस्या मुदितश्चक्रे च नृपसत्तमः ॥ २३ ॥

समय प्राप्त होनेपर महारानीने एक कमलनयनी कन्याको जन्म दिया तथा नृपश्रेष्ठ अश्वपतिने अत्यन्त प्रसन्न होकर उसके जातकर्म आदि संस्कार सम्पन्न करवाये ॥ २३ ॥

सावित्र्या प्रीतया दत्ता सावित्र्या हुतया ह्यपि ।
सावित्रीत्येव नामास्याश्चक्रुर्विप्रास्तथा पिता ॥ २४ ॥

सावित्रीने प्रसन्न होकर उस कन्याको दिया था तथा गायत्री मन्त्रद्वारा आहुति देनेसे ही सावित्रीदेवी प्रसन्न हुई थीं, अतः ब्राह्मणों तथा पिताने उस कन्याका नाम 'सावित्री' ही रक्खा ॥ २४ ॥

सा विग्रहवतीव श्रीर्व्यवर्धत नृपात्मजा ।
कालेन चापि सा कन्या यौवनस्था बभूव ह ॥ २५ ॥

वह [illegible] लगी और यथासमय उसने युवावस्थामें प्रवेश किया ॥ २५ ॥

तां सुमध्यां पृथुश्रोणीं प्रतिमां काञ्चनीमिव ।
प्राप्तेयं देवकन्येति दृष्ट्वा सम्मेनिरे जनाः ॥ २६ ॥

उसके शरीरका कटिभाग परम सुन्दर तथा नितम्बदेश पृथुल था । वह सुवर्णकी बनी हुई प्रतिमा-सी जान पड़ती थी । उसे देखकर सब लोग यही मानते थे कि यह कोई देवकन्या आ गयी है ॥ २६ ॥

तां तु पद्मपलाशाक्षीं ज्वलन्तीमिव तेजसा ।
न कश्चिद् वरयामास तेजसा प्रतिवारितः ॥ २७ ॥

उसके नेत्रयुगल विकसित नील कमलदलके समान मनोहर थे । वह अपने तेजसे प्रज्वलित-सी जान पड़ती थी । उसके तेजसे प्रतिहत हो जानेके कारण कोई भी राजा या राजकुमार उसका वरण नहीं कर सका ॥ २७ ॥

अथोपोष्य शिरःस्नाता देवतामभिगम्य सा ।
हुत्वाग्निं विधिवद् विप्रान् वाचयामास पर्वणि ॥ २८ ॥

एक दिन किसी पर्वके अवसरपर उपवासपूर्वक शिरसे स्नान करके सावित्री देवताके दर्शनके लिये गयी और विधिपूर्वक अग्नि-में आहुति दे उसने ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया ॥ २८ ॥

ततः सुमनसः शेषाः प्रतिगृह्य महात्मनः ।
पितुः समीपमगमद् देवी श्रीरिव रूपिणी ॥ २९ ॥

तदनन्तर इष्टदेवताका प्रसाद लेकर मूर्तिमती लक्ष्मीदेवीके समान सुशोभित होती हुई वह अपने महात्मा पिताके समीप गयी ॥

साभिवाद्य पितुः पादौ शेषाः पूर्वं निवेद्य च ।
कृताञ्जलिर्वरारोहा नृपतेः पार्श्वमास्थिता ॥ ३० ॥

पहले प्रसाद आदि निवेदन करके उसने पिताके चरणोंमें प्रणाम किया । फिर वह सुन्दरी कन्या हाथ जोड़कर पिताके पार्श्वभागमें खड़ी हो गयी ॥ ३० ॥

यौवनस्थां तु तां दृष्ट्वा स्वां सुतां देवरूपिणीम् ।
अयाच्यमानां च वरैर्नृपतिर्दुःखितोऽभवत् ॥ ३१ ॥

अपनी देवस्वरूपिणी पुत्रीको युवावस्थामें प्रविष्ट हुई देख और अभीतक इसके लिये किसी वरने याचना नहीं की, यह सोचकर मद्रनरेशको बड़ा दुःख हुआ ॥ ३१ ॥

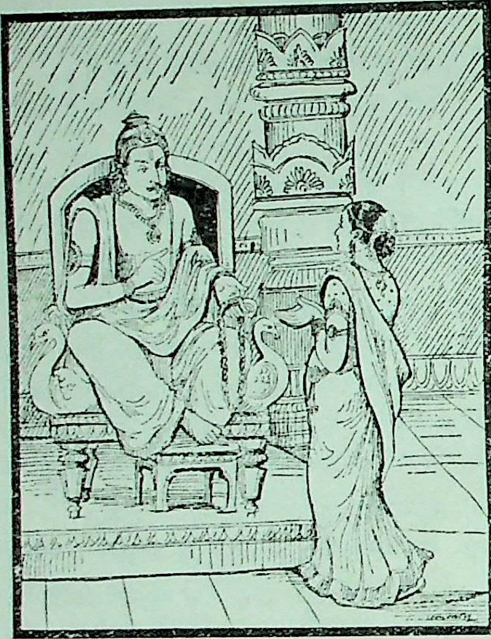
राजोवाच

पुत्रि प्रदानकालस्ते न च कश्चिद् वृणोति माम् ।
स्वयमन्विच्छ भर्तारं गुणैः सदृशमात्मनः ॥ ३२ ॥

राजा बोले—बेटी ! अब किसी वरके साथ तेरा ब्याह कर देनेका समय आ गया है, परंतु (तेरे तेजसे प्रतिहत हो जानेके कारण) कोई भी मुझसे तुझे माँग नहीं रहा है । इसलिये तू स्वयं ही ऐसे वरकी खोज कर ले, जो गुणोंमें तेरे समान हो ॥ ३२ ॥

प्रार्थितः पुरुषो यश्च स निवेद्यस्त्वया मम ।
विमृश्याहं प्रदास्यामि वरय त्वं यथेप्सितम् ॥ ३३ ॥

जिस पुरुषको तू पतिरूपमें प्राप्त करना चाहे, उसका मुझे परिचय दे देना; फिर मैं सोच-विचारकर उसके साथ तेरा ब्याह कर दूँगा । तू मनोवाञ्छित वरका वरण कर ले ॥ ३३ ॥



श्रुतं हि धर्मशास्त्रेषु पठ्यमानं द्विजातिभिः ।
तथा त्वमपि कल्याणि गदतो मे वचः शृणु ॥ ३४ ॥

कल्याणि ! मैंने ब्राह्मणोंके मुखसे धर्मशास्त्रोंकी जो बात सुनी है, उसे बता रहा हूँ, तू भी सुन ले— ॥ ३४ ॥

अप्रदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन् पतिः ।
मृते भर्तरि पुत्रश्च वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ३५ ॥

'विवाहके योग्य हो जानेपर कन्याका दान न करनेवाला पिता निन्दनीय है । ऋतुकालमें पत्नीके साथ समागम न करनेवाला पति निन्दाका पात्र है तथा पतिके मर जानेपर विधवा माताकी रक्षा न करनेवाला पुत्र धिक्कारके योग्य है' ॥ ३५ ॥

इदं मे वचनं श्रुत्वा भर्तुरन्वेषणे त्वर ।
देवतानां यथा वाच्यो न भवेयं तथा कुरु ॥ ३६ ॥

मेरी यह बात सुनकर तू पतिकी खोज करनेमें शीघ्रता कर । ऐसी चेष्टा कर, जिससे मैं देवताओंकी दृष्टिमें अपराधी न बनूँ ॥ ३६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा दुहितरं तथा वृद्धांश्च मन्त्रिणः ।
व्यादिदेशानुयात्रं च गम्यतां चेत्यचोदयत् ॥ ३७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! पुत्रीसे ऐसा कहकर राजाने बूढ़े मन्त्रियोंको आज्ञा दी—'आपलोग यात्राके लिये आवश्यक सामग्री (वाहन आदि) लेकर सावित्रीके साथ जायँ' ॥ ३७ ॥

साभिवाद्य पितुः पादौ व्रीडितेव मनस्विनी ।
पितुर्वचनमाज्ञाय निर्जगामाविचारितम् ॥ ३८ ॥

मनस्विनी सावित्रीने कुछ लज्जित सी होकर पिताके चरणोंमें प्रणाम किया और उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके बिना कुछ सोच-विचार किये उसने प्रस्थान कर दिया ॥ ३८ ॥

सा हैमं रथमास्थाय स्थविरैः सचिवैर्वृता ।
तपोवनानि रम्याणि राजर्षीणां जगाम ह ॥ ३९ ॥

सुवर्णमय रथपर सवार हो बूढ़े मन्त्रियोंसे घिरी हुई वह राजकन्या राजर्षियोंके सुरम्य तपोवनोंमें गयी ॥ ३९ ॥

मान्यानां तत्र वृद्धानां कृत्वा पादाभिवादनम् ।
वनानि क्रमशस्तात सर्वाण्येवाभ्यगच्छत ॥ ४० ॥

तात ! वहाँ माननीय वृद्धजनोंकी चरणवन्दना करके उसने क्रमशः सभी वनोंमें भ्रमण किया ॥ ४० ॥

एवं तीर्थेषु सर्वेषु धनोत्सर्गं नृपात्मजा ।
कुर्वती द्विजमुख्यानां तं तं देशं जगाम ह ॥ ४१ ॥

इस प्रकार राजकुमारी सावित्री सभी तीर्थोंमें जाकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको धनदान करती हुई विभिन्न देशोंमें घूमती फिरी ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४१½ श्लोक हैं ।)

चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सावित्रीका सत्यवान्‌के साथ विवाह करनेका दृढ़ निश्चय

मार्कण्डेय उवाच

अथ मद्राधिपो राजा नारदेन समागतः ।
उपविष्टः सभामध्ये कथायोगेन भारत ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतनन्दन युधिष्ठिर ! एक दिन मद्रराज अश्वपति अपनी सभामें बैठे हुए देवर्षि नारदजीके साथ मिलकर बातें कर रहे थे ॥ १ ॥

ततोऽभिगम्य तीर्थानि सर्वाण्येवाश्रमांस्तथा ।
आजगाम पितुर्वेश्म सावित्री सह मन्त्रिभिः ॥ २ ॥

उसी समय सावित्री सब तीर्थों और आश्रमोंमें घूम-फिरकर मन्त्रियोंके साथ अपने पिताके घर आ पहुँची ॥ २ ॥

नारदेन सहासीनं सा दृष्ट्वा पितरं शुभा ।
उभयोरेव शिरसा चक्रे पादाभिवादनम् ॥ ३ ॥

वहाँ पिताको नारदजीके साथ बैठे हुए देखकर शुभलक्षणा सावित्रीने दोनोंके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया ॥ ३ ॥

नारद उवाच

क्व गताभूत् सुतेयं ते कुतश्चैवागता नृप ।
किमर्थं युवतीं भर्त्रे न चैनां सम्प्रयच्छसि ॥ ४ ॥

नारदजीने पूछा—राजन् ! आपकी यह पुत्री कहाँ गयी थी और कहाँसे आ रही है ? अब तो यह युवती हो गयी है। आप किसी वरके साथ इसका विवाह क्यों नहीं कर देते हैं ? ॥ ४ ॥

अश्वपतिरुवाच

कार्येण खल्वनेनैव प्रेषिताद्यैव चागता ।
एतस्याः शृणु देवर्षे भर्तारं योऽनया वृतः ॥ ५ ॥

अश्वपतिने कहा—देवर्षे ! इसे मैंने इसी कार्यसे भेजा था और यह अभी-अभी लौटी है । इसने अपने लिये जिस पतिका वरण किया है, उसका नाम इसीके मुखसे सुनिये ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

सा ब्रूहि विस्तरेणेति पित्रा संचोदिता शुभा ।
तदैव तस्य वचनं प्रतिगृह्येदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! पिताके यह कहनेपर कि 'बेटी ! तू अपनी यात्राका वृत्तान्त विस्तारके साथ बतला' शुभलक्षणा सावित्री उनकी आज्ञा मानकर उस समय इस प्रकार बोली ॥ ६ ॥

सावित्र्युवाच

आसीच्छाल्वेषु धर्मात्मा क्षत्रियः पृथिवीपतिः ।
द्युमत्सेन इति ख्यातः पश्चादन्धो बभूव ह ॥ ७ ॥

सावित्रीने कहा—पिताजी ! शाल्वदेशमें द्युमत्सेन नामसे प्रसिद्ध एक धर्मात्मा क्षत्रिय राजा राज्य करते थे । पीछे वे अंधे हो गये ॥ ७ ॥

विनष्टचक्षुषस्तस्य बालपुत्रस्य धीमतः ।
सामीप्येन हृतं राज्यं छिद्रेऽस्मिन् पूर्ववैरिणा ॥ ८ ॥

उनकी आँखें चली गयीं और पुत्र अभी बाल्यावस्थामें था,



यह अवसर पाकर उनके पूर्वशत्रु एक पड़ोसी राजाने आक्रमण किया और उन बुद्धिमान् नरेशका राज्य हर लिया ॥ ८ ॥

स बालवत्सया सार्धं भार्यया प्रस्थितो वनम् ।
महारण्यं गतश्चापि तपस्तेपे महाव्रतः ॥ ९ ॥
तस्य पुत्रः पुरे जातः संवृद्धश्च तपोवने ।
सत्यवाननुरूपो मे भर्तेति मनसा वृतः ॥ १० ॥

तब अपनी छोटी अवस्थाके पुत्रवाली पत्नीके साथ वे वनमें चले आये और विशाल वनके भीतर रहकर बड़े-बड़े व्रतोंका पालन करते हुए तपस्या करने लगे । उनके एक पुत्र हैं सत्यवान्, जो पैदा तो नगरमें हुए हैं, परंतु उनका पालन-पोषण एवं संवर्धन तपोवनमें हुआ है । वे ही मेरे योग्य पति हैं । उन्हींका मैंने मन-ही-मन वरण किया है ॥ ९-१० ॥

नारद उवाच

अहो बत महत् पापं सावित्र्या नृपते कृतम् ।
अजानन्त्या यदनया गुणवान् सत्यवान् वृतः ॥ ११ ॥

(यह सुनकर) नारदजी बोल उठे—अहो ! यह बड़े खेदकी बात है । राजन् ! सावित्रीने बिना जाने ही अपना बड़ा अनिष्ट किया है, जो कि इसने सत्यवान्को गुणवान् समझकर वरण कर लिया है ॥ ११ ॥

सत्यं वदत्यस्य पिता सत्यं माता प्रभाषते ।
तथास्य ब्राह्मणाश्चक्रुर्नामैतत् सत्यवानिति ॥ १२ ॥

इस राजकुमारके पिता सदा सत्य बोलते हैं । इसकी

माता भी सत्यभाषण करती है। इसलिये ब्राह्मणोंने इसका नाम 'सत्यवान्' रख दिया था॥ १२॥

बालस्याश्वाः प्रियाश्चास्य करोत्यश्वांश्च मृन्मयान्।
चित्रेऽपि विलिखत्यश्वांश्चित्राश्व इति चोच्यते॥ १३॥

इस बालकको अश्व बहुत प्रिय हैं। यह मिट्टीके अश्व बनाया करता है और चित्र लिखते समय भी अश्वोंको ही अंकित करता है, अतः इसे 'चित्राश्व' भी कहते हैं॥ १३॥

राजोवाच

अपीदानीं स तेजस्वी बुद्धिमान् वा नृपात्मजः।
क्षमावानपि वा शूरः सत्यवान् पितृवत्सलः॥ १४॥

राजाने पूछा—देवर्षे! इस समय पितृभक्त राजकुमार सत्यवान् तेजस्वी, बुद्धिमान्, क्षमावान् और शूरवीर तो है न?॥ १४॥

नारद उवाच

विवस्वानिव तेजस्वी बृहस्पतिसमो मतौ।
महेन्द्र इव वीरश्च वसुधेव समन्वितः॥ १५॥

नारदजीने कहा—वह राजकुमार सूर्यके समान तेजस्वी, बृहस्पतिके समान बुद्धिमान्, इन्द्रके समान वीर और पृथ्वीके समान क्षमाशील है॥ १५॥

अश्वपतिरुवाच

अपि राजात्मजो दाता ब्रह्मण्यश्चापि सत्यवान्।
रूपवानप्युदारो वाप्यथवा प्रियदर्शनः॥ १६॥

अश्वपतिने पूछा—क्या राजपुत्र सत्यवान् दानी, ब्राह्मणभक्त, रूपवान्, उदार अथवा प्रियदर्शन भी है?॥१६॥

नारद उवाच

सांकृते रन्तिदेवस्य स्वशक्त्या दानतः समः।
ब्रह्मण्यः सत्यवादी च शिविरौशीनरो यथा॥ १७॥

नारदजीने कहा—सत्यवान् अपनी शक्तिके अनुसार दान देनेमें संकृतिनन्दन रन्तिदेवके समान है तथा उशीनरपुत्र शिविके समान ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी है॥ १७॥

ययातिरिव चोदारः सोमवत् प्रियदर्शनः।
रूपेणान्यतमोऽश्विभ्यां द्युमत्सेनसुतो बली॥ १८॥

वह ययातिकी भाँति उदार और चन्द्रमाके समान प्रियदर्शन है। द्युमत्सेनका वह बलवान् पुत्र रूपवान् तो इतना है मानो अश्विनीकुमारोंमेंसे ही एक हो॥ १८॥

स दान्तः स मृदुः शूरः स सत्यः संयतेन्द्रियः।
स मैत्रः सोऽनसूयश्च स ह्रीमान् द्युतिमांश्च सः॥ १९॥

वह जितेन्द्रिय, मृदुल, शूरवीर, सत्यस्वरूप, इन्द्रिय-संयमी, सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाला, अदोषदर्शी, लज्जावान् और [illegible]॥ १९॥

नित्यशश्चार्जवं तस्मिन् स्थितिस्तस्यैव च ध्रुवा।
संक्षेपतस्तपोवृद्धैः शीलवृद्धैश्च कथ्यते॥ २०॥

तप और शीलमें बढ़े हुए वृद्ध पुरुष संक्षेपमें उसके विषयमें ऐसा कहते हैं कि राजकुमार सत्यवान्में सरलताका नित्य निवास है और उस सद्गुणमें उसकी अविचल स्थिति है॥ २०॥

अश्वपतिरुवाच

गुणैरुपेतं सर्वैस्तं भगवन् प्रब्रवीषि मे।
दोषानप्यस्य मे ब्रूहि यदि सन्तीह केचन॥ २१॥

अश्वपति बोले—भगवन्! आप तो उसे सभी गुणोंसे सम्पन्न ही बता रहे हैं, यदि उसमें कोई दोष हों तो उन्हें भी बतलाइये॥ २१॥

नारद उवाच

एक एवास्य दोषो हि गुणानाक्रम्य तिष्ठति।
स च दोषः प्रयत्नेन न शक्यमतिवर्तितुम्॥ २२॥

नारदजीने कहा—दोष तो एक ही है, जो उसके सभी गुणोंको दबाकर स्थित है। उस दोषको प्रयत्न करके भी हटाया नहीं जा सकता॥ २२॥

एको दोषोऽस्ति नान्योऽस्य सोऽद्यप्रभृति सत्यवान्।
संवत्सरेण क्षीणायुर्देहन्यासं करिष्यति॥ २३॥

आजसे लेकर एक वर्ष पूर्ण होनेतक सत्यवान्की आयु पूर्ण हो जायगी और वह शरीर त्याग देगा। केवल यही दोष उसमें है, दूसरा नहीं॥ २३॥

राजोवाच

एहि सावित्रि गच्छस्व अन्यं वरय शोभने।
तस्य दोषो महानेको गुणानाक्रम्य च स्थितः॥ २४॥

राजा बोले—बेटी सावित्री! यहाँ आ। शोभने! तू पुनः यात्रा कर और दूसरे किसी पुरुषका वरण कर ले। सत्यवान्का यह एक ही बहुत बड़ा दोष है, जो उसके सभी गुणोंको दबाकर स्थित है॥ २४॥

यथा मे भगवानाह नारदो देवसत्कृतः।
संवत्सरेण सोऽल्पायुर्देहन्यासं करिष्यति॥ २५॥

जैसा कि देववन्दित भगवान् नारदजी कह रहे हैं, सत्यवान्की आयु बहुत थोड़ी है और वह एक ही वर्षमें देहत्याग कर देगा॥ २५॥

सावित्र्युवाच

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्॥ २६॥
दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा।
सकृद् वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्॥ २७॥

सावित्री बोली—भाइयोंमें धनका बँटवारा एक ही बार होता है, कन्या एक ही बार दी जाती है तथा श्रेष्ठ दाता 'मैं दूँगा', यह कहकर एक ही बार वचनदान करता है। ये तीन बातें एक-एक बार ही होती हैं। सत्यवान् दीर्घायु हों या अल्पायु, गुणवान् हों या गुणहीन; मैंने उन्हें एक बार अपना पति चुन लिया। अब मैं दूसरे किसी पुरुषका वरण नहीं कर सकती ॥ २६-२७ ॥

मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते।
क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः ॥ २८ ॥

पहले मनसे निश्चय करके फिर वाणीद्वारा कहा जाता है। तत्पश्चात् उसे कार्यरूपमें परिणत किया जाता है, अतः इस विषयमें मेरा मन ही प्रमाण है ॥ २८ ॥

नारद उवाच

स्थिरा बुद्धिर्नरश्रेष्ठ सावित्र्या दुहितुस्तव।
नैषा चारयितुं शक्या धर्मादस्मात् कथंचन ॥ २९ ॥

नारदजी बोले—नरश्रेष्ठ! आपकी पुत्री सावित्रीकी बुद्धि स्थिर है। इसे इस धर्ममार्गसे किसी तरह हटाया नहीं जा सकता ॥ २९ ॥

नान्यस्मिन् पुरुषे सन्ति ये सत्यवति वै गुणाः।
प्रदानमेव तस्मान्मे रोचते दुहितुस्तव ॥ ३० ॥

सत्यवान्में जो गुण हैं, वे दूसरे किसी पुरुषमें हैं भी नहीं। अतः मुझे आपकी पुत्रीका सत्यवान्के साथ विवाह कर देना ही ठीक मालूम पड़ता है ॥ ३० ॥

राजोवाच

अविचाल्यं तदुक्तं यत् तथ्यं भगवता वचः।
करिष्याम्येतदेवं च गुरुर्हि भगवान् मम ॥ ३१ ॥

राजा बोले—देवर्षे! आपने जो बात कही है, वह ठीक है। उसे टाला नहीं जा सकता। अतः मैं ऐसा ही करूँगा, क्योंकि आप मेरे गुरु हैं ॥ ३१ ॥

नारद उवाच

अविघ्नमस्तु सावित्र्याः प्रदाने दुहितुस्तव।
साधयिष्याम्यहं तावत् सर्वेषां भद्रमस्तु वः ॥ ३२ ॥

नारदजीने कहा—राजन्! आपकी पुत्री सावित्रीके विवाहमें किसी प्रकारकी विघ्न-बाधा न आवे। अच्छा, अब मैं चलता हूँ। आप सब लोगोंका कल्याण हो ॥ ३२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा समुत्पत्य नारदस्त्रिदिवं गतः।
राजापि दुहितुः सज्जं वैवाहिकमकारयत् ॥ ३३ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ऐसा कहकर नारदजी उठे और स्वर्गलोकमें चले गये। इधर राजा भी अपनी पुत्रीके विवाहकी तैयारी कराने लगे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९४ ॥

पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सत्यवान् और सावित्रीका विवाह तथा सावित्रीका अपनी सेवाओंद्वारा सबको संतुष्ट करना

मार्कण्डेय उवाच

अथ कन्याप्रदाने स तमेवार्थं विचिन्तयन्।
समानिन्ये च तत् सर्वं भाण्डं वैवाहिकं नृपः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर कन्यादानके विषयमें नारदजीके ही कथनपर विचार करते हुए राजा अश्वपतिने विवाहके लिये सारी सामग्री एकत्र करवायी ॥

ततो वृद्धान् द्विजान् सर्वानृत्विजः सपुरोहितान्।
समाहूय दिने पुण्ये प्रययौ सह कन्यया ॥ २ ॥

फिर उन्होंने बूढ़े ब्राह्मणों, समस्त ऋत्विजों तथा पुरोहितोंको बुलाकर किसी शुभ दिनमें कन्याके साथ तपोवनको प्रस्थान किया ॥ २ ॥

मेध्यारण्यं स गत्वा च द्युमत्सेनाश्रमं नृपः।
पद्भ्यामेव द्विजैः सार्धं राजर्षिं तमुपागमत् ॥ ३ ॥

पवित्र वनमें द्युमत्सेनके आश्रमके निकट पहुँचकर राजा अश्वपति ब्राह्मणोंके साथ पैदल ही उन राजर्षिके पास गये ॥ ३ ॥

तत्रापश्यन्महाभागं शालवृक्षमुपाश्रितम्।
कौश्यां बृस्यां समासीनं चक्षुर्हीनं नृपं तदा ॥ ४ ॥

वहाँ उन्होंने उन महाभाग नेत्रहीन नरेशको शालवृक्षके नीचे एक कुशकी चटाईपर बैठे देखा ॥ ४ ॥

स राजा तस्य राजर्षेः कृत्वा पूजां यथार्हतः।
वाचा सुनियतो भूत्वा चकारात्मनिवेदनम् ॥ ५ ॥
तस्यार्घ्यमासनं चैव गां चावेद्य स धर्मवित्।
किमागमनमित्येवं राजा राजानमब्रवीत् ॥ ६ ॥

राजा अश्वपतिने राजर्षि द्युमत्सेनकी यथायोग्य पूजा की और वाणीको संयममें रखकर उन्होंने उनके समक्ष अपना परिचय दिया। तब धर्मज्ञ राजा द्युमत्सेनने मद्रराज अश्वपतिको

अर्घ्य, आसन और गौ निवेदन करके उनसे पूछा—'किस उद्देश्यसे आपका यहाँ शुभागमन हुआ है?' ॥ ५-६ ॥

तस्य सर्वमभिप्रायमितिकर्तव्यतां च ताम्।
सत्यवन्तं समुद्दिश्य सर्वमेव न्यवेदयत् ॥ ७ ॥

तब राजाने उनसे सत्यवान्‌के उद्देश्यसे अपना सारा अभिप्राय तथा कैसे-कैसे क्या-क्या करना है इत्यादि बातोंका विवरण सब कुछ स्पष्ट बता दिया ॥ ७ ॥

अश्वपतिरुवाच

सावित्री नाम राजर्षे कन्येयं मम शोभना।
तां स्वधर्मेण धर्मज्ञ स्नुषार्थे त्वं गृहाण मे ॥ ८ ॥

अश्वपति बोले—धर्मज्ञ राजर्षे ! सावित्री नामसे प्रसिद्ध मेरी यह सुन्दरी कन्या है। इसे आप धर्मतः अपनी पुत्रवधू बनानेके लिये स्वीकार करें ॥ ८ ॥

द्युमत्सेन उवाच

च्युताः स्म राज्याद् वनवासमाश्रिता-
श्चराम धर्मं नियतास्तपस्विनः।
कथं त्वनर्हा वनवासमाश्रमे
निवत्स्यते क्लेशमिमं सुता तव ॥ ९ ॥

द्युमत्सेन बोले—महाराज ! हम राज्यसे भ्रष्ट हो चुके हैं एवं वनका आश्रय लेकर संयम-नियमके साथ तपस्वी-जीवन बिताते हुए धर्मका अनुष्ठान करते हैं। आपकी कन्या ये सब कष्ट सहन करने योग्य नहीं है। ऐसी दशामें यह आश्रममें रहकर वनवासके इस कष्टको कैसे सह सकेगी? ॥ ९ ॥

अश्वपतिरुवाच

सुखं च दुःखं च भवाभवात्मकं
यदा विजानाति सुताहमेव च।
न मद्विधे युज्यति वाक्यमीदृशं
विनिश्चयेनाभिगतोऽस्मि ते नृप ॥ १० ॥

अश्वपतिने कहा—राजन् ! सुख और दुःख तो उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। इस बातको मैं और मेरी पुत्री दोनों जानते हैं। मेरे-जैसे मनुष्यसे आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। मैं तो सब प्रकारसे निश्चय करके ही आपके पास आया हूँ ॥ १० ॥

आशां नार्हसि मे हन्तुं सौहृदात् प्रणतस्य च।
अभितश्चागतं प्रेम्णा प्रत्याख्यातुं न मार्हसि ॥ ११ ॥

मैं सौहार्दभावसे आपकी शरणमें आया हूँ। आप मेरी आशा भङ्ग न करें—प्रेमपूर्वक अपने पास आये हुए मुझ प्रार्थीको निराश न लौटावें ॥ ११ ॥

अनुरूपो हि युक्तश्च त्वं ममाहं तवापि च।
स्नुषां प्रतीच्छ मे कन्यां भार्यां सत्यवतः सतः ॥ १२ ॥

आप सर्वथा मेरे अनुरूप और योग्य हैं। मैं भी आपके योग्य हूँ। आप मेरी इस कन्याको अपने श्रेष्ठ पुत्र सत्यवान्‌की पत्नी एवं अपनी पुत्रवधूके रूपमें ग्रहण कीजिये ॥ १२ ॥

द्युमत्सेन उवाच

पूर्वमेवाभिलषितः सम्बन्धो मे त्वया सह।
भ्रष्टराज्यस्त्वहमिति तत एतद् विचारितम् ॥ १३ ॥

द्युमत्सेन बोले—महाराज ! मैं तो पहलेसे ही आपके साथ सम्बन्ध करना चाहता था; परंतु इस समय अपने राज्यसे भ्रष्ट हो गया हूँ, यह सोचकर मैंने ऐसा विचार कर लिया था कि अब यह सम्बन्ध नहीं हो सकेगा ॥ १३ ॥

अभिप्रायस्त्वयं यो मे पूर्वमेवाभिकाङ्क्षितः।
स निर्वर्ततु मेऽद्यैव काङ्क्षितो ह्यसि मेऽतिथिः ॥ १४ ॥

किंतु मेरा यह अभिप्राय, जो मुझे पहलेसे ही अभीष्ट था, यदि आज ही सिद्ध होना चाहता है, तो अवश्य हो। आप मेरे मनोवाञ्छित अतिथि हैं ॥ १४ ॥

ततः सर्वान् समानाय्य द्विजानाश्रमवासिनः।
यथाविधि समुद्वाहं कारयामासतुर्नृपौ ॥ १५ ॥

तदनन्तर उस आश्रममें रहनेवाले सभी ब्राह्मणोंको बुलाकर दोनों राजाओंने सत्यवान्-सावित्रीका विवाह-संस्कार विधिवत् सम्पन्न कराया ॥ १५ ॥

दत्त्वा सोऽश्वपतिः कन्यां यथार्हं सपरिच्छदम्।
ययौ स्वमेव भवनं युक्तः परमया मुदा ॥ १६ ॥

राजा अश्वपति दहेजसहित कन्यादान देकर बड़ी प्रसन्नताके साथ अपनी राजधानीको लौट गये ॥ १६ ॥

सत्यवानपि तां भार्यां लब्ध्वा सर्वगुणान्विताम्।
मुमुदे सा च तं लब्ध्वा भर्तारं मनसेप्सितम् ॥ १७ ॥

उस सर्वसद्गुणसम्पन्न भार्याको पाकर सत्यवान्‌को बड़ी प्रसन्नता हुई और सत्यवान्‌को अपने मनोवाञ्छित पतिके रूपमें पाकर सावित्रीको भी बड़ा आनन्द हुआ ॥ १७ ॥

गते पितरि सर्वाणि संन्यस्याभरणानि सा।
जगृहे वल्कलान्येव वस्त्रं काषायमेव च ॥ १८ ॥

पिताके चले जानेपर सावित्री अपने सब आभूषण उतारकर वल्कल तथा गेरुआ वस्त्र पहनने लगी ॥ १८ ॥

परिचारैर्गुणैश्चैव प्रश्रयेण दमेन च।
सर्वकामक्रियाभिश्च सर्वेषां तुष्टिमादधे ॥ १९ ॥

सावित्रीने सेवा, गुण, विनय, संयम और सबके मनके अनुसार कार्य करनेसे सभीको प्रसन्न कर लिया ॥ १९ ॥

श्वश्रूं शरीरसत्कारैः सर्वैराच्छादनादिभिः।
श्वशुरं देवसत्कारैर्वाचः संयमनेन च ॥ २० ॥

उसने शारीरिक सेवा तथा वस्त्राभूषण आदिके द्वारा सासको और वाणीके संयमपूर्वक देवोचित सत्कारद्वारा ससुरको संतुष्ट किया ॥ २० ॥

तथैव प्रियवादेन नैपुणेन शमेन च ।
रहश्चैवोपचारेण भर्तारं पर्यतोषयत् ॥ २१ ॥

इसी प्रकार मधुर सम्भाषण, कार्य-कुशलता, शान्ति तथा एकान्तसेवाद्वारा पतिदेवको भी सदा प्रसन्न रक्खा ॥

एवं तत्राश्रमे तेषां तदा निवसतां सताम् ।
कालस्तपस्यतां कश्चिदपाक्रामत भारत ॥ २२ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार उन सब लोगोंको उस आश्रममें रहकर तपस्या करते कुछ काल व्यतीत हो गया ॥

सावित्र्या ग्लायमानायास्तिष्ठन्त्यास्तु दिवानिशम् ।
नारदेन यदुक्तं तद् वाक्यं मनसि वर्तते ॥ २३ ॥

इधर सावित्री निरन्तर चिन्तासे गली जा रही थी। दिन-रात सोते-उठते हर समय नारदजीकी कही हुई बात उसके मनमें बनी रहती थी—वह उसे क्षणभरके लिये भी नहीं भूलती थी ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ पञ्चानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९५ ॥

षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सावित्रीकी व्रतचर्या तथा सास-ससुर और पतिकी आज्ञा लेकर सत्यवान्‌के साथ उसका वनमें जाना

मार्कण्डेय उवाच

ततः काले बहुतिथे व्यतिक्रान्ते कदाचन ।
प्राप्तः स कालो मर्तव्यं यत्र सत्यवता नृप ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर बहुत दिन बीत जानेपर एक दिन वह समय भी आ पहुँचा जब कि सत्यवान्‌की मृत्यु होनेवाली थी ॥ १ ॥

गणयन्त्याश्च सावित्र्या दिवसे दिवसे गते ।
यद् वाक्यं नारदेनोक्तं वर्तते हृदि नित्यशः ॥ २ ॥

सावित्री एक-एक दिन बीतनेपर उसकी गणना करती रहती थी। नारदजीने जो बात कही थी, वह उसके हृदयमें सदा विद्यमान रहती थी ॥ २ ॥

चतुर्थेऽहनि मर्तव्यमिति संचिन्त्य भाविनी ।
व्रतं त्रिरात्रमुद्दिश्य दिवारात्रं स्थिताभवत् ॥ ३ ॥

भाविनी सावित्रीको जब यह निश्चय हो गया कि मेरे पतिको आजसे चौथे दिन मरना है, तब उसने तीन रातका व्रत धारण किया और उसमें वह दिन-रात खड़ी ही रही ।३।

तं श्रुत्वा नियमं तस्या भृशं दुःखान्वितो नृपः ।
उत्थाय वाक्यं सावित्रीमब्रवीत् परिसान्त्वयन् ॥ ४ ॥

सावित्रीका यह कठोर नियम सुनकर राजा द्युमत्सेनको बड़ा दुःख हुआ । उन्होंने उठकर सावित्रीको सान्त्वना देते हुए कहा ॥ ४ ॥

द्युमत्सेन उवाच

अतितीव्रोऽयमारम्भस्त्वयाऽऽरब्धो नृपात्मजे ।
तिसृणां वसतीनां हि स्थानं परमदुश्चरम् ॥ ५ ॥

द्युमत्सेन बोले—राजकुमारी ! तुमने यह बड़ा कठोर व्रत आरम्भ किया है । तीन दिनोंतक निराहार रहना तो अत्यन्त दुष्कर कार्य है ॥ ५ ॥

सावित्र्युवाच

न कार्यस्तात संतापः पारयिष्याम्यहं व्रतम् ।
व्यवसायकृतं हीदं व्यवसायश्च कारणम् ॥ ६ ॥

सावित्री बोली—पिताजी ! आप चिन्ता न करें । मैं इस व्रतको पूर्ण कर लूँगी । दृढ़ निश्चय ही व्रतके निर्वाहमें कारण हुआ करता है, सो मैंने भी दृढ़ निश्चयसे ही इस व्रतको आरम्भ किया है ॥ ६ ॥

द्युमत्सेन उवाच

व्रतं भिन्धीति वक्तुं त्वां नास्मि शक्तः कथञ्चन ।
पारयस्वेति वचनं युक्तमस्मद्विधो वदेत् ॥ ७ ॥

द्युमत्सेनने कहा—यह तो मैं तुम्हें किसी तरह नहीं कह सकता कि 'बेटी ! तुम व्रत भंग कर दो ।' मेरे-जैसा मनुष्य यही समुचित बात कह सकता है कि 'तुम व्रतको निर्विघ्न पूर्ण करो' ॥ ७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा द्युमत्सेनो विरराम महामनाः ।
तिष्ठन्ती चैव सावित्री काष्ठभूतेव लक्ष्यते ॥ ८ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर महामना द्युमत्सेन चुप हो गये । सावित्री एक स्थानपर खड़ी हुई काठ-सी दिखायी देती थी ॥ ८ ॥

श्वोभूते भर्तृमरणे सावित्र्या भरतर्षभ ।
दुःखान्वितायास्तिष्ठन्त्याः सा रात्रिर्व्यत्यवर्तत ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कल ही पतिदेवकी मृत्यु होनेवाली है, यह

सोचकर दुःखमें डूबी हुई सावित्रीकी वह रात खड़े-ही-खड़े बीत गयी ॥ ९ ॥

अद्य तद् दिवसं चेति हुत्वा दीप्तं हुताशनम् ।
युगमात्रोदिते सूर्ये कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः ॥ १० ॥

दूसरे दिन यह सोचकर कि आज ही वह दिन है, उसने सूर्यदेवके चार हाथ ऊपर उठते-उठते पूर्वाह्णकालके सब कृत्य पूरे कर लिये और प्रज्वलित अग्निमें आहुति दी ॥

ततः सर्वान् द्विजान् वृद्धान् श्वश्रूं श्वशुरमेव च ।
अभिवाद्यानुपूर्व्येण प्राञ्जलिर्नियता स्थिता ॥ ११ ॥

फिर सभी ब्राह्मणों, बड़े-बूढ़ों और सास-ससुरको क्रमशः प्रणाम करके वह नियमपूर्वक हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ी रही ॥ ११ ॥

अवैधव्याशिषस्ते तु सावित्र्यर्थं हिताः शुभाः ।
ऊचुस्तपस्विनः सर्वे तपोवननिवासिनः ॥ १२ ॥

उस तपोवनमें रहनेवाले सभी तपस्वियोंने सावित्रीके लिये अवैधव्यसूचक—सौभाग्यवर्धक, शुभ और हितकर आशीर्वाद दिये ॥ १२ ॥

एवमस्त्विति सावित्री ध्यानयोगपरायणा ।
मनसा ता गिरः सर्वाः प्रत्यगृह्णात् तपस्विनाम् ॥ १३ ॥

सावित्रीने ध्यानयोगमें स्थित हो तपस्वियोंकी उस आशीर्वादमयी वाणीको 'एवमस्तु (ऐसा ही हो)' कहकर मन-ही-मन शिरोधार्य किया ॥ १३ ॥

तं कालं तं मुहूर्तं च प्रतीक्षन्ती नृपात्मजा ।
यथोक्तं नारदवचश्चिन्तयन्ती सुदुःखिता ॥ १४ ॥

फिर पतिकी मृत्युसे सम्बन्ध रखनेवाले समय और मुहूर्तकी प्रतीक्षा करती हुई राजकुमारी सावित्री नारदजीके पूर्वोक्त वचनका चिन्तन करके बहुत दुखी हो गयी ॥ १४ ॥

ततस्तु श्वश्रूश्वशुरावूचतुस्तां नृपात्मजाम् ।
एकान्तमास्थितां वाक्यं प्रीत्या भरतसत्तम ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर सास और ससुरने एकान्तमें बैठी हुई राजकुमारी सावित्रीसे प्रेमपूर्वक इस प्रकार कहा ॥ १५ ॥

श्वशुरावूचतुः

व्रतं यथोपदिष्टं तु तथा तत् पारितं त्वया ।
आहारकालः सम्प्राप्तः क्रियतां यदनन्तरम् ॥ १६ ॥

सास-ससुर बोले—बेटी ! तुमने शास्त्रके उपदेशके अनुसार अपना व्रत पूरा कर लिया है, अब पारण करनेका समय हो गया है । अतः जो कर्तव्य है, वह करो ॥ १६ ॥

सावित्र्युवाच

अस्तं गते मयाऽऽदित्ये भोक्तव्यं कृतकामया ।
एष मे हृदि संकल्पः समयश्च कृतो मया ॥ १७ ॥

सावित्री बोली—सूर्यास्त होनेपर जब मेरा मनोरथ पूर्ण हो जायगा, तभी मैं भोजन करूँगी । यह मेरे मनका संकल्प है और मैंने ऐसा करनेकी प्रतिज्ञा कर ली है ॥ १७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवं सम्भाषमाणायाः सावित्र्या भोजनं प्रति ।
स्कन्धे परशुमादाय सत्यवान् प्रस्थितो वनम् ॥ १८ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब सावित्री भोजनके सम्बन्धमें इस प्रकार बातें कर रही थी, उसी समय सत्यवान् कंधेपर कुल्हाड़ी रखकर (फल-फूल, समिधा आदि लानेके लिये) वनकी ओर चले ॥ १८ ॥

सावित्री त्वाह भर्तारं नैकस्त्वं गन्तुमर्हसि ।
सह त्वया गमिष्यामि न हि त्वां हातुमुत्सहे ॥ १९ ॥

उस समय सावित्रीने अपने पतिसे कहा—नाथ ! आप अकेले न जाइये । मैं भी आपके साथ चलूँगी । आज मैं आपको अकेला नहीं छोड़ सकती ॥ १९ ॥



सत्यवानुवाच

वनं न गतपूर्वं ते दुःखः पन्थाश्च भाविनि ।
व्रतोपवासक्षामा च कथं पद्भ्यां गमिष्यसि ॥ २० ॥

सत्यवान्‌ने कहा—सुन्दरी ! तुम पहले कभी वनमें नहीं गयी हो । वनका रास्ता बड़ा दुःखदायक होता है, तुम व्रत और उपवास करनेके कारण दुर्बल हो रही हो । ऐसी दशामें तुम पैदल कैसे चलोगी ? ॥ २० ॥

सावित्र्युवाच

उपवासान्न मे ग्लानिर्नास्ति चापि परिश्रमः ।
गमने च कृतोत्साहां प्रतिषेद्धुं न मार्हसि ॥ २१ ॥

सावित्री बोली—उपवासके कारण मुझे किसी प्रकारकी शिथिलता और थकावट नहीं है । चलनेके लिये मेरे मनमें पूर्ण उत्साह है, अतः आप मुझे मना न कीजिये ॥ २१ ॥

सत्यवानुवाच

यदि ते गमनोत्साहः करिष्यामि तव प्रियम् ।
मम त्वामन्त्रय गुरून् न मां दोषः स्पृशेदयम् ॥ २२ ॥

सत्यवान्ने कहा—यदि तुम्हें चलनेका उत्साह है तो मैं तुम्हारा प्रिय मनोरथ पूर्ण करूँगा । परंतु तुम मेरे माता-पितासे पूछ लो, जिससे मुझे दोषका भागी न होना पड़े ॥ २२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

साभिवाद्याब्रवीच्छ्वश्रूं श्वशुरं च महाव्रता ।
अयं गच्छति मे भर्ता फलाहारो महावनम् ॥ २३ ॥
इच्छेयमभ्यनुज्ञाता आर्यया श्वशुरेण ह ।
अनेन सह निर्गन्तुं न मेऽद्य विरहः क्षमः ॥ २४ ॥
गुर्वग्निहोत्रार्थकृते प्रस्थितश्च सुतस्तव ।
न निवार्यो निवार्यः स्यादन्यथा प्रस्थितो वनम् ॥ २५ ॥
संवत्सरः किंचिदूनो न निष्क्रान्ताहमाश्रमात् ।
वनं कुसुमितं द्रष्टुं परं कौतूहलं हि मे ॥ २६ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तब महान् व्रतका पालन करनेवाली सावित्रीने अपने सास-ससुरको प्रणाम करके कहा—'ये मेरे पतिदेव फल आदि लानेके लिये महान् वनमें जा रहे हैं। यदि सासजी और ससुरजी मुझे आज्ञा दें, तो मैं भी इनके साथ जाना चाहती हूँ । आज मुझे इनका एक क्षणका भी विरह सह्य नहीं जाता है । आपके पुत्र आज गुरुजनोंके लिये तथा अग्निहोत्रके उद्देश्यसे फल, फूल और समिधा आदि लानेके लिये वनमें जा रहे हैं, अतः उनको रोकना उचित नहीं है । हाँ, यदि किसी दूसरे कार्यके लिये वनमें जाते होते तो उन्हें रोका भी जा सकता था । एक वर्षसे कुछ ही कम हुआ, मैं आश्रमसे बाहर नहीं निकली । अतः आज फूलोंसे भरे हुए वनको देखनेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥ २३–२६ ॥

द्युमत्सेन उवाच

यतः प्रभृति सावित्री पित्रा दत्ता स्नुषा मम ।
नानयाभ्यर्थनायुक्तमुक्तपूर्वं स्मराम्यहम् ॥ २७ ॥

द्युमत्सेन बोले—जबसे सावित्रीके पिताने इसे मेरी पुत्रवधू बनाकर दिया है, तबसे आजतक इसने पहले कभी मुझसे किसी बातके लिये प्रार्थना की हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है ॥ २७ ॥

तदेषा लभतां कामं यथाभिलषितं वधूः ।
अप्रमादश्च कर्तव्यः पुत्रि सत्यवतः पथि ॥ २८ ॥

अतः आज मेरी पुत्रवधू अपना अभीष्ट मनोरथ प्राप्त करे । बेटी ! जा, सत्यवान्के मार्गमें सावधानी रखना ॥ २८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

उभाभ्यामभ्यनुज्ञाता सा जगाम यशस्विनी ।
सह भर्त्रा हसन्तीव हृदयेन विदूयता ॥ २९ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार सास और ससुर दोनोंकी आज्ञा पाकर यशस्विनी सावित्री अपने पतिदेवके साथ चल दी, वह ऊपरसे तो हँसती-सी जान पड़ती थी, किंतु उसका हृदय दुःखकी ज्वालासे दग्ध हो रहा था ॥ २९ ॥

सा वनानि विचित्राणि रमणीयानि सर्वशः ।
मयूरगणजुष्टानि ददर्श विपुलेक्षणा ॥ ३० ॥

विशाल नेत्रोंवाली सावित्रीने सब ओर घूम-घूमकर मयूर-समूहोंसे सेवित रमणीय और विचित्र वन देखे ॥ ३० ॥

नदीः पुण्यवहाश्चैव पुष्पितांश्च नगोत्तमान् ।
सत्यवानाह पश्येति सावित्रीं मधुरं वचः ॥ ३१ ॥

पवित्र जल बहानेवाली नदियों तथा फूलोंसे लदे हुए सुन्दर वृक्षोंको लक्ष्य करके सत्यवान् सावित्रीसे मधुर वाणीमें कहते—'प्रिये ! देखो, कैसा मनोहर दृश्य है' ॥ ३१ ॥

निरीक्षमाणा भर्तारं सर्वावस्थमनिन्दिता ।
मृतमेव हि भर्तारं काले मुनिवचः स्मरन् ॥ ३२ ॥

सती-साध्वी सावित्री अपने पतिकी सभी अवस्थाओंका निरीक्षण करती थी । नारदजीके वचनोंको स्मरण करके उसे निश्चय हो गया था कि समयपर मेरे पतिकी मृत्यु अवश्यम्भावी है ॥ ३२ ॥

अनुव्रजन्ती भर्तारं जगाम मृदुगामिनी ।
द्विधेव हृदयं कृत्वा तं च कालमवेक्षती ॥ ३३ ॥

मन्दगतिसे चलनेवाली सावित्री मानो अपने हृदयके दो भाग करके एकसे अपने पतिका अनुसरण करती और दूसरेसे प्रतिक्षण उनके मृत्युकालकी प्रतीक्षा कर रही थी ३३

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९६ ॥

सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सावित्री और यमका संवाद, यमराजका संतुष्ट होकर सावित्रीको अनेक वरदान देते हुए मरे हुए सत्यवान्‌को भी जीवित कर देना तथा सत्यवान् और सावित्रीका वार्तालाप एवं आश्रमकी ओर प्रस्थान

मार्कण्डेय उवाच

अथ भार्यासहायः स फलान्यादाय वीर्यवान् ।
कठिनं पूरयामास ततः काष्ठान्यपाटयत् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तदनन्तर पत्नीसहित शक्तिशाली सत्यवान्‌ने फल चुनकर एक काठकी टोकरी भर ली। तत्पश्चात् वे लकड़ी चीरने लगे ॥ १ ॥

तस्य पाटयतः काष्ठं स्वेदो वै समजायत ।
व्यायामेन च तेनास्य जज्ञे शिरसि वेदना ॥ २ ॥
सोऽभिगम्य प्रियां भार्यामुवाच श्रमपीडितः ।

लकड़ी चीरते समय परिश्रमके कारण उनके शरीरसे पसीना निकल आया और उसी परिश्रमसे उनके सिरमें दर्द होने लगा। तब वे श्रमसे पीड़ित हो अपनी प्यारी पत्नीके पास जाकर बोले ॥ २½ ॥

सत्यवानुवाच

व्यायामेन ममानेन जाता शिरसि वेदना ॥ ३ ॥
अङ्गानि चैव सावित्रि हृदयं दूयतीव च ।
अस्वस्थमिव चात्मानं लक्षये मितभाषिणि ॥ ४ ॥
शूलैरिव शिरो विद्धमिदं संलक्षयाम्यहम् ।
तत् स्वप्तुमिच्छे कल्याणि न स्थातुं शक्तिरस्ति मे ॥ ५ ॥

सत्यवान्‌ने कहा—सावित्री ! आज लकड़ी काटनेके परिश्रमसे मेरे सिरमें दर्द होने लगा है, सारे अङ्गोंमें पीड़ा हो रही है और हृदय दग्ध-सा होता जान पड़ता है। मितभाषिणी प्रिये ! मैं अपने-आपको अस्वस्थ-सा देख रहा हूँ। ऐसा जान पड़ता है, कोई शूलोंसे मेरे सिरको छेद रहा है। कल्याणि ! अब मैं सोना चाहता हूँ। मुझमें खड़े रहनेकी शक्ति नहीं रह गयी है ॥ ३-५ ॥

सा समासाद्य सावित्री भर्तारमुपगम्य च ।
उत्सङ्गेऽस्य शिरः कृत्वा निषसाद महीतले ॥ ६ ॥

यह सुनकर सावित्री शीघ्र अपने पतिके पास आयी और उन[illegible] ॥ ६ ॥

ततः सा नारदवचो विमृशन्ती तपस्विनी ।
तं मुहूर्तं क्षणं वेलां दिवसं च युयोज ह ॥ ७ ॥

फिर वह तपस्विनी राजकन्या नारदजीकी बात याद करके उस मुहूर्त, क्षण, समय और दिनका योग मिलाने लगी ॥ ७ ॥

मुहूर्तादेव चापश्यत् पुरुषं रक्तवाससम् ।
बद्धमौलिं वपुष्मन्तमादित्यसमतेजसम् ॥ ८ ॥
श्यामावदातं रक्ताक्षं पाशहस्तं भयावहम् ।
स्थितं सत्यवतः पार्श्वे निरीक्षन्तं तमेव च ॥ ९ ॥

दो ही घड़ीमें उसने देखा, एक दिव्य पुरुष प्रकट हुए हैं, जिनके शरीरपर लाल रंगका वस्त्र शोभा पा रहा है।



सिरपर मुकुट बँधा हुआ है। सूर्यके समान तेजस्वी होनेके कारण वे मूर्तिमान् सूर्य ही जान पड़ते हैं। उनका शरीर श्याम एवं उज्ज्वल प्रभासे उद्भासित है, नेत्र लाल हैं। उनके हाथमें पाश है। उनका स्वरूप डरावना है। वे सत्यवान्‌के पास खड़े हैं और बार-बार उन्हींकी ओर देख रहे हैं ॥ ८-९ ॥



यम-सावित्री

**तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय भर्तुर्न्यस्य शनैः शिरः ।
कृताञ्जलिरुवाचार्ता हृदयेन प्रवेपती ॥ १० ॥**

उन्हें देखते ही सावित्रीने धीरेसे पतिका मस्तक भूमिपर रख दिया और सहसा खड़ी हो हाथ जोड़कर काँपते हुए हृदयसे वह आर्त वाणीमें बोली ॥ १० ॥

सावित्र्युवाच

**दैवतं त्वाभिजानामि वपुरेतद्ध्यमानुषम् ।
कामया ब्रूहि देवेश कस्त्वं किं च चिकीर्षसि ॥ ११ ॥**

सावित्रीने कहा—मैं समझती हूँ, आप कोई देवता हैं; क्योंकि आपका यह शरीर मनुष्यों-जैसा नहीं है । देवेश्वर ! यदि आपकी इच्छा हो तो बताइये आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं ॥ ११ ॥

यम उवाच

**पतिव्रतासि सावित्रि तथैव च तपोऽन्विता ।
अतस्त्वामभिभाषामि विद्धि मां त्वं शुभे यमम् ॥ १२ ॥**

यमराज बोले—सावित्री ! तू पतिव्रता और तपस्विनी है, इसलिये मैं तुझसे वार्तालाप कर सकता हूँ । शुभे ! तू मुझे यमराज जान ॥ १२ ॥

**अयं ते सत्यवान भर्ता क्षीणायुः पार्थिवात्मजः ।
नेष्यामि तमहं बद्ध्वा विद्ध्येतन्मे चिकीर्षितम् ॥ १३ ॥**

तेरे पति इस राजकुमार सत्यवान्‌की आयु समाप्त हो गयी है; अतः मैं इसे बाँधकर ले जाऊँगा । बस, मैं यही करना चाहता हूँ ॥ १३ ॥

सावित्र्युवाच

**श्रूयते भगवन् दूतास्तवागच्छन्ति मानवान् ।
नेतुं किल भवान् कस्मादागतोऽसि स्वयं प्रभो ॥ १४ ॥**

सावित्रीने पूछा—भगवन् ! मैंने तो सुना है कि मनुष्योंको ले जानेके लिये आपके दूत आया करते हैं । प्रभो ! आप स्वयं यहाँ कैसे चले आये ? ॥ १४ ॥

मार्कण्डेय उवाच

**इत्युक्तः पितृराजस्तां भगवान् स्वचिकीर्षितम् ।
यथावत् सर्वमाख्यातुं तत्प्रियार्थं प्रचक्रमे ॥ १५ ॥**

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! सावित्रीके इस प्रकार पूछनेपर पितृराज भगवान् यमने उसका प्रिय करनेके लिये अपना सारा अभिप्राय यथार्थरूपसे बताना आरम्भ किया ॥

**अयं च धर्मसंयुक्तो रूपवान् गुणसागरः ।
नार्हो मत्पुरुषैर्नेतुमतोऽस्मि स्वयमागतः ॥ १६ ॥**

'यह सत्यवान् धर्मात्मा, रूपवान् और गुणोंका समुद्र है । मेरे दूतोंद्वारा ले जाया जाने योग्य नहीं है । इसीलिये मैं स्वयं आया हूँ' ॥ १६ ॥

**ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम् ।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥ १७ ॥**

तदनन्तर यमराजने सत्यवान्‌के शरीरसे पाशमें बँधे हुए अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाले विवश हुए जीवको बलपूर्वक खींचकर निकाला ॥ १७ ॥

**ततः समुद्धृतप्राणं गतश्वासं हतप्रभम् ।
निर्विचेष्टं शरीरं तद् बभूवाप्रियदर्शनम् ॥ १८ ॥**

फिर तो प्राण निकल जानेसे उसकी साँस बंद हो गयी—अङ्गकान्ति फीकी पड़ गयी और शरीर निश्चेष्ट होकर अपरूप दिखायी देने लगा ॥ १८ ॥

**यमस्तु तं ततो बद्ध्वा प्रयातो दक्षिणामुखः ।
सावित्री चैव दुःखार्ता यममेवान्वगच्छत ।
नियमव्रतसंसिद्धा महाभागा पतिव्रता ॥ १९ ॥**

यमराज उस जीवको बाँधकर साथ लिये दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये । सावित्री दुःखसे आतुर हो यमराजके ही पीछे-पीछे चल पड़ी । वह परम सौभाग्यवती पतिव्रता राजकन्या नियमपूर्वक व्रतोंके पालनसे पूर्णतः सिद्ध हो चुकी थी । (अतः निर्बाध गतिसे सर्वत्र आने-जानेमें समर्थ थी)॥

यम उवाच

**निवर्त गच्छ सावित्रि कुरुष्वास्यौर्ध्वदेहिकम् ।
कृतं भर्तुस्त्वयाऽऽनृण्यं यावद् गम्यं गतं त्वया ॥ २० ॥**

यमराज बोले—सावित्री ! अब तू लौट जा, सत्यवान्‌का अन्त्येष्टि-संस्कार कर । अब तू पतिके ऋणसे उऋण हो गयी । पतिके पीछे तुझे जहाँतक आना चाहिये था, तू वहाँतक आ चुकी ॥ २० ॥

सावित्र्युवाच

**यत्र मे नीयते भर्ता स्वयं वा यत्र गच्छति ।
मया च तत्र गन्तव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ २१ ॥**

सावित्रीने कहा—जहाँ मेरे पति ले जाये जाते हैं अथवा ये स्वयं जहाँ जा रहे हैं, वहीं मुझे भी जाना चाहिये; यही सनातन धर्म है ॥ २१ ॥

तपसा गुरुभक्त्या च भर्तुः स्नेहाद् व्रतेन च ।
तव चैव प्रसादेन न मे प्रतिहता गतिः ॥ २२ ॥

तपस्या, गुरुभक्ति, पतिप्रेम, व्रतपालन तथा आपकी कृपासे मेरी गति कहीं भी रुक नहीं सकती ॥ २२ ॥

प्राहुः साप्तपदं मैत्रं बुधास्तत्त्वार्थदर्शिनः ।
मित्रतां च पुरस्कृत्य किञ्चिद् वक्ष्यामि तच्छृणु ॥२३॥

तत्त्वार्थदर्शी विद्वान् ऐसा कहते हैं कि सात पग साथ चलनेमात्रसे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, उसी मित्रताको सामने रखकर मैं आपसे कुछ निवेदन करूँगी, उसे सुनिये ॥ २३ ॥

नानात्मवन्तस्तु वने चरन्ति
धर्मं च वासं च परिश्रमं च ।
विज्ञानतो धर्ममुदाहरन्ति
तस्मात् सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥२४॥

जिन्होंने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, वे वनमें रहकर धर्मपालन, गुरुकुलवास तथा कष्टसहनरूप तपस्या नहीं कर सकते हैं । जितेन्द्रिय पुरुष ही यह सब कुछ करनेमें समर्थ हैं । महात्मालोग विवेक-विचारसे ही धर्म-प्राप्ति बताते हैं, अतः सभी सत्पुरुष धर्मको ही श्रेष्ठ मानते हैं ॥ २४ ॥

एकस्य धर्मेण सतां मतेन
सर्वे स्म तं मार्गमनुप्रपन्नाः ।
मा वै द्वितीयं मा तृतीयं च वाञ्छेत्
तस्मात् सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥ २५ ॥

अपने एक ही वर्णके सत्पुरुष-सम्मत धर्मका पालन करनेसे सभी लोग उस विज्ञान-मार्गपर पहुँच जाते हैं, जो सबका लक्ष्य है । अतः दूसरे या तीसरे वर्णकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये । इसलिये साधु पुरुष केवल वर्ण-धर्मको ही प्रधानता देते हैं ॥ २५ ॥

यम उवाच

निवर्त तुष्टोऽस्मि तवानया गिरा
स्वराक्षरव्यञ्जनहेतुयुक्तया ।

वरं वृणीष्वेह विनास्य जीवितं
ददानि ते सर्वमनिन्दिते वरम् ॥ २६ ॥

यमराज बोले—अनिन्दिते! तू लौट जा । स्वर, अक्षर, व्यञ्जन एवं युक्तियोंसे युक्त तेरी इन बातोंसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ । तू यहाँ मुझसे कोई वर माँग ले । सत्यवान्‌के जीवनके सिवा मैं और सब कुछ तुझे दे सकता हूँ ॥ २६ ॥

सावित्र्युवाच

च्युतः स्वराज्याद् वनवासमाश्रितो
विनष्टचक्षुः श्वशुरो ममाश्रमे ।
स लब्धचक्षुर्बलवान् भवेन्नृप-
स्तव प्रसादाज्ज्वलनार्कसंनिभः ॥२७॥

सावित्री बोली—भगवन्! मेरे श्वशुर अपने राज्यसे भ्रष्ट होकर वनमें रहते हैं । उनकी आँखें भी नष्ट हो गयी हैं । मैं चाहती हूँ, आपकी कृपासे उन महाराजको उनकी आँखें मिल जायँ और वे बलवान् तथा अग्नि एवं सूर्यके समान तेजस्वी हो जायँ ॥ २७ ॥

यम उवाच

ददानि तेऽहं तमनिन्दिते वरं
यथा त्वयोक्तं भविता च तत् तथा ।
तवाध्वना ग्लानिमिवोपलक्षये
निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत् ॥ २८ ॥

यमराज बोले—अनिन्दिते! मैं तुझे वर देता हूँ । तूने जैसा कहा है, वह सब वैसा ही होगा । मैं देखता हूँ, तू राह चलनेके कारण बहुत थक गयी है । अब लौट जा, जिससे तुझे अधिक परिश्रम न हो ॥ २८ ॥

सावित्र्युवाच

श्रमः कुतो भर्तृसमीपतो हि मे
यतो हि भर्ता मम सा गतिर्ध्रुवा ।
यतः पतिं नेष्यसि तत्र मे गतिः
सुरेश भूयश्च वचो निबोध मे ॥ २९ ॥

सावित्री बोली—स्वामीके समीप रहते हुए मुझे श्रम हो ही कैसे सकता है । जहाँ मेरे पतिदेव रहेंगे, वहीं मेरी भी गति निश्चित है! आप जहाँ मेरे प्राणनाथको ले जायँगे, वहीं मेरा जाना भी अवश्यम्भावी है । देवेश्वर! आप फिर मेरी बात सुनिये ॥ २९ ॥

सतां सकृत्संगतमीप्सितं परं
ततः परं मित्रमिति प्रचक्षते।
न चाफलं सत्पुरुषेण सङ्गतं
ततः सतां सन्निवसेत् समागमे ॥ ३० ॥

सत्पुरुषोंका एक बारका समागम भी अत्यन्त अभीष्ट होता है। उनके साथ मित्रता हो जाना उससे भी बढ़कर बताया गया है। साधु पुरुषका सङ्ग कभी निष्फल नहीं होता; अतः सदा सत्पुरुषोंके ही समीप रहना चाहिये ॥ ३० ॥

यम उवाच

मनोऽनुकूलं बुधबुद्धिवर्धनं
त्वया यदुक्तं वचनं हिताश्रयम्।
विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं
वरं द्वितीयं वरयस्व भामिनि ॥ ३१ ॥

यमराज बोले—भामिनी ! तूने जो सबके हितकी बात कही है, वह मेरे मनके अनुकूल है तथा विद्वानोंकी भी बुद्धिको बढ़ानेवाली है; अतः इस सत्यवान्के जीवनको छोड़कर तू दूसरा कोई वर और माँग ले ॥ ३१ ॥

सावित्र्युवाच

हृतं पुरा मे श्वशुरस्य धीमतः
स्वमेव राज्यं लभतां स पार्थिवः।
जह्यात् स्वधर्मं न च मे गुरुर्यथा
द्वितीयमेतद् वरयामि ते वरम् ॥ ३२ ॥

सावित्री बोली—मेरे बुद्धिमान् श्वशुरका राज्य, जो पहले उनसे छीन लिया गया है, उसे वे महाराज पुनः प्राप्त कर लें तथा वे मेरे पूज्य गुरु महाराज द्युमत्सेन कभी अपना धर्म न छोड़ें; यही दूसरा वर मैं आपसे माँगती हूँ ॥ ३२ ॥

यम उवाच

स्वमेव राज्यं प्रतिपत्स्यतेऽचिरा-
न्न च स्वधर्मात् परिहास्यते नृपः।
कृतेन कामेन मया नृपात्मजे
निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत् ॥ ३३ ॥

यमराज बोले—राजा द्युमत्सेन शीघ्र एवं अनायास ही अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे और वे कभी अपने धर्मका भी परित्याग नहीं करेंगे। राजकुमारी ! मैंने तेरी अब तेरी इच्छा पूरी हो गयी। तू लौट जा, जिससे तुझे परिश्रम न हो ॥ ३३ ॥

सावित्र्युवाच

प्रजास्त्वयैता नियमेन संयता
नियम्य चैता नयसे निकामया।
ततो यमत्वं तव देव विश्रुतं
निबोध चेमां गिरमीरितां मया ॥ ३४ ॥

सावित्री बोली—देव ! इस सारी प्रजाको आप नियमसे संयममें रखते हैं और उसका नियमन करके आप अपनी इच्छाके अनुसार उसे विभिन्न लोकोंमें ले जाते हैं। इसीलिये आपका 'यम' नाम सर्वत्र विख्यात है। मैं जो बात कहती हूँ, उसे सुनिये ॥ ३४ ॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ ३५ ॥

मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना, सबपर दयाभाव बनाये रखना और दान देना यह साधु पुरुषोंका सनातन धर्म है ॥ ३५ ॥

एवंप्रायश्च लोकोऽयं मनुष्याः शक्तिपेशलाः।
सन्तस्त्वेवाप्यमित्रेषु दयां प्राप्तेषु कुर्वते ॥ ३६ ॥

प्रायः इस संसारके लोग अल्पायु होते हैं, मनुष्योंकी शक्तिहीनता तो प्रसिद्ध ही है। आप-जैसे संत-महात्मा तो अपनी शरणमें आये हुए शत्रुओंपर भी दया करते हैं (फिर हम-जैसे दीन मनुष्योंपर दया क्यों न करेंगे ?) ॥ ३६ ॥

यम उवाच

पिपासितस्येव भवेद् यथा पय-
स्तथा त्वया वाक्यमिदं समीरितम्।
विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं
वरं वृणीष्वेह शुभे यदिच्छसि ॥ ३७ ॥

यमराज बोले—शुभे ! जैसे प्यासे मनुष्यको प्राप्त हुआ जल आनन्ददायक होता है, उसी प्रकार तेरी कही हुई यह बात मुझे अत्यन्त सुख दे रही है। अतः तू सत्यवान्के जीवनके सिवा और कोई वर, जिसे तू लेना चाहे, माँग ले ॥ ३७ ॥

सावित्र्युवाच

ममानपत्यः पृथिवीपतिः पिता
भवेत्पितुः पुत्रशतं तथौरसम्।

कुलस्य सन्तानकरं च यद् भवेत्
तृतीयमेतद् वरयामि ते वरम् ॥ ३८ ॥

सावित्रीने कहा—भगवन् ! मेरे पिता महाराज अश्वपति पुत्रहीन हैं; उन्हें सौ ऐसे औरस पुत्र प्राप्त हों, जो उनके कुलकी संतानपरम्पराको चलानेवाले हों। मैं आपसे यही तीसरा वर माँगती हूँ ॥ ३८ ॥

यम उवाच

कुलस्य सन्तानकरं सुवर्चसं
शतं सुतानां पितुरस्तु ते शुभे।
कृतेन कामेन नराधिपात्मजे
निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता ॥ ३९ ॥

यमराज बोले—शुभे ! तेरे पिताके कुलकी संतान-परम्पराको चलानेवाले सौ तेजस्वी पुत्र होंगे। राज-कुमारी ! तेरी यह कामना भी पूरी हुई। अब लौट जा, तू रास्तेसे बड़ी दूर चली आयी है ॥ ३९ ॥

सावित्र्युवाच

न दूरमेतन्मम भर्तृसंनिधौ
मनो हि मे दूरतरं प्रधावति।
अथ व्रजन्नेव गिरं समुद्यतां
मयोच्यमानां शृणु भूय एव च ॥ ४० ॥

सावित्रीने कहा—भगवन् ! मैं अपने स्वामीके समीप हूँ। इसलिये यह स्थान मेरे लिये दूर नहीं है। मेरा मन तो और भी दूरतक दौड़ लगाता है। आप चलते-चलते ही मेरी कही हुई ये प्रस्तुत बातें पुनः सुनें ॥ ४० ॥

विवस्वतस्त्वं तनयः प्रतापवां-
स्ततो हि वैवस्वत उच्यसे बुधैः।
समेन धर्मेण चरन्ति ताः प्रजा-
स्ततस्तवेहेश्वर धर्मराजता ॥ ४१ ॥

देवेश्वर ! आप विवस्वान् (सूर्य) के प्रतापी पुत्र हैं, इसलिये विद्वान् पुरुष आपको वैवस्वत कहते हैं। आप समस्त प्रजाके साथ समतापूर्वक धर्मानुसार आचरण करते हैं, इसलिये आप धर्मराज कहलाते हैं ॥ ४१ ॥

आत्मन्यपि न विश्वासस्तथा भवति सत्सु यः।
तस्मात् सत्सु विशेषेण सर्वः प्रणयमिच्छति ॥ ४२ ॥

मनुष्यको अपने-आपपर भी उतना विश्वास नहीं होता है, जितना संतोंपर होता है। इसलिये सब लोग संतोंसे विशेष प्रेम करना चाहते हैं ॥ ४२ ॥

सौहृदात् सर्वभूतानां विश्वासो नाम जायते।
तस्मात् सत्सु विशेषेण विश्वासं कुरुते जनः ॥ ४३ ॥

सौहार्दसे ही समस्त प्राणियोंका एक दूसरेके प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। संतोंमें सौहार्द होनेके कारण ही सब लोग उनपर अधिक विश्वास करते हैं ॥ ४३ ॥

यम उवाच

उदाहृतं ते वचनं यदङ्गने
शुभे न तादृक् त्वदृते श्रुतं मया।
अनेन तुष्टोऽस्मि विनास्य जीवितं
वरं चतुर्थं वरयस्व गच्छ च ॥ ४४ ॥

यमराज बोले—कल्याणि ! तूने जैसी बात कही है, वैसी मैंने तेरे सिवा किसी दूसरेके मुखसे नहीं सुनी है। शुभे ! तेरी इस बातसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ; तू सत्यवान्के जीवनके सिवा और कोई चौथा वर माँग ले और यहाँसे लौट जा ॥

सावित्र्युवाच

ममात्मजं सत्यवतस्तथौरसं
भवेदुभाभ्यामिह यत् कुलोद्वहम्।
शतं सुतानां बलवीर्यशालिना-
मिदं चतुर्थं वरयामि ते वरम् ॥ ४५ ॥

सावित्रीने कहा—मेरे और सत्यवान्—दोनोंके संयोगसे कुलकी वृद्धि करनेवाले, बल और पराक्रमसे सुशोभित सौ औरस पुत्र हों। यह मैं आपसे चौथा वर माँगती हूँ ॥ ४५ ॥

यम उवाच

शतं सुतानां बलवीर्यशालिनां
भविष्यति प्रीतिकरं तवाबले।
परिश्रमस्ते न भवेन्नृपात्मजे
निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता ॥ ४६ ॥

यमराज बोले—अबले ! तुझे बल और पराक्रमसे सम्पन्न सौ पुत्र प्राप्त होंगे; जो तेरी प्रसन्नताको बढ़ानेवाले होंगे। राजकुमारी ! अब तू लौट जा, जिससे तुझे थकावट न हो। तू रास्तेसे बहुत दूर चली आयी है ॥ ४६ ॥

सावित्र्युवाच

सतां सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः
सन्तो न सीदन्ति न च व्यथन्ति ।
सतां सद्भिर्नाफलः सङ्गमोऽस्ति
सद्भ्यो भयं नानुवर्तन्ति सन्तः ॥ ४७ ॥

सावित्रीने कहा—सत्पुरुषोंकी वृत्ति निरन्तर धर्ममें ही लगी रहती है। श्रेष्ठ पुरुष कभी दुखी या व्यथित नहीं होते। सत्पुरुषोंका संतोंके साथ जो समागम होता है, वह कभी निष्फल नहीं होता है। श्रेष्ठ पुरुष संतोंसे कभी भय नहीं मानते हैं ॥ ४७ ॥

सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्यं
सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति ।
सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन्
सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः ॥ ४८ ॥

श्रेष्ठ पुरुष सत्यके बलसे सूर्यका संचालन करते हैं। संत-महात्मा अपनी तपस्यासे इस पृथ्वीको धारण करते हैं। राजन्! सत्पुरुष ही भूत, वर्तमान और भविष्यके आश्रय हैं। श्रेष्ठ पुरुष संतोंके बीचमें रहकर कभी दुःख नहीं उठाते हैं ॥

आर्यजुष्टमिदं वृत्तमिति विज्ञाय शाश्वतम् ।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ति परस्परम् ॥ ४९ ॥

यह सनातन सदाचार सत्पुरुषोंद्वारा सेवित है। यह जानकर सभी श्रेष्ठ पुरुष परोपकार करते हैं और आपसमें एक-दूसरेकी ओर स्वार्थकी दृष्टिसे कभी नहीं देखते हैं ॥

न च प्रसादः सत्पुरुषेषु मोघो
न चाप्यर्थो नश्यति नापि मानः ।
यस्मादेतन्नियतं सत्सु नित्यं
तस्मात् सन्तो रक्षितारो भवन्ति ॥ ५० ॥

सत्पुरुषोंका प्रसाद कभी व्यर्थ नहीं जाता। वहाँ किसीको स्वार्थकी हानि नहीं उठानी पड़ती है और न मान-सम्मान ही नष्ट होता है। ये तीनों (प्रसाद, अर्थ और मान) संतोंमें नित्य-निरन्तर बने रहते हैं; इसलिये वे सम्पूर्ण जगत्के रक्षक होते हैं ॥ ५० ॥

यम उवाच

यथा यथा भाषसि धर्मसंहितं
मनोऽनुकूलं सुपदं महार्थवत् ।
तथा तथा मे त्वयि भक्तिरुत्तमा
वरं वृणीष्वाप्रतिमं पतिव्रते ॥ ५१ ॥

यमराज बोले—पतिव्रते! जैसे-जैसे तू गम्भीर अर्थसे युक्त और सुन्दर पदोंसे विभूषित, मनके अनुकूल धर्मसंगत बातें मुझे सुनाती जा रही है, वैसे-ही-वैसे तेरे प्रति मेरी उत्तम भक्ति बढ़ती जाती है; अतः तू मुझसे कोई अनुपम वर माँग ले ॥ ५१ ॥

सावित्र्युवाच

न तेऽपवर्गः सुकृताद् विनाकृत-
स्तथा यथान्येषु वरेषु मानद ।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं
यथा मृता ह्येवमहं पतिं विना ॥ ५२ ॥

सावित्रीने कहा—मानद! आपने मुझे जो पुत्र-प्राप्तिका वर दिया है, वह पुण्यमय दाम्पत्य-संयोगके बिना सफल नहीं हो सकता। अन्य वरोंकी जैसी स्थिति है, वैसी इस अन्तिम वरकी नहीं है। इसलिये मैं पुनः यह वर माँगती हूँ कि ये सत्यवान् जीवित हो जायँ; क्योंकि इन पतिदेवताके बिना मैं मरी हुईके ही समान हूँ ॥ ५२ ॥

न कामये भर्तृविनाकृता सुखं
न कामये भर्तृविनाकृता दिवम् ।
न कामये भर्तृविनाकृता श्रियं
न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम् ॥ ५३ ॥

पतिके बिना यदि कोई सुख मिलता है, तो वह मुझे नहीं चाहिये। पतिदेवके बिना मैं स्वर्गलोकमें भी जानेकी इच्छा नहीं रखती। पतिके बिना मुझे धन-सम्पत्तिकी भी इच्छा नहीं है। अधिक क्या कहूँ, मैं पतिके बिना जीवित रहना भी नहीं चाहती ॥ ५३ ॥

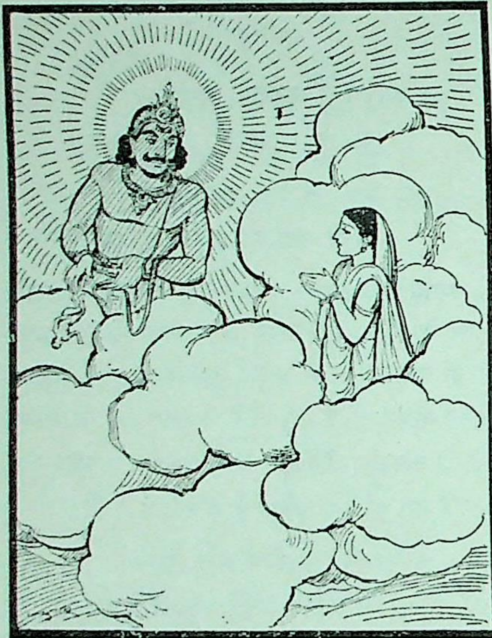
वरातिसर्गः शतपुत्रता मम
त्वयैव दत्तो ह्रियते च मे पतिः ।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं
तवैव सत्यं वचनं भविष्यति ॥ ५४ ॥

आपने ही मुझे सौ पुत्र होनेका वर दिया है और आप ही मेरे पतिको अन्यत्र लिये जा रहे हैं; अतः मैं वही वर माँगती हूँ कि ये सत्यवान् जीवित हो जायँ, इससे आपका ही वचन सत्य होगा ॥ ५४ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तथेत्युक्त्वा तु तं पाशं मुक्त्वा वैवस्वतो यमः ।
धर्मराजः प्रहृष्टात्मा सावित्रीमिदमब्रवीत् ॥ ५५॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर 'तथास्तु' कहकर सूर्यपुत्र धर्मराज यमने सत्यवान्‌का बन्धन खोल दिया और प्रसन्नचित्त होकर सावित्रीसे इस प्रकार कहा—



एष भद्रे मया मुक्तो भर्ता ते कुलनन्दिनि ।
(तोषितोऽहं त्वया साध्वि वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः ।)
अरोगस्तव नेयश्च सिद्धार्थः स भविष्यति ॥ ५६॥

'भद्रे ! यह ले, मैंने तेरे पतिको छोड़ दिया । कुलनन्दिनी ! तूने अपने धर्मार्थयुक्त वचनोंद्वारा मुझे पूर्ण संतुष्ट कर दिया है । साध्वी ! यह सत्यवान् नीरोग, सफलमनोरथ तथा तेरेद्वारा ले जाने योग्य हो गया ॥ ५६ ॥

चतुर्वर्षशतायुश्च त्वया सार्धमवाप्स्यति ।
इष्ट्वा यज्ञैश्च धर्मेण ख्यातिं लोके गमिष्यति ॥ ५७॥

'यह तेरे साथ रहकर चार सौ वर्षोंकी आयु प्राप्त करेगा । यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करके यह अपने धर्माचरणके द्वारा सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात होगा ॥ ५७ ॥

त्वयि पुत्रशतं चैव सत्यवाञ्जनयिष्यति ।
ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्रपौत्रिणः ॥ ५८॥

'सत्यवान् तेरे गर्भसे सौ पुत्र उत्पन्न करेगा और वे सभी राजकुमार राजा होनेके साथ ही पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न होंगे ॥ ५८ ॥

ख्यातास्त्वन्नामधेयाश्च भविष्यन्तीह शाश्वताः ।
पितुश्च ते पुत्रशतं भविता तव मातरि ॥ ५९ ॥

'तेरे ही नामसे उनकी सदा ख्याति होगी अर्थात् वे सावित्र नामसे प्रसिद्ध होंगे । तेरे पिताके भी तेरी माताके ही गर्भसे सौ पुत्र होंगे ॥ ५९ ॥

मालव्यां मालवा नाम शाश्वताः पुत्रपौत्रिणः ।
भ्रातरस्ते भविष्यन्ति क्षत्रियास्त्रिदशोपमाः ॥ ६० ॥

'वे तेरी माता मालवीसे उत्पन्न होनेके कारण मालव नामसे विख्यात होंगे । तेरे भाई मालव क्षत्रिय पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न तथा देवताओंके समान तेजस्वी होंगे' ॥६०॥

एवं तस्यै वरं दत्त्वा धर्मराजः प्रतापवान् ।
निवर्तयित्वा सावित्रीं स्वमेव भवनं ययौ ॥ ६१ ॥

सावित्रीको इस प्रकार वरदान दे प्रतापी धर्मराज उसे लौटाकर अपने लोकको चले गये ॥ ६१ ॥

सावित्र्यपि यमे याते भर्तारं प्रतिलभ्य च ।
जगाम तत्र यत्रास्या भर्तुः शावं कलेवरम् ॥ ६२ ॥

यमराजके चले जानेपर सावित्री अपने पतिको पाकर उसी स्थानपर गयी; जहाँ पतिका मृत शरीर पड़ा था ॥६२॥

सा भूमौ प्रेक्ष्य भर्तारमुपसृत्योपगृह्य च ।
उत्सङ्गे शिर आरोप्य भूमावुपविवेश ह ॥ ६३ ॥

वह पृथ्वीपर अपने पतिको पड़ा देख उनके पास गयी और पृथ्वीपर बैठ गयी, फिर पतिको उठाकर उसने उनके मस्तकको गोदीमें रख लिया ॥ ६३ ॥

संज्ञां च स पुनर्लब्ध्वा सावित्रीमभ्यभाषत ।
प्रोष्यागत इव प्रेम्णा पुनः पुनरुदीक्ष्य वै ॥ ६४ ॥

तदनन्तर पुनः चेतना प्राप्त करके सत्यवान् परदेशमें रहकर लौटे हुए पुरुषकी भाँति बार-बार प्रेमपूर्वक सावित्रीकी ओर देखते हुए उससे बोले ॥ ६४ ॥

सत्यवानुवाच

सुचिरं बत सुप्तोऽस्मि किमर्थं नावबोधितः ।
क्व चासौ पुरुषः श्यामो योऽसौ मां संचकर्ष ह ॥६५॥

सत्यवान्‌ने कहा—प्रिये ! खेद है कि मैं बहुत देर-तक सोता रह गया । तुमने मुझे जगा क्यों नहीं दिया ? वे श्यामवर्णके पुरुष कहाँ हैं, जिन्होंने मुझे खींचा था ? ॥ ६५ ॥

सावित्र्युवाच

सुचिरं त्वं प्रसुप्तोऽसि ममाङ्के पुरुषर्षभ ।
गतः स भगवान् देवः प्रजासंयमनो यमः ॥ ६६ ॥

सावित्री बोली—नरश्रेष्ठ ! आप मेरी गोदमें बहुत देरतक सोते रह गये । वे श्यामवर्णके पुरुष प्रजाको संयममें रखनेवाले साक्षात् भगवान् यम थे, जो अब चले गये हैं ॥

विश्रान्तोऽसि महाभाग विनिद्रश्च नृपात्मज ।
यदि शक्यं समुत्तिष्ठ विगाढां पश्य शर्वरीम् ॥ ६७ ॥

महाभाग ! आपने विश्राम कर लिया । राजकुमार ! अब आपकी नींद भी टूट चुकी है । यदि शक्ति हो तो उठिये; देखिये, प्रगाढ़ अन्धकारसे युक्त रात्रि हो गयी है ॥ ६७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

उपलभ्य ततः संज्ञां सुखसुप्त इवोत्थितः ।
दिशः सर्वा वनान्तांश्च निरीक्ष्योवाच सत्यवान् ॥ ६८ ॥
फलाहारोऽस्मि निष्क्रान्तस्त्वया सह सुमध्यमे ।
ततः पाटयतः काष्ठं शिरसो मे रुजाभवत् ॥ ६९ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब होशमें आकर सत्यवान् सुखपूर्वक सोये हुए पुरुषकी भाँति उठकर संपूर्ण दिशाओं तथा वनप्रान्तकी ओर दृष्टि डालकर बोले—'सुमध्यमे ! मैं फल लानेके लिये तुम्हारे साथ घरसे निकला था, फिर लकड़ी चीरते समय मेरे सिरमें जोर-जोरसे दर्द होने लगा था ॥ ६८-६९ ॥

शिरोऽभितापसंतप्तः स्थातुं चिरमशक्नुवन् ।
तवोत्सङ्गे प्रसुप्तोऽस्मि इति सर्वं स्मरे शुभे ॥ ७० ॥

'शुभे ! मस्तककी उस पीड़ासे संतप्त हो मैं देरतक खड़ा रहनेमें असमर्थ हो गया और तुम्हारी गोदमें सिर रखकर सो रहा । ये सारी बातें मुझे क्रमशः याद आ रही हैं ॥ ७० ॥

त्वयोपगूढस्य च मे निद्रयापहृतं मनः ।
ततोऽपश्यं तमो घोरं पुरुषं च महौजसम् ॥ ७१ ॥

'तुम्हारे [illegible] मेरा मन नींदमें लो [illegible] गया । तत्पश्चात् मुझे घोर अंधकार दिखायी दिया । साथ ही एक महातेजस्वी दिव्य पुरुषका दर्शन हुआ ॥ ७१ ॥

तद् यदि त्वं विजानासि किं तद् ब्रूहि सुमध्यमे ।
स्वप्नो मे यदि वा दृष्टो यदि वा सत्यमेव तत् ॥ ७२ ॥

'सुमध्यमे ! यदि तुम जानती हो तो बताओ; वह सब क्या था ? मैंने जो कुछ देखा है, वह स्वप्न तो नहीं था ? अथवा वह सब सत्य ही था ' ॥ ७२ ॥

तमुवाचाथ सावित्री रजनी व्यवगाहते ।
श्वस्ते सर्वं यथावृत्तमाख्यास्यामि नृपात्मज ॥ ७३ ॥

तब सावित्री उनसे बोली—'राजकुमार ! रात बढ़ती जा रही है । कल सबेरे मैं आपसे सब बातें ठीक-ठीक बताऊँगी ॥ ७३ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते पितरौ पश्य सुव्रत ।
विगाढा रजनी चेयं निवृत्तश्च दिवाकरः ॥ ७४ ॥

'सुव्रत ! उठिये, उठिये, आपका कल्याण हो । आप चलकर माता-पिताका दर्शन तो कीजिये । सूर्य डूब गये तथा रात घनी हो गयी है ॥ ७४ ॥

नक्तंचराश्चरन्त्येते हृष्टाः क्रूराभिभाषिणः ।
श्रूयन्ते पर्णशब्दाश्च मृगाणां चरतां वने ॥ ७५ ॥

ये क्रूर बोली बोलनेवाले निशाचर यहाँ प्रसन्नतापूर्वक विचर रहे हैं । वनमें घूमते हुए मृगोंके पैरोंसे लगकर पत्तोंके मर्मर शब्द सुनायी पड़ते हैं ॥ ७५ ॥

एता घोरं शिवा नादान् दिशं दक्षिणपश्चिमाम् ।
आस्थाय विरुवन्त्युग्राः कम्पयन्त्यो मनो मम ॥ ७६ ॥

'दक्षिण और पश्चिमके कोणकी दिशामें जाकर ये उग्र सियारिनें भयंकर शब्द कर रही हैं, जिससे मेरा हृदय काँप उठता है ।

सत्यवानुवाच

वनं प्रतिभयाकारं घनेन तमसाऽऽवृतम् ।
न विज्ञास्यसि पन्थानं गन्तुं चैव न शक्ष्यसि ॥ ७७ ॥

सत्यवान् बोले—प्रिये ! यह वन गाढ अंधकारसे आच्छादित होकर अत्यन्त भयंकर दिखायी दे रहा है । इस समय न तो तुम्हें रास्ता सूझेगा और न तुम चल ही सकोगी ।

सावित्र्युवाच

[illegible] स्थितो [illegible] ।

वायुना धम्यमानोऽत्र दृश्यतेऽग्निः क्वचित् क्वचित् ७८

सावित्रीने कहा—आज इस वनमें आग लगी थी। इसमें एक सूखा वृक्ष खड़ा है, जो जल रहा है। हवा लगनेसे उसमें कहीं-कहीं आग दिखायी देती है॥ ७८॥

ततोऽग्निमानयित्वेह ज्वालयिष्यामि सर्वतः।
काष्ठानीमानि सन्तीह जहि सन्तापमात्मनः॥ ७९॥

वहींसे आग ले आकर मैं चारों ओर लकड़ियाँ जलाऊँगी। यहाँ बहुतसे काठ-कबाड़ पड़े हैं। आप मनसे चिन्ता निकाल दीजिये॥ ७९॥

यदि नोत्सहसे गन्तुं सरुजं त्वां हि लक्षये।
न च ज्ञास्यसि पन्थानं तमसा संवृते वने॥ ८०॥
श्वः प्रभाते वने दृश्ये यास्यावोऽनुमते तव।
वसावेह क्षपामेकां रुचितं यदि तेऽनघ॥ ८१॥

परंतु मैं आपको रुग्ण देख रही हूँ। ऐसी दशामें यदि आपके मनमें चलनेका उत्साह न हो अथवा इस तिमिराच्छन्न वनमें यदि आपको रास्तेका ज्ञान न हो सके तो आपकी अनुमति होनेपर हम दोनों कल सबेरे, जब वनकी हर एक वस्तु स्पष्ट दीखने लगे, घर चलेंगे। अनघ! यदि आपकी रुचि हो तो एक रात हमलोग यहीं निवास करें॥

सत्यवानुवाच

शिरोरुजा निवृत्ता मे स्वस्थान्यङ्गानि लक्षये।
मातापितृभ्यामिच्छामि संगमं त्वत्प्रसादजम्॥ ८२॥

सत्यवान्‌ने कहा—प्रिये! मेरे सिरका दर्द दूर हो गया है। मुझे अपने सब अङ्ग स्वस्थ दिखायी देते हैं। अब तुम्हारे कृपाप्रसादसे मैं अपने माता-पितासे मिलना चाहता हूँ॥

न कदाचिद् विकाले हि गतपूर्वो मयाऽऽश्रमः।
अनागतायां सन्ध्यायां माता मे प्ररुणद्धि माम्॥ ८३॥

आजसे पहले कभी भी मैं इतनी देर करके असमयमें अपने आश्रमपर नहीं लौटा हूँ। संध्या होनेसे पहले ही माता मुझे रोक लेती है—आश्रमसे बाहर नहीं जाने देती है॥८३॥

दिवापि मयि निष्क्रान्ते संतप्येते गुरू मम।
विचिनोति हि मां तातः सहैवाश्रमवासिभिः॥ ८४॥

दिनमें भी यदि मैं आश्रमसे दूर निकल जाता हूँ तो मेरे माता-पिता व्याकुल हो उठते हैं एवं पिताजी आश्रम-वासियोंके साथ मुझे खोजने निकल पड़ते हैं॥ ८४॥

मात्रा पित्रा च सुभृशं दुःखिताभ्यामहं पुरा।
उपालब्धश्च बहुशश्चिरेणागच्छसीति ह॥ ८५॥

मेरे माता-पिताने अत्यन्त दुखी होकर पहले कई बार मुझे उलाहना दिया है कि 'तू देरसे घर लौटता है'॥ ८५॥

का त्ववस्था तयोरद्य मदर्थमिति चिन्तये।
तयोरदृश्ये मयि च महद् दुःखं भविष्यति॥ ८६॥

आज मेरे लिये उन दोनोंकी क्या अवस्था हुई होगी? यह सोचकर मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है। मुझे न देखनेपर उन दोनोंको महान् दुःख होगा॥ ८६॥

पुरा मामूचतुश्चैव रात्रावस्रायमाणकौ।
भृशं सुदुःखितौ वृद्धौ बहुशः प्रीतिसंयुतौ॥ ८७॥

पहलेकी बात है, मेरे वृद्ध माता-पिताने अत्यन्त दुखी हो रातमें आँसू बहाते हुए मुझसे बारंबार प्रेमपूर्वक कहा था—॥

त्वया हीनौ न जीवाव मुहूर्तमपि पुत्रक।
यावद् धरिष्यसे पुत्र तावन्नौ जीवितं ध्रुवम्॥ ८८॥

'बेटा! तुम्हारे बिना हम दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकते। वत्स! तुम जबतक जीवित रहोगे, तभीतक हमारा भी जीवन निश्चित है॥ ८८॥

वृद्धयोरन्धयोर्दृष्टिस्त्वयि वंशः प्रतिष्ठितः।
त्वयि पिण्डश्च कीर्तिश्च संतानं चावयोरिति॥ ८९॥

'हम दोनों बूढ़े और अंधे हैं। तुम्हीं हमारी दृष्टि हो तथा तुम्हींपर हमारा वंश प्रतिष्ठित है। हम दोनोंका पिण्ड, कीर्ति और कुलपरम्परा सब कुछ तुमपर ही अवलम्बित है'॥

माता वृद्धा पिता वृद्धस्तयोर्यष्टिरहं किल।
तौ रात्रौ मामपश्यन्तौ कामवस्थां गमिष्यतः॥ ९०॥

मेरी माता बूढ़ी है। पिता भी वृद्ध हैं, केवल मैं ही उन दोनोंके लिये लाठीका सहारा हूँ। वे दोनों रातमें मुझे न देखकर पता नहीं किस दशाको पहुँच जायँगे?॥ ९०॥

निद्रायाश्चाभ्यसूयामि यस्या हेतोः पिता मम।
माता च संशयं प्राप्ता मत्कृतेऽनपकारिणी॥ ९१॥

मैं अपनी इस नींदको कोसता हूँ, जिसके कारण मेरे पिता तथा कभी मेरा अपकार न करनेवाली मेरी माताका जीवन संशयमें पड़ गया है॥ ९१॥

अहं च संशयं प्राप्तः कृच्छ्रामापदमास्थितः।
मातापितृभ्यां हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे॥ ९२॥

मैं भी कठिन विपत्तिमें फँसकर प्राण-संशयकी दशामें आ पहुँचा हूँ । माता-पिताके बिना तो मैं कदापि जीवित नहीं रह सकता ॥ ९२ ॥

व्यक्तमाकुलया बुद्ध्या प्रज्ञाचक्षुः पिता मम ।
एकैकमस्यां वेलायां पृच्छत्याश्रमवासिनम् ॥ ९३ ॥

निश्चय ही इस समय मेरे प्रज्ञाचक्षु (अंधे) पिता व्याकुल हृदयसे एक-एक आश्रमवासीके पास जाकर मेरे विषयमें पूछ रहे होंगे ॥ ९३ ॥

नात्मानमनुशोचामि यथाहं पितरं शुभे ।
भर्तारं चाप्यनुगतां मातरं परिदुर्बलाम् ॥ ९४ ॥

शुभे ! मुझे अपने लिये उतना शोक नहीं है, जितना कि पिताके लिये और उन्हींका अनुसरण करनेवाली दुबली-पतली माताके लिये है ॥ ९४ ॥

मत्कृतेन हि तावद्य सन्तापं परमेष्यतः ।
जीवन्तावनुजीवामि भर्तव्यौ तौ मयेति ह ॥ ९५ ॥
तयोः प्रियं मे कर्तव्यमिति जानामि चाप्यहम् ।

मेरे कारण आज मेरे माता-पिता बहुत संतप्त होंगे। उन्हें जीवित देखकर ही मैं जी रहा हूँ । मुझे उन दोनोंका भरण-पोषण करना चाहिये । मैं यह भी जानता हूँ कि माता-पिताका प्रिय करना ही मेरा कर्तव्य है ॥ ९५½ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा गुरुभक्तो गुरुप्रियः ॥ ९६ ॥
उच्छ्रित्य बाहू दुःखार्तः सुस्वरं प्ररुरोद ह ।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यों कहकर धर्मात्मा, गुरुभक्त एवं गुरुजनोंके प्रिय सत्यवान् दोनों बाँहें ऊपर उठाकर दुःखसे आतुर हो फूट-फूटकर रोने लगे ॥

ततोऽब्रवीत् तथा दृष्ट्वा भर्तारं शोककर्शितम् ॥ ९७ ॥
प्रमृज्याश्रूणि नेत्राभ्यां सावित्री धर्मचारिणी ।
यदि मेऽस्ति तपस्तप्तं यदि दत्तं हुतं यदि ॥ ९८ ॥
श्वश्रूश्वशुरभर्तॄणां मम पुण्यास्तु शर्वरी ।

अपने पतिको इस प्रकार शोकसे कातर हुआ देख धर्मका पालन करनेवाली सावित्रीने नेत्रोंसे बहते हुए आँसुओं-को पोंछकर कहा—'यदि मैंने कोई तपस्या की हो, यदि दान दिया हो और होम किया हो तो मेरे सास-ससुर और पतिके लिये यह रात पुण्यमयी हो ॥ ९७-९८½ ॥

न स्मराम्युक्तपूर्वां वै स्वैरेष्वप्यनृतां गिरम् ॥ ९९ ॥
तेन सत्येन तावद्य ध्रियेतां श्वशुरौ मम ।

'मैंने पहले कभी इच्छानुसार किये जानेवाले क्रीडा-विनोदमें भी झूठी बात कही हो, मुझे इसका स्मरण नहीं है । उस सत्यके प्रभावसे इस समय मेरे सास-ससुर जीवित रहें ॥

सत्यवानुवाच

कामये दर्शनं पित्रोर्याहि सावित्रि मा चिरम् ॥ १०० ॥
(अपि नाम गुरू तौ हि पश्येयं प्रीयमाणकौ ।)

सत्यवान्ने कहा—सावित्री ! चलो, मैं शीघ्र ही माता-पिताका दर्शन करना चाहता हूँ । क्या मैं उन दोनोंको प्रसन्न देख सकूँगा ? ॥ १०० ॥

पुरा मातुः पितुर्वापि यदि पश्यामि विप्रियम् ।
न जीविष्ये वरारोहे सत्येनात्मानमालभे ॥ १०१ ॥

वरारोहे ! मैं सत्यकी शपथ खाकर अपना शरीर छूकर कहता हूँ, यदि मैं माता अथवा पिताका अप्रिय देखूँगा तो जीवित नहीं रहूँगा ॥ १०१ ॥

यदि धर्मे च ते बुद्धिर्मां चेज्जीवन्तमिच्छसि ।
मम प्रियं वा कर्तव्यं गच्छावाश्रममन्तिकात् ॥ १०२ ॥

यदि तुम्हारी बुद्धि धर्ममें रत है, यदि तुम मुझे जीवित देखना चाहती हो अथवा मेरा प्रिय करना अपना कर्तव्य समझती हो, तो हम दोनों शीघ्र ही आश्रमके समीप चलें ॥ १०२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

सावित्री तत उत्थाय केशान् संयम्य भाविनी ।
पतिमुत्थापयामास बाहुभ्यां परिगृह्य वै ॥ १०३ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब पतिका हित-चिन्तन करनेवाली सावित्रीने उठकर अपने खुले हुए केशोंको बाँध लिया और दोनों हाथोंसे पकड़कर पतिको उठाया ॥

उत्थाय सत्यवांश्चापि प्रमृज्याङ्गानि पाणिना ।
सर्वा दिशः समालोक्य कठिने दृष्टिमादधे ॥ १०४ ॥

सत्यवान्ने भी उठकर एक हाथसे अपने सभी अङ्ग पोंछे और चारों ओर देखकर फलोंकी टोकरीपर दृष्टि डाली ॥

तमुवाचाथ सावित्री श्वः फलानि हरिष्यसि ।
योगक्षेमार्थमेतं ते नेष्यामि परशुं त्वहम् ॥१०५॥

तब सावित्रीने उनसे कहा—'कल सवेरे फलोंको ले चलियेगा। इस समय आपके योग-क्षेमके लिये इस कुल्हाड़ीको मैं साथ ले चलूँगी' ॥ १०५ ॥

कृत्वा कठिनभारं सा वृक्षशाखावलम्बिनम् ।
गृहीत्वा परशुं भर्तुः सकाशे पुनरागमत् ॥१०६॥

फिर उसने टोकरीके बोझको पेड़की डालमें लटका दिया और कुल्हाड़ी लेकर वह, पुनः पतिके पास आ गयी ॥



वामे स्कन्धे तु वामोरूर्भर्तुर्बाहुं निवेश्य च ।
दक्षिणेन परिष्वज्य जगाम गजगामिनी ॥१०७॥

कमनीय ऊरुओंसे सुशोभित तथा हाथीके समान मन्द गतिसे चलनेवाली सावित्रीने पतिकी दाहिनी भुजाको अपने बायें कंधेपर रखकर दाहिने हाथसे उन्हें अपने पार्श्वभागमें सटा लिया और धीरे-धीरे चलने लगी ॥ १०७ ॥

सत्यवानुवाच

अभ्यासगमनाद् भीरु पन्थानो विदिता मम ।
वृक्षान्तरालोकितया ज्योत्स्नया चापि लक्षये ॥१०८॥

उस समय सत्यवान्‌ने कहा—भीरु ! बार-बार आने-जानेसे यहाँके सभी मार्ग मेरे परिचित हैं। वृक्षोंके भीतरसे दिखायी देनेवाली चाँदनीसे भी मैं रास्तोंकी पहचान कर लेता हूँ ॥ १०८ ॥

आगतौ स्वः पथा येन फलान्यवचितानि च ।
यथागतं शुभे गच्छ पन्थानं मा विचारय ॥१०९॥

यह वही मार्ग है, जिससे हम दोनों आये थे और हमने फल चुने थे। शुभे ! तुम जैसे आयी हो, वैसे चली चलो। रास्तेका विचार न करो ॥ १०९ ॥

पलाशखण्डे चैतस्मिन् पन्था व्यावर्तते द्विधा ।
तस्योत्तरेण यः पन्थास्तेन गच्छ त्वरस्व च ॥११०॥
स्वस्थोऽस्मि बलवानस्मि दिदृक्षुः पितरावुभौ ।

पलाश-वृक्षोंके इस वनप्रदेशमें यह मार्ग अलग-अलग दो दिशाओंकी ओर मुड़ जाता है। इन दोनोंमेंसे जो मार्ग उत्तरकी ओरसे जाता है, उसीसे चलो और शीघ्रतापूर्वक पैर बढ़ाओ। अब मैं स्वस्थ हूँ, बलवान् हूँ और अपने माता तथा पिता दोनोंको देखनेके लिये उत्सुक हूँ ॥ ११०½ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ब्रुवन्नेवं त्वरायुक्तः सम्प्रायादाश्रमं प्रति ॥१११॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—ऐसा कहते हुए सत्यवान् बड़ी उतावलीके साथ आश्रमकी ओर चलने लगे ॥ १११ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक

दो सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका एक श्लोक मिलाकर कुल ११२ श्लोक हैं)

अष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पत्नीसहित राजा द्युमत्सेनकी सत्यवान्‌के लिये चिन्ता, ऋषियोंका उन्हें आश्वासन देना, सावित्री और सत्यवान्‌का आगमन तथा सावित्रीद्वारा विलम्बसे आनेके कारणपर प्रकाश डालते हुए वरप्राप्तिका विवरण बताना

मार्कण्डेय उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु द्युमत्सेनो महाबलः।
लब्धचक्षुः प्रसन्नायां दृष्ट्यां सर्वं ददर्श ह ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इसी समय महाबली महाराजा द्युमत्सेनको उनकी खोयी हुई आँखें मिल गयीं। दृष्टि स्वच्छ हो जानेके कारण वे सब कुछ देखने लगे ॥

स सर्वानाश्रमान् गत्वा शैब्यया सह भार्यया।
पुत्रहेतोः परामार्तिं जगाम भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे अपनी पत्नी शैब्याके साथ सभी आश्रमोंमें जाकर पुत्रका पता लगाने लगे। उस समय उन्हें सत्यवान्‌के लिये बड़ी वेदना हो रही थी ॥ २ ॥

तावाश्रमान् नदीश्चैव वनानि च सरांसि च।
तस्यां निशि विचिन्वन्तौ दम्पती परिजग्मतुः ॥ ३ ॥

वे दोनों पति-पत्नी उस रातमें पुत्रकी खोज करते हुए विभिन्न आश्रमों, नदीके तटों तथा वनों और सरोवरोंमें भ्रमण करने लगे ॥ ३ ॥

श्रुत्वा शब्दं तु यं कञ्चिदुन्मुखौ सुतशङ्कया।
सावित्रीसहितोऽभ्येति सत्यवानित्यभाषताम् ॥ ४ ॥

जो कोई भी शब्द कानमें पड़ता, उसीको सुनकर वे अपने पुत्रके आनेकी आशङ्कासे उत्सुक हो उठते और परस्पर कहने लगते कि 'सावित्रीके साथ सत्यवान् आ रहा है' ॥ ४ ॥

भिन्नैश्च परुषैः पादैः सव्रणैः शोणितोक्षितैः।
कुशकण्टकविद्धाङ्गावुन्मत्ताविव धावतः ॥ ५ ॥

उनके पैरोंमें बिवाई फट गयी थी, वे कठोर हो गये थे तथा घाव हो जानेके कारण रक्तसे भींगे रहते थे, तो भी उन्हीं पैरोंसे वे दोनों दम्पति इधर-उधर पागलोंकी भाँति दौड़ रहे थे। उस समय उनके अङ्गोंमें कुश और काँटे बिंध गये थे ॥ ५ ॥

ततोऽभिसृत्य तैर्विप्रैः सर्वैराश्रमवासिभिः।
परिवार्य समाश्वास्य तावानीतौ स्वमाश्रमम् ॥ ६ ॥

तब उन आश्रमोंमें रहनेवाले समस्त ब्राह्मणोंने उनके पास जा उन्हें सब ओरसे घेरकर आश्वासन दिया तथा उन दोनोंको उनके आश्रमपर पहुँचाया ॥ ६ ॥

तत्र भार्यासहायः स वृतो वृद्धैस्तपोधनैः।
आश्वासितोऽपि चित्रार्थैः पूर्वराज्ञां कथाश्रयैः ॥ ७ ॥

ततस्तौ पुनराश्वस्तौ वृद्धौ पुत्रदिदृक्षया।
बाल्यवृत्तानि पुत्रस्य स्मरन्तौ भृशदुःखितौ ॥ ८ ॥

तपस्याके धनी वृद्ध ब्राह्मणोंद्वारा घिरे हुए पत्नीसहित राजा द्युमत्सेनको प्राचीन राजाओंकी विचित्र अर्थोंसे भरी हुई कथाएँ सुनाकर पूरा आश्वासन दिया गया, तो भी वे दोनों वृद्ध बारंबार सान्त्वना मिलते रहनेपर भी अपने पुत्रको देखनेकी इच्छासे उसके बचपनकी बातें सोचते हुए बहुत दुःखी हो गये ॥ ७-८ ॥

पुनरुक्त्वा च करुणां वाचं तौ शोककर्शितौ।
हा पुत्र हा साध्वि वधूः क्वासि क्वासीत्यरोदताम्।
ब्राह्मणः सत्यवाक् तेषामुवाचेदं तयोर्वचः ॥ ९ ॥

वे शोककातर दम्पति बारंबार करुण वचन बोलते हुए 'हा पुत्र ! हा सती-साध्वी बहू ! तुम कहाँ हो, कहाँ हो ?' यों कहकर रोने लगे। उस समय एक सत्यवादी ब्राह्मणने उन दोनोंसे इस प्रकार कहा ॥ ९ ॥

सुवर्चा उवाच

यथास्य भार्या सावित्री तपसा च दमेन च।
आचारेण च संयुक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १० ॥

सुवर्चा बोले—सत्यवान्‌की पत्नी सावित्री जैसी तपस्या, इन्द्रियसंयम तथा सदाचारसे संयुक्त है, उसे देखते हुए मैं कह सकता हूँ कि सत्यवान् जीवित है ॥ १० ॥

गौतम उवाच

वेदाः साङ्गा मयाधीतास्तपो मे संचितं महत्।
कौमारब्रह्मचर्यं च गुरवोऽग्निश्च तोषिताः ॥ ११ ॥
समाहितेन चीर्णानि सर्वाण्येव व्रतानि मे।
वायुभक्षोपवासश्च कृतो मे विधिवत् पुरा ॥ १२ ॥
अनेन तपसा वेद्मि सर्वं परचिकीर्षितम्।
सत्यमेतन्निबोधध्वं ध्रियते सत्यवानिति ॥ १३ ॥

गौतम बोले—मैंने छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन किया है। महान् तपका संचय किया है। कुमारावस्थासे ही ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरुजनों तथा अग्निदेवको संतुष्ट किया है। एकाग्रचित्त होकर सभी व्रत पूर्ण किये हैं। पूर्वकालमें हवा पीकर विधिपूर्वक उपवास-व्रतका साधन किया है। इस तपस्याके प्रभावसे मैं दूसरोंकी सारी चेष्टाओंको जान लेता हूँ। आपलोग मेरी यह बात सच मानें कि सत्यवान् जीवित है ॥ ११-१३ ॥

शिष्य उवाच

उपाध्यायस्य मे वक्त्राद् यथा वाक्यं विनिःसृतम् ।
नैव जातु भवेन्मिथ्या तथा जीवति सत्यवान् ॥१४॥

गौतमके शिष्यने कहा—मेरे गुरुजीके मुखसे जो बात निकली है, वह कभी मिथ्या नहीं हो सकती । सत्यवान् अवश्य जीवित है ॥ १४ ॥

ऋषय ऊचुः

यथास्य भार्या सावित्री सर्वैरेव सुलक्षणैः ।
अवैधव्यकरैर्युक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥१५॥

कुछ ऋषियोंने कहा—सत्यवान्‌की पत्नी सावित्री उन सभी शुभ लक्षणोंसे युक्त है, जो वैधव्यका निवारण करके सौभाग्यकी वृद्धि करनेवाले हैं इसलिये सत्यवान् अवश्य जीवित है ॥ १५ ॥

भारद्वाज उवाच

यथास्य भार्या सावित्री तपसा च दमेन च ।
आचारेण च संयुक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १६ ॥

भारद्वाज बोले—सत्यवान्‌की पत्नी सावित्री जैसी तपस्या, इन्द्रियसंयम तथा सदाचारसे संयुक्त है, उसे देखते हुए मैं कह सकता हूँ कि सत्यवान् जीवित है ॥ १६ ॥

दाल्भ्य उवाच

यथा दृष्टिः प्रवृत्ता ते सावित्र्याश्च यथा व्रतम् ।
गताऽऽहारमकृत्वा च तथा जीवति सत्यवान् ॥१७॥

दाल्भ्यने कहा—राजन् ! जिस प्रकार आपको दृष्टि प्राप्त हो गयी और जिस प्रकार सावित्रीका उपवास-व्रत चल रहा था तथा जिस प्रकार वह आज भोजन किये बिना ही पतिके साथ गयी है, इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि सत्यवान् जीवित है ॥ १७ ॥

आपस्तम्ब उवाच

यथा वदन्ति शान्तायां दिशि वै मृगपक्षिणः ।
पार्थिवी च प्रवृत्तिस्ते तथा जीवति सत्यवान् ॥१८॥

आपस्तम्ब बोले—इस शान्त (एवं प्रसन्न) दिशामें मृग और पक्षी जैसी बोली बोल रहे हैं और आपके द्वारा जिस प्रकार राजोचित धर्मका अनुष्ठान हो रहा है, उसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि सत्यवान् जीवित है ॥ १८ ॥

धौम्य उवाच

सर्वैर्गुणैरुपेतस्ते यथा पुत्रो जनप्रियः ।
दीर्घायुर्लक्षणोपेतस्तथा जीवति सत्यवान् ॥१९॥

धौम्यने कहा—महाराज ! आपका यह पुत्र जिस प्रकार समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न, जनप्रिय तथा चिरजीवी पुरुषोंके लक्षणोंसे युक्त है, उसके अनुसार यही मानना चाहिये कि सत्यवान् जीवित है ॥ १९ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमाश्वासितस्तैस्तु सत्यवाग्भिस्तपस्विभिः ।
तांस्तान् विगणयन् सर्वांस्ततः स्थिर इवाभवत् ॥ २०॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार सत्यवादी एवं तपस्वी मुनियोंने जब राजा द्युमत्सेनको पूर्णतः आश्वासन दिया, तब उन सबका समादर करते हुए उनकी बात मानकर वे स्थिर-से हो गये ॥ २० ॥

ततो मुहूर्तात् सावित्री भर्त्रा सत्यवता सह ।
आजगामाश्रमं रात्रौ प्रहृष्टा प्रविवेश ह ॥ २१॥

तदनन्तर दो ही घड़ीमें सावित्री अपने पति सत्यवान्‌के साथ रातमें वहाँ आयी और बड़े हर्षके साथ उसने आश्रममें प्रवेश किया ॥ २१ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

पुत्रेण संगतं त्वां तु चक्षुष्मन्तं निरीक्ष्य च ।
सर्वे वयं वै पृच्छामो वृद्धिं वै पृथिवीपते ॥ २२॥

तब ब्राह्मणोंने कहा—महाराज ! पुत्रके साथ आपका मिलन हुआ और आपको नेत्र भी प्राप्त हो गये, इस अवस्थामें आपको देखकर हम सब लोग आपका अभ्युदय मना रहे हैं ॥ २२ ॥

समागमेन पुत्रस्य सावित्र्या दर्शनेन च ।
चक्षुषश्चात्मनो लाभात् त्रिभिर्दिष्ट्या विवर्धसे ॥ २३॥

बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपको पुत्रका समागम प्राप्त हुआ, बहू सावित्रीका दर्शन हुआ और अपने खोये हुए नेत्र पुनः मिल गये । इन तीनों बातोंसे आपका अभ्युदय सूचित होता है ॥ २३ ॥

सर्वैरस्माभिरुक्तं यत् तथा तन्नात्र संशयः ।
भूयोभूयः समृद्धिस्ते क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ २४॥

हम सब लोगोंने जो बात कही है, वह ज्यों-की-त्यों सत्य निकली, इसमें संशय नहीं है । आगे भी शीघ्र ही आपकी बारंबार समृद्धि होनेवाली है ॥ २४ ॥

ततोऽग्निं तत्र संज्वाल्य द्विजास्ते सर्व एव हि ।
उपासांचक्रिरे पार्थ द्युमत्सेनं महीपतिम् ॥ २५॥

युधिष्ठिर ! तदनन्तर सभी ब्राह्मण वहाँ आग जलाकर राजा द्युमत्सेनके पास बैठ गये ॥ २५ ॥

शैब्या च सत्यवांश्चैव सावित्री चैकतः स्थिताः ।
सर्वैस्तैरभ्यनुज्ञाता विशोकाः समुपाविशन् ॥ २६॥

शैब्या, सत्यवान् तथा सावित्री—ये तीनों भी एक ओर खड़े थे, जो उन सब महात्माओंकी आज्ञा पाकर शोकरहित हो बैठ गये ॥ २६ ॥

ततो राज्ञा सहासीनाः सर्वे ते वनवासिनः ।
जातकौतूहलाः पार्थं पप्रच्छुर्नृपतेः सुतम् ॥ २७ ॥

पार्थ ! तत्पश्चात् राजाके साथ बैठे हुए वे सभी वनवासी कौतूहलवश राजकुमार सत्यवान्से पूछने लगे ॥ २७ ॥

ऋषय ऊचुः

प्रागेव नागतं कस्मात् सभार्येण त्वया विभो ।
विरात्रे चागतं कस्मात् कोऽनुबन्धस्तवाभवत्॥ २८ ॥

ऋषि बोले—राजकुमार ! तुम अपनी पत्नीके साथ पहले ही क्यों नहीं चले आये ? क्यों इतनी रात बिताकर आये ? तुम्हारे सामने कौन-सी अड़चन आ गयी थी ?॥

संतापितः पिता माता वयं चैव नृपात्मज ।
कस्मादिति न जानीमस्तत् सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ २९ ॥

राजपुत्र ! तुमने आनेमें विलम्ब करके अपने माता-पिता तथा हमलोगोंको भी भारी संतापमें डाल दिया था। तुमने ऐसा क्यों किया ? यह हम नहीं जान पाते हैं, अतः सब बातें स्पष्ट रूपसे बताओ ॥ २९ ॥

सत्यवानुवाच

पित्राहमभ्यनुज्ञातः सावित्रीसहितो गतः ।
अथ मेऽभूच्छिरोदुःखं वने काष्ठानि भिन्दतः ॥ ३० ॥

सत्यवान् बोले—मैं पिताकी आज्ञा पाकर सावित्रीके साथ वनमें गया । फिर वनमें लकड़ियोंको चीरते समय मेरे सिरमें बड़े जोरसे दर्द होने लगा ॥ ३० ॥

सुप्तश्चाहं वेदनया चिरमित्युपलक्षये ।
तावत् कालं न च मया सुप्तपूर्वं कदाचन ॥ ३१ ॥

मैं समझता हूँ कि मैं वेदनासे व्याकुल होकर देरतक सोता रह गया । उतने समयतक मैं उसके पहले कभी नहीं सोया था ॥ ३१ ॥

सर्वेषामेव भवतां संतापो मा भवेदिति ।
अतो विरात्रागमनं नान्यदस्तीह कारणम् ॥ ३२ ॥

नींद खुलनेपर मैं इतनी रातके बाद भी इसलिये चला आया कि आप सब लोगोंको मेरे लिये चिन्तित न होना पड़े । इस विलम्बमें और कोई कारण नहीं है ॥ ३२ ॥

गौतम उवाच

अकस्माच्चक्षुषः प्राप्तिर्द्युमत्सेनस्य ते पितुः ।
नास्य त्वं कारणं वेत्सि सावित्री वक्तुमर्हति ॥ ३३ ॥

गौतम बोले—तुम्हारे पिता द्युमत्सेनको जो सहसा नेत्रोंकी प्राप्ति हुई है, इसका कारण तुम नहीं जानते । सम्भवतः सावित्री बतला सकती है ॥ ३३ ॥

श्रोतुमिच्छामि सावित्रि त्वं हि वेत्थ परावरम् ।
त्वां हि जानामि सावित्रि सावित्रीमिव तेजसा ॥ ३४ ॥
त्वमत्र हेतुं जानीषे तस्मात् सत्यं निरुच्यताम् ।
रहस्यं यदि ते नास्ति किंचिदत्र वदस्व नः ॥ ३५ ॥

सावित्री ! मैं इसका रहस्य तुमसे सुनना चाहता हूँ; क्योंकि तुम भूत और भविष्य सब कुछ जानती हो । मैं तुम्हें साक्षात् सावित्रीदेवीके समान तेजस्विनी जानता हूँ । राजाको जो सहसा नेत्रोंकी प्राप्ति हुई है, इसका कारण तुम जानती हो । सच-सच बताओ, यदि इसमें कुछ छिपानेकी बात न हो, तो हमसे अवश्य कहो ॥ ३४-३५ ॥

सावित्र्युवाच

एवमेतद् यथा वेत्थ संकल्पो नान्यथा हि वः ।
न हि किंचिद् रहस्यं मे श्रूयतां तथ्यमेव यत् ॥ ३६ ॥

सावित्री बोली—मुनीश्वरो ! आपलोग जैसा समझते हैं, ठीक है । आपलोगोंका संकल्प अन्यथा नहीं हो सकता । मेरेलिये काई छिपानेकी बात नहीं है । मैं सब घटनाएँ ठीक-ठीक बताती हूँ, सुनिये ॥ ३६ ॥

मृत्युर्मे पत्युराख्यातो नारदेन महात्मना ।
स चाद्य दिवसः प्राप्तस्ततो नैनं जहाम्यहम् ॥ ३७ ॥

महात्मा नारदजीने मुझसे मेरे पतिकी मृत्युका हाल बताया था । वह मृत्युदिवस आज ही आया था; इसलिये मैं इन्हें अकेला नहीं छोड़ती थी ॥ ३७ ॥

सुप्तं चैनं यमः साक्षादुपागच्छत् सकिङ्करः ।
स एनमनयद् बद्ध्वा दिशं पितृनिषेविताम् ॥ ३८ ॥

जब ये सिरके दर्दसे व्याकुल होकर सो गये, उस समय साक्षात् भगवान् यमराज अपने सेवकके साथ पधारे । वे इन्हें बाँधकर दक्षिण दिशाकी ओर ले चले ॥ ३८ ॥

अस्तौषं तमहं देवं सत्येन वचसा विभुम् ।
पञ्च वै तेन मे दत्ता वराः श्रृणुत तान् मम ॥ ३९ ॥

उस समय मैंने सत्यवचनोंद्वारा उन भगवान् यमकी स्तुति की । तब उन्होंने मुझे पाँच वर दिये । उन वरोंको आप मुझसे सुनिये ॥ ३९ ॥

चक्षुषी च स्वराज्यं च द्वौ वरौ श्वशुरस्य मे ।
लब्धं पितुः पुत्रशतं पुत्राणां चात्मनः शतम् ॥ ४० ॥

नेत्र तथा अपने राज्यकी प्राप्ति—ये दो वर मेरे श्वशुरके लिये प्राप्त हुए हैं । इसके सिवा मैंने अपने पिताके लिये सौ पुत्र तथा अपने लिये भी सौ पुत्र होनेके दो वर और पाये हैं ॥ ४० ॥

चतुर्वर्षशतायुर्मे भर्ता लब्धश्च सत्यवान् ।
भर्तुर्हि जीवितार्थं तु मया चीर्णं त्विदं व्रतम् ॥ ४१ ॥

पाँचवें वरके रूपमें मुझे मेरे पति सत्यवान् चार सौ वर्षोंकी आयु लेकर प्राप्त हुए हैं । पतिके जीवनकी रक्षाके लिये ही मैंने यह व्रत किया था ॥ ४१ ॥

एतत् सर्वं मयाऽऽख्यातं कारणं विस्तरेण वः।
यथावृत्तं सुखोदर्कमिदं दुःखं महन्मम ॥ ४२ ॥

इस प्रकार मैंने आपलोगोंसे विलम्बसे आनेका कारण और उसका यथावत् वृत्तान्त विस्तारपूर्वक बताया है। मुझे जो यह महान् दुःख उठाना पड़ा है, उसका अन्तिम फल सुख ही हुआ है ॥ ४२ ॥

ऋषय ऊचुः

निमज्जमानं व्यसनैरभिद्रुतं
कुलं नरेन्द्रस्य तमोमये ह्रदे।
त्वया सुशीलव्रतपुण्यया कुलं
समुद्धृतं साध्वि पुनः कुलीनया ॥ ४३ ॥

ऋषि बोले—पतिव्रते ! राजा द्युमत्सेनका कुल भाँति-भाँतिकी विपत्तियोंसे ग्रस्त होकर दुःखके अंधकारमय गढ़ेमें डूबा जा रहा था; परंतु तुझ-जैसी सुशीला, व्रतपरायणा और पवित्र आचरणवाली कुलीन वधूने आकर इसका उद्धार कर दिया ॥ ४३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तथा प्रशस्य ह्यभिपूज्य चैव
वरस्त्रियं तामृषयः समागताः।
नरेन्द्रमामन्त्र्य सपुत्रमञ्जसा
शिवेन जग्मुर्मुदिताः स्वमालयम् ॥ ४४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार वहाँ आये हुए महर्षियोंने स्त्रियोंमें श्रेष्ठ सावित्रीकी भूरि-भूरि प्रशंसा तथा आदर-सत्कार करके पुत्रसहित राजा द्युमत्सेनकी अनुमति ले सुख और प्रसन्नताके साथ अपने-अपने घरको प्रस्थान किया ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने अष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९८ ॥

नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शाल्वदेशकी प्रजाके अनुरोधसे महाराज द्युमत्सेनका राज्याभिषेक कराना तथा सावित्रीको सौ पुत्रों और सौ भाइयोंकी प्राप्ति

मार्कण्डेय उवाच

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामुदिते सूर्यमण्डले।
कृतपौर्वाह्णिकाः सर्वे समेयुस्ते तपोधनाः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—जब वह रात बीत गयी और सूर्यमण्डलका उदय हुआ, उस समय सब तपोधन ऋषिगण पूर्वाह्णकालका नित्यकृत्य पूरा करके पुनः उस आश्रममें एकत्र हुए ॥ १ ॥

तदेव सर्वं सावित्र्या महाभाग्यं महर्षयः।
द्युमत्सेनाय नातृप्यन् कथयन्तः पुनः पुनः ॥ २ ॥

वे महर्षिगण राजा द्युमत्सेनसे सावित्रीके उस परम सौभाग्यका बारंबार वर्णन करते हुए भी तृप्त नहीं होते थे ॥ २ ॥

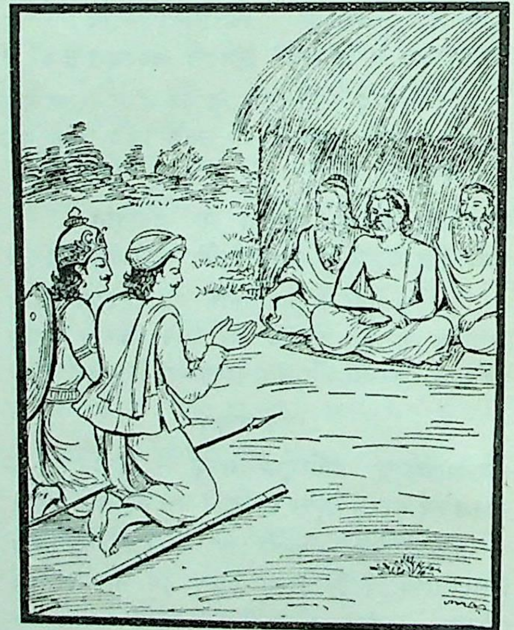
ततः प्रकृतयः सर्वाः शाल्वेभ्योऽभ्यागता नृप।
आचख्युर्निहतं चैव स्वेनामात्येन तं द्विषम् ॥ ३ ॥

राजन् ! उसी समय शाल्वदेशसे वहाँकी सारी प्रजाओंने आकर महाराज द्युमत्सेनसे कहा—'प्रभो ! आपका शत्रु अपने ही मन्त्रीके हाथों मारा गया है' ॥ ३ ॥

तं मन्त्रिणा हतं श्रुत्वा ससहायं सबान्धवम्।
न्यवेदयन् यथावृत्तं विद्रुतं च द्विषद्बलम् ॥ ४ ॥

ऐकमत्यं च सर्वस्य जनस्याथ नृपं प्रति।
सचक्षुर्वाप्यचक्षुर्वा स नो राजा भवत्विति ॥ ५ ॥

उन्होंने यह भी निवेदन किया कि 'उसके सहायक और



बन्धु-बान्धव भी मन्त्रीके ही हाथों मर चुके हैं। शत्रुकी सारी सेना पलायन कर गयी है। यह यथावत् वृत्तान्त सुनकर

सब लोगोंका एकमतसे यह निश्चय हुआ है कि हमें पूर्व नरेशपर ही विश्वास है। उन्हें दिखायी देता हो या न दीखता हो, वे ही हमारे राजा हों ॥ ४-५ ॥

अनेन निश्चयेनेह वयं प्रस्थापिता नृप।
प्राप्तानीमानि यानानि चतुरङ्गं च ते बलम् ॥ ६ ॥

'नरेश्वर ! ऐसा निश्चय करके ही हमें यहाँ भेजा गया है। ये सवारियाँ प्रस्तुत हैं और आपकी चतुरङ्गिणी सेना भी सेवामें उपस्थित है ॥ ६ ॥

प्रयाहि राजन् भद्रं ते घुष्टस्ते नगरे जयः।
अध्यास्स्व चिररात्राय पितृपैतामहं पदम् ॥ ७ ॥

'राजन् ! आपका कल्याण हो। अब अपने राज्यमें पधारिये। नगरमें आपकी विजय घोषित कर दी गयी है। आप दीर्घकालतक अपने बाप-दादोंके राज्यपर प्रतिष्ठित रहें' ॥

चक्षुष्मन्तं च तं दृष्ट्वा राजानं वपुषान्वितम्।
मूर्ध्ना निपतिताः सर्वे विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् राजा द्युमत्सेनको नेत्रयुक्त और स्वस्थ शरीरसे सुशोभित देखकर उन सबके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे और सबने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया ॥ ८ ॥

ततोऽभिवाद्य तान् वृद्धान् द्विजानाश्रमवासिनः।
तैश्चाभिपूजितः सर्वैः प्रययौ नगरं प्रति ॥ ९ ॥

इसके बाद राजाने आश्रममें रहनेवाले उन वृद्ध ब्राह्मणोंका अभिवादन किया और उन सबसे समादृत हो वे अपनी राजधानीकी ओर चले ॥ ९ ॥

शैब्या च सह सावित्र्या स्वास्तीर्णेन सुवर्चसा।
नरयुक्तेन यानेन प्रययौ सेनया वृता ॥ १० ॥

शैब्या भी अपनी बहू सावित्रीके साथ सुन्दर बिछावनसे युक्त तेजस्वी शिबिकापर, जिसे कई कहार ढो रहे थे, आरूढ़ हो सेनासे घिरी हुई चल दी ॥ १० ॥

ततोऽभिषिषिचुः प्रीत्या द्युमत्सेनं पुरोहिताः।
पुत्रं चास्य महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयन् ॥ ११ ॥

वहाँ पहुँचनेपर पुरोहितोंने बड़ी प्रसन्नताके साथ द्युमत्सेनका राज्याभिषेक किया। साथ ही उनके महामना पुत्र सत्यवान्‌को भी युवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥

ततः कालेन महता सावित्र्याः कीर्तिवर्धनम्।
तद् वै पुत्रशतं जज्ञे शूराणामनिवर्तिनाम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् सावित्रीके गर्भसे उसकी कीर्ति बढ़ानेवाले सौ पुत्र उत्पन्न हुए। वे सब-के-सब शूरवीर तथा संग्राममें कभी पीछे न हटनेवाले थे ॥ १२ ॥

भ्रातॄणां सोदराणां च तथैवास्याभवच्छतम्।
मद्राधिपस्याश्वपतेर्मालव्यां सुमहद् बलम् ॥ १३ ॥

इसी प्रकार मद्रराज अश्वपतिके भी मालवीके गर्भसे सावित्रीके सौ सहोदर भाई उत्पन्न हुए, जो अत्यन्त बलशाली थे ॥ १३ ॥

एवमात्मा पिता माता श्वश्रूः श्वशुर एव च।
भर्तुः कुलं च सावित्र्या सर्वं कृच्छ्रात् समुद्धृतम् ॥ १४ ॥

इस तरह सावित्रीने अपने आपको, पिता-माताको, सास-ससुरको तथा पतिके समस्त कुलको भी भारी संकटसे बचा लिया था ॥ १४ ॥

तथैवैषा हि कल्याणी द्रौपदी शीलसम्मता।
तारयिष्यति वः सर्वान् सावित्रीव कुलाङ्गना ॥ १५ ॥

सावित्रीकी ही भाँति यह कल्याणमयी उत्तम कुलवाली सुशीला द्रौपदी तुम सब लोगोंका महान संकटसे उद्धार करेगी ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स पाण्डवस्तेन अनुनीतो महात्मना।
विशोको विज्वरो राजन् काम्यके न्यवसत् तदा ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार उन महात्मा मार्कण्डेयजीके समझाने-बुझाने और आश्वासन देनेपर उस समय पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिर शोक तथा चिन्तासे रहित हो काम्यकवनमें सुखपूर्वक रहने लगे ॥ १६ ॥

यश्चेदं शृणुयाद् भक्त्या सावित्र्याख्यानमुत्तमम्।
स सुखी सर्वसिद्धार्थो न दुःखं प्राप्नुयान्नरः ॥ १७ ॥

जो इस परम उत्तम सावित्री-उपाख्यानको भक्तिभावसे सुनेगा, वह मनुष्य सदा अपने समस्त मनोरथोंके सिद्ध होनेसे सुखी होगा और कभी दुःख नहीं पायेगा ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९९ ॥

(कुण्डलाहरणपर्व)

त्रिशततमोऽध्यायः

सूर्यका स्वप्नमें कर्णको दर्शन देकर उसे इन्द्रको कुण्डल और कवच न देनेके लिये सचेत करना तथा कर्णका आग्रहपूर्वक कुण्डल और कवच देनेका ही निश्चय रखना

जनमेजय उवाच

यत् तत् तदा महद् ब्रह्मल्लँोमशो वाक्यमब्रवीत्।
इन्द्रस्य वचनादेव पाण्डुपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥
यच्चापि ते भयं तीव्रं न च कीर्तयसे क्वचित्।
तच्चाप्यपहरिष्यामि धनंजय इतो गते ॥ २ ॥
किं नु तज्जपतां श्रेष्ठ कर्णं प्रति महद् भयम्।
आसीन्न च स धर्मात्मा कथयामास कस्यचित् ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! लोमशजीने इन्द्रके कथनानुसार उस समय पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरसे जो यह महत्त्वपूर्ण वचन कहा था कि 'तुम्हें जो बड़ा भारी भय लगा रहता है और जिसकी तुम किसीके सामने चर्चा भी नहीं करते, उसे भी मैं अर्जुनके यहाँ (स्वर्ग) से चले जानेपर दूर कर दूँगा ।' जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ वैशम्पायनजी! धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिरको कर्णसे वह कौन-सा भारी भय था, जिसकी वे किसीके सम्मुख बात भी नहीं चलाते थे ॥ १—३ ॥

वैशम्पायन उवाच

अहं ते राजशार्दूल कथयामि कथामिमाम्।
पृच्छतो भरतश्रेष्ठ शुश्रूषस्व गिरं मम ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—नृपश्रेष्ठ ! भरतकुलभूषण ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैं यह कथा सुनाऊँगा । तुम ध्यान देकर मेरी बात सुनो ॥ ४ ॥

द्वादशे समतिक्रान्ते वर्षे प्राप्ते त्रयोदशे।
पाण्डूनां हितकृच्छक्रः कर्णं भिक्षितुमुद्यतः ॥ ५ ॥

जब पाण्डवोंके वनवासके बारह वर्ष बीत गये और तेरहवाँ वर्ष आरम्भ हुआ, तब पाण्डवोंके हितकारी इन्द्र कर्णसे कवच-कुण्डल माँगनेको उद्यत हुए ॥ ५ ॥

अभिप्रायमथो ज्ञात्वा महेन्द्रस्य विभावसुः।
कुण्डलार्थे महाराज सूर्यः कर्णमुपागतः ॥ ६ ॥

महाराज ! कुण्डलके विषयमें देवराज इन्द्रका मनोभाव जानकर भगवान् सूर्य कर्णके पास गये ॥ ६ ॥

महार्हे शयने वीरं स्पर्द्ध्यास्तरणसंवृते।
शयानमतिविश्वस्तं ब्रह्मण्यं सत्यवादिनम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी वीर कर्ण अत्यन्त निश्चिन्त होकर एक सुन्दर बिछौनेवाली बहुमूल्य शय्यापर सोया था ॥

स्वप्नान्ते निशि राजेन्द्र दर्शयामास रश्मिवान्।
कृपया परयाऽऽविष्टः पुत्रस्नेहाच्च भारत ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! भरतनन्दन ! अंशुमाली भगवान् सूर्यने पुत्रस्नेहवश अत्यन्त दयाभावसे युक्त हो रातको सपनेमें कर्णको दर्शन दिया ॥ ८ ॥



ब्राह्मणो वेदविद् भूत्वा सूर्यो योगर्द्धिरूपवान्।
हितार्थमब्रवीत् कर्णं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ ९ ॥

उस समय उन्होंने वेदवेत्ता ब्राह्मणका रूप धारण कर रक्खा था। उनका स्वरूप योग-समृद्धिसे सम्पन्न था। उन्होंने कर्णके हितके लिये उसे समझाते हुए इस प्रकार कहा—॥

कर्ण मद्वचनं तात शृणु सत्यभृतां वर।
ब्रुवतोऽद्य महाबाहो सौहृदात् परमं हितम् ॥ १० ॥

'सत्यधारियोंमें श्रेष्ठ तात कर्ण ! मेरी बात सुनो। महाबाहो ! मैं सौहार्दवश आज तुम्हारे परम हितकी बात कहता हूँ ॥ १० ॥

उपायास्यति शक्रस्त्वां पाण्डवानां हितेप्सया।
ब्राह्मणच्छद्मना कर्ण कुण्डलापजिहीर्षया ॥ ११ ॥

'कर्ण ! देवराज इन्द्र पाण्डवोंके हितकी इच्छासे तुम्हारे

दोनों कुण्डल (और कवच) लेनेके लिये ब्राह्मणका छद्मवेष धारण करके तुम्हारे पास आयँगे ॥ ११ ॥

विदितं तेन शीलं ते सर्वस्य जगतस्तथा।
यथा त्वं भिक्षितः सद्भिर्ददास्येव न याचसे ॥ १२ ॥

'तुम्हारी दानशीलताका उन्हें ज्ञान है तथा सम्पूर्ण जगत्‌को तुम्हारे इस नियमका पता है कि किसी सत्पुरुषके माँगनेपर तुम उसकी अभीष्ट वस्तु देते ही हो, उससे कुछ माँगते नहीं हो ॥ १२ ॥

त्वं हि तात ददास्येव ब्राह्मणेभ्यः प्रयाचितम्।
वित्तं यच्चान्यदप्याहुर्न प्रत्याख्यासि कस्यचित् ॥ १३ ॥

'तात ! तुम ब्राह्मणोंको उनकी माँगी हुई वस्तु दे ही देते हो; साथ ही धन तथा और जो कुछ भी वे माँग लें, सब दे डालते हो। किसीको 'नहीं' कहकर निराश नहीं लौटाते ॥

त्वां तु चैवंविधं ज्ञात्वा स्वयं वै पाकशासनः।
आगन्ता कुण्डलार्थाय कवचं चैव भिक्षितुम् ॥ १४ ॥

'तुम्हारे ऐसे स्वभावको जानकर साक्षात् इन्द्र तुमसे तुम्हारे कवच और कुण्डल माँगनेके लिये आनेवाले हैं ॥ १४ ॥

तस्मै प्रयाचमानाय न देये कुण्डले त्वया।
अनुनेयः परं शक्त्या श्रेय एतद्धि ते परम् ॥ १५ ॥

'उनके माँगनेपर तुम उन्हें अपने दोनों कुण्डल दे न देना। यथाशक्ति अनुनय-विनय करके उन्हें समझा देना; इससे तुम्हारा परम मङ्गल होगा ॥ १५ ॥

कुण्डलार्थे ब्रुवंस्तात कारणैर्बहुभिस्त्वया।
अन्यैर्बहुविधैर्वित्तैः सन्निवार्यः पुनः पुनः ॥ १६ ॥

'इस प्रकार वे जब-जब कुण्डलके लिये बात करें, तब-तब बहुत-से कारण बताकर तथा दूसरे नाना प्रकारके धन आदि देनेकी बात कहकर बार-बार उन्हें कुण्डल माँगनेसे मना करना ॥

रत्नैः स्त्रीभिस्तथा गोभिर्धनैर्बहुविधैरपि।
निदर्शनैश्च बहुभिः कुण्डलेप्सुः पुरन्दरः ॥ १७ ॥

'नाना प्रकारके रत्न, स्त्री, गौ, भाँति-भाँतिके धन देकर तथा बहुत-से दृष्टान्तोंद्वारा बहलाकर कुण्डलार्थी इन्द्रको टालनेका प्रयत्न करना ॥ १७ ॥

यदि दास्यसि कर्ण त्वं सहजे कुण्डले शुभे।
आयुषः प्रक्षयं गत्वा मृत्योर्वशमुपैष्यसि ॥ १८ ॥

'कर्ण ! यदि तुम अपने जन्मके साथ ही उत्पन्न हुए ये सुन्दर कुण्डल इन्द्रको दे दोगे, तो तुम्हारी आयु क्षीण हो जायगी और तुम मृत्युके अधीन हो जाओगे ॥ १८ ॥

कवचेन समायुक्तः कुण्डलाभ्यां च मानद।
अवध्यस्त्वं रणेऽरीणामिति विद्धि वचो मम ॥ १९ ॥

'मानद ! तुम अपने कवच और कुण्डलोंसे संयुक्त होनेपर रणमें शत्रुओंके लिये भी अवध्य बने रहोगे, मेरी इस बातको समझ लो ॥ १९ ॥

अमृतादुत्थितं ह्येतदुभयं रत्नसम्भवम्।
तस्माद् रक्ष्यं त्वया कर्ण जीवितं चेत् प्रियं तव ॥ २० ॥

'कर्ण ! ये दोनों रत्नमय कवच और कुण्डल अमृतसे उत्पन्न हुए हैं; अतः यदि तुम्हें अपना जीवन प्रिय हो, तो इन दोनों वस्तुओंकी रक्षा अवश्य करना' ॥ २० ॥

कर्ण उवाच

को मामेवं भवान् प्राह दर्शयन् सौहृदं परम्।
कामया भगवन् ब्रूहि को भवान् द्विजवेषधृक् ॥ २१ ॥

कर्णने पूछा—भगवन् ! आप मेरे प्रति अत्यन्त स्नेह दिखाते हुए जो इस प्रकार हितकर सलाह दे रहे हैं, इससे मैं जानना चाहता हूँ कि आप कौन हैं ? यदि इच्छा हो, तो बताइये। इस प्रकार ब्राह्मणवेष धारण करनेवाले आप कौन हैं? ॥

ब्राह्मण उवाच

अहं तात सहस्रांशुः सौहृदात् त्वां निदर्शये।
कुरुष्वैतद् वचो मे त्वमेतच्छ्रेयः परं हि ते ॥ २२ ॥

ब्राह्मणने कहा—तात ! मैं सहस्रांशु सूर्य हूँ। स्नेहवश ही तुम्हें दर्शन देकर सामयिक कर्तव्य सुझा रहा हूँ। तुम मेरा कहना मान लो। इससे तुम्हारा परम कल्याण होगा ॥

कर्ण उवाच

श्रेय एव ममात्यन्तं यस्य मे गोपतिः प्रभुः।
प्रवक्ताद्य हितान्वेषी शृणु चेदं वचो मम ॥ २३ ॥

कर्णने कहा—जिसके हितका अनुसंधान साक्षात् भगवान् सूर्य करते और हितकी बात बताते हैं, उस कर्णका तो परम कल्याण है ही। भगवन् ! आप मेरी यह बात सुनें ॥ २३ ॥

प्रसादये त्वां वरदं प्रणयाच्च ब्रवीम्यहम्।
न निवार्यो व्रतादस्मादहं यद्यस्मि ते प्रियः ॥ २४ ॥

प्रभो ! आप वरदायक देवता हैं। मैं आपसे प्रसन्न रहनेका अनुरोध करता हूँ और प्रेमपूर्वक यह कहता हूँ कि यदि मैं आपका प्रिय हूँ, तो आप मुझे इस व्रतसे विचलित न करें ॥ २४ ॥

व्रतं वै मम लोकोऽयं वेत्ति कृत्स्नं विभावसो।
यथाहं द्विजमुख्येभ्यो दद्यां प्राणानपि ध्रुवम् ॥ २५ ॥

सूर्यदेव ! संसारमें सब लोग मेरे इस व्रतके विषयमें पूर्णरूपसे जानते हैं कि मैं श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके याचना करनेपर उन्हें निश्चय ही अपने प्राण भी दे सकता हूँ ॥ २५ ॥

यद्यागच्छति मां शक्रो ब्राह्मणच्छद्मना वृतः।
हितार्थं पाण्डुपुत्राणां खेचरोत्तम भिक्षितुम् ॥ २६ ॥

दास्यामि विबुधश्रेष्ठ कुण्डले वर्म चोत्तमम् ।
न मे कीर्तिः प्रणश्येत त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ २७ ॥

आकाशमें विचरनेवालोंमें उत्तम सूर्यदेव ! यदि पाण्डवोंके हितके लिये ब्राह्मणके छद्मवेशमें अपनेको छिपाकर साक्षात् इन्द्रदेव मेरे पास भिक्षा माँगने आ रहे हैं, तो देवेश्वर ! मैं उन्हें दोनों कुण्डल और उत्तम कवच अवश्य दे दूँगा, जिससे तीनों लोकोंमें विख्यात हुई मेरी कीर्ति नष्ट न होने पाये ॥

मद्विधस्य यशस्यं हि न युक्तं प्राणरक्षणम् ।
युक्तं हि यशसा युक्तं मरणं लोकसम्मतम् ॥ २८ ॥

मेरे-जैसे शूरवीरको प्राण देकर भी यशकी ही रक्षा करनी चाहिये; अपयश लेकर प्राणोंकी रक्षा करनी कदापि उचित नहीं है । सुयशके साथ यदि मृत्यु हो जाय, तो वह वीरोचित एवं सम्पूर्ण लोकके लिये सम्मानकी वस्तु है ॥ २८ ॥

सोऽहमिन्द्राय दास्यामि कुण्डले सह वर्मणा ।
यदि मां बलवृत्रघ्नो भिक्षार्थमुपयास्यति ॥ २९ ॥

ऐसी स्थितिमें यदि बलासुर और वृत्रासुरके विनाशक देवराज इन्द्र मेरे पास भिक्षाके लिये पधारेंगे, तो मैं कवच-सहित दोनों कुण्डल उन्हें अवश्य दे दूँगा ॥ २९ ॥

हितार्थं पाण्डुपुत्राणां कुण्डले मे प्रयाचितुम् ।
तन्मे कीर्तिकरं लोके तस्याकीर्तिर्भविष्यति ॥ ३० ॥

यदि इन्द्र पाण्डवोंके हितके लिये मेरे कुण्डल माँगने आयेंगे, तो इससे संसारमें मेरी कीर्ति बढ़ेगी और उनका अपयश होगा ॥ ३० ॥

वृणोमि कीर्तिं लोके हि जीवितेनापि भानुमन् ।
कीर्तिमानश्नुते स्वर्गं हीनकीर्तिस्तु नश्यति ॥ ३१ ॥

अतः सूर्यदेव ! मैं जीवन देकर भी जगत्में कीर्तिका ही वरण करूँगा । कीर्तिमान् पुरुष स्वर्गका सुख भोगता है । जिसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है, वह स्वयं भी नष्ट ही है ॥

कीर्तिर्हि पुरुषं लोके संजीवयति मातृवत् ।
अकीर्तिर्जीवितं हन्ति जीवतोऽपि शरीरिणः ॥ ३२ ॥

कीर्ति इस संसारमें माताकी भाँति मनुष्यको नूतन जीवन प्रदान करती है । परंतु अकीर्ति जीवित पुरुषके भी जीवनको नष्ट कर देती है ॥ ३२ ॥

अयं पुराणः श्लोको हि स्वयं गीतो विभावसो ।
धात्रा लोकेश्वर यथा कीर्तिरायुर्नरस्य ह ॥ ३३ ॥

विभावसो ! लोकेश्वर ! साक्षात् ब्रह्माजीके द्वारा गाया हुआ यह प्राचीन श्लोक है कि कीर्ति मनुष्यकी आयु है ॥ ३३ ॥

पुरुषस्य परे लोके कीर्तिरेव परायणम् ।
इह लोके विशुद्धा च कीर्तिरायुर्विवर्द्धनी ॥ ३४ ॥

परलोकमें कीर्ति ही पुरुषके लिये सबसे महान् आश्रय है । इस लोकमें भी विशुद्ध कीर्ति आयु बढ़ानेवाली होती है ॥

सोऽहं शरीरजे दत्त्वा कीर्तिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम् ।
दत्त्वा च विधिवद् दानं ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि ॥ ३५ ॥
हुत्वा शरीरं संग्रामे कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
विजित्य च परानाजौ यशः प्राप्स्यामि केवलम् ॥ ३६ ॥

अतः मैं अपने शरीरके साथ उत्पन्न हुए कवच-कुण्डल इन्द्रको देकर सनातन कीर्ति प्राप्त करूँगा । ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक दान देकर, अत्यन्त दुष्कर पराक्रम करके समराग्निमें शरीरकी आहुति देकर तथा शत्रुओंको संग्राममें जीतकर मैं केवल सुयशका उपार्जन करूँगा ॥ ३५-३६ ॥

भीतानामभयं दत्त्वा संग्रामे जीवितार्थिनाम् ।
वृद्धान् बालान् द्विजातींश्च मोक्षयित्वा महाभयात् ॥ ३७ ॥
प्राप्स्यामि परमं लोके यशः स्वर्ग्यमनुत्तमम् ।
जीवितेनापि मे रक्ष्या कीर्तिस्तद् विद्धि मे व्रतम् ॥ ३८ ॥

संग्राममें भयभीत होकर प्राणोंकी भीख माँगनेवाले सैनिकोंको अभय देकर तथा बालक, वृद्ध और ब्राह्मणोंको महान् भयसे छुड़ाकर संसारमें परम उत्तम स्वर्गीय यशका उपार्जन करूँगा । मुझे प्राण देकर भी अपनी कीर्ति सुरक्षित रखनी है । यही मेरा व्रत समझें ॥ ३७-३८ ॥

सोऽहं दत्त्वा मघवते भिक्षामेतामनुत्तमाम् ।
ब्राह्मणच्छद्मिने देव लोके गन्ता परां गतिम् ॥ ३९ ॥

इसलिये देव ! इस प्रकारके व्रतवाला मैं ब्राह्मणवेषधारी इन्द्रको यह परम श्रेष्ठ भिक्षा देकर जगत्में उत्तम गति प्राप्त करूँगा ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकर्णसंवादे त्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्यकर्णसंवादविषयक तीन सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०० ॥

एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सूर्यका कर्णको समझाते हुए उसे इन्द्रको कुण्डल न देनेका आदेश देना

सूर्य उवाच

माहितं कर्ण कार्षीस्त्वमात्मनः सुहृदां तथा ।
पुत्राणामथ भार्याणामथो मातुरथो पितुः ॥ १ ॥

सूर्यने कहा—कर्ण ! तुम अपना, अपने सुहृदोंका, पुत्रों और पत्नियोंका तथा माता-पिताका अहित न करो ॥ १ ॥

शरीरस्याविरोधेन प्राणिनां प्राणभृद्वर ।
इष्यते यशसः प्राप्तिः कीर्तिश्च त्रिदिवे स्थिरा ॥ २ ॥

प्राणधारियोंमें श्रेष्ठ वीर ! अपने शरीरकी रक्षा करते हुए ही प्राणियोंको इहलोकमें यशकी प्राप्ति तथा स्वर्गमें स्थायी कीर्ति अभीष्ट होती है ॥ २ ॥

यस्त्वं प्राणविरोधेन कीर्तिमिच्छसि शाश्वतीम्।
स ते प्राणान् समादाय गमिष्यति न संशयः ॥ ३ ॥

यदि तुम प्राणोंका विरोध (नाश) करके सनातन कीर्ति प्राप्त करना चाहते हो, तो इसमें संदेह नहीं कि वह (कीर्ति) तुम्हारे प्राणोंको लेकर ही जायगी ॥ ३ ॥

जीवतां कुरुते कार्यं पिता माता सुतास्तथा।
ये चान्ये बान्धवाः केचिल्लोकेऽस्मिन् पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥

पुरुषरत्न ! पिता, माता, पुत्र तथा और जो कोई भी भाई-बन्धु इस लोकमें हैं, वे सब जीवित पुरुषोंसे ही अपने प्रयोजनकी सिद्धि करते हैं ॥ ४ ॥

राजानश्च नरव्याघ्र पौरुषेण निबोध तत्।
कीर्तिश्च जीवतः साध्वी पुरुषस्य महाद्युते ॥ ५ ॥

महातेजस्वी नरश्रेष्ठ ! राजालोग भी जीवित रहनेपर ही पुरुषार्थसे कीर्तिलाभ करते हैं। इस बातको समझो; जीवित पुरुषके लिये ही कीर्ति अच्छी मानी गयी है ॥ ५ ॥

मृतस्य कीर्त्या किं कार्यं भस्मीभूतस्य देहिनः।
मृतः कीर्तिं न जानीते जीवन् कीर्तिं समश्नुते ॥ ६ ॥

जो मर गया, जिसका शरीर चिताकी आगमें जलकर भस्म हो गया; उसे कीर्तिसे क्या प्रयोजन है ? मरा हुआ पुरुष कीर्तिके विषयमें कुछ नहीं जानता है। जीवित पुरुष ही कीर्तिजनित सुखका अनुभव करता है ॥ ६ ॥

मृतस्य कीर्तिर्मर्त्यस्य यथा माला गतायुषः।
अहं तु त्वां ब्रवीम्येतद् भक्तोऽसीति हितेप्सया ॥ ७ ॥

मरे हुए मनुष्यकी कीर्ति मुर्देके गलेमें पड़ी हुई मालाके समान व्यर्थ है। तुम मेरे भक्त हो, इसीलिये तुम्हारे हितकी इच्छासे मैं ये सब बातें कहता हूँ ॥ ७ ॥

भक्तिमन्तो हि मे रक्ष्या इत्येतेनापि हेतुना।
भक्तोऽयं परया भक्त्या मामित्येव महाभुज।
ममापि भक्तिरुत्पन्ना स त्वं कुरु वचो मम ॥ ८ ॥

मुझे अपने भक्तोंकी रक्षा करनी ही चाहिये, इसलिये भी तुमसे तुम्हारे हितकी बात कहता हूँ। महाबाहो ! यह मेरा भक्त है, परम भक्तिभावसे मेरा भजन करता है, यह सोचकर मेरे मनमें भी तुम्हारे प्रति स्नेह जाग उठा है। अतः तुम मेरी आज्ञाका पालन करो ॥ ८ ॥

अस्ति चात्र परं किञ्चिदध्यात्मं देवनिर्मितम्।
अतश्च त्वां ब्रवीम्येतत् क्रियतामविशङ्कया ॥ ९ ॥

इस सम्बन्धमें एक देवविहित आध्यात्मिक रहस्य है। इसी कारण तुमसे कह रहा हूँ कि तुम बेखटके यही कार्य करो, जिसे मैंने तुम्हें बतलाया है ॥ ९ ॥

देवगुह्यं त्वया ज्ञातुं न शक्यं पुरुषर्षभ।
तस्मान्नाख्यामि ते गुह्यं काले वेत्स्यति तद् भवान् ॥ १० ॥

पुरुषरत्न ! देवताओंकी गुप्त बात तुम नहीं समझ सकते, इसीलिये वह गोपनीय रहस्य तुम्हें नहीं बता रहा हूँ। समय आनेपर तुम सब कुछ अपने-आप जान लोगे ॥ १० ॥

पुनरुक्तं च वक्ष्यामि त्वं राधेय निबोध तत्।
मास्मै ते कुण्डले दद्या भिक्षिते वज्रपाणिना ॥ ११ ॥

राधानन्दन ! मैं फिर अपनी कही हुई बात दुहराता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो—'इन्द्रके माँगनेपर भी तुम उन्हें अपने वे कुण्डल न देना' ॥ ११ ॥

शोभसे कुण्डलाभ्यां च रुचिराभ्यां महाद्युते।
विशाखयोर्मध्यगतः शशीव विमले दिवि ॥ १२ ॥

महाद्युते ! तुम इन दोनों मनोहर कुण्डलोंसे निर्मल आकाशमें विशाखा नामक दो नक्षत्रोंके बीच प्रकाशित होनेवाले चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाते हो ॥ १२ ॥

कीर्तिश्च जीवतः साध्वी पुरुषस्येति विद्धि तत्।
प्रत्याख्येयस्त्वया तात कुण्डलार्थे सुरेश्वरः ॥ १३ ॥

तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि जीवित पुरुषके लिये ही कीर्ति प्रशंसनीय है। अतः तात ! तुम्हें कुण्डलके लिये आये हुए देवराज इन्द्रको देनेसे इन्कार कर देना चाहिये ॥ १३ ॥

शक्या बहुविधैर्वाक्यैः कुण्डलेप्सा त्वयानघ।
विहन्तुं देवराजस्य हेतुयुक्तैः पुनः पुनः ॥ १४ ॥

अनघ ! तुम बारंबार युक्तियुक्त वचन कहकर अनेक प्रकारकी बातोंमें बहलाकर देवराज इन्द्रकी कुण्डल लेनेकी इच्छाको नष्ट कर सकते हो ॥ १४ ॥

हेतुमदुपपन्नार्थैर्माधुर्यकृतभूषणैः।
पुरन्दरस्य कर्ण त्वं बुद्धिमेतामपानुद ॥ १५ ॥

कर्ण ! अनेक कारण दिखाकर, नाना प्रकारकी युक्तियाँ सामने रखकर तथा माधुर्यगुणसे विभूषित वचन सुनाकर देवराज इन्द्रके इस कुण्डल लेनेके विचारको तुम पलट देना ॥ १५ ॥

त्वं हि नित्यं नरव्याघ्र स्पर्धसे सव्यसाचिना।
सव्यसाची त्वया चेह युधि शूरः समेष्यति ॥ १६ ॥

नरव्याघ्र ! तुम सदा अर्जुनसे स्पर्धा रखते हो; अतः शूरवीर अर्जुन युद्धमें कभी तुमसे अवश्य भिड़ेगा ॥ १६ ॥

न तु त्वामर्जुनः शक्तः कुण्डलाभ्यां समन्वितम्।
विजेतुं युधि यद्यस्य स्वयमिन्द्रः सखा भवेत् ॥ १७ ॥

यदि तुम इन दोनों कुण्डलोंको धारण किये रहोगे, तो अर्जुन तुम्हें युद्धमें कदापि नहीं जीत सकते; भले ही

साक्षात् इन्द्र भी उनकी सहायता करनेके लिये आ जायँ ॥१७॥

तस्मान्न देये शक्राय त्वयैते कुण्डले शुभे।
संग्रामे यदि निर्जेतुं कर्ण कामयसेऽर्जुनम् ॥ १८ ॥

अतः कर्ण ! यदि तुम समरभूमिमें अर्जुनको जीतनेकी अभिलाषा रखते हो, तो इन्द्रको ये दोनों शुभ कुण्डल कदापि न देना ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकर्णसंवादे एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्य-कर्ण-संवादविषयक तीन सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०१ ॥

द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सूर्य-कर्ण-संवाद, सूर्यकी आज्ञाके अनुसार कर्णका इन्द्रसे शक्ति लेकर ही उन्हें कुण्डल और कवच देनेका निश्चय

कर्ण उवाच

भगवन्तमहं भक्तो यथा मां वेत्थ गोपते।
तथा परमतिग्मांशो नास्त्यदेयं कथंचन ॥ १ ॥

कर्णने कहा—सूर्यदेव ! मैं आपका अनन्य भक्त हूँ, जैसा कि आप भी मुझे जानते हैं। प्रचण्डरश्मे ! आपके लिये किसी प्रकार कुछ भी अदेय नहीं है ॥ १ ॥

न मे दारा न मे पुत्रा न चात्मा सुहृदो न च।
तथेष्टा वै सदा भक्त्या यथा त्वं गोपते मम ॥ २ ॥

स्त्री, पुत्र, सुहृद् और अपना शरीर भी मुझे वैसा प्रिय नहीं है, जैसे आप हैं। किरणोंके स्वामी सूर्यदेव ! सदा आप ही मेरे भक्तिभावके आश्रय हैं ॥ २ ॥

इष्टानां च महात्मानो भक्तानां च न संशयः।
कुर्वन्ति भक्तिमिष्टां च जानीषे त्वं च भास्कर ॥ ३ ॥

प्रभाकर ! आप भी जानते ही हैं कि महात्मा पुरुष भी अपने प्रिय भक्तोंपर पूर्ण स्नेह रखते हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥३॥

इष्टो भक्तश्च मे कर्णो न चान्यद् दैवतं दिवि।
जानीत इति वै कृत्वा भगवानाह मद्धितम् ॥ ४ ॥

आपको यह मालूम है कि कर्ण मेरा प्रिय भक्त है और वह स्वर्गके दूसरे किसी भी देवताको (अपने इष्टरूपमें) नहीं जानता है, यही समझकर आप मुझे मेरे हितका उपदेश कर रहे हैं ॥ ४ ॥

भूयश्च शिरसा याचे प्रसाद्य च पुनः पुनः।
इति ब्रवीमि तिग्मांशो त्वं तु मे क्षन्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

प्रचण्ड किरणोंवाले देव ! मैं पुनः आपके चरणोंमें मस्तक रखकर, आपको प्रसन्न करके बारंबार क्षमायाचना करता हूँ। इस समय मैं जो कुछ कहता हूँ, उसके लिये आप मुझे क्षमा करें ॥ ५ ॥

बिभेमि न तथा मृत्योर्यथा बिभ्येऽनृतादहम्।
विशेषेण द्विजातीनां सर्वेषां सर्वदा सताम् ॥ ६ ॥
प्रदाने जीवितस्यापि न मेऽत्रास्ति विचारणा।

मैं मृत्युसे भी उतना नहीं डरता, जितना झूठसे डरता हूँ। विशेषतः सदा समस्त सज्जन ब्राह्मणोंको उनके माँगनेपर अपने प्राण देनेमें भी मुझे कोई सोच-विचार नहीं हो सकता ॥६½॥

यच्च मामात्थ देव त्वं पाण्डवं फाल्गुनं प्रति ॥ ७ ॥
व्येतु संतापजं दुःखं तव भास्कर मानसम्।
अर्जुनप्रतिमं चैव विजेष्यामि रणेऽर्जुनम् ॥ ८ ॥

देव ! आपने पाण्डुनन्दन अर्जुनसे जो मेरे लिये डरकी बात बतायी है, उसके लिये आपके मनमें कोई दुःख और संताप नहीं होना चाहिये। भास्कर ! मैं कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी अर्जुनको युद्धमें अवश्य जीत लूँगा ॥ ७-८ ॥

तवापि विदितं देव ममाप्यस्त्रबलं महत्।
जामदग्न्यादुपात्तं यत् तथा द्रोणान्महात्मनः ॥ ९ ॥

देव ! मेरे पास भी अस्त्रोंका जो महान् बल है। इसे आप भी जानते हैं। मैंने जमदग्निनन्दन परशुराम तथा महात्मा द्रोणाचार्यसे अस्त्रविद्या सीखी है ॥ ९ ॥

इदं त्वमनुजानीहि सुरश्रेष्ठ व्रतं मम।
भिक्षते वज्रिणे दद्यामपि जीवितमात्मनः ॥ १० ॥

सुरश्रेष्ठ ! यह जो मेरा दान देनेका व्रत है, उसके लिये आप भी मुझे आज्ञा दीजिये, जिससे मैं याचक बनकर आये हुए इन्द्रको अपने प्राणतक दे सकूँ ॥ १० ॥

सूर्य उवाच

यदि तात ददास्येते वज्रिणे कुण्डले शुभे।
त्वमप्येनमथो ब्रूया विजयार्थं महाबलम् ॥ ११ ॥
नियमेन प्रदद्यां ते कुण्डले वै शतक्रतो।

सूर्य बोले—तात ! यदि तुम इन्द्रको ये दोनों सुन्दर कुण्डल दे रहे हो, तो तुम भी उन महाबली इन्द्रसे अपनी विजयके लिये कोई अस्त्र माँग लेना और उनसे स्पष्ट कह देना कि देवराज ! मैं एक शर्तके साथ ये दोनों कु[illegible] [illegible] हूँ ॥ ११½ ॥

अवध्यो ह्यसि भूतानां कुण्डलाभ्यां समन्वितः ॥ १२ ॥
अर्जुनेन विनाशं हि तव दानवसूदनः ।
प्रार्थयानो रणे वत्स कुण्डले ते जिहीर्षति ॥ १३ ॥

कर्ण ! इन दोनों कुण्डलोंसे युक्त रहनेपर तुम सभी प्राणियोंके लिये अवध्य बने रहोगे । वत्स ! दानवसूदन इन्द्र युद्धमें अर्जुनके द्वारा तुम्हारा विनाश चाहते हैं । इसीलिये वे तुम्हारे दोनों कुण्डलोंको हर लेनेकी इच्छा करते हैं ॥ १२–१३ ॥

स त्वमप्येनमाराध्य सूनृताभिः पुनः पुनः ।
अभ्यर्थयेथा देवेशममोघार्थं पुरन्दरम् ॥ १४ ॥

अतः तुम भी उनकी आराधना करके बारंबार मीठे वचन बोलकर देवेश्वर इन्द्रसे किसी अमोघ अस्त्रके लिये प्रार्थना करना ॥ १४ ॥

अमोघां देहि मे शक्तिममित्रविनिबर्हिणीम् ।
दास्यामि ते सहस्राक्ष कुण्डले वर्म चोत्तमम् ॥ १५ ॥

तुम उनसे कहना—'सहस्राक्ष ! मैं आपको अपने शरीरका उत्तम कवच और दोनों कुण्डल दे दूँगा, परंतु आप भी मुझे अपनी वह अमोघ शक्ति प्रदान कीजिये, जो शत्रुओंका संहार करनेवाली है' ॥ १५ ॥

इत्येव नियमेन त्वं दद्याः शक्राय कुण्डले ।
तया त्वं कर्ण संग्रामे हनिष्यसि रणे रिपून् ॥ १६ ॥

इसी शर्तके साथ तुम इन्द्रको अपने कुण्डल देना। कर्ण ! उस शक्तिके द्वारा तुम युद्धमें अपने शत्रुओंको मार डालोगे ॥

नाहत्वा हि महाबाहो शत्रूनेति करं पुनः ।
सा शक्तिर्देवराजस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १७ ॥

महाबाहो ! देवराज इन्द्रकी वह शक्ति युद्धमें सैकड़ों-हजारों शत्रुओंका वध किये बिना पुनः हाथमें लौटकर नहीं आती ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सहस्रांशुः सहसान्तरधीयत ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर सूर्यदेव सहसा वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १७½ ॥

(कर्णस्तु बुबुधे राजन् स्वप्नान्ते प्रवदन्निव ।
प्रतिबुद्धस्तु राधेयः स्वप्नं संचिन्त्य भारत ॥
चकार निश्चयं राजन् शक्त्यर्थं वदतां वरः ।
यदि मामिन्द्र आयाति कुण्डलार्थं परंतपः ॥
शक्त्या तस्मै प्रदास्यामि कुण्डले वर्म चैव ह ।
स कृत्वा प्रातरुत्थाय कार्याणि भरतर्षभ ॥
ब्राह्मणान् वाचयित्वाथ यथाकार्यमुपाक्रमत् ।
विधिना राजशार्दूल मुहूर्तमजपत् ततः ॥)

राजन् ! स्वप्नके अन्तमें कुछ बोलता हुआ-सा कर्ण जाग उठा । भारत ! जगनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ राधानन्दन कर्णने स्वप्नका चिन्तन करके शक्तिके लिये इस प्रकार निश्चय किया, 'यदि शत्रुओंको संताप देनेवाले इन्द्र कुण्डलके लिये मेरे पास आ रहे हैं तो मैं शक्ति लेकर ही उन्हें कुण्डल और कवच दूँगा ।' भरतश्रेष्ठ ! ऐसा निश्चय करके कर्ण प्रातःकाल उठा और आवश्यक कार्य करके ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर यथासमय संध्योपासन आदि कार्य करने लगा । नृपश्रेष्ठ ! फिर उसने विधिपूर्वक दो घड़ीतक जप किया ॥

ततः सूर्याय जप्यान्ते कर्णः स्वप्नं न्यवेदयत् ॥ १८ ॥
यथादृष्टं यथातत्त्वं यथोक्तमुभयोर्निशि ।
तत् सर्वमानुपूर्व्येण शशंसास्मै वृषस्तदा ॥ १९ ॥

तदनन्तर जपके अन्तमें कर्णने भगवान् सूर्यसे स्वप्नका वृत्तान्त निवेदन किया । उसने जो कुछ देखा था तथा रातमें उन दोनोंमें जैसी बातें हुई थीं, उन सबको कर्णने क्रमशः उनसे ठीक-ठीक कह सुनाया ॥ १८-१९ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् देवो भानुः स्वर्भानुसूदनः ।
उवाच तं तथेत्येव कर्णं सूर्यः स्मयन्निव ॥ २० ॥

राहुका संहार करनेवाले भगवान् सूर्यदेवने यह सब सुनकर कर्णसे मुसकराते हुए-से कहा—'तुमने जो कुछ देखा है, वह सब ठीक है' ॥ २० ॥

ततस्तत्त्वमिति ज्ञात्वा राधेयः परवीरहा ।
शक्तिमेवाभिकाङ्क्षन् वै वासवं प्रत्यपालयत् ॥ २१ ॥

तब शत्रुओंका संहार करनेवाला राधानन्दन कर्ण उस स्वप्नकी घटनाको यथार्थ जानकर शक्ति प्राप्त करनेकी ही अभिलाषा ले इन्द्रकी प्रतीक्षा करने लगा ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकर्णसंवादे द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्य-कर्ण-संवादविषयक तीन सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कुन्तिभोजके यहाँ ब्रह्मर्षि दुर्वासाका आगमन तथा राजाका उनकी सेवाके लिये पृथाको आवश्यक उपदेश देना

जनमेजय उवाच

किं तद् गुह्यं न चाख्यातं कर्णायेहोष्णरश्मिना ।
कीदृशे कुण्डले ते च कवचं चैव कीदृशम् ॥ १ ॥
कुतश्च कवचं तस्य कुण्डले चैव सत्तम ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—सज्जनशिरोमणे ! कौन-सी ऐसी गोपनीय बात थी, जिसे भगवान् सूर्यने कर्णपर प्रकट नहीं किया । उसके वे दोनों कुण्डल और कवच कैसे थे ? तपोधन ! कर्णको कुण्डल और कवच कहाँसे प्राप्त हुए थे ? मैं यह सुनना चाहता हूँ, आप कृपापूर्वक मुझे बताइये ॥

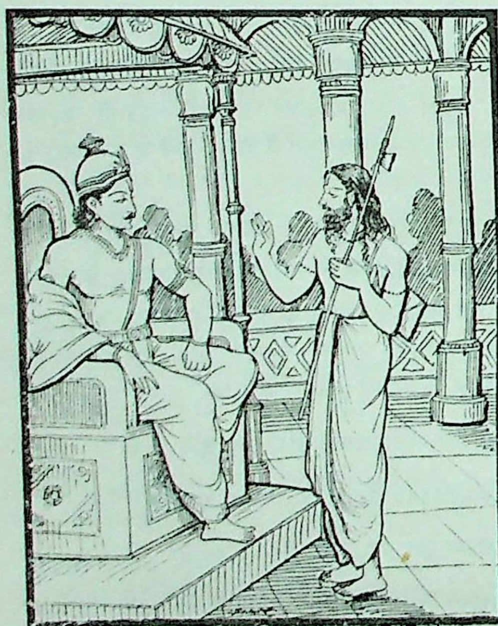
वैशम्पायन उवाच

अयं राजन् ब्रवीम्येतत् तस्य गुह्यं विभावसोः ।
यादृशे कुण्डले ते च कवचं चैव यादृशम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! सूर्यदेवकी दृष्टिमें जो गोपनीय रहस्य था, उसे बताता हूँ । इसके साथ कर्णके कुण्डल और कवच कैसे थे ? यह भी बता रहा हूँ ॥ ३ ॥

कुन्तिभोजं पुरा राजन् ब्राह्मणः पर्युपस्थितः ।
तिग्मतेजा महाप्रांशुः श्मश्रुदण्डजटाधरः ॥ ४ ॥

राजन् ! प्राचीनकालकी बात है, राजा कुन्तिभोजके दरबारमें अत्यन्त ऊँचे कदके एक प्रचण्ड तेजस्वी ब्राह्मण उपस्थित हुए । उन्होंने दाढ़ी, मूँछ, दण्ड और जटा धारण कर रक्खी थी ॥ ४ ॥



दर्शनीयोऽनवद्याङ्गस्तेजसा प्रज्वलन्निव ।
मधुपिङ्गो मधुरवाक् तपःस्वाध्यायभूषणः ॥ ५ ॥

उनका स्वरूप देखने ही योग्य था । उनके सभी अङ्ग निर्दोष थे । वे तेजसे प्रज्वलित होते-से जान पड़ते थे । उनके शरीर-की कान्ति मधुके समान पिङ्गल वर्णकी थी । वे मधुर वचन बोलनेवाले तथा तपस्या और स्वाध्यायरूप सद्गुणोंसे विभूषित थे ॥ ५ ॥

स राजानं कुन्तिभोजमब्रवीत् सुमहातपाः ।
भिक्षामिच्छामि वै भोक्तुं तव गेहे विमत्सर ॥ ६ ॥

उन महातपस्वीने राजा कुन्तिभोजसे कहा—'किसीसे ईर्ष्या न करनेवाले नरेश ! मैं तुम्हारे घरमें भिक्षान्न भोजन करना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

न मे व्यलीकं कर्तव्यं त्वया वा तव चानुगैः ।
एवं वत्स्यामि ते गेहे यदि ते रोचतेऽनघ ॥ ७ ॥

'परंतु एक शर्त है, तुम या तुम्हारे सेवक कभी मेरे मनके प्रतिकूल आचरण न करें । अनघ ! यदि तुम्हें मेरी यह शर्त ठीक जान पड़े, तो उस दशामें मैं तुम्हारे घरमें निवास करूँगा ॥ ७ ॥

यथाकामं च गच्छेयमागच्छेयं तथैव च ।
शय्यासने च मे राजन् नापराध्येत कश्चन ॥ ८ ॥

'मैं अपनी इच्छाके अनुसार जब चाहूँगा, चला जाऊँगा और जब जीमें आयेगा, चला आऊँगा । राजन् ! मेरी शय्या और आसनपर बैठना अपराध होगा । अतः यह अपराध कोई न करे' ॥

तमब्रवीत् कुन्तिभोजः प्रीतियुक्तमिदं वचः ।
एवमस्तु परं चेति पुनश्चैनमथाब्रवीत् ॥ ९ ॥

तब राजा कुन्तिभोजने बड़ी प्रसन्नताके साथ उत्तर दिया—'विप्रवर ! 'एवमस्तु'—जैसा आप चाहते हैं, वैसा ही होगा,' इतना कहकर वे फिर बोले—॥ ९ ॥

मम कन्या महाप्राज्ञ पृथा नाम यशस्विनी ।
शीलवृत्तान्विता साध्वी नियता चैव भाविनी ॥ १० ॥

'महाप्राज्ञ ! मेरे पृथा नामकी एक यशस्विनी कन्या है, जो शील और सदाचारसे सम्पन्न, साध्वी, संयम-नियमसे रहने-वाली और विचारशील है ॥ १० ॥

उपस्थास्यति सा त्वां वै पूजयानवमन्य च।
तस्याश्च शीलवृत्तेन तुष्टिं समुपयास्यसि ॥ ११ ॥

'वह सदा आपकी सेवा-पूजाके लिये उपस्थित रहेगी। उसके द्वारा आपका अपमान कभी न होगा। मेरा विश्वास है कि उसके शील और सदाचारसे आप संतुष्ट होंगे' ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा तु तं विप्रमभिपूज्य यथाविधि।
उवाच कन्यामभ्येत्य पृथां पृथुललोचनाम् ॥ १२ ॥

ऐसा कहकर उन ब्राह्मणदेवताकी विधिपूर्वक पूजा करके राजाने अपनी विशाल नेत्रोंवाली कन्या पृथाके पास जाकर कहा—॥ १२ ॥

अयं वत्से महाभागो ब्राह्मणो वस्तुमिच्छति।
मम गेहे मया चास्य तथेत्येवं प्रतिश्रुतम् ॥ १३ ॥

'वत्से! ये महाभाग ब्राह्मण मेरे घरमें निवास करना चाहते हैं। मैंने 'तथास्तु' कहकर इन्हें अपने यहाँ ठहरानेकी प्रतिज्ञा कर ली है ॥ १३ ॥

त्वयि वत्से पराश्वस्य ब्राह्मणस्याभिराधनम्।
तन्मे वाक्यममिथ्या त्वं कर्तुमर्हसि कर्हिचित् ॥ १४ ॥

'बेटी! तुमपर भरोसा करके ही मैंने इन तेजस्वी ब्राह्मणकी आराधना स्वीकार की है; अतः तुम मेरी बात कभी मिथ्या न होने दोगी, ऐसी आशा है ॥ १४ ॥

अयं तपस्वी भगवान् स्वाध्यायनियतो द्विजः।
यद् यद् ब्रूयान्महातेजास्तत्तद् देयममत्सरात् ॥ १५ ॥

'ये विप्रवर महातेजस्वी, तपस्वी, ऐश्वर्यशाली तथा नियमपूर्वक वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न रहनेवाले हैं। ये जिस-जिस वस्तुके लिये कहें, वह सब इन्हें ईर्ष्यारहित हो श्रद्धाके साथ देना ॥

ब्राह्मणो हि परं तेजो ब्राह्मणो हि परं तपः।
ब्राह्मणानां नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते ॥ १६ ॥

'क्योंकि ब्राह्मण ही उत्कृष्ट तेज है, ब्राह्मण ही परम तप है, ब्राह्मणोंके नमस्कारसे ही सूर्यदेव आकाशमें प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १६ ॥

अमानयन् हि मानार्हान् वातापिश्च महासुरः।
निहतो ब्रह्मदण्डेन तालजङ्घस्तथैव च ॥ १७ ॥

'माननीय ब्राह्मणोंका सम्मान न करनेके कारण ही महान् असुर वातापि और उसी प्रकार तालजङ्घ ब्रह्मदण्डसे मारे गये ॥ १७ ॥

सोऽयं वत्से महाभार आहितस्त्वयि साम्प्रतम्।
त्वं सदा नियता कुर्या ब्राह्मणस्याभिराधनम् ॥ १८ ॥

'अतः बेटी! इस समय सेवाका यह महान् भार मैंने तुम्हारे ऊपर रक्खा है। तुम सदा नियमपूर्वक इन ब्राह्मणदेवताकी आराधना करती रहो ॥ १८ ॥

जानामि प्रणिधानं ते बाल्यात् प्रभृति नन्दिनि।
ब्राह्मणेष्विह सर्वेषु गुरुबन्धुषु चैव ह ॥ १९ ॥
तथा प्रेष्येषु सर्वेषु मित्रसम्बन्धिमातृषु।
मयि चैव यथावत् त्वं सर्वमावृत्य वर्तसे ॥ २० ॥

'माता-पिताका आनन्द बढ़ानेवाली पुत्री! मैं जानता हूँ, बचपनसे ही तुम्हारा चित्त एकाग्र है। समस्त ब्राह्मणों, गुरुजनों, बन्धु-बान्धवों, सेवकों, मित्रों, सम्बन्धियों तथा माताओंके प्रति और मेरे प्रति भी तुम सदा यथोचित बर्ताव करती आयी हो। तुमने अपने सद्भावसे सबको प्रभावित कर लिया है ॥ १९-२० ॥

न ह्यतुष्टो जनोऽस्तीह पुरे चान्तःपुरे च ते।
सम्यग्वृत्त्यानवद्याङ्गि तव भृत्यजनेष्वपि ॥ २१ ॥

'निर्दोष अङ्गोंवाली पुत्री! नगरमें या अन्तःपुरमें, सेवकोंमें भी कोई ऐसा मनुष्य नहीं है, जो तुम्हारे उत्तम बर्तावसे संतुष्ट न हो ॥ २१ ॥

संदेष्टव्यां तु मन्ये त्वां द्विजातिं कोपनं प्रति।
पृथे बालेति कृत्वा वै सुता चासि ममेति च ॥ २२ ॥

'तथापि पृथे! तुम अभी बालिका और मेरी पुत्री हो, इसलिये इन क्रोधी ब्राह्मणके प्रति बर्ताव करनेके विषयमें तुम्हें कुछ उपदेश देनेकी आवश्यकताका अनुभव मैं करता हूँ ॥

वृष्णीनां च कुले जाता शूरस्य दयिता सुता।
दत्ता प्रीतिमता मह्यं पित्रा बाला पुरा स्वयम् ॥ २३ ॥

'वृष्णिवंशमें तुम्हारा जन्म हुआ है। तुम शूरसेनकी प्यारी पुत्री हो। पूर्वकालमें स्वयं तुम्हारे पिताने बाल्यावस्थामें ही बड़ी प्रसन्नताके साथ तुम्हें मेरे हाथों सौंपा था ॥ २३ ॥

वसुदेवस्य भगिनी सुतानां प्रवरा मम।
अग्र्यमग्रे प्रतिज्ञाय तेनासि दुहिता मम ॥ २४ ॥

तुम वसुदेवकी बहिन तथा मेरी संतानोंमें सबसे बड़ी हो। पहले उन्होंने यह प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि मैं अपनी पहली संतान तुम्हें दे दूँगा। उसीके अनुसार उन्होंने तुम्हें मेरी गोदमें अर्पित किया है, इस कारण तुम मेरी दत्तक पुत्री हो ॥ २४ ॥

तादृशे हि कुले जाता कुले चैव विवर्धिता।
सुखात् सुखमनुप्राप्ता ह्रदाद्ध्रदमिवागता ॥ २५ ॥

'वैसे उत्तम कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ तथा मेरे श्रेष्ठ कुलमें तुम पालित और पोषित होकर बड़ी हुई। जैसे जलकी धारा एक सरोवरसे निकलकर दूसरे सरोवरमें गिरती है, उसी प्रकार तुम एक सुखमय स्थानसे दूसरे सुखमय स्थानमें आयी हो ॥ २५ ॥

दौष्कुलेया विशेषेण कथंचित् प्रग्रहं गताः।
बालभावाद् विकुर्वन्ति प्रायशः प्रमदाः शुभे ॥ २६ ॥

'शुभे ! जो दूषित कुलमें उत्पन्न होनेवाली स्त्रियाँ हैं, वे किसी तरह विशेष आग्रहमें पड़कर अपने अविवेकके कारण प्रायः बिगड़ जाती हैं (परंतु तुमसे ऐसी आशङ्का नहीं है) ॥ २६ ॥

पृथे राजकुले जन्म रूपं चापि तवाद्भुतम् ।
तेन तेनासि सम्पन्ना समुपेता च भाविनी ॥ २७ ॥

'पृथे ! तुम्हारा जन्म राजकुलमें हुआ है । तुम्हारा रूप भी अद्भुत है। कुल और स्वरूपके अनुसार ही तुम उत्तम शील, सदाचार और सद्गुणोंसे संयुक्त एवं सम्पन्न हो । साथ ही विचारशील भी हो ॥ २७ ॥

सा त्वं दर्पं परित्यज्य दम्भं मानं च भाविनि ।
आराध्य वरदं विप्रं श्रेयसा योक्ष्यसे पृथे ॥ २८ ॥

'सुन्दर भाववाली पृथे ! तुम दर्प, दम्भ और मानको त्यागकर यदि इन वरदायक ब्राह्मणकी आराधना करोगी, तो परम कल्याणकी भागिनी होओगी ॥ २८ ॥

एवं प्राप्स्यसि कल्याणि कल्याणमनघे ध्रुवम् ।
कोपिते च द्विजश्रेष्ठे कृत्स्नं दह्येत मे कुलम् ॥ २९ ॥

'कल्याणि ! तुम पापरहित हो । यदि इस प्रकार इनकी सेवा करनेमें सफल हो गयीं, तो तुम्हें निश्चय ही कल्याणकी प्राप्ति होगी और यदि तुमने अपने अनुचित बर्तावसे इन श्रेष्ठ ब्राह्मणको कुपित कर दिया, तो मेरा सम्पूर्ण कुल जलकर भस्म हो जायगा' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथोपदेशे त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें पृथाको उपदेशविषयक तीन सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३०३॥

चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कुन्तीका पितासे वार्तालाप और ब्राह्मणकी परिचर्या

कुन्त्युवाच

ब्राह्मणं यन्त्रिता राजन्नुपस्थास्यामि पूजया ।
यथाप्रतिज्ञं राजेन्द्र न च मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ १ ॥

कुन्ती बोली—राजन् ! मैं नियमोंमें आबद्ध रहकर आपकी प्रतिज्ञाके अनुसार निरन्तर इन तपस्वी ब्राह्मणकी सेवा-पूजाके लिये उपस्थित रहूँगी । राजेन्द्र ! मैं झूठ नहीं बोलती हूँ ॥ १ ॥

एष चैव स्वभावो मे पूजयेयं द्विजानिति ।
तव चैव प्रियं कार्यं श्रेयश्च परमं मम ॥ २ ॥

यह मेरा स्वभाव ही है कि मैं ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजा करूँ और आपका प्रिय करना तो मेरे लिये परम कल्याणकी बात है ही ॥ २ ॥

यद्येवैष्यति सायाह्ने यदि प्रातरथो निशि ।
यद्यर्धरात्रे भगवान् न मे कोपं करिष्यति ॥ ३ ॥

ये पूजनीय ब्राह्मण यदि सायंकाल आवें, प्रातःकाल पधारें अथवा रात या आधीरातमें भी दर्शन दें, ये कभी भी मेरे मनमें क्रोध उत्पन्न नहीं कर सकेंगे—मैं हर समय इनकी समुचित सेवाके लिये प्रस्तुत रहूँगी ॥ ३ ॥

लाभो ममैष राजेन्द्र यद् वै पूजयती द्विजान् ।
आदेशे तव तिष्ठन्ती हितं कुर्यां नरोत्तम ॥ ४ ॥

राजेन्द्र ! नरश्रेष्ठ ! मेरे लिये महान् लाभकी बात यही है कि मैं आपकी आज्ञाके अधीन रहकर ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजा करती हुई सदैव आपका [illegible] ॥ ४ ॥

विस्रब्धो भव राजेन्द्र न व्यलीकं द्विजोत्तमः ।
वसन् प्राप्स्यति ते गेहे सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ५ ॥

महाराज ! विश्वास कीजिये । आपके भवनमें निवास करते हुए ये द्विजश्रेष्ठ कभी अपने मनके प्रतिकूल कोई कार्य नहीं देख पायेंगे । यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ ॥ ५ ॥

यत् प्रियं च द्विजस्यास्य हितं चैव तवानघ ।
यतिष्यामि तथा राजन् व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ६ ॥

निष्पाप नरेश ! आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये । मैं वही कार्य करनेका प्रयत्न करूँगी, जो इन तपस्वी ब्राह्मणको प्रिय और आपके लिये हितकर हो ॥ ६ ॥

ब्राह्मणा हि महाभागाः पूजिताः पृथिवीपते ।
तारणाय समर्थाः स्युर्विपरीते वधाय च ॥ ७ ॥

क्योंकि पृथ्वीपते ! महाभाग ब्राह्मण भलीभाँति पूजित होनेपर सेवकको तारनेमें समर्थ होते हैं और इसके विपरीत अपमानित होनेपर विनाशकारी बन जाते हैं ॥ ७ ॥

साहमेतद् विजानन्ती तोषयिष्ये द्विजोत्तमम् ।
न मत्कृते व्यथां राजन् प्राप्स्यसि द्विजसत्तमात् ॥ ८ ॥

मैं इस बातको जानती हूँ । अतः इन श्रेष्ठ ब्राह्मणको सब तरहसे संतुष्ट रक्खूँगी । राजन् ! मेरे कारण इन द्विजश्रेष्ठसे आपको कोई कष्ट नहीं प्राप्त होगा ॥ ८ ॥

अपराधेऽपि राजेन्द्र राज्ञामश्रेयसे द्विजाः ।
भवन्ति च्यवनो यद्वत् सुकन्यायाः कृते पुरा ॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! [illegible] अपराध बन जानेपर

भी ब्राह्मणलोग राजाओंका अमङ्गल करनेको उद्यत हो जाते हैं, जैसे प्राचीनकालमें सुकन्याद्वारा अपराध होनेपर महर्षि च्यवन महाराज शर्यातिका अनिष्ट करनेको उद्यत हो गये थे ॥ ९ ॥

नियमेन परेणाहमुपस्थास्ये द्विजोत्तमम् ।
यथा त्वया नरेन्द्रेदं भाषितं ब्राह्मणं प्रति ॥१०॥

नरेन्द्र ! आपने ब्राह्मणके प्रति बर्ताव करनेके विषयमें जो कुछ कहा है, उसके अनुसार मैं उत्तम नियमोंके पालनपूर्वक इन श्रेष्ठ ब्राह्मणकी सेवामें उपस्थित रहूँगी ॥ १० ॥

एवं ब्रुवन्तीं बहुशः परिष्वज्य समर्थ्य च ।
इति चेति च कर्तव्यं राजा सर्वमथादिशत् ॥११॥

इस प्रकार कहती हुई कुन्तीको बारंबार गलेसे लगाकर राजाने उसकी बातोंका समर्थन किया और कैसे-कैसे क्या-क्या करना चाहिये, इसके विषयमें उसे सुनिश्चित आदेश दिया ॥ ११ ॥

राजोवाच

एवमेतत् त्वया भद्रे कर्तव्यमविशङ्कया ।
मद्धितार्थं तथाऽऽत्मार्थं कुलार्थं चाप्यनिन्दिते॥१२॥

राजा बोले—भद्रे ! अनिन्दिते ! मेरे, तुम्हारे तथा कुलके हितके लिये तुम्हें निःशङ्कभावसे इसी प्रकार यह सब कार्य करना चाहिये ॥ १२ ॥

एवमुक्त्वा तु तां कन्यां कुन्तिभोजो महायशाः ।
पृथां परिददौ तस्मै द्विजाय द्विजवत्सलः ॥१३॥

ब्राह्मणप्रेमी महायशस्वी राजा कुन्तिभोजने पुत्रीसे ऐसा कहकर उन आये हुए द्विजकी सेवामें पृथाको दे दिया ॥१३॥

इयं ब्रह्मन् मम सुता बाला सुखविवर्धिता ।
अपराध्येत यत् किंचिन्न कार्यं हृदि तत् त्वया ॥१४॥

और कहा—'ब्रह्मन् ! यह मेरी पुत्री पृथा अभी बालिका है और सुखमें पली हुई है । यदि आपका कोई अपराध कर बैठे, तो भी आप उसे मनमें नहीं लाइयेगा ॥ १४ ॥

द्विजातयो महाभागा वृद्धबालतपस्विषु ।
भवन्त्यक्रोधनाः प्रायो ह्यपराद्धेषु नित्यदा ॥ १५ ॥

'वृद्ध, बालक और तपस्वीजन यदि कोई अपराध कर दें, तो भी आप-जैसे महाभाग ब्राह्मण प्रायः कभी उनपर क्रोध नहीं करते ॥ १५ ॥

सुमहत्यपराधेऽपि क्षान्तिः कार्या द्विजातिभिः ।
यथाशक्ति यथोत्साहं पूजा ग्राह्या द्विजोत्तम ॥ १६ ॥

'विप्रवर ! सेवकका महान् अपराध होनेपर भी ब्राह्मणोंको क्षमा करनी चाहिये तथा शक्ति और उत्साहके अनुसार उनके द्वारा की हुई सेवा-पूजा स्वीकार कर लेनी चाहिये' ॥

तथेति ब्राह्मणेनोक्तं स राजा प्रीतमानसः ।
हंसचन्द्रांशुसंकाशं गृहमस्मै न्यवेदयत् ॥ १७ ॥

ब्राह्मणने 'तथास्तु' कहकर राजाका अनुरोध मान लिया। इससे उनके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने ब्राह्मणको रहनेके लिये हंस और चन्द्रमाकी किरणोंके समान एक उज्ज्वल भवन दे दिया ॥ १७ ॥

तत्राग्निशरणे क्लृप्तमासनं तस्य भानुमत् ।
आहारादि च सर्वं तत् तथैव प्रत्यवेदयत् ॥ १८ ॥

वहाँ अग्निहोत्रगृहमें उनके लिये चमचमाते हुए सुन्दर आसनकी व्यवस्था हो गयी । भोजन आदिकी सब सामग्री भी राजाने वहीं प्रस्तुत कर दी ॥ १८ ॥

निक्षिप्य राजपुत्री तु तन्द्रीं मानं तथैव च ।
आतस्थे परमं यत्नं ब्राह्मणस्याभिराधने ॥ १९ ॥

राजकुमारी कुन्ती आलस्य और अभिमानको दूर भगाकर ब्राह्मणकी आराधनामें बड़े यत्नसे संलग्न हो गयी ।१९।

तत्र सा ब्राह्मणं गत्वा पृथा शौचपरा सती ।
विधिवत् परिचारार्हं देववत् पर्यतोषयत् ॥ २० ॥

बाहर-भीतरसे शुद्ध हो सती-साध्वी पृथा उन पूजनीय ब्राह्मणके पास जाकर देवताकी भाँति उनकी विधिवत् आराधना करके उन्हें पूर्णरूपसे संतुष्ट रखने लगी ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथाद्विजपरिचर्यायां चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें कुन्तीके द्वारा ब्राह्मणकी परिचर्याविषयक तीन सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०४ ॥

पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कुन्तीकी सेवासे संतुष्ट होकर तपस्वी ब्राह्मणका उसको मन्त्रका उपदेश देना

वैशम्पायन उवाच

सा तु कन्या महाराज ब्राह्मणं संशितव्रतम् ।
तोषयामास शुद्धेन मनसा संशितव्रता ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! इस प्रकार वह कन्या पृथा कठोर व्रतका पालन करती हुई शुद्ध हृदयसे उन उत्तम व्रतधारी ब्राह्मणको अपनी सेवाओंद्वारा संतुष्ट रखने लगी ॥ १ ॥

प्रातरेष्याम्यथेत्युक्त्वा कदाचिद् द्विजसत्तमः ।
तत आयाति राजेन्द्र सायं रात्रावथो पुनः ॥ २ ॥

राजेन्द्र ! वे श्रेष्ठ ब्राह्मण कभी यह कहकर कि 'मैं प्रातः-काल लौट आऊँगा' चल देते और सायंकाल अथवा बहुत रात बीतनेपर पुनः वापस आते थे ॥ २ ॥

तं च सर्वासु वेलासु भक्ष्यभोज्यप्रतिश्रयैः ।
पूजयामास सा कन्या वर्धमानैस्तु सर्वदा ॥ ३ ॥

परंतु वह कन्या प्रतिदिन हर समय पहलेकी अपेक्षा अधिक-अधिक परिणाममें भक्ष्य-भोज्य आदि सामग्री तथा शय्या-आसन आदि प्रस्तुत करके उनका सेवा-सत्कार किया करती थी ॥ ३ ॥

अन्नादिसमुदाचारः शय्यासनकृतस्तथा ।
दिवसे दिवसे तस्य वर्धते न तु हीयते ॥ ४ ॥

नित्यप्रति अन्न आदिके द्वारा उन ब्राह्मणका सत्कार अन्य दिनोंकी अपेक्षा बढ़कर ही होता था । उनके लिये शय्या और आसन आदिकी सुविधा भी पहलेकी अपेक्षा अधिक ही दी जाती थी । किसी बातमें तनिक भी कमी नहीं की जाती थी ॥ ४ ॥

निर्भर्त्सनापवादैश्च तथैवाप्रियया गिरा ।
ब्राह्मणस्य पृथा राजन् न चकाराप्रियं तदा ॥ ५ ॥

राजन् ! वे ब्राह्मण कभी धिक्कारते, कभी बात-बातमें दोषारोपण करते और प्रायः कटु वचन भी बोला करते थे, तो भी पृथा उनके प्रति कभी कोई अप्रिय बर्ताव नहीं करती थी ॥ ५ ॥

व्यस्ते काले पुनश्चैति न चैति बहुशो द्विजः ।
सुदुर्लभमपि ह्यन्नं दीयतामिति सोऽब्रवीत् ॥ ६ ॥

वे कभी ऐसे समयमें लौटकर आते थे, जब कि पृथाको दूसरे कामोंसे दम लेनेकी भी फुरसत नहीं होती थी और कभी वे कई दिनोंतक आते ही नहीं थे । आनेपर भी ऐसा भोजन माँग लेते, जो अत्यन्त दुर्लभ होता ॥ ६ ॥

कृतमेव च तत् सर्वं यथा तस्मै न्यवेदयत् ।
शिष्यवत् पुत्रवच्चैव स्वसृवच्च सुसंयता ॥ ७ ॥

परंतु कुन्ती उन्हें उनकी माँगी हुई सब वस्तुएँ इस प्रकार प्रस्तुत कर देती थी, मानो उनको पहलेसे ही तैयार करके रक्खा हो वह अत्यन्त संयत होकर शिष्य, पुत्र तथा छोटी बहिनकी भाँति सदा उनकी सेवामें लगी रहती थी ॥

यथोपजोषं राजेन्द्र द्विजातिप्रवरस्य सा ।
प्रीतिमुत्पादयामास कन्यारत्नमनिन्दिता ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! उस अनिन्द्य कन्यारत्न कुन्तीने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणको उनकी रुचिके अनुसार सेवा करके अत्यन्त प्रसन्न कर लिया ॥ ८ ॥

तस्यास्तु शीलवृत्तेन तुतोष द्विजसत्तमः ।
अवधानेन भूयोऽस्याः परं यत्नमथाकरोत् ॥ ९ ॥

उसके शील, सदाचार तथा सावधानीसे उन द्विजश्रेष्ठ-को बड़ा संतोष हुआ । उन्होंने कुन्तीका हित करनेका पूरा प्रयत्न किया ॥ ९ ॥

तां प्रभाते च सायं च पिता पप्रच्छ भारत ।
अपि तुष्यति ते पुत्रि ब्राह्मणः परिचर्यया ॥ १० ॥

जनमेजय ! पिता कुन्तिभोज प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकालमें पूछते थे—'बेटी ! तुम्हारी सेवासे ब्राह्मणको संतोष तो है न ?' ॥ १० ॥

तं सा परममित्येव प्रत्युवाच यशस्विनी ।
ततः प्रीतिमवापाग्र्यां कुन्तिभोजो महामनाः ॥ ११ ॥

वह यशस्विनी कन्या उन्हें उत्तर देती—'हाँ पिताजी ! वे बहुत प्रसन्न हैं ।' यह सुनकर महामना कुन्तिभोजको बड़ा हर्ष प्राप्त होता था ॥ ११ ॥

ततः संवत्सरे पूर्णे यदासौ जपतां वरः ।
नापश्यद् दुष्कृतं किंचित् पृथायाः सौहृदे रतः ॥ १२ ॥
ततः प्रीतमना भूत्वा स एनां ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।
प्रीतोऽस्मि परमं भद्रे परिचारेण ते शुभे ॥ १३ ॥
वरान् वृणीष्व कल्याणि दुरापान् मानुषैरिह ।
यैस्त्वं सीमन्तिनीः सर्वा यशसाभिभविष्यसि ॥ १४ ॥

तदनन्तर जब एक वर्ष पूरा हो गया और पृथाके प्रति वात्सल्य स्नेह रखनेवाले जपकर्ताओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण दुर्वासाजीने उसकी सेवामें कोई त्रुटि नहीं देखी, तब वे प्रसन्नचित्त होकर पृथासे इस प्रकार बोले—'भद्रे ! मैं तुम्हारी सेवासे बहुत प्रसन्न हूँ । शुभे ! कल्याणि ! तुम मुझसे ऐसे वर माँगो, जो यहाँ दूसरे मनुष्योंके लिये दुर्लभ हों और जिनके कारण तुम संसारकी समस्त सुन्दरियोंको अपने सुयशसे पराजित कर सको' ॥ १२-१४ ॥

कुन्त्युवाच

कृतानि मम सर्वाणि यस्या मे वेदवित्तम ।
त्वं प्रसन्नः पिता चैव कृतं विप्र वरैर्मम ॥ १५ ॥

कुन्ती बोली—वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ! जब मुझ सेविकाके ऊपर आप और पिताजी प्रसन्न हो गये, तब मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो गयीं । विप्रवर ! मुझे वर लेनेकी आवश्य-कता नहीं रही ॥ १५ ॥

ब्राह्मण उवाच

यदि नेच्छसि मत्तस्त्वं वरं भद्रे शुचिस्मिते ।
इमं मन्त्रं गृहाण त्वमाह्वानाय दिवौकसाम् ॥ १६ ॥

ब्राह्मणने कहा—भद्रे ! पवित्र मुसकानवाली पृथे ! यदि तुम मुझसे वर नहीं लेना चाहती हो, तो देवताओंका आवाहन करनेके लिये यह एक मन्त्र ही ग्रहण कर लो ॥

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि ।
तेन तेन वशे भद्रे स्थातव्यं ते भविष्यति ॥ १७ ॥

भद्रे ! तुम इस मन्त्रके द्वारा जिस-जिस देवताका आवाहन करोगी, वह-वह तुम्हारे अधीन हो जानेके लिये बाध्य होगा ॥ १७ ॥

अकामो वा सकामो वा स समेष्यति ते वशे ।
विबुधो मन्त्रसंशान्तो भवेद् भृत्य इवानतः ॥ १८ ॥

वह देवता कामनारहित हो या कामनायुक्त, मन्त्रके प्रभावसे शान्तचित्त हो वह विनीत सेवककी भाँति तुम्हारे पास आकर तुम्हारे अधीन हो जायगा ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

न शशाक द्वितीयं सा प्रत्याख्यातुमनिन्दिता ।
तं वै द्विजातिप्रवरं तदा शापभयान्नृप ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! साध्वी पृथा दूसरी बार उन श्रेष्ठ ब्राह्मणकी बात न टाल सकी; क्योंकि वैसा करनेपर उसे उनके शापका भय था ॥ १९ ॥

ततस्तामनवद्याङ्गीं ग्राहयामास स द्विजः ।
मन्त्रग्रामं तदा राजन्नथर्वशिरसि श्रुतम् ॥ २० ॥

राजन् ! तब ब्राह्मणने निर्दोष अङ्गोंवाली कुन्तीको उस मन्त्रसमूहका उपदेश दिया, जो अथर्ववेदीय उपनिषद्में प्रसिद्ध है ॥ २० ॥

तं प्रदाय तु राजेन्द्र कुन्तिभोजमुवाच ह ।
उषितोऽस्मि सुखं राजन् कन्यया परितोषितः ॥ २१ ॥
तव गेहेषु विहितः सदा सुप्रतिपूजितः ।
साधयिष्यामहे तावदित्युक्त्वान्तरधीयत ॥ २२ ॥

राजेन्द्र ! पृथाको वह मन्त्र देकर ब्राह्मणने राजा कुन्तिभोजसे कहा—'राजन् ! मैं तुम्हारे घरमें तुम्हारी कन्याद्वारा सदा समादृत और संतुष्ट होकर बड़े सुखसे रहा हूँ । अब हम अपनी कार्यसिद्धिके लिये यहाँसे जायँगे ।' ऐसा कहकर वे ब्राह्मण वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २१-२२ ॥

स तु राजा द्विजं दृष्ट्वा तत्रैवान्तर्हितं तदा ।
बभूव विस्मयाविष्टः पृथां च समपूजयत् ॥ २३ ॥

ब्राह्मणको अन्तर्हित हुआ देख उस समय राजाको बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने अपनी पुत्री कुन्तीका विशेष आदर-सत्कार किया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथाया मन्त्रप्राप्तौ पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें पृथाको मन्त्रकी प्राप्तिविषयक तीन सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०५ ॥

षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कुन्तीके द्वारा सूर्यदेवताका आवाहन तथा कुन्ती-सूर्य-संवाद

वैशम्पायन उवाच

गते तस्मिन् द्विजश्रेष्ठे कस्मिंश्चित् कारणान्तरे ।
चिन्तयामास सा कन्या मन्त्रग्रामबलाबलम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उन श्रेष्ठ ब्राह्मणके चले जानेपर किसी कारणवश * राजकन्या कुन्तीने मन-ही-मन सोचा; 'इस मन्त्रसमूहमें कोई बल है या नहीं ॥

अयं वै कीदृशस्तेन मम दत्तो महात्मना ।
मन्त्रग्रामो बलं तस्य ज्ञास्ये नातिचिरादिति ॥ २ ॥

'उन महात्मा ब्राह्मणने मुझे यह कैसा मन्त्रसमूह प्रदान किया है ? उसके बलको मैं शीघ्र ही (परीक्षाद्वारा) जानूँगी' ॥

एवं संचिन्तयन्ती सा ददर्शर्तुं यदृच्छया ।
व्रीडिता साभवद् बाला कन्याभावे रजस्वला ॥ ३ ॥

इस प्रकार सोच-विचारमें पड़ी हुई कुन्तीने अकस्मात् अपने शरीरमें ऋतुका प्रादुर्भाव हुआ देखा । कन्यावस्थामें ही अपनेको रजस्वला पाकर उस बालिकाने लज्जाका अनुभव किया॥

ततो हर्म्यतलस्था सा महार्हशयनोचिता ।
प्राच्यां दिशि समुद्यन्तं ददर्शादित्यमण्डलम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर एक दिन कुन्ती अपने महलके भीतर एक बहुमूल्य पलंगपर लेटी हुई थी । उसी समय उसने (खिड़कीसे) पूर्वदिशामें उदित होते हुए सूर्यमण्डलकी ओर दृष्टिपात किया ॥ ४ ॥

तत्र बद्धमनोदृष्टिरभवत् सा सुमध्यमा ।
न चातप्यत रूपेण भानोः संध्यागतस्य सा ॥ ५ ॥

प्रातःसंध्याके समय उगते हुए सूर्यकी ओर देखनेमें सुमध्यमा कुन्तीको तनिक भी तापका अनुभव नहीं हुआ । उसके मन और नेत्र उन्हींमें आसक्त हो गये ॥ ५ ॥

तस्या दृष्टिरभूद् दिव्या सापश्यद् दिव्यदर्शनम् ।
आमुक्तकवचं देवं कुण्डलाभ्यां विभूषितम् ॥ ६ ॥

उस समय उसकी दृष्टि दिव्य हो गयी । उसने दिव्यरूपमें

* इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें सूर्यदेवने उस कारणका स्पष्टीकरण किया है ।

दिखायी देनेवाले भगवान् सूर्यकी ओर देखा। वे कवच धारण किये एवं कुण्डलोंसे विभूषित थे ॥ ६ ॥

तस्याः कौतूहलं त्वासीन्मन्त्रं प्रति नराधिप।
आह्वानमकरोत् साथ तस्य देवस्य भाविनी ॥ ७ ॥

नरेश्वर! उन्हें देखकर कुन्तीके मनमें अपने मन्त्रकी शक्तिकी परीक्षा करनेके लिये कौतूहल पैदा हुआ। तब उस सुन्दरी राजकन्याने सूर्यदेवका आवाहन किया ॥ ७ ॥

प्राणानुपस्पृश्य तदा ह्याजुहाव दिवाकरम्।
आजगाम ततो राजंस्त्वरमाणो दिवाकरः ॥ ८ ॥

उसने विधिपूर्वक आचमन और प्राणायाम करके भगवान् दिवाकरका आवाहन किया। राजन्! तब भगवान् सूर्य बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आये ॥ ८ ॥

मधुपिङ्गो महाबाहुः कम्बुग्रीवो हसन्निव।
अङ्गदी बद्धमुकुटो दिशः प्रज्वालयन्निव ॥ ९ ॥

उनकी अङ्गकान्ति मधुके समान पिङ्गलवर्णकी थी। भुजाएँ बड़ी-बड़ी और ग्रीवा शङ्खके समान थी। वे हँसते हुए-से जान पड़ते थे। उनकी भुजाओंमें अङ्गद (बाजूबंद) चमक रहे थे और मस्तकपर बँधा हुआ मुकुट शोभा पाता था। वे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रज्वलित-सी कर रहे थे ॥ ९ ॥

योगात् कृत्वा द्विधाऽऽत्मानमाजगाम तताप च।
आबभाषे ततः कुन्तीं साम्ना परमवल्गुना ॥ १० ॥

वे योगशक्तिसे अपने दो स्वरूप बनाकर एकसे वहाँ आये और दूसरेसे आकाशमें तपते रहे। उन्होंने कुन्तीको समझाते हुए परम मधुर वाणीमें कहा— ॥ १० ॥

आगतोऽस्मि वशं भद्रे तव मन्त्रबलात्कृतः।
किं करोमि वशो राज्ञि ब्रूहि कर्ता तदस्मि ते ॥ ११ ॥

'भद्रे! मैं तुम्हारे मन्त्रके बलसे आकृष्ट होकर तुम्हारे वशमें आ गया हूँ। राजकुमारी! बताओ, तुम्हारे अधीन रहकर मैं कौन-सा कार्य करूँ? तुम जो कहोगी, वही करूँगा' ॥ ११ ॥

कुन्त्युवाच

गम्यतां भगवंस्तत्र यत एवागतो ह्यसि।
कौतूहलात् समाहूतः प्रसीद भगवन्निति ॥ १२ ॥

कुन्ती बोली—भगवन्! आप जहाँसे आये हैं, वहीं पधारिये। मैंने आपको कौतूहलवश ही बुलाया था। प्रभो! प्रसन्न होइये ॥ १२ ॥

सूर्य उवाच

गमिष्येऽहं यथा मां त्वं ब्रवीषि तनुमध्यमे।
न तु देवं समाहूय न्याय्यं प्रेषयितुं वृथा ॥ १३ ॥

सूर्यने कहा—तनुमध्यमे! जैसा तुम कह रही हो, उसके अनुसार मैं चला तो जाऊँगा ही; परंतु किसी देवताको बुलाकर उसे व्यर्थ लौटा देना न्यायकी बात नहीं है ॥ १३ ॥

तवाभिसंधिः सुभगे सूर्यात् पुत्रो भवेदिति।
वीर्येणाप्रतिमो लोके कवची कुण्डलीति च ॥ १४ ॥

सुभगे! तुम्हारे मनमें यह संकल्प उठा था कि 'सूर्यदेवसे मुझे एक ऐसा पुत्र प्राप्त हो, जो संसारमें अनुपम पराक्रमी तथा जन्मसे ही दिव्य कवच एवं कुण्डलोंसे सुशोभित हो' ॥

सा त्वमात्मप्रदानं वै कुरुष्व गजगामिनि।
उत्पत्स्यति हि पुत्रस्ते यथासंकल्पमङ्गने ॥ १५ ॥

अतः गजगामिनि! तुम मुझे अपना शरीर समर्पित कर दो। अङ्गने! ऐसा करनेसे तुम्हें अपने संकल्पके अनुसार तेजस्वी पुत्र प्राप्त होगा ॥ १५ ॥

अथ गच्छाम्यहं भद्रे त्वया संगम्य सुस्मिते।
यदि त्वं वचनं नाद्य करिष्यसि मम प्रियम् ॥ १६ ॥
शपिष्ये त्वामहं क्रुद्धो ब्राह्मणं पितरं च ते।
त्वत्कृते तान् प्रधक्ष्यामि सर्वानपि न संशयः ॥ १७ ॥

भद्रे! सुन्दर मुसकानवाली पृथे! तुमसे समागम करके मैं पुनः लौट जाऊँगा; परंतु यदि आज तुम मेरा प्रिय वचन नहीं मानोगी, तो मैं कुपित होकर तुमको, उस मन्त्रदाता ब्राह्मणको और तुम्हारे पिताको भी शाप दे दूँगा। तुम्हारे कारण मैं उन सबको जलाकर भस्म कर दूँगा; इसमें संशय नहीं है ॥ १६-१७ ॥

पितरं चैव ते मूढं यो न वेत्ति तवानयम्।
तस्य च ब्राह्मणस्याद्य योऽसौ मन्त्रमदात् तव ॥ १८ ॥
शीलवृत्तमविज्ञाय धास्यामि विनयं परम्।

तुम्हारे मूर्ख पिताको भी मैं जला दूँगा, जो तुम्हारे इस अन्यायको नहीं जानता है तथा जिसने तुम्हारे शील और सदाचारको जाने बिना ही मन्त्रका उपदेश दिया है, उस ब्राह्मणको भी अच्छी सीख दूँगा ॥ १८½ ॥

एते हि विबुधाः सर्वे पुरन्दरमुखा दिवि ॥ १९ ॥
त्वया प्रलब्धं पश्यन्ति स्मयन्त इव भाविनि।
पश्य चैनान् सुरगणान् दिव्यं चक्षुरिदं हि ते।
पूर्वमेव मया दत्तं दृष्टवत्यसि येन माम् ॥ २० ॥

भामिनि! ये इन्द्र आदि समस्त देवता आकाशमें खड़े होकर मुसकराते हुए-से मेरी ओर इस भावसे देख रहे हैं कि मैं तुम्हारेद्वारा कैसा ठगा गया? देखो न, इन देवताओंकी ओर। मैंने तुम्हें पहलेसे ही दिव्य दृष्टि दे दी है, जिससे तुम मुझे देख सकी हो ॥ १९-२० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽपश्यत् त्रिदशान् राजपुत्री
सर्वानेव स्वेषु धिष्ण्येषु खस्थान्।
प्रभावन्तं भानुमन्तं महान्तं
यथाऽऽदित्यं रोचमानांस्तथैव ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब राजकुमारी कुन्तीने आकाशमें अपने-अपने विमानोंपर बैठे हुए

सब देवताओंको देखा। जैसे सहस्रों किरणोंसे युक्त भगवान् सूर्य अत्यन्त दीप्तिमान् दिखायी देते हैं, उसी प्रकार वे सब देवता प्रकाशित हो रहे थे ॥ २१ ॥

सा तान् दृष्ट्वा व्रीडमानेव बाला
सूर्यं देवी वचनं प्राह भीता।
गच्छ त्वं वै गोपते स्वं विमानं
कन्याभावाद् दुःख एवापचारः ॥ २२ ॥

उन्हें देखकर बालिका कुन्तीको बड़ी लज्जा हुई। उस देवीने भयभीत होकर सूर्यदेवसे कहा—'किरणोंके स्वामी दिवाकर! आप अपने विमानपर चले जाइये। छोटी बालिका होनेके कारण मेरेद्वारा आपको बुलानेका यह दुःखदायक अपराध बन गया है ॥ २२ ॥

पिता माता गुरवश्चैव येऽन्ये
देहस्यास्य प्रभवन्ति प्रदाने।
नाहं धर्मं लोपयिष्यामि लोके
स्त्रीणां वृत्तं पूज्यते देहरक्षा ॥ २३ ॥

'मेरे पिता-माता तथा अन्य गुरुजन ही मेरे इस शरीरको देनेका अधिकार रखते हैं। मैं अपने धर्मका लोप नहीं करूँगी। स्त्रियोंके सदाचारमें अपने शरीरकी पवित्रताको बनाये रखना ही प्रधान है और संसारमें उसीकी प्रशंसा की जाती है ॥ २३ ॥

मया मन्त्रबलं ज्ञातुमाहूतस्त्वं विभावसो।
बाल्याद् बालेति तत् कृत्वा क्षन्तुमर्हसि मे विभो॥ २४ ॥

'प्रभो! प्रभाकर! मैंने अपने बाल-स्वभावके कारण मन्त्रका बल जाननेके लिये हीआपका आवाहन किया है। एक अनजान बालिका समझकर आप मेरे इस अपराधको क्षमा कर दें' ॥

सूर्य उवाच

बालेति कृत्वानुनयं तवाहं
ददानि नान्यानुनयं लभेत।
आत्मप्रदानं कुरु कुन्तिकन्ये
शान्तिस्तवैवं हि भवेच्च भीरु ॥ २५ ॥

सूर्यदेवने कहा—कुन्तिभोजकुमारी कुन्ती! बालिका समझकर ही मैं तुमसे इतनी अनुनय-विनय करता हूँ। दूसरी कोई स्त्री मुझसे अनुनयका अवसर नहीं पा सकती। भीरु! तुम मुझे अपना शरीर अर्पण करो। ऐसा करनेसे ही तुम्हें शान्ति प्राप्त हो सकती है ॥ २५ ॥

न चापि गन्तुं युक्तं हि मया मिथ्याकृतेन वै।
असमेत्य त्वया भीरु मन्त्राहूतेन भाविनि ॥ २६ ॥
गमिष्याम्यनवद्याङ्गि लोके समवहास्यताम्।
सर्वेषां विबुधानां च वक्तव्यः स्यां तथा शुभे ॥ २७ ॥

निर्दोष अङ्गोंवाली सुन्दरी! तुमने मन्त्रद्वारा मेरा आवाहन किया है; इस दशामें उस आवाहनको व्यर्थ करके तुमसे मिले बिना ही लौट जाना मेरे लिये उचित न होगा। भीरु! यदि मैं इसी तरह लौटूँगा, तो जगत्में मेरा उपहास होगा। शुभे! सम्पूर्ण देवताओंकी दृष्टिमें भी मुझे निन्दनीय बनना पड़ेगा ॥ २६-२७ ॥

सा त्वं मया समागच्छ लप्स्यसे मादृशं सुतम्।
विशिष्टा सर्वलोकेषु भविष्यसि न संशयः ॥ २८ ॥

अतः तुम मेरे साथ समागम करो। तुम मेरे ही समान पुत्र पाओगी और समस्त संसारमें (अन्य स्त्रियोंसे) विशिष्ट समझी जाओगी; इसमें संशय नहीं है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्याह्वाने षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्यका आवाहनविषयक तीन सौ छःवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०६ ॥

सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सूर्यद्वारा कुन्तीके उदरमें गर्भस्थापन

वैशम्पायन उवाच

सा तु कन्या बहुविधं ब्रुवन्ती मधुरं वचः।
अनुनेतुं सहस्रांशुं न शशाक मनस्विनी ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार राजकन्या मनस्विनी कुन्ती नाना प्रकारसे मधुर वचन कहकर अनुनय-विनय करनेपर भी भगवान् सूर्यको मनानेमें सफल न हो सकी ॥ १ ॥

न शशाक यदा बाला प्रत्याख्यातुं तमोनुदम्।
भीता शापात् ततो राजन् दध्यौ दीर्घमथान्तरम्॥ २ ॥

राजन्! जब वह बाला अन्धकारनाशक भगवान् सूर्यदेवको टाल न सकी, तब शापसे भयभीत हो दीर्घकालतक मन-ही-मन कुछ सोचने लगी ॥ २ ॥

अनागसः पितुः शापो ब्राह्मणस्य तथैव च।
मन्निमित्तः कथं न स्यात् क्रुद्धादस्माद् विभावसोः ॥ ३ ॥

उसने सोचा कि 'क्या उपाय करूँ? जिससे मेरे कारण मेरे निरपराध पिता तथा निर्दोष ब्राह्मणको क्रोधमें भरे हुए इन सूर्यदेवसे शाप न प्राप्त हो ॥ ३ ॥

बालेनापि सता मोहाद् भृशं पापकृतान्यपि।
नाभ्यासादयितव्यानि तेजांसि च तपांसि च ॥ ४ ॥

'सज्जन बालकको भी चाहिये कि वह अत्यन्त मोहके कारण पापशून्य, तेजस्वी तथा तपस्वी पुरुषोंके अत्यन्त निकट न जाय ॥

साहमद्य भृशं भीता गृहीता च करे भृशम् ।
कथं त्वकार्यं कुर्यां वै प्रदानं ह्यात्मनः स्वयम् ॥ ५ ॥

'परंतु मैं तो आज अत्यन्त भयभीत हो भगवान् सूर्यदेवके हाथमें पड़ गयी हूँ, तो भी स्वयं अपने शरीरको देने-जैसा न करनेयोग्य नीच कर्म कैसे करूँ ?' ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा वै शापपरित्रस्ता बहु चिन्तयती हृदा ।
मोहेनाभिपरीताङ्गी स्मयमाना पुनः पुनः ॥ ६ ॥
तं देवमब्रवीद् भीता बन्धूनां राजसत्तम ।
व्रीडाविह्वलया वाचा शापत्रस्ता विशाम्पते ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! कुन्ती शापसे अत्यन्त डरकर मन-ही-मन तरह-तरहकी बातें सोच रही थी । उसके सारे अङ्ग मोहसे व्याप्त हो रहे थे । वह बार-बार आश्चर्यचकित हो रही थी । एक ओर तो वह शापसे आतङ्कित थी, दूसरी ओर उसे भाई-बन्धुओंका भय लगा हुआ था । भूपाल ! उस दशामें वह लज्जाके कारण विशृङ्खल वाणीद्वारा सूर्यदेवसे इस प्रकार बोली ॥ ६-७ ॥

कुन्त्युवाच

पिता मे ध्रियते देव माता चान्ये च बान्धवाः ।
न तेषु ध्रियमाणेषु विधिलोपो भवेदयम् ॥ ८ ॥

कुन्तीने कहा—देव ! मेरे पिता, माता तथा अन्य बान्धव जीवित हैं । उन सबके जीते-जी स्वयं आत्मदान करनेपर कहीं शास्त्रीय विधिका लोप न हो जाय ? ॥ ८ ॥

त्वया तु संगमो देव यदि स्याद् विधिवर्जितः ।
मन्निमित्तं कुलस्यास्य लोके कीर्तिर्नशेत् ततः ॥ ९ ॥

भगवन् ! यदि आपके साथ मेरा वेदोक्त विधिके विपरीत समागम हो, तो मेरे ही कारण जगत्‌में इस कुलकी कीर्ति नष्ट हो जायगी ॥ ९ ॥

अथवा धर्ममेतं त्वं मन्यसे तपतां वर ।
ऋते प्रदानाद् बन्धुभ्यस्तव कामं करोम्यहम् ॥ १० ॥

अथवा तपनेवालोंमें श्रेष्ठ दिवाकर ! यदि बन्धुजनोंके दिये बिना ही मेरे साथ अपने समागमको आप धर्मयुक्त समझते हों, तो मैं आपकी इच्छा पूर्ण कर सकती हूँ ॥ १० ॥

आत्मप्रदानं दुर्धर्ष तव कृत्वा सती त्वहम् ।
त्वयि धर्मो यशश्चैव कीर्तिरायुश्च देहिनाम् ॥ ११ ॥

दुर्धर्ष देव ! क्या मैं आपको आत्मदान करके भी सती-साध्वी रह सकती हूँ ? आपमें ही देहधारियोंके धर्म, यश, कीर्ति तथा आयु प्रतिष्ठित हैं ॥ ११ ॥

सूर्य उवाच

न ते पिता न ते माता गुरवो वा शुचिस्मिते ।
प्रभवन्ति वरारोहे भद्रं ते शृणु मे वचः ॥ १२ ॥

भगवान् सूर्यने कहा—शुचिस्मिते ! वरारोहे ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम मेरी बात सुनो । तुम्हारे पिता, माता अथवा अन्य गुरुजन तुम्हें (इस कामसे रोकनेमें) समर्थ नहीं हैं ॥ १२ ॥

सर्वान् कामयते यस्मात् कमेर्धातोश्च भाविनि ।
तस्मात् कन्येह सुश्रोणि स्वतन्त्रा वरवर्णिनि ॥ १३ ॥

सुन्दर भाववाली कुन्ती ! 'कम्' धातुसे कन्या शब्दकी सिद्धि होती है । सुन्दरी ! यह (स्वयंवरमें आये हुए) सब वरोंमेंसे किसीको भी स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी कामनाका विषय बना सकती है; इसीलिये इस जगत्‌में उसे कन्या कहा गया है ॥

नाधर्मश्चरितः कश्चित् त्वया भवति भाविनि ।
अधर्मं कुत एवाहं चरेयं लोककाम्यया ॥ १४ ॥

कुन्ती ! मेरे साथ समागम करनेसे तुम्हारेद्वारा कोई अधर्म नहीं बन रहा है । भला ! मैं लौकिक कामवासनाके वशीभूत होकर अधर्मका वरण कैसे कर सकता हूँ ? ॥ १४ ॥

अनावृताः स्त्रियः सर्वा नराश्च वरवर्णिनि ।
स्वभाव एष लोकानां विकारोऽन्य इति स्मृतः ॥ १५ ॥

वरवर्णिनि ! मेरे लिये सभी स्त्रियाँ और पुरुष आवरण-रहित हैं; क्योंकि मैं सबका साक्षी हूँ । जो अन्य सब विकार है, यह तो प्राकृत मनुष्योंका स्वभाव माना गया है ॥ १५ ॥

सा मया सह संगम्य पुनः कन्या भविष्यसि ।
पुत्रश्च ते महाबाहुर्भविष्यति महायशाः ॥ १६ ॥

तुम मेरे साथ समागम करके पुनः कन्या ही बनी रहोगी और तुम्हें महाबाहु एवं महायशस्वी पुत्र प्राप्त होगा ॥

कुन्त्युवाच

यदि पुत्रो मम भवेत् त्वत्तः सर्वतमोनुद ।
कुण्डली कवची शूरो महाबाहुर्महाबलः ॥ १७ ॥

कुन्ती बोली—समस्त अन्धकारको दूर करनेवाले सूर्यदेव ! यदि आपसे मुझे पुत्र प्राप्त हो, तो वह महाबाहु, महाबली तथा कुण्डल और कवचसे विभूषित शूरवीर हो ॥

सूर्य उवाच

भविष्यति महाबाहुः कुण्डली दिव्यवर्मभृत् ।
उभयं चामृतमयं तस्य भद्रे भविष्यति ॥ १८ ॥

सूर्यने कहा—भद्रे ! तुम्हारा पुत्र महाबाहु, कुण्डल-धारी तथा दिव्य कवच धारण करनेवाला होगा । उसके कुण्डल और कवच दोनों अमृतमय होंगे ॥ १८ ॥

कुन्त्युवाच

यद्येतदमृतादस्ति कुण्डले वर्म चोत्तमम् ।
मम पुत्रस्य यं वै त्वं मत्त उत्पादयिष्यसि ॥ १९ ॥
अस्तु मे सङ्गमो देव यथोक्तं भगवंस्त्वया ।
[illegible] च ॥ २० ॥

कुन्ती बोली—प्रभो ! आप मेरे गर्भसे जिसको जन्म देंगे, उस मेरे पुत्रके कुण्डल और कवच यदि अमृतसे उत्पन्न हुए होंगे; तो भगवन् ! आपने जैसा कहा है, उसी रूपमें मेरा आपके साथ समागम हो । आपका वह पुत्र आपके ही समान वीर्य, रूप, धैर्य, ओज तथा धर्मसे युक्त होना चाहिये ॥

र्य उवाच

अदित्या कुण्डले राज्ञि दत्ते मे मत्तकाशिनि ।
तेऽस्य दास्यामि वै भीरु वर्म चैवेदमुत्तमम् ॥ २१ ॥

सूर्यदेवने कहा—यौवनके मदसे सुशोभित होनेवाली भीरु राजकुमारी ! माता अदितिने मुझे जो कुण्डल दिये हैं, उन्हें मैं तुम्हारे इस पुत्रको दे दूँगा । साथ ही यह उत्तम कवच भी उसे अर्पित करूँगा ॥ २१ ॥

कुन्त्युवाच

परमं भगवन्नेवं संगमिष्ये त्वया सह ।
यदि पुत्रो भवेदेवं यथा वदसि गोपते ॥ २२ ॥

कुन्ती बोली—भगवन् ! गोपते ! जैसा आप कहते हैं, वैसा ही पुत्र यदि मुझे प्राप्त हो, तो मैं आपके साथ उत्तम रीतिसे समागम करूँगी ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्त्वा तु तां कुन्तीमाविवेश विहङ्गमः ।
स्वर्भानुशत्रुर्योगात्मा नाभ्यां पस्पर्श चैव ताम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब 'बहुत अच्छा' कहकर आकाशचारी राहुशत्रु भगवान् सूर्यने योगरूपसे कुन्तीके शरीरमें प्रवेश किया और उसकी नाभिको छू दिया ॥

ततः सा विह्वलेवासीत् कन्या सूर्यस्य तेजसा ।
पपात चाथ सा देवी शयने मूढचेतना ॥ २४ ॥

तब वह राजकन्या सूर्यके तेजसे विह्वल और अचेत-सी होकर शय्यापर गिर पड़ी ॥ २४ ॥

सूर्य उवाच

साधयिष्यामि सुश्रोणि पुत्रं वै जनयिष्यसि ।
सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठं कन्या चैव भविष्यसि ॥ २५ ॥

सूर्यने कहा—सुन्दरी ! मैं ऐसी चेष्टा करूँगा, जिससे तुम समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पुत्रको जन्म दोगी और कन्या ही बनी रहोगी ॥ २५ ॥

ततः सा व्रीडिता बाला तदा सूर्यमथाब्रवीत् ।
एवमस्त्विति राजेन्द्र प्रस्थितं भूरिवर्चसम् ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! तब संगमके लिये उद्यत हुए महातेजस्वी सूर्यदेवकी ओर देखकर लज्जित हुई उस राजकन्याने उनसे कहा—'प्रभो ! ऐसा ही हो' ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इति स्मोक्ता कुन्तिराजात्मजा सा
विवस्वन्तं याचमाना सलज्जा ।
तस्मिन् पुण्ये शयनीये पपात
मोहाविष्टा भज्यमाना लतेव ॥ २७ ॥

ऐसा कहकर कुन्तिनरेशकी कन्या पृथा भगवान् सूर्यसे पुत्रके लिये प्रार्थना करती हुई अत्यन्त लज्जा और मोहके वशीभूत होकर कटी हुई लताकी भाँति उस पवित्र शय्यापर गिर पड़ी ॥

तिग्मांशुस्तां तेजसा मोहयित्वा
योगेनाविश्यात्मसंस्थां चकार ।
न चैवैनां दूषयामास भानुः
संज्ञां लेभे भूय एवाथ बाला ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् सूर्यदेवने उसे अपने तेजसे मोहित कर दिया और योगशक्तिके द्वारा उसके भीतर प्रवेश करके अपना तेजोमय वीर्य स्थापित कर दिया । उन्होंने कुन्तीको दूषित नहीं किया—उसका कन्याभाव अछूता ही रहा । तदनन्तर वह राजकन्या फिर सचेत हो गयी ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकुन्तीसमागमे सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्यकुन्ती-समागमविषयक तीन सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०७ ॥

अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कर्णका जन्म, कुन्तीका उसे पिटारीमें रखकर जलमें बहा देना और विलाप करना

वैशम्पायन उवाच

ततो गर्भः समभवत् पृथायाः पृथिवीपते ।
शुक्ले दशोत्तरे पक्षे तारापतिरिवाम्बरे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार आकाशमें जैसे चन्द्रमाका उदय होता है, उसी प्रकार ग्यारहवें मास-* के शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको कुन्तीके उदरमें भगवान् सूर्यके द्वारा गर्भ स्थापित हुआ ॥ १ ॥

* यहाँ मूल पाठमें मासका निर्देश करनेके लिये 'दशोत्तरे' यह पद आया है, जिसका अर्थ है ग्यारहवें महीनेमें । यह ग्यारहवाँ महीना कौन-सा है ? इस विषयमें दो प्रकारके मत उपलब्ध होते हैं । एक मतके अनुसार यहाँ 'माघ' मास ग्रहण किया जाना चाहिये; कारण कि वर्षका आरम्भ चैत्रसे होता है, अतः इस क्रमसे गणना करनेपर 'माघ' ही ग्यारहवाँ मास निश्चित होता है । दूसरे मत-वालोंका कहना यह है कि पहले मार्गशीर्ष माससे वर्षकी गणना होती थी । इसीलिये वह 'अग्रहायण' (वर्षका प्रथम मास) कहा जाता है । 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' इस वचनसे भी यही सूचित होता है । इस क्रमसे गणना करनेपर 'आश्विन मास' ग्यारहवाँ सिद्ध होता है ।

सा बान्धवभयाद् बाला गर्भं तं विनिगूहती ।
धारयामास सुश्रोणी न चैनां बुबुधे जनः ॥ २ ॥

सुन्दर कटिप्रदेशवाली कुन्ती भाई-बन्धुओंके भयसे उस गर्भको छिपाती हुई धारण करने लगी । अतः कोई भी मनुष्य नहीं जान सका कि यह गर्भवती है ॥ २ ॥

न हि तां वेद नार्यन्या काचिद् धात्रेयिकामृते ।
कन्यापुरगतां बालां निपुणां परिरक्षणे ॥ ३ ॥

एक धायके सिवा दूसरी कोई स्त्री भी इसका पता न पा सकी । कुन्ती सदा कन्याओंके अन्तःपुरमें रहती थी एवं अपने रहस्यको छिपानेमें वह अत्यन्त निपुण थी ॥ ३ ॥

ततः कालेन सा गर्भं सुषुवे वरवर्णिनी ।
कन्यैव तस्य देवस्य प्रसादादमरप्रभम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर सुन्दरी पृथाने यथासमय भगवान् सूर्यके कृपाप्रसादसे स्वयं कन्या ही बनी रहकर देवताओंके समान तेजस्वी एक पुत्रको जन्म दिया ॥ ४ ॥

तथैवाबद्धकवचं कनकोज्ज्वलकुण्डलम् ।
हर्यक्षं वृषभस्कन्धं यथास्य पितरं तथा ॥ ५ ॥

उसने अपने पिताके ही समान शरीरपर कवच बाँध रक्खा था और उसके कानोंमें सोनेके बने हुए दो दिव्य कुण्डल जगमगा रहे थे । उस बालककी आँखें सिंहके समान और कंधे वृषभ-जैसे थे ॥ ५ ॥

जातमात्रं च तं गर्भं धात्र्या सम्मन्त्र्य भाविनी ।
मञ्जूषायां समाधाय स्वास्तीर्णायां समन्ततः ॥ ६ ॥
मधूच्छिष्टस्थितायां सा सुखायां रुदती तथा ।
श्लक्ष्णायां सुपिधानायामश्वनद्यामवासृजत् ॥ ७ ॥

उस बालकके पैदा होते ही भामिनी कुन्तीने धायसे सलाह लेकर एक पिटारी मँगवायी और उसमें सब ओर सुन्दर मुलायम बिछौने बिछा दिये । इसके बाद उस पिटारीमें चारों ओर मोम चुपड़ दिया, जिससे उसके भीतर जल न प्रवेश कर सके । जब वह सब तरहसे चिकनी और सुखद हो गयी, तब उसके भीतर उस बालकको सुला दिया और उसका सुन्दर ढक्कन बंद कर दिया तथा रोते-रोते उस पिटारीको अश्वनदीमें छोड़ दिया* ॥ ६-७ ॥

जानती चाप्यकर्तव्यं कन्याया गर्भधारणम् ।
पुत्रस्नेहेन सा राजन् करुणं पर्यदेवयत् ॥ ८ ॥

राजन् ! यद्यपि वह यह जानती थी कि किसी कन्याके लिये गर्भधारण करना सर्वथा निषिद्ध और अनुचित है, तथापि पुत्रस्नेह उमड़ आनेसे कुन्ती वहाँ करुणाजनक विलाप करने लगी ॥ ८ ॥

समुत्सृजन्ती मञ्जूषामश्वनद्यां तदा जले ।
उवाच रुदती कुन्ती यानि वाक्यानि तच्छृणु ॥ ९ ॥

उस समय अश्वनदीके जलमें उस पिटारीको छोड़ते समय रोती हुई कुन्तीने जो बातें कहीं, उन्हें बताता हूँ; सुनो ॥

स्वस्ति ते चान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यश्च पुत्रक ।
दिव्येभ्यश्चैव भूतेभ्यस्तथा तोयचराश्च ये ॥ १० ॥

वह बोली—'मेरे बच्चे ! जलचर, थलचर, आकाशचारी तथा दिव्य प्राणी तेरा मङ्गल करें ॥ १० ॥

शिवास्ते सन्तु पन्थानो मा च ते परिपन्थिनः ।
आगताश्च तथा पुत्र भवन्त्वद्रोहचेतसः ॥ ११ ॥

'तेरा मार्ग मङ्गलमय हो । बेटा ! तेरे पास शत्रु न आयें । जो आ जायँ, उनके मनमें तेरे प्रति द्रोहकी भावना न रहे ॥ ११ ॥

पातु त्वां वरुणो राजा सलिले सलिलेश्वरः ।
अन्तरिक्षेऽन्तरिक्षस्थः पवनः सर्वगस्तथा ॥ १२ ॥

'जलमें उसके स्वामी राजा वरुण तेरी रक्षा करें । अन्तरिक्षमें वहाँ रहनेवाले सर्वगामी वायुदेव तेरी रक्षा करें ॥

पिता त्वां पातु सर्वत्र तपनस्तपतां वरः ।
येन दत्तोऽसि मे पुत्र दिव्येन विधिना किल ॥ १३ ॥

'पुत्र ! जिन्होंने दिव्य रीतिसे तुझे मेरे गर्भमें स्थापित किया है वे तपनेवालोंमें श्रेष्ठ तेरे पिता भगवान् सूर्य सर्वत्र तेरा पालन करें ॥ १३ ॥

आदित्या वसवो रुद्राः साध्या विश्वे च देवताः ।
मरुतश्च सहेन्द्रेण दिशश्च सदिगीश्वराः ॥ १४ ॥
रक्षन्तु त्वां सुराः सर्वे समेषु विषमेषु च ।
वेत्स्यामि त्वां विदेशेऽपि कवचेनाभिसूचितम् ॥ १५ ॥

'आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, विश्वेदेव, इन्द्रसहित मरुद्गण, दिक्पालोंसहित दिशाएँ तथा समस्त देवता सभी सम-विषम स्थानोंमें तेरी रक्षा करें । यदि विदेशमें भी तू जीवित रहेगा, तो मैं इन कवच-कुण्डल आदि चिह्नोंसे उपलक्षित होनेपर तुझे पहचान लूँगी ॥ १४-१५ ॥

धन्यस्ते पुत्र जनको देवो भानुर्विभावसुः ।
यस्त्वां द्रक्ष्यति दिव्येन चक्षुषा वाहिनीगतम् ॥ १६ ॥

'बेटा ! तेरे पिता भगवान् भुवनभास्कर धन्य हैं, जो अपनी दिव्य दृष्टिसे नदीकी धारामें स्थित हुए तुझको देखेंगे ॥ १६ ॥

धन्या सा प्रमदा या त्वां पुत्रत्वे कल्पयिष्यति ।
यस्यास्त्वं तृषितः पुत्र स्तनं पास्यसि देवज ॥ १७ ॥

'देवपुत्र ! वह रमणी धन्य है, जो तुझे अपना पुत्र बनाकर पालेगी और तू भूख-प्यास लगनेपर जिसके स्तनोंका दूध पियेगा ॥ १७ ॥

को नु स्वप्नस्तया दृष्टो या त्वामादित्यवर्चसम् ।
दिव्यवर्मसमायुक्तं दिव्यकुण्डलभूषितम् ॥ १८ ॥

* इस प्रकार पिटारीमें बंद करके बहा देनेपर भी वह बालक इसलिये नहीं मरा कि वह अमृतसे उत्पन्न कवच और कुण्डल धारण किये हुए था । देखिये इसी अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक ।

पद्मायतविशालाक्षं पद्मताम्रदलोज्ज्वलम् ।
सुललाटं सुकेशान्तं पुत्रत्वे कल्पयिष्यति ॥ १९ ॥

'उस भाग्यशालिनी नारीने कौन-सा ऐसा शुभ स्वप्न देखा होगा, जो सूर्यके समान तेजस्वी, दिव्य कवचसे संयुक्त, दिव्य कुण्डलभूषित, कमलदलके समान विशाल नेत्रवाले, लाल कमलदलके सदृश गौर कान्तिवाले, सुन्दर ललाट और मनोहर केशसमूहसे विभूषित तुझ-जैसे दिव्य बालकको अपना पुत्र बनायेगी ॥ १८-१९ ॥

धन्या द्रक्ष्यन्ति पुत्र त्वां भूमौ संसर्पमाणकम् ।
अव्यक्तकलवाक्यानि वदन्तं रेणुगुण्ठितम् ॥ २० ॥

'वत्स ! जब तू धरतीपर पेटके बल सरकता फिरेगा और समझमें न आनेवाली मधुर तोतली बोली बोलेगा, उस समय तेरे धूलिधूसरित अङ्गोंको जो लोग देखेंगे, वे धन्य हैं ॥ २० ॥

धन्या द्रक्ष्यन्ति पुत्र त्वां पुनर्यौवनगोचरम् ।
हिमवद्वनसम्भूतं सिंहं केसरिणं यथा ॥ २१ ॥

'पुत्र ! हिमालयके जंगलमें उत्पन्न हुए केसरी सिंहके समान तुझे जवानीमें जो लोग देखेंगे, वे धन्य हैं' ॥

एवं बहुविधं राजन् विलप्य करुणं पृथा ।
अवासृजत मञ्जूषामश्वनद्यास्तदा जले ॥ २२ ॥

राजन् ! इस तरह बहुत-सी बातें कहकर करुण-विलाप करती हुई कुन्तीने उस समय अश्वनदीके जलमें वह पिटारी छोड़ दी ॥ २२ ॥

रुदती पुत्रशोकार्ता निशीथे कमलेक्षणा ।
धात्र्या सह पृथा राजन् पुत्रदर्शनलालसा ॥ २३ ॥

जनमेजय ! आधी रातके समय कमलनयनी कुन्ती पुत्रशोकसे आतुर हो उसके दर्शनकी लालसासे धात्रीके साथ नदीके तटपर देरतक रोती रही ॥ २३ ॥

विसर्जयित्वा मञ्जूषां सम्बोधनभयात् पितुः ।
विवेश राजभवनं पुनः शोकातुरा ततः ॥ २४ ॥

पेटीको पानीमें बहाकर, कहीं पिताजी जग न जायँ, इस भयसे वह शोकसे आतुर हो पुनः राजभवनमें चली गयी ॥ २४ ॥

मञ्जूषा त्वश्वनद्याः सा ययौ चर्मण्वतीं नदीम् ।
चर्मण्वत्याश्च यमुनां ततो गङ्गां जगाम ह ॥ २५ ॥

वह पिटारी अश्वनदीसे चर्मण्वती (चम्बल) नदीमें गयी। चर्मण्वतीसे यमुनामें और वहाँसे गङ्गामें जा पहुँची ॥ २५ ॥

गङ्गायाः सूतविषयं चम्पामनुययौ पुरीम् ।
स मञ्जूषागतो गर्भस्तरङ्गैरुह्यमानकः ॥ २६ ॥

पिटारीमें सोया हुआ वह बालक गङ्गाकी लहरोंसे बहाया जाता हुआ चम्पापुरीके पास सूतराज्यमें जा पहुँचा॥

अमृतादुत्थितं दिव्यं तनुवर्म सकुण्डलम् ।
धारयामास तं गर्भं दैवं च विधिनिर्मितम् ॥ २७ ॥

उसके शरीरका दिव्य कवच और कानोंके कुण्डल—ये अमृतसे प्रकट हुए थे। वे ही विधाताद्वारा रचित उस देवकुमारको जीवित रख रहे थे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि कर्णपरित्यागे अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें कर्णपरित्यागविषयक तीन सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०८ ॥

नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अधिरथ सूत तथा उसकी पत्नी राधाको बालक कर्णकी प्राप्ति, राधाके द्वारा उसका पालन, हस्तिनापुरमें उसकी शिक्षा-दीक्षा तथा कर्णके पास इन्द्रका आगमन

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु धृतराष्ट्रस्य वै सखा ।
सूतोऽधिरथ इत्येव सदारो जाह्नवीं ययौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय राजा धृतराष्ट्रका मित्र अधिरथ सूत अपनी स्त्रीके साथ गङ्गाजीके तटपर गया ॥ १ ॥

तस्य भार्याभवद् राजन् रूपेणासदृशी भुवि ।
राधा नाम महाभागा न सा पुत्रमविन्दत ॥ २ ॥

राजन् ! उसकी परम सौभाग्यवती पत्नी इस भूतलपर अनुपम सुन्दरी थी। उसका नाम था राधा। उसके कोई पुत्र नहीं हुआ था ॥ २ ॥

अपत्यार्थं परं यत्नमकरोच्च विशेषतः ।
सा ददर्शाथ मञ्जूषामुह्यमानां यदृच्छया ॥ ३ ॥

राधा पुत्रप्राप्तिके लिये विशेष यत्न करती रहती थी। दैवयोगसे उसीने गङ्गाजीके जलमें बहती हुई उस पिटारीको देखा ॥ ३ ॥

दत्तरक्षाप्रतिसरामन्वालम्भनशोभनाम् ।
ऊर्मीतरङ्गैर्जाह्नव्याः समानीतामुपह्वरम् ॥ ४ ॥

पिटारीके ऊपर उसकी रक्षाके लिये लता लपेट दी गयी थी और सिन्दूरका लेप लगा होनेसे उसकी बड़ी शोभा हो रही थी। गङ्गाकी तरङ्गोंके थपेड़े खाकर वह पिटारी तटके समीप आ लगी ॥ ४ ॥

सा तु कौतूहलात् प्राप्तां ग्राहयामास भाविनी ।
ततो निवेदयामास सूतस्याधिरथस्य वै ॥ ५ ॥

भामिनी राधाने कौतूहलवश उस पिटारीको सेवकोंसे पकड़वा मँगाया और अधिरथ सूतको इसकी सूचना दी ॥ ५ ॥

स तामुद्धृत्य मञ्जूषामुत्सार्य जलमन्तिकात् ।
यन्त्रैरुद्घाटयामास सोऽपश्यत् तत्र बालकम् ॥ ६ ॥

अधिरथने उस पिटारीको पानीसे बाहर निकालकर जब यन्त्रों (औजारों) द्वारा उसे खोला, तब उसके भीतर एक बालकको देखा ॥ ६ ॥

तरुणादित्यसंकाशं हेमवर्मधरं तथा ।
मृष्टकुण्डलयुक्तेन वदनेन विराजता ॥ ७ ॥

वह बालक प्रातःकालीन सूर्यके समान तेजस्वी था । उसने अपने अङ्गोंमें स्वर्णमय कवच धारण कर रक्खा था । उसका मुख कानोंमें पड़े हुए दो उज्ज्वल कुण्डलोंसे प्रकाशित हो रहा था ॥ ७ ॥

स सूतो भार्यया सार्धं विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
अङ्कमारोप्य तं बालं भार्यां वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

उसे देखकर पत्नीसहित सूतके नेत्रकमल आश्चर्य एवं प्रसन्नतासे खिल उठे । उसने बालकको गोदमें लेकर अपनी पत्नीसे कहा—॥ ८ ॥

इदमत्यद्भुतं भीरु यतो जातोऽस्मि भाविनि ।
दृष्टवान् देवगर्भोऽयं मन्येऽस्मान् समुपागतः ॥ ९ ॥

'भीरु ! भाविनि ! जबसे मैं पैदा हुआ हूँ, तबसे आज ही मैंने ऐसा अद्भुत बालक देखा है । मैं समझता हूँ, यह कोई देवबालक ही हमें भाग्यवश प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥

अनपत्यस्य पुत्रोऽयं देवैर्दत्तो ध्रुवं मम ।
इत्युक्त्वा तं ददौ पुत्रं राधायै स महीपते ॥ १० ॥

'मुझ पुत्रहीनको अवश्य ही देवताओंने दया करके यह पुत्र प्रदान किया है ।' राजन् ! ऐसा कहकर अधिरथने वह पुत्र राधाको दे दिया ॥ १० ॥

प्रतिजग्राह तं राधा विधिवद् दिव्यरूपिणम् ।
पुत्रं कमलगर्भाभं देवगर्भं श्रिया वृतम् ॥ ११ ॥
(स्तन्यं समास्रवच्चास्या दैवादित्यथ निश्चयः ।)

राधाने भी कमलके भीतरी भागके समान कान्तिमान्, शोभाशाली तथा दिव्यरूपधारी उस देवबालकको विधिपूर्वक ग्रहण किया । निश्चय ही दैवकी प्रेरणासे राधाके स्तनोंसे दूध भी झरने लगा ॥ ११ ॥

पुपोष चैनं विधिवद् ववृधे स च वीर्यवान् ।
ततःप्रभृति चाप्यन्ये प्राभवन्नौरसाः सुताः ॥ १२ ॥

उसने विधिपूर्वक उस बालकका पालन-पोषण किया और वह धीरे-धीरे सबल होकर दिनोंदिन बढ़ने लगा । तभीसे उस सूत-दम्पतिके और भी अनेक औरस पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १२ ॥

वसुवर्मधरं दृष्ट्वा तं बालं हेमकुण्डलम् ।
नामास्य वसुषेणेति ततश्चक्रुर्द्विजातयः ॥ १३ ॥

तदनन्तर वसु (सुवर्ण) मय कवच धारण किये तथा सोनेके ही कुण्डल पहने हुए उस बालकको देखकर ब्राह्मणोंने उसका नाम 'वसुषेण' रक्खा ॥ १३ ॥

एवं स सूतपुत्रत्वं जगामामितविक्रमः ।
वसुषेण इति ख्यातो वृष इत्येव च प्रभुः ॥ १४ ॥

इस प्रकार वह अमितपराक्रमी एवं सामर्थ्यशाली बालक सूतपुत्र बन गया । लोकमें 'वसुषेण' और 'वृष' इन दो नामोंसे उसकी प्रसिद्धि हुई ॥ १४ ॥

सूतस्य ववृधेऽङ्गेषु श्रेष्ठः पुत्रः स वीर्यवान् ।
चारेण विदितश्चासीत् पृथया दिव्यवर्मभृत् ॥ १५ ॥

अधिरथ सूतका वह पराक्रमी श्रेष्ठ पुत्र अङ्गदेशमें पालित होकर दिनोंदिन बढ़ने लगा । कुन्तीने गुप्तचर भेजकर मालूम कर लिया था कि मेरा दिव्य कवचधारी पुत्र अधिरथके यहाँ पल रहा है ॥ १५ ॥

सूतस्त्वधिरथः पुत्रं विवृद्धं समयेन तम् ।
दृष्ट्वा प्रस्थापयामास पुरं वारणसाह्वयम् ॥ १६ ॥

अधिरथ सूतने अपने पुत्रको बड़ा हुआ देख उसे यथासमय हस्तिनापुर भेज दिया ॥ १६ ॥

तत्रोपसदनं चक्रे द्रोणस्येष्वस्त्रकर्मणि ।
सख्यं दुर्योधनेनैवमगमत् स च वीर्यवान् ॥ १७ ॥

वहाँ उसने धनुर्वेदकी शिक्षा लेनेके लिये आचार्य द्रोणकी शिष्यता स्वीकार की । इस प्रकार पराक्रमी कर्णकी दुर्योधन-के साथ मित्रता हो गयी ॥ १७ ॥

द्रोणात् कृपाच्च रामाच्च सोऽस्त्रग्रामं चतुर्विधम् ।
लब्ध्वा लोकेऽभवत् ख्यातः परमेष्वासतां गतः॥१८॥

वह द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा परशुरामसे चारों प्रकार-की अस्त्रविद्या सीखकर संसारमें एक महान् धनुर्धरके रूपमें विख्यात हुआ ॥ १८ ॥

संधाय धार्तराष्ट्रेण पार्थानां विप्रिये रतः ।
योद्धुमाशंसते नित्यं फाल्गुनेन महात्मना ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे मिलकर वह कुन्तीकुमारोंका अनिष्ट करनेमें लगा रहता और सदा महामना अर्जुनसे युद्ध करनेकी इच्छा व्यक्त किया करता था ॥ १९ ॥

सदा हि तस्य स्पर्धाऽऽसीदर्जुनेन विशाम्पते ।
अर्जुनस्य च कर्णेन यतो दृष्टो बभूव सः ॥ २० ॥

राजन् ! अर्जुन और कर्णने जबसे एक दूसरेको देखा था, तभीसे कर्ण अर्जुनके साथ स्पर्धा रखता था और अर्जुन भी कर्णके साथ बड़ी स्पर्धा रखते थे ॥ २० ॥

एतद् गुह्यं महाराज सूर्यस्यासीन्न संशयः ।
यः सूर्यसम्भवः कर्णः कुन्त्यां सूतकुले तथा ॥ २१ ॥

महाराज ! निःसंदेह सूर्यका यही वह गुप्त रहस्य है कि कुन्तीके गर्भसे सूर्यद्वारा उत्पन्न कर्ण सूतकुलमें पला था ॥

तं तु कुण्डलिनं दृष्ट्वा वर्मणा च समन्वितम् ।
अवध्यं समरे मत्वा पर्यतप्यद् युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥

उसे दिव्य कुण्डल और कवचसे संयुक्त देख युद्धमें अवध्य जानकर राजा युधिष्ठिर सदा संतप्त होते रहते थे ॥२२॥

यदा च कर्णो राजेन्द्र भानुमन्तं दिवाकरम् ।
स्तौति मध्यन्दिने प्राप्ते प्राञ्जलिः सलिले स्थितः ॥ २३ ॥
तत्रैनमुपतिष्ठन्ति ब्राह्मणा धनहेतुना ।
नादेयं तस्य तत्काले किञ्चिदस्ति द्विजातिषु ॥ २४ ॥

राजेन्द्र ! जब कर्ण दोपहरके समय जलमें खड़ा हो हाथ जोड़कर अंशुमाली भगवान् दिवाकरकी स्तुति करता था, उस समय बहुत-से ब्राह्मण धनके लिये उसके पास आते थे । उस अवसरपर उसके पास कोई ऐसी वस्तु नहीं थी, जो ब्राह्मणोंके लिये अदेय हो ॥ २३-२४ ॥

तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा भिक्षां देहीत्युपस्थितः ।
स्वागतं चेति राधेयस्तमथ प्रत्यभाषत ॥ २५ ॥

इन्द्र भी उसी समय ब्राह्मण बनकर वहाँ उपस्थित हुए और बोले—'मुझे भिक्षा दो ।' यह सुनकर राधानन्दन कर्णने उत्तर दिया—'विप्रवर ! आपका स्वागत है' ॥२५॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि राधाकर्णप्राप्तौ नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें राधाको कर्णकी प्राप्तिविषयक तीन सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३०९॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

इन्द्रका कर्णको अमोघ शक्ति देकर बदलेमें उसके कवच-कुण्डल लेना

वैशम्पायन उवाच

देवराजमनुप्राप्तं ब्राह्मणच्छद्मना वृतम् ।
दृष्ट्वा स्वागतमित्याह न बुबोधास्य मानसम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवराजको ब्राह्मणके छद्मवेषमें छिपकर आये देख कर्णने कहा—'ब्रह्मन् ! आपका स्वागत है ।' परंतु कर्णको उस समय इन्द्रके मनोभावका कुछ भी पता न चला ॥ १ ॥

हिरण्यकण्ठीः प्रमदा ग्रामान् वा बहुगोकुलान् ।
किं ददानीति तं विप्रमुवाचाधिरथिस्ततः ॥ २ ॥

तब अधिरथकुमारने उन ब्राह्मणरूपधारी इन्द्रसे कहा—'विप्रवर ! मैं आपको क्या दूँ ? सोनेके कण्ठोंसे विभूषित युवती स्त्रियाँ अथवा बहुसंख्यक गोधनोंसे भरे हुए अनेक ग्राम ?'॥

ब्राह्मण उवाच

हिरण्यकण्ठ्यः प्रमदा यच्चान्यत् प्रीतिवर्धनम् ।
नाहं दत्तमिहेच्छामि तदर्थिभ्यः प्रदीयताम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मण बोले—वीरवर ! तुम्हारी दी हुई सोनेके कंठोंसे विभूषित युवती स्त्रियाँ तथा दूसरी आनन्दवर्धक वस्तुएँ मैं नहीं लेना चाहता । इन वस्तुओंको उन याचकोंको दे दो, जो इनकी अभिलाषा लेकर आये हों ॥ ३ ॥

यदेतत् सहजं वर्म कुण्डले च तवानघ ।
एतदुत्कृत्य मे देहि यदि सत्यव्रतो भवान् ॥ ४ ॥

अनघ ! यदि तुम सत्यव्रती हो, तो ये जो तुम्हारे शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए कवच और कुण्डल हैं, इन्हें काटकर मुझे दे दो ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं क्षिप्रं त्वया दत्तं परंतप ।
एष मे सर्वलाभानां लाभः परमको मतः ॥ ५ ॥

परंतप ! तुम्हारा दिया हुआ यही दान मैं शीघ्रतापूर्वक लेना चाहता हूँ । यही मेरे लिये सम्पूर्ण लाभोंमें सबसे बढ़कर लाभ है ॥ ५ ॥

कर्ण उवाच

अवनिं प्रमदा गाश्च निवापं बहुवार्षिकम् ।
तत् ते विप्र प्रदास्यामि न तु वर्म सकुण्डलम् ॥ ६ ॥

कर्णने कहा—ब्रह्मन् ! यदि आप घर बनानेके लिये भूमि, गृहस्थी बसानेके लिये सुन्दरी तरुणी स्त्रियाँ, बहुत-सी गौएँ, खेत और बहुत वर्षोंतक चालू रहनेवाली जीवनवृत्ति लेना चाहें, तो दे दूँगा; परंतु कवच और कुण्डल नहीं दे सकता ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्याच्यमानः स तु द्विजः ।
कर्णेन भरतश्रेष्ठ नान्यं वरमयाचत ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार बहुत-सी बातें कहकर कर्णके प्रार्थना करनेपर भी उन ब्राह्मणदेवने दूसरा कोई वर नहीं माँगा ॥ ७ ॥

सान्त्वितश्च यथाशक्ति पूजितश्च यथाविधि ।
न चान्यं स द्विजश्रेष्ठः कामयामास वै वरम् ॥ ८ ॥

कर्णने उन्हें यथाशक्ति बहुत समझाया एवं विधिपूर्वक उनका पूजन किया । तथापि उन द्विजश्रेष्ठने और किसी वरको लेनेसे अनिच्छा प्रकट कर दी ॥ ८ ॥

यदा नान्यं प्रवृणुते वरं वै द्विजसत्तमः ।
(विनास्य सहजं वर्म कुण्डले च विशाम्पते)।
तदैनमब्रवीद् भूयो राधेयः प्रहसन्निव ॥ ९ ॥

राजन् ! जब उन द्विजश्रेष्ठने कर्णके सहज कवच और

कुण्डलके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं माँगी, तब राधानन्दन कर्णने उनसे हँसते हुए-से कहा—॥ ९ ॥

सहजं वर्म मे विप्र कुण्डले चामृतोद्भवे ।
तेनावध्योऽस्मि लोकेषु ततो नैतज्जहाम्यहम् ॥ १० ॥

'विप्रवर ! कवच तो मेरे शरीरके साथ ही उत्पन्न हुआ है और दोनों कुण्डल भी अमृतसे प्रकट हुए हैं। इन्हींके कारण मैं संसारमें अवध्य बना हुआ हूँ; अतः मैं इन सब वस्तुओंको त्याग नहीं सकता ॥ १० ॥

विशालं पृथिवीराज्यं क्षेमं निहतकण्टकम् ।
प्रतिगृह्णीष्व मत्तस्त्वं साधु ब्राह्मणपुङ्गव ॥ ११ ॥

'ब्राह्मणप्रवर ! आप मुझसे समूची पृथ्वीका कल्याणमय, अकण्टक, विशाल एवं उत्तम साम्राज्य ले लें ॥ ११ ॥

कुण्डलाभ्यां विमुक्तोऽहं वर्मणा सहजेन च ।
गमनीयो भविष्यामि शत्रूणां द्विजसत्तम ॥ १२ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! इस सहज कवच और दोनों कुण्डलोंसे वञ्चित हो जानेपर मैं शत्रुओंका वध्य हो जाऊँगा (अतः इन्हें न माँगिये)' ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

यदान्यं न वरं वव्रे भगवान् पाकशासनः ।
ततः प्रहस्य कर्णस्तं पुनरित्यब्रवीद् वचः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इतना अनुनय-विनय करनेपर भी जब पाकशासन भगवान् इन्द्रने दूसरा कोई वर नहीं माँगा, तब कर्णने हँसकर पुनः इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

विदितो देवदेवेश प्रागेवासि मम प्रभो ।
न तु न्याय्यं मया दातुं तव शक्र वृथा वरम् ॥ १४ ॥

'देवदेवेश्वर ! प्रभो ! आप पधार रहे हैं, यह बात मुझे पहले ही ज्ञात हो गयी थी । पर देवेन्द्र ! मैं आपको निष्फल वर दूँ, यह न्यायसंगत नहीं है ॥ १४ ॥

त्वं हि देवेश्वरः साक्षात् त्वया देयो वरो मम ।
अन्येषां चैव भूतानामीश्वरो ह्यसि भूतकृत् ॥ १५ ॥

'आप साक्षात् देवेश्वर हैं । उचित तो यही है कि आप मुझे वर दें; क्योंकि आप अन्य सब भूतोंके ईश्वर तथा उन्हें उत्पन्न करनेवाले हैं ॥ १५ ॥

यदि दास्यामि ते देव कुण्डले कवचं तथा ।
वध्यतामुपयास्यामि त्वं च शक्रावहास्यताम् ॥ १६ ॥
तस्माद् विनिमयं कृत्वा कुण्डले वर्म चोत्तमम् ।
हरस्व शक्र कामं मे न दद्यामहमन्यथा ॥ १७ ॥

'इन्द्रदेव ! यदि मैं आपको अपने दोनों कुण्डल और कवच दे दूँगा, तो मैं तो शत्रुओंका वध्य हो जाऊँगा और संसारमें आपकी हँसी होगी । इसलिये (कर्णने सूर्यकी आज्ञाको याद करके कहा—) शक्र ! आप कुछ बदला देकर इच्छानुसार मेरे कुण्डल और उत्तम कवच ले जाइये; अन्यथा मैं इन्हें नहीं दे सकता' ॥ १६-१७ ॥

शक्र उवाच

विदितोऽहं रवेः पूर्वमायानेव तवान्तिकम् ।
तेन ते सर्वमाख्यातमेवमेतन्न संशयः ॥ १८ ॥

इन्द्र बोले—कर्ण ! जब मैं तुम्हारे पास आ रहा था, उसके पहले ही सूर्यदेवको यह बात मालूम हो गयी थी । इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने ही तुमसे सारी बातें बता दी हैं ॥ १८ ॥

काममस्तु तथा तात तव कर्ण यथेच्छसि ।
वर्जयित्वा तु मे वज्रं प्रवृणीष्व यथेच्छसि ॥ १९ ॥

तात कर्ण ! तुम्हारी रुचिके अनुसार इन वस्तुओंका परिवर्तन ही हो जाय । मेरे वज्रको छोड़कर तुम जो चाहो, वही आयुध मुझसे माँग लो ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कर्णः प्रहृष्टस्तु उपसंगम्य वासवम् ।
अमोघां शक्तिमभ्येत्य वव्रे सम्पूर्णमानसः ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब कर्ण अत्यन्त प्रसन्न होकर देवराज इन्द्रके पास गया और सफलमनोरथ होकर उसने उनकी अमोघ शक्ति माँगी ॥ २० ॥

कर्ण उवाच

वर्मणा कुण्डलाभ्यां च शक्तिं मे देहि वासव ।
अमोघां शत्रुसंघानां घातिनीं पृतनामुखे ॥ २१ ॥

कर्ण बोला—वासव ! मेरे कवच और कुण्डल लेकर आप मुझे अपनी वह अमोघ शक्ति प्रदान कीजिये, जो सेनाके अग्रभागमें शत्रुसमुदायका संहार करनेवाली है ॥ २१ ॥

ततः संचिन्त्य मनसा मुहूर्तमिव वासवः ।
शक्त्यर्थं पृथिवीपाल कर्णं वाक्यमथाब्रवीत् ॥ २२ ॥

राजन् ! तब इन्द्रने शक्तिके विषयमें दो घड़ीतक मन-ही-मन विचार करके कर्णसे इस प्रकार कहा— ॥ २२ ॥

कुण्डले मे प्रयच्छस्व वर्म चैव शरीरजम् ।
गृहाण कर्ण शक्तिं त्वमनेन समयेन च ॥ २३ ॥

'कर्ण ! तुम मुझे अपने दोनों कुण्डल और सहज कवच दे दो और मेरी यह शक्ति ग्रहण कर लो । इसी शर्तके अनुसार हमलोगोंमें इन वस्तुओंका विनिमय (बदला) हो जाय ॥

अमोघा हन्ति शतशः शत्रून् मम करच्युता ।
पुनश्च पाणिमभ्येति मम दैत्यान् विनिघ्नतः ॥ २४ ॥

'सूतनन्दन ! दैत्योंका संहार करते समय मेरे हाथसे छूटनेपर यह अमोघ शक्ति सैकड़ों शत्रुओंको मार देती है और पुनः मेरे हाथमें चली आती है ॥ २४ ॥

सेयं तव करप्राप्ता हत्वैकं रिपुमूर्जितम् ।
गर्जन्तं प्रतपन्तं च मामेवैष्यति सूतज ॥ २५ ॥

'वही शक्ति तुम्हारे हाथमें जाकर किसी एक तेजस्वी, ओजस्वी, प्रतापी तथा गर्जना करनेवाले शत्रुको मारकर [illegible] मेरे ही पास [illegible] ॥ २५ ॥

इन्द्रका शक्ति-दान



युधिष्ठिर और बगुलारूपधारी यक्ष

कर्ण उवाच

एकमेवाहमिच्छामि रिपुं हन्तुं महाहवे।
गर्जन्तं प्रतपन्तं च यतो मम भयं भवेत् ॥ २६ ॥

कर्ण बोला—देवेन्द्र! मैं महासमरमें अपने एक ही शत्रुको इसके द्वारा मारना चाहता हूँ, जो बहुत गर्जना करनेवाला और प्रतापी है तथा जिससे मुझे सदा भय बना रहता है ॥ २६ ॥

इन्द्र उवाच

एकं हनिष्यसि रिपुं गर्जन्तं बलिनं रणे।
त्वं तु यं प्रार्थयस्येकं रक्ष्यते स महात्मना ॥ २७ ॥
यमाहुर्वेदविद्वांसो वराहमपराजितम्।
नारायणमचिन्त्यं च तेन कृष्णेन रक्ष्यते ॥ २८ ॥

इन्द्रने कहा—कर्ण! तुम (इस शक्तिसे) रणभूमिमें गर्जना करनेवाले किसी एक बलवान् शत्रुको मार सकोगे, परंतु इस समय तुम जिस एक शत्रुको लक्ष्य करके यह अमोघ शक्ति माँग रहे हो, वह तो उन परमात्माद्वारा सुरक्षित है, जिन्हें वेदवेत्ता विद्वान् पुरुषोत्तम अपराजित, हरि तथा अचिन्त्य-स्वरूप नारायण कहते हैं। वे स्वयं श्रीकृष्ण हैं, जिनके द्वारा उस वीरकी रक्षा हो रही है ॥ २७-२८ ॥

कर्ण उवाच

एवमप्यस्तु भगवन्नेकवीरवधे मम।
अमोघां देहि मे शक्तिं यथा हन्यां प्रतापिनम् ॥ २९ ॥

कर्ण बोला—भगवन्! ऐसा ही हो। तो भी आप एक वीरके वधके लिये मुझे अपनी अमोघ शक्ति दे दीजिये, जिससे मैं अपने प्रतापी शत्रुका वध कर सकूँ ॥ २९ ॥

उत्कृत्य तु प्रदास्यामि कुण्डले कवचं च ते।
निकृत्तेषु तु गात्रेषु न मे बीभत्सता भवेत् ॥ ३० ॥

मैं आपको अपने शरीरसे उधेड़कर कवच और कुण्डल तो दे दूँगा; परंतु उस समय मेरे अङ्गोंके कट जानेपर मेरा स्वरूप बीभत्स न होना चाहिये ॥ ३० ॥

इन्द्र उवाच

न ते बीभत्सता कर्ण भविष्यति कथञ्चन।
व्रणश्चैव न गात्रेषु यस्त्वं नानृतमिच्छसि ॥ ३१ ॥

इन्द्रने कहा—कर्ण! तुम्हारा स्वरूप किसी प्रकार भी बीभत्स नहीं होगा। तुम्हारे अङ्गोंमें घावतक नहीं होगा; क्योंकि तुम असत्यकी इच्छा नहीं रखते हो ॥ ३१ ॥

यादृशस्ते पितुर्वर्णस्तेजश्च वदतां वर।
तादृशेनैव वर्णेन त्वं कर्ण भविता पुनः ॥ ३२ ॥
विद्यमानेषु शस्त्रेषु यद्यमोघामसंशये।
प्रमत्तो मोक्ष्यसे चापि त्वय्येवैषा पतिष्यति ॥ ३३ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ कर्ण! तुम्हारे पिताका जैसा वर्ण और तेज है, वैसे ही वर्ण और तेजसे तुम पुनः सम्पन्न हो जाओगे। जबतक तुम्हारे पास दूसरे शस्त्र रहें और प्राणसंकटकी परिस्थिति न आ जाय, तबतक तुम यदि प्रमादवश यह अमोघ शक्ति यों ही किसी शत्रुपर छोड़ दोगे, तो यह उसे न मारकर तुम्हारे ही ऊपर आ पड़ेगी ॥ ३२-३३ ॥

कर्ण उवाच

संशयं परमं प्राप्य विमोक्ष्ये वासवीमिमाम्।
यथा मामात्थ शक्र त्वं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३४ ॥

कर्ण बोला—देवेन्द्र! आप जैसा मुझसे कह रहे हैं, उसके अनुसार प्राणसंकटकी अवस्थामें पड़कर ही मैं आपकी दी हुई इस शक्तिका उपयोग करूँगा, यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः शक्तिं प्रज्वलितां प्रतिगृह्य विशाम्पते।
शस्त्रं गृहीत्वा निशितं सर्वगात्राण्यकृन्तत ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर इन्द्रकी प्रज्वलित शक्ति लेकर कर्णने तीखी तलवार उठायी और कवच उधेड़नेके लिये अपने सब अङ्गोंको काटना आरम्भ किया ॥

ततो देवा मानवा दानवाश्च
निकृन्तन्तं कर्णमात्मानमेवम्।
दृष्ट्वा सर्वे सिंहनादान् प्रणेदु-
र्न ह्यस्यासीन्मुखजो वै विकारः ॥ ३६ ॥

उस समय देवता, मनुष्य और दानव सब लोग इस प्रकार अपना शरीर काटते हुए कर्णको देखकर सिंहनाद करने लगे; परंतु कर्णके मुखपर तनिक भी विकार नहीं आया ॥ ३६ ॥

ततो दिव्या दुन्दुभयः प्रणेदुः
पपातोच्चैः पुष्पवर्षं च दिव्यम्।
दृष्ट्वा कर्णं शस्त्रसंकृत्तगात्रं
मुहुश्चापि स्मयमानं नृवीरम् ॥ ३७ ॥

कर्णके सारे अङ्ग शस्त्रोंके आघातसे कट गये थे, फिर भी वह नरवीर बारंबार मुसकरा रहा था। यह देखकर दिव्य दुन्दुभियाँ बज उठीं एवं आकाशसे दिव्य फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ ३७ ॥

ततश्छित्त्वा कवचं दिव्यमङ्गात्
तथैवार्द्रं प्रददौ वासवाय।
तथोत्कृत्य प्रददौ कुण्डले ते
कर्णात् तस्मात् कर्मणा तेन कर्णः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर अपने शरीरसे दिव्य कवचको उधेड़कर कर्णने इन्द्रके हाथमें दे दिया; वह कवच उस समय रक्तसे भींगा हुआ ही था। इसी प्रकार उसने कानोंके वे कुण्डल भी काटकर दे दिये। अतः इस कर्णन (कर्तन) रूपी कर्मसे उसका नाम 'कर्ण' हुआ ॥ ३८ ॥

ततः शक्रः प्रहसन् वञ्चयित्वा
कर्णं लोके यशसा योजयित्वा ।
कृतं कार्यं पाण्डवानां हि मेने
ततः पश्चाद् दिवमेवोत्पपात ॥ ३९ ॥

इस प्रकार कर्णको (कवच और कुण्डलसे) वञ्चित करके एवं संसारमें उसका सुयश फैलाकर देवराज इन्द्र हँसते हुए स्वर्गलोकको चले गये । उन्हें मन-ही-मन यह विश्वास हो गया कि 'मैंने पाण्डवोंका कार्य पूरा कर दिया' ॥ ३९ ॥

श्रुत्वा कर्णं मुषितं धार्तराष्ट्रा
दीनाः सर्वे भग्नदर्पा इवासन् ।
तां चावस्थां गमितं सूतपुत्रं
श्रुत्वा पार्था जहृषुः काननस्थाः ॥ ४० ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रोंने जब यह सुना कि कर्णको (कवच और कुण्डलोंसे) वञ्चित कर दिया गया तो वे सब अत्यन्त दीन-से हो गये; उनका घमंड चूर-चूर-सा हो गया । वनमें रहनेवाले कुन्तीपुत्रोंने जब सुना कि सूतपुत्र इस दशामें पहुँच गया है, तब उन्हें बड़ा हर्ष हुआ ॥४०॥

जनमेजय उवाच

क्वस्था वीराः पाण्डवास्ते बभूवुः
कुतश्चैते श्रुतवन्तः प्रियं तत् ।
किं वाकार्षुर्द्वादशेऽब्दे व्यतीते
तन्मे सर्वं भगवान् व्याकरोतु ॥ ४१ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! वे वीर पाण्डव उन दिनों कहाँ थे ? उन्होंने वह प्रिय समाचार कैसे सुना और बारहवाँ वर्ष व्यतीत हो जानेपर क्या किया ? ये सब बातें आप मुझे स्पष्टरूपसे बतायें ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच

लब्ध्वा कृष्णां सैन्धवं द्रावयित्वा
विप्रैः सार्धं काम्यकादाश्रमात् ते ।
मार्कण्डेयाच्छ्रुतवन्तः पुराणं
देवर्षीणां चरितं विस्तरेण ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! द्रौपदीको पाकर तथा जयद्रथको काम्यक वनसे भगाकर ब्राह्मणोंसहित समस्त पाण्डवोंने मार्कण्डेयजीके मुखसे पुराणकथा और देवताओं तथा ऋषियोंके विस्तृत चरित्र सुनते हुए इसे भी सुना था ॥४२॥

(प्रत्याजग्मुः सरथाः सानुयात्राः
सर्वैः सार्धं सूतपौरोगवैस्ते ।
ततो ययुर्द्वैतवनं नृवीरा
निस्तीर्यैवं वनवासं समग्रम् ॥)

इस प्रकार वनवासकी पूरी अवधि बिताकर वे नरवीर पाण्डव अपने रथ, अनुचर, सूत तथा रसोइयोंके साथ पुनः द्वैतवनमें लौट आये ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि कवचकुण्डलदाने दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें कवच-कुण्डलादानविषयक तीन सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४३½ श्लोक हैं)

(आरणेयपर्व)

एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणकी अरणि एवं मन्थन-काष्ठका पता लगानेके लिये पाण्डवोंका मृगके पीछे दौड़ना और दुखी होना

जनमेजय उवाच

एवं हृतायां भार्यायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
प्रतिपद्य ततः कृष्णां किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! इस प्रकार अपनी पत्नी द्रौपदीका अपहरण होनेपर अत्यन्त क्लेश उठाकर पाण्डवोंने जब उन्हें पुनः प्राप्त कर लिया, उसके बाद उन्होंने क्या किया ? ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
विहाय काम्यकं राजा सह भ्रातृभिरच्युतः ॥ २ ॥
पुनर्द्वैतवनं रम्यमाजगाम युधिष्ठिरः ।
स्वादुमूलफलं रम्यं विचित्रबहुपादपम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! पूर्वोक्त प्रकारसे द्रौपदीका हरण होनेपर भारी क्लेश उठानेके बाद जब पाण्डवोंने उन्हें पा लिया, तब धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ काम्यकवन छोड़कर पुनः रमणीय द्वैतवनमें ही चले आये । वहाँ स्वादिष्ट फल-मूलोंकी बहुतायत थी तथा बहुत-से विचित्र वृक्ष उस वनकी शोभा बढ़ाते थे ॥ २-३ ॥

अनुभुक्तफलाहाराः सर्व एव मिताशनाः ।
न्यवसन् पाण्डवास्तत्र कृष्णया सह भार्यया ॥ ४ ॥

वहाँ सब पाण्डव अपनी पत्नी द्रौपदीके साथ केवल फलाहार करके परिमित भोजनपर जीवन-निर्वाह करते हुए रहते थे ॥ ४ ॥

वसन् द्वैतवने राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ५ ॥
ब्राह्मणार्थे पराक्रान्ता धर्मात्मानो यतव्रताः ।
क्लेशमार्च्छन्त विपुलं सुखोदर्कं परंतपाः ॥ ६ ॥

द्वैतवनमें रहते समय कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा माद्रीकुमार नकुल-सहदेव—इन सभी शत्रुसंतापी संयम-नियम-परायण धर्मात्मा पाण्डवोंने एक दिन एक ब्राह्मणके लिये पराक्रम करते हुए महान् क्लेश उठाया, परंतु उसका भावी परिणाम सुखमय ही हुआ ॥ ५-६ ॥

तस्मिन् प्रतिवसन्तस्ते यत् प्रापुः कुरुसत्तमाः ।
वने क्लेशं सुखोदर्कं तत् प्रवक्ष्यामि ते शृणु ॥ ७ ॥

राजन् ! उस वनमें रहते हुए उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंने जो भविष्यमें सुख देनेवाला क्लेश उठाया, उसका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ७ ॥

अरणीसहितं मन्थं ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ॥ ८ ॥

एक तपस्वी ब्राह्मणका (रस्सीमें बँधा) अरणीसहित मन्थनकाष्ठ एक वृक्षमें टँगा था; वहीं एक मृग आकर उस वृक्षसे अपना शरीर रगड़ने लगा। उस समय वे दोनों काष्ठ उस मृगके सींगमें अटक गये ॥ ८ ॥

तदादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः ।
आश्रमान्तरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ॥ ९ ॥

राजन् ! उन काष्ठोंको लेकर वह महामृग बड़ी उतावलीसे भागा और बड़े वेगसे चौकड़ी भरता हुआ शीघ्र ही आश्रमसे ओझल हो गया ॥ ९ ॥

ह्रियमाणं तु तं दृष्ट्वा स विप्रः कुरुसत्तम ।
त्वरितोऽभ्यागमत् तत्र अग्निहोत्रपरीप्सया ॥ १० ॥

कुरुश्रेष्ठ ! उस ब्राह्मणने जब देखा कि मृग मेरी अरणी और मथानीको लेकर तेजीसे भागा जा रहा है, तब वह अग्निहोत्रकी रक्षाके लिये तुरंत वहीं (पाण्डवोंके आश्रममें) आया ॥ १० ॥

अजातशत्रुमासीनं भ्रातृभिः सहितं वने ।
आगम्य ब्राह्मणस्तूर्णं संतप्तश्चेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

वनमें भाइयोंके साथ बैठे हुए अजातशत्रु युधिष्ठिरके पास तुरंत आकर संतप्त हुए उस ब्राह्मणने इस प्रकार कहा—॥

अरणीसहितं मन्थं समासक्तं वनस्पतौ ।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ॥ १२ ॥
तमादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः ।
आश्रमात् त्वरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ॥ १३ ॥

'राजन् ! मैंने अपनी अरणी और मथानी एक वृक्षपर रख दी थी। एक मृग वहाँ आकर उस वृक्षसे शरीर रगड़ने लगा और उसके सींगमें वे दोनों काष्ठ फँस गये। वह महान् मृग उन काष्ठोंको लेकर बड़ी उतावलीके साथ भाग गया है और अत्यन्त वेगवान् होनेके कारण चौकड़ी भरता हुआ शीघ्र ही आश्रमसे बहुत दूर निकल गया है ॥ १२-१३ ॥

तस्य गत्वा पदं राजन्नासाद्य च महामृगम् ।
अग्निहोत्रं न लुप्येत तदानयत पाण्डवाः ॥ १४ ॥

'महाराज युधिष्ठिर! तथा वीर पाण्डवो ! तुम सब लोग उसके पदचिह्नोंको देखते हुए उस महामृगके पास पहुँचो और वे दोनों काष्ठ ले आओ, जिससे मेरा अग्निहोत्रकर्म लुप्त न हो' ॥

ब्राह्मणस्य वचः श्रुत्वा संतप्तोऽथ युधिष्ठिरः ।
धनुरादाय कौन्तेयः प्राद्रवद् भ्रातृभिः सह ॥ १५ ॥

ब्राह्मणकी बात सुनकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर बहुत दुखी हुए और मृगका पता लगानेके लिये वे धनुष लेकर भाइयोंसहित दौड़े ॥ १५ ॥

सन्नद्धा धन्विनः सर्वे प्राद्रवन् नरपुङ्गवाः ।
ब्राह्मणार्थे यतन्तस्ते शीघ्रमन्वगमन् मृगम् ॥ १६ ॥

वे सभी नरश्रेष्ठ कवच बाँध एवं कमर कसकर धनुष लिये आश्रमसे दौड़े और ब्राह्मणकी कार्यसिद्धिके लिये प्रयत्नशील होकर तीव्र गतिसे मृगका पीछा करने लगे ॥ १६ ॥

कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन्तो महारथाः ।
नाविध्यन् पाण्डवास्तत्र पश्यन्तो मृगमन्तिकात् ॥ १७ ॥

कुछ दूर जानेपर उन्हें वह मृग अपने पास ही दिखायी दिया। तब वे महारथी पाण्डव कर्णि, नालीक और नाराच नामक बाण उसपर छोड़ने लगे; किंतु वे देखते हुए भी वहाँ उस मृगको बींध न सके ॥ १७ ॥

तेषां प्रयतमानानां नादृश्यत महामृगः ।
अपश्यन्तो मृगं श्रान्ता दुःखं प्राप्ता मनस्विनः ॥ १८ ॥

घोर प्रयत्न करनेपर भी वह महामृग उनके हाथ न लगा; सहसा अदृश्य हो गया। मृगको न देखकर वे मनस्वी वीर हतोत्साह और दुखी हो गये ॥ १८ ॥

शीतलच्छायमागम्य न्यग्रोधं गहने वने ।
क्षुत्पिपासापरीताङ्गाः पाण्डवाः समुपाविशन् ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् उस गहन वनमें भूख-प्याससे पीड़ित अङ्गोंवाले पाण्डव एक शीतल छायावाले बरगदके पास आकर बैठ गये ॥

तेषां समुपविष्टानां नकुलो दुःखितस्तदा ।
अब्रवीद् भ्रातरं श्रेष्ठममर्षात् कुरुनन्दनम् ॥ २० ॥

उनके बैठ जानेपर नकुल अत्यन्त दुखी हो अमर्षमें आकर बड़े भाई कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥

नास्मिन् कुले जातु ममज्ज धर्मो
न चालस्यादर्थलोपो बभूव ।
अनुत्तराः सर्वभूतेषु भूयः
सम्प्राप्ताः स्मः संशयं किंनु राजन् ॥ २१ ॥

'राजन् ! हमारे कुलमें कभी आलस्यवश धर्मका लोप नहीं हुआ; अर्थका भी कभी नाश नहीं हुआ । हमने किसी भी प्राणीके प्रार्थना करनेपर कभी उसे कोरा जवाब नहीं दिया—निराश नहीं किया । फिर भी हम धर्मसंकटमें कैसे पड़ गये ?' ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि मृगान्वेषणे एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें मृगका अनुसंधानविषयक तीन सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३११ ॥

द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

पानी लानेके लिये गये हुए नकुल आदि चार भाइयोंका सरोवरके तटपर अचेत होकर गिरना

युधिष्ठिर उवाच

**नापदामस्ति मर्यादा न निमित्तं न कारणम् ।
धर्मस्तु विभजत्यर्थमुभयोः पुण्यपापयोः ॥ १ ॥**

युधिष्ठिर बोले—भैया ! आपत्तियोंकी न तो कोई सीमा है, न कोई निमित्त दिखायी देता है और न कोई विशेष कारण ही परिलक्षित होता है । पहलेका किया हुआ पुण्य और पापरूप कर्म ही प्रारब्ध बनकर सुख और दुःखरूप फल बाँटता रहता है ॥ १ ॥

भीम उवाच

**प्रातिकाम्यनयत् कृष्णां सभायां प्रेष्यवत् तदा ।
न मया निहतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ २ ॥**

भीमसेनने कहा—जब प्रातिकामीकी जगह दूत बनकर गया हुआ दुःशासन द्रौपदीको कौरवोंकी सभामें दासीकी भाँति बलपूर्वक खींच ले आया, उस समय मैंने जो उसका वध नहीं कर डाला; इसीके कारण हमलोग ऐसे धर्मसंकटमें पड़े हैं ॥ २ ॥

अर्जुन उवाच

**वाचस्तीक्ष्णास्थिभेदिन्यः सूतपुत्रेण भाषिताः ।
अतितीव्रा मया क्षान्तास्तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ ३ ॥**

अर्जुन बोले—सूतपुत्र कर्णके कहे हुए कठोर अस्थियोंको भी विदीर्ण कर देनेवाले अत्यन्त कड़वे वचन सुनकर भी जो हमने सहन कर लिये; उसीसे आज हम धर्मसंकटकी अवस्थामें आ पहुँचे हैं ॥ ३ ॥

सहदेव उवाच

**शकुनिस्त्वां यदाजैषीदक्षद्यूतेन भारत ।
स मया न हतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ ४ ॥**

सहदेवने कहा—भारत ! जब शकुनिने आपको जूएमें जीत लिया और उस समय मैंने उसे मार नहीं डाला, उसीका यह फल है कि आज हमलोग धर्मसंकटमें पड़ गये हैं ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

**ततो युधिष्ठिरो राजा नकुलं वाक्यमब्रवीत् ।
आरुह्य वृक्षं माद्रेय निरीक्षस्व दिशो दश ॥ ५ ॥
पानीयमन्तिके पश्य वृक्षांश्चाप्युदकाश्रितान् ।
एते हि भ्रातरः श्रान्तास्तव तात पिपासिताः ॥ ६ ॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने नकुलसे कहा—'माद्रीनन्दन ! किसी वृक्षपर चढ़कर सब दिशाओंमें दृष्टिपात करो । कहीं आस-पास पानी हो, तो देखो अथवा जलके किनारे होनेवाले वृक्षोंपर भी दृष्टि डालो । तात ! तुम्हारे ये भाई थके-माँदे और प्यासे हैं' ॥ ५-६ ॥

**नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा शीघ्रमारुह्य पादपम् ।
अब्रवीद् भ्रातरं ज्येष्ठमभिवीक्ष्य समन्ततः ॥ ७ ॥**

तब नकुल 'बहुत अच्छा' कहकर शीघ्र ही एक पेड़पर चढ़ गये और चारों ओर दृष्टि डालकर अपने बड़े भाईसे बोले— ॥

**पश्यामि बहुलान् राजन् वृक्षानुदकसंश्रयान् ।
सारसानां च निर्ह्रादमत्रोदकमसंशयम् ॥ ८ ॥**

'राजन् ! मैं ऐसे बहुतेरे वृक्ष देख रहा हूँ, जो जलके किनारे ही होते हैं । सारसोंकी आवाज भी सुनायी देती है; अतः निःसंदेह यहाँ आस-पास ही कोई जलाशय है' ॥ ८ ॥

**ततोऽब्रवीत् सत्यधृतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
गच्छ सौम्य ततः शीघ्रं तूणैः पानीयमानय ॥ ९ ॥**

तब सत्यका पालन करनेवाले कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने नकुलसे कहा—'सौम्य ! शीघ्र जाओ और तरकसोंमें पानी भर लाओ' ॥ ९ ॥

**नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासनात् ।
प्राद्रवद् यत्र पानीयं शीघ्रं चैवान्वपद्यत ॥ १० ॥**

नकुल 'बहुत अच्छा' कहकर बड़े भाईकी आज्ञासे शीघ्रतापूर्वक गये और जहाँ जलाशय था, वहाँ तुरंत पहुँच गये ॥ १० ॥

**स दृष्ट्वा विमलं तोयं सारसैः परिवारितम् ।
पातुकामस्ततो वाचमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे ॥ ११ ॥**

वहाँ सारसोंसे घिरे हुए जलाशयका स्वच्छ जल देखकर नकुलको उसे पीनेकी इच्छा हुई। इतनेमें ही आकाशसे उनके कानोंमें एक स्पष्ट वाणी सुनायी दी ॥ ११ ॥

यक्ष उवाच

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः।
प्रश्नानुक्त्वा तु माद्रेय ततः पिब हरस्व च ॥ १२ ॥

यक्ष बोला—तात! तुम इस सरोवरका पानी पीनेका साहस न करो। इसपर पहलेसे ही मेरा अधिकार हो चुका है। माद्रीकुमार! पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे दो, फिर पानी पीओ और ले भी जाओ ॥ १२ ॥

अनादृत्य तु तद् वाक्यं नकुलः सुपिपासितः।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥ १३ ॥

नकुलकी प्यास बहुत बढ़ गयी थी। उन्होंने यक्षके कथनकी अवहेलना करके वहाँका शीतल जल पी लिया। पीते ही वे अचेत होकर गिर पड़े ॥ १३ ॥

चिरायमाणे नकुले कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अब्रवीद् भ्रातरं वीरं सहदेवमरिंदमम् ॥ १४ ॥

नकुलके लौटनेमें जब अधिक विलम्ब हो गया, तब कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अपने शत्रुहन्ता वीर भ्राता सहदेवसे कहा—॥ १४ ॥

भ्राता हि चिरयातो नः सहदेव तवाग्रजः।
तथैवानय सोदर्यं पानीयं च त्वमानय ॥ १५ ॥

'सहदेव! हमारे अनुज और तुम्हारे अग्रज भ्राता नकुलको यहाँसे गये बहुत देर हो गयी। तुम जाकर अपने सहोदर भाईको बुला लाओ और पानी भी ले आओ' ॥ १५ ॥

सहदेवस्तथेत्युक्त्वा तां दिशं प्रत्यपद्यत।
ददर्श च हतं भूमौ भ्रातरं नकुलं तदा ॥ १६ ॥

तब सहदेव 'बहुत अच्छा' कहकर उसी दिशाकी ओर चल दिये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा, भाई नकुल पृथ्वीपर मरे पड़े हैं ॥ १६ ॥

भ्रातृशोकाभिसंतप्तस्तृषया च प्रपीडितः।
अभिदुद्राव पानीयं ततो वागभ्यभाषत ॥ १७ ॥

भाईके शोकसे उनका हृदय संतप्त हो उठा। साथ ही प्याससे भी वे बहुत कष्ट पा रहे थे; अतः पानीकी ओर दौड़े। उसी समय आकाशवाणी बोल उठी—॥ १७ ॥

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः।
प्रश्नानुक्त्वा यथाकामं पिबस्व च हरस्व च ॥ १८ ॥

'तात! पानी पीनेका साहस न करो। यहाँ पहलेसे ही मेरा अधिकार हो चुका है। तुम पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे दो, फिर इच्छानुसार जल पीओ और साथ ले भी जाओ' ॥

अनादृत्य तु तद् वाक्यं सहदेवः पिपासितः।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥ १९ ॥

प्यासे सहदेव उस वचनकी अवहेलना करके वहाँका ठंडा जल पीने लगे एवं पीते ही अचेत होकर गिर पड़े ॥ १९ ॥

अथाब्रवीत् स विजयं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
भ्रातरौ ते चिरगतौ बीभत्सो शत्रुकर्शन ॥ २० ॥

तदनन्तर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा—'शत्रुनाशन बीभत्सो! तुम्हारे दोनों भाइयोंको गये बहुत देर हो गयी ॥ २० ॥

तौ चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय।
त्वं हि नस्तात सर्वेषां दुःखितानामपाश्रयः ॥ २१ ॥

'तुम्हारा कल्याण हो। तुम उन दोनोंको बुला लाओ और साथ ही पानी भी ले आओ। तात! तुम्हीं हम सब दुखी बन्धुओंके सहारे हो' ॥ २१ ॥

एवमुक्तो गुडाकेशः प्रगृह्य सशरं धनुः।
आमुक्तखड्गो मेधावी तत् सरः प्रत्यपद्यत ॥ २२ ॥

युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर निद्राविजयी बुद्धिमान् अर्जुन धनुष-बाण और खड्ग लिये उस सरोवरके तटपर गये ॥ २२ ॥

ततः पुरुषशार्दूलौ पानीयहरणे गतौ।
तौ ददर्श हतौ तत्र भ्रातरौ श्वेतवाहनः ॥ २३ ॥

श्वेतवाहन अर्जुनने जल लानेके लिये गये हुए उन दोनों पुरुषसिंह भाइयोंको वहाँ मरे हुए देखा ॥ २३ ॥

प्रसुप्ताविव तौ दृष्ट्वा नरसिंहः सुदुःखितः।
धनुरुद्यम्य कौन्तेयो व्यलोकयत तद् वनम् ॥ २४ ॥

दोनोंको प्रगाढ़ निद्रामें सोये हुएकी भाँति देखकर मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी अर्जुनको बहुत दुःख हुआ। उन्होंने धनुष उठाकर उस वनका अच्छी तरह निरीक्षण किया ॥ २४ ॥

नापश्यत् तत्र किञ्चित् स भूतमस्मिन् महावने।
सव्यसाची ततः श्रान्तः पानीयं सोऽभ्यधावत ॥ २५ ॥

जब उस विशाल वनमें उन्हें कोई भी हिंसक प्राणी नहीं दिखायी दिया, तब सव्यसाची अर्जुन थककर पानीकी ओर दौड़े ॥ २५ ॥

अभिधावंस्ततो वाक्यमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे।
किमासीदसि पानीयं नैतच्छक्यं बलात् त्वया ॥ २६ ॥
कौन्तेय यदि प्रश्नांस्तान् मयोक्तान् प्रतिपत्स्यसे।
ततः पास्यसि पानीयं हरिष्यसि च भारत ॥ २७ ॥

दौड़ते समय उन्हें आकाशकी ओरसे आती हुई वाणी सुनायी दी—'कुन्तीनन्दन! क्यों पानीके निकट जा रहे हो? तुम जबरदस्ती यह जल नहीं पी सकते। भारत! यदि मेरे उन प्रश्नोंका उत्तर दे सको, तो यहाँका पानी पीओ और साथ ले भी जाओ' ॥ २६-२७ ॥

वारितस्त्वब्रवीत् पार्थो दृश्यमानो निवारय।
यावद् बाणैर्विनिर्भिन्नः पुनर्नैवं वदिष्यसि ॥ २८ ॥

इस प्रकार रोके जानेपर अर्जुनने कहा—'जरा सामने आकर रोको। सामने आते ही बाणोंसे टुकड़े-टुकड़े हो जानेपर फिर तुम इस प्रकार नहीं बोल पाओगे' ॥ २८ ॥

एवमुक्त्वा ततः पार्थः शरैरस्त्रानुमन्त्रितैः।
प्रववर्ष दिशः कृत्स्नाः शब्दवेधं च दर्शयन्॥ २९॥

ऐसा कहकर अर्जुनने अपनी शब्दवेध-कलाका परिचय देते हुए दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंकी सब ओर झड़ी लगा दी ॥ २९ ॥

कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन् भरतर्षभ।
स त्वमोघानिषून् मुक्त्वा तृष्णयाभिप्रपीडितः॥३०॥
अनेकैरिषुसङ्घातैरन्तरिक्षे ववर्ष ह।

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! अर्जुन उस समय कर्णी, नालीक तथा नाराच आदि बाणोंकी वर्षा कर रहे थे। प्याससे पीड़ित हुए अर्जुनने कितने ही अमोघ बाणोंका प्रयोग करके आकाशमें भी कई बार बाणसमूहकी वर्षा की ॥ ३०½ ॥

यक्ष उवाच

किं विघातेन ते पार्थ प्रश्नानुक्त्वा ततः पिब॥ ३१॥
अनुक्त्वा च पिबन् प्रश्नान् पीत्वैव न भविष्यसि।

यक्ष बोला—पार्थ! इस प्रकार प्राणियोंपर आघात करनेसे क्या लाभ? पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो, फिर जल पीओ। यदि तुम प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना ही यहाँका जल पीओगे, तो पीते ही मर जाओगे ॥ ३१½ ॥

एवमुक्तस्ततः पार्थः सव्यसाची धनंजयः॥ ३२॥
अवज्ञायैव तां वाचं पीत्वैव निपपात ह।

उसके ऐसा कहनेपर कुन्तीपुत्र सव्यसाची धनंजय उसके वचनोंकी अवहेलना करके जल पीने लगे और पीते ही अचेत होकर गिर पड़े ॥ ३२½ ॥

अथाब्रवीद् भीमसेनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः॥ ३३॥
नकुलः सहदेवश्च बीभत्सुश्च परंतप।
चिरं गतास्तोयहेतोर्न चागच्छन्ति भारत॥ ३४॥
तांश्चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय।

तब कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने भीमसेनसे कहा—'परंतप! भरतनन्दन! नकुल, सहदेव और अर्जुनको पानीके लिये गये बहुत देर हो गयी। वे अभीतक नहीं आ रहे हैं। तुम्हारा कल्याण हो। तुम जाकर उन्हें बुला लाओ और पानी भी ले आओ' ॥ ३३-३४½ ॥

भीमसेनस्तथेत्युक्त्वा तं देशं प्रत्यपद्यत॥ ३५॥
यत्र ते पुरुषव्याघ्रा भ्रातरोऽस्य निपातिताः।
तान् दृष्ट्वा दुःखितो भीमस्तृषया च प्रपीडितः॥ ३६॥

तब भीमसेन 'बहुत अच्छा' कहकर उस स्थानपर गये, जहाँ वे पुरुषसिंह तीनों भाई पृथ्वीपर पड़े थे। उन्हें उस अवस्थामें देखकर भीमसेनको बड़ा दुःख हुआ। इधर प्यास भी उन्हें बहुत कष्ट दे रही थी ॥ ३५-३६ ॥

अमन्यत महाबाहुः कर्म तद् यक्षरक्षसाम्।
स चिन्तयामास तदा योद्धव्यं ध्रुवमद्य वै॥ ३७॥
पास्यामि तावत् पानीयमिति पार्थो वृकोदरः।
ततोऽभ्यधावत् पानीयं पिपासुः पुरुषर्षभः॥ ३८॥

महाबाहु भीमसेनने मन-ही-मन यह निश्चय किया कि 'यह यक्षों तथा राक्षसोंका काम है।' फिर उन्होंने सोचा; 'आज निश्चय ही मुझे शत्रुके साथ युद्ध करना पड़ेगा, अतः पहले जल तो पी लूँ।' ऐसा निश्चय करके प्यासे नरश्रेष्ठ कुन्तीकुमार भीमसेन जलकी ओर दौड़े ॥ ३७-३८ ॥

यक्ष उवाच

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च॥ ३९॥

यक्ष बोला—तात! पानी पीनेका साहस न करना। इस जलपर पहलेसे ही मेरा अधिकार स्थापित हो चुका है। कुन्तीकुमार! पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे दो, फिर पानी पीओ और ले भी जाओ ॥ ३९ ॥

एवमुक्तस्तदा भीमो यक्षेणामिततेजसा।
अनुक्त्वैव तु तान् प्रश्नान् पीत्वैव निपपात ह॥ ४०॥

अमिततेजस्वी यक्षके ऐसा कहनेपर भी भीमसेन उन प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना ही जल पीने लगे और पीते ही मूर्छित होकर गिर पड़े ॥ ४० ॥

ततः कुन्तीसुतो राजा प्रचिन्त्य पुरुषर्षभः।
समुत्थाय महाबाहुर्दह्यमानेन चेतसा॥ ४१॥
व्यपेतजननिर्घोषं प्रविवेश महावनम्।
रुरुभिश्च वराहैश्च पक्षिभिश्च निषेवितम्॥ ४२॥

तदनन्तर कुन्तीपुत्र पुरुषरत्न महाबाहु राजा युधिष्ठिर बहुत देरतक सोच-विचार करके उठे और जलते हुए हृदयसे उन्होंने उस विशाल वनमें प्रवेश किया, जहाँ मनुष्योंकी आवाजतक नहीं सुनायी देती थी। वहाँ रुरु मृग, वराह तथा पक्षियोंके समुदाय ही निवास करते थे ॥ ४१-४२ ॥

नीलभास्वरवर्णैश्च पादपैरुपशोभितम्।
भ्रमरैरुपगीतं च पक्षिभिश्च महायशाः॥ ४३॥

नीले रंगके चमकीले वृक्ष उस वनकी शोभा बढ़ा रहे थे। भ्रमरोंके गुञ्जन और विहंगोंके कलरवसे वह वनप्रान्त शब्दायमान हो रहा था ॥ ४३ ॥

स गच्छन् कानने तस्मिन् हेमजालपरिष्कृतम्।
ददर्श तत् सरः श्रीमान् विश्वकर्मकृतं यथा॥ ४४॥

महायशस्वी श्रीमान् युधिष्ठिरने उस वनमें विचरण करते हुए उस सरोवरको देखा, जो सुनहरे रंगके कुसुमकेसरोंसे विभूषित था। जान पड़ता था; साक्षात् विश्वकर्माने ही उसका निर्माण किया है ॥ ४४ ॥

उपेतं नलिनीजालैः सिन्धुवारैः सवेतसैः ।
केतकैः करवीरैश्च पिप्पलैश्चैव संवृतम् ।
(ततो धर्मसुतः श्रीमान् भ्रातृदर्शनलालसः ।)
श्रमार्तस्तदुपागम्य सरो दृष्ट्वाथ विस्मितः ॥ ४५ ॥

उस सरोवरका जल कमलकी बेलोंसे आच्छादित हो रहा था और उसके चारों किनारोंपर सिंदुवार, बेंत, केवड़े, करवीर तथा पीपलके वृक्ष उसे घेरे हुए थे। उस समय भाइयोंसे मिलनेके लिये उत्सुक श्रीमान् धर्मनन्दन युधिष्ठिर थकावटसे पीड़ित हो उस सरोवरपर आये और वहाँकी अवस्था देखकर बड़े विस्मित हुए ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि नकुलादिपतने द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें नकुल आदि चारों भाइयोंके मूर्छित होकर गिरनेसे सम्बन्ध रखनेवाला तीन सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

यक्ष और युधिष्ठिरका प्रश्नोत्तर तथा युधिष्ठिरके उत्तरसे संतुष्ट हुए यक्षका चारों भाइयोंके जीवित होनेका वरदान देना

वैशम्पायन उवाच

स ददर्श हतान् भ्रातॄन् लोकपालानिव च्युतान् ।
युगान्ते समनुप्राप्ते शक्रप्रतिमगौरवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरने इन्द्रके समान गौरवशाली अपने भाइयोंको सरोवरके तटपर निर्जीवकी भाँति पड़े हुए देखा; मानो प्रलयकालमें सम्पूर्ण लोकपाल अपने लोकोंसे भ्रष्ट होकर गिर गये हों ॥ १ ॥

विनिकीर्णधनुर्बाणं दृष्ट्वा निहतमर्जुनम् ।
भीमसेनं यमौ चैव निर्विचेष्टान् गतायुषः ॥ २ ॥
स दीर्घमुष्णं निःश्वस्य शोकबाष्पपरिप्लुतः ।
तान् दृष्ट्वा पतितान् भ्रातॄन् सर्वांश्चिन्तासमन्वितः ॥ ३ ॥
धर्मपुत्रो महाबाहुर्विललाप सुविस्तरम् ।

अर्जुन मरे पड़े थे; उनके धनुष-बाण इधर-उधर बिखरे थे। भीमसेन और नकुल-सहदेव भी प्राणरहित हो निश्चेष्ट हो गये थे। इन सबको देखकर युधिष्ठिर गरम-गरम लंबी साँसें खींचने लगे। उनके नेत्रोंसे शोकके आँसू उमड़कर उन्हें भिगो रहे थे। अपने समस्त भ्राताओंको इस प्रकार धराशायी हुए देख महाबाहु धर्मपुत्र युधिष्ठिर गहरी चिन्तामें डूब गये और देरतक विलाप करते रहे—॥ २-३½ ॥

ननु त्वया महाबाहो प्रतिज्ञातं वृकोदर ॥ ४ ॥
सुयोधनस्य भेत्स्यामि गदया सक्थिनी रणे ।
व्यर्थं तदद्य मे सर्वं त्वयि वीर निपातिते ॥ ५ ॥
महात्मनि महाबाहो कुरूणां कीर्तिवर्धने ।

वे बोले—'महाबाहु वृकोदर ! तुमने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं युद्धमें अपनी गदासे दुर्योधनकी दोनों जाँघें तोड़ डालूँगा।' महाबाहो ! तुम कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले थे। तुम्हारा हृदय विशाल था। वीर ! आज तुम्हारे गिर जानेसे मेरेलिये वह सब कुछ व्यर्थ हो गया ॥४-५½॥

मनुष्यसम्भवा वाचो विधर्मिण्यः प्रतिश्रुताः ॥ ६ ॥
भवतां दिव्यवाचस्तु ता भवन्तु कथं मृषा ।

'साधारण मनुष्योंकी बातें तथा उनकी प्रतिज्ञाएँ तो झूठी निकल जाती हैं; परंतु तुमलोगोंके सम्बन्धमें जो दिव्य वाणियाँ हुई थीं, वे कैसे मिथ्या हो सकती हैं ? ॥ ६½ ॥

देवाश्चापि यदावोचन् सूतके त्वां धनंजय ॥ ७ ॥
सहस्राक्षादनवरः कुन्ति पुत्रस्तवेति वै ।
उत्तरे पारियात्रे च जगुर्भूतानि सर्वशः ॥ ८ ॥
विप्रणष्टां श्रियं चैषामाहर्ता पुनरञ्जसा ।
नास्य जेता रणे कश्चिदजेता नैष कस्यचित् ॥ ९ ॥

''धनंजय ! जब तुम्हारा जन्म हुआ था, उस समय देवताओंने भी कहा था कि 'कुन्ती ! तुम्हारा यह पुत्र सहस्रनेत्रधारी इन्द्रसे किसी बातमें कम न होगा।' उत्तर पारियात्र पर्वतपर सब प्राणियोंने तुम्हारे विषयमें यही कहा था कि 'ये अर्जुन शीघ्र ही पाण्डवोंकी खोयी हुई राजलक्ष्मीको पुनः लौटा लायेंगे। युद्धमें कोई भी इनपर विजय पानेवाला न होगा और ये भी किसीको परास्त किये बिना न रहेंगे'' ॥७-९॥

सोऽयं मृत्युवशं यातः कथं जिष्णुर्महाबलः ।
अयं ममाशां संहत्य शेते भूमौ धनंजयः ॥ १० ॥
आश्रित्य यं वयं नाथं दुःखान्येतानि सेहिम ।

'वे ही महाबली अर्जुन आज मृत्युके अधीन कैसे हो गये ? ये वे ही धनंजय मेरी आशालताको छिन्न-भिन्न करके धरतीपर पड़े हैं; जिन्हें अपना रक्षक बनाकर और जिनका ही भारी भरोसा करके हमलोग ये सारे दुःख सहते आये हैं ॥१०½॥

रणे प्रमत्तौ वीरौ च सदा शत्रुनिबर्हणौ ॥ ११ ॥
कथं रिपुवशं यातौ कुन्तीपुत्रौ महाबलौ ।
यौ सर्वास्त्राप्रतिहतौ भीमसेनधनंजयौ ॥ १२ ॥

'कुन्तीके ये दोनों महाबली पुत्र भीमसेन और अर्जुन—जो

किसी भी अस्त्रसे प्रतिहत न होनेवाले, समराङ्गणमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले तथा सदैव शत्रुओंका संहार करनेवाले वीर थे, वे आज सहसा शत्रुके अधीन कैसे हो गये ? ॥ ११-१२ ॥

अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम दुर्हृदः ।
यमौ यदेतौ दृष्ट्वाद्य पतितौ नावदीर्यते ॥ १३ ॥

'मुझ दुष्टका हृदय निश्चय ही पत्थर और लोहेका बना हुआ है, जो कि आज इन दोनों भाई नकुल और सहदेवको धरतीपर पड़ा देख विदीर्ण नहीं हो जाता है ॥ १३ ॥

शास्त्रज्ञा देशकालज्ञास्तपोयुक्ताः क्रियान्विताः ।
अकृत्वा सदृशं कर्म किं शेध्वं पुरुषर्षभाः ॥ १४ ॥

'पुरुषसिंह बन्धुओ ! तुमलोग शास्त्रोंके विद्वान्, देशकालको समझनेवाले, तपस्वी और कर्मठ वीर थे । अपने योग्य पराक्रम किये विना ही तुमलोग (प्राणहीन हो) कैसे सो रहे हो ? ॥ १४ ॥

अविक्षतशरीराश्चाप्यप्रमृष्टशरासनाः ।
असंज्ञा भुवि संगम्य किं शेध्वमपराजिताः ॥ १५ ॥

'तुम्हारे शरीरोंमें कोई घाव नहीं है, तुमने धनुष-बाणका स्पर्शतक नहीं किया है तथा तुम किसीसे परास्त होनेवाले नहीं हो; ऐसी दशामें इस पृथ्वीपर संज्ञाशून्य होकर क्यों पड़े हो ?' ॥ १५ ॥

सानूनिवाद्रेः संसुप्तान् दृष्ट्वा भ्रातॄन् महामतिः ।
सुखं प्रसुप्तान् प्रस्विन्नः खिन्नः कष्टां दशां गतः ॥ १६ ॥

परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर धरतीपर पड़े हुए पर्वत-शिखरोंके समान अपने भाइयोंको इस प्रकार सुखकी नींद सोते देखकर बहुत दुखी हुए । उनके सारे अङ्गोंमें पसीना निकल आया और वे अत्यन्त कष्टप्रद अवस्थामें पहुँच गये ॥

एवमेवेदमित्युक्त्वा धर्मात्मा स नरेश्वरः ।
शोकसागरमध्यस्थो दध्यौ कारणमाकुलः ॥ १७ ॥

'यह ऐसी ही होनहार है'; ऐसा कहकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर शोकसागरमें मग्न तथा व्याकुल होकर भाइयोंकी मृत्युके कारणपर विचार करने लगे ॥ १७ ॥

इतिकर्तव्यतां चेति देशकालविभागवित् ।
नाभिपेदे महाबाहुश्चिन्तयानो महामतिः ॥ १८ ॥

वे यह भी सोचने लगे कि 'अब क्या करना चाहिये ?' महाबुद्धिमान् महाबाहु युधिष्ठिर देश और कालके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जाननेवाले थे; तो भी बहुत सोचने-विचारनेपर भी वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके ॥ १८ ॥

अथ संस्तभ्य धर्मात्मा तदाऽऽत्मानं तपोयुतः ।
एवं विलप्य बहुधा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १९ ॥
बुद्ध्या विचिन्तयामास वीराः केन निपातिताः ॥ २० ॥
नैषां शस्त्रप्रहारोऽस्ति पदं नेहास्ति कस्यचित् ।
भूतं महदिदं मन्ये भ्रातरो येन मे हताः ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् धर्मात्मा और तपस्वी धर्मपुत्र युधिष्ठिर अपने मनको स्थिर करके बहुत विलाप करनेके पश्चात् अपनी बुद्धि-द्वारा यह विचार करने लगे—'इन वीरोंको किसने मार गिराया है ? इनके शरीरोंमें अस्त्र-शस्त्रोंके आघातका कोई चिह्न नहीं है और न इस स्थानपर किसी दूसरेके पैरोंका निशान ही है । मैं समझता हूँ, अवश्य वह कोई भारी भूत है, जिसने मेरे भाइयोंको मारा है ॥ १९–२१ ॥

एकाग्रं चिन्तयिष्यामि पीत्वा वेत्स्यामि वा जलम् ।
स्यात् तु दुर्योधनेनेदमुपांशुविहितं कृतम् ॥ २२ ॥

'इस विषयमें मैं चित्तको एकाग्र करके फिर सोचूँगा अथवा पानी पीकर इस रहस्यको समझनेकी चेष्टा करूँगा । सम्भव है, दुर्योधनने चुपके-चुपके कोई षड्यन्त्र किया हो ॥

गान्धारराजरचितं सततं जिह्मबुद्धिना ।
यस्य कार्यमकार्यं वा सममेव भवत्युत ॥ २३ ॥
कस्तस्य विश्वसेद् वीरो दुष्कृतेरकृतात्मनः ।
अथवा पुरुषैर्गूढैः प्रयोगोऽयं दुरात्मनः ॥ २४ ॥

'अथवा जिसकी बुद्धिमें सदा कुटिलता ही निवास करती है, उस गान्धारराज शकुनिकी भी यह करतूत हो सकती है । जिसके लिये कर्तव्य और अकर्तव्य दोनों बराबर हैं, उस अजितात्मा पापी शकुनिपर कौन वीर पुरुष विश्वास कर सकता है ? अथवा गुप्तरूपसे नियुक्त किये हुए पुरुषोंद्वारा दुरात्मा दुर्योधनने ही यह हिंसात्मक प्रयोग किया होगा' ॥ २३-२४ ॥

भवेदिति महाबुद्धिर्बहुधा तदचिन्तयत् ।
तस्यासीन्न विषेणेदमुदकं दूषितं यथा ॥ २५ ॥

इस प्रकार परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर भाँति-भाँतिकी चिन्ता करने लगे । (परीक्षा करनेपर) उन्हें इस बातका निश्चय हो गया था कि इस सरोवरके जलमें जहर नहीं मिलाया गया है ॥

मृतानामपि चैतेषां विकृतं नैव जायते ।
मुखवर्णाः प्रसन्ना मे भ्रातॄणामित्यचिन्तयत् ॥ २६ ॥

'क्योंकि मर जानेपर भी मेरे इन भाइयोंके शरीरमें कोई विकृति नहीं उत्पन्न हुई है । अब भी मेरे भाइयोंके मुखकी कान्ति प्रसन्न है ।' इस तरह वे सोच-विचारमें ही डूबे रहे ॥

एकैकशश्चौघबलानिमान् पुरुषसत्तमान् ।
कोऽन्यः प्रतिसमासेत कालान्तकयमादृते ॥ २७ ॥

'मेरे इन पुरुषरत्न भाइयोंमेंसे प्रत्येकके शरीरमें बलका अगाध सिन्धु लहराता था । आयु पूर्ण होनेपर सबका अन्त कर देनेवाले यमराजके सिवा दूसरा कौन इनसे भिड़ सकता था ?' ॥ २७ ॥

एतेन व्यवसायेन तत् तोयं व्यवगाढवान् ।
गाहमानश्च तत् तोयमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे ॥ २८ ॥

इस प्रकार निश्चय करके युधिष्ठिर जलमें उतरे । पानीमें प्रवेश करते ही उनके कानोंमें आकाशवाणी सुनायी दी ॥

यक्ष उवाच

अहं बकः शैवलमत्स्यभक्षो
नीता मया प्रेतवशं तवानुजाः ।
त्वं पञ्चमो भविता राजपुत्र
न चेत् प्रश्नान् पृच्छतो व्याकरोषि ॥ २९ ॥

यक्ष बोला—राजकुमार ! मैं सेवार और मछली खानेवाला बगुला हूँ। मैंने ही तुम्हारे छोटे भाइयोंको यमलोक भेजा है; अतः मेरे पूछनेपर यदि तुम मेरे प्रश्नोंका उत्तर न दोगे, तो तुम भी यमलोकके पाँचवें अतिथि होओगे ॥ २९ ॥

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥ ३० ॥

तात ! जल पीनेका साहस न करना। इसपर मेरा पहलेसे ही अधिकार हो गया है । कुन्तीकुमार ! मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो और तब जल पीओ और ले भी जाओ ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर उवाच

रुद्राणां वा वसूनां वा मरुतां वा प्रधानभाक् ।
पृच्छामि को भवान् देवो नैतच्छकुनिना कृतम् ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर बोले—मैं पूछता हूँ, तुम रुद्रों, वसुओं अथवा मरुद्गणोंमेंसे कौन-से प्रधान देवता हो ? बताओ । यह काम किसी पक्षीका किया हुआ नहीं हो सकता ! ॥

हिमवान् पारियात्रश्च विन्ध्यो मलय एव च ।
चत्वारः पर्वताः केन पातिता भूरितेजसः ॥ ३२ ॥

मेरे महातेजस्वी भाई हिमवान्, पारियात्र, विन्ध्य तथा मलय—इन चारों पर्वतोंके समान हैं। इन्हें किसने मार गिराया है ? ॥ ३२ ॥

अतीव ते महत् कर्म कृतं च बलिनां वर ।
यान् न देवा न गन्धर्वा नासुराश्च न राक्षसाः ॥ ३३ ॥
विषहेरन् महायुद्धे कृतं ते तन्महाद्भुतम् ।
न ते जानामि यत् कार्यं नाभिजानामि काङ्क्षितम् ॥ ३४ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ वीर ! तुमने यह अत्यन्त महान् कर्म किया है । बड़े-बड़े युद्धोंमें जिन वीरों (के प्रभाव) को देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षस भी नहीं सह सकते थे, उन्हें गिराकर तुमने परम अद्भुत पराक्रम किया है । तुम्हारा कार्य क्या है ? यह मैं नहीं जानता । तुम क्या चाहते हो ? इसका भी मुझे पता नहीं है ॥ ३३-३४ ॥

कौतूहलं महज्जातं साध्वसं चागतं मम ।
येनास्म्युद्विग्नहृदयः समुत्पन्नशिरोज्वरः ॥ ३५ ॥
पृच्छामि भगवंस्तस्मात् को भवानिह तिष्ठति ।

तुम्हारे विषयमें मुझे महान् कौतूहल हो गया है । तुमसे मुझे कुछ भय भी लगने लगा है, जिससे मेरा हृदय उद्विग्न हो उठा है और सिरमें संताप होने लगा है । अतः भगवन् ! मैं विनयपूर्वक पूछता हूँ, तुम यहाँ कौन विराज रहे हो ? ॥

यक्ष उवाच

यक्षोऽहमस्मि भद्रं ते नास्मि पक्षी जलेचरः ॥ ३६ ॥
मयैते निहताः सर्वे भ्रातरस्ते महौजसः ।

यक्षने कहा—तुम्हारा कल्याण हो । मैं जलचर पक्षी नहीं हूँ, यक्ष हूँ । तुम्हारे ये सभी महान् तेजस्वी भाई मेरेद्वारा ही मारे गये हैं ॥ ३६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तामशिवां श्रुत्वा वाचं स परुषाक्षराम् ॥ ३७ ॥
यक्षस्य ब्रुवतो राजन्नुपक्रम्य तदा स्थितः ।
विरूपाक्षं महाकायं यक्षं तालसमुच्छ्रयम् ॥ ३८ ॥
ज्वलनार्कप्रतीकाशमधृष्यं पर्वतोपमम् ।
वृक्षमाश्रित्य तिष्ठन्तं ददर्श भरतर्षभः ॥ ३९ ॥
मेघगम्भीरनादेन तर्जयन्तं महास्वनम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तत्पश्चात् उस समय इस प्रकार बोलनेवाले उस यक्षकी वह अमङ्गलमयी और कठोर वाणी सुनकर भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर उसके पास जाकर खड़े हो गये । उन्होंने देखा, एक विकट नेत्रोंवाला विशालकाय यक्ष वृक्षके ऊपर बैठा है । वह बड़ा ही दुर्धर्ष, ताड़के समान लंबा, अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी तथा पर्वतके समान ऊँचा है । वही अपनी मेघके समान गम्भीर नादयुक्त वाणीसे उन्हें फटकार रहा है। उसकी आवाज बहुत ऊँची है ॥ ३७—३९½ ॥

यक्ष उवाच

इमे ते भ्रातरो राजन् वार्यमाणा मयासकृत् ॥ ४० ॥
बलात् तोयं जिहीर्षन्तस्ततो वै सूदिता मया ।
न पेयमुदकं राजन् प्राणानिह परीप्सता ॥ ४१ ॥
पार्थ मा साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥ ४२ ॥

यक्षने कहा—राजन् ! तुम्हारे इन भाइयोंको मैंने बार-बार रोका था; फिर भी ये बलपूर्वक जल ले जाना चाहते थे; इसीसे मैंने इन्हें मार डाला । महाराज युधिष्ठिर ! यदि तुम्हें अपने प्राण बचानेकी इच्छा हो, तो वहाँ जल नहीं पीना चाहिये । पार्थ ! तुम पानी पीनेका साहस न करना, यह पहलेसे ही मेरे अधिकारकी वस्तु है । कुन्तीनन्दन ! पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो, उसके बाद जल पीओ और ले भी जाओ ॥ ४०—४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न चाहं कामये यक्ष तव पूर्वपरिग्रहम् ।
कामं नैतत् प्रशंसन्ति सन्तो हि पुरुषाः सदा ॥ ४३ ॥
यदात्मना स्वमात्मानं प्रशंसेत् पुरुषर्षभ ।
यथाप्रज्ञं तु ते प्रश्नान् प्रतिवक्ष्यामि पृच्छ माम् ॥ ४४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—यक्ष ! मैं तुम्हारे अधिकारकी वस्तुको नहीं ले जाना चाहता । मैं स्वयं ही अपनी बड़ाई

करूँ; इस बातकी सत्पुरुष कभी प्रशंसा नहीं करते। मैं अपनी बुद्धिके अनुसार तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दूँगा, तुम मुझसे प्रश्न करो ॥ ४३-४४ ॥

यक्ष उवाच

किं स्विदादित्यमुन्नयति के च तस्याभितश्चराः ।
कश्चैनमस्तं नयति कस्मिंश्च प्रतितिष्ठति ॥ ४५ ॥

यक्षने पूछा—सूर्यको कौन ऊपर उठाता (उदित) करता है ? उसके चारों ओर कौन चलते हैं ? उसे अस्त कौन करता है ? और वह किसमें प्रतिष्ठित है ? ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्रह्मादित्यमुन्नयति देवास्तस्याभितश्चराः ।
धर्मश्चास्तं नयति च सत्ये च प्रतितिष्ठति ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्म सूर्यको ऊपर उठाता (उदित करता) है, देवता उसके चारों ओर चलते हैं, धर्म उसे अस्त करता है और वह सत्यमें प्रतिष्ठित है ॥ ४६ ॥

यक्ष उवाच

केनस्विच्छ्रोत्रियो भवति केनस्विद् विन्दते महत् ।
केनस्विद् द्वितीयवान् भवति राजन् केन च बुद्धिमान्॥

यक्षने पूछा—राजन् ! मनुष्य श्रोत्रिय किससे होता है ? महत्पदको किसके द्वारा प्राप्त करता है ? वह किसके द्वारा द्वितीयवान् होता है ? और किससे बुद्धिमान् होता है ? ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतेन श्रोत्रियो भवति तपसा विन्दते महत् ।
धृत्या द्वितीयवान् भवति बुद्धिमान् वृद्धसेवया ॥४८॥

युधिष्ठिर बोले—वेदाध्ययनके द्वारा मनुष्य श्रोत्रिय होता है, तपसे महत्पद प्राप्त करता है, धैर्यसे द्वितीयवान् (दूसरे साथीसे युक्त) होता है और वृद्ध पुरुषोंकी सेवासे बुद्धिमान् होता है ॥ ४८ ॥

यक्ष उवाच

किं ब्राह्मणानां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ४९ ॥

यक्षने पूछा—ब्राह्मणोंमें देवत्व क्या है ? उनमें सत्पुरुषोंका-सा धर्म क्या है ? उनका मनुष्यभाव क्या है ? और उनमें असत्पुरुषोंका-सा आचरण क्या है ? ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव ।
मरणं मानुषो भावः परिवादोऽसतामिव ॥ ५० ॥

युधिष्ठिर बोले—वेदोंका स्वाध्याय ही ब्राह्मणोंमें देवत्व है, तप सत्पुरुषोंका-सा धर्म है, मरना मनुष्य-भाव है और निन्दा करना असत्पुरुषोंका-सा आचरण है ॥ ५० ॥

यक्ष उवाच

किं क्षत्रियाणां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ५१ ॥

यक्षने पूछा—क्षत्रियोंमें देवत्व क्या है ? उनमें सत्पुरुषोंका-सा धर्म क्या है ? उनका मनुष्य-भाव क्या है ? और उनमें असत्पुरुषोंका-सा आचरण क्या है ? ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव ।
भयं वै मानुषो भावः परित्यागोऽसतामिव ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिर बोले—बाणविद्या क्षत्रियोंका देवत्व है, यज्ञ उनका सत्पुरुषोंका-सा धर्म है, भय मानवीय भाव है और शरणमें आये हुए दुखियोंका परित्याग कर देना उनमें असत्पुरुषोंका-सा आचरण है ॥ ५२ ॥

यक्ष उवाच

किमेकं यज्ञियं साम किमेकं यज्ञियं यजुः ।
का चैषां वृणुते यज्ञं कां यज्ञो नातिवर्तते ॥ ५३ ॥

यक्षने पूछा—कौन एक वस्तु यज्ञिय साम है ? कौन एक (यज्ञसम्बन्धी) यज्ञिय यजु है ? कौन एक वस्तु यज्ञका वरण करती है ? और किस एकका यज्ञ अतिक्रमण नहीं करता ? ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्राणो वै यज्ञियं साम मनो वै यज्ञियं यजुः ।
ऋगेका वृणुते यज्ञं तां यज्ञो नातिवर्तते ॥ ५४ ॥

युधिष्ठिर बोले—प्राण ही यज्ञिय साम है, मन ही यज्ञसम्बन्धी यजु है, एकमात्र ऋचा ही यज्ञका वरण करती है और उसीका यज्ञ अतिक्रमण नहीं करता ॥ ५४ ॥

यक्ष उवाच

किंस्विदावपतां श्रेष्ठं किंस्विन्निवपतां वरम् ।
किंस्वित् प्रतिष्ठमानानां किंस्वित् प्रसवतां वरम् ॥ ५५ ॥

यक्षने पूछा—खेती करनेवालोंके लिये कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है ? बिखेरने (बोने) वालोंके लिये क्या श्रेष्ठ है ? प्रतिष्ठा-प्राप्त धनियोंके लिये कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है ? तथा संतानोत्पादन करनेवालोंके लिये क्या श्रेष्ठ है ? ॥ ५५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

वर्षमावपतां श्रेष्ठं बीजं निवपतां वरम् ।
गावः प्रतिष्ठमानानां पुत्रः प्रसवतां वरः ॥ ५६ ॥

युधिष्ठिर बोले—खेती करनेवालोंके लिये वर्षा श्रेष्ठ है। बिखेरने (बोने) वालोंके लिये बीज श्रेष्ठ है। प्रतिष्ठाप्राप्त धनियोंके लिये गौ (का पालन-पोषण और संग्रह) श्रेष्ठ है और संतानोत्पादन करनेवालोंके लिये पुत्र श्रेष्ठ है ॥

यक्ष उवाच

**इन्द्रियार्थाननुभवन् बुद्धिमाँल्लोकपूजितः ।
सम्मतः सर्वभूतानामुच्छ्वसन् को न जीवति ॥ ५७ ॥**

यक्षने पूछा—ऐसा कौन पुरुष है, जो बुद्धिमान्, लोकमें सम्मानित और सब प्राणियोंका माननीय होकर एवं इन्द्रियोंके विषयोंको अनुभव करते तथा श्वास लेते हुए भी वास्तवमें जीवित नहीं है ? ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

**देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन् न स जीवति ॥ ५८ ॥**

युधिष्ठिरने कहा—जो देवता, अतिथि, भरणीय कुटुम्बीजन, पितर और आत्मा—इन पाँचोंका पोषण नहीं करता, वह श्वास लेनेपर भी जीवित नहीं है ॥ ५८ ॥

यक्ष उवाच

**किंस्विद् गुरुतरं भूमेः किंस्विदुच्चतरं च खात् ।
किंस्विच्छीघ्रतरं वायोः किंस्विद् बहुतरं तृणात् ॥ ५९ ॥**

यक्षने पूछा—पृथ्वीसे भी भारी क्या है ? आकाशसे भी ऊँचा क्या है ? वायुसे भी तेज चलनेवाला क्या है ? और तिनकोंसे भी अधिक (असंख्य) क्या है ? ॥ ५९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

**माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा ।
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरी तृणात् ॥ ६० ॥**

युधिष्ठिर बोले—माताका गौरव पृथ्वीसे भी अधिक है । पिता आकाशसे भी ऊँचा है । मन वायुसे भी तेज चलनेवाला है और चिन्ता तिनकोंसे भी अधिक असंख्य एवं अनन्त है ॥ ६० ॥

यक्ष उवाच

**किंस्वित् सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति ।
कस्यस्विद्धृदयं नास्ति किंस्विद् वेगेन वर्धते ॥ ६१ ॥**

यक्षने पूछा—कौन सोनेपर भी आँखें नहीं मूँदता ? उत्पन्न होकर भी कौन चेष्टा नहीं करता ? किसमें हृदय नहीं है ? और कौन वेगसे बढ़ता है ? ॥ ६१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

**मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ॥ ६२ ॥**

युधिष्ठिर बोले—मछली सोनेपर भी आँखें नहीं मूँदती, अण्डा उत्पन्न होकर भी चेष्टा नहीं करता, पत्थरमें हृदय नहीं है और नदी वेगसे बढ़ती है ॥ ६२ ॥

यक्ष उवाच

**किंस्वित् प्रवसतो मित्रं किंस्विन्मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य च किं मित्रं किंस्विन्मित्रं मरिष्यतः ॥ ६३ ॥**

यक्षने पूछा—प्रवासी (परदेशके यात्री) का मित्र कौन है ? गृहवासी (गृहस्थ) का मित्र कौन है ? रोगीका मित्र कौन है ? और मृत्युके समीप पहुँचे हुए पुरुषका मित्र कौन है ? ॥ ६३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

**सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य भिषङ्मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः ॥ ६४ ॥**

युधिष्ठिर बोले—सहयात्रियोंका समुदाय अथवा साथमें यात्रा करनेवाला साथी ही प्रवासीका मित्र है, पत्नी गृहवासीका मित्र है, वैद्य रोगीका मित्र है और दान मुमूर्षु (अर्थात् मरनेवाले) मनुष्यका मित्र है ॥ ६४ ॥

यक्ष उवाच

**कोऽतिथिः सर्वभूतानां किंस्विद् धर्मं सनातनम् ।
अमृतं किंस्विद् राजेन्द्र किंस्वित् सर्वमिदं जगत् ॥ ६५ ॥**

यक्षने पूछा—राजेन्द्र ! समस्त प्राणियोंका अतिथि कौन है ? सनातन धर्म क्या है ? अमृत क्या है ? और यह सारा जगत् क्या है ? ॥ ६५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

**अतिथिः सर्वभूतानामग्निः सोमो गवामृतम् ।
सनातनोऽमृतो धर्मो वायुः सर्वमिदं जगत् ॥ ६६ ॥**

युधिष्ठिर बोले—अग्नि समस्त प्राणियोंका अतिथि है, गौका दूध अमृत है, अविनाशी नित्य धर्म ही सनातन धर्म है और वायु यह सारा जगत् है ॥ ६६ ॥

यक्ष उवाच

**किंस्विदेको विचरते जातः को जायते पुनः ।
किंस्विद्धिमस्य भैषज्यं किंस्विदावपनं महत् ॥ ६७ ॥**

यक्षने पूछा—अकेला कौन विचरता है ? एक बार उत्पन्न होकर पुनः कौन उत्पन्न होता है ? शीतकी ओषधि क्या है ? और महान् आवपन (क्षेत्र) क्या है ? ॥ ६७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

**सूर्य एको विचरते चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत् ॥ ६८ ॥**

युधिष्ठिर बोले—सूर्य अकेला विचरता है, चन्द्रमा एक बार जन्म लेकर पुनः जन्म लेता है, अग्नि शीतकी ओषधि है और पृथ्वी बड़ा भारी आवपन है ॥ ६८ ॥

यक्ष उवाच

**किंस्विदेकपदं धर्म्यं किंस्विदेकपदं यशः ।
किंस्विदेकपदं स्वर्ग्यं किंस्विदेकपदं सुखम् ॥ ६९ ॥**

यक्षने पूछा—धर्मका मुख्य स्थान क्या है ? यशका मुख्य स्थान क्या है ? स्वर्गका मुख्य स्थान क्या है ? और सुखका मुख्य स्थान क्या है ? ॥ ६९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः ।
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम् ॥ ७० ॥

युधिष्ठिर बोले—धर्मका मुख्य स्थान दक्षता है, यशका मुख्य स्थान दान है, स्वर्गका मुख्य स्थान सत्य है और सुखका मुख्य स्थान शील है ॥ ७० ॥

यक्ष उवाच

किंस्विदात्मा मनुष्यस्य किंस्विद् दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं किंस्विदस्य किंस्विदस्य परायणम् ॥ ७१ ॥

यक्षने पूछा—मनुष्यकी आत्मा क्या है ? इसका दैवकृत सखा कौन है ? इसका उपजीवन (जीवनका सहारा) क्या है ? और इसका परम आश्रय क्या है ? ॥ ७१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं च पर्जन्यो दानमस्य परायणम् ॥ ७२ ॥

युधिष्ठिर बोले—पुत्र मनुष्यकी आत्मा है, स्त्री इसकी दैवकृत सहचरी है, मेघ उपजीवन है और दान इसका परम आश्रय है ॥ ७२ ॥

यक्ष उवाच

धन्यानामुत्तमं किंस्विद् धनानां स्यात् किमुत्तमम् ।
लाभानामुत्तमं किं स्यात् सुखानां स्यात् किमुत्तमम् ७३

यक्षने पूछा—धन्यवादके योग्य पुरुषोंमें उत्तम गुण क्या है ? धनोंमें उत्तम धन क्या है ? लाभोंमें प्रधान लाभ क्या है ? और सुखोंमें उत्तम सुख क्या है ? ॥ ७३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम् ।
लाभानां श्रेय आरोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा ॥ ७४ ॥

युधिष्ठिर बोले—धन्य पुरुषोंमें दक्षता ही उत्तम गुण है, धनोंमें शास्त्रज्ञान प्रधान है, लाभोंमें आरोग्य श्रेष्ठ है और सुखोंमें संतोष ही उत्तम सुख है ॥ ७४ ॥

यक्ष उवाच

कश्च धर्मः परो लोके कश्च धर्मः सदाफलः ।
किं नियम्य न शोचन्ति कैश्च संधिर्न जीर्यते ॥ ७५ ॥

यक्षने पूछा—लोकमें श्रेष्ठ धर्म क्या है ? नित्य फलवाला धर्म क्या है ? किसको वशमें रखनेसे मनुष्य शोक नहीं करते ? और किनके साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती ? ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः ।
मनो यम्य न शोचन्ति संधिः सद्भिर्न जीर्यते ॥ ७६ ॥

युधिष्ठिर बोले—लोकमें दया श्रेष्ठ धर्म है, वेदोक्त धर्म नित्य फलवाला है, मनको वशमें रखनेसे मनुष्य शोक नहीं करते और सत्पुरुषोंके साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती ॥ ७६ ॥

यक्ष उवाच

किं नु हित्वा प्रियो भवति
किं नु हित्वा न शोचति ।
किं नु हित्वार्थवान् भवति
किं नु हित्वा सुखी भवेत् ॥ ७७ ॥

यक्षने पूछा—किस वस्तुको त्यागकर मनुष्य प्रिय होता है ? किसको त्यागकर शोक नहीं करता ? किसको त्यागकर वह अर्थवान् होता है ? और किसको त्यागकर सुखी होता है ? ॥ ७७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मानं हित्वा प्रियो भवति
क्रोधं हित्वा न शोचति ।
कामं हित्वार्थवान् भवति
लोभं हित्वा सुखी भवेत् ॥ ७८ ॥

युधिष्ठिर बोले—मानको त्याग देनेपर मनुष्य प्रिय होता है, क्रोधको त्यागकर शोक नहीं करता, कामको त्यागकर वह अर्थवान् होता है और लोभको त्यागकर सुखी होता है ॥ ७८ ॥

यक्ष उवाच

किमर्थं ब्राह्मणे दानं किमर्थं नटनर्तके ।
किमर्थं चैव भृत्येषु किमर्थं चैव राजसु ॥ ७९ ॥

यक्षने पूछा—ब्राह्मणको किसलिये दान दिया जाता है ? नट और नर्तकोंको क्यों दान देते हैं ? सेवकोंको दान देनेका क्या प्रयोजन है ? और राजाओंको क्यों दान दिया जाता है ? ॥ ७९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोऽर्थं नटनर्तके ।
भृत्येषु भरणार्थं वै भयार्थं चैव राजसु ॥ ८० ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्राह्मणको धर्मके लिये दान दिया जाता है, नट-नर्तकोंको यशके लिये दान (धन) देते हैं, सेवकोंको उनके भरण-पोषणके लिये दान (वेतन) दिया जाता है और राजाओंको भयके कारण दान (कर) देते हैं ॥ ८० ॥

यक्ष उवाच

केनस्विदावृतो लोकः केनस्विन्न प्रकाशते ।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥ ८१ ॥

यक्षने पूछा—जगत् किस वस्तुसे ढका हुआ है ?

किसके कारण वह प्रकाशित नहीं होता ? मनुष्य मित्रोंको किसलिये त्याग देता है ? और स्वर्गमें किस कारण नहीं जाता ? ॥ ८१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अज्ञानेनावृतो लोकस्तमसा न प्रकाशते ।
लोभात् त्यजति मित्राणि संगात् स्वर्गं न गच्छति॥८२॥

युधिष्ठिर बोले—जगत् अज्ञानसे ढका हुआ है, तमोगुणके कारण वह प्रकाशित नहीं होता, लोभके कारण मनुष्य मित्रोंको त्याग देता है और आसक्तिके कारण स्वर्गमें नहीं जाता ॥ ८२ ॥

यक्ष उवाच

मृतः कथं स्यात् पुरुषः कथं राष्ट्रं मृतं भवेत् ।
श्राद्धं मृतं कथं वा स्यात् कथं यज्ञो मृतो भवेत् ॥ ८३ ॥

यक्षने पूछा—पुरुष किस प्रकार मरा हुआ कहा जाता है ? राष्ट्र किस प्रकार मर जाता है ? श्राद्ध किस प्रकार मृत हो जाता है ? और यज्ञ कैसे नष्ट हो जाता है ? ॥ ८३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं राष्ट्रमराजकम् ।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ॥ ८४ ॥

युधिष्ठिर बोले—दरिद्र पुरुष मरा हुआ है यानी मरे हुएके समान है, बिना राजाका राज्य मर जाता है यानी नष्ट हो जाता है, श्रोत्रिय ब्राह्मणके बिना श्राद्ध मृत हो जाता है और बिना दक्षिणाका यज्ञ नष्ट हो जाता है ॥ ८४ ॥

यक्ष उवाच

का दिक् किमुदकं प्रोक्तं किमन्नं किं च वै विषम् ।
श्राद्धस्य कालमाख्याहि ततः पिब हरस्व च ॥८५॥

यक्षने पूछा—दिशा क्या है ? जल क्या है ? अन्न क्या है ? विष क्या है ? और श्राद्धका समय क्या है ? यह बताओ । इसके बाद जल पीओ और ले भी जाओ ॥ ८५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सन्तो दिग् जलमाकाशं गौरन्नं प्रार्थना विषम् ।
श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः कथं वा यक्ष मन्यसे ॥ ८६ ॥

युधिष्ठिर बोले—सत्पुरुष दिशा हैं, आकाश जल है, पृथ्वी अन्न है, प्रार्थना (कामना) विष है और ब्राह्मण ही श्राद्धका समय है अथवा यक्ष ! इस विषयमें तुम्हारी क्या मान्यता है ? ॥ ८६ ॥

यक्ष उवाच

तपः किंलक्षणं प्रोक्तं को दमश्च प्रकीर्तितः ।
क्षमा च का परा प्रोक्ता का च ह्रीः परिकीर्तिता ॥ ८७ ॥

यक्षने पूछा—तपका क्या लक्षण बताया गया है ? दम किसे कहा गया है ? उत्तम क्षमा क्या बतायी गयी है ? और लज्जा किसको कहा गया है ? ॥ ८७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

तपः स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनं दमः ।
क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ॥ ८८ ॥

युधिष्ठिर बोले—अपने धर्ममें तत्पर रहना तप है, मनके दमनका ही नाम दम है, सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वोंको सहन करना क्षमा है तथा न करने योग्य कामसे दूर रहना लज्जा है ॥ ८८ ॥

यक्ष उवाच

किं ज्ञानं प्रोच्यते राजन् कः शमश्च प्रकीर्तितः ।
दया च का परा प्रोक्ता किं चार्जवमुदाहृतम् ॥ ८९ ॥

यक्षने पूछा—राजन् ! ज्ञान किसे कहते हैं ? शम क्या कहलाता है ? उत्तम दया किसका नाम है ? और आर्जव (सरलता) किसे कहते हैं ? ॥ ८९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधः शमश्चित्तप्रशान्तता ।
दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता ॥ ९० ॥

युधिष्ठिर बोले—परमात्मतत्त्वका यथार्थ बोध ही ज्ञान है, चित्तकी शान्ति ही शम है, सबके सुखकी इच्छा रखना ही उत्तम दया है और समचित्त होना ही आर्जव (सरलता) है ॥ ९० ॥

यक्ष उवाच

कः शत्रुर्दुर्जयः पुंसां कश्च व्याधिरनन्तकः ।
कीदृशश्च स्मृतः साधुरसाधुः कीदृशः स्मृतः ॥ ९१ ॥

यक्षने पूछा—मनुष्योंका दुर्जय शत्रु कौन है ? अनन्त व्याधि क्या है ? साधु कौन माना जाता है ? और असाधु किसे कहते हैं ? ॥ ९१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनन्तकः ।
सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः ॥ ९२ ॥

युधिष्ठिर बोले—क्रोध दुर्जय शत्रु है, लोभ अनन्त व्याधि है तथा जो समस्त प्राणियोंका हित करनेवाला हो, वही साधु है और निर्दयी पुरुषको ही असाधु माना गया है ।९२।

यक्ष उवाच

को मोहः प्रोच्यते राजन् कश्च मानः प्रकीर्तितः ।
किमालस्यं च विज्ञेयं कश्च शोकः प्रकीर्तितः ॥ ९३ ॥

यक्षने पूछा—राजन् ! मोह किसे कहते हैं ? मान क्या कहलाता है ? आलस्य किसे जानना चाहिये ? और शोक किसे कहते हैं ? ॥ ९३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मोहो हि धर्ममूढत्वं मानस्त्वात्माभिमानिता ।
धर्मनिष्क्रियताऽऽलस्यं शोकस्त्वज्ञानमुच्यते ॥ ९४ ॥

युधिष्ठिर बोले—धर्ममूढ़ता ही मोह है, आत्माभिमान ही मान है, धर्मका पालन न करना आलस्य है और अज्ञानको ही शोक कहते हैं ॥ ९४ ॥

यक्ष उवाच

किं स्थैर्यमृषिभिः प्रोक्तं किं च धैर्यमुदाहृतम् ।
स्नानं च किं परं प्रोक्तं दानं च किमिहोच्यते ॥ ९५ ॥

यक्षने पूछा—ऋषियोंने स्थिरता किसे कहा है ? धैर्य क्या कहलाता है ? परम स्नान किसे कहते हैं ? और दान किसका नाम है ? ॥ ९५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिन्द्रियनिग्रहः ।
स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ॥ ९६ ॥

युधिष्ठिर बोले—अपने धर्ममें स्थिर रहना ही स्थिरता है, इन्द्रियनिग्रह धैर्य है, मानसिक मलोंका त्याग करना परम स्नान है और प्राणियोंकी रक्षा करना ही दान है ॥

यक्ष उवाच

कः पण्डितः पुमाञ्ज्ञेयो नास्तिकः कश्च उच्यते ।
को मूर्खः कश्च कामः स्यात् को मत्सर इति स्मृतः ॥ ९७ ॥

यक्षने पूछा—किस पुरुषको पण्डित समझना चाहिये, नास्तिक कौन कहलाता है ? मूर्ख कौन है ? काम क्या है ? तथा मत्सर किसे कहते हैं ? ॥ ९७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धर्मज्ञः पण्डितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते ।
कामः संसारहेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः ॥ ९८ ॥

युधिष्ठिर बोले—धर्मज्ञको पण्डित समझना चाहिये, मूर्ख नास्तिक कहलाता है और नास्तिक मूर्ख है तथा जो जन्म-मरणरूप संसारका कारण है, वह वासना काम है और हृदयकी जलन ही मत्सर है ॥ ९८ ॥

यक्ष उवाच

कोऽहङ्कार इति प्रोक्तः कश्च दम्भः प्रकीर्तितः ।
किं तद् दैवं परं प्रोक्तं किं तत् पैशुन्यमुच्यते ॥ ९९ ॥

यक्षने पूछा—अहङ्कार किसे कहते हैं ? दम्भ क्या कहलाता है ? जिसे परम दैव कहते हैं, वह क्या है ? और पैशुन्य किसका नाम है ? ॥ ९९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

महाज्ञानमहङ्कारो दम्भो धर्मो ध्वजोच्छ्रयः ।
दैवं दानफलं प्रोक्तं पैशुन्यं परदूषणम् ॥ १०० ॥

युधिष्ठिर बोले—महान् अज्ञान अहङ्कार है, अपनेको झूठ-मूठ बड़ा धर्मात्मा प्रसिद्ध करना दम्भ है, दानका फल दैव कहलाता है और दूसरोंको दोष लगाना पैशुन्य (चुगली) है ॥ १०० ॥

यक्ष उवाच

धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः ।
एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र संगमः ॥ १०१ ॥

यक्षने पूछा—धर्म, अर्थ और काम—ये सब परस्पर विरोधी हैं। इन नित्य-विरुद्ध पुरुषार्थोंका एक स्थानपर कैसे संयोग हो सकता है ? ॥ १०१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगमः ॥ १०२ ॥

युधिष्ठिर बोले—जब धर्म और भार्या—ये दोनों परस्पर अविरोधी होकर मनुष्यके वशमें हो जाते हैं, उस समय धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों परस्पर विरोधियोंका भी एक साथ रहना सहज हो जाता है* ॥ १०२ ॥

यक्ष उवाच

अक्षयो नरकः केन प्राप्यते भरतर्षभ ।
एतन्मे पृच्छतः प्रश्नं तच्छीघ्रं वक्तुमर्हसि ॥ १०३ ॥

यक्षने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! अक्षय नरक किस पुरुषको प्राप्त होता है ? मेरे इस प्रश्नका शीघ्र ही उत्तर दो ॥ १०३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमानमकिञ्चनम् ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात् सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥ १०४ ॥

युधिष्ठिर बोले—जो पुरुष भिक्षा माँगनेवाले किसी अकिञ्चन ब्राह्मणको स्वयं बुलाकर फिर उसे 'नाहीं' कर देता है, वह अक्षय नरकमें जाता है ॥ १०४ ॥

वेदेषु धर्मशास्त्रेषु मिथ्या यो वै द्विजातिषु ।
देवेषु पितृधर्मेषु सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥ १०५ ॥

जो पुरुष वेद, धर्मशास्त्र, ब्राह्मण, देवता और पितृधर्मोंमें मिथ्याबुद्धि रखता है, वह अक्षय नरकको प्राप्त होता है ॥

विद्यमाने धने लोभाद् दानभोगविवर्जितः ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात् सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥ १०६ ॥

धन पास रहते हुए भी जो लोभवश दान और भोगसे रहित है तथा (माँगनेवाले ब्राह्मणादिको एवं न्याययुक्त भोगके

* धर्मानुकूल प्राप्त भार्यासे धर्मका विरोध नहीं होता एवं वह पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली हो, तो धर्मसे उसका विरोध नहीं होता । इस प्रकार धर्मानुसार प्राप्त पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली स्त्री और धर्म दोनों जिसके अनुकूल हो जाते हैं, वह धर्मात्मा गृहस्थ कभी दरिद्र नहीं होता। इसलिये उसके घरमें धर्म, अर्थ और काम तीनों बिना विरोधके एक साथ रह सकते हैं ।

लिये स्त्री-पुत्रादिको) पीछेसे यह कह देता है कि मेरे पास कुछ नहीं है, वह अक्षय नरकमें जाता है ॥ १०६ ॥

यक्ष उवाच

राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत् सुनिश्चितम् ॥१०७॥

यक्षने पूछा—राजन् ! कुल, आचार, स्वाध्याय और शास्त्रश्रवण—इनमेंसे किसके द्वारा ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है ? यह बात निश्चय करके बताओ ॥ १०७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥१०८॥

युधिष्ठिर बोले—तात यक्ष ! सुनो न तो कुल ब्राह्मणत्वमें कारण है न स्वाध्याय और न शास्त्रश्रवण। ब्राह्मणत्वका हेतु आचार ही है, इसमें संशय नहीं है ॥१०८॥

वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः ।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥१०९॥

इसलिये प्रयत्नपूर्वक सदाचारकी ही रक्षा करनी चाहिये । ब्राह्मणको तो उसपर विशेषरूपसे दृष्टि रखनी जरूरी है; क्योंकि जिसका सदाचार अक्षुण्ण है, उसका ब्राह्मणत्व भी बना हुआ है और जिसका आचार नष्ट हो गया, वह तो स्वयं भी नष्ट हो गया ॥ १०९ ॥

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥११०॥

पढ़नेवाले, पढ़ानेवाले तथा शास्त्रका विचार करनेवाले—ये सब तो व्यसनी और मूर्ख ही हैं । पण्डित तो वही है, जो अपने (शास्त्रोक्त) कर्तव्यका पालन करता है ॥ ११० ॥

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते ।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥१११॥

चारों वेद पढ़ा होनेपर भी जो दुराचारी है, वह अधमतामें शूद्रसे भी बढ़कर है । जो (नित्य) अग्निहोत्रमें तत्पर और जितेन्द्रिय है, वही 'ब्राह्मण' कहा जाता है ॥ १११ ॥

यक्ष उवाच

प्रियवचनवादी किं लभते
विमृशितकार्यकरः किं लभते ।
बहुमित्रकरः किं लभते
धर्मरत किं लभते कथय ॥११२॥

यक्षने पूछा—बताओ; मधुर वचन बोलनेवालेको क्या मिलता है ? सोच-विचारकर काम करनेवाला क्या पा लेता है ? जो बहुत-से मित्र बना लेता है, उसे क्या लाभ होता है ? और जो धर्मनिष्ठ है, उसे क्या मिलता है ?॥ ११२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रियवचनवादी प्रियो भवति
विमृशितकार्यकरोऽधिकं जयति।
बहुमित्रकरः सुखं वसते
यश्च धर्मरतः स गतिं लभते ॥११३॥

युधिष्ठिर बोले—मधुर वचन बोलनेवाला सबको प्रिय होता है, सोच-विचारकर काम करनेवालेको अधिकतर सफलता मिलती है एवं जो बहुत-से मित्र बना लेता है, वह सुखसे रहता है और जो धर्मनिष्ठ है, वह सद्गति पाता है ॥ ११३ ॥

यक्ष उवाच

को मोदते किमाश्चर्यं कः पन्थाः का च वार्तिका ।
ममैतांश्चतुरः प्रश्नान् कथयित्वा जलं पिब ॥११४॥

यक्षने पूछा—सुखी कौन है ? आश्चर्य क्या है ? मार्ग क्या है और वार्ता क्या है ? मेरे इन चार प्रश्नोंका उत्तर देकर जल पीओ ॥ ११४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे ।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते ॥११५॥

युधिष्ठिर बोले—जलचर यक्ष ! जिस पुरुषपर ऋण नहीं है और जो परदेशमें नहीं है, वह भले ही पाँचवें या छठे दिन अपने घरके भीतर साग-पात ही पकाकर खाता हो, तो भी वही सुखी है ॥ ११५ ॥

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥११६॥

संसारसे रोज-रोज प्राणी यमलोकमें जा रहे हैं; किंतु जो बचे हुए हैं, वे सर्वदा जीते रहनेकी इच्छा करते हैं; इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा ? ॥ ११६ ॥

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥११७॥

तर्ककी कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें निहित है अर्थात् अत्यन्त गूढ़ है; अतः जिससे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग है ॥ ११७ ॥

अस्मिन् महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥११८॥

इस महामोहरूपी कड़ाहेमें भगवान् काल समस्त प्राणियोंको मास और ऋतुरूप करछीसे उलट-पलटकर सूर्यरूप अग्नि और रात-दिनरूप ईंधनके द्वारा राँध रहे हैं, यही वार्त्ता है ॥ ११८ ॥

यक्ष उवाच

व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना याथातथ्यं परंतप ।
पुरुषं त्विदानीं व्याख्याहि यश्च सर्वधनी नरः ॥ ११९ ॥

यक्षने पूछा—परंतप ! तुमने मेरे सब प्रश्नोंके उत्तर ठीक-ठीक दे दिये, अब तुम पुरुषकी भी व्याख्या कर दो और यह बताओ कि सबसे बड़ा धनी कौन है ? ॥ ११९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्येन कर्मणा ।
यावत् स शब्दो भवति तावत् पुरुष उच्यते ॥ १२० ॥

युधिष्ठिर बोले—जिस व्यक्तिके पुण्यकर्मोंकी कीर्तिका शब्द जबतक स्वर्ग और भूमिको स्पर्श करता है, तबतक वह पुरुष कहलाता है ॥ १२० ॥

तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च ।
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः ॥ १२१ ॥

जो मनुष्य प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख और भूत-भविष्यत्—इन द्वन्द्वोंमें सम है, वही सबसे बड़ा धनी है ॥ १२१ ॥

(भूतभव्यभविष्येषु निःस्पृहः शान्तमानसः ।
सुप्रसन्नः सदा योगी स वै सर्वधनीश्वरः ॥)

जो भूत, वर्तमान और भविष्य सभी विषयोंकी ओरसे निःस्पृह, शान्तचित्त, सुप्रसन्न और सदा योगयुक्त है, वही सब धनियोंका स्वामी है ।

यक्ष उवाच

व्याख्यातः पुरुषो राजन् यश्च सर्वधनी नरः ।
तस्मात् त्वमेकं भ्रातॄणां यमिच्छसि स जीवतु ॥ १२२ ॥

यक्षने कहा—राजन् ! जो सबसे बढ़कर धनी पुरुष है, उसकी तुमने ठीक-ठीक व्याख्या कर दी; इसलिये अपने भाइयोंमेंसे जिस एकको तुम चाहो, वही जीवित हो सकता है ॥ १२२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्यामो य एष रक्ताक्षो बृहच्छाल इवोत्थितः ।
व्यूढोरस्को महाबाहुर्नकुलो यक्ष जीवतु ॥ १२३ ॥

युधिष्ठिर बोले—यक्ष ! यह जो श्यामवर्ण, अरुणनयन, सुविशाल शालवृक्षके समान ऊँचा और चौड़ी छातीवाला महाबाहु नकुल है, वही जीवित हो जाय ॥ १२३ ॥

यक्ष उवाच

प्रियस्ते भीमसेनोऽयमर्जुनो वः परायणम् ।
स कस्मान्नकुलं राजन् सापत्नं जीवमिच्छसि ॥ १२४ ॥

यक्षने कहा—राजन् ! यह तुम्हारा प्रिय भीमसेन है और यह तुमलोगोंका सबसे बड़ा सहारा अर्जुन है; इन्हें छोड़कर तुम किसलिये सौतेले भाई नकुलको जिलाना चाहते हो ? ॥ १२४ ॥

यस्य नागसहस्रेण दशसंख्येन वै बलम् ।
तुल्यं तं भीममुत्सृज्य नकुलं जीवमिच्छसि ॥ १२५ ॥

जिसमें दस हजार हाथियोंके समान बल है, उस भीमको छोड़कर तुम नकुलको ही क्यों जिलाना चाहते हो ? ॥ १२५ ॥

तथैनं मनुजाः प्राहुर्भीमसेनं प्रियं तव ।
अथ केनानुभावेन सापत्नं जीवमिच्छसि ॥ १२६ ॥

सभी मनुष्य भीमसेनको तुम्हारा प्रिय बतलाते हैं; उसे छोड़कर भला सौतेले भाई नकुलमें तुम कौन-सा सामर्थ्य देखकर उसे जिलाना चाहते हो ? ॥ १२६ ॥

यस्य बाहुबलं सर्वे पाण्डवाः समुपासते ।
अर्जुनं तमपाहाय नकुलं जीवमिच्छसि ॥ १२७ ॥

जिसके बाहुबलका सभी पाण्डवोंको पूरा भरोसा है, उस अर्जुनको भी छोड़कर तुम्हें नकुलको जिला देनेकी इच्छा क्यों है ? ॥ १२७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद् धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ १२८ ॥

युधिष्ठिर बोले—यदि धर्मका नाश किया जाय, तो वह नष्ट हुआ धर्म ही कर्ताको भी नष्ट कर देता है और यदि उसकी रक्षा की जाय, तो वही कर्ताकी भी रक्षा कर लेता है । इसीसे मैं धर्मका त्याग नहीं करता कि कहीं नष्ट होकर वह धर्म मेरा ही नाश न कर दे ॥ १२८ ॥

आनृशंस्यं परो धर्मः परमार्थाच्च मे मतम् ।
आनृशंस्यं चिकीर्षामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ १२९ ॥

यक्ष ! मेरा ऐसा विचार है कि वस्तुतः अनृशंसता (दया तथा समता) ही परम धर्म है । यही सोचकर मैं सबके प्रति दया और समानभाव रखना चाहता हूँ; इसलिये नकुल ही जीवित हो जाय ॥ १२९ ॥

धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः ।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ १३० ॥

यक्ष ! लोग मेरे विषयमें ऐसा समझते हैं कि राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं; अतएव मैं अपने धर्मसे विचलित नहीं

होऊँगा। मेरा भाई नकुल जीवित हो जाय ॥ १३० ॥

कुन्ती चैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम।
उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयते मतिः ॥१३१॥

मेरे पिताके कुन्ती और माद्री नामकी दो भार्याएँ रहीं। वे दोनों ही पुत्रवती बनी रहें, ऐसा मेरा विचार है॥

यथा कुन्ती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः।
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥१३२॥

यक्ष! मेरेलिये जैसी कुन्ती है, वैसी ही माद्री। उन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। मैं दोनों माताओंके प्रति समान-भाव ही रखना चाहता हूँ। इसलिये नकुल ही जीवित हो ॥

यक्ष उवाच

तस्य तेऽर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्यं परं मतम्।
तस्मात् ते भ्रातरः सर्वे जीवन्तु भरतर्षभ ॥१३३॥

यक्षने कहा—भरतश्रेष्ठ! तुमने अर्थ और कामसे भी अधिक दया और समताका आदर किया है, इसलिये तुम्हारे सभी भाई जीवित हो जायँ ॥ १३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि यक्षप्रश्ने त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें यक्षप्रश्नविषयक तीन सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १३४ श्लोक हैं)

चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

यक्षका चारों भाइयोंको जिलाकर धर्मके रूपमें प्रकट हो युधिष्ठिरको वरदान देना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते यक्षवचनादुदतिष्ठन्त पाण्डवाः।
क्षुत्पिपासे च सर्वेषां क्षणेन व्यपगच्छताम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर यक्षके कहते ही सब पाण्डव उठकर खड़े हो गये तथा एक क्षणमें ही उन सबकी भूख-प्यास जाती रही ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सरस्येकेन पादेन तिष्ठन्तमपराजितम्।
पृच्छामि को भवान् देवो न मे यक्षो मतो भवान्॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—इस सरोवरमें एक पैरसे खड़े हुए, किसीसे भी पराजित न होनेवाले आपसे मैं पूछता हूँ—आप कौन देवश्रेष्ठ हैं? मुझे तो आप यक्ष नहीं मालूम होते ॥२॥

वसूनां वा भवानेको रुद्राणामथवा भवान्।
अथवा मरुतां श्रेष्ठो वज्री वा त्रिदशेश्वरः ॥ ३ ॥

आप वसुओंमेंसे, रुद्रोंमेंसे अथवा मरुद्गणोंमेंसे कोई एक श्रेष्ठ पुरुष तो नहीं हैं? अथवा आप स्वयं वज्रधारी देवराज इन्द्र ही हैं? ॥ ३ ॥

मम हि भ्रातर इमे सहस्रशतयोधिनः।
तं योधं न प्रपश्यामि येन सर्वे निपातिताः ॥ ४ ॥

मेरे ये भाई तो लाखों वीरोंसे युद्ध करनेवाले हैं। ऐसा तो मैंने कोई योद्धा नहीं देखा, जिसने इन सभीको रणभूमिमें गिरा दिया हो ॥ ४ ॥

सुखं प्रतिप्रबुद्धानामिन्द्रियाण्युपलक्षये।
स भवान् सुहृदोऽस्माकमथवा नः पिता भवान्॥ ५ ॥

अब जीवित होनेपर भी इनकी इन्द्रियाँ सुखकी नींद सोकर उठे हुए पुरुषोंके समान स्वस्थ दिखायी देती हैं, अतः आप हमारे कोई सुहृद् हैं अथवा पिता? ॥ ५ ॥

यक्ष उवाच

अहं ते जनकस्तात धर्मोऽमृदुपराक्रम।
त्वां दिदृक्षुरनुप्राप्तो विद्धि मां भरतर्षभ ॥ ६ ॥

यक्षने कहा—प्रचण्ड पराक्रमी भरतश्रेष्ठ तात युधिष्ठिर! मैं तुम्हारा जन्मदाता पिता धर्मराज हूँ। तुम्हें देखनेकी इच्छासे ही मैं यहाँ आया हूँ, मुझे पहचानो ॥ ६ ॥

यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम्।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम ॥ ७ ॥

यश, सत्य, दम, शौच, सरलता, लज्जा, अचञ्चलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य—ये सब मेरे शरीर हैं ॥ ७ ॥

अहिंसा समता शान्तिरानृशंस्यममत्सरः।
द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम ॥ ८ ॥

अहिंसा, समता, शान्ति, दया और अमत्सर—डाहका न होना—इन्हें मेरे पास पहुँचनेके द्वार समझो। तुम मुझे सदा प्रिय हो ॥ ८ ॥

दिष्ट्या पञ्चसु रक्तोऽसि दिष्ट्या ते षट्पदी जिता।
द्वे पूर्वे मध्यमे द्वे च द्वे चान्ते साम्परायिके ॥ ९ ॥

सौभाग्यवश तुम्हारा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान—इन पाँचों साधनोंपर अनुराग है तथा सौभाग्यसे तुमने भूख-प्यास, शोक-मोह और जरा-मृत्यु—इन छहों दोषोंको जीत लिया है। इनमेंसे पहले दो दोष आरम्भसे ही रहते हैं,

बीचके दो तरुणावस्था आनेपर होते हैं तथा बादवाले दो दोष अन्तिम समयपर आते हैं ॥ ९ ॥

धर्मोऽहमिति भद्रं ते जिज्ञासुस्त्वामिहागतः।
आनृशंस्येन तुष्टोऽस्मि वरं दास्यामि तेऽनघ॥१०॥

तुम्हारा मङ्गल हो। मैं धर्म हूँ और तुम्हारा व्यवहार जाननेकी इच्छासे ही यहाँ आया हूँ। निष्पाप राजन्! तुम्हारी दयालुता और समदर्शितासे मैं तुमपर प्रसन्न हूँ और तुम्हें वर देना चाहता हूँ ॥ १० ॥

वरं वृणीष्व राजेन्द्र दाता ह्यस्मि तवानघ।
ये हि मे पुरुषा भक्ता न तेषामस्ति दुर्गतिः॥ ११॥

पापरहित राजेन्द्र! तुम मनोनुकूल वर माँग लो। मैं तुम्हें अवश्य दे दूँगा। जो मनुष्य मेरे भक्त हैं, उनकी कभी दुर्गति नहीं होती ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अरणीसहितं यस्य मृगो ह्यादाय गच्छति।
तस्याग्नयो न लुप्येरन् प्रथमोऽस्तु वरो मम॥ १२॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन्! पहला वर तो मैं यही माँगता हूँ कि जिस ब्राह्मणके अरणीसहित मन्थनकाष्ठको मृग लेकर भाग गया है, उसके अग्निहोत्रका लोप न हो॥

यक्ष उवाच

अरणीसहितं ह्यस्य ब्राह्मणस्य हृतं मया।
मृगवेषेण कौन्तेय जिज्ञासार्थं तव प्रभो॥ १३॥

यक्षने कहा—कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर! उस ब्राह्मणके अरणीसहित मन्थनकाष्ठको तो तुम्हारी परीक्षाके लिये मैं ही मृगरूपसे लेकर भाग गया था ॥ १३॥

वैशम्पायन उवाच

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत।
अन्यं वरय भद्रं ते वरं त्वममरोपम॥ १४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इसके बाद भगवान् धर्मने उत्तर दिया कि (लो, अरणी और मन्थनकाष्ठ) तुम्हें दे ही देता हूँ। देवोपम नरेश! तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम कोई दूसरा वर माँगो ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

वर्षाणि द्वादशारण्ये त्रयोदशमुपस्थितम्।
तत्र नो नाभिजानीयुर्वसतो मनुजाः क्वचित्॥ १५॥

युधिष्ठिर बोले—हम बारह वर्षतक वनमें रह चुके। अब तेरहवाँ वर्ष आ लगा है। अतः ऐसा वर दीजिये कि इसमें हमें कोई मनुष्य कहीं भी पहचान न सकें ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत।
भूयश्चाश्वासयामास कौन्तेयं सत्यविक्रमम्॥ १६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यह सुनकर भगवान् धर्मने उत्तरमें कहा—'मैं तुम्हें यह वर भी देता हूँ।' इसके बाद धर्मराजने पुनः सत्यपराक्रमी युधिष्ठिरको आश्वासन देते हुए कहा—॥ १६ ॥

यद्यपि स्वेन रूपेण चरिष्यथ महीमिमाम्।
न वो विज्ञास्यते कश्चित् त्रिषु लोकेषु भारत॥ १७॥

'भरतनन्दन! यद्यपि तुम इस पृथ्वीपर इसी रूपसे विचरोगे, तो भी तीनों लोकोंमें कोई भी तुम्हें नहीं पहचान सकेगा ॥ १७ ॥

वर्षं त्रयोदशमिदं मत्प्रसादात् कुरूद्वहाः।
विराटनगरे गूढा अविज्ञाताश्चरिष्यथ॥ १८॥

'कुरुनन्दन पाण्डवगण! मेरी कृपासे यह तेरहवें वर्षमें गुप्तरूपसे विराटनगरमें रहते हुए किसीसे भी पहचाने न जाकर विचरण करोगे ॥ १८ ॥

यद् वः संकल्पितं रूपं मनसा यस्य यादृशम्।
तादृशं तादृशं सर्वे छन्दतो धारयिष्यथ॥ १९॥

'तथा तुममेंसे जो-जो मनसे जैसा संकल्प करेगा, वह इच्छानुसार वैसा-वैसा ही रूप धारण कर सकेगा ॥ १९ ॥

अरणीसहितं चेदं ब्राह्मणाय प्रयच्छत।
जिज्ञासार्थं मया ह्येतदाहृतं मृगरूपिणा॥ २०॥

'यह अरणीसहित मन्थनकाष्ठ उस ब्राह्मणको दे दो। तुम्हारी परीक्षाके लिये ही मैंने मृगका रूप धारण करके इसका हरण किया था ॥ २० ॥

प्रवृणीष्वापरं सौम्य वरमिष्टं ददानि ते।
न तृप्यामि नरश्रेष्ठ प्रयच्छन् वै वरांस्तथा॥ २१॥

'सौम्य! इसके अतिरिक्त तुम एक और भी अभीष्ट वर माँग लो। वह मैं तुम्हें दूँगा। नरश्रेष्ठ! तुम्हें वर देते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥ २१ ॥

तृतीयं गृह्यतां पुत्र वरमप्रतिमं महत्।
त्वं हि मत्प्रभवो राजन् विदुरश्च ममांशजः॥ २२॥

'बेटा! तुम तीसरा भी महान् एवं अनुपम वर माँग लो। राजन्! तुम मेरे पुत्र हो और विदुरने भी मेरे ही अंशसे जन्म लिया है' ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

देवदेवो मया दृष्टो भवान् साक्षात् सनातनः।
यं ददासि वरं तुष्टस्तं ग्रहीष्याम्यहं पितः॥ २३॥

युधिष्ठिर बोले—पिताजी! आप सनातन देवाधिदेव हैं। आज मुझे साक्षात् आपके दर्शन हो गये हैं। आप प्रसन्न होकर

मुझे जो भी वर देंगे, उसे मैं शिरोधार्य करूँगा ॥ २३ ॥

जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो।
दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत् ॥ २४ ॥

विभो ! मुझे ऐसा वर दीजिये कि मैं लोभ, मोह और क्रोधको जीत सकूँ तथा दान, तप और सत्यमें सदा मेरा मन लगा रहे ॥ २४ ॥

धर्म उवाच

उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनासि पाण्डव ।
भवान् धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति ॥ २५ ॥

धर्मराजने कहा—पाण्डुपुत्र ! तुम तो स्वयं धर्मस्वरूप ही हो। अतः इन गुणोंसे तो स्वभावसे ही सम्पन्न हो । आगे भी तुम्हारे कथनानुसार तुममें ये सब धर्म बने रहेंगे ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वान्तर्दधे धर्मो भगवाँल्लोकभावनः ।
समेताः पाण्डवाश्चैव सुखसुप्ता मनस्विनः ॥ २६ ॥
उपेत्य चाश्रमं वीराः सर्व एव गतक्लमाः ।
आरणेयं ददुस्तस्मै ब्राह्मणाय तपस्विने ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर लोक-रक्षक भगवान् धर्म अन्तर्धान हो गये एवं सुखपूर्वक सोकर उठनेसे श्रमरहित हुए मनस्वी वीर पाण्डवगण एकत्र होकर आश्रममें लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने उस तपस्वी ब्राह्मणको उसकी अरणी एवं मन्थनकाष्ठ दे दिये ॥ २६-२७ ॥

इदं समुत्थानसमागतं महत्
पितुश्च पुत्रस्य च कीर्तिवर्धनम्।
पठन् नरः स्याद् विजितेन्द्रियो वशी
सपुत्रपौत्रः शतवर्षभाग् भवेत् ॥ २८ ॥

भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवके पुनः जीवनलाभ करनेसे सम्बन्ध रखनेवाले तथा पिता धर्म और पुत्र युधिष्ठिर-के संवाद तथा समागमरूप, कीर्तिको बढ़ानेवाले इस प्रशस्त उपाख्यानका जो पुरुष पाठ करता है, वह जितेन्द्रिय, वशी तथा पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न होकर सौ वर्षतक जीवित रहता है ॥

न चाप्यधर्मे न सुहृद्विभेदने
परस्वहारे परदारमर्शने ।
कदर्यभावे न रमेन्मनः सदा
नृणां सदाख्यानमिदं विजानताम् ॥ २९ ॥

तथा जो लोग सदा इस मनोहर उपाख्यानको स्मरण रक्खेंगे; उनका मन अधर्ममें, सुहृदोंके भीतर फूट डालनेमें, दूसरोंका धन हरनेमें, परस्त्रीगमनमें अथवा कृपणतामें कभी प्रवृत्त नहीं होगा ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि नकुलादिजीवनादिवरप्राप्तौ चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें नकुल आदिके जीवित होने आदि वरोंकी प्राप्तिविषयक तीन सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१४ ॥

पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अज्ञातवासके लिये अनुमति लेते समय शोकाकुल हुए युधिष्ठिरको महर्षि धौम्यका समझाना, भीमसेनका उत्साह देना तथा आश्रमसे दूर जाकर पाण्डवोंका परस्पर परामर्शके लिये बैठना

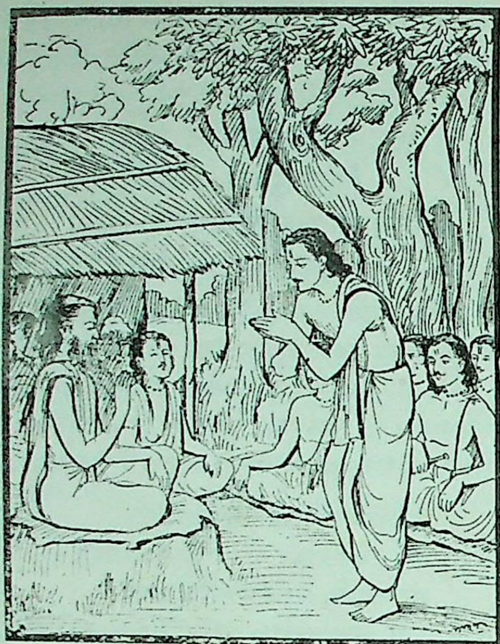
वैशम्पायन उवाच

धर्मेण तेऽभ्यनुज्ञाताः पाण्डवाः सत्यविक्रमाः ।
अज्ञातवासं वत्स्यन्तश्छन्ना वर्षं त्रयोदशम् ॥ १ ॥
उपोपविष्टा विद्वांसः सहिताः संशितव्रताः ।
ये तद्भक्ता वसन्ति स्म वनवासे तपस्विनः ॥ २ ॥
तानब्रुवन् महात्मानः स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा ।
अभ्यनुज्ञापयिष्यन्तस्तं निवासं धृतव्रताः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराजकी अनुमति पाकर सत्यपराक्रमी पाण्डव तेरहवें वर्षमें छिपकर अज्ञातवास करनेकी इच्छासे एकत्र हो विचार-विमर्शके लिये आस-पास बैठे। वे सब-के-सब उत्तम व्रतका पालन करने-वाले और विद्वान् थे। वनवासके समय जो तपस्वी ब्राह्मण पाण्डवोंके प्रति स्नेह होनेके कारण उनके साथ रहते थे, उनसे अज्ञातवासके हेतु आज्ञा लेनेके लिये व्रतधारी महात्मा पाण्डव हाथ जोड़कर खड़े हो इस प्रकार बोले—॥ १–३ ॥

विदितं भवतां सर्वं धार्तराष्ट्रैर्यथा वयम् ।
छद्मना हृतराज्याश्चानयाश्च बहुशः कृताः ॥ ४ ॥

'मुनिवरो ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंने जिस प्रकार छल करके हमारा राज्य हर लिया और हमपर बारंबार अत्याचार किया, वह सब आपलोगोंको विदित ही है ॥ ४ ॥



उषिताश्च वने कृच्छ्रे वयं द्वादश वत्सरान् ।
अज्ञातवाससमयं शेषं वर्षं त्रयोदशम् ॥ ५ ॥

'हमलोग कष्टदायक वनमें बारह वर्षोंतक रह लिये। अब अन्तिम तेरहवाँ वर्ष हमारे अज्ञातवासका समय है ॥ ५ ॥

तद् वसामो वयं छन्नास्तदनुज्ञातुमर्हथ ।
सुयोधनश्च दुष्टात्मा कर्णश्च सहसौबलः ॥ ६ ॥
जानन्तो विषमं कुर्युरस्मास्वत्यन्तवैरिणः ।
युक्तचाराश्च युक्ताश्च पौरस्य स्वजनस्य च ॥ ७ ॥

'अतः इस वर्ष हम छिपकर रहना चाहते हैं। इसके लिये आपलोग हमें आज्ञा दें। दुष्टात्मा दुर्योधन, कर्ण और शकुनि हमसे अत्यन्त वैर रखते हैं। वे स्वयं तो हमारा पता लगानेको उद्यत हैं ही, उन्होंने गुप्तचर भी लगा रखे हैं। अतः यदि उन्हें हमारे रहनेका पता चल जायगा, तो वे हमसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरजनों तथा स्वजनोंके साथ भी विषम (बुरा) बर्ताव कर सकते हैं ॥ ६-७ ॥

अपि नस्तद् भवेद् भूयो यद् वयं ब्राह्मणैः सह ।
समस्ताः स्वेषु राष्ट्रेषु स्वराज्यस्था भवेमहि ॥ ८ ॥

'क्या हमारे सामने फिर कभी ऐसा अवसर आयेगा, जब कि हम सब भाई ब्राह्मणोंके साथ अपने राष्ट्रमें रहेंगे—अपने राज्यपर प्रतिष्ठित होंगे' ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा दुःखशोकार्तः शुचिर्धर्मसुतस्तदा ।
सम्मूर्छितोऽभवद् राजा साश्रुकण्ठो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर पवित्र अन्तःकरणवाले धर्मनन्दन राजा युधिष्ठिर दुःख और शोकसे आतुर होकर मूर्छित हो गये। उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी और कण्ठ अवरुद्ध हो गया था ॥ ९ ॥

तमथाश्वासयन् सर्वे ब्राह्मणा भ्रातृभिः सह ।
अथ धौम्योऽब्रवीद् वाक्यं महार्थं नृपतिं तदा ॥ १० ॥

उस समय उनके भाइयोंसहित समस्त ब्राह्मणोंने उन्हें आश्वासन दिया। तत्पश्चात् महर्षि धौम्यने राजा युधिष्ठिरसे यह गम्भीर अर्थयुक्त वचन कहा— ॥ १० ॥

राजन् विद्वान् भवान् दान्तः सत्यसंधो जितेन्द्रियः ।
नैवंविधाः प्रमुह्यन्ते नराः कस्याञ्चिदापदि ॥ ११ ॥

'राजन् ! आप विद्वान्, मनको वशमें रखनेवाले, सत्यप्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय हैं। आप-जैसे मनुष्य किसी भी आपत्तिमें मोहित नहीं होते अर्थात् अपना धैर्य और विवेक नहीं खोते हैं ॥ ११ ॥

देवैरप्यापदः प्राप्ताश्छन्नैश्च बहुशस्तथा ।
तत्र तत्र सपत्नानां निग्रहार्थं महात्मभिः ॥ १२ ॥

'महामना देवताओंको भी जहाँ-तहाँ शत्रुओंके निग्रहके लिये अनेक बार छिपकर रहना और विपत्तियोंको भोगना पड़ा है ॥ १२ ॥

इन्द्रेण निषधान् प्राप्य गिरिप्रस्थाश्रमे तदा ।
छन्नेनोष्य कृतं कर्म द्विषतां च विनिग्रहे ॥ १३ ॥

'देवराज इन्द्र शत्रुओंका दमन करनेके लिये गुप्तरूपसे निषधदेशमें गये और गिरिप्रस्थाश्रममें छिपे रहकर उन्होंने अपना कार्य सिद्ध किया ॥ १३ ॥

विष्णुनाश्वशिरः प्राप्य तथादित्यां निवत्स्यता ।
गर्भे वधार्थं दैत्यानामज्ञातेनोषितं चिरम् ॥ १४ ॥

'भगवान् विष्णु भी दैत्योंका वध करनेके लिये हयग्रीव-स्वरूप धारण करके अज्ञातभावसे अदितिके गर्भमें दीर्घकालतक रहे हैं ॥ १४ ॥

प्राप्य वामनरूपेण प्रच्छन्नं ब्रह्मरूपिणा ।
बलेर्यथा हृतं राज्यं विक्रमैस्तच्च ते श्रुतम् ॥ १५ ॥

'उन्होंने ही ब्राह्मणवेषमें वामनरूप धारण करके अपने तीन पगोंद्वारा जिस प्रकार छिपे तौरपर राजा बलिका राज्य हर लिया था, वह सब तो तुमने सुना ही होगा ॥ १५ ॥

हुताशनेन यच्चापः प्रविश्य च्छन्नमासता ।
विबुधानां कृतं कर्म तच्च सर्वं श्रुतं त्वया ॥ १६ ॥

'अग्निने जलमें प्रवेश करके वहीं छिपे रहकर देवताओंका कार्य जिस प्रकार सिद्ध किया, वह सब कुछ भी तुम सुन चुके हो ॥ १६ ॥

प्रच्छन्नं चापि धर्मज्ञ हरिणारिविनिग्रहे ।
वज्रं प्रविश्य शक्रस्य यत् कृतं तच्च ते श्रुतम् ॥ १७ ॥

'धर्मज्ञ ! भगवान् श्रीहरिने शत्रुओंके विनाशके लिये छिपे तौरपर इन्द्रके वज्रमें प्रवेश करके जो कार्य किया, वह भी तुम्हारे कानोंमें पड़ा होगा ॥ १७ ॥

और्वेण वसता छन्नमूरौ ब्रह्मर्षिणा तदा ।
यत् कृतं तात देवेषु कर्म तत्तेऽनघ श्रुतम् ॥ १८ ॥

'तात ! निष्पाप नरेश ! ब्रह्मर्षि और्वने (माताके) ऊरुमें गुप्तरूपसे निवास करते हुए जो देवकार्य सिद्ध किया था, वह भी तुम्हारे सुननेमें आया ही होगा ॥ १८ ॥

एवं विवस्वता तात छन्नेनोत्तमतेजसा ।
निर्दग्धाः शात्रवाः सर्वे वसता भुवि सर्वशः ॥ १९ ॥

'तात ! इसी प्रकार महातेजस्वी भगवान् सूर्यने भी पृथ्वीपर गुप्तरूपसे निवास करके समस्त शत्रुओंको दग्ध किया है ॥ १९ ॥

विष्णुना वसता चापि गृहे दशरथस्य वै ।
दशग्रीवो हतश्छन्नं संयुगे भीमकर्मणा ॥ २० ॥

'भयंकर पराक्रमी भगवान् विष्णुने भी श्रीरामरूपसे दशरथके घरमें छिपे रहकर युद्धमें दशमुख रावणका वध किया था ॥ २० ॥

एवमेव महात्मानः प्रच्छन्नास्तत्र तत्र ह ।
अजयञ्छात्रवान् युद्धे तथा त्वमपि जेष्यसि ॥ २१ ॥

'इसी प्रकार कितने ही महामना वीर पुरुषोंने यत्र-तत्र छिपे रहकर युद्धमें शत्रुओंपर विजय पायी है। इसी प्रकार तुम भी विजयी होओगे' ॥ २१ ॥

तथा धौम्येन धर्मज्ञो वाक्यैः सम्परितोषितः ।
शास्त्रबुद्ध्या स्वबुद्ध्या च न चचाल युधिष्ठिरः॥ २२॥

महर्षि धौम्यने जब इस प्रकार युक्तियुक्त वचनोंद्वारा धर्मज्ञ युधिष्ठिरको संतोष प्रदान किया, तब वे शास्त्रज्ञान और अपने बुद्धिबलके कारण (धर्मसे) विचलित नहीं हुए ॥ २२ ॥

अथाब्रवीन्महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ।
राजानं बलिनां श्रेष्ठो गिरा सम्परिहर्षयन् ॥ २३ ॥

तदनन्तर बलवानोंमें श्रेष्ठ महाबली महाबाहु भीमसेनने अपनी वाणीसे राजा युधिष्ठिरका हर्ष और उत्साह बढ़ाते हुए कहा—॥ २३ ॥

अवेक्षया महाराज तव गाण्डीवधन्वना ।
धर्मानुगतया बुद्ध्या न किञ्चित् साहसं कृतम् ॥ २४॥

'महाराज ! गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुनने आपके आदेशकी प्रतीक्षा तथा अपनी धर्मानुगामिनी बुद्धिके कारण ही अबतक कोई साहसका कार्य नहीं किया है ॥ २४॥

सहदेवो मया नित्यं नकुलश्च निवारितौ ।
शक्तौ विध्वंसने तेषां शत्रूणां भीमविक्रमौ ॥ २५ ॥

'भयंकर पराक्रमी नकुल और सहदेव उन सब शत्रुओंका विध्वंस करनेमें समर्थ हैं। इन दोनोंको मैं ही सदा रोकता आया हूँ ॥ २५ ॥

न वयं तत् प्रहास्यामो यस्मिन् योक्ष्यति नो भवान् ।
भवान् विधत्तां तत् सर्वं क्षिप्रं जेष्यामहे रिपून् ॥ २६ ॥

'आप हमें जिस कार्यमें लगा देंगे, उसे हमलोग पूरा किये बिना नहीं छोड़ेंगे। अतः आप युद्धकी सारी व्यवस्था कीजिये। हम शत्रुओंपर शीघ्र ही विजय पायेंगे' ॥ २६ ॥

इत्युक्ते भीमसेनेन ब्राह्मणाः परमाशिषः ।
उक्त्वा चापृच्छ्य भरतान्यथास्वान्स्वान्ययुर्गृहान्॥२७॥

भीमसेनके ऐसा कहनेपर सब ब्राह्मण पाण्डवोंको उत्तम आशीर्वाद देकर और उन भरतवंशियोंसे अनुमति लेकर अपने-अपने घरोंको चले गये ॥ २७ ॥

सर्वे वेदविदो मुख्या यतयो मुनयस्तथा ।
आसेदुस्ते यथान्यायं पुनर्दर्शनकाङ्क्षया ॥ २८ ॥

वेदोंके ज्ञाता समस्त प्रधान-प्रधान संन्यासी तथा मुनि-लोग पाण्डवोंसे फिर मिलनेकी इच्छा रखकर न्यायानुसार अपने योग्य स्थानोंमें रहने लगे ॥ २८ ॥

सह धौम्येन विद्वांसस्तथा पञ्च च पाण्डवाः ।
उत्थाय प्रययुर्वीराः कृष्णामादाय धन्विनः ॥ २९ ॥

धौम्यसहित विद्वान् एवं वीर पाँचों पाण्डव द्रौपदीको साथ लिये धनुष धारण किये वहाँसे उठकर चल दिये ॥२९॥

क्रोशमात्रमुपागम्य तस्माद् देशान्निमित्ततः ।
श्वोभूते मनुजव्याघ्राश्छन्नवासार्थमुद्यताः ॥ ३० ॥
पृथक्छास्त्रविदः सर्वे सर्वे मन्त्रविशारदाः ।
संधिविग्रहकालज्ञा मन्त्राय समुपाविशन् ॥ ३१ ॥

किसी कारणवश उस स्थानसे एक कोस दूर जाकर वे नरश्रेष्ठ ठहर गये और आगामी दूसरे दिनसे अज्ञातवास

आरम्भ करनेके लिये उद्यत हो परस्पर सलाह करनेके निमित्त आस-पास बैठ गये । वे सभी पृथक्-पृथक् शास्त्रोंके ज्ञाता, मन्त्रणा करनेमें कुशल तथा संधि-विग्रह आदिके अवसरको जाननेवाले थे ॥ ३०-३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां वनपर्वणि आरणेयपर्वणि अज्ञातवासमन्त्रणे पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत—व्यासनिर्मित शतसाहस्री संहिताके वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें अज्ञातवासके लिये मन्त्रणाविषयक तीन सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१५ ॥

वनपर्वकी श्लोक-संख्या

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंका ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	गद्य	कुल योग।
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	१०९३७	(७८५)	१०८०।=	१७१॥	१२१८८।॥=
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	८२	(४)	५ ॥		८७॥

वनपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या १२२७६।=

वनपर्व-श्रवण-महिमा

इदमारण्यकं श्रुत्वा महापापैः प्रमुच्यते ।
अधनो धनमाप्नोति पुत्रपौत्रसमन्वितः ॥ १ ॥

इस वनपर्वको सुनकर मनुष्य बड़े-बड़े पापोंसे मुक्त हो जाता है, निर्धन धन पाता है और पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न होता है ॥ १ ॥

यं यं प्रार्थयते कामं त तं प्राप्नोत्यसंशयम् ।
नारी वा पुरुषो वापि शुचिः प्रयतमानसः ॥ २ ॥
आरण्यके श्रुतेऽधीते ब्राह्मणान् पायसादिभिः ।
भोजयेद् वस्त्रगोस्वर्णदानै रत्नैः प्रपूजितान् ॥ ३ ॥

वह जिस-जिस मनोवाञ्छित वस्तुके लिये प्रार्थना करता है, उसे निश्चय ही पा लेता है । स्त्री हो या पुरुष; शुद्ध एवं एकाग्रचित्त होकर इस वनपर्वका श्रवण अथवा पाठ करने पर वस्त्र, गौ, सुवर्ण तथा रत्नोंके दानसे ब्राह्मणोंका सम्मान करके उन्हें खीर आदिका भोजन करावे ॥ २-३ ॥

ब्राह्मणेषु च तुष्टेषु संतुष्टाः पाण्डुनन्दनाः ।
ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रः शक्रो देवगणास्तथा ॥ ४ ॥
भूतानि मुनयो देव्यस्तथा पितृगणाश्च ये ।
वाचकं पूजयेच्छक्त्या वस्त्रान्नैः स्वर्णभूषणैः ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोंके संतुष्ट होनेपर पाण्डव, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, देवगण, भूतगण, मुनिगण, देवियाँ तथा पितृगण—ये सभी संतुष्ट होते हैं । अपनी शक्तिके अनुसार अन्न-वस्त्र और आभूषण देकर वाचककी पूजा करनी चाहिये ॥ ४-५ ॥

विशेषतस्तु कपिला देया तु जयपाठके ।
कांस्यदोहा रौप्यखुरा स्वर्णशृङ्गी सभूषणा ।
पाण्डूनां परितोषार्थं दद्यादन्नं द्विजातये ॥ ६ ॥

महाभारतके वाचकको विशेषतः एक कपिला गौ देनी चाहिये । उसके साथ काँसेका एक दुग्धपात्र होना चाहिये । गायके खुरोंमें चाँदी और सींगोंमें सोना मढ़ा दे । उसे अन्य आभूषणोंसे भी विभूषित करे । पाण्डवोंके संतोषके लिये ब्राह्मणोंको अन्नदान करे ॥ ६ ॥

आरण्यकाख्यमाख्यानं शृणुयाद् यो नरोत्तमः ।
स सर्वकाममाप्नोति पुनः स्वर्गतिमाप्नुयात् ॥ ७ ॥

जो नरश्रेष्ठ इस वनपर्वकी कथाको सुनता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है एवं शरीरका अन्त होनेपर स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ७ ॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

विराटपर्व

(पाण्डवप्रवेशपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

विराटनगरमें अज्ञातवास करनेके लिये पाण्डवोंकी गुप्त मन्त्रणा तथा युधिष्ठिरके द्वारा अपने भावी कार्यक्रमका दिग्दर्शन

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥ १॥

अन्तर्यामी नारायण भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्यसखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उनकी लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥ १॥

जनमेजय उवाच

कथं विराटनगरे मम पूर्वपितामहाः।
अज्ञातवासमुषिता दुर्योधनभयार्दिताः॥ २॥
पतिव्रता महाभागा सततं ब्रह्मवादिनी।
द्रौपदी च कथं ब्रह्मन्नज्ञाता दुःखितावसत्॥ ३॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! मेरे प्रपितामह पाण्डवोंने दुर्योधनके भयसे कष्ट उठाते हुए विराटनगरमें अपने अज्ञातवासका समय किस प्रकार व्यतीत किया तथा दुःखमें पड़ी हुई सदा ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णका नामकीर्तन करनेवाली परम सौभाग्यवती पतिव्रता द्रौपदी वहाँ अपनेको अज्ञात रखकर कैसे निवास कर सकी?॥ २-३॥

वैशम्पायन उवाच

यथा विराटनगरे तव पूर्वपितामहाः।
अज्ञातवासमुषितास्तच्छृणुष्व नराधिप॥ ४॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! तुम्हारे प्रपितामहोंने विराटनगरमें जिस प्रकार अज्ञातवासके दिन पूरे किये थे, वह बताता हूँ; सुनो॥ ४॥

तथा स तु वराँल्लब्ध्वा धर्मो धर्मभृतां वरः।
गत्वाऽऽश्रमं ब्राह्मणेभ्य आचख्यौ सर्वमेव तत्॥ ५॥

यक्षरूपधारी धर्मसे इस प्रकार वरदान पानेके अनन्तर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मपुत्र युधिष्ठिरने आश्रमपर जाकर वह सब समाचार ब्राह्मणोंको बताया॥ ५॥

कथयित्वा तु तत् सर्वं ब्राह्मणेभ्यो युधिष्ठिरः।
अरणीसहितं तस्मै ब्राह्मणाय न्यवेदयत्॥ ६॥
ततो युधिष्ठिरो राजा धर्मपुत्रो महामनाः।
संनिवर्त्यानुजान् सर्वानिति होवाच भारत॥ ७॥

भारत! ब्राह्मणोंसे सब कुछ बताकर जब युधिष्ठिरने अरणी-सहित मन्थनकाष्ठ पूर्वोक्त ब्राह्मणदेवताको सौंप दिया, तब धर्मपुत्र महामनस्वी उन राजा युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंको एकत्र करके इस प्रकार कहा—॥ ६—७॥

द्वादशेमानि वर्षाणि राज्यविप्रोषिता वयम्।
त्रयोदशोऽयं सम्प्राप्तः कृच्छ्रात् परमदुर्वसः॥ ८॥

'आज बारह वर्ष बीत गये, हमलोग अपने राज्यसे बाहर आकर वनमें रहते हैं। अब यह तेरहवाँ वर्ष आरम्भ हुआ है। इसमें बड़े कष्टसे कठिनाइयोंका सामना करते हुए अत्यन्त गुप्तरूपसे रहना होगा॥ ८॥

स साधु कौन्तेय इतो वासमर्जुन रोचय।
संवत्सरमिमं यत्र वसेमाविदिताः परैः॥ ९॥

'कुन्तीनन्दन अर्जुन! तुम अपनी रुचिके अनुसार कोई उत्तम निवासस्थान चुनो, जहाँ यहाँसे चलकर हम एक वर्ष-तक इस प्रकार रहें कि शत्रुओंको हमारा पता न चल सके'॥ ९॥

अर्जुन उवाच

तस्यैव वरदानेन धर्मस्य मनुजाधिप।
अज्ञाता विचरिष्यामो नराणां नात्र संशयः॥ १०॥
तत्र वासाय राष्ट्राणि कीर्तयिष्यामि कानिचित्।
रमणीयानि गुप्तानि तेषां किञ्चित् स रोचय॥ ११॥

अर्जुन बोले—नरेश्वर ! इसमें संदेह नहीं कि उन्हीं भगवान् धर्मके दिये हुए वरके प्रभावसे हमलोग इस पृथ्वीपर विचरते रहेंगे और हमें दूसरे मनुष्य पहचान न सकेंगे तथापि मैं आपसे निवास करने योग्य कुछ रमणीय एवं गुप्त राष्ट्रोंके नाम बतलाऊँगा, उनमेंसे किसीको आप स्वयं ही अपनी रुचिके अनुसार चुन लीजिये ॥ १०-११ ॥

सन्ति रम्या जनपदा बह्वन्नाः परितः कुरून् ।
पाञ्चालाश्चेदिमत्स्याश्च शूरसेनाः पटच्चराः ॥१२॥
दशार्णा नवराष्ट्राश्च मल्लाः शाल्वा युगन्धराः ।
कुन्तिराष्ट्रं च विपुलं सुराष्ट्रावन्तयस्तथा ॥१३॥

कुरुदेशके चारों ओर बहुत-से सुरम्य जनपद हैं, जहाँ बहुत अन्न होता है । उनके नाम ये हैं—पाञ्चाल, चेदि, मत्स्य, शूरसेन, पटच्चर, दशार्ण, नवराष्ट्र, मल्ल, शाल्व, युगन्धर, विशाल कुन्तिराष्ट्र, सौराष्ट्र तथा अवन्ती ॥ १२-१३ ॥

एतेषां कतमो राजन् निवासस्तव रोचते ।
यत्र वत्स्यामहे राजन् संवत्सरमिमं वयम् ॥१४॥

राजन् ! इनमेंसे कौन-सा राष्ट्र आपको निवास करनेके लिये पसंद है ? जिसमें हम सब लोग इस वर्ष निवास करें ॥१४॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतमेतन्महाबाहो यथा स भगवान् प्रभुः ।
अब्रवीत् सर्वभूतेशस्तत् तथा न तदन्यथा ॥१५॥

युधिष्ठिरने कहा—महाबाहो ! तुम्हारी यह बात मैंने ध्यानसे सुनी है । सम्पूर्ण भूतोंके अधीश्वर और प्रभावशाली भगवान् धर्मने हमारे लिये जैसा आदेश दिया है, वह सब वैसा ही होगा । उसके विपरीत कुछ नहीं होगा ॥ १५ ॥

अवश्यं त्वेव वासार्थं रमणीयं शिवं सुखम् ।
सम्मन्त्र्य सहितैः सर्वैर्वस्तव्यमकुतोभयैः ॥१६॥

तथापि हम सब लोगोंको आपसमें सलाह करके अवश्य ही अपने रहनेके लिये कोई परम सुन्दर, कल्याणकारी तथा सुखद स्थान चुन लेना चाहिये, जहाँ हम निर्भय होकर रह सकें ॥ १६ ॥

मत्स्यो विराटो बलवानभिरक्तोऽथ पाण्डवान् ।
धर्मशीलो वदान्यश्च वृद्धश्च सततं प्रियः ॥१७॥

[तुम्हारे बताये हुए देशोंमेंसे] मत्स्यदेशके राजा विराट बहुत बलवान् हैं और पाण्डवोंके प्रति उनका अनुराग भी है; साथ ही वे स्वभावतः धर्मात्मा, वृद्ध, उदार तथा हमें सदैव प्रिय हैं ॥ १७ ॥

विराटनगरे तात संवत्सरमिमं वयम् ।
कुर्वन्तस्तस्य कर्माणि विहरिष्याम भारत ॥१८॥

भाई अर्जुन ! इसलिये इस वर्ष हमलोग राजा विराटके ही नगरमें रहें और उनका कार्यसाधन करते हुए उनके यहाँ विचरण करें ॥ १८ ॥

यानि यानि च कर्माणि तस्य वक्ष्यामहे वयम् ।
आसाद्य मत्स्यं तत् कर्म प्रब्रूत कुरुनन्दनाः ॥१९॥

किंतु कुरुनन्दनो ! तुमलोग यह तो बताओ कि हम मत्स्यराजके पास पहुँचकर किन-किन कार्योंका भार सँभाल सकेंगे ? ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच

नरदेव कथं तस्य राष्ट्रे कर्म करिष्यसि ।
विराटनगरे साधो रंस्यसे केन कर्मणा ॥२०॥

अर्जुनने पूछा—नरदेव ! आप उनके राष्ट्रमें किस प्रकार कार्य करेंगे ? महात्मन् ! विराटनगरमें कौन-सा कर्म करनेसे आपको प्रसन्नता होगी ? ॥ २० ॥

मृदुर्वदान्यो ह्रीमांश्च धार्मिकः सत्यविक्रमः ।
राजंस्त्वमापदाऽऽकृष्टः किं करिष्यसि पाण्डव ॥२१॥

राजन् ! आपका स्वभाव कोमल है । आप उदार, लज्जाशील, धर्मपरायण तथा सत्यपराक्रमी हैं, तथापि विपत्तिमें पड़ गये हैं । पाण्डुनन्दन ! आप वहाँ क्या करेंगे ? ॥

न दुःखमुचितं किञ्चिद् राजन् वेद यथा जनः ।
स इमामापदं प्राप्य कथं घोरां तरिष्यसि ॥२२॥

राजन् ! साधारण मनुष्योंकी भाँति आपको किसी प्रकारके दुःखका अनुभव हो, यह उचित नहीं है; अतः इस घोर आपत्तिमें पड़कर आप कैसे इसके पार होंगे ? ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शृणुध्वं यत् करिष्यामि कर्म वै कुरुनन्दनाः ।
विराटमनुसम्प्राप्य राजानं पुरुषर्षभाः ॥२३॥

युधिष्ठिरने कहा—नरश्रेष्ठ कुरुनन्दनो ! मैं राजा विराटके यहाँ चलकर जो कार्य करूँगा, वह बताता हूँ; सुनो ॥ २३ ॥

सभास्तारो भविष्यामि तस्य राज्ञो महात्मनः ।
कङ्को नाम द्विजो भूत्वा मताक्षः प्रियदेवनः ॥२४॥
वैदूर्यान् काञ्चनान् दान्तान् फलैर्ज्योतीरसैः सह ।
कृष्णाँल्लोहितवर्णांश्च निर्वर्त्स्यामि मनोरमान् ॥२५॥

मैं पासा खेलनेकी विद्या जानता हूँ और यह खेल मुझे प्रिय भी है, अतः मैं कङ्क* नामक ब्राह्मण बनकर महामना

---

* विश्व कोषके अनुसार 'कङ्क' शब्द यमराजका वाचक है । यमराजका ही दूसरा नाम धर्म है और वे ही युधिष्ठिररूपमें अवतीर्ण हुए थे । 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इस उक्तिके अनुसार भी धर्म एवं धर्मपुत्र युधिष्ठिरमें कोई अन्तर नहीं है । यह समझकर ही अपनी सत्यवादिताकी रक्षा करते हुए युधिष्ठिरने 'कङ्क' नामसे अपना परिचय दिया । इसके सिवा उन्होंने जो अपनेको युधिष्ठिर-

राजा विराटकी राजसभाका एक सदस्य हो जाऊँगा और वैदूर्यमणिके समान हरी, सुवर्णके समान पीली तथा हाथी-दाँतकी बनी हुई काली और लाल रंगकी मनोहर गोटियोंको चमकीले बिन्दुओंसे युक्त पासोंके अनुसार चलाता रहूँगा ॥

विराटराजं रमयन् सामात्यं सहबान्धवम् ।
न च मां वेत्स्यते कश्चित् तोषयिष्ये च तं नृपम् ॥ २६ ॥

मैं राजा विराटको उनके मन्त्रियों तथा बन्धु-बान्धवोंसहित पासोंके खेलसे प्रसन्न करता रहूँगा । इस रूपमें मुझे कोई पहचान न सकेगा और मैं उन मत्स्यनरेशको भलीभाँति संतुष्ट रक्खूँगा ॥ २६ ॥

आसं युधिष्ठिरस्याहं पुरा प्राणसमः सखा ।[१]
इति वक्ष्यामि राजानं यदि मां सोऽनुयोक्ष्यते ॥ २७ ॥

यदि वे राजा मुझसे पूछेंगे कि आप कौन हैं, तो मैं उन्हें बताऊँगा कि मैं पहले महाराज युधिष्ठिरका प्राणोंके समान प्रिय सखा था ॥ २७ ॥

इत्येतद् वो मयाऽऽख्यातं विहरिष्याम्यहं यथा ।

इस प्रकार मैंने तुमलोगोंको बता दिया कि विराटनगरमें मैं किस प्रकार रहूँगा ॥ २७½ ॥

(वैशम्पायन उवाच

एवं निर्दिश्य चात्मानं भीमसेनमुवाच ह ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार अज्ञातवासमें अपनेद्वारा किये जानेवाले कार्यको बतलाकर युधिष्ठिर भीमसेनसे बोले ॥

युधिष्ठिर उवाच

भीमसेन कथं कर्म मात्स्यराष्ट्रे करिष्यसि ॥
हत्वा क्रोधवशांस्तत्र पर्वते गन्धमादने ।
यक्षान् क्रोधाभिताम्राक्षान् राक्षसांश्चापि पौरुषान् ।
प्रादाः पाञ्चालकन्यायै पद्मानि सुबहून्यपि ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भीमसेन ! तुम मत्स्यदेशमें किस प्रकार कोई कार्य कर सकोगे ? तुमने गन्धमादन पर्वतपर क्रोधसे सदा लाल आँखें किये रहनेवाले क्रोधवश नामक यक्षों और महापराक्रमी राक्षसोंका वध करके पाञ्चालराज-कुमारी द्रौपदीको बहुत-से कमल लाकर दिये थे ॥

बकं राक्षसराजानं भीषणं पुरुषादकम् ।
जघ्निवानसि कौन्तेय ब्राह्मणार्थमरिंदम ॥
क्षेमा चाभयसंवीता ह्येकचक्रा त्वया कृता ॥

शत्रुहन्ता भीम ! ब्राह्मणपरिवारकी रक्षाके लिये तुमने भयानक आकृतिवाले नरभक्षी राक्षसराज बकको भी मार डाला था और इस प्रकार एकचक्रा नगरीको भयरहित एवं कल्याणयुक्त बनाया था ॥

हिडिम्बं च महावीर्यं किर्मीरं चैव राक्षसम् ।
त्वया हत्वा महाबाहो वनं निष्कण्टकं कृतम् ॥

महाबाहो ! तुमने महावीर हिडिम्ब और राक्षस किर्मीरको मारकर वनको निष्कण्टक बनाया था ॥

आपदं चापि सम्प्राप्ता द्रौपदी चारुहासिनी ।
जटासुरवधं कृत्वा त्वया च परिमोक्षिता ॥
मत्स्यराजान्तिके तात वीर्यपूर्णोऽत्यमर्षणः ।)
वृकोदर विराटे त्वं रंस्यसे केन हेतुना ॥ २८ ॥

संकटमें पड़ी हुई मनोहर हास्यवाली द्रौपदीको भी तुमने जटासुरका वध करके छुड़ाया था । तात भीमसेन ! तुम अत्यन्त बलवान् एवं अमर्षशाली हो । राजा विराटके यहाँ कौन-सा कार्य करके तुम प्रसन्नतापूर्वक रह सकोगे—यह बतलाओ ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमन्त्रणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी परस्पर मन्त्रणासे सम्बन्ध रखनेवाला पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६½ श्लोक मिलाकर कुल ३४½ श्लोक हैं)

द्वितीयोऽध्यायः

भीमसेन और अर्जुनद्वारा विराटनगरमें किये जानेवाले अपने अनुकूल कार्योंका निर्देश

भीमसेन उवाच

पौरोगवो[१] ब्रुवाणोऽहं बल्लवो नाम भारत ।
उपस्थास्यामि राजानं विराटमिति मे मतिः ॥ १ ॥

भीमसेनने कहा—भरतवंशशिरोमणे ! मैं पौरोगव

का प्राणोंके समान प्रिय सखा बताया, वह भी असत्य नहीं है । युधिष्ठिर नामक शरीरको ही यहाँ युधिष्ठिर समझना चाहिये । आत्माकी सत्तासे ही शरीरका संचालन होता है । अतः आत्मा उसके साथ रहनेके कारण उसका सखा है । आत्मा सबसे बढ़कर प्रिय है ही; अतः यहाँ युधिष्ठिरका आत्मा युधिष्ठिर-शरीरका प्रिय सखा कहा गया है ।

१. पुरोगु कहते हैं वायुको, उसके पुत्र होनेसे भीमसेनका 'पौरोगव' नाम सत्य एवं सार्थक है ।

(पाकशालाका अध्यक्ष) बनकर और बल्लव* नामसे अपना परिचय देकर राजा विराटके दरबारमें उपस्थित होऊँगा। मेरा यही विचार है ॥ १ ॥

सूपानस्य करिष्यामि कुशलोऽस्मि महानसे।
कृतपूर्वाणि यान्यस्य व्यञ्जनानि सुशिक्षितैः ॥ २ ॥
तान्यप्यभिभविष्यामि प्रीतिं संजनयन्नहम्।

मैं रसोई बनानेके काममें चतुर हूँ। अपने ऊपर राजाके मनमें अत्यन्त प्रेम उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे उनके लिये सूप (दाल, कढ़ी एवं साग आदि) तैयार करूँगा और पाककलामें भलीभाँति शिक्षा पाये हुए चतुर रसोइयोंने राजाके लिये पहले जो-जो व्यञ्जन बनाये होंगे, उन्हें भी अपने बनाये हुए व्यञ्जनोंसे तुच्छ सिद्ध कर दूँगा ॥ २½ ॥

आहरिष्यामि दारूणां निचयान् महतोऽपि च ॥ ३ ॥
यत् प्रेक्ष्य विपुलं कर्म राजा संयोक्ष्यते स माम्।
अमानुषाणि कुर्वाणस्तानि कर्माणि भारत ॥ ४ ॥

इतना ही नहीं, मैं रसोईके लिये लकड़ियोंके बड़े-से-बड़े गट्ठोंको भी उठा लाऊँगा, जिस महान् कर्मको देखकर राजा विराट मुझे अवश्य रसोइयेके कामपर नियुक्त कर लेंगे। भारत! मैं वहाँ ऐसे-ऐसे अद्भुत कार्य करता रहूँगा, जो साधारण मनुष्योंकी शक्तिके बाहर है ॥ ३-४ ॥

राज्ञस्तस्य परे प्रेष्या मंस्यन्ते मां यथा नृपम्।
भक्ष्यान्नरसपानानां भविष्यामि तथेश्वरः ॥ ५ ॥

इससे राजा विराटके दूसरे सेवक राजाके ही समान मेरा सम्मान करेंगे और मैं भक्ष्य, भोज्य, रस तथा पेय पदार्थोंका इच्छानुसार उपयोग करनेमें समर्थ होऊँगा ॥ ५ ॥

द्विपा वा बलिनो राजन् वृषभा वा महाबलाः।
विनिग्राह्या यदि मया निग्रहीष्यामि तानपि ॥ ६ ॥

राजन्! बलवान् हाथी अथवा महाबली बैल भी यदि काबूमें करनेके लिये मुझे सौंपे जायँगे तो मैं उन्हें भी बाँधकर अपने वशमें कर लूँगा ॥ ६ ॥

ये च केचिन्नियोत्स्यन्ति समाजेषु नियोधकाः।
तानहं हि नियोत्स्यामि रतिं तस्य विवर्धयन् ॥ ७ ॥

तथा जो कोई भी मल्लयुद्ध करनेवाले पहलवान जन-समाजमें दंगल करना चाहेंगे, राजाका प्रेम बढ़ानेके लिये मैं उनसे भी भिड़ जाऊँगा ॥ ७ ॥

न त्वेतान् युद्ध्यमानान् वै हनिष्यामि कथञ्चन।
तथैतान् पातयिष्यामि यथा यास्यन्ति न क्षयम् ॥ ८ ॥

परंतु कुश्ती करनेवाले इन पहलवानोंको मैं किसी प्रकार जानसे नहीं मारूँगा; अपितु इस प्रकार नीचे गिराऊँगा, जिससे उनकी मृत्यु न हो ॥ ८ ॥

आरालिको गोविकर्ता सूपकर्ता नियोधकः।
आसं युधिष्ठिरस्याहमिति वक्ष्यामि पृच्छतः ॥ ९ ॥

महाराजके पूछनेपर मैं यह कहूँगा कि मैं राजा युधिष्ठिरके यहाँ आरालिक (मतवाले हाथियोंको भी काबूमें करनेवाला गजशिक्षक), गोविकर्ता (महाबली वृषभोंको भी पछाड़कर उन्हें नाथनेवाला), सूपकर्ता (दाल-साग आदि भाँति-भाँतिके व्यञ्जन बनानेवाला) तथा नियोधक (दंगली पहलवान) रहा हूँ ॥ ९ ॥

आत्मानमात्मना रक्षंश्चरिष्यामि विशाम्पते।
इत्येतत् प्रतिजानामि विहरिष्याम्यहं यथा ॥ १० ॥

राजन्! अपने-आप अपनी रक्षा करते हुए मैं विराटके नगरमें विचरूँगा। मुझे विश्वास है कि इस प्रकार मैं वहाँ सुखपूर्वक रह सकूँगा ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

यमग्निर्ब्राह्मणो भूत्वा समागच्छन्नृणां वरम्।
दिधक्षुः खाण्डवं दावं दाशार्हसहितं पुरा ॥ ११ ॥
महाबलं महाबाहुमजितं कुरुनन्दनम्।
सोऽयं किं कर्म कौन्तेयः करिष्यति धनंजयः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले—जो मनुष्योंमें श्रेष्ठ महाबली और महाबाहु है, पहले भगवान् श्रीकृष्णके साथ बैठे हुए जिस अर्जुनके पास खाण्डववनको जलानेकी इच्छासे ब्राह्मणका रूप धारण करके साक्षात् अग्निदेव पधारे थे, जो कुरुकुलको आनन्द देनेवाला तथा किसीसे भी परास्त न होनेवाला है, वह कुन्तीनन्दन धनंजय विराटनगरमें कौन-सा कार्य करेगा? ॥

योऽयमासाद्य तं दावं तर्पयामास पावकम्।
विजित्यैकरथेनेन्द्रं हत्वा पन्नगराक्षसान् ॥ १३ ॥
वासुकेः सर्पराजस्य स्वसारं हृतवांश्च यः।
श्रेष्ठो यः प्रतियोधानां सोऽर्जुनः किं करिष्यति ॥ १४ ॥

जिसने खाण्डवदाहके समय वहाँ पहुँचकर एकमात्र रथका आश्रय ले इन्द्रको पराजित कर तथा नागों एवं राक्षसोंको मारकर अग्निदेवको तृप्त किया और अपने अप्रतिम सौन्दर्यसे नागराज वासुकिकी बहिन उलूपीका चित्त चुरा लिया एवं जो सम्मुख युद्ध करनेवाले वीरोंमें सबसे श्रेष्ठ है, वह अर्जुन वहाँ क्या काम करेगा? ॥ १३-१४ ॥

सूर्यः प्रतपतां श्रेष्ठो द्विपदां ब्राह्मणो वरः।
आशीविषश्च सर्पाणामग्निस्तेजस्विनां वरः ॥ १५ ॥
आयुधानां वरं वज्रं ककुद्मी च गवां वरः।
ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठः पर्जन्यो वर्षतां वरः ॥ १६ ॥
धृतराष्ट्रश्च नागानां हस्तिष्वैरावणो वरः।
पुत्रः प्रियाणामधिको भार्या च सुहृदां वरा ॥ १७ ॥
(गिरीणां प्रवरो मेरुर्देवानां मधुसूदनः।
ग्रहाणां प्रवरश्चन्द्रः सरसां मानसं वरम् ॥)

* बल्लवका अर्थ है सूपकर्ता अर्थात् रसोइया। रसोईके कार्यमें निपुण होनेसे उनका यह नाम यथार्थ ही है।

यथैतानि विशिष्टानि जात्यां जात्यां वृकोदर ।
एवं युवा गुडाकेशः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥१८॥

जैसे तपनेवाले तेजस्वी पदार्थोंमें सूर्य श्रेष्ठ है, मनुष्योंमें ब्राह्मणका स्थान ऊँचा है, जैसे सर्पोंमें आशीविष जातिवाले सर्प महान् हैं, तेजस्वियोंमें अग्नि श्रेष्ठ हैं, अस्त्र-शस्त्रोंमें वज्रका स्थान ऊँचा है, गौओंमें ऊँचे कंधेवाला साँड़ बड़ा माना गया है, जलाशयोंमें समुद्र सबसे महान् है, वर्षा करनेवाले मेघोंमें पर्जन्य श्रेष्ठ हैं, नागोंमें धृतराष्ट्र तथा हाथियोंमें ऐरावत बड़ा है, जैसे प्रिय सम्बन्धियोंमें पुत्र सबसे अधिक प्रिय है और अकारण हित चाहनेवाले सुहृदोंमें धर्मपत्नी सबसे बढ़कर है, जैसे पर्वतोंमें मेरु श्रेष्ठ है, देवताओंमें मधुसूदन भगवान् 'विष्णु श्रेष्ठ हैं, ग्रहोंमें चन्द्रमा श्रेष्ठ हैं और सरोवरोंमें मानसरोवर श्रेष्ठ है । भीमसेन ! अपनी-अपनी जातिमें जिस प्रकार ये पूर्वोक्त वस्तुएँ विशिष्ट मानी गयी हैं, वैसे ही सम्पूर्ण धनुर्धारियोंमें युवावस्थासे सम्पन्न यह गुडाकेश (निद्राविजयी) अर्जुन श्रेष्ठ है ॥ १५–१८ ॥

सोऽयमिन्द्रादनवरो वासुदेवान्महाद्युतिः ।
गाण्डीवधन्वा बीभत्सुः श्वेताश्वः किं करिष्यति ॥१९॥

यह देवराज इन्द्र और भगवान् श्रीकृष्णसे किसी बातमें कम नहीं है । श्वेत घोड़ोंवाले रथपर चलनेवाला यह महा-तेजस्वी गाण्डीवधारी बीभत्सु (अर्जुन) वहाँ कौन-सा कार्य करेगा ? ॥ १९ ॥

उषित्वा पञ्च वर्षाणि सहस्राक्षस्य वेश्मनि ।
अस्त्रयोगं समासाद्य स्ववीर्यान्मानुषाद्भुतम् ।
दिव्यान्यस्त्राणि चाप्तानि देवरूपेण भास्वता ॥२०॥

इसने पाँच वर्षोंतक देवराज इन्द्रके भवनमें रहकर ऐसे दिव्यास्त्र प्राप्त किये हैं, जिनका मनुष्योंमें होना एक अद्भुत-सी बात है । अपने देवोपम स्वरूपसे प्रकाशित होनेवाले अर्जुन-ने अनेक दिव्यास्त्र पाये हैं ॥ २० ॥

यं मन्ये द्वादशं रुद्रमादित्यानां त्रयोदशम् ।
वसूनां नवमं मन्ये ग्रहाणां दशमं तथा ॥२१॥

जिस अर्जुनको मैं बारहवाँ रुद्र और तेरहवाँ आदित्य मानता हूँ, नवम वसु तथा दसवाँ ग्रह स्वीकार करता हूँ ॥

यस्य बाहू समौ दीर्घौ ज्याघातकठिनत्वचौ ।
दक्षिणे चैव सव्ये च गवामिव वहः कृतः ॥२२॥

जिसकी दोनों भुजाएँ एक-सी विशाल हैं; प्रत्यञ्चाके आघातसे उनकी त्वचा कठोर हो गयी है । जैसे बैलोंके कंधोंपर जुआठेकी रगड़से चिह्न बन जाता है, उसी प्रकार जिसकी दाहिनी और बायीं भुजाओंपर प्रत्यञ्चाकी रगड़से चिह्न बन गये हैं ॥ २२ ॥

हिमवानिव शैलानां समुद्रः सरितामिव ।
त्रिदशानां यथा शक्रो वसूनामिव हव्यवाट् ॥२३॥
मृगाणामिव शार्दूलो गरुडः पततामिव ।
वरः संनह्यमानानां सोऽर्जुनः किं करिष्यति ॥२४॥

जैसे पर्वतोंमें हिमालय, सरिताओंमें समुद्र, देवताओंमें इन्द्र, वसुओंमें हव्यवाहक अग्नि, मृगोंमें सिंह तथा पक्षियोंमें गरुड़ श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार कवचधारी वीरोंमें जिसका स्थान सबसे ऊँचा है, वह अर्जुन विराटनगरमें जाकर क्या काम करेगा ? ॥ २३-२४ ॥

अर्जुन उवाच

प्रतिज्ञां षण्ढकोऽस्मीति करिष्यामि महीपते ।
ज्याघातौ हि महान्तौ मे संवर्तुं नृप दुष्करौ ॥२५॥
वलयैश्छादयिष्यामि बाहू किणकृताविमौ ।

अर्जुनने कहा—महाराज ! मैं राजाकी सभामें यह दृढ़तापूर्वक कहूँगा कि मैं षण्ढक (नपुंसक) हूँ । राजन् ! यद्यपि मेरी दायीं-बायीं भुजाओंमें धनुषकी डोरीकी रगड़से जो महान् चिह्न बन गये हैं, उन्हें छिपाना बहुत कठिन है तथापि कंगन आदि आभूषणोंसे मैं इन ज्याघातचिह्नित भुजाओंको ढक लूँगा ॥ २५½ ॥

कर्णयोः प्रतिमुच्याहं कुण्डले ज्वलनप्रभे ॥२६॥
पिनद्धकम्बुः पाणिभ्यां तृतीयां प्रकृतिं गतः ।
वेणीकृतशिरा राजन् नाम्ना चैव बृहन्नला ॥२७॥

मैं दोनों कानोंमें अग्निके समान कान्तिमान् कुण्डल पहनकर हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ धारण कर लूँगा । इस प्रकार तीसरी प्रकृति (नपुंसकभाव) को अपनाकर सिरपर चोटी गूँथ लूँगा और अपनेको बृहन्नला नामसे घोषित करूँगा*॥२६-२७॥

पठन्नाख्यायिकाश्चैव स्त्रीभावेन पुनः पुनः ।
रमयिष्ये महीपालमन्यांश्चान्तःपुरे जनान् ॥२८॥

स्त्रीभावसे अपने स्वरूपको छिपाकर बारंबार पूर्ववर्ती राजाओंके चरित्रोंका गान करके महाराज विराट तथा अन्तः-पुरकी अन्यान्य स्त्रियोंका मनोरञ्जन करूँगा ॥ २८ ॥

गीतं नृत्यं विचित्रं च वादित्रं विविधं तथा ।
शिक्षयिष्याम्यहं राजन् विराटस्य पुरस्त्रियः ॥२९॥

राजन् ! मैं विराटनगरकी स्त्रियोंको गीत गाने, विचित्र ढंगसे नृत्य करने तथा भाँति-भाँतिके बाजे बजानेकी शिक्षा दूँगा ॥ २९ ॥

* इस प्रसङ्गमें अर्जुनने अपनेको षण्ढक और बृहन्नला कहा है । षण्ढक शब्दका अर्थ है नपुंसक । अर्जुन इस समय उर्वशीके शापसे नपुंसक हो गये थे । बृहन्नलाका मूल शब्द बृहन्नल है । विद्वानोंने 'र' और 'ल' को एक-सा माना है; अतः बृहन्नलका अर्थ बृहन्नर अर्थात् श्रेष्ठ या महान् मानव है । भगवान् नारायणके सखा होनेके कारण अर्जुन नरश्रेष्ठ हैं ही ।

प्रजानां समुदाचारं बहु कर्म कृतं वदन् ।
छादयिष्यामि कौन्तेय माययाऽऽत्मानमात्मना ॥३०॥

कुन्तीनन्दन ! प्रजाजनोंके उत्तम आचार-विचार और उनके किये हुए अनेक प्रकारके सत्कर्मोंका वर्णन करता हुआ मैं मायामय नपुंसकवेशसे बुद्धिद्वारा अपने यथार्थ स्वरूपको छिपाये रक्खूँगा ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरस्य गेहे वै द्रौपद्याः परिचारिका ।
उषितास्मीति वक्ष्यामि पृष्टो राज्ञा च पाण्डव ॥३१॥

पाण्डुनन्दन ! यदि राजा विराटने मेरा परिचय पूछा, तो मैं कह दूँगा कि मैं महाराज युधिष्ठिरके घरमें महारानी द्रौपदीकी परिचारिका[1] रह चुकी हूँ ॥ ३१ ॥

एतेन विधिना छन्नः कृतकेन यथानलः ।
विहरिष्यामि राजेन्द्र विराटभवने सुखम् ॥३२॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार कृत्रिम वेशभूषासे राखमें छिपी हुई अग्निके समान अपनेको छिपाकर मैं विराटके महलमें सुख-पूर्वक निवास करूँगा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमन्त्रणे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी मन्त्रणाविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३३ श्लोक हैं)

तृतीयोऽध्यायः

नकुल, सहदेव तथा द्रौपदीद्वारा अपने-अपने भावी कर्तव्योंका दिग्दर्शन

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीर-
स्तथार्जुनो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
वाक्यं तथासौ विरराम भूयो
नृपोऽपरं भ्रातरमाबभाषे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तथा पुरुषोंमें महान् वीर अर्जुन इस प्रकार कहकर चुप हो गये । तब राजा युधिष्ठिर पुनः दूसरे भाईसे बोले ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं त्वं नकुल कुर्वाणस्तत्र तात चरिष्यसि ।
कर्म तत् त्वं समाचक्ष्व राज्ये तस्य महीपतेः ।
सुकुमारश्च शूरश्च दर्शनीयः सुखोचितः ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—नकुल ! तुम राजा विराटके राज्यमें कौन-सा कार्य करते हुए निवास करोगे ? वह कार्य बताओ । तात ! तुम तो शूरवीर होनेके साथ ही अत्यन्त सुकुमार, परम दर्शनीय और सर्वथा सुख भोगनेके ही योग्य हो ॥ २ ॥

नकुल उवाच

अश्वबन्धो भविष्यामि विराटनृपतेरहम् ।
सर्वथा ज्ञानसम्पन्नः कुशलः परिरक्षणे ॥ ३ ॥

नकुल बोले—राजन् ! मैं राजा विराटके यहाँ अश्वबन्ध (घोड़ोंको वशमें करनेवाला सवार) होकर रहूँगा । मैं अश्व-विज्ञानसे सम्पन्न और घोड़ोंकी रक्षाके कार्यमें कुशल हूँ ॥ ३ ॥

ग्रन्थिको नाम नाम्नाहं कर्मैतत् सुप्रियं मम ।
कुशलोऽस्म्यश्वशिक्षायां तथैवाश्वचिकित्सने ।
प्रियाश्च सततं मेऽश्वाः कुरुराज यथा तव ॥ ४ ॥

मैं राजसभामें ग्रन्थिक नामसे अपना परिचय दूँगा । घोड़ोंकी देखभालका काम मुझे अत्यन्त प्रिय है । उन्हें भाँति-भाँतिकी चालें सिखाने और उनकी चिकित्सा करनेमें भी मैं निपुण हूँ । कुरुराज ! आपकी ही भाँति मुझे भी घोड़े सदैव प्रिय रहे हैं* ॥ ४ ॥

ये मामामन्त्रयिष्यन्ति विराटनगरे जनाः ।
तेभ्य एवं प्रवक्ष्यामि विहरिष्याम्यहं यथा ॥ ५ ॥
पाण्डवेन पुरा तात अश्वेष्वधिकृतः पुरा ।
विराटनगरे छन्नश्चरिष्यामि महीपते ॥ ६ ॥

विराटनगरमें जो लोग मुझसे पूछेंगे, उन्हें मैं इस प्रकार उत्तर दूँगा—'तात ! पहले पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने मुझे अश्वोंका अध्यक्ष बनाकर रख रक्खा था ।' महीपते ! मैं जिस प्रकार वहाँ विहार करूँगा, वह सब मैंने आपको बता दिया । राजा विराटके नगरमें अपनेको छिपाये रखकर ही मैं सर्वत्र विचरूँगा ॥ ५-६ ॥

१. परिचारिकाका एक अर्थ है सेविका और दूसरा अर्थ है सब ओर विचरण करनेवाली। इस प्रकार अर्जुनने गूढ़ अभिप्राययुक्त परिचारिका शब्दद्वारा अपनेको द्रौपदीका पति सूचित किया है ।

* नकुलने अपना नाम ग्रन्थिक बताया और अपनेको अश्वोंका अधिकारी कहा है । ग्रन्थिकका अर्थ है आयुर्वेद तथा अध्वर्यु-विद्यासम्बन्धी ग्रन्थोंको जाननेवाला । श्रुतिमें अश्विनीकुमारोंको देवताओंका वैद्य तथा अध्वर्यु कहा गया है । 'अश्विनौ वै देवानां भिषजावश्विनावध्वर्यू' । नकुल अश्विनीकुमारोंके पुत्र हैं; अतः उनका अपनेको ग्रन्थिक कहना उपयुक्त ही है । 'नास्ति श्वो येषां ते अश्वाः' जिनके कलतक जीवित रहनेकी आशा न हो, वे अश्व हैं—इस व्युत्पत्तिके अनुसार जीवनकी आशा छोड़कर युद्धमें डटे रहनेवाले वीरोंको अश्व कहते हैं । नकुल उनके अधिकारी अर्थात् वीरोंमें प्रधान हैं । अतः उनका यह परिचय यथार्थ ही है ।

युधिष्ठिर उवाच

सहदेव कथं तस्य समीपे विहरिष्यसि ।
किं वा त्वं कर्म कुर्वाणः प्रच्छन्नो विहरिष्यसि ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने सहदेवसे पूछा—भैया सहदेव ! तुम राजा विराटके समीप कैसे जाओगे उनके यहाँ क्या काम करते हुए गुप्तरूपसे निवास करोगे ? ॥ ७ ॥

सहदेव उवाच

गोसंख्याता भविष्यामि विराटस्य महीपतेः ।
प्रतिषेद्धा च दोग्धा च संख्याने कुशलो गवाम् ॥ ८ ॥

सहदेवने कहा—महाराज ! मैं राजा विराटके यहाँ गौओंकी गिनती—जाँच-पड़ताल करनेवाला गोशालाध्यक्ष होकर रहूँगा। मैं गौओंको नियन्त्रणमें रखने और दुहनेका काम अच्छी तरह जानता हूँ । उन्हें गिनने और उनकी परख-पहचानके काममें भी कुशल हूँ ॥ ८ ॥

तन्तिपाल इति ख्यातो नाम्नाहं विदितस्त्वथ ।
निपुणं च चरिष्यामि व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ९ ॥

मैं वहाँ तन्तिपाल नामसे प्रसिद्ध होऊँगा। इसी नामसे मुझे सब लोग जानेंगे । मैं बड़ी चतुराईसे अपनेको छिपाये रखकर वहाँ सब ओर विचरूँगा; अतः मेरे विषयमें आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ ९ ॥

(अरोगा बहुलाः पुष्टाः क्षीरवत्यो बहुप्रजाः ।
निष्पन्नसत्त्वाः सुभृता व्यपेतज्वरकिल्बिषाः ॥
नष्टचोरभया नित्यं व्याधिव्याघ्रविवर्जिताः ।
गावश्च सुसुखा राजन् निरुद्विग्ना निरामयाः ॥
भविष्यन्ति मया गुप्ता विराटपशवो नृप ॥)

राजन् ! मेरेद्वारा रक्षित होकर राजा विराटके पशु तथा गौएँ नीरोग, संख्यामें अधिक, हृष्ट-पुष्ट, अधिक दूध देनेवाली, बहुत संतानोंवाली, सत्त्वयुक्त, अच्छी तरह सम्हाल होनेसे रोगरूप पापसे रहित, चोरोंके भयसे मुक्त तथा सदा व्याधि एवं बाघ आदिके भयसे रहित होंगी । महाराज ! वे उद्वेग-रहित, सुखी और निरामय तो होंगी ही ॥

अहं हि सततं गोषु भवता प्रहितः पुरा ।
तत्र मे कौशलं सर्वमवबुद्धं विशाम्पते ॥ १० ॥

भूपाल ! पहले आपने मुझे सदा गौओंकी देखभालके कार्यमें नियुक्त किया है । इस कार्यमें मैं कितना दक्ष हूँ, यह सब आपको विदित ही है ॥ १० ॥

लक्षणं चरितं चापि गवां यच्चापि मङ्गलम् ।
तत् सर्वं मे सुविदितमन्यच्चापि महीपते ॥ ११ ॥
वृषभानपि जानामि राजन् पूजितलक्षणान् ।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते ॥ १२ ॥

महीपते ! गौओंके जो लक्षण और चरित्र मङ्गलकारक होते हैं, वे सब मुझे भलीभाँति मालूम हैं । उनके विषयमें और भी बहुत-सी बातें मैं जानता हूँ। राजन् ! इसके सिवा मैं ऐसे प्रशंसनीय लक्षणोंवाले साँड़ोंको भी जानता हूँ, जिनके मूत्रको सूँघ लेनेमात्रसे वन्ध्या स्त्री भी गर्भवती हो सकती है ॥ ११-१२ ॥

सोऽहमेवं चरिष्यामि प्रीतिरत्र हि मे सदा ।
न च मां वेत्स्यते कश्चित् तोषयिष्ये च पार्थिवम् ॥ १३ ॥

इस प्रकार मैं गौओंकी सेवा करूँगा । इस कार्यमें मुझे सदासे प्रेम रहा है । वहाँ मुझे कोई पहचान नहीं सकेगा । मैं अपने कार्यसे राजा विराटको संतुष्ट कर लूँगा* ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

इयं हि नः प्रिया भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ।
मातेव परिपाल्या च पूज्या ज्येष्ठेव च स्वसा ॥ १४ ॥
केन स्म द्रौपदी कृष्णा कर्मणा विचरिष्यति ।
न हि किञ्चिद् विजानाति कर्म कर्तुं यथा स्त्रियः ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर बोले—यह द्रुपदकुमारी कृष्णा हमलोगोंकी प्यारी भार्या है । इसका गौरव हमारे लिये प्राणोंसे भी बढ़-कर है । यह माता (पृथ्वी) की भाँति पालन करने योग्य तथा बड़ी बहन (धेनु) के समान आदरणीय है । यह तो दूसरी स्त्रियोंकी भाँति कोई काम-काज भी नहीं जानती; फिर वहाँ किस कर्मका आश्रय लेकर निवास करेगी ? ॥ १४-१५ ॥

सुकुमारी च बाला च राजपुत्री यशस्विनी ।
पतिव्रता महाभागा कथं नु विचरिष्यति ॥ १६ ॥

इसका शरीर अत्यन्त सुकुमार है । इसकी अवस्था नयी है । यह यशस्विनी राजकुमारी परम सौभाग्यवती तथा पति-व्रता है । भला, यह विराटनगरमें किस प्रकार रहेगी ? ॥१६॥

माल्यगन्धानलङ्कारान् वस्त्राणि विविधानि च ।
एतान्येवाभिजानाति यतो जाता हि भामिनी ॥ १७ ॥

इस भामिनीने जबसे जन्म लिया है, तबसे अबतक माला, सुगन्धित पदार्थ, भाँति-भाँतिके गहने तथा अनेक प्रकारके वस्त्रोंको ही जाना है । इसने कभी कष्टका अनुभव नहीं किया है ॥ १७ ॥

---

* 'तस्य वाक्तन्तिर्नामानि दामानि' इस श्रुतिके अनुसार तन्ति शब्द वाणीका वाचक है । तन्तिपाल कहकर सहदेवने गूढ़रूपसे युधिष्ठिरको यह बताया कि मैं आपकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करूँगा। साधारण लोगोंकी दृष्टिमें तन्तिपालका अर्थ है, बैलोंको बाँधनेकी रस्सीको सुरक्षित रखनेवाला । अतः सहदेवने भी अपना परिचय यथार्थ ही दिया ।

द्रौपद्युवाच

सैरन्ध्र्यो रक्षिता लोके भुजिष्याः सन्ति भारत।
नैवमन्याः स्त्रियो यान्ति इति लोकस्य निश्चयः॥
साहं ब्रुवाणा सैरन्ध्री कुशला केशकर्मणि॥ १८॥
युधिष्ठिरस्य गेहे वै द्रौपद्याः परिचारिका।
उषितास्मीति वक्ष्यामि पृष्टा राज्ञा च भारत॥ १९॥

द्रौपदीने कहा—भारत! इस जगत्में बहुत-सी ऐसी स्त्रियाँ हैं, जिनका दूसरोंके घरोंमें पालन होता है और जो शिल्पकर्मोंद्वारा जीवननिर्वाह करती हैं। वे अपने सदाचार-से स्वतः सुरक्षित होती हैं। ऐसी स्त्रियोंको सैरन्ध्री कहते हैं। लोगोंको अच्छी तरह मालूम है कि सैरन्ध्रीकी भाँति दूसरी स्त्रियाँ बाहरकी यात्रा नहीं करतीं, [अतः सैरन्ध्रीके वेशमें मुझे कोई पहचान नहीं सकेगा।] इसलिये मैं सैरन्ध्री कहकर अपना परिचय दूँगी। बालोंको सँवारने और वेणी-रचना आदिके कार्यमें मैं बहुत निपुण हूँ। यदि राजा मुझसे पूछेंगे, तो कह दूँगी कि 'मैं महाराज युधिष्ठिरके महलमें महारानी द्रौपदीकी परिचारिका बनकर रही हूँ'॥ १८-१९॥

आत्मगुप्ता चरिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥ २०॥
सुदेष्णां प्रत्युपस्थास्ये राजभार्यां यशस्विनीम्।
सा रक्षिष्यति मां प्राप्तां मा भूत् ते दुःखमीदृशम्॥ २१॥

मैं अपनी रक्षा स्वयं कर लूँगी। आप जो मुझसे पूछते हैं कि तुम वहाँ क्या करोगी? कैसे रहोगी? उसके उत्तरमें निवेदन है कि मैं यशस्विनी राजपत्नी सुदेष्णा-के पास जाऊँगी। मुझे अपने पास आयी हुई जानकर वे रख लेंगी और सब प्रकारसे मेरी रक्षा करेंगी। अतः आपके मनमें इस बातका दुःख नहीं होना चाहिये कि द्रौपदी कैसे सुरक्षित रह सकेगी॥ २०-२१॥

युधिष्ठिर उवाच

कल्याणं भाषसे कृष्णे कुले जातासि भामिनि।
न पापमभिजानासि साध्वी साधुव्रते स्थिता॥ २२॥

युधिष्ठिर बोले—कृष्णे! तुमने भली बात कही, इसमें कल्याण ही भरा है। क्यों न हो, तुम ऊँचे कुलमें उत्पन्न जो हुई हो! भामिनि! तुम्हें पापका रञ्चमात्र भी ज्ञान नहीं है। तुम साध्वी हो और उत्तम व्रतके पालनमें तत्पर रहती हो॥ २२॥

यथा न दुर्हृदः पापा भवन्ति सुखिनः पुनः।
कुर्यास्तत् त्वं हि कल्याणि लक्षयेयुर्न ते तथा॥ २३॥

कल्याणि! वहाँ ऐसा बर्ताव करना, जिससे वे पापी शत्रु फिर सुखी होनेका अवसर न पा सकें; वे तुम्हें किसी तरह पहचान न सकें॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमन्त्रणे तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी परस्पर मन्त्रणाविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ॥ ३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)



चतुर्थोऽध्यायः

धौम्यका पाण्डवोंको राजाके यहाँ रहनेका ढंग बताना और सबका अपने-अपने अभीष्ट स्थानोंको जाना

युधिष्ठिर उवाच

कर्माण्युक्तानि युष्माभिर्यानि यानि करिष्यथ।
मम चापि यथा बुद्धिरुचिता विधिनिश्चयात्॥ १॥

युधिष्ठिर बोले—विराटके यहाँ रहकर तुम्हें जो-जो कार्य करने हैं, वे सब तुमने बताये। मुझे भी अपनी बुद्धिके अनुसार जो कार्य उचित प्रतीत हुआ, वह कह चुका। जान पड़ता है, विधाताका यही निश्चय है॥ १॥

पुरोहितोऽयमस्माकमग्निहोत्राणि रक्षतु।
सूदपौरोगवैः सार्द्धं द्रुपदस्य निवेशने॥ २॥
इन्द्रसेनमुखाश्चेमे रथानादाय केवलान्।
यान्तु द्वारवतीं शीघ्रमिति मे वर्तते मतिः॥ ३॥

अब मेरी सलाह यह है कि ये पुरोहित धौम्यजी रसोइयों तथा पाकशालाध्यक्षके साथ राजा द्रुपदके घर जाकर रहें और वहाँ हमारे अग्निहोत्रकी अग्नियोंकी रक्षा करें तथा ये इन्द्रसेन आदि सेवकगण केवल रथोंको लेकर शीघ्र यहाँसे द्वारकाको चले जायँ॥ २-३॥

इमाश्च नार्यो द्रौपद्याः सर्वाश्च परिचारिकाः।
पाञ्चालानेव गच्छन्तु सूदपौरोगवैः सह॥ ४॥

और ये जो द्रौपदीकी सेवा करनेवाली स्त्रियाँ हैं, वे सब रसोइयों और पाकशालाध्यक्षके साथ पाञ्चालदेशको ही चली जायँ॥ ४॥

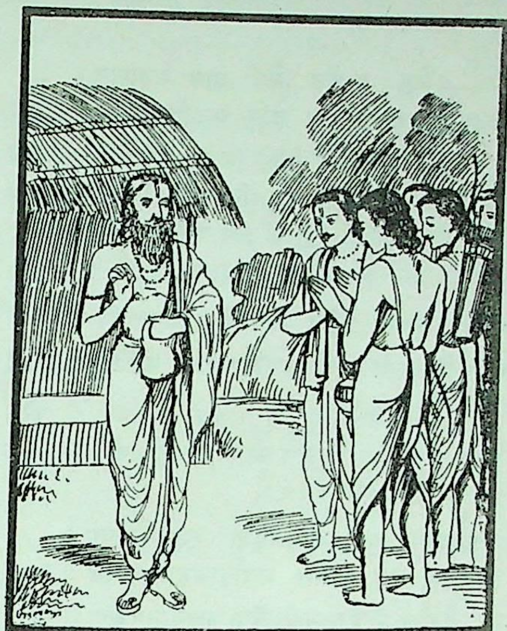
सर्वैरपि च वक्तव्यं न प्राज्ञायन्त पाण्डवाः।
गता ह्यस्मानपाहाय सर्वे द्वैतवनादिति॥ ५॥

वहाँ सब लोग यही कहें—'हमें पाण्डवोंका कुछ भी पता नहीं है। वे सब द्वैतवनसे ही हमें छोड़कर न जाने कहाँ चले गये'॥ ५॥

वैशम्पायन उवाच

एवं तेऽन्योन्यमामन्त्र्य कर्माण्युक्त्वा पृथक् पृथक्।
धौम्यमामन्त्रयामासुः स च तान् मन्त्रमब्रवीत्॥ ६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार आपसमें एक दूसरेकी सलाह लेकर और अपने पृथक्-पृथक् कर्म बतलाकर पाण्डवोंने पुरोहित धौम्यकी भी सम्मति ली । तब पुरोहित धौम्यने उन्हें इस प्रकार सलाह दी ॥ ६ ॥



धौम्य उवाच

विहितं पाण्डवाः सर्वं ब्राह्मणेषु सुहृत्सु च ।
याने प्रहरणे चैव तथैवाग्निषु भारत ॥ ७ ॥
त्वया रक्षा विधातव्या कृष्णायाः फाल्गुनेन च ।
विदितं वो यथा सर्वं लोकवृत्तमिदं तव ॥ ८ ॥

धौम्यजी बोले—पाण्डवो ! ब्राह्मणों, सुहृदों, सवारी या युद्ध-यात्रा, आयुध या युद्ध तथा अग्नियोंके प्रति जो शास्त्रविहित कर्तव्य हैं, उन्हें तुम अच्छी तरह जानते हो और तदनुकूल तुमने जो व्यवस्था की है, वह सब ठीक है । भारत ! अब मैं तुमसे यह कहना चाहता हूँ कि तुम और अर्जुन सावधान रहकर सदा द्रौपदीकी रक्षा करना । लोकव्यवहार-की सभी बातें अथवा साधारण लोगोंके व्यवहार तुम सब लोगोंको विदित हैं ॥ ७-८ ॥

विदिते चापि वक्तव्यं सुहृद्भिरनुरागतः ।
एष धर्मश्च कामश्च अर्थश्चैव सनातनः ॥ ९ ॥

विदित होनेपर भी हितैषी सुहृदोंका कर्तव्य है कि वे स्नेहवश हितकी बात बतावें । यही सनातन धर्म है और इसीसे काम एवं अर्थकी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

अतोऽहमपि वक्ष्यामि हेतुमत्र निबोधत ।
हन्तेमां राजवसतिं राजपुत्रा ब्रवीम्यहम् ॥ १० ॥
यथा राजकुलं प्राप्य सर्वान् दोषांस्तरिष्यथ ।
दुर्वसं चैव कौरव्य जानता राजवेश्मनि ॥ ११ ॥

इसलिये मैं भी जो युक्तियुक्त बातें बताऊँगा, उन्हें यहाँ ध्यान देकर सुनो । राजपुत्रो ! मैं यह बता रहा हूँ कि राजाके घरमें रहकर कैसा बर्ताव करना चाहिये ? उसके अनुसार राजकुलमें रहते हुए भी तुमलोग वहाँके सब दोषोंसे पार हो जाओगे । कुरुनन्दन ! विवेकी पुरुषके लिये भी राजमहलमें निवास करना अत्यन्त कठिन है ॥ १०-११ ॥

अमानितैर्मानितैर्वा अज्ञातैः परिवत्सरम् ।
ततश्चतुर्दशे वर्षे चरिष्यथ यथासुखम् ॥ १२ ॥

वहाँ तुम्हारा अपमान हो या सम्मान, सब कुछ सहकर एक वर्षतक अज्ञातभावसे रहना चाहिये । तदनन्तर चौदहवें वर्षमें तुमलोग अपनी इच्छाके अनुसार सुखपूर्वक विचरण कर सकोगे ॥ १२ ॥

दृष्टद्वारो लभेद् द्रष्टुं राजस्वेषु न विश्वसेत् ।
तदेवासनमन्विच्छेद् यत्र नाभिपतेत् परः ॥ १३ ॥

राजाके मिलना हो, तो पहले द्वारपालके मिलकर राजाको सूचना देनी चाहिये और मिलनेके लिये उनकी आज्ञा मँगा लेनी चाहिये । इन राजाओंपर पूर्ण विश्वास कभी न करे । अपने लिये वही आसन पसंद करे, जिसपर दूसरा कोई बैठनेवाला न हो ॥ १३ ॥

यो न यानं न पर्यङ्कं न पीठं न गजं रथम् ।
आरोहेत् सम्मतोऽस्मीति स राजवसतिं वसेत् ॥ १४ ॥

जो 'मैं राजाका प्रिय व्यक्ति हूँ', यों मानकर कभी राजाकी सवारी, पलंग, पादुका, हाथी एवं रथ आदिपर नहीं चढ़ता है, वही राजाके घरमें कुशलपूर्वक रह सकता है ॥ १४ ॥

यत्र यत्रैनमासीनं शङ्केरन् दुष्टचारिणः ।
न तत्रोपविशेद् यो वै स राजवसतिं वसेत् ॥ १५ ॥

जिन-जिन स्थानोंपर बैठनेसे दुराचारी मनुष्य संदेह करते हों, वहाँ-वहाँ जो कभी नहीं बैठता, वही राजभवनमें रह सकता है ॥ १५ ॥

न चानुशिष्याद् राजानमपृच्छन्तं कदाचन ।
तूष्णीं त्वेनमुपासीत काले समभिपूजयेत् ॥ १६ ॥

बिना पूछे राजाको कभी कर्तव्यका उपदेश न दे । मौनभावसे ही उसकी सेवा करे और उपयुक्त अवसरपर राजाकी प्रशंसा भी करे ॥ १६ ॥

असूयन्ति हि राजानो जनाननृतवादिनः ।
तथैव चावमन्यन्ते मन्त्रिणं वादिनं मृषा ॥ १७ ॥

झूठ बोलनेवाले मनुष्योंके प्रति राजालोग दोषदृष्टि कर

लेते हैं। इसी प्रकार वे मिथ्यावादी मन्त्रीका भी अपमान करते हैं ॥ १७ ॥

नैषां दारेषु कुर्वीत मैत्रीं प्राज्ञः कदाचन ।
अन्तःपुरचरा ये च द्वेष्टि यानहिताश्च ये ॥ १८ ॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह राजाओंकी रानियोंसे मेल-जोल न करे और जो रनिवासमें आते-जाते हों, राजा जिनसे द्वेष रखते हों तथा जो लोग राजाका अहित चाहनेवाले हों, उनसे भी मैत्री स्थापित न करे ॥ १८ ॥

विदिते चास्य कुर्वीत कार्याणि सुलघून्यपि ।
एवं विचरतो राज्ञि न क्षतिर्जायते क्वचित् ॥ १९ ॥

छोटे-से-छोटे कार्य भी राजाको जनाकर ही करे। राजदरबारमें ऐसा आचरण करनेवाले मनुष्योंको कभी हानि नहीं उठानी पड़ती ॥ १९ ॥

गच्छन्नपि परां भूमिमपृष्टो ह्यनियोजितः ।
जात्यन्ध इव मन्येत मर्यादामनुचिन्तयन् ॥ २० ॥

बैठनेके लिये अपनेको ऊँचा आसन प्राप्त होता हो, तो भी जबतक राजा न पूछें—बैठनेका आदेश न दें, तबतक राजदरबारकी मर्यादाका खयाल करके अपनेको जन्मान्ध-सा माने; मानो उस आसनको वह देखता ही न हो। इस भावसे खड़ा रहकर राजाज्ञाकी प्रतीक्षा करता रहे ॥ २० ॥

न हि पुत्रं न नप्तारं न भ्रातरमरिंदमाः ।
समतिक्रान्तमर्यादं पूजयन्ति नराधिपाः ॥ २१ ॥

क्योंकि शत्रुविजयी राजालोग मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले अपने पुत्र, नाती-पोते और भाईका भी आदर नहीं करते ॥ २१ ॥

यत्नाच्चोपचरेदेनमग्निवद् देववत् त्विह ।
अनृतेनोपचीर्णो हि हन्यादेव न संशयः ॥ २२ ॥

इस जगत्में राजाको अग्निके समान दाहक मानकर उसके अत्यन्त निकट न रहे और देवताके समान निग्रह तथा अनुग्रहमें समर्थ जानकर उसकी कभी अवहेलना न करे। इस प्रकार यत्नपूर्वक उसकी परिचर्यामें संलग्न रहे। इसमें संदेह नहीं कि जो मिथ्या एवं कपटपूर्ण उपचारके द्वारा राजाकी सेवा करता है, वह एक दिन अवश्य उसके हाथसे मारा जाता है ॥ २२ ॥

यद् यद् भर्तानुयुञ्जीत तत् तदेवानुवर्तयेत् ।
प्रमादमवलेपं च कोपं च परिवर्जयेत् ॥ २३ ॥

राजा जिस-जिस कार्यके लिये आज्ञा दे, उसीका पालन करे। लापरवाही, घमंड और क्रोधको सर्वथा त्याग दे ॥

समर्थनासु सर्वासु हितं च प्रियमेव च ।
संवर्णयेत् तदेवास्य प्रियादपि हितं भवेत् ॥ २४ ॥

कर्तव्य और अकर्तव्यके निर्णयके सभी अवसरोंपर हितकारक और प्रिय वचन कहे। यदि दोनों सम्भव न हों, तो प्रिय वचनका त्याग करके भी जो हितकारक हो, वही बात कहे (हितविरोधी प्रिय वचन कदापि न कहे) ॥ २४ ॥

अनुकूलो भवेच्चास्य सर्वार्थेषु कथासु च ।
अप्रियं चाहितं यत् स्यात् तदस्मै नानुवर्णयेत् ॥ २५ ॥

सभी विषयों तथा सब बातोंमें राजाके अनुकूल रहे। कथावार्तामें भी राजाके सामने ऐसी बातोंकी बार-बार चर्चा न करे, जो उसे अप्रिय एवं अहितकर प्रतीत होती हों ॥ २५ ॥

नाहमस्य प्रियोऽस्मीति मत्वा सेवेत पण्डितः ।
अप्रमत्तश्च सततं हितं कुर्यात् प्रियं च यत् ॥ २६ ॥

विद्वान् पुरुष 'मैं राजाका प्रिय व्यक्ति नहीं हूँ', ऐसा मानता हुआ सदा सावधान रहकर उसकी सेवा करे। राजाके लिये जो हितकर और प्रिय हो, वही कार्य करे ॥ २६ ॥

नास्यानिष्टानि सेवेत नाहितैः सह संवदेत् ।
स्वस्थानान्न विकम्पेत स राजवसतिं वसेत् ॥ २७ ॥

जो चीज राजाको पसंद न हो, उसका कदापि सेवन न करे। उसके शत्रुओंसे बातचीत न करे और अपने स्थानसे कभी विचलित न हो। ऐसा बर्ताव करनेवाला मनुष्य ही राजाके यहाँ सकुशल रह सकता है ॥ २७ ॥

दक्षिणं चाथ वामं वा पार्श्वमासीत पण्डितः ।
रक्षिणां ह्यात्तशस्त्राणां स्थानं पश्चाद् विधीयते ॥ २८ ॥

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह राजाके दाहिने या बायें भागमें बैठे; क्योंकि राजाके पीछे अस्त्र-शस्त्रधारी अङ्गरक्षक सैनिकोंका स्थान होता है ॥ २८ ॥

नित्यं हि प्रतिषिद्धं तु पुरस्तादासनं महत् ।
न च संदर्शने किंचित् प्रवृत्तमपि संजयेत् ॥ २९ ॥

राजाके सामने किसीके लिये भी ऊँचा आसन लगाना सर्वथा निषिद्ध है। उसकी आँखोंके सामने यदि कोई पुरस्कार-वितरण या वेतनदान आदिका कार्य हो रहा हो, तो उसमें बिना बुलाये स्वयं पहले लेनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये ॥

अपि ह्येतद् दरिद्राणां व्यलीकस्थानमुत्तमम् ।
न मृषाभिहितं राज्ञां मनुष्येषु प्रकाशयेत् ॥ ३० ॥

क्योंकि ऐसी ढिठाई तो दरिद्रोंको भी बहुत अप्रिय जान पड़ती है; फिर राजाओंकी तो बात ही क्या है? राजाओंकी किसी झूठी बातको दूसरे मनुष्योंके सामने प्रकाशित न करे ॥ ३० ॥

असूयन्ति हि राजानो नराननृतवादिनः ।
तथैव [illegible] ॥ ३१ ॥

क्योंकि झूठ बोलनेवाले मनुष्योंसे राजालोग द्वेष मान लेते हैं। इसी तरह जो लोग अपनेको पण्डित मानते हैं, उनका भी राजा तिरस्कार करते हैं ॥ ३१ ॥

शूरोऽस्मीति न दृप्तः स्याद् बुद्धिमानिति वा पुनः ।
प्रियमेवाचरन् राज्ञः प्रियो भवति भोगवान् ॥ ३२ ॥

'मैं शूरवीर हूँ अथवा बड़ा बुद्धिमान् हूँ', ऐसा घमंड न करे। जो सदा राजाको प्रिय लगनेवाले कार्य ही करता है, वही उसका प्रेमपात्र तथा ऐश्वर्यभोगसे सम्पन्न होता है ॥ ३२ ॥

ऐश्वर्यं प्राप्य दुष्प्रापं प्रियं प्राप्य च राजतः ।
अप्रमत्तो भवेद् राज्ञः प्रियेषु च हितेषु च ॥ ३३ ॥

राजासे दुर्लभ ऐश्वर्य तथा प्रिय भोग प्राप्त होनेपर मनुष्य सदा सावधान होकर उसके प्रिय एवं हितकर कार्योंमें संलग्न रहे ॥ ३३ ॥

यस्य कोपो महाबाधः प्रसादश्च महाफलः ।
कस्तस्य मनसापीच्छेदनर्थं प्राज्ञसम्मतः ॥ ३४ ॥

जिसका क्रोध बड़ा भारी संकट उपस्थित कर देता है और जिसकी प्रसन्नता महान् फल—ऐश्वर्य-भोग देनेवाली है, उस राजाका कौन बुद्धिमान् पुरुष मनसे भी अनिष्ट साधन करना चाहेगा ? ॥ ३४ ॥

न चोष्ठौ न भुजौ जानू न च वाक्यं समाक्षिपेत् ।
सदा वातं च वाचं च ष्ठीवनं चाचरेच्छनैः ॥ ३५ ॥

राजाके समक्ष अपने दोनों हाथ, ओठ और घुटनोंको व्यर्थ न हिलावे; बकवाद न करे। सदा शनैः-शनैः बोले। धीरेसे थूके और दूसरोंको पता न चले, इस प्रकार अधोवायु छोड़े ॥ ३५ ॥

हास्यवस्तुषु चान्यस्य वर्तमानेषु केषुचित् ।
नातिगाढं प्रहृष्येत न चाप्युन्मत्तवद्धसेत् ॥ ३६ ॥
न चातिधैर्येण चरेद् गुरुतां हि व्रजेत् ततः ।
स्मितं तु मृदुपूर्वेण दर्शयेत प्रसादजम् ॥ ३७ ॥

किसी दूसरे व्यक्तिके सम्बन्धमें कोई हास्यजनक वस्तु दिखायी दे, तो अधिक हर्ष न प्रकट करे एवं पागलोंकी तरह अट्टहास न करे तथा अत्यन्त धैर्यके कारण जडवत् निश्चेष्ट होकर भी न रहे। इससे वह गौरव (सम्मान) को प्राप्त होता है। मनमें प्रसन्नता होनेपर मुखसे मृदुल (मन्द) मुसकानका ही प्रदर्शन करे ॥ ३६-३७ ॥

लाभे न हर्षयेद् यस्तु न व्यथेद् योऽवमानितः ।
असम्मूढश्च यो नित्यं स राजवसतिं वसेत् ॥ ३८ ॥

जो अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेपर (अधिक) हर्षित नहीं होता अथवा अपमानित होनेपर अधिक व्यथाका अनुभव नहीं करता और सदा मोहशून्य होकर विवेकसे काम लेता है, वही राजाके यहाँ सुखपूर्वक रह सकता है ॥ ३८ ॥

राजानं राजपुत्रं वा संवर्णयति यः सदा ।
अमात्यः पण्डितो भूत्वा स चिरं तिष्ठते प्रियः ॥ ३९ ॥

जो बुद्धिमान् सचिव सदा राजा अथवा राजकुमारकी प्रशंसा करता रहता है, वही राजाके यहाँ उसका प्रीतिपात्र होकर दीर्घकालतक टिक सकता है ॥ ३९ ॥

प्रगृहीतश्च योऽमात्यो निगृहीतस्त्वकारणैः ।
न निर्वदति राजानं लभते सम्पदं पुनः ॥ ४० ॥
प्रत्यक्षं च परोक्षं च गुणवादी विचक्षणः ।
उपजीवी भवेद् राज्ञो विषये योऽपि वा भवेत् ॥ ४१ ॥

यदि कोई मन्त्री पहले राजाका कृपापात्र रहा हो और पीछे अकारण उसे दण्ड भोगना पड़ा हो, उस दशामें भी जो राजाकी निन्दा नहीं करता, वह पुनः अपने पूर्व वैभवको प्राप्त कर लेता है। जो बुद्धिमान् राजाके आश्रित रहकर जीवननिर्वाह अथवा उसके राज्यमें निवास करता है, उसे राजाके सामने अथवा पीठ पीछे भी उसके गुणोंकी ही चर्चा करनी चाहिये ॥ ४०-४१ ॥

अमात्यो हि बलाद् भोक्तुं राजानं प्रार्थयेत यः ।
न स तिष्ठेच्चिरं स्थानं गच्छेच्च प्राणसंशयम् ॥ ४२ ॥

जो मन्त्री राजाको बलपूर्वक अपने अधीन करना चाहता है, वह अधिक समयतक अपने पदपर नहीं टिक सकता। इतना ही नहीं, उसके प्राणोंपर भी संकट आ जाता है ॥ ४२ ॥

श्रेयः सदाऽऽत्मनो दृष्ट्वा परं राज्ञा न संवदेत् ।
विशेषयेच्च राजानं योग्यभूमिषु सर्वदा ॥ ४३ ॥

अपनी भलाई अथवा लाभ देखकर दूसरेको सदा राजाके साथ न मिलावे; न बातचीत करावे। उपयुक्त स्थान और अवसर देखकर सदा राजाकी विशेषता प्रकट करे ॥ ४३ ॥

अम्लानो बलवाञ्छूरश्छायेवानुगतः सदा ।
सत्यवादी मृदुर्दान्तः स राजवसतिं वसेत् ॥ ४४ ॥

जो उत्साहसम्पन्न, बुद्धि-बलसे युक्त, शूरवीर, सत्यवादी, कोमलस्वभाव और जितेन्द्रिय होकर सदा छायाकी भाँति राजाका अनुसरण करता है, वही राजदरबारमें टिक सकता है ॥ ४४ ॥

अन्यस्मिन् प्रेष्यमाणे तु पुरस्ताद् यः समुत्पतेत् ।
अहं किं करवाणीति स राजवसतिं वसेत् ॥ ४५ ॥

जब दूसरेको किसी कार्यके लिये भेजा जा रहा हो, उस समय जो स्वयं ही उठकर आगे जाय और पूछे—'मेरे लिये क्या आज्ञा है', वही राजभवनमें निवास कर सकता है ॥ ४५ ॥

आन्तरे चैव बाह्ये च राज्ञा यश्चाथ सर्वदा ।
आदिष्टो नैव कम्पेत स राजवसतिं वसेत् ॥ ४६ ॥

जो राजाके द्वारा आन्तरिक (धन एवं स्त्री आदिकी रक्षा) और बाह्य (शत्रुविजय आदि) कार्योंके लिये आदेश

मिलनेपर कभी शंकित या भयभीत नहीं होता, वही राजाके यहाँ रह सकता है ॥ ४६ ॥

यो वै गृहेभ्यः प्रवसन् प्रियाणां नानुसंस्मरेत् ।
दुःखेन सुखमन्विच्छेत् स राजवसतिं वसेत् ॥ ४७ ॥

जो घर-बार छोड़कर परदेशमें पड़ा रहनेपर भी प्रियजनों एवं अभीष्ट भोगोंका स्मरण नहीं करता और कष्ट सहकर सुख पानेकी इच्छा करता है, वही राजदरबारमें टिक सकता है ॥ ४७ ॥

समवेषं न कुर्वीत नोच्चैः संनिहितो वसेत् ।
न मन्त्रं बहुधा कुर्यादेवं राज्ञः प्रियो भवेत् ॥ ४८ ॥

राजाके समान वेशभूषा न धारण करे । उसके अत्यन्त निकट न रहे । उसके सामने उच्च आसनपर न बैठे । अपने साथ राजाने जो गुप्त सलाह की हो, उसे दूसरोंपर प्रकट न करे । ऐसा करनेसे ही मनुष्य राजाका प्रिय हो सकता है ॥ ४८ ॥

न कर्मणि नियुक्तः सन् धनं किञ्चिदपि स्पृशेत् ।
प्राप्नोति हि हरन् द्रव्यं बन्धनं यदि वा वधम् ॥ ४९ ॥

यदि राजाने किसी कामपर नियुक्त किया हो, तो उसमें घूसके रूपमें थोड़ा भी धन न ले; क्योंकि जो इस प्रकार चोरीसे धन लेता है, उसे एक दिन बन्धन अथवा वधका दण्ड भोगना पड़ता है ॥ ४९ ॥

यानं वस्त्रमलङ्कारं यच्चान्यत् सम्प्रयच्छति ।
तदेव धारयेन्नित्यमेवं प्रियतरो भवेत् ॥ ५० ॥

राजा प्रसन्न होकर सवारी, वस्त्र, आभूषण तथा और भी जो कोई वस्तु दे, उसीको सदा धारण करे या उपयोगमें लावे । ऐसा करनेसे वह राजाका अधिक प्रिय होता है ॥५०॥

एवं संयम्य चित्तानि यत्नतः पाण्डुनन्दनाः ।
संवत्सरमिमं तात तथाशीला बुभूषत ।
अथ स्वविषयं प्राप्य यथाकामं करिष्यथ ॥ ५१ ॥

तात युधिष्ठिर एवं पाण्डवो ! इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक अपने मनको वशमें रखकर पूर्वोक्त रीतिसे उत्तम बर्ताव करते हुए इस तेरहवें वर्षको व्यतीत करो और इसी रूपमें रहकर ऐश्वर्य पानेकी इच्छा करो । तदनन्तर अपने राज्यमें आकर इच्छानुसार व्यवहार करना ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अनुशिष्टाः स्म भद्रं ते नैतद् वक्तास्ति कश्चन ।
कुन्तीमृते मातरं नो विदुरं वा महामतिम् ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन् ! आपका भला हो । आपने हमें बहुत अच्छी शिक्षा दी । हमारी माता कुन्ती तथा महाबुद्धिमान् विदुरजीको छोड़कर दूसरा कोई नहीं है, जो हमें ऐसी बात बतावे ॥ ५२ ॥

यदेवानन्तरं कार्यं तद् भवान् कर्तुमर्हति ।
तारणायास्य दुःखस्य प्रस्थानाय जयाय च ॥ ५३ ॥

अब हमें इस दुःखसागरसे पार होने, यहाँसे प्रस्थान करने और विजय पानेके लिये जो कर्तव्य आवश्यक हो, उसे आप पूर्ण करें ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो राज्ञा धौम्योऽथ द्विजसत्तमः ।
अकरोद् विधिवत् सर्वं प्रस्थाने यद् विधीयते ॥ ५४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर विप्रवर धौम्यजीने यात्राके समय जो आवश्यक शास्त्रविहित कर्तव्य है, वह सब विधिपूर्वक सम्पन्न किया ॥ ५४ ॥

तेषां समिध्य तानग्नीन् मन्त्रवच्च जुहाव सः ।
समृद्धिवृद्धिलाभाय पृथिवीविजयाय च ॥ ५५ ॥

पाण्डवोंकी अग्निहोत्रसम्बन्धी अग्निको प्रज्वलित करके उन्होंने उनकी समृद्धि, वृद्धि, राज्यलाभ तथा पृथ्वीपर विजय-प्राप्तिके लिये वेदमन्त्र पढ़कर होम किया ॥ ५५ ॥

अग्नीन् प्रदक्षिणीकृत्य ब्राह्मणांश्च तपोधनान् ।
याज्ञसेनीं पुरस्कृत्य षडेवाथ प्रवव्रजुः ॥ ५६ ॥

तत्पश्चात् पाण्डवोंने अग्नि तथा तपस्वी ब्राह्मणोंकी परिक्रमा करके द्रौपदीको आगे रखकर वहाँसे प्रस्थान किया; कुल छः व्यक्ति ही आसन छोड़कर एक साथ चले थे ॥५६॥

गतेषु तेषु वीरेषु धौम्योऽथ जपतां वरः ।
अग्निहोत्राण्युपादाय पाञ्चालानभ्यगच्छत ॥ ५७ ॥

उन पाण्डव वीरोंके चले जानेपर जपयज्ञ करनेवालोंमें श्रेष्ठ धौम्यजी उस अग्निहोत्रसम्बन्धी अग्निको साथ लेकर पाञ्चालदेशमें चले गये ॥ ५७ ॥

इन्द्रसेनादयश्चैव यथोक्ताः प्राप्य यादवान् ।
रथानश्वांश्च रक्षन्तः सुखमूषुः सुसंवृताः ॥ ५८ ॥

इन्द्रसेन आदि सेवक भी पूर्वोक्त आदेश पाकर यदुवंशियोंकी नगरी द्वारकामें जा पहुँचे और वहाँ स्वयं सुरक्षित हो रथ और घोड़ोंकी रक्षा करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे ॥५८॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि धौम्योपदेशे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें धौम्योपदेशसम्बन्धी चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

पाण्डवोंका विराटनगरके समीप पहुँचकर श्मशानमें एक शमीवृक्षपर अपने अस्त्र-शस्त्र रखना

वैशम्पायन उवाच

ते वीरा बद्धनिस्त्रिंशास्तथा बद्धकलापिनः ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणाः कालिन्दीमभितो ययुः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वे वीर पाण्डव तलवार बाँधे, पीठपर तूणीर कसे, गोहके चमड़ेसे बने हुए अङ्गुलित्र (दस्ताने) पहने (पैदल चलते-चलते) यमुनानदीके समीप जा पहुँचे ॥ १ ॥

ततस्ते दक्षिणं तीरमन्वगच्छन् पदातयः ।
निवृत्तवनवासा हि स्वराष्ट्रं प्रेप्सवस्तदा ।
वसन्तो गिरिदुर्गेषु वनदुर्गेषु धन्विनः ॥ २ ॥
विध्यन्तो मृगजातानि महेष्वासा महाबलाः ।

इसके बाद वे यमुनाके दक्षिण किनारेपर पैदल ही चलने लगे। उस समय उनके मनमें यह अभिलाषा जाग उठी थी कि अब हम वनवासके कष्टसे मुक्त हो अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे। उन सबने धनुष ले रखे थे। वे महान् धनुर्धर और महापराक्रमी वीर पर्वतों और वनोंके दुर्गम प्रदेशोंमें डेरा डालते और हिंसक पशुओंको मारते हुए यात्रा कर रहे थे ॥ २½ ॥

उत्तरेण दशार्णांस्ते पञ्चालान् दक्षिणेन च ॥ ३ ॥
अन्तरेण यकृल्लोमान् शूरसेनांश्च पाण्डवाः ।
लुब्धा ब्रुवाणा मत्स्यस्य विषयं प्राविशन् वनात् ॥ ४ ॥
धन्विनो बद्धनिस्त्रिंशा विवर्णाः श्मश्रुधारिणः ।
ततो जनपदं प्राप्य कृष्णा राजानमब्रवीत् ॥ ५ ॥

आगे जाकर वे दशार्णसे उत्तर और पाञ्चालसे दक्षिण एवं यकृल्लोम तथा शूरसेन देशोंके बीचसे होकर यात्रा करने लगे। उन्होंने हाथोंमें धनुष धारण कर रक्खे थे। उनकी कमरमें तलवारें बँधी थीं। उनके शरीर मलिन एवं उदास थे। उन सबकी दाढ़ी-मूँछें बढ़ गयी थीं। किसीके पूछनेपर वे अपनेको मत्स्यदेशमें निवास करनेके इच्छुक बताते थे। इस प्रकार उन्होंने वनसे निकलकर मत्स्यराष्ट्रके जनपदमें प्रवेश किया। जनपदमें आनेपर द्रौपदीने राजा युधिष्ठिरसे कहा—॥ ३–५ ॥

पश्यैकपद्यो दृश्यन्ते क्षेत्राणि विविधानि च ।
व्यक्तं दूरे विराटस्य राजधानी भविष्यति ।
वसामेहापरां रात्रिं बलवान् मे परिश्रमः ॥ ६ ॥

'महाराज ! देखिये, यहाँ अनेक प्रकारके खेत और उनमें पहुँचनेके लिये बहुत-सी पगडंडियाँ दिखायी देती हैं। जान पड़ता है, विराटकी राजधानी अभी दूर होगी। मुझे बड़ी थकावट हो रही है, अतः हम एक रात और यहीं रहें' ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धनंजय समुद्यम्य पाञ्चालीं वह भारत ।
राजधान्यां निवत्स्यामो विमुक्ताश्च वनादितः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर बोले—धनंजय ! तुम द्रौपदीको कंधेपर उठाकर ले चलो। भारत ! इस वनसे निकलकर अब हमलोग राजधानीमें ही निवास करेंगे ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तामादायार्जुनस्तूर्णं द्रौपदीं गजराडिव ।
सम्प्राप्य नगराभ्याशमवतारयदर्जुनः ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तब गजराजके समान पराक्रमी अर्जुनने तुरंत ही द्रौपदीको उठा लिया और नगरके निकट पहुँचकर उन्हें कंधेसे उतारा ॥ ८ ॥

स राजधानीं सम्प्राप्य कौन्तेयोऽर्जुनमब्रवीत् ।
क्वायुधानि समासज्ज्य प्रवेक्ष्यामः पुरं वयम् ॥ ९ ॥

राजधानीके समीप पहुँचकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा—'भैया ! हम अपने अस्त्र-शस्त्र कहाँ रखकर नगरमें प्रवेश करें ?' ॥ ९ ॥

सायुधाश्च प्रवेक्ष्यामो वयं तात पुरं यदि ।
समुद्वेगं जनस्यास्य करिष्यामो न संशयः ॥ १० ॥

'तात ! यदि अपने आयुधोंके साथ हम नगरमें प्रवेश करेंगे, तो निःसंदेह यहाँके निवासियोंको उद्वेग (भय) में डाल देंगे ॥ १० ॥

गाण्डीवं च महद् गाढं लोके च विदितं नृणाम् ।
तच्चेदायुधमादाय गच्छामो नगरं वयम् ।
क्षिप्रमस्मान् विजानीयुर्मनुष्या नात्र संशयः ॥ ११ ॥

'तुम्हारा गाण्डीव धनुष तो बहुत बड़ा और भारी है। संसारके सब लोगोंमें उसकी प्रसिद्धि है। ऐसी दशामें यदि हम अस्त्र-शस्त्र लेकर नगरमें चलेंगे, तो यहाँ सब लोग हमें शीघ्र ही पहचान लेंगे। इसमें संशय नहीं है ॥ ११ ॥

ततो द्वादश वर्षाणि प्रवेष्टव्यं वने पुनः ।
एकस्मिन्नपि विज्ञाते प्रतिज्ञातं हि नस्तथा ॥ १२ ॥

'यदि हममेंसे एक भी पहचान लिया गया, तो हमें दुबारा बारह वर्षोंके लिये वनमें प्रवेश करना पड़ेगा; क्योंकि हमने ऐसी ही प्रतिज्ञा कर रक्खी है' ॥ १२ ॥

अर्जुन उवाच

इयं कूटे मनुष्येन्द्र गहना महती शमी ।
भीमशाखा दुरारोहा श्मशानस्य समीपतः ॥ १३ ॥

अर्जुनने कहा—राजन् ! श्मशानभूमिके समीप एक टीलेपर यह शमीका बहुत बड़ा सघन वृक्ष है। इसकी शाखाएँ बड़ी भयानक हैं, इससे इसपर चढ़ना कठिन है ॥ १३ ॥

न चापि विद्यते कश्चिन्मनुष्य इति मे मतिः।
योऽस्मान् निदधतो द्रष्टा भवेच्छस्त्राणि पाण्डवाः॥१४॥

पाण्डवो ! मेरा विश्वास है कि यहाँ कोई ऐसा मनुष्य नहीं है, जो हमें अपने अस्त्र-शस्त्रोंको यहाँ रखते समय देख सके ॥ १४ ॥

उत्पथे हि वने जाता मृगव्यालनिषेविते ।
समीपे च श्मशानस्य गहनस्य विशेषतः ॥ १५ ॥
समाधायायुधं शम्यां गच्छामो नगरं प्रति ।
एवमत्र यथायोगं विहरिष्याम भारत ॥ १६ ॥

यह वृक्ष रास्तेसे बहुत दूर जंगलमें है। इसके आसपास हिंसक जीव और सर्प आदि रहते हैं। विशेषतः यह दुर्गम श्मशानभूमिके निकट है; (अतः यहाँतक किसीके आने या वृक्षपर चढ़नेकी सम्भावना नहीं है;) इसलिये इसी शमी-वृक्षपर हम अपने अस्त्र-शस्त्र रखकर नगरमें चलें। भारत ! ऐसा करके हम यहाँ जैसा सुयोग होगा, उसके अनसार विचरण करेंगे ॥ १५-१६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स राजानं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
प्रचक्रमे निधानाय शस्त्राणां भरतर्षभ ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर अर्जुन वहाँ अस्त्र-शस्त्रोंको रखनेके प्रयत्नमें लग गये ॥ १७ ॥

येन देवान् मनुष्यांश्च सर्वांश्चैकरथोऽजयत् ।
स्फीताञ्जनपदांश्चान्यानजयत् कुरुपुङ्गवः ॥ १८ ॥
तदुदारं महाघोषं सपत्नबलसूदनम् ।
अपज्यमकरोत् पार्थो गाण्डीवं सुभयंकरम् ॥ १९ ॥

कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने जिस धनुषके द्वारा एकमात्र रथका आश्रय ले सम्पूर्ण देवताओं और मनुष्योंपर विजय पायी थी तथा अन्यान्य अनेक समृद्धिशाली जनपदोंपर विजयपताका फहरायी थी, जिस धनुषने दिव्य बलसे सम्पन्न असुरों आदिकी सेनाओंका भी संहार किया था, जिसकी टङ्कारध्वनि बहुत दूरतक फैलती है, उस उदार तथा अत्यन्त भयंकर गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चा अर्जुनने उतार डाली ॥ १८-१९ ॥

येन वीरः कुरुक्षेत्रमभ्यरक्षत् परंतपः ।
अमुञ्चद् धनुषस्तस्य ज्यामक्षय्यां युधिष्ठिरः ॥ २० ॥

परंतप वीर युधिष्ठिरने जिसके द्वारा समूचे कुरुक्षेत्रकी रक्षा की थी, उस धनुषकी अक्षय डोरीको उन्होंने भी उतार दिया ॥ २० ॥

पाञ्चालान् येन संग्रामे भीमसेनोऽजयत् प्रभुः।
प्रत्यषेधद् बहूनेकः सपत्नांश्चैव दिग्जये ॥ २१ ॥
निशम्य यस्य विस्फारं व्यद्रवन्त रणात् परे ।
पर्वतस्येव दीर्णस्य विस्फोटमशनेरिव ॥ २२ ॥
सैन्धवं येन राजानं पर्यामृषितवानथ ।
ज्यापाशं धनुषस्तस्य भीमसेनोऽवतारयत् ॥ २३ ॥

भीमसेनने जिसके द्वारा पाञ्चाल वीरोंपर विजय पायी थी, दिग्विजयके समय उन्होंने अकेले ही जिसकी सहायतासे बहुतेरे शत्रुओंको परास्त किया था, वज्रके फटने और पर्वतके विदीर्ण होनेके समान जिसका भयंकर टङ्कार सुनकर कितने ही शत्रु युद्ध छोड़कर भाग खड़े हुए तथा जिसके सहयोगसे उन्होंने सिन्धुराज जयद्रथको परास्त किया था, अपने उसी धनुषकी प्रत्यञ्चाको भीमसेनने भी उतार दिया ॥ २१—२३ ॥

अजयत् पश्चिमामाशां धनुषा येन पाण्डवः ।
माद्रीपुत्रो महाबाहुस्ताम्रास्यो मितभाषिता ॥ २४ ॥
तस्य मौर्वीमपाकर्षच्छूरः संक्रन्दनो युधि ।
कुले नास्ति समो रूपे यस्येति नकुलः स्मृतः ॥ २५ ॥

जिनका मुख ताँबेके समान लाल था, जो बहुत कम बोलते थे, उन महाबाहु माद्रीनन्दन नकुलने दिग्विजयके समय जिस धनुषकी सहायतासे पश्चिम दिशापर विजय प्राप्त की थी, समूचे कुरुकुलमें जिनके समान दूसरा कोई रूपवान् न होनेके कारण जिन्हें नकुल कहा जाता था, जो युद्धमें शत्रुओंको रुलानेवाले शूर-वीर थे; उन वीरवर नकुलने भी अपने पूर्वोक्त धनुषकी प्रत्यञ्चा उतार दी ॥ २४-२५ ॥

दक्षिणां दक्षिणाचारो दिशं येनाजयत् प्रभुः ।
अपज्यमकरोद् वीरः सहदेवस्तदायुधम् ॥ २६ ॥

शास्त्रानुकूल तथा उदार आचार-विचारवाले शक्तिशाली वीर सहदेवने भी जिसकी सहायतासे दक्षिण दिशाको जीता था, उस धनुषकी डोरी उतार दी ॥ २६ ॥

खड्गांश्च दीप्तान् दीर्घांश्च कलापांश्च महाधनान् ।
विपाठान् क्षुरधारांश्च धनुर्भिर्निदधुः सह ॥ २७ ॥

धनुषोंके साथ-साथ पाण्डवोंने बड़े-बड़े एवं चमकीले खड्ग, बहुमूल्य तूणीर, छुरेके समान तीखी धारवाले क्षुरधार और विपाठ नामक बाण भी रख दिये ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथान्वशासन्नकुलं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
आरुहेमां शमीं वीर धनूंष्येतानि निक्षिप ॥ २८ ॥

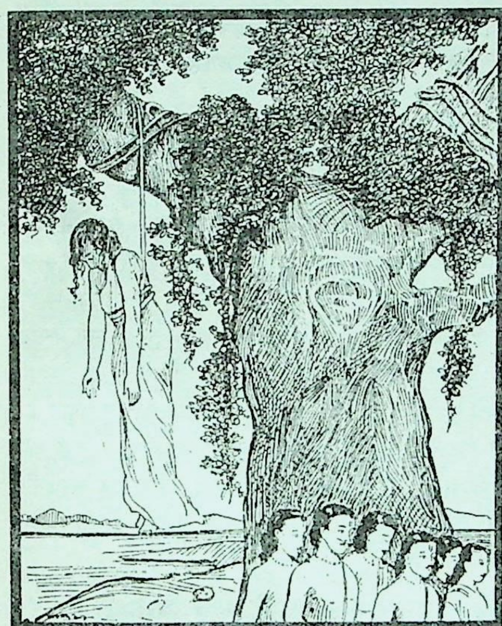
वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर कुन्ती-नन्दन युधिष्ठिरने नकुलको आज्ञा दी—'वीर ! तुम इस शमीपर चढ़कर ये धनुष आदि अस्त्र-शस्त्र रख दो' ॥ २८ ॥

तामुपारुह्य नकुलो धनूंषि निदधे स्वयम् ।
यानि तस्यावकाशानि दिव्यरूपाण्यमन्यत ॥ २९ ॥

तब नकुलने उस वृक्षपर चढ़कर उसके खोखलोंमें वे धनुष आदि आयुध स्वयं अपने हाथसे रक्खे । उसके जो खोखले थे, वे नकुलको दिव्यरूप जान पड़े ॥ २९ ॥

यत्र चापश्यत स वै तिरोवर्षाणि वर्षति ।
तत्र तानि दृढैः पाशैः सुगाढं पर्यबन्धत ॥ ३० ॥

क्योंकि उन्होंने देखा, वहाँ मेघ तिरछी वृष्टि करता है (जिससे खोखलोंमें पानी नहीं पड़ता)। उन्हींमें उन आयुधोंको रखकर मजबूत रस्सियोंसे उन्हें अच्छी तरह बाँध दिया ॥



शरीरं च मृतस्यैकं समबध्नन्त पाण्डवाः ।
विवर्जयिष्यन्ति नरा दूरादेव शमीमिमाम् ॥ ३१ ॥
आबद्धं शवमत्रेति गन्धमाघ्राय पूतिकम् ।
अशीतिशतवर्षेयं माता न इति वादिनः ॥ ३२ ॥
कुलधर्मोऽयमस्माकं पूर्वैराचरितोऽपि वा ।
समासज्ज्याथ वृक्षेऽस्मिन्निति वै व्याहरन्ति ते ॥ ३३ ॥
आगोपालाविपालेभ्य आचक्षाणाः परंतपाः ।
आजग्मुर्नगराभ्याशं पार्थाः शत्रुनिबर्हणाः ॥ ३४ ॥

इसके बाद पाण्डवोंने एक मृतकका शव लाकर उस वृक्षकी शाखामें बाँध दिया। उसे बाँधनेका उद्देश्य यह था कि इसकी दुर्गन्ध नाकमें पड़ते ही लोग समझ लेंगे कि इसमें सड़ी लाश बँधी है; अतः दूरसे ही वे इस शमीवृक्षको त्याग देंगे । परंतप पाण्डव इस प्रकार उस शमीवृक्षपर शव बाँधकर उस वनमें गाय चरानेवाले ग्वालों और भेड़ पालनेवाले गड़रियोंसे शव बाँधनेका कारण बताते हुए इस प्रकार कहते थे—'यह एक सौ अस्सी वर्षकी हमारी माता है। हमारे कुलका यह धर्म है, इसलिये ऐसा किया है। हमारे पूर्वज भी ऐसा ही करते आये हैं।'* इस प्रकार शत्रुओंका संहार करनेवाले वे कुन्तीपुत्र नगरके निकट आ पहुँचे ॥

जयो जयन्तो विजयो जयत्सेनो जयद्बलः ।
इति गुह्यानि नामानि चक्रे तेषां युधिष्ठिरः ॥ ३५ ॥

तब युधिष्ठिरने क्रमशः पाँचों भाइयोंके जय, जयन्त, विजय, जयत्सेन और जयद्बल—ये गुप्त नाम रक्खे ॥ ३५ ॥

ततो यथाप्रतिज्ञाभिः प्राविशन् नगरं महत् ।
अज्ञातचर्यां वत्स्यन्तो राष्ट्रे वर्षं त्रयोदशम् ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार तेरहवें वर्षका अज्ञातवास पूर्ण करनेके लिये मत्स्यराष्ट्रके उस विशाल नगरमें प्रवेश किया ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि पुरप्रवेशे अस्त्रसंस्थापने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें नगरप्रवेशके लिये अस्त्रस्थापनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा दुर्गादेवीकी स्तुति और देवीका प्रत्यक्ष प्रकट होकर उन्हें वर देना

वैशम्पायन उवाच

विराटनगरं रम्यं गच्छमानो युधिष्ठिरः ।
अस्तुवन्मनसा देवीं दुर्गां त्रिभुवनेश्वरीम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! विराटके रमणीय नगरमें प्रवेश करते समय महाराज युधिष्ठिरने मन-ही-मन त्रिभुवनकी अधीश्वरी दुर्गादेवीका इस प्रकार स्तवन किया—॥

* पाण्डवलोग शव बँधी हुई शाखाकी ओर अंगुलीसे संकेत करके कहते थे—'यह हमारी माता है।' वे अपने आयुधोंकी रक्षा करनेके कारण शमीको ही अपनी माता मानते थे और उसीकी ओर उनका वास्तविक संकेत था। शव-बन्धनके व्याजसे वे अस्त्र-संरक्षणको ही पूर्वजोंद्वारा आचरित कुलधर्म घोषित करते थे ।

यशोदागर्भसम्भूतां नारायणवरप्रियाम् ।
नन्दगोपकुले जातां मङ्गल्यां कुलवर्धिनीम् ॥ २ ॥
कंसविद्रावणकरीमसुराणां क्षयंकरीम् ।
शिलातटविनिक्षिप्तामाकाशं प्रति गामिनीम् ॥ ३ ॥
वासुदेवस्य भगिनीं दिव्यमाल्यविभूषिताम् ।
दिव्याम्बरधरां देवीं खड्गखेटकधारिणीम् ॥ ४ ॥

'जो यशोदाके गर्भसे प्रकट हुई है, जो भगवान् नारायणको अत्यन्त प्रिय है, नन्दगोपके कुलमें जिसने अवतार लिया है, जो सबका मङ्गल करनेवाली तथा कुलको बढ़ानेवाली है, जो कंसको भयभीत करनेवाली और असुरोंका संहार करनेवाली है, कंसके द्वारा पत्थरकी शिलापर पटकी जानेपर जो आकाशमें उड़ गयी थी, जिसके अङ्ग दिव्य गन्धमाला एवं आभूषणोंसे विभूषित हैं, जिसने दिव्य वस्त्र धारण कर रक्खा है, जो हाथोंमें ढाल और तलवार धारण करती है, वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी भगिनी उस दुर्गादेवीका मैं चिन्तन करता हूँ ॥ २–४ ॥

भारावतरणे पुण्ये ये स्मरन्ति सदाशिवाम् ।
तान् वै तारयसे पापात् पङ्के गामिव दुर्बलाम् ॥ ५ ॥

'पृथ्वीका भार उतारनेवाली पुण्यमयी देवि ! तुम सदा सबका कल्याण करनेवाली हो । जो लोग तुम्हारा स्मरण करते हैं, निश्चय ही तुम उन्हें पाप और उसके फलस्वरूप होनेवाले दुःखसे उबार लेती हो; ठीक उसी तरह, जैसे कोई पुरुष कीचड़में फँसी हुई दुर्बल गायका उद्धार कर देता है' ॥ ५ ॥

स्तोतुं प्रचक्रमे भूयो विविधैः स्तोत्रसम्भवैः ।
आमन्त्र्य दर्शनाकाङ्क्षी राजा देवीं सहानुजः ॥ ६ ॥
नमोऽस्तु वरदे कृष्णे कुमारि ब्रह्मचारिणि ।
बालार्कसदृशाकारे पूर्णचन्द्रनिभानने ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरने देवीके दर्शनकी अभिलाषा रखकर नाना प्रकारके स्तुतिपरक नामोंद्वारा उन्हें सम्बोधित करके पुनः उनकी स्तुति प्रारम्भ की—'इच्छानुसार उत्तम वर देनेवाली देवि ! तुम्हें नमस्कार है । सच्चिदानन्दमयी कृष्णे ! तुम कुमारी और ब्रह्मचारिणी हो । तुम्हारी अङ्गकान्ति प्रभातकालीन सूर्यके सदृश लाल है । तुम्हारा मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति आह्लाद प्रदान करनेवाला है ॥

चतुर्भुजे चतुर्वक्त्रे पीनश्रोणिपयोधरे ।
मयूरपिच्छवलये केयूराङ्गदधारिणि ॥
भासि देवि यथा पद्मा नारायणपरिग्रहः ॥ ८ ॥
स्वरूपं ब्रह्मचर्यं च विशदं गगनेश्वरी ।
कृष्णच्छविसमा कृष्णा संकर्षणसमानना ॥ ९ ॥

'तुम चार भुजाओंसे सुशोभित विष्णुरूपा और चार मुखोंसे अलंकृत ब्रह्मस्वरूपा हो । तुम्हारे नितम्ब और उरोज पीन हैं । तुमने मोरपंखका कंगन धारण किया है तथा केयूर और अङ्गद पहन रक्खे हैं । देवि ! भगवान् नारायणकी धर्मपत्नी लक्ष्मीजीके समान तुम्हारी शोभा हो रही है । आकाशमें विचरनेवाली देवि ! तुम्हारा स्वरूप और ब्रह्मचर्य परम उज्ज्वल है । श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी छविके समान तुम्हारी श्याम कान्ति है, इसीलिये तुम कृष्णा कहलाती हो । तुम्हारा मुख संकर्षणके समान है ॥ ८-९ ॥

बिभ्रती विपुलौ बाहू शक्रध्वजसमुच्छ्रयौ ।
पात्री च पङ्कजी घण्टी स्त्री विशुद्धा च या भुवि ॥ १० ॥
पाशं धनुर्महाचक्रं विविधान्यायुधानि च ।
कुण्डलाभ्यां सुपूर्णाभ्यां कर्णाभ्यां च विभूषिता ॥ ११ ॥
चन्द्रविस्पर्द्धिना देवि मुखेन त्वं विराजसे ।
मुकुटेन विचित्रेण केशबन्धेन शोभिना ॥ १२ ॥
भुजङ्गभोगवासेन श्रोणिसूत्रेण राजता ।
विभ्राजसे चाबद्धेन भोगेनेवेह मन्दरः ॥ १३ ॥

'तुम (वर और अभय मुद्रा धारण करनेवाली) ऊपर उठी हुई दो विशाल भुजाओंको इन्द्रकी ध्वजाके समान धारण करती हो । तुम्हारे तीसरे हाथमें पात्र, चौथेमें कमल और पाँचवेंमें घण्टा सुशोभित है । छठे हाथमें पाश, सातवेंमें धनुष तथा आठवेंमें महान् चक्र शोभा पाता है । ये ही तुम्हारे नाना प्रकारके आयुध हैं । इस पृथ्वीपर स्त्रीका जो विशुद्ध स्वरूप है, वह तुम्हीं हो । कुण्डलमण्डित कर्णयुगल तुम्हारे मुखमण्डलकी शोभा बढ़ाते हैं । देवि ! तुम चन्द्रमासे होड़ लेनेवाले मुखसे सुशोभित होती हो । तुम्हारे मस्तकपर विचित्र मुकुट है । बँधे हुए केशोंकी वेणी साँपकी आकृतिके समान कुछ और ही शोभा दे रही है । यहाँ कमरमें बँधी हुई सुन्दर करधनीके द्वारा तुम्हारी ऐसी शोभा हो रही है, मानो नागसे लपेटा हुआ मन्दराचल हो ॥ १०–१३ ॥

ध्वजेन शिखिपिच्छानामुच्छ्रितेन विराजसे ।
कौमारं व्रतमास्थाय त्रिदिवं पावितं त्वया ॥ १४ ॥

'तुम्हारी मयूरपिच्छसे चिह्नित ध्वजा आकाशमें ऊँची फहरा रही है । उससे तुम्हारी शोभा और भी बढ़ गयी है । तुमने ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके तीनों लोकोंको पवित्र कर दिया है ॥ १४ ॥

तेन त्वं स्तूयसे देवि त्रिदशैः पूज्यसेऽपि च ।
त्रैलोक्यरक्षणार्थाय महिषासुरनाशिनि ।
प्रसन्ना मे सुरश्रेष्ठे दयां कुरु शिवा भव ॥ १५ ॥

'देवि ! इसीलिये सम्पूर्ण देवता तुम्हारी स्तुति और पूजा भी करते हैं । तीनों लोकोंकी रक्षाके लिये महिषासुरका नाश करनेवाली देवेश्वरी ! मुझपर प्रसन्न होकर दया करो । मेरे लिये कल्याणमयी हो जाओ ॥ १५ ॥

जया त्वं विजया चैव संग्रामे च जयप्रदा ।
ममापि विजयं देहि वरदा त्वं च साम्प्रतम् ॥ १६ ॥

'तुम जया और विजया हो। तुम्हीं संग्राममें विजय देनेवाली हो, अतः मुझे भी विजय दो। इस समय तुम मेरे लिये वरदायिनी हो जाओ ॥ १६ ॥

विन्ध्ये चैव नगश्रेष्ठे तव स्थानं हि शाश्वतम्।
कालि कालि महाकालि खड्गखट्वाङ्गधारिणि ॥ १७ ॥

'पर्वतोंमें श्रेष्ठ विन्ध्याचलपर तुम्हारा सनातन निवासस्थान है। काली! काली!! महाकाली!!! तुम खड्ग और खट्वाङ्ग धारण करनेवाली हो ॥ १७ ॥

कृतानुयात्रा भूतैस्त्वं वरदा कामचारिणि।
भारावतारे ये च त्वां संस्मरिष्यन्ति मानवाः ॥ १८ ॥
प्रणमन्ति च ये त्वां हि प्रभाते तु नरा भुवि।
न तेषां दुर्लभं किंचित् पुत्रतो धनतोऽपि वा ॥ १९ ॥

'जो प्राणी तुम्हारा अनुसरण करते हैं, उन्हें तुम मनोवाञ्छित वर देती हो। इच्छानुसार विचरनेवाली देवि! जो मनुष्य अपने ऊपर आये हुए संकटका भार उतारनेके लिये तुम्हारा स्मरण करते हैं तथा जो मानव प्रतिदिन प्रातःकाल तुम्हें प्रणाम करते हैं, उनके लिये इस पृथ्वीपर पुत्र अथवा धन-धान्य आदि कुछ भी दुर्लभ नहीं हैं ॥ १८-१९ ॥

दुर्गात् तारयसे दुर्गे तत् त्वं दुर्गा स्मृता जनैः।
कान्तारेष्ववसन्नानां मग्नानां च महार्णवे ॥ २० ॥
दस्युभिर्वा निरुद्धानां त्वं गतिः परमा नृणाम्।
जलप्रतरणे चैव कान्तारेष्वटवीषु च ॥ २१ ॥
ये स्मरन्ति महादेवि न च सीदन्ति ते नराः।
त्वं कीर्तिः श्रीर्धृतिः सिद्धिर्ह्रीर्विद्या संततिर्मतिः ॥ २२ ॥
संध्या रात्रिः प्रभा निद्रा ज्योत्स्ना कान्तिः क्षमा दया।
नृणां च बन्धनं मोहं पुत्रनाशं धनक्षयम् ॥ २३ ॥
व्याधिं मृत्युं भयं चैव पूजिता नाशयिष्यसि।
सोऽहं राज्यात् परिभ्रष्टः शरणं त्वां प्रपन्नवान् ॥ २४ ॥

'दुर्गे! तुम दुःसह दुःखसे उद्धार करती हो, इसीलिये लोगोंके द्वारा दुर्गा कही जाती हो। जो दुर्गम वनमें कष्ट पा रहे हों, महासागरमें डूब रहे हों अथवा लुटेरोंके वशमें पड़ गये हों, उन सब मनुष्योंके लिये तुम्हीं परम गति हो—तुम्हीं उन्हें संकटसे मुक्त कर सकती हो। महादेवि! पानीमें तैरते समय, दुर्गम मार्गमें चलते समय और जंगलोंमें भटक जानेपर जो तुम्हारा स्मरण करते हैं, वे मनुष्य क्लेश नहीं पाते। तुम्हीं कीर्ति, श्री, धृति, सिद्धि, लज्जा, विद्या, संतति, मति, संध्या, रात्रि, प्रभा, निद्रा, ज्योत्स्ना, कान्ति, क्षमा और दया हो। तुम पूजित होनेपर मनुष्योंके बन्धन, मोह, पुत्रनाश और धननाशका संकट, व्याधि, मृत्यु और सम्पूर्ण भय नष्ट कर देती हो। मैं भी राज्यसे भ्रष्ट हूँ, इसलिये तुम्हारी शरणमें आया हूँ ॥ २०—२४ ॥

प्रणतश्च यथा मूर्ध्ना तव देवि सुरेश्वरि।
त्राहि मां पद्मपत्राक्षि सत्ये सत्या भवस्व नः ॥ २५ ॥

'कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली देवि! देवेश्वरि! मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करता हूँ। मेरी रक्षा करो। सत्ये! हमारे लिये वस्तुतः सत्यस्वरूपा बनो—अपनी महिमाको सत्य कर दिखाओ ॥ २५ ॥

शरणं भव मे दुर्गे शरण्ये भक्तवत्सले।
एवं स्तुता हि सा देवी दर्शयामास पाण्डवम् ॥ २६ ॥
उपगम्य तु राजानमिदं वचनमब्रवीत्।

'शरणागतोंकी रक्षा करनेवाली भक्तवत्सले दुर्गे! मुझे शरण दो।' इस प्रकार स्तुति करनेपर देवी दुर्गाने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको प्रत्यक्ष दर्शन दिया तथा राजाके पास आकर यह बात कही ॥ २६½ ॥

देव्युवाच

शृणु राजन् महाबाहो मदीयं वचनं प्रभो ॥ २७ ॥
भविष्यत्यचिरादेव संग्रामे विजयस्तव।
मम प्रसादान्निर्जित्य हत्वा कौरववाहिनीम् ॥ २८ ॥
राज्यं निष्कण्टकं कृत्वा भोक्ष्यसे मेदिनीं पुनः।
भ्रातृभिः सहितो राजन् प्रीतिं प्राप्स्यसि पुष्कलाम् ॥ २९ ॥

देवी बोली—महाबाहु राजा युधिष्ठिर! मेरी बात सुनो। समर्थ राजन्! शीघ्र ही तुम्हें संग्राममें विजय प्राप्त होगी। मेरे प्रसादसे कौरवसेनाको जीतकर उसका संहार करके तुम निष्कण्टक राज्य करोगे और पुनः इस पृथ्वीका सुख भोगोगे। राजन्! तुम्हें भाइयोंसहित पूर्ण प्रसन्नता प्राप्त होगी ॥ २७—२९ ॥

मत्प्रसादाच्च ते सौख्यमारोग्यं च भविष्यति।
ये च संकीर्तयिष्यन्ति लोके विगतकल्मषाः ॥ ३० ॥
तेषां तुष्टा प्रदास्यामि राज्यमायुर्वपुः सुतम्।
प्रवासे नगरे चापि संग्रामे शत्रुसंकटे ॥ ३१ ॥
अटव्यां दुर्गकान्तारे सागरे गहने गिरौ।
ये स्मरिष्यन्ति मां राजन् यथाहं भवता स्मृता ॥ ३२ ॥
न तेषां दुर्लभं किंचिदस्मिँल्लोके भविष्यति।
इदं स्तोत्रवरं भक्त्या शृणुयाद् वा पठेत वा ॥ ३३ ॥
तस्य सर्वाणि कार्याणि सिद्धिं यास्यन्ति पाण्डवाः।
मत्प्रसादाच्च वः सर्वान् विराटनगरे स्थितान् ॥ ३४ ॥
न प्रज्ञास्यन्ति कुरवो नरा वा तन्निवासिनः।
इत्युक्त्वा वरदा देवी युधिष्ठिरमरिंदमम्।
रक्षां कृत्वा च पाण्डूनां तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३५ ॥

मेरी कृपासे तुम्हें सुख और आरोग्य सुलभ होगा। लोकमें जो मनुष्य मेरा कीर्तन और स्तवन करेंगे, वे पापरहित होंगे और मैं संतुष्ट होकर उन्हें राज्य, बड़ी आयु, नीरोग शरीर और पुत्र प्रदान करूँगी। राजन्! जैसे तुमने मेरा स्मरण किया है, इसी प्रकार जो लोग परदेशमें रहते समय, नगरमें, युद्धमें, शत्रुओंद्वारा संकट प्राप्त होनेपर,

घने जंगलोंमें, दुर्गम मार्गमें, समुद्रमें तथा गहन पर्वतपर भी मेरा स्मरण करेंगे, उनके लिये इस संसारमें कुछ भी दुर्लभ न होगा। पाण्डवो ! जो इस उत्तम स्तोत्रको भक्ति-भावसे सुनेगा या पढ़ेगा, उसके सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हो जायँगे। मेरे कृपाप्रसादसे विराटनगरमें रहते समय तुम सब लोगोंको कौरवगण अथवा उस नगरके निवासी मनुष्य नहीं पहचान सकेंगे।

शत्रुओंका दमन करनेवाले राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर वरदायिनी देवी दुर्गा पाण्डवोंकी रक्षाका भार ले वहीं अन्तर्धान हो गयी ॥ ३०–३५ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि दुर्गास्तवे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें दुर्गास्तोत्रविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका राजसभामें जाकर विराटसे मिलना और वहाँ आदरपूर्वक निवास पाना

वैशम्पायन उवाच

(ततस्तु ते पुण्यतमां शिवां शुभां
महर्षिगन्धर्वनिषेवितोदकाम् ।
त्रिलोककान्तामवतीर्य जाह्नवी-
मृषींश्च देवांश्च पितॄनतर्पयन् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर पाण्डवोंने परम पवित्र, कल्याणमयी, मङ्गलस्वरूपा, त्रिभुवनकमनीया गङ्गामें, जिसके जलका महर्षि और गन्धर्वगण सदा सेवन करते हैं, उतरकर देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण किया ॥

वरप्रदानं ह्यनुचिन्त्य पार्थिवो
हुताग्निहोत्रः कृतजप्यमङ्गलः ।
दिशं तथैन्द्रीमभितः प्रपेदिवान्
कृताञ्जलिर्धर्ममुपाह्वयच्छनैः ॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिर अग्निहोत्र, जप और मङ्गलपाठ करके धर्मराजके दिये हुए वरदानका चिन्तन करते हुए पूर्व दिशाकी ओर चले और हाथ जोड़कर धीरे-धीरे धर्मराजका स्मरण करने लगे ॥

युधिष्ठिर उवाच

वरप्रदानं मम दत्तवान् पिता
प्रसन्नचेता वरदः प्रजापतिः ।
जलार्थिनो मे तृषितस्य सोदरा
मया प्रयुक्ता विविशुर्जलाशयम् ॥

युधिष्ठिर बोले—मेरे पिता प्रजापति धर्म वरदायक देवता हैं। उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर मुझे वर दिया है। मैंने प्याससे पीड़ित हो जलकी इच्छासे अपने भाइयोंको भेजा था। मेरी प्रेरणासे ही वे एक सरोवरमें उतरे ॥

निपातिता यक्षवरेण ते वने
महाहवे वज्रभृतेव दानवाः ।
मया च गत्वा वरदोऽभितोषितो
[illegible]

परंतु उस वनमें श्रेष्ठ यक्षके रूपमें आये हुए उन धर्मराजने मेरे भाइयोंको उसी प्रकार धराशायी कर दिया, जैसे वज्रधारी इन्द्र महान् संग्राममें दानवोंको मार गिराते हैं। तब मैंने वहाँ जाकर उनके प्रश्नोंका उत्तर दे उन वरदायक गुरुरूप पिताको संतुष्ट किया ॥

स मे प्रसन्नो भगवान् वरं ददौ
परिष्वजंश्चाह तथैव सौहृदात् ।
वृणीष्व यद् वाञ्छसि पाण्डुनन्दन
स्थितोऽन्तरिक्षे वरदोऽस्मि पश्यताम् ॥

उस समय प्रसन्न हो भगवान् धर्मने बड़े स्नेहसे मुझे हृदयसे लगाया और वर देनेके लिये उद्यत हो मुझसे कहा—'पाण्डुनन्दन ! तुम जो कुछ चाहते हो, वह मुझसे माँग लो ! मैं तुम्हें वर देनेके लिये आकाशमें खड़ा हूँ। मेरी ओर देखो ॥'

स वै मयोक्तो वरदः पिता प्रभुः
सदैव मे धर्मरता मतिर्भवेत् ।
इमे च जीवन्तु ममानुजाः प्रभो
वपुश्च रूपं च बलं तथाप्नुयुः ॥

तब मैंने अपने वरदायक पिता भगवान् धर्मराजसे कहा—'प्रभो ! मेरी बुद्धि सदा धर्ममें ही लगी रहे तथा ये मेरे छोटे भाई जीवित हो जायँ और पहले-जैसा रूप, युवावस्था एवं बल प्राप्त कर लें ॥

क्षमा च कीर्तिश्च यथेप्सितो भवेद्
व्रतं च सत्यं च समाप्तिरेव च ।
वरो ममैषोऽस्तु यथानुकीर्तितो
न तन्मृषा देववरो यदब्रवीत् ॥

'हमलोगोंमें इच्छानुसार क्षमा और कीर्ति हो और हम अपने सत्यव्रतको पूर्ण कर लें; यही वर हमें प्राप्त होना चाहिये।' जैसा कि मैंने बताया, वैसा ही वर उन्होंने दिया। देवेश्वर धर्मने जैसा कहा है, वह कभी मिथ्या नहीं

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा धर्मात्मा धर्ममेवानुचिन्तयन्।
तदैव तत्प्रसादेन रूपमेवाभजत् स्वकम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर धर्मात्मा युधिष्ठिर उस समय धर्मका ही बार-बार चिन्तन करने लगे। तब धर्मदेवके प्रसादसे उन्होंने तत्काल अपने अभीष्ट स्वरूपको प्राप्त कर लिया ॥

स वै द्विजातिस्तरुणस्त्रिदण्डधृक्
कमण्डलूष्णीषधरोऽन्वजायत ।
सुरक्तमाञ्जिष्ठवराम्बरः शिखी
पवित्रपाणिर्ददृशे तदद्भुतम् ॥

वे कमण्डलु और पगड़ी धारण किये त्रिदण्डधारी तरुण ब्राह्मण बन गये। उनके शरीरपर मँजीठके रंगके सुन्दर लाल वस्त्र शोभा पाने लगे तथा मस्तकपर शिखा दिखायी देने लगी। वे हाथमें कुश लिये अद्भुत रूपमें दृष्टिगोचर होने लगे ॥

तथैव तेषामपि धर्मचारिणां
यथेप्सिता ह्याभरणाम्बरस्रजः ।
क्षणेन राजन्नभवन्महात्मनां
प्रशस्तधर्माग्र्यफलाभिकाङ्क्षिणाम् ॥)

राजन्! इसी प्रकार उत्तम धर्मके श्रेष्ठ फलकी अभिलाषा रखनेवाले उन सभी धर्मचारी महात्मा पाण्डवोंको क्षणभरमें उनके अभीष्ट वेशके अनुरूप वस्त्र, आभूषण और माला आदि वस्तुएँ प्राप्त हो गयीं ॥

ततो विराटं प्रथमं युधिष्ठिरो
राजा सभायामुपविष्टमाव्रजत्।
वैदूर्यरूपान् प्रतिमुच्य काञ्चना-
नक्षान् स कक्षे परिगृह्य वाससा ॥ १ ॥

तदनन्तर वैदूर्यके समान हरी, सुवर्णके समान पीली (तथा लाल और काली) चौसरकी गोटियोंसहित पासोंको कपड़ेमें बाँधकर बगलमें दबाये हुए राजा युधिष्ठिर सबसे पहले राजाके दरबारमें गये। उस समय राजा विराट सभामें बैठे थे ॥ १ ॥

नराधिपो राष्ट्रपतिं यशस्विनं
महायशाः कौरववंशवर्धनः ।
महानुभावो नरराजसत्कृतो
दुरासदस्तीक्ष्णविषो यथोरगः ॥ २ ॥
बलेन रूपेण नरर्षभो महा-
नपूर्वरूपेण यथामरस्तथा ।
महाभ्रजालैरिव संवृतो रवि-
र्यथानलो भस्मवृतश्च वीर्यवान् ॥ ३ ॥

वे बड़े यशस्वी और मत्स्यराष्ट्रके अधिपति थे। राजा युधिष्ठिर भी महान् यशस्वी, कौरववंशकी मर्यादाको बढ़ानेवाले तथा महानुभाव (अत्यन्त प्रभावशाली) थे। सब राजे-महाराजे उनका सत्कार करते थे। तीखे विषवाले सर्पकी भाँति वे दुर्धर्ष थे। बल और रूपकी दृष्टिसे मनुष्योंमें सबसे श्रेष्ठ और महान् थे। अपने अपूर्व रूपके कारण वे देवताके समान जान पड़ते थे। महामेघमालाओंसे आवृत सूर्य तथा राखमें छिपी हुई अग्निके समान उनका तेजस्वी रूप वेषभूषासे आच्छादित था। वे बड़े पराक्रमी थे ॥ २-३ ॥

तमापतन्तं प्रसमीक्ष्य पाण्डवं
विराटराडिन्दुमिवाभ्रसंवृतम् ।
समागतं पूर्णशशिप्रभाननं
महानुभावं न चिरेण दृष्टवान् ॥ ४ ॥

उनका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहा था। बादलोंसे ढके हुए चन्द्रमाकी भाँति शोभायमान महानुभाव पाण्डुनन्दनको आते देख राजा विराटकी दृष्टि सहसा उनकी ओर आकृष्ट हो गयी। निकट आनेपर शीघ्र ही उन्होंने बड़े गौरसे उनकी ओर देखा ॥ ४ ॥

मन्त्रिद्विजान् सूतमुखान् विशस्तथा
ये चापि केचित् परितः समासते।
पप्रच्छ कोऽयं प्रथमं समेयिवान्
नृपोपमोऽयं समवेक्षते सभाम् ॥ ५ ॥

मन्त्री, ब्राह्मण, सूत-मागध आदि, वैश्यगण तथा अन्य जो कोई भी सभासद् उनके दायें-बायें सब ओर बैठे थे, उन सबसे राजाने पूछा—'ये कौन हैं? जो पहले-पहल यहाँ पधारे हैं! ये तो किसी राजाकी भाँति मेरी सभाको निहार रहे हैं ॥ ५ ॥

न तु द्विजोऽयं भविता नरोत्तमः
पतिः पृथिव्या इति मे मनोगतम्।
न चास्य दासो न रथो न कुञ्जरः
समीपतो भ्राजति चायमिन्द्रवत् ॥ ६ ॥

इनका वेश तो ब्राह्मणका-सा है, किंतु ये ब्राह्मण नहीं हो सकते। ये नरश्रेष्ठ तो कहींके भूपति ही होंगे; ऐसा विचार मेरे मनमें उठ रहा है। परंतु इनके साथ दास, रथ और हाथी-घोड़े आदि कुछ भी नहीं हैं। फिर भी ये निकटसे इन्द्रके समान सुशोभित हो रहे हैं ॥ ६ ॥

शरीरलिङ्गैरुपसूचितो ह्ययं
मूर्धाभिषिक्त इति मे मनोगतम्।
समीपमायाति च मे गतव्यथो
यथा गजस्तामरसीं मदोत्कटः ॥ ७ ॥

'इनके शरीरमें जो लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उनसे यह सूचित होता है कि ये मूर्धाभिषिक्त सम्राट् हैं। मेरे

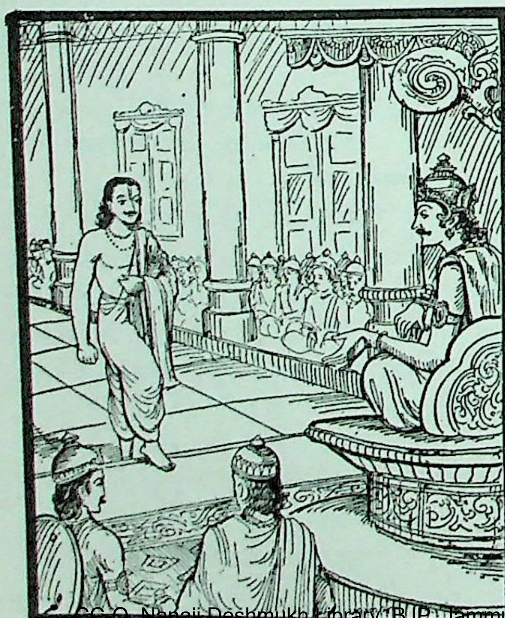
मनमें तो यही बात आती है । जैसे मतवाला हाथी बेखटके किसी कमलिनीके पास जाता हो, उसी प्रकार ये बिना किसी संकोचके—व्यथारहित होकर मेरी सभामें आ रहे हैं' ॥ ७ ॥

वितर्कयन्तं तु नरर्षभस्तथा
युधिष्ठिरोऽभ्येत्य विराटमब्रवीत्।
सम्राड् विजानात्विह जीवनार्थिनं
विनष्टसर्वस्वमुपागतं द्विजम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार तर्क-वितर्कमें पड़े हुए राजा विराटके पास आकर नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरने कहा—'महाराज ! आपको विदित हो; मैं एक ब्राह्मण हूँ, मेरा सर्वस्व नष्ट हो गया है; अतः मैं आपके यहाँ जीवननिर्वाहके लिये आया हूँ ॥ ८ ॥

इहाहमिच्छामि तवानघान्तिके
वस्तुं यथा कामचरस्तथा विभो ।
तमब्रवीत् स्वागतमित्यनन्तरं
राजा प्रहृष्टः प्रतिसंगृहाण च ॥ ९ ॥
तं राजसिंहं प्रतिगृह्य राजा
प्रीत्याऽऽत्मना चैनमिदं बभाषे ।
कामेन ताताभिवदाम्यहं त्वां
कस्यासि राज्ञो विषयादिहागतः ॥ १० ॥

'अनघ ! मैं यहाँ आपके समीप रहना चाहता हूँ । प्रभो ! जैसी आपकी इच्छा होगी, उसी प्रकार सब कार्य करते हुए मैं यहाँ रहूँगा ।' युधिष्ठिरकी बात सुनकर राजा विराट बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'ब्रह्मन् ! आपका स्वागत है ।' तदनन्तर उन्होंने राजाओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरको सादर ग्रहण किया । ग्रहण करके राजा विराटने प्रसन्न मनसे उनसे इस प्रकार कहा—'तात ! मैं प्रेमपूर्वक आपसे पूछता हूँ, आप इस समय किस राजाके राज्यसे यहाँ आये हैं ? ॥ ९-१० ॥



गोत्रं च नामापि च शंस तत्त्वतः
किं चापि शिल्पं तव विद्यते कृतम् ॥ ११ ॥

'अपने गोत्र और नाम भी ठीक-ठीक बताइये । साथ ही यह भी कहें कि आपने किस विद्या या कलामें कुशलता प्राप्त की है' ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

युधिष्ठिरस्यासमहं पुरा सखा
वैयाघ्रपद्यः पुनरस्मि विप्रः ।
अक्षान् प्रयोक्तुं कुशलोऽस्मि देविनां
कङ्केति नाम्नास्मि विराट विश्रुतः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाराज विराट ! मैं वैयाघ्रपद-गोत्रमें उत्पन्न हुआ ब्राह्मण हूँ । लोगोंमें 'कङ्क' नामसे मेरी प्रसिद्धि है । मैं पहले राजा युधिष्ठिरके साथ रहता था । वे मुझे अपना सखा मानते थे । मैं चौसर खेलनेवालोंके बीच पासे फेंकनेकी कलामें कुशल हूँ ॥ १२ ॥

विराट उवाच

ददामि ते हन्त वरं यमिच्छसि
प्रशाधि मत्स्यान् वशगो ह्यहं तव ।
प्रियाश्च धूर्ता मम देविनः सदा
भवांश्च देवोपम राज्यमर्हति ॥ १३ ॥

विराट बोले—ब्रह्मन् ! मैं आपको वर देता हूँ; आप जो चाहें, माँग लें । समूचे मत्स्यदेशपर शासन करें । मैं आपके वशमें हूँ; क्योंकि द्यूतक्रीडामें निपुण, चतुर, चालाक मनुष्य मुझे सदा प्रिय हैं । देवोपम ब्राह्मण ! आप तो राज्य पानेके योग्य हैं ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्राप्तो विवादः प्रथमं विशाम्पते
न विद्यते कं च न मत्स्य हीनतः ।
न मे जितः कश्चन धारयेद् धनं
वरो ममैषोऽस्तु तव प्रसादजः ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—मत्स्यराज ! नरनाथ ! मुझे किसी हीन वर्णके मनुष्यसे विवाद न करना पड़े, यह मैं पहला वर माँगता हूँ तथा मुझसे पराजित होनेवाला कोई भी मनुष्य हारे हुए धनको अपने पास न रखे (मुझे दे दे) । आपकी कृपासे यह दूसरा वर मुझे प्राप्त हो जाय, तो मैं रह सकता हूँ ॥ १४ ॥

विराट उवाच

हन्यामवश्यं यदि तेऽप्रियं चरेत्
प्रव्राजयेयं विषयाद् द्विजांस्तथा ।

शृण्वन्तु मे जानपदाः समागताः
कङ्को यथाहं विषये प्रभुस्तथा ॥ १५ ॥

विराट बोले—ब्रह्मन् ! यदि कोई ब्राह्मणेतर मनुष्य आपका अप्रिय करेगा तो उसे मैं निश्चय ही प्राण-दण्ड दूँगा। यदि ब्राह्मणोंने आपका अपराध किया तो उन्हें देशसे निकाल दूँगा। [युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर राजा विराट अन्य सभासदोंसे बोले—] मेरे राज्यमें निवास करनेवाले और इस सभामें आये हुए लोगो ! मेरी बात सुनो, जैसे मैं इस मत्स्यदेशका स्वामी हूँ, वैसे ही ये कङ्क भी हैं ॥ १५ ॥

समानयानो भवितासि मे सखा
प्रभूतवस्त्रो बहुपानभोजनः।
पश्येस्त्वमन्तश्च बहिश्च सर्वदा
कृतं च ते द्वारमपावृतं मया ॥ १६ ॥

[फिर वे युधिष्ठिरसे बोले—]कङ्क ! आजसे आप मेरे सखा हैं। जैसी सवारीमें मैं चलता हूँ, वैसी ही आपको भी मिलेगी। पहननेके वस्त्र और भोजन-पान आदिका प्रबन्ध भी आपके लिये पर्याप्तमात्रामें रहेगा। बाहरके राज्य-कोश, उद्यान और सेना आदि तथा भीतरके धन-दारा आदिकी भी देख-भाल आप ही करें। मेरे आदेशसे आपके लिये राजमहलका द्वार सदा खुला रहेगा; आपसे कोई परदा नहीं रक्खा जायगा ॥१६॥

ये त्वानुवादेऽयुरवृत्तिकर्शिता
ब्रूयाश्च तेषां वचनेन मां सदा।
दास्यामि सर्वं तदहं न संशयो
न ते भयं विद्यति संनिधौ मम ॥ १७ ॥

जो लोग जीविकाके अभावमें कष्ट पा रहे हों और अनुवादके लिये अर्थात् पहलेके स्थायी तौरपर दिये हुए खेत और बगीचे आदिको पुनः उपयोगमें लानेके निमित्त नूतन राजाज्ञा प्राप्त करनेके लिये आपके पास आवें, उनके अनुरोध-पूर्ण वचनसे आप सदा उनकी प्रार्थना मुझे सुना सकते हैं। विश्वास रखिये, आपके कथनानुसार उन याचकोंको मैं सब कुछ दूँगा; इसमें संशय नहीं है। आपको मेरे पास आने या कुछ कहनेमें भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

(एवं तु राज्ञः प्रथमः समागमो
बभूव मात्स्यस्य युधिष्ठिरस्य च।
विराटराजस्य हि तेन संगमो
बभूव विष्णोरिव वज्रपाणिना ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार वहाँ राजा युधिष्ठिर तथा मत्स्यनरेशकी प्रथम भेंट हुई। जैसे भगवान् विष्णुका वज्रधारी इन्द्रसे मिलन हुआ हो, उसी प्रकार विराटनरेशका राजा युधिष्ठिरके साथ समागम हुआ ॥

तमासनस्थं प्रियरूपदर्शनं
निरीक्षमाणो न ततर्प भूमिपः।
सभां च तां प्रज्वलयन् युधिष्ठिरः
श्रिया यथा शक्र इव त्रिविष्टपम् ॥)

युधिष्ठिरके स्वरूपका दर्शन विराटराजको बहुत प्रिय लगा। जब वे आसनपर बैठ गये, तब राजा विराट उन्हें एक-टक निहारने लगे। उनके दर्शनसे वे तृप्त ही नहीं होते थे। जैसे इन्द्र अपनी कान्तिसे स्वर्गकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार राजा युधिष्ठिर उस सभाको प्रकाशित कर रहे थे ॥

एवं स लब्ध्वा तु वरं समागमं
विराटराजेन नरर्षभस्तदा।
उवास धीरः परमार्चितः सुखी
न चापि कश्चिच्चरितं बुबोध तत् ॥ १८ ॥

धीर स्वभाववाले नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर उस समय राजा विराटके साथ इस प्रकार अच्छे ढंगसे मिलकर और उनके द्वारा परम आदर-सत्कार पाकर वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे। उनका वह चरित्र किसीको भी मालूम नहीं हुआ ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरप्रवेशो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिरप्रवेशविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२ श्लोक मिलाकर कुल ३० श्लोक हैं)

अष्टमोऽध्यायः

भीमसेनका राजा विराटकी सभामें प्रवेश और राजाके द्वारा आश्वासन पाना

वैशम्पायन उवाच

अथापरो भीमबलः श्रिया ज्वल-
न्नुपाययौ सिंहविलासविक्रमः।
खजां च दर्वीं च करेण धारय-
न्नसिं च कालाङ्गमकोशमव्रणम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर द्वितीय पाण्डव भयंकर बलशाली भीमसेन सिंहकी-सी मस्त चालसे चलते हुए राजाके दरबारमें आये। वे अपने सहज तेजसे प्रकाशित हो रहे थे। उन्होंने हाथमें मथानी, करछी और शाक काटनेके लिये एक काले रंगका तीखी धारवाला छुरा

ले रक्खा था। उनका वह छुरा टूटा-फूटा न था और न उसके ऊपर कोई आवरण था ॥ १ ॥

स सूदरूपः परमेण वर्चसा
रविर्यथा लोकमिमं प्रकाशयन्।
स कृष्णवासा गिरिराजसारवां-
स्तं मत्स्यराजं समुपेत्य तस्थिवान्॥ २ ॥

वे यद्यपि रसोइयेके वेशमें थे, तो भी अपने उत्कृष्ट तेजसे इस लोकको प्रकाशित करनेवाले सूर्यदेवकी भाँति सुशोभित हो रहे थे। उनके वस्त्र काले थे और उनका शरीर पर्वतराज मेरुके समान सुदृढ़ था। वे मत्स्यराज विराटके समीप आकर खड़े हो गये ॥ २ ॥

तं प्रेक्ष्य राजा रमयन्नुपागतं
ततोऽब्रवीज्जानपदान् समागतान्।
सिंहोन्नतांसोऽयमतीव रूपवान्
प्रदृश्यते को नु नरर्षभो युवा ॥ ३ ॥

अपने पास आये हुए भीमसेनको देखकर उन्हें प्रसन्न करते हुए राजा विराट मत्स्य जनपदके निवासी समागत सभासदोंसे बोले—'सिंहके समान ऊँचे कंधोंवाला और मनुष्योंमे श्रेष्ठ यह जो अत्यन्त रूपवान् युवक दिखायी दे रहा है, कौन है ?॥ ३ ॥

अदृष्टपूर्वः पुरुषो रविर्यथा
वितर्कयन् नास्य लभामि निश्चयम्।
तथास्य चित्तं ह्यपि संवितर्कयन्
नरर्षभस्यास्य न यामि तत्त्वतः॥ ४ ॥

'आजसे पहले कभी इसका दर्शन नहीं हुआ है। यह वीर पुरुष सूर्यके समान तेजस्वी है। मैं बहुत सोच-विचारकर भी इसके विषयमें किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाता। यहाँ आनेमें इस श्रेष्ठ पुरुषका आन्तरिक अभिप्राय क्या है ? इसपर भी मैंने बहुत तर्क-वितर्क किया है; परंतु किसी वास्तविक परिणामतक नहीं पहुँच पा रहा हूँ ॥ ४ ॥

दृष्ट्वैव चैनं तु विचारयाम्यहं
गन्धर्वराजो यदि वा पुरंदरः।
जानीत कोऽयं मम दर्शने स्थितो
यदीप्सितं तल्लभतां च मा चिरम्॥ ५ ॥

'इसे देखकर ही मैं सोचने लगा हूँ कि यह गन्धर्वराज है या देवराज इन्द्र ? मेरी दृष्टिके सामने खड़ा हुआ यह युवक कौन है, इसका पता लगाओ और यह जो कुछ पाना चाहता हो, वह सब इसे मिल जाना चाहिये; इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये' ॥ ५ ॥

विराटवाक्येन च तेन चोदिता
नरा विराटस्य सुशीघ्रगामिनः।
उपेत्य कौन्तेयमथाब्रुवंस्तदा
यथा स राजावदताच्युतानुजम्॥ ६ ॥

राजा विराटके पूर्वोक्त आदेशसे प्रेरित हो दरबारीलोग शीघ्रतापूर्वक धर्मराज युधिष्ठिरके छोटे भाई कुन्तीपुत्र भीमसेनके समीप गये तथा राजाने जैसे कहा था, उसी प्रकार उनका परिचय पूछा ॥ ६ ॥

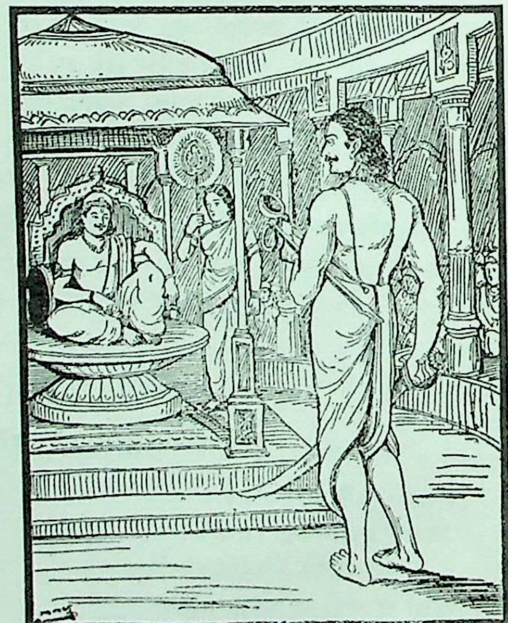
ततो विराटं समुपेत्य पाण्डव-
स्त्वदीनरूपं वचनं महामनाः।
उवाच सूदोऽस्मि नरेन्द्र बल्लवो
भजस्व मां व्यञ्जनकारमुत्तमम् ॥ ७ ॥

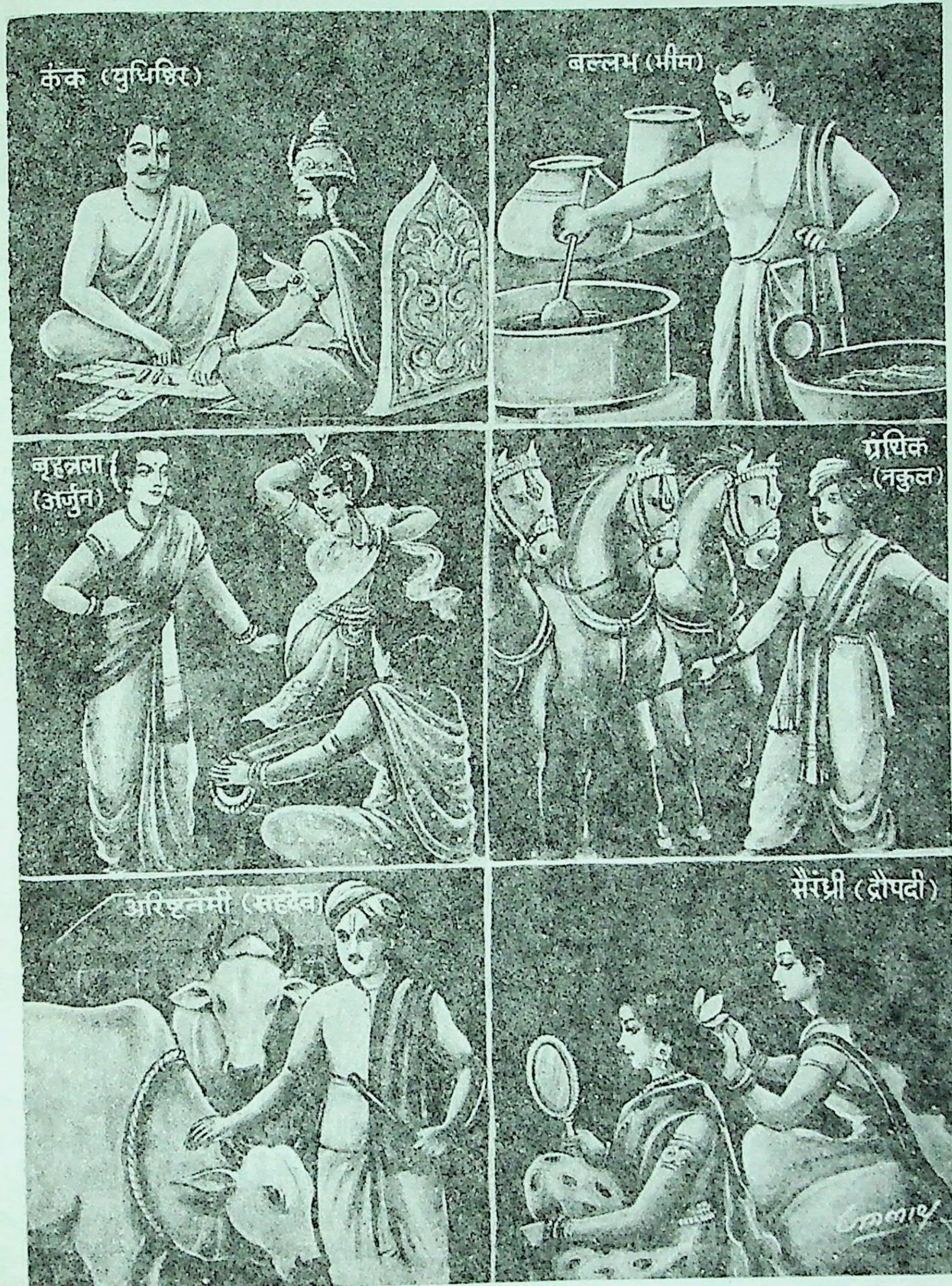
तब महामना पाण्डुनन्दन भीम विराटके अत्यन्त निकट जाकर दीनतारहित वाणीमें बोले—'नरेन्द्र ! मैं रसोइया हूँ। मेरा नाम बल्लव है। मैं बहुत उत्तम व्यञ्जन बनाता हूँ। आप मुझे अपने यहाँ इस कार्यके लिये रख लीजिये' ॥

विराट उवाच

न सूदतां बल्लव श्रद्दधामि ते
सहस्रनेत्रप्रतिमो विराजसे।
श्रिया च रूपेण च विक्रमेण च
प्रभाससे त्वं नृवरो नरेष्विव ॥ ८ ॥

विराट बोले—बल्लव ! तुम रसोइये हो, इस बातपर मुझे विश्वास नहीं होता। तुम तो इन्द्रके समान तेजस्वी दिखायी देते हो। अपने अद्भुत रूप, दिव्य शोभा और महान् पराक्रमसे तुम मनुष्योंमें कोई श्रेष्ठ पुरुष अथवा राजा प्रतीत होते हो ॥ ८ ॥





विराटके यहाँ पाण्डव

भीम उवाच

नरेन्द्र सूदः परिचारकोऽस्मि ते
जानामि सूपान् प्रथमं च केवलान् ।
आस्वादिता ये नृपते पुराभवन्
युधिष्ठिरेणापि नृपेण सर्वशः ॥ ९ ॥

भीमसेनने कहा—महाराज ! मैं रसोई बनानेवाला आपका सेवक हूँ । मैं भाँति-भाँतिके व्यञ्जन बनाना जानता हूँ जिनका बनाना केवल मुझे ही ज्ञात है । मेरे बनाये हुए व्यञ्जन उत्तम श्रेणीके होते हैं । राजन् ! पहले महाराज युधिष्ठिरने भी उन सब प्रकारके व्यञ्जनोंका आस्वादन किया है ॥ ९ ॥

बलेन तुल्यश्च न विद्यते मया
नियुद्धशीलश्च सदैव पार्थिव ।
गजैश्च सिंहैश्च समेयिवानहं
सदा करिष्यामि तवानघ प्रियम् ॥ १० ॥

इसके सिवा शारीरिक बलमें भी मेरी समता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है । भूपाल ! मैं सदा कुश्ती लड़नेवाला पहलवान हूँ ; हाथियों और सिंहोंसे भी भिड़ जाता हूँ । अनघ ! मैं सदा आपको प्रिय लगनेवाला कार्य करूँगा ॥ १० ॥

विराट उवाच

ददामि ते हन्त वरान् महानसे
तथा च कुर्याः कुशलं प्रभाषसे ।
न चैव मन्ये तव कर्म यत् समं
समुद्रनेमिं पृथिवीं त्वमर्हसि ॥ ११ ॥

विराट बोले—बल्लव ! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें अभीष्ट वर देता हूँ । तुम अपनेको भोजन बनानेके काममें कुशल बताते हो, तो मेरी पाकशालामें रहकर वही करो । किंतु मैं यह कार्य तुम्हारे योग्य नहीं समझता । तुम तो समुद्रसे घिरी हुई समूची पृथ्वीका शासन करनेके योग्य हो ॥ ११ ॥

तथा हि कामो भवतस्तथा कृतं
महानसे त्वं भव मे पुरस्कृतः ।
नराश्च ये तत्र समाहिताः पुरा
भवांश्च तेषामधिपो मया कृतः ॥ १२ ॥

तथापि जैसी तुम्हारी रुचि है, मैंने वैसा किया है । तुम मेरी पाकशालामें अग्रणी होकर रहो । जो लोग वहाँ पहलेसे नियुक्त हैं, मैंने तुम्हें उन सबका स्वामी बनाया ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा स भीमो विहितो महानसे
विराटराज्ञो दयितोऽभवद् दृढम् ।
उवास राज्ये न च तं पृथग् जनो
बुबोध तत्रानुचराश्च केचन ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार भीमसेन पाकशालामें नियुक्त हो राजा विराटके अत्यन्त प्रिय व्यक्ति होकर रहने लगे । उस राज्यके किसी भी मनुष्यने उनका रहस्य नहीं जाना और न उस पाकशालाके कोई सेवक ही उन्हें पहचान सके ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि भीमप्रवेशे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें भीमप्रवेशसम्बन्धी आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

द्रौपदीका सैरन्ध्रीके वेशमें विराटके रनिवासमें जाकर रानी सुदेष्णासे वार्तालाप करना और वहाँ निवास पाना

वैशम्पायन उवाच

ततः केशान् समुत्क्षिप्य वेल्लिताग्राननिन्दितान् ।
कृष्णान् सूक्ष्मान् मृदून् दीर्घान् समुद्ग्रथ्य शुचिस्मिता ॥
जुगूहे दक्षिणे पार्श्वे मृदूनसितलोचना ।
वासश्च परिधायैकं कृष्णा सुमलिनं महत् ॥ २ ॥
कृत्वा वेषं च सैरन्ध्र्यास्ततो व्यचरदार्तवत् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पवित्र मन्द मुसकान और कजरारे नेत्रोंवाली द्रौपदीने अपने सुन्दर, महीन, कोमल और बड़े-बड़े, काले एवं घुँघुराले केशोंकी चोटी गूँथकर उन मृदुल अलकोंको दाहिने भागमें छिपा दिया और एक अत्यन्त मलिन वस्त्र धारण करके सैरन्ध्रीका वेश बनाये वह दीन-दुखियोंकी भाँति नगरमें विचरने लगी ॥ १-२½ ॥

तां नराः परिधावन्तीं स्त्रियश्च समुपाद्रवन् ॥ ३ ॥
अपृच्छंश्चैव तां दृष्ट्वा का त्वं किं च चिकीर्षसि ।

उसे इधर-उधर भटकती देख बहुत-सी स्त्रियाँ और पुरुष उसके पास दौड़े आये तथा पूछने लगे—'तुम कौन हो ? और क्या करना चाहती हो ?' ॥ ३½ ॥

सा तानुवाच राजेन्द्र सैरन्ध्र्यहमिहागता ॥ ४ ॥
कर्म चेच्छामि वै कर्तुं तस्य यो मां पुपुक्षति ।
तस्या रूपेण वेषेण श्लक्ष्णया च तथा गिरा ।
न श्रद्दधत तां दासीमन्नहेतोरुपस्थिताम् ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! उनके इस प्रकार पूछनेपर द्रौपदीने उनसे कहा–'मैं सैरन्ध्री * हूँ । जो मुझे अपने यहाँ नियुक्त करना चाहे, उसीके यहाँ मैं सैरन्ध्रीका कार्य करना चाहती हूँ और इसीलिये यहाँ आयी हूँ ।' उसके रूप, वेष और मधुर वाणीसे किसीको यह विश्वास नहीं हुआ कि यह दासी है और अन्न-वस्त्रके लिये यहाँ उपस्थित हुई है ॥ ४-५ ॥

विराटस्य तु कैकेयी भार्या परमसम्मता ।
आलोकयन्ती ददृशे प्रासादाद् द्रुपदात्मजाम् ॥ ६ ॥

इतनेमें ही राजा विराटकी अत्यन्त प्यारी भार्या केकयराजकुमारी सुदेष्णाने, जो अपने महलपर खड़ी हुई नगरकी शोभा निहार रही थी, वहींसे द्रुपदकुमारीको देखा ॥ ६ ॥

सा समीक्ष्य तथारूपामनाथामेकवाससम् ।
समाहूयाब्रवीद् भद्रे का त्वं किं च चिकीर्षसि ॥ ७ ॥

वह एक वस्त्र धारण किये थी एवं अनाथा-सी जान पड़ती थी । ऐसे दिव्य रूपवाली तरुणीको उस अवस्थामें देखकर रानीने उसे अपने पास बुलाया और पूछा—'भद्रे ! तुम कौन हो और क्या करना चाहती हो ?' ॥ ७ ॥

सा तामुवाच राजेन्द्र सैरन्ध्र्यहमुपागता ।
कर्म चेच्छाम्यहं कर्तुं तस्य यो मां युयुक्षति ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! तब द्रौपदीने रानी सुदेष्णासे कहा—'मैं सैरन्ध्री हूँ । जो मुझे अपने यहाँ नियुक्त करना चाहे, उसके यहाँ रहकर मैं सैरन्ध्रीका कार्य करना चाहती हूँ और इसीलिये यहाँ आयी हूँ' ॥ ८ ॥

सुदेष्णोवाच

नैवंरूपा भवन्त्येव यथा वदसि भामिनि ।
प्रेषयन्तीव वै दासीर्दासांश्च विविधान् बहून् ॥ ९ ॥

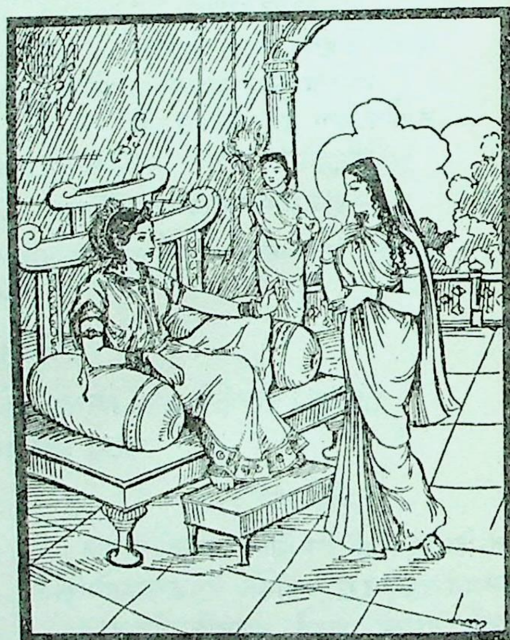
सुदेष्णाने कहा—भामिनि ! तुम जैसा कह रही हो, उसपर विश्वास नहीं होता, क्योंकि तुम्हारी-जैसी रूपवती स्त्रियाँ सैरन्ध्री (दासी) नहीं हुआ करतीं । तुम तो बहुत-सी दासियों और नाना प्रकारके बहुतेरे दासोंको आज्ञा देनेवाली रानी-जैसी जान पड़ती हो ॥ ९ ॥

नोच्चगुल्फा संहतोरुस्त्रिगम्भीरा षडुन्नता ।
रक्ता पञ्चसु रक्तेषु हंसगद्गदभाषिणी ॥१०॥
सुकेशी सुस्तनी श्यामा पीनश्रोणिपयोधरा ।
तेन तेनैव सम्पन्ना काश्मीरीव तुरङ्गमी ॥११॥
अरालपक्ष्मनयना बिम्बोष्ठी तनुमध्यमा ।
कम्बुग्रीवा गूढशिरा पूर्णचन्द्रनिभानना ॥१२॥

तुम्हारे गुल्फ ऊँचे नहीं हैं, दोनों जाँघें परस्पर सटी हुई हैं । तुम्हारी नाभि, वाणी और बुद्धि तीनोंमें गम्भीरता है । नाक, कान, आँख, स्तन, नख और घाँटी–इन छहों अङ्गोंमें ऊँचाई है । हाथों और पैरोंके तलवे, आँखके कोने, ओठ, जिह्वा और नख—इन पाँचों अङ्गोंमें स्वाभाविक लालिमा है । हंसोंकी भाँति मधुर एवं गद्गद वाणी है । तुम्हारे केश काले और चिकने हैं । स्तन बहुत सुन्दर हैं । अङ्गकान्ति श्याम है । नितम्ब और उरोज पीन हैं । ऊपर कही हुई प्रत्येक विशेषतासे तुम सम्पन्न हो । काश्मीरदेशकी घोड़ीके समान तुममें अनेक शुभ लक्षण हैं । तुम्हारे नेत्रोंकी पलकें काली और तिरछी हैं । ओष्ठ पके हुए बिम्बफलके समान लाल हैं । कमर पतली है । गर्दन शङ्खकी शोभाको छीने लेती है । नसें मांससे ढकी हुई हैं तथा मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाको लज्जित कर रहा है ॥ १०-१२ ॥

शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया ।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण सदृशी श्रिया ॥१३॥

तुम रूपमें उन्हीं लक्ष्मीके समान हो, जिनके नेत्र शरद्-ऋतुके विकसित कमलदलके समान विशाल हैं, जिनके अङ्गोंसे शरत्कालीन कमलकी-सी सुगन्ध फैलती रहती है तथा जो शरद्ऋतुके कमलोंका सेवन करती हैं ॥ १३ ॥



का त्वं ब्रूहि यथा भद्रे नासि दासी कथंचन ।
यक्षी वा यदि वा देवी गन्धर्वी यदि वाप्सराः ॥१४॥
देवकन्या भुजङ्गी वा नगरस्याथ देवता ।
विद्याधरी किन्नरी वा यदि वा रोहिणी स्वयम् ॥१५॥

कल्याणी ! बताओ, तुम वास्तवमें कौन हो ? दासी तो तुम किसी प्रकार भी नहीं हो सकतीं । तुम यक्षी हो या देवी ! गन्धर्वकन्या हो या अप्सरा ! [illegible] हो या नागकन्या !

* सैरन्ध्री किसे कहते हैं, यह स्वयं द्रौपदीने इसके पूर्व तीसरे अध्यायके १८ वें श्लोकमें बताया है।

अथवा इस नगरकी अधिष्ठात्री देवी तो नहीं हो ? विद्याधरी, किन्नरी या साक्षात् चन्द्रदेवकी पत्नी रोहिणी तो नहीं हो ? ॥ १४-१५ ॥

अलम्बुषा मिश्रकेशी पुण्डरीकाथ मालिनी ।
इन्द्राणी वारुणी वा त्वं त्वष्टुर्धातुः प्रजापतेः ।
देव्यो देवेषु विख्यातास्तासां त्वं कतमा शुभे ॥१६॥

तुम अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका अथवा मालिनी नामकी अप्सरा तो नहीं हो ? क्या तुम इन्द्राणी, वारुणी देवी, विश्वकर्माकी पत्नी अथवा प्रजापति ब्रह्माकी शक्ति सावित्री हो ? शुभे ! देवताओंके यहाँ जो प्रसिद्ध देवियाँ हैं, उनमेंसे तुम कौन हो ? ॥ १६ ॥

द्रौपद्युवाच

नास्मि देवी न गन्धर्वी नासुरी न च राक्षसी ।
सैरन्ध्री तु भुजिष्यास्मि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥१७॥

द्रौपदी बोली—रानीजी ! मैं न तो देवी हूँ, न गन्धर्वी; न असुरपत्नी हूँ, न राक्षसी । मैं तो सेवा करनेवाली सैरन्ध्री हूँ । यह मैं आपसे सच-सच कह रही हूँ ॥

केशाञ्जानाम्यहं कर्तुं पिंषे साधु विलेपनम् ।
मल्लिकोत्पलपद्मानां चम्पकानां तथा शुभे ॥१८॥
ग्रथयिष्ये विचित्राश्च स्रजः परमशोभनाः ।

मैं केशोंका शृङ्गार करना जानती हूँ तथा उबटन या अङ्गराग बहुत अच्छा पीस लेती हूँ । शुभे ! मैं मल्लिका, उत्पल, कमल और चम्पा आदि फूलोंके बहुत सुन्दर एवं विचित्र हार भी गूँथ सकती हूँ ॥ १८½ ॥

आराधयं सत्यभामां कृष्णस्य महिषीं प्रियाम् ॥१९॥
कृष्णां च भार्यां पाण्डूनां कुरूणामेकसुन्दरीम् ।

पहले मैं श्रीकृष्णकी प्यारी रानी सत्यभामा तथा कुरुकुलकी एकमात्र सुन्दरी पाण्डवोंकी धर्मपत्नी द्रौपदीकी सेवामें रह चुकी हूँ ॥ १९½ ॥

तत्र तत्र चराम्येवं लभमाना सुभोजनम् ॥२०॥
वासांसि यावन्ति लभे तावत् तावद् रमे तथा ।
मालिनीत्येव मे नाम स्वयं देवी चकार सा ।
साहमद्यागता देवि सुदेष्णे त्वन्निवेशनम् ॥२१॥

मैं भिन्न-भिन्न स्थानोंमें सेवा करके उत्तम भोजन पाती हुई विचरती हूँ । मुझे जितने वस्त्र मिल जाते हैं, उतनोंमें ही मैं प्रसन्न रहती हूँ । स्वयं देवी द्रौपदीने मेरा नाम 'मालिनी' रख दिया था । देवि सुदेष्णे ! आज वही मैं सैरन्ध्री आपके महलमें आयी हूँ ॥ २०-२१ ॥

सुदेष्णोवाच

मूर्ध्नि त्वां वासयेयं वै संशयो मे न विद्यते ।
न चेदिच्छति राजा त्वां गच्छेत् सर्वेण चेतसा ॥२२॥

सुदेष्णाने कहा—सुन्दरी ! यदि मेरे मनमें संदेह न होता, तो मैं तुम्हें अपने सिर-माथे रख लेती । यदि राजा तुम्हें चाहने न लगें—सम्पूर्ण चित्तसे तुमपर आसक्त न हो जायँ तो तुम्हें रखनेमें मुझे कोई आपत्ति न होगी ॥ २२ ॥

स्त्रियो राजकुले याश्च याश्चेमा मम वेश्मनि ।
प्रसक्तास्त्वां निरीक्षन्ते पुमांसं कं न मोहयेः ॥२३॥

इस राजकुलमें जितनी स्त्रियाँ हैं तथा मेरे महलमें भी जो ये सुन्दरियाँ हैं, वे सब एकटक तुम्हारी ओर निहार रही हैं; फिर पुरुष कौन ऐसा होगा, जिसे तुम मोहित न कर सको ? ॥ २३ ॥

वृक्षांश्चावस्थितान् पश्य य इमे मम वेश्मनि ।
तेऽपि त्वां संनमन्तीव पुमांसं कं न मोहयेः ॥२४॥

देखो, मेरे भवनमें ये जो वृक्ष खड़े हैं, वे भी तुम्हें देखनेके लिये मानो झुके-से पड़ते हैं । फिर पुरुष कौन ऐसा होगा, जिसे तुम मोहित न कर लो ? ॥ २४ ॥

राजा विराटः सुश्रोणि दृष्ट्वा वपुरमानुषम् ।
विहाय मां वरारोहे गच्छेत् सर्वेण चेतसा ॥२५॥

सुन्दर नितम्बोंवाली सुन्दरी ! तुम्हारे सम्पूर्ण अङ्ग सुन्दर हैं । राजा विराट तुम्हारा यह दिव्य रूप देखते ही मुझे छोड़कर सम्पूर्ण चित्तसे तुम्हींमें आसक्त हो जायँगे ॥ २५ ॥

यं हि त्वमनवद्याङ्गि तरलायतलोचने ।
प्रसक्तमभिवीक्षेथाः स कामवशगो भवेत् ॥२६॥

निर्दोष अङ्गों तथा चञ्चल एवं विशाल नेत्रोंवाली सैरन्ध्री ! जिस पुरुषकी ओर तुम ध्यानसे देख लोगी, वही कामके अधीन हो जायगा ॥ २६ ॥

यश्च त्वां सततं पश्येत् पुरुषश्चारुहासिनि ।
एवं सर्वानवद्याङ्गि स चानङ्गवशो भवेत् ॥२७॥

शुभाङ्गि ! चारुहासिनि ! इसी प्रकार जो पुरुष प्रतिदिन तुम्हें देखेगा, वह भी कामदेवके वशीभूत हो जायगा ॥२७॥

अध्यारोहेद् यथा वृक्षान् वधायैवात्मनो नरः ।
राजवेश्मनि ते सुभ्रु गृहे तु स्यात् तथा मम ॥२८॥

सुभ्रु ! जैसे कोई मूर्ख मनुष्य आत्महत्याके लिये (गिरनेके उद्देश्यसे) वृक्षोंपर चढ़े, उसी प्रकार राजमहलमें या अपने घरमें तुम्हें रखना मेरे लिये अनिष्टकारी हो सकता है ॥ २८ ॥

यथा च कर्कटी गर्भमाधत्ते मृत्युमात्मनः ।
तथाविधमहं मन्ये वासं तव शुचिस्मिते ॥२९॥

शुचिस्मिते ! जैसे केंकड़ेकी मादा अपने मृत्युके लिये ही गर्भ धारण करती है, उसी प्रकार तुम्हें इस घरमें ठहराना मैं अपने लिये मरणके तुल्य मानती हूँ ॥ २९ ॥

द्रौपद्युवाच

नास्मि लभ्या विराटेन न चान्येन कदाचन ।
गन्धर्वाः पतयो मह्यं युवानः पञ्च भामिनि ॥ ३० ॥

द्रौपदी बोली—भामिनि ! मुझे राजा विराट या दूसरा कोई पुरुष कभी नहीं पा सकता । पाँच तरुण गन्धर्व मेरे पति हैं ॥ ३० ॥

पुत्रा गन्धर्वराजस्य महासत्त्वस्य कस्यचित् ।
रक्षन्ति ते च मां नित्यं दुःखाचारा तथा ह्यहम् ॥ ३१ ॥

वे सब किसी महान् शक्तिशाली गन्धर्वराजके* पुत्र हैं । वे ही मेरी प्रतिदिन रक्षा करते हैं तथा मैं स्वयं भी दुर्धर्ष हूँ ॥ ३१ ॥

यो मे न दद्यादुच्छिष्टं न च पादौ प्रधावयेत् ।
प्रीणेरंस्तेन वासेन गन्धर्वाः पतयो मम ॥ ३२ ॥

जो मुझे जूँठा अन्न नहीं देता और मुझसे अपने पैर नहीं धुलवाता, उसके उस व्यवहारसे मेरे पति गन्धर्वलोग प्रसन्न रहते हैं ॥ ३२ ॥

यो हि मां पुरुषो गृद्ध्येद् यथान्याः प्राकृताः स्त्रियः ।
तामेव निवसेद् रात्रिं प्रविश्य च परां तनुम् ॥ ३३ ॥

परंतु जो पुरुष मुझे अन्य प्राकृत स्त्रियोंके समान समझकर (बलपूर्वक) प्राप्त करना चाहता है, उसका उसी रातमें परलोकवास हो जाता है ॥ ३३ ॥

न चाप्यहं चालयितुं शक्या केनचिदङ्गने ।
दुःखशीला हि गन्धर्वास्ते च मे बलिनः प्रियाः ॥ ३४ ॥
प्रच्छन्नाश्चापि रक्षन्ति ते मां नित्यं शुचिस्मिते ।

अतः कल्याणि ! मुझे कोई भी सतीत्वसे विचलित नहीं कर सकता । शुचिस्मिते ! यद्यपि मेरे पति गन्धर्वगण इस समय दुःखमें पड़े हैं; तथापि वे बड़े बलवान् हैं और गुप्तरूपसे सदा मेरी रक्षा करते रहते हैं ॥ ३४½ ॥

सुदेष्णोवाच

एवं त्वां वासयिष्यामि यथा त्वं नन्दिनीच्छसि ॥ ३५ ॥
न च पादौ न चोच्छिष्टं स्प्रक्ष्यसि त्वं कथंचन ।

सुदेष्णाने कहा—आनन्ददायिनी सुन्दरी ! यदि (तुम्हारा शील-स्वभाव) ऐसा है, तो मैं जैसी तुम्हारी इच्छा है, उसके अनुसार तुम्हें अवश्य अपने घरमें ठहराऊँगी । तुम्हें किसी प्रकार पैर या जूँठन नहीं छूने पड़ेंगे ॥ ३५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं कृष्णा विराटस्य भार्यया परिसान्त्विता ॥ ३६ ॥
उवास नगरे तस्मिन् पतिधर्मवती सती ।
न चैनां वेद तत्रान्यस्तत्त्वेन जनमेजय ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—विराटकी रानीने जब इस प्रकार आश्वासन दिया, तब पातिव्रत्य धर्मका पालन करनेवाली सती द्रौपदी उस नगरमें रहने लगी । जनमेजय ! वहाँ दूसरा कोई मनुष्य उसका वास्तविक परिचय न पा सका ॥ ३६-३७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि द्रौपदीप्रवेशे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें द्रौपदीप्रवेशसम्बन्धी नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

सहदेवका राजा विराटके साथ वार्तालाप और गौओंकी देखभालके लिये उनकी नियुक्ति

वैशम्पायन उवाच

सहदेवोऽपि गोपानां कृत्वा वेषमनुत्तमम् ।
भाषां चैषां समास्थाय विराटमुपयादथ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर सहदेव भी ग्वालोंका परम उत्तम वेष बनाकर उन्हींकी भाषामें बोलते हुए राजा विराटके यहाँ गये ॥ १ ॥

गोष्ठमासाद्य तिष्ठन्तं भवनस्य समीपतः ।
राजाथ दृष्ट्वा पुरुषान् प्राहिणोज्जातविस्मयः ॥ २ ॥

राजभवनके पास ही गोशाला थी; वहाँ पहुँचकर वे खड़े हो गये । राजा उन्हें दूरसे ही देखकर आश्चर्यमें पड़ गये और उनके पास कुछ लोगोंको भेजा ॥ २ ॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य भ्राजमानं नरर्षभम् ।
समुपस्थाय वै राजा पप्रच्छ कुरुनन्दनम् ॥ ३ ॥

[अपने सेवकोंके बुलानेपर उनके साथ] दिव्य कान्तिसे सुशोभित नरश्रेष्ठ सहदेवको राजसभाकी ओर आते देख राजा विराट स्वयं उठकर उनके पास चले गये और कुरुकुलको आनन्द देनेवाले सहदेवसे पूछने लगे— ॥ ३ ॥

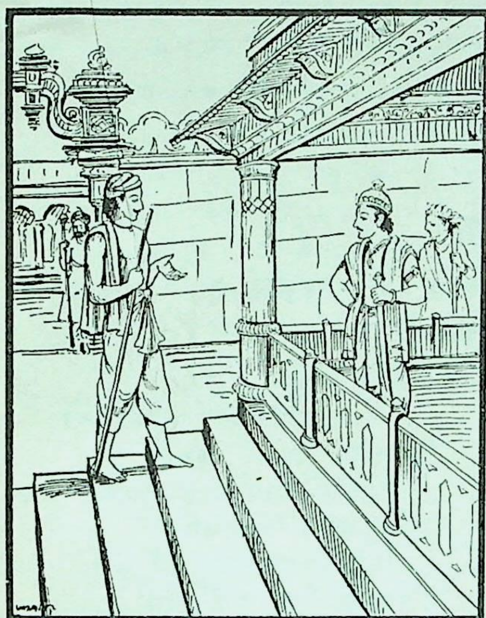
कस्य वा त्वं कुतो वा त्वं किं वा त्वं तु चिकीर्षसि ।
न हि मे दृष्टपूर्वस्त्वं तत्त्वं ब्रूहि नरर्षभ ॥ ४ ॥

'पुरुषप्रवर ! तुम किसके पुत्र हो, कहाँसे आये हो और क्या करना चाहते हो ? मैंने आजसे पहले तुम्हें कभी नहीं देखा है; अतः अपना ठीक-ठीक परिचय दो' ॥ ४ ॥

* यहाँ 'गन्धर्वराज' कहनेका गूढ़ अभिप्राय यह है कि वे गन्धर्वतुल्य राजा पाण्डुके पुत्र हैं ।

सम्प्राप्य राजानममित्रतापनं
ततोऽब्रवीन्मेघमहौघनिःस्वनः ।
वैश्योऽस्मि नाम्नाहमरिष्टनेमि-
र्गोसंख्य आसं कुरुपुङ्गवानाम् ॥ ५ ॥
वस्तुं त्वयीच्छामि विशां वरिष्ठ
तान् राजसिंहान् न हि वेद्मि पार्थान् ।
न शक्यते जीवितुमप्यकर्मणा
न च त्वदन्यो मम रोचते नृपः ॥ ६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा विराटके निकट पहुँचकर सहदेव मेघकी घनघोर घटाके समान गम्भीर स्वरमें बोले--



'महाराज ! मैं वैश्य हूँ । मेरा नाम अरिष्टनेमि है । नृपश्रेष्ठ ! मैं कुरुवंशशिरोमणि पाण्डवोंके यहाँ गौओंकी गणना तथा देखभाल करता रहा हूँ । अब आपके यहाँ रहना चाहता हूँ; क्योंकि राजाओंमें सिंहके समान पाण्डव कहाँ हैं ? यह मैं नहीं जानता । बिना काम किये जीविका चल नहीं सकती और आपके सिवा दूसरा कोई राजा मुझे पसंद नहीं है' ॥ ५-६ ॥

विराट उवाच

त्वं ब्राह्मणो यदि वा क्षत्रियोऽसि
समुद्रनेमीश्वररूपवानसि ।
आचक्ष्व मे तत्त्वममित्रकर्शन
न वैश्यकर्म त्वयि विद्यते क्षमम् ॥ ७ ॥

विराटने कहा--शत्रुतापन ! मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय हो । समुद्रसे घिरी हुई समूची पृथ्वीके सम्राट्की भाँति तुम्हारा भव्य रूप है; अतः मुझे अपना ठीक-ठीक परिचय दो । यह वैश्य कर्म (गोपालन) तुम्हारे योग्य नहीं है ॥ ७ ॥

कस्यासि राज्ञो विषयादिहागतः
किं वापि शिल्पं तव विद्यते कृतम् ।
कथं त्वमस्मासु निवत्स्यसे सदा
वदस्व किं चापि तवेह वेतनम् ॥ ८ ॥

तुम किस राजाके राज्यसे यहाँ आये हो ? और तुमने किस कलाकी शिक्षा प्राप्त की है ? बोलो, हमारे यहाँ कैसे सदा रह सकोगे ? और यहाँ तुम्हारा वेतन क्या होगा ? ॥ ८ ॥

सहदेव उवाच

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरः ।
तस्याष्टशतसाहस्रा गवां वर्गाः शतं शतम् ॥ ९ ॥

सहदेव बोले--राजन् ! पाँचों पाण्डवोंमें सबसे बड़े भाई युधिष्ठिर हैं । उनके पास एक प्रकारकी गौओंके आठ लाख झुंड थे और प्रत्येक झुंडमें सौ-सौ गायें थीं ॥ ९ ॥

अपरे शतसाहस्रा द्विस्तावन्तस्तथा परे ।
तेषां गोसंख्य आसं वै तन्तिपालेति मां विदुः ॥ १० ॥
भूतं भव्यं भविष्यं च यच्च संख्यागतं गवाम् ।
न मेऽस्त्यविदितं किंचित् समन्ताद् दशयोजनम् ॥ ११ ॥

इनके सिवा, दूसरे प्रकारकी गौओंके एक लाख झुंड तथा तीसरे प्रकारकी गौओंके उनसे दुगुने अर्थात् दो लाख झुंड थे । (प्रत्येक झुंडमें सौ-सौ गायें थीं।) पाण्डवोंकी उन गौओंका मैं गणक और निरीक्षक था। वे लोग मुझे 'तन्तिपाल' कहा करते थे । चारों ओर दस योजनकी दूरीमें जितनी गौएँ हों; उनकी भूत, वर्तमान और भविष्यमें जितनी संख्या थी, है और होगी, उन सबको मैं जानता हूँ । गौओंके सम्बन्धमें तीनों कालमें होनेवाली कोई ऐसी बात नहीं है, जो मुझे ज्ञात न हो ॥ १०-११ ॥

गुणाः सुविदिता ह्यासन् मम तस्य महात्मनः ।
असकृत् स मया तुष्टः कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥
क्षिप्रं च गावो बहुला भवन्ति
न तासु रोगो भवतीह कश्चन ।
तैस्तैरुपायैर्विदितं ममैत-
देतानि शिल्पानि मयि स्थितानि ॥ १३ ॥
ऋषभांश्चापि जानामि राजन् पूजितलक्षणान् ।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते ॥ १४ ॥

महात्मा राजा युधिष्ठिरको मेरे ये गुण भलीभाँति विदित थे । वे कुरुराज युधिष्ठिर सदा मेरे ऊपर संतुष्ट रहते थे । किन किन उपायोंसे गौओंकी संख्या शीघ्र बढ़ जाती है और उनमें कोई रोग नहीं पैदा होता, यह सब मुझे ज्ञात है । महाराज! ये ही कलाएँ मुझमें विद्यमान हैं । इनके सिवा मैं

उन उत्तम लक्षणोंवाले बैलोंको भी जानता हूँ, जिनके मूत्रको सूँघ लेनेमात्रसे वन्ध्या स्त्री भी गर्भधारण एवं संतान उत्पन्न करनेयोग्य हो जाती है ॥ १२-१४ ॥

विराट उवाच

शतं सहस्राणि समाहितानि
सवर्णवर्णस्य विमिश्रितान् गुणैः ।
पशून् सपालान् भवते ददाम्यहं
त्वदाश्रया मे पशवो भवन्त्विह ॥ १५ ॥

विराटने कहा—तन्तिपाल ! मेरे यहाँ एक लाख पशु संगृहीत हैं। उनमेंसे कुछ तो एक ही रंगके हैं और कुछ मिश्रित रंगके। वे सब विभिन्न गुणोंसे संयुक्त हैं। मैं उन पशुओं और पशुपालोंको आजसे तुम्हारे हाथमें सौंपता हूँ। मेरे पशु अबसे तुम्हारे ही अधीन रहेंगे ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा स राज्ञोऽविदितो विशाम्पते-
रुवास तत्रैव सुखं नरोत्तमः ।
न चैनमन्येऽपि विदुः कथंचन
प्रादाच्च तस्मै भरणं यथेप्सितम् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार प्रजापालक राजा विराटसे अपरिचित रहकर नरश्रेष्ठ सहदेव वहीं गोशालामें रहने लगे। दूसरे लोग भी उन्हें किसी तरह पहचान न सके। राजाने उनके लिये उनकी इच्छाके अनुसार भरण पोषणकी व्यवस्था कर दी ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि सहदेवप्रवेशे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें सहदेवप्रवेशविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

अर्जुनका राजा विराटसे मिलना और राजाके द्वारा कन्याओंको नृत्य आदिकी शिक्षा देनेके लिये उनको नियुक्त करना

वैशम्पायन उवाच

अथापरोऽदृश्यत रूपसम्पदा
स्त्रीणामलङ्कारधरो बृहत्पुमान् ।
प्राकारवप्रे प्रतिमुच्य कुण्डले
दीर्घे च कम्बूपरि हाटके शुभे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर नगरकी चहारदीवारीके पीछे जो मिट्टीका ऊँचा टीला था, उसके समीप रूप-सम्पदासे सुशोभित एक दूसरा पुरुष दिखायी दिया। उसका डील-डौल ऊँचा था। उसने स्त्रियोंके लिये उचित आभूषण पहन रक्खे थे तथा कानोंमें बड़े-बड़े कुण्डल और हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ पहनकर उनके ऊपर सोनेके सुन्दर कंगन धारण कर लिये थे ॥ १ ॥

बाहू च दीर्घान् प्रविकीर्य मूर्धजान्
महाभुजो वारणतुल्यविक्रमः ।
गतेन भूमिं प्रतिकम्पयंस्तदा
विराटमासाद्य सभासमीपतः ॥ २ ॥

अपने बड़े-बड़े केशोंकी लटोंको खोलकर हाथोंतक फैलाये वह महाबाहु पुरुष उस समय हाथीके समान मस्तानी चालसे चलता और पग-पगपर मानो पृथ्वीको कँपाता हुआ राजसभाके समीप राजा विराटके पास आकर खड़ा हुआ ॥ २ ॥

तं प्रेक्ष्य राजोपगतं सभातले
व्याजात् प्रतिच्छन्नमरिप्रमाथिनम् ।
विराजमानं परमेण वर्चसा
सुतं महेन्द्रस्य गजेन्द्रविक्रमम् ॥ ३ ॥
सर्वानपृच्छच्च सभानुचारिणः
कुतोऽयमायाति पुरा न मे श्रुतः ।
न चैनमूचुर्विदितं तदा नराः
सविस्मयं वाक्यमिदं नृपोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

छद्मवेशसे अपने स्वरूपको छिपाकर सभाभवनमें आया हुआ वह शत्रुविजयी वीर पुरुष अपने उत्कृष्ट तेजसे प्रकाशित हो रहा था। गजराजके समान बल-विक्रमवाले उस महेन्द्रपुत्र अर्जुनको देखकर राजाने समस्त सभासदोंसे पूछा—'यह कहाँसे आया है ? आजसे पहले मैंने कभी इसके विषयमें नहीं सुना है।' राजाके पूछनेपर उन मनुष्योंमेंसे किसीने उस पुरुषको अपना परिचित नहीं बताया। तब राजाने आश्चर्ययुक्त होकर यह बात कही— ॥ ३-४ ॥

सत्त्वोपपन्नः पुरुषोऽमरोपमः
श्यामो युवा वारणयूथपोपमः ।
आमुच्य कम्बूपरि हाटके शुभे
विमुच्य वेणीमपिनह्य कुण्डले ॥ ५ ॥
स्रग्वी सुकेशः परिधाय चान्यथा
शुशोभ धन्वी कवची शरी यथा ।

आरुह्य यानं परिधावतां भवान्
सुतैः समो मे भव वा मया समः ॥ ६ ॥

'तात ! तुम शक्ति और धैर्यसे सम्पन्न देवोपम पुरुष हो । तुम्हारी अङ्गकान्ति श्याम है । तुम तरुण हो और हाथियोंके यूथके अधिपति महान् गजराजके समान शोभा पा रहे हो । तुमने हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ पहनकर उनके ऊपर सोनेके सुन्दर कंगन डाल लिये हैं, वेणी खोलकर केशोंकी लटें छितरा ली हैं तथा कानोंमें कुण्डल धारणकर गलेमें गजरा डाल रक्खा है । तुम्हारे केश बहुत ही सुन्दर हैं । तुम नारीजनोचित वेश-भूषा धारण करके भी उसके विपरीत धनुष-बाण और कवच धारण करनेवाले वीरके समान शोभा पा रहे हो । तुम रथ आदि वाहनोंपर बैठकर इच्छानुसार भ्रमण करो और मेरे पुत्रोंके अथवा मेरे ही समान होकर रहो ।५-६।

वृद्धो ह्यहं वै परिहारकामः
सर्वान् मत्स्यांस्तरसा पालयस्व ।
नैवंविधाः क्लीबरूपा भवन्ति
कथंचनेति प्रतिभाति मे मनः ॥ ७ ॥

'मैं बूढ़ा हो गया हूँ; अब राजकाज छोड़ना चाहता हूँ; अतः तुम सम्पूर्ण मत्स्यदेशका शीघ्र ही पालन करो । तुम्हारे-जैसे स्वरूपवाले किसी तरह नपुंसक नहीं हो सकते । मेरे मनको ऐसा ही प्रतीत होता है' ॥ ७ ॥

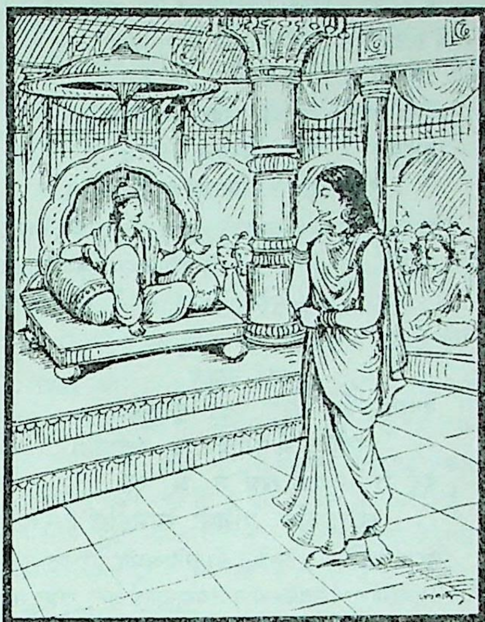
(*अर्जुन उवाच*

वेणीं प्रकुर्यां रुचिरे च कुण्डले
तथा स्रजः प्रावरणानि संहरे ।
स्नानं चरेयं विमृजे च दर्पणं
विशेषकेष्वेव च कौशलं मम ॥
क्लीबेषु बालेषु जनेषु नर्तने
शिक्षाप्रदानेषु च योग्यता मम ।
करोमि वेणीषु च पुष्पपूरणं
न मे स्त्रियः कर्मणि कौशलाधिकाः ॥

अर्जुन बोले—मैं वेणी-रचना अच्छी कर सकता हूँ, मनोहर कुण्डल बनाना जानता हूँ, फूलोंके हार तथा ओढ़नेकी चादरें सुन्दर ढंगसे बनाता हूँ, स्नान करा सकता हूँ, दर्पणकी सफाई करता हूँ और चन्दन आदिसे अनेक प्रकारकी रेखाएँ बनाकर शृङ्गार करनेकी क्रियामें मुझे विशेष कुशलता प्राप्त है । नपुंसकों, बालकों एवं साधारण लोगोंमें नाचने तथा संगीत एवं नृत्यकी शिक्षा देनेमें मेरी अच्छी योग्यता है । स्त्रियोंकी वेणीमें फूल गूँथनेका कार्य भी मैं अच्छे ढंगसे सम्पन्न करता हूँ । इन सब कार्योंमें स्त्रियाँ भी मुझसे अधिक कुशल नहीं हैं ॥

तमब्रवीत् प्रांशुमुदीक्ष्य विस्मितो
विराटराजोपचयतं महायशाः ॥

निकट आनेपर उसका कद बहुत ऊँचा देखकर महायशस्वी राजा विराट अत्यन्त विस्मित होकर बोले ॥



विराट उवाच

नार्हस्तु वेषोऽयमनूर्जितस्ते
नापुंस्त्वमर्हो नरदेवसिंह ।
तवैष वेशोऽशुभवेषभूषणै-
र्विभूषितो भूतपतेरिव प्रभो ॥
विभाति भानोरिव रश्मिमालिनो
घनावरुद्धे गगने घनैरिव ।
धनुर्हि मन्ये तव शोभयेद् भुजौ
तथा हि पीनावतिमात्रमायतौ ॥)

विराटने कहा—नरदेवसिंह ! ओज और बलसे रहित नपुंसकका-सा यह वेष तुम्हारे योग्य नहीं है । तुम क्लीब होनेके योग्य नहीं हो । प्रभो ! तुम्हारा यह वेष भगवान् भूतनाथकी भाँति अशुभ वेष-भूषासे विभूषित है । जैसे बादलोंकी घटासे आच्छादित आकाशमें भी अंशुमाली सूर्यका मण्डल सुशोभित होता है, उसी प्रकार इस क्लीब-वेषमें भी तुम पौरुषसे प्रकाशित हो रहे हो । मेरा ऐसा विश्वास है कि तुम्हारी इन मोटी और अत्यन्त विशाल भुजाओंको धनुष ही सुशोभित कर सकता है ॥

अर्जुन उवाच

गायामि नृत्याम्यथ वादयामि
भद्रोऽस्मि नृत्ये कुशलोऽस्मि गीते ।
त्वमुत्तरायै प्रदिशस्व मां स्वयं
भवामि देव्या नरदेव नर्तकः ॥ ८ ॥

अर्जुनने कहा—नरदेव ! मैं गाता, नाचता और बाजे बजाता हूँ । नृत्यकलामें निपुण और संगीत-कलामें भी कुशल हूँ । आप उत्तराको शिक्षा देनेके लिये मुझे रख लें । मैं स्वयं राजकुमारी उत्तराको नृत्य सिखलाऊँगा ॥ ८ ॥

इदं तु रूपं मम येन किं तव
प्रकीर्तयित्वा भृशशोकवर्धनम् ।
बृहन्नलां मां नरदेव विद्धि
सुतं सुतां वा पितृमातृवर्जिताम् ॥ ९ ॥

मेरा ऐसा रूप जिस कारणसे हुआ है, उसे आपके सामने कहनेसे क्या लाभ है ? वह अधिक शोक बढ़ानेवाली बात है । राजन् ! आप मुझे बृहन्नला समझें और पिता-मातासे रहित पुत्र या पुत्री मान लें ॥ ९ ॥

विराट उवाच

ददामि ते हन्त वरं बृहन्नले
सुतां च मे नर्तय याश्च तादृशीः ।
इदं तु ते कर्म समं न मे मतं
समुद्रनेमिं पृथिवीं त्वमर्हसि ॥ १० ॥

विराट बोले—बृहन्नले ! मैं तुम्हें अभीष्ट वर देता हूँ । तुम मेरी पुत्रीको तथा उसके समान अवस्थावाली अन्य राजकुमारियोंको नृत्यकला सिखलाओ । परंतु मुझे यह कर्म तुम्हारे योग्य नहीं जान पड़ता । तुम तो समुद्रसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीके शासक होने योग्य हो ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

बृहन्नलां तामभिवीक्ष्य मत्स्यराट्
कलासु नृत्येषु तथैव वादिते ।
सम्मन्त्र्य राजा विविधैः स्वमन्त्रिभिः
परीक्ष्य चैनं प्रमदाभिराशु वै ॥ ११ ॥
अपुंस्त्वमप्यस्य निशम्य च स्थिरं
ततः कुमारीपुरमुत्ससर्ज तम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर मत्स्यनरेशने बृहन्नलाकी गीत, नृत्य और बाजे बजानेकी कलाओंमें परीक्षा करके अपने अनेक मन्त्रियोंसे यह सलाह ली कि इसे अन्तःपुरमें रखना चाहिये या नहीं । फिर तरुणी स्त्रियोंद्वारा शीघ्र ही उनके नपुंसकत्वकी जाँच करायी । जब सब तरहसे उनका नपुंसक होना ठीक प्रमाणित हो गया, तब यह सुन-समझकर उन्होंने बृहन्नलाको कन्याके अन्तःपुरमें जानेकी आज्ञा दी ॥ ११½ ॥

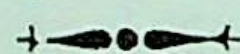
स शिक्षयामास च गीतवादितं
सुतां विराटस्य धनंजयः प्रभुः ॥ १२ ॥
सखीश्च तस्याः परिचारिकास्तथा
प्रियश्च तासां स बभूव पाण्डवः ॥ १३ ॥
तथा स सत्रेण धनंजयो वसन्
प्रियाणि कुर्वन् सह ताभिरात्मवान् ।
तथा च तं तत्र न जज्ञिरे जना
बहिश्चरा वाप्यथ चान्तरेचराः ॥ १४ ॥

शक्तिशाली अर्जुन विराटकन्या उत्तरा, उसकी सखियों तथा सेविकाओंको भी गीत, वाद्य एवं नृत्यकलाकी शिक्षा देने लगे । इससे वे उन सबके प्रिय हो गये । छद्मवेशमें कन्याओंके साथ रहते हुए भी अर्जुन अपने मनको सदा पूर्णरूपसे वशमें रखते और उन सबको प्रिय लगनेवाले कार्य करते थे । इस रूपमें वहाँ रहते हुए अर्जुनको बाहर अथवा अन्तःपुरके कोई भी मनुष्य पहचान न सके ॥ १२—१४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि अर्जुनप्रवेशो नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें अर्जुनप्रवेशनामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल १८½ श्लोक हैं)



द्वादशोऽध्यायः

नकुलका विराटके अश्वोंकी देखरेखमें नियुक्त होना

वैशम्पायन उवाच

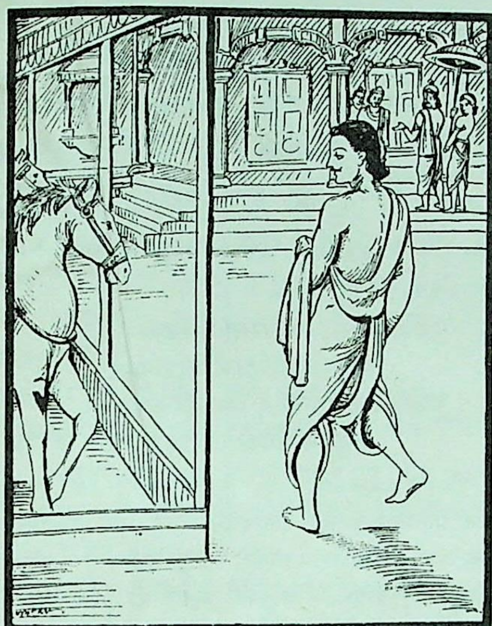
अथापरोऽदृश्यत पाण्डवः प्रभु-
र्विराटराजं तरसा समेयिवान् ।
तमापतन्तं ददृशे पृथग्जनो
विमुक्तमभ्रादिव सूर्यमण्डलम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अन्य पाण्डुपुत्र शक्तिशाली नकुल बड़े वेगसे चलते हुए राजा विराटके यहाँ आये । उन्हें आते समय साधारण लोगोंने देखा; उस समय वे मेघमालाकी ओटसे निकले हुए सूर्यमण्डलके समान तेजस्वी जान पड़ते थे ॥ १ ॥

स वै हयानैक्षत तांस्ततस्ततः
समीक्षमाणं स ददर्श मत्स्यराट् ।
ततोऽब्रवीत्ताननुगान् नरेश्वरः
कुतोऽयमायाति नरोऽमरोपमः ॥ २ ॥
स्वयं हयानीक्षति मामकान् दृढं
ध्रुवं हयज्ञो भविता विचक्षणः ।

प्रवेश्यतामेष समीपमाशु मे
विभाति वीरो हि यथामरस्तथा॥ ३ ॥

आते ही उन्होंने इधर-उधर घूमकर घोड़ोंको देखना



प्रारम्भ किया। इस प्रकार उन अश्वोंका निरीक्षण करते समय उन्हें मत्स्यराज विराटने देखा। तब वे नरेश वहाँ बैठे हुए अनुचरोंसे बोले—'पता तो लगाओ, यह देवोपम पुरुष कहाँसे आ रहा है? यह बिना कहे-सुने स्वयं मेरे घोड़ोंको बहुत ध्यानसे देख रहा है; अतः यह अवश्य घोड़ोंको पहचाननेवाला और अश्वविद्याका विद्वान् होगा। इसलिये इसे शीघ्र मेरे समीप ले आओ। यह वीर देवताओंकी भाँति सुशोभित हो रहा है' ॥ २-३ ॥

अभ्येत्य राजानममित्रहाब्रवी-
ज्जयोऽस्तु ते पार्थिव भद्रमस्तु वः।
हयेषु युक्तो नृप सम्मतः सदा
तवाश्वसूतो निपुणो भवाम्यहम् ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् राजसेवकोंके साथ राजाके समीप आकर शत्रुहन्ता नकुलने कहा—'राजन्! आपकी जय हो। आपका कल्याण हो। मैं घोड़ोंको शिक्षा देनेमें निपुण हूँ और अनेक राजाओंसे सम्मानित हूँ। मैं सदा आपके घोड़ोंका चतुर सारथि हो सकता हूँ ॥ ४ ॥

विराट उवाच

ददामि यानानि धनं निवेशनं
ममाश्वसूतो भवितुं त्वमर्हसि।
कुतोऽसि कस्यासि कथं त्वमागतः
प्रब्रूहि शिल्पं तव विद्यते च यत् ॥ ५ ॥

विराटने कहा—भद्र पुरुष! मैं तुम्हें सवारी, धन और रहनेके लिये घर देता हूँ। तुम मेरे घोड़ोंको शिक्षा देनेवाले सारथि हो सकते हो, किंतु मैं पहले यह जानना चाहता हूँ कि तुम कहाँसे आये हो? किसके पुत्र हो और किसलिये तुम्हारा यहाँ आगमन हुआ है? तुममें जो कला-कौशल हो, उसे भी बताओ ॥ ५ ॥

नकुल उवाच

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरः।
तेनाहमश्वेषु पुरा नियुक्तः शत्रुकर्शन ॥ ६ ॥
अश्वानां प्रकृतिं वेद्मि विनयं चापि सर्वशः।
दुष्टानां प्रतिपत्तिं च कृत्स्नं चैव चिकित्सितम् ॥ ७ ॥

नकुल बोले—शत्रुदमन! सुनिये, पाँचों पाण्डवोंमें जो बड़े भ्राता युधिष्ठिर हैं, उन्होंने पहले मुझे घोड़ोंकी देख-भालके कामपर लगा रक्खा था। मैं घोड़ोंकी जाति पहचानता हूँ एवं उन्हें सब प्रकारकी शिक्षा देनेकी कला भी जानता हूँ। दुष्ट घोड़ोंकी दुष्टता-निवारणका ढंग भी मुझे मालूम है तथा घोड़ोंकी चिकित्सा भी मैं पूर्णरूपसे जानता हूँ ॥ ६-७ ॥

न कातरं स्यान्मम जातु वाहनं
न मेऽस्ति दुष्टा वडवा कुतो हयाः।
जनस्तु मामाह स चापि पाण्डवो
युधिष्ठिरो ग्रन्थिकमेव नामतः ॥ ८ ॥

मेरा सिखाया हुआ घोड़ा कभी कायर नहीं हो सकता। मेरी सिखायी हुई घोड़ीमें भी कोई ऐब नहीं आता, फिर घोड़े तो बिगड़ ही कैसे सकते हैं? मुझे साधारण लोग तथा पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर भी 'ग्रन्थिक' नामसे ही पुकारा करते थे ॥ ८ ॥

(मातलिरिव देवपतेर्दशरथनृपतेः सुमन्त्र इव यन्ता।
सुमह इव जामदग्नेस्तथैव तव शिक्षयाम्यश्वान् ॥
युधिष्ठिरस्य राजेन्द्र नरराजस्य शासनात्।
शतसाहस्रकोटीनामश्वानामस्मि रक्षिता ॥)

जैसे देवराज इन्द्रके सारथि मातलि हैं, जैसे राजा दशरथके रथचालक सुमन्त्र हैं और जैसे जमदग्निनन्दन परशुरामके सूत सुमह हैं, उसी प्रकार मैं आपका सारथि होकर आपके घोड़ोंको शिक्षा दूँगा। राजेन्द्र! मैं महाराज युधिष्ठिरके आदेशसे उनके यहाँ लक्षकोटि अश्वोंका संरक्षक रहा हूँ ॥

विराट उवाच

यदस्ति किंचिन्मम वाजिवाहनं
तदस्तु सर्वं त्वदधीनमद्य वै।
ये चापि केचिन्मम वाजियोजका-
स्त्वदाश्रयाः सारथयश्च सन्तु मे ॥ ९ ॥

विराटने कहा—ग्रन्थिक! मेरे पास जो भी घोड़े और अन्य वाहन हैं, वे सब आजसे ही तुम्हारे अधीन हो जायँ। इसके सिवा जो कोई भी मेरे घोड़ोंको जोतनेवाले सारथि हैं, वे सब तुम्हारे अधिकारमें रहें ॥ ९ ॥

इदं तवेष्टं यदि वै सुरोपम
ब्रवीहि यत् ते प्रसमीक्षितं वसु।
न तेऽनुरूपं हयकर्म विद्यते
प्रभासि राजेव हि सम्मतो मम ॥१०॥
युधिष्ठिरस्येव हि दर्शनेन मे
समं तवेदं प्रियमत्र दर्शनम्।
कथं तु भृत्यैः स विनाकृतो वने
वसत्यनिन्द्यो रमते च पाण्डवः ॥११॥

देवोपम पुरुष! यदि यही कार्य तुम्हें प्रिय है, तो बताओ, इसके लिये वेतनरूपसे कितना धन लेनेका तुमने विचार किया है? यह घोड़ोंकी शिक्षाका कार्य तुम्हारे अनुरूप नहीं है। तुम तो राजाकी भाँति शोभा पा रहे हो और मुझे भी अत्यन्त प्रिय लगते हो। आज मुझे तुम्हारा जो यहाँ दर्शन हुआ है, यह राजा युधिष्ठिरके ही दर्शनके समान मुझे अत्यन्त प्रिय है। अहो! सर्वथा प्रशंसाके योग्य पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर सेवकोंके बिना वनमें कैसे रहते होंगे और कैसे उनका मन वहाँ लगता होगा? ॥ १०-११ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा स गन्धर्ववरोपमो युवा
विराटराज्ञा मुदितेन पूजितः।
न चैनमन्येऽपि विदुः कथंचन
प्रियाभिरामं विचरन्तमन्तरा ॥१२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार प्रसन्न हुए राजा विराटके द्वारा सम्मानित हो श्रेष्ठ गन्धर्वके सदृश शोभा पानेवाले युवावस्थासम्पन्न नकुल वहाँ रहने लगे। उनका स्वरूप बड़ा ही प्रिय और नयनाभिराम था। वे नगरके भीतर विचरते रहते थे, तो भी उन्हें राजा तथा अन्य मनुष्य किसी प्रकार पहचान न सके ॥ १२ ॥

एवं हि मत्स्ये न्यवसन्त पाण्डवा
यथाप्रतिज्ञाभिरमोघदर्शनाः।
अज्ञातचर्यां व्यचरन् समाहिताः
समुद्रनेमीपतयोऽतिदुःखिताः ॥१३॥

जिनका दर्शन अमोघ है, वे पाण्डवगण इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार मत्स्यदेशमें रहने और एकाग्रतापूर्वक अज्ञातवासका समय व्यतीत करने लगे। वे सागरसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीके अधिपति होकर भी अत्यन्त कष्ट उठा रहे थे ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि नकुलप्रवेशे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें नकुलप्रवेशसम्बन्धी बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १५ श्लोक हैं)

(समयपालनपर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा जीमूत नामक विश्वविख्यात मल्लका वध

जनमेजय उवाच

एवं ते मत्स्यनगरे प्रच्छन्नाः कुरुनन्दनाः।
अत ऊर्ध्वं महावीर्याः किमकुर्वत वै द्विज ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! इस प्रकार मत्स्यदेशकी राजधानीमें गुप्तरूपसे निवास करनेवाले महापराक्रमी पाण्डुपुत्रोंने इसके बाद क्या किया? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं मत्स्यस्य नगरे प्रच्छन्नाः कुरुनन्दनाः।
आराधयन्तो राजानं यदकुर्वत तच्छृणु ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! इस प्रकार मत्स्यदेशकी राजधानीमें गुप्तरूपसे निवास करनेवाले पाण्डवोंने राजा विराटकी सेवा करते हुए जो-जो कार्य किया, वह सुनो ॥ २ ॥

तृणबिन्दुप्रसादाच्च धर्मस्य च महात्मनः।
अज्ञातवासमेवं तु विराटनगरेऽवसन् ॥ ३ ॥
युधिष्ठिरः सभास्तारो मत्स्यानामभवत् प्रियः।
तथैव च विराटस्य सपुत्रस्य विशाम्पते ॥ ४ ॥
स ह्यक्षहृदयज्ञस्तान् क्रीडयामास पाण्डवः।
अक्षवत्यां यथाकामं सूत्रबद्धानिव द्विजान् ॥ ५ ॥

राजर्षि तृणबिन्दु और महात्मा धर्मके प्रसादसे पाण्डव लोग इस प्रकार विराटके नगरमें अज्ञातवासके दिन पूरे करने लगे। महाराज युधिष्ठिर राजसभाके प्रमुख सदस्य और मत्स्यदेशकी प्रजाके अत्यन्त प्रिय थे। राजन्! इसी प्रकार पुत्रसहित राजा विराटका भी उनपर विशेष प्रेम था। वे पासोंका मर्म जानते थे। जैसे कोई सूतमें बाँधे हुए पक्षियोंको इच्छानुसार उड़ाये, उसी प्रकार वे द्यूतशालामें पासोंको

अपने इच्छानुसार फेंकते हुए राजा आदिको जूआ खेलाया करते थे ॥ ३-५ ॥

अज्ञातं च विराटस्य विजित्य वसु धर्मराट्।
भ्रातृभ्यः पुरुषव्याघ्रो यथार्हं सम्प्रयच्छति ॥ ६ ॥

पुरुषसिंह धर्मराज युधिष्ठिर जूएमें धन जीतकर अपने भाइयोंको यथायोग्य बाँट देते थे।' इसका राजा विराटको भी पता नहीं लगता था ॥ ६ ॥

भीमसेनोऽपि मांसानि भक्ष्याणि विविधानि च।
अतिसृष्टानि मत्स्येन विक्रीणीते युधिष्ठिरे ॥ ७ ॥

भीमसेन भी नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थ, जो मत्स्यनरेशद्वारा उन्हें पुरस्काररूपमें प्राप्त होते, बेच देते और उससे मिला हुआ धन युधिष्ठिरकी सेवामें अर्पित करते थे ॥ ७ ॥

वासांसि परिजीर्णानि लब्धान्यन्तःपुरेऽर्जुनः।
विक्रीणानश्च सर्वेभ्यः पाण्डवेभ्यः प्रयच्छति ॥ ८ ॥

अर्जुनको अन्तःपुरमें जो पुराने उतारे हुए बहुमूल्य वस्त्र प्राप्त होते, उन्हें वे बेचते और बेचनेसे मिला हुआ मूल्य सब पाण्डवोंको देते थे ॥ ८ ॥

सहदेवोऽपि गोपानां वेषमास्थाय पाण्डवः।
दधि क्षीरं घृतं चैव पाण्डवेभ्यः प्रयच्छति ॥ ९ ॥

पाण्डुनन्दन सहदेव भी ग्वालोंका वेश धारणकर पाण्डवोंको दही, दूध और घी दिया करते थे ॥ ९ ॥

नकुलोऽपि धनं लब्ध्वा कृते कर्मणि वाजिनाम्।
तुष्टे तस्मिन् नरपतौ पाण्डवेभ्यः प्रयच्छति ॥ १० ॥

नकुल भी घोड़ोंके शिक्षणका कार्य करके महाराज विराटके संतुष्ट होनेपर उनसे पुरस्कारस्वरूप जो धन पाते, उसे सब पाण्डवोंको बाँट दिया करते थे ॥ १० ॥

कृष्णा तु सर्वान् भर्तॄंस्तान् निरीक्षन्ती तपस्विनी।
यथा पुनरविज्ञाता तथा चरति भामिनी ॥ ११ ॥

तपस्विनी एवं सुन्दरी द्रौपदी भी उन सब पतियोंकी देखभाल करती हुई ऐसा बर्ताव करती, जिससे फिर कोई उसे पहचान न सके ॥ ११ ॥

एवं सम्पादयन्तस्ते तदान्योन्यं महारथाः।
विराटनगरे चेरुः पुनर्गर्भधृता इव ॥ १२ ॥

इस प्रकार एक दूसरेका सहयोग करते हुए वे महारथी पाण्डव विराटनगरमे बहुत छिपकर रहते थे; मानो पुनः माताके गर्भमें निवास कर रहे हों ॥ १२ ॥

साशङ्का धार्तराष्ट्रस्य भयात् पाण्डुसुतास्तदा।
प्रेक्षमाणास्तदा कृष्णामूषुश्छन्ना नराधिप ॥ १३ ॥

राजन्! दुर्योधनद्वारा पहचान लिये जानेके भयसे पाण्डव सदा सशङ्क रहते थे; अतः वे उस समय द्रौपदीकी देखभाल करते हुए भी छिपकर ही वहाँ निवास करते थे ॥

अथ मासे चतुर्थे तु ब्रह्मणः सुमहोत्सवः।
आसीत् समृद्धो मत्स्येषु पुरुषाणां सुसम्मतः ॥ १४ ॥
तत्र मल्लाः समापेतुर्दिग्भ्यो राजन् सहस्रशः।
समाजे ब्रह्मणो राजन् यथा पशुपतेरिव ॥ १५ ॥

तदनन्तर चौथा महीना प्रारम्भ होनेपर मत्स्यदेशमें ब्रह्माजीकी पूजाका महान् उत्सव मनाया जाने लगा। इसमें बड़ा समारोह होता था। मत्स्यदेशके लोगोंको यह बहुत प्रिय था। जनमेजय! उस समय विराटनगरमें चारों दिशाओंसे हजारों कुश्ती लड़नेवाले मल्ल जुटने लगे। इसी अवसरपर ब्रह्माजी और भगवान् शङ्करकी सभाके समान उस राजधानीमें लोगोंका जमाव होता था ॥ १४-१५ ॥

महाकाया महावीर्याः कालखञ्जा इवासुराः।
वीर्योन्मत्ता बलोदग्रा राज्ञा समभिपूजिताः ॥ १६ ॥

वहाँ आये हुए विशालकाय और महान् बलशाली मल्ल कालखञ्ज नामक असुरोंके समान जान पड़ते थे। वे सब अपनी शक्ति और पराक्रमके मदसे उन्मत्त थे एवं बलमें बहुत बढ़े-चढ़े थे। राजा विराटने उन सबका खूब स्वागत-सत्कार किया ॥ १६ ॥

सिंहस्कन्धकटिग्रीवाः स्ववदाता मनस्विनः।
असकृल्लब्धलक्षास्ते रङ्गे पार्थिवसंनिधौ ॥ १७ ॥

उनके कंधे, कमर और कण्ठ सिंहके समान थे। वे निर्मल यशसे सुशोभित और मनस्वी थे। उन्होंने अनेक बार राजाके समीप रंगभूमि (अखाड़े)में विजय पायी थी ॥ १७ ॥

तेषामेको महानासीत् सर्वमल्लानथाह्वयत्।
आवल्गमानं तं रङ्गे नोपतिष्ठति कश्चन ॥ १८ ॥

उन सबमें एक बहुत बड़ा पहलवान था, जो दूसरे सब पहलवानोंको अपने साथ लड़नेके लिये ललकारता था। जब वह अखाड़ेमें उतरकर उछलने लगा, उस समय कोई भी उसके समीप खड़ा न हो सका ॥ १८ ॥

यदा सर्वे विमनसस्ते मल्ला हतचेतसः।
अथ सूदेन तं मल्लं योधयामास मत्स्यराट् ॥ १९ ॥

जब वे सभी मल्ल उदासीन हो हिम्मत हार बैठे, तब मत्स्यनरेशने अपने रसोइयेसे उस पहलवानको लड़ानेका निश्चय किया ॥ १९ ॥

नोद्यमानस्तदा भीमो दुःखेनैवाकरोन्मतिम्।
न हि शक्नोति विवृते प्रत्याख्यातुं नराधिपम् ॥ २० ॥

उस समय राजासे प्रेरित होनेपर भीमसेनने [पहचाने जानेके भयसे] दुखी होकर ही उससे लड़नेका विचार

किया। वे राजाकी बातको प्रकटरूपमें टाल नहीं सकते थे ॥ २० ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रः शार्दूलशिथिलश्चरन्।
प्रविवेश महारङ्गं विराटमभिपूजयन् ॥२१॥

तदनन्तर पुरुषसिंह भीमने सिंहके समान धीमी चालसे चलते हुए राजा विराटका मान रखनेके लिये उस विशाल रंगभूमिमें प्रवेश किया ॥ २१ ॥

बबन्ध कक्षां कौन्तेयस्ततः संहर्षयञ्जनम्।
ततस्तु वृत्रसंकाशं भीमो मल्लं समाह्वयत् ॥२२॥
जीमूतं नाम तं तत्र मल्लं प्रख्यातविक्रमम्।

फिर लोगोंमें हर्षका संचार करते हुए उन्होंने लँगोट बाँधा और उस प्रसिद्ध पराक्रमी जीमूत नामक मल्लको, जो वृत्रासुरके समान दिखायी देता था, युद्धके लिये ललकारा ॥ २२½ ॥

तावुभौ सुमहोत्साहावुभौ भीमपराक्रमौ ॥२३॥
मत्ताविव महाकायौ वारणौ षष्टिहायनौ।

वे दोनों बड़े उत्साहमें भरे थे। दोनों ही प्रचण्ड पराक्रमी थे, ऐसा लगता था मानो साठ वर्षके दो मतवाले एवं विशालकाय गजराज एक दूसरेसे भिड़नेको उद्यत हों ॥ २३½ ॥

ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुयुद्धं समीयतुः ॥२४॥
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ।
आसीत् सुभीमः सम्पातो वज्रपर्वतयोरिव ॥२५॥

अत्यन्त हर्षमें भरकर एक दूसरेको जीत लेनेकी इच्छावाले वे दोनों नरश्रेष्ठ वीर बाहुयुद्ध करने लगे। उस समय उन दोनोंमें बड़ी भयंकर भिड़न्त हुई। उनके परस्परके आघातसे इस प्रकार चटचट शब्द होने लगा, मानो वज्र और पर्वत एक दूसरेसे टकरा गये हों ॥ २४-२५ ॥

उभौ परमसंहृष्टौ बलेनातिबलावुभौ।
अन्योन्यस्यान्तरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ ॥२६॥

दोनों अत्यन्त प्रसन्न थे। बलकी दृष्टिसे दोनों ही अत्यन्त बलशाली थे और एक दूसरेपर चोट करनेका अवसर देखते हुए विजयके अभिलाषी हो रहे थे ॥ २६ ॥

उभौ परमसंहृष्टौ मत्ताविव महागजौ।
कृतप्रतिकृतैश्चित्रैर्बाहुभिश्च सुसङ्कटैः।
संनिपातावधूतैश्च प्रमाथोन्मथनैस्तथा ॥२७॥

दोनोंमें भरपूर हर्ष और उत्साह भरा था। दोनों ही मतवाले गजराजोंकी भाँति एक दूसरेसे भिड़े हुए थे। जब एक दूसरेका कोई अङ्ग जोरसे दबाता, तब दूसरा फौरन उसका प्रतीकार करता—उस अङ्गको उसकी पकड़से छुड़ा लेता था। दोनों एक दूसरेके हाथोंको मुट्ठीसे पकड़कर विवश कर देते और विचित्र ढंगसे परस्पर प्रहार करते थे। दोनों आपसमें गुँथ जाते और फिर धक्के देकर एक दूसरेको दूर हटा देते। कभी एक दूसरेको पटककर जमीनपर रगड़ता, तो दूसरा नीचेसे ही कुलाँचकर ऊपरवालेको दूर फेंक देता या उसे लिये-दिये खड़ा हो अपने शरीरसे दबाकर उसके अङ्गोंको भी मथ डालता था ॥ २७ ॥

क्षेपणैर्मुष्टिभिश्चैव वराहोद्धूतनिःस्वनैः।
तलैर्वज्रनिपातैश्च प्रसृष्टाभिस्तथैव च ॥२८॥

कभी दोनों दोनोंको बलपूर्वक पीछे हटाते और मुक्कोंसे एक-दूसरेकी छातीपर चोट करते थे। कभी एकको दूसरा अपने कंधेपर उठा लेता और उसका मुँह नीचे करके घुमाकर पटक देता था, जिससे ऐसा शब्द होता; मानो किसी शूकरने चोट की हो। कभी परस्पर तर्जनी और अँगूठेके मध्यभागको फैलाकर चाँटोंकी मार होती और कभी हाथकी अङ्गुलियोंको फैलाकर वे एक-दूसरेको थप्पड़ मारते थे ॥२८ ॥

शलाकानखपातैश्च पादोद्धूतैश्च दारुणैः।
जानुभिश्चाश्मनिर्घोषैः शिरोभिश्चावघट्टनैः ॥२९॥

कभी वे रोषपूर्वक अङ्गुलियोंके नखोंसे एक-दूसरेको बकोटते। कभी पैरोंमें उलझाकर दोनों दोनोंको गिरा देते। कभी घुटने और सिरसे टक्कर मारते; जिससे पत्थर टकरानेके समान भयंकर शब्द होता था ॥ २९ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरमशस्त्रं बाहुतेजसा।
बलप्राणेन शूराणां समाजोत्सवसंनिधौ ॥३०॥
अरज्यत जनः सर्वः सोत्कुष्टनिनदोत्थितः।
बलिनोः संयुगे राजन् वृत्रवासवयोरिव ॥३१॥
प्रकर्षणाकर्षणयोरभ्याकर्षविकर्षणैः ।*
आकर्षतुरथान्योन्यं जानुभिश्चापि जघ्नतुः ॥३२॥

१–प्रमाथ तथा उन्मथन आदि मल्लयुद्धके दाँव-पेचोंके नाम हैं। इनकी व्याख्या नीलकण्ठी आदि टीकाओंमें मल्लशास्त्रके अनुसार इस प्रकार दी गयी है—

निपात्य पेषणं भूमौ प्रमाथ इति कथ्यते।
यत् तुल्यायाक्रमथनं तदुन्मथनमुच्यते ॥

२–क्षेपणं कथ्यते यत् तु स्थानात् प्रच्यावनं हठात् ॥

३–उभयोर्भुजयोर्मुष्टिरुरोमध्ये निपात्यते।
मुष्टिरित्युच्यते तज्ज्ञैर्मल्लविद्याविशारदैः ॥

४–अवाङ्मुखं स्कन्धगतं भ्रामयित्वा तदैव यः।
क्षिप्तस्य शब्दः स भवेद् वराहोद्धूतनिःस्वनः ॥

५–तर्जन्यङ्गुष्ठमध्येन प्रसारितकरो हि यः।
सम्प्रहारतलाख्यस्तु संग्राह्यो वज्रमिष्यते ॥

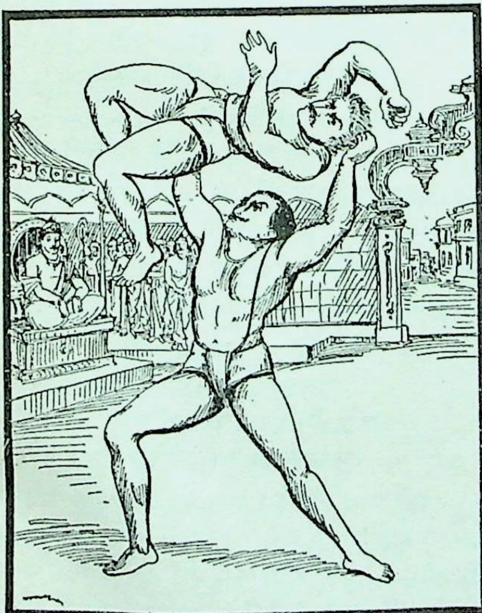
६–अङ्गुल्यः प्रसृता यास्तु ताः प्रसृष्टा उदीरिताः ॥

* आकृष्य क्रोडीकरणं प्रकर्षणमुदाहृतम्।
आकर्षणं लीलयैव सम्मुखीकरणं स्मृतम् ॥
पुरः पश्चात् पार्श्वयोश्चाभ्याकर्षो भ्रमणं तथा।
पश्चात् प्रपातनं वेगाद् विकर्षणमुदाहृतम् ॥

कभी वे प्रतिपक्षीको गोदमें घसीट लाते, कभी खेलमें ही उसे सामने खींच लेते, कभी आगे-पीछे, दायें-बायें पैंतरे बदलते और कभी सहसा पीछे ढकेलकर पटक देते थे। इस तरह दोनों दोनोंको अपनी ओर खींचते और घुटनोंसे एक-दूसरेपर प्रहार करते थे। उस सामूहिक उत्सवमें पहलवानों और जन-समुदायके निकट उन दोनोंमें केवल बाहुबल, शारीरिक बल तथा प्राणबलसे किसी अस्त्र-शस्त्रके बिना बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। राजन्! इन्द्र और वृत्रासुरके समान भीम और जीमूतके उस मल्लयुद्धमें सब लोगोंका बड़ा मनोरञ्जन हुआ। सभी दर्शक जीतनेवालेका उत्साह बढ़ानेके लिये जोर-जोरसे हर्षनाद कर उठते थे॥ ३०-३२॥

ततः शब्देन महता भर्त्सयन्तौ परस्परम्।
व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ।
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव॥ ३३॥
चकर्ष दोर्भ्यामुत्पात्य भीमो मल्लममित्रहा।
निनदन्तमभिक्रोशन् शार्दूल इव वारणम्॥ ३४॥
समुद्यम्य महाबाहुर्भ्रामयामास वीर्यवान्।
ततो मल्लाश्च मत्स्याश्च विस्मयं चक्रिरे परम्॥ ३५॥

तदनन्तर चौड़ी छाती और लंबी भुजावाले, कुश्तीके दाँव-पेचमें कुशल वे दोनों वीर गम्भीर गर्जनाके साथ एक-दूसरेको डाँट बताते हुए लोहेके परिघ (मोटे डंडे) जैसी बाँहोंसे बाँहें मिलाकर परस्पर भिड़ गये। फिर विपुलपराक्रमी शत्रुहन्ता महाबाहु भीमसेनने गर्जना करते हुए, जैसे सिंह हाथीपर झपटे, उसी प्रकार झपटकर जीमूतको दोनों हाथोंसे पकड़कर खींचा और ऊपर उठाकर उसे घुमाना आरम्भ किया। यह देख वहाँ आये हुए पहलवानों तथा मत्स्यदेशकी प्रजाको बड़ा आश्चर्य हुआ॥ ३३-३५॥



भ्रामयित्वा शतगुणं गतसत्त्वमचेतनम्।
प्रत्यपिंषन्महाबाहुर्मल्लं भुवि वृकोदरः॥ ३६॥

सौ बार घुमानेपर जब वह धैर्य, साहस और चेतनासे भी हाथ धो बैठा, तब बड़ी-बड़ी बाहुओंवाले वृकोदरने उसे पृथ्वीपर गिराकर मसल डाला॥ ३६॥

तस्मिन् विनिहते वीरे जीमूते लोकविश्रुते।
विराटः परमं हर्षमगच्छद् बान्धवैः सह॥ ३७॥

इस प्रकार उस लोकविख्यात वीर जीमूतके मारे जानेपर राजा विराटको अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ३७॥

प्रहर्षात् प्रददौ वित्तं बहु राजा महामनाः।
बल्लवाय महारङ्गे यथा वैश्रवणस्तथा॥ ३८॥

उस समय कुबेरके समान महामनस्वी राजा विराटने अत्यन्त हर्षमें भरकर बल्लवको उस विशाल रंगभूमिमें ही बहुत धन दिया॥ ३८॥

एवं स सुबहून् मल्लान् पुरुषांश्च महाबलान्।
विनिघ्नन् मत्स्यराजस्य प्रीतिमाहरदुत्तमाम्॥ ३९॥

इसी तरह बहुत-से पहलवानों और महाबली पुरुषोंको मारकर भीमसेनने मत्स्यनरेश विराटका उत्तम प्रेम प्राप्त किया॥

यदास्य तुल्यः पुरुषो न कश्चित् तत्र विद्यते।
ततो व्याघ्रैश्च सिंहैश्च द्विरदैश्चाप्ययोधयत्॥ ४०॥

जब वहाँ उनकी जोड़का कोई पहलवान नहीं रह गया, तब विराट उन्हें व्याघ्रों, सिंहों और हाथियोंसे लड़ाने लगे॥ ४०॥

पुनरन्तःपुरगतः स्त्रीणां मध्ये वृकोदरः।
योध्यते स विराटेन सिंहैर्मत्तैर्महाबलैः॥ ४१॥

कभी-कभी विराटकी प्रेरणासे स्त्रियोंके अन्तःपुरमें जाकर भीमसेन उन्हें दिखानेके लिये महान् बलवान् और मतवाले सिंहोंके साथ लड़ा करते थे॥ ४१॥

बीभत्सुरपि गीतेन स्वनृत्येन च पाण्डवः।
विराटं तोषयामास सर्वाश्चान्तःपुरस्त्रियः॥ ४२॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने भी अपने गीत और नृत्यसे राजा विराट तथा अन्तःपुरकी सम्पूर्ण स्त्रियोंको संतुष्ट कर लिया था॥ ४२॥

अश्वैर्विनीतैर्जवनैस्तत्र तत्र समागतैः।
तोषयामास राजानं नकुलो नृपसत्तमम्॥ ४३॥
तस्मै प्रदेयं प्रायच्छत् प्रीतो राजा धनं बहु।

विनीतान् वृषभान् दृष्ट्वा सहदेवस्य चाभितः ।
धनं ददौ बहुविधं विराटः पुरुषर्षभः ॥ ४४ ॥

इसी प्रकार नकुलने जहाँ-तहाँसे आये हुए वेगवान् घोड़ोंको सुशिक्षित करके नृपश्रेष्ठ विराटको प्रसन्न किया था। प्रसन्न होकर राजाने पुरस्काररूपमें उन्हें बहुत धन दिया था। इसी तरह सहदेवके द्वारा शिक्षित एवं विनीत किये हुए बैलोंको देखकर नरश्रेष्ठ विराटने उन्हें भी इनाममें बहुत धन दिया ॥ ४३-४४ ॥

द्रौपदी प्रेक्ष्य तान् सर्वान् क्लिश्यमानान् महारथान् ।
नातिप्रीतमना राजन् निःश्वासपरमाभवत् ॥ ४५ ॥

राजन् ! अपने सम्पूर्ण महारथी पतियोंको इस प्रकार क्लेश उठाते देख द्रौपदीके मनमें खेद होता था और वह लंबी साँसें भरती रहती थी ॥ ४५ ॥

एवं ते न्यवसंस्तत्र प्रच्छन्नाः पुरुषर्षभाः ।
कर्माणि तस्य कुर्वाणा विराटनृपतेस्तदा ॥ ४६ ॥

इस प्रकार वे पुरुषशिरोमणि पाण्डव उस समय राजा विराटके भिन्न-भिन्न कार्य सँभालते हुए वहाँ छिपकर रहते थे ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि समयपालनपर्वणि जीमूतवधे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत समयपालनपर्वमें जीमूतवधसम्बन्धी तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

(कीचकवधपर्व)

चतुर्दशोऽध्यायः

कीचकका द्रौपदीपर आसक्त हो उससे प्रणययाचना करना और द्रौपदीका उसे फटकारना

वैशम्पायन उवाच

वसमानेषु पार्थेषु मत्स्यस्य नगरे तदा ।
महारथेषु छन्नेषु मासा दश समाययुः ॥ १ ॥
याज्ञसेनी सुदेष्णां तु शुश्रूषन्ती विशाम्पते ।
आवसत् परिचारार्हा सुदुःखं जनमेजय ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय कुन्तीके उन महारथी पुत्रोंको मत्स्यराजके नगरमें छिपकर रहते हुए धीरे-धीरे दस महीने बीत गये। राजन् ! यज्ञसेन-कुमारी द्रौपदी, जो स्वयं स्वामिनीकी भाँति सेवाके योग्य थी, रानी सुदेष्णाकी शुश्रूषा करती हुई बड़े कष्टसे वहाँ रहती थी ॥ १-२ ॥

तथा चरन्ती पाञ्चाली सुदेष्णाया निवेशने ।
तां देवीं तोषयामास तथा चान्तःपुरस्त्रियः ॥ ३ ॥

सुदेष्णाके महलमें पूर्वोक्तरूपसे सेवा करती हुई पाञ्चालीने महारानी तथा अन्तःपुरकी अन्य स्त्रियोंको पूर्ण प्रसन्न कर लिया ॥ ३ ॥

तस्मिन् वर्षे गतप्राये कीचकस्तु महाबलः ।
सेनापतिर्विराटस्य ददर्श द्रुपदात्मजाम् ॥ ४ ॥

जब वह वर्ष पूरा होनेमें कुछ ही समय बाकी रह गया, तबकी बात है; एक दिन राजा विराटके सेनापति महाबली कीचकने द्रुपदकुमारीको देखा ॥ ४ ॥

तां दृष्ट्वा देवगर्भाभां चरन्तीं देवतामिव ।
कीचकः कामयामास कामबाणप्रपीडितः ॥ ५ ॥

राजमहलमें देवाङ्गनाकी भाँति विचरती हुई देवकन्याके समान कान्तिवाली द्रौपदीको देखकर कीचक कामबाणसे अत्यन्त पीड़ित हो उसे चाहने लगा ॥ ५ ॥

स तु कामाग्निसंतप्तः सुदेष्णामभिगम्य वै ।
प्रहसन्निव सेनानीरिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

कामवासनाकी आगमें जलता हुआ सेनापति कीचक अपनी बहिन रानी सुदेष्णाके पास गया और हँसता हुआ-सा उससे इस प्रकार बोला—॥ ६ ॥

नेयं मया जातु पुरेह दृष्टा
राज्ञो विराटस्य निवेशने शुभा ।
रूपेण चोन्मादयतीव मां भृशं
गन्धेन जाता मदिरेव भामिनी ॥ ७ ॥

'सुदेष्णे ! यह सुन्दरी जो अपने रूपसे मुझे अत्यन्त उन्मत्त-सा किये देती है, पहले कभी राजा विराटके इस महलमें मेरेद्वारा नहीं देखी गयी थी। यह भामिनी अपनी दिव्य गन्धसे मेरेलिये मदिरा-सी मादक हो रही है ॥ ७ ॥

का देवरूपा हृदयङ्गमा शुभे
ह्याचक्ष्व मे कस्य कुतोऽत्र शोभने ।
चित्तं हि निर्मथ्य करोति मां वशे
न चान्यदत्रौषधमस्ति मे मतम् ॥ ८ ॥

'शुभे ! यह कौन है ? इसका रूप देवाङ्गनाके समान है। यह मेरे हृदयमें समा गयी है। शोभने ! मुझे बताओ, यह किसकी स्त्री है और कहाँसे आयी है ? यह मेरे मनको मथकर मुझे वशमें किये लेती है। मेरे इस रोगकी ओषधि

इसकी प्राप्तिके सिवा दूसरी कोई नहीं जान पड़ती ॥ ८ ॥

अहो तवेयं परिचारिका शुभा
प्रत्यग्ररूपा प्रतिभाति मामियम्।
अयुक्तरूपं हि करोति कर्म ते
प्रशास्तु मां यच्च ममास्ति किंचन॥ ९ ॥

'अहो ! बड़े आश्चर्यकी बात है कि यह सुन्दरी तुम्हारे यहाँ दासीका काम कर रही है। मुझे ऐसा लगता है, इसका रूप नित्य नवीन है। तुम्हारे यहाँ जो काम यह करती है, वह इसके योग्य कदापि नहीं है। मैं चाहता हूँ, यह मेरी गृहस्वामिनी होकर मुझपर और मेरे पास जो कुछ है, उसपर भी एकच्छत्र शासन करे ॥ ९ ॥

प्रभूतनागाश्वरथं महाजनं
समृद्धियुक्तं बहुपानभोजनम्।
मनोहरं काञ्चनचित्रभूषणं
गृहं महच्छोभयतामियं मम ॥ १० ॥

'मेरे घरमें बहुत-से हाथी, घोड़े और रथ हैं, बहुत-से सेवा करनेवाले परिजन हैं तथा उसमें प्रचुर सम्पत्ति भरी है। भोजन और पेयकी उसमें अधिकता है। देखनेमें भी वह मनोहर है। सुवर्णमय चित्र उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। मेरे उस विशाल भवनमें चलकर यह सुन्दरी उसे सुशोभित करे' ॥

ततः सुदेष्णामनुमन्त्र्य कीचक-
स्ततः समभ्येत्य नराधिपात्मजाम्।
उवाच कृष्णामभिसान्त्वयंस्तदा
मृगेन्द्रकन्यामिव जम्बुको वने ॥ ११ ॥

तदनन्तर रानी सुदेष्णाकी सम्मति ले कीचक राजकुमारी द्रौपदीके पास आकर उसे सान्त्वना देता हुआ बोला; मानो वनमें कोई सियार किसी सिंहकी कन्याको फुसला रहा हो ॥

का त्वं कस्यासि कल्याणि कुतो वा त्वं वरानने।
प्राप्ता विराटनगरं तत्त्वमाचक्ष्व शोभने ॥ १२ ॥

(उसने द्रौपदीसे पूछा—) 'कल्याणि ! तुम कौन हो और किसकी कन्या हो? अथवा सुमुखि ! तुम कहाँसे इस विराटनगरमें आयी हो? शोभने ! ये सब बातें मुझे सच-सच बताओ ॥

रूपमग्र्यं तथा कान्तिः सौकुमार्यमनुत्तमम्।
कान्त्या विभाति वक्त्रं ते शशाङ्क इव निर्मलम् ॥ १३ ॥

'तुम्हारा यह श्रेष्ठ और सुन्दर रूप, यह दिव्य कान्ति और यह सुकुमारता संसारमें सबसे उत्तम है और तुम्हारा निर्मल मुख तो अपनी छविसे निष्कलङ्क चन्द्रमाकी भाँति शोभा पा रहा है ॥ १३ ॥

नेत्रे सुविपुले सुभ्रु पद्मपत्रनिभे शुभे।
वाक्यं ते चारुसर्वाङ्गि परपुष्टरुतोपमम् ॥ १४ ॥

'सुन्दर भौंहोंवाली सर्वाङ्गसुन्दरी ! तुम्हारे ये उत्तम और विशाल नेत्र कमलदलके समान सुशोभित हैं। तुम्हारी वाणी क्या है; कोकिलकी कूक है ॥ १४ ॥

एवंरूपा मया नारी काचिदन्या महीतले।
न दृष्टपूर्वा सुश्रोणि यादृशी त्वमनिन्दिते ॥ १५ ॥

'सुश्रोणि ! अनिन्दिते ! जैसी तुम हो, ऐसे मनोहर रूपवाली कोई दूसरी स्त्री इस पृथ्वीपर मैंने आजसे पहले कभी नहीं देखी थी ॥ १५ ॥

लक्ष्मीः पद्मालया का त्वमथ भूतिः सुमध्यमे।
ह्रीः श्रीः कीर्तिरथो कान्तिरासां का त्वं वरानने ॥ १६ ॥

'सुमध्यमे ! तुम कमलोंमें निवास करनेवाली लक्ष्मी हो अथवा साकार विभूति ? सुमुखि ! लज्जा, श्री, कीर्ति और कान्ति—इन देवियोंमेंसे तुम कौन हो ? ॥ १६ ॥

अतीवरूपिणी किं त्वमनङ्गाङ्गविहारिणी।
अतीव भ्राजसे सुभ्रु प्रभेवेन्दोरनुत्तमा ॥ १७ ॥

'क्या तुम कामदेवके अङ्गोंसे क्रीड़ा करनेवाली अतिशय रूपवती रति हो ? सुभ्रु ! तुम चन्द्रमाकी परम उत्तम प्रभाके समान अत्यन्त उद्भासित हो रही हो ॥ १७ ॥

अपि चेक्षणपक्ष्माणां स्मितं ज्योत्स्नोपमं शुभम्।
दिव्यांशुरश्मिभिर्वृत्तं दिव्यकान्तिमनोरमम् ॥ १८ ॥
निरीक्ष्य वक्त्रचन्द्रं ते लक्ष्म्यानुपमया युतम्।
कृत्स्ने जगति को नेह कामस्य वशगो भवेत् ॥ १९ ॥

'तुम्हारा सुन्दर मुखचन्द्र अनुपम लक्ष्मीसे अलंकृत है, तुम्हारे नेत्रोंकी अधखुली पलकें चाँदनीके समान मनको आह्लादित करनेवाली हैं। दिव्य रश्मियोंसे आवृत तुम्हारा यह मुखचन्द्र दिव्य छविके द्वारा मनको रमा लेनेवाला है। इसे देखकर सम्पूर्ण जगत्में कौन ऐसा पुरुष है, जो कामके अधीन न हो जाय ? ॥ १८-१९ ॥

हारालंकारयोग्यौ तु स्तनौ चोभौ सुशोभनौ।
सुजातौ सहितौ लक्ष्म्या पीनौ वृत्तौ निरन्तरौ ॥ २० ॥

'तुम्हारे दोनों स्तन हार आदि आभूषणोंके योग्य और परम सुन्दर हैं। वे ऊँचे, श्रीसम्पन्न, स्थूल, गोल गोल और परस्पर सटे हुए हैं ॥ २० ॥

कुड्मलाम्बुरुहाकारौ तव सुभ्रु पयोधरौ।
कामप्रतोदाविव मां तुदतश्चारुहासिनि ॥ २१ ॥

'सुन्दर भौंहों तथा मनोरम मुसकानवाली सुन्दरी ! कमलकोशके समान आकारवाले तुम्हारे दोनों उरोज कामदेवके चाबुककी भाँति मुझे पीड़ा दे रहे हैं ॥ २१ ॥

वलीविभङ्गचतुरं स्तनभारविनामितम्।
कराग्रसम्मितं मध्यं तवेदं तनुमध्यमे ॥ २२ ॥

'तनुमध्यमे ! तुम्हारी कमर इतनी पतली है कि हाथोंके

अग्रभागसे (अँगूठेसे लेकर तर्जनीतकके बित्तेसे) माप ली जा सकती है। वह त्रिवलीकी तीन रेखाओंसे परम सुन्दर दीखती है। तुम्हारे स्तनोंके भारने उसे कुछ झुका दिया है॥

दृष्ट्वैव चारु जघनं सरित्पुलिनसंनिभम्।
कामव्याधिरसाध्यो मामप्याक्रामति भामिनि ॥ २३ ॥

'भामिनि ! नदीके दो किनारोंके समान तुम्हारे मनोहर जघनको देख लेनेसे ही कामरूपी असाध्य रोग मुझ-जैसे वीरपर भी आक्रमण कर रहा है॥ २३ ॥

ज्वाल चाग्निमदनो दावाग्निरिव निर्दयः।
त्वत्सङ्गमाभिसंकल्पविवृद्धो मां दहत्ययम् ॥ २४ ॥

'निर्दयी कामदेव अग्निस्वरूप होकर दावानलकी भाँति मेरे हृदयरूपी वनमें जल उठा है। तुम्हारे समागमका संकल्प इसमें घीका काम करता है। इससे अत्यन्त प्रज्वलित होकर यह काम मुझे जला रहा है॥ २४॥

आत्मप्रदानवर्षेण संगमाम्भोधरेण च।
शमयस्व वरारोहे ज्वलन्तं मन्मथानलम् ॥ २५ ॥

'वरारोहे ! तुम अपने संगमरूपी मेघसे आत्मसमर्पणरूपी वर्षाद्वारा इस प्रज्वलित मदनाग्निको बुझा दो॥ २५ ॥

मच्चित्तोन्मादनकरा मन्मथस्य शरोत्कराः।
त्वत्संगमाशानिशितास्तीव्राः शशिनिभानने।
मह्यं विदार्य हृदयमिदं निर्दयवेगिताः ॥ २६ ॥
प्रविष्टा ह्यसितापाङ्गि प्रचण्डाश्चण्डदारुणाः।
अत्युन्मादसमारम्भाः प्रीत्युन्मादकरा मम।
आत्मप्रदानसम्भोगैर्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ॥ २७ ॥

'चन्द्रमुखी ! मेरे मनको उन्मत्त बना देनेवाले कामदेवके बाण-समूह तुम्हारे समागमकी आशारूपी शानपर चढ़कर अत्यन्त तीखे और तीव्र हो गये हैं। कजरारे नयनप्रान्तोंवाली सुन्दरी ! अत्यन्त क्रोधपूर्वक चलाये हुए कामके वे प्रचण्ड एवं भयंकर बाण दयाशून्य हो वेगसे आकर मेरे इस हृदयको विदीर्ण करके भीतर घुस गये हैं और अतिशय उन्माद (सन्निपातजनित बेहोशी) पैदा कर रहे हैं। वे मेरे लिये प्रेमोन्मादजनक हो रहे हैं। अब तुम्हीं आत्मदानजनित सम्भोगरूप औषधके द्वारा यहाँ मेरा उद्धार कर सकती हो॥

चित्रमाल्याम्बरधरा सर्वाभरणभूषिता।
कामं प्रकामं सेव त्वं मया सह विलासिनि ॥ २८ ॥

'विलासिनि ! विचित्र माला और सुन्दर वस्त्र धारण करके समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो मेरे साथ अतिशय कामभोगका सेवन करो॥ २८ ॥

नार्हसीहासुखं वस्तुं सुखार्हा सुखवर्जिता।
प्राप्नुह्यनुत्तमं सौख्यं मत्तस्त्वं मत्तगामिनि ॥ २९ ॥

'यहाँ अनेक प्रकारके [illegible] तुम [illegible]

निवास करने योग्य नहीं हो। तुम सुख भोगनेके योग्य हो, किंतु यहाँ सुखसे वञ्चित हो। मस्तीभरी चालसे चलनेवाली सैरन्ध्री ! तुम मुझसे सर्वोत्तम सुखभोग प्राप्त करो॥ २९ ॥

स्वादून्यमृतकल्पानि पेयानि विविधानि च।
पिबमाना मनोज्ञानि रममाणा यथासुखम् ॥ ३० ॥

'अमृतके समान स्वादिष्ठ और मनोहर भाँति-भाँतिके पेय रसोंका पान करती हुई तुम्हें जैसे सुख मिले, उसी प्रकार रमण करो॥ ३० ॥

भोगोपचारान् विविधान् सौभाग्यं चाप्यनुत्तमम्।
पानं पिब महाभागे भोगैश्चानुत्तमैः शुभैः ॥ ३१ ॥
इदं हि रूपं प्रथमं तवानघे
निरर्थकं केवलमद्य भामिनि।
अधार्यमाणा स्रगिवोत्तमा शुभा
न शोभसे सुन्दरि शोभना सती ॥ ३२ ॥

'महाभागे ! नाना प्रकारकी भोग-सामग्री तथा सर्वोत्तम सौभाग्य पाकर उत्तमोत्तम शुभ भोगोंके साथ पीने योग्य रसोंका आस्वादन करो। अनघे ! तुम्हारा यह सर्वोत्कृष्ट रूप-सौन्दर्य आजकी परिस्थितिमें केवल व्यर्थ जा रहा है। भामिनि ! जैसे उत्तम हारको यदि किसीने गलेमें धारण नहीं किया, तो उसकी शोभा नहीं होती, उसी प्रकार सुन्दरि ! तुम शुभस्वरूपा और शोभामयी होकर भी किसीके गलेका हार न बन सकनेके कारण सुशोभित नहीं होती हो॥ ३१-३२ ॥

त्यजामि दारान् मम ये पुरातना
भवन्तु दास्यस्तव चारुहासिनि।
अहं च ते सुन्दरि दासवत् स्थितः
सदा भविष्ये वशगो वरानने ॥ ३३ ॥

'चारुहासिनि ! यदि तुम चाहो तो मैं पहली स्त्रियोंको त्याग दूँगा अथवा वे सब तुम्हारी दासी बनकर रहेंगी। सुन्दरि ! सुमुखि ! मैं स्वयं भी दासकी भाँति सदा तुम्हारे अधीन रहूँगा'॥ ३३ ॥

द्रौपद्युवाच

अप्रार्थनीयामिह मां सूतपुत्राभिमन्यसे।
निहीनवर्णां सैरन्ध्रीं बीभत्सां केशकारिणीम् ॥ ३४ ॥

द्रौपदीने कहा—सूतपुत्र ! तुम मुझे चाहते हो। छिः छिः; मुझसे इस तरहकी याचना करना तुम्हारे लिये कदापि योग्य नहीं है। एक तो मेरी जाति छोटी है, दूसरे मैं सैरन्ध्री (दासी) हूँ, बीभत्स वेषवाली स्त्री हूँ तथा केश सँवारनेका काम करनेवाली एक तुच्छ सेविका हूँ॥ ३४ ॥

(स्वेषु दारेषु मेधावी कुरुते यत्नमुत्तमम्।
[illegible] भद्राणि पश्यति ॥

बुद्धिमान् पुरुष अपनी पत्नीको ही अनुकूल बनाये रखनेके लिये उत्तम यत्न करता है। अपनी स्त्रीमें अनुराग रखनेवाला मनुष्य शीघ्र ही कल्याणका भागी होता है ॥

न चाधर्मेण लिप्येत न चाकीर्तिमवाप्नुयात् ।
स्वदारेषु रतिर्धर्मो मृतस्यापि न संशयः ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह पापमें लिप्त न हो, अपयशका पात्र न बने, अपनी ही पत्नीके प्रति अनुराग रखना परम धर्म है। वह मृत पुरुषके लिये भी कल्याणकारी होता है, इसमें संशय नहीं है ॥

स्वजातिदारा मर्त्यस्य इहलोके परत्र च ।
प्रेतकार्याणि कुर्वन्ति निवापैस्तर्पयन्ति च ॥

अपनी जातिकी स्त्रियाँ मनुष्यके लिये इहलोक और परलोकमें भी हितकारिणी होती हैं। वे प्रेतकार्य (अन्त्येष्टि-संस्कार) करती और जलाञ्जलि देकर मृतात्माको तृप्त करती हैं ॥

तदक्षय्यं च धर्म्यं च स्वर्ग्यमाहुर्मनीषिणः ।
स्वजातिदारजाः पुत्रा जायन्ते कुलपूजिताः ॥

उनके इस कार्यको मनीषी पुरुषोंने अक्षय, धर्मसङ्गत एवं स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला बताया है। अपनी जातिकी स्त्रीसे उत्पन्न हुए पुरुष कुलमें सम्मानित होते हैं ॥

प्रिया हि प्राणिनां दारास्तस्मात् त्वं धर्मभाग् भव ।
परदाररतो मर्त्यो न च भद्राणि पश्यति ॥)

सभी प्राणियोंको अपनी ही पत्नी प्यारी होती है। इसलिये तुम भी ऐसा करके धर्मके भागी बनो। परस्त्रीलम्पट पुरुष कभी कल्याण नहीं देखता ॥

परदारास्मि भद्रं ते न युक्तं तव साम्प्रतम् ।
दयिताः प्राणिनां दारा धर्मं समनुचिन्तय ॥ ३५ ॥

सबसे बड़ी बात यह है कि मैं दूसरेकी पत्नी हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। इस समय मुझसे इस तरहकी बातें करना तुम्हारे लिये किसी तरह उचित नहीं है। जगत्के सब प्राणियोंके लिये अपनी ही स्त्री प्रिय होती है। तुम धर्मका विचार करो॥

परदारे न ते बुद्धिर्जातु कार्या कथंचन ।
विवर्जनं ह्यकार्याणामेतत् सुपुरुषव्रतम् ॥ ३६ ॥

परायी स्त्रीमें तुम्हें कभी किसी तरह भी मन नहीं लगाना चाहिये। न करने योग्य अनुचित कर्मोंका सर्वथा त्याग दिया जाय, यही श्रेष्ठ पुरुषोंका व्रत है ॥ ३६ ॥

मिथ्याभिगृध्नो हि नरः पापात्मा मोहमास्थितः ।
अयशः प्राप्नुयाद् घोरं महद् वा प्राप्नुयाद् भयम् ॥ ३७ ॥

झूठे विषयोंमें आसक्त होनेवाला पापात्मा मनुष्य मोहमें पड़कर भयंकर अपयश पाता है अथवा उसे बड़े भारी भय (मृत्यु) का सामना करना पड़ता है ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु सैरन्ध्र्या कीचकः काममोहितः ।
जानन्नपि सुदुर्बुद्धिः परदाराभिमर्शने ॥ ३८ ॥
दोषान् बहून् प्राणहरान् सर्वलोकविगर्हितान् ।
प्रोवाचेदं सुदुर्बुद्धिर्द्रौपदीमजितेन्द्रियः ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सैरन्ध्रीके इस प्रकार समझानेपर भी कीचकको होश न हुआ। वह कामसे मोहित हो रहा था। यद्यपि उस दुर्बुद्धिको यह मालूम था कि परायी स्त्रीके स्पर्शसे बहुत-से ऐसे दोष प्रकट होते हैं, जिनकी सब लोग निन्दा करते हैं तथा जिनके कारण प्राणोंसे भी हाथ धोना पड़ता है; तो भी उस अजितेन्द्रिय तथा अत्यन्त दुर्बुद्धिने द्रौपदीसे इस प्रकार कहा—॥ ३८-३९ ॥

नार्हस्येवं वरारोहे प्रत्याख्यातुं वरानने ।
मां मन्मथसमाविष्टं त्वत्कृते चारुहासिनि ॥ ४० ॥

'वरारोहे ! सुमुखि ! तुम्हें इस प्रकार मेरी प्रार्थना नहीं ठुकरानी चाहिये ! चारुहासिनि ! मैं तुम्हारे लिये कामवेदनासे पीड़ित हूँ ॥ ४० ॥

प्रत्याख्याय च मां भीरु वशगं प्रियवादिनम् ।
नूनं त्वमसितापाङ्गि पश्चात्तापं करिष्यसि ॥ ४१ ॥

'भीरु ! मैं तुम्हारे वशमें हूँ और प्रिय वचन बोलता हूँ। कजरारे नयनोंवाली सैरन्ध्री ! मुझे ठुकराकर तुम निश्चय ही पश्चात्ताप करोगी ॥ ४१ ॥

अहं हि सुभ्रु राज्यस्य कृत्स्नस्यास्य सुमध्यमे ।
प्रभुर्वासयिता चैव वीर्ये चाप्रतिमः क्षितौ ॥ ४२ ॥

'सुभ्रू ! सुमध्यमे ! मैं इस सम्पूर्ण राज्यका स्वामी और इसे बसानेवाला हूँ। बल और पराक्रममें इस पृथ्वीपर मेरी समानता करनेवाला कोई नहीं है ॥ ४२ ॥

पृथिव्यां मत्समो नास्ति कश्चिदन्यः पुमानिह ।
रूपयौवनसौभाग्यैर्भोगैश्चानुत्तमैः शुभैः ॥ ४३ ॥

'रूप, यौवन, सौभाग्य और सर्वोत्तम शुभ भोगोंकी दृष्टिसे इस भूतलपर मेरी समता करनेवाला दूसरा कोई पुरुष नहीं है ॥

सर्वकामसमृद्धेषु भोगेष्वनुपमेष्विह ।
भोक्तव्येषु न कल्याणि कस्माद् दास्ये रता ह्यसि ॥ ४४ ॥

'कल्याणि ! जब सम्पूर्ण मनोरथोंसे सम्पन्न अनुपम भोग यहाँ भोगनेके लिये तुम्हें सुलभ हो रहे हैं, तब तुम दासीपनमें क्यों आसक्त हो ? ॥ ४४ ॥

मया दत्तमिदं राज्यं स्वामिन्यसि शुभानने ।
भजस्व मां वरारोहे भुङ्क्ष्व भोगाननुत्तमान् ॥ ४५ ॥

'शुभानने ! मैंने यह सम्पूर्ण राज्य तुम्हें अर्पित कर दिया। अब तुम्हीं इसकी स्वामिनी हो। वरारोहे ! मुझे अपना लो और मेरे साथ उत्तमोत्तम भोगोंका उपभोग करो' ॥ ४५ ॥

एवमुक्ता तु सा साध्वी कीचकेनाशुभं वचः।
कीचकं प्रत्युवाचेदं गर्हयन्त्यस्य तद् वचः ॥ ४६ ॥

कीचकके इस प्रकार अशुभ (पापपूर्ण) वचन कहनेपर सती-साध्वी द्रौपदीने उसकी उन ओछी बातोंकी निन्दा करते हुए इस प्रकार उत्तर दिया ॥ ४६ ॥

सैरन्ध्र्युवाच

मा सूतपुत्र मुह्यस्व माद्य त्यक्ष्यस्व जीवितम्।
जानीहि पञ्चभिर्घोरैर्नित्यं मामभिरक्षिताम् ॥ ४७ ॥

सैरन्ध्री बोली—सूतपुत्र ! तू आज इस प्रकार मोहके फंदेमें न पड़। अपनी जान न गँवा। तुझे मालूम होना चाहिये कि पाँच भयंकर गन्धर्व मेरी नित्य रक्षा करते हैं ॥



न चाप्यहं त्वया लभ्या गन्धर्वाः पतयो मम।
ते त्वां निहन्युः कुपिताः साध्वलं मा व्यनीनशः ॥ ४८ ॥

वे गन्धर्व ही मेरे पति हैं। तू कदापि मुझे पा नहीं सकता। मेरे पति कुपित होकर तुझे मार डालेंगे; अतः सँभल जा। इस पापबुद्धिका त्याग कर दे। अपना सर्वनाश न करा ॥ ४८ ॥

अशक्यरूपं पुरुषैरध्वानं गन्तुमिच्छसि।
यथा निश्चेतनो बालः कूलस्थः कूलमुत्तरम्।
तर्तुमिच्छति मन्दात्मा तथा त्वं कर्तुमिच्छसि ॥ ४९ ॥

अरे ! तू उस राहपर जाना चाहता है, जहाँ दूसरे पुरुष नहीं जा सकते। जैसे नदीके एक किनारेपर बैठा हुआ कोई मन्दबुद्धि अचेत बालक दूसरे किनारेपर तैरकर जाना चाहता हो, वैसा ही विनाशकारी कार्य तू भी करना चाहता है।

अन्तर्महीं वा यदि वोर्ध्वमुत्पतेः
समुद्रपारं यदि वा प्रधावसि।
तथापि तेषां न विमोक्षमर्हसि
प्रमाथिनो देवसुता हि खेचराः ॥ ५० ॥

सूतपुत्र ! मुझपर कुदृष्टि डालकर पृथ्वीके भीतर (पातालमें) घुस जा, आकाशमें उड़ जा अथवा समुद्रके उस पार भाग जा, तथापि मेरे पतियोंके हाथसे तू छूट नहीं सकता; क्योंकि मेरे पति देवताओंके पुत्र तथा आकाशमें विचरनेवाले हैं। वे अपने शत्रुओंको मथ डालनेकी शक्ति रखते हैं ॥ ५० ॥

(मां हि त्वमवमन्वानः सूतपुत्र विनङ्क्ष्यसि।
आशु चाद्यैव नचिरात् सपुत्रः सहबान्धवः ॥

सूतपुत्र ! तू मेरा अपमान कर रहा है; अतः पुत्रों तथा बन्धु-बान्धवोंसहित तू आज ही शीघ्र नष्ट हो जायगा। तेरे विनाशमें अब विलम्ब नहीं है ॥

दुर्लभामभिमन्वानो मां वीरैरभिरक्षिताम्।
पतिष्यस्यवशस्तूर्णं वृन्तात् तालफलं यथा ॥

मैं वीर गन्धर्वोंद्वारा सुरक्षित होनेके कारण तेरे लिये सर्वथा दुर्लभ हूँ। मेरा अपमान करनेसे शीघ्र ही विवशता-पूर्वक तेरा उसी प्रकार पतन होगा, जैसे ताड़का फल अपने मूलस्थानसे नीचे गिरता है ॥

यो मामशाय कामार्तः अवज्ञानि प्रभाषसे।
अशक्तस्तु पुमाञ्छैलं न लङ्घयितुमर्हति ॥

तू मुझे नहीं जानता, इसीलिये कामातुर होकर बहकी-बहकी बातें कर रहा है। परंतु कोई असमर्थ पुरुष कितना ही प्रयत्न करे, वह पर्वतको नहीं लाँघ सकता ॥

दिशः प्रपन्नो गिरिगह्वराणि वा
गुहां प्रविष्टोऽन्तरितोऽपि वा क्षितेः॥
जुह्वञ्जपन् वा प्रपतन् गिरेस्तटा-
द्धुताशनादित्यगतिं गतोऽपि वा।
भार्याभिमन्ता पुरुषो महात्मनां
न जातु मुच्येत कथंचनाहतः ॥

चाहे कोई सम्पूर्ण दिशाओंकी शरण लेता फिरे, पर्वतकी बड़ी-बड़ी कन्दराओं अथवा दुर्गम गुफाओंमें छिप जाय या पृथ्वीके अंदर ही रहने लगे, होम और जपमें संलग्न रहे, पर्वतके शिखरसे कूद पड़े, जलती आग अथवा सूर्यकी प्रचण्ड रश्मियों-की शरण ले तो भी महात्मा गन्धर्वोंकी पत्नीका अपमान करनेवाला पुरुष कभी किसी तरह भी उनके हाथसे जीवित नहीं बच सकता ॥

मोघं तवेदं वचनं भविष्यति
प्रतोलिना वा तुलया महागिरेः।

हुताशनं प्रज्वलितं महावने
निदाघमध्याह्न इवातुरः स्वयम् ॥
प्रवेष्टुकामोऽसि वधाय चात्मनः
कुलस्य सर्वस्य विनाशनाय च ।

तेरी ये सब बातें व्यर्थ होंगी। तेरे लिये मुझे पाना किसी महान् पर्वतको तराजूपर तौलनेके समान महान् असम्भव है । गर्मीकी दोपहरीमें जब किसी महान् वनके भीतर प्रचण्ड दावानल धधक चुका हो, उस समय उसमें स्वयं ही घुसनेवाले किसी आतुर पुरुषकी भाँति तू भी अपने और समस्त कुलके विनाशके लिये ही वहाँ प्रवेश करना चाहता है ॥

सदेवगन्धर्वमहर्षिसंनिधौ
सनागलोकासुरराक्षसालये ॥
गूढस्थितां मामवमन्य चेतसा
न जीवितार्थी शरणं त्वमाप्स्यसि ॥)

मैं यहाँ अपने स्वरूपको छिपाकर रहती हूँ । फिर भी तू मनसे समझ-बूझकर मेरा अपमान करना चाहता है। किंतु याद रख, तू ऐसा करके यदि अपना जीवन बचानेके लिये देवताओं, गन्धर्वों और महर्षियोंके निकट चला जाय अथवा नागलोक, असुरलोक तथा राक्षसोंके निवासस्थानमें भी पहुँच जाय, तो भी तू वहाँ शरण नहीं पा सकेगा ॥

त्वं कालरात्रीमिव कश्चिदातुरः
किं मां दृढं प्रार्थयसेऽद्य कीचक।
किं मातुरङ्के शयितो यथा शिशु-
श्चन्द्रं जिघृक्षुरिव मन्यसे हि माम्॥ ५१ ॥

कीचक ! जैसे कोई रोगी कालरात्रिका आवाहन करे, उसी प्रकार मुझे प्राप्त करनेके लिये तू क्यों आज दुराग्रहपूर्ण प्रार्थना कर रहा है ? अरे ! जैसे माताकी गोदमें सोया हुआ शिशु चन्द्रमाको ग्रहण करना चाहे, क्या तू उसी प्रकार मुझे पाना चाहता है ? ॥ ५१ ॥

तेषां प्रियां प्रार्थयतो न ते भुवि
गत्वा दिवं वा शरणं भविष्यति।
न वर्तते कीचक ते दृशा शुभं
या तेन संजीवनमर्थयेत सा ॥ ५२ ॥

कीचक ! उन गन्धर्वोंकी प्रियतमासे ऐसी अनुचित प्रार्थना करके पृथ्वी अथवा आकाशमें भाग जानेपर भी तुझे कोई शरण देनेवाला नहीं मिलेगा । (तू इतना कामान्ध हो गया है कि) तुझे वह शुभ दृष्टि—वह बुद्धि नहीं प्राप्त होती, जो तेरी मङ्गलकामना करे—जिससे तेरा जीवन सुरक्षित रह सके ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचककृष्णासंवादे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें कीचक-द्रौपदी-संवादविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२ श्लोक मिलाकर कुल ६४ श्लोक हैं)

पञ्चदशोऽध्यायः

रानी सुदेष्णाका द्रौपदीको कीचकके घर भेजना

वैशम्पायन उवाच

प्रत्याख्यातो राजपुत्र्या सुदेष्णां कीचकोऽब्रवीत्।
अमर्यादेन कामेन घोरेणाभिपरिप्लुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजकुमारी द्रौपदीके द्वारा इस प्रकार ठुकरा दिये जानेपर कीचक असीम एवं भयंकर कामसे विवश होकर अपनी बहिन सुदेष्णासे बोला—॥ १ ॥

यथा कैकेयि सैरन्ध्री समेयात् तद् विधीयताम्।
येनोपायेन सैरन्ध्री भजेन्मां गजगामिनी ।
तं सुदेष्णे परीप्सस्व प्राणान् मोहात् प्रहासिषम् ॥ २ ॥

'केकयराजनन्दिनि ! जिस उपायसे भी वह गजगामिनी सैरन्ध्री मेरे पास आवे और मुझे अङ्गीकार कर ले, वह करो। सुदेष्णे ! तुम स्वयं ही ऊहापोह करके युक्तिसे वह उचित उपाय ढूँढ़ निकालो, जिससे मुझे (मोहके वश हो) प्राणोंका त्याग न करना पड़े' ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य सा बहुशः श्रुत्वा वाचं विलपतस्तदा ।
विराटमहिषी देवी कृपां चक्रे मनस्विनी ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार बारंबार विलाप करते हुए कीचककी बात सुनकर उस समय राजा विराटकी मनस्विनी महारानी सुदेष्णाके मनमें उसके प्रति दयाभाव प्रकट हो गया ॥ ३ ॥

(*सुदेष्णोवाच*

शरणागतेयं सुश्रोणी मया दत्ताभया च सा ।
शुभाचारा च भद्रं ते नैनां वक्तुमिहोत्सहे ॥

सुदेष्णा बोली—भाई ! यह सुन्दरी सैरन्ध्री मेरी शरणमें आयी है । इसे मैंने अभय दे रक्खा है । तुम्हारा कल्याण हो । यह बड़ी सदाचारिणी है । मैं इससे तुम्हारी मनोगत बात नहीं कह सकती ॥

नैषा शक्या हि चान्येन स्प्रष्टुं पापेन चेतसा ।
गन्धर्वाः किल पञ्चैनां रक्षन्ति रमयन्ति च ॥

इसे कोई भी दूसरा पुरुष मनमें दूषित भाव लेकर नहीं छू सकता । सुनती हूँ, पाँच गन्धर्व इसकी रक्षा करते हैं और इसे सुख पहुँचाते हैं ॥

एवमेषा ममाचष्टे तथा प्रथमसंगमे ।
तथैव गजनासोरुः सत्यमाह ममान्तिके ॥
ते हि क्रुद्धा महात्मानो नाशयेयुर्हि जीवितम्।

इसने यह बात मुझसे उसी समय जब कि मेरी इससे पहले-पहल भेंट हुई थी, बता दी थी। इसी प्रकार हाथीकी सूँड़के समान जाँघोंवाली इस सुन्दरीने मेरे निकट यह सत्य ही कहा है कि यदि किसीने मेरा अपमान किया, तो मेरे महात्मा पति कुपित होकर उसके जीवनको ही नष्ट कर देंगे ॥

राजा चैव समीक्ष्यैनां सम्मोहं गतवानिह ॥
मया च सत्यवचनैरनुनीतो महीपतिः ।

राजा भी इसे यहाँ देखकर मोहित हो गये थे, तब मैंने इसकी कही हुई सच्ची बातें बताकर उन्हें किसी प्रकार समझा-बुझाकर शान्त किया ॥

सोऽप्येनामनिशं दृष्ट्वा मनसैवाभ्यनन्दत ॥
भयाद् गन्धर्वमुख्यानां जीवितस्योपघातिनाम्।
मनसापि ततस्त्वेनां न चिन्तयति पार्थिवः॥

तबसे वे भी सदा इसे देखकर मन-ही-मन इसका अभिनन्दन करते हैं। जीवनका विनाश करनेवाले उन श्रेष्ठ गन्धर्वोंके भयसे महाराज कभी मनसे भी इसका चिन्तन नहीं करते हैं ॥

ते हि क्रुद्धा महात्मानो गरुडानिलतेजसः ।
दहेयुरपि लोकांस्त्रीन् युगान्तेष्विव भास्कराः ॥

वे महात्मा गन्धर्व गरुड़ और वायुके समान तेजस्वी हैं। वे कुपित होनेपर प्रलयकालके सूर्योंकी भाँति तीनों लोकोंको दग्ध कर सकते हैं ॥

सैरन्ध्र्या ह्येतदाख्यातं मम तेषां महद् बलम् ।
तव चाहमिदं गुह्यं स्नेहादाख्यामि बन्धुवत् ॥

सैरन्ध्रीने स्वयं ही मुझसे उनके महान् बलका परिचय दिया है। भ्रातृस्नेहके कारण मैंने तुमसे यह गोपनीय बात भी बता दी है ॥

मा गमिष्यसि वै कृच्छ्रां गतिं परमदुर्गमाम्।
बलिनस्ते रुजं कुर्युः कुलस्य च धनस्य च ॥

इसे ध्यानमें रखनेसे तुम अत्यन्त दुःखदायिनी संकटपूर्ण परिस्थितिमें नहीं पड़ोगे। गन्धर्वलोग बलवान् हैं। वे तुम्हारे कुल और सम्पत्तिका भी नाश कर सकते हैं ॥

तस्मान्नास्यां मनः कर्तुं यदि प्राणाः प्रियास्तव।
मा चिन्तयेथा मा गास्त्वं मत्प्रियं च यदीच्छसि॥

इसलिये यदि तुम्हें अपने प्राण प्रिय हैं और यदि तुम मेरा भी प्रिय करना चाहते हो, तो इस सैरन्ध्रीमें मन न लगाओ। उसका चिन्तन छोड़ दो और उसके पास कभी न जाओ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु दुष्टात्मा भगिनीं कीचकोऽब्रवीत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! सुदेष्णाके ऐसा कहनेपर दुष्टात्मा कीचक अपनी बहिनसे बोला ॥

कीचक उवाच

गन्धर्वाणां शतं वापि सहस्रमयुतानि वा ॥
अहमेको हनिष्यामि गन्धर्वान् पञ्च किं पुनः ।

कीचकने कहा—बहिन! मैं सैकड़ों, सहस्रों तथा अयुत गन्धर्वोंको भी अकेला ही मार गिराऊँगा, फिर पाँचकी तो बात ही क्या है? ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता सुदेष्णा तु शोकेनाभिप्रपीडिता ॥
अहो दुःखमहो कृच्छ्रमहो पापमिति स्म ह ।
प्रारुदद् भृशदुःखार्ता विपाकं तस्य वीक्ष्य सा ॥
पातालेषु पतत्येष विलपन् वडवामुखे ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कीचकके ऐसा कहनेपर सुदेष्णा शोकसे अत्यन्त व्यथित हो उठी और मन-ही-मन कहने लगी—'अहो! यह महान् दुःख, महान् संकट और महान् पापकी बात हो रही है।' इस कर्मके भावी परिणामपर दृष्टिपात करके वह अत्यन्त दुःखसे आतुर हो रोने लगी और मन-ही-मन बोली—'मेरा यह भाई तो ऊटपटाँग बातें बोलकर स्वयं ही पाताल अथवा वडवानलके मुखमें गिर रहा है'। (तत्पश्चात् वह कीचकको सुनाकर कहने लगी—)

त्वत्कृते विनशिष्यन्ति भ्रातरः सुहृदश्च मे ॥
किं नु शक्यं मया कर्तुं यत् त्वमेवमभिप्लुतः।
न च श्रेयोऽभिजानीषे काममेवानुवर्तसे ॥

'मैं देखती हूँ; तेरे कारण मेरे सभी भाई और सुहृद् नष्ट हो जायँगे। तू ऐसी अनुचित इच्छाको अपने मनमें स्थान दे रहा है; मैं इसके लिये क्या कर सकती हूँ? अपनी भलाई किस बातमें है, यह तू नहीं समझता है और केवल कामका ही गुलाम हो रहा है ॥

ध्रुवं गतायुस्त्वं पाप यदेवं काममोहितः ।
अकर्तव्ये हि मां पापे नियुनङ्क्षि नराधम ॥

'पापी! निश्चय ही तेरी आयु समाप्त हो गयी है; तभी तू इस प्रकार कामसे मोहित हो रहा है। नराधम! तू मुझे ऐसे पापपूर्ण कार्यमें लगा रहा है, जो कदापि करने योग्य नहीं है ॥

अपि चैतत् पुरा प्रोक्तं निपुणैर्मनुजोत्तमैः ।
एककस्तु कुरुते पापं सजातिस्तेन हन्यते ॥

'प्राचीनकालके श्रेष्ठ एवं कुशल मनुष्योंने यह ठीक ही कहा है कि कुलमें एक मनुष्य पाप करता है और उसके कारण सभी जाति-भाई मारे जाते हैं ॥

गतस्त्वं धर्मराजस्य विषयं नात्र संशयः ।
अदूषकमिमं सर्वं स्वजनं घातयिष्यसि ॥

'तू यमराजके लोकमें गया हुआ ही है, इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं रह गया है ; तू अपने साथ इन समस्त निरपराध स्वजनोंको भी मरवा डालेगा ॥

एतत् तु मे दुःखतरं येनाहं भ्रातृसौहृदात् ।
विदितार्था करिष्यामि तुष्टो भव कुलक्षयात् ॥)

'मेरे लिये सबसे महान् दुःखकी बात यह है कि मैं सारे परिणामोंको समझ-बूझकर भी भ्रातृ-स्नेहके कारण तेरी आज्ञाका पालन करूँगी । तू अपने कुलका संहार करके संतुष्ट हो ले' ॥

स्वमन्त्रमभिसंधाय तस्यार्थमनुचिन्त्य च ।
उद्योगं चैव कृष्णायाः सुदेष्णा सूतमब्रवीत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर सुदेष्णाने अपने कार्यका विचार करके कीचकके मनोभावपर ध्यान दिया और फिर उसे द्रौपदीकी प्राप्ति करानेके लिये उचित उपायका निश्चय करके उसने सूतसे कहा—॥ ४ ॥

पर्वणि त्वं समुद्दिश्य सुरामन्नं च कारय ।
तत्रैनां प्रेषयिष्यामि सुराहारीं तवान्तिकम् ॥ ५ ॥

'कीचक ! तुम किसी पर्व या त्यौहारके दिन अपने घरमें मदिरा तथा अन्न-भोजनकी सामग्री तैयार कराओ । फिर मैं इस सैरन्ध्रीको वहाँसे सुरा ले आनेके बहाने तुम्हारे पास भेजूँगी ॥ ५ ॥

तत्र सम्प्रेषितामेनां विजने निरवग्रहे ।
सान्त्वयेथा यथाकामं सान्त्व्यमाना रमेद् यदि ॥ ६ ॥

'वहाँ भेजी हुई इस सेविकाको एकान्तमें, जहाँ कोई विघ्न-बाधा न हो, अपनी इच्छाके अनुसार समझाना-बुझाना। सम्भव है, तुम्हारी सान्त्वना मिलनेपर यह रमणके लिये उद्यत हो जाय' ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स विनिष्क्रम्य भगिन्या वचनात् तदा ।
सुरामाहारयामास राजार्हां सुपरिष्कृताम् ॥ ७ ॥
भक्ष्यांश्च विविधाकारान् बहूंश्चोच्चावचांस्तदा ।
कारयामास कुशलैरन्नं पानं सुशोभनम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! बहिनके वचनसे इस प्रकार आश्वासन मिलनेपर कीचक उस समय वहाँसे चला गया और घर जाकर उसने यथासमय चतुर रसोइयोंके द्वारा राजाओंके उपयोगमें आने योग्य उत्तम एवं परिष्कृत मदिरा मँगवायी और भाँति-भाँतिके अनेक विशिष्ट और साधारण भक्ष्य पदार्थ, एवं परम उत्तम अन्न-पान-की तैयारी करायी ॥ ७-८ ॥

तस्मिन् कृते तदा देवी कीचकेनोपमन्त्रिता ।

उसकी व्यवस्था हो जानेपर कीचकने सुदेष्णाको भोजन-के लिये आमन्त्रित किया ॥ ८½ ॥

(त्वरावान् कालपाशेन कण्ठे बद्धः पशुर्यथा ।
नावबुध्यत मूढात्मा मरणं समुपस्थितम् ॥

मूढात्मा कीचक कण्ठमें कालपाशसे बँधे हुए पशुकी भाँति अपने निकट आयी हुई मृत्युको नहीं जान पाता था । वह द्रौपदीको पानेके लिये उतावला हो रहा था ॥

कीचक उवाच

मधु मद्यं बहुविधं भक्ष्याश्च विविधाः कृताः ।
सुदेष्णे ब्रूहि सैरन्ध्रीं यथा सा मे गृहं व्रजेत् ॥

कीचक बोला—सुदेष्णे ! मैंने नाना प्रकारकी मीठी मदिरा मँगा ली है और विविध प्रकारकी रसोई भी तैयार कर ली है । अब तुम सैरन्ध्रीसे कह दो, जिससे वह मेरे घरमें पधारे ॥

केनचित् त्वद्य कार्येण त्वर शीघ्रं मम प्रियम् ॥
अहं हि शरणं देवं प्रपद्ये वृषभध्वजम् ।
समागमं मे सैरन्ध्र्या मरणं वा दिशेति वै ॥

किसी कामके बहाने उसे जल्दी मेरे यहाँ भेजो । मेरा प्रिय कार्य सिद्ध करनेमें शीघ्रता करो । मैं भगवान् शंकरकी शरण लेकर यह प्रार्थना करता हूँ कि प्रभो ! मुझे सैरन्ध्रीसे मिला दो अथवा मृत्यु प्रदान करो ॥

वैशम्पायन उवाच

सा तमाह विनिःश्वस्य प्रतिगच्छ स्वकं गृहम् ।
एषाहमपि सैरन्ध्रीं सुरार्थे तूर्णमादिशे ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब सुदेष्णा लंबी साँस खींचकर उससे बोली—'तुम अपने घर लौट जाओ । मैं सैरन्ध्रीको शीघ्र ही वहाँसे मदिरा ले आनेके लिये आज्ञा देती हूँ' ॥

एवमुक्तस्तु पापात्मा कीचकस्त्वरितः पुनः ।
स्वगृहं प्राविशत् तूर्णं सैरन्ध्रीगतमानसः ॥)

उसके ऐसा कहनेपर सैरन्ध्रीका चिन्तन करता हुआ पापात्मा कीचक फिर तुरंत ही अपने घरको लौट गया ॥

सुदेष्णा प्रेषयामास सैरन्ध्रीं कीचकालयम् ॥ ९ ॥

तब सुदेष्णाने सैरन्ध्रीको कीचकके घर जानेके लिये कहा ॥ ९ ॥

सुदेष्णोवाच

उत्तिष्ठ गच्छ सैरन्ध्रि कीचकस्य निवेशनम्।
पानमानय कल्याणि पिपासा मां प्रबाधते ॥ १०॥

सुदेष्णा बोली—सैरन्ध्री ! उठो और कीचकके घर जाओ। कल्याणी ! मुझे प्यास विशेष कष्ट दे रही है; अतः वहाँसे मेरे पीने योग्य रस ले आओ ॥ १० ॥

सैरन्ध्र्युवाच

न गच्छेयमहं तस्य राजपुत्रि निवेशनम्।
त्वमेव राज्ञि जानासि यथा स निरपत्रपः ॥ ११ ॥

सैरन्ध्रीने कहा—राजकुमारी ! मैं उसके घर नहीं जा सकती। महारानी ! आप तो जानती ही हैं कि वह कैसा निर्लज्ज है ॥ ११ ॥

न चाहमनवद्याङ्गि तव वेश्मनि भामिनि।
कामवृत्ता भविष्यामि पतीनां व्यभिचारिणी ॥ १२ ॥

निर्दोष अङ्गोंवाली देवि ! मैं आपके महलमें अपने पतियोंकी दृष्टिमें व्यभिचारिणी और स्वेच्छाचारिणी होकर नहीं रहूँगी ॥

त्वं चैव देवि जानासि यथा स समयः कृतः।
प्रविशन्त्या मया पूर्वं तव वेश्मनि भामिनि ॥ १३ ॥

भामिनि ! देवि ! पहले आपके इस राजभवनमें प्रवेश करते समय मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसे भी आप जानती ही हैं ॥ १३ ॥

कीचकस्तु सुकेशान्ते मूढो मदनदर्पितः।
सोऽवमंस्यति मां दृष्ट्वा न यास्ये तत्र शोभने ॥ १४ ॥

कमनीय केशोंवाली सुन्दरी ! मूर्ख कीचक तो काममदसे उन्मत्त हो रहा है। वह मुझे देखते ही अपमानित कर बैठेगा। इसलिये मैं वहाँ नहीं जाऊँगी ॥ १४ ॥

सन्ति बह्व्यस्तव प्रेष्या राजपुत्रि वशानुगाः।
अन्यां प्रेषय भद्रं ते स हि मामवमंस्यते ॥ १५ ॥

राजपुत्री ! आपके अधीन तो और भी बहुत-सी दासियाँ हैं; उन्हींमेंसे किसी दूसरीको भेज दीजिये। आपका कल्याण हो। मेरे जानेसे कीचक मेरा अपमान करेगा ॥ १५॥

सुदेष्णोवाच

नैव त्वां जातु हिंस्यात् स इतः सम्प्रेषितां मया।
इत्युक्त्वा प्रददौ पात्रं सपिधानं हिरण्मयम् ॥ १६ ॥

सुदेष्णा बोली—शुभे ! मैंने तुम्हें यहाँसे भेजा है, अतः वह कभी तुम्हें कष्ट नहीं देगा।

यह कहकर सुदेष्णाने द्रौपदीके हाथमें ढक्कनसहित एक सुवर्णमय पात्र दे दिया ॥ १६ ॥

सा शङ्कमाना रुदती दैवं शरणमीयुषी।
प्रातिष्ठत सुराहारी कीचकस्य निवेशनम् ॥ १७ ॥

द्रौपदी मदिरा लानेके लिये उस पात्रको लेकर शङ्कित हो रोती हुई कीचकके घरकी ओर चली और अपने सतीत्वकी रक्षाके लिये मन-ही-मन भगवान् सूर्यकी शरणमें गयी ॥

सैरन्ध्र्युवाच

यथाहमन्यं भर्तृभ्यो नाभिजानामि कंचन।
तेन सत्येन मां प्राप्तां मा कुर्यात् कीचको वशे ॥ १८ ॥

सैरन्ध्रीने कहा—भगवन् ! यदि मैं अपने पतियोंके सिवा दूसरे किसी पुरुषको मनमें नहीं लाती, तो इस सत्यके प्रभावसे कीचक अपने घरमें आयी हुई मुझ अबलाको अपने वशमें न कर सके ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

उपातिष्ठत सा सूर्यं मुहूर्तमबला ततः।
स तस्यास्तनुमध्यायाः सर्वं सूर्योऽवबुद्धवान् ॥ १९ ॥
अन्तर्हितं ततस्तस्या रक्षो रक्षार्थमादिशत्।
तच्चैनां नाजहात् तत्र सर्वावस्थास्वनिन्दिताम्॥ २०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सब प्रकारके बलसे रहित द्रौपदी दो घड़ीतक भगवान् सूर्यकी उपासना करती रही। तदनन्तर श्रीसूर्यदेवने पतले कटिभागवाली द्रुपदकुमारीकी सारी परिस्थिति समझ ली और उसकी रक्षाके लिये अदृश्यरूपसे एक राक्षसको नियुक्त कर दिया। वह राक्षस किसी भी अवस्थामें सती-साध्वी द्रौपदीको वहाँ असहाय नहीं छोड़ता था ॥ १९-२० ॥

तां मृगीमिव संत्रस्तां दृष्ट्वा कृष्णां समीपगाम्।
उदतिष्ठन्मुदा सूतो नावं लब्ध्वेव पारगः ॥ २१ ॥

डरी हुई हरिणीकी भाँति भयभीत द्रौपदीको समीप आयी देख सूत कीचक आनन्दमें भरकर खड़ा हो गया; मानो नदीके पार जानेवाला पथिक नौका पाकर प्रसन्न हो गया हो ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीसुराहरणे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीके द्वारा मदिरानयनसम्बन्धी पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २५ श्लोक मिलाकर कुल ४६ श्लोक हैं)

षोडशोऽध्यायः

कीचकद्वारा द्रौपदीका अपमान

कीचक उवाच

स्वागतं ते सुकेशान्ते सुव्युष्टा रजनी मम ।
स्वामिनी त्वमनुप्राप्ता प्रकुरुष्व मम प्रियम् ॥ १ ॥

कीचकने कहा—सुन्दर अलकोंवाली सैरन्ध्री ! तुम्हारा स्वागत है । आजकी रातका प्रभात मेरे लिये बड़ा मङ्गलमय है । अब तुम मेरी स्वामिनी होकर मेरा प्रिय कार्य करो ॥ १ ॥

सुवर्णमालाः कम्बूश्च कुण्डले परिहाटके ।
नानापत्तनजे शुभ्रे मणिरत्नं च शोभनम् ॥ २ ॥
आहरन्तु च वस्त्राणि कौशिकान्यजिनानि च ।

मैं दासियोंको आज्ञा देता हूँ; वे तुम्हारे लिये सोनेके हार, शङ्खकी चूड़ियाँ, विभिन्न नगरोंमें बने हुए शुभ्र सुवर्णमय कर्ण-फूलके जोड़े, सुन्दर मणि-रत्नमय आभूषण, रेशमी साड़ियाँ तथा मृगचर्म आदि ले आवें ॥ २½ ॥

अस्ति मे शयनं दिव्यं त्वदर्थमुपकल्पितम् ।
एहि तत्र मया सार्द्धं पिबस्व मधुमाधवीम् ॥ ३ ॥

मैंने तुम्हारे लिये पहलेसे ही यह दिव्य शय्या बिछा रक्खी है । आओ, यहाँ मेरे साथ बैठकर मधुर माध्वीरसका पान करो ॥ ३ ॥

द्रौपद्युवाच

(नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुं निषादेनेव ब्राह्मणी ।
मा गमिष्यसि दुर्बुद्धे गतिं दुर्गान्तरान्तराम् ॥

द्रौपदी बोली—दुर्बुद्धे ! जैसे निषाद ब्राह्मणीका स्पर्श नहीं कर सकता, उसी प्रकार तुम भी मुझे छू नहीं सकते । तुम मेरा तिरस्कार करके भारीसे भारी दुर्गतिमें न पड़ो ॥

यत्र गच्छन्ति बहवः परदाराभिमर्शकाः ।
नराः सम्भिन्नमर्यादाः कीटवच्च गुहाशयाः ॥)

उस दुरवस्थामें न जाओ, जहाँ धर्ममर्यादाका छेदन करनेवाले बहुत-से परस्त्रीगामी मनुष्य बिलमें सोनेवाले कीड़ोंकी भाँति जाया करते हैं ॥

अप्रैषीद् राजपुत्री मां सुराहारीं तवान्तिकम् ।
पानमाहर मे क्षिप्रं पिपासा मेऽति चाब्रवीत् ॥ ४ ॥

राजकुमारी सुदेष्णाने मुझे मदिरा लानेके लिये तुम्हारे पास भेजा है । उनका कहना है—'मुझे बड़े जोरकी प्यास लगी है; अतः शीघ्र मेरे लिये पीने योग्य रस ले आओ' ॥ ४ ॥

कीचक उवाच

अन्या भद्रे नयिष्यन्ति राजपुत्र्याः प्रतिश्रुतम् ।
इत्येतां दक्षिणे पाणौ सूतपुत्रः परामृशत् ॥ ५ ॥

कीचकने कहा—कल्याणी ! राजपुत्री सुदेष्णाकी मँगायी हुई वस्तु दूसरी दासियाँ पहुँचा देंगी ।

ऐसा कहकर सूतपुत्रने द्रौपदीका दाहिना हाथ पकड़ लिया ॥ ५

द्रौपद्युवाच

यथैवाहं नाभिचरे कदाचित्
पतीन् मदाद् वै मनसापि जातु ।
तेनैव सत्येन वशीकृतं त्वां
द्रष्टास्मि पापं परिकृष्यमाणम् ॥ ६ ॥

द्रौपदी बोली—ओ पापी ! यदि मैंने आजतक कभी मनसे भी अभिमानवश अपने पतियोंके विरुद्ध आचरण न किया हो, तो इस सत्यके प्रभावसे मैं देखूँगी कि तू शत्रुके अधीन होकर पृथ्वीपर घसीटा जा रहा है ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

स तामभिप्रेक्ष्य विशालनेत्रां
जिघृक्षमाणः परिभर्त्सयन्तीम् ।
जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे
स कीचकस्तां सहसाऽऽक्षिपन्तीम् ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! बड़े-बड़े नेत्रोंवाली द्रौपदीको इस प्रकार फटकारती देख कीचकने उसे पकड़ लेनेकी इच्छा की; किंतु वह सहसा झटका देकर पीछेकी ओर हटने लगी; इतनेमेंही झपटकर कीचकने उसके दुपट्टेका छोर पकड़ लिया ॥ ७ ॥

प्रगृह्यमाणा तु महाजवेन
मुहुर्विनिःश्वस्य च राजपुत्री ।
तया समाक्षिप्ततनुः स पापः
पपात शाखीव निकृत्तमूलः ॥ ८ ॥

अब वह बड़े वेगसे उसे काबूमें लानेका प्रयत्न करने लगा । इधर राजकुमारी द्रौपदी बारंबार लंबी साँसें भरती हुई उससे छूटनेका प्रयत्न करने लगी । उसने सँभलकर दोनों हाथोंसे कीचकको बड़े जोरका धक्का दिया; जिससे वह पापी जड़-मूलसे कटे वृक्षकी भाँति (धम्मसे) जमीनपर जा गिरा ॥ ८ ॥

सा गृहीता विधुन्वाना भूमावाक्षिप्य कीचकम् ।
सभां शरणमागच्छद् यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

इस प्रकार पकड़में आनेपर कीचकको धरतीपर गिराकर भयसे काँपती हुई द्रौपदीने भागकर उस राजसभाकी शरण ली, जहाँ राजा युधिष्ठिर विद्यमान थे ॥ ९ ॥

तां कीचकः प्रधावन्तीं केशपाशे परामृशत्।
अथैनां पश्यतो राज्ञः पातयित्वा पदावधीत् ॥१०॥

कीचकने भी उठकर भागती हुई द्रौपदीका पीछा किया और उसका केशपाश पकड़ लिया। फिर उसने राजाके देखते-देखते उसे पृथ्वीपर गिराकर लात मारी ॥ १० ॥

तस्य योऽसौ तदार्केण राक्षसः संनियोजितः।
स कीचकमपोवाह वातवेगेन भारत ॥११॥

भारत ! इतनेमें ही भगवान् सूर्यने जिस राक्षसको द्रौपदीकी रक्षाके लिये नियुक्त कर रक्खा था, उसने कीचकको पकड़कर आँधीके समान वेगसे दूर फेंक दिया ॥ ११ ॥

स पपात तदा भूमौ रक्षोबलसमाहतः।
विघूर्णमानो निश्चेष्टश्छिन्नमूल इव द्रुमः ॥१२॥

राक्षसद्वारा बलपूर्वक आहत होकर कीचकके सारे शरीरमें चक्कर आ गया और वह जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति निश्चेष्ट होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १२ ॥

(सभायां पश्यतो राज्ञो विराटस्य महात्मनः।
ब्राह्मणानां च वृद्धानां क्षत्रियाणां च पश्यताम् ॥
तस्याः पादाभितप्तायाः मुखाद् रुधिरमास्रवत्।
तां दृष्ट्वा तत्र ते सभ्या हाहाभूताः समन्ततः ॥
न युक्तं सूतपुत्रेति कीचकेति च मानवाः।
किमियं वध्यते बाला कृपणा चाप्यबान्धवा ॥)

सभामें महामना राजा विराटके तथा वृद्ध ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके देखते-देखते कीचकके पादप्रहारसे पीड़ित हुई द्रौपदीके मुँहसे रक्त बहने लगा। उसे उस अवस्थामें देखकर समस्त सभासद् सब ओरसे हाहाकार कर उठे और सब लोग कहने लगे—'सूतपुत्र कीचक ! तुम्हारा यह कार्य उचित नहीं है। यह बेचारी अबला अपने बन्धु-बान्धवोंसे रहित है। इसे क्यों पीड़ा दे रहे हो ?'

तां चासीनौ ददृशतुर्भीमसेनयुधिष्ठिरौ।
अमृष्यमाणौ कृष्णायाः कीचकेन पराभवम् ॥१३॥

उस समय भीमसेन और युधिष्ठिर भी राजसभामें बैठे हुए थे। उन्होंने कीचकके द्वारा द्रौपदीका यह अपमान अपनी आँखों देखा; जिसे वे सहन न कर सके ॥ १३ ॥

तस्य भीमो वधं प्रेप्सुः कीचकस्य दुरात्मनः।
दन्तैर्दन्तांस्तदा रोषान्निष्पिपेष महामनाः ॥१४॥

महामना भीमसेन दुरात्मा कीचकको मार डालनेकी इच्छासे उस समय रोषवश दाँतोंसे दाँत पीसने लगे ॥ १४ ॥

धूमच्छाया ह्यभजतां नेत्रे चोच्छ्रितपक्ष्मणी।
सस्वेदा भृकुटी चोग्रा ललाटे समवर्तत ॥१५॥

उनकी आँखोंकी पलकें ऊपरको उठकर तन गयीं। उनमें धूआँ-सा छा गया, ललाटमें पसीना निकल आया और भौंहें टेढ़ी होकर भयंकर प्रतीत होने लगीं ॥ १५ ॥

हस्तेन ममृजे चैव ललाटं परवीरहा।
भूयश्च त्वरितः क्रुद्धः सहसोत्थातुमैच्छत ॥१६॥

शत्रुहन्ता भीम हाथसे माथेका पसीना पोंछने लगे। फिर तुरंत ही प्रचण्ड कोपमें भर गये और सहसा उठनेकी इच्छा करने लगे ॥ १६ ॥

अथावमृद्नादङ्गुष्ठमङ्गुष्ठेन युधिष्ठिरः।
प्रबोधनभयाद् राजा भीमं तं प्रत्यषेधयत् ॥१७॥

तब राजा युधिष्ठिरने रहस्य प्रकट हो जानेके डरसे अपने अँगूठेसे भीमका अँगूठा दबाया और इस प्रकार उन्हें उत्तेजित होनेसे रोका ॥ १७ ॥

तं मत्तमिव मातङ्गं वीक्षमाणं वनस्पतिम्।
स तमावारयामास भीमसेनं युधिष्ठिरः ॥१८॥

भीमसेन मतवाले गजराजकी भाँति एक वृक्षकी ओर देख रहे थे। तब युधिष्ठिरने उन्हें रोकते हुए कहा—॥१८॥

आलोकयसि किं वृक्षं सूद दारुकृतेन वै।
यदि ते दारुभिः कृत्यं बहिर्वृक्षान्निगृह्यताम् ॥१९॥

'बल्लव ! क्या तुम ईंधनके लिये वृक्षकी ओर देखते हो ? यदि रसोईके लिये सूखी लकड़ी चाहिये, तो बाहर जाकर वृक्षसे ले लो ॥ १९ ॥

(यस्य चार्द्रस्य वृक्षस्य शीतच्छायां समाश्रयेत्।
न तस्य पर्णं द्रुह्येत पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥

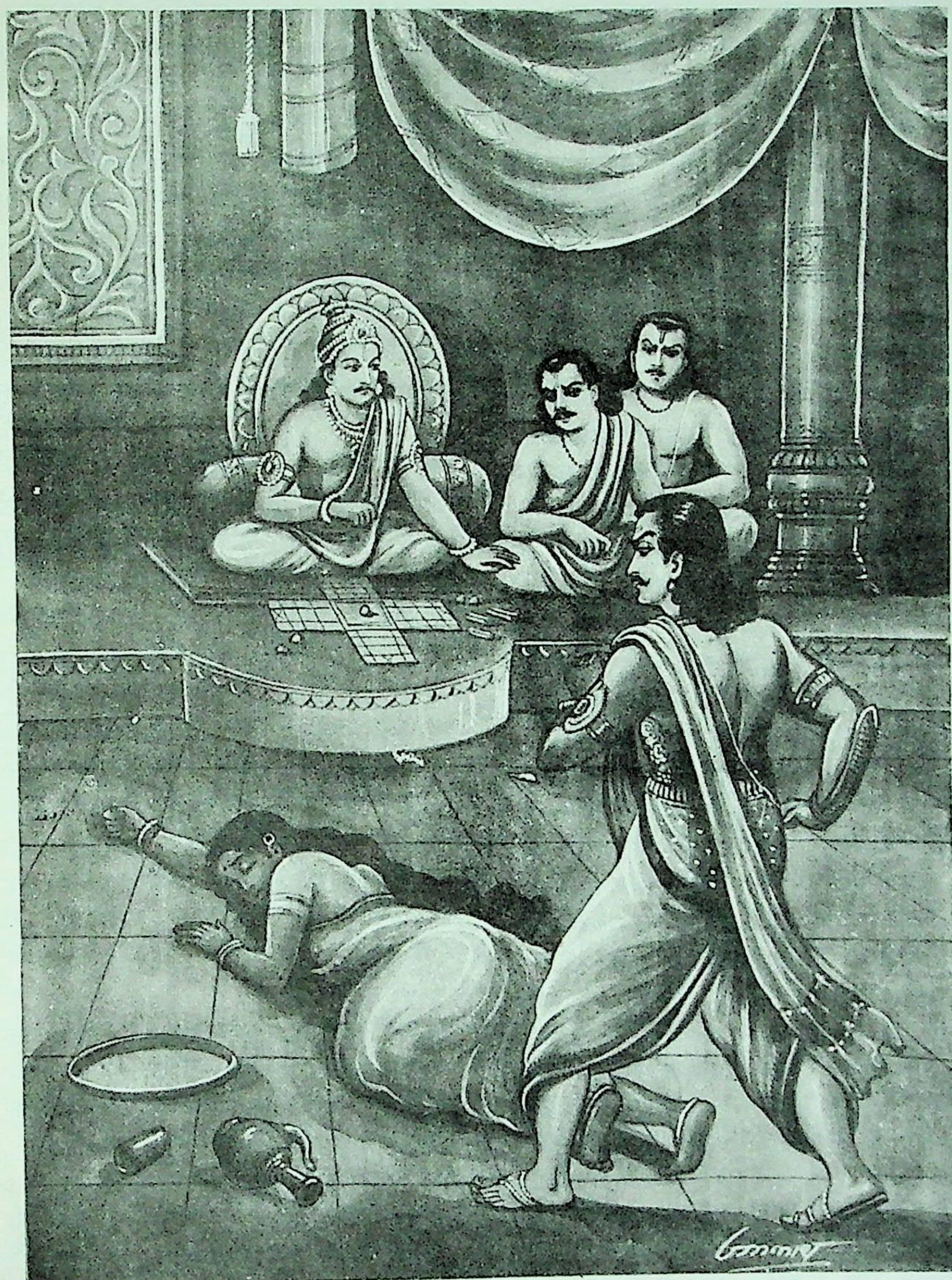
'जिस हरे-भरे वृक्षकी शीतल छायाका आश्रय लेकर रहा जाय, उसके किसी एक पत्तेसे भी द्रोह नहीं करना चाहिये। उसके पहलेके उपकारोंको सदा याद रखकर उसकी रक्षा करनी चाहिये' ॥

इङ्गितज्ञः स तु भ्रातुस्तूष्णीमासीद् वृकोदरः ॥
भीमस्य तु समारम्भं दृष्ट्वा राज्ञश्च चेष्टितम्।
द्रौपद्यभ्यधिकं क्रुद्धा प्रारुदत् सा पुनः पुनः ॥
कीचकेनानुगमनात् कृष्णा ताम्रायतेक्षणा।)

तब भाईके संकेतको समझनेवाले भीमसेन उस समय चुप हो गये। भीमके उस क्रोधको तथा राजा युधिष्ठिरकी शान्तिपूर्ण चेष्टाको देखकर द्रौपदी अधिक क्रुद्ध हो उठी। कीचकके पीछा करनेसे कृष्णाकी आँखें रोषसे लाल हो रही थीं। वह खीझके कारण बार-बार रोने लगी ॥

सा सभाद्वारमासाद्य रुदती मत्स्यमब्रवीत्।
अवेक्षमाणा सुश्रोणी पतींस्तान् दीनचेतसः ॥२०॥

इधर सुन्दर कटिप्रान्तवाली द्रौपदी राजसभाके द्वारपर आकर अपने दीन हृदयवाले पतियोंकी ओर देखती हुई मत्स्यनरेशसे बोली ॥ २० ॥



विराटकी राजसभामें कीचकद्वारा सैरन्ध्रीका अपमान

आकारमभिरक्षन्ती प्रतिज्ञाधर्मसंहिता ।
दह्यमानेव रौद्रेण चक्षुषा द्रुपदात्मजा ॥२१॥

उस समय वह प्रतिज्ञारूप धर्मसे आबद्ध होनेके कारण अपने स्वरूपको छिपा रही थी; किंतु उसके नेत्र मानो जला रहे हों, इस प्रकार भयंकर हो उठे थे ॥ २१ ॥

(द्रौपद्युवाच

प्रजारक्षणशीलानां राज्ञां ह्यमिततेजसाम् ।
कार्यं हि पालनं नित्यं धर्मे सत्ये च तिष्ठताम् ॥
स्वप्रजायां प्रजायां च विशेषं नाधिगच्छताम् ।

द्रौपदीने कहा—जो स्वभावसे ही प्रजाजनोंकी रक्षामें लगे हुए हैं, सदा धर्म और सत्यके मार्गमें स्थित हैं तथा प्रजा और अपनी संतानमें कोई अन्तर नहीं समझते, उन अमित-तेजस्वी राजाओंको चाहिये कि वे सदा आश्रितजनोंका पालन एवं संरक्षण करें ॥

प्रियेष्वपि च द्वेष्येषु समत्वं ये समाश्रिताः ॥
विवादेषु प्रवृत्तेषु समं कार्यानुदर्शिना ।
राज्ञा धर्मासनस्थेन जितौ लोकावुभावपि ॥

जो प्रियजनों तथा द्वेषपात्रोंमें भी समानभाव रखते हैं, प्रजाजनोंमें विवाद आरम्भ होनेपर जो राजा धर्मासनपर बैठ-कर समानभावसे प्रत्येक कार्यपर विचार करते हैं, वे दोनों लोकोंको जीत लेते हैं ॥

राजन् धर्मासनस्थोऽपि रक्ष मां त्वमनागसीम् ॥
अहं त्वनपराध्यन्ती कीचकेन दुरात्मना ।
पश्यतस्ते महाराज हता पादेन दासवत् ॥

राजन् ! आप धर्मके आसनपर बैठे हैं । मुझ निरपराध अबलाकी रक्षा कीजिये । महाराज ! मैंने कोई अपराध नहीं किया है, तो भी दुरात्मा कीचकने आपके देखते-देखते मुझको लात मारी है; मेरे साथ (खरीदे हुए) दासका-सा बर्ताव किया है ॥

मत्स्याधिप प्रजा रक्ष पिता पुत्रानिवौरसान् ॥
यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्मा कुरुते नृपः ।
अचिरात् तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥

मत्स्यराज ! जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप अपने प्रजाजनोंका संरक्षण कीजिये । जो मोहमें डूबा हुआ राजा अधर्मयुक्त कार्य करता है, उस दुरात्माको उसके शत्रु शीघ्र ही वशमें कर लेते हैं ॥

मत्स्यानां कुलजस्त्वं हि तेषां सत्यं परायणम् ।
त्वं किलैवंविधो जातः कुले धर्मपरायणे ॥

आप मत्स्यकुलमें उत्पन्न हुए हैं । सत्य ही मत्स्यनरेशों-का महान् आश्रय रहा है । आप भी इस धर्मपरायण कुलमें ऐसे ही धर्मात्मा पैदा हुए हैं ॥

अतस्त्वाहमभिक्रन्दे शरणार्थं नराधिप ।
त्राहि मामद्य राजेन्द्र कीचकात् पापपूरुषात् ॥

अतः नरेश्वर ! मैं आपसे शरण देनेके लिये रुदन करती हूँ । राजेन्द्र ! आज मुझे इस पापी कीचकसे बचाइये ॥

अनाथामिह मां ज्ञात्वा कीचकः पुरुषाधमः ।
प्रहरत्येव नीचात्मा न तु धर्ममवेक्षते ॥

पुरुषाधम कीचक यहाँ मुझे असहाय जानकर मार रहा है । यह नीच अपने धर्मकी ओर नहीं देखता है ॥

अकार्याणामनारम्भात् कार्याणामनुपालनात् ।
प्रजासु ये सुवृत्तास्ते स्वर्गमायान्ति भूमिपाः ॥

जो भूमिपाल न करने योग्य कार्योंका आरम्भ नहीं करते, करनेयोग्य कर्तव्योंका निरन्तर पालन करते हैं और सदा प्रजाके साथ उत्तम बर्ताव करते हैं, वे स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥

कार्याकार्यविशेषज्ञाः कामकारेण पार्थिव ।
प्रजासु किल्बिषं कृत्वा नरकं यान्त्यधोमुखाः ॥

परंतु राजन् ! जो राजा कर्तव्य और अकर्तव्यके अन्तरको जानते हुए भी स्वेच्छाचारितावश प्रजावर्गके साथ पापाचार करते हैं, वे अधोमुख हो नरकमें जाते हैं ॥

नैव यज्ञैर्न वा दानैर्न गुरोरुपसेवया ।
प्राप्नुवन्ति तथा धर्मं यथा कार्यानुपालनात् ॥

राजालोग यज्ञ, दान अथवा गुरुसेवनसे भी वैसा धर्म (पुण्य) नहीं पाते हैं, जैसा कि अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेसे प्राप्त करते हैं ॥

क्रियायामक्रियायां च प्रापणे पुण्यपापयोः ॥
प्रजायां सृज्यमानायां पुरा ह्येतदुदाहृतम् ।
एतद् वो मानुषाः सम्यक् कार्यं द्वन्द्वतया भुवि ।
अस्मिन् सुनीते दुर्नीते लभते कर्मजं फलम् ॥

पूर्वकालमें सृष्टिकी रचनाके समय ब्रह्माजीने क्रिया करने और न करनेकी स्थितिमें पुण्य और पापकी प्राप्तिके विषयमें इस प्रकार कहा था—'मनुष्यो ! तुमलोगोंको इस पृथ्वीलोकमें द्वन्द्वरूपमें प्राप्त धर्म और अधर्मके विषयमें भली-भाँति समझकर कर्म करना चाहिये; क्योंकि अच्छी या बुरी जैसी नीयतसे काम किया जाता है, वैसा ही कर्मजनित फल मिलता है ॥

कल्याणकारी कल्याणं पापकारी च पापकम् ।
तेन गच्छति संसर्गं स्वर्गाय नरकाय वा ॥

'कल्याणकारी मनुष्य कल्याणका और पापाचारी पुरुष पापके फलस्वरूप दुःखका भागी होता है । जो इनके संसर्गमें आता है, वह भी (कर्मानुसार) स्वर्ग या नरकमें जाता है ॥

सुकृतं दुष्कृतं वापि कृत्वा मोहेन मानवः ।
पश्चात्तापेन तप्येत स्वबुद्ध्या मरणं गतः ॥

‘मनुष्य मोहपूर्वक सत्कर्म या दुष्कर्म करके मृत्युके बाद भी मन ही-मन पश्चात्ताप करता रहता है’ ॥

एवमुक्त्वा परं वाक्यं विससर्ज शतक्रतुम् ।
शक्रोऽप्यापृच्छ्य ब्रह्माणं देवराज्यमपालयत् ॥

इस प्रकार उत्तम वचन कहकर ब्रह्माजीने इन्द्रको विदा कर दिया । इन्द्र भी ब्रह्माजीसे पूछकर देवलोकमें आये और देवसाम्राज्यका पालन करने लगे ॥

यथोक्तं देवदेवेन ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।
तथा त्वमपि राजेन्द्र कार्याकार्ये स्थिरो भव ॥

राजेन्द्र ! देवाधिदेव परमेष्ठी ब्रह्माजीने जैसा उपदेश दिया है, उसके अनुसार आप भी कर्तव्य और अकर्तव्यके निर्णयमें दृढ़तापूर्वक लगे रहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विलपमानायां पाञ्चाल्यां मत्स्यपुङ्गवः ।
अशक्तः कीचकं तत्र शासितुं बलदर्पितम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीके इस प्रकार विलाप करनेपर भी मत्स्यराज विराट बलाभिमानी कीचकपर शासन करनेमें असमर्थ ही रहे ॥

विराटराजः सूतं तु सान्त्वेनैव न्यवारयत् ।
कीचकं मत्स्यराजेन कृतागसमनिन्दिता ॥
नापराधानुरूपेण दण्डेन प्रतिपादितम् ।
पाञ्चालराजस्य सुता दृष्ट्वा सुरसुतोपमा ॥
धर्मज्ञा व्यवहाराणां कीचकं कृतकिल्बिषम् ।
पुनः प्रोवाच राजानं स्मरन्ती धर्ममुत्तमम् ॥
सम्प्रेक्ष्य च वरारोहा सर्वांस्तत्र सभासदः ।
विराटं चाह पाञ्चाली दुःखेनाविष्टचेतना ॥)

उन्होंने शान्तिपूर्वक समझा-बुझाकर ही सूतको वैसा करनेसे मना किया । यद्यपि कीचकने भारी अपराध किया था, तो भी मत्स्यराजने उसे अपराधके अनुसार दण्ड नहीं दिया; यह देख देवकन्याके समान सुन्दरी एवं व्यवहार-धर्मको जाननेवाली साध्वी द्रौपदी उत्तम धर्मका स्मरण करती हुई राजा विराट तथा समस्त सभासदोंकी ओर देखकर दुःखी हृदयसे इस प्रकार बोली—॥

येषां वैरी न स्वपिति षष्ठेऽपि विषये वसन् ।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत् ॥२२॥

‘जिन मेरे पतियोंके वैरीको पाँच देशोंको पार करके छठे देशमें रहनेपर भी भयके मारे नींद नहीं आती, आज उन्हींकी मानिनी पत्नी मुझ असहाय अबलाको एक सूतपुत्रने लातसे मारा है ॥ २२ ॥

ये दद्युर्न च याचेयुर्ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत् ॥२३॥

‘जो सदा दूसरोंको देते हैं, किंतु किसीसे याचना नहीं करते, जो ब्राह्मणभक्त तथा सत्यवादी हैं, उन्हींकी मुझ मानिनी पत्नीको सूतपुत्रने लात मारी है ॥ २३ ॥

येषां दुन्दुभिनिर्घोषो ज्याघोषः श्रूयतेऽनिशम् ।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत् ॥२४॥

‘जिनके धनुषकी टङ्कार सदा देव-दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनिके समान सुनायी पड़ती है, उन्हींकी मुझ मानिनी पत्नीको सूतपुत्रने लातसे मारा है ॥ २४ ॥

ये च तेजस्विनो दान्ता बलवन्तोऽतिमानिनः ।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत् ॥२५॥

‘जो तेजस्वी, जितेन्द्रिय, बलवान् और अत्यन्त मानी हैं, उन्हींकी मुझ मानिनी पत्नीपर सूतपुत्रने पैरसे आघात किया है ॥ २५ ॥

सर्वलोकमिमं हन्युर्धर्मपाशसितास्तु ये ।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत् ॥२६॥

‘मेरे पति इस सम्पूर्ण संसारको मार॰ सकते हैं; किंतु वे धर्मके बन्धनमें बँधे हैं, इसीसे आज उनकी मुझ मानिनी पत्नीपर सूतपुत्रने पैरसे प्रहार किया है ॥ २६ ॥

शरणं ये प्रपन्नानां भवन्ति शरणार्थिनाम् ।
चरन्ति लोके प्रच्छन्नाः क्व नु तेऽद्य महारथाः ॥२७॥

‘जो शरण चाहनेवाले अथवा शरणमें आये हुए सब लोगोंको शरण देते हैं, वे मेरे महारथी पति अपने स्वरूपको छिपाकर आज जगत्‌में कहाँ विचर रहे हैं ? ॥ २७ ॥

कथं ते सूतपुत्रेण वध्यमानां प्रियां सतीम् ।
मर्षयन्ति यथा क्लीबा बलवन्तोऽमितौजसः ॥२८॥

‘जो अमिततेजस्वी और बलवान् हैं, वे (मेरे पति) एक सूतपुत्रद्वारा मारी जाती हुई अपनी सती-साध्वी प्रिय पत्नीका अपमान कायरों और नपुंसकोंकी भाँति कैसे सहन कर रहे हैं ? ॥

क्व नु तेषाममर्षश्च वीर्यं तेजश्च वर्तते ।
न परीप्सन्ति ये भार्यां वध्यमानां दुरात्मना ॥२९॥

‘आज उनका अमर्ष, पराक्रम और तेज कहाँ है ? जो एक दुरात्माकी मार खाती हुई अपनी पत्नीकी रक्षा नहीं करते हैं ॥ २९ ॥

मयात्र शक्यं किं कर्तुं विराटे धर्मदूषके ।
यः पश्यन् मां मर्षयति वध्यमानामनागसम् ॥३०॥

‘यहाँका राजा विराट भी धर्मको कलङ्कित करनेवाला है; जो मुझ निरपराध अबलाको अपने सामने मार खाती देखकर भी सहन किये जाता है । भला, इसके रहते मैं इस अपमान-का बदला चुकानेके लिये क्या कर सकती हूँ ? ॥ ३० ॥

न राजा राजवत् किंचित् समाचरति कीचके ।
दस्यूनामिव धर्मस्ते न हि संसदि शोभते ॥३१॥

नाहमेतेन युक्तं वै हन्तुं मत्स्य तवान्तिके।
सभासदोऽत्र पश्यन्तु कीचकस्य व्यतिक्रमम् ॥३२॥

'यह राजा होकर भी कीचकके प्रति कुछ भी राजोचित न्याय नहीं कर रहा है। मत्स्यराज ! तुम्हारा यह लुटेरोंका-सा धर्म इस राजसभामें शोभा नहीं देता। तुम्हारे निकट इस कीचकद्वारा मुझपर मार पड़ी, यह कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। यहाँ जो सभासद् बैठे हैं, वे भी कीचकका यह अत्याचार देखें ॥ ३१-३२ ॥

कीचको न च धर्मज्ञो न च मत्स्यः कथंचन।
सभासदोऽप्यधर्मज्ञा य एनं पर्युपासते ॥३३॥

'कीचकको धर्मका ज्ञान नहीं है और यह मत्स्यराज भी किसी प्रकार धर्मज्ञ नहीं है तथा जो इस अधर्मी राजाके पास बैठते हैं, वे सभासद् भी धर्मके ज्ञाता नहीं हैं' ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवंविधैर्वचोभिः सा तदा कृष्णाश्रुलोचना।
उपालभत राजानं मत्स्यानां वरवर्णिनी ॥३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उत्तम वर्णवाली द्रौपदीने उस समय आँखोंमें आँसू भरकर ऐसे वचनोंद्वारा मत्स्यराजको बहुत फटकारा और उलाहना दिया ॥ ३४ ॥

विराट उवाच

परोक्षं नाभिजानामि विग्रहं युवयोरहम्।
अर्थतत्त्वमविज्ञाय किं नु स्यात् कौशलं मम ॥३५॥

तब विराट बोले—सैरन्ध्री ! हमारे परोक्षमें तुम दोनोंमें किस प्रकार कलह हुआ है; इसे मैं नहीं जानता और वास्तविक बातको जाने बिना न्याय करनेमें मेरा क्या कौशल प्रकट होगा ? ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु सभ्या विज्ञाय कृष्णां भूयोऽभ्यपूजयन्।
साधु साध्विति चाप्याहुः कीचकं च व्यगर्हयन् ॥३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर सभासदोंने सारा रहस्य जानकर द्रौपदीकी बार-बार सराहना की। उसे अनेक बार साधुवाद दिया और कीचककी निन्दा करते हुए उसे बहुत धिक्कारा ॥ ३६ ॥

सभ्या ऊचुः

यस्येयं चारुसर्वाङ्गी भार्या स्यादायतेक्षणा।
परो लाभस्तु तस्य स्यान्न च शोचेत् कथंचन ॥३७॥

सभासद् बोले—सम्पूर्ण मनोहर अङ्गोंसे सुशोभित यह बड़े-बड़े नेत्रोंवाली साध्वी जिसकी धर्मपत्नी है, उसे जीवनमें बहुत बड़ा लाभ मिला है। वह किसी प्रकार शोक नहीं कर सकता ॥ ३७ ॥

(यस्या गात्रं शुभं पीनं मुखं जयति पङ्कजम्।
गतिर्हंसं स्मितं कुन्दं सैषा नार्हति पद्वधम् ॥

जिसका शरीर शुभ और हृष्ट-पुष्ट है, जिसका मुख अपने सौन्दर्यसे कमलको पराजित कर रहा है तथा जिसकी मन्द-मन्द गति हंसको और मुस्कान कुन्दपुष्पोंकी शोभाको तिरस्कृत कर रही है, वही यह नारी पदप्रहारके योग्य नहीं है ॥

द्वात्रिंशद् दशना यस्याः श्वेता मांसनिबन्धनाः।
स्निग्धाश्च मृदवः केशाः सैषा नार्हति पद्वधम् ॥

जिसके बत्तीसों दाँत मसूड़ोंमें दृढ़तापूर्वक आबद्ध और उज्ज्वल हैं, जिसके केश चिकने और कोमल हैं, वैसी यह नारी लात मारने योग्य कदापि नहीं है ॥

पद्मं चक्रं ध्वजं शङ्खं प्रासादो मकरस्तथा।
यस्याः पाणितले सन्ति सैषा नार्हति पद्वधम् ॥

जिसकी हथेलीमें कमल, चक्र, ध्वजा, शङ्ख, मन्दिर और मगरके चिह्न हैं, वह शुभलक्षणा नारी पैरोंसे ठुकरायी जाय, यह कदापि उचित नहीं है ॥

आवर्ताः खलु चत्वारः सर्वे चैव प्रदक्षिणाः।
समं गात्रं शुभं स्निग्धं यस्या नार्हति पद्वधम् ॥

जिसके शरीरमें चार आवर्त हैं और वे सबके सब प्रदक्षिणभावसे सुशोभित हैं, जिसके अङ्ग समान (सुडौल), शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न और स्निग्ध हैं, वह लात मारने योग्य नहीं है ॥

अच्छिद्रहस्तपादा च अच्छिद्रदशना च या।
कन्या कमलपत्राक्षी कथमर्हति पद्वधम् ॥

जिसके हाथों, पैरों और दाँतोंमें छिद्र नहीं दिखायी देते हैं, वह कमलदललोचना कन्या पैरोंसे ठोकर मारने योग्य कैसे हो सकती है ? ॥

सेयं लक्षणसम्पन्ना पूर्णचन्द्रनिभानना।
सुरूपिणी सुवदना नेयं योग्या पदा वधम् ॥

यह समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न है। इसका मुख पूर्ण-चन्द्रके समान मनोहर है। यह सुन्दर रूपवाली सुमुखी नारी पैरोंसे ठुकराने योग्य नहीं है ॥

देवदेवीव सुभगा शक्रदेवीव शोभना।
अप्सरा इव सौरूप्यान्नेयं योग्या पदा वधम् ॥)

यह देवाङ्गनाके समान सौभाग्यशालिनी, इन्द्राणीके समान शोभासम्पन्न तथा अप्सराके समान सुन्दर रूप धारण करने-वाली है। यह लात मारने योग्य कदापि नहीं है ॥

न हीदृशी मनुष्येषु सुलभा वरवर्णिनी।
नारी सर्वानवद्याङ्गी देवीं मन्यामहे वयम् ॥३८॥

मनुष्य-जातिमें तो ऐसी सती-साध्वी और सुन्दरी स्त्री सुलभ ही नहीं होती । इसके सम्पूर्ण अङ्ग निर्दोष हैं। हम तो इसे मानवी नहीं; देवी मानते हैं ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्पूजयन्तस्ते कृष्णां प्रेक्ष्य सभासदः।
युधिष्ठिरस्य कोपात् तु ललाटे स्वेद आगमत् ॥३९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जब इस प्रकार द्रौपदीको देखकर सभासद् उसकी प्रशंसा कर रहे थे, उस समय कीचकके प्रति क्रोध होनेके कारण युधिष्ठिरके ललाटमें पसीना आ गया ॥ ३९ ॥

(सा विनिःश्वस्य सुश्रोणी भूमावन्तर्मुखी स्थिता।
तूष्णीमासीत् तदा दृष्ट्वा विवक्षन्तं युधिष्ठिरम् ॥)

तदनन्तर सुन्दरी द्रौपदी लंबी साँस खींचकर नीचा मुख किये भूमिपर खड़ी हो गयी और राजा युधिष्ठिरको कुछ कहनेके लिये उद्यत देख वह स्वयं मौन रह गयी ॥

अथाब्रवीद् राजपुत्रीं कौरव्यो महिषीं प्रियाम् ।
गच्छ सैरन्ध्रि मात्र स्थाः सुदेष्णाया निवेशनम् ॥४०॥

तब उन कुरुनन्दनने अपनी प्यारी रानीसे इस प्रकार कहा—'सैरन्ध्री ! अब तू यहाँ न ठहर । रानी सुदेष्णाके महलमें चली जा ॥ ४० ॥

भर्तारमनुरुन्धन्त्यः क्लिश्यन्ते वीरपत्नयः।
शुश्रूषया क्लिश्यमानाः पतिलोकं जयन्त्युत ॥४१॥

'पतिका अनुसरण करनेवाली वीरपत्नियाँ सब क्लेश चुपचाप सहन कर लेती हैं । जो पतिसेवापूर्वक क्लेश उठाती हैं, वे साध्वी देवियाँ पतिलोकपर विजय पा लेती हैं ॥ ४१ ॥

मन्ये न कालं क्रोधस्य पश्यन्ति पतयस्तव।
तेन त्वां नाभिधावन्ति गन्धर्वाः सूर्यवर्चसः ॥४२॥

'मैं समझता हूँ, तुम्हारे सूर्यके समान तेजस्वी पति गन्धर्वगण अभी क्रोध करनेका अवसर नहीं देखते; इसीलिये तुम्हारे पास दौड़कर नहीं आ रहे हैं ॥ ४२ ॥

(श्रूयन्तां ते सुकेशान्ते मोक्षधर्माश्रयाः कथाः।
यथा धर्मः कुलस्त्रीणां दृष्टो धर्मानुरोधनात् ॥

'सुन्दर केशप्रान्तवाली सैरन्ध्री ! तुम मोक्षधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें सुनो । धर्मशास्त्रके अनुसार कुलवती स्त्रियोंका धर्म इस प्रकार देखा गया है ॥

नास्ति कश्चित् स्त्रिया यज्ञो न श्राद्धं नाप्युपोषणम्।
या च भर्तरि शुश्रूषा सा स्वर्गायाभिजायते ॥

'स्त्रीके लिये न तो कोई यज्ञ है, न श्राद्ध है और न उपवासका ही विधान है। स्त्रियोंके द्वारा जो पतिकी सेवा होती है, वही उन्हें स्वर्गकी प्राप्त करानेवाली है ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

'कुमारावस्थामें पिता, युवावस्थामें पति और वृद्धावस्थामें पुत्र नारीकी रक्षा करता है । स्त्रीको कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये ॥

भर्तॄन् प्रति तथा पत्न्यो न क्रुध्यन्ति कदाचन।
बहुभिश्च परिक्लेशैरवशाताश्च शत्रुभिः ॥

'पतिव्रता स्त्रियाँ नाना प्रकारके क्लेश सहकर तथा शत्रुओंद्वारा अपमानित होकर भी अपने पतियोंपर कभी क्रोध नहीं करतीं ॥

अनन्यभावशुश्रूषाः पुण्यलोकं व्रजन्त्युत ॥
न क्रुद्धान् प्रति यायाद् वै पतींस्ते वृत्रहा अपि ॥

'इस प्रकार अनन्यभावसे पतिकी शुश्रूषा करनेवाली स्त्रियाँ पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेती हैं । सैरन्ध्री ! तुम्हारे पतियोंके कुपित होनेपर तो वृत्रहन्ता इन्द्र भी युद्धमें उनका सामना नहीं कर सकते ॥

यदि ते समयः कश्चित् कृतो ह्यायतलोचने।
तं स्मरस्व क्षमाशीले क्षमा धर्मो ह्यनुत्तमः ॥

'विशाललोचने ! यदि उनके साथ तेरी कोई शर्त हुई हो, तो उसे याद कर ले । क्षमाशीले ! क्षमा सबसे उत्तम धर्म है ॥

क्षमा सत्यं क्षमा दानं क्षमा धर्मः क्षमा तपः।
क्षमावतामयं लोकः परलोकः क्षमावताम् ॥
द्व्यंशिनो द्वादशाङ्गस्य चतुर्विंशतिपर्वणः।
कः षष्टित्रिशतारस्य मासोनस्याक्षमी भवेत् ॥

'क्षमा सत्य है, क्षमा दान है, क्षमा धर्म है और क्षमा ही तप है । क्षमाशील मनुष्योंके लिये ही यह लोक और परलोक है । जिसके दो (उत्तरायण एवं दक्षिणायन) अंश हैं, बारह (मास) अङ्ग हैं, चौबीस (पक्ष) पर्व हैं और तीन सौ साठ (दिन) अरे हैं, उस कालचक्रके पूर्ण होनेमें यदि एक मासकी ही कमी रह गयी हो; तो कौन उसकी प्रतीक्षा न करके क्षमाका त्याग कर सकता है ?' ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्ते तिष्ठन्तीं पुनरेवाह धर्मराट् ।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इतना कहनेपर भी जब द्रौपदी वहाँ खड़ी ही रह गयी, तब धर्मराजने पुनः उससे कहा—॥

अकालज्ञासि सैरन्ध्रि शैलूषीव विरोदिषि।
विघ्नं करोषि मत्स्यानां दीव्यतां राजसंसदि ॥४३॥

'सैरन्ध्री ! तू अवसरको नहीं पहचानती; इसीलिये नटीकी भाँति राजसभामें रो रही है और द्यूतक्रीडामें लगे हुए मत्स्यराजकुमारोंके खेलमें विघ्न डालती है ॥ ४३ ॥

गच्छ सैरन्ध्रि गन्धर्वाः करिष्यन्ति तव प्रियम् ।
व्यपनेष्यन्ति ते दुःखं येन ते विप्रियं कृतम् ॥४४॥

'सैरन्ध्री ! जाओ, गन्धर्व तुम्हारा प्रिय करेंगे । जिसने तुम्हारा अपकार किया है, उसे मारकर तुम्हारा दुःख दूर कर देंगे' ॥ ४४ ॥

सैरन्ध्र्युवाच

अतीव तेषां घृणिनामर्थेऽहं धर्मचारिणी ।
तस्य तस्यैवं ते वध्या येषां ज्येष्ठोऽक्षदेविता ॥४५॥

सैरन्ध्री बोली—जिनके बड़े भाई सदा जूआ खेला करते हैं, उन दयालु गन्धर्वोंके लिये मैं अत्यन्त धर्मपरायणा रहूँगी । मेरा अपकार करनेवाले दुरात्मा उन सबके लिये वध्य हों ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्राद्रवत् कृष्णा सुदेष्णाया निवेशनम् ।
केशान् मुक्त्वा च सुश्रोणी संरम्भाल्लोहितेक्षणा ॥४६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यों कहकर सुन्दर कटिप्रान्तवाली द्रौपदी तीव्र गतिसे रानी सुदेष्णाके महलको चली गयी । उसके केश खुले हुए थे और क्रोधसे उसकी आँखें लाल हो रही थीं ॥ ४६ ॥

शुशुभे वदनं तस्या रुदत्याः सुचिरं तदा ।
मेघलेखाविनिर्मुक्तं दिवीव शशिमण्डलम् ॥४७॥

उस समय रोती हुई द्रौपदीका मुख इस प्रकार सुशोभित हो रहा था, मानो आकाशमें मेघमालाके आवरणसे मुक्त चन्द्रबिम्ब शोभा पा रहा हो ॥ ४७ ॥

(पांसुकुण्ठितसर्वाङ्गी गजराजवधूरिव ।
प्रतस्थे नागनासोरूर्भर्तुराज्ञाय शासनम् ॥

समस्त अङ्गोंमें धूलिसे धूसरित गजराजवधूकी भाँति शोभा पानेवाली तथा हाथीकी सूँड़के समान जाँघोंवाली द्रौपदी स्वामीकी आज्ञा शिरोधार्य करके राजसभासे अन्तःपुरमें चली गयी ॥

विमुक्ता मृगशावाक्षी निरन्तरपयोधरा ।
प्रभा नक्षत्रराजस्य कालमेघैरिवावृता ॥

उसके स्तन एक दूसरेसे सटे हुए थे, तथा नेत्र मृगशावकोंके समान चञ्चल हो रहे थे । वह कीचकके हाथसे छूटकर शोक और दुःखसे इस प्रकार मलिन हो रही थी, मानो चन्द्रमाकी प्रभा वर्षाकालके मेघोंसे आच्छादित हो गयी हो ॥

यस्या ह्यर्थे पाण्डवेयास्त्यजेयुरपि जीवितम् ।
तां ते दृष्ट्वा तथा कृष्णां क्षमिणो धर्मचारिणः ॥
समयं नातिवर्तन्ते वेलामिव महोदधिः ॥)

जिसके लिये समस्त पाण्डव अपने प्राणतक दे सकते थे, उसी कृष्णाको उस दशामें देखकर भी धर्मात्मा पाण्डव क्षमा धारण किये बैठे थे । जैसे समुद्र अपने तटकी सीमाका उल्लङ्घन नहीं करता, उसी प्रकार वे अज्ञातवासके लिये स्वीकृत समयका अतिक्रमण नहीं कर रहे थे ॥

सुदेष्णोवाच

कस्त्वावधीद् वरारोहे कस्माद् रोदिषि शोभने ।
कस्याद्य न सुखं भद्रे केन ते विप्रियं कृतम् ॥४८॥

सुदेष्णाने पूछा—वरारोहे ! तुम्हें किसने मारा है ? शोभने ! तू क्यों रोती है ? भद्रे ! आज किसका सुख समाप्त हो गया ? किसने तुम्हारा अपराध किया है ? ॥ ४८ ॥

(किमिदं पद्मसंकाशं सुदन्तोष्ठाक्षिनासिकम् ।
रुदन्त्या अवमृष्टास्रं पूर्णेन्दुसमवर्चसम् ॥

कमलके समान कमनीय, सुन्दर दाँत, ओठ, नेत्र और नासिकासे सुशोभित तथा पूर्णचन्द्रके समान कान्तिमान् तुम्हारा यह मनोहर मुख ऐसा (मलिन) क्यों हो रहा है ? तुम रोती हुई अपने मुखपर बहे हुए आँसुओंको पोंछ रही हो ॥

बिम्बोष्ठं कृष्णताराभ्यामत्यन्तरुचिरप्रभम् ।
नयनाभ्यामजिह्माभ्यां मुखं ते मुञ्चते जलम् ॥

काली पुतलीवाले सरल नेत्रोंसे सुशोभित, बिम्बफलके समान अरुण अधरोंसे उपलक्षित और अत्यन्त मनोहर प्रभासे प्रकाशित तुम्हारा मुख इस समय आँसू क्यों गिरा रहा है ? ॥

वैशम्पायन उवाच

तां निःश्वस्याब्रवीत् कृष्णा जानन्ती नाम पृच्छसि ।
भ्रात्रे त्वं मामनुप्रेष्य किमेवं त्वं विकत्थसे ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब कृष्णाने लंबी साँसें खींचकर कहा—'तुम सब कुछ जानती हुई भी मुझसे क्या पूछ रही हो ? स्वयं ही मुझे अपने भाईके पास भेजकर अब इस प्रकारकी बातें क्यों बना रही हो ? ॥

द्रौपद्युवाच

कीचको मावधीत् तत्र सुराहारीं गतां तव ।
सभायां पश्यतो राज्ञो यथैव विजने वने ॥४९॥

द्रौपदी फिर बोली—मैं तुम्हारे लिये मदिरा लाने गयी थी । वहाँ कीचकने राजसभामें महाराजके देखते-देखते मुझपर प्रहार किया है; ठीक उसी तरह, जैसे कोई निर्जन वनमें किसी असहाय अबलापर आघात करता हो ॥ ४९ ॥

सुदेष्णोवाच

घातयामि सुकेशान्ते कीचकं यदि मन्यसे ।
योऽसौ त्वां कामसम्मत्तो दुर्लभामवमन्यते ॥५०

सुदेष्णाने कहा—सुन्दर लटोंवाली सुन्दरी ! यदि तुम्हारी सम्मति हो, तो मैं कीचकको मरवा डालूँ; जो कामसे उन्मत्त होकर तुझ-जैसी दुर्लभ देवीका अपमान कर रहा है ॥ ५० ॥

सैरन्ध्र्युवाच

अन्ये चैनं वधिष्यन्ति येषामागः करोति सः।
मन्ये चैवाद्य सुव्यक्तं यमलोकं गमिष्यति ॥५१॥

सैरन्ध्री बोली—महारानी ! उसे दूसरे ही लोग मार डालेंगे, जिनका कि अपराध वह कर रहा है। मैं तो समझती हूँ, अब वह निश्चय ही यमलोककी यात्रा करेगा ॥

(भ्रातुः प्रयच्छ त्वरिता जीवश्राद्धं त्वमद्य वै।
सुदृष्टं कुरु वै चैनं नासून् मन्ये धरिष्यति ॥

रानी ! आज तुम अपने भाईके लिये शीघ्र ही जीवित-श्राद्ध कर लो। उसके लिये आवश्यक दान दे लो। साथ ही उसे आँख भरकर अच्छी तरह देख लो। मेरा विश्वास है कि अब उसके प्राण नहीं रहेंगे ॥

तेषां हि मम भर्तृणां पञ्चानां धर्मचारिणाम्।
एको दुर्धर्षणोऽत्यर्थं बले चाप्रतिमो भुवि ॥
निर्मनुष्यमिमं लोकं कुर्यात् क्रुद्धो निशामिमाम्।
न च संक्रुध्यते तावद् गन्धर्वः कामरूपधृक् ॥

मेरे पाँच धर्मात्मा पतियोंमेंसे एक अत्यन्त दुःसह एवं अमर्षशील वीर हैं। भूतलपर बलमें उनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। वे कुपित होनेपर इस रातमें ही इस संसारको मनुष्योंसे शून्य कर सकते हैं। परंतु इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वे गन्धर्व न जाने क्यों अभीतक क्रोध नहीं कर रहे हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

सुदेष्णामेवमुक्त्वा तु सैरन्ध्री दुःखमोहिता।
कीचकस्य वधार्थाय व्रतदीक्षामुपागमत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! रानी सुदेष्णासे ऐसा कहकर दुःखसे मोहित हुई सैरन्ध्रीने कीचकके वधके लिये व्रतकी दीक्षा ग्रहण की ॥

अभ्यर्थिता च नारीभिर्मानिता च सुदेष्णया।
न च स्नाति न चाश्नाति न पांसून् परिमार्जति ॥

दूसरी स्त्रियोंने उससे बहुत प्रार्थना की। रानी सुदेष्णाने भी उसे बहुत मनाया; तथापि न वह स्नान करती, न भोजन करती और न अपने शरीरकी धूल ही झाड़ती थी ॥

रुधिरक्लिन्नवदना बभूव रुदितेक्षणा ॥
तां तथा शोकसंतप्तां दृष्ट्वा प्ररुदितां स्त्रियः।
कीचकस्य वधं सर्वा मनोभिश्च शशंसिरे ॥

उसका मुँह रक्तसे भीगा हुआ था, आँखोंमें करुणाके आँसू भरे हुए थे। उसे इस प्रकार शोकसे संतप्त होकर रोती देख सब स्त्रियाँ मन-ही-मन कीचकके वधकी इच्छा करने लगीं ॥

जनमेजय उवाच

अहो दुःखतरं प्राप्ता कीचकेन पदा हता।
पतिव्रता महाभागा द्रौपदी योषितां वरा ॥

जनमेजय बोले—विप्रवर ! संसारकी युवतियोंमें श्रेष्ठ एवं पतिव्रता महाभागा द्रौपदीको कीचकने लात मार दी; इससे वह महान् दुःखमें डूब गयी। अहो ! यह कितने कष्टकी बात है ॥

दुःशलां मानयन्ती या भर्तृणां भगिनीं शुभाम्।
नाशपत् सिन्धुराजं तं बलात्कारेण वाहिता ॥

जिस समय सिन्धुराज जयद्रथने बलपूर्वक उसका अपहरण किया था, उस समय उसने अपने पतियोंकी बहिन दुःशलाका सम्मान करते हुए वह कष्ट सह लिया और शुभलक्षणा सिन्धुराजको शाप नहीं दिया ॥

किमर्थं धर्षणं प्राप्ता कीचकेन दुरात्मना।
नाशपत् तं महाभागा कृष्णा पादेन ताडिता ॥

परंतु जब दुरात्मा कीचकने उसका तिरस्कार किया और उसे लातसे मारा, उस समय महाभागा कृष्णाने उस दुष्टको शाप क्यों नहीं दे दिया ? ॥

तेजोराशिरियं देवी धर्मज्ञा सत्यवादिनी।
केशपक्षे परामृष्टा मर्षयिष्यत्यशक्तवत् ॥
नैतत् कारणमल्पं हि श्रोतुकामोऽस्मि सत्तम।
कृष्णायास्तु परिक्लेशान्मनो मे दूयते भृशम् ॥

देवी द्रौपदी तेजकी राशि थी। वह धर्मज्ञा और सत्यवादिनी थी। उसके-जैसी तेजस्विनी स्त्री अपने केश पकड़ लिये जानेपर असमर्थकी भाँति चुपचाप सह लेगी, यह सम्भव नहीं है। यदि उसने सह लिया, तो इसका कोई छोटा कारण नहीं होगा। साधुशिरोमणे ! मैं वह कारण सुनना चाहता हूँ। कृष्णाके क्लेशकी बात सुनकर मेरा मन अत्यन्त व्यथित हो रहा है ॥

कस्य वंशे समुद्भूतः स च दुर्ललितो मुने।
बलोन्मत्तः कथं चासीच्छ्यालो मात्स्यस्य कीचकः ॥

मुने ! मत्स्यराजका साला दुष्ट कीचक किसके कुलमें उत्पन्न हुआ था ? और वह बलसे उन्मत्त क्यों हो गया था ? ॥

वैशम्पायन उवाच

त्वदुक्तोऽयमनुप्रश्नः कुरूणां कीर्तिवर्धन।
एतत् सर्वं तथा वक्ष्ये विस्तरेणैव पार्थिव ॥

वैशम्पायनजीने कहा—कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले

नरेश ! तुम्हारा उठाया हुआ यह प्रश्न ठीक है । मैं यह सब विस्तारपूर्वक बताऊँगा ।

ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जातः सूतो भवति पार्थिव ।
प्रातिलोम्येन जातानां स ह्येको द्विज एव तु ॥

राजन् ! क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी मातासे उत्पन्न हुआ बालक 'सूत' कहलाता है । प्रतिलोमसंकर जातियोंमें अकेली यह सूत जाति ही द्विज कही गयी है ॥

रथकारमितीमं हि क्रियायुक्तं द्विजन्मनाम् ।
क्षत्रियादवरं वैश्याद् विशिष्टमिति चक्षते ॥

द्विजोचित कर्मोंसे युक्त उस सूतको ही रथकार भी कहते हैं । इसे क्षत्रियसे हीन और वैश्यसे श्रेष्ठ बताते हैं ॥

सह सूतेन सम्बन्धः कृतपूर्वो नरेश्वरैः ।
तथापि तैर्महीपाल राजशब्दो न लभ्यते ॥

राजन् ! पहलेके नरेशोंने सूतजातिके साथ भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया है, परंतु उन्हें राजाकी उपाधि नहीं प्राप्त होती थी ॥

तेषां तु सूतविषयः सूतानां नामतः कृतः ।
उपजीव्य च यत् क्षत्रं लब्धं सूतेन तत् पुरा ॥

उनके लिये सूतोंके नामसे सूतराज्य ही नियत कर दिया गया था । वह राज्य सूतजातिके एक पुरुषने किसी क्षत्रियकी सेवा करके ही प्राप्त किया था ॥

सूतानामधिपो राजा केकयो नाम विश्रुतः ॥
राजकन्यासमुद्भूतः सारथ्येऽनुपमोऽभवत् ।

सुप्रसिद्ध केकय नामक राजा सूतोंके ही अधिपति थे । उनका जन्म किसी क्षत्रियकन्याके गर्भसे हुआ था । वे सारथिके कर्ममें अनुपम थे ॥

पुत्रास्तस्य कुरुश्रेष्ठ मालव्यां जज्ञिरे तदा ॥
तेषामतिबलो ज्येष्ठः कीचकः सर्वजित् प्रभो ।

कुरुश्रेष्ठ ! उनके मालवीके गर्भसे कई पुत्र उत्पन्न हुए । प्रभो ! उन पुत्रोंमें कीचक ही सबसे बड़ा था । वह अत्यन्त बलवान् और सर्वविजयी योद्धा था ॥

द्वितीयायां तु मालव्यां चित्रा ह्यवरजाभवत् ।
तां सुदेष्णेति वै प्राहुर्विराटमहिषीं प्रियाम् ॥

राजा केकयकी दूसरी रानी भी मालवकन्या ही थी । उसके गर्भसे चित्रा नामवाली कन्या उत्पन्न हुई, जो समस्त कीचकबन्धुओंकी छोटी बहिन थी । उसीको सुदेष्णा भी कहते हैं । वही आगे चलकर महाराज विराटकी प्यारी पटरानी हुई ॥

तां विराटस्य मात्स्यस्य केकयः प्रददौ मुदा ।
सुरथायां मृतायां तु कौसल्यां श्वेतमातरि ॥

विराटकी बड़ी रानी कोसलदेशकी राजकुमारी सुरथा, जो श्वेतकी जननी थी, उसकी मृत्यु हो जानेपर केकय-नरेशने अपनी कन्या सुदेष्णाका विवाह मत्स्यराज विराटके साथ प्रसन्नतापूर्वक कर दिया ॥

सुदेष्णां महिषीं लब्ध्वा राजा दुःखमपानुदत् ॥
उत्तरं चोत्तरां चैव विराटात् पृथिवीपते ।
सुदेष्णा सुषुवे देवी कैकेयी कुलवृद्धये ॥

सुदेष्णाको महारानीके रूपमें पाकर राजा विराटका दुःख दूर हो गया । जनमेजय ! केकयकुमारी रानी सुदेष्णा-ने राजा विराटसे अपने कुलकी वृद्धिके लिये उत्तर और उत्तरा नामक दो संतानोंको उत्पन्न किया ॥

मातृष्वसृसुतां राजन् कीचकस्तामनिन्दिताम् ।
सदा परिचरन् प्रीत्या विराटे न्यवसत् सुखी ॥

राजन् ! कीचक अपनी मौसीकी बेटी सती-साध्वी सुदेष्णाकी प्रेमपूर्वक परिचर्या करता हुआ विराटके यहाँ सुखपूर्वक रहने लगा ॥

भ्रातरस्तस्य विक्रान्ताः सर्वे च तमनुव्रताः ।
विराटस्यैव संहृष्टा बलं कोशं च वर्धयन् ॥

उसके सभी पराक्रमी भाई कीचकके ही प्रेमी भक्त थे; अतः वे भी विराटके ही बल और कोषको बढ़ाते हुए प्रसन्नतापूर्वक वहाँ रहने लगे ॥

कालेया नाम दैतेयाः प्रायशो भुवि विश्रुताः ।
जज्ञिरे कीचका राजन् बाणो ज्येष्ठस्ततोऽभवत् ॥
स हि सर्वास्त्रसम्पन्नो बलवान् भीमविक्रमः ।
कीचको नष्टमर्यादो बभूव भयदो नृणाम् ।

राजन् ! कालेय नामक दैत्य ही, जो प्रायः इस भूमण्डल-में विख्यात थे, कीचकोंके रूपमें उत्पन्न हुए थे । कालेयोंमें बाण सबसे बड़ा था । वही सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न, भयंकर-पराक्रमी और महाबली कीचक हुआ, जो धर्मकी मर्यादाको तोड़ने और मनुष्योंके भयको बढ़ानेवाला था ॥

तं प्राप्य बलसम्मत्तं विराटः पृथिवीपतिः ॥
जिगाय सर्वांश्च रिपून् यथेन्द्रो दानवानिव ।

उस बलोन्मत्त कीचककी सहायता पाकर, जैसे इन्द्र दानवोंपर विजय पाते हैं, उसी प्रकार राजा विराटने भी समस्त शत्रुओंपर विजय प्राप्त की ॥

मेखलांश्च त्रिगर्तांश्च दशार्णांश्च कशेरुकान् ।
मालवान् यवनांश्चैव पुलिन्दान् काशिकोसलान् ।
अङ्गान् वङ्गान् कलिङ्गांश्च तङ्गणान् परतङ्गणान् ।
मलदान् निषधांश्चैव तुण्डिकेरांश्च कोङ्कणान् ॥
करदांश्च निषिद्धांश्च शिवान् दुश्छल्लिकांस्तथा ।

अन्ये च बहवः शूराः नानाजनपदेश्वराः ।
कीचकेन रणे भग्ना व्यद्रवन्त दिशो दश ॥

मेखल, त्रिगर्त, दशार्ण, कशेरुक, मालव, यवन, पुलिन्द, काशी, कोसल, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, तङ्गण, परतङ्गण, मलद, निषध, तुण्डिकेर, कोङ्कण, करद, निषिद्ध, शिव, दुश्छिल्लिक तथा अन्य नाना जनपदोंके स्वामी अनेक शूरवीर नरेश रणभूमिमें कीचकसे पराजित हो दसों दिशाओंमें भाग गये ॥

तमेवं वीर्यसम्पन्नं नागायुतबलं रणे।
विराटस्तत्र सेनायाश्चकार पतिमात्मनः ॥

ऐसे पराक्रमसम्पन्न कीचकको, जो संग्राममें दस हजार हाथियोंका बल रखता था, राजा विराटने अपना सेनापति बना लिया ॥

विराटभ्रातरश्चैव दश दाशरथोपमाः ।
ते चैनानन्ववर्तन्त कीचकान् बलवत्तरान् ॥

विराटके दस भाई ऐसे थे, जो दशरथनन्दन श्रीरामके समान शक्तिशाली समझे जाते थे। वे भी इन प्रबलतर कीचकबन्धुओंका अनुसरण करने लगे ॥

एवंविधबलोपेताः कीचकास्ते न तद्विधाः ।
राज्ञः श्याला महात्मानो विराटस्य हितैषिणः ।

ऐसे बलसम्पन्न कीचक, जो राजा विराटके साले लगते थे, शौर्यमें अपना सानी नहीं रखते थे। वे महामना विराटके बड़े हितैषी थे ॥

एतत् ते कथितं सर्वं कीचकस्य पराक्रमम् ॥
द्रौपदी न शशापैनं यस्मात् तद् गदतः शृणु ।

जनमेजय ! इस प्रकार मैंने तुमसे कीचकके पराक्रमकी सारी बातें बता दीं। अब यह भी सुन लो कि द्रौपदीने उसे शाप क्यों नहीं दिया ? ॥

क्षरतीति तपः क्रोधादृषयो न शपन्ति हि ॥
जानन्ती तद् यथातत्त्वं पाञ्चाली न शशाप तम् ।

क्रोधसे तपस्या नष्ट होती है, इसीलिये ऋषि भी सहसा किसीको शाप नहीं देते हैं। द्रौपदी इस बातको अच्छी तरह जानती थी; इसीलिये उसने उसे शाप नहीं दिया ॥

क्षमा धर्मः क्षमा दानं क्षमा यज्ञः क्षमा यशः ।
क्षमा सत्यं क्षमा शीलं क्षमा कीर्तिः क्षमा परम् ॥
क्षमा पुण्यं क्षमा तीर्थं क्षमा सर्वमिति श्रुतिः ।
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ।
एतत् सर्वं विजानन्ती सा क्षमामन्वपद्यत ॥

क्षमा धर्म है, क्षमा दान है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा यश है, क्षमा सत्य है, क्षमा शील है, क्षमा कीर्ति है, क्षमा सबसे उत्कृष्ट तत्त्व है, क्षमा पुण्य है, क्षमा तीर्थ है और क्षमा सब कुछ है; ऐसा श्रुतिका कथन है। यह लोक क्षमावानोंका ही है। परलोक भी क्षमावानोंका ही है। द्रौपदी यह सब कुछ जानती थी, इसलिये उसने क्षमाका ही आश्रय लिया ॥

भर्तॄणां मतमाज्ञाय क्षमिणां धर्मचारिणाम् ।
नाशपत् तं विशालाक्षी सती शक्तापि भारत ॥

भरतनन्दन ! क्षमाशील एवं धर्मात्मा पतियोंका मत जानकर विशाल नेत्रोंवाली सती-साध्वी द्रौपदीने समर्थ होते हुए भी कीचकको शाप नहीं दिया ॥

पाण्डवाश्चापि ते सर्वे द्रौपदीं प्रेक्ष्य दुःखिताः ।
क्रोधाग्निना व्यदह्यन्त तदा कालव्यपेक्षया ॥

समस्त पाण्डव भी द्रौपदीकी दुरवस्था देखकर दुखी हो समयकी प्रतीक्षा करते हुए क्रोधाग्निमें जलते रहे ॥

अथ भीमो महाबाहुः सूदयिष्यंस्तु कीचकम् ।
वारितो धर्मपुत्रेण वेलयेव महोदधिः ॥

महाबाहु भीमसेन तो कीचकको तत्काल मार डालनेके लिये उद्यत थे; परंतु जैसे वेला (तटकी सीमा) महासागरके वेगको रोके रहती है, उसी प्रकार धर्मपुत्र युधिष्ठिरने उन्हें रोक दिया ॥

संधार्य मनसा रोषं दिवारात्रं विनिःश्वसन् ।
महानसे तदा कृच्छ्रात् सुष्वाप रजनीं च ताम् ॥

वे मनमें क्रोधको रोककर दिन-रात लंबी साँसें खींचते रहते थे । उस दिन पाकशालामें जाकर वे रातमें बड़े कष्टसे सोये ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीपरिभवे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीतिरस्कारसम्बन्धी सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२ श्लोक मिलाकर कुल १४३ श्लोक हैं)

सप्तदशोऽध्यायः

द्रौपदीका भीमसेनके समीप जाना

वैशम्पायन उवाच

सा हता सूतपुत्रेण राजपत्नी यशस्विनी।
वधं कृष्णा परीप्सन्ती सेनावाहस्य भामिनी ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! सूतपुत्र सेनापति कीचकने जबसे लात मारी थी, तभीसे यशस्विनी राजपत्नी भामिनी द्रौपदी उसके वधकी बात सोचने लगी ॥ १ ॥

जगामावासमेवाथ सा तदा द्रुपदात्मजा।
कृत्वा शौचं यथान्यायं कृष्णा सा तनुमध्यमा ॥ २ ॥
गात्राणि वाससी चैव प्रक्षाल्य सलिलेन सा।
चिन्तयामास रुदती तस्य दुःखस्य निर्णयम् ॥ ३ ॥

वह अपने निवासस्थानपर गयी। उस समय सूक्ष्म कटि-भागवाली द्रुपदकुमारी कृष्णाने वहाँ यथायोग्य शौच-स्नान करके जलसे अपने शरीर और वस्त्र धोये तथा वह रोती हुई उस दुःखके निवारणका उपाय सोचने लगी—॥ २-३ ॥

किं करोमि क्व गच्छामि कथं कार्यं भवेन्मम।
इत्येवं चिन्तयित्वा सा भीमं वै मनसागमत् ॥ ४ ॥

'क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? कैसे मेरा अभीष्ट कार्य होगा,' इस प्रकार चिन्तन करके उसने मन-ही-मन भीमसेनका स्मरण किया ॥ ४ ॥

नान्यः कर्ता ऋते भीमान्ममाद्य मनसः प्रियम्।
तत उत्थाय रात्रौ सा विहाय शयनं स्वकम् ॥ ५ ॥
प्राद्रवन्नाथमिच्छन्ती कृष्णा नाथवती सती।
भवनं भीमसेनस्य क्षिप्रमायतलोचना ॥ ६ ॥
दुःखेन महता युक्ता मानसेन मनस्विनी।

'भीमसेनके सिवा दूसरा कोई आज मेरे मनको प्रिय लगनेवाला कार्य नहीं कर सकता,'—ऐसा निश्चय करके वह विशाल नेत्रोंवाली सती-साध्वी सनाथा कृष्णा रातको अपनी शय्या छोड़कर उठी और अपने नाथ (रक्षक) से मिलनेकी इच्छा रखकर शीघ्रतापूर्वक भीमसेनके भवनमें गयी। उस समय मनस्विनी द्रौपदी महान् मानसिक दुःखसे पीड़ित थी ॥ ५-६½ ॥

सैरन्ध्र्युवाच

तस्मिञ्जीवति पापिष्ठे सेनावाहे मम द्विषि ॥ ७ ॥
तत् कर्म कृतवानद्य कथं निद्रां निषेवसे।

वहाँ पहुँचते ही सैरन्ध्री बोली—आर्यपुत्र! मुझसे द्वेष रखनेवाले उस महापापी सेनापतिके, जिसने मेरे साथ वैसा अपमानजनक बर्ताव किया था, जीते-जी तुम आज नींद कैसे ले रहे हो? ॥ ७½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वाथ तां शालां प्रविवेश मनस्विनी ॥ ८ ॥
यस्यां भीमस्तथा शेते मृगराज इव श्वसन्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहती हुई मनस्विनी द्रौपदीने उस भवनमें प्रवेश किया, जिसमें सिंहकी भाँति साँसें खींचते हुए भीमसेन सो रहे थे ॥ ८½ ॥

तस्या रूपेण सा शाला भीमस्य च महात्मनः ॥ ९ ॥
सम्मूर्छितेव कौरव्य प्रजज्वाल च तेजसा।
सा वै महानसं प्राप्य भीमसेनं शुचिस्मिता ॥ १० ॥
सर्वश्वेतेव माहेयी वने जाता त्रिहायणी।
उपातिष्ठत पाञ्चाली वासितेव नरर्षभम् ॥ ११ ॥

कुरुनन्दन! द्रौपदीके दिव्य रूपसे महात्मा भीमकी वह पाकशाला शोभा-समृद्धिको प्राप्त होकर तेजसे प्रकाशित हो उठी। पवित्र मुसकानवाली द्रौपदी पाकशालामें पहुँचकर क्रमशः [बक, साँड़ और गजराजके पास जानेवाली] जलमें उत्पन्न हुई बकी, तीन सालकी पार्थिव गौ तथा हथिनीके समान श्रेष्ठ पुरुष भीमसेनके समीप गयीं ॥९-११॥

सा लतेव महाशालं फुल्लं गोमतितीरजम्।
परिष्वजत पाञ्चाली मध्यमं पाण्डुनन्दनम् ॥ १२ ॥

जैसे लता गोमतीके तटपर उत्पन्न एवं खिले हुए ऊँचे शालवृक्षमें लिपट जाती है, उसी प्रकार सती-साध्वी पाञ्चालीने मध्यम[१] पाण्डव भीमसेनका आलिङ्गन किया ॥ १२ ॥

बाहुभ्यां परिरभ्यैनं प्राबोधयदनिन्दिता।
सिंहं सुप्तं वने दुर्गे मृगराजवधूरिव ॥ १३ ॥

उसने उन्हें दोनों भुजाओंसे कसकर जगाया; ठीक वैसे ही, जैसे दुर्गम वनमें सोये हुए सिंहको सिंहिनी जगाती है॥ १३॥

भीमसेनमुपाश्लिष्यद्धस्तिनीव महागजम्।
वीणेव मधुरालापा गान्धारं साधु मूर्छती।
अभ्यभाषत पाञ्चाली भीमसेनमनिन्दिता ॥ १४ ॥

जैसे हथिनी महान् गजराजका आलिङ्गन करती है, उसी प्रकार निर्दोष पाञ्चालराजकुमारी भीमसेनसे सटकर गान्धार स्वरमें मधुर ध्वनि फैलाती हुई वीणाकी भाँति मीठे वचनोंमें बोली—॥ १४॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे भीमसेन यथा मृतः।
नामृतस्य हि पापीयान् भार्यामालभ्य जीवति ॥ १५ ॥

'भीमसेन! उठो, उठो, क्यों मुर्देकी तरह सो रहे हो?; क्योंकि (तुम्हारे-जैसे वीर) पुरुषके जीवित रहते हुए उसकी पत्नी-का स्पर्श करके कोई महापापी मनुष्य जीवित नहीं रह सकता' ॥

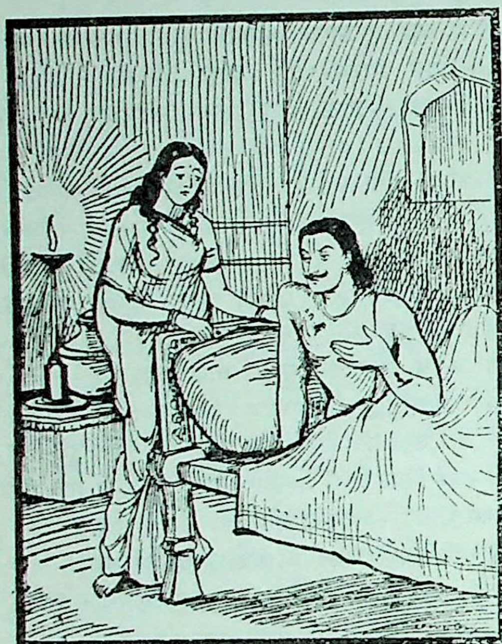
स सम्प्रहाय शयनं राजपुत्र्या प्रबोधितः।
उपातिष्ठत मेघाभः पर्यङ्के सोपसंग्रहे ॥ १६ ॥

---

१. नकुल-सहदेव जुड़वें पैदा हुए थे; अतः वे दोनों कनिष्ठ (छोटे) भाई हैं। युधिष्ठिर बड़े हैं। भीमसेन और अर्जुन मध्यम हैं। विराटपर्वके प्रसंगमें अर्जुन पुरुष नहीं रह गये हैं। अतः भीमसेन ही यहाँ प्रधानरूपसे मध्यम पाण्डव कहे गये हैं।

अथाब्रवीद् राजपुत्रीं कौरव्यो महिषीं प्रियाम् ।
केनास्यर्थेन सम्प्राप्ता त्वरितेव ममान्तिकम् ॥ १७ ॥
न ते प्रकृतिमान् वर्णः कृशा पाण्डुश्च लक्ष्यसे ।
आचक्ष्व परिशेषेण सर्वं विद्यामहं यथा ॥ १८ ॥

राजकुमारी द्रौपदीके जगानेपर मेघके समान श्याम वर्णवाले कुरुनन्दन भीमसेन तोशक बिछे हुए पलंगपर शयन छोड़कर उठ बैठे और अपनी प्यारी रानीसे बोले—'देवि ! किस कार्यसे तुम इतनी उतावली-सी होकर मेरे पास आयी हो ? तुम्हारे शरीरकी कान्ति स्वाभाविक नहीं रह गयी है । तुमपर उदासी छायी है । तुम दुबली और पीली दिखायी देती हो । पूरी बात बताओ, जिससे मैं सब कुछ जान सकूँ ॥१६–१८॥



सुखं वा यदि वा दुःखं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् ।
यथावत् सर्वमाचक्ष्व श्रुत्वा ज्ञास्यामि यत् क्षमम् ॥१९॥

'तुम्हें सुख हो या दुःख, बुरा हुआ हो या भला, सब बातें ठीक-ठीक कह जाओ । वह सब सुनकर मैं उसके निवारणके लिये उचित उपाय सोचूँगा ॥ १९ ॥

अहमेव हि ते कृष्णे विश्वास्यः सर्वकर्मसु ।
अहमापत्सु चापि त्वां मोक्षयामि पुनः पुनः ॥ २० ॥

'कृष्णे ! सब कार्योंके लिये मैं ही तुम्हारा विश्वासपात्र हूँ । मैं ही सब प्रकारकी विपत्तियोंमें बार-बार सहायता करके तुम्हें संकटसे मुक्त करता हूँ ॥ २० ॥

शीघ्रमुक्त्वा यथाकामं यत् ते कार्यं विवक्षितम् ।
गच्छ वै शयनायैव पुरा नान्येन बुध्यते ॥ २१ ॥

'अतः जैसी तुम्हारी रुचि हो और जिस कार्यके लिये कुछ कहना चाहती हो, उसे शीघ्र कहकर पहले ही अपने शयनगृहमें चली जाओ, जिससे दूसरे किसीको इसका पता न चल सके' ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदी-भीम-संवादविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

द्रौपदीका भीमसेनके प्रति अपने दुःखके उद्गार प्रकट करना

वैशम्पायन उवाच

(सा लज्जमाना भीता च अधोमुखमुखी ततः ।
नोवाच किंचिद् वचनं बाष्पदूषितलोचना ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय लज्जित और भयभीत हुई द्रौपदीके नेत्रोंमें आँसू भर आये थे । वह मुँह नीचा किये मौन बैठी रही; कुछ भी बोल न सकी ॥

अथाब्रवीद् भीमपराक्रमो बली
वृकोदरः पाण्डवमुख्यसम्मतः ।
प्रब्रूहि किं ते करवाणि सुन्दरि
[illegible]मिनि ॥)

तब पाण्डवप्रवर युधिष्ठिरके परम प्रिय भयंकरपराक्रमी महाबली भीम इस प्रकार बोले—'सुन्दरि ! गजराजकी भाँति लीला-विलासपूर्वक मन्दगतिसे चलनेवाली प्रिये ! बताओ; मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ?' ॥

द्रौपद्युवाच

अशोच्यत्वं कुतस्तस्य यस्या भर्ता युधिष्ठिरः ।
जानन् सर्वाणि दुःखानि किं मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली—जिस स्त्रीके पति राजा युधिष्ठिर हों, वह बिना शोकके रहे, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? तुम मेरे सारे दुःखोंको जानते हुए भी मुझसे कैसे पूछते हो ? ॥ १ ॥

यन्मां दासीप्रवादेन प्रातिकामी तदानयत्।
सभापरिषदो मध्ये तन्मां दहति भारत ॥ २ ॥

दुर्योधनके सेवकके रूपमें दुःशासन मुझे दासी कहकर जो उस समय कौरवोंके सभाभवनमें जनसमाजके भीतर घसीट ले गया, वह अपमानकी आग मुझे आजतक जला रही है ॥२॥

(क्षत्रियैस्तत्र कर्णाद्यैर्दृष्टा दुर्योधनेन च।
श्वशुराभ्यां च भीष्मेण विदुरेण च धीमता ॥
द्रोणेन च महाबाहो कृपेण च परंतप।

शत्रुओंको संताप देनेवाले महाबाहु भीम ! उस समय वहाँ बैठे हुए कर्ण आदि क्षत्रियोंने, दुर्योधनने, मेरे दोनों ससुर भीष्म और बुद्धिमान् विदुरने तथा द्रोणाचार्य और कृपाचार्यने भी मुझे उस दुरवस्थामें देखा था ॥

साहं श्वशुरयोर्मध्ये भ्रातृमध्ये च पाण्डव ॥
केशे गृहीत्वैव सभां नीता जीवति वै त्वयि ।)

पाण्डुनन्दन ! इस प्रकार तुम्हारे जीते-जी मेरे केश पकड़कर मुझे दोनों श्वशुरों तथा दुर्योधन आदि भ्राताओंके बीच राजसभामें लाया गया ।

पार्थिवस्य सुता नाम का नु जीवति मादृशी ।
अनुभूयेदृशं दुःखमन्यत्र द्रौपदीं प्रभो ॥ ३ ॥

स्वामिन् ! मुझ द्रुपदकन्याको छोड़कर दूसरी मेरी-जैसी कौन राजकुमारी होगी, जो ऐसा दुःख भोगकर जी रही हो ॥

वनवासगतायाश्च सैन्धवेन दुरात्मना ।
परामर्शो द्वितीयो वै सोढुमुत्सहते तु का ॥ ४ ॥

वनवासमें जानेपर दुरात्मा सिन्धुराज जयद्रथने जो मेरा स्पर्श कर लिया, यह दूसरा अपमान था । उसे भी कौन सह सकती है ? ॥ ४ ॥

(पद्भ्यां पर्यचरं चाहं देशान् विषमसंस्थितान् ।
दुर्गाञ्छ्वापदसंकीर्णांस्त्वयि जीवति पाण्डव ॥

पाण्डुकुमार ! तुम्हारे जीते-जी मुझे हिंसक जन्तुओंसे भरे हुए विषम एवं दुर्गम प्रदेशोंमें पैदल विचरना पड़ा ॥

ततोऽहं द्वादशे वर्षे वन्यमूलफलाशना ।
इदं पुरमनुप्राप्ता सुदेष्णापरिचारिका ॥
परस्त्रियमुपातिष्ठे सत्यधर्मपथस्थिता ।

तदनन्तर बारहवें वर्षके अन्तमें मैं जंगली फल-मूलोंका आहार करती हुई इस विराटनगरमें आयी और सुदेष्णाकी सेविका बन गयी । मैं सत्यधर्मके मार्गमें स्थित होकर आज दूसरी स्त्रीकी सेवा करती हूँ ॥

गोशीर्षकं पद्मकं च हरिश्यामं च चन्दनम् ॥
नित्यं पिंषे विराटस्य त्वयि जीवति पाण्डव ॥
साहं बहूनि दुःखानि गणयामि न ते कृते ।
द्रुपदस्य सुता चाहं धृष्टद्युम्नस्य चानुजा ।
अग्निकुण्डात् समुद्भूता नोर्व्यां जातु चरामि भोः ॥)

पाण्डुपुत्र ! तुम्हारे जीते-जी मैं प्रतिदिन राजा विराटके लिये गोशीर्ष, पद्मकाष्ठ और हरिश्याम आदि चन्दन पीसती हूँ । फिर भी तुम्हारे संतोषके लिये मैं ऐसे बहुत-से दुःखोंको कुछ भी नहीं गिनती । मैं द्रुपदकी पुत्री और धृष्टद्युम्नकी बहिन हूँ । अग्निकुण्डसे मेरी उत्पत्ति हुई है । मैं कभी धरतीपर पैदल नहीं चलती थी (परंतु अब यहाँ यह दुर्दशा भोग रही हूँ) ।

मत्स्यराजसमक्षं तु तस्य धूर्तस्य पश्यतः ।
कीचकेन परामृष्टा का नु जीवति मादृशी ॥ ५ ॥

मत्स्यदेशके राजा विराटके सामने उस जुआरीके देखते-देखते कीचकने जो लात मारकर मेरा अपमान किया है, उसको सहकर मेरी-जैसी कौन राजकुमारी जीवित रह सकती है ? ॥ ५ ॥

एवं बहुविधैः क्लेशैः क्लिश्यमानां च भारत ।
न मां जानासि कौन्तेय किं फलं जीवितेन मे ॥ ६ ॥

भरतकुलभूषण कुन्तीनन्दन ! ऐसे बहुत-से क्लेशोंद्वारा मैं निरन्तर पीड़ित रहती हूँ; क्या तुम यह नहीं जानते ? फिर मेरे जीनेका ही क्या प्रयोजन है ? ॥ ६ ॥

योऽयं राज्ञो विराटस्य कीचको नाम भारत ।
सेनानीः पुरुषव्याघ्र श्यालः परमदुर्मतिः ॥ ७ ॥
स मां सैरन्ध्रिवेषेण वसन्तीं राजवेश्मनि ।
नित्यमेवाह दुष्टात्मा भार्या मम भवेति वै ॥ ८ ॥

भारत ! पुरुषसिंह ! राजा विराटका जो यह कीचक नामक सेनापति है, वह उनका साला लगता है । उसकी बुद्धि बड़ी खोटी है । राजमहलमें सैरन्ध्रीके वेशमें निवास करती हुई मुझे देखकर वह दुष्टात्मा प्रतिदिन ही आकर मुझसे कहता है—'मेरी ही पत्नी हो जाओ' ॥ ७-८ ॥

तेनोपमन्त्र्यमाणाया वधार्हेण सपत्नहन् ।
कालेनेव फलं पक्वं हृदयं मे विदीर्यते ॥ ९ ॥

शत्रुदमन ! उस मार डालने योग्य पापीके द्वारा रोज-रोज यह घृणित प्रस्ताव सुनते-सुनते समयसे पके हुए फलकी भाँति मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है ॥ ९ ॥

(विजानामि तवामर्षं बलं वीर्यं च पाण्डव ।
ततोऽहं परिदेवामि चाग्रतस्ते महाबल ॥

महाबली पाण्डुनन्दन ! मैं तुम्हारे अमर्ष, बल और पराक्रमको जानती हूँ; इसीलिये मैं तुम्हारे आगे रोती-बिलखती हूँ ॥

यथा यूथपतिर्मत्तः कुञ्जरः षष्टिहायनः ।
भूमौ निपतितं बिल्वं पद्भ्यामाक्रम्य पीडयेत् ॥

तथैव च शिरस्तस्य निपात्य धरणीतले ।
वामेन पुरुषव्याघ्र मर्द पादेन पाण्डव ॥

पुरुषसिंह पाण्डुपुत्र ! जैसे साठ वर्षका मतवाला यूथपति गजराज धरतीपर गिरे हुए बेलके फलको पैरोंसे दबाकर कुचल डाले, उसी प्रकार कीचकके मस्तकको पृथ्वीपर गिराकर बाँयें पैरसे मसल डालो ॥

स चेदुद्यन्तमादित्यं प्रातरुत्थाय पश्यति ।
कीचकः शर्वरीं व्युष्टां नाहं जीवितुमुत्सहे ॥)

यदि कीचक इस रात्रिके बीतनेपर प्रातःकाल उठकर उगते हुए सूर्यका दर्शन कर लेगा, तो मैं जीवित नहीं रह सकूँगी ॥

भ्रातरं च विगर्हस्व ज्येष्ठं दुर्द्यूतदेविनम् ।
यस्यास्मि कर्मणा प्राप्ता दुःखमेतदनन्तकम् ॥ १० ॥

दूषित द्यूतक्रीड़ामें लगे रहनेवाले अपने उस बड़े भाईकी निन्दा करो, जिसकी करतूतसे मैं इस अनन्त दुःखमें पड़ गयी हूँ ॥ १० ॥

को हि राज्यं परित्यज्य सर्वस्वं चात्मना सह ।
प्रव्रज्यायैव दीव्येत विना दुर्द्यूतदेविनम् ॥ ११ ॥

निन्दनीय जूएमें आसक्त रहनेवाले उस जुआरीको छोड़कर दूसरा कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपने साथ ही राज्य तथा सर्वस्वका परित्याग करके वनवास लेनेकी शर्तपर जूआ खेल सकता हो ? ॥ ११ ॥

यदि निष्कसहस्रेण यच्चान्यत् सारवद् धनम् ।
सायम्प्रातरदेविष्यदपि संवत्सरान् बहून् ॥ १२ ॥
रुक्मं हिरण्यं वासांसि यानं युग्यमजाविकम् ।
अश्वाश्वतरसङ्घांश्च न जातु क्षयमावहेत् ॥ १३ ॥

यदि वे प्रतिदिन शाम-सबेरे एक सहस्र स्वर्णमुद्राओंसे जूआ खेलते तथा जो दूसरे बहुमूल्य धन थे, उनको—सोने, चाँदी, वस्त्र, सवारी, रथ, बकरी, भेड़, घोड़े और खच्चरों आदिके समूहको बहुत वर्षोंतक भी दाँवपर लगाते रहते, तो भी हमारा राज्य-वैभव कभी क्षीण नहीं होता ॥ १२-१३ ॥

सोऽयं द्यूतप्रवादेन श्रियः प्रत्यवरोपितः ।
तूष्णीमास्ते यथा मूढः स्वानि कर्माणि चिन्तयन् ॥ १४ ॥

जूएकी आसक्तिने इन्हें राजलक्ष्मीके सिंहासनसे नीचे उतार दिया है और अब ये अपने उन कर्मोंका चिन्तन करते हुए अज्ञकी भाँति चुपचाप बैठे रहते हैं ॥ १४ ॥

दश नागसहस्राणि हयानां हेममालिनाम् ।
यं यान्तमनुयान्तीह सोऽयं द्यूतेन जीवति ॥ १५ ॥

जिनके कहीं यात्रा करते समय दस हजार हाथी और सोनेकी मालाएँ पहने हुए सहस्रों घोड़े पीछे-पीछे चलते थे, वे ही महाराज यहाँ जूएसे जीविका चलाते हैं ॥ १५ ॥

रथाः शतसहस्राणि नृपाणाममितौजसाम् ।
उपासन्त महाराजमिन्द्रप्रस्थे युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥
शतं दासीसहस्राणां यस्य नित्यं महानसे ।
पात्रीहस्तं दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत ॥ १७ ॥
एष निष्कसहस्राणि प्रदाय ददतां वरः ।
द्यूतजेन ह्यनर्थेन महता समुपाश्रितः ॥ १८ ॥

इन्द्रप्रस्थमें जिनकी सवारीके लिये एक लाख रथ प्रस्तुत रहते थे और जिन महाराज युधिष्ठिरकी सेवामें सहस्रों महापराक्रमी राजा बैठा करते थे, जिनके भोजनालयमें नित्य एक लाख दासियाँ सोनेके पात्र हाथमें लिये दिन-रात अतिथियोंको भोजन कराया करती थीं तथा जो दाताओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर रोज सहस्रों स्वर्णमुद्राएँ दानमें बाँटा करते थे, वे ही धर्मराज यहाँ जूएमें कमाये हुए महान् अनर्थकारी धनसे जीवन-निर्वाह कर रहे हैं ॥ १६–१८ ॥

एनं हि स्वरसम्पन्ना बहवः सूतमागधाः ।
सायम्प्रातरुपातिष्ठन् सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ १९ ॥

इन्द्रप्रस्थमें विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण करनेवाले बहुत-से सूत और मागध मधुर स्वरसे संयुक्त वाणीद्वारा सायंकाल और प्रातःकाल इन महाराजकी स्तुति किया करते थे ॥१९॥

सहस्रमृषयो यस्य नित्यमासन् सभासदः ।
तपःश्रुतोपसम्पन्नाः सर्वकामैरुपस्थिताः ॥ २० ॥

तपस्या और वेदज्ञानसे सम्पन्न सहस्रों पूर्णकाम ऋषि-महर्षि प्रतिदिन इनकी राजसभामें बैठा करते थे ॥ २० ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ २१ ॥

अट्ठासी हजार स्नातक गृहस्थ ब्राह्मणोंका, जिनमेंसे एक-एककी सेवाके लिये तीस-तीस दासियाँ थीं, राजा युधिष्ठिर अपने यहाँ पालन करते थे ॥ २१ ॥

अप्रतिग्राहिणां चैव यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
दश चापि सहस्राणि सोऽयमास्ते नरेश्वरः ॥ २२ ॥

साथ ही ये महाराज दान न लेनेवाले दस हजार ऊर्ध्वरेता संन्यासियोंका भी स्वयं ही भरण-पोषण करते थे। आज वे ही इस अवस्थामें रह रहे हैं ॥ २२ ॥

आनृशंस्यमनुक्रोशं संविभागस्तथैव च ।
यस्मिन्नेतानि सर्वाणि सोऽयमास्ते नरेश्वरः ॥ २३ ॥

जिनमें कोमलता, दया और सबको अन्न-वस्त्र देना आदि समस्त सद्गुण विद्यमान थे, वे ही ये महाराज आज इस दुरवस्थामें पड़े हैं ॥ २३ ॥

अन्धान् वृद्धांस्तथानाथान् बालान् राष्ट्रेषु दुर्गतान् ।
बिभर्ति विविधान् राजा धृतिमान् सत्यविक्रमः ।
[illegible] युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

धैर्यवान् तथा सत्यपराक्रमी राजा युधिष्ठिर अपने कोमल स्वभावके कारण सदा सबको भोजन आदि देनेमें ही मन लगाते थे और अपने राज्यके अनेक अंधों, बूढ़ों, अनाथों, बालकों तथा दुर्गतिमें पड़े हुए लोगोंका भरण-पोषण करते रहते थे ॥ २४ ॥

स एष निरयं प्राप्तो मत्स्यस्य परिचारकः।
सभायां देविता राज्ञः कङ्को ब्रूते युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥

वे ही ये युधिष्ठिर आज मत्स्यराजके सेवक होकर परतन्त्रतारूपी नरकमें पड़े हुए हैं। ये सभामें राजाको जूआ खेलाते और कङ्क कहकर अपना परिचय देते हैं ॥ २५ ॥

इन्द्रप्रस्थे निवसतः समये यस्य पार्थिवाः।
आसन् बलिभृतः सर्वे सोऽद्यान्यैर्भृत्तिमिच्छति ॥ २६ ॥

इन्द्रप्रस्थमें रहते समय जिन्हें सब राजा भेंट देते थे, वे ही आज दूसरोंसे अपने भरण-पोषणके लिये धन पानेकी इच्छा रखते हैं ॥ २६ ॥

पार्थिवाः पृथिवीपाला यस्यासन् वशवर्तिनः।
स वशे विवशो राजा परेषामद्य वर्तते ॥ २७ ॥

इस पृथ्वीका पालन करनेवाले बहुत-से भूपाल जिनकी आज्ञाके अधीन थे, वे ही महाराज आज विवश होकर दूसरोंके वशमें रहते हैं ॥ २७ ॥

प्रताप्य पृथिवीं सर्वां रश्मिमानिव तेजसा।
सोऽयं राज्ञो विराटस्य सभास्तारो युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥

सूर्यकी भाँति अपने तेजसे सम्पूर्ण भूमण्डलको प्रकाशित-कर अब ये धर्मराज युधिष्ठिर राजा विराटकी सभाके एक साधारण सदस्य बने हुए हैं ॥ २८ ॥

यमुपासन्त राजानः सभायामृषिभिः सह।
तमुपासीनमद्यान्यं पश्य पाण्डव पाण्डवम् ॥ २९ ॥

पाण्डुनन्दन ! देखो, राजसभामें ऋषियोंके साथ अनेक राजा जिनकी उपासना करते थे, वे ही पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर आज दूसरेकी उपासना कर रहे हैं ॥ २९ ॥

सदस्यं यमुपासीनं परस्य प्रियवादिनम्।
दृष्ट्वा युधिष्ठिरं कोपो वर्धते मामसंशयम् ॥ ३० ॥

एक सामान्य सदस्यकी हैसियतसे दूसरेकी सेवामें बैठे हुए वे विराटके मनको प्रिय लगनेवाली बातें करते हैं। महाराज युधिष्ठिरको इस दशामें देखकर निश्चय ही मेरा क्रोध बढ़ जाता है ॥ ३० ॥

अतदर्हं महाप्राज्ञं जीवितार्थेऽभिसंस्थितम्।
दृष्ट्वा कस्य न दुःखं स्याद् धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ ३१ ॥

जो धर्मात्मा और परम बुद्धिमान् हैं, जिनका कभी इस दुरवस्थामें पड़ना उचित नहीं है, वे ही जीविकाके लिये आज दूसरेके घरमें पड़े हैं। महाराज युधिष्ठिरको इस दशामें देखकर किसे दुःख न होगा ? ॥ ३१ ॥

उपास्ते स्म सभायां यं कृत्स्ना वीर वसुन्धरा।
तमुपासीनमप्यन्यं पश्य भारत भारतम् ॥ ३२ ॥

वीर ! पहले राजसभामें समस्त भूमण्डलके लोग जिनकी सब ओरसे उपासना करते थे, भारत ! अब उन्हीं भरतवंश-शिरोमणिको आज दूसरे राजाकी सभामें बैठे देख लो ॥ ३२ ॥

एवं बहुविधैर्दुःखैः पीड्यमानामनाथवत्।
शोकसागरमध्यस्थां किं मां भीम न पश्यसि ॥ ३३ ॥

भीमसेन ! इस प्रकार अनेक दुःखोंसे अनाथकी भाँति पीड़ित होती हुई मैं शोकके महासागरमें डूब रही हूँ, क्या तुम मेरी यह दुर्दशा नहीं देखते ? ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीभीमसंवादविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३½ श्लोक मिलाकर कुल ४६½ श्लोक हैं)

एकोनविंशोऽध्यायः

पाण्डवोंके दुःखसे दुःखित द्रौपदीका भीमसेनके सम्मुख विलाप

द्रौपद्युवाच

इदं तु ते महद् दुःखं यत् प्रवक्ष्यामि भारत।
न मेऽभ्यसूया कर्तव्या दुःखादेतद् ब्रवीम्यहम् ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली—भारत ! अब जो दुःख मैं तुमसे निवेदन करनेवाली हूँ, वह तो मेरे लिये और भी महान् है। तुम इसके लिये मुझे दोष न देना। मैं दुःखसे व्यथित होनेके कारण ही यह सब कह रही हूँ ॥ १ ॥

सूदकर्मणि हीने त्वमसमे भरतर्षभ।
ब्रुवन् बल्लवजातीयः कस्य शोकं न वर्धयेः ॥ २ ॥

भरतर्षभ ! जो तुम्हारे लिये सर्वथा अयोग्य है, ऐसे रसोइयेके नीच काममें लगे हो और अपनेको 'बल्लव' जातिका मनुष्य बताते हो। इस अवस्थामें तुम्हें देखकर किसका शोक न बढ़ेगा ? ॥ २ ॥

सूपकारं विराटस्य बल्लवं त्वां विदुर्जनाः।
प्रेष्यत्वं समनुप्राप्तं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३ ॥

लोग तुम्हें राजा विराटके रसोइये बल्लवके नामसे जानते

हैं। तुम स्वामी होकर भी आज सेवकको दशामें पड़े हो। इससे बढ़कर महान् कष्ट मेरे लिये और क्या हो सकता है ? ॥ ३ ॥

यदा महानसे सिद्धे विराटमुपतिष्ठसि ।
ब्रुवाणो बल्लवः सूदस्तदा सीदति मे मनः ॥ ४ ॥

जब पाकशालामें भोजन बना लेनेपर तुम विराटकी सेवामें उपस्थित होते हो और कहते हो—'महाराज! बल्लव रसोइया आपको भोजनके लिये बुलाने आया है', तब यह सब सुनकर मेरा मन दुःखित हो जाता है ॥ ४ ॥

यदा प्रहृष्टः सम्राट् त्वां संयोधयति कुञ्जरैः ।
हसन्त्यन्तःपुरे नार्यो मम तूद्विजते मनः ॥ ५ ॥

जब विराटनरेश प्रसन्न होकर तुम्हें हाथियोंसे लड़ाते हैं, उस समय रनिवासकी दूसरी स्त्रियाँ तो हँसती हैं और मेरा हृदय शोकसे व्याकुल हो उठता है ॥ ५ ॥

शार्दूलैर्महिषैः सिंहैरागारे योध्यसे यदा ।
कैकेय्याः प्रेक्षमाणायास्तदा मे कश्मलं भवेत् ॥ ६ ॥

जब रानी सुदेष्णा दर्शक बनकर बैठती हैं और तुम महलके आँगनमें व्याघ्रों, सिंहों तथा भैंसोंसे लड़ते हो, उस समय मुझे बड़ी व्यथा होती है ॥ ६ ॥

तत उत्थाय कैकेयी सर्वास्ताः प्रत्यभाषत ।
प्रेष्याः समुत्थिताश्चापि कैकेयीं ताः स्त्रियोऽब्रुवन् ॥ ७ ॥
प्रेक्ष्य मामनवद्याङ्गीं कश्मलोपहतामिव ।

एक दिन उक्त पशुओंसे तुम्हारा युद्ध देखकर उठनेके बाद मुझ निर्दोष अङ्गोंवाली अबलाको इसी कारण शोकपीड़ित-सी देख केकयराजकुमारी सुदेष्णा अपने साथ आयी हुई सम्पूर्ण दासियोंसे और वे खड़ी हुई दासियाँ रानी कैकेयीसे इस प्रकार कहने लगीं—॥ ७½ ॥

स्नेहात् संवासजाद् धर्मात् सूदमेषा शुचिस्मिता ॥ ८ ॥
योद्ध्यमानं महावीर्यमिमं समनुशोचति ।
कल्याणरूपा सैरन्ध्री बल्लवश्चापि सुन्दरः ॥ ९ ॥

'यह पवित्र मुसकानवाली सैरन्ध्री पहले (युधिष्ठिरके यहाँ) एक स्थानमें साथ-साथ रहनेके कारण पैदा होनेवाले स्नेहसे अथवा धर्मसे प्रेरित होकर उस महापराक्रमी रसोइयेको पशुओंसे लड़ते देख उसके लिये बार-बार शोक करने लगती है। सैरन्ध्रीका रूप तो मङ्गलमय है ही, बल्लव भी बड़ा सुन्दर है ॥ ८-९ ॥

स्त्रीणां चित्तं च दुर्ज्ञेयं युक्तरूपौ च मे मतौ ।
सैरन्ध्री प्रियसंवासान्नित्यं करुणवादिनी ॥ १० ॥

'स्त्रियोंके हृदयको समझ लेना बहुत कठिन है, हमें तो यह जोड़ी अच्छी जान पड़ती है। सैरन्ध्री अपने प्रिय सम्बन्धके कारण [illegible] जाती है, तब (अत्यन्त दीन-सी होकर) सदा करुणायुक्त वचन बोलने लगती है ॥ १० ॥

अस्मिन् राजकुले चेमौ तुल्यकालनिवासिनौ ।
इति ब्रुवाणा वाक्यानि सा मां नित्यमतर्जयत् ॥ ११ ॥

'क्यों न हो, इस राजपरिवारमें भी तो ये दोनों एक ही समयसे निवास करते हैं ?' इस तरहकी बातें कहकर रानी सुदेष्णा प्रायः नित्य मुझे झिड़का करती हैं ॥ ११ ॥

क्रुध्यन्तीं मां च सम्प्रेक्ष्य समशङ्कत मां त्वयि ।
तस्यां तथा ब्रुवत्यां तु दुःखं मां महदाविशत् ॥ १२ ॥

और मुझे क्रोध करती देख तुम्हारे प्रति मेरे गुप्त प्रेमकी आशङ्का कर बैठती हैं। जब-जब वे वैसी बातें कहती हैं, उस समय मुझे बहुत दुःख होता है ॥ १२ ॥

त्वय्येवं निरयं प्राप्ते भीमे भीमपराक्रमे ।
शोके यौधिष्ठिरे मग्ना नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ १३ ॥

भीम ! भयंकर पराक्रम दिखानेवाले होकर भी तुम ऐसे नरकतुल्य कष्ट भोग रहे हो और उधर महाराज युधिष्ठिरको भी भारी शोक सहन करना पड़ता है। इस प्रकार मैं दुःखके समुद्रमें डूबी हुई हूँ। अब मुझे जीवित रहनेका तनिक भी उत्साह नहीं है ॥ १३ ॥

यः सदेवान् मनुष्यांश्च सर्वांश्चैकरथोऽजयत् ।
सोऽयं राज्ञो विराटस्य कन्यानां नर्तको युवा ॥ १४ ॥

वह तरुण वीर अर्जुन, जो अकेले ही रथमें बैठकर सम्पूर्ण मनुष्यों तथा देवताओंपर भी विजय पा चुका है, आज राजा विराटकी कन्याओंको नाचना सिखाता है ॥ १४ ॥

योऽतर्पयदमेयात्मा खाण्डवे जातवेदसम् ।
सोऽन्तःपुरगतः पार्थ कूपेऽग्निरिव संवृतः ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो असीम आत्मबलसे सम्पन्न है, जिसने खाण्डववनमें साक्षात् अग्निदेवको तृप्त किया था, वही वीर अर्जुन आज कुएँमें पड़ी हुई अग्निकी तरह अन्तःपुरमें छिपा हुआ है ॥ १५ ॥

यस्माद् भयममित्राणां सदैव पुरुषर्षभात् ।
स लोकपरिभूतेन वेषेणास्ते धनंजयः ॥ १६ ॥

जो पुरुषोंमें श्रेष्ठ है, जिससे शत्रुओंको सदा ही भय प्राप्त होता आया है, वही धनंजय आज लोकनिन्दित नपुंसकवेषमें रह रहा है ॥ १६ ॥

यस्य ज्याक्षेपकठिनौ बाहू परिघसंनिभौ ।
स शङ्खपरिपूर्णाभ्यां शोचन्नास्ते धनंजयः ॥ १७ ॥

जिसकी परिघ (लोहदण्ड) के समान मोटी भुजाएँ प्रत्यञ्चा खींचते-खींचते कठोर हो गयी थीं, वही धनंजय आज हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ पहनकर दुःख भोग रहा है ॥ १७ ॥

यस्य ज्यातलनिर्घोषात् समकम्पन्त शत्रवः ।
स्त्रियो गीतस्वनं तस्य मुदिताः पर्युपासते ॥ १८ ॥

जिसके धनुषकी टंकारसे समस्त शत्रु थर्रा उठते थे, आज अन्तःपुरकी स्त्रियाँ उसीके गीतोंकी ध्वनि सुनती और प्रसन्न होती हैं ॥ १८ ॥

किरीटं सूर्यसंकाशं यस्य मूर्द्धन्यशोभत ।
वेणीविकृतकेशान्तः सोऽयमद्य धनंजयः ॥ १९ ॥

जिसके मस्तकपर सूर्यके समान तेजस्वी किरीट शोभा पाता था, सिरपर चोटी धारण करनेके कारण उसी अर्जुनके केशोंकी शोभा बिगड़ गयी है ॥ १९ ॥

तं वेणीकृतकेशान्तं भीमधन्वानमर्जुनम् ।
कन्यापरिवृतं दृष्ट्वा भीम सीदति मे मनः ॥ २० ॥

भीम ! भयंकर गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले वीर अर्जुनको अपने सिरपर केशोंकी चोटी धारण किये कन्याओंसे घिरा देख मेरा हृदय विषादसे भर जाता है ॥ २० ॥

यस्मिन्नस्त्राणि दिव्यानि समस्तानि महात्मनि ।
आधारः सर्वविद्यानां स धारयति कुण्डले ॥ २१ ॥

जिस महात्मामें सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्रतिष्ठित हैं तथा जो समस्त विद्याओंका आधार है, वह आज कानोंमें (स्त्रियोंकी भाँति) कुण्डल धारण करता है ॥ २१ ॥

यं स्म राजसहस्राणि तेजसाप्रतिमानि वै ।
समरे नाभ्यवर्तन्त वेलामिव महार्णवः ॥ २२ ॥
सोऽयं राज्ञो विराटस्य कन्यानां नर्तको युवा ।
आस्ते वेषप्रतिच्छन्नः कन्यानां परिचारकः ॥ २३ ॥

जैसे महासागर तट सीमाको नहीं लाँघ पाता, उसी प्रकार सहस्रों अप्रतिम तेजवाले राजा जिस वीरको वशीभूत करनेके लिये आगे न बढ़ सके, वही तरुण अर्जुन इस समय राजा विराटकी कन्याओंको नाचना सिखा रहा है और हीजड़ेके वेषमें छिपकर उन कन्याओंकी सेवा करता है ॥२२-२३॥

यस्य स्म रथघोषेण समकम्पत मेदिनी ।
सपर्वतवना भीम सहस्थावरजङ्गमा ॥ २४ ॥
यस्मिञ्जाते महाभागे कुन्त्याः शोको व्यनश्यत ।
स शोचयति मामद्य भीमसेन तवानुजः ॥ २५ ॥

भीमसेन ! जिसके रथकी घर्घराहटसे पर्वत, वन और चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वी काँप उठती थी, जिस महान् भाग्यशाली पुत्रके उत्पन्न होनेपर माता कुन्तीका सारा शोक नष्ट हो गया था, वही तुम्हारा छोटा भाई अर्जुन आज अपनी दुरवस्थाके कारण मुझे शोकमग्न किये देता है ॥ २४-२५ ॥

भूषितं तमलंकारैः कुण्डलैः परिहाटकैः ।
कम्बुपाणिनमायान्तं दृष्ट्वा सीदति मे मनः ॥ २६ ॥

अर्जुनको स्त्रीजनोचित आभूषणों तथा सुवर्णमय कुण्डलोंसे विभूषित हो हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ धारण किये आते देख मेरा हृदय दुःखित हो जाता है ॥ २६ ॥

यस्य नास्ति समो वीर्ये कश्चिदुर्व्यां धनुर्धरः ।
सोऽद्य कन्यापरिवृतो गायन्नास्ते धनंजयः ॥ २७ ॥

इस भूतलपर जिसके बल-पराक्रमकी समानता करनेवाला कोई धनुर्धर वीर नहीं है, वही धनंजय आज राजकन्याओंके बीचमें बैठकर गीत गाया करता है ॥ २७ ॥

धर्मे शौर्ये च सत्ये च जीवलोकस्य सम्मतम् ।
स्त्रीवेषविकृतं पार्थं दृष्ट्वा सीदति मे मनः ॥ २८ ॥

धर्म, शूरवीरता और सत्यभाषणमें जो सम्पूर्ण जीव-जगत्के लिये एक आदर्श था, उसी अर्जुनको अब स्त्रीवेषमें विकृत हुआ देखकर मेरा हृदय शोकमें डूब जाता है ॥२८॥

यदा ह्येनं परिवृतं कन्याभिर्देवरूपिणम् ।
प्रभिन्नमिव मातङ्गं परिकीर्णं करेणुभिः ॥ २९ ॥
मत्स्यमर्थपतिं पार्थं विराटं समुपस्थितम् ।
पश्यामि तूर्यमध्यस्थं दिशो नश्यन्ति मे तदा ॥ ३० ॥

हथिनियोंसे घिरे हुए गण्डस्थलसे मधुकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति जब वाद्ययन्त्रोंके बीचमें बैठे हुए देवरूपधारी कुन्तीनन्दन अर्जुनको (नृत्यशालामें) कन्याओंसे घिरकर धनपति मत्स्यराज विराटकी सेवामें उपस्थित देखती हूँ, उस समय मेरी आँखोंमें अँधेरा छा जाता है; मुझे दिशाएँ नहीं सूझती हैं ॥ २९-३० ॥

नूनमार्या न जानाति कृच्छ्रं प्राप्तं धनंजयम् ।
अजातशत्रुं कौरव्यं मग्नं दुर्द्यूतदेविनम् ॥ ३१ ॥

निश्चय ही मेरी सास कुन्ती नहीं जानती होंगी कि मेरा पुत्र धनंजय ऐसे संकटमें पड़ा है और खोटे जूएके खेलमें आसक्त कुरुवंशशिरोमणि अजातशत्रु युधिष्ठिर भी शोकमें डूबे हुए हैं ॥ ३१ ॥

(ऐन्द्रवारुणवायव्यब्राह्माग्नेयैश्च वैष्णवैः ।
अग्नीन् संतर्पयन् पार्थः सर्वाश्चैकरथोऽजयत् ॥
दिव्यैरस्त्रैरचिन्त्यात्मा सर्वशत्रुनिबर्हणः ॥
दिव्यं गान्धर्वमस्त्रं च वायव्यमथ वैष्णवम् ।
ब्राह्मं पाशुपतं चैव स्थूणाकर्णं च दर्शयन् ॥
पौलोमान् कालकेयांश्च इन्द्रशत्रून् महासुरान् ।
निवातकवचैः सार्धं घोरानेकरथोऽजयत् ।
सोऽन्तःपुरगतः पार्थः कूपेऽग्निरिव संवृतः ॥

जिन कुन्तीकुमार अर्जुनने ऐन्द्र, वारुण, वायव्य, ब्राह्म, आग्नेय और वैष्णव अस्त्रोंद्वारा अग्निदेवको तृप्त करते हुए एकमात्र रथकी सहायतासे सब देवताओंको जीत लिया, जिनका आत्मबल अचिन्त्य है, जो अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा समस्त शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ हैं, जिन्होंने एकमात्र

रथपर आरूढ़ हो दिव्य गान्धर्व, वायव्य, वैष्णव, ब्राह्म, पाशुपत तथा स्थूणाकर्ण नामक अस्त्रोंका प्रदर्शन करते हुए युद्धमें निवातकवचोंसहित भयंकर पौलोम और कालकेय आदि महान् असुरोंको; जो इन्द्रसे शत्रुता रखनेवाले थे, परास्त कर दिया था, वे ही अर्जुन आज अन्तःपुरमें उसी प्रकार छिपे बैठे हैं, जैसे प्रज्वलित अग्नि कुएँमें ढक दी गयी हो ॥

कन्यापुरगतं दृष्ट्वा गोष्ठेष्विव महर्षभम् ।
स्त्रीवेषविकृतं पार्थं कुन्तीं गच्छति मे मनः ॥)

जैसे बड़ा भारी साँड़ गोशालाओंमें आबद्ध हो, उसी प्रकार स्त्रियोंके वेषसे विकृत अर्जुनको कन्याओंके अन्तःपुरमें देखकर मेरा मन बार-बार कुन्तीदेवीकी याद करता है ॥

तथा दृष्ट्वा यवीयांसं सहदेवं गवां पतिम् ।
गोषु गोवेषमायान्तं पाण्डुभूतास्मि भारत ॥ ३२ ॥

भारत ! इसी प्रकार तुम्हारे छोटे भाई सहदेवको, जो गौओंका पालक बनाया गया है, जब मैं गौओंके बीच ग्वालेके वेशमें आते देखती हूँ, तो मेरा रक्त सूख जाता है और सारा शरीर पीला पड़ जाता है ॥ ३२ ॥

सहदेवस्य वृत्तानि चिन्तयन्ती पुनः पुनः ।
न निद्रामभिगच्छामि भीमसेन कुतो रतिम् ॥ ३३ ॥

भीमसेन ! सहदेवकी दुर्दशाका बार-बार चिन्तन करनेके कारण मुझे कभी नींदतक नहीं आती; फिर सुख कहाँसे मिल सकता है ? ॥ ३३ ॥

न विन्दामि महाबाहो सहदेवस्य दुष्कृतम् ।
यस्मिन्नेवंविधं दुःखं प्राप्नुयात् सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥

महाबाहो ! जहाँतक मैं जानती हूँ, सहदेवने कभी कोई पाप नहीं किया है, जिससे इस सत्यपराक्रमी वीरको ऐसा दुःख उठाना पड़े ॥ ३४ ॥

दूयामि भरतश्रेष्ठ दृष्ट्वा ते भ्रातरं प्रियम् ।
गोषु गोवृषसंकाशं मत्स्येनाभिनिवेशितम् ॥ ३५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! साँड़के समान हृष्ट-पुष्ट तुम्हारे प्रिय भ्राता सहदेवको राजा विराटके द्वारा गौओंकी सेवामें लगाया गया देख मुझे बड़ा दुःख होता है ॥ ३५ ॥

संरब्धं रक्तनेपथ्यं गोपालानां पुरोगमम् ।
विराटमभिनन्दन्तमथ मे भवति ज्वरः ॥ ३६ ॥

गेरू आदिसे लाल रंगका श्रृङ्गार धारण किये ग्वालोंके अगुआ बने हुए सहदेवको उद्विग्न होनेपर भी जब मैं राजा विराटका अभिनन्दन करते देखती हूँ, तब मुझे बुखार चढ़ आता है ॥ ३६ ॥

सहदेवं हि मे वीर नित्यमार्या प्रशंसति ।
महाभिजनसम्पन्नः शीलवान् वृत्तवानिति ॥ ३७ ॥

वीर ! आर्या कुन्ती मुझसे सहदेवकी सदा प्रशंसा किया करती थीं कि यह महान् कुलमें उत्पन्न, शीलवान् और सदाचारी है ॥ ३७ ॥

ह्रीनिषेवो मधुरवाक् धार्मिकश्च प्रियश्च मे ।
स तेऽरण्येषु वोढव्यो याज्ञसेनि क्षपास्वपि ॥ ३८ ॥
सुकुमारश्च शूरश्च राजानं चाप्यनुव्रतः ।
ज्येष्ठापचायिनं वीरं स्वयं पाञ्चालि भोजयेः ॥ ३९ ॥
इत्युवाच हि मां कुन्ती रुदती पुत्रगृद्धिनी ।
प्रव्रजन्तं महारण्यं तं परिष्वज्य तिष्ठती ॥ ४० ॥

मुझे स्मरण है, जब सहदेव महान् वनमें आने लगे, उस समय पुत्रवत्सला माता कुन्ती उन्हें हृदयसे लगाकर खड़ी हो गयीं और रोती हुई मुझसे यों कहने लगीं—'याज्ञसेनी ! सहदेव बड़ा लज्जाशील, मधुरभाषी और धार्मिक है । यह मुझे अत्यन्त प्रिय है । इसे वनमें रात्रिके समय तुम स्वयं सँभालकर (हाथ पकड़कर) ले जाना, क्योंकि यह सुकुमार है (सम्भव है, थकावटके कारण चल न सके) । मेरा सहदेव शूरवीर, राजा युधिष्ठिरका भक्त, अपने बड़े भाईका पुजारी और वीर है । पाञ्चालराजकुमारी ! तुम इसे अपने हाथों भोजन कराना ॥ ३८–४० ॥

तं दृष्ट्वा व्यापृतं गोषु वत्सचर्मक्षपाशयम् ।
सहदेवं युधां श्रेष्ठं किं नु जीवामि पाण्डव ॥ ४१ ॥

पाण्डुनन्दन ! योद्धाओंमें श्रेष्ठ उसी सहदेवको जब मैं गौओंकी सेवामें तत्पर और बछड़ोंके चमड़ेपर रातमें सोते देखती हूँ, तब किसलिये जीवन धारण करूँ ? ॥ ४१ ॥

यस्त्रिभिर्नित्यसम्पन्नो रूपेणास्त्रेण मेधया ।
सोऽश्वबन्धो विराटस्य पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ ४२ ॥

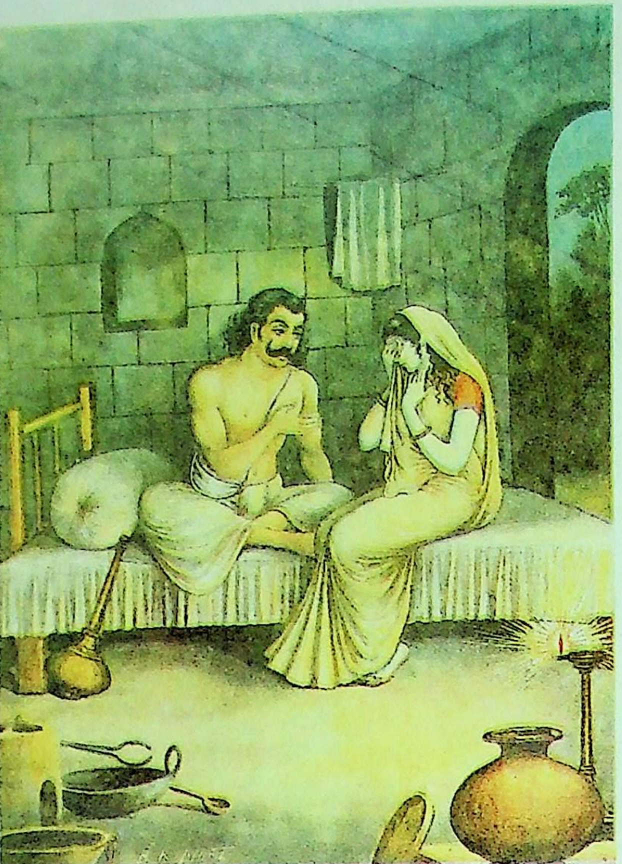
इसी प्रकार जो सुन्दर रूप, अस्त्रबल और मेधाशक्ति—इन तीनोंसे सदा सम्पन्न रहता है, वह वीरवर नकुल आज विराटके यहाँ घोड़े बाँधता है । देखो, कालकी कैसी विपरीत गति है ? ॥ ४२ ॥

अभ्यकीर्यन्त वृन्दानि दामग्रन्थिमुदीक्ष्य तम् ।
विनयन्तं जवेनाश्वान् महाराजस्य पश्यतः ॥ ४३ ॥

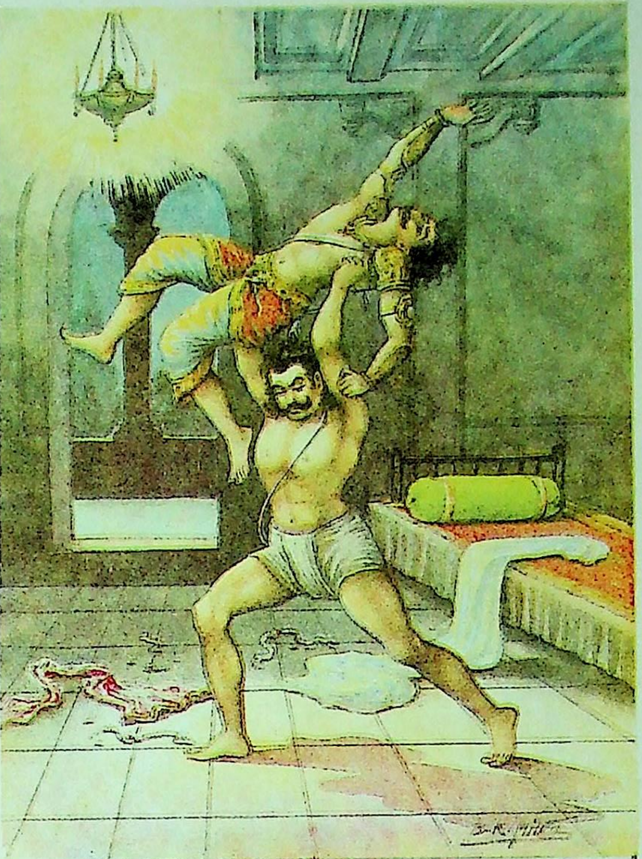
जिसे देखकर शत्रुओंके समुदाय बिखर जाते—भाग खड़े होते हैं, वही अब ग्रन्थिक बनकर घोड़ोंकी रास खोलता और बाँधता है तथा महाराजके सामने अश्वोंको वेगसे चलनेकी शिक्षा देता है ॥ ४३ ॥

अपश्यमेनं श्रीमन्तं मत्स्यं भ्राजिष्णुमुत्तमम् ।
विराटमुपतिष्ठन्तं दर्शयन्तं च वाजिनः ॥ ४४ ॥

मैंने शोभासम्पन्न, तेजस्वी तथा उत्तम रूपवाले नकुलको अपनी आँखों देखा है । वह मत्स्यनरेश विराटको भाँति-भाँतिके घोड़े दिखाता हुआ उनके पास खड़ा रहता है ॥



भीमसेन और द्रौपदी



कीचक-वध

किं नु मां मन्यसे पार्थ सुखिनीति परंतप ।
एवं दुःखशताविष्टा युधिष्ठिरनिमित्ततः ॥ ४५ ॥

कुन्तीनन्दन ! शत्रुदमन ! क्या तुम समझते हो, यह सब देखकर मैं सुखी हूँ ? राजा युधिष्ठिरके कारण ऐसे सैकड़ों दुःख मुझे सदा घेरे रहते हैं ॥ ४५ ॥

अतः प्रतिविशिष्टानि दुःखान्यन्यानि भारत ।
वर्तन्ते मयि कौन्तेय वक्ष्यामि शृणु तान्यपि ॥ ४६ ॥

भारत ! कुन्तीकुमार ! इनसे भी भारी दूसरे दुःख मुझपर आ पड़े हैं, उनका भी वर्णन करती हूँ, सुनो ॥ ४६ ॥

युष्मासु ध्रियमाणेषु दुःखानि विविधान्युत ।
शोषयन्ति शरीरं मे किं नु दुःखमतः परम् ॥ ४७ ॥

तुम सबके जीते-जी नाना प्रकारके कष्ट मेरे शरीरको सुखा रहे हैं, इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है ? ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीभीमसेनसंवादविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ५२ श्लोक हैं)

विंशोऽध्यायः

द्रौपदीद्वारा भीमसेनसे अपना दुःख निवेदन करना

द्रौपद्युवाच

अहं सैरन्ध्रिवेषेण चरन्ती राजवेश्मनि ।
शौचदास्मि सुदेष्णाया अक्षधूर्तस्य कारणात् ॥ १ ॥

द्रौपदी कहती है—परंतप ! तुम्हारे जूएमें चतुर चालाक भाईके कारण आज मैं राजमहलमें सैरन्ध्रीका वेश धारण करके टहल बजाती और रानी सुदेष्णाको स्नानकी वस्तुएँ जुटाकर देती हूँ ॥ १ ॥

विक्रियां पश्य मे तीव्रां राजपुत्र्याः परंतप ।
आत्मकालमुदीक्षन्ती सर्वं दुःखं किलान्तवत् ॥ २ ॥

राजपुत्री होकर भी मुझे कैसा भारी हीन कार्य करना पड़ता है, यह अपनी आँखों देख लो; परंतु सब लोग अपने अभ्युदयका अवसर देखते रहते हैं; क्योंकि यदि दुःख आता है, तो उसका अन्त भी होता ही है ॥ २ ॥

अनित्या किल मर्त्यानामर्थसिद्धिर्जयाजयौ ।
इति कृत्वा प्रतीक्षामि भर्तॄणामुदयं पुनः ॥ ३ ॥

मनुष्योंकी अर्थ-सिद्धि या जय-पराजय अनित्य हैं । वे सदा स्थिर नहीं रहते । यही सोचकर मैं अपने पतियोंके पुनः अभ्युदयकी प्रतीक्षा करती हूँ ॥ ३ ॥

चक्रवत्परिवर्तन्ते ह्यर्थाश्च व्यसनानि च ।
इतिकृत्वा प्रतीक्षामि भर्तॄणामुदयं पुनः ॥ ४ ॥

धन और व्यसन (सम्पत्ति और विपत्ति) सदा गाड़ीके पहियेकी तरह घूमा करते हैं; ऐसा विचारकर मैं पतियोंके पुनः अभ्युदयकालकी प्रतीक्षा करती हूँ ॥ ४ ॥

य एव हेतुर्भवति पुरुषस्य जयावहः ।
पराजये च हेतुश्च स इति प्रतिपालये ।
किं मां न प्रतिजानीषे भीमसेन मृतामिव ॥ ५ ॥

जो काल मनुष्यके लिये विजयदायक होता है, वही उसकी पराजयका भी कारण बन जाता है । ऐसा विचारकर मैं अपने पक्षकी विजयके अवसरकी राह देखती हूँ । भीमसेन ! क्या तुम नहीं जानते कि इन दुःखोंके आघातसे मैं मरी हुई-सी हो गयी हूँ ॥ ५ ॥

दत्त्वा याचन्ति पुरुषा हत्वा वध्यन्ति चापरे ।
पातयित्वा च पात्यन्ते परैरिति च मे श्रुतम् ॥ ६ ॥

मैंने सुना है, जो मनुष्य दान करते हैं, वे ही कभी याचनाके लिये विवश हो जाते हैं । दूसरे बहुत-से मनुष्य ऐसे हैं, जो दूसरोंको मारकर स्वयं भी दूसरोंके द्वारा मारे जाते हैं तथा जो दूसरोंको नीचे गिराते हैं, वे स्वयं भी दूसरे प्रतिपक्षियोंद्वारा नीचे गिराये जाते हैं ॥ ६ ॥

न दैवस्यातिभारोऽस्ति न चैवास्यातिवर्तनम् ।
इति चाप्यागमं भूयो दैवस्य प्रतिपालये ॥ ७ ॥

अतः दैवके लिये कुछ भी दुष्कर नहीं है । दैवके विधानको लाँघ जाना भी असम्भव है । इसलिये मैं दैवकी प्रधानता बतानेवाले शास्त्र-वचनोंका पालन करती—उन्हें आदर देती हूँ ॥ ७ ॥

स्थितं पूर्वं जलं यत्र पुनस्तत्रैव गच्छति ।
इति पर्यायमिच्छन्ती प्रतीक्षे उदयं पुनः ॥ ८ ॥

पानी जहाँ पहले स्थिर होता है, वह फिर भी वहीं ठहरता है । इस क्रमको चाहती हुई मैं पुनः अभ्युदयकालकी प्रतीक्षा करती हूँ ॥ ८ ॥

दैवेन किल यस्यार्थः सुनीतोऽपि विपद्यते ।
दैवस्य चागमे यत्नस्तेन कार्यो विजानता ॥ ९ ॥

उत्तम नीतिद्वारा सुरक्षित पदार्थ भी यदि दैव प्रतिकूल हो, तो उसके द्वारा नष्ट हो जाता है; अतः विज्ञ पुरुषको दैवको अनुकूल बनानेका ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ ९ ॥

यत् तु मे वचनस्यास्य कथितस्य प्रयोजनम् ।
पृच्छ मां दुःखितां तत्त्वं पृष्टा चात्र ब्रवीमि ते ॥ १० ॥

मैंने इस समय जो ये बातें कही हैं, इनका क्या प्रयोजन है ? यह मुझ दुखियासे पूछो । तुम्हारे पूछनेपर यहाँ मैं यथार्थ बात बताती हूँ, सुनो ॥ १० ॥

महिषी पाण्डुपुत्राणां दुहिता द्रुपदस्य च ।
इमामवस्थां सम्प्राप्ता मदन्या का जिजीविषेत् ॥ ११ ॥

मैं पाण्डवोंकी पटरानी और द्रुपदकी पुत्री होकर भी ऐसी दुर्दशामें पड़ी हूँ । मेरे सिवा दूसरी कौन स्त्री ऐसी अवस्थामें जीना चाहेगी ? ॥ ११ ॥

कुरून् परिभवेत् सर्वान् पञ्चालानपि भारत ।
पाण्डवेयांश्च सम्प्राप्तो मम क्लेशो ह्यरिंदम ॥ १२ ॥

भारत ! शत्रुदमन ! मुझपर पड़ा हुआ यह क्लेश समस्त कौरवों, पाञ्चालों और पाण्डवोंके लिये अपमानकी बात है ॥ १२ ॥

भ्रातृभिः श्वशुरैः पुत्रैर्बहुभिः परिवारिता ।
एवं समुदिता नारी का त्वन्या दुःखिता भवेत् ॥ १३ ॥

जिसके बहुत-से भाई, श्वशुर और पुत्र हों, जो इन सबसे घिरी हुई हो तथा भलीभाँति अभ्युदयशील हो, ऐसी परिस्थितिमें मेरे सिवा दूसरी कौन स्त्री दुःख भोगनेके लिये विवश हुई होगी ? ॥ १३ ॥

नूनं हि बालया धातुर्मया वै विप्रियं कृतम् ।
यस्य प्रसादाद् दुर्नीतं प्राप्तास्मि भरतर्षभ ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जान पड़ता है, बचपनमें मैंने विधाताका निश्चय ही महान् अपराध किया है, जिसके फलस्वरूप मैं आज इस दुर्दशामें पड़ गयी हूँ ॥ १४ ॥

वर्णावकाशमपि मे पश्य पाण्डव यादृशम् ।
तादृशो मे न तत्रासीद् दुःखे परमके तदा ॥ १५ ॥

पाण्डुनन्दन ! देखो, मेरे शरीरकी कान्ति कैसी फीकी पड़ गयी है ! यहाँ नगरमें मेरी जो अवस्था है, वह उन दिनों अत्यन्त दुःखपूर्ण वनवासके समय भी नहीं थी ॥१५॥

त्वमेव भीम जानीषे यन्मे पार्थ सुखं पुरा ।
साहं दासीत्वमापन्ना न शान्तिमवशा लभे ॥ १६ ॥
नादैविकमहं मन्ये यत्र पार्थो धनंजयः ।
भीमधन्वा महाबाहुरास्ते छन्न इवानलः ॥ १७ ॥

भीमसेन ! तुम्हीं जानते हो, पहले मुझे कितना सुख था । यहाँ आकर जबसे मैं दासीभावको प्राप्त हुई हूँ, तभीसे परतन्त्र होनेके कारण मुझे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती है । इसे मैं दैवकी ही लीला मानती हूँ । जहाँ प्रचण्ड धनुष धारण करनेवाले महाबाहु अर्जुन भी राखमें दबी हुई अग्निकी भाँति रनिवासमें छिपकर रहते हैं ॥ १६-१७ ॥

अशक्या वेदितुं पार्थ प्राणिनां वै गतिर्नरैः ।
विनिपातमिमं मन्ये युष्माकं ह्यविचिन्तितम् ॥ १८ ॥

कुन्तीनन्दन ! दैवाधीन प्राणियोंकी कब क्या गति होगी, इसे जानना मनुष्योंके लिये सर्वथा असम्भव है । मैं तो समझती हूँ, तुमलोगोंकी जो यह अवनति हुई है, इसकी किसीके मनमें कल्पनातक नहीं थी ॥ १८ ॥

यस्या मम मुखप्रेक्षा यूयमिन्द्रसमाः सदा ।
सा प्रेक्षे मुखमन्यासामवराणां वरा सती ॥ १९ ॥

एक दिन वह था कि इन्द्रके समान पराक्रमी तुम सब भाई सदा मेरा मुँह निहारा करते थे । आज वही मैं श्रेष्ठ होकर भी अपनेसे निकृष्ट दूसरी स्त्रियोंका मुँह जोहती रहती हूँ ॥ १९ ॥

पश्य पाण्डव मेऽवस्थां यथा नार्हामि वै तथा ।
युष्मासु ध्रियमाणेषु पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ २० ॥
यस्याः सागरपर्यन्ता पृथिवी वशवर्तिनी ।
आसीत् साद्य सुदेष्णाया भीताहं वशवर्तिनी ॥ २१ ॥

पाण्डुनन्दन ! देखो, तुम सबके जीते-जी मैं ऐसी बुरी हालतमें पड़ी हूँ, जो मेरे लिये कदापि उचित नहीं है । समयके इस उलट-फेरको तो देखो; एक दिन समुद्रके पास-तककी सारी पृथ्वी जिसके अधीन थी, वही मैं आज सुदेष्णाके वशमें होकर उससे डरती रहती हूँ ॥ २०-२१ ॥

यस्याः पुरःसरा आसन् पृष्ठतश्चानुगामिनः ।
साहमद्य सुदेष्णायाः पुरः पश्चाच्च गामिनी ॥ २२ ॥

जिसके आगे और पीछे बहुत-से सेवक रहा करते थे, वही मैं अब रानी सुदेष्णाके आगे और पीछे चलती हूँ ॥

इदं तु दुःखं कौन्तेय ममासह्यं निबोध तत् ।
या न जातु स्वयं पिंषे गात्रोद्वर्तनमात्मनः ।
अन्यत्र कुन्त्या भद्रं ते सा पिनष्म्यद्य चन्दनम् ॥ २३ ॥
पश्य कौन्तेय पाणी मे नैवाभूतां हि यौ पुरा ।

कुन्तीकुमार ! इसके सिवा मेरे एक और असह्य दुःखको तो देखो । पहले मैं माता कुन्तीको छोड़कर (और किसीके लिये तो क्या) स्वयं अपने लिये भी कभी उबटन नहीं पीसती थी; किंतु वही मैं आज दूसरोंके लिये चन्दन घिसती हूँ । पार्थ ! देखो, ये मेरे दोनों हाथ, जिनमें घट्ठे पड़ गये हैं, पहले ये ऐसे नहीं थे ॥ २३½ ॥

इत्यस्य दर्शयामास किणवन्तौ करावुभौ ॥ २४ ॥

ऐसा कहकर द्रौपदीने भीमसेनको अपने दोनों हाथ दिखाये, जिनमें चन्दन रगड़नेसे काले दाग पड़ गये थे ॥

बिभेमि कुन्त्या या नाहं युष्माकं वा कदाचन ।
साद्याग्रतो विराटस्य भीता तिष्ठामि किंकरी ॥ २५ ॥

(फिर वह सिसकती हुई बोली-) नाथ! जो पहले कभी आर्या कुन्तीसे अथवा तुमलोगोंसे भी नहीं डरती थी, वही द्रौपदी आज दासी होकर राजा विराटके आगे भयभीत-सी खड़ी रहती है' ॥ २५ ॥

किं नु वक्ष्यति सम्राण्मां वर्णकः सुकृतो न वा।
नान्यपिष्टं हि मत्स्यस्य चन्दनं किल रोचते ॥ २६ ॥

उस समय मैं सोचती हूँ, 'न जाने सम्राट् मुझे क्या कहेंगे ? यह उबटन अच्छा बना है या नहीं।' मेरे सिवा दूसरेका पीसा हुआ चन्दन मत्स्यराजको अच्छा ही नहीं लगता ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा कीर्तयन्ती दुःखानि भीमसेनस्य भामिनी।
रुरोद शनकैः कृष्णा भीमसेनमुदीक्षती ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भामिनी द्रौपदी इस प्रकार भीमसेनसे अपने दुःख बताकर उनके मुखकी ओर देखती हुई धीरे-धीरे रोने लगी ॥ २७ ॥

सा वाष्पकलया वाचा निःश्वसन्ती पुनः पुनः।
हृदयं भीमसेनस्य घट्टयन्तीदमब्रवीत् ॥ २८ ॥

वह बार-बार लंबी साँसें लेती हुई आँसुओंसे गद्गद वाणीमें भीमसेनके हृदयको कम्पित करती हुई इस प्रकार बोली—॥ २८ ॥

नाल्पं कृतं मया भीम देवानां किल्बिषं पुरा।
अभाग्या यत्र जीवामि कर्तव्ये सति पाण्डव ॥ २९ ॥

'पाण्डुनन्दन भीमसेन! मैंने पूर्वकालमें देवताओंका थोड़ा अपराध नहीं किया है, तभी तो मुझ अभागिनीको जहाँ मर जाना चाहिये, उस दशामें भी मैं जी रही हूँ' ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तस्याः करौ सूक्ष्मौ किणबद्धौ वृकोदरः।
मुखमानीय वै पत्न्या रुरोद परवीरहा ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर शत्रुहन्ता भीमसेन अपनी पत्नी द्रौपदीके दुबले-पतले हाथोंको, जिनमें घट्ठे पड़ गये थे, अपने मुखपर लगाकर रो पड़े ॥

तौ गृहीत्वा च कौन्तेयो वाष्पमुत्सृज्य वीर्यवान्।
ततः परमदुःखार्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

फिर पराक्रमी भीमने उन हाथोंको पकड़कर आँसू बहाते हुए अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो इस प्रकार कहा ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदी-भीम-संवादविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

भीमसेन और द्रौपदीका संवाद

भीमसेन उवाच

धिगस्तु मे बाहुबलं गाण्डीवं फाल्गुनस्य च।
यत् ते रक्तौ पुरा भूत्वा पाणी कृतकिणाविमौ ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—देवि ! मेरे बाहुबलको तथा अर्जुनके गाण्डीव धनुषको भी धिक्कार है; क्योंकि तुम्हारे ये दोनों कोमल हाथ, जो पहले लाल थे, अब घट्ठे पड़नेसे काले हो गये हैं ॥ १ ॥

सभायां तु विराटस्य करोमि कदनं महत्।
तत्र मे कारणं भाति कौन्तेयो यत् प्रतीक्षते ॥ २ ॥

मैं तो उसी दिन विराटकी सभामें ही भारी संहार मचा देता, किंतु ऐसा न करनेमें कारण बन गये कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर। वे प्रकट हो जानेका भय सूचित करते हुए मेरी ओर देखने लगे ॥ २ ॥

अथवा कीचकस्याहं पोथयामि पदा शिरः।
ऐश्वर्यमदमत्तस्य क्रीडन्निव महाद्विपः ॥ ३ ॥

अथवा ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हुए उस कीचकका मस्तक मैं उसी प्रकार पैरोंसे रौंद डालता जैसे क्रीडा करता हुआ महान् गजराज कीचक (बाँस)के वृक्षको मसल डालता है॥

अपश्यं त्वां यदा कृष्णे कीचकेन पदा हताम्।
तदैवाहं चिकीर्षामि मत्स्यानां कदनं महत् ॥ ४ ॥

कृष्णे! जब कीचकने तुम्हें लातसे मारा था, उस समय मैं वहीं था और अपनी आँखों यह घटना मैंने देखी थी। उसी क्षण मेरी इच्छा हुई कि आज इन मत्स्यदेशवासियोंका महासंहार कर डालूँ ॥ ४ ॥

तत्र मां धर्मराजस्तु कटाक्षेण न्यवारयत्।
तदहं तस्य विज्ञाय स्थित एवास्मि भामिनि ॥ ५ ॥

किंतु धर्मराजने वहाँ नेत्रोंसे संकेत करके मुझे ऐसा करनेसे रोक दिया। भामिनि! उनके उस इशारेको समझकर ही मैं चुप रह गया ॥ ५ ॥

यच्च राष्ट्रात् प्रच्यवनं कुरूणामवधश्च यः।
सुयोधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौबलस्य च ॥ ६ ॥
दुःशासनस्य पापस्य यन्मया नाहृतं शिरः।

तन्मे दहति गात्राणि हृदि शल्यमिवार्पितम् ।
मा धर्मं जहि सुश्रोणि क्रोधं जहि महामते ॥ ७ ॥

जिस दिन हमें राज्यसे वञ्चित किया गया, उसी दिन जो कौरवोंका वध नहीं हुआ, दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा पापी दुःशासनके मस्तक मैंने नहीं काट डाले, यह सब सोचकर मेरे हृदयमें काँटा-सा चुभ जाता है और शरीरमें आग लग जाती है। सुश्रोणि ! तुम बड़ी बुद्धिमती हो, धर्मको न छोड़ो; क्रोधका त्याग करो ॥ ६-७ ॥

इमं तु समुपालम्भं त्वत्तो राजा युधिष्ठिरः ।
शृणुयाद् वापि कल्याणि कृत्स्नं जह्यात् स जीवितम् ॥८॥

कल्याणी ! यदि राजा युधिष्ठिर तुम्हारे मुखसे यह सारा उपालम्भ सुन लेंगे, तो प्राण त्याग देंगे ॥ ८ ॥

धनंजयो वा सुश्रोणि यमौ वा तनुमध्यमे ।
लोकान्तरगतेष्वेषु नाहं शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ ९ ॥

सुश्रोणि ! तनुमध्यमे ! धनंजय अथवा नकुल-सहदेव भी इसे सुनकर जीवित नहीं रह सकते। इन सबके परलोकवासी हो जानेपर मैं भी नहीं जी सकूँगा ॥ ९ ॥

पुरा सुकन्या भार्या च भार्गवं च्यवनं वने ।
वल्मीकभूतं शाम्यन्तमन्वपद्यत भामिनी ॥ १० ॥
नारायणी चेन्द्रसेना रूपेण यदि ते श्रुता ।
पतिमन्वचरद् वृद्धं पुरा वर्षसहस्रिणम् ॥ ११ ॥

प्राचीन कालकी बात है, भृगुनन्दन महर्षि च्यवन तपस्या करते-करते बाँबीके समान हो गये थे, मानो अब उनका जीवन-दीप बुझ जायगा; ऐसी दशा हो गयी थी, तो भी उनकी कल्याणमयी पत्नी सुकन्याने उन्हींका अनुसरण किया—वह उन्हींकी सेवाशुश्रूषामें लगी रही। नारायणी इन्द्रसेना भी अपने रूप-सौन्दर्यके कारण विख्यात थी। तुमने भी उसका नाम सुना होगा। पूर्वकालमें उसने अपने हजार वर्षके बूढ़े पति मुद्गल ऋषिकी निरन्तर सेवा की थी ॥ १०-११ ॥

दुहिता जनकस्यापि वैदेही यदि ते श्रुता ।
पतिमन्वचरत् सीता महारण्यनिवासिनम् ॥ १२ ॥

जनकनन्दिनी वैदेही सीताका नाम तो तुम्हारे कानोंमें पड़ा ही होगा। उन्होंने अत्यन्त घोर वनमें निवास करनेवाले अपने पति श्रीरामचन्द्रजीका अनुगमन किया था ॥ १२ ॥

रक्षसा निग्रहं प्राप्य रामस्य महिषी प्रिया ।
क्लिश्यमानापि सुश्रोणि राममेवान्वपद्यत ॥ १३ ॥

सुश्रोणि ! जानकी श्रीरामकी प्यारी रानी थीं। वे राक्षसकी कैदमें पड़कर दीर्घकालतक क्लेश उठाती रहीं, तो भी उन्होंने श्रीरामको ही अपनाये रक्खा; अपना धर्म नहीं छोड़ा ॥ १३ ॥

लोपामुद्रा तथा भीरु वयोरूपसमन्विता ।
अगस्तिमन्वयाद्धित्वा कामान् सर्वानमानुषान् ॥ १४ ॥

भीरु ! नयी अवस्था और अनुपम रूप-सौन्दर्यसे सम्पन्न राजकुमारी लोपामुद्राने सम्पूर्ण अलौकिक सुख-भोगोंपर लात मारकर अपने पति महर्षि अगस्त्यका ही अनुसरण किया था ॥ १४ ॥

द्युमत्सेनसुतं वीरं सत्यवन्तमनिन्दिता ।
सावित्र्यनुचचारैका यमलोकं मनस्विनी ॥ १५ ॥

सती-साध्वी मनस्विनी सावित्री द्युमत्सेनके पुत्र वीरवर सत्यवान्के मर जानेपर उनके पीछे-पीछे अकेली ही यमलोककी ओर गयी थी ॥ १५ ॥

यथैताः कीर्तिता नार्यो रूपवत्यः पतिव्रताः ।
तथा त्वमपि कल्याणि सर्वैः समुदिता गुणैः ॥ १६ ॥

कल्याणि ! इन रूपवती पतिव्रता नारियोंका जैसा आदर्श बताया गया है, उसी प्रकार तुम भी समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हो ॥ १६ ॥

मादीर्घं क्षम कालं त्वं मासमर्धं च सम्मितम् ।
पूर्णे त्रयोदशे वर्षे राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ॥ १७ ॥

अब तुम थोड़े दिनोंतक और ठहर जाओ । वर्ष पूरा होनेमें महीना—आध-महीना और रह गया है। तेरहवाँ वर्ष पूर्ण होते ही तुम राजरानी बनोगी ॥ १७ ॥

(सत्येन ते शपे चाहं भविता नान्यथेति ह ।
सर्वासां परमस्त्रीणां प्रामाण्यं कर्तुमर्हसि ।

देवि ! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, ऐसा ही होगा; यह टल नहीं सकता। तुम्हें सभी श्रेष्ठ स्त्रियोंके समक्ष अपना आदर्श उपस्थित करना चाहिये ॥

सर्वेषां च नरेन्द्राणां मूर्ध्नि स्थास्यसि भामिनि ॥
भर्तृभक्त्या च वृत्तेन भोगान् प्राप्स्यसि दुर्लभान्)॥

भामिनि ! तुम अपनी पतिभक्ति तथा सदाचारसे सम्पूर्ण नरेशोंके मस्तकपर स्थान प्राप्त करोगी और तुम्हें दुर्लभ भोग सुलभ होंगे ॥

द्रौपद्युवाच

आर्तयैतन्मया भीम कृतं बाष्पप्रमोचनम् ।
अपारयन्त्या दुःखानि न राजानमुपालभे ॥ १८ ॥

द्रौपदीने कहा—प्राणनाथ भीम ! इधर अनेक प्रकारके दुःखोंको सहन करनेमें असमर्थ एवं आर्त होकर ही मैंने ये आँसू बहाये हैं। मैं राजा युधिष्ठिरको उलाहना नहीं दूँगी ॥१८॥

किमुक्तेन व्यतीतेन भीमसेन महाबल ।
प्रत्युपस्थितकालस्य कार्यस्यानन्तरो भव ॥ १९ ॥

महाबली भीमसेन ! अब बीती बातोंको दुहरानेसे क्या

लाभ ! इस समय जिसका अवसर उपस्थित है, उस कार्यके लिये तैयार हो जाओ ॥ १९ ॥

ममेह भीम कैकेयी रूपाभिभवशङ्कया ।
नित्यमुद्विजते राजा कथं नेयादिमामिति ॥ २० ॥

भीम ! केकयकुमारी सुदेष्णा यहाँ मेरे रूपसे पराजित होनेके कारण सदा इस शङ्कासे उद्विग्न रहती है कि राजा विराट किसी प्रकार इसपर आसक्त न हो जायँ ॥ २० ॥

तस्या विदित्वा तं भावं स्वयं चानृतदर्शनः ।
कीचकोऽयं सुदुष्टात्मा सदा प्रार्थयते हि माम्॥ २१ ॥

जिसका देखना भी अनृत (पापमय) है, वही यह परम दुष्टात्मा कीचक रानी सुदेष्णाके उक्त मनोभावको जानकर सदा स्वयं आकर मेरे आगे प्रार्थना किया करता है ॥ २१ ॥

तमहं कुपिता भीम पुनः कोपं नियम्य च ।
अब्रुवं कामसम्मूढमात्मानं रक्ष कीचक ॥ २२ ॥

भीम ! पहले-पहल उसके ऐसा कहनेपर मैं कुपित हो उठी; किंतु पुनः क्रोधके वेगको रोककर बोली—'कीचक ! तू कामसे मोहित हो रहा है। अरे ! तू अपने आपकी रक्षा कर ॥ २२ ॥

गन्धर्वाणामहं भार्या पञ्चानां महिषी प्रिया ।
ते त्वां निहन्युः कुपिताः शूराः साहसकारिणः॥ २३ ॥

'मैं पाँच गन्धर्वोंकी पत्नी तथा प्यारी रानी हूँ । वे साहसी तथा शूरवीर गन्धर्व तुम्हें कुपित होकर मार डालेंगे' ॥

एवमुक्तः सुदुष्टात्मा कीचकः प्रत्युवाच ह ।
नाहं बिभेमि सैरन्ध्रि गन्धर्वाणां शुचिस्मिते ॥ २४ ॥

मेरे ऐसा कहनेपर महा दुष्टात्मा कीचकने उत्तर दिया—'पवित्र मुसकानवाली सैरन्ध्री ! मैं गन्धर्वोंसे नहीं डरता॥२४॥

शतं शतसहस्राणि गन्धर्वाणामहं रणे ।
समागतं हनिष्यामि त्वं भीरु कुरु मे क्षणम् ॥ २५ ॥

'भीरु ! यदि युद्धमें मेरे सामने एक करोड़ गन्धर्व भी आ जायँ, तो मैं उन्हें मार डालूँगा; परंतु तुम मुझे स्वीकार कर लो' ॥ २५ ॥

इत्युक्ते चाब्रुवं मत्तं कामातुरमहं पुनः ।
न त्वं प्रतिबलश्चैषां गन्धर्वाणां यशस्विनाम् ॥ २६ ॥

उसके इस प्रकार उत्तर देनेपर मैंने पुनः उस कामातुर और मतवाले कीचकसे कहा-- 'कीचक ! तू मेरे यशस्वी पति गन्धर्वोंके समान बलवान् नहीं है ॥ २६ ॥

धर्मे स्थितास्मि सततं कुलशीलसमन्विता ।
नेच्छामि कंचिद् वध्यन्तं तेन जीवसि कीचक ॥ २७ ॥

'मैं सदा पातिव्रत्य-धर्ममें स्थित रहती हूँ एवं अपने उत्तम कुलकी मर्यादा और सदाचारसे सम्पन्न हूँ । मैं नहीं चाहती कि मेरे कारण किसीका वध हो, इसीलिये तू अबतक जीवित है' ॥ २७ ॥

एवमुक्तः स दुष्टात्मा प्राहसत् स्वनवत् तदा ।
अथ मां तत्र कैकेयी प्रेषयत् प्रणयेन तु ॥ २८ ॥
तेनैव देशिता पूर्वं भ्रातृप्रियचिकीर्षया ।
सुरामानय कल्याणि कीचकस्य निवेशनात् ॥ २९ ॥

मेरी यह बात सुनकर वह दुष्टात्मा ठहाका मारकर हँसने लगा । तदनन्तर केकयराजकुमारी सुदेष्णा, जैसा कीचकने पहले उसे सिखा रक्खा था, उसी योजनाके अनुसार अपने भाईका प्रिय करनेकी इच्छासे मुझे प्रेमपूर्वक कीचकके यहाँ भेजने लगी और बोली—'कल्याणि ! तुम कीचकके महलसे मेरे लिये मदिरा ले आओ' ॥ २८-२९ ॥

सूतपुत्रस्तु मां दृष्ट्वा महत् सान्त्वमवर्तयत् ।
सान्त्वे प्रतिहते क्रुद्धः परामर्शमनाभवत् ॥ ३० ॥

मैं वहाँ गयी । सूतपुत्रने मुझे देखकर पहले तो अपनी बात मान लेनेके लिये बड़े-बड़े आश्वासनोंके साथ समझाना आरम्भ किया; किंतु जब मैंने उसकी प्रार्थना ठुकरा दी, तब उसने क्रोधपूर्वक मेरे साथ बलात्कार करनेका विचार किया ॥

विदित्वा तस्य संकल्पं कीचकस्य दुरात्मनः ।
तथाहं राजशरणं जवेनैव प्रधाविता ॥ ३१ ॥

दुरात्मा कीचकके उस संकल्पको मैं जान गयी और राजाकी शरणमें पहुँचनेके लिये बड़े वेगसे भागी ॥ ३१ ॥

संदर्शने तु मां राज्ञः सूतपुत्रः परामृशत् ।
पातयित्वा तु दुष्टात्मा पदाहं तेन ताडिता ॥ ३२ ॥

किंतु वहाँ भी दुष्टात्मा सूतपुत्रने राजाके सामने मुझे पकड़ लिया और पृथ्वीपर गिराकर लातसे मारा ॥ ३२ ॥

प्रेक्षते स्म विराटस्तु कङ्कस्तु बहवो जनाः ।
रथिनः पीठमर्दाश्च हस्त्यारोहाश्च नैगमाः ॥ ३३ ॥

राजा विराट देखते रह गये । कङ्क तथा अन्य लोगोंने भी यह सब देखा । रथी, पीठमर्द (राजाके प्रिय व्यक्ति), महावत, वैदिक विद्वान् तथा नागरिक—सबकी दृष्टिमें यह बात आयी थी ॥ ३३ ॥

उपालब्धो मया राजा कङ्कश्चापि पुनः पुनः ।
ततो न वारितो राज्ञा न तस्याविनयः कृतः ॥ ३४ ॥

मैंने राजा विराट और कङ्कको बार-बार फटकारा, तो भी राजाने न तो उसे मना किया और न उसकी उद्दण्डताका दमन ही किया ॥ ३४ ॥

योऽयं राज्ञो विराटस्य कीचको नाम सारथिः ।
त्यक्तधर्मा नृशंसश्च नरस्त्रीसम्मतः प्रियः ॥ ३५ ॥

राजा विराटका यह जो कीचक नामवाला सारथि है,

इसने धर्मको त्याग दिया है। यह अत्यन्त क्रूर है, तो भी विराट और सुदेष्णा दोनों पति-पत्नी उसे बहुत मानते हैं। यह उनका प्रिय सेनापति है ॥ ३५ ॥

शूरोऽभिमानी पापात्मा सर्वार्थेषु च मुग्धवान्।
दारामर्शी महाभाग लभतेऽर्थान् बहूनपि ॥ ३६ ॥

इसे अपनी शूरवीरताका बड़ा अभिमान है। यह पापात्मा सब बातोंमें मूर्ख है। महाभाग ! यह परायी स्त्रियों-पर बलात्कार करता और लोगोंसे बहुत धन हड़पता रहता है ॥ ३६ ॥

आहरेदपि वित्तानि परेषां क्रोशतामपि।
न तिष्ठति स्म सन्मार्गे न च धर्मं बुभूषति ॥ ३७ ॥

लोग रोते-चिल्लाते रह जाते हैं; किंतु यह उनका सारा धन हड़प लेता है। यह सन्मार्गमें स्थिर नहीं रहता तथा धर्मोपार्जन भी नहीं करना चाहता है ॥ ३७ ॥

पापात्मा पापभावश्च कामबाणवशानुगः।
अविनीतश्च दुष्टात्मा प्रत्याख्यातः पुनः पुनः ॥ ३८ ॥

यह पापात्मा है; इसके मनमें पापकी ही वासना है। यह कामदेवके बाणोंसे विवश हो रहा है। उद्दण्ड और दुष्टात्मा तो है ही। मैंने बार-बार इसकी प्रार्थना ठुकरायी है ॥

दर्शने दर्शने हन्याद् यदि जह्यां च जीवितम्।
तद् धर्मे यतमानानां महान् धर्मो नशिष्यति ॥ ३९ ॥

अतः यह जब-जब सामने आयेगा, मुझे मारेगा। सम्भव है, किसी दिन मुझे जीवनसे भी हाथ धोना पड़े। उस दशामें धर्मके लिये प्रयत्न करनेवाले तुम सब लोगोंका सबसे महान् धर्म नष्ट हो जायगा ॥ ३९ ॥

समयं रक्षमाणानां भार्या वो न भविष्यति।
भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ॥ ४० ॥

यदि तुमलोग प्रतिज्ञाके अनुसार तेरह वर्षकी अवधिका पालन करते रहोगे, तो तुम्हारी यह भार्या जीवित न रहेगी। भार्याकी रक्षा करनेपर संतानकी रक्षा होती है ॥ ४० ॥

प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः।
आत्मा हि जायते तस्यां तेन जायां विदुर्बुधाः ॥ ४१ ॥

संतानकी रक्षा होनेपर अपना आत्मा सुरक्षित होता है। आत्मा ही पत्नीके गर्भसे पुत्ररूपमें जन्म लेता है। इसीलिये विद्वान् पुरुष पत्नीको 'जाया' कहते हैं ॥ ४१ ॥

भर्ता तु भार्यया रक्ष्यः कथं जायान्ममोदरे।
वदतां वर्णधर्मांश्च ब्राह्मणानामिति श्रुतः ॥ ४२ ॥

मैंने वर्णधर्मका उपदेश देनेवाले ब्राह्मणोंके मुँहसे सुना है, पत्नीको पतिकी रक्षा इसलिये करनी चाहिये कि यह किसी दिन मेरे पेटसे पुत्ररूपमें जन्म लेगा ॥ ४२ ॥

क्षत्रियस्य सदा धर्मो नान्यः शत्रुनिबर्हणात्।
पश्यतो धर्मराजस्य कीचको मां पदावधीत् ॥ ४३ ॥
तव चैव समक्षं वै भीमसेन महाबल।
त्वया ह्यहं परित्राता तस्माद् घोराज्जटासुरात् ॥ ४४ ॥

महाबली भीमसेन ! क्षत्रियके लिये सदा शत्रुओंका संहार करनेके सिवा और कोई धर्म नहीं है। कीचकने धर्मराज युधिष्ठिरके देखते-देखते और तुम्हारी आँखोंके सामने मुझे लात मारी है। तुमने उस भयंकर राक्षस जटासुरसे मेरी रक्षा की है ॥ ४३-४४ ॥

जयद्रथं तथैव त्वमजैषीर्भ्रातृभिः सह।
जहीममपि पापिष्ठं योऽयं मामवमन्यते ॥ ४५ ॥

भाइयोंसहित तुमने जयद्रथको भी परास्त किया है। अतः अब इस महापापी कीचकको भी मार डालो, जो मेरा अपमान कर रहा है ॥ ४५ ॥

कीचको राजवाल्लभ्याच्छोककृन्मम भारत।
तमेवं कामसम्मत्तं भिन्धि कुम्भमिवाश्मनि ॥ ४६ ॥

भारत ! राजाका प्रिय होनेके कारण ही कीचक मेरेलिये शोककारक हो रहा है। अतः ऐसे कामोन्मत्त पापीको तुम उसी तरह विदीर्ण कर डालो, जैसे पत्थरपर पटककर घड़ेको फोड़ दिया जाता है ॥ ४६ ॥

यो निमित्तमनर्थानां बहूनां मम भारत।
तं चेज्जीवन्तमादित्यः प्रातरभ्युदयिष्यति ॥ ४७ ॥
विषमालोड्य पास्यामि मा कीचकवशं गमम्।
श्रेयो हि मरणं मह्यं भीमसेन तवाग्रतः ॥ ४८ ॥

भारत ! जो मेरेलिये बहुत-से अनर्थोंका कारण बना हुआ है, उसके जीते-जी यदि कल सूर्योदय हो जायगा, तो मैं विष घोलकर पी लूँगी; किंतु कीचकके अधीन नहीं होऊँगी। भीमसेन ! कीचकके वशमें पड़नेकी अपेक्षा तुम्हारे सामने प्राण त्याग देना मेरेलिये कल्याणकारी होगा ॥ ४७-४८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्रारुदत् कृष्णा भीमस्योरःसमाश्रिता।
भीमश्च तां परिष्वज्य महत् सान्त्वं प्रयुज्य च ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर द्रौपदी भीमके वक्षःस्थलपर माथा टेककर फूट-फूटकर रोने लगी। भीमसेनने उसको हृदयसे लगाकर बहुत सान्त्वना दी ॥ ४९ ॥

आश्वासयित्वा बहुशो भृशमार्तां सुमध्यमाम्।
हेतुतत्त्वार्थसंयुक्तैर्वचोभिर्द्रुपदात्मजाम् ॥ ५० ॥
प्रमृज्य वदनं तस्याः पाणिनाश्रुसमाकुलम्।
कीचकं मनसागच्छत् सृक्किणी परिसंलिहन्।
उवाच चैनां दुःखार्तो भीमः क्रोधसमन्वितः ॥ ५१ ॥

वह बहुत आर्त हो रही थी, अतः उन्होंने सुन्दर कटिभागवाली द्रुपदकुमारीको युक्तियुक्त तात्त्विक वचनोंसे अनेक बार आश्वासन देकर अपने हाथसे उसके आँसूभरे मुँहको पोंछा और क्रोधसे जबड़े चाटते हुए मन-ही-मन कीचकका स्मरण किया। तदनन्तर भीमने दुःखपीड़ित द्रौपदीसे इस प्रकार कहा ॥ ५०-५१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीसान्त्वने एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीको आश्वासनविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२१॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५३ श्लोक हैं)

द्वाविंशोऽध्यायः

कीचक और भीमसेनका युद्ध तथा कीचकवध

भीमसेन उवाच

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे ।
अद्य तं सूदयिष्यामि कीचकं सहबान्धवम् ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—भद्रे ! तू जैसा कह रही है, वैसा ही करूँगा। भीरु ! मैं आज कीचकको उसके भाई-बन्धुओंसहित मार डालूँगा ॥ १ ॥

अस्याः प्रदोषे शर्वर्याः कुरुष्वानेन संगतम् ।
दुःखं शोकं च निर्धूय याज्ञसेनि शुचिस्मिते ॥ २ ॥

पवित्र मुसकानवाली द्रौपदी ! तुम दुःख-शोक भुलाकर आगामी रात्रिके प्रदोषकालमें कीचकसे मिलो और उसे नृत्यशालामें आनेके लिये कह दो ॥ २ ॥

यैषा नर्तनशालेह मत्स्यराजेन कारिता ।
दिवात्र कन्या नृत्यन्ति रात्रौ यान्ति यथागृहम् ॥ ३ ॥

मत्स्यराज विराटने जो यहाँ नृत्यशाला बनवायी है, उसमें दिनके समय तो कन्याएँ नाचती हैं तथा रातको अपने-अपने घर चली जाती हैं ॥ ३ ॥

तत्रास्ति शयनं दिव्यं दृढाङ्गं सुप्रतिष्ठितम् ।
तत्रास्य दर्शयिष्यामि पूर्वप्रेतान् पितामहान् ॥ ४ ॥

उस नृत्यशालामें एक बहुत सुन्दर मजबूत पलंग बिछा हुआ है। वहीं आनेपर उस कीचकको मैं उसके मरे हुए बाप-दादोंका दर्शन कराऊँगा ॥ ४ ॥

यथा च त्वां न पश्येयुः कुर्वाणां तेन संविदम् ।
कुर्यास्तथा त्वं कल्याणि यथा संनिहितो भवेत् ॥ ५ ॥

तुम ऐसी चेष्टा करना, जिससे उसके साथ गुप्त वार्तालाप करते समय कोई तुम्हें देख न ले। कल्याणी ! तुम ऐसी बात करना, जिससे वहाँ दिये हुए संकेतके अनुसार वह अवश्य मेरे पास आ जाय ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा तौ कथयित्वा तु बाष्पमुत्सृज्य दुःखितौ ।
रात्रिशेषं तमत्युग्रं धारयामासतुर्हृदि ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार बातचीत करके वे दोनों दुखी दम्पति आँसू बहाकर अलग हुए तथा रात्रिके शेषभागको उन्होंने बड़ी व्याकुलतासे बिताया और आपसकी बातचीतको मनमें ही गुप्त रखा ॥ ६ ॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरुत्थाय कीचकः ।
गत्वा राजकुलायैव द्रौपदीमिदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

वह रात बीत जानेपर कीचक सबेरे उठा और राजमहलमें जाकर द्रौपदीसे इस प्रकार बोला— ॥ ७ ॥

सभायां पश्यतो राज्ञः पातयित्वा पदाहनम् ।
न चैवालभसे त्राणमभिपन्ना बलीयसा ॥ ८ ॥

'सैरन्ध्री ! मैंने राजसभामें तुम्हारे महाराजके देखते-देखते तुम्हें पृथ्वीपर गिराकर लातोंसे मारा था। तुम मुझ-जैसे महाबलवान् पुरुषके पाले पड़ी हो; तुम्हें कोई बचा नहीं सकता ॥ ८ ॥

प्रवादेनेह मत्स्यानां राजा नाम्नायमुच्यते ।
अहमेव हि मत्स्यानां राजा वै वाहिनीपतिः ॥ ९ ॥

'राजा विराट तो कहनेके लिये ही मत्स्यदेशका नाममात्रका राजा है। वास्तवमें मैं ही यहाँका राजा हूँ; क्योंकि सेनाका मालिक मैं हूँ ॥ ९ ॥

मां सुखं प्रतिपद्यस्व दासो भीरु भवामि ते ।
अह्नाय तव सुश्रोणि शतं निष्कान् ददाम्यहम् ॥ १० ॥

'भीरु ! सुखपूर्वक मुझे स्वीकार कर लो, फिर तो मैं तुम्हारा दास बन जाऊँगा। सुश्रोणि ! मैं तुम्हारे दैनिक खर्चके लिये प्रतिदिन सौ मोहरें देता रहूँगा ॥ १० ॥

दासीशतं च ते दद्यां दासानामपि चापरम् ।
रथं चाश्वतरीयुक्तमस्तु नौ भीरु संगमः ॥ ११ ॥

'तुम्हारी सेवाके लिये सौ दासियाँ और उतने ही दास दूँगा। तुम्हारी सवारीके लिये खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ प्रस्तुत रहेगा। भीरु! अब हम दोनोंका परस्पर समागम होना चाहिये ॥

द्रौपद्युवाच

एवं मे समयं त्वद्य प्रतिपद्यस्व कीचक ।

न त्वां सखा वा भ्राता वा जानीयात् संगतं मया ॥ १२ ॥

द्रौपदीने कहा—कीचक ! यदि ऐसी बात है, तो आज मेरी एक शर्त स्वीकार करो । तुम मुझसे मिलने आते हो—यह बात तुम्हारा मित्र अथवा भाई कोई भी न जाने ॥ १२ ॥

अनुप्रवादाद् भीतास्मि गन्धर्वाणां यशस्विनाम् ।
एवं मे प्रतिजानीहि ततोऽहं वशगा तव ॥ १३ ॥

क्योंकि मैं यशस्वी गन्धर्वोंके अपवादसे डरती हूँ । यदि इस बातके लिये मुझसे प्रतिज्ञा करो, तो मैं तुम्हारे अधीन हो सकती हूँ ॥ १३ ॥

कीचक उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा सुश्रोणि भाषसे ।
एको भद्रे गमिष्यामि शून्यमावसथं तव ॥ १४ ॥

कीचक बोला—ठीक है । सुश्रोणि ! तुम जैसा कहती हो, वैसा ही करूँगा । भद्रे ! तुम्हारे सूने घरमें मैं अकेला ही जाऊँगा ॥ १४ ॥

समागमार्थं रम्भोरु त्वया मदनमोहितः ।
यथा त्वां नैव पश्येयुर्गन्धर्वाः सूर्यवर्चसः ॥ १५ ॥

रम्भोरु ! मैं कामसे मोहित होकर तुम्हारे साथ समागमके लिये इस प्रकार आऊँगा, जिससे सूर्यके समान तेजस्वी गन्धर्व तुम्हें उस समय मेरे साथ न देख सकें ॥ १५ ॥

द्रौपद्युवाच

यदेतन्नर्तनागारं मत्स्यराजेन कारितम् ।
दिवात्र कन्या नृत्यन्ति रात्रौ यान्ति यथागृहम् ॥ १६ ॥

द्रौपदीने कहा—कीचक ! मत्स्यराजने यह जो नृत्यशाला बनवायी है, उसमें दिनके समय कन्याएँ नृत्य करती हैं तथा रातमें अपने-अपने घर चली जाती हैं ॥ १६ ॥

तमिस्रे तत्र गच्छेथा गन्धर्वास्तन्न जानते ।
तत्र दोषः परिहृतो भविष्यति न संशयः ॥ १७ ॥

वहाँ अँधेरा रहता है, अतः मुझसे मिलनेके लिये वहीं जाना । उस स्थानको गन्धर्व नहीं जानते । वहाँ मिलनेसे सब दोष दूर हो जायगा; इसमें संशय नहीं है ॥ १७ ॥

(*कीचक उवाच*

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु मन्यसे ।
एकः सन् नर्तनागारमागमिष्यामि शोभने ॥
समागमार्थं सुश्रोणि शपे च सुकृतेन मे ।

कीचक बोला—भद्रे ! भीरु ! तुम जैसा ठीक समझती हो, वैसा ही करूँगा । शोभने ! मैं तुमसे मिलनेके लिये अकेला ही नृत्यशालामें आऊँगा । सुश्रोणि ! यह बात मैं अपने पुण्यकी शपथ खाकर कहता हूँ ॥

यथा त्वां नावबुध्यन्ते गन्धर्वा वरवर्णिनि ॥
सत्यं ते प्रतिजानामि गन्धर्वेभ्यो न ते भयम् ॥)

वरवर्णिनी ! मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे गन्धर्वोंको तुम्हारे विषयमें कुछ भी पता न लगे । मैं सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तुम्हें गन्धर्वोंसे कोई भय नहीं है ॥

वैशम्पायन उवाच

तमर्थमपि जल्पन्त्याः कृष्णायाः कीचकेन ह ।
दिवसार्धं समभवन्मासेनैव समं नृप ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार कीचकके साथ बात करनेके बाद द्रौपदीको अवशिष्ट आधा दिन (भीमसेनसे यह बात निवेदन करनेकी प्रतीक्षामें) एक महीनेके समान भारी मालूम हुआ ॥ १८ ॥

कीचकोऽथ गृहं गत्वा भृशं हर्षपरिप्लुतः ।
सैरन्ध्रीरूपिणं मूढो मृत्युं तं नावबुद्धवान् ॥ १९ ॥

इधर कीचक महान् हर्षमें भरा हुआ अपने घरको गया । उस मूर्खको यह पता नहीं था कि सैरन्ध्रीके रूपमें मेरी मृत्यु आ रही है ॥ १९ ॥

गन्धाभरणमाल्येषु व्यासक्तः सविशेषतः ।
अलंचक्रे तदाऽऽत्मानं सत्वरः काममोहितः ॥ २० ॥

वह तो कामसे मोहित हो रहा था; अतः घर जाकर शीघ्र ही अपने आपको (गहने-कपड़ोंसे) सजाने लगा । वह विशेषतः सुगन्धित पदार्थों, आभूषणों तथा मालाओंके सेवनमें संलग्न रहा ॥ २० ॥

तस्य तत् कुर्वतः कर्म कालो दीर्घ इवाभवत् ।
अनुचिन्तयतश्चापि तामेवायतलोचनाम् ॥ २१ ॥

मन-ही-मन विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदीका बारंबार चिन्तन करते हुए शृङ्गार धारण करते समय कीचकको वह थोड़ा-सा समय भी उत्कण्ठावश बहुत बड़ा-सा प्रतीत हुआ ॥

आसीदभ्यधिका चापि श्रीः श्रियं प्रमुमुक्षतः ।
निर्वाणकाले दीपस्य वर्तीमिव दिधक्षतः ॥ २२ ॥

वास्तवमें जो सदाके लिये राजलक्ष्मीसे वियुक्त होनेवाला है, उस कीचककी भी उस समय शृङ्गार आदि धारण करनेसे श्री (शोभा) बहुत बढ़ गयी थी । ठीक उसी तरह, जैसे बुझनेके समय बत्तीको भी जला देनेकी इच्छावाले दीपककी प्रभा विशेष बढ़ जाती है ॥ २२ ॥

कृतसम्प्रत्ययस्तस्याः कीचकः काममोहितः ।
नाजानाद् दिवसं यान्तं चिन्तयानः समागमम् ॥ २३ ॥

काममोहित कीचकने द्रौपदीकी बातपर पूरा विश्वास कर लिया था; अतः उसके समागम-सुखका चिन्तन करते-करते उसे यह भी पता न चला कि दिन कब बीत गया ॥

ततस्तु द्रौपदी गत्वा तदा भीमं महानसे ।
उपातिष्ठत कल्याणी कौरव्यं पतिमन्तिकम् ॥ २४ ॥

तदनन्तर कल्याणस्वरूपा द्रौपदी पाकशालामें अपने पति कुरुनन्दन भीमसेनके पास गयी ॥ २४ ॥

तमुवाच सुकेशान्ता कीचकस्य मया कृतः।
संगमो नर्तनागारे यथावोचः परंतप ॥ २५ ॥

वहाँ सुन्दर लटोंवाली कृष्णाने कहा—'शत्रुतापन! जैसा तुमने कहा था, उसके अनुसार मैंने कीचकको नृत्यशालामें मिलनेका संकेत कर दिया है ॥ २५ ॥

शून्यं स नर्तनागारमागमिष्यति कीचकः।
एको निशि महाबाहो कीचकं तं निषूदय ॥ २६ ॥

'अतः महाबाहो! कीचक रातके समय उस सूनी नृत्यशालामें अकेला आवेगा। तुम वहीं उसे मार डालना ॥

तं सूतपुत्रं कौन्तेय कीचकं मददर्पितम्।
गत्वा त्वं नर्तनागारं निर्जीवं कुरु पाण्डव ॥ २७ ॥

'कुन्तीकुमार! पाण्डुनन्दन! तुम नृत्यगृहमें जाकर उस मदोन्मत्त सूतपुत्र कीचकको प्राणशून्य कर दो ॥ २७ ॥

दर्पाच्च सूतपुत्रोऽसौ गन्धर्वानवमन्यते।
तं त्वं प्रहरतां श्रेष्ठ ह्रदान्नागमिवोद्धर ॥ २८ ॥

'प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ वीर! वह सूतपुत्र अपनी वीरताके घमंडमें आकर गन्धर्वोंकी अवहेलना करता है; अतः जलाशयसे सर्पकी भाँति उसे तुम इस जगत्‌से निकाल फेंको॥

अश्रु दुःखाभिभूताया मम मार्जस्व भारत।
आत्मनश्चैव भद्रं ते कुरु मानं कुलस्य च ॥ २९ ॥

'भारत! तुम्हारा कल्याण हो। तुम कीचकको मारकर मुझ दुःखपीड़ित अबलाके आँसू पोंछो तथा अपना और अपने कुलका सम्मान बढ़ाओ' ॥ २९ ॥

भीमसेन उवाच

स्वागतं ते वरारोहे यन्मां वेदयसे प्रियम्।
न ह्यन्यं कञ्चिदिच्छामि सहायं वरवर्णिनि ॥ ३० ॥

भीमसेन बोले—वरारोहे! तुम्हारा स्वागत है; क्योंकि तुमने मुझे प्रिय संवाद सुनाया है। सुन्दरी! मैं इस कार्यमें दूसरे किसीको सहायक बनाना नहीं चाहता ॥ ३० ॥

या मे प्रीतिस्त्वयाऽऽख्याता कीचकस्य समागमे।
हत्वा हिडिम्बं सा प्रीतिर्ममासीद् वरवर्णिनि ॥ ३१ ॥

वरवर्णिनि! कीचकसे मिलनेके लिये तुमने जो शुभ संवाद दिया है और इसे सुनकर मुझे जितनी प्रसन्नता हुई है, ऐसी प्रसन्नता मुझे हिडिम्बासुरको मारकर प्राप्त हुई थी॥

सत्यं भ्रातॄंश्च धर्मं च पुरस्कृत्य ब्रवीमि ते।
कीचकं निहनिष्यामि वृत्रं देवपतिर्यथा ॥ ३२ ॥

मैं सत्य, धर्म और भाइयोंको आगे करके—उनकी शपथ खाकर तुमसे कहता हूँ, जैसे देवराज इन्द्रने वृत्रासुरको मारा था, उसी प्रकार मैं भी कीचकका वध कर डालूँगा ॥ ३२ ॥

तं गह्वरे प्रकाशे वा पोथयिष्यामि कीचकम्।
अथ चेदपि योत्स्यन्ति हिंसे मत्स्यानपि ध्रुवम् ॥ ३३ ॥

एकान्तमें या जन-समुदायमें जहाँ भी वह मिलेगा, कीचकको मैं कुचल डालूँगा और यदि मत्स्यदेशके लोग उसकी ओरसे युद्ध करेंगे तो, उन्हें भी निश्चय ही मार डालूँगा ॥ ३३ ॥

ततो दुर्योधनं हत्वा प्रतिपत्स्ये वसुन्धराम्।
कामं मत्स्यमुपास्तां हि कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर दुर्योधनको मारकर समूची पृथ्वीका राज्य ले लूँगा। भले ही कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर यहाँ बैठकर मत्स्यराज विराटकी उपासना करते रहें ॥ ३४ ॥

द्रौपद्युवाच

यथा न संत्यजेथास्त्वं सत्यं वै मत्कृते विभो।
निगूढस्त्वं तथा पार्थ कीचकं तं निषूदय ॥ ३५ ॥

द्रौपदीने कहा—प्रभो! तुम वही करो, जिससे मेरे लिये तुम्हें सत्यका परित्याग न करना पड़े। कुन्तीनन्दन! तुम अपनेको गुप्त रखकर ही उस कीचकका संहार करो ॥

भीमसेन उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे।
अद्य तं सूदयिष्यामि कीचकं सह बान्धवैः ॥ ३६ ॥

भीमसेन बोले—ठीक है, भीरु! तुम जैसा कहती हो, वही करूँगा। आज मैं उस कीचकको उसके भाई-बन्धुओं-सहित मार डालूँगा ॥ ३६ ॥

अदृश्यमानस्तस्याथ तमस्विन्यामनिन्दिते।
नागो बिल्वमिवाक्रम्य पोथयिष्याम्यहं शिरः।
अलभ्यामिच्छतस्तस्य कीचकस्य दुरात्मनः ॥ ३७ ॥

अनिन्दिते! गजराज जैसे बेलके फलपर पैर रखकर उसे कुचल दे, उसी प्रकार मैं अँधेरी रातमें उससे अदृश्य रहकर तुझ-जैसी अलभ्य नारीको प्राप्त करनेकी इच्छावाले दुरात्मा कीचकके मस्तकको कुचल डालूँगा ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच

भीमोऽथ प्रथमं गत्वा रात्रौ छन्न उपाविशत्।
मृगं हरिरिवादृश्यः प्रत्याकाङ्क्षत कीचकम् ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर भीमसेन रातके समय पहले ही जाकर नृत्यशालामें छिपकर बैठ गये और कीचककी इस प्रकार प्रतीक्षा करने लगे, जैसे सिंह अदृश्य रहकर मृगकी घातमें बैठा रहता है ॥ ३८ ॥

कीचकश्चाप्यलंकृत्य यथाकाममुपागमत्।
तां वेलां नर्तनागारं पाञ्चालीसंगमाशया ॥ ३९ ॥

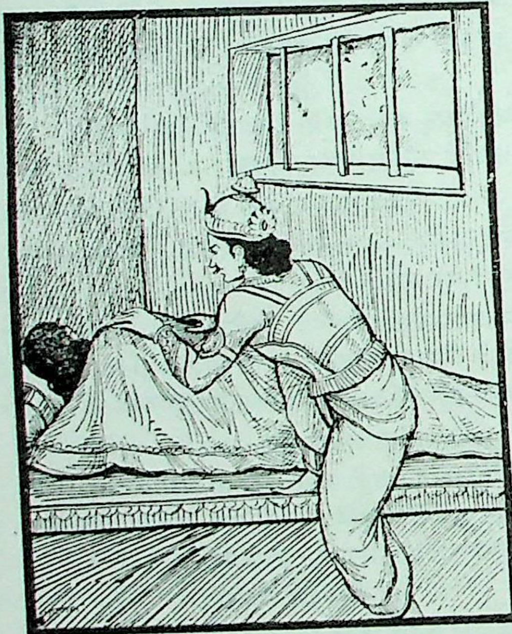
इधर कीचक भी इच्छानुसार वस्त्राभूषणोंसे सज-धज-कर द्रौपदीके साथ समागमकी अभिलाषासे उसी समय नृत्यशालाके समीप आया ॥ ३९ ॥

मन्यमानः स संकेतमागारं प्राविशच्च तत् ।
प्रविश्य च स तद् वेश्म तमसा संवृतं महत् ॥ ४० ॥

उस गृहको संकेत-स्थान मानकर उसने भीतर प्रवेश किया। वह विशाल भवन सब ओरसे अन्धकारसे आच्छन्न हो रहा था ॥ ४० ॥

पूर्वागतं ततस्तत्र भीममप्रतिमौजसम् ।
एकान्तावस्थितं चैनमाससाद स दुर्मतिः ॥ ४१ ॥
शयानं शयने तत्र सूतपुत्रः परामृशत् ।
जाज्वल्यमानं कोपेन कृष्णाधर्षणजेन ह ॥ ४२ ॥

अतुलितपराक्रमी भीमसेन तो वहाँ पहलेसे ही आकर एकान्तमें एक शय्यापर लेटे हुए थे । खोटी बुद्धिवाला सूतपुत्र कीचक वहीं पहुँच गया और उन्हें हाथसे टटोलने लगा। उस समय भीमसेन कीचकद्वारा द्रौपदीके अपमान-के कारण क्रोधसे जल रहे थे ॥ ४१-४२ ॥



उपसंगम्य चैवैनं कीचकः काममोहितः ।
हर्षोन्मथितचित्तात्मा स्मयमानोऽभ्यभाषत ॥ ४३ ॥

उनके पास पहुँचते ही काममोहित कीचक हर्षसे उन्मत्त-चित्त हो मुसकराते हुए बोला--॥ ४३ ॥

प्रापितं ते मया वित्तं बहुरूपमनन्तकम् ।
यत् कृतं धनरत्नाढ्यं दासीशतपरिच्छदम् ॥ ४४ ॥
रूपलावण्ययुक्ताभिर्युवतीभिरलंकृतम् ।
गृहं चान्तःपुरं सुभ्रु क्रीडारतिविराजितम् ।
तत् सर्वं त्वां समुद्दिश्य सहसाहमुपागतः ॥ ४५ ॥

'सुभ्रु ! मैंने अनेक प्रकारका जो अनन्त धन संचित किया है, वह सब तुम्हें भेंट कर दिया तथा मेरा जो धन-रत्नादिसे सम्पन्न, सैकड़ों दासी आदि उपकरणोंसे युक्त, रूप-लावण्यवती युवतियोंसे अलंकृत तथा क्रीडा-विलाससे सुशोभित गृह एवं अन्तःपुर है, वह सब तुम्हारे लिये ही निछावर करके मैं सहसा तुम्हारे पास चला आया हूँ ॥ ४४-४५ ॥

अकस्मान्मां प्रशंसन्ति सदा गृहगताः स्त्रियः ।
सुवासा दर्शनीयश्च नान्योऽस्ति त्वादृशः पुमान् ॥४६॥

मेरे घरकी स्त्रियाँ अकस्मात् मेरी प्रशंसा करने लगती हैं और कहती हैं—'आपके समान सुन्दर वस्त्रधारी और दर्शनीय दूसरा कोई पुरुष नहीं है' ॥ ४६ ॥

भीमसेन उवाच

दिष्ट्या त्वं दर्शनीयोऽथ दिष्ट्याऽऽत्मानं प्रशंससि ।
ईदृशस्तु त्वया स्पर्शः स्पृष्टपूर्वो न कर्हिचित् ॥ ४७ ॥

भीमसेन बोले—सौभाग्यकी बात है कि तुम ऐसे दर्शनीय हो और यह भी भाग्यकी ही बात है कि तुम स्वयं ही अपनी प्रशंसा कर रहे हो। परंतु ऐसा कोमल स्पर्श भी तुम्हें पहले कभी नहीं प्राप्त हुआ होगा ॥ ४७ ॥

स्पर्शं वेत्सि विदग्धस्त्वं कामधर्मविचक्षणः ।
स्त्रीणां प्रीतिकरो नान्यस्त्वत्समः पुरुषस्त्विह ॥ ४८ ॥

स्पर्शको तो तुम खूब पहचानते हो। इस कलामें बड़े चतुर हो। कामधर्मके विलक्षण ज्ञाता जान पड़ते हो। इस संसारमें स्त्रियोंको प्रसन्न करनेवाला तुम्हारे सिवा दूसरा कोई पुरुष नहीं है ॥ ४८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।
सहसोत्पत्य कौन्तेयः प्रहस्येदमुवाच ह ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! कीचकसे ऐसा कहकर भयंकरपराक्रमी कुन्तीपुत्र महाबाहु भीमसेन सहसा उछलकर खड़े हो गये और हँसते हुए इस प्रकार बोले—॥

अद्य त्वां भगिनी पापं कृष्यमाणं मया भुवि ।
द्रक्ष्यतेऽद्रिप्रतीकाशं सिंहेनेव महागजम् ॥ ५० ॥

'अरे ! तू पर्वतके समान विशालकाय है, तो भी जैसे सिंह महान् गजराजको घसीटता है, उसी प्रकार आज मैं तुझ पापीको पृथ्वीपर पटककर घसीटूँगा और तेरी बहिन यह सब देखेगी ॥ ५० ॥

निराबाधा त्वयि हते सैरन्ध्री विचरिष्यति ।
सुखमेव च [illegible] सदा ॥ ॥ ५१ ॥

'इस प्रकार तेरे मारे जानेपर सैरन्ध्री बेखटके विचरेगी और उसके पति भी सदा सुखसे ही रहेंगे' ॥ ५१ ॥

ततो जग्राह केशेषु माल्यवत्सु महाबलः ।
स केशेषु परामृष्टो बलेन बलिनां वरः ॥ ५२ ॥
आक्षिप्य केशान् वेगेन बाह्वोर्जग्राह पाण्डवम् ।
बाहुयुद्धं तयोरासीत् क्रुद्धयोर्नरसिंहयोः ॥ ५३ ॥
वसन्ते वासिताहेतोर्बलवद्गजयोरिव ॥

ऐसा कहकर महाबली भीमसेनने उसके पुष्पहारविभूषित केश पकड़ लिये । कीचक भी बलवानोंमें श्रेष्ठ था । सिरके बाल पकड़ लिये जानेपर उसने बलपूर्वक झटका देकर उन्हें छुड़ा लिया और बड़ी फुर्तीसे पाण्डुनन्दन भीमको दोनों भुजाओंमें भर लिया । तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए उन दोनों पुरुषसिंहोंमें बाहुयुद्ध होने लगा, मानो वसन्तऋतुमें हथिनीके लिये दो बलवान् गजराज एक दूसरे-से जूझ रहे हों ।५२-५३½।

कीचकानां तु मुख्यस्य नराणामुत्तमस्य च ॥ ५४ ॥
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोः पुरेव कपिसिंहयोः ।
अन्योन्यमपि संरब्धौ परस्परजयैषिणौ ॥ ५५ ॥

एक ओर कीचकोंका प्रधान कीचक था, तो दूसरी ओर मनुष्योंमें श्रेष्ठ भीमसेन । जैसे पूर्वकालमें कपिश्रेष्ठ वाली और सुग्रीव दोनों भाइयोंमें घोर युद्ध हुआ था, वैसा ही इन दोनोंमें भी होने लगा । दोनों एक दूसरेपर कुपित थे और परस्पर विजय पानेकी इच्छासे लड़ रहे थे ॥ ५४-५५ ॥

ततः समुद्यम्य भुजौ पञ्चशीर्षाविवोरगौ ।
नखदंष्ट्राभिरन्योन्यं घ्नतः क्रोधविषोद्धतौ ॥ ५६ ॥

फिर दोनों क्रोधरूपी विषसे उद्धत हुए पाँच मस्तकोंवाले सर्पोंकी भाँति अपनी-अपनी (पाँच अंगुलियोंसे युक्त) भुजाओंको ऊपर उठाकर एक-दूसरेपर नखों और दाँतोंसे प्रहार करने लगे ॥ ५६ ॥

वेगेनाभिहतो भीमः कीचकेन बलीयसा ।
स्थिरप्रतिज्ञः स रणे पदान्न चलितः पदम् ॥ ५७ ॥

बलिष्ठ कीचकने बड़े वेगसे आघात किया, तो भी दृढ-प्रतिज्ञ भीम उस युद्धमें स्थिर रहे; एक पग भी पीछे नहीं हटे ॥ ५७ ॥

तावन्योन्यं समाश्लिष्य प्रकर्षन्तौ परस्परम् ।
उभावपि प्रकाशेते प्रवृद्धौ वृषभाविव ॥ ५८ ॥

फिर दोनों आपसमें गुँथ गये और एक-दूसरेको खींचने लगे । उस समय वे दो हृष्ट-पुष्ट साँड़ोंकी भाँति सुशोभित होते थे ॥ ५८ ॥

तयोर्ह्यासीत् सुतुमुलः सम्प्रहारः सुदारुणः ।
नखदन्तायुधवतोर्व्याघ्रयोरिव दृप्तयोः ॥ ५९ ॥

नख और दाँत ही उनके आयुध थे । जैसे दो मतवाले व्याघ्र परस्पर लड़ रहे हों, उसी प्रकार उनमें अत्यन्त भयंकर तुमुल युद्ध होने लगा ॥ ५९ ॥

अभिपत्याथ बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णादमर्षितः ।
मातङ्ग इव मातङ्गं प्रभिन्नकरटामुखम् ॥ ६० ॥

जैसे क्रोधमें भरा हुआ एक हाथी गण्डस्थलसे मद टपकाते हुए दूसरे हाथीको सूँड़से पकड़ ले, उसी प्रकार रोष-युक्त कीचकने सहसा झपटकर दोनों हाथोंसे भीमसेनको पकड़ लिया ॥ ६० ॥

स चाप्येनं तदा भीमः प्रतिजग्राह वीर्यवान् ।
तमाक्षिपत् कीचकोऽथ बलेन बलिनां वरः ॥ ६१ ॥

तब पराक्रमी भीमने भी झपटकर उसे पकड़ा, किंतु बलवानोंमें श्रेष्ठ कीचकने बलपूर्वक उन्हें झटक दिया ॥६१॥

तयोर्भुजविनिष्पेषादुभयोर्बलिनोस्तदा
शब्दः समभवद् घोरो वेणुस्फोटसमो युधि ॥ ६२ ॥

उस समय उस युद्धमें उन दोनों बलवानोंकी भुजाओंकी रगड़से बाँस फटनेका-सा भयानक शब्द होने लगा ॥ ६२ ॥

अथैनमाक्षिप्य बलाद् गृहमध्ये वृकोदरः ।
धूनयामास वेगेन वायुश्चण्ड इव द्रुमम् ॥ ६३ ॥

फिर जिस प्रकार प्रचण्ड आँधी वृक्षको झकझोर डालती है, उसी प्रकार भीमसेन कीचकको बलपूर्वक धक्के दे देकर उसे नृत्यशालामें वेगसे घुमाने लगे ॥ ६३ ॥

भीमेन च परामृष्टो दुर्बलो बलिना रणे ।
प्रास्पन्दत यथाप्राणं विचकर्ष च पाण्डवम् ॥ ६४ ॥

उस युद्धमें बलवान् भीमकी पकड़में आकर यद्यपि कीचक अपना बल खो रहा था, तथापि वह यथाशक्ति उन्हें परास्त करनेकी चेष्टा करता रहा और भीमसेनको अपनी ओर खींचने लगा ॥ ६४ ॥

ईषदाकलितं चापि क्रोधाद् द्रुतपदं स्थितम् ।
कीचको बलवान् भीमं जानुभ्यामाक्षिपद् भुवि ॥ ६५ ॥

जब वे कुछ-कुछ वशमें आ गये और उनका पैर कुछ लड़-खड़ाने लगा, तब उस दशामें खड़े हुए भीमसेनको बलवान् कीचकने क्रोधपूर्वक दोनों घुटनोंसे मारकर पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ६५ ॥

पातितो भुवि भीमस्तु कीचकेन बलीयसा ।
उत्पपाताथ वेगेन दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ६६ ॥

अत्यन्त बलशाली कीचकद्वारा इस प्रकार भूमिपर गिराये हुए भीमसेन हाथमें दण्ड धारण करनेवाले यमराजकी भाँति बड़े वेगसे उछलकर खड़े हो गये ॥ ६६ ॥

स्पर्धया च बलोन्मत्तौ तावुभौ सूतपाण्डवौ ।
निशीथे पर्यकर्षेतां बलिनौ निर्जने स्थले ॥ ६७ ॥

सूतपुत्र और पाण्डुनन्दन दोनों बलसे उन्मत्त हो रहे थे। वे दोनों बलवान् वीर स्पर्धाके कारण उस निर्जन स्थानमें आधीरातके समय एक दूसरेको खींचते और धक्के देते रहे ॥

ततस्तद् भवनं श्रेष्ठं प्राकम्पत मुहुर्मुहुः।
बलवच्चापि संक्रुद्धावन्योन्यं प्रति गर्जतः ॥ ६८ ॥

इससे वह विशाल भवन बार-बार हिल उठता था। दोनों योद्धा बड़े क्रोधमें भरकर एक-दूसरेके सामने जोर-जोरसे गरज रहे थे ॥ ६८ ॥

तलाभ्यां स तु भीमेन वक्षस्यभिहतो बली।
कीचको रोषसंतप्तः पदान्न चलितः पदम् ॥ ६९ ॥

इतनेमें ही भीमने दोनों हथेलियोंसे कीचककी छातीपर प्रहार किया। चोट खाकर बलवान् कीचक क्रोधसे जल उठा, किंतु अपने स्थानसे एक पग भी विचलित नहीं हुआ ॥ ६९ ॥

मुहूर्तं तु स तं वेगं सहित्वा भुवि दुःसहम्।
बलादहीयत तदा सूतो भीमबलार्दितः ॥ ७० ॥

भूमिपर खड़े रहकर दो घड़ीतक उस दुःसह वेगको सह लेनेके पश्चात् भीमसेनके बलसे पीडित हो सूतपुत्र कीचक अपनी शक्ति खो बैठा ॥ ७० ॥

तं हीयमानं विज्ञाय भीमसेनो महाबलः।
वक्षस्यानीय वेगेन ममर्दैनं विचेतसम् ॥ ७१ ॥

महाबली भीमसेन उसे निर्बल एवं अचेत होते देख उसकी छातीपर चढ़ बैठे और बड़े वेगसे उसे रौंदने लगे ॥

क्रोधाविष्टो विनिःश्वस्य पुनश्चैनं वृकोदरः।
जग्राह जयतां श्रेष्ठः केशेष्वेव तदा भृशम् ॥ ७२ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ भीमसेनका क्रोधावेश अभी उतरा नहीं था। उन्होंने पुनः बारंबार उच्छ्वास लेकर कीचकके केश पकड़ लिये ॥ ७२ ॥

गृहीत्वा कीचकं भीमो विरराज महाबलः।
शार्दूलः पिशिताकाङ्क्षी गृहीत्वेव महामृगम् ॥ ७३ ॥

जैसे कच्चे मांसकी अभिलाषा रखनेवाला सिंह महान् मृगको पकड़ ले, उसी प्रकार महाबली भीम कीचकको पकड़कर बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ७३ ॥

तत एनं परिश्रान्तमुपलभ्य वृकोदरः।
योक्त्रयामास बाहुभ्यां पशुं रशनया यथा ॥ ७४ ॥

तदनन्तर उसे अत्यन्त थका जानकर भीमने अपनी भुजाओंमें इस प्रकार कस लिया, जैसे पशुको रस्सीसे बाँध दिया गया हो ॥ ७४ ॥

नदन्तं च महानादं भिन्नभेरीसमस्वनम्।
भ्रामयामास सुचिरं विस्फुरन्तमचेतसम् ॥ ७५ ॥

अब वह फूटे नगारेके समान विकृत स्वरमें जोर-जोरसे सिंहनाद करने तथा बन्धनसे छूटनेके लिये छटपटाने लगा। उसकी चेतना लुप्त हो रही थी। उसी दशामें भीमसेनने बहुत देरतक उसे घुमाया ॥ ७५ ॥

प्रगृह्य तरसा दोर्भ्यां कण्ठं तस्य वृकोदरः।
अपीडयत कृष्णायास्तदा कोपोपशान्तये ॥ ७६ ॥

फिर द्रौपदीका क्रोध शान्त करनेके लिये उन्होंने दोनों हाथोंसे उसका गला पकड़कर बड़े वेगसे दबाया ॥ ७६ ॥

अथ तं भग्नसर्वाङ्गं व्याविद्धनयनाम्बरम्।
आक्रम्य च कटीदेशे जानुना कीचकाधमम्।
अपीडयत बाहुभ्यां पशुमारममारयत् ॥ ७७ ॥

इस प्रकार जब उसके सब अङ्ग भग्न हो गये, आँखकी पुतलियाँ बाहर निकल आयीं और वस्त्र फट गये, तब उन्होंने उस कीचकाधमकी कमरको अपने घुटनोंसे दबाकर दोनों भुजाओंद्वारा उसका गला घोंट दिया और उसे पशुकी तरह मारने लगे ॥ ७७ ॥

तं विषीदन्तमाज्ञाय कीचकं पाण्डुनन्दनः।
भूतले भ्रामयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ७८ ॥

मृत्युके समय कीचकको विषाद करते देख पाण्डुनन्दन भीमने उसे धरतीपर घसीटा और इस प्रकार कहा—॥ ७८ ॥

अद्याहमनृणो भूत्वा भ्रातुर्भार्यापहारिणम्।
शान्तिं लब्धास्मि परमां हत्वा सैरन्ध्रिकण्टकम् ॥ ७९ ॥

'जो सैरन्ध्रीके लिये कण्टक था, जिसने मेरे भाईकी पत्नीका अपहरण करनेकी चेष्टा की थी, उस दुष्ट कीचकको मारकर आज मैं उऋण हो जाऊँगा और मुझे बड़ी शान्ति मिलेगी' ॥ ७९ ॥

इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीर-
स्तं कीचकं क्रोधसरागनेत्रः।
आस्रस्तवस्त्राभरणं स्फुरन्त-
मुद्भ्रान्तनेत्रं व्यसुमुत्ससर्ज ॥ ८० ॥

पुरुषोंमें उत्कृष्ट वीर भीमसेनके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे। उन्होंने उपर्युक्त बातें कहकर कीचकको नीचे डाल दिया। उस समय उसके गहने-कपड़े इधर-उधर बिखर गये थे। वह छटपटा रहा था। उसकी आँखें ऊपरको चढ़ गयी थीं और उसके प्राणपखेरू निकल रहे थे ॥ ८० ॥

निष्पिष्य पाणिना पाणिं संदष्टौष्ठपुटं बली।
समाक्रम्य च संक्रुद्धो बलेन बलिनां वरः ॥ ८१ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ भीम अब भी क्रोधमें भरे थे। वे हाथसे हाथ मलते हुए दाँतोंसे ओठ दबाकर पुनः बलपूर्वक कीचकके ऊपर चढ़ गये ॥ ८१ ॥

तस्य पादौ च पाणी च शिरो ग्रीवां च सर्वशः।
काये प्रवेशयामास पशोरिव पिनाकधृक् ॥ ८२ ॥

तदनन्तर जैसे महादेवजीने गयासुरके सब अङ्गोंको उसके शरीरके भीतर घुसेड़ दिया था, उसी प्रकार उन्होंने भी कीचकके हाथ, पैर, सिर और गर्दन आदि सब अङ्गोंको उसके धड़में ही घुसा दिया ॥ ८२ ॥

तं सम्मथितसर्वाङ्गं मांसपिण्डोपमं कृतम् ।
कृष्णाया दर्शयामास भीमसेनो महाबलः ॥ ८३ ॥

महाबली भीमने उसका सारा शरीर मथ डाला और उसे मांस-का लोंदा-सा बना दिया। इसके बाद उन्होंने द्रौपदीको दिखाया ॥

उवाच च महातेजा द्रौपदीं योषितां वराम्।
पश्यैनमेहि पाञ्चालि कामुकोऽयं यथा कृतः॥ ८४ ॥

उस समय महातेजस्वी भीमने युवतियोंमें श्रेष्ठ द्रौपदीसे कहा--'पाञ्चाली ! यहाँ आओ और इसे देखो । इस कामीकी शक्ल कैसी बना दी है !' ॥ ८४ ॥

एवमुक्त्वा महाराज भीमो भीमपराक्रमः ।
पादेन पीडयामास तस्य कायं दुरात्मनः ॥ ८५ ॥

महाराज ! भयंकरपराक्रमी भीमने ऐसा कहकर उस दुरात्माकी लाशको पैरसे दबाया ॥ ८५ ॥

ततोऽग्निं तत्र प्रज्वाल्य दर्शयित्वा तु कीचकम्।
पाञ्चालीं स तदा वीर इदं वचनमब्रवीत् ॥ ८६ ॥

फिर वहाँ आग जलाकर उन्होंने कीचकका शव दिखाया । उस समय वीरवर भीमने पाञ्चालीसे यह बात कही--॥ ८६ ॥

प्रार्थयन्ति सुकेशान्ते ये त्वां शीलगुणान्विताम्।
एवं ते भीरु वध्यन्ते कीचकः शोभते यथा ॥ ८७ ॥

'सुन्दर केशोंवाली भीरु पाञ्चाली ! तुम सुशील और सद्गुणोंसे सम्पन्न हो। जो दुष्ट तुमसे समागमकी याचना करेंगे, वे इसी प्रकार मारे जायँगे । जैसे आज कीचक शोभा पाता है, वही दशा उनकी भी होगी' ॥ ८७ ॥

तत् कृत्वा दुष्करं कर्म कृष्णायाः प्रियमुत्तमम्।
तथा स कीचकं हत्वा गत्वा रोषस्य वै शमम् ॥ ८८ ॥
आमन्त्र्य द्रौपदीं कृष्णां क्षिप्रमायान्महानसम् ।
कीचकं घातयित्वा तु द्रौपदी योषितां वरा ।
प्रहृष्टा गतसंतापा सभापालानुवाच ह ॥ ८९ ॥

द्रौपदीको प्रिय लगनेवाले इस उत्तम एवं दुष्कर कर्मको करके ऊपर बताये अनुसार कीचकको मारकर अपना रोष शान्त करनेके पश्चात् द्रौपदीसे पूछकर भीमसेन पुनः पाक-शालामें चले गये । युवतियोंमें श्रेष्ठ द्रौपदी इस प्रकार कीचक-को मरवाकर बड़ी प्रसन्न हुई । उसके सब संताप दूर हो गये । फिर वह सभाभवनके रक्षकोंके पास जाकर बोली--॥

कीचकोऽयं हतः शेते गन्धर्वैः पतिभिर्मम ।
परस्त्रीकामसम्मत्तस्तत्रागच्छत पश्यत ॥ ९० ॥

'आओ, देखो, 'परायी स्त्रीके प्रति कामोन्मत्त रहनेवाला यह कीचक मेरे पति गन्धर्वोंद्वारा मारा जाकर वहाँ नृत्य-शालामें पड़ा है' ॥ ९० ॥

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्या नर्तनागाररक्षिणः ।
सहसैव समाजग्मुरादायोल्काः सहस्रशः ॥ ९१ ॥

उसका यह कथन सुनकर नृत्यशालाके रक्षक सहस्रोंकी सख्यामें हाथोंमें मसाल लिये सहसा वहाँ आये ॥ ९१ ॥

ततो गत्वाथ तद् वेश्म कीचकं विनिपातितम्।
गतासुं ददृशुर्भूमौ रुधिरेण समुक्षितम् ॥ ९२ ॥

और उस घरके भीतर जाकर उन्होंने देखा; कीचकको गन्धर्वने मार गिराया है, उसके प्राण निकल गये हैं और उसकी लाश खूनसे लथपथ होकर धरतीपर पड़ी है ॥ ९२ ॥

पाणिपादविहीनं तु दृष्ट्वा च व्यथिताऽभवन् ।
निरीक्षन्ति ततः सर्वे परं विस्मयमागताः ॥ ९३ ॥

उसे हाथ-पैरसे हीन देख उन सबको बड़ी व्यथा हुई । फिर वे सभी बड़े आश्चर्यमें पड़कर उसे ध्यानसे देखने लगे ॥ ९३॥

अमानुषं कृतं कर्म तं दृष्ट्वा विनिपातितम् ।
क्वास्य ग्रीवा क्व चरणौ क्व पाणी क्व शिरस्तथा ।
इति स्म तं परीक्षन्ते गन्धर्वेण हतं तदा ॥ ९४ ॥

कीचकको इस तरह मारा गया देख वे आपसमें बोले--'यह कर्म तो किसी मनुष्यका किया हुआ नहीं हो सकता । देखो न, इसकी गर्दन, हाथ, पैर और सिर आदि अङ्ग कहाँ चले गये ?' यों कहकर जब परीक्षा की, तो वे इसी निश्चयपर पहुँचे कि हो-न-हो, इसे गन्धर्वने ही मारा है ॥ ९४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचकवधे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें कीचकवधविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ९६½ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

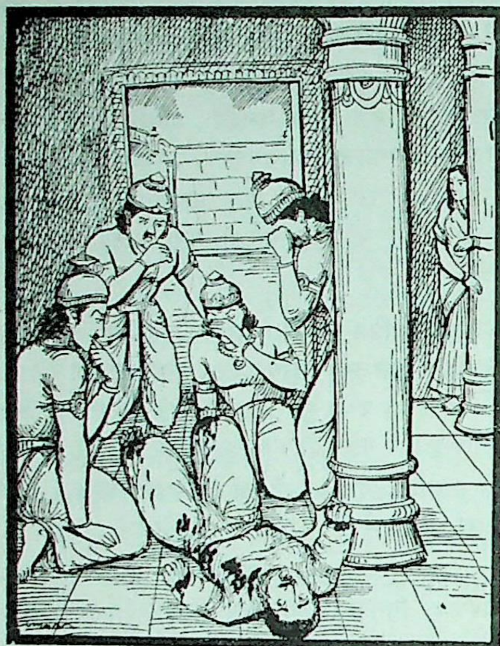
उपकीचकोंका सैरन्ध्रीको बाँधकर श्मशानभूमिमें ले जाना और भीमसेनका उन सबको मारकर सैरन्ध्रीको छुड़ाना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् काले समागम्य सर्वे तत्रास्य बान्धवाः ।
रुरुदुः कीचकं दृष्ट्वा परिवार्य समन्ततः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! उसी समय यह

समाचार पाकर कीचकके सब बन्धु-बान्धव वहाँ आ गये। वे कीचककी यह दशा देख उसे चारों ओरसे घेरकर विलाप करने लगे ॥ १ ॥



सर्वे संहृष्टरोमाणः संत्रस्ताः प्रेक्ष्य कीचकम् ।
तथा सम्भिन्नसर्वाङ्गं कूर्मं स्थल इवोद्धृतम् ॥ २ ॥

उसके सारे अवयव शरीरमें घुस गये थे, इसलिये वह जलसे निकालकर स्थलमें रक्खे हुए कछुएके समान जान पड़ता था। कीचकके शवकी वह दुर्गति देखकर वे सब थर्रा उठे, उन सबके रोंगटे खड़े हो गये ॥ २ ॥

पोथितं भीमसेनेन तमिन्द्रेणेव दानवम् ।
संस्कारयितुमिच्छन्तो बहिर्नेतुं प्रचक्रमुः ॥ ३ ॥

जैसे इन्द्रने दानव वृत्रासुरका वध किया था, उसी प्रकार भीमसेनके हाथसे मारे गये उस कीचकका दाह-संस्कार करनेकी इच्छासे उसके बान्धवगण उसे बाहर (श्मशानभूमिमें) ले जानेकी तैयारी करने लगे ॥ ३ ॥

ददृशुस्ते ततः कृष्णां सूतपुत्राः समागताः ।
अदूराच्चानवद्याङ्गीं स्तम्भमालिङ्ग्य तिष्ठतीम् ॥ ४ ॥

इसी समय वहाँ आये हुए सूतपुत्रोंने देखा, निर्दोष अङ्गोंवाली द्रौपदी थोड़ी ही दूरपर एक खंभेका सहारा लिये खड़ी है ॥ ४ ॥

समवेतेषु सर्वेषु तामूचुरुपकीचकाः ।
हन्यतां शीघ्रमसती यत्कृते कीचको हतः ॥ ५ ॥

जब सब लोग जुट गये, तब उन उपकीचकों (कीचकके भाइयों) ने द्रौपदीको लक्ष्य करके कहा—'इस दुष्टाको शीघ्र मार डाला जाय; क्योंकि इसीके लिये कीचककी जान गयी है॥

अथवा नैव हन्तव्या दह्यतां कामिना सह ।
मृतस्यापि प्रियं कार्यं सूतपुत्रस्य सर्वथा ॥ ६ ॥

'अथवा मारा न जाय। कामी कीचककी लाशके साथ ही इसे भी जला दिया जाय। मर जानेपर भी सूतपुत्रका जो प्रिय हो; जिससे उसकी आत्मा प्रसन्न हो, वह कार्य हमें सर्वथा करना चाहिये' ॥ ६ ॥

ततो विराटमूचुस्ते कीचकोऽस्याः कृते हतः ।
सहानेनाद्य दह्येम तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ७ ॥

तदनन्तर उन्होंने विराटसे कहा—'इस सैरन्ध्रीके लिये ही कीचक मारा गया है, अतः आज हम कीचककी लाशके साथ इसे भी जला देना चाहते हैं, आप इसके लिये आज्ञा दें' ॥ ७ ॥

पराक्रमं तु सूतानां मत्वा राजान्वमोदत ।
सैरन्ध्र्याः सूतपुत्रेण सह दाहं विशाम्पतिः ॥ ८ ॥

राजाने सूतपुत्रोंके पराक्रमका विचार करके सैरन्ध्रीको कीचकके साथ जला डालनेकी अनुमति दे दी ॥ ८ ॥

तां समासाद्य वित्रस्तां कृष्णां कमललोचनाम् ।
मोमुह्यमानां ते तत्र जगृहुः कीचका भृशम् ॥ ९ ॥

फिर क्या था, उपकीचकोंने उसके पास जाकर भयभीत एवं मूर्छित हुई कमललोचना कृष्णाको बलपूर्वक पकड़ लिया॥

ततस्तु तां समारोप्य निबध्य च सुमध्यमाम् ।
जग्मुरुद्यम्य ते सर्वे श्मशानाभिमुखास्तदा ॥ १० ॥

फिर उन्होंने सुन्दर कटिभागवाली उस देवीको टिकटीपर चढ़ाकर लाशके साथ ही बाँध दिया। इसके बाद वे सब लोग मृतकको उठाकर श्मशानभूमिकी ओर ले चले ॥ १० ॥

ह्रियमाणा तु सा राजन् सूतपुत्रैरनिन्दिता ।
प्राक्रोशन्नाथमिच्छन्ती कृष्णा नाथवती सती ॥ ११ ॥

राजन् ! सूतपुत्रोंद्वारा इस प्रकार ले जायी जाती हुई सती द्रौपदी सनाथा होकर भी [अनाथा-सी हो रही थी, वह] नाथ (रक्षक) की इच्छा करती हुई जोर-जोरसे पुकारने लगी ॥ ११ ॥

द्रौपद्युवाच

जयो जयन्तो विजयो जयत्सेनो जयद्बलः ।
ते मे वाचं विजानन्तु सूतपुत्रा नयन्ति माम् ॥ १२ ॥

द्रौपदी बोली—मेरे पति जय, जयन्त, विजय, जयत्सेन और जयद्बल जहाँ भी हों, मेरी यह आर्त वाणी सुनें और समझें। ये सूतपुत्र मुझे श्मशानमें लिये जा रहे हैं ॥ १२ ॥

येषां ज्यातलनिर्घोषो विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
व्यश्रूयत महायुद्धे भीमघोषस्तरस्विनाम् ॥ १३ ॥

रथघोषश्च बलवान् गन्धर्वाणां तरस्विनाम् ।
ते मे वाचं विजानन्तु सूतपुत्रा नयन्ति माम् ॥ १४ ॥

जिन वेगवान् गन्धर्वोंके धनुषोंकी प्रत्यञ्चाका भीषण शब्द वज्राघातके समान सुनायी देता है तथा जिनके रथोंकी घर्घराहटकी आवाज भी बड़े जोरसे उठती और दूरतक फैलती है, वे मेरी आर्त वाणी सुनें और समझें । ये सूतपुत्र मुझे श्मशानमें ले जा रहे हैं ॥ १३-१४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्ताः कृपणा वाचः कृष्णायाः परिदेवितम् ।
श्रुत्वैवाभ्यापतद् भीमः शयनादविचारयन् ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! द्रौपदीकी वह दीन वाणी और करुण विलाप सुनते ही भीमसेन बिना कोई विचार किये शय्यासे कूद पड़े ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच

अहं शृणोमि ते वाचं त्वया सैरन्ध्रि भाषिताम् ।
तस्मात् ते सूतपुत्रेभ्यो भयं भीरु न विद्यते ॥ १६ ॥

भीमसेन बोले—सैरन्ध्री ! तुम जो कुछ कह रही हो, तुम्हारी वह वाणी मैं सुनता हूँ। इसलिये भीरु ! अब इन सूतपुत्रोंसे तेरेलिये कोई भय नहीं है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा स महाबाहुर्विजजृम्भे जिघांसया ।
ततः स व्यायतं कृत्वा वेषं विपरिवर्त्य च ॥ १७ ॥
अद्वारेणाभ्यवस्कन्द्य निर्जगाम बहिस्तदा ।
स भीमसेनः प्राकारादारुह्य तरसा द्रुमम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर महाबाहु भीमसेनने उपकीचकोंका वध करनेके लिये अँगड़ाई लेते हुए अपने शरीरको बढ़ा लिया और प्रयत्नपूर्वक वेष बदलकर बिना दरवाजेके ही दीवार फाँदकर पाकशालासे बाहर निकल गये । फिर वे नगरका परकोटा लाँघकर बड़े वेगसे एक वृक्षपर चढ़ गये (और वहींसे यह देखने लगे कि उपकीचक द्रौपदीको किधर ले जा रहे हैं) ॥ १७-१८ ॥

श्मशानाभिमुखः प्रायाद् यत्र ते कीचका गताः ।
स लङ्घयित्वा प्राकारं निःसृत्य च पुरोत्तमात् ।
जवेन पतितो भीमः सूतानामग्रतस्तदा ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् वे उपकीचक जिधर गये थे, उसी ओर भीमसेन भी श्मशानभूमिकी दिशामें चल दिये । चहारदीवारी लाँघनेके पश्चात् उस श्रेष्ठ नगरसे निकलकर भीमसेन इतने वेगसे चले कि सूतपुत्रोंसे पहले ही वहाँ पहुँच गये ॥ १९ ॥

चितासमीपे गत्वा स तत्रापश्यद् वनस्पतिम् ।
तालमात्रं महास्कन्धं मूर्धशुष्कं विशाम्पते ॥ २० ॥

राजन् ! चिताके समीप जाकर उन्होंने वहाँ ताड़के बराबर एक वृक्ष देखा, जिसकी शाखाएँ बहुत बड़ी थीं और जो ऊपरसे सूख गया था ॥ २० ॥

तं नागवदुपक्रम्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ।
स्कन्धमारोपयामास दशव्यामं परंतपः ॥ २१ ॥

उस वृक्षकी ऊँचाई दस व्याम[1] थी । उसे शत्रुतापन भीमसेनने दोनों भुजाओंमें भरकर हाथीके समान जोर लगाकर उखाड़ा और अपने कंधेपर रख लिया ॥ २१ ॥

स तं वृक्षं दशव्यामं सस्कन्धविटपं बली ।
प्रगृह्याभ्यद्रवत् सूतान् दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ २२ ॥

शाखा-प्रशाखाओंसहित उस दस व्याम ऊँचे वृक्षको लेकर बलवान् भीम दण्डपाणि यमराजके समान उन सूतपुत्रोंकी ओर दौड़े ॥ २२ ॥

ऊरुवेगेन तस्याथ न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकाः ।
भूमौ निपतिता वृक्षाः सङ्घशस्तत्र शेरते ॥ २३ ॥

उस समय उनकी जङ्घाओंके वेगसे टकराकर बहुतेरे बरगद, पीपल और ढाकके वृक्ष पृथ्वीपर गिरकर ढेर-के-ढेर बिखर गये ॥ २३ ॥

तं सिंहमिव संक्रुद्धं दृष्ट्वा गन्धर्वमागतम् ।
वित्रेसुः सर्वशः सूता विषादभयकम्पिताः ॥ २४ ॥

सिंहके समान क्रोधमें भरे हुए गन्धर्वरूपी भीमको अपनी ओर आते देखकर सभी सूतपुत्र डर गये और विषाद एवं भयसे काँपते हुए कहने लगे—॥ २४ ॥

गन्धर्वो बलवानेति क्रुद्ध उद्यम्य पादपम् ।
सैरन्ध्री मुच्यतां शीघ्रं यतो नो भयमागतम् ॥ २५ ॥

'अरे ! देखो, यह बलवान् गन्धर्व वृक्ष उठाये कुपित हो हमारी ओर आ रहा है । सैरन्ध्रीको शीघ्र छोड़ दो, क्योंकि उसीके कारण हमें यह भय उपस्थित हुआ है' ॥२५॥

ते तु दृष्ट्वा तदाऽऽविद्धं भीमसेनेन पादपम् ।
विमुच्य द्रौपदीं तत्र प्राद्रवन्नगरं प्रति ॥ २६ ॥

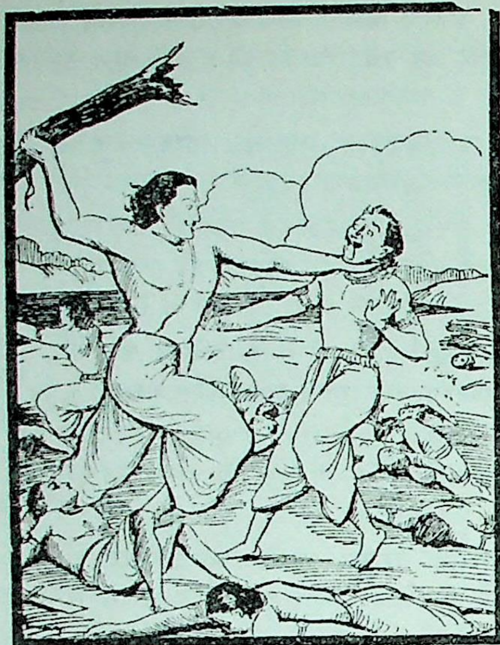
इतनेमेंही भीमसेनके द्वारा घुमाये जाते हुए उस वृक्षको देखकर वे द्रौपदीको वहीं छोड़ नगरकी ओर भागने लगे ॥

द्रवतस्तांस्तु सम्प्रेक्ष्य स वज्री दानवानिव ।
शतं पञ्चाधिकं भीमः प्राहिणोद् यमसादनम् ॥ २७ ॥
वृक्षेणैतेन राजेन्द्र प्रभञ्जनसुतो बली ।

राजेन्द्र ! उन्हें भागते देख वायुपुत्र बलवान् भीमने, वज्रधारी इन्द्र जैसे दानवोंका वध करते हैं, उसी प्रकार उस वृक्षसे एक सौ पाँच उपकीचकोंको यमराजके घर भेज दिया ॥२७½॥

---

[1] १–दोनों हाथोंको फैलानेपर जितनी लम्बाई होती है, उसे एक व्याम कहते हैं ।



तत आश्वासयत् कृष्णां स विमुच्य विशाम्पते ॥ २८ ॥

महाराज ! तदनन्तर उन्होंने द्रौपदीको बन्धनसे मुक्त करके आश्वासन दिया ॥ २८ ॥

उवाच च महाबाहुः पाञ्चालीं तत्र द्रौपदीम् ।
अश्रुपूर्णमुखीं दीनां दुर्धर्षः स वृकोदरः ॥ २९ ॥

उस समय पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी बड़ी दीन एवं दयनीय हो गयी थी। उसके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी। दुर्धर्ष वीर महाबाहु वृकोदरने उसे धीरज बँधाते हुए कहा—॥ २९ ॥

एवं ते भीरु वध्यन्ते ये त्वां क्लिश्यन्त्यनागसम् ।
प्रैहि त्वं नगरं कृष्णे न भयं विद्यते तव ॥ ३० ॥
अन्येनाहं गमिष्यामि विराटस्य महानसम् ॥ ३१ ॥

'भीरु ! जो तुझ निरपराध अबलाको सतायेंगे, वे इसी तरह मारे जायँगे। कृष्णे ! नगरको जाओ। अब तुम्हारे लिये कोई भय नहीं है। मैं दूसरे मार्गसे विराटकी पाकशालामें चला जाऊँगा' ॥ ३०-३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

पञ्चाधिकं शतं तच्च निहतं तेन भारत ।
महावनमिवच्छिन्नं शिश्ये विगलितद्रुमम् ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! भीमसेनके द्वारा मारे गये वे एक सौ पाँच उपकीचक वहाँ श्मशानभूमिमें इस प्रकार सो रहे थे, मानो कटा हुआ महान् जंगल गिरे हुए पेड़ोंसे भरा हो ॥ ३२ ॥

एवं ते निहता राजञ्छतं पञ्च च कीचकाः ।
स च सेनापतिः पूर्वमित्येतत् सूतषट्शतम् ॥ ३३ ॥

राजन् ! इस प्रकार वे एक सौ पाँच उपकीचक और पहले मरा हुआ सेनापति कीचक सब मिलकर एक सौ छः सूतपुत्र मारे गये ॥ ३३ ॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं नरा नार्यश्च संगताः ।
विस्मयं परमं गत्वा नोचुः किञ्चन भारत ॥ ३४ ॥

भारत ! उस समय श्मशानभूमिमें बहुत-से पुरुष और स्त्रियाँ एकत्र हो गयी थीं। उन सबने यह महान् आश्चर्यजनक काण्ड देखा, किंतु भारी विस्मयमें पड़कर किसीने कुछ कहा नहीं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

द्रौपदीका राजमहलमें लौटकर आना और बृहन्नला एवं सुदेष्णासे उसकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ते दृष्ट्वा निहतान् सूतान् राज्ञे गत्वा न्यवेदयन् ।
गन्धर्वैर्निहता राजन् सूतपुत्रा महाबलाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! नगरवासियोंने सूतपुत्रोंका यह संहार देख राजा विराटके पास जाकर निवेदन किया—'महाराज ! गन्धर्वोंने महाबली सूतपुत्रोंको मार डाला ॥ १ ॥

यथा वज्रेण वै दीर्णं पर्वतस्य महच्छिरः ।
व्यतिकीर्णाः प्रदृश्यन्ते तथा सूता महीतले ॥ २ ॥

'जैसे पर्वतका महान् शिखर वज्रसे विदीर्ण हो गया हो, उसी प्रकार वे सूतपुत्र पृथ्वीपर बिखरे दिखायी देते हैं ॥ २ ॥

सैरन्ध्री च विमुक्तासौ पुनरायाति ते गृहम् ।
सर्वं संशयितं राजन् नगरं ते भविष्यति ॥ ३ ॥

'सैरन्ध्री बन्धनमुक्त हो गयी है, अब वह पुनः आपके

महलकी ओर आ रही है। उसके रहनेसे आपके सम्पूर्ण नगरका जीवन संकटमें पड़ जायगा ॥ ३ ॥

यथारूपा च सैरन्ध्री गन्धर्वाश्च महाबलाः ।
पुंसामिष्टश्च विषयो मैथुनाय न संशयः ॥ ४ ॥

'सैरन्ध्रीका जैसा अप्रतिम रूप-सौन्दर्य है, वह सबको विदित ही है। उसके पति गन्धर्व भी बड़े बलवान् हैं। पुरुषोंको मैथुनके लिये विषयभोग अभीष्ट है ही; इसमें संशय नहीं है ॥ ४ ॥

यथा सैरन्ध्रिदोषेण न ते राजन्निदं पुरम् ।
विनाशमेति वै क्षिप्रं तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ५ ॥

'अतः राजन् ! आप शीघ्र ही कोई ऐसी नीति अपनावें, जिससे सैरन्ध्रीके दोषसे आपका यह नगर नष्ट न हो जाय' ॥ ५ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा विराटो वाहिनीपतिः ।
अब्रवीत् क्रियतामेषां सूतानां परमक्रिया ॥ ६ ॥

उनकी वह बात सुनकर सेनाओंके स्वामी राजा विराटने कहा—'इन सूतपुत्रोंका अन्त्येष्टि-संस्कार किया जाय ॥ ६ ॥

एकस्मिन्नेव ते सर्वे सुसमिद्धे हुताशने ।
दह्यन्तां कीचकाः शीघ्रं रत्नैर्गन्धैश्च सर्वशः ॥ ७ ॥

'एक ही चितामें अग्नि प्रज्वलित करके रत्न और सुगन्धित पदार्थोंके साथ सम्पूर्ण कीचकोंका दाह करना चाहिये' ॥ ७ ॥

सुदेष्णामब्रवीद् राजा महिषीं जातसाध्वसः ।
सैरन्ध्रीमागतां ब्रूया ममैव वचनादिदम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर राजाने भयभीत होकर रानी सुदेष्णाके पास जाकर कहा—'देवि ! जब सैरन्ध्री यहाँ आ जाय, तो मेरी ही ओरसे उससे यों कहो—॥ ८ ॥

गच्छ सैरन्ध्रि भद्रं ते यथाकामं वरानने ।
बिभेति राजा सुश्रोणि गन्धर्वेभ्यः पराभवात् ॥ ९ ॥

'सैरन्ध्री ! तुम्हारा कल्याण हो। वरानने ! तुम्हारी जहाँ रुचि हो, चली जाओ। सुश्रोणि ! गन्धर्वोंके तिरस्कारसे राजा डरते हैं ॥ ९ ॥

न हि त्वामुत्सहे वक्तुं स्वयं गन्धर्वरक्षिताम् ।
स्त्रियास्त्वदोषस्तां वक्तुमतस्त्वां प्रब्रवीम्यहम् ॥ १० ॥

'तुम गन्धर्वोंसे सुरक्षित हो। मैं पुरुष होनेके कारण स्वयं तुमसे कोई बात नहीं कह सकता। किंतु स्त्रीके मुखसे तुम्हारे प्रति यह सब कहलानेमें दोष नहीं है; अतः अपनी पत्नीके द्वारा स्वयं ही तुमसे यह बात कह रहा हूँ' ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

अथ मुक्ता भयात् कृष्णा सूतपुत्रान् निरस्य च ।
मोक्षिता भीमसेनेन जगाम नगरं प्रति ॥ ११ ॥

त्रासितेव मृगी बाला शार्दूलेन मनस्विनी ।
गात्राणि वाससी चैव प्रक्षाल्य सलिलेन सा ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जब सूतपुत्रोंको मारकर भीमसेनने द्रौपदीका बन्धन खोल दिया और वह भयसे मुक्त हो गयी; तब जलसे स्नान करके अपने शरीर और वस्त्रोंको धोकर सिंहसे डरायी हुई हरिणीकी भाँति वह मनस्विनी बाला नगरकी ओर चली ॥ ११-१२ ॥

तां दृष्ट्वा पुरुषा राजन् प्राद्रवन्त दिशो दश ।
गन्धर्वाणां भयत्रस्ताः केचिद् दृष्ट्वा न्यमीलयन् ॥ १३ ॥

जनमेजय ! उस समय द्रौपदीको देखकर गन्धर्वोंके भयसे डरे हुए पुरुष दसों दिशाओंकी ओर भाग जाते थे और कोई-कोई उसे देखकर आँख मूँद लेते थे ॥ १३ ॥

ततो महानसद्वारि भीमसेनमवस्थितम् ।
ददर्श राजन् पाञ्चाली यथा मत्तं महाद्विपम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर पाकशालाके द्वारपर पहुँचकर पाञ्चालीने वहाँ मतवाले गजराजके समान भीमसेनको खड़ा देखा ॥ १४ ॥

तं विस्मयन्ती शनकैः संज्ञाभिरिदमब्रवीत् ।
गन्धर्वराजाय नमो येनास्मि परिमोचिता ॥ १५ ॥

और विस्मयविमुग्ध होकर उसने धीरेसे संकेतपूर्वक इस प्रकार कहा—'उन गन्धर्वराजको नमस्कार है, जिन्होंने मुझे भारी संकटसे मुक्त किया है' ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच

ये पुरा विचरन्तीह पुरुषा वशवर्तिनः ।
तस्यास्ते वचनं श्रुत्वा ह्यनृणा विहरन्त्वतः ॥ १६ ॥

भीमसेन बोले—देवि ! जो पुरुष तुम्हारी आज्ञाके अधीन होकर यहाँ पहलेसे विचर रहे हैं, वे तुम्हारी यह बात सुनकर प्रतिज्ञासे उऋण हो इच्छानुसार विहार करें ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सा नर्तनागारे धनंजयमपश्यत ।
राज्ञः कन्या विराटस्य नर्तयानं महाभुजम् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तत्पश्चात् द्रौपदीने नृत्यशालामें पहुँचकर महाबाहु अर्जुनको देखा, जो राजा विराटकी कन्याओंको नृत्य सिखा रहे थे ॥ १७ ॥

ततस्ता नर्तनागाराद् विनिष्क्रम्य सहार्जुनाः ।
कन्या ददृशुरायान्तीं क्लिष्टां कृष्णामनागसम् ॥ १८ ॥

उसके आनेका समाचार पाकर अर्जुनसहित वे सब कन्याएँ नृत्यगृहसे बाहर निकल आयीं और वहाँ आती हुई निरपराध सतायी गयी कृष्णाको देखने लगीं ॥ १८ ॥

कन्या ऊचुः

दिष्ट्या सैरन्ध्रि मुक्तासि दिष्ट्यासि पुनरागता ।
दिष्ट्या विनिहताः सूता ये त्वां क्लिश्यन्त्यनागसम् ॥ १९ ॥

उसे देखकर कन्याओंने कहा—सैरन्ध्री ! सौभाग्यकी बात है कि तुम संकटसे मुक्त हो गयीं और सौभाग्यसे यहाँ पुनः लौट आयीं। वे सूतपुत्र जो तुम्हें बिना किसी अपराधके ही कष्ट दे रहे थे, मार दिये गये, यह भी भाग्यवश अच्छा ही हुआ ॥ १९ ॥

बृहन्नलोवाच

कथं सैरन्ध्रि मुक्तासि कथं पापाश्च ते हताः ।
इच्छामि वै तव श्रोतुं सर्वमेव यथातथम् ॥ २० ॥

बृहन्नलाने पूछा—सैरन्ध्री ! तू उन पापियोंके हाथसे कैसे छूटी ? और वे पापी कैसे मारे गये ? मैं ये सब बातें तेरे मुखसे ज्यों-की-त्यों सुनना चाहती हूँ ॥ २० ॥



सैरन्ध्र्युवाच

बृहन्नले किं नु तव सैरन्ध्या कार्यमद्य वै ।
या त्वं वससि कल्याणि सदा कन्यापुरे सुखम् ॥ २१ ॥

सैरन्ध्री बोली—बृहन्नले ! अब तुम्हें सैरन्ध्रीसे क्या काम है ? कल्याणी ! तुम तो मौजसे इन कन्याओंके अन्तःपुरमें रहती हो ॥ २१ ॥

न हि दुःखं समाप्नोषि सैरन्ध्री यदुपाश्नुते ।
तेन मां दुःखितामेवं पृच्छसे प्रहसन्निव ॥ २२ ॥

सैरन्ध्री जो दुःख भोग रही है, उसे दूर तो करोगी नहीं या उसका अनुभव तो तुम्हें होता नहीं; इसीलिये मुझ दुखियाकी केवल हँसी उड़ानेके लिये ऐसा प्रश्न कर रही हो ? ॥ २२ ॥

बृहन्नलोवाच

बृहन्नलापि कल्याणि दुःखमाप्नोत्यनुत्तमम् ।
तिर्यग्योनिगता बाले न चैनामवबुध्यसे ॥ २३ ॥

बृहन्नलाने कहा—कल्याणी ! पशुओंकी-सी नीच या नपुंसक योनिमें पड़कर बृहन्नला भी महान् दुःख भोग रही है, तू अभी भोली-भाली है; इसीलिये बृहन्नलाको नहीं समझ पाती ॥ २३ ॥

त्वया सहोषिता चास्मि त्वं च सर्वैः सहोषिता ।
क्लिश्यन्त्यां त्वयि सुश्रोणि को नु दुःखं न चिन्तयेत् ॥ २४ ॥

सुश्रोणि ! तेरे साथ तो मैं रह चुकी हूँ और तू भी हम सबके साथ रही है; फिर तेरे ऊपर कष्ट पड़नेपर किसको दुःख न होगा ? ॥ २४ ॥

न तु केनचिदत्यन्तं कस्यचिद्धृदयं क्वचित् ।
वेदितुं शक्यते नूनं तेन मां नावबुध्यसे ॥ २५ ॥

निश्चय ही, कोई अन्य व्यक्ति किसी दूसरेके हृदयको कभी पूर्णरूपसे नहीं समझ सकता, यही कारण है कि तुम मुझे नहीं समझ पातीं; मेरे कष्टका अनुभव नहीं कर पातीं ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सहैव कन्याभिर्द्रौपदी राजवेश्म तत् ।
प्रविवेश सुदेष्णायाः समीपमुपगामिनी ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर उन कन्याओंके साथ ही द्रौपदी राजभवनमें गयी और रानी सुदेष्णाके पास जाकर खड़ी हो गयी ॥ २६ ॥

तामब्रवीद् राजपुत्री विराटवचनादिदम् ।
सैरन्ध्रि गम्यतां शीघ्रं यत्र कामयसे गतिम् ॥ २७ ॥

तब राजपुत्री सुदेष्णाने विराटके कथनानुसार उससे कहा—'सैरन्ध्री ! तुम जहाँ जाना चाहो, शीघ्र चली जाओ ॥

राजा बिभेति ते भद्रे गन्धर्वेभ्यः पराभवात् ।
त्वं चापि तरुणी सुभ्रु रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
पुंसामिष्टश्च विषयो गन्धर्वाश्चातिकोपनाः ॥ २८ ॥

'भद्रे ! तुम्हारे गन्धर्वोंद्वारा प्राप्त होनेवाले पराभवसे महाराजको भय हो रहा है । सुभ्रु ! तुम अभी तरुणी हो, रूप-सौन्दर्यमें भी तुम्हारी समानता कर सके, ऐसी कोई स्त्री इस भूमण्डलमें नहीं है । पुरुषोंको विषयभोग प्रिय होता ही है; (अतः उनसे प्रमाद होनेकी सम्भावना है।) इधर तुम्हारे गन्धर्व बड़े क्रोधी हैं (वे न जाने कब क्या कर बैठें ?)' ॥ २८ ॥

सैरन्ध्र्युवाच

त्रयोदशाहमात्रं मे राजा क्षाम्यतु भामिनि ।
कृतकृत्या भविष्यन्ति गन्धर्वास्ते न संशयः ॥ २९ ॥

सैरन्ध्रीने कहा—भामिनि ! मेरे लिये तेरह दिन और

महाराज क्षमा करें। निःसंदेह तबतक गन्धर्वोंका अभीष्ट कार्य पूर्ण हो जायगा—वे कृतकृत्य हो जायँगे ॥ २९ ॥

ततो मामुपनेष्यन्ति करिष्यन्ति च ते प्रियम्।
ध्रुवं च श्रेयसा राजा योक्ष्यते सह बान्धवैः ॥ ३० ॥

इसके बाद वे मुझे तो ले ही जायँगे, आपका भी प्रिय करेंगे । (गन्धर्वोंकी प्रसन्नतासे) अवश्य ही राजा विराट अपने भाई-बन्धुओंसहित कल्याणके भागी होंगे ॥ ३० ॥

(राज्ञा कृतोपकाराश्च कृतज्ञाश्च सदा शुभे।
साधवश्च बलोत्सिक्ताः कृतप्रतिकृतेप्सवः ॥
अर्थिनी प्रब्रवीम्येषा यद् वा तद् वेति चिन्तय।
भरस्व तदहर्मात्रं ततः श्रेयो भविष्यति ॥

शुभे ! राजा विराटने गन्धर्वोंका बड़ा उपकार किया है; अतः वे सदा उनके प्रति कृतज्ञ बने रहते हैं। गन्धर्वलोग बलके अभिमानी होते हुए भी साधु स्वभावके पुरुष हैं और अपने प्रति किये हुए उपकारका बदला चुकानेकी इच्छा रखते हैं। मैं एक प्रयोजनसे यहाँ रहती हूँ; इसीलिये तुमसे अभी कुछ दिन और यहाँ ठहरने देनेके लिये अनुरोध करती हूँ। तुम अपने मनमें जो कुछ भी सोच-विचार करो, किंतु कुछ गिने गिनाये दिनोंतक अभी और मेरा भरण-पोषण करती चलो; इससे तुम्हारा कल्याण होगा॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा कैकेयी दुःखमोहिता।
उवाच द्रौपदीमार्ता भ्रातृव्यसनकर्शिता ॥
वस भद्रे यथेष्टं त्वं त्वामहं शरणं गता।
त्रायस्व मम भर्तारं पुत्रांश्चैव विशेषतः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! सैरन्ध्रीकी यह बात सुनकर केकयराजकुमारी सुदेष्णा भाईके शोकसे पीड़ित और दुःखसे मोहित हो आर्त होकर द्रौपदीसे बोली—'भद्रे ! तुम्हारी जबतक इच्छा हो, यहाँ रहो; परंतु मेरे पति और पुत्रोंकी विशेषरूपसे रक्षा करो। इसके लिये मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचकदाहे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें कीचकोंके दाह-संस्कारविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं)

(गोहरणपर्व)

पञ्चविंशोऽध्यायः

दुर्योधनके पास उसके गुप्तचरोंका आना और उनका पाण्डवोंके विषयमें कुछ पता न लगा, यह बताकर कीचकवधका वृत्तान्त सुनाना

वैशम्पायन उवाच

(कीचके तु हते राजा विराटः परवीरहा।
शोकमाहारयत् तीव्रं सामात्यः सपुरोहितः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! कीचकके मारे जानेपर शत्रुवीरोंका वध करनेवाले राजा विराट पुरोहित और मन्त्रियोंसहित बहुत दुखी हुए ॥

कीचकस्य तु घातेन सानुजस्य विशाम्पते।
अत्याहितं चिन्तयित्वा व्यस्मयन्त पृथग् जनाः ॥ १ ॥

नरेश्वर ! भाइयोंसहित कीचकका वध होनेसे सब लोग इसको बड़ी भारी दुर्घटना या दुःसाहसका काम मानकर अलग-अलग आश्चर्यमें पड़े रहे ॥ १ ॥

तस्मिन् पुरे जनपदे संजल्पोऽभूच्च सङ्घशः।
शौर्याद्धि वल्लभो राज्ञो महासत्त्वः स कीचकः ॥ २ ॥

उस नगर तथा राष्ट्रमें झुंडके झुंड मनुष्य एकत्र हो जाते और उनमें इस तरहकी बातें होने लगती थीं—'महाबली कीचक अपनी शूरवीरताके कारण राजा विराटको बहुत प्रिय था ॥ २ ॥

आसीत् प्रहर्ता सैन्यानां दारामर्शी च दुर्मतिः।
स हतः खलु पापात्मा गन्धर्वैर्दुष्टपूरुषः ॥ ३ ॥

'उसने विपक्षी दलोंकी बहुत-सी सेनाओंका संहार किया था, किंतु उसकी बुद्धि बड़ी खोटी थी। वह परायी स्त्रियोंपर बलात्कार करनेवाला पापात्मा और दुष्ट था; इसीलिये गन्धर्वोंद्वारा मारा गया है ॥ ३ ॥

इत्यजल्पन् महाराज परानीकविनाशनम्।
देशे देशे मनुष्याश्च कीचकं दुष्प्रधर्षणम् ॥ ४ ॥

महाराज जनमेजय ! शत्रुओंकी सेनाका संहार करनेवाले उस दुर्धर्ष वीर कीचकके विषयमें देश-देशके लोग ऐसी ही बातें किया करते थे ॥ ४ ॥

अथ वै धार्तराष्ट्रेण प्रयुक्ता ये बहिश्चराः।
मृगयित्वा बहून् ग्रामान् राष्ट्राणि नगराणि च ॥ ५ ॥

संविधाय यथादृष्टं यथादेशप्रदर्शनम् ।
कृतकृत्या न्यवर्तन्त ते चरा नगरं प्रति ॥ ६ ॥

इधर अज्ञातवासकी अवस्थामें पाण्डवोंका पता लगानेके लिये दुर्योधनने जो बाहरके देशोंमें घूमनेवाले गुप्तचर लगा रक्खे थे, वे अनेक ग्राम, राष्ट्र और नगरोंमें उन्हें ढूँढ़कर, जैसा वे देख सकते या पता लगा सकते थे अथवा जिन-जिन देशोंमें छान-बीन कर सकते थे, उन सबमें उसी प्रकार देख-भाल करके अपना काम पूरा करके पुनः हस्तिनापुरमें लौट आये ॥ ५-६ ॥

तत्र दृष्ट्वा तु राजानं कौरव्यं धृतराष्ट्रजम् ।
द्रोणकर्णकृपैः सार्धं भीष्मेण च महात्मना ॥ ७ ॥
संगतं भ्रातृभिश्चापि त्रिगर्तैश्च महारथैः ।
दुर्योधनं सभामध्ये आसीनमिदमब्रुवन् ॥ ८ ॥

वहाँ वे धृतराष्ट्रपुत्र कुरुनन्दन दुर्योधनसे मिले, जो द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, महात्मा भीष्म, अपने सम्पूर्ण भाई तथा महारथी त्रिगर्तोंके साथ राजसभामें बैठा था। उससे मिलकर उन गुप्तचरोंने यों कहा ॥७-८ ॥

चरा ऊचुः

कृतोऽस्माभिः परो यत्नस्तेषामन्वेषणे सदा ।
पाण्डवानां मनुष्येन्द्र तस्मिन् महति कानने ॥ ९ ॥

गुप्तचर बोले—नरेन्द्र ! हमने उस विशाल वनमें पाण्डवों-की खोजके लिये सदा महान् प्रयत्न जारी रक्खा है ॥ ९ ॥

निर्जने मृगसंकीर्णे नानाद्रुमलताकुले ।
लताप्रतानबहुले नानागुल्मसमावृते ॥ १० ॥
न च विद्मो गता येन पार्थाः सुदृढविक्रमाः ।
मार्गमाणाः पदन्यासं तेषु तेषु तथा तथा ॥ ११ ॥

मृगोंसे भरे हुए निर्जन वनमें, जो अनेकानेक वृक्षों और लताओंसे व्याप्त, विविध लताओंकी बहुलता एवं विस्तारसे विलसित तथा नाना गुल्मोंसे समावृत है, घूमकर वहाँके विभिन्न स्थानोंमें अनेक प्रकारसे उनके पदचिह्न हम ढूँढ़ते रहे हैं तथापि वे सुदृढ़ पराक्रमी कुन्तीकुमार किस मार्गसे कहाँ गये ? यह नहीं जान सके ॥ १०-११ ॥

गिरिकूटेषु तुङ्गेषु नानाजनपदेषु च ।
जनाकीर्णेषु देशेषु खर्वटेषु पुरेषु च ॥ १२ ॥
नरेन्द्र बहुशोऽन्विष्टा नैव विद्मश्च पाण्डवान् ।
अत्यन्तं वा विनष्टास्ते भद्रं तुभ्यं नरर्षभ ॥ १३ ॥

महाराज ! हमने पर्वतोंके ऊँचे-ऊँचे शिखरोंपर, भिन्न-भिन्न देशोंमें, जनसमूहसे भरे हुए स्थानोंमें तथा तराईके गाँवों, बाजारों और नगरोंमें भी उनकी बहुत खोज की, परंतु कहीं भी [illegible] पता नहीं लगा। आपका कल्याण हो। सम्भव है, वे सर्वथा नष्ट हो गये हों ॥१२-१३॥

वर्त्मन्यन्वेष्यमाणा वै रथिनां रथिसत्तम ।
न हि विद्मो गतिं तेषां वासं हि नरसत्तम ॥ १४ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ नरोत्तम ! हमने रथियोंके मार्गपर भी उनका अन्वेषण किया है, किंतु वे कहाँ गये और कहाँ रहते हैं ? इसका पता हमें नहीं लगा ॥ १४ ॥

किंचित्काले मनुष्येन्द्र सूतानामनुगा वयम् ।
मृगयित्वा यथान्यायं वेदितार्थाः स्म तत्त्वतः ॥ १५ ॥

मानवेन्द्र ! कुछ कालतक हमलोग उनके सारथियोंके पीछे लगे रहे और अच्छी तरह खोज करके हमने एक यथार्थ बातका ठीक-ठीक पता लगा लिया है ॥ १५ ॥

प्राप्ता द्वारवतीं सूता विना पार्थैः परंतप ।
न तत्र कृष्णा राजेन्द्र पाण्डवाश्च महाव्रताः ॥ १६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले राजेश्वर ! पाण्डवोंके इन्द्रसेन आदि सारथि उनके बिना ही द्वारकापुरीमें पहुँच गये हैं। वहाँ न तो द्रौपदी है और न महान् व्रतधारी पाण्डव ही हैं ॥

सर्वथा विप्रणष्टास्ते नमस्ते भरतर्षभ ।
न हि विद्मो गतिं तेषां वासं वापि महात्मनाम्॥ १७ ॥
पाण्डवानां प्रवृत्तिं च विद्मः कर्मापि वा कृतम् ।
स नः शाधि मनुष्येन्द्र अत ऊर्ध्वं विशाम्पते ॥ १८ ॥

जान पड़ता है; वे बिल्कुल नष्ट हो गये। भरतश्रेष्ठ ! आपको नमस्कार है। हम महात्मा पाण्डवोंके मार्ग, निवास-स्थान, प्रवृत्ति अथवा उनके द्वारा किये हुए कार्यके विषयमें कुछ भी जानकारी नहीं प्राप्त कर सके। प्रजापालक नरेश ! इसके बाद हमारे लिये क्या आज्ञा है ? ॥१७-१८॥

अन्वेषणे पाण्डवानां भूयः किं करवामहे ।
इमां च नः प्रियां वीर वाचं भद्रवतीं शृणु ॥ १९ ॥

बताइये, पाण्डवोंको ढूँढ़नेके लिये हम पुनः क्या करें ? वीर ! हमारी एक बात और सुनिये, यह आपको प्रिय लगेगी। इसमें आपके लिये मङ्गलजनक समाचार है ॥ १९ ॥

येन त्रिगर्ता निहता बलेन महता नृप ।
सूतेन राज्ञो मत्स्यस्य कीचकेन बलीयसा ॥ २० ॥
स हतः पतितः शेते गन्धर्वैर्निशि भारत ।
अदृश्यमानैर्दुष्टात्मा भ्रातृभिः सह सोदरैः ॥ २१ ॥

राजन् ! मत्स्यराज विराटके जिस महाबली सेनापति सूतपुत्र कीचकने बहुत बड़ी सेनाके द्वारा त्रिगर्तदेश और वहाँके निवासियोंको तहस-नहस कर दिया था, भारत ! गन्धर्वोंने उस दुष्टात्माको उसके सहोदर भाइयोंसहित रात्रिमें गुप्तरूपसे मार डाला है। अब वह श्मशानभूमिमें पड़ा सो रहा है ॥

(श्यालो राज्ञो विराटस्य सेनापतिरुदारधीः ।
सुदेष्णायाः स वै ज्येष्ठः शूरो वीरो गतव्यथः ॥
[illegible] बलवानपि ।
युद्धज्ञो रिपुवीरघ्नः सिंहतुल्यपराक्रमः ॥

प्रजारक्षणदक्षश्च शत्रुग्रहणशक्तिमान् ।
विजितारिर्महायुद्धे प्रचण्डो मानवत् परः ॥
नरनारीमनोह्लादी धीरो वाग्मी रणप्रियः ।

उदारचित्त कीचक राजा विराटका साला और सेनापति था । रानी सुदेष्णाका वह बड़ा भाई लगता था । कीचक शूरवीर, व्यथारहित, उत्साही, महापराक्रमी, नीतिमान्, बलवान्, युद्धकी कलाको जाननेवाला, शत्रुवीरोंका संहार करनेमें समर्थ, सिंहके समान पराक्रमसम्पन्न, प्रजारक्षणमें कुशल, शत्रुओंको काबूमें लानेकी शक्ति रखनेवाला, बड़े-बड़े युद्धोंमें वैरियोंपर विजय पानेवाला, अत्यन्त क्रोधी, अभिमानी, नर-नारियोंके मनको आह्लादित करनेवाला, रणप्रिय धीर और बोलनेमें चतुर था ॥

स हतो निशि गन्धर्वैः स्त्रीनिमित्तं नराधिप ।
अमृष्यमाणो दुष्टात्मा निशीथे सह सोदरैः ॥
सुहृदश्चास्य निहता योधाश्च प्रवरा हताः ।)

नरेश्वर ! वह अमर्षशील दुष्टात्मा कीचक एक स्त्रीके कारण गन्धर्वोंद्वारा आधीरातमें अपने भाइयोंसहित मार डाला गया है । उसके प्रिय सुहृद् और श्रेष्ठ सैनिक भी मारे गये हैं ॥

प्रियमेतदुपश्रुत्य शत्रूणां च पराभवम् ।
कृतकृत्यश्च कौरव्य विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ २२ ॥

कुरुनन्दन ! शत्रुओंके पराभवका यह प्रिय संवाद सुनकर आप कृतकृत्य हों और इसके बाद जो कुछ करना हो, वह करें ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्यागमने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें गुप्तचरोंके लौटकर आनेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल २८ श्लोक हैं)

षड्विंशोऽध्यायः

दुर्योधनका सभासदोंसे पाण्डवोंका पता लगानेके लिये परामर्श तथा इस विषयमें कर्ण और दुःशासनकी सम्मति

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा ज्ञात्वा तेषां वचस्तदा ।
चिरमन्तर्मना भूत्वा प्रत्युवाच सभासदः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा दुर्योधन उस समय दूतोंकी बातपर विचार करके बहुत देरतक मन-ही-मन कुछ सोचता रहा । उसके बाद उसने सभासदों से कहा—॥ १ ॥



सुदुःखा खलु कार्याणां गतिर्विज्ञातुमन्ततः ।
तस्मात् सर्वे निरीक्षध्वं क्व नु ते पाण्डवा गताः ॥ २ ॥

'कार्योंके अन्तिम परिणामको ठीक-ठीक समझ लेना अत्यन्त कठिन है; अतः आप सब लोग इस बातको समझें कि पाण्डव कहाँ चले गये ? ॥ २ ॥

अल्पावशिष्टं कालस्य गतभूयिष्ठमन्ततः ।
तेषामज्ञातचर्यायामस्मिन् वर्षे त्रयोदशे ॥ ३ ॥

'इस तेरहवें वर्षमें पाण्डवोंके अज्ञातवासका अधिकांश समय बीत चुका है और थोड़े ही दिन शेष हैं ॥ ३ ॥

अस्य वर्षस्य शेषं चेद् व्यतीयुरिह पाण्डवाः ।
निवृत्तसमयास्ते हि सत्यव्रतपरायणाः ॥ ४ ॥
क्षरन्त इव नागेन्द्राः सर्वे ह्याशीविषोपमाः ।
दुःखा भवेयुः संरब्धाः कौरवान् प्रति ते ध्रुवम् ॥ ५ ॥

'यदि शेष समय भी पाण्डव इसी प्रकार यहाँ व्यतीत कर लें, तो वे प्रतिज्ञापालनके भारसे मुक्त हो जायँगे । फिर तो वे सत्यव्रती पाण्डव मदकी धारा बहानेवाले गजराजों और विषधर सर्पोंके समान क्रोधमें भरकर निश्चय ही कौरवोंके लिये दुःखदायी हो जायँगे ॥ ४-५ ॥

सर्वे कालस्य वेत्तारः कृच्छ्ररूपधराः स्थिताः ।
प्रविशेयुर्जितक्रोधास्तावदेव पुनर्वनम् ॥ ६ ॥
तस्मात् क्षिप्रं बुभूषध्वं यथा तेऽत्यन्तमव्ययम् ।
राज्यं निर्द्वन्द्वमव्यग्रं निःसपत्नं चिरं भवेत् ॥ ७ ॥

'वे सब समयकी नियत अवधिको जानते हैं; अतः कहीं ऐसा न हो कि वे कष्टप्रद रूप धारण करके ... पहचानना

कठिन हो गया है; इसलिये आपलोग शीघ्र उनका पता लगानेकी चेष्टा करें, जिससे वे क्रोधको दबाकर उतने ही समयके लिये अर्थात् बारह वर्षोंके लिये फिर वनमें चले जायँ । ऐसा होनेपर ही मेरा यह राज्य दीर्घकालतकके लिये निर्द्वन्द्व, व्यग्रताशून्य तथा निष्कण्टक हो जायगा' ॥ ६-७ ॥

अथाब्रवीत् ततः कर्णः क्षिप्रं गच्छन्तु भारत ।
अन्ये धूर्ता नरा दक्षा निभृताः साधुकारिणः ॥ ८ ॥

यह सुनकर कर्णने कहा—'भरतनन्दन ! तब शीघ्र ही दूसरे कार्यकुशल गुप्तचर भेजे जायँ, जो धूर्त होनेके साथ ही छिपे रहकर अपना कार्य अच्छी तरह कर सकें ॥ ८ ॥

चरन्तु देशान् संवीताः स्फीताञ्जनपदाकुलान् ।
तत्र गोष्ठीषु रम्यासु सिद्धप्रव्रजितेषु च ॥ ९ ॥
परिचारेषु तीर्थेषु विविधेष्वाकरेषु च ।
विज्ञातव्या मनुष्यैस्तैस्तर्कया सुविनीतया ॥१०॥

'वे गुप्तरूपसे धन-धान्यसम्पन्न एवं जनसमुदायसे भरे हुए देशोंमें जायँ और वहाँ सुरम्य सभाओंमें, सिद्ध-संन्यासी महात्माओं-के आश्रमोंमें, राजनगरोंमें, नाना प्रकारके तीर्थों और सर्वोत्तम स्थानोंमें, वहाँ निवास करनेवाले मनुष्योंसे विनयपूर्ण युक्तिसे पूछकर उनका पता लगावें ॥ ९-१० ॥

विविधैस्तत्परैः सम्यक् तज्ज्ञैर्निपुणसंवृतैः ।
अन्वेष्टव्याः सुनिपुणैः पाण्डवाश्छन्नवासिनः ॥११॥
नदीकुञ्जेषु तीर्थेषु ग्रामेषु नगरेषु च ।
आश्रमेषु च रम्येषु पर्वतेषु गुहासु च ॥१२॥

'पाण्डव छिपकर किसी गुप्त स्थानमें निवास करते होंगे; अतः जो कार्यसाधनमें तत्पर, उन्हें अच्छी तरह पहचाननेवाले, बुद्धिमानीसे स्वयं भी छिपकर कार्य करनेवाले और अत्यन्त कुशल हों, ऐसे अनेक गुप्तचर नदी-तटवर्ती कुञ्जों, तीर्थों, गाँवों, नगरों, रमणीय आश्रमों, पर्वतों तथा गुफाओंमें जा-जाकर उनकी खोज करें' ॥ ११-१२ ॥

अथाग्रजानन्तरजः पापभावानुरागवान् ।
ज्येष्ठं दुःशासनस्तत्र भ्राता भ्रातरमब्रवीत् ॥१३॥

तदनन्तर सदा पापभावनामें अनुरक्त रहनेवाला दुर्योधनसे छोटा भाई दुःशासन अपने बड़े भाईसे बोला—॥ १३ ॥

येषु नः प्रत्ययो राजंश्चारेषु मनुजाधिप ।
ते यान्तु दत्तदेया वै भूयस्तान् परिमार्गितुम् ॥१४॥

'राजन् ! नरेश्वर ! जिन गुप्तचरोंपर हमारा अधिक विश्वास हो, उन्हें देनेयोग्य सब साधन देकर पुनः पाण्डवोंकी खोजके लिये भेजा जाय ॥ १४ ॥

एतच्च कर्णो यत् प्राह सर्वमीहामहे तथा ।
यथोद्दिष्टं चराः सर्वे मृगयन्तु यतस्ततः ॥१५॥

'कर्णने जो बात कही है, वह सब हम करें । इनके बताये हुए स्थानोंमें जहाँ-तहाँ घूमकर सभी गुप्तचर उनका पता लगावें' ॥ १५ ॥

एते चान्ये च भूयांसो देशाद् देशं यथाविधि ।
न तु तेषां गतिर्वासः प्रवृत्तिश्चोपलभ्यते ॥१६॥

'ये तथा और भी बहुत-से लोग एक देशसे दूसरे देशमें विधिपूर्वक खोज करें । अभीतक तो पाण्डवोंके गन्तव्य स्थान, निवास तथा प्रवृत्तिका कुछ भी पता नहीं लग रहा है ॥१६॥

अत्यन्तं वा निगूढास्ते पारं चोर्मिमतो गताः ।
व्यालैश्चापि महारण्ये भक्षिताः शूरमानिनः ॥१७॥

'या तो वे अधिक गुप्त स्थानमें छिपे हैं या समुद्रके उस पार चले गये हैं । यह भी सम्भव है कि अपनेको शूरवीर माननेवाले इन पाण्डवोंको उस महान् वनमें अजगर निगल गये हों ॥

अथवा विषमं प्राप्य विनष्टाः शाश्वतीः समाः ।
तस्मान्मानसमव्यग्रं कृत्वा त्वं कुरुनन्दन ।
कुरु कार्यं महोत्साहं मन्यसे यन्नराधिप ॥१८॥

'अथवा वे किसी विषम परिस्थितिमें पड़कर सदाके लिये नष्ट हो गये हों । अतः कुरुनन्दन ! मनुजेश्वर ! आप अपने चित्तको स्वस्थ करके जो ठीक समझमें आवे, वह कार्य पूर्ण उत्साहके साथ करें' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि कर्णदुःशासनवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें कर्ण और दुःशासनके वचनविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

आचार्य द्रोणकी सम्मति

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्महावीर्यो द्रोणस्तत्त्वार्थदर्शिवान् ।
न तादृशा विनश्यन्ति न प्रयान्ति पराभवम् ॥ १ ॥
शूराश्च कृतविद्याश्च बुद्धिमन्तो जितेन्द्रियाः ।
धर्मज्ञाश्च कृतज्ञाश्च धर्मराजमनुव्रताः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर तत्त्वार्थदर्शी महापराक्रमी द्रोणाचार्यने कहा—'पाण्डवलोग शूरवीर, विद्वान्, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, और

अपने बड़े भाई धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञा माननेवाले उनके भक्त हैं। ऐसे महापुरुष न तो नष्ट होते हैं और न किसीसे तिरस्कृत ही होते हैं ॥ १-२ ॥

नीतिधर्मार्थतत्त्वज्ञं पितृवच्च समाहितम्।
धर्मे स्थितं सत्यधृतिं ज्येष्ठं ज्येष्ठानुयायिनः ॥ ३ ॥
अनुव्रता महात्मानं भ्रातरो भ्रातरं नृप।
अजातशत्रुं श्रीमन्तं सर्वभ्रातॄननुव्रतम् ॥ ४ ॥

'उनमें धर्मराज तो नीति, धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले, भाइयोंद्वारा पिताकी भाँति सम्मानित, धर्मपर अटल रहनेवाले, सत्यपरायण और भाइयोंमें सबसे ज्येष्ठ हैं। राजन्! उनके भाई भी अपनेसे बड़ोंके अनुगामी और अपने महात्मा बन्धु श्रीमान् अजातशत्रु युधिष्ठिरके भक्त हैं। धर्मराज भी सब भाइयोंपर अत्यन्त स्नेह रखते हैं ॥ ३-४ ॥

तेषां तथा विधेयानां निभृतानां महात्मनाम्।
किमर्थं नीतिमान् पार्थः श्रेयो नैषां करिष्यति ॥ ५ ॥

'जो इस प्रकार आज्ञापालक, विनयशील और महात्मा हैं, ऐसे अपने छोटे भाइयोंका नीतिज्ञ धर्मराज कैसे भला नहीं करेंगे? ॥ ५ ॥

तस्माद् यत्नात् प्रतीक्षन्ते कालस्योदयमागतम्।
न हि ते नाशमृच्छेयुरिति पश्याम्यहं धिया ॥ ६ ॥

'अतः मैं अपनी बुद्धि और अनुभवकी दृष्टिसे यह देखता हूँ कि पाण्डवलोग अपने अनुकूल समयके आनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं; वे नष्ट नहीं हो सकते ॥ ६ ॥

साम्प्रतं चैव यत् कार्यं तच्च क्षिप्रमकालिकम्।
क्रियतां साधु संचिन्त्य वासश्चैषां प्रचिन्त्यताम् ॥ ७ ॥
यथावत् पाण्डुपुत्राणां सर्वार्थेषु धृतात्मनाम्।
दुर्ज्ञेयाः खलु शूरास्ते दुरापास्तपसा वृताः ॥ ८ ॥

'इस समय जो कुछ करना है, वह खूब सोच-विचारकर शीघ्र किया जाना चाहिये। इसमें विलम्ब करना ठीक नहीं है। सभी विषयोंमें धैर्य रखनेवाले उन पाण्डवोंके निवास-स्थानका ही ठीक-ठीक पता लगाना चाहिये। वे सभी शूरवीर और तपस्यासे आवृत हैं, अतः उन्हें पाना कठिन है। पा लेनेपर भी उन्हें पहचानना तो और भी कठिन है ॥ ७-८ ॥

शुद्धात्मा गुणवान् पार्थः सत्यवान् नीतिमाञ्छुचिः।
तेजोराशिरसंख्येयो गृह्णीयादपि चक्षुषा ॥ ९ ॥

'कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर शुद्धचित्त, गुणवान्, सत्यवान्, नीतिमान्, पवित्र और तेजके पुञ्ज हैं; अतः उन्हें पहचानना असम्भव है। आँखोंसे दीख जानेपर भी वे मनुष्यको मोह लेंगे—पहचाने नहीं जा सकेंगे ॥ ९ ॥

विज्ञाय क्रियतां तस्माद् भूयश्च मृगयामहे।
ब्राह्मणैश्चारकैः सिद्धैर्ये चान्ये तद्विदो जनाः ॥ १० ॥

'इसलिये इन बातोंको अच्छी तरह सोच-समझकर ही हमें कोई काम करना चाहिये। ब्राह्मण, गुप्तचर, सिद्ध पुरुष अथवा जो दूसरे लोग उन्हें पहचानते हों, उनके द्वारा पुनः उन सबकी खोज करानी चाहिये' ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि द्रोणवाक्ये चारप्रत्याचारे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें द्रोणवाक्य एवं गुप्तचर भेजनेसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी महिमा कहते हुए भीष्मकी पाण्डवोंके अन्वेषणके विषयमें सम्मति

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो भरतानां पितामहः।
श्रुतवान् देशकालज्ञस्तत्त्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥ १ ॥
आचार्यवाक्योपरमे तद्वाक्यमभिसंदधत्।
हितार्थं समुवाचैनां भारतीं भारतान् प्रति ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इसके पश्चात् भरतवंशियोंके पितामह, देशकालके ज्ञाता, वेद-शास्त्रोंके विद्वान्, तत्त्वज्ञानी और सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मजीने आचार्य द्रोणकी बात पूरी होनेपर कौरवोंके हितके लिये आचार्यके कथनसे मेल खाती हुई यह बात कौरवोंसे कही ॥ १-२ ॥

युधिष्ठिरे समासक्तां धर्मज्ञे धर्मसंवृताम्।
असत्सु दुर्लभां नित्यं सतां चाभिमतां सदा ॥ ३ ॥

उनकी वह बात धर्मज्ञ युधिष्ठिरसे सम्बन्ध रखनेवाली तथा धर्मसे युक्त थी। वह दुष्ट पुरुषोंके लिये सदा दुर्लभ और सत्पुरुषोंको सदैव प्रिय लगनेवाली थी ॥ ३ ॥

भीष्मः समवदत् तत्र गिरं साधुभिरर्चिताम्।
यथैष ब्राह्मणः प्राह द्रोणः सर्वार्थतत्त्ववित् ॥ ४ ॥

इस प्रकार भीष्मजीने वहाँ सत्पुरुषोंद्वारा प्रशंसित सम्यक् वचन कहा—'सब विषयोंके तत्त्वज्ञ तथा विप्रवर आचार्य द्रोणने जैसा कहा है, वह ठीक है ॥ ४ ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नाः साधुव्रतसमन्विताः।
श्रुतवन्तोपसम्पन्ना नानाश्रुतिसमन्विताः ॥ ५ ॥

वृद्धानुशासने युक्ताः सत्यव्रतपरायणाः ।
समयं समयज्ञास्ते पालयन्तः शुचिव्रताः ॥ ६ ॥

वास्तवमें पाण्डव समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, साधु-पुरुषोचित नियमों एवं व्रतके पालनमें तत्पर, वेदोक्त व्रतके पालक, नाना प्रकारकी श्रुतियोंके ज्ञाता, बड़े-बूढ़ोंके उपदेश और आदेशके पालनमें संलग्न, सत्यव्रतपरायण तथा शुद्ध व्रत धारण करनेवाले हैं । वे अज्ञातवासके नियत समयको जानते हैं, इसीलिये उसका पालन कर रहे हैं ॥ ५–६ ॥

क्षत्रधर्मरता नित्यं केशवानुगताः सदा ।
प्रवीरपुरुषास्ते वै महात्मानो महाबलाः ।
नावसीदितुमर्हन्ति उद्वहन्तः सतां धुरम् ॥ ७ ॥

'पाण्डव क्षत्रिय-धर्ममें नित्य अनुरक्त रहकर सदा भगवान् श्रीकृष्णका अनुगमन करनेवाले हैं । वे उत्तम वीर पुरुष, महात्मा, महाबलवान् तथा साधु पुरुषोंके लिये उचित कर्तव्य-का भार वहन कर रहे हैं; अतः वे कष्ट भोगने या नष्ट होने योग्य नहीं हैं ॥ ७ ॥

धर्मतश्चैव गुप्तास्ते सुवीर्येण च पाण्डवाः ।
न नाशमधिगच्छेयुरिति मे धीयते मतिः ॥ ८ ॥

'पाण्डव अपने धर्म तथा उत्तम पराक्रमसे सुरक्षित हैं । अतः वे नष्ट नहीं हो सकते, यह मेरा निश्चित विचार है ॥८॥

तत्र बुद्धिं प्रवक्ष्यामि पाण्डवान् प्रति भारत ।
न तु नीतिः सुनीतस्य शक्यतेऽन्वेषितुं परैः ॥ ९ ॥

'भरतनन्दन ! पाण्डवोंके विषयमें मेरी बुद्धिका जो निश्चय है, उसे बताता हूँ । जो उत्तम नीतिसे सम्पन्न है, उसकी उस नीतिका अनुसंधान दूसरे (अनीतिपरायण) मनुष्य नहीं कर सकते ॥ ९ ॥

यत् तु शक्यमिहास्माभिस्तान् वै संचिन्त्य पाण्डवान् ।
बुद्ध्या प्रयुक्तं न द्रोहात् प्रवक्ष्यामि निबोध तत् ॥

'पाण्डवोंके सम्बन्धमें अपनी बुद्धिसे भलीभाँति सोच-विचारकर मुझे जो युक्तिसंगत जान पड़ा है, वही उपाय हम यहाँ कर सकते हैं । मैं उसे द्रोहके कारण नहीं, तुम्हारे भलेके लिये बताता हूँ; ध्यान देकर सुनो ॥ १० ॥

न त्वियं मादृशैर्नीतिस्तस्य वाच्या कथंचन ।
सा त्वियं साधु वक्तव्या न त्वनीतिः कथंचन ॥११॥

'युधिष्ठिरकी जो नीति है, उसकी मेरे-जैसे पुरुषोंको कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये । उसे अच्छी नीति ही कहनी चाहिये, अनीति कहना किसी प्रकार ठीक नहीं है ॥ ११ ॥

वृद्धानुशासने तात तिष्ठता सत्यशीलिना ।
अवश्यं त्विह धीरेण सतां मध्ये विवक्षता ॥१२॥
यथार्थमिह वक्तव्यं सर्वथा धर्मलिप्सया ।

'तात ! जो वृद्धपुरुषोंके अनुशासनमें रहनेवाला और सत्यपालक है, वह धीर पुरुष यदि साधुपुरुषोंके समाजमें कुछ कहना चाहता है, तो उसे यहाँ सर्वथा धर्म प्राप्त करनेकी इच्छासे यथार्थ एवं उचित बात ही कहनी चाहिये ॥ १२½ ॥

तत्र नाहं तथा मन्ये यथायमितरो जनः ॥१३॥
निवासं धर्मराजस्य वर्षेऽस्मिन् वै त्रयोदशे ।

'अतः इस तेरहवें वर्षमें धर्मराज युधिष्ठिरके निवासके सम्बन्धमें दूसरे लोग जैसी धारणा रखते हैं, वैसा मैं नहीं मानता ॥ १३½ ॥

तत्र तात न तेषां हि राज्ञां भाव्यमसाम्प्रतम् ॥१४॥
पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः ।
दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिषेवकः ।
जनो जनपदे भाव्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥१५॥

'तात ! जिस नगर या राष्ट्रमें राजा युधिष्ठिर निवास करते होंगे, वहाँके राजाओंका अकल्याण नहीं हो सकता । जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, उस जनपदके लोगोंको दानशील, उदार, विनयी और लज्जाशील होना चाहिये ॥ १४-१५ ॥

प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः ।
हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥१६॥

'जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँके मनुष्य सदा प्रिय वचन बोलनेवाले, जितेन्द्रिय, कल्याणभागी, सत्यपरायण, हृष्ट-पुष्ट, पवित्र और कार्यकुशल होंगे ॥ १६ ॥

नासूयको न चापीर्षुर्नाभिमानी न मत्सरी ।
भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः ॥ १७ ॥

'वहाँ कोई न तो दूसरेके दोष देखनेवाला होगा और न ईर्ष्यालु । न किसीमें अभिमान होगा और न मात्सर्य (द्वेष) । वहाँके सब लोग स्वयं ही धर्ममें तत्पर होंगे ॥ १७ ॥

ब्रह्मघोषाश्च भूयांसः पूर्णाहुत्यस्तथैव च ।
क्रतवश्च भविष्यन्ति भूयांसो भूरिदक्षिणाः ॥ १८ ॥

'उस देश या जनपदमें प्रचुर रूपसे वेदध्वनि होती होगी, यज्ञोंमें पूर्णाहुतियाँ दी जाती होंगी और बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले बहुत-से यज्ञ हो रहे होंगे ॥ १८ ॥

सदा च तत्र पर्जन्यः सम्यग्वर्षी न संशयः ।
सम्पन्नसस्या च मही निरातङ्का भविष्यति ॥ १९ ॥

'वहाँ मेघ सदा ठीक-ठीक वर्षा करता होगा, इसमें संशय नहीं है । वहाँकी भूमिपर खेती लहलहाती होगी और वहाँ निवास करनेवाली प्रजा सर्वथा निर्भय होगी ॥ १९ ॥

गुणवन्ति च धान्यानि रसवन्ति फलानि च ।
गन्धवन्ति च माल्यानि शुभशब्दा च भारती ॥ २० ॥

'वहाँ गुणयुक्त धान्य, सरस फल, सुगन्धयुक्त माला

और माङ्गलिक शब्दोंसे युक्त वाणी सुलभ होगी ॥ २० ॥

वायुश्च सुखसंस्पर्शो निष्प्रतीपं च दर्शनम्।
न भयं त्वाविशेत् तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २१ ॥

'वहाँ जिसका स्पर्श सुखदायक हो, ऐसी शीतल एवं मन्द वायु चलती होगी। धर्म और ब्रह्मके स्वरूपका विचार पाखण्डशून्य होगा। जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ भयका प्रवेश नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

गावश्च बहुलास्तत्र न कृशा न च दुर्बलाः।
पयांसि दधिसर्पींषि रसवन्ति हितानि च ॥ २२ ॥

'उस जनपदमें गौओंकी अधिकता होगी और वे गौएँ कृश या दुर्बल न होकर खूब हृष्ट-पुष्ट होंगी। उनके दूध, दही और घी भी बड़े स्वादिष्ट तथा हितकारी होंगे ॥ २२ ॥

गुणवन्ति च पेयानि भोज्यानि रसवन्ति च।
तत्र देशे भविष्यन्ति यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २३ ॥

'जिस देशमें राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ गुणकारी पेय और सरस भोज्य पदार्थ सुलभ होंगे ॥ २३ ॥

रसाः स्पर्शाश्च गन्धाश्च शब्दाश्चापि गुणान्विताः।
दृश्यानि च प्रसन्नानि यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

'जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द—सभी विषय गुणकारी होंगे और मनको प्रसन्न करनेवाले दृश्य देखनेको मिलेंगे ॥ २४ ॥

धर्माश्च तत्र सर्वैस्तु सेविताश्च द्विजातिभिः।
स्वैः स्वैर्गुणैश्च संयुक्ता अस्मिन् वर्षे त्रयोदशे ॥ २५ ॥

'इस तेरहवें वर्षमें राजा युधिष्ठिर जहाँ कहीं भी होंगे, वहाँके समस्त द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) अपने-अपने धर्मोंका पालन करते होंगे और धर्म भी अपने गुण तथा प्रभावसे सम्पन्न होंगे ॥ २५ ॥

देशे तस्मिन् भविष्यन्ति तात पाण्डवसंयुते।
सम्प्रीतिमाञ्जनस्तत्र संतुष्टः शुचिरव्ययः ॥ २६ ॥

'तात! पाण्डवोंसे संयुक्त देशमें ये सब विशेषताएँ होंगी। वहाँके लोग प्रसन्न, संतुष्ट, पवित्र और विकारशून्य होंगे ॥

देवतातिथिपूजासु सर्वभावानुरागवान्।
इष्टदानो महोत्साहः स्वस्वधर्मपरायणः ॥ २७ ॥

'देवता और अतिथियोंकी पूजामें सबका सर्वतोभावेन अनुराग होगा। सभी लोग दानको प्रिय मानेंगे, सबमें भारी उत्साह भरा होगा और सभी अपने-अपने धर्मके पालनमें तत्पर होंगे ॥ २७ ॥

अशुभाद्धि शुभप्रेप्सुरिष्टयज्ञः शुभव्रतः।
भविष्यति जनस्तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥

'जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँके लोग अशुभको छोड़कर शुभके अभिलाषी होंगे। यज्ञोंका अनुष्ठान उनके लिये अभीष्ट कार्य होगा और वे श्रेष्ठ व्रतोंको धारण करनेवाले होंगे ॥ २८ ॥

त्यक्तवाक्यानृतस्तात शुभकल्याणमङ्गलः।
शुभार्थेप्सुः शुभमतिर्यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २९ ॥

'तात! जहाँ राजा युधिष्ठिर रहते होंगे, वहाँके लोग असत्य-भाषणका त्याग करनेवाले, शुभ, कल्याण एवं मङ्गलसे युक्त, शुभ वस्तुओंकी प्राप्तिके इच्छुक तथा शुभमें ही मन लगानेवाले होंगे ॥ २९ ॥

भविष्यति जनस्तत्र नित्यं चेष्टप्रियव्रतः।
धर्मात्मा शक्यते ज्ञातुं नापि तात द्विजातिभिः ॥ ३० ॥
किं पुनः प्राकृतैस्तात पार्थो विज्ञायते क्वचित्।
यस्मिन् सत्यं धृतिर्दानं परा शान्तिर्ध्रुवा क्षमा ॥ ३१ ॥
ह्रीः श्रीः कीर्तिः परं तेज आनृशंस्यमथार्जवम्।

'सदा इष्टजनोंका प्रिय करना ही उनका व्रत होगा। कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं। उनमें सत्य, धैर्य, दान, परम शान्ति, अटल क्षमा, लज्जा, श्री, कीर्ति, उत्कृष्ट तेज, दयालुता और सरलता आदि गुण सदा रहते हैं। अतः अन्य साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या, द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) भी उन्हें नहीं पहचान सकते ॥ ३०-३१½ ॥

तस्मात् तत्र निवासं तु छन्नं यत्नेन धीमतः।
गतिं च परमां तत्र नोत्सहे वक्तुमन्यथा ॥ ३२ ॥

'इसलिये जहाँ ऐसे लक्षण पाये जायँ, वहीं बुद्धिमान् युधिष्ठिरका यत्नपूर्वक छिपाया हुआ निवासस्थान हो सकता है; वहीं उनका उत्कृष्ट आश्रय होना सम्भव है। इसके विपरीत मैं और कोई बात नहीं कह सकता ॥ ३२ ॥

एवमेतत् तु संचिन्त्य यत्कृते मन्यसे हितम्।
तत् क्षिप्रं कुरु कौरव्य यद्येवं श्रद्दधासि मे ॥ ३३ ॥

'कुरुनन्दन! यदि मेरी बातोंपर तुम्हें विश्वास हो, तो इसी प्रकार सोच-विचारकर जो काम करनेसे तुम्हें अपना हित जान पड़े, उसे शीघ्र करो' ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्याचारे भीष्मवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें गुप्तचर भेजनेके विषयमें भीष्मवचनसम्बन्धी अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

कृपाचार्यकी सम्मति और दुर्योधनका निश्चय

वैशम्पायन उवाच

ततः शारद्वतो वाक्यमित्युवाच कृपस्तदा ।
युक्तं प्राप्तं च वृद्धेन पाण्डवान् प्रति भाषितम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इसके पश्चात् महर्षि शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यने उस समय यह बात कही—'राजन् ! वयोवृद्ध भीष्मजीने पाण्डवोंके विषयमें जो कुछ कहा है, वह युक्तियुक्त तो है ही, अवसरके अनुकूल भी है ॥ १ ॥

धर्मार्थसहितं श्लक्ष्णं तत्त्वतश्च सहेतुकम् ।
तत्रानुरूपं भीष्मेण ममाप्यत्र गिरं शृणु ॥ २ ॥

'उसमें धर्म और अर्थ दोनों ही संनिहित हैं । वह सुन्दर, तात्त्विक और सकारण है । इस विषयमें मेरा भी जो कथन है, वह भीष्मजीके ही अनुरूप है, उसे सुनो ॥ २ ॥

तेषां चैव गतिस्तीर्थैर्वासश्चैषां प्रचिन्त्यताम् ।
नीतिर्विधीयतां चापि साम्प्रतं या हिता भवेत् ॥ ३ ॥

'तुमलोग गुप्तचरोंसे पाण्डवोंकी गति और स्थितिका पता लगवाओ और उसी नीतिका आश्रय लो, जो इस समय हितकारिणी हो ॥ ३ ॥

नावज्ञेयो रिपुस्तात प्राकृतोऽपि बुभूषता ।
किं पुनः पाण्डवास्तात सर्वास्त्रकुशला रणे ॥ ४ ॥

'तात ! जिसे सम्राट् बननेकी इच्छा हो, उसे साधारण शत्रुकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये । फिर जो युद्धमें सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके संचालनमें कुशल हैं, उन पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ४ ॥

तस्मात् सत्रं प्रविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
गूढभावेषु छन्नेषु काले चोदयमागते ॥ ५ ॥
स्वराष्ट्रे परराष्ट्रे च ज्ञातव्यं बलमात्मनः ।
उदयः पाण्डवानां च प्राप्ते काले न संशयः ॥ ६ ॥

'अतः इस समय जब कि महात्मा पाण्डव छद्मवेष धारण करके (अर्थात् वेष बदलकर) गुप्तरूपसे छिपे हुए हैं और अज्ञातवासकी जो नियत अवधि थी, वह प्रायः समाप्त हो चली है, स्वराष्ट्र और परराष्ट्रमें अपनी कितनी शक्ति है—इसे समझ लेना चाहिये । इसमें संदेह नहीं कि उपयुक्त समय आते ही पाण्डव प्रकट हो जायँगे ॥ ५-६ ॥

निवृत्तसमयाः पार्था महात्मानो महाबलाः ।
महोत्साहा भविष्यन्ति पाण्डवा ह्यमितौजसः ॥ ७ ॥

'अज्ञातवासका समय पूर्ण कर लेनेपर कुन्तीके वे महाबली, अमितपराक्रमी और महात्मा पुत्र पाण्डव महान् उत्साहसे सम्पन्न हो जायँगे ॥ ७ ॥

तस्माद् बलं च कोषश्च नीतिश्चापि विधीयताम् ।
यथा कालोदये प्राप्ते सम्यक् तैः संदधामहे ॥ ८ ॥

'अतः इस समय तुम्हें अपनी सेना, कोष और नीति ऐसी बनायी रखनी चाहिये, जिससे समय आनेपर हम उनके साथ यथावत् सन्धि (मेल अथवा बाण-संधान) कर सकें ॥ ८ ॥

तात बुद्ध्यापि तत् सर्वं बुध्यस्व बलमात्मनः ।
नियतं सर्वमित्रेषु बलवत्स्वबलेषु च ॥ ९ ॥

'तात ! तुम स्वयं बुद्धिसे भी विचारकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति कितनी है, इसकी जानकारी प्राप्त कर लो । तुम्हारे बलवान् और निर्बल सब प्रकारके मित्रोंमें निश्चित बल कितना है, यह भी जान लेना चाहिये ॥ ९ ॥

उच्चावचं बलं ज्ञात्वा मध्यस्थं चापि भारत ।
प्रहृष्टमप्रहृष्टं च संदधाम तथा परैः ॥ १० ॥

'भारत ! उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकारकी सेनाओंकी स्थिति समझो । उत्तम और मध्यम सेनाएँ प्रसन्न हैं या अप्रसन्न—इसे जान लो; तब हम शत्रुओंसे सन्धि (मेल या बाण-संधान) कर सकते हैं ॥ १० ॥

साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन बलिकर्मणा ।
न्यायेनाक्रम्य च परान् बलाच्चानम्य दुर्बलान् ॥ ११ ॥
सान्त्वयित्वा तु मित्राणि बलं चाभाष्यतां सुखम् ।
सुकोषबलसंवृद्धः सम्यक् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १२ ॥

'साम (समझाना), दान (धन आदि देना), भेद (शत्रुओंमें फूट डालना), दण्ड देना और कर लेना—इन नीतियोंके द्वारा* शत्रुपर आक्रमण करके, दुर्बलोंको बलसे दबाकर, मित्रोंको मेल-जोलसे अपनाकर और सेनाको मिष्ट-भाषण एवं वेतन आदि देकर अपने अनुकूल कर लेना चाहिये । इस प्रकार उत्तम कोष और सेनाको बढ़ा लेनेपर तुम अच्छी सफलता प्राप्त कर सकोगे ॥ ११-१२ ॥

योत्स्यसे चापि बलिभिररिभिः प्रत्युपस्थितैः ।
अन्यैस्त्वं पाण्डवैर्वापि हीनैः स्वबलवाहनैः ॥ १३ ॥

---

* जब शत्रुकी शक्ति अपने बराबर हो, तब उसके प्रति साम और भेदनीतिका प्रयोग करना चाहिये अर्थात् उससे समझौता करना या उसकी सेनामें फूट डालनी चाहिये । यदि शत्रु अपनेसे अधिक शक्तिशाली हो, तो वहाँ दाननीतिका प्रयोग उचित है अर्थात् उसे धन, रत्न आदि भेंट देकर शान्त करना चाहिये । यदि अपनी ही शक्ति अधिक हो, तो उसे दण्ड देना या युद्धमें मार गिराना चाहिये । अतः अपने और विपक्षीके बलाबलका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है ।

'उस दशामें बलवान्-से-बलवान् शत्रु क्यों न आ जायँ और वे पाण्डव हों या दूसरे कोई, यदि सेना और वाहन आदिकी दृष्टिसे उनमें अपनी अपेक्षा न्यूनता है तो तुम उन सबके साथ युद्ध कर सकोगे ॥ १३ ॥

एवं सर्वं विनिश्चित्य व्यवसायं स्वधर्मतः ।
यथाकालं मनुष्येन्द्र चिरं सुखमवाप्स्यसि ॥ १४ ॥

'नरेन्द्र ! इस प्रकार अपने धर्मके अनुकूल सम्पूर्ण कर्तव्यका निश्चय करके यथासमय उसका पालन करोगे, तो दीर्घकालतक सुख भोगोगे' ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

(ततो दुर्योधनो वाक्यं श्रुत्वा तेषां महात्मनाम् ।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य सचिवानिदमब्रवीत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर दुर्योधन उन महात्माओंका वचन सुनकर दो घड़ीतक कुछ विचार करता रहा । फिर मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोला ॥

दुर्योधन उवाच

श्रुतं ह्येतन्मया पूर्वं कथासु जनसंसदि ।
वीराणां शास्त्रविदुषां प्राज्ञानां मतिनिश्चये ॥
कृतिनां सारफल्गुत्वं जानामि नयचक्षुषा ।

दुर्योधनने कहा—मन्त्रियो ! मैंने पूर्वकालमें जनसाधारणकी बैठकमें आपसकी बातचीतके समय शास्त्रोंके विद्वान्, ज्ञानी, वीर एवं पुण्यात्मा पुरुषोंके निश्चित सिद्धान्तके विषयमें कुछ ऐसी बातें सुनी हैं, जिनसे नीतिकी दृष्टिके अनुसार मैं मनुष्योंके बलाबलकी जानकारी रखता हूँ ॥

सत्त्वे बाहुबले धैर्ये प्राणे शारीरसम्भवे ।
साम्प्रतं मानुषे लोके सदैत्यनरराक्षसे ॥
चत्वारस्तु नरव्याघ्रा बले शक्रोपमा भुवि ।
उत्तमाः प्राणिनां तेषां नास्ति कश्चिद् बले समः ॥
समप्राणबला नित्यं सम्पूर्णबलपौरुषाः ।
बलदेवश्च भीमश्च मद्रराजश्च वीर्यवान् ॥
चतुर्थः कीचकस्तेषां पञ्चमं नानुशुश्रुमः ।
अन्योन्यानन्तरबलाः परस्परजयैषिणः ॥
बाहुयुद्धमभीप्सन्तो नित्यं संरब्धमानसाः ।
तेनाहमवगच्छामि प्रत्ययेन वृकोदरम् ॥
मनस्यभिनिविष्टं मे व्यक्तं जीवन्ति पाण्डवाः ।

इस समय मनुष्यलोकमें दैत्य, मानव तथा राक्षसोंमें चार ही ऐसे पुरुषसिंह सुने जाते हैं, जो इस भूतलपर आत्मबल, बाहुबल, धैर्य तथा शारीरिक शक्तिमें इन्द्रके समान हैं । वे ही समस्त प्राणधारियोंमें उत्तम हैं । बलमें उनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है । उन सबमें सदा एक समान प्राणशक्ति मानी गयी है । वे सम्पूर्ण बल और पराक्रमसे सम्पन्न हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—बलदेव, भीमसेन, पराक्रमी मद्रराज शल्य तथा कीचक । इनमें कीचकका चौथा स्थान है । इनके समान कोई पाँचवाँ वीर मेरे सुननेमें नहीं आया । ये सभी परस्पर समान बलशाली तथा (मौका पड़नेपर) एक दूसरेको जीतनेके लिये उत्सुक रहे हैं । इनके मनमें एक दूसरेके प्रति सदा रोष भरा रहा और ये परस्पर बाहुयुद्ध करना चाहते रहे हैं । इस आधारपर मैं भीमसेनका पता पा लेता हूँ और मेरे मनमें स्पष्टरूपसे यह बात आ जाती है कि पाण्डव अवश्य जीवित हैं ।

तत्राहं कीचकं मन्ये भीमसेनेन मारितम् ॥
सैरन्ध्रीं द्रौपदीं मन्ये नात्र कार्या विचारणा ।

अत्र मुझे ऐसा लगता है कि विराटनगरमें कीचकको भीमसेनने ही मारा है । सैरन्ध्रीको मैं द्रौपदी समझता हूँ । इस विषयमें कोई अधिक विचार नहीं करना चाहिये ॥

शङ्के कृष्णानिमित्तं तु भीमसेनेन कीचकः ॥
गन्धर्वव्यपदेशेन हतो निशि महाबलः ।
को हि शक्तः परो भीमात् कीचकं हन्तुमोजसा ॥
शस्त्रं विना बाहुवीर्यात् तथा सर्वाङ्गचूर्णने ।
मर्दितुं वा तथा शीघ्रं चर्ममांसास्थिचूर्णितम् ॥

मुझे संदेह है कि द्रौपदीके निमित्तसे भीमसेनने ही गन्धर्वका नाम धारण करके रात्रिके समय महाबली कीचकको मारा होगा । भीमसेनके सिवा दूसरा कौन ऐसा वीर है, जो बिना अस्त्र-शस्त्रके केवल शारीरिकशक्ति और बाहुबलसे कीचकको मार सके तथा उसके सम्पूर्ण अङ्गोंको चूर-चूर करने और शीघ्रतापूर्वक अस्थि, चर्म एवं मांसके उस चूर्णसमुदायको मसलकर मांसपिण्ड बना देनेमें समर्थ हो ? ॥

रूपमन्यत् समास्थाय भीमस्यैतद् विचेष्टितम् ।
ध्रुवं कृष्णानिमित्तं तु भीमसेनेन सूतजाः ॥
गन्धर्वव्यपदेशेन हता युधि न संशयः ।

अतः यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि दूसरा रूप धारण करके भीमसेनने ही यह पराक्रम किया है । गन्धर्वनामधारी भीमने ही कृष्णाके लिये रातके समय सूतपुत्रोंका वध किया है, इसमें संशय नहीं है ॥

पितामहेन ये चोक्ता देशस्य च जनस्य च ॥
गुणास्ते मत्स्यराष्ट्रस्य बहुशोऽपि मया श्रुताः ।
विराटनगरे मन्ये पाण्डवाश्छन्नचारिणः ॥
निवसन्ति पुरे रम्ये तत्र यात्रा विधीयताम् ।

पितामह भीष्मने युधिष्ठिरके निवासके प्रभावसे देश और जनसमुदायके जो गुण बताये हैं, उनमें भी बहुत-से गुण मत्स्यराष्ट्रमें (दूतोंद्वारा) मेरे सुननेमें आये हैं । इससे मैं मानता हूँ कि पाण्डव राजा विराटके रमणीय नगरमें निवास करते और छद्मवेष धारण करके गुप्तरूपसे विचरते हैं, अतः वहाँकी यात्रा करनी चाहिये ।

मत्स्यराष्ट्रं हनिष्यामो ग्रहीष्यामश्च गोधनम् ॥
गृहीते गोधने नूनं तेऽपि योत्स्यन्ति पाण्डवाः ।
अपूर्णे समये चापि यदि पश्येम पाण्डवान् ।
द्वादशान्यानि वर्षाणि प्रवेक्ष्यन्ति पुनर्वनम् ॥

हमलोग वहाँ चलकर मत्स्यराष्ट्रको तहस-नहस करेंगे और राजा विराटके गोधनपर अपना अधिकार कर लेंगे । उनके गोधनका अपहरण कर लेनेपर निश्चय ही पाण्डव भी हम-लोगोंके साथ युद्ध करेंगे । ऐसी दशामें यदि अज्ञातवासका समय पूर्ण होनेसे पूर्व ही हम पाण्डवोंको देख लेंगे, तो उन्हें पुनः दूसरी बार बारह वर्षोंके लिये वनमें प्रवेश करना पड़ेगा ॥

तस्मादन्यतरेणापि लाभोऽस्माकं भविष्यति ।
कोषवृद्धिरिहास्माकं शत्रूणां निधनं भवेत् ॥
कथं सुयोधनं गच्छेद् युधिष्ठिरभृतः पुरा ।
एतच्चापि वदत्येष मात्स्यः परिभवान्मयि ॥

अतः दोमेंसे एक भी हो जाय, तो भी हमें लाभ ही होगा । इस रणयात्रासे हमारे कोषकी वृद्धि होगी और शत्रुओंका नाश हो जायगा । मत्स्यदेशका राजा विराट मेरे प्रति तिरस्कारका भाव रखकर यह भी कहा करता है कि पूर्वकालमें धर्मराज युधिष्ठिरने जिसका पालन-पोषण किया हो, वह दुर्योधनके अधिकारमें कैसे जा सकता है ? ॥

तस्मात् कर्तव्यमेतद् वै तत्र यात्रा विधीयताम् ।
एतत् सुनीतं मन्येऽहं सर्वेषां यदि रोचते ॥)

अतः निश्चय ही मत्स्यदेशपर आक्रमण करना चाहिये । वहाँकी यात्रा अवश्य की जाय । यदि आप सब लोगोंको अच्छा लगे, तो मैं इस कार्यको नीतिके अनुकूल मानता हूँ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्याचारे कृपवाक्ये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें गुप्तचर भेजनेके विषयमें कृपाचार्यवचनसम्बन्धी उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २० श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं)

त्रिंशोऽध्यायः

सुशर्माके प्रस्तावके अनुसार त्रिगर्तों और कौरवोंका मत्स्यदेशपर धावा

वैशम्पायन उवाच

अथ राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा रथयूथपः ।
प्राप्तकालमिदं वाक्यमुवाच त्वरितो बली ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर त्रिगर्तदेशके राजा महाबली सुशर्माने, जो रथियोंके समूहका अधिपति था, बड़ी उतावलीके साथ अपना यह समयोचित प्रस्ताव उपस्थित किया ॥ १ ॥

असकृन्निकृताः पूर्वं मत्स्यशाल्वेयकैः प्रभो ।
सूतेनैव च मत्स्यस्य कीचकेन पुनः पुनः ॥ २ ॥
बाधितो बन्धुभिः सार्धं बलाद् बलवता विभो ।
स कर्णमभ्युदीक्ष्याथ दुर्योधनमभाषत ॥ ३ ॥

उसने कर्णकी ओर देखकर दुर्योधनसे कहा—'प्रभो ! पहले मत्स्य तथा शाल्वदेशके सैनिकोंने अनेक बार चढ़ाई करके हमें कष्ट दिया है । मत्स्यराजके सेनापति महाबली सूत-पुत्र कीचकने अपने बन्धुओंके साथ बार-बार आक्रमण करके मुझे बलपूर्वक सताया है ॥ २-३ ॥

असकृन्मत्स्यराज्ञा मे राष्ट्रं बाधितमोजसा ।
प्रणेता कीचकस्तस्य बलवानभवत् पुरा ॥ ४ ॥

'मत्स्यनरेशने बहुत बार अपने बल-पराक्रमसे धावा करके [illegible]
कीचक ही उनका सेनानायक था ॥ ४ ॥

क्रूरोऽमर्षी स दुष्टात्मा भुवि प्रख्यातविक्रमः ।
निहतः स तु गन्धर्वैः पापकर्मा नृशंसवान् ॥ ५ ॥

'वह दुष्टात्मा बहुत ही क्रूर और क्रोधी था । इस भूतल-पर अपने पराक्रमके लिये उसकी सर्वत्र ख्याति थी । अब वह निर्दयी और पापाचारी कीचक गन्धर्वोंद्वारा मार डाला गया है ॥ ५ ॥

तस्मिन् विनिहते राजा हतदर्पो निराश्रयः ।
भविष्यति निरुत्साहो विराट इति मे मतिः ॥ ६ ॥

'उसके मारे जानेसे राजा विराटका घमण्ड चूर-चूर हो गया होगा । अब वे निराधार एवं निरुत्साह हो गये होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ६ ॥

तत्र यात्रा मम मता यदि ते रोचतेऽनघ ।
कौरवाणां च सर्वेषां कर्णस्य च महात्मनः ॥ ७ ॥

'अनघ ! यदि आपको जँचे, तो मेरी राय यह है कि समस्त कौरव वीरों और महामना कर्णका भी उस देशपर आक्रमण हो ॥ ७ ॥

एतत् प्राप्तमहं मन्ये कार्यमात्ययिकं हि नः ।
राष्ट्रं तस्याभियास्यामो बहुधान्यसमाकुलम् ॥ ८ ॥

'मैं समझता हूँ; इसके लिये उपयुक्त अवसर प्राप्त हुआ [illegible] है । हम प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न मत्स्यराष्ट्रपर चढ़ाई करें ॥ ८ ॥

आददामोऽस्य रत्नानि विविधानि वसूनि च ।
ग्रामान् राष्ट्राणि वा तस्य हरिष्यामो विभागशः ॥ ९ ॥

'राजा विराटके यहाँ नाना प्रकारके रत्न और धन हैं। हम वे सब ले लेंगे और उनके गाँव तथा सम्पूर्ण राष्ट्रको जीतकर आपसमें बाँट लेंगे ॥ ९ ॥

अथवा गोसहस्राणि शुभानि च बहूनि च ।
विविधानि हरिष्यामः प्रतिपीड्य पुरं बलात् ॥ १० ॥

'अथवा उनके यहाँ सहस्रों सुन्दर गौओंके बहुत-से समुदाय हैं; अतः बलपूर्वक उनके नगरमें उत्पात मचाकर उन समस्त गौओंका अपहरण कर लेंगे ॥ १० ॥

कौरवैः सह संगत्य त्रिगर्तैश्च विशाम्पते ।
गास्तस्यापहरामोऽद्य सर्वैश्चैव सुसंहताः ॥ ११ ॥

'महाराज ! कौरवोंके साथ संगठित त्रिगर्तदेशीय सैनिकोंकी सहायतासे हम सब मिलकर विराटकी गौओंको हर लेंगे ॥ ११ ॥

संविभागेन कृत्वा तु निबध्नीमोऽस्य पौरुषम् ।
हत्वा चास्य चमूं कृत्स्नां वशमेवानयामहे ॥ १२ ॥

'और हम आपसमें विभाजन करके उन्हें अपने यहाँ बाँध लेंगे। साथ ही मत्स्यराजके सामर्थ्यको नष्ट करके उसकी सारी सेनाको अपने अधीन कर लेंगे ॥ १२ ॥

तं वशे न्यायतः कृत्वा सुखं वत्स्यामहे वयम् ।
भवतां बलवृद्धिश्च भविष्यति न संशयः ॥ १३ ॥

'विराटको नीतिसे वशमें करके हम सुखसे रहेंगे। इससे आपलोगोंकी सेना और शक्तिकी वृद्धि भी होगी; इसमें संशय नहीं है' ॥ १३ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कर्णो राजानमब्रवीत् ।
सूक्तं सुशर्मणा वाक्यं प्राप्तकालं हितं च नः ॥ १४ ॥

त्रिगर्तराजका यह कथन सुनकर कर्णने राजा दुर्योधनसे कहा—'सुशर्माने ठीक कहा है; यह समयोचित होनेके साथ ही हमारे लिये हितकर भी है ॥ १४ ॥

तस्मात् क्षिप्रं विनिर्यामो योजयित्वा वरूथिनीम् ।
विभज्य चाप्यनीकानि यथा वा मन्यसेऽनघ ॥ १५ ॥

'इसलिये सेनाको सुसज्जित करके उसे कई टुकड़ियोंमें बाँटकर हमलोग शीघ्र यहाँसे कूच कर दें। अथवा अनघ ! आपको जैसा ठीक लगे, वैसा करें ॥ १५ ॥

प्राज्ञो वा कुरुवृद्धोऽयं सर्वेषां नः पितामहः ॥
आचार्यश्च यथा द्रोणः कृपः शारद्वतस्तथा ।
मन्यन्ते ते यथा सर्वे तथा यात्रा विधीयताम् ॥ १६ ॥

'अथवा कुरुकुलमें सबसे वृद्ध हमारे पितामह परम बुद्धिमान् भीष्म, आचार्य द्रोण तथा शरद्वानके पुत्र कृपाचार्य— ये लोग जैसे ठीक समझें, वैसे ही यात्रा करनी चाहिये ॥

सम्मन्त्र्य चाशु गच्छामः साधनार्थं महीपतेः ।
किं च नः पाण्डवैः कार्यं हीनार्थबलपौरुषैः ॥ १७ ॥

'आपसमें अच्छी तरह सलाह करके हमें राजा विराटको वशमें करनेके लिये शीघ्र प्रस्थान कर देना चाहिये। पाण्डव-लोग धन, बल तथा पौरुष तीनोंसे हीन हैं, अतः उनसे हमें क्या काम है ? ॥ १७ ॥

अत्यन्तं वा प्रणष्टास्ते प्राप्ता वापि यमक्षयम् ।
यामो राजन् निरुद्विग्ना विराटनगरं वयम् ।
आदास्यामो हि गास्तस्य विविधानि वसूनि च ॥ १८ ॥

'राजन् ! वे अत्यन्त अदृश्य (छिपे हुए) हों या यम-राजके घर पहुँच गये हों, हमें तो उद्वेगशून्य होकर विराट-नगरकी यात्रा करनी चाहिये। वहाँ हमलोग विराटकी गौओंको तथा उनके विविध धन-रत्नोंको हस्तगत कर लेंगे' ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा वाक्यमादाय तस्य तत् ।
वैकर्तनस्य कर्णस्य क्षिप्रमाज्ञापयत् स्वयम् ॥ १९ ॥
शासने नित्यसंयुक्तं दुःशासनमनन्तरम् ।
सह वृद्धैस्तु सम्मन्त्र्य क्षिप्रं योजय वाहिनीम् ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा दुर्योधनने सूर्यपुत्र कर्णकी बात मानकर अपनी आज्ञाका पालन करनेके लिये सदा संनद्ध रहनेवाले छोटे भाई दुःशासनको स्वयं ही तुरंत आदेश दे दिया—'वृद्धजनोंकी सम्मति लेकर शीघ्र अपनी सेनाको प्रस्थानके लिये तैयार करो ॥ १९-२० ॥

यथोद्देशं च गच्छामः सहितास्तत्र कौरवैः ।
सुशर्मा च यथोद्दिष्टं देशं यातु महारथः ।
त्रिगर्तैः सहितो राजा समग्रबलवाहनः ॥ २१ ॥

'जिधरसे आक्रमणका निश्चय हो, उसी ओर हम कौरव-सैनिकोंके साथ चलें। महारथी सुशर्मा भी त्रिगर्तोंके साथ निश्चित दिशाकी ओर जायँ और अपने समस्त बल (सेना) एवं वाहनोंको साथ ले लें ॥ २१ ॥

प्रागेव हि सुसंवीतो मत्स्यस्य विषयं प्रति ।
जघन्यतो वयं तत्र यास्यामो दिवसान्तरे ।
विषयं मत्स्यराजस्य सुसमृद्धं सुसंहताः ॥ २२ ॥

'सब साधनोंसे सम्पन्न हो सुशर्मा पहले मत्स्यदेशपर आक्रमण करें। फिर पीछेसे एक दिन बाद हमलोग भी पूर्णतः संगठित हो मत्स्यनरेशके समृद्धिशाली राज्यपर धावा बोल देंगे ॥ २२ ॥

ते यान्तु सहितास्तत्र विराटनगरं प्रति ।
क्षिप्रं गोपान् समासाद्य गृह्णन्तु विपुलं धनम् ॥ २३ ॥

'त्रिगर्त-सैनिक एक साथ मिलकर तुरंत विराटनगरपर चढ़ाई करें और पहले ग्वालोंके पास पहुँचकर वहाँके बढ़े हुए गोधनपर अधिकार कर लें ॥ २३ ॥

गवां शतसहस्राणि श्रीमन्ति गुणवन्ति च ।
वयमप्यनुगृह्णीमो द्विधा कृत्वा वरूथिनीम् ॥ २४ ॥

'फिर हमलोग अपनी सेनाको दो टुकड़ोंमें बाँटकर उनकी लाखों, सुन्दर तथा गुणवती गौओंका अपहरण करेंगे' ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

त स्म गत्वा यथोद्दिष्टां दिशं वह्नेर्महीपते ।
संनद्धा रथिनः सर्वे सपदाता बलोत्कटाः ॥ २५ ॥
प्रति वैरं चिकीर्षन्तो गोषु गृद्धा महाबलाः ।
आदातुं गाः सुशर्माथ कृष्णपक्षस्य सप्तमीम् ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर पूर्व वैरका बदला लेनेकी इच्छावाले त्रिगर्तदेशीय रथी और पैदल सैनिक कवच आदि धारण करके तैयार हो गये । वे सभी महान् बलवान् और प्रचण्ड पराक्रमी थे । सुशर्माने विराटकी गौओंका अपहरण करनेके लिये पूर्वनिश्चित योजनाके अनुसार कृष्णपक्षकी सप्तमीको अग्निकोणकी ओरसे विराटनगरपर चढ़ाई की ॥ २५-२६ ॥

अपरे दिवसे सर्वे राजन् सम्भूय कौरवाः ।
अष्टम्यां ते न्यगृह्णन्त गोकुलानि सहस्रशः ॥ २७ ॥

राजन् ! फिर दूसरे दिन अष्टमीको दूसरी ओरसे सब कौरवोंने मिलकर धावा किया और गौओंके सहस्रों झुंडोंपर अधिकार जमा लिया ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे सुशर्माभियाने त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिणदिशाकी गौओंको ग्रहण करनेके लिये सुशर्मा आदिकी मत्स्यदेशपर चढ़ाईसे सम्बन्ध रखनेवाला तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

चारों पाण्डवोंसहित राजा विराटकी सेनाका युद्धके लिये प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततस्तेषां महाराज तत्रैवामिततेजसाम् ।
छद्मलिङ्गप्रविष्टानां पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ १ ॥
व्यतीतः समयः सम्यग् वसतां वै पुरोत्तमे ।
कुर्वतां तस्य कर्माणि विराटस्य महीपतेः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! उन दिनों छद्मवेषमें छिपकर उस श्रेष्ठ नगरमें रहते और महाराज विराटके कार्य सम्पादन करते हुए अतुलित तेजस्वी महात्मा पाण्डवोंका तेरहवाँ वर्ष भलीभाँति बीत चुका था ॥ १-२ ॥

कीचके तु हते राजा विराटः परवीरहा ।
परां सम्भावनां चक्रे कुन्तीपुत्रे युधिष्ठिरे ॥ ३ ॥

कीचकके मारे जानेपर शत्रुहन्ता राजा विराट कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके प्रति बड़ी आदरबुद्धि रखने और उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ करने लगे थे ॥ ३ ॥

ततस्त्रयोदशस्यान्ते तस्य वर्षस्य भारत ।
सुशर्मणा गृहीतं तद् गोधनं तरसा बहु ॥ ४ ॥

भारत ! तदनन्तर तेरहवें वर्षके अन्तमें सुशर्माने बड़े वेगसे आक्रमण करके विराटकी बहुत-सी गौओंको अपने अधिकारमें कर लिया ॥ ४ ॥

(ततः शब्दो महानासीद् रेणुश्च दिवमस्पृशत् ।
शङ्खदुन्दुभिघोषश्च भेरीणां च महास्वनः ॥
गवाश्वरथनागानां नराणां च पदातिनाम् ।

इससे उस समय बड़ा भारी कोलाहल मचा । धरतीकी धूल उड़कर ऊँचे आकाशमें व्याप्त हो गयी । शङ्ख, दुन्दुभि तथा नगारोंके महान् शब्द सब ओर गूँज उठे । बैलों, घोड़ों, रथों, हाथियों तथा पैदल सैनिकोंकी आवाज सब ओर फैल गयी ॥

एवं तैस्त्वभिनिर्याय मत्स्यराजस्य गोधने ॥
त्रिगर्तैर्गृह्यमाणे तु गोपालाः प्रत्यषेधयन् ।

इस प्रकार इन सबके साथ आक्रमण करके जब त्रिगर्तदेशीय योद्धा मत्स्यराजके गोधनको लेकर जाने लगे, उस समय उन गौओंके रक्षकोंने उन सैनिकोंको रोका ॥

अथ त्रिगर्ता बहवः परिगृह्य धनं बहु ॥
परिक्षिप्य हयैः शीघ्रै रथव्रातैश्च भारत ।
गोपालान् प्रत्ययुध्यन्त रणे कृत्वा जये धृतिम् ॥
ते हन्यमाना बहुभिः प्रासतोमरपाणिभिः ।
गोपाला गोकुले भक्ता वारयामासुरोजसा ।
परश्वधैश्च मुसलैर्भिन्दिपालैश्च मुद्गरैः ॥
गोपालाः [illegible] समन्ततः ।

भारत ! तब त्रिगर्तोंने बहुत-सा धन लेकर उसे अपने अधिकारमें करके शीघ्रगामी अश्वों तथा रथसमूहोंद्वारा युद्धमें विजयका दृढ़ संकल्प लेकर उन गोरक्षकोंका सामना करना आरम्भ किया। त्रिगर्तोंकी संख्या बहुत थी। वे हाथोंमें प्रास और तोमर लेकर विराटके ग्वालोंको मारने लगे; तथापि गोसमुदायके प्रति भक्तिभाव रखनेवाले वे ग्वाले बलपूर्वक उन्हें रोके रहे। उन्होंने फरसे, मूसल, भिन्दिपाल, मुद्गर तथा 'कर्षण' नामक विचित्र शस्त्रोंद्वारा सब ओरसे शत्रुओंके अश्वोंको मार भगाया ॥

ते हन्यमानाः संक्रुद्धास्त्रिगर्ता रथयोधिनः ॥
विसृज्य शरवर्षाणि गोपान् व्यद्रावयन् रणे।)

ग्वालोंके आघातसे अत्यन्त कुपित हो रथोंद्वारा युद्ध करनेवाले त्रिगर्तसैनिक बाणोंकी वर्षा करके उन ग्वालोंको रणभूमिसे खदेड़ने लगे ॥

ततो जवेन महता गोपः पुरमथाव्रजत्।
स दृष्ट्वा मत्स्यराजं च रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ॥ ५ ॥

तब उन गौओंका रक्षक गोप, जिसने कानोंमें कुण्डल पहन रक्खे थे, रथपर आरूढ़ हो तीव्र गतिसे नगरमें आया और मत्स्यराजको देखकर दूरसे ही रथसे उतर पड़ा ॥५॥

शूरैः परिवृतं योधैः कुण्डलाङ्गदधारिभिः।
संवृतं मन्त्रिभिः सार्धं पाण्डवैश्च महात्मभिः ॥ ६ ॥
तं सभायां महाराजमासीनं राष्ट्रवर्धनम्।

अपने राष्ट्रकी उन्नति करनेवाले महाराज विराट कुण्डल तथा अङ्गद (बाजूबन्द) धारी शूरवीर योद्धाओंसे घिरकर मन्त्रियों तथा महात्मा पाण्डवोंके साथ राजसभामें बैठे थे ॥

सोऽब्रवीदुपसंगम्य विराटं प्रणतस्तदा ॥ ७ ॥
अस्मान् युधि विनिर्जित्य परिभूय सबान्धवान्।
गवां शतसहस्राणि त्रिगर्ताः कालयन्ति ते ॥ ८ ॥

उस समय उनके पास जाकर गोपने प्रणाम करके कहा—'महाराज ! त्रिगर्तदेशके सैनिक हमें युद्धमें जीतकर और भाई-बन्धुओंसहित हमारा तिरस्कार करके आपकी लाखों गौओंको हाँककर लिये जा रहे हैं ॥ ७-८ ॥

तान् परीप्सस्व राजेन्द्र मा नेशुः पशवस्तव।
तच्छ्रुत्वा नृपतिः सेनां मत्स्यानां समयोजयत् ॥ ९ ॥

'राजेन्द्र ! उन्हें वापस लेने—छुड़ानेकी चेष्टा कीजिये; जिससे आपके वे पशु नष्ट न हो जायँ—आपके हाथोंसे दूर न निकल जायँ।' यह सुनकर राजाने मत्स्यदेशकी सेना एकत्र की ॥ ९ ॥

रथनागाश्वकलिलां पत्तिध्वजसमाकुलाम्।
राजानो राजपुत्राश्च तनुत्राण्यथ भेजिरे ॥ १० ॥

उसमें रथ, हाथी, घोड़े और पैदल—सब प्रकारके सैनिक भरे थे और वह सेना ध्वजा-पताकाओंसे व्याप्त थी। फिर राजा तथा राजकुमारोंने पृथक्-पृथक् कवच धारण किये ॥

भानुमन्ति विचित्राणि शूरसेव्यानि भागशः।
सवज्रायसगर्भं तु कवचं तत्र काञ्चनम् ॥ ११ ॥
विराटस्य प्रियो भ्राता शतानीकोऽभ्यहारयत्।

वे कवच बड़े चमकीले, विचित्र और शूरवीरोंके धारण करने योग्य थे। राजा विराटके प्रिय भाई शतानीकने सुवर्णमय कवच ग्रहण किया, जिसके भीतर हीरे और लोहेकी जालियाँ लगी थीं ॥ ११½ ॥

सर्वपारसवं वर्म कल्याणपटलं दृढम् ॥ १२ ॥
शतानीकादवरजो मदिराक्षोऽभ्यहारयत्।

शतानीकसे छोटे भाईका नाम मदिराक्ष था। उन्होंने सुवर्णपत्रसे आच्छादित सुदृढ़ कवच धारण किया, जो सारा का सारा सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंको सहन करनेमें समर्थ फौलादका बना हुआ था ॥ १२½ ॥

शतसूर्यं शतावर्तं शतबिन्दु शताक्षिमत् ॥ १३ ॥
अभेद्यकल्पं मत्स्यानां राजा कवचमाहरत्।
उत्सेधे यस्य पद्मानि शतं सौगन्धिकानि च ॥ १४ ॥

मत्स्यदेशके राजा विराटने अभेद्यकल्प नामक कवच ग्रहण किया, जो किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे कट नहीं सकता था। उसमें सूर्यके समान चमकीली सौ फूलियाँ लगी थीं, सौ भँवरें बनी थीं, सौ बिन्दु (सूक्ष्म चक्र) और सौ नेत्रके समान आकारवाले चक्र बने थे। इसके सिवा उसमें नीचेसे ऊपरतक सौगन्धिक (कह्लार) जातिके सौ कमलोंकी आकृतियाँ पंक्तिबद्ध बनी हुई थीं ॥ १३-१४ ॥

सुवर्णपृष्ठं सूर्याभं सूर्यदत्तोऽभ्यहारयत्।
दृढमायसगर्भं च श्वेतं वर्म शताक्षिमत् ॥ १५ ॥
विराटस्य सुतो ज्येष्ठो वीरः शङ्खोऽभ्यहारयत्।

सेनापति सूर्यदत्त (शतानीक) ने पृष्ठभागमें सुवर्णजटित एवं सूर्यके समान चमकीला कवच पहन रखा था। विराटके ज्येष्ठ पुत्र वीरवर शङ्खने श्वेत रंगका एक सुदृढ़ कवच धारण किया, जिसके भीतरी भागमें लोहा लगा था और ऊपर नेत्रके समान सौ चिह्न बने हुए थे ॥ १५½ ॥

शतशश्च तनुत्राणि यथास्वं ते महारथाः ॥ १६ ॥
योत्स्यमाना अनह्यन्त देवरूपाः प्रहारिणः।

इसी प्रकार सैकड़ों देवताओंके समान रूपवान् महारथियोंने युद्धके लिये उद्यत हो अपने-अपने वैभवके अनुसार कवच पहन लिये। वे सबके सब प्रहार करनेमें कुशल थे ॥ १६½ ॥

सूपस्करेषु शुभ्रेषु महत्सु च महारथाः ॥ १७ ॥
पृथक् काञ्चनसंनाहान् रथेष्वश्वानयोजयन्।

उन महारथियोंने सुन्दर पहियोंवाले विशाल एवं उज्ज्वल रथोंमें पृथक्-पृथक् सोनेके बख्तर धारण कराये हुए घोड़ोंको जोता ॥ १७½ ॥

सूर्यचन्द्रप्रतीकाशे रथे दिव्ये हिरण्मये ॥ १८ ॥
महानुभावो मत्स्यस्य ध्वज उच्छिश्रिये तदा ।

मत्स्यराजके सुवर्णमय दिव्य रथमें, जो सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहा था, उस समय बहुत ऊँची ध्वजा फहराने लगी ॥ १८½ ॥

अथान्यान् विविधाकारान् ध्वजान् हेमपरिष्कृतान् ॥ १९ ॥
यथास्वं क्षत्रियाः शूरा रथेषु समयोजयन् ।

इसी प्रकार अन्य शूरवीर क्षत्रियोंने अपने-अपने रथोंमें यथाशक्ति सुवर्णमण्डित नाना प्रकारकी ध्वजाएँ फहरायीं ॥

(रथेषु युज्यमानेषु कङ्को राजानमब्रवीत् ।
मयाप्यस्त्रं चतुर्मार्गमवाप्तमृषिसत्तमात् ॥
दंशितो रथमास्थाय पदं निर्यास्यहं गवाम् ।
अयं च बलवाञ्छूरो बल्लवो दृश्यतेऽनघ ॥
गोसंख्यमश्वबन्धं च रथेषु समयोजय ।
नैते न जातु युध्येयुर्गवार्थमिति मे मतिः ॥)
अथ मत्स्योऽब्रवीद् राजा शतानीकं जघन्यजम् ॥ २० ॥

जब रथ जोते जा रहे थे, उस समय कङ्कने राजा विराटसे कहा—'मैंने भी एक श्रेष्ठ महर्षिसे चार मार्गोंवाले धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की है; अतः मैं भी कवच धारण करके रथपर बैठकर गौओंके पदचिह्नोंका अनुसरण करूँगा। निष्पाप नरेश ! यह बल्लव नामक रसोइया भी बलवान् एवं शूरवीर दिखायी देता है, इसे, गौओंकी गणना करनेवाले गोशालाध्यक्ष तन्तिपाल तथा अश्वोंकी शिक्षाका प्रबन्ध करनेवाले ग्रन्थिकको भी रथोंपर बिठा दीजिये। मेरा विश्वास है कि ये गौओंके लिये युद्ध करनेसे कदापि मुँह नहीं मोड़ सकते।'

तदनन्तर मत्स्यराजने अपने छोटे भाई शतानीकसे कहा—॥ २० ॥

कङ्कबल्लवगोपाला दामग्रन्थिश्च वीर्यवान् ।
युद्ध्येयुरिति मे बुद्धिर्वर्तते नात्र संशयः ॥ २१ ॥

'भैया ! मेरे विचारमें यह बात आती है कि ये कङ्क, बल्लव, तन्तिपाल और ग्रन्थिक भी युद्ध कर सकते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

एतेषामपि दीयन्तां रथा ध्वजपताकिनः ।
कवचानि च चित्राणि दृढानि च मृदूनि च ॥ २२ ॥
प्रतिमुञ्चन्तु गात्रेषु दीयन्तामायुधानि च ।
वीराङ्गरूपाः पुरुषा नागराजकरोपमाः ॥ २३ ॥

अतः इनके लिये भी ध्वजा और पताकाओंसे सुशोभित रथ दो। ये भी अपने अङ्गोंमें ऊपरसे दृढ़, किंतु भीतरसे कोमल और विचित्र कवच धारण कर लें। फिर इन्हें भी सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र अर्पित करो। इनके अङ्ग और स्वरूप वीरोचित जान पड़ते हैं। इन वीर पुरुषोंकी भुजाएँ गजराजकी सूँड़दण्डकी भाँति शोभा पाती हैं ॥ २२-२३ ॥

नेमे जातु न युध्येरन्निति मे धीयते मतिः ।
एतच्छ्रुत्वा तु नृपतेर्वाक्यं त्वरितमानसः ।
शतानीकस्तु पार्थेभ्यो रथान् राजन् समादिशत् ॥ २४ ॥

'ये युद्ध न करते हों, यह कदापि सम्भव नहीं अर्थात् ये अवश्य युद्धकुशल हैं। मेरी बुद्धिका तो ऐसा ही निश्चय है।'

जनमेजय ! राजाका यह वचन सुनकर शतानीकने उतावले मनसे कुन्तीपुत्रोंके लिये शीघ्रतापूर्वक रथ लानेका आदेश दिया ॥

सहदेवाय राज्ञे च भीमाय नकुलाय च ।
तान् प्रहृष्टांस्ततः सूता राजभक्तिपुरस्कृताः ॥ २५ ॥
निर्दिष्टा नरदेवेन रथाञ्छीघ्रमयोजयन् ।

सहदेव, राजा युधिष्ठिर, भीम और नकुल—इन चारोंके लिये रथ लानेकी आज्ञा हुई। इस बातसे पाण्डव बड़े प्रसन्न थे। तब राजभक्त सारथि महाराज विराटके बताये अनुसार रथोंको शीघ्रतापूर्वक जोतकर ले आये ॥ २५½ ॥

कवचानि विचित्राणि मृदूनि च दृढानि च ॥ २६ ॥
विराटः प्रादिशद् यानि तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तान्यामुच्य शरीरेषु दंशितास्ते परंतपाः ॥ २७ ॥

उसके बाद अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले पाण्डुपुत्रोंको राजा विराटने अपने हाथसे विचित्र कवच प्रदान किये, जो ऊपरसे सुदृढ़ और भीतरसे कोमल थे। उन्हें लेकर उन वीरोंने अपने अङ्गोंमें यथास्थान बाँध लिया ॥ २६-२७ ॥

रथान् हयैः सुसम्पन्नानास्थाय च नरोत्तमाः ।
निर्ययुर्मुदिताः पार्थाः शत्रुसंघावमर्दिनः ॥ २८ ॥

शत्रुसमूहको रौंद डालनेवाले वे नरश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र घोड़े जुते हुए रथोंपर बैठकर बड़ी प्रसन्नताके साथ राजभवनसे बाहर निकले ॥ २८ ॥

तरस्विनश्छन्नरूपाः सर्वे युद्धविशारदाः ।
रथान् हेमपरिच्छन्नानास्थाय च महारथाः ॥ २९ ॥
विराटमन्वयुः पार्थाः सहिताः कुरुपुङ्गवाः ।
चत्वारो भ्रातरः शूराः पाण्डवाः सत्यविक्रमाः ॥ ३० ॥

वे बड़े वेगसे चले। उन्होंने अपने यथार्थ स्वरूपको अभीतक छिपा रखा था। वे सबके सब युद्धकी कलामें अत्यन्त निपुण थे। कुरुवंशशिरोमणि वे चारों महारथी कुन्तीकुमार सुवर्णमण्डित रथोंपर आरूढ़ हो एक ही साथ विराटके पीछे-पीछे चले। चारों भाई पाण्डव शूरवीर और सत्यपराक्रमी थे ॥ २९-३० ॥

(दीर्घाणां च दृढानां च धनुषां ते यथाबलम्।
उत्कृष्य पाशान् मौर्वीणां वीराश्चापेष्वयोजयन् ॥
ततः सुवाससः सर्वे ते वीराश्चन्दनोक्षिताः।
चोदिता नरदेवेन क्षिप्रमश्वानचोदयन् ॥
ते हया हेमसंच्छन्ना बृहन्तः साधुवाहिनः।
चोदिताः प्रत्यदृश्यन्त पक्षिणामिव पङ्क्तयः ॥)

उन वीरोंने अपने विशाल और सुदृढ़ धनुषोंकी डोरियोंको यथाशक्ति ऊपर खींचकर धनुषके दूसरे सिरेपर चढ़ाया। फिर सुन्दर वस्त्र धारण करके चन्दनसे चर्चित हो उन समस्त वीर पाण्डवोंने नरदेव विराटकी आज्ञासे शीघ्रतापूर्वक अपने घोड़े हाँक दिये। अच्छी तरह रथका भार वहन करनेवाले वे स्वर्णभूषित विशाल अश्व हाँके जानेपर श्रेणीबद्ध होकर उड़ते हुए पक्षियोंके समान दिखायी देने लगे ॥

भीमाश्च मत्तमातङ्गा प्रभिन्नकरटामुखाः।
क्षरन्तश्चैव नागेन्द्राः सुदन्ताः षष्टिहायनाः ॥ ३१ ॥
स्वारूढा युद्धकुशलैः शिक्षिता हस्तिसादिभिः।
राजानमन्वयुः पश्चाच्चलन्त इव पर्वताः ॥ ३२ ॥

जिनके गण्डस्थलसे मदकी धारा बहती थी, ऐसे भयंकर मतवाले हाथी तथा सुन्दर दाँतोंवाले साठ वर्षके मदवर्षी गजराज, जिन्हें युद्धकुशल महावतोंने शिक्षा दी थी, सवारोंको अपनी पीठपर चढ़ाये राजा विराटके पीछे-पीछे इस प्रकार जा रहे थे, मानो चलते-फिरते पर्वत हों ॥ ३१-३२ ॥

विशारदानां मुख्यानां हृष्टानां चारुजीविनाम्।
अष्टौ रथसहस्राणि दश नागशतानि च ॥ ३३ ॥
षष्टिश्चाश्वसहस्राणि मत्स्यानामभिनिर्ययुः।
तदनीकं विराटस्य शुशुभे भरतर्षभ ॥ ३४ ॥

युद्धकी कलामें कुशल, प्रसन्न रहनेवाले तथा उत्तम जीविकावाले मत्स्यदेशके प्रधान-प्रधान वीरोंकी उस सेनामें आठ हजार रथी, एक हजार हाथीसवार तथा साठ हजार घुड़सवार थे, जो युद्धके लिये तैयार होकर निकले थे। भरतर्षभ! उनसे विराटकी वह विशाल वाहिनी अत्यन्त सुशोभित हो रही थी ॥ ३३-३४ ॥

सम्प्रयातं तदा राजन् निरीक्षन्तं गवां पदम्।
तद् बलाग्र्यं विराटस्य सम्प्रस्थितमशोभत।
दृढायुधजनाकीर्णं गजाश्वरथसंकुलम् ॥ ३५ ॥

राजन्! उस समय गौओंके पदचिह्न देखती युद्धके लिये प्रस्थित हुई विराटकी वह श्रेष्ठ सेना अपूर्व शोभा पा रही थी। उसमें ऐसे पैदल सैनिक भरे थे, जिनके हाथोंमें मजबूत हथियार थे। साथ ही हाथी, घोड़े तथा रथके सवारोंसे भी वह सेना परिपूर्ण थी ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे मत्स्यराजरणोद्योगे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिण दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें मत्स्यराजविराटके युद्धोद्योगसे सम्बद्ध इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३ श्लोक मिलाकर कुल ४८ श्लोक हैं)

द्वात्रिंशोऽध्यायः

मत्स्य तथा त्रिगर्तदेशीय सेनाओंका परस्पर युद्ध

वैशम्पायन उवाच

निर्याय नगराच्छूरा व्यूढानीकाः प्रहारिणः।
त्रिगर्तानस्पृशन् मत्स्याः सूर्ये परिणते सति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! नगरसे निकलकर प्रहार करनेमें कुशल वे मत्स्यदेशीय वीर योद्धा अपनी सेनाका व्यूह बनाकर चले और सूर्यके ढलते-ढलते उन्होंने त्रिगर्तोंको पकड़ लिया ॥ १ ॥

ते त्रिगर्ताश्च मत्स्याश्च संरब्धा युद्धदुर्मदाः।
अन्योन्यमभिगर्जन्तो गोषु गृद्धा महाबलाः ॥ २ ॥

फिर तो क्रोधमें भरकर युद्धके लिये उन्मत्त हुए वे त्रिगर्त और मत्स्यदेशके महाबली वीर गौओंको ले जानेकी इच्छासे एक दूसरेको लक्ष्य करके गर्जना करने लगे ॥ २ ॥

भीमाश्च मत्तमातङ्गास्तोमराङ्कुशनोदिताः।
ग्रामणीयैः समारूढाः कुशलैर्हस्तिसादिभिः ॥ ३ ॥

तेषां समागमो घोरस्तुमुलो लोमहर्षणः।
घ्नतां परस्परं राजन् यमराष्ट्रविवर्धनः ॥ ४ ॥

हाथियोंपर चढ़कर उन्हें चलानेमें कुशल श्रेष्ठ महावतोंद्वारा तोमरों और अङ्कुशोंकी मारसे आगे बढ़ाये हुए भयंकर और मतवाले गजराज दोनों ओरसे एक दूसरेपर टूट पड़े। परस्पर शस्त्रोंका प्रहार करनेवाले हाथीसवारोंका वह कोलाहलपूर्ण भयंकर युद्ध रोंगटे खड़े कर देनेवाला एवं महासंहारकारी था ॥ ३-४ ॥

देवासुरसमो राजन्नासीत् सूर्येऽवलम्बति।
पदातिरथनागेन्द्रहयारोहबलौघवान् ॥ ५ ॥

राजन्! सूर्य पश्चिमकी ओर ढल रहे थे। उस समय पैदल, रथी, हाथीसवार तथा घुड़सवारोंके समूहसे भरा हुआ वह युद्ध देवासुरसंग्रामके समान हो रहा था ॥ ५ ॥

अन्योन्यमभ्यापतता निघ्नता चेतरेतरम्।

उदतिष्ठद् रजो भौमं न प्राज्ञायत किंचन ॥ ६ ॥

एक-दूसरेपर धावा बोलकर आपसमें मार-काट मचानेवाले उन सैनिकोंके पदाघातसे इतनी धूल उड़ी कि कुछ भी सूझ-बूझ नहीं पड़ता था ॥ ६ ॥

पक्षिणश्चापतन् भूमौ सैन्येन रजसाऽऽवृताः ।
इषुभिर्व्यतिसर्पद्भिरादित्योऽन्तरधीयत ॥ ७ ॥

सेनाकी धूलसे आच्छादित होकर उड़ते हुए पक्षी भी भूमिपर गिर जाते थे। दोनों ओरसे छूटे हुए बाणोंद्वारा (आकाश खचाखच भर जानेके कारण) सूर्यदेवका दीखना बंद हो गया ॥ ७ ॥

खद्योतैरिव संयुक्तमन्तरिक्षं व्यराजत ।
रुक्मपृष्ठानि चापानि व्यतिषिक्तानि धन्विनाम् ॥ ८ ॥
पततां लोकवीराणां सव्यदक्षिणमस्यताम् ।
रथा रथैः समाजग्मुः पादातैश्च पदातयः ॥ ९ ॥

बाणोंके कारण अन्तरिक्ष मानो जुगनुओंसे भर गया हो, इस प्रकार चकमक हो रहा था। दाँयें-बाँयें बाण मारनेवाले वे विश्वविख्यात धनुर्धर वीर जब घायल होकर गिरते थे, उस समय उनके सुवर्णकी पीठवाले धनुष दूसरोंके हाथमें चले जाते थे। रथी रथियोंसे और पैदल पैदलोंसे भिड़े हुए थे ॥८-९॥

सादिनः सादिभिश्चैव गजैश्चापि महागजाः ।
असिभिः पट्टिशैः प्रासैः शक्तिभिस्तोमरैरपि ॥ १० ॥
संरब्धाः समरे राजन् निजघ्नुरितरेतरम् ।
निघ्नन्तः समरेऽन्योन्यं शूराः परिघबाहवः ॥ ११ ॥
न शेकुरभिसंरब्धाः शूरान् कर्तुं पराङ्मुखान् ।

घुड़सवार घुड़सवारोंसे और गजारोही गजारोहियोंसे लड़ रहे थे। राजन्! वे सब क्रोधमें भरकर उस युद्धमें एक-दूसरेपर तलवार, पट्टिश, प्रास, शक्ति और तोमर आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे प्रहार कर रहे थे; किंतु परिघके समान प्रचण्ड भुजदण्डवाले वे शूरवीर परस्पर क्रोधपूर्वक प्रहार करनेपर भी सामना करनेवाले वीरोंको पीछे नहीं हटा पाते थे ॥१०-११½॥

कृत्तोत्तरोष्ठं सुनसं कृत्तकेशमलंकृतम् ॥ १२ ॥
अदृश्यत शिरश्छिन्नं रजोध्वस्तं सकुण्डलम् ।

बातकी बातमें, कुण्डलोंसहित कटे हुए कितने ही मस्तक धूलमें लोटने लगे। किसीकी नाक बड़ी सुन्दर थी, परंतु ऊपरका ओठ कट गया था। कोई अलंकारोंसे अलंकृत था, किंतु उसका केशभाग कटकर उड़ गया था ॥ १२½ ॥

अदृश्यंस्तत्र गात्राणि शरैश्छिन्नानि भागशः ॥ १३ ॥
शालस्कन्धनिकाशानि क्षत्रियाणां महामृधे ।

उस महासंग्राममें बहुत-से क्षत्रिय वीरोंके शरीर, जो शालवृक्षकी शाखाओंके समान विशाल एवं हृष्ट-पुष्ट थे, छिन्न-भिन्न होकर टुकड़े-टुकड़े दिखायी देने लगे ॥ १३½ ॥

नागभोगनिकाशैश्च बाहुभिश्चन्दनोक्षितैः ॥ १४ ॥
आस्तीर्णा वसुधा भाति शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।

सर्पोंके शरीरकी भाँति सुशोभित चन्दनचर्चित भुजाओं तथा कुण्डलमण्डित मस्तकोंसे पटी हुई रणभूमि अपूर्व शोभा धारण कर रही थी ॥ १४½ ॥

रथिनां रथिभिश्चात्र सम्प्रहारोऽभ्यवर्तत ॥ १५ ॥
सादिभिः सादिनां चापि पदातीनां पदातिभिः ।
उपाशाम्यद् रजो भौमं रुधिरेण प्रसर्पता ॥ १६ ॥

वहाँ रथियोंका रथियोंसे, घुड़सवारोंका घुड़सवारोंसे और पैदल योद्धाओंका पैदलोंसे घमासान युद्ध होने लगा। सब ओर रक्तकी धारा बह चली और उसमें सनकर धरतीकी धूल शान्त हो गयी ॥ १५-१६ ॥

कश्मलं चाविशद् घोरं निर्मर्यादमवर्तत ।

युद्ध करनेवाले वीरोंको मूर्च्छा आने लगी। उनमें मर्यादाशून्य भयंकर युद्ध छिड़ गया ॥ १६½ ॥

(युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा भ्रातृभिः सहितस्तदा ।
व्यूहं कृत्वा विराटस्य अन्वयुध्यत पाण्डवः ॥
आत्मानं श्येनवत् कृत्वा तुण्डमासीद् युधिष्ठिरः ।
पक्षौ यमौ च भवतः पुच्छमासीद् वृकोदरः ॥
सहस्रं न्यहनत् तत्र कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनः सुसंक्रुद्धः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥
द्विसहस्रं रथान् वीरः परलोकं प्रवेशयत् ।
नकुलस्त्रिशतं जघ्ने सहदेवश्चतुःशतम् ॥)

पाण्डुनन्दन धर्मात्मा युधिष्ठिरने भी भाइयोंसहित व्यूह-रचना करके राजा विराटके लिये त्रिगर्तोंके साथ युद्ध आरम्भ किया। उन्होंने अपने आपको श्येन (बाज) पक्षीके रूपमें उपस्थित करके उसकी चोंचका स्थान ग्रहण किया। नकुल और सहदेव दोनों पंखोंके रूपमें हो गये। भीमसेन पूँछके स्थानमें हुए। कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने शत्रुओंके एक सहस्र सैनिकोंका संहार कर डाला। सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ वीर भीमसेनने अत्यन्त कुपित हो दो हजार रथियोंको परलोक पहुँचा दिया। नकुलने तीन सौ और सहदेवने चार सौ सैनिकोंको मार डाला ॥

उपाविशन् गरुत्मन्तः शरैर्गाढं प्रवेजिताः ।
अन्तरिक्षे गतिर्येषां दर्शनं चाप्यरुध्यत ॥ १७ ॥

आकाशचारी पक्षी भी बाणसमूहोंसे अत्यन्त उद्विग्न होकर इधर-उधर बैठ गये। उनका आकाशमें उड़ना और दूरतक देखना भी बंद हो गया ॥ १७ ॥

ते घ्नन्तः समरेऽन्योन्यं शूराः परिघबाहवः ।
न शेकुरभिसंरब्धाः शूरान् कर्तुं पराङ्मुखान् ॥ १८ ॥

परिघकी-सी मोटी बाँहोंवाले सूरमा कुपित हो एक दूसरेपर घातक प्रहार करते हुए भी सच्चे शूरवीरोंको युद्धसे विमुख नहीं कर पाते थे ॥ १८ ॥

शतानीकः शतं हत्वा विशालाक्षश्चतुःशतम् ।
प्रविष्टौ महतीं सेनां त्रिगर्तानां महारथौ ॥ १९ ॥

इस प्रकार युद्ध करते-करते शतानीक सौ तथा विशालाक्ष (मदिराक्ष) चार सौ त्रिगर्त योद्धाओंको मारकर उनकी भारी सेनामें घुस गये। वे दोनों महारथी थे ॥ १९ ॥

तौ प्रविष्टौ महासेनां बलवन्तौ मनस्विनौ ।
आच्छेंतां बहुसंरब्धौ केशाकेशि रथारथिः ॥ २० ॥

उस विशाल सेनामें घुसे हुए और अत्यन्त क्रुद्ध हुए उन बलवान् एवं मनस्वी वीरोंने उस सारी सेनाको मोहित कर दिया। वे दोनों उन त्रिगर्त सैनिकोंसे एक दूसरेके केश पकड़-पकड़कर तथा रथोंपर बैठे हुए रथियोंको गिरा-गिराकर युद्ध करने लगे ॥ २० ॥

लक्षयित्वा त्रिगर्तानां तौ प्रविष्टौ रथव्रजम् ।
अग्रतः सूर्यदत्तश्च मदिराक्षश्च पृष्ठतः ॥ २१ ॥

फिर उन दोनोंने त्रिगर्तोंकी रथसेनाको लक्ष्य बनाकर उसमें प्रवेश किया। सूर्यदत्तने आगेकी ओरसे आक्रमण किया और मदिराक्षने पीछेकी ओरसे ॥ २१ ॥

विराटस्तत्र संग्रामे हत्वा पञ्चशतान् रथान् ।
हयानां च शतान्यष्टौ हत्वा पञ्च महारथान् ॥ २२ ॥
चरन् स विविधान् मार्गान् रथेन रथसत्तमः ।
त्रिगर्तानां सुशर्माणमार्च्छद् रुक्मरथं रणे ॥ २३ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ राजा विराटने रथके द्वारा विविध मार्गोंसे चलते—अनेक प्रकारके रणकौशल दिखाते हुए उस युद्धमें त्रिगर्तोंके पाँच सौ रथी, आठ सौ घुड़सवार तथा पाँच महारथियोंको मार गिरानेके पश्चात् स्वर्णभूषित रथपर बैठे हुए सुशर्मापर धावा किया ॥ २२-२३ ॥

तौ व्यवाहरतां तत्र महात्मानौ महाबलौ ।
अन्योन्यमभिगर्जन्तौ गोष्ठेषु वृषभाविव ॥ २४ ॥

वे दोनों महान् बलवान् और महामनस्वी वीर गर्जते हुए एक दूसरेसे इस प्रकार जा भिड़े, मानो गोशालामें दो साँड़ लड़ रहे हों।

ततो राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।
मत्स्यं समायाद् राजानं द्वैरथेन नरर्षभः ॥ २५ ॥

त्रिगर्तराज सुशर्मापर युद्धका घोर उन्माद छाया हुआ था। उस नरश्रेष्ठ वीरने राजा विराटका द्वैरथयुद्धके द्वारा सामना किया ॥ २५ ॥

ततो रथाभ्यां रथिनौ व्यतीयतुरमर्षणौ ।
शरान् व्यसृजतां शीघ्रं तोयधारा घना इव ॥ २६ ॥

क्रोधमें भरे हुए वे दोनों रथी अपना-अपना रथ बढ़ाकर निकट आ गये और शीघ्रतापूर्वक एक दूसरेपर बाणोंकी झड़ी लगाने लगे, मानो दो मेघ जलकी धाराएँ बरसा रहे हों ॥

अन्योन्यं चापि संरब्धौ विचेरतुरमर्षणौ ।
कृतास्त्रौ निशितैर्बाणैरसिशक्तिगदाभृतौ ॥ २७ ॥

दोनोंका एक दूसरेके प्रति क्रोध और अमर्ष बढ़ा हुआ था। दोनों ही अस्त्रविद्यामें निपुण थे और दोनोंने ही तलवार, शक्ति तथा गदा भी ले रक्खी थी। उस समय दोनों तीखे बाणोंसे परस्पर प्रहार करते हुए रणभूमिमें विचरने लगे ॥

ततो राजा सुशर्माणं विव्याध दशभिः शरैः ।
पञ्चभिः पञ्चभिश्चास्य विव्याध चतुरो हयान् ॥ २८ ॥

इसी समय राजा विराटने सुशर्माको दस बाणोंसे बींध डाला और पाँच-पाँच बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको भी घायल कर दिया ॥ २८ ॥

तथैव मत्स्यराजानं सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।
पञ्चाशता शितैर्बाणैर्विव्याध परमास्त्रवित् ॥ २९ ॥

इसी प्रकार महान् अस्त्रवेत्ता सुशर्माने भी रणोन्मत्त होकर पचास तीखे बाणोंसे मत्स्यराज विराटको बींध डाला ॥

ततः सैन्यं महाराज मत्स्यराजसुशर्मणोः ।
नाभ्यजानात् तदान्योन्यं सैन्येन रजसाऽऽवृतम् ॥ ३० ॥

महाराज! तदनन्तर सैनिकोंके पैरोंसे इतनी धूल उड़ी कि मत्स्यनरेश तथा सुशर्मा दोनोंकी सेनाएँ उससे आच्छादित हो गयीं और एक दूसरेके विषयमें यह भी न जान सकीं कि कौन कहाँ क्या कर रहा है? ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे विराटसुशर्मयुद्धे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरण पर्वमें दक्षिणदिशाकी गौओंके अपहरणके समय होनेवाले विराट और सुशर्माके युद्धके विषयमें बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

सुशर्माका विराटको पकड़कर ले जाना, पाण्डवोंके प्रयत्नसे उनका छुटकारा, भीमद्वारा सुशर्माका निग्रह और युधिष्ठिरका अनुग्रह करके उसे छोड़ देना

वैशम्पायन उवाच

तमसाभिप्लुते लोके रजसा चैव भारत ।
अतिष्ठन् वै मुहूर्तं तु व्यूढानीकाः प्रहारिणः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! उस समय [सूर्यास्त हो चुका था एवं रात्रि आ गयी थी, अतः] सब लोग धूलसे तो आवृत थे ही, अन्धकारसे भी आच्छादित हो गये; अतः प्रहार करनेवाले सैनिक सेनाका व्यूह बनाकर कुछ देर-तक युद्ध बंद करके खड़े रहे ॥ १ ॥

ततोऽन्धकारं प्रणुदन्नुदतिष्ठत चन्द्रमाः ।
कुर्वाणो विमलां रात्रिं नन्दयन् क्षत्रियान् युधि ॥ २ ॥

इतनेमें ही अन्धकारका निवारण करते हुए चन्द्रदेवका उदय हुआ । उन्होंने उस रणक्षेत्रमें क्षत्रियोंको आनन्द प्रदान करते हुए उस रात्रिको निर्मल (अन्धकारशून्य) बना दिया ॥ २ ॥

ततः प्रकाशमासाद्य पुनर्युद्धमवर्तत ।
घोररूपं ततस्ते स्म नावैक्षन्त परस्परम् ॥ ३ ॥

अतः उजाला हो जानेसे पुनः घोर युद्ध प्रारम्भ हो गया । उस समय (युद्धके आवेशमें) योद्धा एक दूसरेको देख नहीं रहे थे ॥ ३ ॥

ततः सुशर्मा त्रैगर्तः सह भ्रात्रा यवीयसा ।
अभ्यद्रवन्मत्स्यराजं रथव्रातेन सर्वशः ॥ ४ ॥

तदनन्तर त्रिगर्तराज सुशर्माने अपने छोटे भाईके साथ रथियोंका समूह लेकर चारों ओरसे मत्स्यराज विराटपर धावा बोल दिया ॥ ४ ॥

ततो रथाभ्यां प्रस्कन्द्य भ्रातरौ क्षत्रियर्षभौ ।
गदापाणी सुसंरब्धौ समभ्यद्रवतां रथान् ॥ ५ ॥

फिर वे क्षत्रियशिरोमणि दोनों बन्धु रथोंसे कूद पड़े और हाथमें गदा ले क्रोधमें भरकर शत्रुसेनाके रथोंकी ओर दौड़े ॥ ५ ॥

(मत्ताविव वृषावेतौ गजाविव मदोद्धतौ ।
सिंहाविव गजग्राहौ शक्रवृत्राविवोत्थितौ ॥
उभौ तुल्यबलोत्साहावुभौ तुल्यपराक्रमौ ।
उभौ तुल्यास्त्रविदुषावुभौ युद्धविशारदौ ॥)

वे दोनों मतवाले साँड़ों, मदोन्मत्त गजराजों, एक ही हाथीपर आक्रमण करनेवाले दो सिंहों तथा युद्धके लिये उद्यत वृत्रासुर एवं इन्द्रके समान जान पड़ते थे । दोनों-के बल और उत्साह समान थे । दोनों ही एक-जैसे पराक्रमी और एक-से ही अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता थे । युद्ध करनेकी कलामें वे दोनों ही वीर अत्यन्त निपुण थे ॥

तथैव तेषां तु बलानि तानि
क्रुद्धान्यथान्योन्यमभिद्रवन्ति ।
गदासिखड्गैश्च परश्वधैश्च
प्रासैश्च तीक्ष्णाग्रसुपीतधारैः ॥ ६ ॥

इसी प्रकार उन सबकी वे सेनाएँ भी कुपित हो गदा, तलवार, खड्ग, फरसे और भलीभाँति तेज किये हुए तीखी धारवाले प्रासों (भालों) से प्रहार करती हुई एक दूसरीपर टूट पड़ीं ॥ ६ ॥

बलं तु मत्स्यस्य बलेन राजा
सर्वं त्रिगर्ताधिपतिः सुशर्मा ।
प्रमथ्य जित्वा च प्रसह्य मत्स्यं
विराटमोजस्विनमभ्यधावत् ॥ ७ ॥
तौ निहत्य पृथग् धुर्यावुभौ तौ पार्ष्णिसारथी ।
विरथं मत्स्यराजानं जीवग्राहमगृह्णताम् ॥ ८ ॥

त्रिगर्तदेशके स्वामी राजा सुशर्माने अपनी सेनाके द्वारा मत्स्यराजकी सेनाको मथ डाला और बलपूर्वक उसे परास्त करके महापराक्रमी मत्स्यनरेश विराटपर चढ़ाई कर दी । उन दोनों भाइयोंने पृथक्-पृथक् विराटके दोनों घोड़ोंको मारकर उनके पार्श्वभागकी रक्षा करनेवाले सिपाहियों तथा सारथिको भी मार डाला और उन्हें रथहीन करके जीते-जी ही पकड़ लिया ॥ ७-८ ॥

तमुन्मथ्य सुशर्माथ युवतीमिव कामुकः ।
स्यन्दनं स्वं समारोप्य प्रययौ शीघ्रवाहनः ॥ ९ ॥

जैसे कामी पुरुष किसी युवतीको बलपूर्वक पकड़ ले, वैसे ही सुशर्माने राजा विराटको पीड़ित करके पकड़ लिया और उनको शीघ्रगामी वाहनोंसे युक्त अपने रथपर चढ़ाकर वह चल दिया ॥ ९ ॥

तस्मिन् गृहीते विरथे विराटे बलवत्तरे ।
प्राद्रवन्त भयान्मत्स्यास्त्रिगर्तैरर्दिता भृशम् ॥ १० ॥

अतिशय बलवान् राजा विराट जब रथहीन होकर पकड़ लिये गये, तब त्रिगर्तोंद्वारा अत्यन्त पीड़ित हुए मत्स्यदेशीय सैनिक भयभीत होकर भागने लगे ॥ १० ॥

तेषु संत्रस्यमानेषु कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
प्रत्यभाषन्महाबाहुं भीमसेनमरिंदमम् ॥ ११ ॥

उनके इस प्रकार अत्यन्त भयभीत होनेपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने शत्रुओंका दमन करनेवाले महाबाहु भीमसेनसे कहा—॥ ११ ॥

मत्स्यराजः परामृष्टस्त्रिगर्तेन सुशर्मणा।
तं मोचय महाबाहो न गच्छेद् द्विषतां वशम्॥१२॥

'महाबाहो! त्रिगर्तराज सुशर्माने मत्स्यराजको पकड़ लिया है। उन्हें शीघ्र छुड़ाओ; जिससे वे शत्रुओंके वशमें न पड़ जायँ॥ १२॥

उषिताः स्म सुखं सर्वे सर्वकामैः सुपूजिताः।
भीमसेन त्वया कार्या तस्य वासस्य निष्कृतिः॥१३॥

'हम सब लोग उनके यहाँ सुखपूर्वक रहे हैं और उन्होंने हमें सब प्रकारकी अभीष्ट वस्तुएँ देकर हमारा भली-भाँति सत्कार किया है। अतः भीमसेन! तुम्हें उनके घरमें रहनेके उपकारका बदला चुकाना चाहिये'॥ १३॥

भीमसेन उवाच

अहमेनं परित्रास्ये शासनात् तव पार्थिव।
पश्य मे सुमहत् कर्म युध्यतः सह शत्रुभिः॥१४॥

भीमसेन बोले—महाराज! आपकी आज्ञासे मैं इन्हें सुशर्माके हाथोंसे छुड़ा लूँगा। आज आप शत्रुओंके साथ युद्ध करते समय मेरे महान् पराक्रमको देखें॥ १४॥

स्वबाहुबलमाश्रित्य तिष्ठ त्वं भ्रातृभिः सह।
एकान्तमाश्रितो राजन् पश्य मेऽद्य पराक्रमम्॥१५॥

मैं अपने बाहुबलका भरोसा करके लड़ूँगा। राजन्! आज आप भाइयोंसहित एकान्तमें खड़े होकर अब मेरा पराक्रम देखें॥ १५॥

सुस्कन्धोऽयं महावृक्षो गदारूप इव स्थितः।
अहमेनमपारुज्य द्रावयिष्यामि शात्रवान्॥१६॥

यह सामने जो महान् वृक्ष है, इसकी शाखाएँ बड़ी सुन्दर हैं। यह तो मानो गदाके ही रूपमें खड़ा है। अतः मैं इसीको उखाड़कर इसके द्वारा शत्रुदलको मार भगाऊँगा॥

वैशम्पायन उवाच

तं मत्तमिव मातङ्गं वीक्षमाणं वनस्पतिम्।
अब्रवीद् भ्रातरं वीरं धर्मराजो युधिष्ठिरः॥१७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यह कहकर भीमसेन मदोन्मत्त गजराजकी भाँति उस वृक्षकी ओर देखने लगे। तब धर्मराज युधिष्ठिरने अपने वीर भ्रातासे कहा—॥

मा भीम साहसं कार्षीस्तिष्ठत्वेष वनस्पतिः।
मा त्वां वृक्षेण कर्माणि कुर्वाणमतिमानुषम्॥१८॥
जनाः समवबुध्येरन् भीमोऽयमिति भारत।
अन्यदेवायुधं किंचित् प्रतिपद्यस्व मानुषम्॥१९॥

'भीमसेन! ऐसा दुःसाहस न करो, इस वृक्षको खड़ा रहने दो। यदि तुम इस महावृक्षको उखाड़नेका अतिमानुष (मानवोंके लिये असाध्य) कर्म करोगे, तो सब लोग पहचान लेंगे कि यह तो भीम है। अतः भारत! तुम किसी दूसरे मानवोचित आयुधको ही ग्रहण करो॥ १८-१९॥

चापं वा यदि वा शक्तिं निस्त्रिंशं वा परश्वधम्।
यदेव मानुषं भीम भवेदन्यैरलक्षितम्॥२०॥
तदेवायुधमादाय मोक्षयाशु महीपतिम्।
यमौ च चक्ररक्षौ ते भवितारौ महाबलौ॥२१॥
सहिताः समरे तत्र मत्स्यराजं परीप्सत।

'धनुष, शक्ति, खड्ग अथवा कुठार, जो भी मनुष्योचित अस्त्र-शस्त्र तुम्हें ठीक लगे; जिससे तुम दूसरोंद्वारा पहचाने न जा सको, वही लेकर राजाको शीघ्र छुड़ाओ। ये महाबली नकुल और सहदेव तुम्हारे रथके पहियोंकी रक्षा करेंगे। तुम तीनों भाई युद्धमें एक साथ मिलकर महाराज विराटको छुड़ाओ'॥ २०-२१½॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु वेगेन भीमसेनो महाबलः॥२२॥
गृहीत्वा तु धनुः श्रेष्ठं जवेन सुमहाजवः।
व्यमुञ्चच्छरवर्षाणि सतोय इव तोयदः॥२३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! युधिष्ठिरके उक्त आदेश देनेपर महान् वेगशाली महाबली भीमसेनने शीघ्रतापूर्वक एक उत्तम धनुष हाथमें ले लिया। फिर तो जैसे मेघ जलकी धारा बरसाता हो, उसी प्रकार वे वेगपूर्वक बाणोंकी वर्षा करने लगे॥ २२-२३॥

तं भीमो भीमकर्माणं सुशर्माणमथाद्रवत्।
विराटं समवीक्ष्यैनं तिष्ठ तिष्ठेति चावदत्॥२४॥

तदनन्तर भीमसेन भयंकर कर्म करनेवाले सुशर्माकी ओर दौड़े और विराटकी ओर देखते हुए सुशर्मासे बोले—'अरे! खड़ा रह, खड़ा रह'॥ २४॥

सुशर्मा चिन्तयामास कालान्तकयमोपमम्।
तिष्ठ तिष्ठेति भाषन्तं पृष्ठतो रथपुङ्गवः।
पश्यतां सुमहत् कर्म महद् युद्धमुपस्थितम्॥२५॥

रथियोंमें श्रेष्ठ सुशर्मा पीछेकी ओरसे आते और 'खड़ा रह, खड़ा रह' कहते हुए काल, अन्तक एवं यमराजके समान भयंकर वीर पुरुषको देखकर चिन्तामें पड़ गया और अपने साथियोंसे बोला—'देखो, फिर बड़ा भारी युद्ध उपस्थित हुआ है। इसमें महान् पराक्रम दिखाओ'॥ २५॥

परावृत्तो धनुर्गृह्य सुशर्मा भ्रातृभिः सह।
निमेषान्तरमात्रेण भीमसेनेन ते रथाः॥२६॥
रथानां च गजानां च वाजिनां च ससादिनाम्।
सहस्रशतसङ्घाताः शूराणामुग्रधन्विनाम्॥२७॥

पातिता भीमसेनेन विराटस्य समीपतः।
पत्तयो निहतास्तेषां गदां गृह्य महात्मना ॥२८॥

ऐसा कहकर सुशर्मा भाइयोंसहित धनुष उठाये लौट पड़ा। इधर महात्मा भीमसेनने निमेषमात्रमें ही गदा लेकर शत्रुओंके भयंकर धनुष धारण करनेवाले रथी, हाथीसवार और घुड़सवार वीरोंके एक लाख सैनिकोंके समूहोंको राजा विराटके समीप मार गिराया और बहुत-से पैदल सिपाहियोंका भी संहार कर डाला ॥ २६-२८ ॥

तद् दृष्ट्वा तादृशं युद्धं सुशर्मा युद्धदुर्मदः।
चिन्तयामास मनसा किं शेषं हि बलस्य मे।
अपरो दृश्यते सैन्ये पुरा मग्नो महाबले ॥२९॥

ऐसा भयानक युद्ध देख रणोन्मत्त सुशर्मा मन-ही-मन सोचने लगा, 'जान पड़ता है, मेरी सेना बुरी तरह मारी जायगी; क्योंकि मेरा दूसरा भाई भी पहलेसे ही इस विशाल सैन्य-समुद्रमें डूबा हुआ दिखायी देता है' ॥ २९ ॥

आकर्णपूर्णेन तदा धनुषा प्रत्यदृश्यत।
सुशर्मा सायकांस्तीक्ष्णान् क्षिपते च पुनः पुनः ॥३०॥
ततः समस्तास्ते सर्वे तुरगानभ्यचोदयन्।
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणास्त्रिगर्तान् प्रत्यमर्षणाः ॥३१॥

ऐसा विचारकर वह कानतक खींचे हुए धनुषके द्वारा युद्धके लिये उद्यत दिखायी देने लगा। सुशर्मा बारंबार तीखे बाणोंकी झड़ी लगा रहा है, यह देख सम्पूर्ण मत्स्यदेशीय योद्धा त्रिगर्तोंके प्रति कुपित हो दिव्यास्त्र प्रकट करते हुए अपने रथोंके घोड़ोंको आगे बढ़ाने लगे ॥ ३०-३१ ॥

तान् निवृत्तरथान् दृष्ट्वा पाण्डवान् सा महाचमूः।
वैराटिः परमक्रुद्धो युयुधे परमाद्भुतम् ॥३२॥

पाण्डवोंको त्रिगर्तोंकी ओर रथ लौटाते देख मत्स्य-वीरोंकी वह विशालवाहिनी भी लौट पड़ी। विराटके पुत्र श्वेत अत्यन्त क्रोधमें भरकर बड़ा अद्भुत युद्ध करने लगे ॥

सहस्रमवधीत् तत्र कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
भीमः सप्त सहस्राणि यमलोकमदर्शयत् ॥३३॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने एक हजार त्रिगर्तोंको मार गिराया। भीमसेनने सात हजार योद्धाओंको यमलोकका दर्शन कराया॥

नकुलश्चापि सप्तैव शतानि प्राहिणोच्छरैः।
शतानि त्रीणि शूराणां सहदेवः प्रतापवान् ॥३४॥
युधिष्ठिरसमादिष्टो निजघ्ने पुरुषर्षभः।

नकुलने अपने बाणोंसे सात सौ सैनिकोंको यमराजके घर भेज दिया तथा पुरुषोंमें श्रेष्ठ प्रतापी वीर सहदेवने युधिष्ठिरकी आज्ञासे तीन सौ शूरवीरोंका संहार कर डाला ॥ ३४½ ॥

ततोऽभ्यपतदत्युग्रः सुशर्माणमुदायुधः ॥३५॥
हत्वा तां महतीं सेनां त्रिगर्तानां महारथः।

तदनन्तर महारथी सहदेव त्रिगर्तोंकी उस महासेनाका संहार करके अत्यन्त उग्र रूप धारण किये हाथमें धनुष ले सुशर्मापर चढ़ आये ॥ ३५½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा त्वरमाणो महारथः ॥३६॥
अभिपत्य सुशर्माणं शरैरभ्याहनद् भृशम्।

तत्पश्चात् महारथी राजा युधिष्ठिर भी बड़ी उतावलीके साथ सुशर्मापर धावा बोलकर उसे बाणोंद्वारा बारंबार बींधने लगे ॥ ३६½ ॥

सुशर्मापि सुसंरब्धस्त्वरमाणो युधिष्ठिरम् ॥३७॥
अविध्यन्नवभिर्बाणैश्चतुर्भिश्चतुरो हयान्।

तब सुशर्माने भी अत्यन्त कुपित हो बड़ी फुर्तीके साथ नौ बाणोंसे राजा युधिष्ठिरको और चार बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको बींध डाला ॥ ३७½ ॥

ततो राजन्नाशुकारी कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ॥३८॥
समासाद्य सुशर्माणमश्वानस्य व्यपोथयत्।
पृष्ठगोपांश्च तस्याथ हत्वा परमसायकैः ॥३९॥
अथास्य सारथिं क्रुद्धो रथोपस्थादपातयत्।

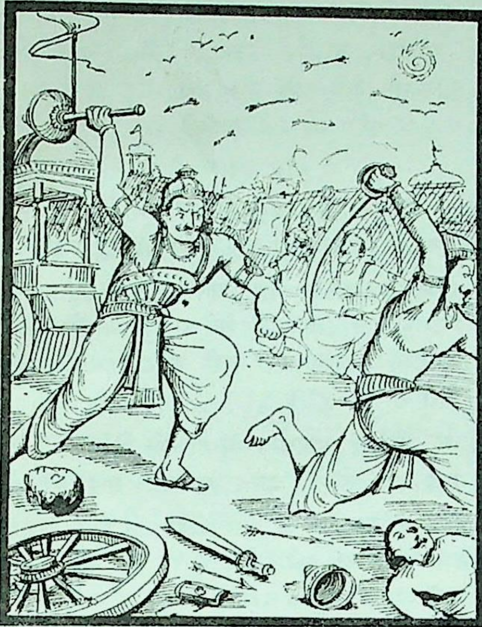
राजन्! फिर तो शीघ्रता करनेवाले कुन्तीपुत्र भीमने सुशर्माके पास पहुँचकर उत्तम बाणोंसे उसके घोड़ोंको मार डाला। साथ ही उसके पृष्ठरक्षकोंको भी मारकर कुपित हो उसके सारथिको भी रथसे नीचे गिरा दिया ॥ ३८-३९½ ॥

चक्ररक्षश्च शूरो वै मदिराक्षोऽतिविश्रुतः ॥४०॥
समायाद् विरथं दृष्ट्वा त्रिगर्तं प्राहरत् तदा।

सुशर्माको रथहीन हुआ देखकर राजा विराटके चक्ररक्षक सुप्रसिद्ध वीर मदिराक्ष भी वहाँ आ पहुँचे और त्रिगर्तनरेशपर बाणोंसे प्रहार करने लगे ॥ ४०½ ॥

ततो विराटः प्रस्कन्द्य रथादथ सुशर्मणः ॥४१॥
गदां तस्य परामृश्य तमेवाभ्यद्रवद् बली।
स चचार गदापाणिर्वृद्धोऽपि तरुणो यथा ॥४२॥

इसी बीचमें बलवान् राजा विराट सुशर्माके रथसे कूद पड़े और उसकी गदा लेकर उसीकी ओर दौड़े। उस समय



हाथमें गदा लिये राजा विराट बूढ़े होनेपर भी तरुणके समान रणभूमिमें विचर रहे थे ॥ ४१-४२ ॥

पलायमानं त्रैगर्तं दृष्ट्वा भीमोऽभ्यभाषत ।
राजपुत्र निवर्तस्व न ते युक्तं पलायनम् ॥४३॥

इसी बीचमें मौका पाकर त्रिगर्तराज भागने लगा। उसे पलायन करते देख भीमसेन बोले—'राजकुमार! लौट आओ। तुम्हारा युद्धसे पीठ दिखाकर भागना उचित नहीं है ॥ ४३ ॥

अनेन वीर्येण कथं गास्त्वं प्रार्थयसे बलात् ।
कथं चानुचरांस्त्यक्त्वा शत्रुमध्ये विषीदसि ॥४४॥

'इसी पराक्रमके भरोसे तुम विराटकी गौओंको बलपूर्वक कैसे ले जाना चाहते थे ? अपने सेवकोंको शत्रुओंके बीचमें छोड़कर क्यों भागते और विषाद करते हो ?' ॥ ४४ ॥

इत्युक्तः स तु पार्थेन सुशर्मा रथयूथपः ।
तिष्ठ तिष्ठेति भीमं स सहसाऽभ्यद्रवद् बली ॥४५॥
भीमस्तु भीमसंकाशो रथात् प्रस्कन्द्य पाण्डवः ।
प्राद्रवत् तूर्णमव्यग्रो जीवितेप्सुः सुशर्मणः ॥४६॥

भीमसेनके ऐसा कहनेपर रथियोंके यूथका अधिपति बलवान् सुशर्मा 'खड़ा रह, खड़ा रह', ऐसा कहते हुए सहसा भीमसेनपर टूट पड़ा। परंतु पाण्डुनन्दन भीम तो भीम-जैसे ही थे; वे तनिक भी व्यग्र नहीं हुए; अपितु रथसे कूदकर सुशर्माके प्राण लेनेके लिये बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े ॥

तं भीमसेनो धावन्तमभ्यधावत वीर्यवान् ।
त्रिगर्तराजमादातुं सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥४७॥

तब सुशर्मा फिर भाग चला और पराक्रमी भीमसेन त्रिगर्त-राजको पकड़नेके लिये उसी प्रकार उसका पीछा करने लगे, जैसे सिंह छोटे मृगोंको पकड़नेके लिये जाता है ॥ ४७ ॥

अभिद्रुत्य सुशर्माणं केशपक्षे परामृशत् ।
समुद्यम्य तु रोषात् तं निष्पिपेष महीतले ॥४८॥

सुशर्माके पास पहुँचकर भीमने उसके केश पकड़ लिये और क्रोधपूर्वक उसे उठाकर पृथ्वीपर दे मारा। तत्पश्चात् उसे वहीं रगड़ने लगे ॥ ४८ ॥

पदा मूर्ध्नि महाबाहुः प्राहरद् विलपिष्यतः ।
तस्य जानुं ददौ भीमो जघ्ने चैनमरत्निना ।
स मोहमगमद् राजा प्रहारवरपीडितः ॥४९॥

इससे सुशर्मा विलाप करने लगा। उस समय भीमने उसके मस्तकपर लात मारी और उसके पेटको घुटनोंसे दबाकर ऐसा घूँसा मारा कि उसके भारी आघातसे पीड़ित होकर राजा सुशर्मा मूर्छित हो गया ॥ ४९ ॥

तस्मिन् गृहीते विरथे त्रिगर्तानां महारथे ।
अभज्यत बलं सर्वं त्रैगर्तं तद् भयातुरम् ॥५०॥

त्रिगर्तोंका महारथी वीर सुशर्मा जब रथहीन होकर कैद कर लिया गया, तब वह सारी त्रिगर्तसेना भयसे व्याकुल हो तितर-बितर हो गयी ॥ ५० ॥

निवर्त्य गास्ततः सर्वाः पाण्डुपुत्रा महारथाः ।
अवजित्य सुशर्माणं धनं चादाय सर्वशः ॥५१॥

तदनन्तर पाण्डुके महारथी पुत्र सुशर्माको परास्त करनेके पश्चात् सब गौओंको लौटाकर और लूटका सारा धन वापस लेकर चले ॥ ५१ ॥

स्वबाहुबलसम्पन्ना ह्रीनिषेवा यतव्रताः ।
विराटस्य महात्मानः परिक्लेशविनाशनाः ॥५२॥

वे सभी अपने बाहुबलसे सम्पन्न, लज्जाशील, संयमपूर्वक व्रतपालनमें तत्पर, महात्मा तथा विराटका सारा क्लेश दूर करनेवाले थे ॥ ५२ ॥

स्थिताः समक्षं ते सर्वे त्वथ भीमोऽभ्यभाषत ॥५३॥
नायं पापसमाचारो मत्तो जीवितुमर्हति ।
किं तु शक्यं मया कर्तुं यद् राजा सततं घृणी ॥५४॥

जब वे सब राजाके सामने आकर खड़े हुए, तब भीमसेन बोले—'यह पापाचारी सुशर्मा मेरे हाथसे छूटकर जीवित रहने-योग्य तो नहीं है; परंतु मैं कर ही क्या सकता हूँ ? हमारे महाराज सदाके दयालु हैं' ॥ ५३-५४ ॥

गले गृहीत्वा राजानमानीय विवशं वशम् ।
तत एनं विचेष्टन्तं बद्ध्वा पार्थो वृकोदरः ॥५५॥
रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसुगुण्ठितम् ।

इसके बाद भीम राजा सुशर्माका गला पकड़कर ले आये। उस समय वह लाचार होकर उनके वशमें पड़ा था और छूटनेके लिये छटपटा रहा था। कुन्तीपुत्र भीमने सुशर्माको रस्सियोंसे बाँधकर रथपर रख दिया। उसके सारे

अङ्ग धूलमें सने थे और चेतना लुप्त-सी हो रही थी ॥ ५५½ ॥

अभ्येत्य रणमध्यस्थमभ्यगच्छद् युधिष्ठिरम् ॥ ५६ ॥
दर्शयामास भीमस्तु सुशर्माणं नराधिपम् ।

इसके बाद भीमने रणभूमिमें स्थित राजा युधिष्ठिरके पास जाकर उन्हें राजा सुशर्माको दिखलाया ॥ ५६½ ॥



प्रोवाच पुरुषव्याघ्रो भीममाहवशोभिनम् ॥ ५७ ॥
तं राजा प्राहसद् दृष्ट्वा मुच्यतां वै नराधमः ।
एवमुक्तोऽब्रवीद् भीमः सुशर्माणं महाबलम् ॥ ५८ ॥

भीम युद्धमें अत्यन्त सुशोभित होते थे। पुरुषश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर सुशर्माको उस दशामें देखकर हँसे और भीमसेनसे बोले—'इस नराधमको छोड़ दो।' उनके ऐसा कहनेपर भीम महाबली सुशर्मासे बोले ॥ ५७-५८ ॥

भीम उवाच

जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु ।
दासोऽस्मीति त्वया वाच्यं संसत्सु च सभासु च ॥ ५९ ॥

भीमसेनने कहा—मूर्ख! यदि तू जीवित रहना चाहता है, तो उसका उपाय बताता हूँ; मेरी बात सुन। तुझे संसदों और सभाओंमें जाकर सदा यही कहना होगा कि 'मैं राजा विराटका दास हूँ' ॥ ५९ ॥

एवं ते जीवितं दद्यामेष युद्धजितो विधिः ।
तमुवाच ततो ज्येष्ठो भ्राता सप्रणयं वचः ॥ ६० ॥

ऐसा स्वीकार हो तो तुझे जीवन-दान दूँगा। युद्धमें जीतनेवाले पुरुषोंका यही नियम है। तब बड़े भ्राता युधिष्ठिरने भीमसे प्रेमपूर्वक कहा ॥ ६० ॥

युधिष्ठिर उवाच

मुञ्च मुञ्चाधमाचारं प्रमाणं यदि ते वयम् ।
दासभावं गतो ह्येष विराटस्य महीपतेः ।
अदासो गच्छ मुक्तोऽसि मैवं कार्षीः कदाचन ॥ ६१ ॥

तब युधिष्ठिर बोले—भैया! यदि तुम मेरी बात मानते हो, तो इस पापाचारीको 'छोड़ दो, छोड़ दो'। यह महाराज विराटका दास तो हो ही चुका है। (इसके बाद वे सुशर्मासे बोले—) 'तुम दास नहीं रहे, जाओ, छोड़ दिये गये। फिर कभी 'ऐसा काम न करना' ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिण दिशाकी गौओंका अपहरण करते समय सुशर्माके निग्रहसे सम्बन्ध रखनेवाला तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ६३ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

राजा विराटद्वारा पाण्डवोंका सम्मान, युधिष्ठिरद्वारा राजाका अभिनन्दन तथा विराटनगरमें राजाकी विजयघोषणा

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु सव्रीडः सुशर्माऽऽसीदधोमुखः ।
स मुक्तोऽभ्येत्य राजानमभिवाद्य प्रतस्थिवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर सुशर्माने लज्जित होकर अपना मुँह नीचे कर लिया और बन्धनसे मुक्त हो राजा विराटके पास जा उन्हें प्रणाम करके अपने देशको प्रस्थान किया ॥ १ ॥

विसृज्य तु सुशर्माणं पाण्डवास्ते हतद्विषः ।
स्वबाहुबलसम्पन्ना ह्रीनिषेवा यतव्रताः ॥ २ ॥
संग्रामशिरसो मध्ये तां रात्रिं सुखिनोऽवसन् ॥

इस प्रकार सुशर्माको मुक्त करके शत्रुओंका संहार करनेवाले, अपने बाहुबलसे सम्पन्न, लज्जाशील और संयमपूर्वक व्रतपालनमें तत्पर रहनेवाले वे पाण्डव उस युद्धके मुहानेपर ही रातभर सुखसे रहे ॥ २½ ॥

ततो विराटः कौन्तेयानतिमानुषविक्रमान् ।
अर्चयामास वित्तेन मानेन च महारथान् ॥ ३ ॥

तदनन्तर राजा विराटने अतिमानुष (मानवीय शक्तिसे परे) पराक्रम करनेवाले महारथी कुन्तीपुत्रोंका धन और मानदानद्वारा सत्कार किया ॥ ३ ॥

विराट उवाच

यथैव मम रत्नानि युष्माकं तानि वै तथा ।
कार्यं कुरुत वै सर्वे यथाकामं यथासुखम् ॥ ४ ॥
ददाम्यलंकृताः कन्या वसूनि विविधानि च ।
मनसश्चाप्यभिप्रेतं युद्धे शत्रुनिबर्हणाः ॥ ५ ॥

विराटने कहा—युद्धमें शत्रुओंका संहार करनेवाले वीरो ! ये रत्न और धन जैसे मेरे हैं, वैसे ही तुमलोगोंके भी । तुम सब लोग यहाँ सुखपूर्वक रहो और जिस कार्यमें तुमलोगोंकी रुचि हो, वही करो । मैं तुम सबको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कन्याएँ, नाना प्रकारके रत्न, धन तथा और भी मनोवाञ्छित पदार्थ देता हूँ ॥ ४-५ ॥

युष्माकं विक्रमादद्य मुक्तोऽहं स्वस्तिमानिह ।
तस्माद् भवन्तो मत्स्यानामीश्वराः सर्व एव हि ॥ ६ ॥

आज मैं तुमलोगोंके ही पराक्रमसे यहाँ शत्रुके पंजेसे कुशलपूर्वक छूटकर आया हूँ । अतः तुमलोग मत्स्यदेशके स्वामी ही हो ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेतिवादिनं मत्स्यं कौरवेयाः पृथक् पृथक् ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे युधिष्ठिरपुरोगमाः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार कहनेवाले मत्स्यराजसे युधिष्ठिर आदि सभी कुरुवंशी पृथक्-पृथक् हाथ जोड़कर बोले—॥ ७ ॥

प्रतिनन्दाम ते वाक्यं सर्वं चैव विशाम्पते ।
एतेनैव प्रतीताः स्म यत् त्वं मुक्तोऽद्य शत्रुभिः ॥ ८ ॥

'महाराज ! आपका कहना ठीक है । हम आपके सम्पूर्ण वचनोंका अभिनन्दन करते हैं, किंतु हमलोग इतनेसेही संतुष्ट हैं कि आप आज शत्रुओंसे मुक्त हो गये' ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीत् प्रीतमना मत्स्यराजो युधिष्ठिरम् ।
पुनरेव महाबाहुर्विराटो राजसत्तमः ॥ ९ ॥
एहि त्वामभिषेक्ष्यामि मत्स्यराजस्तु नो भवान् ॥ १० ॥

तब राजाओंमें श्रेष्ठ मत्स्यनरेश महाबाहु विराटने मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न होकर पुनः युधिष्ठिरसे कहा—'कङ्कजी ! आइये, मैं आपका अभिषेक करूँगा । आप ही हमारे मत्स्यदेशके राजा बनें ॥ ९-१० ॥

मनसश्चाप्यभिप्रेतं यथेष्टं भुवि दुर्लभम् ।
तत् तेऽहं सम्प्रदास्यामि सर्वमर्हति नो भवान् ॥ ११ ॥

'इस पृथ्वीपर दुर्लभ जो और भी प्रिय तथा मनोवाञ्छित पदार्थ होगा, वह भी मैं आपको दूँगा । आप तो हमारा सब कुछ पानेके अधिकारी हैं ॥ ११ ॥

रत्नानि गाः सुवर्णं च मणिमुक्तमथापि च ।
वैयाघ्रपद्य विप्रेन्द्र सर्वथैव नमोऽस्तु ते ॥ १२ ॥

'व्याघ्रपदगोत्रमें उत्पन्न विप्रवर ! मेरे रत्न, गौएँ, सुवर्ण, मणि तथा मोती भी आपके अर्पण हैं । आपको हमारा सब प्रकारसे नमस्कार है ॥ १२ ॥

त्वत्कृते ह्यद्य पश्यामि राज्यं संतानमेव च ।
यतश्च जातसंरम्भो न च शत्रुवशं गतः ॥ १३ ॥

'आपके कारण ही आज मैं अपने राज्य और संतानका मुख देख पाऊँगा; क्योंकि पकड़े जानेपर मैं भयभीत हो गया था, किंतु आपके पराक्रमसे शत्रुके अधीन नहीं रहा' ॥ १३ ॥

ततो युधिष्ठिरो मत्स्यं पुनरेवाभ्यभाषत ।
प्रतिनन्दामि ते वाक्यं मनोज्ञं मत्स्य भाषसे ॥ १४ ॥
आनृशंस्यपरो नित्यं सुसुखी सततं भव ।

यह सुनकर राजा युधिष्ठिरने मत्स्यराजसे पुनः कहा—'राजन् ! आप बड़ी मनोहर बात कह रहे हैं । मैं आपके इस वचनका अभिनन्दन करता हूँ आप निरन्तर दयाभाव रखते हुए सर्वदा परम सुखी हों ॥ १४½ ॥

(वैशम्पायन उवाच

पुनरेव विराटश्च राजा कङ्कमभाषत ।
अहो सूदस्य कर्माणि बल्लवस्य द्विजोत्तम ।
सोऽहं सूदेन संग्रामे बल्लवेनाभिरक्षितः ॥
त्वत्कृते सर्वमेवैतदुपपन्नं ममानघ ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते ब्रूहि किं करवाणि ते ॥
ददामि ते महाप्रीत्या रत्नान्युच्चावचानि च ।
शयनासनयानानि कन्याश्च समलंकृताः ॥
हस्त्यश्वरथसङ्घाश्च राष्ट्राणि विविधानि च ।
एतानि च मम प्रीत्या प्रतिगृह्णीष्व सुव्रत ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कङ्कनामधारी युधिष्ठिरके यों कहनेपर राजा विराट पुनः उनसे इस प्रकार बोले—'द्विजश्रेष्ठ ! बल्लव नामक रसोइयेका कर्म भी अद्भुत है । इस युद्धमें बल्लवने ही मेरी रक्षा की है । निष्पाप विप्रवर ! आपके ही करनेसे यह सब कुछ सम्भव हुआ है । आपका कल्याण हो । आप मुझसे वर माँगिये और बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ आपको नाना प्रकारके उत्तमोत्तम रत्न, शय्या, आसन, वाहन, वस्त्राभूषणोंसे विभूषित सुन्दरी कन्याएँ, हाथी, घोड़े और रथोंके समूह तथा भाँति-भाँतिके जनपद भेंट करता हूँ । सुव्रत ! आप मेरी प्रसन्नताके लिये इन सब वस्तुओंको ग्रहण करें ॥

तं तथावादिनं तत्र कौरव्यः प्रत्यभाषत ।
एकैव तु मम प्रीतिर्यत् त्वं मुक्तोऽसि शत्रुभिः ।
प्रतीतश्च पुरं तुष्टः प्रवेक्ष्यसि तदानघ ॥
दारैः पुत्रैश्च संश्लिष्य सा हि प्रीतिर्ममातुला ।)

तब वहाँ ऐसी बातें कहनेवाले राजा विराटको कुरुकुल-नन्दन युधिष्ठिरने इस प्रकार उत्तर दिया—'महाराज ! आप शत्रुओंके हाथसे छूट गये; यही मेरे लिये बड़ी प्रसन्नताकी बात है । अनघ ! आप निर्भय होकर संतोषपूर्वक अपने नगरमें प्रवेश करेंगे और अपने स्त्री-पुत्रोंसे मिलकर सुखी होंगे; यही मेरे लिये अनुपम प्रसन्नताकी बात होगी ॥

गच्छन्तु दूतास्त्वरितं नगरं तव पार्थिव ॥ १५ ॥
सुहृदां प्रियमाख्यातुं घोषयन्तु च ते जयम् ।
ततस्तद्वचनान्मत्स्यो दूतान् राजा समादिशत् ॥ १६ ॥

'महाराज ! अब आपके नगरमें सुहृदोंसे यह प्रिय समाचार बतानेके लिये तुरंत ही दूतोंको जाना चाहिये । वे दूत वहाँ आपकी विजय घोषित करें ।' तब उनके कथनानुसार राजा विराटने दूतोंको आदेश दिया—॥ १५-१६ ॥

आचक्षध्वं पुरं गत्वा संग्रामविजयं मम ।
कुमार्यः समलंकृत्य पर्यागच्छन्तु मे पुरात् ॥ १७ ॥

'दूतो ! तुमलोग नगरमें जाकर सूचना दो कि युद्धमें मेरी विजय हुई है । कुमारी कन्याएँ शृङ्गार करके स्वागतके लिये नगरसे बाहर आ जायँ ॥ १७ ॥

वादित्राणि च सर्वाणि गणिकाश्च स्वलंकृताः ।
एतां चाज्ञां ततः श्रुत्वा राज्ञा मत्स्येन नोदिताः ।
तामाज्ञां शिरसा कृत्वा प्रस्थिता हृष्टमानसाः ॥ १८ ॥

'सब प्रकारके बाजे बजाये जायँ और वेश्याएँ भी सज-धजकर तैयार रहें ।' मत्स्यराजकी इस आज्ञाको सुनकर उसे शिरोधार्य करके दूत प्रसन्नचित्त होकर चले ॥ १८ ॥

ते गत्वा तत्र तां रात्रिमथ सूर्योदयं प्रति ।
विराटस्य पुराभ्याशे दूता जयमघोषयन् ॥ १९ ॥

रातमें ही वहाँसे प्रस्थान करके सूर्योदय होते-होते दूत विराटकी राजधानीमें जा पहुँचे और वहाँ उन्होंने सब ओर मत्स्यराजकी विजय घोषित कर दी ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे विराटजयघोषे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिण दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें विराटके जयघोषसम्बन्धी चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

कौरवोंद्वारा उत्तर दिशाकी ओरसे आकर विराटकी गौओंका अपहरण और गोपाध्यक्षका उत्तरकुमारको युद्धके लिये उत्साह दिलाना

वैशम्पायन उवाच

याते त्रिगर्तान् मत्स्ये तु पशूंस्तान् वै परीप्सति ।
दुर्योधनः सहामात्यो विराटमुपयादथ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जिस समय अपने पशुओंको छुड़ा लानेकी इच्छासे राजा विराट त्रिगर्तोंसे युद्ध करनेके लिये गये, उसी समय दुर्योधनने अपने मन्त्रियोंके साथ विराटदेशपर चढ़ाई की ॥ १ ॥

भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च कृपश्च परमास्त्रवित् ।
द्रौणिश्च सौबलश्चैव तथा दुःशासनः प्रभो ॥ २ ॥
विविंशतिर्विकर्णश्च चित्रसेनश्च वीर्यवान् ।
दुर्मुखो दुःशलश्चैव ये चैवान्ये महारथाः ॥ ३ ॥

राजन् ! भीष्म, द्रोण, कर्ण, अस्त्रविद्याके श्रेष्ठ विद्वान् कृपाचार्य, अश्वत्थामा, शकुनि, दुःशासन, विविंशति, विकर्ण, पराक्रमी चित्रसेन, दुर्मुख, दुःशल तथा अन्य महारथी भी दुर्योधनके साथ थे ॥ २-३ ॥

एते मत्स्यानुपागम्य विराटस्य महीपतेः ।
घोषान् विद्राव्य तरसा गोधनं जह्रुरोजसा ॥ ४ ॥

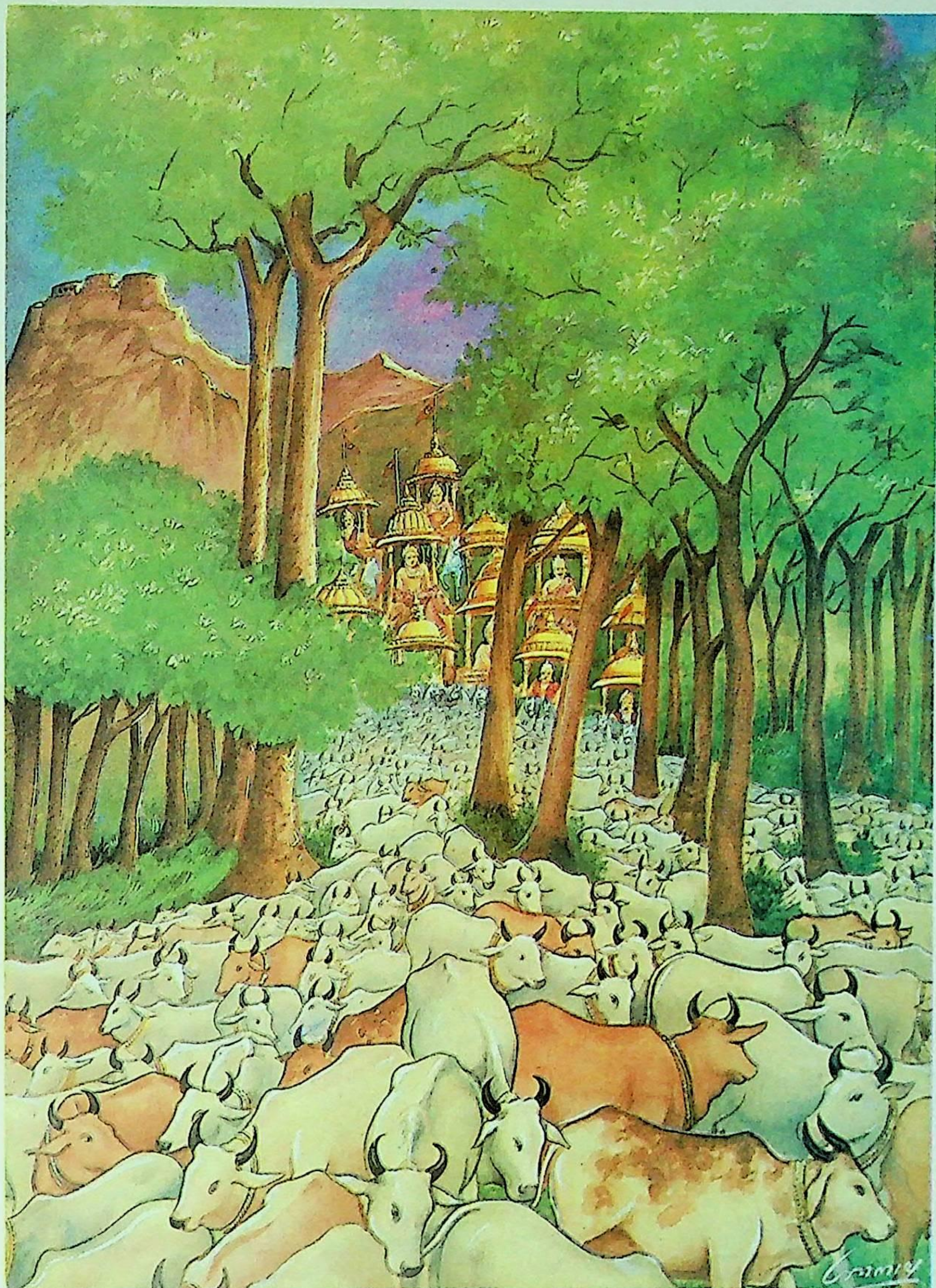
इन सबने राजा विराटके मत्स्यदेशमें आकर उनके गोष्ठोंमें भगदड़ मचा दी और बड़े वेगसे बलपूर्वक गोधनका अपहरण करना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

षष्टिं गवां सहस्राणि कुरवः कालयन्ति च ।
महता रथवंशेन परिवार्य समन्ततः ॥ ५ ॥

वे कौरव वीर राजा विराटकी साठ हजार गौओंको विशाल रथसमूहोंद्वारा चारों ओरसे घेरकर हाँक ले चले ॥ ५ ॥

गोपालानां तु घोषस्य हन्यतां तैर्महारथैः ।
आरावः सुमहानासीत् सम्प्रहारे भयंकरे ॥ ६ ॥

उस समय वहाँ भयंकर मारपीट हुई । उन महारथियोंद्वारा मारे जाते हुए गोष्ठके ग्वालोंका जोर-जोरसे होनेवाला आर्तनाद बहुत दूरतक सुनायी देता था ॥ ६ ॥



कौरवोंद्वारा विराटकी गायोंका हरण

गोपाध्यक्षो भयत्रस्तो रथमास्थाय सत्वरः ।
जगाम नगरायैव परिक्रोशंस्तदाऽऽर्तवत् ॥ ७ ॥

तब उन गौओंका रक्षक भयभीत हो तुरंत ही रथपर बैठकर आर्तकी भाँति विलाप करता हुआ राजधानीकी ओर चल दिया ॥ ७ ॥

स प्रविश्य पुरं राज्ञो नृपवेश्माभ्ययात् ततः ।
अवतीर्य रथात् तूर्णमाख्यातुं प्रविवेश ह ॥ ८ ॥

राजा विराटके नगरमें पहुँचकर वह राजभवनके समीप गया और रथसे उतरकर तुरंत यह समाचार सूचित करनेके लिये महलके भीतर चला गया ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा भूमिंजयं नाम पुत्रं मत्स्यस्य मानिनम् ।
तस्मै तत् सर्वमाचष्ट राष्ट्रस्य पशुकर्षणम् ॥ ९ ॥
षष्टिं गवां सहस्राणि कुरवः कालयन्ति ते ।
तद् विजेतुं समुत्तिष्ठ गोधनं राष्ट्रवर्धन ॥ १० ॥

वहाँ मत्स्यराजके मानी पुत्र भूमिञ्जय (उत्तर) से मिलकर उस गोपने उनसे राज्यके पशुओंके अपहरणका सब समाचार बताते हुए कहा—'राजकुमार ! आप इस राष्ट्रकी वृद्धि



करनेवाले हैं। आज कौरव आपकी साठ हजार गौओंको हाँक ले जा रहे हैं। उनके हाथसे उस गोधनको जीत लानेके लिये उठ खड़े होइये ॥ ९-१० ॥

राजपुत्र हितप्रेप्सुः क्षिप्रं निर्याहि च स्वयम् ।
त्वां हि मत्स्यो महीपालः शून्यपालमिहाकरोत् ॥ ११ ॥

'राजपुत्र ! आप इस राज्यके हितैषी हैं, अतः स्वयं ही युद्धके लिये तैयार होकर निकलिये । मत्स्यनरेशने अपनी अनुपस्थितिमें आपको ही यहाँका रक्षक नियुक्त किया है ॥

त्वया परिषदो मध्ये श्लाघते स नराधिपः ।
पुत्रो ममानुरूपश्च शूरश्चेति कुलोद्वहः ॥ १२ ॥

'वे सभामें आपसे प्रभावित होकर आपकी प्रशंसामें बड़ी-बड़ी बातें किया करते हैं । उनका कहना है—'मेरा यह पुत्र उत्तर मेरे अनुरूप शूरवीर और इस वंशका भार वहन करनेमें समर्थ है ॥ १२ ॥

इष्वस्त्रे निपुणो योधः सदा वीरश्च मे सुतः ।
तस्य तत् सत्यमेवास्तु मनुष्येन्द्रस्य भाषितम् ॥ १३ ॥

'मेरा वह लाड़ला बेटा बाण चलाने तथा अन्यान्य अस्त्रोंके प्रयोगकी कलामें भी निपुण, सदा युद्धके लिये उद्यत रहनेवाला और वीर है ।' उन महाराजका यह कथन आज सत्य सिद्ध होना चाहिये ॥ १३ ॥

आवर्तय कुरूञ्जित्वा पशून् पशुमतां वर ।
निर्दहैषामनीकानि भीमेन शरतेजसा ॥ १४ ॥

'पशुसम्पत्तिवाले समस्त राजाओंमें आप श्रेष्ठ हैं; अतः कौरवोंको परास्त करके अपने पशुओंको लौटा लाइये और बाणोंकी भयंकर अग्निसे इन कौरवोंकी सारी सेनाओंको भस्म कर डालिये ॥ १४ ॥

धनुश्च्युतै रुक्मपुङ्खैः शरैः संनतपर्वभिः ।
द्विषतां भिन्ध्यनीकानि गजानामिव यूथपः ॥ १५ ॥

'जैसे हाथियोंके झुंडका स्वामी गजराज अपने विरोधियोंको रौंद डालता है, उसी प्रकार आप अपने धनुषसे छूटे हुए सुवर्णमय पंखसे सुशोभित और झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणोंद्वारा विपक्षियोंकी विपुल वाहिनीको छिन्न-भिन्न कर डालिये ॥ १५ ॥

पाशोपधानां ज्यातन्त्रीं चापदण्डां महास्वनाम् ।
शरवर्णां धनुर्वीणां शत्रुमध्ये प्रवादय ॥ १६ ॥

'आज शत्रुओंके बीचमें जोर-जोरसे गूँजनेवाली धनुषरूपी वीणा बजाइये । पाश (प्रत्यञ्चा बाँधनेके दोनों सिरे) उसके उपधान (खूँटियाँ) हैं, प्रत्यञ्चा तार हैं, धनुष उसका दण्ड है और बाण ही उससे झङ्कृत होनेवाले वर्ण (स्वर) हैं ॥ १६ ॥

श्वेता रजतसंकाशा रथे युज्यन्तु ते हयाः ।
ध्वजं च सिंहं सौवर्णमुच्छ्रयन्तु तव प्रभो ॥ १७ ॥

'प्रभो ! अब चाँदीके समान चमकनेवाले वे श्वेत रंगके घोड़े आपके रथमें जोते जायँ और सिंहके चिह्नसे सुशोभित सुवर्णमय ऊँचा ध्वज फहरा दिया जाय ॥ १७ ॥

रुक्मपुङ्खाः प्रसन्नाग्रा मुक्ता हस्तवता त्वया ।
छादयन्तु शराः सूर्यं राज्ञां मार्गनिरोधकाः ॥ १८ ॥

'वीरवर ! आपके हाथ बहुत मजबूत हैं । उनके द्वारा

आपके चलाये हुए सोनेकी पाँख और स्वच्छ नोकवाले बाण शत्रुपक्षके राजाओंकी राह रोककर सूर्यदेवको भी ढक दें ॥

रणे जित्वा कुरून् सर्वान् वज्रपाणिरिवासुरान् ।
यशो महदवाप्य त्वं प्रविशेदं पुरं पुनः ॥ १९ ॥

'जैसे वज्रपाणि इन्द्र समस्त असुरोंको परास्त कर देते हैं, उसी प्रकार आप युद्धमें सम्पूर्ण कौरवोंको जीतकर महान् यश प्राप्त करके पुनः इस नगरमें प्रवेश करें ॥ १९ ॥

त्वं हि राष्ट्रस्य परमा गतिर्मत्स्यपतेः सुतः ।
यथा हि पाण्डुपुत्राणामर्जुनो जयतां वरः ॥ २० ॥
एवमेव गतिर्नूनं भवान् विषयवासिनाम् ।
गतिमन्तो वयं त्वद्य सर्वे विषयवासिनः ॥ २१ ॥

'मत्स्यराजके सुयोग्य पुत्र होनेके कारण आप ही इस राष्ट्रके महान् आश्रय हैं। जैसे विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन पाण्डवोंके उत्तम आश्रय हैं, उसी प्रकार आप भी निश्चय ही इस राज्यके निवासियोंकी परम गति हैं। हम सभी मत्स्यदेशवासी आज आपको पाकर ही गतिमान् (सनाथ) हैं' ॥ २०-२१ ॥

वैशम्पायन उवाच

स्त्रीमध्य उक्तस्तेनासौ तद् वाक्यमभयंकरम् ।
अन्तःपुरे श्लाघमान इदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उस समय राजकुमार उत्तर अन्तःपुरमें स्त्रियोंके बीचमें बैठा था। वहीं उस गोपाध्यक्षने उससे ये निर्भय बनानेवाली उत्साहजनक बातें कहीं। अतः वह अपनी प्रशंसा करता हुआ इस प्रकार कहने लगा ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे गोपवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी गौओंके अपहरणके प्रसंगमें गोपवचनविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥



षट्त्रिंशोऽध्यायः

उत्तरका अपने लिये सारथि ढूँढ़नेका प्रस्ताव, अर्जुनकी सम्मतिसे द्रौपदीका बृहन्नलाको सारथि बनानेके लिये सुझाव देना

उत्तर उवाच

अद्याहमनुगच्छेयं दृढधन्वा गवां पदम् ।
यदि मे सारथिः कश्चिद् भवेदश्वेषु कोविदः ॥ १ ॥

उत्तर बोला—गोपप्रवर! मेरा धनुष तो बहुत मजबूत है। यदि मेरे पास घोड़े हाँकनेकी कलामें कुशल कोई सारथि होता, तो आज मैं अवश्य ही उन गौओंके पदचिह्नोंका अनुसरण करता ॥ १ ॥

तं त्वहं नावगच्छामि यो मे यन्ता भवेन्नरः ।
पश्यध्वं सारथिं क्षिप्रं मम युक्तं प्रयास्यतः ॥ २ ॥

इस समय मुझे ऐसे किसी मनुष्यका पता नहीं है, जो मेरा सारथि बन सके। मैं युद्धके लिये प्रस्थान करूँगा, अतः शीघ्र मेरेलिये किसी योग्य सारथिकी तलाश करो ॥

अष्टाविंशतिरात्रं वा मासं वा नूनमन्ततः ।
यत् तदासीन्महद् युद्धं तत्र मे सारथिर्हतः ॥ ३ ॥

पहले लगातार अट्ठाईस राततक अथवा अन्ततः एक मासतक जो वह महायुद्ध हुआ था, उसमें मेरा सारथि मारा गया था ॥ ३ ॥

स लभेयं यदा त्वन्यं हययानविदं नरम् ।
त्वरावानद्य यात्वाहं समुच्छ्रितमहाध्वजम् ॥ ४ ॥
विगाह्य तत् परानीकं गजवाजिरथाकुलम् ।
शस्त्रप्रतापनिर्वीर्यान् कुरूञ्जित्वाऽऽनये पशून् ॥ ५ ॥

अतः यदि घोड़े हाँकनेकी कला जाननेवाले किसी दूसरे मनुष्यको भी पा जाऊँ, तो अभी बड़े वेगसे जाकर ऊँची-ऊँची विशाल ध्वजाओंसे विभूषित एवं हाथी, घोड़े तथा रथोंसे भरी हुई शत्रुओंकी सेनामें घुस जाऊँ और अपने आयुधोंके प्रतापसे कौरवोंको निर्वीर्य (पराक्रमशून्य) तथा परास्त करके सम्पूर्ण पशुओंको लौटा लाऊँ ॥ ४-५ ॥

दुर्योधनं शान्तनवं कर्णं वैकर्तनं कृपम् ।
द्रोणं च सह पुत्रेण महेष्वासान् समागतान् ॥ ६ ॥
वित्रासयित्वा संग्रामे दानवानिव वज्रभृत् ।
अनेनैव मुहूर्तेन पुनः प्रत्यानये पशून् ॥ ७ ॥

जैसे वज्रधारी इन्द्र दानवोंको भयभीत कर देते हैं, उसी प्रकार मैं दुर्योधन, शान्तनुनन्दन भीष्म, सूर्यपुत्र कर्ण, कृपाचार्य तथा पुत्र (अश्वत्थामा) सहित द्रोणाचार्य आदि महान् धनुर्धरोंको, जो यहाँ आये हैं, युद्धमें अत्यन्त भय पहुँचाकर इसी मुहूर्तमें अपने पशुओंको वापस ला सकता हूँ॥

शून्यमासाद्य कुरवः प्रयान्त्यादाय गोधनम् ।
किं नु शक्यं मया कर्तुं यदहं तत्र नाभवम् ॥ ८ ॥

गोष्ठको सूना पाकर कौरवलोग मेरा गोधन लिये जा

रहे हैं। परंतु अब मैं यहाँसे क्या कर सकता हूँ? जब कि वहाँ उस समय मैं मौजूद नहीं था ॥ ८ ॥

पश्येयुरद्य मे वीर्यं कुरवस्ते समागताः।
किं नु पार्थोऽर्जुनः साक्षादयमस्मान् प्रबाधते ॥ ९ ॥

अच्छा, जब कौरवलोग यहाँ आ ही गये हैं, तब आज मेरा पराक्रम देख लें। फिर तो वे कहेंगे—'क्या यह साक्षात् कुन्तीपुत्र अर्जुन ही हमें पीड़ा दे रहा है?' ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तदर्जुनो वाक्यं राज्ञः पुत्रस्य भाषतः।
अतीतसमये काले प्रियां भार्यामनिन्दिताम् ॥ १० ॥
द्रुपदस्य सुतां तन्वीं पाञ्चालीं पावकात्मजाम्।
सत्यार्जवगुणोपेतां भर्तुः प्रियहिते रताम् ॥ ११ ॥
उवाच रहसि प्रीतः कृष्णां सर्वार्थकोविदः।
उत्तरं ब्रूहि कल्याणि क्षिप्रं मद्वचनादिदम् ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार बोलते हुए राजकुमार उत्तरकी वह बात सुनकर सब बातोंमें कुशल अर्जुन बहुत प्रसन्न हुए। उस समयतक उनके अज्ञात-वासकी अवधि पूरी हो गयी थी। अतः उन्होंने अपनी सती-साध्वी प्यारी पत्नी पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको, जिसका अग्निसे प्रादुर्भाव हुआ था और जो तन्वङ्गी, सत्य-सरलता आदि सद्गुणोंसे विभूषित तथा पतिके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहनेवाली थी, एकान्तमें बुलाकर कहा—'कल्याणि! तुम मेरी बात मानकर राजकुमार उत्तरसे शीघ्र इस प्रकार कहो—॥ १०-१२ ॥

अयं वै पाण्डवस्यासीत् सारथिः सम्मतो दृढः।
महायुद्धेषु संसिद्धः स ते यन्ता भविष्यति ॥ १३ ॥

'यह बृहन्नला पाण्डुनन्दन अर्जुनका सुदृढ़ एवं प्रिय सारथि रह चुका है। उसने बड़े-बड़े युद्धोंमें सफलता प्राप्त की है। वह तुम्हारा सारथि हो जायगा' ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं स्त्रीषु भाषतश्च पुनः पुनः।
न सामर्षत पाञ्चाली बीभत्सोः परिकीर्तनम् ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उत्तर स्त्रियोंके बीचमें बैठा था और बार-बार अपनी तुलनामें अर्जुनका नाम ले-लेकर डींग मार रहा था। पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीसे यह सहन न हो सका ॥ १४ ॥

अथैनमुपसंगम्य स्त्रीमध्यात् सा तपस्विनी।
व्रीडमानेव शनकैरिदं वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

वह तपस्विनी स्त्रियोंके बीचसे उठकर उत्तरके समीप आयी और लजाती हुई-सी धीरे-धीरे इस प्रकार बोली—॥ १५ ॥

योऽसौ बृहद्वारणाभो युवा सुप्रियदर्शनः।
बृहन्नलेति विख्यातः पार्थस्यासीत् स सारथिः ॥ १६ ॥

'राजकुमार! यह जो विशाल गजराजके समान हृष्ट-पुष्ट, तरुण, सुन्दर और देखनेमें अत्यन्त प्रिय 'बृहन्नला' नामसे विख्यात नर्तक है, पहले कुन्तीपुत्र अर्जुनका सारथि था ॥ १६ ॥

धनुष्यनवरश्चासीत् तस्य शिष्यो महात्मनः।
दृष्टपूर्वो मया वीर चरन्त्या पाण्डवान् प्रति ॥ १७ ॥

'वीर! यह उन्हीं महात्माका शिष्य है, अतः धनुर्विद्यामें भी उनसे कम नहीं है। पहले पाण्डवोंके यहाँ रहते समय मैंने इसे देखा है ॥ १७ ॥

यदा तत् पावको दावमदहत् खाण्डवं महत्।
अर्जुनस्य तदानेन संगृहीता हयोत्तमाः ॥ १८ ॥

'जिन दिनों अर्जुनकी सहायतासे अग्निदेवने दावानल-रूप हो महान् खाण्डववनको जलाया था, उस समय इसीने अर्जुनके श्रेष्ठ घोड़ोंकी बागडोर सँभाली थी ॥ १८ ॥

तेन सारथिना पार्थः सर्वभूतानि सर्वशः।
अजयत् खाण्डवप्रस्थे न हि यन्तास्ति तादृशः ॥ १९ ॥

'इसी सारथिके सहयोगसे कुन्तीपुत्र अर्जुनने खाण्डवप्रस्थमें सम्पूर्ण प्राणियोंपर विजय पायी थी; अतः इसके समान दूसरा कोई सारथि नहीं है' ॥ १९ ॥

उत्तर उवाच

सैरन्ध्रि जानासि तथा युवानं
नपुंसको नैव भवेद् यथासौ।
अहं न शक्नोमि बृहन्नलां शुभे
वक्तुं स्वयं यच्छ हयान् ममेति वै ॥ २० ॥

उत्तरने कहा—सैरन्ध्री! वह युवक ऐसे गुणोंसे विभूषित है कि वह नपुंसक नहीं हो सकता; इन बातोंको तुम अच्छी तरह जानती हो; [अतः तुम उससे कह दो, तो ठीक है।] शुभे! मैं स्वयं बृहन्नलासे नहीं कह सकता कि तुम मेरे घोड़ोंकी रास सँभालो ॥ २० ॥

द्रौपद्युवाच

येयं कुमारी सुश्रोणी भगिनी ते यवीयसी।
अस्याः स वीर वचनं करिष्यति न संशयः ॥ २१ ॥

द्रौपदीने कहा—वीर! यह जो सुन्दर कटिप्रदेश-वाली तुम्हारी छोटी बहिन कुमारी उत्तरा है। इसकी बात वह अवश्य मान लेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

यदि वै सारथिः स स्यात् कुरून् सर्वान् न संशयः।
जित्वा गाश्च समादाय ध्रुवमागमनं भवेत् ॥ २२ ॥

यदि वह सारथि हो जाय, तो निःसंदेह सम्पूर्ण कौरवोंको जीतकर और गौओंको भी वापस लेकर तुम्हारा इस नगरमें आगमन हो सकता है, यह ध्रुव सत्य है ॥ २२ ॥

एवमुक्तः स सैरन्ध्र्या भगिनीं प्रत्यभाषत ।
गच्छ त्वमनवद्याङ्गि तामानय बृहन्नलाम् ॥ २३ ॥

सैरन्ध्रीके ऐसा कहनेपर उत्तर अपनी बहिनसे बोला—'निर्दोष अङ्गोंवाली उत्तरे ! जाओ, उस बृहन्नलाको बुला ले आओ' ॥ २३ ॥

सा भ्रात्रा प्रेषिता शीघ्रमगच्छन्नर्तनागृहम् ।
यत्रास्ते स महाबाहुश्छन्नः सत्रेण पाण्डवः ॥ २४ ॥

भाईके भेजनेपर कुमारी उत्तरा शीघ्र नृत्यशालामें गयी, जहाँ पाण्डुनन्दन महाबाहु अर्जुन कपटवेषमें छिपकर रहते थे ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे बृहन्नलासारथ्यकथने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें बृहन्नलाका सारथ्यकथनसम्बन्धी छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

बृहन्नलाको सारथि बनाकर राजकुमार उत्तरका रणभूमिकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

सा प्राद्रवत् काञ्चनमाल्यधारिणी
ज्येष्ठेन भ्रात्रा प्रहिता यशस्विनी ।
सुदक्षिणा वेदिविलग्नमध्या
सा पद्मपत्राभनिभा शिखण्डिनी ॥ १ ॥
तन्वी शुभाङ्गी मणिचित्रमेखला
मत्स्यस्य राज्ञो दुहिता श्रिया वृता ।
तन्नर्तनागारमरालपक्ष्मा
शतह्रदा मेघमिवान्वपद्यत ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुमारी उत्तरा सोनेकी माला और मोरपंखका श्रृङ्गार धारण किये हुए थी। उसकी अङ्गकान्ति कमलदलकी-सी आभावाली लक्ष्मीको भी लज्जित कर रही थी। उसकी कमर यज्ञकी वेदीके समान सूक्ष्म थी। शरीरसे भी वह पतली ही थी। उसके सभी अङ्ग शुभ लक्षणोंसे युक्त थे। उसने कटिप्रदेशमें मणियोंकी बनी हुई विचित्र करधनी पहन रक्खी थी। मत्स्यराजकी वह यशस्विनी कन्या अनुपम शोभासे प्रकाशित हो रही थी। बड़ोंकी आज्ञा माननेवाली कुमारी उत्तरा बड़े भाईके भेजनेसे बड़ी उतावलीके साथ नृत्यशालामें गयी; मानो चपला मेघमालामें विलीन हो गयी हो। उसके नेत्रोंकी टेढ़ी-टेढ़ी बरौनियाँ बड़ी भली मालूम होती थीं ॥ १-२ ॥

सा हस्तिहस्तोपमसंहितोरुः
स्वनिन्दिता चारुदती सुमध्यमा ।
आसाद्य तं वै वरमाल्यधारिणी
पार्थं शुभा नागवधूरिव द्विपम् ॥ ३ ॥

उसकी परस्पर सटी हुई जाँघें हाथीकी सूँड़के समान सुशोभित होती थीं, दाँत चमकीले और मनोहर थे। शरीरका मध्यभाग बड़ा सुहावना था। वह अनिन्द्यसुन्दरी सुन्दर हार धारण किये उन कुन्तीनन्दन अर्जुनके पास पहुँचकर गजराजके समीप गयी हुई हथिनीके समान शोभा पा रही थी ॥ ३ ॥

सा रत्नभूता मनसः प्रियार्चिता
सुता विराटस्य यथेन्द्रलक्ष्मीः ।
सुदर्शनीया प्रमुखे यशस्विनी
प्रीत्याब्रवीदर्जुनमायतेक्षणा ॥ ४ ॥

विराटकुमारी उत्तरा स्त्रियोंमें रत्नस्वरूपा और मनको प्रिय लगनेवाली थी। वह उस राजभवनमें इन्द्रकी साम्राज्यलक्ष्मीके समान सम्मानित थी। उसके नेत्र बड़े-बड़े थे। वह यशस्विनी बाला सामनेसे देखने ही योग्य थी। वह अर्जुनसे प्रेमपूर्वक बोली—॥ ४ ॥

सुसंहतोरुं कनकोज्ज्वलत्वचं
पार्थः कुमारीं स तदाभ्यभाषत ।
किमागमः काञ्चनमाल्यधारिणि
मृगाक्षि किं त्वं त्वरितेव भामिनि ॥
किं ते मुखं सुन्दरि न प्रसन्न-
माचक्ष्व तत्त्वं मम शीघ्रमङ्गने ॥ ५ ॥

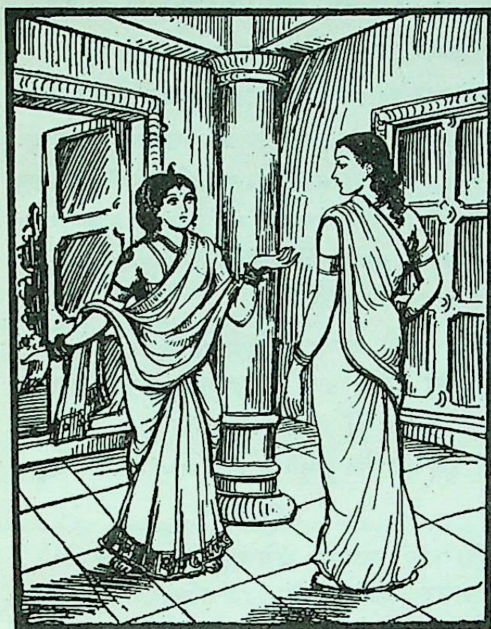
सुवर्णके समान सुन्दर एवं गौर त्वचा तथा सटी जाँघोंवाली कुमारी उत्तराको देखकर अर्जुनने पूछा—'सुवर्णकी माला धारण करनेवाली मृगलोचने ! भामिनि ! तुम क्यों उतावली-सी चली आ रही हो ? सुन्दरि ! आज तुम्हारा मुख प्रसन्न क्यों नहीं है ? अङ्गने ! मुझे शीघ्र सब बातें ठीक-ठीक बताओ' ॥५॥

वैशम्पायन उवाच

स तां दृष्ट्वा विशालाक्षीं राजपुत्रीं सखीं तथा ।
प्रहसन्नब्रवीद् राजन् किमागमनमित्युत ॥ ६ ॥
तमब्रवीद् राजपुत्री समुपेत्य नरर्षभम् ।
प्रणयं भावयन्ती सा सखीमध्य इदं वचः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विशाल नेत्रोंवाली अपनी सखी राजकुमारी उत्तराकी ओर देखकर अर्जुनने

हँसते हुए जब उससे अपने पास आनेका कारण पूछा, तब वह राजपुत्री नरश्रेष्ठ अर्जुनके समीप जा अपना प्रेम प्रकट करती हुई सखियोंके बीचमें इस प्रकार बोली—॥ ६-७ ॥



गावो राष्ट्रस्य कुरुभिः काल्यन्ते नो बृहन्नले ।
ता विजेतुं मम भ्राता प्रयास्यति धनुर्धरः ॥ ८ ॥

'बृहन्नले ! हमारे राष्ट्रकी गौओंको कौरव हाँककर लिये जाते हैं; अतः उन्हें जीतनेके लिये मेरे भैया धनुष धारण करके जानेवाले हैं ॥ ८ ॥

नाचिरं निहतस्तस्य संग्रामे रथसारथिः ।
तेन नास्ति समः सूतो योऽस्य सारथ्यमाचरेत् ॥ ९ ॥

'थोड़े ही दिन हुए, उनके रथका सारथि एक युद्धमें मारा गया । इस कारण कोई ऐसा योग्य सूत नहीं है, जो उनके सारथिका काम सँभाल सके ॥ ९ ॥

तस्मै प्रयतमानाय सारथ्यर्थं बृहन्नले ।
आचचक्षे हयज्ञाने सैरन्ध्री कौशलं तव ॥ १० ॥

'बृहन्नले ! वे सारथि ढूँढ़नेका प्रयत्न कर रहे थे, इतनेमें ही सैरन्ध्रीने पहुँचकर यह बताया कि तुम अश्वविद्यामें कुशल हो ॥ १० ॥

अर्जुनस्य किलासीस्त्वं सारथिर्दयितः पुरा ।
त्वयाजयत् सहायेन पृथिवीं पाण्डवर्षभः ॥ ११ ॥

'पहले तुम अर्जुनका प्रिय सारथि रह चुकी हो । तुम्हारी सहायतासे उन पाण्डवशिरोमणिने समूची पृथ्वीपर विजय पायी है ॥ ११ ॥

सा सारथ्यं मम भ्रातुः कुरु साधु बृहन्नले ।
पुरा दूरतरं गावो ह्रियन्ते कुरुभिर्हि नः ॥ १२ ॥

'अतः बृहन्नले ! इसके पहले कि कौरवलोग हमारी गौओंको बहुत दूर लेकर चले जायँ, तुम मेरे भाईके सारथिका कार्य अच्छी तरह कर दो ॥ १२ ॥

अथैतद् वचनं मेऽद्य नियुक्ता न करिष्यसि ।
प्रणयादुच्यमाना त्वं परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ १३ ॥

'सखी ! मैं बड़े प्रेमसे यह बात कहती हूँ । यदि आज इतना अनुरोध करनेपर भी तुम मेरी बात नहीं मानोगी, तो मैं प्राण त्याग दूँगी' ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु सुश्रोण्या तया सख्या परंतपः ।
जगाम राजपुत्रस्य सकाशममितौजसः ॥ १४ ॥
तमाव्रजन्तं त्वरितं प्रभिन्नमिव कुञ्जरम् ।
अन्वगच्छद् विशालाक्षी गजं गजवधूरिव ॥ १५ ॥

सुन्दर कटिप्रदेशवाली सखी उत्तराके ऐसा कहनेपर शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुन अमितपराक्रमी राजकुमार उत्तरके समीप गये । मद टपकानेवाले गजराजकी भाँति शीघ्रतापूर्वक आते हुए अर्जुनके पीछे-पीछे विशाल नेत्रोंवाली उत्तरा भी आयी; ठीक उसी तरह, जैसे हथिनी हाथीके पीछे-पीछे जाती है ॥ १४-१५ ॥

दूरादेव तु तां प्रेक्ष्य राजपुत्रोऽभ्यभाषत ।
त्वया सारथिना पार्थः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ॥ १६ ॥
पृथिवीमजयत् कृत्स्नां कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
सैरन्ध्री त्वां समाचष्ट सा हि जानाति पाण्डवान् ॥ १७ ॥

राजकुमार उत्तरने बृहन्नलाको दूरसे ही देखकर इस प्रकार कहा—'बृहन्नले ! अर्जुनने तुम्हें सारथि बनाकर खाण्डववनमें अग्निको तृप्त किया था । इतना ही नहीं, कुन्तीपुत्र धनंजयने तुम-जैसे सारथिके सहयोगसे ही समूची पृथ्वीपर विजय पायी है ।' तुम्हारे विषयमें यह बात सैरन्ध्री कह रही थी, क्योंकि वह पाण्डवोंको अच्छी तरह जानती है ॥ १६-१७ ॥

संयच्छ मामकानश्वांस्तथैव त्वं बृहन्नले ।
कुरुभिर्योत्स्यमानस्य गोधनानि परीप्सतः ॥ १८ ॥

'बृहन्नले ! तुम अर्जुनकी ही भाँति मेरे घोड़ोंको भी काबूमें रखना, क्योंकि मैं अपना गोधन वापस लेनेके लिये कौरवोंके साथ युद्ध करनेवाला हूँ ॥ १८ ॥

अर्जुनस्य किलासीस्त्वं सारथिर्दयितः पुरा ।
त्वयाजयत् सहायेन पृथिवीं पाण्डवर्षभः ॥ १९ ॥

'पहले तुम अर्जुनका प्रिय सारथि रह चुकी हो और तुम्हारी ही सहायतासे उन पाण्डवशिरोमणिने समूची पृथ्वीपर विजय पायी है' ॥ १९ ॥

एवमुक्ता प्रत्युवाच राजपुत्रं बृहन्नला ।
का शक्तिर्मम सारथ्यं कर्तुं संग्राममूर्धनि ॥ २० ॥

उसके ऐसा कहनेपर बृहन्नला राजकुमारसे बोली—'भला, मेरी क्या शक्ति है कि मैं युद्धके मुहानेपर सारथिका काम सँभाल सकूँ ? ॥ २० ॥

गीतं वा यदि वा नृत्यं वादित्रं वा पृथग्विधम् ।
तत् करिष्यामि भद्रं ते सारथ्यं तु कुतो मम ॥ २१ ॥

'राजकुमार ! आपका कल्याण हो । यदि गाना हो, नृत्य करना हो अथवा विभिन्न प्रकारके बाजे बजाने हों, तो वह कर लूँगी । सारथिका काम मुझसे कैसे हो सकता है ?' ॥२१॥

उत्तर उवाच

बृहन्नले गायनो वा नर्तनो वा पुनर्भव ।
क्षिप्रं मे रथमास्थाय निगृह्णीष्व हयोत्तमान् ॥ २२ ॥

उत्तर बोला—बृहन्नले ! तुम पुनः लौटकर गायक या नर्तक जो चाहो, बन जाना । इस समय तो शीघ्र ही मेरे रथपर बैठकर श्रेष्ठ घोड़ोंको काबूमें करो ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

स तत्र नर्मसंयुक्तमकरोत् पाण्डवो बहु ।
उत्तरायाः प्रमुखतः सर्वं जानन्नरिंदमः ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शत्रुओंका दमन करनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने सब कुछ जानते हुए भी उत्तराके सामने हँसीके लिये बहुत-से अनभिज्ञतासूचक कार्य किये ॥ २३ ॥

ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य कवचं शरीरे प्रत्यमुञ्चत ।
कुमार्यस्तत्र तं दृष्ट्वा प्राहसन् पृथुलोचनाः ॥ २४ ॥

वे कवचको ऊपर उठाकर शरीरमें डालने लगे । यह देखकर वहाँ खड़ी हुई बड़े-बड़े नेत्रोंवाली राजकुमारियाँ हँसने लगीं ॥ २४ ॥

स तु दृष्ट्वा विमुह्यन्तं स्वयमेवोत्तरस्ततः ।
कवचेन महार्हेण समनह्यद् बृहन्नलाम् ॥ २५ ॥

बृहन्नलाको (कवच धारणके समय) भूल करती देख राजकुमार उत्तरने स्वयं ही उसे बहुमूल्य कवच धारण कराया ॥ २५ ॥

स बिभ्रत् कवचं चाग्र्यं स्वयमप्यंशुमत्प्रभम् ।
ध्वजं च सिंहमुच्छ्रित्य सारथ्ये समकल्पयत् ॥ २६ ॥

फिर उसने स्वयं भी सूर्यके समान कान्तिमान् सुन्दर कवच धारण किया और रथपर सिंहध्वज फहराकर बृहन्नलाको सारथिके कार्यमें नियुक्त कर दिया ॥ २६ ॥

धनूंषि च महार्हाणि बाणांश्च रुचिरान् बहून् ।
आदाय प्रययौ वीरः स बृहन्नलसारथिः ॥ २७ ॥

तदनन्तर बहुत-से बहुमूल्य धनुष और सुन्दर बाण लेकर वीर उत्तर बृहन्नला सारथिके साथ युद्धके लिये प्रस्थित हुआ ॥ २७ ॥

अथोत्तरा च कन्याश्च सख्यस्तामब्रुवंस्तदा ।
बृहन्नले आनयेथा वासांसि रुचिराणि च ॥ २८ ॥
पाञ्चालिकार्थं चित्राणि सूक्ष्माणि च मृदूनि च ।
विजित्य संग्रामगतान् भीष्मद्रोणमुखान् कुरून् ॥२९॥

उस समय उत्तरा और उसकी सखीरूपा दूसरी राजकन्याओंने कहा—'बृहन्नले ! तुम युद्धभूमिमें आये हुए भीष्म, द्रोण आदि प्रमुख कौरववीरोंको जीतकर हमारी गुड़ियोंके लिये उनके महीन, कोमल और विचित्र रंगके सुन्दर-सुन्दर वस्त्र ले आना' ॥ २८-२९ ॥

एवं ता ब्रुवतीः कन्याः सहिताः पाण्डुनन्दनः ।
प्रत्युवाच हसन् पार्थो मेघदुन्दुभिनिःस्वनः ॥ ३० ॥

ऐसा कहती हुई उन सब कन्याओंसे पाण्डुनन्दन अर्जुनने हँसते हुए मेघ और दुन्दुभिके समान गम्भीर वाणीमें कहा ॥

बृहन्नलोवाच

यद्युत्तरोऽयं संग्रामे विजेष्यति महारथान् ।
अथाहरिष्ये वासांसि दिव्यानि रुचिराणि च ॥ ३१ ॥

बृहन्नला बोली—यदि ये राजकुमार उत्तर रणभूमिमें उन महारथियोंको परास्त कर देंगे, तो मैं अवश्य उनके दिव्य और सुन्दर वस्त्र ले आऊँगी ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु बीभत्सुस्ततः प्राचोदयद्धयान् ।
कुरूनभिमुखः शूरो नानाध्वजपताकिनः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर शूरवीर अर्जुनने भाँति-भाँतिकी ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित कौरवोंकी ओर जानेके लिये घोड़ोंको हाँक दिया ॥ ३२ ॥

तमुत्तरं वीक्ष्य रथोत्तमे स्थितं
बृहन्नलायाः सहितं महाभुजम् ।
स्त्रियश्च कन्याश्च द्विजाश्च सुव्रताः
प्रदक्षिणं चक्रुरथोचुरङ्गनाः ॥ ३३ ॥

बृहन्नलाके साथ उत्तम रथपर बैठे हुए महाबाहु उत्तरको जाते देख स्त्रियों, कन्याओं तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंने उसकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की । तत्पश्चात् स्त्रियाँ और कन्याएँ बोलीं—॥ ३३ ॥

यदर्जुनस्यर्षभतुल्यगामिनः
पुराभवत् खाण्डवदाहमङ्गलम् ।
कुरून् समासाद्य रणे बृहन्नले
सहोत्तरेणाद्य तदस्तु मङ्गलम् ॥ ३४ ॥

'बृहन्नले ! वृषभके समान गतिवाले अर्जुनको पहले खाण्डववनदाहके समय जैसा मङ्गल प्राप्त हुआ था, आज युद्धमें कौरवोंके पास पहुँचनेपर राजकुमार उत्तरके साथ तुम्हें वैसा ही मङ्गल प्राप्त हो' ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे उत्तरनिर्याणं नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें राजकुमार उत्तरका युद्धके लिये प्रस्थानविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

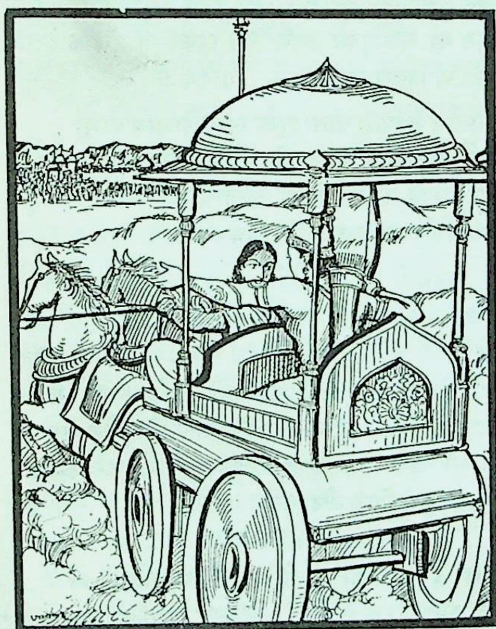
अष्टात्रिंशोऽध्यायः

उत्तरकुमारका भय और अर्जुनका उसे आश्वासन देकर रथपर चढ़ाना

वैशम्पायन उवाच

स राजधान्या निर्याय वैराटिरकुतोभयः ।
प्रयाहीत्यब्रवीत् सूतं यत्र ते कुरवो गताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजधानीसे निकलकर विराटकुमार उत्तरने सर्वथा निर्भय हो सारथिसे कहा—'बृहन्नले ! जहाँ कौरव गये हैं, उधर ही रथ ले चलो ॥ १ ॥



समवेतान् कुरून् सर्वाञ्जिगीषूनवजित्य वै ।
गास्तेषां क्षिप्रमादाय पुनरेष्याम्यहं पुरम् ॥ २ ॥

'मैं यहाँ विजयकी आशासे एकत्र होनेवाले समस्त कौरवोंको परास्त करके उनसे अपनी गौएँ वापस ले शीघ्र अपने नगरमें लौट आऊँगा' ॥ २ ॥

ततस्तांश्चोदयामास सदश्वान् पाण्डुनन्दनः ।
ते हया नरसिंहेन नोदिता वातरंहसः ।
आलिखन्त इवाकाशमूहुः काञ्चनमालिनः ॥ ३ ॥

तब पाण्डुनन्दन अर्जुनने उत्तरके उत्तम जातिके घोड़ोंको हाँका और उनकी बाग ढीली कर दी । नरश्रेष्ठ अर्जुनके हाँकनेपर सोनेकी माला पहने हुए वे घोड़े हवाके समान वेगसे चलने लगे, मानो आकाशमें अपनी टाप अड़ाते हुए रथ लिये उड़े जा रहे हों ॥ ३ ॥

नातिदूरमथो गत्वा मत्स्यपुत्रधनंजयौ ।
अवेक्षेताममित्रघ्नौ कुरूणां बलिनां बलम् ॥ ४ ॥

थोड़ी ही दूर जानेपर शत्रुहन्ता विराटपुत्र उत्तर और धनंजयने महाबली कौरवोंकी विशाल सेना देखी ॥ ४ ॥

श्मशानमभितो गत्वा आससाद कुरूनथ ।
तां शमीमन्ववीक्षेतां व्यूढानीकांश्च सर्वशः ॥ ५ ॥

श्मशानभूमिके समीप जाकर उन्होंने कौरवोंको पा लिया । वे दोनों उस शमीवृक्षके आसपास सब ओर सेनाका व्यूह बनाकर खड़े हुए कौरव-सैनिकोंकी ओर देखने लगे ॥ ५ ॥

तदनीकं महत् तेषां विबभौ सागरोपमम् ।
सर्पमाणमिवाकाशे वनं बहुलपादपम् ॥ ६ ॥

उनकी वह विशाल वाहिनी समुद्रके समान जान पड़ती थी । जब वह चलती, तब ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशमें असंख्य वृक्षोंसे भरा हुआ वन चल रहा हो ॥ ६ ॥

ददृशे पार्थिवो रेणुर्जनितस्तेन सर्पता ।
दृष्टिप्रणाशो भूतानां दिवस्पृक् कुरुसत्तम ॥ ७ ॥

कुरुश्रेष्ठ जनमेजय ! कौरव-सेनाके चलनेसे ऊपर उठी हुई धरतीकी धूल अन्तरिक्षको छूती-सी दिखायी देती थी । उसके कारण समस्त प्राणियोंकी दृष्टिका लोप-सा हो गया था—किसीको कुछ सूझ नहीं पड़ता था ॥ ७ ॥

तदनीकं महद् दृष्ट्वा गजाश्वरथसंकुलम् ।
कर्णदुर्योधनकृपैर्गुप्तं शान्तनवेन च ॥ ८ ॥
द्रोणेन च सपुत्रेण महेष्वासेन धीमता ।
हृष्टरोमा भयोद्विग्नः पार्थं वैराटिरब्रवीत् ॥ ९ ॥

वह भारी सेना हाथी, घोड़ों एवं रथोंसे भरी हुई थी । कर्ण, दुर्योधन, कृपाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा और महान्

धनुर्धर एवं परम बुद्धिमान् द्रोण उसकी रक्षा कर रहे थे। उसे देखकर विराटपुत्र उत्तरके रोंगटे खड़े हो गये। उसने भयसे व्याकुल होकर अर्जुनसे कहा ॥ ८-९ ॥

उत्तर उवाच

नोत्सहे कुरुभिर्योद्धुं रोमहर्षं हि पश्य मे ।
बहुप्रवीरमत्युग्रं देवैरपि दुरासदम् ॥ १० ॥

उत्तर बोला—बृहन्नले ! मुझमें कौरवोंके साथ युद्ध करनेका साहस नहीं है; क्योंकि देखो, भयके कारण मेरे रोएँ खड़े हो गये हैं। इस सेनाके भीतर बहुतेरे बड़े-बड़े वीर हैं। यह बड़ी भयानक जान पड़ती है। इसे परास्त करना तो देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है ॥ १० ॥

प्रतियोद्धुं न शक्ष्यामि कुरुसैन्यमनन्तकम्।
नाशंसे भारतीं सेनां प्रवेष्टुं भीमकार्मुकाम् ॥ ११ ॥

कौरवोंकी सेनाका कहीं अन्त नहीं है। मैं इसका सामना नहीं कर सकता। भयानक धनुषवाली भरतवंशियोंकी इस विशाल वाहिनीमें प्रवेश करना तो दूर रहे, मैं उसके सम्बन्धमें बात भी नहीं कर सकता ॥ ११ ॥

रथनागाश्वकलिलां पत्तिध्वजसमाकुलाम् ।
दृष्ट्वैव हि परानाजौ मनः प्रव्यथतीव मे ॥ १२ ॥

रथ, हाथी और घोड़ोंसे यह कौरवदल खचाखच भरा हुआ है। पैदल सिपाहियों और असंख्य ध्वजाओंसे व्याप्त है। इसलिये रणभूमिमें इन शत्रुओंको देखकर ही मेरा हृदय व्यथित-सा हो गया है ॥ १२ ॥

यत्र द्रोणश्च भीष्मश्च कृपः कर्णो विविंशतिः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तश्च बाह्लिकः ॥ १३ ॥
दुर्योधनस्तथा वीरो राजा च रथिनां वरः ।
द्युतिमन्तो महेष्वासाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ १४ ॥

जहाँ द्रोण, भीष्म, कृप, कर्ण, विविंशति, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक तथा रथियोंमें श्रेष्ठ वीर राजा दुर्योधन हैं। जो सबके सब तेजस्वी, महान् धनुर्धर और युद्धकी कलामें प्रवीण हैं ॥ १३-१४ ॥

(मत्ता इव महानागा युक्तध्वजपताकिनः ।
नीतिमन्तो महेष्वासा सर्वास्त्रकृतनिश्चयाः ॥
दुर्जयाः सर्वसैन्यानां देवैरपि सवासवैः ।
पताकिनश्च मातङ्गाः सध्वजाश्च महारथाः ॥
विप्रकीर्णाः कृतोद्योगा वाजिनश्चित्रभूषिताः ।
ताञ्जेतुं समरे शूरान् दुर्बुद्धिरहमागतः ॥)

ये कौरववीर मदसे उन्मत्त हुए महान् गजराजोंके समान जान पड़ते हैं। ये सबके सब ध्वजा-पताकाओंसे युक्त, नीति-निपुण, महाधनुर्धर तथा सम्पूर्ण अस्त्रविद्याका सुनिश्चित ज्ञान रखते हैं। इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये ही नहीं, इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है। इनके हाथियोंपर भी पताकाएँ फहरा रही हैं। बड़े-बड़े रथ ध्वजाओंसे सुशोभित हो रहे हैं। विचित्र आभूषणोंसे आभूषित घोड़े चारों ओर फैलकर विजयके लिये उद्योगशील प्रतीत होते हैं। ऐसे शूरवीर कौरवोंको युद्धमें जीतनेके लिये मैं दुर्बुद्धि बालक कहाँ आ गया ? ॥

दृष्ट्वैव हि कुरूनेतान् व्यूढानीकान् प्रहारिणः ।
हृषितानि च रोमाणि कश्मलं चागतं मम ॥ १५ ॥

सेनाकी व्यूहरचना करके प्रहारके लिये उद्यत खड़े हुए इन कौरवोंको देखकर ही मेरे रोंगटे खड़े हो गये हैं। मुझे मूर्च्छा-सी आ रही है ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

अविजातो विजातस्य मौर्ख्याद् धूर्तस्य पश्यतः।
परिदेवयते मन्दः सकाशे सव्यसाचिनः ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मूर्ख उत्तर एक साधारण कोटिका मनुष्य था और छद्मवेशधारी सव्यसाची अर्जुन असाधारण वीर थे। अतः उनके प्रभावको न जाननेके कारण वह मूर्खतावश उनके पास रहकर भी उन्हींके देखते-देखते यों विलाप करने लगा— ॥ १६ ॥

त्रिगर्तान् मे पिता यातः शून्ये सम्प्रणिधाय माम्।
सर्वां सेनामुपादाय न मे सन्तीह सैनिकाः ॥ १७ ॥
सोऽहमेको बहून् बालः कृतास्त्रानकृतश्रमः ।
प्रतियोद्धुं न शक्ष्यामि निवर्तस्व बृहन्नले ॥ १८ ॥

'बृहन्नले ! मेरे पिता सूने नगरमें उसकी रक्षाके लिये मुझे अकेला रखकर स्वयं सारी सेना साथ ले त्रिगर्तोंसे युद्ध करनेके लिये गये हैं। मेरे पास यहाँ कोई सैनिक नहीं है। मैं अकेला बालक हूँ और मैंने अस्त्रविद्यामें अभी अधिक परिश्रम भी नहीं किया है। ऐसी दशामें अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता और प्रौढ़ अवस्थावाले इन बहुसंख्यक कौरवोंका सामना मैं नहीं कर सकूँगा। अतः तुम रथ लेकर लौट चलो' ॥ १७-१८ ॥

बृहन्नलोवाच

भयेन दीनरूपोऽसि द्विषतां हर्षवर्धनः ।
न च तावत् कृतं कर्म परैः किंचिद् रणाजिरे ॥ १९ ॥

बृहन्नलाने कहा—राजकुमार ! तुम भयके कारण दीन होकर शत्रुओंका हर्ष बढ़ा रहे हो। अभी तो शत्रुओंने युद्धके मैदानमें कोई पराक्रम भी नहीं प्रकट किया है ॥ १९ ॥

स्वयमेव च मामात्थ वह मां कौरवान् प्रति ।
सोऽहं त्वां तत्र नेष्यामि यत्रैते बहुला ध्वजाः ॥ २० ॥

तुमने स्वयं ही कहा था कि मुझे कौरवोंके पास ले चलो; अतः जहाँ ये बहुत-सी ध्वजाएँ फहरा रही हैं, वहीं तुम्हें ले चलूँगा ॥

मध्यमामिषगृध्राणां कुरूणामाततायिनाम् ।
नेष्यामि त्वां महाबाहो पृथिव्यामपि युध्यताम् ॥ २१ ॥

महाबाहो ! जैसे गीध मांसपर टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार जो गौओंको लूटनेके लिये यहाँ आये हैं, उन आततायी कौरवोंके बीच तुम्हें ले चलती हूँ। यदि ये पृथ्वीके लिये भी युद्ध ठानेंगे तो उसमें भी मैं तुम्हें ले चलूँगी ॥ २१ ॥

तथा स्त्रीषु प्रतिश्रुत्य पौरुषं पुरुषेषु च ।
कत्थमानोऽभिनिर्याय किमर्थं न युयुत्ससे ॥ २२ ॥

तुम स्त्रियों और पुरुषोंके बीच कौरवोंको हराकर अपने गोधनको वापस लानेकी प्रतिज्ञा करके पुरुषार्थके विषयमें अपनी श्लाघा करते हुए युद्धके लिये निकले थे; फिर अब क्यों युद्ध नहीं करना चाहते ? ॥ २२ ॥

न चेद् विजित्य गास्तास्त्वं गृहान् वै प्रतियास्यसि।
प्रहसिष्यन्ति वीरास्त्वां नरा नार्यश्च संगताः ॥ २३ ॥

यदि उन गौओंको बिना जीते ही तुम घर लौटोगे, तो वीर पुरुष तुम्हारी हँसी उड़ायेंगे और यत्र-तत्र स्त्रियाँ और पुरुष एकत्र हो तुम्हारा उपहास करेंगे ॥ २३ ॥

अहमप्यत्र सैरन्ध्र्या ख्याता सारथ्यकर्मणि ।
न च शक्ष्याम्यनिर्जित्य गाः प्रयातुं पुरं प्रति ॥ २४ ॥

मैं भी सैरन्ध्रीके द्वारा सारथ्यके कार्यमें कुशल बतायी गयी हूँ, अतः अब गौओंको जीतकर वापस लिये बिना मैं नगरमें नहीं जा सकूँगी ॥ २४ ॥

स्तोत्रेण चैव सैरन्ध्र्यास्तव वाक्येन तेन च ।
कथं न युध्येयमहं कुरून् सर्वान् स्थिरो भव ॥ २५ ॥

सैरन्ध्री और तुमने भी बड़ी-बड़ी बातें कहकर मेरी बहुत स्तुति-प्रशंसा की है, फिर सम्पूर्ण कौरवोंके साथ मैं ही क्यों न युद्ध करूँ ? तुम दृढ़तापूर्वक डट जाओ ॥ २५ ॥

उत्तर उवाच

कामं हरन्तु मत्स्यानां भूयांसः कुरवो धनम् ।
प्रहसन्तु च मां नार्यो नरा वापि बृहन्नले ॥ २६ ॥
संग्रामे न च कार्यं मे गावो गच्छन्तु चापि मे।
शून्यं मे नगरं चापि पितुश्चैव बिभेम्यहम् ॥ २७ ॥

उत्तर बोला—बृहन्नले ! भारी संख्यामे आये हुए कौरव भले ही मत्स्यदेशका सारा धन इच्छानुसार हर ले जायँ, स्त्रियाँ अथवा पुरुष जितना चाहें, मेरा उपहास करें तथा मेरी गौएँ भी चली जायँ; किंतु इस युद्धमें मेरा कोई काम नहीं है। मेरा नगर सूना पड़ा है। [पिताजी उसकी रक्षाका भार मुझे दे गये थे]। मैं पिताजीसे डरता हूँ [इसलिये यहाँ नहीं ठहर सकता] ॥ २६-२७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्राद्रवद् भीतो रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली।
त्यक्त्वा मानं च दर्पं च विसृज्य सशरं धनुः ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर मान और अभिमानको त्यागकर बाणसहित धनुषको वहीं छोड़कर कुण्डलधारी राजकुमार उत्तर रथसे कूद पड़ा और भयभीत होकर भाग चला ॥ २८ ॥

बृहन्नलोवाच

नैष शूरैः स्मृतो धर्मः क्षत्रियस्य पलायनम् ।
श्रेयस्तु मरणं युद्धे न भीतस्य पलायनम् ॥ २९ ॥

तब बृहन्नलाने कहा—राजकुमार ! क्षत्रियका युद्धसे भागना शूरवीरोंकी दृष्टिमें धर्म नहीं है। युद्ध करके मर जाना अच्छा है; किंतु भयभीत होकर भागना कदापि अच्छा नहीं है॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु कौन्तेयः सोऽवप्लुत्य रथोत्तमात्।
तमन्वधावद् धावन्तं राजपुत्रं धनंजयः ॥ ३० ॥
दीर्घां वेणीं विधुन्वानः साधु रक्ते च वाससी।
विधूय वेणीं धावन्तमजानन्तोऽर्जुनं तदा ॥ ३१ ॥
सैनिकाः प्राहसन् केचित् तथारूपमवेक्ष्य तम् ।
तं शीघ्रमभिधावन्तं सम्प्रेक्ष्य कुरवोऽब्रुवन् ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर कुन्ती-नन्दन धनंजय भी उस उत्तम रथसे कूद पड़े और भागते हुए राजकुमारको पकड़नेके लिये अपनी लंबी चोटी हिलाते और लाल रंगकी साड़ी एवं दुपट्टेको फहराते हुए उसके पीछे-पीछे



दौड़े। उस समय चोटी हिला-हिलाकर दौड़ते हुए अर्जुनको उस रूपमें देखकर उन्हें न जाननेवाले कुछ सैनिक ठहाका

मारकर हँसने लगे। उन्हें शीघ्र गतिसे दौड़ते देख कौरव आपसमें कहने लगे—॥ ३०—३२ ॥

क एष वेषसंच्छन्नो भस्मन्येव हुताशनः।
किंचिदस्य यथा पुंसः किंचिदस्य यथा स्त्रियः॥ ३३॥

'यह कौन है जो राखमें छिपी हुई अग्निकी भाँति नारीके वेशमें छिपा है ? इसकी कुछ बातें तो पुरुषों-जैसी हैं और कुछ स्त्रियों-जैसी ॥ ३३ ॥

सारूप्यमर्जुनस्येव क्लीबरूपं बिभर्ति च।
तदेवैतच्छिरो ग्रीवं तौ बाहू परिघोपमौ।
तद्वदेवास्य विक्रान्तं नायमन्यो धनंजयात्॥ ३४॥

'इसका स्वरूप तो अर्जुनसे मिलता-जुलता है; किंतु वेश-भूषा इसने नपुंसकों-जैसी बना रक्खी है। देखो न, वही अर्जुन-जैसा सिर है, वैसी ही ग्रीवा है, वे ही परिघ-जैसी मोटी भुजाएँ हैं और उन्हींके समान इसकी चाल-ढाल है; अतः यह अर्जुनके सिवा दूसरा कोई नहीं है ॥ ३४ ॥

अमरेष्विव देवेन्द्रो मानुषेषु धनंजयः।
एकः कोऽस्मानुपायायादन्यो लोके धनंजयात्॥ ३५॥

'मनुष्योंमें धनंजयका वही स्थान है, जो देवताओंमें इन्द्रका है। संसारमें अर्जुनके सिवा दूसरा कौन वीर है, जो अकेला हमलोगोंका सामना करनेके लिये चला आये ? ॥ ३५॥

एकः पुत्रो विराटस्य शून्ये संनिहितः पुरे।
स एष किल निर्यातो बालभावान्न पौरुषात्॥ ३६॥

'विराटके सूने नगरमें उनका एक ही पुत्र देख-रेखके लिये रह गया था; सो यह बचपन (मूर्खता) के ही कारण हमारा सामना करनेके लिये चला आया, अपने पुरुषार्थसे प्रेरित होकर नहीं ॥ ३६ ॥

सत्रेण नूनं छन्नं हि चरन्तं पार्थमर्जुनम्।
उत्तरः सारथिं कृत्वा निर्यातो नगराद् बहिः॥ ३७॥

'निश्चय ही कपटवेशमें छिपे हुए कुन्तीपुत्र अर्जुनको अपना सारथि बनाकर उत्तर नगरसे बाहर निकला था ॥

स नो मन्यामहे दृष्ट्वा भीत एष पलायते।
तं नूनमेष धावन्तं जिघृक्षति धनंजयः॥ ३८॥

'मालूम होता है, हमलोगोंको देखकर यह बहुत डर गया है; इसीलिये भागा जाता है और ये अर्जुन अवश्य ही उस भागते हुए राजकुमारको पकड़ लाना चाहते हैं' ॥ ३८॥

वैशम्पायन उवाच

इति स्म कुरवः सर्वे विमृशन्तः पृथक् पृथक्।
न च व्यवसितुं किंचिदुत्तरं शक्नुवन्ति ते॥ ३९॥
छन्नं तथा तं सत्रेण पाण्डवं प्रेक्ष्य भारत।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! इस प्रकार सभी कौरव अलग-अलग विचार-विमर्श करते थे, किंतु छद्मवेशमें छिपे हुए पाण्डुनन्दन अर्जुन तथा उत्तरको देखकर भी वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाते थे ॥ ३९½ ॥

(दुर्योधन उवाचेदं सैनिकान् रथसत्तमान्॥
अर्जुनो वासुदेवो वा रामः प्रद्युम्न एव वा।
ते हि नः प्रतिसंयातुं संग्रामे न च शक्नुयुः॥
अन्यो वा क्लीबरूपेण यद्यागच्छेद् गवां पदम्।
अर्पयित्वा शरैस्तीक्ष्णैः पातयिष्यामि भूतले॥
कथमेकतरस्तेषां समस्तान् योधयेत् कुरून्।
अर्जुनो नेति चेत्येनं न व्यवस्यन्ति ते पुनः।
इति स्म कुरवः सर्वे मन्त्रयन्तो महारथाः॥
दृढवेधी महासत्त्वः शक्रतुल्यपराक्रमः।
अद्यागच्छति ये योद्धुं सर्वं संशयितं बलम्॥
न चाप्यन्यं नरं तत्र व्यवस्यन्ति धनंजयात्।)

उस समय दुर्योधनने रथियोंमें श्रेष्ठ समस्त सैनिकोंसे इस प्रकार कहा—'अर्जुन, श्रीकृष्ण, बलराम और प्रद्युम्न भी संग्राम-भूमिमें हमलोगोंका सामना नहीं कर सकते। यदि कोई दूसरा मनुष्य ही हीजड़ेका रूप धारण करके इन गौओंके स्थानपर आयेगा, तो मैं उसे अपने तीखे बाणोंसे घायल करके धरतीपर सुला दूँगा। यह उपर्युक्त वीरोंमेंसे ही कोई एक हो, तो भी अकेला समस्त कौरवोंके साथ कैसे युद्ध कर सकता है ?' उधर 'यह अर्जुन ही तो नहीं हैं ? नहीं, वे नहीं जान पड़ते।' इस प्रकार आपसमें मन्त्रणा करते हुए समस्त कौरव महारथी अर्जुनके विषयमें कोई निश्चय नहीं कर पाते थे। कई एक कहने लगे कि 'अर्जुनकी शक्ति महान् है। उनका पराक्रम इन्द्रके समान है। वे दृढ़तापूर्वक शत्रुओंका वेधन करनेवाले हैं। यदि वे ही आज युद्ध करनेके लिये आ रहे हैं, तब तो समस्त सैनिकोंका जीवन संशयमें पड़ गया।' वे इस मनुष्यको वहाँ अर्जुनसे भिन्न भी नहीं निश्चित कर पाते थे ॥

उत्तरं तु प्रधावन्तमभिद्रुत्य धनंजयः।
गत्वा पदशतं तूर्णं केशपक्षे परामृशत्॥ ४०॥

उधर अर्जुनने भागते हुए उत्तरका पीछा करके सौ कदम दूर जाते-जाते उसके केश पकड़ लिये ॥ ४० ॥

सोऽर्जुनेन परामृष्टः पर्यदेवयदार्तवत्।
बहुलं कृपणं चैव विराटस्य सुतस्तदा॥ ४१॥

अर्जुनके द्वारा पकड़ लिये जानेपर विराटपुत्र उत्तर बड़ी दीनताके साथ आर्तकी भाँति विलाप करने लगा ॥ ४१ ॥

उत्तर उवाच

शृणुयास्त्वं हि कल्याणि बृहन्नले सुमध्यमे।
निवर्तय रथं क्षिप्रं जीवन् भद्राणि पश्यति॥ ४२॥

उत्तर बोला—सुन्दर कटिवाली कल्याणमयी बृहन्नले !

तुम मेरी बात सुनो । मेरे रथको शीघ्र लौटाओ; क्योंकि मनुष्य जीवित रहे, तो वह अनेक बार मङ्गल देखता है ॥४२॥

शातकुम्भस्य शुद्धस्य शतं निष्कान् ददामि ते ।
मणीनष्टौ च वैदूर्यान् हेमबद्धान् महाप्रभान् ॥ ४३ ॥

मैं तुम्हें शुद्ध सुवर्णकी सौ मोहरें देता हूँ, साथ ही अत्यन्त प्रकाशमान स्वर्णजटित आठ वैदूर्यमणियाँ भेंट करता हूँ ॥ ४३ ॥

हेमदण्डप्रतिच्छन्नं रथं युक्तं च सुव्रतैः ।
मत्तांश्च दश मातङ्गान् मुञ्च मां त्वं बृहन्नले ॥ ४४ ॥

इतना ही नहीं, उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए तथा सुवर्णमय दण्डसे युक्त एक रथ और दस मतवाले हाथी भी दे रहा हूँ । बृहन्नले ! यह सब ले लो, किंतु तुम मुझे छोड़ दो॥

वैशम्पायन उवाच

एवमादीनि वाक्यानि विलपन्तमचेतसम् ।
प्रहस्य पुरुषव्याघ्रो रथस्यान्तिकमानयत् ॥ ४५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उत्तर इसी प्रकारकी बातें कहता और विलाप करता हुआ अचेत हो रहा था । पुरुषसिंह अर्जुन उसकी बातोंपर हँसते हुए उसे रथके समीप ले आये ॥ ४५ ॥

अथैनमब्रवीत् पार्थो भयार्तं नष्टचेतसम् ।
यदि नोत्सहसे योद्धुं शत्रुभिः शत्रुकर्षण ।
एहि मे त्वं हयान् यच्छ युध्यमानस्य शत्रुभिः ॥ ४६ ॥

जब वह भयसे आतुर होकर अपनी सुध-बुध खोने लगा तब अर्जुनने उससे कहा—'शत्रुनाशन ! यदि तुम्हें शत्रुओंके साथ युद्ध करनेका उत्साह नहीं है तो चलो; मैं उनसे युद्ध करूँगा । तुम मेरे घोड़ोंकी बागडोर सँभालो ।४६।

प्रयाह्येतद् रथानीकं मद्बाहुबलरक्षितः ।
अप्रधृष्यतमं घोरं गुप्तं वीरैर्महारथैः ॥ ४७ ॥

'तुम मेरे बाहुबलसे सुरक्षित हो इस रथ-सेनाकी ओर चलो, जो महारथी वीरोंसे सुरक्षित, घोर एवं अत्यन्त दुर्धर्ष है ॥४७॥

मा भैस्त्वं राजपुत्राग्र्य क्षत्रियोऽसि परंतप ।
कथं पुरुषशार्दूल शत्रुमध्ये विषीदसि ॥ ४८ ॥

'राजपुत्रशिरोमणे ! भयभीत न होओ । शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर ! तुम क्षत्रिय हो, पुरुषसिंह ! तुम शत्रुओंके बीचमें आकर विषाद कैसे कर रहे हो ? ॥ ४८ ॥

अहं वै कुरुभिर्योत्स्ये विजेष्यामि च ते पशून् ।
प्रविश्यैतद् रथानीकमप्रधृष्यं दुरासदम् ॥ ४९ ॥

'देखो, मैं इस अतीव दुर्धर्ष तथा दुर्गम रथसेनामें घुसकर कौरवोंके साथ युद्ध करूँगा और तुम्हारे पशुओंको जीत लाऊँगा ॥ ४९ ॥

यन्ता भव नरश्रेष्ठ योत्स्येऽहं कुरुभिः सह ।

'नरश्रेष्ठ ! तुम केवल मेरे सारथि बनकर बैठे रहो । इन कौरवोंके साथ युद्ध तो मैं करूँगा' ॥ ४९½ ॥

एवं ब्रुवाणो बीभत्सुर्वैराटिमपराजितः ।
समाश्वास्य मुहूर्तं तमुत्तरं भरतर्षभ ॥ ५० ॥
तत एनं विचेष्टन्तमकामं भयपीडितम् ।
रथमारोपयामास पार्थः प्रहरतां वरः ॥ ५१ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ और कभी परास्त न होनेवाले कुन्तीपुत्र अर्जुनने उपर्युक्त बातें कहकर विराटकुमार उत्तरको दो घड़ीतक भलीभाँति समझाया-बुझाया । तत्पश्चात् युद्धकी कामनासे रहित, भयसे व्याकुल और भागनेके लिये छटपटाते हुए उत्तरको उन्होंने रथ-पर चढ़ाया ॥ ५०-५१ ॥

(गाण्डीवं पुनरादातुमुपायात् तां शमीं प्रति ॥
उत्तरं स समाश्वास्य कृत्वा यन्तारमर्जुनः ।)

अर्जुन अपने गाण्डीव धनुषको लानेके लिये पुनः उस शमीवृक्ष-की ओर गये । उन्होंने उत्तरको समझा-बुझाकर सारथि बननेके लिये राजी कर लिया था ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे उत्तराश्वासने अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशामें गौओंके अपहरणके प्रसंगमें उत्तरके आश्वासनसे सम्बन्ध रखनेवाला अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९½ श्लोक मिलाकर कुल ६०½ श्लोक हैं)

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

द्रोणाचार्यद्वारा अर्जुनके अलौकिक पराक्रमकी प्रशंसा

वैशम्पायन उवाच

तं दृष्ट्वा क्लीबवेषेण रथस्थं नरपुङ्गवम् ।
शमीमभिमुखं यान्तं रथमारोप्य चोत्तरम् ॥ १ ॥
भीष्मद्रोणमुखास्तत्र कुरवो रथिसत्तमाः ।
वित्रस्तमनसः सर्वे धनंजयकृताद् भयात् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! नपुंसकवेषमें रथपर बैठे हुए नरश्रेष्ठ अर्जुनको, जो उत्तरको रथपर बिठाकर शमीवृक्षकी ओर जा रहे थे, भीष्म-द्रोण आदि

कौरव महारथियोंने देखा। यह देखकर अर्जुनकी आशङ्का होनेसे वे सबके सब मन-ही-मन भयभीत हो उठे ॥ १-२ ॥

तानवेक्ष्य हतोत्साहानुत्पातानपि चाद्भुतान् ।
गुरुः शस्त्रभृतां श्रेष्ठो भारद्वाजोऽभ्यभाषत ॥ ३ ॥

उन सब महारथियोंको हतोत्साह देख तथा अद्भुत उत्पातोंको भी देखकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भरद्वाजनन्दन आचार्य द्रोण बोले—॥ ३ ॥

चण्डाश्च वाताः संवान्ति रूक्षाः शर्करवर्षिणः ।
भस्मवर्णप्रकाशेन तमसा संवृतं नभः ॥ ४ ॥

'इस समय कंकड़ बरसानेवाली प्रचण्ड एवं रूखी हवा चल रही है । राखके समान रंगवाले अन्धकारसे आकाश आच्छादित हो रहा है ॥ ४ ॥

रूक्षवर्णाश्च जलदा दृश्यन्तेऽद्भुतदर्शनाः ।
निःसरन्ति च कोशेभ्यः शस्त्राणि विविधानि च ॥ ५ ॥

'रूक्ष वर्णवाले अद्भुत बादल भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं। म्यानोंसे अनेक प्रकारके शस्त्र निकल रहे हैं ॥ ५ ॥

शिवाश्च विनदन्त्येता दीप्तायां दिशि दारुणाः ।
हयाश्चाश्रूणि मुञ्चन्ति ध्वजाः कम्पन्त्यकम्पिताः ॥ ६ ॥

'दिशाओंमें आग-सी लग रही है और उनमें ये भयंकर गीदड़ियाँ चीत्कार करती हैं। घोड़े आँसू बहाते हैं और रथोंकी ध्वजाएँ बिना हिलाये ही हिल रही हैं ॥ ६ ॥

यादृशान्यत्र रूपाणि संदृश्यन्ते बहूनि च ।
यत्ता भवन्तस्तिष्ठन्तु साध्वसं समुपस्थितम् ॥ ७ ॥

'यहाँ जैसे-जैसे बहुत-से रूप (लक्षण) दिखायी दे रहे हैं, उनसे यह सूचित होता है कि कोई महान् भय उपस्थित होनेवाला है; अतः आप सब लोग सावधान हो जायँ ॥ ७ ॥

रक्षध्वमपि चात्मानं व्यूहध्वं वाहिनीमपि ।
वैशसं च प्रतीक्षध्वं रक्षध्वं चापि गोधनम् ॥ ८ ॥

'आपलोग अपने आपकी रक्षा तो करें ही, सेनाका भी व्यूह बना लें। युद्धमें बहुत बड़ा नरसंहार होनेवाला है। उसकी प्रतीक्षा करें। और इस गोधनकी भी रखवाली करते रहें ॥

एष वीरो महेष्वासः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
आगतः क्लीबवेषेण पार्थो नास्त्यत्र संशयः ॥ ९ ॥

'नपुंसकवेशमें ये समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महान् धनुर्धर वीर अर्जुन ही आ गये हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥९॥

नदीज लङ्केशवनारिकेतु-
र्नगाह्वयो नाम नगारिसूनुः ।
एषोऽङ्गनावेषधरः किरीटी
जित्वा वयं नेष्यति चाद्य गा वः॥१०॥

'गङ्गानन्दन ! ... ... होते हैं, एक वृक्षका नाम (अर्जुन) ही जिनका नाम है और जो इन्द्रके पुत्र हैं, वे किरीटधारी धनंजय ही नारीवेश धारण किये यहाँ आ रहे हैं। ये जिसको जीतकर आज हमारी इन गौओंको लौटा ले जायँगे, उस दुर्योधनकी रक्षा कीजिये ॥ १० ॥

स एष पार्थो विक्रान्तः सव्यसाची परंतपः ।
नायुद्धेन निवर्तेत सर्वैरपि सुरासुरैः ॥११॥

'ये वे ही शत्रुओंको संताप देनेवाले महापराक्रमी सव्यसाची अर्जुन हैं, जो (सामना होनेपर) सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंके साथ भी बिना युद्ध किये पीछे नहीं लौट सकते ॥

क्लेशितश्च वने शूरो वासवेनापि शिक्षितः ।
अमर्षवशमापन्नो वासवप्रतिमो युधि ।
नेहास्य प्रतियोद्धारमहं पश्यामि कौरवाः ॥१२॥

'कौरवो ! साक्षात् इन्द्रने भी इन्हें अस्त्रविद्याकी शिक्षा दी है। युद्धमें कुपित होनेपर ये साक्षात् इन्द्रके समान पराक्रम दिखाते हैं। तुम लोगोंने इन शूरवीरको वनमें (अनुचित) क्लेश पहुँचाया है। मुझे इनका सामना करनेवाला कोई योद्धा यहाँ नहीं दिखायी देता ॥ १२ ॥

महादेवोऽपि पार्थेन श्रूयते युधि तोषितः ।
किरातवेषप्रच्छन्नो गिरौ हिमवति प्रभुः ॥१३॥

'सुना जाता है, हिमालय पर्वतपर किरातवेशमें छिपे हुए साक्षात् भगवान् शंकरको भी अर्जुनने युद्धमें संतुष्ट किया था' ॥ १३ ॥

कर्ण उवाच

सदा भवान् फाल्गुनस्य गुणैरस्मान् विकत्थसे ।
न चार्जुनः कलापूर्णो मम दुर्योधनस्य च ॥१४॥

कर्णने कहा—आचार्य ! आप सदा हमारे सामने अर्जुनके गुणोंकी श्लाघा करते रहते हैं, परंतु अर्जुन मेरी और दुर्योधनकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं है ॥१४॥

दुर्योधन उवाच

यद्येष पार्थो राधेय कृतं कार्यं भवेन्मम ।
ज्ञाताः पुनश्चरिष्यन्ति द्वादशाब्दान् विशाम्पते ॥१५॥

दुर्योधनने कहा—राधानन्दन ! यदि यह अर्जुन है; तब तो मेरा काम ही बन गया। अङ्गराज ! अब ये पाण्डव पहचान लिये जानेके कारण फिर बारह वर्षोंतक वनमें भटकेंगे ॥ १५ ॥

अथैष कश्चिदेवान्यः क्लीबवेषेण मानवः ।
शरैरेनं सुनिशितैः पातयिष्यामि भूतले ॥१६॥

और यदि यह नपुंसकवेशमें कोई दूसरा ही मनुष्य है, तो इसे अत्यन्त तीखे बाणोंद्वारा अभी इस भूतलपर मार गिराऊँगा ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् ब्रुवति तद् वाक्यं धार्तराष्ट्रे परंतप ।
भीष्मो द्रोणः कृपो द्रौणिः पौरुषं तदपूजयन् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—परंतप ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके ऐसा कहनेपर भीष्म, द्रोण, कृप और अश्वत्थामाने उसके इस पराक्रमकी बड़ी प्रशंसा की ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनप्रशंसायामेकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें अर्जुनकी प्रशंसाविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनका उत्तरको शमीवृक्षसे अस्त्र उतारनेके लिये आदेश

वैशम्पायन उवाच

तां शमीमुपसंगम्य पार्थो वैराटिमब्रवीत् ।
सुकुमारं समाज्ञाय संग्रामे नातिकोविदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस शमीवृक्षके समीप पहुँचकर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरको सुकुमार तथा युद्धकी कलामें पूर्णतया कुशल न जानकर उससे कहा—॥ १ ॥

समादिष्टो मया क्षिप्रं धनूंष्यवहरोत्तर ।
नेमानि हि त्वदीयानि सोढुं शक्ष्यन्ति मे बलम् ।
भारं चापि गुरुं वोढुं कुञ्जरं वा प्रमर्दितुम् ॥ २ ॥
मम वा बाहुविक्षेपं शत्रूनिह विजेष्यतः ।

'उत्तर ! मेरी आज्ञासे तुम शीघ्र इस वृक्षपर चढ़कर वहाँ रक्खे हुए धनुष उतारो, क्योंकि तुम्हारे ये धनुष मेरे बाहुबलको नहीं सह सकेंगे, कोई भारी कार्य-भार नहीं उठा सकेंगे अथवा बड़े-बड़े गजराजोंका नाश करनेमें भी ये काम न दे सकेंगे । इतना ही नहीं, यहाँ शत्रुओंपर विजय पानेके लिये युद्ध करते समय ये मेरे बाहुविक्षेपको भी नहीं सँभाल सकेंगे ॥ २½ ॥

(नैभिः काममलं कर्तुं कर्म वैजयिकं त्विह ।
अतिसूक्ष्माणि ह्रस्वानि सर्वाणि च मृदूनि च ।
आयुधानि महाबाहो तवैतानि परंतप ॥)
तस्माद् भूमिंजयारोह शमीमेतां पलाशिनीम् ॥ ३ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले महाबाहु उत्तर ! तुम्हारे ये सभी अस्त्र-शस्त्र अत्यन्त सूक्ष्म, छोटे और कोमल हैं । इनके द्वारा यहाँ विजय दिलानेवाला पराक्रम नहीं किया जा सकता। इसलिये भूमिंजय ! पत्तोंसे सुशोभित इस शमीवृक्षपर शीघ्र चढ़ जाओ ॥ ३ ॥

अस्यां हि पाण्डुपुत्राणां धनूंषि निहितान्युत ।
युधिष्ठिरस्य भीमस्य बीभत्सोर्यमयोस्तथा ॥ ४ ॥

'इसपर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और नकुल-सहदेव—इन सब पाण्डवोंके धनुष रक्खे हुए हैं ॥ ४ ॥

ध्वजाः शराश्च शूराणां दिव्यानि कवचानि च ।
अत्र चैतन्महावीर्यं धनुः पार्थस्य गाण्डिवम् ॥ ५ ॥
एकं शतसहस्रेण सम्मितं राष्ट्रवर्धनम् ।
व्यायामसहमत्यर्थं तृणराजसमं महत् ॥ ६ ॥

'उन शूरवीरोंके ध्वज, बाण और दिव्य कवच भी यहीं हैं । यहीं अर्जुनका वह महान् शक्तिशाली गाण्डीव धनुष भी है, जो अकेला ही एक लाख धनुषोंके समान है । यह राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाला, परिश्रमको सहनेमें समर्थ और ताड़के समान अत्यन्त विशाल है ॥ ५-६ ॥

सर्वायुधमहामात्रं शत्रुसम्बाधकारकम् ।
सुवर्णविकृतं दिव्यं श्लक्ष्णमायतमव्रणम् ॥ ७ ॥
अलं भारं गुरुं वोढुं दारुणं चारुदर्शनम् ।
तादृशान्येव सर्वाणि बलवन्ति दृढानि च ।
युधिष्ठिरस्य भीमस्य बीभत्सोर्यमयोस्तथा ॥ ८ ॥

'सम्पूर्ण आयुधोंमें यह सबसे बड़ा है और शत्रुओंको विशेष पीड़ा देनेवाला है । यह सोनेको गलाकर बनाया हुआ, दिव्य, सुन्दर, विस्तृत तथा व्रणरहित (नित्य नूतन) है । यह भारीसे भारी भार वहन करनेमें समर्थ, भयंकर और देखनेमें मनोहर है । ऐसे ही युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवके भी सब धनुष प्रबल और सुदृढ़ हैं ॥ ७-८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनास्त्रकथने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके प्रसंगमें अर्जुनके द्वारा अस्त्र-वर्णनविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ९½ श्लोक हैं)

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

उत्तरका अर्जुनके आदेशके अनुसार शमीवृक्षसे पाण्डवोंके दिव्य धनुष आदि उतारना

उत्तर उवाच

अस्मिन् वृक्षे किलोद्बद्धं शरीरमिति नः श्रुतम् ।
तदहं राजपुत्रः सन् स्पृशेयं पाणिना कथम् ॥ १ ॥

उत्तर बोला—मैंने तो सुन रक्खा था कि इस वृक्षमें कोई लाश बँधी है, ऐसी दशामें मैं राजकुमार होकर अपने हाथसे उसका स्पर्श कैसे कर सकता हूँ ? ॥ १ ॥

नैवंविधं मया युक्तमालब्धुं क्षत्रयोनिना ।
महता राजपुत्रेण मन्त्रयज्ञविदा सता ॥ २ ॥

एक तो मैं क्षत्रिय, दूसरे महान् राजकुमार तथा तीसरे मन्त्र और यज्ञोंका ज्ञाता एवं सत्पुरुष हूँ, अतः मुझे ऐसी अपवित्र वस्तुका स्पर्श करना उचित नहीं है ॥ २ ॥

स्पृष्टवन्तं शरीरं मां शववाहमिवाशुचिम् ।
कथं वा व्यवहार्यं वै कुर्वीथास्त्वं बृहन्नले ॥ ३ ॥

बृहन्नले ! यदि मैं शवका स्पर्श कर लूँ, तो मुर्दा ढोनेवालोंकी भाँति अपवित्र हो जाऊँगा; फिर तुम मुझे व्यवहारमें लाने योग्य शुद्ध कैसे कर सकोगी ? ॥ ३ ॥

बृहन्नलोवाच

व्यवहार्यश्च राजेन्द्र शुचिश्चैव भविष्यसि ।
धनूंष्येतानि मा भैस्त्वं शरीरं नात्र विद्यते ॥ ४ ॥

बृहन्नलाने कहा—राजेन्द्र ! तुम इन धनुषोंको छूकर भी व्यवहारमें लाने योग्य और पवित्र ही रहोगे । डरो मत, ये केवल धनुष हैं; इनमें कोई शव नहीं है ॥ ४ ॥

दायादं मत्स्यराजस्य कुले जातं मनस्विनाम् ।
त्वां कथं निन्दितं कर्म कारयेयं नृपात्मज ॥ ५ ॥

राजकुमार ! तुम मनस्वी पुरुषोंके उत्तम कुलमें उत्पन्न और मत्स्यनरेशके पुत्र हो । भला, मैं तुमसे कोई निन्दित कर्म कैसे करवा सकती हूँ ? ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स पार्थेन रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ।
आरुरोह शमीवृक्षं वैराटिरवशस्तदा ॥ ६ ॥
तमन्वशासच्छत्रुघ्नो रथे तिष्ठन् धनंजयः ।
अवरोपय वृक्षाग्राद् धनूंष्येतानि मा चिरम् ॥ ७ ॥
परिवेष्टनमेतेषां क्षिप्रं चैव व्यपानुद ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर कुण्डलधारी विराटपुत्र उत्तर विवश हो रथसे कूदकर शमीवृक्षपर चढ़ गया । तब रथपर बैठे हुए शत्रुनाशक पृथापुत्र धनंजयने शासनके स्वरमें कहा—'इन धनुषोंको जल्दी वृक्षसे नीचे उतारो और इन सबका पत्रमय वेष्टन भी शीघ्र हटा दो ।' ॥ ६-७½ ॥

सोऽपहृत्य महार्हाणि धनूंषि पृथुवक्षसाम् ।
परिवेष्टनपत्राणि विमुच्य समुपानयत् ॥ ८ ॥
तथा संनहनान्येषां परिमुच्य समन्ततः ।
अपश्यद् गाण्डिवं तत्र चतुर्भिरपरैः सह ॥ ९ ॥

तब उत्तरने विशाल वक्षःस्थलवाले पाण्डवोंके बहुमूल्य धनुषोंको वृक्षके नीचे ले आकर उनपर जो पत्तोंके वेष्टन लगे थे, उन्हें खोलकर हटाया । फिर उन धनुषों तथा उनकी डोरियोंको सब ओरसे खोलकर अर्जुनके पास ले आया । उसमें अन्य चार धनुषोंके साथ रक्खे हुए गाण्डीव धनुषको उत्तरने देखा ॥ ८-९ ॥

तेषां विमुच्यमानानां धनुषामर्कवर्चसाम् ।
विनिश्चेरुः प्रभा दिव्या ग्रहाणामुदयेष्विव ॥ १० ॥

वेष्टन खोलनेपर उन सूर्यके समान तेजस्वी धनुषोंकी प्रभा चारों ओर फैल गयी, जैसे उदय होनेपर ग्रहोंका दिव्य प्रकाश सब ओर छा जाता है ॥ १० ॥

स तेषां रूपमालोक्य भोगिनामिव जृम्भताम् ।
हृष्टरोमा भयोद्विग्नः क्षणेन समपद्यत ॥ ११ ॥
संस्पृश्य तानि चापानि भानुमन्ति बृहन्ति च ।
वैराटिरर्जुनं राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥

जँभाई लेनेके लिये मुँह खोले हुए विशाल सर्पोंकी भाँति उन धनुषोंका रूप देखकर उत्तरके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और वह क्षणभरमें भयसे उद्विग्न हो गया । राजन् ! तदनन्तर उन प्रभापूर्ण विशाल धनुषोंका स्पर्श करके विराटपुत्र उत्तरने अर्जुनसे इस प्रकार कहा ॥ ११-१२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अस्त्रावरोपणे एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर वृक्षसे अस्त्रोंको उतारनेसे सम्बन्ध रखनेवाला इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

उत्तरका बृहन्नलासे पाण्डवोंके अस्त्र-शस्त्रोंके विषयमें प्रश्न करना

उत्तर उवाच

बिन्दवो जातरूपस्य शतं यस्मिन् निपातिताः ।
सहस्रकोटि सौवर्णाः कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ॥ १ ॥

उत्तरने पूछा—बृहन्नले ! जिसपर सोनेकी सौ फूलियाँ जड़ी हैं, जिसके दोनों सिरे बहुत ही मजबूत और चमकीले हैं, यह उत्तम धनुष किस यशस्वी वीरका है ? ॥ १ ॥

वारणा यत्र सौवर्णाः पृष्ठे भासन्ति दंशिताः ।
सुपार्श्वं सुग्रहं चैव कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ॥ २ ॥

जिसकी पीठपर सोनेके प्रकाशमान हाथी सुशोभित हो रहे हैं तथा जिसके दोनों किनारे बड़े सुन्दर और मध्यभाग बहुत ही उत्तम है, यह श्रेष्ठ धनुष किसका है ? ॥ २ ॥

तपनीयस्य शुद्धस्य षष्टिर्यस्येन्द्रगोपकाः ।
पृष्ठे विभक्ताः शोभन्ते कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ॥ ३ ॥

जिसके पृष्ठभागमें शुद्ध सुवर्णके बने हुए लाल-पीले रंगवाले साठ इन्द्रगोप (बीरबहूटी) नामक कीट पृथक्-पृथक् शोभा पा रहे हैं, यह उत्तम धनुष किसका है ? ॥ ३ ॥

सूर्या यत्र च सौवर्णास्त्रयो भासन्ति दंशिताः ।
तेजसा प्रज्वलन्तो हि कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ॥ ४ ॥

जिसमें परस्पर सटे हुए तीन सुवर्णमय सूर्यचिह्न प्रकाशित हो रहे हैं; जो तेजसे मानो प्रज्वलित हैं, यह उत्तम धनुष किसका है ? ॥ ४ ॥

शलभा यत्र सौवर्णास्तपनीयविभूषिताः ।
सुवर्णमणिचित्रं च कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ॥ ५ ॥

जिसपर तप्त-सुवर्णभूषित मीनेके फतिंगे शोभा पा रहे हैं तथा जो उत्तम वर्णकी मणियोंसे जटित होनेके कारण विचित्र दिखायी देता है, यह उत्तम धनुष किसका है ? ॥ ५ ॥

इमे च कस्य नाराचाः साहस्रा लोमवाहिनः ।
समन्तात् कलधौताग्रा उपासंगे हिरण्मये ॥ ६ ॥
विपाठाः पृथवः कस्य गार्ध्रपत्राः शिलाशिताः।
हारिद्रवर्णाः सुमुखाः पीताः सर्वायसाः शराः ॥ ७ ॥

ये जो सोनेके तरकसमें सहस्रों नाराच रक्खे हुए हैं, जिनके सब ओर विशेषतः अग्रभागमें सोनेका पानी चढ़ा है और जो सबके सब पंखवाले हैं, ये किसके उपयोगमें आते हैं ? ये मोटे-मोटे विपाठ (स्थूल दण्डवाले बाणविशेष) किसके हैं ? इनमें गीधकी पाँखें लगी हुई हैं। इन बाणोंको पत्थरपर रगड़कर तेज किया गया है। इनके रंग हल्दीके समान हैं और अग्रभाग बहुत ही सुन्दर हैं। सबपर भी खूब पानी चढ़ाया है। ये सबके सब लोहेके ही बाण हैं (अर्थात् इनमें नीचे काठका डंडा नहीं लगा है) ॥ ६-७ ॥

कस्यायमसितश्चापः पञ्चशार्दूललक्षणः ।
वराहकर्णव्यामिश्रान् शरान् धारयते दश ॥ ८ ॥

जिसपर पाँच सिंहोंके चिह्न हैं, ऐसा यह काले रंगका धनुष किसका है ? यह तो सूअरके कानके समान नोकवाले दस बाणोंको एक साथ धारण कर सकता है ॥ ८ ॥

कस्येमे पृथवो दीर्घाश्चन्द्रविम्बार्धदर्शनाः ।
शतानि सप्त तिष्ठन्ति नाराचा रुधिराशनाः ॥ ९ ॥

ये जो शत्रुओंका रक्त पीनेवाले मोटे, विशाल तथा अर्धचन्द्राकार दिखायी देनेवाले सात सौ नाराच रक्खे हुए हैं, किसके हैं ? ॥ ९ ॥

कस्येमे शुकपत्राभैः पूर्वैरर्धैः सुवाससः ।
उत्तरैरायसैः पीतैर्हेमपुङ्खैः शिलाशितैः ॥ १० ॥

जिनके पूर्वार्धभाग तोतेकी पाँखके समान रंगवाले और उत्तरार्धभाग सुवर्णमय पंखसे युक्त एवं पीले हैं, जो पत्थरपर घिसकर तेज किये हुए और लोहेके बने हैं, ऐसे ये सुन्दर पाँखवाले बाण किसके हैं ? ॥ १० ॥

गुरुभारसहो दिव्यः शात्रवाणां भयंकरः ।
कस्यायं सायको दीर्घः शिलीपृष्ठः शिलीमुखः ॥ ११ ॥

जिसके पृष्ठभागमें मेढकीका चित्र है और जिसका मुख-भाग भी मेढकीके मुख-सा बना हुआ है, ऐसा यह भारी भार सहन करनेमें समर्थ, दिव्य और शत्रुमण्डलीके लिये भयंकर विशाल खड्ग किसका है ? ॥ ११ ॥

वैयाघ्रकोशे निहितो हेमचित्रो दुरासदः ।
सुफलश्चित्रकोशश्च किङ्किणीसायको महान् ॥ १२ ॥
कस्य हेमत्सरुर्दिव्यः खड्गः परमनिर्मलः ।

जो बाघके चमड़ेकी बनी हुई म्यानके भीतर रक्खा गया है, जो सुवर्णचित्रित और शत्रुओंके लिये असह्य है, जिसका अग्रभाग भी बहुत ही सुन्दर है, जिसकी म्यानपर चित्रकारी की हुई है, जो घुँघरूदार और विशाल है, वह सोनेकी मूठवाला दिव्य एवं अत्यन्त निर्मल खड्ग किसका है ? ॥ १२½ ॥

कस्यायं विमलः खड्गो गव्ये कोशे समर्पितः ॥ १३ ॥
हेमत्सरुरनाधृष्यो नैषध्यो भारसाधनः ।

जिसे गोचर्मकी म्यानमें रक्खा गया है, जो निषध-देशका बना हुआ है, जिसे कोई तोड़ नहीं सकता, जो

भारी भार सह सकता है, वह सोनेकी मूठवाला विमल खड्ग किसका है ? ॥ १३½ ॥

कस्य पाञ्चनखे कोशे सायको हेमविग्रहः ॥ १४ ॥
प्रमाणरूपसम्पन्नः पीत आकाशसंनिभः ।

जिसे बकरेके चमड़ेकी बनी हुई म्यानमें रक्खा गया है, जो सोनेकी मूठसे युक्त और सुवर्णभूषित स्वरूपवाली है, वह उचित लंबाई-चौड़ाई एवं आकृतिवाली, आकाशके समान नीलोज्ज्वल एवं पानीदार तलवार किसकी है ? ॥ १४½ ॥

कस्य हेममये कोशे सुतप्ते पावकप्रभे ॥ १५ ॥
निस्त्रिंशोऽयं गुरुः पीतः सायकः परनिर्व्रणः ।
कस्यायमसितः खड्गो हेमबिन्दुभिरावृतः ॥ १६ ॥
आशीविषसमस्पर्शः परकायप्रभेदनः ।
गुरुभारसहो दिव्यः सपत्नानां भयप्रदः ॥ १७ ॥*

जो अग्निके समान प्रकाशमान एवं आगमें तपाये शुद्ध सुवर्णकी बनी हुई म्यानमें सुरक्षित, भारी, पानीदार तथा तीस अङ्गुलसे बड़ा है, जो स्वर्णबिन्दुओंसे विभूषित तथा काले रंगका है, जिसे शत्रु काट नहीं सकते, जिसका स्पर्श सर्पके समान है, जो शत्रुके शरीरको चीर डालनेवाला, भारी भार सहन करनेमें समर्थ, दिव्य एवं शत्रुओंके लिये भयदायक है, वह खड्ग किसका है ? ॥ १५–१७ ॥

निर्दिशस्व यथातत्त्वं मया पृष्टा बृहन्नले ।
विस्मयो मे परो जातो दृष्ट्वा सर्वमिदं महत् ॥ १८ ॥

बृहन्नले ! मैंने जो पूछा है, उसे ठीक-ठीक बताओ। ये सब महान् अस्त्र-शस्त्र देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरवाक्यं नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरवाक्यविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

बृहन्नलाद्वारा उत्तरको पाण्डवोंके आयुधोंका परिचय कराना

बृहन्नलोवाच

यन्मां पूर्वमिहापृच्छः शत्रुसेनापहारिणम् ।
गाण्डीवमेतत् पार्थस्य लोकेषु विदितं धनुः ॥ १ ॥
सर्वायुधमहामात्रं शातकुम्भपरिष्कृतम् ।
एतत् तदर्जुनस्यासीद् गाण्डीवं परमायुधम् ॥ २ ॥

बृहन्नला बोली—राजकुमार ! तुमने पहले जिसके विषयमें मुझसे प्रश्न किया है, वही यह अर्जुनका विश्वविख्यात गाण्डीव धनुष है, जो शत्रुओंकी सेनाके लिये कालरूप है। यह सब आयुधोंसे विशाल है। इसमें सब ओर सोना मढ़ा है। यही उत्तम आयुध गाण्डीव अर्जुनके पास रहा करता था ॥ १-२ ॥

यत् तच्छतसहस्रेण सम्मितं राष्ट्रवर्द्धनम् ।
येन देवान् मनुष्यांश्च पार्थो विजयते मृधे ॥ ३ ॥
चित्रमुच्चावचैर्वर्णैः श्लक्ष्णमायतमव्रणम् ।
देवदानवगन्धर्वैः पूजितं शाश्वतीः समाः ॥ ४ ॥

यह अकेला ही एक लाख धनुषोंकी बराबरी करनेवाला तथा अपने राष्ट्रको बढ़ानेवाला है। पृथापुत्र अर्जुन इसीके द्वारा युद्धमें मनुष्यों तथा देवताओंपर विजय पाते आ रहे हैं। हल्के-गहरे अनेक प्रकारके रंगोंसे इसकी विचित्र शोभा होती है। यह चिकना, चमकदार और विस्तृत है। इसमें कहीं कोई चोटका चिह्न नहीं आया है। देवताओं, दानवों तथा गन्धर्वोंने इसका बहुत वर्षोंतक पूजन किया है ॥३-४॥

एतद् वर्षसहस्रं तु ब्रह्मा पूर्वमधारयत् ।
ततोऽनन्तरमेवाथ प्रजापतिरधारयत् ॥ ५ ॥
त्रीणि पञ्चशतं चैव शक्रोऽशीति च पञ्च च ।
सोमः पञ्चशतं राजा तथैव वरुणः शतम् ।
पार्थः पञ्च च षष्टिं च वर्षाणि श्वेतवाहनः ॥ ६ ॥

पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इसे एक हजार वर्षोंतक धारण किया था। तदनन्तर प्रजापतिने पाँच सौ तीन वर्षोंतक इसे अपने पास रक्खा। फिर इन्द्रने पचासी वर्षोंतक रक्खा। इन्द्रके बाद सोमने पाँच सौ तथा राजा वरुणने सौ वर्षोंतक इसे धारण किया। तत्पश्चात् श्वेतवाहन अर्जुन पैंसठ वर्षोंसे इसे धारण करते चले आ रहे हैं ॥ ५-६ ॥

महावीर्यं महादिव्यमेतत् तद् धनुरुत्तमम् ।
एतत् पार्थमनुप्राप्तं वरुणाच्चारुदर्शनम् ॥ ७ ॥

यह सर्वोत्तम धनुष देखनेमें बड़ा ही मनोहर है। इसके द्वारा महान् पराक्रम प्रकट होता है। अर्जुनको यह महादिव्य धनुष साक्षात् वरुणदेवसे प्राप्त हुआ था ॥ ७ ॥

पूजितं सुरमर्त्येषु बिभर्ति परमं वपुः ।
सुपार्श्वं भीमसेनस्य जातरूपग्रहं धनुः ।

* ये १६, १७ श्लोक अन्य बहुत सी प्रतियोंमें नहीं हैं, परंतु नीलकंठवाली प्रतिमें हैं, इसलिये यहाँ ले लिये गये हैं। किंतु अगले अध्यायमें जो उत्तर दिया गया है, उससे इन श्लोकोंका मेल नहीं है।

येन पार्थोऽजयत् कृत्स्नां दिशं प्राचीं परंतपः ॥ ८ ॥

तथा दूसरा देवताओं और मनुष्योंमें पूजित उत्कृष्ट रूप धारण करनेवाला धनुष भीमसेनका है, जिसके दोनों किनारे बड़े सुन्दर हैं और मध्यभागमें सोना मढ़ा हुआ है। यह वही धनुष है, जिससे शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार भीमसेनने सम्पूर्ण प्राचीदिशापर विजय पायी थी ॥ ८ ॥

इन्द्रगोपकचित्रं च यदेतच्चारुदर्शनम्।
राज्ञो युधिष्ठिरस्यैतद् वैराटे धनुरुत्तमम् ॥ ९ ॥

उत्तर ! जिसके ऊपर 'इन्द्रगोप' (वीरबहूटी) नामक कीटोंका चित्र है और जो देखनेमें मनोहर है, वही यह उत्तम धनुष राजा युधिष्ठिरका है ॥ ९ ॥

सूर्या यस्मिंस्तु सौवर्णाः प्रकाशन्ते प्रकाशिनः।
तेजसा प्रज्वलन्तो वै नकुलस्यैतदायुधम् ॥ १० ॥

जिसमें सुवर्णके बने हुए प्रकाशपूर्ण सूर्य प्रकाशित हो रहे हैं और जो तेजसे जाज्वल्यमान जान पड़ते हैं, वही यह नकुलका आयुध है ॥ १० ॥

शलभा यत्र सौवर्णास्तपनीयविचित्रिताः।
एतन्माद्रीसुतस्यापि सहदेवस्य कार्मुकम् ॥ ११ ॥

जिसके ऊपर सुवर्णजटित मीनेके फतिङ्गे सुशोभित हैं, वही यह माद्रीनन्दन सहदेवका धनुष है ॥ ११ ॥

ये त्विमे क्षुरसंकाशाः सहस्रा लोमवाहिनः।
एतेऽर्जुनस्य वैराटे शराः सर्पविषोपमाः ॥ १२ ॥

विराटपुत्र ! ये जो छुरेके समान मजबूत और चमकीले बाण हैं, जिनमें पंख लगे हुए हैं और जो साँपोंके विषके समान प्रभाव रखते हैं, ये सब अर्जुनके ही हैं ॥ १२ ॥

एते ज्वलन्तः संग्रामे तेजसा शीघ्रगामिनः।
भवन्ति वीरस्याक्षय्या व्यूहतः समरे रिपून् ॥ १३ ॥

ये युद्धमें तेजसे प्रकाशित होकर बड़ी तेजीसे शत्रुपर आघात करते हैं। रणमें शत्रुओंपर बाणवर्षा करनेवाले वीरके लिये भी इन बाणोंका कटना असम्भव है ॥ १३ ॥

ये चेमे पृथवो दीर्घाश्चन्द्रबिम्बार्धदर्शनाः।
एते भीमस्य निशिता रिपुक्षयकराः शराः ॥ १४ ॥
हारिद्रवर्णा ये त्वेते हेमपुङ्खाः शिलाशिताः।

ये जो मोटे, विशाल और अर्धचन्द्राकार दिखायी देते हैं; वे भीमसेनके तीखे बाण हैं, जो शत्रुओंका संहार कर डालते हैं। ये हल्दीके समान रंगवाले और सुनहरी पाँखोंसे सुशोभित हैं । इन्हें पत्थरपर रगड़कर तेज किया गया है ॥ १४½ ॥

नकुलस्य कलापोऽयं पञ्चशार्दूललक्षणः ॥ १५ ॥
येनासौ व्यजयत् कृत्स्नां प्रतीचीं दिशमाहवे।
कलापो ह्येष तस्यासीन्माद्रीपुत्रस्य धीमतः ॥ १६ ॥

जिसपर पाँच सिंहोंके चिह्न हैं, वही यह नकुलका 'कलाप' (तरकस) है, जिससे उन्होंने युद्धमें सम्पूर्ण पश्चिमदिशापर विजय पायी थी । उस समय बुद्धिमान् माद्रीपुत्र नकुलके पास यही कलाप था ॥ १५-१६ ॥

ये त्विमे भास्कराकाराः सर्वपारसवाः शराः।
एते चित्रक्रियोपेताः सहदेवस्य धीमतः ॥ १७ ॥

और ये जो सूर्यके समान आकृतिवाले चमकीले बाण हैं, इनके द्वारा सम्पूर्ण शत्रुसमूहोंका विनाश होता है। विचित्र क्रियाशक्तिसे सम्पन्न ये सभी बाण बुद्धिमान् सहदेवके हैं ॥ १७ ॥

ये त्विमे निशिताः पीताः पृथवो दीर्घवाससः।
हेमपुङ्खास्त्रिपर्वाणो राज्ञ एते महाशराः ॥ १८ ॥

ये जो तीखे, पानीदार, मोटे और बड़ी-बड़ी पाँखोंवाले तीन पर्वोंके बाण हैं और जिनकी पाँखें सोनेकी बनी हुई हैं; ये सब राजा युधिष्ठिरके महान् शर हैं ॥ १८ ॥

यस्त्वयं सायको दीर्घः शिलीपृष्ठः शिलीमुखः।
अर्जुनस्यैष संग्रामे गुरुभारसहो दृढः ॥ १९ ॥

जिसके पृष्ठभागमें मेढकीका चित्र है और जिसका मुखभाग भी मेढकीके मुखके समान ही बना हुआ है, यह विशाल खड्ग अर्जुनका है । यह युद्धभूमिमें भारी आघातको सह सकनेमें समर्थ और मजबूत है ॥ १९ ॥

वैयाघ्रकोशः सुमहान् भीमसेनस्य सायकः।
गुरुभारसहो दिव्यः शात्रवाणां भयंकरः ॥ २० ॥

जिसकी म्यान व्याघ्रचर्मकी बनी हुई है, वह महान् खड्ग भीमसेनका है। यह भी गुरुतर भार सहन करनेवाला, दिव्य एवं शत्रुओंके लिये भयंकर है ॥ २० ॥

सुफलश्चित्रकोशश्च हेमत्सरुरनुत्तमः।
निस्त्रिंशः कौरवस्यैष धर्मराजस्य धीमतः ॥ २१ ॥

जिसकी धार सुन्दर एवं पतली है, जिसकी म्यान विचित्र और मूठ सोनेकी है, वह तीस अङ्गुलसे बड़ा सर्वोत्तम खड्ग परम बुद्धिमान् कुरुनन्दन धर्मराजका है ॥ २१ ॥

यस्तु पाञ्चनखे कोशे निहितश्चित्रयोधने।
नकुलस्यैष निस्त्रिंशो गुरुभारसहो दृढः ॥ २२ ॥

जो बकरेके चमड़ेकी बनी हुई म्यानमें बंद है तथा नाना प्रकारके युद्धोंमें शस्त्रोंका भारी आघात सहन करनेमें समर्थ और मजबूत है, वही यह नकुलका खड्ग है ॥ २२ ॥

यस्त्वयं विपुलः खड्गो गव्ये कोशे समर्पितः।

सहदेवस्य विद्ध्येनं सर्वभारसहं दृढम् ॥ २३ ॥

और यह जो गोचर्मकी म्यानमें रक्खा गया है, यह सहदेवका विशाल खड्ग है। इसे सब प्रकारके अघात-प्रत्याघात सहनेमें समर्थ और सुदृढ़ जानो ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे आयुधवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर आयुधवर्णनविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनका उत्तरकुमारसे अपना और अपने भाइयोंका यथार्थ परिचय देना

उत्तर उवाच

सुवर्णविकृतानीमान्यायुधानि महात्मनाम् ।
रुचिराणि प्रकाशन्ते पार्थानामाशुकारिणाम् ॥ १ ॥
क नु स्विदर्जुनः पार्थः कौरव्यो वा युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ २ ॥

उत्तरने पूछा—बृहन्नले ! रणमें फुर्ती दिखानेवाले जिन महात्मा कुन्तीपुत्रोंके ये सुवर्णभूषित सुन्दर आयुध इतने प्रकाशित हो रहे हैं, वे पृथापुत्र अर्जुन, कुरुनन्दन युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव और पाण्डुपुत्र भीमसेन अब कहाँ हैं ? ॥ १-२ ॥

सर्वे एव महात्मानः सर्वामित्रविनाशनाः ।
राज्यमक्षैः पराकीर्य न श्रूयन्ते कथंचन ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण शत्रुओंका नाश करनेवाले वे सभी महात्मा जूए-द्वारा अपना राज्य हारकर कहाँ गये ? जिससे कहीं किसी प्रकार भी उनके विषयमें कुछ सुननेमें नहीं आता ? ॥ ३ ॥

द्रौपदी क च पाञ्चाली स्त्रीरत्नमिति विश्रुता ।
जितानक्षैस्तदा कृष्णा तानेवान्वगमद् वनम् ॥ ४ ॥

पाञ्चालदेशकी राजकुमारी द्रौपदी स्त्रीरत्नके रूपमें विख्यात है । वह कहाँ है ? सुना है, जब पाण्डव जूएमें हार गये, तब द्रुपदकुमारी कृष्णा भी उन्हींके साथ वनमें चली गयी थी ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच

अहमस्म्यर्जुनः पार्थः सभास्तारो युधिष्ठिरः ।
बल्लवो भीमसेनस्तु पितुस्ते रसपाचकः ॥ ५ ॥

अर्जुनने कहा—राजकुमार ! मैं ही पृथापुत्र अर्जुन हूँ । राजाकी सभाके माननीय सदस्य कङ्क ही युधिष्ठिर हैं । बल्लव भीमसेन हैं, जो तुम्हारे पिताके भोजनालयमें रसोइयेका काम करते हैं ॥ ५ ॥

अश्वबन्धोऽथ नकुलः सहदेवस्तु गोकुले ।
सैरन्ध्रीं द्रौपदीं विद्धि यत्कृते कीचका हताः ॥ ६ ॥

अश्वोंकी देखभाल करनेवाले ग्रन्थिक नकुल हैं और गोशालाके अध्यक्ष तन्तिपाल सहदेव । सैरन्ध्रीको ही द्रौपदी समझो, जिसके कारण सभी कीचक मारे गये हैं ॥ ६ ॥

उत्तर उवाच

दश पार्थस्य नामानि यानि पूर्वं श्रुतानि मे ।
प्रब्रूयास्तानि यदि मे श्रद्दध्यां सर्वमेव ते ॥ ७ ॥

उत्तर बोला—मैंने पहलेसे जो अर्जुनके दस नाम सुन रक्खे हैं, उन्हें यदि तुम बता दो तो मैं तुम्हारी सारी बातोंपर विश्वास कर सकता हूँ ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच

हन्त तेऽहं समाचक्षे दश नामानि यानि मे ।
वैराटे शृणु तानि त्वं यानि पूर्वं श्रुतानि ते ॥ ८ ॥

अर्जुनने कहा—विराटपुत्र ! मेरे जो दस नाम हैं और जिन्हें तुमने पहलेसे ही सुन रक्खा है, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ८ ॥

एकाग्रमानसो भूत्वा शृणु सर्वं समाहितः ।
अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः किरीटी श्वेतवाहनः ।
बीभत्सुर्विजयः कृष्णः सव्यसाची धनंजयः ॥ ९ ॥

एकाग्रचित्त हो सावधानीके साथ सबको सुनना । (वे नाम ये हैं—) अर्जुन, फाल्गुन, जिष्णु, किरीटी, श्वेतवाहन, बीभत्सु, विजय, कृष्ण, सव्यसाची और धनंजय ॥

उत्तर उवाच

केनासि विजयो नाम केनासि श्वेतवाहनः ।
किरीटी नाम केनासि सव्यसाची कथं भवान् ॥ १० ॥

उत्तरने पूछा—किस कारणसे आपका नाम विजय हुआ और किसलिये आप श्वेतवाहन कहलाते हैं ? आपके किरीटी नाम धारण करनेका क्या कारण है ? और आप सव्यसाची नामसे कैसे प्रसिद्ध हुए ? ॥ १० ॥

अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः कृष्णो बीभत्सुरेव च ।
धनंजयश्च केनासि ब्रूहि तन्मम तत्त्वतः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार आपके अर्जुन, फाल्गुन, जिष्णु, कृष्ण, बीभत्सु और धनंजय नाम पड़नेका भी क्या कारण है ? यह सब मुझे ठीक-ठीक बताइये ॥ ११ ॥

श्रुता मे तस्य वीरस्य केवला नामहेतवः ।
तत् सर्वं यदि मे ब्रूयाः श्रद्दध्यां सर्वमेव ते ॥ १२ ॥

वीर अर्जुनके विभिन्न नाम पड़नेके जो प्रधान हेतु हैं, वे सब मैंने सुन रक्खे हैं। उन सबको यदि आप बता देंगे तो आपकी सब बातोंपर मेरा विश्वास हो जायगा ॥१२॥

अर्जुन उवाच

सर्वाञ्जनपदाञ्जित्वा वित्तमादाय केवलम् ।
मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाहुर्मां धनंजयम् ॥ १३ ॥

अर्जुनने कहा—मैं सम्पूर्ण देशोंको जीतकर और उनसे (कररूपमें) केवल धन लेकर धनके ही बीचमें स्थित था, इसलिये लोग मुझे 'धनंजय' कहते हैं ॥ १३ ॥

अभिप्रयामि संग्रामे यदहं युद्धदुर्मदान् ।
नाजित्वा विनिवर्तामि तेन मां विजयं विदुः ॥ १४ ॥

जब मैं संग्रामभूमिमें रणोन्मत्त योद्धाओंका सामना करनेके लिये जाता हूँ, तब उन्हें परास्त किये बिना कभी नहीं लौटता। इसीलिये वीर पुरुष मुझे 'विजय'के नामसे जानते हैं ॥ १४ ॥

श्वेताः काञ्चनसंनाहा रथे युज्यन्ति मे हयाः ।
संग्रामे युध्यमानस्य तेनाहं श्वेतवाहनः ॥ १५ ॥
उत्तराभ्यां फल्गुनीभ्यां नक्षत्राभ्यामहं दिवा ।
जातो हिमवतः पृष्ठे तेन मां फाल्गुनं विदुः ॥ १६ ॥

संग्राममें युद्ध करते समय मेरे रथमें सोनेके बख्तरसे सजे हुए श्वेत रंगके घोड़े जोते जाते हैं, इसलिये मेरा नाम 'श्वेतवाहन' हुआ है तथा हिमालयके शिखरपर उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें दिनके समय मेरा जन्म हुआ था; इसलिये मुझे 'फाल्गुन' कहते हैं ॥ १५-१६ ॥

पुरा शक्रेण मे दत्तं युध्यतो दानवर्षभैः ।
किरीटं मूर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मां किरीटिनम् ॥ १७ ॥

पूर्वकालमें बड़े-बड़े दानव वीरोंके साथ युद्ध करते समय देवराज इन्द्रने मेरे मस्तकपर सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाला किरीट रख दिया था; इसीलिये मुझे 'किरीटी' कहते हैं ॥ १७ ॥

न कुर्यां कर्म बीभत्सं युध्यमानः कथंचन ।
तेन देवमनुष्येषु बीभत्सुरिति विश्रुतः ॥ १८ ॥

युद्ध करते समय मैं किसी प्रकार भी बीभत्स (घृणित) कर्म नहीं करता; इसीलिये देवताओं और मनुष्योंमें मेरी 'बीभत्सु' नामसे प्रसिद्धि हुई है ॥ १८ ॥

उभौ मे दक्षिणौ पाणी गाण्डीवस्य विकर्षणे ।
तेन देवमनुष्येषु सव्यसाचीति मां विदुः ॥ १९ ॥

मेरा बाँया और दाहिना दोनों हाथ गाण्डीव धनुषकी डोरी खींचनेमें समर्थ हैं, इसलिये देवताओं और मनुष्योंमें लोग मुझे 'सव्यसाची' समझते हैं ॥ १९ ॥

पृथिव्यां चतुरन्तायां वर्णो मे दुर्लभः समः ।
करोमि कर्म शुक्लं च तस्मान्मामर्जुनं विदुः ॥ २० ॥

(अर्जुन शब्दके तीन अर्थ हैं—वर्ण या दीप्ति, ऋजुता या समता, धवल या शुद्ध ।) चारों ओर समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर मेरे-जैसी दीप्ति दुर्लभ है। मैं सबके प्रति समभाव रखता हूँ और शुद्ध कर्म करता हूँ। इसी कारण विज्ञ पुरुष मुझे 'अर्जुन' के नामसे जानते हैं ॥ २० ॥

अहं दुरापो दुर्धर्षो दमनः पाकशासनिः ।
तेन देवमनुष्येषु जिष्णुर्नामास्मि विश्रुतः ॥ २१ ॥
कृष्ण इत्येव दशमं नाम चक्रे पिता मम ।
कृष्णावदातस्य ततः प्रियत्वाद् बालकस्य वै ॥ २२ ॥

मुझे पकड़ना या तिरस्कृत करना बहुत कठिन है। मैं इन्द्रका पुत्र एवं शत्रुदमन विजयी वीर हूँ, इसलिये देवताओं और मनुष्योंमें 'जिष्णु' नामसे मेरी ख्याति हुई है। (कृष्णशब्दका अर्थ है—श्यामवर्ण तथा मनको आकर्षित करनेवाला) मेरे शरीरका रंग कृष्ण-गौर है तथा बाल्यावस्थामें चित्ताकर्षक होनेके कारण मैं पिताजीको बहुत प्रिय था। अतः मेरे पिताने ही मेरा दसवाँ नाम 'कृष्ण' रक्खा था॥२१-२२॥

वैशम्पायन उवाच

ततः स पार्थं वैराटिरभ्यवादयदन्तिकात् ।
अहं भूमिंजयो नाम नाम्नाहमपि चोत्तरः ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर विराटपुत्र उत्तरने निकट जाकर अर्जुनके चरणोंमें प्रणाम किया और बोला—'मेरा नाम भूमिंजय तथा उत्तर भी है ॥ २३ ॥

दिष्ट्या त्वां पार्थ पश्यामि स्वागतं ते धनंजय ।
लोहिताक्ष महाबाहो नागराजकरोपम ॥ २४ ॥

'कुन्तीनन्दन ! मेरा सौभाग्य है कि मुझे आपका दर्शन मिला। धनंजय ! आपका स्वागत है। महाबाहो ! आपके नेत्र लाल हैं और बाहुदण्ड गजराजके शुण्डको लज्जित कर रहे हैं ॥ २४ ॥

यदज्ञानादवोचं त्वां क्षन्तुमर्हसि तन्मम ।
यतस्त्वया कृतं पूर्वं चित्रं कर्म सुदुष्करम् ।
अतो भयं व्यतीतं मे प्रीतिश्च परमा त्वयि ॥ २५ ॥

'मैंने अज्ञानवश आपसे जो अनुचित बात कह दी हो, उसे आप क्षमा करेंगे। पूर्वकालमें आपने अत्यन्त दुष्कर और अद्भुत कार्य किये हैं, इसलिये आपका संरक्षण पाकर मेरा भय दूर हो गया है और आपके प्रति मेरा प्रेम बहुत बढ़ गया है' ॥ २५ ॥

(दासोऽहं ते भविष्यामि पश्य मामनुकम्पया ।
या प्रतिज्ञा कृता पूर्वं तव सारथ्यकर्मणि ॥
मनः स्वास्थ्यं च मे जातं जातं भाग्यं च मे महत् ।)

'पार्थ ! मैं आपका दास होऊँगा । आप मेरी ओर कृपापूर्ण दृष्टिसे देखें । मैंने आपके सारथिका कार्य करनेके लिये पहले जो प्रतिज्ञा की थी, उसके लिये अब मेरा मन स्वस्थ हो गया है । मेरा महान् सौभाग्य प्रकट हुआ है (जिससे मुझे आपकी सेवाका यह शुभ अवसर प्राप्त हो रहा है)' ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनपरिचये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर अर्जुनपरिचय-सम्बन्धी चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ हैं)

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा युद्धकी तैयारी, अस्त्र-शस्त्रोंका स्मरण, उनसे वार्तालाप तथा उत्तरके भयका निवारण

उत्तर उवाच

**आस्थाय रुचिरं वीर रथं सारथिना मया ।
कतमं यास्यसेऽनीकमुक्तो यास्याम्यहं त्वया ॥ १ ॥**

उत्तर बोला—वीरवर ! आप सुन्दर रथपर आरूढ़ हो मुझ सारथिके साथ किस सेनाकी ओर चलेंगे ? आप जहाँ चलनेके लिये आज्ञा देंगे, वहीं मैं आपके साथ चलूँगा ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

**प्रीतोऽस्मि पुरुषव्याघ्र न भयं विद्यते तव ।
सर्वान् नुदामि ते शत्रून् रणे रणविशारद ॥ २ ॥**

अर्जुनने कहा—पुरुषसिंह ! अब तुम्हें कोई भय नहीं रहा; यह जानकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ । रणकर्ममें कुशल वीर ! मैं तुम्हारे सब शत्रुओंको अभी मार भगाता हूँ ॥ २ ॥

**स्वस्थो भव महाबाहो पश्य मां शत्रुभिः सह ।
युध्यमानं विमर्देऽस्मिन् कुर्वाणं भैरवं महत् ॥ ३ ॥**

महाबाहो ! तुम स्वस्थचित्त (निश्चिन्त) हो जाओ और इस संग्राममें मुझे शत्रुओंके साथ युद्ध तथा अत्यन्त भयंकर पराक्रम करते देखो ॥ ३ ॥

**एतान् सर्वानुपासङ्गान् क्षिप्रं बध्नीहि मे रथे ।
एकं चाहर निस्त्रिंशं जातरूपपरिष्कृतम् ॥ ४ ॥**

मेरे इन सब तरकसोंको शीघ्र रथमें बाँध दो और एक सुवर्णभूषित खड्ग भी ले आओ ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

**अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा त्वरावानुत्तरस्तदा ।
अर्जुनस्यायुधान् गृह्य शीघ्रेणावातरत् ततः ॥ ५ ॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनका यह कथन सुनकर उत्तर उतावला हो अर्जुनके सब आयुधोंको लेकर शीघ्रतापूर्वक वृक्षसे उतर आया ॥ ५ ॥

अर्जुन उवाच

अहं वै कुरु[illegible] ॥ ६ ॥

अर्जुन बोले— मैं कौरवोंसे युद्ध करूँगा और तुम्हारे पशुओंको जीत लूँगा ॥ ६ ॥

**संकल्पपक्षविक्षेपं बाहुप्राकारतोरणम् ।
त्रिदण्डतूणसम्बाधमनेकध्वजसंकुलम् ॥ ७ ॥
ज्याक्षेपणं क्रोधकृतं नेमीनिनददुन्दुभि ।
नगरं ते मया गुप्तं रथोपस्थं भविष्यति ॥ ८ ॥**

मुझसे सुरक्षित होकर रथका यह ऊपरी भाग ही तुम्हारे लिये नगर हो जायगा । इस रथके जो धुरी-पहिये आदि अङ्ग हैं, उनकी सुदृढ़ कल्पना ही नगरकी गलियोंके दोनों भागोंमें बने हुए गृहोंका विस्तार है । मेरी दोनों भुजाएँ ही चहारदीवारी और नगरद्वार हैं । इस रथमें जो त्रिदण्ड (हरिस और उसके अगल-बगलकी लकड़ियाँ) तथा तूणीर आदि हैं, वे किसीको यहाँतक फटकने नहीं देंगे । जैसे नगरमें हाथीसवार, घुड़सवार तथा रथी—इन त्रिविध सेनाओं तथा आयुधोंके कारण उसके भीतर दूसरोंका प्रवेश करना असम्भव होता है । नगरमें जैसे बहुत-सी ध्वजा-पताकाएँ फहराती हैं, उसी प्रकार इस रथमें भी फहरा रही हैं । धनुषकी प्रत्यञ्चा ही नगरमें लगी हुई तोपकी नली है, जिसका क्रोधपूर्वक उपयोग होता है और रथके पहियोंकी घर्घराहटको ही नगरमें बजनेवाले नगाड़ोंकी आवाज समझो ॥ ७-८ ॥

**अधिष्ठितो मया संख्ये रथो गाण्डीवधन्वना ।
अजेयः शत्रुसैन्यानां वैराटे व्येतु ते भयम् ॥ ९ ॥**

जब मैं युद्धभूमिमें गाण्डीव धनुष लेकर रथपर सवार होऊँगा, उस समय शत्रुओंकी सेनाएँ मुझे जीत नहीं सकेंगी; अतः विराटनन्दन ! तुम्हारा भय अब दूर हो जाना चाहिये ॥

उत्तर उवाच

**बिभेमि नाहमेतेषां जानामि त्वां स्थिरं युधि ।
केशवेनापि संग्रामे साक्षादिन्द्रेण वा समम् ॥ १० ॥**

उत्तरने कहा—अब मैं उनसे नहीं डरता; क्योंकि मैं [illegible] हूँ कि [illegible] संग्राममें आप [illegible] श्री-

कृष्ण और साक्षात् इन्द्रके समान स्थिर रहनेवाले हैं ॥१०॥

इदं तु चिन्तयन्नेवं परिमुह्यामि केवलम्।
निश्चयं चापि दुर्मेधा न गच्छामि कथंचन ॥ ११ ॥

केवल इसी एक बातको सोचकर मैं ऐसे मोहमें पड़ जाता हूँ कि बुद्धि अच्छी न होनेके कारण किसी तरह भी किसी निश्चयतक नहीं पहुँच पाता ॥ ११ ॥

एवं युक्ताङ्गरूपस्य लक्षणैः सूचितस्य च।
केन कर्मविपाकेन क्लीबत्वमिदमागतम् ॥ १२ ॥

(वह चिन्ता इस प्रकार है–) आपका एक-एक अवयव तथा रूप सब प्रकारसे उपयुक्त है। आप लक्षणोंद्वारा भी अलौकिक सूचित हो रहे हैं। ऐसी दशामें भी किस कर्मके परिणामसे आपको यह नपुंसकता प्राप्त हुई है ? ॥१२॥

मन्ये त्वां क्लीबवेषेण चरन्तं शूलपाणिनम्।
गन्धर्वराजप्रतिमं देवं वापि शतक्रतुम् ॥ १३ ॥

मैं तो नपुंसकवेशमें विचरनेवाले आपको शूलपाणि भगवान् शंकरका स्वरूप मानता हूँ अथवा गन्धर्वराजके समान या साक्षात् देवराज इन्द्र समझता हूँ ॥ १३ ॥

अर्जुन उवाच

(उर्वशीशापसम्भूतं क्लैब्यं मां समुपस्थितम्।
पुराहमाज्ञया भ्रातुर्ज्येष्ठस्यास्मि सुरालयम् ॥
प्राप्तवानुर्वशी दृष्टा सुधर्मायां मया तदा।
नृत्यन्ती परमं रूपं बिभ्रती वज्रिसंनिधौ ॥
अपश्यंस्तामनिमिषं कूटस्थामन्वयस्य मे।
रात्रौ समागता मह्यं शयानं रन्तुमिच्छया ॥
अहं तामभिवाद्यैव मातृसत्कारमाचरम्।
सा च मामशपत् क्रुद्धा शिखण्डी त्वं भवेरिति ॥
श्रुत्वा तमिन्द्रो मामाह मा भैस्त्वं पार्थ षण्ढतः।
उपकारो भवेत् तुभ्यमज्ञातवसतौ पुरा ॥
इतीन्द्रो मामनुग्राह्य ततः प्रेषितवान् वृषा।
तदिदं समनुप्राप्तं व्रतं तीर्णं मयानघ ॥)

अर्जुन बोले–महाबाहो ! उर्वशीके शापसे मुझे यह नपुंसक-भाव प्राप्त हुआ है। पूर्वकालमें मैं अपने बड़े भाईकी आज्ञासे देवलोकमें गया था। वहाँ सुधर्मा नामक सभामें मैंने उस समय उर्वशी अप्सराको देखा। वह परम सुन्दर रूप धारण करके वज्रधारी इन्द्रके समीप नृत्य कर रही थी। मेरे वंशकी मूलहेतु (जननी) होनेके कारण मैं उसे अपलक नेत्रोंसे देखने लगा। तब वह रातमें सोते समय रमणकी इच्छासे मेरे पास आयी, परंतु मैंने उसे (प्रणाम करके (उसकी इच्छाकी पूर्ति न करके) उसका माताके समान सत्कार किया। तब उसने कुपित होकर मुझे शाप दे दिया–'तुम नपुंसक हो जाओ।' तब इन्द्रने वह शाप सुनकर मुझसे कहा–'पार्थ ! तुम नपुंसक होनेसे डरो मत। यह तुम्हारे लिये अज्ञातवासके समय उपकारक होगा।' इस प्रकार देवराज इन्द्रने मुझपर अनुग्रह करके यह आश्वासन दिया और स्वर्गलोकसे यहाँ भेजा। अनघ ! वही यह व्रत प्राप्त हुआ था, जिसको मैंने पूरा किया है ॥

भ्रातुर्नियोगाज्ज्येष्ठस्य संवत्सरमिदं व्रतम्।
चरामि व्रतचर्यं च सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १४ ॥
नास्मि क्लीबो महाबाहो परवान् धर्मसंयुतः।
समाप्तव्रतमुत्तीर्णं विद्धि मां त्वं नृपात्मज ॥ १५ ॥

महाबाहो ! मैं बड़े भाईकी आज्ञासे इस वर्ष एक व्रतका पालन कर रहा था। उस व्रतकी जो दिनचर्या है, उसके अनुसार मैं नपुंसक बनकर रहा हूँ। मैं तुमसे यह सची बात कह रहा हूँ। वास्तवमें मैं नपुंसक नहीं हूँ; भाईकी आज्ञाके अधीन होकर धर्मके पालनमें तत्पर रहा हूँ। राजकुमार ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि अब मेरा व्रत समाप्त हो गया है; अतः मैं नपुंसक-भावके कष्टसे भी मुक्त हो चुका हूँ ॥ १४-१५ ॥

उत्तर उवाच

परमोऽनुग्रहो मेऽद्य यतस्तर्को न मे वृथा।
न हीदृशाः क्लीबरूपा भवन्ति तु नरोत्तम ॥ १६ ॥

उत्तरने कहा—नरश्रेष्ठ ! आज मुझपर आपने बड़ा अनुग्रह किया, जो मुझे सब बात बता दी। ऐसे लक्षणोंवाले पुरुष नपुंसक नहीं होते, इस प्रकार जो मेरे मनमें तर्क उठ रहा था, वह व्यर्थ नहीं था ॥ १६ ॥

सहायवानस्मि रणे युध्येयममरैरपि।
साध्वसं हि प्रणष्टं मे किं करोमि ब्रवीहि मे ॥ १७ ॥
अहं ते संग्रहीष्यामि हयान् शत्रुरथारुजान्।
शिक्षितो ह्यस्मि सारथ्ये तीर्थतः पुरुषर्षभ ॥ १८ ॥

अब तो मुझे आपकी सहायता मिल गयी है; अतः युद्ध-भूमिमें देवताओंका भी सामना कर सकता हूँ। मेरा सारा भय नष्ट हो गया। बताइये, अब मैं क्या करूँ ? पुरुषप्रवर ! मैंने गुरुसे सारथ्यकर्मकी शिक्षा प्राप्त की है; इसलिये आपके घोड़ोंको, जो शत्रुके रथका नाश करनेवाले हैं, मैं काबूमें रक्खूँगा ॥ १७-१८ ॥

दारुको वासुदेवस्य यथा शक्रस्य मातलिः।
तथा मां विद्धि सारथ्ये शिक्षितं नरपुङ्गव ॥ १९ ॥

नरपुङ्गव ! जैसे भगवान् वासुदेवका सारथि दारुक और इन्द्रका सारथि मातलि है, उसी प्रकार मुझे भी आप सारथि-के कार्यमें पूर्ण शिक्षित मानिये ॥ १९ ॥

यस्य याते न पश्यन्ति भूमौ क्षिप्तं पदं पदम्।
दक्षिणां यो धुरं युक्तः सुग्रीवसदृशो हयः ॥ २० ॥

जो घोड़ा दाहिनी धुरीमें जोता गया है तथा जिसके जाते समय लोग यह नहीं देख पाते कि उसने कब कहाँ पृथ्वीपर पैर

रक्खा या उठाया है, यह (भगवान् श्रीकृष्णके चार अश्वोंमेंसे) सुग्रीव नामक घोड़ेके समान है ॥ २० ॥

योऽयं धुरं धुर्यवरो वामां वहति शोभनः।
तं मन्ये मेघपुष्पस्य जवेन सदृशं हयम् ॥ २१ ॥

और भार ढोनेवालोंमें श्रेष्ठ जो यह सुन्दर अश्व बाँयीं धुरीका भार वहन करता है, उसे वेगमें मेघपुष्प नामक अश्वके समान मानता हूँ ॥ २१ ॥

योऽयं काञ्चनसंनाहः पार्ष्णिं वहति शोभनः।
समं शैब्यस्य तं मन्ये जवेन बलवत्तरम् ॥ २२ ॥

यह जो सोनेके बख्तरसे सजा हुआ सुन्दर अश्व बाँयीं ओर पिछला जुआ ढो रहा है, इसे वेगमें मैं शैब्य नामक अश्वके समान अत्यन्त बलवान् मानता हूँ ॥ २२ ॥

योऽयं वहति मे पार्ष्णिं दक्षिणामभितः स्थितः।
बलाहकादपि मतः स जवे वीर्यवत्तरः ॥ २३ ॥

और यह जो दाहिने भागका पिछला जुआ धारण करके खड़ा है, वह वेगमें बलाहक नामवाले अश्वसे भी अधिक समझा गया है ॥ २३ ॥

त्वामेवायं रथो वोढुं संग्रामेऽर्हति धन्विनम्।
त्वं चेमं रथमास्थाय योद्धुमर्हो मतो मम ॥ २४ ॥

यह रथ आप-जैसे धनुर्धर वीरको ही वहन करने योग्य है और मेरी रायमें आप इसी रथपर बैठकर युद्ध करने योग्य हैं ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो विमुच्य बाहुभ्यां वलयानि स वीर्यवान्।
चित्रे काञ्चनसंनाहे प्रत्यमुञ्चत् तदा तले ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पराक्रमी अर्जुनने हाथोंसे कड़े और चूड़ियाँ उतार दीं और हथेलियोंमें सोनेके बने हुए विचित्र कवच धारण कर लिये ॥ २५ ॥

कृष्णान् भङ्गिमतः केशान् श्वेतेनोद्ग्रथ्य वाससा।
अथासौ प्राङ्मुखो भूत्वा शुचिः प्रयतमानसः।
अभिदध्यौ महाबाहुः सर्वास्त्राणि रथोत्तमे ॥ २६ ॥

फिर उन्होंने काले-काले घुँघराले केशोंको श्वेत वस्त्रसे बाँध दिया और पूर्वकी ओर मुँह करके पवित्र एवं एकाग्रचित्त हो महाबाहु धनंजयने उस श्रेष्ठ रथपर सम्पूर्ण अस्त्रोंका ध्यान किया॥

ऊचुश्च पार्थं सर्वाणि प्राञ्जलीनि नृपात्मजम्।
इमे स्म परमोदाराः किंकराः पाण्डुनन्दन ॥ २७ ॥

तब वे सब अस्त्र प्रकट होकर राजकुमार अर्जुनसे हाथ जोड़कर बोले— 'पाण्डुनन्दन! ये हमलोग तुम्हारे परम उदार किंकर हैं' ॥ २७ ॥

प्रणिपत्य ततः पार्थः समालभ्य च पाणिना।
सर्वाणि मानसानीह भवतेत्यभ्यभाषत ॥ २८ ॥

तब अर्जुनने उन्हें प्रणाम करके अपने हाथसे उनका स्पर्श किया और कहा—'आप सब लोग मेरे मनमें निवास करें' ॥

प्रतिगृह्य ततोऽस्त्राणि प्रहृष्टवदनोऽभवत्।
अधिज्यं तरसा कृत्वा गाण्डीवं व्याक्षिपद् धनुः ॥ २९ ॥

इस प्रकार अपने अस्त्र-शस्त्रोंको अनुकूल करके अर्जुनका मुखारविन्द प्रसन्नतासे खिल उठा। उन्होंने बड़े वेगसे गाण्डीव धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसकी टंकार की ॥ २९ ॥

तस्य विक्षिप्यमाणस्य धनुषोऽभून्महाध्वनिः।
यथा शैलस्य महतः शैलेनैवावजघ्नतः ॥ ३० ॥

उस धनुषकी टंकारके समय बड़े जोरका शब्द हुआ, मानो किसी महान् पर्वतको पर्वतसे ही टक्कर लगी हो ॥ ३० ॥

स निर्घातोऽभवद् भूमिद् दिक्षु वायुर्ववौ भृशम्।
पपात महती चोल्का दिशो न प्रचकाशिरे।
भ्रान्तध्वजं खं तदासीत् प्रकम्पितमहाद्रुमम् ॥ ३१ ॥
तं शब्दं कुरवोऽजानन् विस्फोटमशनेरिव।
यदर्जुनो धनुःश्रेष्ठं बाहुभ्यामाक्षिपद् रथे ॥ ३२ ॥

वह भयानक शब्द पृथ्वीको विदीर्ण करता-सा गूँज उठा। सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रचण्ड आँधी चलने लगी, महान् उल्कापात होने लगा और दिशाओंमें अन्धकार छा गया। शत्रुसेनाके ध्वज आकाशमें अकारण हिलने लगे। बड़े-बड़े वृक्ष भी हिलने लगे। अर्जुनने अपने दोनों हाथोंसे रथपर बैठे-बैठे जो अपने श्रेष्ठ धनुषकी टंकार-ध्वनि की, उसे सुनकर कौरवोंने समझा, कहींसे बिजली टूट पड़ी है ॥ ३१-३२ ॥

उत्तर उवाच

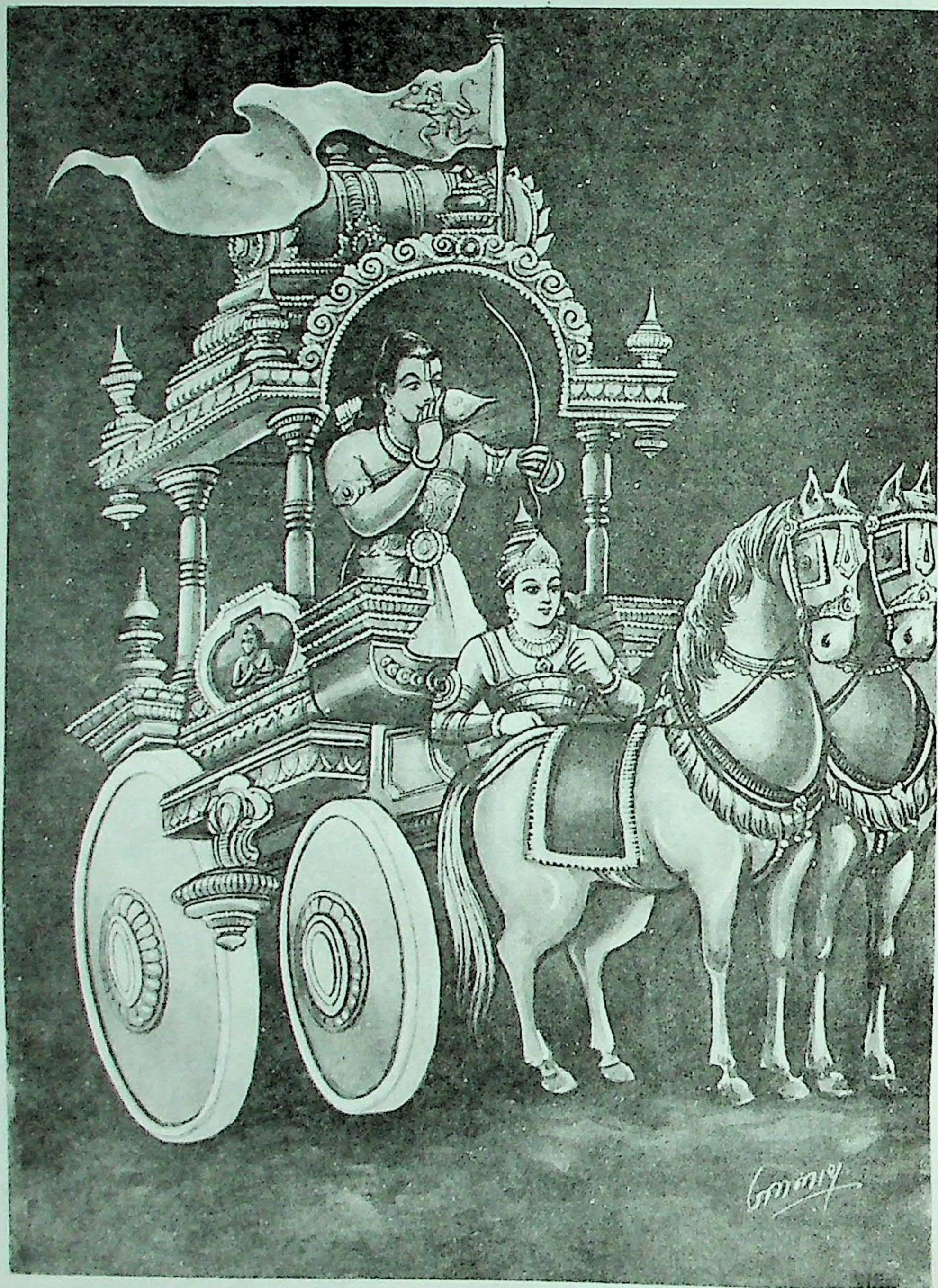
एकस्त्वं पाण्डवश्रेष्ठ बहूनेतान् महारथान्।
कथं जेष्यसि संग्रामे सर्वशस्त्रास्त्रपारगान् ॥ ३३ ॥

उस समय उत्तर बोला—पाण्डवश्रेष्ठ! आप तो अकेले हैं, इन सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके पारगामी बहुसंख्यक महारथियोंको युद्धमें कैसे जीत सकेंगे? ॥ ३३ ॥

असहायोऽसि कौन्तेय ससहायाश्च कौरवाः।
अतएव महाबाहो भीतस्तिष्ठामि तेऽग्रतः ॥ ३४ ॥

कुन्तीनन्दन! आप असहाय हैं और कौरवोंके साथ बहुतेरे सहायक हैं। महाबाहो! यह सोचकर मैं आपके सामने भयभीत हो रहा हूँ ॥ ३४ ॥

उवाच पार्थो मा भैषीः प्रहस्य स्वनवत् तदा ॥ ३५ ॥
युध्यमानस्य मे वीर गन्धर्वैः सुमहाबलैः।
सहायो घोषयात्रायां कस्तदाऽऽसीत् सखा मम ॥ ३६ ॥
तथा प्रतिभये तस्मिन् देवदानवसंकुले।
[illegible] ॥ ३७ ॥



अर्जुनका शङ्खनाद

यह सुनकर अर्जुन खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—'वीर ! डरो मत ! कौरवोंकी घोषयात्राके समय जब मैंने महाबली गन्धर्वोंके साथ युद्ध किया था, उस समय मेरा सखा या सहायक कौन था ? जब देवताओं और दानवोंसे भरे हुए उस अत्यन्त भयंकर खाण्डववनमें मैं युद्ध कर रहा था, उस समय मेरा साथी कौन था ? ॥ ३५—३७ ॥

निवातकवचैः सार्धं पौलोमैश्च महाबलैः ।
युध्यतो देवराजार्थे कः सहायस्तदाभवत् ॥ ३८ ॥

देवराज इन्द्रके लिये महाबली निवातकवच और पौलोम दैत्योंके साथ युद्ध करते समय मेरा कौन सहायक था ? ॥३८॥

स्वयंवरे तु पाञ्चाल्या राजभिः सह संयुगे ।
युध्यतो बहुभिस्तात कः सहायस्तदाभवत् ॥ ३९ ॥

तात ! द्रौपदीके स्वयंवरमें जब मुझे अनेक राजाओंके साथ युद्ध करना पड़ा था, उस समय किसने मेरी सहायता की थी ? ॥ ३९ ॥

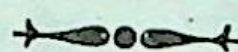
उपजीव्य गुरुं द्रोणं शक्रं वैश्रवणं यमम् ।
वरुणं पावकं चैव कृपं कृष्णं च माधवम् ॥ ४० ॥
पिनाकपाणिनं चैव कथमेतान् न योधये ।
रथं वाहय मे शीघ्रं व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ४१ ॥

मैं गुरुवर द्रोणाचार्य, इन्द्र, कुबेर, यमराज, वरुण, अग्निदेव, कृपाचार्य, लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण तथा पिनाकपाणि भगवान् शङ्कर—इन सबका आश्रय पा चुका हूँ; फिर भला, इन महारथियोंसे युद्ध क्यों नहीं कर सकूँगा ? शीघ्र मेरा रथ हाँको; तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये॥४०-४१॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे उत्तरार्जुनयोर्वाक्यं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर विराटकुमार उत्तर और अर्जुनकी बातचीतविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल ४७ श्लोक हैं)



षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

उत्तरके रथपर अर्जुनको ध्वजकी प्राप्ति, अर्जुनका शङ्खनाद और द्रोणाचार्यका कौरवोंसे उत्पात-सूचक अपशकुनोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

उत्तरं सारथिं कृत्वा शमीं कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
आयुधं सर्वमादाय प्रययौ पाण्डवर्षभः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उत्तरको सारथि बना शमी वृक्षकी परिक्रमा करके अपने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र लेकर पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन युद्धके लिये चले ॥ १ ॥

ध्वजं सिंहं रथात् तस्मादपनीय महारथः ।
प्रणिधाय शमीमूले प्रायादुत्तरसारथिः ॥ २ ॥

उन महारथी पार्थने उस रथपरसे सिंहचिह्नयुक्त ध्वजाको हटाकर शमीवृक्षके नीचे रख दिया और सारथि उत्तरके साथ प्रस्थान किया ॥ २ ॥

दैवीं मायां रथे युक्तां विहितां विश्वकर्मणा ।
काञ्चनं सिंहलाङ्गूलं ध्वजं वानरलक्षणम् ॥ ३ ॥
मनसा चिन्तयामास प्रसादं पावकस्य च ।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा ध्वजे भूतान्यदेशयत् ॥ ४ ॥

उस समय उन्होंने मन-ही-मन अग्निदेवके प्रसादस्वरूप प्राप्त हुए अपने सुवर्णमय ध्वजका चिन्तन किया, जिसपर मूर्तिमान् वानर उपलक्षित होता है और जिसकी लंबी पूँछ सिंहके समान है । वह ध्वज क्या था, विश्वकर्माकी बनायी हुई दैवी माया थी, जो रथमें संयुक्त हो जाती थी । अग्निदेवने अर्जुनका मनोभाव जानकर उस ध्वजपर स्थित रहनेके लिये भूतोंको आदेश दिया ॥ ३-४ ॥

सपताकं विचित्राङ्गं सोपासङ्गं महाबलम् ।
खात् पपात रथे तूर्णं दिव्यरूपं मनोरमम् ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् पताका तथा विचित्र अङ्ग और उपाङ्गोंसहित वह अतिशय शक्तिशाली दिव्यरूप मनोरम ध्वज तुरंत ही आकाशसे अर्जुनके रथपर आ गिरा ॥ ५ ॥

रथं तमागतं दृष्ट्वा दक्षिणं प्राकरोत् तदा ।
रथमास्थाय बीभत्सुः कौन्तेयः श्वेतवाहनः ॥ ६ ॥
बद्धगोधाङ्गुलित्राणः प्रगृहीतशरासनः ।
ततः प्रायादुदीचीं च कपिप्रवरकेतनः ॥ ७ ॥

इस प्रकार उस ध्वजको रथपर आया हुआ देख श्वेत घोड़ोंवाले कुन्तीनन्दन अर्जुनने उस रथकी परिक्रमा की तथा उसके ऊपर बैठकर अपनी अङ्गुलियोंमें गोहके चमड़ेके बने हुए दस्ताने धारण किये । फिर कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीसे उपलक्षित ध्वजाको फहराते हुए गाण्डीव धनुषके साथ उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया ॥ ६-७ ॥

स्वनवन्तं महाशङ्खं बलवानरिमर्दनः ।
प्राधमद् बलमास्थाय द्विषतां लोमहर्षणम् ॥ ८ ॥

उस समय शत्रुमर्दन महाबली अर्जुनने घोर शब्द करने-

वाले अपने महान् शङ्खको खूब जोर लगाकर बजाया। जिसकी आवाज सुनकर शत्रुओंके रोंगटे खड़े हो गये ॥ ८ ॥

(शशाङ्करूपं बीभत्सुः प्राध्मापयदरिंदमः।
शङ्खशब्दोऽस्य सोऽत्यर्थं श्रूयते कालमेघवत् ॥
तस्य शङ्खस्य शब्देन धनुषो निस्वनेन च।
वानरस्य च नादेन रथनेमिस्वनेन च ॥
जङ्गमस्य भयं घोरमकरोत् पाकशासनिः।)

शत्रुदमन अर्जुनने जो महान् शङ्ख फूँका था, वह चन्द्रमाके समान परम उज्ज्वल जान पड़ता था। उस शङ्खका जोर-जोरसे होनेवाला शब्द वर्षाकालके मेघकी गर्जनाके समान सुनायी देता था। शङ्खकी ध्वनि, धनुषकी टंकार, वानरकी गर्जना तथा रथके पहियोंकी घर्घराहटसे इन्द्रपुत्र अर्जुनने समस्त जङ्गम प्राणियोंके मनमें घोर भयका संचार कर दिया ॥

ततस्ते जवना धुर्या जानुभ्यामगमन्महीम्।
उत्तरश्चापि संत्रस्तो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ ९ ॥

उस शङ्खध्वनिसे घबराकर रथके वेगशाली घोड़ोंने भी धरतीपर घुटने टेक दिये और उत्तर भी अत्यन्त भयभीत हो रथके ऊपरी भागमें जहाँ रथीका स्थान है, आ बैठा ॥९॥

संस्थाप्य चाश्वान् कौन्तेयः समुद्यम्य च रश्मिभिः।
उत्तरं च परिष्वज्य समाश्वासयदर्जुनः ॥ १० ॥

तब कुन्तीनन्दन अर्जुनने स्वयं रास खींचकर घोड़ोंको खड़ा किया और उत्तरको हृदयसे लगाकर धीरज बँधाया ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच

मा भैस्त्वं राजपुत्राग्र्य क्षत्रियोऽसि परंतप।
कथं तु पुरुषव्याघ्र शत्रुमध्ये विषीदसि ॥ ११ ॥

अर्जुनने कहा—शत्रुओंको संताप देनेवाले राजकुमार-शिरोमणे! डरो मत, तुम क्षत्रिय हो। पुरुषसिंह! शत्रुओंके बीचमें आकर घबराते कैसे हो? ॥ ११ ॥

श्रुतास्ते शङ्खशब्दाश्च भेरीशब्दाश्च पुष्कलाः।
कुञ्जराणां च नदतां व्यूढानीकेषु तिष्ठताम् ॥ १२ ॥

तुमने बहुत बार शङ्ख-ध्वनि सुनी होगी। रणभेरियोंके भयंकर शब्द भी बहुत बार तुम्हारे कानोंमें पड़े होंगे और व्यूहबद्ध सेनाओंमें खड़े हुए चिग्घाड़नेवाले गजराजोंके शब्द भी तुमने सुने ही होंगे ॥ १२ ॥

स त्वं कथमिहानेन शङ्खशब्देन भीषितः।
विवर्णरूपो वित्रस्तः पुरुषः प्राकृतो यथा ॥ १३ ॥

फिर यहाँ इस शङ्खनादसे तुम भयभीत कैसे हो गये? साधारण मनुष्योंके समान अधिक डर जानेके कारण तुम्हारे शरीरका रंग फीका कैसे पड़ गया? ॥ १३ ॥

उत्तर उवाच

श्रुता मे शङ्खशब्दाश्च भेरीशब्दाश्च पुष्कलाः।
कुञ्जराणां [illegible] व्यूढानीकेषु तिष्ठताम् ॥ १४ ॥

उत्तरने कहा—वीरवर! इसमें संदेह नहीं कि मैंने बहुत बार शङ्खध्वनि सुनी है। रणभेरियोंके भयंकर शब्द भी बहुत बार मेरे कानोंमें पड़े हैं और व्यूहबद्ध सेनाओंमें खड़े हुए चिग्घाड़नेवाले गजराजोंके शब्द भी मैंने सुने हैं ॥

नैवंविधः शङ्खशब्दः पुरा जातु मया श्रुतः।
ध्वजस्य चापि रूपं मे दृष्टपूर्वं न हीदृशम् ॥ १५ ॥

परंतु आजके पहले कभी ऐसा भयंकर शङ्खनाद मेरे सुननेमें नहीं आया था और ध्वजका भी ऐसा रूप मैंने कभी नहीं देखा था ॥ १५ ॥

धनुषश्चैव निर्घोषः श्रुतपूर्वो न मे क्वचित्।
अस्य शङ्खस्य शब्देन धनुषो निस्वनेन च ॥ १६ ॥
अमानुषाणां शब्देन भूतानां ध्वजवासिनाम्।
रथस्य च निनादेन मनो मुह्यति मे भृशम् ॥ १७ ॥

धनुषकी ऐसी टंकार भी पहले कभी मैंने नहीं सुनी थी। इस शङ्खके भयानक शब्दसे, धनुषकी अनुपम टंकारसे, ध्वजामें निवास करनेवाले मानवेतर प्राणियोंके घोर शब्दसे तथा रथकी भारी घर्घराहटसे भी डरकर मेरा हृदय बहुत व्याकुल हो उठा है ॥ १६-१७ ॥

व्याकुलाश्च दिशः सर्वा हृदयं व्यथतीव मे।
ध्वजेन पिहिताः सर्वा दिशो न प्रतिभान्ति मे ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें घबराहट छा गयी है तथा मेरे हृदयमें बड़ी व्यथा हो रही है, इस ध्वजने तो समस्त दिशाओंको ढँक लिया है। अतः मुझे किसी दिशाकी प्रतीति नहीं हो रही है ॥ १८ ॥

गाण्डीवस्य च शब्देन कर्णौ मे बधिरीकृतौ।
स मुहूर्तं प्रयातं तु पार्थो वैराटिमब्रवीत् ॥ १९ ॥

गाण्डीव धनुषकी टंकारसे तो मेरे दोनों कान बहरे हो गये हैं।

इस प्रकार दो घड़ीतक आगे बढ़नेपर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरसे कहा— ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच

एकान्तं रथमास्थाय पद्भ्यां त्वमवपीडयन्।
दृढं च रश्मीन् संयच्छ शङ्खं ध्मास्याम्यहं पुनः ॥ २० ॥

अर्जुन बोले—राजकुमार! अब तुम रथपर अच्छी तरह जमकर बैठ जाओ और अपनी टाँगोंसे बैठनेके स्थानको जकड़ लो। साथ ही घोड़ोंकी रासको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहो। मैं फिर शङ्ख बजाऊँगा ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः शङ्खमुपाध्मासीद् दारयन्निव पर्वतान्।
गुहा गिरीणां च तदा दिशः शैलांस्तथैव च।
उत्तरश्चापि संलीनो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब अर्जुनने इतने जोरसे शङ्ख बजाया मानो वे पर्वतों, पर्वतीय गुफाओं, सम्पूर्ण दिशाओं और बड़ी-बड़ी चट्टानोंको भी विदीर्ण कर डालेंगे। उत्तर इस बार भी रथके भीतरी भागमें छिपकर बैठ गया ॥

तस्य शङ्खस्य शब्देन रथनेमिस्वनेन च ।
गाण्डीवस्य च घोषेण पृथिवी समकम्पत ॥ २२ ॥

उस शङ्खके शब्दसे, रथनेमियोंकी घर्घराहटसे तथा गाण्डीव धनुषकी टंकारसे धरती काँप उठी ॥ २२ ॥

तं समाश्वासयामास पुनरेव धनंजयः ॥ २३ ॥

तदनन्तर अर्जुनने उत्तरको पुनः धीरज बँधाया ॥२३॥

द्रोण उवाच

यथा रथस्य निर्घोषो यथा मेघ उदीर्यते ।
कम्पते च यथा भूमिर्नैषोऽन्यः सव्यसाचिनः ॥ २४ ॥

(यह शङ्ख-ध्वनि सुनकर कौरवसेनामें) द्रोणाचार्यने कहा—जैसी यह रथकी घर्घराहट सुनायी दे रही है, जिस तरह उससे मेघगर्जनाका-सा शब्द हो रहा है और उसीके कारण जिस प्रकार यह पृथ्वी काँपने लगी है, इनसे यह सूचित होता है कि यह आनेवाला योद्धा अर्जुनके सिवा दूसरा कोई नहीं है ॥ २४ ॥



शस्त्राणि न प्रकाशन्ते न प्रहृष्यन्ति वाजिनः ।
अग्नयश्च न भासन्ते समिद्धास्तन्न शोभनम् ॥ २५ ॥

अब हमारे शस्त्र चमक नहीं रहे हैं, घोड़े प्रसन्न नहीं जान पड़ते और [illegible] उद्दीप्त नहीं हो रही हैं। यह सब अशुभकी सूचना है ॥२५॥

प्रत्यादित्यं च नः सर्वे मृगा घोरप्रवादिनः ।
ध्वजेषु च निलीयन्ते वायसास्तन्न शोभनम् ॥ २६ ॥

हमारे सभी पशु सूर्यकी ओर दृष्टि करके भयंकर क्रन्दन करते हैं और रथोंकी ध्वजाओंमें कौए छिप रहे हैं। यह भी शुभसूचक नहीं है ॥ २६ ॥

शकुनाश्चापसव्या नो वेदयन्ति महद् भयम् ॥ २७ ॥
गोमायुरेष सेनायां रुदन् मध्येन धावति ।
अनाहतश्च निष्क्रान्तो महद् वेदयते भयम् ॥ २८ ॥

ये पक्षी भी हमारे वामभागमें उड़कर महान् भयकी सूचना दे रहे हैं। और यह गीदड़ बिना किसी आघातके हमारी सेनाके बीचसे निकलकर रोता हुआ भाग रहा है, यह भी महान् भयका विज्ञापन कर रहा है ॥ २७-२८ ॥

भवतां रोमकूपाणि प्रहृष्टान्युपलक्षये ।
ध्रुवं विनाशो युद्धेन क्षत्रियाणां प्रदृश्यते ॥ २९ ॥

कौरवो ! मैं देखता हूँ, तुम्हारे रोंगटे खड़े हो गये हैं; अतः निश्चय ही, इस युद्धके द्वारा क्षत्रियोंका विनाश निकट दिखायी देता है ॥ २९ ॥

ज्योतींषि न प्रकाशन्ते दारुणा मृगपक्षिणः ।
उत्पाता विविधा घोरा दृश्यन्ते क्षत्रनाशनाः ॥ ३० ॥

सूर्य आदिका प्रकाश मंद पड़ गया है। भयंकर मृग और पक्षी सामने आ रहे हैं और क्षत्रियोंके संहारकी सूचना देनेवाले अनेक प्रकारके घोर उत्पात दिखायी देते हैं ॥३०॥

विशेषत इहास्माकं निमित्तानि विनाशने ।
उल्काभिश्च प्रदीप्ताभिर्बाध्यते पृतना तव ।
वाहनान्यप्रहृष्टानि रुदन्तीव विशाम्पते ॥ ३१ ॥

राजा दुर्योधन ! विशेषतः यहीं हमारे लिये विनाशसूचक अपशकुन हो रहे हैं। तुम्हारी सेनाके ऊपर जलती हुई उल्काएँ गिर-गिरकर उसे पीड़ा देती हैं। तुम्हारे वाहन (हाथी-घोड़े) अप्रसन्न तथा रोते-से दीखते हैं ॥ ३१ ॥

उपासते च सैन्यानि गृध्रास्तव समन्ततः ।
तप्स्यसे वाहिनीं दृष्ट्वा पार्थबाणप्रपीडिताम् ।
पराभूता च वः सेना न कश्चिद् योद्धुमिच्छति ॥ ३२ ॥

सेनाके चारों ओर गीध बैठ रहे हैं, इससे जान पड़ता है; तुम अपनी सेनाको अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित होती देख मनमें संताप करोगे। तुम्हारी सेना अभीसे तिरस्कृत-सी हो रही है, कोई भी सैनिक युद्ध करना नहीं चाहता है ॥ ३२ ॥

विवर्णमुखभूयिष्ठाः सर्वे योधा विचेतसः ।
[illegible] ॥ ३३ ॥

समस्त सैनिकोंके मुखपर भारी उदासी छा गयी है। सब अचेत—हतोत्साह हो रहे हैं। अतः हम गौओंको हस्तिनापुरकी ओर भेजकर सेनाकी व्यूहरचना करके शत्रुपर प्रहार करनेके लिये उद्यत हो जायँ ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे औत्पातिको नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर उत्पातसूचक अपशकुनसम्बन्धी छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ३५½ श्लोक हैं)

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा युद्धका निश्चय तथा कर्णकी उक्ति

वैशम्पायन उवाच

अथ दुर्योधनो राजा समरे भीष्ममब्रवीत् ।
द्रोणं च रथशार्दूलं कृपं च सुमहारथम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा दुर्योधनने समरभूमिमें भीष्म, रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोण और महारथी कृपाचार्यसे कहा—॥ १ ॥

उक्तोऽयमर्थ आचार्यौ मया कर्णेन चासकृत् ।
पुनरेव प्रवक्ष्यामि न हि तृप्यामि तं ब्रुवन् ॥ २ ॥

'आचार्यो ! मैंने और कर्णने यह बात आपलोगोंसे कई बार कही है और फिर उसीको दुहराता हूँ; क्योंकि उसे बार-बार कहकर भी मुझे तृप्ति नहीं होती ॥ २ ॥

पराभूतैर्हि वस्तव्यं तैश्च द्वादश वत्सरान् ।
वने जनपदे ज्ञातैरेष एव पणो हि नः ॥ ३ ॥

'जूआ खेलते समय हमलोगोंकी यही शर्त थी कि हममेंसे जो हारेंगे, उन्हें बारह वर्षोंतक किसी वनमें प्रकटरूपसे और एक वर्षतक किसी नगरमें अज्ञातभावसे निवास करना पड़ेगा ॥ ३ ॥

तेषां न तावन्निर्वृत्तं वर्तते तु त्रयोदशम् ।
अज्ञातवासो बीभत्सुरथास्माभिः समागतः ॥ ४ ॥

'अभी पाण्डवोंका तेरहवाँ वर्ष पूरा नहीं हुआ है, तो भी अज्ञातवासमें रहनेवाला अर्जुन आज प्रकटरूपसे हमारे साथ युद्ध करने आ रहा है ॥ ४ ॥

अनिवृत्ते तु निर्वासे यदि बीभत्सुरागतः ।
पुनर्द्वादश वर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवाः ॥ ५ ॥

'यदि अज्ञातवास पूर्ण होनेके पहले ही अर्जुन आ गया है, तो पाण्डव फिर बारह वर्षोंतक वनमें निवास करेंगे ॥ ५ ॥

लोभाद् वा ते न जानीयुरस्मान् वा मोह आविशत् ।
हीनातिरिक्तमेतेषां भीष्मो वेदितुमर्हति ॥ ६ ॥

'वे राज्यके लोभसे अपनी प्रतिज्ञाको स्मरण नहीं रख सके हैं या हमलोगोंमें ही मोह (प्रमाद) आ गया है। इनके तेरहवें वर्षमें अभी कुछ कमी है या अधिक दिन बीत गये हैं; यह भीष्मजी जान सकते हैं ॥ ६ ॥

अर्थानां च पुनर्द्वैधे नित्यं भवति संशयः ।
अन्यथा चिन्तितो ह्यर्थः पुनर्भवति सोऽन्यथा ॥ ७ ॥

'जिन विषयोंमें दुविधा पड़ जाती है, उनमें सदा संदेह बना रहता है। किसी विषयको अन्य प्रकारसे सोचा जाता है, किंतु पता लगनेपर वह किसी और ही प्रकारका सिद्ध होता है ॥ ७ ॥

उत्तरं मार्गमाणानां मत्स्यानां च युयुत्सताम् ।
यदि बीभत्सुरायातस्तदा कस्यापराध्नुमः ॥ ८ ॥

'हमलोग मत्स्यदेशके उत्तरगोष्ठकी खोज करते हुए यहाँ आये और मत्स्यदेशीय सैनिकोंके साथ ही युद्ध करना चाहते थे। इस दशामें भी यदि अर्जुन हमसे युद्ध करने आया है, तो हम किसका अपराध कर रहे हैं ! ॥ ८ ॥

त्रिगर्तानां वयं हेतोर्मत्स्यान् योद्धुमिहागताः ।
मत्स्यानां विप्रकारांस्ते बहूनस्माननकीर्तयन् ॥ ९ ॥

'मत्स्यनिवासियोंके साथ भी जो हम यहाँ युद्धके लिये आये हैं, वह अपने स्वार्थको लेकर नहीं, त्रिगर्तोंकी सहायताके उद्देश्यसे हमारा यहाँ आगमन हुआ है। त्रिगर्तोंने हमारे सामने मत्स्यदेशीय सैनिकोंके बहुत-से अत्याचारोंका वर्णन किया था ॥ ९ ॥

तेषां भयाभिभूतानां तदस्माभिः प्रतिश्रुतम् ।
प्रथमं तैर्ग्रहीतव्यं मत्स्यानां गोधनं महत् ।
सप्तम्यामपराह्णे वै तथा तैस्तु समाहितम् ॥ १० ॥

'वे भयसे बहुत दबे हुए थे; इसलिये हमने उनकी सहायताके लिये प्रतिज्ञा की थी। हमारी उनकी बात यह हुई थी कि वे लोग सप्तमी तिथिको अपराह्णकालमें मत्स्यदेशके (दक्षिण) गोष्ठपर आक्रमण करके वहाँका महान् गोधन अपने अधिकारमें कर लें। ऐसा ही उन्होंने किया भी है ॥

अष्टम्यां पुनरस्माभिरादित्यस्योदयं प्रति ।
इमा गावो ग्रहीतव्या गते मत्स्ये गवां पदम् ॥ ११ ॥

'साथ ही यह भी तै हुआ था कि हमलोग अष्टमीको सूर्योदय होते-होते उत्तरगोष्ठकी इन गौओंको ग्रहण कर लें; क्योंकि उस समय मत्स्यराज गौओंके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए त्रिगर्तोंके पीछे गये होंगे ॥ ११ ॥

ते वा गाश्चानयिष्यन्ति यदि वा स्युः पराजिताः।
अस्मान् वा ह्युपसंधाय कुर्युर्मत्स्येन संगतम् ॥ १२ ॥

'वे त्रिगर्त-सैनिक गौओंको यहाँ ले आयेंगे अथवा यदि परास्त हो गये, तो हमलोगोंसे मिलकर पुनः मत्स्यराजके साथ युद्ध करेंगे ॥ १२ ॥

अथवा तानपाहाय मत्स्यो जानपदैः सह ।
सर्वया सेनया सार्धं संवृतो भीमरूपया ।
आयातः केवलं रात्रिमस्मान् योद्धुमिहागतः ॥ १३ ॥

'अथवा यदि मत्स्यराज त्रिगर्तोंको भगाकर अपने देशके लोगों एवं अपनी सारी भयंकर सेनाके साथ इस रातमें हम-लोगोंसे युद्ध करनेके लिये यहाँ आ रहे होंगे ॥ १३ ॥

तेषामेव महावीर्यः कश्चिदेष पुरःसरः ।
अस्माञ्जेतुमिहायातो मत्स्यो वापि स्वयं भवेत् ॥१४॥

'उन्हीं सैनिकोंमेंसे यह कोई महापराक्रमी योद्धा अगुआ बनकर हमें जीतने आया है। यह भी सम्भव है कि ये स्वयं मत्स्यराज ही हों ॥ १४ ॥

यद्येष राजा मत्स्यानां यदि बीभत्सुरागतः ।
सर्वैर्योद्धव्यमस्माभिरिति नः समयः कृतः ॥ १५ ॥

'यदि यह मत्स्याका राजा विराट हो अथवा अर्जुन ही उसकी ओरसे आया हो, तो भी हम सब लोगोंको उससे युद्ध करना ही है; यह हमने प्रतिज्ञा कर ली है ॥ १५ ॥

अथ कस्मात् स्थिता ह्येते रथेषु रथसत्तमाः ।
भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव विकर्णो द्रौणिरेव च ॥ १६ ॥
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे काले ह्यस्मिन् महारथाः ।
नान्यत्र युद्धाच्छ्रेयोऽस्ति तथाऽऽत्मा प्रणिधीयताम् ।१७।

'फिर ये हमारे श्रेष्ठ रथी-महारथी भीष्म, द्रोण, कृप, विकर्ण और अश्वत्थामा आदि इस समय भ्रान्तचित्त हो रथोंमें चुपचाप क्यों बैठे हैं ? युद्धके सिवा और किसी बातमें कल्याण नहीं है । यह समझकर अपने-आपको इस परिस्थितिके अनुकूल बनाना चाहिये ॥ १६-१७ ॥

आच्छिन्ने गोधनेऽस्माकमपि देवेन वज्रिणा ।
यमेन वापि संग्रामे को हास्तिनपुरं व्रजेत् ॥ १८ ॥

'यदि स्वयं वज्रधारी इन्द्र अथवा यमराज ही युद्धमें आकर हमसे गोधन छीन लें, तो भी ऐसा कौन होगा, जो उनका सामना करना छोड़कर हस्तिनापुरको लौट जाय ? ॥ १८ ॥

शरैरेभिः प्रणुन्नानां भग्नानां गहने वने ।
को हि जीवेत् पदातीनां भवेदश्वेषु संशयः ॥ १९ ॥

'यदि कोई गहन वनमें भागकर प्राण बचाना चाहें, तो मेरे इन बाणोंसे वे छिन्न-भिन्न कर दिये जायँगे । इस तरह भागनेवाले पैदल सैनिकोंमेंसे कौन जीवित रह सकता है। घुड़सवारोंके विषयमें संदेह है (वे भागनेपर मारे भी जा सकते हैं और बच भी सकते हैं)' ॥ १९ ॥

दुर्योधनवचः श्रुत्वा राधेयस्त्वब्रवीद् वचः ।
आचार्यं पृष्ठतः कृत्वा तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २० ॥

दुर्योधनकी बात सुनकर राधानन्दन कर्णने कहा— 'राजन् ! आप आचार्य द्रोणको पीछे रखकर ऐसी नीति बनाइये कि विजय प्राप्त हो ॥ २० ॥

जानाति हि मतं तेषामतस्त्रासयतीह नः ।
अर्जुने चास्य सम्प्रीतिमधिकामुपलक्षये ॥ २१ ॥

'ये पाण्डवोंका मत जानते हैं, इसीलिये यहाँ हमें डरा रहे हैं। और अर्जुनके प्रति इनका प्रेम अधिक मैं देखता हूँ ॥

तथा हि दृष्ट्वा बीभत्सुमुपायान्तं प्रशंसति ।
यथा सेना न भज्येत तथा नीतिर्विधीयताम् ॥२२॥

'तभी तो अर्जुनको आते देख ये उसकी प्रशंसा कर रहे हैं। (इनकी बातोंसे हतोत्साह होकर) सेनामें भगदड़ न मच जाय, इसका खयाल रखते हुए तदनुकूल नीति निर्धारित कीजिये ॥

ह्रेषितं ह्युपशृण्वाने द्रोणे सर्वं विघट्टितम् ।
अदेशिका महारण्ये ग्रीष्मे शत्रुवशं गताः ।
यथा न विभ्रमेत् सेना तथा नीतिर्विधीयताम् ॥२३॥

'[आगे रहनेपर] ये अर्जुनके घोड़ोंकी हिनहिनाहट सुनते ही घबरा उठेंगे । फिर तो सारी सेना ही विचलित हो जायगी । इस समय हम विदेशमें हैं, बड़े भारी जंगलमें पड़े हुए हैं, गर्मीकी ऋतु है और हम शत्रुके वशमें आ गये हैं; अतः ऐसी नीतिसे काम लें कि इनकी बातें सुनकर सैनिकोंके मनमें भ्रम न फैले ॥ २३ ॥

इष्टा हि पाण्डवा नित्यमाचार्यस्य विशेषतः ।
आसयन्नपरार्थाश्च कथ्यते स्म स्वयं तथा ॥२४॥

'आचार्यको सदासे ही पाण्डव अधिक प्रिय रहे हैं। उन स्वार्थियोंने अपना काम बनानेके लिये ही द्रोणाचार्यको आपके पास रख छोड़ा है । ये स्वयं भी ऐसी बातें कहते हैं, जिससे हमारे कथनकी पुष्टि होती है ॥ २४ ॥

अश्वानां ह्रेषितं श्रुत्वा कः प्रशंसापरो भवेत् ।
स्थाने वापि व्रजन्तो वा सदा ह्रेषन्ति वाजिनः ॥२५॥

'भला, घोड़ोंकी हिनहिनाहट सुनकर कौन किसीकी प्रशंसा करने लग जाता है ? घोड़े अपने स्थानपर हों या यात्रा करते हों, वे सदा ही हींसते रहते हैं (इससे किसीकी वीरताका क्या सम्बन्ध है ?) ॥ २५ ॥

सदा च वायवो वान्ति नित्यं वर्षति वासवः ।
स्तनयित्नोश्च निर्घोषः श्रूयते बहुशस्तथा ॥२६॥
किमत्र कार्यं पार्थस्य कथं वा स प्रशस्यते ।
[illegible] ॥२७॥

'हवा सदा चला करती है। इन्द्र हमेशा वर्षा करते हैं। मेघोंकी गर्जना बहुत बार सुननेको मिलती है। (इससे डरने या अपशकुन माननेकी क्या बात है ?) इसमें अर्जुनका क्या काम है (कौन-सा चमत्कार है ?) इस बातको लेकर क्यों उसकी प्रशंसा की जाती है ? इसका कारण इस बातके सिवा और क्या हो सकता है कि आचार्यके मनमें अर्जुनका भला करनेकी इच्छा हो एवं हमारे प्रति इनके हृदयमें केवल द्वेष तथा रोषका भाव ही संचित हो ? ॥ २६-२७ ॥

आचार्या वै कारुणिकाः प्राज्ञाश्चापापदर्शिनः।
नैते महाभये प्राप्ते सम्प्रष्टव्याः कथंचन ॥२८॥

'आचार्यलोग बड़े दयालु, बुद्धिमान् और पाप तथा हिंसाके विरुद्ध विचार रखनेवाले होते हैं। जब कोई महान् भयका अवसर प्राप्त हो, उस समय इनसे किसी प्रकारकी सलाह नहीं पूछनी चाहिये ॥ २८ ॥

प्रासादेषु विचित्रेषु गोष्ठीषूपवनेषु च।
कथा विचित्राः कुर्वाणाः पण्डितास्तत्र शोभनाः ॥२९॥

'पण्डितलोग सुन्दर महलों और मन्दिरोंमें, सभाओंमें और बगीचोंमें बैठकर जब विचित्र कथावार्ता सुना रहे हों, तब वहीं उनकी शोभा होती है ॥ २९ ॥

बहून्याश्चर्यरूपाणि कुर्वाणा जनसंसदि।
इज्यास्त्रे चोपसंधाने पण्डितास्तत्र शोभनाः ॥३०॥

जनसमुदायमें बहुत-से आश्चर्यजनक विनोदपूर्ण कार्य करने तथा यज्ञ-सम्बन्धी आयुधों (पात्रों) को यथास्थान रखने एवं प्रोक्षण आदि करनेमें ही पण्डितोंकी शोभा है ॥

परेषां विवरज्ञाने मनुष्यचरितेषु च।
हस्त्यश्वरथचर्यासु खरोष्ट्राजाविकर्मणि ॥३१॥
गोधनेषु प्रतोलीषु वरद्वारमुखेषु च।
अन्नसंस्कारदोषेषु पण्डितास्तत्र शोभनाः ॥३२॥

'दूसरोंके छिद्रको जानने या देखनेमें, मनुष्योंकी दिनचर्या बतानेमें, हाथी, घोड़े तथा रथ यात्रा करनेका मुहूर्त आदिसे निकालनेमें, गदहों, ऊँटों, बकरों और भेड़ोंकी गुण-दोष-समीक्षा एवं चिकित्सा आदिमें, गोधनके संग्रह और परीक्षणमें, गलियों तथा घरके श्रेष्ठ दरवाजोंपर किये जानेवाले माङ्गलिक कृत्यमें, नवीन अन्नका इष्टिद्वारा संस्कार कराने तथा अन्नमें केश-कीट आदि गिर जानेसे जो दोष आता है, उनपर विचार करनेमें भी पण्डितोंकी राय लेनी चाहिये। ऐसे ही कार्योंमें उनकी शोभा है ॥ ३१-३२ ॥

पण्डितान् पृष्ठतः कृत्वा परेषां गुणवादिनः।
विधीयतां तथा नीतिर्यथा वध्यो भवेत् परः ॥३३॥

'शत्रुओंके गुणोंका बखान करनेवाले पण्डितोंको पीछे करके ऐसी नीति काममें लें, जिससे शत्रुका वध हो सके ॥

गावश्च सम्प्रतिष्ठाप्य सेनां व्यूह्य समन्ततः।
आरक्षाश्च विधीयन्तां यत्र योत्स्यामहे परान् ॥३४॥

'गौओंको बीचमें खड़ी करके उनके चारों ओर सेनाका व्यूह बना लिया जाय तथा सब ओरसे रक्षाकी ऐसी व्यवस्था कर ली जाय, जिससे हम शत्रुओंके साथ युद्ध कर सकें' ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे दुर्योधनवाक्ये सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहमें दुर्योधनवाक्यसम्बन्धी सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

कर्णकी आत्मप्रशंसापूर्ण अहंकारोक्ति

कर्ण उवाच

सर्वानायुष्मतो भीतान् संत्रस्तानिव लक्षये।
अयुद्धमनसश्चैव सर्वांश्चैवानवस्थितान् ॥ १ ॥

कर्ण बोला—मैं आप सब आयुष्मानोंको भयभीत एवं त्रस्त-सा देखता हूँ। आपमेंसे किसीका मन युद्धमें नहीं लग रहा है एवं सभी चञ्चल दिखायी देते हैं ॥ १ ॥

यद्येष राजा मत्स्यानां यदि बीभत्सुरागतः।
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ २ ॥

यदि यह मत्स्यदेशका राजा हो अथवा यदि स्वयं अर्जुन आया हो, तो भी जैसे वेला समुद्रको रोक देती है, उसी प्रकार मैं भी इसे आगे बढ़नेसे रोक दूँगा ॥ २ ॥

मम चापप्रयुक्तानां शराणां नतपर्वणाम्।
नावृत्तिर्गच्छतां तेषां सर्पाणामिव सर्पताम् ॥ ३ ॥

मेरे धनुषसे छूटकर सर्पोंकी भाँति आगे बढ़नेवाले और झुकी हुई गाँठवाले बाण कभी अपने लक्ष्यसे च्युत नहीं होते ॥ ३ ॥

रुक्मपुङ्खाः सुतीक्ष्णाग्रा मुक्ता हस्तवता मया।
छादयन्तु शराः पार्थं शलभा इव पादपम् ॥ ४ ॥

सुनहरी पाँख और तीखी नोकवाले बाण मेरे हाथोंसे छूटकर अर्जुनको ठीक उसी तरह, ढँक लेंगे; जैसे टिड्डियाँ पेड़को आच्छादित कर देती हैं ॥ ४ ॥

शराणां पुङ्खसक्तानां मौर्व्याभिहतया दृढम् ।
श्रूयतां तलयोः शब्दो भेर्योराहतयोरिव ॥ ५ ॥

पाँखवाले बाणोंको धनुषकी प्रत्यञ्चापर चढ़ाकर भली-भाँति खींचनेके पश्चात् मेरी दोनों हथेलियोंका ऐसा शब्द होता है, जैसे दो नगाड़े पीटे गये हों । आज वह शब्द आपलोग सुनें ॥ ५ ॥

समाहितो हि बीभत्सुर्वर्षाण्यष्टौ च पञ्च च ।
जातस्नेहश्च युद्धेऽस्मिन् मयि सम्प्रहरिष्यति ॥ ६ ॥

अर्जुन तेरह वर्षोंतक वनमें समाधि लगाता रहा है, किंतु उसका इस युद्धमें स्नेह है; अतः मुझपर वह बाणोंका प्रहार करेगा ॥ ६ ॥

पात्रीभूतश्च कौन्तेयो ब्राह्मणो गुणवानिव ।
शरौघान् प्रतिगृह्णातु मया मुक्तान् सहस्रशः ॥ ७ ॥

कुन्तीनन्दन धनंजय गुणवान् ब्राह्मणकी भाँति मेरेलिये एक सुपात्र व्यक्ति है । अतः आज वह मेरे छोड़े हुए सहस्रों बाणसमुदायोंका दान स्वीकार करे ॥ ७ ॥

एष चैव महेष्वासस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
अहं चापि नरश्रेष्ठादर्जुनान्नावरः क्वचित् ॥ ८ ॥

यह तीनों लोकोंमें महान् धनुर्धरके रूपमें विख्यात है और मैं भी नरश्रेष्ठ अर्जुनसे किसी बातमें कम नहीं हूँ ॥८॥

इतश्चेतश्च निर्मुक्तैः काञ्चनैर्गार्ध्रवाजितैः ।
दृश्यतामद्य वै व्योम खद्योतैरिव संवृतम् ॥ ९ ॥

इधर-उधर दोनों ओरसे छूटे हुए गीधकी पाँखोंसे युक्त सुवर्णमय बाणोंद्वारा आच्छादित हो आज आकाश जुगुनुओंसे भरा हुआ-सा दिखायी देगा ॥ ९ ॥

अद्याहमृणमक्षय्यं पुरा वाचा प्रतिश्रुतम् ।
धार्तराष्ट्राय दास्यामि निहत्य समरेऽर्जुनम् ॥१०॥

मैं आज युद्धमें अर्जुनको मारकर पहले की हुई अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार दुर्योधनका अक्षय ऋण चुका दूँगा ॥ १० ॥

अन्तराच्छिद्यमानानां पुङ्खानां व्यतिशीर्यताम् ।
शलभानामिवाकाशे प्रचारः सम्प्रदृश्यताम् ॥११॥

आज बीचसे कटकर इधर-उधर बिखर जानेवाले पंखयुक्त बाणोंका आकाशमें फतिंगोंकी भाँति उड़ना और गिरना देखो ॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शैर्महेन्द्रसमतेजसम् ।
अर्दयिष्याम्यहं पार्थमुल्काभिरिव कुञ्जरम् ॥१२॥

यद्यपि अर्जुन महेन्द्रके समान तेजस्वी है, तो भी आज उसे उल्काओं (मशालों) द्वारा गजराजकी भाँति इन्द्रके वज्रकी तरह कठोर स्पर्शवाले अपने बाणोंसे पीड़ित कर दूँगा ॥१२॥

रथादतिरथं शूरं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
विवशं पार्थमादास्ये गरुत्मानिव पन्नगम् ॥१३॥

जो रथियोंसे भी बढ़कर—अतिरथी, सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ और शूरवीर है, उस कुन्तीपुत्रको आज मैं युद्धमें विवश करके उसी प्रकार दबोच लूँगा, जैसे गरुड़ साँपको पकड़ लेता है ॥ १३ ॥

तमग्निमिव दुर्धर्षमसिशक्तिशरेन्धनम् ।
पाण्डवाग्निमहं दीप्तं प्रदहन्तमिवाहितम् ॥१४॥
अश्ववेगपुरोवातो रथौघस्तनयित्नुमान् ।
शरधारो महामेघः शमयिष्यामि पाण्डवम् ॥१५॥

जो अग्निकी भाँति दुर्धर्ष है, खड्ग, शक्ति और बाणरूपी ईंधनसे प्रज्वलित है और अपने शत्रुको भस्म कर रही है, उस अर्जुनरूपी जलती हुई आगको आज मैं महामेघ बनकर बुझा दूँगा । मेरे अश्वोंका वेग ही पुरवैया हवाका काम करेगा । रथसमूहकी घर्घराहट ही बादलोंकी गम्भीर गर्जना होगी और बाणोंकी धारा ही जलधाराका काम करेगी ॥

मत्कार्मुकविनिर्मुक्ताः पार्थमाशीविषोपमाः ।
शराः समभिसर्पन्तु वल्मीकमिव पन्नगाः ॥१६॥

आज मेरे धनुषसे छूटे हुए सर्पोंके समान विषैले बाण अर्जुनके शरीरमें उसी प्रकार प्रवेश करेंगे, जैसे साँप बाँबीमें घुसते हैं ॥ १६ ॥

सुतेजनै रुक्मपुङ्खैः सुधौतैर्नतपर्वभिः ।
आचितं पश्य कौन्तेयं कर्णिकारैरिवाचलम् ॥१७॥

कनेरके फूलोंसे व्याप्त पर्वतकी जैसी शोभा होती है, उसी प्रकार मेरे तेज, सुनहरे पंखवाले, उज्ज्वल और झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा कुन्तीपुत्र अर्जुनको आच्छादित हुआ देखो॥

जामदग्न्यान्मया ह्यस्त्रं यत् प्राप्तमृषिसत्तमात् ।
तदुपाश्रित्य वीर्यं च युध्येयमपि वासवम् ॥१८॥

मुनिश्रेष्ठ परशुरामजीसे मैंने जो अस्त्र प्राप्त किये हैं, उन अस्त्रों और अपने पराक्रमका आश्रय लेकर मैं इन्द्रसे भी युद्ध कर सकता हूँ ॥ १८ ॥

ध्वजाग्रे वानरस्तिष्ठन् भल्लेन निहतो मया ।
अद्यैव पततां भूमौ विनदन् भैरवान् रवान् ॥१९॥

अर्जुनकी ध्वजाके अग्रभागपर स्थित होनेवाला वानर जो भयंकर गर्जना किया करता है, वह आज ही मेरे बाणोंसे मारा जाकर पृथ्वीपर गिर जाय ॥ १९ ॥

शत्रोर्मया विपन्नानां भूतानां ध्वजवासिनाम् ।
दिशः प्रतिष्ठमानानामस्तु शब्दो दिवंगमः ॥२०॥

शत्रुकी ध्वजामें निवास करनेवाले भूतगण भी मुझसे मारे जाकर अब चारों दिशाओंमें भागने लगें; उस समय

उनके हाहाकारका शब्द स्वर्गलोकतक पहुँच जायगा ॥ २० ॥

अद्य दुर्योधनस्याहं शल्यं हृदि चिरस्थितम् ।
समूलमुद्धरिष्यामि बीभत्सुं पातयन् रथात् ॥ २१ ॥

अर्जुनको रथसे गिराकर आज मैं दुर्योधनके हृदयमें चिरकालसे चुभे हुए काँटेको जड़सहित निकाल फेंकूँगा ॥

हताश्वं विरथं पार्थं पौरुषे पर्यवस्थितम् ।
निःश्वसन्तं यथा नागमद्य पश्यन्तु कौरवाः ॥ २२ ॥

पुरुषार्थसाधनमें लगे हुए अर्जुनके घोड़े मार दिये जायँगे और वह रथहीन होकर केवल साँपकी भाँति फुफकार मारता फिरेगा । कौरवलोग आज उसकी यह अवस्था भी देखें ॥

कामं गच्छन्तु कुरवो धनमादाय केवलम् ।
रथेषु वापि तिष्ठन्तो युद्धं पश्यन्तु मामकम् ॥ २३ ॥

कौरवोंकी इच्छा हो, तो वे केवल गोधन लेकर यहाँसे चले जायँ अथवा अपने रथोंपर बैठे रहकर अर्जुनके साथ मेरा युद्ध देखें ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे कर्णविकत्थने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय कर्णके आत्मप्रशंसापूर्ण वचनसम्बन्धी अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कृपाचार्यका कर्णको फटकारते हुए युद्धके विषयमें अपना विचार बताना

कृप उवाच

सदैव तव राधेय युद्धे क्रूरतरा मतिः ।
नार्थानां प्रकृतिं वेत्सि नानुबन्धमवेक्षसे ॥ १ ॥

तदनन्तर कृपाचार्यने कहा—राधानन्दन ! युद्धके विषयमें तुम्हारा विचार सदा ही क्रूरतापूर्ण रहता है । तुम न तो कार्योंके स्वरूपको ही जानते हो और न उनके परिणामका ही विचार करते हो ॥ १ ॥

माया हि बहवः सन्ति शास्त्रमाश्रित्य चिन्तिताः ।
तेषां युद्धं तु पापिष्ठं वेदयन्ति पुराविदः ॥ २ ॥

मैंने शास्त्रका आश्रय लेकर बहुत-सी मायाओंका चिन्तन किया है; किंतु उन सबमें युद्ध ही सर्वाधिक पापपूर्ण कर्म है—ऐसा प्राचीन विद्वान् बताते हैं ॥ २ ॥

देशकालेन संयुक्तं युद्धं विजयदं भवेत् ।
हीनकालं तदेवेह फलं न लभते पुनः ॥
देशे काले च विक्रान्तं कल्याणाय विधीयते ॥ ३ ॥

देश और कालके अनुसार जो युद्ध किया जाता है, वह विजय देनेवाला होता है; किंतु जो अनुपयुक्त कालमें किया जाता है, वह युद्ध सफल नहीं होता । देश और कालके अनुसार किया हुआ पराक्रम ही कल्याणकारी होता है ॥ ३ ॥

आनुकूल्येन कार्याणामन्तरं संविधीयते ।
भारं हि रथकारस्य न व्यवस्यन्ति पण्डिताः ॥ ४ ॥

देश और कालकी अनुकूलता होनेसे ही कार्योंका फल सिद्ध होता है । विद्वान् पुरुष रथ बनानेवाले (सूत) की बातपर ही सारा भार डालकर स्वयं देश-कालका विचार किये बिना युद्ध आदिका निश्चय नहीं करते* ॥ ४ ॥

परिचिन्त्य तु पार्थेन संनिपातो न नः क्षमः ।
एकः कुरूनभ्यगच्छदेकश्चाग्निमतर्पयत् ॥ ५ ॥

विचार करनेपर तो यही समझमें आता है कि अर्जुनके साथ युद्ध करना हमारे लिये कदापि उचित नहीं है; [क्योंकि वे अकेले भी हमें परास्त कर सकते हैं] । अर्जुनने अकेले ही उत्तरकुरुदेशपर चढ़ाई की और उसे जीत लिया । अकेले ही खाण्डववन देकर अग्निको तृप्त किया ॥ ५ ॥

एकश्च पञ्च वर्षाणि ब्रह्मचर्यमधारयत् ।
एकः सुभद्रामारोप्य द्वैरथे कृष्णमाह्वयत् ॥ ६ ॥

उन्होंने अकेले ही पाँच वर्षतक कठोर तप करते हुए ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया । अकेले ही सुभद्राको रथपर बिठाकर उसका अपहरण किया और द्वन्द्वयुद्धके लिये श्रीकृष्णको भी ललकारा ॥ ६ ॥

एकः किरातरूपेण स्थितं रुद्रमयोधयत् ।
अस्मिन्नेव वने पार्थो हृतां कृष्णामवाजयत् ॥ ७ ॥

* जैसे कोई रथ बनानेवाला कारीगर रथ लाकर यह कहे कि मैंने इस दिव्य रथका निर्माण किया है । इसका प्रत्येक अङ्ग सुदृढ़ है । इसपर बैठकर युद्ध करनेसे तुम देवताओंपर भी सर्वथा विजय पा सकोगे । तो केवल उसके इस कहनेपर भरोसा करके कोई बुद्धिमान् पुरुष युद्धके लिये तैयार न हो जायगा । उसी प्रकार कर्ण ! केवल तुम्हारे इस डींग मारनेपर भरोसा करके देश-काल आदिका विचार किये बिना हमलोगोंका युद्धके लिये उद्यत होना ठीक नहीं है; यही कृपाचार्यके उपर्युक्त कथनका अभिप्राय है ।

अर्जुनने अकेले ही किरातरूपमें सामने आये हुए भगवान् शंकरसे युद्ध किया। इसी वनवासकी घटना है, जब जयद्रथने द्रौपदीका अपहरण किया था, उस समय भी अर्जुनने अकेले ही उसे हराकर द्रौपदीको उसके हाथसे छुड़ाया था ॥ ७ ॥

एकश्च पञ्च वर्षाणि शक्रादस्त्राण्यशिक्षत ।
एकः सोऽयमरिं जित्वा कुरूणामकरोद् यशः ॥ ८ ॥
एको गन्धर्वराजानं चित्रसेनमरिंदमः ।
विजिग्ये तरसा संख्ये सेनां प्राप्य सुदुर्जयाम् ॥९॥

उन्होंने अकेले ही पाँच वर्षतक स्वर्गमें रहकर साक्षात् इन्द्रसे अस्त्र-शस्त्र सीखे हैं और अकेले ही सब शत्रुओंको जीतकर कुरुवंशका यश बढ़ाया है। शत्रुओंका दमन करनेवाले महावीर अर्जुनने कौरवोंकी घोषयात्राके समय युद्धमें गन्धर्वोंकी दुर्जय सेनाका वेगपूर्वक सामना करते हुए अकेले ही गन्धर्वराज चित्रसेनपर विजय पायी थी ॥ ८-९ ॥

तथा निवातकवचाः कालखञ्जाश्च दानवाः ।
दैवतैरप्यवध्यास्ते एकेन युधि पातिताः ॥१०॥

निवातकवच और कालखञ्ज आदि दानवगण तो देवताओंके लिये भी अवध्य थे, किंतु अर्जुनने अकेले ही उन सबको युद्धमें मार गिराया है ॥ १० ॥

एकेन हि त्वया कर्ण किं नामेह कृतं पुरा ।
एकैकेन यथा तेषां भूमिपाला वशे कृताः ॥११॥

किंतु कर्ण! तुम तो बताओ, तुमने पहले कभी अकेले रहकर इस जगत्में कौन-सा पुरुषार्थ किया है? पाण्डवोंमेंसे तो एक-एकने विभिन्न दिशाओंमें जाकर वहाँके भूमिपालोंको अपने वशमें कर लिया था [क्या तुमने भी ऐसा कोई कार्य किया है?] ॥ ११ ॥

इन्द्रोऽपि हि न पार्थेन संयुगे योद्धुमर्हति ।
यस्तेनाशंसते योद्धुं कर्तव्यं तस्य भेषजम् ॥१२॥

अर्जुनके साथ तो इन्द्र भी रणभूमिमें खड़े होकर युद्ध नहीं कर सकते। फिर जो उनसे अकेले भिड़नेकी बात करता है, (वह पागल है।) उसकी दवा करानी चाहिये ॥ १२ ॥

आशीविषस्य क्रुद्धस्य पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।
अवमुच्य प्रदेशिन्या दंष्ट्रामादातुमिच्छसि ॥१३॥

सूतपुत्र! (अर्जुनके साथ अकेले भिड़नेका साहस करके) तुम मानो क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके मुखमें अपना दाहिना हाथ उठाकर डालना और तर्जनी अङ्गुलीसे उसके दाँत उखाड़ लेना चाहते हो ॥ १३ ॥

अथवा कुञ्जरं मत्तमेक एव चरन् वने ।
अनङ्कुशं समारुह्य नगरं गन्तुमिच्छसि ॥१४॥

अथवा वनमें अकेले घूमते हुए तुम बिना अङ्कुशके ही मतवाले हाथीकी पीठपर बैठकर नगरमें जाना चाहते हो ॥ १४ ॥

समिद्धं पावकं चैव घृतमेदोवसाहुतम् ।
घृताक्तश्चीरवासास्त्वं मध्येनोत्तर्तुमिच्छसि ॥१५॥

अथवा अपने शरीरमें घी पोतकर चिथड़े या वल्कल पहने हुए तुम घी, मेदा और चर्बी आदिकी आहुतियोंसे प्रज्वलित आगके भीतरसे होकर निकलना चाहते हो ॥ १५ ॥

आत्मानं कः समुद्बध्य कण्ठे बद्ध्वा महाशिलाम् ।
समुद्रं तरते दोर्भ्यां तत्र किं नाम पौरुषम् ॥१६॥

अपने-आपको बन्धनसे जकड़कर और गलेमें बड़ी भारी शिला बाँधकर कौन दोनों हाथोंसे तैरता हुआ समुद्रको पार कर सकता है? उसमें क्या यह पुरुषार्थ है! अर्थात् मूर्खता है ॥

अकृतास्त्रः कृतास्त्रं वै बलवन्तं सुदुर्बलः ।
तादृशं कर्ण यः पार्थं योद्धुमिच्छेत् स दुर्मतिः ॥१७॥

कर्ण! जिसने अस्त्र-शस्त्रोंकी पूर्ण शिक्षा न पायी हो, वह अत्यन्त दुर्बल पुरुष यदि अस्त्र-शस्त्रोंकी कलामें प्रवीण तथा कुन्तीपुत्र अर्जुन-जैसे बलवान् वीरसे युद्ध करना चाहे, तो समझना चाहिये कि उसकी बुद्धि मारी गयी है ॥ १७ ॥

अस्माभिर्ह्येष निकृतो वर्षाणीह त्रयोदश ।
सिंहः पाशविनिर्मुक्तो न नः शेषं करिष्यति ॥१८॥
एकान्ते पार्थमासीनं कूपेऽग्निमिव संवृतम् ।
अज्ञानादभ्यवस्कन्द्य प्राप्ताः स्मो भयमुत्तमम् ॥१९॥

हमलोगोंने तेरह वर्षोंतक इन्हें वनमें रखकर इनके साथ कपटपूर्ण बर्ताव किया है। (अब ये प्रतिज्ञाके बन्धनसे मुक्त हो गये हैं;) अतः बन्धनसे छूटे हुए सिंहकी भाँति क्या वे हमारा नाश न कर डालेंगे? कुएँमें छिपी हुई अग्निके समान यहाँ एकान्तमें स्थित कुन्तीपुत्र अर्जुनके पास हम अज्ञानवश आ पहुँचे हैं और भारी भय एवं संकटमें पड़ गये हैं ॥ १८-१९ ॥

सह युध्यामहे पार्थमागतं युद्धदुर्मदम् ।
सैन्यास्तिष्ठन्तु संनद्धा व्यूढानीकाः प्रहारिणः ॥२०॥

इसलिये हमारा विचार है कि हमलोग एक साथ संगठित होकर यहाँ आये हुए रणोन्मत्त अर्जुनके साथ युद्ध करें। हमारे सैनिक कवच बाँधकर खड़े रहें, सेनाका व्यूह बना लिया जाय और सब लोग प्रहार करनेके लिये उद्यत हो जायँ ॥ २० ॥

द्रोणो दुर्योधनो भीष्मो भवान् द्रौणिस्तथा वयम् ।
सर्वे युध्यामहे पार्थं कर्ण मा साहसं कृथाः ॥२१॥
वयं व्यवसितं पार्थं वज्रपाणिमिवोद्यतम् ।
षड्रथाः प्रतियुध्येम तिष्ठेम यदि संहताः ॥२२॥

कर्ण ! तुम अकेले अर्जुनसे भिड़नेका दुःसाहस न करो। आचार्य द्रोण, दुर्योधन, भीष्म, तुम, अश्वत्थामा और हम सब मिलकर अर्जुनसे युद्ध करेंगे। यदि हम छहों महारथी संगठित होकर सामना करें, तभी इन्द्रके सदृश दुर्धर्ष एवं दृढनिश्चयी कुन्तीपुत्र अर्जुनके साथ युद्ध कर सकते हैं ॥ २१-२२ ॥

व्यूढानीकानि सैन्यानि यत्ताः परमधन्विनः।
युध्यामहेऽर्जुनं संख्ये दानवा इव वासवम् ॥२३॥

सेनाओंकी व्यूहरचना हो जाय और हम सभी श्रेष्ठ धनुर्धर सावधान रहें, तो जैसे दानव इन्द्रसे भिड़ते हैं, उसी प्रकार हम युद्धमें अर्जुनका सामना कर सकते हैं ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे कृपवाक्यं नाम एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय कृपाचार्य-वाक्यविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अश्वत्थामाके उद्गार

अश्वत्थामोवाच

न च तावज्जिता गावो न च सीमान्तरं गताः।
न हास्तिनपुरं प्राप्तास्त्वं च कर्ण विकत्थसे ॥ १ ॥

अश्वत्थामाने कहा—कर्ण ! अभी तो हमने न गौओंको जीता है, न मत्स्यदेशकी सीमाके बाहर जा सके हैं और न हस्तिनापुरमें ही पहुँच गये हैं। फिर तुम इतनी व्यर्थ बकवाद क्यों कर रहे हो ? ॥ १ ॥

संग्रामांश्च बहूञ्जित्वा लब्ध्वा च विपुलं धनम्।
विजित्य च परां सेनां नाहुः किंचन पौरुषम् ॥ २ ॥
दहत्यग्निरवाक्यस्तु तूष्णीं भाति दिवाकरः।
तूष्णीं धारयते लोकान् वसुधा सचराचरान् ॥ ३ ॥

विद्वान् पुरुष बहुत-सी लड़ाइयाँ जीतकर, असंख्य धनराशि पाकर तथा शत्रुओंकी सेनाको परास्त करके भी इस तरह व्यर्थ बकवाद नहीं करते। आग बिना कुछ कहे-सुने ही सबको जलाकर भस्म कर देती है, सूर्यदेव मौन रहकर ही प्रकाशित होते हैं, पृथ्वी चुप रहकर ही सम्पूर्ण चराचर लोकोंको धारण करती है (इनमेंसे कोई अपने पराक्रमकी प्रशंसा नहीं करता) ॥ २-३ ॥

चातुर्वर्ण्यस्य कर्माणि विहितानि स्वयम्भुवा।
धनं यैरधिगन्तव्यं यच्च कुर्वन् न दुष्यति ॥ ४ ॥

ब्रह्माजीने चारों वर्णोंके कर्म नियत कर दिये हैं, जिनसे धन भी मिल सकता है और जिनका अनुष्ठान करनेसे कर्ता दोषका भागी नहीं होता ॥ ४ ॥

अधीत्य ब्राह्मणो वेदान् याजयेत यजेत वा।
क्षत्रियो धनुराश्रित्य यजेच्चैव न याजयेत् ॥ ५ ॥

ब्राह्मण वेदोंको पढ़कर यज्ञ करावे अथवा करे। क्षत्रिय धनुषका आश्रय लेकर धन कमाये और यज्ञ करे; परंतु वह दूसरोंका यज्ञ न करावे (क्योंकि यह काम ब्राह्मणोंका है) ॥ ५ ॥

वैश्योऽधिगम्य वित्तानि ब्रह्मकर्माणि कारयेत्।
शूद्रः शुश्रूषणं कुर्यात् त्रिषु वर्णेषु नित्यशः।
वन्दनायोगविधिभिर्वैतसीं वृत्तिमास्थितः ॥ ६ ॥

वैश्य कृषि और व्यापार आदिके द्वारा धनोपार्जन करके ब्राह्मणोंके द्वारा वेदोक्त कर्म करावें और शूद्र वैतसीवृत्ति (बेंतके वृक्षकी भाँति नम्रता) का आश्रय ले प्रणाम और आज्ञापालन आदिके द्वारा सदा तीनों वर्णोंके पास रहकर उनकी सेवा करे ॥ ६ ॥

वर्तमाना यथाशास्त्रं प्राप्य चापि महीमिमाम्।
सत्कुर्वन्ति महाभागा गुरून् सुविगुणानपि ॥ ७ ॥

महान् सौभाग्यशाली श्रेष्ठ पुरुष शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार बर्ताव करते हुए न्यायसे इस पृथ्वीको प्राप्त करके भी अत्यन्त गुणहीन गुरुजनोंका भी सत्कार करते हैं (और यहाँ अन्यायसे राज्य लेकर गुणवान् गुरुजनोंका भी तिरस्कार हो रहा है) ॥ ७ ॥

प्राप्य द्यूतेन को राज्यं क्षत्रियस्तोष्टुमर्हति।
तथा नृशंसरूपोऽयं धार्तराष्ट्रश्च निर्घृणः ॥ ८ ॥

भला जूएसे राज्य पाकर कौन क्षत्रिय संतुष्ट हो सकता है ? परंतु इस धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको इसीमें संतोष है; क्योंकि यह क्रूर और निर्दयी है ॥ ८ ॥

तथाधिगम्य वित्तानि को विकत्थेद् विचक्षणः।
निकृत्या वञ्चनायोगैश्चरन् वैतंसिको यथा ॥ ९ ॥

जैसे व्याध शठता और छल-कपटसे भरे हुए उपायोंद्वारा जीवननिर्वाह करता है, उस प्रकार कपटपूर्ण वृत्तिसे धन पाकर कौन बुद्धिमान् पुरुष अपने ही मुँह अपनी बड़ाई करेगा ? ॥ ९ ॥

कतमद् द्वैरथं युद्धं यत्राजैषीर्धनंजयम्।
नकुलं सहदेवं वा धनं येषां त्वया हृतम् ॥१०॥

राजा दुर्योधन ! तुमने जिन पाण्डवोंका धन कपटद्यूतके द्वारा हर लिया है, उनमेंसे धनंजय, नकुल या सहदेव किसको कब युद्धमें हराया है ? वह कौन-सा द्वन्द्वयुद्ध हुआ था, जिसमें तुमने अर्जुन आदिमेंसे किसीको जीता हो ?

युधिष्ठिरो जितः कस्मिन् भीमश्च बलिनां वरः ।
इन्द्रप्रस्थं त्वया कस्मिन् संग्रामे निर्जितं पुरा ॥ ११ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर अथवा बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन तुम्हारेद्वारा किस युद्धमें परास्त किये गये हैं ? आज जिस इन्द्रप्रस्थपर तुम्हारा अधिकार है, उसे पहले तुमने किस युद्धमें जीता था ? ॥ ११ ॥

तथैव कतमद् युद्धं यस्मिन् कृष्णा जिता त्वया ।
एकवस्त्रा सभां नीता दुष्टकर्मन् रजस्वला ॥ १२ ॥

दुष्ट कर्म करनेवाले पापी ! बताओ तो, कौन-सा ऐसा युद्ध हुआ था, जिसमें तुमने द्रौपदीको जीत लिया हो ? तुमलोग तो अकारण ही एक वस्त्र धारण करनेवाली बेचारी द्रौपदीको रजस्वलावस्थामें राजसभाके भीतर घसीट लाये थे ॥ १२ ॥

मूलमेषां महत् कृत्तं सारार्थी चन्दनं यथा ।
कर्म कारयिथाः सूत तत्र किं विदुरोऽब्रवीत् ॥ १३ ॥

सूतपुत्र ! जैसे धनकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य चन्दनकी लकड़ी काटता है, उसी प्रकार तुमने और दुर्योधनने कपट-द्यूत और द्रौपदीके अपमानद्वारा इन पाण्डवोंका मूलोच्छेद किया । जिस समय तुमलोगोंने पाण्डवोंको कर्मकार (दास) बनाया था, उस दिन वहाँ महात्मा विदुरने क्या कहा था; (उन्होंने जूएको कुरुकुलके संहारका कारण बताया था,) याद है न ? ॥ १३ ॥

यथाशक्ति मनुष्याणां शममालक्षयामहे ।
अन्येषामपि सत्त्वानामपि कीटपिपीलिकैः ।
द्रौपद्याः सम्परिक्लेशं न क्षन्तुं पाण्डवोऽर्हति ॥ १४ ॥

हम देखते हैं, मनुष्य हों या अन्य जीव-जन्तु अथवा कीड़े-मकोड़े आदि ही क्यों न हों, सबमें अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार सहनशीलताकी एक सीमा होती है । द्रौपदीको जो कष्ट दिये गये हैं, उन्हें पाण्डुपुत्र अर्जुन कभी क्षमा नहीं कर सकते ॥ १४ ॥

क्षयाय धार्तराष्ट्राणां प्रादुर्भूतो धनंजयः ।
त्वं पुनः पण्डितो भूत्वा वाचं वक्तुमिहेच्छसि ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रोंका संहार करनेके लिये ही धनंजय प्रकट हुए हैं और एक तुम हो, जो यहाँ पण्डित बनकर बड़ी-बड़ी बातें बनाना चाहते हो ॥ १५ ॥

वैरान्तकरणो जिष्णुर्न नः शेषं करिष्यति ॥ १६ ॥

क्या वैरका बदला चुकानेवाले अर्जुन हमलोगोंका संहार नहीं कर डालेंगे ? ॥ १६ ॥

नैष देवान् न गन्धर्वान् नासुरान् न च राक्षसान् ।
भयादिह न युध्येत कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १७ ॥

यह कभी सम्भव नहीं है कि कुन्तीनन्दन अर्जुन भयके कारण देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षसोंसे भी युद्ध न करें ॥ १७ ॥

यं यमेषोऽतिसंक्रुद्धः संग्रामे निपतिष्यति ।
वृक्षं गरुत्मान् वेगेन विनिहत्य तमेष्यति ॥ १८ ॥

जैसे गरुड़ जिस-जिस वृक्षपर पैर रखते हैं, अपने वेगसे उसे गिराकर चले जाते हैं, उसी प्रकार अर्जुन अत्यन्त क्रोधमें भरकर संग्रामभूमिमें जिस-जिस महारथीपर आक्रमण करेंगे, उसे नष्ट करके ही आगे बढ़ेंगे ॥ १८ ॥

त्वत्तो विशिष्टं वीर्येण धनुष्यमरराट्समम् ।
वासुदेवसमं युद्धे तं पार्थं को न पूजयेत् ॥ १९ ॥

कर्ण ! अर्जुन पराक्रममें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े हैं, धनुष चलानेमें तो वे देवराज इन्द्रके तुल्य हैं और युद्धकी कलामें साक्षात् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके समान हैं; ऐसे कुन्तीपुत्रकी कौन प्रशंसा नहीं करेगा ? ॥ १९ ॥

देवं दैवेन युध्येत मानुषेण च मानुषम् ।
अस्त्रं ह्यस्त्रेण यो हन्यात् कोऽर्जुनेन समः पुमान् ॥ २० ॥

जो देवताओंके साथ देवोचित ढंगसे और मनुष्योंके साथ मानवोचित प्रणालीसे युद्ध करते हैं और प्रत्येक अस्त्रको उसके विरोधी अस्त्रद्वारा नष्ट कर सकते हैं, उन कुन्तीनन्दन धनंजयकी समानता करनेवाला कौन पुरुष है ? ॥ २० ॥

पुत्रादनन्तरं शिष्य इति धर्मविदो विदुः ।
एतेनापि निमित्तेन प्रियो द्रोणस्य पाण्डवः ॥ २१ ॥

धर्मज्ञ पुरुष ऐसा मानते हैं कि गुरुको पुत्रके बाद शिष्य ही प्रिय होता है, इस कारणसे भी पाण्डुनन्दन अर्जुन आचार्य द्रोणको प्रिय हैं [अतः वे उनकी प्रशंसा क्यों न करें ?]॥

यथा त्वमकरोर्द्यूतमिन्द्रप्रस्थं यथाऽऽहरः ।
यथाऽऽनैषीः सभां कृष्णां तथा युध्यस्व पाण्डवम् ॥ २२ ॥

दुर्योधन ! जैसे तुमलोगोंने जूएका खेल किया, जिस तरह इन्द्रप्रस्थके राज्यका अपहरण किया और जिस प्रकार भरी सभामें द्रौपदीको घसीट ले गये, उसी प्रकार पाण्डुनन्दन अर्जुनसे युद्ध भी करो । [जब उन अन्यायोंके समय तुम्हें हमारे सहयोगकी आवश्यकता नहीं जान पड़ी, तब इस युद्धमें भी सहयोगकी आशा न रक्खो] ॥ २२ ॥

अयं ते मातुलः प्राज्ञः क्षत्रधर्मस्य कोविदः ।
दुर्द्यूतदेवी गान्धारः शकुनिर्युध्यतामिह ॥ २३ ॥

ये तुम्हारे मामा शकुनि बड़े बुद्धिमान् और क्षत्रियधर्मके महापण्डित हैं। छलपूर्वक जूआ खेलनेवाले ये गान्धारदेशके नरेश शकुनि ही यहाँ युद्ध करें ॥ २३ ॥

नाक्षान् क्षिपति गाण्डीवं न कृतं द्वापरं न च।
ज्वलतो निशितान् बाणांस्तांस्तान् क्षिपति गाण्डिवम् ॥

गाण्डीव धनुष कृतयुग, द्वापर और त्रेता नामक पासे नहीं फेंकता है, वह तो लगातार तीखे और प्रज्वलित बाणोंकी वर्षा करता है ॥

न हि गाण्डीवनिर्मुक्ता गार्ध्रपक्षाः सुतेजनाः।
नान्तरेष्ववतिष्ठन्ते गिरीणामपि दारणाः ॥ २५ ॥

गाण्डीवसे छूटे हुए गीधके पंखवाले तीखे बाण पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाले हैं। वे शत्रुकी छातीमें घुसे बिना नहीं रहते ॥ २५ ॥

अन्तकः पवनो मृत्युस्तथाग्निर्वडवामुखः।
कुर्युरेते क्वचिच्छेषं न तु क्रुद्धो धनंजयः ॥ २६ ॥

यमराज, वायु, मृत्यु और बड़वानल—ये चाहे जड़-मूलसे नष्ट न करें, कुछ बाकी छोड़ दें, परंतु अर्जुन कुपित होनेपर कुछ भी नहीं छोड़ेंगे ॥ २६ ॥

यथा सभायां द्यूतं त्वं मातुलेन सहाकरोः।
तथा युध्यस्व संग्रामे सौबलेन सुरक्षितः ॥ २७ ॥

राजन्! जैसे राजसभामें तुमने मामाके साथ जूएका खेल किया है, उसी प्रकार इस संग्रामभूमिमें भी तुम उन्हीं मामा शकुनिसे सुरक्षित होकर युद्ध करो। (किसी दूसरेसे सहयोगकी आशा न रक्खो) ॥ २७ ॥

युध्यन्तां कामतो योधा नाहं योत्स्ये धनंजयम्।
मत्स्यो ह्यस्माभिरायोध्यो यद्यागच्छेद् गवां पदम् ॥ २८ ॥

अथवा अन्य योद्धाओंकी इच्छा हो, तो वे युद्ध कर सकते हैं, किंतु मैं अर्जुनके साथ नहीं लडूँगा। हमें तो मत्स्यनरेशसे युद्ध करना है। यदि वे इस गोष्ठपर आ जायँ, तो मैं उनके साथ युद्ध कर सकता हूँ ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे द्रौणिवाक्यं नाम पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय अश्वत्थामावाक्यविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मजीके द्वारा सेनामें शान्ति और एकता बनाये रखनेकी चेष्टा तथा द्रोणाचार्यके द्वारा दुर्योधनकी रक्षाके लिये प्रयत्न

भीष्म उवाच

साधु पश्यति वै द्रौणिः कृपः साध्वनुपश्यति।
कर्णस्तु क्षत्रधर्मेण केवलं योद्धुमिच्छति ॥ १ ॥

भीष्मजी बोले—दुर्योधन! अश्वत्थामा ठीक विचार कर रहे हैं। कृपाचार्यकी दृष्टि भी ठीक है। कर्ण तो केवल क्षत्रिय-धर्मकी दृष्टिसे युद्ध करना चाहता है ॥ १ ॥

आचार्यो नाभिवक्तव्यः पुरुषेण विजानता।
देशकालौ तु सम्प्रेक्ष्य योद्धव्यमिति मे मतिः ॥ २ ॥

विज्ञ पुरुषको अपने आचार्यकी निन्दा या तिरस्कार नहीं करना चाहिये। मेरा भी विचार यही है कि देश, कालका विचार करके ही युद्ध करना उचित है ॥ २ ॥

यस्य सूर्यसमाः पञ्च सपत्नाः स्युः प्रहारिणः।
कथमभ्युदये तेषां न प्रमुह्येत पण्डितः ॥ ३ ॥

जिसके सूर्यके समान तेजस्वी और प्रहार करनेमें समर्थ पाँच शत्रु हों और उन शत्रुओंका अभ्युदय हो रहा हो, तो उस [illegible] ॥ ३ ॥

स्वार्थे सर्वे विमुह्यन्ति येऽपि धर्मविदो जनाः।
तस्माद् राजन् ब्रवीम्येष वाक्यं ते यदि रोचते ॥ ४ ॥

स्वार्थके विषयमें सोचते समय सभी मनुष्य—धर्मज्ञ पुरुष भी मोहमें पड़ जाते हैं; अतः राजन्! यदि तुम्हें जँचे, तो मैं इस विषयमें अपनी सलाह भी देता हूँ ॥ ४ ॥

कर्णो हि यदवोचत् त्वां तेजःसंजननाय तत्।
आचार्यपुत्रः क्षमतां महत् कार्यमुपस्थितम् ॥ ५ ॥

कर्णने तुमसे जो कुछ कहा है, वह तेज एवं उत्साहको बढ़ानेके लिये ही कहा है। आचार्यपुत्र क्षमा करें। इस समय महान् कार्य उपस्थित है ॥ ५ ॥

नायं कालो विरोधस्य कौन्तेये समुपस्थिते।
क्षन्तव्यं भवता सर्वमाचार्येण कृपेण च ॥ ६ ॥

यह समय आपसके विरोधका नहीं है; विशेषतः ऐसे मौकेपर जब कि कुन्तीनन्दन अर्जुन युद्धके लिये उपस्थित हैं। पूजनीय आचार्य द्रोण तथा कृपाचार्यको सब अपराध क्षमा करना चाहिये ॥ ६ ॥

भवतां हि कृतास्त्रत्वं यथाऽऽदित्ये प्रभा तथा ।
यथा चन्द्रमसो लक्ष्मीः सर्वथा नापकृष्यते ॥ ७ ॥

जैसे सूर्यमें प्रभा और चन्द्रमामे लक्ष्मी (शोभा) सर्वथा विद्यमान रहती है—कभी कम नहीं होती, उसी प्रकार आपलोगोंका अस्त्रविद्यामें जो पाण्डित्य है, वह अक्षुण्ण है ॥

एवं भवत्सु ब्राह्मण्यं ब्रह्मास्त्रं च प्रतिष्ठितम् ।
चत्वार एकतो वेदाः क्षात्रमेकत्र दृश्यते ॥ ८ ॥

इस प्रकार आपलोगोंमें ब्राह्मणत्व तथा ब्रह्मास्त्र दोनों ही प्रतिष्ठित हैं, यद्यपि प्रायः एक व्यक्तिमें चारों वेदोंका ज्ञान देखा जाता है, तो दूसरेमें क्षात्रधर्मका ॥ ८ ॥

नैतत् समस्तमुभयं कस्मिंश्चिदनुशुश्रुम ।
अन्यत्र भारताचार्यात् सपुत्रादिति मे मतिः ॥ ९ ॥

ये दोनों बातें पूर्णरूपसे किसी एक व्यक्तिमें हमने नहीं सुनी हैं । केवल भरतवंशियोंके आचार्य कृप, द्रोण और उनके पुत्र अश्वत्थामामें ही ये दोनों शक्तियाँ (ब्रह्मबल और क्षात्रबल) हैं । इनके सिवा और कहीं उक्त दोनों बातोंका एकत्र समावेश नहीं है । यह मेरा दृढ़ विश्वास है ॥ ९ ॥

वेदान्तांश्च पुराणानि इतिहासं पुरातनम् ।
जामदग्न्यमृते राजन् को द्रोणादधिको भवेत् ॥ १० ॥

राजन् ! वेदान्त, पुराण और प्राचीन इतिहासके ज्ञानमें जमदग्निनन्दन परशुरामजीके सिवा दूसरा कौन मनुष्य द्रोणाचार्यसे बढ़कर हो सकता है ? ॥ १० ॥

ब्रह्मास्त्रं चैव वेदाश्च नैतदन्यत्र दृश्यते ।
आचार्यपुत्रः क्षमतां नायं कालो विभेदने ॥ ११ ॥
सर्वे संहत्य युध्यामः पाकशासनिमागतम् ॥ १२ ॥

ब्रह्मास्त्र और वेद—ये दोनों वस्तुएँ हमारे आचार्योंके सिवा अन्यत्र कहीं नहीं देखी जातीं । आचार्यपुत्र क्षमा करें, यह समय आपसमें फूट पैदा करनेका नहीं है । हम सब लोग मिलकर यहाँ आये हुए अर्जुनसे युद्ध करेंगे ॥ ११-१२ ॥

बलस्य व्यसनानीह यान्युक्तानि मनीषिभिः ।
मुख्यो भेदो हि तेषां तु पापिष्ठो विदुषां मतः ॥ १३ ॥

मनीषी पुरुषोंने सेनाका विनाश करनेवाले जितने संकट बताये हैं, उनमें आपसकी फूट सबसे प्रधान कहा है । विद्वानोंने इस फूटको महान् पाप माना है ॥ १३ ॥

अश्वत्थामोवाच

नैव न्याय्यमिदं वाच्यमस्माकं पुरुषर्षभ ।
किं तु रोषपरीतेन गुरुणा भाषिता गुणाः ॥ १४ ॥

अश्वत्थामाने कहा—पुरुषश्रेष्ठ ! हमारी न्यायोचित बातकी निन्दा नहीं करनी चाहिये । आचार्य द्रोणने पाण्डवोंपर हुए पहलेके अन्यायोंका स्मरण करके रोषपूर्वक अर्जुनके गुणोंका यहाँ वर्णन किया है (भेद उत्पन्न करनेके लिये नहीं) ॥ १४ ॥

शत्रोरपि गुणा ग्राह्या दोषा वाच्या गुरोरपि ।
सर्वथा सर्वयत्नेन पुत्रे शिष्ये हितं वदेत् ॥ १५ ॥

शत्रुके भी गुण ग्रहण करने चाहिये और गुरुके भी दोष बतानेमें संकोच नहीं करना चाहिये । गुरुको सब प्रकारसे पूर्ण प्रयत्न करके पुत्र और शिष्यके लिये जो हितकर हो, वही बात कहनी चाहिये ॥ १५ ॥

दुर्योधन उवाच

आचार्य एव क्षमतां शान्तिरत्र विधीयताम् ।
अभिद्यमाने तु गुरौ तद् वृत्तं रोषकारितम् ॥ १६ ॥

दुर्योधनने कहा—आचार्य ! क्षमा करें, अब शान्ति धारण करनी चाहिये । यदि गुरुके मनमें भेद न हो, तभी यह समझा जायगा कि पहले जो बातें कही गयी हैं, उनमें रोष ही कारण था ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो द्रोणं क्षमयामास भारत ।
सह कर्णेन भीष्मेण कृपेण च महात्मना ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर दुर्योधनने कर्ण, भीष्म और महात्मा कृपाचार्यके साथ आचार्य द्रोणसे क्षमा माँगी ॥ १७ ॥

द्रोण उवाच

यदेतत् प्रथमं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ।
तेनैवाहं प्रसन्नो वै नीतिरत्र विधीयताम् ॥ १८ ॥
यथा दुर्योधनं पार्थो नोपसर्पति संगरे ।
साहसाद् यदि वा मोहात् तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ १९ ॥

तब द्रोण बोले—शान्तनुनन्दन भीष्मजीने पहले जो बात कही थी, उसीसे मैं प्रसन्न हूँ । अब ऐसी नीतिसे काम लेना चाहिये, जिससे अर्जुन इस युद्धमें दुर्योधनके पासतक न पहुँच सकें । साहससे अथवा प्रमादवश भी दुर्योधनपर उनका आक्रमण न हो, ऐसी नीति निर्धारित करनी चाहिये ॥ १८-१९ ॥

वनवासे ह्यनिर्वृत्ते दर्शयेन्न धनंजयः ।
धनं चालभमानोऽत्र नाद्य तत् क्षन्तुमर्हति ॥ २० ॥

वनवासकी अवधि पूर्ण हुए बिना अर्जुन अपनेको प्रकट नहीं कर सकते थे । आज यदि वे यहाँ आकर अपना गोधन न पा सके, तो हमको क्षमा नहीं कर सकते ॥ २० ॥

यथा नायं समायुज्याद् धार्तराष्ट्रान् कथंचन ।

न च सेनाः पराजय्यात् तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २१ ॥

ऐसी दशामें जैसे भी सम्भव हो; वे धृतराष्ट्रपुत्रोंपर आक्रमण न कर सकें और किसी प्रकार भी कौरवसेनाओंको परास्त न करने पावें, ऐसी कोई नीति बनानी चाहिये ॥ २१ ॥

उक्तं दुर्योधनेनापि पुरस्ताद् वाक्यमीदृशम्।
तदनुस्मृत्य गाङ्गेय यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ २२ ॥

दुर्योधनने भी पहले ऐसी बात कही थी कि पाण्डवोंका अज्ञातवास पूर्ण होनेमें संदेह है, अतः गङ्गानन्दन भीष्म! आप स्वयं स्मरण करके यथार्थ बात क्या है—उनका अज्ञातवास पूर्ण हो गया है या नहीं, इसका निर्णय करें ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे द्रोणवाक्ये एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय द्रोणवाक्यसम्बन्धी इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

पितामह भीष्मकी सम्मति

भीष्म उवाच

कलाः काष्ठाश्च युज्यन्ते मुहूर्ताश्च दिनानि च।
अर्धमासाश्च मासाश्च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥ १ ॥
ऋतवश्चापि युज्यन्ते तथा संवत्सरा अपि।
एवं कालविभागेन कालचक्रं प्रवर्तते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—कला, काष्ठा, मुहूर्त, दिन, मास, पक्ष, नक्षत्र, ग्रह, ऋतु और संवत्सर—ये सब एक दूसरेसे जुड़ते हैं। इस तरह कालके इन छोटे-छोटे विभागोंद्वारा यह सम्पूर्ण कालचक्र चल रहा है ॥ १-२ ॥

तेषां कालातिरेकेण ज्योतिषां च व्यतिक्रमात्।
पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौ मासावुपजायतः ॥ ३ ॥

इन पक्ष-मास आदिके समयके बढ़ने-घटनेसे और ग्रह-नक्षत्रोंकी गतिके व्यतिक्रमसे हर पाँचवें वर्षमें दो महीने अधिमासके बढ़ जाते हैं ॥ ३ ॥

एषामभ्यधिका मासाः पञ्च च द्वादश क्षपाः।
त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्तते मतिः ॥ ४ ॥

इस प्रकार इन तेरह वर्षोंके पूर्ण होनेके पश्चात् भी पाण्डवोंके पाँच महीने बारह दिन और अधिक बीत चुके हैं। ऐसा मेरा विचार है * ॥ ४ ॥

सर्वं यथावच्चरितं यद् यदेभिः प्रतिश्रुतम्।
एवमेतद् ध्रुवं ज्ञात्वा ततो बीभत्सुरागतः ॥ ५ ॥

इन पाण्डवोंने जो-जो प्रतिज्ञाएँ की थीं, उन सबका यथावत् पालन किया है; अवश्य इस बातको अच्छी तरह जानकर ही अर्जुन यहाँ आये हैं ॥ ५ ॥

सर्वे चैव महात्मानः सर्वे धर्मार्थकोविदाः।
येषां युधिष्ठिरो राजा कस्माद् धर्मेऽपराध्नुयुः ॥ ६ ॥

सभी पाण्डव महात्मा हैं और सभी धर्म तथा अर्थके ज्ञाता हैं। जिनके नेता राजा युधिष्ठिर हैं, वे धर्मके विषयमें कैसे कोई अपराध कर सकते हैं? ॥ ६ ॥

अलुब्धाश्चैव कौन्तेयाः कृतवन्तश्च दुष्करम्।
न चापि केवलं राज्यमिच्छेयुस्तेऽनुपायतः ॥ ७ ॥

कुन्तीके पुत्र लोभी नहीं हैं। उन्होंने तपस्या आदि कठिन कर्म किये हैं। वे अधर्म या अनुचित उपायसे (धर्मको गँवाकर) केवल राज्य लेनेके इच्छुक नहीं है ॥ ७ ॥

तदैव ते हि विक्रान्तुमीषुः कौरवनन्दनाः।
धर्मपाशनिबद्धास्तु न चेलुः क्षत्रियव्रतात् ॥ ८ ॥
यच्चानृत इति ख्यायाद् यः स गच्छेत् पराभवम्।
वृणुयुर्मरणं पार्था नानृतत्वं कथंचन ॥ ९ ॥

कुरुकुलको आनन्द देनेवाले पाण्डव उसी समय पराक्रम करनेमें समर्थ थे, किंतु वे धर्मके बन्धनमें बँधे थे; इसलिये क्षत्रियव्रतसे विचलित नहीं हुए। यदि कोई अर्जुनको असत्यवादी कहेगा तो वह पराजयको प्राप्त होगा। कुन्तीके

* चान्द्रवर्ष तीन सौ चौवन दिनोंका होता है और सौरवर्ष तीन सौ पैंसठ दिन पंद्रह घड़ी एवं कुछ पलोंका हुआ करता है। इस हिसाबसे तेरह सौर वर्षोंमें चान्द्रवर्षके लगभग पाँच महीने अधिक हो जाते हैं। इन वर्षोंमें यदि छः बार अधिमास पड़ जायँ, तो जिस तिथिको पाण्डवोंका वनवास हुआ था, तेरहवें वर्षकी उसी तिथितक तेरह वर्षोंसे पाँच महीने और बारह दिन अधिक हो सकते हैं। पाण्डवोंने सूर्यकी संक्रान्तिके अनुसार वर्षकी गणना की थी; अतः उन्होंने अधिमास आदिके कारण बढ़े हुए महीनों और दिनोंकी संख्याको अलग नहीं माना। इसीलिये उनकी गणनामें तेरह ही वर्ष हुए। [illegible] और दिनोंको भी गणनामें ले लिया। अतः उनके हिसाबसे उस दिनतक तेरह वर्ष पूर्ण होकर पाँच मास बारह दिन अधिक हुए। यह कालभेद सौर और चान्द्रवर्षोंकी गणनाके भेदसे ही हुआ है। वास्तवमें सूर्यकी संक्रान्तिके हिसाबसे उस समयतक पाण्डवोंके तेरह वर्ष छः दिन हो चुके थे। चान्द्रवर्षकी गणनाके अनुसार वही [illegible]

पुत्र मौतको गले लगा सकते हैं, किंतु किसी प्रकार असत्य-का आश्रय नहीं ले सकते ॥८-९॥

प्राप्तकाले तु प्राप्तव्यं नोत्सृजेयुर्नरर्षभाः ।
अपि वज्रभृता गुप्तं तथावीर्या हि पाण्डवाः ॥ १० ॥

नरश्रेष्ठ पाण्डव समय आनेपर अपने पाने योग्य भाग या हकको भी नहीं छोड़ सकते, भले ही वज्रधारी इन्द्र उस वस्तुकी रक्षा करते हों। पाण्डवोंका ऐसा ही पराक्रम है ॥१०॥

प्रतियुध्येम समरे सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
तस्माद् यदत्र कल्याणं लोके सद्भिरनुष्ठितम् ।
तत् संविधीयतां शीघ्रं
मा वो ह्यर्थोऽभ्यगात् परम् ॥ ११ ॥

इस समय रणभूमिमें समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन-के साथ हमें युद्ध करना है। इसलिये जगत्में साधुपुरुषोंद्वारा आचरित जो कल्याणकारी उपाय है, उसे शीघ्र करना चाहिये, जिससे तुम्हारा यह गोधन शत्रुके हाथमें न जाय ॥

न हि पश्यामि संग्रामे कदाचिदपि कौरव ।
एकान्तसिद्धिं राजेन्द्र सम्प्राप्तश्च धनंजयः ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन! राजेन्द्र! मैं युद्धमें कभी ऐसा नहीं देखता कि किसी एक पक्षकी ही सफलता अनिवार्य हो। लो, अर्जुन आ पहुँचे हैं ॥ १२ ॥

सम्प्रवृत्ते तु संग्रामे भावाभावौ जयाजयौ ।
अवश्यमेकं स्पृशतो दृष्टमेतदसंशयम् ॥ १३ ॥

संग्राम छिड़ जानेपर किसी-न-किसी पक्षको लाभ या हानि, जय अथवा पराजय अवश्य प्राप्त होते हैं, यह सदा देखा गया है। इसमें संशयकी कोई बात नहीं है ॥ १३ ॥

तस्माद् युद्धोचितं कर्म कर्म वा धर्मसंहितम् ।
क्रियतामाशु राजेन्द्र सम्प्राप्तश्च धनंजयः ॥ १४ ॥

अतः राजेन्द्र! तुम युद्धोचित कर्तव्यका पालन करो अथवा धर्मके अनुसार कार्य करो—बिना युद्धके ही राज्य देकर सन्धि कर लो। जो कुछ करना हो, जल्दी करो। अर्जुन अब सिरपर आ पहुँचे हैं ॥ १४ ॥

(एकोऽपि समरे पार्थः पृथिवीं निर्दहेच्छरैः ।
भ्रातृभिः सहितस्तात किं पुनः कौरवान् रणे ।
तस्मात् सन्धिं कुरुश्रेष्ठ कुरुष्व यदि मन्यसे ।)

कुन्तीपुत्र अर्जुन अकेला ही समरभूमिमें समूची पृथ्वीको भी दग्ध कर सकता है, फिर वह अपने सम्पूर्ण वीर बन्धुओं-के साथ मिलकर केवल कौरवोंको रणभूमिमें नष्ट कर दे, यह कौन बड़ी बात है ? अतः कुरुश्रेष्ठ ! यदि आप ठीक समझें, तो पाण्डवोंके साथ सन्धि कर लें ।)

दुर्योधन उवाच

नाहं राज्यं प्रदास्यामि पाण्डवानां पितामह ।
युद्धोपचारिकं यत् तु तच्छीघ्रं प्रविधीयताम् ॥ १५ ॥

दुर्योधनने कहा—किन्तु पितामह ! मैं पाण्डवोंको राज्य तो दूँगा नहीं, (अतः उनसे सन्धि हो नहीं सकती तब फिर) युद्धमें उपयोगी जो भी कार्य हो, उसे ही शीघ्र पूरा किया जाय ॥ १५॥

भीष्म उवाच

अत्र या मामिका बुद्धिः श्रूयतां यदि रोचते ।
सर्वथा हि मया श्रेयो वक्तव्यं कुरुनन्दन ॥ १६ ॥

भीष्मने कहा—कुरुनन्दन ! यदि तुम्हें जचे, तो इस विषयमें मेरी जो सलाह है, उसे सुनो। मैं सर्वथा कल्याण की ही बात कहूँगा ॥ १६ ॥

क्षिप्रं बलचतुर्भागं गृह्य गच्छ पुरं प्रति ।
ततोऽपरश्चतुर्भागो गाः समादाय गच्छतु ॥ १७ ॥

तुम सेनाका एक चौथाई भाग लेकर शीघ्र ही हस्तिनापुरकी ओर चल दो तथा दूसरी एक चौथाई टुकड़ी गौओंको साथ लेकर जाय ॥ १७ ॥

वयं चार्धेन सैन्यस्य प्रतियोत्स्याम पाण्डवम् ।
अहं द्रोणश्च कर्णश्च अश्वत्थामा कृपस्तथा ।
प्रतियोत्स्याम बीभत्सुमागतं कृतनिश्चयम् ॥ १८ ॥

हमलोग आधी सेना साथ लेकर पाण्डुनन्दन अर्जुनका सामना करेंगे। मैं, द्रोणाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्य युद्धका निश्चय करके आये हुए अर्जुनके साथ लड़ेंगे ॥ १८ ॥

मत्स्यं वा पुनरायातमागतं वा शतक्रतुम् ।
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ १९ ॥

फिर तो चाहे मत्स्यनरेश आ जायँ या साक्षात् इन्द्र, जैसे वेला समुद्रको रोक देती है, उसी प्रकार मैं उन्हें आगे बढ़नेसे रोक रक्खूँगा ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वाक्यं रुरुचे तेषां भीष्मेणोक्तं महात्मना ।
तथा हि कृतवान् राजा कौरवाणामनन्तरम् ॥ २० ॥
भीष्मः प्रस्थाप्य राजानं गोधनं तदनन्तरम् ।
सेनामुख्यान् व्यवस्थाप्य व्यूहितुं सम्प्रचक्रमे॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा भीष्मकी कही हुई यह बात सबको पसंद आ गयी। फिर कौरवोंके राजा दुर्योधनने वैसा ही किया। पहले राजा दुर्योधनको और उसके बाद गोधनको भेजकर सेनापतियोंको व्यवस्थित करके भीष्मजीने सेनाका व्यूह बनानेकी तैयारी की ॥ २०-२१ ॥

भीष्म उवाच

आचार्य मध्ये तिष्ठ त्वमश्वत्थामा तु सव्यतः ।
कृपः शारद्वतो धीमान् पार्श्वं रक्षतु दक्षिणम् ॥ २२ ॥

भीष्मजी बोले—आचार्य ! आप बीचमें खड़े हों, अश्वत्थामा वामभागकी रक्षा करें और शरद्वान्‌के पुत्र बुद्धिमान् कृपाचार्य सेनाके दक्षिणभागकी रक्षा करें ॥ २२ ॥

अग्रतः सूतपुत्रस्तु कर्णस्तिष्ठतु दंशितः ।
अहं सर्वस्य सैन्यस्य पश्चात् स्थास्यामि पालयन् ॥ २३ ॥

सूतपुत्र कर्ण कवच धारण करके सेनाके आगे रहे और मैं पृष्ठभागकी रक्षा करता हुआ सम्पूर्ण सेनाके पीछे स्थित रहूँगा ॥ २३ ॥

(सर्वे महारथाः शूरा महेष्वासा महाबलाः ।
युद्ध्यन्तु पाण्डवश्रेष्ठमागतं यत्नतो युधि ॥

सभी महारथी महाधनुर्धर और महाबली शूरवीर योद्धा यहाँ आये हुए पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनके साथ रणभूमिमें यत्नपूर्वक युद्ध करें ॥

वैशम्पायन उवाच

अभेद्यं सर्वसैन्यानां व्यूह्य व्यूहं कुरूत्तमः ।
वज्रगर्भं व्रीहिमुखमर्धचक्रान्तमण्डलम् ॥
तस्य व्यूहस्य पश्चार्धे भीष्मश्चाथोद्यतायुधः ।
सौवर्णं तालमुच्छ्रित्य रथे तिष्ठन्नशोभत ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कुरुश्रेष्ठ भीष्मने समस्त सेनाओंका दुर्भेद्य व्यूह रचकर उसे वज्रगर्भ, व्रीहिमुख तथा अर्धचक्रान्तमण्डल आदिके रूपमें खड़ा किया और उसके पिछले भागमें भीष्मजी भी सुवर्णमय तालध्वज फहराकर हाथमें हथियार लिये खड़े हो गये । उस समय उनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि भीष्मसैन्यव्यूहे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें भीष्मजीके द्वारा सेनाकी व्यूहरचनाविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल २७½ श्लोक हैं)

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनका दुर्योधनकी सेनापर आक्रमण करके गौओंको लौटा लेना

वैशम्पायन उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु कौरवेयेषु भारत ।
उपायादर्जुनस्तूर्णं रथघोषेण नादयन् ॥ १ ॥
ददृशुस्ते ध्वजाग्रं वै शुश्रुवुश्च महास्वनम् ।
दोधूयमानस्य भृशं गाण्डीवस्य च निस्वनम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार कौरव-सेनाकी व्यूह-रचना हो जानेपर अर्जुन अपने रथकी घर्घराहटसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते हुए शीघ्र ही निकट आ पहुँचे । सैनिकोंने उनकी ध्वजाके अग्रभागको देखा, उनके रथसे आती हुई भयंकर आवाज भी सुनी और खींचे जाते हुए गाण्डीवकी जोर-जोरसे होनेवाली टंकारध्वनि भी उनके कानोंमें पड़ी ॥ १-२ ॥

ततस्तु सर्वमालोक्य द्रोणो वचनमब्रवीत् ।
महारथमनुप्राप्तं दृष्ट्वा गाण्डीवधन्विनम् ॥ ३ ॥

तब सब कुछ देखकर गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले महारथी अर्जुनको निकट आया जानकर आचार्य द्रोण यह वचन बोले ॥ ३ ॥

द्रोण उवाच

एतद् ध्वजाग्रं पार्थस्य दूरतः सम्प्रकाशते ।
एष घोषः स रथजो रोरवीति च वानरः ॥ ४ ॥

द्रोणने कहा—यह अर्जुनकी ध्वजाका ऊपरी भाग दूरसे ही प्रकाशित हो रहा है । यह उन्हींके रथकी घर्घराहटका शब्द है । साथ ही ध्वजापर बैठा हुआ वानर भी उच्च स्वरसे गर्जना कर रहा है ॥ ४ ॥

एष तिष्ठन् रथश्रेष्ठे रथे च रथिनां वरः ।
उत्कर्षति धनुःश्रेष्ठं गाण्डीवमशनिस्वनम् ॥ ५ ॥

यह देखो, उस श्रेष्ठ रथमें बैठे हुए रथियोंमें प्रधान वीर अर्जुन धनुषोंमें सर्वोत्तम गाण्डीवकी डोरी खींच रहे हैं और उससे वज्रकी गड़गड़ाहटके समान शब्द हो रहा है ॥

इमौ च बाणौ सहितौ पादयोर्मे व्यवस्थितौ ।
अपरौ चाप्यतिक्रान्तौ कर्णौ संस्पृश्य मे शरौ ॥ ६ ॥

ये दो बाण एक साथ आकर मेरे पैरोंके आगे गिरे हैं और दूसरे दो बाण मेरे दोनों कानोंको छूकर निकल गये हैं ॥ ६ ॥

निरुष्य हि वने वासं कृत्वा कर्मातिमानुषम् ।
अभिवादयते पार्थः श्रोत्रे च परिपृच्छति ॥ ७ ॥

कुन्तीनन्दन अर्जुन वनमें रहकर वहाँ तपस्या तथा शौर्यद्वारा अतिमानुष (मानवी शक्तिसे बाहरका) पराक्रम करके आज प्रकट हुए हैं । ये प्रथम दो बाणोंद्वारा मुझे प्रणाम कर रहे हैं और दूसरे दो बाणोंद्वारा कानोंमें युद्धके लिये आज्ञा माँगते हैं ॥ ७ ॥

चिरदृष्टोऽयमस्माभिः प्रज्ञावान् बान्धवप्रियः ।
अतीव ज्वलितो लक्ष्म्या पाण्डुपुत्रो धनंजयः ॥ ८ ॥

बन्धु-बान्धवोंको प्रिय लगनेवाले परम बुद्धिमान् अर्जुन-

के आज हमने दीर्घकालके बाद देखा है। अहा! पाण्डुपुत्र धनंजय अपनी दिव्य लक्ष्मी (शोभा) से अत्यन्त प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ८ ॥

रथी शरी चारुतली निषङ्गी
शङ्खी पताकी कवची किरीटी ।
खड्गी च धन्वी च विभाति पार्थः
शिखी वृतः स्रुग्भिरिवाज्यसिक्तः॥ ९ ॥

रथपर बैठे हुए धनजयने बाण, सुन्दर दस्ताने, तरकस, शङ्ख, कवच, किरीट, खड्ग और धनुष धारण कर रक्खे हैं। इनके रथपर पताका फहरा रही है। इन सामग्रियोंसे सम्पन्न होकर आज ये तेजस्वी पार्थ स्रुवा आदि यज्ञसाधनोंसे घिरे और घीकी आहुति पाकर प्रज्वलित हुए अग्निके समान शोभा पा रहे हैं ॥ ९ ॥

(*वैशम्पायन उवाच*

तमदूरमुपायान्तं दृष्ट्वा पाण्डवमर्जुनम् ।
नारयः प्रेक्षितुं शेकुस्तपन्तं हि यथा रविम् ॥
स तं दृष्ट्वा रथानीकं पार्थः सारथिमब्रवीत् ।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तपते हुए सूर्यकी भाँति देदीप्यमान पाण्डुनन्दन अर्जुनको समीप आते देख शत्रु उनकी ओर दृष्टिपात न कर सके। रथियोंकी सेनाको सामने देख कुन्तीकुमार अर्जुनने सारथिसे कहा ॥

अर्जुन उवाच

इषुपाते च सेनाया हयान् संयच्छ सारथे ।
यावत् समीक्षे सैन्येऽस्मिन् क्वासौ कुरुकुलाधमः॥१०॥
सर्वानेताननादृत्य दृष्ट्वा तमतिमानिनम् ।
तस्य मूर्ध्नि पतिष्यामि तत एते पराजिताः ॥ ११ ॥

अर्जुनने कहा—सारथे ! धनुषसे बाण चलानेपर वह जितनी दूरीपर जाकर गिरता है, कौरवसेनासे उतना ही अन्तर रह जाय, तो घोड़ोंको रोक लेना; जिससे मैं यह देख लूँ कि इस सेनामें वह कुरुकुलाधम दुर्योधन कहाँ है। उस अत्यन्त अभिमानी दुर्योधनको देख लेनेपर मैं इन सब योद्धाओंको छोड़कर उसीके सिरपर पड़ूँगा। उसके पराजित होनेसे ये सब परास्त हो जायँगे ॥ १०-११ ॥

एष व्यवस्थितो द्रोणो द्रौणिश्च तदनन्तरम् ।
भीष्मः कृपश्च कर्णश्च महेष्वासाः समागताः ॥ १२ ॥

ये आचार्य द्रोण खड़े हैं। उनके बाद उन्हींके पुत्र अश्वत्थामा हैं। उधर पितामह भीष्म दिखायी देते हैं। इधर कृपाचार्य हैं और वह कर्ण है। ये सब महान् धनुर्धर यहाँ युद्धके लिये आये हैं ॥ १२ ॥

राजानं नात्र पश्यामि गाः समादाय गच्छति ।
दक्षिणं मार्गमास्थाय शङ्के जीवपरायणः ॥ १३ ॥

परंतु इनमें मैं राजा दुर्योधनको नहीं देखता हूँ। मुझे संदेह है कि वह दक्षिण दिशाका मार्ग पकड़कर गौओंको साथ ले अपनी जान बचाये भागा जा रहा है ॥ १३ ॥

उत्सृजैतद् रथानीकं गच्छ यत्र सुयोधनः ।
तत्रैव योत्स्ये वैराटे नास्ति युद्धं निरामिषम् ।
तं जित्वा विनिवर्तिष्ये गाः समादाय वै पुनः ॥ १४ ॥

अतः विराटनन्दन ! इस रथियोंकी सेनाको छोड़ो और जहाँ दुर्योधन है, वहीं चलो। मैं वहीं युद्ध करूँगा। यहाँ व्यर्थ युद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है। उसे जीतकर गौओंको अपने साथ ले मैं पुनः लौट आऊँगा ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स वैराटिर्हयान् संयम्य यत्नतः ।
नियम्य च ततो रश्मीन् यत्र ते कुरुपुङ्गवाः ।
अचोदयत् ततो वाहान् यत्र दुर्योधनो गतः ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अर्जुनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर विराटकुमार उत्तरने यत्नपूर्वक घोड़ोंकी रास खींचकर जहाँ बड़े-बड़े कौरव महारथी खड़े थे, उधर जानेसे उन्हें रोका। फिर उसने काबूमें रखते हुए उन घोड़ोंको उसी ओर बढ़ाया, जिधर राजा दुर्योधन गया था ॥ १५ ॥

उत्सृज्य रथवंशं तु प्रयाते श्वेतवाहने ।
अभिप्रायं विदित्वा च कृपो वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

रथियोंकी सेना छोड़कर श्वेतवाहन अर्जुन जब दूसरी ओर चल दिये, तब उनका अभिप्राय समझकर कृपाचार्य बोले—॥ १६ ॥

नैषोऽन्तरेण राजानं बीभत्सुः स्थातुमिच्छति ।
तस्य पार्ष्णिं ग्रहीष्यामो जवेनाभिप्रयास्यतः ॥ १७ ॥

'ये अर्जुन राजा दुर्योधनके बिना ठहरना नहीं चाहते, इसलिये उधर ही बड़े वेगसे जा रहे हैं। अतः हमलोग शीघ्र चलकर इनका पीछा करें ॥ १७ ॥

न ह्येनमतिसंक्रुद्धमेको युध्येत संयुगे ।
अन्यो देवात् सहस्राक्षात् कृष्णाद् वा देवकीसुतात् ।
आचार्याच्च सपुत्राद् वा भारद्वाजान्महारथात् ॥ १८ ॥

'इस समय ये बड़े क्रोधमें भरे हैं; अतः साक्षात् इन्द्र या देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अथवा पुत्रसहित महारथी आचार्य द्रोणके सिवा दूसरा कोई इनके साथ अकेला युद्ध नहीं कर सकता ॥ १८ ॥

किं नो गावः करिष्यन्ति धनं वा विपुलं तथा ।
दुर्योधनः पार्थजले पुरा नौरिव मज्जति ॥ १९ ॥

'ये गौएँ अथवा प्रचुर धन हमें क्या लाभ पहुँचायेंगे ? राजा दुर्योधन पार्थरूपी जलमें पुरानी नावकी भाँति डूबना चाहता है ॥ १९ ॥

तथैव गत्वा बीभत्सुर्नाम विश्राव्य चात्मनः।
शलभैरिव तां सेनां शरैः शीघ्रमवाकिरत् ॥ २० ॥

उधर अर्जुन उसी प्रकार रथसे दुर्योधनके पास पहुँच गये और उच्चस्वरसे अपना नाम सुनाकर बड़ी शीघ्रतासे कौरवसेनापर टिड्डीदलोंकी भाँति असंख्य बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २० ॥

कीर्यमाणाः शरौघैस्तु योधास्ते पार्थचोदितैः।
नापश्यन्नावृतां भूमिं नान्तरिक्षं च पत्रिभिः ॥ २१ ॥

अर्जुनके छोड़े हुए बाणसमूहोंसे आच्छादित होकर वे समस्त सैनिक कुछ देख नहीं पाते थे। पृथ्वी और आकाश भी बाणोंसे ढँक गये थे ॥ २१ ॥

तेषामापततां युद्धे नापयानेऽभवन्मतिः।
शीघ्रत्वमेव पार्थस्य पूजयन्ति स्म चेतसा ॥ २२ ॥

युद्धमें बाणोंकी मार खाकर कौरवसैनिक धराशायी होते जा रहे थे, तो भी उनका मन वहाँसे भागनेको नहीं होता था। वे मन-ही-मन अर्जुनकी फुर्तीकी सराहना करते थे ॥ २२ ॥

ततः शङ्खं प्रदध्मौ स द्विषतां लोमहर्षणम्।
विस्फार्य च धनुःश्रेष्ठं ध्वजे भूतान्यचोदयत् ॥ २३ ॥

तदनन्तर पार्थने अपना शङ्ख बजाया, जो शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। फिर उन्होंने अपने श्रेष्ठ धनुषकी टंकार करके ध्वजापर बैठे हुए भूतोंको सिंहनाद करनेकी प्रेरणा दी ॥ २३ ॥

तस्य शङ्खस्य शब्देन रथनेमिस्वनेन च।
गाण्डीवस्य च घोषेण पृथिवी समकम्पत ॥ २४ ॥
अमानुषाणां भूतानां तेषां च ध्वजवासिनाम्।
ऊर्ध्वं पुच्छान् विधुन्वाना रेभमाणाः समन्ततः।
गावः प्रतिन्यवर्तन्त दिशमास्थाय दक्षिणाम् ॥ २५ ॥

अर्जुनके शङ्खनाद, रथके पहियोंकी घर्घराहट, गाण्डीव धनुषकी टंकार तथा ध्वजमें निवास करनेवाले मानवेतर भूतोंके भयंकर कोलाहलसे पृथ्वी काँप उठी तथा गौएँ ऊपरको पूँछ उठाकर हिलाती और रँभाती हुई सब ओरसे लौट पड़ीं और दक्षिण दिशाकी ओर भाग चलीं ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे गोनिवर्तने त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय गौओंके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ श्लोक हैं)

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनका कर्णपर आक्रमण, विकर्णकी पराजय, शत्रुंतप और संग्रामजित्का वध, कर्ण और अर्जुनका युद्ध तथा कर्णका पलायन

वैशम्पायन उवाच

स शत्रुसेनां तरसा प्रणुद्य
गास्ता विजित्याथ धनुर्धराग्र्यः।
दुर्योधनायाभिमुखं प्रयातो
भूयो रणं सोऽभिचिकीर्षमाणः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने शत्रुसेनाको बड़े वेगसे दबाकर उन गौओंको जीत लिया और वे युद्धकी इच्छासे फिर दुर्योधनकी ओर चले ॥ १ ॥

गोषु प्रयातासु जवेन मत्स्यान्
किरीटिनं कृतकार्यं च मत्वा।
दुर्योधनायाभिमुखं प्रयातं
कुरुप्रवीराः सहसा निपेतुः ॥ २ ॥

जब गौएँ तीव्र गतिसे मत्स्यदेशकी राजधानीकी ओर भाग गयीं और अर्जुन अपने कार्यमें सफल होकर दुर्योधनकी ओर बढ़ चले, तब यह सब जानकर कौरव वीर सहसा वहाँ आ पहुँचे ॥ २ ॥

तेषामनीकानि बहूनि गाढं
व्यूढानि दृष्ट्वा बहुलध्वजानि।
मत्स्यस्य पुत्रं द्विषतां निहन्ता
वैराटिमामन्त्र्य ततोऽभ्युवाच ॥ ३ ॥

उनकी अनेक सेनाएँ थीं और उन सबकी अच्छी तरह व्यूह-रचना की गयी थी। उन सेनाओंमें बहुत-सी ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं। शत्रुओंका नाश करनेवाले अर्जुनने उन सबको देखकर विराटपुत्र उत्तरको सम्बोधित करके कहा—॥ ३ ॥

एतेन तूर्णं प्रतिपादयेमान्
श्वेतान् हयान् काञ्चनरश्मियोक्त्रान्।
जवेन सर्वेण कुरु प्रयत्न-
मासादयेऽहं कुरुसिंहवृन्दम् ॥ ४ ॥
गजो गजेनेव मया दुरात्मा
योद्धुं समाकाङ्क्षति सूतपुत्रः।
तमेव मां प्रापय राजपुत्र
दुर्योधनापाश्रयजातदर्पम् ॥ ५ ॥

'राजकुमार ! सुनहरी रस्सियोंसे जुते हुए मेरे इन सफेद घोड़ोंको तुम शीघ्र ही इस मार्गसे ले चलो और सम्पूर्ण वेगसे ऐसा प्रयत्न करो कि मैं कुरुश्रेष्ठ दुर्योधनकी सेनाके पास पहुँच जाऊँ । यह देखो, जैसे हाथी हाथीके साथ भिड़ना चाहता हो, उसी प्रकार यह दुरात्मा सूतपुत्र कर्ण मेरे साथ युद्ध करना चाहता है । पहले इसीके पास मुझे ले चलो । यह दुर्योधनका सहारा पाकर बडा घमंडी हो गया है ॥ ४-५ ॥

स तैर्हयैर्वातजवैर्बृहद्भिः
पुत्रो विराटस्य सुवर्णकक्षैः ।
व्यध्वंसयत् तद् रथिनामनीकं
ततोऽवहत् पाण्डवमाजिमध्ये ॥ ६ ॥

अर्जुनके विशाल घोड़े वायुके समान वेगशाली थे । उनकी जीनके नीचे लगे हुए कपड़ेके दोनों पिछले छोर सुनहरे थे । विराटपुत्र उत्तरने तेजीसे हाँककर उन घोड़ोंके द्वारा कौरव रथियोंकी सेनाको कुचलवाते हुए पाण्डुनन्दन अर्जुनको सेना-के मध्यभागमें पहुँचा दिया ॥ ६ ॥

तं चित्रसेनो विशिखैर्विपाठैः
संग्रामजिच्छत्रुसहो जयश्च ।
प्रत्युद्ययुर्भारतमापतन्तं
महारथाः कर्णमभीप्समानाः ॥ ७ ॥

इतनेमें ही चित्रसेन, संग्रामजित्, शत्रुसह तथा जय आदि महारथी विपाठ नामक बाणोंकी वर्षा करते हुए कर्णकी रक्षा करने-के उद्देश्यसे वहाँ आक्रमण करनेवाले अर्जुनके सामने आ डटे ॥

ततः स तेषां पुरुषप्रवीरः
शरासनार्चिः शरवेगतापः ।
व्रातं रथानामदहत् समन्यु-
र्वनं यथाग्निः कुरुपुङ्गवानाम् ॥ ८ ॥

तब पुरुषश्रेष्ठ वीरवर अर्जुन क्रोधसे युक्त हो आग-बबूले हो गये । धनुष मानो उस आगकी ज्वाला थी और बाणोंका वेग ही आँच बन गया था । जैसे आग वनको जला डालती है, उसी प्रकार वे उन कुरुश्रेष्ठ महारथियोंके रथसमूहोंको भस्म करने लगे ॥ ८ ॥

तस्मिंस्तु युद्धे तुमुले प्रवृत्ते
पार्थं विकर्णोऽतिरथं रथेन ।
विपाठवर्षेण कुरुप्रवीरो
भीमेन भीमानुजमाससाद ॥ ९ ॥

इस प्रकार घोर युद्ध छिड़ जानेपर कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर विकर्णने रथपर सवार हो विपाठ नामक बाणोंकी भयंकर वर्षा करते हुए भीमके छोटे भाई अतिरथी वीर अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ ९ ॥

ततो विकर्णस्य धनुर्विकृष्य
जाम्बूनदाग्र्योपचितं दृढज्यम् ।
अपातयत् तं ध्वजमस्य मथ्य
च्छिन्नध्वजः सोऽप्यपयाज्जवेन ॥ १० ॥

तब अर्जुनने अपने बाणोंसे जाम्बूनद नामक उत्तम सुवर्ण मढ़े हुए सुदृढ़ प्रत्यञ्चावाले विकर्णके धनुषको काटकर उसके ध्वजको भी टुकड़े-टुकड़े करके गिरा दिया । रथकी ध्वजा कट जानेपर विकर्ण बड़े वेगसे भाग निकला ॥ १० ॥

तं शात्रवाणां गणबाधितारं
कर्माणि कुर्वन्तममानुषाणि ।
शत्रुंतपः पार्थममृष्यमाणः
समार्दयच्छरवर्षेण पार्थम् ॥ ११ ॥

शत्रुदलके वीरोंका वध करनेवाले कुन्तीनन्दन अर्जुनको इस प्रकार अमानुषिक पराक्रम करते देख शत्रुंतप नामक वीर उनके सामने आया । वह अर्जुनका पराक्रम न सह अपनी बाणवर्षासे पार्थको पीड़ा देने लगा ॥ ११ ॥

स तेन राज्ञातिरथेन विद्धो
विगाहमानो ध्वजिनीं कुरूणाम् ।
शत्रुंतपं पञ्चभिराशु विद्ध्वा
ततोऽस्य सूतं दशभिर्जघान ॥ १२ ॥

कौरवसेनामें विचरनेवाले अर्जुनने अतिरथी राजा शत्रुंतपके बाणोंसे घायल होकर उसे भी तुरंत ही पाँच बाणोंसे बींध डाला । फिर उसके सारथिको दस बाण मार-कर यमलोक पहुँचा दिया ॥ १२ ॥

ततः स विद्धो भरतर्षभेण
बाणेन गात्रावरणातिगेन ।
गतासुराजौ निपपात भूमौ
नगो नगाग्रादिव वातरुग्णः ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ अर्जुनके बाण कवच छेदकर शरीरके भीतर घुस जाते थे । उनके द्वारा घायल होकर राजा शत्रुंतपके प्राणपखेरू उड़ गये और जैसे आँधीसे उखड़ा हुआ वृक्ष पर्वतशिखरसे नीचे गिरे, उसी प्रकार वह रथसे रणभूमिमें गिर पड़ा ॥ १३ ॥

नरर्षभास्तेन नरर्षभेण
वीरा रणे वीरतरेण भग्नाः ।
चकम्पिरे वातवशेन काले
प्रकम्पितानीव महावनानि ॥ १४ ॥

नरश्रेष्ठ वीरवर धनंजयके बाणोंकी मार खाकर कौरव सेनाके कितने ही श्रेष्ठ वीर घायल हो इस प्रकार काँपने लगे, जैसे समयानुसार प्रचण्ड आँधीके वेगसे बड़े-बड़े वनोंके वृक्ष हिलने लगते हैं ॥ १४ ॥

हतास्तु पार्थेन नरप्रवीरा
गतासवोर्व्यां सुषुपुः सुवेषाः ।
वसुप्रदा वासवतुल्यवीर्याः
पराजिता वासवजेन संख्ये ॥ १५ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुनके द्वारा मारे गये बहुतेरे उत्कृष्ट नर-वीर जो सुन्दर वेश-भूषासे सुशोभित थे, प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर सो गये । जो वीर दूसरोंको वसु (धन) देनेवाले और वासव (इन्द्र) के तुल्य पराक्रमी थे, वे भी वासव-नन्दन अर्जुनके द्वारा उस युद्धमें पराजित हो गये ॥ १५ ॥

सुवर्णकार्ष्णायसवर्मनद्धा
नागा यथा हैमवताः प्रवृद्धाः ।
तथा स शत्रून् समरे विनिघ्नन्
गाण्डीवधन्वा पुरुषप्रवीरः ॥ १६ ॥
चचार संख्ये विदिशो दिशश्च
दहन्निवाग्निर्वनमातपान्ते ।

उनमेंसे कुछ तो सोनेके कवच पहने थे और कुछ लोगोंने काले लोहेके बख्तर बाँध रक्खे थे । वे उस युद्ध-भूमिमें पड़े हुए हिमालयप्रदेशके विशालकाय गजराजोंके समान जान पड़ते थे । इस प्रकार संग्राममें शत्रुओंका संहार करनेवाले गाण्डीवधारी वीरशिरोमणि नररत्न अर्जुन वहाँ सब दिशाओंमें इस प्रकार विचरने लगे, मानो ग्रीष्म ऋतुमें दावानल सम्पूर्ण वनको दग्ध करता हुआ चारों ओर फैल रहा हो ॥ १६½ ॥

प्रकीर्णपर्णानि यथा वसन्ते
विशातयित्वा पवनोऽम्बुदांश्च ॥ १७ ॥
तथा सपत्नान् विकिरन् किरीटी
चचार संख्येऽतिरथो रथेन ।

जैसे वसन्तऋतुमें (तेज चलनेवाली) हवा पतझड़के बिखरे पत्तोंको उड़ाती और बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार उस रणभूमिमें रथपर बैठे हुए अतिरथी वीर किरीटधारी अर्जुन शत्रुओंका संहार करते हुए विचरने लगे ॥ १७½ ॥

शोणाश्ववाहस्य हयान् निहत्य
वैकर्तनभ्रातुरदीनसत्त्वः ।
एकेन संग्रामजितः शरेण
शिरो जहाराथ किरीटमाली ॥ १८ ॥

उनके हृदयमें दीनताका लेश भी नहीं था । वे सुन्दर किरीट और मालाओंसे अलंकृत थे । उन्होंने लाल घोड़े-वाले रथपर बैठकर अपने सामने आये हुए कर्णके भाई संग्रामजित्‌के घोड़ोंको मार डाला और एक बाणसे उसके मस्तकको भी धड़से अलग कर दिया ॥ १८ ॥

तस्मिन् हते भ्रातरि सूतपुत्रो
वैकर्तनो वीर्यमथाददानः ।
प्रगृह्य दन्ताविव नागराजो
महर्षभं व्याघ्र इवाभ्यधावत् ॥ १९ ॥

अपने भाई संग्रामजित्‌के मारे जानेपर सूतपुत्र कर्णने कुपित हो पराक्रम दिखानेकी इच्छासे अर्जुन और उत्तरपर इस प्रकार हठपूर्वक धावा किया, मानो कोई गजराज दो पर्वत-शिखरोंसे भिड़ने चला हो अथवा कोई व्याघ्र किसी महा-बली साँड़पर टूट पड़ा हो ॥ १९ ॥

स पाण्डवं द्वादशभिः पृषत्कै-
र्वैकर्तनः शीघ्रमथो जघान ।
विव्याध गात्रेषु हयांश्च सर्वान्
विराटपुत्रं च करे निजघ्ने ॥ २० ॥

सूर्यपुत्र कर्णने बड़ी शीघ्रताके साथ पाण्डुनन्दन अर्जुनको बारह बाणोंसे घायल किया, उनके घोड़ोंके शरीर छेदकर छलनी कर दिये और विराटपुत्र उत्तरके हाथमें भी भारी चोट पहुँचायी ॥ २० ॥

तमापतन्तं सहसा किरीटी
वैकर्तनं वै तरसाभिपत्य ।
प्रगृह्य वेगं न्यपतज्जवेन
नागं गरुत्मानिव चित्रपक्षः ॥ २१ ॥

कर्णको सहसा आते देख किरीटधारी अर्जुन भी तीव्र गतिसे आगे बढ़कर जैसे विचित्र पंखवाले गरुड़ किसी नागपर जोरसे आक्रमण करते हों, उसी प्रकार बड़े वेगसे उसपर टूट पड़े ॥ २१ ॥

तावुत्तमौ सर्वधनुर्धराणां
महाबलौ सर्वसपत्नसाहौ ।
कर्णस्य पार्थस्य निशम्य युद्धं
दिदृक्षमाणाः कुरवोऽभितस्थुः ॥ २२ ॥

वे दोनों ही सम्पूर्ण धनुर्धर वीरोंमें श्रेष्ठ, महान् बलवान् तथा समस्त शत्रुओंका वेग सहन करनेवाले थे । कर्ण और अर्जुनका युद्ध सुनकर समस्त कौरववीर उसे देखनेके लिये दर्शकोंकी भाँति खड़े हो गये ॥ २२ ॥

स पाण्डवस्तूर्णमुदीर्णकोपः
कृतागसं कर्णमुदीक्ष्य हर्षात् ।
क्षणेन साश्वं सरथं ससारथि-
मन्तर्दधे घोरशरौघवृष्ट्या ॥ २३ ॥

अपने अपराधी कर्णको सामने देखकर पाण्डुनन्दन अर्जुनकी क्रोधाग्नि भड़क उठी । वे तुरंत ही हर्ष एवं उत्साहके साथ भयंकर बाणोंकी वर्षा करके

उन्होंने क्षणभरमें घोड़े, रथ और सारथिसहित कर्णको ढँक दिया ॥ २३ ॥

ततः सुविद्धाः सरथाः सनागा
योधा विनेदुर्भरतर्षभाणाम् ।
अन्तर्हिता भीष्ममुखाः सहाश्वाः
किरीटिना कीर्णरथाः पृषत्कैः ॥ २४ ॥

तदनन्तर कौरवसेनाके रथियों और हाथीसवारों सहित सम्पूर्ण योद्धा अत्यन्त घायल होकर चीखने-चिल्लाने लगे । किरीटधारी पार्थके बाणोंसे रथ आच्छादित हो जानेके कारण भीष्म आदि सभी महारथी घोड़ोंसहित अदृश्य हो गये ॥ २४ ॥

स चापि तानर्जुनबाहुमुक्ता-
ञ्छराञ्छरौघैः प्रतिहत्य वीरः ।
तस्थौ महात्मा सधनुः सबाणः
सविस्फुलिङ्गोऽग्निरिवाशु कर्णः ॥ २५ ॥

तब महामना वीर कर्ण भी बाणसमूहोंद्वारा अर्जुनकी भुजाओंसे छोड़े गये सम्पूर्ण बाणोंको शीघ्र ही काटकर अपने धनुष और बाणोंके साथ चिनगारियोंसे युक्त अग्निकी भाँति सुशोभित होने लगा ॥ २५ ॥

ततस्त्वभूद् वै तलतालशब्दः
सशङ्खभेरीपणवप्रणादः ।
प्रक्ष्वेडितज्यातलनिस्वनं तं
वैकर्तनं पूजयतां कुरूणाम् ॥ २६ ॥

फिर तो वहाँ कर्ण बारबार प्रत्यञ्चा खींचकर धनुषकी टंकार फैलाने लगा और उसकी प्रशंसा करनेवाले कौरवोंके दलमें हथेलियों और तालियोंकी गड़गड़ाहट होने लगी । शङ्ख बज उठे, नगाड़े पीटे जाने लगे और ढोलोंका गम्भीर शब्द सब ओर गूँजने लगा ॥ २६ ॥

उद्धूतलाङ्गूलमहापताक-
ध्वजोत्तमांसाकुलभीषणान्तम् ।
गाण्डीवनिर्ह्रादकृतप्रणादं
किरीटिनं प्रेक्ष्य ननाद कर्णः ॥ २७ ॥

अर्जुनके रथकी ध्वजापर बैठे वानरवीरकी पूँछ बहुत बड़ी पताकाके समान हिल रही थी और उसके अग्रभागपर भयंकर भूतोंका भैरवनाद हो रहा था । इसके साथ ही वज्रकी गड़गड़ाहटके समान गाण्डीव धनुषकी टंकार फैल रही थी । ऐसे किरीटधारी अर्जुनकी ओर देखकर कर्ण बार-बार सिंहनाद करने लगा ॥ २७ ॥

स चापि वैकर्तनमर्दयित्वा
साश्वं ससूतं सरथं पृषत्कैः ।
तमाववर्ष प्रसभं किरीटी
पितामहं द्रोणकृपौ च दृष्ट्वा ॥ २८ ॥

तब अर्जुनने भी घोड़े, सारथि एवं रथसहित कर्णको बाणोंद्वारा पीड़ित करके पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्यकी ओर देखते हुए कर्णपर हठपूर्वक बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की ॥ २८ ॥

स चापि पार्थं बहुभिः पृषत्कै-
र्वैकर्तनो मेघ इवाभ्यवर्षत् ।
तथैव कर्णं च किरीटमाली
संछादयामास शितैः पृषत्कैः ॥ २९ ॥

यह देख कर्णने भी अर्जुनपर मेघकी भाँति बहुत-से बाणोंकी झड़ी लगा दी । इसी प्रकार किरीटमाली अर्जुनने भी अपने तीखे सायकोंसे कर्णको ढँक दिया ॥ २९ ॥

तयोः सुतीक्ष्णान् सृजतोः शरौघान्
महाशरौघास्त्रविवर्धने रणे ।
रथे विलग्नाविव चन्द्रसूर्यौ
घनान्तरेणानुददर्श लोकः ॥ ३० ॥

इस प्रकार जहाँ राशि-राशि बाणोंद्वारा भीषण मार-काट मची हुई थी, उस रणक्षेत्रमें वे दोनों वीर अत्यन्त तीक्ष्ण शरसमूहोंकी बौछार कर रहे थे । लोगोंने देखा, वे रथपर बैठे हुए बाणसमूहके भीतरसे इस प्रकार प्रकाशित हो रहे हैं, मानो बादलोंके भीतरसे सूर्य और चन्द्रमा चमक रहे हों ॥ ३० ॥

अथाशुकारी चतुरो हयांश्च
विव्याध कर्णो निशितैः किरीटिनः ।
त्रिभिश्च यन्तारममृष्यमाणो
विव्याध तूर्णं त्रिभिरस्य केतुम् ॥ ३१ ॥

कर्णको अर्जुनका पराक्रम असह्य हो उठा । उसने अपनी आशुकारिता (शीघ्र बाण छोड़नेकी कला) का परिचय देते हुए तीखे बाणोंसे अर्जुनके चारों घोड़ोंको बींध डाला; फिर तीन बाणोंसे उनके सारथिको घायल किया और तुरंत ही तीन बाण मारकर ध्वजको भी छेद डाला । ३१ ।

ततोऽभिविद्धः समरावमर्दी
प्रबोधितः सिंह इव प्रसुप्तः ।
गाण्डीवधन्वा ऋषभः कुरूणा-
मजिह्मगैः कर्णमियाय जिष्णुः ॥ ३२ ॥

कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष गाण्डीवधारी अर्जुन समरभूमिमें शत्रुओंको रौंद डालनेवाले थे । वे सूतपुत्रके बाणोंसे घायल होकर सोये हुए सिंहके समान जाग उठे और विपक्षियोंपर सीधे आघात करनेवाले बाणोंद्वारा कर्णका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ ३२ ॥

शरासवृष्ट्या निहतो महात्मा
प्रादुश्चकारातिमनुष्यकर्म ।
प्राच्छादयत् कर्णरथं पृषत्कै-
र्लोकानिमान् सूर्य इवांशुजालैः॥ ३३ ॥

कर्णकी बाणवर्षासे आहत हुए महात्मा अर्जुनने अतिमानुष पराक्रम प्रकट किया । जैसे सूर्य अपनी किरणोंके समूहसे समस्त संसारको आच्छादित कर देते हैं, उसी प्रकार उन्होंने बाणसमुदायसे कर्णके रथको ढक दिया ॥ ३३ ॥

स हस्तिनेवाभिहतो गजेन्द्रः
प्रगृह्य भल्लान् निशितान् निषङ्गात् ।
आकर्णपूर्णं च धनुर्विकृष्य
विव्याध गात्रेष्वथ सूतपुत्रम् ॥ ३४ ॥

उस समय अर्जुनकी दशा उस गजराजकी भाँति हो रही थी, जो अपने प्रतिद्वन्द्वी गजका प्रहार सहकर स्वयं भी उसपर चोट करनेके लिये उद्यत हो। उन्होंने तरकससे भल्ल नामक तीखे बाण निकाले और धनुषको कानतक खींचकर सूतपुत्रके अङ्गोंको बींध डाला ॥ ३४ ॥

अथास्य बाहूरुशिरोललाटं
ग्रीवां वराङ्गानि परावमर्दी ।
शितैश्च बाणैर्युधि निर्बिभेद
गाण्डीवमुक्तैरशनिप्रकाशैः ॥ ३५ ॥

शत्रुओंका मान-मर्दन करनेवाले वीर धनंजयने गाण्डीव धनुषसे छूटकर वज्रके समान प्रकाशित होनेवाले तीखे सायकोंद्वारा उस युद्धमें कर्णकी दोनों भुजाओं, जाँघों, मस्तक, ललाट तथा ग्रीवा आदि उत्तम अङ्गोंको छेद डाला ॥ ३५ ॥

स पार्थमुक्तैरिषुभिः प्रणुन्नो
गजो गजेनेव जितस्तरस्वी ।
विहाय संग्रामशिरः प्रयातो
वैकर्तनः पाण्डवबाणतप्तः ॥ ३६ ॥

अर्जुनके छोड़े हुए बाणोंकी चोट खाकर सूर्यपुत्र कर्ण तिलमिला उठा और एक हाथीसे पराजित हुए दूसरे वेगशाली हाथीकी भाँति वह पाण्डुनन्दन अर्जुनके बाणोंसे संतप्त हो युद्धका मुहाना छोड़कर भाग निकला ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे कर्णापयाने चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय कर्णका युद्धसे पलायनविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा कौरवसेनाका संहार और उत्तरका उनके रथको कृपाचार्यके पास ले जाना

वैशम्पायन उवाच

अपयाते तु राधेये दुर्योधनपुरोगमाः ।
अनीकेन यथास्वेन शनैरार्च्छन्त पाण्डवम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राधानन्दन कर्णके भाग जानेपर दुर्योधन आदि कौरवयोद्धा अपनी-अपनी सेनाके साथ धीरे-धीरे पाण्डुनन्दन अर्जुनकी ओर बढ़ आये ॥ १ ॥

बहुधा तस्य सैन्यस्य व्यूढस्यापततः शरैः ।
अधारयत वेगं स वेलेव तु महोदधेः ॥ २ ॥

तब जैसे वेला (तटभूमि) महासागरके वेगको रोक लेती है, उसी प्रकार अर्जुनने व्यूहरचनापूर्वक बाणवर्षाके साथ आती हुई अनेक भागोंमें विभक्त कौरवसेनाके बढ़ावको रोक दिया ॥ २ ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुः कौन्तेयः श्वेतवाहनः ।
दिव्यमस्त्रं प्रकुर्वाणः प्रत्ययाद् रथसत्तमः ॥ ३ ॥
यथा रश्मिभिरादित्यः प्रच्छादयति मेदिनीम् ।
तथा गाण्डीवनिर्मुक्तैः शरैः पार्थो दिशो दश ॥ ४ ॥

तदनन्तर श्वेत घोड़ोंवाले श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ कुन्तीनन्दन अर्जुनने हँसकर दिव्यास्त्र प्रकट करते हुए उस सेनाका सामना किया । जैसे सूर्यदेव अपनी अनन्त किरणोंद्वारा समूची पृथ्वीको आच्छादित कर लेते हैं, उसी प्रकार अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए असंख्य बाणोंद्वारा दसों दिशाओंको ढँक दिया ॥ ३-४ ॥

न रथानां न चाश्वानां न गजानां न वर्मणाम् ।
अनिर्विद्धं शितैर्बाणैरासीद् द्व्यङ्गुलमन्तरम् ॥ ५ ॥

वहाँ रथों, घोड़ों, हाथियों तथा उनके सवारोंके अङ्गों और कवचोंमें दो अङ्गुल भी ऐसा स्थान नहीं बचा था, जो अर्जुनके तीखे बाणोंसे बिंध न गया हो ॥ ५ ॥

दिव्ययोगाच्च पार्थस्य हयानामुत्तरस्य च ।
शिक्षाशिल्पोपपन्नत्वादस्त्राणां च परिक्रमात् ।

वीर्यवत्त्वं द्रुतं चाग्र्यं दृष्ट्वा जिष्णोरपूजयन् ॥ ६ ॥

अर्जुनके दिव्यास्त्रोंका प्रयोग, घोड़ोंकी शिक्षा, रथ-सञ्चालनकी कलामें उत्तरका कौशल तथा पार्थके अस्त्र चलनेका क्रम—इन सबके कारण तथा उनका पराक्रम और अत्यन्त फुर्ती देखकर शत्रु भी उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ६ ॥

कालाग्निमिव बीभत्सुं निर्दहन्तमिव प्रजाः ।
नारयः प्रेक्षितुं शेकुर्ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ ७ ॥

अर्जुन समस्त प्रजाका संहार करनेवाली प्रलयकालीन अग्निके समान शत्रुओंको भस्म कर रहे थे । वे मानो जलती आग हो रहे थे । शत्रु उनकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं पाते थे ॥ ७ ॥

तानि ग्रस्तान्यनीकानि रेजुरर्जुनमार्गणैः ।
शैलं प्रति बलाभ्राणि व्याप्तानीवार्करश्मिभिः ॥ ८ ॥

अर्जुनके बाणोंसे आच्छादित हुई कौरवोंकी सेना इस प्रकार सुशोभित हुई, मानो पर्वतके निकट नवीन मेघोंकी घटा सूर्यकी किरणोंसे व्याप्त हो गयी हो ॥ ८ ॥

अशोकानां वनानीवच्छन्नानि बहुशः शुभैः ।
रेजुः पार्थशरैस्तत्र तदा सैन्यानि भारत ॥ ९ ॥

भारत ! उस समय कुन्तीपुत्र अर्जुनके बाणोंसे घायल हो लहूलुहान हुए कौरवसैनिक बहुतेरे लाल फूलोंसे आच्छादित अशोकवनके समान शोभा पा रहे थे ॥ ९ ॥

स्रजोऽर्जुनशरैः शीर्णं शुष्यत्पुष्पं हिरण्मयम् ।
छत्राणि च पताकाश्च खे दधार सदागतिः ॥ १० ॥

अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो हारसे टूटकर बिखरे हुए स्वर्णचम्पाके सूखे फूल, छत्र और पताकाओं आदिको वायु कुछ देरतक आकाशमें ही धारण किये रहती थी (बाणोंके जालपर रुक जानेसे वे जल्दी नीचे नहीं गिरते थे) ॥ १० ॥

स्वबलत्रासनात्त्रस्ताः परिपेतुर्दिशो दश ।
रथाङ्गदेशानादाय पार्थच्छिन्नयुगा हयाः ॥ ११ ॥

अर्जुनने जिनके जुए काट दिये थे, वे शत्रुदलके घोड़े अपनी सेनाकी घबराहटसे स्वयं भी व्यग्र हो उठे और जुएका एक-एक टुकड़ा अपने साथ लिये सब ओर भागने लगे ॥

कर्णकक्षविषाणेषु अन्तरोष्ठेषु चैव ह ।
मर्मस्वङ्गेषु चाहत्यापातयत् समरे गजान् ॥ १२ ॥

अब अर्जुन युद्धभूमिमें गजराजोंके कान, कक्ष, दाँत, निचले ओठ तथा अन्य मर्मस्थानोंमें बाण मारकर उन्हें धराशायी करने लगे ॥ १२ ॥

कौरवाग्रगजानां तु शरीरैर्गतचेतसाम् ।
क्षणेन संवृता भूमिर्मेघैरिव नभस्तलम् ॥ १३ ॥

एक ही क्षणमें प्राणहीन हुए कौरवसेनाके आगे चलनेवाले गजराजोंकी लाशोंसे वहाँकी भूमि पट गयी एवं मेघोंकी घटासे आच्छादित आकाशकी भाँति प्रतीत होने लगी ॥ १३ ॥

युगान्तसमये सर्वं यथा स्थावरजङ्गमम् ।
कालक्षयमशेषेण दहत्यग्निशिखः शिखी ।
तद्वत् पार्थो महाराज ददाह समरे रिपून् ॥ १४ ॥

महाराज ! जैसे प्रलयकालमें लपलपाती लपटोंके साथ आगे बढनेवाली संवर्तकाग्नि सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार कुन्तीनन्दन अर्जुन उस समरभूमिमें शत्रुओंको अपनी बाणाग्निसे दग्ध करने लगे ॥१४॥

ततः सर्वास्त्रतेजोभिर्धनुषो निस्वनेन च ।
शब्देनामानुषाणां च भूतानां ध्वजवासिनाम् ।
भैरवं शब्दमत्यर्थं वानरस्य च कुर्वतः ॥ १५ ॥
दैवारिपाञ्च बीभत्सुस्तस्मिन् दौर्योधने वने ।
भयमुत्पादयामास बलवानरिमर्दनः ॥ १६ ॥

तदनन्तर शत्रुओंका मान-मर्दन करनेवाले बलवान् अर्जुनने अपने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके तेजसे, धनुषकी टंकारसे, ध्वजामें निवास करनेवाले मानवेतर भूतोंके भयंकर कोलाहलसे, अत्यन्त भैरव गर्जना करनेवाले वानरके प्रभावसे तथा भीषण नाद फैलानेवाले शङ्खसे भी दुर्योधनकी उस सेनामें भारी भय उत्पन्न कर दिया ॥ १५-१६ ॥

रथशक्तिममित्राणां प्रागेव निपतद् भुवि ।
सोऽपयात् सहसा पश्चात् साहसाच्चाभ्युपेयिवान्॥१७॥

शत्रुओंकी रथशक्तिको तो अर्जुन पहलेसे ही धरतीपर सुला चुके थे । फिर असमर्थोंका वध करना अनुचित साहस मानकर वे एक बार वहाँसे हट गये, परंतु (उन सैनिकोंको युद्धके लिये उद्यत देख) फिर उनके पास आ गये ॥

शरव्रातैः सुतीक्ष्णाग्रैः समादिष्टैः खगैरिव ।
अर्जुनस्तु खमावव्रे लोहितप्राशनैः खगैः ॥ १८ ॥

अर्जुनके धनुषसे छूटे हुए अत्यन्त तीखी धारवाले बाणसमूह मानो रक्त पीनेवाले आकाशचारी पक्षी थे, उनके द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण आकाशको ढँक दिया ॥ १८ ॥

अत्र मध्ये यथार्कस्य रश्मयस्तिग्मतेजसः ।
दिशासु च तथा राजन्नसंख्याताः शरास्तदा ॥ १९ ॥

राजन् ! जैसे प्रखर तेजवाले सूर्यदेवकी किरणें एक

पात्रमें नहीं अँट सकतीं, उसी प्रकार उस समय सम्पूर्ण दिशाओंमें फैले हुए अर्जुनके असंख्य बाण आकाशमें समा नहीं पाते थे ॥ १९ ॥

सकृदेवानतं शेकू रथमभ्यसितुं परे।
अलभ्यः पुनरश्वैस्तु रथात् सोऽतिप्रपादयेत्॥ २० ॥

शत्रुसैनिक अर्जुनका रथ निकट आनेपर उसे एक ही बार पहचान पाते थे; दुबारा इसके लिये उन्हें अवसर नहीं मिलता था; क्योंकि पास आते ही अर्जुन उन्हें घोड़ोंसहित इस लोकसे परलोक भेज देते थे ॥ २० ॥

ते शरा द्विट्शरीरेषु यथैव न ससज्जिरे।
द्विडनीकेषु बीभत्सोर्न ससज्जे रथस्तदा ॥ २१ ॥

अर्जुनके वे बाण जिस प्रकार शत्रुओंके शरीरमें अटकते नहीं थे, उन्हें छेदकर पार निकल जाते थे, उसी प्रकार उनका रथ भी उस समय शत्रु-सेनाओंमें कहीं रुकता नहीं था; उनको चीरता हुआ आगे बढ़ जाता था ॥ २१ ॥

स तद् विक्षोभयामास ह्यरातिबलमञ्जसा।
अनन्तभोगो भुजगः क्रीडन्निव महार्णवे ॥ २२ ॥

जैसे अनन्त फणोंवाले नागराज शेष महासागरमें क्रीड़ा करते हुए उसे मथ डालते हैं, उसी प्रकार अर्जुनने अनायास ही शत्रुसेनामें घूम-घूमकर भारी हलचल पैदा कर दी ॥ २२ ॥

अस्यतो नित्यमत्यर्थं सर्वमेवातिगस्तथा।
अश्रुतः श्रूयते भूतैर्धनुर्घोषः किरीटिनः ॥ २३ ॥

जब अर्जुन बाण चलाते थे, उस समय समस्त प्राणी सदा उनके गाण्डीव धनुषकी बड़े जोरसे होनेवाली अद्भुत टंकार सुनते थे। वैसी टंकार-ध्वनि पहले किसीने कभी नहीं सुनी थी। उसके सामने दूसरे सभी प्रकारके शब्द दब जाते थे ॥ २३ ॥

संततास्तत्र मातङ्गा बाणैरल्पान्तरान्तरे।
संवृतास्तेन दृश्यन्ते मेघा इव गभस्तिभिः ॥ २४ ॥

उस युद्धभूमिमें खड़े हुए हाथियोंके सम्पूर्ण अङ्ग बहुत थोड़ी-थोड़ी दूरपर बाणोंसे छिद गये थे। इस कारण वे सूर्यकी किरणोंसे आवृत मेघोंकी घटाके समान दिखायी देते थे ॥

दिशोऽनुभ्रमतः सर्वाः सव्यदक्षिणमस्यतः।
सततं दृश्यते युद्धे सायकासनमण्डलम् ॥ २५ ॥

अर्जुन सब दिशाओंमें बार-बार घूमते हुए दायें-बायें बाण चला रहे थे; इसलिये युद्धमें अलातचक्रकी भाँति उनका मण्डलाकार धनुष सदा दृष्टिगोचर होता रहता था ॥

पतन्त्यरूपेषु यथा चक्षूंषि न कदाचन।
नालक्ष्येषु शराः पेतुस्तथा गाण्डीवधन्वनः ॥ २६ ॥

जैसे आँखें रूपहीन पदार्थोंपर कभी नहीं पड़तीं, उसी प्रकार गाण्डीवधारी अर्जुनके बाण उन व्यक्तियोंपर नहीं पड़ते थे, जो उनके बाणोंके लक्ष्य नहीं थे (अर्थात् जिन्हें वे अपने बाणोंका निशाना नहीं बनाना चाहते थे।) ॥ २६ ॥

मार्गो गजसहस्रस्य युगपद् गच्छतो वने।
यथा भवेत् तथा जज्ञे रथमार्गः किरीटिनः ॥ २७ ॥

जैसे वनमें एक साथ चलते हुए सहस्रों हाथियोंके पद-चिह्नोंसे बहुत साफ और चौड़ा रास्ता बन जाता है, उसी प्रकार किरीटधारी अर्जुनके रथका मार्ग भी उनकी बाणवर्षा-से साफ हो जाता था ॥ २७ ॥

नूनं पार्थजयैषित्वाच्छक्रः सर्वामरैः सह।
हन्त्यस्मानित्यमन्यन्त पार्थेन निहताः परे ॥ २८ ॥

अर्जुनके बाणोंसे घायल हुए शत्रु ऐसा समझते थे कि निश्चय ही अर्जुनकी विजयकी अभिलाषा रखनेके कारण साक्षात् इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंके साथ आकर हमें मार रहे हैं ॥२८॥

घ्नन्तमत्यर्थमहितान् विजयं तत्र मेनिरे।
कालमर्जुनरूपेण संहरन्तमिव प्रजाः ॥ २९ ॥

उस समरभूमिमें असंख्य शत्रुओंका संहार करते हुए पार्थकी ओर देखकर लोग यह मानने लगे कि अर्जुनके रूपमें साक्षात् काल ही आकर सबका संहार कर रहा है ॥ २९ ॥

कुरुसेनाशरीराणि पार्थेनैवाहतान्यपि।
सेदुः पार्थहतानीव पार्थकर्मानुशासनात् ॥ ३० ॥

कौरव-योद्धाओंके शरीर कुन्तीनन्दन अर्जुनके बाणोंसे घायल होकर छिन्न-भिन्न हो गये थे। वे पार्थके बाणोंसे मारे हुएकी ही भाँति पड़े थे; क्योंकि पार्थके इस अद्भुत पराक्रमकी उन्हींसे उपमा दी जा सकती है ॥ ३० ॥

ओषधीनां शिरांसीव द्विषच्छीर्षाणि सोऽन्वयात्।
अवनेशुः कुरूणां हि वीर्याण्यर्जुनजाद् भयात्॥ ३१ ॥

वे धानकी बालके समान शत्रुओंके सिर क्रमशः काटते जाते थे। अर्जुनके भयसे कौरवोंकी सारी शक्ति नष्ट हो गयी थी ॥ ३१ ॥

अर्जुनानिलभिन्नानि वनान्यर्जुनविद्विषाम् ।
चक्रुर्लोहितधाराभिर्धरणीं लोहितान्तराम् ॥ ३२ ॥

अर्जुनके शत्रुरूपी वन अर्जुनरूपी वायुसे ही छिन्न-भिन्न हो लाल धाराएँ (रक्त) बहाकर पृथ्वीको भी लाल करने लगे ॥ ३२ ॥

लोहितेन समायुक्तैः पांसुभिः पवनोद्धृतैः ।
बभूवुर्लोहितास्तत्र भृशमादित्यरश्मयः ॥ ३३ ॥

वायुद्वारा उड़ायी हुई रक्तसे सनी धूलके संसर्गसे आकाशमें सूर्यकी किरणें भी अधिक लाल हो गयीं ॥ ३३ ॥

सार्कं खं तत्क्षणेनासीत् संध्यायामिव लोहितम् ।
अप्यस्तं प्राप्य सूर्योऽपि निवर्तेत न पाण्डवः॥ ३४ ॥

जैसे संध्याकालमें पश्चिमका आकाश लाल हो जाता है, उसी प्रकार उस समय सूर्यसहित आकाश लाल रंगका हो गया था। संध्याकालमें तो सूर्य अस्ताचलपर पहुँचकर पर-संताप-कर्मसे निवृत्त हो जाते हैं; परंतु पाण्डुनन्दन अर्जुन शत्रुपीड़नरूपी कर्मसे निवृत्त नहीं हुए ॥ ३४ ॥

तान् सर्वान् समरे शूरः पौरुषे समवस्थितान् ।
दिव्यैरस्त्रैरचिन्त्यात्मा सर्वानार्च्छद् धनुर्धरान् ॥३५॥

अचिन्त्य मन-बुद्धिवाले शूरवीर अर्जुनने रणभूमिमें पुरुषार्थ दिखानेके लिये डटे हुए उन सभी धनुषधारियोंपर अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा आक्रमण किया ॥ ३५ ॥

स तु द्रोणं त्रिसप्तत्या क्षुरप्राणां समार्पयत् ।
दुःसहं दशभिर्बाणैर्द्रौणिमष्टाभिरेव च ॥ ३६ ॥
दुःशासनं द्वादशभिः कृपं शारद्वतं त्रिभिः ।
भीष्मं शान्तनवं षष्ट्या राजानं च शतेन ह ।
कर्णं च कर्णिना कर्णे विव्याध परवीरहा ॥ ३७ ॥

उन्होंने द्रोणाचार्यको तिहत्तर, दुःसहको दस, अश्वत्थामाको आठ, दुःशासनको बारह, शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यको तीन, शान्तनुनन्दन भीष्मको साठ तथा राजा दुर्योधनको सौ क्षुरप्र नामवाले बाणोंसे घायल किया। तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले अर्जुनने कर्णके कानमें एक कर्णी नामक बाण मारकर उसे बींध डाला ॥ ३६-३७ ॥

तस्मिन् विद्धे महेष्वासे कर्णे सर्वास्त्रकोविदे ।
हताश्वसूते विरथे ततोऽनीकमभज्यत ॥ ३८ ॥

फिर उसके घोड़े और सारथिको भी यमलोक भेजकर रथहीन कर दिया। इस प्रकार सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता सहाधनुर्धर सुप्रसिद्ध कर्णके घायल होने तथा उसके घोड़े, सारथि एवं रथके नष्ट हो जानेपर सारी सेनामें भगदड़ मच गयी ॥ ३८ ॥

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा पार्थमाजिस्थितं पुनः ।
अभिप्रायं समाज्ञाय वैराटिरिदमब्रवीत् ॥ ३९ ॥
आस्थाय रुचिरं जिष्णो रथं सारथिना मया ।
कतमं यास्यसेऽनीकमुक्तो यास्याम्यहं त्वया ॥ ४० ॥

विराटकुमार उत्तरने कौरव-सेनाको भागती और कुन्ती-पुत्र अर्जुनको पुनः युद्धके लिये डटा हुआ देखकर उनका अभिप्राय समझकर यों कहा—'जिष्णो ! मुझ सारथिके साथ इस सुन्दर रथपर बैठे हुए आप अब किस सेनाकी ओर जाना चाहते हैं ? आप जहाँके लिये आज्ञा दें, वहीं आपके साथ चलूँ ॥ ३९-४० ॥

अर्जुन उवाच

लोहिताश्वमरिष्टं यं वैयाघ्रमनुपश्यसि ।
नीलां पताकामाश्रित्य रथे तिष्ठन्तमुत्तर ॥ ४१ ॥
कृपस्यैतदनीकाग्र्यं प्रापयस्वैतदेव माम् ।
एतस्य दर्शयिष्यामि शीघ्रास्त्रं दृढधन्विनः ॥ ४२ ॥

अर्जुन बोले—उत्तर ! जिनके लाल-लाल घोड़े हैं, जिन शुभस्वरूप महापुरुषको तुम बाघम्बर पहने देख रहे हो, जो अपने रथपर नीले रंगकी पताका फहराकर बैठे हुए हैं, वे कृपाचार्यजी हैं और वहीं यह उनकी श्रेष्ठ सेना है। मुझे इसी सेनाके पास ले चलो। मैं इन दृढ़ धनुषवाले कृपाचार्यजीको शीघ्र अस्त्र चलानेकी कला दिखलाऊँगा ॥ ४१-४२ ॥

ध्वजे कमण्डलुर्यस्य शातकौम्भमयः शुभः ।
आचार्य एष हि द्रोणः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ४३ ॥

जिनकी ध्वजामें सुन्दर सुवर्णमय कमण्डलु सुशोभित है, ये सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण हैं ॥ ४३ ॥

सदा ममैष मान्यस्तु सर्वशस्त्रभृतामपि ।
सुप्रसन्नं महावीरं कुरुष्वैनं प्रदक्षिणम् ॥ ४४ ॥

ये मेरे तथा अन्य सब शस्त्रधारियोंके माननीय हैं। तुम इन परम प्रसन्न महावीर आचार्यपादकी रथद्वारा प्रदक्षिणा करो ॥ ४४ ॥

अत्रैव चावरोहैनमेष धर्मः सनातनः ।
यदि मे प्रथमं द्रोणः शरीरे प्रहरिष्यति ।
ततोऽस्य प्रहरिष्यामि नास्य कोपो भवेदिति ॥ ४५ ॥

तुम इसी समय इन्हें आदर दो और युद्धके लिये उद्यत हो रथपर बैठे रहो। यह सनातन धर्म है। यदि आचार्य द्रोण पहले मेरे शरीरपर प्रहार करेंगे, तब मैं इनके ऊपर भी

बाणोंद्वारा आघात करूँगा । ऐसा करनेपर इन्हें क्रोध नहीं होगा ॥ ४५ ॥

अस्याविदूरे हि धनुर्ध्वजाग्रे यस्य दृश्यते ।
आचार्यस्यैष पुत्रो वै अश्वत्थामा महारथः ॥ ४६ ॥
सदा ममैष मान्यस्तु सर्वशस्त्रभृतामपि ।
एतस्य त्वं रथं प्राप्य निवर्तेथाः पुनः पुनः ॥ ४७ ॥

इनके पास ही जिनकी ध्वजाके अग्रभागमें धनुषका चिह्न दिखायी देता है, ये आचार्यके ही योग्य पुत्र महारथी अश्वत्थामा हैं । ये भी मेरे तथा सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंके लिये माननीय हैं, अतः इनके रथके समीप जाकर भी तुम बार-बार लौट आना ॥ ४६-४७ ॥

य एष तु रथानीके सुवर्णकवचावृतः ।
सेनाग्र्येण तृतीयेन व्यावहार्येण तिष्ठति ॥ ४८ ॥
यस्य नागो ध्वजाग्रेऽसौ हेमकेतनसंवृतः ।
धृतराष्ट्रात्मजः श्रीमानेष राजा सुयोधनः ॥ ४९ ॥

यह जो रथियोंकी सेनामें सोनेका कवच धारण किये तीसरी काम देने योग्य (बिना थकी-मादी) सेनाके साथ विराजमान है, जिसकी ध्वजाके अग्रभागमें नागका चिह्न है और सोनेकी पताका फहरा रही है, यह धृतराष्ट्रपुत्र श्रीमान् राजा सुयोधन है ॥ ४८-४९ ॥

एतस्याभिमुखं वीर रथं पररथारुजम् ।
प्रापयस्वैष राजा हि प्रमाथी युद्धदुर्मदः ॥ ५० ॥

वीर ! शत्रुओंके रथको तोड़ डालनेवाले अपने इस रथको तुम इसीके सम्मुख ले चलो । यह राजा शत्रुओंको मथ डालनेवाला तथा युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाला है ॥ ५० ॥

एष द्रोणस्य शिष्याणां शीघ्रास्त्रे प्रथमो मतः ।
एतस्य दर्शयिष्यामि शीघ्रास्त्रं विपुलं रणे ॥ ५१ ॥

यह शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेमें आचार्य द्रोणके शिष्योंमें प्रथम माना गया है । इस युद्धमें आज मैं इसे शीघ्र अस्त्र चलानेकी विपुल कलाका दर्शन कराऊँगा ॥ ५१ ॥

नागकक्षा तु रुचिरा ध्वजाग्रे यस्य तिष्ठति ।
एष वैकर्तनः कर्णो विदितः पूर्वमेव ते ॥ ५२ ॥

जिसकी ध्वजाके अग्रभागपर हाथी या उसकी साँकलके चिह्नसे युक्त पताका फहरा रही है, यह विकर्तनपुत्र कर्ण है । इससे तुम पहले ही परिचित हो चुके हो ॥ ५२ ॥

एतस्य रथमास्थाय राधेयस्य दुरात्मनः ।
यत्तो भवेथाः संग्रामे स्पर्धते हि सदा मया ॥ ५३ ॥

इस दुरात्मा राधापुत्रके रथके निकट जाकर सावधान हो जाना । यह सदा युद्धमें मेरे साथ स्पर्धा रखता है ॥ ५३ ॥

यस्तु नीलानुसारेण पञ्चतारेण केतुना ।
हस्तावापी बृहद्धन्वा रथे तिष्ठति वीर्यवान् ॥ ५४ ॥
यस्य तारार्कचित्रोऽसौ ध्वजो रथवरे स्थितः ।
यस्यैतत् पाण्डुरं छत्रं विमलं मूर्ध्नि तिष्ठति ॥ ५५ ॥
महतो रथवंशस्य नानाध्वजपताकिनः ।
बलाहकाग्रे सूर्यो वा य एष प्रमुखे स्थितः ॥ ५६ ॥
हैमं चन्द्रार्कसंकाशं कवचं यस्य दृश्यते ।
जातरूपशिरस्त्राणं मनस्तापयतीव मे ॥ ५७ ॥
एष शान्तनवो भीष्मः सर्वेषां नः पितामहः ।
राजश्रियाभिवृद्धश्च सुयोधनवशानुगः ॥ ५८ ॥

जो नीले रंगकी पाँच तारोंके चिह्नसे सुशोभित पताकावाले रथपर बैठे हुए हैं, जिनका धनुष विशाल है, जिन्होंने हाथोंमें दस्ताने पहन रक्खे हैं, जिनका वह तारों और सूर्यके चिह्नोंसे विचित्र शोभा धारण करनेवाला ध्वज फहरा रहा है, जिनके मस्तकपर श्वेत रंगका उज्ज्वल छत्र सुशोभित है, जो नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे उपलक्षित रथियोंकी विशाल सेनाके अग्रभागमें बादलोंके आगे सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं, जिनके शरीरपर चन्द्रमा और सूर्यके समान चमकीला सोनेका कवच और सुवर्णमय शिरस्त्राण दिखायी देता है, वे श्रेष्ठ रथपर विराजमान महापराक्रमी वीर पुरुष हम सबके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्म हैं । ये राज्य-लक्ष्मीसे सम्पन्न होकर भी दुर्योधनके अधीन हो रहे हैं । इसलिये मेरे मनको संतप्त-सा किये देते हैं ॥ ५४-५८ ॥

पश्चादेष प्रयातव्यो न मे विघ्नकरो भवेत् ।
एतेन युध्यमानस्य यत्तः संयच्छ मे हयान् ॥ ५९ ॥

इनके पास सबसे पीछे चलना । ये मेरे मार्गमें विघ्न-कारक नहीं होंगे । इनके साथ युद्ध करते समय सावधान होकर मेरे घोड़ोंको सँभालना ॥ ५९ ॥

ततोऽभ्यवहदव्यग्रो वैराटिः सव्यसाचिनम् ।
यत्रातिष्ठत् कृपो राजन् योत्स्यमानो धनंजयम् ॥ ६० ॥

राजन् ! अर्जुनकी यह बात सुनकर विराटपुत्र उत्तर निर्भय एवं सावधान हो सव्यसाची धनंजयको उस स्थानपर ले गया, जहाँ कृपाचार्य उनसे युद्ध करनेके लिये खड़े थे ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि अर्जुनकृपसंग्रामे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें अर्जुन-कृप-संग्रामविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुन और कृपाचार्यका युद्ध देखनेके लिये देवताओंका आकाशमें विमानोंपर आगमन

वैशम्पायन उवाच

तान्यनीकान्यदृश्यन्त कुरूणामुग्रधन्विनाम् ।
संसर्पन्ते यथा मेघा घर्मान्ते मन्दमारुताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भयंकर धनुष धारण करनेवाले कौरवोंके वे सैनिक शनैः-शनैः आगे बढ़ने लगे । उस समय वे ऐसे दिखायी देते थे, मानो ग्रीष्मके अन्त एवं वर्षाके प्रारम्भमें मन्द वायुद्वारा प्रेरित मेघ धीरे-धीरे आ रहे हों ॥ १ ॥

अभ्याशे वाजिनस्तस्थुः समारूढाः प्रहारिणः ।
भीमरूपाश्च मातङ्गास्तोमराङ्कुशनोदिताः ।
महामात्रैः समारूढा विचित्रकवचोज्ज्वलाः ॥ २ ॥

घुड़सवार योद्धा समीप आकर खड़े हो गये । घोड़ोंके साथ ही भयंकर हाथी भी आगे बढ़ आये । उन्हें महावत तोमर और अङ्कुशोंकी मारसे आगे बढ़नेकी प्रेरणा दे रहे थे और उन हाथियोंपर बैठे हुए शूर-वीर अपने विचित्र कवचोंकी प्रभासे प्रकाशित हो रहे थे ॥ २ ॥

ततः शक्रः सुरगणैः समारुह्य सुदर्शनम् ।
सहोपायात् तदा राजन् विश्वाश्विमरुतां गणैः ॥ ३ ॥

राजन् ! इसी समय देवताओंसहित इन्द्र विमानपर बैठकर विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गणोंके साथ वहाँ आये, जहाँ परस्पर शत्रुता रखनेवाले दो दलोंका भयंकर संघर्ष छिड़ा हुआ था ॥ ३ ॥

तद् देवयक्षगन्धर्वमहोरगसमाकुलम् ।
शुशुभेऽभ्रविनिर्मुक्तं ग्रहाणामिव मण्डलम् ॥ ४ ॥

उस समय देवता, यक्ष, गन्धर्व तथा बड़े-बड़े नागों (के विमानों) से भरा हुआ वहाँका आकाश बादलोंके आवरणसे रहित ग्रहमण्डलकी भाँति शोभा पाने लगा ॥ ४ ॥

अस्त्राणां च बलं तेषां मनुषेषु प्रयुञ्जताम् ।
तच्च भीमं महद् युद्धं कृपार्जुनसमागमे ।
द्रष्टुमभ्यागता देवाः स्वविमानैः पृथक् पृथक् ॥ ५ ॥

कृपाचार्य और अर्जुनके संग्राममें देवताओंके उन अस्त्रों-की शक्तिका मनुष्योंपर प्रयोग करनेवाले शूरवीरोंके उस महा-भयंकर युद्धको अपनी आँखों देखनेके लिये देवतालोग पृथक्-पृथक् अपने विमानोंपर बैठकर आये थे ॥ ५ ॥

शतं शतसहस्राणां यत्र स्थूणा हिरण्मयी ।
मणिरत्नमयी चान्या प्रासादं तदधारयत् ॥ ६ ॥

ततः कामगमं दिव्यं सर्वरत्नविभूषितम् ।
विमानं देवराजस्य शुशुभे खेचरं तदा ॥ ७ ॥

उन विमानोंमें देवराज इन्द्रका आकाशचारी विमान उस समय सबसे अधिक शोभा पा रहा था । वह इच्छानुसार चलनेवाला दिव्य यान सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित था । उस विमानको एक करोड़ खंभोंने धारण कर रक्खा था । उनमें एक ओर सोनेके और दूसरी ओर मणि एवं रत्नोंके खंभे लगे थे ॥ ६-७ ॥

तत्र देवास्त्रयस्त्रिंशत् तिष्ठन्ति सहवासवाः ।
गन्धर्वा राक्षसाः सर्पाः पितरश्च महर्षिभिः ॥ ८ ॥
तथा राजा वसुमना बलाक्षः सुप्रतर्दनः ।
अष्टकश्च शिबिश्चैव ययातिर्नहुषो गयः ॥ ९ ॥
मनुः पूरू रघुर्भानुः कृशाश्वः सगरो नलः ।
विमाने देवराजस्य समदृश्यन्त सुप्रभाः ॥ १० ॥

उस विमानमें इन्द्रसहित तैंतीस देवता विराजमान थे । इनके सिवा गन्धर्व, राक्षस, सर्प, पितर, महर्षिगण, राजा वसुमना, बलाक्ष, सुप्रतर्दन, अष्टक, शिबि, ययाति, नहुष, गय, मनु, पूरु, रघु, भानु, कृशाश्व, सगर तथा नल—ये सब तेजस्वी रूप धारण करके देवराजके विमानमें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ८-१० ॥

अग्नेरीशस्य सोमस्य वरुणस्य प्रजापतेः ।
तथा धातुर्विधातुश्च कुबेरस्य यमस्य च ॥ ११ ॥
अलम्बुषोग्रसेनानां गन्धर्वस्य च तुम्बुरोः ।
यथाभागं यथोद्देशं विमानानि चकाशिरे ॥ १२ ॥

अग्नि, ईश, सोम, वरुण, प्रजापति, धाता, विधाता, कुबेर, यम, अलम्बुष और उग्रसेन आदि गन्धर्व तथा गन्धर्वराज तुम्बुरुके भी पृथक्-पृथक् विमान अपनी-अपनी लंबाई-चौड़ाईके अनुसार आकाशके विभिन्न प्रदेशोंमें प्रकाशित हो रहे थे ॥ ११-१२ ॥

सर्वदेवनिकायाश्च सिद्धाश्च परमर्षयः ।
अर्जुनस्य कुरूणां च द्रष्टुं युद्धमुपागताः ॥ १३ ॥

ये सभी देवसमुदाय, सिद्ध और महर्षिगण अर्जुन तथा कौरवदलका युद्ध देखनेके लिये जुटे थे ॥ १३ ॥

दिव्यानां सर्वमाल्यानां गन्धः पुण्योऽथ सर्वशः ।
प्रससार वसन्ताग्रे वनानामिव भारत ॥ १४ ॥

जनमेजय ! जैसे वसन्तके प्रारम्भमें वनके फूलोंकी मनोहर सुगन्ध सब ओर फैलने लगती है, उसी प्रकार दिव्य मालाओंकी पुण्यमय गन्ध वहाँ सब ओर छा गयी ॥ १४ ॥

तत्र रत्नानि देवानां समदृश्यन्त तिष्ठताम।
आतपत्राणि वासांसि स्रजश्च व्यजनानि च ॥ १५ ॥

उन विमानोंमें बैठे हुए देवताओंके रत्न, छत्र, वस्त्र, मालाएँ और चँवर आदि स्पष्ट दिखायी दे रहे थे ॥ १५ ॥

उपाशाम्यद् रजो भौमं सर्वं व्याप्तं मरीचिभिः।
दिव्यगन्धानुपादाय वायुर्योधानसेवत ॥ १६ ॥

धरतीकी धूल शान्त हो गयी थी और पृथ्वीकी प्रत्येक वस्तुपर (दिव्य) किरणोंका प्रकाश छा गया था। वायु दिव्य गन्ध लेकर वहाँपर स्थित योद्धाओंका सेवन करती थी ॥१६॥

प्रभासितमिवाकाशं चित्ररूपमलंकृतम्।
सम्पतद्भिः स्थितैश्चापि नानारत्नविभासितैः ॥ १७ ॥

विमानैर्विविधैश्चित्रैरुपानीतैः सुरोत्तमैः।
वज्रभृच्छुशुभे तत्र विमानस्थैः सुरैर्वृतः ॥ १८ ॥
बिभ्रन्मालां महातेजाः पद्मोत्पलसमायुताम्।
विप्रेक्ष्यमाणो बहुभिर्नातृप्यत् सुमहाहवम् ॥ १९ ॥

श्रेष्ठ देवताओंद्वारा लाये हुए भाँति-भाँतिके विचित्र विमान अनेकानेक रत्नोंसे उद्भासित थे। उनमेंसे कुछ स्थिर हो गये थे और कुछ (नीचे-ऊपर) उड़ रहे थे। उनके द्वारा उद्भासित होनेवाले आकाशकी विचित्र शोभा हो रही थी। वहाँ विमानस्थ देवताओंसे घिरे हुए वज्रधारी महातेजस्वी इन्द्र पद्म और उत्पलोंकी माला पहने सुशोभित हो रहे थे। वे अनेक वीरोंके साथ छिड़े हुए अर्जुनके उस महान् संग्रामको बार-बार देखते थे, तो भी तृप्त नहीं होते थे ॥ १७–१९ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि देवागमने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें देवागमनविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कृपाचार्य और अर्जुनका युद्ध तथा कौरवपक्षके सैनिकोंद्वारा कृपाचार्यको हटा ले जाना

वैशम्पायन उवाच

दृष्ट्वा व्यूढान्यनीकानि कुरूणां कुरुनन्दन।
तत्र वैराटिमामन्त्र्य पार्थो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कौरवसेनाओंको व्यूह-रचना करके खड़ी हुई देखकर कुन्तीनन्दन अर्जुनने विराटकुमार उत्तरको सम्बोधित करके कहा— ॥ १ ॥

जाम्बूनदमयी वेदी ध्वजे यस्य प्रदृश्यते।
तस्य दक्षिणतो याहि कृपः शारद्वतो यतः ॥ २ ॥

'उत्तर! जिसकी ध्वजापर सोनेकी वेदीका चिह्न दिखायी देता है, उस रथके दाहिने होकर चलो। उधर ही शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य हैं' ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

धनंजयवचः श्रुत्वा वैराटिस्त्वरितस्ततः।
हयान् रजतसंकाशान् हेमभाण्डानचोदयत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! धनंजयकी बात सुनकर विराटकुमार उत्तरने तुरंत ही चाँदीके समान चमकीले उन श्वेत घोड़ोंको; जो सोनेके साज-सामानसे सुशोभित हो रहे थे, हाँका ॥ ३ ॥

आनुपूर्व्यात् तु तत् सर्वमास्थाय जवमुत्तमम्।
प्राहिणोच्चन्द्रसंकाशान् कुपितानिव तान् हयान् ॥ ४ ॥

घोड़ोंके वेगपूर्वक ... उन सबका सहारा लेकर उत्तरने उन चन्द्रमाके समान श्वेत घोड़ोंको इतनी तीव्र गतिसे आगे बढ़ाया, मानो वे कुपित होकर भाग रहे हों ॥ ४ ॥

स गत्वा कुरुसेनायाः समीपं हयकोविदः।
पुनरावर्तयामास तान् हयान् वातरंहसः ॥ ५ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य मण्डलं सव्यमेव च।

अश्वविद्यामें प्रवीण विराटपुत्रने पहले कौरवसेनाके समीप जाकर उन वायुके समान वेगशाली घोड़ोंको पुनः लौटाया और दाँयीं ओरसे घुमाकर बाँयीं ओर बढ़ा दिया ॥ ५½ ॥

कुरून् सम्मोहयामास मत्स्यो यानेन तत्त्ववित् ॥ ६ ॥
कृपस्य रथमास्थाय वैराटिरकुतोभयः।
प्रदक्षिणमुपावृत्य तस्थौ तस्याग्रतो बली ॥ ७ ॥

अश्वसंचालनका रहस्य जाननेवाले मत्स्यनरेशके पुत्रने रथकी चालसे कौरवोंको मोह (भ्रम) में डाल दिया—वे यह न जान सके कि रथ किस महारथीके पास जाना चाहता है। विराटनन्दन महाबली उत्तरको किसी ओरसे कोई भय नहीं था। उसने कृपाचार्यके रथके समीप जा रथद्वारा उनकी प्रदक्षिणा की। फिर उनके सामने जा वह रथ रोककर खड़ा हो गया ॥ ६-७ ॥

ततोऽर्जुनः शङ्खवरं देवदत्तं महारवम्।
प्रदध्मौ बलमास्थाय नाम विश्राव्य चात्मनः ॥ ८ ॥

तब अर्जुनने अपना नाम सुनाकर और पूरा बल लगाकर ... शङ्ख देवदत्तको बजाया॥

तस्य शब्दो महानासीद् धम्यमानस्य जिष्णुना।
तथा वीर्यवता संख्ये पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ ९ ॥

युद्धभूमिमें वैसे महापराक्रमी विजयशील अर्जुनके द्वारा बजाये जानेपर उस शङ्खसे इतने जोरकी आवाज हुई, मानो कोई पर्वत फट गया हो ॥ ९ ॥

पूजयांचक्रिरे शङ्खं कुरवः सहसैनिकाः।
अर्जुनेन तथा ध्मातः शतधा यन्न दीर्यते ॥ १० ॥

उस समय समस्त कौरव अपने सैनिकोंके साथ यह कहकर उस शङ्खकी सराहना करने लगे कि अहो! यह अद्भुत शङ्ख है, जो अर्जुनके इस प्रकार बजानेपर भी उसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते! ॥ १० ॥

दिवमावृत्य शब्दस्तु निवृत्तः शुश्रुवे पुनः।
सृष्टो मघवता वज्रः प्रपतन्निव पर्वते ॥ ११ ॥

वह शङ्खनाद स्वर्गलोकसे टकराकर जब पुनः लौटा, तब इस प्रकार सुनायी दिया, मानो इन्द्रका चलाया हुआ वज्र किसी पर्वतपर गिरा हो ॥ ११ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरो बलवीर्यसमन्वितः।
अर्जुनं प्रति संरब्धः कृपः परमदुर्जयः।
अमृष्यमाणस्तं शब्दं कृपः शारद्वतस्तदा ॥ १२ ॥
अर्जुनं प्रति संरब्धो युद्धार्थी स महारथः।
महोदधिजमादाय दध्मौ वेगेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥

वीरवर कृपाचार्य बल और पराक्रमसे सम्पन्न थे। उन्हें जीतना अत्यन्त कठिन था। वे अर्जुनके शङ्ख बजानेके अनन्तर उनके प्रति कुपित हो उठे। शरद्वान्‌के पुत्र महारथी कृपाचार्य उस समय अर्जुनके शङ्खनादको नहीं सह सके उनके मनमें अर्जुनपर कुछ रोष हो आया; इसलिये युद्धके (उसके साथ) अभिलाषी होकर उन महापराक्रमी महारथीने अपना शङ्ख लेकर उसे बड़े जोरसे फूँका ॥ १२-१३ ॥

स तु शब्देन लोकांस्त्रीनावृत्य रथिनां वरः।
धनुरादाय सुमहज्ज्याशब्दमकरोत् तदा ॥ १४ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने उस शङ्खनादसे तीनों लोकोंको गुँजाकर उस समय हाथमें धनुष ले लिया और उसकी प्रत्यञ्चा खींचकर टंकारध्वनि की ॥ १४ ॥

तौ रथौ सूर्यसंकाशौ योत्स्यमानौ महाबलौ।
शारदाविव जीमूतौ व्यरोचेतां व्यवस्थितौ ॥ १५ ॥

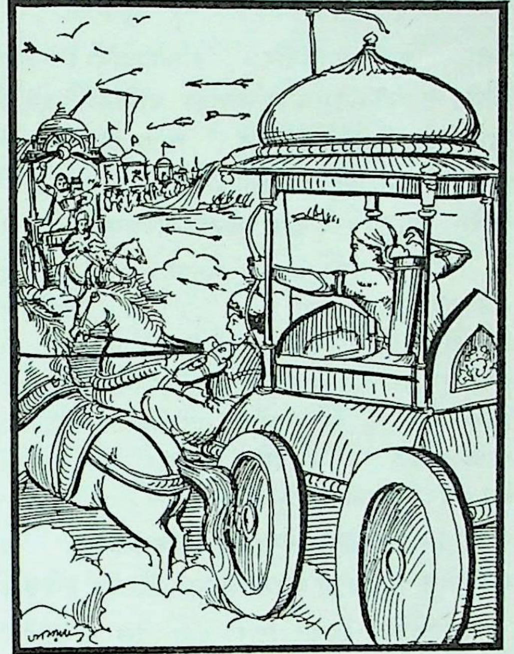
वे दोनों महारथी बड़े पराक्रमी और सूर्यके समान तेजस्वी थे, अतः युद्ध करनेके लिये खड़े हुए वे दोनों वीर शरत्कालके दो मेघोंकी भाँति शोभा पाने लगे ॥ १५ ॥

ततः शारद्वतस्तूर्णं पार्थं दशभिराशुगैः।
विव्याध परवीरघ्नं निशितैर्मर्मभेदिभिः ॥ १६ ॥

तदनन्तर कृपाचार्यने मर्मस्थानको विदीर्ण कर देनेवाले दस तीखे बाणोंद्वारा शत्रुवीरोंके संहारक कुन्तीनन्दन अर्जुनको तुरंत बींध डाला ॥ १६ ॥

पार्थोऽपि विश्रुतं लोके गाण्डीवं परमायुधम्।
विकृष्य चिक्षेप बहून् नाराचान् मर्मभेदिनः ॥ १७ ॥

तब अर्जुनने भी अपने विश्वविख्यात उत्तम आयुध गाण्डीवको (कानतक) खींचकर बहुत-से मर्मभेदी नाराच छोड़े ॥ १७ ॥



तान् प्राप्ताञ्छितैर्बाणैर्नाराचान् रक्तभोजनान्।
कृपश्चिच्छेद पार्थस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १८ ॥

किंतु अर्जुनके द्वारा चलाये हुए उन रक्त पीनेवाले नाराचोंको अपने पास आनेसे पहले ही कृपाचार्यने तीखे बाण मारकर उनके सैकड़ों और हजारों टुकड़े कर डाले ॥ १८ ॥

ततः पार्थस्तु संक्रुद्धश्चित्रान् मार्गान् प्रदर्शयन्।
दिशः संछादयन् बाणैः प्रदिशश्च महारथः।
एकच्छायमिवाकाशमकरोत् सर्वतः प्रभुः ॥ १९ ॥

तब सामर्थ्यशाली महारथी कुन्तीपुत्र अर्जुनने क्रोधमें भरकर बाण चलानेकी विचित्र पद्धतियोंका प्रदर्शन करते हुए बाणोंकी झड़ी लगाकर सम्पूर्ण दिशा-विदिशाओंको ढँक दिया और आकाशको सब ओरसे एकमात्र अन्धकारमें निमग्न-सा कर दिया ॥ १९ ॥

प्राच्छादयदमेयात्मा पार्थः शरशतैः कृपम्।
स शरैरर्दितः क्रुद्धः शितैरग्निशिखोपमैः ॥ २० ॥

तब अचिन्त्य मन-बुद्धिवाले पृथापुत्र अर्जुनने

सैकड़ों बाण मारकर कृपाचार्यको ढँक दिया । आगकी लपटोंके समान जलानेवाले उन तीखे बाणोंसे पीड़ित होनेपर कृपाचार्यको बड़ा क्रोध हुआ ॥ २० ॥

तूर्णं दशसहस्रेण पार्थमप्रतिमौजसम् ।
अर्दयित्वा महात्मानं ननर्द समरे कृपः ॥ २१ ॥

तब उन्होंने अनुपम पराक्रमी महात्मा पृथापुत्रको युद्धमें तुरंत ही दस हजार बाणोंसे पीड़ित करके बड़े जोरसे गर्जना की ॥ २१ ॥

ततः कनकपर्वाग्रैर्वीरः संनतपर्वभिः ।
त्वरन् गाण्डीवनिर्मुक्तैरर्जुनस्तस्य वाजिनः ॥ २२ ॥
चतुर्भिश्चतुरस्तीक्ष्णैरविध्यत् परमेषुभिः ।
ते हया निशितैर्बाणैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः ।
उत्पेतुः सहसा सर्वे कृपः स्थानादथाच्यवत् ॥ २३ ॥

तब वीर अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए झुकी हुई गाँठ और सुनहरे पर्वाग्र (फल) वाले चार बाणोंद्वारा बड़ी उतावलीसे कृपाचार्यके चारों घोड़ोंको बींध डाला । वे चारों बाण बड़े तीखे और उत्तम थे । विषाग्निसे जलते हुए सर्पोंकी भाँति उन तेज बाणोंकी मार खाकर वे सभी घोड़े सहसा उछल पड़े । इससे कृपाचार्य अपने स्थानसे गिर गये ॥ २२-२३ ॥

च्युतं तु गौतमं स्थानात् समीक्ष्य कुरुनन्दनः ।
नाविध्यत् परवीरघ्नो रक्षमाणोऽस्य गौरवम् ॥ २४ ॥

कृपाचार्यको स्थानसे गिरा हुआ देख शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले कुरुनन्दन अर्जुनने उनके गौरवकी रक्षा करते हुए उनपर बाणोंसे आघात नहीं किया ॥ २४ ॥

स तु लब्ध्वा पुनः स्थानं गौतमः सव्यसाचिनम् ।
विव्याध दशभिर्बाणैस्त्वरितः कङ्कपत्रिभिः ॥ २५ ॥

किंतु कृपाचार्यने पुनः अपना स्थान ग्रहण कर लेनेपर तुरंत ही सफेद चीलके पंखोंसे युक्त दस बाणोंका प्रहार करके सव्यसाची अर्जुनको बींध डाला ॥ २५ ॥

ततः पार्थो धनुस्तस्य भल्लेन निशितेन ह ।
चिच्छेदैकेन भूयश्च हस्तावापमथाहरत् ॥ २६ ॥

तब अर्जुनने एक तीखे भल्ल नामक बाणद्वारा कृपाचार्यका धनुष काट डाला और पुनः उनके दस्तानेको नष्ट कर दिया ॥ २६ ॥

अथास्य कवचं बाणैर्निशितैर्मर्मभेदिभिः ।
व्यधमन्न च पार्थोऽस्य शरीरमवपीडयत् ॥ २७ ॥

उसके बाद पार्थने मर्मभेदी तीखे बाणोंद्वारा उनके कवचको भी छिन्न-भिन्न कर दिया, किंतु उनके शरीरको तनिक भी कष्ट नहीं पहुँचाया ॥ २७ ॥

तस्य निर्मुच्यमानस्य कवचात् काय आबभौ ।
समये मुच्यमानस्य सर्पस्येव तनुर्यथा ॥ २८ ॥

कवचसे मुक्त होनेपर कृपाचार्यका शरीर इस प्रकार सुशोभित हुआ, मानो समयपर केंचुल छूटनेके बाद सर्पका शरीर सुशोभित हो रहा हो ॥ २८ ॥

छिन्ने धनुषि पार्थेन सोऽन्यदादाय कार्मुकम् ।
चकार गौतमः सज्यं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २९ ॥

अर्जुनद्वारा धनुष काट दिये जानेपर गौतम(कृप)ने दूसरा धनुष लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा ली । यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ २९ ॥

स तदप्यस्य कौन्तेयश्चिच्छेद नतपर्वणा ।
एवमन्यानि चापानि बहूनि कृतहस्तवत् ।
शारद्वतस्य चिच्छेद पाण्डवः परवीरहा ॥ ३० ॥

परंतु कुन्तीनन्दनने झुकी हुई गाँठवाले एक बाणसे उनके उस धनुषको भी काट दिया और इसी प्रकार कृपाचार्यके बहुत-से दूसरे धनुष भी शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पाण्डु-नन्दनने हाथकी फुर्ती दिखानेमें कुशल वीरकी भाँति छिन्न-भिन्न कर डाले ॥ ३० ॥

स छिन्नधनुरादाय रथशक्तिं प्रतापवान् ।
प्राहिणोत् पाण्डुपुत्राय प्रदीप्तामशनीमिव ॥ ३१ ॥

इस तरह धनुष कट जानेपर प्रतापी कृपाचार्यने पाण्डुपुत्र अर्जुनपर वज्रकी भाँति प्रज्वलित रथशक्ति चलायी ॥ ३१ ॥

तामर्जुनस्तदाऽऽयान्तीं शक्तिं हेमविभूषिताम् ।
वियद्गतां महोल्काभां चिच्छेद दशभिः शरैः ॥ ३२ ॥
सापतद् दशधा छिन्ना भूमौ पार्थेन धीमता ॥ ३३ ॥

तब अर्जुनने भारी उल्काकी भाँति अपनी ओर आती हुई उस सुवर्णभूषित शक्तिको दस बाण मारकर आकाशमें ही काट डाला । बुद्धिमान् पार्थके द्वारा दस टुकड़ोंमें कटी हुई वह शक्ति पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३२-३३ ॥

युगपच्चैव भल्लैस्तु ततः सज्यधनुः कृपः ।
तमाशु निशितैः पार्थं बिभेद दशभिः शरैः ॥ ३४ ॥

तब कृपाचार्यने पुनः प्रत्यञ्चासहित धनुष लेकर उसके ऊपर एक ही साथ भल्ल नामक दस बाणोंका संधान किया और उन दसों तीक्ष्ण बाणोंद्वारा तुरंत ही अर्जुनको बींध डाला ॥ ३४ ॥

ततः पार्थो महातेजा विशिखानग्नितेजसः ।
चिक्षेप समरे क्रुद्धस्त्रयोदश शिलाशितान् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी कुन्तीपुत्रने उस संग्रामभूमिमें कुपित हो (कृपाचार्यपर) पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए अग्निके समान तेजस्वी तेरह बाण चलाये ॥ ३५ ॥

अथास्य युगमेकेन चतुर्भिश्चतुरो हयान्।
षष्ठेन च शिरः कायाच्छरेण रथसारथेः ॥ ३६ ॥

एक बाणसे उनके रथका जूआ काटकर चार बाणोंसे चारों घोड़े मार डाले और छठे बाणसे रथके सारथिका सिर धड़से अलग कर दिया ॥ ३६ ॥

त्रिभिस्त्रिवेणुं समरे द्वाभ्यामक्षं महारथः।
द्वादशेन तु भल्लेन चकर्तास्य ध्वजं तदा ॥ ३७ ॥
ततो वज्रनिकाशेन फाल्गुनः प्रहसन्निव।
त्रयोदशेनेन्द्रसमः कृपं वक्षस्यविध्यत ॥ ३८ ॥

फिर उन महारथी अर्जुनने तीन बाणोंसे रथके तीनों वेणु, दोसे रथका धुरा और बारहवें भल्ल नामक बाणसे उनके रथकी ध्वजाको भी उस समय रणभूमिमें काट गिराया। इसके बाद इन्द्रके समान पराक्रमी फाल्गुनने हँसते हुए-से वज्रसदृश तेरहवें बाणद्वारा कृपाचार्यकी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ ३७-३८ ॥

सच्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
गदापाणिरवप्लुत्य तूर्णं चिक्षेप तां गदाम् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार धनुष, रथ, घोड़े और सारथि आदिके नष्ट हो जानेपर कृपाचार्य हाथमें गदा लिये रथसे कूद पड़े और तुरंत ही उसे अर्जुनपर दे मारा ॥ ३९ ॥

सा च मुक्ता गदा गुर्वी कृपेण सुपरिष्कृता।
अर्जुनेन शरैर्नुन्ना प्रतिमार्गमथागमत् ॥ ४० ॥

जिसका सुवर्ण आदिसे भलीभाँति परिष्कार किया गया था, वह कृपाचार्यद्वारा चलायी हुई भारी गदा अर्जुनके बाणोंसे प्रेरित हो उल्टी लौट गयी ॥ ४० ॥

तं तु योधाः परीप्सन्तः शारद्वतममर्षणम्।
सर्वतः समरे पार्थं शरवर्षैरवाकिरन् ॥ ४१ ॥

शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य अत्यन्त अमर्षमें भरे थे। उनके प्राण बचानेकी इच्छावाले कौरव सैनिक सब ओरसे आकर उस युद्धमें अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥

ततो विराटस्य सुतः सव्यमावृत्य वाजिनः।
यमकं मण्डलं कृत्वा तान् योधान् प्रत्यवारयत् ॥ ४२ ॥

यह देख विराटपुत्र उत्तरने घोड़ोंको दाँयीं ओरसे घुमाकर यमकमण्डलसे रथ-संचालन करते हुए उन सब योद्धाओंको बाणवर्षासे रोक दिया ॥ ४२ ॥

ततः कृपमुपादाय विरथं ते नरर्षभाः।
अपजह्रुर्महावेगा कुन्तीपुत्राद् धनंजयात् ॥ ४३ ॥

इतनेमें ही वे नरश्रेष्ठ सैनिक कुन्तीपुत्र धनंजयसे डरकर रथहीन कृपाचार्यको बड़े वेगसे हटा ले गये ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहणे कृपापयाने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोष्ठकी गौओंके अपहरणके प्रसङ्गमें कृपाचार्यका पलायनसम्बन्धी सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनका द्रोणाचार्यके साथ युद्ध और आचार्यका पलायन

वैशम्पायन उवाच

कृपेऽपनीते द्रोणस्तु प्रगृह्य सशरं धनुः।
अभ्यद्रवदनाधृष्यः शोणाश्वः श्वेतवाहनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब कृपाचार्य रणभूमिसे बाहर हटा दिये गये, तब लाल घोड़ोंवाले दुर्धर्ष वीर आचार्य द्रोणने धनुष-बाण लेकर श्वेतवाहन अर्जुनपर धावा किया ॥ १ ॥

स तु रुक्मरथं दृष्ट्वा गुरुमायान्तमन्तिकात्।
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठ उत्तरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

सुवर्णमय रथपर आरूढ़ गुरुदेवको अपने निकट आते देख विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उत्तरसे इस प्रकार बोले ॥ २ ॥

अर्जुन उवाच

यत्रैषा काञ्चनी वेदी ध्वजे यस्य प्रकाशते।
उच्छ्रिता प्रवरे दण्डे पताकाभिरलङ्कृता।
अत्र मां वह भद्रं ते द्रोणानीकाय सारथे ॥ ३ ॥

अर्जुनने कहा—सारथे! तुम्हारा कल्याण हो। जिस रथकी ध्वजामें ऊँचे डंडेके ऊपर पताकाओंसे विभूषित यह ऊँची सुवर्णमयी वेदी प्रकाशित हो रही है, वहाँ आचार्य द्रोणकी सेना है। मुझे वहीं ले चलो ॥ ३ ॥

अश्वाः शोणाः प्रकाशन्ते बृहन्तश्चारुवाहिनः।
स्निग्धविद्रुमसंकाशास्ताम्रास्याः प्रियदर्शनाः।
युक्ता रथवरे यस्य सर्वशिक्षाविशारदाः ॥ ४ ॥
दीर्घबाहुर्महातेजा बलरूपसमन्वितः।
सर्वलोकेषु विक्रान्तो भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५ ॥

जिनके श्रेष्ठ रथमें जुते हुए सब प्रकारकी शिक्षाओंमें निपुण, चिकने, मूँगेके समान लाल रंगके, ताँबे-से मुखवाले, सुन्दर तथा अच्छे ढंगसे रथका भार वहन करनेवाले बड़े-बड़े अश्व सुशोभित हो रहे हैं, वे महातेजस्वी दीर्घबाहु, बल एवं रूपसे सम्पन्न तथा समस्त संसारमें विख्यात पराक्रमी प्रतापी वीर भरद्वाजनन्दन द्रोण हैं ॥ ४-५ ॥

बुद्ध्या तुल्यो ह्युशनसा बृहस्पतिसमो नये ।
वेदास्तथैव चत्वारो ब्रह्मचर्यं तथैव च ॥ ६ ॥
ससंहाराणि सर्वाणि दिव्यान्यस्त्राणि मारिष ।
धनुर्वेदश्च कात्स्‍न्येन यस्मिन् नित्यं प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥

ये बुद्धिमें शुक्राचार्य और नीतिमें बृहस्पतिके समान हैं। मारिष ! इनमें चारों वेद, ब्रह्मचर्य, संहार-विधिसहित सम्पूर्ण दिव्यास्त्र और समस्त धनुर्वेद सदा प्रतिष्ठित है ॥ ६-७ ॥

क्षमा दमश्च सत्यं च आनृशंस्यमथार्जवम् ।
एते चान्ये च बहवो यस्मिन् नित्यं द्विजे गुणाः ॥ ८ ॥

इन विप्रशिरोमणिमें क्षमा, इन्द्रियसंयम, सत्य, कोमलता, सरलता तथा अन्य बहुत-से सद्गुण नित्य विद्यमान हैं ॥ ८ ॥

तेनाहं योद्धुमिच्छामि महाभागेन संयुगे ।
तस्मात् तं प्रापयाचार्यं क्षिप्रमुत्तर वाहय ॥ ९ ॥

अतः मैं इन्हीं महाभाग आचार्यके साथ इस समरभूमिमें युद्ध करना चाहता हूँ । अतः उत्तर ! रथ बढ़ाओ और मुझे शीघ्र उन आचार्यके समीप पहुँचा दो ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु वैराटिर्हेमभूषणान् ।
चोदयामास तानश्वान् भारद्वाजरथं प्रति ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं — राजन् ! अर्जुनके इस प्रकार आदेश देनेपर विराटनन्दन उत्तरने सोनेके आभूषणोंसे विभूषित उन अश्वोंको आचार्य द्रोणके रथकी ओर हाँक दिया ॥ १० ॥

तमापतन्तं वेगेन पाण्डवं रथिनां वरम् ।
द्रोणः प्रत्युद्ययौ पार्थं मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥ ११ ॥

महारथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन अर्जुनको बड़े वेगसे अपनी ओर आते देख आचार्य द्रोण भी पार्थकी ओर आगे बढ़ आये, ठीक उसी तरह जैसे एक उन्मत्त गजराज दूसरे मतवाले गजराजसे भिड़नेके लिये जा रहा हो ॥ ११ ॥

ततः प्राध्मापयच्छङ्खं भेरीशतनिनादिनम् ।
प्रचुक्षुभे बलं सर्वमुद्धूत इव सागरः ॥ १२ ॥

तदनन्तर द्रोणने सौ नगाड़ोंके बराबर आवाज करनेवाले अपने शङ्खको बजाया । उसे सुनकर सारी सेनामें हलचल मच गयी, मानो समुद्रमें ज्वार आ गया हो ॥ १२ ॥

अथ शोणान् सदश्वांस्तान् हंसवर्णैर्मनोजवैः ।
मिश्रितान् समरे दृष्ट्वा व्यस्मयन्त रणे नराः ॥ १३ ॥

रणभूमिमें उन लाल रंगके सुन्दर घोड़ोंको हंसके समान वर्णवाले मनके सदृश वेगशाली श्वेत घोड़ोंसे मिला देख युद्ध करनेके विषयमें सब लोग आश्चर्यमें पड़ गये ॥ १३ ॥

तौ रथौ वीर्यसम्पन्नौ दृष्ट्वा संग्राममूर्धनि ।
आचार्यशिष्यावजितौ कृतविद्यौ मनस्विनौ ॥ १४ ॥
समाश्लिष्टौ तदान्योन्यं द्रोणपार्थौ महाबलौ ।
दृष्ट्वा प्राकम्पत मुहुर्भरतानां महद् बलम् ॥ १५ ॥

महाबली द्रोण और कुन्तीपुत्र अर्जुन दोनों महारथी बल-वीर्य-सम्पन्न, अजेय, अस्त्रविद्याके विशेषज्ञ और मनस्वी थे । युद्धके सिरेपर वे दोनों आचार्य और शिष्य अपने-अपने रथपर बैठे हुए (ही एक-दूसरेकी ओर हाथ बढ़ाकर मानो) परस्पर आलिङ्गन करने लगे । उन्हें इस अवस्थामें देखकर भरत-वंशियोंकी वह विशाल सेना बारंबार भयसे काँपने लगी ॥

हर्षयुक्तस्ततः पार्थः प्रहसन्निव वीर्यवान् ।
रथं रथेन द्रोणस्य समासाद्य महारथः ॥ १६ ॥
अभिवाद्य महाबाहुः सामपूर्वमिदं वचः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा कौन्तेयः परवीरहा ॥ १७ ॥

तदनन्तर शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले महारथी और महापराक्रमी कुन्तीपुत्र महाबाहु अर्जुन हर्षोल्लासमें भर गये और आचार्य द्रोणके रथसे अपना रथ भिड़ाकर उन्हें प्रणाम करके हँसते हुए-से शान्तिपूर्वक मधुर वाणीमें यों बोले—॥

उषिताः स्मो वने वासं प्रतिकर्म चिकीर्षवः ।
कोपं नार्हसि नः कर्तुं सदा समरदुर्जय ॥ १८ ॥
अहं तु प्रहृते पूर्वं प्रहरिष्यामि तेऽनघ ।
इति मे वर्तते बुद्धिस्तद् भवान् कर्तुमर्हति ॥ १९ ॥

'आचार्य ! युद्धमें आपपर विजय पाना सर्वथा कठिन है । हमलोग बहुत वर्षोंतक वनमें रहकर कष्ट उठाते रहे हैं । अब शत्रुओंसे बदला लेनेकी इच्छासे आये हैं; अतः आप हमलोगोंपर क्रोध न करें । अनघ ! मैं तो आपपर तभी प्रहार करूँगा, जब पहले आप मुझपर प्रहार कर लेंगे । मेरा यही निश्चय है, अतः आप ही पहले मुझपर प्रहार करें' ।१८-१९।

ततोऽस्मै प्राहिणोद् द्रोणः शरानधिकविंशतिम् ।
अप्राप्तांश्चैव तान् पार्थश्चिच्छेद कृतहस्तवत् ॥ २० ॥

तब आचार्य द्रोणने अर्जुनपर इक्कीस बाण चलाये; किंतु पार्थने उन सबको अपने पास आनेसे पहले ही काट गिराया, मानो उनके हाथ इस कलामें पूर्ण सुशिक्षित थे ॥

ततः शरसहस्रेण रथं पार्थस्य वीर्यवान् ।
अवाकिरत् ततो द्रोणः शीघ्रमस्त्रं विदर्शयन् ॥ २१ ॥

तदनन्तर पराक्रमी द्रोणने अपनी अस्त्र चलानेकी फुर्ती दिखाते हुए अर्जुनके रथपर सहस्रों बाणोंकी वृष्टि की ॥२१॥

हयांश्च रजतप्रख्यान् कङ्कपत्रैः शिलाशितैः ।
अवाकिरदमेयात्मा पार्थं संकोपयन्निव ॥ २२ ॥

उनका आत्मबल असीम था । उन्होंने चाँदीके समान अंगवाले अर्जुनके श्वेत घोड़ोंको भी शानपर चढ़ाकर तेज

...र्यस्तु मारिषः' (अमरकोष)

किये हुए सफेद चीलकी पाँखवाले बाणोंसे ढँक दिया। जान पड़ता था, आचार्य यह सब करके अर्जुनके क्रोधको उभाड़ना चाहते थे ॥ २२ ॥

एवं प्रववृते युद्धं भारद्वाजकिरीटिनोः ।
समं विमुञ्चतो संख्ये विशिखान् दीप्ततेजसः ॥ २३ ॥

इस प्रकार भरद्वाजनन्दन द्रोण और किरीटधारी अर्जुनमें युद्ध छिड़ गया। वे दोनों समरभूमिमें (एक-दूसरेपर) समान-रूपसे तेजस्वी बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २३ ॥

तावुभौ ख्यातकर्माणावुभौ वायुसमौ जवे ।
उभौ दिव्यास्त्रविदुषावुभावुत्तमतेजसौ ।
क्षिपन्तौ शरजालानि मोहयामासतुर्नृपान् ॥ २४ ॥

दोनों ही विख्यात पराक्रमी थे। वेगमें दोनों ही वायुके समान थे। वे दोनों गुरु-शिष्य दिव्यास्त्रोंके महापण्डित और उत्तम तेजसे सम्पन्न थे। परस्पर बाणोंकी झड़ी लगाते हुए दोनोंने सब राजाओंको मोहमें डाल दिया ॥ २४ ॥

व्यस्मयन्त ततो योधा ये तत्रासन् समागताः ।
शरान् विसृजतोस्तूर्णं साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ २५ ॥

तदनन्तर जो-जो सैनिक वहाँ आये थे, वे एक-दूसरेपर तीव्र गतिसे बाण-वर्षा करनेवाले दोनों वीरोंकी 'साधु-साधु' कहकर सराहना करने लगे— ॥ २५ ॥

द्रोणं हि समरे कोऽन्यो योद्धुमर्हति फाल्गुनात् ।
रौद्रः क्षत्रियधर्मोऽयं गुरुणा यदयुध्यत ।
इत्यब्रुवञ्जनास्तत्र संग्रामशिरसि स्थिताः ॥ २६ ॥

'भला, युद्धमें अर्जुनके सिवा दूसरा कौन 'द्रोणाचार्यका सामना कर सकता है ? यह क्षत्रियधर्म कितना भयंकर है कि शिष्यको गुरुसे युद्ध करना पड़ा है।' इस प्रकार वहाँ युद्धके मुहानेपर खड़े हुए योद्धा आपसमें बातें करते थे ॥ २६ ॥

वीरौ तावभिसंरब्धौ संनिकृष्टौ महाभुजौ ।
छादयेतां शरव्रातैरन्योन्यमपराजितौ ॥ २७ ॥

दोनों महाबाहु वीर क्रोधमें भरकर निकट आ गये और बाणसमूहोंसे एक-दूसरेको आच्छादित करने लगे। उनमेंसे कोई भी पराजित होनेवाला न था ॥ २७ ॥

विस्फार्य सुमहच्चापं हेमपृष्ठं दुरासदम् ।
भारद्वाजोऽथ संक्रुद्धः फाल्गुनं प्रत्यविध्यत ॥ २८ ॥

भरद्वाजनन्दन द्रोण अत्यन्त कुपित हो, जिसके पृष्ठभागमें सुवर्ण जड़ा हुआ था और जिसे उठाना दूसरोंके लिये बहुत कठिन था, उस महान् धनुषको खींचकर अर्जुनको बाणोंसे बींधने लगे ॥ २८ ॥

स सायकमयैर्जालैरर्जुनस्य रथं प्रति ।
भानुमद्भिः शिलाधौतैर्भानोराच्छादयत् प्रभाम् ॥ २९ ॥

उन्होंने अर्जुनके रथपर बाणोंका जाल-सा बिछा दिया। इतना ही नहीं, शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए उन तेजस्वी बाणोंद्वारा उन्होंने सूर्यकी प्रभाको भी आच्छादित कर दिया ॥

पार्थं च सुमहाबाहुर्महावेगैर्महारथः ।
विव्याध निशितैर्बाणैर्मेघो वृष्ट्येव पर्वतम् ॥ ३० ॥

जैसे मेघ पर्वतपर जलकी वर्षा करता है, उसी प्रकार महाबाहु महारथी द्रोण पृथापुत्र अर्जुनको अत्यन्त वेगशाली तीखे बाणोंद्वारा बींध रहे थे ॥ ३० ॥

तथैव दिव्यं गाण्डीवं धनुरादाय पाण्डवः ।
शत्रुघ्नं वेगवान् हृष्टो भारसाधनमुत्तमम् ॥ ३१ ॥
विससर्ज शरांश्चित्रान् सुवर्णविकृतान् बहून् ।
नाशयन् शरवर्षाणि भारद्वाजस्य वीर्यवान् ।
तूर्णं चापविनिर्मुक्तैस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार हर्षमें भरे हुए वेगशाली पाण्डुनन्दन अर्जुन भी भार सहन करनेमें समर्थ और शत्रुओंका नाश करनेवाला उत्तम एवं दिव्य गाण्डीव धनुष लेकर बहुत-से स्वर्णभूषित विचित्र बाणोंकी वर्षा कर रहे थे। पराक्रमी पार्थ अपने धनुषसे छूटे हुए बाणसमूहोंद्वारा तुरंत ही आचार्य द्रोणकी बाण-वर्षाको नष्ट करते जाते थे। यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ ३१-३२ ॥

स रथेन चरन् पार्थः प्रेक्षणीयो धनंजयः ।
युगपद् दिक्षु सर्वासु सर्वतोऽस्त्राण्यदर्शयत् ॥ ३३ ॥
एकच्छायमिवाकाशं बाणैश्चक्रे समन्ततः ।
नादृश्यत तदा द्रोणो नीहारेणेव संवृतः ॥ ३४ ॥

रथसे विचरनेवाले कुन्तीपुत्र धनंजय सबके लिये दर्शनीय हो रहे थे। उन्होंने सब दिशाओंमें एक ही साथ अस्त्रोंकी वर्षा दिखायी और आकाशको चारों ओरसे बाणोंद्वारा ढँककर एकमात्र अन्धकारमें निमग्न-सा कर दिया। उस समय आचार्य द्रोण कुहरेसे ढके हुएकी भाँति अदृश्य हो गये ॥

तस्याभवत् तदा रूपं संवृतस्य शरोत्तमैः ।
जाज्वल्यमानस्य तदा पर्वतस्येव सर्वतः ॥ ३५ ॥

उत्तम बाणोंसे ढके हुए द्रोणाचार्यका स्वरूप उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो सब ओरसे जलता हुआ कोई पर्वत हो ॥ ३५ ॥

दृष्ट्वा तु पार्थस्य रणे शरैः स्वरथमावृतम् ।
स विस्फार्य धनुःश्रेष्ठं मेघस्तनितनिस्वनम् ॥ ३६ ॥
अग्निचक्रोपमं घोरं व्यकर्षत् परमायुधम् ।
व्यशातयच्छरांस्तांस्तु द्रोणः समितिशोभनः ॥ ३७ ॥

आचार्य द्रोण संग्रामभूमिमें बड़ी शोभा पानेवाले थे। संग्राममें उन्होंने अपने रथको जब अर्जुनके बाणोंसे ढका हुआ देखा, तब मेघगर्जनाके समान गम्भीर नाद करनेवाले अग्निचक्रके

सदृश भयंकर परम उत्तम आयुधश्रेष्ठ धनुषकी टंकार फैलाते हुए उसे (कानोंतक) खींचा और अपने शर-समूहोंसे अर्जुनके उन सब बाणोंको काट डाला ॥ ३६-३७ ॥

महानभूत् ततः शब्दो वंशानामिव दह्यताम् ॥ ३८ ॥

उस समय जलते हुए बाँसोंके चटखनेका-सा बड़ा भयंकर शब्द हो रहा था ॥ ३८ ॥

जाम्बूनदमयैः पुङ्खैश्चित्रचापविनिर्गतैः ।
प्राच्छादयदमेयात्मा दिशः सूर्यस्य च प्रभाम् ॥ ३९ ॥

जिनकी मन-बुद्धि अमेय है, उन द्रोणने अपने विचित्र धनुषसे छूटे हुए सुवर्णमय पंखोंवाले बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओं तथा सूर्यके प्रकाशको भी ढक दिया ॥ ३९ ॥

ततः कनकपुङ्खानां शराणां नतपर्वणाम् ।
वियच्चराणां वियति दृश्यन्ते बहवो व्रजाः ॥ ४० ॥

उस समय सोनेकी पाँख और झुकी हुई गाँठवाले आकाशचारी बाणोंके बहुत-से समुदाय आकाशमें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ४० ॥

द्रोणस्य पुङ्खसक्ताश्च प्रभवन्तः शरासनात् ।
एको दीर्घ इवादृश्यदाकाशे संहतः शरः ॥ ४१ ॥

वे सभी पक्षधारी बाण-समुदाय आचार्य द्रोणके धनुषसे प्रकट हुए थे । आकाशमें उन बाणोंका समूह परस्पर सटकर एक ही विशाल बाणके समान दिखायी देता था ॥ ४१ ॥

एवं तौ स्वर्णविकृतान् विमुञ्चन्तौ महाशरान् ।
आकाशं संवृतं वीरावुल्काभिरिव चक्रतुः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार वे दोनों वीर सुवर्णविभूषित महाबाणोंकी वर्षा करते हुए आकाशको मानो उल्काओंसे आच्छादित करने लगे ॥ ४२ ॥

शरास्तयोस्तु विबभुः कङ्कबर्हिणवाससः ।
पङ्क्त्यः शरदि खस्थानां हंसानां चरतामिव ॥ ४३ ॥

कङ्क और मोरकी पाँखवाले उन दोनोंके बाण शरद्-ऋतुमें आकाशमें विचरनेवाले हंसोंकी पाँतके समान सुशोभित होते थे ॥

युद्धं समभवत् तत्र सुसंरब्धं महात्मनोः ।
द्रोणपाण्डवयोर्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥ ४४ ॥

महामना द्रोण और पाण्डुनन्दन अर्जुनका वह रोषपूर्ण युद्ध वृत्रासुर और इन्द्रके समान भयंकर प्रतीत होता था ॥

तौ गजाविव चासाद्य विषाणाग्रैः परस्परम् ।
शरैः पूर्णायतोत्सृष्टैरन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ ४५ ॥

जैसे दो हाथी एक दूसरेसे भिड़कर दाँतोंके अग्रभागसे प्रहार करते हों, उसी प्रकार वे दोनों धनुषको अच्छी तरह खींचकर छोड़े हुए बाणोंद्वारा एक दूसरेको घायल कर रहे थे ॥ ४५ ॥

तौ व्यवाहरतां युद्धे संरब्धौ रणशोभिनौ ।
उदीरयन्तौ समरे दिव्यान्यस्त्राणि भागशः ॥ ४६ ॥

क्रोधमें भरे हुए उन दोनों वीरोंकी रणभूमिमें बड़ी शोभा हो रही थी । वे उस संग्राममें पृथक्-पृथक् दिव्यास्त्र प्रकट करते हुए धर्मयुद्ध कर रहे थे ॥ ४६ ॥

अथ त्वाचार्यमुख्येन शरान् सृष्टाञ्छिलाशितान् ।
न्यवारयच्छितैर्बाणैरर्जुनो जयतां वरः ॥ ४७ ॥

तदनन्तर विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने आचार्यप्रवर द्रोणके द्वारा चलाये हुए शानपर तेज किये हुए बाणोंको अपने तीखे सायकोंसे नष्ट कर दिया ॥ ४७ ॥

दर्शयन् वीक्षमाणानामस्त्रमुग्रपराक्रमः ।
इषुभिस्तूर्णमाकाशं बहुभिश्च समावृणोत् ॥ ४८ ॥
जिघांसन्तं नरव्याघ्रमर्जुनं तिग्मतेजसम् ।
आचार्यमुख्यः समरे द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ।
अर्जुनेन सहाक्रीडच्छरैः संनतपर्वभिः ॥ ४९ ॥

वे भयानक पराक्रमी थे, उन्होंने दर्शकोंको अपना अस्त्र-कौशल दिखाते हुए तुरंत बहुसंख्यक बाणोंद्वारा आकाशको ढँक दिया । यद्यपि प्रचण्ड तेजस्वी नरश्रेष्ठ अर्जुन विपक्षीको मार डालनेकी इच्छा रखते थे, तो भी शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ आचार्यप्रवर द्रोण उस समरभूमिमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा प्रहार करके अर्जुनके साथ मानो खेल कर रहे थे (उनमें अर्जुनके प्रति वात्सल्यका भाव उमड़ रहा था) ॥ ४८-४९ ॥

दिव्यान्यस्त्राणि वर्षन्तं तस्मिन् वै तुमुले रणे ।
अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य फाल्गुनं समयोधयत् ॥ ५० ॥

उस तुमुल युद्धमें अर्जुन दिव्यास्त्रोंकी वर्षा कर रहे थे, किंतु आचार्य अपने अस्त्रोंद्वारा उनके अस्त्रोंका निवारणमात्र करके उन्हें लड़ा रहे थे ॥ ५० ॥

तयोरासीत् सम्प्रहारः क्रुद्धयोर्नरसिंहयोः ।
अमर्षिणोस्तदान्योन्यं देवदानवयोरिव ॥ ५१ ॥

वे दोनों नरश्रेष्ठ जब क्रोध और अमर्षमें भर गये, तब उनमें परस्पर देवताओं और दानवोंकी भाँति घमासान युद्ध छिड़ गया ॥ ५१ ॥

ऐन्द्रं वायव्यमाग्नेयमस्त्रमस्त्रेण पाण्डवः ।
द्रोणेन मुक्तमात्रं तु ग्रसति स्म पुनः पुनः ॥ ५२ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन आचार्य द्रोणके छोड़े हुए ऐन्द्र, वायव्य और आग्नेय आदि अस्त्रोंको उसके विरोधी अस्त्रद्वारा बार-बार नष्ट कर देते थे ॥ ५२ ॥

एवं शूरौ महेष्वासौ विसृजन्तौ शिताञ्छरान् ।
एकच्छायं चक्रतुस्तावाकाशं शरवृष्टिभिः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार वे दोनों महान् धनुर्धर शूरवीर तीखे बाण

छोड़ते हुए अपनी बाणवर्षाद्वारा आकाशको एकमात्र अन्धकारमें निमग्न करने लगे ॥ ५३ ॥

तत्रार्जुनेन मुक्तानां पततां वै शरीरिषु ।
पर्वतेष्विव वज्राणां शराणां श्रूयते स्वनः ॥ ५४ ॥

अर्जुनके छोड़े हुए बाण जब देहधारियोंपर पड़ते थे, तब पर्वतोंपर गिरनेवाले वज्रके समान भयंकर शब्द सुनायी देता था ॥ ५४ ॥

ततो नागा रथाश्चैव वाजिनश्च विशाम्पते ।
शोणिताक्ता व्यदृश्यन्त पुष्पिता इव किंशुकाः ॥ ५५ ॥

जनमेजय ! उस समय हाथीसवार, रथी और घुड़सवार लोहूलुहान होकर फूले हुए पलाश वृक्षके समान दिखायी देते थे ॥ ५५ ॥

बाहुभिश्च सकेयूरैर्विचित्रैश्च महारथैः ।
सुवर्णचित्रैः कवचैर्ध्वजैश्च विनिपातितैः ॥ ५६ ॥
योधैश्च निहतैस्तत्र पार्थबाणप्रपीडितैः ।
बलमासीत् समुद्भ्रान्तं द्रोणार्जुनसमागमे ॥ ५७ ॥

द्रोणाचार्य और अर्जुनके उस युद्धमें पार्थके बाणोंसे पीड़ित हो कितने ही योद्धा मर गये थे। कितनोंकी केयूरभूषित भुजाएँ कटकर गिरी थीं । विचित्र वेष-भूषावाले महारथी धराशायी हो रहे थे । सुवर्णजटित विचित्र कवच और ध्वजाएँ वहाँ बिखरी पड़ी थीं । इन सब कारणोंसे वह सारी सेना उद्भ्रान्त- (भयसे अचेत-) सी हो गयी थी ॥५६-५७॥

विधुन्वानौ तु तौ तत्र धनुषी भारसाधने ।
आच्छादयेतामन्योन्यं तक्षतुरथेषुभिः ॥ ५८ ॥

उन दोनोंके धनुष मार सहन करनेमें समर्थ थे। वे उन धनुषोंको कँपाते हुए (तीखे) बाणोंद्वारा एक दूसरेको बींधते और आच्छादित कर देते थे ॥ ५८ ॥

तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं भरतर्षभ ।
द्रोणकौन्तेययोस्तत्र बलिवासवयोरिव ॥ ५९ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! तदनन्तर द्रोण और कुन्तीपुत्रमें बलि और इन्द्रके संग्राम-सा तुमुल युद्ध होने लगा ॥ ५९ ॥

अथ पूर्णायतोत्सृष्टैः शरैः संनतपर्वभिः ।
व्यदारयेतामन्योन्यं प्राणद्यूते प्रवर्तिते ॥ ६० ॥

उस समय प्राणोंकी बाजी लगाकर (युद्धका जूआ खेला जा रहा था ।) दोनों वीर धनुषको कानतक खींचकर छोड़े हुए झुकी गाँठवाले बाणोंसे एक दूसरेको विदीर्ण कर रहे थे ॥ ६० ॥

अथान्तरिक्षे नादोऽभूद् द्रोणं तत्र प्रशंसताम् ।
दुष्करं कृतवान् द्रोणो यदर्जुनमयोधयत् ॥ ६१ ॥
प्रमाथिनं महावीर्यं दृढमुष्टिं दुरासदम् ।
जेतारं देवदैत्यानां सर्वेषां च महारथम् ॥ ६२ ॥

इसी समय आचार्य द्रोणकी प्रशंसा करनेवाले देवताओंका यह शब्द आकाशमें गूँज उठा—'अहो ! द्रोणाचार्यने बड़ा दुष्कर कार्य किया कि अबतक अर्जुनके साथ युद्धमें डटे रह गये । ये अर्जुन तो शत्रुओंको मथ डालनेवाले, महापराक्रमी, दृढ़ मुष्टिवाले, दुर्धर्ष तथा सम्पूर्ण देवताओं और दैत्योंको जीतनेवाले महारथी वीर हैं' ॥ ६१-६२ ॥

अविभ्रमं च शिक्षां च लाघवं दूरपातिताम् ।
पार्थस्य समरे दृष्ट्वा द्रोणस्याभूच्च विस्मयः ॥ ६३ ॥

उस समरभूमिमें अर्जुनका कभी न चूकनेका स्वभाव, अस्त्र-शस्त्रोंकी अद्भुत शिक्षा, हाथोंकी फुर्ती और दूरतक बाण मारनेकी शक्ति देखकर आचार्य द्रोणको भी बड़ा विस्मय हुआ ॥ ६३ ॥

अथ गाण्डीवमुद्यम्य दिव्यं धनुरमर्षणः ।
विचकर्ष रणे पार्थो बाहुभ्यां भरतर्षभ ॥ ६४ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर रणभूमिमें कुन्तीपुत्रने दिव्य गाण्डीव धनुषको ऊँचे उठाकर कुपित हो उसे दोनों हाथोंसे खींचना आरम्भ किया ॥ ६४ ॥

तस्य बाणमयं वर्षं शलभानामिवायतिम् ।
दृष्ट्वा ते विस्मिताः सर्वे साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ ६५ ॥

फिर तो टिड्डियोंके झुंडके समान उनकी (अद्भुत) बाण-वर्षा देखकर वे सभी सैनिक आश्चर्यचकित हो 'साधु-साधु' कहते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ६५ ॥

न च बाणान्तरे वायुरस्य शक्नोति सर्पितुम् ।
अनिशं संदधानस्य शरानुत्सृजतस्तथा ॥ ६६ ॥
ददर्श नान्तरं कश्चित् पार्थस्याददतोऽपि च ॥ ६७ ॥

उनके बाणोंके भीतर वायु भी प्रवेश नहीं कर पाती थी। कुन्तीनन्दन अर्जुन निरन्तर बाणोंको हाथमें लेते, धनुषपर रखते और छोड़ते थे। कोई भी उनकी इन क्रियाओंमें क्षण-भरका भी अन्तर नहीं देख पाता था ॥ ६६-६७ ॥

तथा शीघ्रास्त्रयुद्धे तु वर्तमाने सुदारुणे ।
शीघ्रं शीघ्रतरं पार्थः शरानन्यानुदीरयत् ॥ ६८ ॥

इस प्रकार शीघ्रतापूर्वक अस्त्रप्रहारके द्वारा चलनेवाले उस अत्यन्त भयंकर संग्राममें कुन्तीपुत्र अर्जुन शीघ्र एवं अत्यन्त शीघ्र दूसरे-दूसरे बाण प्रकट करने लगे ॥ ६८ ॥

ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ।
युगपत् प्रापतंस्तत्र द्रोणस्य रथमन्तिकात् ॥ ६९ ॥
कीर्यमाणे तदा द्रोणे शरैर्गाण्डीवधन्वना ।
हाहाकारो महानासीत् सैन्यानां भरतर्षभ ॥ ७० ॥

तत्पश्चात् एक ही साथ झुकी हुई गाँठवाले एक लाख बाण द्रोणाचार्यके रथके समीप आ गिरे। जनमेजय! गाण्डीव-धन्वा अर्जुनके द्वारा जब द्रोणपर इस प्रकार बाणवर्षा होने लगी, तब कौरव-सैनिकोंमें भारी हाहाकार मच गया ॥ ६९-७० ॥

पाण्डवस्य तु शीघ्रास्त्रं मघवा प्रत्यपूजयत्।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव ये च तत्र समागताः ॥ ७१ ॥

पाण्डुनन्दनके शीघ्रतापूर्वक अस्त्र-संचालनके लिये इन्द्रने उनकी बड़ी प्रशंसा की। उनके सिवा वहाँ जो गन्धर्व और अप्सराएँ आयी थीं, उन्होंने भी उनकी बड़ी सराहना की ॥ ७१ ॥

ततो वृन्देन महता रथानां रथयूथपः।
आचार्यपुत्रः सहसा पाण्डवं पर्यवारयत् ॥ ७२ ॥

तदनन्तर रथियोंके यूथपति आचार्यपुत्र अश्वत्थामाने रथारोहियोंके विशाल समूहके साथ सहसा वहाँ पहुँचकर पाण्डुनन्दनको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ७२ ॥

अश्वत्थामा तु तत् कर्म हृदयेन महात्मनः।
पूजयामास पार्थस्य कोपं चास्याकरोद् भृशम् ॥ ७३ ॥

अश्वत्थामाने महात्मा अर्जुनके उस पराक्रमका मन-ही-मन भूरि-भूरि प्रशंसा की और उनपर अपना महान् क्रोध प्रकट किया ॥ ७३ ॥

स मन्युवशमापन्नः पार्थमभ्यद्रवद् रणे।
किरञ्छरसहस्राणि पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ ७४ ॥

आचार्यपुत्र क्रोधके वशीभूत हो गया था। वह रणभूमिमें जल बरसानेवाले मेघकी भाँति सहस्रों बाणोंकी बौछार करता हुआ पार्थपर टूट पड़ा ॥ ७४ ॥

आवृत्य तु महाबाहुर्यतो द्रौणिस्ततो हयान्।
अन्तरं प्रददौ पार्थो द्रोणस्य व्यपसर्पितुम् ॥ ७५ ॥

तब महाबाहु अर्जुनने जिधर अश्वत्थामा था, उसी ओर घोड़ोंको घुमाकर आचार्य द्रोणको भाग जानेका अवसर दे दिया ॥ ७५ ॥

स तु लब्ध्वान्तरं तूर्णमपायाज्जवनैर्हयैः।
छिन्नवर्मध्वजः शूरो निकृत्तः परमेषुभिः ॥ ७६ ॥

अर्जुनके उत्तम बाणोंसे द्रोणके कवच और ध्वज छिन्न-भिन्न हो चुके थे। वे स्वयं भी बहुत घायल हो गये थे; अतः मौका पाते ही वेगशाली घोड़ोंको बढ़ाकर तुरंत वहाँसे भाग निकले ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि द्रोणापयाने अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें द्रोणाचार्यके पलायनसे सम्बन्ध रखनेवाला अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

अश्वत्थामाके साथ अर्जुनका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रौणिर्महाराज प्रययावर्जुनं रणे।
तं पार्थः प्रतिजग्राह वायुवेगमिवोद्धतम्।
शरजालेन महता वर्षमाणमिवाम्बुदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! तदनन्तर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने रणभूमिमें जब अर्जुनपर बड़े वेगसे आक्रमण किया, तब अर्जुनने भी प्रचण्ड वायुवेगके समान तीव्र गतिसे आते हुए अश्वत्थामाको रोका। उस समय जल बरसानेवाले मेघकी भाँति वह महान् शरसमूहकी वर्षा कर रहा था ॥ १ ॥

तयोर्देवासुरसमः संनिपातो महानभूत्।
किरतोः शरजालानि वृत्रवासवयोरिव ॥ २ ॥

उन दोनोंमें देवताओं और असुरोंके समान भारी संघर्ष होने लगा। वे दोनों (एक-दूसरेपर) बाणसमूहोंकी बौछार करते हुए वृत्रासुर और इन्द्रके समान जान पड़ते थे ॥ २ ॥

न स्म सूर्यस्तदा भाति न च वाति समीरणः।
शरजालावृते व्योम्निच्छायाभूते समन्ततः ॥ ३ ॥

उनके बाणोंके जालसे आच्छादित होकर आकाश सब ओरसे अन्धकारमय हो रहा था। उस समय न तो सूर्य प्रकाशित हो रहे थे और न वायु ही चल पाती थी ॥ ३ ॥

महांश्चटचटाशब्दो योधयोर्हन्यमानयोः।
दह्यतामिव वेणूनामासीत् परपुरंजय ॥ ४ ॥

शत्रुविजयी जनमेजय! जब दोनों योद्धा एक दूसरेपर आघात करते, तब जलते हुए बाँसोंके चटखनेकी भाँति चट-चट शब्द होने लगता था ॥ ४ ॥

हयानस्यार्जुनः सर्वान् कृतवानल्पजीवितान्।
ते राजन् न प्रजानन्त दिशं काञ्चन मोहिताः ॥ ५ ॥

अर्जुनने अश्वत्थामाके घोड़ोंको घायल करके अल्पजीवी बना दिया। राजन्! वे मोहग्रस्त (मूर्च्छित) होनेके कारण किसी भी दिशाको नहीं जान पाते थे ॥ ५ ॥

ततो द्रौणिर्महावीर्यः पार्थस्य विचरिष्यतः ।
विवरं सूक्ष्ममालोक्य ज्यां चिच्छेद क्षुरेण ह ।
तदस्यापूजयन् देवाः कर्म दृष्ट्वातिमानुषम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर महापराक्रमी अश्वत्थामाने रणभूमिमें विचरते हुए अर्जुनका छोटा-सा छिद्र (तनिक-सी असावधानी) देखकर क्षुर नामक बाणसे उनकी प्रत्यञ्चा काट डाली । उसके इस अतिमानुष कर्मको देखकर सब देवता उसकी बड़ी प्रशंसा करने लगे ॥ ६ ॥

द्रोणो भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्चैव महारथाः ।
साधु साध्विति भाषन्तोऽपूजयन् कर्म तस्य तत् ॥ ७ ॥

द्रोण, भीष्म, कर्ण और कृपाचार्य—ये सभी महारथी साधुवाद देते हुए अश्वत्थामाके उस कार्यकी सराहना करने लगे ॥ ७ ॥

ततो द्रौणिर्धनुः श्रेष्ठमपकृष्य रथर्षभम् ।
पुनरेवाहनत् पार्थं हृदये कङ्कपत्रिभिः ॥ ८ ॥

तदनन्तर द्रोणपुत्रने अपना श्रेष्ठ धनुष खींचकर कङ्क पक्षीके पंखवाले बाणोंद्वारा रथियोंमें श्रेष्ठ पार्थकी छातीमें पुनः भारी आघात पहुँचाया ॥ ८ ॥

ततः पार्थो महाबाहुः प्रहस्य स्वनवत् तदा ।
योजयामास नवया मौर्व्या गाण्डीवमोजसा ॥ ९ ॥

उस समय महाबाहु पार्थ ठहाका मारकर हँसने लगे । फिर उन्होंने गाण्डीव धनुषपर बलपूर्वक नयी प्रत्यञ्चा चढ़ा दी ॥ ९ ॥

ततोऽर्धचन्द्रमावृत्य तेन पार्थः समागमत् ।
वारणेनेव मत्तेन मत्तो वारणयूथपः ॥ १० ॥

तदनन्तर पसीनेसे अर्धचन्द्राकार धनुषकी डोरीको माँजकर अर्जुन अश्वत्थामासे भिड़ गये, मानो कोई उन्मत्त गजयूथाधिपति किसी दूसरे मतवाले हाथीके साथ जा भिड़ा हो ॥ १० ॥

ततः प्रववृते युद्धं पृथिव्यामेकवीरयोः ।
रणमध्ये द्वयोरेवं सुमहल्लोमहर्षणम् ॥ ११ ॥

इसके बाद उस रणभूमिमें भूमण्डलके इन दोनों अनुपम वीरोंका ऐसा भयंकर संग्राम हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ ११ ॥

तौ वीरौ ददृशुः सर्वे कुरवो विस्मयान्विताः ।
युध्यमानौ महावीर्यौ यूथपाविव संगतौ ॥ १२ ॥

समस्त कौरव विस्मयविमुग्ध होकर उन दोनों वीरोंकी ओर देखने लगे । महापराक्रमी अश्वत्थामा और अर्जुन परस्पर भिड़े हुए दो यूथपतियोंकी भाँति लड़ रहे थे ॥ १२ ॥

तौ समाजघ्नतुर्वीरावन्योन्यं पुरुषर्षभौ ।
शरैराशीविषाकारैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः ॥ १३ ॥

वे दोनों पुरुषसिंह वीर विषधर सर्पके समान आकारवाले जलते हुए-से बाणोंद्वारा एक दूसरेको चोट पहुँचाने लगे ॥ १३ ॥

अक्षय्याविषुधी दिव्यौ पाण्डवस्य महात्मनः ।
तेन पार्थो रणे शूरस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १४ ॥

महात्मा पाण्डुनन्दनके पास दो दिव्य अक्षय तूणीर थे, इससे कुन्तीपुत्र शूरवीर अर्जुन रणभूमिमें पर्वतकी भाँति अविचल खड़े रहे ॥ १४ ॥

अश्वत्थाम्नः पुनर्बाणाः क्षिप्रमभ्यस्यतो रणे ।
जग्मुः परिक्षयं तूर्णमभूत् तेनाधिकोऽर्जुनः ॥ १५ ॥

परंतु संग्राममें शीघ्रतापूर्वक बार-बार शरसंधान करनेवाले अश्वत्थामाके बाण जल्दी समाप्त हो गये । इस कारण अर्जुन उसकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए ॥ १५ ॥

ततः कर्णो महाचापं विकृष्याभ्यधिकं तदा ।
अवाक्षिपत् ततः शब्दो हाहाकारो महानभूत् ॥ १६ ॥

तब कर्णने अपने महान् धनुषको बड़े जोरसे खींचकर टंकार की । उससे वहाँ महान् हाहाकारका शब्द होने लगा ॥ १६ ॥

ततश्चक्षुर्दधे पार्थो यत्र विस्फार्यते धनुः ।
ददर्श तत्र राधेयं तस्य कोपो व्यवर्धत ॥ १७ ॥

तब अर्जुनने जहाँ धनुषकी टंकार हो रही थी, उधर दृष्टि डाली, तो वहाँ राधानन्दन कर्ण दिखायी पड़ा । इससे उनका क्रोध बहुत बढ़ गया ॥ १७ ॥

स रोषवशमापन्नः कर्णमेव जिघांसया ।
तमैक्षत विवृत्ताभ्यां नेत्राभ्यां कुरुपुङ्गवः ॥ १८ ॥

तब कुरुश्रेष्ठ अर्जुन रोषके वशीभूत हो कर्णको ही मार डालनेकी इच्छासे दोनों आँखें फाड़-फाड़कर उसकी ओर देखने लगे ॥ १८ ॥

तथा तु विमुखे पार्थे द्रोणपुत्रस्य सायकान् ।
त्वरिताः पुरुषा राजन्नुपाजह्रुः सहस्रशः ॥ १९ ॥

राजन् ! इस प्रकार जब अर्जुनने उधरसे दृष्टि हटाकर दूसरी ओर मुँह फेर लिया, तब बहुत-से सैनिक तुरंत वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने द्रोणपुत्रके हजारों बाणोंको (रणभूमिसे उठाकर) उन्हें समर्पित कर दिया ॥ १९ ॥

उत्सृज्य च महाबाहुर्द्रोणपुत्रं धनंजयः ।
अभिदुद्राव सहसा कर्णमेव सपत्नजित् ॥ २० ॥

तब शत्रुविजयी महाबाहु धनंजयने द्रोणपुत्रको वहीं छोड़कर सहसा कर्णपर ही धावा किया ॥ २० ॥

तमभिद्रुत्य कौन्तेयः क्रोधसंरक्तलोचनः ।

कामयन् द्वैरथं तेन युद्धं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

और कर्णके पास पहुँचकर उसके साथ द्वन्द्वयुद्धकी इच्छा रखते हुए कुन्तीकुमारने क्रोधसे लाल आँखें करके यह बात कही ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनाश्वत्थामयुद्धे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय अर्जुन और अश्वत्थामाके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और कर्णका संवाद तथा कर्णका अर्जुनसे हारकर भागना

अर्जुन उवाच

कर्ण यत् ते सभामध्ये बहु वाचा विकत्थितम् ।
न मे युधि समोऽस्तीति तदिदं समुपस्थितम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले— कर्ण ! पहले कौरवोंकी सभामें तूने जो अपनी बहुत प्रशंसा करते हुए यह बात कही थी कि युद्धमें मेरे समान दूसरा कोई योद्धा नहीं है ! (उसकी सचाईकी परीक्षाके लिये) यह युद्धका अवसर उपस्थित हो गया है ॥ १ ॥

सोऽद्य कर्ण मया सार्धं व्यवहृत्य महामृधे ।
ज्ञास्यस्यबलमात्मानं न चान्यानवमंस्यसे ॥ २ ॥

कर्ण ! आज इस महासंग्राममें मेरे साथ भिड़कर तू अपनेको भलीभाँति निर्बल समझ लेगा और फिर कभी दूसरोंका अपमान नहीं करेगा ॥ २ ॥

अवोचः परुषा वाचो धर्ममुत्सृज्य केवलम् ।
इदं तु दुष्करं मन्ये यदिदं ते चिकीर्षितम् ॥ ३ ॥

पहले तूने केवल धर्मकी अवहेलना करके बड़ी कठोर बातें कही हैं, परंतु तू जो कुछ करना चाहता है, वह तेरेलिये मैं अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ ॥ ३ ॥

यत् त्वया कथितं पूर्वं मामनासाद्य किंचन ।
तदद्य कुरु राधेय कुरुमध्ये मया सह ॥ ४ ॥

राधानन्दन ! मेरे साथ भिड़न्त होनेके पहले कौरवोंकी सभामें तूने जो कुछ कहा है, आज मेरे साथ युद्ध करके वह सब सत्य कर दिखा ॥ ४ ॥

यत् सभायां स पाञ्चालीं क्लिश्यमानां दुरात्मभिः ।
दृष्टवानसि तस्याद्य फलमाप्नुहि केवलम् ॥ ५ ॥

अरे ! भरी सभामें दुरात्मा कौरव पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको क्लेश दे रहे थे और तू मौजसे यह सब देखता रहा । आज केवल उस अत्याचारका फल भोग ले ॥ ५ ॥

धर्मपाशनिबद्धेन यन्मया मर्षितं पुरा ।
तस्य राधेय कोपस्य विजयं पश्य मे मृधे ॥ ६ ॥

पहले मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हुआ था । इसलिये मैंने सब कुछ (चुपचाप) सह लिया । परंतु राधापुत्र ! आजके युद्धमें मेरे उस क्रोधका फल मेरी विजयके रूपमें अभी देख ले ॥ ६ ॥

वने द्वादश वर्षाणि यानि सोढानि दुर्मते ।
तस्याद्य प्रतिकोपस्य फलं प्राप्नुहि सम्प्रति ॥ ७ ॥

ओ दुर्मते ! हमने बारह वर्षोंतक वनमें रहकर जो क्लेश सहन किये हैं, उनका बदला चुकानेके लिये आज मेरे बढ़े हुए क्रोधका फल तू अभी चख ले ॥ ७ ॥

एहि कर्ण मया सार्धं प्रतियुध्यस्व सङ्गरे ।
प्रेक्षकाः कुरवः सर्वे भवन्तु तव सैनिकाः ॥ ८ ॥

कर्ण ! आ, रणभूमिमें मेरा सामना कर । समस्त कौरव और तेरे सैनिक सब दर्शक होकर हमारे युद्धको देखें ॥ ८ ॥

कर्ण उवाच

ब्रवीषि वाचा यत् पार्थ कर्मणा तत् समाचर ।
अतिशेते हि ते वाक्यं कर्मैतत् प्रथितं भुवि ॥ ९ ॥

कर्णने कहा—कुन्तीपुत्र ! तू मुझसे जो कुछ कहता है, उसे क्रियाद्वारा करके दिखा । तेरी बातें कार्य करनेकी अपेक्षा बहुत बढ़-चढ़कर होती हैं । यह बात भूमण्डलमें प्रसिद्ध है ॥ ९ ॥

यत् त्वया मर्षितं पूर्वं तदशक्तेन मर्षितम् ।
इतो गृह्णीमहे पार्थ तव दृष्ट्वा पराक्रमम् ॥ १० ॥

पार्थ ! तेरा यह जबानी पराक्रम देखकर तो हम इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि तूने पहले जो कुछ सहन किया है, वह अपनी असमर्थताके ही कारण किया है ॥ १० ॥

धर्मपाशनिबद्धेन यत् त्वया मर्षितं पुरा ।
तथैव बद्धमात्मानमबद्धमिव मन्यसे ॥ ११ ॥

यदि तूने पहले धर्मके बन्धनमें बँधकर कष्ट सहन किया है, तो आज भी तू उसी प्रकार बँधा हुआ है; तो भी तू अपने आपको उस बन्धनसे मुक्त-सा मान रहा है ॥ ११ ॥

यदि तावद् वने वासो यथोक्तश्चरितस्त्वया ।
तत् त्वं धर्मार्थवित् क्लिष्टः स मयां योद्धुमिच्छसि ॥ १२ ॥

यदि तूने वनवासके पूर्वोक्त नियमका भलीभाँति पालन

कर लिया है, तो तू धर्म और अर्थका ज्ञाता ठहरा। इसलिये तूने कष्ट सहा है और उसीको याद करके इस समय मेरे साथ लड़ना चाहता है ॥ १२ ॥

यदि शक्रः स्वयं पार्थ युध्यते तव कारणात्।
तथापि न व्यथा काचिन्मम स्याद् विक्रमिष्यतः ॥ १३ ॥

पार्थ ! यदि इस समय साक्षात् इन्द्र भी तेरे लिये युद्ध करने आयें, तो भी युद्धमें पराक्रम दिखाते हुए मुझको किसी प्रकारकी व्यथा न होगी ॥ १३ ॥

अयं कौन्तेय कामस्ते नचिरात् समुपस्थितः।
योत्स्यसे हि मया सार्धमद्य द्रक्ष्यसि मे बलम् ॥ १४ ॥

कुन्तीकुमार ! मेरे साथ युद्धका जो तेरा हौसला है, वह अभी-अभी प्रकट हुआ है। अतः अब मेरे साथ तेरा युद्ध होगा और आज तू मेरा बल स्वयं देख लेगा ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

इदानीमेव तावत् त्वमपयातो रणान्मम।
तेन जीवसि राधेय निहतस्त्वनुजस्तव ॥ १५ ॥

अर्जुन बोले—राधापुत्र ! अभी कुछ ही देर पहलेकी बात है, मेरे सामने युद्धसे पीठ दिखाकर तू भाग गया था, इसीलिये अबतक जी रहा है; किंतु तेरा छोटा भाई मारा गया ॥ १५ ॥

भ्रातरं घातयित्वा कस्त्यक्त्वा रणशिरश्च कः।
त्वदन्यः कः पुमान् सत्सु ब्रूयादेवं व्यवस्थितः ॥ १६ ॥

तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपने भाईको मरवाकर और युद्धका मुहाना छोड़कर (भाग जानेके बाद भी) भलेमानसोंके बीचमें खड़ा हो ऐसी डींग मारेगा ? ॥१६॥

वैशम्पायन उवाच

इति कर्णं ब्रुवन्नेव बीभत्सुरपराजितः।
अभ्ययाद् विसृजन् बाणान् कायावरणभेदिनः॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुन किसीसे भी परास्त होनेवाले नहीं थे। वे कर्णसे उपर्युक्त बातें कहकर कवचको भी विदीर्ण कर देनेवाले बाण छोड़ते हुए उसकी ओर बढ़े ॥ १७ ॥

प्रतिजग्राह तं कर्णः प्रीयमाणो महारथः।
महता शरवर्षेण वर्षमाणमिवाम्बुदम् ॥ १८ ॥

महारथी कर्णने बड़ी प्रसन्नताके साथ मेघके सदृश बाणोंकी वृष्टि करनेवाले अर्जुनको अपने सायकोंकी भारी बौछार करके रोका ॥ १८ ॥

उत्पेतुः शरजालानि घोररूपाणि सर्वशः।
अविध्यद्[illegible] बाहू च हस्तावापं पृथक् पृथक् ॥ १९ ॥

सोऽमृष्यमाणः कर्णस्य निषङ्गस्यावलम्बनम्।
चिच्छेद निशिताग्रेण शरेण नतपर्वणा ॥ २० ॥

फिर तो आकाशमें सब ओर भयंकर बाणोंके समूह उड़ने लगे। अर्जुनसे यह सहन न हो सका; अतः उन्होंने झुकी हुई गाँठ एवं तीखी नोकवाले बाणसे कर्णके घोड़ोंको बींध डाला। भुजाओंमें भी गहरी चोट पहुँचायी और हाथोंके दस्तानोंको भी पृथक्-पृथक् विदीर्ण कर दिया। इतना ही नहीं, कर्णके भाथा लटकानेकी रस्सीको भी काट गिराया ॥ १९-२० ॥

उपासङ्गादुपादाय कर्णो बाणानथापरान्।
विव्याध पाण्डवं हस्ते तस्य मुष्टिरशीर्यत ॥ २१ ॥

तब कर्णने (अलग रक्खे हुए) छोटे तरकससे दूसरे बाण लेकर पाण्डुनन्दन अर्जुनके हाथमें चोट पहुँचायी। इससे उनकी मुट्ठी ढीली पड़ गयी ॥ २१ ॥

ततः पार्थो महाबाहुः कर्णस्य धनुरच्छिनत्।
स शक्तिं प्राहिणोत् तस्मै तां पार्थो व्यधमच्छरैः॥

तब महाबाहु पार्थने कर्णका धनुष काट दिया। यह देख   अर्जुनपर शक्ति चलायी; किंतु पार्थने उसे बाणोंसे नष्ट कर दिया ॥ २२ ॥

ततोऽनुपेतुर्बहवो राधेयस्य पदानुगाः।
तांश्च गाण्डीवनिर्मुक्तैः प्राहिणोद् यमसादनम् ॥ २३ ॥

इतनेमें ही राधापुत्र कर्णके बहुत-से सैनिक वहाँ आ पहुँचे; किंतु अर्जुनने गाण्डीवद्वारा छोड़े हुए बाणोंसे मारकर उन सबको यमलोक भेज दिया ॥ २३ ॥

ततोऽस्याश्वाञ्छरैस्तीक्ष्णैर्बीभत्सुर्भारसाधनैः।
आकर्णमुक्तैरवधीत् ते हताः प्रापतन् भुवि ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् बीभत्सुने भार (शत्रुओंके आघात) सहनेमें समर्थ तीखे बाणोंद्वारा, जो धनुषको कानतक खींचकर छोड़े गये थे, कर्णके घोड़ोंको घायल कर दिया। वे घोड़े मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २४ ॥

अथापरेण बाणेन ज्वलितेन महौजसा।
विव्याध कर्णं कौन्तेयस्तीक्ष्णेनोरसि वीर्यवान्॥ २५ ॥

तत्पश्चात् पराक्रमी कुन्तीकुमारने महान् तेजस्वी तथा अग्निके समान प्रज्वलित दूसरे बाणद्वारा कर्णकी छातीमें आघात किया ॥ २५ ॥

तस्य भित्त्वा तनुत्राणं कायमभ्यगमच्छरः।
ततः स तमसाऽऽविष्टो न स्म किंचित् प्रजज्ञिवान् ॥

वह बाण कर्णका कवच काटकर उसके वक्षःस्थलके भीतर घुस गया। इससे कर्णको मूर्च्छा आ गयी और उसे किसी भी बातकी सुध-बुध न रही ॥ २६ ॥

स गाढवेदनो हित्वा रणं प्रायादुदङ्मुखः।
ततोऽर्जुन उदक्रोशदुत्तरश्च महारथः ॥ २७ ॥

कर्णको उस चोटसे बड़ी भारी वेदना हुई और वह युद्धभूमिको छोड़कर उत्तर दिशाकी ओर भागा। यह देख अर्जुन और उत्तर दोनों महारथी जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि कर्णापयाने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें कर्णका पलायनविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनका उत्तरकुमारको आश्वासन तथा अर्जुनसे दुःशासन आदिकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

ततो वैकर्तनं जित्वा पार्थो वैराटिमब्रवीत्।
एतन्मां प्रापयानीकं यत्र तालो हिरण्मयः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार वैकर्तन कर्णको जीतकर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरसे कहा—'सारथे ! तुम मुझे इस सेनाकी ओर ले चलो, जिसकी ध्वजापर सुवर्णमय ताड़ वृक्षका चिह्न है ॥ १ ॥

अत्र शान्तनवो भीष्मो रथेऽस्माकं पितामहः।
काङ्क्षमाणो मया युद्धं तिष्ठत्यमरदर्शनः ॥ २ ॥

'उस रथपर हम सबके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मजी बैठे हैं। वे मेरे साथ युद्धकी इच्छा रखकर खड़े हैं। उनका दर्शन देवताओंके समान है' ॥ २ ॥

अथ सैन्यं महद् दृष्ट्वा रथनागहयाकुलम्।
अब्रवीदुत्तरः पार्थमपविद्धः शरैर्भृशम् ॥ ३ ॥
नाहं शक्ष्यामि वीरेह नियन्तुं ते हयोत्तमान्।
विषीदन्ति मम प्राणा मनो विह्वलतीव मे ॥ ४ ॥

यह सुनकर उत्तरने, जो बाणोंसे अत्यन्त घायल हो चुका था, रथों, हाथियों और घोड़ोंसे भरी हुई विशाल सेनाकी ओर देखकर कहा—'वीर ! अब मैं युद्धभूमिमें आपके उत्तम घोड़ोंको नहीं सम्हाल सकूँगा। मेरे प्राण बड़ी व्यथामें हैं और मन व्याकुल-सा हो रहा है ॥ ३-४ ॥

अस्त्राणामिव दिव्यानां प्रभावः सम्प्रयुज्यताम्।
त्वया च कुरुभिश्चैव द्रवन्तीव दिशो दश ॥ ५ ॥

'आपके तथा कौरव वीरोंके द्वारा प्रयुक्त होनेवाले दिव्यास्त्रोंका प्रभाव यह है कि मुझे दसों दिशाएँ भागती-सी प्रतीत होती हैं ॥ ५ ॥

गन्धेन मूर्च्छितश्चाहं वसारुधिरमेदसाम्।
द्वैधीभूतं मनो मेऽद्य तव चैव प्रपश्यतः ॥ ६ ॥

'मैं चर्बी, रक्त और मेदकी गन्धसे मूर्च्छित हो रहा हूँ। आज आपके देखते-देखते मेरा मन दुविधामें पड़ गया है ॥६॥

अदृष्टपूर्वः शूराणां मया संख्ये समागमः।
गदापातैर्महता शङ्खानां निस्वनेन च ॥ ७ ॥
सिंहनादैश्च शूराणां गजानां बृंहितैस्तथा।
गाण्डीवशब्देन भृशमशनिप्रतिमेन च।
श्रुतिः स्मृतिश्च मे वीर प्रणष्टा मूढचेतसः ॥ ८ ॥

'युद्धमें इतने शूरवीरोंका जमघट मैंने पहले कभी नहीं देखा था। वीरवर ! गदाओंके भारी आघात, शङ्खोंके भयंकर शब्द, शूरवीरोंके सिंहनाद, हाथियोंके चिग्घाड़ तथा वज्रकी गड़गड़ाहटके समान गाण्डीव धनुषकी भारी टंकार-ध्वनिसे मेरा चित्त मोहित हो गया है। मेरी श्रवणशक्ति और स्मरणशक्ति भी जवाब दे चुकी है ॥ ७-८ ॥

अलातचक्रप्रतिमं मण्डलं सततं त्वया।
व्याक्षिप्यमाणं समरे गाण्डीवं च प्रकर्षता।
दृष्टिः प्रचलिता वीर हृदयं दीर्यतीव मे ॥ ९ ॥

'रणभूमिमें आप निरन्तर गाण्डीव धनुषको खींचते और टंकारते रहते हैं, जिससे यह अलातचक्रके समान गोल प्रतीत होता है। उसे देखकर मेरी आँखें चौंधियाँ रही हैं तथा हृदय फटा-सा जा रहा है ॥ ९ ॥

वपुश्चोग्रं तव रणे क्रुद्धस्येव पिनाकिनः।
व्यायच्छतस्तव भुजं दृष्ट्वा भीर्मे भवत्यपि ॥ १० ॥

'इस संग्राममें कुपित हुए पिनाकपाणि भगवान् रुद्रकी भाँति आपका शरीर भयानक जान पड़ता है और लगातार धनुष-बाण चलानेके व्यायाममें संलग्न रहनेवाले आपकी भुजाओंको देखकर भी मुझे भय लगता है ॥ १० ॥

नाददानं न संधानं न मुञ्चन्तं शरोत्तमान्।
त्वामहं सम्प्रपश्यामि पश्यन्नपि न चेतनः ॥ ११ ॥

'आप कब उत्तम बाणोंको हाथमें लेते, कब धनुषपर रखते और कब उन्हें छोड़ते हैं, यह सब मैं नहीं देख पाता और देखनेपर भी मुझे चेत नहीं रहता ॥ ११ ॥

अवसीदन्ति मे प्राणा भूरियं चलतीव च।
न च प्रतोदं रश्मींश्च संयन्तुं शक्तिरस्ति मे ॥ १२ ॥

इस समय मेरे प्राण अकुला रहे हैं। यह पृथ्वी काँपती-सी जान पड़ती है। इस समय मुझमें इतनी शक्ति नहीं है कि घोड़ोंकी रास थामकर और चाबुक लेकर इन्हें हाँकूँ' ॥

अर्जुन उवाच

मा भैषीः स्तम्भयात्मानं त्वयापि नरपुङ्गव ।
अत्यद्भुतानि कर्माणि कृतानि रणमूर्धनि ॥ १३ ॥

अर्जुन बोले—नरश्रेष्ठ ! डरो मत । अपने आपको सँभालो । तुमने भी युद्धके मुहानेपर बड़े अद्भुत पराक्रम दिखाये हैं ॥ १३ ॥

राजपुत्रोऽसि भद्रं ते कुले मत्स्यस्य विश्रुते ।
जातस्त्वं शत्रुदमने नावसीदितुमर्हसि ॥ १४ ॥
धृतिं कृत्वा सुविपुलां राजपुत्र रथे मम ।
युध्यमानस्य समरे हयान् संयच्छ शत्रुहन् ॥ १५ ॥

तुम राजकुमार हो । तुम्हारा कल्याण हो । तुमने मत्स्यनरेशके विख्यात वंशमें जन्म ग्रहण किया है; अतः शत्रुओंके संहारके अवसरपर तुम्हें शिथिल नहीं होना चाहिये। राजपुत्र ! तुम तो शत्रुओंका नाश करनेवाले हो, अतः पूर्णरूपसे धैर्य धारण करके रथपर बैठो और युद्ध करते समय मेरे घोड़ोंको काबूमें रक्खो ॥ १४-१५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाबाहुर्वैराटिं नरसत्तमः ।
अर्जुनो रथिनां श्रेष्ठ उत्तरं वाक्यमब्रवीत् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार समझा-बुझाकर रथियोंमें श्रेष्ठ और मनुष्योंमें सर्वोत्तम महाबाहु अर्जुन विराट-कुमार उत्तरसे पुनः यह वचन बोले—॥ १६ ॥

सेनाग्रमाशु भीष्मस्य प्रापयस्वैतदेव माम् ।
आच्छेत्स्याम्यहमेतस्य धनुर्ज्यामपि चाहवे ॥ १७ ॥

'राजकुमार ! तुम शीघ्र ही पितामह भीष्मकी इसी सेनाके सामने मेरा रथ ले चलो, मुझे पहुँचाओ । इस युद्धमें मैं इनकी प्रत्यञ्चा भी काट डालूँगा ॥ १७ ॥

अस्यन्तं दिव्यमस्त्रं मां चित्रमद्य निशामय ।
शतह्रदामिवायान्तीं स्तनयित्नोरिवाम्बरे ॥ १८ ॥
सुवर्णपृष्ठं गाण्डीवं द्रक्ष्यन्ति कुरवो मम ।
दक्षिणेनाथ वामेन कतरेण स्विदस्यति ॥ १९ ॥
इति मां सङ्गताः सर्वे तर्कयिष्यन्ति शत्रवः ।
शोणितोदां रथावर्तां नागनक्रां दुरत्ययाम् ।
नदीं प्रस्कन्दयिष्यामि परलोकप्रवाहिनीम् ॥ २० ॥

'आज मुझे विचित्र दिव्यास्त्रोंका प्रहार करते देखो । जैसे आकाशमें मेघोंकी घटासे बिजली प्रकट होती है, उसी प्रकार (बाणोंकी विद्युच्छटा प्रकट करनेवाले) मेरे गाण्डीव धनुषको, जिसके पृष्ठभागमें सोना मढ़ा है, आज कौरवलोग विस्मित होकर देखेंगे । आज सारी शत्रुमण्डली इकट्ठी होकर यह अनुमान लगायेगी कि अर्जुन किस हाथसे बाण चलाते हैं ? दाहिने हाथसे या बायेंसे ? आज मैं परलोककी ओर प्रवाहित होनेवाली (शत्रुसेनारूप) दुर्लङ्घ्य नदीको मथ डालूँगा, जिसमें रक्त ही जल है, रथ भँवर हैं और हाथी ग्राहके स्थानमें हैं ॥ १८—२० ॥

पाणिपादशिरःपृष्ठबाहुशाखानिरन्तरम् ।
वनं कुरूणां छेत्स्यामि शरैः संनतपर्वभिः ॥ २१ ॥

'आज झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा कौरवसेनारूपी जंगलको काट डालूँगा । हाथ, पैर, सिर, पृष्ठ (पीठ) तथा बाहु आदि अङ्ग ही विविध शाखाओंके रूपमें फैलकर इस कौरव-वनको सघन किये हुए हैं ॥ २१ ॥

जयतः कौरवीं सेनामेकस्य मम धन्विनः ।
शतं मार्गा भविष्यन्ति पावकस्येव कानने ॥ २२ ॥

'जैसे वनमें लगे हुए दावानलको आगे बढ़नेके लिये सैकड़ों मार्ग सुलभ होते हैं, उसी प्रकार कौरवसेनापर विजय पानेवाले मुझ एकमात्र धनुर्धर वीरके लिये इसमें सैकड़ों मार्ग प्रकट हो जायँगे ॥ २२ ॥

मया चक्रमिवाविद्धं सैन्यं द्रक्ष्यसि केवलम् ।
इष्वस्त्रे शिक्षितं चित्रमहं दर्शयितास्मि ते ॥ २३ ॥

'मेरे बाणोंसे घायल हुई सारी सेनाको तुम चक्रकी भाँति घूमती हुई देखोगे । आज तुम्हें बाणविद्यामें प्राप्त की हुई अपनी विचित्र शिक्षाका परिचय कराऊँगा ॥ २३ ॥

असम्भ्रान्तो रथे तिष्ठ समेषु विषमेषु च ।
दिवमावृत्य तिष्ठन्तं गिरिं भिन्द्यां स्म पत्रिभिः॥ २४ ॥

'तुम सम-विषम (ऊँची-नीची) भूमियोंमें सम्भ्रम-रहित (सावधान) होकर रथपर बैठो (और घोड़ोंको सँभाल रखो।) आज मैं सारे आकाशको घेरकर खड़े हुए (महान्) पर्वतको भी अपने बाणोंसे विदीर्ण कर डालूँगा ॥ २४ ॥

अहमिन्द्रस्य वचनात् संग्रामेऽभ्यहनं पुरा ।
पौलोमान् कालखञ्जांश्च सहस्राणि शतानि च ॥ २५ ॥

'मैंने पहले देवराज इन्द्रकी आज्ञासे युद्धमें उनके शत्रु पौलोम और कालखञ्ज नामक लाखों दानवोंका वध किया है ॥ २५ ॥

अहमिन्द्राद् दृढां मुष्टिं ब्रह्मणः कृतहस्तताम् ।
प्रगाढे तुमुलं चित्रमिति विद्धि प्रजापतेः ॥ २६ ॥

'तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि मैंने धनुष पकड़ते समय मुट्ठीको दृढ़ रखना इन्द्रसे, बाण चलाते समय हाथोंकी फुर्ती ब्रह्माजीसे तथा संकटके समय विचित्र प्रकारसे तुमुल युद्ध करनेकी कला प्रजापतिसे सीखी है ॥ २६ ॥

अहं पारे समुद्रस्य हिरण्यपुरवासिनाम् ।
जित्वा षष्टिं सहस्राणि रथिनामुग्रधन्विनाम् ॥ २७ ॥

'पहलेकी बात है, मैंने समुद्रके उस पार हिरण्यपुरमें

निवास करनेवाले साठ हजार अत्यन्त भयंकर धनुर्धर महारथियोंको परास्त किया था ॥ २७ ॥

शीर्यमाणानि कूलानि प्रवृद्धेनेव वारिणा।
मया कुरूणां वृन्दानि पात्यमानानि पश्य वै ॥ २८ ॥

'आज देख लेना, जैसे प्रबल वेगसे आयी हुई जलकी बाढ़ किनारोंको काट-काटकर गिरा देती है, उसी प्रकार मैं कौरवदलके सैन्यसमूहोंको मार गिराऊँगा ॥ २८ ॥

ध्वजवृक्षं पत्तितृणं रथसिंहगणायुतम्।
वनमादीपयिष्यामि कुरूणामस्त्रतेजसा ॥ २९ ॥

'कौरवोंकी सेना एक जंगलके समान है, उसमें ध्वज ही वृक्ष हैं, पैदल सैनिक घास-फूस हैं तथा रथ ही सिंहोंके स्थानमें हैं। मैं अपने अस्त्र-शस्त्ररूपी अग्निसे आज इस कौरववनको जलाकर भस्म कर दूँगा ॥ २९ ॥

तानहं रथनीडेभ्यः शरैः संनतपर्वभिः।
यत्तान् सर्वानतिबलान् योत्स्यमानानवस्थितान्।
एकः संकालयिष्यामि वज्रपाणिरिवासुरान् ॥ ३० ॥

'जैसे व्याध घोंसलेमें बैठे हुए पक्षियोंको भी मार गिराता है, उसी प्रकार मैं मुड़ी हुई नोकवाले (तीखे) बाणोंसे मारकर उन सभी कौरववीरोंको रथोंकी बैठकोंसे नीचे गिरा दूँगा। जैसे वज्रधारी इन्द्र अकेले ही समस्त असुरोंका संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार मैं भी अकेला ही यहाँ युद्धके लिये सावधान होकर खड़े हुए समस्त महाबली योद्धाओंका भलीभाँति विनाश कर डालूँगा ॥ ३० ॥

रौद्रं रुद्रादहं ह्यस्त्रं वारुणं वरुणादपि।
अस्त्रमाग्नेयमग्नेश्च वायव्यं मातरिश्वनः।
वज्रादीनि तथास्त्राणि शक्रादहमवाप्तवान् ॥ ३१ ॥

'मैंने भगवान् रुद्रसे रौद्रास्त्रकी, वरुणसे वारुणास्त्रकी, अग्निसे आग्नेयास्त्रकी और वायु देवतासे वायव्यास्त्रकी शिक्षा प्राप्त की है। इसी प्रकार साक्षात् इन्द्रसे मैंने वज्र आदि अस्त्र प्राप्त किये हैं ॥ ३१ ॥

धार्तराष्ट्रवनं घोरं नरसिंहाभिरक्षितम्।
अहमुत्पाटयिष्यामि वैराटे व्येतु ते भयम् ॥ ३२ ॥

'वीर मानवरूपी सिंहोंसे सुरक्षित इस भयंकर कौरव-वनको मैं अकेला ही उजाड़ डालूँगा, अतः विराटकुमार! तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये' ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितस्तेन वैराटिः सव्यसाचिना।
व्यवागाहद् रथानीकं भीमं भीष्माभिरक्षितम् ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सव्यसाची अर्जुनके इस प्रकार सान्त्वना देनेपर विराटकुमार उत्तरने भीष्मजीके द्वारा सब ओरसे सुरक्षित रथियोंकी भयंकर सेनामें प्रवेश किया ॥ ३३ ॥

तमायान्तं महाबाहुं जिगीषन्तं रणे कुरून्।
अभ्यवारयदव्यग्रः क्रूरकर्माऽऽपगासुतः ॥ ३४ ॥

रणभूमिमें कौरवोंको जीतनेकी इच्छासे आते हुए महाबाहु अर्जुनको कठोर कर्म करनेवाले गङ्गानन्दन भीष्मने बिना किसी घबराहटके रोक दिया ॥ ३४ ॥

तस्य जिष्णुरुपावृत्य ध्वजं मूलादपातयत्।
विकृष्य कलधौताग्रैः स विद्धः प्रापतद् भुवि ॥ ३५ ॥

तब अर्जुनने उनकी ओर घूमकर सुनहरी धारवाले बाणोंसे भीष्मजीकी ध्वजाको जड़से काट गिराया, बाणोंसे छिद जानेके कारण वह ध्वजा पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३५ ॥

तं चित्रमाल्याभरणाः कृतविद्या मनस्विनः।
आगच्छन् भीमधन्वानं चत्वारश्च महाबलाः ॥ ३६ ॥
दुःशासनो विकर्णश्च दुःसहोऽथ विविंशतिः।
आगत्य भीमधन्वानं बीभत्सुं पर्यवारयन् ॥ ३७ ॥

इतनेहीमें विचित्र माला और आभूषणोंसे विभूषित और अस्त्रसंचालनकी विद्यामें निपुण चार महाबली मनस्वी वीर दुःशासन, विकर्ण, दुःसह और विविंशति वहाँ भयंकर धनुषवाले अर्जुनपर चढ़ आये और वहाँ आकर उन्होंने उग्रधन्वा बीभत्सुको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३६-३७ ॥

दुःशासनस्तु भल्लेन विद्ध्वा वैराटमुत्तरम्।
द्वितीयेनार्जुनं वीरः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ॥ ३८ ॥

वीर दुःशासनने भल्ल नामक एक बाणसे विराटकुमार उत्तरको घायल करके दूसरेसे अर्जुनकी छाती छेद डाली ॥ ३८ ॥

तस्य जिष्णुरुपावृत्य पृथुधारेण कार्मुकम्।
चकर्त गार्ध्रपत्रेण जातरूपपरिष्कृतम् ॥ ३९ ॥

तब अर्जुन उसकी ओर मुड़े और मोटी धार और गीधकी पाँख-जैसे पंखवाले बाणसे उन्होंने दुःशासनके सुवर्णजटित धनुषको काट डाला ॥ ३९ ॥

अथैनं पञ्चभिः पश्चात् प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे।
सोऽपयातो रणं हित्वा पार्थबाणप्रपीडितः ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् उसकी छातीमें भी पाँच बाण मारे। पार्थके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो दुःशासन युद्ध छोड़कर भाग गया ॥ ४० ॥

तं विकर्णः शरैस्तीक्ष्णैर्गृध्रपत्रैरजिह्मगैः।
विव्याध परवीरघ्नमर्जुनं धृतराष्ट्रजः ॥ ४१ ॥

तब धृतराष्ट्रपुत्र विकर्णने शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले अर्जुनको सीधे जानेवाले गृध्रपत्रयुक्त तीखे बाणोंसे बींध डाला ॥ ४१ ॥

ततस्तमपि कौन्तेयः शरेणानतपर्वणा ।
ललाटेऽभ्यहनत् तूर्णं स विद्धः प्रापतद् रथात् ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् कुन्तीनन्दन अर्जुनने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे उसको भी ललाटमें बींध डाला । उस बाणसे घायल होकर विकर्ण तुरंत ही रथसे नीचे गिर पड़ा ॥ ४२ ॥

ततः पार्थमभिद्रुत्य दुःसहः सविविंशतिः ।
अवाकिरच्छरैस्तीक्ष्णैः परीप्सुर्भ्रातरं रणे ॥ ४३ ॥

तब दुःसह और विविंशति अर्जुनकी ओर दौड़े और युद्धमें भाईका बदला लेनेके लिये उनके ऊपर तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ४३ ॥

तावुभौ गार्ध्रपत्राभ्यां निशिताभ्यां धनंजयः ।
विद्ध्वा युगपदव्यग्रस्तयोर्वाहानसूदयत् ॥ ४४ ॥

फिर धनंजयने गृध्रकी पाँखवाले दो तीखे बाणोंद्वारा उन दोनोंको एक ही साथ घायल करके बिना किसी घबराहटके उनके घोड़ोंको भी मार गिराया ॥ ४४ ॥

तौ हताश्वौ विभिन्नाङ्गौ धृतराष्ट्रात्मजावुभौ ।
अभिपत्य रथैरन्यैरपनीतौ पदानुगैः ॥ ४५ ॥

घोड़ोंके मारे जाने और शरीरके बिंध जानेपर उन दोनों धृतराष्ट्रकुमारोंके पास उनके सेवक आ पहुँचे और उन्हें दूसरे रथपर डालकर अन्यत्र हटा ले गये ॥ ४५ ॥

सर्वा दिशश्चाभ्यपतद् बीभत्सुरपराजितः ।
किरीटमाली कौन्तेयो लब्धलक्षो महाबलः ॥ ४६ ॥

किसीसे परास्त न होनेवाले किरीट-मालाधारी महाबली कुन्तीनन्दन अर्जुनका निशाना कभी चूकता नहीं था। वे उस सेनामें सब ओर विचरने लगे ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि अर्जुनदुःशासनादियुद्धे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें अर्जुनदुःशासन आदिके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥



द्विषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनका सब योद्धाओं और महारथियोंके साथ युद्ध

वैशम्पायन उवाच

अथ संगम्य सर्वे ते कौरवाणां महारथाः ।
अर्जुनं सहिता यत्ताः प्रत्ययुध्यन्त भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कौरवसेनाके सब महारथी मिलकर एक साथ संगठित हो बड़ी सावधानीके साथ अर्जुनका सामना करने लगे ॥ १ ॥

स सायकमयैर्जालैः सर्वतस्तान् महारथान् ।
प्राच्छादयदमेयात्मा नीहारेणेव पर्वतान् ॥ २ ॥

परंतु असीम आत्मबलसे सम्पन्न कुन्तीपुत्रने सब ओर सायकोंका जाल-सा बिछाकर कुहरेसे ढके हुए पहाड़ोंकी तरह उन सब महारथियोंको आच्छादित कर दिया ॥ २ ॥

नदद्भिश्च महानागैर्हेषमाणैश्च वाजिभिः ।
भेरीशङ्खनिनादैश्च स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ ३ ॥

बड़े-बड़े गजराजोंके चिग्घाड़ने, घोड़ोंके हिनहिनाने और नगाड़ों तथा शङ्खोंके बजाये जानेसे जो शब्द हुए, उनके एकत्र मिलनेसे उस रणभूमिमें भारी कोलाहल मच गया ॥ ३ ॥

नराश्वकायान् निर्भिद्य लौहानि कवचानि च ।
पार्थस्य शरजालानि विनिष्पेतुः सहस्रशः ॥ ४ ॥

पार्थके सहस्रों बाणसमुदाय मनुष्यों और घोड़ोंके शरीरोंको छेदकर और उनके लोहेके बने हुए कवचोंको भी छिन्न-भिन्न करके नीचे गिरा रहे थे ॥ ४ ॥

त्वरमाणः शरानस्यन् पाण्डवः प्रबभौ रणे ।
मध्यंदिनगतोऽर्चिष्मान्छरदीव दिवाकरः ॥ ५ ॥

जैसे शरद्-ऋतुके (निर्मल आकाशमें) दोपहरका सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणें फैलाकर प्रकाशित होता है, उसी प्रकार संग्राममें पाण्डुनन्दन अर्जुन शत्रुसेनापर उतावलीके साथ बाणवर्षा करते हुए सुशोभित होते थे ॥ ५ ॥

उपप्लवन्ति वित्रस्ता रथेभ्यो रथिनस्तथा ।
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चैव पदातयः ॥ ६ ॥

उस समय अत्यन्त भयभीत होकर रथी सैनिक रथोंसे कूदकर और घुड़सवार घोड़ोंकी पीठसे उछलकर जान लेकर भाग चले और पैदल योद्धा तो भूमिपर थे ही; उन्होंने भी (डरके मारे) इधर-उधरकी राह ली ॥ ६ ॥

शरैः संछिद्यमानानां कवचानां महात्मनाम् ।
ताम्रराजतलौहानां प्रादुरासीन्महास्वनः ॥ ७ ॥

महामना शूरवीरोंके ताँबे, चाँदी और लोहेके बने हुए कवच जब बाणोंसे कटते थे, तब उनका बड़ा भारी शब्द होता था ॥ ७ ॥

छन्नमायोधनं सर्वं शरीरैर्गतचेतसाम् ।
गजाश्वसादिनां तत्र शितबाणात्तजीवितैः ॥ ८ ॥
रथोपस्थाभिपतितैरास्तृता मानवैर्मही ।
प्रनृत्यतीव संग्रामे चापहस्तो धनंजयः ॥ ९ ॥

कुछ ही देरमें युद्धका सारा मैदान मूर्च्छित हुए सैनिकोंके शरीरोंसे पट गया। तीखे बाणोंकी मारसे जिनके प्राण निकल गये थे, उन हाथीसवारों, घुड़सवारों तथा रथकी बैठकसे गिरे हुए मनुष्योंकी लाशोंसे वहाँकी भूमि आच्छादित हो गयी थी। उस समय ऐसा जान पड़ता था, जैसे धनुष हाथमें लिये अर्जुन युद्धभूमिमें सब ओर नाचते फिर रहे हों ॥ ८-९ ॥

श्रुत्वा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
त्रस्तानि सर्वसैन्यानि व्यपागच्छन् महाहवात् ॥ १० ॥
कुण्डलोष्णीषधारीणि जातरूपस्रजस्तथा।
पतितानि स्म दृश्यन्ते शिरांसि रणमूर्धनि ॥ ११ ॥

गाण्डीवकी टंकार वज्रकी गड़गड़ाहटको भी मात कर रही थी। उसे सुनकर समस्त सैनिक भयभीत हो उस महान् संग्रामसे भाग निकले। युद्धके मुहानेपर कुण्डल और पगड़ी धारण किये असंख्य कटे हुए सिर पड़े दिखायी देते थे। कितने ही सोनेके हार इधर-उधर गिरे थे ॥ १०-११ ॥

विशिखोन्मथितैर्गात्रैर्बाहुभिश्च सकार्मुकैः।
सहस्ताभरणैश्चान्यैः प्रच्छन्ना भाति मेदिनी ॥ १२ ॥

अर्जुनके बाणोंसे मथित हुई लाशोंसे वहाँकी जमीन पट गयी थी। कितनी ही भुजाएँ कटकर गिरी थीं; जो अब भी (मुट्ठीमें दृढ़तापूर्वक) धनुष पकड़े हुए थीं। उन हाथोंमें बाजूबन्द, कड़े और अंगूठी आदि आभूषण सभी ज्यों-के-त्यों थे। इन सबसे आच्छादित होकर उस रणभूमिकी विचित्र शोभा हो रही थी ॥ १२ ॥

शिरसां पात्यमानानामन्तरा निशितैः शरैः।
अश्मवृष्टिरिवाकाशादभवद् भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! बीचमें तीखे बाणोंसे काटकर गिराये जानेवाले योद्धाओंके मस्तकोंकी श्रेणी आकाशसे होनेवाली पत्थरोंकी वर्षा-सी जान पड़ती थी ॥ १३ ॥

दर्शयित्वा तथाऽऽत्मानं रौद्रं रुद्रपराक्रमः।
अवरुद्धोऽचरत् पार्थो वर्षाणि त्रिदशानि च।
क्रोधाग्निमुत्सृजन् वीरो धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवः ॥ १४ ॥

भयानक पराक्रमी कुन्तीपुत्र अर्जुन तेरह वर्षोंतक वनमें विवश होकर रुके थे। अब (उपयुक्त अवसर पाकर) वे वीर पाण्डुकुमार धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर अपनी क्रोधाग्नि बरसाते तथा अपने रौद्र रूपका दर्शन कराते हुए रणभूमिमें विचरने लगे ॥ १४ ॥

तस्य तद् दहतः सैन्यं दृष्ट्वा चैव पराक्रमम्।
सर्वे शान्तिपरा योधा धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥ १५ ॥

कौरव-योद्धाओंको दग्ध करनेवाले अर्जुनका वह पराक्रम देखकर सभी सैनिक दुर्योधनके सामने ही ठण्डे पड़ गये ॥ १५ ॥

वित्रासयित्वा तत् सैन्यं द्रावयित्वा महारथान्।
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठः पर्यवर्तत भारत ॥ १६ ॥

भारत ! विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उस सेनाको भयभीत करके (सामने आये हुए) महारथियोंको भगाकर रणभूमिमें चारों ओर घूमने लगे ॥ १६ ॥

प्रावर्तयन्नदीं घोरां शोणितोदां तरङ्गिणीम्।
अस्थिशैवालसम्बाधां युगान्ते कालनिर्मिताम् ॥ १७ ॥

पार्थने उस समय वहाँ खूनकी नदी बहा दी; जो बड़ी ही भयंकर थी। उसमें जलकी जगह रक्तकी धारा बहती थी तथा रक्तकी ही तरङ्गें उठती थीं। हड्डियाँ ही उसमें सेवार बनकर छा रही थीं। जान पड़ता था, प्रलयकालमें साक्षात् कालने ही उसका निर्माण किया हो ॥ १७ ॥

शरचापप्लवां घोरां केशशैवलशाद्वलाम्।
तनुत्रोष्णीषसम्बाधां नागकूर्ममहाद्विपाम् ॥ १८ ॥

उसमें धनुष और बाण ऐसे बहते थे, मानो डोंगियाँ चल रही हों। उसका स्वरूप बड़ा भयानक लगता था। केश उसमें सेवार और घासके समान प्रतीत होते थे। उसमें वीरोंके कवच और पगड़ियाँ भरी थीं। हाथी कछुओं और बड़े-बड़े जलहस्तियोंके समान जान पड़ते थे ॥ १८ ॥

मेदोवसासृक्प्रवहां महाभयविवर्धिनीम्।
रौद्ररूपां महाभीमां श्वापदैरभिनादिताम् ॥ १९ ॥

मेदा, चर्बी तथा रुधिरको बहानेवाली वह नदी महान् भयको बढ़ानेवाली थी। उसकी स्थिति बड़ी भीषण थी। उस रौद्ररूपा नदीके तटपर (रक्तभोजी) हिंसक जन्तु कोलाहल कर रहे थे ॥ १९ ॥

तीक्ष्णशस्त्रमहाग्राहां क्रव्यादगणसेविताम्।
मुक्ताहारोर्मिकलिलां चित्रालंकारबुद्बुदाम् ॥ २० ॥

तीखे शस्त्र उसके भीतर बड़े-बड़े ग्राहोंके समान जान पड़ते थे। मांसभोजी जीव-जन्तु वहाँ निवास करते थे। मोतियोंकी मालाएँ लहरोंके समान जान पड़ती थीं। विचित्र आभूषण उसमें उठते हुए जलके बुलबुले-जैसे प्रतीत होते थे ॥ २० ॥

शरसंघमहावर्तां नागनक्रां दुरत्ययाम्।
महारथमहाद्वीपां शङ्खदुन्दुभिनिस्वनाम्।
चकार च तदा पार्थो नदीं दुस्तरशोणिताम् ॥ २१ ॥

बाणोंके समूह बड़ी-बड़ी भँवरें थे। हाथी घड़ियालों-से जान पड़ते थे; अतः उसके पार जाना अत्यन्त कठिन था। बड़े-बड़े रथ उसके भीतर विशाल टापू-जैसे प्रतीत होते थे। शङ्ख और दुन्दुभियोंकी आवाज ही उस

नदीकी कलकल ध्वनि थी। इस प्रकार अर्जुनने वहाँ खूनकी दुर्लंघ्य नदी बहा दी ॥ २१ ॥

आददानस्य हि शरान् संधाय च विमुञ्चतः।
विकर्षतश्च गाण्डीवं न कश्चिद् ददृशे जनः ॥ २२ ॥

अर्जुन कब बाण हाथमें लेते, गाण्डीव धनुषपर रखते, उसकी प्रत्यञ्चा खींचते और बाण छोड़ते हैं, यह कोई भी मनुष्य नहीं देख पाता था ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि अर्जुनसंकुलयुद्धे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें अर्जुनके संकुलयुद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६२॥

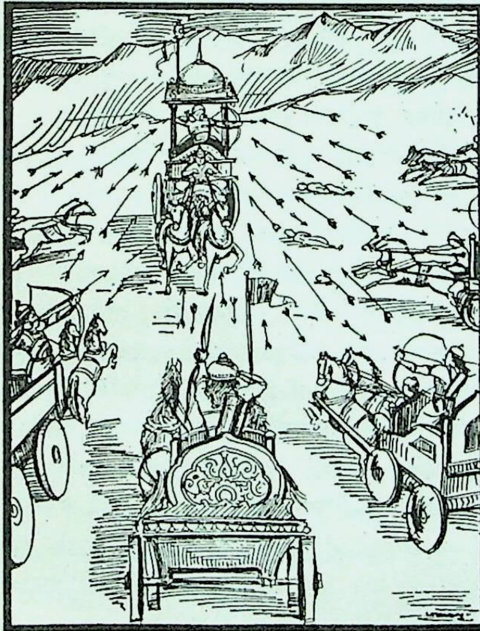
त्रिषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनपर समस्त कौरवपक्षीय महारथियोंका आक्रमण और सबका युद्धभूमिसे पीठ दिखाकर भागना

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनः कर्णो दुःशासनविविंशती।
द्रोणश्च सह पुत्रेण कृपश्चापि महारथः ॥ १ ॥
पुनर्ययुश्च संरब्धा धनंजयजिघांसवः।
विस्फारयन्तश्चापानि बलवन्ति दृढानि च ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन, विविंशति, पुत्रसहित आचार्य द्रोण और महारथी कृपाचार्य—ये सब योद्धा रोषमें भरकर धनंजयको मार डालनेकी इच्छासे अपने मजबूत और दृढ धनुषोंकी टंकार फैलाते हुए उनपर पुनः चढ़ आये ॥ १-२ ॥



तान् विकीर्णपताकेन रथेनादित्यवर्चसा।
प्रत्युद्ययौ महाराज समन्ताद् वानरध्वजः ॥ ३ ॥

महाराज! तब वानरयुक्त ध्वजावाले अर्जुन भी सूर्यके समान तेजस्वी तथा फहराती हुई पताकासे सुशोभित रथके द्वारा सब ओरसे उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ ३ ॥

ततः कृपश्च कर्णश्च द्रोणश्च रथिनां वरः।
तं महास्त्रैर्महावीर्यं परिवार्य धनंजयम् ॥ ४ ॥
शरौघान सम्यगस्यन्तो जीमूता इव वार्षिकाः।
ववर्षुः शरवर्षाणि पातयन्तो धनंजयम् ॥ ५ ॥

यह देख कृपाचार्य, कर्ण तथा रथियोंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण—ये महापराक्रमी धनंजयको (चारों ओरसे) घेरकर अपने महान् धनुषोंसे उनपर राशि-राशि बाणोंका खूब जमकर प्रहार करने लगे। वे तीनों महारथी धनंजयको मार गिरानेकी इच्छासे वर्षाकालके मेघोंकी भाँति सायकोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ ४-५ ॥

इषुभिर्बहुभिस्तूर्णं समरे लोमवाहिभिः।
अदूरात् पर्यवस्थाप्य पूरयामासुरादृताः ॥ ६ ॥

उन्होंने समरभूमिमें थोड़ी ही दूरपर पार्थकी गतिको कुण्ठित करके बड़े चावसे बहुसंख्यक पंखयुक्त बाणोंकी बौछार करते हुए उन्हें तुरंत ढँक दिया ॥ ६ ॥

तथा तैरवकीर्णस्य दिव्यैरस्त्रैः समन्ततः।
न तस्य द्व्यङ्गुलमपि विवृतं सम्प्रदृश्यते ॥ ७ ॥

वे महारथी जब इस प्रकार सब ओरसे अर्जुनपर दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंकी वर्षा करने लगे, उस समय उनके शरीरका दो अङ्गुल भाग भी बाणोंसे खाली नहीं दिखायी देता था ॥ ७ ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुर्दिव्यमैन्द्रं महारथः।
अस्त्रमादित्यसंकाशं गाण्डीवे समयोजयत् ॥ ८ ॥

तब महारथी अर्जुनने हँसकर गाण्डीव धनुषपर सूर्यके समान तेजस्वी दिव्य ऐन्द्रास्त्रका संधान किया ॥ ८ ॥

शररश्मिरिवादित्यः प्रतस्थे समरे बली।
किरीटमाली कौन्तेयः सर्वान् प्राच्छादयत् कुरून् ॥ ९ ॥

फिर तो महाबली किरीटमाली कुन्तीनन्दन अर्जुन सूर्यकी भाँति बाणरूपी प्रचण्ड किरणोंको बिखेरते हुए समरभूमिमें आगे बढ़े। उन्होंने समस्त कौरव-योद्धाओंको सायकोंसे ढँक दिया ॥ ९ ॥

यथा बलाहके विद्युत् पावको वा शिलोच्चये।
तथा गाण्डीवमभवदिन्द्रायुधमिवानतम् ॥ १० ॥

जैसे मेघोंमें बिजली और पर्वतपर आगकी ज्वाला शोभा पाती है, उसी प्रकार अर्जुनके हाथमें गाण्डीव धनुष सुशोभित होता था। वह आकाशमें इन्द्रधनुष-सा झुका हुआ था ॥१०॥

यथा वर्षति पर्जन्ये विद्युद् विभ्राजते दिवि।
द्योतयन्ती दिशः सर्वाः पृथिवीं च समन्ततः ॥ ११ ॥
तथा दश दिशः सर्वाः पतद्गाण्डीवमावृणोत्।
नागाश्च रथिनः सर्वे मुमुहुस्तत्र भारत ॥ १२ ॥

जैसे मेघके वर्षा करते समय आकाशमें बिजली चमक उठती है और वह सम्पूर्ण दिशाओं तथा पृथ्वीको भी सब ओरसे प्रकाशित कर देती है, उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करते हुए गाण्डीव धनुषने दसों दिशाओंको सम्पूर्णतया आच्छादित कर दिया। जनमेजय ! उस समय वहाँ हाथीसवार और रथी आदि सब सैनिक मोहित (मूर्च्छित) हो रहे थे ॥११-१२॥

सर्वे शान्तिपरा योधाः स्वचित्तानि न लेभिरे।
संग्रामे विमुखाः सर्वे योधास्ते हतचेतसः ॥ १३ ॥

सबने शान्ति (जड़ता और मूकता) धारण कर ली थी। किसीका होश ठिकाने न था। सभी योद्धाओंने हतोत्साह होकर युद्धसे मुँह मोड़ लिया ॥ १३ ॥

एवं सर्वाणि सैन्यानि भग्नानि भरतर्षभ।
व्यद्रवन्त दिशः सर्वा निराशानि स्वजीविते ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! इस प्रकार सारी सेनाका व्यूह टूट गया। सब सैनिक अपने जीवनसे निराश होकर चारों दिशाओंमें भागने लगे ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनसंकुलयुद्धे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय अर्जुनका संकुलयुद्धविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६३॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और भीष्मका अद्भुत युद्ध तथा मूर्च्छित भीष्मका सारथिद्वारा रणभूमिसे हटाया जाना

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो भरतानां पितामहः।
वध्यमानेषु योधेषु धनंजयमुपाद्रवत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भरतवंशके सुप्रसिद्ध वीर शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म अपने पक्षके योद्धाओंका संहार होता देख अर्जुनकी ओर दौड़े ॥१॥

प्रगृह्य कार्मुकश्रेष्ठं जातरूपपरिष्कृतम्।
शरानादाय तीक्ष्णाग्रान् मर्मभेदान् प्रमाथिनः ॥ २ ॥

उन्होंने हाथमें सुवर्णभूषित श्रेष्ठ धनुष और शत्रुओंको मथ डालनेवाले तीखे एवं मर्मभेदी बाण ले रक्खे थे ॥ २ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
शुशुभे स नरव्याघ्रो गिरिः सूर्योदये यथा ॥ ३ ॥

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे वे नरश्रेष्ठ भीष्म सूर्योदयकालमें उदयाचलकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ ३ ॥

प्रध्माय शङ्खं गाङ्गेयो धार्तराष्ट्रान् प्रहर्षयन्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य बीभत्सुं समवारयत् ॥ ४ ॥

गङ्गानन्दन भीष्मने शङ्ख बजाकर धृतराष्ट्रपुत्रोंका हर्ष बढ़ाया और दाहिनी ओर मुड़कर अर्जुनको आगे बढ़नेसे रोका ॥ ४ ॥

तमुदीक्ष्य समायान्तं कौन्तेयः परवीरहा।
प्रत्यगृह्णात् प्रहृष्टात्मा धाराधरमिवाचलः ॥ ५ ॥

शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले कुन्तीकुमार धनंजयने भीष्मको आते देख प्रसन्नचित्त होकर उनका सामना किया; ठीक उसी तरह, जैसे पर्वत अविचलभावसे खड़ा हो जल बरसानेवाले मेघका आघात सहन करता है ॥ ५ ॥

ततो भीष्मः शरानष्टौ ध्वजे पार्थस्य वीर्यवान्।
समार्पयन्महावेगाञ्छ्वसमानानिवोरगान् ॥ ६ ॥

तब पराक्रमी भीष्मने पार्थकी ध्वजापर फुफकारते हुए सर्पोंके समान अत्यन्त वेगशाली आठ बाण मारे ॥ ६ ॥

ते ध्वजं पाण्डुपुत्रस्य समासाद्य पतत्रिणः।
ज्वलन्तं कपिमाजघ्नुर्ध्वजाग्रनिलयांश्च तान् ॥ ७ ॥

उन बाणोंने पाण्डुनन्दन अर्जुनकी ध्वजाके समीप पहुँचकर वहाँ बैठे हुए तेजस्वी वानरको तथा ध्वजके अग्रभागमें निवास करनेवाले अन्य भूतोंको भी गहरी चोट पहुँचायी ॥

ततो भल्लेन महता पृथुधारेण पाण्डवः।
छत्रं चिच्छेद भीष्मस्य तूर्णं तदपतद् भुवि ॥ ८ ॥

तब पाण्डुकुमारने मोटी धारवाले विशाल भल्लके द्वारा भीष्मका छत्र काट दिया, जिससे वह तुरंत ही पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ८ ॥

ध्वजं चैवास्य कौन्तेयः शरैरभ्यहनद् भृशम्।
शीघ्रकृद् रथवाहांश्च तथोभौ पार्ष्णिसारथी ॥ ९ ॥

फिर कुन्तीनन्दनने शीघ्रता करते हुए उनकी ध्वजाको भी अपने बाणोंसे छेद डाला और रथके घोड़ों, पार्श्वरक्षकों तथा सारथिको भी बहुत घायल कर दिया ॥ ९ ॥

अमृष्यमाणस्तद् भीष्मो जानन्नपि स पाण्डवम् ।
दिव्येनास्त्रेण महता धनंजयमवाकिरत् ॥ १० ॥

भीष्मजी अपने सैनिकोंपर किये गये अर्जुनके उस पराक्रम-को सह न सके । वे यह जानते हुए भी कि ये पाण्डुपुत्र धनंजय हैं, महान् दिव्यास्त्रद्वारा उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १० ॥

तथैव पाण्डवो भीष्मे दिव्यमस्त्रमुदीरयन् ।
प्रत्यगृह्णादमेयात्मा महामेघमिवाचलः ॥ ११ ॥

परंतु असीम आत्मबलसे सम्पन्न पाण्डुपुत्र अर्जुन जैसे पर्वत महामेघका सामना करता है, उसी प्रकार भीष्मपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते हुए उनका सामना करने लगे ॥

तयोस्तदभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
भीष्मस्य सह पार्थेन बलिवासवयोरिव ॥ १२ ॥

उन दोनोंका वह तुमुल युद्ध रोंगटे खड़े कर देनेवाला था । पार्थके साथ भीष्मका वह संग्राम बलि और इन्द्रके युद्धके समान था ॥ १२ ॥

प्रैक्षन्त कुरवः सर्वे योधाश्च सहसैनिकाः ।
भल्लैर्भल्लाः समागम्य भीष्मपाण्डवयोर्युधि ।
अन्तरिक्षे व्यराजन्त खद्योताः प्रावृषीव हि ॥ १३ ॥

समस्त कौरव-योद्धा अपने सैनिकोंके साथ खड़े-खड़े तमाशा देखने लगे । रणभूमिमें भीष्म और पाण्डुकुमारके भल्ल एक-दूसरेसे टकराकर वर्षाकालके आकाशमें जुगुनुओंकी भाँति चमक उठते थे ॥ १३ ॥

अग्निचक्रमिवाविद्धं सव्यदक्षिणमस्यतः ।
गाण्डीवमभवद् राजन् पार्थस्य सृजतः शरान् ॥ १४ ॥
ततः संछादयामास भीष्मं शरशतैः शितैः ।
पर्वतं वारिधाराभिश्छादयन्निव तोयदः ॥ १५ ॥

राजन् ! दाँयें-बाँयें बाण फेंकनेवाले पार्थके द्वारा घुमाया जाता हुआ गाण्डीव धनुष अलातचक्रके समान जान पड़ता था । तदनन्तर जैसे मेघ अपनी जलधाराओंसे पर्वतको भी आच्छादित कर देता है, उसी प्रकार अर्जुनने सैकड़ों पैने बाणोंसे भीष्मको ढँक दिया ॥ १४-१५ ॥

तां स वेलामिवोद्भूतां शरवृष्टिं समुत्थिताम् ।
व्यधमत् सायकैर्भीष्मः पाण्डवं समवारयत् ॥ १६ ॥

जैसे समुद्रमें ज्वार आ गया हो, उसी प्रकार वहाँ प्रकट हुई उस बाणवर्षाको भीष्मने अपने सायकोंसे छिन्न-भिन्न कर दिया और पाण्डुपुत्र अर्जुनको कुण्ठित कर दिया ।१६।

ततस्तानि निकृत्तानि शरजालानि भागशः ।
समरे च व्यशीर्यन्त फाल्गुनस्य रथं प्रति ॥ १७ ॥

तदनन्तर रणभूमिमें कटकर टुकड़े-टुकड़े हुए वे बाण-समूह अर्जुनके रथपर बिखरने लगे ॥ १७ ॥

ततः कनकपुङ्खानां शरवृष्टिं समुत्थिताम् ।
पाण्डवस्य रथात् तूर्णं शलभानामिवायतिम् ।
व्यधमत् तां पुनस्तस्य भीष्मः शरशतैः शितैः ॥ १८ ॥

इसके बाद पुनः पाण्डुपुत्र अर्जुनके रथसे टिड्डियोंके दलकी भाँति तुरंत ही सोनेके पंखवाले बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ हुई; किंतु भीष्मने सैकड़ों पैने बाणोंद्वारा उसे फिर शान्त कर दिया ॥ १८ ॥

ततस्ते कुरवः सर्वे साधु साध्विति चाब्रुवन् ।
दुष्करं कृतवान् भीष्मो यदर्जुनमयोधयत् ॥ १९ ॥

उस समय समस्त कौरव साधुवाद देते हुए बोल उठे—'अहो ! भीष्मजीने यह दुष्कर पराक्रम किया, जो कि अर्जुनके साथ युद्ध किया' ॥ १९ ॥

बलवांस्तरुणो दक्षः क्षिप्रकारी धनंजयः ।
कोऽन्यः समर्थः पार्थस्य वेगं धारयितुं रणे ॥ २० ॥
ऋते शान्तनवाद् भीष्मात् कृष्णाद् वा देवकीसुतात् ।
आचार्यप्रवराद् वापि भारद्वाजान्महाबलात् ॥ २१ ॥

अर्जुन बलवान्, तरुण, कुशल और शीघ्रतापूर्वक बाण चलानेवाले हैं । शान्तनुनन्दन भीष्म, देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अथवा आचार्यप्रवर महाबली भरद्वाजनन्दन द्रोणके सिवा दूसरा कौन ऐसा है, जो संग्राममें पार्थका वेग रोक सके ? ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य क्रीडन्तौ भरतर्षभौ ।
चक्षूंषि सर्वभूतानां मोहयन्तौ महाबलौ ॥ २२ ॥

वे दोनों भरतकुलशिरोमणि महाबली वीर समस्त प्राणियोंके नेत्रोंमें मोह एवं आश्चर्य उत्पन्न करते हुए अस्त्रों-द्वारा एक-दूसरेके अस्त्रोंका निवारण करके खेल-सा कर रहे थे ॥ २२ ॥

प्राजापत्यं तथैवैन्द्रमाग्नेयं रौद्रदारुणम् ।
कौबेरं वारुणं चैव याम्यं वायव्यमेव च ।
प्रयुञ्जानौ महात्मानौ समरे तौ विचेरतुः ॥ २३ ॥

प्राजापत्य, ऐन्द्र, आग्नेय, भयंकर रौद्र, कौबेर, वारुण, याम्य तथा वायव्य अस्त्रोंका प्रयोग करते हुए वे दोनों महापुरुष समरभूमिमें विचर रहे थे ॥ २३ ॥

विस्मितान्यथ भूतानि तौ दृष्ट्वा संयुगे तदा ।
साधु पार्थ महाबाहो साधु भीष्मेति चाब्रुवन् ॥ २४ ॥

उस समय युद्धमें उन दोनोंकी ओर देखकर सब प्राणी आश्चर्यचकित हो बोल उठते थे—'महाबाहु पार्थ ! साधुवाद; महाबाहु भीष्म ! साधुवाद ॥ २४ ॥

नायं युक्तो मनुष्येषु योऽयं संदृश्यते महान् ।
महास्त्राणां सम्प्रयोगः समरे भीष्मपार्थयोः ॥ २५ ॥

'भीष्म और पार्थके युद्धमें जो यह बड़े-बड़े दिव्यास्त्रोंका

महान् प्रयोग देखा जा रहा है, यह मनुष्योंमें अन्यत्र कहीं सम्भव नहीं है' ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सर्वास्त्रविदुषोरस्त्रयुद्धमवर्तत ।
अस्त्रयुद्धे तु निर्वृत्ते शरयुद्धमवर्तत ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता भीष्म और अर्जुनमें कुछ कालतक दिव्यास्त्रोंका युद्ध चलता रहा । उसके समाप्त हो जानेपर पुनः बाणयुद्ध प्रारम्भ हुआ ॥ २६ ॥

अथ जिष्णुरुपावृत्य क्षुरधारेण कार्मुकम् ।
चकर्त भीष्मस्य तदा जातरूपपरिष्कृतम् ॥ २७ ॥

तदनन्तर विजयशील अर्जुनने निकट आकर छुरेके समान धारवाले एक बाणसे भीष्मके सुवर्णभूषित धनुषको काट डाला ॥ २७ ॥

निमेषान्तरमात्रेण भीष्मोऽन्यत् कार्मुकं रणे ।
समादाय महाबाहुः सज्यं चक्रे महारथः ।
शरांश्च सुबहून् क्रुद्धो मुमोचाशु धनंजये ॥ २८ ॥

किंतु विशाल भुजाओंवाले महारथी भीष्मने पलक मारते-मारते उस युद्धमें दूसरा धनुष ले उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और क्रोधमें भरकर धनंजयपर बहुत-से बाणोंका प्रहार किया ॥ २८ ॥

अर्जुनोऽपि शरांस्तीक्ष्णान् भीष्माय निशितान् बहून् ।
चिक्षेप सुमहातेजास्तथा भीष्मश्च पाण्डवे ॥ २९ ॥

तब महातेजस्वी अर्जुनने भी भीष्मपर बहुत-से पैने बाण फेंके और भीष्मने भी पाण्डुपुत्रको अनेक तीखे बाण मारे ।२९।

तयोर्दिव्यास्त्रविदुषोरस्यतोर्निशिताञ्छरान् ।
न विशेषस्तदा राजँल्लक्ष्यते स्म महात्मनोः॥ ३० ॥

राजन् ! वे दोनों महात्मा दिव्यास्त्रोंके पण्डित थे और एक दूसरेपर पैने बाण फेंक रहे थे । उस समय उन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ ३० ॥

अथावृणोद् दश दिशः शरैरतिरथस्तदा ।
किरीटमाली कौन्तेयः शूरः शान्तनवस्तथा ॥ ३१ ॥

किरीटमाली कुन्तीकुमार अर्जुन और शान्तनुनन्दन भीष्म दोनों ही अतिरथी वीर थे । उन्होंने अपने बाणोंसे दसों दिशाओंको आच्छादित कर दिया ॥ ३१ ॥

अतीव पाण्डवो भीष्मं भीष्मश्चातीव पाण्डवम् ।
बभूव तस्मिन् संग्रामे राजँल्लोके तदद्भुतम् ॥ ३२ ॥

राजा जनमेजय ! उस युद्धमें कभी पाण्डुपुत्र अर्जुन भीष्मसे बढ़ जाते थे, तो कभी भीष्म ही अर्जुनको लाँघ जाते थे । जगत्में यह एक अद्भुत बात थी ॥३२॥

पाण्डवेन हताः शूरा भीष्मस्य रथरक्षिणः ।
शेरते स्म तदा राजन् कौन्तेयस्याभितो रथम्॥ ३३ ॥

राजन् ! भीष्मके रथकी रक्षा करनेवाले शूरवीर सैनिक अर्जुनके द्वारा मारे जाकर उनके रथके दोनों ओर पड़े थे ॥ ३३ ॥

ततो गाण्डीवनिर्मुक्ता निरमित्रं चिकीर्षवः ।
आगच्छन् पुङ्खसंश्लिष्टाः श्वेतवाहनपत्रिणः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर श्वेतवाहन अर्जुनके पंखधारी बाण गाण्डीव धनुषसे छूटकर संसारको शत्रुरहित करनेकी इच्छासे सब ओर आने लगे ॥ ३४ ॥

निष्पतन्तो रथात् तस्य धौता हैरण्यवाससः ।
आकाशे समदृश्यन्त हंसानामिव पङ्क्तयः ॥ ३५ ॥

उनके रथसे निकलते हुए सुनहरे पंखवाले श्वेत बाण आकाशमें हंसोंकी पंक्तिसे दिखायी देते थे ॥ ३५ ॥

तस्य तद् दिव्यमस्त्रं हि विगाढं चित्रमस्यतः ।
प्रेक्षन्ते स्मान्तरिक्षस्थाः सर्वे देवाः सवासवाः ॥ ३६ ॥

अर्जुन विचित्र ढंगसे मर्मभेदी दिव्यास्त्रोंका प्रयोग कर रहे थे और आकाशमें खड़े हुए इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता उनका वह अस्त्रकौशल देख रहे थे ॥ ३६ ॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीतो गन्धर्वश्चित्रमद्भुतम् ।
शशंस देवराजाय चित्रसेनः प्रतापवान् ॥ ३७ ॥

उस समय प्रतापी चित्रसेन गन्धर्वने अर्जुनकी ओर देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो देवराज इन्द्रसे उनके विचित्र एवं अद्भुत रणकौशलकी प्रशंसा करते हुए कहा—॥ ३७ ॥

पश्येमान् पार्थनिर्मुक्तान् संसक्तानिव गच्छतः ।
चित्ररूपमिदं जिष्णोर्दिव्यमस्त्रमुदीर्यतः ॥ ३८ ॥

'प्रभो ! देखिये, ये पार्थके छोड़े हुए बाण परस्पर सटे हुए-से जा रहे हैं । दिव्यास्त्र प्रकट करनेवाले अर्जुनकी यह अस्त्र-संचालनकला विचित्र एवं अद्भुत है ॥ ३८ ॥

नेदं मनुष्याः संदध्युर्न हीदं तेषु विद्यते ।
पौराणानां महास्त्राणां विचित्रोऽयं समागमः ॥ ३९ ॥

'दूसरे मनुष्य इस दिव्यास्त्रका संधान नहीं कर सकते; क्योंकि यह अस्त्र दूसरे मनुष्योंके पास है ही नहीं । यहाँ प्राचीनकालके बड़े-बड़े अस्त्रोंका यह अद्भुत समागम हुआ है ॥ ३९ ॥

आददानस्य हि शरान् संधाय च विमुञ्चतः ।
विकर्षतश्च गाण्डीवं नान्तरं समदृश्यत ॥ ४० ॥

'अर्जुन कब बाण निकालते हैं, कब चढ़ाते हैं, कब छोड़ते हैं और कब गाण्डीव धनुषको खींचते हैं तथा इन क्रियाओंमें कितना अन्तर पड़ता है; यह सब किसीको दिखायी ही नहीं देता था ॥ ४० ॥

मध्यंदिनगतं सूर्यं प्रतपन्तमिवाम्बरे ।
नाशक्नुवन्त सैन्यानि पाण्डवं प्रति वीक्षितुम् ॥४१॥

'आकाशमें दोपहरके समय प्रचण्ड किरणोंसे तपते हुए सूर्यकी ओर जैसे कोई देख नहीं सकता, उसी प्रकार प्रतापी पाण्डुपुत्रकी ओर कौरव-सैनिक आँख उठाकर देखनेमें भी असमर्थ हो गये हैं ॥ ४१ ॥

तथैव भीष्मं गाङ्गेयं द्रष्टुं नोत्सहते जनः ॥ ४२ ॥

'इसी प्रकार गङ्गानन्दन भीष्मकी ओर भी कोई मनुष्य देखनेका साहस नहीं करता है ॥ ४२ ॥

उभौ विश्रुतकर्माणावुभौ तीव्रपराक्रमौ ।
उभौ सदृशकर्माणावुभौ युधि सुदुर्जयौ ॥ ४३ ॥

'दोनों वीर अपने अद्भुत कार्योंके लिये संसारमें प्रसिद्ध हैं। दोनोंके पराक्रम उग्र हैं। दोनों एक-सा पराक्रम दिखानेवाले तथा युद्धमें अत्यन्त दुर्जय हैं' ॥ ४३ ॥

इत्युक्तो देवराजस्तु पार्थभीष्मसमागमम् ।
पूजयामास दिव्येन पुष्पवर्षेण भारत ॥ ४४ ॥

जनमेजय! चित्रसेनके ऐसा कहनेपर देवराज इन्द्रने दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करके अर्जुन और भीष्मके इस अद्भुत संग्रामके प्रति आदर प्रकट किया ॥ ४४ ॥

ततः शान्तनवो भीष्मो वामं पार्श्वमताडयत् ।
पश्यतः प्रतिसंधाय विध्यतः सव्यसाचिनः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्मने (कौरवसेनाको) घायल करनेवाले सव्यसाची अर्जुनके देखते-देखते बाणसंधान करके उनका बाँयाँ पार्श्व बींध डाला ॥ ४५ ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुः पृथुधारेण कार्मुकम् ।
चिच्छेद गार्ध्रपत्रेण भीष्मस्यादित्यतेजसः ॥ ४६ ॥

तब अर्जुनने भी हँसकर मोटी धार एवं गीधकी पाँख-वाले बाणसे सूर्यके समान तेजस्वी भीष्मका धनुष फिर काट दिया ॥ ४६ ॥

अथैनं दशभिर्बाणैः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ।
यतमानं पराक्रान्तं कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ ४७ ॥

तत्पश्चात् कुन्तीपुत्र धनंजयने विजयके लिये प्रयत्नशील पराक्रमी भीष्मकी छातीमें दस बाण मारकर गहरी चोट पहुँचायी ॥ ४७ ॥

स पीडितो महाबाहुर्गृहीत्वा रथकूबरम् ।
गाङ्गेयो युद्धदुर्धर्षस्तस्थौ दीर्घमिवान्तरम् ॥ ४८ ॥

उससे पीड़ित हो रणदुर्धर्ष वीर महाबाहु भीष्म रथका कूबर पकड़कर बहुत देरतक निश्चेष्ट बैठे रह गये ॥ ४८ ॥

तं विसंज्ञमपोवाह संयन्ता रथवाजिनाम् ।
उपदेशमनुस्मृत्य रक्षमाणो महारथम् ॥ ४९ ॥

वे बेहोश थे। 'ऐसी दशामें सारथिको रथीकी रक्षा करनी चाहिये' इस उपदेशका स्मरण करके महारथी भीष्म-की प्राणरक्षाके उद्देश्यसे उनके रथ और घोड़ोंको काबूमें रखनेवाला सारथि उन्हें संग्रामभूमिसे दूर हटा ले गया। ४९।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि भीष्मापयाने चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें भीष्मके रणभूमिसे हटाये जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और दुर्योधनका युद्ध, विकर्ण आदि योद्धाओंसहित दुर्योधनका युद्धके मैदानसे भागना

वैशम्पायन उवाच

भीष्मे तु संग्रामशिरो विहाय
पलायमाने धृतराष्ट्रपुत्रः ।
उत्सृज्य केतुं विनदन् महात्मा
धनुर्विगृह्यार्जुनमाससाद ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब भीष्मजी युद्धका मुहाना छोड़कर दूर हट गये, तब धृतराष्ट्रपुत्र महामना दुर्योधन अपने रथकी पताका फहराकर हाथमें धनुष ले सिंहनाद करता हुआ अर्जुनपर चढ़ आया ॥ १ ॥

स भीमधन्वानमुदग्रवीर्यं
धनंजयं शत्रुगणे चरन्तम् ।
आकर्णपूर्णायतचोदितेन
विव्याध भल्लेन ललाटमध्ये ॥ २ ॥

उस समय भयंकर धनुष धारण करनेवाले प्रचण्ड पराक्रमी धनंजय शत्रुसेनामें विचर रहे थे । दुर्योधनने धनुषको कानतक खींचकर छोड़े हुए भल्लनामक बाणसे उनके ललाटमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २ ॥

स तेन बाणेन समर्पितेन
जाम्बूनदाग्रेण सुसंहितेन ।
रराज राजन् महनीयकर्मा
यथैकपर्वा रुचिरैकशृङ्गः ॥ ३ ॥

वह बाण अर्जुनके ललाटमें धँस गया । राजन् ! प्रशंसनीय पराक्रमवाले अर्जुन सुनहरी धारवाले उस धँसे हुए बाणके द्वारा उसी प्रकार सुशोभित हुए, जैसे एक सुन्दर शिखरवाला पर्वत अपने ऊपर उगे हुए एक ही बाँसके पेड़से शोभा पा रहा हो ॥ ३ ॥

अथास्य बाणेन विदारितस्य
प्रादुर्बभूवासृगजस्रमुष्णम् ।
स तस्य जाम्बूनदपुङ्खचित्रो
भित्त्वा ललाटं सुविराजते स्म ॥ ४ ॥

दुर्योधनके उस बाणसे अर्जुनका ललाट विदीर्ण हो गया और उससे गरम-गरम रक्तकी अविच्छिन्न धारा बहने लगी । जाम्बूनद सुवर्णकी पाँखवाला वह विचित्र बाण पार्थका ललाट छेदकर बड़ी शोभा पा रहा था ॥ ४ ॥

दुर्योधनश्चापि तमुग्रतेजाः
पार्थश्च दुर्योधनमेकवीरः ।
अन्योन्यमाजौ पुरुषप्रवीरौ
समौ समाजग्मतुराजमीढौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर उग्रतेजस्वी अद्वितीय वीर अर्जुनने दुर्योधनपर और दुर्योधनने अर्जुनपर आक्रमण किया । अजमीढवंशके वे दोनों प्रमुख वीर पुरुष एक समान पराक्रमी थे । उन्होंने संग्राममें एक-दूसरेपर बड़े वेगसे धावा किया ॥ ५ ॥

ततः प्रभिन्नेन महागजेन
महीधराभेन पुनर्विकर्णः ।
रथैश्चतुर्भिर्गजपादरक्षैः
कुन्तीसुतं जिष्णुमथाभ्यधावत् ॥ ६ ॥

उसी समय एक पर्वताकार विशाल गजराजपर, जिसके मस्तकसे मद टपक रहा था, चढ़कर विकर्ण पुनः विजयशाली कुन्तीनन्दन अर्जुनपर चढ़ आया । उसके साथ चार रथारोही योद्धा भी थे, जो हाथीके चारों पैरोंकी रक्षा करते थे ॥ ६ ॥

तमापतन्तं त्वरितं गजेन्द्रं
धनंजयः कुम्भविभागमध्ये ।
आकर्णपूर्णेन महायसेन
बाणेन विव्याध महाजवेन ॥ ७ ॥

गजराजको तीव्र गतिसे अपनी ओर आते देख धनंजयने धनुषको कानतक खींचकर चलाये हुए लोहेके अत्यन्त वेगशाली बाणद्वारा उसके कुम्भस्थलको बींध डाला ॥ ७ ॥

पार्थेन सृष्टः स तु गार्ध्रपत्र
आपुङ्खदेशात् प्रविवेश नागम् ।
विदार्य शैलप्रवरं प्रकाशं
यथाशनिः पर्वतमिन्द्रसृष्टः ॥ ८ ॥

पार्थका छोड़ा हुआ वह गीध पक्षीके परोंवाला बाण उस हाथीके मस्तकमें पंखसहित घुस गया; मानो इन्द्रका चलाया हुआ वज्र किसी प्रकाशपूर्ण गिरिराजको विदीर्ण करके उसके भीतर समा गया हो ॥ ८ ॥

शरप्रतप्तः स तु नागराजः
प्रवेपिताङ्गो व्यथितान्तरात्मा ।
संसीदमानो निपपात मह्यां
वज्राहतं शृङ्गमिवाचलस्य ॥ ९ ॥

वह गजराज अर्जुनके बाणसे संतप्त हो उठा । उसकी अन्तरात्मा व्यथित हो गयी और सारा शरीर काँपने लगा । जैसे वज्रका मारा हुआ पर्वतशिखर ढह जाता है, उसी प्रकार वह नागराज शिथिल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ९ ॥

निपातिते दन्तिवरे पृथिव्यां
त्रासाद् विकर्णः सहसावतीर्य ।
तूर्णं पदान्यष्टशतानि गत्वा
विविंशतेः स्यन्दनमारुरोह ॥ १० ॥

उस विशाल हाथीके धराशायी हो जानेपर विकर्ण बहुत डर गया और सहसा कूदकर शीघ्रतापूर्वक भाग गया और आठ सौ पग चलकर विविंशतिके रथपर चढ़ गया ॥ १० ॥

निहत्य नागं तु शरेण तेन
वज्रोपमेनाद्रिवराम्बुदाभम् ।
तथाविधेनैव शरेण पार्थो
दुर्योधनं वक्षसि निर्बिभेद ॥ ११ ॥

उस वज्रसदृश बाणद्वारा पर्वत तथा मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होनेवाले गजराजको मारकर पार्थने वैसे ही दूसरे बाणसे दुर्योधनकी छाती छेद डाली ॥ ११ ॥

ततो गजे राजनि चैव भिन्ने
भग्ने विकर्णे च सपादरक्षे ।
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैः प्रणुन्ना-
स्ते योधमुख्याः सहसापजग्मुः ॥१२॥

इस प्रकार गजराज और कुरुराज दोनोंके घायल होने तथा गजराजके पादरक्षकोंसहित विकर्णके भाग जानेपर गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए सायकोंकी मार खाकर पीड़ित हुए समस्त मुख्य-मुख्य योद्धा सहसा मैदान छोड़कर भाग गये ॥ १२ ॥

दृष्ट्वैव पार्थेन हतं च नागं
योधांश्च सर्वान् द्रवतो निशम्य ।
रथं समावृत्य कुरुप्रवीरो
रणात् प्रदुद्राव यतो न पार्थः ॥ १३ ॥

अर्जुनके हाथसे गजराज मारा गया और सम्पूर्ण योद्धा भी रणभूमि छोड़कर भाग रहे हैं, यह देखकर कुरुवंशका प्रमुख वीर दुर्योधन भी, जिस ओर अर्जुन नहीं थे, उसी दिशामें रथ घुमाकर भागा ॥ १३ ॥

तं भीमरूपं त्वरितं द्रवन्तं
दुर्योधनं शत्रुसहोऽभिषङ्गात् ।
प्रास्फोटयद् योद्धुमनाः किरीटी
बाणेन विद्धं रुधिरं वमन्तम् ॥ १४ ॥

उस समय दुर्योधनका रूप भयंकर हो रहा था । वह हार खाकर बाणसे घायल हो रक्त वमन करता हुआ भागा जा रहा था । यह देखकर शत्रुका वेग सहन करनेवाले किरीटधारी अर्जुनने ताल ठोंकी और मनमें युद्धके लिये उत्साह रखते हुए वे शत्रुको ललकारने लगे ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

विहाय कीर्तिं विपुलं यशश्च
युद्धात् परावृत्य पलायसे किम् ।
न तेऽद्य तूर्याणि समाहतानि
तथैव राज्यादवरोपितस्य ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरस्यास्मि निदेशकारी
पार्थस्तृतीयो युधि संस्थितोऽस्मि ।
तदर्थमावृत्य मुखं प्रयच्छ
नरेन्द्रवृत्तं स्मर धार्तराष्ट्र ॥ १६ ॥

अर्जुन बोले—धृतराष्ट्रके पुत्र ! तू युद्धसे पीठ दिखाकर क्यों भागा जा रहा है ? अरे ! ऐसा करके तू अपनी कीर्ति और विशाल यशसे हाथ धो बैठा है। आज तेरे विजयके बाजे पहले-जैसे नहीं बज रहे हैं। तूने जिन्हें राज्यसे उतार दिया है, उन्हीं महाराज युधिष्ठिरका आज्ञाकारी मैं तीसरा पाण्डव युद्धके लिये खड़ा हूँ । अतः तू मेरा सामना करनेके लिये लौटकर अपना मुँह तो दिखा । राजाका आचार-व्यवहार कैसा होना चाहिये, इसकी याद तो कर ले ॥ १५-१६ ॥

मोघं तवेदं भुवि नामधेयं
दुर्योधनेतीह कृतं पुरस्तात् ।
न हीह दुर्योधनता तवास्ति
पलायमानस्य रणं विहाय ॥ १७ ॥

व्यर्थ ही इस पृथ्वीपर तेरा नाम दुर्योधन रक्खा गया। तू तो युद्ध छोड़कर भागा जा रहा है; अतः यहाँ तुझमें दुर्योधन नामके अनुरूप कोई गुण नहीं है ॥ १७ ॥

न ते पुरस्तादथ पृष्ठतो वा
पश्यामि दुर्योधन रक्षितारम् ।
अपेहि युद्धात् पुरुषप्रवीर
प्राणान् प्रियान् पाण्डवतोऽद्य रक्ष ॥ १८ ॥

दुर्योधन ! अच्छा, तेरे आगे या पीछे कोई रक्षक नहीं दिखायी देता । अतः वीर पुरुष ! तू युद्धसे भाग जा और पाण्डुपुत्र अर्जुनके हाथसे आज अपने प्यारे प्राणोंकी रक्षा कर ले ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दुर्योधनापयाने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दुर्योधनका युद्धसे पलायनविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।६५।

षट्षष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा समस्त कौरवदलकी पराजय तथा कौरवोंका स्वदेशको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

आहूयमानश्च स तेन संख्ये
महात्मना वै धृतराष्ट्रपुत्रः ।
निवर्तितस्तस्य गिराङ्कुशेन
महागजो मत्त इवाङ्कुशेन ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा अर्जुनने जब इस प्रकार युद्धके लिये ललकारा, तब धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन अङ्कुशकी चोट खाये हुए मतवाले गजराजकी भाँति उनके कटुवचनरूपी अङ्कुशसे पीड़ित हो पुनः लौट पड़ा ॥ १ ॥

सोऽमृष्यमाणो वचसाभिमृष्टो
महारथेनातिरथस्तरस्वी ।
पर्याववर्ताथ रथेन वीरो
भोगी यथा पादतलाभिमृष्टः ॥ २ ॥

महारथी कुन्तीकुमारने अपने वचनोंद्वारा उसका तिरस्कार किया था; अतः वह वेगशाली अतिरथी वीर इस

अपमानको न सह सका, अतएव जैसे पैरोंसे कुचला हुआ सर्प बदला लेनेके लिये लौट पड़ता है, उसी प्रकार दुर्योधन अपने रथके साथ लौट आया ॥ २ ॥

तं प्रेक्ष्य कर्णः परिवर्तमानं
निवर्त्य संस्तभ्य च विद्धगात्रम् ।
दुर्योधनस्योत्तरतोऽभ्यगच्छत्
पार्थं नृवीरो युधि हेममाली ॥ ३ ॥

उसको लौटते देख कर्ण भी अपने घायल शरीरको किसी प्रकार सँभालकर लौट पड़ा और दुर्योधनके उत्तर (वाम) भागमें रहकर युद्धभूमिमें पार्थका सामना करनेके लिये चला। नरवीर कर्ण सोनेकी मालासे अलंकृत था ॥ ३ ॥

भीष्मस्ततः शान्तनवो विवृत्य
हिरण्यकक्ष्यस्त्वरयाभिषङ्गी ।
दुर्योधनं पश्चिमतोऽभ्यरक्षत्
पार्थान्महाबाहुरधिज्यधन्वा ॥ ४ ॥

तदनन्तर सुनहरे रंगकी चादर ओढ़े शान्तनुनन्दन भीष्म भी बड़े वेगसे रथ घुमाकर वहाँ आ पहुँचे। वे शत्रुको पराजित करनेमें समर्थ थे। महाबाहु भीष्म धनुषकी प्रत्यञ्चा चढ़ाकर पश्चिम या पीछेकी ओरसे पार्थके आक्रमणोंसे दुर्योधन-की रक्षा करने लगे ॥ ४ ॥

द्रोणः कृपश्चैव विविंशतिश्च
दुःशासनश्चैव विवृत्य शीघ्रम् ।
सर्वे पुरस्ताद् विततोरुचापा
दुर्योधनार्थं त्वरिताऽभ्युपेयुः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् द्रोण, कृपाचार्य, विविंशति और दुःशासन भी शीघ्र ही घूमकर आ गये। वे सब अपने विशाल धनुषको ताने हुए पूर्व या सामनेकी ओरसे दुर्योधनकी रक्षाके लिये बड़ी उतावलीके साथ आये थे ॥ ५ ॥

स तान्यनीकानि निवर्तमाना-
न्यालोक्य पूर्णौघनिभानि पार्थः ।
हंसो यथा मेघमिवापतन्तं
धनंजयः प्रत्यपतत् तरस्वी ॥ ६ ॥

जैसे सूर्य घिरती हुई मेघोंकी घटाको अपनी किरणोंसे तपाता है, उसी प्रकार वेगशाली कुन्तीपुत्र धनंजयने भारी जलप्रवाहके समान लौटती हुई उन कौरवसेनाओंको देख-कर उन्हें संताप देना आरम्भ किया ॥ ६ ॥

ते सर्वतः सम्परिवार्य पार्थ-
मस्त्राणि दिव्यानि समाददानाः ।
ववर्षुरभ्येत्य शरैः समन्ता-
न्मेघा यथा भूधरमम्बुवर्गैः ॥ ७ ॥

दिव्य अस्त्र धारण किये हुए उन योद्धाओंने अर्जुनको चारों ओरसे घेर लिया और जैसे बादल पहाड़के ऊपर सब ओरसे पानी बरसाते हैं, उसी प्रकार वे निकट आकर उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ७ ॥

ततोऽस्त्रमस्त्रेण निवार्य तेषां
गाण्डीवधन्वा कुरुपुङ्गवानाम् ।
सम्मोहनं शत्रुसहोऽन्यदस्त्रं
प्रादुश्चकारैन्द्रिरपारणीयम् ॥ ८ ॥

तब शत्रुओंका वेग सहन करनेवाले इन्द्रपुत्र गाण्डीव-धारी अर्जुनने अपने अस्त्रसे कौरवदलके उन श्रेष्ठ वीरोंके अस्त्रोंका निवारण करके सम्मोहन नामक दूसरा अस्त्र प्रकट किया, जिसका निवारण करना किसीके लिये भी असम्भव था ॥

ततो दिशश्चानुदिशो विवृत्य
शरैः सुधारैर्निशितैः सुपत्रैः ।
गाण्डीवघोषेण मनांसि तेषां
महाबलः प्रव्यथयाञ्चकार ॥ ९ ॥

फिर तो उन महाबलीने सुन्दर पंख और पैनी धार-वाले बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओं और दिक्कोणोंको आच्छादित करके गाण्डीव धनुषकी (भयंकर) टंकारसे कौरवयोद्धाओंके हृदयमें बड़ी व्यथा उत्पन्न कर दी ॥ ९ ॥

ततः पुनर्भीमरवं प्रगृह्य
दोर्भ्यां महाशङ्खमुदारघोषम् ।
व्यनादयत् स प्रदिशो दिशः खं
भुवं च पार्थो द्विषतां निहन्ता ॥ १० ॥

तत्पश्चात् शत्रुहन्ता कुन्तीकुमारने भयंकर शब्द करने-वाले अपने महाशङ्खको, जिसकी आवाज बहुत दूरतक सुनायी पड़ती थी, दोनों हाथोंसे थामकर बजाया। उसकी ध्वनि सम्पूर्ण दिशाओं-विदिशाओं, आकाश तथा पृथ्वीमें सब ओर गूँज उठी ॥ १० ॥

ते शङ्खनादेन कुरुप्रवीराः
सम्मोहिताः पार्थसमीरितेन ।
उत्सृज्य चापानि दुरासदानि
सर्वे तदा शान्तिपरा बभूवुः ॥ ११ ॥

अर्जुनके बजाये हुए उस शङ्खकी आवाजसे वे समस्त कौरव वीर मोहित (मूर्च्छित) हो गये और अपने दुर्लभ धनुषोंको त्यागकर सबके सब गहरी शान्ति (बेहोशी) में डूब गये ॥ ११ ॥

तथा विसंज्ञेषु च तेषु पार्थः
स्मृत्वा च वाक्यानि तथोत्तरायाः ।
निर्याहि मध्यादिति मत्स्यपुत्र-
मुवाच यावत् कुरवो विसंज्ञाः ॥ १२ ॥

आचार्यशारद्वतयोः सुशुक्ले
कर्णस्य पीतं रुचिरं च वस्त्रम् ।
द्रौणेश्च राज्ञश्च तथैव नीले
वस्त्रे समादत्स्व नरप्रवीर ॥ १३ ॥

उन कौरव महारथियोंके अचेत हो जानेपर अर्जुनको उत्तराकी कही हुई बातें स्मरण हो आयीं और उन्होंने मत्स्य-नरेशके पुत्र उत्तरसे कहा—'नरवीर ! ये कौरव अभी बेहोश पड़े हुए हैं । ये जबतक होशमें आवें, उसके पहले ही सेनाके बीचसे निकल जाओ । आचार्य द्रोण और कृपाचार्यके शरीरपर जो श्वेत वस्त्र सुशोभित हैं, कर्णके अङ्गोंपर जो सुन्दर पीले रंगका वस्त्र है, अश्वत्थामा तथा राजा दुर्योधनके शरीर-पर जो नीले रंगके कपड़े हैं, उन सबको उतार लो ॥ १२-१३ ॥

भीष्मस्य संज्ञां तु तथैव मन्ये
जानाति सोऽस्त्रप्रतिघातमेषः ।
एतस्य वाहान् कुरु सव्यतस्त्व-
मेवं हि यातव्यममूढसंज्ञैः ॥ १४ ॥

'मैं समझता हूँ, पितामह भीष्मको होश बना हुआ है; क्योंकि वे इस सम्मोहन अस्त्रको निवारण करनेकी विधि जानते हैं । उनके घोड़ोंको बायीं ओर छोड़कर जाना; क्योंकि जिनकी चेतना लुप्त नहीं हुई है, ऐसे वीरोंके निकटसे जाना हो, तो इसी प्रकार जाना चाहिये' ॥ १४ ॥

रश्मीन् समुत्सृज्य ततो महात्मा
रथादवप्लुत्य विराटपुत्रः ।
वस्त्राण्युपादाय महारथानां
तूर्णं पुनः स्वं रथमारुरोह ॥ १५ ॥

तब महामना विराटपुत्र घोड़ोंकी रास छोड़कर रथसे कूद पड़ा और उन महारथियोंके कपड़े लेकर फिर शीघ्र ही अपने रथपर चढ़ आया ॥ १५ ॥



ततोऽन्वशासच्चतुरः सदश्वान्
पुत्रो विराटस्य हिरण्यकक्षान् ।
ते तद् व्यतीयुर्ध्वजिनामनीकं
श्वेता वहन्तोऽर्जुनमाजिमध्यात् ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् विराटकुमारने सोनेके साज-सामानसे सुशोभित उन चारों सुन्दर घोड़ोंको हाँक दिया । वे श्वेत घोड़े अर्जुनको रथमें लिये हुए रणभूमिके मध्यभागसे निकले और रथारोहियोंकी ध्वजायुक्त सेनाका घेरा पार करके बाहर पहुँच गये ॥ १६ ॥

तथानुयान्तं पुरुषप्रवीरं
भीष्मः शरैरभ्यहनत् तरस्वी ।
स चापि भीष्मस्य हयान् निहत्य
विव्याध पार्थो दशभिः पृषत्कैः ॥ १७ ॥

मनुष्योंमें प्रधान वीर अर्जुनको इस प्रकार जाते देख वेगशाली भीष्मने बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया । तब अर्जुनने भी भीष्मके घोड़ोंको मारकर दस बाणोंसे उन्हें भी घायल कर दिया ॥ १७ ॥

ततोऽर्जुनो भीष्ममपास्य युद्धे
विद्ध्वास्य यन्तारमरिष्टधन्वा ।
तस्थौ विमुक्तो रथवृन्दमध्या-
न्मेघं विदार्येव सहस्ररश्मिः ॥ १८ ॥

दुर्भेद्य धनुषवाले अर्जुन भीष्मको युद्धभूमिमें छोड़कर और उनके सारथिको बाणोंसे बींधकर रथोंके घेरेसे बाहर जा खड़े हुए । उस समय वे बादलोंको छिन्न-भिन्न करके प्रकाशित होनेवाले सूर्यदेवकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ १८ ॥

लब्ध्वा हि संज्ञां तु कुरुप्रवीराः
पार्थं निरीक्ष्याथ सुरेन्द्रकल्पम् ।
रणे विमुक्तं स्थितमेकमाजौ
स धार्तराष्ट्रस्त्वरितं बभाषे ॥ १९ ॥

थोड़ी देर बाद होशमें आकर कौरववीरोंने देखा, देव-राज इन्द्रके समान पराक्रमी कुन्तीपुत्र अर्जुन युद्धमें रथोंके घेरेसे बाहर हो अकेले खड़े हैं । उन्हें इस अवस्थामें देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन तुरंत बोल उठा—॥ १९ ॥

अयं कथं वै भवतो विमुक्त-
स्तथा प्रमथ्नीत यथा न मुच्येत् ।
तमब्रवीच्छान्तनवः प्रहस्य
क्व ते गता बुद्धिरभूत् क्व वीर्यम् ॥ २० ॥
शान्तिं परां प्राप्य यदा स्थितोऽभू-
रुत्सृज्य बाणांश्च धनुर्विचित्रम् ।

'पितामह ! यह आपके हाथसे कैसे बच गया ? आप इसे इस प्रकार मथ डालिये, जिससे यह छूटने न पावे ।' तब

शान्तनुनन्दन भीष्मने हँसकर दुर्योधनसे कहा—'राजन् ! जब तू अपने विचित्र धनुष और बाणोंको त्यागकर यहाँ गहरी शान्तिमें डूबा हुआ अचेत पड़ा था; उस समय तेरी बुद्धि कहाँ गयी थी ? और पराक्रम कहाँ था ? ॥ २०½ ॥

न त्वेव बीभत्सुरलं नृशंसं
कर्तुं न पापेऽस्य मनो विशिष्टम् ॥ २१ ॥
त्रैलोक्यहेतोर्न जहेत् स्वधर्मं
सर्वे न तस्मान्निहता रणेऽस्मिन् ।
क्षिप्रं कुरून् याहि कुरुप्रवीर
विजित्य गाश्च प्रतियातु पार्थः ।
मा ते स्वकोऽर्थो निपतेत मोहात्
तत् संविधातव्यमरिष्टबन्धम् ॥ २२ ॥

'ये अर्जुन कभी निर्दयताका व्यवहार नहीं कर सकते । इनका मन कभी पापाचारमें प्रवृत्त नहीं होता । ये त्रिलोकीके राज्यके लिये भी अपना धर्म नहीं छोड़ सकते । यही कारण है कि इन्होंने इस युद्धमें हम सबके प्राण नहीं लिये । कुरुकुलके प्रमुख वीर ! अब तू शीघ्र ही कुरुदेशको लौट चल । अर्जुन भी गायोंको जीतकर लौट जायँ । अब मोहवश तेरा अपना स्वार्थ भी नष्ट न हो जाय, इसका ध्यान रख । सबको वही काम करना चाहिये, जिससे अपना कल्याण हो' ॥ २१-२२ ॥

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनस्तस्य तु तन्निशम्य
पितामहस्यात्महितं वचोऽथ ।
अतीतकामो युधि सोऽत्यमर्षी
राजा विनिःश्वस्य बभूव तूष्णीम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पितामहके ये अपने लिये हितकर वचन सुनकर राजा दुर्योधनके मनमें युद्धकी इच्छा नहीं रह गयी । वह भीतर-ही-भीतर अत्यन्त अमर्षका भार लिये लंबी साँसें भरता हुआ चुप हो गया ॥

तद् भीष्मवाक्यं हितमीक्ष्य सर्वे
धनंजयाग्निं च विवर्धमानम् ।
निवर्तनायैव मनो निदध्यु-
र्दुर्योधनं ते परिरक्षमाणाः ॥ २४ ॥

अन्य सब योद्धाओंको भी भीष्मजीका वह कथन हितकर जान पड़ा; क्योंकि युद्ध करनेसे तो धनंजयरूपी अग्नि उत्तरोत्तर बढ़कर प्रचण्ड रूप ही धारण करती जाती, यह सब सोचकर उन सबने दुर्योधनकी रक्षा करते हुए अपने देशको लौट जानेका ही निश्चय किया ॥ २४ ॥

तान् प्रस्थितान् प्रीतमनाः स पार्थो
धनंजयः प्रेक्ष्य कुरुप्रवीरान् ।
अभाषमाणोऽनुनयं मुहूर्तं
वचोऽब्रवीत् सम्परिहृत्य भूयः ॥ २५ ॥
पितामहं शान्तनवं च वृद्धं
द्रोणं गुरुं च प्रणिपत्य मूर्ध्ना ।

उन कौरववीरोंको वहाँसे प्रस्थान करते देख कुन्तीपुत्र धनंजय मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए । वे दो घड़ीतक किसीसे अनुनय-विनयपूर्ण वचन न कहकर मौन रहे । फिर लौटकर उन्होंने वृद्ध पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्यके चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और कुछ बातचीत भी की ॥

द्रौणिं कृपं चैव कुरूंश्च मान्या-
ञ्छरैर्विचित्रैरभिवाद्य चैव ॥ २६ ॥
दुर्योधनस्योत्तमरत्नचित्रं
चिच्छेद पार्थो मुकुटं शरेण ।

फिर अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा अन्य माननीय (बाह्लीक, सोमदत्त आदि) कौरवोंको बाणोंकी विचित्र रीतिसे नमस्कार करके पार्थने एक बाण मारकर दुर्योधनके उत्तम रत्नजटित विचित्र मुकुटको काट डाला ॥ २६½ ॥

आमन्त्र्य वीरांश्च तथैव मान्यान्
गाण्डीवघोषेण विनाद्य लोकान् ॥ २७ ॥
स देवदत्तं सहसा विनाद्य
विदार्य वीरो द्विषतां मनांसि ।

इसी प्रकार अन्य माननीय वीरोंसे भी विदा ले गाण्डीवकी टंकारसे सम्पूर्ण जगत्को प्रतिध्वनित करके वीर अर्जुनने सहसा देवदत्त नामक शङ्ख बजाया और शत्रुओंका दिल दहला दिया ॥ २७½ ॥

ध्वजेन सर्वानभिभूय शत्रून्
सहेममालेन विराजमानः ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा प्रयातांस्तु कुरून् किरीटी
हृष्टोऽब्रवीत् तत्र स मत्स्यपुत्रम् ।
आवर्तयाश्वान् पशवो जितास्ते
याताः परे याहि पुरं प्रहृष्टः ॥ २९ ॥

इस प्रकार अपने रथकी सुवर्णमालामण्डित ध्वजासे सम्पूर्ण शत्रुओंका तिरस्कार करके अर्जुन विजयोल्लाससे विशेष शोभा पाने लगे । कौरव चले गये, यह देखकर किरीटधारी अर्जुनको बड़ा हर्ष हुआ । उन्होंने मत्स्यनरेशके पुत्र उत्तरसे वहाँ इस प्रकार कहा—'राजकुमार ! अब घोड़ोंको लौटाओ । तुम्हारी गौओंको जीत लिया गया और शत्रु भाग गये; इसलिये अब तुम आनन्दपूर्वक नगरकी ओर चलो' ॥ २८-२९ ॥

देवास्तु दृष्ट्वा महदद्भुतं तद्
युद्धं कुरूणां सह फाल्गुनेन ।
जग्मुर्यथास्वं भवनं प्रतीताः
पार्थस्य कर्माणि विचिन्तयन्तः ॥ ३० ॥

अर्जुनके साथ होनेवाला कौरवोंका वह अत्यन्त अद्भुत युद्ध देखकर देवतालोग बड़े प्रसन्न हुए और अर्जुनके पराक्रमका स्मरण करते हुए अपने-अपने भवनको चले गये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि समस्तकौरवपलायने षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें समस्त कौरवोंके पलायनसे सम्बन्ध रखनेवाला छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ६६

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

विजयी अर्जुन और उत्तरका राजधानीकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततो विजित्य संग्रामे कुरून् स वृषभेक्षणः।
समानयामास तदा विराटस्य धनं महत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार बैल-सी विशाल आँखोंवाले अर्जुन उस समय युद्धमें कौरवोंको जीतकर विराटका वह महान् गोधन लौटा लाये ॥ १ ॥

गतेषु च प्रभग्नेषु धार्तराष्ट्रेषु सर्वतः।
वनान्निष्क्रम्य गहनाद् बहवः कुरुसैनिकाः ॥ २ ॥
भयात् संत्रस्तमनसः समाजग्मुस्ततस्ततः।
मुक्तकेशास्त्वदृश्यन्त स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा ॥ ३ ॥
क्षुत्पिपासापरिश्रान्ता विदेशस्था विचेतसः।

जब कौरव-दलके लोग चले गये या इधर-उधर सब दिशाओंमें भाग गये, उस समय बहुत-से कौरवसैनिक जो घने जंगलमें छिपे हुए थे, वहाँसे निकलकर डरते-डरते अर्जुनके पास आये। उनके मनमें भय समा गया था। वे भूखे-प्यासे और थके-माँदे थे। परदेशमें होनेके कारण उनके हृदयकी व्याकुलता और बढ़ गयी थी। वे उस समय केश खोले और हाथ जोड़े हुए खड़े दिखायी दिये ॥ २-३½ ॥

ऊचुः प्रणम्य सम्भ्रान्ताः पार्थ किं करवाम ते ॥ ४ ॥
(प्राणानन्तर्मनोयातान् प्रयाचिष्यामहे वयम्।
वयं चार्जुन ते दासा ह्यनुरक्ष्या ह्यनायकाः ॥

वे सब-के-सब अर्जुनको प्रणाम करके घबराये हुए बोले—'कुन्तीनन्दन! हम आपकी क्या सेवा करें? अर्जुन! हम आपसे हृदयके भीतर छिपे हुए अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये याचना करते हैं। हमलोग आपके दास और अनाथ हैं; अतः आपको सदा हमारी रक्षा करनी चाहिये' ॥

अर्जुन उवाच

अनाथान् दुःखितान् दीनान्
कृशान् वृद्धान् पराजितान्।
न्यस्तशस्त्रान् निराशांश्च
नाहं हन्मि कृताञ्जलीन् ॥)

स्वस्ति व्रजत वो भद्रं न भेतव्यं कथंचन।
नाहमार्ताञ्जिघांसामि भृशमाश्वासयामि वः ॥ ५ ॥

अर्जुनने कहा—सैनिको! जो लोग अनाथ, दुखी, दीन, दुर्बल, वृद्ध, पराजित, अस्त्र-शस्त्रोंको नीचे डाल देनेवाले, प्राणोंसे निराश एवं हाथ जोड़कर शरणागत होते हैं, उन सबको मैं नहीं मारता हूँ। तुम्हारा भला हो। तुम कुशलपूर्वक घर लौट जाओ। तुम्हें मेरी ओरसे किसी प्रकारका भय नहीं होना चाहिये। मैं संकटमें पड़े हुए मनुष्योंको नहीं मारना चाहता। इस बातके लिये मैं तुम्हें पूरा-पूरा विश्वास दिलाता हूँ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तामभयां वाचं श्रुत्वा योधाः समागताः।
आयुःकीर्तियशोदाभिस्तमाशीर्भिरनन्दयन् ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनकी वह अभयदानयुक्त वाणी सुनकर वहाँ आये हुए समस्त योद्धाओंने उन्हें आयु, कीर्ति तथा सुयश बढ़ानेवाले आशीर्वाद देते हुए उनका अभिनन्दन किया ॥ ६ ॥

ततोऽर्जुनं नागमिव प्रभिन्न-
मुत्सृज्य शत्रून् विनिवर्तमानम्।
विराटराष्ट्राभिमुखं प्रयान्तं
नाशक्नुवंस्तं कुरवोऽभियातुम् ॥ ७ ॥

उस समय अर्जुन शत्रुओंको छोड़कर—उन्हें जीवनदान दे, मदकी धारा बहानेवाले हाथीकी भाँति मस्तीकी चालसे विराटनगरकी ओर लौटे जा रहे थे। कौरवोंको उनपर आक्रमण करनेका साहस नहीं हुआ ॥ ७ ॥

ततः स तन्मेघमिवापतन्तं
विद्राव्य पार्थः कुरुसैन्यवृन्दम्।
मत्स्यस्य पुत्रं द्विषतां निहन्ता
वचोऽब्रवीत् सम्परिरभ्य भूयः ॥ ८ ॥

कौरवोंकी सेना मेघोंकी घटा-सी उमड़ आयी थी; किंतु शत्रुहन्ता पार्थने उसे मार भगाया। इस प्रकार शत्रुसेनाको परास्त करके अर्जुनने उत्तरको पुनः हृदयसे लगाकर कहा—॥

पितुः सकाशे तव तात सर्वे
वसन्ति पार्था विदितं तवैव।

तान् मा प्रशंसेर्नगरं प्रविश्य
भीतः प्रणश्येद्धि स मत्स्यराजः ॥ ९ ॥

'तात ! तुम्हारे पिताके समीप समस्त पाण्डव निवास करते हैं, यह बात अबतक तुम्हींको विदित हुई है; अतः तुम नगरमें प्रवेश करके पाण्डवोंकी प्रशंसा न करना, नहीं तो मत्स्यराज डरकर प्राण त्याग देंगे ॥ ९ ॥

मया जिता सा ध्वजिनी कुरूणां
मया च गावो विजिता द्विषद्भ्यः।
पितुः सकाशं नगरं प्रविश्य
त्वमात्मनः कर्म कृतं ब्रवीहि ॥ १० ॥

'राजधानीमें प्रवेश करके पिताके समीप जानेपर तुम यही कहना कि मैंने कौरवोंकी उस विशाल सेनापर विजय पायी है और मैंने ही शत्रुओंसे अपनी गौओंको जीता है । सारांश यह कि युद्धमें जो कुछ हुआ है, वह सब तुम अपना ही किया हुआ पराक्रम बताना' ॥ १० ॥

उत्तर उवाच

यत् ते कृतं कर्म न पारणीयं
तत् ते कर्म कर्तुं मम नास्ति शक्तिः।
न त्वां प्रवक्ष्यामि पितुः सकाशे
यावन्न मां वक्ष्यसि सव्यसाचिन् ॥ ११ ॥

उत्तरने कहा—सव्यसाचिन् ! आपने जो पराक्रम किया है, वह दूसरेके लिये असम्भव है । वैसा अद्भुत कर्म करनेकी मुझमें शक्ति नहीं है; तथापि जबतक आप मुझे आज्ञा न देंगे, तबतक पिताजीके निकट आपके विषयमें मैं कुछ भी नहीं कहूँगा ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

स शत्रुसेनामवजित्य जिष्णु-
राच्छिद्य सर्वं च धनं कुरुभ्यः ।
श्मशानमागत्य पुनः शमीं ता-
मभ्येत्य तस्थौ शरविक्षताङ्गः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विजयशील अर्जुन पूर्वोक्तरूपसे शत्रुसेनाको परास्त करके कौरवोंके हाथसे सारा गोधन छीन लेनेके बाद पुनः श्मशानभूमिमें उसी शमी-वृक्षके समीप आकर खड़े हुए । उस समय उनके सभी अङ्ग बाणोंके आघातसे क्षत-विक्षत हो रहे थे ॥ १२ ॥

ततः स वह्निप्रतिमो महाकपिः
सहैव भूतैर्दिवमुत्पपात ।
तथैव माया विहिता बभूव
ध्वजं च सैंहं युयुजे रथे पुनः ॥ १३ ॥

तदनन्तर वह अग्निके समान तेजस्वी महावानर ध्वज-निवासी भूतगणोंके साथ आकाशमें उड़ गया । उसी प्रकार ध्वजसहित वह दैवी माया भी विलीन हो गयी और अर्जुनके रथमें फिर वही सिंहध्वज लगा दिया गया ॥ १३ ॥

निधाय तच्चायुधमाजिवर्धनं

कुरूत्तमानामिषुधीः शरांस्तथा ।
प्रायात् स मत्स्यो नगरं प्रहृष्टः
किरीटिना सारथिना महात्मना ॥ १४ ॥

कुरुकुलशिरोमणि पाण्डवोंके युद्धक्षमतावर्धक आयुधों, तरकसों और बाणोंको फिर पूर्ववत् शमीवृक्षपर रखकर मत्स्य-कुमार उत्तर महात्मा अर्जुनको सारथि बना उनके साथ प्रसन्नतापूर्वक नगरको चला ॥ १४ ॥

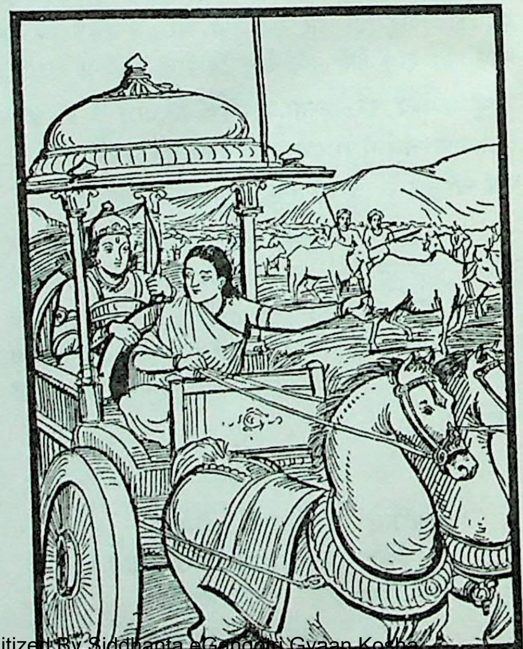
पार्थस्तु कृत्वा परमार्यकर्म
निहत्य शत्रून् द्विषतां निहन्ता ।
चकार वेणीं च तथैव भूयो
जग्राह रश्मीन् पुनरुत्तरस्य ।
विवेश हृष्टो नगरं महामना
बृहन्नलारूपमुपेत्य सारथिः ॥ १५ ॥

शत्रुहन्ता कुन्तीपुत्रने शत्रुओंको मारकर महान् वीरोचित पराक्रम करके पुनः पूर्ववत् सिरपर वेणी धारण कर ली और उत्तरके घोड़ोंकी रास सँभाली । इस प्रकार बृहन्नलाका रूप धारणकर महामना अर्जुनने सारथिके रूपमें प्रसन्नतापूर्वक राजधानीमें प्रवेश किया ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो निवृत्ताः कुरवः प्रभग्ना वशमास्थिताः ।
हस्तिनापुरमुद्दिश्य सर्वे दीना ययुस्तदा ॥ १६ ॥
पन्थानमुपसङ्गम्य फाल्गुनो वाक्यमब्रवीत् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर कौरव युद्धसे भागकर विवशतापूर्वक लौट गये। उन सबने दीनभावसे उस समय हस्तिनापुरकी ओर प्रस्थान किया । इधर अर्जुनने नगरके रास्तेमें आकर उत्तरसे कहा—॥ १६-१७ ॥



राजपुत्र प्रत्यवेक्ष समानीतानि सर्वशः।
गोकुलानि महाबाहो वीर गोपालकैः सह ॥ १८ ॥
ततोऽपराह्णे यास्यामो विराटनगरं प्रति।
आश्वास्य पाययित्वा च परिप्लाव्य च वाजिनः ॥ १९ ॥

'महाबाहु राजकुमार! देख लो, तुम्हारे सब गोधन ग्वालोंके साथ यहाँ आ गये हैं। वीर! अब हमलोग घोड़ोंको पानी पिला और नहलाकर उनकी थकावट दूर हो जानेके बाद अपराह्णकालमें विराटनगर चलेंगे ॥ १८-१९ ॥

गच्छन्तु त्वरिताश्चेमे गोपालाः प्रेषितास्त्वया।
नगरे प्रियमाख्यातुं घोषयन्तु च ते जयम् ॥ २० ॥

'तुम्हारेद्वारा भेजे हुए ये ग्वाले तुरंत नगरमें विजयका प्रिय संवाद सुनानेके लिये जायँ और यह घोषित कर दें कि राजकुमार उत्तरकी जीत हुई है' ॥२०॥

वैशम्पायन उवाच

अथोत्तरस्त्वरमाणः स दूता-
नाज्ञापयद् वचनात् फाल्गुनस्य।
आचक्षध्वं विजयं पार्थिवस्य
भग्नाः परे विजिताश्चापि गावः ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब अर्जुनके कथनानुसार उत्तरने बड़ी उतावलीके साथ दूतोंको आज्ञा दी—'जाओ और सूचित करो कि महाराजकी विजय हुई है। शत्रु भाग गये और गौएँ जीतकर वापस लायी गयी हैं' ॥

इत्येवं तौ भारतमत्स्यवीरौ
सम्मन्त्र्य सङ्गम्य ततः शमीं ताम्।
अभ्येत्य भूयो विजयेन तृप्ता-
वुत्सृष्टमारोपयतां स्वभाण्डम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार भरतकुल और मत्स्यकुलके उन दोनों वीरोंने आपसमें सलाह करके पूर्वोक्त शमीवृक्षके समीप जा पहलेके उतारे हुए अपने अलंकार आदि शरीरपर धारण कर लिये थे और उनके रखनेके पात्र (भी) रथपर चढ़ा लिये थे ॥ २२ ॥

स शत्रुसेनामभिभूय सर्वा-
माच्छिद्य सर्वं च धनं कुरुभ्यः।
वैराटिरायान्नगरं प्रतीतो
बृहन्नलासारथिना प्रवीरः ॥ २३ ॥

इस तरह शत्रुओंकी सम्पूर्ण सेनाको पराजित करके कौरवोंसे सारा गोधन छीनकर विराटकुमार वीर उत्तर बृहन्नला सारथिके साथ प्रसन्नतापूर्वक नगरकी ओर प्रस्थित हुआ ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरागमने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरका आगमन-विषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

राजा विराटकी उत्तरके विषयमें चिन्ता, विजयी उत्तरका नगरमें प्रवेश, प्रजाओंद्वारा उनका स्वागत, विराटद्वारा युधिष्ठिरका तिरस्कार और क्षमाप्रार्थना एवं उत्तरसे युद्धका समाचार पूछना

वैशम्पायन उवाच

धनं चापि विजित्याशु विराटो वाहिनीपतिः।
विवेश नगरं हृष्टश्चतुर्भिः पाण्डवैः सह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सेनाओंके स्वामी राजा विराटने (दक्षिण गोष्ठकी) गौओंको जीतकर शीघ्र ही चारों पाण्डवोंके साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक नगरमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

जित्वा त्रिगर्तान् संग्रामे गाश्चैवादाय सर्वशः।
अशोभत महाराज सहपार्थैः श्रिया वृतः ॥ २ ॥

महाराज! संग्राममें त्रिगर्तोंको हराकर सम्पूर्ण गौएँ वापस ले विजय-लक्ष्मीसे सम्पन्न महाराज विराट कुन्तीपुत्रोंके साथ बड़ी शोभा पाने लगे ॥ २ ॥

तमासनगतं वीरं सुहृदां हर्षवर्धनम्।
उपासाञ्चक्रिरे सर्वे सह पार्थैः परंतपाः ॥ ३ ॥

मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाले वीरवर विराट राजसिंहासनपर विराजमान हुए। उस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले सब शूरवीर कुन्तीपुत्रोंके साथ राजाकी सेवाके लिये उनके पास बैठे ॥ ३ ॥

उपतस्थुः प्रकृतयः समस्ता ब्राह्मणैः सह।
सभाजितः ससैन्यस्तु प्रतिनन्द्याथ मत्स्यराट् ॥ ४ ॥

फिर ब्राह्मणोंसहित समस्त प्रजावर्गके लोग उपस्थित हुए। सबने सेनासहित मत्स्यराजका अभिनन्दन एवं स्वागत-सत्कार किया ॥ ४ ॥

विसर्जयामास तदा द्विजांश्च प्रकृतीस्तथा।
तथा स राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ॥ ५ ॥
उत्तरं परिपप्रच्छ क्व यात इति चाब्रवीत्।
आचख्युस्तस्य तत् सर्वं स्त्रियः कन्याश्च वेश्मनि ॥ ६ ॥

तदनन्तर मत्स्यदेशके राजा सेनाओंके स्वामी विराटने

ब्राह्मणों तथा प्रजावर्गके लोगोंको विदा कर दिया और (अन्तःपुरमें जाकर) उत्तरके विषयमें पूछा—'राजकुमार उत्तर कहाँ गये हैं ?' तब घरमें रहनेवाली स्त्रियों और कन्याओंने उनसे सब बातें बतायीं—॥ ५-६ ॥

अन्तःपुरचराश्चैव कुरुभिर्गोधनं हृतम्।
विजेतुमभिसंरब्ध एक एवातिसाहसात्।
बृहन्नलासहायश्च निर्गतः पृथिवीञ्जयः ॥ ७ ॥

'इसी प्रकार अन्तःपुरमें रहनेवाली स्त्रियोंने भी बताया कि कौरवोंने हमारे गोष्ठका गोधन हर लिया है, अतः कुमार भूमिंजय अत्यन्त साहसके कारण क्रोधमें भरकर अकेले ही उन गौओंको जीत लानेके लिये बृहन्नलाके साथ निकले हैं ॥

उपयातानतिरथान् भीष्मं शान्तनवं कृपम्।
कर्णं दुर्योधनं द्रोणं द्रोणपुत्रं च षड् रथान् ॥ ८ ॥

'सुना है, शान्तनुनन्दन भीष्म, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, द्रोणाचार्य तथा द्रोणपुत्र अश्वत्थामा—ये छः अतिरथी वीर युद्धके लिये आये हैं' ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

राजा विराटोऽथ भृशाभितप्तः
श्रुत्वा सुतं त्वेकरथेन यातम्।
बृहन्नलासारथिमाजिवर्धनं
प्रोवाच सर्वानथ मन्त्रिमुख्यान्॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युद्धमें आगे बढ़नेवाले अपने पुत्रको बृहन्नला सारथिके साथ एकमात्र रथकी सहायतासे कौरवोंका सामना करनेके लिये गया हुआ सुनकर राजा विराटको बड़ा संताप हुआ । उन्होंने (अपने) सभी प्रधान मन्त्रियोंसे कहा—॥ ९ ॥

सर्वथा कुरवस्ते हि ये चान्ये वसुधाधिपाः।
त्रिगर्तान् निःसृताञ्छ्रुत्वा न स्थास्यन्ति कदाचन ।१०।

'कौरव हों या दूसरे कोई राजा, जब वे सुनेंगे कि त्रिगर्त लोग युद्धमें पीठ दिखाकर भाग गये हैं, तब वे कदापि यहाँ ठहर नहीं सकेंगे ॥ १० ॥

तस्माद् गच्छन्तु मे योधा बलेन महता वृताः।
उत्तरस्य परीप्सार्थं ये त्रिगर्तैरविक्षताः ॥ ११ ॥

'अतः मेरे सैनिकोंमेंसे जो लोग त्रिगर्तोंके साथ होनेवाले युद्धमें घायल नहीं हुए हों, वे सब विशाल सेनाके साथ राजकुमार उत्तरकी रक्षाके लिये जायँ' ॥ ११ ॥

हयांश्च नागांश्च रथांश्च शीघ्रं
पदातिसङ्घांश्च ततः प्रवीरान्।
प्रस्थापयामास सुतस्य हेतो-
र्विचित्रशस्त्राभरणोपपन्नान् ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने पुत्रकी रक्षाके लिये विचित्र-विचित्र आयुधों और आभूषणोंसे विभूषित घुड़सवारों, हाथीसवारों, रथारोहियों तथा पैदल योद्धाओंके समूहोंको, जो बड़े शूरवीर थे, भेजा ॥ १२ ॥

एवं स राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः।
व्यादिदेशाथ तां क्षिप्रं वाहिनीं चतुरङ्गिणीम् ॥ १३ ॥
कुमारमाशु जानीत यदि जीवति वा न वा।
यस्य यन्ता गतः षण्ढो मन्येऽहं स न जीवति॥ १४ ॥

इस प्रकार सेनाओंके स्वामी मत्स्यनरेश विराटने अपनी उस चतुरंगिणी सेनाको शीघ्र आदेश दिया, 'जाओ, शीघ्र पता लगाओ । कुमार जीवित हैं या नहीं । एक हिजड़ा जिसका सारथि बनकर गया है, वह मेरी समझसे तो अब जीवित नहीं होगा' ॥ १३-१४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमब्रवीद् धर्मराजो विहस्य
विराटराजं तु भृशाभितप्तम्।
बृहन्नला सारथिश्चेन्नरेन्द्र
परे न नेष्यन्ति तवाद्य गास्ताः ॥ १५ ॥
सर्वान् महीपान् सहितान् कुरूंश्च
तथैव देवासुरसिद्धयक्षान्।
अलं विजेतुं समरे सुतस्ते
स्वनुष्ठितः सारथिना हि तेन ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा विराटको बहुत दुखी देखकर धर्मराज युधिष्ठिरने उनसे हँसकर कहा—'नरेन्द्र ! यदि बृहन्नला सारथि है, तो यह विश्वास कीजिये कि शत्रु आज आपकी वे गौएँ नहीं ले जा सकेंगे । उस हितैषी सारथिके सहयोगसे सब कार्य ठीक-ठीक कर लेनेपर आपका पुत्र युद्धमें समस्त राजाओं तथा संगठित होकर आये हुए कौरवोंकी तो बात ही क्या, देवता, असुर, सिद्ध और यक्षोंपर भी निश्चय ही विजय पा सकता है' ॥ १५-१६ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथोत्तरेण प्रहिता दूतास्ते शीघ्रगामिनः।
विराटनगरं प्राप्य विजयं समवेदयन् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इसी समय उत्तरके भेजे हुए शीघ्रगामी दूतोंने विराटनगरमें आकर विजयकी सूचना दी ॥ १७ ॥

राज्ञस्तत् सर्वमाचख्यौ मन्त्री विजयमुत्तमम्।
पराजयं कुरूणां चाप्युपायान्तं तथोत्तरम् ॥ १८ ॥
सर्वा विनिर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः।
उत्तरः सह सूतेन कुशली च परंतपः ॥ १९ ॥

मन्त्रीने वह सब समाचार महाराजसे कह सुनाया । अपने पक्षकी उत्तम विजय और कौरवोंकी करारी हार हुई है । राजकुमार उत्तर नगरमें आ रहे हैं । समस्त गौएँ जीत

ली गया तथा कौरव परास्त होकर भाग गये। शत्रुओंको संताप देनेवाले कुमार उत्तर सारथिसहित सकुशल हैं ॥

युधिष्ठिर उवाच

दिष्ट्या विनिर्जिता गावः कुरवश्च पलायिताः।
नाद्भुतं त्वेव मन्येऽहं यत् ते पुत्रोऽजयत् कुरून् ॥ २० ॥
ध्रुव एव जयस्तस्य यस्य यन्ता बृहन्नला।
(देवेन्द्रसारथिश्चैव मातलिर्लघुविक्रमः।
कृष्णस्य सारथिश्चैव न बृहन्नलया समौ ॥)

युधिष्ठिरने कहा—महाराज ! सौभाग्यकी बात है कि गौएँ जीत ली गयीं और कौरव भाग गये। आपके पुत्रने कौरवोंपर जो विजय पायी है, उसे मैं कोई आश्चर्यकी बात नहीं मानता। जिसका सारथि बृहन्नला हो, उसकी विजय तो निश्चित ही है। देवराज इन्द्रका शीघ्रगामी सारथि मातलि तथा श्रीकृष्णका सारथि दारुक—ये दोनों बृहन्नलाकी समानता नहीं कर सकते ॥ २०½ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो विराटो नृपतिः सम्प्रहृष्टतनूरुहः ॥ २१ ॥
श्रुत्वा स विजयं तस्य कुमारस्यामितौजसः।
आच्छादयित्वा दूतांस्तान् मन्त्रिणं सोऽभ्यचोदयत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपने अमित-पराक्रमी कुमारकी विजयका समाचार सुनकर राजा विराट बड़े प्रसन्न हुए। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उन्होंने वस्त्र और आभूषणोंसे उन दूतोंका सत्कार किया और मन्त्री-को आज्ञा दी—॥ २१-२२ ॥

राजमार्गाः क्रियन्तां मे पताकाभिरलंकृताः।
पुष्पोपहारैरर्च्यन्तां देवताश्चापि सर्वशः ॥ २३ ॥
कुमारा योधमुख्याश्च गणिकाश्च स्वलंकृताः।
वादित्राणि च सर्वाणि प्रत्युद्यान्तु सुतं मम ॥ २४ ॥

'मेरे नगरकी सड़कोंको पताकाओंसे अलकृत किया जाय। फूलों तथा नाना प्रकारके उपहारोंसे सब देवताओंकी पूजा होनी चाहिये। कुमार, मुख्य-मुख्य योद्धा, शृङ्गारसे सुशोभित वाराङ्गनाएँ और सब प्रकारके बाजे-गाजे मेरे पुत्रकी अगवानीमें भेजे जायँ ॥ २३-२४ ॥

घण्टावान् मानवः शीघ्रं मत्तमारुह्य वारणम्।
शृङ्गाटकेषु सर्वेषु आख्यातु विजयं मम ॥ २५ ॥
उत्तरा च कुमारीभिर्बह्वीभिः परिवारिता।
शृङ्गारवेषाभरणा प्रत्युद्यातु सुतं मम ॥ २६ ॥

'एक मनुष्य शीघ्र ही हाथमें घण्टा लिये मतवाले गज-राजपर बैठ जाय और नगरके समस्त चौराहोंपर हमारी विजयका संवाद सुनावे। राजकुमारी उत्तरा भी उत्तम शृङ्गार और सुन्दर वेष-भूषासे सुशोभित हो अन्य राजकुमारियोंके साथ मेरे पुत्रकी अगवानीमें जाय' ॥ २५-२६ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा चेदं वचनं पार्थिवस्य
सर्वं पुरं स्वस्तिकपाणिभूतम्।
भेर्यश्च तूर्याणि च वारिजाश्च
वेषैः परार्ध्यैः प्रमदाः शुभाश्च ॥ २७ ॥
तथैव सूतैः सह मागधैश्च
नान्दीवाद्याः पणवास्तूर्यवाद्याः।
पुराद् विराटस्य महाबलस्य
प्रत्युद्ययुः पुत्रमनन्तवीर्यम् ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! राजाकी इस आज्ञाको सुनकर बहुमूल्य वेशभूषासे सुशोभित सौभाग्यवती तरुणी स्त्रियों, सूत, मागध और बंदीजनोंसहित समस्त पुरवासी, हाथोंमें माङ्गलिक वस्तुएँ लेकर भेरी, तूर्य, शङ्ख तथा पणव आदि माङ्गलिक बाजे साथ लिये महाबली विराटके अनन्त पराक्रमी पुत्र उत्तरकी अगवानी करनेके लिये नगरसे बाहर गये ॥ २७-२८ ॥

प्रस्थाप्य सेनां कन्याश्च गणिकाश्च स्वलङ्कृताः।
मत्स्यराजो महाप्राज्ञः प्रहृष्ट इदमब्रवीत् ॥ २९ ॥

राजन् ! तदनन्तर सेना, सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कन्याओं और वाराङ्गनाओंको भेजकर परम बुद्धिमान् मत्स्यनरेश हर्षोल्लासमें भरकर इस प्रकार बोले—॥ २९ ॥

अक्षानाहर सैरन्ध्रि कङ्क द्यूतं प्रवर्तताम्।
तं तथावादिनं दृष्ट्वा पाण्डवः प्रत्यभाषत ॥ ३० ॥

'सैरन्ध्री ! जा, पासे ले आ। कङ्क ! जूआ प्रारम्भ हो।' उन्हें ऐसा कहते देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर बोले—॥

न देवितव्यं हृष्टेन कितवेनेति नः श्रुतम्।
तं त्वामद्य मुदा युक्तं नाहं देवितुमुत्सहे।
प्रियं तु ते चिकीर्षामि वर्ततां यदि मन्यसे ॥ ३१ ॥

'राजन् ! मैंने सुना है जब चालाक जुआरी अत्यन्त हर्षमें भरा हो, तो उसके साथ जूआ नहीं खेलना चाहिये। आज आप भी बड़े आनन्दमें मग्न हैं; अतः आपके साथ जूआ खेलनेका साहस नहीं होता, तथापि आपका प्रिय कार्य तो करना ही चाहता हूँ; अतः यदि आपकी इच्छा हो, तो खेल शुरू हो सकता है' ॥ ३१ ॥

विराट उवाच

स्त्रियो गावो हिरण्यं च यच्चान्यद् वसु किञ्चन।
न मे किञ्चित् त्वया रक्ष्यमन्तरेणापि देवितुम् ॥ ३२ ॥

विराटने कहा—स्त्रियाँ, गौएँ, सुवर्ण तथा अन्य जो कोई भी धन सुरक्षित रक्खा जाता है, बिना जूएके वह सब मुझे कुछ नहीं चाहिये। (मुझे तो जूआ ही सबसे अधिक प्रिय है) ॥ ३२ ॥

कङ्क उवाच

किं ते द्यूतेन राजेन्द्र बहुदोषेण मानद ।
देवने बहवो दोषास्तस्मात् तत् परिवर्जयेत् ॥ ३३ ॥

कङ्क बोले—सबको मान देनेवाले महाराज ! आपको जूएसे क्या लेना है ? इसमें तो बहुत-से दोष हैं । जूआ खेलनेमें अनेक दोष होते हैं, इसलिये इसे त्याग देना चाहिये ॥ ३३ ॥

श्रुतस्ते यदि वा दृष्टः पाण्डवेयो युधिष्ठिरः ।
स राष्ट्रं सुमहत् स्फीतं भ्रातॄंश्च त्रिदशोपमान् ॥ ३४ ॥
राज्यं हारितवान् सर्वं तस्माद् द्यूतं न रोचये ।
(निःसंशयं स कितवः पश्चात् तप्यति पाण्डवः ॥
विविधानां च रत्नानां धनानां च पराजये ।
अस्मिन् क्षितिविनाशश्च वाक्पारुष्यमनन्तरम् ॥
अविश्वास्यं बुधैर्नित्यमेकाह्ना द्रव्यनाशनम् ।)
अथवा मन्यसे राजन् दीव्याम यदि रोचते ॥ ३५ ॥

आपने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको देखा होगा अथवा उनका नाम तो अवश्य सुना होगा । वे अपने अत्यन्त समृद्धिशाली राष्ट्रको, देवताओंके समान तेजस्वी भाइयोंको तथा समूचे राज्यको भी जूएमें हार गये थे । अतः मैं जूएको पसंद नहीं करता । नाना प्रकारके रत्नों और धनको हार जानेके कारण अब वे जुआरी युधिष्ठिर निश्चय ही पश्चात्ताप करते होंगे । इस जूएमें आसक्त होनेपर राज्यका नाश होता है, फिर जुआरी एक दूसरेके प्रति कटु वचनोंका प्रयोग करते हैं । जूआ एक ही दिनमें महान् धनराशिका नाश करनेवाला है । अतः विद्वान् पुरुषोंको इस (धोखा देनेवाले जूए) पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये । राजन् ! तो भी यदि आपकी रुचि और आग्रह हो, तो हम खेलेंगे ही ॥ ३४-३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रवर्तमाने द्यूते तु मत्स्यः पाण्डवमब्रवीत् ।
पश्य पुत्रेण मे युद्धे तादृशाः कुरवो जिताः ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जूएका खेल आरम्भ हो गया । खेलते-खेलते मत्स्यराजने पाण्डुनन्दनसे कहा—'देखो; आज मेरे बेटेने युद्धमें उन प्रसिद्ध कौरवोंपर विजय पायी है' ॥ ३६ ॥

ततोऽब्रवीन्महात्मा स एनं राजा युधिष्ठिरः ।
बृहन्नला यस्य यन्ता कथं स न जयेद् युधि ॥ ३७ ॥

तब महात्मा राजा युधिष्ठिरने विराटसे कहा—'बृहन्नला जिसका सारथि हो, वह युद्धमें कैसे नहीं जीतेगा ?' ॥ ३७ ॥

इत्युक्तः कुपितो राजा मत्स्यः पाण्डवमब्रवीत् ।
समं पुत्रेण मे षण्ढं ब्रह्मबन्धो प्रशंससि ॥ ३८ ॥

यह सुनते ही मत्स्यनरेश कुपित हो उठे और पाण्डुनन्दनसे बोले—'अधम ब्राह्मण ! तू मेरे पुत्रके समान एक हिजड़ेकी प्रशंसा करता है ! ॥ ३८ ॥

वाच्यावाच्यं न जानीषे नूनं मामवमन्यसे ।
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वान् कस्मान्न स विजेष्यति ॥ ३९ ॥
वयस्यत्वात् तु ते ब्रह्मन्नपराधमिमं क्षमे ।
नेदृशं तु पुनर्वाच्यं यदि जीवितुमिच्छसि ॥ ४० ॥

'क्या कहना चाहिये और क्या नहीं, इसका तुझे ज्ञान नहीं है । निश्चय ही तू अपनी बातोंसे मेरा अपमान कर रहा है । भला मेरा पुत्र भीष्म-द्रोण आदि समस्त वीरोंको क्यों नहीं जीत लेगा ? ब्रह्मन् ! मित्र होनेके नाते ही मैं तुम्हारे इस अपराधको क्षमा करता हूँ । यदि जीनेकी इच्छा हो, तो फिर ऐसी बात न कहना' ॥ ३९-४० ॥

युधिष्ठिर उवाच

यत्र द्रोणस्तथा भीष्मो द्रौणिर्वैकर्तनः कृपः ।
दुर्योधनश्च राजेन्द्रस्तथान्ये च महारथाः ॥ ४१ ॥
मरुद्गणैः परिवृतः साक्षादपि मरुत्पतिः ।
कोऽन्यो बृहन्नलायास्तान् प्रतियुध्येत सङ्गतान् ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर बोले—जहाँ द्रोणाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा, कर्ण, कृपाचार्य, राजा दुर्योधन तथा अन्य महारथी उपस्थित हों, वहाँ बृहन्नलाके सिवा दूसरा कौन पुरुष, चाहे वह देवताओंसे घिरा हुआ साक्षात् देवराज इन्द्र ही क्यों न हो, उन सब संगठित वीरोंका सामना कर सकता है ? ॥ ४१-४२ ॥

यस्य बाहुबले तुल्यो न भूतो न भविष्यति ।
अतीव समरं दृष्ट्वा हर्षो यस्योपजायते ॥ ४३ ॥
योऽजयत् सङ्गतान् सर्वान्ससुरासुरमानवान् ।
तादृशेन सहायेन कस्मात् स न विजेष्यते ॥ ४४ ॥

बाहुबलमें जिसकी समानता करनेवाला न कोई हुआ है और न होगा ही, युद्धका अवसर आया देखकर जिसे अत्यन्त हर्ष होता है, जिसने युद्धमें एकत्र हुए देवता, असुर और मनुष्य—सबको जीत लिया है, वैसे बृहन्नला-जैसे सहायकके होनेपर राजकुमार उत्तर विजयी क्यों न होंगे ? ॥ ४३-४४ ॥

विराट उवाच

बहुशः प्रतिषिद्धोऽसि न च वाचं नियच्छसि ।
नियन्ता चेन्न विद्येत न कश्चिद् धर्ममाचरेत् ॥ ४५ ॥

विराटने कहा—कङ्क ! मैंने बहुत बार मना किया, तो भी तू अपनी जबान नहीं बंद कर रहा है । सच है, यदि शासन करनेवाला राजा न हो, तो कोई भी धर्मका आचरण नहीं कर सकता ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रकुपितो राजा तमक्षेणाहनद् भृशम् ।
मुखे युधिष्ठिरं कोपान्नैवमित्येव भर्त्सयन् ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इतना कहकर कोपमें भरे हुए राजा विराटने वह पासा युधिष्ठिरके मुखपर जोरसे दे मारा तथा रोषपूर्वक डाँटते हुए उनसे कहा—'फिर कभी ऐसी बात न कहना' ॥ ४६ ॥

बलवत् प्रतिविद्धस्य नस्तः शोणितमावहत्।
तदप्राप्तं महीं पार्थः पाणिभ्यां प्रत्यगृह्णत ॥ ४७ ॥
अवैक्षत स धर्मात्मा द्रौपदीं पार्श्वतः स्थिताम्।
सा ज्ञात्वा तमभिप्रायं भर्तुश्चित्तवशानुगा ॥ ४८ ॥
पात्रं गृहीत्वा सौवर्णं जलपूर्णमनिन्दिता।
तच्छोणितं प्रत्यगृह्णाद् यत् प्रसुस्राव नस्ततः ॥ ४९ ॥

पासेका आघात जोरसे लगा था, अतः उनकी नाकसे रक्तकी धारा बह चली। किंतु धर्मात्मा युधिष्ठिरने उस रक्तको पृथ्वीपर गिरनेसे पहले ही अपने दोनों हाथोंमें रोक लिया और पास ही खड़ी हुई द्रौपदीकी ओर देखा। द्रौपदी अपने स्वामीके मनके अधीन रहनेवाली और उनकी अनुगामिनी थी। उस सती-साध्वी देवीने उनका अभिप्राय समझ लिया; अतः जलसे भरा हुआ सुवर्णमय पात्र ले आकर युधिष्ठिरकी नाकसे जो रक्त बहता था, वह सब उसमें ले लिया ॥ ४७-४९ ॥



अथोत्तरः शुभैर्गन्धैर्माल्यैश्च विविधैस्तथा।
अवकीर्यमाणः संहृष्टो नगरं स्वैरमागतः ॥ ५० ॥

इसी समय राजकुमार उत्तर बड़े हर्षके साथ स्वच्छन्दतापूर्वक नगरमें आये। मार्गमें उनके ऊपर उत्तम गन्ध और भाँति-भाँतिके पुष्पहार बरसाये जा रहे थे ॥ ५० ॥

सभाज्यमानः पौरैश्च स्त्रीभिर्जानपदैस्तथा।
आसाद्य भवनद्वारं पित्रे सम्प्रत्यवेदयत् ॥ ५१ ॥

मत्स्यदेशके लोगों, पुरवासियों तथा सुन्दरी स्त्रियोंने उनका स्वागत किया; फिर राजभवनके द्वारपर पहुँचकर उन्होंने पिताको अपने आगमनकी सूचना करवायी ॥ ५१ ॥

ततो द्वाःस्थः प्रविश्यैव विराटमिदमब्रवीत्।
बृहन्नलासहायश्च पुत्रो द्वार्युत्तरः स्थितः ॥ ५२ ॥

तब द्वारपालने भीतर जाकर महाराज विराटसे कहा—'प्रभो ! बृहन्नलाके साथ राजकुमार उत्तर द्वारपर खड़े हैं'॥

ततो हृष्टो मत्स्यराजः क्षत्तारमिदमब्रवीत्।
प्रवेश्यतामुभौ तूर्णं दर्शनेप्सुरहं तयोः ॥ ५३ ॥

इस समाचारसे प्रसन्न होकर मत्स्यराज अपने सेवकसे बोले—'मैं उन दोनोंसे मिलना चाहता हूँ; अतः उन्हें शीघ्र भीतर ले आओ' ॥ ५३ ॥

क्षत्तारं कुरुराजस्तु शनैः कर्ण उपाजपत्।
उत्तरः प्रविशत्वेको न प्रवेश्या बृहन्नला ॥ ५४ ॥

तब जाते हुए सेवकके कानमें युधिष्ठिरने धीरेसे कहा—'पहले अकेले राजकुमार उत्तर ही यहाँ आवें। बृहन्नलाको साथमें न ले आना' ॥ ५४ ॥

एतस्य हि महाबाहो व्रतमेतत् समाहितम्।
यो ममाङ्गे व्रणं कुर्याच्छोणितं वापि दर्शयेत्।
अन्यत्र संग्रामगतान्न स जीवेत् कथञ्चन ॥ ५५ ॥

'महाबाहो ! बृहन्नलाका यह निश्चित व्रत है कि जो युद्धभूमिके सिवा अन्य किसी स्थानमें मेरे शरीरमें घाव कर दे या रक्त बहता दिखा दे, वह किसी प्रकार जीवित न रहने पाये ॥ ५५ ॥

न मृष्याद् भृशसंक्रुद्धो मां दृष्ट्वा तु सशोणितम्।
विराटमिह सामात्यं हन्यात् सबलवाहनम् ॥ ५६ ॥

'मेरे शरीरमें रक्त देखकर वह अत्यन्त कुपित हो उठेगा और इस अपराधको क्षमा नहीं करेगा एवं राजा विराटको मन्त्री, सेना और वाहनोंसहित यहीं मार डालेगा' ॥ ५६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञः सुतो ज्येष्ठः प्राविशत् पृथिवीञ्जयः।
सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कङ्कं चाप्युपतिष्ठत ॥ ५७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा विराटके ज्येष्ठ पुत्र कुमार भूमिंजय (उत्तर) ने भीतर प्रवेश किया और पिताके दोनों चरणोंमें प्रणाम करके कङ्कको भी मस्तक झुकाया ॥ ५७ ॥

ततो रुधिरसंयुक्तमनेकाग्रमनागसम्।
[illegible]मेकान्ते सैरन्ध्र्या प्रत्युपस्थितम् ॥ ५८ ॥

उसने देखा, कङ्क एकान्तमें भूमिपर बैठे हैं। सैरन्ध्री उनकी सेवामें उपस्थित है। उनका मन एकाग्र नहीं है और वे निरपराध हैं, तो भी उनके शरीरसे रक्त बह रहा है ॥५८॥

ततः पप्रच्छ पितरं त्वरमाण इवोत्तरः।
केनायं ताडितो राजन् केन पापमिदं कृतम् ॥ ५९ ॥

तब उत्तरने बड़ी उतावलीके साथ अपने पितासे पूछा—'राजन्! किसने इन्हें मारा है? किसने यह पाप किया है?' ॥ ५९ ॥

विराट उवाच

मयायं ताडितो जिह्मो न चाप्येतावदर्हति।
प्रशस्यमाने यच्छूरे त्वयि षण्ढं प्रशंसति ॥ ६० ॥

विराटने कहा—बेटा! मैंने ही इस कुटिलको मारा है। यह इतने सम्मानके योग्य कदापि नहीं है। देखो न, जब मैं तुम्हारे शौर्यकी प्रशंसा करता हूँ, तब यह उस हिजड़ेकी बड़ाई करने लगता है ॥ ६० ॥

उत्तर उवाच

अकार्यं ते कृतं राजन् क्षिप्रमेव प्रसाद्यताम्।
मा त्वां ब्रह्मविषं घोरं समूलमिह निर्दहेत् ॥ ६१ ॥

उत्तर बोले—राजन्! आपने इन्हें मारकर बड़ा अनुचित कार्य किया है। शीघ्र ही इनको मनाइये; अन्यथा ब्राह्मणका भयंकर क्रोधविष आपको यहाँ जड़-मूलसहित भस्म कर डालेगा ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन उवाच

स पुत्रस्य वचः श्रुत्वा विराटो राष्ट्रवर्धनः।
क्षमयामास कौन्तेयं भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ ६२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पुत्रकी यह बात सुनकर अपने राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाले महाराज विराटने राखमें छिपी हुई अग्निकी भाँति तेजस्वी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे क्षमा माँगी ॥ ६२ ॥

क्षमयन्तं तु राजानं पाण्डवः प्रत्यभाषत।
चिरं क्षान्तमिदं राजन् न मन्युर्विद्यते मम ॥ ६३ ॥

राजाको क्षमा माँगते देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने कहा—'राजन्! मैंने चिरकालसे क्षमाका व्रत ले रक्खा है, अतः आपका यह अपराध क्षमा हो चुका है। मुझे आपपर जरा भी क्रोध नहीं है ॥ ६३ ॥

यदि ह्येतत् पतेद् भूमौ रुधिरं मम नस्ततः।
सराष्ट्रस्त्वं महाराज विनश्येथा न संशयः ॥ ६४ ॥

'महाराज! यदि मरी नाकसे बहनेवाला यह रक्त धरती पर गिर जाता, तो आप सारे राष्ट्रके साथ नष्ट हो जाते इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ६४ ॥

न दूषयामि ते राजन् यद् वै हन्याददूषकम्।
बलवन्तं प्रभुं राजन् क्षिप्रं दारुणमाप्नुयात् ॥ ६५ ॥

'राजन्! जो किसीकी निन्दा या अपराध न करे, उसे मार देना अन्याय है, तथापि मैं आपके इस कार्यकी निन्दा नहीं करता; क्योंकि बलवान् राजाको प्रायः शीघ्र ही ऐसे कठोर कर्म करनेका अवसर प्राप्त हो जाता है' ६५

वैशम्पायन उवाच

शोणिते तु व्यतिक्रान्ते प्रविवेश बृहन्नला।
अभिवाद्य विराटं तु कङ्कं चाप्युपतिष्ठत ॥ ६६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब युधिष्ठिरकी नाकसे रक्त बहना बंद हो गया, उस समय बृहन्नलाने राजसभामें प्रवेश किया। उसने विराटको नमस्कार करके कङ्कको भी प्रणाम किया ॥ ६६ ॥

क्षामयित्वा तु कौरव्यं रणादुत्तरमागतम्।
प्रशशंस ततो मत्स्यः शृण्वतः सव्यसाचिनः ॥ ६७ ॥

इधर मत्स्यनरेश कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे क्षमा माँगकर सव्यसाची अर्जुनके सुनते हुए ही रणभूमिसे आये हुए उत्तरकी प्रशंसा करने लगे—॥ ६७ ॥

त्वया दायादवानस्मि कैकेयीनन्दिवर्धन।
त्वया मे सदृशः पुत्रो न भूतो न भविष्यति ॥ ६८ ॥

'कैकेयीनन्दन! तुम्हें पाकर मैं वास्तवमें पुत्रवान् हूँ। तुम्हारे समान मेरा दूसरा कोई पुत्र न हुआ है; न होगा ही ॥ ६८ ॥

पदं पदसहस्रेण यश्चरन् नापराध्नुयात्।
तेन कर्णेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ६९ ॥
मनुष्यलोके सकले यस्य तुल्यो न विद्यते।
तेन भीष्मेण ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ७० ॥

'तात! जो एक ही लक्ष्यके साथ-साथ सहस्रों लक्ष्योंका वेध करनेके लिये बाण चलाता है और कहीं भी चूकता नहीं है, उस कर्णके साथ तुम्हारा युद्ध किस प्रकार हुआ? बेटा! सारे मनुष्यलोकमें जिनकी समानता करनेवाला कोई नहीं है, उन भीष्मजीके साथ तुम्हारी भिड़न्त किस प्रकार हुई? ॥ ६९-७० ॥

आचार्यो वृष्णिवीराणां कौरवाणां च यो द्विजः।
सर्वक्षत्रस्य चाचार्यः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
तेन द्रोणेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ७१ ॥

'तात! जो वृष्णि वीरों और कौरवों दोनोंके आचार्य हैं अथवा दोनोंके ही नहीं, सम्पूर्ण क्षत्रियोंके आचार्य हैं, समस्त शस्त्रधारियोंमें जिनका सबसे ऊँचा स्थान है, उन द्रोणाचार्यके साथ तुम्हारा संग्राम किस प्रकार हुआ? ॥ ७१ ॥

आचार्यपुत्रो यः शूरः सर्वशस्त्रभृतामपि ।
अश्वत्थामेति विख्यातस्तेनासीत् संगरः कथम् ॥ ७२ ॥

'आचार्यके जो शूरवीर पुत्र सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं, जिनकी अश्वत्थामा नामसे ख्याति है, उनके साथ तुम्हारी लड़ाइ कैसे हुई ? ॥ ७२ ॥

रणे यं प्रेक्ष्य सीदन्ति हृतस्वा वणिजो यथा ।
कृपेण तेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ७३ ॥

'बेटा ! जैसे वणिक् अपना धन छिन जानेपर दुखी होते हैं, उसी प्रकार युद्धमें जिन्हें देखकर बड़े-बड़े योद्धा शिथिल हो जाते हैं, उन कृपाचार्यके साथ तुम्हारा संग्राम किस प्रकार हुआ ? ॥ ७३ ॥

पर्वतं योऽभिविध्येत राजपुत्रो महेषुभिः ।
दुर्योधनेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ७४ ॥

'तात ! जो राजपुत्र अपने महान् बाणोंसे पर्वतको भी विदीर्ण कर सकता है, उस दुर्योधनके साथ तुम्हारी मुठभेड़ कैसे हुई ? ॥ ७४ ॥

अवगाढा द्विषन्तो मे सुखो वातोऽभिवाति माम् ।
यस्त्वं धनमथाजैषीः कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे ॥ ७५ ॥

'बेटा ! कौरवोंने जिस गोधनको संग्राममें हड़प लिया था, उसे तुम जीतकर ले आये, यह बहुत अच्छा हुआ । आज हमारे शत्रु परास्त हो गये, इसलिये आजकी वायु मुझे बड़ी सुख-दायिनी प्रतीत हो रही है ॥ ७५ ॥

तेषां भयाभिपन्नानां सर्वेषां बलशालिनाम् ।
नूनं प्रकाल्य तान् सर्वांस्त्वया युधि नरर्षभ ।
आच्छिन्नं गोधनं सर्वं शार्दूलेनामिषं यथा ॥ ७६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! तुमने उन समस्त शत्रुओंको युद्धमें जीतकर उन्हें भयमें डाल दिया है और उन समस्त बलशालियोंके हाथसे अपने सारे गोधनको इस प्रकार छीन लिया है, जैसे सिंह दूसरे जन्तुओंके हाथसे मांस छीन लेता है' ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि विराटोत्तरसंवादे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें विराट-उत्तर-संवादविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ७९ श्लोक हैं)

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

राजा विराट और उत्तरकी विजयके विषयमें बातचीत

उत्तर उवाच

न मया निर्जिता गावो न मया निर्जिताः परे ।
कृतं तत् सकलं तेन देवपुत्रेण केनचित् ॥ १ ॥

उत्तरने कहा—पिताजी ! मैंने गौओंको नहीं जीता है और न मैंने शत्रुओंपर ही विजय पायी है । यह सब कार्य तो किसी देवकुमारने किया है ॥ १ ॥

स हि भीतं द्रवन्तं मां देवपुत्रो न्यवर्तयत् ।
स चातिष्ठद् रथोपस्थे वज्रसंहननो युवा ॥ २ ॥

मैं तो डरकर भागा आ रहा था; किंतु वज्रके समान सुदृढ़ शरीरवाले उस तरुण देवपुत्रने मुझे लौटाया और वह स्वयं ही रथके पिछले भागमें रथी बनकर बैठ गया ॥ २ ॥

तेन ता निर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः ।
तस्य तत् कर्म वीरस्य न मया तात तत् कृतम् ॥ ३ ॥

उसीने उन गौओंको जीता है और कौरवोंको भी परास्त किया है । पिताजी ! यह सब उसी वीरका कर्म है । मैंने कुछ नहीं किया है ॥ ३ ॥

स हि शारद्वतं द्रोणं द्रोणपुत्रं च षड् रथान् ।
सूतपुत्रं च भीष्मं च चकार विमुखाञ्छरैः ॥ ४ ॥
दुर्योधनं विकर्णं च सनागमिव यूथपम् ।
प्रभग्नमब्रवीद् भीतं राजपुत्रं महाबलः ॥ ५ ॥

उसीने कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण, भीष्म और दुर्योधन—इन छहों महारथियोंको अपने बाणोंसे मार-कर युद्धसे भगा दिया । वहाँ जैसे यूथपति गजराज अपने झुंडके हाथियोंसहित भागा जाता हो, उसी प्रकार दुर्योधन और विकर्ण आदि राजपुत्र भयभीत होकर भागने लगे; तब उस महाबली देवपुत्रने दुर्योधनसे कहा—॥ ४-५ ॥

न हास्तिनपुरे त्राणं तव पश्यामि किंचन ।
व्यायामेन परीप्सस्व जीवितं कौरवात्मज ॥ ६ ॥

'धृतराष्ट्रकुमार ! अब हस्तिनापुरमें तेरी जीवनरक्षाका कोई उपाय मुझे नहीं दिखायी देता; अतः देश-देशान्तरोंमें घूमकर अपनी जान बचा ॥ ६ ॥

न मोक्ष्यसे पलायंस्त्वं राजन् युद्धे मनः कुरु ।
पृथिवीं भोक्ष्यसे जित्वा हतो वा स्वर्गमाप्स्यसि ॥ ७ ॥

'राजन् ! भागनेसे तू नहीं बच सकता । युद्धमें मन लगा । जीत लेगा, तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा अथवा मारे जानेपर तुझे स्वर्ग मिलेगा' ॥ ७ ॥

स निवृत्तो नरव्याघ्रो मुञ्चन् वज्रनिभाञ्छरान् ।
सचिवैः संवृतो राजा रथे नाग इव श्वसन् ॥ ८ ॥

महाराज ! इतना सुनना था कि नरश्रेष्ठ दुर्योधन साँपकी भाँति फुँफकारता हुआ रथके द्वारा लौट आया और

मन्त्रियोंसे घिरकर उस देवपुत्रपर वज्र-सरीखे बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ८ ॥

तं दृष्ट्वा रोमहर्षोऽभूदूरुकम्पश्च मारिष ।
स तत्र सिंहसंकाशमनीकं व्यधमच्छरैः ॥ ९ ॥

मारिष ! उस समय उसे देखकर मेरे तो रोंगटे खड़े हो गये और जाँघें काँपने लगीं; किंतु उस देवपुत्रने अपने बाणोंद्वारा सिंहके समान पराक्रमी दुर्योधन और उसकी सेनाको संतप्त कर दिया ॥ ९ ॥

तत् प्रणुद्य रथानीकं सिंहसंहननो युवा ।
कुरूंस्तान् प्रहसन् राजन् संस्थितान् हृतवाससः ॥ १० ॥
एकेन तेन वीरेण षड् रथाः परिनिर्जिताः ।
शार्दूलेनेव मत्तेन यथा वनचरा मृगाः ॥ ११ ॥

सिंहके समान सुदृढ़ शरीरवाले उस तरुण वीरने रथारोहियोंकी सेनाको छिन्न-भिन्न करके हँसते-हँसते उन कौरवोंको भी धराशायी कर दिया, जिससे उनके कपड़े उतार लिये गये । जैसे मदोन्मत्त सिंह वनमें विचरनेवाले मृगोंको परास्त करता है, उसी प्रकार उस वीर देवपुत्रने अकेले ही उन छः महारथियोंको हराया है ॥ १०-११ ॥

विराट उवाच

क स वीरो महाबाहुर्देवपुत्रो महायशाः ।
यो मे धनमथाजैषीत् कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे ॥ १२ ॥
इच्छामि तमहं द्रष्टुमर्चितुं च महाबलम् ।
येन मे त्वं च गावश्च रक्षिता देवसूनुना ॥ १३ ॥

विराटने पूछा—बेटा ! वह महायशस्वी महाबाहु वीर देवपुत्र कहाँ है, जिसने युद्धमें कौरवोंद्वारा काबूमें की हुई मेरी गौओंको जीता है ? जिस देवकुमारने तुम्हें और मेरी गौओंको भी बचाया है, मैं उस महापराक्रमी वीरको देखना और उसका सत्कार करना चाहता हूँ ॥ १२-१३ ॥

उत्तर उवाच

अन्तर्धानं गतस्तत्र देवपुत्रो महाबलः ।
स तु श्वो वा परश्वो वा मन्ये प्रादुर्भविष्यति ॥ १४ ॥

उत्तरने कहा—पिताजी ! वह महाबली देवपुत्र वहीं अन्तर्धान हो गया; किंतु मेरा विश्वास है कि वह कल या परसों यहाँ फिर प्रकट होगा ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाख्यायमानं तु छन्नं सत्रेण पाण्डवम् ।
वसन्तं तत्र नाज्ञासीद् विराटो वाहिनीपतिः ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार संकेतपूर्वक बतानेपर भी सेनाओंके स्वामी राजा विराट नपुंसक-वेशमें छिपकर वहीं रहनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनको पहचान न सके ॥ १५ ॥

ततः पार्थोऽभ्यनुज्ञातो विराटेन महात्मना ।
प्रददौ तानि वासांसि विराटदुहितुः स्वयम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर महामना विराटकी आज्ञासे बृहन्नलारूपी अर्जुनने स्वयं विराटकन्या उत्तराको वे सब कपड़े, जो महारथियोंके शरीरसे उतारे गये थे, दे दिये ॥ १६ ॥

उत्तरा तु महार्हाणि विविधानि नवानि च ।
प्रतिगृह्याभवत् प्रीता तानि वासांसि भामिनी ॥ १७ ॥
मन्त्रयित्वा तु कौन्तेय उत्तरेण महात्मना ।
इतिकर्तव्यतां सर्वां राजन् पार्थे युधिष्ठिरे ॥ १८ ॥
ततस्तथा तद् व्यदधाद् यथावत् पुरुषर्षभ ।
सह पुत्रेण मत्स्यस्य प्रहृष्टा भरतर्षभाः ॥ १९ ॥

भामिनी उत्तरा उन भाँति-भाँतिके नवीन एवं बहुमूल्य वस्त्रोंको लेकर बहुत प्रसन्न हुई । जनमेजय ! कुन्तीनन्दन अर्जुनने महामना उत्तरके साथ राजा युधिष्ठिरको प्रकट करनेके विषयमें सलाह की और क्या-क्या करना चाहिये, इन सब बातोंका निश्चय कर लिया । नरश्रेष्ठ ! तदनन्तर उन्होंने उसी निश्चयके अनुसार सब कार्य ठीक-ठीक किया । भरतकुलशिरोमणि पाण्डव मत्स्यनरेशके पुत्र उत्तरके साथ वह सब व्यवस्था करके बड़े प्रसन्न हुए ॥ १७-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि विराटोत्तरसंवादे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें विराट-उत्तर-संवादविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

(वैवाहिकपर्व)

सप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका राजा विराटको महाराज युधिष्ठिरका परिचय देना

वैशम्पायन उवाच

ततस्तृतीये दिवसे भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
स्नाताः शुक्लाम्बरधराः समये चरितव्रताः ॥ १ ॥
युधिष्ठिरं पुरस्कृत्य सर्वाभरणभूषिताः ।
द्वारि मत्ता यथा नागा भ्राजमाना महारथाः ॥ २ ॥
विराटस्य सभां गत्वा भूमिपालासनेष्वथ ।
निषेदुः पावकप्रख्याः सर्वे धिष्ण्येष्विवाग्नयः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर

नियत समयतक अपनी प्रतिज्ञाका पालन करके अग्निके समान तेजस्वी पाँचों भाई महारथी पाण्डव तीसरे दिन स्नान करके श्वेत वस्त्र धारणकर समस्त राजोचित आभूषणोंसे विभूषित हो राजसभामें द्वारपर स्थित मदोन्मत्त गजराजोंकी भाँति सुशोभित होने लगे। वे राजा युधिष्ठिरको आगे करके विराटकी सभामें गये और राजाओंके लिये रक्खे हुए सिंहासनोंपर बैठे। उस समय वे भिन्न-भिन्न यज्ञवेदियोंपर प्रज्वलित अग्नियोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १—३ ॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु विराटः पृथिवीपतिः।
आजगाम सभां कर्तुं राजकार्याणि सर्वशः ॥ ४ ॥

पाण्डवोंके वहाँ बैठ जानेपर राजा विराट अपने समस्त राजकाज करनेके लिये सभामें आये ॥ ४ ॥

श्रीमतः पाण्डवान् दृष्ट्वा ज्वलतः पावकानिव।
मुहूर्तमिव च ध्यात्वा सरोषः पृथिवीपतिः ॥ ५ ॥
अथ मत्स्योऽब्रवीत् कङ्कं देवरूपमिव स्थितम्।
मरुद्गणैरुपासीनं त्रिदशानामिवेश्वरम्॥ ६ ॥

वहा प्रज्वलित अग्नियोंके समान तेजस्वी श्रीसम्पन्न पाण्डवों-को देखकर पृथ्वीपति विराटने दो घड़ीतक मन-ही-मन कुछ विचार किया। फिर वे कुपित होकर देवताके समान स्थित मरुद्गणोंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रके तुल्य सुशोभित कङ्कसे बोले—॥ ५-६ ॥

स किलाक्षातिवापस्त्वं सभास्तारो मया वृतः।
अथ राजासने कस्मादुपविष्टस्त्वलंकृतः ॥ ७ ॥

'कङ्क! तुम्हें तो मैंने पासा फेंकनेवाला सभासद् बनाया था। आज बन-ठनकर राजसिंहासनपर कैसे बैठ गये?' ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

परिहासेप्सया वाक्यं विराटस्य निशम्य तत्।
स्मयमानोऽर्जुनो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मानो परिहास करनेके लिये कहा गया हो, ऐसा विराटका वह वचन सुनकर अर्जुन मुसकराते हुए इस प्रकार बोले ॥ ८ ॥

अर्जुन उवाच

इन्द्रस्याप्यर्धासनं राजन्नयमारोढुमर्हति।
ब्रह्मण्यः श्रुतवांस्त्यागी यज्ञशीलो दृढव्रतः ॥ ९ ॥

अर्जुनने कहा—राजन्! आपके राजासनकी तो बात ही क्या है, ये तो इन्द्रके भी आधे सिंहासनपर बैठनेके अधिकारी हैं। ये ब्राह्मणभक्त, शास्त्रोंके विद्वान्, त्यागी, यज्ञशील तथा दृढ़ताके साथ अपने व्रतका पालन करनेवाले हैं ॥ ९ ॥

एष विग्रहवान् धर्म एष वीर्यवतां वरः।
एष बुद्ध्याधिको लोके तपसां च परायणम् ॥ १० ॥

एषोऽस्त्रं विविधं वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे।
न चैवान्यः पुमान् वेत्ति न वेत्स्यति कदाचन ॥ ११ ॥

ये मूर्तिमान् धर्म हैं तथा पराक्रमी पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं। इस जगत्में ये सबसे बढ़कर बुद्धिमान् और तपस्याके परम आश्रय हैं। ये नाना प्रकारके ऐसे अस्त्रोंको जानते हैं, जिन्हें इस चराचर त्रिलोकीमें दूसरा मनुष्य न तो जानता है और न कभी जान सकेगा ॥ १०-११ ॥

न देवा नासुराः केचिन्न मनुष्या न राक्षसाः।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिंनरमहोरगाः ॥ १२ ॥

जिन अस्त्रोंको देवता, असुर, मनुष्य, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और बड़े-बड़े नाग भी नहीं जानते, उन सबका इन्हें ज्ञान है ॥ १२ ॥

दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः।
पाण्डवानामतिरथो यज्ञधर्मपरो वशी ॥ १३ ॥

ये दीर्घदर्शी, महातेजस्वी तथा नगर और देशके लोगों-को अत्यन्त प्रिय हैं। ये पाण्डवोंमें अतिरथी वीर हैं एवं सदा यज्ञ और धर्मके अनुष्ठानमें संलग्न तथा मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले हैं ॥ १३ ॥

महर्षिकल्पो राजर्षिः सर्वलोकेषु विश्रुतः।
बलवान् धृतिमान् दक्षः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
धनैश्च संचयैश्चैव शक्रवैश्रवणोपमः ॥ १४ ॥

ये महर्षियोंके समान हैं, राजर्षि हैं और समस्त लोकोंमें विख्यात हैं। बलवान्, धैर्यवान्, चतुर, सत्यवादी और जितेन्द्रिय हैं। धन और संग्रहकी दृष्टिसे ये इन्द्र और कुबेर-के समान हैं ॥ १४ ॥

यथा मनुर्महातेजा लोकानां परिरक्षिता।
एवमेष महातेजाः प्रजानुग्रहकारकः ॥ १५ ॥

जैसे महातेजस्वी मनु समस्त लोकोंके रक्षक हैं, उसी प्रकार ये महातेजस्वी नरेश भी प्रजाजनोंपर अनुग्रह करने-वाले हैं ॥ १५ ॥

अयं कुरूणामृषभो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
अस्य कीर्तिः स्थिता लोके सूर्यस्येवोद्यतः प्रभा ॥ १६ ॥

ये ही कुरुवंशमें सर्वश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर हैं। उदय-कालके सूर्यकी शान्त प्रभाके समान इनकी सुखदायिनी कीर्ति समस्त संसारमें फैली हुई है ॥ १६ ॥

संसरन्ति दिशः सर्वा यशसोऽस्य इवांशवः।
उदितस्येव सूर्यस्य तेजसोऽनु गभस्तयः ॥ १७ ॥

जैसे सूर्योदय होनेपर सूर्यके तेजके पश्चात् उनकी किरणें समस्त दिशाओंमें फैल जाती हैं, उसी प्रकार इनके सुयशके साथ-साथ उसकी सुधाधवल किरणें समस्त दिशाओंमें छा रही हैं ॥ १७ ॥

एनं दशसहस्राणि कुञ्जराणां तरस्विनाम् ।
अन्वयुः पृष्ठतो राजन् यावदध्यावसत् कुरून् ॥ १८ ॥

राजन् ! ये महाराज जब कुरुदेशमें रहते थे, उस समय इनके पीछे दस हजार वेगवान् हाथी चला करते थे ॥ १८ ॥

त्रिंशदेनं सहस्राणि रथाः काञ्चनमालिनः ।
सदश्वैरुपसम्पन्नाः पृष्ठतोऽनुययुस्तदा ॥ १९ ॥

इसी प्रकार अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णमालामण्डित तीस हजार रथ भी उस समय इनका अनुसरण करते थे ॥ १९ ॥

एनमष्टशताः सूताः सुमृष्टमणिकुण्डलाः ।
अस्तुवन् मागधैः सार्धं पुरा शक्रमिवर्षयः ॥ २० ॥

जैसे महर्षिगण इन्द्रकी स्तुति करते हैं, उसी प्रकार पहले विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण किये आठ सौ सूत और मागध इनके गुण गाते थे ॥ २० ॥

एनं नित्यमुपासन्त कुरवः किंकरा यथा ।
सर्वे च राजन् राजानो धनेश्वरमिवामराः ॥ २१ ॥

राजन् ! जैसे देवगण धनाध्यक्ष कुबेरका दरबार किया करते हैं, वैसे ही सब राजा और कौरव किंकरोंकी भाँति इनकी नित्य उपासना करते थे ॥ २१ ॥

एष सर्वान् महीपालान् करदान् समकारयत् ।
वैश्यानिव महाभागो विवशान् स्ववशानपि ॥ २२ ॥
अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम् ।
उपजीवन्ति राजानमेनं सुचरितव्रतम् ॥ २३ ॥

इन महाभाग नरेशने इस देशके सब राजाओंको वैश्योंकी भाँति स्ववश (अपने अधीन) और विवश करके कर देनेवाला बना दिया था। (अर्थात् सब राजा इन्हें कर दिया करते थे ।) अत्यन्त उत्तम व्रतका पालन करनेवाले इन महाराजके यहाँ प्रतिदिन अट्ठासी हजार महाबुद्धिमान् स्नातकोंकी जीविका चलती थी ॥ २२-२३ ॥

एष वृद्धाननाथांश्च पङ्गूनन्धांश्च मानवान् ।
पुत्रवत् पालयामास प्रजा धर्मेण वै विभुः ॥ २४ ॥

ये बूढ़े, अनाथ, पङ्गु और अंधे मनुष्योंका भी स्नेहपूर्वक पालन करते थे । ये नरेश अपनी प्रजाकी धर्मपूर्वक पुत्रकी भाँति रक्षा करते थे ॥ २४ ॥

एष धर्मे दमे चैव क्रोधे चापि जितव्रतः ।
महाप्रसादो ब्रह्मण्यः सत्यवादी च पार्थिवः ॥ २५ ॥

ये भूपाल धर्म और इन्द्रियसंयममें तत्पर तथा क्रोधको काबूमें रखनेके लिये दृढ़प्रतिज्ञ हैं। ये बड़े कृपालु, ब्राह्मणभक्त और सत्यवक्ता हैं ॥ २५ ॥

शीघ्रं तापेन चैतस्य तप्यते स सुयोधनः ।
सगणः सह कर्णेन सौबलेनापि वा विभुः ॥ २६ ॥

इनके प्रतापसे दुर्योधन शक्तिशाली होकर भी कर्ण, शकुनि तथा अपने गणोंके साथ शीघ्र ही संतप्त होनेवाला है ॥ २६ ॥

न शक्यन्ते ह्यस्य गुणाः प्रसंख्यातुं नरेश्वर ।
एष धर्मपरो नित्यमानृशंसश्च पाण्डवः ॥ २७ ॥
एवं युक्तो महाराजः पाण्डवः पार्थिवर्षभः ।
कथं नार्हति राजार्हमासनं पृथिवीपते ॥ २८ ॥

नरेश्वर ! इनके सद्गुणोंकी गणना नहीं की जा सकती। ये पाण्डुनन्दन नित्य धर्मपरायण तथा दयालु स्वभावके हैं। राजन् ! समस्त राजाओंके शिरोमणि पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर इस प्रकार सर्वोत्तम गुणोंसे युक्त होकर भी राजोचित आसनके अधिकारी क्यों नहीं हैं ? ॥ २७-२८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि पाण्डवप्रकाशे सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें पाण्डवप्राकट्यविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

विराटको अन्य पाण्डवोंका भी परिचय प्राप्त होना तथा विराटके द्वारा युधिष्ठिरको राज्य समर्पण करके अर्जुनके साथ उत्तराके विवाहका प्रस्ताव करना

विराट उवाच

यद्येष राजा कौरव्यः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
कतमोऽस्यार्जुनो भ्राता भीमश्च कतमो बली ॥ १ ॥
नकुलः सहदेवो वा द्रौपदी वा यशस्विनी ।
यदा द्यूतजिताः पार्था न प्राज्ञायन्त ते क्वचित् ॥ २ ॥

विराटने पूछा—यदि ये कुरुकुलके रत्न कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर हैं, तो इनमें कौन इनके भाई अर्जुन हैं ? कौन महाबली भीम हैं ? नकुल, सहदेव अथवा यशस्विनी द्रौपदी कौन हैं ? जबसे कुन्तीपुत्र जूएमें हार गये, तबसे उनका कहीं भी पता नहीं लगा ॥ १-२ ॥

अर्जुन उवाच

य एष बल्लवो ब्रूते सूदस्तव नराधिप ।
एष भीमो महाराज भीमवेगपराक्रमः ॥ ३ ॥

अर्जुन बोले—महाराज ! ये जो बल्लवनामधारी आपके रसोइये हैं, ये ही भयंकर वेग और पराक्रमवाले भीमसेन हैं ॥ ३ ॥

एष क्रोधवशान् हत्वा पर्वते गन्धमादने ।
सौगन्धिकानि दिव्यानि कृष्णार्थे समुपाहरत् ॥ ४ ॥
गन्धर्व एष वै हन्ता कीचकानां दुरात्मनाम् ।
व्याघ्रानृक्षान् वराहांश्च हतवान् स्त्रीपुरे तव ॥ ५ ॥

ये ही गन्धमादन पर्वतपर क्रोधवश नामवाले राक्षसोंको मारकर द्रौपदीके लिये दिव्य सौगन्धिक कमल ले आये थे। दुरात्मा कीचकोंका संहार करनेवाले गन्धर्व भी ये ही हैं। इन्होंने ही आपके अन्तःपुरमें अनेक व्याघ्रों, भालुओं और वराहोंका वध किया है ॥ ४-५ ॥

(हिडिम्बं च बकं चैव किर्मीरं च जटासुरम् ।
हत्वा निष्कण्टकं चक्रेऽरण्यं सर्वतः सुखम् ॥)

इन्होंने ही हिडिम्ब, बकासुर, किर्मीर और जटासुरको मारकर वनको सर्वथा निष्कण्टक और सुखमय बनाया था ॥

यश्चासीदश्वबन्धस्ते नकुलोऽयं परंतपः ।
गोसङ्ख्यः सहदेवश्च माद्रीपुत्रौ महारथौ ॥ ६ ॥
शृङ्गारवेषाभरणौ रूपवन्तौ यशस्विनौ ।
महारथसहस्राणां समर्थौ भरतर्षभौ ॥ ७ ॥

और ये शत्रुओंको संताप देनेवाले नकुल जो अबतक आपके यहाँ अश्वशालाके प्रबन्धक रहे हैं और ये सहदेव हैं, जो गौओंकी सँभाल करते आये हैं। ये दोनों (हमारी माता) माद्रीके पुत्र एवं महारथी वीर हैं। उत्तम शृङ्गार, सुन्दर वेष और आभूषणोंसे सुशोभित ये दोनों भाई बड़े ही रूपवान् और यशस्वी हैं। भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ ये नकुल-सहदेव युद्धमें सहस्रों महारथियोंका सामना करनेमें समर्थ हैं ॥ ६-७ ॥

एषा पद्मपलाशाक्षी सुमध्या चारुहासिनी ।
सैरन्ध्री द्रौपदी राजन् यस्यार्थे कीचका हताः ॥ ८ ॥

राजन् ! यह विकसित कमलदलके समान विशाल नेत्र, सुन्दर कटिप्रदेश और मनोहर मुसकानवाली सैरन्ध्री ही महारानी द्रौपदी है, जिसके धर्मकी रक्षाके लिये कीचकोंका वध किया गया ॥ ८ ॥

अर्जुनोऽहं महाराज व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः ।
भीमादवरजः पार्थो यमाभ्यां चापि पूर्वजः ॥ ९ ॥

महाराज ! मैं ही अर्जुन हूँ। अवश्य मेरा नाम भी आपके कानोंमें पड़ा होगा। मैं कुन्तीदेवीका पुत्र हूँ। भीमसेनसे छोटा और नकुल-सहदेवसे बड़ा हूँ ॥ ९ ॥

उषिताः स्मो महाराज सुखं तव निवेशने ।
अज्ञातवासमुषिता गर्भवास इव प्रजाः ॥ १० ॥

राजन् ! हमलोगोंने बड़े सुखसे आपके महलमें अज्ञातवासका समय बिताया है। जैसे संतान गर्भवासमें रही हो, उसी प्रकार हम भी यहाँ अज्ञातवासमें रहे हैं ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

यदार्जुनेन ते वीराः कथिताः पञ्च पाण्डवाः ।
तदार्जुनस्य वैराटिः कथयामास विक्रमम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जब अर्जुनने पाँचों पाण्डव वीरोंका परिचय दे दिया, तब विराटकुमार उत्तरने अर्जुनका पराक्रम बताया ॥ ११ ॥

पुनरेव च तान् पार्थान् दर्शयामास चोत्तरः ॥ १२ ॥

साथ ही उन्होंने पाँचों पाण्डवोंका एक-एक करके पुनः राजाको परिचय दिया ॥ १२ ॥

उत्तर उवाच

य एष जाम्बूनदशुद्धगौर-
तनुर्महान् सिंह इव प्रवृद्धः ।
प्रचण्डघोणः पृथुदीर्घनेत्र-
स्ताम्रायताक्षः कुरुराज एषः ॥ १३ ॥

उत्तर बोले—पिताजी ! विशुद्ध जाम्बूनद नामक सुवर्णके समान जिनका गौर शरीर है, जो सबसे बड़े और सिंहके समान हृष्ट-पुष्ट हैं, जिनकी नाक लंबी और बड़े-बड़े नेत्र कुछ लालिमा लिये कानोंतक फैले हुए हैं, ये ही कुरुकुल-नरेश महाराज युधिष्ठिर हैं ॥ १३ ॥

अयं पुनर्मत्तगजेन्द्रगामी
प्रतप्तचामीकरशुद्धगौरः ।
पृथ्वायतांसो गुरुदीर्घबाहु-
र्वृकोदरः पश्यत पश्यतैनम् ॥ १४ ॥

और ये जो मतवाले गजराजकी भाँति मस्तानी चालसे चलनेवाले हैं, तपाये हुए सुवर्णके समान जिनका विशुद्ध गौर शरीर है, जिनके कंधे मोटे और चौड़े हैं तथा भुजाएँ बड़ी-बड़ी और भारी हैं, ये ही भीमसेन हैं। इन्हें अच्छी तरह देखिये ॥ १४ ॥

यस्त्वेव पार्श्वेऽस्य महाधनुष्मान्
श्यामो युवा वारणयूथपोपमः ।
सिंहोन्नतांसो गजराजगामी
पद्मायताक्षोऽर्जुन एष वीरः ॥ १५ ॥

इनके बगलमें जो ये महान् धनुर्धर श्याम वर्णके तरुण वीर विराज रहे हैं, जो यूथपति गजराजके समान शोभा पाते हैं, जिनके कंधे सिंहके समान ऊँचे और चाल मतवाले हाथीके समान मस्तानी है, ये ही कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाले वीरवर अर्जुन हैं ॥ १५ ॥

राज्ञः समीपे पुरुषोत्तमौ तु
यमाविमौ विष्णुमहेन्द्रकल्पौ ।
मनुष्यलोके सकले समोऽस्ति
ययोर्न रूपे न बले न शीले ॥ १६ ॥

महाराज युधिष्ठिरके समीप बैठे हुए वे इन्द्र और उपेन्द्रके समान दोनों नरश्रेष्ठ माद्रीके जुड़वें पुत्र नकुल-सहदेव हैं। सम्पूर्ण मानव-जगत्‌में इनके रूप, बल और शीलकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ १६ ॥

आभ्यां तु पार्श्वे कनकोत्तमाङ्गी
यैषा प्रभा मूर्तिमतीव गौरी ।
नीलोत्पला भा सुरदेवतेव
कृष्णा स्थिता मूर्तिमतीव लक्ष्मीः ॥ १७ ॥

इन दोनोंके बगलमें ये जो तेजस्विनी देवी मूर्तिमती गौरीके समान खड़ी हैं, जिनके उत्तम अङ्गोंसे सुनहरी छटा छिटक रही है, जिनकी कान्ति नीलकमलकी आभाको लज्जित कर रही है तथा जो देवताओंकी भी देवी और साकाररूपमें प्रकट हुई लक्ष्मीके समान शोभा पा रही हैं, ये ही द्रुपद-कुमारी महारानी कृष्णा हैं ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं निवेद्य तान् पार्थान् पाण्डवान् पञ्च भूपतेः ।
ततोऽर्जुनस्य वैराटिः कथयामास विक्रमम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार उन पाँचों कुन्तीपुत्र पाण्डवोंका राजाको परिचय देकर विराटकुमारने अर्जुनका पराक्रम बताना प्रारम्भ किया ॥ १८ ॥

उत्तर उवाच

अयं स द्विषतां हन्ता मृगाणामिव केसरी ।
अचरद् रथवृन्देषु निघ्नंस्तांस्तान् वरान् रथान् ॥ १९ ॥

उत्तरने कहा—पिताजी! ये ही वे देवपुत्र हैं, जो शत्रुओंका उसी प्रकार वध करते हैं, जैसे सिंह मृगोंका। ये ही कौरव रथारोहियोंकी सेनामें उन सब श्रेष्ठ महारथियोंको घायल करते हुए निर्भय विचर रहे थे ॥ १९ ॥

अनेन विद्धो मातङ्गो महानेकेषुणा हतः ।
सुवर्णकक्षः संग्रामे दन्ताभ्यामगमन्महीम् ॥ २० ॥

युद्धमें इनके एक ही बाणसे घायल होकर विकर्णका विशाल गजराज, जो सोनेकी साँकलसे सुशोभित था, धरतीपर दोनों दाँत टेककर मर गया ॥ २० ॥

अनेन विजिता गावो जिताश्च कुरवो युधि ।
अस्य शङ्खप्रणादेन कर्णौ मे बधिरीकृतौ ॥ २१ ॥

इन्होंने ही गौओंको जीता और युद्धमें कौरवोंको परास्त किया है। इनके शङ्खकी गम्भीर ध्वनि सुनकर मेरे तो कान बहरे हो गये थे ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा मत्स्यराजः प्रतापवान् ।
उत्तरं प्रत्युवाचेदमभिपन्नो युधिष्ठिरे ॥ २२ ॥
प्रसादनं पाण्डवस्य प्राप्तकालं हि रोचते ।
उत्तरां च प्रयच्छामि पार्थाय यदि मन्यसे ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उत्तरकी यह बात सुनकर प्रतापी मत्स्यनरेश, जो युधिष्ठिरके अपराधी थे, अपने पुत्रसे इस प्रकार बोले—'बेटा! यह पाण्डवोंको प्रसन्न करनेका समय आया है। मेरी ऐसी ही रुचि है। यदि तुम्हारी राय हो, तो मैं कुमारी उत्तराका विवाह कुन्तीपुत्र अर्जुनसे कर दूँ' ॥ २२-२३ ॥

उत्तर उवाच

आर्याः पूज्याश्च मान्याश्च प्राप्तकालं च मे मतम् ।
पूज्यन्तां पूजनार्हाश्च महाभागाश्च पाण्डवाः ॥ २४ ॥

उत्तरने कहा—पिताजी! पाण्डवलोग महान् सौभाग्यशाली हैं। ये सर्वथा श्रेष्ठ, पूजनीय और सम्मानके योग्य हैं। मेरी समझमें इनके सत्कारका हमें अवसर भी मिल गया है, अतः इन पूजने योग्य पाण्डवोंका आप अवश्य पूजन करें ॥ २४ ॥

विराट उवाच

अहं खल्वपि संग्रामे शत्रूणां वशमागतः ।
मोक्षितो भीमसेनेन गावश्चापि जितास्तथा ॥ २५ ॥

विराट बोले—बेटा! मैं भी त्रिगर्तोंके साथ होनेवाले संग्राममें शत्रुओंके वशीभूत हो गया था, किंतु भीमसेनने मुझे छुड़ाया और हमारी सब गौओंको भी जीता ॥ २५ ॥

एतेषां बाहुवीर्येण अस्माकं विजयो मृधे ।
एवं सर्वे सहामात्याः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
प्रसादयामो भद्रं ते सानुजं पाण्डवर्षभम् ॥ २६ ॥

इन पाण्डवोंके ही बाहुबलसे संग्राममें हमारी विजय हुई है; इसलिये वत्स! तुम्हारा भला हो। हम सब लोग मन्त्रियों-सहित चलकर पाण्डवश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको उनके छोटे भाइयोंसहित प्रसन्न करें ॥ २६ ॥

यदस्माभिरजानद्भिः किंचिदुक्तो नराधिपः ।
क्षन्तुमर्हति तत् सर्वं धर्मात्मा ह्येष पाण्डवः ॥ २७ ॥

हमने अनजानमें उनके प्रति जो कुछ अनुचित वचन कह दिया है, वह सब ये धर्मात्मा पाण्डुपुत्र महाराज युधिष्ठिर क्षमा करें ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो विराटः परमाभितुष्टः
समेत्य राजा समयं चकार ।
राज्यं च सर्वं विससर्ज तस्मै
सदण्डकोशं सपुरं महात्मा ॥ २८ ॥

पाण्डवांश्च ततः सर्वान् मत्स्यराजः प्रतापवान्।
धनंजयं पुरस्कृत्य दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रवीत्॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर राजा विराटने बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने पुत्रसे मिलकर कुछ विचार किया, फिर उन महामनाने दण्ड, कोश और नगर आदिसहित सम्पूर्ण राज्य युधिष्ठिरको समर्पित कर दिया। फिर प्रतापी मत्स्यराज अर्जुनको आगे रखकर सब पाण्डवोंसे मिले और यह कहने लगे कि हमारा बड़ा सौभाग्य है, हमारा बड़ा सौभाग्य है; जो आपलोगोंका दर्शन हुआ ॥ २८-२९ ॥

समुपाघ्राय मूर्धानं संश्लिष्य च पुनः पुनः।
युधिष्ठिरं च भीमं च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ३० ॥

फिर उन्होंने युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवका बार-बार मस्तक सूँघा और सबको हृदयसे लगाया ॥ ३० ॥

नातृप्यद् दर्शने तेषां विराटो वाहिनीपतिः।
स प्रीयमाणो राजानं युधिष्ठिरमथाब्रवीत्॥ ३१ ॥

सेनाओंके स्वामी राजा विराट पाण्डवोंको देख-देखकर तृप्त नहीं होते थे। वे प्रेमपूर्वक राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥

दिष्ट्या भवन्तः सम्प्राप्ताः सर्वे कुशलिनो वनात्।
दिष्ट्या सम्पालितं कृच्छ्रमज्ञातं वै दुरात्मभिः ॥ ३२ ॥

'बड़े सौभाग्यकी बात है, जो आप सब लोग वनसे कुशलपूर्वक लौट आये। दुरात्मा कौरवोंसे अज्ञात रहकर आपने यह कष्टसाध्य अज्ञातवासका नियम पूरा कर लिया, यह भी बड़े आनन्दकी बात है ॥ ३२ ॥

इदं च राज्यं पार्थाय यच्चान्यदपि किञ्चन।
प्रतिगृह्णन्तु तत् सर्वं पाण्डवा अविशङ्कया ॥ ३३ ॥

'मेरा यह राज्य कुन्तीपुत्रको समर्पित है। इसके सिवा और भी जो कुछ मेरे पास है, वह सब पाण्डवलोग बिना किसी संकोचके ग्रहण करें ॥ ३३ ॥

उत्तरां प्रतिगृह्णातु सव्यसाची धनंजयः।
अयं ह्यौपयिको भर्ता तस्याः पुरुषसत्तमः ॥ ३४ ॥

'सव्यसाची धनंजय मेरी कन्या उत्तराको पत्नीरूपमें स्वीकार करें। ये नरश्रेष्ठ उसके लिये सर्वथा योग्य पति हैं' ॥ ३४ ॥

एवमुक्तो धर्मराजः पार्थमैक्षद् धनंजयम्।
ईक्षितश्चार्जुनो भ्रात्रा मत्स्यं वचनमब्रवीत्॥ ३५ ॥
प्रतिगृह्णाम्यहं राजन् स्नुषां दुहितरं तव।
युक्तश्चावां हि सम्बन्धो मत्स्यभारतयोरपि ॥ ३६ ॥

राजा विराटके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने कुन्तीनन्दन अर्जुनकी ओर देखा। भाईके देखनेपर अर्जुनने मत्स्यराजसे इस प्रकार कहा—'राजन्! मैं आपकी पुत्रीको अपनी पुत्रवधूके रूपमें स्वीकार करता हूँ। मत्स्य और भरतवंशका यह सम्बन्ध सर्वथा उचित है' ॥ ३५-३६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि उत्तराविवाहप्रस्तावे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें उत्तराविवाहप्रस्तावविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३७ श्लोक हैं)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका अपनी पुत्रवधूके रूपमें उत्तराको ग्रहण करना एवं अभिमन्यु और उत्तराका विवाह

विराट उवाच

किमर्थं पाण्डवश्रेष्ठ भार्यां दुहितरं मम।
प्रतिग्रहीतुं नेमां त्वं मया दत्तामिहेच्छसि ॥ १ ॥

विराट बोले—पाण्डवश्रेष्ठ! मैं स्वयं तुम्हें अपनी कन्या दे रहा हूँ, फिर तुम उसे अपनी पत्नीके रूपमें क्यों नहीं स्वीकार करते? ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

अन्तःपुरेऽहमुषितः सदा पश्यन् सुतां तव।
रहस्यं च प्रकाशं च विश्वस्ता पितृवन्मयि ॥ २ ॥
प्रियो बहुतमश्चासं नर्तको गीतकोविदः।
आचार्यवच्च मां नित्यं मन्यते दुहिता तव ॥ ३ ॥

अर्जुनने कहा—राजन्! मैं बहुत समयतक आपके रनिवासमें रहा हूँ और आपकी कन्याको एकान्तमें तथा सबके सामने भी (पुत्रीभावसे ही) देखता आया हूँ। उसने भी मुझपर पिताकी भाँति ही विश्वास किया है। मैं नाचता तो था ही, गानविद्यामें भी कुशल हूँ, अतः उसका मेरे प्रति बहुत अधिक प्रेम रहा है, किंतु आपकी पुत्री मुझे सदा आचार्य (गुरु) की भाँति मानती आयी है ॥ २-३ ॥

वयःस्थया तया राजन् सह संवत्सरोषितः।
अतिशङ्का भवेत् स्थाने तव लोकस्य वा विभो॥ ४ ॥

राजन्! जब वह वयस्क हो चुकी थी तब मैं उसके साथ एक वर्षतक रह चुका हूँ। प्रभो! (ऐसी अवस्थामें यदि मैं उसके साथ विवाह करूँगा, तो) आपको या और किसी मनुष्यको हमारे चरित्रके विषयमें (अवश्य ही) संदेह होगा और वह युक्तिसंगत ही होगा ॥ ४ ॥

तस्मान्निमन्त्रयेऽहं ते दुहितां मनुजाधिप।
शुद्धो जितेन्द्रियो दान्तस्तस्याः शुद्धिः कृता मया ॥५॥

महाराज ! वह संदेह न हो, इसके लिये मैं आपकी पुत्रीको पुत्रवधूके रूपमें ही ग्रहण करूँगा। ऐसा होनेपर ही मैं शुद्धचरित्र, जितेन्द्रिय तथा मनको दमन करनेवाला समझा जाऊँगा और इसीसे मेरेद्वारा आपकी कन्याके चरित्रकी शुद्धि स्पष्ट हो जायगी ॥ ५ ॥

स्नुषायां दुहितुर्वापि पुत्रे चात्मनि वा पुनः।
अत्र शङ्कां न पश्यामि तेन शुद्धिर्भविष्यति ॥ ६ ॥

पुत्रवधू और पुत्रीमें तथा पुत्र अथवा आत्मामें भेद नहीं है, अतः उसे पुत्रवधूके रूपमें ग्रहण करनेपर मुझे कलङ्ककी शंका नहीं दिखायी देती और इससे हम दोनोंकी पवित्रता भी स्पष्ट हो जायगी ॥ ६ ॥

अभिशापादहं भीतो मिथ्यावादात् परंतप।
स्नुषार्थमुत्तरां राजन् प्रतिगृह्णामि ते सुताम् ॥ ७ ॥

परंतप ! मैं अभिशाप और मिथ्यावादसे डरता हूँ, (यदि मैं आपकी पुत्रीको पत्नीरूपमें ग्रहण करूँ, तो लोग यह कल्पना कर सकते हैं कि इन दोनोंमें पहलेसे ही अनुचित सम्बन्ध था); इसलिये राजन् ! मैं आपकी पुत्री उत्तराको पुत्रवधूके रूपमें ही ग्रहण करता हूँ ॥ ७ ॥

स्वस्रीयो वासुदेवस्य साक्षाद् देवशिशुर्यथा।
दयितश्चक्रहस्तस्य सर्वास्त्रेषु च कोविदः ॥ ८ ॥

मेरा पुत्र देवकुमारके समान है। वह साक्षात् भगवान् वासुदेवका भानजा है। चक्रधारी श्रीकृष्णको वह बहुत प्रिय है। साथ ही वह सब प्रकारकी अस्त्रविद्यामें कुशल है ॥ ८ ॥

अभिमन्युर्महाबाहुः पुत्रो मम विशाम्पते।
जामाता तव युक्तो वै भर्ता च दुहितुस्तव ॥ ९ ॥

महाराज ! मेरे उस महाबाहु पुत्रका नाम अभिमन्यु है। वह आपका सुयोग्य दामाद और आपकी पुत्रीका उपयुक्त पति होगा ॥ ९ ॥

विराट उवाच

उपपन्नं कुरुश्रेष्ठे कुन्तीपुत्र धनंजये।
य एवं धर्मनित्यश्च जातज्ञानश्च पाण्डवः ॥ १० ॥
यत् कृत्यं मन्यसे पार्थ क्रियतां तदनन्तरम्।
सर्वे कामाः समृद्धा मे सम्बन्धी यस्य मेऽर्जुनः ॥ ११ ॥

विराट बोले—पार्थ ! आप कौरवोंमें श्रेष्ठ और कुन्ती-देवीके पुत्र हैं। धनंजयमें इस प्रकार धर्मका विचार होना उचित ही है। पाण्डुपुत्र अर्जुन ही इस प्रकार नित्यधर्मपरायण और ज्ञानसम्पन्न हो सकते हैं। अब इसके बाद जो कर्तव्य आप ठीक समझें, उसे पूर्ण करें। मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो गयीं। जिसके सम्बन्धी अर्जुन हो रहे हों, उसकी कौन-सी कामना अपूर्ण रह सकती है ? ॥ १०-११ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति राजेन्द्रे कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अन्वशासत् स संयोगं समये मत्स्यपार्थयोः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाराज विराटके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने उचित अवसर जान मत्स्यनरेश और पार्थके इस सम्बन्धका अनुमोदन किया ॥

ततो मित्रेषु सर्वेषु वासुदेवं च भारत।
प्रेषयामास कौन्तेयो विराटश्च महीपतिः ॥ १३ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर तथा राजा विराटने अपने-अपने सम्पूर्ण सुहृदों एवं सगे-सम्बन्धियोंको तथा भगवान् वासुदेवको भी निमन्त्रण भेजा ॥ १३ ॥

ततस्त्रयोदशे वर्षे निवृत्ते पञ्च पाण्डवाः।
उपप्लव्यं विराटस्य समपद्यन्त सर्वशः ॥ १४ ॥

पाँचों पाण्डवोंका तेरहवाँ वर्ष तो पूर्ण हो ही चुका था, वे सब-के-सब राजा विराटके उपप्लव्य नामक नगरमें आकर रहने लगे ॥ १४ ॥

अभिमन्युं च बीभत्सुरानिनाय जनार्दनम्।
आनर्तेभ्योऽपि दाशार्हानानयामास पाण्डवः ॥ १५ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने आनर्तदेशसे अभिमन्यु, भगवान् वासुदेव तथा दशार्हवंशके अपने अन्य सम्बन्धियोंको भी वहाँ बुलवा लिया ॥ १५ ॥

काशिराजश्च शैब्यश्च प्रीयमाणौ युधिष्ठिरे।
अक्षौहिणीभ्यां सहितावागतौ पृथिवीपती ॥ १६ ॥

काशिराज और शैब्य दोनों युधिष्ठिरके बड़े प्रेमी थे। वे दोनों नरेश एक-एक अक्षौहिणी सेनाके साथ उपप्लव्य नगरमें आये ॥ १६ ॥

अक्षौहिण्या च सहितो यज्ञसेनो महाबलः।
द्रौपद्याश्च सुता वीराः शिखण्डी चापराजितः ॥ १७ ॥
धृष्टद्युम्नश्च दुर्धर्षः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
समस्ताक्षौहिणीपाला यज्वानो भूरिदक्षिणाः।
वेदावभृथसम्पन्नाः सर्वे शूरास्तनुत्यजः ॥ १८ ॥

महाबली राजा द्रुपद भी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पधारे। उनके साथ द्रौपदीके पाँचों वीर पुत्र, कभी परास्त न होनेवाले शिखण्डी और समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ एवं दुर्धर्ष वीर धृष्टद्युम्न भी थे। इनके सिवा और भी अनेक राजा वहाँ पधारे, जो सबके सब एक-एक अक्षौहिणी सेनाके पालक, यज्ञकर्ता, यज्ञोंमें अधिकसे अधिक दक्षिणा देनेवाले, वेद और अवभृथ (यज्ञान्त) स्नानसे सम्पन्न, शूरवीर तथा पाण्डवोंके लिये प्राण देनेवाले थे ॥ १७-१८ ॥

तानागतानभिप्रेक्ष्य मत्स्यो धर्मभृतां वरः।
पूजयामास विधिवत् सभृत्यबलवाहनान् ॥ १९ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ मत्स्यनरेश विराटने उन्हें आया हुआ देख सेवक, सेना और सवारियोंसहित उन सबका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार किया ॥ १९ ॥

प्रीतोऽभवद् दुहितरं दत्त्वा तामभिमन्यवे।
ततः प्रत्युपयातेषु पार्थिवेषु ततस्ततः ॥ २० ॥

तत्रागमद् वासुदेवो वनमाली हलायुधः।
कृतवर्मा च हार्दिक्यो युयुधानश्च सात्यकिः ॥ २१ ॥
अनाधृष्टिस्तथाक्रूरः साम्बो निशठ एव च।
अभिमन्युमुपादाय सह मात्रा परंतपाः ॥ २२ ॥

अभिमन्युको अपनी पुत्रीका वाग्दान करके राजा विराट बहुत प्रसन्न थे। तत्पश्चात् सब राजालोग अपने-अपने लिये नियत किये हुए स्थानोंमें विश्रामके लिये पधारे। वहाँ वनमालाधारी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण, हलरूपी शस्त्र धारण करनेवाले बलराम, हृदीकपुत्र कृतवर्मा, युयुधान नामसे प्रसिद्ध सात्यकि, अनाधृष्टि, अक्रूर, साम्ब और निशठ—ये सभी शत्रुसंतापन वीर अभिमन्यु और उसकी माता सुभद्राको साथ लिये वहाँ पधारे थे ॥ २०—२२ ॥

इन्द्रसेनादयश्चैव रथैस्तैः सुसमाहितैः।
आययुः सहिताः सर्वे परिसंवत्सरोषिताः ॥ २३ ॥

जिन्होंने एक वर्षतक द्वारकामें निवास किया था, वे इन्द्रसेन आदि सारथि भी अच्छी तरह सब सामग्रियोंसे सम्पन्न किये हुए रथोंसहित वहाँ आये थे ॥ २३ ॥

दशनागसहस्राणि हयानां द्विगुणं तथा।
रथानामयुतं पूर्णं नियुतं च पदातिनाम् ॥ २४ ॥
वृष्ण्यन्धकाश्च बहवो भोजाश्च परमौजसः।
अन्वयुर्वृष्णिशार्दूलं वासुदेवं महाद्युतिम् ॥ २५ ॥

परमतेजस्वी वृष्णिवंशशिरोमणि भगवान् वासुदेवके साथ दस हजार हाथी, उनसे दुगुने अर्थात् बीस हजार घोड़े, दस हजार रथ और दस लाख पैदल सेना थी। इसके सिवा वृष्णि, अन्धक तथा भोजवंशके और भी बहुत-से महापराक्रमी वीर उनके साथ पधारे थे ॥ २४-२५ ॥

पारिबर्हं ददौ कृष्णः पाण्डवानां महात्मनाम्।
स्त्रियो रत्नानि वासांसि पृथक् पृथगनेकशः ॥ २६ ॥
ततो विवाहो विधिवद् ववृधे मत्स्यपार्थयोः।

भगवान् श्रीकृष्णने महात्मा पाण्डवोंको दहेज या निमन्त्रणमें बहुत-सी दासियाँ, नाना प्रकारके रत्न और बहुत-से वस्त्र पृथक्-पृथक् भेंट किये। तत्पश्चात् मत्स्य और पार्थकुलके वैवाहिक सम्बन्धका कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न होने लगा ॥ २६½ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च गोमुखा डम्बरास्तथा ॥ २७ ॥
पार्थैः संयुज्यमानस्य नेदुर्मत्स्यस्य वेश्मनि।
भक्ष्यान्नभोज्यपानानि प्रभूतान्यभ्यहारयन् ॥ २८ ॥

तदनन्तर कुन्तीपुत्रोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेवाले मत्स्यनरेशके महलमें शङ्ख, नगाड़े, गोमुख और डम्बर आदि भाँति-भाँतिके बाजे बजने लगे। साथ ही उन्होंने खाने योग्य अन्न, भोज्य और पीने आदिकी सामग्री भी प्रचुर मात्रामें प्रस्तुत की ॥ २७-२८ ॥

गायनाख्यानशीलाश्च नटवैतालिकास्तथा।
स्तुवन्तस्तानुपातिष्ठन् सूताश्च सह मागधैः ॥ २९ ॥

गानेवाले, प्राचीन उपाख्यान सुनानेवाले, नट और वैतालिक सूत-मागध आदिके साथ उपस्थित हो पाण्डवोंकी स्तुति-प्रशंसा करने लगे ॥ २९ ॥

सुदेष्णां च पुरस्कृत्य मत्स्यानां च वरस्त्रियः।
आजग्मुश्चारुसर्वाङ्ग्यः सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ ३० ॥

मत्स्यनरेशके रनिवासकी सुन्दरी स्त्रियाँ रानी सुदेष्णाको आगे करके महारानी द्रौपदीके यहाँ आयीं। उन सबके सभी अङ्ग बड़े मनोहर थे। उन सबने विशुद्ध मणिमय कुण्डल पहन रक्खे थे ॥ ३० ॥

वर्णोपपन्नास्ता नार्यो रूपवत्यः स्वलंकृताः।
सर्वाश्चाभ्यभवन् कृष्णा रूपेण यशसा श्रिया ॥ ३१ ॥

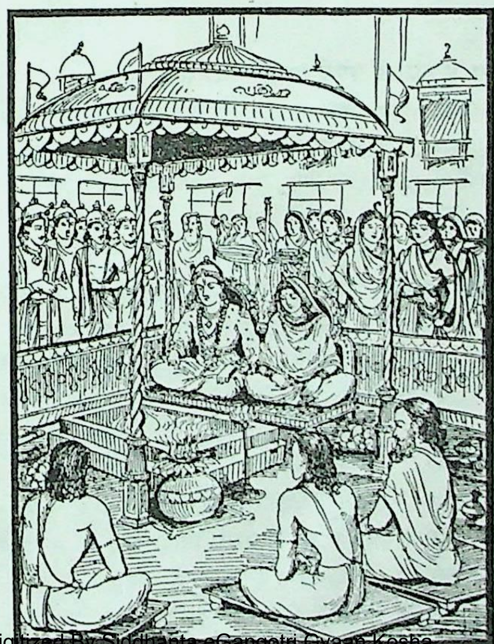
वे सभी नारियाँ उत्तम वर्णकी थीं। रूपवती होनेके साथ ही वे भाँति-भाँतिके सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित भी थीं; परंतु द्रुपदकुमारी कृष्णाने अपने दिव्य रूप, यश और उत्तम कान्तिसे उन सबको तिरस्कृत कर दिया ॥ ३१ ॥

परिवार्योत्तरां तास्तु राजपुत्रीमलंकृताम्।
सुतामिव महेन्द्रस्य पुरस्कृत्योपतस्थिरे ॥ ३२ ॥

उस समय राजकुमारी उत्तरा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो महेन्द्रपुत्री जयन्ती-सी सुशोभित हो रही थी। राजपरिवारकी स्त्रियाँ उसे आगे करके दोनों ओरसे घेरकर वहाँ उपस्थित हुईं ॥ ३२ ॥

तां प्रत्यगृह्णात् कौन्तेयः सुतस्यार्थे धनंजयः।
सौभद्रस्यानवद्याङ्गीं विराटतनयां तदा ॥ ३३ ॥

उस समय कुन्तीनन्दन अर्जुनने अपने पुत्र सुभद्राकुमार अभिमन्युके लिये निर्दोष अङ्गोंवाली विराटकुमारी उत्तराको ग्रहण किया ॥ ३३ ॥



तत्रातिष्ठन्महाराजो रूपमिन्द्रस्य धारयन्।
स्नुषां तां प्रतिजग्राह कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः॥ ३४॥

वहाँ इन्द्रके समान रूप धारण किये कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर भी खड़े थे। उन्होंने भी उत्तराको पुत्रवधूके रूपमें अङ्गीकार किया॥ ३४॥

प्रतिगृह्य च तां पार्थः पुरस्कृत्य जनार्दनम्।
विवाहं कारयामास सौभद्रस्य महात्मनः॥ ३५॥

इस प्रकार पार्थने उत्तराको ग्रहण करके भगवान् श्रीकृष्णके सामने महामना अभिमन्यु और उत्तराका विवाह-संस्कार सम्पन्न कराया॥ ३५॥

तस्मै सप्त सहस्राणि हयानां वातरंहसाम्।
द्वे च नागशते मुख्ये प्रादाद् बहुधनं तदा॥ ३६॥
हुत्वा सम्यक् समिद्धाग्निमर्चयित्वा द्विजन्मनः।
राज्यं बलं च कोशं च सर्वमात्मानमेव च॥ ३७॥

विवाहकालमें विराटने प्रज्वलित अग्निमें विधिवत् होम कराकर ब्राह्मणोंका पूजन करनेके पश्चात् दहेजमें वरपक्षको वायुके समान वेगवान् सात हजार घोड़े, दो सौ बड़े-बड़े हाथी तथा और भी बहुत-सा धन भेंट किया। साथ ही राजपाट, सेना और खजानेसहित सब कुछ एवं अपने-आपको भी उनकी सेवामें समर्पित कर दिया॥ ३६-३७॥

कृते विवाहे तु तदा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं यदुपाहरदच्युतः॥ ३८॥

विवाह सम्पन्न हो जानेपर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णसे जो धन मिला था, उसमेंसे बहुत कुछ ब्राह्मणोंको दान किया॥ ३८॥

गोसहस्राणि रत्नानि वस्त्राणि विविधानि च।
भूषणानि च मुख्यानि यानानि शयनानि च॥ ३९॥
भोजनानि च हृद्यानि पानानि विविधानि च।
तन्महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनायुतम्।
नगरं मत्स्यराजस्य शुशुभे भरतर्षभ॥ ४०॥

हजारों गौएँ, रत्न, नाना प्रकारके वस्त्र, आभूषण, मुख्य-मुख्य वाहन, शय्या, भोजनसामग्री तथा भाँति-भाँतिकी पीनेयोग्य उत्तम वस्तुएँ भी अर्पण कीं। जनमेजय! उस समय हजारों-लाखों हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरा हुआ मत्स्यराजका वह नगर मूर्तिमान् महोत्सव-सा सुशोभित हो रहा था॥ ३९-४०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि उत्तराविवाहे द्विसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७२॥

इस प्रकार व्यासनिर्मित श्रीमहाभारत नामक एक लाख श्लोकोंकी संहितामें विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें उत्तराविवाहविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७२॥

विराटपर्वकी श्लोक-संख्या

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंका ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	२१२५	(१९८)	२८३॥	२४०८॥
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	२४९	(२२॥)	३३॥	२८२॥

विराटपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या—२६९१

श्रवण-महिमा

श्रुत्वा तु चरितं पुण्यं पाण्डवानां महात्मनाम्।
नाधिव्याधिभयं तेषां जायते पुण्यकर्मणाम्॥ १॥

पुण्यकर्मा महात्मा पाण्डवोंका पवित्र चरित्र सुनकर श्रोताओंको आधि (मानसिक दुःख) और व्याधि (शारीरिक कष्ट) का भय नहीं होता है॥ १॥

दुर्गतेस्तरणे तेषामायतं तरणं भवेत्।
सुभिक्षं क्षेममारोग्यं पुण्यवृद्धिः प्रजायते॥ २॥

पाण्डवोंका जो दुर्गतिसे उद्धार हुआ, उस प्रसङ्गका पाठ करनेपर मनुष्यके लिये भारीसे भारी संकटसे छूटना सरल हो जाता है। उन्हें सुभिक्ष, क्षेम, आरोग्य तथा पुण्यकी वृद्धि सुलभ होती है॥ २॥

सर्वपापानि नश्यन्ति जायन्ते सर्वसम्पदः।
एकाकी विजयेच्छत्रून् स्मृत्वा फाल्गुनकर्म च॥ ३॥
ईतयः सम्प्रणश्यन्ति न वियोगः प्रिये जने॥ ४॥

अर्जुनके चरित्रका स्मरण करनेसे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, सब प्रकारकी सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं और मनुष्य अकेला या असहाय होनेपर भी शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेता है। इतना ही नहीं, (अतिवृष्टि आदि) ईतियोंका नाश होता है और प्रियजनोंसे कभी वियोग नहीं होता॥ ३-४॥

श्रुत्वा वैराटकं पर्व वासांसि विविधानि च।
हिरण्यं धान्यं गावश्च दद्याद् वित्तानुसारतः॥ ५॥
प्रीतये देवतानां वै दद्याद् वै द्विजमुख्यके।
वाचके तु सुसंतुष्टे तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः॥ ६॥
ब्राह्मणान् भोजयेच्छक्त्या पायसैः सर्पिषा सितैः।
एवं श्रुते च वैराटे सम्यक् फलमवाप्नुयात्॥ ७॥

विराटपर्वकी कथा सुनकर अपने वैभवके अनुसार भाँति-भाँतिके वस्त्र, सुवर्ण, धान्य और गौ—ये वस्तुएँ देवताओंकी प्रसन्नताके लिये श्रेष्ठ ब्राह्मणको दान करनी चाहिये। वाचकके भलीभाँति संतुष्ट होनेपर सब देवता संतुष्ट होते हैं। तत्पश्चात् यथाशक्ति घी और मिश्री मिलायी हुई खीरका ब्राह्मणोंको भोजन करावे। इस विधिसे विराटपर्व सुननेपर श्रोताको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है॥ ५-७॥

